॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१३०



आयुर्वेदविभागे (३) तृतीयं पुष्पम्



श्रीमद्भिषग्भूषणभावमिश्रप्रणीतः—

भावप्रकाशः

(उत्तरार्द्धम्)

भिषग्रत्नश्रीब्रह्मशङ्करमिश्रशास्त्रिणा

विनिर्मितया

'विद्योतिनी' नामिकया भाषाटीकया संवलितः

आयुर्वेदाचार्य (ए. एम. एस.)

श्रीहरिहरप्रसादपाण्डेयेन

प्राच्यपाश्चात्योभयमतसमन्वयात्मिकया विशदटिप्पण्या समुपबृंहितः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी.

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी.

संस्करण : तृतीय संवत् २०१८.

मूल्य : १६-००

Phone 3145

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
130

(Āyurveda Section, No



THE

BHĀVAPRAKĀS'A

OF

S'RI BHĀVAMIS'RA

Edited with the—

VIDYOTINĪ HINDĪ COMMENTARY

Notes, Introduction, Index etc.,

BY

BHISAGRATNA

PANDIT SRĪ BRAHMA S'ANKARA MIS'RA

(**Part. II**)

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
POST BOX 8, VARANASI-1 (INDIA)

Third Edition]   1961   [Rs. 16-00

श्रीगौरकृष्णः शरणं ममास्तु ।

उपोद्धातः

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य ।
तरणिरिव तिमिरपटलं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम ॥

यह मेरा परम सौभाग्य है कि आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की परम अनुकम्पा से आप लोगों की सेवा में श्रीभिषग्भूषण भावमिश्र विरचित भावप्रकाश के उत्तरार्द्ध (मध्य-मोत्तरखण्ड) को विद्योतिनी भाषा टीका के साथ विद्योतित कर उपस्थित कर रहा हूँ ।

इस उत्तरार्द्ध में दो खण्ड हैं—**मध्यम खण्ड** तथा **उत्तर खण्ड** । ये दोनों खण्ड अष्टम चिकित्साप्रकरण में ही समाप्त हो जाते हैं, इनमें से मध्य खण्ड में ज्वरादिक ७१ अधिकार ४ भागों में विभक्त किये गये हैं, और उत्तर खण्ड केवल दो अधिकारों में ही पूरा किया गया है। मध्यखण्ड में **ज्वर** से लेकर **बालरोग** पर्यन्त सभी रोगों का **माधवनिदानानुसार** निदान, लक्षण, भेद, साध्या-साध्यता, पथ्यापथ्य और चिकित्सा का समुचित रीति से वर्णन किया गया है ।

प्रथम भाग में—१–ज्वर, २–अतीसार, ३–ज्वरातीसार, ४–ग्रहणी ये ४ अधिकार हैं । **द्वितीय भाग में**—५–अर्श, ६–जठराग्निविकार, ७–क्रिमिरोग, ८–पाण्डु-रोग–कामला–हलीमक, ९–रक्तपित्त, १०–अम्लपित्त–श्लेष्मपित्त, ११–रसजयक्ष्म, १२–कास, १३–हिक्का, १४–श्वास, १५–स्वरभेद, १६–अरोचक, १७–छर्दि, १८–तृष्णा, १९–मूर्च्छा–भ्रम–निद्रा–तन्द्रा–संन्यास, २०–मदात्यय, २१–दाह, २२–उन्माद, २३–अपस्मार, २४–वातव्याधि, २५–ऊरुस्तम्भ, २६–आमवात, २७–पित्तव्याधि, २८–श्लेष्मव्याधि, २९–वातरक्त, ये २५ अधिकार कहे गये हैं। **तृतीय भाग में**—३०–शूल–परिणामशूल–अन्नद्रव–जरत्पित्तापरनामक शूल, ३१–उदावर्त्त–आनाह, ३२–गुल्म, ३३–प्लीह–यकृद्, ३४–हृद्रोग, ३५–मूत्रकृच्छ्र, ३६–मूत्राघात, ३७–अश्मरी रोग, ३८–प्रमेह–पिडका, ३९–स्थौल्य, ४०–कार्श्य, ४१–उदर, ४२–शोथ, ४३–वृद्धि–ब्रध्न, ४४–गलगण्ड–गण्डमाला–ग्रन्थ्यर्बुद, ४५–श्लीपद, ४६–विद्रधि, ४७–व्रणशोथ, ४८–भग्न, ये १९ अधिकार वर्णित हैं । **चतुर्थ भाग में** ४९–नाडीव्रण, ५०–भगन्दर, ५१–उपदंश, ५२–लिङ्गार्श, ५३–शूकदोष, ५४–कुष्ठरोग, ५५–शीत-

पित्तोदर्द–कोठोत्कोठ, ५६–विसर्प, ५७–स्नायुरोग, ५८–विस्फोटक, ५९–फिरङ्गरोग, ६०–मसूरिका–शीतला, ६१–क्षुद्ररोग, ६२–शिरोरोग, ६३–नेत्ररोग, ६४–कर्णरोग, ६५–नासारोग, ६६–मुखरोग, ६७–विष, ६८–प्रदर, ६९–सोमरोग, ७०–योनिरोग, ७१–बालरोग इन २३ अधिकारों का निर्देश किया गया है।

इस ग्रन्थ में **फिरङ्ग रोग** के नवीन होने पर भी ग्रन्थकार ने जिस उत्तमता से उसकी चिकित्सा का वर्णन किया है, वह वस्तुतः प्रशंसनीय तथा आधुनिक वैद्यों के लिये सर्वथा अनुकरणीय है।

उत्तर खण्ड में—७२–वाजीकरण और ७३–रसायन; दो ही अधिकारों का वर्णन है, जिसमें क्रम से नपुंसकता के भेद तथा लक्षणों का निर्देश करते हुये संक्षेप मे चिकित्सा का उल्लेख है। अन्त में रसायन के लक्षण तथा प्रयोग का अतिसंक्षेप में वर्णन करते हुये ग्रन्थकार ने शुभाशीर्वाद-प्रदानपूर्वक ग्रन्थ को समाप्त किया है।

ग्रन्थवैशिष्ट्य—आयुर्वेद जगत् में ऐसा एक भी ग्रन्थ नहीं है, जिसमें आयुर्वेद के संपूर्ण अङ्गों का इतना विशद वर्णन हो। भावमिश्रजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में **चरक–सुश्रुतादि** संहिताओं में अवर्णित रोगों और चिकित्साओं का भी वर्णन किया है। फिरङ्गरोग का निदान तथा चिकित्सा इसका प्रमाण है।

इस ग्रन्थ में जहाँ-जहाँ पर पुष्पाकार (*) चिह्न दिये गए हैं उन्हें मूलग्रन्थकारकृत टिप्पणी समझना चाहिये।

अभी तक इस ग्रन्थ की कोई ऐसी टीका नहीं थी जिसमें **आयुर्वेद मेडिसिन बोर्ड** के परीक्षार्थी विद्यार्थियों के लिये विशेष उपयोगी विषयों का समावेश हो। अतएव **चौखम्बा संस्कृत सीरीज** के अध्यक्ष **श्रीबाबू जयकृष्णदासजी** महोदय के आग्रह से मैंने इसकी विद्योतिनी नामक हिन्दीटीका और **श्रीहरिहरप्रसाद पाण्डेय** ने प्रत्येक रोग के ऊपर पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्रानुसार निदान, चिकित्सादि तथा उनका आयुर्वेद के साथ समन्वय करते हुये सुन्दर विशद टिप्पणी लिखी। सम्पादन में इस बात का ध्यान रखा गया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ नवीन पद्धति से शिक्षा पानेवाले आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिये हितकर हो, साधारण वैद्यों को भी पाश्चात्य विज्ञान का ज्ञान हो जावे, डाक्टरों को भी आयुर्वेद की ओर अभिरुचि हो, आयुर्वेद को कभी कोई

अवैज्ञानिक कहने का साहस न करे, भावमिश्र जी ने जो सर्वप्रथम इस ग्रन्थ में अन्यत्र वर्णित रोगों और चिकित्साओं को भरकर आयुर्वेद के भण्डार को भरने का श्रीगणेश किया था, वह क्रिया इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में निरन्तर होती रहे, जिससे उनकी स्वर्गीय आत्मा सन्तुष्ट और प्रसन्न हो।

इसके अतिरिक्त निम्न सिद्धान्तों पर भी पूर्ण ध्यान दिया गया है—

(१) तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते।
स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्॥

(२) स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥

(३) यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्॥

टिप्पणी में प्रत्येक रोग के ऊपर अङ्क देकर उसके नीचे उस रोग का पाश्चात्य नाम, हेतु, सम्प्राप्ति, निदान, लक्षण तथा विकृत शरीर का वर्णन किया गया है और चरक, सुश्रुत, वाग्भट, योगरत्नाकर, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति इत्यादि ग्रन्थों के साथ समन्वय किया गया है।

चिकित्सा के लिये शस्त्रकर्मों की अर्वाचीन प्रणाली का वर्णन कर दिया गया है और उनका अपने यहाँ वर्णित शस्त्रकर्मों से समन्वय भी किया गया है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य वैद्यक में कुछ रोगों के लिये ऐसी भी क्रियाओं या शस्त्रकर्मों का प्रयोग होता है, जिनका अपने यहाँ आयुर्वेद में वर्णन नहीं मिलता। उनका स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। यथा—विषूचिका में सिरा द्वारा लवणजल प्रविष्ट करने की विधि इत्यादि। पाठकों की सुविधा के लिये विषयसूची तथा रोगों के अँगरेजी, अरबी पर्याय आदि भी दिये गये हैं।

धन्यवाद—

मैं उन सभी संहिताओं, स्मृतियों, आयुर्वेद के चिकित्साग्रन्थों के आचार्यो, अंग्रेजी चिकित्साग्रन्थों, अंग्रेजी शल्यविज्ञान की पुस्तकों के लेखकों तथा उन पाश्चात्य ग्रन्थों के हिन्दी अनुवादकों को सर्वप्रथम अपनी तथा टिप्पणीलेखक की ओर से हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिनकी कृतियों से इस महान् कार्य की पूर्ति हुई है।

इसके लिये टिप्पणीलेखक के गुरुदेव श्रद्धेय **डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर जी,** आचार्य **डा० मुकुन्दस्वरूप वर्माजी** तथा आचार्य **डा० बी० ए० पाठक जी** (प्रिंसिपल आयुर्वेदिक कालेज हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी) विशेष आदर और श्रद्धाञ्जलि के पात्र हैं।

तत्पश्चात् **पं० रामाश्रयजी मिश्र आयुर्वेदाचार्य,** श्रीयुत **रामेश्वर प्रसादजी गुप्त आयुर्वेदाचार्य** तथा श्रीयुत **पं० ठाकुरदयालुजी मिश्र आयुर्वेदाचार्य** को टिप्पणीकार्य सम्पन्न करने में समयोपयोगी अनुमति तथा साधनों की सुव्यवस्था करने के लिये विशेष हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

अन्त में इस ग्रन्थ के सर्वाधिकारी प्रकाशक **बाबू श्रीजयकृष्णदास जी गुप्त** को हार्दिक शुभाशीर्वाद देता हूँ कि वे सानुज चिरंजीवी होकर ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशन में निरन्तर उत्साही बने रहें, क्योंकि इसके प्रकाशन में उक्त बाबूसाहब के कठिनाई तथा अर्थव्यय का कष्ट उठाने में धैर्य का जो परिचय मुझे प्राप्त हुआ, वह अवर्णनीय है।

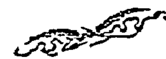
श्रीश्रीराधारमणमन्दिर, काशी
श्रीशुभविवाहोत्सवे
आषाढ वदी २ सं० १९९८

आयुर्वेदविशेषज्ञों का विनेयतम
भिषग्रत्न श्रीब्रह्मशंकर मिश्र

॥ श्री ॥

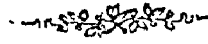
विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका ।



भावप्रकाशे चिकित्साप्रकरणे

विषयानुक्रमणिका



ज्वरातीसाराधिकारः ॥ ३ ॥

ग्रहणीरोगाधिकारः ॥ ४ ॥

शिरोरोगाधिकारः ॥ ६२ ॥

नेत्ररोगाधिकारः ॥ ६३ ॥



॥ श्रीः ॥

भावप्रकाशः

ज्वराधिकारः

विद्योतिन्या भाषाटीकया समेतः

अथ मध्यखण्डम्

तत्र

प्रथमो भागः



तत्राष्टमं चिकित्साप्रकरणम् ॥ ८ ॥

तत्रादौ ज्वराधिकारमाह—

यतः समस्तरोगाणां ज्वरो राजेति विश्रुतः । अतो ज्वराधिकारोऽत्र प्रथमं लिख्यते मया ॥१॥

"भावमिश्र" मनसः खलु भावो-दन्वतोऽयमधिमध्यमवाप्तः ।
तत्तलोद्भवकृदिन्दिरयाऽऽत्तं नौति तत्-पदमतः प्रतिपित्सुः ॥ १ ॥

अब यहां से भावप्रकाश का मध्यखण्ड तथा चिकित्सा प्रकरण भी आरम्भ होता है, उसमें प्रथम "ज्वराधिकार" को कहते हैं, तथा प्रथम "ज्वराधिकार" को क्यों कहा ? इसका उत्तर देते हुए भावमिश्र कहते हैं—"क्योंकि सम्पूर्ण रोगों के मध्य में "ज्वर" को सब आयुर्वेदज्ञ महर्षियों ने "राजा" बतलाया है, अतः इस "चिकित्साप्रकरण" में प्रथम "ज्वराधिकार" का मैं उल्लेख कर रहा हूं ॥ १ ॥

तत्र ज्वरस्य प्रथमोत्पत्तिमाह सुश्रुतः—

दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिःश्वाससम्भवः । ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसंघातागन्तुजः स्मृतः ॥ २ ॥

इस "ज्वराधिकार" में सर्वप्रथम ज्वर की उत्पत्ति के विषय में जो "सुश्रुत" महर्षि ने कहा है, उसे कहते हैं—दक्ष प्रजापति के द्वारा किये गये अपमान से अत्यन्त क्रोधित हुए भगवान् रुद्र के श्वाससे ज्वर की उत्पत्ति हुई है। और वह ज्वर आठ प्रकार का होता है, जैसे—पृथग् २ वातादिक दोषों से उत्पन्न हुआ ज्वर ३ प्रकार का होता है, १ वातज, २ पित्तज, ३ श्लेष्मज। और दो दोषोंसे उत्पन्न हुआ द्वन्द्वज भी ३ प्रकारं का होता है, ४ वातपित्तज, ५ वातश्लेष्मज, पित्तश्लेष्मज। एवम्

दोषों के सन्निपात से अर्थात् तीनों दोषों के मेल से तथा आगन्तुक अर्थात् चोट आदिक लगजाने से उत्पन्न हुआ ज्वर एक २ प्रकार का होता है, ७ सन्निपातज (त्रिदोषज), ८ आगन्तुज ॥ २ ॥

अस्यायमर्थः–दक्षकर्तृको योऽपमानस्तेन संक्रुद्धो यो रुद्रः, तस्य यो निःश्वासः, तस्मात्सम्भव उत्पत्तिर्यस्य स ज्वरः। क्रुद्धरुद्रनिःश्वाससम्भूतत्वेन ज्वरः स्वभावात्पैत्तिक इति बोध्यते। यत उक्तं चरकेण–क्रोधात्पित्तमित्यादि। तेन सर्वज्वरेषु पित्तोपशमकारिणी चिकित्सा कर्त्तव्या।

विशेष रूप से उक्त श्लोक का यह अर्थ है—दक्ष के द्वारा किया गया जो अपमान उससे अत्यन्त क्रुद्ध हुये जो रुद्र भगवान्, उनका जो क्रोध के समय जोर २ से निकला हुआ श्वास, उससे संभव अर्थात् उत्पत्ति है जिसकी ऐसा वह ज्वर है। और क्रोधित रुद्र भगवान् का श्वास ज्वर की उत्पत्ति का कारण होने से "ज्वर" स्वभावतः "पैत्तिक" होता है, ऐसा वैद्य लोग समझते हैं। क्योंकि "चरक" भगवान् ने भी कहा है कि—"क्रोध से पित्त कुपित होता है" इत्यादि, इससे सभी प्रकार के ज्वरों में पित्त को शमन करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये।

अत एवाह वाग्भटः—

उष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्युष्मणा विना। तस्मात्पित्तविरुद्धानि त्यजेत्पित्ताधिकेऽधिकम्।

अत एव "वाग्भट" ने भी कहा है कि—"पित्त के विना उष्मा (गर्मी) नहीं होती है, और उष्मा के विना ज्वर नहीं होता है, अतः सभी ज्वरों में पित्त को कुपित करने वाली क्रियाओं का परित्याग करना चाहिये, विशेष करके पित्तप्रधान ज्वर में तो अधिक रूपसे उक्त क्रिया का त्याग करना चाहिये ॥ १ ॥

रुद्रसम्भूतत्वेन ज्वरस्य देवताऽऽत्मकत्वात्पूजाऽर्हत्वं चोपदर्शितम्।

अत एव वैदेहः—

ज्वरः सम्पूजनैर्वापि सहसैवोपशाम्यति। इति ॥ २ ॥

और "ज्वर देवस्वरूप है अतः उसकी पूजा भी करनी उचित है" यह बात "रुद्र से उत्पन्न हुआ है" इस वाक्य के कहने से दिखलाया है। अत एव "वैदेह" ने भी कहा है कि—" पूजा भलीभांति पूजन करने से भी ज्वर सहसा शान्त हो जाता है"। इत्यादि ॥ २ ॥

मूर्त्तिरप्यस्योक्ता सुश्रुतेन—

ज्वरमूर्तिमाह—

रुद्रकोपाग्निसम्भूतः सर्वभूतप्रतापनः। त्रिपाद्भस्मप्रहरणस्त्रिशिराः सुमहोदरः ॥
वैयाघ्रचर्मवसनः कपिलो माल्यविग्रहः। पिङ्गेक्षणो ह्रस्वजङ्घो बीभत्सो बलवान्महान् ॥३॥
पुरुषो लोकनाशार्थमसौ ज्वर इति स्मृतः। तैस्तैर्नामभिरन्येषां सत्त्वानां परिकीर्त्यते ॥४॥
जन्मादौ निधने चैव प्रायो विशति देहिनाम्। ऋते देवमनुष्याभ्यां नान्यो विषहते हि तम् ॥

और इसकी मूर्त्ति का भी वर्णन अन्यत्र "सुश्रुत" का किया हुआ कहते हैं—रुद्र भगवान् के क्रोधाग्नि से उत्पन्न हुआ, सब प्राणियों को सन्तप्त करने वाला, तीन पैरसे युक्त, भस्मका प्रहार करने वाला, तीन शिर तथा बड़े पेट वाला, व्याघ्रचर्म पहने हुये, देखने में कपिल वर्ण, माला पहने हुये, पिङ्गल नेत्र तथा छोटी जङ्घावाला, वीभत्स, महा बलवान् तथा पुरुष जाति का ऐसा ज्वर लोकों को नाश करने के लिये है। और भिन्न २ गज, अश्वादिक जीवों के ज्वरों के भी भिन्न २ नाम कहे हुये हैं। ज्वर-प्राणियों के जन्म तथा मरण काल में प्रायः करके रहता है। और देवता तथा मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य कोई उसे नहीं सहन कर सकता है ॥ ३–५ ॥

<तस्य ज्वरस्य संख्यारूपां सम्प्राप्तिमाह-ज्वरोऽष्टधेति । अष्टधात्वं विवृणोति-पृथगिति । वातिकः, पैत्तिकः, श्लैष्मिकश्चेति त्रयः, द्वन्द्वजाश्च त्रयः—वातपैत्तिकः, वातश्लैष्मिकः, पित्तश्लैष्मिकश्चेति । सङ्घातजः सान्निपातिक एकः । अन्य आगन्तुज इत्यष्टौ ।

<"द्व्युल्वणैकोल्वणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्। समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश"

"ज्वर ८ प्रकार का होता है" यह कहने से ज्वर की संख्यारूप सम्प्राप्ति को कहा है। "पृथग्" इत्यादि के कहने से ज्वर ८ प्रकार का कैसे होता है इस का विवरण करते हैं। वातिक, पैत्तिक, और श्लैष्मिक ये तीन प्रकार के पृथग्ज, और वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक एवम् पित्तश्लैष्मिक ये तीन प्रकार के द्वन्द्वज, और दोषों के सङ्घात याने सन्निपात (मेल) से होने वाला १ एक प्रकार का सङ्घातज तथा एक प्रकार का आगन्तुज अर्थात् चोट लगने आदि से उत्पन्न होने वाला—इस भांति ८ प्रकार के होते हैं।

और चरक में १३ प्रकार का सन्निपातज ज्वर कहा है—जैसे कि—"दोषों में एक तथा दो दोषों के उल्वण होने से ६ प्रकार और हीन, मध्य तथा अधिक होने के द्वारा ६ प्रकार एवम् समान भाव से तीनों दोषों के उल्वण होने से एक प्रकार इस भांति दोषों का सन्निपात १३ प्रकार का होता है" ॥६॥

<इति चरके त्रयोदश सन्निपाता उक्तास्ते यथा—१ वातोल्वणः । २ पित्तोल्वणः । ३ कफोल्वणः । ४ वातपित्तोल्वणः । ५ वातश्लेष्मोल्वणः । ६ पित्तश्लेष्मोल्वणः । एवं षट् । १ अधिकवातो मध्यपित्तो हीनकफः । २ अधिकवातो मध्यकफो हीनपित्तः । ३ अधिकपित्तो मध्यवातो हीनकफः । ४ अधिकपित्तो मध्यकफो हीनवातः । ५ अधिककफो मध्यवातो हीन पित्तः । ६ अधिककफो मध्यपित्तो हीनवातश्चेति षट् । उल्वण एकः १ एवं त्रयोदश ।

जो १३ प्रकार के सन्निपात कहे हैं वे इस तरह से होते हैं जैसे कि—१ वातोल्वण, २ पित्तोल्वण, ३ कफोल्वण, ४ वातपित्तोल्वण, ५ वातकफोल्वण, ६ पित्तकफोल्वण होने से ६ प्रकार। १ अधिकवात-मध्यपित्त-हीनकफ, २ अधिकवात-मध्यकफ-हीनपित्त, ३ अधिकपित्त-मध्यवात-हीनकफ, ४ अधिकपित्त-मध्यकफ-हीनवात, ५ अधिककफ-मध्यवात-हीनपित्त, ६ अधिककफ-मध्यपित्त-हीनवात होने से ६ प्रकार। समान भाव से तीनों दोषों का उल्वण होने से समवातपित्तकफोल्वण १ प्रकार। इस तरह से कुल १३ होते हैं।

अत्र तु त्रिदोषजत्वेन साम्यात्सान्निपातिक एक एव गणितः। आगन्तुज इति। अत्रागन्तुशब्देनाभिघातादयो हेतव उच्यन्ते, कुत्र चिद्व्याधयः कार्यकारणयोरभेदोपचारात्। आगन्तुजा अभिघाताद्यनेककारणयोगादनेके भवन्ति तथाऽप्यागन्तुजत्वेन साम्यादागन्तुकोऽप्यत्रैक एव गणितः।

किन्तु यहां पर जो सन्निपातज एक ही प्रकार का कहा गया है वह इस लिये कहा गया है कि—उक्त १३ भेदों में सर्वत्र दोषोंका सन्निपात होनेसे ही सभी सन्निपात बराबर मान लिया गया है तथा उसके अवान्तर भेद को भेद नहीं माना। अब "आगन्तुज" इस पद की व्याख्या करते हैं—यहां पर "आगन्तु" पदसे चोट आदिक हेतुओंका ग्रहण किया गया है, कहीं २ पर कार्य और कारणका अभेद उपचार होनेसे "आगन्तु"पद से आगन्तुज व्याधियां भी लेते हैं, अर्थात् "आगन्तु" शब्द से "अभिघात (चोट), पराभव, अभिचारकर्म और अभिशाप" इन हेतुओंका ग्रहण होता है अथवा कहीं२ पर आगन्तुक हेतुओंसे उत्पन्न व्याधियों का ग्रहण होता है। आगन्तुज—ज्वर यद्यपि अभिघातादिक अनेक कारणों के योग से अनेक प्रकार के होते हैं, तथापि वे सब आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने से बराबर ही हैं अतः यहां पर आगन्तुक ज्वर एक ही प्रकार का बतलाया गया है।

<नन्वागन्तुजेऽपि ज्वरे वातादिलक्षणदर्शनादागन्तुजः कथं दोषजाद्भिन्नः ?। उच्यते—उत्तरकालं दोषोत्पत्तेः। तथा च चरके—

"आगन्तुको हि व्यथापूर्वं जायते पश्चाद्भिन्नैर्दोषैरनुबध्यते" इति ॥ २ ॥

अब यहां पर यह शङ्का होती है कि—आगन्तुज ज्वर में भी वातादिकों के लक्षण दिखाई पड़ते हैं अतः "आगन्तुज" दोषज ज्वरों से भिन्न कैसे है? इस पर उत्तर देते हुए कहते हैं कि-ज्वर होने के बाद दोषों की उत्पत्ति होने से अर्थात् वातादिज्वरों में पूर्वरूपावस्था से ही वातादिकों का सम्बन्ध रहता है और आगन्तुज ज्वर में बाद को दोषों का सम्बन्ध होता है अतः पृथग् आगन्तुज ज्वर मानना उचित ही है और "चरक"में भी कहा हुआ है कि"आगन्तुज ज्वर प्रथम अभिघातादि कारणों से उत्पन्न होता है तदनन्तर भिन्न २ दोषों से सम्बद्ध होता है" ॥ २ ॥

अथ ज्वरस्य विप्रकृष्टकारणकथनपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

मिथ्याऽऽहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः।

अब दूर तथा निकटवर्ती कारणों को कहते हुये ज्वर की सम्प्राप्ति कहते हैं-मिथ्या (देश, काल तथा प्रकृति के विरुद्ध) आहार तथा विहार करने से वातादिक दोष कुपित होकर आमाशय में जाकर कोष्ठगत अग्नि को बाहर निकाल कर आम रस को दूषित करके ज्वर करने वाले होते हैं। यहां पर यह भी समझना चाहिये कि-कोष्ठाग्नि के बाहर करने से ही ज्वर में शरीर गरम मालूम पड़ता है॥

***मिथ्याऽऽहारविहाराभ्याम्=अनुचिताहारचेष्टाभ्यां हेतुभूताभ्याम्, दोषाः=वातपित्तकफाः, आमाशयाश्रयाः=आमाशयं गताः, रसानुगाः=रसदूषकाः, बहिर्निरस्य, कोष्ठाग्निं=कोष्ठगताग्नेरूष्माणं, न तु समस्तमग्निं, तदा दोषपाकासम्भवः स्याद्, बहिः प्रक्षिप्य, ज्वरदाः स्युः=ज्वरकारिणो भवेयुरित्यर्थः ॥ ३ ॥**

यहां पर "मिथ्याहारविहार" पद से"दोषों के कुपित होनेमें कारणस्वरूप अनुचित आहार तथा विहार (चेष्टा)" का ग्रहण करना चाहिये। "दोष" पद से वात, पित्त तथा कफ समझना चाहिये। एवम् "आमाशयाश्रयाः" इसका "आमाशय में कुपित होकर पहुंचे हुए"। "रसानुगाः" का "रस को दूषित करनेवाले होते हुये" और "बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निम्" इसमें "कोष्ठाग्नि" पद से "कोष्ठगत अग्नि की ऊष्मा" का ग्रहण करना चाहिये न कि कोष्ठ-स्थित समस्त अग्नि का। क्योंकि यदि समस्त अग्नि को बाहर कर देगा तो दोषों का जो परिपाक होता है उसका होना असम्भव हो जायगा। "बहिः प्रक्षिप्य ज्वरदाः स्युः" इन पदों का "बाहर निकाल कर ज्वरकारक होते हैं" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३ ॥

अथ ज्वरस्य सामान्यविशेषपूर्वरूपमाह—

श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः। इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥ ४ ॥
जृम्भाऽङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः। अप्रहर्षश्च शीतं च भवन्त्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥५॥
सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाहः कफान्नानभिनन्दनम्॥६॥

अब ज्वर के सामान्य तथा विशेष पूर्वरूप कहते हैं। सामान्यपूर्वरूप—श्रम, अरति, विवर्णता, विरसता, नयनप्लव, शीत-वायु-घाम आदिकों के विषय में बारम्बार इच्छा तथा द्वेष होना, जंभाई, अङ्गमर्द, गुरुता, रोमहर्ष, अरुचि, तम, अप्रहर्ष और शीत ये सब सामान्य रूपसे लक्षण जब ज्वर उत्पन्न होने वाला होता है तब प्रगट होते हैं।

विशेष पूर्वरूप—और विशेष रूप से वात से उत्पन्न हुये ज्वर में जंभाई, पित्त से आँखों में जलन होती है, कफ से अन्न खाने की इच्छा नहीं होती है ॥ ४-६ ॥

***श्रमो व्यापारं विनैव। अरतिः=अस्वस्थचित्तत्वम्। विवर्णत्वं=म्लानगात्रता। वैरस्यं=मुखस्याप्रकृतरसता। नयनप्लवः=नयनयोरश्रुपूर्णत्वम्। शीतवातातपादिषु मुहुरिच्छाद्वेषौ। आदिशब्दाज्ज्वलने जले च। यत उक्तं चरकेण—**

छ"ज्वलनातपवातेषु भक्तिद्वेषावनिश्चितौ" इति ॥ ७ ॥

यहां पर "श्रम" अर्थात् "विना कुछ कार्य किये थकावट मालूम पड़ना"। अरति = चित्तका स्वस्थ न रहना। विवर्णत्व=अङ्गों का म्लान रहना। वैरस्य = मुखका जैसा चाहिये वैसा स्वाद न रहना(फीका रहना)। नयनप्लव = नेत्रोंमें आंसू भरा रहना। "शीत, वायु और धूप आदि का क्षणमें अच्छा लगना और क्षण में पुनः न अच्छा लगना" यहां पर "आदि" पद से "अग्नि तथा जल के विषय में भी वारम्बार इच्छा तथा द्वेष होना" समझना चाहिये, क्योंकि—चरक महर्षि ने भी कहा है कि—"अग्नि, घाम तथा वायु इनके विषय में ज्वरयुक्त लोगों की प्रीति तथा द्वेष अनिश्चित रहता है अर्थात् कभी अच्छा कभी बुरा मालूम पड़ता है ॥ ७ ॥

छशयनादिष्वित्यन्ये। अङ्गमर्दः = अङ्गमोटनम्। गुरुता गात्रस्य। रोमहर्षः = रोमाञ्चता। अरुचिर्भोज्ये, तमः = तमोमग्नस्येव ज्ञानम्। अप्रहर्षः = हर्षाभावः। शीतं लगति। चकाराद् वलहानिः। वालहितोपदेशद्वेषादयोऽपि भवन्ति। तृतीयश्लोकस्थं "सामान्यत" इति पदं पूर्वश्लोकाभ्यां सम्बन्धनीयम्। तेन सामान्यतो ज्वरे उत्पत्स्यति = भविष्यति, श्रमादयः पूर्वमेव भवन्तीत्यर्थः। उत्पत्स्यतीत्यात्मनेपदिनोऽपि शतृभाव आर्षत्वात्।

किसी २ के मत से "शयनादिकों में" भी "इच्छा तथा द्वेष वारम्वार होता है" ऐसा समझना चाहिये। अङ्गमर्द = अङ्गों का टूटना, अर्थात् पीड़ा होना। गुरुता = शरीर भारी रहना। रोमहर्ष = रोमाञ्च होना। अरुचि = भोजन में अरुचि। तम = अन्धकारमें पड़े हुए की भांति मालूम पड़ना। अप्रहर्ष=हर्षित चित्त न रहना। शीत=शीत लगना। "चकार" पद से "वलकी हानि, एवम् अपने बालक तथा हितकारक उपदेशों से द्वेष आदिक होता है" यह भी समझना चाहिये। और तृतीय श्लोक के प्रथम पाद में स्थित "सामान्यतः" इस पद का अव्यवहित पूर्व के दो श्लोकों के साथ अन्वय करना चाहिये, अतः "सामान्य रूप से जब ज्वर उत्पन्न होने वाला होता है तब पूर्वोक्त श्रमादिक लक्षण प्रथम ही उत्पन्न हो जाते है" यह अर्थ समझना चाहिये। "उत्पत्स्यति" इस पद में यद्यपि "उद्" पूर्वक "पद" धातु आत्मनेपदी है तथापि नो शानच् न होकर शतृ प्रत्यय हुआ है वह आर्ष होने से माननीय है अन्यथा हम लोगों का प्रयोग होता तो अशुद्ध ही समझा जाता।

विशेषादुच्यते—समीरणाज्ज्वर उत्पत्स्यति, अतिशयेन जृम्भा भवति। पित्ताज्ज्वर उत्पत्स्यति, अत्यर्थो नयनयोर्दाहो भवति। कफज्वर उत्पत्स्यति, अत्यर्थेन नान्नाभिनन्दनम्= अन्नाकाङ्क्षा न भवति। जृम्भाऽऽदयोऽपि श्रमादिपूर्वा भवन्ति यतः सामान्यधर्माक्रान्तो विशिष्टो धर्मो भवति ॥ ४-६ ॥

विशेष रूप से ज्वर के पूर्वरूप कहते हैं—अर्थात्—वायुके दोष से जब ज्वर उत्पन्न होने वाला होता है तब पहले अत्यन्त जंभाई आती है एवम् पित्तज्वर आने में प्रथम आंखों में अत्यन्त जलन, कफज्वर आने में अन्न की तरफ बिल्कुल इच्छा नहीं होती है। यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—वातादिक ज्वरों में जो जंभाई आदिक विशेष पूर्वरूप कहे हुए हैं उसके साथ-साथ श्रमादिक सामान्य पूर्वरूप के भी लक्षण अवश्य प्रगट रहते हैं क्योंकि यह नियम है कि—"सामान्य धर्म से युक्त विशेष धर्म रहता है" जैसे कि—ब्राह्मणत्व सामान्य धर्म है कान्यकुब्जत्व विशेष धर्म है तो यदि कोई ब्राह्मण केवल कान्यकुब्ज कहा जायगा तो वह अवश्य सामान्य धर्म ब्राह्मणत्व से युक्त ही समझा जायगा ॥ ४-६ ॥

अथ द्वन्द्वजपूर्वरूपमाह—

रूपैरन्यतराभ्यां तु संसृष्टैर्द्वन्द्वजं विदुः ॥ ७ ॥

अब द्वन्द्वज ज्वर के पूर्वरूप कहते हैं—किसी दो दोषों के विशेष पूर्वरूपों के साथ मिले हुए सामान्य पूर्वरूप के लक्षणों के दीख पड़ने से उसे द्वन्द्वज पूर्वरूप समझना चाहिए ॥ ७ ॥

अन्यतराभ्यां = जृम्भानेत्रदाहाभ्यां, जृम्भाऽन्नारुचिभ्यां, नेत्रदाहान्नारुचिभ्यां वा संसृष्टैः, रूपैः = श्रमादिभिः, द्वन्द्वजं = द्विदोषजं पूर्वरूपम् , विदुः = जानीयुः ॥ ७ ॥

यहाँ पर "अन्यतराभ्यां संसृष्टैः" से किसी दो दोषों के विशेष पूर्वरूप अर्थात् जंभाई—आँखों में जलन या जंभाई—अन्न में अरुचि अथवा आँखों में जलन—अन्न में अरुचि इनके साथ मिले हुए। "रूप" पद से "श्रमादिक सामान्य पूर्वरूप,' तथा "द्वन्द्वज', पद से "द्विदोषज पूर्वरूप" एवम् "विदुः" पद से "समझना चाहिये" ये सब अर्थ जानें ॥ ७ ॥

अथ सान्निपातिकपूर्वरूपमाह—

सर्वलिङ्गसमावायः सर्वदोषप्रकोपजे ॥ ८ ॥

अब सन्निपात ज्वर के पूर्वरूप कहते हैं—सम्पूर्ण दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होने में सबों के लक्षण का मेल होता है ॥ ८ ॥

सर्वदोषप्रकोपजे (पूर्वरूपे) सर्वलिङ्गसमावायः = अतिशयितजृम्भानेत्रदाहान्नारुचिसहितानां श्रमादीनां समवायो भवति ॥ ८ ॥

यहाँ पर "सर्वदोषप्रकोपजे" इत्यादिक पदों से "सम्पूर्ण दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होनेवाले ज्वर के पूर्वरूप में सभी दोषों के पूर्वरूपों के लक्षणों का अर्थात् अत्यन्त जंभाई, आँखों में जलन एवम् अन्न में अरुचि इन विशेष पूर्वरूपों के सहित श्रमादिक सामान्य पूर्वरूपों का मेल होता है" यह समझें ॥ ८ ॥

अथ ज्वरस्य सामान्यलक्षणमाह—

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा। युगपद्यत्र रोगे तु स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥ ९ ॥

अब ज्वर के सामान्य लक्षण कहते हैं—जिस रोग में-पसीने का न निकलना, शरीर का अत्यन्त गरम हो जाना तथा सर्वाङ्ग ग्रहण ये सब लक्षण एक साथ प्रगट होते हैं उसे "ज्वर" नाम से वैद्य लोग कहते हैं ॥ ९ ॥

स्वेदावरोधः = प्रस्वेदानिर्गमः। न तु पित्तज्वरे स्वेदनिर्गमादेतल्लक्षणं व्यभिचरति, तत्रोत्सर्गापवादभावादिति जेज्जटकार्त्तिककुण्डादयः। अन्ये तु—स्विद्यते उत्स्विद्यतेऽनेनेति स्वेदः = अग्निः, तस्यावरोधः = दोषैराच्छन्नता, सन्तापः=ताप इति वक्तव्ये सन्तापाभिधानं देहेन्द्रियमनसां सन्तापबोधनार्थम्। यत उक्तं चरकेण ज्वरविशेषणं "देहेन्द्रियमनस्तापी"ति। तत्र देहसन्तापो = देहोष्णता। इन्द्रियसन्तापः = इन्द्रियतारूपवैकृत्यम्।

यत उक्तम्—

इन्द्रियाणां तु वैकृत्यं यत्तत् सन्तापलक्षणम्। वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिर्मनःसन्तापलक्षणम् ॥

यहाँ पर "स्वेदावरोध" पदसे "पसीने का न निकलना" यह अर्थ समझना चाहिए, किन्तु यहाँ पर यह शङ्का नहीं करना चाहिए कि-"स्वेदावरोध"ज्वर का विशेष लक्षण है अतः पित्तज्वर में स्वेदावरोध न होने से वह ज्वर न कहा जाय, क्योंकि इसी शङ्का के निवारण के लिए "जेज्जट, कार्त्तिक तथा कुण्डादिक" पण्डित लोग "सामान्य शास्त्र का बाधक विशेष शास्त्र होता है" इस नियम से सामान्य रूप से "पसीना न निकलना" जो ज्वर का लक्षण है वह विशेष रूप से 'पसीना निकलना' जो पित्तज्वर का लक्षण है उससे बाधित हो जाता है तब उससे यह होता है कि पित्तज्वर को छोड़ कर अन्य सभी ज्वरों में पसीना नहीं निकलता है। इससे सामान्य लक्षण के व्यभिचार दोष का वारण हो जाता है। अन्य लोग तो-जिससे पसीना हो उसे "स्वेद" कहते हैं ऐसा अर्थ करके 'स्वेद'

पद से "अग्नि" का ग्रहण करते हैं, और उसका अवरोध अर्थात् वातादिक दोषों से आवृत हो जाना, यह "स्वेदावरोध" का अर्थ करते हैं, तथा—"सन्ताप" इस पद के स्थान में केवल "ताप" इस पद के प्रयोग करने से ही जब काम चल जाता तब पुनः जो "सन्ताप" पद कहा वह "देह-इन्द्रिय तथा मन का सन्तप्त होना" यह अर्थ समझाने के लिए, क्योंकि "चरक" महर्षि ने कहा भी है कि "ज्वर का विशेषण—"देह-इन्द्रिय तथा मन को सन्तप्त करने वाला यह है" यहाँ पर देह का सन्तप्त होना अर्थात् देह तथा इन्द्रिय का उष्ण हो जाना, तथा इन्द्रिय का सन्तप्त होना अर्थात् इन्द्रियों का विकृतिभाव को प्राप्त हो जाना है, क्योंकि अन्यत्र कहा भी है कि—"इन्द्रियों का जो विकृति भाव को प्राप्त हो जाना है वही उसके सन्ताप का लक्षण समझना चाहिए तथा वैचित्य, अरति तथा ग्लानि होना ही मनःसन्ताप समझना चाहिये" ॥ ८ ॥

***सर्वाङ्गग्रहणम् = सर्वेषामङ्गानां वेदनया ग्रहणं, सर्वाण्यङ्गानि स्तम्भेन गृहीतानीव वा भवन्ति। युगपदिति, मिलितमेतल्लक्षणम्, प्रत्येकस्य व्यभिचारात्। यथा स्वेदावरोधः कुष्ठपूर्वरूपे। तथा सन्तापो दाहव्याधौ। तथा सर्वाङ्गग्रहणं सर्वाङ्गरोगाख्यवातव्याधौ ॥९॥**

मूल के ९ वें श्लोक में जो "सर्वाङ्गग्रहणम्" यह पद है उसका अर्थ "सम्पूर्ण अङ्गों का वेदना से ग्रहण अर्थात् सम्पूर्ण अङ्गों का स्तब्धता रोग द्वारा गृहीत होने के समान हो जाना (जकड़ जाना)" यह समझना चाहिये। "युगपद्" इस पद से "उक्त तीनों लक्षण एक साथ जब हों तब ज्वर समझना" ऐसा अर्थ करना चाहिये। क्योंकि यदि अलग-अलग लक्षण मानेंगे तो प्रत्येक लक्षण का अन्य रोगों में भी मिलने से व्यभिचार हो जाता है। जैसे कि—स्वेदावरोध केवल ज्वर का लक्षण मानने से "कुष्ठ के पूर्वरूप में भी "स्वेदावरोध" होता है अतः लक्षण का व्यभिचार हो गया, इसी भांति से "सन्ताप" दाहरोग के पूर्वरूप में भी होता है, तथा "सर्वाङ्गग्रहण" सर्वाङ्ग रोग नामक वातव्याधि के पूर्वरूप में होता है ॥ ९ ॥

अथ प्रस्वेदानिर्गमनपक्षे कारणमाह—

रुणद्धि चाप्यपां धातून् यस्मात्तस्माज्ज्वरातुरः। भवत्यत्युष्णगात्रश्च स्विद्यते न च सर्वशः॥

अब पसीना न निकलने के कारण कहते हैं—जब कि ज्वर जलसम्बन्धी धातु का अर्थात् रस धातु का अवरोध करता है अतः ज्वर-युक्त रोगी का शरीर अत्यन्त गर्म हो जाता है तथा उसके सभी अङ्गों से पसीना नहीं निकलने लगता है ॥ १० ॥

***यस्माज्ज्वरोऽपां धातून् = रसधातून् रुणद्धि, तस्माद्धेतोर्ज्वरातुरोऽत्युष्णगात्रो भवति सर्वशः स्विद्यते न च ॥ १० ॥**

इसका अर्थ मूल से ही समझना क्योंकि स्पष्ट है ॥ १० ॥

अथ ज्वरस्य सामान्यचिकित्सामाह—

अंशांशं यत्र दोषाणां विवेक्तुं नैव शक्नुयात्। साधारणीं क्रियां तत्र विदध्यात्तु चिकित्सकः।
सामान्यतो ज्वरी पूर्वं निर्वाते निलये वसेत्। निर्वातमायुषो वृद्धिमारोग्यं कुरुते यतः ॥११॥

अब ज्वर की सामान्य चिकित्सा कहते हैं—जिस समय ज्वर में वातादिक दोषों में किसका कितना अंश है यह समझ में न आवे अर्थात् दोष किस परिमाण में कुपित हुआ है यह समझ में न आवे तो उस समय वहाँ पर जो सभी ज्वर के लिये साधारण चिकित्सा है उसीको वैद्यगण सर्व-प्रथम करे। साधारण रूप से सर्वप्रथम ज्वररोगी को प्रवात-शून्य गृह में रक्खे क्योंकि निर्वात स्थान-आयु को बढ़ाने वाला एवम् आरोग्य-कारक होता है ॥ ११ ॥

अथ व्यजनानिलस्य गुणानाह—

व्यजनस्यानिलस्तृष्णास्वेदमूर्च्छाश्रमापहः। तालवृन्तभवो वातत्रिदोषशमनो मतः ॥ १२ ॥

वंशव्यजनजः सोष्णो रक्तपित्तप्रकोपणः । चामरो वस्त्रसम्भूतो मायूरो वेत्रजस्तथा ॥
एते दोषजितो वाताः स्निग्धा हृद्याः सुपूजिताः ॥ १३ ॥

अब निर्वात स्थान में रखने पर यदि वायु की आवश्यकता हो तो पंखे की वायु करना चाहिए, अतः सामान्य रूप से पंखे की वायु का एवं ताड़पत्रादिक से बने हुए पंखों के भी गुण कहते हैं—

पंखे की वायु—प्यास, पसीना, मूर्च्छा तथा श्रम को दूर करने वाली होती है।

ताड़पत्र के पङ्खे की वायु-त्रिदोष को दूर करने वाली मानी गई है।

बांस के पङ्खे की वायु-उष्णता उक्त (गरम) तथा रक्तपित्त को कुपित करने वाली होती है।

और चमर तथा वस्त्र की वायु एवम् मयूर-पिच्छ तथा बेंत के बने हुये पङ्खे की वायु—दोषों को दूर करने वाली, स्निग्ध, हृद्य (हृदय को प्रिय) तथा प्रशस्त होती है ॥ १२-१३ ॥

अथान्यान्यप्यपि सामान्यज्वरपथ्यान्याह—

नवज्वरी भवेद् यत्नाद् गुरूष्णवसनावृतः । यथर्तुपक्वपानीयं पिबेत्किञ्चिन्निवारयन् ॥ १४ ॥
विनाऽपि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते । न तु पथ्यविहीनस्य भेषजानां शतैरपि ॥ १५ ॥

अब नवीन ज्वर रोगी के लिये अन्य भी पथ्य विषयों को कहते हैं—नवज्वरी को चाहिये कि वह यत्नपूर्वक गर्म तथा भारी वस्त्रों को ओढ़कर रहे और प्यास लगने पर ठहर २ कर ऋतु के अनुकूल पकाये हुये जल को थोड़ा २ पीवे। इस प्रकार से विना ओषधि किये भी केवल पथ्य वस्तुओं के सेवन से ही रोग दूर हो जाते हैं और यदि पथ्य वस्तुओं का सेवन न करे तो सैकड़ों ओषधियों के करने से भी रोग दूर नहीं होते हैं अतः पथ्य सेवन सर्वप्रधान है ॥ १४-१५ ॥

अथ तरुणज्वरे त्याज्यानाह सुश्रुतः—

परिषेकान्प्रदेहांश्च स्नेहान्संशोधनानि च । दिवास्वप्नं व्यवायञ्च व्यायामं शिशिरं जलम् ॥
क्रोधप्रवातभोज्यांश्च वर्जयेत्तरुणज्वरी ॥ १७ ॥

अब तरुणज्वर में त्याज्य विषयों को कहते हैं—परिषेक, प्रदेह, स्नेहपान, संशोधन (वमन, विरेचनादि कर्म), दिन में सोना, मैथुन, व्यायाम (शारीरिक श्रम), शीतल जल, क्रोध, प्रवात-सेवन और भोजन इन सबों का तरुण ज्वर वाला रोगी सेवन करना छोड़ दे ॥ १६-१७ ॥

*परिषेकः=स्नानादिः । प्रदेहः=अनुलेपनाभ्यङ्गादिः । स्नेहान् पाने निषिद्धान् ॥१७॥

यहाँ पर "परिषेक" पद से "स्नानादिक करना" तथा "प्रदेह" पद से "उबटन लगाना, तेल मालिश करना" आदिक अर्थ समझना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

अथ त्याज्यसेवनादवगुणानाह—

शोषं छर्दिं मदं मूर्च्छां भ्रमं तृष्णामरोचकम् । प्राप्नोत्युपद्रवानेतान्परिषेकादिसेवनात् ॥१८॥

अब त्याज्य वस्तुओं के सेवन करने के अवगुणों को कहते हैं-पूर्वोक्त परिषेकादिक त्याज्य विषयों के सेवन करने से तरुण ज्वर वाला रोगी-शोष, वमन, मद, मूर्च्छा, भ्रम, तृष्णा और अरुचि इन सब उपद्रवों को प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

*आदिशब्देन प्रदेहादयो गृह्यन्ते ॥ १८ ॥

यहाँ पर-परिषेकादि में "आदि" पद से "प्रदेहादिक" का ग्रहण करना चाहिये ॥ १८ ॥

अथ तरुणज्वरे त्याज्यव्यायामादीनां सेवने पृथक् पृथक् दोषानाह हारीतः—

व्यायामाज्ज्वरसंवृद्धिर्व्यवायात्स्तम्भमूर्च्छनम् । मृतिश्च स्नेहपानाद्यैर्मूर्च्छा च्छर्दिर्मदोऽरुचिः ॥
गुर्वन्नभोजनात्स्वप्नाद्विष्टम्भो दोषकोपनम् । अग्निसादः खरत्वञ्च स्रोतसां च प्रवर्त्तनम् ॥

अब तरुणज्वर में त्याज्य व्यायामादिकों के सेवन करने में पृथक् २ दोषों को कहते हैं—व्यायाम करने से ज्वर की वृद्धि तथा मैथुन से स्तब्धता, मूर्च्छा और मृत्यु भी हो जाती है और स्नेह-

पानादिक से मूर्च्छा, वमन, मद तथा अरुचि होती है, एवम् गुरु अन्न भोजन करने से तथा दिन में सोने से विष्टब्धता, दोषों का कुपित होना, अग्निमान्द्य, खरत्व (तीक्ष्णता), मुख–नासादिक स्रोतोमार्गों से जलादिक का स्राव होना ये सब होते हैं ॥ १९–२० ॥

***मृतिरिति व्यवायादित्यत्र सम्बध्यते । स्वप्नाद् = दिवास्वापात् ॥ १९–२० ॥**

यहाँ पर "मृति" इसका सम्बन्ध पूर्व में पठित "व्यवायात्" इस पद के साथ है, तथा "स्वप्न" पद से "दिन में सोना" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १९–२० ॥

अन्यच्च वर्जयेत्—

सज्वरो ज्वरमुक्तो वा विदाहीनि गुरूणि च । असात्म्यान्नानि पानानि विरुद्धाध्यशनानि च ॥
व्यायाममतिचेष्टां वाऽभ्यङ्गं स्नानञ्च वर्जयेत् । तेन ज्वरः शमं याति शान्तश्च न पुनर्भवेत् ॥

इसके अतिरिक्त अन्य निम्नलिखित विषयों को भी छोड़ना चाहिये, जैसा कि कहा हुआ है कि–ज्वर से युक्त या ज्वर से रहित रोगी–विदाही, गुरु (देर में पचनेवाला), अहितकर अन्न-पान, विरुद्ध भोजन, अध्यशन (भोजन कर चुकने पर भी पुनः भोजन करना), व्यायाम, अत्यन्त चेष्टा (चलने-फिरने द्वारा शरीर का अधिक सञ्चालन करना), तेल–घी आदि की मालिश, स्नान इन सब कार्यों को छोड़ देवे । ऐसा करने से ज्वरयुक्त रोगी का ज्वर शान्त हो जाता है और शान्तज्वर वाले रोगी का ज्वर पुनः नहीं उभड़ता है ॥ २१–२२ ॥

अथ "ज्वरी लङ्घनं कुर्यादि"त्याह चरको वाग्भटश्च—

आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान् पिधापयन् । विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लङ्घनमाचरेत् ॥

इसके बाद "ज्वरयुक्त रोगी को लङ्घन (उपवास) करना चाहिये" इस विषय में चरक तथा वाग्भट के वचन को कहते हैं–आमाशय स्थित दोष जठराग्नि को नष्ट करके साम (आम के सहित) होता हुआ मार्गों को अवरुद्ध करता है और उसके बाद ज्वर को उत्पन्न करता है, इस लिये लङ्घन करना चाहिये ॥ २३ ॥

***अस्यायमर्थः—यतो हेतोरामाशयस्थो दोषो वातपित्तकफरूपः, अग्निं हत्वा=आच्छाद्य, सामः = अपक्वाहाररससहितः, मार्गं पिधापयन् = अत्रार्षत्वादहेतावपि कर्त्तरि शतृप्रत्ययस्तेन पिदधातीत्यर्थः । ज्वरं करोति, तस्माद्धेतोर्लङ्घनं ज्वरी आचरेदित्यर्थः ॥२३॥**

यहां पर इसका स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि—जब कि आमाशय में स्थित वात-पित्त तथा कफरूपी दोष जठराग्नि को नष्ट करके अर्थात् ढक करके, आमसहित अर्थात् अपक्व आहार-रस के सहित होता हुआ मार्गों को अर्थात् रस के स्रोतोमार्गों को अवरुद्ध करता है । और उसके बाद ज्वर को उत्पन्न करता है। इस कारण से ज्वरयुक्त रोगी आमदोषों को पचाने के लिये तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिये एवम् अवरुद्ध रसवाही स्रोतों को शुद्ध करने के लिये लङ्घन (उपवास) करे ।

और यहाँ पर यह भी समझना चाहिये कि "मार्गान् पिधापयन्" इन पदों के अन्तर्गत "पिधापयन्" पद में जो शतृ प्रत्यय हुआ है वह आर्ष (ऋषि का वचन) होने से कर्त्ता के हेतु न होने पर भी हुआ है अतः उसका "अवरुद्ध करता है" यह अर्थ किया गया है, इसका विशद विवेचन पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में देखना चाहिये ॥ २३ ॥

यथा—

ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम् । ज्वरान्ते भेषजं दद्याज्ज्वरमुक्ते विरेचनम् ॥२४॥
त्रिविधं त्रिविधे दोषे तत्समीक्ष्य प्रयोजयेद् । दोषेऽल्पे लङ्घनं पथ्यं मध्ये लङ्घनपाचनम् ॥
प्रभूते शोधनं तच्च मूलादुन्मूलयेन्मलान् ॥ २५ ॥

जैसा कि लङ्घनादि के विषय में अन्यत्र कहा हुआ है कि-ज्वर के आदि में लङ्घन, मध्य में पाचन औषधि और ज्वर के अन्त्य अवस्था में ज्वरनाशक मुख्य औषधि देनी चाहिये। और ज्वर से मुक्त होने पर रोगी को विरेचन देना चाहिये।

ज्वर में दोषों की निम्नलिखित तीन प्रकार की अवस्थाओं का भली भांति विचार कर तदनुसार निम्नलिखित तीन प्रकार के कार्यों को करना चाहिये। जैसे कि-१ यदि वातादि दोष स्वल्प मात्रा में दूषित हुये हों तो लङ्घन कराना विशेष हितकर होता है, २ मध्य मात्रा में दूषित होने पर लङ्घन तथा पाचन दोनों ही हितावह होते हैं, ३ और अधिक मात्रा में दोषों के दूषित होने पर शोधन (विरेचनादिक) कार्य विशेष उपयुक्त होता है। क्योंकि-शोधन (विरेचनादि) का प्रयोग करने से सम्पूर्ण मल जड़ से उखड़ जाते हैं ॥ २४-२५ ॥

चक्रदत्तश्च—

तरुणं तु ज्वरं पूर्वं लङ्घनेन क्षयं नयेत्। आमदोषमलिङ्गाद्वा लङ्घयेत्तं यथाविधि ॥ २६ ॥

और "चक्रदत्त" का भी यह कथन है कि—नवीन ज्वर में प्रथम लङ्घन के द्वारा आमदोषों का क्षय करावे। और यदि ज्वर में दोषों के लक्षण स्वल्प दिखाई पड़ते हों तो भी रोगी को यथाविधि लङ्घन कराकर आमदोषों का क्षय करावे अर्थात् आमाशय स्थित दोषों के द्वारा उत्पन्न होने वाले प्रत्येक रोगों में सर्व-प्रथम लङ्घन का ही उपयोग करे ॥ २६ ॥

अन्यच्च—

अथ दोषपाकसमयमाह—

वातः पचति सप्ताहात्पित्तं तु दशभिर्दिनैः। श्लेष्मा द्वादशभिर्घस्रैः पच्यते वदतां वर ॥२७॥
लङ्घनं लङ्घनीयस्तु कुर्याद्दोषानुरूपतः। त्रिरात्रमेकरात्रं वाऽहोरात्रमथ वा ज्वरे ॥ २८ ॥
निर्वातसेवनात्स्वेदाल्लङ्घनादुष्णवारिणः। पानादामज्वरे क्षीणे पश्चादौषधमाचरेत् ॥ २९ ॥

और अन्यत्र दोषों के परिपाक का समय इस भांति कहा हुआ है कि—वात दोष का ७ दिन में परिपाक होता है, पित्त दोष का दश दिन में और कफ दोष का १२ दिन में परिपाक होता है। ज्वर में जिसको लङ्घन कराना हो तो उसके दोषों की अवस्था का विचार कर तदनुसार तीन रात्रि या एक रात्रि अथवा एक अहोरात्र (एक दिन तथा एक रात्रि अर्थात् २४ घण्टे) तक लङ्घन (उपवास) करावे।

और निर्वात (वायु रहित) स्थान में रहने से, स्वेदन कर्म (पसीना निकालने) से, लङ्घन (उपवास) करने से, और गर्म किये हुये जल के पीने से आम ज्वर क्षीण हो जाने पर ही ज्वर-नाशक मुख्य औषधि का प्रयोग करना चाहिये ॥ २७-२९ ॥

आत्रेयेणोक्तम्—

ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम्। ज्वरान्ते भेषजं दद्याज्ज्वरमुक्ते विरेचनम् ॥३०॥

महर्षि आत्रेय ने भी कहा है कि—"ज्वर के आरम्भ अवस्था में लङ्घन, मध्य अवस्था में पाचन, और अन्त अवस्था में अर्थात् लङ्घनादि के बाद मुख्य औषध देना चाहिये एवम् ज्वर से मुक्त होने पर रोगी को विरेचन देना चाहिये" ऐसा आयुर्वेदज्ञों ने कहा है ॥ ३० ॥

ॐअत्र लङ्घनशब्देनानशनमुच्यते। यत आह सुश्रुतः—

आनद्धः स्तिमितैर्दोषैर्यावन्तं कालमातुरः। तावत्स्वनशनं कुर्यात्ततः संसर्गमाचरेत् ॥ ९ ॥

यहां पर "लङ्घन" पद से "अनशन" अर्थात् उपवास करना कहा हुआ है। क्योंकि "सुश्रुत" महर्षिने कहा है कि—जब तक रोगी निश्चल दोषों से संवद्ध रहे तब तक वह अनशन (उपवास) करता रहे, उसके बाद मुख्य औषध तथा अन्नादि का संसर्ग (प्रवेश) करे ॥ ९ ॥

*आनद्धः स्तिमितैर्दोषैः=निश्चलैर्दोषैः सम्बद्धः। संसर्गम्=औषधान्नादिप्रसङ्गम् ॥९॥

यहां पर "आनद्धः स्तिमितैर्दोषैः" इन पदों का "निश्चल दोषों से सम्बद्ध रहे" तथा "संसर्ग" पद का "मुख्य औषध तथा अन्नादि संसर्ग (प्रयोग)" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ९ ॥

*यत आह चरकः—

चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ॥१०॥

और चरक ने भी कहा हैं कि—चार प्रकार की संशुद्धि, प्यास, वायु, धूप, पाचन ओषधि, उपवास और व्यायाम ये सब "लङ्घन" नाम से व्यवहृत होते हैं ॥ १० ॥

*चतुष्प्रकारा संशुद्धिः=वमनविरेचननिरूहवस्तिशिरोविरेचनानि। न त्वनुवासनं तस्य बृंहणत्वात्। अत्र लङ्घनं कर्षणमित्यर्थः ॥ १० ॥

यहां पर "चार प्रकार की संशुद्धि" से "१ वमन २ विरेचन ३ निरूहवस्ति ४ शिरोविरेचन ये ४ ही कर्म लिये जाते हैं। किन्तु संशुद्धि के अन्दर पठित अनुवासन वस्ति को बृंहण होने से नहीं लिया जाता है। क्यों कि यहां पर "लङ्घन" पद का "कर्षण" अर्थ माना गया है ॥ १० ॥

*तथा च सुश्रुतः—

शरीरलाघवकरं यद् द्रव्यं कर्म वा पुनः। तल्लङ्घनमिति ज्ञेयं बृंहणं तु पृथग्विधम् ॥ ११ ॥

और इस विषय में "सुश्रुत" भी कहते हैं कि—जो द्रव्य या कर्म शरीर मे लघुता उत्पन्न करने वाला होता है उसे "लङ्घन" समझना चाहिये; इससे भिन्न को "बृंहण" समझना चाहिये ॥ ११ ॥

*लङ्घनात्कर्षणादन्यत् शरीरपोषकमित्यर्थः ॥ ११ ॥

यहां पर "इससे भिन्न को" कहने से "लङ्घन अर्थात् कर्षण से अन्य अर्थात् शरीर को पुष्ट करने वाले द्रव्य को" यह समझना चाहिये ॥ ११ ॥

*ननु "आनद्धः स्तिमितैर्दोषैरि"त्यादि पूर्वोक्तसुश्रुतवचनात्सामान्यतो ज्वरिणा यथाऽनशनरूपं लङ्घनं क्रियते, तथा "चतुष्प्रकारा संशुद्धिः" इत्यादिचरकवचनाद्वमनादिरूपं लङ्घनं सर्वैर्ज्वरिभिः कथं न क्रियते? तत्रोच्यते-वमनादिकमवस्थाविशेषेषु क्रियते, न तु सर्वज्वरेषु।

तथा च सुश्रुतः—

सोत्क्लेशे बलिने देयं वमनं श्लैष्मिकज्वरे। पित्तप्राये विरेकस्तु कार्यः प्रशिथिलाशये ॥१२॥

यहां पर शङ्का होती है कि—"आनद्धः स्तिमितैर्दोषैः" इत्यादि पूर्वोक्त सुश्रुत के वचन से सामान्य रूप से ज्वर वाले रोगी को जिस प्रकार से अनशन (उपवास) रूप लङ्घन कराया जाता हैं, उसी प्रकार से "चतुष्प्रकारा संशुद्धिः" इत्यादि पूर्वोक्त चरक के वचन से वमनादिरूप लङ्घन सभी ज्वर वाले रोगी को क्यों नहीं कराया जाता है?

इसके उत्तर में यह कहते हैं कि-वमनादि रूप भी लङ्घन ज्वर वाले रोगी को कराया जाता है किन्तु अवस्था विशेष में न कि सभी ज्वरों में, इसी विषय में सुश्रुत भी कहते हैं कि—

कफज्वर में वमन की इच्छा होने पर यदि रोगी बलवान् हो तो उसे वमन रूप चरकोक्त लङ्घन कराना चाहिये। और पित्तज्वर में रोगी के गाढ मलाशय होने पर अर्थात् कठिन कोष्ठ वाला रोगी होने पर उसे विरेचन रूप लङ्घन कराना चाहिये ॥ १२ ॥

*सोत्क्लेशे=वमनेच्छावति, प्रशिथिलाशये=प्रोपसर्गवैपरीत्येन गाढाशय इत्यर्थः॥१२॥

यहां पर "सोत्क्लेशे" पद का "वमन की इच्छा होने पर" तथा "प्रशिथिलाशये" पद का "प्रशिथिल" में "प्र" उपसर्ग का "विपरीत" अर्थ होने से "शिथिल से विपरीत अर्थात् गाढ मलाशय होने पर" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १२ ॥

ॐसरुजेऽनिलजे कार्यं सोदावर्त्ते निरूहणम्। कफाभिपन्ने शिरसि कार्यं मूर्द्धविरेचनम् ॥ १३ ॥

और वातज्वर में यदि रोगी के उदर में पीड़ा तथा उदावर्त्त रोग हो तो उसे निरूहण वस्ति रूप लङ्घन कराना चाहिये, और ज्वर में यदि रोगी का शिर कफ से व्याप्त हो तो उसे शिरोविरेचन रूप लङ्घन कराना चाहिये ॥ १३ ॥

ॐसोदावर्त्ते = उदरपूरणवति ॥ १३ ॥

यहां पर "सोदावर्त्ते" पद का "उदावर्त्त रोग हो अर्थात् उदर वायु से पूर्ण हो गया हो" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १३ ॥

ॐअपि च सर्वज्वरिभिः पिपासानिग्रहश्च न कार्यः। यत आह हारीतः—

तृष्णा गरीयसी घोरा सद्यःप्राणविनाशिनी। तस्माद्देयं तृषाऽऽर्त्ताय पानीयंप्राणधारणम्॥१४॥

और सभी ज्वर वाले रोगी को प्यास रोकने (पिपासा-सहन) रूप लङ्घन को नहीं कराना चाहिये क्यों कि हारीत ऋषि ने कहा है कि—

अधिक प्यास लगने पर यदि पानी न पिया जाय तो वह अत्यन्त भयङ्कर होने से तत्काल प्राण को नष्ट करने वाली हो जाती है, अतः जो प्यास लगने से पीड़ित हो रहा हो उसे पानी पीने के लिये अवश्य थोड़ा २ देना चाहिये, क्योंकि ऐसी अवस्था में पानी ही प्राण को रखने वाला होता है ॥१४॥

ॐअतोऽवस्थाविशेष एव पिपासासहनं ज्वरिभिर्मारुतसेवनं च कार्यम्, सुश्रुतेन प्रवात-सेवनस्य सर्वथा निषिद्धत्वात्। अतो मारुतसेवनमवस्थाविशेष एवोक्तम्। आतपसेवनं चाप्यवस्थाविशेष एव युक्तम्।

लङ्घनाम्बुयवागूभिर्यदा दोषो न पच्यते। तदा तु मुखवैरस्यतृष्णाऽरोचकनाशनैः॥
ज्वरघ्नैः पाचनैर्हृद्यैः कषायैः समुपाचरेत् ॥ १५ ॥

अतः अवस्था विशेष में ही ज्वर वाले को पिपासा-सहन (प्यास रोकना) रूप लङ्घन तथा मारुत सेवन (वायु-सेवन) रूप लङ्घन करना चाहिये, क्यों कि सुश्रुत ने प्रवात (अधिक वायु) का सेवन भी ज्वर रोगी के लिये सब प्रकार निषिद्ध कहा है। अत एव वायु-सेवन अवस्था विशेष में ही कहा गया। और आतप-सेवन (धूप में रहना) रूप लङ्घन भी अवस्था विशेष में ही करना उचित होता है।

जब लङ्घन (उपवास) करने तथा उष्ण जल और यवागू पीने से भी दोषों का परिपाक न हो तो उस समय मुख की विरसता, प्यास तथा अरुचि को दूर करने वाले एवम् ज्वरनाशक तथा हृदय के लिये हितकर ऐसे जो पाचन (दोषों को पचाने वाले) क्वाथ हों, उनके द्वारा ज्वर रोगी का उपचार करना चाहिये ॥ १५ ॥

ॐइत्यत्र लङ्घनपाचनयोः स्फुट एव भेदः ॥ १५ ॥

यहां पर लङ्घन (उपवास) तथा पाचन का भेद स्पष्ट ही हो गया है ॥ १५ ॥

ॐव्यायामोऽपि न कार्यस्तस्यातिनिषिद्धत्वात्। अवस्थाविशेषे पुनः पार्श्वपरिवर्त्तनादि-रूपः सोऽपि कर्त्तव्यः। तस्मा "च्चतुष्प्रकारा संशुद्धिरि"त्यादिश्लोके लङ्घनपदं कर्षणप-र्यायमिति निर्णीतम् ॥ ३० ॥

और व्यायाम रूप लङ्घन भी ज्वर रोगी को नहीं करना चाहिये क्यों कि उसका अत्यन्त निषेध किया गया है। किन्तु अवस्था-विशेष में तो पार्श्वपरिवर्त्तनादिक (करवट बदलना आदिक) रूप व्यायाम करना ही चाहिये।

इससे "चतुष्प्रकारा संशुद्धिः" इत्यादिक श्लोक में "लङ्घन" पद "कर्षण" पर्यायवाचक ही है, इसका निर्णय हो गया ॥ ३० ॥

दोषशेषस्य पाकार्थमग्नेः सन्धुक्षणाय च। लङ्घितश्चाप्यदोषश्चेद्यवागूपानमाचरेत् ॥ ३१ ॥ शालिषष्टिकमुद्गानां यूषं वा शस्तमाचरेत्। पञ्चकोलेन संसिद्धां यवागूं मध्यलङ्घने ॥ ३२ ॥ अत्यर्थं लङ्घितं दृष्ट्वा तस्य संतर्पणं हितम्। द्राक्षादाडिमखर्जूरप्रियालैः सपरूपकैः ॥ ३३ ॥ तर्पणार्हस्य कर्त्तव्यं तर्पणं ज्वरशान्तये ॥ ३४ ॥

ज्वर रोगी जब साधारणतया उपवास कर चुका हो तथा दोषरहित हो चुका हो तो उस समय यत्किञ्चिद् अवशिष्ट दोषों को भी पचाने के लिये तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिये उसे यवागू पिलाना चाहिये, अथवा शालिधान्य (अगहनी) तथा षष्टिक धान्य (साठी के चावल) एवं मूंग का जूस उत्तम रीति से बनाकर पिलाना चाहिये।

और जब मध्यम रूप से (न अत्यधिक और न अत्यल्प) लङ्घन कर चुका हो तो उसे पञ्चकोल (पीपल, पिपरामूल, चव्य, चीता और सोंठ) के क्वाथ से सिद्ध की हुई यवागू पिलानी चाहिये।

और जब ज्वर रोगी को देखे कि वह अत्यन्त लङ्घन कर चुका है तो उसे दाख, अनार, खजूर, चिरौंजी तथा फालसे इन सबों के देने से सन्तर्पण कराना हितकर होता है। क्यों कि सन्तर्पण करने योग्य ज्वर रोगी का ज्वर शान्ति के लिये सन्तर्पण करना अवश्य कर्त्तव्य ही है ॥ ३१-३४ ॥

अथोपवासरूपलङ्घनस्य फलमाह—

लङ्घनेन क्षयं नीते दोषे सन्धुक्षितेऽनले। विज्वरत्वं लघुत्वं च क्षुच्चैवास्योपजायते ॥ ३५ ॥

उपवास रूप लङ्घन का फल—उपवास रूप लङ्घन करने से बढ़े हुये दोषों के क्षय होने पर एवम् जठराग्नि के प्रदीप्त होने पर रोगी का ज्वर नष्ट हो जाता है तथा शरीर में लघुता एवं भूख उत्पन्न होती है ॥ ३५ ॥

* लङ्घनेन = अनशनेन, दोषे प्रवृद्धे क्षयं नीते। यत आह—

"आहारं पचति शिखी दोषानाहारवर्जितः ॥" १६ ॥ इति।

यहां पर "लङ्घन" पद से "उपवास रूप लङ्घन" का ग्रहण किया गया है। और "दोषे प्रवृद्धे क्षयं नीते" इन पदों का अर्थ "बढ़े हुये दोषों के क्षय होने पर" समझना चाहिये। क्यों कि अन्यत्र कहा भी है कि—

जठराग्नि आहार को पचाती है और आहार से रहित होने पर अर्थात् जब आहार पचाने के लिये नहीं रहता है तब दोषों को पचाती है ॥ १६ ॥

***पचतीति। सन्धुक्षितेऽनले, आच्छादकदोषे क्षीणे, अग्नौ प्रदीप्ते यथोक्तसम्प्राप्तिसामग्रीविघटनाद्विज्वरत्वम्। शरीरस्य गौरवाभावेन लघुत्वम्। क्षुद् = बुभुक्षा च जायत इत्यर्थः ॥ ३५ ॥**

और यहां पर लङ्घन करने से जो ज्वर नष्ट होता है, उसका कारण यह समझना चाहिये कि—आहाररहित होने से अग्नि दोषों को पचाती है इस कारण से ज्वर होने में जब बढ़े हुये दोषों से अग्नि आच्छन्न हो जाती है तब उस समय लङ्घन (उपवास) करने से आच्छादक दोषों का क्षय होता है और अग्नि प्रदीप्त हो उठती है अत एव यथोक्त ज्वर की संप्राप्ति के सामग्रियों का अभाव हो जाने से ज्वर नष्ट हो जाता है।

और जो लघुता उत्पन्न होती है उसमें कारण गुरुता का अभाव समझना चाहिये। तथा—"क्षुत्" पद का "भूख" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३५ ॥

अन्यच्चाह सुश्रुतः—

अनवस्थितदोषाग्नेर्लङ्घनं दोषपाचनम्। ज्वरघ्नं दीपनं काङ्क्षारुचिलाघवकारकम् ॥ ३६ ॥

इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने और भी कहा है कि—जिसके वातादिक दोष तथा अग्नि अपने स्थान से इधर उधर चलायमान हो गये हैं ऐसे ज्वर रोगी को उस समय लङ्घन (उपवास) कराने से चढ़े हुये दोषों का पाचन होता है तथा ज्वर नष्ट हो जाता है एवम् अग्नि प्रदीप्त हो जाता है और अन्न खाने की इच्छा, रुचि तथा लघुता भी उत्पन्न होती है ॥ ३६ ॥

***अनवस्थितदोषाग्नेः = अनवस्थितः=स्वस्थानादितस्ततो गतो दोषोऽग्निश्च यस्य तस्य ज्वरिणः। काङ्क्षा = अन्नाभिलापः, रुचिः = लङ्घनेनामपाकान्मुखशोषादिनाशे मुखस्य यत्प्रकृतत्वं सैव रुचिः = शोभा।**

"रुचिः स्त्री दीप्तिशोभायामभीष्टार्थाभिलाषयोः" इति मेदिनीकारः ॥ ३६ ॥

यहां पर "अनवस्थितदोषाग्नेः" इस पद के अन्तर्गत "अनवस्थित" पद का "अपने स्थान से इधर उधर चलायमान हो गये हैं" यह अर्थ समझना चाहिये। और "काङ्क्षा" पद का अर्थ "अन्न खाने की इच्छा" समझना चाहिये। एवम् "रुचि" पद से "लङ्घन करने के द्वारा आम के पच जाने से मुखशोषादिक के नष्ट हो जाने पर मुख की रुग्णावस्था के पहले की शोभा" का ग्रहण करना चाहिये। "रुचि" पद का अर्थ "शोभा" करने में मेदिनी कोश प्रमाण भी है क्योंकि उसमें मेदिनीकार ने लिखा है कि—रुचि शब्द स्त्रीलिङ्ग है तथा यह—दीप्ति, शोभा, अभीष्ट अर्थ तथा अभिलाषा वाचक है ॥ ३६ ॥

अथ सम्यक्कृतस्य लङ्घनस्य लक्षणमाह—

वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे। हृदयोद्गारकण्ठास्यशुद्धौ तन्द्राक्लमे गते ॥ ३७ ॥
स्वेदे जाते रुचौ चापि क्षुत्पिपासासहोदये। कृतं लङ्घनमादेश्यं निर्व्यथे चान्तरात्मनि ॥३८॥

भली भांति से किये हुये लङ्घन के लक्षण—जब लङ्घन करने वाले ज्वर रोगी को अधोवायु, मूत्र तथा मल का शुद्ध रीति से त्याग, शरीर में लघुता एवम् हृदय, उद्गार (डकार), कण्ठ तथा मुख की शुद्धि ये सब होने लगें और तन्द्रा तथा ग्लानि दूर हो जाय एवम् स्वेद निकलना तथा रुचि (मुख की आम के पच जाने से रुग्णावस्था के पूर्व की शोभा) उत्पन्न होना, भूख और प्यास का साथ ही साथ उत्पन्न होना एवम् मन का व्यथारहित होना ये सब लक्षण देख पड़ने लगें तब कहना चाहिये कि रोगी ने लङ्घन उत्तम रीति से किया है ॥ ३७-३८ ॥

***हृदयस्य शुद्धिः = हृदयानवरोधः। उद्गारशुद्धिः = सधूमाम्लोद्गाराभावः। कण्ठस्य शुद्धिः = कफेनानवलिप्तत्वम्। आस्यशुद्धिः = मुखस्य प्रकृतरसत्वम्। तन्द्राक्लमे=तन्द्रा च क्लमश्च तस्मिन्, तन्द्रा = निद्रावत् क्लान्तिः, क्लमोऽत्र ग्लानिः। क्षुत्पिपासासहोदये = क्षुत्पिपासयोः सह युगपदुदये। अन्तरात्मनि = मनसि। एतानि लक्षणानि मिलितान्येव सम्यक्कृतं लङ्घनं बोधयन्ति, न तु प्रत्येकम् ॥ ३७-३८ ॥**

यहां पर "हृदय की शुद्धि" कहने से "हृदय का अवरोध न होना" और "उद्गार की शुद्धि" से "धूम सहित (धुआइन), खट्टी डकार का न आना" तथा "कण्ठ की शुद्धि" से "कफ से गले का न लिपटा रहना" एवम् "मुख की शुद्धि" से "मुख का स्वाभाविक अवस्था की भांति रस (स्वाद) होना" समझना चाहिये।

और "तन्द्राक्लमे" पद में "समाहार द्वन्द्व समास" एवम् "तन्द्रा" पद से "निद्रा के समान क्लान्ति" तथा "क्लम" पद से "ग्लानि" का बोध करना चाहिये।

"क्षुत्पिपासासहोदये" पद का "भूख और प्यास का साथ ही साथ उत्पन्न होना" तथा "अन्तरात्मा" का "मन" यह अर्थ समझना चाहिये।

और यहां पर यह भी समझना आवश्यक है कि—उपर्युक्त ये सब लक्षण एक साथ मिलने से ही "भलीभांति से लङ्घन किया गया है" इस बात को बताते हैं, अलग २ कोई २ लक्षण मिलने से नहीं बतलाते हैं। इससे सभी लक्षणों के मिलने से ही उत्तम लङ्घन समझना उचित है ॥३७-३८॥

अथ हीनलङ्घनस्य लक्षणमाह—

कफोत्क्लेशः सहृल्लासः ष्ठीवनं च मुहुर्मुहुः। कण्ठास्यहृदयाशुद्धिस्तन्द्रा स्याद्धीनलङ्घने ॥

हीन लङ्घन के लक्षण—कफोत्क्लेश (कफ का वमन के लिये उपस्थित रहना), उबकाई आना, बारम्बार थूकने पर हृदय से कफ का निकलना, कण्ठ, मुख तथा हृदय का शुद्ध न रहना अर्थात् कण्ठ का कफ से लिपटा रहना, मुख का स्वाभाविक स्वाद न रहना (मुख का विरस रहना) और हृदय का अवरोध एवम् तन्द्रा ये सब लक्षण हीन लङ्घन अर्थात् भली भांति लङ्घन नहीं हुये के हैं ॥ ३९ ॥

***कफोत्क्लेशः=कफस्य वमनायोपस्थितिः। हृल्लासः=उपस्थितवमनत्वमिव। ष्ठीवनं=हृदयात्कफनिर्गमः ॥ ३९ ॥**

यहां पर "कफोत्क्लेशः" पद का "कफ का वमन के लिये उपस्थित होना" और "हृल्लासः" पद का "उबकाई आना अर्थात् वमन होने के समान मालूम पड़ना किन्तु वमन न होना" एवम् "ष्ठीवनम्" पद का "बारम्बार थूकने पर हृदय से कफ का निकलना" यह अर्थ समझना चाहिये ॥

अथातिशयितलङ्घनस्य लक्षणमाह—

पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च कासः शोषो मुखस्य च। क्षुत्प्रणाशोऽरुचिस्तृष्णा दौर्बल्यं श्रोत्रनेत्रयोः ॥
मनसः संभ्रमोऽभीक्ष्णमूर्ध्ववातस्तमो हृदि। देहाग्निबलहानिश्च लङ्घनेऽतिकृते भवेत् ॥४१॥

अत्यन्त लङ्घन किये हुये के लक्षण—शरीर के सभी सन्धियों में टूटने की सी पीड़ा होना, देह टूटना, खांसी, मुखशोष (मुख का सूखना), भूख न लगना, अन्न से अरुचि होना, प्यास लगना, कान तथा नेत्रों का दुर्बल होना अर्थात् अपने २ विषयों को ग्रहण करने में समर्थ न होना (कान से भली भांति सुनाई न पड़ना तथा आँखों से अच्छी तरह से दिखाई न पड़ना), मन में भ्रम का होना, उद्गार (डकार) अधिक आना, हृदय में तम अर्थात् अन्धकार में प्रविष्ट हुये की भांति ज्ञान होना ये सब लक्षण अत्यन्त लङ्घन करने पर प्रगट होते हैं ॥ ४०-४१ ॥

***श्रोत्रनेत्रयोर्दौर्बल्यं=कर्णनेत्रयोः स्वविषयग्रहणासामर्थ्यम्। मनसः सम्भ्रमः=भ्रान्तिः। ऊर्ध्ववातः=उद्गारबाहुल्यम्। हृदि तमः=अन्धकारप्रविष्टस्येव ज्ञानम् ॥**

यहां पर "श्रोत्रनेत्रयोर्दौर्बल्यम्" पदों का "कान तथा नेत्र का अपने २ विषयों को ग्रहण करने (सुनना तथा देखना) में समर्थ न होना" तथा "मनसः संभ्रमः" इनमें "संभ्रम" पद का "भ्रान्ति अर्थात् भ्रम" एवम् "ऊर्ध्ववातः" पद का "उद्गार (डकार) अधिक आना" और "हृदि तमः" पदों का "हृदय में तम अर्थात् अन्धकार में प्रविष्ट हुये की भांति ज्ञान होना" अर्थ समझना चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

अथ बलरक्षणं लङ्घनं कारयेदित्याह—

बलाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत्। बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः ॥४२॥

बल की रक्षा जिससे होती रहे इस भांति से लङ्घन कराने के विषय में कहते हैं कि—रोगी का अत्यन्त बल-क्षय को नहीं करने वाले अर्थात् जिससे अत्यन्त बल-क्षय न हो ऐसे लङ्घन के द्वारा उपचार करना चाहिये; तात्पर्य यह है कि उतना ही लङ्घन कराना चाहिये कि जितने से अत्यन्त बलक्षय न हो। क्योंकि जिस आरोग्य के लिये यह चिकित्सा का उपक्रम है अर्थात् चिकित्सा की जाती है वह आरोग्य बल के आश्रय रहता है ॥ ४२ ॥

*अयमर्थः—एनं=रोगिणं, बलाविरोधिना=अनतियलक्षयकारिणा, लङ्घनेन, उपपादयेद्=उपचरेत्, कुत इति चेत्तत्राह—यदर्थः=यस्मै आरोग्याय, अयं क्रियाक्रमः। तद्, आरोग्यं बलाधिष्ठानं=बलाश्रयमित्यर्थः॥ ४२॥

यहां पर "एतम्" पद का प्रकरण प्राप्त होने से "रोगी" को यह अर्थ समझना चाहिये। "बलाविरोधिना लङ्घनेन" पदों का "अत्यन्त बलक्षय को नहीं करने वाले लङ्घन के द्वारा" तथा "उपपादयेत्" पद का "उपचार करना चाहिये" यह अर्थ समझना चाहिये। क्यों ऐसा करना चाहिये? इस का उत्तर "यदर्थोऽयम्" इत्यादिक श्लोक ४२ के उत्तरार्ध द्वारा कहते हैं। यह और भी यहां पर समझना चाहिये। तथा "यदर्थः" पद का "जिस आरोग्य के लिये" एवम् "अयं क्रियाक्रमः" पदों का "यह चिकित्सा का उपक्रम है", "तद् आरोग्यम्" पदों में "तद्" पद का "यद्" पद के द्वारा ऊपर से आक्षेप किया गया है अत एव उक्तपद का "वह आरोग्य" तथा "बलाधिष्ठानम्" पद का "बल के आश्रय रहता है" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ४२॥

अथ केषाञ्चिदनशनस्य निषेधमाह सुश्रुतः—

तद्धि मारुततृष्णाक्षुन्मुखशोषभ्रमान्वितः।
न कार्यं गुर्विणीबालवृद्धदुर्बलभीरुभिः। न क्षयाध्वश्रमक्रोधकामशोकचिरज्वरी॥ ४३॥

"किसी २ रोगियों के सम्बन्ध में सुश्रुत ने लङ्घन (उपवास) के लिये निषेध किया है" इसी विषय को दिखाते हुये कहते हैं कि—वात-ज्वर वाले तथा तृष्णा (प्यास) और भूख से पीड़ित एवम् मुखशोष और भ्रमरोग से युक्त रोगी, गर्भिणी स्त्री, बालक, वृद्ध, दुर्बल, भीरु (डरपोक), क्षयरोगी तथा मार्ग चलने और परिश्रम करने से थके हुवे एवम् क्रोधी, काम से पीड़ित, शोक-रोगी तथा चिरकाल से ज्वर-पीड़ित रोगी इन सबों को अनशन (उपवास) नहीं करना चाहिये॥ ४३॥

*तदनशनम्, उल्बणमारुतयुक्तेन ज्वरिणा न कार्य्यम्। मारुतोऽत्र निरामो बोद्धव्यः, सामे मारुते लङ्घनं कार्य्यमेव। यत आह तन्त्रान्तरे—"अवश्यमि" त्युत्तरश्लोके। तद्वन्मारुततृष्णायां लङ्घनं कार्य्यमेव न। तथा मुखशोषभ्रमावपि निरामावेव विवक्षितौ, सामयोस्तु तयोर्लङ्घनं कार्य्यमेव। गुर्विणीबालवृद्धादिभिरपि निरामैरेव नैव लङ्घनं कार्यम्, सामैः पुनस्तैरपि लङ्घनं कार्य्यमेव। क्षयो=धातुक्षयो राजयक्ष्मा च॥ ४३॥

यहां पर मूल में "तद्" पद से "अनशन" अर्थात् लङ्घन का बोध करना चाहिये। और अधिक-वातजन्य ज्वर रोगी को लङ्घन नहीं करना चाहिये। ऐसा कहने से मारुत अर्थात् "वात" शब्द का "निराम (आम रहित) वात" अर्थ करना चाहिये, इस से यह सिद्ध हुआ कि जहां पर वात साम (आम युक्त) हो तो वहां पर लङ्घन करना ही चाहिये, क्योंकि—तन्त्रान्तर में "अवश्यम्" इत्यादिक आगे के श्लोक में यह कहा है कि—"साम (आमयुक्त) वात में ज्वररोगी लङ्घन अवश्य करे"। इसी प्रकार से वातज तृष्णा में भी वात यदि साम (आमयुक्त) हो तो लङ्घन कराना चाहिये और निराम हो तो लङ्घन नहीं कराना चाहिये। और भ्रम तथा मुख-शोष में भी लङ्घन का जो निषेध कहा गया है उसे दोष की निरामावस्था में ही समझना चाहिये अत एव यदि साम (आम युक्त) दोष हों तो इन में भी लङ्घन कराना ही चाहिये। और गर्भिणी स्त्री, बालक, वृद्ध आदि को भी दोष की निरामावस्था में ही लङ्घन का निषेध समझना चाहिये, सामावस्था होने पर तो इन लोगों को भी लङ्घन कराना उचित ही है। और यहां पर "क्षय" पद से "धातुक्षय तथा राजयक्ष्मा रोग" का बोध करना चाहिये॥ ४३॥

अवश्यमेव कुर्वीत ज्वरी सामे समीरणे। लङ्घनं ह्यामपाकार्थं न तदूर्ध्वं यथा कफे॥ ४४॥

साम (आमयुक्त) वायु में ज्वररोगी को आम पचाने के लिये अवश्य लङ्घन करना चाहिये किन्तु आम के पच जाने के बाद कफ की भांति इस में (वायु में) लङ्घन नहीं करना चाहिये ॥४४॥

***वातजे ज्वरे लङ्घनं न कार्य्यम् । तदूर्ध्वसामपाकादूर्ध्वम् । अत एवोक्तम्—**
कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं बहु। आमक्षयादूर्ध्वमपि वायुर्न सहते क्षणम् (१७)इति ॥

यहां पर "तदूर्ध्वम्" पद का "आम के पच जाने के बाद" यह अर्थ समझना चाहिये। तथा यह और भी समझना चाहिये कि—वातज ज्वर में जो आम पच जाने के बाद लङ्घन न करने को कहा गया है उस में क्या कारण है, इस विषय में अन्यत्र कहा हुआ है कि—कफ और पित्त ये दो द्रव धातु हैं अत एव अधिक लङ्घन (उपवास) करना सह सकते हैं अर्थात् आम दोष के क्षय होने पर भी लङ्घन सह सकते हैं, किन्तु वायु आम क्षय होने के बाद एक क्षण भी लङ्घन नहीं सहन कर सकता ॥ ४४ ॥

अथामस्य लक्षणमाह—

आहारस्य रसः सारो यो न पक्वोऽग्निलाघवात् । आमसंज्ञाञ्च लभते बहुव्याधिसमाश्रयः ॥

आम के लक्षण—आहार का सार भाग जो रस है, वह जब अग्नि की लघुता (मन्दता) होने से नहीं परिपक्व होता है तब उसी का नाम "आम" है, और वह अनेक व्याधियों का आश्रय होता है अर्थात् उससे अनेक व्याधियां होती हैं ॥ ४५ ॥

तन्त्रान्तरे तु—

आममन्नरसं केचित् केचित्तु मलसञ्चयम् । प्रथमां दोषदुष्टिं वा केचिदामं प्रचक्षते ॥४६॥

किन्तु अन्य तन्त्रों में तो आम के विषय में यह कहा है कि—कोई आचार्य अन्न के अपरिपक्व रस को "आम" कहते हैं, कोई "मल के सञ्चय" को "आम" बतलाते हैं और कोई आचार्य तो दोषों की प्रथम दुष्टता को ही "आम" कहते हैं ॥ ४६ ॥

अन्यच्च—

अविपक्वमसंसक्तं दुर्गन्धं बहुपिच्छिलम् । सादनं सर्वगात्राणामाम इत्यभिशब्दितः ॥ ४७ ॥
तेनामेन समायुक्ता दोषा दूष्याश्च तादृशाः । तदुद्भवा आमयाश्च सामा इति बुधैः स्मृताः ॥

और भी कहा है कि—अपरिपक्व, मल से अलग रहने वाला, दुर्गन्ध-युक्त, अत्यन्त पिच्छिल (चिकना) और सम्पूर्ण शरीर को पीडित करने वाला ऐसा जो अन्नरस होता है वह "आम" नाम से व्यवहृत होता है।

और उस आम से युक्त जो दोष अथवा दूष्य होते हैं वे भी उसी के समान (आम के समान गुण वाले) होते हैं और उन दोष और दूष्यों से उत्पन्न हुए रोग "साम" कहलाते हैं, अर्थात् आम से युक्त दोष तथा दूष्य एवम् इनसे (आमयुक्त दोष तथा दूष्यों से) उत्पन्न होने वाले रोग ये सभी "साम" कहलाते हैं ॥ ४७–४८ ॥

तत्र सामस्य वातस्य लक्षणमाह—

वायुः सामो विबन्धाग्नि-सादतन्द्राऽन्त्रकूजनैः । वेदनाशोथनिस्तोदैः क्रमतोऽङ्गानि पीडयेत्॥
विचरेद् युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम् । स्नेहाद्यैर्वृद्धिमायाति मेघे सूर्योदये निशि ॥

साम वात के लक्षण—साम (आमयुक्त) वायु-विबन्ध (मल-मूत्रादिक का ठीक रीति से न निकलना), अग्निमन्दता, तन्द्रा, आंतों में शब्द होना, वेदना (दर्द), शोथ तथा सूची (सूई) चुभाने की सी पीड़ा होना इन सबों के द्वारा क्रम से सम्पूर्ण शरीर को पीड़ित करता है।

और वायु तथा आम ये दोनों एक समय में ही सर्वत्र शरीर में विचरण करते हैं, तथा कुपित साम वायु सम्पूर्ण अङ्गों को अत्यन्त जकड़ भी लेता है और स्नेहादिकों के द्वारा एवम् वर्षाऋतु, सूर्योदय काल तथा रात्रि में वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४९-५० ॥

***विचरेद्युगपद् = वायुरामश्चैककालं विचरेत् । कुपितः सामो वायुर्भृशम् = अतिशयेन गृह्णात्यङ्गानीत्यर्थः ॥ ४९-५० ॥**

यहां पर "विचरेद् युगपद्" पदों का "वायु तथा आम ये दोनों एक समय में ही सर्वत्र शरीर में विचरण करते हैं" तथा "कुपितो भृशं गृह्णाति" पदों का "कुपित साम वायु सम्पूर्ण अङ्गों को अत्यन्त जकड़ भी लेता है" यह अर्थ समझ लेना चाहिये ॥ ४९-५० ॥

अथ निरामस्य वातस्य लक्षणमाह—

निरामो विशदो रूक्षो निर्गन्धोऽत्यल्पवेदनः । विपरीतगुणैः शान्तिं स्निग्धैर्याति विशेषतः ॥

निराम वात के लक्षण—निराम (आमरहित) वायु—विशदगुणयुक्त, रूक्ष, गन्धरहित, थोड़ी वेदना करने वाला होता है एवम् अपने से विपरीत गुण वाले द्रव्यों के द्वारा शान्त होता है और स्निग्ध द्रव्यों से तो विशेष रूप से शान्त होता है ॥ ५१ ॥

अथ प्रसङ्गात् सामस्य पित्तस्य लक्षणमाह—

पित्तं सामं भवेदम्लं दुर्गन्धं हरितं गुरु । अम्लिकाकण्ठहृद्दाह-करं श्यावं तथा स्थिरम् ॥५२॥

प्रसङ्गवश साम पित्त के लक्षण—साम (आमयुक्त) पित्त—अम्लरसयुक्त, दुर्गन्धित, हरा या श्याव (धूम्र) वर्ण युक्त, गुरु, अम्लिका (खट्टी डकार) करने वाला, कण्ठ तथा हृदय में दाह उत्पन्न करने वाला एवम् स्थिर होता है ॥ ५२ ॥

***अम्लिका = "अम्बिलीचुकी" तिलोके ॥ ५२ ॥**

यहां पर "अम्लिका" पद से लोकप्रसिद्ध "अम्बिली चुकी" का ग्रहण करना चाहिये ॥ ५२ ॥

अथ निरामपित्तस्य लक्षणमाह—

निरामं पित्तमाताम्रमत्युष्णं कटुकं सरम् । दुर्गन्धि रुचिकृद् वह्नि-बलवर्धनमीरितम् ॥५३॥

निराम पित्त के लक्षण—निराम पित्त—किञ्चित् ताम्रवर्ण युक्त, अत्यन्त उष्ण, कटुरसयुक्त, सारक, दुर्गन्धयुक्त, रुचि उत्पन्न करने वाला, जठराग्नि के बल को बढ़ाने वाला अथवा जठराग्नि तथा बल को बढ़ाने वाला कहा हुआ है ॥ ५३ ॥

अथ सामकफस्य लक्षणमाह—

आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशे च तिष्ठति । सामो बलासो दुर्गन्ध-स्तृट्क्षुधोरुपघातकृत् ॥

साम कफ के लक्षण—साम कफ—आविल (मटमैला), तन्तुयुक्त, स्त्यान (गाढ़ा), कण्ठ देश में रहने वाला, दुर्गन्धयुक्त एवम् प्यास तथा क्षुधा को नष्ट करने वाला होता है ॥ ५४ ॥

***स्त्यानः = संहतः ॥ ५४ ॥**

यहां पर "स्त्यान" पद का "गाढ़ा" अर्थ समझना चाहिये ॥ ५४ ॥

अथ निरामकफस्य लक्षणमाह—

श्लेष्मा निरामो निर्गन्धः फेनवांश्छेदवानपि । भवेत् स पिण्डितः पाण्डु-रास्यवैरस्यनाशकृत् ॥

निराम कफ के लक्षण—जो कफ निराम होता है, वह दुर्गन्धरहित, फेनयुक्त तथा खण्डयुक्त होता है एवम् गांठदार, पाण्डुवर्णयुक्त तथा मुख की विरसता को दूर करने वाला होता है ॥ ५५ ॥

अथ सामस्य व्याधेर्लक्षणमाह—

आलस्यतन्द्राहृदयाविशुद्धि-दोषाप्रवृत्त्याविलमूत्रताभिः ।
गुरूदरत्वारुचिगुरुताभि-रामान्वितं व्याधिमुदाहरन्ति ॥ ५६ ॥

आमं जयेल्लङ्घनकोष्णपेया-लघ्वन्नसूपौदनतिक्तयूपैः।
विरूक्षणस्वेदनपाचनैश्च संशोधनैरूर्ध्वमधस्तथैव ॥ ५७ ॥

साम (आमयुक्त) रोग के लक्षण—आलस्य, तन्द्रा, हृदय की अविशुद्धि, दोषों का (मलादिकों का) न निकलना, मूत्र का गंदला होना, पेट में भारीपन, अरुचि तथा अधिक निद्रा ये सब लक्षण जिन रोगों में प्रगट होते हैं उन सबों को वैद्य लोग आमयुक्त कहते हैं।

और लङ्घन (उपवास), किञ्चित् उष्ण पेया, लघु अन्न, दाल, भात, तिक्त रसयुक्त पदार्थों का जूस, रूक्षता पैदा करने वाले कर्म, स्वेदन (स्वेद देना), पाचन, ऊर्ध्व-संशोधन (वमनादिक), अधः-संशोधन (विरेचनादिक) इन सबोंके द्वारा आम की शान्ति करनी चाहिये ॥ ५६–५७ ॥

अथ ज्वरी लङ्घनेऽपि जलम्पिबेदित्याह सुश्रुतः—

तृषितो मोहमायाति मोहात् प्राणान् विमुञ्चति। अतः सर्वास्ववस्थासु न क्वचिद् वारि वर्जयेत्॥

"ज्वर-रोगी को लङ्घन (उपवास) करने के समय में भी जल पीना चाहिये" इस विषय में "सुश्रुत" महर्षि यह कहते हैं कि—अधिक प्यासा रोगी जल न पीने से मूर्च्छित हो जाता है, और मूर्च्छित होने से अन्त में वह प्राणों को भी छोड़ देता है। अतः सभी अवस्थाओं में कभी भी जल पीने का निषेध नहीं करना चाहिये ॥ ५८ ॥

हारीतेनोक्तम्—

तृष्णा गरीयसी घोरा सद्यः प्राणविनाशिनी। तस्माद्देयं तृषाऽऽर्त्ताय पानीयम्प्राणधारणम् ॥

इसी विषय में "हारीत" ने भी कहा है कि—अधिक प्यास अत्यन्त भयानक होती है क्योंकि इससे तत्काल प्राण निकल जाते हैं, अत एव जो अधिक प्यासा हो उसे प्राणों को धारण करने के लिये योग्यताऽनुसार जल अवश्य देना चाहिये ॥ ५९ ॥

***अवश्यं पेयमपि जलं ज्वरी किञ्चिद्वारयन् पिबेत्। यत आह सुश्रुत एव—**
***जीविनां जीवनं जीवो जगत् सर्वन्तु तन्मयम् ॥**
ततोऽत्यन्तनिषेधेन न क्वचिद् वारि वारयेत् ॥

यहां पर यह भी समझना चाहिये कि—ज्वररोगी को जब जल पीना अत्यन्त आवश्यक हो तो वह कुछ समय तक रुक २ कर थोड़ा २ जल पीवे, क्योंकि इसी विषय में "सुश्रुत" ने कहा है कि—जीवधारियों का जीवन जल है और सम्पूर्ण जगत् अधिक रूप से जलमय है अतः अत्यन्त निषेध के साथ अर्थात् एक दम से कभी भी जल का निषेध नहीं करना चाहिए ॥ १८ ॥

***जीवनं = जलं, किञ्चित्तु वारयेदेव ॥ १८ ॥**

यहाँ पर "जीवन" पद का "जल" अर्थ समझना चाहिये। तथा "एक दम से कभी भी जल का निषेध नहीं करना चाहिये" ऐसा कहने से "जल का किञ्चित् निषेध तो करना ही चाहिये" यह समझना चाहिये ॥ १८ ॥

तथा च—***ज्वरे नेत्रामये कुष्ठे मन्देऽग्नावुदरे तथा ॥ १९ ॥**
अरोचके प्रतिश्याये प्रसेके श्वयथौ क्षये। व्रणे च मधुमेहे च पानीयं मन्दमाचरेत् ॥२०॥

और ज्वर, नेत्रसम्बन्धी रोग, कुष्ठ, अग्निमान्द्य, उदरसम्बन्धी रोग, अरुचि, प्रतिश्याय (जुखाम), प्रसेक (मुख से पानी छूटना), शोथ, क्षय, व्रण, मधुमेह इन सब रोगों में रोगी को जल थोड़ा २ पीना चाहिये ॥ १९–२० ॥

***प्रसेके = मुखप्रसेके। मन्दमाचरेद् = अल्पम्पिबेत् ॥ १९-२० ॥**

यहाँ पर "प्रसेके" पद का "मुख से पानी छूटना" तथा "मन्दमाचरेत्" पदों का "थोड़ा २ पीना चाहिये" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १९-२० ॥

यत आह—

*अतियोगेन सलिलं तृष्यतोऽपि प्रयोजितम्। प्रयाति श्लेष्मपित्तत्वं ज्वरितस्य विशेषतः (२१)

क्योंकि कहा भी है कि—प्यासे हुये को यदि अधिक मात्रा में जल पिलाया जाता है तो उससे उसका कफ, पित्त अधिक बढ़ जाता है, और ज्वररोगी को पिलाने से तो विशेष रूप से उसका कफ, पित्त बढ़ जाता है (२१) ॥ ५९ ॥

अथ शीतलजलपानस्य निषेधमाह सुश्रुतः—

नवज्वरे प्रतिश्याये पार्श्वशूले गलग्रहे। सद्यःशुद्धौ तथाऽऽध्माने व्याधौ वातकफोद्भवे ॥६०॥
अरुचिग्रहणीगुल्म-श्वासकासेषु विद्रधौ। हिक्कायां स्नेहपाने च शीतं वारि विवर्जयेत् ॥

शीतल जलपान के निषेध के विषय में सुश्रुत यह कहते हैं कि-नवीन ज्वर, प्रतिश्याय (जुखाम), पार्श्वशूल (पँसलियों में दर्द), गलग्रह (गले का बैठ जाना) इन रोगों में एवं तत्काल वमन-विरेचनादि शोधनकर्म करने पर, आध्मान (अफरा), वात तथा कफसम्बन्धी रोग, अरुचि, ग्रहणी, गुल्म, श्वास, कास (खांसी), विद्रधि, हिचकी इन रोगों में तथा स्नेहपान करने पर रोगी को शीतल जल पीने का निषेध करना चाहिये ॥ ६०-६१ ॥

*अत्र शीतं जलमक्वथितं, निषिद्धं, तथा सति क्वथितं ग्राह्यमायातम्। अत्र क्वथितस्य विधिर्गुणाश्च—

*"क्वाथ्यमानन्तु निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं च यत्। तत् तोयं क्वथितं ज्ञेयं दोषघ्नं पाचनं लघु" ॥

यहां पर शीतल जल का निषेध करने से विना औटाये हुये शीतल जल का निषेध समझना चाहिये। ऐसा होने से "औटाया हुआ शीतल जल पीना चाहिये" यह अर्थात् सिद्ध हुआ।

यहां पर जल औटाने की विधि तथा उसके गुण कहते हैं—औटाये हुये जल के गुण—जब जल धीरे २ औटाते फेन से रहित एवं निर्मल हो जाय तब उसे "क्वथित" अर्थात् औटाया हुआ समझना चाहिये। और वह (क्वथित) जल दोषों को दूर करने वाला, पाचक तथा लघु होता है ॥ २२ ॥

*निर्वेगं=शनैः ॥ २२ ॥

यहां पर "निर्वेगम्" पद का "धीरे २ " यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २२ ॥

*क्वथितस्य विधानमाह सुश्रुतः—

*वातश्लेष्मज्वरार्त्ताय हितमुष्णाम्बु तृष्यते।
दीपनं कफविच्छेदि वातपित्तानुलोमनम्। तद्धि मार्दवकृद्दोष-स्रोतसां शीतमन्यथा ॥२३॥

औटाया हुआ जल किसे देना चाहिये और उसके क्या गुण हैं ? इस विषय में सुश्रुत कहते हैं कि-वात-कफ सम्बन्धी ज्वररोगी को प्यास लगने पर उष्ण (क्वथित) जल देना हितकर होता है। और यह जल-अग्निदीपक, जमे हुये कफ को खण्ड २ करने वाला, वात-पित्त का अनुलोमन करने वाला एवम् दोष तथा स्रोतोमार्गों को मृदु करने वाला होता है। और शीतल (विना औटा हुआ) जल इससे विपरीत गुणों वाला होता है ॥ २३ ॥

वाग्भटश्च—

*तृष्णायां प्रासमुष्णाम्बु पिबेद्वातकफज्वरे। तत् कफं विलयं नीत्वा तृष्णामाशु निवर्त्तयेत् ॥
*उदीर्य चाग्निं स्रोतांसि मृदूकृत्य विशोधयेत्।
वातपित्तकफस्वेद-शकृन्मूत्राणि सारयेत्" ॥ २५ ॥ इति ॥ ६०-६१ ॥

और "वाग्भट" भी कहते हैं कि—वात-कफसम्बन्धी ज्वर में प्यास लगने पर यदि उष्ण जल पीया जाय तो वह (उष्ण जल) कफ को नष्ट करके प्यास को भी शीघ्र शान्त करता है तथा अग्नि को

प्रदीप्त करके एवम् स्रोतोमार्गों को मृदु करके उनका शोधन करता है। और वात, पित्त, कफ, स्वेद, मल तथा मूत्र का सारण करता है (२४-२५) ॥ ६०-६१ ॥

अन्यच्च स एव—सेव्यमानेन शीतेन ज्वरस्तोयेन वर्द्धते ॥ ६२ ॥

और वहीं यह और भी कहते हैं कि—शीतल (बिना औटा हुआ) जल का सेवन करने से ज्वर रोगी का ज्वर बढ़ता है।

अथोष्णोदकस्य लक्षणं गुणांश्चाह—

क्वाथ्यमानं तु निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं तथा। अर्द्धावशिष्टं यत् तोयं तदुष्णोदकमुच्यते॥६३॥
ज्वरकासकफश्वास-पित्तवातामभेदसाम्। नाशनं पाचनञ्चैव पथ्यमुष्णोदकं सदा ॥६४॥

उष्णोदक (गर्म जल) के लक्षण और गुण—जो जल धीरे २ औटाते २ जब फेन से रहित तथा निर्मल हो जाय एवम् आधा भाग शेष रह जाय तब उसे "उष्णोदक" कहते हैं।

और वह उष्णोदक—ज्वर, कास, कफ, श्वास, पित्त, वात, आम तथा मेदा को नष्ट करने वाला पाचक तथा सदा पथ्य (हितकारक) होता है ॥ ६३-६४ ॥

अथर्त्तुभेदेन जलस्य पाकभेदमाह—

त्रिपादशेषं सलिलं ग्रीष्मे शरदि शस्यते। हिमेऽर्द्धशेषं शिशिरे तथा वर्षावसन्तयोः ॥ ६५ ॥

ऋतुभेद से जल के पाक में भेद—ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु में औटाते २ तीन भाग अवशिष्ट रह जाने पर जल उत्तम होता है और हेमन्त, शिशिर, वर्षा तथा वसन्त ऋतु में आधा अवशिष्ट रह जाने पर उत्तम होता है ॥ ६५ ॥

अन्ये तु—

निदाघे त्वर्द्धपादोनं पादहीनन्तु शारदम्। शिशिरे च वसन्ते च हिमे चार्द्धावशेषितम्॥६६॥
अष्टमांशावशेषन्तु वारि वर्षासु शस्यते। इति केचिद् बुधाः प्राहुर्जेज्जटागमदर्शनात् ॥६७॥

अन्य वैद्य लोग तो इस विषय में यह कहते हैं कि—ग्रीष्म ऋतु में अष्टमांश जल जल जाने पर पीने योग्य उत्तम होता है। शरद् ऋतु में चतुर्थांश जल जल जाने पर उत्तम होता है। शिशिर, वसन्त तथा हेमन्त ऋतु में औटाते २ आधा जल अवशिष्ट रह जाने पर पीने योग्य उत्तम होता है। और वर्षा ऋतु में अष्टमांश जल अवशिष्ट रहने पर उत्तम होता है। ऐसा "जेज्जट" रचित वैद्यक-ग्रन्थ में देखने से कोई २ वैद्य लोग कहते हैं ॥ ६६-६७ ॥

केचित्—

पक्षयोस्त्रिषु वेदेषु बाणेष्वङ्गेषु सप्तसु। एषु भागावशेषं स्यादम्बु वर्षाऽऽदिषु क्रमात् ॥ ६८ ॥

और कोई २ तो यह कहते हैं कि—वर्षा आदिक ऋतुओं में क्रम से अर्थात् वर्षा ऋतु में दो भागों में से एक भाग (आधा) जल अवशिष्ट रह जाने पर पीने योग्य उत्तम होता है। एवम् शरद् ऋतु में तीन भागों में से एक भाग, हेमन्त ऋतु में चार भागों में से एक भाग, शिशिर ऋतु में पांच भागों में से एक भाग, वसन्त ऋतु में छ भागों में से एक भाग और ग्रीष्म ऋतु में आठ भागों में से एक भाग जल अवशिष्ट रह जाने पर पीने योग्य उत्तम होता है ॥ ६८ ॥

***अत्र दोषाणां यथोल्बणता हीनता वा तथा व्यवस्था कल्पनीया ॥ ६८ ॥**

यहां पर यह भी समझना चाहिये कि—वातादिक दोषों में से जिस दोष की जैसी प्रबलता या हीनता हो उसके अनुसार जलपाक के समय अवशिष्ट जल रखने की व्यवस्था करनी चाहिये ॥६८॥

तत्पादहीनं पित्तघ्नमर्द्धहीनन्तु वातनुत्। त्रिपादहीनं श्लेष्मघ्नं संग्राह्यग्निप्रदं लघु ॥६९॥

औटाया हुआ जल यदि पाक करने से चतुर्थांश ¼ हीन हो गया हो तो वह पित्तनाशक होता

है, आधा भाग $\frac{1}{2}$ हीन हो गया हो तो वातनाशक होता है, एवं तीन भाग $\frac{3}{4}$ हीन हो गया हो अर्थात् चतुर्थांश अवशिष्ट रह गया हो तो वह कफनाशक, संग्राही, अग्नि को प्रदीप्त करने वाला तथा लघु होता है ॥ ६९ ॥

अथ ग्रन्थान्तरेष्वारोग्याम्बुनाम्नोक्तस्यास्य लक्षणगुणानाह—

पादशेषं तु यत्तोय-मारोग्याम्बु तदुच्यते । आरोग्याम्बु सदा पथ्यं कासश्वासकफापहम् ॥७०॥
सद्योज्वरहरं ग्राहि दीपनं पाचनं लघु । आनाहपाण्डुशूलार्शो-गुल्मशोथोदरापहम् ॥ ७१ ॥

ग्रन्थान्तरों में "आरोग्याम्बु" नाम से कहे हुये इसी (चतुर्थांश-हीन जल) के लक्षण— चतुर्थांश-हीन जो औटाया हुआ जल होता है उसे "आरोग्याम्बु" कहते हैं । गुण-आरोग्याम्बु-सदा पथ्य (हितकारी), कास (खांसी), श्वास (दमा) तथा कफ को नष्ट करने वाला, तत्काल ज्वर दूर करने वाला, ग्राही, अग्निदीपक, पाचनगुण-युक्त, लघु एवम् आनाह (अफरा), पाण्डुरोग, शूल, अर्श (बवासीर), गुल्म, शोथ तथा उदरसम्बन्धी रोग को नष्ट करने वाला होता है ॥७०-७१॥

अथर्तुभेदेन जलग्रहणमाह—

हेमन्ते शिशिरे चाम्बु सारसं वा तडागजम् ।
वसन्तग्रीष्मयोः कौप्यं वाप्यं वा नैर्झरं हितम् ॥ ७२ ॥

ऋतुभेद से जल-ग्रहण करने के देशों में भेद—हेमन्त तथा शिशिर ऋतु में सरोवर अथवा तालाब का जल ग्रहण करना हितकर होता है एवन् वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में कूआं, बावड़ी अथवा झरने का जल[1] ग्रहण करना हितकर होता है ॥ ७२ ॥

---

१. उक्तं च भगवता सुश्रुतेनाप्यस्मिन्विषये "तत्र वर्षास्वान्तरिक्षमौद्भिदं वा सेवेत महागुणत्वात् । शरदि सर्वं प्रसन्नत्वात् । हेमन्ते सारसं ताडागं वा वसन्ते कौपं प्रास्रवणं वा, ग्रीष्मेऽप्येवं, प्रावृषि चौण्ट्यं नवमनभिवृष्टं सर्वं चेति" । सुश्रुते सूत्र० अ० ४५ ।

"वर्षाऋतु में आन्तरिक्ष (आकाश का) तथा औद्भिद (झरने का) पानी हितकर होता है । यहां पर वर्षा से वर्षा का अन्तिम मास आश्विन समझना चाहिये । क्योंकि भाद्रपद आदि मासों में आन्तरिक्ष जल का निषेध मिलता है यथा :—

"बलाहकायाः सुमदाः कीटा लूताश्च खेचराः ।
तद्विषोरसर्गसंसर्गा-दग्राह्यं तज्जलं स्मृतम्" ॥

तो वर्षा के भाद्रपदादि मास में कौन सा जल पिलाना चाहिये इस विषय में कहते हैं—

"भाद्रपदे मास्याकाशगुणभूयिष्ठं भूम्याश्रितमान्तरिक्षवद्भवतीति तत्पयः पेयम्" इति (डल्हणः) ।

अर्थात्—आकाशगुणभूयिष्ठ भूमि में आश्रित जल आन्तरिक्ष जल के गुणों के समान होता है । अतः उस जल को पिलाना चाहिये । कुछ लोग जल को उष्ण करने के बाद शीतल करके पिलाते हैं ।

शरद् ऋतु में सभी प्रकार के जल पिला सकते हैं क्यों कि शरद् में अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने से सभी प्रकार के जल शुद्ध हो जाते हैं । शरद् से चौण्ट्य (चौड़े का जल), अनव (पुराना) चाहिये । तथा जब पानी बरस रहा होता है तो सभी प्रकार का जल ग्रहण कर सकते हैं किन्तु क्वथनादि से शुद्ध करके, क्योंकि नूतन जल कौप, ताड़ाग, सारस इत्यादि सभी जलों में मिला हुआ रहता है । और यह नूतन जल धूलि तथा अन्य वायुमण्डल-स्थित तथा पृथ्वी पर तरह-तरह के विषों का आश्रय होता है अतः इसे शुद्ध करना चाहिये । उसकी विधि का सुश्रुत में इस प्रकार

ॐअयमृतुभेदेन जलस्य ग्रहणाय देशभेदो वारिवर्गे बोद्धव्यः ॥ ७२ ॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—ऋतुभेद से जल ग्रहण करने के लिये जो यह देशों का भेद दिखलाया गया है उसे पीछे के वारिवर्ग में देखकर विशेष रूप से समझ लेना चाहिये, यहां केवल दिग्दर्शन करा दिया गया है ॥ ७२ ॥

नादेयं वारि नादेयं वसन्तग्रीष्मयोर्बुधः । विषवत्पत्रपुष्पादि-दुष्टनिर्झरयोगतः ॥ ७३ ॥
औद्भिदं चान्तरिक्षं वा कौप्यं वा प्रावृषि स्मृतम् । शस्तं शरदि नादेयं नीरमंशूदकं परम् ॥

बुद्धिमान् को चाहिये कि-वह वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में नदी का जल न ग्रहण करे क्योंकि उस समय विषयुक्त पत्ते तथा फूल आदिकों से दूषित हुये झरनों के जलों का योग होने से नदी का जल दूषित रहता है। और वर्षा ऋतु में औद्भिद (पृथ्वी फोड़ कर निकलने वाला) जल एवम् आन्तरिक्ष (आकाश का) तथा कौप्य (कुयें का) जल ग्रहण करना कहा हुआ है। और शरद् ऋतु में नदी का जल अथवा अंशूदकसंज्ञक जल ग्रहण करना उत्तम होता है ॥ ७३-७४ ॥

अथांशूदकस्य लक्षणगुणानाह—

दिवा रविकरैर्जुष्टं निशि शीतकरांशुभिः । ज्ञेयमंशूदकं नाम स्निग्धं दोषत्रयापहम् ॥ ७५ ॥
अनभिष्यन्दि निर्दोषच्चान्तरिक्षजलोपमम् । वल्यं रसायनं मेध्यं शीतं लघु सुधासमम् ॥

अंशूदक के लक्षण तथा गुण—जिस विशुद्ध जल के ऊपर दिन में सूर्य की किरण तथा रात्रि में चन्द्रमा की किरणें बराबर पड़ती हों उसे[1] "अंशूदक" जानना चाहिये। और वह (अंशूदक-संज्ञक जल)—स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, अनभिष्यन्दी (सर्दी नहीं करने वाला), निर्दोष, आकाश के जल के समान गुणों से युक्त, बलकारक, रसायन, मेधा के लिये हितकर, शीतल, लघु एवम् अमृत के समान गुणकारी होता है ॥ ७५-७६ ॥

अन्यच्च—

शरद्यगस्तेरुदयादखिलं सलिलं हितम् ॥ ७७ ॥

अन्य ग्रन्थों में यह और भी कहा हुआ है कि—शरद् ऋतु में अगस्त्य नामक तारा के उदय होने से सभी प्रकार के जल हितकर होते हैं ॥ ७७ ॥

वर्णन मिलता है—

"सप्त कलुषस्य प्रसादनानि भवन्ति तद्यथा—कतक-गोमेदक-बिसग्रन्थि-शैवालमूल-वस्त्राणि, मुक्ता-मणिश्चेति।"

दूषित जल के शुद्ध करने के सात साधन हैं। १-कतक (निर्मली) को चन्दन की भाँति घिस कर जल से भरे पात्र में मिला देना।

२-गोमेद (एक प्रकार की मणि) को जल-पात्र में छोड़ कर फिराना तथा फिर उसी में गोमेद को भी रहने देना।

३-कमल की जड़ तथा ४-सेवार को जल में घुमाना। ५-वस्त्र को कई पर्त करके उससे पानी को छान लेना।

६-मुक्ता तथा-७-मणि (स्फटिक आदि) को जल में घुमाना। इन सात विधियों से जल शुद्ध होता है।

१. सुश्रुतेनाप्युक्तम्—

दिवाऽर्ककिरणैर्जुष्टं निशायामिन्दुरश्मिभिः। अरूक्षमनभिष्यन्दि तत्तुल्यं गगनाम्बुना ॥

प्रकरणवशाद् गगनाम्बुगुणा उच्यन्ते—

"गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीतं यत् सुभाजने। बल्यं रसायनं मेध्यं पात्रापेक्षि ततः परम्" ॥

वृद्ध सुश्रुतः—

कार्त्तिके मार्गशीर्षे च जलमात्रं प्रशस्यते ॥ ७८ ॥

वृद्ध सुश्रुत में भी कहा हुआ है कि—कार्त्तिक तथा अगहन मास में सभी प्रकार के जल हितकारी होते हैं ॥ ७८ ॥

अथ शृतशीतलजलपानविषयानाह—

दाहातिसारपित्तास्र-मूर्च्छामद्यविषार्त्तिषु। मूत्रकृच्छ्रे पाण्डुरोगे तृष्णाच्छर्दिभ्रमेषु च। मद्यपानसमुद्भूते रोगे पित्तोत्थिते तथा। सन्निपातसमुत्थेषु शृतशीतं प्रशस्यते ॥ ७९ ॥

औटा कर शीतल जल पीने के विषय—दाह, अतीसार, पित्तरक्त (पित्त-रक्तविकार,) मूर्च्छा, मद्य तथा विष जन्य पीड़ा, मूत्रकृच्छ्र, पाण्डुरोग, तृष्णा (अधिक प्यास लगना), वमन, परिश्रम, मद्यपान करने से उत्पन्न हुये रोग एवम् केवल पित्त तथा सन्निपात से उत्पन्न हुये रोग इन सबों में रोगी को औटा कर शीतल जल पीना हितकर होता है ॥ ७९ ॥

*यथर्तुपक्वमपि जलं विषयविशेषे शीतलं पिबेदित्याह सुश्रुतः—दाहेति ॥ ७९ ॥

यहां पर यह समझना चाहिये कि—"ऋतु के अनुसार औटाये जल को भी विषय-विशेष में (उक्त दाहादिक रोगों में) शीतल करके पीना चाहिये" यह जो कहा गया है वह सुश्रुत[1] का वचन है ॥ ७९ ॥

अथ क्वथितस्य जलस्य शीतलीकरणविशेषे गुणविशेषमाह सुश्रुतः—

शृताम्बु तत्त्रिदोषघ्नं तदन्तर्बाष्पशीतलम्।
अरूक्षमनभिष्यन्दि कृमितृड्ज्वरहृल्लघु। धारापातेन विष्टम्भि दुर्जरं पवनाहतम् ॥ ८० ॥

"उक्त रीति से औटाये हुये जल को शीतल करने में विशेषता होने से गुण में भी विशेषता होती है" इस के विशेष में सुश्रुत महर्षि यह कहते हैं कि—जो औटाया हुआ जल ढंके रहने से पात्र के बाहर भाफ के बिना निकले ही स्वयं शीतल हो जाता है, वह त्रिदोषनाशक होता है। एवम् रूक्षता को न करने वाला, अनभिष्यन्दी (सर्दी को नहीं करने वाला) तथा कृमि, तृषा (प्यास) और ज्वर को दूर करने वाला तथा लघु होता है। एवम् जो औटाया हुआ जल धारारूप से एक पात्र से दूसरे पात्र में गिराने से शीतल किया जाता है वह विष्टम्भ करने वाला होता है और जो पंखे आदि की हवा से शीतल किया जाता है वह देर में हजम होने वाला होता है ॥ ८० ॥

*अन्तर्बाष्पशीतलम् = पिहितमेव शीतलम् ॥ ८० ॥

यहां पर "अन्तर्बाष्पशीतलम्" पद का "जो औटाया हुआ जल ढंके रहने से पात्र के बाहर भाफ के बिना निकले ही स्वयं शीतल हो जाता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८० ॥

अन्यच्च—

भिनत्ति श्लेष्मसङ्घातं मारुतं चापकर्षति। अजीर्णं जरयत्याशु पीतमुष्णोदकं निशि ॥ ८१ ॥

और भी कहा हुआ है कि—रात्रि में गर्म जल पीने से जमें हुए कफ का भेदन होता है और वायु का अपकर्षण होता है अर्थात् वायु शान्त होता है, तथा अन्न का अजीर्ण (नहीं पचा हुआ) अंश शीघ्र पच जाता है ॥ ८१ ॥

---

१. मूर्च्छापित्तोष्णदाहेषु विषे रक्ते मदात्यये।
भ्रमक्लमपरीतेषु तमके वमथौ तथा।
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च शीतमम्भः प्रशस्यते ॥ सुश्रुते सूत्र० अ० १४।

अथात्रापरानपि विशेषानाह—

दिवा शृतं पयो रात्रौ गुरुतामधिगच्छति । रात्रौ शृतं दिवा पीतं गुरुत्वमधिगच्छति ॥८२॥
तत्तु पर्युषितं वह्निगुणोत्सृष्टं त्रिदोषकृत् । गुर्वम्लपाकं विष्टम्भि सर्वरोगेषु निन्दितम् ॥८३॥
शृतशीतं पुनस्तप्तं तोयं विषसमं भवेत् । निर्यूहोऽपि तथा शीतः पुनस्तप्तो विषोपमः ॥८४॥

इस विषय की अन्य विशेषताओं को भी कहते हैं कि—दिन में औटाया हुआ जल रात्रि में पीने से गुरुता करने वाला होता है। और रात्रि में औटाया हुआ जल दिन में पीने से भी गुरुता करने वाला होता है। और औटाया हुआ जल यदि बासी हो तो अग्निगुण के निकल जाने से त्रिदोषकारक, गुरु, विपाक में अम्लरसयुक्त, विष्टम्भकारक एवम् सम्पूर्ण रोगों में निन्दनीय अर्थात् पीने के अयोग्य होता है। और औटाया हुआ जल यदि शीतल हो जाने पर पुनः गर्म किया जाय तो वह पीने में विष के समान त्याज्य है। इसी प्रकार से क्वाथ भी शीतल होने पर पुनः गर्म करने पर विषतुल्य त्याज्य होता है॥ ८२–८४॥

रात्रौ तूष्णोदकस्य लक्षणमन्यदाह—

अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्द्धकेन वा। अथ वा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं वदेत्॥ ८५॥

रात्रि में तो उष्णोदक के लक्षण अन्य प्रकार से कहे हुये हैं, जो कि ये हैं—रात्रि में यदि गर्म जल तैयार करना हो तो जल को औटा कर आठवां भाग जल अवशिष्ट रहने पर उतार ले अथवा चतुर्थांश जल या आधा जल अवशिष्ट रहने पर उतार ले किं वा केवल उबाल कर उतार लें तो ऐसे जल को पण्डित लोग "उष्णोदक" कहते हैं॥ ८५॥

अथ तस्य गुणानाह—

श्लेष्मानिलाममेदोघ्नं दीपनं वस्तिशोधनम्। श्वासकासज्वरहरं पीतमुष्णोदकं निशि ॥८६॥

उक्त उष्णोदक के गुण—रात्रि में उक्त रीति से तैयार किया हुआ उष्णोदक पीने से कफ, वायु तथा मेदा का नाश करता है एवम् अग्निदीपक, वस्ति को शुद्ध करने वाला, श्वास, कास तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है॥ ८६॥

रात्रावुष्णोदकञ्च तप्तमेव पिबेदित्याह—

उष्णं तदग्निजननं लघ्वच्छं वस्तिशोधनम्॥ ८७॥
पार्श्वरुक्पीनसाध्मानहिक्काऽनिलकफापहम्। शस्तं तृट्श्वासशूलेषु सद्यःशुद्धौ नवज्वरे ॥८८॥

"रात्रि में उष्णोदक यदि पीना हो तो गर्म रहते ही पीना चाहिये" इसी विषय को दिखलाते हुये कहते हैं कि—वह उष्णोदक यदि गर्म रहते हुये ही पीया जाय तो अग्निप्रदीपक, लघु, स्वच्छ, वस्तिशोधक, एवम् पँसुलियों की पीड़ा, पीनस, आध्मान (अफरा), हिचकी, वायु तथा कफ को नष्ट करने वाला होता है। और तृषा, श्वास, शूल इन सब रोगों में तथा तत्काल जिन्होंने शुद्धिकर्म (वमन-विरेचनादिक) किये हों या जिन्हें नवीन ज्वर हों उन सबों के लिये भी उत्तम होता है॥

अपक्वशीतलजलपानस्य विषयविशेषमाह सुश्रुतः—

मूर्च्छापित्तोष्णदाहेषु विषे रक्ते मदात्यये। भ्रमश्रमपरीतेषु तमके वमथौ तथा॥ ८९॥
धूमोद्गारे विदग्धेऽन्ने शोषे च मुखकण्ठयोः। ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च शीतलाम्बु प्रशस्यते ॥९०॥

अपक्व (विना औटाया हुआ) शीतल जल पीने के विषय-विशेष (रोग-विशेष) के विषय में सुश्रुत महर्षि यह कहते हैं कि—मूर्च्छा, पित्त तथा उष्णता की अधिकता, दाह, विष तथा रक्तसम्बन्धी विकार, मदात्यय रोग, भ्रम, श्रम, तमक श्वास, शोथ, धुयें की (धुआइन) डकार, भोजन की विदग्ध अवस्था, मुख तथा कण्ठ का शोष, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त इन सब रोगों में रोगी को विना औटाया हुआ शीतल जल पिलाना उत्तम होता है॥ ८९–९०॥

*शीतलं जलमाममेव न तु क्वथितं, क्वथितन्तु शीतं दाहादिषु यदुक्तं, तत् सज्वरेषु, विज्वरेषु तु दाहादिष्वामं शीतं प्रशस्यत इति भेदः ॥ ८९–९० ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—यहाँ "शीतलाम्बु (शीतल जल)" पद से शीतल जल का ही ग्रहण किया जाता है न कि औंटाकर शीतल किये हुये जल का, और पूर्व में जो औंटाकर शीतल जल पीने को दाहादिकों में कहा गया है उसे ज्वरयुक्त दाहादिकों के लिये समझना चाहिये, ज्वररहित दाहादिकों में तो कच्चा ही शीतल जल उत्तम होता है यही इतना भेद यहां पर है ॥

अथामादिजलानां जठराग्निना पाककालावधिमाह—

आमं जलं पाकमुपैति यामं पक्वं पुनः शीतलमर्द्धयामम् ।
पक्वं कदुष्णञ्च ततोऽर्द्धकालात् त्रयः सुपीतस्य जलस्य पाके ॥ ९१ ॥

जठराग्नि द्वारा पूर्वोक्त आम (बिना औंटाया हुआ) आदिक जलों के परिपाक काल की सीमा के विषय में कहते हैं कि—आम (बिना औंटाया हुआ) शीतल जल पीने पर एक प्रहर में पचता है, और औंटाकर शीतल किया हुआ जल आधा प्रहर (१॥ घंटे) में पचता है एवम् औंटाया हुआ किंचित् उष्ण जल औंटाकर शीतल किये हुये जल की अपेक्षा आधे समय अर्थात् चतुर्थांश प्रहर (पौन घण्टे) में ही पचता है । इस भांति पीये हुये जल के पचने में तीन प्रकार के काल कहे हुये हैं ॥९१॥

अथ रोगविशेषे जलसंस्कारमाह—

पित्तमद्यविषार्त्तेषु तिक्तकैः शृतशीतलम् ॥ ९२ ॥

रोगविशेष में जल का संस्कार करने के विषय में कहते हैं कि—पित्त, मद्य तथा विष-सम्बन्धी पीड़ा में रोगी को तिक्तक द्रव्य के साथ औंटाकर शीतल किया हुआ जल देना हितकर होता है ॥

*जलं हितमिति शेषः ॥ ९२ ॥

यहां पर "जल हितकर होता है" यह अर्थ ऊपर से समझना चाहिये, क्योंकि मूल में इसके लिये कोई पद नहीं कहा हुआ है ॥ ९२ ॥

अथ तिक्तानि बहुलानि तेभ्यो निश्चित्य योगमाह सुश्रुतः—

मुस्तपर्पटकोदीच्यच्छत्राऽऽह्वयोशीरचन्दनैः । शृतं शीतं जलं दद्यात्तृड्दाहज्वरशान्तये ॥९३॥

तिक्तक द्रव्य बहुत से हैं, अतः उनमें से सुश्रुत महर्षि द्वारा विचार करके अलग किये हुये तिक्तक द्रव्यों के योग को कहते हैं कि—नागरमोथा, पित्तपापड़ा, सुगन्धवाला, धनियां, खस और चन्दन इन सबों के साथ औंटाकर शीतल किये हुये जल को तृषा, दाह तथा ज्वर की शान्ति के लिये देना चाहिये ॥ ९३ ॥

*छत्राऽत्र धान्यकः । यत आह निघण्टौ धन्वन्तरिः—

"कुस्तुम्बुरुः स्वर्णिका च च्छत्रा धान्यं वितुन्नकमि" त्यादि ॥ २६ ॥

यहां पर "छत्रा" पद का "धनिया" अर्थ समझना चाहिये । क्योंकि अपने निघण्टु में धन्वन्तरि ने "कुस्तुम्बुरु, स्वर्णिका, छत्रा, धान्य (धान्यक), वितुन्नक ये सब नाम धनिया के बतलाये हैं ॥२६॥

*तद्गुणाश्च—

धान्यकं दीपनं रुच्यं पाचनं स्वादुपाकि च ।
दोषत्रयतृषादाहश्वासकासज्वरप्रणुत् ॥ २७ ॥ इत्यादि ।

और उसके निम्नलिखित गुण भी बतलाये हैं जो कि इस प्रकार हैं—धनिया—अग्निदीपक, रुचि-कारक, पाचक, विपाक में स्वादु (मधुर) रसयुक्त एवम् त्रिदोष, तृषा, दाह, श्वास, कास तथा ज्वर को दूर करने वाली होती है ॥ २७ ॥ इत्यादि ।

*चक्रदत्त-वङ्गसेन-वृन्दादयश्छत्रास्थाने नागरं पठन्ति। तद्यथा—
'मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः' ॥ २८ ॥

और पूर्वोक्त सुश्रुतोक्त तिक्तक द्रव्यों के योग में यह और भी समझना चाहिये कि उक्तयोग में चक्रदत्त, वङ्गसेन, वृन्द आदिक आयुर्वेद-विशारदों ने "छत्रा" के स्थान में "नागर" अर्थात् सोंठ का समावेश करके "मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदोच्यनागरैः" ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं ॥ २८ ॥

*नागरं कटुकमपि नात्र पित्तजनकं मधुरपाकित्वादिति तेषामभिप्रायः, नागरं मुस्तकमिति केचित्। क्वचिदेकदेशेन समुदायोऽवगम्यते। यथा भीमो भीमसेन इति ॥ २८ ॥

यहाँ पर "नागर" अर्थात् सोंठ का जो पाठ चक्रदत्तादि ने स्वीकार किया है, वह इस अभिप्राय से किया है कि—नागर (सोंठ) यद्यपि कटुरसयुक्त है तथापि यहां पर पित्तजनक नहीं होता है क्योंकि वह विपाक में मधुर रसयुक्त होता है, अतः ज्वर में उसका प्रयोग करना अनुचित नहीं है और कोई वैद्य यह कहते हैं कि—यहां पर "नागर" से "नागरमोथा" का बोध करना चाहिये क्योंकि कहीं-कहीं पर नाम के एकदेश से भी सम्पूर्ण नाम का बोध किया जाता है जैसे "भीम" कहने से "भीमसेन" इस नाम का बोध होता है ॥ २८ ॥

*चन्दनैरित्यत्र सहार्थे तृतीया। तेन मुस्तादिभिः षड्भिरामैरेव चूर्णैः सहितं शृतं जलमेव यथर्तुपक्वं पश्चात्तच्छीतलीकृतं दद्यात्। तथा च वङ्गसेनः—
यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादि प्रयुज्यते। कर्षमात्रं ततो द्रव्यं ग्राहयेत्प्रास्थिकेऽम्भसि ॥२९॥

और पूर्वोक्त ९३ संख्यक श्लोक में "चन्दनैः" इस पद में सहार्थ में तृतीया है। अतः मोथा आदिक ६ द्रव्यों को कच्चे ही खून लेवे तत्पश्चात् ऋतु के अनुसार औटाये हुए केवल जल को शीतल करके उक्त द्रव्यों के साथ देवे। और इसी विषय में "वङ्गसेन" ने भी स्पष्टरूप से यह कहा है कि—औटाकर शीतल किये हुए जल में जो षडङ्गादि मोथा आदि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। अतः वहां पर द्रव्य एक कर्ष (१ तो०) लेकर १ प्रस्थ (६४ तोले) जल में डालना चाहिए ॥

*अस्यायमर्थः—यद्यस्माद्धेतोरप्सु जले शृतशीतासु शृतासु केवलास्वेव यथर्तुपक्वासु शीतासु तासु शीतलीकृतासु षडङ्गादि द्रव्यं प्रयुज्यते, आममेव संक्षुद्य जले स्थाप्यते ततः प्रक्षेप्यत्वात् कर्षमात्रं द्रव्यं समुचितं षडङ्गादि, प्रास्थिकेऽम्भसि प्रस्थमात्रे क्वथितशीतले जले क्षेप्तुं ग्राहयेत् ॥ २९ ॥

यहां पर इसका यह स्पष्ट अर्थ समझना चाहिये कि—जब कि ऋतु के अनुसार पूर्वोक्त रीति से औटाकर शीतल किये हुए ही जल में षडङ्गादि मोथा आदिक द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है अत एव कच्चे ही उक्त षडङ्गादि मोथा आदिक द्रव्यों को खून कर उक्त जल में भिगोने के लिये डाल देना चाहिये। और यहाँ पर षडङ्गादिद्रव्यों का प्रक्षेप किया जाता है अत एव उन सबों की मात्रा मिलकर १ कर्ष (१ तो०) की होनी उचित है तथा प्रथम ही औटाकर शीतल किए हुये १ प्रस्थ (६४ तो०) जल में भिगोने के लिए उन सबों को डालना चाहिये पश्चात् कुछ देर बाद छानकर देना चाहिए ॥ २९ ॥

*अत एव षडङ्गमभिधाय षडङ्गपानीयमिति वङ्गसेनादिभिरुक्तम्। अस्मिन् पक्षे चन्दनं श्वेतमेव ग्राह्यं न तु रक्तं, तत्कषायलेपयोरेव प्रयोक्तुमुक्तम्। यत आह—
कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम् ॥ ३० ॥ इति ॥

और यहाँ पर वङ्गसेनादिक ने षडङ्ग पद का प्रयोग करके इसका नाम "षडङ्गपानीय" कहा है अर्थात् इन्हें क्वाथ करना अभीष्ट नहीं है। और मोथा आदिक ६ द्रव्य संस्कार करने में अङ्ग है जिसमें, ऐसे योग को "षडङ्ग" कहते हैं। और इस पक्षमें यहां पर "चन्दन" पदसे "सफेद चन्दन"

का ग्रहण करना चाहिये न कि "लाल चन्दन" का क्योंकि इसका प्रयोग क्वाथ तथा लेप में ही करने को कहा गया है, जैसा कि अन्यत्र कहा हुआ है कि "क्वाथ तथा लेप में प्रायः लाल चन्दन का ही प्रयोग करना उचित है" ॥ ३० ॥

***षडङ्गपानीयमिदं षडङ्गादेः पानेऽनुविधातव्ये प्रक्रिया विहिता महावङ्गसेनेन—**
कर्षमात्रं तथा द्रव्यं ग्राहयेत्प्रास्थिकेऽम्भसि । अर्द्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयाऽऽदिसंविधौ ॥

यह "षडङ्गपानीय" की प्रक्रिया हुई, और जहां पर षडङ्गादि का क्वाथ करके पीना हो वहां पर निम्नलिखित प्रक्रिया "महावङ्गसेन" ने कही है जो कि यह है कि—एक कर्ष (१ तो०) खुने हुये द्रव्य को लेकर १ प्रस्थ (६४ तो०) जल में डालकर क्वाथ बनाना चाहिये, जब आधा जल अवशिष्ट रह जाय तब उसे उतार लेवे तत्पश्चात् छान कर कार्य में लेना चाहिए, यह विधि क्वाथ तथा पेया आदि के बनाने में समझनी चाहिये ॥ ३१ ॥

***आदिशब्देन यूष-यवागू-विलेपी-भक्तानि गृह्यन्ते ॥ ३१ ॥**

यहां पर "आदि" पद से "जूस, यवागू , विलेपी तथा भात" का ग्रहण किया जाता है ॥३१॥

***पानप्रक्रियां शार्ङ्गधरोऽप्येतामेवाह—**
क्षुण्णं द्रव्यं पलं साध्यं चतुःषष्टिपले जले । अर्धशिष्टन्तु तद् देयं पाने पेयाऽऽदिसंविधौ ॥३२॥

और "शार्ङ्गधर" ने भी पान (पीने के लिए क्वाथ) बनाने के लिए इसी प्रक्रिया को कहा है—खुने हुए १ पल (४ तो०) द्रव्य को ६४ पल (२५६ तो०) जल में डालकर पकाना चाहिये, जब आधा जल शेष रह जाय तब उसे कार्य में लेवे, यही प्रकार पेया आदि बनाने में समझना चाहिये ॥

***पानप्रयोगश्च षडङ्गमुक्तवान् । अस्मिन् पक्षे चन्दनं रक्तं ग्राह्यम् ॥ ३२ ॥**

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—जहां पर पान का प्रयोग है वहाँ पर "षडङ्ग मोथा" आदि द्रव्य डालने के लिए कहा है, अतः क्वाथ बनाने का पक्ष होने से चन्दन पद से रक्त चन्दन का ही ग्रहण करना चाहिये ॥ ३२ ॥

"कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्" इति वचनात् ।

तथा च रक्तचन्दनस्य गुणाः—
रक्तं हिमं स्वादुपाकं छर्दितृष्णाऽस्रपित्तजित् । तिक्तं नेत्रहितं वृष्यं ज्वरव्रणविषापहम् ॥३३॥

क्योंकि—"कषाय (क्वाथ) तथा लेप में प्रायः रक्तचन्दन का ही ग्रहण करना उपयुक्त होता है" ऐसा वचन अन्यत्र मिलता है, तथा रक्तचन्दन—शीतल, विपाक में मधुररसयुक्त एवम् वमन, तृष्णा तथा रक्तपित्त को नष्ट करने वाला, तिक्तरसयुक्त, नेत्रों के लिए हितकर, वीर्यवर्द्धक होता है और ज्वर, व्रण तथा विष को दूर करने वाला है ॥ ३३ ॥

***षडङ्गादि प्रयुज्यत इत्यादिशब्देन वक्ष्यमाणा योगा उच्यन्ते । यथा—**
***श्रीपर्णीचन्दनोशीरसमधूकपरूषकम् ॥ ३४ ॥**

और पूर्वोक्त टीका के २९वें श्लोक में "षडङ्गादि" इस पद के अन्तर्गत "आदि" पद से आगे कहे जाने वाले योगों का भी ग्रहण किया जाता है। जैसे कि—खम्भारी (खम्भारी का फल), चन्दन, खस, महुये का फल, (फालसे का फल) इनका पानक षडङ्गपानीय की भांति बनाया जाता है, और उक्त द्रव्यों का पानक पित्तज्वर को नष्ट करने वाला होता है। यह प्रथम योग है॥

***अत्र श्रीपर्णीपरूषकयोः फलं ग्राह्यं मधूकस्य तु पुष्पम् ॥ ३४ ॥**

यहां पर "खम्भारी तथा फालसे" के कहने से उसके फल का ही ग्रहण करना चाहिये तथा "महुये" के कहने से उसके फूल का ही ग्रहण करना चाहिये ॥ ३४ ॥

क्षपानं पित्तज्वरं हन्यात् सारिवाऽऽद्यं सशर्करम् ॥ ३५ ॥

इसी भाँति सारिवाऽऽदिगणपठित (अनन्तमूल, खस, खम्भार, सफेद व लाल चन्दन, मुलेठी, फालसा) द्रव्यों का पानक बनाकर उसमें शर्करा मिलाकर पिलाने से पित्तज्वर नष्ट होता है। यह द्वितीय योग है ॥ ३५ ॥

अन्यच्च—

क्षहन्यात्सयष्टिमधुकं तथैवोत्पलपूर्वकम्। पाने श्रृतं जलं किं वा सोत्पलं शर्करायुतम् ॥३६॥

और भी कहा है कि—जेठीमधु (मुलेठी) और कमल पूर्वोक्त रीति से औटाये हुये जल में डालकर पानक की रीति से तैयार कर यदि पिलाया जाय तो भी पित्तज्वर नष्ट होता है। यह तृतीय योग है। किंवा केवल कमल तथा शर्करा (चीनी) मिलाकर पानक बनाकर देने से भी पित्त-ज्वर नष्ट होता है। यह चतुर्थ योग है ॥ ३६ ॥

क्षहन्यात्पित्तज्वरमिति शेषः। उत्पलमत्र कमलमित्यादि ॥ ३६ ॥

यहाँ पर "पित्तज्वर को नष्ट करता है" इसमें पित्तज्वर को ऊपर से लाकर अर्थ करना चाहिये क्योंकि मूल में नहीं है। तथा "उत्पल" पद से "कमल" का बोध करना चाहिये। (३६) ॥ ९३ ॥

अथ दिननिद्रानिषेधमाह—

दिवास्वापं न कुर्वीत यतोऽसौ स्यात्कफावहः। ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वापो निषिध्यते ॥९४॥
उचितो हि दिवास्वापो नित्यं येषां शरीरिणाम्। वातादयः प्रकुप्यन्ति तेषामस्वपतां दिवा ॥९५॥

"दिन में सोना निषिद्ध है" इस विषय में कहते हैं—दिन में नहीं सोना चाहिए क्योंकि दिन में सोने से कफ की वृद्धि होती है। और ग्रीष्म को छोड़कर अन्य वर्षा आदिक ऋतुओं में दिन में सोना निषिद्ध समझना चाहिए। किन्तु जिन मनुष्यों को प्रतिदिन दिन में सोने का अभ्यास हो गया हो, ऐसे लोग यदि दिन में न सोवे तो उनके वातादिक दोष प्रकुपित हो जाते हैं अतः उनके लिए यह निषेध-वचन नहीं है ॥ ९४–९५ ॥

अथ दिवाशयनार्हजनानाह—

व्यायामप्रमदाऽध्ववाहनरतान् क्लान्तानतीसारिणः-
शूलश्वासवमीतृषापरिगतान् हिक्कामरुत्पीडितान् ॥
क्षीणान्क्षीणकफान्शिशून्मदहतान्वृद्धांस्तथाऽजीर्णिनो-
रात्रौ जागरितान्नरान्निरशनान्कामं दिवा स्वापयेत् ॥ ९६ ॥

दिन में सोने के लिये योग्य लोग—जो लोग व्यायाम (कसरत) करने वाले, स्त्रीसंग करने वाले, रास्ता चलने वाले, घोड़े आदि की सवारी करने वाले तथा परिश्रम से थके हुये हों अथवा अतीसार, शूल, श्वास, वमन, तृषा इन रोगों से युक्त हों किंवा हिचकी तथा वायु से पीड़ित हों या क्षीण धातु वाले हों वा जिन लोगों का कफ क्षीण हो गया हो अथवा जो बालक, नशा से भरे हुये तथा वृद्ध हों वा जिन्हें अजीर्ण हो गया हो या रात्रि में जागरण किये हों किं वा जिन्होंने लङ्घन किया हो, ऐसे लोगों को उनके इच्छाऽनुसार दिन में सुलाना हितकर होता है ॥ ९६ ॥

अथ वातिकादिज्वराणां पाकावधिमाह—

वातिकः सप्तरात्रेण दशरात्रेण पैत्तिकः। श्लैष्मिको द्वादशाहेन ज्वरः पाकमुपैति हि ॥९७॥

वातादि से उत्पन्न हुये ज्वरों में दोषों के परिपक्व होने की अवधि—वातज्वर सात ७ दिन में पचता है, पित्तज्वर दश १० दिन में और कफज्वर बारह १२ दिन में पचता है ॥ ९७ ॥

क्षरसस्यामत्वे अवधिमतिक्रम्यापि ज्वरस्तिष्ठति। यत आह सुश्रुतः—

बहुदोषस्य मन्दाग्नेः सप्तरात्रात्परं ज्वरे। लङ्घनाम्बुयवागूभिर्यदा दोषो न पच्यते॥
तदा तं मुखवैरस्यतृष्णाऽरोचकनाशनैः। कषायैः पाचनैर्हृद्यैर्ज्वरघ्नैः समुपाचरेत्॥३७॥ इति

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—यदि रस की आमता (कच्चापन) बना रहे तो उक्त वातादिजन्य ज्वरों की अवधि समाप्त होने पर भी ज्वर बना रहता है। क्योंकि सुश्रुत ने कहा है कि-दोष की अधिकता तथा अग्नि की मन्दता होने से जिसका ज्वर सात ७ दिन के बाद भी बना रहे तथा लङ्घन एवं उष्ण जलपान तथा यवागू खिलाने पर भी दोष का परिपाक न हो तो उस समय मुख को विरसता, तृषा (प्यास) तथा अरुचि को दूर करने वाले, दोषों को पचाने वाले, हृदय के लिये हितकारी ज्वरनाशक कार्यों के द्वारा उसका उपचार करना चाहिये। (३७)॥ ९७॥

अथ ज्वरस्य तारुण्यमध्यावस्थाजीर्णताऽवधिमाह—

आ सप्तरात्रात्तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः। द्वादशाहमभिव्याप्य मध्यं जीर्णं ततः परम्॥९८॥

ज्वर की तरुण तथा मध्य अवस्था एवम् जीर्ण अवस्था की अवधि—"सात दिन के पूर्व ज्वर की तरुण अवस्था रहती है उसके बाद बारह १२ दिन तक मध्य अवस्था तदुपरान्त ज्वर की जीर्ण अवस्था होती है" ऐसा वैद्य लोग कहते हैं॥ ९८॥

*आ सप्तरात्रादिति। अत्राङ् मर्यादायां रात्रिशब्दो दिवसस्योपलक्षकः। तेन सप्तमदिवसादर्वाग् ज्वरस्तरुण इत्यर्थः। तथा चोक्तं तन्त्रान्तरे—
ज्वरे व्यतीते षडहे जीर्ण इत्युच्यते बुधैः। द्वादशाहात्परं जीर्णमाहुरन्ये मनीषिणः॥३८॥ इति

यहां पर "आ सप्तरात्रात्" इस पद में "आ(आङ्)" पद मर्यादा अर्थ में है तथा "रात्रि" शब्द "दिन" का उपलक्षक है अर्थात् दिन को लक्ष्य करके प्रयोग किया गया है। अत एव "सात दिन के पूर्व ज्वर की तरुण अवस्था रहती है" यह अर्थ किया गया है। और तन्त्रान्तरों में भी कहा है कि—"छः ६ दिन बीत जाने पर ज्वर जीर्ण कहलाता है" ऐसा पण्डित लोग कहते हैं। और अन्य कोई २ पण्डित यह भी कहते हैं कि-१२ बारह दिन के बाद ज्वर जीर्ण कहलाता है॥ ३८॥

*अत एव जातूकर्णः—"जीर्णस्त्रयोदशे दिवसे" इति। अथ ज्वरे युञ्जीत भेषजम्॥९८॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—अत एव जातूकर्ण ने भी कहा है कि-१३ वें दिन ज्वर जीर्ण कहलाता है।" अतः तदुपरान्त ज्वर में औषध देना उचित होता है॥ ९८॥

अथ ज्वरौषधदानसमयमाह—

वातिके सप्तरात्रेण दशरात्रेण पैत्तिके। श्लैष्मिके द्वादशाहेन ज्वरे युञ्जीत भेषजम्॥ ९९॥

ज्वर में औषध देने का समय—वातजन्य ज्वर में ७ वें दिन, पित्तज्वर में १० दिन और कफ जन्य ज्वर में १२ दिन व्यतीत होने पर औषध देना चाहिये॥ ९९॥

*सप्तरात्रेणेत्यत्र रात्रिशब्दो दिवसस्योपलक्षकः। अत एवोक्तम्—
पाययेदातुरं साममौषधं सप्तमे दिने। शमनेनाथ वा दृष्ट्वा निरामं तमुपाचरेत्॥ इति॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि-"सप्तरात्रेण" इस पद में "रात्रि" शब्द "दिन" का उपलक्षक है। अत एव अन्यत्र कहा हुआ है कि—यदि वातज्वर वाले रोगी की सामावस्था हो अर्थात् दोष का परिपाक न हुआ हो तो सातवें ७ वें दिन उसे औषध देना चाहिये। अथवा रोगी की निराम (आम दोष से रहित) अवस्था यदि दिखाई पड़े तो शमन (दोषों का शमन करने वाली) ओषधि के द्वारा उस का उपचार करना चाहिये॥ ३९॥

*शार्ङ्गधरेणोक्तं—
गुडूचीपिप्पलीमूलनागरैः पाचनं शृतम्। वातज्वरे तथा पेयं कालिङ्गं सप्तमेऽहनि॥ इति॥

शार्ङ्गधर ने भी कहा है कि—वातज्वर में रोगी को सातवें दिन गिलोय, पिपरामूल, सोंठ और इन्द्रजौ इन का पाचन (दोषों को पचाने वाला) क्वाथ पीने के लिये देना चाहिये ॥ ४० ॥

*हारीतेनोक्तम्—

एतां क्रियां प्रयुञ्जीत षड्रात्रं सप्तमेऽहनि । पिबेत्कषायसंयोगात्पेयां ज्वरविनाशिनीम् ॥४१॥

हारीत ने भी कहा है कि–ज्वररोगी के लिये इस उपवास आदि क्रिया को ६ छः दिन-रात्रि तक करना चाहिये, उस के बाद सातवें दिन से यथोचित दोषनाशक ओषधियों के क्वाथ से बनाई गई ज्वरनाशक पेया पिलानी चाहिये ॥ ४१ ॥

*एतां क्रियां लङ्घनादिरूपां कषायसंयोगात् कषायेण साधितां पेयामित्यर्थः ॥ ४१ ॥

यहां पर "एतां क्रियाम्" इन पदों का "इस लङ्घन (उपवास) आदिक क्रिया को" और "कषायसंयोगात्" इस पद का "यथोचित दोषनाशक ओषधियों के क्वाथ से बनाई गई" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४१ ॥

*खरनादेनाप्युक्तम्—

इति षड्रात्रिकः प्रोक्तो नवज्वरहरो विधिः । ततः परं पाचनीयं शमनीयं ज्वरे हितम् ॥

खरनादने भी कहा है कि—इस प्रकार से आरम्भ में केवल ६ छः रात्रि (दिन) तक नवीन ज्वर को दूर करने वाली विधियां कही गई, उसके बाद ज्वर के मध्य में प्रयोग करने योग्य अवस्थाऽनुसार पाचन अथवा शमन औषध देना हितकर होता है ॥ ४२ ॥

*ततो ज्वरमध्ये करणीयमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

यहां पर "ज्वरे" पद का "ज्वर के मध्य में प्रयोग करने योग्य" यह अर्थ समझना चाहिये ॥

*वाग्भटश्चाह—

सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः । लङ्घने भोजिते केचिद् देयमामोल्वणे न तु ॥४३॥

और वाग्भट ने भी कहा है कि—कुछ वैद्यों ने सातवें दिन से औषध देना कहा है, और इससे अन्य कितने एक वैद्यों ने दशवें दिन से एवम् कितने एक वैद्यों ने तो लङ्घन करने पर कुछ हलका अन्न खिलाने के बाद औषध देना कहा है। किन्तु आमदोष की अधिकता रहने पर तो कभी भी औषध नहीं देना चाहिये ॥ ४३ ॥

*सप्ताहात्सप्ताहमारभ्येत्यर्थः, अत्र ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी ॥ ४३ ॥

यहां पर "सप्ताहात्" इस पद में "ल्यप्" प्रत्यय का लोप होकर कर्म में पञ्चमी हुई है अतः उक्त पद का "सातवें दिन से अर्थात् सातवें दिन से आरम्भ करके" यह अर्थ समझना चाहिये ॥

*अत एव सुश्रुत आह—

दशरात्रात्परं सर्वदातव्यमिति निश्चितम् ॥ ४४ ॥ इति ॥

अत एव सुश्रुत ने भी कहा है कि—सभी वैद्यों को चाहिये कि—वे दश रात्रि (दिन) के बाद ही ज्वर रोगी को औषध दें, क्योंकि यही आयुर्वेदज्ञों द्वारा विचार करने पर निश्चित हुआ है ॥४४॥

*अत एव दशरात्रेण द्वादशाहेन चेति लङ्घनवता व्यतीतेनेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अत एव पूर्वोक्त ९०वें श्लोक में १० दिन या १२ दिन के बाद औषध देने की व्यवस्था होने से यह समझना चाहिये कि १० वा १२ दिन तक लङ्घन करा चुकने के बाद औषध देना उचित है ॥

*अत्र चरकस्त्वेवमाह—

ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् । पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तुतम् ॥ ४५ ॥

इस विषय में चरक महर्षि तो इस प्रकार कहते हैं कि–ज्वर रोगी को जब ६ दिन तक लङ्घन करते हुए हो जायँ तब उसे लघु अन्न भोजन कराकर पाचन अथवा शमन क्वाथ पिलाना चाहिये ॥ ४५ ॥

***अस्यायमर्थः–ज्वरितं षडहे लङ्घनेन व्यतीते सप्तमेऽहनि लघ्वन्नं दत्त्वा, अष्टमे दिने कषायं पाययेदित्यर्थः ॥ ४५ ॥**

यहां पर इसका स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि—ज्वर रोगी को लङ्घन (उपवास) करने से ६ दिन तक व्यतीत होने पर ७ वें दिन लघु अन्न जूस आदिक खिलाकर ८ वें दिन पाचन वा शमन रूपी क्वाथ पिलाना चाहिये ॥ ४५ ॥

***तथा च सुश्रुतः—**

सप्तरात्रात्परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम् ॥ ४६ ॥ इति ॥

और इसी विषय में सुश्रुत भी कहते हैं कि—कोई २ महर्षि "सात दिन के बाद ज्वर रोगी को औषध देना चाहिये" इस मत को मानते हैं ॥ ४६ ॥

***सप्तरात्रात् परम् = अष्टमेऽहनीत्यर्थः। केचिच्चरकादयः ॥ ४६ ॥**

यहाँ पर "सप्तरात्रात्परम्" इन पदों का "सात दिन के बाद अर्थात् आठवें दिन" और "केचित्" पद का "कोई २ महर्षि अर्थात् चरकादिक" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४६ ॥

***चक्रदत्तोऽपि—**

सप्तरात्रेण पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः। निरामस्तु ततः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमे दिने ॥४७॥

और चक्रदत्त भी कहते हैं कि—"सात दिन में रस-रक्तादि ७ धातुओं में स्थित मल का परिपाक होता है, अतः इसके बाद आठवें दिन प्रायः ज्वर आमदोष रहित होता है" ऐसा आयुर्वेदज्ञ ऋषियों ने कहा है ॥ ४७ ॥

***एवं सति कषायदाने सप्तमाष्टमयोर्दिवसयोर्विकल्पः। तत्रापि वयोबलाग्निदोषदेशकालोचितं कुर्यात्। भेषजमन्नञ्च दोषपाकं दृष्ट्वा दद्यादित्याह सुश्रुतः—**

पैत्तिके च ज्वरे देयमल्पकालसमुत्थिते। अचिरज्वरितस्यापि भैषज्यं दोषपाकतः ॥४८॥ इति ।

इस प्रकार क्वाथ देने के विषय में अनेक मत होने पर यही स्थिर हुआ कि—क्वाथ देने में सातवां या आठवां दिन उत्तम है। उसमें भी रोगी की अवस्था, बल, अग्नि, दोष, देश तथा काल के अनुसार जो उचित हो उसे करना चाहिये। और "दोषों के परिपाक को देखकर अर्थात् वस्तुतः जभी दोषों का परिपाक हो तभी औषध तथा अन्न देना चाहिये" इसी विषय को सुश्रुत ने भी कहा है कि–रोगी को थोड़े समय से उत्पन्न हुये पैत्तिक ज्वर में तथा थोड़े समय से उत्पन्न हुए अन्य ज्वरों में भी दोष के पाक होने पर ही औषध देना चाहिये ॥ ४८ ॥

***अस्यायमर्थः—अल्पकालसमुत्थिते पैत्तिके ज्वरे दोषपाकं दृष्ट्वा भैषज्यं देयं न तु तत्र दशरात्रापेक्षा, तथा अचिरज्वरितस्यापि पैत्तिकेतरनवज्वरयुक्तस्यापि दोषपाकं दृष्ट्वा भैषज्यं देयमित्यर्थः ॥ ४८ ॥**

इसका स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि—थोड़े समय से उत्पन्न हुए पैत्तिक ज्वर में दोष के पाक को देखकर अर्थात् जब दोष का पाक हो तब रोगी को औषध देना चाहिये, उस समय दश दिन व्यतीत हुआ या नहीं हुआ इसकी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। और इसी भाँति थोड़े समय से उत्पन्न हुये अन्य ज्वरों से युक्त वाले अर्थात् पैत्तिक ज्वर से अन्य नवीन ज्वर वाले रोगी को भी दोष के पाक को देखकर औषध देना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथ दोषपाकलक्षणमाह सुश्रुतः—

मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च । पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम् ॥४९॥इति॥

अब सुश्रुतोक्त दोषपाक के लक्षण कहते हैं-"जब रोगी का ज्वर कम हो जाय, शरीर में हल्कापन मालूम हो, वात, पित्त, कफ, मूत्र तथा विष्ठा ये सब मल अपने २ मार्ग में यथोचित सञ्चार करने लगें तब दोष परिपक्व अर्थात् आम से रहित हो गया ऐसा समझना चाहिये। और तभी उस समय ज्वरमें रोगी को औषध देना चाहिये ॥ ४९ ॥

ज्वरे मृदौ = स्वल्पीभूते । मलेषु = वातपित्तकफमूत्रपुरीषेषु । प्रचलेषु = स्वमार्गसञ्चारिषु । पक्वं = निरामम् ॥ ४९ ॥

यहां पर "ज्वरे मृदौ" पदों का "रोगी का ज्वर कम हो जाय" यह अर्थ समझना चाहिये। तथा "मल" पद से "वात, पित्त, कफ, मूत्र तथा विष्ठा का ग्रहण किया गया है" यह समझना चाहिये। "प्रचलेषु" पदका "अपने २ मार्ग में यथोचित संचार करने लगें" और "पक्वम्" पद का "निराम अर्थात् आम से रहित" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४९ ॥

"दोषप्रकृतिवैकृत्यादेकेषां पक्वलक्षणम् ॥ ५० ॥

और कोई लोग यह भी कहते हैं कि—दोषों की प्रकृति में विकृति हो जाने से भी इनके (दोषों के) परिपक्व होने का लक्षण समझना चाहिये ॥ ५० ॥

दोषाणां = दुष्टवातपित्तकफानां, प्रकृतिः = ज्वरस्य तदुपद्रवाणां चोत्पादनम्, तस्या वैकृत्यं = वैपरीत्यं तस्माद्दोषपाकज्ञानम् ॥ ५० ॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि-अपने २ कारणों से दुष्ट हुये जो वात, पित्त तथा कफ ये दोष हैं इनकी जो ज्वर तथा ज्वर के उपद्रवों को उत्पन्न करने की प्रकृति (स्वभाव) है उसकी जो विकृति अर्थात् उक्त स्वभाव के विपरीत हो जाना है, उससे दोषों के परिपाक का ज्ञान करना चाहिये ॥ ५० ॥

केषांचिद् मते एवम्—

क्षुत्क्षामत्वं लघुत्वञ्च गात्राणां ज्वरमार्दवम् । दोषप्रवृत्तिरुत्साहो निरामज्वरलक्षणम् ॥ ५१ ॥

और किन्हीं लोगों के मत में इस प्रकार से भी है कि-भूख लगना, शरीर की क्षीणता तथा हल्कापन, ज्वर की कमी, दोषों का अपने २ मार्ग में सञ्चार करना और उत्साह ये सब लक्षण जब मालूम पड़े तब ज्वर "निराम" अर्थात् आम रहित हो गया, यह समझना चाहिये ॥ ५१ ॥

दोषप्रकृतिः = दोषाणां स्वमार्गसञ्चारः (५१) इति ॥ ९९ ॥

यहां पर "दोषप्रकृतिः" पद का दोषों का अपने २ मार्ग में संचार करना" यह अर्थ समझना चाहिये (५१) ॥ ९९ ॥

ज्ञेयः पञ्चविधः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम् ॥ १०० ॥

तत्राऽनुक्ते प्रभातं स्यात्कषायेषु विशेषतः । मुख्यभैषज्यसम्बन्धो निषिद्धस्तरुणज्वरे ॥१०१॥

मनुष्यों (रोगियों) के लिये औषध ग्रहण करने में ५ प्रकार का समय कहा हुआ है, उसमें से जहां पर औषध ग्रहण करने के विषय में किसी समय का निर्देश न हो तो वहां पर प्रातःकाल औषध देने का समय समझना चाहिये, और जहां पर क्वाथ देना हो तो वहां पर विशेष रूप से प्रातःकाल ही देना उचित समझना चाहिये । और नवीन ज्वर में मुख्य औषध क्वाथ का पीना निषिद्ध है ऐसा समझना चाहिये ॥ १००-१०१ ॥

मुख्यभेषजं = क्वाथस्तस्य सम्बन्धः = पानम् । अत आह—

न कषायं प्रशंसन्ति नराणां तरुणे ज्वरे । कषायेणाकुलीभूता दोषा जेतुं सुदुस्तराः ॥

यहां पर "मुख्यभेषज" पद से 'क्वाथ' का ग्रहण करना चाहिये तथा "सम्बन्ध"पद का "पीना" अर्थ समझना चाहिये । अत एव अन्यत्र कहा भी है कि–मनुष्यों को नवीन ज्वर में क्वाथ देना आयुर्वेदज्ञ ऋषि लोग उचित नहीं मानते हैं क्योंकि–क्वाथ देने से दोष प्रवृद्ध हो जाते हैं अतः उस समय उनका जीतना अत्यन्त कठिन हो जाता है ॥ ५२ ॥

आकुलीभूताः = प्रवृद्धाः स्वमार्गं परित्यज्य, इतस्ततो गताः । अत्र कषायशब्देन क्वाथो गृह्यते । उक्ताश्च क्वाथस्य पर्यायाः—

शृतं क्वाथः कषायश्च निर्यूहः स निगद्यते (५३) ॥ १००–१०१ ॥

यहां पर "आकुलीभूताः" पद का "प्रवृद्ध हो जाते हैं अर्थात् अपने २ मार्गों को छोड़कर इधर उधर जाने लगते हैं" तथा "कषाय" पद का "क्वाथ" यह अर्थ समझना चाहिये । क्योंकि अन्यत्र क्वाथ के पर्यायवाचक शब्दों में कषाय का पाठ मिलता है । जैसे कि—"शृत, क्वाथ, कषाय और निर्यूह ये सब पर्यायवाचक शब्द कहे जाते हैं" इसमें क्वाथ के साथ कषाय का पाठ किया गया है॥१००–१०१॥

तोयपेयाऽऽदिसंस्कारैर्निर्दोषं तत्र भेषजम् ॥ १०२ ॥

किन्तु पानीय (पीने का) जल तथा पेया आदि के संस्कार द्वारा नवीन ज्वर में भेषज (क्वाथ) का प्रयोग किया जा सकता है वहां पर कोई दोष नहीं है । भाव यह है कि जिस प्रकार जल का संस्कार करने के लिये मोथा आदिक के साथ षडङ्ग पानीय बनाकर उसे नवीन ज्वर में पिलाया जाता है तथा जिस प्रकार विशेष २ ओषधियों के साथ पेया, यवागू आदिक पका कर पिलाया जाता है उस प्रकार से नवीन ज्वर में औषध देने से कोई हानि नहीं होती है १०२ ॥

तोयपेयाऽऽदिसंस्कारैर्निर्दोषं तत्र भेषजमिति । तत्र = तरुणज्वरे मुख्यभेषजं क्वाथरूपं, न तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यत इति । कल्पनं तोयपेयायवाग्वादिकम् ।

ननु—

स्वरसश्च तथा कल्कः क्वाथश्च हिमफाण्टकौ । ज्ञेयाः कषायाः पञ्चैते लघवः स्युर्यथोत्तरम् ॥

यहां पर "तत्र" पद का "नवीन ज्वर में", तथा "भेषज"पद का "मुख्य औषध अर्थात् "क्वाथ" अर्थ समझना चाहिये । और उसी क्वाथ का नवीन ज्वर में देना निषिद्ध समझना चाहिये, न कि कल्पना के उद्देश्य से बने हुये क्वाथ का देना निषिद्ध समझना चाहिये । यहां पर "कल्पना" पद से षडङ्ग पानीय, पेया और यवागू आदि का ग्रहण करना चाहिये अतः इनके बनाने के लिये जो क्वाथ बनता है उस क्वाथ का निषेध नहीं समझना चाहिये ।

अब यहां पर यह शङ्का होती है कि–"स्वरस, कल्क, क्वाथ, हिम तथा फाण्ट ये पाँच कषाय कहलाते हैं और ये उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा लघु होते हैं" ॥ ५४ ॥

इति वचनात्स्वरसादयोऽपि कथं न निषिध्यन्ते, तत्राह—

यः कषायः कषायः स्यात्स वर्ज्यस्तरुणज्वरे ॥ ५५ ॥ इति

इस वचन से कषायपदवाच्य क्वाथ की भांति स्वरसादिकों का भी नवीन ज्वर में निषेध क्यों नहीं किया जाता है, इस शंका का निवारण करने के लिये अन्यत्र यह कहा हुआ है कि—

जो कषायपदवाच्य कषाय अर्थात् क्वाथ है उसीका निषेध नवीन ज्वर में समझना चाहिये न कि कषायपदवाच्य स्वरसादिक का भी निषेध समझना चाहिये ॥ ५५ ॥

चतुर्थभागावशेषकरणेन, अष्टमभागावशेषकरणेन च कषायवर्णः कषायरसश्च स्यात् । स कषायः क्वाथः स तरुणज्वरे निषिद्धः ॥ ५५ ॥

क्वाथस्य लक्षणमाह—

*पादशिष्टः कषायः स्याद् यः षोडशगुणाम्भसा । क्वथितोऽतः षडङ्गादिर्न निषिद्धो नवज्वरे ॥

यहां पर इस श्लोक का यह भाव समझना चाहिये कि—क्वाथ के बनाने में औटाते २ जल का चतुर्थांश या अष्टमांश अवशेष करने से क्वाथ अर्थात् कषाय का वर्ण कसैला हो जाता है एवम् वह कसैले रस से युक्त भी हो जाता है अतः कषाय पद से पांच प्रकार के स्वरसादिसंज्ञक कषायों में से क्वाथसंज्ञक कषाय का ही बोध किया जाता है, और वही (क्वाथसंज्ञक) कषाय नवीन ज्वर में निषिद्ध समझा जाता है । और क्वाथ के लक्षण के विषय में अन्यत्र यह कहा हुआ है कि—

जो क्वाथ्य द्रव्य से (जिस द्रव्य का क्वाथ बनाना हो उसे काथ्य द्रव्य कहते हैं) १६ गुने जल के साथ पकाया जाता है और चतुर्थांश जल अवशिष्ट रहने पर उतार लिया जाता है उसे "कषाय" समझना चाहिये । अतः षडङ्गादिक नवीन ज्वर में निषिद्ध नहीं समझे जाते हैं ॥ ५६ ॥

*अस्यायमर्थः-यः क्वाथ्यद्रव्यात् षोडशगुणेनाम्भसा क्वथितः=पक्वः । अथ च पादशिष्टः=चतुर्थभागावशेषः, स कषायः स्यात् । अतः षडङ्गादिस्तरुणज्वरे न निषिद्धः । अपाकादर्द्धपाकाच्चोक्तलक्षणाभावेन कषायत्वाभावात् (५६) ॥ १०२ ॥

इस उपर्युक्त श्लोक का भाव यह समझना चाहिये कि-जो काथ्य द्रव्य से १६ गुने जल के साथ पकाया जाता है और चतुर्थांश जल अवशिष्ट रहते उतार लिया जाता है वह कषाय कहलाता है । अतः षडङ्गादिक नवीन ज्वर में निषिद्ध नहीं समझे जाते हैं क्योंकि षडङ्गादिकों में किसी का तो पाक ही नहीं बनाया जाता है और किसी का यदि पाक बनाया जाता है तो आधा जल अवशिष्ट रहते ही उतार लिया जाता है अतः उपर्युक्त कषाय के लक्षण का इनमें अभाव होने से ये कषाय नहीं कहलाते हैं, सुतराम् ये नवीन ज्वर में निषिद्ध नहीं माने जाते हैं । (५६) ॥ १०२ ॥

अथ तरुणज्वरे कषायस्य दोषमाह—

दोषा वृद्धाः कषायेण स्तम्भितास्तरुणज्वरे । स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम् ॥

नवीन ज्वर में कषाय (क्वाथ) देने के दोष—नवीन ज्वर में बढ़े हुये दोष कषाय (क्वाथ) देने से स्तम्भित हो जाते हैं, अर्थात् बाहर निकलने के लिये रोक दिये जाते हैं, आध्मान करने वाले होते हैं एवम् उनका (दोषों का) विपाक भी सुख से नहीं होता है, अन्त में वे (दोष) विषमज्वर को उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं ॥ १०३ ॥

*कषायेण स्तम्भिताः=प्रवृत्तये निवारिताः । यत आह कषायरसगुणान्—

कषायः स्तम्भनः शीतो रूक्षः पित्तकफापहः ॥ ५७ ॥

यहां पर "कषायेण स्तम्भिताः" इन पदों का "कषाय (क्वाथ) देने से स्तम्भित हो जाते हैं अर्थात् बाहर निकलने के लिये रोक दिये जाते हैं" यह अर्थ समझना चाहिये । क्योंकि अन्यत्र कषाय रस के गुण—कषाय रस युक्त द्रव्य—स्तम्भनकारक (दोषों को बाहर निकलने के लिये रोकने वाला), शीतल, रूक्ष, एवम् पित्त तथा कफ को नष्ट करने वाला होता है ॥ ५७ ॥

*इत्यादि । स्तभ्यन्ते=आध्मानं कुर्वन्ति । न विपच्यन्ते=सुखेन न विपच्यन्ते दुःखं दत्वा विलम्बेन विपच्यन्त इति यावत् ॥ १०३ ॥

इत्यादिक कहे हुये हैं । और "स्तभ्यन्ते" इस पद का "आध्मान करने वाले होते हैं" तथा "न विपच्यन्ते" पदों का "सुख से (आसानी से) उनका (दोषों का) विपाक भी नहीं होता है अर्थात् दुःख देकर विलम्ब से वे विपाक को प्राप्त होते हैं । यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १०३ ॥

अन्यच्च—

न च्यवन्ते न पच्यन्ते कषायैः स्तम्भिता मलाः । तिर्यग्विमार्गगा वाते घोरं कुर्युर्नवज्वरम् ॥

और भी कहा हुआ है कि—नवीन ज्वर में कषाय (क्वाथ) पीने से स्तम्भित हुये दोष (दुष्ट वातादिक) बाहर नहीं निकल पाते हैं और न विपाक को प्राप्त होते हैं किन्तु तिर्यक् या विमार्ग से गमन करने वाले होकर नवीन ज्वर को भयङ्कर करने वाले हो जाते हैं ॥ १०४ ॥

अथ तरुणज्वरे वमननिषेधमाह—

अनवस्थितदोषाणां वमनं तरुणज्वरे । हृद्रोगं श्वासमानाहं मोहं च कुरुते भृशम् ॥ १०५ ॥

नवीन ज्वर में वमन कराने का निषेध—नवीन ज्वर में कफादि दोषों की अनुपस्थिति रहते हुए भी रोगी को वमन कराने वाली ओषधि देने से यदि वमन कराया जाय तो उसे प्रबल हृद्रोग, श्वास (दमा), अफरा और मोह उत्पन्न होता है ॥ १०४ ॥

***अयमर्थः-कफादिदोषोपस्थितौ स्वयमेव चेद्भवति वमनं न तद्दोषाय । अनवस्थितदोषाणां तरुणज्वरे वमनं यत्नकृतं हृद्रोगादीन्करोतीत्यर्थः । एतेन वचनेन तरुणज्वरे यत्नाद्वमनं निषिद्धम् ॥ १०५ ॥**

यहां पर इस श्लोक का यह अर्थ समझना चाहिये कि—कफादि दोषों की उपस्थिति होने पर अर्थात् उक्त दोषों को बाहर निकलने की चेष्टा होने पर स्वयम् यदि वमन हो जाय तो उससे कोई दोष नहीं होता है, हां यदि उक्त कफादिक दोषों की उपस्थिति (बाहर निकलने की प्रवृत्ति) न हो तो ऐसे समय में रोगी को नवीन ज्वर में ओषधि द्वारा यत्नपूर्वक वमन कराने से हृद्रोग आदि उत्पन्न होता है । इस वचन से यह सिद्ध हुआ कि—नवीन ज्वर में यत्नपूर्वक वमन कराना निषिद्ध है ॥ १०५ ॥

अथावस्थाविशेषे वमनं कर्त्तव्यमित्याह—

सद्योभुक्तस्य वा जाते ज्वरे सन्तर्पणोत्थिते । वमनं वमनार्हस्य शस्तमित्याह वाग्भटः ॥

अवस्था विशेष में नवीन ज्वर वाले को भी वमन कराना चाहिये इस विषय में "वाग्भट" ने कहा है कि—तत्काल भोजन करने के बाद यदि ज्वर हो जाय या अधिक सन्तर्पण (तृप्तिकारक भोजन) के द्वारा ज्वर हो जाय तो यदि रोगी वमन कराने के योग्य हो तो उसे अवश्य वमन कराना चाहिये, ऐसा "वाग्भट" का कथन है ॥ १०७ ॥

***वमनं वेति विकल्पो लङ्घनापेक्षया । वमनार्हस्येत्यनेन गर्भिण्यतिकृशातिवृद्धादिनिषेधः । अत एवात्र वृद्धवाग्भटः—**

वमितं लङ्घयेत्प्राज्ञो लङ्घितं न तु वामयेत् ।
वमनं क्लेशबाहुल्याद्धन्याल्लङ्घनकर्षितम् । न कार्यं गुर्विणीबालवृद्धदुर्बलभीरुभिः ॥ ५८ ॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये—उपर्युक्त श्लोक में "वा" पद के प्रयोग करने से यह समझा जाता है कि—लङ्घन द्वारा (भुक्त) भोजन किये हुये अन्न का परिपाक करना चाहिये अथवा यदि रोगी वमन के योग्य हो तो वमन द्वारा भुक्त अन्न को बाहर निकालना चाहिये । तथा "वमनार्ह" पद के प्रयोग से यह समझा जाता है कि—गर्भिणी, अत्यन्त कृश तथा अत्यन्त वृद्ध आदिकों को वमन निषिद्ध होने से उन लोगों को वमन नहीं कराया जाता है । अत एव इसी विषय में वृद्ध वाग्भट का यह वचन है कि-बुद्धिमान् वैद्य जिसे पूर्व में वमन कराया गया है ऐसे रोगी को लंघन करावै किन्तु जिसे पूर्व में लङ्घन कराया गया हो उसे वमन न करावै । क्योंकि—वमन करने में अत्यन्त कष्ट होता है अत एव लङ्घन (उपवास) से कृश हुये व्यक्ति को वमन कर्म कराने से वह नष्ट कर देता है । और गर्भिणी, बालक, वृद्ध, दुर्बल तथा डरपोक ऐसे व्यक्तियों को वमन नहीं कराना चाहिये ॥ ५८ ॥

*अनशनमिति शेषः। अनेनानशननिषेधेन गुर्विण्यादीनां ज्वरे सामे पाचनं, निरामे शमनं पथ्यान्नं मण्डादिकञ्च दद्यात्। पाचनलक्षणं पश्चाद् गुणप्रस्तावे बोद्धव्यम् ॥ १०६ ॥

यहां पर "वमन नहीं कराना चाहिये" इतना ही नहीं समझना चाहिये किन्तु अनशन भी नहीं कराना चाहिये" यह ऊपर से और समझ लेना चाहिये। और यहां पर इस अनशन-निषेध से यह समझना चाहिये कि—गर्भिणी आदिकों को ज्वर की सामावस्था रहने पर पाचन औषध और निरामावस्था होने पर शमन औषध, पथ्य अन्न, मण्ड (मांड) आदिक देना चाहिये। और पाचन का लक्षण पीछे गुणप्रस्ताव में समझ लेना चाहिये ॥ १०६ ॥

अथ पाचनशमनौषधदानसमयमाह—

पाययेदातुरं सामं पाचनं सप्तमे दिने। शमनेनाथ वा दृष्ट्वा निरामं तमुपाचरेत् ॥ १०७ ॥

पाचन तथा शमन औषध देने का समय–लङ्घनादि द्वारा भी यदि आम का भली भांति परिपाक न हुआ हो तो आम को पचाने के लिये ज्वररोगी को सातवें दिन पाचन औषध देना चाहिये। और यदि रोगी के दोषों की निरामावस्था दिखाई पड़े तो उस समय शमन औषध द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १०७ ॥

*ननु–

लालाप्रसेको हृल्लासो हृदयाशुद्ध्यरोचकौ। तन्द्राऽऽलस्याविपाकास्यवैरस्यं गुरुगात्रता ॥
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवाञ्ज्वरः। आमज्वरस्य लिङ्गानि न दद्यात्तत्र भेषजम् ॥
भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो जनयति ज्वरम् ॥ ५९ ॥

यहां पर यदि यह कहो कि शास्त्र में कहा हुआ है कि—मुख से लार गिरना, हृल्लास (वमन का वेग आना), हृदय की अशुद्धि, अरुचि, तन्द्रा, आलस्य, अन्न का परिपाक न होना, मुख की विरसता, शरीर में गुरुता (भारीपन), क्षुधा का न लगना, अधिक मूत्रत्याग होना, शरीर की स्तब्धता (बँधा सा मालूम पड़ना) एवम् ज्वर का अधिक वेग होना, ये सब लक्षण आमज्वर के होते हैं, अत एव इन लक्षणों के रहते हुए औषध (क्वाथ रूप) नहीं देना चाहिये। क्योंकि ऐसे समय में (आमदोष में) औषध प्रयोग करने से ज्वर अधिक रूप से बढता है ॥ ५९ ॥

*भूयो बाहुल्येन ॥ ५९ ॥

यहा पर "भूयः" पद का "अधिकरूप से" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५९ ॥

अन्यच्च—

*पाययेद्दोषहरणं मोहादामज्वरे तु यः। स सुप्तं कृष्णसर्पन्तु कराग्रेण परामृशेत् ॥ ६० ॥

और भी कहा हुआ है कि–जो वैद्य भूल से आमज्वर में दोषों को दूर करने के लिये औषध प्रयोग करता है वह मानो सोये हुए काले सर्प को अंगुलियों से स्पर्श करता है ॥ ६० ॥

*इति वचनादामज्वरे भेषजनिषेधात्कथं सामे ज्वरे वा पाचनं देयम्? उच्यते—निरुपद्रवे सामज्वरे पाचनं देयम्। सोपद्रवे तु सामे भेषजं निषिद्धम्। तथा च वाग्भटः—

*सप्ताहात्परतोऽदुष्टे सामे स्यात्पाचनं ज्वरे। निरामे शमनं स्तब्धे सामे नौषधमाचरेत् ॥ ६१ ॥

इन सब पूर्वोक्त वचनों के द्वारा आमज्वर में औषध देने का निषेध होने से किस प्रकार से आमयुक्त ज्वर में पाचन औषध देना चाहिये? इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—उपद्रवरहित सामज्वर में पाचन औषध देना चाहिये, क्योंकि उपद्रवयुक्त सामज्वर में ही औषध निषिद्ध है। और वाग्भट में भी इसी विषय में कहा हुआ है कि—उपद्रवरहित सामज्वर में सात दिन के बाद पाचन औषध देना चाहिये, और निरामज्वर में शमन औषध देना चाहिये किन्तु उपद्रवयुक्त सामज्वर में औषध नहीं देना चाहिये ॥ ६१ ॥

*अदुष्टे = निरुपद्रवे । स्तब्धे = सोपद्रवे (६१) ॥ १०७ ॥

यहां पर "अदुष्टे" पदका "उपद्रव रहित" तथा "स्तब्धे" पदका "उपद्रवयुक्त" यह अर्थ समझना चाहिये (६१) ॥ १०७ ॥

अन्यच्च—

कृशं चैवाल्पदोषञ्च शमनीयैरुपाचरेत् ॥ १०८ ॥

और भी कहा हुआ है कि—उपवास आदि करने से ज्वररोगी यदि कृश हो गया हो अथवा उसके दोष कम हो गये हों तो उसे दोषों को शमन करने वाली ओषधियाँ देनी चाहिये ॥ १०८ ॥

अथ सामान्यज्वरे पाचनकषायमाह सुश्रुतः—

नागरं देवकाष्ठञ्च ध्यामकं बृहतीद्वयम् । दद्यात्पाचनकं पूर्वं ज्वरितेभ्यो ज्वरापहम् ॥१०९॥

सामान्यज्वर में पाचन कषाय (क्वाथ) देने के विषय में सुश्रुत का वचन सोंठ, देवदारु, रोहिस घास, कटेरी, बड़ी कटेरी ये सब समान भाग लेकर पूर्वोक्त रीति से क्वाथ बनाकर ज्वररोगी को सर्वप्रथम देना चाहिये । यह क्वाथ आमदोष को पचाने वाला होने से "पाचन" कहलाता है तथा ज्वरनाशक भी होता है ॥ १०९ ॥

***ध्यामकं = रोहिषं तदलाभादुशीरं दद्यात् । बृहतीद्वयं = बृहत्फला सूक्ष्मफला च । बृहती = क्षुद्रा, बृहती चेति कण्टकारीद्वयं वा दद्यात् ।**

"कण्टकारीद्वयं शुण्ठी ध्यामकं सुरदारु च" ॥ ६२ ॥

यहां पर "ध्यामक" पद से "रोहिसघास" का ग्रहण करना चाहिये । और यदि वह न मिल सके तो "खस" देना चाहिये । और "बृहतीद्वयम्" इस पद से "बड़े तथा सूक्ष्म फल वाली अथवा छोटी और बड़ी कटेरी" का बोध करना चाहिये । क्योंकि—

"दोनों कटेरी (छोटी और बड़ी कटेरी), सोंठ, रोहिष घास, देवदारु" ॥ ६२ ॥

***इति शार्ङ्गधरेणोक्तत्वात् । इति नागरादिक्वाथः ॥ १०९ ॥**

ऐसा पाठ शार्ङ्गधर ने अपने ग्रन्थ में भी कहा है, अत एव छोटी तथा बड़ी कटेरी का ही बोध करना उचित है । और इसका नाम "नागरादिक्वाथ" समझना चाहिये ॥ १०९ ॥

अथ सर्वज्वरेषु सामान्यतः संशमनौषधिमाह सुश्रुतः—

अथ संशमनीयानि कषायाणि निबोध मे । सर्वज्वरेषु देयानि यानि वैद्येन जानता ॥११०॥

हर एक ज्वर में सामान्य रूप से संशमन औषध के विषय में सुश्रुत का वचन–शास्त्रज्ञ वैद्य लोग हर एक ज्वर में जिन संशमनीय (दोषों को भलीभांति से शमन करने वाले) क्वाथों का प्रयोग करते हैं, उन क्वाथों को मैं कह रहा हूं तुम लोग सुनो ॥ ११० ॥

वृश्चीरो बिल्ववर्षाभूः पयः सोदकमेव च । पचेत्क्षीरावशेषं तत्पेयं सर्वज्वरापहम् ॥ १११ ॥

सफेद पुनर्नवा, बेल की छाल, लाल पुनर्नवा, दूध और जल इन सबों को यथाविधि पकावे, और जब दूधमात्र अवशिष्ट रह जाय अर्थात् जलमात्र जल जाय तब उतार लेवे और छान कर पिला देवे, यह क्वाथ सर्वज्वरनाशक होता है ॥ १११ ॥

***वृश्चीरः = श्वेतपुनर्नवा । वर्षाभूः = रक्तपुनर्नवा । तथा च मदनपालः—**

***पुनर्नवा श्वेतमूलो वृश्चीरो दीर्घपत्रकः । पुनर्नवाऽपरा रक्ता वर्षाभू रक्तपुष्पकः ॥ ६३ ॥**

यहां पर "वृश्चीर" पद से "सफेद पुनर्नवा" तथा "वर्षाभू" पद से "लाल पुनर्नवा" का बोध करना चाहिये । क्योंकि "मदनपाल" निघण्टु में कहा हुआ है कि—जिस पुनर्नवा का मूल भाग श्वेत वर्ण का हो तथा पत्ते बड़े बड़े हों तो उसे "वृश्चीर" अर्थात् सफेद पुनर्नवा समझना चाहिये । और जिसका मूलभाग तथा पुष्प रक्तवर्ण के हों उसे "वर्षाभू" अर्थात् लाल पुनर्नवा समझना चाहिये ॥

*पाकप्रकारमाह।

अथ दुग्धपाकमाह—

*क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात्क्षीरान्नीरं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषं पक्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः॥ ६४॥

और यहां दूध पकाने का प्रकार इस भांति समझना चाहिये कि-क्वाथ्य द्रव्य से अठगुना दूध और दूध से चौगुना जल लेकर पकाना चाहिए। और जब केवल दूध अवशिष्ट रह जाय तब उतार लेना चाहिये, यह क्षीरपाक बनाने की विधि समझनी चाहिये॥ ६४॥

*द्रव्यात्-पलपरिमितात् (६४)॥ १११॥

यहां पर "द्रव्यात्" पद का "एक पल (४ तो०) क्वाथ्य द्रव्य से" यह अर्थ समझना चाहिये। अतः निष्कर्ष यह निकला कि क्वाथ्य द्रव्य १ पल, दूध ८ पल, जल ३२ पल लेकर पकाना चाहिये, और जलते २ जब केवल दूध रह जाय तब उतार लेना चाहिये (६४)॥ १११॥

अन्यच्च—

उदकाद् द्विगुणं क्षीरं शिंशपोशीरमेव च। तत्क्षीरशेषं क्वथितं पेयं सर्वज्वरापहम्॥ ११२॥

और भी कहा है कि—जल से दूना दूध लेकर उसमें सीसम का बुरादा तथा खस डालकर पकावै और जब केवल दूध रह जाय तब उतार लेवै, इस क्वाथके पीने से सम्पूर्ण ज्वर दूर होते हैं॥

अथ गुडूच्यादिक्वाथमाह—

गुडूचीधान्यकारिष्टं पद्मकं रक्तचन्दनम्। एषां क्वाथः सुप्रसिद्धः सर्वज्वरहरः स्मृतः॥
दीपनो दाहहृल्लासतृष्णाच्छर्द्यरुचीर्हरेत्॥ ११३॥

गुडूच्यादि क्वाथ—गुरुच, धनिया, नीमकी छाल, पद्माख, लालचन्दन इन सबों का क्वाथ सम्पूर्ण ज्वरों को दूर करने में सुप्रसिद्ध माना गया है। और अग्निदीपक एवम् दाह, उबकाई, प्यास, वमन तथा अरुचि को भी नष्ट करने वाला होता है॥ ११३॥

अथ संशोधननिषेधमाह—

छर्दिमूर्च्छामदश्वासभ्रमतृड्विषमज्वरान्। संशोधनस्य पानेन प्राप्नोति तरुणज्वरी॥११४॥

संशोधनविषयक निषेध—नवीन ज्वर वाला रोगी संशोधन (दोषों का शोधन करने वाले) औषधों को यदि खाये तो उससे उसे वमन, मूर्च्छा, मद, दमा, भ्रमरोग, प्यास एवम् विषमज्वर हो जाता है॥ ११४॥

अथ निषिद्धमपि संशोधनमवस्थाविशेषे देयमित्याह—

रोगे शोधनसाध्ये तु यं विद्याद् दोषदुर्बलम्। तं समीक्ष्य भिषक्कुर्याद् दोषप्रच्यावनं मृदु॥

पूर्वोक्त वचन से निषिद्ध भी संशोधन औषधों को अवस्थाविशेष में देने के विषय में वचन—शोधन औषधों द्वारा ही यदि रोग साध्य हो तो बढ़े हुये दोषों के द्वारा दुर्बल रोगी को समझ कर ही दोषों को निकालने वाला मृदु (हल्का) विरेचन देना वैद्यों के लिये उचित कर्त्तव्य है॥ ११५॥

*दोषदुर्बलं=दोषैरुपचितैर्दुर्बलं न तूपवासादिकृशम्। अत एव समीक्ष्येति॥ ११५॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—विरेचन कराते समय वैद्य को यह अवश्य ध्यान देना चाहिये कि रोगी दोष की अधिकता से दुर्बल है अथवा उपवासादि से, यदि दोष की अधिकता से दुर्बल है तो विरेचन कराना चाहिये और यदि उपवासादि से दुर्बल हो तो विरेचन नहीं कराना चाहिये। इन बातों को "समीक्ष्य" पद के स्वारस्य से समझना चाहिये॥ ११५॥

अथ शोधनसाध्यरोगानाह—

सद्योज्वरे विषेऽजीर्णे मन्देऽग्नावुदरे तथा स्तन्यरोगे च हृद्रोगे कासश्वासेषु वामयेत्॥११६॥
जीर्णज्वरगरच्छर्दिगुल्मप्लीहोदरेषु च। शूले शोथे मूत्रघाते कृमिरोगे विरेचयेत्॥ ११७॥

शोधन से साध्य रोगों का निर्देश—तत्काल का उत्पन्न हुआ ज्वर, विष, अजीर्ण, अग्नि की मन्दता, उदररोग (पाठान्तर में अरुचि), स्तन्य (स्तनसम्बन्धी अथवा दुग्धसम्बन्धी) रोग, हृद्रोग, कास (खांसी), दमा इन सब रोगों में रोगी को वमन कराना चाहिये।

और पुराना ज्वर, विष, वमन, गुल्म, प्लीहा, उदररोग, शूल, शोथ, मूत्राघात एवम् कृमिरोग इन सबों में रोगी को विरेचन कराना चाहिये ॥ ११६-११७ ॥

अन्यच्च—

चले दोषे मृदौ कोष्ठे नेक्षेतत्र बलं नृणाम्। अव्यापद् दुर्बलस्यापि शोधनं हि तदा भवेत् ॥

और भी कहा है कि—दोष जिस समय चलायमान हों और रोगी का कोष्ठ मृदु हो तो उस समय वैद्य उसके बलाबल का विचार न करके शोधन (वमन, विरेचन) कर्म के लिये औषध देवें क्योंकि उस अवस्था में दोष से दुर्बल हुये रोगी को शोधन औषध देने से वमन आदि उपद्रवरूप व्याधि उत्पन्न नहीं होती है ॥ ११८ ॥

कुतो बलं नापेक्षणीयमित्याशङ्कायामाह-तदा तस्यामवस्थायां शोधनं दुर्बलस्यापि= दोषदुर्बलस्यापि, अव्यापद्भवेत्= छर्द्यादिव्याधिकृन्न भवतीत्यर्थः ॥ ११८ ॥

यहां पर "क्यों नहीं बल की अपेक्षा रखनी चाहिये" इस शङ्का का निवारण श्लोक के उत्तरार्द्ध "तदा शोधनं दुर्बलस्यापि अव्यापद् भवेद्" इससे करते हैं" यह समझना चाहिये। और "तदा" पद का "उस अवस्था में" और "दुर्बलस्यापि" पदों का "दोष से दुर्बल हुये रोगी को भी" एवम् "अव्यापद् भवेत्" इन पदों का "वमन आदि उपद्रवरूप व्याधिको उत्पन्न नहीं करता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ११८ ॥

पक्वोऽप्यनिर्हृतो दोषो देहे तिष्ठन्महात्ययम्। विषमं वा ज्वरं कुर्याद् बलव्यापदमेव वा ॥

और दोष यदि परिपक्व हो गये हों किन्तु निकाले न गये हों तो वे (दोष) शरीर में रहकर महात्यय वा विषमज्वर अथवा बलक्षय को उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ ११९ ॥

बलवतः पुरुषस्य पक्वस्य दोषस्य स्वस्थानस्थितस्य शोधनाविधाने दोषमाह सुश्रुतः— पक्व इति। पक्वो लङ्घनतिक्ताम्बुपानपेयाऽऽदिभिः। अनिर्हृतः= अधोमार्गेणानुत्सृष्टः। महात्ययं=विषमं ज्वरं चातुर्थिकं तस्यैव महात्ययत्वादिति गदाधरः। गम्भीरमिति कार्त्तिकः। महात्ययं=महाकष्टं वा। बलव्यापदं=बलक्षयम् ॥ ११९ ॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—यह वचन "बलवान् पुरुषका यदि परिपक्व दोष अपने स्थान में बना रहे और उसको शोधन औषध द्वारा निकाला न जाय तो हानिकारक होता है" इसी विषय में सुश्रुत महर्षि का कहा हुआ है। और "पक्व" शब्द का "परिपक्व हो गये हों अर्थात् लङ्घन (उपवास, उष्णजलपान तथा पेया आदि पिलाने के द्वारा परिपक्व हो गये हों" और "अनिर्हृत" पद का "निकाले न गये हों अर्थात् विरेचन द्वारा अधो (गुदा) मार्ग से निकाले न गये हों" एवम् "महात्यय" पद का "गदाधर" आचार्य यह व्याख्या करते हैं कि—यहां पर "महात्यय" पद विषमज्वर का विशेषण है अतः "महात्यय विषमज्वर" से "चातुर्थिक (चौथिया) विषमज्वर" का बोध करना चाहिये। क्योंकि वही महात्यय (अत्यन्त हानि) कारक कहा हुआ है। और "कार्त्तिक" आचार्य "महात्यय' पद का "गम्भीरज्वर" अथवा "महाकष्ट" अर्थ करते हैं। ऐसा समझना चाहिये। और "बलव्यापद्" पद का "बलक्षय" अर्थ समझना चाहिये ॥ ११९ ॥

अथ संशोधनमाह—

आरग्वधग्रन्थिकमुस्ततिक्ताहरीतकीभिः क्वथितः कषायः।
सामे सशूले कफवातयुक्ते ज्वरे हितो दीपनपाचनश्च ॥ १२० ॥
इत्यारग्वधादिः क्वाथः।

[1]संशोधन आरग्वधादिक्वाथ—अमलतास, पिपरामूल, नागरमोथा, कुटकी, हरड़ इन सबों का क्वाथ आम दोष तथा शूल से युक्त वातकफज्वर में देने से हितकारी होता है तथा अग्नि, दीपक और पाचक भी होता है ॥ १२० ॥

अन्यच्च—

पथ्याऽऽरग्वधतिक्तात्रिवृदामलकैः शृतं तोयम्। पाचनसारकमुक्तं मुनिभिर्जीर्णज्वरे सामे ॥
इत्यारोग्यपञ्चकद्वयम्।

और भी कहा है कि—"हरड़, अमलतास, कुटकी, निशोथ, आमला इनका क्वाथ आमयुक्त जीर्णज्वर में देने से पाचन और दस्त को कराने वाला होता है" ऐसा मुनियों ने कहा है। आरग्वधादिक्वाथ तथा पथ्यादि क्वाथ इन दोनों को "आरोग्यपञ्चक" कहते हैं। यह और समझ लेना चाहिये ॥ १२१ ॥

अथ सारिवाऽऽदिकल्कमाह—

अनन्ता वालकं मुस्तं नागरं कटुरोहिणी। पिष्ट्वा सुखाम्बुना कल्कं पाययेदक्षसम्मितम् ॥
कल्कः स्वल्पेन कालेन हन्यात्सर्वज्वरामयान्। विदध्यात्कोष्ठसंशुद्धिं दीपयेच्च हुताशनम् ॥

सारिवाऽऽदि कल्क—सारिवा (अनन्तमूल), सुगन्धवाला, नागरमोथा, सोंठ, कुटकी इन सबों का कल्क (चटनी) बना कर गर्मजल के साथ १ तोला पिलाना चाहिये। यह कल्क सेवन करने से थोड़े ही दिनों में सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करने वाला होता है। और कोष्ठ की शुद्धि करने वाला तथा अग्नि को प्रदीप्त करने वाला होता है ॥ १२२–१२३ ॥

***अनन्ता = सारिवा ॥ १२२–१२३ ॥**

यहां पर "अनन्ता" पदका "सारिवा अर्थात् अनन्तमूल" अर्थ समझना चाहिये ॥१२२–१२३॥

अथ संशोधनशमनौषधनिषेधमाह—

पीताम्बुर्लङ्घनक्षीणो जीर्णो भुक्तः पिपासितः। न पिबेदौषधं जन्तुः संशोधनमथेतरत् ॥

संशोधन तथा शमन औषध के निषेध के विषय—तिक्तक द्रव्यों से संस्कृत जल या क्वाथ को पीने वाले, लङ्घन करने से क्षीण हुये, अजीर्णयुक्त, (पाठान्तर में वृद्ध), तत्काल भोजन किये हुये, और प्यासे हुये ऐसे लोगों को संशोधन तथा संशमन औषध खाने को नहीं देना चाहिए ॥ १२४ ॥

***पीताम्बुः = पीततिक्ताम्बुः। भुक्तो = भुक्तवानित्यर्थः। अत्राध्यवसितादिवत्[2] कर्त्तरि क्तप्रत्ययः। इतरत् = संशमनम् ॥ १२४ ॥**

यहां पर "पीताम्बु" पद का "तिक्तकद्रव्यों से संस्कृत जल या क्वाथ को पीने वाले" और "भुक्त" पद का "तत्काल भोजन किये हुये" यह अर्थ समझना चाहिये और "भुक्त" पद में अध्यवसित आदि के समान "गत्यर्थाकर्मके०" त्यादि सूत्र से कर्त्ता में क्त प्रत्यय हुआ है, ऐसा समझना चाहिये "इतरत्" पद का "संशमन" अर्थ समझना चाहिये ॥ १२४ ॥

अथ सुदर्शनचूर्णमाह—

त्रिफला रजनीयुग्मं कण्टकारीयुगं शटी। त्रिकटु ग्रन्थिकं मूर्वा गुडूची धन्वयासकः ॥१२५॥
कटुका पर्पटो मुस्तं त्रायमाणा च वालकम्। निम्बः पुष्करमूलञ्च मधुयष्टी च वत्सकः ॥१२६॥

---

१. आरग्वधादिकाथ में काथ्य द्रव्य अमलतास आदि को १–१ तोले लेकर दो पाव जल में काथ करे जब दो छटाक रह जाय उतार कर छान लेवे और इसकी दो मात्रा बनाकर सुबह शाम देवे।

२. अत्र सर्वत्र "अध्यवसितादित्वा"दिति पाठ उपलभ्यते; स प्रामादिकः; अध्यवसितादिगणस्यानुपलम्भात्।

यवानीन्द्रयवो भार्गी शिग्रुबीजं सुराष्ट्रजा। वचात्वक्पद्मकोशीरचन्दनातिविषाबलाः॥१२७॥
शालिपर्णी पृश्निपर्णी विडङ्गं तगरं तथा। चित्रकं देवकाष्ठञ्च चव्यं पत्रं पटोलजम् ॥ १२८ ॥
जीवकर्षभकौ चैव लवङ्गं वंशलोचनम्। पुण्डरीकञ्च काकोली पत्रकं जातिपत्रकम् ॥ १२९ ॥
तालीसपत्रमेतानि समभागानि चूर्णयेत्। अर्द्धांशं सर्वचूर्णस्य किरातं प्रक्षिपेत्सुधीः ॥१३०॥
एतत्सुदर्शनं नाम चूर्णं दोषत्रयापहम्। ज्वरांश्च निखिलान् हन्ति नात्र कार्या विचारणा॥१३१॥
दोषजागन्तुकांश्चापि धातुस्थान्विषमज्वरान्। सन्निपातोद्भवांश्चापि मानसानपि नाशयेत् ॥
शीतादीनपि दाहादीन्मेहं तन्द्रां भ्रमं तृषाम्। कासं श्वासञ्च पाण्डुञ्च हृद्रोगं कामलामपि ॥
त्रिकपृष्ठकटीजानुपार्श्वशूलं निवारयेत्। शीताम्बुना पिबेदेतत्सर्वज्वरनिवृत्तये ॥ १३४ ॥
सुदर्शनं यथा चक्रं दानवानां विनाशनम्। तथा ज्वराणां सर्वेषां चूर्णमेतत्प्रणाशनम् ॥

सुदर्शनचूर्ण—त्रिफला (हरड़, बहेरा, आंवला), दोनों हल्दी (हल्दी, दारुहल्दी), दोनों कटेरी (छोटी तथा बड़ी कटेरी), कचूर, त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मिर्च), पिपरामूल, मूर्वा, गुरुच, धमासा, कुटकी, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, त्रायमाण, सुगन्धवाला, नीमकी छाल, पुहकरमूल, मुलहठी, कुड़े की छाल, अजवाइन, इन्द्रजौ, भारङ्गी, सहिंजन के बीज, सोरठ की मिट्टी, बालवच, दालचीनी, पद्माख, खस, सफेद चन्दन का बुरादा, अतीस, खिरैटी, शालिपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठवन), वायविडङ्ग, तगर, चीता, देवदारु, चव्य, परवल के पत्ते, जीवक, ऋषभक, लौङ्ग, वंशलोचन, सफेद कमल, काकोली, तेजपात, जावित्री और तालीसपत्र इन सबों को समभाग में लेकर चूर्ण कर डाले, और सम्पूर्ण चूर्ण के आधे भाग बराबर चिरायता का चूर्ण मिलाकर रख देवें। इसे "सुदर्शन चूर्ण" कहते हैं। यह तीनों दोषों को दूर करने वाला और सभी प्रकार के ज्वरों को दूर करने वाला होता है। इस विषय में कोई विचार नहीं करना चाहिये अर्थात् यह सत्य है। और वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले, आगन्तुक (चोट आदि से उत्पन्न होने वाले) तथा रस-रक्तादि धातु स्थित ज्वर एवम् विषमज्वर, सन्निपातज्वर, मानसज्वर, शीतज्वर, दाहादिज्वर, मेहरोग, तन्द्रा, भ्रम, तृषा, खांसी, दमा, पाण्डुरोग, हृद्रोग, कामला, एवम् त्रिकस्थान, पीठ, कमर, जानु, पँसली इन सब स्थानों में होने वाला शूल इन सब रोगों को भी दूर करने वाला होता है। और सर्व प्रकार के ज्वर को दूर करने के लिये इस चूर्ण को शीतल जल के साथ पीना चाहिये। और जिस प्रकार से सम्पूर्ण दानवों को नष्ट करने वाला भगवान् विष्णु का सुदर्शन चक्र होता है उसी भांति से सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करने वाला होने से इसे सुदर्शन[1] चूर्ण कहते हैं ॥ १२५-१३५ ॥

*पुष्करमूलाभावे तु कुष्ठमपि दद्यात्। भार्ग्यभावे कण्टकारीमूलम्। सौराष्ट्र्यभावे स्फटिकां दद्यात्। तगरालाभे कुष्ठं देयम्। जीवकर्षभकयोरलाभे विदारीकन्दस्य भागद्वयं दद्यात्। पुण्डरीकं = श्वेतकमलम्। काकोल्यभावे अश्वगन्धामूलम्। "तालीसपत्रकाभावे स्वर्णताली प्रदीयते" इति अथवा—कण्टकारीजटा देया। इति सुदर्शनचूर्णम् ॥ १२५-१३५ ॥

यहां पर "पुहकरमूल" के अभाव में "कूठ" डालना चाहिये। "भारङ्गी" के अभाव में "कटेरी का मूल" देना चाहिये। "सोरठ मिट्टी" के अभाव में "फिटकिरी" देना चाहिये। "तगर" के न मिलने पर "कूठ" देना चाहिये। "जीवक" तथा "ऋषभक" के अभाव में "विदारीकन्द दो भाग" लेना चाहिये। "पुण्डरीक" से "सफेदकमल" का बोध करना चाहिये। "काकोली" के अभाव में "असगन्ध की जड़" लेना चाहिये। "तालीसपत्र" के अभाव में "स्वर्णताली" अथवा "कटेरी" की जड़ देना चाहिये। इस प्रकार सुदर्शन चूर्ण की विधि समझनी चाहिये ॥ १२५-१३५ ॥

---

१. सुदर्शनचूर्णको २ से ४ मासे तक की मात्रा में देना चाहिये। अनुपान मधु वा शीतल जल के साथ।

अथ निम्बादिचूर्णमाह—

निम्बपत्रवराव्योपयवानीलवणत्रयम् । क्षारो दिग्वह्निरामेषुत्रिनेत्रान् क्रमतोऽशकान् ॥१३६॥
सर्वमेकीकृतं चूर्णं प्रत्यूषे भक्षयेन्नरः । ऐकाहिकं द्व्याहिकञ्च तथा त्रिदिवसज्वरम् ॥ १३७ ॥
चातुर्थिकं महाघोरं सततं सन्ततं दिवा । धातुस्थं च त्रिदोषोत्थं ज्वरं हन्ति नसंशयम् ॥

इति निम्बादिचूर्णम् ।

निम्बादिचूर्ण—नीमके पत्ते १० भाग, त्रिफला तीन भाग (हरड़ १ भाग, आमला १ भाग, बहेरा १ भाग), त्रिकटु ३ भाग (सोंठ १ भाग, पीपल १ भाग, मरिच १ भाग), अजवायन ५ भाग तीनों निमक ३ भाग (सेंधा निमक १ भाग, बिरियासञ्चर निमक १ भाग, काला निमक १ भाग), जावाखार २ भाग, इन सबों को चूर्ण बनाकर एकत्र कर प्रातःकाल सूर्योदय के पहले शीतल जल के साथ जो मनुष्य खाता है तो उसके ऐकाहिक, द्व्याहिक त्र्याहिक (तिसरिया), चातुर्थिक (चौथिया) ज्वर एवम् अत्यन्त भयानक सतत (दिन रात्रि में दो बार आनेवाला) ज्वर, सन्ततज्वर (सात, दश, बारह दिन तक इत्यादि क्रम से एक सा बना रहने वाला ज्वर), दिन में आनेवाला ज्वर रस-रक्तादि धातुगत ज्वर एवम् त्रिदोष से उत्पन्न होनेवाला ज्वर ये सब अवश्य नष्ट होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिये। (इसकी मात्रा ३-६ माशे है। अनुपान-शीतल जल है)॥

अथ शट्यादिक्वाथमाह—

शटी निशाद्वयं शुण्ठी दारु पुष्करमूलकम् ।
एला गुडूची कटुका पर्पटश्च यवासकः । शृङ्गी किराततिक्तञ्च दशमूली तथैव च ॥ १३९ ॥
क्वाथमेषां पिबेत्कोष्णं सिन्धुचूर्णयुतं नरः । ज्वरान्सर्वान्द्रुतं हन्ति नात्र कार्या विचारणा ॥

शट्यादि क्वाथ—कचूर, हल्दी, दारुहल्दी, सोंठ, देवदारु, पुहकरमूल, इलायची, गुरुच, कुटकी, पित्तपापड़ा, जवासा, काकड़ाशिङ्गी, चिरायता, दशमूल की सम्पूर्ण औषधियां इन सबों का क्वाथ बनाकर उसमें सेंधा निमक योग्यताऽनुसार छोड़कर किञ्चिद् गर्म रहते ही जो मनुष्य पीता है उसके सभी प्रकार के ज्वर शीघ्र ही दूर हो जाते हैं इसमें कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं है ॥ १३९-१४० ॥

अनुभूतोऽयम् । इति शट्यादिक्वाथः ॥ १३९-१४० ॥

यहां पर यह और समझना चाहिए कि-यह प्रयोग स्वयम् अनुभूत है, अतः इसमें विचार करने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा मूल में कहा गया है। और इसका नाम शट्यादि क्वाथ है ॥

अथ हरीतक्यादिगुटीमाह—

हरीतकीत्रिवृद्वृद्धदारकाणां पृथग्भवेत् । पलद्वयं कणा शुण्ठी गुडूची गोक्षुरो वरी ॥ १४१ ॥
सहदेवी विडङ्गञ्च प्रत्येकं पलसम्मितम् । मधुना वटिकां कृत्वा खादन्ज्वरमपोहति ॥१४२॥
कासं श्वासं मलस्तम्भं वह्निमान्द्यं नियच्छति ॥ १४३ ॥

✓ हरीतक्यादिगुटी—हरड, निसोथ, विधारा ये तीनों पृथक् २ दो पल (८ तो०) लेवे और पीपल, सोंठ, गिलोय, गोखरू, शतावर, सहदेई, वायविडङ्ग ये सब प्रत्येक एक पल (४ तो०) लेवे और सबों का चूर्ण बनाकर एकत्र कर मधु मिलाकर वटी (गोली) बना लेवै। इस वटी[1] को जो खाता है उसके ज्वर, खांसी, दमा, मलस्तम्भ (मलावरोध) और अग्नि की मन्दता ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १४१-१४३ ॥

***अनुभूतोऽयम् ॥ १४१-१४३ ॥**

* यह प्रयोग अनुभूत है ॥ १४१-१४३ ॥

---

१. आधुनिक पुरुषोपयोगी मात्रा-६ माशे से १ तोला तक समझना चाहिये।

अथ लाक्षाऽऽदितैलमाह—

लाक्षा दशाक्षा खहुणा पडक्षा सचन्दनं लोहितचन्दनञ्च ।
त्वक्पत्रकं वारि मुरा समुस्ता प्रत्येकमेतानि पलोन्मितानि ॥ १४४ ॥
किराततिक्ताविवृतासतिक्ताऽमृताकणापर्पटकण्टकार्यः ।
विडङ्गविश्वाऽऽमलकानि वासारसानिशावीरणसिन्दुवाराः ॥ १४५ ॥
एतानि देयानि पृथक्पलार्द्धमानानि सर्वाणि च भेषजानि ।
कल्कानमीषां विदधीत गव्यदुग्धेन वै सार्द्धतुलामितेन ॥ १४६ ॥
तैलं तिलानां तु तुलाऽनुमानं तेनैव कल्केन शनैः पचेच्च ।
हन्याज्ज्वरांस्तैलमिदं समस्तान् कुर्याद् वलं वीर्यमतीव पुष्टिम् ॥ १४७ ॥
विमर्दनादाशु परिश्रमं श्रमं शमं नयेत्सञ्जनयेद् द्युतिं तनोः ।
तथा व्यथामस्थिसमुद्भवामपि प्रहृत्य निद्रां समुपार्जयेत्सुखम् ॥ १४८ ॥

लाक्षादितैल—उत्तम पीपल की लाख १० तोले, मंजीठ ६ तोले, और सफेद चन्दन तथा लालचन्दन इन दोनों का बुरादा, दालचीनी, तेजपात, सुगन्धवाला, मुरा, नागरमोथा ये सब प्रत्येक ४ तोले एवम् चिरायता, निसोथ, कुटकी, गुरुच, पीपल, पित्तपापड़ा, कटेरी, वायविडङ्ग, सोंठ, आंवला, अडूसा, रास्ना, हल्दी, खस, सम्हालू ये सब प्रत्येक दो तोले; इन सब औषधों को १॥ तुला (६०० तोले) दूध के साथ पीस कर कल्क बना लेवे, और उसे १ तुला (४०० तोले) तिल[१] के तेल में डालकर मन्द आंच से पकावे, जब तैयार हो जाय तब उतार कर छान लेवैं । इसे लाक्षादितैल कहते हैं । इस तैल के मालिश करने से सम्पूर्ण ज्वर दूर होते हैं तथा शरीर में बल, वीर्य की वृद्धि होती है एवम् अत्यन्त पुष्टि होती है, और परिश्रम तथा भ्रमरोग शान्त

---

१. लाक्षादितैल सिद्ध करने के लिये जो तिल-तैल काम में आता है उसे मूर्च्छित करके लेना चाहिये । मूर्च्छित करने की विधि आगे लिखते हैं—

तैलं कृत्वा कटाहे दृढतरविमले मन्दमन्दानले तत्—
पक्वं निष्फेनभावं गतमिह हि यदा शैत्यभावं समेत्य ॥
मञ्जिष्ठारात्रिलोध्रैर्जलधरनलिकैः सामलैः साक्षपथ्यैः
सूचीपुष्पाङ्घ्रिनीरैरुपहितमथितैस्तैलगन्धं जहाति ॥ १ ॥
तैलस्येन्दुकलांशिकेन विकसा ग्राह्या तु मूर्च्छाविधौ,
ये चान्ये त्रिफलापयोदरजनीह्रीवेरलोध्रान्विताः ॥
सूचीपुष्पवटावरोहनलिकास्तस्याश्च पादांशिकाः
पाच्यास्तैलजगन्धदोषहृतये कल्कीकृतास्तद्विदा ॥ २ ॥

अर्थात्—तिल के तेल को लोहे की कड़ाही में रखकर मन्द २ आंच से पकावें । जब तेल फेन रहित हो जाय उतार कर शीतल होने दें । फिर इसमें मंजीठ, हरड़, बहेड़ा, आंवला, नागरमोथा हल्दी, सुगन्धवाला, पठानी लोध, केवड़ा, वटांकुर तथा नलिका (सुगन्धिद्रव्य विशेष) इनके कल्क (तेल का चतुर्थांश) तथा तेल का चौगुना पानी मिलाकर पुनः आग पर पाक करना चाहिये । कल्क द्रव्य में से मंजीठ तेल का सोलहवां भाग तथा त्रिफलादि द्रव्यों को मञ्जीठ का चतुर्थांश लेना चाहिये, अर्थात्-यदि २ सेर तेल हो तो पानी ८ सेर, मञ्जीठ की मात्रा १० तोले, आंवला, हरड़ आदि शेष द्रव्य प्रत्येक २½ तोले लेना चाहिये । तेलके शीतल होने पर उसमें कल्क को थोड़ा २ करके मिलाना चाहिये ।

हो जाते हैं । शरीर की कान्ति बढ़ती है और हड्डियों के अन्दर की पीड़ा दूर हो कर सुखपूर्वक निद्रा आती है ॥ १४४–१४८ ॥

*अरुणा = मञ्जिष्ठा । वारि = वालम् । रसा = रास्ना ॥ १४४–१४८ ॥

यहां पर "अरुणा" पद से "मंजीठ" । "वारि" पद से "सुगन्धवाला" और "रसा" पद से "रास्ना" का बोध किया गया है, यह समझना चाहिये ॥ १४४–१४८ ॥

अथ द्वितीयं लाक्षाऽऽदितैलमाह—

लाक्षारससमं तैलं तैलान्मस्तु चतुर्गुणम् । अश्वगन्धानिशादारुकौन्तीकुष्ठाब्दचन्दनैः ॥
समूर्वारोहिणीरास्नाशताह्वामधुकैः समैः । सिद्धं लाक्षाऽऽदिकं नाम तैलमभ्यञ्जनादिना ॥
सर्वज्वरक्षयोन्मादश्वासापस्मारवातनुत् । यक्षराक्षसभूतघ्नं गर्भिणीनां च शस्यते ॥१५१॥

द्वितीय लाक्षादि तैल—लाख का रस और तिल का तेल ये दोनों सममाग में लेकर उसमें तेल के चौगुना दही का जल मिला लेवे पश्चात् असगन्ध, हल्दी, देवदारु, रेणुका, कूठ, नागरमोथा, सफेद चन्दन, मूर्वा, कुटकी, रास्ना, शतावर, मुलेठी इन सब औषधों को समभाग में लेकर कल्क बनाकर तैल बनाने की परिभाषा के अनुसार तैल बना लेवे । सिद्ध होने पर इसको लाक्षादि तैल कहते हैं । यह तैल मालिश आदि करने से सभी प्रकार के ज्वर, क्षय, उन्माद, श्वास, अपस्मार (मिर्गी), वातरोग एवम् यक्ष, राक्षस तथा भूतसम्बन्धी बाधा को दूर करता है । और गर्भिणी स्त्रियों के लिये अत्यन्त हितकर होता है ॥ १४९–१५१ ॥

***मस्तु = दधिजलम् । कौन्ती = रेणुका । चन्दनमत्र श्वेतमेव न तु रक्तम् । रोहिणी = कटुका ॥ १४९–१५१ ॥**

यहां पर "मस्तु" पद का "दही का जल" । "कौन्ती" पद का "रेणुका" यह अर्थ समझना चाहिये । और "चन्दन" पद से "सफेद चन्दन" का ही ग्रहण करना चाहिये न कि लालचन्दन का । एवम् "रोहिणी" पद का "कुटकी" अर्थ समझना चाहिये ॥ १४९–१५१ ॥

अथ महालाक्षाऽदितैलमाह—

लाक्षा हरिद्रा मञ्जिष्ठा फेनिलं मधुकं बला । लामज्जकं चन्दनं च चम्पकं नीलमुत्पलम् ॥
प्रत्येकमेषां षण्मुष्टीः पक्त्वा तोये चतुर्गुणे । चतुर्भागावशेषे तु गर्भे चैतत्समावपेत् ॥ १५३ ॥
रेणुका पद्मकञ्चैव वाजिगन्धा तथैव च । वेतसं चोरकं कुष्ठं देवदारु नखं त्वचम् ॥ १५४ ॥
शतपुष्पा पुण्डरीकं मांसी मधुकमेव च । एभिरक्षमितैः कल्कैः कषायेणैव पेषितैः ॥ १५५ ॥
मस्तुशुक्तारनालानामाढकांशं समावपेत् । क्षीराढकसमायुक्तं तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥ १५६ ॥
अभ्यङ्गात्तैलमेतद्धि शीघ्रं दाहमपोहति । व्यपोहति तथा वातपित्तश्लेष्मभवज्वरम् ॥१५७॥
सप्रलापं सतृष्णञ्च तालुशोषभ्रमान्वितम् । ग्रहोपसृष्टा ये बाला रक्षसा दूषिताश्च ये ।
तेषां कष्टं प्रशमयेत्तैलं लाक्षाऽऽदिकं महत् ॥ १५८ ॥

महालाक्षादितैल—लाख; हल्दी; मंजीठ; बेर; मुलेठी; खिरैंटी; लामज्जक तृण; सफेद चन्दन; चम्पा; नीलकमल ये सब प्रत्येक चौबीस २ तोले लेकर जवकुट कर चौगुने जल में डालकर पकावे जब चतुर्थांश जल शेष रहे तब उतार कर छान लेवें, फिर उसमें रेणुका, पद्माख, असगन्ध, बेंत, भटेउर, कूठ; देवदारु, नख (सुगन्ध द्रव्य), दालचीनी, सौंफ, सफेद कमल, जटामांसी, मुलेठी ये सब प्रत्येक एक २ तोले लेकर उसी क्वाथ से पीसकर मिला देवें । उसके बाद दही का जल, शुक्त, आरनाल ये सब प्रत्येक एक २ आढक और दूध एक आढक और तिल का तेल १६ पल इन सबों को मिलाकर यथाविधि पकावे तैयार होने पर उतार कर छान लेवें इसी को महालाक्षादि तैल कहते हैं । शरीर में इस तेल की मालिश करने से शीघ्र दाह दूर होता है, प्रलाप, प्यास, तालु का

सूखना एवम् भ्रम इन सब उपद्रवों से युक्त वात, पित्त तथा कफ सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्वर नष्ट हो जाते हैं। और जो बालक ग्रह से ग्रस्त हैं या राक्षसबाधा से पीड़ित हैं, उन सबों के कष्ट को यह महालाक्षादि तैल दूर करता है ॥ १५२–१५८ ॥

*फेनिलं = वदरी। लामज्जकम् = उशीरवत् पीतच्छवितृणविशेषः।

"लामज्जकं यदा न स्यादुशीरं दीयते तदा"।

(चम्पकमित्यस्य स्थाने कुत्रापि गैरिकमिति पाठः।)

"नीलोत्पलस्यालाभे तु कुमुदं देयमिष्यते"।

समावपेत्प्रक्षिपेदित्यर्थः। चोरकं = ग्रन्थिपर्णस्य भेदः 'भटेउर' इति नैपालदेशे भवति, तदलाभे ग्रन्थिपर्णं देयम्। पुण्डरीकं = श्वेतकमलम्। मस्तु = दधिजलम्। शुक्तं = सन्धानभेदः। आरनालः = सोऽपि सन्धानभेदः ॥ १५२–१५८ ॥

यहां पर "फेनिल" पद का "बेर"। "लामज्जक" पद से "खस की भांति पीले रंग के एक तृण विशेष" का बोध करना चाहिये, और यदि लामज्जक न मिल सके तो इसके अभाव में खस का प्रयोग करना चाहिये। "चम्पक" अर्थात् "चम्पा" के स्थान में कहीं २ "गैरिक" का पाठ होने से "गेरू" का बोध करना चाहिये। नीलोत्पल अर्थात् नीलकमल के अभाव में कुमुद अर्थात् कोई का ग्रहण करना चाहिये। "चोरक" पद से "ग्रन्थिपर्ण" (गठिवन) का भेद "भटेउर" नाम से नैपाल देश में प्रसिद्ध द्रव्य का बोध करना चाहिये। और इसके अभाव में ग्रन्थिपर्ण (गंठिवन) का प्रयोग करना चाहिये। "पुण्डरीक" पद का "सफेद कमल"। 'मस्तु" पद का "दही का जल" अर्थ समझना चाहिये। शुक्त तथा आरनाल सन्धान के भेद हैं, इनके लक्षण पूर्वखण्ड में कह आये हैं, वहां से समझ लेना चाहिये। इसको महालाक्षादि तैल कहते हैं ॥ १५२–१५८ ॥

अथ नवज्वरे रसप्रयोगाः।

अथोदकमञ्जरीरसमाह—

सूतो गन्धष्टङ्कणः शोषणश्च सर्वैस्तुल्या शर्करा मत्स्यपित्तैः।
भूयो भूयो मर्दयेत्तत् त्रिरात्रं वल्लो देयः शृङ्गवेरद्रवेण ॥ १५९ ॥
तापे शीतं व्यञ्जनैस्तक्रभक्तं वृन्ताकाढ्यं पथ्यमेतत्प्रदिष्टम्।
अह्नायोग्रं हन्ति सद्यो ज्वरन्तु पित्ताधिक्ये मूर्ध्नि तोयं च दद्यात् ॥ १६० ॥

नवीन ज्वर में रस-प्रयोग बताते हुए प्रथम "उदकमञ्जरीरस" को कहते हैं—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, भुना हुआ सुहागा और मरिच ये सब समभाग में लेकर उसमें इन सबों के बराबर शक्कर मिलाकर रोहू मछली के पित्त के साथ तीन दिन तक बराबर खरल करै पश्चात् इनमें से २ या तीन रत्ती के बराबर गोली बनाकर उसे अदरख के स्वरस के साथ रोगी को खिलावै, इसके खाने के बाद यदि गर्मी मालूम पड़ै तो शीतल उपचार (शीतल जल पिलाना, पंखे की हवा करना) करै और भात, मठ्ठा तथा बैंगन का शाक प्रायः करके भोजन के लिये देवै, क्योंकि यहीं पथ्य कहा हुआ है। इसके सेवन करने से एक ही दिन में भयङ्कर भी नवीन ज्वर शान्त हो जाता है। यदि पित्त की अधिकता हो तो शिर के ऊपर शीतल जल की धारा देनी चाहिये (आधुनिक मात्रा १ से १ ½ रत्ती तक देनी चाहिये) ॥ १५९–१६० ॥

*अस्य प्रक्रिया—पारा शुद्ध भाग १, गन्धक भाग १, सोहागा भृष्ट भाग १, मरिच भाग १, शर्करा भाग ४, रोहितमत्स्यपित्त भाग ४, प्रतिदिनं सर्वं दिनत्रयं मर्दयेत्। रसमिमं रक्तिकात्रयमितमार्द्रकरसेन दद्यात्। ओदनं, तक्रं, वृन्ताकफलं च भोक्तुं दद्याद्, व्यजनाद्यैः शीतलमुपचारं कुर्याद्। अयमुदकमञ्जरीरसो नवज्वरेषु रसरत्नप्रदीपे उक्तः ॥

इसके बनाने की प्रक्रिया—पारा शुद्ध १ भाग, गन्धक १ भाग, भुना हुआ सुहागा१ भाग मरिच १ भाग, शक्कर ४ भाग, रोहू मछली का पित्त ४ भाग, प्रतिदिन इन सबों को एकत्र कर तीन दिन तक खरल करना चाहिये। इस रस की मात्रा २ या ३ रत्ती के बराबर है अतः उतनी बड़ी गोली बना लेनी चाहिये और उसे अदरख के स्वरस के साथ देना चाहिये। एवम् भात, मट्ठा, बैंगन का शाक खाने के लिये देना चाहिये। और पंखे आदि के द्वारा हवा करके शीतल उपचार करना चाहिये। यह उदकमञ्जरी रस नवीन ज्वर के लिये रसरत्नप्रदीप ग्रन्थ में कहा हुआ है॥

अथ ज्वरधूमकेतुरसमाह—

भवेत् समं सूतसमुद्रफेनहिङ्गूलगन्धं परिमर्द्य यामम्।
नवज्वरे वल्लयुगं त्रिघस्रमार्द्राम्भसाऽयं ज्वरधूमकेतुः॥ १६१॥

ज्वरधूमकेतु रस—शुद्धपारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध हिंगुल (सिंगरफ), समुद्रफेन इन सबों को समान भाग में लेकर एक प्रहर तक अदरख के स्वरस के साथ खूब खरल करे। पश्चात् ४–६ रत्ती प्रमाण की (मात्रा अधिक होने से १–२ रत्ती तक की) गोली बनाकर उसमें से १ गोली अदरख के स्वरस के साथ तीन दिन तक नवीन ज्वर में रोगी को खिलाना चाहिये। यह ज्वर के नाश करने में धूमकेतु है अतः इसका नाम ज्वरधूमकेतु रस कहा गया है॥ १६१॥

***अस्य प्रक्रिया यथा–पाराशुद्ध, हिङ्गुलशुद्ध, गन्धकशुद्ध, समुद्रफेन–समभागं सर्वं याममेकमार्द्रकरसेन संमर्द्य रक्तिकाषट्कमितमार्द्रकरसेन दिनत्रयं नवज्वरी भक्षयेद्दिनत्रया-न्नवज्वरो नश्येद्। इति ज्वरधूमकेतुः, रसेन्द्रचिन्तामणौ॥ १६१॥**

इसकी प्रक्रिया—पारा शुद्ध, हिङ्गुल (सिंगरफ) शुद्ध, गन्धक शुद्ध, समुद्रफेन इन सबों को समान भाग लेकर एकत्र कर सबों को १ प्रहर तक अदरख के स्वरस के साथ खूब खरल कर ४–६ रत्ती प्रमाण की गोली बनाकर उसे अदरख के रस के साथ तीन दिन तक नवीन ज्वर वाला रोगी खावे, इसके सेवन से तीन दिन के अन्दर ही नवीन ज्वर दूर हो जाता है। यह ज्वरधूमकेतु रस रसेन्द्रचिन्तामणि ग्रन्थ में कहा हुआ है॥ १६१॥

अथ महाज्वराङ्कुशरसमाह—

शुद्धसूतो विषं गन्धः प्रत्येकं शाणसम्मितः। धूर्त्तबीजं त्रिशाणं स्यात्सर्वेभ्यो द्विगुणा भवेत्॥
हेमाह्वा कारयेदेषां सूक्ष्मं चूर्णं प्रयत्नतः। देयं जम्बीरमज्जाभिश्चूर्णं गुञ्जाद्वयोन्मितम्॥
आर्द्रकस्य रसेनापि ज्वरं हन्ति त्रिदोषजम्। ऐकाहिकं द्व्याहिकं च त्र्याहिकं च चतुर्थकम्॥
विषमञ्च ज्वरं हन्यान्नवं जीर्णञ्च सर्वथा। महाज्वराङ्कुशो नाम्ना रसोऽयं सर्वसम्मतः॥

महाज्वराङ्कुश रस—शुद्ध पारा, शुद्ध विष, शुद्ध गन्धक ये सब प्रत्येक एक २ टङ्क; धतूरे का बीज ३ टङ्क, इन सबों के दूना अर्थात् १२ टङ्क चोक (भड़भाड़ अर्थात् सत्यानाशी की जड़) लेकर सबों का खूब महीन चूर्ण कर डाले और उसे जमीरी नीबू अथवा अदरख के रस के साथ दो रत्ती प्रमाण खाने के लिये देवै तो उससे ऐकाहिक (अंतरिया), द्व्याहिक, त्र्याहिक (तिसरिया), चातुर्थिक (चौथिया) ज्वर, विषमज्वर, नवीन तथा पुराने सभी प्रकार के ज्वर नष्ट हो जाते हैं। यह महाज्वराङ्कुश नाम से प्रसिद्ध रस सभी वैद्य लोगों को संमत है (आधुनिक मात्रा १ रत्ती तथा अनुपान मधु, आदि का रस है॥ १६२–१६५॥

***प्रक्रिया–शुद्धपारा, शुद्धगन्धक, शुद्धविष, प्रत्येकं टंक १, धत्तूरबीज टंक ३, चोक टंक १२, सर्वेषां चूर्णमतिसूक्ष्मं कर्त्तव्यम्। इति महाज्वराङ्कुशः सर्वज्वरेषु शार्ङ्गधरे॥१६२–१६५॥**

प्रक्रिया—शुद्ध पारा; शुद्ध गन्धक; शुद्ध विष; प्रत्येक एक २ टङ्क; धतूरा का बीज ३ टङ्क, चोक

१२ टंक इन सबों का चूर्ण अत्यन्त सूक्ष्म करना चाहिये। यह महाज्वराङ्कुश रस सभी ज्वरों में दिया जाता है। इसका योग शार्ङ्गधर में कहा हुआ है॥ १६२-१६५॥

अथ ज्वरघ्नीं वटिकामाह—

एको भागो रसाच्छुद्धाच्छैलेयः पिप्पली शिवा। आकारकरभो गन्धः कटुतैलेन शोधितः॥ फलानि चेन्द्रवारुण्याश्चतुर्भागमिता अमी। एकत्र मर्दयेच्चूर्णमिन्द्रवारुणिकारसैः॥ १६७॥ माषोन्मितां वटीं कृत्वा दद्यात्सद्योज्वरे बुधः। छिन्नारसानुपानेन ज्वरघ्नी वटिका मता॥

ज्वरघ्नी वटी—शुद्ध पारा १ भाग; भूरिछरीला, पीपल; हरड़; अकरकरा; कडुये तेल से शुद्ध किया हुआ गन्धक, इन्द्रायण के फल ये सब मिलाकर चार भाग के बराबर लेकर चूर्ण कर लेवैं पश्चात् सबों को एकत्र कर इन्द्रायण के रस के साथ खरल करें और उरद के प्रमाण गोली बनाकर नवीन ज्वर में गिलोय के रस के साथ रोगी को वैद्य खिला देवैं। इसे ज्वरघ्नी वटी कहते हैं॥

छशैलेयः="छर" इति लोके। शिवा=हरीतकी। आकारकरभः="अकरकरा" इति लोके। चतुर्भागमिता अमी शैलेयादयः षट् समुदिता भागचतुष्टयमिताः। इति ज्वरघ्नी वटिका शार्ङ्गधरे॥ १६६-१६८॥

यहां पर "शैलेय" पद का "भूरि छरीला"। "शिवा" पद का "हरड़"। "आकारकरभ" पद का "अकरकरा" अर्थ समझना चाहिये। "चतुर्भागमिता अमी" इन पदों का "भूरिछरीला आदिक ये सब ६ द्रव्य मिलकर चार भाग के बराबर होने चाहिये" यह अर्थ समझना चाहिये। यह ज्वरघ्नी वटी शार्ङ्गधर में कही हुई है॥ १६६-१६८॥

अथ द्वितीयां ज्वरघ्नीं वटिकामाह—

रसं गन्धञ्च दरदं जैपालं क्रमवर्द्धितम्। दन्तीरसेन संपिष्य वटी गुञ्जामिता भवेत्॥१६९॥ प्रभाते सितया सार्द्धमशिता शीतवारिणा। एकेन दिवसेनैषा नवज्वरहरी भवेत्॥ १७०॥

दूसरी ज्वरघ्नी वटी—शुद्ध पारा १ भाग; शुद्ध गन्धक २ भाग; शुद्ध सिङ्गरफ ३ भाग; शुद्ध जमालगोटा के बीज ४ भाग इन सबों को एकत्र पीसकर दन्ती के रस के साथ खरल कर १ रत्ती के बराबर गोली बना लेवैं, और प्रातःकाल स्वच्छ शक्कर के साथ मिलाकर शीतल जल के साथ एक गोली खाने से एक दिन में ही यह नवीन ज्वर को दूर करने वाली होती है (ज्वरघ्नी वटियां कुछ दस्तावर भी होती हैं, अतः विबन्ध युक्त ज्वर में अधिक लाभ करती हैं)॥ १६९-१७०॥

अथ नवज्वरहरीं वटीमाह—

रसो गन्धो विषं शुण्ठीपिप्पलीमरिचानि च।
पथ्या बिभीतकं धात्री दन्तीबीजं च शोधितम्॥ १७१॥
चूर्णमेषां समांशानां द्रोणपुष्पीरसैः पुटेत्। वटीं माषनिभां कुर्याद्भक्षयेन्नूतने ज्वरे॥१७२॥

नवज्वरहरी वटी-शुद्ध पारा; शुद्ध गन्धक; शुद्ध विष; सोंठ; पीपल; मरिच; हरड; बहेरा; आमला; शुद्ध दन्ती का बीज इन सबों को समान भाग में लेकर चूर्ण कर डालै; पश्चात् गूमा के रस में भावना देकर खरल करके उरद के बराबर गोली बना डालै। इसको नवीन ज्वर में सेवन करना चाहिये॥ १७१-१७२॥

अथ सर्वज्वरहरं रसमाह—

एकभागो रसो भागद्वयं शुद्धञ्च गन्धकम्। गरलस्य त्रयो भागाश्चतुर्भागा हिमावती॥१७३॥
जैपालकः पञ्चभागो निम्बूद्रवविमर्दितः। कृमिघ्नप्रमिता वट्यः कार्याः सर्वज्वरच्छिदः॥१७४॥
शृङ्गबेरेण दातव्या वटिकैका दिने दिने। जीर्णज्वरे तथाऽजीर्णे सामे वा विषमे तथा॥१७५॥
ज्वरं सर्वं निहन्त्यसौ दावो वनमिवानलः॥ १७६॥

सर्वज्वरहर रस—शुद्धपारा १ भाग; शुद्धगन्धक २ भाग; शुद्ध विष ३ भाग; चोक (सत्यानाशी की जड़) ४ भाग, शुद्ध जमाल गोटा ५ भाग लेकर इन सबों के चूर्ण को नीबू के रस के साथ खूब खरल करके वायविडङ्ग के समान गोली बना लेवै। इस गोली के सेवन करने से सम्पूर्ण ज्वर दूर होते हैं। और अदरख के रस के साथ प्रतिदिन इसकी एक २ गोली देनी चाहिये; जीर्णज्वर (पुराना ज्वर); अजीर्ण ज्वर (नवीन ज्वर); सामज्वर (आमदोष युक्त ज्वर); विषमज्वर इन सब में प्रयोग करने से यह वटी संपूर्ण ज्वरों को इस भांति नष्ट करती है; जैसे कि दावाग्नि वन को नष्ट कर देती है॥ १७३-१७६॥

इति नवज्वरे रसाः।

अथ सामान्यज्वरे रसाः।

तत्र महाज्वराङ्कुशरसः (सर्वज्वरेषु)—

शुद्धं सूतं विषं गन्धं धूर्त्तबीजं त्रिभिः समम्। चतुर्णां द्विगुणं व्योषं चूर्णं गुञ्जाद्वयोन्मितम्॥ आर्द्रकस्य रसैः किं वा जम्बीरस्य रसैर्युतम्। महाज्वराङ्कुशो नाम्ना सर्वज्वरविनाशनः॥ ऐकाहिकं द्व्याहिकञ्च त्र्याहिकञ्च चतुर्थकम्। विषमं वा त्रिदोषं वा ज्वरं हन्ति न संशयः॥

अब सामान्यरूप से ज्वर में रसों को कहते हुये प्रथम महाज्वराङ्कुश रस को कहते हैं; जो कि सम्पूर्ण ज्वरों में दिया जाता है—महाज्वराङ्कुश रस—शुद्ध पारा, शुद्ध विष, शुद्ध गन्धक ये तीनों द्रव्य प्रत्येक एक २ भाग, धतूरे के बीज तीन भाग, सोंठ ४ भाग, पीपल ४ भाग, मिरच ४ भाग लेकर इन सबों का अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण तैयार कर लेवै पश्चात् दो रत्ती प्रमाण लेकर अदरख या जमीरी नीबू के रस के साथ ज्वररोगी को सेवन करावै। यह महाज्वराङ्कुश नामक रस सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करने वाला होता है क्योंकि इसके सेवन से ऐकाहिक (अँतरिया), द्व्याहिक, त्र्याहिक (तिसरिया), चातुर्थिक (चौथिया) ज्वर; विषमज्वर; त्रिदोष से उत्पन्न हुआ ज्वर ये सभी ज्वर निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं॥ १७७-१७९॥

***प्रक्रिया—शुद्धपारद टंकः १, शुद्धविष टंकः १, शुद्धगन्धक टंकः १, धत्तूरबीज टंकः ३, त्रिकटु प्रत्येकं टंकः ४, सर्वेषां चूर्णमतिसूक्ष्मं कर्त्तव्यम्। इति महाज्वराङ्कुशः सर्वज्वरेषु॥ १७७-१७९॥**

प्रक्रिया—शुद्धपारा १ टङ्क, शुद्ध विष १ टङ्क, शुद्ध गन्धक १ टङ्क, धतूरा के बीज ३ टङ्क, त्रिकटु प्रत्येक ४ टङ्क (सोंठ ४ टङ्क, पीपल ४ टङ्क, मिरच ४ टङ्क), इन सबों का चूर्ण अति सूक्ष्म करना चाहिये। यह महाज्वराङ्कुश रस सम्पूर्ण ज्वरों में देने योग्य होता है (इस की मात्रा १ चावल से २ चावल बराबर है)॥ १७७-१७९॥

अथ श्वासकुठाररसमाह—

सूतं गन्धं विषं चैव टङ्कणं च मनःशिला। एतानि टङ्कमात्राणि मरिचं त्वष्टटङ्ककम्॥१८०॥ कटुत्रयं टङ्कषट्कं खल्ले क्षिप्त्वा विचूर्णयेत्। रसः श्वासकुठारोऽयं सर्वज्वरहरः परः॥१८१॥

श्वासकुठाररस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध विष, शुद्ध सुहागा, शुद्ध मैनशिल ये सब प्रत्येक एक २ टङ्क, मरिच ८ टङ्क, त्रिकटु ६ टंक (सोंठ २ टंक, पीपल २ टङ्क, मरिच २ टंक) लेकर इन सबों को खरल में रखकर अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण बना लेवैं, इसका नाम श्वासकुठाररस है और यह सम्पूर्ण ज्वरों को भी भलीभांति नष्ट करने वाला होता है॥ १८०-१८१॥

***इति श्वासकुठारो रसः। श्वासे, सर्वज्वरे, रसरत्नाकरे॥ १८०-१८१॥**

यह श्वासकुठाररस श्वास (दमा) में तथा सम्पूर्ण ज्वरों में दिया जाता है और इसका उल्लेख रसरत्नाकर ग्रन्थ में मिलता है, (इसकी मात्रा १ रत्ती पान के रस में देना चाहिये)॥१८०-१८१॥

अथ ज्वराङ्कुशमाह—

दारुमुखां शिखिग्रीवां रसकञ्च पृथक् पृथक्। टङ्कत्रयानुमानेन गृहीत्वा कनकद्रवैः ॥१८२॥
मर्दयेत् त्रिदिनं कार्या वटी चणकमात्रया। मरिचैरेकविंशत्या सप्तभिस्तुलसीदलैः ॥१८३॥
खादेद्वटीद्वयं पथ्यं दुग्धभक्तं सशर्करम्। तरुणं विषमं जीर्णं हन्यात्सर्वज्वरं ध्रुवम् ॥ १८४ ॥

ज्वराङ्कुश-शुद्ध दारुमूप (विषविशेष), शुद्ध तूतिया, शुद्ध खपरिआ ये सब पृथक् २ तीन २ टंक लेकर धतूरे के रस के साथ तीन दिन तक खरल करके चने के बराबर २ गोलियां बना लेवै, और प्रतिदिन दो २ गोली २१ काली मिरच और ७ तुलसी के पत्तों के साथ सेवन करै। इसमें दूध भात तथा शक्कर भोजन करना पथ्य है, इससे नवीन, विषम तथा पुराने सभी प्रकार के ज्वर निश्चय दूर हो जाते हैं ॥ १८२-१८४ ॥

*दारुमुखा = दारुमूपम्। शिखिग्रीवा = तुत्थम्। रसकं 'खपरिया' इति लोके। प्रत्येकं स्यात् टङ्कत्रयम् ३ धत्तूरपत्रस्य रसेन मर्दयेत्। इति ज्वराङ्कुशः सर्वज्वरेषु ॥१८२-१८४॥

"दारुमुखा" पद का "दारुमूप"। "शिखिग्रीवा"। पदका "तूतिया"। "रसक" पदका "खपरिआ" अर्थ समझना चाहिये। और ये तीनों द्रव्य प्रत्येक तीन २ टङ्क लेकर धतूरे के रस के साथ मर्दन (खरल) करना चाहिये। यह ज्वराङ्कुश सम्पूर्ण ज्वरों में दिया जाता है। (मात्रा १ से २ रत्ती मधु से चाटना चाहिये) ॥ १८२-१८४ ॥

अथ हुताशनरसमाह—

नागरं कर्षमात्रञ्च टङ्कणं कर्षकद्वयम्। मरिचं सार्द्धकर्षं स्यात्तावद्दग्धवराटकम् ॥ १८५ ॥
विषं कर्षचतुर्थांशं सर्वमेकत्र चूर्णयेत्। रसो हुताशनो नाम्ना खाद्यो गुञ्जामितो ज्वरे ॥१८६॥

हुताशन रस—सोंठ १ तोला, शुद्धसुहागा २ तो०, मरिच १॥ तो०, कौड़ी का भस्म १॥ तोला शुद्ध विष ३ मासे लेकर सबों का एकत्र चूर्ण कर लेवै। यह हुताशन नामक रस है, इसे सभी प्रकार के ज्वरों में एक रत्ती के प्रमाण में सेवन करना चाहिये, इससे सम्पूर्ण ज्वर नष्ट हो जाते हैं ॥

अथ जीर्णज्वरघ्नीं वटिकामाह—

शुद्धजैपालटङ्कं तु कट्वीं टङ्कद्वयोन्मिताम्। गैरिकं टङ्कमेकञ्च कन्यानीरेण मर्दयेत् ॥ १८७ ॥
कलायसदृशी कार्या वटिका ताञ्च भक्षयेत्। शीतलेन जलेनैव वटी जीर्णज्वरापहा ॥ १८८ ॥

जीर्णज्वरघ्नी वटी—शुद्ध जमालगोटा ४ मासे, कुटकी ८ मासे, गेरू ४ मासे, इन सबों को एकत्र खरल में घीकुवार के रस के साथ खूब घोटै, और मटर के बराबर गोली बनाकर एक गोली शीतल जल के साथ सेवन करै तो इससे पुराना ज्वर दूर होता है ॥ १८७-१८८ ॥

अथ रविसुन्दररसमाह—

द्विभागतालेन हतं च ताम्रं रसं च गन्धं च समीनमायुम्।
विषं समं च द्विगुणञ्च ताम्रं त्रिःसप्तवारेण दिवाकरांशौ ॥ १८९ ॥
विमर्द्य चारिष्टरसेन चूर्णं गुञ्जैकदत्तं सितया समेतम्।
ज्वराङ्कुशोऽयं रविसुन्दराख्यो ज्वरान्निहन्त्यष्टविधान्समस्तान् ॥ १९० ॥

रविसुन्दर रस—शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, शुद्ध विष १ भाग, रोहू मछली का पित्त १ भाग, दुगुनी शुद्ध हरताल से मारा हुआ तांबा २ भाग लेकर इन सबों को चूर्णकर एकत्र नीम के पत्तों के रस के साथ खरलकर २१ वार उक्त रस की भावना दे धूप में सुखावै। और इसमें से १ रत्ती प्रमाण चूर्ण लेकर साफ शक्कर के साथ सेवन करना चाहिये। यह रविसुन्दर नामक रस ज्वररूपी हस्ती के लिये अङ्कुश स्वरूप है, अतः सेवन करने से आठ प्रकार के संपूर्ण ज्वरों को नष्ट करता है ॥ १८९-१९० ॥

*अस्य प्रक्रिया—पारद टंकः १ गन्धक टंकः १, विष टंकः १, द्विगुणतालकहृत ताम्र टंकः २,रोहितमत्स्यपित्त टंकः १, सर्वमेकत्र चूर्णयित्वा निम्बपत्ररसैर्भावयित्वा २१ वारानुष्णे संशोष्य १ रक्तिकामात्रं श्वेतशर्करया भक्षणीयम् । इति सर्वज्वरे रविसुन्दरो रसः ॥

इसकी प्रक्रिया—शुद्ध पारा १ टंक, शुद्ध गन्धक १ टंक, शुद्ध विष १ टंक, दुगुनी हरताल से मारा हुआ तवा २ टंक, रोहू मछली का पित्त १ टंक, इन सवों को एकत्र चूर्णकर नीम के पत्तों के रस के साथ २१ वार भावना देकर धूप में सुखाकर १ रत्ती प्रमाण सफेद शक्कर के साथ सेवन करना चाहिये। यह रविसुन्दर रस सभी प्रकार के ज्वरों में देने योग्य होता है ॥१८९-१९० ॥

अथ कज्जलीमाह—

(रसरत्नप्रदीपे)

शुद्धं सूतं तथा गन्धं खल्ले तावद्विमर्दयेत् । सूतं न दृश्यते यावत्किन्तु तत्कज्जलं भवेत् ॥
एषा कज्जलिका ख्याता बृंहणी वीर्यवर्द्धिनी । नानाऽनुपानयोगेन सर्वव्याधिविनाशिनी ॥

रसरत्नप्रदीप में कही हुई कज्जली वनाने की विध—शुद्ध पारा और शुद्ध गन्धक दोनों को समान भाग में लेकर खरल में रख तव तक घोटना चाहिये कि जव तक पारा दिखाई पड़े, पश्चात् जव पारा न दिखाई पड़े किन्तु कज्जली के रूप में हो जाय तो घोटना वन्द कर देना चाहिये। इसीको कज्जली कहते हैं। यह कज्जली बृंहण (धातुवर्धक होती है एवम् अनेक प्रकार के अनुपान के साथ देने से सम्पूर्ण रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ १९१-१९२ ॥

अथ रसपर्पटीमाह—

जपापत्ररसेनाथ वर्द्धमानरसेन च । भृङ्गराजरसेनापि काकमाच्या रसेन च ॥ १९३ ॥
रसं संशोधयेत्तेन तत्समं शोधयेद्बलिम् । भृङ्गराजरसैः पिष्ट्वा शोषयेदर्करश्मिभिः ॥ १९४ ॥
सप्तधा वा त्रिधा वाऽपि पश्चाच्चूर्णन्तु कारयेत् । चूर्णयित्वा समं तेन रसेन सह मर्दयेत् ॥
नष्टसूतं यदा चूर्णं भवेत्कज्जलसन्निभम् । निर्धूमबदराङ्गारे द्रवीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ १९६ ॥
तत्र तं महिषीविष्ठास्थापिते कदलीदले । निक्षिपेत्तदुपर्य्यन्यत् पत्रं दत्वा प्रपीडयेत् ॥१९७॥
शीतलञ्च ततः पत्रात् समुद्धृत्य विचूर्णयेत् । एवं सिद्धा भवेद्व्याधिघातिनी रसपर्पटी ॥
ज्वरादिव्याधिभिर्व्याप्तं विश्वं दृष्ट्वा पुरा हरः । चकार कृपया युक्तः सुधावद्रसपर्पटीम् ॥
रक्तिकासम्मितां तावद् भृष्टजीरकसंयुताम् । गुञ्जाऽर्द्धभृष्टहिङ्ग्वाढ्यां भक्षयेद्रसपर्पटीम् ॥
रोगानुरूपभैषज्यैरपि तां भक्षयेद् बुधः । पिबेत्तदनु पानीयं शीतलं चुलुकत्रयम् ॥ २०१ ॥
प्रत्यहं वर्धयेत्तस्या एकैकां रक्तिकां भिषक् । नाधिकां दशगुञ्जातो भक्षयेत्तां कदाचन ॥
एकादशदिनारम्भात्तां ततो वाऽपकर्षयेत् । एवमेतां समश्नीयाज्जरो विंशतिवासरान् ॥२०३॥
शिवं गुरूस्तथा विप्रान्पूजित्वा प्रणम्य च । श्रद्धया भक्षयेदेतां क्षीरमांसरसाशनः ॥ २०४ ॥
ज्वरञ्च ग्रहणीं वाऽपि तथाऽतीसारमेव च । कामलां पाण्डुरोगञ्च शूलं प्लीहं जलोदरम् ॥
एवमादीन् गदान् हत्वा हृष्टः पुष्टश्च वीर्यवान् । जीवेद्वर्षशतं साग्रं वलीपलितवर्जितः ॥२०६॥

रसपर्पटी—सर्वप्रथम पारे को लेकर अढौल के पत्ते के रस के साथ यत्नपूर्वक शोधन करै, तत्पश्चात् सफेद एरण्ड के पत्तों के साथ, भांगरा के रसके साथ और अन्त में मकोय के रसके साथ पारे का शोधन करै। पुनः इसके वाद पारा ही के वरावर गन्धक लेकर उसका भी पूर्वोक्त रसों के साथ पृथक् २ शोधन करै। और उक्त गन्धक को भांगरा के रस में मर्दन करके धूप में, रखकर सुखावे, इस भांति से ७ वार वा तीन वार गन्धक को भांगरा के रस में मर्दन कर धूप में रखकर सुखाने के वाद चूर्ण करके उक्त पाराके साथ मिलाकर खूव खरल करै, और जव खरल करतेर पारा जिस समय न दिखाई पड़े एवम् पारा गन्धक मिलकर कज्जली की भांति दिखाई पड़ने लगे तव उस

कज्जली को लोहे की कलछी में रखकर उसे निर्धूम बेरके कोयलों पर यत्नपूर्वक रखकर गलाना चाहिये और जब गल जाय तब भैंस के गोबर के ऊपर केले के पत्ते को रखकर उसीके ऊपर उड़ेल देवें और ऊपरसे दूसरे केलेके पत्ते को रखकर दबा देवें, इस के बाद जब शीतल हो जाय तब केले के पत्ते के ऊपर से उठाकर उसका चूर्ण कर डालें, इसप्रकारसे बनी हुई यह रसपर्पटी सम्पूर्ण रोगों को दूर करने वाली होती है। पहले एक समय भगवान् श्रीशिवजी ने ज्वरादिक अनेक प्रकार के रोगों से व्याप्त इस संसार को देखकर कृपा से युक्त हो अमृत के समान इस रसपर्पटी को बनाया। इसे १ रत्ती प्रमाण लेकर १ रत्ती भुने जीरे का चूर्ण और आधी रत्ती भुने हींगका चूर्ण इन दोनों के साथ मिलाकर खाना चाहिये। और बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि-वह रोगानुरूप अनुपान द्रव्यों के साथ मिलाकर इसका सेवन करें और पश्चात् ऊपर से तीन चिल्लू शीतल जल पी लेवें और प्रतिदिन एक २ रत्ती बढ़ाता जाय। इस भांति बढ़ाते २ दश रत्ती से अधिक की मात्रा में इसे कभी नहीं खाना चाहिये और ११ वें दिन से एक २ रत्ती प्रतिदिन घटानी चाहिये। इस प्रकार से २० दिन तक सेवन कराना चाहिये। जो मनुष्य प्रथम श्रीशिवजी, गुरु तथा ब्राह्मणों का पूजन करके और उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम कर इस रसपर्पटी का श्रद्धापूर्वक सेवन करता है, तथा दूध और मांसरस (शुरवा) का भोजन करता है; वह ज्वर, ग्रहणी, अतीसार, कामला, पाण्डुरोग, शूल, प्लीहा, जलोदर आदिक भयङ्कर रोगों को नष्ट करके स्वयं हृष्ट, पुष्ट, वीर्यशाली एवम् वली तथा पलित से रहित होता हुआ १०० वर्ष से अधिक समय तक जीता है॥

अथ ज्वरिणोऽन्नदानसमयस्तत्र चरकः—

क्षुत्सम्भवति पक्वेषु रसदोषमलेषु च। काले वा यदि वाऽकाले सोऽन्नकाल उदाहृतः॥

ज्वररोगी को अन्न देने का समय कब है? इस विषय में चरक का वचन-रस, दोष तथा मलों के परिपक्व होने पर ही क्षुधा लगती है, अतः जिस समय में क्षुधा लगती है, वह समय चाहे अन्न देनेका हो या न हो किन्तु वस्तुतः जो क्षुधा लगने का समय है, वही अन्न देने का समय कहा गया है॥

अन्यच्च—

आमे पाकं गते नृणां यदा भोजनलालसा। भवेत्काले ह्यकाले वा सोऽन्नकाल उदाहृतः॥

और भी कहा है कि—मनुष्यों को जब आम दोष के पच जाने पर भोजन करने की लालसा होती है, उस समय चाहे अन्न देने का समय हो, या न हो किन्तु वस्तुतः वही समय अन्न देने का युक्तियुक्त होता है, ऐसा ऋषियों ने कहा है॥ २०८॥

*तत्र कारणमाह—ज्वरस्य पाकावस्थाऽन्नदानकालः। तत्र ज्वरस्य पाककालश्च—

*वातिकः सप्तरात्रेषु दशरात्रेण पैत्तिकः। श्लैष्मिको द्वादशाहेन ज्वरः पाकमुपैति हि॥६५॥

यहां पर निम्नलिखित विषयों को और भी समझ लेना चाहिये, जो कि ये हैं—पूर्वोक्त चरकके कहने का कारण यह है कि—ज्वर के आम दोष की जब पाकावस्था होती है, तभी अन्न देने का समय होता है और ज्वर के आमदोष पचने का समय यह है कि—वातसम्बन्धी ज्वर का सात दिन में, पित्तसंबन्धी ज्वर का दश दिन में और कफसम्बन्धी ज्वर का बारह दिन में पाक होता है॥

*ज्वरस्य पाक उपशमः। ज्वरपाकेनैव रसपाको दोषपाकोऽपि कथितः। दोषपाकं विना ज्वरपाको न भवति, रसपाकं विना दोषपाकश्च न भवति। ननु यथा पैत्तिकज्वरो दशाहोरात्रेण पाकं याति, एकादशदिनेऽन्नं दीयते। तथा श्लैष्मिको ज्वरो द्वादशाहोरात्रेण पाकं याति, त्रयोदशे दिवसेऽन्नं दीयते। तथा वातिको ज्वरः सप्ताहोरात्रेण पाकं याति, अष्टमे दिवसेऽन्नं कथं न दीयते? कथं सप्तम एव दिवसेऽन्नं दीयत इति? उच्यते—

*कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं बहु। आमक्षयादूर्ध्वमपि वायुर्न सहते क्षणम्॥६६॥

यहां पर "ज्वर का पाक होता है" ऐसा कहने से "ज्वर की शान्ति होती है" यह समझना चाहिये। ज्वरपाक के कहने से ही रसपाक और दोषपाक का भी कहना समझ लेना चाहिये। क्योंकि यह नियम है कि दोषपाक के विना ज्वरपाक नहीं होता है और रस पाक के विना दोषपाक भी नहीं होता है ॥

अब यहां पर यह शङ्का होती है कि—जिस प्रकार से पित्तज्वर १० दिन में पच जाता है और ११ वें दिन उसमें रोगी को पथ्य (लघु अन्न) दिया जाता है, और जैसे कफज्वर १२ दिन में पच जाता है और उसमें १३ वें दिन रोगी को पथ्य दिया जाता है, उसी प्रकार से वातज्वर ७ दिन में पच जाता है तो इसमें ८ वें दिन क्यों नहीं अन्न दिया जाता है, क्यों इसमें ७ वें ही दिन अन्न दिया जाता है ? इसका उत्तर देते हुए यह कहते हैं कि—कफ और पित्त ये दोनों द्रव धातु हैं, अतः (द्रव होने के कारण) बहुत लङ्घन सह सकते हैं, किन्तु वायु (द्रव धातु न हो सकने से) आम दोष के नष्ट होने के उपरान्त एक क्षण भी लङ्घन करना नहीं सह सकता है ॥ ६६ ॥

***इति वचनादामरसपाके जाते आहारलाभं विना वायुः क्षणमात्रमपि सोढुं न शक्नोति स आशुकारित्वात्क्षणादाक्षेपकादीन्विकारान्सञ्जनयति । अतो वातिके ज्वरे पाकदिनानामन्तिमे सप्तम एव दिनेऽन्नं दीयते । तथा च धन्वन्तरिः—**

***ज्वराभिभूतः षडहे व्यतीते विपक्वदोषः कृतलङ्घनादिः ।**
यो भेषजं खादति वैद्यवश्यो निःसंशयं हन्त्यचिरात्स रोगान् ॥ ६७ ॥

इस वचन से यह सिद्ध हुआ कि—आम रस के पकने के बाद आहार पाये विना वायु एक क्षणमात्र भी लङ्घन नहीं सह सकता है। बल्कि वह (वायु) आशु (शीघ्र) कारी होने से क्षणमात्र में आक्षेपकादि अनेक वातसम्बन्धी रोगों को उत्पन्न कर देता है, अत एव वातज्वर में पाक दिनोंके अन्तिम दिन अर्थात् ७ वें ही दिन में अन्न दिया जाता है और इसी विषय में "धन्वन्तरि" ने भी कहा है कि—

वातज्वर से पीडित जो मनुष्य वैद्य के आज्ञावशवर्ती होकर लङ्घन आदि किये हुये ६ दिन व्यतीत होने पर वातदोष के पच जाने पर भेषज (औषध) खाता है, वह निःसन्देह शीघ्र अपने रोग को दूर करता है ॥ ६७ ॥

***ज्वराभिभूतः = वातज्वराभिभूतः । विपक्वदोषः = पक्ववातः । कृतलङ्घनादिः = आदिशब्दात् कृतपक्वजलपाननिवातगृहवासगुरूष्णवसनधारणादिः । भेषजमित्यन्नस्याप्युपलक्षणम् । अत एवाह चरकः—**

***ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नं प्रतिभोजितम् ।**
पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम् ॥ ६८ ॥ इति ।

यहां पर "ज्वराभिभूत" पद का "वातज्वर से पीडित" और "विपक्वदोष" पद का "वात दोष के पच जाने पर" यह अर्थ समझना चाहिये और "धृतलङ्घनादिः" इस पद में पठित "आदि" पद से अर्थात् "लङ्घन आदि किये हुये" इसमें "आदि" पद से "पकाया हुआ जल पीना, वायुरहित स्थान में रहना, भारी और गर्म कपड़ों को पहिनना" इत्यादि का भी बोध करना चाहिये। अर्थात् "लङ्घन के साथ २ इन सबों को भी किये हुये" यह अर्थ समझना चाहिये। और "भेषज" अर्थात् औषध यह पद कहने से "अन्न का भी बोध करना चाहिये अर्थात् अन्न भी खिलाना चाहिये" क्योंकि यह अन्न का भी उपलक्षण है। अत एव चरक ने भी कहा है कि—

वातज्वर वाले रोगी को ६ दिन व्यतीत होने पर ७ वें दिन लघु अन्न पथ्य देकर ८ वें दिन अवस्थाऽनुसार पाचन कषाय (क्वाथ) वा शमन कषाय (क्वाथ) पिलाना चाहिये ॥ ६८ ॥

ॐज्वरितं=वातज्वरिणम् । षडहे ते इत्युपलक्षणम् । पित्तज्वरिणं दशाहेऽतीते । श्लेष्मज्वरिणं द्वादशाहेऽतीते । लघ्वन्नं प्रतिभोजितं ज्वरिणम्—

ॐपाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्पुनः । स एव सर्वज्वरिणं दिनान्ते भोजयेल्लघु ॥६९॥

यहां पर "ज्वरितम्" पद का "वातज्वर वाले रोगी को" यह अर्थ समझना चाहिये। और "षडहेऽतीते अर्थात् ६ दिन व्यतीत होने पर" ऐसा जो कहा गया है वह उपलक्षण है, अतः पित्तज्वर वाले रोगी को दश दिन व्यतीत होने पर और कफज्वर वाले को १२ दिन व्यतीत होने पर लघु अन्न पथ्य देकर पाचन वा शमन कषाय पिलाना चाहिये।

और चरक ने और भी कहा है कि—वैद्य को चाहिये कि वह सभी प्रकार के ज्वर वाले रोगी को दिन के अन्त (मध्य) में लघु अन्न भोजन करावे ॥ ६९ ॥

ॐदिनान्ते=अन्तशब्दोऽत्र मध्यवाची तेन त्रिधा विभक्तस्य दिवसस्य मध्यभागे पित्तस्य प्राधान्यसमये । उक्तं च वाग्भटेन—

ॐते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ।
वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् ॥ ७० ॥

यहां पर "दिनान्ते" इस पद में "अन्त" शब्द का "मध्य" अर्थ समझना चाहिये, इससे दिनके तीन भाग करके मध्यभाग में अर्थात् पित्त की प्रधानता के समय में" यह अर्थ वस्तुतः "दिनान्ते" अर्थात् "दिन के अन्त (मध्य) में" इन पदों का समझना चाहिये और इसी विषय में वाग्भट ने भी कहा है कि—

ये अर्थात् वात, पित्त तथा कफ ये तीनों दोष यद्यपि शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर रहते हैं; तथापि यथाक्रम हृदय और नाभि के नीचे के भाग में, मध्य भाग में और ऊपर के भाग में विशेष रूप से रहते हैं। और उसी प्रकार से अनुक्रम से अवस्था (बाल्य, युवा तथा वृद्ध अवस्था) दिन (प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न), रात्रि (सायम्, अर्धरात्र, पश्चिमरात्र अर्थात् पिछली रात), भुक्त (भोजन) इन सबों के अन्त, मध्य तथा आदि भागों में उन सबों (वातादिकों) की प्रधानता पाई जाती है ॥७०॥

ॐते=वातपित्तश्लेष्माणः । पित्तकालेऽपि मध्याह्नादर्वाक् । यत आह—

ॐयाममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लङ्घयेत् । याममध्ये रसोत्पत्तिर्यामयुग्माद् बलक्षयः ॥

यहां पर "ते अर्थात् वे" इसके कहने से "वात, पित्त तथा कफ इन तीनों दोषों का ग्रहण करना चाहिये। और यद्यपि पित्त का काल वस्तुतः दिन में १० बजे से लेकर २ बजे तक है तथापि मध्याह्न अर्थात् १२ बजे के पहले ही पथ्य देना चाहिये। क्योंकि इस विषय में अन्यत्र कहा हुआ है कि—१ पहर के अन्दर नहीं भोजन करना चाहिये और दो पहर का उल्लङ्घन भी नहीं करना चाहिये अर्थात् दो पहर के बाद भी भोजन नहीं करना चाहिये क्योंकि पहले पहर के मध्य में भोजन करने से रस की उत्पत्ति होती है और दो पहर के बाद भोजन करने से बल का क्षय होता है ॥ ७१ ॥

ॐएतत्संख्यापरिमितिश्चेत्तन्न, यत आह ।

ॐश्लेष्मक्षये प्रवृद्धोष्मा बलवाननलस्तदा । वेगापायेऽन्यथा तद्धि ज्वरवेगाभिवर्द्धनम्॥७२॥

अब यह शंका होती है कि—क्या इसी पूर्वोक्त वचन के आश्रय से ही एक पहर के अन्दर तथा दो पहर के बाद भोजन का निषेध समझना चाहिये कि अन्य भी कोई उपपत्ति है ? इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—अन्यत्र कहा हुआ है कि—कफ के क्षय होने पर जिस समय जठराग्नि की उष्णता बढ़ती है उस समय अग्नि बलवान होता है अतः उसी समय अर्थात् जठराग्नि के वेगके समय में ही भोजन देना चाहिये। अन्यथा अर्थात् उक्त समय से अन्य समय में जठराग्नि का वेग नष्ट हो जाने पर भोजन करने से वह भोजन ज्वर के वेग को बढ़ाने वाला होता है ॥ ७२ ॥

*तदा = पित्तप्राधान्यसमये । अन्यथा = उक्तसमयादन्यथा । वेगापाये = जठराग्निवेगनाशे । तद् = भोजनम् । ज्वरवेगाभिवर्द्धनं भवतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥ इति ॥ २०८ ॥

यहां पर "तदा" पद का "पित्त की प्रधानता के समय में" । "अन्यथा" पद का "उक्त समय से अन्य समय में" । "वेगापाये" पद का "जठराग्नि का वेग नष्ट हो जाने पर" और "तद्" पद का "भोजन" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७२ ॥ २०८ ॥

अथ विषमज्वरेऽन्नदानसमयविशेषमाह चरकः—

सर्वज्वरेषु सप्ताहं मात्रावल्लघु भोजयेत् । वेगापायेऽन्यथा तद्धिज्वरवेगाभिवर्द्धनम् ॥२०९॥

विषमज्वर में अन्न देने के विषय में समय विशेष को बताते हुए चरक भगवान् यह कहते हैं कि—सम्पूर्ण विषमज्वरों में ज्वर का वेग हट जाने पर सात दिन योग्यताऽनुसार मात्रा के साथ लघु अन्न भोजन करावे, अन्यथा अर्थात् विना ज्वर का वेग नष्ट हुए ही यदि भोजन करावे तो वह भोजन ज्वर के वेग को बढ़ाने वाला होता है ॥ २०९ ॥

*सर्वज्वरेषु = सर्वविषमज्वरेषु, वेगापाये = ज्वरवेगापाये, भोजयेत् । अन्यथा = ज्वरवेगापायं विना, तद् = भोजनं, ज्वरवेगाभिवर्द्धनं भवति ।

यहां पर "सर्वज्वरेषु" पद का "सम्पूर्ण विषमज्वरों में" । "वेगापाये" पदका "ज्वर का वेग नष्ट होने पर" । "अन्यथा" पदका "विना ज्वर का वेगनष्ट हुये ही" यह अर्थ समझना चाहिये ॥२०९॥

अथ भोजनादिस्थाननिर्णयमाह—

आहारनिर्हारविहारयोगाः सदैव सद्भिर्विजने विधेयाः ॥ २१० ॥

भोजनादिकों के करने के विषय में स्थान का निर्णय—भोजन, मलत्याग तथा स्त्री के साथ मैथुन ये सब कार्य सज्जनों को सदैव एकान्त में करना चाहिये ॥ २१० ॥

अथ ज्वरितस्योपवेशनप्रकारमाह—

ज्वरे प्रमेहो भवति स्वल्पैरपि विचेष्टितैः । निषण्णं भोजयेत्तस्मान्मूत्रोच्चारौ च कारयेत् ॥

ज्वर वाले रोगी को भोजन के समय बैठाने का प्रकार—ज्वर में रोगी को थोड़ा भी शरीर को आयास पहुंचाने से प्रमेह हो जाता है अतः उसे जहां रहता हो वहां ही पर बैठाकर भोजन करावे तथा मलमूत्र का त्याग भी वहां ही बैठा कर करावे ॥ २११ ॥

*अत्यबलस्य ज्वरितस्य भोजनायोपवेशनप्रकारमाह सुश्रुतः-ज्वर इति । निषण्णं = यथास्थानस्थितमेव न तु स्थानान्तरं नीतम् ॥ २११ ॥

यहां पर "यह वचन अत्यन्त दुर्बल ज्वर वाले रोगी को भोजन कराने के समय बैठाने के प्रकार के विषय में सुश्रुत महर्षि का है" यह समझना चाहिये । और "निषण्ण" पदका "जहां रहता हो वहां ही पर बैठा कर न कि दूसरे स्थान पर ले जाकर" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २११ ॥

अथान्नग्रहणसमये ज्वरितेन कवलकरणमित्याह—

यथादोषोचितैर्द्रव्यैः कर्त्तव्यः कवल ग्रहः । अरोचकास्यवैरस्यमलपूतिप्रसेकहृत् ॥ २१२ ॥
भृष्टजीरकचूर्णेन सिन्धुजन्मयुतेन च । जिह्वादन्तान्मुखस्यान्तर्घृष्ट्वा कवलमाचरेत् ॥२१३॥
मुखे मलं विगन्धत्वं विरसत्वं च नश्यति । मनः प्रसन्नं भवति भोजनेऽभिरुचिर्भवेत् ॥

अब सर्वप्रथम अन्न ग्रहण करने के समय ज्वर वाले रोगी को कवल ग्रहण (मुख के अन्दर औषधों द्वारा घर्षण आदि) करने के विषय में यह कहते हैं कि—सर्वप्रथम अन्न ग्रहण करने के समय ज्वर वाले रोगी को प्रथम दोषानुसार यथोचित औषधों द्वारा अर्थात् ज्वर को उत्पन्न करने वाले दोषों को शमन करने वाले औषधों द्वारा कवल ग्रहण करना उचित है जिससे कि रोगी की अरुचि, मुख की विरसता, मैल तथा दुर्गन्ध एवम् लार का टपकना दूर हो । कवल ग्रहण के द्रव्य

निम्नलिखित ये हैं कि—भुने हुये जीरे के चूर्ण में सेंधा नमक का चूर्ण मिलाकर उससे यदि जिह्वा, दांत और मुख के अन्दर अन्य भागों को योग्यताऽनुसार मलकर कवल ग्रहण करे तो उसके मुख का मल, दुर्गन्ध तथा विरसता ये सब नष्ट होते हैं और मन में प्रसन्नता तथा भोजन में अत्यन्त रुचि होती है ॥ २१२-२१४ ॥

अथ ज्वरिणे हितवस्तु दातव्यमित्याह—

ज्वरितो हितमश्नीयाद्यद्यप्यस्यारुचिर्भवेत्। अन्नकाले ह्यभुञ्जानः क्षीयते म्रियतेऽपि च ॥

ज्वर वाले रोगी को हितकारक वस्तु पथ्य में देने के विषय में यह कहते हैं कि—ज्वर से युक्त रोगी को उचित है कि यद्यपि हितवस्तु से उसे अरुचि होती हो तथापि वह पथ्य ग्रहण करते समय हितकारक वस्तु का ही पथ्य लेवें। यदि अरुचि होने से अन्न ग्रहण करने का समय उपस्थित होने पर भी अन्न न ग्रहण करें तो वह क्षीण होता २ अन्त में मर भी जाता है ॥ २१५ ॥

***अयमर्थः—यद्यपि ज्वरितस्य हिते भक्ष्येऽरुचिर्भवेत्, तथाऽपि ज्वरितो हितमेवाश्नीयादिति नियमः। यत आह सुश्रुतः—**

***गुर्वभिष्यन्द्यकाले च ज्वरी नाद्यात्कथञ्चन। न तु तस्याहितं भुक्तमायुषे वा सुखाय च ॥**
आनद्धः स्तिमितैर्दोषैर्यावन्तं कालमातुरः। तावत्कालं स लघ्वन्नमश्नीयात्सुविरिक्तवत् ॥

यहाँ पर इसका भावार्थ यह समझना चाहिये कि—"यद्यपि ज्वर रोगी को हितकारक भोज्य-पदार्थों में अरुचि हो तथापि वह हितकारक ही पदार्थों का भोजन करे" यह नियम है, क्योंकि सुश्रुत ने कहा भी है कि—

ज्वर युक्त रोगी-भारी, अभिष्यन्दकारक एवम् असमय में कभी भोजन न करे क्योंकि अहित-कारक भोज्य पदार्थों के खाने से उसको आयु तथा सुख की हानि होती है।

और जब तक ज्वररोगी अपरिपक्व दोषों से व्याप्त हो तब तक वह भलीभांति विरेचन लिये हुए के समान लघु अन्न का पथ्य लिया करे ॥ ७३-७४ ॥

***आनद्धः स्तिमितैर्दोषैः=अपक्वैर्दोषैर्व्याप्त इत्यर्थः ॥ ७४ ॥**

यहां पर "आनद्धः स्तिमितैर्दोषैः" इन पदों का "अपरिपक्व दोषों से व्याप्त हो" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७४ ॥

***ननु हिते वस्तुनि कथमरुचिः स्यादत आह—**

***सातत्यात्स्वाद्वभावाच्च पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम् ॥ ७५ ॥ इति।**

अब यहां पर यह शङ्का होती है कि—ज्वर रोगी को हितकारक वस्तु में अरुचि क्यों होती है? इसका उत्तर देते हुये यह कहते हैं कि—एक ही भोज्य पदार्थ को सर्वदा खाने से अथवा स्वादिष्ट न लगने से हितकारक वस्तु से रोगी को द्वेष (चिढ़) हो जाता है ॥ ७५ ॥

***सातत्याद्=एकस्यैव भक्ष्यस्य सर्वदोपयोगात्। स्वाद्वभावात्=भक्ष्यान्तरादपि विस्वादुतः। पथ्यमप्रियं स्यात्तथाऽपि तदेव पथ्यम् ॥ ७५ ॥**

यहां पर "सातत्यात" अर्थात्-"एक ही भोज्य पदार्थ को सर्वदा खाने से"। "स्वाद्वभावात" अर्थात् "जो सर्वदा खाता हो उससे अन्य हितकर वस्तु में स्वाद का अभाव होने से" वह भी अप्रिय हो जाय तथापि उसी को खाना चाहिये क्योंकि वही पथ्य है। यह अर्थ समझना चाहिये।

***कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्पुनः ॥ ७६ ॥ इति।**

अत एव—ज्वररोगी को जब पथ्य भोज्य पदार्थों से अरुचि हो तो उसी पथ्य पदार्थों को बनाने के प्रकार में भेद करके अर्थात् नाना प्रकार से उसे बना करके जिस प्रकार से वह कथंचन प्रिय लग सके वैसा बना २ कर खिलावे अर्थात् जब खिलावे तब हितकारक पदार्थ ही ॥ ७६ ॥

*अथ ज्वरितोऽन्नकालेऽश्नीयादेवेति द्वितीयो नियमः कुत इति चेत्? हि=यतो हेतोर-भुञ्जानः क्षीयते=पक्वदोषधातुर्भवति ततो म्रियतेऽपि च ॥ २१५ ॥

और ज्वर रोगी हितकारक वस्तु का ही पथ्य ग्रहण करे यह प्रथम नियम है तथा अन्न ग्रहण करने के समय अर्थात् भूख लगने के समय अवश्य भोजन करे यह दूसरा नियम क्यों बनाया गया है? इसी प्रश्न के उत्तर में यह कहते हैं कि—क्योंकि भूख लगने के समय अप्रिय होने से यदि भोजन न करे तो वह क्षीण होता जाता है क्योंकि उस समय दोष, धातु के परिपक्व हो चुकने पर आहार भी न मिलने से जठराग्नि रसादिकों को जलाने लगती है जिससे कि अन्त में वह मर भी जाता है। अतः सारांश यह निकला कि—भूख लगने पर हितकारक ही वस्तु अवश्य ज्वर रोगी को खिलाना चाहिये अहितकारक नहीं ॥ २१५ ॥

अथ ज्वरिताय हितान्यन्नादीन्याह—

रक्तशाल्यादयः शस्ताः पुराणाः षष्टिकैः सह । यवाग्वोदनलाजार्थे ज्वरितानां ज्वरापहाः ॥
मुद्गान् मसूरांश्चणकान् कुलत्थान्समकुष्ठकान् । यूपार्थे यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत् ॥
पटोलपत्रं वार्त्ताकुं कुलकं कारवेल्लकम् । कर्कोटकं पर्पटकं गोजिह्वां बालमूलकम् ॥ २१८ ॥
पत्रं गुडूच्याःशाकार्थे ज्वरितानां ज्वरापहम् । लावान् कपिञ्जलानेणान् हरिणान्पृषताञ्छशान्॥
कुरङ्गान्कालपुच्छांश्च तथैव मृगमातृकान् । मांसार्थं मांससात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत् ॥

ज्वर वाले रोगी के लिये हितकर अन्नादिक—ज्वरयुक्त रोगियों के लिये यवागू, भात तथा लावा (खील) बनाने में रक्तशालि (लालजड़हन) आदि के पुराने चावल तथा साठी के पुराने चावल लेना उचित है क्योंकि ये ज्वरनाशक होते हैं।

और जिन ज्वररोगियों को जूस सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) हो तो उनके लिये जूस बनाने में मूंग, मसूर, चना, कुलथी और मोठ की दाल लेनी चाहिये।

और जब ज्वररोगियों को शाक देना हो तो परवल के पत्ते, बैगन, परवल, करेला, ककोड़ा, पित्तपापड़ा, गोजिया, कच्ची मूली और गुरुच के पत्ते इन सबों का शाक बनाकर देना चाहिये।

और जिन ज्वररोगियों को मांस सात्म्य हो तो उन लोगों को मांस देने में लवा, कपिञ्जल (गौर तीतर), एण (काला हिरन), हरिण (ताम्रवर्ण का मृग), पृषत (श्वेत बिन्दु युक्त मृग), खरगोश, कुरंग (मृगविशेष), कालपुच्छ (काले पूंछ वाले मृगविशेष), मृगमातृका (हरिन विशेष) इन सबों का मांस बनाकर देना चाहिये ॥ २१६–२२० ॥

सारसक्रौञ्चशिखिनस्तथा तित्तिरकुक्कुटान् । गुरूष्णत्वान्न शंसन्ति केचिदेवं व्यवस्थिताः ॥

और कितने वैद्य लोग मांस देने में यह व्यवस्था करते हैं कि—सारस, क्रौञ्च, मयूर, काला तीतर, मुर्गा इन सबों का मांस गुरु (भारी) तथा गर्म होने से ज्वर रोगियों के लिये हितकर नहीं है, ऐसा कह कर इनसे अतिरिक्त जीवों का मांस देते हैं ॥ २२१ ॥

*तित्तिर इत्यत्र कृष्णतित्तिरः ॥ २२१ ॥

यहां पर "तित्तिर" इस पद का "काला तीतर" अर्थ समझना चाहिये ॥ २२१ ॥

ज्वरितानां प्रकोपं तु यदा याति समीरणः । तदैतेऽपि हि शस्यन्ते मात्राकालोपपादिताः ॥

किन्तु यदि ज्वररोगियों का वायु कुपित हो गया हो तो सारसादि निषिद्ध जीवों का भी मांस मात्रा तथा समय का यथोचित विचार करते हुये देना उत्तम होता है ॥ २२२ ॥

निम्बुकं दाडिमं धात्रीफलमम्लं प्रकाङ्क्षते । प्रदद्यादम्लसात्म्याय काञ्जिकं वा पुरातनम् ॥

और नीबू, अनारदाना, आंवले का फल तथा पुरानी कांजी ये सब जिन ज्वररोगियों को अम्ल (खटाई) सात्म्य हो और वे खाना चाहें तो उन्हें देना चाहिये ॥ २२३ ॥

*एतेषां गुणनामानि पूर्वोक्तानि ॥ २२३ ॥

इन सबों के गुण तथा नाम पूर्व में द्रव्यगुण प्रकरण में कह आये हैं, वहां से समझ लेना चाहिये ॥ २२३ ॥

अथान्नसाधनप्रक्रियामाह ।

तत्र मण्डस्य लक्षणविधिगुणानाह—

तण्डुलानां सुसिद्धानां चतुर्दशगुणे जले । रसः सिक्थैर्विरहितो मण्ड इत्यभिधीयते ॥२२४॥
शुण्ठीसैन्धवसंयुक्तो दीपनः पाचनश्च सः । अन्नस्य सम्यक्सिद्धत्वं ज्ञेया मण्डस्य सिद्धता ॥
पेयायूषयवागूनां विलेपीभक्तयोरपि । मण्डो ग्राही लघुः शीतो दीपनो धातुसाम्यकृत् ॥
ज्वरघ्नस्तर्पणो बल्यः पित्तश्लेष्मश्रमापहः ॥ २२६ ॥

अब अन्न बनाने की प्रक्रिया बतलाये हुये प्रथम मण्ड (मांड) बनाने की विधि और गुण कहते हैं—१४ गुने जल में भली भांति पकाये हुये चावलों का जो सीठी से रहित रस होता है उसे "मण्ड" अर्थात् "मांड" कहते हैं। और यह मांड सोंठ व सेंधा निमक से युक्त करके यदि पिलाया जाय तो अग्निदीपक तथा पाचक होता है। और अन्न के भलीभांति सिद्ध हो जाने पर मांड की भी सिद्धि समझ लेनी चाहिये। इसी प्रकार अन्न के सिद्ध हो जाने पर पेया, जूस, यवागू, विलेपी और भात की भी सिद्धि समझनी चाहिये।

मांड के गुण—मांड-ग्राही, लघु, शीतल, अग्निदीपक, धातुओं को समभाव में करने वाला, ज्वरनाशक, तृप्तिकारक, बलकारी एवम् पित्त, कफ तथा श्रम को दूर करने वाला होता ॥२२४-२६॥

अथ पेयाया विधिगुणानाह—

चतुर्दशगुणे नीरे रक्तशाल्यादिभिः कृता । द्रवाधिका स्वल्पसिक्था पेया प्रोक्ता भिषग्वरैः ॥
साऽतिलघ्वी ग्राहिणी च धातुपुष्टिविधायिनी । तृड्ज्वरानिलदौर्बल्यकुक्षिरोगविनाशिनी ॥
स्वेदाग्निजननी ज्ञेया वातवर्चोऽनुलोमनी । शुण्ठीसैन्धवसंयुक्ता दीपनी पाचनी च सा ॥
आमशूलहरी रुच्या स्याद्विबन्धविनाशिनी ॥ २३० ॥

पेया बनाने की विधि तथा गुण—रक्त शालि (लाल जड़हन) आदि धान्यों के चावलों से १४ गुने जल में पकाई हुई अधिक द्रव भाग से युक्त तथा थोड़े सिक्थ (सीठी) भागों से युक्त जो होती है, उसे वैद्य "पेया" कहते हैं। यह पेया-अत्यन्त लघु, ग्राही, धातुओं को पुष्ट करनेवाली, एवम् प्यास, ज्वर, वायु, दुर्बलता और कुक्षिसम्बन्धी रोग को दूर करने वाली होती है, तथा स्वेद (पसीना) लाने वाली, जठराग्नि को दीपन करने वाली, वायु तथा मल का अनुलोमन करने वाली होती है, और यदि इसमें सोंठ तथा सेंधा निमक मिला दिया जाय तो अग्निदीपक, पाचक, आमशूल को नष्ट करने वाली, रुचिकारक और विबन्ध को दूर करने वाली होती है ॥ २२७-२३० ॥

अथ प्रमथ्याया विधिगुणानाह—

प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्यपलात्कल्कीकृताच्छृतात् । तोयेऽष्टगुणिते तस्याः पानमाहुः पलद्वयम् ॥
गुणैः प्रमथ्या पेयावत्ततो लघ्वी विशेषतः ॥ २३१ ॥

प्रमथ्या बनाने की विधि तथा गुण—४ तोले पाच्य द्रव्य (जिस द्रव्य की प्रमथ्या बनानी हो वह द्रव्य) को लेकर उसका कल्क बना कर अठगुने (३२ तोले) जल में पकावे। जब आठ तोले जल रह जाय तब उतार कर उसे पिलाना चाहिये। इसी को "प्रमथ्या" कहते हैं। यह गुणों में यद्यपि पेया ही के समान होती है तथापि उसकी अपेक्षा विशेष हल्की होती है ॥ २३१ ॥

*द्रव्यं=पाच्यद्रव्यम् । तस्याः—पलद्वयशेषायाः ॥ २३१ ॥

यहां पर "द्रव्य" पद से "पाच्य द्रव्य अर्थात् जिसकी प्रमथ्या बनानी हो उस द्रव्य" का ग्रहण करना चाहिये। और "तस्याः" पद का "उसे अर्थात् उतारने पर ८ तोले बची हुई प्रमथ्या को" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २३१ ॥

अथ यूषस्य विधिगुणानाह—

अष्टादशगुणे नीरे शिम्बीधान्यश्रतो रसः। विरलान्नो घनः किञ्चित्पेयातो यूष उच्यते ॥
उक्तः स एव निर्यूहो रुचिकृच्च विशेषतः ॥ २३२ ॥

यूष बनाने की विधि तथा गुण—१८ गुने जल में शिम्बी धान्य मूँग आदि के दाल को पकावें, और जब इस में किञ्चित् मात्र सिक्थ अन्न का रहे और पेया की अपेक्षा किञ्चित् गाढ़ा हो तो उसे "यूष" कहते हैं। और उसी को "निर्यूह" भी कहते हैं। यह विशेष करके रुचिकारक होता है ॥ २३२ ॥

अथ यूषस्य प्रकारान्तरमाह—

कल्कद्रव्यपलं शुण्ठी पिप्पली चार्द्धकार्षिकी। वारिप्रस्थेन विपचेत्तद्भवो यूष उच्यते॥२३३॥

यूष बनाने के अन्य प्रकार—जिसका "यूष" बनाना हो उस द्रव्य को ४ तोला लेकर जल से पीस डालै और उसमें सोंठ, पीपल मिलाकर आध तोले ले पीस कर डाल देवै पश्चात् सर्वों को ६४ तोले जल में पका कर जब सिद्ध हो जाय तब उतार लेवै, इसे "यूष" कहते हैं ॥ २३३ ॥

***अयमर्थः—यूषधान्यं पलमितं तत्कल्कीकृतम्, शुण्ठी पिप्पली च समुदिताऽर्कर्षमिता कल्कीकृता, उभयमपि प्रस्थमितेन वारिणा पचेत् तद्भवो यूषः ॥ २३३ ॥**

यहां पर यह भावार्थ समझना चाहिये कि—यूष बनाने के द्रव्य (मूंग आदि की दाल) को ४ तोले लेकर जल में पीसकर कल्क बना ले और सोंठ तथा पीपल इन दोनों को मिलाकर आधा तोला लेकर उन्हें भी जल से पीसकर कल्क तैयार कर लेवै, पश्चात् दोनों कल्कों को ६४ तोले जल में एकत्र पकावै, इसी को "यूष" कहते हैं ॥ २३३ ॥

अथ यूषगुणाः—

यूषो बल्यो लघुः पाके रुच्यः कण्ठ्यः कफापहः ॥ २३४ ॥

यूष के गुण—यूष 'बलकारक' पाक में लघु, रुचिकारक, कण्ठ (गले) के लिये हितकर अर्थात् गला को शुद्ध करने वाला होता है एवम् कफनाशक भी होता है ॥ २३४ ॥

अथ मुद्गयूषविधिमाह—

(वृन्दटीकायां तन्त्रान्तरे)

मुद्गानां द्विपलं तोये श्रतमर्द्धाढकोन्मिते। पादस्थं मर्दितं पूतं दाडिमस्य पलेन तत् ॥
युक्तं सैन्धवविश्वाह्वधान्यकैः पादिकांशिकैः। कणाजीरकयोश्चूर्णाच्छाणेकेनावचूर्णितम् ॥
संस्कृतो मुद्गयूषोऽयं पित्तश्लेष्महरो मतः ॥ २३६ ॥

दूसरे ग्रन्थों में (वृन्दटीका में) मूंग के यूष की विधि इस प्रकार कही हुई है कि—८ तोले मूंग को लेकर १२८ तोले जल में पकावै, और जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय तब मलकर छान ले, उसके बाद उसमें ४ तोले अनार का रस मिला दे तथा सेंधा निमक, सोंठ, धनिया इन सबों का चूर्ण १ शाण लेकर ऊपर से मिला दे अथवा इसका बघार (छौंक) देवै। इस प्रकार से संस्कृत मूंग का यूष पित्तकफ-नाशक होता है ॥ २३५-२३६ ॥

अथ मुद्गयूषगुणानाह—

मुद्गानामुत्तमो यूषः दीपनः शीतलो लघुः। व्रणोदूर्ध्वजत्रुरुग्दाहकफपित्तज्वरास्रजित् ॥

मूंग के यूष के गुण—मूंग का यूष सर्वोत्तम होता है तथा अग्निदीपक, शीतल और लघु होता है, एवम् व्रण, ऊर्ध्वजत्रुगत रोग, दाह, कफ-पित्तज्वर तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ २३७ ॥

अथ मुद्गामलकयूषगुणानाह—

मुद्गामलकयूषस्तु भेदी पित्तानिलापहः । तृड्दाहशमनः शीतो मूर्च्छाभ्रममदापहः ॥२३८॥

आमला युक्त मूंग के यूष के गुण—आमला से युक्त मूंग का यूष मलभेदक, पित्तवात को नष्ट करने वाला, तृषा व दाह को शान्त करने वाला, शीतल एवम् मूर्च्छा, भ्रम तथा मेद को दूर करने वाला होता है ॥ २३८ ॥

अथ मसूरयूषगुणानाह—

मसूरयूषः संग्राही बृंही स्वादुः प्रमेहनुत् ॥ २३९ ॥

मसूर के यूष के गुण—मसूर का यूष—ग्राही, धातुवर्धक, स्वादिष्ट तथा प्रमेहनाशक होता है ॥

अथवा यवाग्वा विधिगुणानाह—

यवागू षड्गुणे तोये संसिद्धा घनसिक्थका । पृथग्द्रवैस्तु विरलैः संयुक्ता ज्वरिणे हिता ॥
यवागूर्दीपनी लघ्वी तृष्णघ्नी वस्तिशोधिनी । श्रमग्लानिहरी पथ्या ज्वरे चैवातिसारके ॥

यवागू बनाने की विधि तथा गुण—चावलादि को ६ गुने जल में पकावै, जब अन्न गल जाय और गाढ़ा हो जाय किन्तु अन्न अलग २ रहे और जल भी किञ्चित् अलग रहे तब उतार लेवै, इसी को "यवागू" कहते हैं। यह ज्वर के लिये हितकर होती है। यवागू-अग्निदीपक, लघु, प्यास को शान्त करने वाली, वस्तिशोधक, श्रम तथा ग्लानि को दूर करने वाली, ज्वर तथा अतिसार वाले रोगियों के लिये पथ्य होती है ॥ २४०-२४१ ॥

अथ विलेप्या विधिगुणानाह—

चतुर्गुणाम्बुसंसिद्धा विलेपीघनसिक्थका । पृथग्द्रवेण रहिता ख्याता शिथिलभक्तिका ॥

विलेपी बनाने की विधि तथा गुण—चौगुने जल में चावलों को पकावै, जब चावल अत्यन्त सिद्ध हो जाय और जल अलग न रहे तथा गाढ़ा हो जाय तो उसे उतार ले, इसी को "विलेपी" वा "शिथिलभक्तिका" कहते हैं ॥ २४२ ॥

***संसिद्धा = अतीव सिद्धा । विलेपी 'गिलहथी' इति लोके ॥ २४२ ॥**

यहां पर "संसिद्धा' पद का "अत्यन्त सिद्ध कहा जाय" यह अर्थ समझना चाहिये । "विलेपी" पद का लोकप्रसिद्ध "गिलहथी" अर्थ समझना चाहिये ॥ २४२ ॥

विलेपी दीपनी बल्या हृद्या संग्राहिणी लघुः । व्रणाक्षिरोगिणां पथ्या तर्पणी तृड्ज्वरापहा ॥

गुण—विलेपी-अग्निदीपक, बलकारक, हृदय के लिये हितकर, मलसंग्राही लघु, व्रण तथा नेत्र सम्बन्धी रोगियों के लिये पथ्य (हितकर), तृप्तिकारक एवम् प्यास तथा ज्वर को शान्त करने वाली होती है॥ २४३ ॥

अथ भक्तस्य विधिगुणानाह—

जले चतुर्दशगुणे तण्डुलानां चतुष्पलम् । विपचेत्स्रावयेन्मण्डं तद्भक्तं मधुरं लघु ॥ २४४ ॥

भात बनान की विधि तथा गुण—१६ तोले चावलों को लेकर १४ गुने जल में पकावै, और सिद्ध हो जाने पर मांड को पसाकर अलग कर देवै, इसे "भात" कहते हैं। यह मधुर तथा लघु होता है॥ २२४ ॥

चक्रदत्तस्तु—

अन्नं पञ्चगुणे तोये यवागूं षड्गुणे पचेत् । भक्तं वह्निकरं पथ्यं तर्पणं मूत्रलं लघु ॥ २४५ ॥

किन्तु "चक्रदत्त" का तो मत यह है कि—भात को पांचगुने जल में तथा यवागू को ६ गुने जल में पकाना चाहिये। और भात-अग्निवर्धक, पथ्य, तृप्तिकारक, मूत्रजनक तथा लघु होता है॥

***तत्रान्नं = भक्तम्। तथा च—**

***"भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नमोदनोऽस्त्री सदीदिविः" इत्यमरः॥ २४६॥**

यहां पर "अन्न" पद का "भात" अर्थ समझना चाहिये क्योंकि अमरकोश में भात के पर्यायवाची शब्दों के अन्दर "अन्न" का भी पाठ है, जैसे कि—भिस्सा (स्त्री० लि०) भक्त, अन्धस्, अन्न (ये तीन न० पु० लि०), ओदन (स्त्रीलिङ्ग रहित), दीदिव (स्त्रीलिङ्ग रहित) ये सब भात के पर्यायवाची संस्कृत शब्द हैं॥ २४५॥

सुधौतं प्रस्रुतं चोष्णं विशदं गुणवत्तरम्। अधौतमस्रुतं शीतं वृष्यं गुरु कफप्रदम्॥ २४६॥

भात के गुण-उत्तम रीति से धुला हुआ तथा अच्छी तरह पसाया हुआ एवम् गर्म जो भात होता है वह विशद गुणयुक्त तथा अत्यन्त गुणकारी होता है। और विना धुला हुआ, विना पसाया हुआ एवम् शीतल जो भात होता है वह-वीर्यवर्द्धक, गुरु तथा कफकारक होता है॥ २४६॥

अत्युष्णंबलहृद्भक्तं शीतं शुष्कञ्च दुर्जरम्। अतिक्लिन्नं ग्लानिकरं दुर्जरं तण्डुलान्वितम्॥

और अत्यन्त गर्म भात—खाने से बलनाशक होता है शीतल तथा सूखा भात-देर में हजम होने वाला होता है और जो जल से युक्त बासी भात होता है वह-ग्लानि उत्पन्न करने वाला होता है। एवम् जो भात भलीभांति सिद्ध न होने से कच्चा रह गया हो वह देर से हजम होने वाला होता है॥ २४७॥

***अतिक्लिन्नं = सजलं यत् पर्यपितम्॥ २४७॥**

यहां पर "अतिक्लिन्न" पद का "जो जल से युक्त बासी भात" यह अर्थ समझना चाहिये॥२४७॥

भृष्टतण्डुलजं रुच्यं सुगन्धि कफहृल्लघु। वातास्थापितमन्दाग्निविरिक्तानां प्रशस्यते॥२४८॥

भुने हुये चावलों का भात-रुचिकारक, सुगन्धित, कफनाशक तथा लघु होता है। एवम् वातरोगी, निरूहवस्ति लिये हुये, मन्दाग्नि रोग वाले तथा विरेचन लिये हुये लोगों के लिये उत्तम होता है॥

अथ रसौदनस्य विधिमाह—

(वृन्दटीकायां तन्त्रान्तरे)

मांसलं सक्थिजं मांसं तथाऽनस्थि च तैत्तिरम्। चतुष्पलोन्मितं सूक्ष्मं कल्पितं चालितं जले॥
पिप्पलीपिप्पलीमूलशुण्ठीजीरकधान्यकैः। द्विशाणैः संयुते तोये क्वाथ्यमर्द्धाढकोन्मिते॥
पादस्थितं जलं तत्र दाडिमात् कुट्टिताद्धरेत्। तं रसं मर्दितं हिङ्गुभृष्टसैन्धवजीरकैः॥
युक्तं प्रधूपितं पथ्यं शुद्धानां शुद्धिकाङ्क्षिणाम्॥ २५१॥

तन्त्रान्तर में (वृन्दटीका में) कही हुई रसौदन कि विधि-बकरे आदि पशुओं के पैरों में मांसयुक्त स्थानों के मांस तथा तित्तिर पक्षियों के अस्थिरहित मांस १६ तोले लेकर उसके पतले २ टुकड़े कर डाले और उन टुकड़ों को जल से खूब धो डाले। उसके बाद पीपल, पिपरामूल, सोंठ जीरा, धनियां ये सब प्रत्येक आठ २ मासे लेकर पीसकर १२८ तोले जल में मिला देवै और इसी जल में उक्त मांस के टुकड़ों को डालकर पकावै, जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय तब उतार लेवै, और करछली से मांस के टुकड़ों को खूब मसल कर केवल रस अलग करले, पश्चात् उस रस को भुने हुये हींग तथा जीरे का चूर्ण एवम् सेंधा निमक से युक्त करके सुगन्धित द्रव्यों द्वारा धूपित कर लेवै, यह मांसरस विरेचनादि द्वारा शुद्ध हुये तथा शुद्धि चाहने वालों के लिये पथ्य है॥२४९-२५१॥

अथ रसौदनगुणानाह—

रसौदनो गुरुर्वृष्यो बल्यो वातज्वरापहः॥ २५२॥

रसौदन के गुण—रसौदन (अर्थात् उक्त मांसरस युक्त भात) गुरु, वीर्यवर्धक, बलकारक एवम् वातज्वरनाशक होता है ॥ २५२ ॥

अथ मण्डादिपदार्थप्रक्रियामाह—

साध्यं चतुष्पलं द्रव्यं चतुःषष्टिपलेऽम्बुनि । तत्क्वाथेनार्द्धशिष्टेन मण्डपेयाऽऽदि साधयेत् ॥

मांड आदि पदार्थों के बनाने की प्रक्रिया—१६ तोले द्रव्य (औषध) लेकर २५६ तोले जल में पकावे, जब आधा जल शेष रह जाय तब उस जल से मण्ड (मांड), पेया आदि बनावे ॥ २५३ ॥

ॐकेवलजलसाध्यान् मण्डादीनभिधायौषधसाध्यानां तेषां प्रक्रियामाह—साध्यमिति ॥२५३॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—केवल जल में बनाये जाने वाले मण्ड (मांड) आदि बनाने की प्रक्रिया पूर्व में कहकर अब औषध से बनाये जाने वाले उन सबों की (मांड आदिकों की) प्रक्रिया को बताने के लिये "साध्यम्" इत्यादि श्लोक को कह रहे हैं ॥ २५३ ॥

वृद्धवैद्याः पलं द्रव्यं ग्राहयन्त्याढकेऽम्भसि । भेषजस्यातिबाहुल्यात् कदाचिदरुचिर्भवेत् ॥
यैरन्नैरौषधैर्यैश्च कृता मण्डादयो बुधैः । विचार्य तद्गुणानेतांस्तद्गुणानेव निर्दिशेत् ॥२५५॥

और वृद्ध वैद्यलोग २५६ तोले जल में केवल ४ तोले औषध डालते हैं, क्योंकि सम्भव है कि कदाचित् औषध की मात्रा अधिक होने से रोगी को अरुचि हो जाय ।

और जिन अन्न तथा जिन औषधियों द्वारा वैद्य लोग मांड आदिक बनावें उसके गुण उन्हीं अन्न तथा औषधियों के अनुसार विचार कर समझ लेवें ॥ २५४-२५५ ॥

अथौषधसिद्धपेयागुणानाह—

अन्नकाले हिता पेया यथास्वं पाचनैः कृता । दीपनी पाचनी लघ्वी ज्वरार्त्तानां ज्वरापहा ॥

औषध से बनी हुई पेया के गुण—अन्न देने के समय ज्वर रोगी के दोषानुसार पाचन औषधियों के क्वाथ द्वारा सिद्ध की हुई पेया-अग्निदीपक, पाचक, लघु तथा ज्वर से पीड़ित लोगों के ज्वर को दूर करने वाली होती है ॥ २५६ ॥

ॐयथास्वं पाचनैः कृता = यथादोषं पाचनैः कृता ॥ २५६ ॥

यहां पर "यथास्वं पाचनैः कृता" इन पदों का "ज्वर रोगी के दोषानुसार पाचन औषधियों के क्वाथ द्वारा सिद्ध की हुई" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २५६ ॥

अथ वातादिज्वरेषु पेयासाधनौषधविधानमाह—

पञ्चमूल्याः कषायन्तु पाचनं वातिके ज्वरे । सक्षौद्रं पैत्तिके मुस्तकटुकेन्द्रयवैः कृतम् ॥२५७॥
पिप्पल्यादिकषायं तु पाचनं कफजे ज्वरे । लघुना पञ्चमूलेन पिप्पल्या सह धान्यया ॥२५८॥
महत्या पञ्चमूल्याऽथ व्याघ्रीदुःस्पर्शगोक्षुरैः । सिद्धानि भिषगन्नानि प्रयुञ्जीत यथाक्रमम् ॥
वातपित्ते श्लेष्मपित्ते कफवाते त्रिदोषजे ॥ २५९ ॥

वातादि से उत्पन्न ज्वरों में पेया बनाने के लिये पाचन क्वाथ के औषधों का वर्णन—पञ्चमूली औषधों का क्वाथ वातज्वर में पाचन है । पित्तज्वर में नागरमोथा, कुटकी तथा इन्द्रजौ का मधु से युक्त क्वाथ पाचन होता है । कफज्वर में पिप्पल्यादि औषधों का क्वाथ पाचन है । और १ लघु पञ्चमूल, २ धनियां तथा पीपल, ३ बृहत्पञ्चमूल ४ एवम् कटेरी-जवासा और गोखरू, इन सबों के क्वाथ से पृथक् २ अन्न (पेया आदि) बनाकर वैद्यलोग क्रमसे १ वातपित्त २ कफपित्त ३ कफवात ४ त्रिदोष संबन्धी ज्वरों में रोगी को खिलावें ॥ २५७-२५९ ॥

ॐअयमर्थः—वातपित्ते लघुना पञ्चमूलेन सिद्धान्यन्नानि भिषक् प्रयुञ्जीत—

***शालिपर्णी पृश्निपर्णी कण्टकारीद्वयं तथा । गोक्षुरः पञ्चमः प्रोक्तः पञ्चमूलमिदं लघु ॥७६॥**

यहां पर यह समझना चाहिये कि—वातपित्त ज्वर में लघु पञ्चमूलोक्त औषधों के काथ से सिद्ध किये हुये अन्न को वैद्य लोग रोगी को खिलावें। जो कि ये हैं—

सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू ये लघु पञ्चमूल की ओषधियां हैं ॥ ७६ ॥

***श्लेष्मपित्ते—पिप्पल्या सह धान्यया। कफवाते—महत्या पञ्चमूल्या—**

***श्रीफलः सर्वतोभद्रा पाटला गणिकारिका। श्योनाकः पञ्चमः प्रोक्तः पञ्चमूलमिदं महत् ॥७७॥**

कफपित्त-ज्वर में पीपल के साथ धनियां के काथ से, कफवात में वृहत्पञ्चमूली के काथ से सिद्ध किये हुये अन्न को रोगी के लिये देना चाहिये। जो कि ये हैं—

बेल, खम्भारि, पाढल, अरनी, सोनापाठा इन पांच औषधों के समूह को वृहत्पञ्चमूल कहते हैं॥

***त्रिदोषजे व्याघ्रीदुःस्पर्शगोक्षुरैः। व्याघ्री = कण्टकारिका। दुःस्पर्शः = यवासः॥**

कटेरी, जवासा और गोखरू इन के काथ से बने अन्न को त्रिदोष ज्वर में खिलाना चाहिये। यहाँ पर "व्याघ्री" पद का "कटेरी"। "दुःस्पर्श" पद का "जवासा" अर्थ समझना चाहिये॥

पेयां वा रक्तशालीनां वस्तिपार्श्वशिरोरुजि। श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां सिद्धां ज्वरहरीं पिवेत्॥२६०॥

अथवा यदि ज्वर में वस्ति (मूत्राशय), पंसुली तथा शिर इन में से कहीं पीड़ा हो तो गोखरू तथा कटेरी के काथ से लाल अगहनी चावलों की बनी हुई पेया पिलानी चाहिये, यह पेया ज्वर को भी दूर करने वाली होती है ॥ २६० ॥

विबद्धवर्चाः सयवां पिप्पल्यामलकैः शृताम्। सर्पिष्मतीं पिबेत्पेयां ज्वरी दोषानुलोमिनीम्॥

ज्वर में यदि मल का अवरोध हो गया हो तो रोगी पीपल तथा आमलों के क्वाथ से सिद्ध अन्न की बनी हुई घी से युक्त पेया को पीवे, इस से दोषों का अनुलोमन होता है ॥ २६१ ॥

***यवोऽत्रान्नम् ॥ २६१ ॥**

यहाँ पर "यव" पद का "अन्न" अर्थ समझना चाहिये ॥ २६१ ॥

कासी श्वासी च हिक्की च पञ्चमूलीशृतां पिबेत् ॥ २६२ ॥

और कास, श्वास तथा हिचकी रोगवाला व्यक्ति पञ्चमूल की ओषधियों के क्वाथ से बनी पेया को पीवै ॥ २६२ ॥

***अत्र पञ्चमूली वृहती लघ्वी च हिता, तया शृतां पेयां पिबेदित्यर्थः ॥ २६२ ॥**

यहाँ पर "पञ्चमूल" पद से 'बृहत् तथा लघु दोनों पञ्चमूलों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दोनों हितकर हैं, अत एव इन दोनों में से किसी के काथ से बनी हुई पेया को पीवै" यह और भी समझ लेना चाहिये ॥ २६२ ॥

पेया भेषजसंयोगाल्लघुत्वाच्चाग्निदीपनी। वातमूत्रपुरीषाणां दोषाणां चानुलोमिका ॥२६३॥
स्वेदनाय च सोष्णत्वाद् द्रवत्वात्तृट्क्षयाय च। आहारभावात्प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च॥
ज्वरघ्नी हेतुसाम्यत्वात्तस्मात्तां पूर्वमाचरेत् ॥ २६४ ॥

पेया—औषधों के संयोग से तथा लघु होने से अग्नि को दीपन करने वाली होती है तथा वायु, मूत्र, मल और दोषों का अनुलोमन करने वाली होती है, एवम् उष्ण होने से स्वेदन करने वाली, द्रव होने से प्यास को दूर करने वाली, आहारस्वरूप होने से बलकारक और सारक होने से शरीर में लघुता उत्पन्न करने वाली होती है। तथा ज्वर के कारणस्वरूप जो वातपित्त तथा कफ हैं उनकी समता उत्पन्न करने वाली होने से ज्वरनाशक होती है। अतः सर्वप्रथम अन्न ग्रहण के समय उसी को पीना चाहिये ॥ २६३-२६४ ॥

***हेतुसाम्यत्वाद् = हेतवो वातपित्तकफास्तेषां साम्यत्वात् ॥ २६३-२६४ ॥**

यहाँ पर "हेतुसाम्यत्वात्" पद का "ज्वर के कारणस्वरूप जो वात, पित्त तथा कफ हैं उनकी समता उत्पन्न करने वाली होने से" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २६३–२६४ ॥

अथ पञ्चमुष्टिकयूषमाह—

यवकोलकुलत्थानां मुद्गमूलकशुण्ठयोः । एकैकमुष्टिमादाय पचेदष्टगुणे जले ॥ २६५ ॥
पञ्चमुष्टिक इत्येष वातपित्तकफापहः । शूले प्रशस्यते गुल्मे कासे श्वासे क्षये ज्वरे ॥ २६६ ॥

पञ्चमुष्टिक यूष—जौ, बेर, कुलथी, मूँग, मूली की गण्ठी प्रत्येक चार-चार तोले लेकर अठगुने जल में पकावे, तैयार होने पर इसी को "पञ्चमुष्टिक" यूष कहते हैं। यह यूष-वातपित्त तथा कफ को नष्ट करने वाला होता है एवम् शूल, गुल्म, कास, श्वास, क्षय तथा ज्वर इन रोगों में रोगी को देने से विशेष हितकर होता है ॥ २६५–२६६ ॥

अथ वर्त्तिप्रयोगमाह—

रुद्धमूत्रपुरीषस्य गुदे वर्त्तिं निधापयेत् ॥ २६७ ॥
पिप्पलीपिप्पलीमूलयवानीचव्यसाधिताम् । पाययेत्तु यवागूं वा मारुतस्यानुलोमिनीम् ॥

वर्ती का प्रयोग—ज्वर में यदि रोगी का मल-मूत्र रुक गया हो तो उसके गुदा के अन्दर पीपल, पिपरामूल, अजवाइन, चव्य इससे बनी हुई वर्ती रक्खे अथवा इन्हीं पीपल आदि ओषधियों के क्वाथ से बनी हुई यवागू को पिलावे, जो कि वायु का अनुलोमन करने वाली होती है ॥ २६७–२६८ ॥

अथ पेयायवाग्वोश्च क्वचिदपवादमाह—

मदात्यये मद्यनित्ये ग्रीष्मे पित्तकफोत्थिते । ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे ॥२६९॥
दाहच्छर्दर्दितं क्षामं निरन्नं तृष्णयाऽन्वितम् । वर्मार्त्तं सदापं चापि तोयालोडितसक्तुकम् ॥
शर्करामधुसंयुक्तं पाययेल्लाजतर्पणम् । ज्वरापहैः फलरसैर्युक्तमन्नं हितं क्व चित् ॥ २७१ ॥

पेया और यवागू का जहाँ पर अपवाद है अर्थात् देना अनुचित है, उसका वर्णन करते हैं—मदात्यय रोगी व नित्य मद्य पीने वाले को तथा ग्रीष्म ऋतु में एवम् पित्त-कफ से उत्पन्न रोगों में, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में यदि ज्वर हो तो "यवागू" हितकर नहीं होती है।

और दाह तथा वमन से पीड़ित, क्षीण शरीर वाले, निराहार रहने वाले, प्यास से व्याकुल, धूप से घबड़ाये हुए तथा नित्य मद्य पीने वाले लोगों को धान के खीलों का सत्तू जल में घोल कर उसमें साफ शक्कर तथा शहद मिलाकर पिलावे। यह खीलों का सत्तूरूप तर्पण है अर्थात् तृप्तिकारक है। और कहीं-कहीं ज्वरनाशक फलों के रसों से युक्त अन्न देना भी ज्वररोगी को हितकर होता है ॥ २६९–२७१ ॥

*लाजतर्पणं=लाजसक्तुरूपं तर्पणम् ॥ २६९–२७१ ॥

यहाँ पर "लाजतर्पणम्" पद का "धान के खीलों का सत्तूरूप तर्पण है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २६९–२७१ ॥

अथ सन्तर्पणस्वरूपमाह धन्वन्तरिः—

द्राक्षादाडिमखर्जूरमृदिताम्बु सशर्करम् । लाजचूर्णं समध्वाज्यं सन्तर्पणमुदाहृतम् ॥ २७२ ॥

सन्तर्पण के स्वरूप के विषय में धन्वन्तरि का कथन—मुनक्का, अनार, खजूर इन्हें जल में प्रथम मर्दन कर के रस निकाल ले पश्चात् उस रसमिश्रित, जल में साफ शक्कर, मधु तथा गोघृत मिला कर ऊपर से खीलों का सत्तू डाल कर खूब घोल दे। इसी को सन्तर्पण कहते हैं। इसके पीने से तृप्ति होती है ॥ २७२ ॥

*लाजचूर्णं द्राक्षाऽऽदिजलशर्करामध्वाज्यसहितं तर्पणमुक्तमित्यर्थः ॥ २७२ ॥

यहाँ पर "खीलों का सत्तू, मुनक्का आदि के जल, सफेद शक्कर, शहद और गोघृत से युक्त होने पर "तर्पण" कहा जाता है" यह फलितार्थ समझना चाहिए ॥ २७२ ॥

अथ गुणाधिकारोक्तलाजसक्तुगुणानाह—

लाजानां सक्तवः क्षौद्रसितायुक्ता विशेषतः । छर्द्यतीसारतृड्दाहविषमूर्च्छाज्वरापहाः ॥२७३॥

द्रव्यगुणाधिकार में कहे हुए धान के खीलों के सत्तू के गुण—धान के खीलों का सत्तू यदि शहद तथा साफ शक्कर से युक्त हो तो वमन, अतीसार, प्यास, दाह, विष, मूर्च्छा तथा ज्वर को नष्ट करने वाला होता है ॥ २७३ ॥

अथ चरकोक्ततर्पणप्रकारमाह—

तत्र तर्पणमेवादौ प्रदेयं लाजसक्तुभिः । ज्वरापहैः फलरसैर्युक्तं समधुशर्करम् ॥ २७४ ॥

चरकोक्त तर्पण का प्रकार—ज्वर में प्रथम खिलों के सत्तू का ज्वर नाशक फलों के रस, मधु, साफ शक्कर इन सबों के द्वारा "तर्पण" बना कर देना चाहिये ॥ २७४ ॥

अथ ज्वरघ्नानि फलान्याह चरक एव—

द्राक्षादाडिमखर्जूरप्रियालैः सपरूषकैः । तर्पणार्हस्य दातव्यं तर्पणं ज्वरनाशनम् ॥ २७५ ॥

चरकोक्त ज्वरनाशक फलों का वर्णन—मुनक्का, अनार, खजूर, चिरौंजी, फालसा इन सबों के द्वारा तर्पण बना कर जो तर्पण के योग्य हों उन्हें देना चाहिए। क्योंकि यह तर्पण ज्वरनाशक फलों के रस से बना है अतः ज्वरनाशक है ॥ २७५ ॥

***प्रियालमत्र पक्कफलं न तु तन्मज्जा गुरुत्वात् । तर्पणार्हस्य दाहच्छर्दितृषाऽऽर्त्तस्य लङ्घितस्य क्षीणस्येत्यर्थः ॥ २७५ ॥**

यहां पर "प्रियाल" अर्थात् "चिरौंजी" कहने से "चिरौंजी" के पक्के फल का ग्रहण करना चाहिये, न कि उसकी मींगी का क्योंकि उसकी मींगी गुरु होती है।

और "तर्पणार्ह" अर्थात् जो तर्पण के योग्य हों ऐसा कहने से दाह, वमन तथा प्यास से दुःखित, लङ्घन किये हुये एवम् क्षीण" लोगों को समझना चाहिये ॥ २७५ ॥

श्रमोपवासानिलजे हितो नित्यं रसौदनः ॥ २७६ ॥

श्रम, उपवास तथा वायु से उत्पन्न ज्वर में रोगी को नित्य रसौदन देना हितकर होता है ॥ २७६ ॥

***रसोऽत्र मांसरसस्तेन सिक्त ओदनो रसौदनः । "अन्नेन व्यञ्जनम्" इत्यनेन समासः ॥**

यहां पर "रसौदन" पद से रस अर्थात् मांसरस से मिला हुआ जो भात होता है, उसका ग्रहण करना चाहिये। और "रसेन सिक्त ओदनः" ऐसे विग्रह में "अन्नेन व्यञ्जनम्' इस सूत्र से समास हुआ, यह भी समझना चाहिये ॥ २७६ ॥

मुद्गयूषौदनश्चैव हितः कफसमुत्थिते । स एव सितया युक्तः शीतः पित्तज्वरे हितः ॥२७७॥

कफ से उत्पन्न ज्वर में मूंग के यूष के साथ मिला हुआ भात (मुद्गयूषौदन) हितकर होता है, एवम् पित्तज्वर में भी वही (मूंग के यूष से मिश्रित भात) सफेद शक्कर से युक्त तथा शीतल हितकर होता है ॥ २७७ ॥

***स एव = मुद्गयूषौदन एव ॥ २७७ ॥**

यहां पर "स एव" पद का अर्थात् "वही" इस पद का "मूंग के यूष से मिश्रित भात अर्थात् मुद्गयूषौदन" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २७७ ॥

कृशोऽल्पदोषो यः क्षीणकफो जीर्णज्वरान्वितः । विबद्धासृष्टदोषश्च रूक्षपित्तानिलज्वरी ॥
पिपासाऽऽर्त्तः सदाहश्च पयसा स सुखी भवेत् ॥ २७८ ॥

जो लोग कृश शरीर वाले, अल्प बलशाली दोष से युक्त, क्षीण कफ वाले तथा जीर्णज्वर से युक्त हैं। एवम् जिनके दोष विबद्ध हों अत एव निकलते नहीं हों ऐसे लोग और जो रूक्ष, पित्तवात-संबन्धी ज्वर वाले, प्यास से दुःखी तथा दाह से युक्त हैं, उन्हें दूध देने के द्वारा सुखी बनाना चाहिये ॥ २७८ ॥

अन्यच्च—

अजादुग्धं गुडोपेतं पातव्यं ज्वरशान्तये। तदेव तु पयः पीतं तरुणे हन्ति मानवम् ॥ २७९ ॥

और भी कहा है कि—बकरी का दूध गुड़ मिलाकर ज्वर की शान्ति के लिए रोगी को पीना चाहिये। किन्तु वही दूध यदि तरुण (नवीन) ज्वर में पीया जाय तो मनुष्य को मार डालता है ॥

*तरुणे ज्वर इति शेषः ॥ २७९ ॥

यहां पर मूल में केवल "तरुणे" पद है अतः "ज्वर" पद की कमी होने से उसे लेकर उसके साथ लगाकर अर्थ करना चाहिये ॥ २७९ ॥

अन्यच्च—

जीर्णज्वरे कफे क्षीणे क्षीरं स्यादमृतोपमम्। तदेव तरुणे पीतं विषवद्धन्ति मानवम् ॥२८०॥

और भी कहा है कि—जीर्ण ज्वर तथा कफ के क्षीण होने पर दूध अमृत के समान है किन्तु वही दूध नवीन ज्वर में पीने से विष के समान मनुष्य के लिये मृत्युदायक होता है ॥ २८० ॥

अथ ज्वररोगिनियमानाह—

न द्विरद्यान्न पूर्वाह्णे नाभिष्यन्दि कदा चन। न तीक्ष्णं न गुरुप्रायं भुञ्जीत तरुणज्वरी ॥
न जातु तर्पयेत्प्राज्ञः सहसा ज्वरकर्शितम्। तेन संशमितोऽप्यस्य पुनरेव भवेज्ज्वरः ॥

ज्वररोगियों के नियम—ज्वररोगी प्रतिदिन दो बार भोजन न करे और पूर्वाह्न (दिन के पूर्व भाग) में भी भोजन न करे एवम् कभी अभिष्यन्दी, तीक्ष्ण तथा प्रायः करके गुरु (शीघ्र न हजम होने वाला) पदार्थ भोजन न करे। और जो बुद्धिमान् वैद्य हैं वे ज्वर से कृश हुये रोगी को सहसा तर्पण (तृप्तिकारक पदार्थ) द्वारा तृप्त न करे। क्योंकि उसके (तर्पण) द्वारा शान्त हुआ भी ज्वर पुनः प्रगट हो जाता है ॥ २८१–२८२ ॥

अथ ज्वरविमुक्तेः पूर्वरूपमाह—

दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्पो विड्भिदसंज्ञता। कूजनं चातिवैगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे ॥

ज्वर छूटने के पूर्वरूप—दाह, स्वेद (पसीना), भ्रम, तृष्णा (प्यास), कम्प, मल (दस्त) का आप से आप होना, संज्ञाहीनता, कूथना तथा शरीर से अत्यन्त दुर्गन्ध आना ये सब लक्षण ज्वर छूटने के पूर्व में होते हैं ॥ २८३ ॥

***विड्भिद् = मलप्रवृत्तिः। अत्र सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्। कूजनं = कुन्थनम्। अति-वैगन्ध्यं गात्रस्य। ज्वरमुक्तौ भविष्यन्त्यामेतल्लक्षणं भवति।**

यहां पर 'विड्भिद्' पद का अर्थ "मल (दस्त) का आप से आप होना" समझना चाहिये और "विड्भिद्" पद में "सम्पदादिभ्यः क्विप्" इस सूत्र से सम्पदादि के अन्दर होने से भाव में भिद् धातु से क्विप् प्रत्यय होने से "विड्भिद्" की सिद्धि होती है यह और भी समझना चाहिये। "कूजन" पद का "कूथना" तथा "अतिवैगन्ध्य" पद का "शरीर से अत्यन्त दुर्गन्ध का आना" यह अर्थ समझना चाहिये। ये सब लक्षण भविष्य में होने वाली ज्वरमुक्ति के समझने चाहिये।

***ननु दोषक्षयं विना न व्याधिनिवृत्तिः, क्षीणाश्च दोषाः कथमेवं विधं रूपं करिष्यन्ति? उच्यते—कश्चित्क्षीणोऽपि विनाशकाले स्वशक्तिं दर्शयति। यथा निर्वाणावस्थायां दीपो विशेषात्प्रज्वलति। वाग्भटोऽप्याह—**

***धातून्प्रक्षोभयन्दोषो मोक्षकाले विलीयते। ततो नरः श्वसन्कूजन्वमन्विचेष्टन्न चेष्टते॥७८॥इति।**

अब यहां पर यह शङ्का होती है कि—बिना दोषों का क्षय हुये रोग की निवृत्ति नहीं हो सकती है, जब कि यह नियम है तब क्षीण हुये दोष कैसे इस प्रकार के उक्त दाहादि लक्षणों को प्रगट कर सकेंगे ? इसके समाधान में यह कहते हैं कि-कोई २ क्षीण भी व्यक्ति अपनी विनाश दशा होने पर शक्ति दिखलाते हैं जैसे कि बुझने के करीब दीपक अन्त में एकबार विशेष रूप से बल उठता है।

और वाग्भट ने भी इस विषय में कहा है कि—दोष छूटने के समय धातुओं को एकबार क्षोभ युक्त करता हुआ नष्ट हो जाता है। इसी से मनुष्य उस समय जोर २ श्वास लेता है, कूथता है एवम् वमन करता है तथा उसके पसीना निकलता है और वह चेष्टा से शून्य भी हो जाता है॥ ७८॥

***न चेष्टते=अचेष्टः स्यात् (७८) इति॥ २८३॥**

यहां पर "न चेष्टते" पदों का "चेष्टा से शून्य भी हो जाता है" यह अर्थ समझना चाहिये (७८)॥ २८३॥

त्रिदोषजे ज्वरे ह्येतदन्तर्वेगे च धातुगे। लक्षणं मोक्षकाले स्यादन्यस्मिन्स्वेददर्शनम्॥२८४॥

ये सब दाहादिक लक्षण त्रिदोषसम्बन्धी ज्वर, अन्तर्वेगी तथा धातुगत ज्वरों में छूटने के समय होते हैं। इनसे अन्य ज्वरों में केवल स्वेद निकलना मात्र ही लक्षण प्रगट होता है॥ २८४॥

***एतद्दाहादिकं लक्षणं मोक्षकाले एतेष्वेव ज्वरेषु स्यात्। केषु ? त्रिदोषजेषु, अन्तर्वेगे धातुगे ज्वरे। अन्यस्मिन्स्वेदमात्रदर्शनं भवति॥ २८४॥**

यहां पर यह समझना चाहिये कि—ये दाहादिक लक्षण ज्वर छूटने के समय इन्हीं ज्वरों में केवल प्रगट होते हैं जो कि ये हैं—त्रिदोषसम्बन्धी ज्वर, अन्तर्वेगी तथा धातुगत ज्वर। इनके अलावा जो दूसरे ज्वर हैं उनमें केवल स्वेद निकलना मात्र ही लक्षण प्रगट होता है॥ २८४॥

अथ ज्वरमुक्तस्य लक्षणमाह—

देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहतापः पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम्।
स्वेदः क्षवः प्रकृतियोगिमनोऽन्नलिप्सा कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि॥ २८५॥

ज्वर से मुक्त हुये रोगी के लक्षण—शरीर में हल्कापन मालूम होना, क्लान्ति, मोह तथा सन्ताप का नष्ट होना, मुख का पक जाना (छाले पड़ जाना), इन्द्रियों का अपने २ विषयों को भलीभांति से ग्रहण करना, व्यथा से रहित होना, पसीना निकलना, छींक होना, मन का स्वाभाविक स्थिति में स्थित होना, अन्न खाने की इच्छा तथा शिर में खुजली होना ये सब लक्षण ज्वर छूट जाने पर प्रगट होते हैं॥ २८५॥

सुश्रुतोऽप्याह—

स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्डूः पाको मुखस्य च। क्षवथुश्चान्नकाङ्क्षा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम्॥

सुश्रुत ने भी इसी विषय में कहा है कि—पसीना होना, शरीर में हल्कापन प्रतीत होना, शिर में खुजली मचना, मुख में छाले पड़ जाना, छींक आना तथा अन्न खाने की इच्छा होना ये सब लक्षण ज्वर छूट जाने के हैं॥ २८६॥

अथ ज्वरमुक्तस्य पालनीयनियमानाह—

व्यायामञ्च व्यवायञ्च स्नानं चङ्क्रमणानि च। ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान्भवेत्॥

ज्वर से मुक्त हुये लोगों के लिये पालन करने योग्य नियम—व्यायाम (कसरत), मैथुन, स्नान और टहलना ये सब कार्य ज्वर से मुक्त हुआ पुरुष जब तक भलीभांति पूर्वावस्था की तरह बलवान् न हो जाय तब तक न करे॥ २८७॥

अन्यच्च

व्यायामञ्च व्यवायञ्च प्रवातं शिशिरं जलम्। ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान्भवेत्॥२८८॥
जन्तोर्ज्वरविमुक्तस्य स्नानं कुर्यात्पुनर्ज्वरम्। तस्माज्ज्वरविमुक्तोऽपि स्नानं विषमिव त्यजेत्॥
बलवर्णाग्निवपुषां यावन्न प्रकृतिर्भवेत्। तावज्ज्वरेण मुक्तोऽपि वर्जनीयानि वर्जयेत्॥२९०॥

और भी कहा है कि—कसरत, मैथुन, अधिक वायु का झोंका, शीतल जल इन सब कार्यों को ज्वर से मुक्त रोगी जब तक बलवान् न हो जाय तब तक न करे।

और ज्वर से मुक्त हुये पुरुष को स्नान करने से पुनः ज्वर आ जाता है, इस लिये ज्वरमुक्त पुरुष विष की भांति स्नान करना छोड़ देवे।

बल, वर्ण, जठराग्नि तथा शरीर की अवस्था जब तक पूर्व की भांति न हो जाय तब तक ज्वर से मुक्त हुये पुरुष को त्याग करने योग्य कार्यों का त्याग करना ही उचित है॥ २८८-२९०॥

अथ वातज्वराधिकारः।

वातलाहारचेष्टाभ्यां वायुरामाशयाश्रयः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरकृत्स्याद् रसानुगः॥

अब यहां से वातज्वराधिकार आरम्भ होता है, उसमें प्रथम वातज्वर का निदान कहते हैं—वातकारक आहार-विहार का सेवन करने से कुपित हुआ वायु आमाशय में पहुँच कर वहां पर आम रस को दूषित करता हुआ कोष्ठ की अग्नि को बाहर प्रगट करके ज्वर उत्पन्न करने वाला होता है॥ २९१॥

*वातज्वरस्य विप्रकृष्टसंनिकृष्टकारणकथनपूर्विकां संप्राप्तिमाह—वातेति। तस्य पूर्वरूपमुक्तम्। "जृम्भाऽत्यर्थं समीरणाद्"इति। समीरणज्वरे उत्पत्स्यति, अत्यर्थं जृम्भा स्यात्। जृम्भा च श्रमादिपूर्विका भवति॥ २९१॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—यह श्लोक वातज्वर के विप्रकृष्ट (दूर के) तथा सन्निकृष्ट (नजदीक के) कारणों के साथ २ सम्प्राप्ति को भी कहता है।

और यहीं पर इस वातज्वर का पूर्वरूप भी यह समझ लेना चाहिये कि—ज्वर जब वायुनिमित्तक होने वाला होता है तब उसके पहले अत्यन्त जंभाई आती है, अर्थात् वातज्वर उत्पन्न होने के पूर्व अत्यन्त जम्भाई आती है और उसके साथ २ पहले श्रमादिक भी मालूम पड़ते हैं॥ २९१॥

अथ वातज्वरस्य लक्षणमाह—

वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठोष्ठमुखशोषणम्। निद्रानाशः क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च॥
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं बद्धविट्कता। शूलाध्माने जृम्भणञ्च भवन्त्यनिलजे ज्वरे॥२९३॥

वातज्वर के लक्षण–शरीर का कॉपना, ज्वर का वेग विषम होना, कण्ठ-ओठ तथा मुख का सूखना, नींद का न आना, छींक का रुक जाना, शरीर का रूक्ष होना, शिर, हृदय तथा शरीर में पीड़ा होना, मुख की विरसता, मल का बँध जाना, शूल, अफरा तथा जम्भाई का होना ये सब लक्षण वात से उत्पन्न हुये ज्वर में रोगी के प्रकट होते हैं॥ २९२-२९३॥

*विषमो वेगः शरीरोष्णताऽऽदिरूपो ज्वरवेगो विषमो भवतीत्यर्थः। क्षवस्तम्भः=छिक्काया अभावः। तथा च वाग्भटः—

* हर्षो रोमाङ्कदन्तेषु वेपथुः क्षवथुग्रहः। इति।

*चरकोऽपि–"क्षवथूद्गारविनिग्रह" इति। शिरोहृद्गात्ररुग्=अत्र गात्रपदे प्रयुक्ते शिरोहृच्छब्दप्रयोगस्तत्र तत्र विशेषेण वेदनाबोधनार्थः। एतानि लक्षणानि प्रायोभावित्वेन सुश्रुते निर्दिष्टानि। चकारादन्यान्यपि चरकनिदानोक्तानि बोद्धव्यानि। तान्येव श्लोकेन प्रदर्शयत्युत्तरत्र॥ २९२-२९३॥

यहां पर "विषमो वेगः" इन पदों का "अर्थात् ज्वर का वेग विषम होना" इसका "शरीर की उष्णता आदि रूप ज्वर का वेग विषम होना अर्थात् देह में उष्णता आदि की विषमता एवम् ज्वर आने के समयसम्बन्धी तथा ज्वर बढ़ने के समयसम्बन्धी विषमता का होना" यह अर्थ समझना चाहिये। "क्षवस्तम्भः" पद का "छींक का अभाव अर्थात् छींक का रुक जाना" यह अर्थ समझना चाहिये।

और "वाग्भट" ने भी कहा है कि-वातज्वर में रोमाञ्च होना, दांत खट्टे हो जाना, अङ्गों में हर्ष होना, शरीर कांपना तथा छींक रुक जाना। एवम् चरक ने भी कहा है कि—"छींक तथा उद्गार (डकार) का रुक जाना" यह वातज्वर के विशेष लक्षण हैं।

और "शिरोहृद्गात्ररुग्" अर्थात् शिर-हृदय तथा शरीर में पीड़ा होना यहां पर "गात्र" पद अर्थात् शरीर पद का प्रयोग होने से अर्थात् शरीर में पीड़ा होना ऐसा कहने से ही गात्र (शरीर) के अन्दर शिर-हृदय आदि सभी अङ्गों का बोध हो जाता पुनः विशेषरूप से शिर तथा हृदय शब्द का उल्लेख करने से यह समझा जाता है कि—वातज्वर में यद्यपि सर्वाङ्ग में पीड़ा होती है तथापि शिर और हृदय में अधिक होती है। ये सब लक्षण वातज्वर में प्रायः करके होते हैं अतः सुश्रुत में कहे हुये हैं। और "जृम्भणञ्च" यहां पर "च" का पाठ होने से चरक के निदान स्थान में कहे हुये अन्यान्य लक्षणों को भी समझना चाहिये और उन्हीं चरकोक्त लक्षणों को आगे श्लोक रूप से दिखला रहे हैं ॥ २९२-२९३ ॥

चरके च—

भवन्ति विविधा वातवेदनाः स्यादसुप्तता।
पिण्डिकोद्वेष्टनं कर्णस्वनो वक्त्रकषायता। गात्रसादो हनुस्तम्भो विश्लेषः सन्धिजानुनोः॥
शुष्ककासो वमिर्लोमदन्तहर्षः श्रमभ्रमौ। अरुणं मूत्रनेत्रादि तृट्प्रलापोष्णगात्रताः ॥२९५॥

चरकोक्त वातज्वर के लक्षण—अनेक प्रकार की वातसम्बन्धी पीड़ा होना, नींद न आना, पिण्डरियों में दण्डे से मारने के समान पीड़ा होना, कानों में शब्द होना, मुख का कसैला हो जाना, अङ्गों का अवसन्न हो जाना, ठोडी का जकड़ जाना, सन्धिस्थान तथा जानुओं का शिथिल हो जाना, सूखी खाँसी, वमन, रोमाञ्च, दांतों का खट्टा होना, श्रम, भ्रम तथा नेत्र आदि का रक्त लाल हो जाना, प्यास, प्रलाप तथा शरीर का उष्ण हो जाना ये सब लक्षण वातज्वर में प्रगट होते है ॥ २९४-२९५ ॥

अथ वातज्वरचिकित्सामाह—

ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नं प्रतिभोजितम्। पाचनं शमनीयञ्च कषायं पाययेद्भिषक् ॥२९६॥

वातज्वर की चिकित्सा—वातज्वर वाले रोगी को लङ्घन करते हुये जब ६ दिन व्यतीत हो जायें तब सातवें दिन लघु अन्न पेया आदिक भोजन आदि कराकर आठवें दिन अवस्थाऽनुसार पाचन वा शमन ओषधियों का क्वाथ बनाकर देना चाहिये ॥ २९६ ॥

***आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान्पिधापयन्।**
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लङ्घनमाचरेत् ॥ ७९ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—"आमाशय में स्थित साम (अपक्व) दोष रस के मार्गों को रोक कर ज्वर उत्पन्न करता है अतः ज्वर में लङ्घन करना आवश्यक होता है" ॥ ७९ ॥

***इति वचनात्सामान्यतो ज्वरितमात्रस्य यावदारोग्यदर्शनं लङ्घनाभिधाने वातज्वरिणो लङ्घनविधाने विशेषमाह चरकः—ज्वरितमिति ॥ २९६ ॥**

इस वचन से सामान्य रूप से सभी ज्वररोगियों को जब तक आरोग्य के लक्षण प्रगट न हों

तब तक लङ्घन कराने के लिये कहने पर वातज्वर में लङ्घन कराने के विषय में विशेषता दिखलाते हुये "ज्वरितमित्यादिक" यह वचन चरक महर्षि ने कहा है ॥ २९६ ॥

सुश्रुतोऽप्याह—

वातिके सप्तरात्रेण दशरात्रेण पैत्तिके। श्लैष्मिके द्वादशाहेन ज्वरे युञ्जीत भेषजम् ॥ २९७ ॥

और सुश्रुत ने भी कहा है कि—वातज्वर में सात दिन के बाद, पित्तज्वर में १० दिन के बाद, कफज्वर में १२ दिन के बाद औषध देना चाहिये ॥ २९७ ॥

दोषाणामेव सा शक्तिर्लङ्घने या सहिष्णुता। न हि दोषक्षये कश्चित्सहते लङ्घनं महत्॥२९८॥
कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं बहु। आमक्षयादूर्ध्वमपि वायुर्न सहते क्षणम् ॥ २९९ ॥

और उपवास करने में रोगी को जो क्षमता (सामर्थ्य) होती है, वह दोषों की समझनी चाहिये, अर्थात् रोगी दोषों की बदौलत उपवास सहन करता जाता है, क्योंकि दोषों का क्षय होने पर कोई रोगी अधिक लङ्घन (उपवास) नहीं सह सकता है। और कफ तथा पित्त ये दोनों द्रव रूप धातु हैं, अतः ये दोनों लङ्घन अधिक सहन करते हैं। किन्तु वायु आमदोष का क्षय होने के बाद एक क्षण भी लङ्घन करना नहीं सहन कर सकता है ॥ २९८-२९९ ॥

ननु "अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः" इति श्रुतिः। तदन्नं विना प्राणिभिः कथं स्थातव्यमित्याह—दोषाणामिति ॥ २९८-२९९ ॥

और अब जो यहाँ पर यह शङ्का होती है कि—"अन्न ही प्राणियों का प्राण है" यह वेदवाक्य है, इसलिये अन्न के बिना प्राणी लोग ज्वर में कैसे जीते रहते हैं ?

इसी के समाधान में "दोषाणामि"त्यादि श्लोकों को कहा गया है, यह समझ लेना चाहिये ॥

तत्र भेषजम्—

अथ दशमूलादिक्वाथमाह—

श्रीफलः सर्वतोभद्रा कामदूती च शोणकः। तर्कारी गोक्षुरः क्षुद्रा बृहती कलशी स्थिरा ॥
रास्ना कणा कणामूलं कुष्ठं शुण्ठी किरातकः। मुस्ता बलाऽमृता वालं द्राक्षायासशताह्विकाः॥
एषां क्वाथो निहन्त्येव प्रभञ्जनकृतं ज्वरम्। सोपद्रवश्च योगोऽयं सर्वयोगवरः स्मृतः ॥

वातज्वर की ओषधियों में प्रथम दशमूलादि क्वाथ-बेल, खम्भारि, पाढ़ल, सोनापाठा, अरनी, गोखरू, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, पृश्निपर्णी, शालिपर्णी, रास्ना, पीपल, पिपरामूल, कूठ, सोंठ, चिरायता, नागरमोथा, खिरैटी, गिलोय, सुगन्धवाला, दाख, जवासा और शतावर इन सबों को समान भाग में लेकर क्वाथ बनाकर पिलाने से उपद्रवयुक्त भी वातसम्बन्धी ज्वर नष्ट होता है यह योग सम्पूर्ण वातज्वरहर योगों में उत्तम है ॥ ३००-३०२ ॥

श्रीफलः = बिल्वः। सर्वतोभद्रा = गम्भारी। कामदूती = पाटला। शोणकः = "सोनापाठा" इति लोके। तर्कारी = गणिकारी। कलशी = पृश्निपर्णी। स्थिरा = शालिपर्णी। वालं = सुगन्धवाला। यासः = यवासः ॥ ३००-३०२ ॥

यहां पर "श्रीफल" पद का "बेल"। "सर्वतोभद्रा" पद का "खम्भारि"। "कामदूती" पद का "पाढल"। "शोणक" पद का लोकप्रसिद्ध "सोनापाठा"। "तर्कारी" पद का "गनियारी (अरनी)"। "कलशी" पद का "पृश्निपर्णी"। "स्थिरा" पद का "शालिपर्णी"। "वालम्" पद का "सुगन्धवाला"। "यास" पद का "जवासा" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३००-३०२ ॥

अथ बृहत्पञ्चमूलीक्वाथमाह—

त्रिशतीतर्कारीश्रीफलटुण्टुकपाटलामूलैः।
पाचनमुचितं मारुतजनितज्वरहारि वारिणा क्वथितैः ॥ ३०३ ॥

बृहत्पञ्चमूली क्वाथ—खम्भारि, अरनी, बेल, सोनापाठा और पाढ़ल इन पांच ओषधियों के मूल को जल में यथाविधि औटा कर क्वाथ पिलावे। यह वातजनित ज्वर को दूर करने वाला उत्तम पाचन क्वाथ है ॥ ३०३ ॥

***सुश्रुतः—**

"पञ्चमूलीकषायन्तु पाचनं वातिके ज्वरे" ॥ ८० ॥ इति ॥

और यहां पर यह और समझना चाहिये कि—इसी विषय में सुश्रुत भी कहते हैं कि—"पञ्चमूली कषाय (क्वाथ) वातज्वर में पाचन होता है" ॥ ८० ॥

***अत्र पञ्चमूली बृहत्पञ्चमूली, अत एव त्रिशती=श्रीपर्णीति ॥ ३०३ ॥**

और यहां पर "पञ्चमूली" पद से "बृहत्पञ्चमूली" का ग्रहण किया जाता है अतः "त्रिशती" पद से "खम्भारि" का ग्रहण किया गया है ॥ ३०३ ॥

अथ किरातादिक्वाथमाह—

किराताब्दामृतोदीच्यबृहतीद्वयगोक्षुरैः। त्रिपर्णीकलशीबिल्वैः क्वाथो वातज्वरापहः ॥३०४॥

किरातादि क्वाथ—चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, सुगन्धवाला, छोटी तथा बड़ी कटेरी, गोखरू, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बेल इन सबों का क्वाथ वातज्वर को नष्ट करने वाला होता है ॥

***उदीच्यं=वालकम्। त्रिपर्णी=शालिपर्णी। कलशी=पृश्निपर्णी ॥ ३०४ ॥**

यहां पर "उदीच्य, त्रिपर्णी, कलशी" इन पदों का क्रम से "सुगन्धवाला, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३०४ ॥

अथ गुडूच्यादिकालिङ्गक्वाथावाह—

गुडूचीपिप्पलीमूलनागरैः पाचनं श्रृतम्। वातज्वरे तथा पेयं कालिङ्गं सप्तमेऽहनि ॥३०५॥

कालिङ्ग क्वाथ—सातवें दिन गिलोय, पिपरामूल और सोंठ इनका क्वाथ वातज्वर में पीने से पाचन होता है अथवा इन्द्रजौ का क्वाथ पाचन होता है ॥ ३०५ ॥

***कालिङ्गम्=इन्द्रयवस्तस्य श्रृतम् ॥ ३०५ ॥**

यहां पर "कालिङ्गम्" पद का "इन्द्रजौ का क्वाथ" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३०५ ॥

अथ विश्वाऽऽदिक्वाथमाह—

विश्वाऽमृताग्रन्थिकसिद्धतोयं मरुज्ज्वरः स्यात्पिबतः कुतोऽयम् ॥
क्वाथोऽथ कुस्तुम्बुरुदेवदारुक्षुद्रौषधैः पाचनमत्र चारु ॥ ३०६ ॥

विश्वादि क्वाथ—सोंठ, गिलोय और पिपरामूल इन सबों का क्वाथ बनाकर पीनेवाले को वातज्वर क्यों आवेगा अर्थात् नहीं आयेगा। और धनिया, देवदारु, कटेरी और सोंठ इनका क्वाथ वातज्वर में सुन्दर पाचन होता है ॥ ३०६ ॥

***औषधं=शुण्ठी। क्वाथः पाचनमिति 'वेदाः प्रमाणमि'तिवत् ॥ ३०६ ॥**

यहां पर "औषध" पद का "सोंठ" यह अर्थ समझना चाहिये। और "क्वाथः पाचनम्" यह प्रयोग "वेदाः प्रमाणम्" की भांति सिद्ध होता है, यह भी समझ लेना चाहिये ॥ ३०६ ॥

अथ बृहत्पञ्चमूलादिक्वाथमाह—

पञ्चमूलीबलारास्नाकुलत्थैः सह पौष्करैः। क्वाथो हन्याच्छिरःकम्पं पर्वभेदं मरुज्ज्वरम् ॥

बृहत्पञ्चमूलादि क्वाथ—बृहत्पञ्चमूली, खिरैटी, रास्ना, कुलथी, पुहकरमूल इन सबों का क्वाथ पीने से शिर कांपना, पोरों की पीड़ा और वात ज्वर नष्ट हो जाता है ॥ ३०७ ॥

***पञ्चमूली बिल्वादिः ॥ ३०७ ॥**

यहां पर "पञ्चमूली" पद से "विल्वादि बृहत्पञ्चमूली (वेल, सोनापाठा, खम्भारि, पाढल और अरनी) का ग्रहण करना चाहिये[1] ॥ ३०७ ॥

अथ कणाऽऽदिक्वाथः—

कणारसोनामृतवल्लिविश्वा-निदिग्धिकासिन्धुकभूमिनिम्बैः ।
समुस्तकैराचरितः कषायो हिताशिनां हन्ति गदानिमांस्तु ॥ ३०८ ॥
ज्वरं मरुद्दुष्टिसमुद्भवं तथा बलासजं चानलमन्दताञ्च ।
कण्ठावरोधं हृदयावरोधं स्वेदञ्च रोमाञ्चहिमत्वमोहान् ॥ ३०९ ॥

कणादि क्वाथ—पीपल, लहसुन, गिलोय, सोंठ, कटेरी, सेंधानिमक, चिरायता और नागरमोथा इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से पथ्य से रहने वालों के वातदोषजन्य ज्वर, कफज्वर, अग्नि की मन्दता, कण्ठ का रोध होना एवम् हृदय का अवरोध, स्वेद, रोमाञ्च, शीत लगना तथा मोह होना ये सब नष्ट हो जाते हैं[2] ॥ ३०८–३०९ ॥

अथ कल्पतरुरसः—

शुद्धं शंकरशुक्रमक्षतुलितं मारारिनारीरज-
स्तद्वत्तावदुमापतिस्फुटगलालङ्कारवस्तु स्मृतम् ।
तावत्स्येव मनःशिला च विमला तावत्तथा टङ्कणं
शुण्ठी द्व्यक्षमिता कणा च मरिचं दिक्पालसंख्याक्षकम् ॥ ३१० ॥
विषादिवस्तूनि शिलोपरिष्टाद् विचूर्णयेद्वाससि शोधयेच्च ।
ततस्तु खल्वे रसगन्धकौ च चूर्णञ्च तद्यामयुगं विमर्द्यम् ॥ ३११ ॥
कल्पतरुनामधेयो यथार्थनामा रसः श्रेष्ठः ।
समीरणश्लेष्मगदान्हरते मात्राऽस्य स्मृता गुञ्जैका ॥ ३१२ ॥
आर्द्रकेण सममेष भक्षितो हन्ति वातकफसम्भवं ज्वरम् ।
श्वासकासमुखसेकशीतता-वह्निमान्द्यविसुचीश्च नाशयेत् ॥ ३१३ ॥
नस्येनाश्वेव हरति शिरोर्तिं कफवातजाम् । मोहं महान्तमपि च प्रलापं क्षवथुग्रहम् ॥३१४॥

(सामान्यज्वरचिकित्सोक्तो महाज्वराङ्कुशः प्रदेयोऽत्र)

कल्पतरु रस—शुद्ध पारा १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, शुद्ध वत्सनाभ विष १ तोला, शुद्ध मैनशिल १ तोला, शुद्ध सोनामाखी १ तोला, सुहागाखील १ तोला, सोंठ २ तोले, पीपर २ तोले, मरिच १० तोले लेवे, इनमें से सर्वप्रथम वत्सनाभ विष से लेकर पीसने योग्य जो औषधें हैं उन्हें पीस कर कपड़छान कर लेवे । पश्चात् इस चूर्ण के साथ शुद्ध पारा और शुद्ध गन्धक को खरल में रखकर २ प्रहर तक खूब खरल करे । तब यह यथार्थ नाम वाला "कल्पतरु" रस सिद्ध होता है । जो कि वात तथा कफ सम्बन्धी रोगों का हरने वाला होता है । इस रस की श्रेष्ठ मात्रा एक रत्ती की होती है । और अदरख के रस के साथ सेवन करने से यह वात-कफ जन्य रोग, दमा, खांसी, मुख से पानी गिरना, शीत लगना, अग्नि की मन्दता तथा विसूचिका (हैजा) रोग को दूर करता है । और इस रस का नास लेने से कफ-वातसम्बन्धी शिर का दर्द, अधिक मोह तथा प्रलाप एवम्

---

१. खिरैटी आदि औषधिया एक तोले लेकर आध सेर पानी में पकावे जब दो छटाक रह जाय उतार छान कर प्रातः-सायम् पीने के लिये देवे ।

२. कणादि क्वाथ में प्रत्येक औषधियों को ६ माशे की मात्रा में लेकर दो पाव जल में पकाकर दो छटाक रहने पर उतार छान कर प्रातः-सायम् देवे ।

छींक का रुक जाना ये सब स्वयम् दूर हो जाते हैं। और इस वातज्वर में सामान्यज्वर की चिकित्सा में कहे हुए महाज्वराङ्कुश रस का भी प्रयोग करना चाहिये ॥ ३१०-३१४ ॥

अथ त्रिपुरभैरवरसः—

विषमहौषधमागधिकोषणद्युमणिरक्तकमार्द्रकमर्दितम् ।
क्रमविवर्द्धितमुद्दलितज्वरस्त्रिपुरभैरव एष रसो वरः ॥ ३१५ ॥

त्रिपुरभैरव रस—शुद्ध वत्सनाभ विष १ भाग, सोंठ २ भाग, पीपल ३ भाग, मरिच ४ भाग, मारा हुआ (भस्म किया हुआ) तामा ५ भाग, सिंगरफ ६ भाग इन सबों को एकत्रकर अदरख के रस के साथ खूब खरल करे। तैयार होने पर इसी को "त्रिपुरभैरव रस" कहते हैं, यह ज्वर को एक दम से दूर करने वाला होता है ॥ ३१५ ॥

द्युमणिः = मारितं ताम्रं, तस्य भागाः पञ्च। रक्तकं = हिङ्गुलं तस्य भागाः पट्। मात्राऽस्य रक्तिकाऽर्द्धम्। त्रिपुरभैरवो रसो ज्वरे प्रयोज्यः ॥ ३१५ ॥

यहां पर "द्युमणि" पद का "मारा हुआ तामा (ताम्रभस्म)" अर्थ समझना चाहिये तथा इसके ५ भाग लेने चाहिये। "रक्तक" पद का "हिंगुल अर्थात् सिंगरफ" अर्थ समझना चाहिये तथा इसके ६ भाग लेने चाहिये। और इसकी मात्रा आधी रत्ती की लेनी चाहिये। एवम् यह त्रिपुरभैरव रस ज्वर में देने योग्य होता है, यह और समझना चाहिये ॥ ३१५ ॥

अथ स्वेदस्य विधिगुणावाह—

वातश्लेष्मज्वरे स्वेदं जङ्घापार्श्वास्थिशूलिनि। पीनसश्वासबाधिर्ये कारयेत्तद्विधानवित् ॥
स्रोतसां मार्दवं कृत्वा नीत्वा पावकमाशयम्। हत्वा वातकफस्तम्भं स्वेदो ज्वरमपोहति ॥

स्वेद लेने की विधि और गुण—जिस वात-कफ ज्वर में जांघ, पंसुली तथा हड्डियों में पीड़ा होती हो तो वहां पर स्वेद देने की प्रक्रिया का जानने वाला वैद्य स्वेद देवे तथा इसी भांति पीनस, दमा तथा बहिरेपन में भी स्वेद देवे।

स्वेद—शरीरस्थित रसवाहिनी नाड़ियों को मृदु बनाकर एवम् बाहर निकली हुई कोष्ठाग्नि को पुनः कोष्ठ के अन्दर पहुँचा कर तथा वात-कफ संबन्धी स्तब्धता को दूर कर ज्वर को नष्ट करता है ॥ ३१६-३१७ ॥

अथ वालुकास्वेदमाह—

खर्परभृष्टपटस्थितकाञ्जिकसंसिक्तवालुकास्वेदः। शमयति वातकफामयशूलाङ्गभङ्गकम्पादीन् ॥
कम्पे शिरोहृदयगात्रव्यथायां जृम्भायां पादसुप्ततायाम्।
पिण्डिकोद्वेष्टनेऽङ्गसादे हनुस्तम्भे च लोमहर्षे ॥ ३१९ ॥

वालुकास्वेद—खपरे में रख कर गर्म किये हुए बालू को कपड़े में बांधकर उसे कांजी में डुबो २ कर उससे जो स्वेद दिया जाता है, वह "वालुकास्वेद" कहलाता है। यह (वालुकास्वेद) वायु—कफ संबन्धी रोग, शिर का शूल, दर्द, अङ्ग-भङ्ग तथा कम्पादिक रोगों का शमन करता है। एवम् कम्परोग, शिर-हृदय तथा शरीर की पीडा, जम्भाई, पांवों का सो जाना (सुन्न हो जाना), पिंडलियों में ऐंठन की सी पीड़ा, अंगों का अवसन्न होना, ठोडी का जकड़ जाना तथा रोमाञ्च होना इन सब रोगों में उक्त स्वेदन लेना उत्तम होता है ॥ ३१८-३१९ ॥

अथ कवलस्य विधिगुणावाह—

मातुलुङ्गफलकेशरो धृतः सिन्धुजन्ममरिचान्वितो मुखे।
हन्ति वातकफरोगमास्यगं शोषमाशु जडतामरोचकम् ॥ ३२० ॥

कवल की विधि तथा गुण—बिजौरा नीबू के फलों के अन्दर रहने वाले केशरों को सेंधा निमक

तथा कालीमिर्च के चूर्ण के साथ लपेट कर यदि मुख में रक्खा जाय तो वात तथा कफ संबन्धी मुखगतरोग, मुखशोष, मुखसंबन्धी जड़ता तथा अरुचि ये सब रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ ३२० ॥

छइति कवलः। कण्ठौष्ठमुखशोषे प्रदेयः ॥ ३२० ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—यह कवल कण्ठ-ओठ तथा मुख के सूखने पर ज्वर रोगी को देना चाहिये ॥ ३२० ॥

अन्यच्च—

शर्करादाडिमाभ्याञ्च द्राक्षादाडिमयोस्तथा। कल्कं विधारयेदास्ये शोषवैरस्यनाशनम् ॥
द्राक्षाऽऽमलकयोः कल्कं सघृतं वदने क्षिपेत्। तेन घृष्ट्वा मुखस्यान्तः कुर्वीत प्रतिसारणम् ॥
तेन तालुगलान्तःस्थः संशोषश्चैव शाम्यति। सुरसं जायते वक्त्रं रुचिर्भवति भोजने ३२३॥

और भी कहा है कि—शक्कर सफेद तथा अनार का अथवा दाख और अनार का कल्क (चटनी) बनाकर यदि मुख में रक्खा जाय तो उससे मुख का सूखना तथा उसकी विरसता नष्ट होती है।

और दाख तथा आमले का कल्क किञ्चित् गोघृत के साथ मिलाकर यदि मुख के अन्दर रक्खे और उसीसे मुख के अन्दर के भागों को यथोचित घिसकर प्रतिसारण (लार गिराना) कर्म करे तो तालु तथा गले का शोष नष्ट हो जाता है तथा मुख सुरस (विरसता रहित होकर सुन्दर रस युक्त) होता है एवम् भोजन में रुचि होती है ॥ ३२१-३२३ ॥

अथ निद्रानाशस्य निदानमाह—

नावनं लङ्घनं चिन्ता व्यायामः शोकभीरुषः। एभिरेव भवेन्निद्रानाशः श्लेष्मातिसंक्षयात् ॥

निद्रानाश के निदान—नस्य (नास लेना), उपवास, चिन्ता, व्यायाम, शोक, डर तथा क्रोध इन सबों से निद्रा का नाश होता है एवम् कफ के क्षय होने से भी निद्रानाश होता है अर्थात् नींद नहीं आती है ॥ ३२४ ॥

अथ निद्रानाशचिकित्सामाह—

भृष्टन्तु विजयाचूर्णं मधुना निशि भक्षयेत्। निद्रानाशेऽतिसारे च ग्रहण्यां पावकक्षये ३२५॥
गुडं पिप्पलिमूलस्य चूर्णेनालोडितं लिहेत्। चिरादपि च संनष्टां निद्रामाप्नोति मानवः ॥

निद्रानाश की चिकित्सा—किञ्चित् घृत में भुने हुए भांग का चूर्ण रात्रि में सोते समय मधु के साथ खाने से निद्रानाश, अतीसार, ग्रहणी तथा अग्नि की शक्ति का क्षीण हो जाना ये सब दूर होते हैं।

और गुड़ तथा पिपरामूल का चूर्ण एकत्र कर यदि मनुष्य खाता है तो उसकी बहुत दिनों से नष्ट हुई भी निद्रा पुनः प्राप्त हो जाती है ॥ ३२५-३२६ ॥

वायसजङ्घामूलं बद्धं वा शिरसि काकमाच्याश्च। विधृतं निद्राजनकं त्वङ्मूलं वा शृतं सगुडम्॥

अथवा काकजङ्घा का मूल या मकोय का मूल यदि शिर में बाँधा रहा जाय तो निद्रानाश के रोगी को पुनः नींद अच्छी तरह से आने लगती है। अथवा मकोय की छाल व जड़ का क्वाथ बनाकर उसमें गुड़ मिलाकर पीने से भी नींद आती है ॥ ३२७ ॥

छपीतमिति शेषः ॥ ३२७ ॥

यहां पर "पीतम्" इस पद की कमी है जिसे ऊपर से लगाकर अर्थ किया गया कि—"पीने से" यह और समझ लेना चाहिये ॥ ३२७ ॥

मूलन्तु काकमाच्या बद्धं सूत्रेण मस्तके नियतम्। विदधाति नष्टनिद्रो निद्रामाश्वेव सिद्धमिदम्॥

और मकोय की जड़ को सूत्र से बांधकर निरन्तर शिर में रखने से जिसकी नींद नष्ट हो गई है उसे नींद शीघ्र आ जाती है। यह प्रयोग सिद्ध है ॥ ३२८ ॥

शीलयेन्मन्दनिद्रस्तु क्षीरमद्यरसान्दधि। अभ्यङ्गोद्वर्त्तनस्नानमूर्द्धकर्णाक्षितर्पणम् ॥ ३२९ ॥

जिसे नींद थोड़ी आती है वह पुरुष दूध, मद्य, मांसरस, दही, तेल की मालिश, उबटन, स्नान, शिर में तेल लगाना, कानों में तेल डालना और आँखों में तर्पण का प्रयोग करना इन सबों को प्रतिदिन करने का अभ्यास रक्खे, इससे नींद अच्छी लगती है ॥ ३२९ ॥

***रसो = मांसरसः ॥ ३२९ ॥**

यहां पर "रस" पद का "मांसरस" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३२९ ॥

कान्तावाहुलताऽऽश्लेषो निर्वृतिः कृतकृत्यता, मनोऽनुकूला विषयाः कामं निद्रासुखप्रदाः ॥

और सुन्दर स्त्री की बाहुरूपी लता का आलिङ्गन, सन्तोष, कृतकृत्यता (किसी प्रारब्ध कार्य को समाप्त कर लेना,) मन के अनुकूल विषयों की प्राप्ति ये सब अत्यन्त निद्रासंबन्धी सुख को देने वाले हैं अर्थात् इनसे नींद अच्छी आती है ॥ ३३० ॥

रसे शाके च सूपे च सर्पिर्यूषपयःसु च । निद्रां सञ्जनयत्याशु पलाण्डुरुपयोजितः ॥ ३३१ ॥

मांसरस, शाक, दाल, घी, यूष, दूध इन सब वस्तुओं में यदि प्याज मिला कर खाया जाय तो शीघ्र नींद आती है ॥ ३३१ ॥

***रसे = मांसरसे ॥ ३३१ ॥**

यहां पर "रस" पद का "मांसरस" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३३१ ॥

ऐक्षवं पोतकी माषः सुरा मांसरसः पयः । गोधूमतिलमत्स्याश्च निद्रां कुर्वन्ति देहिनाम् ॥

ईख के रस से बने हुये पदार्थ, पोई का शाक, उरद, मद्य, मांसरस (शोरुआ), दूध, गेहूँ, तिल, मछली ये सब पदार्थ खाने से मनुष्यों को नींद अधिक आती है ॥ ३३२ ॥

अथ दारुषट्कलेपः (शूलाध्माने)—

दारुहैमवतीकुष्ठशताह्वाहिङ्गुसैन्धवैः । लिम्पेत्कोष्णैरम्लपिष्टैः शूलाध्मानयुतोदरम् ॥३३३॥

शूल तथा आध्मान (अफारा) में दारुषट्कलेप—देवदारु, सफेद वच, कूठ, सतावर, हींग, सेंधा निमक इन सबों को अम्लपदार्थ नीबू आदि के रस में पीसकर किञ्चित् गर्म २ उदर पर लेप करने से शूल तथा अफारा दूर होता है ॥ ३३३ ॥

***हैमवती = श्वेतवचा ॥ ३३३ ॥**

यहां पर "हैमवती" पद का "सफेद वच" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३३३ ॥

अथ कर्णनादचिकित्सामाह—

कटुतैलं कणाहिङ्गुवचालशुनसाधितम् । उष्णं विनिहितं हन्ति कर्णयोर्निःस्वनं व्यथाम् ॥

कर्णनादचिकित्सा—पीपल, हींग, वच और लहसुन इन सबों को कड़ुये तेल में पकाकर अलग करले। पश्चात् बचे तेल को यदि गर्म २ कानों में डाला जाय तो कान में हर समय शब्द होना तथा पीड़ा ये दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३४ ॥

***इति तैलं कर्णस्वने ॥ ३३४ ॥**

यहां पर "यह तैल कर्णनाद रोग में देना चाहिये" इसे और भी समझ लेना चाहिये ॥ ३३४ ॥

अथ शुष्ककासचिकित्सामाह—

कणा सुगन्धिवचया यवान्या च समन्विता । ताम्बूलसहिता हन्ति शुष्ककासं मुखे धृता ॥

सूखी खांसी की चिकित्सा—पीपल, सुगन्धित वच, अजवाइन इन्हें पान के साथ मुख में रक्खे रहने से सूखी खांसी दूर होती है ॥ ३३५ ॥

अथ वातज्वरहितवस्तून्याह—

श्रमोपवासानिलजे हितो नित्यं रसौदनः । मुद्गामलकयूषस्तु वद्धविट्काय दीयते ॥ ३३६ ॥

वातज्वर में रोगी के लिये हितकर वस्तुयें—श्रम, उपवास तथा वात से उत्पन्न ज्वर में रोगी

को नित्य मांसरस (सोरुआ) के साथ भात खाने को देना हितकर होता है, एवम् जिस वातज्वर में रोगी का मल सूख गया हो, वहां पर उसे मूंग तथा आमले का यूप भोजन के लिये देना चाहिये ॥ ३३६ ॥

ॐरसो = मांसरसः ॥ ३३६ ॥

यहां पर "रस" पद का "मांसरस" (सोरुआ) अर्थ समझना चाहिये ॥ ३३६ ॥

पेयां वा रक्तशालीनां वस्तिपार्श्वशिरोरुजि । श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां सिद्धां ज्वरहरीं पिबेत् ॥
कासी श्वासी च हिक्की च पञ्चमूलीश्रृतां पिबेत् ॥ ३३७ ॥

और यदि वातज्वर में वस्ति (मूत्राशय), पसुली तथा शिर में पीड़ा होती हो तो लाल जड़हन के चावलों की पेया बनाकर खिलाना चाहिये । अथवा गोखरू तथा कटेरी के क्वाथ में लाल जड़हन के चावलों की पेया बनाकर खिलाना चाहिये । यह पेया ज्वरनाशक भी होती है । और यदि वातज्वर वाले रोगी को खाँसी, श्वास अथवा हिचकी आती हो तो पञ्चमूल के क्वाथ से बनी हुई पेया पिलानी चाहिये । इससे खांसी आदि रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३७ ॥

ॐपेयामिति शेषः ॥ ३३७ ॥

इति वातज्वराधिकारः ।

यहां पर "पेया" पद मूल में नहीं है, अतः ऊपर से लाकर अर्थ करना चाहिये ॥ ३३७ ॥

यहां पर वातज्वराधिकार समाप्त हो गया ।

अथ पित्तज्वराधिकारः ।

पित्तलाहारचेष्टायां पित्तमामाशयाश्रयम् । बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरकृत्स्याद्रसानुगम् ॥

पित्तज्वराधिकार में पित्तज्वर के निदान-पित्तजनक आहार करने से कुपित हुआ पित्त प्रथम आमाशय में पहुँच कर वहां के आमरस को दूषित करता हुआ कोष्ठ की अग्नि को बाहर निकाल कर अर्थात् अग्नि की गर्मी को बाहर प्रगट कर ज्वर को उत्पन्न करता है ॥३३८॥

ॐतत्र पित्तज्वरस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टकारणकथनपूर्विकां संप्राप्तिमाह—पित्तलेति । पित्तस्य पङ्गुलत्वात्तेन कोष्ठाग्नेरूष्मा बहिर्नेतुं न शक्यते । यत आह—

ॐपित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥

यहाँ पर यह और समझना चाहिये कि—इस श्लोक द्वारा पित्तज्वर के विप्रकृष्ट तथा संनिकृष्ट कारणों को कहते हुये संप्राप्ति का वर्णन किया गया है । और पित्त स्वयं पङ्गुल होने से कोष्ठाग्नि की गर्मी को बाहर निकालने में समर्थ नहीं होता है, क्योंकि कहा भी है कि—

पित्त पङ्गु है तथा कफ भी पङ्गु है एवम् मल-धातु सभी पङ्गु हैं, अतः ये सब वायु के द्वारा जहां जहां ले जाये जाते हैं वहां पर मेघ की भांति चले जाते हैं ॥ ८१ ॥

ॐइति । ततोऽत्र पित्तं वातसहायं बोद्धव्यम् । अत आह—

ॐद्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः । एकस्तु कुपितो दोष इतरानपि कोपयेत् ॥८२॥

इससे यहां पर पित्त वायु की सहायता से आमाशय में पहुँच कर कोष्ठाग्नि की गर्मी को बाहर निकालने में समर्थ होता है यह समझना चाहिये । क्योंकि कहा भी है कि—कोई द्रव्य एक ही रस से युक्त नहीं होता है और न कोई रोग एक ही दोष से युक्त होता है, अतः रोग को उत्पन्न करने वाला प्रधान दोष स्वयं कुपित होकर इतर सहायक दोषों को भी कुपित करता है । (इससे पित्त कुपित होकर अपने सहायक वायु को भी कुपित कर उसके द्वारा आमाशय में पहुँच कर अपना कार्य करता है, यह कहना युक्तिसंगत होता है ।) ॥ ८२ ॥

*तस्य पूर्वरूपमुक्तं "पित्तान्नयनयोर्दाह" इति । पित्तज्वरे उत्पत्स्यति नेत्रदाहः स्यात् । स च श्रमादिपूर्वको भवति ॥ ३३८ ॥

और यहां पर यह और भी समझ लेना चाहिये कि—पित्तज्वर का पूर्वरूप "पित्त से ज्वर आने के प्रथम नेत्रों में दाह होता है" अर्थात् पित्तज्वर जब होने को होता है तब प्रथम नेत्रों में दाह होता है। और वह भी श्रम आदि सामान्य ज्वरों के पूर्वरूपसंबन्धी लक्षणों को लिये हुये होता है ॥

अथ पित्तज्वरस्य लक्षणमाह—

वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राऽल्पत्वं तथा वमिः। कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते ॥ प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा। पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च ॥३४०॥

पित्तज्वर के लक्षण—ज्वर का वेग तीक्ष्ण होना, अतीसार, नींद की कमी, वमन, कण्ठ-ओठ-मुख तथा नाक का पकना, पसीना निकलना, प्रलाप, मुख में कड़वापन, मूर्च्छा, दाह, मद, प्यास, मलमूत्र तथा नेत्रों का रङ्ग पीला होना एवम् भ्रम ये सब लक्षण पित्तज्वर में रोगियों के होते हैं ॥

***अतीसारः—पित्तस्य, तस्य सरत्वात्सद्रवमलप्रवृत्तिर्न त्वतिसारवत्तस्य ज्वरोपद्रवत्वात्। वमिः=यदा पित्तं कफस्य स्थानं याति तदा बोद्धव्यम्। प्रलापोऽनर्थकं वचः। मूर्च्छा=रूपादेरज्ञानम्। मदः=पूगकोद्रवधत्तूरभक्षणादिव मत्तता। भ्रमः=चक्रारूढस्येव ज्ञानम्। चकाराद् रक्तकोठादयो बोद्धव्याः ॥ ३३९-३४० ॥**

यहां पर "अतीसार" पद के कहने से "पित्त का अतीसार" समझना चाहिये, क्योंकि पित्त सारक पदार्थ है अतः पित्तज्वर में साधारण द्रवरूप (पतला) दस्त आता है न कि अतीसार रोग के समान पतला दस्त आता है। यदि अतीसार के समान पतला दस्त आवे तो उसे ज्वर का उपद्रव समझकर उसकी शीघ्र उचित चिकित्सा करनी चाहिये। और इसमें "वमन" जो होता है वह "जब पित्त कफ के स्थान पर जाता है तभी होता है यह समझना चाहिये। "प्रलाप" पद से "अनर्थक (ऊटपटाङ्ग) वचन बोलना" इसका ग्रहण करना चाहिये। "मूर्च्छा" से "रूपादिकों का ज्ञान न होना"। "मद" से "सुपारी, कोदो, धतूरा आदि खाने के समान नशा होना"। "भ्रम" से "घूमते हुये चक्र के ऊपर चढ़े हुये की भांति ज्ञान होना" यह अर्थ समझना चाहिये। और 'एव च' इस स्थल पर "च" का पाठ होने से अन्यत्र कहे हुए "लाल २ चकत्ते पड़ना" इत्यादि लक्षणों का भी बोध करना चाहिये ॥ ३३९-३४० ॥

अथ पित्तज्वरस्य चिकित्सामाह—

पैत्तिके दशरात्रेण ज्वरे युञ्जीत भेषजम् ॥ ३४१ ॥

सुश्रुतोक्त पित्तज्वर की चिकित्सा—पित्तज्वर में जब लङ्घन करते २ दश दिन व्यतीत हो जाय तब उसके बाद औषध देना चाहिये ॥ ३४१ ॥

***आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान्पिधापयन्।**
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लङ्घनमाचरेत् ॥ ८३ ॥

***इति वचनात्सामान्यतो ज्वरितमात्रस्य यावदारोग्यदर्शनं लङ्घनाभिधाने पित्तज्वरिणो लङ्घनविधाने विशेषमाह—पैत्तिक इति। दशरात्रेण लङ्घनवता व्यतीतेनेत्यर्थः ॥ ३४१ ॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—"दुष्ट हुये वातादि दोष आमाशय में स्थित होकर वहां की अग्नि को आच्छादित कर आमदोष युक्त होता हुआ रस के स्रोतोमार्गों को ढँकता हुआ ज्वर उत्पन्न करता है अतः ज्वर में लङ्घन करना उचित है" ॥ ८३ ॥

इस सामान्य वचन से ज्वरवाले रोगी को जब तक आरोग्य न हो जाय तब तक लङ्घन करना चाहिये यह सिद्ध होता है, अतः पित्तज्वरवाले रोगियों को लङ्घन कराने में जो विशेषता है उसे

दिखाने के लिये "पैत्तिके" इत्यादिक वचन कहा गया है। और "दशरात्रेण" पद का "जब लङ्घन करते २ दश दिन व्यतीत हो जाय" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३४१ ॥

अथ तिक्ताऽऽदिक्वाथः—

तिक्तामुस्तायवैः पाठाकट्फलाभ्यां सहोदकम्। पक्वं सशर्करं पीतं पाचनं पैत्तिके ज्वरे ॥

तिक्तादिक्वाथ—कुटकी, नागरमोथा, इन्द्रजौ, पाढ़ और कायफल इन सबों का यथाविधि क्वाथ बनाकर और योग्यताऽनुसार उसमें साफ शक्कर भी मिलाकर पित्तज्वर में रोगी को पिलाना चाहिये, यह क्वाथ पित्तज्वर के लिये पाचन है[1] ॥ ३४२ ॥

क्ष्किं तावद् भेषजं ? तदाह—तिक्तेति ॥ ३४२ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—ऊपर जो यह कह आये कि "औषध देना चाहिये" इसलिये यह प्रश्न हुआ कि वह औषध कौन सा है जिसे देना चाहिये इसी के उत्तर में "तिक्ते"-त्यादि वचन कहा गया है ॥ ३४२ ॥

अथ पर्पटादिक्वाथः—

पर्पटो वासकस्तिक्ता कैरातो धन्वयासकः।
प्रियङ्गुश्च कृतः क्वाथ एषां शर्करया युतः। पिपासादाहपित्तास्रयुक्तं पित्तज्वरं हरेत् ॥ ३४३ ॥

पर्पटादिक्वाथ—पित्तपापड़ा, अडूसा, कुटकी, चिरायता, धमासा, फूलप्रियङ्गु इन सबों का क्वाथ बनाकर उसमें साफ शक्कर छोड़कर पिलाने से प्यास, दाह, पित्त तथा रक्तदोष अथवा रक्तपित्त सहित पित्तज्वर नष्ट होता है ॥ ३४३ ॥

अथ द्राक्षाऽऽदिक्वाथः—

द्राक्षा हरीतकी मुस्ता कटुका कृतमालकः। पर्पटश्च कृतः क्वाथ एषां पित्तज्वरापहः ॥३४४॥
मुखशोषप्रलापार्त्तिदाहमूर्च्छाभ्रमप्रणुत्। पिपासारक्तपित्तानां शमनो भेदनो मतः ॥ ३४५ ॥

द्राक्षाऽऽदिक्वाथ—दाख, बड़ी हर्र, नागरमोथा, कुटकी, अमलतास, पित्तपापड़ा इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से पित्तज्वर नष्ट होता है तथा मुखशोष, प्रलाप, पीडा, दाह, मूर्च्छा, भ्रम, प्यास और रक्तपित्त को भी शान्त करता है एवम् यह मलभेदक भी होता है ॥ ३४४-३४५ ॥

अथ पटोलादिक्वाथः—

पटोलयवधान्याकमधुकं मधुसंयुतम्। हन्ति पित्तज्वरं दाहं तृष्णाञ्चातिप्रमाथिनीम् ॥३४६॥

पटोलादिक्वाथ—परवल के पत्ते, इन्द्रजौ, धनियां, मुलेठी इन सबों का क्वाथ बनाकर उसमें मधु मिला कर पिलाने से पित्तज्वर नष्ट होता है तथा दाह एवम् प्रबल प्यास भी शान्त हो जाती है ॥ ३४६ ॥

अथ गुडूच्यादिक्वाथः

गुडूच्यामलकैर्युक्तः केवलो वाऽपि पर्पटः। पित्तज्वरं हरेत्तूर्णं दाहशोषभ्रमान्वितम् ॥३४७॥
एकः पर्पटकः श्रेष्ठः पित्तज्वरविनाशनः। किं पुनर्यदि युज्येत चन्दनोशीरवालकैः ॥३४८॥

गुडूच्यादिक्वाथ—गिलोय तथा आमलों से युक्त पित्तपापड़ा का क्वाथ अथवा केवल पित्तपापड़ा का ही क्वाथ पिलाने से दाह तथा मुखशोष से युक्त पित्तज्वर शीघ्र दूर हो जाता है। और पित्तज्वर को तो नष्ट करने के लिये केवल एक पित्तपापड़ा ही श्रेष्ठ (समर्थ) है, फिर यदि सफेद चन्दन, खस तथा सुगन्धवाला भी उसमें मिला दिया जाय तो कहना ही क्या है। अर्थात् यह क्वाथ पित्त-ज्वर के लिये अत्युत्तम है ॥ ३४७-३४८ ॥

---

१. "कुटकी आदि ओषधियों को १-१ तोले की मात्रा में लेकर आध सेर जल में पकाकर २ छटांक रहने पर उतार कर छानकर दो तोले मिश्री मिलाकर पिलाना चाहिये।

अथ ह्रीवेरादिक्वाथः—

ह्रीवेरचन्दनोशीरघनपर्पटसाधितम्। दद्यात्सुशीतलं वारि तृट्छर्दिज्वरदाहनुत्॥ ३४९॥

ह्रीवेरादिक्वाथ—सुगन्धवाला, चन्दन, खस, नागरमोथा, पित्तपापड़ा इन सबों का क्वाथ बनाकर शीतल हो जाने पर पिलाने से अथवा इनके द्वारा संस्कृत जल बनाकर शीतल होने पर देने से पित्तज्वर रोगी के प्यास, वमन, ज्वर तथा दाह ये सब दूर हो जाते हैं॥ ३४९॥

अथ भूनिम्बादिक्वाथः—

भूनिम्बातिविषालोध्रमुस्तकेन्द्रयवामृताः॥ ३५०॥
वालकं धान्यकं विल्वं कषायो माक्षिकान्वितः। विड्भेदश्वासकासांश्च रक्तपित्तज्वरं हरेत्॥

भूनिम्बादिक्वाथ—चिरायता, अतीस, लोध, नागरमोथा, इन्द्रजौ, गिलोय, सुगन्धवाला, धनियां बेल की छाल इन सबों का क्वाथ बना कर और उसमें शहद डालकर पिलाने से मलभेद (अधिक पतला दस्त होना), श्वास, खांसी, रक्तपित्त तथा पित्तज्वर दूर होता है॥ ३५०–३५१॥

अथ महाद्राक्षाऽऽदिक्वाथः—

द्राक्षाचन्दनपद्मानि मुस्तातिक्ताऽमृताऽपि च। धात्री वालमुशीरं च लोध्रेन्द्रयवपर्पटाः॥
परूषकं प्रियङ्गुश्च यवासो वासकस्तथा। मधुकं कुलकञ्चापि किरातो धान्यकं तथा॥३५३॥
एषां क्वाथो निहन्त्येव ज्वरं पित्तसमुत्थितम्। तृष्णां दाहं प्रलापञ्च रक्तपित्तं भ्रमं क्लमम्॥
मूर्च्छां छर्दिं तथा शूलं मुखशोषमरोचकम्। कासं श्वासञ्च हृल्लासं नाशयेन्नात्र संशयः॥

महाद्राक्षाऽऽदिक्वाथ—दाख, रक्तचन्दन, कमल, नागरमोथा, कुटकी, गिलोय, आमला, सुगन्धवाला, खस, लोध, इन्द्रजौ, पित्तपापड़ा, फालसा, फूलप्रियङ्गु, जवासा, अड़ूसा, मुलेठी, बेर, चिरायता, धनियां इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से पित्त से उत्पन्न हुआ ज्वर निश्चय दूर होता है तथा उसमें होने वाले प्यास, दाह, प्रलाप, रक्तपित्त, भ्रम, क्लान्ति, मूर्च्छा, वमन, शूल, मुखशोष, अरुचि, खांसी, श्वास, उबकाई ये सब भी निःसन्देह दूर होते हैं॥ ३५२–३५५॥

अथ धान्याकक्वाथः—

ससितो निशि पर्युषितः प्रातर्धान्याकतण्डुलक्वाथः। पीतः शमयत्यचिरादन्तर्दाहं ज्वरं पैत्तम्॥

धान्याकक्वाथ—धनियां के दानों को क्वाथ बनाकर एक रात्रि भर रख देने के बाद सुबह साफ शक्कर मिलाकर पीने से बहुत शीघ्र अन्तर्दाह युक्त पित्तज्वर नष्ट होता है॥ ३५६॥

अथामृताहिमवासाहिमौ—

अमृताया हिमः प्रातः ससितः पैत्तिकं ज्वरम्। वासायाश्च तथा कासरक्तपित्तज्वराञ्जयेत्॥

गिलोय का हिम—गिलोय का हिम[1] बनाकर उसमें मिश्री मिलाकर प्रातः काल पीने से पित्तज्वर नष्ट होता है।

अड़ूसे का हिम—इसी प्रकार से अड़ूसे का भी हिम बनाकर पीने से खांसी तथा रक्तपित्त से युक्त पित्तज्वर नष्ट होता है॥ ३५७॥

अथ द्वितीयो गुडूच्यादिक्वाथः—

गुडूची भूमिनिम्बश्च वालं वीरणमूलकम्। लघुमुस्तं त्रिवृद्धात्री द्राक्षा वासा च पर्पटः॥
एषां क्वाथो हरत्येव ज्वरं पित्तकृतं द्रुतम्। सोपद्रवमपि प्रातर्निपीतो मधुना सह॥ ३५९॥

द्वितीय गुडूच्यादिक्वाथ—गिलोय, चिरायता, सुगन्धवाला, खस, नागरमोथा, निसोथ, आमला,

---

१. अड़ूसे की कोमल पत्तियां एक तोले लेकर कुछ कुचकुचा कर ६ तोले पानी में रात भर पड़ा रहने दें। सुबह इसे पीस छान कर पिलावे।

दाख, अडूसा, पित्तपापड़ा इन सबों का क्वाथ बना कर और उसमें मधु डालकर प्रातः काल पीने से उपद्रव से युक्त भयङ्कर पित्तज्वर शीघ्र दूर होता है ॥ ३५८-३५९ ॥

अथ प्रलेपमाह—

पलाशस्य वदर्या वा निम्बस्य मृदुपल्लवैः । अम्लपिष्टैः प्रलेपोऽयं हन्याद्दाहयुतं ज्वरम् ॥३६०॥

पित्तज्वर में प्रलेप—पलाश, बेर अथवा नीम के कोमल पल्लवों (पत्तियों) को लेकर कांजी आदि अम्लरस के साथ पीसकर प्रलेप करने से दाहयुक्त पित्तज्वर नष्ट हो जाता है ॥ ३६० ॥

अथ शीतजलधारामाह—

उत्तानसुप्तस्य गभीरताम्रकांस्यादिपात्रे निहिते च नाभौ ।
शीताम्बुधारा बहुला पतन्ती निहन्ति दाहं त्वरितं ज्वरं च ॥ ३६१ ॥

पित्तज्वर में शीतल जलधारा-उत्तान लेटे हुये रोगी की नाभि के ऊपर एक बड़ा तामें अथवा कांसे का बर्त्तन रखकर उसमें यदि शीतल जल की धार डाली जाय[1] तो उससे शीघ्र ही दाहयुक्त पित्तज्वर नष्ट होता है ॥ ३६१ ॥

अथ पथ्याऽवलेहः—

पथ्यां तैलघृतक्षौद्रैर्लिहन्दाहज्वरापहाम् । कासासृक्पित्तवीसर्पश्वासान्हन्ति वमीमपि ॥३६२॥

पथ्याऽवलेह—हरड़ का चूर्ण, तिल का तेल, गोघृत और शहद के साथ चाटने से दाहयुक्त पित्तज्वर, खांसी, रक्तपित्त, वीसर्प, श्वास तथा वमन ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ३६२ ॥

***तैलघृतक्षौद्रैरित्यत्र न समुच्चयस्तेन केवलेन क्षौद्रेणापि लिह्यात् ॥ ३६२ ॥**

यहां पर "तैलघृतक्षौद्रैः" इस पद में "समुच्चय नहीं है अर्थात् तीनों के साथ चाटना चाहिये" ऐसा नहीं है, अत एव "केवल शहद के साथ भी हरड़ का चूर्ण चाट सकते हैं" यह और भी समझ लेना चाहिये ॥ ३६२ ॥

अथार्द्रवस्त्रधारणमाह—

काञ्जिकार्द्रपटेनावगुण्ठनं दाहनाशनम् । अथ गोतक्रसंस्विन्नशीतलीकृतवाससा ॥ ३६३ ॥

गीले वस्त्र धारण करने की विधि—कांजी में भिगोये हुये वस्त्र[2] को भी रोगी के शरीर पर उढ़ा देने से दाह नष्ट हो जाता है, अथवा गौ के तक्र (मठा) में प्रथम उबाले हुये पश्चात् निकाल कर शीतल किये हुये वस्त्र के उढ़ाने से भी दाह नष्ट होता है ॥ ३६३ ॥

अथ कवलमाह—

द्राक्षाऽऽमलककल्केन कवलोऽत्र हितो मतः । पक्वदाडिमबीजैर्वा धानाकल्केन च क्वचित् ॥

कवल की विधि—पित्तज्वर में दाख और आमला इन दोनों का कल्क बनाकर मुख में कवल धारण करना (धीरे २ चाबना) हितकर होता है । अथवा पके हुये अनार के दाने या धनिये के कल्क का भी कवल हितकर होता है ॥ ३६४ ॥

***धानाऽत्र धान्यकम् ॥ ३६४ ॥**

यहां पर "धाना" पद का "धनिया" अर्थ समझना चाहिये ॥ ३६४ ॥

---

१. पैत्तिकज्वर में जब (टेम्परेचर-Temparatur) अधिक होता है तो उसे कम करने के लिये इस जलधारा का प्रयोग होता है । पाश्चात्त्य चिकित्सक तो तापक्रम कम करने के लिये सिर पर बर्फ रखते हैं ।

२. पाश्चात्त्य आयुर्वेदज्ञ भी दाह को कम करने के लिये बर्फ के पानी में कपड़े भिगो कर उससे रोगी को आवृत करते हैं । तथा वे वस्ति द्वारा बर्फ का पानी (Rectal Enema) पहुँचाते हैं ।

अथ तर्पणमाह—

दाहकम्पार्दितं क्षामं निरन्नं तृष्णयान्वितम्। शर्करामधुसंयुक्तं पाययेल्लाजतर्पणम् ॥ ३६५ ॥

तर्पण की विधि—दाह और कम्प से पीड़ित, दुर्बल, आहाररहित, अधिक प्यास से युक्त ज्वर-रोगी को साफ शक्कर तथा मधु से युक्त धान के खीलों का सत्तूरूपी तर्पण पिलाना चाहिये ॥३६५॥

ळलाजतर्पणम् = लाजसक्तुरूपं तर्पणम्। सन्तर्पणस्वरूपमुक्तं सामान्यज्वरचिकित्सायाम् ॥ ३६५ ॥

और यहां पर "लाजतर्पणम्" पद का "धान के खीलों का सत्तूरूप तर्पण" अर्थ समझना चाहिये। "सन्तर्पण के बनाने की प्रक्रिया पीछे सामान्य ज्वर की चिकित्सा में कह आये हैं अतः पुनः यहां उसका उल्लेख नहीं किया है" यह और भी समझ लेना चाहिये ॥ ३६५ ॥

अथ पित्तज्वरोपचारमाह—

मुद्गयूषौदनो देयः सितया पैत्तिके ज्वरे।

हर्म्ये शुभ्राभ्रसङ्काशे शशाङ्ककरशीतले। मलयोद्भवसंसिक्ते सुप्यात्पित्तज्वरी नरः ॥ ३६६ ॥

हारावलीचन्दनशीतलानां सुगन्धपुष्पाम्बरभूषितानाम्।
नितम्बिनीनां सुपयोधराणामालिङ्गनान्याशु हरन्ति दाहम् ॥ ३६७ ॥

आह्लादश्चास्य विज्ञाय ताः स्त्रीरपनयेत्पुनः। हितञ्च भोजयेदन्नं न प्रीतिसुरतंमहत् ॥३६८॥

वाप्यः कमलहासिन्यो जलयन्त्रगृहाः शुभाः। नार्यश्चन्दनदिग्धाङ्ग्यो दाहदैन्यहरा मताः ॥

इति पित्तज्वराधिकारः।

पित्तज्वर में रोगी के लिये कर्तव्य उपचार—पित्तज्वर में रोगी को मूँग का यूप तथा भात ये दोनों चीनी के साथ मिलाकर खाने के लिये देना चाहिये। और सफेद बादलों के समान निर्मल, चन्द्रमा की किरणों से शीतल हुए एवम् चन्दन मिश्रित सुगन्धित जल से सींचे हुए ऐसे मकान में पित्त-ज्वर वाले रोगी को सुलाना चाहिये। तथा मोतियों की हार पहनने और चन्दन लगाने से शीतल हुई, सुगन्धित फूल तथा वस्त्रों से विभूषित, मनोहर कुचों वाली युवती स्त्रियों का गाढ़ आलिङ्गन भी दाह को दूर करने वाला होता है, किन्तु इस बात का उस समय अधिक ध्यान रखना चाहिये कि—जब रोगी को आलिङ्गन कराने से आह्लाद होने लगे अर्थात् मैथुन की इच्छा होने लगे तब उक्त स्त्री को रोगी से दूर कर देना चाहिये, अन्यथा मैथुन करने से अत्यन्त हानि होगी। और हितकारक अन्न रोगी को खिलावे। प्रीति के साथ मैथुन करने से रोगी को अलग करता रहे। और खिले हुये कमलों वाली बावड़ियां (तालाब आदिक भी), छूटते हुये फव्वारों से युक्त सुन्दर गृह, सारे शरीर में चन्दन लगाये हुई युवती सुन्दरी स्त्रियां ये सब वस्तुयें दाह से उत्पन्न हुई रोगी की दीनता को दूर करने वाली होती हैं।

इति पित्तज्वराधिकारः।

अथ कफज्वराधिकारः।

श्लेष्मलाहारचेष्टाभ्यां कफो ह्यामाशयाश्रयः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरकृत्स्याद्रसानुगः ॥

कफज्वराधिकार में प्रथम कफज्वर के निदान कहते हैं—कफजनक आहार तथा विहार करने से कुपित हुआ कफ आमाशय में पहुँच कर आमरस को दूषित करता हुआ कोष्ठाग्नि की गर्मी को बाहर निकाल कर ज्वर को उत्पन्न करता है ॥ ३७० ॥

ळअथ श्लेष्मज्वरस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टकारणकथनपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—श्लेष्मलेति। कफस्य कोष्ठाग्नितेजसो बहिर्नयनेन पङ्गुत्वादाशङ्कायां जातायां पित्तस्यैव सिद्धान्तो

बोद्धव्यः। तस्य पूर्वरूपमुक्तं "कफान्नान्नाभिनन्दनमि"ति। कफज्वरे उत्पत्स्यति; अनन्नाभिलाषः स्यात्स च श्रमादिपूर्वको भवति ॥ ३७० ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—यह श्लोक कफज्वर के विप्रकृष्ट (दूर) तथा सन्निकृष्ट (समीप) निदान (कारण) को कहते हुये सम्प्राप्ति को बताने के लिये कहा गया है। और "कफ पङ्गु है अतः वह स्वयं कैसे आमाशय में जाकर कोष्ठाग्नि की गर्मी को बाहर निकाल ले जा सकता है" ऐसी आशङ्का होने पर इसका समाधान पूर्वोक्त पित्त के सिद्धान्तानुसार समझना चाहिये। क्योंकि वहां पर भी पित्त के पङ्गु होने पर इसी भांति शङ्का उठी थी अतः जिस भांति वहां पर निवारण हुआ उसी भांति यहां पर भी[1] समझ लेना चाहिये।

और कफज्वर के पूर्वरूप में "कफ से अन्न में अरुचि होती है" ऐसा कहा गया है। जिसका अर्थ यह समझना चाहिये कि—कफज्वर जब उत्पन्न होने को होता है तब अन्न में अरुचि हो जाती है। सो भी श्रमादि साधारण ज्वर के पूर्वरूप सम्बन्धी लक्षणों के सहित होती है ॥ ३७० ॥

अथ कफज्वरस्य लक्षणमाह—

स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता। शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि वा ॥
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रिता। प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥

कफज्वर के लक्षण—सभी अङ्गों का गीले वस्त्रों से लिपटे हुए के समान प्रतीत होना, ज्वर का मन्दवेग होना, शरीर में आलस्य तथा मुख में मीठापन रहना, मल-मूत्र तथा नेत्रों में शुक्लता, अङ्गों का जकड़ जाना, भोजन का सामर्थ्य रहने पर भी अन्न में अरुचि, शरीर में गुरुता, सर्दी ज्ञात होना, वमन होने के समान प्रतीत होना, रोमाञ्च, निद्रा की अधिकता, प्रतिश्याय (जुखाम), भोजन करने में अनिच्छा, खाँसी ये सब लक्षण कफज्वर में रोगी के प्रगट होते हैं ॥ ३७१-३७२ ॥

***स्तैमित्यम्=अङ्गानामार्द्रपटावगुण्ठितत्वमिव। स्तिमितो वेगः=ज्वरस्य मन्दो वेगः। आलस्यं=समर्थस्यापि कर्मण्यनुत्साहः। स्तम्भः=अङ्गानामनम्रता। तृप्तिः=अन्नानभिलाषः सत्यपि भोजनसामर्थ्ये। गौरवं गात्राणाम्। शीतं—लगतीति शेषः। उत्क्लेदः=वमनोपस्थितिरिव। अतिनिद्रता=निद्राऽऽधिक्यम्। प्रतिश्यायो=नासारोगविशेषः। अरुचिः=भोजनानिच्छा। चकारात्पिडिका शीता मुखप्रसेकश्छर्दिस्तन्द्रा हृदयोपलेप उष्णाभिलाषो वह्निमान्द्यमिति यत उक्तम्—**

प्रसेकः पिडिका शीता छर्दिस्तन्द्रोष्णकामिता।
कफेन लिप्तं हृदयं भवेदग्नेश्च मन्दता ॥ ८४ ॥ इति ॥ ३७१-३७२ ॥

यहाँ पर "स्तैमित्य" का "अङ्गों का गीले वस्त्रों से लिपटे हुये के समान प्रतीत होना"। 'स्तिमितो वेगः" का "ज्वर का मन्दवेग होना"। "आलस्य" का "सामर्थ्य रहते हुये कार्य करने में उत्साह न होना"। "स्तम्भ" का "अङ्गों का जकड़ जाना"। "तृप्तिः" का "भोजन करने का सामर्थ्य रहने पर भी अन्न में अरुचि"। "गौरवम्" का "शरीर में गुरुता"। "शीतम्" का "सर्दी ज्ञात

---

१. अर्थात्—"पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥

पित्त तथा कफ दोनों ही पङ्गु हैं उनमें स्वयं किसी स्थान पर जाने की सामर्थ्य नहीं है। जहां ये वायु के द्वारा ले जाये जाते हैं वहीं जाते हैं। जिस प्रकार वायु मेघ को जहां चाहती है उड़ा ले जाती है उसी प्रकार दोषों में भी वात जहां शेष दोषों को ले जाता है, वे वहीं जाते हैं। अतः यहां पर भी वात बढ़कर जब कफ को आमाशय में ले जाता है उस समय कोष्ठाग्नि को बाहर निकालता हुआ ज्वर का कारण होता है।

होना"। "उत्क्लेदः" का "वमन होने के समान प्रतीत होना"। "अतिनिद्रता" का "निद्रा की अधिकता"। "प्रतिश्यायः" का "लोकप्रसिद्ध जुखाम नामक नासारोगविशेष"। "अरुचि" का भोजन करने में अनिच्छा" यह अर्थ समझना चाहिए। तथा "अङ्गगौरवं" इस स्थल पर "च" का पाठ होने से "शीतल फुन्सियाँ, मुख से बार-बार पानी टपकना, वमन, तन्द्रा, हृदय का कफ से लिपटे हुए के समान ज्ञात होना, गर्मी की इच्छा होना तथा अग्नि की मन्दता" इत्यादिक भी कफज्वर के लक्षणों में समझना चाहिये। क्योंकि अन्यत्र कहा हुआ है कि—

मुख से पानी गिरना, शीतल फुंसियाँ, वमन, तन्द्रा, गर्मी की इच्छा होना, कफ से हृदय का लिपटा-सा रहना तथा अग्नि की मन्दता ये सब लक्षण कफज्वर के होते हैं। यह सब समझना चाहिये (८४)॥ ३७१-३७२॥

अथ श्लेष्मज्वरस्य चिकित्सामाह—

श्लैष्मिके द्वादशाहेन ज्वरे दद्यात भेषजम्। पिप्पल्यादिकषायन्तु कफजे परिपाचनम्॥

कफज्वर की चिकित्सा—कफज्वर में लङ्घन करते हुए १२ दिन व्यतीत होने पर रोगी के लिए औषध देना उचित होता है। और निम्नलिखित पिप्पल्यादि क्वाथ पिलाना कफज्वर में रोगी के लिए आमदोष का पाचन करने वाला होता है॥ ३७३॥

***आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान्पिधापयन्।**
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लङ्घनमाचरेत्॥ ८५॥

यहाँ पर यह और समझना चाहिये कि—वातादिक दोष कुपित होकर आमाशय में पहुँच कर अग्नि को आच्छादित कर आमदोष से युक्त होता हुआ, स्रोतोमार्गों को ढंकता हुआ ज्वर उत्पन्न करता है। अतः ज्वर में सामान्य रूप से लङ्घन करना चाहिए॥ ८५॥

***इति वचनात्सामान्यतो ज्वरितमात्रस्य यावदारोग्यदर्शनं लङ्घनाभिधाने, श्लेष्मज्वरिणो लङ्घनविधाने विशेषमाह सुश्रुतः-श्लैष्मिक इति। द्वादशाहेन लङ्घनवता व्यतीतेन-इत्यर्थः। किं तद् भेषजं? तदाह—("पिप्पल्यादिकषायन्त्वि"त्यादि)॥ ३७३॥**

इस वचन से साधारण हर एक ज्वर वाले रोगी को जब तक आरोग्य न दिखाई पड़े तब तक लङ्घन का विधान होने पर कफज्वर वाले रोगियों को लङ्घन कराने के विषय में सुश्रुतोक्त विशेषता को दिखाने के लिए इस "श्लैष्मिक" इत्यादि श्लोक को कहा गया है। और "द्वादशाहेन' पद का "लङ्घन करते हुये १२ दिन व्यतीत होने पर" यह अर्थ समझना चाहिये। एवम् "कफज्वर में औषध देना चाहिए" ऐसा कह आये हैं। अतः वह औषध कौन सा है? इस प्रश्न के उत्तर में "पिप्पल्यादिकषायन्तु" इत्यादि श्लोक के उत्तरार्ध को कहते हैं। यह और समझ लेना चाहिए॥

अथ पिप्पल्यादिक्वाथमाह—

पिप्पली पिप्पलीमूलं मरिचं गजपिप्पली। नागरं चित्रकं चव्यं रेणुकैलाऽजमोदिकाः॥३७४॥
सर्षपो हिङ्गु भार्गी च पाठेन्द्रयवजीरकाः। महानिम्बश्च मूर्वा च विषा तिक्ता विडङ्गकम्॥
पिप्पल्यादिगणो ह्येष कफमारुतनाशनः। गुल्मशूलज्वरहरो दीपनस्त्वामपाचनः॥ ३७६॥

पिप्पल्यादि क्वाथ—पीपल, पिपरामूल, मरिच, गजपीपल, सोंठ, चीता, चव्य, रेणुका, इलायची, अजमोद, सरसो, हींग, भारङ्गी, पाढ, इन्द्रजौ, जीरा (सफेद), बकायन, मूर्वा (चुरनहार), अतीस, कुटकी और वायविडङ्ग ये सब पिप्पल्यादिगण की ओषधियां हैं, इन सबों का [1]क्वाथ बना

१- क्वाथ्य द्रव्यों की मिलित मात्रा २½ से ४ तोला तक (बल के अनुसार) लेकर आध सेर पानी में पकाकर आध पाव रहने पर उतार छानकर पिलाना चाहिये। इस (प्रस्तुत) क्वाथ में यदि यवक्षार २ रत्ती मिला दिया जाय तो इसका गुण और भी बढ़ जाता है।

कर पिलाने से कफ तथा वात शान्त हो जाता है। और यह गुल्म, शूल तथा ज्वर को दूर करने वाला, अग्निदीपक तथा आम को पचाने वाला होता है ॥ ३७४-३७६ ॥

अथ पिप्पल्यवलेहमाह—

क्षौद्रोपकुल्यासंयोगः श्वासकासज्वरापहः। प्लीहानं हन्ति हिक्काञ्च बालानामपि शस्यते ॥

पिप्पल्यवलेह—पीपल का चूर्ण शहद के साथ मिलाकर चाटने से श्वास, कास, ज्वर, प्लीहा तथा हिचकी ये सब रोग नष्ट होते हैं। एवम् यह अवलेह बालकों के लिए भी उत्तम होता है ॥ ३७७ ॥

अथ चतुर्भद्रिकाऽवलेहमाह—

पिप्पलीं त्रिफलां चापि समभागां ज्वरी लिहन्।
मधुना सर्पिषा चापि कासी श्वासी सुखी भवेत् ॥ ३७८ ॥

चतुर्भद्रिकाऽवलेह—पीपल तथा त्रिफला (आंवला, हरड, बहेड़ा) इन सबों का चूर्ण समान भाग में लेकर मधु तथा गोघृत के साथ फेंटकर चाटने से कफज्वररोगी, खांसी तथा दमेवाला रोगी ये सब अवश्य सुखी होते हैं ॥ ३७८ ॥

अथान्यप्रकारमाह—

कट्फलं पौष्करं शृङ्गी कृष्णा च मधुना सह। श्वासकासज्वरहरो लेहोऽयं कफनाशनः ॥

दूसरे प्रकार का चतुर्भद्रिकाऽवलेह—कायफल, पुहकरमूल, काकड़ासिंगी, पीपल इन चारों औषधों का चूर्ण समान भाग में लेकर मधु के साथ मिलाकर चाटना चाहिये। यह भी एक दूसरे प्रकार का चातुर्भद्रिकाऽवलेह कहलाता है। तथा यह भी [1]श्वास, खाँसी तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है एवन् कफ को भी नष्ट करने वाला होता है ॥ ३७९ ॥

अथाष्टाङ्गावलेहमाह—

कट्फलं पौष्करं शृङ्गी यवानी कारवी तथा। कटुत्रयञ्च सर्वाणि समभागानि चूर्णयेत् ॥३८०॥
आर्द्रकस्वरसैर्लिह्यान्मधुना वा कफज्वरी। कासश्वासारुचिच्छर्दिहिक्काश्लेष्मानिलापहः ॥

अष्टाङ्गावलेह—कायफल, पुहकरमूल, काकड़ासिंगी, अजवायन, कलौंजी, त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मिर्च) इन आठ औषधों को समान भाग में लेकर चूर्ण कर डाले, पश्चात् उस चूर्ण को अदरख का स्वरस अथवा शहद के साथ मिलाकर यदि कफज्वर वाला रोगी चाटे तो उसकी खांसी, दमा, अरुचि, वमन, हिचकी, कफ तथा वात नष्ट हो जाता है ॥ ३८०-३८१ ॥

अथ निर्गुण्डीक्वाथमाह—

सिन्दुवारदलक्वाथं कणाऽऽढ्यं कफजे ज्वरे। जङ्घयोश्च बले क्षीणे कर्णे च पिहिते पिबेत् ॥

निर्गुण्डीक्वाथ—कफ ज्वर में यदि रोगी के जङ्घाओं का बल क्षीण हो गया हो और कान बन्द हो गये हों अर्थात् सुनाई न पड़ता हो तो सम्हालू के पत्तों का क्वाथ बनाकर उसमें पीपल का चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिये ॥ ३८२ ॥

अथ यवान्यादिक्वाथमाह—

यवानी पिप्पली वासा तथा खाखसवल्कलम्। एषां क्वाथं पिबेत्कासे श्वासे च कफजे ज्वरे ॥

यवान्यादिक्वाथ—अजवायन, पीपल, अडूसा, पोस्ता के ढेंढी की छाल इन सबों का क्वाथ बना कर कफज्वर, खांसी तथा दमे में रोगी को पिलाना चहिये ॥ ३८३ ॥

---

१. यह बालकों के सब प्रकार के रोगों में विशेषकर कास, श्वास युक्त ज्वर में लाभ करता है। इसकी बालकोचित मात्रा ५ से १० रत्ती है। माता के दूध में इसे मिलाकर चटाना चाहिये।

अथ वासाऽऽदिक्वाथमाह—

वासाक्षुद्राऽमृताक्काथः क्षौद्रेण ज्वरकासहृत् ॥ ३८४ ॥

वासाऽऽदिक्वाथ—अडूसा, कटेरी छोटी और गिलोय इन सबों के क्वाथ में मधु डाल कर पीने से कफज्वर तथा खांसी दूर होती है ॥ ३८४ ॥

अथ मरिचादिक्वाथमाह—

मरिचं पिप्पलीमूलं नागरं कारवी कणा। चित्रकं कट्फलं कुष्ठं ससुगन्धि वचा शिवा ॥३८५॥
कण्टकारीजटा शृङ्गी यवानी पिचुमन्दकः । एषां क्काथो हरत्येव ज्वरं सोपद्रवं कफात् ॥३८६॥

मरिचादिक्वाथ—मरिच, पिपरामूल, सोंठ, कलौंजी, पीपल, चीता, कायफल, कूठ, सुगन्धित वच, हरड़, कटेरी की जड़, काकड़ाशिंगी, अजवायन, नीम की छाल इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से उपद्रवयुक्त भयङ्कर कफज्वर निश्चय नष्ट हो जाता है ॥ ३८५–३८६ ॥

अथ कल्पतरुरसप्रयोगमाह—

कफवातव्याधिहरत्वाद्वाताधिकारोक्तकल्पतरुरसो योज्यः ।

कल्पतरुरसप्रयोग—कफवात संबन्धी रोगों को दूर करने वाला होने से वाताधिकार में कहा हुआ कल्पतरुरस का भी कफज्वर में प्रयोग करना चाहिये ।

अथ कवलमाह—

सिन्धुत्रिकटुराजीभिरार्द्रकेण कफे हितः ॥ ३८७ ॥

कवल—सेंधा निमक, त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मिरच) और राई इन सबों का चूर्ण अदरख के रस के साथ मिलाकर कवल की भांति मुख में रखने से कफ में विशेष उपकारी होता है ॥ ३८७ ॥

***कवल इति शेषः ॥ ३८७ ॥**

यहां पर मूल में यद्यपि "कवल" शब्द का प्रयोग नहीं है तथाऽपि प्रसङ्गानुसार ऊपर से "कवल" शब्द को लाकर अर्थ करना चाहिये । यह और समझ लेना चाहिये ॥ ३८७ ॥

अथान्नमाह—

मुद्गयूषौदनो देयो ज्वरे कफसमुत्थिते ॥ ३८८ ॥

इति श्लेष्मज्वराधिकारः ।

अन्न—कफज्वर में रोगी को मूंग के यूप के साथ भात मिलाकर खाने को देना चाहिये॥३८८॥

इति श्लेष्मज्वराधिकारः ।

अथ वातपित्तज्वराधिकारः ।

वातपित्तकरैर्वातपित्ते ह्यामाशयाश्रये । वहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं रसगे ज्वरकारिणी ॥ ३८९ ॥

वातपित्तज्वर का निदान—वायु तथा पित्त इन दोनों को उत्पन्न करने वाले आहार-विहारों के द्वारा वायु और पित्त कुपित होकर जब ये दोनों आमाशय में गमन करते हैं । तब वहां के आमरस को दूषित कर के एवम् कोठे के अग्नि की उष्णता को बाहर निकाल कर ज्वर को उत्पन्न करते हैं ॥ ३८९ ॥

***वातपित्तज्वरस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टकारणकथनपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—वातपित्तेति । स्यातामिति शेषः ॥ ३८९ ॥**

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—"वातपित्तकरैः"—इत्यादि श्लोक से वातपित्त-ज्वर के दूर तथा समीपवर्त्ती कारणों को कहते हुए सम्प्राप्ति को कहते हैं । और यहां पर "स्याताम्" इस पद की कमी है अतः ऊपर से "स्याताम्" लगाकर अर्थ किया गया है ॥ ३८९ ॥

अथ वातपित्तज्वरपूर्वरूपमाह—

प्राग्रूपे वातपित्तस्य भवतो वातपैत्तिके ॥ ३९० ॥

वातपित्त ज्वर के पूर्वरूप–वातपैत्तिक ज्वर के पूर्वरूप में पूर्व में कहे हुये वातज्वर तथा पित्तज्वर इन दोनों के जितने पूर्वरूप के लक्षण हैं वे सब मिलाकर होते हैं ॥ ३९० ॥

क्षज्वर इति शेषः ॥ ३९० ॥

यहां पर "वातपैत्तिके" इसके साथ "ज्वरे" इस पद की कमी है अतः इसे जोड़ कर "वातपैत्तिके" पद का "वातपैत्तिक ज्वर के पूर्वरूप में" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३९० ॥

अथ वातपित्तज्वरस्य लक्षणमाह—

तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहो निद्रानाशः शिरोरुजा। कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ॥ पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः ॥ ३९१ ॥

वातपित्तज्वर के लक्षण—प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, नींद न आना, शिर में पीड़ा, कण्ठ तथा मुख का सूखना, वमन, रोमाञ्च, अरुचि, आंखों के सामने अन्धेरा मालूम पड़ जाना, पोर टूटे जाते हुये के समान सन्धियों में पीड़ा, अधिक जँभाई आना ये सब लक्षण वातपित्त ज्वर के हैं ॥

क्षपर्वभेदः=पर्वाणि भिद्यन्त इव संधिषु व्यथा ॥ ३९१ ॥

और यहा पर "पर्वभेद" पद का "पोर टूटे जाते हुये के समान सन्धियों में पीड़ा" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३९१ ॥

अथ वातपित्तज्वरस्य चिकित्सामाह—

वातपित्तज्वरे देयमौषधं पञ्चमेऽहनि ॥ ३९२ ॥

वातपित्तज्वर की चिकित्सा–वातपित्त ज्वर में ४ दिन लङ्घन कराकर ५ वें दिन रोगी को मुख्य औषध देना चाहिये ॥ ३९२ ॥

अथ किरातादिक्वाथमाह—

किराततिक्तममृतां द्राक्षामामलकं शटीम्। निष्क्वाथ्य सगुडं क्वाथं वातपित्तज्वरे पिबेत् ॥

किरातादिक्वाथ—चिरायता, गिलोय, दाख, आमले, कचूर इन सबों का क्वाथ बनाकर उसमें गुड़ डालकर पीने से वातपित्त ज्वर में हितकारक होता है ॥ ३९३ ॥

अथ पंचभद्रक्वाथमाह—

गुडूची पर्पटो मुस्तं किरातो विश्वभेषजम्। वातपित्तज्वरे देयं पञ्चभद्रमिदं शुभम् ॥ ३९४ ॥

पञ्चभद्रक्वाथ—गिलोय, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, चिरायता, सोंठ इन ५ औषधों का क्वाथ बनाकर वातपित्त ज्वर में रोगी को पिलाने से हितकर होता है। क्योंकि यह पञ्चभद्र नामक क्वाथ उत्तम है ॥ ३९४ ॥

अथ त्रिफलाऽऽदिक्वाथमाह—

त्रिफलाशाल्मलीरास्नाराजवृक्षाटरूषकैः। शृतमम्बु हरत्याशु वातपित्तभवं ज्वरम् ॥ ३९५ ॥

त्रिफलाऽऽदिक्वाथ—त्रिफला (आमला, हरड़, बहेरा), सेमर की छाल, रास्ना, अमलतास, अडूसा की छाल इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाने से रोगी का वातपित्तज्वर शीघ्र दूर हो जाता है ॥ ३९५ ॥

अथ मधुकादिहिममाह—

मधुकं सारिवा द्राक्षा मधूकं चन्दनोत्पलम्। काश्मरीफलकं लोध्रं त्रिफला पद्मकेशरम् ॥ परूषकं मृणालञ्च क्षिपेत्संचूर्ण्य वारिणी। निशोषितं सिताक्षौद्रलाजयुक्तन्तु तत्पिवेत् ॥ वातपित्तज्वरं दाहं तृष्णां मूर्च्छाऽरुचिभ्रमान्। शमयेद्रक्तपित्तञ्च जीमूतमिव मारुतः ॥ ३९६ ॥

मधुकादिहिम—मुलेठी, सारिवा (सफेद अनन्तमूल), दाख, महुये का फूल, सफेद चन्दन, नीलकमल, गम्भारी का फल, लोध, त्रिफला (आमला, हरड़, बहेरा), कमल का केशर, फालसा; कमल की नाल इन सबों को चूर्ण करके शीतल जल में रात भर भिगो देवे, पश्चात् प्रातःकाल जल से औषधों को अलग करके उक्त जल में साफ शक्कर, शहद तथा धान का खील मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिये, उससे वातपित्तज्वर, दाह, प्यास, मूर्च्छा, अरुचि, भ्रम, रक्तपित्त ये सब इस भांति दूर हो जाते हैं कि जैसे पवन से मेघ दूर हो जाता है ॥ ३९६ ॥

***अत्र मधुकादि मृणालान्तं समुदितम्, पलद्वयपरिमितं संचूर्ण्य क्षिपेत्। वारिणि षट्पलपरिमिते। मधुकादिहिमो दाहे ॥ ॥ ३९६ ॥**

यहां पर यह और भी समझ लेना चाहिये कि—मुलेठी से लेकर कमल की नाल तक जितनी ओषधियां हैं वे सब मिलकर ८ तोले लेनी चाहिये; पश्चात उन सबों का चूर्ण २४ तोले जल में भिगोना चाहिये, यह मधुकादिहिम वातपित्तज्वर में दाह होने पर देना उत्तम होता है ॥ ३९६ ॥

अथान्नमाह—

मुद्गामलकयूषस्तु वातपित्तज्वरे हितः। महादाहे प्रदातव्यो यूषश्चणकसम्भवः ॥ ३९७ ॥

वातपित्तज्वर में पथ्य अन्न—वातपित्तज्वर में मुद्गामलक सञ्ज्ञक यूष (मूंग और आमलों का यूष) रोगी को देना अधिक हितकर होता है, तथा अधिक दाह होता हो तो चने का यूष रोगी को देना विशेष हितकर होता है ॥ ३९७ ॥

अन्यच्च—

"दाडिमामलकमुद्गसम्भवो यूष उक्त इति वातपैत्तिके" इति।
कफपित्तहरा मुद्गाः कारवेल्ल्यादयस्तथा। प्रायेण न च ते देया वातपित्तोत्तरे ज्वरे ॥
दत्तास्तु ज्वरविष्टम्भशूलोदावर्त्तकारिणः ॥ ३९८ ॥

इति वातपित्तज्वराधिकारः समाप्तः।

और भी कहा है कि—आमलों के साथ मूंग का यूष बनाकर उसमें अनार का रस डाल कर वातपित्तज्वर में रोगी को पिलाने के लिये वैद्यों ने कहा है।

और मूंग तथा करेला आदिक द्रव्य कफपित्त-नाशक हैं अत एव वातपित्त प्रधान ज्वर में ये सब प्रायः करके रोगी के लिये देने योग्य नहीं होते हैं, यदि भूल से दे दिये जायं तो ज्वर, विष्टम्भ, शूल तथा उदावर्त्त रोग को उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं ॥ ३९८ ॥

अथ वातश्लेष्मज्वराधिकारः।

वातश्लेष्मकरैर्वातकफावामाशयाश्रयौ। वहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं रसगौ ज्वरकारिणौ ॥३९९॥

वातश्लेष्मज्वर का निदान—वात तथा कफ को उत्पन्न करने वाले आहार-विहारों के करने से वात तथा कफ ये दोनों कुपित होकर जब आमाशय नामक स्थान में पहुंचते हैं तब वहां के आमरस को दूषित करते हुये कोठे के अग्नि की गर्मी को बाहर निकाल कर ज्वर उत्पन्न करते हैं ॥ ३९९ ॥

***तस्य विप्रकृष्टसंनिकृष्टकारणकथनपूर्विकां संप्राप्तिमाह—वातेति ॥ ३९९ ॥**

यहां पर "वातश्लेष्मकरैः" इत्यादिक श्लोक से "वातश्लेष्मज्वर के दूर तथा समीपवर्त्ती कारणों को कहते हुये सम्प्राप्ति कहते हैं।" यह और समझ लेना चाहिये ॥ ३९९ ॥

अथ वातकफज्वरस्य पूर्वरूपमाह—

प्राग्रूपे वातकफयोः स्यातां वातकफज्वरे ॥ ४०० ॥

वातकफज्वर के पूर्वरूप—वातज्वर तथा कफज्वर के पूर्वरूप में जो लक्षण प्रथम कह आये हैं वे ही सब मिलकर वातकफज्वर में पूर्वरूप के लक्षण होते हैं ॥ ४०० ॥

अथ वातकफज्वरस्य लक्षणमाह—

स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च । शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्त्तनम् ॥
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥ ४०१ ॥

वातकफज्वर के लक्षण—गीले कपड़ों से ढके हुये के समान शरीर मालूम पड़ना, सन्धियों में टूटने की सी पीड़ा, नींद, शरीर में गुरुता, सिर में पीड़ा, जुखाम, खांसी, सर्वाङ्ग से पसीने का अधिक निकलना, सन्ताप तथा ज्वर का वेग मन्द होना ये सब लक्षण वातकफज्वर वाले रोगी के होते हैं ॥ ४०१ ॥

ॐस्वेदाप्रवर्त्तनं=स्वेदस्य आ समन्ताद्भावेन प्रवृत्तिः । तथा च हारीतेनोक्तम्—

ॐशिरोग्रहः स्वेदभवश्च कासो ज्वरस्य लिङ्गं कफवातजस्य ॥ इति ।

यहां पर "स्वेदाप्रवर्त्तनम्" इस पदका "सर्वाङ्ग से पसीने का अधिक निकलना" यह अर्थ समझना चाहिये । और इसी बात को हारीत ने भी कहा है कि—शिर में पीड़ा, पसीने का अधिक-निकलना तथा खांसी ये सब लक्षण कफ-वात संबन्धी द्वन्द्वजज्वर के होते हैं ।

ॐस्वेदभवः=स्वेदोत्पत्तिः ।

यहां पर "स्वेदभवः" इस पदका "पसीने का अधिक निकलना" अर्थ समझना चाहिये ।

ॐननु स्वेदः पित्तस्य धर्मः, अत एव पित्तज्वरे—

ॐ"कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते" ॥ ८६ ॥

ॐइत्युक्तम् । तस्मात्कथं वातश्लेष्मज्वरे स्वेदस्यातिप्रवृत्तिः ? उच्यते—"विकृतिविषमसमवायारब्धत्वान्न दोष" इति कार्त्तिकः ।

अब यहां पर यह शङ्का होती है कि-पसीना निकलना तो यह धर्म पित्त का है अत एव पितज्वर में "कण्ठ-ओठ मुख तथा नाक ये सब पक जाते हैं तथा पसीना निकलता है" यह कहा हुआ है, इस कारण से वातकफज्वर में पसीने का अधिक निकलना कहना कैसे संगत होता है ? इसके उत्तर में कार्त्तिक नामक आचार्य यह कहते हैं कि—विकृतिविषमसमवाय से आरब्ध होने के कारण से वातकफज्वर में अधिक पसीना आना जो कहा गया है उसमें कोई दोष नहीं है ।

ॐप्रकृतिसमसमवायस्य विकृतिविषमसमवायस्य चायमर्थः-प्रकृत्या हेतुभूतया समः-कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसम्बन्धः प्रकृतिसमसमवायः । कारणानुरूपं कार्यमिति यावत् । यथा-प्रकृतिस्थितैः शुक्लैस्तन्तुभिः समवायिकारणैरारब्धः पटः शुक्ल एव भवति । तथा च प्रकृतेन केवलेन वातेन पित्तेन कफेन वा जनितो ज्वरो वाताद्युचितैर्धर्मैर्वेपथुवेगाधिक्यस्तैमित्यादिभिर्युक्तो भवति ।

और प्रकृतिसमसमवाय तथा विकृतिविषमसमवाय का अर्थ यह है कि-प्रकृति अर्थात् हेतुभूत प्रकृति के समान अर्थात् कारण के अनुरूप जो समवाय अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध है, वही प्रकृतिसमसमवाय अर्थात् कारण के अनुरूप कार्य होना कहलाता है । जैसे कि—प्रकृति में स्थित सफेद सूत्ररूप समवायिकारण द्वारा बुना हुआ वस्त्र सफेद ही होता है वैसे ही प्रकृत अर्थात् केवल वात, पित्त अथवा कफ से उत्पन्न हुआ ज्वर क्रम से वातादिकों के उचित धर्म जो कंप होना, ज्वर का वेग अधिक होना तथा अङ्गों का गीले कपड़े से ढके हुये के समान प्रतीत होना इत्यादिक हैं, उनसे युक्त होता है । अर्थात् केवल वात द्वारा जो ज्वर उत्पन्न होता है वह—कम्प होना इत्यादिक वात के धर्मों से युक्त होता है । इसी भांति केवल पित्त द्वारा उत्पन्न हुआ ज्वर—वेग की अधिकता इत्यादिक पित्त के धर्मों से तथा केवल कफ द्वारा उत्पन्न हुआ ज्वर—अङ्गों का गीले कपड़े से ढँके हुये के समान प्रतीत होना इत्यादिक कफ के धर्मों से युक्त होता है ।

विकृतिविषमसमवायस्तु–विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायः कार्यस्य कारणे सम्बन्धः। कारणाननुरूपं कार्यमिति यावत्। यथा–संयोगाद्विकृताभ्यां हरिद्राचूर्णाभ्यां हेतुभूताभ्यां विषमः कारणाननुरूपो लोहितो वर्णो जायते तथा योगेन विकृताभ्यां वातश्लेष्मभ्यां हेतुभूताभ्यां विषमा कारणाननुरूपा स्वेदस्यातिप्रवृत्तिरिति सिद्धान्तः ॥४०१॥

विकृतिविषमसमवाय–विकृति के अर्थात् हेतुभूत विकृति के विषम अर्थात् कारण के अननुरूप जो समवाय अर्थात् कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध है वही विकृतिविषमसमवाय अर्थात् कारण के अननुरूप कार्य कहलाता है। जैसे कि–संयोग से विकृति को प्राप्त हुये हेतुभूत जो हरदी तथा पत्थर का चूना ये दोनों हैं इनसे विषम अर्थात् कारण के अननुरूप लाल वर्ण रूप कार्य उत्पन्न होता है वैसे ही संयोग से विकृति को प्राप्त हुये हेतुभूत वातकफ से विषम कारण के अननुरूप "पसीने का अधिक निकलना" रूप कार्य होता है, जो कि उचित है क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है ॥ ४०१ ॥

अथ वातकफज्वरस्य चिकित्सामाह—

वातश्लेष्मज्वरे देयमौषधं नवमेऽहनि ॥ ४०२ ॥

वातकफज्वर की चिकित्सा—वातकफज्वर में रोगी को ८ दिन तक लङ्घन कराकर ९ वें दिन में मुख्य औषध देना चाहिये ॥ ४०२ ॥

अथ पञ्चकोलम्—

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः। दीपनीयः स्मृतो वर्गो वातश्लेष्मज्वरापहः ॥
कोलमात्रोपयोगित्वात्पञ्चकोलमिदं स्मृतम्। तीक्ष्णोष्णं पाचनं श्रेष्ठं दीपनं कफदाहनुत् ॥
गुल्मप्लीहोदरानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम् ॥ ४०४ ॥

पञ्चकोल—पीपल, पिपरामूल, चव्य, चीता और सोंठ ये सब दीपनीय वर्ग की ओषधियां कही जाती हैं तथा इनका क्वाथ वातकफ ज्वर को दूर करने वाला होता है। ये सब मिलकर "पञ्चकोल" कहलाते हैं, अर्थात्–प्रत्येक एक २ कोल तौल में होने से पांचों का तौल ५ कोल होता है, अतः यह पञ्चकोल कहा जाता है। किसी २ का यह भी मत है कि पांचों औषध मिल कर तौल में एक कोल होने से यह "पञ्चकोल" कहलाता है। यह पञ्चकोल–तीक्ष्ण, उष्ण, उत्तम पाचन, अग्निदीपक, कफ, दाह, गुल्म, प्लीहा, उदर रोग, आनाह (अफारा) और शूल इन सबों को नष्ट करने वाला तथा पित्त को प्रकुपित करने वाला होता है ॥ ४०३-४०४ ॥

अथ द्वितीयः किरातादिक्वाथः—

किरातविश्वाऽमृतवल्लिसिंहिका–व्याघ्रीकणामूलरसोनसिन्दुकैः।
कृतः कषायो विनिहन्ति सत्वरं ज्वरं समीरात्सकफात्समुत्थितम् ॥ ४०५ ॥

दूसरा किरातादि क्वाथ–चिरायता, सोंठ, गिलोय, कटेरी, बड़ी कटेरी, पिपरामूल, लहसुन और सम्हालू इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से वातकफ से उत्पन्न हुआ ज्वर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ४०५ ॥

अथ पिप्पल्यादिक्वाथः—

पिप्पल्यादिगणक्वाथं पिबेद्वातकफज्वरी। नातः परं किञ्चिदस्ति ज्वरे भेषजमुत्तमम् ॥४०६॥

पिप्पल्यादि क्वाथ–पिप्पल्यादि गण में कही हुई ओषधियों का क्वाथ बनाकर पीने के समान दूसरी कोई उत्तम ओषधि वातकफज्वर वाले रोगी के लिये ज्वरनाशक नहीं है ॥ ४०६ ॥

अथ बृहत्पिप्पल्यादिक्वाथः—

पिप्पली पिप्पलीमूलं चव्यचित्रकनागरम्। वचा सातिविषाऽजाजी पाठावत्सकरेणुकाः ॥
किराततिक्तको मूर्वा सर्षपा मरिचानि च। कटफलं पुष्करं भार्गी विडङ्गं कर्कटाह्वयम् ॥४०८॥

**अर्कमूलं बृहत्सिंही श्रेयसी सदुरालभा । दीप्यकश्चाजमोदा च शुकनासा सहिङ्गुका ॥४०९॥
एतानि समभागानि गण एकोऽष्टविंशतिः । एषां क्वाथो निपीतः स्याद्वातश्लेष्मज्वरापहः ॥
हन्ति वातं तथा शीतं प्रस्वेदमतिवेपथुम् । प्रलापश्चातिनिद्राञ्च रोमहर्षारुची तथा ॥४११॥
महावातेऽपतन्त्रे च शून्यत्वे सर्वगात्रजे । पिप्पल्यादिमहाक्वाथो ज्वरे सर्वत्र पूजितः ॥४१२॥**

बृहत्पिप्पल्यादि क्वाथ-पीपल, पिपरामूल, चव्य, चीता, सोंठ, वच, अतीस, काला जीरा, पाढ, इन्द्रजौ, रेणुका, चिरायता, मूर्वा, सरसो, काली मरिच, कायफल, पुहकरमूल, भारङ्गी, वायविडङ्ग, काकड़ाशिंगी, आक की जड़, बड़ी कटेरी, रास्ना, धमासो, अजवायन, अजमोद, सोनापाठा, हींग ये सब २८ ओषधियाँ समान भाग में मिलकर "बृहत्पिप्पल्यादिगण" के नाम से कही जाती हैं । इनका क्वाथ बनाकर पीने से वातकफ ज्वर दूर होता है तथा वात, शीत, अधिक पसीना निकलना, अत्यन्त कम्प, प्रलाप, अत्यन्त निद्रा, रोमाञ्च होना और अरुचि ये सब दूर होते हैं । एवम् महावात, अपतन्त्रक, सर्वाङ्ग सुन्न हो जाना तथा सभी प्रकार के ज्वर इन सबों में यह बृहत्पिप्पल्यादि क्वाथ पिलाना उत्तम होता है ॥ ४०७-४१२ ॥

***अत्र श्रेयसी = रास्ना, वातश्लेष्मज्वरहरत्वात् ॥ ४०७-४१२ ॥**

यहां पर "श्रेयसी" पदसे "रास्ना" का ग्रहण किया गया है क्योंकि वह वातकफ ज्वर को दूर करने वाली होती है ॥ ४०७-४१२ ॥

अथ दशमूलीक्वाथः—

दशमूलीरसः पीतः कणाऽऽढ्यः कफवातजे । ज्वरेऽविपाके निद्रायां पार्श्वरुक्श्वासकासके ॥

दशमूली क्वाथ-दशमूल की ओषधियों के मूल भाग की छाल को समान भाग में लेकर क्वाथ बना डाले पश्चात् उसमें पीपल का चूर्ण मिला कर पीने से वातकफ सम्बन्धी ज्वर, अविपाक (अन्न न पचना), निद्रा, पंसुलियों में पीड़ा, श्वास तथा कास में उपकार होता है ॥ ४१३ ॥

अथ पिप्पलीक्वाथः—

पिप्पलीभिः शृतं तोयमनभिष्यन्दि दीपनम् । वातश्लेष्मज्वरं हन्ति सेवितं प्लीहनाशनम् ॥

पिप्पली क्वाथ-पीपल का बना हुआ क्वाथ अनभिष्यन्दी (अभिष्यन्द नहीं करने वाला) तथा अग्निदीपक होता है । एवम् सेवन करने से वातकफ ज्वर और प्लीहा को नष्ट करने वाला होता है ॥ ४१४ ॥

अथ सूर्यशेखररसः—

**सूतकं टङ्कणं भृष्टं गन्धं शुद्धं समं समम् । द्विगुणं सूतकाद्देयं जैपालं तुषवर्जितम् ॥४१५॥
सैन्धवं मरिचं चिञ्चात्वक्क्षारः शर्कराऽपि च । प्रत्येकं सूततुल्यं स्याज्जम्बीरैर्मर्दयेद्दिनम् ॥
सूर्यशेखरनामाऽयं रसो गुञ्जाद्वयोन्मितः । भक्षितस्तप्ततोयेन वातश्लेष्मज्वरापहः ॥४१७॥**

सूर्यशेखर रस—शुद्ध पारा, फुलाया हुआ सुहागा, शुद्ध गन्धक ये सब समान भाग अर्थात् प्रत्येक एक २ भाग, शुद्ध तुषरहित जमालगोटा पारे से दुगुना अर्थात् दो भाग, और सेंधा निमक, काली मिरच, इमली के छाल का बना हुआ क्षार, साफ शक्कर ये सब प्रत्येक पारे के बराबर अर्थात् एक २ भाग लेकर खरल में एकत्र कर जमीरी नीबू के रस के साथ एक दिन तक खरल करे तो सूर्यशेखर नामक रस तैयार होता है । यह रस दो रत्ती की मात्रा में गर्म जल के साथ खाने से वातकफ ज्वर को नष्ट करने वाला होता है (इसकी आधुनिक मात्रा १ से २ रत्ती है) ॥

***सूर्यशेखरो रसो वातश्लेष्मज्वरे शीतज्वरे च रसप्रदीपे ॥ ४१५-४१७ ॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—यह सूर्यशेखर रस वातकफ ज्वर तथा शीत ज्वर दोनों में दिया जाता है और "रसप्रदीप" में इसका उल्लेख मिलता है ॥ ४१५-४१७ ॥

अथोद्धूलनमाह—

स्वेदोद्गमे भृष्टकुलत्थचूर्णनिपातनं शस्तमिति ब्रुवन्ति ।
जीर्णं शकृद्गोर्लवणस्य भाजनं संचूर्णितं स्वेदहरं सुधूलनात् ॥ ४१८ ॥

उद्धूलन (Dusting = चूर्णादिक से मालिश करना)—"वातकफ ज्वर में यदि अधिक स्वेद निकल रहा हो तो भुनी हुई कुलथी का चूर्ण शरीर में मलना उत्तम होता है" ऐसा वैद्यजन कहते हैं। अथवा गौ का पुराना गोवर तथा निमक रखने का मिट्टी का पुराना वर्तन इन दोनों के चूर्ण का मालिश करने से भी पसीना का निकलना बन्द होता है ॥ ४१८ ॥

अथ मरिचाद्युद्धूलनम्—

मरिचं पिप्पली शुण्ठी पथ्या लोध्रञ्च पौष्करम् । भूनिम्बः कटुका कुष्ठं कर्चूरो लिङ्गिका शटी ॥
एतानि समभागानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् । एतदुद्धूलनं श्रेष्ठं स्रोतोवत्स्वेदनिर्गमे ॥४२०॥

मरिचाद्युद्धूलन—काली मिर्च, पीपल, सोंठ, हरड़, लोध, पुहकरमूल, चिरायता, कुटकी, कूठ, कचूर, शिवलिङ्गी, गन्धपलाशी (कपूरकचरी) इन सबों को समान भाग में लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना डाले, पश्चात् रोगी को जब स्रोत की भांति पसीना निकलता हो तो उसमें भी इसकी मालिश करने से तत्काल लाभ होता है, अतः यह उद्धूलनों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ४१९-४२० ॥

***लिङ्गिका = "पञ्चगुरिआ" इति लोके । अत्र शटी = गन्धपलाशी ॥ ४१९-४२० ॥**

यहां पर "लिङ्गिका" पदका "लोकप्रसिद्ध पञ्चगुरिआ अर्थात् शिवलिङ्गी" एवम् "शटी" पद का "गन्धपलाशी अर्थात् कपूरकचरी" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४१९-४२० ॥

अथ भूनिम्बाद्युद्धूलनम्—

भूनिम्बः कारवी तिक्ता वचा कट्फलजं रजः । एषामुद्धूलनं श्रेष्ठं सततं स्वेदसंस्रवे ॥४२१॥

भूनिम्बाद्यद्धूलन-चिरायता, कालीजीरी, कुटकी, वच, कायफल इन सबों का समान भाग में सूक्ष्म चूर्ण बना लेवे, पश्चात् निरन्तर पसीना निकलने पर रोगी के वदन में उक्त चूर्ण की मालिश करना उत्तम लाभदायक होता है ॥ ४२१ ॥

अथ बालुकास्वेदः—

पूर्वोक्तो बालुकास्वेदोऽप्यत्र समुचितः ।

बालुकास्वेद-और अधिक पसीना निकलने पर पूर्वोक्त "बालुकास्वेद" भी देना समुचित होता है।

यदुक्तम्—

पीनसश्वासबाधिर्यजङ्घापार्श्वास्थिशूलिनि । वातश्लेष्मज्वरे देयमौषधं तद्विधानवित् ॥४२२॥

क्योंकि कहा भी है कि-जिस वातकफ ज्वर में पीनस, श्वास, बहरापन, जङ्घा-पंसुली तथा हड्डियों में शूल (अधिक पीड़ा) होता हो तो स्वेदकर्म का भलीभांति जानने वाला वैद्य स्वेदकर्म के साथ २ औषध भी योग्यताऽनुसार देवे ॥ ४२२ ॥

अथ कवलमाह—

मातुलुङ्गफलकेशरो धृतः सिन्धुजन्ममरिचान्वितो मुखे ।
हन्ति वातकफरोगमास्यगं शोषमाशु जडतामरोचकम् ॥ ४२३ ॥

कवल-बिजौरे नीबू के भीतर का रसदार जीरा लेकर उस में सेंधा निमक तथा काली मिर्च का चूर्ण डाल कर मुख में रख कर धीरे २ रस चूसने से वातकफ ज्वर में मुखशोष, मुख की जड़ता तथा अरुचि ये सब नष्ट होते हैं ॥ ४२३ ॥

अथान्नमाह—

महत्या पञ्चमूल्याऽन्नं सम्यक्सिद्धं चिकित्सकः । सप्तमे दिवसे दद्याज्ज्वरे वातबलासजे ॥

इति वातकफज्वराधिकारः समाप्तः ।

अन्न-बृहत् पञ्चमूल के क्वाथ के साथ भलीभाँति से पकाये हुये अन्न, यवागू आदि को वातकफ ज्वर में चिकित्सक ६ दिन तक लङ्घन कराने के बाद ७ वें दिन देवे ॥ ४२४ ॥

इति वातकफज्वराधिकारः ॥

अथ पित्तकफज्वराधिकारः ।

पित्तश्लेष्मकरैः पित्तकफावामाशयाश्रयौ । बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं रसगौ ज्वरकारिणौ ॥

पित्तकफज्वराधिकार में प्रथम पित्तकफज्वर का निदान—पित्त तथा कफकारक आहार-विहारों के करने से कुपित हुये पित्त तथा कफ ये दोनों आमाशय में पहुंच कर आमरस को दूषित करते हुये, कोठे की अग्नि को बाहर निकाल कर ज्वर को उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ ४२५ ॥

***तस्य विप्रकृष्टसंनिकृष्टकारणकथनपूर्विकां संप्राप्तिमाह–पित्तेति ॥ ४२५ ॥**

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—पित्तकफज्वर के दूर तथा समीप के कारणों को कहते हुये सम्प्राप्ति को बताने के लिये "पित्तश्लेष्मकरैः" इत्यादि श्लोक कहा गया है ॥ ४२५ ॥

अथ पित्तकफज्वरपूर्वरूपमाह—

प्राग्रूपे पित्तकफयोः स्यातां पित्तकफज्वरे ॥ ४२६ ॥

पित्तकफज्वर के पूर्वरूप—जो पूर्वरूप के लक्षण पूर्व में पृथक् २ पित्त तथा कफ के कह आये हैं वे ही सब मिलकर यहां पर पित्तकफज्वर में भी रोगी के प्रगट होते हैं। अतः वहां से समझ लेना चाहिये, पुनरुक्ति के डर से यहां पर पुनः उल्लेख नहीं किया जाता है ॥ ४२६ ॥

अथ पित्तकफज्वरलक्षणमाह—

लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा । मुहुर्दाहो मुहुः शीतं पित्तश्लेष्मज्वराकृतिः ॥

पित्तकफज्वर के लक्षण-पित्त के कारण से मुख में कडवापन, कफ से मुख लिहसा सा रहना, तन्द्रा, मोह, खांसी, अरुचि, प्यास, बारम्बार दाह होना और बारम्बार शीत लगना ये सब लक्षण पित्तकफज्वर में रोगी को प्रगट होते हैं ॥ ४२७ ॥

***आस्यतिक्तत्वं पित्तेन, लिप्तत्वं कफेन । तन्द्रा = अर्द्धोन्मीलितनेत्रत्वम् । मोहो = मूर्च्छा ॥**

यहां पर "मुख में कडवापन पित्त के कारण से तथा मुख लिहसा सा रहना कफ के कारण से" समझना चाहिये। और "तन्द्रा" पद से "अधखुले नेत्र रहना" तथा "मोह" पद से "मूर्च्छा" का बोध करना चाहिये ॥ ४२७ ॥

अथ पित्तकफज्वरस्य चिकित्सामाह—

पित्तश्लेष्मज्वरे देयमौषधं दशमेऽहनि ॥ ४२८ ॥

पित्तकफज्वर की चिकित्सा—पित्तकफज्वर में रोगी को ९ दिन तक लङ्घन कराकर १० वें दिन मुख्य औषध देना चाहिये ॥ ४२८ ॥

अथ गुडूच्यादिक्वाथमाह—

गुडूची निम्बधान्याकं चन्दनं कटुरोहिणी ।
गुडूच्यादिरयं क्वाथः पाचनो दीपनः स्मृतः । तृष्णादाहारुचिच्छर्दिपित्तश्लेष्मज्वरापहः ॥

गुडूच्यादि क्वाथ—गिलोय, नीम की छाल, धनिया, लालचन्दन और कुटकी इन सबों का क्वाथ गुडूच्यादि क्वाथ कहलाता है। यह क्वाथ सेवन करने से आम का पाचन तथा अग्नि का दीपन करने वाला होता है एवम् प्यास, दाह, अरुचि, वमन तथा पित्तकफज्वर को नष्ट करने वाला होता है ॥ ४२९ ॥

अथामृताष्टकक्वाथमाह—

अमृताकटुकाऽरिष्टपटोलघनचन्दनम् । नागरेन्द्रयवं चैतदमृताष्टकमीरितम् ॥ ४३० ॥

क्वथितं सकणाचूर्णं पित्तश्लेष्मज्वरापहम्। हृल्लासारोचकच्छर्दितृष्णादाहनिवारणम् ॥ ४३१ ॥

अमृताष्टक क्वाथ—गिलोय, कुटकी, नीम की छाल, परवल के पत्ते नागरमोथा, लालचन्दन, सोंठ, इन्द्रजौ इन आठ औषधों के समूह को "अमृताष्टक" कहते हैं। इसका क्वाथ बनाकर उसमें पीपल का चूर्ण डालकर पीने से पित्तकफज्वर नष्ट होता है तथा साथ २ हृल्लास (उबकाई), अरुचि, वमन, अधिक प्यास तथा दाह भी दूर होता है ॥ ४३०-४३१ ॥

अथ कण्टकार्यादिकाथः—

कण्टकार्यमृताभार्गीविश्वेन्द्रयववासकम्। भूनिम्बं चन्दनं मुस्तं पटोलं कटुरोहिणीम् ॥
विपाच्य पाययेत्काथं पित्तश्लेष्मज्वरापहम्। दाहतृष्णाऽरुचिच्छर्दिकासशूलनिवारणम् ॥

कण्टकार्यादि काथ—कटेरी, गिलोय, भारङ्गी, सोंठ, इन्द्रजौ, अडूसा, चिरायता, रक्तचन्दन, नागरमोथा, परवल के पत्ते और कुटकी इन सबों का काथ बनाकर पिलाने से पित्तकफज्वर नष्ट होता है। तथा दाह, अधिक प्यास, अरुचि, वमन, खांसी, और शूल भी दूर होता है। (काथ द्रव्य ४ तोले, क्वाथार्थ जल आध सेर, अवशेष १ छटाक, प्रातः सायं पिलाना चाहिये) ॥ ४३२-४३३ ॥

अथ नागरादिकाथमाह—

नागरोशीरबिल्वाब्दधान्यमोचरसाम्बुभिः। कृतः क्काथो भवेद् ग्राही पित्तश्लेष्मज्वरापहः ॥

नागरादिकाथ—सोंठ, खस, बेल की छाल, नागरमोथा, धनिया, मोचरस तथा सुगन्धवाला इन सबों का क्काथ सेवन करने से पित्तकफज्वर को नष्ट करने वाला तथा ग्राही (मलावरोधक) होता है ॥ ४३४ ॥

अथ कटुकीकल्कमाह—

शर्करामक्षमात्राञ्च कटुकीं चोष्णवारिणा। पीत्वा ज्वरं जयेज्जन्तुः पित्तश्लेष्मसमुद्भवम् ॥

कटुकी कल्क—कुटकी तथा शक्कर सफेद इन दोनों को मिलाकर एक तोला की मात्रा में लेकर कल्क बना डाले पश्चात् गर्म जल के साथ सेवन करने से पित्तकफज्वर नष्ट हो जाता है ॥ ४३५ ॥

*अत्र कटुकया द्वादश माषाः, शर्करायाश्चत्वारो माषा एवं कर्ष इति चरकः। वैद्यस्य व्यवहारे कटुकीशर्करयोः समभागयोरेव कर्षः-कटुकीकल्कः ॥ ४३५ ॥

यहां पर "कुटकी १२ माशा और शक्कर सफेद ४ मासा इस भांति से दोनों मिलकर एक तोला पूरा समझना चाहिये" ऐसा "चरक" का मत है। किन्तु वैद्य लोग व्यवहार में "कुटकी तथा शक्कर दोनों को समान भाग में लेकर एक तोला पूरा करते हैं" यह और भी समझना चाहिये ॥

अथ वासारसमाह—

सपत्रपुष्पवासाया रसः क्षौद्रसितायुतः। पित्तश्लेष्मज्वरं हन्ति साम्लपित्तं सकामलम् ॥

वासा (अडूसा) रस—पत्ते तथा फूलों के सहित अडूसे का स्वरस[१] निकाल कर उसमें मधु तथा सफेद शक्कर मिला कर पीने से अम्लपित्त तथा कामला से युक्त पित्तकफज्वर नष्ट हो जाता है ॥ ४३६ ॥

*अत्र वासारसोऽर्द्धपलपरिमितो देयः। मधुसितयोः प्रत्येकं टङ्कः प्रक्षेप्यः ॥ ४३६ ॥

यहां पर "अडूसे का स्वरस आधा पल (दो तोले) लेना चाहिये और शहद तथा सफेद शक्कर ये दोनों प्रत्येक एक २ टङ्क (चार २ माशे) लेकर उक्त स्वरस में मिला देना चाहिये" यह और भी समझ लेना चाहिये ॥ ४३६ ॥

---

१. पुष्प सहित अडूसे की कोमल पत्तियों को सिलपर महीन पीसकर स्वच्छ महीन वस्त्र में रखकर निचोड़ना चाहिये। इस प्रकार स्वरस प्राप्त होता है। महीन न पीसने से अडूसे से रस अच्छी तरह नहीं निकलता है।

अथ शृङ्गवेरादिकाथमाह—

कषायः परिपीतस्तु शृङ्गवेरपटोलयोः। पित्तश्लेष्मज्वरवमीदाहकण्डूहरो भवेत् ॥ ४३७ ॥

शृङ्गवेरादि क्वाथ—अदरख तथा परवल के पत्ते इन दोनों का एकत्र क्वाथ बनाकर पीने से पित्तकफ ज्वर, वमन, दाह तथा खुजली ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३७ ॥

अथान्नमाह—

पटोलधान्ययोर्यूषः पित्तश्लेष्मज्वरापहः ॥ ४३८ ॥

इति पित्तकफज्वराधिकारः समाप्तः।

अन्न—परवल के पत्ते तथा धनिये इन दोनों के क्वाथ से बना हुआ मूंग आदि का "यूष" पीना पित्तकफ ज्वर वाले रोगी के लिये पथ्य है। क्योंकि उक्त "यूष" पित्तकफ ज्वर को नष्ट भी करने वाला होता है ॥ ४३८ ॥

इति पित्तकफज्वराधिकारः समाप्तः।

अथ सन्निपातज्वराधिकारः।

*त्रिदोषजनकैर्वातः पित्तं श्लेष्माऽऽमगेहगाः। वहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं रसगा ज्वरकारिणः ॥

सन्निपात ज्वराधिकार में प्रथम सन्निपात ज्वर का निदान—त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) जनक आहार-विहारों के द्वारा कुपित हुये तीनों दोष (वात-पित्त-कफ) जब आमाशय में पहुंचते हैं तब वहां पर आमरस को दूषित करके कोठे के अग्नि की गर्मी को बाहर निकाल कर ज्वर को उत्पन्न करते हैं ॥ ४४९ ॥

*तत्र सन्निपातज्वरस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टकारणकथनपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—त्रिदोषेति ॥

यहां पर "सन्निपात ज्वर के दूर तथा समीप के कारणों को कहते हुये उसकी सम्प्राप्ति "त्रिदोषजनकैः" इत्यादिक श्लोक से कहा गया है" यह और समझना चाहिये ॥ ४३९ ॥

अथ सन्निपातज्वरस्य सामान्यानि लक्षणान्याह—

क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा। सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः। तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परा। ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा। स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥४४२॥
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम्। कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानाञ्च दर्शनम् ॥
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च। चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥

सन्निपात ज्वर के सामान्य लक्षण-क्षणभर में दाह होना और क्षण भर में शीत लगना, हड्डियों, सन्धियों तथा शिरके भागों में पीड़ा होना, दोनों नेत्रों का स्रावयुक्त, गंदला, लाल एवम् निकले हुये अथवा टेढ़े हो जाना, कानों में शब्द तथा पीड़ा होना, कण्ठ में जौ आदि धान्य के अग्रभाग के समान कांटों का हो जाना, तन्द्रा, मोह, प्रलाप, खांसी, श्वास, अरुचि तथा भ्रम होना, जिह्वा का अग्नि से जले के समान तथा स्पर्श में खरखरी मालूम पड़ना, सम्पूर्ण अङ्गों में अत्यन्त शिथिलता हो जाना, कफ से युक्त रक्त अथवा पित्त का थूकने के साथ निकलना, शिर को इधर उधर चलाना, अधिक प्यास लगना, नींद न आना, हृदय में पीड़ा, पसीना, मूत्र और विष्ठा का बहुत काल में थोड़ा २ निकलना, शरीर का अत्यन्त कृश न होना, निरन्तर कण्ठ में शब्द होना, शरीर में वर्रे के काटे हुये के समान अथवा सफेदी लिये काले तथा लाल रंग के चकत्तों का दिखाई पड़ना, एक दम न बोलना अथवा कम बोलना, कान नाक आदि स्रोतोमार्गों का पक जाना, पेट में भारीपन

मालूम होना, वातादि दोषों का चिरकाल में परिपाक होना ये सब लक्षण सन्निपातज्वर वाले रोगियों के होते हैं ॥ ४४०–४४४ ॥

***लोचने सास्रावे = साश्रुणी । कलुषे = अस्वच्छे । निर्भुग्ने = निर्गते कुटिले च । कण्ठः-शूकैरिवावृतः = धान्याग्रैरिवावृतः । जिह्वा परिदग्धा = परिदग्धेव ज्ञायते, अथ वा–परिदग्धेव कृष्णा दृश्यते । स्रस्ताङ्गता = शिथिलाङ्गता । ष्ठीवनमित्यादि = कफसंयुक्तस्य रक्तस्य ष्ठीवनम् । शिरसो लोठनम् = इतस्ततः शिरश्चालनम् । कृशत्वं नाति गात्राणामिति=गात्राणामतिशयितं कार्श्यं न, व्याधिप्रभावात् । प्रततं = निरन्तरम् । कोठः = 'वरटीदंशसंस्थानं कोठ इत्यभिधीयते'। श्यावः = कपिशो वर्णः । मूकत्वम् = अवचनत्वमल्पवचनत्वं वा स्रोतसां = कर्णनासाऽऽदीनाम् ।**

यहां पर "लोचने सास्रावे" पदों का "स्रावयुक्त अर्थात् आंसुओं से भरे हुये"। "कलुषे" पद का "गंदला"। "निर्भुग्ने" पद का "निकले हुये अथवा टेढ़े"। "कण्ठः शूकैरिवावृतः" इन पदों का "कण्ठ में जौ आदि धान्यों के अग्रभाग के समान कांटों का हो जाना"। "जिह्वा परिदग्धा" पदों का "जिह्वा का अग्नि से जले के समान अथवा जले के समान काली दिखाई पड़ना"। "स्रस्ताङ्गता" पद का "सम्पूर्ण अङ्गों में अत्यन्त शिथिलता होना"। "ष्ठीवनम्" इत्यादि पद का "कफ से युक्त रक्त तथा पित्त का थूकने के साथ निकलना"। "शिरसो लोठनम्" पदों का "शिर को इधर उधर चलाना"। "कृशत्वं नाति गात्राणाम्" पदों का "व्याधि के प्रभाव से शरीर का अत्यन्त कृश न होना"। "प्रततम्" पद का "निरन्तर"। "कोठ" पद का "बरैं के काटे हुये के समान चकत्ते" यह अर्थ समझना चाहिये। और "श्याव" पद का "कपिश अर्थात् सफेदी लिये काले"। "मूकत्वम्" पद का "एकदम न बोलना अथवा कम बोलना"। "स्रोतसाम्" पद का "कान, नाक आदि स्रोतोमार्गों का" यह अर्थ समझना चाहिये।

***ननु वातादयः परस्परविरुद्धगुणास्तेषां सम्भूय; एकत्र कार्यारम्भकत्वं नोपपद्यते परस्परोपघातादहनसलिलयोरिव, तत्कथं वातपित्तकफा मिलित्वा विकारोत्पादकाः ? अत्र समाधानमुक्तं दृढबलेन—**

अब यहां पर यह शङ्का होती है कि–वातादिक (वात, पित्त तथा कफ ये सब) दोष परस्पर विरुद्ध गुण वाले हैं, अतः इन सबों का एकत्र मिलकर किसी कार्य का करना युक्तियुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि ये सब परस्पर अग्नि तथा जल की भांति एक दूसरे को नष्ट करने वाले हैं इस लिये वात–पित्त तथा कफ ये सब परस्पर एक दूसरे को नष्ट करने वाले होने से एकत्र मिलकर किस प्रकार से किसी विकार (सन्निपातज्वर आदि) को उत्पन्न करने वाले हो सकते हैं ? इसका समाधान करते हुये "दृढबल" आचार्य ने यह कहा है कि—

***विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् । दोषाः सहजसात्म्यत्वाद्विषं घोरमहीनिव ॥८७॥**

वातादिक सम्पूर्ण दोष परस्पर विरुद्ध गुणों से युक्त होते हुये भी सहज तथा सात्म्य होने के कारण से अर्थात् एक साथ जन्म लेने तथा परस्पर एक दूसरे के लिये सात्म्य (बाधा न पहुँचाने वाले) होने से एक दूसरे को बाधा नहीं पहुँचाते हैं। जैसे कि—विष तथा सर्प एक साथ जन्म लेकर के भी भयङ्कर विष सर्प को कुछ बाधा (हानि) नहीं पहुँचाता है उसी भांति यहां भी समझना चाहिये ॥ ८७ ॥

***गदाधरस्तु हेत्वन्तरमुक्तवान्—**

***दैवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां सान्निपातिके । विरुद्धैश्च गुणैस्तैश्च नोपघातः परस्परम् ॥८८॥**

किन्तु "गदाधर" आचार्य इस विषय में दूसरा ही कारण बतलाते हैं, जो कि यह है—जहां पर

वातादिक दोषों का सन्निपात होता है अर्थात् एकत्र मिलकर कोई विकार उत्पन्न करते हैं वहां पर वे सब परस्पर विरुद्ध गुण वाले होकर के भी एक दूसरे को जो हानि नहीं पहुँचाते हैं उसमें दैव की इच्छा को अथवा सन्निपात स्थलों में परस्पर एक दूसरे को हानि न पहुँचाना यह जो दोषों का स्वभाव है उसको कारण मानना चाहिये। अर्थात् यह दोषों का स्वभाव है कि सन्निपात स्थल में एक दूसरे को हानि न पहुँचाते हुये भी मिलकर एक कार्य (विकार) को करते हैं यह कारण समझना चाहिये अथवा दैव की इच्छा कारण समझना चाहिये ॥ ८८ ॥

***ननु भिन्नचयप्रकोपकालानां वातपित्तकफानां युगपदुत्पत्त्यभावात्कथं सम्भूय सन्निपातज्वरारम्भकत्वमुपपद्यते? उच्यते—त्रिदोषजनकनिदानबलेन युगपदेषां प्रकोपादिति सिद्धान्तः ॥ ४४०-४४४ ॥**

और यहां पर एक दूसरी यह भी शङ्का उत्पन्न होती है कि—वात-पित्त तथा कफ इन सबों के सञ्चय तथा प्रकोप का काल भिन्न २ होने से इन सबों की उत्पत्ति एक साथ नहीं हो सकती है अतः ये सब मिलकर सन्निपात ज्वर को उत्पन्न करने वाले कैसे हो सकते हैं? इसके समाधान में यह कहते हैं कि—"त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) को उत्पन्न करने वाले निदान के बल से इन सबों का एक समय में ही प्रकोप होता है 'जिसके कारण से ये सन्निपात ज्वर को करने वाले होते हैं। यह सिद्धान्त है"। यहां पर यह और भी समझ लेना चाहिये ॥ ४४०-४४४ ॥

अथ सामान्यसन्निपातज्वरस्य त्रयोदशभेदानाह—

एकोल्वणास्त्रयस्तेषु द्व्युल्वणाश्च तथेति षट्। त्र्युल्वणश्च भवेदेको विज्ञेयः स तु सप्तमः ॥
प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च षट्। सन्निपातज्वरस्यैवं स्युर्विशेषास्त्रयोदश ॥ ४४६ ॥

सामान्य रूप से सन्निपात ज्वर के १३ भेद—त्रिदोष से उत्पन्न होने वाले सन्निपात ज्वरों में केवल एक २ दोष की उल्वणता (अधिकता) होने से तीन भेद सन्निपात ज्वर के होते हैं। दो २ दोषों की अधिकता से भी तीन भेद होते हैं। इस प्रकार से मिलकर ६ भेद हुये। और तीनों दोषों की अधिकता से एक भेद होता है जो कि सातवां समझा जाता है। और प्रवृद्ध, मध्य तथा हीन वात-पित्त तथा कफ के द्वारा ६ भेद और होते हैं। इस भांति से सन्निपात ज्वर के कुल १३ भेद सामान्य रूप से होते हैं ॥ ४४५-४४६ ॥

***अत्र प्रवृद्धवातो मध्यपित्तो हीनकफः १। मध्यवातः प्रवृद्धपित्तो हीनकफः २। हीनवातः प्रवृद्धपित्तो मध्यकफः ३। प्रवृद्धवातो हीनपित्तो मध्यकफः ४। मध्यवातो हीनपित्तः प्रवृद्धकफः ५। हीनवातो मध्यपित्तः प्रवृद्धकफः ६ इति षट् ॥ ४४५-४४६ ॥**

यहां पर १-वातोल्वण, २-पित्तोल्वण, ३-कफोल्वण, ४-वातपित्तोल्वण, ५-वातकफोल्वण, ६-पित्तकफोल्वण, ७-वातपित्तकफोल्वण, ये सात भेद हैं। और प्रवृद्ध-मध्य-हीन वात-पित्त कफ द्वारा ६ भेद ये हैं—८-प्रवृद्धवात-मध्यपित्त-हीनकफ १। ९-मध्यवात-प्रवृद्धपित्त-हीनकफ २। १०-हीनवात-मध्यपित्त-मध्यकफ ३। ११-प्रवृद्धवात-हीनपित्त-मध्यकफ ४। १२-मध्यवात-हीनपित्त-प्रवृद्धकफ ५। १३-हीनवात-मध्यपित्त-प्रवृद्धकफ ६। इस भांति से १३ भेद सामान्य रूप से सन्निपात ज्वर के समझने चाहिये ॥ ४४५-४४६ ॥

अथानुक्रमेण त्रयोदशसन्निपातनामान्याह—

विस्फारकश्चाशुकारी कम्पनो बभ्रसंज्ञकः। शीघ्रकारी तथा भल्लुः सप्तमः कूटपाकलः ॥४४७॥
सम्मोहकः पाकलश्च याम्यः क्रकच इत्यपि। ततः कर्कटकः प्रोक्तस्ततो वैदारिकाभिधः ॥

क्रम से उपर्युक्त १३ सन्निपात ज्वरों के नाम—१ विस्फारक, २ आशुकारी, ३ कम्पन, ४ बभ्र,

५ शीघ्रकारी, ६ भल्लु, ७ कूटपाकल, ८ सम्मोहक, ९ पाकल, १० याम्य, ११ क्रकच, १२ कर्कटक, १३ वैदारिक ये सब हैं ॥ ४४७–४४८ ॥

तन्त्रान्तरे 'विस्फारक' इत्यत्र 'विस्फोरक' इति पाठः। 'बभ्र' स्थाने 'बभ्रुरि'ति पाठः। 'भल्लुरि'त्यत्र 'फल्गुरि'ति पाठः। 'याम्य' इत्यत्र 'संग्राम' इति पाठः। 'कर्कटक' इत्यत्र 'कर्कोटक' इति पाठः॥ ४४७–४४८ ॥

यहां पर "अन्य ग्रन्थों में "विस्फारक" के स्थान पर "विस्फोरक"। "भ्रभ्र" के स्थान में "बभ्रु" कहीं २ पर "बद्ध"। और "भल्लु" इसके स्थान में "फल्गु"। "याम्य" के स्थान में "संग्राम्"। "कर्कटक" के स्थान में "कर्कोटक" यह पाठ मिलता है" यह और समझ लेना आवश्यक है ॥

तत्र वातोल्वणविस्फारकलक्षणम्—

श्वासः कासो भ्रमो मूर्च्छा प्रलापो मोहवेपथू। पार्श्वस्य वेदना जृम्भा कषायत्वं मुखस्य च ॥
वातोल्वणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। एष विस्फारको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः॥

वातोल्वण "विस्फारक" सन्निपात ज्वर के लक्षण—श्वास, कास, भ्रम, मूर्च्छा, प्रलाप (व्यर्थ बकना), मोह, कंपकंपी, पंसुलियों में पीड़ा, अधिक जंभाई आना और मुख में कसैलापन ये सब लक्षण जिस त्रिदोष में वात की अधिकता होती है उसके समझने चाहिये। इस सन्निपात ज्वर का नाम "विस्फारक" है, यह अत्यन्त भयङ्कर होता है ॥ ४४९–४५० ॥

अथ पित्तोल्वणाशुकारिलक्षणमाह—

अतिसारो भ्रमो मूर्च्छा मुखपाकस्तथैव च। गात्रे च बिन्दवो रक्ता दाहोऽतीव प्रजायते ॥
पित्तोल्वणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। भिषग्भिः सन्निपातोऽयमाशुकारी प्रकीर्त्तितः ॥

पित्तोल्वण "आशुकारी" सन्निपात ज्वर के लक्षण—अतीसार, भ्रम, मूर्च्छा, मुख का पकजाना, शरीर में लाल २ विन्दुओं का दिखाई पड़ना तथा अधिक दाह होना ये सब लक्षण पित्तप्रधान सन्निपात ज्वर के होते हैं। वैद्य लोग इस सन्निपात ज्वर का नाम "आशुकारी" कहते हैं ॥४५१–५२॥

अथ कफोल्वणकम्पनलक्षणमाह—

जडता गद्गदा वाणी रात्रौ निद्रा भवत्यपि। प्रस्तब्धे नयने चैव मुखमाधुर्यमेव च ॥४५३॥
कफोल्वणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। मुनिभिः सन्निपातोऽयमुक्तः कम्पनसंज्ञकः ॥

कफोल्वण "कम्पन" सन्निपात ज्वर के लक्षण—शरीर में जड़ता होना, गद्गद कण्ठ से बोलना रात्रि में अवश्य नींद आना, नेत्रों में स्तब्धता तथा मुख में मधुरता (मीठा खाये के समान मुख का स्वाद रहना) ये सब लक्षण कफप्रधान सन्निपात ज्वर के समझने चाहिये। और ऋषियों ने इस सन्निपात ज्वर का नाम" कम्पन कहा है ॥ ४५३–४५४ ॥

अथ वातपित्तोल्वणबभ्रलक्षणमाह—

वातपित्ताधिको यस्तु सन्निपातः प्रकुप्यति। तस्य ज्वरो मदस्तृष्णा मुखशोषः प्रमीलकः ॥
आध्मानारुचितन्द्राश्च कासश्वासभ्रमश्रमाः। मुनिभिर्बभ्रनामाऽयं सन्निपात उदाहृतः ॥

वातपित्तोल्वण "बभ्र" सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात में वात तथा पित्त ये दोनों दोष कफ की अपेक्षा अधिक रूप से कुपित होते हैं और उसमें जब ज्वर होता है तब मद (नशा चढ़े के समान मालूम पड़ना), अधिक प्यास, मुख का सूखना, नेत्रों का मिचे से रहना, आध्मान (आफारा), अरुचि, तन्द्रा, खांसी, श्वास, भ्रम तथा श्रम (थकावट) प्रतीत होना ये सब लक्षण उसके साथ २ प्रगट होते हैं। इसे मुनियों ने "बभ्र" नामक सन्निपात ज्वर कहा है ॥४५५–४५६॥

अथ वातकफोल्वणशीघ्रकारिलक्षणमाह—

[illegible] यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। तस्य शीतज्वरो मूर्च्छा क्षुत्तृष्णा पार्श्वनिग्रहः॥

शूलमस्विद्यमानस्य तन्द्रा श्वासश्च जायते । असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते ॥
न हि जीवत्यहोरात्रमनेनाविष्टविग्रहः ॥ ४५८ ॥

वातकफोल्वण "शीघ्रकारी" सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिसके वातकफ-प्रधान त्रिदोष प्रकुपित होता है उसे शीतज्वर, मूर्च्छा, भूख तथा प्यास अधिक लगना, पंसुलियों में पीडा, शूल, पसीने का न निकलना, तन्द्रा तथा श्वास ये सब प्रगट होते हैं। यह सन्निपात ज्वर असाध्य होता है, इसे वैद्य लोग "आशुकारी" कहते हैं। इससे युक्त रोगी अहोरात्र (२४ घण्टे) तक नहीं जीता है अर्थात् इसके अन्दर ही मर जाता है ॥ ४५७-४५८ ॥

अथ पित्तकफोल्वणभल्लुलक्षणमाह—

पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति । अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तृष्णा प्रवर्द्धते ॥
तुद्यते दक्षिणे पार्श्वं उरःशीर्षगलग्रहः । ष्ठीवति श्लेष्मपित्तञ्च कृच्छ्रात्कोठश्च जायते ॥४६०॥
विड्भेदश्वासहिक्काश्च वर्द्धन्ते सप्रमीलकाः । ऋषिभिर्भल्लुनामाऽयं सन्निपात उदाहृतः ॥

पित्तकफोल्वण "भल्लु" सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिसका पित्तकफ-प्रधान त्रिदोष प्रकुपित होता है और उससे जब ज्वर होता है तब शरीर के अन्दर दाह होना तथा ऊपर से सर्दी लगना, प्यास की अधिक वृद्धि, दाहिनी पंसुलियों में सुई चुभोने की सी पीड़ा होना, हृदय-मस्तक तथा गले में दबाने की सी पीड़ा होना, कठिनता से कफ तथा पित्त का थूक के साथ निकलना, कोठ (बर्रें के काटे हुये के समान शरीर में चकत्ते) पड़ जाना, एवम् मल का भेदन (दस्त पतला होना), श्वास, कास, हिचकी, तथा प्रमीलक (नेत्रों का मिचे से रहना) इन सबों का क्रम से बढ़ना, ये सब भी प्रगट होने लगते हैं। ऋषियों ने इसे "भल्लु" नामक सन्निपात ज्वर कहा है ॥ ४५९-४६१ ॥

अथ वातपित्तकफोल्वणकूटपाकललक्षणमाह—

सर्वदोषोल्वणो यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति । त्रयाणामपि दोषाणां तस्य रूपाणि लक्षयेत् ॥
व्याधिभ्यो दारुणश्चैव वज्रशस्त्राग्निसन्निभः। केवलोच्छ्वासपरमः स्तब्धाङ्गः स्तब्धलोचनः ॥
त्रिरात्रात्परमेतस्य जन्तोर्हरति जीवितम् । तदवस्थन्तु तं दृष्ट्वा मूढो व्याहरते जनः ॥४६४॥
धर्षितो राक्षसैर्नूनमवेलायां चरन्ति ये । अन्वया ब्रुवते के चिद्यक्षिण्या ब्रह्मराक्षसैः ॥४६५॥
पिसाचैर्गुह्यकैश्चैव तथाऽन्यैर्मस्तके हतम् । कुलदेवार्चनाहीनं धर्षितं कुलदैवतैः ॥४६६॥
नक्षत्रपीडामपरे गरकर्मेति चापरे । सन्निपातमिमं प्राहुर्भिषजः कूटपाकलम् ॥ ४६७ ॥

वातपित्तकफोल्वण "कूटपाकल" सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिसके त्रिदोष में सभी दोष प्रधान रूप से प्रकुपित होते हैं उसको जब ज्वर होता है तब उसमें तीनों दोषों के लक्षण प्रगट होते हैं और यह सन्निपात ज्वर अन्य रोगों का अपेक्षा अधिक भयङ्कर होता है। एवम् वज्र (बिजुली), शस्त्र तथा अग्नि के समान शीघ्र प्राणनाशक होता है, और इसमें रोगी केवल ऊँचा श्वास लेता रहता है, सम्पूर्ण शरीर जकड़ जाता हैं, आंखें पथरा जाती है, एवम् तीन रात्रि के बाद ही यह सन्निपात ज्वर रोगी का प्राण हर लेता है। और इस सन्निपात ज्वर वाले रोगी को देख कर जो आयुर्वेद शास्त्र के अनभिज्ञ लोग हैं वे सब यह कहते हैं कि—इसके ऊपर असमय (आधी रात, दोपहर आदिक समय) में चलने फिरने वाले जो राक्षस लोग हैं, उन्होंने आक्रमण किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। और कोई यह कहते हैं कि—मातृग्रह से यह आक्रान्त है, कोई यक्षिणी से, कोई ब्रह्मराक्षसों से, कोई पिशाचों से, कोई गुह्यकों से यह आक्रान्त हुआ है ऐसा बतलाते हैं। तथा कोई यह भी कहते हैं कि—उपर्युक्त देवयोनियों से अन्य कोई उपदेव इसके शिर पर आविष्ट हुआ है, अथवा कुलदेवता का पूजन न करने से इसके ऊपर कुलदेवता का आक्रमण हुआ है। और कोई यह कहते हैं कि—इसे

नक्षत्र सम्बन्धी पीड़ा है तथा कोई गर (कृत्रिम विष) कर्म अर्थात् किसीके द्वारा इसके ऊपर विष प्रयोग हुआ है ऐसा कहते हैं। और वैद्य लोग इस सन्निपात ज्वर को "कूटपाकल" कहते हैं॥

अथाधिकवातमध्यपित्तहीनकफसम्मोहकसन्निपातलक्षणान्याह—

प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥४६८॥
प्रलापायाससम्मोहकम्पमूर्च्छाऽरतिभ्रमाः। एकपक्षाभिघातश्च तत्राप्येते विशेषतः॥ ४६९ ॥
एष सम्मोहको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः ॥ ४७० ॥

अधिकवात-मध्यपित्त-हीनकफ वाले "संमोहक" संनिपात ज्वर के लक्षण—प्रवृद्ध (अधिक बढ़ा हुआ) वात-मध्यपित्त-हीनकफ ये तीनों दोष जहां पर मिलकर संनिपात ज्वर को उत्पन्न करते हैं अर्थात् अधिक वात-मध्यपित्त-हीनकफ वाले "संमोहक" नामक संनिपात ज्वर में वातादिकों के जो रोग पृथक् २ कहे हुये हैं वे सब दोषबलानुरूप सामान्य रूप से अवश्य होते हैं किन्तु साथ २ में प्रलाप, श्रम मालूम पड़ना, मोह, कम्प, मूर्च्छा, अरति (किसी में चित्त का न लगना), भ्रम तथा एक भाग में पक्षाघात (लकवा) हो जाना ये सब विशेष रूप से रहते हैं। इस भयंकर संनिपात का नाम मुनियों ने "संमोहक" रक्खा है॥ ४६८-४७० ॥

***रोगास्त एवोक्ताः= उक्ता एव ते रोगा व्यथावेपथुनिद्रानाशविष्टम्भादयो वातजाः, दाहतृष्णोष्णतास्वेदादयः पित्तजाः, गौरवाग्निमान्द्योत्कासनासिकामुखप्रसेकादयः कफजाः। तत्रापि प्रलापादयः पक्षाघातान्ता विशेषाद्भवन्ति। ननु वातः प्रवृद्धः स ज्वरं करिष्यति, पित्तन्तु मध्यं = सममिति यावत्, तत्कथं ज्वरं करिष्यति ? यत आह—**

***धातवस्तन्मला दोषाः स्युर्नाशायासमास्तनौ।**
समाः सुखाय विज्ञेया बलायोपचयाय च ॥ ८९ ॥ इति।

यहां पर मूल में "रोगास्त एवोक्ता :—अर्थात् वातादिकों के जो रोग पृथक् २ कहे हुये हैं वे ही सब" ऐसा जो कहा हुआ है, वहां पर वातादिकों के रोग निम्नलिखित ये सब समझने चाहिये। वात सम्बन्धी रोग—पीड़ा, कंपकंपी, नींद न आना तथा विष्टम्भ आदिक ये सब है। पित्तसम्बन्धी रोग-दाह, अधिक प्यास तथा गर्मी मालूम पड़ना और पसीना निकलना इत्यादिक ये सब हैं। कफ सम्बन्धी रोग—शरीर में गुरुता, अग्नि की मन्दता, अधिक खांसी तथा नाक और मुख से पानी गिरना ये सब है। यहां पर उपर्युक्त वातादिजन्य सभी रोग प्रवृद्धवात-मध्यपित्त-हीनकफ वाले इस संनिपात ज्वर में दोषबलानुसार होते हैं। अर्थात् इस संनिपात में वायु का अधिक बल होने से वातजन्य रोग प्रबल रूप से होते हैं, पित्त का बल मध्यम होने से पित्तजन्य रोग मध्य रूप से होते हैं तथा कफ का बल हीन होने से कफजन्य रोग हीनरूप से होते हैं। किन्तु इन सब रोगों के होते हुये भी इस संनिपात में प्रलाप से लेकर पक्षाघात (लकवा) पर्यन्त जो रोग मूल में कहे हुये हैं वे सब विशेष रूप से होते हैं।" यह और समझना चाहिये।

और यहां पर यह शङ्का होती है कि-इस संनिपात में वायु अधिक बढ़ा हुआ रहता है अतः वह ज्वर उत्पन्न करता है किन्तु पित्त तो मध्यम अर्थात् समान रूप से है तब वह कैसे ज्वर उत्पन्न करेगा ? क्योंकि कहा भी है कि-रस, रक्तादिक धातुयें और उनके मल एवम् वातादिक दोष ये सब शरीर में समान भाव से न रहने पर अर्थात् विषम अवस्था में रहने पर शरीर के नाश करने वाले होते हैं। और यदि समान भाव में रहें तो शरीर को बढ़ाने वाले, बल तथा सुख को करने वाले होते हैं॥ ८९ ॥

***उच्यते—अत्र पित्तं मध्यमप्यप्रकृतमेव, यतोऽप्रकृतयोर्वातश्लेष्मणोरपेक्षया मध्यं,**

तेन मध्यकुपितमित्यर्थः। ननु कफः क्षीणः स कथं ज्वरं करिष्यति ? हीनशक्तित्वाद्, उच्यते–दोषाः क्षीणा अपि व्याधीन् कुर्वन्त्येव। यत आह—

*वातक्षयेऽल्पचेष्टत्वं मन्दवाक्त्वं विसंज्ञता।
पित्तक्षयेऽधिकः श्लेष्मा वह्निर्मन्दः प्रभाक्षयः। शिथिलाः सन्धयो मूर्च्छा रौक्ष्यं दाहः कफक्षये॥

इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—यहाँ पर पित्त यद्यपि मध्यम भाव से है तथापि वह प्रकृति से (स्वभावतः) मध्यमभाव में नहीं हैं बल्कि विकृति रूप से मध्यम है अर्थात् विकृति रूप में स्थित प्रवृद्धवात तथा हीनकफ की अपेक्षा मध्यम है इससे मध्यम रूप से कुपित है। अतः जब कुपित है तब ज्वर उत्पन्न करने में अवश्य समर्थ है। पुनः यह शङ्का होती है कि—इस संनिपात में कफ तो क्षीण है अतः वह कैसे हीन होकर ज्वर को उत्पन्न करता है जब कि स्वयं (कफ) हीन शक्ति वाला है ?

इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—दोष क्षीण होने पर भी रोगों को उत्पन्न करने वाले होते ही हैं। क्योंकि कहा भी है कि—वायु के क्षीण होने पर चेष्टा अल्प हो जाती है, वाणी मन्द पड़ जाती है, होश नहीं रह जाता है। पित्त के क्षय होने पर कफ अधिक बढ़ जाता है, अग्नि मन्द हो जाती है, कान्ति नष्ट हो जाती है। कफ के क्षय होने पर सन्धियाँ शिथिल हो जाती हैं तथा मूर्च्छा, रूक्षता एवम् दाह उत्पन्न होता है ॥ ९० ॥

*इत्याशङ्का शिद्धान्तश्चात्र परत्रापि ॥ ४६८–४७० ॥

इस प्रकार की शङ्का तथा समाधान अन्य सभी सन्निपातों में समझना चाहिए ॥४६८–४७०॥

अथ मध्यवाताधिकपित्तहीनकफपाकलसन्निपातलक्षणान्याह—

मध्यप्रवृद्धहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥ ४७१ ॥
मोहप्रलापमूर्च्छाः स्युर्मन्यास्तम्भः शिरोग्रहः। कासः श्वासो भ्रमस्तन्द्रा संज्ञानाशो हृदि व्यथा
खेभ्यो रक्तं विसृजति सरक्तस्तब्धनेत्रता। तत्राप्येते विशेषाः स्युर्मृत्युरर्वाक् त्रिवासरात्।
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं कथितः पाकलाभिधः ॥ ४७२ ॥

मध्यवात–अधिकपित्त–हीनकफ वाले "पाकल" सन्निपात के लक्षण—मध्यवात–अधिकपित्त तथा हीन कफ के द्वारा जो संनिपातज्वर होता है, उसमें वातादि दोष जनित जो पूर्वोक्त रोग हैं, वे ही सब दोषबलानुसार प्रगट होते हैं। और विशेषतः मोह, प्रलाप, मूर्च्छा, मन्यास्तम्भ (नाड का जकड़ जाना), शिरोग्रह (शिर में पीड़ा), खांसी, श्वास, भ्रम, तन्द्रा, संज्ञा का नाश, हृदय में व्यथा, मुख–नासिका आदि इन्द्रियों के छिद्रों से रक्त गिरना, नेत्रों में लालिमा तथा स्तब्धता (जड़ता) हो जाना ये सब होते हैं। और इस संनिपात में तीन दिन पूर्ण होने के पहिले ही रोगी की मृत्यु हो जाती है, एवम् वैद्यलोग इसे "पाकल" नामक संनिपात कहते हैं ॥ ४७१–४७२॥

अथ हीनवाताधिकपित्तमध्यकफयाम्यसन्निपातलक्षणमाह—

हीनप्रवृद्धमध्यैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥४७४॥
हृदयं दह्यते चास्य यकृत्प्लीहान्त्रफुस्फुसाः। पच्यन्तेऽत्यर्थमूर्द्ध्वाधः पूयशोणितनिर्गमः॥
शीर्णदन्तश्च मृत्युश्च तत्राप्येतद्विशेषतः। भिषग्भिः सन्निपातोऽयं याम्यो नाम्ना प्रकीर्त्तितः॥

हीनवात–अधिकपित्त–मध्यकफ वाले "याम्य" संनिपात के लक्षण—हीनवात–अधिकपित्त तथा मध्यकफ इन सबों के द्वारा जो संनिपात ज्वर होता है उसमें पूर्वोक्त वातादिकों के जो दाहादिक रोग हैं वे सब दोषबलानुसार प्रगट होते ही हैं तथापि विशेषरूप से रोगी के हृदय में दाह होता है; और यकृत–प्लीहा–आँतें तथा फुस्फुस ये सब पक जाते हैं; ऊपर मुखादिक मार्ग से तथा नीचे

गुदादिक मार्ग से पूय (पीब) तथा रक्त निकलने लगता है; दांत गिरने लगते हैं; यहाँ तक कि मृत्यु भी हो जाती है। और वैद्य लोग इसे "याम्य" नामक सन्निपात कहते हैं ॥ ४७४-४७६ ॥

अथाधिकवातहीनपित्तमध्यकफक्रकचसन्निपातलक्षणमाह—

प्रवृद्धहीनमध्यस्तु वातपित्तकफैश्च यः । तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोपबलाश्रयाः ॥४७७॥
प्रलापायाससम्मोहाः कम्पमूर्च्छाऽरतिभ्रमाः। मन्यास्तम्भेन मृत्युः स्यात्तत्राप्येतद्विशेपतः ॥
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं क्रकचः सम्प्रकीर्त्तितः ॥ ४७९ ॥

अधिकवात-हीनपित्त-मध्यकफ वाले "क्रकच" संनिपात के लक्षण—अधिकवात—हीनपित्त तथा मध्यकफ इन सबों के द्वारा जो संन्निपात ज्वर होता है उसमें पूर्वोक्त वातादिकों के जो दाहादिक रोग हैं वे सब दोषबलानुसार प्रगट होते ही हैं तथापि विशेष रूप से; प्रलाप; परिश्रम, मोह, कम्प; मूर्च्छा; अरति (वेचैनी) भ्रम ये सब भी प्रगट होते हैं। और मन्यास्तम्भ (नाड़ के जकड़ जाने) से मृत्यु भी हो जाती है। वैद्य लोग संनिपात का नाम "क्रकच" कहते हैं ॥ ४७७-४७९ ॥

अथ मध्यवात-हीनपित्त-मध्यकफकर्कटसन्निपातलक्षणमाह—

मध्यहीनप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः । तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोपबलाश्रयाः ॥४८०॥
अन्तर्दाहो विशेषोऽत्र न च वक्तुं स शक्यते । रक्तमालक्तकेनैव लक्ष्यते मुखमण्डलम् ॥
पित्तेनाकर्षितः श्लेष्मा हृदयान्न प्रसिच्यते । इषुणेवाहतं पार्श्वं तुद्यते खन्यते हृदि ॥४८२॥
प्रमीलकश्वासहिक्का वर्द्धन्ते तु दिने दिने । जिह्वा दग्धा खरस्पर्शा गलः शूकैरिवावृतः ॥४८३॥
विसर्गं नाभिजानाति कूजेच्चापि कपोतवत्। अतीव श्लेष्मणा पूर्णः शुष्कवक्त्रौष्ठतालुकः ॥४८४॥
तन्द्रानिद्राऽतियोगार्त्तो हतवाङ् निहतद्युतिः । न रतिं लभते नित्यं विपरीतानि चेच्छति ॥
आयम्यते च बहुशो रक्तं ष्ठीवति चाल्पशः । एष कर्कटको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः ॥४८६॥

मध्यवात-हीनपित्त-मध्यकफ वाले "कर्कट"[1] संनिपात ज्वर के लक्षण—मध्यवात-हीन-पित्त—मध्यकफ इन सबों के द्वारा जो संनिपात ज्वर होता है उसमें वातादिकों के पूर्वोक्त जो दाहादिक रोग हैं वे सब दोषबलानुसार प्रगट होते ही हैं तथाऽपि विशेष रूप से शरीर के अन्दर दाह होता है; बोलने में असमर्थता हो जाती है; आलता लगे हुये के समान मुख लाल रंग का हो जाता है; पित्त से खींचा हुआ कफ हृदय से बाहर नहीं निकलता है; पंसुलियों में बाण चुभे हुये के समान पीड़ा होती है; और हृदय में खोदने के समान पीडा होती है एवम् प्रमीलक (सम्पूर्ण इन्द्रियों की अपने २ विषयों के ग्रहण करने में असमर्थता); श्वास; हिचकी ये सब रोग दिन पर दिन बढने लगते हैं; जिह्वा जली हुई के समान तथा स्पर्श में खरदरी हो जाती है; गले के अन्दर शूकधान्य-जौ आदिक के अग्रभाग के समान कांटे चारो तरफ निकल आते हैं; मल-मूत्रादिक के निकलने का ज्ञान नहीं रह जाता है; कबूतर के समान अस्फुट शब्द गले से निकलने लगता है; कण्ठ कफ से अत्यन्त

---

१. कर्कटक सन्निपात की समता आधुनिक काल में न्यूमोनिया नाम के रोग के साथ मिलती है। दाह तथा वात के कारण रूक्ष त्वचा (Hot and dry skin); बेचैनी के कारण बोलने में असमर्थता; मुख का अलक्तक की भांति रक्तवर्ण (Flushed face) होना; कफ का आसानी से बाहर न निकलना (Tenacious sputum); पसुलियों में बाण के चुभने की भांति पीड़ा; (Stabbing Pain in the affected side); श्वास (Herried repiration); हिचकी; कबूतर के समान अस्फुट शब्द कहना (Delirium), बारबार हाथ-पैर फैंकना (कान वलसन्स-Convalescence) इत्यादि सभी लक्षण पाये जाते हैं। इसका विस्तृत विवरण अलग परिशिष्ट में देखिये।

भरा रहता है; मुख-ओष्ठ तथा तालु सूखने लगते हैं; तन्द्रा तथा निद्रा के अधिक आने से दुःखी रहता है; बोलने की शक्ति तथा शरीर की कान्ति नष्ट हो जाती है। किसी भी अवस्था में शान्ति नहीं मिलती है; विपरीत पदार्थों की सदा इच्छा होती है; और बारम्बार हाथ-पैर को फैलाता रहता है और थूकके साथ किञ्चित् २ रक्त आने लगता है। इन सब लक्षणों से युक्त अत्यन्त भयङ्कर इस संनिपात का नाम वैद्य लोग "कर्कटक" कहते हैं ॥ ४८०-४८६ ॥

अथ हीनवातमध्यपित्ताधिककफवैदारिकसन्निपातलक्षणमाह—

हीनमध्यप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥४८७॥
अल्पशूलं कटीतोदो मध्ये दाहो रुजा भ्रमः। भृशं क्लमः शिरोवस्तिमन्याहृदयवाग्रुजः ॥
प्रमीलकः श्वासकासहिक्काजाड्यविसंज्ञताः। प्रथमोत्पन्नमेनन्तु साधयन्ति कदा चन ॥४८९॥
एतस्मिन्सन्निवृत्ते तु कर्णमूले सुदारुणा। पिडिका जायते जन्तोर्यया कृच्छ्रेण जीवति ॥४९०॥
स वैदारिकसंज्ञोऽयं सन्निपातः सुदारुणः। त्रिरात्रात्परमेतस्य व्यर्थमौषधकल्पनम् ॥४९१॥

हीनवात-मध्यपित्त-अधिककफ वाले "वैदारिक" संनिपात के लक्षण-हीनवात-मध्यपित्त-अधिककफ इन सबों के द्वारा जो संनिपात ज्वर होता है उसमें वातादिकों के जो पूर्वोक्त दाहादिक रोग होते हैं वे सब दोषबलानुसार होते ही हैं तथापि विशेष रूप से उसमें थोड़ा २ शूल; कमर में सूई चुभाने की सी पीड़ा छाती में दाह तथा पीड़ा, भ्रम; अत्यन्त क्लान्ति एवम् शिर-वस्ति (मूत्राशय) मन्या (नाड)-हृदय इन स्थानों में तथा बोलने में पीड़ा होना; प्रमीलक (नेत्रों का मिचते जाना); श्वास; खांसी; हिचकी; शरीर में जड़ता और अत्यन्त बेहोशी होना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं। और उत्पन्न होने के साथ ही यदि इस सन्निपात वाले रोगी की चिकित्सा की जाय तो कदाचित् वह बच सकता है अन्यथा उसकी मृत्यु निश्चित रहती है। और इस संनिपात के निवृत्त होने पर रोगी के कान के मूल भाग में अत्यन्त भयङ्कर फुड़िया उत्पन्न होती है, जिससे कि रोगी बड़ी कठिनता से मरने से बचता है। अन्यथा प्रायः मृत्यु हो जाती है। इस भयङ्कर संनिपात को वैद्य लोग "वैदारिक" नाम कहते हैं। तीन रात्रि के अन्दर यदि इसकी उचित चिकित्सा न की जाय तो बाद में औषध देना व्यर्थ हो जाता है, अर्थात् रोगी मरने से नहीं बचता है ॥ ४८७-४९१ ॥

अथ संनिपातज्वरविशेषाणां तन्त्रान्तरस्थनामान्याह—

शीताङ्गस्त्विमलोद्भवज्वरगणे तन्द्री प्रलापी ततो—
रक्तष्ठीवयिता च तत्र गणितः सम्भुग्ननेत्रस्तथा।
साभिन्यासकजिह्वकश्च कथितः प्राक्सन्धिगोऽथान्तको—
रुग्दाहः सहचित्तविभ्रम इह द्वौ कर्णकण्ठग्रहौ ॥ ४९२ ॥

उक्त विशेष संनिपात ज्वरों के ग्रन्थांतर में कहे हुये नाम—१ शीताङ्ग २ तन्द्री; ३ प्रलापी ४ रक्तष्ठीवयिता ५ संभुग्ननेत्र ६ अभिन्यासक ७ जिह्वक ८ सन्धिक ९ अन्तक १० रुग्दाह ११ चित्त-विभ्रम १२ कर्णग्रह १३ कण्ठग्रह ये १३ नाम त्रिदोष से उत्पन्न होने वाले ज्वरों के ग्रन्थान्तरों में कहे हुये हैं ॥ ४९२ ॥

ॐअथ तन्त्रान्तरे वातोल्वणादीनां सन्निपातज्वरविशेषाणां त्रयोदशानां शीताङ्गादीनि त्रयोदशनामान्तराणि लक्षणान्तराणि चाह—शीताङ्ग इति। तन्द्री = तन्द्रिकः, प्रलापी = प्रलापकः, रक्तष्ठीवयिता = रक्तष्ठीवी, सम्भुग्ननेत्रः = भुग्ननेत्रः, अभिन्यासकः=अभिन्यासः, कर्णकण्ठग्रहौ = कर्णग्रहः, कर्णिकः। कण्ठग्रहः = कण्ठकुब्जकः ॥ ४९२ ॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—पूर्वोक्त वातोल्वणादिक १३ विशेष संनिपात ज्वरों के शीताङ्गादिक दूसरे १३ नाम ये सब हैं तथा उनके अन्य प्रकार से लक्षण भी आगे कहे

जाने वाले हैं। और मूल में "तन्द्री" पद से "तन्द्रिक"। "प्रलापी" पद से "प्रलापक"। "रक्तष्ठीवयिता" पद से "रक्तष्ठीवी"। "संभुग्ननेत्र" पद से "भुग्ननेत्र। "अभिन्यासक" पद से "अभिन्यास"। "कर्णकण्ठग्रहौ" अर्थात् "कर्णग्रह" पद से "कर्णिक तथा "कण्ठग्रह" पद से "कण्ठकुब्जक" संनिपात का ही बोध करना चाहिये॥ ४९२॥

अथ तेषां प्रत्येकं लक्षणानि।

तत्र शीताङ्गसन्निपातलक्षणमाह—

हिमशिरशरीरः सन्निपातज्वरी यः-श्वसनकसनहिक्कामोहकम्पप्रलापः।
क्लमबहुकफवातादाहवम्यङ्गपीडा-स्वरविकृतिभिरार्त्तः शीतगात्रः स उक्तः॥ ४९३॥

शीताङ्गादिक संनिपातज्वरों के प्रत्येक लक्षणों में से प्रथम "शीताङ्ग" संनिपातज्वर के लक्षण—जिस संनिपात ज्वर में रोगी का शरीर बर्फ के समान शीतल हो और श्वास, खांसी, हिचकी, मोह, कम्प, प्रलाप, क्लान्ति तथा अधिक कफ का निकलना एवम् वायु का अधिक कुपित होना, दाह, वमन, अङ्गों में पीडा, स्वर में विकृति ये सब लक्षण प्रगट हों तो उसे "शीतगात्र" अर्थात् "शीताङ्ग" संनिपात ज्वर कहते हैं॥ ४९३॥

अथ तन्द्रिकसन्निपातलक्षणमाह—

तन्द्राऽतीव ततस्तृषाऽतिसरणं श्वासोऽधिकः कासरुक्-
सन्तप्तातितनुर्गले श्वयथुना सार्द्धञ्च कण्डूः कफः।
सुश्यामा रसना क्लमः श्रवणयोर्मान्द्यञ्च दाहस्तथा
यत्र स्यात्स हि तन्द्रिको निगदितो दोषत्रयोत्थो ज्वरः॥ ४९४॥

तन्द्रिक संनिपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में रोगी को अधिक तन्द्रा आती हो तथा प्यास अधिक लगती हो एवम् अतीसार, अधिक श्वास और खाँसी हो, शरीर अधिक गर्म हो, गले में सूजन के साथ खुजली तथा कफ हो जीभ काली हो एवम् क्लान्ति, कानों से अत्यन्त स्वल्प सुनाई पड़ना और दाह ये सब हों तो उसे वैद्यलोग त्रिदोष से उत्पन्न हुआ "तन्द्रिक" ज्वर कहते हैं॥४९४॥

अथ प्रलापकसन्निपातलक्षणमाह—

यत्र ज्वरे निखिलदोषनितान्तरोष-जाते प्रलापबहुलाः सहसोत्थिताश्च।
कम्पव्यथापतनदाहविसंज्ञताः स्यु-र्नाम्ना प्रलापक इति प्रथितः पृथिव्याम्॥ ४९५॥

प्रलापक संनिपातज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में वातादिक संपूर्ण दोषों के प्रकुपित होने से रोगी अधिक प्रलाप करता हो तथा उठ २ कर भागता हो एवम् कम्प, शरीर में पीड़ा, उठने पर लड़खड़ा कर गिर पड़ना, दाह तथा अत्यन्त बेहोशी (किसी विषय का ख्याल न रहना) ये सब लक्षण प्रगट हों तो उसे संसार में प्रसिद्ध "प्रलापक" संनिपात ज्वर कहते हैं॥ ४९५॥

अथ रक्तष्ठीविसंनिपातलक्षणमाह—

निष्ठीवो रुधिरस्य रक्तसदृशं कृष्णं तनौ मण्डलं-
लौहित्यं नयने तृषाऽरुचिवमिश्वासातिसारभ्रमाः॥
आध्मानञ्च विसंज्ञता च पतनं हिक्काऽङ्गपीडा भृशं-
रक्तष्ठीविनि सन्निपातजनिते लिङ्गं ज्वरे जायते॥ ४९६॥

रक्तष्ठीवी सन्निपातज्वर के लक्षण—थूकने पर रक्त निकलना, शरीर में रक्त वर्ण के तथा काले चकत्तों का होना, नेत्रों में लालिमा, अधिक प्यास, अरुचि, वमन, श्वास, अतीसार, भ्रान्ति, अफरा, होश न रहना, उठते २ लड़खड़ा कर गिर पड़ना, हिचकी, अङ्गों में अत्यन्त पीडा होना ये सब लक्षण रक्तष्ठीवी सन्निपातज्वर वाले रोगी में होते हैं॥ ४९६॥

अथ भुग्ननेत्रसन्निपातज्वरलक्षणमाह—

भृशं नयनवक्रता श्वसनकासतन्द्रा भृशं-प्रलापमदवेपथुश्रवणहानिमोहास्तथा ॥
पुरो निखिलदोषजे भवति यत्र लिङ्गं ज्वरे पुरातनचिकित्सकैः स इह भुग्ननेत्रो मतः ॥

भुग्ननेत्र सन्निपातज्वर के लक्षण—जिस सन्निपातज्वर में रोगी के नेत्रों में टेढ़ापन हो एवम् श्वास, तन्द्रा, अधिक प्रलाप, मद, कम्प, वधिरता (कानों से अत्यन्त कम सुनाई पड़ना) तथा मोह ये सब लक्षण प्रगट हों तो उसे प्राचीन वैद्यलोग भुग्ननेत्र संनिपात कहते हैं ॥ ४९७ ॥

अथाभिन्याससन्निपातलक्षणमाह—

दोषास्तीव्रतरा भवन्ति बलिनः सर्वेऽपि यत्र ज्वरे
मोहोऽतीव विचेष्टता विकलता श्वासो भृशं मूकता ॥
दाहश्चिक्कणमाननञ्च दहनो मन्दो बलस्य क्षयः
सोऽभिन्यास इति प्रकीर्त्तित इह प्राज्ञैर्भिषग्भिः पुरा ॥ ४९८ ॥

अभिन्यास सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपातज्वर में सम्पूर्ण वातादिक दोष अत्यन्त तीव्र तथा बलवान् हों एवम् रोगी में अधिक मोह तथा चेष्टाहीनता हो और विकलता, अधिक श्वास, मूकता (न बोलना), दाह, मुख में चिकनापन, अग्नि की मन्दता तथा बल की हानि ये सब हों तो उसे प्राचीन वैद्यजन "अभिन्यास" नामक सन्निपात कहते हैं ॥ ४९८ ॥

अथ जिह्वकसन्निपातज्वरलक्षणमाह—

त्रिदोषजनिते ज्वरे भवति यत्र जिह्वा भृशं-वृता कठिनकण्टकैस्तदनु निर्भरं मूकता ॥
श्रुतिक्षतिबलक्षतिश्वसनकाससन्तप्तताः-पुरातनभिषग्वरास्तमिह जिह्वकं चक्षते ॥ ४९९ ॥

जिह्वक सन्निपातज्वर के लक्षण—जिस सन्निपातज्वर में रोगी की जिह्वा में अत्यन्त कठिन काँटे पड़ जाँय तथा उसके बाद ही अत्यन्त मूकता हो जाय अर्थात् वह किसी प्रकार से बोल न सके, और सुनने की शक्ति तथा बल की हानि हो एवम् श्वास, खांसी तथा शरीर में अधिक ताप हो तो उसे प्राचीन वैद्यजन "जिह्वक" सन्निपात कहते हैं ॥ ४९९ ॥

अथ सन्धिगसन्निपातलक्षणमाह—

व्यथाऽतिशयिता भवेच्छ्वयथुसंयुता सन्धिषु, प्रभूतकफता मुखे विगतनिद्रता कासरुक् ॥
समस्तमिति कीर्त्तितंभवति लक्ष्म यत्र ज्वरे, त्रिदोषजनिते बुधैः स हि निगद्यते सन्धिगः ॥

सन्धिग सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर में रोगी के सन्धिस्थानों में शोथ के साथ २ अधिक पीड़ा भी हो और मुख में अत्यन्त कफ लिपटा रहता हो, नींद न आती हो तथा खांसी अधिक आती हो तो उसें वैद्यजन "सन्धिग" सन्निपात कहते हैं ॥ ५०० ॥

अथान्तकसन्निपातलक्षणमाह—

यस्मिँल्लक्षणमेतदस्ति सकलैर्दोषैरुदीते ज्वरे-ऽजस्रं मूर्द्धविधूननं सकसनं सर्वाङ्गपीडाऽधिका ॥
हिक्काश्वाससदाहमोहसहिता देहेऽतिसन्तप्तता,
वैकल्यञ्चवृथावचांसि मुनिभिः संकीर्त्तितः सोन्तकः ॥ ५०१ ॥

अन्तक सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर में रोगी निरन्तर शिर को हिलाया करै तथा खांसी, सर्वाङ्ग में अधिक पीड़ा, हिचकी, श्वास, दाह, मोह, देह में अत्यन्त सन्ताप, विकलता और व्यर्थ बकवाद करना ये सब लक्षण देख पड़ते हों तो उसे आयुर्वेदज्ञ मुनिजन "अन्तक" नामक सन्निपात कहते हैं ॥ ५०१ ॥

अथ रुग्दाहसन्निपातलक्षणमाह—

दाहोऽधिको भवति यत्र तृषा च तीव्रा श्वासप्रलापविरुचिभ्रममोहपीडाः ॥

मन्याहनुव्यथनकण्ठरुजः श्रमश्च रुग्दाहसंज्ञ उदितस्त्रिभवो ज्वरोऽयम् ॥ ५०२ ॥

रुग्दाह सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर में रोगी को अधिक दाह होता हो तथा प्यास अधिक लगती हो एवम् श्वास, प्रलाप, विरुचि (विपरीत रुचि), भ्रम, मोह, पीड़ा, मन्या (नाड) तथा ठोडी में अत्यन्त वेदना, कण्ठ में पीड़ा, थकावट ये सब लक्षण प्रकट हो रहे हों तो उसे "रुग्दाह" संज्ञक सन्निपात समझना चाहिये ॥ ५०२ ॥

अथ चित्तभ्रमसन्निपातलक्षणमाह—

गायति नृत्यति हसति प्रलपति विकृतं निरीक्षते मुह्येत्।
दाहव्यथाभयार्त्तो नरस्तु चित्तभ्रमे ज्वरे भवति ॥ ५०३ ॥

चित्तभ्रम सन्निपात ज्वर के लक्षण—"चित्तभ्रम" सन्निपातज्वर में रोगी गाना गाता है, नाचता है, हंसता है, प्रलाप करता है, बुरे ढंग से देखता है तथा मोह को प्राप्त होता है एवम् दाह, व्यथा तथा भय से पीड़ित होता है ॥ ५०३ ॥

अथ कर्णिकसन्निपातलक्षणमाह—

दोषत्रयेण जनितः किल कर्णमूले तीव्रा ज्वरे भवति तु श्वयथुर्व्यथा च ।
कण्ठग्रहो बधिरता श्वसनं प्रलापः प्रस्वेदमोहदहनानि च कर्णिकाख्ये ॥ ५०४ ॥

कर्णिक सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में तीनों दोषों के कुपित होने से रोगी के कान के मूलभाग में सूजन के साथ २ तीव्र पीड़ा हो तथा कण्ठ का अवरोध, बधिरता (बहिरापन), श्वास, प्रलाप, अधिक पसीना निकलना, मोह तथा दाह होता हो तो उसे "कर्णिक" सन्निपात कहते हैं ॥ ५०४ ॥

अथ कण्ठकुब्जसन्निपातलक्षणमाह—

कण्ठःशूकशतावरुद्धवदतिश्वासः प्रलापोऽरुचिर्दाहो
देहरुजा तृषाऽपि च हनुस्तम्भः शिरोऽर्त्तिस्तथा ।
मोहो वेपथुना सहेति सकलं लिङ्गं त्रिदोषज्वरे यत्र
स्यात्स हि कण्ठकुब्ज उदितः प्राच्यैश्चिकित्साबुधैः ॥

कण्ठकुब्ज सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर में रोगी का कण्ठ सैकड़ों धान के शूक के समान कांटों से घिरे हुये के सदृश प्रतीत हो तथा अत्यन्त श्वास, प्रलाप, अरुचि, दाह, शरीर में पीड़ा, प्यास, ठोडी का जकड़ जाना, शिर में पीड़ा, मोह और कम्प ये सब लक्षण प्रगट हों तो उसे प्राचीन चिकित्सा-शास्त्र के पण्डित लोग "कण्ठकुब्ज" सन्निपात कहते हैं ॥ ५०५ ॥

अथ सन्निपातज्वरसाध्यासाध्यत्वमाह—

सन्धिगस्तेषुसाध्यः स्यात्तन्द्रिकश्चित्तविभ्रमः। कर्णिको जिह्वकः कण्ठकुब्जः पञ्चापि कष्टकाः ॥
रुग्दाहस्त्वतिकष्टेन संसाध्यस्तेषु भाषितः। रक्तष्ठीवी भुग्ननेत्रः शीतगात्रः प्रलापकः ।
अभिन्यासोऽन्तकश्चैते षडसाध्याः प्रकीर्त्तिताः ॥ ५०७ ॥

उक्त सन्निपात ज्वरों के मध्य में साध्य तथा असाध्य सन्निपात ज्वरों के नाम—इन पूर्वोक्त सन्निपात ज्वरों में सन्धिग सन्निपात साध्य है तथा १ तन्द्रिक २ चित्तविभ्रक ३ कर्णिक ४ जिह्वक ५ कण्ठकुब्ज ये ५ सन्निपातज्वर कष्टसाध्य हैं, और रुग्दाह सन्निपात अत्यन्त कष्टसाध्य है एवम् १ रक्तष्ठीवी २ भुग्ननेत्र ३ शीतगात्र ४ प्रलापक ५ अभिन्यास ६ अन्तक ये ६ सन्निपात ज्वर असाध्य कहे हुये हैं ॥ ५०६–५०७ ॥

अथान्यग्रन्थोक्तवातोल्वणादित्रयोदशसन्निपातानां कुम्भीपाकादीनां नामान्याह—

कुम्भीपाकः प्रोर्णुनावः प्रलापी ह्यन्तर्दाहो दण्डपातोऽन्तकश्च ।

एणीदाहश्चाथ हारिद्रसंज्ञो भेदा एते सन्निपातज्वरस्य ॥ ५०८ ॥
अजघोषभूतहासौ यन्त्रापीडश्च संन्यासः । संशोषी च विशेषास्तस्यैवोक्तास्त्रयोदशान्यत्र ॥

अन्य ग्रन्थों में कहे हुये पूर्वोक्त वातोल्बणादि भेद से १३ सन्निपात ज्वरों के अन्य १३ कुम्भीपाकादि नाम—१ कुम्भीपाक २ प्रोर्णुनाव ३ प्रलापी ४ अन्तर्दाह ५ दण्डपात ६ अन्तक ७ एणीदाह ८ हारिद्र ९ अजघोष १० भूतहास ११ यन्त्रपीड १२ संन्यास १३ संशोषी ये १३ नाम अन्यत्र क्रम से पूर्वोक्त वातोल्बणादि संनिपात ज्वरों के कहे हुए हैं ॥ ५०८–५०९ ॥

अथैषां लक्षणानि ।

तत्र कुम्भीपाकलक्षणमाह—

घोणाविवरक्षरद्बहु–शोणासितलोहितं सान्द्रम् ।
विलुठन्मस्तकमभितः–कुम्भीपाकेन पीडितं विद्यात् ॥ ५१० ॥

कुम्भीपाक संनिपात ज्वर के लक्षण—जिस सन्निपात ज्वर में रोगी की नाक से काला, लाल एवम् गाढ़ा रुधिर निकलता हो और वह अपने शिर को इधर उधर बारम्बार गिराता हो तो उसे "कुम्भीपाक" सन्निपात ज्वर से पीड़ित समझना चाहिये ॥ ५१० ॥

अथ प्रोर्णुनावसन्निपातलक्षणमाह—

उत्क्षिप्य यः स्वमङ्गं–क्षिपत्यधस्तात्क्षितान्तमुच्छ्वसिति ।
तं प्रोर्णुनावजुष्टं विचित्रकष्टं विजानीयात् ॥ ५११ ॥

प्रोर्णुनाव संनिपात ज्वर के लक्षण—जिस संनिपात ज्वर में रोगी बारम्बार अपने हाथ–पैर आदि अङ्गों को ऊपर उठाकर पुनः नीचे को इधर उधर फेंकता हो तथा अत्यन्त जोर से श्वास लेता हो तो उसे अनेक प्रकार के कष्ट देने वाले "प्रोर्णुनाव" संनिपात ज्वर से पीड़ित समझना चाहिये ॥ ५११ ॥

अथ प्रलापिसन्निपातलक्षणमाह—

स्वेदभ्रमाङ्गभेदाः कम्पोद्वथुर्वमिर्व्यथा कण्ठे। गात्रञ्च गुर्वतीव प्रलापिजुष्टस्य जायते लिङ्गम् ॥

प्रलापी सन्निपात ज्वर के लक्षण—प्रलापी सन्निपात ज्वर वाले रोगी को पसीना, भ्रम, शरीर में तोड़ने की सी पीड़ा, कम्प, नेत्रादिक में दाह, वमन, कण्ठ में पीड़ा और शरीर में गुरुता (भारीपन) ये सब लक्षण प्रगट होते हैं ॥ ५१२ ॥

अथान्तर्दाहसन्निपातलक्षणमाह—

अन्तर्दाहः शैत्यं–बहिः श्वयथुररतिरति तथा श्वासः ।
अङ्गमपि दग्धकल्पं–सोऽन्तर्दाहार्दितः कथितः ॥ ५१३ ॥

अन्तर्दाह सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में रोगी के शरीर के अन्दर दाह हो और ऊपर से सर्दी भी मालूम पड़ती हो तथा शोथ, बेचैनी, श्वास भी हो एवम् उसे अपना शरीर जलते हुये के समान प्रतीत होता हो तो उसे "अन्तर्दाह" सन्निपात ज्वर से पीडित कहना चाहिये ॥

अथ दण्डपातसन्निपातलक्षणमाह—

नक्तन्दिवा न निद्रा–मुपगृह्णाति मूढधीर्नभसः । उत्थाय दण्डपाती भ्रमातुरः सर्वतो भ्रमति ॥

दण्डपात सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में रोगी को दिन में या रात्रि में कभी नींद न आती हो और वह बुद्धि के भ्रम से आकाश की तरफ किसी वस्तु को पकड़ने के लिये जैसे कोई हाथ पसारता है उस भांति बराबर पसारता रहता है और एकाएक उठकर दण्ड की भांति बारम्बार गिर पड़ता हो एवम् भ्रम से युक्त चारो तरफ घूर्णन करता हो तो उसे "दण्डपात" सन्निपात ज्वर से पीड़ित समझना चाहिये ॥ ५१४ ॥

*नभसो गृह्णाति = अकाशात् किञ्चिद् ग्रहीतुं करौ प्रसारयतीत्यर्थः ॥ ५१४ ॥

यहां पर "नभसो गृह्णाति" इन पदों का "आकाश की तरफ किसी वस्तु को पड़ने के लिये जैसे कोई हाथ पसारता रहता है उस भांति बराबर पसारता रहता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५१४ ॥

अथान्तकसन्निपातलक्षणमाह—

सम्पूर्यते शरीरं-ग्रन्थिभिरभितस्तथोदरं मरुता। श्वासातुरस्य सततं-विचेतनस्यान्तकार्त्तस्य॥

अन्तक संनिपात ज्वर के लक्षण—अन्तक संनिपात ज्वर वाले रोगी के शरीर में चारों तरफ गांठें निकल आती हैं और उदर वायु से भर जाता है तथा वह निरन्तर श्वास से अत्यन्त पीड़ित हो जाता है एवम् संज्ञा से रहित भी हो जाता है ॥ ५१५ ॥

अथैणीदाहसन्निपातलक्षणमाह—

परिधावतीव गात्रे रुक्पात्रे भुजगपतगहरिणगणः। वेपथुमतः सदाहस्यणीदाहज्वरार्त्तस्य॥

एणीदाह संनिपात ज्वर के लक्षण—जिस रोगी को एणीदाह संनिपात ज्वर होता है तो उसके शरीर में अत्यन्त पीड़ा होती है तथा उसे अपने शरीर के ऊपर सांप, पांखी तथा हरिण का समूह दौड़ रहे हों ऐसा प्रतीत होता है। और शरीर में कम्प तथा दाह भी होता रहता है ॥ ५१६ ॥

***रुक्पात्रे = पीडाभाजने, गात्रस्य विशेषणमेतत् ॥ ५१६ ॥**

यहां पर "रुक्पात्रे" इस पद का "पीड़ा भाजन अर्थात् शरीर में अत्यन्त पीड़ा होती है "यह अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि यह विशेषण गात्र अर्थात शरीर का है ॥ ५१६ ॥

अथ हारिद्रकसन्निपातलक्षणमाह—

यस्यातिपीतमङ्गं नयने सुतरां मलस्ततोऽप्यधिकम्।
दाहोऽतिशीतता बहि-रस्य स हारिद्रको ज्ञेयः ॥ ५१७ ॥

हारिद्रक संनिपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में रोगी का शरीर अत्यन्त पीला हरदी से पुते हुये के समान हो जाता है तथा उसकी अपेक्षा नेत्र अधिक पीले हो जाते हैं एवम् नेत्र से भी बढ़ कर मल अधिक पीला हो जाता है। और शरीर के अन्दर दाह होता है किन्तु ऊपर से सरदी प्रतीत होती है तो उसे "हारिद्रक" संनिपात कहते हैं ॥ ५१७ ॥

अथाजघोषसन्निपातलक्षणमाह—

छगलकसमानगन्धः-स्कन्धरुजावान्निरुद्धगलरन्ध्रः।
अजघोषसन्निपातादाताम्राक्षः पुमान् भवति ॥ ५१८ ॥

अजघोष संनिपात ज्वर के लक्षण—अजघोष संनिपात ज्वर होने से रोगी के नेत्र तामे के समान लाल वर्ण के हो जाते हैं और उसके शरीर से बकरे के समान गन्ध आने लगता है, कन्धों में पीड़ा होती है तथा गले का छिद्र अवरुद्ध हो जाता है ॥ ५१८ ॥

अथ भूतहाससन्निपातलक्षणमाह—

शब्दादीनधिगच्छति, न स्वान् विषयान् यदिन्द्रियग्रामैः।
हसति प्रलपति परुषं, स ज्ञेयो भूतहासार्त्तः ॥ ५१९ ॥

भूतहास संनिपात ज्वर के लक्षण—जो रोगी अपने ज्ञानेन्द्रियों से शब्द आदिक विषयों को नहीं ग्रहण करता है अर्थात् जो देख सुन आदि नहीं सकता है और हंसता है तथा कर्कश स्वर से प्रलाप करता है तो उसे भूतहास संनिपात ज्वर से पीड़ित समझना चाहिये ॥ ५१९ ॥

अथ यन्त्रापीडसन्निपातलक्षणमाह—

येन मुहुर्ज्वरवेगाद्-यन्त्रेणेवावपीड्यते गात्रम्। रक्तं पित्तञ्च वमेद्-यन्त्रापीडः स विज्ञेयः॥

यन्त्रापीड संनिपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में रोगी को अपना शरीर वारंवार ज्वर के वेग से कोल्हू में पेरने की भांति पीड़ित प्रतीत होता हो और उसे रक्तसहित पित्त का वमन होता हो तो वह यन्त्रापीड संनिपात ज्वर कहलाता है ॥ ५२० ॥

अथ संन्याससन्निपातलक्षणमाह—

अतिसरति वमति कूजति गात्राण्यभितश्चिरं नरः क्षिपति।
संन्याससन्निपाते प्रलपत्युग्राक्षिमण्डलो भवति ॥ ५२१ ॥

संन्यास संनिपात ज्वर के लक्षण—संन्यास संनिपात ज्वर में रोगी प्रलाप करता है तथा उसका नेत्रमण्डल देखने में उग्र हो जाता है एवम् उसे अतीसार और वमन होता है तथा वह धीरे-धीरे अव्यक्त शब्द करने लगता है एवम् बहुत देर तक अपने अङ्गों को इधर-उधर फेंकता है ॥ ५२१ ॥

अथ संशोषिसन्निपातलक्षणमाह—

मेचकवपुरतिमेचक-लोचनयुगलो मलोत्सर्गात्।
संशोषिणि सितपिडिका-मण्डलयुक्तो ज्वरे नरो भवति ॥ ५२२ ॥

संशोषी सन्निपात ज्वर के लक्षण—संशोषी सन्निपात ज्वर में रोगी का शरीर अधिक दस्त आने से काला पड़ जाता है तथा दोनों नेत्र भी अत्यन्त काले हो जाते हैं। और शरीर में सफेद २ फुंसियों का मण्डल उत्पन्न हो जाता है ॥ ५२२ ॥

अथ सन्निपातज्वरभयङ्करतामाह—

नारायण एव भिषग्-भेषजमेतेषु जाह्नवीनीरम्। नैरुज्यहेतुरेको-नित्यं मृत्युञ्जयो ध्येयः ॥

सन्निपात ज्वर की भयङ्करता—इन सब सन्निपात ज्वरों में श्रीनारायण ही प्रधान रूप से वैद्य रह जाते हैं और ओषधियों में केवल गङ्गाजल ही रह जाता है और आरोग्य होने के लिये एक मृत्युञ्जय भगवान् शिवजी का ध्यान मात्र रह जाता है। अर्थात् अत्यन्त भयङ्कर होने से बड़ी कठिनता से रोगी के प्राण बचते हैं ॥ ५२३ ॥

अथासाध्यसन्निपातज्वरलक्षणमाह—

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः। शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥ ५२४ ॥

असाध्य सन्निपात ज्वर के लक्षण—जब सन्निपात ज्वर के अन्त में रोगी के कान के मूल भाग में अत्यन्त दारुण शोथ उत्पन्न होता है तब उस के होने से कोई २ ही रोगी मरने से बचते हैं अन्यथा प्रायः सभी मर जाते हैं ॥ ५२४ ॥

***सुदारुणो मारकत्वाद्, यतस्तेनशोथेनकश्चिदेवप्रमुच्यते, कोऽपि जीवितं न त्यजतीत्यर्थः॥**

यहां पर शोथ के विशेषण में "सुदारुण—अर्थात् अत्यन्त दारुण" पद का जो निर्देश किया है वह मारक होने के कारण से समझना चाहिये। और "तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते" पदों का "उसके होने से कोई २ ही रोगी मरने से बचते हैं" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५२४ ॥

अथ सन्निपातसाध्यासाध्यतामाह—

सन्निपातज्वरान्कष्टानसाध्यानपरे जगुः ॥ ५२५ ॥
दोषे प्रवृद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः। सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कष्टसाध्यस्ततोऽन्यथा ॥

सन्निपात ज्वरों की साध्यता तथा असाध्यता—सन्निपात ज्वरों को कोई वैद्य कष्टसाध्य और कोई वैद्य असाध्य बतलाते हैं अर्थात् सन्निपात ज्वर सुखसाध्य किसी भी दशा में नहीं होते हैं। और दोष यदि अधिक बढ़े हुये हों तथा अग्नि मन्द हो गई हो एवम् दाह-शीतादिक जितने लक्षण सन्निपात ज्वर के होते हैं वे सभी पूर्ण रूपसे रोगी में यदि पाये जाते हों तो उस संनिपात ज्वर

को असाध्य समझना चाहिये, और इससे अन्यथा होने पर सन्निपात ज्वर को कष्टसाध्य समझना चाहिये ॥ ५२५-५२६ ॥

***सर्वाणि दाहशीतादीनि सम्पूर्णान्यातुरगतानि प्रोक्तानि यावल्लक्षणानि यस्य सः । ततोऽन्यथा = दोषे पक्वेऽग्नौ दीप्ते स्वल्पलक्षणकः कष्टसाध्य इत्यर्थः ॥ ५२५-५२६ ॥**

यहां पर "सर्वसम्पूर्णलक्षणः" पद का "दाह-शीतादिक जितने लक्षण सन्निपात ज्वर के होते हैं वे सभी पूर्ण रूप से रोगी में यदि पाये जाते हों" यह अर्थ समझना चाहिये। और "ततोऽन्यथा-अर्थात् इससे अन्यथा होने पर" इन पदों का "दोषों के परिपक्व होने पर तथा अग्नि के प्रदीप्त रहने पर, और सन्निपात ज्वर के पूर्वोक्त लक्षणों में से बहुत थोड़े लक्षण रोगियों में रहने पर" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५२५-५२६ ॥

अथ सामान्यसन्निपातज्वरचिकित्सामाह—

सन्निपातार्णवे मग्नं योऽभ्युद्धरति मानवम् । कस्तेन न कृतो धर्मः काञ्च पूजां न सोऽर्हति॥ मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता । यश्च तत्र भवेज्जेता सजेताऽऽमयसंकुले ॥

सामान्यरूप से सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—जो वैद्य सन्निपातज्वररूपी समुद्र में डूबे हुये मनुष्य का उद्धार करता है अर्थात् चिकित्सा द्वारा उसे रोगमुक्त करता है। उसने कौन सा धर्म नहीं किया और कौन सी पूजा के योग्य नहीं हुआ ? अर्थात् वह सभी प्रकार के धर्मों का पालन कर चुका और सभी प्रकार की पूजा (सम्मान) प्राप्त करने के योग्य हो चुका। और सन्निपात की चिकित्सा करने वाले वैद्य को पूरा मृत्यु के साथ युद्ध करना पड़ता है। अतः इसमें जिसने जय प्राप्त कर लिया अर्थात् सन्निपात ज्वर को दूर कर सका तो उसे सम्पूर्ण व्याधियों को जीतने वाला अर्थात् दूर करने में योग्य समझना चाहिये ॥ ५२७-५२८ ॥

श्लेष्मनिग्रहमेवादौ कुर्याद्व्याधौ त्रिदोषजे । संसर्गे यो गरीयान्स्या-दुपक्रम्यःसवै भवेत् ॥

सन्निपात ज्वरों में सर्वप्रथम कफ को बढ़ने से रोकना चाहिये अर्थात् चिकित्सा द्वारा कफ का शमन करना चाहिये। और द्विदोषज ज्वरों में जो दोष अधिक बलवान् हो उसी की सर्व[1] प्रथम चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४२९ ॥

---

१. चरक ने भी लिखा है:—

"वर्धनेनैकदोषस्य क्षमणेनोच्छ्रितस्य वा ।
कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत् ।"   (चरक-चिकित्सा-अ० ३)

सन्निपात में अधिक बढ़ हुये दोष को कम करते हुये तथा सबसे न्यूनबल दोष को बढ़ाते हुये संनिपात की चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् संनिपात में तीनों ही दोष बढ़े हुये हों तो उनकी अधिकता की मात्रा के अनुसार कोई दोष अधिक, अधिकतर तथा अधिकतम होंगे यहां पर जो दोष सबसे अधिक बढ़ा हुआ हो उसको कम करने तथा दोषों में अपेक्षाकृत सबसे कम शक्ति वाले दोष को बढ़ाने वाली चिकित्सा करनी चाहिये। उदाहरण के लिये कफ अधिक तथा वात और पित्त क्रमशः अधिकतर तथा अधिकतम हों तो मधुर रसका सेवन करावें, इससे सबसे कमशक्ति वाले दोष कफ की वृद्धि होगी तथा वात और पित्त क्षीण होंगे। इस प्रकार एक दोष को बढ़ाकर तथा अन्य दोषों को घटाते हुये संनिपात की चिकित्सा करें। अथवा कफस्थान के अनुसार चिकित्सा करें। कफ का स्थान आमाशय है अतः "स्थानं जयेद्धि पूर्वम्" के अनुसार कफशामक चिकित्सा करनी चाहिये। दोष प्रथम आमाशय को ही दूषित करके ज्वर को उत्पन्न करते हैं अतः उसके तथा कफ के भी शान्त्यर्थ लङ्घनादि कराना चाहिये।

⁂निरस्ते श्लेष्मणि ह्यस्यस्रोतःसूद्घाटितेषु च । लाघवं जायते सद्यस्तृष्णा चैवोपशाम्यति ॥

यहां पर संनिपात ज्वर में सर्वप्रथम जो कफ का शमन करने को कहा गया है वह इस आशय से कि अन्यत्र यह लिखा है कि—कफ का शमन होने पर रोगी के स्रोतों का छिद्र खुल जाने से शरीर में लघुता होती है तथा तत्काल ही प्यास भी दूर हो जाती है ॥ ९१ ॥

अन्यच्च—

⁂"संनिपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम् । पश्चाच्छ्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ" ॥

और भी कहा हुआ है कि-संनिपात ज्वर में सर्वप्रथम आमकफ को नाश करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये तदुपरान्त जब कफ क्षीण हो जाय तब पित्त तथा वायु के शमनार्थ चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९२ ॥

⁂यत्पुनस्तन्त्रान्तरे—

⁂"शमयेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु । दुर्निवारतमं तद्धि ज्वरार्त्तेषु विशेषतः" ॥९३॥

और जो किसी २ ग्रन्थों में यह पाया जाता है कि—संनिपात ज्वर में सर्वप्रथम पित्तका[1] ही शमन करना चाहिये, क्योंकि ज्वररोगियों में विशेष करके वही अर्थात् पित्त ही निवारण करने में कठिन होता है अर्थात् ज्वर पित्तप्रधान होता है अतः सर्वप्रथम पित्त का ही शमन करना चाहिये ॥ ९३ ॥

⁂अन्यत्रापि—

⁂"समवाये हि दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत् । ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्" ॥

और इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी यह कहा हुआ है कि—जहां पर दोषों का सन्निपात हो वहां पर प्रथम पित्त का उपचार करना चाहिये, विशेष करके ज्वर तथा अतीसार रोगों में अवश्य करना चाहिये । इसके अतिरिक्त अन्य रोगों में सर्वत्र सर्वप्रथम संनिपात में वायु की ही चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९४ ॥

⁂एतेनाप्यामकफनिग्रहानन्तरं पित्तं, पित्तप्रशमात्परं वातप्रत्यनीकं कार्यमेव, सन्निपातज्वरातिसारयोर्बोद्धव्यम्, अन्यस्मिन्नामये वायोरेवादौ प्रतिकुर्याद् । यथा—

⁂"वातस्यानुजयेत् पित्तं पित्तस्यानुजयेत् कफम् । त्रयाणां वा जयेत् पूर्वं यो भवेद् बलवत्तमः" ॥

इस वचन से यही समझना चाहिये कि-आमकफ की चिकित्सा करने के बाद पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये । और पित्त का शमन होने के बाद वायु की चिकित्सा करनी चाहिये किन्तु यह प्रक्रिया केवल संनिपात ज्वर तथा संनिपातातीसार ही में समझनी चाहिये । इनसे भिन्न अन्य रोगों में तो वायु ही की सर्वप्रथम चिकित्सा करनी चाहिये । जैसा कि कहा हुआ है कि—सामान्य रूप से संनिपात रोगों में सर्वप्रथम वायु की चिकित्सा करने के बाद पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये, पित्त के बाद कफ की चिकित्सा करना उचित है, अथवा वातादिक तीनों दोषों के मध्य में जो उस समय सबसे अधिक बलवान् हो सर्वप्रथम उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९५ ॥

---

१. सुश्रुत का कथन है कि सन्निपात ज्वर में प्रथम पित्त का शमन करना चाहिये ।
"शमयेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु । दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्त्तेषु विशेषतः ॥"
इस सुश्रुत के वचन को जीर्ण त्रिदोष ज्वर के विषय में समझना चाहिये ऐसी चक्रपाणि की सम्मति है । नवीन त्रिदोषज्वर में प्रथम कफशमन ही करना चाहिये । आगे चलकर मूल में ही स्पष्ट कहेंगे कि-आम तथा कफ की प्रथम चिकित्सा करनी चाहिये इनके शमन करने के बाद ही पित्त की चिकित्सा तदुपरांत वात की चिकित्सा करनी चाहिये ।

ॐतथा हि तन्त्रान्तरे—

ॐ"ज्वरे त्रिदोषजे सामे शमयेत् कफमादितः । पाकान्तमागते पित्तं चिरजे विषमेऽनिलम्"॥

और तन्त्रान्तरों में भी स्पष्ट रूप से प्रथम कफ की चिकित्सा करने के लिये कहा हुआ है कि—त्रिदोष से उत्पन्न हुए (संनिपात) ज्वर में सामावस्था रहने पर सर्वप्रथम कफ की चिकित्सा करनी चाहिये। और जब दोष परिपक्व हो जायँ तब पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये, और पुराने विषम ज्वर में अथवा पुराने ज्वर तथा विषमज्वर में सर्वप्रथम वायु की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९६ ॥

ॐसंसर्ग-दोषद्वयसंसर्गे। गरीयान्=बलवत्तरः ॥ ५२९ ॥

और पूर्वोक्त ५२९ वें श्लोक में "संसर्गे" पद का "दो दोषों का संसर्ग (सम्बन्ध) रहने पर अर्थात् द्विदोषज ज्वर में" तथा "गरीयान्"पद का "अधिक बलवान् हो"यह अर्थ समझना चाहिये॥

अंशांशं यत्र दोषाणां विवेक्तुं नैव शक्नुयात्। क्रियां साधारणीं तत्र विदधीत चिकित्सकः ॥
लङ्घनं वालुकास्वेदो नस्यं निष्ठीवनं तथा। अवलेहोऽञ्जनं चैव प्राक्प्रयोज्यं त्रिदोषजे ॥५३१॥

जिस संनिपात ज्वर में वैद्य वातादिक दोषों के अंशांश अर्थात् कौन दोष कितने अंश में है इस विषय का विचार भली भांति न कर सके तो वहाँ पर साधारण रूप से निम्नलिखित क्रियाओं को करे। जो कि ये हैं—त्रिदोषज ज्वर में प्रथम लङ्घन (उपवास), वालुकास्वेद, नस्य, निष्ठीवन, अवलेह और अञ्जन ये सब कर्म रोगी को कराना चाहिये ॥ ५३०-५३१ ॥

ॐज्वरयितिशेषः ॥ ५३०-५३१ ॥

यहां तर मूल में "त्रिदोषजे" इस पद के साथ "ज्वरे" इस पद की कमी होने से उसको ऊपर से लाकर अन्वय करके "त्रिदोषज ज्वर में" यह अर्थ किया गया है" ऐसा समझना चाहिये ॥

क्रियाभिस्तुल्यरूपाभिः क्रियासांकर्यमिष्यते। भिन्नरूपतया तास्तु न हि कुर्वन्ति दूषणम्॥

समान रूप वाली क्रियायों के एक साथ करने से ही क्रियाओं का संकरता नामक दोष होता है किन्तु यदि वे भिन्न रूप वाली हों तो उनके एक साथ करने पर किसी भांति का दोष क्रियासंकरतामूलक नहीं होता है ॥ ५३२ ॥

ॐननु—क्रियायास्तु गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत्।
पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासंकरो हितः ॥ ९६ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—इस श्लोक को क्यों कहा गया ? इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—किसी भी क्रिया के करने के बाद यदि उसका गुण न प्राप्त होता हो तो पूर्व में की हुई क्रिया का वेग जब शान्त हो जाय तभी दूसरी क्रिया का प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि क्रियाओं की संकरता होने से रोगी का हित नहीं होता है प्रत्युत हानि ही होती है ॥ ९७ ॥

ॐइति वचनेन क्रियासंकरस्य निषिद्धत्वात्कथमत्र नस्यनिष्ठीवनावलेहाञ्जनानि युगपद्विधीयन्त इत्याशङ्कयाऽऽह—क्रियेति ॥ ५३२ ॥

इस वचन से क्रियाओं की संकरता का निषेध होने से कैसे ५३१ वें श्लोक में संनिपात ज्वर में नस्य, निष्ठीवन, अवलेह, अञ्जन आदि क्रियाओं का एक साथ प्रयोग करने का विधान बतलाया है ? इसी के उत्तर में "क्रियाभिरि"त्यादिक श्लोक को कहा गया है" ऐसा समझना चाहिये ॥ ५३२ ॥

त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा दशरात्रमथापि वा। लङ्घनं सन्निपातेषु कुर्यादारोग्यदर्शनात् ॥५३३॥

संनिपातज्वर में लङ्घन करने की अवधि—संनिपात ज्वर में रोगी को तीन, पांच या दश रात्रि पर्यन्त अथवा जब तक आरोग्य न हो अर्थात् दोषों का परिपाक न हो तब तक लङ्घन (उपवास) करना चाहिये ॥ ५३३ ॥

ॐलङ्घने त्रिरात्रादिविकल्प उल्वणवाताद्यपेक्षया, दोषाणां शीघ्रमध्यमन्दशक्तित्वाद्, व्याध्यभावाद्वा । आरोग्यदर्शनादिति । यावदारोग्यदर्शनं स्यात्तावद्वा लङ्घनं कुर्याद्, एतेन त्रिरात्राद्यवधेर्न नियतत्वं सूचितम् ॥ ५२३ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—लङ्घन करने में तीन रात्रि आदि का जो विकल्प किया गया है वह उल्वण वायु आदि की अपेक्षा करके किया गया है अथवा वातादिक दोषों की क्रम से शीघ्र, मध्य तथा मन्द शक्ति होने से व्याधि का उतने समय में अभाव होने से भिन्न २ अवधि का निर्देश किया गया हैं । "जब तक आरोग्य न हो तब तक लंघन कराना चाहिये" ऐसा जो कहा गया है उससे यह समझना चाहिये कि लंघन करने में तीन रात्रि आदि की अवधि का कोई नियम नहीं है ॥ ५२३ ॥

अत एव सुश्रुतः प्राह—

सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा । पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ॥५२४॥

अत एव सुश्रुत ने भी कहा है कि—सातवां, दशवां या बारहवां दिन होने पर संनिपात ज्वर पुनः एक बार अत्यन्त घोर होकर शान्त हो जाता है अथवा रोगी को मार डालता है ॥ ५२४ ॥

ॐघोरतर इति स्वभावादेव ततो घोरतरो भूत्वेति ॥ ५२४ ॥

यहां पर "घोरतर अर्थात् अत्यन्त घोर होकर" यह जो कहा गया है, वह संनिपात ज्वर का स्वभाव होता है, इस लिए कहा गया है" यह समझना चाहिये ॥ ५२४ ॥

अथ हननप्रशमयोः कारणमाह—

पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात् ॥
हन्ति विमुञ्चत्यथ वा त्रिदोषजो धातुमलपाकात् ॥ ५२५ ॥

संनिपातज्वर का रोगी के मारने तथा स्वयं शान्त होने में कारण—पित्त, कफ तथा वायु की वृद्धि के अनुसार क्रम से दश, बारह और सात दिन में धातु तथा मल का पाक होने से त्रिदोषज (संनिपात) ज्वर रोगी को मार डालता है अथवा छोड़ देता है ॥ ५२५ ॥

ॐत्रिदोषजो ज्वर इति शेषः । धातुमलपाकाद् = धातुपाकाद्धन्ति, मलपाकाद्विमुञ्चतीत्यर्थः । धातुमलपाके प्राक्तनकर्मैव हेतुः । तत्र यदि जीवनसंवर्द्धकं कर्मास्ति तदा मलपाकः अन्यथा धातुपाकः । स च रसादिशुक्रान्तधातूनां पाको बोद्धव्यः ॥ ५२५ ॥

यहां पर त्रिदोषज के साथ "ज्वर" पद का ऊपर से लाकर अन्वय करना चाहिये क्योंकि मूल में "ज्वर" पद की कमी है । और "धातु तथा मल का पाक होने से मार डालता है अथवा छोड़ देता है" ऐसा कहने से यह समझना चाहिये कि—धातु का पाक होने से रोगी को मार डालता है और मल का पाक होने से छोड़ देता है । और धातु तथा मल का पाक होने में रोगी का पूर्व में किया हुआ शुभाशुभ कर्म ही हेतु है, उसमें यदि जीवन (आयु) को बढ़ाने वाला प्राक्तन कर्म है तो मल का पाक होता है अन्यथा धातु का पाक होता है । यहां पर धातुपाक कहने से रस से लेकर शुक्रपर्यन्त सात धातुओं का पाक होना समझना चाहिये ॥ ५२५ ॥

अथ धातुपाकलक्षणमाह—

निद्रानाशो हृदिस्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची । अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम् ॥

धातुपाक के लक्षण—निद्रा का नाश, हृदय में स्तब्धता, उदर में विष्टब्धता, अङ्गों में गुरुता (भारीपन), अरुचि, बेचैनी, और बल का नाश, ये सब लक्षण जब संनिपात ज्वर वाले रोगी को प्रगट हों तब धातुओं का पाक हुआ समझना चाहिये ॥ ५२६ ॥

ॐविष्टम्भ उदरस्य । गौरवं गात्राणाम् ॥ ५२६ ॥

यहां पर "विष्टम्भ" पद से "उदर में विष्टब्धता" तथा "गौरव" पद से "अङ्गों में गुरुता" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५३६ ॥

अन्यच्च—

सम्बाध्यमानो हृदि नाभिदेशे गात्रेषु वा पाकरुजाऽन्वितेषु ।
पीडां ज्वरार्त्तोऽङ्गुलिभिश्च गच्छेत् स धातुपाकी कथितो भिषग्भिः ॥ ५३७ ॥

धातुपाक के अन्य लक्षण—"संनिपात ज्वर वाले रोगी को हृदय या नाभिदेश में अथवा पाक होने से पीड़ित अङ्गों में अंगुली से दवाने पर पीड़ा प्रतीत हो तो उसके धातुओं का पाक हो गया है" ऐसा वैद्य लोग कहते हैं ॥ ५३७ ॥

अपरं च—

नाभेरूर्ध्वं हृदोऽधस्तात् पीडिते चेद्व्यथा भवेत् । धातोः पाकं विजानीयादन्यथा तु मलस्य च॥

और भी कहा हुआ है कि—संनिपात ज्वर वाले रोगी के नाभि के ऊपर और हृदय के नीचे अंगुली से दवाने पर यदि पीड़ा हो तो धातुपाक हुआ समझना चाहिये अन्यथा (पीड़ा न हो तो) मलपाक हुआ समझना चाहिये ॥ ५३८ ॥

अथ मलपाकलक्षणमाह—

दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वरदेहयोः । इन्द्रियाणाञ्च वैमल्यं मलानां पाकलक्षणम् ॥५३९॥

मलपाक के लक्षण—दोषों की प्रकृति का विपरीत होना, ज्वर तथा देह में लघुता अर्थात् ज्वर का वेग कम होना और शरीर हल्का होना, इन्द्रियों का मल से रहित होना ये सब लक्षण संनिपात ज्वर वाले रोगियों में दोषों के पाक होने के होते हैं ॥ ५३९ ॥

***दोषाः = वातादयस्तेषां प्रकृतिः = दाहतन्द्रागौरवादिकरणं, तस्य वैकृत्यं = वपरीत्यं, वैमल्यं = मलराहित्यम् । मलानां = दोषाणां पाकलक्षणम् ॥ ५३९ ॥**

यहां पर "दोषप्रकृतिवैकृत्यम् अर्थात् दोषों की प्रकृति का विपरीत होना" कहने से "वातादिक दोषों की जो दाह, तन्द्रा, शरीर में गुरुता आदि करना प्रकृति (स्वभाव) है उसका विपरीत हो जाना अर्थात् उन सबों का न होना" तथा "वैमल्यम्" पदका "इन्द्रियों का मल से रहित होना" एवम् "मलानाम्" पदका "दोषों के" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५३९ ॥

अन्यच्च—

श्रश्रविन्द्रियपञ्चकस्य पटुता वह्नेश्च यत्र क्रमा-
त्तृष्णाऽऽदिप्रशमो ज्वरस्य मृदुता तं दोषपाकं वदेत् ।
हृन्नाभ्योरतिवेदनाऽतिसरणं तीव्रो ज्वरस्तृण्मदः-
श्वासाधिक्यमरोचकोऽरतिरिति स्याद्धातुपाकाकृतिः ॥ ५४० ॥

दोष तथा धातु पाक के अन्य लक्षण—जब संनिपात ज्वर में आँख, नाक, कान, रसना आदि पांचों इन्द्रियाँ अपने २ विषयों के ग्रहण करने में समर्थ होने लगें तथा अग्नि भी प्रदीप्त होने लगे एवम् क्रम से तृष्णा (प्यास) आदि का शमन हो तथा ज्वर हलका हो तो उस समय रोगी के दोषों का पाक हुआ समझना चाहिये ।

और जब रोगी के हृदय तथा नाभि में अत्यन्त वेदना हो तथा अतीसार, तीव्र ज्वर, प्यास, मद, श्वास की अधिकता, अरुचि और वेचैनी ये सब लक्षण प्रगट हों तो उसके धातुओं का पाक हुआ समझना चाहिये ॥ ५४० ॥

अथ हननप्रशमयोः परमावधिमाह—

सप्तमी द्विगुणा यावन्नवम्येकादशी तथा । एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥५४१॥

संनिपात ज्वर का रोगी के मारने तथा स्वयं शान्त होने में परम अवधि—वात की प्रबलता में सातवीं रात्रि अथवा चौदहवीं रात्रि, पित्त की प्रबलता में नवीं रात्रि अथवा बीसवीं रात्रि, कफ की प्रबलता में ग्यारहवीं रात्रि अथवा चौबीसवीं रात्रि रोगी को छोड़ने तथा मारने में त्रिदोष (संनिपात) ज्वर की मर्यादा (अवधि) है ॥ ५४१ ॥

छआमस्याधिक्येन सप्तमदिवसाद्यवध्यतिक्रमे परमावधिमाह हारीतः—सप्तमीति । नवम्येकादशी चागमनदिवसं विहाय बोद्धया, तेनागमनदिवसं नीत्वा दशमी द्वादशी तथा । अत्र रात्रिरित्यध्याह्रियते ॥ ५४१ ॥

यहाँ पर यह और भी समझना चाहिये कि–यह वचन हारीत का है, और जब आम दोष की अधिकता से सातवें दिन आदि की अवधि का अतिक्रमण हो जाय अर्थात् उस दिन संनिपात ज्वर न स्वयं शान्त हो और न रोगी को मार डाले तो १४ चौदहवीं रात्रि अन्तिम अवधि होती है। और नवीं तथा ग्यारहवीं रात्रि जो अवधि की कही गई है वह ज्वर आने वाले दिन को छोड़कर समझनी चाहिये, इससे ज्वर आने वाले दिन को लेकर दशवीं तथा बारहवीं रात्रि समझनी चाहिये। यहां पर "रात्रि" पद का अध्याहार कर लेना चाहिये ॥ ५४१ ॥

अथ सन्निपातज्वरप्रथमकर्त्तव्यमाह ।

तत्रादौ लङ्घनमाह—

सन्निपातज्वरी पूर्वं सम्यग् लङ्घनमाचरेत् । श्रृतं शीतं पिबेदम्भः समये भेषजं भजेत् ॥५४२॥

संनिपात ज्वर में प्रथम कर्त्तव्य कर्मों में लङ्घन की विधि—संनिपात ज्वर वाला रोगी प्रथम भली भांति लङ्घन (उपवास) करे और यथाविधि औंटा करके शीतल किया हुआ जल पीवे एवम् उपयुक्त समय पर औषध सेवन करे ॥ ५४२ ॥

सन्निपातेन तृष्यन्तं पार्श्वरुक्तालुशोषिणम् । यः पाययेज्जलं शीतं स मृत्युर्नरविग्रहः ॥५४३॥

संनिपात ज्वर के वेग से जिस रोगी को अधिक प्यास लगी हुई हो तथा तालु सूख रहा हो एवम् पंसुलियों में पीड़ा हो रही हो तो ऐसी अवस्था में यदि कोई उसे विना औटाया हुआ शीतल जल पिलावे तो उस पिलाने वाले मनुष्य को साक्षात् मृत्यु समझना चाहिये, अर्थात् ऐसा करने से रोगी की मृत्यु हो जाती है अत एव कच्चा शीतल जल कभी पीने के लिये नहीं देना चाहिये ॥५४३॥

छशीतमकथितं श्रृतं तु शीतं विहितमेव ॥ ५४३ ॥

यहां पर "शीतल जल अर्थात् विना औटाया हुआ शीतल जल पिलाना निषिद्ध तथा औटाकर शीतल किया हुआ जल पिलाना उचित" समझना चाहिये ॥ ५४३ ॥

अथ वालुकास्वेदमाह—

वातश्लेष्मकृते स्वेदान्कारयेद्रूक्षनिर्मितान् । स्निग्धः स्वेदो निषिद्धोऽत्र विना केवलवातजात्॥ खर्परभ्रष्टपटस्थितकाञ्जिकसंसिक्तवालुकास्वेदः। शमयति वातकफामयमस्तकशूलाङ्गभङ्गादीन्॥ स्रोतसां मार्दवं कृत्वा नीत्वा पावकमाशयम्। हत्वा वातकफस्तम्भं स्वेदो ज्वरमपोहति॥५४६॥

स्वेद की विधि—वात-कफ प्रधान संनिपात ज्वर में वात-कफ को दूर करने के लिये रूक्षपदार्थों से किया हुआ स्वेद देना उचित होता है न कि स्निग्ध पदार्थों से किया हुआ स्वेद। क्योंकि यहां पर वातप्रधान संनिपात ज्वर को छोड़ कर सर्वत्र स्वेद देना निषिद्ध माना गया है।

वालुकास्वेद की विधि—प्रथम बालू को हंड़िया में रखकर या भरसाय में भेजकर गर्म करवा ले पश्चात् कपड़े में बांध कर पोटली बना ले, इसके बाद उस पोटली के ऊपर कांजी के छींटे देकर जो स्वेद दिया जाता है, उसे वालुकास्वेद कहते हैं। इससे कफसंबन्धी रोग, शिरका दर्द और शरीर में टूटने की सी पीड़ा आदि रोग दूर होते हैं।

और यह स्वेद स्रोतोमार्गों को कोमल करके बाहर निकली हुई अग्नि को पुनः अपने स्थान पर स्थापित करके तथा वात-कफसंबन्धी स्तब्धता (जकड़ाहट) को नष्ट कर ज्वर को दूर कर देता है ॥ ५४४-५४६ ॥

अथ सैन्धवादिनस्यमाह—

सैन्धवं श्वेतमरिचं सर्षपाः कुष्ठमेव च। वस्तमूत्रेण सम्पिष्टं नस्यं तन्द्रानिवारणम् ॥५४७॥

सैन्धवादिनस्य—सेंधा निमक, सहजने का बीज, सरसों और कूठ इन सबों को समान भाग में ले बकरे के मूत्र के साथ अत्यन्त सूक्ष्म पीसकर नस्य (नास) देने से संनिपातज्वर वाले रोगी की तन्द्रा दूर हो जाती है ॥ ५४७ ॥

श्वेतमरिचं = शिग्रुबीजम् ॥ ५४७ ॥

यहां पर "श्वेतमरिचम्" पद का "सहिजने का बीज" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५४७ ॥

अथ मधूकसारादिनस्यमाह—

मधूकसारसिन्धूत्थवचोपणकणाः समाः। श्लक्ष्णं पिष्ट्वाऽम्भसा नस्यं दद्यात्संज्ञाप्रबोधनम् ॥
मातुलुङ्गार्द्रकरसं कोष्णं त्रिलवणान्वितम्। अन्यद्वा सिद्धिविहितं नस्यं तीक्ष्णं प्रयोजयेत् ॥
तेन प्रभिद्यते श्लेष्मा प्रभिन्नश्च प्रसिच्यते। शिरोहृदयकण्ठास्यपार्श्वरुक् चोपशाम्यति ॥
मोहामयेन मुग्धं बोधयितुं यादृशः शक्तः। कल्पतरुनामधेयो रसो न तादृक् परं किञ्चित् ॥

मधूकसारादिनस्य—महुये का सार, सेंधा निमक, वच, काली मिर्च, पीपल इन सबों को समान भाग में लेकर जल के साथ अत्यन्त सूक्ष्म पीस कर नस्य देने से संनिपात ज्वर वाले रोगी को संज्ञा (होश) हो जाता है।

और बिजौरा नीबू तथा अदरख का रस किंचिद् गर्म करके उसमें तीनों निमक (सेंधा निमक, बिरिया सोंचर निमक तथा कचिया निमक) का सूक्ष्म चूर्ण मिलाकर नस्य देना चाहिये। अथवा सिद्धिस्थान में कहे हुये किसी तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करें। इन नस्यों के प्रयोग से कफ का भेदन होता है जिससे कि वह पतला होकर मुख, नासिका आदि के द्वारा बाहर निकल जाता है, और शिर, हृदय, कण्ठ, मुख तथा पसुलियों की पीड़ा शान्त होती है।

और मोहरूपी रोग से मोह को प्राप्त हुए मनुष्य को होश में लाने के लिये [1]"कल्पतरु" रस जैसा समर्थ होता है वैसा अन्य कोई औषध नहीं होता है ॥ ५४८-५५१ ॥

अथ निष्ठीवनमाह—

जिह्वाताल्गलक्लोम मरुत्पित्तेन दूषितम्। तदा सञ्चारयेच्छोषं जिह्वाविरसतां तथा ॥५५२॥
स्फुटनञ्च तदा जिह्वां लेपयेन्मधुपिष्टया। द्राक्षया साज्यया तेन जिह्वा स्यात्सरसा मृदुः ॥
आर्द्रकस्वरसोपेतं सैन्धवं कटुकत्रयम्। आकण्ठाद्धारयेदास्ये निष्ठीवेच्च पुनः पुनः ॥५५४॥
तेनास्यतालुकोष्ठांसमन्यापार्श्वशिरोगलात्। लीनोऽप्याकृष्यते श्लेष्मा लाघवं चास्य जायते
पर्वभेदो ज्वरो मूर्च्छानिद्राश्वासगलामयाः। मुखाक्षिगौरवं जाड्यमुत्क्लेशश्चोपशाम्यति ॥
सकृद्द्विस्त्रिश्चतुष्कुर्याद् दृष्ट्वा दोषबलाबलम्। एतद्धि परमं प्राहुर्भेषजं सन्निपातिनाम् ॥

निष्ठीवन की विधि—संनिपात ज्वर में वात तथा पित्त से जब रोगी की जिह्वा, तालु, गला और क्लोम (पिपासा-स्थान) दूषित हो जाता है तब शोष और जीभ में विरसता हो जाती है तथा जीभ फटने लगती है। उस समय दाख को मधु के साथ पीस कर उसमें गौ का घी मिलाकर जीभ पर लेप करना चाहिये, इससे जीभ सरस तथा कोमल हो जाती है।

---

१. कल्पतरु रस १ रत्ती की मात्रा में अदरख के स्वरस के साथ १-१ घंटे पर देना चाहिये।

अदरख के रस में सेंधा निमक, सोंठ, पीपर, काली मिर्च का सूक्ष्म चूर्ण समान भाग में मिलाकर मुख में गले तक भर लेवे और धीरे २ बारंबार थूकता रहे, इसी को निष्ठीवन कहते हैं। इससे मुख, तालु कोष्ठ, कन्धा, मन्या (नाड), पंसुली, शिर तथा गले में छिपा हुआ भी कफ खिंचकर बाहर निकल आता है और शरीर हल्का हो जाता है। एवम् पोरों में दर्द, ज्वर, मूर्च्छा, निद्रा, श्वास, गले के रोग, मुख तथा नेत्रों की गुरुता, जड़ता और उत्क्लेश (वमन की बारंबार इच्छा होना) ये सब शान्त हो जाते हैं। दोषों के बलाबल का विचार करके योग्यताऽनुसार एक, दो, तीन या चार बार तक यह निष्ठीवन कर्म कराना चाहिये, क्योंकि यह संनिपात ज्वर वाले रोगियों के लिये प्रधान औषध है, ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥ ५५२–५५७ ॥

इति कवलग्रहः।

अथावलेहः।

अथाष्टाङ्गावलेहमाह—

कट्फलं पौष्करं शृङ्गी व्योषं यासश्च कारवी। श्लक्ष्णं चूर्णीकृतं चैतन्मधुना सह लेहयेत् ॥
एषाऽवलेहिका हन्ति सन्निपातं सुदारुणम्। हिक्कां श्वासं च कासञ्च कण्ठरोगञ्च नाशयेत्॥
एतद्योज्यं कफोद्रेके चूर्णमार्द्रकजे रसैः ॥ ५५९ ॥

अवलेहविधि में अष्टाङ्गावलेह बनाने की विधि—कायफल, पुहकरमूल, काकड़ाशिङ्गी, सोंठ, पीपर, मिर्च, जवासा, मंगरैला इन सबों को समान भाग में लेकर सूक्ष्म चूर्ण बनाकर मधु के साथ चाटना चाहिये। इसमें आठ औषधियों का योग है अतः इसे अष्टाङ्गावलेह कहते हैं। यह अवलेह अत्यन्त दारुण भी सन्निपात ज्वर को दूर करता है और हिचकी, श्वास, खांसी तथा कण्ठसम्बन्धी रोगों को नष्ट करता है। और यदि संनिपात ज्वर में कफ की अधिक प्रबलता हो तो इस[1] चूर्ण को अदरख के रस के साथ चाटना चाहिये ॥ ५५८–५५९ ॥

***पौष्करं = पुष्करमूलं, तदलाभे कुष्ठं देयम्। शृङ्गी = कर्कटशृङ्गी। व्योषं = शुण्ठीपिप्पलीमरिचानि। यासो = यवासः, केचिद्यासस्थाने यवानीं प्रक्षिपन्ति। कारवी = "मङ्गरैला" इति लोके ॥ ५५८–५५९ ॥**

यहाँ पर "पौष्कर" पद से "पुहकरमूल" लिया गया है और यदि यह न मिले तो इसके स्थान पर "कूठ" लेना चाहिये। "शृङ्गी"पद का "काकड़ाशिंगी"। "व्योष" पद का "सोंठ, पीपर, काली मिर्च"। "यास" पद का "जवासा" अर्थ समझना चाहिये। और कोई २ वैद्य जवासा के स्थान पर "अजवाइन" का प्रयोग करते हैं। "कारवी" पद का लोकप्रसिद्ध "मंगरैला' अर्थ समझना चाहिये ॥

तन्त्रान्तरे चोक्तम्—

अष्टाङ्गं मधुना लिह्यादार्द्रकस्य रसेन वा। सम्मोहं दारुणं हन्यात्तन्द्राकाससमन्वितम् ॥

तन्त्रान्तर में भी कहा हुआ है कि-अष्टाङ्गावलेह को मधु अथवा अदरख के रस के साथ चाटना चाहिये, इससे तन्द्रा और खांसी से युक्त भयङ्कर मोह (मूर्च्छा) दूर हो जाता है ॥ ५६० ॥

सर्वेषु सन्निपातेषु न क्षौद्रमवचारयेत्। शीतोपचारि क्षौद्रं स्याच्छीतं चात्र विरुद्ध्यते ॥

सभी सन्निपातज्वरों में मधु का प्रयोग नहीं करना चाहिये, क्योंकि मधु शीतोपचारी होता है अर्थात् मधु का प्रयोग करने के बाद शीतोपचार किया जाता है और शीतोपचार का सन्निपात के साथ घोर विरोध है। अतः मधुप्रयोग वर्जित है ॥ ५६१ ॥

---

१. इसे ६ से ९ मासे की मात्रा में आवश्यक अनुपान के साथ देना चाहिये।

*शीतेनोपचारोऽस्यास्तीति शीतोपचारि शीतञ्चात्र सन्निपातेन विरुद्ध्यते। सन्निपातज्वरेषु श्लेष्मनिग्रहार्थं सर्वदा स्वेदो हितः। तत्राग्निसम्बन्धेन देहस्योष्णता तिष्ठति। उष्णेन मधुना विरोधः। उक्तं च सुश्रुतेन—

*उष्णं विरुद्ध्यते सर्वं विषान्वयतया मधु।
उष्णार्त्तमुष्णैरुष्णञ्च तन्निहन्ति यथा विषम्॥ ९७॥ इति।

यहां पर"शीतोपचारि"पद का "शीत से उपचार है जिसका" ऐसा अर्थ करने से उक्त पद मधु का विशेषण होता है। अत एव मधु प्रयोग करने के बाद शीतल उपचार किया जाता है और शीत का सन्निपात के साथ विरोध रहता है। अतः मधुप्रयोग करने का वर्जन करना उचित समझना चाहिये॥ ९७॥

सन्निपात ज्वरों में कफ का शमन करने के लिये सर्वदा स्वेद देना हितकर होता है, और स्वेद देने में अग्नि का सम्बन्ध रहने से शरीर में उष्णता विशेष रूप से वनी रहती है, तथा उष्ण से मधु का विरोध रहता है। और इसी विषय में सुश्रुत ने भी कहा है कि—विषैले पुष्पों से भी मधु बनता है अत एव विष का सम्बन्ध रहने से सभी मधु का उष्ण के साथ विरोध रहता है अत एव उष्णता से पीड़ित व्यक्ति को उष्ण पदार्थ के साथ मधु खाने के लिये देना अथवा उष्ण करके मधु खाने को देना, दोनों ही अवस्था में मधु विषतुल्य होकर खाने वाले को मार डालता है॥ ९७॥

*अवलेहः प्रायेणोर्ध्वजत्रुजरोगहरत्वात्सायमुपयुज्यते। यत उक्तं चरकेण—

*ऊर्ध्वजत्रुगदघ्नी या सा सायमवलेहिका।
अधोरोगहरी या सा भोजनात्प्राक्प्रयुज्यते॥ (९८) इति॥ ५६१॥

यह अवलेह प्रायः करके गले के ऊपर के रोगों को दूर करने वाला होता है अतः सायंकाल को इसका प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि चरक ने भी कहा है कि—जो अवलेह गले के ऊपर के रोगों को दूर करने वाला हो उसे सायंकाल को चाटना चाहिये। और जो गले के नीचे के रोगों को दूर करने वाला हो उसे भोजन से पहले चाटना चाहिये (९८)॥ ५६१॥

अथ चतुरङ्गावलेहमाह—

स्विन्नमामलकं पिष्ट्वा द्राक्षया सह मेलयेत्।
विश्वभेषजसंयुक्तं मधुना सह लेहयेत्। तेनास्य शाम्यति श्वासः कासो मूर्च्छाऽरुचिस्तथा॥

चतुरङ्गावलेह—उबाले हुये आमलों के साथ सम भाग में दाख मिलाकर दोनों को उत्तम रीति से पीसकर सोंठ का चूर्ण मिलावे पश्चात् मधु के साथ चटावे तो इससे श्वास, खांसी, मूर्च्छा तथा अरुचि शान्त हो जाती है। इसमें चार पदार्थों का योग है अतः इसे चतुरङ्गावलेह[1] कहते हैं॥ ५६२॥

अथाञ्जनम्।

तत्र शिरीषबीजाद्यञ्जनमाह—

शिरीषबीजं गोमूत्रकृष्णामरिचसैन्धवैः। अञ्जनं स्यात्प्रबोधाय सरसोनशिलावचैः॥५६३॥

अञ्जनकर्म में प्रथम शिरीषबीजाद्यञ्जन की विधि—सहिंजने का बीज, पीपल, काली मिर्च, सेंधा निमक, लहसुन, मैनशिल तथा वच इन सबों को समान भाग में लेकर गोमूत्र के साथ उत्तम रीति से पीसकर सन्निपात ज्वर वाले रोगी को होश में लाने के लिये अञ्जन देना चाहिये अर्थात् उसके आंखों में अञ्जन की भांति लगा देना चाहिये॥ ५६३॥

अथ लोहचूर्णाद्यञ्जनमाह—

अयोरजः श्वेतलोध्रं मरिचं चाञ्जनं तथा। गोमूत्रेण समायुक्तं तन्द्रानाशनमुत्तमम्॥५६४॥

---

१. आँवला उबाला हुआ ६ तोला, मुनक्का काला ६ तोला इनको पहले पीसकर फिर उसमें सोंठ ६ तोला मिलावे। इसे ६ माशे से १ तोले तक बलाबल के अनुसार मधु से चटाना चाहिये।

लोहचूर्णाद्यञ्जन—लोहे का चूर्ण, सफेद लोध, काली मिर्च, रसवत इन सबों को गोमूत्र के साथ सूक्ष्म पीस कर अञ्जन करने से सन्निपात ज्वर वाले रोगी की तन्द्रा भली भांति दूर हो जाती है॥

अथ दण्डपाण्युक्ताञ्जनमाह—

अञ्जनं सम्यगारब्धं मधुसिन्धुशिलोषणैः। प्रमोहद्रोहि भवति भाषितं दण्डपाणिना॥५६५॥

दण्डपाणि कथित अञ्जन—मधु, सेंधा निमक, मैंनसिल तथा काली मिर्च इन सबों को एकत्र अतिसूक्ष्म पीसकर अञ्जन लगाने से अत्युग्र मोह (बेहोशी) को दूर करता है। यह दण्डपाणि आचार्य का कहा हुआ है॥ ५६५॥

इत्यञ्जनम्।

अथ लेपमाह—

सूतं विषञ्च मरिचं तुत्थकं नवसादरम्। चूर्णितं स्वरसैर्मर्द्यं धूर्त्तपत्ररसोनयोः॥ ५६६॥
सन्निपातकृते मोहे मूर्ध्नि लिम्पेत्पदोपरि। अस्थिव्यथास्वनेनैव लेपं कुर्यात्पदोपरि॥५६७॥

लेप की विधि—सन्निपात ज्वर से यदि मोह (बेहोशी) हो तो पारा, वत्सनाभ विष, काली मिरच, तूतिया और नवसादर इन सबों का समान भाग में चूर्ण लेकर धतूर के पत्तों तथा लहसुन के स्वरस के साथ भली भांति मर्दन करके रोगी के शिर के ऊपर मध्यभाग का बाल बनवाकर उस पर पद (पाच्छ) लगाकर उसी के ऊपर लेप करना चाहिये। और हड्डियों में यदि पीड़ा होती हो तो पीड़ास्थल पर पाच्छ लगवाकर उसी के ऊपर इसी लेप का प्रयोग करना चाहिये॥

पदं="पाच्छ" इति लोके॥ ५६६-५६७॥

यहां पर "पद" शब्द का लोकप्रसिद्ध "पाच्छ" अर्थ भी किया गया है, यह और समझ लेना चाहिये॥ ५६६-५६७॥

अथ दशमूलक्वाथमाह—

बिल्वः श्योनाकगाम्भारीपाटलागणिकारिकाः। पित्तघ्नं वातकफहृत्पञ्चमूलमिदं महत्॥५६८

दशमूल क्वाथ—बेल, सोनापाठा, खम्भारि, पाढ़ल और अरणी इन पांचों के समूह को बृहत्पञ्चमूल कहते हैं। यह पित्तनाशक तथा वात-कफ को दूर करने वाला होता है॥ ५६८॥[1]

***अत्र बिल्वादीनां पञ्चानां मूलस्य वल्कलं ग्राह्यम्॥ ५६८॥**

यहां पर यह और समझ लेना चाहिये कि—बेल आदिक पांचों वृक्षों के जड़ का छिल्का लेना चाहिये॥ ५६८॥

शालिपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका। गोक्षुरुर्वातपित्तघ्नं कनीयः पञ्चमूलकम्॥५६९॥
उभयं दशमूलं तत्पिप्पलीचूर्णसंयुतम्। सन्निपातज्वरं हन्ति हृत्कण्ठग्रहनाशनम्॥५७०॥
तन्द्रावातकफातङ्कश्वासपार्श्वार्त्तिकासनुत्॥ ५७१॥

महान्ति यानि मूलानि काष्ठगर्भाणि यानि च। तेषान्तु वल्कलं ग्राह्यं ह्रस्वमूलानि कृत्स्नशः॥

शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी तथा गोखरू इन पांचों के समूह को लघु[2] पञ्चमूल कहते हैं। यह वातपित्तनाशक होता है।

और बृहत् तथा लघु ये दोनों पञ्चमूल मिलकर दशमूल कहलाते हैं। इस[3] दशमूल के

---

१. बृहत्पञ्चमूल की औषधों को मिलाकर ४ तोले लेकर अधकुटकर आध सेर जल में मिट्टी के नवीन पात्र (हंडी) में औटावै, जब आधा छटाक रह जाय तब उतार छान कर प्रयोग करै।

२. शालिपर्णी आदि को पृथक्-पृथक् १-१ तोले लेकर अधकुट करके आध सेर जल में पकाकर आध छटाक रहने पर उतार ले। इसका आवश्यकतानुसार प्रयोग करें।

३. दशमूल की औषधियां मिलित ५ तोले लेकर विधिवत् क्वाथ बनाकर, पिप्पलीचूर्ण ६ रत्ती मिलाकर सेवन कराना चाहिये।

क्वाथ में यदि पीपल का चूर्ण प्रक्षेप की मात्रा में मिलाकर संनिपात ज्वर वाले रोगी को दिया जाय तो उसका ज्वर नष्ट हो जाता है, तथा हृदय और कण्ठ की पीड़ा, तन्द्रा, वात-कफसम्बन्धी रोग, श्वास, पसुलियों की पीड़ा और खांसी ये सब भी दूर होते हैं।

परिभाषा—दशमूल की ओषधियों में जिन के मूल बड़े हों या जिनके मूल के अन्दर काष्ठभाग अधिक हों उनके काष्ठ भाग को छोड़ कर केवल छिल्कों का ही ग्रहण करना चाहिये। और जिनके मूल छोटे २ हों उनका सर्वाङ्ग लेना चाहिये ॥ ५६९-६७२ ॥

अथ द्वादशाङ्गक्वाथमाह—

दशमूलीकषायस्तु पिप्पलीपौष्करान्वितः। सन्निपातज्वरे देयः श्वासकाससमन्विते ॥५७३॥

द्वादशाङ्ग क्वाथ—श्वास तथा खांसी युक्त सन्निपातज्वर में रोगी को दशमूल के क्वाथ में पीपल तथा पुहकरमूल के चूर्ण का प्रक्षेप कर [1] पिलाना हितकर होता है। इस में १२ ओषधियों का योग होने से यह द्वादशाङ्ग कहलाता है ॥ ५७३ ॥

अथ चतुर्दशाङ्गक्वाथमाह—

चिरज्वरे वातकफोल्वणे वा त्रिदोषजे वा दशमूलमिश्रः।
किराततिक्तादिगणः प्रयोज्यः शुद्ध्यर्थिने वा त्रिवृताविमिश्रः ॥ ५७४ ॥

चतुर्दशाङ्गक्वाथ—पुराने ज्वर में या वातकफोल्वण ज्वर या त्रिदोषज ज्वर में रोगी को दशमूल के साथ किराततिक्तादिगणोक्त ओषधियों का योग कर क्वाथ [2] बनाकर पिलाना चाहिये और यदि विरेचन द्वारा शोधन करना चाहें तो निशोथ का चूर्ण भी मिलाकर उक्त क्वाथ को पिलाना चाहिये ॥

अथ किराततिक्तादिगणमाह—

किराततिक्तको मुस्तं गुडूची विश्वभेषजम्। किरातादिर्गणो ह्येष चातुर्भद्रकमित्यपि ॥५७५॥

किराततिक्तादिगण—चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, सोंठ इन चारों के योग को किराततिक्तादि या किरातादि गण अथवा चातुर्भद्रक कहते हैं ॥ ५७५ ॥

अथाष्टादशाङ्गक्वाथमाह—

दशमूली शटी शृङ्गी पौष्करं सदुरालभम्। भार्गी कुटजबीजञ्च पटोलं कटुरोहिणी ॥ ५७६ ॥
अष्टादशाङ्ग इत्येष सन्निपातज्वरापहः। कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिश्वासहिक्कावमीहरः ॥ ५७७ ॥

अष्टादशाङ्गक्वाथ—दशमूल के दश द्रव्यों में कचूर, काकड़ाशिङ्गी, पुहकरमूल, धमासा, भारङ्गी, इन्द्रजौ, परवल के पत्ते और कुटकी इन आठ द्रव्यों को मिलाने से अठारह द्रव्य होते हैं अतः इनके क्वाथ को अष्टादशाङ्ग क्वाथ कहते हैं। यह क्वाथ सन्निपात ज्वर को दूर करने वाला तथा खांसी, हृदय का अवरोध, पसुलियों की पीड़ा, श्वास, हिचकी और वमन को नष्ट करने वाला होता है [3] ॥

अथ द्वितीयाष्टादशाङ्गक्वाथमाह—

भूनिम्बदारुदशमूलमहौषधाब्द-तिक्तेन्द्रबीजधनिकेभकणाकषायः।
तन्द्राप्रलापकसनारुचिदाहमोह-श्वासत्रिदोषजनितज्वरनाशनः स्यात् ॥ ५७८ ॥

द्वितीय अष्टादशाङ्गक्वाथ—चिरायता, देवदारु, दशमूल के १० द्रव्य, सोंठ, नागरमोथा, कुटकी, इन्द्रजौ, धनिया तथा गजपीपल इन १८ अट्ठारह ओषधियों के समूह को भी अष्टादशाङ्ग कहते हैं।

---

१. पीपल तथा पोहकरमूल का मिलित चूर्ण १ माशे प्रक्षेप करना चाहिये।

२. किराततिक्तादि गण तथा दशमूल की औषधों के मिले हुये चूर्ण को ४ तोले लेकर विधिवत् क्वाथ करें। विरेचन की आवश्यकता हो तो इसमें निशोथ का चूर्ण २ माशे मिला देना चाहिये।

३. क्वाथ्यद्रव्य (दशमूलादि) ४ तोले, पाकार्थ जल आध सेर, अवशेष आध छटाक छान कर पिलाना चाहिये।

इसका क्वाथ सन्निपात ज्वर वाले रोगी की तन्द्रा, प्रलाप, खांसी, अरुचि, दाह, मोह, श्वास तथा ज्वर को दूर करता है[1] ॥ ५७८ ॥

*उक्तं च वङ्गसेनेन—

"अष्टादशाङ्ग इत्येष मृत्युकल्पं ज्वरं जयेत्" ॥ ९९ ॥ इति ॥ ५७८ ॥

यहां पर यह और समझ लेना चाहिये कि—इसके विषय में वङ्गसेन ने यह कहा है कि—यह अष्टादशाङ्ग क्वाथ मृत्युकल्प (भयङ्कर सन्निपात) ज्वर को दूर करने वाला होता है ॥९९॥५७८॥

अथ सन्निपातज्वरे रसाः ।

तत्र मृतसञ्जीवनीवटिकामाह—

(सन्निपातज्वरे रसप्रदीपे)

विषं त्रिकटुकं गन्धं टङ्कणं मृतशुल्वकम् । धत्तूरस्य च बीजानि हिङ्गुलं नवमं स्मृतम् ॥
एतानि समभागानि दिनैकं विजयाद्रवैः । मर्दयेच्चणकाकारा कर्त्तव्या वटिकाऽथ सा ॥
भक्षणीयोऽनुपातव्यो-रविमूलकषायकः । मृतसञ्जीवनी नाम्ना सन्निपातज्वरान्तकृत् ॥५८१॥

संनिपात ज्वर में रसप्रदीपोक्त मृतसंजीवनी वटिका—शुद्ध वत्सनाभ विष, सोंठ, पीपर, मरिच, शुद्ध गन्धक, सुहागा का खील, ताम्बे की भस्म, धतूरे के बीज और सिंगरफ इन ९ द्रव्यों को समान भाग में लेकर एक दिन तक भांग के रस के साथ खरल करे, इसके बाद चने के बराबर गोली बनाकर आक की जड के क्वाथ के साथ १ गोली खिलानी चाहिए। इसका नाम मृतसंजीवनी रस है। यह संनिपात ज्वर को दूर करता है[2] ॥ ५७९–५८१ ॥

अत्र त्रिनेत्ररसमाह (**सन्निपातज्वरे रसप्रदीपे**)—

शुद्धसूतं समं गन्धं सूतांशं मृतताम्रकम् । त्रिभिस्तुल्यैर्गवां क्षीरैर्मर्दयेदातपे खरे ॥ ५८२ ॥
मर्दयेद्दिनमेकन्तु निर्गुण्डीशिग्रुजद्रवैः । विधाय गोलं तं गोलमन्धमूषागतं पचेत् ॥ ५८३ ॥
त्रियामं वालुकायन्त्रे ततः खल्वे विचूर्णयेत् । अष्टमांशं विषं तत्र क्षिपेत्तेनापि मर्दयेत् ॥
त्रिनेत्राख्यो रसो ह्येष देयो गुञ्जाद्वयोन्मितः । पञ्चकोलकषायेण छागीदुग्धेन वा सह ॥
रसेनानेन भुक्तेन सन्निपातज्वरो महान् । संक्षयं व्रजति क्षिप्रं कर्त्तव्यो नात्र संशयः ॥५८६॥

संनिपात ज्वर में रसप्रदीपोक्त त्रिनेत्ररस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक और तामे का भस्म इन तीनों द्रव्यों को समान भाग में लेकर और इन सबों के बराबर गौ के दूध के साथ तीव्र धूप में रखकर खरल करें। उसके बाद सम्हालू तथा सहिजन के रस के साथ एक दिन तक पुनः खरल करके गोला बनाकर अन्धमूषा के अन्दर रख कर यथाविधि तीन प्रहर तक वालुकायन्त्र के अन्दर पकावे, तत्पश्चात् स्वाङ्गशीतल हो जाने पर अन्धमूषा में से निकाल कर खरल में रखकर सूक्ष्मचूर्ण कर डाले और उसमें आठवां भाग शुद्ध वत्सनाभ विष डालकर पुनः खरल करे। इसको वैद्य लोग त्रिनेत्ररस कहते हैं। इसकी मात्रा दो रत्ती के बराबर की है। और पञ्चकोल (पीपल, पिपरामूल, चव्य, चीता और सोंठ) के क्वाथ अथवा बकरी के दूध के साथ इस रस का सेवन करने से भयङ्कर भी संनिपात ज्वर शीघ्र दूर होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है[3] ॥ ५८२–५८६ ॥

---

१. चिरायता आदि द्रव्यों को मिलाकर १ छटाक लेकर आधसेर जल में विधिवत् क्वाथ तैयार करे।

२. इसकी मात्रा १ से २ रत्ती, अनुपान अर्कमूलक्वाथ वा अदरक का स्वरस।

३. इसे बलाबल के अनुसार ½ से १½ रत्ती की मात्रा में सेवन करना चाहिये।

अथ रसेन्द्रचिन्तामण्युक्तभस्मेश्वररसमाह—

भस्म षोडशनिष्कं स्यादरण्योपलसम्भवम्। मरिचं निष्कमात्रञ्च विषं निष्कं विचूर्णयेत्॥ रसो भस्मेश्वरो नाम सन्निपातज्वरान्तकृत्। एकगुञ्जामितो भक्ष्य आर्द्रकस्य द्रवेण हि॥

रसेन्द्रचिन्तामणि में कहा हुआ भस्मेश्वर रस—जंगली गौ के सूखे गोबरों (बिनुआ कण्डों) की भस्म सोलह १६ निष्क, काली मिरच १ निष्क, शुद्ध वत्सनाभ १ निष्क इन सबों को एकत्र कर भली भांति खरल करे, यह भस्मेश्वर नामक रस है। इसकी एक-एक रत्ती की मात्रा होती है। यह अदरख के रस के साथ खाने से सन्निपातज्वर को दूर करने वाला होता है॥ ५८७–५८८॥

अथाग्निकुमाररसमाह—

द्वौ कर्षौ सूतकाद् ग्राह्यौ गन्धकाद् द्वौ तथैव च। यत्नतस्तूभयं मर्द्यं दिनं हंसपदीद्रवैः॥ कल्कस्य वटिकां कृत्वा निक्षिपेत्काचभाजने। कर्षैकममृतं तत्र क्षिप्त्वा वक्त्रं निरोधयेत्॥ कूपिकायाः परौ भागौ वालुकाभिश्च पूरयेत्। सार्द्धं यावदहोरात्रं तावत्तत्र पचेद्रसम्॥५९१॥ याममात्रोऽनलो देयः स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत्। तोलार्द्धममृतं तत्र क्षिपेत्तावत्तथोषणम्॥ भक्षितो रक्तिकामात्रो रसस्त्वग्निकुमारकः। सन्निपातज्वरं हन्याद्वातं मन्दाग्नितामपि॥ शूलञ्च ग्रहणीं गुल्मं क्षयं जत्रुगदं तथा। श्वासकासादिकान्सर्वान् गदानेष विनाशयेत्॥

अग्निकुमार रस—शुद्ध पारा २–२ तोले और शुद्ध गन्धक तोले लेकर दोनों को लजालू के रस में एकत्र रख एक दिन तक खूब खरल करे, पश्चात् गोला बनाकर कांच की आतसी शीशी में रख कर ऊपर से एक तोला शुद्ध मीठा विष डालकर शीशी का मुख बन्द कर लेवे। उसके बाद एक दूसरे मिट्टी के पात्र में उक्त शीशी को रखकर उसके गले तक चारों तरफ बालू भर देवे, और डेढ़ दिन तक मन्द आंच से पकाता रहे, बाद को एक प्रहर तक केवल कोयलों पर रखकर उतार लेवे, और जब स्वाङ्गशीतल हो जाय तब शीशी में से निकाल कर आधा तोला पुनः शुद्ध मीठा विष और आधा तोला काली मिरच मिलाकर खूब खरल करे, इसी का नाम अग्निकुमार रस है। इसकी मात्रा १ रत्ती की होती है। इसके सेवन करने से सन्निपात ज्वर, मन्दाग्नि, शूल, ग्रहणी, गुल्म, क्षय, कण्ठ से ऊपर के रोग और श्वास तथा खांसी आदिक संपूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं। इसे आधी रत्ती से १ रत्ती तक देना चाहिए॥ ५८९–५९४॥

इत्यग्निकुमारो रसः सन्निपातज्वरादिषु रसेन्द्रचिन्तामणौ॥ ५८९-५९४॥

यहाँ पर यह और समझ लेना चाहिए कि—यह अग्निकुमार रस संनिपातज्वर आदि के लिये रसेन्द्रचिन्तामणि में कहा हुआ है॥ ५८९–५९४॥

अथ पञ्चवक्त्ररसमाह—

गन्धेशटङ्कमरिचं विषं धत्तूरजैर्द्रवैः। दिनं सम्मर्दितं शुष्कं पञ्चवक्त्रो रसो भवेत्॥ ५९५॥ आर्द्रकस्य द्रवेणैष दातव्यो रक्तिकामितः। सन्निपातज्वरे देयो घोरे तद्दोषनाशनः॥ ५९६॥

पञ्चवक्त्ररस—शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारा, सुहागा, काली मिरच और शुद्ध विष ये सब समान भाग में लेकर एक दिन तक धतूरे के रस में खरल कर सुखा लेने से पञ्चवक्त्र नामक रस सिद्ध होता है। इसकी रत्तीभर की मात्रा अदरख के रस के साथ देनी चाहिए। इसको भयङ्कर संनिपात ज्वर में देने से भी ज्वर दूर हो जाता है। (आधुनिक मात्रा–२ चावल के बराबर से आधी रत्ती तक)॥ ५९५–५९६॥

इति पञ्चवक्त्रो रसः सन्निपाते रसेन्द्रचिन्तामणौ॥ ५९५–५९६॥

यहां पर यह और समझ लेना चाहिए कि—यह पञ्चवक्त्र रस सन्निपात ज्वर के लिए रसेन्द्रचिन्तामणि में कहा हुआ है॥ ५९५–५९६॥

अथामृतादिवटीमाह—

अमृतवराटकमरिचैर्द्विपञ्चनवभागयोजितै रचिता।
वटिका मुद्गसमाना कफत्रिदोषाग्निमान्द्यहरी ॥ ५९७ ॥

अमृतादिवटी—शुद्ध मीठा विष दो भाग, कौड़ी की भस्म पांच भाग और काली मिरच नौ भाग लेकर इन सबों को एकत्र जल में भलीभांति खरल कर मूंग के बराबर २ गोलियां बना डाले। इसके सेवन करने से कफ, त्रिदोष तथा अग्निमान्द्य दूर होता है[1] ॥ ५९७ ॥

अथ शीतज्वरे रसाः।

अथ शीतज्वरारिरसमाह—

सूतकं गन्धकञ्चैव हरितालं मनःशिला। एकनिष्कं द्विनिष्कञ्च चतुर्निष्कं तथव च ॥५९८॥
पञ्चनिष्कं रसैः कारवेल्ल्याः सम्यक्प्रकल्पयेत्। ताम्रपत्राणि तुल्यानि तेन कल्केन लेपयेत्॥
शरावसम्पुटे तानि कृत्वा तेषामुपर्यपि। दद्यात्तां पिष्टिकां पश्चात्पुटपाकेन पाचयेत् ॥६००॥
ततः सञ्चूर्णयेदेवं रसः क्षौद्रेण भक्षितः। यवैकमात्रया हन्ति घोरं शीतज्वरं ध्रुवम् ॥६०१॥

शीतज्वरारिरस—शुद्ध पारा एक निष्क (टंक), शुद्ध गन्धक दो निष्क, शुद्ध हरताल चार, निष्क, शुद्ध मैनसिल पांच निष्क लेकर इन सबों को एकत्र कर करेले के रस में पूर्वोक्त द्रव्यों के कल्क का लेप करके शराव-संपुट में रखकर ऊपर से पुनः पूर्वोक्त कल्क और भी रखकर सम्पुट का मुख बन्द कर पुटपाक की रीति से अग्नि में पकावे, सिद्ध होने पर निकाल कर चूर्ण करके एक जौ की मात्रा में मधु से खिलाने से शीतज्वर निश्चय दूर हो जाता है ॥ ५९८-६०१ ॥

***पारा टङ्क १। गन्धक टङ्क २। हरिताल टङ्क ४। मनःशिला टङ्क ५। ताम्रपत्र टङ्क १२। इति शीतज्वरारिः। रसप्रदीपे ॥ ५९८-६०१ ॥**

यहाँ पर यह और भी समझ लेना चाहिए कि-पारा १ टङ्क, गन्धक २ टङ्क, हरिताल ४ टङ्क, मैनशिल ५ टङ्क, तामे के पत्र १२ टङ्क लेना चाहिये। और यह शीतज्वरारि रस रसप्रदीप में कहा हुआ है ॥ ५९८-६०१ ॥

अथ शीतकेसरिरसमाह—

(रसप्रदीपे)

पारदं गन्धकञ्चव तुत्थञ्च दरदं विषम्। विषादष्टगुणं योज्यं मरिचं विश्वभेषजम् ॥ ६०२ ॥
अश्वगन्धाऽथ विजया कासमर्दः कठिल्लकः। चतुर्णाञ्च रसैरेतैश्चूर्णान्येतानि मर्दयेत् ॥६०३॥
तुलस्यास्तु दलैः सार्द्धं भक्षितो रक्तिकामितः। हन्ति शीतज्वरं घोरं नाम्नाऽयं शीतकेसरी ॥

रसप्रदीपोक्त शीतकेसरी रस—शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, शुद्ध तूतिया १ भाग, सिंगरफ १ भाग, शुद्ध विष १ भाग, काली मिरच और सोंठ ८ भाग लेकर सबों का चूर्ण कर लेवे पश्चात् असगन्ध, भांग, कसौंदी और करेला इन चारों के रस में क्रम से पृथक् २ उक्त चूर्ण का भली भांति मर्दन करने से शीतकेसरी नामक रस तैयार होता है। इसे १ रत्ती की मात्रा में तुलसी की पत्तियों के साथ खाने से भयङ्कर भी शीतज्वर नष्ट हो जाता है ॥ ६०२-६०४ ॥

अथ शीतभञ्जिरसमाह—

तालकं शुक्तिकाचूर्णं तुल्यं तत्रोभयोरपि। नवमांशञ्च तुत्थं स्यान्मर्दयेत्कन्यकाद्रवैः ॥६०५॥
तत्तु संशुष्कमुपलैर्वन्यैर्गजपुटे पचेत्। शीतं तच्चूर्णयेदर्द्धगुञ्जामात्रं सितायुतम् ॥ ६०६ ॥
प्रभाते भक्षयेत्तेन याति शीतज्वरः क्षयम्। वान्तिर्भवति कस्यापि कस्यचिन्न भवत्यपि ॥

---

१. इसे १ से २ रत्ती की मात्रा में अदरख के स्वरस के साथ देना चाहिये ॥

शीतभञ्जी रस–शुद्ध हरताल और सींप का चूर्ण समान भाग में लेकर और इन दोनों के नवें भाग के तुल्य शुद्ध तूतिया लेकर सबों को एकत्र कर घीकुवार के रस के साथ भली भांति मर्दन करै पश्चात् गोला बनाकर सुखा लेवै, फिर उक्त गोले को जंगली उपलों से गजपुट के अन्दर रखकर पकावै, और तैयार होने पर उतार कर जब स्वांग शीतल हो जाय तब गोले को निकाल कर सूक्ष्म चूर्ण बना लेवै । इसी को शीतभञ्जी रस कहते हैं । इसे आधी रत्ती की मात्रा में साफ शक्कर के साथ प्रातःकाल खिलाने से शीतज्वर नष्ट हो जाता है । और इसके सेवन करने के बाद किसी को वमन हो जाता है और किसी को वमन नहीं भी होता है ॥ ६०५-६०७ ॥

अथ रसेन्द्रचिन्तामण्युक्तशीतभञ्जिरसमाह—

तालकं तुत्थकं ताम्रं सूतगन्धकटङ्कणम् । सर्वमेतत्समं चूर्णं कारवेल्लीरसद्रवैः ॥ ६०८ ॥
दिनैकं मर्दयेत्तेन रसकर्दमकेन तु । ताम्रस्य भाजनस्यान्तर्लिम्पेदर्द्धाङ्गुलोन्मितम् ॥६०९॥
तत्पचेद्वालुकायन्त्रे यवा यावत्स्फुटन्ति हि । शीतलं तद्धि गृह्णीयात्ताम्रपात्रोदराद्भिषक् ॥६१०॥
शीतभञ्जो रसो माषमात्रो मरिचसंयुतः । भक्षितः पर्णखण्डेन नाशयेद्विषमज्वरान् ॥६११॥

रसेन्द्रचिन्तामणि में कहा हुआ शीतभञ्जी रस—शुद्ध हरताल, शुद्ध तूतिया, शुद्ध ताम्रपत्र, शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध सुहागा इन सबों को समान भाग में लेकर चूर्ण बना डालै, पश्चात् करैले के रस के साथ उक्त चूर्ण को एकत्र कर एक दिन तक खरल करै, उसके बाद खरल किये हुए उक्त चूर्ण के कल्क का तामे के पात्र के अन्दर आधे अंगुल तक ऊंचा लेप करके इसे वालुकायंत्र में रखकर तब तक पकाना चाहिये कि जब तक बालू के अन्दर रखा हुआ जौ भुन कर फूट न जाय, उसके बाद तैयार होने पर उतार कर रख दे औरजब स्वांग शीतल हो जाय तब तामे के पात्र के अन्दर से उक्त कल्क को खुरच कर निकाल ले । यही शीतभञ्जी रस है । इसे एक माशे की मात्रा में लेकर मरिच के चूर्ण के साथ पान में रखकर खिलाने से सभी प्रकार के विषमज्वर नष्ट हो जाते हैं[1] ॥६०८-६११॥

अथ रसरत्नप्रदीपोक्तशीतभञ्जिरसमाह—

तालको दरदोद्भूतः पारदो गन्धकः शिला । क्रमाद्भागार्द्धरहितं कारवेल्लयम्बुमर्दितम् ॥
अनेनास्यप्रमाणेन ताम्रपात्रं प्रलेपयेत् । अधोमुखं दृढे भाण्डे तन्निरुध्याथ पूरयेत् ॥६१३॥
चुल्ल्यां वालुकया घस्रमग्निं प्रज्वालयेदधः । शीतं सञ्चूर्ण्य माषोऽस्य नागवल्लीदले स्थितः ॥
भक्षितो मरिचैः सार्द्धं समस्तविषमज्वरान् । शीतदाहादिकान्हन्ति पथ्यं शाल्योदनं पयः ॥

रसरत्नप्रदीपोक्त शीतभञ्जी रस—शुद्ध हरताल २ भाग, सिंगरफ से निकाला हुआ पारा २ भाग, शुद्ध गन्धक १॥ भाग, शुद्ध मैनसिल १ भाग लेकर सबों को एकत्र कर करेले के रस के साथ भली भांति खरल करके कल्क बना लेवै पश्चात् इसी कल्क का किसी तामे के पात्र के अन्दर लेप करके इसे अन्य मिट्टी के दृढ पात्र के अन्दर औंधा रखकर ऊपर से बालू भर कर चूल्हे पर चढ़ा देवै, और उसके नीचे एक दिन रात अग्नि जलावै, पश्चात् स्वांगशीतल हो जाने पर उतार कर पात्र के अन्दर से खुरच कर निकाल लेवै, और चूर्ण कर डाले । इसकी मात्रा १ माशा तक की है । और इसे मरिच के चूर्ण के साथ पान में रख कर खिलाने से शीत, दाहादिक समस्त विषमज्वर नष्ट हो जाते हैं । इसमें पथ्य शालि (अगहनी) धान्य के चावलों का भात और दूध है[2] ॥

---

१. आजकल इसे १–२ रत्ती की मात्रा में लेकर ४ रत्ती मरिच के चूर्ण के साथ पान में रख-कर खाना चाहिये ।

२. इसकी १ माशा मात्रा आजकल बहुत अधिक है आधुनिक काल के लिये उपयुक्त मात्रा १ से ३ रत्ती तक है ।

*इति शीतभञ्जी रसः, शीतज्वरादिविषमज्वरेषु रसरत्नप्रदीपे ॥ ६१२-६१५ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—यह शीतभञ्जी रस शीतज्वरादिक विषमज्वरों के लिये रसरत्नप्रदीप में कहा हुआ है ॥ ६१२-६१५ ॥

अथ कट्फलादिपानमाह—

कट्फलं त्रिफला दारु चन्दनं सपरूपकम् । कटुका पद्मकोशीरं विपचेत्कर्षकं जले ॥६१६॥
त्रिदोषदाहतृष्णाघ्नं पानमात्रे प्रपूजितम् । दीर्घकालज्वरार्त्तानामेतत्स्यादमृतोपमम् ॥६१७॥

कट्फलादि पान—कायफल, आँवला, हरड़, बहेड़ा, देवदारु, रक्तचन्दन, फालसे, कुटकी, पद्माख और खस इन सबों को एक तोला भर लेकर जल में पका लेवें । और जिनको बहुत दिनों से ज्वर आता हो उनके लिये यह अमृत के समान गुणकारी होता है, और पीने मात्र से ही त्रिदोष या त्रिदोषजनित दाह तथा प्यास को दूर करने में यह श्रेष्ठ होता है ॥ ६१६-६१७ ॥

***कर्षं कट्फलाद्युशीरान्तानां समुदितानां जले प्रस्थमिते विपचेदर्द्धशेषं पिबेत् । कट्फलादिपानं तृष्णायां दाहे च ॥ ६१६-६१७ ॥**

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—कायफल से लेकर खस पर्यन्त सम्पूर्ण द्रव्य मिलकर १ तोला भर लेना चाहिये । तथा उसे प्रस्थ (६४ तो०) भर जल में पकावे और जब आधा अवशेष रह जाय तब उतार कर छान लेवें, पीछे शीतल होने पर प्यास तथा दाह में पीने के लिये देवें । इसका नाम कट्फलादि (पानक) पान है ॥ ६१६-६१७ ॥

अथ शीतलजलनिषेधमाह—

सन्निपाते तु दाहार्त्तं यः सिञ्चेच्छीतवारिणा । आतुरः स कथं जीवेद्भिषग्वा स कथं भवेत् ॥

शीतल जल का निषेध—संनिपात ज्वर में दाह से पीड़ित होने पर रोगी को जो वैद्य शीतल जल से सींचता है, वह कैसे वैद्य कहा जा सकता है ? और वह रोगी भी कैसे बच सकता है ? अर्थात् उस समय शीतल जल का प्रयोग सर्वथा वर्जित है ॥ ६१८ ॥

***एष सन्निपातिनो दाहे शीताम्बुसेकनिषेधो रुग्दाहादन्यत्र, तत्र वाप्यवगाहनस्योक्तत्वात्॥**

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—संनिपातज्वर वाले रोगी को दाह होने पर जो यह शीतल जल से सींचने का निषेध किया जाता है, वह रुग्दाह नामक संनिपात ज्वर वाले रोगी को छोड़ कर ही समझना चाहिये । क्योंकि रुग्दाह संनिपात ज्वर में दाह से पीड़ित रोगी के लिये तो बावडी आदि में घुस कर स्नान करने के लिये कहा ही हुआ है ॥ ६१८ ॥

अथान्नमाह—

दुःस्पर्शगोक्षुरक्षुद्रासिद्धमाहारमर्पयेत् । दोषशान्तिबलाग्न्यर्थं त्रिदोषज्वरिणे भिषक् ॥६१९॥

अन्नदान-विषयक विचार—वैद्य को उचित है कि—संनिपातज्वर वाले रोगी के लिये दोषों की शान्ति तथा बल और जठराग्नि बढ़ाने के निमित्त जवासा, गोखरू और छोटी कण्टकारी के क्वाथ द्वारा सिद्ध किया हुआ उचित अन्न पेया आदिक अवश्य देना चाहिये[1] ॥ ६१९ ॥

***दुःस्पर्शो = यवासः । आहारम् = उचितमन्नम् ॥ ६१९ ॥**

यहां पर "दुःस्पर्श" पद का "जवासा" तथा "आहार" पद का "उचित अन्न" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६१९ ॥

लाजसक्तून्समश्नीयात्सैन्धवेन समन्वितान् । ते च जीर्यन्त्यविघ्नेन ज्वरी जीवेत्तदा ध्रुवम् ॥

---

१. जवासा आदि द्रव्यों को मिलाकर १ कर्ष लेवें । इसे १ प्रस्थ (६४ तोले द्रवद्वैगुण्य नियम से १२८ तोले) जल लेकर क्वाथ बनावें, आधा शेष रहने पर उतार लेवें । इसी जल में पेया आदि का पाक करें ।

और धान के खीलों का सत्तू, सेंधा निमक के साथ खाने के लिये, देना चाहिये क्योंकि यह निर्विघ्न (शीघ्रता से) पच जाता है, और रोगी भी उस समय इसके पा जाने से जीवन लाभ कर लेता है ॥ ६२० ॥

*इति केचित् ॥ ६२० ॥

यहां पर यह और भी समझ लेना चाहिये कि—अन्न देने के विषय में यह मत किसी २ वैद्यों का है सर्वसम्मत नहीं है ॥ ६२० ॥

रक्तपित्तहितत्वेन तृषादाहज्वरेषु च। लाजानां सक्तवः शीता नैव तेऽत्र हिता मताः ॥६२१॥ पाचनो दीपनः स्वेद्यो लाजमण्डो यतः स्मृतः। दशमूलादिसंसिद्धः संनिपातज्वरे हितः ॥ सन्निपातज्वरी यस्तु कम्पते प्रलपत्यपि। किञ्चिदेव न जानाति चिकित्सा तस्य कथ्यते ॥ अभ्यञ्जयेत्पुराणेन सर्पिषा पूर्वमेव तम्। बलारास्नागुडूच्याद्यैस्तैलैश्च परिषेचयेत् ॥ ६२४ ॥

और धान के खीलों का सत्तू रक्तपित्त के लिये हितकर होने से प्यास और दाह ज्वर में विशेष रूप से हितकर होता है, अत एव शीतवीर्य होने से यह संनिपात ज्वर में कदापि हितकर नहीं हो सकता है। इसी से यह समझना चाहिये कि धान के खीलों का सत्तू संनिपात ज्वर में देना सर्व वैद्यजनों को अभिमत नहीं है। क्योंकि संनिपात ज्वर में तो पसीना लाने वाला और अग्निदीपक ऐसा दशमूलादि क्वाथ से सिद्ध किया हुआ धान के खीलों का मण्ड (मांड) ही पथ्य है ऐसा वैद्यों को अभिमत है।

और जो संनिपात ज्वर वाला रोगी कांपता है, प्रलाप करता है तथा कुछ नहीं जानता है अर्थात् जिसे संज्ञा नहीं है, उसकी चिकित्सा कहते हैं। पहले वैसे रोगी के शरीर में पुराने घी का मालिश करके बलादि, रास्नादि या गुडूच्यादि तैल द्वारा परिषेक (खूब सेचन) करना चाहिये ॥

वर्त्तको वर्त्तिका लावो वार्त्तिकस्तित्तिरिः शशः। कुलिङ्गश्च रसैरेषां तर्पयेत यथाऽनलम् ॥

और रोगी के अग्नि के अनुसार बटेर, बटेरी, लवा, बगेरा, तीतर, खरगोश और कुलिङ्ग (घर में रहने वाली चिड़िया गौरैया) इन सबों में से किसी के मांस का रस (सुरवा) देकर सन्तर्पण करना चाहिये अर्थात् रोगी की तृप्ति करनी चाहिये ॥ ६२५ ॥

***वर्त्तकः="बटेर" इति लोके। वर्त्तिका="बटेरी" इति लोके। 'वार्त्तिको वातचटके'ति निघण्टुः। "बगेरा" इति लोके। कुलिङ्गः="गवरैया" इति लोके ॥ ६२५ ॥**

यहां पर "वर्त्तक" पद का "लोकप्रसिद्ध बटेर"। "वर्त्तिका" पद का "लोकप्रसिद्ध बटेरी"। "वार्तिक" पद का "लोकप्रसिद्ध बगेरा" अर्थ समझना चाहिये, तथा वार्त्तिक और वातचटका ये दोनों पर्यायवाची शब्द समझना चाहिये। एवम् "कुलिङ्ग" पद का "लोकप्रसिद्ध गवरैया" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६२५ ॥

सन्निपाते क्षुधाऽऽर्त्तं यो भोजयेत्पिशितौदनम्। स कथं भिषगाख्यान्तु लभते मनुजाधमः ॥

संनिपात ज्वर में भूख से व्याकुल रोगी को जो वैद्य मांस तथा भात खिलाता है, वह मनुष्यों में अधम कैसे वैद्य कहला सकता है, अर्थात् जो वैद्य होगा वह ऐसा कभी नहीं करेगा ॥ ६२६ ॥

अथ वातोल्बणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा।

तत्र बृहत्पञ्चमूलीक्वाथमाह—

पञ्चमूलीकषायन्तु दद्याद्वातोल्बणे ज्वरे। भृशोष्णं वा सुखोष्णं वा दृष्ट्वा दोषबलाबलम् ॥

वातोल्बण संनिपात ज्वर की चिकित्सा में बृहत्पञ्चमूली क्वाथ—बृहत् पञ्चमूली का क्वाथ दोषों के बलाबल का विचार करके अत्यन्त गरम अथवा किंचिद् गर्म रहते हुए वातोल्बण संनिपातज्वर वाले रोगी को देना चाहिये ॥ ६२७ ॥

*पञ्चमूली महती प्रथमोपस्थितपरित्यागे वचनाभावात् ॥ ६२७ ॥

यहां पर "पञ्चमूली" पद से "बृहत्पञ्चमूली" का ग्रहण किया गया है। क्योंकि प्रथम वर्णन इसी का आता है पश्चात् लघुपञ्चमूली का, और जो प्रथम प्राप्त हो उसका परित्याग करने के लिये कोई वचन शास्त्रों में नहीं मिलता है अतः प्रथम प्राप्त होने से बृहत्पञ्चमूली का ग्रहण करना संगत ही समझना चाहिये ॥ ६२७ ॥

अथ पित्तोल्बणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा ।

तत्र परूषकादिक्काथमाह—

परूषकञ्च त्रिफला देवदारु च कट्फलम् । चन्दनं पद्मकञ्चैव तथा कटुकरोहिणी ॥६२८॥
पृश्निपर्णी शृतं त्वेभिरुषितं शीतलं जलम् । पित्तोत्तरे नृणामेतत्सन्निपातचिकित्सितम्॥६२९॥

पित्तोल्बण संनिपात ज्वर की चिकित्सा में परूषकादिक्काथ-फालसा, आमला, हरड़, बहेरा, देवदारु, कायफल, रक्तचन्दन, पद्माख, कुटकी और पृश्निपर्णी इन सबों का क्वाथ[1] बनाकर रात्रि भर पड़ा रहने दे, और दूसरे दिन बासी हो जाने पर छान कर पित्तोल्बण संनिपात ज्वर वाले रोगी को पिलाना चाहिये, क्योंकि उसके लिये यह सुन्दर औषधि है ॥ ६२८-६२९ ॥

अथ किरातादिसप्तकमाह—

किराततिक्तकं मुस्तं गुडूची विश्वभेषजम् । पाठोदीच्यं मृणालञ्च शृतं पित्ताधिके पिबेत् ॥

किरातादिसप्तक क्वाथ—चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, सोंठ, पाढ़, सुगन्धवाला और कमल की नाल इन सबों का क्वाथ बनाकर पित्तोल्बण संनिपात ज्वर में रोगी को पिलाना चाहिये[2] ॥६३०॥

अथ कफोल्बणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा ।

अथ बृहत्यादिक्काथमाह—

बृहत्यौ पौष्करं भार्गी शटी शृङ्गी दुरालभा । वत्सकस्य तु बीजानि पटोलं कटुरोहिणी ॥
बृहत्यादिगणः शस्तः सन्निपाते कफोत्तरे । श्वासादिषु च सर्वेषु हितः सोपद्रवेष्वपि ॥६३२॥

कफोल्बण सन्निपात ज्वर की चिकित्सा में बृहत्यादि क्वाथ—बड़ी कण्टकारी, छोटी कण्टकारी, पुहकरमूल, भारंगी, कचूर, काकड़ाशिंगी, धमासा, इन्द्रजौ, परवल के पत्ते और कुटकी इन्हीं सबों के योग को बृहत्यादि गण कहते हैं। इसका क्वाथ कफोल्बण (कफप्रधान) संनिपात ज्वर में पिलाना हितकर होता है तथा उपद्रवयुक्त श्वास आदिक रोगों में भी हितकर होता है[3] ॥६३१-६३२॥

अथ वातपित्तोल्बणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा ।

तत्र लघुपञ्चमूलक्काथमाह—

वातपित्तहरं वृष्यं कनीयः पञ्चमूलकम् । तत्क्काथो मधुना हन्ति वातपित्तोल्बणं ज्वरम् ॥

वातपित्तोल्बण सन्निपात ज्वर की चिकित्सा में लघुपञ्चमूल क्वाथ—लघुपञ्चमूल की ओषधियां वातपित्तनाशक तथा वृष्य (वीर्यवर्धक) होती हैं, अतः इनका क्वाथ बनाकर मधु डालकर पिलाने से वातपित्तोल्बण संनिपात ज्वर नष्ट होता है ॥ ६३३ ॥

---

१. फालसा आदि ओषधियां मिलित ४ तोले लेकर दुरकुचाकर आध सेर जल में विधिवत् क्वाथ बनावें।

२. चिरायता आदि ओषधियों की मिलित मात्रा ४ तोले, पाकार्थ जल-आध सेर, अवशेष आध छटाक इस प्रकार विधिवत् क्वाथ बनावें।

३. कण्टकारी आदि क्वाथ्य द्रव्य ५ तोले दुरकुचाकर आध सेर जल में पकाकर आध छटाक शेष रहने पर उतार लेना चाहिये।

अथ चातुर्भद्रकक्वाथमाह—

किराततिक्तकं मुस्तं गुडूची विश्वभेषजम्। चातुर्भद्रकमित्याहुर्वातपित्तोल्वणे ज्वरे ॥ ६३४ ॥

चातुर्भद्रक क्वाथ—चिरायता, नागरमोथा, गिलोय और सोंठ इन सबों के योग को "चातुर्भद्रक" कहते हैं। इसका क्वाथ वातपित्तोल्वण ज्वर में पिलाना हितकर होता है[1] ॥ ६३४ ॥

अथ पित्तकफोल्बणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा।

तत्र पर्पटादिक्वाथमाह—

पर्पटः कट्फलं कुष्ठमुशीरं चन्दनं जलम्। नागरं मुस्तकं शृङ्गी पिप्पल्येषां शृतं हितम् ॥
तृष्णादाहाग्निमान्द्येषु पित्तश्लेष्मोल्वणे ज्वरे ॥ ६३५ ॥

पित्तकफोल्वण संनिपातज्वर की चिकित्सा में पर्पटादि क्वाथ—पित्तपापड़ा, कायफल, कूठ, खस, रक्तचन्दन, सुगन्धबाला, सोंठ, नागरमोथा, काकड़ासिंगी और पीपल इन सबों का क्वाथ पित्तकफोल्वण संनिपात ज्वर में रोगी को पिलाना हितकर है। और प्यास, दाह तथा अग्नि की मन्दता में भी विशेष हितकारी है[2] ॥ ६३५ ॥

*वातश्लेष्मोल्वणज्वरे चिकित्सा नोक्ता, तस्य शीघ्रकारित्वेनासाध्यत्वात् ॥ ६३५ ॥

यहां पर यह और भी समझ लेना चाहिये कि—इसके पूर्व में वातकफोल्वण ज्वर की चिकित्सा यद्यपि क्रमप्राप्त थी तथापि जो नहीं लिखी गई उसका कारण यह है कि-शीघ्रकारी होने से वातकफोल्वण सन्निपात ज्वर का रोगी शीघ्र ही असाध्य हो जाता है, अतः चिकित्सा नहीं हो सकती है ॥ ६३५ ॥

अथ वातपित्तकफोल्वणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा।

तत्र योगराजक्वाथमाह—

नागरं धान्यकं भार्गी पद्मकं रक्तचन्दनम्। पटोलः पिचुमन्दश्च त्रिफला मधुकं बला ॥६३६॥
शर्करा कटुका मुस्तं गजाह्वा व्याधिघातकः। किराततिक्तममृता दशमूली निदिग्धिका ॥
योगराजो निहन्त्येष सन्निपातं त्रिकोल्वणम्। सन्निपातसमुत्थानं मृत्युमप्यागतं जयेत् ॥

वातपित्तकफोल्वण संनिपात ज्वर की चिकित्सा में योगराज क्वाथ—सोंठ, धनियां, भारंगी, पद्माख, रक्तचन्दन, परवल के पत्ते, नीम की छाल, त्रिफला (आमला, हरड़, बहेरा), मुलहठी, खिरेटी, मिश्री, कुटकी, नागरमोथा, गजपीपल, अमलतास, किरात (चिरायता), तिक्त (चिरायता), गिलोय, दशमूल की १० ओषधियाँ और कटेरी इन सबों के क्वाथ को योगराज कहते हैं। यह वातपित्तकफोल्वण संनिपातज्वर को दूर करने वाला होता है। और इससे संनिपात से होने वाली भी मृत्यु टल जाती है[3] ॥ ६३६–६३८ ॥

*गजाह्वा=गजपिप्पली। व्याधिघातकः=राजवृक्षः। किराततिक्तं द्वैगुण्यार्थं पृथक् पठितम् ॥

यहां पर क्वाथ बना लेने के बाद "मिश्री" डालना चाहिये। और "गजाह्वा" पद का "गजपीपल"। "व्याधिघातक" पद का "अमलतास" अर्थ समझना चाहिये। चिरायता के पर्यायवाची शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है अतः उसका दो भाग लेना चाहिये और दशमूल के अन्तर्गत कटेरी का पाठ आ जाने पर भी पुनः कटेरी का पाठ आया है अत एव इसका भी दो भाग लेना चाहिये ॥ ६३६–६३८ ॥

---

१. क्वाथ्य द्रव्य प्रत्येक १–१ तोला, पाकार्थ जल आध सेर लेकर विधिवत् पाक करना चाहिये।
२. पित्तपापड़ा आदि द्रव्य मिलित ४ तोला लेकर क्वाथ बनावें।
३. सोंठ आदि क्वाथ्य द्रव्य मिलाकर ५ तोले लेकर क्वाथ करना चाहिये।

अथ प्रवृद्धमध्यहीनवातादिसन्निपातज्वराणां चिकित्सा ।

प्रवृद्धं कर्शयेद्दोषं क्षीणं संवर्द्धयेद्भिषक् । चिकित्सेयं विधातव्या दोषयोर्वृद्धहीनयोः ॥

प्रवृद्ध-मध्य-हीन वातादि संनिपात ज्वरों की चिकित्सा—वैद्यों को बढ़े हुये दोष को क्षीण करना चाहिये और क्षीण हुए दोष को बढ़ाना चाहिये। क्योंकि दोषों के बढ़ने तथा घटने पर ऐसी ही चिकित्सा की जानी चाहिये ॥ ६३९ ॥

***अस्यायमर्थः—प्रवृद्धं दोषं कर्शयेत्=तत्क्षैण्यहेतुभिरौषधान्नविहारैः कृशीकृत्य समीकुर्यात्। क्षीणं दोषं संवर्द्धयेत् = तद्वृद्धिहेतुभिरौषधान्नविहारैर्वर्धयित्वा समीकुर्यादित्यर्थः ॥**

यहां पर "प्रवृद्धं दोषं कर्शयेत्–अर्थात् बढ़े हुए दोषों को क्षीण करना चाहिये" इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि जो दोष बढ़ा हुआ हो उसको क्षीण करने वाले जो औषध, अन्न तथा विहार (रहन, सहन) हों, उनका सेवन कराने के द्वारा उक्त दोष क्षीण करके समभाव में रखना चाहिये। तथा "क्षीणं दोषं संवर्द्धयेत्—अर्थात् क्षीण हुए दोष को बढ़ाना चाहिये" इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि—जो दोष क्षीण हुआ हो उसको बढ़ाने वाले जो औषध, अन्न तथा विहार हों, उनका सेवन कराने के द्वारा उक्त दोष को बढ़ा कर समभाव में करना चाहिये ॥ ६३९ ॥

प्रवृद्धे शमिते दोषे मध्यमः स्वयमेव हि । शान्तिं याति शमं नीतेऽनुबन्ध्ये त्वनुबन्धवत् ॥

बढ़े हुये दोष का शमन होने पर मध्यम बल वाला दोष स्वयं शान्त हो जाता है। जैसे अनुबन्ध्य (प्रधान) के शमन होने पर अनुबन्ध (अप्रधान अर्थात् अनुचर) स्वयं शान्त होता है ॥६४०॥

***अस्यायमर्थः–वर्षासु वायुरनुबन्ध्यः=सेव्यः, प्रधानमिति यावत्। पित्तश्लेष्माणावनुबन्धौ वायोरनुचरौ। शरदि पित्तमनुबन्ध्यं कफोऽनुबन्धः। वसन्ते कफोऽनुबन्ध्यो वातपित्ते अनुबन्धे। तत्र यथा–अनुबन्ध्ये प्रशमं नीतेऽनुबन्धः स्वयमेव शान्तिं याति, तथा प्रवृद्धे दोषे शमिते=ह्रासयित्वा समीकृते, मध्यमो दोषो हि निश्चयेन स्वयमेव शान्तिं याति=प्राकृतो भवतीत्यर्थः ॥ ६४० ॥**

यहां पर इस श्लोक का अर्थ यह समझना चाहिये कि—वर्षा काल में वायु अनुबन्ध्य अर्थात् सेव्य (प्रधान) होता है और उस समय पित्त तथा कफ अनुबन्ध अर्थात् वायु के अनुचर (अप्रधान) होते हैं। शरद् ऋतुमें पित्त अनुबन्ध्य अर्थात् प्रधान तथा कफ अनुबन्ध (अप्रधान) और वसन्त ऋतुमें कफ अनुबन्ध्य और वात, पित्त अनुबन्ध (अप्रधान) होते हैं। उसमें जैसे अनुबन्ध्य दोष को शान्त कर लेने पर अनुबन्ध दोष विना ओषधि के ही स्वयं शान्त हो जाता है। वैसे ही बढ़े हुये दोष को शान्त कर लेने पर अर्थात् क्षीण करके समान भाव में कर लेने पर मध्यम दोष निश्चय करके स्वयं ही शान्त हो जाता है अर्थात् स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो जाता है ॥ ६०४ ॥

अथ शीताङ्गादित्रयोदशसन्निपातानां क्रमेण चिकित्सा ।

तत्र शीताङ्गस्य चिकित्सामाह—

भास्वन्मूलं जीरकव्योषभार्गीव्याघ्रीशुण्ठीपुष्करं गोजलेन ।
सिद्धं सद्यः शीतगात्रार्तिमोहश्वासश्लेष्मोद्रेककासान्निहन्ति ॥ ६४१ ॥

शीताङ्गादिक १३ संनिपात ज्वरों की क्रम से चिकित्सा में प्रथम शीताङ्ग की चिकित्सा—आक की जड़, जीरा, सोंठ, पीपर, मिरच, भारङ्गी, कटेरी (कण्टकारी), सोंठ, पुहकरमूल इन सबों को समान भाग में लेकर यथाविधि गोमूत्र के साथ क्वाथ बना कर पिलाने से तत्काल शीताङ्ग ज्वर की पीड़ा, मोह, श्वास, कफ की अधिकता और खांसी नष्ट हो जाती है[1] ॥ ६४१ ॥

---

१. आक की जड़ आदि द्रव्य मिलित ५ तोले १ सेर जल में पकाकर १ छटाक रहने पर उतार कर प्रयोग करें।

*भास्वन्मूलम् = अर्कमूलम् ॥ ६४१ ॥

यहां पर दो बार सोंठ का उल्लेख होने से सोंठ को दो भाग लेना चाहिये। और "भास्वन्मूलम्" पद का "आक की जड़" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६४१ ॥

कर्कोटिकाकन्दरजःकुलत्थ-कृष्णावचाकट्फलकृष्णजीरैः।
किराततिक्तानलकट्फलाम्बु-पथ्याभिरुद्वर्त्तनमत्र शस्तम् ॥ ६४२ ॥

खेखसा की जड़ का चूर्ण, कुलथी, पीपल, वच, कायफल, काला जीरा, चिरायता, चीता, कायफल, सुगन्धवाला और हरड़ इन सबों का उबटना लगाना शीताङ्गज्वर में हितकर होता है ॥ ६४२ ॥

*कर्कोटिकाकन्दरजः=खेखसामूलरजः ॥ ६४२ ॥

यहां पर "कर्कोटिकाकन्दरजः" पद का "खेखसा के जड़ का चूर्ण" अर्थ समझना चाहिये ॥

रसविषमरिचमहेश-प्रियफलभस्मैकभूचतुर्वसुभिः।
भागैर्मितमुद्धूलन-मिदमधिकस्वेदशैत्यहरम् ॥ ६४३ ॥

पारा १ भाग, वत्सनाभ विष १ भाग, काली मिर्च ४ भाग, धतूरा के फल का भस्म ८ भाग इन सबों को एकत्र खरल कर शरीर में मलने से शीताङ्ग ज्वर में अधिक पसीना का निकलना तथा शीत का वेग दूर हो जाता है[1] ॥ ६४३ ॥

अथ तन्द्रिकस्य चिकित्सामाह—

क्षुद्राऽमृतापौष्करनागराणि शृतानि पीतानि शिवायुतानि।
शुण्ठीकणाऽगस्तिरसोपणानि नस्येन तन्द्राविजयोल्वणानि ॥ ६४४ ॥

तन्द्रिक की चिकित्सा—छोटी कटेरी, गिलोय, पुहकरमूल, सोंठ और हरड़ इन सबों का क्वाथ पीने से तथा सोंठ, पीपल, अगस्त्य के फूल का रस और काली मिर्च इन सबों को भली भांति सूक्ष्म पीसकर नस्य लेने से प्रवल तन्द्रा का भी नाश हो जाता है ॥ ६४४ ॥

मरिचकचपचम्पचावचारुक्-क्रिमिहरनागरशर्वरीगवाक्षयः।
छगलकजलकल्किता नितान्तं नसि निहिता ननु तन्द्रिकं जयन्ति ॥ ६४५ ॥

काली मिर्च, सुगन्धवाला, दारुहल्दी, कूट, वायविडङ्ग, सोंठ, हल्दी और इन्द्रायण की जड़ इन सबों को बकरे के मूत्र के साथ सूक्ष्म पीस कर नाक में डालने से तन्द्रिक सन्निपात को दूर करता है ॥ ६४५ ॥

*कचः=वालकः। पचम्पचा=दारुहरिद्रा। रुक्=कुष्ठम्। कृमिहरः=विडङ्गः। शर्वरी=हरिद्राः। गवाक्षी=इन्द्रवारुणी। नसि=नासिकायाम् ॥ ६४५ ॥

यहां पर "कच" पद का "सुगन्धवाला"। "पचम्पचा" पद का "दारुहल्दी"। "रुक्" पद का "कूठ"। "कृमिहर" पद का "वायविडङ्ग"। "शर्वरी" पद का "हल्दी"। "गवाक्षी" पद का "इन्द्रायण की जड़"। "नसि" पद का "नाक में" यह अर्थ समझना चाहिये[2] ॥ ६४५ ॥

तुरङ्गलालालवणोत्तमेन्दु-मनःशिलामागधिकामधूनि।
नियोजितान्यक्षिणि निश्चितं च तन्द्राञ्च निद्राञ्च निवारयन्ति ॥ ६४६ ॥

---

१. शीताङ्ग सन्निपात में जब अङ्ग ठंडा पड़ जाये तब बोतल में गरम पानी भर कर अङ्गपर रखना चाहिये। आजकल रवर के बने हुये थैले (Hot water bags) आते हैं उनमें पानी भर कर अङ्गको गरम रखना चाहिये तथा मकरध्वज आधी रत्ती की मात्रा में मधु तथा आदीके स्वरस के साथ देना चाहिये।

२. नौसादर तथा चूना एक साथ मिलाकर सुंघाना चाहिये। अथवा अमोनिया (Amonia) सुंघाना चाहिये।

घोड़े की लार, सेंधानिमक, कपूर, मैनसिल, पीपल, और मधु इन सबों को एकत्र पीसकर आँखों में आँजने से तन्द्रा और अत्यन्त निद्रा निश्चय दूर हो जाती है ॥ ६४६ ॥

*लवणोत्तमं=सैन्धवम्। इन्दुः=कर्पूरः। निद्राम्=अतिनिद्राम् ॥ ६४६ ॥

यहां पर लवणोत्तम" पद का "सेंधा निमक"। "इन्दु" पद का कपूर" "निद्रा" पदका "अत्यन्त निद्रा" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६४६ ॥

अथ प्रलापकस्य चिकित्सामाह—

सतगरवरतिक्तारेवताम्भोदतिक्ता-नलदतुरगगन्धाभारतीहारहूराः।
मलयजदशमूलीशङ्खपुष्पीसुपक्वाः प्रलपनमपहन्युः पानतो नातिदूरात् ॥६४७॥

प्रलापक की चिकित्सा—तगर, पित्तपापड़ा, अमलतास, नागरमोथा, कुटकी, लामज्जक, असगन्ध, ब्राह्मी, दाख, सफेद चन्दन, दशमूल की ओषधियां, शंखाहुली इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से अतिशीघ्र प्रलापक संनिपात ज्वर नष्ट हो जाता है[1] ॥ ६४७ ॥

*वरतिक्तोऽत्र पर्पटो न तु महानिम्बस्तन्त्रान्तरानुरोधात्। नलदं=लामज्जकं, तदलाभादुशीरं ग्राह्यम्। भारती=ब्राह्मी "बरम्भी" इति लोके। हारहूरा=द्राक्षा ॥ ६४७ ॥

यहां पर "वरतिक्त" से "पित्तपापड़ा" का ही बोध करना उचित है न कि "बकाइन" का, क्योंकि तन्त्रान्तर में भी इस योग में पित्तपापड़ा" ही का उल्लेख मिलता है। "नलद" पद का "लामज्जक" अर्थ समझना चाहिये, तथा इसके अभाव में "खस" लेना चाहिये। "भारती" पद का 'ब्राह्मी अर्थात् लोकप्रसिद्ध बरम्भी" और "हारहूर" पद का "दाख" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६४७ ॥

सान्त्वनरञ्जनैस्तीक्ष्णैर्नस्यैस्तिमिरसेवनैः। सर्वतो विकृतं चित्त-मस्य प्रकृतिमानयेत् ॥

प्रलापक संनिपात ज्वर वाले रोगी का चित्त जब चारो तरफ से विकृत हो जाय अर्थात् प्रकृतिस्थ न रहे तब उसे सान्त्वना दायक वचनों से तथा अञ्जन और तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करने अथवा अन्धकार में रखने से प्रकृतिस्थ करे ॥ ६४८ ॥

अथ रक्तष्ठीविसन्निपातस्य चिकित्सामाह—

रोहिषधन्वयवासकवासा-पर्पटगन्धलताकटुकाभिः।
शर्करया सममेष कषायः क्षतजष्ठीविन उद्यदुपायः ॥ ६४९ ॥

रक्तष्ठीवी संनिपात की चिकित्सा—रोहिसघास, धमासा, अडूसा, पित्तपापड़ा, फूलप्रियङ्गु तथा कुटकी इन सबों का क्वाथ बनाकर उसमें मिश्री डालकर पिलाना रक्तष्ठीवी संनिपात ज्वर दूर करने के लिये प्रसिद्ध उपाय है ॥ ६४९ ॥

*रोहिषं=सुगन्धतृणविशेषः। "रोहिस" इति लोके। गन्धलता=प्रियङ्गुः ॥६४९॥

यहां पर "रोहिष" पदका "सुगन्ध युक्त लोक प्रसिद्ध "रोहिस" तृण(घास)" तथा "गन्धलता" पद का "फूलप्रियङ्गु" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६४९ ॥

पद्मकचन्दनपर्पटमुस्तं जातिकजीवकचन्दनवारि।
क्लीतकनिम्बयुतं परिपक्वं वारि भवेदिह शोणितहारि ॥ ६५० ॥

पद्माख, लाल चन्दन, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, जाती (चमेली), जीवक, सफेद चन्दन, सुगन्धवाला, मुलहठी और नीम इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाना रक्तष्ठीवी संनिपातज्वर में रक्त दूर करने वाला होता है[2] ॥ ६५० ॥

---

१. तगर आदि क्वाथ्य द्रव्य मिलाकर १ छटाक लेकर क्वाथ करना चाहिये।
२. क्वाथ्य द्रव्य मिलित ४ तोले की मात्रा में लेना चाहिये।

*क्लीतकं=यष्टीमधुकम् । इह=रक्तष्ठीविनि ॥ ६५० ॥

यहां पर "क्लीतक" पद का "मुलहठी" तथा "इह" पद का "रक्तष्ठीवी संनिपात ज्वर में" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६५० ॥

मधुकमधूकपरूपकपाथ-श्चन्दनपल्लवदारुसनाथः ।
श्रीपर्णीफलशीतकषायः ससित इह स्यादस्रजयाय ॥ ६५१ ॥

मुलहठी, महुआ, फालसा, सुगन्धवाला, रक्तचन्दन, तेजपात, देवदारु इन सबों से युक्त गांभारी के फलों का शीत कषाय बनाकर और मिश्री डालकर पिलाने से रक्तष्ठीवी संनिपात ज्वर में रक्त दूर होता है[१] ॥ ६५१ ॥

*पाथः=वालः । पल्लवं=पत्रकम् । सनाथः=समधानः । श्रीपर्णीफलं=गाम्भारीफलम् ॥

यहां पर "पाथः" पदका "सुगन्धवाला" । "पल्लव" पदका "तेजपात" । "सनाथ" पद का "युक्त" । "श्रीपर्णीफल" पद का "गाम्भारी का फल" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६५१ ॥

अथ भुग्ननेत्रस्य चिकित्सामाह—

तुरङ्गगन्धालवणोग्रगन्धा-मधूकसारोषणमागधीभिः ।
वस्ताम्बुशुण्ठीलशुनान्विताभिर्नस्यं कृतं भुग्नदृशं करोति ॥ ६५२ ॥

भुग्ननेत्र संनिपात ज्वर की चिकित्सा—असगन्ध, सेंधानिमक, वच, महुए का सार, काली मिर्च, पीपल, सोंठ और लहसुन इन सबों को बकरे के मूत्र के साथ पीस कर नास देने से भुग्ननेत्र संनिपात ज्वर नष्ट होता है ॥ ६५२ ॥

अथाभिन्यासस्य चिकित्सा ।

तत्र शृङ्ग्यादिक्वाथमाह—

शृङ्गीभार्ग्यभयाऽजाजी-कणाभूनिम्बपर्पटैः । देवदारुवचाकुष्ठ-यासकट्फलनागरैः ॥६५३॥
मुस्तधान्याकतिक्तेन्द्र-यवपाठाहरेणुभिः । हस्तिपिप्पल्यपामार्ग-पिप्पलीमूलचित्रकैः ॥६५४॥
विशालाऽऽरग्वधारिष्ट-शटीवाकुचिकाफलैः । विडङ्गरजनीदार्वी-यवानीद्वयसंयुतैः ॥६५५॥
समांशैर्विहितः क्वाथो हिङ्ग्वार्द्रकरसान्वितः । अभिन्यासज्वरं घोरं हन्ति तन्द्राञ्च तत्क्षणात् ॥
प्रमेहं कर्णशूलञ्च सन्निपातांस्त्रयोदश । हिक्कां श्वासञ्च कासञ्च तथा सर्वानुपद्रवान् ॥६५७॥

अभिन्यास संनिपात ज्वर की चिकित्सा—काकड़ाशिंगी, भारंगी, हरड़, स्याह जीरा, चिरायता, पित्तपापड़ा, देवदारु, वच, कूठ, जवासा, कायफल, सोंठ, नागरमोथा, धनिया, कुटकी, इन्द्रजौ, पाढ़, रेणुका, गजपीपल, चिरचिटा (चिचिढ़ा), पिपरामूल, चीता, इन्द्रायन, अमलतास, नीम, कचूर, बाकुची, कायफल, बायविडङ्ग, हल्दी, दारुहल्दी, अजवाइन और अजमोद इन सबों को समान भाग में लेकर क्वाथ बना लेवै पश्चात् उसमें हींग तथा अदरख का रस यथाविधि डाल कर पिलाने से घोर अभिन्यास संनिपात ज्वर और तन्द्रा तत्काल नष्ट हो जाती है। तथा प्रमेह, कर्णशूल (कान का दर्द), १३ प्रकार के सन्निपात ज्वर और उसके हिचकी, श्वास, खांसी आदिक सम्पूर्ण उपद्रव नष्ट हो जाते हैं[२] ॥ ६५३–६५७ ॥

---

१. मुलहठी आदि मिलित द्रव्य ४ तोले लेकर कूटकर २४ तोले (द्रव द्वैगुण्य नियम से ४८ तोले) जल में भिगो कर रात भर पड़ा रहने दें प्रातः काल मसलकर छानकर मिश्री ४ तोले मिलाकर पीवें । इस प्रकार प्रस्तुत द्रव्य शीतकषाय कहा जाता है । शीतकषाय निर्माण करने की परिभाषा "वैद्यकपरिभाषाप्रदीप" में इस प्रकार लिखी है—

"क्षुण्णद्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्जलपलैः प्लुतम् । शर्वरीमुषितं सम्यग् ज्ञेयः शीतकषायकः ॥

२. अभिन्यास के लिये काकड़ासिंगी आदि द्रव्य १० तोले (अभिन्यास के लिये यह अधिक

अथ जिह्वकस्य चिकित्सा।

तत्र किराताद्रिकवलमाह—

किराततिक्ताकुलकृत्कुलिङ्गी-कर्पूरकृष्णाकटुतैलयुक्तः।
अम्लद्रवः संशमयेद्रसज्ञा-दोषान्स्तुतो दाशरथिर्यथाऽत्र॥ ६५८॥

जिह्वक संनिपात ज्वर की चिकित्सा में किरातादिकवल—चिरायता, अकरकरहा, कुलिञ्जन, कचूर और पीपल इन सबों का सूक्ष्म चूर्ण करके उसमें सरसों का तेल तथा बिजौरे नीबू आदिक अम्लद्रव्यों का रस डालकर कल्क (चटनी) की भांति बनाकर मुख में रखने से जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी स्तुति करने से कामादिक सम्पूर्ण दोषों को नष्ट कर देते हैं उसी भांति यह किरातादि नामक कवल भी जिह्वक संनिपात ज्वर के सम्पूर्ण दोषों को नष्ट कर देता है॥ ६५८॥

***आकुलकृत् = "अकरकरहा" इति लोके। अम्लद्रवः = बीजपूरादिरसः॥ ६५८॥**

यहां पर "आकुलकृत्" पद का "लोक प्रसिद्ध अकरकरहा" तथा "अम्लद्रव" पद का "बिजौरा नीबू आदिक अम्ल द्रव्यों का रस" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ६५८॥

अथ शालूरपर्ण्याद्यवलेहमाह—

शालूरपर्णी मालूर-मूलामयमधुप्लुता। शङ्खपुष्पीसहिता सेव्या वाचां विशुद्धये॥६५९॥

शालूरपर्ण्याद्यवलेह—ब्राह्मी, बेल के जड़ का छाल, कूठ तथा शंखाहुली का चूर्ण मधु के साथ अवलेह करने (चाटने) से जिह्वक संनिपातज्वर में वाणी सम्बन्धी विकार दूर हो जाता है॥६५९॥

*** शालूरपर्णी = ब्राह्मी, मालूरमूलं = बिल्वमूलम्, आमयः = कुष्ठम्॥ ६५९॥**

यहा पर "शालूरपर्णी" पद का "ब्राह्मी" तथा "मालूरमूल" पद का "बेल की जड़ अर्थात् बेल के जड़ की छाल"। "आमय" पद का "कूठ" अर्थ समझना चाहिये॥ ६५९॥

अथ क्षुद्राऽऽदिविश्वाऽऽदिक्वाथावाह—

क्षुद्रानागरपुष्करामृतलताब्राह्मीवचासुव्रता-भार्गीवालकयासतोयसुरसाक्वाथो जयेज्जिह्वकम्॥
विश्वावर्मविभावरीयुगवरावत्सादनीवारिदव्याघ्रीनिम्बपटोलपुष्करजटादारुभिर्वा कृतः॥

क्षुद्राऽऽदि क्वाथ—छोटी कटेरी, सोंठ, पुहकरमूल, गिलोय, ब्राह्मी; वच, गन्धपलाशी, अडूसा, जवासा, सुगन्धवाला और तुलसी की पत्ती इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाने से जिह्वक सन्निपात ज्वर दूर हो जाता है।[1]

विश्वाऽऽदि क्वाथ—सोंठ, पित्तपापड़ा, हलदी, दारुहल्दी, त्रिफला (आमला, हरड़, बहेरा), गिलोय, नागरमोथा, कटेरी, नीम, परवल के पत्ते, पुहकरमूल, कूठ, देवदारु इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाने से भी जिह्वक सन्निपात ज्वर दूर हो जाता है[2]॥ ६६०॥

***पुष्करं = पुष्करमूलम्, तथा चामरसिंहः—**

"मूले पुष्करकाश्मीरपद्मपत्राणि पौष्करे"।

***सुव्रता = गन्धपलाशी, काश्मीरे प्रसिद्धा। सुरसा = तुलसी।**

विश्वाऽऽदियोगान्तरम्—वर्म = पर्पटः, विभावरीयुगं = हरिद्रा दारुहरिद्रा च। वरा = त्रिफला। वत्सादनी = गुडूची। व्याघ्री = कण्टकारिका॥ ६६०॥

मात्रा ही उपयुक्त है) लेकर क्वाथ करें, उसमें हींग २ रत्ती, आदी का रस १ तोला मिलाकर पिलाना चाहिये।

१. क्वाथ्य द्रव्य मिलित ४ तोले आध सेर जल में पकाकर चतुर्थांशावशेष उतार कर पिलाना चाहिये।

२. सोंठ आदि क्वाथ्य द्रव्यों की मात्रा १ छटाक है।

यहां पर "पुष्कर" पद का "पुहकरमूल" अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि—अमरसिंह ने भी पुहकरमूल के पर्यायवाची शब्द—पुष्कर, काश्मीर, पद्मपत्र में पुष्कर का पाठ किया है। "सुव्रता" पद का "काश्मीर देश में प्रसिद्ध—"गन्धपलाशी"। "सुरसा" पद का "तुलसी" अर्थ समझना चाहिये। और इस श्लोक के उत्तरार्ध में विश्वाऽऽदि नामक दूसरे क्वाथ का वर्णन किया गया है; इसमें "वर्म" पद का "पित्तपापड़ा"। "विभावरीयुग" का "हल्दी तथा दारुहल्दी"। "वरा" का "त्रिफला"। "वत्सादनी" का "गिलोय"। "व्याघ्री" का "कटेरी" अर्थ समझना चाहिये ॥६६०॥

अथ सन्धिकसन्निपातस्य चिकित्सामाह—

शटीसुरतरूत्तमास्थविरदारुरास्नाः समाः सनागरसुधाऽन्विताः पिब शतावरीसंयुताः। मृदुज्वलनपाचिताः सह पुरेण संधिग्रह-व्यथाऽपहृतये वृथा शिशिरसेवनं मा कृथाः ॥६६१॥

सन्धिक सन्निपात ज्वर की चिकित्सा—कचूर, देवदारु, त्रिफला, विधारा, रास्ना, सोंठ, गिलोय, तथा शतावर इन सबोंको समान भाग में लेकर मन्द आंच से क्वाथ बनाकर और उसमें गूगल का प्रक्षेप करके सन्धिक संनिपात ज्वर की पीड़ा-शान्ति के लिये पीना चाहिये तथा इसके सेवन करने में शीतल पदार्थो का सेवन करना त्याग देना चाहिये क्योंकि वैसा करने से क्वाथ का प्रभाव नष्ट हो जायगा[1] ॥ ६६१ ॥

***उत्तमा = त्रिफला। स्थविरदारु = "विधारा" इति लोके। सुधा=गुडूची। पुरो=गुग्गुलुः॥**

यहां पर "उत्तमा" पद का "त्रिफला"। "स्थविरदारु" का "लोक प्रसिद्ध विधारा"। "सुधा" का "गिलोय"। "पुर" का "गूगल" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६६१ ॥

वचाकवचकच्छुरासहचरामृताभङ्गुरा-सुराह्वघननागरातरुणदारुरास्नापुराः। वृषातरुणभीरुभिः सह भवन्ति संधिग्रह-व्यथोरुजडिमक्लमभ्रमणपक्षघातद्रुहः ॥६६२॥

वच, पित्तपापड़ा, जवासा, कटसरैया, गिलोय, अतीस, देवदारु, नागरमोथा, सोंठ, विधारा, रास्ना, गूगल, बड़ी दन्ती, एरण्ड और शतावर इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से सन्धिक संनिपात ज्वर की पीड़ा, जांघों की जड़ता, क्लान्ति, भ्रमण तथा पक्षाघात दूर होता है[2] ॥ ६६२ ॥

***कवचः=पर्पटकः। कच्छुरा=यवासः। भङ्गुरा=अतिविषा। सुराह्वो=देवदारु। अतरुणदारुः=वृद्धदारु। पुरो=गुग्गुलुः। वृषा=बृहद्दन्ती, एरण्डवत्पत्रविटपा, तदलाभे दन्ती च ग्राह्या समानगुणत्वात्। तरुणः=एरण्डः। भीरुः=शतावरी॥ ६६२॥**

यहां पर "कवच" पद का "पित्तपापड़ा"। "कच्छुरा" का "जवासा"। "भङ्गुरा" का "अतीस"। "सुराह्वा" का "देवदारु"। "अतरुणदारु" का "विधारा"। "पुर" का "गूगल"। "वृषा" का "बड़ी दन्ती" अर्थ समझना चाहिये। और बड़ी दन्ती के एरण्ड के समान पत्ते तथा पेड़ होते है। इसके अभाव में समान गुणवाली होने से छोटी दन्ती लेनी चाहिये। "तरुण" का "एरण्ड" और "भीरु" का "शतावर" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६६२ ॥

सुरदारुशटीसुधालता-सुवहाशुण्ठ्यमृताः शृता जले।
सपुराः शमयन्ति सेविताः सततं सन्धिगतं सदागतिम् ॥ ६६३ ॥

देवदारु, कचूर, गिलोय, रास्ना, सोंठ, गिलोय और गूगल इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से संधिक संनिपातज्वर में संधिस्थानगत वायु नष्ट हो जाता है ॥ ६६३ ॥

---

१. कचूर आदि क्वाथ्य द्रव्य मिलित ४ तोले, पाकार्थ जल आध सेर, अवशेष १ छटाक रहने पर उतार कर छान लेवें।

२. वचादि क्वाथ्य द्रव्यों की मिलित मात्रा १ छटाक है।

मुस्तैरण्डप्राणदावाणदारु-च्छिन्नारास्नाभीरुकर्चूरतिक्ताः।
वासाविश्वापञ्चमूलाश्वगन्धा हन्युर्मन्यास्तम्भसन्धिप्रहार्त्तीः॥ ६६४॥

नागरमोथा, एरण्ड, हरड़, नीले फूल की कटसरैया, देवदारु, गिलोय, रास्ना, शतावर, कचूर, कुटकी, अडूसा, सोंठ (या अतीस), बृहत्पञ्चमूल की ओषधियां और असगन्ध इन सबों का क्वाथ मन्यास्तम्भ (नाड जकड़ना) तथा संधियों की पीड़ा को दूर करने वाला होता है॥ ६६४॥

***प्राणदा = हरीतकी। वाणः = नीलपुष्पसहचरः। तिक्ता = कटुकी॥ ६६४॥**

यहां पर "प्राणदा" पद का "हरड़"। "वाण" का "नीले फूल की कटसरैया"। "तिक्ता" का "कुटकी" अर्थ समझना चाहिये॥ ६६४॥

अथान्तकज्वरस्य चिकित्सामाह—

इहापहाय व्रतमुष्णवारि ज्वरारियूषादि गदापहारि।
ज्वरच्छिदं जीवितदञ्च नित्यं मृत्युञ्जयं चेतसि चिन्तयस्व॥ ६६५॥

अन्तक संनिपात ज्वर की चिकित्सा—अन्तक नामक संनिपात ज्वर में लङ्घन (उपवास) आदिक नियम, गर्म किया हुआ जल, ज्वरनाशक यूष आदिक पदार्थ तथा रोगनाशक ओषधियां इन सबों को छोड़ कर केवल ज्वरनाशक, जीवनदाता, मृत्युञ्जय महादेव जी को नित्य चित्त में चिन्ता करना चाहिये। अर्थात् इसकी कोई ओषधि वस्तुतः नहीं है, ईश्वर की दया से ही चाहे कोई रोगी बचता है॥ ६६५॥

***इह = अन्तके। व्रतं = लङ्घनादिनियमम्॥ ६६५॥**

यहां पर "इह" पद का "अन्तक संनिपात ज्वर में" और "व्रत" पद का "लङ्घन (उपवास) आदिक नियम" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ६६५॥

कर्पूरप्रकरावदातवपुषं संयोगमुद्राजुषं-शश्वद्भक्तजनेषु भावुकजुषं भालस्फुरच्चक्षुषम्।
सम्पूर्णामृतकुम्भसम्भृतकरं शुभ्राक्षमालाधरं-पिङ्गोत्तुङ्गजटाकलापरुचिरं चन्द्रार्द्धमौलिं स्तुहि॥

और कर्पूर की राशि के समान श्वेत वर्ण शरीरधारी, महायोगमुद्रा से युक्त, निरन्तर भक्तजनों के कल्याणकारी, ललाट में चमकते हुये नेत्रवाले, अमृत से पूर्ण कलश को हाथ में लिये हुये, उज्ज्वल रुद्राक्षमाला को धारण किये हुये, पिङ्गलवर्ण की तथा ऊंची जटाओं के मण्डल से सुशोभित ऐसे मस्तक में अर्द्ध चन्द्र को धारण किये हुये मृत्युञ्जय भगवान् की अन्तक संनिपात ज्वरवाला रोगी स्वयं ध्यान करता हुआ स्तुति करै अथवा रोगी के लिये ब्राह्मण द्वारा करावै॥ ६६६॥

भिषग्भिरिति निर्णीतं सन्निपातेऽन्तकाभिधे। भेषजं जाह्नवीनीरं वैद्यो गोविन्द एव हि॥

और अन्तक संनिपात ज्वर में रोगी के निमित्त उपचार करने के लिये वैद्यों ने यही निश्चय किया है कि-उस समय औषध के स्थान में केवल गङ्गाजल तथा वैद्यों के स्थान में एक मात्र भगवान् गोविन्द ही हैं। अर्थात् ऐसे रोगी का जीवनलाभ केवल ईश्वर के अधीन है, चिकित्सा व्यर्थ है, यदि है कुछ तो उपर्युक्त ही है॥ ६६७॥

अथ रुग्दाहस्य चिकित्सा।

अत्र षडङ्गपानीयमाह—

उशीरचन्दनोदीच्य-द्राक्षाऽऽमलकपर्पटैः। श्रृतं शीतं जलं दद्याद् दाहतृड्ज्वरशान्तये॥६६८॥

रुग्दाह की चिकित्सा में षडङ्गपानीय—खस, रक्तचन्दन, सुगन्धवाला, दाख, आँमला और पित्तपापड़ा इन सबों का क्वाथ बनाकर शीतल होने पर रुग्दाह संनिपातज्वर में रोगी को दाह, प्यास तथा ज्वर की शान्ति के[1] निमित्त पिलाना चाहिये॥ ६६८॥

---

१. उपर्युक्त औषधों को एकत्र २ तोले लेकर आध सेर जल में पकाकर १ छटाक रहने पर

ससितो निशि पर्युषितःप्रातर्धान्याकतण्डुलक्काथः। पीतःशमयत्यचिरा-दन्तर्दाहं ज्वरं पैत्तम्॥

धान्याकक्काथ—रात्रि में कुटे हुये धनियां के चावलों का क्वाथ बनाकर अथवा धनिया को छः गुने जल में भिगोकर प्रातः काल होने पर छान कर और मिश्री मिलाकर पिलाने से पित्तज्वर तथा अन्दर का दाह शीघ्र नष्ट हो जाता है॥ ६६९॥

***धान्याकतण्डुलाः = कण्डितधान्याकवीजानि॥ ६६९॥**

यहां पर "धान्याकतण्डुल" पद से "कुटे हुये धनिया के चावलों" का बोध करना चाहिये॥

अथ पथ्याऽवलेहमाह—

पथ्यां तैलघृतक्षौद्रै-र्लिह्याद्दाहविनाशिनीम्॥ ६७०॥

पथ्याऽवलेह—हरड़ को तेल, घी अथवा शहद के साथ दाह दूर करने के लिये चाटना चाहिये॥

***"पथ्यां तैलघृतक्षौद्रैरि"त्यत्र न समुच्चयः। तेन केवलेन मधुनाऽपि लिह्यात्॥ ६७०॥**

यहां पर "पथ्यां तैलघृतक्षौद्रैः" इन पदों में समुच्चय नहीं है अत एव अलग २ तैल, घी अथवा शहद इनमें से जिससे इच्छा हो चाटने के लिये कहा गया है" यह और समझ लेना चाहिये॥

अथ लेपमाह—

प्रशमयति दाहमचिराद् दधियुक्तकर्कन्धुपल्लवैर्लेपः।
लेपो हिमकरमलजय-निम्बदलैस्तक्रपिष्टैर्वा॥

लेप—दही के साथ बेर के पल्लवों को पीसकर लेप करने से अथवा कपूर, सफेद चन्दन तथा नीम के पत्तों को तक्र (मट्ठा) के साथ लेप करने से शीघ्र दाह दूर होता है॥ ६७१॥

***हिमकरः = कर्पूरः। तथा च "घनसारश्चन्द्रसंज्ञः" इत्यमरः॥ ६७१॥**

यहां पर "हिमकर" पद का "कपूर" अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि—अमरकोश में कपूर के पर्यायवाची "घनसार, चन्द्रसंज्ञ (चन्द्रवाचक सभी शब्द)" इन शब्दों के अन्दर चन्द्रवाचक शब्द हिमकर" का भी बोध किया गया है॥ ६७१॥

अथ जलधारामाह—

उत्तानसुप्तस्य गभीरताम्र-कांस्यादिपात्रे निहिते च नाभौ।
सीताम्बुधारा बहुलापतन्ती निहन्ति दाहं त्वरितं ज्वरञ्च॥ ६७२॥

जलधारा—दाह से व्याकुल रोगी को उतान लिटा कर उसकी नाभि के ऊपर गहरा तामे अथवा कांसे के पात्र को रखकर उसके अन्दर शीतल जल की धारा विशेष रूप से गिराने से कुछ देर बाद दाह तथा रुग्दाह संनिपात ज्वर नष्ट हो जाता है[1]॥ ६७२॥

अथावगाहनमाह—

शीताम्भसा तु शतशश्च विलोडितेन गव्येन चन्दनयुतेन घृतेन दिग्ध्वा।
दाहज्वरी सकमलोत्पलमाल्यधारी क्षिप्रं विशेत्सलिलकोष्ठमनल्पकालम्॥ ६७३॥

अवगाहन—शीतल जल में सौ बार धुले हुये गाय के घी में सफेद मलयगिरि चन्दन को घिस कर मिलाकर रुग्दाह से व्याकुल रोगी के शरीर में लगा देवें और उसके बाद उसे कमल तथा कमोदिनी की माला पहनाकर जल से पूर्ण किसी पात्र में शीघ्र बिठा देवें। इस भांति से कुछ देर रहने के बाद उसका दाह दूर हो जाता है॥ ६७३॥

उतार कर शीतल करके देना चाहिये। तथा पीने के लिये जल भी उन्हीं के द्वारा सिद्ध करके देना चाहिये। उक्त औषधों को १ तोले की मात्रा में लेकर २ प्रस्थ (१२८ तोले) पानी में पकाकर आधा रह जाने पर उतारकर छानलें। इसी जल को शीतल होने पर पीने के लिये देवें।

१. वर्फ के पानी में कपड़े भिगोकर उसे शरीर में लपेटना चाहिये। और वर्फ की थैली सिर पर रखना चाहिये। इससे भी वह दूर होता है।

अथावगुण्ठनमाह—

काञ्जिकार्द्रपटेनाव-गुण्ठनं दाहनाशनम् । अथ गोतक्रसंस्विन्न-शीतलीकृतवाससा ॥६७४॥

अवगुण्ठन (वस्त्र उढ़ाना)—रुग्दाह ज्वर वाले रोगी को कांजी से भीगे हुये वस्त्र को उढ़ाने से अथवा गाय के तक्र (मट्ठे) में उबाल कर शीतल किये वस्त्र के उढ़ाने से दाह दूर होता है ॥ ६७४ ॥

अथान्नमाह—

दाहवम्यर्दितं क्षामं निरन्नं तृष्णयाऽन्वितम् । शर्करामधुसंयुक्तं पाययेल्लाजतर्पणम् ॥ ६७५ ॥

अन्न—दाह तथा वमन से पीड़ित रोगी, दुर्बल, निराहार रहने वाला तथा तृषा (प्यास) से युक्त व्यक्ति को धान के खीलों का सत्तूरूप तर्पण मिश्री तथा शहद मिला कर खिलाना चाहिये ॥ ६७५ ॥

***लाजतर्पणम् = लाजसक्तुरूपं तर्पणम् ॥ ६७५ ॥**

यहां पर "लाजतर्पणम्" पद का "धान के खीलों का सत्तूरूप तर्पण" अर्थ समझना चाहिये ॥

अथ दाहनाशकान्योपायानाह—

वाप्यः कमलहासिन्यो जलयन्त्रगृहाः शुभाः । नार्यश्चन्दनदिग्धाङ्ग्यो दाहदैन्यहरा मताः ॥

मुक्तावलीचन्दनशीतलानां सुगन्धपुष्पाम्बरभूषितानाम् ।

नितम्बिनीनां सुपयोधराणामालिङ्गनान्याशु हरन्ति दाहम् ॥ ६७७ ॥

दाहनाशक अन्य उपाय—खिले हुये कमलों से युक्त बावड़ियाँ, छूटते हुये फुहारों से युक्त सुन्दर गृह, तथा शरीर में घिसे हुये सफेद चन्दन का लेप किये हुई युवती सुन्दरी स्त्रियां इन सबों का यथायोग्य सेवन करने से दाह से अत्यन्त पीड़ित रोगी का भी दाह दूर हो जाता है ।

और मोतियों की माला को धारण करने से तथा शरीर में घिसे हुये सफेद चन्दन का लेप करने से शीतल अङ्गों वाली तथा सुगन्धित पुष्प तथा वस्त्रों से भूषित शरीर वाली एवम् सुन्दर (कठोर) कुचों वाली सुन्दरी स्त्रियों के आलिङ्गन मात्र के करने से शीघ्र दाह दूर हो जाता है ॥

प्रह्लादश्चास्य विज्ञाय ताः स्त्रीरपनयेत्पुनः । हितञ्च भोजयेदन्नं येनाप्नोति सुखं महत् ॥

और दाहयुक्त रोगी को जब आलिङ्गन करने से मन में काम के वेग से हर्ष अर्थात् रमण करने की इच्छा होती हुई प्रतीत होने लगै तो उक्त स्त्रियों को उससे अलग कर देवै; तत्पश्चात् जिससे उसे विशेष सुख हो ऐसे हितकर अन्न को खिलावै ॥ ६७८ ॥

***प्रह्लादं = कामकृतहर्षम् ॥ ६७८ ॥**

यहां पर "प्रह्लाद" पदका "मन में काम के वेग से हर्ष" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६७८ ॥

अथ चित्तभ्रमस्य चिकित्सामाह—

कणोषणोग्रालवणोत्तमानि करञ्जबीजं प्रमदामलानि ।

पथ्याऽक्षसिद्धार्थकहिङ्गुशुण्ठी-युतानि बस्ताम्बुविमिश्रितानि ॥ ६७९ ॥

पिष्ट्वा गुटीयं नयने विधेया प्रचेतनेऽतिप्रथिताऽन्वितार्था ।

चित्तभ्रमापस्मृतिभूतदोष-शिरोऽक्षिरोगभ्रमनाशहेतुः ॥ ६८० ॥

चित्तभ्रम संनिपात ज्वर की चिकित्सा—पीपल; काली मिर्च; वच; सेंधानिमक; करंज के बीज; धतूरा के फल; आमला; हरड़; बहेरा; सरसो; हींग तथा सोंठ इन सबों को बकरे के मूत्र के साथ भली भांति पीस कर गोली बना लेवै, पश्चात् इस गोली को नेत्रों में आँजने से चित्तभ्रम संनिपात ज्वर वाले रोगी को प्रचेतन (होश) आ जाता है । अतः यह अन्वर्थनाम वाली प्रचेतना वटी से प्रसिद्ध हुई है । और चित्तभ्रम, अपस्मृति (स्मरण शक्ति का अभाव), भूतदोष; शिर तथा नेत्र संबन्धी पीड़ा और भ्रम इन सबों को दूर करने में प्रधान कारण होती है[1] ॥ ६७९-६८० ॥

---

१. इसकी मात्रा ४ से ८ रत्ती तक बलाबल के अनुसार देना चाहिये ।

*वस्ताम्बु = छागमूत्रम् ॥ ६७९–६८० ॥

यहां पर "वस्ताम्बु" पद का "वकरे का मूत्र" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६७९–६८० ॥

कुम्भोद्भवरोरम्भो गुडविश्वकणाऽन्वितम्। निहितं नसि नूनं स्याच्चित्तभ्रमविनाशनम् ॥

अगस्त्य वृक्ष के पिसे हुये छिल्कों का रस; गुड़; सोंठ तथा पीपल इन सबों को एकत्र पीसकर चित्तभ्रम वाले रोगी के नाक में डालने से उसका चित्तभ्रम दूर हो जाता है ॥ ६८१ ॥

*कुम्भोद्भवतरोरम्भः = अगस्तिवृक्षत्वक्कल्करसः ॥ ६८१ ॥

यहां पर "कुम्भोद्भवतरोरम्भः" पदों का "अगस्त्य के वृक्ष के पिसे हुये छिल्कों का रस" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६८१ ॥

मुरामूर्द्धजमेघाह्व–मधूकमलयोद्भवैः। मरुत्तरुमधून्मिश्रैः पुरपाणिजपांशुभिः ॥ ६८२ ॥
लोहलामज्जकैलाभि–र्धूपश्चित्तभ्रमापहः। ग्रहदोषहरः श्रीदः सौभाग्यकर उत्तमः ॥६८३॥

एकाङ्गी (कपूर कचरी); सुगन्धवाला; नागरमोथा; महुये का फूल, सफेद चन्दन; देवदारु; शहद; गूगल; नख; पित्तपापड़ा; अगर; लामज्जक और इलायची इन सबों के द्वारा कूटकर धूप बनाकर धूनी देने से चित्तभ्रम नष्ट होता है तथा ग्रहदोष दूर होता है। और लक्ष्मी तथा सौभाग्य की वृद्धि होती है। अत एव यह उत्तम धूप है ॥ ६८२–६८३ ॥

*मुरा = एकाङ्गी। मूर्द्धजो = वाला। मरुत्तरुः = देवदारु। पुरः = गुग्गुलुः। पाणिजः = नखः। पांशु = पर्पटकः। लोहम् = अगुरु। लामज्जकम् = उशीरवत्पीततृणविशेषः, तदलाभ-त्युशीरं ग्राह्यम् ॥ ६८२–६८३ ॥

यहां पर "मुरा" पद का "एकाङ्गी"। "मूर्द्धज" का "सुगन्धवाला"। "मरुत्तरु" का "देवदारु"। "पुर" का "गूगल"। "पाणिज" का "नख"। "पांशु" का "पित्तपापड़ा"। "लोह" का "अगर"। यह अर्थ तथा "लामज्जक" से "खस की भांति पीले वर्ण का तृण विशेष" समझना चाहिये; और इसके अभाव में "खस" लेना चाहिये ॥ ६८२–६८३ ॥

मृद्वीकाऽमरदारुमत्स्यशकलामुस्तामलक्योऽमृता–
पथ्याऽऽरेवतरामसेनकरजोराजीफलः संयुताः।
हन्युश्चित्तरुजोऽथ दर्दुरदलापाठापटोलीपयः–
पथ्यापर्पटराजवृक्षकटुकाशम्बूकपुष्प्यः श्वताः ॥ ६८४ ॥

दाख; देवदारु; कुटकी; नागरमोथा; आमला; गिलोय; हरड़; अमलतास; चिरायता; पित्तपापड़ा और परवल के पत्ते इन सबों का क्वाथ अथवा ब्राह्मी; पाढ़; परवल के पत्ते; सुगन्धवाला; हरड़; पित्तपापड़ा; अमलतास; कुटकी और शंखाहुल इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाने से चित्तभ्रम नामक संनिपात ज्वर नष्ट होता है[1] ॥ ६८४ ॥

*मृद्वीका = द्राक्षा। मत्स्यशकला = कटुकी। आरेवतः = आरग्वधः। रामसेनकः = किराततिक्तकः। रजः=पर्पटकः। राजीफलः=पटोलः। अथ योगान्तरमाह–दर्दुरदला=मण्डूकपर्णी सा च ब्राह्मी, मञ्जिष्ठा, शोणकश्च। तथाऽप्यत्र ब्राह्मी ग्राह्या। यत उक्तं द्रव्यगुणग्रन्थे—

*"ब्राह्मी मतिप्रदा मेध्या ज्वरहन्त्री रसायनी।"

*ब्राह्मी = "वरम्भी"ति लोके। पयः = वालकम्। राजवृक्षः = आरग्वधः। शम्बूकपुष्पी = शङ्खपुष्पी ॥ ६८४ ॥

---

१. उपर्युक्त क्वाथ्य द्रव्यों को २ से ४ तोले तक बलावल का निरूपण करके ग्रहण कर विधिवत् क्वाथ करना चाहिये।

यहां पर "मृद्वीका" पद का "दाख"। "मत्स्यशकला" का "कुटकी"। "आरेवत" का "अमलतास"। "रामसेनक" का "चिरायता"। "रजः" का "पित्तपापड़ा"। "राजीफल" का "परवल अर्थात् परवल के पत्ते" अर्थ समझना चाहिये। और श्लोक के उत्तरार्द्ध में दूसरा योग दर्दुरदलादि आरम्भ होता है। तथा "दर्दुरदला" से यद्यपि मण्डूकपर्णी अर्थात् ब्राह्मी; मंजीठ तथा सोनापाठा तीनों का बोध होता है तथापि यहां पर केवल ब्राह्मी का बोध किया गया है क्योंकि द्रव्यगुण ग्रन्थ (निघण्टु) में कहा हुआ है कि-ब्राह्मी-बुद्धिवर्द्धक; मेधा (धारण शक्ति) के लिये हितकर, ज्वरनाशक तथा रसायन है अतः ब्राह्मी अर्थात् लोक प्रसिद्ध "वरम्भी" का ही बोध करना उचित है। "पद्म" का "सुगन्धवाला"। "राजवृक्ष" का "अमलतास" तथा "शम्बूकपुष्पी" का "शंखाहुल" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६८४ ॥

अथ कर्णिकसन्निपातचिकित्सामाह—

प्रलेपस्तमस्तं नयत्यल्पमेकः समुद्रिक्तशोथञ्च रक्तावशेषः ।
पक्के च शस्त्रक्रिया पूयजित्सा व्रणत्वं गते चोचिता तच्चिकित्सा ॥ ६८५ ॥

कर्णिक संनिपात की चिकित्सा—कर्णिक संनिपात ज्वर में यदि कान के मूल भाग की गिल्टी छोटी हो तो निम्नलिखित केवल प्रलेपों से ही नाश को प्राप्त हो जाती है; और यदि अधिक शोथ युक्त हो तो जोंक (Leeches); लौकी आदि द्वारा (Cuphing) रक्त निकलवाना चाहिये। और पक जाने पर पूयको निकालने वाली शस्त्रक्रिया करनी चाहिये अर्थात् (Operation) चिरवाना चाहिये। एवम् शस्त्रक्रिया कर चुकने के बाद व्रण (घाव) की अवस्था हो जाने पर उसकी चिकित्सा करनी उचित है ॥ ६८५ ॥

***अयमर्थः—अल्पं—कर्णिकम्, एकः—प्रलेपः, अस्तं=नाशं नयति। तच्चिकित्सा=व्रणचिकित्सा ॥ ६८५ ॥**

यहां पर "अल्प अर्थात् छोटी" यह विशेषण "कर्णिक" अर्थात् "कान के मूल भाग की गिल्टी" का समझना चाहिये। और "एक अर्थात् केवल" यह विशेषण "प्रलेप" का है। "अस्त" पद का "नाश" अर्थ समझना चाहिये। तथा "तच्चिकित्सा" पद का "उसकी अर्थात् व्रण की चिकित्सा" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६८५ ॥

निशाविशालाऽऽमयमाणिमन्थ-दार्वीङ्गुदीमूलकृतः प्रलेपः ।
प्रभाकरक्षीरयुतः प्रभावाद् व्यस्तः समस्तोऽप्यथ कर्णिकघ्नः ॥ ६८६ ॥

हल्दी; इन्द्रायन; कूठ; सेंधा निमक; देवदारु; और हिंगोट की जड़ इन सबों को बराबर २ लेकर पीस कर उसमें आक का दूध मिला कर लेप करने से कर्णिक संनिपात ज्वर का कर्णशोथ नष्ट हो जाता है। और यह लेप पूर्वोक्त द्रव्य में से सम्पूर्ण का बना हो या उनमें से थोड़े ही द्रव्यों का बना हो दोनों ही अवस्था में लाभप्रद होता है। अतः सर्वोत्तम है ॥ ६८६ ॥

कुलत्थः कट्फलं शुण्ठी कारवी च समांशकैः। सुखोष्णैर्लेपनं कार्यं कर्णमूले मुहुर्मुहुः ॥६८७॥

कुलथी, कायफल; सोंठ और काली जीरी इन सबों को समान भाग में लेकर जल से पीस कर गर्म करके किंचिद् गर्म रहते कान के मूल भाग में गिल्टी पर बार बार लेप करना हितकर होता है। अर्थात् इससे कर्णिक सन्निपात की गिल्टी बैठ जाती है ॥ ६८७ ॥

गैरिकं कठिनी शुण्ठी कट्फलारग्वधैः समैः। उष्णैः काञ्जिकसम्पिष्टैर्लेपः कर्णकमूलनुत् ॥

गेरू, खड़िया मिट्टी; सोंठ; कायफल और अमलतास इन सबों को समान भाग में लेकर कांजी के साथ पीस कर गर्म कर लेप करने से कर्णिक संनिपात ज्वर का कर्णशोथ नष्ट हो जाता है ॥

शिग्रुराजिकयोः कल्कं कर्णमूले प्रलेपयेत्। कर्णमूलभवः शोथस्तेन लेपेन शाम्यति ॥

सहिंजना की छाल तथा राई इन दोनों को चटनी की भांति पीस कर कर्णमूल में लेप करने से वहां का शोथ (गिल्टी) नष्ट हो जाता है ॥ ६८९ ॥

अशिशिरजलपरिमृदितं मरिचकणाजीरसिन्धुजं त्वरितम् ।
नस्यविधिसेवितं ननु कर्णकरुङ्नाशकृद् गदितम् ॥ ६९० ॥

काली मिर्च; पीपल; जीरा तथा सेंधा निमक इन सबों को गर्म जल के साथ पीस कर नास देने से कान के मूल का शोथ नष्ट हो जाता है; ऐसा वैद्यों ने कहा है ॥ ६९० ॥

भार्गीजयापौष्करकण्टकारी-कटुत्रिकोग्राघनकुण्डलीभिः ।
कुलीरशृङ्गीकटुकारसाभिः कृतः कषायः किल कर्णिकघ्नः ॥ ६९१ ॥

भारंगी; गनिआरी; पुहकरमूल; कटेरी; त्रिकटु (सोंठ; पीपर; मिरच); वच; नागरमोथा; गिलोय; काकड़ासिंगी; कुटकी और रास्ना इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाने से कर्णिक संनिपात ज्वर दूर होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ६९१ ॥

***भार्गी = भारङ्गी "बभनेटी" इति लोके । तदलाभे कण्टकारीमूलं ग्राह्यम् । जया = "गनिआरी" इति लोके । पौष्करं = पुष्करमूलम् । उग्रा = वचा । कुण्डली = गुडूची । कुलीरशृङ्गी = कर्कटशृङ्गी । रसा = रास्ना ॥ ६९१ ॥**

यहां पर "भार्गी" पद का "भारङ्गी अर्थात् लोकप्रसिद्ध-बभनेटी" अर्थ समझना चाहिये; तथा इसके अभाव में "कटेरी की जड़" लेनी चाहिये। "जया" का "लोकप्रसिद्ध-गनिआरी"। "पौष्कर" का "पुहकरमूल"। "उग्रा" का "वचा"। "कुण्डली" का "गिलोय"। "कुलीरशृङ्गी" का "काकड़ाशिङ्गी" तथा "रसा' का "रास्ना" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९१ ॥

दशमूलमत्स्यशकला-चपलात्रिफलामहौषधकिरातैः ।
मरिचं चाशु कथितं बलादपहन्ति कर्णरुजः सकलाः ॥ ६९२ ॥

दशमूल की ओषधियां; कुटकी; पीपल; त्रिफला (आमला; हरड़; बहेरा), सोंठ; चिरायता और मिर्च इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से कर्णिक सन्निपात ज्वर में कर्णशोथ की समस्त पीडायें दूर होती हैं[1] ॥ ६९२ ॥

***चपला = पिप्पली ॥ ६९२ ॥**

यहां पर "चपला" पद का "पीपल" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९२ ॥

अथ कण्ठकुब्जचिकित्सामाह—

फलत्रिकव्यूषणमुस्तकट्वी-कलिङ्गसिंहाननशर्वरीभिः ।
क्वाथः कृतः कृन्तति कण्ठकुब्जं कण्ठीरवः कुञ्जरमाशु तद्वत् ॥ ६९३ ॥

कंठकुब्जक संनिपात ज्वर की चिकित्सा—त्रिफला (हरड; बहेरा; आंवला), सोंठ; पीपल; मिरच; नागरमोथा, कुटकी; इन्द्रजौ; अडूसा और हल्दी इन सबों का क्वाथ पीने से कण्ठकुब्जक सन्निपात को इस भांति नष्ट करना है, जिस भांति सिंह हस्ती को नष्ट कर देता है[2] ॥ ६९३ ॥

***सिंहाननो = वासकः । शर्वरी = हरिद्रा ॥ ६९३ ॥**

यहां पर "सिंहानन" पद का "अडूसा" तथा "शर्वरी" पद का "हल्दी" अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९३ ॥

---

१. उक्त क्वाथ्य द्रव्य दो तोले लेकर विधिवत् क्वाथ बनाना चाहिये।

२. त्रिफलाऽऽदि द्रव्य मिलित २ तोले को आध सेर जल में क्वाथ बनाकर १ छटाक रहने पर उतार छानकर व्यवहृत करे। इसे प्रातः-सायं दोनों समय देनाचाहिये।

किराततिक्ताकणाकुटजकण्टकारीशटी-कलिद्रुकिलिमाभयाकटुककट्फलाम्भोधरः।
त्रिषाऽऽमलकपुष्करानलकुलीरश्रृङ्गीवृषैर्महौषधसखैरयं जयति कण्ठकुब्जे गणः॥ ६९४॥

चिरायता; कुटकी; पीपल; इन्द्रजौ; कटेरी; कचूर; बहेड़ा; देवदारु; हरड़; मरिच, कायफर, नागरमोथा, अतीस, आमला, पुष्करमूल, चीता, काकड़ाशिंगी, अड़ूसा तथा सोंठ इन सबों का क्वाथ बना कर पीने से कण्ठकुब्ज सन्निपात ज्वर नष्ट हो जाता है[1] ॥ ६९४॥

***शटी = कच्चूरः। कलिद्रुः = विभीतकः। किलिमं = देवदारु। कटुकं = मरिचम्। विषा = अतिविषा। किरातादिभिः = किंविशिष्टैर्महौषधसखैः = महौषधस्य सखिभिः। तेन-एतैः सहितेन महौषधेनेत्यर्थः। तथैवोल्बणवातादिप्रवृद्धमध्यक्षीणवातादिहेतुकानां कुम्भीपाकादीनां सन्निपातज्वराणां त्रयोदशानां चिकित्साऽभिधीयते, सा च तुल्यहेतुकानां विस्फारकादीनां त्रयोदशानामिवाभिधातव्या॥ ६९४॥**

यहां पर "शटी" पद का "कचूर"। "कलिद्रु" का "बहेरा"। "किलिम" का "देवदारु"। "कटुक" का "मिरच"। "विषा" का "अतीस" अर्थ समझना चाहिये। और "महौषधसखैः" यह पद "किरातादिक" का विशेषण है अतः किरातादिक चिरायता आदिक के साथ सोंठ का भी अन्वय करके अर्थ किया गया है। और उल्बण वातादिक तथा प्रवृद्ध-मध्य-क्षीण वातादिक कारण वाले जो कुम्भीपाकादिक १३ सन्निपात ज्वर हैं उनकी भी चिकित्सा इन्हीं के समान कारण वाले जो विस्फारकादिक १३ सन्निपात ज्वर हैं उन्हीं के समान समझनी चाहिये, यह और भी समझ लेना चाहिये॥

इति सन्निपातज्वराधिकारः समाप्तः—

अथागन्तुकज्वराधिकारः।

तत्रागन्तुज्वरनिदानमाह—

अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः।
आगन्तुर्जायते दोषैर्यथास्वं तं विभावयेत्॥ ६९५॥

आगन्तुक ज्वराधिकार में आगन्तुक ज्वर का निदान-अभिघात; अभिषङ्ग, अभिचार तथा अभिशाप इन सब कारणों से आगन्तुक ज्वर उत्पन्न होता है, उसके बाद जिन दोषों के अनुसार लक्षण जिसमें हो उन दोषों से युक्त उसे समझना चाहिये॥ ६९५॥

***अभिघातः = शस्त्रमुष्टिलगुडादिभिर्हननम्। अभिषङ्गः = कामशोकभयक्रोधभूतादीनामावेशः। अभिचारः = कृत्याऽऽद्युत्पादनम्। अभिशापः = ब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धादिकृतः शापः। तम् = आगन्तुज्वरम्। यथास्वं=यथादोषलक्षणम्। दोषैर्विभावयेद्=विजानीयात्॥**

यहां पर "अभिघात" पद से "शस्त्र तलवार आदिक; मुक्का तथा लाठी आदिक से मारना"। "अभिषङ्ग" पद से "काम; शोक; भय; क्रोध तथा भूतादिक इन से आविष्ट होना"। "अभिचार" पद से "कृत्या आदिक (आदिपद से जादू, मूठ आदि) का किसी के द्वारा उत्पन्न होना"। "अभिशाप" पद से "ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध तथा सिद्ध आदि के द्वारा दिया हुआ शाप"। "तम्" पद का "उसे अर्थात् आगन्तुक ज्वर को"। "यथास्वम्" पद का "जिन दोषों के अनुसार लक्षण उसमें मिलते हों" तथा "विभावयेत्" पद का "समझना चाहिये" यह अर्थ समझना चाहिये॥६९५॥

अथागन्तुकज्वरान्यनिदानमाह—

ये भूतविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादिसम्भवाः। रागद्वेषभयाद्यैश्च ते स्युरागन्तवो गदाः॥६९६॥

आगन्तुक ज्वर के दूसरे प्रकार के निदान-भूतग्रह, विष, वायु, अग्नि, शस्त्रादि से क्षत

---

१. उक्त औषधों को २ तोले लेकर विधिवत् क्वाथ प्रस्तुत करना चाहिये।

(कटजाना), भङ्ग (हड्डी आदि का टूट जाना) आदिक एवम् राग, द्वेष और भय आदिक आगन्तुक कारणों से जो रोग उत्पन्न होते हैं वे भी आगन्तुक ही कहलाते हैं ॥ ६९६ ॥

***भयाद्यैरित्याद्यशब्देन भूतविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादयः संगृह्यते। तेन रागादयो भङ्गाद्यन्ताः, ते हेतवोऽप्यागन्तुसंज्ञाः स्युः, कार्यकारणयोरभेदोपचारात्। एतेन "आगन्तुजः स्मृत" इत्यत्राप्यागन्तुशब्दो हेतुवाची। "आगन्तुर्जायते दोषैरि"त्यत्र व्याधिवाची। "अभिघाताभिषङ्गाभ्यामि"त्यादिश्लोके "दोषैर्यथास्वं तं विभावयेदि"ति वचनेनैव प्रतीयते, अभिघातादीनां विप्रकृष्टकारणत्वं मिथ्याऽऽहारविहाराणामिव दोषाणां सन्निकृष्टकारणत्वं, तथा सति "दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्र"त्यादिश्लोके आगन्तुज्वरस्याष्टमत्वविघातो दोषजेष्वेव प्रवेशात्। उच्यते आगन्तुज्वरस्य दोषा आरम्भका न, किन्तु पश्चादनुबन्धिनः। तथा चागन्तुज्वरस्य संप्राप्तिमाह चरकः—"आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो जायते पश्चान्निजैर्दोषैरनुबध्यते" इति ॥ ६९६ ॥**

यहां पर "भयाद्यैः" इस पद के अन्तर्गत "आद्य" पद से "भूतग्रह; विष; वायु; अग्नि; क्षत (घाव); भङ्ग (हड्डियों का टूट जाना) आदि" का भी संग्रह किया जाता है; इससे "राग" से लेकर "भङ्गादि" पर्यन्त ये सब जो आगन्तु हेतु हैं वे भी "आगन्तु" कहलाते हैं; क्योंकि शास्त्रकारों ने कार्य और कारण का अभेद माना है। इसीसे "आगन्तुजः स्मृतः" अर्थात् "आगन्तु" से उत्पन्न कहलाता है" इस स्थल पर "आगन्तु" शब्द हेतुवाचक है। और "आगन्तुर्जायते दोषैः" अर्थात् दोषों से "आगन्तु" संज्ञक ज्वर होता है" इस स्थल पर "आगन्तु" शब्द रोगवाची है।

और "अभिघाताभिषङ्गाभ्याम्" इत्यादि श्लोक में जो दोषैर्यथास्वं तं विभावयेत्–अर्थात् जिन दोषों के अनुसार लक्षण जिसमें मिलते हों उन दोषों से युक्त उसे समझना चाहिये" यह कहा हुआ है। उससे यह समझना चाहिये कि–मिथ्या आहार; विहार की भांति अभिघातादिक आगन्तुक ज्वर के विप्रकृष्ट (दूर के) कारण हैं तथा दोष (वातादिक) सन्निकृष्ट (नजदीक के) कारण हैं। किन्तु ऐसा होने पर तो "दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्र" इत्यादि श्लोक में जो आगन्तुक ज्वर को ८ वां ज्वर माना है वह नहीं हो सकता है क्योंकि उक्त प्रकार से आगन्तुक भी वातादि दोषज होने से दोषज ज्वर के अन्तर्गत आ जायगा ? ऐसी शङ्का होने पर यह उत्तर देते हैं कि—आगन्तुक ज्वर के दोष (वातादिक) आरम्भक (उत्पन्न करने वाले) नहीं होते हैं किन्तु अभिघातादि पूर्वोक्त कारणों से उत्पन्न हो जाने के बाद पीछे से इनका अनुबन्ध हो जाता है अर्थात् ये भी सहायक हो जाते हैं। और चरकाचार्य ने भी आगन्तुक ज्वर की संप्राप्ति के विषय में यही कहा है कि—आगन्तुक ज्वर व्यथापूर्वक उत्पन्न होता है। पश्चात् अपने २ दोषों से सम्बद्ध होता है। अतः आगन्तुक ज्वर दोषज ज्वरों के अन्तर्गत नहीं माना जाता है बल्कि स्वतन्त्र आठवें प्रकार का ज्वर माना गया है ॥ ६९६ ॥

अथ कस्यागन्तोः को निजो दोष इत्यपेक्षायामाह—

कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः। भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ॥

कौन से आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हुये ज्वर में कौन सा दोष सम्बद्ध होता है ? इस विषय में यह कहते हैं कि–काम; शोक तथा भय जनित आगन्तुक ज्वर होने से वायु कुपित होता है। क्रोधजनित आगन्तुक ज्वर होने से पित्त कुपित होता है। भूतादिकों के आवेश होने से उत्पन्न आगन्तुक ज्वर होने से तीनों दोष (वातादिक) कुपित होते हैं जिससे भूताविष्ट पुरुषों के जो लक्षण होते हैं उनके समान हंसना; रोना आदिक सभी लक्षण भी प्रकट होते हैं ॥ ६९७ ॥

***कामशोकभयात्=कामशोकभयजादागन्तोर्वायुः कुप्यति। क्रोधात्पित्तं=क्रोधजादा-**

-न्तोः पित्तं प्रकुप्यति । भूताभिषङ्गाद् = भूतावेशजादागन्तोस्त्रयो मलाः = दोषाः कुप्यन्ती-त्यर्थः । भूतसामान्यलक्षणाः = भूतस्य भूतलक्षणस्य सामान्यं समानता येषां तानि भूतसामान्यानि लक्षणानि येषां ते भूतसामान्यलक्षणा मलाः ॥ ६९७ ॥

यहां पर "कामशोकभयात्" पद का "काम, शोक तथा भय जनित आगन्तुक ज्वर होने से"। "क्रोधात्" पद का "क्रोधजनित आगन्तुक ज्वर होने से"। "भूताभिषङ्गात्" पद का "भूतादिकों में आवेश होने से उत्पन्न आगन्तुक ज्वर होने से"। "मल" पद का "दोष (वातादिक)" यह अर्थ समझना चाहिये।

और "भूतसामान्यलक्षणाः' यह पद "मलाः" इस पद का विशेषण है, और इसका "भूत अर्थात् भूताविष्ट पुरुषों के जो लक्षण हैं उनके साथ समता रखने वाले लक्षणों से युक्त अर्थात् भूताविष्ट पुरुषों के जो लक्षण होते हैं उनके समान हंसना, रोना आदिक सभी लक्षण प्रकट होते हैं" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९७ ॥

अथागन्तुज्वराणां हेतुभेदेन लक्षणभेदानाह—

श्यावास्यता विषकृते तथाऽतीसार एव च । भक्तारुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छया ॥

आगन्तुक ज्वरों का हेतुभेद से लक्षणभेद—स्थावर तथा जङ्गम विष खाने से उत्पन्न हुये ज्वर रोगी का मुख सफेदी लिये काला अथवा शाक की भांति वर्णवाला हो जाता है तथा अतिसार, अन्न में अरुचि, प्यास, सुई चुभाने की सी पीड़ा और मूर्च्छा होती है ॥ ६९८ ॥

***विषकृते = स्थावरजङ्गमविषभक्षणकृते ज्वरे । मुखे श्यावः शुक्लानुविद्धः कृष्णो वर्णः शाकवर्णो वा । अतीसारः = स्थावरविषेणैव तस्याधोगामित्वात् । तोदः = सूचीव्यधनेनेव व्यथा ॥**

यहां पर "विषकृते" पद का स्थावर तथा जङ्गम विष खाने से उत्पन्न हुये ज्वर में" तथा "श्यावास्यता" पद का "रोगी का मुख सफेदी लिये काला अथवा शाक की भांति वर्ण वाला" अर्थ समझना चाहिये। और "अतिसार होना" केवल स्थावर विष खाने से उत्पन्न हुये ज्वर में समझना चाहिये, क्योंकि स्थावर विष अधोगामी होता है अतः अतिसार होना उचित है। "तोद" पद का "सुई चुभाने की सी पीड़ा" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९८ ॥

ओषधीगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुस्तथा । कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ॥
हृदये वेदना चास्य गात्रञ्च परिशुष्यति ॥ ६९९ ॥

विषैली ओषधियों के गन्ध सूँघने से उत्पन्न हुये ज्वर में मूर्च्छा, शिर में पीड़ा तथा वमन होता है। और अभिलषित स्त्री को न प्राप्त करने से काम के वेग से उत्पन्न हुए ज्वर में चित्तविभ्रंश (चित्त में व्याकुलता), तन्द्रा, आलस्य और भोजन न करना, हृदय में वेदना और गात्रों में शोष (अङ्गों का सूखना) ये सब लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ६९९ ॥

***कामजे = समीहितकान्ताऽऽद्यप्राप्तिनिमित्तके ज्वरे । चकाराद्वाग्भटोक्तान्यपि लक्षणानि बोद्धव्यानि तानि यथा—**

***"कामाद् भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयाः" ॥ १०० ॥ इति ॥ ६९९ ॥**

यहां पर "कामजे" पद का "अभिलषित स्त्री को न प्राप्त कर सकने से कामवेग से उत्पन्न हुये ज्वर में" यह अर्थ समझना चाहिये, तथा "गात्रञ्च" इस स्थल पर "चकार" का पाठ होने से "वाग्भट" में कहे हुये अन्य भी लक्षणों को समझ लेना चाहिये, जो कि ये हैं—काम से उत्पन्न हुये ज्वर में चित्त में भ्रम, अरुचि और दाह होना तथा लज्जा-निद्रा-बुद्धि और धैर्य का क्षय होना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं (१००) ॥ ६९९ ॥

मूर्च्छाङ्गमर्दस्तृण्नेत्रचापल्यं कुचवक्त्रयोः। स्वेदः स्याद्धृदि दाहश्च स्त्रीणां कामज्वरे भवेत् ॥

स्त्रियों के कामज्वर में-मूर्च्छा, अङ्गों में टूटने की सी पीड़ा, प्यास, नेत्रों में चञ्चलता, कुच तथा मुख में पसीना और हृदय में दाह होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ७०० ॥

***इदमपि कुत्रापि कथितमत्र पुनः ॥ ७०० ॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—यह श्लोक कहीं पर कहा हुआ है यहां पर पुनः उसका उल्लेख किया गया है ॥ ७०० ॥

अथ कामज्वरस्य चिकित्सामाह—

बालकं शतपत्राणि गन्धसारमुशीरकम्। चोचधान्येयकं मांसी क्वाथः कामज्वरापहः ॥७०१॥
सन्ध्यायां संस्तरः कार्यः सुगन्धैः कुसुमैर्भृशम्। क्रीडनीयं स्वकान्तेन सह रात्रौ तथा स्त्रिया ॥

कामज्वर की चिकित्सा—सुगन्धबाला, कमल, सफेद चन्दन, खस, दालचीनी, धनियाँ, जटामांसी इन सबों का क्वाथ बना कर पीने से कामज्वर नष्ट होता है। और यदि कामज्वर-पीड़ित स्त्री हो तो वह सायङ्काल हो जाने पर सुगन्धित फूलों को शय्या पर बिछा कर उस पर लेटे तथा रात्रि हो जाने पर अपने प्रेमी पुरुष के साथ रमण करे, तो कामज्वर दूर हो जाता है ॥

अथ भयादिजज्वराणां विशेषलक्षणान्याह—

भयात्प्रलापः शोकाच्च भवेत्कोपाच्च वेपथुः ॥ ७०२ ॥

भय आदि से उत्पन्न हुये ज्वरों के विशेष लक्षण—भय से उत्पन्न हुये ज्वर में प्रलाप होता है, और शोक से उत्पन्न हुये ज्वर में भी प्रलाप होता है, और कोप से उत्पन्न हुये ज्वर में कम्प भी होता है ॥ ७०२ ॥

***भयात् = भयजे ज्वरे प्रलापः। शोकाच्च=चकारेण प्रलाप एवानुकृष्यते। कोपाच्च = कोपादपि वेपथुर्भवति। ननु वेपथुर्वातस्य धर्मस्तत् कथं क्रोधजे ज्वरे वेपथुः? यत उक्तं— "क्रोधोत्थितं पित्तमि"ति।**

***"एकः प्रकुपितो दोष इतरानपि कोपयेत्"।**

***इति वचनात्पित्तकोपितवातजन्य एवात्र वेपथुः। क्रोधाद्वायुरपि भवति। यत उक्तं विदेहेन—"क्रोधशोकौ स्मृतौ वातपित्तरक्तप्रकोपणौ" ॥ १०१ ॥ इति ॥ ७०२ ॥**

यहां पर "भयात्" पद का "भय से उत्पन्न हुये ज्वर में" यह अर्थ समझना चाहिये। "शोकाच्च" इस स्थल पर "च" का पाठ होने से "प्रलाप" का अनुकर्षण कर के "शोक से उत्पन्न हुये ज्वर में भी प्रलाप होता है" यह अर्थ किया गया है। और "कोप से उत्पन्न हुये ज्वर में कम्प होता है" यह जो कहा गया है, उसमें यह शङ्का होती है कि—जब कम्प होना यह धर्म वायु का है तब क्रोधजनित ज्वर में कम्प होना कैसे कहा गया है? क्योंकि अन्यत्र कहा हुआ है कि—"क्रोध से पित्त प्रकुपित होता है" इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—यद्यपि क्रोधजनित ज्वर में पित्त ही प्रकुपित होता है तथापि "एक दोष प्रकुपित हो कर अन्य दोषों को भी प्रकुपित कर देता है" इस वचन के अनुसार प्रथम प्रकुपित हुए पित्त के द्वारा प्रकुपित किये हुए वायु के कारण से उत्पन्न हुआ यहां कम्प समझना चाहिये। और क्रोध से वायु भी प्रकुपित होता है, क्योंकि "विदेह" ने भी कहा है कि-क्रोध और शोक को वात, पित्त तथा रक्त को प्रकुपित करने वाला माना गया है (१०१) ॥ ७०२ ॥

भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यरोदनकम्पनम्। केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम् ॥७०४॥

भूताभिषङ्ग (भूतादिक के आवेश) से उत्पन्न हुये ज्वर में—चित्त में उद्वेग, हंसी, रुलाई तथा

कम्प ये सब लक्षण प्रगट होते हैं। और कोई २ आचार्य यह कहते हैं कि—भूताभिषङ्ग से उत्पन्न हुआ ज्वर विषम होता है ॥ ७०४ ॥

*भूताभिषङ्गोत्थो विषमज्वरो भवति, कदाचिद्वेगवान् कदाचिच्छान्तवेग इत्यर्थः ॥

यहां पर "भूताभिषङ्ग से उत्पन्न हुआ ज्वर विषम होता है" इसके कहने से यह समझना चाहिये कि—ज्वर विषम होता है अर्थात् कभी अधिक वेग से युक्त हो जाता है और कभी शान्तवेग हो जाता है ॥ ७०४ ॥

अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥ ७०५ ॥

अभिचार तथा अभिशाप से उत्पन्न हुयें ज्वर में मोह और तृषा (प्यास) उत्पन्न होती है ॥७०५॥

*तृष्णा चेति चकारेण हारीतानुवादिवाग्भटोक्तञ्च बोद्धव्यम्। तद्यथा—
तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते। पूर्वं मनस्ततो देहस्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः॥
सदाहमूर्च्छाग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्द्धते ज्वरः। १०२ ॥ इति ॥ ७०५ ॥

यहाँ पर "तृष्णा च" इस स्थल पर "च' का पाठ होने से "हारीतसंहिता" का अनुवाद स्वरूप "वाग्भट" में कहा हुआ जो लक्षण है उसे भी समझ लेना चाहिये, जो कि यह है—अभिचार कर्म करने वाले जब मन्त्रों द्वारा जिस व्यक्ति के लिये हवन करते हैं तब उसके प्रथम मन में सन्ताप होता है उसके बाद शरीर में ताप (ज्वर) होता है। तदुपरान्त विस्फोटक, प्यास और भ्रम होता है तथा दाह और मूर्च्छा से युक्त होता हुआ उसका ज्वर प्रतिदिन बढ़ता जाता है (१०२) ॥

अथागन्तुज्वराणां चिकित्सामाह—

आगन्तुजे ज्वरे नैव नरः कुर्वीत लङ्घनम् ॥ ७०६ ॥

आगन्तुक ज्वरों की चिकित्सा—आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हुये पूर्वोक्त ज्वरों में रोगी को लङ्घन (उपवास) नहीं करना चाहिये ॥ ७०६ ॥

*तथा च वाग्भटः—

*शुद्धवातक्षयागन्तुजीर्णज्वरिषु लङ्घनम् ॥१०३॥

यहाँ पर यह और समझना चाहिये कि—वाग्भट ने भी कहा है कि—वातजन्य ज्वर; क्षयजन्य ज्वर, आगन्तुक ज्वर तथा जीर्ण ज्वर में लङ्घन नहीं करना उचित है ॥ १०३ ॥

*नेष्यत इति शेषः ॥ १०३ ॥ ७०६ ॥

यहां पर मूल में "नेष्यत" पद नहीं है अतः उसका ऊपर से प्रकरणवश आक्षेप करके "नहीं करना उचित है" यह अर्थ किया गया है ऐसा समझना चाहिये (१०३) ॥ ७०६ ॥

अन्यच्च—

लङ्घनं न हितं कामशोकचिन्ताप्रहारजे। भयभूतश्रमक्रोधलङ्घनैश्च कृते ज्वरे॥
किन्त्वग्नौ दीपिते तत्र दद्यान्मांसरसौदनम्। अभिघातज्वरे युञ्ज्यात् क्रियामुष्णविवर्जिताम्॥
कषायं मधुरं स्निग्धं यथादोषमथापि च। अभिघातज्वरो नश्येत् पानाभ्यङ्गेन सर्पिषः॥
रक्तावसेकैर्मेध्यैश्च तथा मांसरसौदनैः ॥ ७०७–७०८ ॥

और भी कहा है कि—काम, शोक, चिन्ता तथा प्रहार (लाठी आदि का चोट) से उत्पन्न हुये ज्वर में एवन् भय, भूतावेश, परिश्रम, क्रोध और लङ्घन (उपवास) से उत्पन्न हुये ज्वर में भी लङ्घन (उपवास) कराना हितकर नहीं होता है। किन्तु यदि रोगी का अग्नि प्रदीप्त हो तो मांसरस (सोरुवा) के साथ भात खाने के लिये देना चाहिये। अभिघातजन्य ज्वर में उष्ण-वर्जित उपचार करना चाहिये और दोषानुसार कषाय (कसैला), मधुर तथा स्निग्ध द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। एवम् गाय का घी पीने तथा मालिश करने से और रक्त निकलवाने से, मेधाशक्ति

के लिये हितकारक पदार्थ तथा मांसरस के साथ भात खाने के लिये देने से अभिघात ज्वर नष्ट होता है ॥ ७०७-७०८ ॥

*मेध्यैः = मेधायै हितैः ॥ ७०७-७०८ ॥

यहाँ पर "मेध्यैः" पदका "मेधाशक्ति के लिये हितकारक पदार्थ" अर्थ समझना चाहिये ॥

व्यधबन्धश्रमात्यध्वभङ्गभ्रंशसमुद्भवान्। ज्वरानुपाचरेत्पूर्वं क्षीरमांसरसौदनैः ॥ ७०९ ॥

पीटने अथवा कान आदि के छेदने से, बांधने से, परिश्रम से, अधिक मार्ग चलने से, अङ्ग छिद जाने या टूट जाने आदि से और वृक्षादिक ऊँचे स्थानों से गिर पड़ने से उत्पन्न हुए ज्वर में प्रथम दूध अथवा मांसरस (सोरुवा) के साथ भात खिलाने के द्वारा रोगी का उपचार करना चाहिये ॥७०९॥

*व्यधः = ताडनं कर्णादिवेधो वा। भङ्गः = छेदभेदादिकः। भ्रंशो = वृक्षादितः पतनम्॥७०९॥

यहां पर "व्यध" पदका "पीटना अथवा कान आदि का छेदना"। "भङ्ग" पद का "अङ्ग छिद जाना या टूट जाना आदि"। "भ्रंश" का "वृक्षादिक ऊँचे स्थानों से गिर पड़ना" यह अर्थ समझना चाहिए ॥ ७०९ ॥

अध्वश्रान्तेषु वाऽभ्यङ्गं दिवा निद्राञ्च कारयेत् ॥ ७१० ॥
ओषधीगन्धविषजौ विषपित्तप्रबाधनैः। जयेत्कषायैर्मतिमान् सर्वगन्धकृतैर्भिषक् ॥७११॥

मार्ग चलने से थके हुए लोगों को शरीर में तेल आदि की मालिश करवाना चाहिए और दिन में सोना चाहिये। और विषैली ओषधियों के गन्ध सूँघने से तथा विषभक्षण से उत्पन्न हुये ज्वर में बुद्धिमान् वैद्य रोगी को विष तथा पित्तनाशक द्रव्यों तथा सर्वगन्ध-संज्ञक द्रव्यों का क्वाथ पिला कर ज्वर को दूर करे ॥ ७१०-७११ ॥

अथ सर्वगन्धमाह—

चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुकुङ्कुमम्। लवङ्गसहितञ्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत् ॥ ७१२ ॥

सर्वगन्धसंज्ञक द्रव्य—चातुर्जातक (बड़ी इलायची, तेजपात, दालचीनी तथा नागकेशर), कपूर, शीतलचीनी, अगर, केशर तथा लौंग इन सबों के समुदाय को "सर्वगन्ध" कहते हैं। अर्थात् "सर्वगन्ध" कहने से इन्हीं सब द्रव्यों का बोध करना चाहिए ॥ ७१२ ॥

क्रोधजे पित्तजित्कार्यं धार्यं सद्वाक्यमेव च।
आश्वासेनेष्टलाभेन वायोः प्रशमनेन च। हर्षणैश्च शमं यान्ति कामक्रोधभयज्वराः ॥७१३॥

क्रोधजन्य ज्वर में पित्तनाशक क्रियायें करनी चाहिये और सद्वाक्य (सत्पुरुषों के उपदेशयुक्त वाक्य) धारण करना चाहिए अर्थात् उपदेशानुसार विचार स्थिर रखना चाहिए। और काम, क्रोध तथा भयजन्य ज्वर आश्वासन वाक्यों द्वारा धीरज बँधाने से, इष्ट वस्तु के पाने से, वायु का शमन होने से तथा हर्ष उत्पन्न करने वाले वार्त्ताओं या कार्यों के करने से शान्त होते हैं ॥ ७१३ ॥

कामैरथ मनोघ्नैश्च पित्तघ्नैश्चाप्युपक्रमैः। सद्वाक्यैश्च शमं याति ज्वरः क्रोधसमुत्थितः॥७१४॥

और कामविषयक व्यापारों से, धिक्कार आदिक अथवा भयजनक वचनों से, पित्तनाशक उपचारों से तथा सद्वाक्यों (सदुपदेशों) से क्रोधजन्य ज्वर शान्त हो जाता है ॥ ७१४ ॥

*कामैः = कामविषयैः। मनोघ्नैः = धिक्कारादिभिर्भयजनकवचनैर्वा ॥ ७१४ ॥

यहाँ पर "कामैः" पद का "कामविषयक व्यापारों से"। "मनोघ्नैः" पद का "धिक्कार आदिक अथवा भयजनक वचनों से" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७१४ ॥

कामात्क्रोधज्वरो नश्येत् क्रोधात्कामज्वरस्तथा। घातिताभ्यामुभाभ्याञ्च कामक्रोधज्वरक्षयः॥७१५

काम से (काम का उदय होने से) क्रोधज्वर नष्ट हो जाता हैं, और क्रोध से कामज्वर नष्ट हो

जाता है। तथा मन में काम तथा क्रोध दोनों को रोक देने से कामज्वर तथा क्रोधज्वर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ७१५ ॥

*घातिताभ्यामुभाभ्यां = मनसि निगृहीताभ्यां कामक्रोधाभ्याम् ॥ ७१५ ॥

यहां पर "घातिताभ्याम्" इन पदों का "मन में काम तथा क्रोध दोनों को रोक देने से" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७१५ ॥

भूतविद्यासमुद्दिष्टैर्बन्धावेशनताडनैः। जयेद् भूताभिषङ्गोत्थं मनःशान्त्या च मानसम् ७१६

भूताभिषङ्ग (भूतादिबाधा) जन्य ज्वर को भूतविद्या में कहे हुये बन्धन, आवेशन और ताडन आदि क्रियाओं के द्वारा दूर करना चाहिये। और मन में शान्ति लाने के द्वारा मानस ज्वर को दूर करना चाहिये ॥ ७१६ ॥

*ताडनैरित्यस्य स्थाने केचित्पूजनैरिति पठन्ति ॥ ७१६ ॥

यहां पर "ताडन" पद के स्थान पर कोई २ आचार्य "पूजन" का पाठ करते हैं, अतः पूजन द्वारा भी भूताभिषङ्गजन्य ज्वर दूर किया जाता है" यह भी समझना चाहिये ॥७१६॥

सहदेव्या मूलं विधिना कण्ठे निबद्धमपहरति। एकद्वित्रिचतुर्भिर्दिवसैर्भूतज्वरं पुंसाम् ७१७॥
अभिचाराभिशापोत्थौ ज्वरौ होमादिभिर्जयेत्। दानस्वस्त्ययनातिथ्यैरुत्पातग्रहदुष्टिजौ ७१८

इत्यागन्तुज्वराधिकारः।

विधिपूर्वक सहदेवी की जड़ रोगी के कण्ठ में बांध कर रखने से एक, दो, तीन अथवा चार दिन में भूताभिषङ्गजन्य ज्वर दूर हो जाता है। अभिचार तथा अभिशाप से उत्पन्न हुए ज्वर को होमादिक करने से दूर करना चाहिये और उत्पात तथा ग्रहों के दोष से उत्पन्न हुये ज्वर को दान देने से स्वस्तिवाचन कराने से तथा अतिथिसत्कार करने से दूर करना चाहिये ॥ ७१७–७१८ ॥

अथ विषमज्वराधिकारः।

तत्र विषमज्वरसम्प्राप्तिमाह—

दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः। धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ७१९

विषमज्वर के अधिकार में विषमज्वर की संप्राप्ति—ज्वर से मुक्त हुये अर्थात् जिसका ज्वर छूट गया है ऐसे व्यक्ति के अहितकारक आहार. विहारादिक के आचरण करने से थोड़े बलवाले वातादिक दोष पुनः बल प्राप्त करते हुये उसके रस, रक्तादिक धातुओं में से किसी एक धातु को दूषित कर पुनः विषमज्वर को उत्पन्न करते हैं[1] ॥ ७१९ ॥

---

१. विषमज्वर की सम्प्राप्ति के विषय में पाश्चात्य-विज्ञान वेत्ताओं का मत यह है कि—यह ज्वर एक प्रकार के मच्छर (एलाफलीज नामक) के काटने से उत्पन्न होता है। यह मच्छर प्रायः रात ही में मनुष्य को काटता है। मच्छर-दंश के साथ ही साथ एक प्लैज्मोडियम (जिसकी चार जातियां होती हैं) नाम के इस रोग के कारणभूत जीवाणु को रक्त में प्रविष्ट कर देता है। ये जीवाणु रक्त के लाल कणों को आक्रान्त करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इनके संक्रमण से मनुष्य विषमज्वर से पीड़ित होता है।

इन जीवाणुओं की चार जातियां अभी तक ज्ञात हुई हैं—

१—प्लैज्मोडियम वाईवैक्स Plasmodium vivax,

२—प्लैज्मोडियम मैलेरी Plasmodium malariae-

३—प्लैज्मोडियम फैल्सी पैरम Plasmodium falciparum,

४—प्लैज्मोडियम ओवेल Plasmodium ovale.

*तत्र विषमज्वरस्य निदानकथनपूर्विकां संप्राप्तिमाह—दोष इति। अयमर्थः—ज्वरोत्सृष्टस्य = ज्वरेण त्यक्तस्य। सन्निकृष्टहेतुमाह—दोषोऽल्पः = ज्वरमुक्तः स्वल्पोऽपि। विप्रकृष्टहेतुमाह—अहितम् = आहारविहारादि, तेन सम्भूतः = सम्पूर्णो जातः।

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—इस श्लोक में विषमज्वर के निदानों को प्रथम कहते हुये उसकी संप्राप्ति को भी कहते हैं। और "ज्वरोत्सृष्टस्य" पदका "ज्वर से मुक्त हुये व्यक्ति के" यह अर्थ समझना चाहिए। और "थोड़े बल वाले वातादिक दोषों को" संनिकृष्ट कारण तथा "अहितकारक आहार, विहारादिकों को" विप्रकृष्ट कारण समझना चाहिए।

अन्यतमं धातुं=रस-रक्तादिकम्, प्राप्य = दूषयित्वा, पुनर्विषमज्वरं करोति। ज्वरोत्सृष्टस्य वेति। वाशब्देनेति बोध्यते, प्रथमतो विषमज्वरो भवति। यत उक्तम्—"आरम्भाद्विषमो यस्तु"त्यादि॥ ७१९॥

"अन्यतमं धातुम्" इन पदों का "रस-रक्तादिक धातुओं में से किसी एक धातु को" तथा "प्राप्य" पद का "प्राप्त होकर अर्थात् दूषित करके" यह अर्थ समझना चाहिये। और "ज्वरोत्सृष्टस्य वा" इस स्थल पर "वा" शब्द के प्रयोग करने से यह समझना चाहिये कि—प्रथम से भी विषमज्वर होता है, क्योंकि-शास्त्र में कहा भी है कि—आरम्भ से ही जो विषमज्वर होता है उसे असाध्य जानना चाहिये॥ ७१९॥

अथ रसादिधातुविशेषेण विषमज्वरविशेषानाह—

सन्ततं रस-रक्तस्थः सततं रक्तधातुगः। दोषः क्रुद्धो ज्वरं पुंसां सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः॥
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि अस्थिमज्जगतः पुनः। कुर्याच्चातुर्थिकं घोरमन्तकं रोगसङ्करम्॥

रसादिक धातुविशेष के दूषित होने से विषमज्वर विशेष—ज्वरमुक्त रोगी के स्वल्पबलवाले वातादिक दोष अहितकारक आहार तथा विहारादिक के द्वारा पुनः बल प्राप्त करते हुये यदि रस धातु को दूषित करते हैं तो सन्तत नामक विषमज्वर होता है। इसी भांति रक्त धातु को दूषित करने से "सतत" नामक विषमज्वर, मांस धातु को दूषित करने से "अन्येद्युष्क" नामक विषम ज्वर, मेद धातु को दूषित करने से "तृतीयक" नामक विषमज्वर और अस्थि (हड्डियां) तथा मज्जा को दूषित करने से मारने वाला होने से यमराज के समान अत्यन्त भयङ्कर अनेक रोगों (उपद्रवों) से युक्त "चातुर्थिक" नामक ज्वर उत्पन्न होता है॥ ७२०-७२१॥

*अन्तकमिव मारकत्वात्॥ ७२०-७२१॥

यहां पर "अन्तकम्" पद का "मारने वाला होने से यमराज के समान" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ७२०-७२१॥

अथ विषमज्वरस्य सामान्यलक्षणमाह—

यः स्यादनियतात्कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च। वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः॥

विषमज्वर के सामान्य लक्षण—जो ज्वर अनियत काल से होता है अर्थात् जिसके होने का कोई समय निर्दिष्ट नहीं रहता है और जिस ज्वर में शीत (सर्दी) तथा उष्ण (गर्मी) एक रूप से स्थिर नहीं रहता है एवम् जिस ज्वर का वेग भी विषम होता है उसे "विषमज्वर" कहते हैं॥

अन्तिम प्रकार के जीवाणु का अभी नवीन अन्वेषण हुआ है। प्लैज्मोडियम वाईवैक्स से साधारण तृतीयक ज्वर Benign Tertian उत्पन्न होता है तथा प्लैज्मोडियम मैलेरी से चतुर्थक (Quartan fever) एवम् प्लैज्मोडियम मैलेरी से घातक तृतीयक ज्वर Malignant Tertian fever उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त अन्येद्युष्क-चातुर्थिक विपर्यय आदि और भी उपजातियां पाई जाती हैं। इनसे शीत के साथ ज्वर उत्पन्न होता है।

छयस्त्वनियतात्कालात्स्यादित्यस्यायमर्थः—यथा वातिको ज्वरः सप्तदिनानि, पैत्तिको दशदिनानि, श्लैष्मिको द्वादशदिनानि। दोषाणां प्राबल्यैर्वातिकश्चतुर्दशदिनानि, पैत्तिको विंशतिदिनानि, श्लैष्मिकश्चतुर्विंशतिर्दिनानि स्यात्। तथा विषमज्वरो नियतं कालं व्याप्य न स्यादित्यर्थः। शीतोष्णाभ्यां गुणाभ्यामपि तथा स्यात्। वेगतश्चापि विषमः कदाचिदतिवेगवान्, कदाचिच्छान्तवेगः॥ ७२२॥

यहां पर "यस्त्वनियतात्कालात्—अर्थात् जो ज्वर अनियत काल से होता है" इस का यह भावार्थ समझना चाहिये कि—जैसे वातज्वर ७ दिन तक, पित्तज्वर १० दिन तक, कफज्वर १२ दिन तक रहता है। तथा दोषों की प्रबलता होने से तो वातज्वर १४ दिन तक, पित्तज्वर २० दिन तक, कफज्वर २४ दिन तक नियमित रूप से बना रहता है। वैसे विषमज्वर नियत काल से व्याप्त होकर नहीं रहता है। और "शीतोष्णाभ्याम्" इस पद का "शीत (सर्दी) व उष्ण गुण के द्वारा विषम होता है अर्थात् जिस ज्वर में शीत व उष्ण एकरूप से स्थिर नहीं रहता है" तथा "वेगतश्चापि विषमः" इन पदों का "जिस ज्वर का वेग भी विषम होता है अर्थात् जो ज्वर कभी अधिक वेगयुक्त (तेज) रहता है और कभी शान्तवेग-युक्त (साधारण) हो जाता है" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ७२२॥

अथ विषमज्वरस्य भेदानाह—

सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ॥ ७२३॥

विषमज्वर के भेद—१ सन्तत, २ सतत, ३ अन्येद्युष्क, ४ तृतीयक, ५ चतुर्थक ये ५ भेद विषमज्वर के होते हैं॥ ७२३॥

अथ सन्ततज्वरस्य लक्षणमाह—

सप्ताहं वा दशाहं द्वादशाहमथापि वा। सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात् सन्ततः स निगद्यते॥

सन्ततज्वर के लक्षण—सात ७ दिन तक वा दश १० दिन तक अथवा बारह १२ दिन तक निरन्तर नहीं उतरने वाला जो विषम ज्वर होता है उसे "सन्तत" ज्वर कहते हैं॥ ७२४॥

छविकल्पो वातादिभेदात्। सन्तत्या = नैरन्तर्येण अविसर्गी = अपरित्यागी। ननु "मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वमि"ति विषमलक्षणम्, तदत्र न घटत इति, कथमयं विषमेषु पठ्यते? घटत एवेति न दोषः। यत उक्तं चरकेण—

छविसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसे व्यक्तलक्षणः। दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमेवानुवर्तते॥ इति॥

यहां पर "सात, दश और बारह दिनों का जो विकल्प किया है" उसे क्रम से वात, पित्त तथा कफ के भेद से समझना चाहिये। "सन्तत्या' पद का "निरन्तर"। "अविसर्गी' पद का नहीं परित्याग करने वाला अर्थात् नहीं उतरने वाला" यह अर्थ समझना चाहिये। और यहां पर यह जो शङ्का होती है कि—उतरकर फिर चढ़ आना यह जो लक्षण विषम ज्वर का है, वह इस सन्तत ज्वर में नहीं घटता है क्योंकि यह बराबर बना रहता है, तो फिर इस (सन्तत ज्वर) का विषम ज्वर के मध्य में क्यों उल्लेख किया गया है? इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—उक्त विषम ज्वर का तो लक्षण इसमें घटता ही है, अतः कोई दोष नहीं है। क्योंकि कैसे लक्षण इसमें घटता है इस विषय में चरकाचार्य ने यह कहा है कि—सन्तत ज्वर बारहवें दिन रोगी को कुछ काल के लिये छोड़ देता है पुनः कुछ क्षण के बाद इसके लक्षण प्रकट होने लगते हैं। और इसका शान्त होना दुर्लभ हो जाता है तथा इसकी अनुवृत्ति दीर्घ काल तक बनी रहती है अर्थात् यह बहुत दिन तक बना रहता है॥ १०४"

*यत्तु खरनादेनोक्तम्—

*ज्वराः पञ्च तु ये प्रोक्ताः पूर्वं सन्ततकादयः।
चत्वारः सन्ततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः ॥ १०५ ॥ इति।

और जो कि "खरनाद" ने कहा है कि—जो सन्तत आदिक ५ प्रकार के ज्वर कह आये हैं, उनमें से सन्तत ज्वर को छोड़ कर शेष ४ ज्वरों को विषमज्वर समझना चाहिये ॥ १०५ ॥

*तच्चिरेण त्यागाभिप्रायेण ॥ ७२४ ॥

यहां पर जो विषम ज्वर के अन्दर सन्ततज्वर को नहीं लिया है, वह वस्तुतः "चिरकाल में यह रोगी का परित्याग करता है अर्थात् उतरता है इसी अभिप्राय से विषम ज्वर के मध्य में नहीं कहा गया है" यह और भी समझना चाहिये ॥ ७२४ ॥

अथ सततज्वरस्य लक्षणमाह—

अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्त्तते ॥ ७२५ ॥

सततज्वर के लक्षण—जो विषम ज्वर दिन तथा रात्रि में दो काल उतरता तथा चढ़ता है उसे "सततज्वर कहते हैं ॥ ७२५ ॥

*द्वौ कालौ=अह्न्येककालं रात्रावेककालम्। यतो दोषाणामहोरात्रे प्रत्येकं द्वौ द्वौ प्रकोपकालौ। यत उक्तं वाग्भटेन—

*वयोऽहोरात्रिभुक्तानामन्तमध्यादिगाः क्रमाद्। इति ॥ ७२५ ॥

यहां पर "द्वौ कालौ अर्थात् दो काल" का यह भावार्थ समझना चाहिये कि—दिन में एक काल (वार) और रात्रि में एक काल (वार)। क्यों कि प्रत्येक दोषों का दिन तथा रात्रि में प्रकुपित होने का दो २ समय होता है अर्थात् एक दिन में और एक रात्रि में होता है। और इसी लिये वाग्भट ने भी कहा है—"अवस्था (बाल्य, युवा, वृद्ध), दिन, रात्रि, भोजन इन सबों के अन्त, मध्य तथा आदि के काल क्रम से वात, पित्त तथा कफ के कुपित होने के काल हैं। इससे दिन में एक वार तथा रात्रि में एक वार इस भांति दिन-रात्रि में दो वार प्रकुपित होने का काल कहा गया है ॥ ७२५ ॥

अथान्येद्युष्कज्वरस्य लक्षणमाह—

अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रादेककालं प्रवर्त्तते ॥ ७२६ ॥

अन्येद्युष्क ज्वर के लक्षण—जो विषमज्वर दिन तथा रात्रि के मध्य में केवल एक ही वार आता है उसे "अन्येद्युष्क" अर्थात् इकतरा ज्वर कहते हैं ॥ ७२६ ॥

*एककालं=दोषापेक्षया एककालमपि द्वितीयं, प्रथमकाले हृद्येव दोषस्थितेः ॥ ७२६ ॥

यहां पर "एककालम् अर्थात् एक ही वार" का यह भावार्थ समझना चाहिये कि—यह ज्वर दोषों की अपेक्षा करने से दिन रात्रि में एक ही वार आता है किन्तु वह भी अपने (दोषों के) प्रकुपित होने के प्रथम काल को छोड़ कर दूसरे प्रकुपित होने के काल में आता है, क्योंकि प्रथम काल में दोष की स्थिति हृदय में ही रह जाती है अतः दूसरे समय में बाहर देख पड़ती है" यह और समझना चाहिये ॥ ७२६ ॥

अथ तृतीयकचतुर्थकज्वरयोर्लक्षणमाह—

तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः ॥ ७२७ ॥

तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर के लक्षण—जो विषमज्वर तीसरे दिन आता है उसे "तृतीयक अर्थात् तिजारी" ज्वर कहते हैं। और जो चौथे दिन आता है उसे "चतुर्थक—अर्थात् चौथिया" ज्वर कहते हैं ॥ ७२७ ॥

ॐ"तृतीयेऽह्नि" इत्यागमनदिनं गृहीत्वा। यत उक्तम्—

ॐदिनमेकमतिक्रम्य यो भवेत्स तृतीयकः।
दिनद्वयं त्वतिक्रम्य यः स्यात्स हि चतुर्थकः॥ १०६॥ इति॥ ७२७॥

यहां पर "तृतीयेऽह्नि अर्थात् तीसरे दिन" यह कहने से "आने वाले दिन को लेकर तीसरे दिन" समझना चाहिये। क्योंकि अन्यत्र कहा भी है कि—एक दिन का अन्तर देकर जो ज्वर आता है उसे तृतीयक (तिजारी) समझना चाहिये, और जो दो दिन का अन्तर देकर आता है उसे "चतुर्थक (चौथिया) समझना चाहिये (१०६)॥ ७२७॥

अत्र सुश्रुतप्रमाणमाह—

कफस्थानविभागेन यथासंख्यं करोति हि। सततान्येद्युस्तृतीयचतुर्थकप्रलेपकान्॥
अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात्स्थानं प्रपद्यते। दोष आमाशयं प्राप्य करोति विषमज्वरम्॥

उक्त ज्वरों के होने के विषय में सुश्रुत के प्रमाण वचन—कफ के स्थानविषयक विभाग के अनुसार दोष यथाक्रम से १ सतत, २ अन्येद्युष्क ३ तृतीयक, ४ चतुर्थक ५ प्रलेपक ज्वर को उत्पन्न करता है। जैसे कि— दोष एक २ अहोरात्र (दिन-रात्रि) में एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचता है, अतः इस भांति से जब वह एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचता हुआ आमाशय में प्राप्त होता है तब उक्त विषमज्वरों को उत्पन्न करता है॥ ७२८॥

ॐअयमर्थः–आमाशयोरःकण्ठशिरःसन्धयः पञ्च कफस्थानानि, एषु तिष्ठन्दोषो यथासंख्यं सततादीन्करोति। तत्रामाशये स्थितो दोषः–सततं करोति द्वौ कालौ, अहोरात्रे कालद्वये दोषप्रकोपात्। हृदये स्थितो दोष आमाशयमागत्य अन्येद्युष्कं करोति। एककालं नैकदैकस्मिन्नेवाहोरात्रे दोष आमाशयमागत्य अन्येद्युष्कं करोति। तत्र द्वौ दोषप्रकोपकालौ, एकस्मिन्काले हृदये तिष्ठति, अपरस्मिन्नामाशय इति। कण्ठे स्थितो दोषोऽहोरात्राद्धृदयमायाति। तृतीये दिने आमाशयमागत्य स्वप्रकोपकाले तृतीयं ज्वरं करोति, एककालं न तु द्वौ कालौ स्वभावाद्। एवमेव शिरःस्थितो दोषोऽहोरात्रात् कण्ठमायाति, ततः पुनरहोरात्राद्धृदयमायाति,चतुर्थे दिने आमाशयमागत्य स्वप्रकोपकाले चतुर्थकं ज्वरं करोति, एककालं नतु द्वौ कालौ स्वभावादेव। ननु दोषस्यागमनं क्रमेण निजस्थानगमनक्रमात् कथं तृयीयचतुर्थदिवसयोर्ज्वरागमनम्? उच्यते—दोषो हि प्रकोपसमये वेगं [1]परित्यज्य लाघवात् स्वस्थानं तु वेगदिन एव याति। यत आह—

ॐदोषः प्रकोपकाले हि वेगवत्त्वेन लाघवात्। वेगवासर एवायं स्वस्थानमधिगच्छति॥१०७॥

यहां पर इसका स्पष्टार्थ यह समझना चाहिये कि—१ आमाशय, २उरःस्थल (छाती), ३ कण्ठ, ४ शिर, ५ सन्धिस्थान ये ५ कफ के स्थान हैं। इन स्थानों में स्थित हुआ दोष क्रम से सतत आदिक पूर्वोक्त ज्वरों को उत्पन्न करता है। इनमें से जब आरम्भ से ही आमाशय में दोष स्थित रहता है तब दिन-रात्रि में दो वार सतत नामक ज्वर को उत्पन्न करता है। क्योंकि एक दिन तथा एक रात्रि में इस प्रकार से एक अहोरात्र (दिन-रात्रि) में दो वार दोषों के प्रकोप का काल रहता है। हृदय में स्थित दोष आमाशय में आकर एक वार "अन्येद्युष्क" ज्वर को उत्पन्न करता है। किन्तु एक ही अहोरात्रमें एक काल में दोष आमाशय में आकर अन्येद्युष्क को नहीं करता है। क्योंकि एक अहोरात्र में दोषों के प्रकुपित होने के दो काल होते हैं, उसमें प्रथम प्रकोपकाल में दोष हृदय में स्थित रहता है तदुपरान्त दूसरे प्रकोपकाल में आमाशय में पहुँचता है और तभी ज्वर उत्पन्न करता है।

---

१. "वेगमि"त्यत्र"वेगवत्त्वेन क्रमम्" इति पाठः समुचितः प्रतिभाति। इति वि० का०।

कण्ठ में स्थित दोष प्रथम दिन प्रकोपकाल में कण्ठ में ही रहकर अहोरात्र में अर्थात् दूसरे दिन हृदय में आता है, उसके बाद तीसरे दिन हृदय से आमाशय में पहुँच कर अपने प्रकोपकाल में तृतीयक ज्वर (तिजारी) को उत्पन्न करता है। किन्तु एक ही बार उत्पन्न करता है न कि दो बार क्योंकि यही इसका स्वभाव है। इसी प्रकार से शिर में स्थित दोष, प्रथम दिन अपने प्रकोपकाल में शिर में ही रह कर वहां से एक अहोरात्र में अर्थात् दूसरे दिन कण्ठ में आता है। पुनः एक अहोरात्र में अर्थात् तीसरे दिन हृदय में पहुंचता है। इसके बाद चौथे दिन आमाशय में पहुँचकर अपने प्रकोपकाल में चतुर्थक (चौथिया) ज्वर को उत्पन्न करता है। वह भी एक ही बार न कि दो बार। क्योंकि ऐसा इसका स्वभाव ही है। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि—अपने स्थानों से आमाशय में दोषों का पहुँचना जिस क्रम से अर्थात् जितने समय में होता है, उसी क्रम से अर्थात् उतने ही समय में पुनः अपने स्थान पर लौटने में भी होना चाहिये। जब कि यह नियम है तब तीसरे तथा चौथे दिन ज्वर का आना कैसे संभव हो सकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—दोष प्रकोप के समय अत्यन्त वेग वाले होने से क्रम को छोड़ कर लाघव से अपने स्थान को वेग वाले दिन ही चले जाते हैं, और अन्यत्र कहा भी है कि—दोष प्रकोप के समय में अत्यन्त वेग वाला होने से अति शीघ्रता से वेग वाले दिन ही अपने स्थान में पहुँच जाते हैं[1] ॥ १०७ ॥

***सन्धिषु स्थितो दोषः प्रलेपकं करोति। सन्धयश्चामाशयेऽपि सन्ति, तेषु स्थितः प्रलेपकं सर्वदा करोति ॥ ७२८ ॥**

सन्धियों में स्थित दोष प्रलेपक ज्वर को उत्पन्न करता है। और सन्धियां आमाशय में भी होती हैं, अतः उनमें स्थित दोष प्रलेपक ज्वर को सर्वदा करता है ॥ ७२८ ॥

निवृत्तः पुनरायाति विषमो नियते दिने। स्वभावं कारणं तत्र मन्यन्ते मुनिपुङ्गवाः ॥

विषमज्वर निवृत्त होकर के भी पुनः अपने नियत दिन पर जो आता (उत्पन्न होता) है, उसमें "उसका स्वभाव ही कारण है" ऐसा मुनि लोग मानते हैं ॥ ७२९ ॥

---

१. पाश्चात्त्य विद्वानों के अनुसार यह रोग प्लैज्मोडियम नाम के जीवाणु से उत्पन्न होता है। ये जीवाणु रक्त के अन्दर स्थित लाल कणों को आक्रान्त करते हैं तथा उसी को खाकर बढ़ते हैं। एक जीवाणु (स्पोरोज़ाइट) एक लाल कण को आक्रान्त करता है। फिर वह जब पूर्ण प्रौढ़ हो जाता है तब उससे कई छोटे-छोटे जीवाणु (मीरोज़ाइट) बनते हैं। ये जीवाणु रक्त कण (R. B. C.) का नाश करके बाहर निकलते हैं और दूसरे नये कण में प्रविष्ट होते हैं। जीवाणु जिस समय रक्तकण को खाकर बाहर निकलते हैं उस समय शीत के पश्चात् ज्वर चढ़ता है। इस प्रकार इन जीवाणुओं का चक्र (Cycle) चलता है। प्रत्येक जीवाणु का इस प्रकार का चक्र नियत समय में समाप्त होता है। तृतीयक का तीसरे दिन चातुर्थिक का चौथे दिन चक्र समाप्त होता है। अर्थात् तृतीयक के जीवाणु यदि आज किसी समय रक्तकण में प्रविष्ट होंगे तो रक्तकण के अन्दर उनकी वृद्धि, विभजन तथा रक्तकणों को विदीर्ण करके बाहर निकलने में ४८ घण्टे का समय लगेगा। अतः तीसरे दिन ज्वर का आवेग आयेगा। इनमें ध्यान देने की बात यह है कि शरीर के अन्दर जितने जीवाणु होंगे वे सभी एक ही साथ रक्तकण में प्रवेश करेंगे तथा परिवर्द्धित होने के बाद विभाजित होकर फिर एक साथ ही रक्तकण से बाहर भी निकलेंगे। अतः ज्वर के आवेग का समय भी एक नियत होगा। जैसे तृतीयक (Benign Tertian) में तीसरे दिन, चातुर्थिक (Quartan fever) में चौथे ही दिन आवेग होगा। बीच में नहीं हो सकता।

*स्वभावस्य कारणत्वे कफस्थानविभागनिरपेक्षाश्चतुर्थकादिविपर्यया अपि ज्वराः स्वस्वकाले प्रभवन्ति ॥ ७२९ ॥

यहाँ पर यह और समझना चाहिये कि—स्वभाव ही कारण होने से कफ के स्थानसम्बन्धी विभागों की अपेक्षा नहीं रखते हुए चतुर्थकादि ज्वरों के विपरीत क्रमसे होने वाले अन्य भी विषमज्वर निवृत्त होकर के भी अपने-अपने समय में पुनः उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ७२९ ॥

अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले प्ररोहति । अधिशेते तथा धातून् दोषः काले प्रकुप्यति ॥

बीज जिस भांति पृथ्वी के अन्दर पड़े रहते हैं और जब उपयुक्त समय आता है तब उत्पन्न (अङ्कुरित) हो जाते हैं । उसी भांति से दोष भी रसादिक धातुओं के अन्दर छिपे रहते हैं और जब उपयुक्त समय आता है तब प्रकुपित हो जाते हैं ॥ ७३० ॥

सुश्रुतोऽप्याह—

स चापि विषमो देहं न कदाचित्प्रमुञ्चति । ग्लानिगौरवकार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते ॥
वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते । धात्वन्तरेषु लीनत्वात् सौक्ष्म्यान्नैवोपलभ्यते ॥

इसी विषय में सुश्रुत भी कहते हैं कि—वह विषमज्वर रोगी के शरीर को कभी भी नहीं छोड़ता है, क्योंकि उसके शरीर को ग्लानि, गुरुता (भारीपन) तथा कृशता से छुटकारा नहीं मिलता है । और रोग समाप्त होने पर "ज्वर चला गया" ऐसी प्रतीति मात्र होती है, वस्तुतस्तु धातुओं के मध्य में वह ऐसा लीन हो जाता है कि सूक्ष्मतावश प्रत्यक्ष नहीं होता है ॥७३१-७३२॥

अथ द्विदोषोल्वणतृतीयकज्वरस्य लक्षणमाह—

कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः । वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ॥

द्विदोषोल्बण तृतीयक ज्वर के लक्षण—कफ तथा पित्त जिसमें कुपित होता है ऐसे तृतीयक ज्वर आने के समय प्रथम त्रिकस्थान (कटि तथा मेरुदण्ड का सन्धि स्थल) में पीड़ा होती है । और वातकफ-प्रधान तृतीयक ज्वर में ज्वर दोष कुपित होता है तब प्रथम पीठ में पीड़ा व्याप्त होती है, एवम् वातपित्त-प्रधान तृतीयक में प्रथम मस्तक में पीड़ा होती है तदुपरान्त ज्वर होता है । इस प्रकार से दो-दो दोषों के कुपित होने से तृतीयक ज्वर तीन प्रकार का होता है ॥ ७३३ ॥

*त्रिकग्राही=वेदनया त्रिकं गृह्णातीत्यर्थः । वातकफात्मकः पृष्ठाद्=व्यथया पृष्ठं व्याप्य भवतीत्यर्थः । "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे चे"ति सूत्रेण पञ्चमी ॥ ७३३ ॥

यहाँ पर "त्रिकग्राही" पद का 'त्रिकस्थान में पीडा होती है" और "पृष्ठात्" पद का "पीठ में पीड़ा व्याप्त होती है" यह अर्थ समझना चाहिये । एवम् "पृष्ठात्" इस पद में "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इस सूत्र से ल्यब्लोप में पञ्चमी हुई है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ७३३ ॥

अथ कफोल्बणस्य वातोल्बणस्य च चतुर्थकज्वरस्य लक्षणमाह—

चतुर्थको दर्शयति स्वभावं द्विविधं ज्वरः । जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरसोऽनिलसम्भवः ॥
मध्यकायन्तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः । विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः ॥७३५॥

कफोल्वण तथा वातोल्वण चतुर्थकज्वर के लक्षण—चतुर्थक (चौथिया) ज्वर दो प्रकार से अपना स्वभाव दिखलाता है । जो कि यह है—१ कफोल्वण चतुर्थक ज्वर जब आने को होता है तब प्रथम दोनों जाँघों में पीड़ा होती है । और वातोल्बण चतुर्थक ज्वर आने में प्रथम शिर में पीड़ा होती है । तदुपरान्त ज्वर सर्वाङ्ग में व्याप्त होता है । और पित्तोल्बण जो विषम ज्वर होता है उसके उत्पन्न होने के आरम्भ में शरीर के मध्य भाग में पीड़ा होती है तदुपरान्त ज्वर होता है । और यह सन्ततादिक पूर्वोक्त ५ प्रकार के विषमज्वरों से भिन्न चतुर्थक के विपर्यय के अन्तर्गत माना जाता है ॥

*श्लैष्मिकः = श्लेष्मोल्वणः । तथाऽनिलसम्भवो=वातोल्वणः । सन्ततादीनां त्रिदोषजत्वम् । यत उक्तं चरके—

*"प्रायशः सन्निपातेन पञ्च स्युर्विषमज्वराः" ॥ १०८ ॥ इति ।

यहां पर "श्लैष्मिक" पद का "कफोल्वण चतुर्थक ज्वर" । "अनिलसंभव" पद का वातोल्वण चतुर्थक ज्वर" अर्थ समझना चाहिये । और सन्ततादिक पूर्वोक्त ज्वरों को त्रिदोष से उत्पन्न होने वाला समझना चाहिये । क्योंकि चरक में भी कहा हुआ है कि—प्रायः करके संनिपात (त्रिदोष) से सन्ततादिक ५ विषमज्वर होते हैं ॥ १०८ ॥

*"प्रायशोग्रहणादेकदोषजा द्विदोषजा अपि भवन्ती"ति जैयटः । पूर्वं=प्रथमं । जङ्घाभ्याम्=व्यथया जङ्घे व्याप्य पश्चात् सकलं शरीरं व्याप्नोति । एवमुल्वणवातजातः शिरस = पूर्वं व्यथया शिरो व्याप्य सकलं शरीरं व्याप्नोतीत्यर्थः । अन्यः = सन्ततादिपञ्चकाद्परः ॥ ७३४-७३५ ॥

यहां पर "प्रायशः" इस पद के कहने से यह समझना चाहिये कि सन्ततादिक एक दोष तथा दो दोषों से भी उत्पन्न होते हैं" ऐसा जैयट का मत है । और "पूर्वम्" पद का "प्रथम" । "जङ्घाभ्याम्" पद का "दोनो जंघाओं में पीड़ा होती है तदुपरान्त ज्वर सर्वाङ्ग में व्याप्त होता है" । "शिरसः" पद का "प्रथम शिर में पीड़ा होती है तदुपरान्त सर्वाङ्ग में ज्वर व्याप्त होता है" और "अन्यः" पद का "सन्ततादिक पूर्वोक्त ५ प्रकार के ज्वरों से भिन्न" यह अर्थ समझना चाहिये ॥

अथ चतुर्थकविपर्ययाद्यन्यविषमज्वराणां लक्षणान्याह—

अस्थिमज्जगतो दोषश्चतुर्थकविपर्ययः । जायते भिषजा ज्ञेयो विषमज्वर एव सः ॥७३६॥
स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आद्यन्ते च विमुञ्चति ॥ ७३७ ॥

चतुर्थकविपर्ययादिक अन्य विषमज्वरों के लक्षण—जिसके दोष अस्थि तथा मज्जागत होते हैं ऐसा चतुर्थकविपर्यय नामक जो ज्वर होता है, उसे भी वैद्य लोग विषमज्वर ही मानते हैं । और वह चतुर्थक का विपर्यय होने से अर्थात् चतुर्थकज्वर प्रथम दिन होकर दूसरे तथा तीसरे दिन नहीं होता है पुनः चौथे दिन होता है इसका विपर्यय अर्थात् प्रथम दिन तथा चौथे दिन नहीं होता है किन्तु मध्य के दो दिनों में होता है ॥ ७३६-७३७ ॥

*चतुर्थकविपर्ययाख्यो ज्वरः सोऽपि विषमज्वर एव वैद्येन ज्ञातव्यः । स किंधातुस्थ इत्यपेक्षायामाह—अस्थीत्यादि । चतुर्थकविपर्यय इत्युपलक्षणम् । सततादिविपर्ययोऽपि बोद्धव्यः । यथा—अहोरात्रे द्वौ कालौ मुञ्चति शेषं सर्वमहोरात्रं तिष्ठतीति सततविपर्ययः । अहोरात्रे एकं कालं मुञ्चति शेषं सर्वमहोरात्रं तिष्ठतीत्यन्येद्युष्कविपर्ययः । मध्ये एकं दिनं ज्वरं जनयति, आदावन्ते च दिने मुञ्चतीति तृतीयकविपर्ययः । एते विषमज्वरोपलक्षकाः अन्ये रात्रिज्वरादयोऽपि विषमज्वरा बोद्धव्याः । यथा—

*समौ वातकफौ यस्य क्षीणपित्तस्य देहिनः । रात्रौ प्रायो ज्वरस्तस्य दिवा हीनकफस्य तु॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—चतुर्थकविपर्ययाख्य जो ज्वर है उसे भी वैद्यों को विषमज्वर ही समझना चाहिये । और उसके दोष किस धातु में स्थित रहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि—दोष—अस्थि तथा मज्जा गत होते हैं । और "चतुर्थकविपर्यय" यह उपलक्षण है अतः इसी भांति सतत आदि पूर्वोक्त विषमज्वरों का भी विपर्यय होने से सततविपर्यय इत्यादि क्रम से अन्य ज्वर भी समझ लेना चाहिये । जैसे कि—सततज्वर अहोरात्र में दो बार केवल उत्पन्न होता है, शेष समय में नहीं रहता है । और वैसे ही इसका विपर्यय होने से सततविपर्यय ज्वर अहोरात्र में दो बार केवल उतरता है और शेष समयों में बना रहता है । अन्येद्युष्क ज्वर—जैसे

अहोरात्र में एक वार चढ़ता है, शेष समय में उतरा रहता है। वैसे ही इसका विपर्यय होने से अन्येद्युष्कविपर्यय ज्वर अहोरात्र में एक वार केवल उतरता है शेष समय में बराबर बना रहता है। और तृतीयक ज्वर जैसे मध्य में एक दिन नहीं रहता है और आदि तथा अन्त के दिनों में बना रहता है। वैसे ही इसका विपर्यय होने से तृतीयकविपर्यय ज्वर मध्य में एक दिन बना रहता है तथा आदि व अन्त के दिनों में नहीं रहता है। और ये सब विषमज्वर के उपलक्षण हैं। अतः इनसे भिन्न रात्रिज्वरादिक विषमज्वरों को भी समझना चाहिये। जैसे कि-जिस रोगी का पित्त क्षीण हो तथा वात और कफ समान भाव से हों तो उसे अधिकतर रात्रिमें ज्वर हुआ करता है। इसी भांति में जिसका कफ क्षीण हो और वात तथा पित्त समान भाव से हों तो उसे अधिकतर दिन में ज्वर हुआ करता है॥ १०९॥

***प्रायो = बाहुल्येन (१०९)॥ ७३६–७३७॥**

यहां पर "प्रायः" पद का "अधिकतर" अर्थ समझना चाहिये॥ (१०९)॥ ७३६–७३७॥

अथ सन्ततादिज्वरे प्रथमं कस्यचिच्छीतं कस्यचिद्दाह उत्पद्यत इत्यत्र हेतुमाह—

त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरम्।
तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्तर्दाहं करोति च॥ ७३८॥

सन्ततादिक ज्वर में प्रथम किसी को जो सर्दी लगती है और किसी को प्रथम जो दाह उत्पन्न होता है, उसका कारण कहते हैं। उसमें प्रथम शीत होने का कारण-त्वग् (चर्म) गत जब कफ तथा वायु दुष्ट होकर रहते हैं तब प्रथम शीत सहित ज्वर उत्पन्न करते हैं। और उन दोनों के वेग की शान्ति हो जाने पर पित्त शरीर के अन्दर दाह उत्पन्न करता है॥ ७३८॥

***शीतं = शीतसहितम्। प्रशान्तयोः = प्रशान्तवेगयोः। अन्तः = अभ्यन्तरे॥ ७३८॥**

यहां पर "शीतम्" पद का "शीत सहित"। "तयोः प्रशान्तयोः" पदों का "उन दोनों के वेग की शान्ति हो जाने पर"। "अन्तः" पद का "शरीर के अन्दर" यह अर्थ समझना चाहिये॥७३८॥

करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च। तस्मिन्प्रशान्ते त्वितरौ कुरुतः शीतमन्ततः॥

प्रथम दाह होने का कारण—त्वग्गत जब पित्त दुष्ट हो कर रहता है तब अत्यन्त दाह उत्पन्न करता है, और जब वह शान्त हो जाता है तब शेष वात तथा कफ हाथ-पैरों को शीतल कर देते हैं॥ ७३९॥

***अन्ततः = हस्तपादादितः॥ ७३९॥**

यहां पर "अन्ततः" पद का "हाथ–पैरों को" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ७३९॥

अथ शीतदाहादिज्वरयोस्त्रिदोषजतामाह—

द्वावेतौ दाहशीतादी ज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ। दाहपूर्वस्तयोः कष्टः सुखसाध्यतमोऽपरः॥

प्रथम शीत तथा दाह होकर उत्पन्न होने वाले ज्वरों को त्रिदोषजता—पूर्व में दाह अथवा शीत होकर उत्पन्न होने वाले ये दोनों ज्वर सन्निपात से होने वाले कहे जाते हैं। इनमें से जो दाहपूर्वक ज्वर होता है वह कष्टसाध्य होता है, और जो शीतपूर्वक ज्वर होता है वह अत्यन्त सुखसाध्य होता है॥ ७४०॥

***संसर्गजौ = सान्निपातिकौ। कष्टः = कष्टसाध्यः॥ ७४०॥**

यहां पर "संसर्गजौ" पद का "संनिपात से होने वाले" और "कष्टः" पद का "कष्टसाध्य" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ७४०॥

अथ विषमज्वरविशेषमाह—

विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते। तेनार्द्धं शीतलं देहमर्द्धमुष्णं प्रजायते॥ ७४१॥

विशेष विषमज्वर का लक्षण—परिपक्व न होने से आहारसम्बन्धी रस के दूषित होने पर शरीर में जब कफ तथा पित्त दूषित हो जाता है, तब आधा देह शीतल हो जाता है और आधा गर्म हो जाता है ॥ ७४१ ॥

***अन्नरसे विदग्धे = आहारजे रसे दुष्टे । देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते = दुष्टे स्थिते । तेन हेतुना शीतलं कफेन, उष्णं पित्तेन, अर्द्धत्वं चार्द्धनारीश्वराकारेण नरसिंहाकारेण वा ॥७४१॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—"अन्नरसे विदग्धे" पदों का "परिपक्व न होने से आहारसंबन्धी रस के दूषित होने पर" और "व्यवस्थिते" पद का "दूषित हो जाता है" यह अर्थ होता है। और आधा शरीर शीतल तथा आधा शरीर जो गर्म हो जाता है उसमें कारण कफ तथा पित्त का दूषित हो जाना ही है। इसी से कफ के दूषित होने से शीतल और पित्त के दूषित होने से गर्म हो जाता है। और शरीर का आधा भाग अर्द्धनारीश्वर रूप से अर्थात् वाम, दक्षिण अङ्गों के क्रम से एक शीतल और एक गर्म होता है, ऐसा समझना चाहिये अथवा नरसिंह के स्वरूप के अनुसार ऊपर तथा नीचे के क्रम से आधा भाग करके ऊपर अथवा नीचे के भागों में एक में शीतल तथा एक में उष्ण होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ७४१ ॥

काये दुष्टं यदा पित्तं श्लेष्मा चान्ते व्यवस्थितम् । तेनोष्णत्वं शरीरस्य शीतत्वं हस्तपादयोः ॥

शरीर में जब पित्त दूषित होकर रहता है तथा हाथ—पैरों में कफ दूषित होकर रहता है, तब उससे शरीर गर्म बना रहता है और हाथ—पैर शीतल रहते हैं ॥ ७४२ ॥

***अन्ते = हस्तपादादौ ॥ ७४२ ॥**

यहां पर "अन्ते" पद का "हाथ—पैरों में" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७४२ ॥

काये श्लेष्मा यदा दुष्टः पित्तं चान्ते व्यवस्थितम् । शीतत्वं तेन गात्रे स्यादुष्णत्वं हस्तपादयोः॥

शरीर में जब कफ तथा हाथ—पैरों मे पित्त ये दोनों दूषित होकर रहते हैं तब उससे शरीर में शीतलता तथा हाथ—पैरों में उष्णता बनी रहती है ॥ ७४३ ॥

अथ विषमज्वरविशेषस्य प्रलेपकस्य लक्षणमाह—

प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च । मन्दज्वरविलेपी च स शीतः स्यात्प्रलेपकः॥७४४॥

प्रलेपक नामक विशेष विषमज्वर के लक्षण—जिस ज्वररोगी का शरीर पसीने से लिपे हुये के समान हो तथा उसमें गुरुता (भारीपन) प्रतीत होती हो एवम् मन्दवेग वाले ज्वर का संबन्ध सदा बना रहता हो और शीत (ठण्डक) का भी अनुभव होता हो तो उसे प्रलेपक नामक विषमज्वर से युक्त समझना चाहिये ॥ ७४४ ॥

***गौरवेणोपलक्षितः । मन्दज्वरविलेपी = मन्दवेगस्य सदा सम्बन्धोऽस्यातीति मन्दज्वरविलेपी । अयं विषमज्वरः । तथा सुश्रुतः—**

***प्रलेपकाख्यो विषमः प्रायशः क्लेशशोषिणाम् ।**
ज्वराश्च विषमाः सर्वे प्रायः क्लेशाय शोषिणाम् ॥ ११० ॥ इति ॥ ७४४ ॥

यहाँ पर "गौरवेणोपलक्षितः" पद का "गुरुता प्रतीत होती हो"। "मन्दज्वरविलेपी" पद का "मन्दवेगवाले ज्वर का संबन्ध सदा बना रहता हो" यह अर्थ समझना चाहिये। और इसे विषमज्वर ही समझना चाहिये। क्योंकि सुश्रुत ने भी कहा है कि—यद्यपि प्रायः करके सम्पूर्ण विषमज्वर शोषयुक्त (यक्ष्मा के) रोगियों के लिये कष्टदायक होते हैं तथापि यह प्रलेपक नामक विषमज्वर तो और भी प्रायः करके शोषरोगियों के लिये कष्टप्रद होता है (११०) ॥ ७४४ ॥

अथ विषमज्वराणां सामान्यचिकित्सामाह—

ज्वराश्च विषमाः सर्वे सन्निपातसमुद्भवाः । यथोल्वणस्य दोषस्य तेषु कार्यं चिकित्सितम् ॥

विषमेष्वपि कर्त्तव्यमूर्द्ध्वञ्चाधश्च शोधनम् । स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च शमयेद्विषमज्वरम् ॥

विषमज्वरों की सामान्य चिकित्सा—संपूर्ण विषमज्वर संनिपात (त्रिदोष) से उत्पन्न होते हैं। अतः इनमें जो दोष सब से अधिक प्रबल हो उसीकी सर्वप्रथम चिकित्सा करनी चाहिये। और विषमज्वरों में भी ऊपर नीचे (वमन, विरेचन द्वारा) शोधन करना चाहिये अर्थात् वमन-विरेचन कराना चाहिये। और स्निग्ध तथा उष्ण अन्न-पानादि द्वारा विषमज्वर का शमन करना चाहिये॥

कालिङ्गकः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी । पटोलं सारिवा मुस्तं पाठा कटुकरोहिणी ॥ ७४७ ॥
निम्बः पटोलं त्रिफला मृद्वीका मुस्तवत्सकौ । किराततिक्तममृता चन्दनं विश्वभेषजम् ॥
गुडूच्यामलकं मुस्तमर्द्धश्लोकसमापनाः । कषायाः शमयन्त्याशु पञ्च पञ्चविधं ज्वरम् ॥७४९॥

विषमज्वरों मे कालिङ्गकादि प्रभृति ५ क्वाथोंमें कालिङ्गकादिक्वाथ-१ इन्द्रजौ, परवल के पत्ते, कुटकी।

पटोलादिक्वाथ—२ परवल के पत्ते, सफेद अनन्तमूल, नागरमोथा, पाढ़ और कुटकी।

निम्बादिक्वाथ—३ नीम की छाल, परवल के पत्ते, त्रिफला (आंमला, हरड़, बहेड़ा), दाख, नागरमोथा और कुटज (कुरैया) की छाल।

किराततिक्तादिक्वाथ—४ चिरायता, गिलोय, लालचन्दन और सोंठ।

गुडूच्यादिक्वाथ—५ गिलोय, आमला और नागरमोथा ये सब आधे २ श्लोकों में कहे हुये ५ क्वाथ क्रम से १ सन्तत, २ सतत, ३ अन्येद्युष्क, ४ तृतीयक, ५ चतुर्थक नामक पांच प्रकार के विषमज्वरों को शीघ्र शान्त करने वाले होते हैं[1] ॥ ७४७-७४९ ॥

ॐकालिङ्गकः=इन्द्रयवः। वत्सकः=कुटजः। चन्दनमत्र रक्तचन्दनम्। कषायाः पञ्च पञ्चविधं=सन्ततसततान्येद्युष्कतृतीयकचतुर्थकरूपम् ॥ ७४७-७४९ ॥

यहां पर "कालिङ्गक" पद का "इन्द्रजौ"। "वत्सक" का "कुटज"। "चन्दन" का "लालचन्दन" और "पञ्चविधं ज्वरम्" पदों का "सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक नामक पांच प्रकार के विषम ज्वरों को" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७४७-७४९ ॥

महाबलामूलमहौषधाभ्यां क्वाथो निहन्याद्विषमज्वरं हि ।
शीतं सकम्पं परिदाहयुक्तं विनाशयेद् द्वित्रिदिनप्रयोगात् ॥ ७५० ॥

कंघी की जड़ तथा सोंठ इन दोनों का क्वाथ बना कर दो-तीन दिन तक पिलाने से शीत, कम्प तथा दाह युक्त विषमज्वर निश्चय नष्ट हो जाता है[2] ॥ ७५० ॥

मुस्ताऽऽमलकगुडूची विश्वौषधकण्टकारिकाक्वाथः । पीतः सकणाचूर्णः समधुर्विषमं ज्वरं हन्ति॥

नागरमोथा, आमला, गिलोय, सोंठ तथा छोटी कण्टकारी इन सबों का क्वाथ बनाकर उसमें पीपल का चूर्ण तथा मधु डाल कर पीने से विषमज्वर नष्ट होता है[3] ॥ ७५१ ॥

तिलतैललवणयुक्तः कल्को लशुनस्य सेवितः प्रातः । विषमज्वरमपहरते वातव्याधीनशेषांश्च ॥

प्रातःकाल लहसुन की चटनी में तिल का तेल तथा सेंधानमक मिला कर सेवन करने से विषमज्वर तथा संपूर्ण वातसंबन्धी रोग दूर होते हैं ॥ ७५२ ॥

---

१. उपर्युक्त क्वाथ्य द्रव्यों को मिलाकर २ तोला लेकर आध सेर पानी में मिलाकर चतुर्थांशावशेष उतार कर छान ले। फिर उसे शीतल करके पीवे। इसे प्रातः सायम् दोनों समय पिलाना चाहिये।

२. कंघी की जड़ १ भर, सोंठ, १ भर लेकर आध सेर जल से विधिवत् क्वाथ बनाकर प्रयोग करे।

३. क्वाथ्य द्रव्यों को एक पल (४ तोले) लेकर आध सेर जल में क्वाथ कर पिलावें।

कालाजाजी तु सगुडा विषमज्वरनाशिनी। मधुना चाभया लीढा हन्त्याशु विषमज्वरान्॥

१—मंगरैला (३ माशा) में गुड़ मिला कर खाने से विषमज्वर दूर होता है। २-हरड़ का चूर्ण (६ माशे) मधु के साथ मिला कर चाटने से सम्पूर्ण विषमज्वर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥७५३॥

***कालाजाजी तु 'मँगरैला' इति लोके। सा च किंचिद्भृष्टा गुडतुल्या कर्षमिता भक्षणीया॥ ७५३॥**

यहां पर "कालाजाजी" पद से लोक में प्रसिद्ध "मंगरैला" का बोध किया गया है, तथा मंगरैला एक तोला लेकर किञ्चित् भूनकर बराबर का गुड़ मिला कर खाना चाहिये" इतना और ध्यान रखना चाहिये॥ ७५३॥

पीतो मरिचचूर्णेन तुलसीपत्रजो रसः। द्रोणपुष्पीरसो वाऽपि निहन्ति विषमज्वरान्॥७५४॥

तुलसी के पत्तों के रस में अथवा गूमा के पत्तों के रस में काली मिरच का चूर्ण मिला कर पीने से सभी विषमज्वर नष्ट हो जाते है॥ ७५४॥

समगुडमसितं जीरकमीषन्मरिचेन भक्षितं सद्यः। ऐकाहिकं प्रशमयेत् समरेष्विव दानवानिन्द्रः॥

जिस प्रकार से युद्ध में इन्द्र दैत्यों को नष्ट करते हैं उसी प्रकार से किञ्चित कालीमिरच का चूर्ण मिला हुआ काले जीरे का चूर्ण समान भाग गुड़ के साथ मिला कर खाने से तत्काल ही ऐकाहिक विषमज्वर को नष्ट करता है[1]॥ ७५५॥

शुण्ठ्यजाजी गुडं पिष्टं पीतमुष्णेन वारिणा। जीर्णमद्येन तक्रेण तीव्रं शीतज्वरं जयेत्॥७५६॥

सोंठ, जीरा (कोई २ काला जीरा भी लेते हैं) तथा गुड़ इन सबों को एकत्र पीस कर गर्म जल या पुराना मद्य अथवा तक्र (मट्ठा) के साथ खाने से तीव्र भी शीतज्वर नष्ट हो जाता है[2]॥७५६॥

अथ सन्ततादिज्वराणां सामान्यचिकित्सा।

तत्र गुडूचीमोदकमाह—

अमृतायाः शतं चूर्णं वाससा परिशोधितम्। पृथक् षोडश भागाः स्युर्गुडमाक्षिकसर्पिषाम्॥
यथाऽग्नि भक्षयेदेतन्नरो हितमिताशनः। नास्य कश्चिद्भवेद्व्याधिर्न जरा पलितं न च॥७५८॥
न ज्वरा विषमा नैव मोहो नानिलरक्तकम्। न च नेत्रगता रोगाः परमेतद्रसायनम्॥
मेधाकरं त्रिदोषघ्नं प्रयोगादस्य बुद्धिमान्। जीवेद्वर्षशतं साग्रं यथैवादितिजस्तथा॥७६०॥

सन्ततादिज्वरों की सामान्य चिकित्सा में गुडूचीमोदक-गिलोय का कपड़े से छाना हुआ चूर्ण १०० भाग और गुड़, शहद तथा गौ का घी प्रत्येक १६ भाग अर्थात् मिलकर ४८ भाग, इन सबों को एकत्र कर मोदक बना लेवे। पश्चात् यदि हितकर तथा परिमित भोजन करने वाला व्यक्ति अपने जठराग्नि के बलाबल का विचार करता हुआ तदनुसार प्रतिदिन इस मोदक का सेवन करता है तो उसे कोई व्याधियाँ नहीं होती हैं, और बुढ़ापा तथा पलित रोग (बालों का सफेद हो जाना) का भी आक्रमण नहीं होने पाता है। एवम् विषमज्वर, मोह, वातरक्त, नेत्रसम्बन्धी रोग नहीं होने पाते हैं। और यह गुडूचीमोदक अत्यन्त रसायन, मेधाशक्तिवर्द्धक, त्रिदोषनाशक होता है। तथा-इसके सेवन करने से मनुष्य उत्तम बुद्धिवाला होता हुआ देवताओं के समान स्वस्थ १०० वर्ष से-भी अधिक काल तक जीवित रह सकता है[3]॥ ७५७-७६०॥

---

१. कालाजीरा का चूर्ण ६ माशा, काली मिर्च ६ माशा, गुड़ १ तोला लेकर (उष्ण जल के अनुपान से) सेवन करना चाहिये।

२. सोंठ का चूर्ण ६ माशा, जीरा का चूर्ण ६ माशा, गुड़ १ तोला मिलाकर दो मात्रा करें। एक प्रातः तथा एक सायम् उपर्युक्त अनुपान से देवें।

३. इसे ३ से ६ माशे की मात्रा में उचित अनुपान के साथ देना चाहिये।

अथ विषमज्वरिभोजनमाह—

तक्रमांसं पयोमांसं दधिमांसमथापि वा । माषमांसञ्च भुञ्जानो मुच्यते विषमज्वरात् ॥७६१॥

विषमज्वर वाले रोगियों के लिये भोजन—जो विषमज्वरी मनुष्य तक्र (मट्ठा), दूध, दही अथवा उदर से युक्त मांस का सेवन करता है वह विषमज्वर से मुक्त हो जाता है ॥ ७६१ ॥

अग्निवेशेनोक्तम्—

सुरा समण्डा पानार्थे भोजने चरणायुधाः । तित्तिरा विष्किराः पथ्याः कुक्कुटा विषमज्वरे ॥

अग्निवेश ने भी कहा है कि—विषमज्वर में रोगी को पीने के लिये मांड के साथ मद्य अथवा मद्य तथा मद्य का मांड देना चाहिये । और भोजन करने के लिये गांव में रहने वाले मुर्गे, तीतर, जंगली मुर्गे तथा विष्किर जाति के बटेर, लवा, विगिर (विष्किर पक्षीभेद) और चकोर आदि पक्षियों का मांस देना चाहिये, क्योंकि ये सब पथ्य होते हैं ॥ ७६२ ॥

क्षचरणायुधाः = गृहकुक्कुटाः । कुक्कुटाः = वनकुक्कुटाः । विष्किराः = वर्त्तिकालावविगिरचकोराद्याः ॥ ७६२ ॥

यहां पर "चरणायुधाः" पद का "गांव में रहने वाले मुर्गे" । "कुक्कुटाः" पद का "जंगली मुर्गे" । "विष्किराः" पद का "विष्किर जाति के बटेर, लवा, विगिर और चकोर आदि पक्षियां" अर्थ समझना चाहिये ॥ ७६२ ॥

अथ सन्ततादिज्वराणां विशिष्टां चिकित्सामाह—

त्रायन्तीकटुकाऽनन्तासारिवाभिः शृतं जलम् । पटोलाब्दवृषातिक्तासारिवाभिः शृतं जलम् ॥
सन्तताख्ये ज्वरे देयं वातादीनां निवृत्तये ॥ ७६३ ॥

सन्ततादि ज्वरों की विशेष चिकित्सा—सन्तत नामक विषमज्वर में वायु आदि की निवृत्ति के लिये रोगी को त्रायमाणा, कुटकी, सफेद तथा काली अनन्तमूल इन सबों का क्वाथ अथवा परवल के पत्ते, नागरमोथा, बड़ी दन्ती, कुटकी तथा काली अनन्तमूल का क्वाथ पिलाना चाहिये[1] ॥ ७६३ ॥

क्षवृषा = वृहद्दन्ती एरण्डवत्पत्रविटपा, तदलाभे दन्ती च ग्राह्या, समानगुणत्वात् ॥

यहां पर "वृषा" पद का "बड़ी दन्ती" अर्थ समझना चाहिये । "और बड़ी दन्ती एरण्ड के समान पत्ते तथा पेड़ वाली होती है । इसके अभाव में छोटी दन्ती लेनी चाहिये । क्योंकि यह गुणों में उसी (बड़ी दन्ती) के समान ही होती है" यह और समझ लेना चाहिये ॥ ७६३ ॥

पटोलेन्द्रयवानन्तापथ्याऽरिष्टामृताजलम् । क्वथितं तज्जलं पीतं ज्वरं सततकं जयेत् ॥७६४॥

परवल के पत्ते, इन्द्रजौ, अनन्तमूल, हरड, नीम की छाल, गिलोय तथा सुगन्धवाला इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से सततनामक विषमज्वर नष्ट होता है ॥ ७६४ ॥

क्षअनन्ता = सारिवा । अरिष्टः = निम्बः । जलं = बालकम् ॥ ७६४ ॥

यहां पर "अनन्ता" का "अनन्तमूल" । "अरिष्ट" का "नीम की छाल" तथा "जल" का "सुगन्धवाला" अर्थ समझना चाहिये ॥ ७६४ ॥

द्राक्षापटोलनिम्बाब्दशक्राह्वत्रिफलाशृतम् । जलं जन्तुः पिबेच्छीघ्रमन्येद्युर्ज्वरशान्तये ॥७६५॥

दाख, परवल के पत्ते, नीम की छाल, नागरमोथा, इन्द्रजौ तथा त्रिफला इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से अन्येद्युष्क नामक विषमज्वर शीघ्र नष्ट होता है ॥ ७६५ ॥

क्षशक्राह्वः = इन्द्रयवः ॥ ७६५ ॥

यहाँ पर "शक्राह्व" पद का "इन्द्र जौ" अर्थ समझना चाहिये ॥ ७६५ ॥

---

१. क्वाथ द्रव्य मिलित ४ तोला, जल आधसेर लेकर विधिवत् क्वाथ बनावें ।

कर्म साधारणं जह्यात् तृतीयकचतुर्थकौ। भिषजा प्रतिकर्त्तव्यौ विशेषोक्तचिकित्सितैः॥७६६॥

साधारण कर्म (चिकित्सा) यद्यपि सभी विषमज्वरों को दूर करता है तथापि विशेष रूप से तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर को तो अवश्य दूर करने वाले होते हैं। अतः वैद्य को उचित है कि वह विशेष रूप से कहे हुये साधारण कर्म द्वारा इन दोनों को दूर करे॥ ७६६॥

***दैवव्यपाश्रयं = बलिमङ्गलहोमादि, युक्तिव्यपाश्रयं = कषायादि; एतदुभयमपि चिकित्सितं साधारणशब्देनोच्यते, तेन साधारणं कर्म चिकित्सितं कर्तृ; तृतीयकचतुर्थकौ कर्मरूपौ जह्यात् = क्षपयेद्, निराकुर्यादित्यर्थः॥ ७६६॥**

यहां पर "साधारण" पद से देवता का आश्रय लेकर की जाने वाली "दैवव्यपाश्रय" नाम की चिकित्सा तथा युक्ति क्काथ आदि का आश्रय लेकर की जाने वाली "युक्तिव्यपाश्रय" नाम की चिकित्सा, इन दोनों का ही ग्रहण करना चाहिये। और "कर्म" पद का "चिकित्सा" अर्थ समझना चाहिये। और "साधारण कर्म" को कर्त्ता तथा "तृतीयकचतुर्थकौ" को कर्म समझना चाहिये। एवम् "जह्यात्" का "दूर करे" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ७६६॥

उशीरं चन्दनं मुस्तं गुडूची धान्यनागरम्। अम्भसा क्कथितं पेयं शर्करामधुयोजितम्॥
ज्वरे तृतीयके पुंसां तृष्णादाहसमन्विते॥ ७६८॥

खस, लालचन्दन, नागरमोथा, गिलोय, धनियां तथा सोंठ इन सबों का क्काथ बना कर उसमें शक्कर (साफ) तथा मधु डाल कर प्यास तथा दाह से युक्त तृतीयक ज्वर में रोगी को पिलाना ज्वरनाशक होता है॥ ७६७-७६८॥

अपामार्गजटां कट्यां लोहितैः सप्ततन्तुभिः। बद्ध्वा वारे रवेस्तूर्णं ज्वरं हन्ति तृतीयकम्॥

चिचिड़ा की जड़ को रविवार के दिन सात लर के लाल तागे से कमर में बाँध कर रखने से तृतीयक ज्वर शीघ्र नष्ट हो जाता है॥ ७६९॥

स्थिरातामलकीदारुशिवावृषमहौषधैः। सितामधुयुतः क्काथश्चतुर्थकहरः परः॥ ७७०॥

शालिपर्णी, भुइआमला, देवदारु, हरड, अडूसा और सोंठ इन सबों का क्काथ बना कर उसमें मिश्री तथा सहद ऊपर से डाल कर पिलाने से चतुर्थक ज्वर (चौथिया) अवश्य दूर होता है[1]॥

***स्थिरा = शालिपर्णी। तामलकी = भूधात्री। शिवा = हरीतकी। वृषो = वासा॥७७०॥**

यहां पर "स्थिरा" का "शालिपर्णी"। "तामलकी" का "भुंइ आमला"। "शिवा" का "हरड" तथा "वृष" का "अडूसा" अर्थ समझना चाहिये॥ ७७०॥

अगस्तिपत्रस्य रसेन नस्यं निहन्ति चातुर्थकमुग्रवीर्यम्।
शिरीषपुष्पस्य निशाद्वयस्य कल्केन वा तद् घृतसंयुतेन॥ ७७१॥

अगस्त्य के पत्तों का रस निकाल कर नस्य (नास) लेने से अथवा शिरस के फूल, हल्दी तथा दारुहल्दी को अत्यन्त सूक्ष्म पीसकर गाय का घी मिलाकर नास लेने से अत्यन्त घोर चतुर्थक (चौथिया) ज्वर नष्ट हो जाता है॥ ७७१॥

***तद् = नस्यम्॥ ७७१॥**

यहां पर "तद्" पद से "नस्य (नास लेना)" का ग्रहण करना चाहिये॥ ७७१॥

---

१. शालिपर्णी आदि काथ्य द्रव्य मिलाकर ४ तोले लेकर आध सेर जल में क्काथ करें। फिर इसे चतुर्थांशावशेष उतार कर छान ले। शीतल होने पर मिश्री दो तोला मधु ६ माशा मिलावें। ध्यान रहना चाहिये कि—मधु को जहाँ कहीं किसी योग में मिलाना हो ओषधियों को शीतल करने के बाद मिलाना चाहिये।

ज्वरस्य वेगकालञ्च चिन्तयञ्ज्वर्यते तु यः। तस्येष्टैरद्भुतैर्वाऽपि विषमैर्नाशयेत्स्मृतम्॥

जो मनुष्य ज्वर के वेग आने के समय को स्मरण करता हुआ ज्वराक्रान्त होता है, उसकी स्मृति को इष्ट (प्रिय) वस्तु, अद्भुत तथा विषमविषयक व्यापारों तथा कथा-वार्त्ताओं के द्वारा भुलवा देना चाहिये। अर्थात् इसका ध्यान रखना चाहिये की ज्वर के आने का जब समय हो तब "ज्वर आने का समय हो गया है" ऐसा स्मरण रोगी को न होने पावै इस लिये उस समय इष्ट वस्तु आदि का दिखाना वा तद्विषयक कथाओं को कहना, जिस स्थान पर रहता हो उससे अन्य स्थान में ले जाना इत्यादि कर्म करना चाहिये। इससे ज्वर का स्मरण न रहने से ज्वर आना रुक जाता है॥ ७७२॥

सन्ततं विषमं चापि सततं सुचिरोत्थितम्। ज्वरं सुभोजनैः पथ्यैरिष्टैश्च समुपाचरेत्॥७७३॥

हितकारक तथा मन को प्रिय लगने वाले सुन्दर भोजन कराने के द्वारा बहुत दिन के सन्तत तथा सतत आदिक विषम ज्वरों के रोगियों का उपचार करना चाहिये॥ ७७३॥

***सन्ततादिविपर्ययाणां विषमज्वराणां चिकित्सा सन्ततादीनामिव कर्तव्या॥७७३॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—जिस प्रकार सन्ततादिक विषमज्वरों की चिकित्सा होती है उसी प्रकार से उसके विपर्ययस्वरूप सन्ततादिविपर्यय विषमज्वरों की भी चिकित्सा करनी चाहिये॥ ७७३॥

शीताभिभूते पुरुषे कुर्याच्छीतहरीं क्रियाम्। दाहाभिभूते तु विधिं विदध्याद्दाहनाशनम्॥

शीत से पीड़ित ज्वररोगी के लिये शीत को दूर करने वाली चिकित्सा (उपाय) करनी चाहिये। और दाह से पीड़ित के लिये तो दाह को दूर करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये॥ ७७४॥

आच्छादनैर्बहुतरैर्गुरुभिः कम्बलादिभिः। तूलवत्या महाशीतं शीतादिज्वरिणो हरेत्॥

जिस ज्वररोगी को प्रथम शीत लगाकर ज्वर चढ़ता हो तो उसे अधिक शीत लगने पर भारी कम्बल आदिक बहुत से ओढ़ने के वस्त्रों से अथवा रजाई से ओढ़ाकर शीत दूर करना चाहिये॥

***तूलवती तु "रजाई" इति लोके॥ ७७५॥**

यहां पर "तूलवत्या" पद का "लोकप्रसिद्ध रजाई से" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ७७५॥

तं स्तनाभ्यां सुपीनाभ्यां पीवरोरुर्नितम्बिनी। युवतिर्गाढमालिङ्गेत् तेन शीतं प्रशाम्यति॥
कान्ताऽङ्गसङ्गसञ्जाते तद्वच्छीते निवारिते। प्रह्लादं चास्य विज्ञाय पृथक्तां कारयेत्स्त्रियम्॥
ततो दाहे तु सञ्जाते पत्रैरेरण्डसम्भवैः। शीतलैर्धारितैरङ्गे दाहं तस्यापनोदयेत्॥ ७७८॥

और शीतपीड़ित ज्वररोगी को मोटे जङ्घों वाली तथा प्रशस्त नितम्बवाली युवती स्त्री यदि अपने मोटे तथा दृढ़ स्तनों से गाढ़ आलिङ्गन करै तो उसका शीत दूर हो जाता है। और जब उक्त स्त्री का अङ्गसङ्ग (गाढ़ आलिङ्गन) हो जाने पर तथा उसमें शीत की निवृत्ति भी हो जाने पर रोगी के मन में काम का उदय हुआ जाने तब तत्काल उक्त स्त्री को अलग कर देवे। उसके बाद जब रोगी को दाह हो तब एरण्ड के शीतल पत्ते उसके अङ्गों पर जहां २ दाह प्रतीत होता हो वहां २ पर रखने से दाह दूर करना चाहिये॥ ७७६–७७८॥

अथ शीतज्वरे भूतभैरवचूर्णमाह—

तालकं शुक्तिकाचूर्णं दत्तं तत्रोभयोरपि। नवमांशञ्च तुत्थं स्यान्मर्दयेत्कन्यकाद्रवैः॥
तत्तु संशुष्कमुपलैर्वन्यैर्गजपुटे पचेत्। शीतं तच्चूर्णयेच्चूर्णं गुञ्जामात्रं सितायुतम्॥ ७८०॥
प्रभाते भक्षयेत्तेन याति शीतज्वरः क्षयम्। वान्तिर्भवति कस्यापि कस्यचिन्न भवत्यपि॥
एकेन दिवसेनैव शीतज्वरहरं परम्। मध्याह्नसमये पथ्यं शिखरिण्योदनं तथा॥ ७८२॥

शीतज्वर में भूतभैरव चूर्ण—शुद्ध हरताल तथा सीप का चूना इन दोनों को समान भाग में लेकर इन दोनों के नवें भाग के बराबर शुद्ध तूतिया लेकर सबों को एकत्र कर घीकुवार के रस के साथ भलीभांति मर्दन करै, पश्चात् सूख जाने पर जङ्गली उपलों (विनुआ कण्डों) के साथ यथाविधि गजपुट की आंच में रखकर पकावें, और पकजाने के बाद स्वाङ्गशीतल (अपने आप शीतल) हो जाने पर अन्दर से उक्त औषध द्रव्यों को निकाल कर चूर्ण कर डाले। और जब आवश्यकता हो तब एक रत्ती चूर्ण मिश्री के साथ मिलाकर प्रातःकाल सेवन करने से शीतज्वर नष्ट हो जाता है। और उसके सेवन करने पर किसी को वमन होता है और किसी को नहीं भी होता है। यह भूतभैरव चूर्ण एक दिन के सेवन करने से ही शीतज्वर को भली भांति दूर करने वाला है। इसके सेवन करने के बाद दो पहर के समय रोगी को सिखरन तथा भात खिलाना पथ्य है॥ ७७९–७८२॥

अथ कायस्थाऽऽदिधूप-लेपतैलान्याह—

कायस्थानाकुलीतिक्तावयःस्थापुरचोरकैः। सहदेवावचाकुष्ठैः शीतघ्नैर्धूपलेपनैः॥ ७८३॥
साम्लैर्विपाचितं तैल-मभ्यङ्गाच्छीतनाशनम्॥ ७८४॥

कायस्थाऽऽदि धूप-लेप तथा तेल—हरड़, नाई कुटकी, गिलोय, शुद्ध गूगल, भटेउर, सहदेई, वच, कूठ इन सबों को कूट कर धूप देने से अथवा पीसकर लेप करने से शीत दूर होता है। एवम् इन्हीं पूर्वोक्त ओषधियों को पीसकर उसमें सेंधा निमक तथा जवाखार मिलाकर सबों के कल्क को अम्लद्रव्य कांजी आदिक के साथ तेल में डालकर यथाविधि पकाकर तैल बना लेवै। यह तैल[1] मालिश करने से शीत को दूर करने वाला होता है॥ ७८३–७८४॥

***कायस्था = हरीतकी। नाकुली = रास्नाभेदः "नाई" इति लोके। वयःस्था=गुडूची। पुरो = गुग्गुलुः। चोरकः = "भटेउर" तदलाभे "गठिवन"। सहदेवा = वृहद्बला। चारो= यवचारः। इति कायस्थाऽऽदिधूपलेपनतैलानि॥ ७८३–७८४॥**

यहां पर "कायस्था" पद का "हरड"। "नाकुली" पद का रास्ना का भेद लोकप्रसिद्ध "नाई"। "वयःस्था" का "गिलोय"। "पुर" का "गूगल"। "चोरक" का "भटेउर" अर्थ समझना चाहिये तथा भटेउर के अभाव में "गठिवन" लेना चाहिये। "सहदेवा" का "बड़ी बला (बरियारा) अर्थात् "सहदेई"। "क्षार" का "जवाखार" अर्थ समझना चाहिये॥ ७८३–७८४॥

अथ दाहस्य चिकित्सामाह—

एरण्डस्य तु पत्राणि लिप्तभूमौ निधापयेत्। दाहादिज्वरिणो देहे तानि पत्राणि धारयेत्॥
तेन नश्यति दाहोऽस्य ज्वरश्चैवोपशाम्यति। दाहे शान्ते यदा शैत्यं तच्च युक्त्या निवारयेत्॥

दाह की चिकित्सा—एरण्ड के पत्तों को लाकर तत्काल मिट्टी से लिपी हुई भूमि पर रख देवै पश्चात् पत्तों के पूर्ण शीतल हो जाने पर उन्हें दाहयुक्त-ज्वररोगी के अङ्गों पर उठाकर रख देवै। ऐसा करने से रोगी का दाह नष्ट हो जाता है तथा ज्वर भी शान्त हो जाता है। और दाह के शान्त होने पर रोगी को जिस समय शीत लगने लगे उस समय युक्तिपूर्वक उसका भी निवारण करै॥ ७८५–७८६॥

जघनचक्रचलन्मणिमेखला सरसचन्दनचन्द्रविलेपना।
वनलतेव तनुं परिवेष्टयेत् प्रबलदाहनिपीडितमङ्गना॥ ७८७॥

जिसके नितम्बचक्र के ऊपर करधनी में लगी हुई मणियां हिल रही हों और जिसके अङ्गों पर सरस चन्दन तथा कपूर का लेप लगा हुआ हो ऐसी सुन्दर अङ्गों वाली युवती स्त्री जंगली लता की भांति यदि दाह पीड़ित रोगी के शरीर का आलिङ्गन करै तो दाह नष्ट हो जाता है॥ ७८७॥

---

१. कल्क द्रव्य १ सेर, मूर्च्छित तिलतैल ४ सेर, कांजी ८ सेर, जल १६ सेर, लेकर तैल पाक करना चाहिये।

छचन्द्रः = कर्पूरः ॥ ७८७ ॥

यहां पर "चन्द्र" पद का "कपूर" अर्थ समझना चाहिये ॥ ७८७ ॥

तदङ्गसङ्गसञ्जाते शैत्ये दाहे निवारिते। प्रह्लादश्चास्य विज्ञाय तां स्त्रीमपनयेत्पुनः ॥७८८॥

इस भांति से उक्त स्त्री का अङ्गसङ्ग (गाढ आलिङ्गन) हो जाने पर जब शीत मालूम होने लगै और दाह की निवृत्ति हो जाय एवम् रोगी के हृदय में काम का उदय प्रतीत होने लगै तब उक्त स्त्री को रोगी के पास से अलग कर देवै ॥ ७८८ ॥

अथ षड्गुणतक्रतैलमाह—

सुवर्चिकानागरकुष्ठमूर्वालाक्षानिशालोहितयष्टिकाभिः।
सिद्धं हरेत्षड्गुणतक्रपक्वं तैलं ज्वरं दाहसमन्वितं च ॥ ७८९ ॥

षड्गुणतक्रतैल—सज्जीखार, सोंठ; कूठ; मूर्वा; लाख; हल्दी और मंजीठ इन सबों के कल्क को तेल से छगुने तक्र के साथ तेल (तिल का तेल) में डाल कर यथाविधि पकाकर तेल सिद्ध कर लेवै। यह षड्गुणतक्रतैल मर्दन करने से दाहयुक्त ज्वर दूर होता है ॥ ७८९ ॥

अथ महाषड्गुणतक्रतैलमाह—

रास्नानागरकुष्ठचन्दननिशायष्टयाह्वकृष्णाबला-लाक्षासैन्धवसारिवामधुरसादेवाह्वरोहीतकैः॥
सोशीराम्बुधिफेनरोहिषजलैस्तैलं पचेत्षड्गुणे तक्रे तच्च जयेज्ज्वरं दृढतरं दाहादिशीतादिकम्॥

महाषड्गुणतक्रतैल—रास्ना; सोंठ; कूठ; सफेद चन्दन; हल्दी; मुलेठी; पीपल; खिरेटी; लाख; सेंधा निमक; अनन्तमूल; मूर्वा; देवदारु; रोहिणी (रुहेड़ा); खस; समुद्रफेन; रोहिष तृण और सुगन्धवाला इन सबों के कल्क को तेल में डालकर तेल से छगुने तक्र के साथ यथाविधि पकावै। पश्चात् जब सिद्ध हो जाय तब उतार कर छान लेवै। यह महाषड्गुणतक्र तेल मर्दन करने से भयङ्कर दाह तथा शीतयुक्त ज्वर को दूर कर देता है ॥ ७९० ॥

छचन्दनमत्र श्वेतम्। मधुरसा = मूर्वा। रोहीतकः="रोहिणी"ति लोके। "रोहिषे"ति रोहिततृणविशेषः। जलं=वालम् ॥ ७९० ॥

यहां पर "चन्दन" पद का "सफेद चन्दन"। "मधुरसा" का "मूर्वा"। "रोहीतक" का लोक प्रसिद्ध "रोहिनी" "रोहिष" का "रोहिष तृण विशेष"। "जल" का "सुगन्धवाला" अर्थ समझना चाहिये ॥ ७९० ॥

अथ पद्मकादितैलमाह—

पद्मकोत्पलकह्लारमृणालबिसपौष्करैः। कुमुदोशीरमञ्जिष्ठापद्मगैरिककट्फलैः ॥ ७९१ ॥
सारिवाद्वयलोध्राह्वक्षीरीखर्जूरमस्तकैः। धात्रीशतावरीयुक्तैः क्वाथे कल्के प्रयोजितैः ॥७९२॥
लाक्षारसपयःशुक्त-मस्तुभिः सह काञ्जिकैः। पक्वं तैलमिदं त्वच्यं दाहज्वरहरं परम् ॥७९३॥

पद्मकादितैल—पद्माख; नीलकमल; कल्हार (लाल कमल); कमल का मूल कमल; का कोमल नाल; पुहकरमूल; कुमुद; खस; मञ्जीठ; कमल; गेरू; कायफल; सफेद तथा काला अनन्तमूल; लोध; दुद्धी; खजूर का मस्तक; आमला और शतावर इन सबों का क्वाथ और कल्क दोनों बनाकर लाख का रस; दूध; शुक्त (सिरका); दही का जल और काञ्जी के साथ सबों को यथाविधि तिल के तेल में डाल कर पकावै; जब सिद्ध हो जाय तब उतार कर छान लेवै। यह पद्मकादि तैल मर्दन करने से त्वचा के लिये हितकर तथा दाहपूर्वक ज्वर को दूर करने में उत्तम है[१] ॥ ७९१-७९३ ॥

---

१. पद्माख आदि कल्क द्रव्य मिलित १ सेर, तिलतैल ४ सेर, लाख का रस ४ सेर, दूध ४ सेर, शुक्त (सिरका) ४ सेर, दही का पानी ४ सेर, काञ्जी ४ सेर, जल ४ सेर, लेकर विधिपूर्वक तैल सिद्ध करें।

※लाक्षारसादि पृथक् तैलतुल्यम् ॥ ७९१-७९३ ॥

यहां पर यह और समझ लेना चाहिये कि—लाख का रस; दूध; शुक्त; दही का जल; और क़ाञ्जी ये सब पृथक् पृथक् तेल के बराबर ही लेना चाहिये ॥ ७९१-७९३ ॥

अथ प्रलेपकस्य चिकित्सामाह—

प्रलेपके प्रयुञ्जीत श्लेष्मज्वरहरीं क्रियाम् ॥ ७९४ ॥

प्रलेपक ज्वर की चिकित्सा—प्रलेपक ज्वर में कफज्वर को दूर करने वाली पूर्वोक्त (कफज्वर में कही जा चुकी) क्रियाओं को करना चाहिये ॥ ७९४ ॥

अथ माहेश्वरधूपमाह—

रुद्रजटा गोश्रृङ्गं विडालविष्ठोरगस्य निर्मोकः । मदनफलभूतकेश्यौ वंशत्वग्रुद्रनिर्माल्यम् ॥
घृतयवमयूरपुच्छच्छगलकलोमानि सर्षपाः सवचाः ।
हिङ्गुगवास्थिमरीचाः समभागाश्छागमूत्रसंपिष्टाः ॥ ७९६ ॥
धूपनविधिना शमयन्त्येते सर्वाञ्ज्वरान्नियतम् । ग्रहडाकिनीपिशाचप्रेतविकारानयं धूपः ॥

माहेश्वर धूप—जटाधारी, गौका सींग, बिलार की विष्ठा, सांप की केंचुली, मैनफल, जटामांसी, बांस की छाल, शिवजी का निर्माल्य (चढ़ा हुआ) पुष्पादिक (वेलपत्रादिक), गौ का घी, जौ, मोर की पूंछ (जिसमें चन्द्राकार बना हुआ रहता है), बकरे के रोएँ, सरसों, वच, हींग, गौ की हड्डी और मरिच इन सबों को समान भाग में लेकर बकरे के मूत्र के साथ पीस कर धूप देने से सर्व प्रकार के ज्वर निश्चित रूप से शान्त हो जाते हैं। और इस माहेश्वर धूप के प्रयोग से ग्रह-डाकिनी-पिशाच तथा प्रेत इन सबों की बाधा दूर हो जाती है ॥ ७९५-७९७ ॥

※रुद्रजटा=जटाधारी । भूतकेशी = जटामांसी । रुद्रनिर्माल्यम् = पुष्पादि । मयूरपुच्छं= चन्द्रकम् ॥ ७९५-७९७ ॥

यहां पर "रुद्रजटा" पद का "जटाधारी"। "भूतकेशी" का "जटामांसी"। "रुद्रनिर्माल्य" का "शिवजी का चढ़ा हुआ पुष्पादिक (वेलपत्रादि)" और "मयूरपुच्छ" का "मोर की पूंछ (जिसमें चन्द्राकार बना हुआ रहता है)" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७९५-७९७ ॥

अथ देवस्तुतिपूजने आह—

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम् । पूजयन्प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात् ॥ ७९८ ॥

देवताओं की स्तुति तथा पूजन—पवित्र होकर उमा (पार्वतीजी) के सहित; नन्दी आदिक गणों से युक्त; मातृगण के साथ विराजमान श्री महादेवजी का पूजन करने से मनुष्य विषमज्वर से शीघ्र मुक्त हो जाता है ॥ ७९८ ॥

※सोमम् = उमया सहितम् । सानुचरं = नन्द्यादिगणसहितम् । प्रयतः=पवित्रः ॥७९८॥

यहां पर "सोमम्" पद का "उमा (पार्वतीजी) के सहित"। "सानुचरम्" का "नन्दी आदिक गणों से युक्त"। "प्रयतः" का "पवित्र होकर" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७९८ ॥

विष्णुं सहस्रमूर्द्धानं चराचरपतिं विभुम् । स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान्सर्वान्व्यपोहति ॥ ७९९ ॥

और "सहस्रशीर्षा" इत्यादिक वेदमन्त्रों द्वारा कहे हुये; चर-अचर (स्थावर; जङ्गम) संपूर्ण जगत् के स्वामी; सर्वत्र व्यापक श्रीविष्णु भगवान् की महाभारत में कहे हुये विष्णु के सहस्र नामों से (विष्णुसहस्र नाम से) स्तुति करने से संपूर्ण ज्वर दूर हो जाते हैं ॥ ७९९ ॥

※सहस्रमूर्द्धानमिति = सहस्रशीर्षेत्यादिवेदाभिहितम् । नामसहस्रेण = भारतोक्तेनेत्यर्थः ॥

यहां पर "सहस्रमूर्द्धानम्" पद का "सहस्रशीर्षा" इत्यादिक वेदमन्त्रों द्वारा कहे हुये" "नाम सहस्रेण" का "महाभारत में कहे हुये विष्णु के सहस्र (१०००) नामों से" यह अर्थ समझना चाहिये।

तीर्थायतनदेवाग्निगुरुवृद्धोपसर्पणैः । श्रद्धया पूजनैश्चापि सहसा शाम्यति ज्वरः ॥ ८०० ॥

ऋषियों के द्वारा सेवित अतएव तीर्थस्वरूप जल का सेवन, देवताओं से अधिष्ठित स्थान (देवताओं के निवास स्थान-पुरुषोत्तम क्षेत्र (जगन्नाथ पुरी); श्रीशैलादिक स्थानों) का सेवन; और देवता; अग्नि; गुरु तथा वृद्धजनों का पूजन करना इन सब कार्यों से तथा श्रद्धापूर्वक ज्वर का पूजन करने से भी ज्वर सहसा शान्त हो जाता है ॥ ८०० ॥

***ज्वरस्यापि देवत्वात्पूजा कार्या । यत आह विदेहः—तीर्थेति । तीर्थम् = ऋषिजुष्टं-जलम् । आयतनं = देवाधिष्ठितं पुरुषोत्तमक्षेत्रं—श्रीशैलादि ॥ ८०० ॥**

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि–यह श्लोक "विदेह" का कहा हुआ है । तथा ज्वर भी देवस्वरूपी है अतः उसकी पूजा करने के लिये इस श्लोक में कहा गया है । "तीर्थ" पद का "ऋषियों के द्वारा सेवित अत एव तीर्थस्वरूप जल" । "आयतन" का "देवताओं से अधिष्ठित स्थान (देवताओं के निवास स्थान-पुरुषोत्तमक्षेत्र; श्रीशैलादिक स्थान)" यह अर्थ समझना चाहिये ॥८००॥

इति विषमज्वराधिकारः समाप्तः ।

अथ रसादिधातुगतज्वरलक्षणचिकित्से ।

तत्र रसगतज्वरस्य लक्षणमाह—

गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्घरोचकौ । रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते ॥८०१॥

रसादि धातुगत ज्वरों के लक्षण तथा चिकित्सा में प्रथम रसगत ज्वर के लक्षण–जब ज्वर विशेषरूप से रसधातुगत होता है तब रोगी के शरीर में गुरुता (भारीपन), हृदय में रहने वाले दोषों के बढ़ जाने से वमन होने के समान प्रतीत होना; ग्लानि; वमन; अरुचि तथा चित्त में दीनता से सब लक्षण प्रगट होते हैं ॥ ८०१ ॥

***गुरुता गात्राणाम् । हृदयोत्क्लेशः = हृदयस्थस्य दोषस्योपचितत्वाद्वमनमिव । दैन्यं = क्लीवचित्तता । रसस्थे=रसधातुगते ज्वरे । यद्यपि रसैकधातुं प्राप्य सन्ततश्चायं तथाऽप्यनुक्रमधातुगतकथनार्थ एवात्र निर्देशः ॥ ८०१ ॥**

यहां पर "गुरुता" पद का "अङ्गों में गुरुता" । "हृदयोत्क्लेशः" का "हृदय में रहने वाले दोष के बढ़ जाने से वमन होने के समान प्रतीत होना" । "दैन्य" पद का "चित्त में दीनता" तथा "रसस्थे" पद का "जब ज्वर विशेष रूप से रसधातुगत होता है तब" यह अर्थ समझना चाहिये । और यह भी समझना चाहिये कि–यद्यपि एकमात्र रस धातु को प्राप्त होकर यह ज्वर उत्पन्न होता है अत एव पूर्वोक्त सन्तत ज्वर ही है तथापि पुनः जो यहां पर कहा गया है वह अनुक्रम से धातुगत ज्वरों को कहने के लिये ही समझना चाहिये ॥ ८०१ ॥

अथ रसगतज्वरस्य चिकित्सामाह—

रसस्थे तु ज्वरे तस्मिन् कुर्याद्वमनलङ्घने ॥ ८०२ ॥

रसगतज्वर की चिकित्सा—रसधातुगत ज्वर में रोगी को वमन तथा लङ्घन कराना चाहिये ॥

अथ रक्तगतज्वरस्य लक्षणमाह—

रक्तनिष्ठीवनं दाहो मोहश्छर्दनविभ्रमौ । प्रलापः पिडिका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ॥

रक्तगत ज्वर के लक्षण—रक्तगत ज्वर होने पर रोगी के थूक के साथ रक्त निकलता है और दाह, चित्त में व्यग्रता; वमन; विशेष भ्रम; प्रलाप; शरीर में फुड़िया निकलना तथा प्यास अधिक लगना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं ॥ ८०३ ॥

***मोहो = व्यग्रचित्तता ॥ ८०३ ॥**

यहां पर "मोह" पद का "चित्त में व्यग्रता" अर्थ समझना चाहिये ॥ ८०३ ॥

अथ रक्तगतज्वरस्य चिकित्सामाह—

सेकः संशमनो लेपो रक्तमोक्षमसृग्गते ॥ ८०४ ॥

रक्तगत ज्वर की चिकित्सा—रक्तगत ज्वर में जलादि से शरीर पर सेचन करना; संशमन लेप करना तथा रक्त निकलवाना (फस्त खुलवाना आदिक) हितकर होता है ॥ ८०४ ॥

अथ मांसगतज्वरस्य लक्षणमाह—

पिण्डकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता। ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे ॥

मांसगत ज्वर के लक्षण-मांसगत ज्वर होने पर रोगी के पिंडलियों में दण्डे से मारने के समान पीडा होना; अधिक प्यास लगना, मूत्र तथा मल का बारम्बार होना; शरीर का बाहर गर्म रहना तथा भीतर दाह होना; हाथ-पैरों का इधर-उधर बारम्बार फेंकना और ग्लानि होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ८०५ ॥

"ऊष्माऽन्तर्मोहविक्षेपावि"ति केचित्पठन्ति। तत्रोष्मा—अन्तः। विक्षेपः=हस्तपादादिचालनम् ॥ ८०५ ॥

यहां पर "ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपौ" इसके स्थान में कोई २ "ऊष्मान्तर्मोहविक्षेपौ" ऐसा पाठ पढ़ते हैं। इस पाठ में "ऊष्मान्तः" पद का "शरीर के अन्दर गर्मी प्रतीत होना" तथा "विक्षेप" पद का "हाथ-पैरों को इधर उधर बारम्बार फेंकना" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८०५ ॥

अथ मांसगतज्वरस्य चिकित्सामाह—

तीक्ष्णं विरेकञ्च तथा कुर्यान्मांसगते ज्वरे ॥ ८०६ ॥

मांसगत ज्वर की चिकित्सा—मांसगत ज्वर में रोगी को तीक्ष्ण ओषधियों के द्वारा विरेचन (दस्त) कराना उचित होता है ॥ ८०६ ॥

अथ मेदोगतज्वरस्य लक्षणमाह—

भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च। दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता ॥

मेदोगत ज्वर के लक्षण—मेदोगत ज्वर में रोगी को अधिक पसीना निकलना, अधिक प्यास लगना और मूर्च्छा, प्रलाप-तथा वमन होना एवम् शरीर से दुर्गन्ध आना तथा अरुचि होना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं ॥ ८०७ ॥

भृशं स्वेदो मेदोमलत्वात् ॥ ८०७ ॥

यहां पर यह और समझ लेना चाहिये कि—पसीना मेदा धातु का मल है अत एव इस (मेदोगत) ज्वर में "अधिक पसीना निकलना" यह लक्षण भी कहा गया है ॥ ८०७ ॥

अथ मेदोगतज्वरस्य चिकित्सामाह—

मेदःस्थे मेदसो नाशं विदधीत चिकित्सकः ॥ ८०८ ॥

मेदोगत ज्वर की चिकित्सा—वैद्य को उचित है कि—मेदोगत ज्वर में जिनसे मेदा का नाश हो ऐसी ओषधियों तथा उपायों द्वारा रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ८०८ ॥

अथास्थिगतज्वरस्य लक्षणमाह—

भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च। विक्षेपणञ्च गात्राणां विद्यादस्थिगते ज्वरे ॥

अस्थिगत ज्वर के लक्षण—अस्थिगत ज्वर में रोगियों के हड्डियों में टूटने के समान पीडा, कूंथना, श्वास, दस्त, वमन और हाथ-पैर आदिक अंगों को इधर उधर फेंकना ये सब लक्षण होते हैं।

अथास्थिगतज्वरस्य चिकित्सामाह—

अस्थिस्थे तु ज्वरे कुर्याद् वातनाशनकं विधिम्। वस्तिकर्म प्रयोक्तव्यमभ्यङ्गोन्मर्दनं तथा ॥

अस्थिगत ज्वर की चिकित्सा—अस्थिगत ज्वर में वात को दूर करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये तथा वस्तिकर्म, वातहर तेलों की मालिश और शरीर मर्दन भी कराना चाहिये ॥ ८१० ॥

अथ मज्जगतज्वरस्य लक्षणमाह—

तमःप्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा । अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ॥

मज्जागत ज्वर के लक्षण—मज्जागत ज्वर में रोगी को अन्धकार में प्रवेश करने के समान प्रतीत होना, हिचकी, खांसी, शीत (सर्दी) लगना, वमन, शरीर के अन्दर दाह, महाश्वास तथा मर्मस्थानों में छेदने के समान पीड़ा होना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं ॥ ८११ ॥

***असाध्यत्वान्नात्र चिकित्सा ॥ ८११ ॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—असाध्य होने से मज्जागत ज्वर की चिकित्सा शास्त्रकारों ने नहीं बताई है ॥ ८११ ॥

अथ शुक्रगतज्वरस्य लक्षणमाह—

मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे । शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥८१२॥

शुक्रगत ज्वर के लक्षण—शुक्रस्थानगत ज्वर में रोगी की मूत्रेन्द्रिय (लिङ्ग) में जड़ता होना तथा विशेषरूप से शुक्र का वारंवार निकलते रहना ये सब लक्षण प्रगट होते हैं । और इन लक्षणों के प्रगट होने पर रोगी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥ ८१२ ॥

***ननु "शुक्रस्थानगते मरणमि"त्युक्तं तच्च शुक्रं सर्वदेहगं ? नैवं स्वाश्रयस्थशुक्रगे मरणम् ॥**

यहां पर यह शङ्का होती है कि—"शुक्रस्थानगत ज्वर में मरण होता है" ऐसा जो यहां पर कहा गया है वह कैसे संगत हो सकता है ? क्योंकि शुक्र संपूर्ण शरीर में रहता है अत एव उसका कोई स्थान निश्चित नहीं है । इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—"शुक्रस्थान गत ज्वर में मरण होता है" इसका अर्थ "शुक्र का आशय जो शुक्राशय है उसमें स्थित शुक्रगत ज्वर में मरण होता है" ऐसा समझना चाहिये । अत एव ऐसा कहने से शुक्र का स्थान (शुक्राशय) निर्दिष्ट हो गया; जिससे शङ्का करने का स्थल नहीं रह गया यह और समझ लेना चाहिये ॥ ८१२ ॥

इति सप्तधातुगतज्वराधिकारः समाप्तः ।

अथ जीर्णज्वराधिकारः ।

तत्र जीर्णज्वरस्य सामान्यलक्षणमाह—

यो द्वादशेभ्यो दिवसेभ्य ऊर्ध्वं दोषत्रयेभ्यो द्विगुणेभ्य ऊर्ध्वम् ॥
नृणां तनौ तिष्ठति मन्दवेगो भिषग्भिरुक्तो ज्वर एष जीर्णः ॥ ८१३ ॥

जीर्णज्वराधिकार में जीर्णज्वर के सामान्य लक्षण—जो ज्वर बारह दिन के बाद तथा तीनों दोषों के अवधि के दुगुने दिनों के बाद भी मनुष्यों के शरीर में मन्द वेग से बना रहता है । उसको वैद्य लोग जीर्णज्वर (पुराना ज्वर) कहते हैं ॥ ८१३ ॥

अथ जीर्णज्वरविशेषस्य वातबलासकस्य लक्षणमाह—

नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनः कृच्छ्रेण सिद्ध्यति । स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी ॥

जीर्णज्वर के भेद वातबलासकज्वर के लक्षण—वातबलासकज्वर नामक जीर्णज्वर वाला रोगी नित्य मन्दवेग से युक्त ज्वर वाला रूक्ष-शोथयुक्त; जकड़े अङ्गों वाला तथा अधिक कफ से युक्त होता है । और यह कृच्छ्रसाध्य होता है; अर्थात् बड़ी कठिन चिकित्सा करने से यह दूर होता है ॥ ८१४ ॥

***वातबलासकी नर ईदृग् भवेत् । शूनः = शोथी । श्लेष्मभूयिष्ठो = बहुश्लेष्मकः ॥ ८१४ ॥**

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—वातबलासक नामक जीर्णज्वर वाला रोगी ऐसा

होता है अर्थात् उक्त लक्षणों से युक्त होता है। और "शूनः" पद का "शोथयुक्त" तथा "श्लेष्मभूयिष्ठः" पद का "अधिक कफ से युक्त" अर्थ समझना चाहिये ॥ ८१४ ॥

अथ जीर्णज्वरस्य सामान्यचिकित्सामाह—

जीर्णज्वरी नरः कुर्यान्नोपवासं कदाचन । लङ्घनात्स भवेत्क्षीणो ज्वरस्तु स्याद्बली यतः ॥
पुराणेऽपि ज्वरे दोषा यद्यपथ्यैः पुनस्तथा । लङ्घयेत्तत्र तत्पश्चात् पूर्वामेवाचरेत्क्रियाम् ॥८१५॥

जीर्णज्वर की सामान्य चिकित्सा—जीर्णज्वर वाले रोगी को कभी भी उपवास नहीं करना चाहिये। क्योंकि-उस समय उपवास करने से रोगी क्षीण होता है किन्तु ज्वर बलवान् हो जाता है।

और पुराने (जीर्ण) ज्वर में यदि अपथ्य आहार-विहारादि करने से पुनः दोष पूर्ववत् कुपित हो गये हों तो वहां पर उपवास कराना ही चाहिये और उसके बाद पूर्वोक्त नवज्वर की भांति सभी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ८१५ ॥

तथा = पूर्ववत् ॥८१५ ॥

यहाँ पर "तथा" पद का "पूर्ववत्" अर्थ समझना चाहिये ॥ ८१५ ॥

अथ त्रिकण्टकक्वाथमाह—

निदिग्धकानागरकामृतानां क्वाथं पिबेन्मिश्रितपिप्पलीकम् ।
जीर्णज्वरारोचककासशूल-श्वासाग्निमान्द्यार्दितपीनसेषु ॥ ८१६ ॥
हन्त्यूर्ध्वजामयं प्रायः सायन्तेनोपयुज्यते ॥ ८१७ ॥

त्रिकण्टक क्वाथ—कटेरी; सोंठ तथा गिलोय इन सबों के क्वाथ में पीपल के चूर्ण का प्रक्षेप करके पीने से जीर्णज्वर; अरुचि; खांसी; शूल; श्वास; अग्नि की मन्दता; अर्दित (वातरोग) तथा पीनस रोग नष्ट होता है[1]। और यह प्रायः करके ऊर्ध्वजत्रुगत (कण्ठ के ऊपर के) रोगों को नष्ट करने वाला होता है अत एव सायंकाल में इसका प्रयोग करना चाहिये ॥ ८१६–८१७ ॥

अथ छिन्नोद्भवाऽऽदिक्वाथादिकानाह—

पिप्पलीमधुसंयुक्तः क्वाथश्छिन्नोद्भवोद्भवः । जीर्णज्वरकफध्वंसी पञ्चमूलकृतोऽथ वा ॥
अमृतायाः कषायन्तु शीतलीकृतमीरितम् । मधुपादयुतं पीतं जीर्णज्वरहरं परम् ॥
पिप्पलीमधुसम्मिश्रं गुडूचीस्वरसं पिबेत् । जीर्णज्वरकफप्लीह कासारोचकनाशनम् ॥८१८॥

छिन्नोद्भवाऽऽदि क्वाथादिकों में प्रथम छिन्नोद्भवाऽऽदिक्वाथ—गिलोय अथवा पञ्चमूल (बृहत्पञ्चमूलवेला; अरणी; गम्भारी; सोनापाठा; पाढ़ल इन सबों की छाल) का क्वाथ बनाकर उसमें पीपल का चूर्ण तथा मधु डालकर पिलाने से जीर्णज्वर तथा कफ नष्ट हो जाता है।

अमृताकषाय—गिलोय का क्वाथ बनाकर अत्यन्त शीतल हो जाने पर उसमें क्वाथ का चतुर्थांश मधु डाल कर पीने से जीर्णज्वर का नाश अवश्य होता है[2]।

गुडूचीस्वरस—गिलोय के स्वरस में पीपल का चूर्ण तथा मधु मिलाकर पीने से जीर्णज्वर; कफ प्लीहा; कास और अरुचि ये सब नष्ट हो जाते हैं[3] ॥ ८१८ ॥

---

१. कटेरी आदि द्रव्यों को मिलाकर ४ तोले लेकर दुरकुच करके आध सेर जल में पकाकर एक छटाक रह जाने पर उतार छानकर पिलाना चाहिये।

२. ताजी नीम के वृक्षपर लगी हुई (अभाव में कहीं भी लगी हुई जो नवीन तथा कृमियों से खाई न हो) गुरुच ४ तोले लेकर आध सेर जल में विधिवत् क्वाथ करें। एक छटाक रह जाने पर १½ तोला मधु मिलाकर सेवन करें।

३. ४ तोला गुडूची के स्वरस में मधु एक तोला तथा पिप्पली का चूर्ण १ माशा मिलाना चाहिये।

अथ गुडपिप्पलीप्रयोगमाह—

जीर्णज्वरेऽग्निमान्द्ये च शस्यते गुडपिप्पली। कासाजीर्णारुचिश्वास-हृत्पाण्डुकृमिरोगनुत्॥ द्विगुणः पिप्पलीचूर्णाद् गुडोऽत्र भिषजां मतः॥ ८१९॥

गुडपिप्पली का प्रयोग—गुडपिप्पली (गुड तथा पीपल का चूर्ण) का प्रयोग जीर्णज्वर तथा अग्नि की मन्दता में उत्तम होता है। और खांसी; अजीर्ण; अरुचि; श्वास (दमा); हृद्रोग; पाण्डुरोग तथा कृमिरोगनाशक होता है। और गुडूचीपिप्पली-प्रयोग में पीपल के चूर्ण से गुड़ दुगुना लेना चाहिये। ऐसा वैद्यों का मत है॥ ८१९॥

अथ पिप्पलीमधुप्रयोगमाह—

पिप्पली मधुसंयुक्ता मेदःकफविनाशिनी। श्वासकासज्वरहरी पाण्डुप्लीहोदरापहा॥८२०॥

मधुपिप्पली का प्रयोग—पीपल का चूर्ण मधु के साथ खाने से मेदा; कफ; श्वास; खांसी; ज्वर; पाण्डुरोग; प्लीहा तथा उदररोग ये सब नष्ट हो जाते हैं॥ ८२०॥

अथामलकादिचूर्णमाह—

आमलं चित्रकं पथ्या पिप्पली सैन्धवं तथा॥ ८२१॥ चूर्णितोऽयं गणो ज्ञेयः सर्वज्वरहरः परः। भेदी रुचिकरः श्लेष्महन्ता दीपनपाचनः॥

आमलकादि चूर्ण—आँवला; चीता की जड़ की छाल; हरड़; पीपल; सेंधानमक इन सबों के चूर्ण को एकत्र कर सेवन करने से सर्वप्रकार के ज्वर दूर हो जाते हैं। और यह चूर्ण मल का भेदन करने वाला; रुचिकारक; कफनाशक; अग्निदीपक तथा पाचक होता है[1]॥ ८२१-८२२॥

अथ द्राक्षाऽऽद्यष्टादशाङ्गक्काथमाह—

द्राक्षाऽमृता शटी शृङ्गी मुस्तकं रक्तचन्दनम्। नागरं कटुका पाठा भूनिम्बः सदुरालभः॥ उशीरं धान्यकं पद्मं वालकं कण्टकारिका। पुष्करं पिचुमन्दश्च दशाष्टाङ्गमिदं स्मृतम्। जीर्णज्वरारुचिश्वास-कासश्वयथुनाशनम्॥ ८२४॥

द्राक्षाऽऽद्यष्टादशाङ्ग क्काथ—दाख; गिलोय; कचूर; काकड़ाशिंगी; नागरमोथा; लाल चन्दन; सोंठ; कुटकी; पाढ़; चिरायता; धमासा; खस; धनिया; कमल; सुगन्धवाला; कटेरी (छोटी); पुहकरमूल और नीम की छाल इन १८ औषधियों को समान भाग में लेकर क्वाथ बनाकर पीने से जीर्णज्वर; अरुचि; श्वास; खांसी तथा शोथ ये सब नष्ट हो जाते हैं[2]॥ ८२३-८२४॥

अथ वर्द्धमानपिप्पलीमाह—

त्रिवृद्ध्या पञ्चवृद्ध्या वा सप्तवृद्ध्याऽथवाऽपि वा। गव्यक्षीरेण सम्पिष्टाः पिबेद्दशदिनानि हि॥ तथैवापनयेदेता एवं विंशतिवासरान्। पिबतां ज्वरशान्तिःस्यात् पाण्डुरोगश्च शाम्यति॥ कासः श्वासोऽग्निमान्द्यञ्च कफाधिक्यञ्च नश्यति॥ ८२७॥

वर्द्धमान पिप्पली—तीन २ अथवा पांच २ किंवा सात २ प्रतिदिन बढ़ाते हुए पीपलों को गाय के दूध में पीस कर दश दिन तक पीवे उसके बाद ११ वें दिन से क्रमशः उत्तरोत्तर घटाता जावे अन्त में बीसवें दिन तक पुनः पूर्ववत् आरम्भ वाले दिन की भांति ३; ५; या ७ पीपलों को दूध में पीस कर पीवै। इस भांति से २० दिन तक जो लोग पीपल का सेवन करते हैं उनका ज्वर शान्त हो जाता है तथा पाण्डुरोग; खांसी; श्वास; अग्नि की मन्दता तथा कफ की अधिकता ये सब दूर हो जाते हैं॥ ८२५-८२७॥

---

१. इस चूर्ण को ६ माशे की मात्रा में सेवन कराना चाहिये।

२. दाख आदि क्वाथ्य द्रव्य ४ तोला, जल आध सेर पाक करके अष्टमांशावशेष उतारे। इसे छान कर शीतल होने पर पिलावें।

*ध्यावृद्धिर्यथा-कफवृद्धिर्दुग्धवृद्धिर्यथाऽग्निवृद्धिः ॥ ८२५-८२७॥

यहां पर-"तीन; पांच या सात पीपलों को प्रतिदिन बढ़ाने के लिये जो कहा गया है वह कफ तथा अग्नि की वृद्धि के अनुसार ही समझना चाहिये। और जैसे २ पीपलों को बढ़ाया जाय वैसे ही वैसे दूध भी बढ़ाना उचित है। इसी बढ़ाने के कारण से इसे वर्द्धमान पिप्पली कहते हैं" यह और समझना चाहिये ॥ ८२५-८२७ ॥

वातश्लेष्मज्वरोक्ता स्यात् क्रिया वातबलासके। जीर्णज्वरे कफे क्षीणे दाहे तृष्णासमन्विते ॥
पयः पीयूषसदृशं तन्नवे तु विषोपमम्। चन्दनाद्यं हितं तैलं शोषाधिकारकीर्त्तितम्।
तथा नारायणं तैलं जीर्णज्वरहरं परम् ॥ ८२९ ॥

वातकफज्वर में कही हुई जो चिकित्सा है उसी को वातबलासक ज्वर में भी करना चाहिये ॥

और जीर्णज्वर में तथा कफ के क्षीण होने पर एवम् तृष्णा (प्यास) से युक्त दाह में दूध अमृत के समान हितकारी होता है, किन्तु यदि नवीन ज्वर हो तो वही दूध विष के समान हानिकारक भी होता है।

और शोषाधिकार में कहा हुआ चन्दनादि तेल भी जीर्णज्वर में हितकर होता है। एवम् नारायण तेल भी जीर्णज्वर नाश करने में उत्तम होता है ॥ ८२८-८२९ ॥

इति जीर्णज्वराधिकारः सम्पूर्णः।

अथ दुर्जलजनितज्वरचिकित्सा।

तत्र हरीतक्यादिचूर्णमाह—

हरीतकी निम्बपत्रं नागरं सैन्धवोऽनलः। एषां चूर्णं सदा खादेद् दुर्जलज्वरशान्तये ॥८३०॥

दूषित जल से उत्पन्न ज्वर की चिकित्सा में प्रथम हरीतक्यादि चूर्ण-हरड़; नीम की पत्ती; सोंठ, सेंधा निमक; चीते की छाल इन सबों के चूर्ण को सदा दूषित जल से उत्पन्न ज्वर की शान्ति के लिये खाना चाहिये ॥ ८३० ॥

अथ शुण्ठीक्वाथमाह—

अरुचिमनलमान्द्यं पीनसश्वासकासा-नुदरमुदकदोषानाशु हन्यादशेषान्।
जनयति तनुकान्तिं चित्तनेत्रप्रसादं पलपरिमितशुण्ठीक्षौद्रसिद्धः कषायः ॥ ८३१ ॥

शुण्ठी क्वाथ-४ तोले सोंठ बना कर उसमें शहद डाल कर पीने से अरुचि; अग्नि की मन्दता; पीनस रोग; श्वास (दमा); खांसी; उदररोग और दूषित जल से उत्पन्न होने वाले सभी ज्वरादिक दोष शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। तथा इससे शरीर में कान्ति; चित्त में प्रसन्नता और नेत्रों में निर्मलता उत्पन्न होती है ॥ ८३१ ॥

अथ दुर्जलजेतृरसमाह—

विषं भागद्वयं दग्धं कपर्दं पञ्चभागकम्। मरिचं नागरञ्चैव चूर्णं वस्त्रेण शोधयेत् ॥८३२॥
आर्द्रकस्य रसेनास्य कुर्यान्मुद्गनिभां वटीम्। वारिणा वटिकायुग्मं प्रातः सायञ्च भक्षयेत् ॥
अयं रसो ज्वरे योज्यः सामे दुर्जलजेऽपि च। अजीर्णाध्मानविष्टम्भ-शूलेषु श्वासकासयोः ॥

दुर्जलजेतृरस—शुद्ध वत्सनाभ विष २ भाग; कौड़ी की भस्म ५ भाग; मरिच ५ भाग; सोंठ ५ भाग इन सबोंका यथायोग्य कपड़छान सूक्ष्म चूर्ण लेकर अदरख के रस के साथ खरल करके मूंग के बराबर २ गोली बना लेवै, पश्चात् आवश्यकता पड़ने पर प्रातः तथा सायं काल जल के साथ दो २ गोली खाना चाहिये। और इस रस का प्रयोग आमदोष-युक्त ज्वर; दूषित जल से उत्पन्न ज्वर; अजीर्ण; आध्मान (अफारा); विष्टम्भ; शूल; श्वास तथा कास इन सब रोगों में करना उत्तम होता है[1] ॥ ८३२-८३४ ॥

---

१. इसकी मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक देनी चाहिये।

अथ पटोलादिक्वाथमाह—

पटोलमुस्ताऽमृतवल्लिवासकं सनागरं धान्यकिराततिक्तकम् ।
कषायमेषां मधुना पिबेन्नरो निवारयेद् दुर्जलदोषमुल्वणम् ॥ ८३५ ॥

पटोलादि क्वाथ—परवल के पत्ते; नागरमोथा; गिलोय; अडूसा; सोंठ; धनिया और चिरायता इन सबों के क्वाथ में मधु डाल कर पीने से भयङ्कर दूषित जल जन्य ज्वरादिक दोष दूर हो जाते हैं[1] ॥ ८३५ ॥

अथ किराततिक्ताऽऽदिचूर्णमाह—

किराततिक्तात्रिवृदम्बुपिप्पली-विडङ्गविश्वाकटुरोहिणीरजः ।
निहन्ति लीढं मधुनाऽतिसत्वरं सुदुस्तरं दुर्जलदोषजं ज्वरम् ॥ ८३६ ॥

किराततिक्ताऽऽदि चूर्ण-चिरायता; निसोथ; सुगन्धवाला; पीपल; वायविडङ्ग; सोंठ और कुटकी इन सब का चूर्ण मधु के साथ चाटने से दुःसाध्य दूषित जल पीने से उत्पन्न होने वाला ज्वर शीघ्र नष्ट हो जाता है[2] ॥ ८३६ ॥

अथ शुण्ठयादिकल्कमाह—

भोजनाग्रे नरर्भुक्तं शुण्व्यजाज्यभयोत्थितम् । कल्कन्तु सेवितं नित्यं नानादेशोद्भवं जलम् ॥

शुण्ठयादि कल्क—सोंठ; जीरा तथा हरड़ इन सबों का कल्क (चटनी) बनाकर भोजन के पहले नित्य खाने से अनेक देशों के जल पीने से उत्पन्न होने वाले ज्वरादिक दोष उत्पन्न नहीं होते हैं। यदि हों तो नष्ट हो जाते हैं ॥ ८३७ ॥

अथार्द्रकादिकल्कमाह—

सहार्द्रकयवक्षारौ पीत्वा कोष्णेन वारिणा । नानादेशसमुद्भूतं वारिदोषमपोहति ॥ ८३८ ॥

आर्द्रकादि कल्क—अदरख तथा जवाखार इन दोनों का कल्क (चटनी) बनाकर किञ्चिद् गर्म जल के साथ खाने से अनेक देशों के जल से उत्पन्न होने वाले ज्वरादि दोष नष्ट हो जाते हैं ॥८३८॥

अथ साध्यज्वरलक्षणमाह—

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः ॥ ८३९ ॥

साध्यज्वर के लक्षण—ज्वर रोगी यदि बलवान् हो तथा उसके दोष स्वल्प बलशाली हों तथा उपद्रव रहित हों तो उसका ज्वर साध्य होता है अर्थात् चिकित्सा करने से शान्त होने वाला होता है ॥ ८३९ ॥

अथ ज्वरोपद्रवानाह—

श्वासो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिस्तृष्णाऽतीसारविड्ग्रहाः ।
हिक्काकासाङ्गदाहाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश ॥ ८४० ॥

ज्वर के उपद्रव-१ श्वास; २ मूर्च्छा; ३ अरुचि; ४ वमन; ५ प्यास; ६ अतीसार; ७ मलबन्ध; ८ हिचकी; ९ खांसी; १० शरीर में दाह ये दश ज्वर के उपद्रव हैं ॥ ८४० ॥

अथ प्रसङ्गाज्ज्वरोपद्रवाणां चिकित्सामाह—

सञ्जातोपद्रवो व्याधिस्त्याज्यो न स्याच्चिकित्सकैः ।
व्याधौ शान्ते प्रणश्यन्ति सद्यः सर्वेऽप्युपद्रवाः ॥ ८४१ ॥

---

१. परवल आदि क्वाथ्य द्रव्य १ पल; पाकार्थ जल आध सेर; अवशेष १ छटाक, छानकर शीतल करके इसमें कुल मधु मिलाकर देना चाहिये।

२. चिरायता प्रभृति ओषधियों को मिलाकर १ पल लेकर विधिवत् क्वाथ करना चाहिये।

अतो व्याधिं जयेद्बलात् पूर्वं पश्चादुपद्रवान्। भिषग् यः कुशलः सोऽत्र जयेत्पूर्वमुपद्रवम् ॥
तेष्वपि प्रचुरेषु प्राङ् नाशयेदाशुकारिणम्। मूलव्याधिं जयेत्पूर्वं यत्र यो वा भवेद्बली।
अविरोधेन कार्या तदुभयोरपि च क्रिया ॥ ८४३ ॥

प्रसङ्गवश पूर्वोक्त ज्वर के उपद्रवों की चिकित्सा—जिन रोगों में उसके उपद्रव स्वरूप रोग उत्पन्न हो गये हों तो वैद्य को घबड़ाकर उन रोगों की चिकित्सा करना नहीं छोड़ देना चाहिये; क्योंकि–मूल रोग के दूर होने पर उसके उपद्रव स्वरूप रोग तत्काल नष्ट हो जाते हैं। अतः यत्न-पूर्वक प्रथम मूल रोग की चिकित्सा करनी चाहिये पश्चात् उसके उपद्रव स्वरूप रोगों की चिकित्सा करना उचित है। किन्तु जो चतुर वैद्य हैं वे आवश्यकताऽनुसार प्रथम उपद्रव स्वरूप रोगों की चिकित्सा करते हैं; और उन उपद्रवों में भी जो अधिक बलशाली होने से शीघ्र अपने कार्य को करने वाले अर्थात् दुःखदायी होते हैं उनकी सर्वप्रथम चिकित्सा करते हैं। अस्तु प्रथम मूल रोग की चिकित्सा करनी चाहिये अथवा मूल रोग तथा उपद्रव स्वरूप रोग इन दोनों में जो अधिक बलवान् हो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। और यदि मूल रोग तथा उपद्रव स्वरूप रोग इन दोनों की साथ २ चिकित्सा करनी हो तो जिसमें एक दूसरे की चिकित्सा परस्पर विरुद्ध न हो ऐसी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ८४१–८४३ ॥

तत्र ज्वरे श्वासस्य चिकित्सामाह।

अथ दशाङ्गक्वाथमाह—

सिंही व्याघ्री ताम्रमूली पटोली शृङ्गी पद्मा पुष्करं रोहिणी च।
शार्क्ं शठ्याः शैलमल्ल्याश्च बीजं श्वासं हन्यात्सन्निपातं दशाङ्गः ॥ ८४४ ॥

ज्वर में उपद्रव स्वरूप श्वास रोग की चिकित्सा में दशाङ्ग क्वाथ—बड़ी कटैया (कटेरी); छोटी कटेरी; धमासा; परवल के पत्ते; काकड़ाशिंगी; पद्मा (स्थलपद्म), पुहकरमूल; कुटकी; कचूर; कोरैया का बीज इन १० औषधियों के क्वाथ को दशाङ्ग क्वाथ कहते हैं[1] इस क्वाथ के सेवन करने से सन्निपात तथा श्वास दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ ८४४ ॥

*सिंही = [बड़ी कटैया]। व्याघ्री=लघुकण्टकारी। ताम्रमूली=दुरालभा। रोहिणी = [कुटकी]। शैलमल्ली = [कोरैआ] ॥ ८४४ ॥

यहां पर "सिंही" पद का "बड़ी कटैया"। "व्याघ्री" पद का "छोटी कटेरी"। "ताम्रमूली" पद का "धमासा"। "रोहिणी" का "कुटकी"। शैलमल्ली" का "कोरैआ" अर्थ समझना चाहिये ॥

अथ द्वात्रिंशत्क्वाथमाह—

भार्गीनिंबघनाभयाऽमृतलताभूनिंबवासाविषात्रायन्तीकटुकावचात्रिकटुकश्योनाकशक्रद्रुमैः॥
रास्नायासपटोलपाटलशटीदार्वीविशालात्रिवृद्ब्राह्मीपुष्करसिंहिकाद्वयनिशाधान्यकदेवद्रुमैः॥
क्वाथोऽयं खलु सन्निपातनिवहान्द्वात्रिंशतां पानतो
दुर्द्धर्षान्निजतेजसा विजयते सर्पान्गरुत्मानिव।
किञ्च श्वासबलासकासगुदरुग्हृद्रोगहिक्कामरुन्-
मन्यास्तम्भगलामयार्दितमलावष्टम्भबध्नानपि ॥ ८४६ ॥

द्वात्रिंशत्क्वाथ—भारंगी; नीम की छाल; नागरमोथा; हरड़; गिलोय; चिरायता; अड़ूसा; अतीस; त्रायमाणा; कुटकी; वच; त्रिकटु (सोंठ; पीपल; मिरच); सोनापाठा; मौलसिरी की छाल; रास्ना; जवासा; परवल के पत्ते; पाढ़ल; कचूर; दारुहल्दी; इन्द्रायण; निसोथ; ब्राह्मी; पुहकरमूल; छोटी

---

१. बड़ी कण्टकारी आदि द्रव्य मिलित १ पल लेकर विधिपूर्वक क्वाथ करना चाहिये।

कटेरी; बड़ी कटेरी; हल्दी; आंवला; बहेड़ा; देवदारु इन ३२ ओषधियों का बना हुआ काथ पीने से गरुड़ जिस भांति अपने तेज से भयङ्कर सर्पों को नष्ट कर देता है उसी भांति संपूर्ण सन्निपात ज्वरों को नष्ट कर देता है। और श्वास; कफ; खांसी; गुदा के रोग (बवासीर आदि); हृद्रोग; हिचकी; वातरोग; मन्यास्तम्भ (नाड़ का जकड़ जाना); गले का रोग; अर्दितरोग, मलावष्टम्भ (मल की विष्टब्धता) और वर्ध्मरोग (वदरोग) इन सबों को भी दूर करता है[1] ॥ ८४५-८४६ ॥

*विषा = अतिविषा। शक्रद्रुमः = "वकुल" इति लोके। देवद्रुमः = देवदारु ॥

यहां पर "विषा" पद का "अतीस"। "शक्रद्रुम" का "वकुल अर्थात् लोक प्रसिद्ध "मौलसिरी" तथा 'देवद्रुम" का "देवदारु" अर्थ समझना चाहिये ॥ ८४५-८४६ ॥

अथ पिप्पल्यादिचूर्णमाह—

मधुना कृष्णाकट्फलकर्कटश्रृङ्गीभवं चूर्णम्। श्वासामये महोग्रे लीढ्वा लोकः सुखी भवति ॥

पिप्पल्यादि चूर्ण—पीपल; कायफल और काकड़ाशिंगी इन सबों का चूर्ण भयङ्कर श्वास रोग भी मधु के साथ चाट कर रोगी सुखी होता है ॥ ८४७ ॥

अथ श्वासे दाहप्रयोगमाह—

वन्योपलाग्नितापितदात्रस्याग्रेण पञ्जरे दाहः। अपहरति श्वासामयमसंशयं भाषितं मुनिभिः ॥

श्वास में दाहप्रयोग—जंगली उपलों की आग में तपाये हुए दात्र (दाव) नामक अस्त्र विशेष के अग्रभाग से रोगी के पञ्जर में दाग देने से भयङ्कर भी श्वास रोग निःसन्देह नष्ट हो जाता है ऐसा मुनियों ने कहा है ॥ ८४८ ॥

अथ ज्वरे मूर्च्छायाश्चिकित्सामाह—

आर्द्रकस्य रसैर्नस्यं मूर्च्छायामाचरेन्नरः। अञ्जनञ्च प्रयुञ्जीत मधुसिन्धुशिलोषणैः ॥ ८४९ ॥
शीताम्भसाऽभिषेकः सुरभिर्धूपः सुगन्धि पुष्पञ्च। मृदुतालवृन्तवातः कोमलकदलीदलस्पर्शः ॥

ज्वर में मूर्च्छा की चिकित्सा—ज्वर में मूर्च्छा का उपद्रव होने पर रोगी को अदरख के रस का नास देना चाहिये। अथवा सेंधा नमक; मैनशिल और काली मिरच इन सबों के सूक्ष्म चूर्ण को शहद के साथ मिलाकर अञ्जन की भांति बना कर नेत्रों में आंजना चाहिये। और शीतल जल से नेत्रों को सींचना, सुगन्धित धूप देना; सुगन्धित पुष्पादिक सुंघाना; कोमल ताड़ के पत्तों से बने हुए पंखे से हवा करना और कोमल केले के पत्तों का शरीर में स्पर्श करना ये सब उपचार करना उचित है ॥ ८४९-८५० ॥

अथ ज्वरेऽरुचेश्चिकित्सामाह—

अरुचौ तु श्रृङ्गवेरजरसकैः सोष्णैः ससिन्धुजैः कवलः ॥
सिन्धूत्थमातुलुङ्गीफलकेसरधारणं वक्त्रे ॥ ८५१ ॥

ज्वर में अरुचि की चिकित्सा—ज्वर में अरुचि का उपद्रव होने पर अदरख के रस में सेंधा निमक डाल कर गर्म करके मुख में कवल धारण कराना चाहिये। अथवा बिजौरे नीबू के केसर (जीरा) में सेंधा निमक का चूर्ण मिला कर मुख में धारण करना चाहिये ॥ ८५१ ॥

अथ ज्वरे वमनस्य चिकित्सामाह—

क्राथो गुडूच्याः समधुः सुशीतः पीतः प्रशान्तिं वमनस्य कुर्यात्।
विण्मक्षिकाणां मधुनाऽवलीढा सचन्दना शर्करयाऽन्विता वा ॥ ८५२ ॥

---

१. उपर्युक्त भारङ्गी आदि ओषधियां मिलित ३ तोला लेकर जवकुट करके आध सेर जल में विधिवत् क्वाथ करके पिलाना चाहिये।

ज्वर में वमन की चिकित्सा—ज्वर में वमन का उपद्रव होने पर रोगी को गिलोय का क्वाथ बनाकर शीतल हो जाने पर शहद डाल कर पिलाने से वमन शान्त हो जाता है। अथवा मक्खियों की विष्ठा और सफेद चन्दन को मधु के साथ मिलाकर चाटने से भी वमन शान्त हो जाता है॥

अथ ज्वरे तृषायाश्चिकित्सामाह—

दन्तशठबीजपूरकदाडिमबदरैः सचुक्रकैर्वदने।
लेपो जयति पिपासामथ रजतगुटी मुखान्तःस्था॥ ८५३॥
शीतं पयः क्षौद्रयुतं निपीतमाकण्ठमाश्वेव तदुद्वमेच्च।
तर्षं महान्तं शमयेद्धि वक्त्रे धृत्वाऽथवा क्षौद्रवटाग्रलाजान्॥ ८५४॥

ज्वर में तृषा (प्यास) की चिकित्सा—ज्वर में विशेष तृषा का उपद्रव होने पर रोगी को जंभीरी नीबू; बिजौरा नींबू इन दोनों का केसर; अनारदाना; बेर और अमलबेंत इन सबों को एकत्र पीसकर मुख में भीतर लेप करने से भयङ्कर प्यास दूर हो जाती है। अथवा-चांदी की गोली भी मुख में रखने से प्यास दूर हो जाती है। या शीतल दूध में मधु डाल कर आकण्ठ (गले तक) पीकर तत्काल वमन करने से किंवा—मधु, बड़ का अग्रभाग (जटा का अग्रभाग जो लटकता रहता है) तथा धान का खील इन सबों को एकत्र पीस कर मुख में रखने से भी भयङ्कर प्यास शान्त हो जाती है॥ ८५३-८५४॥

अथ ज्वरेऽतीसारस्य चिकित्सामाह—

लङ्घनमेकं मुक्त्वा न चान्यदस्तीह भेषजं बलिनः।
समुदीर्णदोषनिचयं शमयति तत्पाचयेदपि च॥ ८५५॥

ज्वर में अतीसार की चिकित्सा—ज्वर में अतिसार का उपद्रव होने पर रोगी यदि बलवान् हो तो उसके लिये लङ्घन (उपवास) को छोड़कर कोई उस समय उत्तम औषध नहीं है। क्योंकि लङ्घन करने से बढ़े हुये दोषों का शमन तथा पाचन भी होता है॥ ८५५॥

वत्सादनीवत्सकवारिवाह-विश्वम्भरानिम्बविषाः सविश्वाः।
ज्वरेऽतिसारं त्वरितं जयन्ति विश्वाऽमृतावत्सकवारिवाहाः॥ ८५६॥

और गिलोय, इन्द्रजौ, नागरमोथा, चिरायता, नीम की छाल, अतीस और सोंठ इन सबों का क्वाथ, अथवा—सोंठ, गिलोय, इन्द्रजौ तथा नागरमोथा इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाने से ज्वर में उत्पन्न हुआ अतीसार शीघ्र नष्ट हो जाता है[1]॥ ८५६॥

***विश्वम्भरा = भूनिम्बः॥ ८५६॥**

यहां पर "विश्वम्भरा" पद का "चिरायता" अर्थ समझना चाहिये॥ ८५६॥

पाठाऽमृतापर्पटमुस्तविश्वा-किराततिक्तेन्द्रयवान्विपाच्य।
पिबन्हरत्येव हठेन सर्वाञ्ज्वरातिसारानपि दुर्निवारान्॥ ८५७॥

पाढ़, गिलोय, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, सोंठ, चिरायता और इन्द्रजौ इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने वाला रोगी ज्वर में उत्पन्न होने वाले कठिन से कठिन अतीसार को बलपूर्वक दूर कर देता है। यह निःसन्देह है॥ ८५७॥

अथ ज्वरे विड्ग्रहस्य चिकित्सामाह—

विड्ग्रहे वातजित्कर्म कुर्यादन्नानुलोमनम्। मलं प्रवर्त्तयेदाशु तीक्ष्णाभिः फलवर्त्तिभिः॥
पथ्याऽऽरग्वधतिक्तात्रिवृदामलकैः श्रृतं तोयम्। जीर्णज्वरे विबंधे दद्यादाश्वेव विड्ग्रहः शाम्येत्॥

---

१. गिलोय आदि क्वाथ्य द्रव्य १ पल, जल आध सेर पकाकर १ छटाँक रहने पर उतार कर प्रयोग करें।

ज्वर में विड्ग्रह (मलबन्ध) की चिकित्सा—ज्वर में मलबन्ध का उपद्रव हो जाने पर रोगी के लिये वायु को शान्त करने वाली तथा वायु का अनुलोमन करने वाली क्रिया (चिकित्सा) करनी चाहिये। और तीक्ष्ण ओषधियों के द्वारा बनी हुई फलवर्त्ती का गुदा में प्रयोग कराकर मल को बाहर निकालना चाहिये।

और यदि जीर्णज्वर में मलबन्ध हुआ हो तो रोगी को हरड़, अमलतास का गूदा, कुटकी, निसोथ तथा आंवला इन सबों का क्वाथ बनाकर पिलाने से तत्काल मलबन्ध रोग दूर हो जाता है ॥ ८५८-८५९ ॥

अथ ज्वरे हिक्कायाश्चिकित्सामाह—

नीरेण सिन्धूत्थरजोऽतिसूक्ष्मं नस्येन नूनं विनिहन्ति हिक्काम् ।
शुण्ठी हठाद्वा सितया समेता धूपोऽथ वा हिङ्गुसमुद्भवश्च ॥ ८६० ॥

ज्वर में हिचकी की चिकित्सा—ज्वर में हिचकी का उपद्रव होने पर रोगी को सेंधा निमक का अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण जल में घोल कर नास देने से निश्चय हिचकी दूर हो जाती है। अथवा सोंठ का सूक्ष्म चूर्ण शक्कर के साथ मिलाकर जल में घोल कर नास देने से किंवा हींग का धूप सुलगा कर नाक से भलीभांति सूंघने से हिचकी बलपूर्वक नष्ट हो जाती है ॥ ८६० ॥

अथ ज्वरे कासस्य चिकित्सामाह—

कासे कणा कणामूलं कलिङ्गद्रुफलं रजः । सविश्वभेषजं लिह्यान्मधुना वा वृषाद्रसम् ॥८६१॥

ज्वर में खांसी की चिकित्सा—ज्वर में खांसी का उपद्रव होने पर रोगी को पीपल, पिपरामूल, इन्द्रजौ, पित्तपापड़ा तथा सोंठ इन सबों का चूर्ण शहद के साथ चाटना चाहिये।

अथवा—अड़ूसे का रस शहद के साथ चाटना चाहिये। इन दोनों प्रयोगों से ही खांसी दूर हो जाती है ॥ ८६१ ॥

***रजः = पर्पटकम् ॥ ८६१ ॥**

यहां पर "रजः" पद का "पित्तपापड़ा" अर्थ समझना चाहिये ॥ ८६१ ॥

पुष्करमूलकटुत्रिकशृङ्गी-कट्फलयासककारविकाभिः ।
मधुलुलिताभिरयं खलु लेहः कासरिपुः कफरोगहरश्च ॥ ८६२ ॥

पुहकरमूल, त्रिकटु (सोंठ, पीपल, मिरच), काकड़ाशिंगी, कायफल, जवासा तथा कलौंजी (मंगरैला) इन सबों का चूर्ण मधु के साथ मिलाकर चाटना चाहिये, क्योंकि यह अवलेह खांसी तथा कफ को दूर करने वाला है ॥ ८६२ ॥

अथ ज्वरे दाहस्य चिकित्सामाह—

दाहाधिकारे लिखितं दाहे कुर्याच्चिकित्सितम् । परं ज्वरे विरुद्धं यन्नोचितं तच्चिकित्सितम् ॥

ज्वर में दाह की चिकित्सा—ज्वर में दाह का उपद्रव होने पर दाहाधिकार में कही जाने वाली चिकित्सा[1] करनी चाहिये। किन्तु उनमें जो चिकित्सा ज्वर के लिये विरुद्ध पड़ती हो, उसे छोड़ देना चाहिये। क्योंकि अनुचित है ॥ ८६३ ॥

---

१. ज्वर में दाह उत्पन्न होने पर सहस्रधौत घृत का अभ्यङ्गार्थ प्रयोग करना चाहिये अथवा चन्दनादितैल का अभ्यङ्ग करना चाहिये। चरक में भी लिखा है—

"सहस्रधौतं सर्पिर्वा तैलं वा चन्दनादिकम् । दाहज्वरप्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं हितम् । चरक चि०अ०३।

चन्दनादि तैल के निर्माण की विधि चरक से ही उद्धृत करते हैं—

"चन्दन-शैलेय-भद्रश्रिय-कालानुसार्य, कालीयक-पद्मा-पद्मको-शीर-सारिवा मधुक-प्रपौण्डरीक-नागपुष्पो-दीच्य-घन-पद्मो-त्पल-नलिन-कुमुद-सौगन्धिक-पुण्डरीक-शतपत्र-विस-मृणाल-शालूक-

अथ सुखसाध्यज्वरलक्षणकमाह—

सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णाऽऽदीनां च मार्दवम्। बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च॥

सुखसाध्य ज्वर के लक्षण—शरीर के बाहर अधिक सन्ताप होना तथा प्यास आदिकों की कमी (कम होना) ये सब लक्षण बहिर्वेग ज्वर के होते हैं। एवम् इन लक्षणों से ज्वर सुखसाध्य भी समझा जाता है अर्थात् थोड़ी चिकित्सा करने से ही दूर होने वाला होता है॥ ८६४॥

शैवाल-कशेरुका-नन्ता-कुश-काशे-क्षु-दर्भ-शर-नल-शालिमूल-जम्बु-वेत्र-वेतस-वानीर-गुन्द्रा-ककुभा-सना-श्वकर्ण-स्यन्दन-वातपोथ-शाल-ताल-धव-तिनिश-खदिर-कदर-कदम्ब-काश्मर्यफल-सर्ज-प्लक्ष-वट-कपीतनो-दुम्बरा-श्वत्थ-न्यग्रोध-धातकी-दूर्वा-स्कटक-शृङ्गाटक-मञ्जिष्ठा-ज्योतिष्मती-पुष्करबीज-क्रौञ्चादन-बदरी-कोविदार-कदली-संवर्त्तका-रिष्ट-शतपर्वा-श्वेतकुम्भिका-शतावरी-श्रीपर्णी-श्रावणी-महाश्रावणी-रोहिणी-शीतपाक्यो-दनपाकी-काला-बला-पयस्याविदारी-जीवक-र्षभक-क्षुद्रसहा-मेदा-महामेदा-मधुर-र्ष्यप्रोक्ता-तृणशून्य-मोचरसा-टरूषक-वकुल-कुटज-पटोल-निम्ब-शाल्मली-नारिकेल-खर्जूर-मृद्वीका-प्रियाल-प्रियङ्गु-धन्वना-त्मगुप्ता-मधुकानामन्येषां च शीतवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्। तेन कषायेण द्विगुणितपयसा, तेषामेव च कल्केन कषायार्द्धमात्रं मृद्वग्निना साधयेत्तैलम्, एतत्तैलं सद्यो दाहज्वरमपनयति; एतैरेव चौषधैः सुश्लक्ष्णपिष्टैः सुशीतैः प्रदेहं कारयेत्। एतैरेव च शृतशीतं सलिलमवगाहपरिषेकार्थं प्रयुञ्जीत। इति। चरक-ज्वर-चिकित्सा।

अर्थात्—चन्दन, छारछरीला, श्वेतचन्दन, तगर, कालीयक (चन्दन भेद पीतवर्णका होता है), भार्गी, पद्माख, खश, अनन्तमूल, मुलहठी, पुण्डरिया काष्ठ, नागकेशर, नेत्रबाला, मोथा, पद्म (छोटा कमल), नीला कमल, लाल कमल, कुमुद, सौगन्धिक (कमलभेद), पुण्डरीक (श्वेत कमल), शतपत्र (लाल कमल), बिस (कमल का नाल), मृणाल (कमल का डंठल), शालूक (कमल की जड़), शैवाल (सेवार), कसेरू, अनन्ता (दुरालभा), कुश की जड, कास तथा ईख की जड़, दर्भ की जड़, शरकण्डे की जड़, नलमूल (नरकट या नरसल की जड़), शालि की जड़, जामुन की गुठली; बेंत, वेतस, जलवेत, गुन्द्रा (तृणभेद), ककुभ (अर्जुन), असन (असना), अश्वकर्ण (शाल भेद), तिन्दुक, पलाश, शाल (साखू), ताड़, धव, तिनिश, खैर, कदर, (विट्खदिर), कदम्ब, खम्भार का फल, राल, पिलखन, वट (बरगद), शिरीष अथवा आम्रातक, उदुम्बर (गूलर), पीपल, बरगद (जिससे प्ररोह निकल रहे हों), धाय के फूल, दूब, उत्कटक (तृणविशेष), सिघाड़ा, मंजीठ, मालकांगुनी, पुष्करबीज, खिरनी, बेर, श्वेतकचनार, केला, बहेड़ा, नीम, सफेद बड़ी दूब, श्वेतकुम्भिका, शतावर श्रीपर्णी (खम्भार की छाल), श्रावणी (मुण्डी), महाश्रावणी (मुण्डीभेद), कुटकी, शीतपाकी, (गन्धदूर्वा अथवा बला की एक जाति); ओदनपाकी (नीलझिण्टी), काला (सुगन्ध द्रव्य), खिरेटी का मूल; पयस्या (क्षीरकाकोली), विदारीकन्द, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, मेदा, महामेदा, काकोली, अतिबला, केवड़ा, मोचरस (सेंमल की गोंद), अडूस, मौलसिरी की छाल, कुटज (कुरैया), परवल के पत्ते, नीम, सेमल की मूसली, नारियल, खजूर, मुनक्का, चिरौंजी, प्रियङ्गु, धन्वन, आत्मगुप्ता (कौंच) तथा मुलैठी इनसे अन्य भी जो शीतल ओषधियाँ प्राप्त हो सके। उन्हें लेकर विधिपूर्वक क्वाथ करना चाहिये। यदि क्वाथ द्रव्य २ सेर हों तो उन्हें १६ गुने पानी में पकाकर चतुर्थांशावशेष (८ सेर रह जाने पर) उतार कर छान लें। फिर उसमें ४ सेर तिल का तेल, दूध ८ सेर तथा जल ८ सेर और उपर्युक्त ओषधियों का कल्क १ सेर लेकर तैल सिद्ध करें। इसका शरीर में अभ्यङ्ग करते ही दाह शन्त हो जाता है।

उन्हीं ओषधियों को पीसकर शरीर पर प्रलेप भी लगाया जाता है तथा इनका कषाय बनाकर शीतल करके स्नान तथा परिषेचन करना चाहिये।

छतृष्णाऽऽदीत्यादिशब्देनान्तर्दाहसन्ध्यस्थिव्यथाश्वासा गृह्यन्ते, तेषां मार्दवम् = अल्पता। वहिर्वेगस्य ज्वरस्येति शेषः ॥ ८६४ ॥

यहाँ पर "तृष्णाऽऽदीनाम्" इस पद में "आदि" शब्द से "अन्तर्दाह, सन्धिस्थलों तथा अस्थियों में पीड़ा और श्वास" इन सबों का भी ग्रहण करना चाहिये। अतः "तृष्णाऽऽदीनां च मार्दवम्" इन पदों का "प्यास, अन्तर्दाह, सन्धिस्थलों तथा अस्थियों में पीड़ा और श्वास की कमी" यह अर्थ समझना चाहिये। "वहिर्वेगस्य" पद का "वहिर्वेग ज्वर के" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८६४॥

वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात्। प्राकृतः सुखसाध्यस्तु ज्वरः सुरभिसम्भवः ॥

वर्षा आदिक ऋतुओं में क्रम से वातादिकों से उत्पन्न होने वाला अर्थात् वर्षा ऋतु में वायु से उत्पन्न होने वाला, शरद् ऋतु में पित्त से तथा वसन्त ऋतु में कफ से उत्पन्न होने वाला ज्वर प्राकृत (स्वभावानुसार उत्पन्न हुआ) कहलाता है। इनमें वसन्त ऋतु में उत्पन्न हुआ प्राकृत ज्वर सुखसाध्य होता है। अर्थात् चिकित्सा से शीघ्र दूर हो जाता है ॥ ८६५ ॥

छसुरभिर्वसन्तः ॥ ८६५ ॥

यहाँ पर "सुरभि" पद का "वसन्त" ऋतु अर्थ समझना चाहिये ॥ ८६५ ॥

अथ कष्टसाध्यज्वरलक्षणमाह—

वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः ॥ ८६६ ॥

दाह के दूर करने के अन्य यत्न—मद्य, आरनाल, दूध सौवीर (दुग्ध अथवा गेहूं से सिद्ध काञ्जी)। दही, घी (शतधौत) तथा शीतल जल (Seeb water) इनको परिषेक तथा अवगाहन के लिये प्रयुक्त करना चाहिये।

इस प्रकरण में चरक ने अत्यन्त सुन्दर चिकित्सा दी है यथा :—

पौष्करेषु सुशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च। कह्लाराणां च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च ॥
चन्दनोदकशीतेषु सुप्याद्दाहार्दितः सुखम्। हिमाम्बु सिक्ते सदने शीते धारागृहेऽपि वा ॥
चरक चि० अ० ३।

दाह से सन्तप्त पुरुष को वर्फ या अन्य प्रकार के शीतल जल से सींचे गये कमरे में रखना चाहिए। सोने के विस्तर पर कमल, नील कमल आदि के शीतल पत्तों को बिछाकर रोगी को सुलाना चाहिये। अथवा निर्मल क्षौमवस्त्र (मिहीन वस्त्र) पर शीतल चन्दन जल का छिड़काव करके उस पर रोगी को सुलावे। कमरे में शीतल जल के फौव्वारे आदि का भी प्रवन्ध होना चाहिये।

तथा च—

हेमशङ्खप्रवालानां मणीनां मौक्तिकस्य च। चन्दनोदकशीतानां संस्पर्शानुरसान् स्पृशेत् ॥
स्रग्भिर्नीलोत्पलैः पद्मै-र्व्यजनैर्विविधैरपि। शीतवातावहैर्व्यजे-श्चन्दनोदकवर्षिभिः ॥
चरक चि० अ० ३।

स्वर्ण, शङ्ख, मूंगा तथा अन्य प्रकार के मणि, मोती इनको चन्द्रमिश्रित जल से शीतल करके धारण कराना चाहिए। कमल, नील कमल आदि की माला भी चन्दन जल से शीतल करके देना चाहिये। विविध प्रकार के पंखों को चन्दनोदक से शीतल करके रोगी के समीप व्यजन (पंखा) करना चाहिये जिससे शीतल सूक्ष्म कण रोगी के शरीर पर पड़ते रहें। इस प्रकार चिकित्सा करने से रोगी दाह से अवश्य मुक्त होता है। बुद्धिमान् चिकित्सक को आवश्यकतानुसार उपर्युक्त एक वा अनेक योग दोष के बलाबल का विवेचन करके प्रयोग करना चाहिये।

कष्टसाध्य ज्वर के लक्षण—उपर्युक्त प्राकृत ज्वर से अन्य वैकृतज्वर "अर्थात् वर्षा, शरद्, वसन्त ये ऋतुयें क्रम से वात, पित्त तथा कफ के कुपित होने की हैं। अतः अपने २ ऋतुओं में कुपित होने से उत्पन्न होने वाले ज्वर दुःसाध्य अर्थात् विशेष यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से आराम करने वाले होते हैं। और वायु से उत्पन्न होने वाला प्राकृत ज्वर भी दुःसाध्य होता है ॥ ८६६ ॥

ॐअन्यः = प्राकृतादन्यो वैकृतः ॥ ८६६ ॥

यहां "अन्य" पद का "प्राकृत ज्वर से अन्य" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८६६ ॥

अथ वर्षाऽऽदौ दोषप्रधानतामाह—

वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम्। कुर्यात्पित्तञ्चशरदि तस्य चानुबलः कफः ॥
तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम्। कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनु ॥

वर्षादिक ऋतुओं में दोषों की प्रधानता—वर्षा ऋतु में जब प्रधान रूप से वायु कुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है तब उस समय पित्त तथा कफ उसके सहायक होते हुये अप्रधान रहते हैं। और शरद् ऋतु में जब प्रधान रूप से पित्त कुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है तब उस समय कफ उसका सहायक होता हुआ अप्रधान रहता है। और पित्त का स्वभाव होने से तथा शरद् ऋतु विसर्ग का काल होने से उसमें अर्थात् शरद् ऋतु में पित्त ज्वर होने पर उपवास करने से किसी प्रकार का भय नहीं होता है। और वसन्त ऋतु में जब प्रधान रूप से कफ कुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है तब उस समय वायु तथा पित्त ये दोनों उसके सहायक होते हुये अप्रधान रहते हैं ॥ ८६७-८६८ ॥

ॐवर्षाऽऽदिषु जातानां चिकित्साविशेषार्थं प्राधान्यमाह—वर्षास्विति। तत्प्रकृत्या = तस्य पित्तस्य प्रकृत्या = स्वभावेन। यत उक्तम्—

ॐ"कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं बहु"। इति।

ॐविसर्गाच्च = शरदो विसर्गकालत्वाच्च। यत उक्तम्—

ॐ"वर्षाशरद्धेमन्ता विसर्गकालास्तत्रोपचितबलाः प्राणिनो भवन्ति सोमस्य बलवत्त्वादि"ति। तत्र = शरदि पित्तज्वरेऽनशनाद्भयं न, वसन्ते कफज्वरेऽपि कफप्रकृत्या लङ्घनाद्भयं न भवति। किन्तु वसन्तस्यादानकालत्वान्निःशंङ्कं न कर्त्तव्यम्। यत उक्तम्—

ॐ"शिशिरवसन्तग्रीष्मास्त्वादानकालास्तत्रापचितबलाः प्राणिनो भवन्ति सूर्यस्य बलवत्त्वादि"ति।

ॐएतेनेदमुक्तं—वर्षासु वायुः प्रधानः, पित्तश्लेष्माणावप्रधानौ। शरदि पित्तं प्रधानं कफोऽप्रधानः। वसन्ते श्लेष्मा प्रधानो वातपित्ते अप्रधाने। तत्र प्रधानस्य प्राधान्येन चिकित्सा कर्त्तव्या, सा चाप्रधाने निषिद्धा न विधेया। एवं वैकृतेष्वपि प्रधानस्य प्राधान्येन चिकित्सा कर्त्तव्या। तथा चोक्तम्—

ॐसंसर्गे यो गरीयान्स्यादुपक्रम्यः स वै भवेत्।
शेषदोषाविरोधेन सन्निपाते तथैव च ॥ १११ ॥ इति।

ॐसंसर्गे = दोषद्वयसंसर्गे। गरीयान् = प्रधानः (१११) ॥ ८६७-८६८ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये—कि श्लोक "वर्षास्वि"त्यादिक जो कहा गया है वह "वर्षादिक ऋतुओं में उत्पन्न हुये ज्वरों के विशेषरूप से चिकित्सा करने के लिये वातादिक दोषों की प्रधानता बताने के लिये" और "तत्प्रकृत्या" पद का "पित्त का स्वभाव होने से" यह अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि कहा हुआ है कि—"कफ तथा पित्त द्रव धातु हैं, अतः ये दोनों अधिक उपवास करना सहन करते हैं।"

और "विसर्गाच्च" पद का "शरद् ऋतु विसर्ग का काल होने से" यह अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि कहा हुआ है कि-"वर्षा शरद् तथा हेमन्तऋतु ये सब विसर्ग के काल हैं, इनमें प्राणियों के बल की वृद्धि होती है क्योंकि इनमें चन्द्र का बल अधिक रहता है।

और "तत्र" पद का "शरद् ऋतु में पित्त ज्वर होने पर" यह अर्थ समझना चाहिये।

और इसी भाँति से यद्यपि वसन्त ऋतु में कफज्वर होने पर भी उपवास सहन करना कफ का स्वभाव होने से उपवास से कोई भय नहीं होना चाहिये, तथापि वसन्त ऋतु आदान का काल है अतः इसमें पित्त की भांति निःशङ्क होकर उपवास नहीं करना चाहिये। क्योंकि कहा हुआ है कि-"शिशिर, वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु ये सब आदान के काल हैं अतः इसमें प्राणियों के बल की हानि होती है क्योंकि इस समय सूर्य बलवान् रहते हैं"।

अस्तु—उपर्युक्त इन सब विषयों के कहने से यह सिद्ध हुआ कि वर्षाऋतु में वायु प्रधान रहता है तथा पित्त और कफ अप्रधान रहते हैं। शरद् ऋतु में पित्त प्रधान रहता है तथा कफ अप्रधान रहता है। वसन्त ऋतु में कफ प्रधान रहता है तथा वात और पित्त अप्रधान रहते हैं। अतः इनमें जो प्रधान दोष हैं उसकी प्रधान रूप से चिकित्सा करनी चाहिये, किन्तु इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जो अप्रधान दोषों के लिये निषिद्ध हो अर्थात् विरुद्ध पड़े ऐसी चिकित्सा न करनी चाहिये। और वैकृत ज्वरों में भी प्रधान की चिकित्सा प्रधान रूप से करनी चाहिये। और कहा हुआ भी है कि-

जहाँ पर दो दोषों का संबन्ध हो वहाँ पर जो दोष प्रधान हो उसी की चिकित्सा "शेष (अप्रधान) दोष के विरुद्ध न हो" इस विषय को बचाते हुये करनी चाहिये। इसी भाँति से जहाँ पर तीनों दोषों का संवन्ध हो वहाँ पर भी प्रधान की ही प्रथम चिकित्सा करनी चाहिये॥ १११॥

यहाँ पर "संसर्गे" पद का "जहाँ पर दो दोषों का संवन्ध हो वहाँ पर" तथा "गरीयान्" पद का "प्रधान" अर्थ समझना चाहिये (१११)॥ ८६७-८६८॥

अथान्तर्वेगस्य लिङ्गानि कष्टसाध्यत्वं चाह—

अन्तर्दाहोऽधिका तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः। सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः॥
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि कष्टसाध्यत्वमेव च॥ ८६९॥

अन्तर्वेगज्वर के लक्षण तथा उसकी कष्टसाध्यता-शरीर के अन्दर दाह होना, अधिक प्यास लगना, प्रलाप, श्वास, भ्रम, सन्धिस्थलों तथा अस्थियों में शूल, पसीना न निकलना, वातादिक दोषों की स्तब्धता तथा मल का विबन्ध होना ये सब लक्षण अन्तर्वेगवाले ज्वर के होते हैं। और यह ज्वर कष्टसाध्य अर्थात् बड़ी कठिनता से यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से दूर होने वाला होता है॥ ८६९॥

***वर्चोविनिग्रहः=पुरीषाप्रवृत्तिः॥ ८६९॥**

यहां पर "वर्चोविनिग्रह" पद का "मल का विबन्ध होना" यह अर्थ समझना चाहिये॥८६९॥

अथासाध्यज्वरलक्षणमाह—

ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दीर्घरात्रिकः। असाध्यो बलवान्यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः॥

असाध्यज्वर के लक्षण—जो ज्वर क्षीण तथा शोथयुक्त पुरुष को होता है, या जो गम्भीर संज्ञक अथवा बहुत दिनों से आने वाला या बलवान् किं वा अपने प्रभाव से बालों में विना कंघी के सीमन्त (मांग) कर देने वाला ज्वर होता है वह असाध्य कहलाता है॥ ८७०॥

***दीर्घरात्रिकः=बहुरात्रानुबन्धी, केशसीमन्तकृत्=प्रभावात्केशेषु सीमन्तं यः करोति॥**

यहाँ पर "दीर्घरात्रिक" पद का "बहुत दिनों से आने वाला" तथा "केशसीमन्तकृत्" पदका "अपने प्रभाव से विना कंघी के सीमन्त (मांग) कर देने वाला" यह अर्थ समझना चाहिये ॥८७०॥

अथ गम्भीरज्वरलक्षणमाह—

गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया। आनद्धत्वेन चात्यर्थं कासश्वासोद्गमेन च ॥

गम्भीर ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में अन्तर्दाह, अधिक प्यास, मल का विबन्ध (मल का न उतरना), खांसी तथा श्वास का अधिक होना ये सब लक्षण होते हैं, उसे गम्भीर ज्वर समझना चाहिये ॥ ८७१ ॥

***आनद्धत्वेन = विबद्धमलत्वेन ॥ ८७१ ॥**

यहाँ पर "आनद्धत्व" पद का "मल का विबन्ध" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८७१ ॥

अथ सामान्यज्वरे कर्णमूलशोथस्य सुखसाध्यत्वादिकमाह—

ज्वरस्य पूर्वं ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथः।
क्रमादसाध्यः खलु कृच्छ्रसाध्यः सुखेन साध्यो मुनिभिः प्रदिष्टः ॥ ८७२ ॥

सामान्य ज्वर में कर्ण के मूल भाग में उत्पन्न हुये शोथ (सूजन) की सुखसाध्यता आदिक—१ सामान्य ज्वर के पहले, २ ज्वर के मध्य में तथा ३ ज्वर के अन्त में कर्ण के मूलभाग में उत्पन्न हुआ शोथ क्रम से १ असाध्य, २ कृच्छ्र (कष्ट) साध्य, तथा ३ सुखसाध्य होता है ऐसा मुनियों ने कहा है ॥ ८७२ ॥

अथारिष्टमाह—

रोगिणो मरणं यस्मा-दवश्यम्भावि लक्ष्यते। तल्लक्षणमरिष्टं स्याद् रिष्टमप्यभिधीयते ॥

अरिष्ट का लक्षण—जिन लक्षणों के द्वारा "रोगी की मृत्यु अवश्य होगी" यह जाना जाता है, उन लक्षणों को "अरिष्ट" अथवा "रिष्ट" कहते हैं ॥ ८७३ ॥

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः। ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः ॥८७४॥

जैसे कि—जो ज्वर बहुत से बलवान् कारणों से उत्पन्न हुआ हो और बहुत से अर्थात् अपने संपूर्ण लक्षणों से युक्त हो तो वह प्राणनाशक ही (अरिष्टकारक) होता है। एवम् जो ज्वर उत्पन्न होते ही शीघ्र इन्द्रियों को नष्ट करने वाला होता है वह भी प्राणनाशक ही होता है ॥ ८७४ ॥

***शीघ्रमिन्द्रियनाशनः = उत्पन्नमात्र एव चिकित्स्यमानोऽपीन्द्रियाणां चक्षुरादीनां शक्तिं यो नाशयति ॥ ८७४ ॥**

यहां पर "शीघ्रमिन्द्रियनाशनः—अर्थात् शीघ्र इन्द्रियों को नष्ट करने वाला होता है" इसका स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि—जो ज्वर उत्पन्न होते ही चिकित्सा किये जाने पर भी आंख आदिक इन्द्रियों की देखने आदिक शक्तियों को नष्ट करने वाला होता है ॥ ८७४ ॥

अन्यच्चारिष्टमाह—

विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा। शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः ॥

दूसरे अरिष्टसूचक लक्षण—जिस ज्वर में जो रोगी संज्ञाहीन होकर सदा हर्ष से रहित होता है अर्थात् एकदम से बेहोश पड़ा रहता है। अथवा एक बार का गिरा हुआ सोता ही रहता है अर्थात् जब से शय्या पर गिरता है तब से बराबर पड़ा हुआ ही रहता है न कि उठने के लिये समर्थ रहता है, अथवा पड़ा हुआ सोता रहता है। किं वा जिस ज्वर में जो रोगी बाहर शीत से पीड़ित रहता है और भीतर दाह से युक्त रहता है उस ज्वर में उस रोगी की अवश्य मृत्यु हो जाती है ॥ ८७५ ॥

***विसंज्ञः = विगतज्ञानः। ताम्यते = नष्टहर्षः। "शेते निपतितोऽपि वा" अत्र "अपि**

वा"-शब्द एवार्थः। निपतित एव तिष्ठति न चोत्थातुं समर्थः। तथा सन् शेते वा। शीतार्दितः—बहिः। अन्तरुष्णः = अन्तर्दाहवान् ॥ ८७५ ॥

यहां पर "विसंज्ञः" पद का "संज्ञाहीन होकर"। "ताम्यते" पद का "हर्ष से रहित होता है"। यह अर्थ समझना चाहिये। और "शेते निपतितोऽपि वा" यहां पर "अपि वा" शब्द का "एव" अर्थ होने से "पड़ा हुआ ही रहता है न कि उठने के लिये समर्थ रहता है। अथवा पड़ा हुआ सोता रहता है" यह अर्थ समझना चाहिये। और "शीतार्दितः" पद का "बाहर शीत से पीड़ित रहता है" तथा "अन्तरुष्णः" पद का "भीतर दाह से युक्त रहता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८७५ ॥

अन्यच्च—

यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान्। वक्त्रेण चवोच्छ्वसिति तं ज्वरो हन्ति मानवम्॥

अन्य अरिष्टसूचक लक्षण—जिस ज्वर में रोगी का शरीर रोमाञ्च से युक्त होता है और नेत्र रक्तवर्ण के हो जाते हैं, तथा हृदय में सन्निपात (त्रिदोष) जन्य शूल के समान पीड़ा होती है एवम् वह केवल मुख से श्वास लेता है, तो उस ज्वर में रोगी की अवश्य मृत्यु हो जाती है ॥ ८७६ ॥

*हृष्टरोमा = रोमाञ्चवान्। हृदि संघातशूलवान् = सान्निपातिकशूलवान्। वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति—न तु नासिकया ॥ ८७६ ॥

यहां पर "हृष्टरोमा" पद का "रोमाञ्च से युक्त होता है"। "हृदि संघातशूलवान्" पदों का "हृदय में सन्निपातजन्य शूल के समान पीड़ा होती है" और "वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति" पदों का "केवल मुख से श्वास लेता है किन्तु नाक से नहीं लेता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८७६ ॥

अन्यच्च—

हिक्काश्वासतृषायुक्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम्। सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः॥

अन्य अरिष्टसूचक लक्षण—जिस ज्वर में रोगी हिचकी, श्वास तथा प्यास से युक्त होता है एवम् मूढ़ हो जाता है और उसके नेत्र की पुतलियां इधर उधर घूमने लगती हैं। तथा बल क्षीण हो जाता है और निरन्तर मुख से जोर २ से श्वास लिया करता है। तो ऐसे रोगी को वह ज्वर समाप्त कर देता है अर्थात् मार डालता है ॥ ८७७ ॥

*क्षपयति = समापयतीत्यर्थः ॥ ८७७ ॥

यहां पर "क्षपयति" पद का "समाप्त कर देता है अर्थात् मार डालता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८७७ ॥

हतप्रभेन्द्रियं क्षाम-मरोचकनिपीडितम्। गम्भीरतीक्ष्णवेगार्त्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ॥८७८॥

अन्य अरिष्टसूचक लक्षण—जिस ज्वरयुक्त रोगी की देह की कान्ति तथा इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो गई हो अथवा इन्द्रियों की अपने २ विषयों को ग्रहण करनेकी शक्ति नष्ट हो गई हो और बल तथा मांस क्षीण हो गया हो और वह अरूचि से युक्त हो एवम् पूर्वोक्त गम्भीर ज्वर के लक्षण प्रगट होने से तथा ज्वर का अत्यन्त दुःसह वेग होने से दुःखित होता हो तो ऐसे ज्वररोगी की चिकित्सा करना छोड़ देना चाहिये क्योंकि ये सब लक्षण मृत्युसूचक हैं ॥ ८७८ ॥

*हतप्रभेन्द्रियम्-हता प्रभा दीप्तिर्येषाम्, अथवा—हता प्रभा = प्रतिभा विषयग्रहणशक्तिर्येषां, तथाविधानीन्द्रियाणि यस्य तं हतप्रभेन्द्रियम्। क्षामं = क्षीणम्। गम्भीरतीक्ष्णवेगार्त्तं = गम्भीर उक्तलक्षणकस्तीक्ष्णवेगोऽतिदुःसहवेगस्ताभ्यामार्त्तं = दुःखितम् ॥ ८७८ ॥

यहां पर "हतप्रभेन्द्रिय" पद का "जिस ज्वरयुक्त रोगी की देह की कान्ति तथा इन्द्रियां नष्ट हो गई हों अथवा इन्द्रियों की अपने २ विषयों को ग्रहण करने की शक्ति नष्ट हो गई हो।" "क्षाम"

पद का "बल तथा मांस क्षीण हो गया हो"। "गम्भीरतीक्ष्णवेगार्त्त" पद का पूर्वोक्त गम्भीर ज्वर के लक्षण प्रगट होने से तथा ज्वर का अत्यन्त दुःसह वेग होने से दुःखित हो" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८७८ ॥

अन्यच्च—

मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे। शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥८७९॥

अन्य अरिष्टसूचक लक्षण—शुक्रस्थान गत ज्वर होने पर रोगी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। और उसमें रोगी का लिङ्ग स्तब्ध हो जाता है तथा शुक्र का स्राव विशेषरूप से होता रहता है ॥

***व्याख्यातोऽयं श्लोकः ॥ ८७९ ॥**

यहां पर यह और भी समझ लेना चाहिये कि—इस श्लोक की विशेष व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है, अतः यहां संक्षेप में अर्थ कर दिया गया है ॥ ८७९ ॥

अथ विषमज्वरारिष्टमाह—

आरम्भाद्विषमो यस्य वा दीर्घरात्रिकः। क्षीणस्य चातिरूक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति तम् ॥

विषमज्वर के अरिष्टसूचक लक्षण—जिस रोगी का ज्वर आरम्भ से ही विषम हो गया है वा जिस का ज्वर बहुत दिनों से आ रहा हो अथवा जिसका ज्वर गम्भीरसंज्ञक हो तथा वह स्वयं क्षीण और अत्यन्त रूक्ष हो तो ऐसे ज्वर रोगी को मार डालते हैं ॥ ८८० ॥

***यस्यारम्भाद्विषमः = प्रथममेव विषमो, न तु ज्वरोत्सृष्टस्य। यस्य दीर्घरात्रिकः, यस्य क्षीणस्यातिरूक्षस्य च गम्भीरो भवति, तं विषमो दीर्घरात्रिको गम्भीरश्च हन्तीत्यर्थः ॥८८०॥**

इति प्रथमो ज्वराधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥

यहां पर "यस्यारम्भाद्विषमः–अर्थात् जिस रोगी का ज्वर आरम्भ से ही विषम हो गया है" इस का यह स्पष्ट अर्थ समझना चाहिये कि—"जिस रोगी का पहले से ही ज्वर विषम हो गया है न कि एक बार ज्वर आकर छूट जाने के बाद विषम ज्वर हुआ हो" और "हन्तितम्" इन पदोंका आरम्भ से होने वाला विषमज्वर, दीर्घरात्रिक (बहुत दिनों से आने वाला) ज्वर और क्षीणता तथा अत्यन्त रूक्षता से युक्त गम्भीर ज्वर रोगी को मार डालता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८८० ॥

इति श्रीमन्मध्वसम्प्रदायाचार्यदार्शनिकसार्वभौमसाहित्यदर्शनाद्याचार्यन्यायरत्नतर्करत्नगोस्वामि-श्रीलश्रीदामोदरशास्त्रिचरणानामन्तेवासिना'बस्ती'मण्डलान्तर्गत 'मिश्रौलिया' ग्रामवासिना-सरयूपारीण'पङ्क्तिपावना'न्वयावतंसविविधकलाकोविदश्रौतस्मार्त्तकर्मनिष्ठ-'गौतम' गोत्रोद्भवश्रीलश्रीव्रजमोहनशर्मणां सूनुना स्वनामधन्यपरमादर्शपुरुषशिरोमणि-श्रीलश्रीरामचरित्रमणित्रिपाठिनां 'पोष्यपुत्र' पदवीधारिणा भिषग्रत्न-श्रीब्रह्मशङ्करशास्त्रिणा विरचितायां भावप्रकाश'भावप्रकाश-कारिकायां विद्योतिनीनामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डेऽष्टमे चिकित्साप्रकरणे प्रथमो ज्वराधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥



श्रीगणेशाय नमः

भावप्रकाशस्य मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे

ज्वराधिकार-परिशिष्टम्



चिकित्सा दो विभागों में विभाजित की जाती है। एक विभाग में स्वस्थ को रोगों के समूह से किस प्रकार से बचाया जा सकता है। इसको **स्वस्थवृत्त या Hygeine (हायजीन)** कहा जाता है। इसका वर्णन अन्यत्र (वाजीकरण तथा रसायन का वर्णन करते समय) किया गया है। इसको preventive treatment भी कहा जा सकता है। क्योंकि इन नियमों के पालन तथा इस विभाग की ओषधियों के सेवन से रोग उत्पन्न नहीं हो सकते।

चिकित्सा की दूसरी और प्रधान शाखा है—**उत्पन्न हुये रोग की चिकित्सा।** इससे बढ़कर पुण्य का कार्य और कोई दूसरा नहीं है। चिकित्सा द्वारा मृत्यु के मुख में पहुँचा हुआ व्यक्ति काल के कराल गाल से खींचा जाता है। संसार में बहुत से दान प्रचलित हैं किन्तु जीवनदान उन सबसे विशेषता रखता है। इसी लिये कहा जाता है—

"चिकित्सितात् *पुण्यतमं न किञ्चित्"।

किन्तु चिकित्सा की पूर्ण सफलता के लिये उस रोग का निश्चित निदान मालूम होना चाहिये जिस की चिकित्सा में प्रवृत्त होना है।

"रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्"।

रोग की परीक्षा—**निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय,** तथा **सम्प्राप्ति** इनके द्वारा की जाती है। **सुश्रुत** ने जो कहा है—

"षड्विधो हि रोगविज्ञानोपायः। पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन च"

वह रोगी की परीक्षा के विषय में है। **वाग्भट** ने स्पष्टतया प्रतिपादन किया है—

---

* सामान्य चिकित्सा के दो भेद होते हैं—(१) शारीरिक और (२) मानसिक।

वह चिकित्सा दो भेदों से की जाती है। (१) Prophylactic—(स्वास्थ्य संरक्षण), (२) Curative—(रोग निवारण)

स्वास्थ्य संरक्षण के भेद—(१) सात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, (२) विवेकपूर्वक कर्म, (३) देशकालादि विपरीत सेवन।

रोग निवारण के भेद—(१) दैवव्यपाश्रय (जप होमादि), (२) युक्ति व्यपाश्रय (Medical Treatment), (३) सत्वावजय (Sycalogical Treatment)।

युक्तिव्यपाश्रय के भेद (Medical Treatment के भेद-)—(१) निदान परिवर्जन, (२) प्रकृतिविघात (शरीर की रोगानुकूल परिस्थिति का परिवर्तन करना), (३) रोगापहरण (Symphtmetic Treatment)।

रोगापहरण के भेद—(१) अन्तःपरिमार्जन, (२) बहिःपरिमार्जन, (३) शस्त्रकर्म।

अन्तःपरिमार्जन के भेद (पंच कर्म)—(१) वमन-विरेचन, (२) वस्ति-उत्तर वस्ति, (३) शिरोविरेचन, (४) स्नेहन, (५) स्वेदन, (पूर्व कर्म हैं)।

"दर्शनस्पर्शनप्रश्नः परीक्षेताथ रोगिणम्। रोगं निदानप्राग्रूप ⊛लक्षणोपशयादिभिः॥

दर्शन (Inspection इन्स्पेक्शन) स्पर्शन (Pulsetion पल्सेशन।) तथा प्रश्न (Questioning क्वेश्चिनिङ्ग) द्वारा रोगी की परीक्षा करनी चाहिये। रोग को निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, तथा आदि पद से सम्प्राप्ति द्वारा जानना चाहिये। वास्तव में ये दर्शन आदि निदान आदि के

बहिःपरिमार्जन के भेद—(१) आलेप, (२) अभ्यंग, (३) स्नान, (४) उद्वर्तन, (५) अवगाहन, (६) शस्त्रकर्म, (७) छेदन, (८) भेदन, (९) लेखन, (१०) आहरण, (११) सीवन, (१२) उत्पाटन, (१३) दपण, (१४) चूपण।

शस्त्रकर्म के उपभेद—क्षारकर्म, अग्निकर्म जलौका का प्रयोग वा रक्त मोक्षण करवाना।

प्रकृतिविघात के उपभेद—लंघन, बृंहण, स्वेदन, स्तम्भन, रूक्षण और स्नेहन-इसके बाद ज्वर की सामान्य चिकित्सा।

⊛ निदान और प्राग्-ज्ञान—चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने के लिये प्रथम निदान पश्चात् चिकित्सा, यह नियम अनौपसर्गिक रोगों के लिये जितना उपयोगी और आवश्यक है उससे अधिक उपयोगी और आवश्यक औपसर्गिक रोगों के लिये होता है, क्योंकि इन रोगों की खास (Specetic) औषधि चिकित्सा होती हैं जिसका उपयोग अचूक निदान करने के पूर्व करना एक प्रकार की धृष्टता है। इसलिये वैद्य को चाहिये कि वह प्रथम रोग का अचूक निदान करके पश्चात् चिकित्सा प्रारंभ करे। अचूक निदान निम्न पद्धतियों द्वारा किया जाता है—

(१) पूर्व वृत्त और अवान्तर इतिहास—(Circumstantial Evidance) इसमें रोग और रोगी का पूर्व वृत्त, संबन्ध तथा स्थानान्तर, प्रवास, अन्य रोगियों के साथ संबंध, संबंध के साथ विचार होने की अवधि इत्यादि अवान्तर विषयों का विचार करना पड़ता है।

(२) लाक्षणिक—(Cli nical) प्रत्येक रोग अनेक लक्षणों का समूह होता है-जैसे (ननु रूपेण व्याधिर्ज्ञायते, नच रूपव्यतिरेकेण व्याधिरुपलभ्यते। यतो मिलिता रुच्यादय एव ज्वरः कासाद्येकादशरूपाण्येव राजयक्ष्मा। मधुकोश व्याख्या) उस समूह में से एक एक लक्षण अनेक रोगों में मिल सकता है, परन्तु सम्पूर्ण लक्षणों का समूह उस रोग के सिवाय अन्य रोग में नहीं मिल सकता। जैसे ज्वर, रक्तपित्त,खांसी इत्यादि लक्षण अनेक रोगों में मिल सकते हैं, परन्तु ज्वर युक्त एकादश या छ या तीन लक्षणों का समूह राजयक्ष्मा के सिवाय अन्य रोगों में नहीं मिल सकता। इसलिये रोगों के प्रारंभ से रोगी को प्रथम देखने के समय तक तथा उसके पश्चात् प्रतिदिन प्रश्न और दर्शन-स्पर्शनादि विज्ञानोपायों द्वारा रोग के सम्पूर्ण लक्षणों (Symptoms) तथा बाह्य चिह्नों (Physical signo) का निरीक्षण करके उनके आधार पर रोग का निदान करने की कोशिश करनी चाहिये। निदान करने का यही प्रधान उपाय है।

आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च। अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याविचक्षणाः।

(३) सापेक्ष निदान—(Diffrencial diagnasis)—रोग का अन्तिम निदान करने के पूर्व उस रोग के साथ मिलने जुलने वाले अनेक रोगों के व्यवच्छेदक लक्षणों का विचार कर रोग अमुक है। अमुक नहीं है इस प्रकार का जो निर्णय किया जाता है उसे सापेक्ष निदान कहते हैं।

(४) प्रायोगिक विधियाँ—(Laboratory Methods) प्रायोगिक पद्धतियों में रोगी के मल, मूत्र, थूक, रक्त, मस्तिष्क सुषुम्ना जल (Cerebropinal fluid) तथा शरीर के अन्य स्रावों की परीक्षा की जाती है।

प्राज्ञान—(Prognosis)—इसमें रोग की साध्यासाध्यता का विचार होता है। इसमें केवल रोगी बचेगा या नहीं बचेगा इसका विचार होता है। प्राज्ञान दो प्रकार का होता है।

साधन भूत तथा इन्हीं के अन्दर आ जाते हैं। यथा—पाण्डुरोग के रूप का निश्चय करते समय रोगी के नेत्र आदि का निरीक्षण करना ही पड़ेगा। कुछ आचार्य पूर्वोक्त **निदान-पञ्चक** के स्थान में **नाडी आदि आठ** स्थानों को देखकर रोग का निश्चय करते हैं। जैसे कहा भी है—

"रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्। नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृतीः॥"

अर्थात्—**नाडी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श नेत्र** तथा **आकृति** इनके द्वारा रोगाक्रान्त व्यक्ति की परीक्षा करनी चाहिये। यह भी निदानपञ्चक के अन्तर्गत आता है। यथा—**नाडी की गति की परीक्षा करने पर** वह मन्द प्रतीत होती है तो मन्दाग्नि वा धातुक्षीणता का अनुमान होगा। क्योंकि कहा है—

"मन्दाग्नौ क्षीणधातौ च नाडी मन्दतरा भवेत्।"

---

(१) सन्निकृष्ट (Immediate)

(२) विप्रकृष्ट (Remate)—यदि रोगी के बचने की आशा हो तो रुग्णावस्था की काल मर्यादा कितनी होगी, रुग्णावस्था में कौन २ उपद्रव पैदा होंगे; रोगी पूर्व स्वास्थ्य को कब प्राप्त करेगा, रोग से कोई ऐब पैदा होगा या नहीं, यदि कोई ऐब पैदा होगा तो वह स्थायी या अस्थायी होगा इत्यादि कई बातों का इसमें विचार होता है—

प्राग्ज्ञान बनाने के लिये उपर्युक्त सूचनाएं—रोग की साध्यासाध्यता के सम्बन्ध में अपना मत बनाने के पूर्व रोग और रोगी का अनेक पहलुओं से विचार करना पड़ता है। तब जाकर उसमें सफलता मिलने की कुछ आशा होती है।

निम्नलिखित कुछ पहलुओं का विचार करना परमावश्यक होता है—

(१) रोग का निदान—यह अत्यन्त आवश्यक होता है।

(२) रोग की प्रकृति—कुछ रोग स्वभाव से ही सुखसाध्य कुछ कष्ट साध्य और कुछ असाध्य होते हैं। जैसे कर्णफेर, लघुमसूरिका, परिवर्तित ज्वर इत्यादि विकारों से रोगी के मरने की सम्भावना प्रायः नहीं होती है।

न्यूमोनिया जैसे कुछ रोग स्वयं मर्यादित (Selfimited) होते हैं। उनकी कालमर्यादा तक कष्ट से यदि रोगी की रक्षा की जाय तो रोगी के मरने की संभावना नहीं होती। प्लेग, गर्दन तोड़ बुखार, क्षयज मस्तिष्कावरणशोथ, पीतज्वर इत्यादि कुछ रोग ऐसे होते हैं, जिन में कितनी भी कोशिश क्यों न की जाय रोगी के बचने की संभावना नहीं होती है।

(३) रोगी की आयु—प्रायः युवावस्था में रोग अधिक साध्य होते हैं, बाल्य और वृद्धावस्था में कष्ट साध्य या असाध्य होते हैं।

(४) हृदय तथा अन्य मर्माङ्गों का स्वास्थ्यः—इनका स्वास्थ्य ठीक रहना बहुत जरूरी होता है क्योंकि दिल और दिमाग दोई चीजें हैं—

हृदय के कमजोर होने से मूर्च्छा और उसकी गति बन्द होने से मृत्यु होती है।

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुतदेहिनाम्।
तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः॥
तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति। (सुश्रुत)

(५) रोगी का सामान्य बलः—साधारण बलवान् रोगियों में रोग साध्य होता है कमजोर रोगियों में असाध्य होता है।

राजयक्ष्मा कुष्ठ तथा अन्य चिरकालीन रोगों के प्राग्ज्ञान के विषय में उपर्युक्त सब बातों में से रोगी के बलाबल का विचार अधिक महत्त्व रखता है।

इसके द्वारा मन्दाग्नि और धातुक्षीणता रोग के रूप (लक्षण) का ही बोध होता है। एवं **मूत्र परीक्षा करने पर** वह ईख के रस के समान मधुर हो तो इक्षुमेह का निश्चय होता है। यह भी रोग (इक्षुमेह) के रूप का ही परिचायक है। इक्षुमेह के लक्षण में कहा गया है—

"इक्षो रस इवात्यर्थं मधुरं चेक्षुमेहतः।"

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि-ये रोगनिदान के आठ साधन भी निदान-पञ्चक में ही अन्तर्भूत हैं। अतः **निदान-पञ्चक** ही रोग के निश्चय करने का साधन है।

यहां पर **निदान** आदि का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

१-निदान—विविध प्रकार के अहितकर पदार्थों के सेवन से रोगों की उत्पत्ति होती है। यथा-मृत्तिका-भक्षण से पाण्डुरोग उत्पन्न होता है। किसी रोगी की परीक्षा करने पर यदि हाथ, पैर, मुख, आदि का शोथ तथा वर्ण का पीलापन और रक्तहीनता मिल जाय तो उस रोगी से पूछना चाहिये कि इस समय के पूर्व तुम्हें मिट्टी (या खर्पर) खाने की आदत तो नहीं थी? यदि वह कहे कि हाँ, तो मृत्तिका-भक्षण जनित पाण्डुरोग का निश्चय हो जाता है। इस प्रकार जो (अहितकर आहार तथा विहार या इनसे पृथक् भूतावेश अभिघात आदि) दोषों को प्रकुपित करके व्याधि को उत्पन्न करता है उसको **"निदान"** कहते हैं। यथा-मृत्तिका भक्षण पाण्डु रोग का या मक्षिका को निगलना छर्दि का निदान है। कभी २ कुछ रोग रोगों को उत्पन्न करते हैं। यथा-रक्तपित्त से ज्वर और ज्वर तथा रक्तपित्त से यक्ष्मा रोग उत्पन्न होता है। इस स्थिति में रक्तपित्त को ज्वर का तथा ज्वर और रक्तपित्त को राजयक्ष्मा का निदान कहते हैं।

यह निदान कई तरह से विभाजित किया गया है—

प्रथम **सन्निकृष्ट** तथा **विप्रकृष्ट, व्यभिचारी** तथा **प्राधानिक** भेद से निदान चार प्रकार का है।

रात, दिन, ऋतु तथा भोजन के पृथक् पृथक् अंश दोष का प्रकोप करते हैं। यथा-रात वा दिन के प्रथम भाग में **कफ** द्वितीय भाग में **पित्त** तथा तृतीय भाग में **वात** का प्रकोप स्वभाविकतया होता है। इसी प्रकार ऋतु तथा भोजन को भी समझ लेना चाहिये। इस प्रकार रात तथा दिन आदि के **आदि मध्य** तथा **अन्त** में जो **वात-पित्त** तथा कफ का प्रकोप होता है, इसके लिये पूर्व के संचित दोष की अपेक्षा नही रहती, अतः इनको **सन्निकृष्ट कारण** कहते हैं। **माधवनिदान** की **मधुकोश** नाम्नी व्याख्या में भी लिखा है।

"सन्निकृष्टो यथा-नक्तंदिनर्तुभुक्तांशा दोषप्रकोपस्य हेतवः, न ते चयादिक्रमोपेक्षन्ते।

विप्रकृष्ट निदान—हेमन्त ऋतु में कफ का सञ्चय होकर वसन्त ऋतु में उसका प्रकोप होता है तथा कफजन्य ज्वर आदि व्याधियां उत्पन्न होती हैं। यहां पर वसन्त ऋतु में कफ का संचय न होकर उसके पूर्व स्थित हेमन्त ऋतु में कफ बढ़कर संचित हो रहा था वसन्त में सूर्य की गरमी से विलयित (तनु) होकर रोग को उत्पन्न करता है। अतः यह विप्रकृष्ट हेतु का उदाहरण है। **मधुकोशकार** ने भी लिखा है।

"विप्रकृष्टो यथा—"हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्।

सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट को इस प्रकार भी समझा जा सकता है। यथा—**ज्वर** का **विप्रकृष्ट हेतु** है **रुद्र का कोप**। यथा कहा है—

दक्षापमानसंक्रुद्ध-रुद्रनिश्वाससंभवः। ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्व-संघातागन्तुजः स्मृतः॥

तथा **सन्निकृष्ट हेतु है-मिथ्या आहार-विहार का सेवन।**

व्यभिचारी—उस निदान को कहते हैं जो अपनी अल्पशक्ति के कारण व्याधि को उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। **चरक** ने कहा है—

"निदानदोषदूष्यविशेषेभ्यो विकारविघातभावाभावविशेषा भवन्ति"।

निदान, दोष, दूष्य, इन तीनों की विशेषता के अनुसार रोग की उत्पत्ति या अनुत्पत्ति निर्भर है। यदि निदान इस अंश तक प्रकुपित होवे कि वह वातादि दोषों में से एक अथवा अनेक दोषों को प्रकुपित कर सके तथा दोष भी इस सीमा तक प्रकुपित हो जाय कि वे दूष्य-रस, लसी का आदि को दूषित कर सकें, तभी रोग की उत्पत्ति हो सकती है। अन्यथा नहीं। चरक ने ही कहा है—

"अवलीयांसो वाऽनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः"

अर्थात्—निदान के कारण यदि दोष उस अंश तक नहीं कुपित हुये कि दूष्य को पूर्णतया दूषित कर सकें तो विकार नहीं उत्पन्न होगा। इस विकार उत्पन्न करने में असमर्थ निदान को "व्यभिचारी" कहते हैं।

प्राधानिकः—जो कि अपने विशेष उग्र गुणों के कारण अपने अनुरूप वातादि दोषों तथा दूष्यों को दूषित करके रोग विशेष उत्पन्न करता है उसे "प्राधानिक" हेतु कहते हैं। यथा-विष:[1] लघु, रूक्ष, उष्ण आदि उग्र गुणों के कारण शरीर में शीघ्र ही व्याप्त होकर अपने लक्षण (विष के लक्षण Taxic symptoms टाक्ज़िक् सिम्टम्स्) उत्पन्न करता है। यह प्राधानिक निदान का उदाहरण है।

पुनः निदान तीन भेदों में विभाजित किया जाता है—

(१) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, (२) प्रज्ञाऽपराध, तथा (३) परिणाम।

प्रत्येक का पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं—

(१) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग—इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ असात्म्य संयोग अर्थात अयोग, मिथ्या तथा अतियोग। यथा—चक्षुरिन्द्रिय का विषय है देखना, तो सर्वथा किसी भी वस्तु को देखना ही नहीं यह चक्षु का अयोग हुआ। तथा किसी भी वस्तु को निरन्तर निर्निमेष दृष्टि से देखते ही रहना दृष्टि का अतियोग हुआ और मल आदि वा अत्यन्त तीव्र प्रकाशयुक्त वस्तु का निरीक्षण करना चक्षु का मिथ्यायोग हुआ। इन अयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग के लिए एक शब्द दिया है असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग। इसी प्रकार घ्राण आदि के भी असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग जान सकते हैं। यह असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग रोग-जनक होने के कारण निदान कहा जाता है।

(२) प्रज्ञाऽपराध—इसके विषय में चरक ने लिखा है—

बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्त्तनम्। प्रज्ञाऽपराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्॥

जिस समय बुद्धि में कार्याकार्य का ज्ञान नहीं रह जाता उस समय मनुष्य कार्य को विषम रूप में (अस्वाभाविक मिथ्या तथा अतियोग और अयोग रूप में) समझता तथा तदनुरूप कार्य करता है। पुनः चरक ने ही सूत्रस्थान में वर्णन किया है—

त्रिविधविकल्पं त्रिविधमेव कर्म "प्रज्ञाऽपराध" इति व्यवस्येत्। (चरक सू० ११)

---

१. विष के १० गुण होते हैं, जैसा कि चरक ने लिखा है—

लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकाशि सूक्ष्मं च।
उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥

सुश्रुत ने भी अपने कल्पस्थान में वर्णन किया है यथा—

रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च।
विकाशि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत् स्मृतम्॥

अर्थात्-कायिक, वाचिक तथा मानसिक कार्यों का **मिथ्यायोग, अतियोग** तथा **अयोग** जिस स्थिति में किया जाता है उसे **प्रज्ञाऽपराध** कहते हैं। प्रज्ञाऽपराध तथा तज्जन्य रोगों का दिग्दर्शन कराते हुये **चरक** अपने शरीर के प्रथम अध्याय में लिखते हैं यथा—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञाऽपराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥
उदीरणं गतिमता-मुदीर्णानां च निग्रहः। सेवनं साहसानां च नारीणाञ्चातिसेवनम्॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्याऽऽरम्भश्च कर्मणाम्। विनयाचारलोपश्च पूज्यानां चाभिधर्षणम्॥
ज्ञातानां स्वयमर्थाना-महितानां निषेवणम्। परमौन्मादिकानाञ्च प्रत्ययानां निषेवणम्॥
अकालादेशसंचारौ मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः। इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम्॥
ईर्ष्यामानभयक्रोध-लोभमोहमदभ्रमाः। तज्जं वा कर्म यत्क्लिष्टं यद्वा तद्देहकर्म च॥
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम्। प्रज्ञाऽपराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम्॥

अर्थात्-धारणाशक्ति, धैर्य तथा स्मरणशक्ति से रहित पुरुष जब अशुभ (शरीर के लिए अहित-कर) कार्य को करने में प्रवृत्त होता है उसको **प्रज्ञाऽपराध** कहते हैं। इससे विविध प्रकार से दोष प्रकुपित होते तथा विविध रोगों को उत्पन्न करते हैं।

प्रज्ञाऽपराध के उदाहरण देते हैं—गतिमान् वेगों को उदीर्ण करना अर्थात् और प्रवर्त्तित होने के लिए शक्ति लगाना तथा प्राप्तवेगों को रोकना, दुःसाहसपूर्ण कार्य यथा-बड़ी नदी को बाहु से तैर कर पार करना अथवा अपने से अधिक शक्तिशाली पुरुष से मल्लयुद्ध करना, अत्यधिक मैथुन, कार्य करने के समय को व्यर्थ अधिक नष्ट करना, कार्य को अनुचित मार्ग से करना, विनय (नम्रता) तथा आचार को दूर कर देना, पूज्य व्यक्तियों (ऋषि, मातापिता आदि) को डांटना वा उनके सामने अन्य धाष्टर्यपूर्ण व्यवहार करना जानबूझ कर अहितकर कार्यों को करना, उन्माद उत्पन्न करने वाले कारणों (विरुद्ध, दुष्ट, अशुचि भोजनादि) का सेवन, असमय में तथा अदेश (श्मशान आदि) में गमन, नीचकार्य करने वालों से वार्त्तालाप वा मैत्री करना, इन्द्रियों के उपयोग के विषय में कहे हुए सद्वृत (हिताहार, देवार्चन आदि) को न करना, ईर्ष्या मान, (घमंड), भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा भ्रम आदि से युक्त होना अथवा इन ईर्ष्यादि से अभिभूत होकर अन्य कार्य जो शारीरिक अथवा मानसिक हो उसको करना अथवा रज तथा तम से उत्पन्न अन्य इस प्रकार के कार्य करना **प्रज्ञाऽपराध** कहा जाता है। ऐसी शिष्टों (आचार्यों) की सम्मति है। इस प्रकार प्रज्ञाऽपराध से विविध विकार उत्पन्न होते हैं।

(३) **परिणाम**-ऋतुओं के अपने स्वभाव से होने वाली शीतता आदिका अयोग, मिथ्या तथा अतियोग **परिणाम** कहा जाता है। यथा **मधुकोशकार** भी लिखते हैं—

परिणामो यथा-अयोगादियुक्ता ऋतुस्वभावजाः शीतादयः।

परिणाम शब्द से काल समझना चाहिये **चरक** ने भी **सूत्रस्थान** अध्याय **१ में** लिखा है—

"कालः पुनः परिणाम उच्यते"।

अर्थात्—ऋतुओं के अपने स्वभाव के अनुसार होने वाली उष्णता तथा शैत्य आदि के अयोग, मिथ्या तथा अतियोग से जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं उन्हें परिणामजन्य व्याधियाँ कहते हैं। अधर्म भी कालान्तर में दुःख उत्पन्न करता है अतः उसका भी **परिणाम** में अन्तर्भाव कुछ आचार्य करते हैं। किन्तु **चक्रदत्त** इसका **प्रज्ञाऽपराध** में अन्तर्भाव करते हैं। क्योंकि प्रज्ञाऽपराध से ही अधर्म होगा और यह अधर्म दुःख समूह को पैदा करेगा। यही मत उचित भी प्रतीत होता है। इस प्रकार **असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञाऽपराध** तथा **परिणाम** भेद से निदान के ये तीन प्रकार कहे गये।

प्रकारान्तर से अन्य भी कई तरह के भेद निदान के किये गये हैं। इनके विशेष ज्ञान के लिये **माधवनिदान** के **पञ्चलक्षण** के सम्बन्ध में की गयी **मधुकोश** व्याख्या देखनी चाहिये। इस प्रकार व्याधि के ज्ञान कराने वाले निदान पञ्चक में से निदान का वर्णन समाप्त हुआ।

पूर्वरूपः—अहितकर आहार तथा विहार आदि के सेवन से शरीर में दोष वैषम्य को प्राप्त होकर रोग उत्पन्न करते हैं। रोग के लक्षण प्रगट होने के पूर्व कुछ ऐसे लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं जिनसे कि उत्पन्न होने वाले रोग की सूचना मिलती है। उस सूचना को हम **पूर्वरूप** कहते हैं। अर्थात् रोग के वास्तविक लक्षण प्रगट होने के पूर्व जो आगे प्रगट होने वाले रोग को बताने वाले लक्षण या लक्षणसमूह उत्पन्न होते हैं उनको **पूर्वरूप** (Prodrom प्रोड्रोम) कहते हैं।

ये पूर्वरूप दो प्रकार के होते हैं। **१ सामान्य पूर्वरूप** तथा **२ विशिष्ट पूर्वरूप।**

सामान्य पूर्वरूप वह है जिससे दोष तथा दूष्यों के मिलने से उत्पन्न होने वाले लक्षणों का ही पता चलता है। **मधुकोशकार** ने भी कहा है—

"तत्र सामान्यं येन दोषदूष्यसम्मूर्च्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते, न तु वातादिजनितत्वादिविशेषः"

अर्थात्—**सामान्य पूर्वरूप** वह कहा जाता है जिसके द्वारा दोष (वातादि) और दूष्य (त्वचा, मांस, शोणित तथा लसीका) के समिश्रण (सम्बन्ध) से होने वाले ज्वर आदि व्याधियों का ही स्थूल रूप से परिज्ञान होता है। इसके द्वारा यह पता नहीं चल सकता कि अमुक व्याधि अमुक दोष-प्रधान होगा। यथा—**श्रम, आलस्य** आदि भावी ज्वर की ही उत्पत्ति बताते हैं। ज्वर में किन दोषों की प्रधानता तथा किनकी न्यूनता होगी इसको नहीं जाना जा सकता।

विशिष्ट पूर्वरूप वह है जिसमें भावी रोग के लक्षण ही अस्पष्ट रूप में होते हैं। यथा—**उरःक्षत रोग** में वातादि के अव्यक्त लक्षण ही वातादिजन्य उरःक्षत के **विशिष्ट पूर्वरूप** होते हैं। **वाग्भट** ने भी लिखा है—

"प्राग्रूपं येन लक्ष्यते"।

उत्पित्सुरामयो दोष-विशेषेणानधिष्ठितः। लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीनां तद्यथातथम्॥

अर्थात्—सामान्य पूर्वरूप का वर्णन करते हुये वे लिखते हैं—"जिसके द्वारा श्रम आदि से उत्पन्न होने वाला रोग किसी दोष विशेष से असंबद्ध दृष्टिगोचर होता है वह (सामान्य) पूर्वरूप कहा जाता है। इसका उदाहरण यह है। ज्वर के पूर्वरूप में—

"श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः। इच्छा द्वेषो मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु"॥

इत्यादि लक्षणों से केवल यह जाना जाता है कि अब ज्वर आने वाला है। किन्तु यह ज्वर वातज होगा कि पित्तज या कफज इसका अनुमान इससे नहीं होता तथा **विशिष्ट पूर्वरूप** वह है, जिसमें उत्पन्न होने वाले व्याधि के ही लक्षण अस्पष्ट (किञ्चित् व्यक्त) रूप में होते हैं। उदाहरण के लिये ज्वर के पूर्वरूप में ही आगे कहा गया है—

"विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत्" इत्यादि।

जब ज्वर के पूर्वरूप के साथ जंभाई अधिक आती हो तो भावी ज्वर **वातज** होगा, यदि नेत्रों जलन अधिक मालूम हो तो **पैत्तिक ज्वर** उत्पन्न होगा, यदि उस समय में अन्न में विशेष अरुचि मालूम हो तो **श्लैष्मिक ज्वर** की संभावना है। इस प्रकार भावी ज्वर के विषय में **वातज, पित्तज, कफज** ज्वर होगा, इसकी सूचना जिसके द्वारा मालूम हो उसे **विशिष्ट पूर्वरूप** कहते हैं। इस प्रकार दोषों की अभिव्यक्ति तथा अभिव्यक्ति का विचार करके पूर्वरूप के **सामान्य तथा विशिष्ट** ये दो अवान्तर भेद कहे गये।

रूप—पूर्ववर्णित अव्यक्त पूर्वरूप जब पूर्णतया प्रकट होता है तब उसे **रूप** या **लक्षण** कहते हैं। यह रोग का वास्तविक स्वरूप होता है यथा-**ज्वर** में स्वेद का अवरोध (पसीना न आना, ताप की अधिकता तथा सर्वाङ्ग में वेदना ये तीनों लक्षण जिस व्यक्ति में एकत्र पाये जांय उसे **ज्वर रोग** से आक्रान्त समझना चाहिये। तो उपर्युक्त ये तीनों लक्षण ज्वर के **रूप** वा **लक्षण** हुये। इसी प्रकार शरीर में मर्दन के समान पीड़ा, अरुचि, तृष्णा, आलस्य, गुरुता तथा ज्वर, अन्न का न पचना और अंगों में शोथ ये **आमवात** के रूप (लक्षण) हैं।

उपशय—हेतु (निदान) विपरीत, व्याधिविपरीत तथा **हेतु और** व्याधि उभयविपरीत औषध अन्न और विहार का जो सुखप्रद (सुख का अनुबन्ध जिससे रहता है) उपयोग होता है, उसको **उपशय** कहते हैं। अर्थात्–हेतुविपरीत औषध, हेतुविपरीत अन्न तथा हेतुविपरीत विहार, व्याधि-विपरीत औषध, व्याधिविपरीत अन्न तथा व्याधिविपरीत विहार, हेतुव्याधि–उभयविपरीत औषध, अन्न तथा विहार और हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी, हेतुव्याधि–उभयविपरीतार्थकारी औषध, अन्न तथा विहार का जो सुखानुबन्ध (सुखजनक) उपयोग है, उसे **उपशय** कहते हैं। इसी का नाम **सात्म्य** भी है। पाश्चात्य चिकित्सक भी कुछ व्याधियों के सन्देह होनेपर **उपशयात्मक निदान** (Thiraputic test **थिरेप्युटिक् टेस्ट**) कहते हैं। यथा आमवात के सन्देह होने पर यदि **सैलीसिलिक ऐसिड** (Salysylic acid) से लक्षणों में सुधार होवे तो वह व्याधि आमवात ही है इसका निदान हो जाता है। आचार्य **चरक ने भी** कहा है—

"गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्याम्' ऐसी व्याधियां जिनके लक्षण स्पष्ट न हों उनकी **उपशय** तथा **अनुपशय** से परीक्षा कर जानना चाहिये। **उपशय** से व्याधि के लक्षण प्रकट होने के पूर्व भी निदान किया जा सकता है। पित्तप्रधान रोगविशेष के पूर्वरूप प्रकट होने पर जब पित्त-विपरीत औषधों के उपयोग से पूर्वरूप के लक्षणों की तीव्रता या स्वयं लक्षण कम हों उन्हें पित्त-प्रधान रोग समझ सकते हैं। उसको व्याधि के स्वरूप (लक्षण) व्यक्त होने पर यदि प्रयोग किया जाय तो लक्षणों की तीव्रता दूर होकर सुख की प्राप्ति होती है। तथा वह सुख स्थायी (चिरकाला-नुबन्धी) होता है। दाह और तृष्णायुक्त नवज्वर में शीतल जल देने से रोगी को तत्काल सुख होता है पर वह सुखानुबन्धी नहीं होता। उससे व्याधि की उग्रता और भी बढ़ती है वह **उपशय** नहीं हो सकता। **वाग्भट** ने भी लिखा है—

हेतुव्याधिविपर्यस्त–विपर्यस्तार्थकारिणाम्। औषधान्नविहाराणा–मुपयोगं सुखावहम्।
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः॥

(वाग्भट–निदानस्थान–अ० १–सूत्र–६)

उपशय के हेतुविपरीतादि के अनुसार उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

हेतुविपरीत औषध—यथा शीतजन्य ज्वर में शुण्ठी आदि उष्ण ओषधि।

हेतुविपरीत अन्न—यथा श्रमजन्य वातवृद्धि से उत्पन्न हुये ज्वर में रसौदन (मांसरस तथा भात) का प्रयोग।

हेतुविपरीत विहार—यथा दिवास्वप्न से उत्पन्न हुए ज्वर में रात का जागना।

व्याधिविपरीत औषध—यथा अतीसार में पाढ़ आदि स्तम्भक ओषधि, कुष्ठ में खदिर (खैर कत्था) का प्रयोग। ये ओषधियां प्रभाव से व्याधि को नष्ट करतीं तथा व्याधि को उत्पन्न करने वाले दोष को भी नष्ट करती हैं। अन्यथा इधर व्याधि ओषधि से नष्ट की जाती उधर दोष पुनः व्याधि को उत्पन्न कर देता। अतः स्पष्ट होता है कि जो ओषधि व्याधि को दूर करती है वह व्याधि के आरम्भक दोष को भी नष्ट कर देती है।

व्याधिविपरीत अन्न—यथा अतिसार में स्तम्भक मसूर आदि का प्रयोग।

व्याधिविपरीत विहार—तथा उदावर्त्त रोग में प्रवाहण (कुंथन करना, कांखना)।

हेतुव्याधिविपरीत ओषधि—वातज शोथ में दशमूल के क्वाथ का प्रयोग करने से वात भी नष्ट होता है और साथ ही साथ शोथ भी दूर हो जाता है।

हेतुव्याधिविपरीत अन्न—यथा वातकफजन्य ग्रहणी में तक्र का प्रयोग वात तथा कफ को भी शान्त करता है तथा ग्रहणी को भी नष्ट करता है। इसी प्रकार शीत के कारण उत्पन्न हुए वात ज्वर में पेया का प्रयोग करने से पेया के उष्णवीर्य होने से वात दूर होता है तथा प्रभाव से ज्वर भी नष्ट होता है। चरक ने भी लिखा है—

ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात्।

हेतुव्याधिविपरीत विहार—दिन में सोने से बढ़े हुये कफ के कारण उत्पन्न हुई तन्द्रा में रूक्ष तन्द्राविपरीत रात्रिजागरण।

हेतुविपरीतार्थकारी ओषधि—यथा पित्तप्रधान व्रणशोथ में पित्तवर्द्धक उष्ण सेक करना (गुण में दोष से समानता होने पर भी जो औषध, अन्न तथा विहार विपरीत कार्य करते हैं उन्हें विपरीतार्थकारी कहा जाता है)।

हेतुविपरीतार्थकारी अन्न—व्रणशोथ की पच्यमान अवस्था में विदाह उत्पन्न करने वाले अन्न का उपयोग करना।

हेतुविपरीतार्थकारी विहार—यथा वातज उन्माद में भय दिखाना, भय स्वयं वातवर्धक है पर वातजन्य उन्माद में यह लाभ करता है।

व्याधिविपरीतार्थकारी ओषधि—यथा वमन की प्रारम्भिक स्थिति में मदनफल (मैनफल) आदिक वामक ओषधियों से वमन कराना (छर्दि में प्रथम ही वमन को रोकने से हानि होती है उसे मदनफल आदि के क्वाथ पिलाकर निकालना ही सर्वोत्तम होता है।)

व्याधिविपरीतार्थकारी अन्न—यथा अतीसार में शरीर के अन्दर के दोषों को निकालने के लिये दुग्ध से विरेचन कराना।

व्याधिविपरीतार्थकारी विहार—यथा वमन में वमन के पूर्णतया हो जाने के लिये प्रयास (मुख में अंगुली डाल कर) करना।

हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी ओषधि—यथा अग्नि से झुलस जाने पर अगुरु आदि उष्ण औषधों का लेप करना। अथवा विष का नाश करने के लिये विष का प्रयोग करना।

हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी अन्न—यथा मद्यपानजन्य मदात्यय में पुनः मदकारक मद्य का प्रयोग करना।

हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी विहार—यथा व्यायामजन्य सम्मूढ वात में जल में तैरने का व्यायाम करना।

कुछ लोग सन्देह करते है कि—जो ओषधि हेतु (निदान) को नष्ट करती है उसी से व्याधिका भी विनाश होगा फिर व्याधिविपरीत क्यों वर्णन किया गया ? उनका सन्देह ठीक नहीं क्योंकि जो ओषधि दोष को नष्ट करती है उससे ही व्याधिका भी नाश हो जाय ऐसा नहीं होता। यदि दोषों के विनाश से ही व्याधि का नाश होता तो कफगुल्म में वमन तथा लङ्घन जो कफ को नष्ट करने वाले हैं; उनका क्यों निषेध किया जाता ? जैसा कि अन्यत्र कहा है:—

"कफे लङ्घनसाध्ये तु कर्त्तरि ज्वरगुल्मयोः। तुल्येऽपि देशकालादौ लङ्घनं न च शस्यते"॥

इससे स्पष्ट है कि जो जो ओषधि दोष को नष्ट करती है उसके लिये आवश्यक नहीं कि वह रोग

भी नष्ट करे। और जो औषधि व्याधिविपरीत होती है वह तो दोष को अवश्य नष्ट करती है। अन्यथा रोग नष्ट ही नहीं होगा, क्योंकि बचे हुये दोष पुनः व्याधि उत्पन्न कर देंगे। जब औषधि दोष को भी शान्त कर देगी तभी व्याधि की निवृत्ति होगी। विपरीत अर्थकारी का अभिप्राय यह है कि-निदान (हेतु, कारण) का समानधर्मी होते हुये भी व्याधि को दूर करने वाला। यथा पित्तज व्रणशोथ में उपनाह (सेक) करना। यहां पर सेकने से पित्त और भी बढ़ेगा, किन्तु व्रणशोथ में इससे लाभ होगा। पच्यमान व्रणशोथ में विदाह अन्न का सेवन करना भी इसी प्रकार है। इस प्रकार निदान का समानधर्मी होते हुये भी व्याधिका शामक होना **विपरीतार्थकारी** का अर्थ होता है। कुछ लोग शंका करते हैं कि **विपरीतार्थकारी** के उदाहरण में जो उदाहरण दिये गये हैं वे सभी **दोषप्रत्यनीक** ही हैं क्योंकि यदि श्लेष्मा की अधिकता तथा दोषों का बाहुल्य जिसमें हो ऐसी छर्दि में वमन न कराया जाय तो रोग दीर्घ काल (Chronic क्रानिक) तक चलता रहता है। अथवा असाध्य हो जाता है। अतः वहां पर वमन कराना ही सर्वोत्तम है। और यह **दोषप्रत्यनीक** ही है। इसी प्रकार अग्नि से झुलसने पर उष्ण सेक से उस स्थान का जमा हुआ रक्त द्रव होकर अन्य स्थान में चला जाता है। यदि शीतोपचार किया जाय तो रक्त वहां जम जायगा और यदि शीतोपचार भी न किया जाय तो दग्ध स्थान का अग्नि द्वारा प्रकुपित रक्त पाक प्रारंभ कर देगा। इस दूषित रक्त को उष्णता द्वारा द्रव करके स्थानान्तर में भेजना भी **हेतुप्रत्यनीक** ही है। जङ्गम विष ऊर्ध्वगामी तथा मूलज विष अधोगामी होता है। तो जंगम विष से मूलज विष और मूलज विष से जंगम विष जो नष्ट होता है यह भी **हेतुविपरीत** ही है। और मद्यजन्य मदात्यय में जो मद्य आदि दिये जाते हैं वे भी मातुलुङ्ग, चुक्र, आदि मिलाकर पिये जाते हैं जो कि केवल मद्य से पृथक् ही हैं। अथवा रूक्ष, मधु आदि से उत्पन्न मदात्यय में स्निग्ध गौड (गुड़ से बना हुआ) आदि मद्य देना **हेतुप्रत्यनीक** ही है। और सुश्रुत ने उत्तरतन्त्र में जो लिखा है—

"यथा नरेन्द्रोपहतस्य कस्य चिद् भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः।
ध्रुवं तथा मद्यहतस्य देहिनो भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः॥

जिस प्रकार नरेन्द्र का कोपभाजन अपना जीवनदान उस राजा ही से प्राप्त कर सकता है। उसी प्रकार मद्य से रुग्ण व्यक्ति मद्य सेवन से ही आरोग्य लाभ कर सकता है। यहां पर दोनों मद्य मद्यजातीयत्वेन सामान्य हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर रूक्ष मधु आदि मद्य से उन्मत्त व्यक्ति को स्निग्ध गौड आदि मद्य पिलाना **हेतुविपरीत** ही है। अतः पूर्वोक्त **विपरीतार्थकारी** शब्द से कुछ लाभ नहीं ऐसा पूर्वपक्षी ने सन्देह उपस्थित किया ? तो कहते हैं ठीक है पर फिर भी **अवान्तर वैधर्म्य** प्रतिपादनार्थ **विपरीतार्थकारी** पद रखना चाहिये। **अवान्तरवैधर्म्य** उसे कहते हैं जो औषध, अन्न तथा विहार निदान के समान गुण धर्म वाला दीखने पर भी व्याधि को नष्ट करता है, यथा अग्नि से झुलसने से पित्त बढ़ता है। उसे फिर पित्तकारक सेक देते हैं। इस प्रकार अग्निजन्य उष्मा तथा सेकजन्य उष्मा में उष्मा-सामान्य स्पष्ट है। पर कार्य दोनों का भिन्न है। एक ने चर्म को झुलस दिया है दूसरा पूर्व उष्मा से होने वाले विकार को नष्ट कर देगा। यही **अवान्तरवैधर्म्य** है। इसी **अवान्तरवैधर्म्य** का प्रतिपादन करने के लिये **विपरीतार्थकारी** यह पद दिया गया है।

सम्प्राप्तिः—

"यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः॥ (वाग्भट-निदान-अ० १)

निदान के द्वारा दूषित दोष जिस प्रकार से शरीर में फैलकर रोग को उत्पन्न करते हैं, उसको **सम्प्राप्ति** कहते हैं। इसी का नाम **जाति** और **आगति** भी है। यथा ज्वर में वातादि दोष प्रथम आमाशय में जाकर वहां उष्मा के स्थान से उष्मा को बाहर निकाल कर ज्वर को उत्पन्न करते हैं। यह ज्वर की सम्प्राप्ति हुई। सम्प्राप्ति के ५ भेद हैं। जैसा कि **वाग्भट ने** लिखा है—

संख्याविकल्पप्राधान्य-बलकालविशेषतः। सा भिद्यते यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति॥

दोषाणां समवेतानां विकल्पोऽशांशकल्पना।

स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत्॥

हेत्वादिकात्स्न्र्यावयवैर्बलाबलविशेषणम्। नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम्॥

संख्या, विकल्प, प्राधान्य बल तथा काल भेद से संप्राप्ति ५ प्रकार की है। प्रत्येक की व्याख्या इस प्रकार है—

१ संख्या—जिससे रोगों की गणना होती है। यथा आठ प्रकार के ज्वर होते हैं।

२ विकल्प—यह सम्प्राप्ति का वह भेद है जिसके द्वारा एकत्रित दोषों की अंशांश कल्पना की जाय अर्थात् किसी रोग में वात किस अंश तक कुपित है और पित्त किस अंश तक तथा कफ किस अंश तक दूषित हुआ है यह जाना जाय।

३ प्राधान्य—इसके द्वारा व्याधि की स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता का ज्ञान होता है यथा ज्वरातीसार रोग में अतीसार और ज्वर इनमें कौन **स्वतन्त्र** (अनुबन्ध्य) तथा कौन **परतन्त्र** (अनुबन्ध) है इसका निश्चय करना।

४ बल—हेतु; पूर्वरूप तथा रूप इनका पूर्णतया व्यक्त होना व्याधि की प्रबलता का सूचक है मध्यम राशि में व्यक्त होना रोगी की मध्यम दशा को बताता है और यदि निदान, पूर्वरूप आदि अल्प प्रकट हुये हों तो रोग हीन बल है ऐसा समझना चाहिये।

५ व्याधिकाल—रात, दिन, भोजन, ऋतु इनके आदि मध्य तथा अन्त में रोग की उत्पत्ति या वृद्धि देख कर व्याधि वातज, पित्तज वा कफज है इसका निदान होता है। अर्थात् उपर्युक्त भोजन तथा रात आदि में रोग की वृद्धि वा रोग की प्रवृत्ति देखकर दोष का निश्चय करते हैं। यथा दिन, रात, भोजन तथा ऋतु के आदि में आने वाली व्याधि कफज, इनके मध्य में आने वाली पित्तज तथा इनके अन्त में उत्पन्न होने वाली व्याधि वातज होती है। यह निश्चय इस **कालरूप सम्प्राप्ति** से होता है।

दोषों की अंशांशकल्पना से कौन दोष किस अंश तक बढ़ा हुआ है तथा उसके लिये ओषधि किस अंश तक देनी चाहिये इसका निश्चय किया जाता है। इससे चिकित्सा अन्वर्थ कार्य करती है।

दोषों का प्राधान्य निश्चित करने पर जो प्रधान होता है उसकी चिकित्सा की जाती है। साथ ही यह भी ध्यान रक्खा जाता है कि अप्रधान दोष कहीं बढ न जाये। *यथा वात की अधिकता और* कफ की मध्यममात्रा में स्थिति तथा पित्त की न्यूनता में जो चिकित्सा होगा वह इस प्रकार की होगी जिससे वात का तो शमन हो पर साथ की कफ भी न बढने पाये। चिकित्सा के लिये रोग की तीव्रता का भी विचार बहुत आवश्यक है। यदि रोग सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त हुआ हो तो वह असाध्य होगा। यदि रोग के बहुत कुछ लक्षण व्यक्त होंगे तो व्याधि तीव्र है उसके लिये उग्र ओषधि की व्यवस्था करनी पड़ेगी। यदि पूर्वरूप तथा रूप का प्रकट हुये हों तो मृदु ओषधि ही कार्यकर होती है, तीक्ष्ण ओषधि से हानि की सम्भावना रहती है। काल में उत्पन्न होने वाले तृतीयक आदि ज्वरों के आवेग का समय मालूम होने पर उसके प्रतिरोध के लिये पूर्व से ही यत्न करते हैं। इस प्रकार **पञ्चनिदान** का परिज्ञान चिकित्सा की सफलता के लिये अत्यन्त आवश्यक

है। पूर्वोक्त निदान के अतिरिक्त कभी २ किसी रोग से आगे चलकर दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है। ऐसा देखा गया है कि कुछ रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करके स्वयं शान्त हो जाते हैं, तथा कुछ रोग दूसरे रोगों को उत्पन्न करके स्वयं भी बने रहते हैं। रोग से रोगान्तर उत्पन्न होने का उदाहरण है ज्वर के सन्ताप से रक्तपित्त तथा रक्तपित्त से ज्वर का उत्पन्न होना और इन दोनों से यक्ष्मा की उत्पत्ति। प्रतिश्याय (जुखाम) से कास की उत्पत्ति होती है और प्रतिश्याय भी बना ही रहता है। अर्श दूर नहीं होता और गुल्म तथा उदरविकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार कई प्रकार के रोगसमूह दृष्टिगोचर होते हैं। इनके निदान तथा चिकित्सा प्रस्तुत ग्रन्थ में दी गई है। पञ्चलक्षण की सहायता से निदान और चिकित्सा दोनों का सूक्ष्म विवेचन करके चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिये। इसी पर चिकित्सा की सफलता निर्भर है।

विषमज्वरः—

यह रोग जितना सौम्य (साधारण) समझा जाता है, उससे कई गुना अधिक भयानक है। संसार के लक्षाधिक व्यक्ति इसी भयंकर रोग द्वारा कालकवलित होते हैं। संसार का कोई कोना इस व्याधि से मुक्त नहीं है। भारत में हिमालय की तराई, बिहार का पूर्वी हिस्सा, बंगाल, आसाम, मध्यप्रान्त का जंगली प्रदेश, कोचीन, त्रावणकोर आदि स्थानों में अधिक होता है। भारत में यह रोग वर्षा तथा शरद् ऋतु में (अगस्त से दिसम्बर तक) अधिक होता है। कभी २ यह महामारी के रूप में कुछ स्थानों में फैलता है। यथा—पंजाब तथा त्रावणकोर में। केवल भारत से दश-लक्ष मनुष्य प्रतिवर्ष इस महाव्याधि के शिकार होकर मानवलीला समाप्त करते हैं। यह महामारी घातक विषमज्वर के जीवाणु द्वारा उत्पन्न होती है।

यह रोग मच्छर काटने से उत्पन्न होता है। सब प्रकार के मच्छरों से यह रोग नहीं उत्पन्न होता। मच्छरों की **एनाफलीज़** (Anopheles) जाति के मच्छर इस रोग को उत्पन्न करते हैं तथा इस रोग का प्रसार एक प्राणी से दूसरे प्राणी में इसी मच्छर द्वारा होता है।

कारणः—इस रोग को उत्पन्न करने वाला एक जीवाणु है जिसको **प्लाज्मोडियम** (Plasmodium) कहते है। इसकी **तीन प्रधान उपजातियां** हैं। और इनसे **तीन तरह का विषमज्वर** उत्पन्न होता है।

१ **प्लैज्मोडियम वाइवैक्स,** (Plasmodium Vivax) यह तृतीयक ज्वर उत्पन्न करता है।

२ **प्लैज्मोडियम मैलेरी** (Plasmodium Malariae) यह चातुर्थिक ज्वर को उत्पन्न करता है।

३ **प्लैज्मोडियम फैलसीपैरम्** (Plasmodium falciparum) इससे घातक विषमज्वर उत्पन्न होता है।

इसके अतिरिक्त **प्लैज्मोडियम ओवेल** (Plasmodium Ovale) नामका एक चौथे प्रकार के जीवाणु का भी अन्वेषण हुआ है। मच्छर जब मनुष्य को काटता है उसी समय रक्त के अन्दर कुछ जीवाणु विषमज्वर को प्रविष्ट कर देता है। ये जीवाणु मनुष्य के **रक्तकणों** (Red blood Corpuscles-**रेड् ब्लड् कार्पुसल्स्**) को खाकर अपना जीवन निर्वाह करते और बढ़ते रहते हैं। एक जीवाणु एक रक्तकण में प्रविष्ट होता है। रक्तकण को खाता हुआ जीवाणु जैसे२ बढ़ने लगता है वैसे ही उसकी रचना में भी परिवर्त्तन होने लगते हैं अन्त में एक जीवाणु कई छोटे जीवाणुओं में विभक्त हो जाता है। ये छोटे जीवाणु रक्तकण को (जो कि नष्टप्राय रहता है) विदीर्ण कर बाहर निकल आते हैं और नये सिरे से वृद्धि प्रारम्भ करते हैं। पुनः प्रत्येक जीवाणु एक २ रक्तकण को आक्रान्त कर बढ़ता है और फिर एक-एक जीवाणु से कई जीवाणु बनते हैं एवम् अपने उत्पादक जीवाणु के अनुसार बढ़ते

हैं। जिस समय रक्तकण को विदीर्ण करके नये छोटे जीवाणु (Merozoits-**मोरोज़ाइट्स्**) बाहर निकलते और नये रक्तकण पर आक्रमण करते हैं। उसी समय शीत के साथ ज्वर चढ़ता है। जीवाणुओं की संख्या इस प्रकार बढ़ती जाती है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आती है जब कि जीवाणु का इस प्रकार विभजन द्वारा बढ़ना बन्द होने लगता है। इनकी शक्ति कम होने लगती है उस समय इन जीवाणुओं का कुछ परिवर्त्तन होता है और स्त्री और पुरुष व्यवायक में परिवर्त्तित होते हैं। इस अवस्था में जब कोई **एनाफलीज़ मच्छर** रोगी को काटता है तो रोगी के रक्त के साथ मच्छर की शुण्डा से होकर वे आमाशय में पहुंचते हैं। वहां उनकी वृद्धि होती है। इस प्रकार रोगोत्पादक जीवाणु की वृद्धि और संसार में स्थिति के लिये **दो प्रकार के माध्यम** की आवश्यकता होती है। इनमें एक तो है **पुरुष** और दूसरा **मच्छर**। मच्छर के काटने के बाद मनुष्य शरीर में जो कुछ परिवर्त्तन होते हैं उनको **अमैथुनी चक्र** (Asexual) या **सायज़ोगोनी** (or Schizogony) और **व्यवायक** स्थिति में मच्छर के काटने से जब मच्छर के अन्दर जीवाणु प्रविष्ट होता है और उसके शरीर में जो परिवर्त्तन होते हैं उनको **मैथुनी चक्र** (Sexual) या **स्पोरोगोनी** (or Sprogony) कहते हैं।

अमैथुनी चक्र (Asexual or Schizogony) मच्छर दंश के साथ मनुष्य के शरीर में कुछ जीवाणु प्रविष्ट कर देता है। इस प्रविष्ट जीवाणु को **स्पोरोजाइट** (Sporozoite) कहते हैं। इस अवस्था में ये पतले तथा सीधे (सलाई के समान) होते हैं। रक्त में प्रविष्ट होने पर इनका आकार गोल हो जाता है और जब ये रक्तकण में प्रविष्ट होते हैं तो इनके मध्य में **रिक्तस्थान** (Vacuom-**वैकुओम्**) होता है अतः इनकी रचना मुद्रिका (अंगूठी) के समान (Ringfarm–**रिङ्गफार्म**) गोल होती है। रक्तकण को खाकर ये जीवाणु बढ़ते हैं। जिस समय ये पूर्णतया बढ़ चुकते हैं तब इनको **शायज़ोन्ट** (Schizont) कहते हैं। और कण के भीतर **शायज़ोन्ट** कई भागों में विभाजित होता है। इन कणों को (Merozoites **मीरोज़ाइट**) कहते हैं। ये मीरोज़ाइट कुछ समय तक रक्तकण के अन्दर रहते हैं; फिर कण को नष्ट कर बाहर निकल आते हैं। और फिर प्रत्येक **मीरोज़ाइट** एक २ रक्तकण को आक्रान्त करके अपना जीवनचक्र प्रारम्भ कर देता है। कुछ काल के अनन्तर एक ऐसी स्थिति आती है जब कि जीवाणु की विभजन द्वारा वृद्धि करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। और कुछ जीवाणुओं में परिवर्त्तन होता है और वे स्त्री तथा पुरुष व्यवायक का रूप धारण कर लेते हैं। इनको **व्यवायक** या (Gamates-**गैमेट्स्**) कहते हैं। **पुरुषव्यवायक** छोटा होता है इसे **अणुव्यवायक** (Machro-gamete–**माइक्रो गैमेट**) कहते हैं। **स्त्रीव्यवायक** बड़ा होता है इसे **मैक्रोगैमेट** (Machro-gamete) कहते हैं। मनुष्य के शरीर में इनकी इससे अधिक वृद्धि नहीं होती। ये व्यवायक कुछ काल तक शरीर में जीवित रह सकते हैं। किन्तु आखिर में शरीर की (रोगों से) रक्षा करने वाली शक्ति द्वारा ये नष्ट कर दिये जाते हैं।

मैथुनीचक्र या **स्पोरोगोनी** (Sporogony):—इसके अन्तर्गत वे परिवर्त्तन आते हैं जो मच्छर के शरीर में होते हैं। मच्छर के दंश के साथ ही साथ **व्यवायक** (Gametes) भी मच्छर के आमाशय में प्रविष्ट होते हैं। मच्छरों के आमाशयिक रस की क्रिया से व्यवायकों के ऊपर का आवरण गल जाता है। वे रक्तकण से स्वतन्त्र हो जाते हैं और उनमें कुछ विशेष परिवर्त्तन होते हैं। **स्त्रीव्यवायक** के शरीर से केन्द्र निकल जाता है। तथा **पुरुषव्यवायक** के केन्द्र के ५-७ भाग हो जाते हैं। इनका आकार सूत्र के समान होता है। इस समय **स्त्रीव्यवायक**

के शरीर में एक **सूचम छिद्र** बनता है। जिसके द्वारा पुरुष व्यवायकों का केन्द्र भाग जो अब तक **सन्तु (Cell-सेल)** बन जाता है प्रविष्ट होता है। केवल एक ही व्यवायक के प्रवेश करने के बाद स्त्री व्यवायक का छिद्र बन्द हो जाता है। इस संयुक्त जीवाणु को **ज़ायगोट (Zygote)** कहते हैं। फिर यह गतिमान् (**Ookinet-ऊवोकाइनेट्**) होता है। प्रथम यह गोल होता है फिर नुकीला बन जाता है और अपनी नोक से आमाशय की कला को विदीर्ण कर श्लेष्मलकला तथा वक्ष की पेशियों के बीच में रहने लगता है। यहां पर इसका पहला नुकीला आकार बदल जाता है और वह गोल हो जाता है। इसको **"ऊसिस्ट"** (Oocyots) कहते हैं। यह **ऊसिस्ट** भीतर ही भीतर कई सूक्ष्म भागों में विभक्त होता है। इनको **स्पोरोज़ाइट** (**Sporozotie**) कहते हैं। पूर्ण वृद्धि होने पर इसके ऊपर जो एक आवरण रहता है वह नष्ट होता है और ये **स्पोरोज़ाइट** मच्छर के शरीर में फैलते हैं। जब मच्छर किसी स्वस्थ मनुष्य को काटता है तब ये (Sporozoite) स्पोरोजाइट मनुष्य के भीतर प्रविष्ट होकर रक्तकणों को आक्रान्त करते हैं। (Sporozoite) स्पोरोज़ाइट बनने तक की क्रिया **मैथुनीचक्र** के अन्दर आती है। ये **स्पोरोज़ाइट** रक्तकण को आक्रान्त करके किस प्रकार अपना आगे का जीवनचक्र आरम्भ करते हैं इसे हम **असैथुनीचक्र** के वर्णन करते समय कह चुके हैं।

रोग का संक्रमणः—

इसका संक्रमण चार प्रधान मार्गों द्वारा होता है।

(१) **एनाफलीज** के दंश से रोग के जीवाणु मनुष्य शरीर में प्रविष्ट होकर रोगोत्पत्ति करते हैं।

(२) कभी २ गर्भवती स्त्री से गर्भ में बच्चे को इस रोग का संक्रमण पहुँच जाता है।

(३) विषमज्वर से आक्रान्त पुरुष को सूई लगाने के बाद सूई का पूर्णतया विशोधन किये बिना यदि किसी स्वस्थ व्यक्ति को सुई लगाया जाय तो उस व्यक्ति को भी विषमज्वर होता है।

(४) आत्ययिक अवस्था में जब विषमज्वर से युक्त मनुष्य का रक्त किसी स्वस्थ मनुष्य में प्रविष्ट किया जाता है तो इससे भी विषमज्वर उत्पन्न होता है। इनमें मच्छर द्वारा रोग का प्रसार प्रधान है। तथा अन्य प्रसार के मार्ग गौण हैं।

सहायक कारणः—

मच्छरों की वृद्धि में सहायता देने वाले कारण। यथा—

(१) **जलसंचयः**—स्थान २ पर पानी एकत्र होना, वर्षा अधिक होना, मन्द प्रवाह वाले जलाशय, तालाब, गढ़े आदि की अधिकता, धान की खेती, रेल की लाइन (इसको बनाने के लिये जमीन को कुछ ऊंचा करना पड़ता है इसके लिये अगल-बगल की मिट्टी ली जाती है जिससे गढ़े उत्पन्न हो जाते हैं जिनमें पानी रुका रहता है), वायुमण्डल में रहना तथा वायु के तापमान की अधिकता (६० डिग्री फैरनहाइट से ताप का अधिक होना), धान की खेती तथा इसके लिये बनाये गये कुला, नहर इत्यादि। जल के संचय होने से मच्छर जल में अण्डा देता है और इस अण्डे से मच्छर उत्पन्न होते हैं। वर्षा यदि थोड़े समय तक और अधिक वेग से होती रही तो मच्छर के अण्डे बह जाते हैं। इस वर्षा से विषमज्वर के प्रसार का भय नहीं है।

(२) **आर्द्रताः**—वायुमण्डल की आर्द्रता यदि ६३ प्रतिशत से कम हो तो इससे मच्छर की उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार ६० फैरनहाइट से कम तापक्रम भी मच्छरों की वृद्धि के लिये अनुपयुक्त है। तथा १०० डिग्री फैरनहाइट से अधिक उष्णता में भी मच्छरों की वृद्धि नहीं होती। १०० से कम तथा ६० डिग्री या इससे ऊपर के तापक्रम में मच्छरों की वृद्धि होती है।

(३) **दरिद्रताः**—इसके कारण मनुष्य अपनी चिकित्सा नहीं करवा पाता। मशहरी, अच्छा मकान, पौष्टिक आहार आदि से मनुष्य वंचित रहता है।

(४) **चौपायों की कमीः**—मच्छर मनुष्य की अपेक्षा चौपायों को ३३ गुना अधिक चाहता है। इस प्रकार मकान के पास चौपायों को रखने से भी विषमज्वर से रक्षा होती है। विदेशों (इंगलैण्ड, हालैंड आदि यूरोप के देशों) में विषमज्वर कम होता जा रहा है। उस कमी के जितने कारण हैं उनमें चौपायों की वृद्धि एक प्रधान कारण है। भारत से प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में चौपायों का जो नाश होता जा रहा है इससे कृषि, गोदुग्ध, घी, दही आदि में कमी होने के कारण देश की क्षति होती है साथ में विषमज्वर की वृद्धि में भी प्रोत्साहन मिलता है।

(५) **स्थानपरिवर्त्तनः**—रेल, मोटर, वायुयान आदि द्वारा जिस प्रकार सुदूर प्रदेश की यात्रा आसान हो रही है उसी प्रकार रोग का भी प्रसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्रता से हो रहा है। विषमज्वर से आक्रान्त व्यक्ति वायुयान से वा अन्य रेल आदि से सुदूर स्वस्थ स्थान में जाता है। वहां पर यदि परिस्थिति अनुकूल मिली और **एनाफलीज़ मच्छर** भी वहां मिल गया तब इस रोग का प्रसार वहां भी हो जायगा। विषमज्वर ६००० फुट से अधिक ऊंचाई के स्थानों पर नहीं होता।

(६) **आयुः**—बाल्यावस्था में यह रोग अधिक होता है। बाल्यावस्था में जो शिशु रोग से पीड़ित होता है उसके शरीर में ऐसी क्षमता उत्पन्न हो जाती है जो कि युवावस्था में विषमज्वर से बचाती है। पूर्व में कहा जा चुका है कि विषमज्वर के ३ मुख्य जीवाणु होते हैं। जिनके कारण विषमज्वर के ३ प्रकार साधारणतया मिलते हैं। इन तीनों प्रकारों के जीवाणु मच्छरदंश से मनुष्य में प्रविष्ट होते हैं और एक २ रक्तकण को आक्रान्त कर जीवन-चक्र प्रारंभ करते हैं।

पहले कह चुके हैं कि—मच्छर के शरीर में **स्पोरोज़ाइट** बनते रहते हैं तथा दंश के समय प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं। रक्त को आक्रान्त करने से लेकर जीवाणु की वृद्धि तथा उसके विभाग तक की अवस्था एक नियत समय में ही समाप्त होती है। अतः इनके द्वारा उत्पन्न होने वाले ज्वर का समय भी नियत समय ही होता है। यह काल (**स्पोरोज़ाइट** से **मीरोज़ाइट** बनने का काल) **तृतीयक ज्वर में ४८ घंटे** का तथा **चतुर्थक ज्वर में ७२ घंटे** का होता है। कणों का नाश करके जब जीवाणु बाहर लसीका में आते हैं तब शीत, कंप तथा ज्वर मालूम होता है। **घातक** (Malignant **मैलिग्नैन्ट**) प्रकार में यह काल **२४ घंटे से ४८ घण्टे** का होता है। किन्तु इस प्रकार में सब **मीरोज़ाइट** एक ही समय में रक्तकण से बाहर नहीं निकलते। समय २ पर इनका समूह निकला करता है। इससे ज्वर प्रायः सदा कुछ न कुछ बना रहता है। इसे प्रतिदिन आने वाला विषमज्वर **(अर्धविसर्गी विषमज्वर)** कहते हैं। कभी-कभी इनका एक चक्र (आवेग) समाप्त होने के पूर्व दूसरा आवेग आ जाता है। इससे ज्वर दिनभर में दो बार आ जाता है। इसे (क)**सतत** प्रकार कहते हैं।

विषमज्वर के दो और भी प्रकार होते हैं। **अन्येद्युष्क** जो तृतीयक जीवाणु के दो स्वतन्त्र **संक्रमण** (Infection इन्फेक्शन) लगातार दो दिन होने से उत्पन्न होता है। तथा **चातुर्थिक-विपर्यय** जो चातुर्थिक जीवाणु के दो स्वतंत्र वंशविस्तार (Broods-ब्रूड्स) लगातार दो दिन होने से उत्पन्न होता है। इन दोनों प्रकारों के लिये कोई पृथक् प्रकार के जीवाणु नहीं होते हैं। शरीर में जीवाणु यद्यपि ज्वरमुक्त होने की स्थिति के पूर्व सर्वदा विद्यमान रहते हैं। पर जीवाणुओं के कणों से बाहर आने के समय ही उत्पन्न होता है। इससे प्रकट है कि ज्वरोत्पत्ति जीवाणुओं की उपस्थिति से नहीं होती बल्कि जीवाणु जब रक्तकण का नाश कर लसीका में आते हैं उस समय उनके साथ कुछ विष भी (या **विजातीय प्रोटीनजाति का द्रव्य**) लसीका में मिल जाता है। इसी के कारण ज्वरोत्पत्ति होती है।

(क) दिवामध्ये सततको द्वौ कालावनुवर्त्तते।

लक्षण :—मच्छर के काटने के और विषमज्वर की उत्पत्ति के बीच में कुछ काल होता है। इस अवस्था में जीवाणु ज्वरोत्पत्ति के प्रयत्न में लगे रहते हैं। पर उस समय तक ज्वर उत्पन्न नहीं होता। यह प्रत्येक रोगों के सम्बन्ध में होता है। इस काल को **सञ्चयकाल** कहते हैं। यह संचयकाल विषमज्वर के प्रत्येक प्रकार के लिये भिन्न २ होता है। **तृतीयक संचयकाल-१३-१८ दिन, चतुर्थक १८ से २१ दिन** का तथा **घातक प्रकार के विषम ज्वर में संचय काल ३ से १३ दिन** का होता है। ज्वर उत्पन्न होने के पहले आलस्य, जृम्भा अङ्गमर्द, शिरःशूल, क्षुधानाश, वमन ये पूर्वरूप होते हैं। इसके बाद रोगी को ठंढ लगती है इसकी अवधि साधारणतया २ घंटे की होती है। एक घंटे के बाद ज्वर चढ़ता है जो कि एक घंटे से ६ घंटे तक रहता है। इसके बाद पसीना होकर ज्वर उतर जाता है। ज्वर का आवेग प्रायः आधी रात से लेकर दोपहर तक आता है, कभी तीसरे पहर भी ज्वर का आवेग आता है। ज्वर ६ से १२ घंटे तक रह सकता है।

ज्वर के प्रकार:—तीसरे दिन आने वाला ज्वर **तृतीयक (Tertian-टर्शियन)** और चौथे दिन आने वाला ज्वर **चातुर्थिक (Quartan-क्वार्टन)** कहलाता है। **घातक विषम ज्वर** में ज्वर एक बार आकर कई दिन तक वर्त्तमान रहता है। तृतीयक जीवाणु के दो स्वतन्त्र वंशविस्तार लगातार दो दिन चलने से **अन्येद्युष्क ज्वर** तथा **चतुर्थक** ज्वर के दो स्वतन्त्र वंशविस्तार लगातार दो दिन होने से **चातुर्थिकविपर्यय** होता है। इन ज्वरों के उत्पन्न होने के पूर्व जो शीत की अवस्था होती है उसके स्थान पर बच्चों में आक्षेप आते हैं।

तृतीयक ज्वर के प्रारम्भ में जीवाणुओं की मात्रा रक्त में कम होती है अतः रक्तपरीक्षा के समय उनका मिलना कठिन होता है। **तृतीयक ज्वर** में चिकित्सा न की जाय तो ज्वर कुछ समय तक (२-३ सप्ताह तक) आता है। फिर धीरे २ कम होता जाता है अन्त में बन्द हो जाता है। कभी २ इसका पुनरावर्त्तन होता (पुनः ज्वर लौट आता) है। इस समय भी यदि चिकित्सा न की जाय तो दुर्बलता तथा रक्तहीनता बढ़ती है। एवं प्लीहा भी बढ़ती है। मृत्यु इस प्रकार में निमोनिया, अतीसार आदि उपद्रवों से होती है। और सर्दी लगना, पानी में भीगना, शक्ति से अधिक परिश्रम करना तथा शस्त्रकर्म से इस ज्वर के पुनरावर्त्तन होते हैं।

चातुर्थिक ज्वर :—ठीक चौथे दिन और नियत समय पर आता है। ज्वरयुक्त अवस्था भी तृतीयक से कम होती है। रोगी ज्वरवेग के अतिरिक्त काल में अपने साधारण कार्य करता रहता है। चिकित्सा न करने पर यह अधिक समय तक जारी रहता है। इस काल की अवधि ६ साल तक हो सकती है। कुनैन देने से रोग की तीव्रता कम होती है पर रोग का निर्मूल इससे नहीं होता। अन्य प्रकारों की अपेक्षा **आन्तरिक वृक्कशोथ** या **पैरेन्काइमेटस नेफ्राइटिस** (Paranchimatus nephritis) अधिक होता है। मृत्यु तृतीयक की अपेक्षा कम होती है।

घातक विषमज्वर :—इसमें ज्वर का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता। प्रारम्भ में ज्वर धीरे २ बढ़ता है। ज्वरवेग का काल इसमें बहुत अधिक (२४ घंटे से भी अधिक) होता है। यह ज्वर प्रायः पूर्ण विसर्गी होता है। प्रति तीसरे दिन ज्वर का आवेग आता है और फिर कुछ समय तक बना रह कर पूर्णतया उतर जाता है। इसलिये इसे **घातक तृतीयकज्वर** (Malignant tertian) कहते हैं। ज्वर दिन रात में दो बार चढ़ता है। ज्वर चढ़ने के पूर्व इसमें जाड़ा तथा कम्प आदि बहुत कम मालूम होता है। प्लीहा रोग के प्रारम्भ में बढ़ी नहीं मालूम होती है। कभी-कभी प्लीहा स्पर्शलभ्य होने के पूर्व ही मृत्यु हो जाती है। इसमें वमन, अन्न में रुचि न होना, कामला, प्रलाप, बेहोशी आदि लक्षण अधिक तथा रोग के प्रारम्भ से ही होते हैं। यदि इसकी चिकित्सा न की जाय तो ज्वर धीरे-धीरे कम होता है। ८-१० दिन ज्वर बिलकुल ही

नहीं आता इसके बाद ज्वर फिर चढ़ता है। इस प्रकार के पुनरावर्त्तन ४ या ५ तक हो सकते हैं। रक्तकणों का नाश इसमें बहुत अधिक होता है तथा मूत्र कृष्णवर्ण का होता है। इसको **कालमेह ज्वर** (Black-Waterlfever) कहते हैं। तथा और भी अति तीव्र सन्ताप, आक्षेप आदि उपद्रव अधिक होते हैं। जिससे इस प्रकार भी मृत्यु अधिक होती है। इस प्रकार की महामारी भी फैलती है। उसका समय ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु है। यह ज्वर कुनैन से जल्दी शान्त नहीं होता किन्तु जब अच्छा हो जाता है तब इसके पुनरावर्त्तन भी नहीं होते हैं।

संक्षेप में विषमज्वर के निम्न लक्षण होते हैं—

१ शीत :—तृतीयक तथा **चातुर्थिक** ज्वर में शीत अधिक तीव्र होता है। **घातक विषम ज्वर** में शीत (जूड़ी) वेग से नहीं मालूम होता।

२ **ज्वर :**—यह कभी २ अत्यधिक होता है। १०७ डिग्री तक ज्वर चढ़ सकता है। इस स्थिति में इसे उपद्रव कहते हैं। यह उपद्रव तृतीयक तथा चातुर्थिक ज्वरों में अधिक होता है।

३ प्लीहावृद्धि :—प्रारम्भ में प्लीहा बहुत थोड़ी बढ़ी रहती है। परीक्षा करने पर उसका नीचे का किनारा मालूम पड़ता है। ज्वर के समय प्लीहा में रक्ताधिक्य होता है इसलिये प्लीहा कुछ बढ़ जाती है। फिर पूर्ववत् हो जाती है। जब रोग पुराना हो जाता है तब प्लीहा की अधिक वृद्धि होती है। जीर्णज्वर के साथ प्लीहा बढ़ी हुई मिलने पर विषमज्वर का ध्यान रखना चाहिये। विषमज्वर में प्लीहा भंगुर होती है। कभी-कभी थोड़े ही आघात से या बिना आघात के ही फट जाती है।

४ यकृत् की वृद्धि और कामला :—२० प्रतिशत रोगियों में यकृत् बढ़ा हुआ मिलता है। यह दुष्ट प्रकार में और विशेष करके बच्चों में होता है। किन्तु प्लीहा की अपेक्षा यकृत् कम बढ़ता है। कामला विषमज्वर में रोग के उत्पन्न होने के बाद थोड़े ही समय में दिखाई पड़ती है।

५ पाचन-संस्थान के लक्षण :—जीभ मैली, मुख में बदबू, मुख का स्वाद कड़वा, हृल्लास, तथा वमन होता है। ग्रहणी (Deodinum-डीओडिनम्) में शोथ होने से **कामला** उत्पन्न होता है। **अन्त्र में शोथ** उत्पन्न होने से **अतीसार** या **हैजा** के समान पतले दस्त होते हैं। कभी-कभी अंत्र में रक्तस्राव भी होता है।

६ रक्तवह-संस्थान के लक्षण :—हृदय दुर्बल, नाड़ी शीघ्रगामिनी, कभी २ मन्द (विषमज्वर के विष का परिणाम वागस नाड़ी पर पड़ने से) होती है।

७ मूत्र—ज्वरयुक्त अवस्था में मूत्र कम मात्रा में तथा गहरा होता है। इसकी गुरुता अधिक होती है। ज्वरविरहित अवस्था में मूत्रअधिक मात्रा में तथा स्वच्छ होता है और **मूत्र की गुरुता** (Specific gravity-स्पेसिफिक् ग्रेविटी) कम होती है। इसके अतिरिक्त **त्वचा** कृष्ण, पीत या खाकी वर्ण की होती है। **ओष्ठ** तथा **नासिका** के पास **विस्फोट** (Herpes-हेर्पीज,), पैर की अंगुलियों में **बेवाई** (Chilblain-चिल्ब्लेन); शरीर पर चकत्ते (Urticaria-आर्टिकेरिआ) ये लक्षण होते हैं। सिरदर्द ज्वर के प्रारम्भ में अवश्य होता है।

घातक विषमज्वर के कुछ परिवर्त्तित रूप भी दिखाई पड़ते हैं जो कि अत्यन्त भयावह होते हैं। वे निम्नलिखित हैं—

१ मस्तिष्कगत विषमज्वर (Ceribral Malaria-सेरिब्रल मलेरिया)।
इसमें पक्षाघात तथा **संन्यास** (Coma-कोमा) आदि लक्षण होते हैं।
२ अति तीव्र सन्ताप (Hyper pyrexia-हाइपर पाइरेक्सिया)

इसमें ज्वर शीघ्र ही १०७ डिग्री तक बढ़ता है। और अधिक से अधिक १११ डिग्री तक जा सकता है।

३ आमाशयिक प्रकार :—(Abdominal-ऐब्डामिनल) **इसमें** अतीसार वा विसूचिका के लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा **पित्ताशयशोथ** और **आन्त्रपुच्छशोथ** के समान उदर विभाग में शूल होता है।

४ हृदय तथा रक्तवहसंस्थानगत प्रकार (Cardio...Vascular-**कार्डिओ वैस्कुलर**)—, इसमें हृदय का कार्य ठीक नहीं होता, उसकी गति की नियमितता में फर्क होता है। हृदय का विस्फार तथा **हृत्कार्यावरोध** (Syncope-**सिन्कोप**) होता है।

५ शीताङ्ग विषमज्वर (Sudoral-**स्युडोरल**)—

इसमें स्वेद बहुत अधिक निकलता तथा **अवसाद** (Colaps-**कोलैप्स्**) के लक्षण होते हैं। यथा स्वेद की अधिकता, त्वचा की शीतलता, मन्द दुर्बल नाड़ी, हृल्लास, वमन, उथली तथा तेज सांस। इसके अतिरिक्त कामलायुक्त सन्ततज्वर भी होता है। इसमें कामला के लक्षण होते हैं। शरीर में तथा नेत्रों में पीलिमा होती है। **पित्त के लवण** (Bile-saltes **बाइल-साल्टस्**) तथा **पित्त के रङ्ग द्रव्य** (Bile pigments **बाइलपिग्मेण्ट्स्**) मूत्र के अन्दर पाये जाते हैं। मल का रंग काला होता है।

विषमज्वर को अन्य ज्वरों से पृथक् करना चाहिये। कुनैन की पूर्णमात्रा (५ रत्ती=१० ग्रेन) दिन में तीन बार सेवन करने से ज्वर ३६ से ७२ घंटे में अवश्य उतरना चाहिये। यदि ज्वर इससे न उतरे तो कहा जा सकता है कि यह विषमज्वर नहीं है। प्रथम सप्ताह में प्लीहा नहीं बढ़ी रहती किन्तु दूसरे सप्ताह में स्पर्शलभ्य होने लगती है। **जीर्ण विषमज्वर में** तो प्लीहा अवश्य बढ़ी मिलती है। प्लीहा की अपेक्षा यकृत की वृद्धि कम होती है। रक्त की कमी, त्वचा पर पीलिमा आदि लक्षण निदान में सहायक होते हैं। पर इसका निश्चित निदान रक्तपरीक्षा द्वारा होता है। रोगी के रक्त का बूंद कांच की पट्टी पर लेकर रंजित करके सूक्ष्मदर्शक से परीक्षा करने पर विषम-ज्वर के जीवाणु दिखाई पड़ते हैं। घातक प्रकार में जीवाणुयुक्त रक्त का कण रक्तकण के समान ही होता है। पर तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर में कण का आकार बढ़ता है। जीवाणुओं की परीक्षा किसी **पैथालोजिष्ट** (Pathologist) से करवानी चाहिये। रक्त के भीतर विषमज्वर के जीवाणुओं का मिलना विषमज्वर का सब से विश्वसनीय लक्षण है।

साध्यासाध्यता (Prognosis-**प्राग्नोसिस**)-कुनैन वा अन्य अव्यर्थ ओषधियों के प्रयोग से यह रोग कभी भी घातक नहीं हो सकता। इस चिकित्सा के न करने पर रोग की तीव्रता तथा जीवाणुओं की घातकता के अनुसार रोग साध्य या असाध्य होता है। चतुर्थक सब से कम घातक होता है। तृतीयक कभी २ तथा घातक तृतीयक विषमज्वर और इसके और घातक भेद (मस्तिष्कगत आदि) प्रायः घातक होते हैं। बालकों और दुर्बलों में तथा अतीसारादि से युक्त होने पर विषम ज्वर असाध्य होता है। इसके निम्न उपद्रव होते हैं :—

चिरकालीन प्रकार में और बार-बार रोग के पुनरावर्त्तन से शरीर कृश होता जाता है। कामला के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। प्लीहा बढ़ती है, वह इतनी भङ्गुर होती है जो कि साधारण आघात से ही विदीर्ण हो जाती है। कमजोरी के कारण निमोनिया, अतीसार आदि उपद्रव स्वरूप में उत्पन्न हो जाते हैं और मृत्यु होती है। **प्लैज्मोडियम फैल्सीपैरम** के कारण उत्पन्न हुये विषम ज्वर में **कालमेह ज्वर** (Black-water fever **ब्लैक वाटर फीवर**) होता है। चातुर्थिक ज्वर में वृक्कशोथ तथा सर्वाङ्गशोथ उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्कक्लान्ति (Neurasthenia

न्यूरस्थीनिया) उन्माद विषण्णता (Malancholia मेलनकोलिया), स्मृतिनाश-एकाग्रशक्ति का नाश, सव्रण शुक्र (Carneal Ulcer कार्निअल अल्सर), तारामण्डल शोथ (Neuralgic Iritis न्यूरल्जिक् आइराइटिस), वन्ध्यता, गर्भपात की प्रवृत्ति, विविध वातनाडियों के शूल (Neuralgia न्यूरल्जिआ), शोथ तथा अर्धावभेदक आदि विविध प्रकार के शिरःशूल।

चिकित्सा—पाश्चात्य शास्त्रज्ञों के अनुसार विषम ज्वर की ३ प्रचलित ओषधियां हैं—**कुनैन प्लैज्मोकीन (या प्लाज़्मोचीन)** तथा **एटेबिन** अन्तिम दोनों ओषधियां जर्मन विद्वानों द्वारा सन्निकट भूत में आविष्कृत हुई हैं। रोगी को शय्यारूढ करना चाहिये। **कैलोमल** ५ ग्रेन अथवा **मैग-सल्फ** (Mag sulph) २ **औंस** गरम पानी में घोलकर उससे कोष्ठशुद्धि करना चाहिये और विबन्ध दूर करना चाहिये। कुनैन के कई योग बाजार में मिलते हैं। पर उनमें **कुनैन सल्फ तथा कुनैन बाई हाईड्रोक्लोराइड** अधिक प्रचलित हैं तथा अन्तिम ओषधि कुनैन के सभी योगों से अधिक प्रभावशाली है।

इसकी मात्रा १० ग्रेन (५ रत्ती) दिन भर में ३ बार देना चाहिये।

सुबह के भोजन के बाद इसे देना प्रारंभ करें तथा शाम तक ३ खुराक दे देवें।

इस प्रकार एक सप्ताह तक चिकित्सा चलानी चाहिये।

फिर दूसरे सप्ताह में १० ग्रेन (५ रत्ती) दिन में दो बार देना चाहिये। इसके बाद एक मास तक १० ग्रेन दिन में एक बार देते रहना चाहिये। इससे रोग निर्मूल हो जाता है। घातक विषमज्वर, मस्तिष्कगत प्रकार तथा वमन की अधिकता होने पर **कुनैन बाई हाइड्रो क्लोराइड** का घोल बनाकर सुई भी दी जाती है। घोल के लिये परिस्रुत जल लेना चाहिये। द्रव इस प्रकार होवे कि एक सी० सी० जल में १ ग्रेन कुनीन पड़े। इस विलयन में से १० सी० सी० लेकर शिरा में सूची द्वारा (By injection–**बाई इञ्जेक्शन**) प्रविष्ट करना चाहिये। ओषधि बहुत धीरे २ प्रविष्ट करना चाहिये। यह मात्रा पूर्ण युवा के लिये है। आयु तथा शरीर की दुर्बलता आदि को देख कर मात्रा कम की जा सकती है। बच्चे आयु का ख्याल करने पर युवा पुरुष की अपेक्षा अधिक मात्रा बरदास्त कर सकते हैं। कुनैन से जीवाणु के **शायज़ोन्ट्स** (Schizonts) पर अधिक कार्य कर नष्ट करते हैं। पर स्त्री और पुरुष व्यवायकों पर इनका कार्य नहीं होता तथा **स्पोरोज़ाइट** को नष्ट नहीं करता। कुनैन उष्ण ओषधि है। अधिक मात्रा में तथा आवश्यकता से अधिक काल तक सेवन करने से निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं। इन लक्षणों को (Sinchonism) **सिन्कोनिज्म** के नाम से पुकारते हैं। वे लक्षण ये हैं:—

हृल्लास, वमन, सिरदर्द, कानों में शब्द, बधिरता, चक्कर, अन्धता, नाक तथा गर्भाशय से रक्तस्राव, त्वचा पर कण्डू, शीत-पित्त आदि कुनैन के अतियोग से उत्पन्न होते हैं। अत्यधिक मात्रा से बेहोशी, प्रलाप, आक्षेप, सर्वाङ्गवात, नाडी तथा हृदय की क्षीणता, शीघ्रता तथा अवसाद होकर मृत्यु भी हो सकती है। इन लक्षणों में से यदि कुछ भी प्रारंभ होते दिखाई पड़ें तो कुनैन बन्द कर देना चाहिये। ओषधि बन्द करते ही उक्त लक्षण बन्द हो जाते हैं। इस **कुनैनिज्म** से बचने के लिये कुनैन के साथ **हाइड्रोब्रोमिक एसिड** (१ ग्रेन कुनैन के लिये १ या २ बूँद) मिलाकर प्रयोग करना चाहिये।

कुछ व्यक्ति कुनैन को बिलकुल ही सहन नहीं कर सकते, कुनैन खाते ही वमन हो जाता है। इस स्थिति को **कुनैन असह्यता** (Quinine idio syncrasy **कुनीन इडिओ सिन्क्रैसी**) कहते हैं। इसमें कुनैन खाने पर वमन तो होता ही है साथ में त्वचा पर लाली, चकत्ते, उग्र कण्डू, विस्फोट, ज्वर, वमन, हृल्लास, चक्कर आना, त्वचा, अन्त्र तथा वृक्क में रक्तस्राव वगैरह लक्षण उत्पन्न

हो जाते हैं । असह्यता की परीक्षा के लिये त्वचा को सुई आदि से कुछ खरोंच कर उस पर कुनीन का (१-१० से १-१०० का) घोल लगाने से त्वचा पर लाली तथा शोथ उत्पन्न होता है जो कि साधारण मनुष्य में नहीं पाया जाता है । कुनैन के सेवन से **एल्बुमिन मेह** उत्पन्न होता है। रोग के पुनरावर्त्तनों से बचने के लिये रोगी को शिक्षा देनी चाहिये कि वह शीत ठंडे पानी में स्नान, शक्ति से अधिक परिश्रम इनका परित्याग करे ।

प्लैज्मोक्वीन से घातक विषमज्वर के स्त्री और पुरुष व्यवायक नष्ट होते हैं । पर इसका **शायजोण्ट** पर कुछ कार्य नहीं होता । सामान्य तृतीयक ज्वर में दोनों (व्यवायक तथा शायजोन्ट) इससे नष्ट होते हैं । इसको कुनैन के साथ देना अत्युत्तम है । आज कल **प्लैज्मोक्वीन को** (Plasmo. Quinine co) नाम से ओषधि आती है जिसकी एक वटी (Trblet-**टबलेट**) में कुनैन सल्फ २ ग्रेन, तथा प्लैज्मोक्वीन $\frac{1}{6}$ ग्रेन रहता है । इसकी ६ वटियां प्रतिदिन के हिसाब से ६ दिन तक देनी चाहिये । बीच में ४ दिन का अन्तर देकर फिर प्रारम्भ करना चाहिये । इस प्रकार ५ बार इस ओषधि का प्रयोग ४ दिन का बीच में अन्तर देकर करना चाहिये ।

इसके दुर्गुण :—विष तथा आमाशय के लक्षण तथा त्वचा की अस्थायी नीलिमा उत्पन्न होती है । **एटेब्रिन शायजोण्ट** को कुनैन की ही भांति नष्ट करती है । इसकी मात्रा ४$\frac{1}{2}$ ग्रेन प्रतिदिन के हिसाब से ५ दिन तक देनी चाहिये । या प्रतिदिन ३ ग्रेन के हिसाब से ९ दिन तक देना चाहिये । इसके लेने के समय त्वचा का वर्ण पीला हो जाता है इसमें विशेषता यह है कि जिन अवस्थाओं में कुनैन को शरीर बरदास्त नहीं कर सकता **एटेब्रिन** उस दशा में भी दी जाती है । तथा कालमेहज्वरयुक्त ज्वर में इससे विशेष लाभ होता है । घातक तृतीयक विषमज्वर **एटेब्रिन** को **प्लज्मोक्वीन** के साथ मिलाकर देना चाहिये । मस्तिष्कगत विषमज्वर के लिये आजकल **एटेब्रिन** का एक घुलनशील योग मिलता है इसे **एटेब्रिनम्यूसोनेट** (Atabrin musonate) कहते हैं । इसकी पूर्णमात्रा मांसपेशीद्वारा इञ्जेक्शन देने के लिये ०३ ग्राम है । सुई बड़ी सतर्कता के साथ देनी चाहिये । चिकित्सक की देख रेख में इसकी (Injection) सुई देनी चाहिये ।

काला आजार (Kala-Azare—

यह एक चिरकालीन ज्वर है चीन, हिन्दुस्तान, आसाम तथा अदन में पाया जाता है । इसमें प्लीहा तथा यकृत् बढ़ते हैं । रक्तहीनता, शरीर की क्षीणता तथा अनियमित ज्वर जो बहुत समय तक चलता रहता है पाया जाता है ।

कारण—इसका कारण **लीशमन डोनोवन बाडी** (Leishman Donovan body) है । यह परिभ्रमण करने वाले रक्त तथा **रेटिकुलो एन्डोथीलियल** तन्तु और अस्थिमज्जा के भीतर पाया जाता है । इसका संवहन **फ्लैबोटीमस अर्जेण्टिपिस** नाम्नी मरुमक्षिका द्वारा होता है ।

लक्षणः —

संचय काल—यह एक से ६ मास तक हो सकता है । तथा इस रोग का आक्रमण ज्वर के साथ होता है । रोग की निम्न विशेषताएँ हैं—

(१) सन्तत या सतत स्वरूप का ज्वर होता है, ज्वर दिन में दो बार चढ़ता है । भोजनोत्तर तथा शाम को ज्वर बढ़ता है ।

(२) रक्तहीनता, यकृत् तथा प्लीहावृद्धि, त्वचा का वर्ण काला होना, नासा, मसूड़े आदि से तथा त्वचा से रक्तस्राव, उदरवृद्धि, जलोदर, कृशता, उदरभित्ति पर शिराओं का स्पष्ट होना, तथा इनका विस्तृत होना, शरीर में शोथ, खांसी, अतीसार, रात्रिस्वेद, हृदय की धड़कन, श्वासकृच्छ्र, रक्तभार में कमी, स्त्रियों में नष्टार्त्तव, बलक्षय आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

(३) प्लीहा में वृद्धि होती है। प्लीहा प्रथम मुलायम मालूम होती है पर स्पर्शनाक्षम नहीं होती। इसके बाद वृद्धि अधिक होती जाती है और प्लीहा भी कठिन होती है। तौल में अत्यन्त शीघ्रता से कमी होती है तथा रोगी देखने में अत्यन्त क्षीण होता जाता है।

(४) रक्त की कमी होती है। श्वेतकणों की संख्या भी कम होती है। रक्त के अन्दर श्वेत कण ६ से १२ हजार एक क्यूविक **मिलीमीटर** में साधारण होते हैं। इस रोग में इसकी मात्रा घटकर २००० से ५००० तक रह जाती हैं। तथा अपेक्षाकृत **लिम्फो (१) साइट** और **मानो (२) साइट** बढ़ते हैं। और **(३) न्यूट्रोफिल** कम होते हैं। **(४) इयोसिनोफिल** का पूर्णतया अभाव होता है। **फार्मेल्डी हाइड** परीक्षा व्यक्त मिलती है। कृशता के कारण कभी २ **इन्फ्लुयेञा, न्यूमोनिया** आदि रोगों का आक्रमण होता है। तथा रोग के बाद में त्वचागत **काला आजार** (Dermal Leishmaniasis **डर्मल लीश्मिनियेसिस्**) भी उपद्रव के रूप में हो सकता है।

इसको **ल्यूकीमिया, सिस्टोसोमियेसिस, चिरकालीन विषमज्वर, आवर्तकज्वर** तथा **आन्त्रिक ज्वर** से पृथक् करना पड़ता है।

रोग का निश्चय करने के लिये पूर्ववर्णित लक्षणों को ध्यान में रखना चाहिये। संशय उपस्थित होने पर रसायनशाला (Laboratory **लेवोरेटरी**) की शरण लेनी चाहिये। इसके लिये दो प्रकार से परीक्षा की जाती है।

(१) एल्डेहाइड टेस्ट (परीक्षा) (Aldehid test)—

इन्जेक्शन देने वाली पिचकारी से रोगी की शिरा से ४ से ५ सी. सी. तक रक्त निकाल ले इसे एक परीक्षानलिका में रख छोड़ें। जब पानी की तरह लसीका ऊपर निथर जाय तब इसमें से १ सी. सी. लसीका एक परीक्षानलिका में लेकर उसमें **फार्मेलीन** के दो बूंद छोड़ें। नलिका को खूब हिला लें। काला आजार से पीड़ित होने पर लसीका; श्वेतवर्ण, लसदार घन बन जाती है। श्वेतवर्ण के साथ में अपारदर्शकता अधिक महत्त्व का है। यह विधि विश्वसनीय तथा सस्ती है। पर यह ज्वर के प्रारंभ होने के २½ मास के बाद व्यक्त होती है। तथा पूर्ण व्यक्त ६ मास बाद होती है। जब कि चिकित्सा से कुछ भी लाभ की आशा नहीं रह जाती।

(२) **यूरिया स्टेवीमाइन परीक्षा**—एक छोटी नलिका में ½ सी० सी० लसीका लेकर **यूरिया स्टेवीमाइन** का परिस्रुत जल में बनाया गया ४ प्रतिशत घोल १ सी० सी० वेग से लसीका पर डालें जिसमें दोनों द्रव मिल जावें। परीक्षा व्यक्त होने पर दोनों के मिलने के स्थान पर अपारदर्शक श्वेत अवक्षेप बनता है।

(३) **चोप्रा की विलयन परीक्षा**—यह उपर्युक्त प्रकार से ही होती है, केवल लसीका एक भाग तथा लवण जल ९ भाग मिलाकर इस मिली हुई लसीका के मिश्रण का लसीका के स्थान पर प्रयोग होता है।

(४) **नेपियर की परीक्षा**—(Napier's test **नेपियर्स टेस्ट**)—

इसमें ½ प्र० श० **यूरिया स्टेवीमाइन** का घोल २ सी० सी० लेकर इसमें लसीका दो बूंद छोड़ते हैं। परीक्षा व्यक्त होने पर १० मिनट में ज्यादे से ज्यादे दो घंटे में हल्का श्वेत अवक्षेप बनता है। वहां से रक्त निकाल कर काच पट्टी पर लेप करके रंजित कर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने पर इसके जीवाणु दिखाई पड़ते हैं।

१-२-३-४ ये रक्त के अन्दर पाये जाने वाले कण हैं इनका विवरण शारीरिक प्रकरण में रक्त का वर्णन करते समय किया है।

चिकित्सा—इसके लिये **यूरिया स्टोचोमनेस्टिवोसन** तथा **नियोस्टिवोसन** बहुतायत से तथा सफलतापूर्वक व्यवहृत होते हैं। इन तीनों की मात्रायें २ ग्राम से ३ ग्राम तक हैं। इसके ८ से १५ इन्जेक्शन दिये जाते हैं। प्लीहा के आकार में कमी तथा अन्य ज्वर आदि लक्षणों की कमी ६ मास तक यदि स्थिर रहे तो रोग-निवृत्ति समझना चाहिये। जहां पर मुख के भीतर शोथ तदनन्तर कोथ आदि लक्षण शुरू हों (Cancrum-oris **कैङ्क्रम ओरिस**) तो न्यूक्लियोटिड का (Nucleotide K 36) इन्जेक्शन तुरन्त देना चाहिये। विषमज्वर का भ्रम इस रोग के साथ हो जाता है अतः इसका विवरण यहां कर दिया गया है।

श्वसनकज्वर या कर्कट सन्निपात (Lober Pneumonia **लोबर न्यूमोनिया**)—

यह एक अत्यन्त तीव्र औपसर्गिक रोग है जो कि "डिप्लो कोकस न्यूमोनिया (Diplo coccu-spneumonia) नामके जीवाणु के कारण उत्पन्न होता है। इस जीवाणुकी ४ जातियां हैं, जिसमें से ३ तो स्वस्थ मनुष्य के नासा, स्वरयन्त्र आदि पर नहीं पाये जाते, किन्तु ४ थें प्रकार के जीवाणु स्वस्थ मनुष्य के मुख, नासा आदि में पाया जाता है। प्रथम ३ प्रकार के जीवाणुओं से तीव्र स्वरूप का रोग उत्पन्न होता है। चौथे प्रकार के जीवाणु से उत्पन्न हुआ रोग अपेक्षाकृत सौम्य होता है। इस रोग का जीवाणु न्यूमोनिया से आक्रान्त व्यक्ति के थूक में सदा उपस्थित रहता है और इसका संक्रमण श्वास-प्रश्वास द्वारा सन्निकट रहने वालों में हो सकता है। इसके सिवा ऊपर कह चुके हैं कि चौथे प्रकार का जीवाणु स्वस्थ मनुष्यों के नासा, मुख आदि में उपस्थित रहता है।

सहायक कारण :—अधिक जनसमूह, गन्दे मकान, जहां पर शुद्ध वायु का प्रबन्ध न हो वहां पर यह अधिक होता है। दुर्बल मनुष्यों, जिन्हें भर पेट भोजन न मिलता हो, शक्ति से अधिक-परिश्रम करने वाले; जिनके पास शीत से रक्षा करने का साधन न हो, ऐसे लोगों में यह रोग अधिक होता है। वक्ष पर आघात तथा सर्दी लगना इसके प्रधान सहायक कारण हैं। शीतऋतु में विशेषतया जब वायुमण्डल में शीघ्र २ परिवर्तन होते हैं यह रोग अधिक होता है। यह रोग प्राथमिक (Primary-प्राइमरी) तथा कुछ रोगों के उपद्रव स्वरूप में (secondary सेकण्डरी) भी होता है। मधुमेह, रोहिणी, प्लेग, इन्फ्लुयेन्जा, हृदय विकार, तीव्र वृक्कशोथ, आन्त्रिक ज्वर, चिरकालीन, मदात्यय इन रोगों के उपद्रव स्वरूप निमोनिया हो सकता है।

संक्रमण का प्रकार :—निमोनिया के रोगी के खांसी, छींक आदि से जीवाणु बाहर निकलते हैं और इसी वायुमण्डल में श्वास-प्रश्वास करने वाले निकटस्थ व्यक्ति के मुख तथा नासा में जीवाणु प्रविष्ट होते हैं। यहां पर अनुकूल परिस्थिति होने पर रोग उत्पन्न कर देते हैं, अन्यथा वहीं पर अवसर की प्रतीक्षा करते है। यदि पुरुष का शरीर दुर्बल हो अथवा शीत लग जाये तो ये जीवाणु श्वास मार्ग से होकर फुफ्फुस में चले जाते हैं और वहां पर शोथ पैदा करते हैं साथ ही कुछ जीवाणु रक्त में प्रविष्ट होकर जीवाणुमयता उत्पन्न करते हैं। प्रथम शोथ के स्थान पर रक्त की अधिकता होती है, इसके बाद फुफ्फुस का आयतन बढ़ता है और रुग्णस्थान अधिक घन हो जाता है। इस अवस्था में यदि फुफ्फुस को पानी में छोड़ा जाय तो वह डूबता है। इसके बाद फुफ्फुस का आकार बढ़ा ही रहता है पर उसकी घनता में कुछ मृदुता आती है। तदनन्तर फुफ्फुस में ये परिवर्त्तन होते है—

१ उपशमन—(Resolution) इसमें फुफ्फुस का शोथ शनैः २ नष्ट हो कर फुफ्फुस स्वस्थ हो जाता है।

२ फुफ्फुस-विद्रधि-फुफ्फुसकोथ—तथा **पूयभवन—**मद्यप, दुर्बल तथा असाध्य रोगियों में यह परिवर्तन होता है।

३ चिरकालीन निमोनिया—(Chronic pneumonia) रोग बहुत समय तक जारी रहता है। फुफ्फुस में तान्तव धातु उत्पन्न होता है।

४ जीवाणुमयता :—रोग की साधारण अवस्था में रक्त के पूर्व दिन तक जीवाणु मिलते हैं। इसके बाद कम होते जाते हैं और अन्त में रक्त में नहीं पाये जाते किन्तु तीव्र रोग में रक्त में उनकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है। इस प्रकार जीवाणु फुफ्फुस में पहुँच कर उपर्युक्त विकारों को करते हुए निम्न लक्षण उत्पन्न करता है।

लक्षण :—शीत लगने पर एकाएक रोग का आक्रमण होते ही रोगी को अत्यधिक शीत मालूम होता है। इसके बाद १०-१२ घण्टे के भीतर रोगी को ज्वर १०४ डिग्री तक बढ़ जाता है, बेचैनी, शिर में दर्द, अग्निमान्द्य, पसलियों में पीड़ा ये लक्षण होते हैं। शुष्क कास होता है। ज्वर सन्तत स्वरूप का होता है ८ दिन तक तापक्रम में १ डिग्री से अधिक कमी-बेश नहीं होता है। ओष्ठ पर फुन्सियां (Herpes) निकलती हैं। सांस तथा नाड़ी की गति तेज होती हैं किन्तु नाड़ी की अपेक्षा श्वास की गति अधिक बढ़ती है। अतः श्वास और नाड़ी के अनुपात में फरक पड़ता है। सामान्यतया श्वास और नाड़ी का अनुपात १: ४ (साधारण मनुष्य की नाड़ी प्रति मिनट ७२ बार और सांस १८ बार चलता है इस प्रकार दोनों में १: :४ का अनुपात) रहता है। निमोनिया में यह अनुपात १: :३-वा १: :२ हो जाता है। सांस लेने में कठिनता होती है। खाँसी के समय पार्श्व में तीव्र पीड़ा होती है। जिसके कारण रोगी खांसी को रोकना चाहता है। कफ कई बार खांसने पर थोड़ा सा निकलता है तथा मण्डूरवर्ण (कालापन लिये लाल rusty) होता है, यह अत्यन्त चिपकने वाला (sticky) होता है। इसकी परीक्षा यदि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से की जाय तो इसमें न्यूमोकोकस रक्तकण (R. B. C.) श्वेतकण (W. B. C.) तथा श्वासनलियों की झिल्ली के सूक्ष्म अंश मिलेंगे। रक्त की परीक्षा करने पर श्वेत कण संख्या १२ से ४० हजार तक बढ़ती है। ज्वर प्रायः ७ वें, ९ वें वा अन्य विषम दिन में एकाएक उतर जाता है। प्रायः ज्वर ९ वें दिन उतरता है। यदि १२ दिन के बाद ज्वर उतरता है तो प्रायः शनैः २ उतरता है। यह उपद्रवों के कारण तथा रोगी के दौर्बल्य के कारण होता है। ज्वर उतरने के साथ ही फुफ्फुस की विकृति एकाएक नहीं दूर होती किन्तु और सभी लक्षण शीघ्रता से हो जाते हैं।

परीक्षा :—वक्ष पर हाथ रखने से विकृत पार्श्व का विस्फार प्रतीत होता है। वाचक लहरे (Vocal fremitus) भी विकृत पार्श्व में अधिक प्रतीत होती है। फुफ्फुसावरण की रगड़ का अनुभव होता है। अङ्गुलिताडन से विकृत पार्श्व पर डिमडिम ध्वनि (Tympanitic noie) प्राथमिक अवस्था में मिलती है। २-३ दिन बाद से (दूसरी तथा तीसरी अवस्था में मन्द (Dull) ध्वनि तथा उपशम की अवस्था (Qesolution stage) में फिर डिमडिम ध्वनि सुनाई देती है। **वक्ष-परीक्षण यन्त्र** (Stethoscope) से प्रारम्भिक अवस्था में फुफ्फुसावरण का घर्षण सुनाई देता है। तथा सूक्ष्म बुद्बुद ध्वनि (Crepitant rales) भी सुनाई देती है। दूसरी अवस्था में रगड़ प्रायः नहीं सुनाई देती। वाचिक प्रतिध्वनि (Vocal resonanc) अधिक स्पष्ट, बुद्बुद ध्वनि नहीं सुन पड़ती है। तृतीय अवस्था में वाचिक प्रतिध्वनि कम स्पष्ट होती हैं। सांस पहले की भांति (ठीक) होता है बुद्बुद ध्वनि (Crepitant rales) फिर सुनाई देने लगती है।

बालकों में २ साल तक (Broncho pneumonia ब्रांको न्यूमोनिया) होता है। इसमें विकृति फुफ्फुस के ऊपरी भाग (एपेक्स apex) में होती है। श्लेष्मा कम निकलता है। और जो कुछ निकलता है शिशु उसे को निगल जाता है। आक्षेप, शिर में पीड़ा, निद्रानाश, कम्प तथा मन्या-

स्तम्भ होता है और शिर पीछे की ओर झुक जाता है। इसके ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं-मध्य कर्ण शोथ, उरःपूय (फुफ्फुसावरण में पूय बनना तथा एकत्र होना) तथा अतीसार।

निमोनिया (Lobar pneumonia **लोबर न्युमोनिया**) से निम्नलिखित उपद्रव हो सकते हैं- फुफ्फुसावरण शोथ, हृदयावरणशोथ, हृदन्तःशोथ, मस्तिष्क के आवरण में शोथ होना (meningitis मेनिंजाइटिस, फुफ्फुस में विद्रधि, कर्ण के मूल भाग में शोथ होना, कामला, आध्मान तथा उदर के आवरण (Peritonium) में शोथ होना (Peritonitis) और हृत्कार्यावरोध (Heart-faillur) निमोनिया की गणना कठिन कृच्छ्रसाध्य व्याधियों के अन्दर होती है। १४ से २० प्र. श. रोगी कालकवलित हो जाते हैं।

बाल, वृद्ध, मद्यप, मधुमेह से पीड़ित, वृक्कविकार तथा दौर्बल्ययुक्त रोगियों में इसकी भयङ्करता अधिक होती है। यदि रोगी सवल हो उपचार की सुव्यवस्था हो रक्तगत श्वेत कणों की संख्या अधिक (सामान्यतया स्वस्थ व्यक्ति में रक्तगत श्वेत कणों की संख्या ७००० प्रति क्यूबिक मिलीमीटर में १०००० से १२००० होती है निमोनियां में यदि इनकी संख्या १५००० से अधिक होना साध्यता का परिचायक है।) होना, नींद आना, उपद्रव न होना। यदि दोनों फुफ्फुसों में विकार उत्पन्न होवे, नीलिमा श्वेत कण की संख्या कम वढ़े, या न वढ़े शरीर का ताप क्रम अधिक होना, निद्रानाश, नाड़ी की क्षीणता तथा अनियमितता, श्वास तथा नाड़ी का अनुपात १: :२ होना (अर्थात् श्वास की अधिकता और नाड़ी का श्वास अनुपात से न वढ़ना इस से नाड़ी तथा श्वास के अनुपात में भेद उत्पन्न होता हैं), आध्मान हृदय की शक्ति क्षीण होना, हृदय, मस्तिष्क तथा फुफ्फुस के आवरण में शोथ होना, इनसे रोग की असाध्यता सूचित होती है।

रोग सामान्यतया सातवें दिन उतर जाता है। १४ वें दिन तक फुफ्फुस के भीतरी विकार नष्ट हो जाते हैं। ज्वर शनैः शनैः उतरता है। यदि रोग असाध्य हुआ तो चौथे से दसवें दिन के भीतर मृत्यु हो जाती है। मृत्यु हृदय का कार्य वन्द होने से होती है।

चिकित्सा—यह एक प्रकार का मियादी बुखार है। नाड़ी तथा हृदय को शक्ति देने वाली चिकित्सा करनी चाहिये। इस रोग में विकार यद्यपि फुफ्फुस में होता है तथापि मृत्यु हृदय का कार्य वन्द होने से होती है। अत एव नाड़ी तथा हृदय की शक्ति की रक्षा करनी चाहिये। यह रोग ओषधि की अपेक्षा उत्तम शुश्रूषा अधिक चाहता है।

साधारण उपचार—स्वच्छ स्थान में जहां शुद्ध वायु का सुप्रवन्ध हो रहना चाहिये। मल-मूत्र त्याग के लिये भी शय्या से न उठना चाहिये। इसमें दूध देना चाहिये। दूध में ओवलटीन मिलाकर देना अधिक उचित है। दूध न पचने पर (malted milk) कोष्ठबद्धता होने पर वस्ति देनी चाहिये। सन्तरा तथा अनार का रस देना चाहिये।

विशेष उपचार—फेल्टन का सरम (Feltons serum) शिरा द्वारा ५ से १० सी. सी. की मात्रा में देना चाहिये। इसका प्रयोग रोग के प्रारम्भिक तीन दिनों में करने से लाभ होता है। इस के वाद चौथे दिन से चिकित्सा प्रारम्भ करने से लाभ नहीं होता। रोग के प्रारम्भ में ही विकृत पार्श्व के फुफ्फुसावरण में ४०० से ६०० सी. सी. वायु प्रविष्ट करने से रोग की तीव्रता कम होती है। २४ घण्टे वाद इस विधि को दुहराना चाहिये। आवश्यकता होने पर इसे तीसरे बार भी प्रविष्ट कर सकते हैं। इसके साथ ही लक्षणों की भी चिकित्सा करनी चाहिये। पार्श्ववेदना अधिक होने पर $\frac{१}{४}$ ग्रेन मार्फिया और $\frac{१}{१००}$ ग्रेन एट्रोपिन का इन्जेक्शन देना चाहिये। तथा पीड़ा के स्थान पर वेला डोना, एन्टी फ्लाजिस्टीन का प्लास्टर वा तीसी का उपनाह या सेक देना चाहिये। मार्फिया प्रारम्भ के दिनों में ही देना चाहिये। निद्रानाश के लिये पोटेशियम ब्रोमाइड

३० ग्रेन या क्लोरोनमा ½ ग्रेन अथवा डोवर पाउडर १० ग्रेन का प्रयोग करना चाहिये। श्वास कृच्छ्र तथा नीलिमा अधिक होने पर प्राण वायु सुँघाना चाहिये। हृदय पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। ज्वर मोक्ष के समय तो अवश्य सावधान रहना चाहिये। इसके लिये कुचला सत्व (स्ट्रिक्नीन), कर्पूरडिजिटेलिस, एड्रिनेलीन आदि ओषधियों का उपयोग करना चाहिये। रोग निर्मुक्त होने पर भी शनैः २ आहार बढ़ाना चाहिये, (संसर्जन क्रम) तथा दैनिक कार्य भी शनैः २ प्रारम्भ करें। नींद, आराम तथा पौष्टिक आहार जो कि सुपाच्य भी हो इनका विशेष प्रबन्ध करना चाहिये। लौह भस्म का, लोह के अन्य योग (सीरप फेराई आयोडाइट), कुचला सत्व, मछली के यकृत् का तेल, मक्खन आदि का पूर्ण प्रबन्ध रखना चाहिये तथा शीत से शरीर को बचाना चाहिये।

मन्थरक ज्वरः—

पर्यायनाम—आन्त्रिक ज्वर, एण्टरिक फीवर (Interic fever), मोतीझरा, टाय फायड फीवर (Typhoid fever)।

कारण—इसका कारण **वैसिलस टाय फोसस** (B, Typhosus) नाम का दण्डाकार जीवाणु है यह चञ्चल तथा तन्तुचिन्ह युक्त होता है।

रोग की व्याख्या—वैसिलस टाय फोसस से होने वाला एक मर्यादित स्वरूप का ज्वर है जो कि सतत स्वरूप का होता है। इसमें उदर में पीड़ा, पतले दस्त, त्वचा पर गुलाबी विस्फोट, (विस्फोट आकार में बहुत छोटे होते हैं। परिवर्धक लैन्स से स्पष्टतया देखे जाते हैं।) प्लीहा वृद्धि, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

उपरोक्त जीवाणु आन्त्रिक ज्वर से पीड़ित रोगियों के रक्त, मल, मूत्र, पित्ताशय तथा अन्त्रियों में पाये जाते हैं। यह रोग सारे संसार में तथा सभी महीनों में होता है पर उष्ण देशों तथा उष्ण और वर्षा ऋतु में अधिक होता है। प्रायः युवा व्यक्ति ही इससे पीड़ित होते हैं। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में तथा शक्ति से अधिक शारीरिक परिश्रम करने वाले पुरुषों में अधिक दिखाई देता है। एक बार आक्रमण होने के बाद शरीर में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जिसके कारण रोग का पुनराक्रमण नहीं होता है।

संक्रमणः—रुग्ण के मल-मूत्र दूषित जल, उस से प्रस्तुत वर्फ या शर्बत आदि पेय, साग, दूध के सेवन से, दूषित जल में उत्पन्न होने वाली मछली के सेवन से रोग उत्पन्न होता है। उपर्युक्त वस्तुओं (खाद्य तथा पेय पदार्थों) में दुष्टि, जीवाणुयुक्त मल-मूत्रादि का प्रत्यक्ष सम्पर्क होने से अथवा मल-मूत्रादि से, जीवाणुओं के हवा में या धूल में मिल कर जलाशय अथवा अन्य खाद्य, पेय के सम्पर्क में आने से अथवा मक्षिका द्वारा होती है। मक्षिका जीवाणुयुक्त मल पर बैठ कर फिर खाद्य पदार्थ पर बैठती है। उनके पैरों पर तथा शुण्डा में जीवाणु लगे रहते हैं जो कि खाद्य वस्तुओं को दूषित करते हैं।

सम्प्राप्ति—जीवाणु जब मुख से होकर महाकोष्ठ में प्रविष्ट होते हैं तथा आमाशय के अम्ल से बच कर जब वे क्षुद्र अन्त्र में पहुँचते हैं तब वहां पर इनकी वृद्धि होनी प्रारम्भ होती है। वहां से अन्त्रगत लसीकापिण्डों में प्रवेश करते हैं। वहां से लसिकावाहिनियों द्वारा आन्त्र कला-मेजेण्ट्री (Mesentery) में और वहां से रक्त में, रक्त से प्लीहा, मज्जा आदि स्थानों में फैलते हैं। क्षुद्र तथा स्थूलान्त्र की श्लेष्मल कला—इस रोग के कारण लाल हो जाती है। सबसे अधिक विकृति क्षुद्र अन्त्र के निचले तृतीयांश भाग (**इलियम्** Ileum) के अन्तिम भाग में होती है। विकृति क्षुद्र तथा स्थूलान्त्र के सङ्गम स्थान पर स्थित **पेयर** की ग्रन्थियों से प्रारम्भ होती है। इस के पश्चात्

ऊपर की ओर फैलती है। जहां से स्थूलान्त्र शुरू होता है वहां की (Lymphoid follicls of the Coecum) लसीका ग्रन्थियां भी विकृत होती हैं।

अन्त्र की लसीका धातु में प्रथम रक्ताधिक्य और तन्तुओं के जमा होने (सेल इनफिल्ट्रेशन Cell infiltration) के कारण पेयर की ग्रन्थियों में शोथ हो जाता है। इस परिवर्तन के लिये प्रायः एक सप्ताह लग जाता हैं। इसके बाद वहां पर सड़न होती है। यह शोथ अन्त्र की लसीका धातु तथा अन्त्र के मांस धातु के आवरण (musoular coat) तक सीमित रहती है, कभी २ जब यह सड़न उदरकला द्वारा निर्मित आवरण (Peritoneum पेरिटोनियम) तक भी पहुँच जाते हैं तब उदरकला-शोथ (Peritonits पेरिटोनाइटिस) उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। इसके अनन्तर कला का सड़ा हुआ भाग पृथक् होने लगता है, जिसके फल स्वरूप आन्त्र में व्रण बनना प्रारम्भ होता है। इनसे रक्तस्राव होता है। व्रण जब अधिक गहरे होते हैं जो कि उदरकला तक पहुँचते हैं तब उनसे उदर कला शोथ होता है। ये व्रण पृष्ठ भाग की अपेक्षा गहराई की ओर अधिक फैलते हैं। यह अवस्था दूसरे सप्ताह के अन्त तक चलती है। तीसरे सप्ताह में व्रणों का सड़ा हुआ भाग गलता है। चौथे सप्ताह में व्रणों का रोपण होता है, रोहण धातु की रचना पूर्व धातु के समान होने के कारण अन्त्रियों की दशा पूर्ववत् हो जाती है। अन्त्रकला के भीतर सङ्कोच नहीं होता।

आन्त्रगत इस परिवर्तन के अतिरिक्त निम्न परिवर्तन भी होते हैं—

१ प्लीहा-वृद्धि, प्रथम सप्ताह में कड़ी तथा दूसरे सप्ताह में मृदु होती है। यकृत् में वृद्धि, पित्ताशय-शोथ; अन्त्र कला (Mesentery) की लसीका-ग्रन्थियों का शोथ, हृदय का दुर्बल तथा मृदु होना, श्वास नलिकाओं में भी शोथ तथा अधिक काल तक शय्या पर लेटे रहने के कारण फुफ्फुस के नीचे के हिस्से में रक्ताधिक्य (Hypostate congestion) ये परिवर्तन भी इसमें होते हैं। रक्त की परीक्षा करने पर श्वेत कणों की संख्या कम होती है उसमें भी बहुकेन्द्रीय श्वेत कण ५०% होते हैं। **ईयोसिनो फिल** का अभाव **लिम्फोसाइट** १० प्रतिशत मिलते हैं।

जीवाणुप्रथम सप्ताह में आन्त्र की लसीका-ग्रन्थियों में रहते हैं। वहां से रक्त में जाते हैं। प्रथम सप्ताह में ही रक्त में जीवाणु मिलते हैं। रक्त से जीवाणु-प्लीहा, वृक्क तथा पक्वाशय में चले जाते हैं, मल में जीवाणु दूसरे सप्ताह के अन्त से मिलने लगते हैं।

रोग के लक्षणः—जीवाणु प्रविष्ट होने के १० से १४ दिन के भीतर रोग के लक्षण प्रारम्भ होते हैं।

पूर्वरूप—अरुचि, आलस्य, बेचैनी, शिरःशूल नासिका से रक्तस्राव, ये पूर्वरूप रोग उत्पन्न होने के पहले उत्पन्न होते है।

रोग के लक्षण—प्रथम सप्ताह में ज्वर धीरे धीरे बढ़ता है। शाम को दो अंश ज्वर चढ़ता है तथा प्रातःकाल १ अंश उतरता है। इस प्रकार ज्वर १०३-१०५ अंश तक चढ़ता है। यदि किसी पत्र पर इस ज्वर का आलेख्य (चित्र) बनाया जावे तो वह एक सीढ़ी की भाँति मालूम होता है। नाड़ी ज्वर के अनुपात से नाड़ी की गति नहीं बढ़ती, ताप * क्रम १०४ डिग्री होने

---

*वक्तव्य—साधारणतया एक युवा का तापक्रम ९८.४ तथा नाड़ी की गति ७० बार प्रति मिनट रहती है। और शरीर के तापक्रम में प्रत्येक डिगरी वृद्धि होने के साथ ही साथ नाड़ी की गति ८ या १९ बार प्रति मिनट बढ़ती है, मन्थरक ज्वर में यह वृद्धि उचित नहीं होती। इसी लिये तापक्रम को देखते हुये नाड़ी की गति कम रहती है।

पर भी नाड़ी की गति ९० प्रतिमिनट रहती है। श्वास † तथा नाड़ी के अनुपात में फर्क आता है।

पाचनसंस्थान—में जिह्वा मटमैली, शुष्क तथा श्वेत रहती है। ओठ तथा मुख सूखता जाता है। दाँत, ओष्ठ और मसूड़े पर मैल जमा होती है। अग्निमान्द्य, आध्मान तथा आटोप (पेट फूलना तथा गुड़-गुड़ शब्द होना), मल पतला, कभी-कभी विबन्ध युक्त।

त्वचा—शुष्क तथा उष्ण, त्वचा पर गुलाबी रङ्ग के छोटे (२. ३ मिलीमीटर व्यासवाले) विस्फोट उत्पन्न होते हैं। ७ वें से १२ दिन तक निकलना प्रारम्भ करते हैं। उदर तथा छाती पर ये अधिकतर दिखाई देते हैं। पार्श्व तथा हाथ के पृष्ठों पर भी दिखाई पड़ सकते हैं। दूसरे सप्ताह के प्रारम्भ तथा तीसरे के अन्त तक ये विस्फोट निकलते तथा मिटते रहते हैं।

मुखाकृति—प्रथम समाप्त में रुग्ण, चेष्टारहित, उदासीन दिखाई पड़ता है। नेत्र-चमकीले तथा पुतलियाँ फैली रहती हैं। मुख-उतरा हुआ रहता है, कपोल-रक्त वर्ण के, ओष्ठ-कृष्ण वर्ण तथा शुष्क रहते हैं। मुख-कुछ खुला रहता है।

इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ खाँसी, तथा शिरःशूल होता है।

द्वितीय सप्ताह में—ज्वर उच्चतम सीमा तक चढ़ कर स्थिर हो जाता है। नाड़ी की गति बढ़ती है। आलस्य तथा दौर्बल्य बढ़ते हैं। शिरःशूल कम हो जाता है। ज्वर में आध्मान तथा अतीसार, मल में पेयर की ग्रन्थियों के सड़े गले टुकड़े तथा अन्न की श्लेष्मल कला के टुकड़े, अपक्व अन्न, रक्त-कण, कभी-कभी रक्त तथा फास्फेट के कण पाये जाते हैं। मल में जीवाणु भी मिलते हैं। प्लीहावृद्धि, कृशता, निद्रानाश, हृदय में धड़कन ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। साधारण रोग मे रोग की दशा में यहीं से सुधार प्रतीत होता है, तीव्र प्रकार में जीवाणुजन्य विष की अधिकता, हृत्कार्यावरोध, आन्त्रविदार अथवा आन्त्र से अधिक रक्त प्रवाह के कारण रोगी की मृत्यु होती है।

तृतीय सप्ताह में—ज्वर शनैः २ उतरने लगता है, रोगी की दुर्बलता एवं शक्तिहीनता बढ़ती है पर रोगी की दशा शनैः-शनैः सुधरने लगती है। तीव्र प्रकार में प्रलाप, तन्द्रा, कम्प, मल-मूत्र का अनैच्छिक उत्सर्ग तथा मूत्रावरोध उत्पन्न होता है। पाचन संस्थान के लक्षण—जिह्वा तथा कोष्ठ का सूखना, ओष्ठ पर पपड़ी पड़ना, आध्मान, अधिक अंत्रियों के व्रणों से रक्तस्राव तथा आन्त्रच्छेद उत्पन्न होते हैं। फुफ्फुस के निचले भाग में रक्त की अधिकता होती है।

चौथे सप्ताह में—सभी लक्षण मन्द हो जाते हैं, ज्वर उतर जाता है, शरीर का तापक्रम स्वाभाविक से भी कम (Sud narmel सब नार्मल) रहता है, नाड़ी भी बहुत मन्द चलती है। धीरे २ रोगी अपने पूर्व के स्वास्थ्य को प्राप्त करता है। इसके तीव्र प्रकार में रोग एकाएक बढ़ता है। शीत तथा कम्प के साथ ज्वर शीघ्रता से उच्चतम अंश तक बढ़ता है। तन्द्रा, प्रलाप, आन्त्र-भेद आदि उपद्रवों से रोगी दूसरे ही सप्ताह में मर जाता है। यदा कदा रोग का एक विशेष प्रकार भी दिखाई पड़ता है। इसमें मन्थरक ज्वर के सामान्य लक्षणों के साथ शरीर के किसी अंग में विकृति उपस्थित रहती है। इस दशा में इसको अङ्ग के नाम से मिलाकर पुकारते हैं यथा—वृक्क में विकार होने पर **नेफ्रो टायफायड** (Nephro typhoip) फुफ्फुस में विकृति होने पर

---

† नाड़ी तथा श्वास में १: :४ का अनुपात रहता है, यथा-एक युवा पुरुष की नाड़ी प्रति मिनट ७२ बार चलती तथा प्रश्वास १८ बार प्रति मिनट होता है। अतएव इनका परस्पर अनुपात १: :४ होता है। किन्तु मन्थरक ज्वर में नाड़ी की गति ९० तथा श्वास की गति ३० प्रति मिनट रहती है अर्थात् नाड़ी तथा श्वास का अनुपात १: :४ न होकर १: :३ हो जाता है।

न्यूमो टायफायड (Nueumo typhoid) मस्तिष्क में विकार (मस्तिष्क-प्रकोप) होने पर **मेनिंगो टायफायड** (Meningo typhoid) नाम दिये जाते हैं।

शिशुओं में मन्थरक ज्वर—

यदि शिशु में रोग उत्पन्न हो तो ४०% अकस्मात् उत्पन्न होता है। ज्वर अर्द्धविसर्गी अथवा विसर्गी (स्वाभाविक अंश तक उतरने वाला), तन्द्रा, प्रलाप आदि कम होते हैं। आन्त्र-भेद कम होता है। रोग की अवधि भी अल्प होती है। रक्तस्राव भी अधिक नहीं होता किन्तु विस्फोट, प्लीहावृद्धि, दौर्बल्य, कास, मूकता, मुखपाक, अस्थियों में विकृति ये लक्षण अधिक होते हैं। रोग के कई वार पुनरावर्तन होते हैं।

उपद्रव—

१ **रक्तस्राव—**दूसरे सप्ताह के अन्त से चौथे सप्ताह के पूर्व तक उत्पन्न होता है। यह बहुत कम (५-७ प्रतिशत रोगियों में) होता है।

कभी २ अधिक रक्त निकल जाने पर हृदयावसाद के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

२ **आन्त्रभेद—**उदर के दाहिनी ओर आन्त्रभेद होता है। पीडा अत्यधिक होती है। अवसाद के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

३ अतीसार, आध्मान, आटोप, कर्णमूलग्रन्थि-शोथ, पित्ताशय तथा पित्तवाहिनी शोथ, शरीर का ताप अत्यन्त अधिक होना, शय्या पर अधिक काल तक लेटने के कारण पीठ, नितम्ब आदि पर व्रण बनना, मूत्र के साथ जीवाणु अधिक निकलना, आन्त्रपरिशिष्ट शोथ (Apandicitis **एपैन्डि साइटिस**), न्यूमोनिया, मूत्र के साथ रक्त निकलना ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं। गर्भवती स्त्रियों में गर्भपात हो सकता है।

इसके उपद्रव में निम्न रोग उत्पन्न होते हैं—

(१) स्मृतिनाश, (२) सन्धिशोथ, अस्थ्यावरणशोथ, (३) कशेरुकों में शोथ होना, (४) पित्ताश्मरी (Renal calculus **रीनल कैल्कुलस**)।

इसके अतिरिक्त मूकता उत्पन्न होती है जो वालकों में अधिक दिखाई पड़ती है। बाधिर्य भी उत्पन्न होता है जो कि धीरे २ स्वयं दूर हो जाता है।

रोग का निदान—शनैः २ ज्वर का चढ़ना, ज्वर का (मर्यादा के भीतर) साधारण अंश तक न उतरना, शिरःशूल, नाड़ी में तीव्रता न होने पर भी रोगी की दशा अवधि को देखते हुये गम्भीर होना, विस्फोट, प्लीहावृद्धि, अतिसार, आध्मान के लक्षण रोगनिश्चिति में सहायक होते हैं।

यदि रसायनशाला (Laboratory) पास में हो तो मल-मूत्र की परीक्षा जीवाणु के लिये करानी चाहिये। इसके अतिरिक्त रोगी का ५ C. C. रक्त निकाल कर रसायनशाला में **विडाल परीक्षा** (Bidal reaction) के लिये भेजना चाहिये।

इस रोग में **मूत्र में** (Diazo reaction **डाइजो रियेक्शन**) मिलता है।

रक्त में श्वेतकण की संख्या कम मिलती है।

उपर्युक्त परीक्षायें रसायनशाला में ही हो सकती हैं।

मारिस की एट्रोपीन परीक्षा—(Atropine test **एट्रोपीन टेस्ट**)

विधिः—भोजनोत्तर १ घंटा विश्राम करने के उपरान्त, रोगी की नाड़ी की गति १० मिनट तक प्रति मिनट देखना चाहिये। इसके बाद $\frac{१}{५०}$ ग्रेन एट्रोपीन की ३ गोलियां मुख द्वारा वा $\frac{१}{३३}$ ग्रेन एट्रोपीन त्वचा द्वारा प्रविष्ट (Injection) करके २५ मिनट बाद नाड़ी की प्रति मिनट गति

देखिये। यदि उसमें प्रति मिनट दस वा उससे भी कुछ कम वृद्धि हो तो **आन्त्रिक ज्वर** से रुग्ण समझना चाहिये।

सापेक्ष रोगनिदान—मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर; घातकविषमज्वर, न्यूमोनिया, इन्फ्लुयेंजा, कालाजार, टायफस ज्वर, माल्टाज्वर, तीव्र राजयक्ष्मा, पूयजनित ज्वर, उपान्त्रिक ज्वर, केंचुये का संक्रमण इनसे इस रोग को पृथक् करना चाहिये।

साध्यासाध्यता—बच्चों में १५ वर्ष तक (प्रथम वर्ष को छोड़ कर) रोग सुसाध्य होता है। १५–२५ की आयु तक साध्य। इसके बाद तथा प्रथम वर्ष में कष्टसाध्य होता है। मद्यप, गर्भिणी, स्थूल हृदय तथा वृक्क विकार–युक्त रोगियों में यह रोग कृच्छ्रसाध्य स्वरूप का होता है। इसके अतिरिक्त यदि रोग के प्रारम्भ से ही विषाक्तावस्था, प्रलाप, कम्प, तन्द्रा, तापक्रम अत्यधिक होना, नाड़ी की गति अनियमित तथा शीघ्र हृदय-दौर्बल्य तथा अन्त्रभेद; अन्त्र से रक्त प्रवाह, आध्मान, पतले दस्त, मस्तिष्कावरण शोथ, न्यूमोनिया ये उपद्रव तीव्र हों तो रोग असाध्य होता है। रक्त-परीक्षा द्वारा यदि श्वेत कणों की संख्या अत्यन्त न्यून हो और यदि दूसरे सप्ताह में भी रक्त में जीवाणु पाये जांय तो रोग असाध्य होता है।

चिकित्सा—इस रोग की कोई खास चिकित्सा नहीं है। स्वच्छता पर ध्यान रखना चाहिये। रोगी के रहने के कमरे में प्रकाश तथा हवा का उचित प्रबन्ध हो। रोगी को पूर्ण विश्राम की आवश्यकता है। तथा मुख को **हाईड्रोजन पैराक्साइड या उदुम्बरसार विलयन** (उदुम्बरसार को द्रव करके) से प्रक्षालन करना चाहिये।

पीठ तथा कटि आदि अंग (जो शय्या से निरन्तर घर्षण करते रहते हैं।) को उष्ण जल से पोंछ कर **स्पिरिट** लगाकर **जव का आटा** अथवा **डस्टिंग पाउडर** छिड़क देना चाहिये। आहार–लघु तथा द्रवप्राय देवें। **पिष्टमयपदार्थ** (Starch) अधिक, प्रोटीन मध्यम तथा **स्निग्ध पदार्थ** (Fat) अत्यन्त कम हो। वार्ली वाटर, सोडावाटर, लेमोनेड, मट्ठा, लस्सी, ग्लूकोज, अल्बूमिन वाटर, अनार, सन्तरा आदिक फलों का रस देवें। दूध में **सायट्रेट,** मिला कर वा हार्लिक का दूध देना चाहिये। साबूदाना, अरारोट आदि भी रुचि के अनुसार देवें। पीने के लिये यथावश्यक जल देना चाहिये। दिन भर में ३ सेर तक दूध दिया जा सकता है।

ओषधि चिकित्सा—इस रोग में **सौभाग्यवटी** आधी रत्ती प्रातः सायं देने से अधिक लाभ होता है।

पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली के अनुसार निम्न ओषधियां बारी-बारी से देते हैं—

(१)	**पोटास एसिटेट,**	**ग्रेन २०**	**लाइकर अमोनिया एसिटेटिस**	**ड्राम २**
	दालचीनी का तेल	**बूंद ३**	**स्पिरिट क्लोरोफार्म**	**बूंद १५**
	बेन्जोथायमोलिन	**बूंद २०**	**पानी**	**१ औंस**

इनको प्रत्येक ३–३ घंटे पर देना चाहिये।

(२)	**हेग्जामिन**	**ग्रेन १०**	**सोडा वेन्ज़ोयेट**	**ग्रेन १०**

इसे भी दिन में ३ बार देना चाहिए। ऊपर की ओषधि २–३ दिन देकर फिर नीचे की तथा इसको देने के बाद फिर ऊपर की ओषधि देनी चाहिये। वास्तव में टायफाइड की कोई खास (Specific स्पेसिफिक) * ओषधि नहीं है। स्वच्छता तथा उपद्रवों से बचाने का यत्न करना चाहिये। उपद्रवों के उत्पन्न होने पर उनकी चिकित्सा करनी चाहिये। अतीसार में **विस्मथ सैलि**

* "No drug has any specific action on the disease, Savill.

सिलास या कार्ब १५ ग्रेन दिन भर में ३ बार देवें। और दूध न देकर अलव्यूमिन वाटर वा १ पाइन्ट दूध में २ ड्राम फिटकरी मिला कर दही बनाकर देना चाहिये।

मलावरोध में विरेचन न देकर साबुन तथा पानी की वस्ति प्रति दूसरे या तीसरे दिन देनी चाहिये। **आध्मान के** लिये पानी में **तारपीन** मिलाकर सेंक करना (Terpentine stupes) अथवा निम्न वस्ति (एनिमा) देना चाहिये।

तारपीन का तेल १ ड्राम, ओलिव तेल १ औंस, साबुनयुक्त पानी १ पाइन्ट

अन्त्रभेद—की शस्त्रकर्म ही एकमात्र चिकित्सा है।

रक्तस्राव, आराम करना, बर्फ चूसना, **कैल्सियम लैक्टेट** १० ग्रेन दिन भर में तीन वार देवें

निद्रानाश—में **ल्यूमिनाल ½** ग्रेन से २ ग्रेन, रात में सोते समय।

अथवा **पौटेशियम** तथा **सोडियम के ब्रोमाइड** १५ से ३० ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार देवें।

हृदय दौर्बल्य के लिये-स्ट्रिक्नीन की $\frac{1}{120}$–$\frac{1}{60}$ ग्रेन की मात्रा में सुई देना, अथवा **कस्तूरी** ३ ग्रेन की मात्रा में देना, अथवा **ऐड्रिनैलिन** (१–१०००) ५–१५ बूंद जिह्वा के नीचे देना।

शरीर का ताप अत्यन्त अधिक होने पर—सर पर बर्फ की थैली रखना, शरीर को शीतल जल से पोंछना चाहिये।

इति मन्थरकज्वरवर्णनम्।

अथ सन्धिकज्वरवर्णनम्—

व्याख्या—इस रोग में ज्वर; सन्धिशोथ तथा हृदय का अन्तस्तर खराब होता है।

कारण—इसके विषय में ३ मत हैं।

१ स्ट्रेप्टोकोकस विरंडस नामका जीवाणु इस रोग को उत्पन्न करता है, ऐसी कुछ शास्त्रज्ञों की सम्मति है। २ निस्यन्दनशील जीवाणुओं को कुछ शास्त्रज्ञ इस रोगका कारण मानते हैं। ३ कुछ लोग **एलर्जी** (Allergy किसी खास पदार्थ की असह्यता) जन्य मानते हैं। इनमें प्रथम मत अधिक महत्त्व का है।

सहायक-कारण—बच्चों में तथा युवावस्था में ३० साल के पूर्व होता है। ४० साल बाद प्रारंभ नहीं होता। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा अधिक होता है। शीत तथा समशीतोष्ण स्थानों में होता है, ठंड लगना, पानी में भीगना, पसीने से तर शरीर से शीतल वायु का सम्पर्क होना, यकृत का विकार, नासा, गला, टांसिल आदि की खराबी तथा कुलज-प्रवृत्ति इस रोग के उत्पादन में विशेष भाग लेते हैं। यह रोग उष्ण प्रदेश में होने के कारण भारतवर्ष में बहुत कम होता है।

संप्राप्ति-स्ट्रप्टोकोकस के संक्रमण के कारण शरीर की प्रतीकार शक्ति घटती है। और संधिक ज्वर के जीवाणु प्रविष्ट हो रोग उत्पन्न करते हैं। इस रोग में त्वचा में तथा सन्धियों की श्लेष्मलत्वचा में और हृत्पेशी आदि में छोटी-छोटी गाठें (Aschoffs nodes **एस्चाफ्स नॉड्स**) उत्पन्न होती हैं इनमें बहुकेन्द्रीय तथा एककेन्द्रीय कण जमा होते हैं अन्त में वहां पर तान्तव धातु बनती है। **संधि** तथा **हृदय** इस रोग में विशेषतया विकृत होते हैं। सन्धियों में रक्ताधिक्य, श्लेष्मलकला स्नायुओं में शोथ और कला के ऊपर लसीका की पतली तह जमती है। सन्धियों में स्थित जल (जो कि स्वच्छ तथा पारदर्शक रहता है) में मटमैलापन उत्पन्न होता है। उसमें श्वेतकण तथा फायब्रिन मिलते हैं हृदय इस विकार में बहुत विकृत होता है, हृदय के बाह्यावरण, अन्तरावरण तथा हृदय की मांसपेशी तीनों में विकार उत्पन्न होते हैं। अन्तरावरण में तथा इसमें भी विशेषकर हृदय के कपाटों के द्वार

---

† २ पाइन्ट जल में १०० बून्द तारपीन का तेल मिला कर सेंकना चाहिये।

पर अंकुर उत्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् वहां पर तान्तव धातु बनती है। तान्तव धातु बनने के कारण कपाटों के किनारे आपस में मिल नहीं पाते। कपाट संकुचित या विस्तृत हो जाते हैं।

रोग के लक्षण—रोग के आक्रमण के पहले गले के टांसिल (कण्ठशालूक-ग्रन्थि) सूजे रहते हैं अथवा गले में लाली रहती है। शीत के साथ एकाएक ज्वर प्रारम्भ होता है। साथ ही सन्धियों में तीव्र पीडा होती है। ज्वर १०४ डिग्री तक रहता है, अरुचि, पिपासा, विबन्ध, नाड़ी की गति की शीघ्रता उत्पन्न होती है, मूत्र गाढ़ा तथा शरीर से स्वेद निकलता है। उससे खट्टी गन्ध निकलती है।

सन्धियों में पीड़ा—प्रायः बड़े सन्धियों में पीड़ा प्रारम्भ होती है। सभी जोड़ों में एक साथ विकार न होकर भ्रमणशील विकार होता है। एक जोड़ में पीड़ा २-३ दिन रहती है फिर उस सन्धि में पीड़ा कम होकर दूसरी सन्धि में पीड़ा होने लगती है। सन्धि को हिलाने ही से पीड़ा होती है। एक स्थिति में निश्चल पड़ा रहने से पीड़ा नहीं के बराबर होती है।

हृदय—इस ज्वर में विशेषतया विकृत होता है। हृदय के स्वाभाविक शब्दों में फरक उत्पन्न होता है। हृदय कुछ विस्तृत तथा रक्तभार कम होता है। श्वेतकण की संख्या बढ़ती है। रक्तकणों का शीघ्रता से नाश होता है।

उपद्रव—हृदय में प्रधान विकार होता है। हृदय के विकार युवावस्था में उपद्रव तथा बाल्यावस्था में रूप कहे जाते हैं (बालकों में ज्वर होने पर उनमें सन्धिशोथादि न होकर हृदय के विकार ही अधिक होते हैं), तापक्रम अत्यधिक बढ़ना, कभी २ ज्वर १०९ से ११० डिग्री तक पहुँचता है। इस दशा में प्रलाप, बेहोशी, कम्प, आदि लक्षण भी हो सकते हैं।

ग्रन्थियां—इस ज्वर में त्वचा के नीचे, चलस्थानों में सन्धियों के पास, हड्डियों के उत्सेध पर दिखाई देती हैं। बालकों में यह गाठें अधिक दीखती हैं। इन गाठों को दबाने से पीड़ा नहीं होती। ये कुहनी, जानु, गुल्फ, गुद्दी के पीछे अधिक दिखाई पड़ती है। न्यूमोनियां, फुफ्फुसावरणशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, वृक्कशोथ ये उपद्रव भी पाये जाते हैं। कभी २ इस रोग का एक अत्यन्त तीव्र प्रकार देखा जाता है जिसमें सन्धिशोथ आदि कम तथा हृदय के विकार अधिक होते हैं। यह रोग घातक होता है।

रोगनिश्चिति—

(१) एकाएक शीत के साथ ज्वर का आक्रमण, सन्धियों में पीड़ा, खट्टी गन्ध का पसीना तथा आमवात का इतिहास ये सब रोग के निश्चायक लक्षण हैं।

(२) **उपशयात्मक-निदान—सोडा सैलिसिलास** देने से रोग में लाभ होने से भी रोग का निदान होता है। इसको **वातरक्त** (यह ४० के बाद होता है सन्धियों में पीड़ा भ्रमणशील नहीं होती। आराम की स्थिति में भी पीड़ा होती रहती है), **तीव्रअस्थिमज्जाशोथ** (इसमें ऊर्वस्थि तथा अन्तर्जङ्घिका का निचला सिरा नहीं आक्रान्त होता।), **पूयमयता** (रोगी को सदा शीत मालूम होती है। भ्रमणशीलता नहीं होती), **औपसर्गिकमेह (पूयमेह) जन्य सन्धिशोथ** (इसमें पूयमेह का पूर्ववृत्त, मूत्रमार्ग से रक्तस्राव, सन्धि के साथ ही साथ पार्श्ववर्ती धातुओं में ही विकार होता है। ज्वरादि मृदु होते हैं, विकृति सन्धियां अल्प होती हैं) इन रोगों से पृथक् करना चाहिये।

रोग की अवधि तथा साध्यासाध्यता—चिकित्सा न करने पर रोग १½ मास में स्वयं ठीक होता है। पर इसके कारण हृदय में कुछ न कुछ खराबी हो जाती है जिसके कारण इसके आवेग आया करते हैं। कभी २ अतीव तीव्र ज्वर, हृदयविकार और फुफ्फुसावरण में शोथ ये घातक उपद्रव होते हैं। योग्य चिकित्सा करने से पुनरावर्त्तन नहीं आते।

चिकित्सा—

रोगी को आराम से रखना, सन्धि को निश्चल करना, भोजन के लिये, दूध, बार्ली वाटर मक्खन, हार्लिक का दूध देना चाहिये। चाय, काफी, कोको न देवें। मुख की स्वच्छता, कभी-कभी मृदु विरेचन, खराब टांसिल को निकलवाना चाहिये।

ओषधिचिकित्सा—

(१) **कैशोर गुग्गुल** अथवा **सिंहनाद-गुग्गुल** ४ रत्ती, रास्नादि क्वाथ से ६ बजे प्रातः सायम्।
(२) **हिङ्गुलेश्वर** दिन के ८ बजे तथा शाम के ५ बजे **मधु से** चाटना।
(३) सन्धियों पर **मदार का पत्ता** गरम करके लगाना।
(४) बीच २ में **हरीतकी चूर्ण** ६ माशे से विरेचन देना चाहिये।

पाश्चात्य-चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार चिकित्सा—

दिन में **सोडा सैलिसिलास** २७ ग्रेन २-२ घंटे पर, रात में ४-४ घंटे पर देना चाहिये। इसको निम्न योग के रूप में देना चाहिये—

सोडा सैलिसिलास ग्रेन २०। सोडा बाइकार्ब ग्रेन ४०।

दिन में प्रत्येक २-२ घंटे बाद रात में ४-४ घंटे पर रोग की तीव्रता होने पर (ज्वर उतरने तथा सन्धिशोथ आदि कम हो जांय तब) १२० ग्रेन दिन भर में ओषधि देनी चाहिये। इसके पश्चात् भी ६० ग्रेन प्रतिदिन के हिसाब से ओषधि एक सप्ताह तक देनी चाहिये।

जोड़ों को कुशा द्वारा स्थिर कर देना चाहिये। वेदना की अधिकता में **लिनिमेन्ट वेलाडोना** या **टिञ्चर ओपाई** को सन्धि पर रखकर ऊपर से रूई रखकर बांध देना चाहिये।

रोग दूर होने पर भी रोगी को कुछ समय तक विश्राम करना अधिक आवश्यक है। बल्य तथा लघु और सुपाच्य भोजन करना चाहिये। **कुचला** या इसका सत्व, **फेरोढोल** अथवा **मुक्तापिष्टी ½** रत्ती, **गुडूचीसत्व** १ माशा सुबह शाम सेवन करना चाहिये। शीत तथा कब्ज से बचना चाहिये। मुख की स्वच्छता पर अधिक ध्यान देना चाहिये। गरम कपड़े पहनना चाहिये। जिन दिनों में मौसिम में शीघ्र परिवर्तन होते हैं यथा बरसात तथा वसन्त, इसमें विशेष सतर्क रहना चाहिये।

इति सन्धिकज्वरवर्णनम्।

अथ ग्रन्थिकज्वरवर्णनम्—

पर्याय नाम—अग्निरोहिणी, प्लेग, ताऊन।

व्याख्या—वैसिलस पैस्टिस से होने वाला एक तीव्र औपसर्गिक ज्वर है।

इस रोग का कारण—वैसिलस पैस्टिस नामका सूक्ष्म जीवाणु है। यह अण्डाकार होता है इसके दोनों सिरे अधिक रञ्जित होते हैं।

संक्रमण—यह रोग वास्तव में **चूहों** का है, मरक दशा में पिस्सू नाम्नी मक्षिका चूहों के शरीर पर रहती है इसके शरीर में असंख्य जीवाणु रहते हैं। उसके काटने से यह ज्वर उत्पन्न होता है। जब चूहे मरने लगते हैं तब इस रोग का प्रारम्भ जाना जाता है। इस दशा में चूहे भी अपनी जान की ममता से उस स्थान को छोड़कर चल देते हैं। अत एव प्लेग के समय चूहे दिखाई भी कम देते हैं।

पिस्सू एक कृष्णवर्ण (काला), चपटा कीट होता है, शरीर पर पंख नहीं होते, फुदक कर चलता है। जमीन से ६ इञ्च से अधिक नहीं फुदक सकता। यह गन्दे, अन्धेरे तथा सीलयुक्त स्थानों में अधिक रहता है। दिन को पिस्सू जमीन की दरारों में छिप जाता है। जो पिस्सू इस

रोग का अधिकतर संवहन करते हैं उनका नाम ज़ेनोप्सिला शोपिस (Xenopsylla Cheopis.) है।

पिस्सू सदा चूहों के शरीर पर रहता तथा उन्हीं से अपना निर्वाह करता है। पर जब चूहे मर जाते और बाकी स्थान छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं तब पिस्सू अपनी प्राणयात्रा के लिये मनुष्य को दंश करता है। इस रोग का एक चूहे से दूसरे चूहे पर तथा चूहे से मनुष्य पर संक्रमण इसी पिस्सू द्वारा होता है। इसका दूरवर्ती स्थानों में प्रसार केवल चूहे तथा पिस्सुओं द्वारा ही नहीं होता। मनुष्य जब रोगग्रस्त स्थान से अपने माल असबाब के साथ अन्य स्थान को जाता है तब उसके सामान के साथ पिस्सू भी चला जाता है और वहां के चूहों तथा मनुष्यों पर आक्रमण करके रोग का प्रसार करता है।

सम्प्राप्ति—पिस्सू के दंश द्वारा जीवाणु रोगी के चर्म में प्रविष्ट होते हैं अथवा पिस्सू दंश के स्थान पर जीवाणु युक्त मल त्याग करता है, जिसके कारण वहां पर खुजली होती है। इससे वहां पर क्षत बन जाता है और इस क्षत से जीवाणु मनुष्य-शरीर में प्रविष्ट होता है। दंश के स्थान के समीप रहने वाली लसीका ग्रन्थियों में शोथ उत्पन्न होता है। पैर पर ही पिस्सू प्रायः काटता है (क्योंकि ६ इंच से अधिक कूद नहीं पाता) अतः जंघा के ऊपरी भाग की लसीका ग्रन्थियां अधिक फूलती हैं। यदि मनुष्य लेटा रहे उस दशा में यदि पिस्सू ग्रीवा में अथवा हाथ में दंश करे तो ग्रीवा अथवा कक्ष की लसीका ग्रन्थियां विकृत होती हैं। इस प्रकार की ग्रन्थि-वृद्धि **प्राथमिक लसीका ग्रन्थि-वृद्धि** (Primary bubo प्राइमरी ब्यूबो) कहलाता है। इसके बाद इन शोथयुक्त ग्रन्थियों सम्बन्धि लसीका ग्रन्थियां भी फूलती हैं, पर इनका शोथ पहली की अपेक्षा कम होता है। उनको **द्वितीय लसीका ग्रन्थि-वृद्धि** (Secondary bubo **सेकेण्डरी ब्यूबो**) कहते हैं। ग्रन्थियों के पास की धातु में भी शोथ, रक्तस्राव तथा तन्तुओं की वृद्धि (Cell infiltration **सेल इनफिल्ट्रेसन**) होती है। रक्त मार्ग से जीवाणुओं का प्रवेश होने पर संस्थानगत लसीका ग्रन्थियां फूलती हैं। उनको **तृतीयक लसीका-ग्रन्थि वृद्धि** (Tertiary bubo **टशियरी ब्यूबो**) कहा जाता है। प्रारम्भिक लसीका वृद्धि में लसीका ग्रन्थि में वृद्धि होने के ४-५ दिन बाद जीवाणुओं के विष के कारण सड़न उत्पन्न होता है। ग्रंथि मृदु हो जाती है और काटने पर उससे पूय तथा ग्रन्थि के सड़े-गले भाग निकलते हैं। द्वितीयक लसीका वृद्धि में सड़न नहीं होता न आस-पास के धातुओं में शोथ ही, (जैसा कि प्राथमिक में होता है) पाया जाता है। जीवाणु के प्रारम्भ में ही रक्त द्वारा शरीर में प्रवेश होने से, लसीका ग्रन्थियों में वृद्धि न होकर, आमाशय, यकृत, प्लीहा, अन्त्र, हृदय, फुफ्फुस, वृक्क, **रसकृत कलायें** (Serus memberane) इनमें प्रवेश करके रक्तस्राव तथा शोथ उत्पन्न करते हैं। इसके कारण, यकृत तथा प्लीहा बढ़ती है। ब्रांको न्यूमोनिया तथा रक्तवाहिनियों में रक्त जमना ये विकार उत्पन्न होते हैं। जीवाणु रक्त में प्रविष्ट होने के बाद सबसे अधिक बढ़ते हैं। मृत्यु के समय इनकी संख्या सबसे अधिक रहती है। श्वास मार्ग से फुफ्फुस में जब जीवाणु प्रविष्ट होते हैं तब दोनों फुफ्फुस विकृत होते हैं और इस समय ब्रांको न्यूमोनिया अथवा इन्फ्लुयेंजा (वातश्लैष्मिकज्वर) की भांति लक्षण उत्पन्न होते हैं।

रक्तपरीक्षा में—श्वेतकण २० हजार प्रति क्यूबिक मिलीमीटर में बढ़ते हैं, लालकणों की संख्या ६० लाख तक बढ़ती है। मृतजीवाणुओं से जो विष बनता है वह रक्त से परिभ्रमण करता हुआ रक्तवाहिनियों की अन्तःकला का नाश कर त्वचा, श्लैष्मिक त्वचा, रसयुक्त कला (सीरस मेम्ब्रेन) आदि में रक्तस्राव करता है तथा यकृत, हृदय और वृक्क में कृष्ण शोथ (Cloudy Swelling) **तथा क्लाउडी स्वेलिंग मेदापक्रान्ति** (Fatty degenaration) उत्पन्न होती है।

लक्षण—"कक्षभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारणाः। अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसन्निभाः ॥ सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा हन्ति. मानवम् । तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सर्वदोषजाम् ॥

कक्षभाग में (वंक्षण तथा कक्षभाग में) मांस को विदीर्ण करनेवाले, प्रज्वलित अग्नि के समान, अन्तर्दाह तथा ज्वर को उत्पन्न करने वाले, स्फोट उत्पन्न होते हैं । ७ वें, १० वें अथवा १५ दिन के अन्दर मनुष्य को यमालय का रास्ता दिखाते हैं । उसे अग्निरोहिणी कहते हैं । यह सर्वदोषज तथा असाध्य व्याधि है ।

जीवाणु—के प्रवेश होने के बाद ३ दिन में (कभी-कभी २ से १५ दिन में भी) रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं । **इस रोग के ४ प्रकार होते हैं—**

१ क्षुद्र प्लेग—में सौम्य स्वरूप का रोग होता है । दंश के स्थान पर विस्फोट उत्पन्न होता है । उस स्थान के पास की लसीका ग्रन्थियों में शोथ होता है । ज्वर भी मृदु होता है । रोगी के चलने-फिरने में बाधा नहीं होती । यह बहुत थोड़े रोगियों में दिखाई देता है ।

२ ग्रन्थिक प्लेग—यही प्रकार साधारणतया पाया जाता है । इसमें शीत के साथ ज्वर चढ़ता है । वह १०३-१०४ तक बढ़ता है । ज्वर के पूर्व शिर के पूर्व भाग में पीड़ा तथा बेचैनी, चित्त विभ्रम ये पूर्वरूप होते हैं । ज्वर १०४ तक पहुँचने पर बेचैनी तथा पीडा और चित्त विभ्रम और भी बढ़ते हैं । नेत्र लालिमायुक्त, मुख रक्तवर्ण, चलते समय पैर लड़खड़ाते हैं, रोगी तुतलाता है, सुस्ती, थकान तथा दौर्बल्य मालूम होता है । रोग प्रारम्भ होने के दूसरे दिन वंक्षण प्रदेश में **यदि दंश शरीर के ऊर्ध्वभाग में हुआ तो कक्ष वा ग्रीवा में** शोथ उत्पन्न होता है । अधिकतर ग्रन्थियां वंक्षण प्रदेश में ही निकलती हैं । ग्रीवा की ग्रन्थि का शोथ होना (गिल्टी) सबसे अधिक भयङ्कर तथा वंक्षण की ग्रन्थिवृद्धि सबसे कम हानिप्रद होती है । रोगी बाहु को दूर रखकर अथवा जङ्घा पर टाँग को सिकोड़कर रखता है जिससे रुग्ण अङ्ग पर भार न पड़े । दुर्बल रोगियों में दूसरे वा तीसरे दिन से हृदय दुर्बल, नाड़ी मन्द तथा शीघ्रगामिनी, रक्तभार कम, मूत्र की मात्रा कम, रक्त तथा अल्ब्यूमिनयुक्त, प्रलाप, मूर्च्छा तथा संन्यास ये लक्षण उत्पन्न होते हैं । रोगी छठे, सातवें दिन नश्वर संसार से सम्बन्ध छोड़ देता है । यदि रोग सौम्य स्वरूप का हुआ तो पाँचवें दिन से ज्वर शनैः २ कम होकर एकदम उतर जाता है तथा बढ़ी हुई लसीका ग्रन्थि (गिल्टी) की पीड़ा कम होती है । कभी २ वह बैठ जाती है । यदि ऐसा न हो तो दूसरे सप्ताह में उसमें पूय पड़ती है । पूय के कारण अनियमित ज्वर भी हो जाता है ।

३ रक्तगत प्लेग—यह कभी २ उपद्रव के रूप में भी होता है । ज्वरादि लक्षण इस प्रकार में अधिक तीव्र प्लीहा बढ़ती है, हृदयावसाद के लक्षण होते हैं । कुछ ही दिन में रोगी की जीवनलीला समाप्त होती है ।

प्रधान स्वरूप का रोग—शिर के सामने के भाग में तीव्र पीड़ा वमन तथा ज्वर के साथ प्रारम्भ होता है । शरीर के विविध अङ्गों में रक्तस्राव तथा श्वास की गति भी बढ़ती है । शरीर के सभी भागों में स्थित लसीका ग्रन्थियां फूलती हैं । इसमें प्रारम्भिक लसीका ग्रन्थि वृद्धि (जिसे सम्प्राप्ति में देख चुके हैं) नहीं होती । दो-तीन दिन में ही रोगी प्रलाप, संन्यास तथा अवसाद के कारण यमालय का पथिक बनता है ।

४ फुफ्फुसगत प्लेग—यह प्रधान तथा गौण स्वरूप का होता है । प्रारम्भिक ग्रन्थिवृद्धि (गिल्टी) यदि कक्ष अथवा ग्रीवा में प्रकट होवे तो इस प्रकार की अधिक सम्भावना होती है । इस प्रकार में रोगी के खांसने, छींकने । बातचीत करते तथा श्वास-प्रश्वास के समय असंख्य जीवाणु थूक वा उच्छ्वास के साथ बाहर निकल कर दूसरे मनुष्यों के श्वास-प्रश्वास मार्ग से

फुफ्फुस में प्रविष्ट होकर प्लेग उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार के प्लेग में पिस्सू की आवश्यकता नहीं होती। जीवाणु के फुफ्फुस में प्रवेश होने पर निमोनिया की भाँति फुफ्फुस में घनता उत्पन्न हो जाती है। फुफ्फुस में जीवाणु बहुत बढ़ते हैं और उनके रक्त में मिलने से रक्तगत प्लेग उत्पन्न होता है। इस प्रकार में ज्वर शीत के साथ एकाएक प्रारम्भ होता है। शिरःशूल, पिण्डलियों में ऐठन, हाथ पैर में पीड़ा, कास, नाड़ी तथा श्वास की गति बढ़ना, रक्तभार कम, शरीर पर नीलिमा दीख पड़ना, थूक पतला तथा फेनयुक्त अधिक तथा रक्तवर्ण होता है। थूक में प्लेग के असंख्य जीवाणु रहते हैं। शरीर में स्थान २ पर रक्तस्राव भी होता है। प्राथमिक गिल्टी न निकलकर, त्वचा की ग्रन्थियां कुछ फूलती, प्लीहा बढ़ती है। फुफ्फुस में विकार (घनता आदि) बीच में होने के कारण उसके लक्षण बहुत अस्पष्ट होते हैं।

आन्त्रगत प्रकार—भी कभी २ पाया जाता है। इसमें गिल्टी नहीं निकलती, वमन, पित्तयुक्त रक्त मिले हुये, दुर्गन्धयुक्त पतले दस्त होते हैं। तन्द्रा, प्रलाप, मूर्च्छा, आक्षेप इत्यादि लक्षण इसमें होते हैं।

त्वचागत प्रकार—भी अत्यन्त कम होता है। इसमें चर्म में विद्रधि **जहरवाद** (Carbuncle **कारबंकल**), चर्मशोथ ये लक्षण अधिक होते हैं।

उपद्रव—न्यूमोनिया, जीवाणुमयता, रक्त-प्रवाह, गर्भवती स्त्रियों में गर्भ नष्ट होना, कर्णमूलिक शोथ, नेत्रशोथ (Pan opthalmitis **पैन आप्थलमाइटिस**) तथा विस्फोट, जहरवाद।

अनुगामी विकार—मूकता, शरीर की पेशियों का घात ये अनुगामी विकार होते हैं।

निदान—आस-पास चूहों के मरने का इतिहास, गिल्टी, ज्वर, मुख तथा नेत्रों की रक्तिमा, तुतलाना, फुफ्फुसगत प्रकार में रक्तवर्ण फेनयुक्त तथा अधिक मात्रा में थूक निकलना, रसायनशाला यदि समीप हो तो गिल्टी से (सुई द्वारा रस) या विस्फोट से स्राव लेकर रंजन करके सूक्ष्मदर्शकयन्त्र पर परीक्षा करने से प्लेग के जीवाणु मिलते हैं। उनको उचित माध्यम में (पोषक पदार्थ के विलयन में) रखकर वृद्धि भी कर सकते हैं।

रक्तपरीक्षा—श्वेतकणों की संख्या बढ़ती है और उसमें लिम्फोसाइट अधिक बढ़ते हैं। मृत्यु के पूर्व रक्त में सदा जीवाणु मिलते हैं। रक्तगत जीवाणुओं को सूक्ष्मदर्शक द्वारा देखा तथा उनका वर्धन किया जा सकता है।

सापेक्ष निदान—इसे उपदंश अथवा फिरंगजन्य लसीका वृद्धि (Climatic bubo **क्लाइमेटिक ब्यूबो**) से विषमज्वर, आन्त्रिक तथा निमोनिया से पृथक् करना चाहिये।

साध्यासाध्यता—प्रायः असाध्य रोग है। विशेषकर रक्तगत तथा फुफ्फुसगत प्लेग असाध्य होता है। ग्रन्थिक प्लेग में भी अधिकतर मृत्यु (६० से ७० प्रतिशत) होती है। स्थान की दृष्टि से ग्रीवा तथा कक्ष की गिल्टी अधिक घातक होती है। तन्द्रा, प्रलाप, नाड़ी की गति शीघ्र, रक्तभार में कमी, रक्त में जीवाणु मिलना, ज्वर का अत्यन्त तीव्र होना, शरीर में स्थान-स्थान पर रक्तस्राव होना ये इस रोग के असाध्यता-सूचक लक्षण हैं। पूय उत्पन्न होने के समय तक यदि रोगी को बचाया जा सके तो उसके जीवन की बहुत कुछ आशा हो सकती है।

चिकित्सा—

१ खाने के लिये—चण्डेश्वर रस १ रत्ती की मात्रा में प्रातः, सायम् मधु से चटाना चाहिये।

२ गिल्टी पर बांधने के लिये—नागफनी का छिल्का उतार कर उसके गूदे पर **आमाहल्दी** का कल्क प्रलिप्त करके तथा गरम करके उसे ग्रन्थि पर बांधना। प्रतिदिन सुबह स्थान को उष्ण जल से स्वच्छ करके दूसरी **नागफनी** को पूर्व की भांति बनाकर लगाना चाहिये।

पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार चिकित्सा—

इस रोग की कोई खास (Spacific **स्पेसिफिक**) चिकित्सा नहीं है। लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी को विस्तरे पर आराम करना, द्रवप्रधान सुपाच्य आहार, वमन हो तो वर्फ चूसना चाहिये। यदि विबन्ध हो जाये तो **मैगसल्फ** (Magsulph) देना चाहिये। ज्वराधिक्य (तीव्र सन्ताप) के लिये शीतोपचार (वर्फ की थैली, शीत जल की पट्टी सर पर रखना), नींद न आने पर **पोटेशियम ब्रोमाइड** १५ से ३० अथवा **ल्यूमिनाल** आधी से १ रत्ती सोते समय देवें। हृदय का विशेष ध्यान रखना चाहिये। जीवाणु के विष के कारण हृदय बहुत दुर्बल रहता है। इसके लिये **डिजिटेलिन,** तथा **स्ट्रिकनीन** का प्रयोग करना चाहिये।

प्रधान चिकित्सा—

(१) **हैफकीन** का **प्लेग नाशक सीरम** देना चाहिये। मात्रा ६० से १०० सी० सी०।

(२) **मर्क्यूरो क्रोम** तिर्यक् पातित जल में इसका १० प्रतिशत घोल बनाकर, २० सी०सी० की मात्रा में सिरा द्वारा प्रतिदिन एक बार सुई से (by injeotion) प्रविष्ट करना चाहिये।

(३) अथवा **आयोडीन** २४ ग्रेन, **पोटेशियम आयोडाइड** ३६ ग्रेन **तिर्यक् पातित** जल २ औंस।

इस मिश्रण में से १ सी० सी० प्रतिदिन प्रविष्ट करना चाहिये। मात्रा को शनैः शनैः बढ़ाते हुए सुई देना चाहिये।

स्थानिक चिकित्सा-गिल्टी को सेकना तथा उस पर **ऐन्टीफ्लोजिस्टिन** लगाना चाहिये। पूय पड़ने पर शस्त्रकर्म द्वारा पूय निकाल देना चाहिये।

इति ग्रन्थिकज्वरवर्णनम्।

अथ वातश्लैष्मिकज्वरवर्णनम्—

पर्याय—इन्फ्लुयेञ्जा (Influenza) वातश्लैष्मिक ज्वर।

रोग की व्याख्या—यह तीव्र औपसर्गिक व्याधि है। इसमें ज्वर, दुर्बलता, और श्वास संस्थान के विकार उत्पन्न होते हैं।

कारण—इसका कारण सन्दिग्ध है। कुछ लोग **बैसीलस इन्फ्लुयेञ्जा** अथवा **फीफर** के जीवाणु को इसका कारण मानते हैं। यह जीवाणु रोग के प्रारम्भ में नहीं मिलता अथवा कम मिलता है। उत्तरकाल में थूक तथा शरीर के अन्य द्रव्यों में मिलता है। कुछ लोग एक निस्यन्दनशील (जो कि फिल्टर पेपर से छानने पर छने हुए द्रव्य में चला जाता है) स्वरूप के जीवाणु को मानते हैं। कुच लोगों ने उस जीवाणु का प्रत्यक्ष करके **बैक्टीरियम न्यूमो सिन्टिस** नाम दिया है। इसे सब शास्त्रज्ञ नहीं स्वीकार करते किन्तु वे भी नित्यन्दनशील जीवाणु को कारण मानते हैं। **बैसीलस इन्फ्लुयेञ्जा** अत्यन्त छोटा जीवाणु है। यह वृत्ताकार होता है।

जीवाणु का स्थान—रोगियों की नासा पश्चिम भाग तथा नासा में श्वास प्रणाली तथा फुफ्फुस में रोग के जीवाणु मिलते हैं।

नासास्राव के साथ अथवा खांसते-छींकने के साथ भी रोगी की नासा से जीवाणु निकलते हैं। और थूक नासास्राव अथवा वायु में मिले हुए इन जीवाणुओं के सम्पर्क से मनुष्य संक्रमित होता है यह किसी एक स्थान पर सीमित रहता है अथवा इसके देशव्यापी मरक भी फैलते हैं। कभी २ इसकी महामारी सारे संसार में फैलती है। जैसे १८९२ तथा १९१८ में आयी थी। इस प्रकार का मरक १० से ४० साल के बाद एक बार आता है। मरक के समय रोग अत्यन्त शीघ्रता से फैलता है।

सम्प्राप्ति—निस्यन्दनशील जीवाणु के कारण इस रोग की उत्पत्ति होती है। श्वास-प्रश्वास के साथ यह निस्यन्दनशील जीवाणु नासा से होकर गले में जाता है तथा शरीर की शक्ति कम कर देता है। इसके बाद **बैसीलस इन्फ्लुयेञ्जा** तथा **स्ट्रेप्टोकोकस, न्यूमोकोकस, मैक्रोकोकस, कटारेलिस** तथा **स्टैफिलोकोकस** ये जीवाणु प्रविष्ट होकर **इन्फ्लुयेन्जा** रोग उत्पन्न करते हैं। जो जीवाणु फुफ्फुस में प्रवेश करता है उससे श्वास प्रणाली तथा फुफ्फुस में शोथ उत्पन्न होता है। फुफ्फुस के भीतर रहने वाले वायुकोशों (air sacs एयर सैक्स) का **पतन** (Collapse कोलैप्स) फुफ्फुस में रक्त का अधिक सञ्चार, श्वासनलिकाओं के समीप रहनेवाली लसीका ग्रन्थियों में शोथ होता है। कुछ जीवाणु नासा से होकर चालनी पटल (झर्झरास्थि के भीतर के सूक्ष्म छिद्रों) से होते हुए मस्तिष्क में पहुँचकर वहां पर शोथ उत्पन्न करते हैं। गले के भीतर जीवाणुओं का प्रवेश होने से अन्नस्रोत में शोथ आदि लक्षण होते हैं। जीवाणु जब २ रक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं तब २ जीवाणुमयावस्था उत्पन्न करते हैं। रक्तपरीक्षा में रक्तकणों की संख्या में फर्क नहीं होता श्वेतकणों की संख्या घटती है। **बहुकेन्द्रिय** तथा **इयोसिनोफिल** घटते **लिम्फोसाइट** बढ़ते हैं। कभी २ इन जीवाणुओं से **उरःपूय** (Empyema **एम्पाइमा**) उत्पन्न होता है।

लक्षण—जीवाणु के शरीर में प्रविष्ट होने के कुछ घंटे से ५ दिन में रोग उत्पन्न होता है। आक्रमण एकाएक होता है। कुछ ही काल में दौर्बल्य के कारण रोगी किसी भी कार्य को करने में अपने को असमर्थ पाता है। शीत, ज्वर, सर्वाङ्ग में असहनीय वेदना, शिरःशूल, पीड़ा, खांसी, मुखशोष और लालिमा के साथ इस रोग का प्रारम्भ होता है। शरीर का जो अंग विशेषतया विकृत होता है उसी अंग के लक्षण विशेषतया उत्पन्न होते हैं।

इसके ४ प्रकार पाये जाते हैं। **ज्वरयुक्त, फौफ्फुसिक, आन्त्रिक तथा वातिक।**

१—ज्वरयुक्त प्रकार—तीव्र शिरःशूल के साथ ज्वर एकाएक १०२ से १०४ अंश तक पहुँच जाता है। मलावरोध, श्वसन शीघ्र २ होना, प्यास लगना, मूत्र गाढ़ा तथा कम मात्रा में, जीभ मैली सांस दुर्गन्धित ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। नासा से रक्तस्राव, प्लीहा तथा गले की लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि तथा प्रतिश्याय ये लक्षण होते हैं। रोज ज्वर उतरता है। पर ज्वर उतरने पर भी शरीर की पीड़ा तथा कमजोरी धीरे २ कुछ दिन में दूर होती है। ज्वर अधिक से अधिक ८ दिन हो सकता है इससे अधिक ज्वर चलने पर किसी उपद्रव का अनुमान करना चाहिये।

२—फुफ्फुसगत प्रकार—प्रारम्भ में ज्वर, शरीर में पीड़ा, नासास्राव, दुर्बलता, नासावरोध, श्वासकृच्छ्र ये लक्षण सामान्यतया रहते हैं। ३–४ दिन पश्चात् फुफ्फुस के विकार अधिक प्रबल हो जाते तथा अर्धविसर्गी ज्वर, प्रलाप, कास तथा रक्तष्ठीवन होता है। न्यूमोनिया (श्वसनक ज्वर)के समान लक्षण होते हैं। थूक अत्यन्त कम होता है अथवा कुछ भी नहीं निकलता। जब थूक निकलता है उसका रङ्ग गुलाबी तथा किञ्चित् झागयुक्त होता है। तथा श्लेष्मा सहज ही में खांसते समय निकल जाता है, कभी १ श्लेष्मा चिपकने वाला, रक्त वर्ण, भूरा अथवा केशर के रङ्ग का होता है। इस के साथ ही मुख पर अत्यधिक नीलिमा रहती है। नीलिमा रोग की कृच्छ्रसाध्यता सूचित करती है। इस नीलिमा का कारण, प्राण वायु की कमी है। वायुकोषों के स्राव से भर जाने के कारण पर्याप्त वायु फुफ्फुस में नहीं पहुँच पाती। इस नीलिमा से १२ से २४ घंटे बाद प्रायः मृत्यु होती है किसी भी प्रकार की चिकित्सा करने से रोगी २ से ६ दिन में कभी-कभी १ही दिन में मानवलीला संवरण करता है। कभी-कभी हृदय की गति रुकने के कारण प्रथम दिन में भी मृत्यु हो जाती है।

३—आन्त्रिक प्रकार—इसमें ज्वर कम, जी मिचलाना, वमन, अग्निमान्द्य, आमाशय के ऊपरी भाग तथा नाभि के पास स्पर्शनाक्षमता तथा पीड़ा और कभी २ वेदना भी रहती है।

कामला तथा प्रवाहिका भी उत्पन्न हो जाती है। मरक के समय यह प्रकार नहीं पाया जाता है। जब रोग किसी स्थान पर सीमित रहता है उस समय यह प्रकार अधिक पाया जाता है।

४—वातिक प्रकार—तीव्र ज्वर, शिरःशूल, शरीर में वेदना, प्रलाप, निद्रानाश, नाड़ीशूल, मूर्च्छा आदि वातिक (नाड़ीसंस्थानगत) लक्षण अधिक होते हैं।

उपद्रव तथा इससे होने वाले रोग—

इस रोग में होने वाले ज्वर, सर्वाङ्ग में पीड़ा, शिरःशूल तथा प्रतिश्याय के अतिरिक्त अन्य प्रलाप आदि सारे लक्षण ज्वर के उपद्रव हैं।

श्वास संस्थान से सम्बन्धित निम्न उपद्रव होते हैं—

न्यूमोनिया, ब्राङ्कोन्यूमोनिया, फुफ्फुसावरणशोथ, श्वासप्रणाली विस्तार, श्वास, राजयक्ष्मा।

हृदय तथा रक्तवह संस्थान के उपद्रव—हृदय की दुर्बलता, हृदय की पेशी में शोथ, हृदय का विस्फार, धड़कन, हृदय की गति में शीघ्रता होना, अथवा—हृदय की गति मन्द होना, हृच्छूल, हृदय के सामने के भाग में बेचैनी, श्वास लेने में कठिनता तथा चक्कर आना, शिराओं में रक्त कभी कभी जमता है।

मस्तिष्क संस्थान के निम्न उपद्रव उत्पन्न होते हैं—मस्तिष्कावरणशोथ, एकाङ्गवात, पक्षाघात, मस्तिष्क-विद्रधि, ऊरुस्तम्भ, शिरःशूल, आत्महत्या करने की इच्छा, उन्माद, बुद्धि, भ्रम, ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त, वृषणशोथ, पेशीशोथ, आंत्रपरिशिष्टशोथ (एपेण्डिसाइटिस्) मध्यकर्णशोथ, कर्णमूलशोथ भी उपद्रव के रूप में प्रकट होते हैं।

रोग की अवधि तथा साध्यासाध्यता—उपद्रव न उत्पन्न हो तो रोग प्रायः सातवें दिन उतर जाता है। रोग स्वयं घातक नहीं किन्तु न्यूमोनिया, मस्तिष्कावरणशोथ, हृदयदौर्बल्य इन उपद्रवों से मृत्यु होती है। प्रलाप, निद्रानाश तथा मूर्च्छा, नीलिमा आदि लक्षणों को देख कर तथा यदि रोगी दुर्बल और मद्यपान करता हो तो रोग असाध्य समझना चाहिये।

सापेक्षनिदान—न्यूमोनिया, ब्रांकोन्यूमोनिया, आन्त्रपरिशिष्टशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, प्रसूतिज्वर तथा विषमज्वर इन रोगों से इसे पृथक् करना चाहिये।

चिकित्सा—शुद्ध वायु तथा प्रकाशयुक्त कमरे में आराम करना, शीत से बचना, मलावरोध के लिए मृदु विरेचन हरीतकी चूर्ण अथवा कैलोमल, मैग सल्फ (Mag. Sulph) देना चाहिये।

प्रधान चिकित्सा—

(१) **श्वासकासचिन्तामणि** एक रत्ती, **कस्तूरी** एक सरसो के बराबर मधु से प्रातःकाल चाटना।

(२) **महालक्ष्मी विलास ½** रत्ती, **श्रृङ्गाराभ्र ½** रत्ती, **नरसार** ३ रत्ती।

१ मात्रा

शाम को मधु से चाटना।

पाश्चात्य-मतानुसार चिकित्सा—इस रोग की कोई विशेष औषधि नहीं है। लक्षणों के उत्पन्न होने पर उनके अनुसार चिकित्सा की जाती है। **डोवर पाउडर** (Dover's powder) ५-१० ग्रेन **पोटास साइट्रेट** (Potas citrate) १५ से १० ग्रेन, **लाइकर एमोनिक ऐसिटेटिस** (Liquor Amonia Acitates) १-२ ड्राम, **स्पिरिट इथेरिस नाइट्रोसाई,** (Spt. Etheris Nitrosi) इनके साथ **सोडा सैलिसिलास** १० ग्रेन मिलाकर उपयोग करना चाहिये। श्वसन स्थान के विकार के लिए **टिंचर बेंजाइन** को ४ ड्राम **यूकैलिप्टस आयल** १ ड्राम

१ पाइण्ट उबलते हुए पानी में मिलाकर रोगी को सुंघाना चाहिये। वक्ष पर सरसों पीस कर लेप करना चाहिये। **ऐन्टी फ्लौजिस्टीन** को वक्ष पर रखना चाहिये। पीने के लिये निम्न मिश्रण देना चाहिये—

सीरप क्लोरल	आधा ड्राम
एमोनियम ब्रोमाइड	२० ग्रेन
ऐक्स्ट्रैक्ट ग्लीसिराइझालिक्डि	२० बूंद
पानी	१ औंस

इस मिश्रण को प्रत्येक ४-४ घण्टे पर देना चाहिये। निद्रानाश के लिए निद्राकर **ल्यूमिनाल** ½ ग्रेन से १ ग्रेन अथवा **वेरोनाल** ५-१० ग्रेन या, **पोटाश ब्रोनाल** १५-३० ग्रेन की मात्रा में देना चाहिये। न्यूमोनियां के लिए न्यूमोनिया (कर्कटक सन्निपात या श्वसनक ज्वर) की चिकित्सा करें। मस्तिष्कावरणशोथ उत्पन्न होने पर कटिवेध करके इन्फ्लुयेञ्जा-विरोधी लसीका सुषुम्ना में प्रविष्ट करना चाहिये। **स्ट्रेप्टोकोकस हीमोलिटिकस** के कारण रोग की तीव्रता बढ़ती है। अतएव **स्ट्रेप्टोकोकस** विरोधी लसीका उपयोग प्रारम्भ से ही करना चाहिये।

रोगनिवृत्ति होने पर महीनों तक पथ्य से रहना तथा आराम करना चाहिये। लौह, कुचला, संखिया आदि बल्य ओषधियों का उपयोग करना चाहिये। शीत से बचना चाहिये।

इति वातश्लैष्मिकज्वरवर्णनम्।

अथ दण्डकज्वरवर्णनम्—

पर्याय—हड्डी तोड़ बुखार (Break bone fever.)–Dengue fever (**डेंग्यूफीवर**)।

कारण—इसके कारणभूत जीवाणु का अन्वेषण नहीं हो सका है। भारत में मद्रास, बम्बई, बङ्गाल, आसाम तथा ब्रह्मदेश इन स्थानों में यह अधिक पाया जाता है। शरद् ऋतु में विशेषतया दिखाई पड़ता है। सारे साल भी होता रहता है।

प्रसार—स्टेगोमीया फैशियेटा (Stegomyia fasciate) नामक मच्छर के दंश करने से इनका संक्रमण होता है। इस रोग से युक्त प्राणी को जब उक्त मच्छर दंश करता है तब कुछ जीवाणु उसके आमाशय में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसके बाद मच्छर के शरीर में १२ दिन के भीतर कुछ परिवर्तन होते हैं, जिसके बाद वह मच्छर आजीवन रोग का संक्रमण दूसरे मनुष्यों में दंश के द्वारा कर सकता है।

सम्प्राप्ति—शरीर में जीवाणु का प्रवेश होने पर कूर्पर-सन्धि के ऊपर रहने वाली ग्रन्थियां फूलती हैं। प्लीहा कभी-कभी स्पर्शलभ्य होती है। रक्त में रोग के प्रारम्भ के तीन दिनों में विष रहता है। श्वेतकण घट कर ३ से ४ हजार तक रह जाते हैं। बहुकेन्द्रीय कण बहुत कम तथा एक-केन्द्रीय कण अधिक बढ़ते हैं। ज्वर उतर जाने पर **इयोसिनोफिल** की संख्या बढ़ जाती है।

लक्षण—ज्वर—अकस्मात् आरम्भ होता है कुछ घण्टों में १०४ अंश तक बढ़ जाता है। ज्वर तीसरे दिन कुछ कम होता है। पांचवें दिन फिर बढ़ता है। इसके बाद सातवें दिन उतर जाता है।

पीड़ा—शिर, नेत्र, कमर तथा हाथ-पैरों में तीव्र पीड़ा होती है। ऐसा प्रतीत होता है मानों हड्डियाँ टूटी जा रही हों। इसी पीड़ा के कारण **हड्डीतोड़ बुखार** इसका नामकरण किया गया है। शरीर अकड़ती है।

विस्फोट—शरीर पर विस्फोट प्रायः निकलते हैं। पहले या दूसरे दिन में विस्फोट मुख, गले तथा वक्ष पर दिखाई पड़ते हैं। इनके कारण ये स्थान लाल दिखाई पड़ते हैं। एकाध दिन बाद विस्फोट मिट जाते हैं। चौथे या पांचवें दिन दूसरी बार ज्वर के चढ़ने के साथ ही साथ विस्फोट

निकलते हैं । ये धड़, शाखाओं तथा हथेलियों पर अधिक दिखाई देते हैं । इनके मुर्झाने पर चर्म भूसी की भाँति निकलता है । कभी-कभी ये विस्फोट नहीं भी दिखाई देते हैं ।

नाड़ी—प्रारम्भ में नाड़ी की गति ज्वर के अनुसार बढ़ती है पर उत्तरोत्तर मन्द होती जाती है । यहां तक कि १०२ अंश ज्वर होने पर भी नाड़ी की गति स्वाभाविक रहती है । इसके अतिरिक्त, दुर्बलता, निद्रानाश, तीव्र ज्वर, प्रलाप, जी मिचलाना, वमन, क्षुधानाश, जीभ मैली, विबन्ध ये लक्षण होते हैं ।

उपद्रव—बहुत कम उत्पन्न होते हैं । निम्नलिखित उपद्रव हो सकते हैं । रक्त-प्रवाह, अल्ब्यूमिन मेह, प्रवाहिका, वृषण शोथ, कर्णमूलिक शोथ, तीव्र ज्वर, नेत्राभिष्यन्द ।

साध्यासाध्यता—यह सुसाध्य रोग है । बाल, वृद्ध तथा दुर्बलों में कभी-कभी मारक होता है । बालकों में नासा से रक्तस्राव, प्रलाप आदि लक्षण अधिक होना तथा तीव्र ज्वर इनसे मृत्यु होती है ।

चिकित्सा—आराम, हल्का, लघुभोजन, स्वच्छता, द्रवप्राय आहार, वमन अथवा उत्क्लेश में बर्फ चूसना, निद्रानाश के लिए **ब्रोमाइड (पोटशियम ब्रोमाइड** १५-३० ग्रेन) अथवा **ल्यूमिनाल** ½ से १ ग्रेन सोते समय देना चाहिए । वेदना के लिए **मदार का पत्ता** गरम करके बांधना अथवा **बेलाडोना** का **प्लास्टर** लगाना अथवा **ए० बी० सी० लिनिमेन्ट** का लेप करना चाहिये । तथा **एस्पिरीन कैफीन** वा **फेनासिटीन** वा **अफीम का सत्त्व (मार्फिया)** का उपयोग करना चाहिये । इस रोग में वास्तव में कम से कम छेड़-छाड़ करना चाहिये । यदि लक्षण अधिक तीव्र होवे तभी ऊपर कही चिकित्सा पद्धति का अवलम्बन करना चाहिये । ज्वरमोक्ष के समय **एस्पिरीन** नहीं देना चाहिये ।

रोग से निर्मुक्त होने पर **लौह, कुचिला** तथा **संखिया** के शक्तिप्रदयोग, पुष्टिकारक, बलवर्द्धक आहार करना चाहिये । **नारायण तैल का** शरीर में अभ्यंग करना चाहिये । स्थानपरिवर्तन भी इसमें विशेष लाभप्रद है ।

इति दण्डकज्वरवर्णनम् ।

अथ गर्दनतोड़बुखारवर्णनम्—

पर्याय—गर्दनतोड़ बुखार, मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर, सेरिब्रोस्पाइनल फीवर (Ceribro spinal fever), सेरिब्रोस्पाइनल मेनिञ्जाइटिस (Ceribro spinal Meningitis)

व्याख्या—इस ज्वर की उत्पत्ति **मेनिंगोकोकस** (Meningo Coccus) नाम के जीवाणु के प्रवेश करने से होती है । इसमें मस्तिष्क और सुषुम्ना के आवरण में शोथ तथा शरीर की पेशियों का अकड़ जाना तथा उसमें पीड़ा ये लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

कारण—मेनिंगोकोकस नाम का एक सेम के बीज के आकार का (वा-वृक्क के आकार का) जीवाणु इसका कारण है ।

सहायक कारण—भारतवर्ष में यह रोग वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में होता है । १५-३० वर्ष की आयु तक यह रोग अधिक होता है । योरोप में शीत काल में अधिक होता है, नासिका के रोग, शीत, प्रतिश्याय तथा गले के रोग इसकी उत्पत्ति में सहायता देते हैं । घनी बस्ती, बड़े-बड़े शहरों में तथा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में रोग अधिक देखा जाता है । शक्ति से अधिक श्रम, मन पर आघात पहुँचना तथा दुर्बलता ये इसके प्रकार सहायक कारण हैं ।

संक्रमण—इसका एक मनुष्य से दूसरे पर संक्रमण रोगी के खाँसते, छीकते समय थूक के साथ निकले तथा नासामार्ग से निकले हुये जीवाणुओं के द्वारा होता है । ये जीवाणु वायु में मिलकर स्वस्थ मनुष्य में प्रविष्ट होते हैं । स्राव से दूषित वस्त्र आदि से इसका कम संक्रमण होता है ।

संप्राप्ति—वायु मिले हुये जीवाणु नासा पश्चिम भाग में पहुँचते हैं। वहाँ से मस्तिष्क में पहुँच कर उसके आवरण में शोथ उत्पन्न करते हैं। मस्तिष्क तथा सुषुम्ना में तथा इनके आवरण में भी शोथ उत्पन्न होता है। मस्तिष्क के भीतर पूय (Pus पस) उत्पन्न होता है। सिर **पूयशीर्ष** (Pyo Cephalus **पायो कैफेलस**) तथा **जलशीर्ष** (Hydro Cephalus **हाइड्रो कैफेलस**) की भाँति हो जाता है। मस्तिष्क की दरारों में लसीका एकत्रित होती है। **मस्तिष्क के कोटर** (Ventricles) विस्फारित होते हैं। उनके लसीका और पूय एकत्र हो जाती हैं। मस्तिष्क में स्थान-स्थान पर रक्तस्राव भी होता है। फुफ्फुस, यकृत और वृक्क में रक्त की अधिकता होती है। मस्तिष्कगत स्राव की परीक्षा करने पर उसमें भी श्वेतकण मिलते है, उनमें बहुकेन्द्रीय श्वेतकण अधिक रहते हैं। रक्तकण तथा रोग के जीवाणु मेनिंगोकोकस मिलते हैं।

रक्तपरीक्षा—बहुकेन्द्रीय श्वेतकण इसमें अधिक मिलते हैं, इनकी संख्या १५००० से ३०००० तक हो सकती है। रक्त को काँच की पट्टी (स्लाइट) पर लेकर परीक्षा करने से **मेनिंगोकोकस** मिलते हैं।

लक्षण—जीवाणु प्रविष्ट होने के ५ से ७ दिन में रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं। शीत, शिरःशूल, वमन के साथ ज्वर चढ़ता है। बालकों में शीत नहीं लगती उनको आक्षेप होती हैं। ज्वर १०३ से १०४ अंश तक रहता है। लक्षण प्रारम्भ होने से ९ दिन तक यह दशा रहती है। इसके बाद वमन जोर से होने लगता है। ग्रीवा, वक्ष तथा कमर की पीछे की पेशियाँ कड़ी होते हैं तथा उनमें वेदना होती है। पेशियों के तनाव के कारण शरीर कभी धनुष की भाँति पीछे को झुक जाता है। सिर पीछे की ओर झुकता है। ऊपर की पेशियाँ भी कड़ी होती हैं। शिरःशूल तीव्रतम होता है। रोगी अचैतन्यावस्था में रहता है। पर जगाने से जागता है। ज्वर निरन्तर बना रहता है। दृष्टि में भी विकृति होती है। प्रकाश की ओर नेत्र नहीं खुलते, वस्तुयें दो-दो दिखाई देती हैं। **कनीनिका (प्यूपल)** ठीक गोल होकर विषम दिखाई पड़ती हैं। अर्दित की दशा उत्पन्न हो सकती है। नाड़ी की गति कभी शीघ्र तथा कभी मन्द हो जाती है। कभी २ ज्वर प्रारम्भ से ही १०४ से १०६ तक होता है। प्रलाप आदि लक्षण होते हैं। रक्त में जीवाणु रोग प्रारम्भ होने के बाद ही से मिलने लगते हैं। रोगी तीसरे दिन से मूर्च्छित अवस्था में रहता है। कभी-कभी नाड़ी की गति ज्वर के अनुसार न बढ़कर अत्यन्त मन्द हो जाती है। रोगी १२ घण्टे के बाद मूर्च्छित होता है। इन दशाओं में मृत्यु ही होती है।

वक्तव्य—मस्तिष्कमूल से सुषुम्ना प्रारम्भ होती है, वह कटि तक जाती है। यह ग्रीवा से कटि तक के कशेरुओं के बीच में रहने वाली नलिका में पड़ी रहती है। इसके ऊपर आवरण होते हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क में भी आवरण होता है। इस आवरण के बीच में जल की भाँति स्वच्छ लसीका रहती है। रुग्ण दशा में वह लसीका पूययुक्त तथा उसका वर्ण मटमैला होता है। तरल की राशि भी बढ़ जाती है।

सापेक्षिक रोग-निदान—इसको मन्थरज्वर, मौक्तिकज्वर (मोतीझरा), श्वसन-(कर्कटक-सन्निपात) ज्वर, वातश्लैष्मिक ज्वर (इन्फ्लुयेन्ज़ा) तथा मसूरिका और विषमज्वर के मस्तिष्कगत प्रकार से पृथक् करना चाहिये। मस्तिष्कावरण प्रकोप (Meningism मैनिंज़िज़्म) से भी पृथक् करना आवश्यक है।

रोग की अवधि—४ दिन से कुछ मास तक है। अधिकतर ६ दिन में ही रोगी काल-कवलित होते हैं।

साध्यासाध्यता—रोग कष्टसाध्य है। २ साल तक के बच्चे अधिक मरते हैं। जब इसकी महामारी फैलती है तो भी इससे लोग अधिक मरते हैं। यदि चिकित्सा देर में प्रारम्भ की जाय तो भी रोग असाध्य होता है। चिकित्सा न करने पर ८० प्रतिशत रोगी मरते हैं। मस्तिष्क सुषुम्नाजल यदि अधिक गाढ़ा तथा उसकी मात्रा अत्यधिक हो तथा रोग के लक्षण यदि प्रारम्भ से ही तीव्र हों तो रोग अवश्य घातक होता है।

चिकित्सा—समान्य चिकित्सा आराम, कोष्ठशुद्धि, मृदु विरेचन तथा वस्ति द्वारा करनी चाहिये। दूध, संतरे का लस्सी, अल्ब्यूमिन वाटर आदि का पथ्य। मूत्र न निकले तो शलाका द्वारा मूत्र निकाले, मुख को साफ रखना आवश्यक है।

(१) विशेष चिकित्सा—सुषुम्ना वेध तथा प्रक्षालन चौथे तथा पाँचवें कटिकशेरुक के बीच में इस कार्य के लिये बनी हुई विशेष प्रकार की सूचिका प्रविष्ट कर लसीका को निकाल देना चाहिये। इसके बाद जितनी लसीका निकली है उतना ही लवण विलयन १०० डिग्री तक उष्ण करके प्रविष्ट करते हैं फिर उसे निकाल कर नया लवण-जल प्रविष्ट करते हैं।

(२) मेनिंगोकोकस विरोधी लसीका **(ऐन्टी मेनिंगो कोकस सीरम)** शिरा द्वारा देवें। प्रथम दिन, ३० से ४० सी० सी० प्रतिवार प्रथम दिन २ या ३ बार इसके बाद २४ घण्टे बाद सीरम देवें, सीरम तब तक देना चाहिये जब तक कि लसीका में कुछ भी अपारदर्शकता तथा जीवाणु मिलते रहें।

सामान्य सीरम से लाभ न होने पर वैक्सीन से चिकित्सा करनी चाहिये। इसके लिये ५ से ५० दश लक्ष जीवाणु सप्ताह में दो बार प्रविष्ट करना चाहिये। प्रत्येक बार पहले से दूनी मात्रा प्रविष्ट करनी चाहिये। ६०० दश लक्ष तक लसीका पहुँच जाये तब मात्रा न बढ़ावें।

(३) **लाक्षणिक चिकित्सा**—प्रलाप तथा निद्रानाश के लिये पोटेशियम ब्रोमाइड १५-३० ग्रेन अथवा ल्यूमिनाल आधी से १ ग्रेन देवें। वेदना के लिये एस्पिरीन कैफीन, हृदय-दौर्बल्य के लिये $\frac{१}{१०००}$ ग्रेन डिजिटेलिन की सूई देना चाहिये। स्ट्रिक्नीन इस रोग में न देना चाहिये।

(४) ५ से १० प्र० श० **मरक्यूरोक्रोम** शिरा द्वारा देने से लाभ होता है।

इति गर्दनतोड़बुखारवर्णनम्।

अथ कर्णमूलिकज्वरवर्णनम् (मम्प्स् फीवर Mumps fever)—

पर्याय—पाषाण गर्दभ, हप्पू, मम्प्स्, गालोवीवी,

व्याख्या—इसमें लालाग्रन्थियों विशेष करके कर्णमूल के पास स्थित लालाग्रन्थि में शोथ होता है।

कारण—रुग्ण के लाला में विष रहता है जो खांसने, छींकने से वायु में मिलता तथा पास के (अधिक सम्पर्क में रहने वाले) व्यक्तियों में इसका उपसर्ग होता है।

सम्प्राप्ति—वायु में मिला हुआ विष मनुष्य के मुख में प्रविष्ट होता तथा लालाग्रन्थि में शोथ उत्पन्न होता है। कर्णमूल ग्रन्थि में विशेषतया शोथ होता है। अतएव उसे कर्णमूलिक नाम दिया जाता है। यह रोग शिशु तथा वृद्धों में कम तथा युवावस्था में एवम् पुरुषों में अधिक होता है।

पूर्वरूप—नीचे के जबड़े में पीड़ा, मुंह खोलने में कष्ट, शिरःशूल, कर्ण में वेदना होती है। प्रथम शोथ बायें तरफ के कर्णमूल ग्रन्थि में प्रारम्भ होती है। फिर दाईं ओर भी फैलती है। ज्वर २०२ से १०४ तक हो सकता है। दौर्बल्य अधिक रहता है। २ सप्ताह में रोग उतर जाता है।

उपद्रव—वृषण शोथ युवावस्था में प्रवेश करने वालों अथवा नवयुवकों में होता है। ७ वें या

८ वें दिन दिखाई पड़ता है। कभी २-३ सप्ताह बाद शोथ होता है। कभी २ कर्णमूलिक ग्रन्थि भी नहीं सूजती केवल वृषणशोथ ही कर्णमूलदर्शक लक्षण होता है।

स्त्रियों में बीजग्रन्थिशोथ (Ovaritis ओवराइटीस) होती है। वहां पर पीड़ा तथा स्पर्शनाक्षमता भी उत्पन्न होती है। भगद्वार तथा स्तनों में भी शोथ होता है। (अग्न्याशय) (क्लोम) शोथ, कास, न्यूमोनिया, हृदयावरणशोथ, प्रलाप, तीव्र शिरःशूल, वमन, प्रवाहिका तथा रक्तातीसार भी उत्पन्न होता है।

साध्यासाध्यता—सुसाध्य तथा मर्यादित रोग है। ३ सप्ताह में विना चिकित्सा के ठीक होता है। प्रारम्भ से विश्राम करने से वृषणशोथ तथा अन्य उपद्रव नहीं होता, वृक्क, स्वरयन्त्र, मस्तिष्कावरण आदि उपद्रव उत्पन्न होने से मृत्यु भी हो सकती है।

चिकित्सा—विश्राम करना, मुख को शुद्ध रखना, **पोटाश क्लोरेट** अथवा **उदुम्बरसार विलयन** से कुल्ला करना चाहिये। काम-क्रोधादि से विशेषतया काम से बचना चाहिये। शोथ पर सेक करके **मदार** अथवा **एरंड का** पत्ता, **कडुवे तेल** से आलिप्त कर के, उष्ण करके, बांधना चाहिये। अथवा **ग्लीसिरीन, बेलाडोना** अथवा **इक्थ्योल** का लेप करके रूई रख कर पट्टी बांध देना चाहिये। **विरेचन** यथा **हरीतकी चूर्ण** ६ माशे से कोष्ठशुद्धि करनी चाहिये। खाने के लिये तरल, पौष्टिक, कदुष्ण वा उष्ण पदार्थ देना चाहिये।

वेदना अधिक होने पर—एस्पिरीन देना चाहिये। वृषणशोथ के लिये सेकना, रूई से ढक कर लंगोट लगाना चाहिये। प्रलाप के निद्रानाश के लिये निद्राकर उपचार करना चाहिये। रोग-मुक्त होने पर भी कुछ काल तक मैथुन, सायकिल तथा घोड़े की सवारी न करना चाहिये।

इति कर्णमूलिकज्वरवर्णनम्।

अथ माल्टाज्वरवर्णनम्—

नाम का कारण—यह रोग प्रथम मध्य सागर के माल्टा नामक द्वीप में परिमित था अत एव इसे माल्टा ज्वर कहते हैं।

कारण—बैसिलस मैलेन्टेसिस नाम का जीवाणु इस रोग को उत्पन्न करता है। यह अत्यन्त छोटा तथा वृत्ताकार जीवाणु है।

स्थान—भूमध्य सागर के तटवर्ती प्रदेश, उनमें भी माल्टाद्वीप, स्पेन, पोर्तुगाल, दक्षिण अफ्रिका, उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका, चीन तथा भारत में यह रोग होता है। भारत में आसाम तथा पंजाब में होता है। पंजाब में विशेषतया पाया जाता है।

संक्रमण—इसके जीवाणु बकरी के शरीर में होते हैं। बकरी के दूध तथा दूध से बने अन्य पदार्थों द्वारा (लस्सी, मट्ठा, दही) आदि से इसका संक्रमण मनुष्य में होता है। बकरी के मूत्र तथा मल में भी जीवाणु होते हैं। इन स्थानों के प्रत्यक्ष उपयोग अथवा मक्खी तथा धूल से (जीवाणु से युक्त धूलि वा मक्खी के) खाद्य-पेय पदार्थों के सम्पर्क में आने से खाद्य-पेय में इसके जीवाणु का प्रवेश हो जाता है। इसका उपयोग करने से मनुष्य इस ज्वर से आक्रान्त होता है। **बैसिलस मेलेन्टेसिस** की दो और उपजातियां हैं। **बैसिलस एबार्टस** तथा **बैसिलस पैरामेलिन्टेसिस**। माल्टा में अधिकतर **बैसीलस एबार्टस** से पीड़ित होते हैं। मच्छर भी इस रोग का संवहन बकरी से मनुष्य पर करता है।

सहायक कारण—गर्मी में रोग होता है। बाल, वृद्धों में कम युवा में अधिक होता है।

सम्प्राप्ति—जीवाणु जब अन्त्र वा त्वचा में प्रविष्ट होने पर वहां से रक्त में चले जाते हैं। तब प्लीहा अधिक बढ़ती है। यकृत तथा वृक्क में रक्त की अधिकता होती है।

लक्षण—ज्वर प्रारम्भ के २-३ सप्ताह में न्यूनाधिक घटा-बढ़ी के साथ उच्च डिगरी तक बना रहता है। इसके बाद ८ दिन तक कुछ कम रहता है या उतर जाता है। इसके पश्चात् पुनः ज्वर बढ़ता है। इस प्रकार ज्वर के कई आवेग आते हैं। ज्वर के समय काफी पसीना आता है। त्वचा पर नवीन सूक्ष्म राजिकायें उत्पन्न होती रहती हैं। आलस्य, दौर्बल्य, गृध्रसी, नाडीशूल, कब्ज, श्वास में दुर्गन्ध, पेट में पीड़ा तथा आध्मान, प्लीहावृद्धि, यकृत तथा वृक्क में भी रक्त की अधिकता होती है। सन्धियों में पीड़ा होती है। रक्त में लालकण तथा श्वेतकण कम होते हैं। निद्रानाश, मूत्र, अल्ब्यूमिन, पेशियों की कार्यशक्ति का नाश होता है।

इसके ४ प्रकार हैं—

(१) मृदु—इसके लक्षण अत्यन्त साधारण होते हैं। १५ दिन तक अनियमित ज्वर रह कर दूर होता है। ज्वर मन्द होता है।

(२) सामान्य प्रकार—उपर्युक्त सब लक्षण इसी प्रकार के लिखे हैं।

(३) दारुण प्रकार—इसमें ज्वर एकाएक आता है। वमन तथा विरेचन, तीव्र ज्वर, प्रलाप, सर्वाङ्ग में पीड़ा ये लक्षण होते हैं।

(४) विषम प्रकार—इसमें तापक्रम प्रातःकाल में स्वाभाविक होता है। मध्याह्न में शीत के साथ १०५ या उससे अधिक ज्वर चढ़ता है। सन्ध्या में पसीना आकर ज्वर उतर जाता है।

(५) सन्तत प्रकार—इसमें ज्वर प्रारम्भ से रोग अच्छा होने तक निरन्तर बना रहता है।

रोग की अवधि—साधारणतः ३ से ४ माह तक है। कम से कम तीन सप्ताह तथा अधिक से अधिक २ साल तक रोग रह सकता है।

उपद्रव—कास, ब्राङ्कोन्यूमोनिया, नाड़ीशूल, कर्णमूलिकशोथ, वृषणशोथ, हृदयशोथ, नाड़ी मन्द या कम होना, गर्भवती का गर्भपात, अकाल प्रसव, स्तनशोथ, बालकों में मस्तिष्क तथा मस्तिष्कावरण शोथ अधिक होता है। इसे आन्त्रिकज्वर, विषमज्वर, राजयक्ष्मा, काला आज़ार, अमीबाजन्य यकृत् विद्रधि तथा शरीर में किसी स्थान पर पूय बनना इन स्थितियों से रोग को पृथक् करना चाहिये।

साध्यासाध्यता—रोग घातक नहीं, सामान्यतया २-३ आदमी सैकड़े पीछे मरते हैं।

सामान्य चिकित्सा—ज्वर की साधारण चिकित्सा, दूध, अण्डा तथा तरल पदार्थ का पथ्य, नींद न आवे तो ब्रोमाइड देना चाहिये।

प्रधान चिकित्सा—एक्रीफ्लेबिन $\frac{१}{१०}$ ग्राम **२० सी० सी० जल में** घोल कर देना चाहिये। **एक्रीफ्लेबिन** की मात्रा शनैः शनैः $\frac{१}{१०}$ से $\frac{४}{१०}$ ग्राम तक बढ़ाना चाहिये। इस जीवाणु से प्रस्तुत किया गया **वैक्सीन** २०० दश लक्ष से ५०० दश लक्ष तक देना चाहिये। **फ्रौबादिन की सूई** ३ से ५ सी० सी० तक देना चाहिये। प्रथम दिन १½ सी० सी० से प्रारम्भ करना चाहिये। फिर दूसरे दिन ३ सी० सी० इसके बाद एक दिन के अन्तर से ५-५ सी० सी० की सुइयां (Injection इन्जेक्शन) १७ वें दिन तक देना चाहिये। यहां तक कि-सिरा द्वारा सुई देना चाहिये। इसके बाद पेशी में सुई देना चाहिये।

कुछ लोग इस जीवाणु से प्रस्तुत की गयी लसीका को भी प्रयुक्त करते हैं।

इति माल्टाज्वरवर्णनम्

अथ पीतज्वरवर्णनम् (Yellow Fever)—

कारण—स्टेगोमाया फेशियेटा नाम के मच्छर के दंश से यह ज्वर उत्पन्न होता है। इसके कारणभूत जीवाणु को अभी प्रत्यक्ष नहीं किया जा सका है। मध्य अमेरिका, दक्षिण अमेरिका का

पूर्वी प्रदेश, मैक्सिको, अफ्रिका का पश्चिमी भाग इन स्थानों में रोग अधिक पाया जाता है। पूर्व के देशों तथा भारत में यह रोग नहीं होता है।

लक्षण—अत्यन्त घातक दारुण रोग है। शिरःशूल, शीत, आलस्य, अरुचि के साथ तीव्र ज्वर (१०४) चढ़ता है। चौथे दिन ज्वर कुछ कम होता है। इसके बाद पुनः छठवें दिन तीव्रता से चढ़ता है। ज्वर के तीसरे दिन से सारा शरीर पीला हो जाता है। कामला के लक्षण उत्पन्न होते हैं। मूत्र मात्रा में कम, अल्ब्यूमिनयुक्त होता है। मुख, नासिका और मसूड़ों से रक्तस्राव होता है। वमन प्रारम्भ होता है। वह कृष्ण वर्ण का होता है। वमन में रक्त मिला रहता है। ६ से ७ दिन में मूत्राघात, हृदयावसाद अथवा तीव्र ज्वर के कारण रोगी जीवन से छुटकारा पा जाता है। यह रोग कृच्छ्रसाध्य है। इससे मुक्त होने पर जीवन भर दुबारा इसका आक्रमण नहीं हो सकता।

इति पीतज्वरवर्णनम्।

अथ श्लीपदज्वरवर्णनम्—

पर्याय—श्लीपद, फीलपाव, फायलेरिया, फायलेरियेसिस (Filariasis)।

कारण—श्लीपदकृमि-(फायलेरिया बैंक्रोफ्टी) के कारण उत्पन्न होने वाला एक रोग है। यह कृमि २½ से ३ इञ्च के लगभग होते हैं। इनका संवहन घरेलू **क्यूलेक्स** नाम के मच्छर द्वारा होता है। रोगी के शरीर में इन सूक्ष्म कृमियों के शरीर से असंख्य सूक्ष्म कृमि बन कर रक्त में घूमते हैं। इन की लम्बाई $\frac{1}{90}$ इञ्च तथा चौड़ाई एक रक्त कण के बराबर होती है। ये कृमि रात को रक्त में भ्रमण करते पाये जाते हैं। दिन में प्लीहा आदि गम्भीर अङ्गों में चले जाते हैं। रात के समय जब मच्छर रोगाक्रान्त मनुष्य को काटता है तब कुछ सूक्ष्म कृमि, मच्छर के शरीर में प्रविष्ट होते हैं। वहां पर वे और बढ़ते हैं। और जब यह मच्छर फिर किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटता है तब ये सूक्ष्म कृमि भी त्वचा में प्रविष्ट हो जाते हैं और ये वहां बढ़ते हैं। लसीकावाहिनियों में इनके कारण अवरोध होता है और श्लीपद रोग उत्पन्न होता है।

सहायक कारण—उष्ण प्रदेशों तथा कम उष्ण (Tropical and subtropical) प्रदेश का रोग है। जहां पानी अधिक बरसता या इकट्ठा रहता है। अथवा पानी की सतह जमीन में सन्निकट रहती है। वहां पर यह रोग अधिक पाया जाता है। गन्दे मकानों में तथा गाँवों में अधिक तथा बड़े शहरों में कम होता है। प्रायः २० साल के बाद, और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में होता है। दांत, मसूड़े, गला तथा नासिका इनकी खराबी भी रोग को उत्पन्न करने में सहायता करती है।

यह रोग अरब, भारत, दक्षिण अमेरिका, चीन आदि देशों में अधिक रहता है। भारत में संयुक्त प्रदेश, बिहार, बम्बई, सूरत, मद्रास, अहमदाबाद इन स्थानों में अधिक होता है।

सम्प्राप्ति—जब शरीर में सूक्ष्म कृमि को मच्छर अपने दंश द्वारा प्रविष्ट कर देता है तब कृमि पूर्ण कृमि में परिवर्तित होता है। इस कृमि से कई सूक्ष्म कृमि उत्पन्न होकर रक्त में परिभ्रमण करते हैं। त्वचा के रक्त में ये कृमि केवल रात में पाये जाते है। प्रगल्भ कृमियों के कारण लसीकाप्रवाह में अवरोध होता है फलतः इसके समीपस्थ भाग में शोथ होता है, और उपचर्म भी मोटा होता जाता है। अधिकतर श्लीपद कृमि पैर को ही अपने निवास के लिए चुनता है अत एव इसका नाम फीलपाव दिया गया है। इसके अतिरिक्त हाथ, कान, मुष्क, स्तन तथा भगनासा और भगोष्ठ में भी इसकी विकृति उत्पन्न होती है।

लक्षण—ज्वर के साथ[1] हाथ-पैर वा वृषण में शोथ होता है और उस स्थान के पास की

---

१. यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्त्तिः-शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तच्छ्लीपदं स्यात् करकर्णनेत्र-शिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः॥

लसीकाग्रन्थियों में भी शोथ होता है। कुछ काल के अनन्तर ज्वर स्वयं जाता रहता है और शोथ कम या नष्ट हो जाता है। समय-समय पर ज्वर के आवेग आते हैं और प्रत्येक आवेग के पश्चात् अंग की मोटाई कुछ बढ़ जाती है।

निदान—दौरे के साथ ज्वर के साथ पैर में शोथ तथा लसीकाग्रन्थि का फूलना, ज्वर उतरने पर सूजन की कमी इनसे रोग का निदान हो जाता है। रोगी की शिरा से रात में रक्त निकाल कर रसायन-शाला में परीक्षा करने के लिये भेजना चाहिये। इससे रोग के सूक्ष्मकृमि (माइक्रोफायलेरिया) मिल जाते हैं।

साध्यासाध्यता—यह रोग घातक नहीं है पर असाध्य है। पावों के अधिक मोटे होने से चलने-फिरने में कठिनता, गुह्याङ्ग के मोटे होने से मैथुन में असमर्थता होती है। कभी-कभी वृषण का आकार इतना बढ़ जाता है कि आदमी कुछ भी कार्य बिना कठिनता अनुभव किये नहीं कर पाता है। कई श्रीमानों को अण्डकोषों को चलते समय वहन करने के लिये नौकर नियुक्त करना पड़ता है।

चिकित्सा—(१) ज्वर के समय विश्राम करना। मुख-गले आदि को शुद्ध रखना चाहिये।

(२) मृदु विरेचन हरीतकी चूर्ण या यष्ट्यादि चूर्ण ६ माशे से अथवा मैगसल्फ २ ड्राम १ औंस पानी में मिलाकर देकर विरेचन कराना चाहिये।

(३) नित्यानन्द रस २ रत्ती की मात्रा में प्रातः सायम् मधु से सेवन करना चाहिये।

(४) लहसुन का अधिक मात्रा में उपयोग करना चाहिये।

पाश्चात्य चिकित्सकों ने निम्न सूचिकाभरण (इन्जेक्शन) का आविष्कार किया है।

(क) **सोडियम ऐन्टीमनी टार्ट** प्रतिशत विलयन १ सी० सी० से ५ सी० सी० तक सप्ताह में २ बार देना चाहिये।

(ख) **सालवर्सन** तथा **नीयोसालवर्सन .६ से .९** ग्राम सप्ताह में एकबार।

(ग) **यूरिया स्टीबेमीन .१—.३** ग्राम इनका परिस्रुत जल में विलयन बनाकर प्रयोग करना चाहिये। यदि श्लीपद के स्थान पर पूय भी उत्पन्न हो तो पूर्ण स्वच्छता का प्रबन्ध करना चाहिये। **स्टेप्टो** तथा **स्टेफिलोकोकस** विरोधी लसीका को भी प्रयुक्त करना चाहिये।

मूत्र में दूध के समान पदार्थ निकले (Chile) तो **सोडियम एन्टीमनी टार्ट** अथवा **स्वामिन** का प्रयोग करना चाहिये।

विद्रधि अथवा अंगों में अधिक स्थूलता होने पर शस्त्रकर्म करना चाहिये।

इति श्लीपदज्वरवर्णनम्।

अथ मूषकदंशजज्वर (Rat bite fever) वर्णनम्—

प्रसार—चूहों के काटने से उत्पन्न होता है।

कारण—स्पायरिल्लम माइनस (Spirillum minus) नामक जीवाणु इसका कारण है।

लक्षण—दंश के स्थान पर व्रण बनता है वह कभी-कभी भर जाता है कभी नहीं भर पाता, व्रण के पास की लसीका ग्रन्थि में शोथ होता है। रोहण हो जाने पर भी जब ज्वर चढ़ता है (दंश के ५ दिन से ६ सप्ताह में ज्वर चढ़ता है) तब व्रण के स्थान पर पुनः पीड़ा होती है और व्रण बढ़ता है वहां पर फुंसियां उत्पन्न होती हैं सड़न होती है। शीत के साथ ज्वर आता है, शिरःशूल, हृल्लास, वमन, पतले दस्त, सन्धियों में पीड़ा ये लक्षण होते हैं। कभी-कभी सर्वांग में रक्तवर्ण के विस्फोट निकलते हैं। कभी-कभी शरीर पर चकत्ते (कोठ) निकलते हैं। ज्वर ६ दिन रहकर उतर जाता है। ५-६ दिन

के अन्तर पर पुनः ज्वर का आक्रमण होता है। ज्वर १०४ डिग्री तक पहुंचता है इस प्रकार के ज्वरयुक्त तथा विज्वरकाल महीनों कभी-कभी वर्षों जारी रहते हैं। आवेग के साथ-साथ दुर्बलता बढ़ती है।

रोगनिश्चिति—रक्त की परीक्षा में इओसिल[1] नाम के श्वेतकण अधिक रहते हैं। पूछने पर चूहे के काटने का इतिहास मिलता है। व्रणग्रन्थि अथवा रक्त में जीवाणु रहते हैं। इनको रसायनशाला में देखा जासकता है।

साध्यासाध्यता—घातक न होने पर भी चिरकालीन रोग है। उचित उपचार न होने पर महीनों या बरसों तक चलता रहता है। रोगी की क्षीणता बढ़ती जाती है। दौर्बल्य के अत्यधिक होने पर रोगी की मृत्यु भी हो सकती है।

चिकित्सा—(१) **सोडियम एन्टीमनी टार्ट** (२) **नियोसाल्वर्सन या साल्वर्सन** इनमें से किसी का इन्जेक्शन देना चाहिये। **सोडियम एन्टीमनी टार्ट** के २ प्र० श० के विलयन को १ सी० सी० से ५० सी० सी० सप्ताह में दो बार देना चाहिये।

नियोसाल्वर्सन को .४५ से .७५ ग्राम तक प्रति सप्ताह एकबार शिरा द्वारा देना चाहिये।

स्थानिक चिकित्सा—चूहे के काटे हुये स्थान को **एक्रीफ्लेविन** के (१००० भाग जल में १ भाग **एक्रीफ्लेविन** मिलाकर बनाये हुये) विलयन से व्रण की शुद्धि करनी चाहिये।

चूहे के काटते ही यदि दंश के स्थान को अग्नि से जला दिया जाय तो रोग नहीं उत्पन्न होता है।

इति मूषकदंशजज्वरवर्णनम्।

अथ मरुमक्षिकाज्वर (Sand Fly Fever) वर्णनम्—

कारण—इसका कारण निस्यन्दशील जीवाणु है।

प्रसार—**फ्लैवोटोमस पेपेटसाई** (Flebotomus papataci) नाम्नी मरुमक्षिका द्वारा होता है। पश्चिमोत्तर प्रान्त, पञ्जाब, सिन्ध, युक्तप्रान्त का पश्चिमी भाग, नागपुर इन उष्ण देशों में यह रोग अधिक होता है। कभी-कभी इसकी महामारी फैलती है।

लक्षण—मक्षिका के दंश के २ दिन बाद लक्षण प्रारम्भ होते हैं। इसके लक्षण दण्डक ज्वर से प्रायः मिलते हैं। शीत के साथ ज्वर, शिरःशूल, शरीर में वेदना, मुख, गला तथा नेत्रों की लालिमा, ये लक्षण होते हैं। ज्वर १०४ अंश तक चढ़ता है। अन्न में अरुचि, कभी-कभी प्रवाहिका, शरीर में चकत्ते उत्पन्न हो जाते हैं। ज्वर तीसरे दिन उतर जाता है।

इसमें तथा दण्डक ज्वर में भेद यह है कि—इसमें ज्वर तीसरे दिन उतरता है दण्डक में तीसरे दिन उतर कर फिर ज्वर चढ़ता है। मरुमक्षिकाज्वर में रक्त में विष प्रथम दिन ही रहता है। दण्डक ज्वर में प्रारम्भिक तीन दिनों में रक्त में विष मिलते हैं।

चिकित्सा—

(१) दंश के स्थान पर **टिञ्चर आयोडीन** अथवा **उदुम्बरसार** का गाढ़ा प्रलेप करना चाहिये। **उदुम्बरसार** के गाढ़े विलयन को एक पट्टी में रख कर घाव पर रख देना चाहिये।
(२) दण्डक ज्वर की सारी चिकित्सा, जिसे पीछे लिख चुके हैं, करनी चाहिये।

इति मरुमक्षिकाज्वरवर्णनम्।

---

१. इनके लिये शारीरविषयक भावप्रकाश प्रथम खण्ड के परिशिष्ट को देखिये।

अथ परिवर्तितज्वर (Ralapsing fever रिलैप्सिंग फीवर) वर्णनम्—

कारण—स्पायरोनेमा या बोरीलिया (Spironema or Borrelia) नामक जीवाणु इसका कारण है।

सहायक कारण—अस्वास्थ्य-जनक स्थान, घनी बस्तियाँ तथा दुर्बल और गरीब इससे अधिक पीड़ित होते हैं।

प्रसार—किलनी अथवा जूँ के द्वारा इसका प्रसार होता है। भारत, उत्तर अफ्रीका, अमेरिका तथा योरोप में यह रोग जूँ द्वारा फैलता है। मध्य अफ्रीका, मध्य अमेरिका, ईरान तथा स्पेन में यह रोग किलनी (Tick टिक) द्वारा फैलता है।

सम्प्राप्ति—ज्वर के समय त्वचा के रक्त में जीवाणु मिलते हैं। ज्वर-रहित काल में प्लीहा, यकृत तथा मस्तिष्क आदि अङ्गों में चले जाते हैं। यकृत तथा प्लीहा बढ़ती है तथा इन अङ्गों में रक्ताधिक्य भी होता है।

लक्षण—जीवाणु प्रविष्ट होने के २ से १२ दिन में लक्षण उत्पन्न होते हैं। शीत के साथ ज्वर चढ़ता है। ज्वर के साधारण लक्षण होते हैं। शिरःशूल तथा शरीर की पीड़ा अधिक तीव्र रहती है। मूत्र कम, अल्ब्यूमिन मिला हुआ होता है। यकृत तथा प्लीहावृद्धि, नासिका से कभी-कभी रक्तस्राव, ६ से ७ दिन तक निरन्तर ज्वर रहता है। इसके बाद अत्यधिक स्वेद, दुर्बलता तथा पतले दस्त इन लक्षणों के साथ एकाएक ज्वर उतरता है। ६ से ७ दिन बाद पुनः ज्वर का आक्रमण होता है पर यह पहले की अपेक्षा सौम्य होता है। कई बार ज्वर के दौरे आने के कारण इस रोग को परिवर्त्तित ज्वर कहते हैं।

ये परिवर्तन ३ से ४ तक हो सकते हैं। ये लक्षण विशेषतः यूका से उत्पन्न होने वाले परिवर्तित ज्वर के हैं। **किलनीवह** की निम्न विशेषतायें हैं—

(१) बच्चों में अधिक होता है।

(२) एक स्थान या मकान में सीमित रहता है।

यूकावह तो यूका के साथ मनुष्यों के स्थानान्तरित होने के कारण दूरवर्ती स्थानों में भी फैलता है। ज्वर कम समय तक रहता है पर लक्षण तीव्र होते हैं। परिवर्तनों की संख्या अधिक होती है।

उपद्रव—अतीसार, प्रवाहिका, न्यूमोनियां, कर्णमूल-ग्रन्थिशोथ, गर्भपात, प्लीहा का विदीर्ण होना, कामला, नेत्राभिष्यन्द, प्रलाप, नासा, त्वचा तथा मूत्रमार्ग से रक्तस्राव, रक्तवमन ये लक्षण तीव्र होते हैं। कभी तीव्र ज्वर, प्रलाप, अतीसार तथा हृत्कार्यावरोध उत्पन्न होकर मृत्यु होती है।

रोगनिश्चिति—परिवर्तनयुक्त ज्वर, कामला, वमन, शरीर पर विस्फोटक निकलना ये इसके लक्षण होते हैं। ज्वरयुक्त अवस्था में रोगी का रक्त लेकर कांच की पट्टी पर विधिपूर्वक रञ्जित करके सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने पर इसके जीवाणु दिखाई पड़ जाते हैं। मूत्र में भी जीवाणु मिलते हैं।

साध्यासाध्यता—वृद्ध, दुर्बल रोगियों तथा अकाल के समय मृत्यु अधिक होती है। ज्वर, संन्यास वा प्रलाप तथा तीव्र कामला के लक्षण रोग की असाध्यता प्रकट करते हैं। लक्षणों के सौम्य होने पर रोग साध्य होता है।

चिकित्सा—विश्राम, उचित प्रकाश तथा शुद्ध वायु के स्थान में रहना, खाद्य तथा पेय तरल होना चाहिये, प्रारम्भ में विरेचन देना चाहिये। ज्वर के समय अधिक भोजन न दें किन्तु ज्वर

उतरने पर सुपाच्य, पौष्टिक पदार्थ अधिक मात्रा में देना चाहिये। ज्वर के समय तथा ज्वर के उतरने पर भी रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिये। ज्वर के उतरते समय हृद्य ओषधियाँ यथा—**डिजीटेलीस स्ट्रिक्नीन** आदि देना चाहिये।

प्रधानचिकित्सा—नियोसालवर्सन (६ ग्राम) १० सी० सी० परिस्रुत जल में घोलकर शिरा में प्रविष्ट करना चाहिये। इस ओषधि को मध्य ज्वर में देना चाहिये। ज्वर उतरने पर इसका प्रयोग करने से कुछ लाभ नहीं होता। ज्वर की तीव्रावस्था में एकबार ओषधि को शिरा में प्रविष्ट करने से ही रोग के रक्तगत जीवाणु नष्ट होते हैं, किन्तु व्याधि का समूल नाश होने के लिये कुल ६ सूई देनी चाहिये।

हृदय के दौर्बल्य तथा वृक्करोग में इस ओषधि को न देना चाहिये।

एसीटीलार्सन—मात्रा २ से ३ सी० सी० त्वचा या पेशी में सूई द्वारा प्रविष्ट करें।

स्टोवार्सल—जब सूई की सुविधा न हो तो मुख द्वारा **स्टोवार्सल** का उपयोग करना चाहिये। मात्रा चार ग्रेन की ६ गोलियाँ दिन में ३ बार। इस चिकित्सा को ३ दिन तक जारी रखना चाहिये। इसके बाद भी यदि आवश्यकता मालूम हो तो प्रयोग किया जा सकता है।

चरकोक्तचिकित्सा—

निवृत्तेऽपि ज्वरे तस्माद् यथाऽवस्थं यथाबलम्। यथाप्राणं हरेद्दोषं प्रयोगैर्वा शमं नयेत्॥
मृदुभिः शोधनैः शुद्धिर्यापना वस्तयो हिताः। हिताश्च लघवो यूषा जाङ्गलामिषजा रसाः॥
अभ्यङ्गोद्वर्त्तनस्नान-धूपनाभ्यञ्जनानि च। हितानि पुनरावृत्ते ज्वरे तिक्तघृतानि च॥
गुर्वभिष्यन्द्यसात्म्यानां भोजनात् पुनरागते। लङ्घनोष्णोपचारादिः क्रमः कार्यश्च पूर्ववत्॥
किराततिक्तकं तिक्ता मुस्तं पर्पटकोऽमृता। घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासात् पुनरावर्त्तकं ज्वरम्॥
(च० चि० अ० ३)

ज्वर निवृत्त होने पर रोगी की अवस्था, बल तथा प्राण के अनुसार प्रयोगों द्वारा दोष को दूर करें और उस समय मृदु शोधन (विरेचनादि) के द्वारा शुद्धि तथा यापनवस्ति आदि देना, लघु अन्नों का यूष, जङ्गली जीवों का मांसरस खिलाना विशेष हितकर होता है। और तिक्त घृत के द्वारा अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान, धूप और अञ्जन लगाना भी हितकर होता है।

और यदि गुरु, अभिष्यन्दी तथा अहितकर पदार्थों के भोजन से पुनः ज्वर आ जाय तो लङ्घन तथा उष्ण उपचार आदि पूर्ववत् चिकित्सा करनी चाहिये।

और चिरायता, कुटकी, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, गुर्च इनका क्वाथ पीने से पुनरावर्त्तक ज्वर नष्ट हो जाता है।

इति श्रीजगदीश्वरप्रसादत्रिपाठिनाऽऽयुर्वेदाचार्येण विरचितं ज्वराधिकारपरिशिष्टं समाप्तम् ॥ १ ॥



॥श्रीः॥

भावप्रकाशः

'विद्योतिनी' हिन्दीव्याख्योपेतः



चिकित्साप्रकरणम् ॥ ८ ॥

अथ द्वितीयोऽतिसाराधिकारः ॥ २ ॥

तत्रातीसारस्य विप्रकृष्टानि निदानान्याह—

गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः। विरुद्धाध्यशनाजीर्णैर्विषमैश्चापि भोजनैः ॥ १ ॥
स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयैः। शोकदुष्टाम्बुमद्यातिपानैः सात्म्यर्तुपर्ययैः ॥ २ ॥
जलाभिरमणैर्वेगविघातैः कृमिदोषतः। नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते ॥ ३ ॥

द्वितीय अतिसाराधिकार में अतीसार[1] के विप्रकृष्ट (दूरस्थ) निदान—गुरु, अत्यन्त

---

१. आधुनिक चिकित्सक अतीसार को डायरिया (Diarrhoea) कहते हैं। वे लोग इसे कोई स्वतन्त्र रोग नहीं मानते बल्कि अनेक रोगों में उत्पन्न होने वाला तथा अनेक अवस्थाओं में होने वाला उपद्रव या एक लक्षण मात्र मानते हैं। इस का लक्षण इस प्रकार करते हैं कि:—

डायरिया उस अवस्था का नाम है जब कि मल तरल स्वरूप में शीघ्रता के साथ अन्नप्रणाली—(Alimentary Canal) द्वारा बाहर निकलता रहता है। अपने यहाँ भी 'सरति गच्छत्यतीवेत्यनेनेत्यतीसारः' अतीसार शब्द की ऐसी निरुक्ति श्रीविजयरक्षित तथा श्रीकण्ठदत्तजी ने माधवनिदान के मधुकोश नामक व्याख्या में माना है। जिसका कि 'गुदेन बहुमलद्रवसरणमतीसारः' ऐसा अर्थ किया है।

यह डायरिया-पाश्चात्य विद्वानों के मत से निम्न रोगों के उपद्रव स्वरूप में होता है। जैसे-टायफायड् (Typhaid), पारा टायफायड् (Para Typhaid), आन्त्रगत जीवाणु तथा कृमिरोग, इन्फ्लुयेञ्जा (Influenza), न्युमोनिया (Pneumonia), खसरा (Measles), कुक्कुरखांसी (whooping Cough), पूयमयता (Pya caemia), जीवाणुमयता (Septi caemia), घातकविषमज्वर (Pernicious malaria), बच्चों में अन्त्रान्त्रप्रवेश (Intussusception in Children), आन्त्रपुच्छशोथ (Apendicitis), प्रवाहिका (Dysentery), विसूचिका (Cholera), अग्न्याशय के रोग (Pancreatic Disease), ग्रहणी (Sprue), आन्त्रशोथ (Acute Enteritis), सव्रणबृहदान्त्रशोथ (Ulcerative colitis), आन्त्रक्षय (Intestinal Tuberculosis), आन्त्रगत-कैन्सर (Cancer), आन्त्रगत फिरङ्गरोग, प्रतिहारिणी शिरा का अवरोध अथवा रक्ताधिक्य की अवस्था (Portal Obdstruction or Congestion), मानसिकविकृति[1] (Nervous

---

१. इसके अन्तर्गत भयातीसार तथा शोकातीसार आ जाता है।

द्रव (पतले पदार्थ), अत्यन्त स्थूल, अत्यन्त शीतल तथा विरुद्ध पदार्थों का भोजन करने से और·

Diarrhoea), खनिजविष (Mineral poisons), क्षोभक आहार (Irritating food), दुष्टान्नविष या पूतिविष[1] (Acute Food poisoning or Ptomain poisoning), तीव्र अपच की [2]अवस्था (Acute indigestion), दूषित जल का सेवन तथा बच्चों का [3]ग्रीष्मातीसार (Summer Diarrhoea of infarnts) ये सब अवस्थायें हैं जिनमें कि उप-

---

१. पूतिविष (Ptomain poisoning)—टोमेन नामक विष—सड़े, गले मांस इत्यादि में होता है। और जब ऐसा मांसादि मुखद्वारा सेवन किया जाता है तब Food Poisoning के लक्षण होते हैं। किन्तु ऐसा बहुत कम हुआ करता है। यह विष प्रायः B. aertrycke अथवा B. gaertner, Margan आदि जीवाणुओं द्वारा डब्बे में रक्खे हुए मांस, मछली तथा दूध इत्यादि में उत्पन्न होता है। रोग का संचयकाल-कुछ घण्टों से ३-४ दिन तक का होता है। रोग का आरम्भ-शीत तथा आमाशयान्त्रशोथ के लक्षणों के साथ होता है। मल में प्रथम विष्ठा निकलता है, किन्तु बाद में जाकर केवल जल ही निकलने लगता है और इसमें रक्त तथा श्लेष्मलकला के टुकड़े भी हो सकते हैं। द्रवांश के अधिक नष्ट हो जाने पर शिराओं का पतन (Collapse) हो जाता है। तत्पश्चात् तापक्रम कुछ बढ़ जाता है तथा चर्म पर विस्फोट भी हो सकते हैं। इस टोमेन विषयुक्त पदार्थ को पकाने से भी इसका विष-प्रभाव नष्ट नहीं होता किन्तु कारणभूत जीवाणु अवश्य नष्ट हो जाते हैं। यह टोमेन विष अपने यहाँ विरुद्धाहार के अन्तर्गत हो जाता है। जैसा कि चरक-संहिता में विरुद्धाहार का वर्णन करते हुये भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश को समझाया है कि—

'देहधातुप्रत्यनीकभूतानि द्रव्याणि देहधातुभिर्विरोधमापद्यन्ते, परस्परगुणविरुद्धानि कानिचित् कानिचित् संयोगात् संस्कारादपराणि देशकालमात्राऽऽदिभिश्चापराणि तथा स्वभावादपराणि'। च० सू० २६ अ० ७८ सूत्र।

यहां पर जो विषात्मक प्रभाव होता है वह डब्बे तथा मांस, मछली और दुग्ध के संयोग ही से होता है। इसलिये आयुर्वेद की दृष्टि से यह संयोगतो विरुद्ध आहार हुआ। जो कि अपने यहां अतीसार का एक कारण ही माना गया है।

२. Acute indigestion—इसके अन्तर्गत अतीसार के निम्नलिखित सभी कारण आ जाते हैं, यथा—अध्यशन, विषमाशन, अजीर्ण में भोजन इत्यादि।

३. यह दशा प्रायः ५ वर्ष से कम अवस्था वाले बच्चों में होती है। उनमें भी आयु के प्रारम्भिक कुछ महीनों में प्रायः जब माता और गाय का दूध एक साथ देते हैं अथवा जब दांत निकलना शुरू होता है तब रोग का आक्रमण अचानक होता है। कभी २ आरम्भ में वमन होता है। मल पहले दुर्गन्धित होता है और उसमें अपक्व दूध के कण दिखाई देते हैं। बाद में उसका स्वरूप जलवत् हो जाता है। मल हरे रंग का झागदार तथा पतला भी हो सकता है। साथ में अत्यधिक निर्बलता, नाड़ी की क्षीणता, धंसी हुई आंखों का होना, शाखाओं का शीत के कारण सिकुड़ना और कुछ तापाधिक्य इत्यादि लक्षण भी होते हैं। विसूचिका के सभी लक्षण तथा हृदयावसाद के चिह्न दिखाई देने लगते हैं और अन्तिम कुछ घण्टों में अतितीव्र सन्ताप भी उत्पन्न हो सकता है। मूत्र बहुत कम हो जाता है तथा उसमें अल्ब्यूमिन, निर्मोक (Casts) और कभी २ Acilone भी मिलता है। अत्यधिक बेचैनी होती है जिससे कभी २ मूर्च्छा, संन्यास एवं मृत्यु की अवस्था भी आ सकती है। किन्तु साधारण रोगियों में तथा विशेषतः दो वर्ष से अधिक के बच्चों में २-३ दिन के बाद रोग के तीव्र लक्षण कम हो जाते हैं और धीरे २ रोग दूर हो जाता है। इस रोग के कारणभूत अनेक प्रकार के जीवाणु माने जाते हैं यथाः-B Proteus Vulgaris B. Colieunt-nis, B. margan, B. Flexner B. Para tydphoid or B. Strepto Cocci.

अध्यशन (भोजन के विना पचे पुनः भोजन), अजीर्ण तथा विषम भोजन होने से एवम् स्नेहादि पञ्चकर्मों का वारम्वार प्रयोग करने से अथवा विधिरहित प्रयोग करने से तथा विष-भक्षण करने से और भय तथा शोक करने से. दुष्ट (दूषित) जल के सेवन से, अत्यन्त मद्यपान करने से, प्रकृति तथा ऋतु के विरुद्ध आहार-विहारादि होने से, जल में क्रीड़ा आदिक करने से, मल-मूत्रादि के वेगों का हठपूर्वक धारण करने से, कृमियों द्वारा पक्वाशय के दूषित होने से मनुष्यों को जो अतीसार होता है, उसके लक्षण कहते हैं ॥ १-३ ॥

ॐगुरु—मात्रया स्वभावेन संस्कारेण च। अतिशब्दः स्थूलान्तैः सह सम्बद्ध्यते। स्थूलम् = असम्यक् पिष्टं गोधूमादि। विरुद्धं = संयुक्तं क्षीरमत्स्यादि। अध्यशनम् = 'अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते'। अजीर्णम् = आमं विदग्धं च। 'बहु स्तोकमकाले च भुक्तं यद्विषमं हि तत्' ॥ १ ॥ इति।

यहां पर 'गुरु' पद से 'मात्रा से गुरु-अर्थात् अधिक मात्रा में भोजन करने से गुरु होने वाले द्रव्य, स्वभाव से गुरु-जैसे उड़द आदिक द्रव्य, संस्कार से गुरु-अर्थात् घृत आदि में विशेष रीति से बनाने से गुरु होने वाले मठरी आदिक द्रव्य' इनका ग्रहण करना चाहिये। और 'अति' शब्द का स्निग्ध से लेकर स्थूल तक सभी शब्दों के साथ सम्बन्ध किया जाता है अतः 'अत्यन्त स्निग्ध, अत्यन्त रूक्ष इत्यादिक अर्थ होता है' ऐसा समझना चाहिये। और 'अत्यन्तस्थूल' पद से 'भली-भांति से नहीं पिसे हुये गेहूँ आदि' द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिये। 'विरुद्ध' पद से 'दूध तथा मछली इत्यादिक परस्पर-विरुद्ध मिले हुये' पदार्थों का ग्रहण करना चाहिये। 'अध्यशन' पद का 'भोजन के विना पचे ही पुनः ऊपर से भोजन करना' यह अर्थ समझना चाहिये। 'अजीर्ण' पद से 'विना पका हुआ अथवा कुछ पका हुआ और कुछ नहीं पकाहुआ' ऐसे पदार्थों का ग्रहण करना चाहिये। 'विषम' पद से थोड़ा भोजन करने वाले व्यक्ति का अधिक भोजन करना या अधिक भोजन करने वाले का थोड़ा भोजन करना, किं वा असमय में भोजन करना' इन सबों का ग्रहण करना चाहिये।

ॐ'भोजनैरि'ति गुर्वादिभिर्विषान्तैः सर्वैः सह सम्बद्ध्यते। स्नेहाद्यैः=स्नेहपानस्वेदनवमनविरेचनानुवासननिरूहान्तैः। अतियुक्तैः = वारंवारप्रयुक्तैः। मिथ्यायुक्तैः = अविधिप्रयुक्तैश्च, तैः। विषैः = विषाण्यत्र स्थावराणि तेषामधोगत्वात्। शोकः = बन्ध्वादिवियोगजनितमनःपीडा। सात्म्यर्तुपर्ययैः = सात्म्यविपरीतैरसात्म्यैः, तथा यस्मिन् ऋतौ यदुचितं तद्विपरीतैः। जलाभिरमणैः = जलक्रीडाऽऽदिभिः। वेगविघातैः = मूत्रपुरीषादिहठधारणैः। कृमिदोषतः = कृमिभिः पक्वाशयस्य दुष्टेः। एतानि यथासम्भवं वातादीनां दुष्टेः कारणानि बोद्धव्यानि।

और 'भोजन' पद का 'गुरु' से लेकर 'विष' पर्यन्त सभी शब्दों के साथ सम्बन्ध करके अर्थ किया गया है। तथा 'स्नेहाद्यैः' अर्थात् 'स्नेहादिक' पद से 'स्नेह-पान, स्वेद लेना, वमन, विरेचन, अनुवासन तथा निरूहवस्ति इन पञ्चकर्मों का ग्रहण करना चाहिये। 'अतियुक्तैः' पद का 'वारंवार प्रयोग करने से'। 'मिथ्यायुक्तैः' पद का 'विधिरहित प्रयोग करने से'। 'विष' पद से

द्रव या लक्षण स्वरूप में अतीसार (Diarrhoea) होता है। अपने यहां सुश्रुत भी उपर्युक्त वातों को अपनी भाषा में मानते हैं किन्तु फिर कहते हैं कि अतीसार चाहे जिस कारण से उत्पन्न हुआ हो फिर भी उसमें दोषों का अनुबन्ध तो रहता ही है। जैसेः—

'स्नेहाजीर्णनिमित्तस्तु बहुशूलप्रवाहिकः। विसूचिकानिमित्तस्तु चान्योऽजीर्णनिमित्तजः।
विषार्शःकृमिसम्भूतो यथास्वं दोषलक्षणः। शरीरिणामतीसारः सम्भूतो येन केन चित् ॥
दोषाणामेव लिङ्गानि कदा चिन्नातिवर्त्तते' ॥

'अधोगामी होने से स्थावर विषों का ही ग्रहण करना चाहिये, न कि सर्पादिजन्य जङ्गम विषों का'। 'शोक' पद से 'अपने बन्धु आदि प्रिय जनों के वियोग से उत्पन्न हुई मन की पीड़ा' का ग्रहण करना चाहिये। 'सात्म्यर्तुपर्ययैः' पद का 'सात्म्य से विपरीत असात्म्य अर्थात् प्रकृति-विरुद्ध और जिस ऋतु में जो उचित हो उससे विपरीत अर्थात् ऋतु-विरुद्ध आहार-विहारादि होने से'। 'जलाभिरमणैः' पद का 'जलक्रीड़ा आदिक करने से'। 'वेगविघातैः' पद का 'मल-मूत्रादि के वेगों का हठपूर्वक धारण करने से' तथा 'कृमिदोषतः' पद का 'कृमियों के द्वारा पक्वाशय के दूषित होने से' यह अर्थ समझना चाहिये। और ये सब उपर्युक्त यथासम्भव वातादि दोषों की दुष्टि (प्रकोप) के कारण होते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

***ननु एवं सति स्वहेतुदुष्टेन वातादिनाऽतिसारो भवत्येव तावन्मात्रं वाच्यं किमर्थं गुर्वाद्यभिधानम् ? उच्यते—गुर्वादिहेतुदूषिता एव वातादयो बाहुल्येनातिसारं जनयन्ति, न तु लङ्घनभुक्तजीर्णताऽऽदिलघ्वन्नक्रोधतृपाक्षुधाऽभिहननदध्यारनालव्यायामवर्षाशरद्वसन्तादिभिः कुपिताः। अतो गुर्वादीन्युच्यन्ते। एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् ॥ १-३ ॥**

यहां पर शङ्का होती है कि—जब ऐसा है कि उपर्युक्त सब गुरु आदिक वातादिकों के प्रकोप के कारण हैं अत एव अपने २ कारणों से कुपित हुये वातादिकों से अतीसार होता है, इसका उल्लेख करना उचित था न कि वातादिकों के प्रकोपकारक-गुरु, अत्यन्त स्निग्ध भोजनादिकों का ? इसके उत्तर में यह कहते हैं, कि—ऊपर में कहे हुये केवल गुर्वादिक हेतुओं से दूषित हुये ही वातादिक प्रायः करके अतीसार को उत्पन्न करने वाले होते हैं, न कि—उपवास, भोजन के पच जाने का समय आदि, लघु अन्न-भोजन, क्रोध-प्यास-तथा भूख का रोकना, दही, कांजी, व्यायाम (कसरत), वर्षा, शरद् तथा वसन्तऋतु आदिक इन सब कारणों से दूषित हुये वातादिक अतीसार उत्पन्न करने वाले होते हैं। अतः सामान्यरूप से न कह करके विशेष रूप से गुरु भोजन आदि वातादि-कारणों का उल्लेख किया गया। यही युक्ति अन्यत्र के लिये भी समझनी चाहिये ॥१-३॥

अतीसारस्य पूर्वरूपमाह—

हृन्नाभिपार्श्वोदरकुक्षितोदगात्रावसादानिलसन्निरोधाः।
विट्सङ्ग आध्मानमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥ ४ ॥

अतीसार के पूर्वरूप—हृदय, नाभि, पसुली, उदर तथा कोख में सूची चुभोने की सी पीड़ा होना, अङ्गों में ग्लानि, वायु का अवरोध, मल (विष्ठा) का रुकना, अफारा, खाये हुये अन्न का न पचना ये सब होने वाले अतीसार के कुछ क्षण के पूर्व में प्रगट होने वाले लक्षण हैं अर्थात् अतीसार के पूर्वरूप के लक्षण हैं ॥ ४ ॥

***विट्सङ्गः=पुरीषाप्रवृत्तिः। अविपाको—भुक्तस्य। पुरःसराणि=एतानि लक्षणानि पूर्वभावीनि ॥ ४ ॥**

यहां पर 'विट्सङ्गः' पद का 'मल का रुकना'। 'अविपाकः' पद का 'खाये हुये अन्न का न पचना'। 'पुरःसराणि' पद का 'अतीसार के कुछ क्षण के पूर्व में प्रगट होने वाले लक्षण हैं' ॥ ४ ॥

अतीसारस्य सम्प्राप्तिमाह—

संशम्यापां धातुरग्निं प्रवृद्धो वर्चोमिश्रो वायुनाऽधः प्रणुन्नः।
सरत्यतीवातिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरं षड्विधं तं वदन्ति ॥ ५ ॥

अतीसार की सम्प्राप्ति—'शरीर में स्थित बढ़े हुये (दूषित) द्रवधातु अग्नि को शान्त करके विष्ठा से युक्त होते हुये, अपान वायु से नीचे आने के लिये प्रेरित होकर गुदा मार्ग से नदी के प्रवाह के समान अधिक जो निकलता है, उसीको अत्यन्त भयङ्कर 'अतीसार' रोग कहते हैं। और वह (अतीसार) छ प्रकार का होता है' ऐसा ऋषि लोग कहते हैं ॥ ५ ॥

***अपां धातुः=अत्र समासाकरणाद् बहुत्वेन च रसजलमूत्रस्वेदमेदःकफपित्तरक्तादयो**

द्रवधातवो गृह्यन्ते । प्रवृद्धः, अग्निं संशम्य = शमयित्वा, वर्चोमिश्रः = पुरीषयुक्तः, वायुना-अधः प्रणुन्नः = अधः प्रेरितः । अथ सामान्यं रूपमाह-अतिसरति नदीवत् । अतिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरमिति । यो रसादिद्रवधातुः, अतीव सरतीति = प्रकृतिमतिक्रम्य गुदाध्वना सरति, तं व्याधिमतिसारमाहुः । किंविधम् ? घोरम् = 'घोरं भीमं भयानकम्' इत्यमरः । अस्य संख्यामाह-षड्विधं तं वदन्तीति ॥ ५ ॥

यहां पर 'अपां धातुः' इन पदों में समास न करने से और 'अपाम्' इस पद में षष्ठी का बहुवचन होने से द्रव धातु कहने से जलांश-प्रधान रस, जल, मूत्र, स्वेद, मेद, कफ, पित्त तथा रक्त आदि द्रव धातुओं का ग्रहण करना चाहिये । 'संशम्य' पद का 'शान्त करके' । 'वर्चोमिश्र;' पद का 'विष्ठा से युक्त होते हुये' । 'अधः प्रणुन्नः' पदों का 'नीचे आने के लिये प्रेरित होकर' यह अर्थ समझना चाहिये ।

और यहां पर यह भी समझना चाहिये कि—जो साधारण रूप से नदी की भांति गुदा मार्ग से निकलता है वह अतिसार का साधारण रूप है । और जो रसादिक द्रव धातु अपनी प्रकृति को छोड़ कर अधिक रूप से नदी के प्रवाह के समान गुदा-मार्ग से निकलता है, उसे भयानक अतिसार रोग कहते हैं । और 'घोर' यह पद 'अतिसार' का विशेषण है इस का अर्थ 'भयानक' समझना चाहिये, क्यों कि 'अमरकोश' में—घोर, भीम तथा भयानक ये पर्यायवाची शब्द हैं, ऐसा कहा हुआ है । और अतिसार की संख्या—सम्प्राप्ति को बताने के लिये यह कहा गया है कि—'अतिसार छ प्रकार का होता है' ऐसा ऋषि लोग कहते हैं । यह और समझ लेना चाहिये ॥ ५ ॥

षड्विधत्वं विवृणोति—

एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः ॥ ६ ॥

अतीसार के ६ प्रकार होने का विवरण—वातादिक तीनों दोषों से अलग २ उत्पन्न हुये तीन प्रकार के अर्थात् १ वातज, २ पित्तज, ३ कफज और तीनों दोषों के सन्निपात से उत्पन्न हुआ चौथे प्रकार का अर्थात् ४ सन्निपातज, शोक से उत्पन्न हुआ पांचवें प्रकार का अर्थात् ५ शोकज़ और छठां आम से उत्पन्न हुआ ६ आमज अतीसार होता है । इस भांति से अतीसार ६ प्रकार का होता है ॥ ६ ॥

अतीसारस्य सामान्यचिकित्सामाह—

आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया यतः । अतोऽतिसारे सर्वस्मिन्नामं पक्वञ्च लक्षयेत् ॥७॥

अतीसार की सामान्य चिकित्सा—अतीसार में आम तथा पक्व अवस्था के क्रम को छोड़ कर चिकित्सा नहीं की जाती है, अतः सम्पूर्ण अतीसारों में प्रथम आम तथा पक्व का निश्चय करना चाहिये॥

अथामातिसारस्य क्रमचिकित्सा ।

तत्रामपक्वयोर्लक्षणमाह—

संसृष्टमामैर्दोषैस्तु न्यस्तमप्सु निमज्जति । पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम् ॥८॥
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य वै । लाघवञ्च विशेषेण तं तु पक्वं विनिर्दिशेत् ॥९॥

आमातीसार की क्रम चिकित्सा में आम और पक्व के लक्षण—आम दोष से युक्त मल (विष्ठा) जल में छोड़ देने पर डूब जाता है तथा उसमें अत्यन्त दुर्गन्ध होता है और वह अत्यन्त पिच्छिल (चिकना) होता है अत एव उसे 'आम मल' कहते हैं । और इन्हीं सब लक्षणों से विपरीत लक्षणों से युक्त अर्थात् जल में डालने पर उतराने वाला, अत्यन्त दुर्गन्ध तथा पिच्छिलता से रहित जो मल होता है उसे 'पक्व मल' कहते हैं । इसमें विशेष करके रोगी को शरीर तथा कोष्ठ में लघुता (हल्कापन) प्रतीत होती है ॥ ८–९ ॥

न च संग्राहकं दद्यात्पूर्वमामातिसारिणे । अकाले संगृहीतस्तु विकारान्कुरुते बहून् ॥ १० ॥
दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोभगन्दरान् । शोथपाण्डूवामयप्लीहगुल्ममेहोदरज्वरान् ॥ ११ ॥

आमातीसार की अवस्था में रोगी को प्रथम संग्राहक (मल को रोकने वाला) औषध नहीं देना

चाहिये। क्योंकि असमय में अर्थात् आमावस्था में ही रोक देने से दण्डक[1] (आक्षेपक वातभेद), [2]अलसक, अफरा, ग्रहणी, ववासीर, भगन्दर, शोथ, पाण्डुरोग, प्लीहा, गुल्म, प्रमेह, उदर रोग तथा ज्वर ऐसे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १०–११ ॥

डिम्भस्थः स्थविरस्थश्च वातपित्तात्मकश्च यः। क्षीणधातुवलश्चापि वहुदोषोऽतिनिस्रुतः॥
आमोऽपि स्तम्भनीयः स्यात्पाचनान्मरणं भवेत् ॥ १२ ॥

किन्तु जो अतिसार वालक तथा वृद्ध को हुआ हो, या वात-पित्तात्मक (वात-पित्तजन्य) हो अथवा क्षीण धातु तथा वल वाले को हुआ हो किं वा अधिक दोषयुक्त हो वा अधिक निकलने वाला हो तो उसे आमावस्था रहने पर भी रोक देना चाहिये, क्योंकि–उक्त अवस्था में आमदोष का पाचन कराने से रोगी की मृत्यु होती है अर्थात् जव तक आम का पाचन हो तव तक रोगी मर जाता है ॥

लङ्घनमेकं मुक्त्वा न चान्यदस्तीह भेषजं वलिनः।
समुदीर्णदोषनिचयं तत्पाचयेत्तथा च शमयेत् ॥ १३ ॥

अतीसार में वलवान् रोगी के लिये एक उपवास को छोड़ कर अन्य कोई दूसरी चिकित्सा उत्तम नहीं है, क्योंकि—उपवास वढ़े हुये दोषों को पचाता है तथा शान्त भी करता है ॥ १३ ॥

जलविधानम्—

धान्याम्बुभ्यां शृतं तोयं तृष्णादाहातिसारिणे।
ह्रीवेरशृङ्गवेराभ्यां मुस्तपर्पटकेन वा। मुस्तोदीच्यशृतं शीतं प्रदातव्यं पिपासवे ॥ १४ ॥

अतीसार रोगी के लिये जल पीने का विधान—जो अतीसार रोगी प्यास तथा दाह से दुःखित हो रहा हो उसके लिये १—धनिया तथा सुगन्धवाला डाल कर औटाया हुआ शीतल जल २—या सुगन्धवाला तथा सोंठ डाल कर ३—वा नागरमोथा और पित्तपापड़ा डाल कर ४—किंवा नागरमोथा तथा सुगन्धवाला डाल कर औटाया हुआ शीतल जल पीने को देना चाहिये ॥ १४ ॥

***लङ्घन एव दोषदुःसहपिपासायां, दोषपाकार्थं षडङ्गविधिनाऽर्द्धं शृतं योगचतुष्टयमाह—धान्येति ॥ १४ ॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—लङ्घन करने पर दोष की प्रवलता से दुःसह प्यास लगने पर अतीसार रोगी के दोषों को पचानेके लिये पूर्वोक्त षडङ्ग-परिभाषा की विधि से आधा-औटा कर शीतल किया हुआ जल देने के लिये धान्यादिक ४ योगों को 'धान्याम्बुभ्याम्' इत्यादिक श्लोक से कहते हैं ॥ १४ ॥

लङ्घनान्ते भोजनमाह—

हितं लङ्घनमेवादौ पूर्वरूपेऽतिसारिणे। कार्यं वाऽनशनस्यान्ते प्रद्रवं लघु भोजनम् ॥१५॥

लङ्घन के अन्त में भोजन विधि—अतीसार के पूर्वरूपावस्था में रोगी को प्रथम लङ्घन (उपवास) कराना ही हितकर होता है और लङ्घन के अन्त में द्रव रूप में लघु अन्न भोजन कराना चाहिये ॥

पथ्यादिक्वाथमाह—

पथ्यादारुवचामुस्तैर्नागरातिविषाऽन्वितैः। आमातिसारनाशाय क्वाथमेभिः पिवेन्नरः ॥१६॥

पथ्यादिक्वाथ—हरड़, देवदारु, वच, नागरमोथा, सोंठ तथा अतीस इन सवों का क्वाथ वना कर आमातिसार को दूर करने के लिये रोगी को पिलाना चाहिये ॥ १६ ॥

पाठादिचूर्णमाह—

पाठाहिङ्ग्वजमोदोग्रापञ्चकोलाह्वजं रजः। उष्णाम्बुपीतं सरुजं जयत्यामं ससैन्धवम् ॥१७॥

---

१. पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तम्भाति मारुतः। दण्डवत् स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः॥ इसका अर्थ वातव्याध्यधिकार में किया जायगा।

२. कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्यत्यथ कूजति। निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति॥ वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि। तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु॥ इसका अर्थ जठराग्निविकाराधिकार में किया जायगा।

पाठादिचूर्णम्—पाढ़, भुनी हींग, अजमोद, वच, पञ्चकोल (पीपर, पीपरामूल, चव्य, चीता, सोंठ), सेंधानमक इन सबों का चूर्ण बनाकर गरम जल से खाने पर दर्द के सहित आमातिसार नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

हरीतक्यादिकल्कमाह—

हरीतकी सातिविषा हिङ्गु सौवर्चलं वचा। सैन्धवञ्चापि संपिष्य पाययेदुष्णवारिणा ॥१८॥
आमातिसारयोगोऽयं पाचयित्वा चिकित्सति। आमातिसारो योगेन यस्त्वेतेन न शाम्यति ॥
न तं योगशतेनापि चिकित्सति चिकित्सकः ॥ २० ॥

हरीतक्यादिकल्क—हरड़, अतीस, भुनी हींग, काला निमक, वच तथा सेंधा नमक इन सबोंको जल से पीस कर गरम जल के साथ घोल कर पिलाना चाहिये। यह योग आम को पचा कर आमातिसार को दूर करता है। और जो आमातिसार इस योग से भी नहीं शान्त होता है, उसे वैद्य इससे अतिरिक्त अन्य सैकड़ों योगों से भी नहीं शान्त कर सकता है ॥ १८–२० ॥

वत्सकादिक्वाथमाह—

वत्सकातिविषाबिल्वं मुस्तकं बालकं शटी। अतीसारं जयेत्सामं चिरजं रक्तशूलजित् ॥२१॥

वत्सकादिक्वाथ—कुड़े की छाल, अतीस, कच्चे बेल की गिरी, नागरमोथा, सुगन्धवाला और कचूर इन सबों का क्वाथ बना कर पीने से बहुत दिन का उत्पन्न हुआ अतीसार, आमातिसार, रक्तातिसार तथा शूल नष्ट हो जाता है ॥ २१ ॥

शुण्ठीपुटपाककल्कावाह—

एरण्डरससम्पिष्टं पक्वमामञ्च नागरम्। आमातिसारशूलघ्नं पाचनं दीपनं परम् ॥ २२ ॥

शुण्ठी-पुटपाक तथा शुण्ठी-कल्क—रेंड़ के पत्तों के रस के साथ सोंठ पीस कर पुटपाक की रीति से पकाकर अथवा कच्चा ही कल्क सेवन करने से आमातिसार तथा शूल नष्ट हो जाता है। और यह अत्यन्त पाचन तथा अग्निदीपक होता है ॥ २२ ॥

***नागरस्य पुटपाकः कल्कश्च ॥ २२ ॥**

यहां पर यद्यपि मूल में नहीं कहा गया है तथापि 'सोंठ का पुटपाक तथा कल्क बनाना' वैद्यों के संप्रदाय से समझ लेना चाहिये ॥ २२ ॥

धान्यादिपञ्चकक्वाथमाह—

धान्यबालकबिल्वाब्दनागरैः पाचितं जलम्। आमशूलविबन्धघ्नं पाचनं दीपनं परम् ॥२३॥

धान्यादिपञ्चकक्वाथ—१ धनिया, २ सुगन्धवाला, ३ कच्चे बेल की गिरी, ४ नागरमोथा, ५ सोंठ इन ५ ओषधियों का क्वाथ बना कर पीने से आम, शूल तथा विबन्ध नष्ट हो जाता है। और यह क्वाथ आम को अधिक पचाने वाला तथा अत्यन्त अग्निदीपक होता है ॥ २३ ॥

धान्यादिचतुष्कक्वाथमाह—

पित्ते धान्यचतुष्कन्तु शुण्ठीत्यागाद्वदन्ति हि। रक्तेऽपि पित्तसाधर्म्याद्देयं धान्यचतुष्टयम्॥२४॥

इत्यामातिसारचिकित्सा—

धान्यादि-चतुष्क क्वाथ—यदि पित्त की अधिकता हो तो धान्यादिपञ्चक क्वाथ के द्रव्यों में से सोंठ के निकाल देने पर धनिया आदि ४ वस्तुओं का धान्यादि-चतुष्क नामक क्वाथ देने के लिये वैद्य लोग कहते हैं। और पित्त के समान सभी धर्म होने से रक्तातिसार में भी उसी सोंठ रहित धान्यादि-चतुष्क का क्वाथ देना बताते हैं ॥ २४ ॥

अथ पक्वातीसारचिकित्सा।

तत्र लोध्रादिचूर्णमाह—

सलोध्रं धातकीबिल्वमुस्ताऽऽम्रास्थिकलिङ्गकम्। पिबेन्माहिषतक्रेण पक्वातीसारनाशनम् ॥

पक्वातीसार चिकित्सा में लोध्रादि चूर्ण—लोध, धाय का फूल, बेल की गिरी, नागरमोथा, आम

की गुठली और इन्द्रजौ इन सबोंका चूर्ण भैंस के तक्र (छाछ) के साथ खिलाने से पक्वातीसार नष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥

समङ्गादियोगचतुष्टयमाह—

समङ्गा धातकीपुष्पं मञ्जिष्ठा लोध्र एव च । शाल्मलीवेष्टको लोध्रो दाडिमद्रुफलत्वचौ ॥२६॥
आम्रास्थिमध्यं लोध्रश्च बिल्वमध्यं प्रियङ्गु च । मधुकं शृङ्गवेरञ्च दीर्घवृन्तत्वगेव च ॥२७॥
चत्वार एते योगाः स्युः पक्वातीसारनाशनाः । ते योगा उपयोज्याः स्युः सक्षौद्रास्तण्डुलाम्बुना ॥

समङ्गादिक ४ योग—१ लज्जावती (लजारू), धाय का फूल, मजीठ और लोध इन सबोंके चूर्ण को समङ्गादि चूर्ण कहते हैं ।

२ मोचरस, लोध, अनार की छाल, अनार के फल का छिलका इन सबों के चूर्ण को शाल्मलीवेष्टकादि चूर्ण कहते हैं ।

३ आम की गुठली की मींगी, लोध, वेल की गिरी और फूलप्रियङ्गु इन सबों के चूर्ण को आम्रास्थ्यादि चूर्ण कहते हैं ।

४ मुलेठी, सोंठ, सोनापाठा की छाल इन सबों के चूर्ण को मधुकादि चूर्ण कहते हैं ।

ये चारों योग पक्वातीसार को नष्ट करने वाले होते हैं । और इन योगों का सेवन चावल के धोवन के साथ शहद में मिला कर करना चाहिये ॥ २६–२८ ॥

***समङ्गा = लज्जालुः । शाल्मलीवेष्टको = मोचरसः । दाडिमस्य-द्रुमफलयोस्त्वचौ । प्रियङ्गोर्नपुंसकत्वमत्र फले वर्त्तमानत्वात् । शृङ्गवेरमत्र शुण्ठी । दीर्घवृन्तः = श्योनाकस्तस्य त्वचः । समङ्गादीनि चत्वारि चूर्णानि ॥ २६–२८ ॥**

यहां पर 'समङ्गा' पद का 'लज्जावती' । 'शाल्मलीवेष्टक' पद का 'मोचरस' । 'दाडिमद्रुफलत्वचौ' पद का 'अनार की छाल, अनार के फल का छिलका' । अर्थ समझना चाहिये । और 'प्रियङ्गु' शब्द का नपुंसक लिङ्ग में जो प्रयोग किया गया है, वह फल का ग्रहण करने के लिये समझना चाहिये । 'शृङ्गवेर' पद का 'सोंठ' । 'दीर्घवृन्त' पद का 'सोनापाठा' अर्थ समझना चाहिये । और यहां पर 'समङ्गादिक ४ चूर्णों का वर्णन किया गया है' ऐसा समझना चाहिये ॥ २६–२८ ॥

गङ्गाधरक्वाथमाह—

कञ्चटदाडिमजम्बू-शृङ्गाटकपत्रबिल्वबर्हिष्ठम् ।
जलधरनागरसहितं गङ्गामपि वेगवाहिनीं रुन्ध्यात् ॥ २९ ॥

गङ्गाधर क्वाथ—जल चौलाई-अनार-जामुन-सिंगाड़ा इन चारों के पत्ते, सुगन्धवाला, नागरमोथा और सोंठ इन सबों का क्वाथ बना कर पीने से गङ्गा के समान प्रवाहयुक्त भयङ्कर अतीसार नष्ट हो जाता है ॥ २९ ॥

***कञ्चटः = [चौराई] शाकस्य भेदः । कञ्चटादिभिश्चतुर्भिः पत्रशब्दः सम्बद्ध्यते । बर्हिष्ठं = बालकम् ॥ २९ ॥**

यहां पर 'कञ्चट' पद का 'चौलाई शाक का भेद 'जलचौलाई' अर्थ समझना चाहिये । और 'कञ्चटादिक ४ ओषधियों के साथ 'पत्र' शब्द का संबन्ध होने से चारों के पत्ते ही लिये जाते हैं । तथा 'बर्हिष्ठ' पद का 'सुगन्धवाला' अर्थ समझना चाहिये ॥ २९ ॥

गङ्गाधरचूर्णमाह—

मोचरसमुस्तनागर-पाठाऽरलुधातकीकुसुमैः । चूर्णं मथितसमेतं रुणद्धि गङ्गाप्रवाहमपि सद्यः

गङ्गाधर चूर्ण—मोचरस, नागरमोथा, सोंठ, पाढ़, सोनापाठा तथा धाय का फूल इन सबों का चूर्ण 'मथित' संज्ञक दही के साथ सेवन करने से गङ्गा के प्रवाह के समान भयङ्कर अतीसार तत्काल बन्द हो जाता है ॥ ३० ॥

***अरलुः = सोनापाठा । मथितं = निर्जलं दधि वस्त्रपूतम् ॥ ३० ॥**

यहां पर 'अरलु' पद का 'सोनापाठा' तथा 'मथित' पदका 'बिना जल डाले मथकर कपड़े से छाना हुआ दही' अर्थ समझना चाहिये ॥ ३० ॥

द्वितीयगङ्गाधरचूर्णमाह—

मुस्ता वत्सकबीजं मोचरसो विल्वधातकीलोध्रम् ।
गुडमथितसंप्रयुक्तं गङ्गामपि वेगवाहिनीं रुन्ध्यात् ॥ ३१ ॥

दूसरा गङ्गाधर चूर्ण—नागरमोथा, इन्द्रजौ, मोचरस, बेल की गिरी, धाय का फूल और लोध इन सबों का चूर्ण गुड़ मिले हुये मथित संज्ञक दही के साथ सेवन करने से गङ्गा के समान वेगपूर्वक वहने वाला अतीसार रुक जाता है ॥ ३१ ॥

वृद्धगङ्गाधरचूर्णमाह—

मुस्ताऽरलुकशुण्ठीभिर्धातकीलोध्रवालकैः । विल्वमोचरसाभ्यां च पाठेन्द्रयववत्सकैः ॥३२॥
आम्रबीजसमङ्गाऽतिविषायुक्तैश्च चूर्णितैः । मधु तण्डुलपानीयं पीतं हन्ति प्रवाहिकाम् ॥३३॥
हन्ति सर्वानतीसारान् ग्रहणीं हन्ति वेगतः । वृद्धगङ्गाधरं चूर्णं रुन्ध्याद्गीर्वाणवाहिनीम् ॥३४॥

वृद्धगङ्गाधर चूर्ण—नागरमोथा, सोनापाठा, सोंठ, धाय का फूल, लोध, सुगन्धवाला, बेल की गिरी, मोचरस, पाढ़, इन्द्रजौ, कुड़े की छाल, आम की गुठली, लज्जालू तथा अतीस इन सबों का चूर्ण शहद और चावल के धोवन के साथ मिला कर पीने से प्रवाहिका, सभी प्रकार के अतीसार तथा ग्रहणी नष्ट हो जाती है । इस वृद्ध गङ्गाधर चूर्ण का सेवन करने से गङ्गा के प्रवाह के समान वेगपूर्वक वहता हुआ भी अतीसार बन्द हो जाता है ॥ ३२–३४ ॥

अङ्कोलकल्कमाह—

अङ्कोलमूलकल्क-स्तण्डुलपयसा समाक्षिकः पीतः ।
सेतुरिव वारिवेगं झटिति निरुन्ध्यादतीसारम् ॥ ३५ ॥

अङ्कोलकल्क—अङ्कोल के जड़ की छाल को जल के साथ पीसकर शहद और चावल के धोवन के साथ पीने से जैसे सेतु (बांध) बांध देने से जल का प्रवाह झट से रुक जाता है, उसी भांति अतीसार का वेग रुक जाता है ॥ ३५ ॥

***अङ्कोलः = 'ढेला' इति प्रसिद्धः ॥ ३५ ॥**

यहां पर 'अङ्कोल' पद से 'ढेला' नाम से प्रसिद्ध द्रव्य का वोध करना चाहिये ॥ ३५ ॥

कुटजाष्टकावलेहमाह—

कुटजत्वक्तुलामार्द्रां द्रोणनीरे पचेद्भिषक् । पादशेषं शृतं नीत्वा वस्त्रपूतं पुनः पचेत् ॥३६॥
लज्जालुर्धातकी विल्वं पाठा मोचरसस्तथा । मुस्ता चातिविषा चैव चूर्णमेषां पलं पलम् ॥३७॥
निक्षिप्य विपचेत्तावद् यावद्दर्वी प्रलिप्यते । जलेन च्छागदुग्धेन पीतो मण्डेन वा जयेत् ॥३८॥
घोरान्सर्वानतीसारान्नानावर्णान्सवेदनान् । असृग्दरं समस्तञ्च तथाऽर्शांसि प्रवाहिकाम् ॥३९॥

[1]कुटजाष्टकावलेह—कुड़े की छाल गीली एक तुला (४०० तोले) लेकर एक द्रोण (१०२४

---

१. जिस प्रकार अपने आयुर्वेद में कुटज का प्रत्येक प्रकार के अतीसार, प्रवाहिका तथा ग्रहणी इत्यादि विकारों पर मुक्तहस्त से अवलेह, पुटपाक, क्वाथ तथा चूर्ण इत्यादि के रूप में प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार आजकल पाश्चात्त्य विद्वान् भी इसका उपयोग प्रवाहिका इत्यादि पर निःसंकोच करने लगे हैं । अंग्रेजी में भी इसका कुर्ची (Kurchi) यही नाम रूढ हो गया है। यों तो इसका वनस्पतिशास्त्र में होलारीना एण्टीडिसेन्ट्रिका (Holarrhena antidysenterica) यह नाम है । पाश्चात्त्य विज्ञान-वेत्ताओं ने 'इसमें कोनेसाइन (Connessine), कुर्चीसाइन (Curchicine) और कुर्चीन (Kurchine) नामक तीन अलकलायड्स होते हैं' ऐसा माना है । छाल में इनका प्रमाण १–५ प्रतिशत तथा बीज में ०.०२५ प्रतिशत होता है ।

आजकल कुटज का प्रयोग चूर्ण की गोलियों के स्वरूप में प्रवाहीसत्त्व (Liquid extract) के रूप में, कोनेसाइन नामक अल्कलायड् के रूप में या सम्पूर्ण अल्कलायड् (Total al-

तोले) जल में पकावै, जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय तब उतार कर कपड़े से छान लेवै, पुनः उसे चूल्हे पर रख कर पकावै, और उसमें लज्जालू, धाय का फूल, बेल की गिरी, पाढ़, मोचरस, नागरमोथा तथा अतीस इन सबों का चूर्ण प्रत्येक चार २ तोले लेकर छोड़ देवै, और तब तक पकाते २ गाढ़ा करै कि जब तक अवलेह की भांति होकर करछली में न लगने लगै। पश्चात् सिद्ध होने पर उतार कर इस अवलेह का जल या बकरी के दूध अथवा मांड के साथ सेवन करने से वेदना से युक्त अनेक वर्ण के भयङ्कर संपूर्ण अतीसार, संपूर्ण रक्तप्रदर, बवासीर तथा प्रवाहिका ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ३६-३९ ॥

आमलकालवालमाह—

कृत्वाऽऽलवालं सुदृढं पिष्टैरामलकैर्भिषक्। आर्द्रकस्य रसेनाशु पूरयेन्नाभिमण्डलम् ॥४०॥ नदीवेगोपमं घोरं प्रवृद्धं दुर्द्धरं नृणाम्। सद्योऽतीसारमजयं नाशयत्येष योगराट् ॥ ४१ ॥

आँवलोंका आलवाल (घेरा)—वैद्य को चाहिये कि वह आंवलों को जल में पीसकर रोगी की नाभि के चारों तरफ ऊंची सी एक मेंडी (घेरा) बना देवै पश्चात् अदरख के रस से उसे शीघ्र भर देवै। इस योग से नदी के वेग के समान नहीं रुकने वाला, भयङ्कर, अत्यन्त बढ़ा हुआ, दुर्जय भी अतीसार रोग नष्ट हो जाता है। क्योंकि यह सर्वोत्तम उपाय है ॥ ४०-४१ ॥

पाठायालवालमाह—

पाठा पिष्टा च गोदध्ना तथा मध्यत्वगाम्रजा। अतीसारं व्यथादाहं हन्त्येवाशु न संशयः॥४२॥

पाठाद्यालवाल—पाढ़ तथा आम की गुठली की मींगी इन दोनों को गौ के दही के साथ पीसकर पूर्वोक्त रीति से नाभि के चारो तरफ घेरा बना कर उसके अन्दर अदरख का रस भर देने से व्यथा तथा दाह युक्त अतीसार नष्ट हो जाता है। कोई २ पाढ तथा आम की गुठली की मींगी को गौ के दही के साथ पीसकर पान करने के लिये कहते हैं ॥ ४२ ॥

अथ वातातिसारस्य लक्षणमाह—

अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः। शकृदामं सरुक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते ॥ ४३ ॥

वातातिसार के लक्षण—वात के दोष से उत्पन्न हुये अतीसार में किञ्चित् लाल रङ्ग का, फेन से युक्त, रूक्ष, थोड़ा २, बारम्बार आम (अपक) मल निकलता है। और मल निकलते समय शब्द होता है तथा गुदा में पीड़ा होती है। ये सब लक्षण वातातीसार वाले रोगी को होते हैं॥४३॥

***अरुणम्=ईषद्रक्तम्। शकृत्=पुरीषम्। सरुक्शब्दम्=शब्दो गुदे, तत्साहचर्याद्रुगपि गुद एव बोद्धव्या ॥ ४३ ॥**

यहां पर 'अरुणम्' पद का 'किंचित् लाल रङ्ग का'। 'शकृत्' पद का 'मल (विष्ठा)' अर्थ समझना चाहिये। और 'सरुक्शब्दम्' पद का 'गुदा में मल निकलने के समय शब्द होता है तथा गुदा में पीड़ा होती है' यह अर्थ समझना चाहिये। और जब कि शब्द गुदा में होता है तब

'koloids) के स्वरूप में होता है। चूर्ण और प्रवाही सत्त्व का उपयोग मुख द्वारा होता है। चूर्ण की मात्रा ६० ग्रेन तथा सत्त्व की मात्रा १. २ ड्राम की होती है। कोनेसाइन तथा पूर्ण अल्कलायड्स उपत्वचा में या पेशी में इन्जेक्शन द्वारा १. २ ग्रेन की मात्रा में दिये जाते हैं। पूर्ण अल्कलायड्स मुखद्वारा भी दिये जाते हैं। इन्जेक्शन साधारणतया १० रोज तक लगातार दिये जाते हैं।

आजकल बाजार में कुटज की बनी बनाई कई औषधियां मिलती हैं। यथा—Kurchisol (Bengal chemical), Kurchiloid (Union drug co), Curchidin Tab, ets. (Dr. Boses Laboratary), kurchi bark extract, Burroughs well come and Co), इत्यादि। इनमें विशेषता यह है कि इनमें कुल अल्कलायड्स की मात्रा निश्चित रहती है।

इसी के साथ 'रुक् (वेदना): शब्द का भी पाठ होने से 'वेदना भी गुदा में होती है' यही मानना उचित है ॥ ४३ ॥

वातातीसारस्य चिकित्सामाह—

वचा चातिविषा मुस्तं बीजानि कुटजस्य च। श्रेष्ठः कषाय एतेषां वातातीसारशान्तये ॥४४॥

वातातिसार की चिकित्सा—वच, अतीस, नागरमोथा, इन्द्रजौ इन सबों का क्वाथ बना कर पीना वातजन्य अतीसार के लिये उत्तम होता है ॥ ४४ ॥

पित्तातिसारस्य लक्षणमाह—

पित्तात्पीतं शकृद्रक्तं दुर्गन्धि हरितं द्रुतम्। गुदपाकतृषामूर्च्छादाहयुक्तं प्रवर्त्तते ॥ ४५ ॥

पित्तातिसार के लक्षण—पित्तजन्य अतीसार में रोगी का मल पीला, लाल वा हरे रंग का, दुर्गन्धयुक्त तथा पतला निकलता है। और गुदा का पकना, प्यास, मूर्च्छा तथा दाह ये सब भी होते हैं ॥ ४५ ॥

अथ पित्तातिसारस्य चिकित्सा।

तत्र बिल्वादिकाथमाह—

बिल्वशक्रयवाम्भोदवालकातिविषाकृतः। कषायो हन्त्यतीसारं सामं पित्तसमुद्भवम् ॥४६॥

पित्तातीसार की चिकित्सा में बिल्वादि क्वाथ—बेल की गिरी, इन्द्रजौ, नागरमोथा, सुगन्धवाला तथा अतीस इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से आमदोषयुक्त पित्तजन्य अतीसार नष्ट हो जाता है ॥ ४६ ॥

रसाञ्जनादिचूर्णमाह—

रसाञ्जनं सातिविषं कुटजस्य फलत्वचम्। धातकीं शृङ्गवेरञ्च पाययेत्तण्डुलाम्बुना ॥ ४७ ॥
निहन्ति मधुना पीतं पित्तातीसारमुल्बणम्। अग्निं सन्दीपयेदेतच्छूलमाशु निवारयेत् ॥४८॥

रसाञ्जनादि चूर्ण—रसौत, अतीस, कुडे का फल तथा छाल, धाय का फूल, सोंठ इन सबों का चूर्ण बना कर शहद तथा चावल के धोअन के साथ सेवन करने से भयङ्कर पित्तातीसार नष्ट हो जाता है। और यह अग्नि को प्रदीप्त करने वाला तथा शूल को शीघ्र नष्ट करने वाला होता है ॥ ४७–४८ ॥

पित्तातीसारभेदस्य रक्तातीसारस्य लक्षणं संप्राप्तिश्चाह—

पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके। तदाऽस्य जायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः॥

पित्तातीसार के भेद रक्तातीसार का लक्षण तथा संप्राप्ति—पित्तजन्य अतीसार होने पर जब रोगी निरन्तर पित्तकारक पदार्थों का अधिक सेवन करता है तब उसे भयङ्कर रक्तातीसार उत्पन्न होता है ॥ ४९ ॥

अथ रक्तातीसारचिकित्सा।

तत्र कुटजदाडिमक्वाथमाह—

वत्सकत्वग्दाडिमतरु-शलाटुफलसम्भवा त्वक् च। त्वग्युगलं पलमानं विपचेदष्टांशसंमिते तोये॥
अष्टमभागं शेषं क्वाथं मधुना पिबेत्पुरुषः। रक्तातिसारमुल्बणमतिशयितं नाशयेन्नियतम् ॥

रक्तातीसार की चिकित्सा में कुटजदाडिम क्वाथ—कुड़े की छाल तथा अनार के कच्चे फल का छिल्का ये दोनों २ तोले लेकर अठगुने (३२ तोले) जल में पकावै। जब अष्टमांश (४ तोले) जल शेष रह जाय तब उतार कर शहद डालकर पीने से अत्यन्त भयङ्कर भी रक्तातीसार निश्चय दूर हो जाता है ॥ ५०–५१ ॥

कुटजादिकाथमाह—

कुटजातिविषामुस्तावालकं लोध्रचन्दनम्। धातकी दाडिमं पाठा क्वाथमेषां समाक्षिक म् ॥

पिबेद्रक्तातिसारे तु दाहशूलप्रशान्तये । कुटजादिकषायोऽयं सर्वातीसारनाशनः ॥ ५३ ॥

कुटजादिक्वाथ—कुड़े की छाल, अतीस, नागरमोथा, सुगन्धवाला, लोध, लालचन्दन, धाय का फूल, अनार की छाल और पाढ़ इन सबों का क्वाथ बनाकर उसमें शहद मिलाकर रक्तातीसार में दाह तथा शूल को दूर करने के लिये पीना उत्तम होता है। और यह कुटजादि क्वाथ सम्पूर्ण अतीसारों को नष्ट करने वाला होता है ॥ ५२-५३ ॥

तिलकल्कमाह—

कल्कस्तिलानां कृष्णानां शर्करापञ्चभागिकः । आजेन पयसा पीतः सद्योऽतीसारनाशनः ॥

तिलकल्क—काले तिलों का कल्क (चटनी) बना कर उसमें पांचवां भाग सफेद शक्कर मिला कर बकरी के दूध के साथ सेवन करने से तत्काल अतीसार नष्ट हो जाता है ॥ ५४ ॥

वत्सकादिक्वाथमाह—

सवत्सकः सातिविषः सबिल्वः सोदीच्यमुस्तश्च कृतः कषायः ।
सामे सशूले सहशोणिते च चिरप्रवृत्तेऽपि हितोऽतिसारे ॥ ५५ ॥

वत्सकादिक्वाथ—कुड़े की छाल, अतीस, बेल की गिरी, सुगन्धवाला तथा नागरमोथा इन सबों का क्वाथ बना कर पीना आमदोष, शूल तथा रक्त युक्त एवम् बहुत दिनों के उत्पन्न हुए अतीसार में लाभदायक होता है ॥ ५५ ॥

कृष्णमृदादिकल्कमाह—

कृष्णमृन्मधुकं लोध्रं कौटजं तण्डुलाम्बुना । पीतमेकत्र सक्षौद्रं रक्तसंग्राहणं परम् ॥ ५६ ॥

कृष्णमृदादिकल्क—काली मिट्टी, मुलेठी, लोध, इन्द्रजौ (अथवा कुड़े की छाल) इन सबों को पीस कर कल्क (चटनी) बना लेवें, पश्चात् शहद मिला कर चावल के धोवन के साथ सेवन करना चाहिये। यह प्रयोग रक्तातिसार में रक्त को बन्द करने के लिये उत्तम होता है ॥ ५६ ॥

गुडबिल्वमाह—

गुडेन भक्षयेद्बिल्वं रक्तातीसारनाशनम् । आमशूलविबन्धघ्नं कुक्षिरोगहरं परम् ॥ ५७ ॥

[1]गुड बिल्व—बेल के गूदे में गुड़ मिला कर सेवन करने से रक्तातीसार, आमशूल, मल का विबन्ध तथा कुक्षिरोग नष्ट होता है ॥ ५७ ॥

जम्ब्वादिस्वरसमाह—

जम्ब्वाम्रामलकीनान्तु कुट्टयेत्पल्लवान्नवान् । तत्पीतं मधुना युक्तं रक्तातीसारनाशनम् ॥५८॥

जम्ब्वादिस्वरस—जामुन, आम तथा आवले के कोमल पत्तों को लेकर कूट कर रस निकाल लेवें, तत्पश्चात् उसमें शहद डाल कर पीने से रक्तातीसार नष्ट हो जाता है ॥ ५८ ॥

कुटजक्षीरमाह—

निक्वाथ्य मूलममलं गिरिमल्लिकायाः सम्यक् पलद्वितयमम्बुचतुःशरावे ।

---

१. यों तो अपने यहां—

ग्राहिणी कफवातामशूलघ्नी बिल्वपेशिका । बालं बिल्वफलं ग्राहि दीपनं पाचनं कटु ।
कषायोष्णं लघु स्निग्धं तिक्तं वातकफापहम् ॥

इन सब उपर्युक्त गुणों के कारण बिल्व का प्रयोग प्रायः प्रत्येक प्रकार के अतीसार में होता ही है। पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी इसमें उपर्युक्त गुणों को स्वीकार कर लिया है और मानते हैं कि अवश्य ही अतीसार के लिये यह एक उत्तम औषधि है। और वे लोग इसका उपयोग प्रवाहीसत्त्व (Liquid extract) के स्वरूप में ½ से २ ड्राम की मात्रा में, क्वाथ के स्वरूप में ½ से २ औंस की मात्रा में और चूर्ण रूप में ½ ड्राम की मात्रा में चिरकालीन अतीसार (Chronic Diarrhoea) तथा प्रवाहिका (Dycentery) में प्रयुक्त करते हैं।

तस्मात्शेषसलिलं खलु शोषणीयं क्षीरे पलद्वयमिते कुशलैरजायाः ॥ ५९ ॥
प्रक्षिप्य माषकानष्टौ मधुनस्तत्र शीतले। रक्तातिसारी तत्पीत्वा नैरुज्यं क्षिप्रमाप्नुयात्॥६०॥

कुटजक्षीर—कुड़े की साफ की हुई छाल दो पल (८ तोले) लेकर चार शराव (३२ तोले) जल में पकावे जब चौथाई जल शेष रह जाय तब उतार कर छान लेवे पश्चात् उसमें बकरी का दूध २ पल (८ तोले) डाल कर पुनः पकावे जब केवल दूध शेष रह जाय तब उतार कर शीतल हो जाने पर उसमें ८ माशे शहद डालकर रक्तातीसार का रोगी यदि पीवे तो शीघ्र रोगमुक्त हो जाता है ॥ ५९-६० ॥

शतावरीकल्कमाह—

पीत्वा शतावरीकल्कं पयसा क्षीरभुग्जयेत्। रक्तातिसारं पीत्वा वा तया सिद्धं घृतं नरः॥६१॥

शतावरी का कल्क—शतावरी का कल्क (चटनी) दूध के साथ मिला कर पीने से, साथ २ पथ्य में केवल दूध का सेवन करने से तथा शतावरी के कल्क से सिद्ध किये हुए घृत का सेवन करने से मनुष्य रक्तातीसार को दूर कर सकता है ॥ ६१ ॥

नवनीतावलेहमाह—

गोदुग्धनवनीतं च मधुना सितया सह। लीढं रक्तातिसारे तु ग्राहकं परमं मतम् ॥ ६२ ॥

नवनीतावलेह—रक्तातीसार में गाय के दूध का मक्खन मिश्री तथा शहद के साथ मिला कर चाटने से रक्तातीसार बन्द हो जाता है, क्योंकि यह प्रयोग अत्यन्त ग्राहक (मल को रोकने वाला) होता है ॥ ६२ ॥

चन्दनकल्कमाह—

पीतं मधुसितायुक्तं चन्दनं तण्डुलाम्बुना। रक्तातीसारजिद्रक्तपित्ततृड्दाहमेहनुत् ॥ ६३ ॥

चन्दनकल्क—सफेद चन्दन को घिस कर उसमें शहद व मिश्री मिला कर चावल के धोवन के साथ पीने से रक्तातीसार, रक्तपित्त, प्यास, दाह तथा प्रमेह दूर हो जाता है ॥ ६३ ॥

*चन्दनमत्र श्वेतचन्दनम् ॥ ६३ ॥

यहां पर 'चन्दन' पद का 'सफेद चन्दन' अर्थ समझना चाहिये ॥ ६३ ॥

गुददाहपाकोपायानाह—

विरेकैर्बहुभिर्यस्य गुदं पित्तेन दह्यते। पच्यते वा तयोः कार्यं सेकप्रक्षालनादिकम् ॥ ६४ ॥

गुददाह तथा गुदपाक का उपाय—अतीसार में अधिक दस्त होने से जिस रोगी का पित्त के कारण से गुदा में दाह या पाक होने लगता है, उस समय उन दोनों में गुदा का सेचन तथा प्रक्षालन आदिक करना उचित है ॥ ६४ ॥

*आदिशब्देन लेपादिसंग्रहः ॥ ६४ ॥

यहां पर 'आदि' पद से 'लेपादि' का भी ग्रहण करना चाहिये ॥ ६४ ॥

पटोलयष्टिमधुकक्काथेन शिशिरेण हि। गुदप्रक्षालनं कार्यं तेनैव गुदसेचनम् ॥ ६५ ॥
दाहे पाके हितं छागीदुग्धं सक्षौद्रशर्करम्। गुदस्य क्षालने सेके युक्तं पाने च भोजने ॥६६॥

परवल की पत्ती और मुलेठी इन दोनों का क्वाथ बना कर शीतल हो जाने पर उससे गुदा का प्रक्षालन करना (धोना) चाहिये। तथा उसी से गुदा का सेचन भी करना चाहिये। और गुदा में दाह तथा पाक होने पर बकरी के दूध में शहद तथा शक्कर डाल कर उसका प्रयोग करना हितकर होता है अर्थात् गुदा के दाह तथा पाक में उपर्युक्त बकरी का दूध गुदा का प्रक्षालन तथा सेचन में एवम् पीने तथा खाने में अतीव उपयोगी है ॥ ६५-६६ ॥

*गुदस्य दाहपाकयोः ॥ ६६ ॥

यहां पर 'गुदस्य' पद का 'गुदा के दाह तथा पाक में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६५-६६ ॥

गुदव्यथा-निःसरण-भ्रंशोपायानाह—

अतिप्रवृत्त्या महती भवेद्यदि गुदव्यथा। स्विन्नमूषकमांसेन तदा संस्वेदयेद् गुदम् ॥ ६७ ॥

अथ गोधूमचूर्णस्य संस्कृतस्य तु वारिणा। साज्यस्य गोलकं कृत्वा मृदु संस्वेदयेद् गुदम्॥६८॥ गुदनिःसरणे प्रोक्तं चाङ्गेरीघृतमुत्तमम् । गुदभ्रंशे गुदं स्नेहैरभ्यज्यान्तः प्रवेशयेत् ॥ ६९ ॥

प्रविष्टं स्वेदयेन्मन्दं मूषकस्यामिषेण हि ॥ ७० ॥

गुदव्यथा, गुदबहिर्निःसरण (गुदा का बाहर निकलना), गुदभ्रंश (कांच निकलना) का उपाय—अतीसार में अधिक दस्त आने से यदि गुदा में अधिक व्यथा हो तो चूहे का मांस उबाल कर उसके भाफ से गुदा का स्वेदन करना चाहिये। अथवा गेहूँ के आटे को जल में पकाकर उसमें घी डाल कर एक गोला बना कर उसी के द्वारा सुहाता २ गुदा का स्वेदन (सेक) करना चाहिये।

और गुदा के बाहर निकलने पर 'चाङ्गेरी घृत' का प्रयोग करना उत्तम होता है।

गुदभ्रंश (कांच निकलने) में तेल आदिक स्नेह पदार्थों के द्वारा निकले हुये कांच की मालिश कर के उसे गुदा के भीतर कर देना चाहिये। उसके उपरान्त (भीतर प्रवेश करा देने के बाद) चूहे के मांस के द्वारा धीरे २ गुदा का स्वेदन करना चाहिये ॥ ६७–७० ॥

***मूषकस्यामिषेण काञ्जिकस्विन्नेन एरण्डपत्रादिस्थापितेन स्वेदयेत् ॥ ६७ ७० ॥**

यहां पर 'चूहे के मांस के द्वारा' कहने से 'कांजी में उबाल कर एरण्ड (रेड़) आदि के पत्तों पर रक्खे हुये चूहे के मांस के द्वारा' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६७–७० ॥

शम्बूकमांसं सुस्विन्नं सतैललवणान्वितम्। ईषद् घृतेन चाभ्यज्य स्वेदयेत्तेन यत्नतः ॥७१॥ गुदभ्रंशमशेषेण नाशयेत्क्षिप्रमेव च । मूषकस्याथ वसया पायुं सम्यक्प्रलेपयेत् ॥

गुदभ्रंशाभिधो व्याधिः प्रणश्यति न संशयः ॥ ७२ ॥

घोंघे के मांस को भली भांति उबाल कर उसमें तेल तथा सेंधानिमक मिला कर प्रथम गुदा के ऊपर गाय का घी किंचित् चुपड़ कर यत्नपूर्वक गुदा का स्वेदन करने से गुदभ्रंश (कांच का निकलना) पूर्णरूप से तत्काल शान्त (बन्द) हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिये।

अथवा चूहे की वसा (चर्बी) का गुदा में भली-भांति प्रलेप करने से गुदभ्रंश नामक रोग निःसन्देह नष्ट हो जाता है ॥ ७१–७२ ॥

चाङ्गेरीघृतम्—

चाङ्गेरीकोलदध्यम्लक्षारनागरसंयुतम् । घृतं विपक्वं पातव्यं गुदभ्रंशगदापहम् ॥ ७३ ॥

चाङ्गेरी घृत—चाङ्गेरी (स्वरस), बेर (क्वाथ), दही (खट्टी) तथा जवाखार और सोंठ इन सबों से युक्त करके पकाया हुआ घी पीने से गुदभ्रंश रोग दूर हो जाता है ॥ ७३ ॥

***चाङ्गेरी=चतुष्पत्री अम्ललोणिका, तस्याः स्वरसः। कोलस्य क्वाथः। दध्यम्लं= दधिरूपमम्लम् । एतत् त्रयं मिलितं घृताच्चतुर्गुणम् । क्षारनागरयोः कल्कः ॥ ७३ ॥**

यहां पर 'चांगेरी' पद से 'चार पत्तों वाली 'अविलोना' नामक खट्टी बूटी का स्वरस' लेना चाहिये। और बेर का क्वाथ तथा खट्टी दही इन तीनों की संमिलित मात्रा घी से चौगुनी होनी चाहिये। और जवाखार तथा सोंठ का कल्क लेना चाहिये ॥ ७३ ॥

पद्मिनीपत्रचूर्णमाह—

कोमलं पद्मिनीपत्रं यः खादेच्छर्कराऽन्वितम्। एतन्निश्चित्य निर्दिष्टं न तस्य गुदनिर्गमः ॥७४॥

पद्मिनीपत्र चूर्ण—कोमल कमलिनी के पत्तों को शक्कर के साथ जो कोई खाता है तो यह निश्चय है कि उसका गुदा का बाहर निकलना अवश्य बन्द हो जाता है ॥ ७४ ॥

***पद्मिनीपत्रं संशोष्य सञ्चूर्ण्य शर्करायुक्तं खादेत्। अयं तु गुदभ्रंशोऽतीसारं विनाऽपि भवति, ततः क्षुद्ररोगेषु लिखितः। अत्र गुदस्य दाहपाकव्यथाप्रसङ्गाद् भ्रंशोऽपि लिखितः। चिकित्सा तूभयत्र तुल्यैव ॥ ७४ ॥**

यहां पर 'कमलिनी के पत्तों को प्रथम सुखा कर पश्चात् चूर्ण बना कर शक्कर के साथ मिलाकर खाना चाहिये' यह समझना आवश्यक है।

और यह गुदभ्रंश रोग अतीसार के विना स्वतन्त्र रूप से भी उत्पन्न होता है अतः क्षुद्ररोग के

अन्तर्गत इसका उल्लेख मिलता है। यहां पर जो किया गया है वह गुदा के दाह, पाक तथा व्यथा के चिकित्सा-प्रसङ्ग से भ्रंश की भी लिख दी गई है। चिकित्सा दोनों स्थलों पर गुदभ्रंश की बराबर ही है ॥ ७४ ॥

अथ कफातीसारस्य लक्षणमाह—

श्वेतं स्निग्धं घनं बद्धं शीतलं मन्दवेदनम्। गौरवारुचिसंयुक्तं श्लेष्मणा सार्यते शकृत्॥७५॥

कफातीसार के लक्षण—कफ से अतीसार होने पर सफेद, स्निग्ध, घन (गाढ़ा), बधा हुआ, शीतल, मल निकलता है। और इसमें रोगी के उदर में मन्द २ वेदना होकर मल निकलता है एवम् शरीर में गुरुता तथा अन्न में अरुचि रहती है ॥ ७५ ॥

अथ कफातिसारस्य चिकित्सामाह—

श्लेष्मातिसारे प्रथमं हितं लङ्घनपाचनम्। योज्यश्चामातिसारघ्नो यथोक्तो दीपनो गणः॥७६॥

कफातिसार की चिकित्सा—कफातीसार में प्रथम उपवास करना तथा पाचन ओषधियों का सेवन करना हितकर होता है। और आमातीसारनाशक यथोक्त अग्निदीपक ओषधियों का भी प्रयोग करना चाहिये ॥ ७६ ॥

चव्यादिक्वाथमाह—

चव्यं सातिविषामुस्तं बालबिल्वं सनागरम्। वत्सकत्वक्फलं पथ्या च्छर्दिश्लेष्मातिसारनुत्॥

चव्यादि क्वाथ—चव्य, अतीस, नागरमोथा, कच्चे बेल की गिरी, सोंठ, कुड़े की छाल, इन्द्र जौ तथा हरड़ इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से वमन तथा कफातिसार नष्ट हो जाता है ॥७७॥

हिङ्ग्वादिचूर्णमाह—

हिङ्गु सौवर्चलं व्योषमभयाऽतिविषा वचा। पीतमुष्णाम्बुना चूर्णमेषां श्लेष्मातिसारनुत्॥७८॥

हिङ्ग्वादि चूर्ण—भुनी हींग, काला नोन, सोंठ, काली मिरच, पीपल, हरड़, अतीस, वच इन सबों का चूर्ण बनाकर गर्म जल के साथ खाने से कफातिसार नष्ट हो जाता है ॥७८॥

अथ द्विदोषजातीसारस्य सामान्यचिकित्सा।

तत्र क्रिमिशत्र्वादिक्वाथः—

क्रिमिशत्रुवचाबिल्वपाठाधान्याककट्फलम्। एषां क्वाथं भिषग्दद्यादतीसारे द्विदोषजे॥७९॥
तेषां चिकित्सा प्रोक्तैव विशिष्टा च निगद्यते ॥ ८० ॥

दो दोषों से उत्पन्न हुए अतीसार की सामान्य चिकित्सा में क्रिमिशत्र्वादि क्वाथ—वैद्यों को सामान्य रूप से दो दोषों से उत्पन्न हुये अतीसार में रोगियों को वायविडङ्ग, वच, कच्चे बेल की गिरी, पाढ़, धनिया तथा कायफल इन सबों का क्वाथ पिलाना चाहिये। और द्विदोषज अतीसार की चिकित्सा तो उसके पृथक् २ दोषों की चिकित्सा में कह आये हैं अतः जो २ दोष हों उनकी सामान्य चिकित्सा मिलाकर करनी चाहिये। यही द्विदोषज की सामान्य चिकित्सा हुई और अब जो विशेष चिकित्सा है उसे कहते हैं ॥७९-८०

अथ वातश्लेष्मातिसारस्य चिकित्सा।

तत्र कट्फलादिक्वाथः—

कट्फलं मधुकं लोध्रं त्वग्दाडिमफलस्य च। सतण्डुलजलं चूर्णं वातश्लेष्मातिसारनुत्॥८१॥

वातकफातिसार की चिकित्सा—कायफल, मुलेठी, लोध तथा अनार के फल की छाल इन सबों का चूर्ण चावल के धोवन के साथ खाने से वातकफातिसार दूर होता है ॥ ८१ ॥

अथ वातपित्तातिसारस्य चिकित्सा।

तत्र चित्रकादिक्वाथः—

चित्रकातिविषामुस्तं बालबिल्वं सनागरम्। वत्सकत्वक्फलं पथ्या वातपित्तातिसारनुत्॥८२॥

वातपित्तातीसार की चिकित्सा में चित्रकादिक्वाथ—चीता के जड़ की छाल, अतीस,

नागरमोथा, कच्चे वेल की गिरी, सोंठ, कुड़े की छाल, इन्द्रजौ तथा हरड़ इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से वातपित्तातीसार नष्ट हो जाता है ॥ ८२ ॥

अथ पित्तकफातीसारस्य चिकित्सा ।

तत्र मुस्तादिक्वाथः—

मुस्ता सातिविषा मूर्वा वचा च कुटजः समाः । एषां कषायः सक्षौद्रः पित्तश्लेष्मातिसारनुत् ॥८३॥

पित्तकफातीसार की चिकित्सा में मुस्तादिक्वाथ—नागरमोथा, अतीस, मूर्वा, वच, कुड़े की छाल इन सबों के क्वाथ में शहद मिलाकर पीने से पित्तकफातीसार दूर होता है ॥ ८३ ॥

सन्निपातातीसारस्य लक्षणमाह—

तन्द्रायुक्तो मोहसादास्यशोषी वर्चः कुर्यान्नैकरूपं तृषाऽऽर्त्तः ।
सर्वोद्भूते सर्वलिङ्गोपपत्तिः कृच्छ्रः साध्यो बालवृद्धाबलानाम् ॥ ८४ ॥

सन्निपातातीसार के लक्षण—तीनों दोषों से उत्पन्न हुये अतीसार में तीनों दोषों के लक्षण रहते हैं । तथा रोगी तन्द्रा, मोह, ग्लानि, मुखशोष तथा तृषा से पीड़ित रहता है और उसके मल का रंग अनेक प्रकार का होता रहता है । यह संनिपातातीसार बालक, वृद्ध तथा दुर्बल रोगियों को यदि हो तो कृच्छ्रसाध्य (कठिनता से दूर होने वाला) होता है ॥ ८४ ॥

अथ सन्निपातातीसारस्य चिकित्सा ।

तत्र पञ्चमूलादिक्वाथमाह—

पञ्चमूलीबलाबिल्वगुडूचीमुस्तनागरैः । पाठाभूनिम्बवर्हिष्ठकुटजत्वक्फलैः शृतम् ॥ ८५ ॥
सर्वजं हन्त्यतीसारं ज्वरञ्चापि तथा वमिम् । सशूलोपद्रवं श्वासं कासं चापि सुदुस्तरम् ॥८६॥
पञ्चमूली च सामान्या पित्ते योज्या कनीयसी । वाते पुनर्बलासे च सा योज्या महती मता ॥८७॥

संनिपातातीसार की चिकित्सा में पञ्चमूल्यादिक्वाथ—पञ्चमूल, खिरेटी, वेल की गिरी, गिलोय, नागरमोथा, सोंठ, पाढ़, चिरायता, सुगन्धवाला, कुड़े की छाल तथा इन्द्रजौ इन सबों का क्वाथ बनाकर पीने से सन्निपातातीसार, ज्वर, वमन, शूलोपद्रव, श्वास तथा कठिन खांसी ये सब नष्ट हो जाते हैं । और संनिपातातीसार में जब पित्त की प्रबलता हो तो लघु पञ्चमूल का प्रयोग करना चाहिये और जब वात या कफ की प्रबलता हो तो बृहत्पञ्चमूल का प्रयोग करना उचित है ॥८५-८७॥

चतुःसममोदकमाह—

अभया नागरं मुस्तं गुडेन सह योजितम् । चतुःसमेयं गुटिका सर्वातीसारनाशनी ॥८८॥
आमातीसारमानाहं सविबन्धं विसूचिकाम् । कृमीनरोचकं हन्याद्दीपयत्याशु चानलम् ॥८९॥

चतुःसममोदक—हरड़, सोंठ, नागरमोथा और गुड़ ये सब समान भाग में लेकर यथाविधि गोली बना लेवै । इसमें चारों द्रव्य समभाग में होने से इसे 'चतुःसममोदक' कहते हैं, यह सम्पूर्ण अतीसारों को नष्ट करनेवाला होता है, और आमातीसार, अफारा, मलबन्ध, विसूचिका (हैजा), कृमिरोग और अरुचि इन सबों को दूर करनेवाला तथा अग्नि को शीघ्र प्रदीप्त करनेवाला होता है ॥

कुटजपुटपाकमाह—

तत्कालाकृष्टकुटजत्वचं तण्डुलवारिणा । पिष्ट्वा चतुःपलमितां जम्बूपत्रेण वेष्टिताम् ॥ ९० ॥
सूत्रेण बद्ध्वा गोधूमपिष्टेन परिवेष्टिताम् । लिप्ताञ्च घनपङ्केन निर्दहेद् गोमयाग्निना ॥९१॥
अङ्गारवर्णाञ्च मृदं दृष्ट्वा वह्नेः समुद्धरेत् । ततो रसं समादाय शीतं क्षौद्रयुतं पिबेत् ॥९२॥
उक्तः कृष्णात्रिपुत्रेण पुटपाकस्तु कौटजः । जयेत्सर्वानतीसारान् रक्तजान्सुचिरोत्थितान् ॥९३॥

कुटज पुटपाक—तत्काल के अलग किये हुये (गीले) कुड़े की छाल को ४ पल (१६ तोले) लेकर चावल के धोअन से पीसकर एक गोला बना लेवै, पश्चात् उसके ऊपर जामुन के पत्ते लपेटकर सूत्र से बांध देवै, और पुनः उसके ऊपर गेहूं के गीले आटे का लेप करके सबके ऊपर से मिट्टी का लेप करके गोबर की अग्निमें डालकर पकावै, जब मिट्टी पककर लाल रङ्ग की देख पड़ने लगै, तब निकाल

कर अन्दर से उक्त गोले को निकालकर उसका रस निचोड़ लेवै और शीतल होनेपर शहद मिलाकर उसे पी लेवै। यह-कुड़े की छाल का पुटपाक महर्षि कृष्णात्रि के पुत्र ने कहा है। और इससे सम्पूर्ण अतीसार, रक्तातीसार तथा बहुत दिनों का पुराना भी अतीसार नष्ट हो जाता है ॥९०-९३॥

अथ कुटजावलेहमाह—

कुटजत्वक्कृतः क्वाथो वस्त्रपूतो हिमीकृतः। स लीढोऽतिविषायुक्तः स्यात् त्रिदोषातिसारनुत्॥ इच्छन्त्यत्राष्टमांशेन क्वाथादतिविषारजः। प्रक्षेपयेच्चतुर्थांशमिति के चिद्वदन्ति हि ॥ ९५ ॥

कुटजावलेह—कुड़े की छाल का क्वाथ बनाकर शीतल होने पर छान कर अतीस का चूर्ण मिलाकर चाटने से सन्निपातातीसार नष्ट हो जाता है। यहां पर वैद्य लोग क्वाथ का अष्टमांश $\frac{1}{8}$ अतीस का चूर्ण डालना बताते हैं। और कोई २ वैद्य क्वाथ का चतुर्थांश $\frac{1}{4}$ अतीस के चूर्ण का प्रक्षेप डालना बताते हैं ॥ ९४-९५ ॥

अङ्कोटवटकमाह—

पलमङ्कोटमूलस्य पाठां दार्वीञ्च तत्समाम्। पिष्ट्वा तण्डुलतोयेन वटकानक्षसम्मितान्॥९६॥ छायाशुष्कांश्च तान्कुर्यात्तेष्वेकं तण्डुलाम्बुना। पेषयित्वा प्रदद्यात्तं पानाय गदिने भिषक्॥ वातपित्तकफोद्भूतान्द्वन्द्वजान्सान्निपातिकान्। हन्यात्सर्वानतीसारान्वटकोऽयं प्रयोजितः॥

अङ्कोटवटक—वैद्य प्रथम अङ्कोल की जड़ का छाल १ पल (४ तो०) और पाढ़ तथा दारुहल्दी ये दोनों भी प्रत्येक एक २ पल (चार २ तो०) लेकर चावल के धोअन के साथ पीसकर एक २ तोले के बराबर की गोलियां बनाकर छाया में सुखा लेवै, पश्चात् उसमें से आवश्यकता पड़ने पर एक गोली लेकर चावल के धोअन के साथ पुनः पीसकर रोगी को पीने के लिये दे देवै, इस गोली के प्रयोग करने से वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाले, द्वन्द्वज (द्विदोषज) तथा सन्निपात से होने वाले सभी प्रकार के अतीसार नष्ट हो जाते हैं ॥ ९६-९८ ॥

आगन्तुजस्य शोकातिसारस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

**तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य बाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं तच्चाधस्तात्काकणन्तीप्रकाशम् ॥ ९९ ॥
निर्गच्छेद् वै विड्विमिश्रं ह्यविड् वा निर्गन्धं वा गन्धवद्वाऽतिसारः।
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ॥ १०० ॥**

आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होनेवाले शोकातिसार के सम्प्राप्ति-पूर्वक लक्षण—जो मनुष्य बन्धु-वियोग तथा धननाश आदि कारणों से शोक करता रहता है, तथा उसीसे बहुत थोड़ा भोजन करता है। उसके शोक से उत्पन्न हुई देह की उष्मा (गर्मी) से निकले हुये आँख, नाक तथा गले में रहने वाले जल के साथ २ शोक से उत्पन्न हुई देह की उष्मा कोष्ठ (कोठे) में पहुँच कर जठराग्नि को मन्द करके रक्त को अपने स्थान से चलायमान कर देती है। यह सम्प्राप्ति है। इसके बाद लक्षण आरम्भ होता है कि-वही (स्वस्थान से चलित) रक्त गुदा के मार्ग से गुञ्जाफल (रत्ती) के समान होकर मल के साथ दुर्गन्धयुक्त अथवा विना मलके अलग गन्धरहित निकलने लगता है। और यह शोक से उत्पन्न हुआ अतीसार वैद्यों के लिये चिकित्सा करने में कठिन होता है क्योंकि शोक दूर हुये विना केवल औषध द्वारा प्रतीकार करना असम्भव हो जाता है अतएव इसे वैद्य लोग कष्टसाध्य कहते हैं ॥ ९९-१०० ॥

अयमर्थः—तैस्तैर्भावैः=बन्धुवित्तक्षयादिभिः। शोचतः=शोकं कुर्वतः। जन्तोः=प्राणिनः। बाष्पोष्मा=बाष्पः=शोकजदेहोष्मणा जनितं नेत्रनासागलादिषु जलं, तेन सहित उष्मा=शोकजं देहतेजः। स कोष्ठं गत्वा वह्निमाविश्य=जठराग्निं मन्दीकृत्य, बाष्पसाहित्यादुष्मणाऽपि वह्नेर्मन्दीभाव इति न दोषः। वह्नेर्मन्दीभावादल्पाशनस्येति जन्तोर्विशेषणम्। ततस्तस्य जन्तो रक्तं क्षोभयेत्=स्वस्थानाच्चालयेदिति सम्प्राप्तिः। अथ लक्षणम्।

तच्च = रक्तम्, अधस्ताद् = गुदात्। काकणन्तीप्रकाशम=गुञ्जाफलसदृशम्। विड्विमिश्रं गन्धवच्च। अविड् निर्गन्धं वा निर्गच्छेत्। शोकोत्पन्नोऽतिसारोऽतिमात्रं दुश्चिकित्स्यः, शोकापनोदनं विना केवलेन भेषजेन प्रतीकर्तुमशक्यत्वात्। एषोऽतीसारः कष्टसाध्यः कथितः॥ ९९–१०० ॥

यहां पर 'तैस्तैर्भावैः' इन पदों का 'बन्धुवियोग तथा धननाश आदि कारणों से' 'बाष्पोष्मा' पद का 'शोक से उत्पन्न हुई देह की उष्मा से निकले हुये आंख, नाक तथा गले में रहने वाले जलके साथ २ शोकसे उत्पन्न हुई उष्मा' तथा 'वह्निमाविश्य' इन पदों का 'जठराग्नि को मन्द करके' यह अर्थ समझना चाहिये। तथा बाष्प (नेत्र–नासादिगत जल) के साथ २ रहने से उष्मा (शोकज देह की गर्मी) से भी जठराग्नि का मन्द होना जो कहा गया है, उसमें कोई दोष (अनुचित) नहीं है। और जठराग्नि के मन्द होने से ही रोगी बहुत थोड़ा भोजन करता है। 'अल्पाशनस्य' यह विशेषण 'जन्तोः' पद का है। 'रक्तं क्षोभयेत्' पदों का 'रक्त को अपने स्थान से चलायमान कर देती है' यह अर्थ समझना चाहिये। तथा यहां तक शोकातिसार रोग की सम्प्राप्ति है। इसके बाद उसका लक्षण है' यह और समझना चाहिये। 'तत्' पद का 'रक्त'। 'अधस्ताद्' पद का 'गुदा के मार्ग से'। 'काकणन्तीप्रकाशम्' पद का 'गुञ्जाफल (रत्ती) के समान' यह अर्थ समझना चाहिये। 'दुश्चिकित्स्य' पद का 'वैद्यों के लिये चिकित्सा करने में कठिन हो जाता है क्योंकि शोक दूर हुये विना केवल औषध द्वारा प्रतीकार करना असम्भव हो जाता है' यह अर्थ समझना चाहिये॥

आगन्तुजस्य भयातीसारस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

भयेन क्षोभिता दोषा दूषयन्ति मलं यदा। तदाऽतिसार्यते जन्तुः क्षिप्रमुष्णं जलप्लवम्॥
वातपित्तातिसारस्य प्रायो लिङ्गैः समन्वितम्।अभयोपशमाच्छर्मं यस्मिन्स्यात्स भयात्स्मृतः॥

आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हुये भयातिसार के सम्प्राप्ति–पूर्वक लक्षण—जब भय होने से क्षोभ को प्राप्त हुये दोष जिस मनुष्य के मल को दूषित करते हैं (यह लक्षण है) तब उसको तत्काल अतीसार हो जानेसे जल में तैरने वाला, उष्ण, मल निकलने लगता है। और इस अतीसार में प्रायः करके वात तथा पित्तसम्बन्धी अतीसार के लक्षण प्रगट रहते हैं। और इसमें भय का उपशम होने मात्र से ही रोग शान्ति होने से रोगी सुख प्राप्त करता है अतः इसे भय से उत्पन्न हुआ अतीसार कहते हैं॥ १०१–१०२ ॥

प्लवतीति प्लवम् = जले प्लवमानमित्यर्थः। ननु भयातिसारस्य कथमागन्तुजत्वमयमपि दोषज एव। अत आह—भयेन क्षोभिताः = दूषिताः, दोषा मलं दूषयन्ति तन्मलमतिसरति, अत्र पूर्वमेव दोषसम्बन्धः। उच्यते—

यहां पर 'प्लवम्' पद का 'जल में तैरने वाला' अर्थ समझना चाहिये। 'और यहां पर यह शङ्का होती है कि—भयातिसार को आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हुआ क्यों मानते हैं ? जब कि यह भी दोषज (दोष से उत्पन्न हुआ) ही है। क्योंकि भयातीसार की सम्प्राप्ति में यहां ही पर कहा है कि—भय से क्षोभ को प्राप्त हुये अर्थात् दूषित हुये दोष मल को दूषित करते हैं। और वही मल अतीसार में निकलता है। अत एव इस भयातीसार में पहले से ही दोष का सम्बन्ध रहता ही है ? इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—

***'रागद्वेषभयाच्चैव ते स्युरागन्तवो गदाः'। इति वचनाद् भयातिसार आगन्तुज एव। भयेनैव हेतुभूतेन दोषाः=वातपित्तकफाः, क्षोभिताः=सञ्चालिताः अतिसारं जनयन्ति। क्षोभिताः=सञ्चालिताः, न तु दूषिताः। भयेन त्रयाणामपि दोषाणां दूषणासम्भवात्। अतिसर्तु चलिता वातपित्तकफा मलं दूषयन्ति तत्सर्वं वातपित्तकफमलं भयेनैवातिसार्यते, पश्चाद् वातसम्बन्धेन। 'भयाद्वायुरि'ति वचनात्। अत एव भयातिसारे वातहर्येव क्रिया कथितेति साधुः॥ १०१–१०२ ॥**

'राग, द्वेष, तथा भय से होने वाले जो रोग हैं, वे 'आगन्तुज' कहलाते हैं'। इस वचनके अनुसार भयातीसार आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने वाला ही है। क्योंकि भय के कारण से दोष जो

वात, पित्त तथा कफ हैं ये क्षोभ को प्राप्त हुये अर्थात् चलायमान होते हुये अतीसार को उत्पन्न करते हैं। यहां पर 'क्षोभित' पद का वस्तुतः 'दूषित हुये' यह अर्थ न करके 'चलायमान होते हुये' यही अर्थ करना चाहिये। क्योंकि भय से तीनों दोषों का दूषित होना असम्भव है। और भय के कारण से वायु, पित्त और कफ अधिक रूपसे निकलने के लिये चलायमान होते हुये मल को दूषित करते हैं। अत एव वात, पित्त, कफ तथा मल ये सभी प्रथम भय के कारण से ही अधिक रूपसे अतीसार में निकलने के लिये प्रवृत्त होते हैं, उसके बाद वात के सम्बन्ध से अतिसरण होता है अर्थात् वात का सम्बन्ध पीछेसे होता है। क्योंकि कहा भी है कि-'भय से वायु कुपित होता है' अत एव 'भयातीसार में वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिये' ऐसा जो कहा है, वह उचित ही है ॥१०१-१०२॥

शोकातीसारभयातीसारयोश्चिकित्सामाह—

भयशोकसमुद्भूतौ ज्ञेयौ वातातिसारवत्। तयोर्वातहरी कार्या हर्षणाश्वासनैः क्रिया ॥१०३॥

शोकातिसार तथा भयातिसार की चिकित्सा—भय तथा शोक से उत्पन्न हुये अतीसार को वातातीसार की भांति समझना चाहिये अत एव इन दोनों अतीसारों में रोगी को क्रम से हर्षित करते हुये, तथा आश्वासन देते हुये वातनाशक अर्थात् वातातिसारोक्त चिकित्सा करनी चाहिये ॥१०३॥

***वातातिसारवद्वातातिसारलक्षणयोस्तयोश्चिकित्सा च हर्षणाश्वासनपूर्विका वातहरी कर्त्तव्या ॥ १०३ ॥**

यहां पर 'वातातीसार की भांति' यह कहने से यह समझना चाहिये कि—इन दोनों शोकातिसार तथा भयातिसार में वातातिसार के लक्षण रहते हैं अतः इन दोनों को क्रम से शोकजन्य में हर्षित कराते हुये तथा भयजन्य में आश्वासन दिलाते हुये वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिये ॥१०३॥

आमातीसारस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

अन्नाजीर्णात्प्रद्रुताः क्षोभयन्तो दोषाः कोष्ठे धातुसंघान्मलांश्च।
नानावर्णान्नैकशः सारयन्ति शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति ॥ १०४ ॥

आमातिसार[1] के सम्प्राप्तिपूर्वक लक्षण—भोजन किये हुये अन्न के न पचने से अनियत मार्गों से गमन करने वाले वातादिक दोष कोष्ठ में स्थित रस-रक्तादिक धातुसमूह तथा मलों को चलायमान करते हुये शूलयुक्त अनेक वर्ण के बारम्बार मल को गुदामार्ग से निकालते हैं। इसे छठां आमातिसार मुनि लोग कहते हैं ॥ १०४ ॥

अन्नं भुक्तं तदजीर्णञ्चेति कर्मधारये, अन्नाजीर्णं तस्मात्प्रद्रुताः=विमार्गगाः, क्षोभयन्तः=चालयन्तः। 'नैकश' इत्यत्र नाकादित्वान्नाक्षरविपर्ययः।

यहां पर 'अन्नाजीर्णात्' पद में कर्मधारय समास है। 'प्रद्रुताः' पद का 'अनियमित मार्गों से गमन करने वाले'। 'क्षोभयन्तः' पद का 'चलायमान करते हुए' यह अर्थ समझना चाहिये। 'नैकशः' इस पद में नाकादि में पाठ होने से अक्षर में विपर्यय नहीं हुआ। अर्थात् पाणिनीय व्याकरणानुसार इस पद में 'सह सुपा' इस सूत्र से समास हुआ नकि 'नञ्' सूत्र से, अतः नकार का लोप न होने से अक्षर में विपर्यय नहीं हुआ' यह समझना चाहिये।

---

१. आजकल आमातिसार को पाश्चात्य विद्वान् 'म्यूकस कोलाइटिस (Mucous colitis) कहते हैं। और इस अतीसार के सम्बन्ध में निम्न मत प्रदर्शित करते हैं कि—'इसमें अतीसार के आक्रमण के साथ २ बीच में मलावरोध भी होता रहता है। मल में आक्रमण के समय श्लेष्मलकला के टुकड़े मिलते हैं। मल में प्रायः रक्त नहीं पाया जाता रोगी का साधारण स्वास्थ्य खराब हो जाता है। उदर में बेचैनी तथा आध्मान होता है। जिससे निद्रा भी प्रायः नहीं आती। और कभी २ पीड़ा का वेग भी होता है। यह रोग स्वयं घातक नहीं है किन्तु अचिकित्सितावस्था में इससे स्वास्थ्य खराब हो जाता है और अन्त में दुर्बलता, मस्तिष्कक्रान्ति तथा गाम्भीर्यावस्था में मृत्यु तक हो सकती है। और रोग का पुनरावर्तन वर्षों तक होता रहता है।

*नन्वामेन दोषा दूष्यन्ते गुर्वादिभक्षणादिभिरिव ते चातिसारमुत्पादयन्ति, न त्वामेनातिसारमुत्पादयन्ति। तेनामातिसारोऽपि दोषज एव किमर्थं पृथगुक्तम्? उच्यते— आमातिसारस्य चिकित्साऽर्थम्। अतिसारेषु सर्वेष्वेव संग्राहकमौषधमुक्तमामातिसारे तु निषिद्धम्। यत उक्तम्—

यहां पर यह शङ्का होती है कि—गुरु आदि पदार्थों के भक्षण आदि करने की भाँति आम से भी दूषित होकर स्वयं वातादिक दोष ही यहां पर अतीसार को उत्पन्न करते हैं। न कि आम के द्वारा अतिसार को उत्पन्न करते हैं। इससे आमातिसार भी दोषज ही है अतः पृथक् क्यों इसका निर्देश किया गया है? इसके उत्तर में यही कहते हैं कि—यद्यपि आमातिसार भी दोषज है तथापि इसकी चिकित्सा दोषज अतीसारों से भिन्न होती है अतः चिकित्सा के लिये अलग निर्देश किया गया है। क्योंकि सम्पूर्ण अतीसारों में मल को रोकने वाली ओषधियां कही हुई हैं किन्तु आमातिसार में मल को रोकने वाली अर्थात् ग्राहक ओषधियां देना निषिद्ध है। क्योंकि इसी विषय में अन्यत्र कहा हुआ है कि—

***नामे संग्राहकं दद्यादतिसारे कदा चन। सङ्गृहीतो बलादामो विकारान्कुरुते बहून्॥१॥**

'आमातिसार में मल [1]संग्राहक औषधें कभी नहीं देनी चाहिये, क्योंकि औषध के बल से रोका गया आमातिसार अनेक विकारों को उत्पन्न करता है॥ १॥

*बलाद् = भेषजबलाद्, विकारान्=ग्रहण्याध्मानशूलगुल्मशोथोदरज्वरादीन्॥ १०४॥

यहां पर 'बलाद्' पद का 'औषध के बल से' और 'विकारान्' पद का 'ग्रहणी, आध्मान (अफारा), शूल, गुल्म, शोथ, उदररोग तथा ज्वरादिक विकारों को' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १०४॥

अथामातीसारस्य चिकित्सा।

तत्र वत्सकादिक्काथः—

वत्सकातिविषाशुण्ठीबिल्वहिङ्गुयवाम्बुदाः। चित्रकेण युतः क्वाथ आमातीसारनाशनः॥१०५॥

आमातिसार की चिकित्सा में वत्सकादि क्वाथ—कुड़े की छाल, अतीस, सोंठ, बेल की गिरी, भुनी हींग, जौ अथवा इन्द्रजौ, नागरमोथा तथा चित्त के जड़ की छाल इन सबों का क्वाथ पीने से आमातीसार नष्ट हो जाता है॥ १०५॥

---

१. आमातिसार के प्रारम्भ में संग्राहक औषध देने से उत्पन्न होने वाले रोग—

आमातिसारिणां कार्यं नादौ संग्रहणं नृणाम्। तेषां दोषा विबद्धाः प्राग्जनयन्त्यामयानिमान्॥
प्लीहपाण्ड्वामयानाहमेहकुष्ठोदरज्वरान्। शोफगुल्मग्रहण्यर्शःशूलालसकहृद्ग्रहान्॥
सशूलं बहुशः कृच्छ्राद्विबद्धं योऽतिसार्यते। दोषान् संनिचितान् वाऽथ पथ्याभिः संप्रवर्तयेत्॥
(सु० सं० उत्तरतन्त्र ३९ अ० श्लोक २८-२९)

आजकल पाश्चात्त्य-चिकित्सक भी आमातीसार में सर्वप्रथम स्तम्भन चिकित्सा नहीं करते बल्कि निम्न वस्तुओं द्वारा प्रथम रेचन ही कराते हैं। यथाः—

१—रोग के प्रारम्भ में रोगी को एरण्डतैल ½ से १ औंस, टिंचर अफीम १०-१५ बूँद के साथ या—

२—सोडियम सल्फेट और मैगनीशियम सल्फेट प्रत्येक दो २ ड्राम लेकर एक औंस पानी मिला कर देते हैं। पश्चात् २-२ घण्टे के बाद सोडियम सल्फेट १ ड्राम पानी में मिलाकर देते हैं। दूसरे दिन से यही ओषधि दिन में ३-४ बार देते हैं। इससे आन्त्रस्थ दोषों का उत्सर्ग होता है, आंव कम होता है, मरोड़ तथा कुन्थन भी सौम्य हो जाता है।

अथ शोथातीसारस्य चिकित्सा।

तत्र शोथघ्न्यादिक्काथः—

शोथघ्नीन्द्रयवौ पाठा श्रीफलातिविषाघनः। क्वथिताः सोषणाः पीताः शोथातीसारनाशनाः॥

शोथातीसार की चिकित्सा में शोथघ्न्यादि क्काथ—पुनर्नवा, इन्द्रजौ, पाढ़ः, बेल की गिरी, अतीस, नागरमोथा इनका क्वाथ बनाकर उसमें काली मिरिच का चूर्ण मिलाकर पीने से शोथातिसार नष्ट होता है। १०६॥

ॐ शोथघ्नी=पुनर्नवा। ऊषणं=मरिचम्॥ १०६॥

यहां पर 'शोथघ्नी' से 'पुनर्नवा' तथा 'ऊषणम्' से 'काली मरिच' समझना चाहिये॥ १०६॥

अथ छर्द्यतीसारस्य चिकित्सा।

तत्राम्रास्थ्यादिक्वाथः—

आम्रास्थिमध्यमालूरफलक्काथः समाक्षिकः। शर्करासहितो हन्याच्छर्द्यतीसारमुल्बणम्॥१०७॥

छर्द्यतीसार की चिकित्सा में आम्रास्थ्यादि क्वाथ—आम की गुठली की भीगी तथा बेल की गिरी इन दोनों का क्वाथ शीतल होने पर उसमें शहद तथा शक्कर डाल कर पीने से भयङ्कर छर्द्यतीसार नष्ट होता है॥ १०७॥

ॐमालूरफलं = बिल्वफलम्॥ १०७॥

यहां पर 'मालूरफलम्' पद का 'बेल की गिरी' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १०७॥

कषायो भृष्टमुद्गस्य सलाजमधुशर्करः। निहन्याच्छर्द्यतीसारं तृष्णां दाहं ज्वरं भ्रमम्॥१०८॥

भुनी हुई मूंग के क्वाथ में धान की खीलें, शहद तथा शक्कर (सफेद) डालकर पीने से छर्द्यतीसार, प्यास, दाह, ज्वर और भ्रम दूर होता है॥ १०८॥

निःसारकस्य चिकित्सामाह—

दध्ना ससारेण समाक्षिकेण भुञ्जीत निःसारकपीडितस्तु।
सुतप्तकुप्यक्वथितेन वाऽपि क्षीरेण शीतेन मधुप्लुतेन॥ १०९॥

निःसारकचिकित्सा—निःसारक रोग से पीडित मनुष्य को मलाई (साढ़ी) सहित दही में शहद मिलाकर पथ्य अन्नादिक के साथ खिलाना चाहिये। अथवा—सोना, चांदी अत्यन्त तपाकर उससे बुझाने से गर्म किये हुये गाय के दूध में शीतल होने पर शहद डाल कर पथ्य अन्नादिक के साथ बारम्बार खिलाना चाहिये॥ १०९॥

ॐनिःसारकः=प्रवाहिका 'निठाही'ति लोके। सुतप्तकुप्यक्वथितेन=सुतप्तसुवर्णरजतनिर्वाणक्वथितेन, भुञ्जीत पथ्यमिति शेषः॥ १०९॥

यहां पर 'निःसारक' पद से 'प्रवाहिका अर्थात् लोकप्रसिद्ध 'निठाही' रोग का बोध करना चाहिये। 'सुतप्तकुप्यक्वथितेन' 'पद का सोना, चांदी अत्यन्त तपाकर वारंवार बुझाने से गर्म किये हुये' यह अर्थ समझना चाहिये। और 'पथ्य अन्नादिक' का प्रसङ्गवश ऊपर से लाकर अर्थ करना चाहिये क्योंकि मूल में नहीं है॥ १०९॥

विष्ठाक्षयस्य चिकित्सामाह—

दीप्ताग्निर्निष्पुरीषो यः सार्यते फेनिलं शकृत्। स पिबेत्फाणितं शुण्ठीं दधि तैलं पयो घृतम्॥
बलाविश्वाश्रृतं क्षीरं गुडतैलानुयोजितम्। दीप्ताग्निं पाययेत्प्रातः सुखदं वर्चसः क्षये॥१११॥

विष्ठाक्षय की चिकित्सा—जिसकी जठराग्नि प्रदीप्त हो ऐसे मनुष्य को यदि मल का क्षय हो गया हो और फेनयुक्त थोड़ा २ मल निकलता हो तो उसे राब, सोंठ, दही, तिल का तेल, दूध, घी एकत्र मिला कर पिलाना चाहिये।

और विष्ठा का क्षय होने पर दीप्ताग्नि वाले मनुष्य को खिरेटी तथा सोंठ डालकर सिद्ध किये हुए दूध में गुड़ तथा तिलके तेल का प्रक्षेप डालकर पिलाना चाहिये। क्योंकि यह प्रयोग विष्ठाक्षय रोग में हितकर होता है॥ ११०-१११॥

विल्वतैलमाह—

तुलां संकुट्य बिल्वस्य पचेत्पादावशेषितम्। सक्षीरं साधयेत्तैलं श्लक्ष्णपिष्टैरिमैः समैः ॥११२॥
बिल्वं सधातकीकुष्टं शुण्ठीरास्नापुनर्नवाः। देवदारुवचामुस्तं लोध्रमोचरसान्वितम् ॥११३॥
एभिर्मृद्वग्निना पक्वं ग्रहण्यर्शोऽतिसारनुत्। बिल्वतैलमिति ख्यातमत्रिपुत्रेण भाषितम् ॥११४॥
ग्रहण्यर्शोऽधिकारे ये स्नेहाः समुपदर्शिताः। योज्यास्ते ह्यतिसारेऽपि त्रयाणां तुल्यहेतुना॥

बिल्वतेल—कच्चे बेल की गिरी १ तुला (४०० तोले) लेकर जौकुट कर १ द्रोण जल में पकावे चतुर्थांश जल अवशिष्ट रहने पर उतार लेवै पुनः उसमें दूध तथा तिल का तेल क्वाथ का चतुर्थांश एवम् बेल की गिरी, धाय का फूल, कूठ, सोंठ, रास्ना, पुनर्नवा, देवदारु, वच, नागर-मोथा, लोध तथा मोचरस इन सबों का कल्क तैल का चतुर्थांश डालकर मन्द २ अग्नि से पकावै, जब केवल तेल अवशिष्ट रह जाय तब उतार लेवै। यह बिल्वतेल-ग्रहणी, अर्श तथा अतीसार को नष्ट करने वाला होता है और इसे महर्षि आत्रेय ने कहा है। और ग्रहणी तथा अर्श के अधिकार में जो २ स्नेह (तैलादिक) कहे हुये हैं, वे सभी अतीसार में भी प्रयोग करने के योग्य हैं, क्योंकि ग्रहणी, अर्श तथा अतीसार इन तीनों के कारण समान हैं ॥ ११२-११५ ॥

अतिसारभेदप्रवाहिकायाः सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य।
प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥११६॥

अतिसारभेद प्रवाहिका[1] के सम्प्राप्ति-पूर्वक लक्षण—अधिक रूप से वातकारक अन्न भोजन

---

१. आजकल पाश्चात्य विद्वान् प्रवाहिका को डिसेन्ट्री (Dysentery) कहते हैं। यह डिसेन्ट्री दो प्रकार की होती है—

१—बैसीलरीडिसेन्ट्री (Bacillary Dysentery)

२—अमीबिक डिसेन्ट्री (Amoebic Dysentery)

१—बैसीलरी डिसेन्ट्री का मुख्य कारण—बैसीलस डिसेण्ट्री नामक जीवाणु माना जाता है। इस जीवाणु के तीन वर्ग किये गये हैं।

(अ) शिगावर्ग—इसका मुख्य जीवाणु-शिगा का बैसीलस (Shigas Bacillus) है।

(ब) फ्लेक्सनर वर्ग—इस वर्ग का मुख्य जीवाणु बै० डीसेन्ट्री फ्लेक्सनर है। इसके पांच प्रकार होते हैं V. W. X. Y. Z.।

(स) संकीर्ण वर्ग (Atypical) इस वर्ग में Sonnes Bacillus, Schmitys Bacillus, Paradysentery Bacillus इत्यादि जीवाणु होते हैं।

इसके सिवाय यह भी देखा जाता है कि जब अतीसार ठीक होने लगता है, तब B. Morgan No. 1, B. Para Colan, B. Faecalis alkaligenes इत्यादि जीवाणु मल में मिलने लगते हैं। ये सहचर (Concumitants) जीवाणु कहलाते हैं। इनमें से भारतवर्ष में फ्लेक्सनर जीवाणुओं से ८०% के करीब अतिसारी पीड़ित होते हैं। फ्लेक्सनर जीवाणु से जो प्रवाहिका उत्पन्न होती है वह सौम्य, चिरकालीन तथा परिवर्त्तनशीला होती है। शिगा जीवाणु से होनेवाली प्रवाहिका भारतवर्ष में कम होती है। परन्तु यह तीव्र स्वरूप की, अचिरकालीन तथा अपरिवर्तन-शीला होती है।

२—अमीबिक डिसेन्ट्री—इसका कारण एण्टेमीबा हिस्टोलिटिका (Entamoeba-histolytica) नामक प्राणिवर्ग का जीवाणु है। इसका संक्रमण सिस्टों (Cysts) के द्वारा होता है।

उपर्युक्त बैसीलस डिसेन्ट्री तथा एण्टेमीबा हिस्टोलिटिका का उपसर्ग दूषित खाद्य-पेय पदार्थों द्वारा माना जाता है। दूषित खाद्य-पेय पदार्थों द्वारा ये उदर-गुहा में पहुँच कर आन्त्र में विकृति उत्पन्न करके प्रवाहिका को उत्पन्न कर देते हैं। दोनों का पार्थक्य-दर्शक कोष्ठक निम्न प्रकार होता है।

करने वाले मनुष्य का अत्यन्त बढ़ा हुआ वायु कण्ठ में तथा हृदय में बल लगाकर कांखने द्वारा शब्द के साथ अपान वायु को छोड़ने के समय संचित कफ को मल के साथ २ थोड़ा २ बारम्बार गुदा के मार्ग से बाहर निकालता है। अतएव वैद्य लोग इसे 'प्रवाहिका' कहते हैं ॥११६॥

***अस्यायमर्थः—अहिताशनस्य = अतिशयेन वातलभक्ष्यभोजिनः, प्रवृद्धो वायुः, प्रवाहतः = कण्ठे हृद्बलेन सशब्दं वायुमपानमार्गेण त्यजतः, निचितं=सञ्चितं, बलासं=कफं, मलाक्तं = पुरीषयुक्तम्, अल्पम्, बहुशः=वारंवारम्, अधस्ताद् = गुदान्नुदति। वैद्यास्तां प्रवाहिकां प्रवदन्ति ॥ ११६ ॥**

यहां पर 'अहिताशनस्य' पद का 'अधिकरूप से वातकारक अन्न भोजन करने वाले मनुष्यका' 'प्रवाहतः' पद का 'कण्ठ में तथा हृदय में बल लगाकर कांखने द्वारा शब्द के साथ अपान वायु को छोड़ने के समय'। 'निचित' का 'संचित'। 'बलास' का 'कफ'। 'मलाक्त' का 'मल के साथ २'। 'बहुशः' का 'बारबार'। 'अधस्ताद्' का 'गुदा के मार्ग से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ११६ ॥

वातादिदोषभेदेन प्रवाहिकालक्षणमाह—

प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात्सदाहा सकफा कफाच्च।

१—बैसीलरी डिसेन्ट्री—

१—विकृति बृहदन्त्र तथा क्षुद्रान्त्र के अन्तिम हिस्से में होती है।

२—समस्त स्थूलान्त्र में विकृति होती है, परन्तु बृहदन्त्र-कुण्डलिका और गुदनलिका में विशेष होती है।

३—विशेष परिणाम श्लेष्मलकला पर।

४—समस्त श्लेष्मलकला न्यूनाधिक विकृत रहती है।

५—साधारण विकृत तथा स्थूल हुई श्लेष्मलकला से व्रण अवनत होते हैं।

६—व्रण के किनारे सर्पगति सम गोल और वक्र होते हैं तथा उनमें गोलाई में फैलने की प्रवृत्ति नहीं होती।

७—समस्त श्लेष्मलकला पर सड़े-गले मैल तथा स्राव के कारण एक झिल्ली बन जाती है।

८—श्लेष्मलकला से गम्भीर फैलने की प्रवृत्ति नहीं होती। जिससे आन्त्र की उपश्लेष्मलकला में कुछ विकृति होती है, अन्य स्तर अविकृत रहते हैं।

९—उपश्लेष्मल कला में अमीबा नहीं मिल सकते।

१०—व्रण सर्पगति की भांति गोल, वक्र और लम्बे तथा असंख्य होते हैं, और एक दूसरे से मिलते हैं जिसके कारण श्लेष्मलकला का स्वरूप कृमिभक्षित-पत्र के समान होता है।

२—अमीबिक डिसेन्ट्री—

१—विकृति केवल बृहदन्त्रमें होती है। अत्यन्त तीव्र प्रकार में भी क्षुद्रान्त्र अविकृत रहता है।

२—अधिक खराबी बृहदन्त्र के प्रारम्भिक-हिस्से में और कम विकृति बृहदन्त्र-कुण्डलिका तथा गुदनलिका में।

३—विशेष परिणाम उपश्लेष्मलकला पर।

४—विकृत श्लेष्मल कला के बीच २ में अविकृत कला मिलती है।

५—व्रण अविकृत श्लेष्मलकला से कुछ उभरे हुये होते हैं।

६—व्रण आन्त्र की गोलाई की दिशा में फैलते हैं।

७—श्लेष्मलकला के सड़े-गले भाग काले तथा मकड़ी के जाल के समान दिखाई देते हैं।

८—उपश्लेष्मलकला से गम्भीर स्तरों में फैलने की प्रवृत्ति होती है-जिससे समस्त आन्त्र-प्राचीर में शोथ होता है।

९—उपश्लेष्मलकला में अमीबा मिलते हैं।

१०—चिरकालीन प्रकार में व्रण अवनत मृदुतल के गोल या दीर्घ गोल होते हैं, और उनके बीच २ में अविकृत कला होती है।

सशोणिता शोणितसम्भवा च ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु ॥ ११७ ॥

वातादि दोषभेद से प्रवाहिका के लक्षण—वात से उत्पन्न हुई प्रवाहिका शूलयुक्त होती है, तथा पित्त से उत्पन्न हुई दाहयुक्त, कफ से उत्पन्न हुई कफ से युक्त और रक्त से उत्पन्न हुई प्रवाहिका रक्त से युक्त होती है। और ये सब प्रवाहिकाएँ स्नेह तथा रूक्ष आदि पदार्थों के सेवन करने से उत्पन्न होती हैं ॥ ११७ ॥

***अत्र रूक्षप्रभवा वातजा, स्नेहप्रभवा कफजा-तुशब्दात्तीक्ष्णोष्णप्रभवा पित्तजा रक्तजा च ॥ ११७ ॥**

यहां पर-वात से उत्पन्न हुई प्रवाहिका को रूक्ष पदार्थों के सेवन से उत्पन्न होने वाली समझना चाहिये। और 'तु' शब्द से पित्त तथा रक्त से उत्पन्न हुई प्रवाहिका को तीक्ष्ण और उष्ण पदार्थों के सेवन से उत्पन्न होने वाली समझना चाहिये ॥ ११७ ॥

तासामतीसारवदादिशेच्च लिङ्गं क्रमं चामविपक्वतां च ॥ ११८ ॥

और इन वातजा आदि सभी प्रवाहिकाओं का लक्षण, चिकित्सा, पक्व तथा अपक्व अवस्था ये सब अतीसार की भांति समझना चाहिये ॥ ११८ ॥

अथ प्रवाहिकाचिकित्सा ।

तत्र बिल्वाद्यवलेहमाह—

बिल्वपेषी गुडं लोध्रं तैलं मरिचसंयुतम्। लीढ्वा प्रवाहिकाऽऽक्रान्तः सत्वरं सुखमाप्नुयात्॥

उपर्युक्त पार्थक्यदर्शक कोष्ठक केवल आन्त्रविकृति (Pathological) की दृष्टि से बतलाया गया है। किन्तु निदान के लिए दोनों प्रकार की प्रवाहिका का पृथक्करण निम्न प्रकार करते हैं—

१—बैसीलरी डिसेन्ट्री—	२—अमीबिक डिसेन्ट्री—
१—मरक के रूप में होता है।	१—मरक के रूप में नहीं होता।
२—सञ्चयकाल अल्प-एक सप्ताह का।	२—सञ्चयकाल लम्बा।
३—आक्रमण अकस्मात्।	३—आक्रमण धीरे धीरे।
४—प्रायः ज्वर होता है।	४—प्रायः ज्वर नहीं होता।
५—रोग का काल अल्प-दो सप्ताह का।	५—रोगकाल लम्बा-महीनों या वर्षों का।
६—मृत्यु-संख्या का प्रमाण अधिक।	६—मृत्युसङ्ख्या का प्रमाण कम।
७—रक्तमें श्वेतकणों की संख्या-वृद्धि नहीं होती।	७—श्वेतकणों की संख्यावृद्धि होती है।
८—पुनरावर्तन की प्रवृत्ति नहीं होती।	८—पुनरावर्त्तन की प्रवृत्ति बहुत होती है।
९—उपद्रव सन्धिशोथ।	९—यकृत् विद्रधि।
१०—सम्पूर्ण उदर विभाग पर पीडनाक्षमता।	१०—उदर के दक्षिण भाग पर अधिक पीडनाक्षमता।
११—कुन्थन अत्यन्त तीव्र होता है।	११—कुन्थन विशेष नहीं होता।
१२—दस्तों की संख्या बहुत अधिक।	१२—दस्तों की संख्या बहुत कम।
१३—मल प्रत्येक समय अल्प प्रायः विष्ठा-रहित, खून, आंवयुक्त, अत्यन्त चिपचिपा, प्रतिक्रिया क्षारीय, सूक्ष्मदर्शक से देखने पर लालकणों की अल्पता, श्वेतकणों की अधिकता-जिसमें बहुकेन्द्रीय कण ८० प्रतिशत, मैक्रोफेग सेलों की अधिकता तथा अन्य जीवाणुओं की कमी।	१३—मल प्रत्येक समय अधिक राशि में, विष्ठायुक्त, बहुत चिपचिपा नहीं, प्रतिक्रिया अम्ल सूक्ष्मदर्शक से देखने पर समूह में मिलने वाले लालकणों की अधिकता, श्वेतकणों तथा मैक्रोफेग की कमी, इतर जीवाणुओं की अधिकता, अमीबा और उनके सिष्ट की उपस्थिति।
१४—मृत्यु प्रायः क्षीणता और विषमयता से होती है।	१४—मृत्यु-आन्त्रच्छेद, आन्त्र से रक्तस्राव, यकृत् की विद्रधि तथा क्षीणता से होती है।

प्रवाहिका की चिकित्सा में बिल्वाद्यवलेह—बेल की गिरी तथा लोध इन दोनों के चूर्ण में गुड़, तिल का तेल व काली मिरच का चूर्ण मिलाकर चाटने से प्रवाहिका रोग से पीड़ित मनुष्य शीघ्र आरोग्य लाभ करता है ॥ ११९ ॥

धातक्यादियोगानाह—

धातकी बदरीपत्रं कपित्थं रसमाक्षिकम्। सलोध्रमेकतो दध्ना पिबेन्निर्वाहिकाऽर्दितः॥

धातकी आदि के योग—धाय का फूल, बेर के पत्ते, कैथ, रसमाक्षिक और लोध इनमें से किसी एक का चूर्ण दही के साथ पीने से निर्वाहिका (प्रवाहिका) से पीड़ित मनुष्य रोगमुक्त हो जाता है॥

***एकतः=प्रत्येकं, दध्ना पिबेदित्यर्थः ॥ १२० ॥**

यहां पर 'एकतः' पद का 'किसी एक का चूर्ण' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १२० ॥

असाध्यातीसारिणां लक्षणमाह—

पक्वजाम्बवसङ्काशं यकृत्खण्डनिभं तनु। घृततैलवसामज्जवेसवारपयोदधि ॥१२१॥
मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम्। कर्बुरं मेचकं स्निग्धं चन्द्रकोपगतं घनम् ॥१२२॥
कुणपं मस्तुलुङ्गाभं सगन्धं कुथितं बहु। तृष्णादाहारुचिश्वासहिक्कापार्श्वास्थिशूलिनम् ॥१२३॥
संमूर्च्छाऽरतिसंमोहयुक्तं पक्ववलीगुदम्। प्रलापयुक्तञ्च भिषग्वर्जयेदतिसारिणम् ॥१२४॥

असाध्य अतीसार रोगियों के लक्षण—जिस अतीसार रोगी का मल पके जामुन के फल के समान काला तथा चिकना हो या यकृत् के टुकड़े की भांति काला तथा लाल वर्ण का हो और पतला या घी, तेल, चरबी, मज्जा, वेसवार (इसका लक्षण मांसप्रकरण में देखना चाहिये), दूध, दही, मांस का धोवन (धुले हुये जल) इनमें से किसी एक के समान काला-नीला तथा लाल रङ्ग का, चितकबरा, रूक्षतायुक्त काला, स्निग्ध, मयूर के पुच्छ की चन्द्रिका के समान अनेक वर्ण का या गाढ़ा, मुर्दे के समान गन्धवाला, मस्तक में रहने वाली चर्वी की भांति, अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त, सड़े हुये के समान गन्धयुक्त, या अधिक परिमाण में हो, एवम् जो अधिक प्यास, दाह, अरुचि, श्वास, हिचकी, पसुलियों तथा अस्थियों में शूल, संमूर्च्छा (इन्द्रिय तथा मन में मोह होना), चित्त की अस्थिरता, सम्मोह (इन्द्रियों में मोह होना), गुदा की वलियों का पक जाना तथा प्रलाप इन सब उपद्रवों से युक्त हो तो उसकी चिकित्सा करना वैद्य छोड़ देवे ॥ १२१-१२४ ॥

असंवृतगुदं क्षीणं शूलाध्मानैरुपद्रुतम्। गुदे पक्वे गतोष्माणमतिसारिणमुत्सृजेत्॥ १२५ ॥

और जो अतीसार रोगी अपनी गुदा का मुख मल निकलने के बाद बन्द करने में असमर्थ हो तथा जो बल तथा मांस से रहित, शूल तथा अफारे से युक्त हो एवम् गुदा को पकाने वाले पित्त के रहते भी जिसका शरीर शीतल हो गया हो अथवा जठराग्नि नष्ट हो गयी हो तो उसकी चिकित्सा करना वैद्य छोड़ देवे ॥ १२५ ॥

***असंवृतगुदं = गुदसंवरणाक्षमम्। गुदे पक्वे = गुदपाकारम्भके पित्ते विद्यमानेऽपि शीतगात्रं नष्टाग्निं वा ॥ १२५ ॥**

यहां पर 'असंवृतगुदम्' पद का 'अपनी गुदा का मुख मल निकलने बाद बन्द करने में असमर्थ हो'। 'गुदे पक्वे' पदों का 'गुदा के पकाने वाले पित्त के रहते हुए भी'। 'गतोष्माणम्' पद का 'जिसका शरीर शीतल हो गया हो अथवा जठराग्नि नष्ट हो गई हो' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १२५ ॥

श्वासशूलपिपासाऽऽर्त्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम्। विशेषेण नरं वृद्धमतिसारो विनाशयेत्॥
शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां श्वासं कासमरोचकम्। छर्दिं मूर्च्छां च हिक्काञ्च दृष्ट्वाऽतीसारिणं त्यजेत्॥
हस्तपादाङ्गुलीसन्धिप्रपाको मूत्रनिग्रहः। पुरीषस्योष्णताऽतीव मरणायातिसारिणः ॥१२८॥
अतिसारी राजरोगी ग्रहणीरोगवानपि। मांसाग्निबलहीनो यो दुर्लभं तस्य जीवनम् ॥
बाले वृद्धे त्वसाध्योऽयं लिङ्गैरेतैरुपद्रुतः। अपि यूनामसाध्यं स्यादतिदुष्टेषु धातुषु ॥१३०॥

और अतीसार रोग में यदि रोगी श्वास, शूल, प्यास, ज्वर इनसे पीड़ित हो तथा क्षीण हो और वृद्ध भी हो तो वह विशेषरूप से मृत्यु से नहीं बच सकता है अर्थात् अवश्य मर जाता है और जिस अतीसार रोगी को शोथ, शूल, ज्वर, प्यास, श्वास, कास, अरुचि, वमन, मूर्च्छा तथा हिचकी इन सबों से युक्त देखे तो उसकी चिकित्सा करना छोड़ देवे ।

जिस अतीसार रोगी के हाथ-पैर में अंगुलियों की सन्धियां पक गई हों, मूत्र रुक गया हो तथा मल में अधिक उष्णता हो गई हो तो उसके मरने का समय आसन्न समझना चाहिये ।

जो अतीसार रोग वाला या राजयक्ष्मा रोगी किंवा ग्रहणी रोगी है, वह यदि मांस तथा बल से हीन हो गया हो तो उसका जीवन दुर्लभ समझना चाहिये ।

और उपर्युक्त लक्षणों से युक्त अतीसार रोगी यदि बालक या वृद्ध हो तो उसे असाध्य समझना चाहिये और धातुओं के अत्यन्त दूषित होने पर उपर्युक्त लक्षणों से युक्त अतीसार रोगी यदि युवा भी हो तो भी असाध्य ही समझना चाहिये ॥ १२६-१३० ॥

अतिसारमुक्तस्य लक्षणमाह—

यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यग्वायुश्च गच्छति । दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः ॥

अतीसार से मुक्त हुए रोगी के लक्षण—जिस अतीसार रोगी का मूत्र तथा अधोवायु बिना मल के भलीभांति निकलता हो एवम् अग्नि प्रदीप्त हो तथा कोष्ठ लघु हो गया हो उसका उदरसम्बन्धी विकार नष्ट समझना चाहिये अर्थात् अतीसार से मुक्त हुआ समझना चाहिये ॥ १३१ ॥

अतीसारिणो वर्जनीयान्याह—

स्नानावगाहावभ्यङ्गं गुरुस्निग्धादिभोजनम् । व्यायाममग्निसन्तापमतिसारी विवर्जयेत् ॥१३२॥

अतीसार रोगियों के लिये त्याग करने योग्य विषय—अतीसार रोगी स्नान (कुयें आदि के जल से नहाना), अवगाहन (नदी आदि में नहाना), तेल की मालिश, गुरु तथा स्निग्ध (घृतादिक) आदि पदार्थों का भोजन, कसरत, अग्निसेवन (आग तापना) इन सबों का त्याग कर देवे, क्योंकि ये सब अहितकर हैं ॥ १३२ ॥

***स्नानमुद्धृतजलेन । अवगाहो नद्यादौ ॥ १३२ ॥**

यहां पर 'स्नान' पद का 'कुयें आदि से निकाले हुये जल से नहाना' तथा 'अवगाह' पद का 'नदी आदि में नहाना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १३२ ॥

शङ्खपोटलीरसमाह—

प्रत्येकं दश गद्याणाः शुद्धसूतकगन्धयोः । विंशतिस्त्रिदिनं खल्वे पिष्ट्वा तां कज्जलीं त्र्यहम् ॥
ततो वज्रस्य दुग्धेन पिष्ट्वा तां कज्जलीं त्र्यहम् । आर्द्रकं चित्रकं श्वेतं निःसहायञ्च मर्दयेत् ॥
पेषयेत्तद्रसैरेवं कज्जलीं तां दिनत्रयम् । पीतानाञ्च कपर्दीनां चूर्णं गद्याणविंशतिः ॥१३५॥
विंशतिः शङ्खचूर्णस्य चत्वारिंशच्च मिश्रितम् । त्रिदिनं मर्दयेत्खल्वे पूर्वोक्तेन क्रमेण च ॥
त्र्यहमर्कस्य दुग्धेन वज्रीदुग्धेन च त्र्यहम् । तन्मध्ये कज्जलीं क्षिप्त्वा चित्रकार्द्ररसेन तु ॥
खल्वे पिष्ट्वा द्वयोः कार्या गुट्यो बदरसम्मिताः । लिप्त्वा दग्ध्वाऽऽशु चूर्णेन पक्वकुल्हरिकांतरम् ॥
प्रक्षिप्य गुटिकास्तत्र चूर्णलिप्तपिधानकम् । दत्त्वा वस्त्रं मृदा लिप्त्वा गर्त्ते हस्तप्रमाणकम् ॥
तद्गर्भे कुल्हरीं मुक्त्वा पुटो देयश्च शाणकैः । पश्चाच्चित्रकनीरेण स्वाङ्गशीतञ्च पेषयेत् ॥
गुटिकां पूर्वरीत्यैव कृत्वा देयः पुनः पुटः । दग्धानां गुटिकानाञ्च चूर्णं कृत्वाऽथ कूपके ॥
क्षेप्यं चैव हि निष्पन्नो रसोऽयं शङ्खपोटली । आमज्वरातिसारे च श्वासे कासे तथैव च ॥
श्लेष्मपित्तामवातेषु मन्दाग्नौ ग्रहणीषु च । अष्टादशप्रमेहेषु जीर्णे जीर्णबलेषु च ॥ १४३ ॥
द्वात्रिंशन्मरिचैः सार्कं सघृतं वल्लपञ्चकम् । सर्वरोगेषु दातव्यं मरिचाज्यं विना ज्वरे ॥
शाल्यो दधि दुग्धादि भोजनं मधुरं हितम् । कट्वम्लक्षारतैलाद्यान्दूरतः परिवर्जयेत् ॥
विधिनाऽनेन कर्त्तव्यो रसोऽसौ शङ्खपोटली । क्रमेण विनिवर्त्तन्ते प्रोक्तरोगा न संशयः ॥

शङ्खपोटली रस—शुद्ध पारा तथा शुद्ध गन्धक प्रत्येक १० गद्याण (५ तो०) लेकर उन दोनों को खरल में एकत्र रखकर तीन दिन तक कज्जली बनावे। पश्चात् उस कज्जली को आक के दूध के साथ तीन दिन तक खरल करके थूहर के दूध के साथ भी तीन दिन तक खरल करै। तदुपरान्त पुनः अदरख तथा सफेद चीते के रस के साथ भी तीन तक खरल करै। तत्पश्चात् पीली कौड़ी की भस्म तथा शङ्खभस्म प्रत्येक २० गद्याण (१० तो०) इन दोनों को पृथक् खरल में एकत्र कर पूर्वोक्त क्रम से आक के दूध के साथ तीन दिन तक तथा पुनः थूहर के दूध के साथ तीन दिन तक खरल करै। पश्चात् पूर्वोक्त कज्जली को भी इसी में मिलाकर पुनः अदरख तथा सफेद चीते के रस से खरल करके वेर के वरावर २ गोलियां बना लेवै। इसके बाद मिट्टी की कुल्हिया बनाकर उसके अन्दर चूना का लेप करके आग में डालकर पकाकर उसके अन्दर उक्त गोलियों को रखकर उसके ऊपर पूर्वोक्त रीति से चूना का लेप करके दूसरी कुल्हिया बनाकर रख दे और दोनों के ऊपर कपड़मिट्टी करके उसे १ हाथ गहरे गड्ढे में जङ्गली उपलों की अग्नि के अन्दर रखकर पुट दे देवै, पश्चात् स्वाङ्गशीतल होने पर उक्त गोलियों को निकाल कर चीते के रस से पुनः पीसकर पूर्व की भांति गोलियां बनाभर उक्त क्रम से पुनः कुल्हिया में रखकर पुट दे देवै। पश्चात् स्वाङ्गशीतल होने पर गोलियों को निकालकर पीसकर कांच की शीशी में रख देवै। इस प्रकार से वने हुये रस को 'शङ्खपोटली रस' कहते हैं। यह ज्वरातिसार, आमातीसार, श्वास, कास, कफ, पित्त, आमवात रोग, मन्दाग्नि, ग्रहणी, १८ प्रकार के प्रमेह, जीर्ण वल (क्षीण वल) युक्त रोगी को ३२ दाने काली मिरच के चूर्ण के साथ गाय का घी मिलाकर ५ वल्ल (१५ रत्ती) की मात्रा में शङ्खपोटली रस देना चाहिये और यह रस ज्वर को छोड़कर अन्य सभी रोगों में मिरच का चूर्ण तथा गाय के घी के साथ देना चाहिये।

और इस रस के सेवन करने के समय में शालिधान्य (अगहनी चावल), दही, दूध आदि मधुर पदार्थों का भोजन हितकर है और कटु, अम्ल तथा क्षारसंयुक्त पदार्थ एवम् तेल आदि का भोजन करना दूर से ही छोड़ देना चाहिये।

इस प्रकार से शङ्खपोटली रस बनाकर सेवन करने से क्रम २ से उपर्युक्त सभी रोग नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ १३३-१४६॥

विजयाऽवलेहमाह—

त्रैलोक्यविजयाजातीफले तुल्ये कलिङ्गकम्। गृहीत्वा द्विगुणं श्रेष्ठो लेहः सर्वातिसारनुत्॥

विजयाऽवलेह—धुली हुई भांग एक भाग, जायफल एक भाग तथा इन्द्रजौ दो भाग इन सवों का चूर्ण एकत्र कर शहद के साथ चाटने से यह अवलेह अतीसार को दूर करने में उत्तम होता है॥

अतिविषाऽवलेहमाह—

विल्वमोचरसलोध्रधातकीपुष्पचूतफलवीजसंयुता।
नाशयेदतिविषाऽवलेहिका सिन्धुवेगमपि दुर्धरं ध्रुवम्॥ १४८॥

इति द्वितीयोऽतिसाराधिकारः समाप्तः॥ २॥



अतिविषाऽवलेह—वेल की गिरी, मोचरस, लोध, धाय का फूल, आम के गुठली की मीगी और अतीस इन सवों के चूर्ण को शहद के साथ चाटने से समुद्र के वेग के समान नहीं रुकने लायक भी दस्त रुक जाता है॥ १४८॥

इति भावप्रकाशे मध्ये खण्डेऽष्टमे चिकित्साप्रकरणे प्रथमभागे विद्योतनीनामिकायां
भाषाटीकायां द्वितीयोऽतिसाराधिकारः समाप्तः॥ २॥



अथ तृतीयो ज्वरातिसाराधिकारः ॥ ३ ॥

तत्र ज्वरातिसारस्य निदानाकथने हेतुमाह—

ज्वरातिसारयोरुक्तं निदानं यत्पृथक्पृथक्। तस्माज्ज्वरातिसारस्य निदानं नोदितं पुनः ॥१॥

अब तीसरे ज्वरातिसाराधिकार में ज्वरातिसार का निदान न कहने का कारण—ज्वर और अतिसार के जो पृथक् २ निदान पूर्व में कह आये हैं, वे ही मिलकर ज्वरातिसार के निदान होते हैं, अतः यहां पर पुनः इसके निदान नहीं कहे गये हैं ॥ १ ॥

ज्वरातिसारस्य चिकित्सामाह—

ज्वरातिसारयोरुक्तं भेषजं यत्पृथक्पृथक्। न तन्मिलितयोः कार्यमन्योऽन्यं वर्धयेद्यतः ॥२॥

ज्वरातिसार की चिकित्सा—ज्वर और अतिसार की पृथक् २ जो ओषधियां पूर्व में कह आये हैं, वे ही मिलाकर ज्वरातिसार में नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ज्वर तथा अतिसार की ओषधियां परस्पर एक दूसरे को बढ़ाने वाली होती हैं ॥ २ ॥

***अयमभिप्रायः—ज्वरहरमनुलोमनं भवति, अतिसारहरं स्तम्भनं भवति, अतः परस्परविरुद्धत्वात्पृथगुक्तं भेषजं मिलितयोर्न कार्यम्। यत आह—**

अनुलोमनं ज्वरघ्नं ग्राहकमतिसारहृद्भवति।
पृथगुक्तमौषधं तज्ज्वरातिसारे विरुद्धमन्योऽन्यम् ॥ १ ॥ इति ॥ २ ॥

यहां पर इसका अभिप्राय यह समझना चाहिये कि—ज्वरनाशक ओषधियां अनुलोमन करने वाली अर्थात् मल-भेदक होती हैं। और अतिसार-नाशक ओषधियां मलस्तम्भक (मलको रोकने वाली) होती हैं। अतः परस्पर विरुद्ध होने से पृथक् २ कही हुई ज्वर तथा अतिसार की ओषधियां मिलाकर चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि शास्त्रों में कहा भी है कि—ज्वरनाशक ओषधियां अनुलोमन करने वाली होती हैं, और अतिसारनाशक ओषधियां मलग्राहक (मल रोकने वाली) होती हैं। अतः उन दोनों की पृथक् २ कही हुई ओषधियां ज्वरातिसार में मिलाकर चिकित्सा करने से परस्पर विरुद्ध पड़ती हैं ॥ २ ॥

अतस्तौ प्रतिकुर्वीत विशेषोक्तचिकित्सितैः ॥ ३ ॥
लङ्घनमेकं मुक्त्वा न चान्यदस्तीह भेषजं बलिनः। समुदीर्णदोषनिचयं तत्पाचयेत्तथा शमयेत् ॥
लङ्घनमुभयोरुक्तं मिलिते कार्यं विशेषतस्तदनु। उत्पलषष्ठकसिद्धं लाजामण्डादिकं सकलम् ॥

अतः ज्वरातिसार में विशेष रूपसे कही हुई जो चिकित्सायें हैं, उनके द्वारा ज्वरातिसार को दूर करना चाहिये। और यदि ज्वरातिसार रोगी बलवान् हो तो उसके लिये एक लङ्घन को छोड़कर अन्य कोई औषध उत्तम नहीं है, क्योंकि—लङ्घन करने से बढ़े हुए दोषों का पाचन होता है तथा उसीसे शमन भी होता है। और ज्वर तथा अतीसार दोनों ही में पृथक् २ लङ्घन कराना बताया गया है, अतः दोनों के मिलने पर अर्थात् ज्वरातिसार रोग में तो विशेष रूप से लङ्घन करना उचित ही है। और इस के बाद 'उत्पलषष्ठक' नामक क्वाथ से सिद्ध किया हुआ धान के खीलों का मण्ड आदि देना चाहिये ॥ ३–५ ॥

उत्पलषष्ठकक्वाथमाह—

पृश्निपर्णीबलाबिल्वधनिकानागरोत्पलैः। ज्वरातिसारयोर्वाऽपि पिबेत्साम्लं शृतं नरः ॥ ६ ॥

उत्पलषष्ठक क्वाथ—पिठवन, खिरेटी, बेल की गिरी, धनिया, सोंठ और कमल इनके क्वाथ को खट्टा करके ज्वरातिसार में पीना चाहिये ॥ ६ ॥

***अत्र लाजमण्डाद्यपेक्षया वाशब्दः। अतीसारे पुरीषातिप्रवृत्त्याऽम्लत्वञ्च दाडिमरसादिना कर्त्तव्यम् ॥ ६ ॥**

यहां पर 'वा' शब्द का प्रयोग करने से यह भी समझना चाहिये कि—इस क्वाथ से यदि

लाज (धान के खील) का मण्ड आदि बनाना हो तो उस समय खट्टा करने के लिये इसमें खट्टे अनार आदि का रस डालना चाहिये। क्योंकि अतीसार में स्वतः मल अधिक निकलता है, अतः अन्य अम्ल पदार्थ मल का भेदक होने से डालने के लिये अयोग्य होता है ॥ ६ ॥

कणादिक्काथमाह—

कणाकरिकणालाजक्काथो मधुसितायुतः। पीतो ज्वरातिसारस्य तृष्णामाशु विनाशयेत्॥७॥

कणादि क्काथ—पीपल, गजपीपल और धान के खीलों का क्वाथ बनाकर उसमें शहद और सफेद शक्कर डालकर पीने से ज्वरातीसार रोगी की प्यास शीघ्र नष्ट होती है ॥ ७ ॥

नागरादिक्काथमाह—

नागरातिविषामुस्ताऽमृताभूनिम्बवत्सकैः। क्काथः सर्वज्वरान्हन्ति चातिसारं सुदारुणम् ॥

नागरादिक्काथ—सोंठ, अतीस, नागरमोथा, गिलोय, चिरायता, कुड़े की छाल इन सबों का काथ पीने से सभी प्रकार का ज्वर तथा भयङ्कर अतीसार नष्ट होता है ॥ ८ ॥

बृहद्गुडूच्यादिक्काथमाह—

गुडूच्यतिविषाधान्यशुण्ठीबिल्वाब्दवालकैः। पाठाभूनिम्बकुटजचन्दनोशीरपर्पटैः ॥ ९ ॥
पिबेत्कषायं सक्षौद्रं ज्वरातीसारनाशनम्। हृल्लासारुचितृड्दाहवमीनाञ्च निवृत्तये ॥१०॥

बृहद् गुडूच्यादिक्काथ—गिलोय, अतीस, धनिया, सोंठ, बेल की गिरी, नागरमोथा, सुगन्धवाला, पाढ़, चिरायता, कुड़े की छाल, लाल चन्दन, खस, पित्तपापड़ा, इन सबों का क्काथ बनाकर उसमें शहद डालकर पीने से ज्वरातीसार नष्ट होता है, तथा उबकाई, अरुचि, प्यास, दाह और वमन इनकी भी निवृत्ति होती है ॥ ९–१० ॥

उत्पलादिचूर्णमाह—

उत्पलं दाडिमत्वक्च पद्मकेशरमेव च। पीतं तण्डुलतोयेन ज्वरातीसारनाशनम् ॥११॥

उत्पलादिचूर्ण—कमल, अनार की छाल तथा कमल का केसर इन सबों का चूर्ण चावल के धोवन के साथ खाने से ज्वरातीसार नष्ट होता है ॥ ११ ॥

बिल्वादिक्काथमाह—

बिल्ववालकभूनिम्बगुडूचीमुस्तवत्सकैः। कषायः पाचनः शोथज्वरातीसारनाशनः ॥१२॥

बिल्वादि क्काथ—बेल की गिरी, सुगन्धवाला, चिरायता, गिलोय, नागरमोथा, कुड़ेकी छाल इन सबोंका क्काथ बनाकर पीने से दोषों का पाचन होता है तथा शोथ और ज्वरातिसार नष्ट होता है।

द्वितीयं नागरादिक्काथमाह—

नागरातिविषाबिल्वगुडूचीमुस्तवत्सकैः। कषायः पाचनः शोथज्वरातीसारनाशनः ॥१३॥

द्वितीय नागरादि क्काथ—सोंठ, अतीस, बेल की गिरी, गिलोय, नागरमोथा, कुड़े की छाल इन सबों का क्काथ पीने से दोषों का पाचन तथा शोथ और ज्वरातीसार का नाश होता है ॥ १३ ॥

दशमूलीक्काथमाह—

दशमूलीकषायेण विश्वभेषजसमां पिबेत्। ज्वरे चैवातिसारे च सशोथे ग्रहणी गदे ॥ १४ ॥

इति तृतीयो ज्वरातिसाराधिकारः समाप्तः ॥ ३ ॥

दशमूली क्वाथ—दशमूल के क्वाथ में एक तोला सोंठ का चूर्ण मिलाकर पीने से ज्वरातीसार तथा शोथयुक्त ग्रहणी रोग दूर होता है ॥ १४ ॥

इति भावप्रकाशे मध्यखण्डेऽष्टमे चिकित्साप्रकरणे प्रथमभागे विद्योतिनीनामिकायां भाषाटीकायां तृतीयो ज्वरातिसाराधिकारः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थो ग्रहणीरोगाधिकारः ॥४॥

तत्र ग्रहणीरोगस्य सम्प्राप्तिमाह—

अतिसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः । भूयः सन्दूषितो वह्निर्ग्रहणीमपि दूषयेत् ॥ १ ॥

चतुर्थ ग्रहणीरोगाधिकार में ग्रहणी रोग की सम्प्राप्ति—अतिसार के दूर होने पर भी जिस रोगी की अग्नि मन्द हो तथा जो अहितकारक पदार्थों का सेवन करने वाला हो तो उसकी अग्नि पुनः अहित भोजन करने से दूषित होकर ग्रहणी को दूषित करती है ॥ १ ॥

%अपिशब्दादजातातिसारस्यापि ग्रहणीरोगः स्यात् ॥ १ ॥

यहां पर मूल में 'निवृत्तेऽपि' इस स्थल पर 'अपि' शब्द के प्रयोग से यह समझना चाहिये कि-किसी २ रोगी को विना अतीसार हुए भी स्वतन्त्ररूप से ग्रहणी दूषित होने से ग्रहणीरोग हो जाताहै॥

ग्रहणीस्वरूपमाह—

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता । अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं त्यजति चाप्यधः ॥२॥

ग्रहणी[1] का स्वरूप—जठराग्नि के रहने का जो स्थान है, उसे 'ग्रहणी' कहते हैं, क्योंकि यह अन्न को ग्रहण करनेवाली होती है और यह ग्रहणी अपक्व (कच्चे) अन्न को धारण करती है तथा पचे हुये अन्न को नीचे की ओर फेंकती है ॥ २ ॥

%ग्रहणी = अग्निधरा कला । यत आह—चरकोऽग्न्येति ॥ २ ॥

यहां पर 'ग्रहणी' से 'अग्नि को धारण करने वाली कला' का बोध करना चाहिये, क्योंकि 'चरकाचार्य' ने भी 'अग्न्ये'त्यादि श्लोक से इसी बात को कहा है ॥ २ ॥

---

१. आजकल पाश्चात्य विद्वान् ग्रहणी को स्प्रू या ह्वाइट डायरिया या डायरिया एल्बा (Sprue or White Diarrhoea or Diarrhoea Alba) कहते हैं। अभी उनलोगों को इसका कोई निश्चित कारण मालूम नहीं हो सका है। फिर भी चार प्रकार के कारणों का अनुमान करते हैं।

१—जीवाणुजन्य—इसमें Strepto cocii, Mirilia, Psilosis और Stangyloib Intetuialis ये जीवाणु कारणभूत माने जाते हैं।

२—कुछ द्रव्यों की कमी Deficiency—कुछ लोगों का यह मत है कि जीवनीय द्रव्य (Vitamines) की कमी से, प्रायः पानी में घुलनशील (Water Soluble) बी० और सी० जीवनीय द्रव्य (B. and C. Vitamines) की कमी, चर्बी में घुलनशील (Fat Soluble), जल-विद्रावण जीवद्रव्य, कैलसियम (Calcium) और लोह की कमी से यह रोग होता है।

३—आहारजन्य—जिस आहार में पिष्टमय पदार्थ (Carbohydrate) और वसायुक्त पदार्थ (Fats) अधिक होते हैं और प्रोटीन (Proteins) कम होते हैं, उस प्रकार के आहार से यह रोग होता है।

४—पाराथायरायड (Parathyroid)-ग्रन्थि का कार्य ठीक न होना।

जिस प्रकार अपने यहां—

'अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः । भूयः सन्दूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत' ॥

अर्थात्—ग्रहणी के पूर्व अतीसार का होना प्रधान कारण माना जाता है, उसी प्रकार पाश्चात्य विद्वान् भी पर्वतीय प्रवाहिका (Hill Diarrhoea) तथा अमीबिक डिसेन्ट्री (Amoebic Dysenteray) को इसके पूर्व होना कारण मानते हैं, किन्तु वे उसे प्रधान कारण नहीं मानते।

इस रोग का आक्रमण धीरे २ होकर अग्नि की मन्दता, आध्मान, प्रवाहिका तथा कमजोरी इत्यादि लक्षण होते हैं। इस रोग के मुख्य तीन लक्षण होते हैं; जिनके प्रकट होने के लिये कई महीने की अवधि आवश्यक होती है, इसके पूर्व उपर्युक्त लक्षणों से रोगी पीडित रहता है।

सुश्रुतेऽपि—

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्त्तिता। आमपक्वाशयान्तःस्था ग्रहणी साऽभिधीयते ॥३॥
ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीबलः। तस्माद्ग्नौ प्रदुष्टे तु ग्रहण्यपि विदुष्यति ॥
तस्मात्कार्यः परीहारो ह्यतिसारे विरिक्तवत् ॥ ४ ॥

'सुश्रुत' में भी कहा है कि–छठीं जो पित्त को धारण करने वाली कला कही हुई है, वही आमाशय तथा पक्वाशय के मध्य में रहने वाली 'ग्रहणी' कहलाती है। और ग्रहणी का बल अग्नि है तथा अग्नि का ग्रहणी है। अतः अग्नि के दूषित होने पर ग्रहणी भी दूषित हो जाती है। अस्तु—विरेचन लिये हुये पुरुष की भांति विरेचनोक्त अहितकारक पदार्थों का परित्याग अतीसार या ग्रहणी रोग से युक्त पुरुष को भी करना चाहिये ॥ ३–४ ॥

***विरिक्तवत्=विरिक्तेनेव ॥ ३–४ ॥**
यहां पर 'विरिक्तवत्' पद का 'विरेचन लिये हुये पुरुष की भांति' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३–४ ॥

एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यन्तमूर्च्छितैः। सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ॥ ५ ॥
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्। ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ॥ ६ ॥

ग्रहणी रोग का संख्यापूर्वक सामान्य लक्षण—अत्यन्त बढ़े हुये पृथक् २ वातादि दोष या मिले हुये वातादिक तीनों दोषों से दूषित हुई ग्रहणी जब रोगी के भोजन किये हुये अन्न को बिना पचे ही अवस्था में बारंबार बाहर निकालती है, अथवा वेदना (दर्द) के साथ २ अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त, कभी बंधा हुआ या कभी पतला, पचा हुआ मल बारबार निकालती है, तब उसे आयुर्वेदज्ञ लोग 'ग्रहणी रोग' कहते हैं ॥ ५–६ ॥

***अतीसारे द्रवधातुप्रवृत्तिः, ग्रहण्यान्तु बद्धस्यापि मलस्य प्रवृत्तिरिति तयोर्भेदः ॥**
यहां पर यह और समझना चाहिये कि–अतीसार में केवल द्रव धातु पतले मल के साथ निकलता है और ग्रहणी में बंधा हुआ भी मल निकलता है, यही ग्रहणी तथा अतीसार में भेद होता है ॥५–६॥

वातोत्पन्नग्रहण्या निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

कटुतिक्तकषायातिरूक्षशीतलभोजनैः। प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः ॥ ७ ॥
मारुतः कुपितो वह्निं संछाद्य कुरुते गदम्। तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥ ८ ॥
कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः। पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुगभीक्ष्णं विसूचिका ॥

१—जिह्वा की विकृति—इसमें जिह्वा मध्य में साफ लाल दरारयुक्त और व्रणयुक्त होती है। इसके पीछे के ⅓ हिस्से में अङ्कुर स्पष्टतया दिखाई देते हैं। मुख तथा गले में व्रणों के कारण जलन होती है जो गर्म तथा मसालों की चीजों से अधिक होती है।

२—आध्मान—यह अधिकतर सन्ध्या के समय तथा (Corbohydrate) पिष्टमय पदार्थ युक्त अन्न अधिक सेवन करने से होता है।

३—प्रातःकालीन प्रवाहिका—इस रोग में सुबह के १०–११ बजे तक कई बार अधिक राशि में मल का उत्सर्ग होता है। मल का रङ्ग–कुछ सफेद प्रतिक्रिया में अम्ल (Acid) और उसमें वायु की अधिकता तथा बदबू होती है। मल में रक्त या श्लेष्मा बिलकुल नहीं होता। सुबह उठते समय वायु के कारण रोगी का पेट काफ़ी फूला हुआ और कुछ पीड़ा युक्त होता है। और ७–८ बार मलोत्सर्जन करने के बाद रोगी को आराम मालूम पड़ता है। मल में ७५%से अधिक चर्बी होती है।

इन तीन लक्षणों के सिवाय कृशता, शारीरिक तथा मानसिक कमजोरी, दुष्ट स्वरूप का रक्तक्षय, त्वचा में, विशेष करके माथे पर, वैवर्ण्य और समस्त त्वचा में झुर्रियां ये सब लक्षण होते हैं।

**हृत्पीडाकार्श्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्त्तिका। गृद्धिः सर्वरसानाञ्च मनसः सदनं तथा ॥ १० ॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च। स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की च मानवः॥११॥
चिराद् दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत्। पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात् १२**

वात से उत्पन्न हुई ग्रहणी के निदान तथा सम्प्राप्तिपूर्वक लक्षण—कटु, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, अत्यन्त रूक्ष, शीतल, ऐसे पदार्थों का भोजन करना, तथा थोड़े परिमाण में भोजन करना, उपवास, अधिक रास्ता चलना, मल-मूत्रादिक के वेगों को रोकना, मैथुन इन सब कारणों से कुपित हुआ वायु अग्नि को आच्छादित करके ग्रहणी रोग को उत्पन्न करता है। इस प्रकार के वातज ग्रहणी रोगी का अन्न बड़ी कठिनता से पचता है और उसका अम्ल विपाक होता है। शरीर में खरखरापन हो जाता है, एवम् कण्ठ तथा मुख में शोष होता है, भूख तथा प्यास अधिक मालूम पड़ती है। आंखों के सामने अँधेरा तथा कानों में शब्द होना, पसुली, ऊरु, वंक्षण तथा गले में निरन्तर पीड़ा होना विसूचिका (हैजा), हृदय में पीड़ा, शरीर में कृशता तथा दुर्बलता, मुख की विरसता, गुदा में कतरने की-सी पीड़ा होना, मधुरादि सभी रसों के खाने की इच्छा होना, मन में ग्लानि होना; ये सब लक्षण होते हैं। और वातज ग्रहणीरोग-ग्रस्त मनुष्य का भोजन किया हुआ अन्न चाहे पच गया हो या पचता हो तो भी उसे आध्मान (अफारा) होता है और भोजन करने के बाद तत्काल स्वास्थ्य लाभ होता प्रतीत होता है और वह वातगुल्म, हृद्रोग तथा प्लीहा होने की आशङ्का करता है। बहुत देर में दुःख से कभी पतला, कभी सूखा, थोड़े परिमाण में आमयुक्त, शब्द तथा फेन के सहित मल बारम्बार निकलता है, एवम् कास तथा श्वास से पीड़ित रहता है ॥ ७-१२ ॥

***प्रमितम्=अल्पपरिमितम्, गदं=ग्रहणीगदम्। शुक्तपाकम्=अम्लपाकम् ॥ ७-१२ ॥**
यहां पर 'प्रमित' पद का 'थोड़े परिमाण में भोजन करना'। 'गद' पद का 'ग्रहणी रोग' और 'शुक्तपाक' पद का 'अम्ल विपाक' अर्थ समझना चाहिये ॥ ७-१२ ॥

पित्तजग्रहण्या निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

**कट्वतिक्तविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्। आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम् ॥ १३ ॥
सोऽजीर्णं पीतनीलाभं पीताभः सार्यते द्रवम्। अत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृषाऽर्दितः ॥**

पित्त से उत्पन्न हुई ग्रहणी के निदान तथा संप्राप्तिपूर्वक लक्षण—कटु-तिक्त-अम्ल रसयुक्त, विदाही (दाह उत्पन्न करने वाला) तथा क्षार आदिक पदार्थों के भोजन करने से बढ़ा हुआ पित्त जैसे गर्म जल अग्नि को बुझा देता है उसी भांति जठराग्नि को आप्लावित करता हुआ नष्ट कर देता है। जिससे पित्तज ग्रहणी रोग उत्पन्न होता है। इस रोग में रोगी का मल पीला वा नीला, अपरिपक्व तथा पतला निकलता है, एवम् वह स्वयं भी पीले रङ्ग के समान हो जाता है। और उसे अत्यन्त खट्टी डकार आती है, हृदय तथा कण्ठ में दाह होता है एवम् वह अरुचि और प्यास से पीड़ित होता है ॥ १३-१४ ॥

***आप्लावयद्=मज्जयत्। ननु पित्तमग्निगुणयुक्तं तत्कथमग्निं हन्तीत्याह—जलं तप्तमिवानलमिति। यथा—अग्निगुणयुक्तमपि तप्तं जलमनलं हन्ति तथा पित्तमपि हन्ति। सार्यते=अत्र पित्तेनेति कर्तृपदमध्याहरणीयम् ॥ १३-१४ ॥**

यहां पर 'आप्लावयत्' पद का 'आप्लावित करता हुआ' अर्थ समझना चाहिये। और यहां पर यह जो शङ्का होती है कि—पित्त अग्नि के गुणों से युक्त होता है, अत एव वह कैसे अग्नि को नष्ट करता है? इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि जैसे—गर्म जल अग्नि को नष्ट कर देता है, अर्थात् जैसे अग्नि के गुणों से युक्त भी गर्म जल अग्नि को नष्ट कर देता है; वैसे ही पित्त भी जठराग्नि को नष्ट कर देता है। 'सार्यते' इस क्रिया पद के लिये 'पित्तेन' इस कर्तृ पद का अध्याहार करना चाहिये, अत एव 'पित्त से निकलता है' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १३-१४ ॥

कफोत्पन्नग्रहण्या निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात्। भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः॥१५॥
तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः। आस्योपदेहमाधुर्यकासष्ठीवनपीनसाः॥१६॥
हृदयं मन्यते स्तब्धमुदरं स्तिमितं गुरु। दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम्॥ १७॥
भिन्नामश्लेष्मसंश्लिष्टगुरुवर्चःप्रवर्त्तनम्। अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यञ्च कफात्मके॥१८॥

कफ से उत्पन्न हुई ग्रहणी के निदान तथा संप्राप्तिपूर्वक लक्षण—गुरु (परिणाम तथा मात्रा में गुरु), अत्यन्त स्निग्ध, शीतल आदि पदार्थ भोजन करने से या अत्यन्त भोजन करने से वा भोजन करने के बाद तत्काल ही नींद से सो जाने से कुपित हुआ कफ अग्नि को नष्ट कर देता है, जिससे कि ग्रहणी रोग उत्पन्न हो जाता है। इस कफज ग्रहणी रोगी का भोजन किया हुआ अन्न कठिनता (देर) से परिपक्व होता (पचता) है और उबकाई, वमन, अरुचि, कफ से मुख का लिपटा रहना, मुख का स्वाद मीठा प्रतीत होना, खांसी, वारवार मुख में थूक भर आना, पीनस रोग होना, हृदय जकड़ा हुआ प्रतीत होना, उदर में जड़ता तथा भारीपन होना, उद्गार खराब तथा मीठा होना, शरीर में ग्लानि, स्त्री के साथ मैथुन करने की इच्छा न होना, फटा हुआ-अपक्व तथा कफ से लिपटे रहने से गुरु (तौल में भारी) मल का निकलना, कृश न रहते हुये भी रोगी का दुर्बल तथा शरीर में आलस्य होना; ये सब लक्षण कफ से उत्पन्न हुई ग्रहणी में होते हैं॥ १५–१८॥

*भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्=भुक्तेत्यत्राध्यवसितादित्वात्कर्त्रर्थे क्तः। तेन भुक्तवतः-सद्यः-शयनादित्यर्थः। आस्योपदेहः=मुखस्य कफेन लिप्तत्वम्। स्तिमितं=विबद्धं, निश्चलमिति यावत्। स्त्रीषु, अहर्षणं=रिरंसाया अभावः। भिन्नं=स्फुटितम्, आमम्=अपक्वं, श्लेष्म-संश्लिष्टं तत एव गुरु-वर्चः=पुरीषं, तस्य प्रवृत्तिः॥ १५–१८॥

यहां पर 'भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्' इसमें 'भुक्त' पद में अध्यवसितादि गण में पाठ होने से कर्त्ता के अर्थ में क्त प्रत्यय हुआ है, इससे उक्त पदों का 'भोजन किये हुये पुरुष को (भोजन के बाद) तत्काल ही नींद से सो जाने से' यह अर्थ समझना चाहिये। 'आस्योपदेहः' पद का 'कफ से मुख का लिपटा रहना'। 'स्तिमित' पद का 'निश्चल होना अर्थात् उदर में जड़ता'। 'स्त्रीषु, अहर्षणम्' इन पदों का 'स्त्री के साथ मैथुन करने की इच्छा न होना'। 'भिन्न' पद का 'फटा हुआ'। 'आम' पद का 'अपक्व'। 'वर्चः' पद का 'मल' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १५–१८॥

त्रिदोषोत्पन्नग्रहण्या निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे। त्रिदोषं निर्दिशेदेवं तेषां वक्ष्यामि भेषजम्॥ १९॥

त्रिदोष से उत्पन्न हुई ग्रहणी के निदान तथा संप्राप्तिपूर्वक लक्षण—पूर्व में जो पृथक् २ वात, पित्त तथा कफ के निदान और लक्षण कहे हुये हैं, वे सब जहां पर एकत्र होकर दिखाई पड़ें, उसे त्रिदोष से उत्पन्न ग्रहणी समझना चाहिये। अत एव यहां पर त्रिदोषज-ग्रहणी का स्वतन्त्र निदान तथा लक्षण नहीं कहा गया, किन्तु औषध आगे कहेंगे॥ १९॥

ग्रहणीरोगभेदं संग्रहग्रहणीरोगमाह—

द्रवं घनं सितं स्निग्धं सकटीवेदनं शकृत्। आमं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम्॥२०॥
पक्षान्मासाद्दशाहाद्वा नित्यञ्चापि विमुञ्चति। अन्त्रकूजनमालस्यं दौर्बल्यं सदनं भवेत्॥२१॥
दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्तिं च गच्छति। दुर्विज्ञेया दुर्निवारा चिरकालानुबन्धिनी॥२२॥
सा भवेदामवातेन संग्रहग्रहणी मता॥ २३॥

ग्रहणी रोग का भेद संग्रहग्रहणी रोग के लक्षण-जिस ग्रहणी रोग में एक मास, १५ दिन या १० दिन पर वा नित्य ही रोगी का मल कभी पतला, कभी गाढ़ा, सफेद, स्नेहयुक्त पदार्थ के समान, अधिक परिमाण में, पिच्छिल युक्त, आम (अपरिपक्व मल), शब्दयुक्त, मन्द २ दर्द के साथ निक-

लता है और आँतों का बोलना, शरीर में आलस्य, दुर्बलता तथा ग्लानि होती है। एवम् दिन में जिसका प्रकोप होता है तथा रात्रिमें शान्त रहती है और जो कठिनाई से जानी जाय तथा दूर की जाय एवम् अधिक समय तक रहने वाली हो, उसे आमवात से होने वाली संग्रहग्रहणी रोग (संग्रहणी) समझना चाहिये ॥ २०–२३ ॥

***स्निग्धं=स्नेहसदृशम्। दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्तिं च गच्छतीति व्याधेरेव प्रभावः ॥ २०–२३ ॥**

यहां पर 'स्निग्ध' पद का 'स्नेहयुक्त पदार्थ के समान' यह अर्थ समझना चाहिये और इस संग्रहणी रोग का जो 'दिन में प्रकोप होता है तथा रात्रि में शान्ति रहती है' वह व्याधि के प्रभाववश समझना चाहिये ॥ २०–२३ ॥

ग्रहणीरोगभेदाख्यं घटीयन्त्रमाह—

प्रसुप्तिः पार्श्वयोः शूलं तथा जलघटीध्वनिः। तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम् ॥२४॥

ग्रहणीरोग का भेद घटीयन्त्र रोग—जिस ग्रहणी रोग के रोगी का अधिक सोना, पंसुलियों में शूल तथा मल निकलने में जलघटी के समान ध्वनि होवै, उसे असाध्य घटीयन्त्र नामक ग्रहणीरोग वैद्य लोग कहते हैं ॥ २४ ॥

***प्रसुप्तिः=प्रकर्षेण शयनम्। तथा जलघटीध्वनिः=अधोमुखीकृताया जलघट्या जलनिःसरणे यथा ध्वनिस्तथा मलनिर्गमसमये भवति। यदा गदोऽयं देहं व्याप्नोति तदा तस्य जीवितं गच्छति ॥ २४ ॥**

यहां पर 'प्रसुप्ति' पद का 'अधिक सोना'। 'जलघटीध्वनिः—अर्थात् मल निकलने में जल घटी के समान ध्वनि हो' इसका स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि—औंधी की हुई जल की घटी (छोटा घडा) से जल निकलने के समय में जैसा शब्द होता है उसी के समान मल निकलने में ध्वनि (शब्द) हो'। और यह भी समझना चाहिये कि—जब यह रोग शरीर में व्याप्त हो जाता है, तब रोगी का जीवन चला जाता है, अर्थात् प्राण बचना अत्यन्त कठिन हो जाता है ॥ २४ ॥

सामान्यतो ग्रहणीरोगस्य चिकित्सामाह—

ग्रहणीमाश्रितं रोगमजीर्णवदुपाचरेत्। लङ्घनैर्दीपनीयैश्च सदाऽतीसारभेषजैः ॥२५॥
दोषं सामं निरामञ्च विद्यादत्रातिसारवत्। अतिसारोक्तविधिना तस्यामञ्च विपाचयेत् ॥२६॥
पेयाऽऽदि पटु लघ्वन्नं पञ्चकोलादिभिर्युतम्। दीपनानि च तक्रं च ग्रहण्यां योजयेद्भिषक् ॥२७॥

सामान्य रूप से ग्रहणी रोग की चिकित्सा—ग्रहणी के आश्रय से होने वाले ग्रहणी रोगों की चिकित्सा अजीर्ण के समान करनी चाहिये, तथा उपवास करना और अग्निदीपक औषधियों का प्रयोग इत्यादिक जो अतिसार की औषधियां कही हुई हैं, उनका यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये। एवम् अतीसार ही की भांति इसके दोषों की साम तथा निराम अवस्था का ज्ञान करना चाहिये। और अतीसार में कही हुई विधियों के अनुसार इसके आमदोष का पाचन करना चाहिये। और ग्रहणी रोग में वैद्य पञ्चकोल (पीपर, पिपरामूल. चव्य, चीता, सोंठ) आदि से युक्त पेया आदिक, हितकर लघु अन्न तथा अग्निदीपक औषधियां तथा तक्र (छाछ) का प्रयोग रोगी के लिये करावै ॥ २५–२७ ॥

कपित्थबिल्वचाङ्गेरीतक्रदाडिमसाधिता। यवागूः पाचयत्यामं शकृत्संवर्त्तयत्यपि ॥ २८ ॥

कैथ का फल, बेल की गिरी, चांगेरी (अम्बिलोना), तक्र (छाछ) और अनारदाना इन सबों के साथ बनी हुई 'यवागू' पिलाने से ग्रहणी रोगी के आम का पाचन करती है तथा मल को गाढ़ा करती है ॥ २८ ॥

***संवर्त्तयति=घनीकरोति ॥ २८ ॥**

यहां पर 'संवर्त्तयति' पद का 'गाढ़ा करती है' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २८ ॥

अथ तक्रप्रसङ्गाद् दधिगुणानाह ।

तत्र गोदधिगुणानाह—

गव्यं दध्युत्तमं बल्यं पाके स्वादु रुचिप्रदम् ।
पवित्रं दीपनं स्निग्धं पुष्टिकृत्पवनापहम् । उक्तं दध्नामशेषाणां मध्ये गव्यं गुणाधिकम्॥२९॥

तक्र के प्रसङ्ग से प्रथम दही के गुणों में गाय के दही का गुण—गाय का दही-उत्तम, बलकारक, विपाक में मधुररसयुक्त, रुचिकारक, पवित्र, अग्निदीपक, स्निग्ध, पुष्टिकारक तथा वातनाशक होता है और वह (गाय का दही) सम्पूर्ण दहियों के मध्य में अधिक गुणकारी कहा हुआ है ॥२९॥

माहिषदधिगुणानाह—

माहिषं दधि सुस्निग्धं श्लेष्मलं वातपित्तनुत् । स्वादुपाकमभिष्यन्दिवृष्यं गुर्वस्रदूषणम् ॥३०॥

भैंस के दही का गुण—भैंस का दही-अत्यन्त स्निग्ध, कफजनक, वात-पित्तनाशक, विपाक में मधुररसयुक्त, अभिष्यन्दी (रसवाहिनी शिराओं के मुखों को रोककर शरीर में गुरुता उत्पन्न करने वाला); वीर्यवर्द्धक, गुरु तथा रक्त को दूषित करने वाला होता है ॥ ३० ॥

अजादधिगुणानाह—

आजं दध्युत्तमं ग्राहि लघुदोषत्रयापहम् । शस्यते श्वासकासार्शःक्षयकार्श्येषु दीपनम् ॥३१॥

बकरी के दही का गुण—बकरी का दही-उत्तम रूप से ग्राही (मल को रोकने वाला), लघु, त्रिदोषनाशक, अग्निदीपक तथा श्वास-दमा, खांसी, बवासीर, क्षय और कृशता में हितकर होता है ॥

***उत्तमं ग्राहि = ग्रहण्यामतिश्रेष्ठमित्यर्थः ॥ ३१ ॥**

यहां पर 'उत्तम रूप से ग्राही' कहने से 'यह ग्रहणी रोग में अत्यन्त श्रेष्ठ है' यह समझना चाहिये ॥ ३१ ॥

तक्रभेदानाह—

तक्रन्तु घोलं मथितोदश्वित्तक्रप्रभेदतः । सुश्रुताद्यैर्मुनिश्रेष्ठैश्चतुर्द्धा परिकीर्त्तितम् ॥ ३२ ॥
ससरं निर्जलं घोलं मथितं त्वसरोदकम् । तक्रं पादजलंप्रोक्तमुदश्वित्चार्द्धवारिकम् ॥ ३३ ॥
वातपित्तहरं घोलं मथितं कफपित्तनुत् । उदश्वित्कफदं बल्यं श्रमघ्नं परमं मतम् ॥ ३४ ॥

तक्र के भेद—सुश्रुतादिक मुनिवरों ने १ घोल, २ मथित, ३ उदश्वित् और ४ तक्र, इस भांतिसे तक्र के ४ भेद कहे हैं । उनमें से 'घोल' उसे कहते हैं कि जो दही-मलाई सहित बिना जल डाले मथा गया हो । 'मथित' वह कहलाता है कि जो दही-मलाई निकाल कर बिना जल के मथा जाय । 'तक्र' उसे कहते हैं कि जिस दही में चौथाई जल छोड़ कर मथा जाय । 'उदश्वित्' वह कहलाता है कि जिस दही में आधा जल छोड़ कर मथा जाय । इनमें से घोल-वात-पित्तनाशक, मथित-कफपित्त नाशक और उदश्वित्—कफजनक, बलकारक तथा अत्यन्त श्रमनाशक होता है ॥ ३२-३४ ॥

तक्रगुणानाह—

तक्रं ग्राहि कषायाम्लं मधुरं दीपनं लघु । वीर्योष्णं बलदं वृष्यं प्रीणनं वातनाशनम् ॥३५॥
यान्युक्तानि दधीन्यष्टौ तद्गुणं तक्रमादिशेत् । ग्रहण्यादिमतां तक्रं पथ्यं संग्राहि लाघवात् ॥३६
वातघ्नमम्लसान्द्रत्वात्सद्यस्कं त्वविदाहि च । किञ्च स्वादुविपाकंच अन्तेपित्तप्रकोपणम् ॥३७॥
कषायोष्णविकासित्वाद्रौक्ष्याच्चैव कफे हितम् ॥ ३८ ॥

तक्र के गुण—तक्र-ग्राही, मलरोधक, कषाय, अम्ल तथा मधुर रसयुक्त, अग्निदीपक, लघु, उष्णवीर्य, बलकारक, वीर्यवर्द्धक, तृप्तिकारक तथा वातनाशक होता है । और आठ प्रकार के जो दही द्रव्यगुण प्रकरण में दधिवर्ग में कहे हुये हैं, उन दहियों के गुणों के समान ही उनसे बने हुये तक्र के भी गुण समझने चाहिये । और तक्र-ग्रहणी आदि रोगियों के लिये लघु होने से पथ्य (हित कारक) तथा संग्राही होता है । अम्ल (खट्टा) तथा सान्द्र (स्निग्ध) होने से वातनाशक होता है। और तत्काल मथ कर तैयार किया हुआ तक्र विदाही नहीं होता है, तथा विपाक में मधुर रस युक्त

और अन्त में पित्त को प्रकुपित करने वाला होता है और कषाय रसयुक्त, उष्णवीर्य, विकासी (सन्धि-बन्धनों को शिथिल करने वाला) तथा रूक्ष होने के कारण से तक्र कफ में भी हितकारक होता है ॥ ३५-३८ ॥

निःसारितघृतादितक्रगुणानाह—

समुद्धृतघृतं तक्रं पथ्यं लघु विशेषतः । स्तोकोद्धृतघृतं तस्माद् गुरु वृष्यं कफावहम् ।
अनुद्धृतघृतं सान्द्रं गुरु पुष्टिबलप्रदम् ॥ ३९ ॥

सम्पूर्ण घी निकाले हुये आदि तक्रों के गुण—जिस तक्र में से सम्पूर्ण घी मथ कर निकाल लिया गया है, वह पथ्य तथा विशेष करके पचने में लघु होता है। जिस तक्र में से थोड़ा ही घी निकाला हुआ है, वह पूर्व की (पूर्ण रूप से घी निकाले हुये तक्र की) अपेक्षा पचने में गुरु, वीर्य-वर्द्धक तथा कफजनक होता है और जिस तक्र में से घी कुछ भी नहीं निकाला गया है, वह स्निग्ध (वा गाढ़ा), गुरु, पुष्टिजनक तथा बलवर्धक होता है ॥ ३९ ॥

***उद्धृतस्नेहस्य स्तोकोद्धृतस्नेहस्यानुद्धृतस्नेहस्य च तक्रस्य गुणाः—समुद्धृतेति ॥३९॥**

यहां पर इस श्लोक को 'सम्पूर्ण घी निकाले हुये, थोड़ा घी निकाले हुये, कुछ भी घी नहीं निकाले हुये तक्र के गुण बताने के लिये कहा गया है' यह समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

रोगविशेषे तक्रविशेषानाह—

वातेऽम्लं सैन्धवोपेतं पित्ते स्वादु सशर्करम् । पिबेत्तक्रं कफे चापि क्षारत्रिकटुसंयुतम् ॥४०॥
हिङ्गुजीरयुतं घोलं सैन्धवेनावधूलितम् । ग्रहण्यर्शोऽतिसारघ्नं भवेद्वातहरं परम् ॥४१॥
रोचनं पुष्टिदं बल्यं बस्तिशूलविनाशनम् ॥ ४२ ॥

रोगविशेष में तक्रविशेष का प्रयोग— वातज रोग में-अम्ल (खट्टा) तक्र सेंधानमक मिलाकर पीना चाहिये, पित्तज रोग में शक्कर (साफ) मिला कर मीठा तक्र पीना चाहिये। कफज रोग में जवाखार, सोंठ, तथा काली मिरच का चूर्ण मिलाकर तक्र पीना चाहिये और भुने हुये हींग तथा सफेद जीरा का चूर्ण तथा सेंधा निमक मिला हुआ घोल-ग्रहणी तथा अतीसार को नष्ट करने वाला और वात को अत्यन्त दूर करने वाला है तथा रुचि को बढ़ाने वाला, पुष्टिकारक, बलवर्द्धक, एवम् बस्तिशूलनाशक होता है ॥ ४०-४२ ॥

पक्वापक्वतक्रगुणानाह—

तक्रमामं कफं कोष्ठे हन्ति कण्ठे करोति च । पीनसश्वासकासादौ पक्वमेव विशिष्यते ॥४३॥

पकाये हुये तथा नहीं पकाये हुये तक्र के गुण—

कच्चा तक्र—कोष्ठस्थित कफ को नष्ट करता है तथा कण्ठ में कफ उत्पन्न करता है।

पकाया हुआ तक्र—पीनस, श्वास तथा कासादि रोगों में विशेष उपकारक होता है ॥ ४३ ॥

तक्रस्य निषेधविषयानाह—

नैव तक्रं क्षते दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले । न मूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके ॥ ४४ ॥

तक्र सेवन के अयोग्य व्यक्ति—क्षत (घाव) होने पर, ग्रीष्म ऋतु में, दुर्बलता-मूर्च्छा-भ्रम-दाह तथा रक्तपित्त रोग में रोगी को तक्र नहीं सेवन कराना चाहिये ॥ ४४ ॥

तक्रस्य गुणोत्कर्षमाह—

न तक्रसेवी व्यथते कदाचिन्न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः ।
यथा सुराणाममृतं सुखाय तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः ॥ ४५ ॥

तक्र के गुण की प्रशंसा—तक्र का सेवन करने वाला पुरुष कभी रोग से व्यथित नहीं होता है, और तक्र-सेवन से जले (नष्ट हुये) रोग पुनः नहीं उत्पन्न होते हैं। एवम् 'जिस भाँति से देवताओं के सुख के लिये स्वर्ग में अमृत है, उसी भाँति मनुष्यों के सुख के लिये पृथ्वी लोक में तक्र अमृत है' ऐसा वैद्यजन कहते हैं ॥ ४५ ॥

षड्यूषणमाह—

मुद्गयूषं रसं तक्रं धान्यजीरकसंयुतम्। सैन्धवेनान्वितं दद्यात्षड्यूषणमितीरितम् ॥ ४६ ॥

षड्यूषण—मूंग का जूस, मांसरस, तक्र, धनिया, जीरे का चूर्ण तथा सेंधा निमक एकत्र कर ग्रहणी रोग में देना चाहिये। इसे षड्यूषण कहते हैं ॥ ४६ ॥

*रसं = लघु ग्राहि मांसरसम्। इति षड्यूषणम् ॥ ४६ ॥

यहां पर 'रस' पद का 'मांसरस' अर्थ समझना चाहिये। और मांसरस लघु तथा ग्राही होता है अत एव उसका ग्रहण करना उचित ही है ॥ ४६ ॥

लाईचूर्णमाह—

कर्षं गन्धकमर्द्धपारदमुभे कुर्याच्छुभां कज्जलीं
द्वयक्षं त्र्यूषणतश्च पञ्चलवणं सार्द्धञ्च कर्षं पृथक्॥
भृष्टं हिङ्गु च जीरकद्वययुतं सर्वार्द्धभङ्गाऽन्वितं
खादेट्टङ्कमितं प्रवृत्तिगदवांस्तक्रेण विल्वेन वा ॥ ४७ ॥

लाई चूर्ण—शुद्ध गन्धक १ तोला और शुद्ध पारा आधा तोला इन दोनों को एकत्र खरल कर कज्जली बना लेना चाहिये। सोंठ, पीपर, मिरिच ये सब प्रत्येक दो २ तोले, पञ्चलवण (कालानोन, सेंधानमक, विरिया सञ्चरनोन, रेहका नमक, समुद्रीनोन) प्रत्येक डेढ़ २ तोले, भुनी हींग, स्याह जीरा तथा सफेद जीरा प्रत्येक आधा २ तोला, सबों के एकत्र मान से आधा के बराबर धुली भांग का चूर्ण मिलावें, यह लाई चूर्ण आधा तोला लेकर अतीसार तथा ग्रहणी रोग-ग्रस्त मनुष्य तक्र अथवा बेल के क्वाथ के साथ सेवन करै तो अधिक लाभदायक होता है ॥ ४७ ॥

जातीफलादिचूर्णमाह—

जातीफललवङ्गैलापत्रत्वङ्नागकेशरैः। कर्पूरचन्दनतिलत्वक्क्षीरीतगरामलैः ॥ ४८ ॥
तालीसपिप्पलीपथ्यास्थूलजीरकचित्रकैः। शुण्ठीविडङ्गमरिचैः समभागं विचूर्णितैः ॥ ४९ ॥
यावन्त्येतानि सर्वाणि दद्याद्भङ्गाञ्च तावतीम्। सर्वचूर्णसमं कृत्वा प्रदेया शुभ्रशर्करा ॥ ५० ॥
कर्षमात्रमिदं खादेन्मधुना प्लावितं जनः। नाशयेद् ग्रहणीं कासं क्षयकासमरोचकम् ॥ ५१ ॥

जातीफलादि चूर्ण—जायफर, लौंग, गुजराती इलायची, तेजपात, दालचीनी, नागकेशर, कपूर, चन्दन, सफेद तिल, वंशलोचन, तगर, आंवला, तालीसपत्र, पीपल, हरड़, मॅगरैला, चीते की जड़ की छाल, सोंठ, वायविडङ्ग, काली मिरिच इन सबों को समान भाग में लेकर चूर्ण कर सबके बराबर धुली हुई भांग का चूर्ण मिलाकर संपूर्ण चूर्ण के बराबर सफेद शकर मिलाकर एक तोला चूर्ण मधु के साथ मिलाकर खाने से ग्रहणी, खांसी, क्षयजन्य खांसी तथा अरुचि ये सब नष्ट होते हैं ॥ ४८-५१ ॥

चित्रकादिवटिकामाह—

चित्रकं पिप्पलीमूलं क्षारो लवणपञ्चकम्। व्योषं हिङ्ग्वजमोदा च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ॥ ५२ ॥
वटिका मातुलुङ्गस्य रसैर्वा दाडिमस्य च। कृता विपाचयत्यामं दीपयत्याशु चानलम् ॥ ५३ ॥

चित्रकादि वटी—चीते के जड़ की छाल, पिपरामूल, जवाखार, पञ्चलवण (कालानोन, सेंधा नोन, विरिआ सञ्चरनोन, रेहका निमक, समुद्रीनोन), सोंठ, पीपर, मिरिच, भुनी हींग, अजवाइन तथा चव्य इन सबों को समान भाग में एकत्र कर चूर्ण बना लेवै पश्चात् बिजौरा नीबू या अनारदाना के रस के साथ उक्त चूर्ण को भलीभांति मर्दन करके गोली बना लेवे, यह चित्रकादि वटी सेवन करने से आम का पाचन तथा अग्नि का दीपन करती है ॥ ५२-५३ ॥

*अजमोदा = यवानिका ॥ ५२-५३ ॥

यहां पर 'अजमोदा' पद का 'अजवाइन' अर्थ समझना चाहिये ॥ ५२-५३ ॥

विल्वकल्कमाह—

श्रीफलशलाटुमज्जा नागरचूर्णेन मिश्रितः सगुडः। ग्रहणीगदमत्युग्रं तक्रभुजा शीलितो जयति ॥ ५४ ॥

विल्वकल्क—कच्चे बेल की गिरी तथा सोंठ का चूर्ण समभाग में लेकर सबों के बराबर गुड़

मिलाकर तक्र के साथ कुछ दिन सेवन करने से भयङ्कर भी ग्रहणी रोग नष्ट हो जाता है ॥ ५४ ॥

***श्रीफलशलाटु = बिल्वस्यामं फलम् । गुडभागद्वयम् ॥ ५४ ॥**

यहां पर 'श्रीफलशलाटुमज्जा' पद का 'कच्चे बेल की गिरी' अर्थ समझना चाहिये। और गुड़ दो भाग अर्थात् सबों के बराबर लेना चाहिये ॥ ५४ ॥

वार्ताकुगुटिकामाह—

चतुष्पलं सुधाकाण्डं त्रिपलं लवणत्रयम्। वार्ताकोः कुडवं चार्कमूलाद्द्विपलं तथाऽनलात्॥५५॥
दग्ध्वा द्रवेण वार्ताकोर्गुटिका भोजनान्तरे। भुक्ता भुक्तं पचत्याशु नाशयेद् ग्रहणीगदम्।
कासं श्वासं तथाऽर्शांसि विसूचीञ्च हृदामयम् ॥ ५६ ॥

वार्ताकुगुटिका—थूहर की लकड़ी ४ पल (१६ तोले), लवणत्रय (कालानोन, सेंधानोन, विरिआ सञ्चरनोन) प्रत्येक एक २ पल (चार २ तोले), बैंगन एक कुडव (१६ तो०), आक की जड़, तथा चीते के जड़ की छाल प्रत्येक एक २ पल (चार २ तोले) लेकर सबों को एकत्र आग में जला कर बैंगन के रस से गोली बना लेवे, पश्चात् एक गोली भोजनोपरान्त सेवन करने से खाया हुआ अन्न शीघ्र पचता है तथा ग्रहणीरोग, खांसी, श्वास, अर्श, विसूचिका (हैजा) और हृद्रोग दूर होता है ॥ ५५–५६ ॥

मुस्तकादिचूर्णमाह—

मुस्तकातिविषाबिल्वकौटजं सूक्ष्मचूर्णितम्। मधुना च समालीढं ग्रहणीं सर्वजां जयेत् ॥५७॥

मुस्तकादिचूर्ण—नागरमोथा, अतीस, बेल की गिरी तथा इन्द्रजौ सबों को समान भाग में लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके मधु के साथ चाटने से सभी प्रकार की ग्रहणी दूर होती है ॥ ५७ ॥

***कौटजः = इन्द्रयवः ॥ ५७ ॥**

यहां पर 'कौटज' पद का 'इन्द्रजौ' अर्थ समझना चाहिये ॥ ५७ ॥

सर्जरसचूर्णमाह—

श्वेतो वा यदि वा रक्तः सुपक्वो ग्रहणीगदः। गुडेनाधिकसर्जेन भक्षितेनाशु नश्यति ॥५८॥

सर्जरसचूर्ण—सफेद अथवा लाल ग्रहणी, यदि उसका आम दोष परिपक्व हो गया हो तो एक भाग गुड़ में दो भाग राल का चूर्ण मिलाकर खाने से दूर हो जाती है ॥ ५८ ॥

बिल्वादिसिद्धाजादुग्धगुणानाह—

बिल्वाब्दशक्रयववालकमोचसिद्धमाजं पयः पिबति यो दिवसत्रयं ना।
सोऽतिप्रवृद्धचिरजं ग्रहणीविकारं सामं सशोणितमसाध्यमपि क्षिणोति ॥ ५९ ॥

बिल्वादि से सिद्ध किये हुए बकरी के दूध के गुण—कच्चे बेल की गिरी, नागरमोथा, इन्द्रजौ, सुगन्धवाला तथा मोचरस इनसे यथाविधि सिद्ध किया हुआ बकरी का दूध तीन दिन तक जो पीता है, उस का अत्यन्त बढ़ा हुआ, बहुत दिनों का, आमदोष युक्त तथा रक्तसहित असाध्य भी ग्रहणी रोग नष्ट हो जाता है ॥ ५९ ॥

कल्याणगुडमाह—

प्रस्थत्रयं त्वामलकीरसस्य शुद्धस्य दत्त्वाऽर्द्धतुलां गुडस्य।
चूर्णीकृतैर्ग्रन्थिकजीरचव्यव्योषैः सकृष्णाहपुषाऽजमोदैः ॥ ६० ॥
विडङ्गसिन्धुत्रिफलायवानीपाठाऽग्निधान्यैश्च पलप्रमाणैः।
दत्त्वा त्रिवृच्चूर्णपलानि चाष्टावष्टौ च तैलस्य पचेद्यथावत् ॥ ६१ ॥
तं भक्षयेदक्षपलप्रमाणं यथेष्टचेष्टस्त्रिसुगन्धियुक्तम्।
अनेन सर्वे ग्रहणीविकाराः सश्वासकासस्वरभेदशोथाः ॥ ६२ ॥
शाम्यन्ति चायं चिरमन्तरग्नेर्हतस्य पुंस्त्वस्य च वृद्धिहेतुः।
स्त्रीणान्तु वन्ध्याऽऽमयनाशनः स्यात् कल्याणको नाम गुडः प्रसिद्धः ॥६३॥
तैले मनाक् त्रिवृद्‌ भृष्ट्वा त्रिफलायाः पलत्रयम्। सिद्धे निधेयमत्रैव गुडे कल्याणपूर्वके॥६४॥

कल्याणगुड—आंवले का रस ३ प्रस्थ (दो सेर १ पाव २ छ० २ तो०) और शुद्ध गुड़ आधी-तुला (२॥ सेर) तथा पिपरामूल, जीरा, चव्य, सोंठ, पीपर, मिरिच, स्याह जीरा, हाऊवेर, अजमोद, वायविडङ्ग, सेंधा निमक, आंवला, हरड़, बहेड़ा, अजवाइन, पाढ़, चीते के जड़ की छाल, धनिया इन सबों का चूर्ण प्रत्येक एक २ पल, निसोथ का चूर्ण ८ पल (३२ तोले), तिल का तेल ८ पल मिलाकर यथाविधि पाक करना चाहिये। इसे एक तोला की मात्रा में लेकर त्रिसुगन्धि (इलायची, दालचीनी, तेजपात) के चूर्ण के साथ मिलाकर इच्छानुसार आहार-विहारादि करता हुआ भी यदि कोई मनुष्य खाता है तो उसके सभी प्रकार के ग्रहणी रोग, श्वास, खांसी, स्वरभेद (गला बैठ जाना), शोथ ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं, एवम् बहुत दिनों से मन्द हुई अग्नि तथा पुरुषत्व की वृद्धि होने लगती है। और स्त्रियों के वन्ध्यापन रोग को भी दूर करनेवाला यह सर्वत्र प्रसिद्ध कल्याण गुड है। इसके बनाने के समय प्रथम आंवले का रस तथा गुड-पाक बनावै, जब पाक सिद्ध होने के नजदीक आ जाय तब उसमें निसोथ तथा त्रिफला का चूर्ण तिल के तेल में किञ्चिद् भून कर तब पूर्वोक्त सभी चूर्णों के साथ छोड़ देवै ॥ ६०–६४ ॥

महाकल्याणकगुडमाह—

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं गजपिप्पली। धान्यकञ्च विडङ्गानि यवानी मरिचानि च ६५
त्रिफला चाजमोदा च नीलिनी जीरकस्तथा। सैन्धवं रोमकञ्चापि सामुद्रं रुचकं विडम् ॥
आरग्वधश्च त्वक्पत्रं सूक्ष्मैला चोपकुञ्चिका। शुण्ठी शक्रयवाश्चैव प्रत्येकं कर्षसम्मिताः ॥
मृद्वीकायाः पलान्यत्र चत्वारि कथितानि हि। त्रिवृतायाः पलान्यष्टौ गुडस्यार्द्धतुलां तथा ॥
तिलतैलपलान्यष्टावामलक्या रसस्य तु। प्रस्थत्रयमिदं सर्वं शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥ ६९ ॥
औदुम्बरं चामलकं बादरञ्च यथाबलम्। तावन्मात्रमिदं खादेद् भक्षयेद्वा यथाऽनलम् ७०
निखिलान्ग्रहणीरोगान्प्रमेहांश्चैव विंशतिम्। उरोघातं प्रतिश्यायं दौर्बल्यं वह्निसंक्षयम् ॥
ज्वरानपि हरेत्सर्वान्कुर्यात्कान्तिं मतिं बलम्। पाण्डुरोगाञ्जवाद्धन्ति रक्तपित्तञ्च विड्ग्रहम्
धातुक्षीणो वयःक्षीणः स्त्रीषु क्षीणः क्षयी च यः। तेभ्यो हितश्च वन्ध्यायै महाकल्याणको गुडः

महाकल्याणक गुड—पीपर, पिपरामूल, चीते के जड़ की छाल, गजपीपर, धनियां, वायविडङ्ग, अजवाइन, मिरिच, आंवला, हरड़, बहेड़ा, अजमोद, नील, जीरा, सेंधा नोन, सांभर नोन, समुद्री नोन, काला नोन, विरिआ सञ्चर नोन, अमलतास का गूदा, दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची, मँगरैला, सोंठ, इन्द्रजौ इन सबों का चूर्ण प्रत्येक एक २ तोला, मुनक्का ४ पल (१६ तोले), निसोथ का चूर्ण ८ पल (३२ तो०), आँवले का रस ३ प्रस्थ (२ से० १ पाव २ छ० २ तो०), इन सबों को यथाविधि मन्द २ आंच से पकावै। और इसे बलानुसार गूलर, आँवला तथा बेर के फलों के बराबर मात्रा में लेकर अथवा अपने अग्निबलानुसार जितना पच सके उतनी ही मात्रा में लेकर खाना चाहिये। इसके सेवन से सभी प्रकार के ग्रहणी रोग, २० प्रकार के प्रमेह रोग, उरोघात (हृद्रोग), प्रतिश्याय (जुखाम), दुर्बलता, अग्नि की मन्दता और सभी प्रकार के ज्वर नष्ट हो जाते हैं। तथा शरीर की कान्ति, बुद्धि व बल की वृद्धि होती है। और पाण्डुरोग, रक्तपित्त तथा मल का विबन्ध भी दूर होता है। और जिस पुरुष का धातु क्षीण हो गया हो या जो अवस्था से क्षीण हो गया हो या स्त्री के साथ सङ्ग (मैथुन) करने से क्षीण हो गया हो किंवा क्षय रोग से युक्त हो तथा जो स्त्री वन्ध्या हो तो उन सबों के लिये यह महाकल्याण गुड हितकारी होता है ॥

कूष्माण्डकल्याणकगुडमाह—

कूष्माण्डानां सुपक्वानां स्विन्नानां निष्कुलत्वचाम्। सर्पिःप्रस्थं पलशतं ताम्रपात्रे शनैः पचेत् ॥
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं गजपिप्पली। धान्यकानि विडङ्गानि नागरं मरिचानि च ॥
त्रिफला चाजमोदा च कलिङ्गाजाजिसैन्धवम्। एकैकस्य पलञ्चैकं त्रिवृतोऽष्टौ पलानि च ॥
तैलस्य च पलान्यष्टौ गुडात्पञ्चाशदेव तु। आमलक्या रसस्यात्र प्रस्थत्रयमुदीरितम् ॥७७॥

तावत्पाकं प्रकुर्वीत मृदुना वह्निना भिषक्। यावद्दर्व्याः प्रलेपः स्यात्तदैनमवतारयेत् ॥७८॥
औदुम्बरं चामलकं बादरं वा यथाबलम्। तावन्मात्रमिदं खादेद् भक्षयेद्वा यथाऽनलम्॥
अनेनैव विधानेन प्रयुक्तश्च दिने दिने। निहन्ति ग्रहणीरोगान्कुष्ठानर्शोभगन्दरान् ॥८०॥
ज्वरमानाहहृद्रोगं गुल्मोदरविसूचिकाः। कामलां पाण्डुरोगञ्च प्रमेहांश्चैव विंशतिम् ॥८१॥
वातशोणितवीसर्पदद्रुयक्ष्महलीमकान्। वातपित्तकफान्सर्वान्दुष्टाञ्छुद्धान्समाचरेत् ॥८२॥
व्याधिक्षीणा वयःक्षीणाः स्त्रीषुक्षीणाश्च येनराः। तेभ्यो हितो गुडोऽयं स्याद्वन्ध्यानामपि पुत्रदः॥
वृष्यो बल्यो बृंहणश्च वयसः स्थापनं तथा ॥ ८३ ॥

कूष्माड कल्याणक गुड—पके हुये कूष्माण्ड (सफेद कोहड़ा) के ऊपर के छिल्के निकाल कर फेंक दे, पश्चात् उसके टुकडे २ करके उबाल लेवे। और तौल में ५ सेर टुकड़ों को लेकर १ प्रस्थ (६४ तोले) गाय के घी के साथ कलईदार तामे के पात्र में रख कर मन्द २ आंच से पकावै उसके बाद पीपर, पिपरामूल, चीतेके जड़की छाल, गजपीपर, धनियां, बायविडङ्ग, सोंठ, मरिच, आंवला, हड़, वहेड़ा, अजमोद, इन्द्रजौ, स्याह जीरा और सेंधा निमक इन सर्वो का चूर्ण प्रत्येक एक२ पल (चार २ तो०), निसोथ का चूर्ण आठ पल (३२ तोला), तिल का तेल ८ पल, गुड़ ५० पल (२॥ सेर), आंवले का रस ३ प्रस्थ (२ सेर १ पाव २ छ० २ तो०), इन सवों को वैद्य यथाविधि मन्द २ आंच से तब तक पकावै कि जब तक कर्छली में लिपट न जावै, पश्चात् जब लिपटने लगै तब उतार लेवै, और बलानुसार गूलर, आंवला या बेर के फल के समान मात्रा में लेकर अथवा जितना पच सकै अपने अग्नि के अनुसार मात्रा में लेकर प्रतिदिन खाने से यह सम्पूर्ण ग्रहणी रोग कुष्ठ, अर्श, भगन्दर, ज्वर, आफरा, हृद्रोग, गुल्म, उदर रोग, विसूचिका, कामला, पाण्डुरोग, २० प्रकार के प्रमेह रोग, वातरक्त, वीसर्प, दाद, यक्ष्मा, हलीमक, वात-पित्त तथा कफ सम्बन्धी रोग इन सर्वो को दूर करता है। रोग से, अवस्था से अथवा स्त्री के साथ अधिक मैथुन करने से जो क्षीण हो गये हैं। उन सर्वों के लिए यह कूष्माण्डकल्याणक गुड हितकारी होता है तथा वन्ध्या स्त्रियों के लिये पुत्र देने वाला होता है ॥ ७४–८३ ॥

अतिसाराधिकारलिखितं बिल्वतैलञ्चात्र हितम्।

इति चतुर्थो ग्रहणीरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं मध्यखण्डे प्रथमो भागः ॥ १ ॥

और अतिसाराधिकार में लिखा हुआ बिल्व तेल भी यहां पर अर्थात् ग्रहणी रोग में हितकर होता है ॥

इति श्रीभावप्रकाशभावप्रकाशकारिकायां विद्योतिनीनामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डेऽष्टमे चिकित्साप्रकरणे प्रथमे भागे चतुर्थो ग्रहणीरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽपि मध्यखण्डे प्रथमो भागः।

अथ मध्यखण्डम्

तत्र द्वितीयो भागः

अथ पञ्चमोऽर्शोऽधिकारः ॥ ५ ॥

तत्रार्शसां सन्निकृष्टानि निदानान्याह—

पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात्सहजानि च। अर्शांसि षट् प्रकाराणि विद्याद् गुदवलित्रये ॥

अब भावप्रकाश मध्यखण्ड के द्वितीयभाग में पञ्चम अर्शोऽधिकार प्रारम्भ होता है। जिसमें प्रथम अर्श (बवासीर) होने के सन्निकृष्ट (नजदीकी) निदानों को कहते हैं—गुदा की तीन वलियों में वात-पित्त तथा कफ इन दोषों से पृथक् २ तीन प्रकार के अर्श अर्थात् १ वातजार्श, २ पित्तजार्श, ३ कफजार्श और तीनों दोषों के सन्निपात से एक प्रकार का अर्थात् ४ संनिपातजार्श, रक्तदोष से एक प्रकार का अर्थात् ५ रक्तजार्श, तथा जन्म से ही होने वाला एक प्रकार का अर्थात्-६ सहजार्श इस भांति से ६ प्रकार के[1] अर्श (मांस के अङ्कुर उत्पन्न) होते हैं ॥ १ ॥

---

१. 'अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्तीत्यर्शः' इति अर्थात् जो व्याधि शत्रु की भांति प्राणों को नष्ट कर देती है उसे अर्श कहते हैं। अर्श शब्द की इस प्रकार की निरुक्ति माधवनिदान के मधुकोश-व्याख्याकार ने माना है और इस शब्द की सिद्धि 'पृषोदरादित्वात्' होती है यह भी माना है। यद्यपि उपर्युक्त 'पृथग्दोषैः' इत्यादि श्लोक से वातज, पित्तज, कफज, सान्निपातिक, सहज तथा रक्तज भेद से ६ प्रकार का ही अर्श माना है। किन्तु वस्तुतः वातपित्तज, वातकफज तथा पित्तकफज भेद से और ३ द्वन्द्वज अर्श की भी गणना करनी चाहिये थी; किन्तु नहीं की, इसका कारण श्रीविजयरक्षितजी तथा श्रीकण्ठदत्तजी मधुकोश नामक व्याख्या में सुश्रुत के 'अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः। संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः षड्विधश्च सः।'

इस श्लोक के आधार पर लिखते हैं कि 'अत्र द्वन्द्वजानि प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वान्न पृथग्गणितानि' अर्थात् यहां अर्श के द्वन्द्वज भेद प्रकृतिसमसमवाय से आरब्ध होने के कारण पृथक् नहीं गिने गये। इसी लिये केवल उपर्युक्त ६ ही प्रकार के अर्शो का नाम लिया गया। पाश्चात्य विद्वान् तो अर्श के केवल दो ही भेद मानते हैं।

१—बाह्य अर्श (External Piles) और २—आन्तरिक अर्श (Internal Piles) वे लोग अर्श रोग की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—

जब मलद्वार के भीतर चारो ओर की शिरायें जो श्लैष्मिककला के नीचे रहती हैं, प्रकुपित हो जाती हैं तब वे छोटे २ अर्बुदों की भाँति प्रसृत होने लगती हैं। यह प्रसरित शिराओं के गुच्छे अर्श कहलाते हैं। अपने यहाँ ये ही फूले हुए शिरासमूह 'गुदाङ्कुर' तथा हिकमत में 'मस्से' कहे जाते हैं। इस प्रकार पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता इस रोग को शिराविकृतिजन्य ही मानते हैं। अपने यहाँ भी सुश्रुत ने लिखा है कि—अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित दोष प्रधान धमनियों में प्राप्त होकर अङ्कुर को उत्पन्न करते हैं, यथाः—

'तत्रानात्मवतां यथोक्तैः प्रकोपणैर्विरुद्धाध्यशनस्त्रीप्रसङ्गादुत्कटुकासनपृष्ठयानवेगविधारणादिभि-

कश्चिद्रुधिरस्यापि दोषत्वं मन्यते, तन्मतमाश्रित्याह—शोणितादिति। सहजानि=शरीरे सहजातानि। सङ्ख्यां चाह—षट्प्रकाराणीति। गुदवलित्रये=सार्द्धं चतुरङ्गुलं गुदस्य मानम्। तस्यावयवभूतास्तिस्रो वलयः शङ्खावर्त्तनिभा उपर्युपरि सन्ति। तासां नामानि-

विशेषैः प्रकुपिता दोषा एकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वा यथोक्त-प्रसृताः प्रधानधमनीरनुप्रपद्य, अधो गत्वा गुदमागम्य प्रदूष्य गुदवलीर्मांसप्ररोहान् जनयन्ति विशेषतो मन्दाग्नेस्तथा तृणकाष्ठोपललोष्ठवस्त्रादिभिः, शीतोदकसंस्पर्शनाद्वा कन्दाः परिवृद्धिमासादयन्ति तान्यर्शांसीत्याचक्षते' सु० नि० अ० २॥

अर्शके कारण—

पाश्चात्त्य मत से—मलाशय के चारो ओर उसके अन्तिम एक या दो इञ्चों में (इन्हीं निचले दोनों इञ्चों के अन्तर्गत आयुर्वेद में वर्णित—प्रवाहणी, विसर्जनी तथा संवरणी नाम तीनों वलियां आ जाती हैं जो कि अर्श के स्थान हैं) शिराओं की ऐसी स्थिति है कि प्रत्येक वार मलत्याग करते समय उन पर बहुत दवाव पड़ता है जिससे रक्त के लौटने में वाधा पड़ती है। इन शिराओं में कपाट भी नहीं है जो कि रक्त के लौटनेमें सहायता दे और न इन शिराओं को आश्रय देने के लिये चारो ओर कुछ दृढ़ धातु ही रहती हैं। साथ में यकृत् के रक्तसंचार से इनका ऐसा सम्बन्ध है कि यकृत में विकार होने से या उसके रक्तसंचार में किसी प्रका॰ की वाधा उपस्थित होने से इस स्थान के रक्तसञ्चार में भी विकार उत्पन्न हो जाता हैं। इन सब स्वाभाविक कारणों से उन शिराओं में स्वभावतः ही प्रकोप उत्पन्न हो जाता है। खाद्य में मद्य का प्रयोग, एक ही स्थान पर बैठकर काम करने का स्वभाव और कोष्ठबद्धता, इस दशा के उत्पन्न होनेमें बहुत सहायता देते हैं। मलाशय के अर्बुद या अन्य घातकरोग, स्त्रियों में गर्भाशय के अर्बुद या अन्य घातकरोग, या गर्भ इत्यादि से भी रोगोत्पत्ति में सहायता मिलती है। पुरुषों में तरुणावस्था में यह रोग अधिक होता है। वृद्धावस्था में पौरुष ग्रन्थि की वृद्धि अथवा मूत्राशय की अश्मरी के कारण यह रोग उत्पन्न हो सकता है।

अपने यहाँ भगवान् चरक ने भी 'अर्शश्चिकित्सितम्' नामक १४ वें अध्याय के 'गुरुमधुर' इत्यादि १० वे सूत्र में अनेक अर्श-उत्पादक कारणों को मानते हुये—

'मद्यपानाद्, उत्कटुकविषमकठिनासनसेवनाद्, उद्भ्रान्तयानोष्ट्रयानाद्, अतिव्यवायाद्वस्तिनेत्रासम्यक्प्रणिधानाद्, गुदक्षणनान्, चेललोष्टतृणादिघर्षणात्, प्रततातिनिर्वहणाद्, वातमूत्रपुरीषवेगोदीरणात्, समुदीर्णवेगविनिग्रहात्, स्त्रीणां चामगर्भभ्रंशाद्गर्भोत्पीडनाद्विषमप्रसूतिभिश्च प्रकुपितो वायुरपानस्तं मलमुपचितमधोगममासाद्य गुदवलिष्वाधत्ते ततस्तास्वर्शांसि प्रादुर्भवन्ति'।

ऐसा माना है। इस प्रकार प्राच्य तथा पाश्चात्त्य विप्रकृष्ट निदान प्रायः मिलते-जुलते हैं।

पाश्चात्त्य विद्वानों के मत से जो दो प्रकारके अर्श वतलाये गये हैं उनका वर्णन निम्न प्रकारहै—

१—वाह्य-अर्श (External piles) यह मलद्वार के चारो ओर लम्बी और गहरी लाल रङ्ग की सिकुड़नों के रूप में प्रतीत होते हैं। साधारण अवस्था में जब ये खाली होते हैं तब प्रतीत नहीं होते, किन्तु प्रकुपित होने पर रक्त से भर कर फूल जाते हैं और प्रत्येक शिरा का अन्तिम भाग एक छोटा सा अङ्कुर या गांठ जैसा मालूम होने लगता है। इनके बीच में शिरा होती है और इसके चारो ओर कुछ सौत्रिक धातु रहती है। यह धातु धीरे २ बढ़ जाती है जिससे अर्श एक कठिन गांठ की भांति प्रतीत होने लगता है।

जब तक शिरायें प्रकुपित नहीं होती तब तक रोगी को केवल कुछ खुजली और भारीपन मालूम होता है। इनके प्रकुपित होने पर अर्श छोटे २ अर्बुदों की भांति प्रतीत होने लगते हैं। इनका रंग कुछ नीला हो जाता है, इनमें पीडा होती है और यदि ये कहीं दब जाते हैं तो रोगी को असह्य

प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति । तत्र गुदौष्ठोऽर्द्धाङ्गुलमानस्तदूर्ध्वमङ्गुलमाना प्रथमा वलिः । सार्द्धैकाङ्गुलमाना द्वितीया, तृतीया च तावती ॥ उक्तञ्च—

छ अर्द्धाङ्गुलप्रमाणेन गुदौष्ठं परिचक्षते ॥

गुदौष्ठादङ्गुलञ्चैकं प्रथमान्तु वलिं विदुः। सार्द्धैकाङ्गुलमानेन पृथगन्ये प्रकीर्त्तिते ॥१॥ इति ॥१॥

वेदना होती है । इस कारण रोगी सुगमता से चल फिर नहीं सक्ता । बैठने में भी उसे कष्ट होता है । शिरा के भीतर रक्त जम जाता है जिससे वह फूल जाती है । जब उचित चिकित्सा से शिराओं का प्रकोप जाता रहता है तब चारो ओर की सौत्रिक धातु और भी बढ़ जाती है और सारा स्थान स्पर्श से हाथ को कठिन प्रतीत होता है । इस प्रकार के अर्श से रक्तस्राव कम होता है ।

अपने यहां यह (External Piles) या बाह्य अर्श-बाह्य वलि में उत्पन्न हुये अर्श के अन्तर्गत आता है ।

२—आन्तरिक अर्श (Internal Piles)—यह अर्श मलद्वार के भीतर होता है और प्रत्येक अर्श श्लैष्मिक कला से ढका रहता है । बाह्य अर्श चर्म से ढके रहते हैं । उन्हीं की भाँति आन्तरिक अर्श में भी बीच में एक प्रकुपित शिरा और उसके चारो ओर संयोजक या सौत्रिक धातु होती है, जो अर्श के पुराने होने पर कड़ी और अधिक हो जाती है । कभी २ मलद्वार के चारो ओर की शिरायें प्रकुपित दशा में मिलती हैं । मलाशय के अन्तिम एक या दो इञ्च के भाग पर चारो ओर अर्श उत्पन्न हो जाते हैं । साधारणतया यह अर्श दो प्रकार का होता है:—

१—एक लम्बे आकार के अर्श होते हैं जो श्लैष्मिक कला से ढके रहते हैं तथा नीले या कुछ काले रङ्ग के होते हैं । इनके ऊपर कोई सिकुड़न नहीं होती । प्रत्येक अर्श एक छोटे नीले अङ्गूर के दाने की भाँति चमकीला होता है । इन अर्शों के बीच में जो गड्ढे होते हैं उन में मल जमा हो जाता है । ऐसे अर्शों से रक्तप्रवाह कम होता है ।

६—दूसरे गोल आकार के अर्श होते हैं जो श्लैष्मिक कला से एक पतले डण्ठल के समान भाग से जुड़े रहते हैं । यह चिकने नहीं होते । इन पर प्रकुपित शिराओं के कारण सिकुड़ने उत्पन्न हो जाती है । इनसे अधिक रक्त निकता है । यद्यपि यह श्लैष्मिक कला ही से ढके रहते हैं, किन्तु कुछ समय तक फूले रहने और रगड़ खाने से उन पर की श्लैष्मिक कला चर्म की भाँति कड़ी पड़ जाती हैं । कभी २ शिराओं के बीच में एक पतली धमनी की शाखा भी पायी जाती है ।

लक्षण—जब तक शिरा प्रकुपित नहीं होती तब तक रोगी को किसी प्रकार की असुविधा नहीं प्रतीत होती । केवल मलद्वार के भीतर कुछ भारीपन और खुजली मालूम होती रहती है । जब सारा अर्श फूलकर बाहर निकल आता है तो रोगी को चलने या बैठने में भी कष्ट होता है । थोड़े बहुत समय के पश्चात् इनसे रक्त अवश्य ही निकलने लगता है । पहले केवल मलत्याग के समय मलके पूर्व कुछ रक्त आता है । किन्तु कुछ समय के पश्चात् रक्त अधिक मात्रा में आने लगता है, जिससे रोगी को दुर्बलता और पाण्डुरोग भी हो जाता है । रोग जितना तीव्र होता है और जितना अधिक रक्त निकलता है उतना ही रोगी अधिक दुर्बल हो जाता है जैसा कि माधव निदानमें भी आया है कि:—
'स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः । भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसम्भवैः' इत्यादि

इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने भी कहा है कि—

'रक्तजानि न्यग्रोधप्ररोहविद्रुमकाकणन्तिकाफलसदृशानि पित्तलक्षणानि च यदाऽवगाढपुरीषप्रपीडितानि भवन्ति तदाऽत्यर्थं दुष्टमनल्पमसृक् सहसा विसृजन्ति तस्य चातिप्रवृत्तौ शोणितातियोगोपद्रवा भवन्ति' । सु० नि० अ० २ सू० ८ ।

और सुश्रुत ने शोणितातियोग के उपद्रव ये बतलाये हैं—

'अतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमधिमन्थं तिमिरप्रादुर्भावं धातुक्षयमाक्षेपकं पक्षाघातमेकाङ्गविकारं तृष्णादाहौ हिक्कां कासं श्वासं पाण्डुरोगं मरणञ्चापादयति' । सु० सू० अ० १४ सूत्र १७ ।

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—जो रक्तदोष से १ प्रकार का 'रक्तजार्श' होना यहां पर कहा गया है, वह कोई २ विद्वान् सुश्रुतादिक रक्त को भी दोषों के अन्दर मानते हैं, अतः उन लोगों के मत का आश्रय लेकर ही कहा गया है। और 'सहजानि' पद का 'जन्म से ही होने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये और '६ प्रकार के अर्श उत्पन्न होते हैं' इसके कहने से 'अर्श की संख्या संप्राप्ति' का वर्णन समझना चाहिये। और 'गुदवलित्रये' पदका 'गुदा की तीन वलियों में' यह अर्थ समझना चाहिये। और गुदा की तीन वलियां इस प्रकारसे होती हैं कि—गुदा का मान ४॥ अङ्गुल का होता है। और उसके अङ्गभूत ३ वलियां होती हैं, जो कि शङ्ख के आवर्त (आटी) की भांति एक के ऊपर एक रहती है। तथा जिनके नाम १ प्रवाहणी, २ विसर्जनी तथा ३ संवरणी हैं। उसमें गुदा का ओष्ठ भाग आधे अङ्गुल का होता है, उसके बाद उसके ऊपर १ अङ्गुल की पहली वलि रहती है, तत्पश्चात् डेढ़ २ अङ्गुल की दूसरी तथा तीसरी वलि होती है। और इसी विषय में अन्यत्र भी कहा है कि-आधे अङ्गुल के प्रमाण में गुदा का ओष्ठ भाग रहता है, गुदौष्ठ से एक अङ्गुल तक पहली वलि, उसके बाद शेष दूसरी तथा तीसरी वलि डेढ २ अङ्गुल की होती है ॥ १ ॥

वातार्शसां विप्रकृष्टनिदानमाह—

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च। प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम् ॥ २ ॥
लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च। शोको वातातपस्पर्शौ हेतुर्वातार्शसां ततः ॥३॥

वात से उत्पन्न हुये अर्श के विप्रकृष्ट (दूर के) निदान—कषाय, कटु तथा तिक्त रसयुक्त एवम् रूक्ष, शीतवीर्य तथा परिपाक में लघु पदार्थों का भोजन, प्रमित (परिमित = थोड़ा) भोजन तथा अधिक भोजन, तीक्ष्ण मद्य पीना, मैथुन करना, उपवास, शीत देश तथा शीत समय, व्यायाम (कसरत) करना, शोक, वायु का झोंका तथा धूप का सेवन ये सब वात से उत्पन्न होने वाले अर्श के विप्रकृष्ट कारण हैं ॥ २–३ ॥

***प्रमितं = परिमितं, तीक्ष्णमिति मद्यविशेषणम्, पैष्टिकादिमृदुमद्यस्य वातशामकत्वात्। आतपस्तूष्णवीर्योद्भूतरौक्ष्याद्वातप्रकोपे हेतुर्वातार्शसाम्।**

ननु अर्शांसि सर्वाणि त्रिदोषजानि यत आह—

***पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्। सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥२॥**

यहां पर 'प्रमित' पद का 'परिमित (थोड़ा)' अर्थ समझना चाहिये। 'तीक्ष्ण' इस पदको 'मद्य' का विशेषण समझना चाहिये। क्योंकि जौ आदि के आटे से बनी हुई मृदु मदिरा तो वायु का शमन करने वाली होती है, अतः तीक्ष्ण मदिरा पीना ही वातार्श होने का कारण होसक्ता है। और 'धूप का सेवन' धूप के उष्णवीर्य होनेसे उससे उत्पन्न हुई रूक्षता के कारण से वायु को प्रकुपित करने में कारण कहा गया है' यह और समझना चाहिये। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि-जितने अर्श हैं वे सभी त्रिदोष से उत्पन्न होने वाले होते हैं, क्योंकि अन्यत्र कहा भी है कि—

आन्तरिक अर्श (Internal Piles)—यह मध्य तथा तृतीय वलि में होने वाले जो अर्श कहे गये हैं उनके अन्तर्गत आसक्ता है।

वाह्य अर्श (External-piles) में प्रायः वात तथा कफ दोष की अधिकता होती है और आन्तरिक (Internal piles) में पित्तदोष या रक्त दोष की अधिकता होती है। क्योंकि वाह्य अर्श प्रायः शुष्क रहता है और आन्तरिक अर्श प्रायः स्रावयुक्त होता है।

जैसा कि भगवान् चरक ने भी शुष्क और आर्द्र भेद से दो प्रकार के अर्शभेद माने हैं और उन में उपर्युक्त प्रकार की ही दोषकल्पना करते हैं। यथा—

'वातश्लेष्मोल्बणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः।
स्रावीणि हि तथाऽऽर्द्राणि रक्तपित्तोल्बणानि च' ॥

'पांच प्रकार की वायु पित्त, कफ तथा गुदा की तीन बलियां ये सभी अर्श के उत्पन्न होने में प्रकुपित होती हैं (॥ २ ॥)

***तथा कथं वातार्शसामिति? उच्यते—तत्तदाधिक्याद्व्यपदेशभेद इति न दोषः। अत एवाग्रे वक्ष्यते वातोल्वणानामिति। तथा च चरकः—**

***अर्शांसि नाम जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः। दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कथ्यतेऽर्शसाम्॥**

अतः 'वात से उत्पन्न होने वाले अर्श के' यह वचन यहां पर कैसे कहा गया? उसके उत्तर में यह कहते हैं कि—यद्यपि उक्त वचन से सामान्य रूप से सभी अर्श त्रिदोषज होते हैं तथापि उनमें भी जिन २ अर्शों में जिन२ वातादिदोषों की अधिकता होती है उन्हीं २ के नाम से वह कहा जाता है अर्थात् वात की अधिकता होने से, वातज तथा पित्त की अधिकता होने से पित्तज इत्यादि कहा जाता है। अतः कोई दोष नहीं है। इसी से आगे वातसम्बन्धी अर्श को 'वातोल्बण (अधिक वात दोष वाला) के नाम से कहेंगे। और चरक ने भी कहा है कि—विना तीनों दोषों के संनिपात से अर्श नहीं उत्पन्न होते हैं। और उन दोषों में से जिसकी विशेष अधिकता रहती है उसी के नाम से वह 'वातजार्श' इत्यादि रूप से कहा जाता है (३) ॥ २-३ ॥

पित्तार्शसां विप्रकृष्टं निदानमाह—

कट्वम्ललवणोष्णानि व्यायामाग्न्यातपप्रभाः। देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम्॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णञ्च सर्वं पानान्नभोजनम्। पित्तोल्वणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम्॥

पित्तार्श के विप्रकृष्ट (दूर के) निदान—कटु, अम्ल तथा लवण रस युक्त पदार्थ का भोजन, उष्ण द्रव्य का स्पर्श आदि करना, व्यायाम (कसरत), अग्नि, धूप, अग्नि तथा धूपसे भिन्न तेजोयुक्त पदार्थ की प्रभा, अशिशिर देश (मरुभूमि) तथा अशिशिर समय (ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु), कोप, मद्यपान, असूया (दूसरे की सम्पत्ति में द्वेष), विदाही (दाह उत्पन्न करने वाला), तीक्ष्ण, तथा उष्णवीर्य जितने अन्न-पान हैं, उनका भोजन करना ये सब पित्त-प्रधान अर्श (पित्तार्श) के उत्पत्ति में कारण हैं ॥ ४-५ ॥

*** उष्णद्रव्यस्य स्पर्शनादि बोद्धव्यम्, उष्णपानभोजनस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। अग्न्यातपप्रभाः=अग्न्यातपयोः प्रभा तेजः, अथवा अग्न्यातपेतरतेजस्विद्रव्यस्य तेजोदीप्तिः= प्रभा। अशिशिरो देशो मरुरिति, शरद् ग्रीष्मश्च कालः। क्रोधः=कोपः। असूयनं=परसम्पत्तौ द्वेषः। प्रकोपे=उत्पत्तौ ॥ ४-५ ॥**

यहाँ पर प्रथम 'उष्ण' पद से 'उष्ण द्रव्य का स्पर्श आदि करना' अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि आगे अन्न-पान भोजनमें भी 'उष्ण' का पाठ है अतः यहां पर भोजन न समझना चाहिये।

'अग्न्यातपप्रभाः' पद का 'अग्नि तथा धूप के तेज का अथवा—अग्नि, धूप और अग्नि तथा धूप से भिन्न तेजस्वी पदार्थ के तेज की दीप्ति (प्रभा) का सेवन' यह अर्थ समझना चाहिये। 'अशिशिर देश' से 'मरुभूमि (मारवाड़ आदिक देश)'। 'अशिशिर काल' से 'शरद् तथा ग्रीष्म ऋतु'। 'क्रोध' से 'कोप' 'असूयन' पद से 'दूसरे की सम्पत्ति में द्वेष' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४-५ ॥

कफार्शसां विप्रकृष्टनिदानमाह—

मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च। अव्यायामदिवास्वप्नशय्याऽऽसनसुखे रतिः॥६॥
प्राग्वातसेवाशीतौ च देशकालावचिन्तनम्। श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कारणमर्शसाम्॥७॥

कफार्श के विप्रकृष्ट निदान—मधुर, स्निग्ध (घृतादिक), शीतल एवम् लवण तथा अम्ल रस युक्त और गुरु पदार्थ का भोजन, व्यायाम न करना-दिन में सोना-सुखकर शय्या तथा आसन में विशेष आसक्ति रखना, पूर्वीवायु अथवा संमुख वायु का सेवन, शीत देश तथा शीत-समय एवम् चिन्ता से रहित रहना ये सब कफार्श (कफ प्रधान अर्श) के विप्रकृष्ट निदान हैं ॥ ६-७ ॥

द्विदोषत्रिदोषार्शसां विप्रकृष्टनिदानमाह—

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वोल्वणानि च। सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम्॥ ८॥

द्विदोषज तथा त्रिदोषज अर्श के विप्रकृष्ट निदान—जिसमें दो दोषों के निदान तथा लक्षण के संयोग हों उसे द्विदोषज अर्श समझना चाहिये। अर्थात् वात-पित्तज, वात-श्लेष्मज तथा पित्त-श्लेष्मज अर्श समझना चाहिये। और वातजादिक तीनों अर्शों के जो पृथक् २ निदान हैं वे ही सब मिलकर त्रिदोषज अर्श के निदान होते हैं, किन्तु लक्षण सहजार्श के समान होते हैं, जो कि आगे लक्षण कहने के समय कहे जायगें। यह समझना चाहिये॥ ८॥

***जनकत्वेन त्रयो दोषा येषां तानि त्रिदोषाणि। तेषामर्शसां सर्वो हेतुः=पृथ.वातपित्त-कफार्शोहेतुः। त्रिदोषार्शोलक्षणं श्वासरुजाविबन्धैः सहजार्शोभिः समम्। ननु त्रिदोषाणा-मिति विशेषणं व्यर्थम्। यतः सर्व एव व्याधयस्त्रिदोषजाः। उक्तं च—**

द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः। एकस्तु कुपितो दोष इतरानपि कोपयेत्॥ इति॥

यहां पर 'त्रिदोषाणाम्' पद का 'तीनों दोष उत्पन्न करनेवाले हैं जिसके अर्थात् त्रिदोषज अर्श के' यह अर्थ समझना चाहिये। और 'सर्वो हेतुः' इन पदों का 'वात-पित्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाले वातजादिक तीनों अर्शों के जो पृथक् २ निदान हैं, वे ही सब मिल कर निदान होते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये।

त्रिदोषजार्श के लक्षण—श्वास, कास तथा मल-विबन्ध आदि के द्वारा सहजार्श के लक्षणों के समान समझना चाहिये।

अब यहां पर यह शङ्का होती है कि—यहां पर 'त्रिदोषाणाम्' अर्थात् अर्श का 'त्रिदोषज' यह विशेषण व्यर्थ में क्यों दिया गया है? क्योंकि सभी रोग तो त्रिदोषज ही होते हैं, इसी विषय में अन्यत्र कहा भी है कि—कोई द्रव्य केवल एक रस से युक्त नहीं होता है, और कोई रोग भी एक दोष से उत्पन्न हुआ नहीं होता है, अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य ही अनेक रसों से युक्त तथा सम्पूर्ण रोग ही त्रिदोष से युक्त होते हैं, और एक दोष सर्व-प्रथम कुपित होकर अन्य दोषों को प्रकुपित कर देता है अतः सभी रोग सभी दोषों के प्रकुपित होने से ही उत्पन्न होते हैं न कि एक दोष के प्रकुपित होने से।

***युक्तिमप्याह—'स्वकारणाद् वृद्धो वायुः शैत्यात्कफं लाघवात् तेजोरूपं पित्तं वर्द्धयते, तथा पित्तं कटुत्वाद् वातं, द्रवत्वात् कफं वर्द्धयते, कफश्च शैत्याद् वायुं, द्रवत्वात्पित्तं वर्द्धयते' इति। उच्यते—यत्र स्वस्वकारणात्त्रयो दोषाः कुप्यन्ति तत्र त्रिदोषजव्यपदेश इति न दोषः॥**

यहां पर युक्ति भी दिखलाते हुये कहते हैं कि—अपने कारणों से प्रथम कुपित हुआ वायु शैत्य गुण से कफ को तथा लघुता गुण से पित्त को भी कुपित करता है, और अपने कारणों से प्रथम कुपित हुआ पित्त अपनी कटुता गुण से वायु को तथा द्रव गुण से कफ को भी कुपित करता है, एवम् अपने कारणों से कुपित हुआ कफ अपने शैत्य गुण से वायु को तथा द्रवत्व गुण से पित्त को भी प्रकुपित करता है।

इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—जहां पर अपने २ कारणों से तीनों दोष एकत्र ही कुपित होकर रोग उत्पन्न करते हैं, वहां पर 'त्रिदोषज' इस नाम से वह दोष कहा जाता है, अतः त्रिदोषज रोग का पृथक् निर्देश करने में कहीं पर भी दोष नहीं समझना चाहिये॥ ८॥

अर्शसां पूर्वरूपमाह—

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च। कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता॥९॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्त्तिप्रशङ्का चोदरस्य च। पूर्वरूपं विनिर्दिष्टमर्शसामभिवृद्धये॥ १०॥

अर्श के पूर्वरूप—भोजन किये हुये अन्न का परिपाक न होने से उदर में विष्टब्धता, दुर्बलता,

उदर में दर्द के साथ साथ गुड़गुड़ शब्द होना, शरीर की कृशता, डकार अधिक आना, जांघों में बिना चले ही अधिक थकावट मालूम होना, थोड़ा मल उतरना, ग्रहणी, पाण्डु तथा उदरसम्बन्धी रोग उत्पन्न होने की आशङ्का होना, ये सब अर्श (गुदाङ्कुर) बढ़ने के पूर्व के लक्षण हैं ॥ ९-१० ॥

अर्शसां सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन्। मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगुः॥

अर्श के सम्प्राप्तिपूर्वक लक्षण—वातादि दोष-त्वचा, मांस तथा मेद को दूषित करके गुदा आदि स्थानों में जिन मांस के अङ्कुरों को उत्पन्न कर देते हैं, उन्हीं को वैद्यगण 'अर्श' कहते हैं ॥

***त्वङ्मांसपदेन त्वङ्मांसमाश्रितं रक्तमपि गृह्यते, किञ्चित्साधारणरक्तस्रावणोपदेशः। अपानं=गुह्यदेशः। आदिशब्देन नासानेत्रनाभिमेढ्रादिष्वपि कुर्वन्ति ॥ ११ ॥**

यहां पर 'त्वचा तथा मांस' पद का प्रयोग करने से उन दोनों के (त्वचा तथा मांस के) आश्रित रहने वाले रक्त की भी दूष्यों के मध्य में गणना की जाती है, इससे रक्त के भी दूषित होने से अर्श होना समझना चाहिये। क्योंकि साधारण रूप से अर्श में से किञ्चित् रक्त निकलवाने का उपदेश सुश्रुतादिक में भी मिलता है। और 'अपानादौ' पद में 'अपान' पद का 'गुदा' अर्थ समझना चाहिये, तथा 'आदि' पद से 'नाक, आँख, नाभि तथा लिङ्ग' इन स्थानों में भी अर्श होना समझना चाहिये ॥ ११ ॥

वातार्शोलक्षणमाह—

गुदाङ्कुरा बह्वनिलाः शुष्काश्चिमिचिमान्विताः।
म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विशदाः परुषाः खराः ॥ १२ ॥
मिथो विसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः। बिम्बीकर्कन्धुखर्जूरकर्कोटीफलसन्निभाः॥
केचित्कदम्बपुष्पाभाः केचित्सिद्धार्थकोपमाः। शिरःपार्श्वांसकट्यूरुवङ्क्षणाभ्यधिकव्यथाः १४
क्षवथूद्गारविष्टम्भहृद्रोगारोचकप्रदाः। कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनादभ्रमावहाः॥ १५ ॥
तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम्। रुक्फेनपिच्छाऽनुगतं विबद्धमुपवेश्यते ॥१६॥
कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रवक्त्रश्च जायते। गुल्मप्लीहोदराष्ठीलासम्भवस्तत एव च ॥ १७ ॥

वातार्श के लक्षण—वात की उल्वणतावाले अर्थात् वात से उत्पन्न हुये गुदा के अङ्कुर (मस्से) जो होते हैं वे—सूखे, चरचराने वाले, मुर्झाये हुये, धूयें के समान अथवा लाल रंग के कठिन पिच्छिलता से रहित, गौ की जिह्वा के समान स्पर्श में खरखरे, ककोड़े के फल के समान सूक्ष्म अनेक कांटों से भरे हुये, परस्पर एक दूसरे से भिन्न आकार वाले, टेढ़े, तीखे, फटे मुखवाले बिम्बी (कन्दूरी), वेर, खजूर, बांझककोड़ा के फल के समान होते हैं और उनमें से कोई कदम्ब के फूल के समान, कोई पीली सरसों के समान आकार वाले होते हैं, तथा रोगी के शिर, पसुली, कन्धा, कमर, जांघ और वङ्क्षण (जांघ की सन्धियों) में अधिक पीड़ा होती है, एवम् छींक, डकार, उदर में विष्टब्धता, हृद्रोग, अरुचि, खांसी, दमा, अग्नि की विषमता, कानों में शब्द होना, भ्रम ये सब रोग उत्पन्न होते हैं। और वातार्श से पीड़ित मनुष्य का मल गांठों से भरे हुए वत्ती के समान, थोड़ा २, शब्द सहित प्रवाहिका के लक्षणों से युक्त, पीड़ा के सहित, झागदार, चिकनाहट लिये हुए पतला तथा बँधा हुआ सा उतरता है। और त्वचा, नख, मल, मूत्र, नेत्र तथा मुख ये सब काले हो जाते हैं, और अन्त में उसी से (वातार्श से ही) गुल्म, प्लीहा, उदर रोग तथा अष्ठीला भी उत्पन्न हो जाता है ॥१२-१७॥

***बह्वनिलाः=वातोल्वणाः। गुदाङ्कुराः=अर्शांसि। चिमिचिमाऽन्विताः=चिमिचिमा व्यथाविशेषः 'चरचरा' इति लोके, तदन्विताः। श्यावारुणाः=श्यावा धूम्रवर्णाः, अरुणवर्णा वा। स्तब्धाः=कठिनाः। विशदाः=अपिच्छिलाः। परुषाः=गोजिह्वावत्खरस्पर्शाः। खराः=कर्कशाः, कर्कोटीफलवत्सूक्ष्मानेककण्टकचिताः। बिम्ब्यादिफलसन्निभा आकृत्या। अत्र विकल्पबोधकं वक्ष्यमाणं केचित् केचिदितिपदं प्रतिसम्बन्धनीयम्। कदम्बपुष्पा-**

भाः = स्थिरानेकसूक्ष्मशिखराः । सिद्धार्थकोपमाः = पीतसूक्ष्मपिडकाचिताः । 'तैरार्त'- इत्यर्शोभिः पीडितः । 'तैरार्तो विड्वद्धमुपवेश्यते' इत्यार्त्तस्य प्रयोज्यकर्तुः कर्मता, आर्षत्वात् । ग्रथितं = मलगुटिकाग्रन्थिवद्विड्वर्त्तिरूपम् । पिच्छा = पिच्छिलो द्रवभागः । बद्धं संहतम् । विट्शब्दो नपुंसकोऽप्यस्ति । उपवेश्यते = त्याज्यते । तत एव = वातार्शस एव । गुल्मादीनां सम्भवः । अष्ठीला = नाभेरधोभागे पाषाणपिण्डिकावद्वातव्याधिविशेषः ॥

यहां पर 'बहुनिलाः' पद का 'वात की उल्बणता वाले', । 'गुदाङ्कुराः' पद का 'अर्श अर्थात् मस्से' । 'चिमिचिमाऽन्विताः' पद का 'चरचराने वाले' । 'श्यावारुणाः' पद का 'धूयें के समान अथवा लाल रङ्ग के' । 'स्तब्धाः' पद का 'कठिन' । 'विशदाः' पद का 'पिच्छिलता से रहित' । 'परुषाः' पद का 'गौकी जिह्वा के समान स्पर्श में खरखरे' । 'खराः' पद का 'ककोड़े के फल के समान सूक्ष्म अनेक कांटों से भरे हुए' । 'बिम्बीकर्कन्धुखर्जूरकर्कोटीफलसंनिभाः' पद का 'आकार में बिम्बी आदि के फलों के समान' अर्थ समझना चाहिये । और यहां पर विकल्पबोधक 'केचित्' इस पद की आवृत्ति (दुबारा पाठ) होने से पीछे के भी बिम्बी आदि प्रत्येक पदों के साथ इसका सम्बन्ध करना चाहिये । 'कदम्बपुष्पाभाः' इस पद का 'कदम्ब के फूलोंके समान स्थिर अनेक सूक्ष्म शिखरों से युक्त' । 'सिद्धार्थकोपमाः' पद का 'पीली सरसों के समान पीला-पीला सूक्ष्म फुंसियों से युक्त' । 'तैरार्तः' इन पदों का 'वातार्श से पीडित' अर्थ समझना चाहिये । तथा 'तैरार्त्तो विड्बद्धमुपवेश्यते' इस स्थल पर प्रयोज्यकर्त्ता 'आर्त्त' को जो कर्म मानकर 'उपवेश्यते' पद में कर्म में 'यक्' प्रत्यय करने से कर्म उक्त होने से प्रथमान्त 'आर्त्त' पद का प्रयोग किया गया है, उसे आर्ष समझना चाहिये क्योंकि वहां पर वस्तुतः 'आर्त्तेन' होना चाहिये । 'ग्रथितम्' पद का 'गांठों से भरे हुये वत्ती के समान' । 'पिच्छा' पद का 'चिकनाहट लिये हुये पतला' 'बद्ध' पद का 'बंधा हुआ' अर्थ समझना चाहिये ।' और यहां पर 'विट्' शब्द का 'बद्ध' आदि विशेषण शब्दों के साथ अन्वय होने से उसे नपुंसकलिङ्ग मानना उचित है । 'उपवेश्यते' पद का 'उतरता है' । 'अष्ठीला' पद से 'नाभि के नीचे भाग में पत्थर के गोले की भांति आकार वाला वात-सम्बन्धी रोगविशेष समझना चाहिये ॥ १२-१७ ॥

पित्तार्शोलक्षणमाह—

पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः । तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः ॥१८॥
शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसन्निभाः । दाहपाकज्वरस्वेदतृण्मूर्च्छाऽरतिमोहदाः ॥१९॥
सोष्माणो द्रवनीलोष्णपीतरक्तामवर्चसः । यवमध्या हरित्पीतहारिद्रत्वङ्नखादयः ॥२०॥

पित्तार्श के लक्षण—प्रधान रूप से पित्तजन्य अर्श रोगी के जो मस्से होते हैं, वे नीलमुख वाले और लाल-पीले या काले रङ्ग के होते हैं, उनसे पतले रक्त निकलते रहते हैं तथा वे दुर्गन्धयुक्त, पतले, कोमल एवम् लटकने वाले होते हैं, और उनमें से कोई तोते की जिह्वा के समान कोई यकृत् (कलेजे) के टुकड़े के समान तथा कोई जोंक के मुखके समान आकृति वाले होते हैं । और उनमें दाह होता है तथा उनसे रोगी के गुदा का पाक, ज्वर, पसीना निकलना, प्यास लगना, मूर्च्छा तथा बेचैनी ये सब उपद्रव होते हैं । और वे स्पर्श में उष्ण तथा जौ की भांति मध्य भाग में मोटे तथा आदि अन्त में क्रम २ से उत्तरोत्तर पतले होते हैं । एवम् उनसे रोगी का मल पतला, नीला, उष्ण, पीला, लाल तथा आमयुक्त निकलने लगता है और त्वचा तथा नख आदि शाक के समान हरे या हरताल के समान पीले वा हरदी के समान वर्ण के हो जाते है ॥ १८-२० ॥

तनु = अघनम् । श्लथाः = लम्बिनः । सन्निभा आकृत्या । पाको गुदस्य । सोष्माणः= उष्णस्पर्शाः । हरित् = शाकवर्णम् । पीतं = हरितालवर्णम् । हारिद्रं=हरिद्रावर्णम् । आदिशब्दान्मलमूत्रपुरीषाणां ग्रहणम् ॥ १८–२० ॥

यहां पर 'तनु' पद का 'पतले'। 'श्लथ' पद का 'लटकने वाले'। 'सन्निभ' पद का 'समान आकृतिवाले' अर्थ समझना चाहिये। और 'पाक' पद का 'गुदा का पाक'। 'सोष्माणः' पद का 'स्पर्श में उष्ण'। 'हरित्' पद का 'शाक के समान हरे'। 'पीत' पद का 'हरताल के समान पीले'। 'हारिद्र' पद का 'हरदी के समान वर्ण के' अर्थ समझना चाहिये। और 'नख आदिक' यहां पर 'आदि' पद से 'मुख, नेत्र, मूत्र तथा मल' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १८-२० ॥

पित्तोत्तरभेदरक्तार्शोलक्षणमाह—

रक्तोल्वणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः। वटप्ररोहसदृशा गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः ॥२१॥
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविट्कप्रपीडिताः। स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः ॥२२॥
भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसम्भवैः। हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः ॥२३॥
विट् श्यावं कठिनं रूक्षमधोवायुर्न वर्त्तते। तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम् ॥ २४ ॥
कट्यूरुगुदशूलञ्च दौर्बल्यं यदि चाधिकम्। तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम् ॥२५॥
शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम्। यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत्पाण्डुपिच्छिलम्॥
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम्। श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ॥

पित्तप्रधान अर्श के भेद रक्तार्श के लक्षण—रक्त के प्रकोप से जो गुदा में अर्श (मस्से) निकलते हैं, वे पूर्वोक्त पित्तार्श रोगी के मस्सों के समान लक्षणों से युक्त होते हैं, और आकार में वर के अङ्कुर (बरोह) के समान होते हैं तथा गुञ्जा (रत्ती) या विद्रुम के समान लालवर्ण के होते हैं। और वे मस्से जब कड़े मल के निकलने से अत्यन्त दब जाते हैं, तब उनसे अधिक परिमाण में दूषित तथा उष्ण रक्त सहसा निकलने लगता है, और उस रक्त के अत्यन्त निकलने से रोगी का वर्ण पीले मेंढे के समान पीला हो जाता है और वह रक्तक्षय होने से उत्पन्न होने वाले रोगों से पीड़ित होता है। तथा वर्ण, बल और उत्साह से हीन होता है एवम् उसका ओज नष्ट हो जाता है और इन्द्रियां व्याकुल हो जाती हैं, तथा मल-श्याव (धूयें के समान) वर्ण का, कठिन और रूक्ष निकलता है। एवम् अधोवायु नहीं निकलती है।

और रक्तार्श होने में यदि रूक्षता कारण हो तथा रक्त पतला, लाल वर्ण का, फेन से युक्त निकलता हो और रक्तार्श रोगी के कमर, जङ्घा तथा गुदा में पीड़ा होती हो, एवम् शरीर में दुर्बलता अधिक प्रतीत होती हो तो रक्तार्श में वायु का अनुबन्ध भी समझना चाहिये।

और यदि रक्तार्श गुरु तथा स्निग्ध पदार्थों के सेवन से उत्पन्न हुआ हो, एवम् मल यदि शिथिल सफेद या पीले वर्ण का, स्निग्ध, गुरु और शीतल हो, तथा रक्त यदि गाढ़ा, तन्तुयुक्त, पाण्डुवर्ण का तथा चिकना हो और गुदा का मार्ग भी चिकना तथा स्तब्ध हो तो उसमें कफ का अनुबन्ध समझना चाहिये ॥ २१-२७ ॥

***गुदे कीलाः=अर्शांसि। पित्ताकृतिसमन्विताः=पित्तार्शोलक्षणयुक्ताः। आकारेण च वटप्ररोहसदृशाः। दुःखैः=रोगैस्त्वक्पारुष्याम्बुशीतप्रार्थनाऽऽदिभिः कलुषेन्द्रियः=व्याकुलसर्वेन्द्रियः। रक्तस्यापि वातोल्वणस्य लक्षणमाह—असृगर्शसां=रक्तार्शसाम्। तत्र=रक्तार्शसि। अनुबन्धः=उल्वणत्वम्। रूक्षं रूक्षयतीति रूक्षणम्=रूक्षद्रव्यम्। पित्तोल्वणस्य तु लक्षणम्—**

'रक्तोल्वणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः'।

इत्यादिनैवोक्तं रक्तपित्तयोः समानलिङ्गत्वात् ॥ २१—२७ ॥

यहां पर 'गुदे कीलाः' पद का 'अर्श अर्थात् मस्से'। 'पित्ताकृतिसमन्विताः' पद का 'पित्तार्श रोगी के मस्सों के समान लक्षणों से युक्त होते हैं'। 'दुःखैः' पद का 'रोगों से अर्थात् त्वचा का कठोर हो जाना, जल पीने के लिये प्रार्थना करना, शीत की इच्छा होना आदि रोगों से'। 'कलुषेन्द्रियः' पद का 'इन्द्रियां व्याकुल हो जाती हैं' यह अर्थ समझना चाहिये। और वायु का जिसमें अनुबन्ध

है, ऐसे रक्तार्श रोगी के रक्त का लक्षण मूल में 'तनु चारुणवर्णं च' इत्यादि से समझना चाहिये। 'असृग्दर्शसान्' पद का 'रक्तार्श का'। 'तत्र' पद का 'रक्तार्श में'। 'अनुबन्ध' पद का 'उल्वणता'। 'रूक्षणम्' पद का 'रूक्षता उत्पन्न करने वाला रूक्षपदार्थ' यह अर्थ समझना चाहिये। पित्तोल्वण रक्तार्श का लक्षण यहां पर जो नहीं कहा गया, उसमें कारण यह समझना चाहिये कि— 'रक्तोल्वणे गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः' इत्यादि पदों से पूर्व ही पित्तार्श के लक्षणों के समान रक्तार्श के लक्षण होते हैं, यह जो कह आये हैं उसीसे समझ लेना चाहिये, क्योंकि रक्त तथा पित्त के समान लक्षण या कारण होते हैं ॥ २१-२७ ॥

कफोल्वणार्शोलक्षणमाह—

श्लेष्मोल्वणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः। उत्सन्नोपचिताः स्निग्धाः स्तब्धवृत्तगुरुस्थिराः॥
पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः।
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः ॥ २९ ॥
वङ्क्षणानाहिनः पायुबस्तिनाभिविकर्षिणः। सकासश्वासहृल्लासप्रसेकारुचिपीनसाः ॥ ३० ॥
मेहकृच्छ्रशिरोजाड्यशिशिरज्वरकारिणः। क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः ॥ ३१ ॥
वसाभसकफप्राज्यपुरीषाः सप्रवाहिकाः। न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डुस्निग्धत्वगादयः ॥३२॥

कफोल्वण अर्श के लक्षण—कफ की प्रधानता से उत्पन्न होने वाले जो अर्श (मस्से) होते हैं, उनकी जड़ बड़ी गहराई में होती है, घने, थोड़ी पीड़ा देने वाले, सफेद वर्ण के, ऊंचे तथा मोटे, स्निग्ध (तैल से चुपड़े हुये के समान), स्तब्ध (नहीं झुकने वाले), गोले, गुरु, स्थिर, पिच्छिल, स्तिमित (गीले चर्म से ढँके हुये के समान), मणि की भाँति चिकने, खुजली से युक्त, स्पर्श करने में प्रिय लगने वाले, बांस के अंकुर कटहर के बीज या मुनक्का के समान आकार वाले होते हैं तथा कफार्श रोगी के दोनों वङ्क्षणों (ऊरुसन्धियों) में बांधने के समान पीड़ा होती है। और गुदा, वस्ति तथा नाभि में खींचने के समान पीड़ा होती है। एवम् खांसी, दमा, उबकाई, मुख से पानी गिरना, अरुचि, पीनस, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, मस्तक में शीत लग जाने के समान जड़ता, शीतज्वर, नपुंसकता (स्त्री-सङ्ग करने की इच्छा न होना), अग्नि की मन्दता, वमन, अधिक आम वाले अतीसार, ग्रहणी आदिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। और मल—प्रवाहिका के लक्षणों से युक्त चर्बी के समान कान्ति वाला तथा कफ से लिपटा हुआ अधिक मात्रा में निकलता है। एवम् कफार्श रोगी के मस्सों से न तो रक्तादि का कुछ स्राव होता है और न वे विदीर्ण ही होते हैं। और रोगी की त्वचा आदि पाण्डु वर्ण की तथा तैल से चुपड़ी हुई की भांति स्निग्ध हो जाती है ॥ २८-३२ ॥

***उत्सन्नाः=उन्नताः। उपचिताः=स्थूलाः। स्निग्धाः=स्नेहाभ्यक्ताः। स्थिराः=निश्चलाः। पिच्छिलाः कफोल्वणत्वात्। स्तिमिताः=आर्द्रचर्मावगुण्ठिता इव। श्लक्ष्णाः=मणिवन्मसृणाः। करीरः=वंशाङ्कुरः। पनसास्थिगोस्तनास्तदाकृतयः। वङ्क्षणानाहिनः=वङ्क्षणयोरानाहकारिणः। पाय्वादिष्वाकर्षणवत्पीडाकारिणः। कृच्छ्रं=मूत्रकृच्छ्रम्। शिरोजाड्यं=शिरोभागे शीताक्रान्तत्वमिव। क्लैब्यं=स्त्रीष्वनिच्छा। अत्र छर्दिःशब्दः सान्त आर्षत्वाद्। आमप्रायविकारदाः=आमबहुला व्याधयोऽतीसारग्रहण्यादयस्तान् ददाति ॥ २८-३२ ॥**

यहां पर 'उत्सन्नाः' पद का 'ऊंचे'। 'उपचिताः' पद का 'मोटे'। 'स्निग्धाः' पद का 'तैल से चुपड़े हुये के समान'। 'स्थिराः' पद का 'निश्चल' यह अर्थ समझना चाहिये। और कफ की उल्वणता से पिच्छिल होना समझना चाहिये। 'स्तिमिताः' पद का 'गीले चर्म से ढँके हुये के समान'। 'श्लक्ष्णाः' पद का 'मणि के समान चिकने'। 'करीर' पद का 'बांस के अंकुर'। 'कृच्छ्र' पद का 'मूत्रकृच्छ्र'। 'शिरोजाड्यम्' पद का 'मस्तक में शीत लग जाने के समान जड़ता'। 'क्लैब्यम्' पद का 'स्त्रीसङ्ग करने की इच्छा न होना' यह अर्थ समझना चाहिये। और सकारान्त 'छर्दिः' शब्द का जो यहां प्रयोग किया गया है, वह आर्ष (ऋषि-प्रणीत) होने से शुद्ध ही समझना चाहिये, वस्तुतः छर्दि शब्द इकारान्त ही है। 'आमप्रायविकारदाः' पदका

'अधिक आम वाले अतिसार-ग्रहणी आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

द्वन्द्वजार्शोलक्षणमाह—

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वोल्बणानि च ॥ ३३ ॥

द्वन्द्वज अर्श के लक्षण—जिस अर्श में दोषों के हेतु तथा लक्षण एकत्र मिलते हों उसे द्वन्द्वोल्बण अर्थात् द्वन्द्वज अर्श समझना चाहिये ॥ ३३ ॥

त्रिदोषोल्बणस्वाभाविकार्शोलक्षणमाह—

सर्वैः सर्वात्मकान्याहुर्लक्षणैः सहजानि च ॥ ३४ ॥

त्रिदोषोल्बण तथा सहज अर्श के लक्षण—पूर्व में कहे हुये वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाले अर्श के लक्षणों के एकत्र सङ्घटित होने से त्रिदोषोल्बण (त्रिदोषज) अर्श समझना चाहिये, और इसी त्रिदोषज के समान ही सहज अर्श के भी लक्षण जानना चाहिये ॥ ३४ ॥

***सर्वैर्लक्षणैः = वातपित्तकफार्शोलक्षणैः प्रागुक्तैः । सर्वात्मकान्यर्शांस्याहुः । तथा तैरेव लक्षणैः सहजान्यर्शांस्याहुः ॥ ३४ ॥**

यहां पर 'सर्वैर्लक्षणैः' पदों का 'पूर्व में कहे हुये वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाले अर्श के लक्षणों के एकत्र संघटित होने से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

अन्यग्रन्थोक्तस्वाभाविकार्शोऽन्यलक्षणमाह—

अर्शांसि सहजातानि दारुणानि भवन्ति हि । दुर्दर्शनानि पाण्डूनि परुषाण्यरुणानि च ॥
अन्तर्मुखाणि तैरार्त्तः क्षीणः क्षीणस्वरो भवेत् । क्षीणानलः क्षीणरेताः शिरासन्ततविग्रहः ॥
अल्पप्रजः क्रोधशीलो भग्नकांस्यस्वनान्वितः । शिरोदृक्कर्णनासासु रोगो हृल्लेपसेकवान् ॥

अन्य ग्रन्थोक्त स्वाभाविक (सहज) अर्श के अन्य लक्षण—सहज (जन्म से ही उत्पन्न हुये) जो अर्श होते हैं; वे दारुण, देखने में भयङ्कर, पाण्डु वा लाल वर्ण के, कर्कश तथा गुदा के अन्दर मुख वाले होते हैं, और उन से पीड़ित होने पर रोगी का शरीर, स्वर, अग्नि तथा वीर्य ये सब क्षीण हो जाते हैं एवम् शरीर केवल शिराओं से व्याप्त दिखाई पड़ता है । और उसके सन्तान थोड़ी होती है । वह क्रोधी होता है । उस का स्वर फूटे हुये कांसे के वर्तन के शब्द के समान हो जाता है, और शिर, नेत्र कान तथा नाक इन में रोग उत्पन्न हो जाता है, हृदय कफ से लिपटे हुये के समान प्रतीत होता है और मुख से बारम्बार पानी निकलता है ॥ ३५-३६ ॥

सुखसाध्यार्शोलक्षणमाह—

बाह्यायां तु बलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च । अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च॥

सुखसाध्य अर्श के लक्षण—जो अर्श बाहर की (संवरणा नामक) वलि में प्रधान रूप से एक दोष के कुपित होने से उत्पन्न हुये हैं तथा जिनको उत्पन्न हुये एक वर्ष से अधिक नहीं हुये हैं, उन्हें सुखसाध्य (उपचार से शीघ्र नष्ट होने वाले) समझना चाहिये ॥ ३७ ॥

***बाह्यायां बलौ = संवरण्याम् । न चिरोत्पतितानि = अनतिक्रान्तसंवत्सराणि । एतानि लक्षणानि मिलितानि सुखसाध्यत्वबोधकानि ॥ ३७ ॥**

यहां पर 'बाह्यायां बलौ' इन पदों को 'बाहर की संवरणी नामक वलि में' । 'न चिरोत्पतितानि' पदों का 'जिन को उत्पन्न हुये एक वर्ष से अधिक नहीं हुये हैं' यह अर्थ समझना चाहिये । और ये सब लक्षण मिल करके ही अर्श की सुखसाध्यता के बताने वाले होते हैं, न कि पृथक् २' यह और समझ लेना चाहिये ॥ ४७ ॥

कष्टसाध्यार्शोलक्षणमाह—

द्वन्द्वजानि द्वितीयायां बलौ यान्याश्रितानि च । कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च॥

कष्टसाध्य अर्श के लक्षण—जो अर्श प्रधान रूप से दो दोषों के प्रकोप से वा विसर्जनीनाम दूसरी वलि में उत्पन्न हुये हों तथा जिन्हें उत्पन्न हुये एक वर्ष से अधिक हुये हों, वे कष्टसा

अर्थात् बड़ी कठिनता से चिकित्सा द्वारा नष्ट होने वाले कहे हुये हैं ॥ ३८ ॥

***द्वितीयायां वलौ = विसर्जन्याम् । परिसंवत्सराणि = परिगतः संवत्सरो येषां तान्यतीतसंवत्सराणीति यावत् । एतानि प्रत्येकं कष्टसाध्यलक्षणानि ॥ ३८ ॥**

यहां पर 'द्वितीयायां वलौ' इन पदों का 'विसर्जनीनामक दूसरी वलि में'। 'परिसंवत्सराणि' पद का 'जिन्हें उत्पन्न हुये एक वर्ष से अधिक हुये हों' यह अर्थ समझना चाहिये। और इन लक्षणों में से प्रत्येक लक्षण अर्श की कष्टसाध्यता के द्योतक समझना चाहिये ॥ ३८ ॥

असाध्यार्शोलक्षणमाह—

सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम् ।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥ ३९ ॥

असाध्य अर्श के लक्षण—जो अर्श सहज अर्थात् जन्म से ही उत्पन्न हुये होते हैं या तीनों दोषों के प्रकोप से उत्पन्न हुये वा भीतर की प्रवाहणी नामक वलि में उत्पन्न हुये होते हैं, वे असाध्य कहलाते हैं ॥ ३९ ॥

***अभ्यन्तरां वलिं = प्रवाहणीम् । एतान्यपि प्रत्येकमसाध्यानि लक्षणानि ॥ ३९ ॥**

यहां पर 'अभ्यन्तरां वलिम्' इन पदों का 'भीतर की प्रवाहणी नामक वलि में उत्पन्न हुये' यह अर्थ समझना चाहिये। और इन लक्षणों में से प्रत्येक लक्षण अर्श की असाध्यता के द्योतक होते हैं। यह भी समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

याप्यार्शोलक्षणमाह—

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्वये । याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥

याप्य अर्श के लक्षण—रोगी की आयु शेष रहने तथा चिकित्सा के चारों पाद ठीक होने पर अत्यन्त प्रदीप्त जठराग्निवाले रोगी के ऊपर कहे हुये असाध्य अर्श, याप्य (जब तक चिकित्सा की जाय तब तक नहीं दुःख देने वाले) होते हैं। इससे अन्यथा होने पर चिकित्सा करने के अयोग्य होते हैं ॥ ४० ॥

***यद्यायुःशेषो वर्त्तते, चिकित्सायाश्चत्वारः पादास्ते यथा—वैद्यवचनकारी धनवानुदारो जितेन्द्रियो रोगी । शस्त्रकर्मणि कुशलो वैद्यः । अनलस आप्तः प्रियः परिचारकः । नवरसवीर्याधिकमौषधम् । एषां समन्वये = समागमे । अतिदीप्तकायाग्नेः = पुरुषस्य, तानि = अर्शांसि याप्यन्ते चिकित्सायाम् । अतोऽन्यथा प्रत्याख्येयानि = चिकित्साहीनानीत्यर्थः ॥ ४० ॥**

यहां पर स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि—यदि रोगी की आयु शेष है और चिकित्सा के चार पाद—

१ वैद्य के वचनानुसार कार्य करने वाला, धनवान् , उदार (धन खर्च करने में कृपणता नहीं करने वाला), जितेन्द्रिय रोगी।

२ शस्त्र कर्म में तथा आयुर्वेदशास्त्र में निपुण वैद्य।

३ आलस्य नहीं करने वाला, यथार्थ बात करने वाला (विश्वासपात्र) तथा प्रिय सेवक।

४ नवीन रस तथा वीर्य आदि से युक्त औषध।

इन सबों का समागम है अर्थात् ये सब ठीक हैं, एवम् रोगी की जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त है तो उसके असाध्य अर्श याप्य होते हैं। इससे अन्यथा अर्थात् उक्त चारों पादों के ठीक न होने पर चिकित्सा के अयोग्य होते हैं, अर्थात् चिकित्सा करने से दूर नहीं होते ॥ ४० ॥

अर्शोरिष्टमाह—

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा । शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ॥

अर्श के अरिष्टसूचक लक्षण—जिस अर्शरोगी के हाथ, पैर, मुख, नाभि, गुदा, अण्डकोश इनमें शोथ हो तथा हृदय और पसुलियों में शूल हो तो उसको मरण के सन्निकट पहुँचा हुआ समझना चाहिये ॥ ४१ ॥

ॐअसाध्यः=सन्निहितमरणो बोध्यः । अर्शसः=अर्शोरोगयुक्तः ॥ ४१ ॥

यहां पर 'असाध्य' पद का 'मरणके संनिकट पहुंचा हुआ' अर्थ समझना चाहिये। तथा 'अर्शस' पद का 'अर्श रोग युक्त अर्थात् अर्शरोगी' अर्थ समझना चाहिये ॥ ४१ ॥

हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः । तृष्णा गुदाऽऽस्यपाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥४२॥

और जिस अर्शोरोगी के हृदय तथा पसुलियों में शूल होता हो और मोह, वमन, अङ्गों में पीड़ा, ज्वर तथा अधिक प्यास ये सब लक्षण प्रगट हों, एवम् गुदा का ओष्ठभाग पक गया हो तो उसकी मृत्यु निश्चित समझनी चाहिये ॥ ४२ ॥

ॐगुदस्य चास्यमोष्ठदेशस्तस्य पाकः । हृत्पार्श्वशूलादि समस्तं चारिष्टलक्षणम् ॥४२॥

यहां पर 'गुदास्यपाकः' पद का 'गुदा का ओष्ठभाग पकगया हो' यह अर्थ समझना चाहिये। तथा हृदय और पसुलियों में शूल होना आदि जो लक्षण कहे गये हैं, वे सभी यदि एक साथ प्रगट हों तभी अरिष्टसूचक होते हैं न कि पृथक् २ । इसी भांति पूर्व श्लोक में भी समझना चाहिये ॥४२॥

तृष्णाऽरोचकशूलार्त्तमतिप्रस्रुतशोणितम् । शोथातीसारसंयुक्तमर्शांसि क्षपयन्ति हि ॥४३॥

जो अधिक प्यास, अरुचि, शूल इन रोगों से पीडित हो या जिसका अधिक रक्तस्राव हुआ हो एवम् जो शोथ तथा अतीसार से युक्त हो तो ऐसा अर्शरोगी शीघ्र मर जाता है ॥ ४३ ॥

लिङ्गाद्यर्शोलक्षणमाह—

मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं नाभिजानि च । गण्डूपदास्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च ॥

लिङ्ग आदि स्थानों में उत्पन्न होने वाले अर्श के लक्षण—लिङ्ग आदि अवयवों में भी अपने २ दोषों के अनुसार लक्षणों से युक्त तथा नाभि में भी अर्श उत्पन्न होते हैं। जो कि आकार में केंचुये के समान एवम् कोमल तथा पिच्छिल होते हैं ॥ ४४ ॥

ॐयथास्वं=यथाऽऽत्मीयलक्षणम् । न चात्रोक्तनिदानपूर्वकं सम्प्राप्तिलक्षणं युक्तम् । तत्रार्शसपदन्तु मांसाङ्कुरसाम्यात् । गण्डूपदः=किञ्चुलकः ॥ ४४ ॥

यहां पर 'यथास्वम्' पद का 'अपने २ दोषों के अनुसार लक्षणों से युक्त' यह अर्थ समझना चाहिये। और यहां पर 'पूर्व में कहे हुए अर्शों की भांति निदानपूर्वक सम्प्राप्ति तथा लक्षण इन सभों के नहीं समझने चाहिये। तथा मांस के अङ्कुर ही अर्श होते हैं अतः इसी की समानता देख कर यहां पर भी अर्श पद का प्रयोग किया गया है' यह और समझना चाहिये। तथा 'गण्डूपद' का 'केंचुआ' अर्थ समझना चाहिये ॥ ४४ ॥

चर्मकीलस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो बहिः । कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं तु तद्विदुः ॥

चर्मकील के सम्प्राप्तिपूर्वक लक्षण—व्यान नामक सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहने वाली वायु कफ को लेकर उसके आश्रय से चर्म के ऊपर स्थिर तथा कड़े जो कील की भांति अर्श (मांस के अङ्कुर) उत्पन्न करता है, उसे वैद्य लोग 'चर्मकील' कहते हैं ॥ ४५ ॥

ॐअथ मांसाङ्कुरसाम्यादत्राधिकारे चर्मकीलस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—व्यान इति । खरं=कर्कशम् ॥ ४५ ॥

यहां पर 'यह श्लोक अर्श की भांति मांस के अङ्कुर की समानता होने से इस अर्शोऽधिकार में चर्मकील की 'सम्प्राप्तिपूर्वक लक्षण कहने के लिये कहा गया है'। तथा 'खर' पद का 'कर्कश (कठोर)' अर्थ समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

चर्मकीलस्य वातादिभेदेन लक्षणमाह—

वातेन तोदपारुष्यं पित्तादसितरक्तता । श्लेष्मणा स्निग्धता तस्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥४६॥

वातादि भेद से चर्मकील के लक्षण—वात से उत्पन्न हुये चर्मकील में सूची चुभने की-सी पीड़ा तथा कठोरता होती है। और पित्त से उत्पन्न हुये चर्मकील का वर्ण अत्यन्त लाल होता है एवम् कफ से उत्पन्न हुये चर्मकील स्निग्ध, गांठदार तथा शरीर के समान वर्ण वाले होते हैं ॥४६॥

*सवर्णता = शरीरसमानवर्णता ॥ ४६ ॥

यहां पर 'सवर्णता' पद का 'शरीर के समान वर्णवाले' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४६ ॥

अर्शःसामान्यचिकित्सामाह—

यद्वातस्यानुलोम्याय यदग्निवलवृद्धये । अन्नपानौषधं सर्वं तत्सेव्यं नित्यमर्शसैः ॥४७॥

अर्श की सामान्य चिकित्सा—जो वायु के अनुलोमन करने वाले तथा अग्नि के वल की वृद्धि करने वाले अन्न-पान तथा औषधें हैं, उन सवों का नित्य सेवन करना अर्श रोग से युक्त मनुष्यों के लिये उचित है ॥ ४७ ॥

*अर्शसैः = अर्शोरोगयुक्तैः ॥ ४७ ॥

यहां पर 'अर्शस' पद का 'अर्श रोग से युक्त मनुष्य' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४७ ॥

शालिषष्टिकगोधूमयवान्नानि घृतैः सह । अजाक्षीरेण वा निम्बपटोलानां रसेन वा ॥४८॥
वार्त्ताकुमूलजैः कान्दे रसैर्मांसरसेन वा । जीवन्त्युपोदिकाशाकैस्तण्डुलीयकवास्तुकैः ॥४९॥
अन्यैश्च सृष्टविण्मूत्रमरुद्भिर्वह्निदीपनैः । अर्शांसि भिन्नवर्चांसि हन्याद्वातातिसारवत् ॥५०॥

और शालि-(जड़हन) तथा साठी धान्य का चावल, गेहूँ तथा जौ इन सव अन्नों को घी के साथ या वकरी के दूध वा नीम और परवल इनमें से किसी एक के रस के साथ अथवा वैंगन जमींकन्द, तथा मूली के रस के साथ वा मांसरस (शोरुवा) के साथ या जीवन्ती, पोई, चौलाई और वथुआ के शाक के साथ किं वा इनके अतिरिक्त मल-मूत्र तथा वायु का प्रवर्त्तन करने वाले एवम् अग्निदीपक द्रव्यों के साथ भी अर्श रोगी को भोजनार्थ देना चाहिये। और यदि अर्श रोगी का मल पतला निकलता हो तो वातातीसार की भांति चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४८-५० ॥

सतक्रं लवणं दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनम् । न प्ररोहन्ति गुदजाः पुनस्तक्रसमाहताः ॥५१॥
तक्राभ्यासोऽर्शसैः कार्यो वलवर्णाग्निवृद्धये । स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु सम्यक् सरति तद्रसः ॥
तेन पुष्टिस्तथा तुष्टिर्वलं वर्णश्च जायते । वातश्लेष्मविकाराणां शतञ्च विनिवर्त्तते ॥ ५३ ॥

अर्श रोग में तक्र का प्रयोग—सेंधानमक के साथ तक्र देने से अर्श रोगी के वायु तथा मल का अनुलोमन होता है और तक्र-प्रयोग से नष्ट हुये अर्श (मस्से) पुनः नहीं निकलते हैं। अत एव अर्श रोगियों को वल, शरीर की कान्ति तथा अग्नि की वृद्धि के लिये तक्र पीने का नित्य अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि तक्र से स्रोतों-मार्गों की शुद्धि होने पर उनमें रस का भली भांति सञ्चार होने लगता है, जिससे शरीर की पुष्टि, प्रसन्नता, वल तथा वर्ण की वृद्धि होती है और सैकड़ों वात तथा कफ सम्वन्धी रोग दूर होते हैं ॥ ५१-५३ ॥

करञ्जादिचूर्णम्—

चिरविल्वाग्निसिन्धूत्थनागरेन्द्रयवारलु । तक्रेण पिवतोऽर्शांसि निपतन्त्यसृजा सह ॥५४॥

करञ्जादि चूर्ण—करञ्ज की मींगी, चीते की जड़, सेंधानमक, सोंठ, इन्द्रजौ और सोनापाठा की छाल इन सवों को समान भाग में लेकर चूर्ण वनाकर तक्र के साथ मिला कर पीने से रक्त के साथ ववासीर के मस्से गिर कर नष्ट हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

*चिरविल्वः = करञ्जः, तस्य फलस्यात्र मज्जा ग्राह्या । अरलुः = शोणकः ॥ ५४ ॥

यहां पर 'चिरविल्व' पद का 'करञ्ज' अर्थ समझना चाहिये, तथा करञ्ज के फल की मींगी लेनी चाहिये। और 'अरलु' पद का 'सोनापाठा' अर्थ समझना चाहिये तथा उसकी छाल लेनी चाहिये ॥

रजनीलेपमाह—

लेपं रजनिचूर्णेन सुधादुग्धयुतेन च । अर्शोरोगनिवृत्त्यर्थं कारयेत्तु चिकित्सकः ॥ ५५ ॥

रजनीलेप—वैद्य हल्दी के चूर्ण में थूहर का दूध मिलाकर अर्शरोगी के मस्सों को नष्ट करने के लिये उन पर लेप करावै ॥ ५५ ॥

पिप्पल्यादिलेपमाह—

पिप्पली सैन्धवं कुष्ठं शिरीषस्य फलं तथा। सुधादुग्धार्कदुग्धं वा लेपोऽयं गुदजान्हरेत् ॥५६॥

पिप्पल्यादि लेप—पीपल, सेंधानमक, कूठ तथा सिरस के बीज इन सबों के चूर्ण में थूहर या आक का दूध मिला कर लेप करने से बवासीर के मस्से नष्ट हो जाते हैं ॥ ५६ ॥

हरिद्रादिलेपमाह—

हरिद्राजालिनीचूर्णं कटुतैलसमन्वितम्। एष लेपो वरः प्रोक्तो ह्यर्शसामन्तकारकः ॥५७॥

हरिद्रादिलेप—हल्दी तथा कड़वी तोरई के चूर्ण में कडुआ तेल मिलाकर लेप करने से अर्श (मस्से) नष्ट हो जाते हैं, यह लेप मस्से दूर करने में उत्तम कहा हुआ है ॥५७॥

***जालिनी='कटुतोरई' इति लोके ॥ ५७ ॥**

यहां पर 'जालिनी' पद का 'लोक-प्रसिद्ध कटु तोरई' अर्थ समझना चाहिये ॥ ५७ ॥

तिलभक्षणमाह—

असितानां तिलानान्तु पलं शीतजलेन च। खादतोऽर्शांसि शाम्यन्ति दृढा दन्ता भवन्ति च॥

तिलभक्षण—काले तिलों को १ पल (४ तो०) लेकर शीतल जल के साथ नित्य खाने वालों के अर्श नष्ट होते हैं और दांत भी दृढ़ होते हैं ॥ ५८ ॥

रुधिरस्रावणमाह—

शस्त्रैर्वाऽथ जलौकोभिः प्रोच्छूनकठिनार्शसः। शोणितं सञ्चितं दृष्ट्वा हरेत्प्राज्ञः पुनः पुनः ॥५९॥

रुधिर[1] निकलवाना—वैद्य ऊंचे तथा कठिन मस्सों के सञ्चित हुये रुधिर को देखकर शस्त्र अथवा

---

१. आजकल भी अर्श के मस्सों से रक्तस्राव कराया जाता है। किन्तु यह कर्म केवल बाह्य-अर्श (External Piles) के लिये किया जाता है। इसकी पद्धति निम्न प्रकार हैः—

सर्वप्रथम रोगी को शय्यारूढ करके चलने-फिरने का निषेध कर देते हैं। वस्तिकर्म (Enema) तथा विरेचक वस्तुओं द्वारा अन्त्रों को स्वच्छ करते हैं। मलस्थान को बिल्कुल स्वच्छ तथा सब प्रकार की कठिन वस्तुओं से सुरक्षित रखना आवश्यक समझा जाता है। अर्श के ऊपर हैमे मिलिस (Hamme milis) का मरहम लगाया जाता है। अफीम तथा माजूफल को वैसलीन में मिला कर प्रलेप करते हैं। यदि अर्श में प्रकोप उत्पन्न हो गया होता है तो रोगी को शय्यारूढ करके उस पर ऊष्मस्वेद का प्रयोग किया जाता है। साथ में ऊपर बताई हुई सभी बातें की जाती हैं। जब इस विधि से पीड़ा में कमी नहीं होती और अर्श में तनाव अधिक होता है तो एक २ अर्श को पकड़ कर उसका छेदन करके उसमें जमा हुआ रक्त निकाल दिया जाता है।

भगवान् चरक ने भी प्रायः ऐसा ही कहा है किः—

'शीतोष्णस्निग्धरूक्षैर्हि न व्याधिरुपशाम्यति। दुष्टे रक्ते भिषक् तस्माद्रक्तमेवावसेचयेत् ॥

जलौकाभिस्तथा शस्त्रैः सूचिभिर्वा पुनः पुनः।' च० चि० अ० १४ श्लो० ६१-६२।

यदि आन्तरिक (Internal) और बाह्य (External) दोनों प्रकार के अर्श उपस्थित होते हैं तो आन्तरिक अर्श (Internal Piles) के साथ २ बाह्य अर्श (External piles) को भी काटकर निकाल दिया जाता है। चिमटी और कैंची से इनको काटकर क्षत को टांकों से सी देना पर्याप्त होता है।

भगवान् चरक ने भी अर्शों को काट कर निकाल देने का आदेश दिया है। यथाः—

'तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्त्तनं हितमर्शसाम्।

दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाऽग्निना।' च० चि० च० १४ श्लो० ३४।

सुश्रुत ने भी अर्श के चार साधनोपाय बतलाये हैं। यथाः—'चतुर्विधोऽर्शसां साधनोपायः। तद्यथाः—

भेषजं, क्षारोऽग्निः शस्त्रमिति। तत्र-

१—अचिरकालजातानि अल्पदोषलिङ्गोपद्रवाणि भेषजसाध्यानि।

जोंक के द्वारा बारंबार निकलवा दिया करें। अर्थात् जब २ यह ज्ञात हो कि रुधिर का संचय होने से मस्से बढ़े हुये तथा कठिन हो रहे हैं तो उसी समय शस्त्रादिकों से रक्त बराबर निकलवा दिया करें ॥ ५९ ॥

२—मृदुप्रसृतावगाढानि उच्छ्रितानि क्षारेण।

३—कर्कशस्थिरपृथुकठिनानि अग्निना।

४—तनुमूलानि, उच्छ्रितानि, क्लेदवन्ति च शस्त्रेण।

तत्र भेषजसाध्यानामर्शसामदृश्यानाञ्च भेषजं भवति। क्षाराग्निशस्त्रसाध्यानान्तु विधानमुच्यमानमुपधारय'। सु० चि० अ० ६ सू० १।

ऐसा कहा है। आजकल भी उपर्युक्त सभी क्रियायें अर्शसाधन के लिये की जाती हैं।

क्षार, अग्निकर्म तथा शस्त्रक्रिया का उपयोग प्रायः आन्तरिक अर्श (Internal piles) के लिये किया जाता है। उसकी निम्न विधियां हैं—

१—क्षारकर्म—आजकल इसके लिये इन्जेक्शन चिकित्सा की जाती है। सर्वप्रथम विरेचन तथा वस्तिकर्म (Enema) द्वारा रोगी के अन्त्रों तथा मलाशय को स्वच्छ किया जाता है। तत्पश्चात् मर्करी परक्लोराइड (Mercury perchloride) के १००० में १ की प्रबलता के घोल से गुदा को धोया जाता है। उसके बाद प्रत्येक अर्शों के मूल में १०-२०% कार्बोलिक एसिड (Carbolic acid.) में समान भाग ग्लीसरीन (Glycerine) और जल मिलाकर ५-६ बूंद को इन्जेक्ट कर देते हैं। और श्लेष्मलकला (Mucous membrane) पर वैसलीन लगा देते हैं। और रोगी को २४ घन्टे तक आराम से लेटे रहने देते हैं।

अग्निकर्म—अंग्रेजी में इसे काट्राइजेशन (Cuterisation) कहते हैं। यह कर्म निम्न प्रकार किया जाता है। यथा :—

श्लैष्मिक कला को बाहर की ओर खींच कर क्लैम्प (Clamp) से प्रत्येक अर्श को पकड़ कर और क्लैम्प के पेंच को घुमाकर अर्श को दाब दिया जाता है। तत्पश्चात् चाकू से अर्श को काट कर कटे हुए स्थान पर दाहकयन्त्र (Cautery) द्वारा दाहकर्म कर देते हैं और पेंच को घुमाकर पेंच को ढीला करके यह देख लेते हैं कि कटी हुई नलिकाओं से रक्त तो नहीं निकलता है। तत्पश्चात् उस सारे स्थान पर आयडोफार्म (Iodoform) छिड़क कर और रूई को रख कर T आकार की पट्टी बांध देते हैं। चौथे या पांचवें दिन तक रोगी के मलत्याग को रोक दिया जाता है। इसके पश्चात् एरण्डतैल द्वारा उसके कोष्ठ को शुद्ध किया जाता है।

शस्त्रकर्म—यह कर्म कई प्रकार से किया जाता है। सबसे सहजविधि, जिससे प्रायः उत्तम परिणाम होते हैं, अर्श का बन्धन करना है। रोगी को मेज पर लिटा कर चिमटी से प्रत्येक अर्श को पकड़ कर उसके मूल पर की कला को एक कैंची के द्वारा भिन्न करके अर्शमूल को कैटगट के द्वारा बांध दिया जाता है। तत्पश्चात् शेष भाग कैंची से काट कर निकाल दिया जाता है। कुछ समय के बाद ये कैटगट के बन्धन आप से आप अलग हो जाते है। यदि सम्भव होता है तो शस्त्रकर्म के समय कटी हुई श्लेष्मलकला को सी दिया जाता है, जिससे सारा व्रण शीघ्र भर जाता है।

दूसरी विधि यह है कि अर्श को पकड़ कर काट देते हैं। जिन नलिकाओं से रक्त निकलता हो, उन्हें धमनीसंदंशों (Artery forceps) से पकड़ कर, संदंश के ऊपर ही से श्लैष्मिककला के कटे हुये स्थान पर टांके लगाकर व्रण को बन्द कर दिया जाता है। संदंश को निकाल कर टांके को जो भिन्न २ नहीं होते किन्तु लगातार होते हैं, कस दिया जाता है। रक्त निकलना बन्द हो जाता है।

इसके अतिरिक्त व्हाइट हेड की विधि (White Head's method) के अनुसार अर्श के सारे प्रान्त को मलाशय से काटकर निकाल दिया जाता है। दोनों हाथों की तर्जनी अंगुलियों को

बृहत्काशीसादितैलमाह—

काशीसं सैन्धवं कृष्णा शुण्ठी कुष्ठञ्च लाङ्गली। शिलाभिदश्वमारश्च दन्तीजन्तुघ्नचित्रकम्॥
तालकं कुनटी स्वर्णक्षीरी चैतैः पचेद्भिषक्। तैलं स्नुह्यर्कपयसा गवां मूत्रं चतुर्गुणम्॥६१॥
एतदभ्यङ्गतोऽर्शांसि क्षारेणेव पतन्ति हि। क्षारकर्मकरं ह्येतन्न च सन्दूषयेद्वलिम्॥ ६२॥

बृहत्काशीसादितैल—कसीस, सेंधानमक, पीपल, सोंठ, कूठ, करिहारी, पाषाणभेद, कनेर, दन्ती, वायविडङ्ग, चीते की छाल, हरताल, मैनशिल तथा चोक (सत्यानाशी की जड़) इनका कल्क तेल का चतुर्थांश लेकर थूहर का दूध तथा आक का दूध भी समभाग में कल्क के साथ मिलाकर तिल के तेल के साथ उक्त कल्क को तेल के चौगुने गोमूत्र में डाल कर पकावै, जब तेल मात्र अवशिष्ट रह जाय, तब उतार लेवै। मस्सों के ऊपर इस तेल की मालिश करने से वे क्षार लगने की भांति गिर पड़ते हैं। यह बिना क्षार के ही क्षारकर्म को करने वाला होता है तथा इससे वली जैसी क्षार से दूषित होती है वैसी नहीं होने पाती हैं यह इसकी विशेषता है॥ ६०–६२॥

***काशीसं='कसीस' इति लोके। लाङ्गली 'करिहारी'ति लोके। शिलाभित्=पाषाणभेदः। अश्वमारः='कनेर' इति लोके। स्वर्णक्षीरी='चोक' इति लोके॥ ६०–६२॥**

यहां पर 'कासीस' पद का 'लोकप्रसिद्ध कसीस'। 'लाङ्गली' पद का 'लोकप्रसिद्ध–करिहारी'। 'शिलाभिद्' पद का 'पाषाणभेद'। 'अश्वमार' पद का 'लोक–प्रसिद्ध–कनेर'। तथा 'स्वर्णक्षीरी' पद का 'लोक–प्रसिद्ध = चोक' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ६०–६२॥

समशर्करचूर्णमाह—

शुण्ठीकणामरिचनागदलत्वगेलं चूर्णीकृतं क्रमविवर्द्धितमूर्ध्वमन्त्यात्।
खादेदिदं समसितं गुदजाग्निमान्द्यगुल्मारुचिश्वसनकण्ठहृदामयेषु॥ ६३॥

समशर्कर चूर्ण—सोंठ, पीपल, मरिच, नागकेसर, तेजपात, दालचीनी और इलायची ये इन सबों में अन्त्य द्रव्य की अपेक्षा ऊपर की तरफ के द्रव्य पूर्व २ एक २ भाग अधिक लेकर सबों का चूर्ण बनाकर बराबर की मिश्री का चूर्ण मिलाकर खाने से बवासीर, अग्नि की मन्दता, गुल्म, अरुचि, दमा तथा कण्ठ और हृदय सम्बन्धी रोग ये सब दूर होते हैं॥ ६३॥

***तद्यथा—एलाबीजमत्र सूक्ष्मं ग्राह्यम्। यत आह मदनपालः—**

'एला सूक्ष्मा कफश्वासकासार्शोमूत्रकृच्छ्रनुद्'

इत्यादि। तस्या बीजं भाग १, त्वग्भाग २, दलं=पत्रकम् ३, नागं=नागकेशरम्। यत आह निघण्टौ धन्वन्तरिः—

'नागपुष्पं मतं नागं केशरं नागकेशरम्॥ ५॥

इत्यादि। तस्य भागाः ४, मरिचम् ५, पिप्पली ६, शुण्ठी ७, शर्कराभागाः २८, इति समशर्करचूर्णम्॥ ६३॥

यहां पर 'छोटी इलायची' लेनी चाहिये, क्योंकि 'मदनपालनिघण्टु' में लिखा हुआ है कि—'छोटी इलायची—कफ, श्वास (दमा), खांसी, अर्श तथा मूत्रकृच्छ्र को दूर करने वाली होती है' और 'छोटी इलायची के बीज १ भाग, दालचीनी २ भाग, तेजपात ३ भाग, नाग अर्थात् नाग-

---

भीतर डालकर चिकित्सक सारे स्थान को चौड़ा करके उसकी भलीभांति परीक्षा करता है और फिर स्थान को शुद्ध करके श्लैष्मिक कला और चर्म के संयोजन के स्थान पर कैंची से चारों ओर काट कर श्लैष्मिक कला और चर्म को भिन्न कर देता है। इसके पश्चात् श्लैष्मिक कला के पीछे कैंची को डालकर आन्तरिक संकोचक पेशी तक उसको पृथक् कर दिया जाता है। इससे कला एक नली के रूप में बीच में लटकने लगती है। अर्श भी इसी में होते हैं। इसको काट दिया जाता है और शेष श्लैष्मिककला का नीचे का किनारा नीचे की ओर खींचकर चर्म से मिलाकर सी दिया जाता है। और जिन नलिकाओं से रक्त निकलता रहता है उनका बन्धन कर दिया जाता है।

केशर ४ भाग, काली मरिच ५ भाग, पीपल ६ भाग, सोंठ ७ भाग, मिश्री का चूर्ण २८ भाग लेकर चूर्ण बना लेने से 'समशर्कराचूर्ण' तैयार होता है। यहां पर 'नाग' पद से 'नागकेशर' का ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि धन्वन्तरि ने अपने 'धन्वन्तरिनिघण्टु' में नागकेसर के पर्यायवाचक शब्द 'नागपुष्प, नाग, केशर और नागकेशर' ऐसा कहा है। यह और समझना चाहिये ॥ ६३ ॥

विजयचूर्णमाह—

त्रिकत्रयं वचा हिङ्गु पाठाक्षारौ निशाद्वयम्। चव्यतिक्ताकलिङ्गानि शक्राह्वा लवणानि च॥
ग्रन्थिविल्वाजमोदाश्च गणोऽष्टाविंशतिर्मतः। एतानि समभागानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्॥
चूर्णं विडालपदकं पिबेदुष्णेन वारिणा। एरण्डतैलयुक्तं वा लिह्याच्चूर्णमिदं नरः॥ ६६ ॥

विजयचूर्ण—त्रिफला (आंवला, हरड़, बहेड़ा), त्रिकटु (सोंठ, पीपल, मिरिच), त्रिसुगन्धि (दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात), वच, भुनी हींग, पाठा, सज्जी, जवाखार, हल्दी, दारुहल्दी, चव्य, कुटकी, इन्द्रजौ, कुड़े की छाल, पञ्चलवण (सेंधानमक, कालानोन, विरियासोंचरनोन, समुद्री नोन, रेह का नोन) पिपरामूल, कच्चे बेल की गिरी और अजमोद। इन २८ ओषधियों को समान भाग में लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना लेवै, पश्चात इस चूर्ण को एक तोला की मात्रा में लेकर गर्म जल के साथ अथवा एरण्ड के तेल में मिला कर खाना चाहिये ॥ ६४–६६ ॥

*त्रिकत्रयं = त्रिफलात्रिकटुत्रिसुगन्धीनि । क्षारौ = स्वर्जिका यवक्षारश्च। लवणानि पञ्च। ग्रन्थिः=पिप्पलीमूलम्। विडालपदकं=कर्षम् ॥ ६४–६६ ॥

यहां पर 'त्रिकत्रय' पद से 'त्रिफला, त्रिकटु, तथा त्रिसुगन्धि' का और 'क्षारौ' पद से 'सज्जी तथा जवाखार' एवम् 'लवणानि' पद से 'पञ्च लवण' का बोध करना चाहिये। 'ग्रन्थि' पद का 'पिपरामूल' तथा 'विडालपदक' पद का 'एक तोला' अर्थ समझना चाहिये ॥ ६४–६६ ॥

हन्यादर्शांसि सर्वाणि श्वासशोफभगन्दरान्। हृच्छूलं पार्श्वशूलञ्च वातगुल्मं तथोदरम्॥
हिक्कां कासं प्रमेहांश्च पाण्डुरोगं सकामलम्। आमवातमुदावर्त्तमन्त्रवृद्धिं गुदक्रिमीन्॥६८॥
अन्ये च ग्रहणीदोषा भिषग्भिर्ये प्रकीर्त्तिताः। विजयो नाम चूर्णोऽयं तान्सर्वानाशु नाशयेत्॥
महाज्वरोपसृष्टानां भूतोपहतचेतसाम्। अप्रजानाञ्च नारीणां हितमेतद्धि भेषजम् ॥ ७० ॥

इस चूर्ण के सेवन करने से सभी प्रकार के अर्श, दमा, शोथ, भगन्दर, हृदयका शूल, पार्श्वशूल, वातगुल्म, उदररोग, हिचकी, खांसी, प्रमेह, पाण्डुरोग, कामला, आमवात, उदावर्त्त, अन्त्रवृद्धि तथा गुदा के कृमि ये सब रोग नष्ट होते हैं, और वैद्यों के द्वारा कहे हुये अन्य जो ग्रहणीसम्बन्धी दोष (रोग) हैं, वे सब भी इसके प्रयोग से नष्ट हो जाते हैं और जो बड़े भारी ज्वर से पीड़ित या भूतबाधा से आक्रान्त चित्तवाले हैं, तथा जो सन्तानरहित स्त्रियां हैं, उन सबों के लिये यह विजय नामक चूर्ण निश्चय करके हितकारक औषध है ॥ ६७–७० ॥

लघुशूरणमोदकमाह—

मरिचमहौषधचित्रकशूरणभागा यथोत्तरं द्विगुणाः।
सर्वसमो गुडभागः सेव्योऽयं मोदकः प्रसिद्धफलः ॥ ७१ ॥
ज्वलनं ज्वलयति जाठरमुन्मूलयतीह शूलगुल्मगदान्।
निःशेषयति श्लीपदमर्शांसि विनाशयत्याशु ॥ ७२ ॥

लघुशूरणमोदक—मरिच, सोंठ, चीते के जड़ की छाल तथा सूरन ये सब उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा द्विगुण भाग लेकर चूर्ण करने के बाद सबों के बराबर गुड़ मिला कर मोदक (लड्डू) बना लेना चाहिये, यह मोदक सेवन करने से प्रसिद्ध फलदायक है, क्योंकि इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा शूल और गुल्म जड़ से नष्ट हो जाते हैं। एवम् श्लीपद (फीलपांव) तथा सभी प्रकार के अर्श भी पूर्णरूप से नष्ट हो जाते हैं ॥ ७१–७२ ॥

*तद्यथा—मरिचभागः १। शुण्ठीभागौ २। चित्रकमूलभागाः ४। शूरणभागाः ८।

गुडभागाः १६ ॥ ७१-७२ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि-मरिच १ भाग, सोंठ २ भाग, चीते के जड़ की छाल ४ भाग, सूरन ८ भाग, गुड़ १५ भाग लेना चाहिये ॥ ७१-७२ ॥

बृहच्छूरणमोदकमाह—

षोडश शूरणभागा वह्नेरष्टौ महौषधस्यातः। अर्द्धेन भागयुक्तिर्मरिचस्य ततोऽपि चार्द्धेन ॥ त्रिफला कणा समूला तालीसारुष्करकृमिघ्नानाम्। भागा महौषधसमा दहनांशा तालमूलीच भागाः शूरणतुल्या दातव्या वृद्धदारकस्यापि। भृङ्गैले मरिचांशे सर्वाण्येकत्र कारयेच्चूर्णम् ॥ द्विगुणेन गुडेन युतः सेव्योऽयं मोदकः प्रकामघनैः। गुरुवृष्यभोजनरतैरितरैरुपद्रवं कुर्यात्॥ भस्मकमनेन जनितं पूर्वमगस्त्यस्य योगराजेन। भीमस्य मारुतेरपि महाशनौ तेन तौ यातौ॥ अग्निबलवर्णहेतुर्न केवलं शूरणो महावीर्यः। हन्ता शस्त्रक्षारानलैर्विनाऽप्यर्शसामेषः ॥७८॥ श्वयथुश्लीपदमदहृद् ग्रहणीं च कफानिलोद्भूताम्। नाशयति वलीपलितंमेधांकुरुतेजराञ्चहरेत्॥ हिक्कां कासं श्वासं च राजरोगं प्रमेहांश्च। प्लीहानं च तथोग्रं हन्त्याशु रसायनं पुंसाम् ॥८०॥

बृहच्छूरणमोदक—सूरन १६ भाग, चीते के जड की छाल ८ भाग, सोंठ ४ भाग, कालीमिरिच २ भाग, त्रिफला (आंवला, हरड़, बहेरा), पीपल, पिपरामूल, तालीसपत्र, शुद्ध भिलावा, वायविडङ्ग ये सब पृथक् २ सोंठ के बराबर तथा तालमूली (काली मूसली) चीते के बराबर, विधारा सूरन के बराबर, तज तथा छोटी इलायची ये दोनों मिल कर मिरिच के बराबर लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना कर सबों के द्विगुण गुड़ मिलाकर मोदक बना लेना चाहिये। यह मोदक उन्हीं लोगों को खाना चाहिये जो कि अधिक धनवान् तथा गुरु व वीर्यवर्द्धक भोजन करने वाले हों, इनसे भिन्न लोगों को अर्थात् उक्त प्रकार के भोजन नहीं कर सकने वालों को सेवन करने से यह उपद्रव करने वाला अर्थात् अधिक हानि पहुँचाने वाला होता है, क्योंकि इसी उत्तम योग के सेवन करने से पूर्व समय में अगस्त्य ऋषि तथा वायुसुत भीम को भस्मक रोग हो गया, जिससे कि दोनों अधिक भोजन करने वाले हो गये। और यह महाशक्तिशाली बृहच्छूरण मोदक न केवल अग्नि, बल तथा वर्ण (शरीर का रङ्ग) का उत्पन्न करने वाला ही है, प्रत्युत शस्त्र, क्षारप्रयोग तथा अग्नि से जलाये विना ही अर्श (मस्सों) को नष्ट करने वाला है। और शोथ, श्लीपद (फीलपांव), कफ तथा वातजन्य ग्रहणी-रोग तथा वली-पलित को नष्ट करने वाला, मेधाजनक, जरानाशक, हिचकी, खांसी, दमा, राजयक्ष्मा, प्रमेह तथा भयङ्कर प्लीहा को दूर करने वाला एवम् मनुष्यों के लिये रसायन है ॥

***एषां भागा यथा—शूरण भाग १६। चीता भाग ८। शुण्ठीभाग ४। मरिचभाग २। हर्रा, बहेरा, आमला। पीपरि। पीपरामूल। तालीश। भिलावा-तदसह्यत्वे रक्तचन्दनम्। विडङ्ग प्रत्येक भाग ४। तालमूली भाग ८। विधारा भाग १६। तज भाग १। इलायची छोटी बीज भाग १। गुड भाग १७६ ॥ ७३-८० ॥**

यहां पर उक्त ओषधियों के भाग इस भांति से समझने चाहिये कि—सूरन १६ भाग, चीते की छाल ८ भाग, सोंठ ४ भाग, मरिच २ भाग। हर्रे, बहेरा, आमला, पीपर, पीपरामूल, तालीसपत्र, भिलावा (इसके असह्य होने पर लालचन्दन), वायविडङ्ग ये प्रत्येक चार भाग अर्थात् कुल ३२ भाग, तालमूली ८ भाग, विधारा १६ भाग, तज १ भाग, छोटी इलायची के दाने १ भाग, गुड १७६ भाग ॥ ७३-८० ॥

बाहुशालगुडमाह—

त्रिवृत्तेजोवती दन्ती श्वदंष्ट्रा चित्रकं शटी। गवाक्षी मुस्तविश्वाह्वविडङ्गानि हरीतकी ॥८१॥ पलोन्मितानि चैतानि पलान्यष्टावरुष्करात्। वृद्धदारात् पलान्यष्टौ शूरणस्य तु षोडश॥८२॥ जलद्रोणद्वये क्वाथ्यं चतुर्भागावशेषितम्। पूतन्तु तं रसं भूयः क्वाथ्येभ्यस्त्रिगुणं गुडम् ॥८३॥ मेलयित्वा पचेत्तावद्यावद्दर्वीप्रलेपनम्। अवतार्य ततः पश्चाच्चूर्णानीमानि दापयेत् ॥८४॥

बाहुशाल गुड—'निसोथ, तेजवल्कल (तेजबल), दन्ती की जड़, गोखरू, चीते के जड़ की छाल, कचूर, इन्द्रायण की जड़, नागरमोथा, सोंठ, वायविडङ्ग, हरड ये सब प्रत्येक चार २ तोले, शुद्ध भिलावा ३२ तोले, विधारा ३२ तोले, सूरन ६४ तोले लेकर सबों को जौ कुट करके दो द्रोण (२९४८ तोले) जल में डाल कर पकावे, जब चतुर्थांश जल अवशिष्ट रह जाय, तब उतार कर छान लेवै और पुनः इसमें पूर्वोक्त क्वाथ्य द्रव्यों के तिगुना (५१६ तोले) गुड़ मिला कर तब तक पकाना चाहिये कि जब तक कर्छली में पाक लिपटने न लग जाय, उसके बाद उतार लेवे ॥

त्रिवृत्तेजोवतीकन्दचित्रकान्द्विपलांशिकान्। एलात्वङ्मरिचं चापि नागाह्वञ्चापि षट्पलम् ॥

पुनः उसमें निसोथ, तेजवल, सूरन, चीते के जड़ की छाल प्रत्येक आठ २ तोले, छोटी इलायची, दालचीनी, कालीमरिच, नागकेशर प्रत्येक चौबीस २ तोले अर्थात् कुल १२८ तोले लेकर सबों का चूर्ण बना कर डाल देवै, और भली भांति मिला कर किसी पात्र में रख देवै ॥ ८५ ॥

***तेजोवती='तेजवल्कल' इति । कन्दः=शूरणः ॥ ८५ ॥**

यहां पर 'तेजोवती' पद का 'तेजवल्कल (तेजबल)' तथा 'कन्द' पद का 'सूरन' अर्थ समझना चाहिये ॥ ८५ ॥

द्वात्रिंशच्च पलान्यत्र चूर्णयित्वा निधापयेत् ।
ततो मात्रां प्रयुञ्जीत जीर्णे क्षीररसाशिनः ॥ ८६ ॥

हन्यादर्शांसि सर्वाणि तथा सर्वोदराण्यपि । गुल्मानपि प्रमेहांश्च पाण्डुरोगं हलीमकम्॥८७॥
दीपयेदनलं मन्दं यक्ष्माणं चापकर्षति । आढ्यवाते प्रतिश्याये पीनसे च हितो मतः ॥८८॥
भवन्त्यनेन पुरुषाः शतं वर्षाण्यनामयाः । दीर्घायुषः प्रजनना वलीपलितवर्जिताः ॥८९॥
गुडः श्रीबाहुशालोऽयं रसायनवरो मतः । दुर्नामान्तकरो ह्येष दृष्टो वारसहस्रशः ॥९०॥

उसके बाद इस औषध का उपयुक्त मात्रा में सेवन करैं तथा जब औषध पच जाय तब दूध तथा मांसरस के साथ अन्न भोजन करैं । इस भांति से इस औषध के सेवन करने वालों के सभी प्रकार के अर्श, सम्पूर्ण उदरसंबन्धी रोग, गुल्म, प्रमेह, पाण्डुरोग, हलीमक ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं । तथा मन्द हुई जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, राजयक्ष्मा नष्ट हो जाता है और आढ्यवात, जुकाम तथा पीनस रोग में इसका प्रयोग हितकर होता है । और इसके सेवन से मनुष्य १०० वर्ष तक नीरोग रहकर जीता है, तथा वली-पलित से रहित, दीर्घ आयुवाला, अनेक सन्तानों को पैदा करने वाला होता है । इस बाहुशाल नामक गुड़ को वैद्यों ने रसायनों में श्रेष्ठ माना है और 'यह अर्श को दूर कर देता है' ऐसा हजारों बार परीक्षा करके देखा गया है ॥ ८६-९० ॥

गुडपाकपरीक्षा—

यावद्दर्वीप्रलेपः स्याद् गुडो वा तन्तुमान् भवेत् । तोयपूर्णे यदा पात्रे क्षिप्तो न प्लवते गुडः ॥
क्षिप्तस्तु निश्चलस्तिष्ठेत्पतितस्तु न शीर्यति । एष पाकः समस्तानां गुडानां परिकीर्त्तितः ॥

गुडपाक की परीक्षा—जब गुड का पाक कर्छली में लिपटने लगे, अङ्गुली से उठाने पर उसमें तार निकलने लगे, जल से पूर्ण पात्र में डालने पर जल में फैलने न लगे प्रत्युत स्थिर बना रहै तथा ऊपर से डालने पर बिखरने न लगे, तब गुडपाक सिद्ध हुआ समझना चाहिये, ऐसी ही परीक्षा सर्वत्र गुडपाक के विषयमें करनी चाहिये ॥ ९१-९२ ॥

गुडखण्डयोर्मात्रानिर्णयः—

सार्द्धं पलं पलं चार्द्धं भक्षयेद् गुडखण्डयोः । श्रेष्ठा तु मध्यमा हीना मात्रोक्ता मुनिभिस्त्रिधा॥

गुड़ तथा खांड़ के खाने में मात्रा का निर्णय—गुड़ तथा खांड़ के खाने में डेढ़ पल (६ तोले) की मात्रा श्रेष्ठ, एक पल (४ तो०) की मात्रा मध्यम और आधा पल (२ तोले) की मात्रा कनिष्ठ होती है । इस भांति से तीन प्रकार की मुनियों ने मात्रायें कही हैं ॥ ९३ ॥

तिलादिमोदकमाह—

तिलभल्लातकैः पथ्या गुडश्चेति समांशकैः। दुर्नामश्वासकासघ्नं प्लीहपाण्डुज्वरापहम् ॥

तिलादिमोदक—काला तिल, शुद्ध भिलावा, हर्रड़ और गुड़ इन सबों को समान भाग में लेकर एकत्र कर यथाविधि मोदक (लड्डू) बना कर सेवन करने से अर्श, दमा, खांसी, प्लीहा, पाण्डुरोग तथा ज्वर नष्ट होता है ॥ ९४ ॥

सगुडाभयामाह—

पित्तश्लेष्मप्रशमनी कण्डूकुक्षिरुजाऽपहा। गुदजान्नाशयत्याशु भक्षिता सगुडाऽभया ॥ ९५ ॥

सगुडाभया—सम भाग गुड़ मिला कर हरड़ के चूर्ण का सेवन करने से बढ़े हुये पित्त तथा कफ का शमन होता है, तथा खुजली और कुक्षि (कोख) सम्बन्धी पीड़ा दूर होती है। एवम् सभी प्रकार के अर्श शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ ९५ ॥

शङ्करलौहमाह—

प्रणम्य शङ्करं रुद्रं दण्डपाणिं महेश्वरम्। जीवितारोग्यमन्विच्छन्नारदोऽपृच्छदीश्वरम् ॥९६॥
सुखोपायेन हे नाथ! शस्त्रक्षाराग्निभिर्विना। चिकित्सामर्शसां नृणां कारुण्याद्वक्तुमर्हसि ॥
नारदस्य वचः श्रुत्वा नराणां हितकाम्यया। अर्शसां नाशनं श्रेष्ठं भैषज्यं शङ्करोऽवदत् ॥

शङ्करलौह—एक समय मनुष्यों के दीर्घ काल तक आरोग्यपूर्वक जीवन-लाभ करने की इच्छा से श्रीदेवर्षि नारदजी ने भक्तों के कल्याण करने वाले, महेश्वर, दण्डपाणि रुद्र भगवान् को प्रणाम कर उनसे यह पूछा कि—हे नाथ! शस्त्रक्रिया (आपरेशन), क्षार तथा अग्नि-प्रयोग करने के बिना ही किसी सहज उपाय से यदि मनुष्यों के अर्श रोग की कोई चिकित्सा हो तो उसे आप कृपा करके कहें। इस प्रकार से नारदजी के वचन को सुनकर शङ्कर भगवान् ने मनुष्यों के हित के लिये अर्श को नष्ट करने वाली उत्तम ओषधि का वर्णन इस भांति से किया ॥ ९६–९८ ॥

पाण्ड्यवज्रादिलोहानामादायान्यतमं शुभम्। कृत्वा निर्मलमादौ तु कुनट्या माक्षिकेण च ॥
पत्तूरमूलकल्केन लिम्पेद्रसयुतेन च। वह्नौ निक्षिप्य विधिवत्साराङ्गारेण निर्द्धमेत् ॥ १०० ॥

हे नारद! पाण्ड्य तथा वज्र आदिक लोह में से किसी एक उत्तम लोह को लाकर उसके पतले २ पत्र बनाकर उन सबों को प्रथम विधिपूर्वक शुद्ध कर लेवे पश्चात् मैनशिल, सोनामाखी, पत्तूर (शालिञ्च शाक अर्थात् लोकप्रसिद्ध 'पटकार') शाक की जड़ का कल्क और पारा इन सबों को एकत्र घोंट कर उसी से उक्त लोहपत्रों के ऊपर-नीचे सर्वत्र लेप करके सारभाग युक्त बेर आदि की लकड़ी के कोयलों की आग में रखकर धौंकनी से धौंककर आँच पहुंचावे ॥ ९९–१०० ॥

***कुनटी=मनःशिला। माक्षिकं=सुवर्णमाक्षिकम्। पत्तूरः='पटकार' इति लोके। रसः=पारदः। सारः=काष्ठसारः ॥ ९९–१०० ॥**

यहां पर 'कुनटी = मैनशिल'। 'माक्षिक = सोनामाखी'। 'पत्तूर = शालिञ्च शाक अर्थात् लोकप्रसिद्ध पटकार'। 'रस = पारा'। 'सार = सारभाग युक्त बेर आदि की लकड़ी' अर्थ समझना चाहिये ॥ ९९–१०० ॥

ज्वाला च तस्य रोद्धव्या त्रिफलाया रसेन च। ततो विज्ञाय गलितं शङ्कुनोर्ध्वं समुच्छ्रयेत् ॥
त्रिफलाया रसे पूते तदाकृष्य तु निर्द्धमेत्। न सम्यग्गलितं यत्तु तेनैव विधिना पुनः १०२
ध्मातं निर्वापयेत्तस्मिँल्लोहं तत्त्रिफलारसे। यल्लोहं न मृतं तत्तु पाच्यं भूयोऽपि पूर्ववत् १०३
मारणान्न मृतं यच्च तत्त्यक्तव्यमलोहवत्। ततः संशोध्य विधिवच्चूर्णयेल्लोहभाजने ॥१०४॥
लोहेन च तथा पिष्याद् दृषदा सूक्ष्मचूर्णितम्। कृत्वा लोहमये पात्रे मार्दे वा लिप्तरन्ध्रके ॥
रसैः पङ्कोपमं कृत्वा तं पचेद्गोमयाग्निना ॥ १०५ ॥

और जब उसमें से अग्नि की ज्वाला (लपट) निकलने लगे तब निकाल कर त्रिफला के क्वाथ में बुझा देवे, पश्चात् लोहपत्रों को गला हुआ समझ कर उसे कील से (सड़ासी से) ऊपर उठाकर

छने हुए त्रिफला के क्वाथ में छोड़ देवे, इसके बाद लोह के पत्रों में जितने अंश न गले हों उन्हें पुनः पूर्वोक्त विधि से आग में रख कर धौंकनी से धौंके और त्रिफला के क्वाथ में बुझावे, फिर भी उसमें से जितना अंश नहीं गले उसे पुनः पूर्वोक्त विधि से अग्नि में तपाकर त्रिफला के क्वाथ में बुझावे, इस प्रकार बारंबार तपाने पर भी जो अंश नहीं गले उसे अशुद्ध लोह की भांति समझ कर त्याग कर देवे। इसके बाद गले हुये लोहपत्रों को विधिवत् सुखाकर लोह के खरल में लोह-दण्ड से खरल करके पश्चात् सिल पर रखकर पत्थर से पीसकर सूक्ष्म चूर्ण बना लेवे, उसके बाद उस चूर्ण को लोहे के अथवा मिट्टी के पात्र में रखकर त्रिफला के रस से कीचड़ की भांति गीला करके उसके मुख को भली भांति बन्द कर जंगली गोबर (बिनुआ कण्डा) की अग्नि से पकावे ॥ १०१–१०५ ॥

पुटानि क्रमतो दद्यात्पृथगेभिर्विधानतः। त्रिफलाऽऽर्द्रकभृङ्गाणां केशराजस्य बुद्धिमान् ॥१०६॥
मानकन्दकभल्लातवह्नीनां शूरणस्य च। हस्तिकर्णपलाशस्य कुलिशस्य तथैव च ॥ १०७ ॥

और उक्तरीति से पृथक् २ क्रम से त्रिफला का क्वाथ, अदरख, भङ्गरिआ (भंगरैया), केशराज (काला भंगरैआ), मानकन्द, भिलावा, चीता, सूरन, हस्तिकर्णपलाश तथा थूहर के रस से लोहचूर्ण को कीचड़ की भांति गीला करके पुट देवे ॥ १०६–१०७ ॥

*भृङ्गः=भृङ्गरिआ। केशराजः='केशराग' इति ॥ १०६–१०७ ॥

यहां पर 'भृङ्ग = भृङ्गरिआ'। 'केशराज = केशराग (काला भङ्गरैआ)' अर्थ समझना चाहिये ॥ १०६–१०७ ॥

पुटे पुटे चूर्णयित्वा लोहात्षोडशिकं पलम् ॥ १०८ ॥
तन्मात्रं त्रिफलायाश्च पलेनाधिकमाहरेत्। अष्टभागावशेषे तु रसे तस्याः पचेद् बुधः ॥१०९॥
अष्टौ पलानि दत्त्वा च सर्पिषो लोहभाजने। ताम्रे वा लोहदर्व्या तु चालयेद्विधिपूर्वकम् ॥
ततः पाकविधानज्ञः स्वच्छे चोर्ध्वं च सर्पिषि। मृदुमध्यादिभेदेन गृह्णीयात्पाकमन्यतः ॥

और प्रत्येक पुट में ६४ तोले उक्त लोहे का चूर्ण करके उसमें ६८ तोले त्रिफला को ८ गुने जल में पकाकर अष्टमांश जल अवशिष्ट रहने पर उतार-छानकर ३२ तोले गौ का घी मिलाकर इन दोनों को डाल देवे और एक लोह के अथवा तामे के पात्र में रखकर लोह की करछुली से चलाता हुआ पाक करे और पाक की विधियों को जानने वाला वैद्य जब देखे कि स्वच्छ घृत ऊपर उतरा आया है तब मृदु, मध्य आदि जैसा पाक करना हो उसके अनुसार पाक करके उतार लेवे ॥१०८–१११॥

आरम्भे तद्विधानज्ञः कृतकौतुकमङ्गलः। घृतभ्रामरसंयुक्तं विलिह्याद्रक्तिकाक्रमात् ॥ ११२ ॥

और इसकी विधियों का जानने वाला वैद्य इस (लौह) के बनाने के समय तथा दवा सेवन करने या कराने के समय गीत-वाद्य तथा*विघ्ननिवारणार्थ गणेशादिपूजन मङ्गलाचरण करे तथा रोगी से भी करावे। और गाय का घी तथा शहद विषम भाग में लेकर उसके साथ १ रत्ती के क्रम से प्रतिदिन रोगी को चटावे ॥ ११२ ॥

*द्वादशरक्तिकापर्यन्तं यथाऽग्निबलं खादेत् ॥ ११२ ॥

यहां पर '१ रत्ती के क्रम से' ऐसा कहने से 'एक रत्ती से आरम्भ करके अग्निबलानुसार १२ रत्ती तक बढ़ाते हुये सेवन करना चाहिये' यह और समझना चाहिये ॥ ११२ ॥

वर्द्धमानानुपानञ्च गव्यक्षीरोत्तमं मतम्। गव्याभावे त्वजायाश्च स्निग्धवृष्यादिभोजनम् ॥
सद्यो वह्निकरश्चैव भस्मकञ्च नियच्छति। हन्ति वातं तथा पित्तं कुष्ठानि विषमज्वरम् ॥
गुल्माक्षिपाण्डुरोगांश्च निद्रालस्यमरोचकम्। शूलञ्च परिणामञ्च प्रमेहमपबाहुकम् ॥११५॥
श्वयथुं रुधिरस्रावं दुर्नामानं विशेषतः। बलकृद् बृंहणञ्चैव कान्तिदं स्वरबोधनम् ॥ ११६ ॥
शरीरलाघवकरमारोग्यपुष्टिवर्द्धनम्। आयुष्यं श्रीकरञ्चैव बलतेजस्करं शुभम् ॥ ११७ ॥
सश्रीकपुत्रजननं वलीपलितनाशनम्। दुर्नामारिरयं नाम्ना दृष्टो वारसहस्रशः ॥ ११८ ॥
अनेनार्शांसि दह्यन्ते यथा तूलञ्च वह्निना। सौकुमार्याल्पकायत्वान्मद्यसेवी यदा नरः ॥

जीर्णमद्यादियुक्तादिभोजनैः सह दापयेत् ॥ ११९ ॥

और वर्द्धमान पिप्पली की भांति उत्तम गौ का दूध इसका अनुपान समझना चाहिये अथवा एरण्डमूल के क्वाथ का अनुपान तथा पथ्य गौ का दूध समझना चाहिये। और यदि गौ का दूध न मिल सके तो बकरी का दूध लेना चाहिये। स्निग्ध और वीर्यवर्धक पदार्थों का भोजन करना चाहिये। इस प्रकार से सेवन करने पर यह लौह तत्काल जठराग्नि को प्रदीप्त करता है तथा भस्मक रोग को भी दूर करता है। एवम् वात, पित्त, कुष्ठ, विषमज्वर, गुल्म, नेत्ररोग, पाण्डुरोग, निद्रा, आलस्य, अरुचि, शूल, परिणामशूल, प्रमेह, अपबाहुक (वातरोग विशेष), शोथ, रक्तस्राव तथा विशेषतः अर्शरोग को नष्ट करता है। और बलकारक, रस-रक्तादि धातुवर्धक, कान्तिकारक, स्वर को उत्तम बनाने वाला, शरीर में लघुता उत्पन्न करने वाला, आरोग्य तथा पुष्टि को बढ़ाने वाला आयुर्वर्द्धक, शोभाजनक, बल तथा तेज की वृद्धि करने वाला, शुभदायक, शोभायुक्त पुत्र को उत्पन्न करने वाला, वली तथा पलित को दूर करने वाला होता है और यह अर्श का शत्रु है क्योंकि यह हजारों बार देखा गया है कि—इसके सेवन करने से अर्श इस भांति नष्ट हो जाते हैं कि जैसे अग्नि से रुई जल कर नष्ट हो जाती है। और जो रोगी सुकुमार या छोटे शरीर वाले हों तथा मद्य का सेवन करते हों तो उन्हें पुराने मद्य आदि से युक्त भोजन आदि के साथ इस लौह का सेवन कराना चाहिये ॥ ११३-११९ ॥

शङ्करलौहसेविनां पथ्यानि—

लावतित्तिरिवर्त्तीरमयूरशशकादयः । चटकः कलविङ्कश्च वर्त्तका हरितालकः ॥ १२० ॥
श्येनकश्च बृहल्लावो वनविष्किरकादयः । पारावतमृगादीनां मांसं जाङ्गलकं शुभम् ॥१२१॥

लौहसेवियों के लिये पथ्य—लवा, तीतर, बगेर, मोर, खरहा आदिक तथा जंगली गंवरैया, घरों में रहने वाली गंवरैया, बटेर, हारिल, बाज, बड़ा लवा, जङ्गली विष्किर, वत्तक आदि, परेवा, कबूतर एवम् हरिण आदि जङ्गली जीवों का मांस उक्त लोहसेवन करने वालों के लिये पथ्य है ॥ १२०-१२१ ॥

***वर्त्तीरः = 'बगेर' इति लोके। चटकः = वनचटकः। कलविङ्को = गृहचटकः। वर्त्तका = 'बटेर' इति लोके। हरितालकः = 'हारिल' इति लोके। विष्किराः = वर्त्तकादयः ॥१२०-१२१॥**

यहां पर बर्त्ती = लोकप्रसिद्ध बगेर। चटक = जंगली गंवरैया। कलविङ्क = घरों में रहने वाले गंवरैया। वर्त्तका = लोकप्रसिद्ध बटेर। हरितालक = लोकप्रसिद्ध हारिल। विष्किर = जङ्गली वत्तक आदि। यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १२०-१२१ ॥

मद्गुरो रोहितः श्रेष्ठः शकुलश्च विशेषतः। मत्स्यराजा इति प्रोक्ता हितमत्स्याय देहिने ॥

और जिन रोगियों को मछली खाना हितकर हो या खाते हों तो उन्हें मंगुरी, रोहू तथा सौरी नामक आकार में बड़ी तथा श्रेष्ठ ये सब मछलियां खाने के लिये देनी चाहिये ॥ १२२ ॥

वृन्ताकस्य फलं शस्तं पटोलं बृहतीफलम्। प्रलम्बाभीरुवेत्राग्रताडकं तण्डुलीयकम् ॥१२३॥

और शाक के लिये भटा, परवल, कटेरी, लम्बी लौकी का फल तथा शतावर की पत्ती, बेंत की कोमल पत्ती, अकरकरा तथा चौलाई की पत्ती उक्त लौहसेवियों को देना उचित है ॥ १२३ ॥

***प्रलम्बा = लम्बालाबुः। भीरुः = शतावरी। पत्रम् = पत्रशाकम्। ताडकं = देवदाली, 'अकरकरे'ति लोके। तथा च निघण्टौ धन्वन्तरिः—**

***'जीमूतको देवताडो वृत्तकोशो गरागरी। प्रोक्ताऽऽखुविषहा वेणी देवदाली च ताडकः ॥ देवदाली रसे तिक्ता कफार्शःशोथपाण्डुताः। नाशयेत्' ॥ ७ ॥ इत्यादि ॥ १२३ ॥**

यहां पर 'प्रलम्बा' का 'लौकी का फल' तथा 'भीरु' का 'शतावर की पत्तियों का शाक' यह अर्थ समझना चाहिये। और 'ताडक' का देवदाली अर्थात् लोकप्रसिद्ध 'अकरकरा' अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि धन्वन्तरि निघण्टु में 'जीमूतक, देवताड, वृत्तकोश, गरागरी, आखुविषहा, वेणी, देवदाली,

ताडक ये सब देवदाली के पर्यायवाची शब्द कहे हुए हैं और देवदाली–तिक्त रसयुक्त तथा कफ, अर्श, शोथ और पाण्डुरोग को दूर करने वाली होती है, ये सब गुण कहे हुये हैं ॥ १२३ ॥

वास्तूकं धान्यशाकञ्च चित्रकं चक्रमर्दकम् । नालिकेरञ्च खर्जूरं दाडिमं लवलीफलम् ॥१२४॥
शृङ्गाटकञ्च पक्वाम्रं द्राक्षातालफलानि च । जातिकोशं लवङ्गं च पूगं ताम्बूलपत्रकम् ॥
हितान्येतानि वस्तूनि लोहमेतत्सनरनताम् ॥ १२५ ॥

और वथुआ का शाक, धनिये का शाक, चीता तथा चकवड़ के पत्तियों का शाक और नारियल, खजूर, अनार, हरफारेवडी, सिंघाड़ा, पका आम, मुनक्का तथा ताड़ इन सबों के फल, जावित्री, लौंग, सुपारी तथा पान ये सब पदार्थ इस शंकर लौह के सेवन करनेवालोंके लिये-हितकर हैं ॥

⊛चर्कमर्दकम्=चकवडशाकम् ॥ १२४–१२५ ॥

यहां पर 'चक्रमर्द' का 'चकवड़ का शाक' यह अर्थ समझना चाहिये ॥१२४–१२५ ॥

लौहसेविनामपथ्यानि—

नाश्नीयाल्लकुचकोलकर्कन्धूबदराणि च ॥ १२६ ॥
जम्बीरं बीजपूरञ्च तिन्तिडी करमर्दकम् । आनूपानि च मांसानि क्रकरं पुण्डूकाणि च॥१२७॥
हंससारसदात्यूहचापक्रौञ्चबलाकिकाः । मानकन्दं कसेरूणि कतकञ्च कलिङ्गकम् ॥१२८॥
कूष्माण्डकञ्च कर्कोटं क्रमुकञ्च विशेषतः । कटुकं कालशाकञ्च कुन्दुरुः कर्कटी तथा ॥१२९॥
ककारादीनि सर्वाणि द्विदलानि च वर्जयेत् ॥ १३० ॥

शंकर लौह का सेवन करने वालों के लिये अपथ्य—बड़हर, छोटी तथा बड़ी बेर, जमीरी नींबू, बिजौरा नींबू, इमली, करौंदा इन सबों के फल, आनूप (जलप्राय देशों में रहनेवाले) जीवों के मांस, क्रकर (कयार), पुण्डूक, हंस, सारस, नीलकण्ठ (पपीहा), चाष (डाकु), क्रौञ्च और बगला इन सब पक्षियों का मांस तथा मानकन्द, कसेरू, निर्मलीफल, तरबूज, पेठा, ककोड़ा, तूत, कड़वा परवल, नाडी का शाक, कुन्दरु, ककड़ी तथा ककारादि वर्णवाले समस्त पदार्थ एवम् सभी प्रकार की दाल इन सब पदार्थों का सेवन करना शंकरलौहसेवियों के लिये अपथ्य है अतएव उनके लिये सर्वथा त्याज्य हैं ॥ १२६–१३० ॥

⊛कोलं=क्षुद्रबदरम् । कर्कन्धूः=बृहद्बदरम् । दात्यूहः=नीलकण्ठः, चापः=[डाकु], कलिङ्गकम्=[तरबूज] ॥ १२६–१३० ॥

यहां पर 'कोल' का 'छोटी बेर' । 'कर्कन्धू' का 'बड़ी बेर' । 'दात्यूह' का 'नीलकण्ठ (पपीहा)' । 'चाप' का 'डाकु' पक्षी अर्थ समझना चाहिये । तथा 'कलिङ्गक' का 'तरबूज' अर्थ समझना चाहिये ॥ १२६–१३० ॥

शङ्करेण समाख्यातो यक्षराजानुकम्पया । जगतामुपकाराय दुर्नामारिरयं ध्रुवम् ॥१३१॥
स्थानाच्चलति मेरुश्च पृथ्वी पर्येति वायुना । पतन्ति चन्द्रताराश्च मिथ्या चेदहमब्रुवम् ॥
ब्रह्मघ्नाश्च कृतघ्नाश्च क्रूरा येऽसत्यवादिनः । वर्जनीयाः सधर्मेण भिषजा गुरुनिन्दकाः ॥

इस लौह को श्रीशङ्कर भगवान् ने यक्षराज कुवेर के ऊपर कृपा करके जगत् के उपकारार्थ उनसे कहा है । अत एव इसका नाम 'शङ्करलौह' पड़ा है तथा यह निश्चित रूप से अर्श को नष्ट करने वाला है । और अपने स्थान से मेरुपर्वत चलायमान हो जाय तथा पृथ्वी वायु से इधर-उधर हो जाय एवम् चन्द्रमा तथा तारागण पृथ्वी पर गिर जायँ, यदि मैं इस लौह के विषय मे झूठी प्रशंसा करता हूँ' ऐसा श्रीमहादेव जी ने कहा है । और वैद्य को उचित है कि जो ब्रह्महत्या करने वाले, कृतघ्न, क्रूर, झूठ बोलने वाले तथा गुरुजनों की निन्दा करने वाले लोग हों उन्हें इस लौह का सेवन न करावे ॥ १३१–१३३ ॥

लौहसेवनजन्यदोषनाशोपायानाह—

सुनिरसपिष्टविडङ्गं सुनिरसलीढं चिरस्थितं धर्मे । द्रावयति लोहदोषान्वह्निर्नवनीतपिण्डमिव॥

लौह सेवन से उत्पन्न होने वाले दोषों को दूर करने के उपाय—इस लोह के सेवन करने से यदि कोई शरीर में विकार उत्पन्न हो जाय तो उसके दूर करने के लिए वायविडङ्ग को अगस्त्य वृक्ष की पत्तियों के रस के साथ पीस कर धूप में सुखाने के बाद चूर्ण करके अगस्त्य के रस के साथ ही चाटना उपयोगी होता है, क्योंकि इससे लोहसेवनजन्य दोष इस भांति गल जाते (नष्ट हो जाते) हैं जैसे कि अग्नि के सम्बन्ध से मक्खन का लौंदा गल जाता है ॥ १३४ ॥

ॐमुनिरत्रागस्त्यः ॥ १३४ ॥

यहां पर 'मुनि' पद का 'अगस्त्य वृक्ष' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १३४ ॥

भक्षितलौहपरिपाकलक्षणान्याह—

काले मलप्रवृत्तिर्लाघवमुदरे विशुद्धिरुद्गारे । अङ्गेषु नावसादो मनःप्रसादोऽस्य परिपाके ॥

लोह भक्षण करने के बाद उसके परिपाक के लक्षण—लौह भक्षण करने के बाद जब उसका भलीभांति परिपाक होता है तब उचित समय पर मल की प्रवृत्ति अर्थात् पाखाना होता है, पेट हल्का मालूम पड़ता है, उद्गार (डकार) शुद्ध होता है, अङ्गों में ग्लानि नहीं रहती तथा मन प्रसन्न रहता है ॥ १३५ ॥

क्रिमिरिपुचूर्णं लीढं सहितं स्वरसेन वङ्गसेनस्य। क्षपयत्यचिरान्नियतं लोहाजीर्णोद्भवं शूलम्

वायविडङ्ग का चूर्ण अगस्त्य वृक्ष के पत्र-रस के साथ चाटने से लौह सेवन करने के बाद उस के अजीर्ण होने से उत्पन्न हुआ शूल निश्चित रूप से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १३६ ॥

ॐवङ्गसेनस्य = अगस्तेः ॥ १३६ ॥

यहां पर 'वङ्गसेन' पद का 'अगस्त्य वृक्ष' अर्थ समझना चाहिये ॥ १३६ ॥

भवेद्यतिसारस्तु दुग्धं पीत्वा तु तं जयेत् । गुञ्जाद्वादशकादूर्ध्वं वृद्धिरस्य भयप्रदा ॥१३७॥

यदि लौह सेवन करने से अतीसार उत्पन्न हो जाय तो उसे दूध पीकर दूर करना चाहिये अर्थात् उसका औषध दुग्ध सेवन है। और इस शंकरलौह की १२ रत्ती से अधिक मात्रा सेवन करने में नहीं बढ़ानी चाहिये, क्योंकि उससे अधिक बढ़ाने से भय उत्पन्न करने वाला होता है अर्थात् हानिकारक होता है ॥ १३७ ॥

ॐशङ्करप्रणीतं लौहम् । इति सामान्याः क्रियाः ॥ १३७ ॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—शङ्कर भगवान् की कही हुई शङ्करलौह की विधि समाप्त हो गई तथा अर्श की सामान्य चिकित्सा भी समाप्त हो गई ॥ १३७ ॥

अथ रक्तार्शश्चिकित्सामाह ।

रक्तार्शसामुपेक्षेत रक्तमादौ स्रवद्भिषक् । दुष्टास्रे निःसृते न स्युः शूलानाहासृगामयाः १३८

रक्तार्श की चिकित्सा—वैद्य को उचित है कि वह रक्तार्श वाले रोगी के अर्श से निकलते हुये रक्त की प्रथम उपेक्षा कर दे अर्थात् उसके बन्द करने के लिये तत्काल ही कोई चिकित्सा न करे। क्योंकि दूषित रक्त के भलीभांति निकल जाने पर शूल, अफारा तथा रक्तसम्बन्धी कोई रोग नहीं होने पाते हैं अतः सर्वप्रथम दूषित रक्त निकलने देना ही प्रधान चिकित्सा है ॥ १३८ ॥

चन्दनादिक्वाथः—

चन्दनकिराततिक्तकधन्वयवासाःसनागराःकथिताः। रक्तार्शसांप्रशमनादार्वीत्वगुशीरनिम्बाश्च

चन्दनादि क्वाथ—लाल चन्दन, चिरायता, धमासा, नागरमोथा, दारुहल्दी, दालचीनी, खस तथा नीम की छाल इन सबों का क्वाथ पीने से रक्तार्श की शान्ति होती है ॥ १३९ ॥

ॐचन्दनमत्र रक्तम् । नागरमत्र मुस्तकम् ॥ १३९ ॥

यहां पर 'चन्दन' का 'लाल चन्दन' तथा 'नागर' का 'नागरमोथा' अर्थ समझना चाहिये। और 'कोई २ दारु हल्दी से दूसरा योग मानते हैं' यह भी समझना चाहिये ॥ १३९ ॥

नवनीततिलाभ्यासात्केशरनवनीतशर्कराऽभ्यासात् ।
दधिसरमथिताभ्यासाद् गुदजाः शाम्यन्ति रक्तवहाः ॥ १४० ॥

मक्खन तथा धुले हुये काले तिल का सेवन करने से या नागकेशर का चूर्ण, मक्खन तथा मिश्री के साथ भक्षण करने से वा दही की मलाई तथा मथित संज्ञक दही के सेवन करने से रक्तार्श शान्त होता है ॥ १४० ॥

*दधिसरः=दध्नस्तूपरिभागो यो घनस्नेहयुतः सरः। मथितं=सररहितं निर्जलं वस्त्रपूतं दधि॥

यहां पर 'दधिसर' पद से 'दही की मलाई अर्थात् दही के ऊपरवाला भाग जो कि गाढ़ा तथा स्नेह (घी) से युक्त मलाई रूप में होता है' उसका ग्रहण करना चाहिए। और 'मथित' पद से 'मलाई रहित विना जल डाले ही वस्त्र से छनी हुई दही' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १४० ॥

सपद्मकेशरं क्षौद्रं नवनीतं नवं लिहन्। सिताकेशरसंयुक्तं रक्तार्शसि सुखी भवेत् ॥ १४१ ॥

रक्तार्श होने पर यदि मनुष्य कमल का केशर, शहद, ताजा मक्खन, मिश्री तथा नागकेशर सबों को एकत्र कर चाटै तो वह सुखी होता है अर्थात् इससे रक्तार्श शान्त होता है ॥ १४१ ॥

**पयसा शृतेन यूषैः सतीनमुद्गाढकीमसूराणाम्। ओदनमद्यादम्लैः शालिश्यामाककोद्रवजम्॥
शशहरिणलावमांसैः कपिञ्जलैरेणमांसैश्च ॥ १४२ ॥**

औटाये हुये दूध के साथ या अम्ल रस युक्त किये हुये मटर, मूंग, अरहर या मसूर के जूस के साथ वा खरगोश, हरिण, लवा, तीतर या काला हरिण के मांसरस के साथ शालि (अगहनी धान्य), सांवा या कोदो के चावलों को पकाकर खाने से रक्तार्श में लाभ होता है ॥ १४२ ॥

***ओदनमद्यादम्लैरीपत्सुगन्धैश्च ॥ १४२ ॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—जूस को केवल अम्ल रस युक्त ही नहीं किन्तु किञ्चित् सुगन्धद्रव्य युक्त भी करके प्रयोग करना चाहिये ॥ १४२ ॥

समङ्गादिदुग्धमाह—

समङ्गोत्पलमोचाकतिरीटोत्पलचन्दनैः। सिद्धं छागीपयो दद्याद् गुदजे शोणितात्मके॥१४३॥

समङ्गादिदुग्ध—लज्जालू, कमल, मोचरस, लोध, नीलकमल तथा लाल चन्दन इन सबों को एकत्र समान भाग में लेकर क्षीरपाक की विधि से बकरी के दूध में डाल कर पकाने के बाद उक्त दूध को पिलाने से रक्तार्श में विशेष लाभकारी होता है ॥ १४३ ॥

***समङ्गा=लज्जालुः। मोचाको=मोचरसः। तिरीटो=लोध्रः। चन्दनं=रक्तम् ॥१४३॥**

यहां पर समङ्गा=लज्जालू, मोचाक=मोचरस, तिरीट=लोध तथा चन्दन=लाल चन्दन अर्थ समझना चाहिये ॥ १४३ ॥

क्षारसूत्रमाह—

भावितं रजनीचूर्णं स्नुहीक्षीरैः पुनः पुनः। बन्धनात्सुदृढं सूत्रं छिनत्त्यर्शो भगन्दरम् ॥१४४॥

क्षारसूत्र—हल्दी के सूक्ष्म चूर्ण में थूहर का दूध डालकर उसमें दृढ़ सूत्र (मजबूत डोरा) भिगोकर सुखा ले, पुनः उक्तरीति से हल्दी के चूर्ण तथा थूहर के दूध में सूत्र को भिगोकर तथा सुखा कर वारंवार भावना देकर जो सूत्र बनता है, उसे क्षारसूत्र कहते हैं, इससे अर्श को बांधने से मस्से कटकर गिर जाते हैं तथा भगन्दर के पृथक् २ छिद्रों को भी बांधने से वे कटकर एक छिद्र हो जाते हैं जिससे भगन्दर भी दूर हो जाता है ॥ १४४ ॥

नासिकाद्यर्शश्चिकित्सामाह—

नासानाभिसमुत्थेषु तथा मेढ्रादिजेष्वपि। त्रिष्वप्यर्शःसु कुर्वीत तत्र तत्र यथोचितम्॥१४५॥

नासिका आदि में होने वाले अर्श की चिकित्सा—नाक, नाभि तथा लिङ्गादि में उत्पन्न हुये इन तीन प्रकार के अर्शों में अपने २ स्थानानुकूल जो उचित चिकित्सा हो उसे करनी चाहिये॥

चर्मकीलचिकित्सामाह—

चर्मकीलन्तु संछिद्य दहेत्क्षारेण चाग्निना ॥ १४६ ॥

चर्मकील की चिकित्सा—चर्मकील को काटकर क्षार अथवा अग्नि के द्वारा उसके स्थान को जला देना चाहिये ॥ १४६ ॥

अर्शोऽपथ्यानाह—

स्त्रीपृष्ठं वेगरोधं च यानान्युत्कटकासनम्। यथास्वं दोषलं चान्नमर्शसः परिवर्जयेत् ॥१४७॥

इति चतुर्थो ग्रहणीरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ४ ॥

अर्श रोगियों के लिये अपथ्य—मल-मूत्रादि के वेग को रोकना, स्त्री के साथ मैथुन करना, हाथी-घोड़े आदि के पीठ पर सवारी करना, उकरू बैठना तथा जिस दोष (वातादिक) से अर्श उत्पन्न हुआ हो उसी दोष को बढ़ाने वाले अन्न का भक्षण करना-इन सबों का त्याग करना अर्श रोगी के लिये उचित है। क्योंकि ये सब अपथ्य हैं ॥ १४७ ॥

इति श्रीभावप्रकाशभावप्रकाशकारिकायां विद्योतिनीनामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डेऽष्टमे चिकित्साप्रकरणे द्वितीये भागे पञ्चमोऽर्शोधिकारः समाप्तः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठो जठराग्निविकाराधिकारः ॥ ६ ॥

तत्र सन्निकृष्टनिदानपूर्वकजठराग्निविकारानाह—

कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः। मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः॥

छठे जठराग्निविकाराधिकार में संनिकृष्ट निदानपूर्वक जठराग्नि के विकारों को कहते हैं—कफ, पित्त तथा वायु की अधिकता से तथा इन तीनों की समता से जठराग्नि ४ प्रकार की होती है अर्थात् कफ की अधिकता से १ मन्द, पित्त की अधिकता से २ तीक्ष्ण, वायु की अधिकता से ३ विषम और कफ-पित्त तथा वात की समता से ४ सम जठराग्नि होता है ॥ १ ॥

मन्दाग्निलक्षणमाह—

स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्नेर्मात्रा भुक्ता विपच्यते। छर्दिः सादः प्रसेकः स्याच्छिरोजठरगौरवम् ॥

मन्दाग्नि पुरुष के लक्षण—जिसकी जठराग्नि मन्द होती है उस मनुष्य के भोजन की मात्रा यदि थोड़ी भी हो तो भी नहीं पचती है। और वमन, ग्लानि, मुख से पानी गिरना, शिर तथा उदर में गुरुता (भारीपन) होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं ॥ २ ॥

तीक्ष्णाग्निलक्षणमाह—

मात्रातिमात्राऽप्यशिता तीक्ष्णाग्नेः पच्यते सुखम्। अतएव हि केनापि स्मृतस्तीक्ष्णाग्निरुत्तमः॥

तीक्ष्णाग्नि पुरुष के लक्षण—जो तीक्ष्ण अग्नि वाले पुरुष होते हैं, उनके भोजन की मात्रा चाहे जितनी अधिक हो तो भी सुखपूर्वक पच जाती है, अत एव किसी २ के मत से तीक्ष्ण अग्नि वाले पुरुष उत्तम (स्वास्थ्यवान्) माने जाते हैं ॥ ३ ॥

विषमाग्निलक्षणमाह—

अशिता खलु मात्राऽपि विषमाग्नेस्तु देहिनः। कदाचित्पच्यते सम्यक् कदाचिन्न विपच्यते ॥
तस्याध्मानमुदावर्त्त शूलं जठरगौरवम्। प्रवाहणमतीसारस्तथा स्यादन्त्रकूजनम् ॥ ५ ॥

विषमाग्नि पुरुष के लक्षण—जिस मनुष्य की अग्नि विषम होती है उसके भोजन की परिमित मात्रा भी कभी अच्छी तरह से पचती है और कभी नहीं भी पचती है। और आध्मान (पेट-फूलना), उदावर्त्त, शूल, उदर में गुरुता (भारीपन), अधोवायु छोड़ने के समय कफयुक्त विष्ठा का गिरना, अतीसार, आँतों का बोलना (गैड़गड़ाहट) ये सब लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ४-५ ॥

समाग्निलक्षणमाह—

समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते। एषां मध्ये तु सर्वेषां समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते॥६॥

समाग्नि पुरुष के लक्षण—जिसकी अग्नि सम होती है उस पुरुष के भोजन की मात्रा यदि सम (न अधिक, न कम) हो तो भली भांति पच जाती है। और पूर्वोक्त मन्दादि अन्य अग्नियों की अपेक्षा समाग्नि उत्तम कही हुई है ॥ ६ ॥

तन्त्रान्तरे तु—

अतिमात्रमजीर्णेऽपि गुरु चान्नं समश्नतः। दिवाऽपि स्वपतो येन पच्यते सोऽग्निरुत्तमः ॥७॥

किन्तु तंत्रान्तर में तो—'अजीर्ण होने पर भी अधिक मात्रा में, गुरु (देर में हजम होने वाला) भोजन करने पर तथा दिन में सोने पर भी पुरुष का अन्न जिस अग्नि से पच जाय वही अग्नि उत्तम समझना चाहिये' ऐसा कहा हुआ है ॥ ७ ॥

***एतेन तीक्ष्ण उत्तम उक्तः। स च मधुर स्निग्धादिभोज्यसम्पत्तावुत्तमः। तर्हि कथं तीक्ष्णस्य विकारमध्ये गणना? उच्यते—समोऽग्निः क्षुधाविघातादाश्वेव तथा विकारं न करोति। तीक्ष्णस्तु स्वल्पं कालमपि क्षुधाविघातादाश्वेव पैत्तिकान् कुरुते। इत्याहोत्तरत्र-तीक्ष्ण इति ॥ ७ ॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि-एक वचन से तीक्ष्ण अग्नि उत्तम बताया गया है, और वह मधुर स्निग्ध आदि भोज्य पदार्थों की जहां पर अधिकता हो वहां पर उत्तम होता है, अब यहां पर यह शंका होती है कि-जब तीक्ष्ण अग्नि उत्तम ही है तब उसकी रोगों के अन्दर गणना क्यों की गई है? इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—सम अग्नि क्षुधा लगने पर भोजन न मिलने पर शीघ्र ही कोई विकार तीक्ष्ण अग्नि की भांति नहीं कर देती है। किन्तु तीक्ष्ण अग्नि तो क्षुधा (भूख) लगने पर भोजन में थोड़ा भी विलम्ब हो जाने से शीघ्र ही पित्तजन्य विकारों को उत्पन्न कर देती है। इन्हीं सब आशयों को लेकर आगे का 'तीक्ष्ण'—इत्यादि श्लोक कहा गया है ॥

तीक्ष्णः पित्तसमुत्थानान्विषमो वातहेतुकान्। तथा करोति मन्दाग्निर्विकारान् कफसम्भवान्

तीक्ष्ण अग्नि-पित्तसम्बन्धी विकारों को उत्पन्न करती है। विषम अग्नि-वातसम्बन्धी तथा मन्द अग्नि-कफसम्बन्धी विकारों को उत्पन्न करती हैं ॥ ८ ॥

भस्मकस्य निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

वह्वर्त्तिरूक्षान्नभुजां नराणां क्षीणे कफे मारुतपित्तवृद्धौ।
अतिप्रवृद्धः पवनान्वितोऽग्निर्भुक्तं क्षणाद्भस्म करोति यस्मात्।
तस्मादसौ भस्मकसंज्ञकोऽभूदुपेक्षितोऽयं पचते च धातून् ॥ ९ ॥

भस्मक रोग की निदानपूर्वक सम्प्राप्ति के लक्षण—बहुत पीडाकारक तथा रूक्ष अन्न को भोजन करने वाले मनुष्यों का जब कफ क्षीण हो जाता है तथा वात और पित्त बढ़ जाता है तब वायु से युक्त होकर अत्यन्त बढ़ी हुई अग्नि जो कुछ खाया हुआ अन्न होता है उसे तत्काल पचाकर भस्म कर देती है। इसी से इस रोग को लोग 'भस्मक' कहते हैं, इसकी चिकित्सा न करने से रस-रक्तादि धातुओं का भी पाक होने लगता है, अतः इसकी तत्काल चिकित्सा करना परम कर्त्तव्य है ॥ ९ ॥

भस्मकस्य सोपद्रवमरिष्टमाह—

तृट्स्वेददाहमूर्च्छादीन्कृत्वैषोऽत्यग्निसम्भवान्।
पक्त्वाऽन्नमाशु धात्वादीन् स क्षिप्रं नाशयेद् ध्रुवम् ॥ १० ॥

भस्मक रोग के उपद्रवयुक्त अरिष्ट—भस्मक रोग की चिकित्सा न करने से यह अग्नि की अधिकता से होने वाले प्यास, स्वेद, दाह तथा मूर्च्छा आदि रोगों को उत्पन्न करके शीघ्र ही अन्न तथा शरीरस्थ धात्वादि पदार्थों को पचाकर मनुष्य को शीघ्र ही नष्ट कर देती (मार डालती) है ॥

अजीर्णस्य विप्रकृष्टनिदानमाह—

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च सन्धारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥ ११ ॥

अजीर्ण रोग के विप्रकृष्ट निदान—अधिक जल पीने से, विषम (कभी कम, कभी अधिक) भोजन करने से, भूख-मल-मूत्रादि का वेग रोकने से, सोने में विपर्यय होने से, समय पर तथ हितकर एवम् लघु भी अन्न भोजन करने पर मनुष्य का नहीं पचता है ॥ ११ ॥

*सन्धारणात्-क्षुधामूत्रपुरीषादीनाम् । स्वप्नविपर्ययाद्=दिवाशयनाद्रात्रौ जागरणात्। 'लघु चापी' त्यपिशब्दात् स्निग्धोष्णादिगुणयुक्तमपि ॥ ११ ॥

यहां पर 'सन्धारणात्' पद का 'भूख-मल-मूत्रादि का वेग रोकने से' यह अर्थ समझना चाहिये तथा 'स्वप्नविपर्ययात्' पद का 'सोने में विपर्यय होने से अर्थात् दिन में सोने तथा रात्रि में जागने से' और 'लघु'चापि' इस जगह पर पठित 'अपि' शब्द से 'लघु तथा स्निग्ध और उष्ण आदि गुण से युक्त भी अन्न' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ११ ॥

अन्यच्च—

तृष्णाभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन ।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥ १२ ॥

और भी कहा है कि—प्यास, भय तथा क्रोध से व्याप्त, लोभी, रोग तथा दीनता से पीड़ित या अधिक द्वेष से युक्त होता हुआ जो मनुष्य भोजन करता है, उसका वह अन्न भली भांति से नहीं पचता ॥ १२ ॥

*परिप्लुतेन = व्याप्तेन ॥ १२ ॥

यहां पर 'परिप्लुत' पद का 'व्याप्त' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १२ ॥

अजीर्णप्राप्तिकारणमाह—

अनात्मवन्तः पशुवद् भुञ्जते येऽप्रमाणतः । रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥१३॥

अजीर्ण होने के कारण—जो बुद्धिहीन मनुष्य पशु की भांति अप्रमाण (अन्धाधुन्ध) अन्न भोजन करते हैं, वे अनेक रोगों के कारणस्वरूप अजीर्ण रोग को प्राप्त करते हैं अर्थात् उन्हें अजीर्ण हो जाता है ॥ १३ ॥

*उक्तकारणेभ्योऽतिमात्रान्नभोजनं विशेषादजीर्णस्य कारणम्, अजीर्णञ्च बहुव्याधीनां कारणमित्याह—अनात्मेति । अनात्मवन्तः=अबुद्धिमन्तः । रोगानीकस्य=विसूच्यादेर्मूलं= कारणम् ॥ १३ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—'अनात्मे'-त्यादि जो यह श्लोक कहा गया है, वह 'पूर्वोक्त अधिक जल पीना आदि कारणों से भिन्न अधिक मात्रा में अन्न भोजन करना, यह अजीर्ण का विशेष रूप से कारण है और अजीर्ण अनेक व्याधियों का कारण है' इस विषय को बताने के लिये । 'अनात्मवन्तः' पद का 'बुद्धिहीन', तथा 'रोगानीकस्य'-अर्थात् 'अनेक रोगों के' इस कहने से 'विसूची (हैजा) आदि अनेक रोगों के' यह अर्थ समझना चाहिये । 'मूलम्' पद का 'कारण स्वरूप' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १३ ॥

अन्यच्च—

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम् । तन्मूलो रोगसङ्घातस्तद्विनाशाद्विनश्यति ॥ १४॥

और भी कहा है कि—प्रायः करके भोजन में विषमता होने से मनुष्यों को अजीर्ण रोग उत्पन्न होता है, जो कि रोग-समूह को उत्पन्न करने का प्रधान कारण है, अत एव अजीर्ण का नाश होने से वह रोग-समूह नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

*रोगसङ्घातः = रोगसमूहः । अजीर्णविनाशाद्धि विनश्यति ॥ १४ ॥

यहां पर 'रोगसंघातः' पद का 'रोग समूह' तथा 'तद्विनाशात्' पद का 'अजीर्ण का नाश होने से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १४ ॥

अजीर्णसामान्यलक्षणमाह—

ग्लानिगौरवविष्टम्भभ्रममारुतमूढताः । विबन्धो वा प्रवृत्तिर्वा सामान्याजीर्णलक्षणम् ॥१५॥

अजीर्ण का सामान्य लक्षण—शरीर में ग्लानि तथा गुरुता प्रतीत होना, उदर में विष्टम्भ होना, भ्रम, वायु का अवरोध, मल का अवरोध वा मल का अधिक निकलना ये सब अजीर्ण के सामान्य लक्षण हैं ॥ १५ ॥

*मारुतमूढता = वायोरवरोधः । विबन्धः = मलाप्रवृत्तिः ॥ १५ ॥

यहां पर 'मारुतमूढता' पद का 'वायु का अवरोध' तथा 'विबन्धः' पद का 'मल का अवरोध' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १५ ॥

सन्निकृष्टकारणसहिताजीर्णभेदानाह—

आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः । अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ॥१६॥

सन्निकृष्ट कारण के सहित अजीर्ण के भेद—कफ, पित्त तथा वायु इन तीनों के प्रकोप से क्रम से अर्थात् कफ से आमाजीर्ण, पित्त से विदग्धाजीर्ण तथा वायु से विष्टब्धाजीर्ण नामक ३ प्रकार का अजीर्ण होता है । और कोई २ महर्षि सुश्रुतादि रसशेष से चौथा रसशेषाजीर्ण भी मानते हैं ॥१६॥

*'त्रिभिरि'त्येकशो न तु मिलितैः । केचित्तु = सुश्रुतादयः । रसशेषतः=भुक्तस्य पक्वस्य सारभूतो यो द्रवः स रसः, सोऽपि पच्यते, भुक्तस्य सारभूतो यो द्रवः स चापक्वः सारो रसशेषः, तस्मात् चतुर्थमजीर्णम् । ननु आमाजीर्णाद्रसशेषस्य को भेदः? उच्यते—आमं मधुरतां गतमपक्वमन्नमेव । रसशेषस्तु भुक्तस्य पक्वस्य सारभूतो यो द्रवः स चापक्व इति भेदः ॥ १६ ॥

यहां पर 'त्रिभिः' इस पद से 'इन तीनों के प्रकोप से अर्थात् पृथक् २ इन तीनों के प्रकोप से न कि मिले हुये वातादि तीनों दोषों के प्रकोप से' यह भावार्थ समझना चाहिये । और 'केचित्' इस पद का 'कोई २ सुश्रुतादि महर्षि' यह अर्थ समझना चाहिये । और 'रसशेषतः, चतुर्थम्, अजीर्णम्' अर्थात् 'रसशेष से चौथा रसशेषाजीर्ण भी' इसका स्पष्ट अर्थ यह समझना चाहिये कि—भोजन करने पर आहार पदार्थ के पच जाने पर उसका जो सारभूत द्रव पदार्थ है उसे 'रस' कहते हैं । और उस (रस) का भी परिपाक होता है, जिससे कि उत्तरोत्तर (परिपाक होकर) रक्तादि धातु बनते हैं । अतः खाये हुये आहार द्रव्य का सारभूत द्रव पदार्थ जो रस रूप है, वह यदि परिपाक न होने से अपक्व अवस्था में ही रह जाय तो उसे 'रसशेष' कहते हैं । इसी (रस शेष) से उत्पन्न होने वाले अजीर्ण को चौथा रसशेषाजीर्ण भी मानते हैं ।

अब यहां पर यह शङ्का होती है कि—आमाजीर्ण से इस रसशेषाजीर्ण में क्या भेद है ? तो इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—भोजन किया हुआ अन्न जब अपक्व अवस्था में केवल मधुर भाव को प्राप्त हुआ रहता है तब वह 'आम' कहलाता है, इसीसे इससे होने वाले अजीर्ण को 'आमाजीर्ण' कहते हैं । तथा भोजन किये हुये अन्न का परिपाक हो चुकने के बाद जो सारभूत द्रव पदार्थ 'रस' होता है, उसका पुनः परिपाक होने से अवशिष्ट जो अपक्व अंश है उसे 'रसशेष' कहते हैं । अत एव इससे होने वाले अजीर्ण को 'रसशेषाजीर्ण' कहते हैं । यहां पर दोनों का यही भेद समझना चाहिये ॥ १६ ॥

अजीर्णं पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च । वदन्ति षष्ठञ्चाजीर्णं प्राकृतं प्रतिवारसम् ॥ १७ ॥

और कोई २ आचार्य गौरव (शरीर में भारीपन), श्रम तथा शूल आदि दोषों को नहीं उत्पन्न करने वाला २४ घण्टे में पचने वाला 'दिनपाकि' नामक पांचवां अजीर्ण तथा विकारों को नहीं उत्पन्न करने वाला प्रतिदिन होने वाला 'प्रतिवासर' नामक छठां अजीर्ण भी कहते हैं ॥ १७ ॥

*निर्दोषं = गौरवश्रमशूलादिदोषाजनकम् । दिनपाकि च = अहोरात्रेण पाकं यातीति स्वभावः, यत्तु मात्राकालसात्म्यादिदोषाद्दिनान्तरे पाकं याति तद्दिनपाकि । अत एव 'यामध्ये न भोक्तव्यमि'ति वचनम् । तदेवाह—वदन्तीति । प्राकृतम् = अविकारकम् । प्रतिवासरं = प्रतिदिनभावि । 'भुक्तं यावन्न जीर्णं तावदजी०'मि'त्युच्यते । एतदभिधानस्य प्रयोजनं पाकार्थं वामपार्श्वे शयनं प्रियशब्दादिसेवनादिकम् । न चात्राहारस्य निषेधः । *'प्रातराशे त्वजीर्णे तु सायमाशो न दुष्यति' । *इति वचनेन सायमाशस्यावश्यं कर्त्तव्यत्वात् ॥

यहां पर 'निर्दोष' पद का 'गौरव, श्रम, शूल आदि दोषों को नहीं उत्पन्न करने वाला' । 'दिनपाकि' पद का 'स्वभावतः अहोरात्र (२४ घण्टे) भर में पचने वाला अथवा मात्रा, काल तथा सात्म्य आदि के दोष से अर्थात् मात्रा तथा काल का औचित्य न होने से एवम् सात्म्य पदार्थ के

दूषित हो जाने से दूसरे दिन पचने वाला अर्थात् उस दिन नहीं पचने वाला अजीर्ण' यह अर्थ समझना चाहिये। अतएव 'भोजन करनेके बाद २ प्रहर के अन्दर पुनः भोजन नहीं करना चाहिये' यह वचन में कहा हुआ है।

और 'प्राकृत' पद का 'विकारों को नहीं उत्पन्न करने वाला' तथा 'प्रतिवासरम्' पद का "प्रतिदिन होने वाला' अर्थात् 'जब तक भोजन किया हुआ पदार्थ नहीं पचता है तब तक अजीर्ण नाम से कहा जाने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये। और जब कि इस पांचवें तथा छठे अजीर्ण से कोई विकार नहीं है तब इन दोनों अजीर्णों के कहने का प्रयोजन यह है कि—इन अजीर्णों में पचने के वास्ते बाईं करवट सोना तथा प्रिय शब्द आदि का सुनना आदि इन सब क्रियाओं को करना चाहिये किन्तु आहार का निषेध (भोजन बन्द) करना चाहिये, क्योंकि—'प्रातःकाल भोजन किये हुये अन्न का परिपाक न होने पर भी सायङ्काल (रात्रि) में पुनः भोजन करने से कोई हानि नहीं होती है' इस वचन से रात्रि में भोजन अवश्य करने का विधान मिलता है, ये सब बातें यहां पर और समझ लेना चाहिये॥ १७॥

आमाजीर्णलक्षणमाह—

तत्रामे गुरुतोत्क्लेशः शोथो गण्डाक्षिकूटगः। उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धं प्रवर्त्तते॥ १८॥

आमाजीर्ण के लक्षण—आमाजीर्ण में उदर तथा शरीर में गुरुता (भारीपन), वमन होने के समान प्रतीत होना, गण्ड स्थल तथा पलकों पर सूजन एवम् जैसा भोजन किया है उसी के अनुसार अविदग्ध उद्गार अर्थात् आहारानुसार मीठी आदि डकार आना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं॥१८॥

***गुरुता उदराङ्गयोः। उत्क्लेशः=उपस्थितवमनमिव। अक्षिकूटः=अक्षिपुटकः॥१८॥**

यहां पर 'गुरुता' पद का 'उदर तथा शरीर में गुरुता'। 'उत्क्लेश' पद का 'वमन होने के समान प्रतीत होना'। 'अक्षिकूट' पदका 'पलक' अर्थ समझना चाहिये॥ १८॥

विदग्धाजीर्णलक्षणमाह—

विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः। उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते॥

विदग्धाजीर्ण के लक्षण—विदग्धाजीर्ण में भ्रम, प्यास, मूर्च्छा तथा पित्त से होने वाली ओष, चोष आदि तथा दाहादि अनेक प्रकार की पीडायें, धुयें युक्त खट्टी डकार, पसीना और दाह ये सब होने लगते हैं॥ १९॥

***विविधा रुजः=ओषचोषादयो दाहादयश्च॥ १९॥**

यहां पर 'विविधा रुजः' इन पदों का 'ओष-चोष आदि तथा दाहादि अनेक प्रकार की पीडायें' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १९॥

विष्टब्धाजीर्णलक्षणमाह—

विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः। मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम्॥२०॥

विष्टब्धाजीर्ण के लक्षण—विष्टब्धाजीर्ण में शूल, आध्मान (अफरा), अनेक प्रकार की वात से होने वाली अङ्गों में सुई चुभोने तथा तोड़ने के समान पीडा आदि होना, मल तथा अधोवायु का न निकलना, अङ्गों का जकड़ जाना, मूर्च्छा तथा अङ्गों में पीड़ा ये सब लक्षण प्रकट होते हैं॥२०॥

***वातवेदनाः=तोदभेदादयः। स्तम्भोऽङ्गानाम्। मोहो=मूर्च्छा॥ २०॥**

यहां पर 'वातवेदनाः' पद का 'वात से होने वाली तोद-भेदादि (अङ्गों में सूई चुभोने तथा तोड़ने के समान पीडा आदि) होना'। 'स्तम्भ' पद का 'अङ्गों का जकड़जाना'। 'मोह' पद का 'मूर्च्छा' यह अर्थ समझना चाहिये॥ २०॥

रसशेषाजीर्णलक्षणमाह—

रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे॥ २१॥

रसशेषाजीर्ण के लक्षण—रसशेषाजीर्ण में अन्न के साथ विद्वेष (अरुचि), हृदय की अविशुद्धि तथा गुरुता ये सब लक्षण प्रकट होते हैं॥ २१॥

अजीर्णोपद्रवानाह—

मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः । उपद्रवा भवन्त्येते मरणञ्चाप्यजीर्णतः ॥ २२ ॥

अजीर्ण के उपद्रव—मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, लार का गिरना, ग्लानि और भ्रम ये सब अजीर्ण के उपद्रव हैं। एवम् अधिक अजीर्ण होने से अन्त में मृत्यु भी होजाती है ॥ २२ ॥

अतिशयितेभ्योऽजीर्णेभ्यो विसूच्यादिरोगानाह—

आमं विदग्धं विष्टब्धमित्यजीर्णं यदीरितम् । विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका॥

अजीर्ण की अधिकता से विसूचिका (हैजा) आदि रोगों की उत्पत्ति—आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण, और विष्टब्धाजीर्ण ये जो तीन अजीर्ण पूर्व में कह आये हैं, उन्हीं की अधिकता से विसूचिका, अलसक तथा विलम्बिका नामक रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

छनात्र यथासङ्ख्यम् । तदा विष्टब्धाद्द विलम्बिका भवितुमर्हति । सा च कफवाताभ्यां भवतीत्येकैकतोऽजीर्णाद्विसूच्यादित्रयोत्पत्तिः ॥ २३ ॥

यहां पर आमादि तीन अजीर्णों से विसूचिकादि तीन रोग क्रमसे अर्थात् आमाजीर्ण से विसूचिका, विदग्धाजीर्ण से अलसक तथा विष्टब्धाजीर्ण से विलम्बिका रोग होते हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि ऐसा होनेपर विष्टब्ध से ही विलम्बिका का होना न्यायप्राप्त होता, किन्तु वह उचित नहीं है क्योंकि वह कफ तथा वात से ही उत्पन्न होती है अतः एक २ अजीर्ण से विसूचिका आदि तीनों रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

विसूचिकानिरुक्तिमाह—

सूचीभिरिव गात्राणि तुदन्सन्तिष्ठतेऽनिलः । यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते ॥२४॥

विसूचिका[1] की निरुक्ति—जिस रोग में अजीर्ण से वायु कुपित होकर सूई द्वारा अङ्गों में चुभोने की-सी पीड़ा देने वाला रहता है उसे वैद्य लोग 'विसूची' कहते हैं ॥ २४ ॥

विसूचिकानिदानमाह—

न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः । मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः ॥

विसूचिका[2] का निदान—आयुर्वेद के जानने वाले होकर जो परिमित (थोड़ी मात्रा में)

---

१. अपने यहां तो 'सूचीभिरिव गात्राणि तुदन्सन्तिष्ठतेऽनिलः । यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते'॥ इस प्रकार विसूचिका शब्द की निरुक्ति मानी ही गई है। पाश्चात्त्य विद्वान् इसकी निरुक्ति निम्न प्रकार मानते हैं:—

पाश्चात्त्य विद्वान् इस रोग को कालरा (Cholera) कहते हैं। कालरा शब्द का अर्थ है टोंटी या नलिका (Sput) इस रोग का यह नाम इसलिये रखा गया है कि जैसे किसी पात्र की टोंटी से पानी की धारा बहती रहती है वैसे ही इस रोगी की गुदनलिका से पानी के समान पतले दस्तों की धारा बहती रहती है।

२. पाश्चात्त्य विज्ञान में इस रोग का प्रधान कारण कौक का अल्पविरामाकारी (,) जीवाणु (Koch's Comma Bacillus) माना जाता है। यह जीवाणु आकार में अल्पविराम (Comma) के समान होता है इसीलिये इसे कोमा वैसीलस (Comma Bacillus) कहते हैं। यह जीवाणु अत्यन्त चञ्चल है इसलिये इसको विब्रिओ कालरा (Bibrio cholera) भी कहते हैं। रोगी के मल तथा वमन में रोग के असंख्य जीवाणु होते हैं। इसलिये मुख्यतः वमन तथा मलदूषित जल, दुग्ध और अन्य खाद्य-पेय पदार्थों के सेवन से ये स्वस्थ मनुष्यों पर संक्रान्त होते हैं। खाद्य-पेय पदार्थों की दुष्टि का मलदूषित वस्त्र-पात्रादि के संसर्ग से, परिचारक या वाहक के हाथों से और मक्खियों से होती है। मक्खियां अनावृत खाद्य पदार्थों पर बैठ कर उनको अपने पैरों से तथा मल से दूषित करती हैं। इस रोग का प्रसार निम्न और कुछ प्रकारों से माना गया है। जैसे:—

१—विसूचिका-वाहकों द्वारा—जो रोगी विसूचिका से पीड़ित होते हैं उनके मल से रोगयुक्त होने के पश्चात् भी कुछ दिनों तक ये जीवाणु बाहर निकला करते हैं और इस प्रकार रोग का प्रसार

भोजन करने वाले होते हैं उन लोगों को यह रोग (विसूचिका) कदापि नहीं होता है किन्तु जो अपने चित्त को नहीं वश कर सकने वाले अतएव मूढ होकर भोजन के लोभी होते हैं अर्थात् अधिक भोजन करने वाले होते हैं उन्हीं लोगों को उक्त विसूचिका रोग उत्पन्न होता है ॥ २५ ॥

***विदितागमाः = ज्ञातायुर्वेदाः ॥ २५ ॥**

यहां पर 'विदितागमाः' पद का 'आयुर्वेद के जानने वाले' यह अर्थ समझना चाहिये ॥२५॥

विसूचिकालक्षणमाह—

मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा शूलं भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः ।
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः ॥ २६ ॥

विसूचिका के[1] लक्षण—विसूचिका रोग में मूर्च्छा, अतिसार (अधिक दस्त आना), वमन,

---

होता रहता है, ऐसे व्यक्तियों को वाहक (Carrier) कहते हैं। और इस अवस्था को वाहकावस्था (Carrier Stage) कहा जाता है। ये वाहक स्वस्थ (Healthy Carrier) अथवा व्याधित (Convalescent Carrier) दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

विसूचिका में एक तीसरे प्रकार का भी वाहक होता है जिसे व्याधिपूर्व (Incubatory) वाहक कहते हैं। इसका मतलब यह है कि-रोग के सञ्चयकाल में भी जीवाणु उपसृष्ट मनुष्य के मल के साथ बाहर निकलते हैं और वह मनुष्य प्रत्यक्ष रोग से पीडित होने के पूर्व रोग का प्रसार करता है। अर्थात् व्याधिपूर्व वाहक (Incubatory Carriers) रोगप्रसार की दृष्टि से भयङ्कर होते हैं। यद्यपि एक स्थान में विसूचिका का प्रसार दूषित खाद्यपेय-पदार्थों द्वारा होता है तथापि उसका प्रसार स्थानान्तरों में इन वाहकों ही द्वारा होता है ऐसा माना जाता है। अपने देशमें जब असंख्य लोग अस्वास्थ्यजनक तीर्थस्थानों में एकत्र होते हैं तब प्रायः वहाँ विसूचिका उत्पन्न होती है और जब वहां से लौटते हैं तब उनमेंसे जो वाहक होते हैं वे स्थान २ पर रोगको फैलाते जाते हैं।

अपने यहां यह रोग अजीर्ण के कारण होता है ऐसा प्रधानतया माना गया है, जैसा कि उपर्युक्त—'न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः। मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः' ॥

इस श्लोक से स्पष्ट हैं। किन्तु पाश्चात्त्य विद्वान् उपर्युक्त अजीर्ण तथा अन्य दूसरे कारणों को भी केवल सहायक कारण मानते हैं, प्रधानता तो केवल 'कोमा बेसीलस' (Comma Bacillus) नामक जीवाणु को ही मानते हैं। वे लोग निम्न कारणों को विसूचिका का सहायक कारण मानते हैं:—

सर्दी लगना, पाचनसंस्थान की खराबी, आन्त्रशोथ, आमाशयिक अम्ल की कमी, अनशन या अध्यशन, मद्यातिसेवन, भय, मानसिक विकार तथा थकावट और तीव्र विरेचन इत्यादि।

वायुमण्डल की उष्णता तथा आर्द्रता अधिक होने के समय गरमी के मौसम के अन्त में और वर्षा के प्रारम्भ में जब पिछले साल की वर्षा कम होती है तब यह रोग अधिक हुआ करता है। बङ्गाल, बिहार तथा आसाम इत्यादि नीची शतह की भूमि में यह अधिक होता है।

(१) पाश्चात्त्य-विज्ञान में विसूचिका के लक्षण ४ समूहों में बाँटे गये हैं—

१—पूर्वरूप (Premonitory Diarrhoea) २—विरेचन की अवस्था (Stage of evacuation) ३—अवसाद की अवस्था (Stage of Collapse) तथा ४—प्रतिक्रिया की अवस्था (Stage of Reaction)।

१—पूर्वरूप (Premonitory Diarrhoea)—यह अवस्था सौम्य प्रकार में कभी २ दिखाई देती है। इसमें पित्तयुक्त हरे रंग के पीड़ा रहित अनेक दस्त, वमन, हृल्लास; कमजोरी, मूत्र की कमी तथा त्वचा की आर्द्रता इत्यादि लक्षण होते हैं।

२—विरेचन की अवस्था (Stage of evacuation)-प्रायः इसी अवस्था से रोग का प्रारम्भ होता है। रोग का आक्रमण यकायक होता है। आक्रमण के साथ विरेचन शुरू होता है।

प्यास अधिक लगना, शूल, भ्रम, हाथ-पैरों में ऐंठन, जंभाई, शरीर में दाह शरीर के वर्णका बदल जाना, कँपकपी, हृदय में पीड़ा तथा शिर में शूल (पीड़ा) ये सब लक्षण प्रकट होते हैं ॥२६॥

दस्त के समय पेट में गुड़गुड़ शब्द होता है किन्तु मरोड़ या कुन्थन नहीं होता। थोड़े समय में वमन भी शुरू हो जाता है। वमन में प्रथम अन्न का कुछ अंश होता है, तत्पश्चात् केवल पानी के समान पतला और श्वेत वर्ण का वमन होता है। वमन के समय रोगी को किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होती। वमन तथा दस्तों के कारण रोगी थोड़े ही समय में क्षीण हो जाता है। वमन और दस्त के सिवाय क्षुधानाश, प्यास की अधिकता तथा जिह्वा की शुष्कता ये लक्षण भी होते हैं। हाथ-पैर की अंगुलियों में ऐंठन (Cramps) प्रारम्भ होकर ऊपर पिंडलियों में फैलती है और उदर की दीवाल तक पहुँचती है। ऐंठन के समय तीव्र पीड़ा होती है। शरीर में पसीना आता है। पसीने के कारण शरीर की वाह्यत्वचा का तापक्रम स्वाभाविक अंश से भी कम हो जाता है परन्तु गुदा में-१०३—१०४ तक तापक्रम रहता है। रक्तभार तथा मूत्र की राशि भी कम होती है।

इस रोग में जो दस्त होते हैं वे प्रथम मल तथा पित्तयुक्त होने के कारण रंगीन होते हैं किन्तु शीघ्र ही पित्त की अनुपस्थिति से तण्डुलजल के समान श्वेत वर्ण के हो जाते हैं। किसी समय आन्त्रगत रक्तस्राव के कारण उनका रंग हल्का गुलाबी हो सक्ता है। वे पानी के समान पतले होते हैं। कभी २ ये गुदद्वार से अखण्ड प्रवाह के रूप में बहते रहते हैं। प्रत्येक समय सेर सवा सेर तक उनकी राशि होती है और थोड़े ही समय में कई गैलन पानी शरीर से नष्ट हो जाता है। दस्त में बदबू बहुत कम होती है और ठोस पदार्थ भी उसमें अल्पमात्रा में होते हैं। दस्त एक पात्र में रखने से ऊपर स्वच्छ पानी की तह जम जाती है और नीचे कुछ तलछट इकट्ठा होता है। ऊपर पानी में नमक, अल्ब्यूमिन (Albumin) तथा म्यूसिन (Mucin) होता है। उसकी प्रतिक्रिया क्षारीय तथा गुरुत्व १००६ से १०१३ तक होता है। तलछट में म्यूकस (Mucous), एपीथीलियल सेल (Epithelial Cell), श्लेष्मलकला (Mucous membrane) के छोटे २ टुकड़े, विसूचिका के जीवाणु तथा अन्य असंख्य जीवाणु, लालकण, श्वेतकण तथा अमोनियम (Ammonium) और मैगनिशियम (magnesium) के फास्फेट के कण होते हैं।

३—अवसाद की अवस्था (Stage of Collapse)—यह अवस्था विरेचन अवस्था प्रारम्भ होने के ४-८ घण्टे के बाद शुरू होती है। क्वचित् ४८ घण्टे के बाद भी शुरू होती है। प्रायः ४-८ दस्त और ३-४ वमन होने पर उत्पन्न होती है। क्वचित् एक ही दस्त और वमन से भी हो सक्ती है। इस अवस्था में वमन और दस्त जारी रहते हैं। हाथ-पैरों की तथा शरीर के अन्य अङ्गों की ऐंठन अधिक कष्टकारक होती है। वमन तथा दस्त के कारण शरीर से जो जलांश नष्ट होता है उसीसे यह अवस्था उत्पन्न होती है। इसमें त्वचा ठण्ढी तथा सलवटदार होती है, उस पर ठंढा पसीना आता है। बगल में ताप ९५° फै० तक कम मिलता है, आंखें भीतर धंसी हुई होती हैं, गाल में गढे बन जाते हैं, आवाज अस्पष्ट और क्षीण होती है। चेहरे पर, नखों पर और शाखाओंपर नीलिमा छा जाती है, हाथ-पैर ठण्ढे पड़ जाते हैं। उच्छ्वास ठण्ढा होता है, श्वसन (Respirations) उथला होता है। और वेग प्रति मिनट ३०-४० तक तेज हो जाता है। रक्तभार ७० मि० मी० या उससे भी कम होता है, नाडी क्षीण, अस्पष्ट और अनियमित हो जाती है। तथा शाखाओं पर उसका प्रतीति करना भी कठिन होता है। रक्त न होने के कारण शाखागत शिराओं का पतन (Collapse) हो जाता है, मूत्राघात होता है, रोगी अत्यन्त बेचैन होता है, कभी-कभी ऐंठन के मारे रोगी चिल्लाता है। प्रायः अन्त तक रोगी होश में रहता है, रोगी कभी उदासीन और कभी अत्यन्त चिन्तातुर रहता है। उस अवस्था के अन्त में वमन तथा दस्त कुछ कम हो जाते हैं, परन्तु इससे रोगी की वास्तविक स्थिति का कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सक्ता। इसकी अवधि १२-३६ घण्टे की होती है। यदि रोग तीव्र हो तो हृदय क्षीण और अनियमित हो जाता है, रक्त गाढ़ा होने के कारण उसका सञ्चार ठीक नहीं होता, मूत्राघात से मूत्रविषमयता (Ureamia) होती है और शरीर में रोग की विष-

❀ उद्वेष्टनं हस्तपादयोः । शिरसो भेदः = शिरःशूलम् ॥ २६ ॥

यहां पर 'उद्वेष्टन' पद का 'हाथ-पैरों में ऐठन' तथा 'शिरसो भेदः' पदों का 'शिर में शूल (पीड़ा)' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २६ ॥

मयता होती है। इन सब कारणों से रोगी की मृत्यु हो जाती है। यह अवस्था अधिक समय तक रहने से मूत्रविषमयता (Ureamia) उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना होती है। कभी २ यह अवस्था अकस्मात् उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु भी अकस्मात् होती है।

अपने यहां अधिकांश में इसी अवस्था को असाध्यावस्था माना है, जैसा कि आगे कहा जा रहा है कि:—

'यः श्यावदन्तौष्ठमुखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरोऽसौ पुनरागमाय' ॥

४—प्रतिक्रिया की अवस्था (Stage of reaction)—यदि रोग बहुत तीव्र न हो या उसकी उचित चिकित्सा न की जाय तो यह अवस्था उत्पन्न होती है। इसमें शरीर के भीतर प्रतिक्रिया आरम्भ होती है। बाह्यत्वचा की उष्णता शनैः २ स्वाभाविक अंश तक या उससे भी अधिक होती है। हृदय अधिक बलवान् होकर रक्त का भार बढ़ने लगता है जिससे नाड़ी स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। आमाशय और आन्त्र में कुछ शान्ति उत्पन्न हो कर वमन तथा दस्त कम होते हैं। दस्त कुछ गाढ़े और पित्त की उपस्थिति से पीले रंग के होते हैं। यदि अवसाद की अवस्था अधिक काल तक न हुई हो तो मूत्र की उत्पत्ति शुरू हो जाती है और रोगी धीरे २ स्वस्थ होने लगता है। यदि अवसाद की अवस्था (Stage of Collaps) अधिक काल तक हुई हो तो प्रतिक्रिया तीव्र स्वरूप की होती है। कारण यह होता है कि रक्तसञ्चार शुरू होने पर आन्त्रगत विष रक्त में प्रविष्ट होकर तीव्र विषमयता (Toxemia) उत्पन्न होती है, जिसको रोगी सहन नहीं कर सकता। और जिसके कारण मूत्र की उत्पत्ति शुरू न होकर मूत्रविषमयता, तीव्रसन्ताप, प्रलाप, तन्द्रा (Cholera Typhofid), बेहोशी इत्यादि गम्भीर लक्षण उत्पन्न हो कर इस अवस्था में भी रोगी की मृत्यु होती है।

इस प्रकार लगातार तथा प्रचुर मात्रा में वमन, विरेचन, तण्डुल जल के समान श्वेतवर्ण के दस्त, पश्चात् वमन, मूत्राघात, हाथ-पैरों की पेशियों में ऐंठन, अवसाद के लक्षण तथा बाह्य त्वचा और गुदा के तापक्रम में ५ तक का अन्तर ये सब विसूचिका के लक्षण हैं। ये सारे लक्षण अपने यहां के 'मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा' इत्यादि श्लोक में वर्णित लक्षणों से मिलते-जुलते हैं।

पाश्चात्य विज्ञान में दो प्रकार की और परीक्षा की जाती है—

१—मलपरीक्षा—दस्त में जो कला के टुकड़े होते हैं उनमें से एक कांच की पट्टी पर रंजित करके सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Microscope) से देखने पर अल्प विरामाकारी, छोटे २ जीवाणु दिखलाई पड़ते हैं। अथवा उचित वर्धन में उनकी वृद्धि करके संघ द्वारा अथवा पुञ्जीकरण प्रतिक्रिया के द्वारा पहिचान किया जाता है।

२—रक्तपरीक्षा—श्वेत कणों की अधिकता, बृहत् एक कणों के और लसिका-कणों के स्वाभाविक प्रतिशत प्रमाण में अदल-बदल, गुरुता की अधिकता तथा नमक की कमी। ये उपर्युक्त लक्षण विसूचिका-निदर्शक होते हैं। यह विसूचिका रोग निम्न कुछ रोगों से मिलता-जुलता है अतएव उन रोगों से इनका पृथक्करण आवश्यक है। जैसे—

संखियाविष (Arsenical Poisoning)-इससे गले और आमाशय में जलन और पीड़ा होती है, वमन काला और रक्तयुक्त होता है, श्वेतकणों में कोई अन्तर नहीं होता, क्वचित् बहुकेन्द्रीय कणों की कुछ अधिकता होती है, उदर में तीव्र पीड़ा तथा कुन्थन के साथ खून मिले हुये दस्त होते हैं।

विसूचिकोपद्रवानाह—

निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता। अमी उपद्रवा घोरा विसूच्याः पञ्च दारुणाः॥

विसूचिका के उपद्रव—नींद का न आना, बेचैनी, कपकपी, मूत्र बन्द हो जाना, होश न रहना ये सब पांचो उपद्रव (सभी रोगों में भयंकर होते हैं किन्तु यदि वे ही) पांचों उपद्रव विसूचिका में भी हों तो प्राणों के लिए भयङ्कर होते हैं अर्थात् रोगी के लिए प्राण-नाशक होते हैं ॥ २७ ॥

ॐअमी=निद्रानाशादय उपद्रवाः। सर्वेषामेव रोगाणां घोराः=भयङ्कराः। विसूच्याः पञ्च दारुणाः=विसूच्यास्तु पञ्चापि यदि स्युस्तदा दारुणाः=प्राणभयङ्कराः॥ २७॥

यहां पर 'अमी' पद का 'ये सब नींद का न आना आदि' तथा 'घोराः' पद का 'सभी रोगों में भयङ्कर होते हैं' एवम् 'दारुणाः' पद का 'प्राणों के लिए भयङ्कर होते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २७ ॥

अलसकलक्षणमाह—

कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्यत्यथ कूजति। निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति॥ २८॥
वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि। तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु॥ २९॥

अलसक[1] के लक्षण—जिस रोगी के पेट में अधिक कष्टप्रद अफरा हो तथा वह अपने अङ्गों को पीटे और आर्त्तनाद करे एवम् अजीर्ण होने से उसके उदर में रुकी हुई वायु नीचे न जाकर ऊपर हृदय तथा कण्ठ आदि की तरफ जावे, अधोवायु तथा मल का अत्यन्त अवरोध हो जावे, प्यास अधिक लगे और उद्गार आवे तो इन सब लक्षणों से उसे 'अलसक' रोग से युक्त समझना चाहिये ॥ २८–२९ ॥

ॐआनह्यते=आध्मायते। प्रताम्यति=ताडयति। कूजति=आर्त्तनादं करोति। कुक्षावजीर्णेन निरुद्धो मारुत उपरि धावति=हृदयकण्ठादिकं गच्छतीत्यर्थः॥ २८–२९॥

यहां पर 'आनह्यते' पद का 'अफरा हो'। 'प्राताम्यति' पद का 'अपने अङ्गों को पीटे'। 'कूजति' पद का 'आर्त्तनाद करे'। 'उपरि धावति' पदों का 'हृदय तथा कण्ठ आदि की तरफ जावे' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २८–२९ ॥

तीव्र अतीसार–इसमें कुन्थन अधिक होता है तथा मल में आंव और खून अधिक होता है।

पूतिविष या दुष्टान्न विष (Ptomain Food Poisoning)—खराब अन्न सेवन करने का इतिहास, सेवन करने के पश्चात् कुछ घण्टों में सभी सेवन करने वालों का एक साथ पीडित होना, उदर में पीड़ा, विरेचन के पूर्व तीव्र कष्टकारक वमन का प्रारम्भ होना, हृल्लास (विसूचिका में नहीं होता), कुन्थन (विसूचिका में अभाव), अल्पमात्रा में मल तथा पित्तयुक्तविरेचन, मूत्राघात का अभाव, ऐंठन का अभाव, उसके बदले हाथ–पैरों में सरसराहट, सर्दी मालूम होना, बगल का तापक्रम ९९°–१०२° फै०, सिरदर्द, नाडी की स्थिति अच्छी होना तथा मल में विसूचिका-जीवाणु की अनुपस्थिति।

विषमज्वरजन्य अतीसार—रक्त परीक्षा करने पर उसमें विषमज्वर जीवाणु मिलते हैं, बृहत् एक केन्द्र कणों की संख्या बढ़ने पर भी कुल श्वेत कणों की संख्यावृद्धि नहीं होती, रक्त की गुरुता नहीं बढ़ती परन्तु कभी २ कम हो जाती है। विसूचिका का सन्देह होते ही रोगी के मल तथा रक्त की परीक्षा करनी चाहिये। इन परीक्षाओं से विसूचिकाको तत्सम रोगोंसे पृथक् कर सकते हैं।

१. अलसक को पाश्चात्त्य विद्वान् कालरा सीका (Cholera Sicca) कहते हैं। इसे विसूचिका का अतितीव्र प्रकार मानते हैं। इसमें प्रारम्भ से ही, विषमयता इतनी होती है कि बिना दस्त या वमन के कुछ घण्टों में रोगी की मृत्यु हो जाती है। मरणोत्तर रोगी के आन्त्र में दस्त की भांति श्वेत द्रव [illegible] में मिलता है।

काश्यपस्त्वाह—

नाधो याति न चाप्यूर्ध्वमाहारो यो न पच्यते। कोष्ठे स्थितोऽलसीभूतस्ततोऽसावलसः स्मृतः॥

'काश्यप' तो अलसक का लक्षण यह कहते हैं कि-जिस रोग में रोगी का भोजन किया हुआ अन्न न नीचे जाय और न ऊपर जाय एवम् पचे भी नहीं, किन्तु कोष्ठ में अलसाये हुये के समान जैसा का तैसा पड़ा रहे तो उसे 'अलसक' कहते हैं ॥ ३० ॥

विसूचिकाऽलसकयोररिष्टमाह—

यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः ।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरोऽसौ पुनरागमाय ॥३१॥

विसूचिका तथा अलसक के अरिष्ट—विसूचिका अथवा अलसक के जिस रोगी के दांत, ओष्ठ तथा नख श्याववर्ण के (सुफेदी लिये काले) हो गये हों, होश प्रायः करके नष्ट हो गया हो, अधिक वमन होने से पीड़ित हो गया हो, नेत्र अन्दर को धंस गये हों, स्वर क्षीण हो गया हो तथा संपूर्ण सन्धिबन्धन ढीले पड़ गये हों तो वह मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

*सर्वे विमुक्ताः = शिथिलीभूताः सन्धयो यस्य सः ॥ ३१ ॥

यहां पर 'सर्वविमुक्तसन्धिः' पद का 'संपूर्ण सन्धिबन्धन जिसके ढीले पड़ गये हों' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३१ ॥

विलम्बिकालक्षणमाह—

दुष्टन्तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्त्तते नोर्ध्वमधश्च यत्र ।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः ॥ ३२ ॥

बिलम्बिका के लक्षण—जिस रोग में कुपित हुये कफ तथा वायु से दूषित हो जाने से भोजन किया हुआ अन्न न ऊपर की तरफ से नीचे और न नीचे की तरफ से बाहर निकलता है उसे प्राचीन आयुर्वेदज्ञ लोग चिकित्सा करने में अत्यन्त कठिन 'विलम्बिका' नामक रोग कहते हैं ॥ ३२ ॥

*भृशदुश्चिकित्स्यां = प्रत्याख्येयामनुपचरणीयाम् । इदमसाध्यञ्चेति जेज्जटः ॥ ३२ ॥

यहां पर 'भृशदुश्चिकित्स्याम्' अर्थात् 'चिकित्सा करने में अत्यन्त कठिन' इसके कहने से यह समझना चाहिये कि—वैद्यों को ऐसे रोगी की चिकित्सा करने का निषेध कर देना चाहिये अर्थात् चिकित्सा ही नहीं करनी चाहिये । और 'जेज्जट' इसे असाध्य भी कहते हैं ॥ ३२ ॥

जीर्णाहारलक्षणमाह—

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः। लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम् ॥३३॥

अन्न पच जाने के लक्षण—शुद्ध डकार आना (धूम तथा अम्ल युक्त डकार न होना), मन में उत्साह होना, मल-मूत्रादि का यथोचित वेग तथा यथोचित निकलना, शरीर में लघुता होना, भूख तथा प्यास का लगना इन सब लक्षणों से भोजन किये हुये अन्न का भलीभांति परिपाक हुआ समझना चाहिये ॥ ३३ ॥

अजीर्णचिकित्सामाह—

हरीतकी तथा शुण्ठी भक्ष्यमाणा गुडेन च। सैन्धवेन युता वा स्यात्सातत्येनाग्निदीपनी ॥३४॥
गुडेन शुण्ठीमथ चोपकुल्यां पथ्यां तृतीयामथ दाडिमं वा ।
आमेष्वजीर्णेषु गुदामयेषु वर्चोविबन्धेषु च नित्यमद्यात् ॥ ३५ ॥

अजीर्ण की चिकित्सा—बड़ी हरड़ तथा सोंठ के चूर्ण में गुड़ अथवा सेंधानमक मिला कर नित्य खाने से अग्नि प्रदीप्त होती है । और आमाजीर्ण, अर्शरोग तथा मल की विबन्धता में सोंठ, पीपल, बड़ी हरड या अनारदाना का चूर्ण गुड़ में मिला कर नित्य खाना चाहिये ॥ ३४-३५ ॥

गुडाष्टकमाह—

व्योषं दन्ती त्रिवृच्चित्रं कृष्णामूलं विचूर्णितम् । तच्चूर्णं गुडसम्मिश्रं भक्षयेत्प्रातरुत्थितः ॥३६॥

एतद् गुडाष्टकं नाम बलवर्णाग्निवर्द्धनम्। शोथोदावर्त्तशूलघ्नं प्लीहपाण्ड्वामयापहम् ॥३७॥

गुडाष्टक—सोंठ, पीपर, काली मिरच, दन्तीमूल, निशोथ, चीते के जड़ की छाल तथा पिपरामूल इन सवों का समभाग चूर्ण लेकर समभाग गुड़ में मिला कर नित्य प्रातःकाल खाना चाहिये। इसका नाम गुडाष्टक है क्योंकि इसमें गुडको लेकर ८ द्रव्य मिले हुये हैं। यह सेवन करने से शरीर के वल, वर्ण (कान्ति) तथा अग्नि को वढ़ाने वाला एवम् शोथ, उदावर्त्त, शूल, प्लीहा तथा पाण्डुरोग को नष्ट करने वाला होता है ॥ ३६-३७ ॥

***सर्वचूर्णसमो गुडो देयः ॥ ३६-३७ ॥**

यहां पर 'संपूर्ण ओषधियों के चूर्ण को एकत्र करके उसमें संमिलित चूर्ण के वरावर गुड़ मिलाना चाहिये' यह और समझ लेना चाहिये ॥ ३६-३७ ॥

दहनाजमोदसैन्धवनागरमरिचानि चाम्लतक्रेण। सप्ताहादग्निकरं पाण्ड्वर्शोनाशनं परमम् ॥

चीते के जड़ की छाल, अजमोद, सेंधा निमक, सोंठ तथा काली मिरच इन सवों को समभाग में लेकर चूर्ण वना खट्टे तक्र के साथ उचित मात्रा में सेवन करने से ७ दिन में अग्नि की अत्यन्त वृद्धि एवम् पाण्डु तथा अर्श रोग का नाश होता है ॥ ३८ ॥

तत्रामे वमनं कार्यं विदग्धे लङ्घनं हितम्। विष्टब्धे स्वेदनं शस्तं रसशेषे शयीत च ॥ ३९ ॥

आमाजीर्ण में वमन, विदग्धाजीर्ण में उपवास, विष्टब्धाजीर्ण में स्वेदन कर्म (पसीना निकालना) तथा रसशेषाजीर्ण में नींद से सो जाना ये सव क्रियायें करना उत्तम होता है ॥ ३९ ॥

वचालवणतोयेन वान्तिरामे प्रशस्यते। कणासिन्धुवचाकल्कं पीत्वा वा शिशिराम्भसा ॥ ४० ॥

आमाजीर्ण में वच तथा सेंधा निमक का चूर्ण गर्म जल के साथ अथवा पीपल, सेंधानमक तथा वच को जल से पीस कर शीतल जल के साथ पीकर वमन करना उत्तम होता है ॥ ४० ॥

***जलमत्र शरावमात्रम्। वचा कर्षार्द्धमिता। द्वयोश्चूर्णमुष्णेन जलेन पिबेत्। 'कणादिकल्कं वा पीत्वा वान्तिरामे प्रशस्यते'। इत्यनेनान्वयः ॥ ४० ॥**

यहां पर 'जल १ शराव (३२ तोले) पीने के लिये लेना चाहिये। और वच का चूर्ण ६ मासे लेना चाहिये। एवम् वच तथा सेंधानमक का चूर्ण गर्म जल के ही साथ पीना चाहिये।' यह और भी समझ लेना उचित है ॥ ४० ॥

धान्यनागरसिद्धं वा तोयं दद्याद्विचक्षणः। आमाजीर्णप्रशमनं शूलघ्नं वस्तिशोधनम् ॥ ४१ ॥

और आमाजीर्ण में वैद्य रोगी को धनिया तथा सोंठ का क्वाथ वनाकर पिलावे तो उत्तम है क्योंकि यह क्वाथ आमाजीर्ण को नष्ट करने वाला, शूलनाशक तथा वस्तिशोधक होता है ॥ ४१ ॥

भवेद्यदा प्रातरजीर्णशङ्का तदाऽभयां नागरसैन्धवाभ्याम्।
विचूर्णितां शीतजलेन भुक्त्वा भुञ्ज्यादशङ्कं मितमन्नकाले ॥ ४२ ॥

जिस दिन प्रातःकाल अजीर्ण की आशङ्का हो तो उस समय सोंठ तथा सेंधानमक का चूर्ण मिला कर वड़ी हरड का चूर्ण शीतल जल के साथ खाकर भोजन का समय उपस्थित होने पर पुनः परिमित (थोड़ा) भोजन निःशङ्क होकर करना चाहिये, क्योंकि इस रीति से भोजन करने से कोई हानि नहीं हो सकती है ॥ ४२ ॥

विदह्यते यस्य तु भुक्तमात्रं दन्दह्यते हृच्च गलश्च यस्य।
द्राक्षां सितामाक्षिकसम्प्रयुक्तां लीढ्वाऽभयां चापि सुखं लभेत ॥ ४३ ॥

जिसको भोजन करने के वाद ही विदाह होने लगे तथा हृदय और गला जलने लगे तो वह मधु तथा चीनी के साथ मुनक्का और हरड़ को चाटकर सुखी हो सकता है ॥ ४३ ॥

हिङ्ग्वष्टकमाह—

त्रिकटुकमजमोदा सैन्धवं जीरके द्वे समधरणधृतानामष्टमो हिङ्गुभागः।
प्रथमकवलभुक्तं सर्पिषा चूर्णमेतज्जनयति जठराग्निं वातरोगांश्च हन्ति ॥ ४४ ॥

हिङ्ग्वष्टकचूर्ण—सोंठ, पीपर, काली मिरच, अजवाइन, सेंधानिमक, सफेद जीरा, स्याह जीरा

और घी में भुनी हींग इन आठ द्रव्यों को समभाग में लेकर चूर्ण बनाकर भोजन करने के समय प्रथम ग्रास में यथोचित मात्रा लेकर घी के साथ मिलाकर खाने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा वातसंबन्धी रोग दूर होते हैं ॥ ४४ ॥

ॐअजमोदाऽत्र 'यमानी' अग्नेरत्यन्तदीपनत्वाद् । जीरके द्वे=शुक्लं, कृष्णम्, धरणमत्र मानं तेन समधरणधृतानां = तुल्यमानगृहीतानाम् , शुण्ठ्यादीनां भागाः सप्त, तत्राष्टमो भागो हिङ्गुतः ॥ ४४ ॥

यहां पर 'अजमोदा' पद से 'अजवाइन' का ग्रहण किया गया है क्योंकि यह अग्नि को अत्यन्त दीप्त करने वाली होती है । और 'जीरके द्वे' पदों का 'सफेद जीरा तथा स्याह जीरा' तथा 'समधरणधृतानाम्' इस पद के अन्तर्गत पठित 'धरण' पद का 'मान (तौल)' अर्थ समझना चाहिये । और सोंठ आदि ७ द्रव्योंके ७ भाग तथा आठवां भाग हींग लेना चाहिये । और इसका फलितार्थ यह समझना चाहिये कि-सोंठ आदि ८ द्रव्यों को समभाग में लेकर चूर्ण करना चाहिये ॥ ४४ ॥

बृहदग्निमुखचूर्णमाह—

द्वौ क्षारौ चित्रकं पाठा करञ्जं लवणानि च । सूक्ष्मैला पत्रकं भार्गी क्रिमिघ्नं हिङ्गु पौष्करम् ॥
शटी दार्वी त्रिवृन्मुस्तं वचा चेन्द्रयवास्तथा । वृक्षाम्लं जीरकं धात्री श्रेयसी चोपकुञ्चिका ॥
अम्लवेतसमम्लीका यवानी देवदारु च । अभयाऽतिविषा श्यामा हपुषाऽऽरग्वधं समम् ॥
तिलमुष्ककशिग्रूणां कोकिलाक्षपलाशयोः । क्षाराणि लौहकिट्टञ्च तप्तं गोमूत्रसेचितम् ॥४८॥
सूक्ष्मचूर्णानि कृत्वा तु समभागानि कारयेत् । मातुलुङ्गरसेनैव भावयेद्दिवसत्रयम् ॥४९॥
दिनत्रयन्तु शुक्तेन तथाऽऽर्द्रकरसेन च । अत्यग्निकारकं चूर्णं प्रदीप्ताग्निसमप्रभम् ॥५०॥
उपयुक्तं विधानेन नाशयत्यचिराद्गदान् । अजीर्णमथ गुल्मञ्च प्लीहानं गुदजानि च ॥५१॥
तथान्त्रवृद्धिमुदराण्यष्ठीलां वातशोणितम् । प्रणुदत्युल्बणान्दोषान्नष्टाग्निं च प्रदीपयेत् ॥

बृहदग्निमुखचूर्ण—जवाखार, सज्जीखार, चीते के जड़ की छाल, पाढ, करञ्ज के जड़ की छाल, पांचो निमक (सेंधानिमक, रेहका निमक, सोंचर निमक, विरियासोंचर निमक तथा समुद्रीनमक), छोटी इलायची के दाने, तेजपात, भारंगी, वायविडङ्ग, भुनी हींग, पुहकरमूल, कचूर, दारुहल्दी, निसोथ, नागरमोथा, वच, इन्द्रजौ, विषांविल, सफेद जीरा, आंवला, बड़ी हरड़, मंगरैला, अमलवेंत, इमली, अजवायन, देवदारु, हरड, अतीस, फूलप्रियङ्गु, हाऊबेर, अमलतास का गूदा इन सवों को समान भाग में लेकर चूर्ण करके एवम् तिल, मोखा (घण्टापारुल), सहिंजना, तालमखाना तथा पराश इन पांचो का क्षार और अग्नि में तपाकर गोमूत्र में बुझाया हुआ मण्डूर (लोहे का मैल) इन सवों का भी सम भाग में लेकर चूर्ण कर के सभों को एकत्र कर प्रथम विजौरा नीबू के रस से तीन दिन तक भावना दे पश्चात् तीन दिन तक शुक्त (सिर्का) से और तीन दिन तक अदरख के रस से भावना देकर सुखा कर रख देवे । यह चूर्ण उपयुक्त मात्रा में सेवन करने से अत्यन्त अग्निवर्द्धक तथा अन्न पचाने में प्रज्वलित अग्नि के समान है । एवम् अजीर्ण, गुल्म, प्लीहा, सभी प्रकार के अर्श, अन्त्रवृद्धि, उदर रोग, अष्ठीला, वातरक्त इन सब रोगों को शीघ्र नष्ट करता है तथा बढ़े हुये दोषों को शान्त करता है और नष्ट हुई अग्नि को पुनः प्रदीप्त करता है ॥ ४५-५२ ॥

ॐद्वौ क्षारौ = स्वर्जिका यवक्षारश्च । लवणानि पञ्च । वृक्षाम्लं = 'विषाम्बिल' इति लोके । श्रेयसी = हरीतकी । उपकुञ्चिका = 'मङ्गरैला' इति लोके । अम्लवेतसकाभावे चुक्रं दातव्यम् । श्यामा = प्रियङ्गुः । मुष्ककः = 'घण्टापारुल' इति लोके । कोकिलाक्षः = 'कोइलपा' इति लोके ॥ ४५-५२ ॥

यहां पर 'द्वौ क्षारौ' पदों का 'सज्जीखार तथा जवाखार' । 'लवणानि' पद का 'पांचो निमक' । 'वृक्षाम्ल' पद का 'लोकप्रसिद्ध विषांविल' । 'श्रेयसी' पद का 'हरड' । 'उपकुञ्चिका' पद का 'लोक प्रसिद्ध मङ्गरैला' अर्थ समझना चाहिये । और 'अमलवेंत' के अभाव में 'चूक' लेना

चाहिये। 'श्यामा' पद का 'फूलप्रियङ्गु' 'मुष्कक' पद का 'लोकप्रसिद्ध घण्टा पारुल अर्थात् मोखा' तथा 'कोकिलाक्ष' पद का 'लोकप्रसिद्ध' 'कोइलपा' अर्थात् 'तालमखाना' अर्थ समझना चाहिये ॥ ४५-५२ ॥

वैश्वानरक्षारमाह—

स्नुह्यर्कचित्रकैरण्डवरुणं सपुनर्नवम्। तिलापामार्गकदलीपलाशं तिन्तिडीं तथा ॥५३॥
गृहीत्वा ज्वालयेदेतत्प्रस्थं भस्माखिलं यथा। जलाढके विपक्तव्यं यावत्पादावशेषितम् ॥५४॥
सुप्रसन्नं विनिस्राव्य लवणप्रस्थसंयुतम्। पक्वं निर्धूमकठिनं सूक्ष्मचूर्णीकृतं पुनः ॥५५॥
यवानीजीरकव्योषस्थूलजीरकहिङ्गुभिः। पृथगर्धपलैरेभिश्चूर्णितैस्तद्विमिश्रयेत् ॥५६॥
आर्द्रकस्वरसेनापि भावयेच्छोषयेत् पुनः। शीतोदकेन तच्चूर्णं पिबेत्प्रातर्हि मात्रया ॥५७॥
तस्मिञ्जीर्णेऽन्नमश्नीयाद्यूषैर्जाङ्गलजै रसैः। ईषदम्लैः सलवणैः सुखोष्णैर्वह्निदीपनैः ॥५८॥
एतेनाग्निर्विवर्द्धेत बलमारोग्यमेव च। तत्रानुपानं शस्तं हि तक्रं वा भोजने हितम् ॥५९॥
मन्दाग्न्यर्शोविकारेषु वातश्लेष्मामयेषु च। अश्मर्यां शर्करायाञ्च विण्मूत्रानिलरोगिषु ॥६०॥

वैश्वानरक्षार— थूहर, आक, चीता, एरण्ड, बरना, पुनर्नवा, तिल, चिड़चिड़ा, केला, पराश, इमली इन सबों की लकड़ियों को जलाकर भस्म बनाले फिर इस भस्म को १ प्रस्थ (६४ तोले) लेकर १ आढक (२५६ तो०) जल में डाल कर पकावे जब चतुर्थांश जल अवशिष्ट रह जाय तब उतार कर रख देवे और जब भस्म बैठ जाय तब जल धीरे से अलग कर देवे, उसके बाद सैंधा निमक ६४ तोला लेकर उपर्युक्त क्षार भस्म में मिलाकर एक मिट्टी के पात्र में रखकर उसका मुख बन्द करके आंच पर चढ़ा देवे, पश्चात् जब निर्धूम तथा कठिन होजाय तब उतार कर सूक्ष्म चूर्ण करके अजवाइन, सफेद जीरा, सोंठ, पीपर; काली मिरच, कलौंजी, भुनी हींग इन सबों का चूर्ण पृथक् २ दो २ तोले लेकर उपर्युक्त चूर्ण में मिला देवे, पुनः अदरखके स्वरससे सम्पूर्ण चूर्ण में भावना देकर सुखाने के बाद पुनः चूर्ण करके रख देवे और उपयुक्त मात्रामें शीतल जल के साथ इस चूर्ण को प्रातः काल खाना चाहिये तथा खाये हुये चूर्णको परिपक्व हो जानेके बाद किंचित् अम्ल रस (नीबू आदि द्रव्यों का रस)-मिश्रित, सैंधानिमक से युक्त किंचित् उष्ण रहते ही, अग्नि के प्रदीप्त करनेवाले पदार्थों का यूष या जंगली जीवों के मांसरस (सोरुवा) के साथ अन्न खाना चाहिये। इस वैश्वानर क्षार के सेवन करनेसे अग्नि बढ़ती है तथा बल और आरोग्यकी भी वृद्धि होती है और इसके साथ अनुपान तथा भोजन में तक्र (मट्ठा) सेवन विशेष हितकर होता है। एवम् मन्दाग्नि, अर्शरोग, वात-कफ सम्बन्धी रोग, पथरी तथा शर्करारोग, मल-मूत्र तथा वात सम्बन्धी रोगों में इस क्षार का प्रयोग करना परम हितकर होता है ॥ ५३-६० ॥

लवणभास्करमाह—

सामुद्रलवणं कार्यमष्टकर्षमितं बुधैः। सौवर्चलं पञ्चकर्षं विडसैन्धवधान्यकम् ॥ ६१ ॥
पिप्पली पिप्पलीमूलं पत्रकं कृष्णजीरकम्। तालीशं केशरं चव्यमम्लवेतसकं तथा ॥ ६२ ॥
द्विकर्षमात्राण्येतानि प्रत्येकं कारयेद् बुधः। मरिचं जीरकं विश्वमेकैकं कर्षमात्रकम् ॥ ६३ ॥
दाडिमं स्याच्चतुष्कर्षं त्वगेला चार्द्धकार्षिकी। एतच्चूर्णीकृतं सर्वं लवणं भास्कराभिधम् ॥६४॥
भक्षयेच्छाणमानन्तु तक्रमस्तुककाञ्जिकैः। वातश्लेष्मभवं गुल्मं प्लीहानमुदरं क्षयम् ॥६५॥
अर्शांसि ग्रहणीं कुष्ठं विबन्धञ्च भगन्दरम्। शूलं शोथं श्वासकासाऽऽमदोषांश्चापि हृद्रुजम् ॥
अश्मरीं शर्कराञ्चापि पाण्डुरोगं क्रिमीनपि। मन्दाग्निं नाशयेदेतद्दीपनं पाचनं परम् ॥६७॥
हिताय सर्वलोकानां भास्करेण विनिर्मितम्। हन्यात्सर्वाण्यजीर्णानि भुक्तमात्रमसंशयम् ॥

लवणभास्करचूर्ण—समुद्री निमक ८ तोले, काला निमक ५ तोले, विरिया सोंचर निमक, सैंधा निमक, धनिया, पीपल, पिपरामूल, तेजपात, स्याहजीरा, तालीशपत्र, नागकेशर, चव्य, अमलवेंत ये सब प्रत्येक दो २ तोले, काली मिरच, सफेद जीरा, सोंठ ये सब प्रत्येक एक २ तोला, अनारदाना

४ तोले, तज तथा इलायची के दाने प्रत्येक छ २ माशे लेकर सबों का चूर्ण बनाकर एकत्र कर लेवे, इसे वैद्य लोग 'लवण भास्कर' चूर्ण कहते हैं। इसे १ शाण (माशे) की मात्रा में तक्र (मट्ठा), दही का पानी या काञ्जी के साथ सेवन करने से वात-कफ सम्बन्धी गुल्म रोग, प्लीहा, उदर रोग, क्षय, सभी प्रकार के अर्श, ग्रहणी, कुष्ठ, विबन्ध (मल का विबन्ध), भगन्दर, शूल, शोथ, श्वास, कास, आम सम्बन्धी दोष, हृद्रोग, पथरी, शर्करा, पाण्डुरोग, कृमि तथा अग्नि की मन्दताये सब रोग नष्ट होते हैं। और यह चूर्ण अग्नि को दीप्त करने वाला तथा अत्यन्त आम का पाचन करने वाला है। इसे सब लोगों के हित की कामना से भास्कर (सूर्यनारायण जी) ने बनाया है। इसके खाने से तत्काल ही सभी प्रकार के अजीर्ण निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं ॥ ६१-६८ ॥

***अत्र दाडिमस्य बीजानां कर्षचतुष्टयमितं देयम् ॥ ६१-६८ ॥**

यहां पर 'दाडिम' पद से 'अनार का दाना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६१-६८ ॥

वडवाऽनलचूर्णमाह—

सैन्धवसमूलमागधचव्यानलनागरं पथ्या। क्रमवृद्धमग्निवृद्धौ वडवाऽनलनामचूर्णं स्यात्॥

वडवाऽनलचूर्ण—सेंधा निमक १ भाग, पिपरामूल २ भाग, पीपर ३ भाग, चव्य ४ भाग, चीते के जड़ की छाल ५ भाग, सोंठ ६ भाग, हरड़ ७ भाग इन सब द्रव्यों को उक्त रीति से एक २ भाग के वृद्धिक्रम से लेकर चूर्ण बना एकत्र रख लेवे। इसका नाम 'वडवाऽनल' चूर्ण है, यह जठराग्नि को बढ़ाने में उत्तम है ॥ ६९ ॥

द्वितीयं वडवाऽनलचूर्णमाह—

पथ्यानागरकृष्णाकरञ्जबिल्वाग्निभिः सितातुल्यैः।
वडवाऽनल इव जरयति बहु गुर्वतिभोजनं चूर्णम् ॥ ७० ॥

द्वितीय वडवाऽनल चूर्ण—हरड, सोंठ, पीपर, करञ्ज के जड़ की छाल, बेल की गिरी, चीते के जड़ की छाल समभाग में लेकर चूर्ण बना लेवे और सब चूर्ण के बराबर चीनी मिला कर उचित मात्रा में सेवन करे। इसका नाम वडवाऽनल चूर्ण है क्योंकि यह सेवन करने से गुरु तथा अधिक मात्रा में किये हुए भी भोजन को वडवाऽनल के समान पचा देता है ॥ ७० ॥

समशर्करचूर्णमाह—

एलात्वङ्नागपुष्पाणां मात्रोत्तरविवर्द्धिता। मरिचं पिप्पली शुण्ठी चतुष्पञ्चषडुत्तरा ॥७१॥
द्रव्याण्येतानि यावन्ति तावती सितशर्करा। चूर्णमेतत्प्रयोक्तव्यमग्निसन्दीपनं परम् ॥७२॥

समशर्करचूर्ण—इलायची १ भाग, दालचीनी २ भाग, नागकेशर ३ भाग, मरिच ४ भाग, पीपल ५ भाग, सोंठ ६ भाग लेकर सबों का चूर्ण बना कर पश्चात् एकत्र करने से सबों का चूर्ण जितना हो उतनी ही, अर्थात् २१ भाग चीनी मिला कर उचित मात्रा में सेवन करने से अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये उत्तम है ॥ ७१-७२ ॥

अजीर्णे रसाः।

तत्र क्रव्यादरसमाह—

द्विपलं गन्धकं शुद्धं पलमेकन्तु पारदम्। मृतलोहं तथा ताम्रं कर्षद्वयमितं पृथक् ॥ ७३ ॥
सञ्चूर्ण्य सर्वं सम्मिश्रं द्रावयित्वाऽग्नियोगतः। सम्यग् द्रुतं समस्तं तत्पञ्चाङ्गुलदले क्षिपेत्॥७४॥
पुनः सञ्चूर्ण्य तत्सर्वं लोहपात्रे निधापयेत्। जम्बीरस्य रसं तत्र पूतं पलशतं क्षिपेत् ॥७५॥
चुल्ल्यां निवेश्य तद्यत्नान्मृदुना वह्निना पचेत्। रसे तस्मिन्घनीभूते तत्संशोष्य विचूर्णयेत् ॥
पञ्चकोलकषायस्य चुक्रेण सहितस्य च। भावना तत्र दातव्या पश्चात्संशोषयेच्छनैः ॥ ७७ ॥
भृष्टटङ्कणचूर्णेन तुल्येन सह मेलयेत्। मरिचेनापि तुल्येन तदर्द्धेन बिडेन च ॥ ७८ ॥
भावयेत्सप्तकृत्वस्तु चणकाम्लजलेन च। ततः संशोष्य सम्पिष्य कूपीमध्ये निधापयेत् ॥७९॥
रसः क्रव्यादनामाऽयं भैरवानन्दयोगिना। उक्तः सिंहलराजाय बहुमांसाशिने पुरा ॥ ८० ॥

भक्षयेद्भोजनस्यान्ते माषद्वयमितं रसम्। भक्षयित्वा रसं पश्चात्पिबेत्तक्रं ससैन्धवम् ॥८१॥
अत्यर्थं गुरु यद् भुक्तमतिमात्रमथापि च। तत्सर्वं जीर्यति क्षिप्रं रसस्यैतस्य भक्षणात् ॥८२॥
शूलं गुल्मञ्च विष्टम्भं प्लीहानमुदरं तथा। रसः क्रव्यादनामाऽयं विनिहन्ति न संशयः॥८३॥

अजीर्णविषयक रसों के मध्य में प्रथम क्रव्याद रस—शुद्ध गन्धक दो पल, शुद्ध पारा १ पल, लौहभस्म तथा ताम्रभस्म पृथक् २ दो कर्ष लेकर सबों का चूर्ण बना कर भली भाँति एकत्र करके अग्नि के संयोग से पिघला कर एरण्ड के पत्ते पर डाल देवे पश्चात् पुनः उसे चूर्ण करके लोहे के पात्र में रख कर ऊपर से जंबीरी नीबू का रस १० पल (४० तो०) डाल कर चूल्हे पर रख कर यत्नपूर्वक मन्द आंच से पकावे और जब रस गाढ़ा हो जाय तब उतार कर सुखा लेवे, उसके बाद चूर्ण करके उसमें पञ्चकोल (पीपर, पिपरामूल, चव्य, चीते की छाल, सोंठ) के क्वाथ की चूर्ण के रस के साथ भावना देकर धीरे २ सुखा लेवे और इस चूर्ण के बराबर भुने हुये सुहागे का चूर्ण तथा इसी के बराबर मिरिच का भी चूर्ण एवम् मिरिच का आधा भाग बिरिया सोचरनोन का भी चूर्ण मिला देवे, पश्चात् सम्पूर्ण चूर्ण में चनेखार के जल की ७ बार भावना देकर सुखा लेवे। और पुनः सूक्ष्म चूर्ण करके शीशी में भर कर रख देवे। इस रस का नाम 'क्रव्यादरस' है। इसे प्राचीन समय में अधिक मांस खाने वाले सिंहल देश के किसी राजा के लिये 'भैरवानन्द' नामक किसी योगी ने बताया था। इस रस को भोजन करने के बाद २ माशे की मात्रा में खाकर ऊपर से सेंधा नमक मिला कर तक्र (मट्ठा) पीना चाहिये। और इस रस के सेवन से अत्यधिक गुरु तथा अधिक मात्रा में किया हुआ भोजन तत्काल सभी पच जाता है। एवम् शूल, गुल्म, विष्टम्भ, प्लीहा तथा उदर रोग इन सब रोगों को यह क्रव्याद नामक रस निःसन्देह नष्ट कर देता है॥ ७३-८३॥

❀ इति क्रव्यादरसोऽजीर्णे रसेन्द्रचिन्तामणौ रसरत्नप्रदीपे च॥ ७३-८३॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि—यह क्रव्यादरस अजीर्ण के लिये रसेन्द्रचिन्तामणि तथा रसरत्नप्रदीप में कहा हुआ है॥ ७३-८३॥

ज्वालाऽनलरसमाह—

क्षारत्रयं सूतगन्धौ पञ्चकोलमिदं समम्। सर्वैस्तुल्या जया भृष्टा तदर्द्धा शिग्रुजा जटा॥८४॥
एतत्सर्वं जयाशिग्रुवह्नीनां केवलैर्द्रवैः। भावयेत्त्रिदिनं घर्मे ततो लघु पुटे पचेत्॥ ८५॥
मार्कवस्य द्रवैर्घृष्टो रसो ज्वालानलो भवेत्। निष्कोऽस्य मधुना लीढोऽनुपानं गुडनागरम्॥
हन्त्यजीर्णमतीसारं ग्रहणीमग्निमार्दवम्। श्लेष्महृल्लासवमनमालस्यमरुचिं जयेत्॥ ८७॥

ज्वालाऽनल रस—तीनों क्षार (जवाखार, सज्जीखार, सुहागा), शुद्ध पारा तथा शुद्ध गन्धक और पञ्चकोल ये सब सम भाग में लेकर इसमें इन्हीं सबों के बराबर धोकर घी में भुनी हुई भाँग तथा भाँग का आधा सहजन की जड़ डालकर सबों का चूर्ण बनाकर उसमें भांग, सहिजन तथा चीते के रस की तीन दिन तक धूप में रख कर भावना देनी चाहिये। उसके बाद लघुपुट में पकाकर 'भांगरा' के रस के साथ खरल कर सुखा लेवे। और पुनः चूर्ण कर के रख देवे। इसका नाम 'ज्वालाऽनल रस' है। इसको २४ रत्ती प्रमाण गुड़ तथा सोंठ का चूर्ण मिला कर मधु से चाटना चाहिये। इससे अजीर्ण, अतीसार, ग्रहणी, अग्नि की मन्दता, कफ, उबकाई, वमन, आलस्य और अरुचि ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ८४-८७॥

*पञ्चकोलम्

❀पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः।

❀जयात्र विजया। मार्कवः=भृङ्गराजः। इति ज्वालाऽनलो रसोऽजीर्णे रसरत्नप्रदीपे॥८४-८७॥

यहाँ पर 'पञ्चकोल' से पीपर, पिपरामूल, चव्य, चीते के जड़ की छाल, सोंठ' का ग्रहण करना चाहिये। और 'जया' का 'भांग' तथा 'मार्कव' का 'भृङ्गराज-अर्थात् भांगरा' अर्थ

समझना चाहिये। और 'यह ज्वालाऽनल रस अजीर्ण के ऊपर रसरत्नप्रदीप में कहा हुआ है' यह और समझ लेना चाहिये ॥ ८४-८७ ॥

अग्निकुमाररसमाह—

टङ्कणं रसगन्धौ च समं भागत्रयं विषात् । कपर्दः स्वर्जिका क्षारो मागधी विश्वभेषजम् ॥८८॥
पृथक् पृथक्कर्षमात्रं वसुभागमिहोषणम् । जम्बीराम्लैर्दिनं घृष्टं भवेदग्निकुमारकः ॥
विसूचीशूलवातादिवह्निमान्द्यप्रशान्तये ॥ ८९ ॥

अग्निकुमार रस—शुद्ध सुहागा १ भाग, शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, शुद्ध वत्सनाभ विष ३ भाग, कौड़ी भस्म १ भाग, सज्जीखार १ भाग, जवाखार १ भाग, पीपल १ भाग, सोंठ १ भाग (यहां पर भाग से १ तोला समझना चाहिये), काली मिरच ८ भाग इन सर्वों का यथायोग्य चूर्ण कर के उसमें जंभीरी नीबू का रस डाल कर १ दिन तक खरल कर के गोली या चूर्ण बनाकर रख लेवे। इसका नाम 'अग्निकुमार' रस है। इसे विसूची (हैजा), शूल, वातादि तथा अग्नि की मन्दता दूर करने के लिये देना चाहिये ॥ ८८-८९ ॥

क्षारो = यवक्षारः । इत्यग्निकुमारो विसूच्यामजीर्णे रसरत्नप्रदीपे रसेन्द्रचिन्तामणौ च ॥

यहाँ पर 'क्षार' पद का 'जवाखार' अर्थ समझना चाहिये। और 'यह अग्निकुमार रस विसूची तथा अजीर्ण के लिये रसरत्नप्रदीप तथा रसेन्द्रचिन्तामणि में कहा हुआ है' यह और समझ लेना चाहिये ॥ ८८-८९ ॥

रामबाणरसमाह—
(रसेन्द्रचिन्तामणौ)

पारदामृतलवङ्गगन्धकं भागयुग्ममरिचेन मिश्रितम् ।
तत्र जातिफलमर्द्धभागिकं तिन्तिडीफलरसेन मर्दितम् ॥ ९० ॥
माषमात्रमनुपानसेवितं रामबाणगुडिका-रसायनम् ।
बिल्वपत्रमरिचेन भक्षितं सद्य एव जठराग्निवर्द्धितम् ॥ ९१ ॥
वातो नाशमुपैति चार्द्रकरसैर्निर्गुण्डिकाया द्रवैः-
पित्तं नाशमुपैति धान्यकजलैर्वासा त्रिदोषं हरेत् ।
श्लेष्मा सिन्धुहरीतकीभिरुदरं क्वाथैश्च पौनर्नवैः-
शोथं पाण्डुगदं निहन्ति गुडिका रोगार्त्तिविध्वंसिनी ॥ ९२ ॥
वह्निमान्द्यदशवक्त्रनाशनो रामबाण इति विश्रुतो रसः ।
सङ्ग्रहग्रहणिकुम्भकर्णकमामवातखरदूषणं जयेत् ॥ ९३ ॥
दीयते तु मरिचानुपानतः सद्य एव जठराग्निदीपनः ।
रोचनः कफकुलान्तकारकः श्वासकासवमिजन्तुनाशनः ॥ ९४ ॥

रसेन्द्रचिन्तामणि में कहा हुआ रामबाण रस—शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध विष १ भाग, लौंग का चूर्ण १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, मरिच का चूर्ण २ भाग, जायफल का चूर्ण आधा भाग, इन सर्वोंको एकत्र कर इमली के रसके साथ खरल करके उर्द बराबर गोली बनाकर रख लेवें। यह 'रामबाण' रस अनुपान के साथ सेवन करने से रसायन है। और यह बेल की पत्ती तथा मिरच के चूर्णके साथ सेवन करने से तत्काल जठराग्नि को बढ़ाता है, अदरख के रस के साथ वा संभालू के रस के साथ खाने से वायु को नष्ट करता है, धनिये के जल के साथ इसका सेवन करने से पित्त नष्ट होता है, अडूसे के रस से कफ तथा त्रिदोष नष्ट होता है। सेंधानमक तथा हरड़ के चूर्ण के साथ खाने से उदर रोग, पुनर्नवा के क्वाथ के साथ खाने से शोथ तथा पाण्डु रोग नष्ट होता है, इस भाँति से यह सभी रोगों को दूर करने वाला होता है। और यह रामबाण रस रामचन्द्रजी के बाण के समान अग्निमान्द्य रूपी रावण को मारने वाला है। संग्रहणी रूपी कुम्भकर्ण तथा आमवात रूपी खरदूषण को नष्ट करने वाला है। और मरिच के चूर्ण के साथ सेवन करने से तत्काल जठराग्नि को प्रदीप्त

करता है, एवम् रुचिकारक, कफ को समूल नष्ट करने वाला, श्वास, कास, वमन तथा क्रमिको दूर करने वाला होता है ॥ ९०-९४ ॥

***पारा भाग १। विष भाग १। लवङ्ग भाग १। गन्धक भाग १। मरिच भाग २। जायफल भाग आधा ॥ ९०-९४ ॥**

यहाँ पर शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध विष १ भाग, लवङ्ग १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, मरिच २ भाग, जायफल आधा भाग लेना चाहिये ॥ ९०-९४ ॥

शङ्खवटीमाह—

(रसरत्नप्रदीपे)

पलं चिञ्चाक्षारं पलमितमिदं पञ्चलवणं, द्वयं सम्यक्पिष्टं भवति लघुनिम्बूफलरसैः।
ततः पिष्टे तस्मिन्पलपरिमितं शङ्खशकलं, क्षिपेद् वारान्सप्त द्रवमिह च तेनैव विधिना ॥
पलप्रमाणं कटुकत्रयञ्च पलार्द्धमानं वचहिङ्गुभागः।
विषं पलद्वादशभागयुक्तं तावद्रसो गन्धक एव चोक्तः ॥ ९६ ॥
बदरास्थिप्रमाणेन वटीमेतस्य कारयेत्। भक्षयेत्सेवया साम्यात्सर्वाजीर्णप्रशान्तये ॥ ९७ ॥
सर्वोदरेषु शूलेषु विसूच्यां विविधेषु च। अग्निमान्द्येषु गुल्मेषु सदा शङ्खवटी हिता ॥९८॥

रसरत्नप्रदीपोक्त शङ्खवटी—इमली के छाल का क्षार १ पल (४ तो०), पाँचो नमक (सेंधानमक, काला नमक, विरिया सोंचर नमक, रेह का नमक, समुद्री नमक) मिलित ये सब १ पल (४ तो०) लेकर सबों को एकत्र कर कागजी नींबू के रस में खरल कर लेवे, पश्चात् उसमें शङ्ख का भस्म १ पल डाल कर पुनः कागजी नीबू के रस की ७ भावना देकर सोंठ, पीपर, मिरच इन सबों का चूर्ण मिलकर १ पल (४ तोले), वच चूर्ण १ तो०, भुनी हींग १ तो०, शुद्ध वत्सनाभविष, शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक प्रत्येक $\frac{1}{12}$ पल (४ माशा) लेकर सबों को एकत्र कर कागजी नीबू के रस के साथ खरल कर गुठली के बराबर २ गोली बनाकर रख लेवे, और सर्व प्रकार के अजीर्ण की शान्ति के लिये इस वटी का सेवन करे। और यह शङ्खवटी सर्व प्रकार के उदर विकार तथा शूल रोग, विसूची (हैजा) एवम् अनेक प्रकार के अग्निमान्द्य तथा गुल्म रोग में सेवन करने से सर्वदा हितकारिणी है ॥ ९५-९८ ॥

बृहच्छङ्खवटीमाह—

स्नुह्यर्कचिञ्चाऽपामार्गरम्भातिलपलाशजान्। लवणानाददीतैषां प्रत्येकं पलमात्रया ॥ ९९ ॥
लवणानि पृथक्पञ्च ग्राह्याणि पलमात्रया। स्वर्जिका च यवक्षारष्टङ्कणं त्रितयं पलम् ॥१००॥
सर्वं त्रयोदशपलं सूक्ष्मं चूर्णं विधाय च। निम्बूफलरसे प्रस्थसम्मिते तत्परिक्षिपेत् ॥१०१॥
तत्र शङ्खस्य शकलं पलं वह्नौ प्रताप्य तु। वाराञ्चिर्वापयेत्सप्त सर्वं द्रवति तद्यथा ॥१०२॥
नागरं त्रिपलं ग्राह्यं मरिचन्तु पलद्वयम्। पिप्पली पलमाना स्यात्पलार्द्धं भृष्टहिङ्गुतः ॥१०३॥
ग्रन्थिकं चित्रकञ्चापि यवानी जीरकं तथा। जातीफलं लवङ्गञ्च पृथक्कर्षद्वयोन्मितम् ॥१०४॥
रसो गन्धो विषं चापि टङ्कणञ्च मनःशिला। एतानि कर्षमात्राणि सर्वं सञ्चूर्ण्य मिश्रयेत् ॥
शरावार्द्धेन चुक्रेण वटिकां तस्य कारयेत्। माषप्रमाणां सद्वैद्यैर्बृहच्छङ्खवटी स्मृता ॥१०६॥
सर्वाजीर्णप्रशमनी सर्वशूलनिवारिणी। विसूच्यलसकादीनां सद्यो भवति नाशनी ॥१०७॥

बृहच्छङ्खवटी—थूहर का खार, आक का खार, इमली का खार, चिरचिटे का खार, केले का खार, तिल का खार, पराश का खार ये सब प्रत्येक एक २ पल। पाँचों नमक (सेंधा नमक, काला नमक, विरिया सोंचर नोन, रेह का नमक, समुद्री नमक) ये सब प्रत्येक एक २ पल, सज्जीखार, जवाखार, सुहागा ये तीनों मिल कर १ पल (४ तोले) अर्थात् कुल द्रव्य १३ पल लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना लेवे, पश्चात् १ प्रस्थ (६४ तो०) नीबू के रस में उक्त चूर्ण को डाल देवे, और शङ्ख के टुकड़ों को एक पल लेकर अग्नि में तपा २ कर नीबू के रस में ७ बार बुझावे, जिससे कि शङ्ख भस्म हो जाय, पश्चात् सोंठ का चूर्ण ३ पल (१२ तो०), मरिच चूर्ण २ पल (८ तो०), पीपल चूर्ण १ पल,

भुनी हींग २ तोले, पीपरामूल, चीते के जड़ की छाल, अजवाइन, सफेद जीरा, जायफल तथा लौंग इन सबों का चूर्ण प्रत्येक दो २ तोले, शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध वत्सनाभ विष, शुद्ध सुहागा, तथा शुद्ध मैनशिल इन सबों का यथायोग चूर्ण करके प्रत्येक एक २ तोला लेना चाहिये, और सम्पूर्ण चूर्णों को एकत्र कर उक्त नीबू के रस में डाल देना चाहिये तथा १६ तोले चूक का रस भी डाल खरल कर उरद प्रमाण गोलियाँ बना लेवें। इसे सद्वैद्य लोग बृहच्छङ्खवटी कहते हैं। यह सर्व प्रकार के अजीर्ण को दूर करने वाली, अनेक प्रकार के शूल को नष्ट करने वाली एवम् विसूची (हैजा) तथा अलसक आदि रोगों को शीघ्र नष्ट करने वाली होती है॥ ९९-१०७॥

अजीर्णकण्टकरसमाह—

टङ्कणकणाऽमृतानां सहिङ्गुलानां समं भागम्। मरिचस्य भागयुगलं निम्बूनीरैर्वटी कार्या॥ चटिकां कलायसदृशीमेकां द्वे वा समश्नीयात्। सत्यमजीर्णशान्त्यै वह्नेर्वृद्ध्यै कफध्वस्त्यै [१]॥

अजीर्णकण्टक रस—शुद्ध सुहागा, पीपल चूर्ण, शुद्ध वत्सनाभ विष, शुद्ध हिङ्गुल (सिंगरिफ) इन सबों को सम भाग अर्थात् प्रत्येक एक २ भाग, मरिच चूर्ण २ भाग, सबों को एकत्र कर नीबू के रस से खरल कर मटर के समान गोलियाँ बना कर रख लेवें। और अजीर्ण की शान्ति के लिये तथा अग्नि की वृद्धि एवम् कफ का नाश करने के निमित्त एक या दो गोली खा लेने से सचमुच लाभ होता है॥ १०८-१०९॥

विसूचिकाचिकित्सामाह—

जलपीतमपामार्गमूलं हन्याद्विसूचिकाम्। सतैलं कारवेल्लयम्बु नाशयेद्धि विसूचिकाम्॥११०॥

विसूचिका (हैजा) की [२] चिकित्सा—अपामार्ग की जड़ को जल से पीसकर पीने से विसूचिका दूर होती है। और करेला की पत्ती का रस निकाल कर उसमें तिल का तेल मिलाकर पीने से भी विसूचिका दूर होती है॥ ११०॥

---

१. अथाजीर्णारिरसमाह—शुद्धं सूतं गन्धकञ्च पलमात्रं पृथक् पृथक्। हरीतकी च द्विपला नागरस्त्रिपलः स्मृतः॥ १॥ कृष्णा च मरिचं तद्वत् सिन्धूत्थं त्रिपलं मतम्। चतुःपलानि विजया मर्दयेन्निम्बुकद्रवैः॥ २॥ पुटानि सप्त देयानि घर्ममध्ये पुनः पुनः। अजीर्णारिरयं प्रोक्तः सद्यो दीपन-पाचनः। भक्षयेद् द्विगुणं भक्ष्यं पाचयेद् रोचयेदपि॥ ३॥ अजीर्णारि रस—शुद्ध पारा तथा शुद्ध गन्धक पृथक् २ एक पल (४ तोला), बड़ी हरड़ का चूर्ण दो पल (८ तो०), सोंठ ३ पल (१२ तो०), पीपल चूर्ण, मरिच चूर्ण तथा सेंधा नमक प्रत्येक एक पल, भाँग ४ पल (१६ तो०) लेकर सबों को एकत्र कर नीबू के रस से खरल कर घाम में रख नीबू के रस की ७ भावना देवे। इसे वैद्य लोग 'अजीर्णारि रस' कहते हैं। यह सेवन करने से तत्काल अग्नि को दीप्त करता है तथा आम को पचाता है। और इसे खाकर के मनुष्य द्विगुण आहार भोजन करने लग जाता है एवम् उसे द्विगुण आहार भोजन करने की रुचि होती है तथा वह पचाने भी लगता है॥ १-३॥

यह पाठ किसी २ पुस्तकों में अधिक मिलता है उपयोगी समझ कर यहाँ पर दे दिया गया है।

२. वक्तव्य—अपने आयुर्वेद ने जो निम्न विसूचिकानाशक चिकित्साओं का वर्णन किया गया है- बहुत ही उत्तम है और इनसे निःसन्देह परम लाभ होता है। किन्तु ये सभी चिकित्सायें उसी समय प्रायः गुणकारिणी होती हैं जब कि इनका उपयोग प्रारम्भ ही से किया गया हो। किन्तु ऐसी अवस्था में जब कि दस्त तथा वमन द्वारा जलस्राव होते २ रक्त गाढ़ा पड़ गया हो, हृदय की गति मन्द होने जा रही हो, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो गई हो, आँखें बैठ गई हों तथा नाखून काले पड़ गये हों। ऐसे समय के लिये किसी भी चिकित्सा का वर्णन नहीं मिलता है। प्रायः ऐसी अवस्था को अपने यहाँ असाध्य मानकर छोड़ ही दिया जाता है। जैसे कि अभी पीछे वर्णन आया है कि :—

'यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसञ्ज्ञश्छर्द्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः।

वालमूलस्य तु क्वाथः पिप्पलीचूर्णसंयुतः । विसूचीनाशनः श्रेष्ठो जठराग्निविवर्द्धनः ॥ १११ ॥

छोटी मूली के क्वाथ में पीपल का चूर्ण डाल कर पीने से विसूचिका नष्ट हो जाती है, और जठराग्नि भी बढ़ती है ॥ १११ ॥

क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरोऽसौ पुनरागमाय ॥'

किन्तु प्रायः ऐसे समय में भी पाश्चात्त्य चिकित्सक एक अद्भुत प्रयोग करते हैं जिससे अधिकांश लाभ हो जाता है । वह है शरीर में लवणजल का प्रक्षेपण । अवसर तथा नितान्त आवश्यक समझ कर इसके विधि का वर्णन किया जा रहा है जिससे कि आयुर्वेद संसार अधिक से अधिक लोकहित कर सके ।

शरीर में लवणजल का प्रक्षेपणः—

शरीर में लवणजल का प्रक्षेपण उस अवस्था में करना चाहिये जिसे कि अपने आयुर्वेद में प्रायः असाध्यावस्था कही गई है । पाश्चात्त्य मत से इसे अवसाद की अवस्था (Stage of collaps) में प्रयुक्त करते हैं । इस अवस्था में मुखद्वारा ओषधियों का सेवन व्यर्थ होता है क्योंकि उनका शोषण न होकर वे आँत में इकट्ठी होती रहती हैं । ऐसी अवस्था में इस प्रकार की चिकित्सा लाभप्रद होती है जिससे कि शरीर का नष्ट हुआ जलांश, क्षार तथा लवण इनकी पूर्ति होकर रक्तसञ्चार में सहायता मिले । वह रॉजर के अतिवल (Hyper tonic) तथा क्षारीय लवणजल का शरीर में प्रवेश करने से होती है ।

अतिवल लवणजल—सोडियम क्लोराइड १२० ग्रेन, कैलशियम क्लोराइड ४ ग्रेन तथा तिर्यक्पातित जल (Distilleb water) १ पाइन्ट ।

क्षारीय लवणजल—सोडियम क्लोराइड ९० ग्रेन, सोडा वायकार्व १६० ग्रेन तथा तिर्यक्पातित जल १ पाइन्ट । घोल वनाने के लिये हमेशा नवीन विशोधित तिर्यक् पातित जल (Sterilised Distilled Water) को प्रयुक्त करना चाहिये । यदि न मिल सके तो सामान्य निर्मल जल को उवाल के लेना चाहिये । क्षारीय लवणजल वनाने के लिये सोडा वायकार्व को कागज़ में रखकर कन्दुकयन्त्र (Autoclave) में विशोधित करे । फिर नमक को पानी में डाल कर उवाल ले । ठण्ढा होने पर उसमें विशोधित सोडा मिलावे । पानी में सोडा डालकर उसको नहीं उवालना चाहिये । यह नमक का घोल जब तक वनाया जाता है तब तक रोगी के रक्त की गुरुता तथा गुदा के भीतर का तापमान देख लेना चाहिये । गुरुता से नमक के घोल की राशि तथा गुदा की उष्णता से घोल की उष्णता निश्चित की जाती है ।

रक्त की गुरुता नापने की पद्धति—ग्लिसरीन और पानी के मिश्रण से दोनों के प्रमाण में अन्तर करके १०५४ से १०६४ तक दो-दो अंश के फर्क की गुरुता के ६ घोल बनाकर ६ छोटी २ शीशियों में रक्खे जाते हैं । फिर रोगी की अङ्गुली में सूची से वेधन करके आप से आप जो रक्त निकलता है उसे एक केशनलिका (Capillary tube) में लेकर प्रत्येक शीशी में क्रमशः एक २ बूंद रक्त डाला जाता है जिस घोल में रक्तविन्दु एक दो सेकेण्ड के लिये पृष्ठ भाग पर रह कर पश्चात् डूब जाता है उस घोल की जो गुरुता होती है वही रक्त की होती है ।

लवणजल की राशि—साधारणतया रक्त की गुरुता के अनुसार लवण जल की राशि निश्चित की जाती है । गुरुता १०५८ होने पर १½ पाइण्ट, १०६० होने पर २ पाइण्ट, १०६२ होने पर २½ पाइण्ट, १०६३ होने पर ३ पाइण्ट, १०६४ होने पर ४ पाइण्ट तथा १०६५ होने पर ५ पाइण्ट के लग-भग जल प्रविष्ट किया जाता है । यदि रोगी की स्थिति बहुत ही खराब हो तो प्रमाण से भी अधिक जल प्रविष्ट कर सकते हैं । वालकों में, स्त्रियों में तथा दुर्बल रोगियों में प्रमाण से कुछ कम पानी प्रविष्ट करना चाहिये । पानी तव तक प्रविष्ट किया जाता है जब तक कि रक्तभार ११० मि० मि० (शाखाओं की नाड़ियों की पूर्ण स्पष्टता) तथा गुरुता १०५० न हो जाय । जल प्रविष्ट करते समय

विल्वनागरनिक्काथो हन्याच्छर्दिविचिसुकाम्। विल्वनागरकैटर्यकाथस्तदधिको गुणैः॥११२॥

वेल की गिरी तथा सोंठ का क्वाथ वनाकर पीने से वमन तथा विसूचिका दूर होती है।

और वेल की गिरी, सोंठ तथा कायफल का क्वाथ बनाकर पीने से पूर्वोक्त क्वाथ की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है अर्थात् उक्त क्वाथ में कायफल और डाल देने से वमन तथा विसूचिका में अधिक लाभ करता है॥ ११२॥

***कैटर्यः = कट्फलः ॥ ११२ ॥**

यहाँ पर 'कैटर्य' पद का 'कायफल' अर्थ समझना चाहिये॥ ११२॥

रोगी के ऊपर ध्यान देना चाहिये। यदि रोगी तीव्र सिर दर्द, सर्दी, श्वासकृच्छ्र, हृत्पूर्व-प्रदेश में पीडा, हृदय में बेचैनी इत्यादि की शिकायत करे तो जल-प्रवेश बन्द करना चाहिये। या उसका प्रवाह मन्द करना चाहिये। इन लक्षणों से शरीर में जल की अधिकता तथा उसके सञ्चारणमें हृदय की व्याकुलता प्रदर्शित होती है। प्रत्येक समय प्रथम १ पाइण्ट क्षारीय लवणजल और शेष राशि अतिवल लवणजल प्रविष्ट करना चाहिये।

जल की उष्णता—यह उष्णता रोगी के गुदा के तापक्रम पर निर्भर होती है। यदि तापक्रम ९७° से कम हो तो पानी की उष्णता १०२°–१०४° फै० तक, यदि तापक्रम १००° फै० तक हो तो पानी की उष्णता ९८° फै० तक, और यदि तापक्रम १०२° फै० से अधिक हो तो पानी की उष्णता ८०°–९०° फै० तक होनी चाहिये।

लवणजल-प्रवेश के निर्देश (Indication)-जब आँखें भीतर धंसी हुई, त्वचा सलवटदार और ठण्डी, आवाज खोखली, टाङ्गों तथा हाथों में सख्त ऐंठन पहुंचने पर नाड़ी की अस्पष्टता या उसका गायब होना, रक्त का गाढापन तथा भारन्यूनता, नीलिमा, अत्यन्त बेचैनी तथा मूत्र का बन्द होना इत्यादि लक्षण होते हैं तब लवणजल का प्रयोग करना चाहिये। लवणजल के प्रयोग के लिये केवल एक लक्षण पर्याप्त नहीं होता। जब इनमें से अधिक लक्षण उपस्थित होते हैं तब लवण जल प्रयुक्त होता है, चाहे ये लक्षण विसूचिकाजन्य हों या अन्य रोगजन्य (यथा रक्तस्रावादिद्रवनाशजन्य) हों।

जलप्रवेश के मार्ग—

१—शिराद्वारा—यह मार्ग सर्वोत्तम है। इससे शरीर से नष्ट हुये जल, क्षारादि की शीघ्रातिशीघ्र पूर्त्ति होकर रक्तसञ्चार में भी सुधार होता है। इसके लिये प्रायः कूर्परसन्धि के सामने मध्य बाहुकायोजिनी (Median Basalic) शिरा या कचित् अन्तर्गुल्फ के समीपवर्त्ती दीर्घोत्ताना (Long Saphanous) शिरा पसन्द की जाती है। तदनन्तर शिरा के ऊपर की त्वचा टिंचर आयोडीन के फाया से शुद्ध करके शिरा की दिशा में त्वचा में ½–१ इञ्च का चीरा लगाया जाता है। फिर त्वचा और उपत्वचा को काटकर शिरा को पृथक् किया जाता है। यदि शिरा साफ और स्पष्ट न हो, जैसा कि प्रायः अवसाद की अवस्था में हुआ करता, तो कूर्पर के ऊपर एक बन्ध इस तरह कसना चाहिये कि शिरागत रक्तप्रवाह स्थगित हो जाय किन्तु धमनीगत रक्तप्रवाह जारी रहे। इससे शिरा स्पष्ट हो जाती है। उपर्युक्त पद्धति से शिरा को पृथक् करने पर उसे दो स्थानों में दो बन्ध लगाकर नीचे का बन्ध कसना चाहिये और ऊपर का बन्ध कुछ ढीला रखना चाहिये। फिर शिरा को प्रस्फुट करने के लिए लगाये हुये बन्ध को छोड़कर शिरा में ऊपर को लगाये हुये बन्ध के कुछ नीचे चिमटी से शिरार्द्ध को पकड़ कर उसमें कैंची से तिरछा (V के आकार का) छेद किया जाता है और उसमें नलिका (Canula) प्रविष्ट कर उसको ऊपर बन्ध से कस दिया जाता है। इस पद्धति को खुली पद्धति (Open method) कहते हैं और इसी को ही प्रायः प्रयोग में लाते हैं। दूसरी बन्द (Closed) पद्धति होती है जिसमें त्वचा को विशुद्ध करने पर मोटी सूई शिरा में प्रविष्ट की जाती है। इसके लिये कुछ अभ्यास तथा कुशलता की आवश्यकता होती है।

विसूच्यामञ्जनप्रयोगानाह—

व्योषं करञ्जस्य फलं हरिद्रे मूलं समावाप्य च मातुलुङ्ग्याः ।
छायाविशुष्का वटिका कृता सा हन्याद्विसूचीं नयनाञ्जनेन ॥ ११२ ॥

विसूचिका में अञ्जनप्रयोग—सोंठ, पीपर, मिरच, करञ्ज का फल, हल्दी, दारुहल्दी, बिजौरे

प्रवाह की गति—शिरा में लवणजल प्रतिमिनट २–४ औंस के हिसाब से बहना चाहिये अर्थात् १ पाइन्ट जल ५–१० मिनट में प्रविष्ट करना चाहिये। शिरा में नलिकाप्रवेश के पूर्व उसका पेंच खोलकर थोड़ा सा जल बाहर निकाल देना आवश्यक है। इससे नलिकान्तर्गत वायु बाहर चली जाती है तथा यन्त्र ठीक काम कर रहा है या नहीं इसका भी ज्ञान हो जाता है। एक बार लवणजल को प्रविष्ट करने पर यदि फिर से रक्तगुरुतावृद्धि, नाडी की क्षीणता, रक्तभारन्यूनता इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाय तो पुनः लवणजल का प्रयोग करना चाहिये। इस तरह कई बार जल प्रविष्ट किया जाता है।

लवणजल के प्रकार—लवणजल अतिबल (Hyper tonic), समबल (Isotonic) तथा न्यूनबल (Hypotonic) इस तरह तीन प्रकार का होता है। इस रोग में सम तथा न्यून बल लवणजल में सोडाबायकार्ब भी मिलाया जाता है।

समबल क्षारीय लवणजल—सोडियम क्लोराइड ९० ग्रेन, सोडा बायकार्ब ६० ग्रेन तथा जल १ पाइण्ट।

न्यूनबल लवणजल—सोडियम क्लोराइड ६० ग्रेन, सोडा बायकार्ब १६० ग्रेन तथा जल १ पाइन्ट। यदि रोग की अवधि २४ घण्टे के भीतर होने पर भी लवणजल देने की आवश्यकता हो तो अतिबल लवणजल दिया जाता है, यदि २४–४८ घण्टे के भीतर फिर लवणजल देने की आवश्यकता हो तो समबल क्षारीयजल दिया जाता है। संक्षेप में प्रारम्भिक लवणजल अतिबल और उत्तरोत्तर क्षारीय समबल और न्यूनबल देना चाहिये।

२—त्वचा द्वारा—इस मार्ग का उपयोग रोग के प्रारम्भ में, जब रक्त की गुरुता स्वाभाविक से बहुत अधिक नहीं होती तथा शिराद्वारा लवणजल प्रविष्ट करते समय उसके सहयोग में किया जाता है। प्रायः शिराद्वारा पानी देने पर भी प्रतिदिन १ पाइन्ट त्वचा द्वारा दिया जाता है। इसके लिये उदरप्रदेश, बगल, कटिविभाग, ऊरुप्रदेश तथा स्त्रियों में स्तनाधः प्रदेश प्रयुक्त होता है। इस मार्ग के निम्न दोष हैं :—

मन्दगति से पानी का प्रवेश, स्थान पर पीडा तथा विद्रधि और कोथ उत्पन्न होने का डर। इसलिये कुछ लोग इस मार्ग का उपयोग नहीं करते।

३—उदरकला (Intra Peritoneal)—यह मार्ग बहुत सरल, सुलभ, कम पीडादायक तथा शीघ्र कार्यकर अतएव त्वचा की अपेक्षा उत्तम है। स्थूल मनुष्यों में या बालकों में जब शिरा का निकालना कठिन होता है, रोग की अन्तिम अवस्था में जब शिरा निकालने में समय व्यतीत करना खतरनाक होता है तथा शिरा द्वारा लवणजल देने के लिये जो अनुभव तथा शिक्षण होना चाहिये नहीं होता तब इस मार्ग का अवलम्बन करना श्रेयस्कर होता है। उदरकला में जल प्रविष्ट करने के लिये नाभि के नीचे त्वचा को विशोधित करने पर नश्तरसे एक चीरा लगाकर उसमें व्रीहिमुखयंत्र तथा छिद्रारा नलिका (Trocar and Canula) या रॉजर की नोकदार नलिका उदर गुहा में प्रविष्ट की जाती है और इस नलिका के द्वारा न्यूनबल लवणजल भीतर जाता है।

गुदाद्वारा—इसका उपयोग बहुत कम होता है, क्योंकि इस मार्ग से जल का शोषण बहुत मन्द गति से होता है। परन्तु कभी २ प्रारम्भिक तथा प्रतिक्रिया की अवस्था में जब विरेचन बहुत नहीं होता तथा बालकों में शिरा का निकालना कठिन होता है तब इस मार्ग का अवलम्बन किया जाता है। गुदा में जल बिन्दुशः (Drop method) प्रविष्ट करना चाहिये।

नींबू की जड़ इन सबों को एकत्र पीसकर गोली बनाकर छाया में सुखाकर रख दे, इसे घिस कर नेत्र में अञ्जन करने से विसूचिका दूर हो जाती है ॥ ११३ ॥

॥अनुभूतमिदम् ॥ ११३ ॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि यह प्रयोग अनुभूत है ॥ ११३ –

अपामार्गस्य पत्राणि मरिचानि समानि च। अश्वस्य लालया पिष्ट्वाऽञ्जनाद्धन्ति विसूचिकाम्॥

चिरचिटे की पत्तियां और मरिच समभाग में लेकर घोड़े की लार से पीसकर अञ्जन करने से विसूचिका नष्ट होती है ॥ ११४ ॥

विसूच्यामतिवृद्धायां तक्रं दधि समं जलम्। नारिकेलाम्बु पेयं वा प्राणत्राणाय योजयेत् ॥

विसूचिका के अत्यन्त बढ़ जाने पर प्यास लगने से अधिक दुखी हुये रोगी को प्राणरक्षा के लिये तक्र या दही में समभाग जल मिलाकर अथवा नारियल के फल का जल पिलाना चाहिये ॥११५॥

विसूच्यामुद्वर्त्तनतैलादिप्रयोगानाह—

त्वक्पत्रकैरण्डकशिग्रुकुष्ठैरम्लप्रपिष्टैः सवचाशताह्वैः।
उद्वर्त्तनं खल्लिविसूचिकाघ्नं तैलं विपक्वञ्च तदर्थकारि ॥ ११६ ॥

विसूचिका में उबटन तथा तेल आदि का प्रयोग—दालचीनी, तेजपात, एरण्ड के जड़ की छाल, सहिजन की छाल, कूठ, वच तथा सोये की पत्ती इन सबों को समभाग में लेकर कांजी से पीसकर उबटन लगाने से अथवा इन्हीं सब द्रव्यों के कल्क द्वारा यथाविधि तेल बनाकर मर्दन करने से खल्ली तथा विसूचिका नष्ट होती है ॥ ११६ ॥

कुष्ठसैन्धवयोः कल्कं शुक्तं तैले तु साधितम्। विसूच्यां मर्दनं तेन खल्लीशूलनिवारणम् ॥

कूठ तथा सेंधानमक का कल्क बनाकर उसमें चूक का रस भी डालकर तैलपाक की विधि से तिल के तेल में मिलाकर पकावे, सिद्ध हो जाने पर उतार छानकर मर्दन करने से विसूचिका, खल्ली तथा शूल नष्ट हो जाता है ॥ ११७ ॥

पिपासायां तथोत्क्लेशे लवङ्गस्याम्बु शस्यते। जातीफलस्य वा पीतं श्रृतं भद्रघनस्य वा ॥

यदि विसूचिका में प्यास अधिक लगती हो अथवा किसी को उत्क्लेश (उबकाई) हो तो उसे लवङ्ग के साथ उबाला हुआ जल पिलाना चाहिये अथवा जायफल या नागरमोथा डालकर सिद्ध किया हुआ जल पीने के लिये देना चाहिये ॥ ११८ ॥

उत्क्लेशस्य लक्षणमाह—

उत्क्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत्प्रसेकष्ठीवनेरितम्। हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत् ॥

उत्क्लेश के लक्षण—जिस मनुष्य का खाया हुआ अन्न मुख की राह से बाहर निकलने के लिये उन्मुख होकर भी बाहर न निकले, और मुख से जल तथा थूक निकले एवम् हृदय में पीड़ा हो तो उसे 'उत्क्लेश' से युक्त समझना चाहिये अर्थात् ये सब लक्षण उत्क्लेश के समझने चाहिये ॥११९॥

दारुषट्कमाह—

सरुग् वाऽऽनद्धमुदरमम्लपिष्टैः प्रलेपयेत्। दारुहैमवतीकुष्ठशताह्वाहिङ्गुसैन्धवैः ॥ १२० ॥

दारुषट्क—देवदारु, सफेद वच, कूठ, सोया, हींग तथा सेंधानमक इन सब द्रव्यों को कांजी में पीस कर जिसके उदर में पीड़ा होती हो अथवा फूल गया हो तो उसके उदर पर लेप करने से लाभ होता है ॥ १२० ॥

हैमवती = श्वेतवचा ॥ १२० ॥

यहां पर 'हैमवती' का 'सफेद वच' अर्थ समझना चाहिये ॥ १२० ॥

तक्रेण युक्तं यवचूर्णमुष्णं सक्षारमर्त्तिं जठरे निहन्यात्।
स्वेदो घटैर्वाऽप्यथ बाष्पपूर्णैरुष्णैस्तथाऽन्यैरपि पिण्डतापैः ॥१२१॥

जौ का आटा तक्र में फेंट कर और उसमें जवाखार भी मिलाकर गर्म करके उदर पर गर्म २ लेप करने से उदर की पीड़ा शान्त होती है। और एक घड़े में जल रखकर गर्म करे जब भाफ

निकलने लगे तब उसी से स्वेद ले अथवा अन्य किसी पिण्डमय पदार्थों को तपाकर उससे स्वेद ले, तो भी उदर की पीड़ा शान्त होती है ॥ १२१ ॥

अलसकविलम्बिकयोश्चिकित्सामाह—

विलम्बिकाऽलसकयोरयमेव क्रियाक्रमः। अत एव तयोरुक्तं पृथङ् नहि चिकित्सितम् ॥

अलसक तथा विलम्बिका की चिकित्सा—यहां चिकित्सा का क्रम अर्थात् इस अधिकार में पूर्वोक्त जो चिकित्सायें कह आये हैं उन्हीं में से योग्यतानुसार जो चिकित्सा हो उसे अलसक तथा विलम्बिका की भी समझनी चाहिये। अत एव इन दोनों की पृथक् चिकित्सा का वर्णन नहीं किया गया ॥ १२२ ॥

भस्मकरोगचिकित्सामाह—

तं भस्मकं गुरुस्निग्धसान्द्रमन्दहिमस्थिरैः। अन्नपानैर्नयेच्छान्ति पित्तघ्नैश्च विरेचनैः ॥

भस्मकरोग की चिकित्सा—गुरु, स्निग्ध, सान्द्र (पीठी आदि), मन्द (भलीभांति से नहीं पक्व हुआ), शीतल तथा कठिन जो अन्न-पान के योग्य पदार्थ हों या जो पित्तनाशक पदार्थ हों उन सबों का सेवन कराने से तथा विरेचन देने से पूर्वोक्त भस्मक रोग की शान्ति करनी चाहिये ॥

अत्युद्धताग्निशान्त्यै माहिषदधिदुग्धसर्पींषि। संसेवेत यवागूं समपिष्टे पयसि सर्पिषा सिद्धाम् ॥

अत्यन्त प्रवृद्ध अग्नि (भस्मकरोग) की शान्ति के लिये भैंस का दूध, दही तथा घृत का सेवन करना चाहिये, या समभाग चावल का चूर्ण तथा भैंस का दूध लेकर भैंस का घी मिलाकर यवागू बनाकर खाना चाहिये ॥ १२४ ॥

असकृत्पित्तहरणं पायसं प्रतिभोजनम्। श्यामात्रिवृद्विपक्वञ्च पयो दद्याद्विरेचनम् ॥१२५॥

यत्किञ्चिन्मधुरं मेध्यं श्लेष्मलं गुरु भोजनम्। सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा प्रस्वपनं दिवा ॥

और पित्तनाशक द्रव्यों के संयोग से सिद्ध किया हुआ खीर खिलाकर बारबार पित्तनाशक उपचार करना चाहिये। एवम् काली निसोथ के साथ सिद्ध किया हुआ भैंस का दूध पिलाकर विरेचन देना चाहिये। और जो कोई भोज्य पदार्थ मधुर रस युक्त, मेधा के लिये हितकर, कफजनक तथा गुरु होते हैं वे सभी अत्यन्त बढ़ी हुई अग्नि (भस्मक रोग) में भोजन करने से हितकर होते हैं। एवम् भोजनोपरान्त दिन में सोना भी हितकर होता है ॥ १२५-१२६ ॥

सिततण्डुलसितकमलं छागक्षीरेण पायसं सिद्धम्।
भुक्त्वा च तेन पुरुषो दशदिवसात्तुच्छभोजनो भवति ॥ १२७ ॥

सफेद चावल तथा सफेद कमल इन दोनों का बकरी के दूध में खीर पकाकर खाने से भस्मक-रोग वाले पुरुष का १० दिन में भोजन की मात्रा कम हो जाती है ॥ १२७ ॥

विशिष्टद्रव्याजीर्णे विशिष्टं पाचनद्रव्यमाह—

अलं पनसपाकाय फलं कदलसम्भवम्। कदलस्य तु पाकाय बुधैरपि घृतं हितम् ॥ १२८ ॥
घृतस्य परिपाकाय जम्बीरस्य रसो हितः ॥ १२९ ॥

विशिष्ट २ द्रव्यों के अजीर्ण में विशिष्ट २ पाचन द्रव्य—कटहल का फल खाने से अजीर्ण होने पर पचाने के लिये केले का फल खाना चाहिये। केले को पचाने के लिये घी खाना हितकर होता है। और घी पचाने के लिए जम्बीरी नीबू का रस पीना हितकर होता है। ऐसा विद्वान लोग कहते हैं ॥ १२८-१२९ ॥

नारिकेलफलतालबीजयोः पाचकं सपदि तण्डुलं विदुः।
क्षीरमेव सहकारपाचनं क्षारमञ्जनि हरीतकी हिता ॥ १३० ॥
मधूकमालूरनृपादनानां परूषखर्जूरकपित्थकानाम्।
पाकाय पेयं पिचुमन्दबीजं घृतेऽपि तक्रेऽपि तदेव पथ्यम् ॥१३१॥
खर्जूरशृङ्गाटकयोः प्रशस्तं विश्वौषधं कुत्र च भद्रमुस्तम्।
यत्राक्षचोचद्रुफलेषु शस्तं प्लक्षे तथा पर्युषितं प्रपीतम् ॥१३२॥

नारियल का फल और ताड़ के बीजों को शीघ्र पचाने के लिये चावल खाना उत्तम होता है।

आम को पचाने के लिये दूध तथा चिरौंजी पचाने के लिये हरड़ उत्तम होता हैं। महुआ, वेल, खिरनी, फालसा, खजूर, कैथ इन सबों के पचाने के लिये नीम के बीज (निबौली) खाना चाहिये, एवम् घी तथा तक्र भी पचाने के लिये वही अर्थात् नीम का बीज ही उत्तम होता है। खजूर तथा सिंघाड़ा पचाने के लिये सोंठ उत्तम होता है। किसी २ वैद्य ने नागरमोथा को भी उत्तम बताया है। और गूलर, पिप्पल (पीपर) तथा पाकर के फलों को पचाने के लिये वासी जल पीना उत्तम होता है॥ १३०-१३२॥

तण्डुलेषु च पयः पयस्वथो दीप्यकस्तु चिपिटे कणायुतम्।
षष्टिका दधिजलेन जीर्यते कर्कटी च सुमनेषु जीर्यति॥१३३॥

और चावल पचाने के लिये जल उत्तम होता है, जल पचाने के लिये अजवायन, चिउड़ा पचाने के लिये पीपल के साथ अजवायन उत्तम होता है। एवम् साठी का चावल दही का जल पीने से पच जाता है और ककड़ी गेहू खाने से पच जाता है॥१३३॥

***सुमनेषु = गोधूमेषु जीर्यति॥ १३३॥**

यहां पर 'सुमन' पद का 'गेहूँ' अर्थ समझना चाहिये॥ १३३॥

गोधूममाषहरिमन्थसतीनमुद्गपाको भवेज्झटिति मातुलपुत्रकेण।
खर्जूरिकाविसकशेरुसितासु शस्तं शृङ्गाटके मधुफलेष्वपि भद्रमुस्तम्॥१३४॥

गेहूँ, उड़द, चना, मटर तथा मूंग को शीघ्र पचाने के लिये भोजनोपरान्त धत्तूर का फल उचित मात्रा में खाना चाहिये। और खजूर, कमल की नाल, कशेरू, चीनी, सिंघाड़ा, महुये का फल इन सबों को पचाने के लिये नागरमोथा खाना उत्तम होगा॥१३४॥

***मातुलपुत्रकं = धत्तूरफलम्॥१३४॥**

यहां पर 'मातुलपुत्रक' पद का 'धत्तूर का फल' यह अर्थ समझना चाहिये॥१३४॥

कङ्गुश्यामाकनीवाराः कुलत्थाश्चाविलम्बितम्। दध्ना जलेन जीर्यन्ति वैदलः काञ्जिकेन तु॥
पिष्टान्नं शीतलं वारि कृशरां सैन्धवं पचेत्। मापेण्डरीं निम्बुफलं पायसं मुद्गयूषकः॥१३६॥

कङ्गुनी, सावा, नीवार, कुलथी ये सब, भोजनोपरान्त दही का जल पीने से शीघ्र पच जाते हैं। एवम् कांजी से दाल, शीतल जल से पीठी (पीठी से बने पकौड़ी आदि पदार्थ) और सेंधा नमक से खिचड़ी शीघ्र पच जाती है। और मापेण्डरी (खाद्यविशेष) पचाने के लिये कागजी नीबू का रस तथा खीर पचाने के लिये मूंग का यूष पीना चाहिये॥ १३५-१३६॥

वटो वेसवाराल्लवङ्गेन फेनः समं पर्पटः शिग्रुवीजेन याति।
कणामूलतो लड्डुकापूपसट्टाऽऽदिपाको भवेच्छष्कुलीमण्डयोश्च॥१३७॥

वड़ा के खाने से हुआ अजीर्ण वेसवार से दूर होता है, लवङ्ग से फेनी का अजीर्ण, तथा सहिजने के बीज से पापड़ का अजीर्ण दूर होता है। और लड्डू, मालपूआ, सटक (पन्ना विशेष), शष्कुली (पूरी) तथा माँड का परिपाक पिपरामूल का चूर्ण खाने से होता है॥१३७॥

***वेसवारः = 'वगस' इति लोके। तद्यथा—**

***स्नेहो निशाहिङ्गुलवङ्गकैलाधान्याकजीरार्द्रकनागराणि।**
अम्लोपणं सैन्धवचूर्णमन्ते यथोचितं संस्कृतये प्रणीतम्॥ २॥ इति।

यहाँ पर 'वेसवार' पद से 'लोकप्रसिद्ध वगस' का बोध करना चाहिये। और इसके बनाने का प्रकार इस भांति समझना चाहिये कि—तेल आदि स्नेह पदार्थ, हल्दी, भुनी हींग, लौङ्ग, इलायची, धनिया, सफेद जीरा, अदरक, सोंठ, खटाई, काली मिरच, सेंधानमक इन सबों का यथायोग्य जो चूर्णादि बनाकर अन्न के संस्कार के लिये डाला जाता है उसे 'वेसवार' कहते हैं॥२॥

***सट्टा = सटकपानविशेषः। 'मण्ड' माँड' इति लोके॥ १३७॥**

और यहां पर 'सट्टा' पद का 'सटक अर्थात् पन्ना विशेष' तथा 'मण्ड' पद का 'लोकप्रसिद्ध माँड' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १३७॥

किमत्र चित्रं बहुमत्स्यमांस-भोजी सुखी काञ्जिकपानतः स्यात्।
इत्यद्भुतं केवलवह्निपक्वमांसेन मत्स्यः परिपाकमेति ॥१३८॥

अधिक मछलियों का मांसभोजन करने वाला मनुष्य भोजनोपरान्त कांजी पीकर अजीर्ण होने के भय से छूट कर सुखी हो जाता है। इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं मानना चाहिये। किन्तु इसमें तो अवश्य आश्चर्य मानना चाहिये कि—केवल अग्नि में पकाये हुये मांस खा लेने से मछली का मांस पच जाता हैं॥ १३८॥

आममाम्रफलं मत्स्ये तद्बीजं पिशिते हितम्। कूर्ममांसं यवक्षारः शीघ्रं पाकमुपैति हि॥१३९॥

कच्चा आम का फल खाने से मछली का मांस पच जाता है और आम के बीज की मींगी खाने से मांस पच जाता है। एवम् कछुये का मांस जवाखार खाने से शीघ्र पच जाता हैं॥१३९॥

कपोतपारावतनीलकण्ठ-कपिञ्जलानां पिशितानि भुक्त्वा।
काशस्य मूलं परिपिष्य पीतं सुखी भवेन्ना बहुशो हि दृष्टम्॥१४०॥

कपोत (सफेद तथा पाण्डु वर्ण का कबूतर), पारावत (परेवा कबूतर), नीलकण्ठ तथा गौर तीतर इन सबों के मांस भोजन के उपरान्त काश का मूल पीसकर पीने से अजीर्ण होने का भय छूट जाने से मनुष्य सुखी हो जाता है, अर्थात् पच जाता है, यह अनेकों बार देखा गया है॥१४०॥

*कपोतो धवलः पाण्डुः॥१४०॥

यहां पर 'कपोत' पद से 'सफेद तथा पाण्डुवर्ण का कबूतर' का ग्रहण करना चाहिये॥१४०॥

मांसानि सर्वाण्यपि यान्ति पाकं क्षारेण सद्यस्तिलनालजेन।
चञ्चूकसिद्धार्थकवास्तुकानां गायत्रिसारक्वथितेन पाकः॥१४१॥

तिल के नाल का क्षार खाने से सभी प्रकार का मांस पच जाता है। चेंचू, सरसों तथा बथुये का शाक का अजीर्ण खैरसार (कत्था) के क्वाथ से शान्त हो जाता है॥ १४१॥

चञ्चुकः = 'चेंचू' इति लोके। गायत्री = खदिरः॥ १४१॥

यहाँ पर 'चञ्चूक' पदका 'लोकप्रसिद्ध चेचू शाक' तथा 'गायत्री' पद का 'खैर' अर्थ समझना चाहिये॥ १४१॥

पालङ्किकाकेबुककारवेल्लीवार्त्ताकुवंशाङ्कुरमूलकानाम्।
उपोदिकाऽलाबुपटोलकानां सिद्धार्थको मेघरवश्च पक्ता॥ १४२॥[1]

पालक, केबुक, करेला, बैंगन, बास के अङ्कुर, मूली पोई, लौकी तथा परवल इन सबोंका अजीर्ण पीली सरसों और चौराई शाक खाने से दूर होता है॥ १४२॥

*मेघरवः = 'चौराई' इति लोके॥ १४२॥

यहां पर 'मेघरव' पदका 'लोकप्रसिद्ध चौराई शाक' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १४२॥

विपच्यते शूरणको गुडेन तथाऽऽलुकं तण्डुलधावनेन।
पिण्डालुकं जीर्यति कोरदूषात्कशेरुपाकः किल नागरेण॥१४३॥

शूरन का अजीर्ण गुड़ खाने से शान्त होता है, एवम् चावल के धोवन से आलू का, कोदो से पिण्डालू का तथा सोंठ से कसेरू का अजीर्ण दूर होता है॥ १४३॥

लवणस्तण्डुलतोयात्सर्पिर्जम्बीरकाद्यम्लात्। मरिचादपि तच्छीघ्रं पाकं यात्येव काञ्जिकात्तैलम्॥

1. 'पटोलवंशाङ्कुरकारवेल्लीकालान्यलाबूनि बहूनि जग्ध्वा।
क्षारोदकं ब्रह्मतरोर्निपीय भोक्तुं पुनर्वाञ्छति तावदेव॥'

परवल, बांस के अंकुर, करेला, कालशाक तथा लौकी ये सब अधिक मात्रा में भी खाकर यदि ऊपर से पलाश के क्षार से युक्त जल पी लेवे, तो अजीर्ण नाश होकर पुनः जितना खाने से अजीर्ण हुआ है उतना ही खाने की इच्छा हो जाती है॥

ग्रन्थान्तर में इतना पाठ अधिक मिलता है, अतः उपयोगी समझ कर यहां लिख दिया गया है।

नमक का अजीर्ण चावल के धोवन से तथा घी का अजीर्ण जम्बीरीनीबू आदि अम्ल पदार्थों के खाने से शीघ्र दूर होता है, एवम् कालीमिरच के खाने से भी घी का अजीर्ण शीघ्र दूर होता है तथा काञ्जी के खाने से तेल का अजीर्ण शीघ्र नष्ट होता है ॥ १४४ ॥

क्षीरं जीर्यति तक्रेण तद्द्रव्यं कोष्णमण्डकात् । माहिषं माणिमन्थेन शङ्खचूर्णेन तद्दधि॥१४५॥

मट्ठा खाने से दूध का अजीर्ण शान्त होता है, और दूध से बने हुये पदार्थ खाने से यदि अजीर्ण हो तो किञ्चित् उष्ण माँड के खाने से दूर हो जाता है। और भैंस के दूध का अजीर्ण सेंधा-नमक खाने से तथा भैंस की दही का अजीर्ण शङ्खभस्म खाने से दूर होता है ॥ १४५ ॥

***मण्डकः='माँड' इति लोके ॥ १४५ ॥**

यहां पर 'मण्डक' पद का 'लोकप्रसिद्ध माँड' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १४५ ॥

रसालं जीर्यति व्योषात्खडं नागरभक्षणात् । सिता नागरमुस्तेन तथेक्षुश्चार्द्रिकारसात् ॥१४६॥

सोंठ, पीपर तथा कालीमिर्च का चूर्ण एकत्र कर खाने से आम के फल (किसी के मत से पौंडा) का अजीर्ण दूर होता है एवम् खांड का अजीर्ण सोंठ से, चीनी का अजीर्ण नागरमोथा से तथा ईख का अजीर्ण अदरख का रस पीने से दूर होता है ॥ १४६ ॥

जरामिरा गैरिकचन्दनाभ्यामभ्येति शीघ्रं मुनिभिः प्रदिष्टम् ।
उष्णेन शीतं शिशिरेण चोष्णं जीर्णो भवेत्क्षारगणस्तथाऽम्लैः ॥१४७॥

'अधिक मद्य पीने से यदि अजीर्ण हुआ हो तो गेरू तथा मलयागिरी चन्दन घोंट कर पीने से शीघ्र शान्त होता है' ऐसा मुनियों ने कहा है, एवम् शीतल पदार्थ का अजीर्ण उष्ण पदार्थ खाने से तथा उष्ण पदार्थ का अजीर्ण शीतल पदार्थ खाने से दूर होता है, और क्षार पदार्थ खाने से उत्पन्न हुआ अजीर्ण अम्ल पदार्थ खाने से शान्त होता है ॥ १४७ ॥

***इरा=मदिरा ॥ १४७ ॥**

यहां पर 'इरा' पदका 'मदिरा' अर्थ समझना चाहिये ॥ १४७ ॥

तप्तं तप्तं हेम वा तारमग्नौ तोये क्षिप्तं सप्तकृत्वस्तदम्भः ।
पीत्वाऽजीर्णं तोयजातं निहन्यात्तत्र क्षौद्रं भद्रमुस्तं विशेषात् ॥१४८॥

सोने अथवा चांदी को अग्नि में ७ वार तपाकर ७ वार जल में बुझा देवे, पश्चात् उक्त जलको पीने से जल अधिक पीने से उत्पन्न हुआ अजीर्ण नष्ट हो जाता है, तथा उक्त जलसम्बन्धी अजीर्ण में मधु तथा नागरमोथा खाना विशेषरूप से अजीर्णनाशक होता है ॥१४८॥

***तत्र=तोयाजीर्णे ॥ १४८ ॥**

इति षष्ठो जठराग्निविकाराधिकारः समाप्तः ॥ ६ ॥

यहां पर 'तत्र' पदका 'उक्त जल सम्बन्धी अजीर्ण में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥१४८॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायामष्टमे चिकित्साप्रकरणे द्वितीयभागे षष्ठो जठराग्निविकाराधिकारः समाप्तः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमः कृमिरोगाधिकारः ॥ ७ ॥

तत्र कृमिभेदानाह—

क्रिमयस्तु द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥ १ ॥

सप्तम कृमिरोगाधिकार[1] में क्रिमियों के भेद—बाह्य (बाहर के) तथा आभ्यन्तर (भीतर के) भेद से कृमियों के दो भेद होते हैं। १—बाह्य कृमि। आभ्यन्तर क्रिमि ॥ १ ॥

१. जिस प्रकार अपने आयुर्वेद में बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के कृमि बहिर्मलजन्य, कफजन्य, रक्तजन्य तथा पुरीषज भेद से चार प्रकार के तथा नाम भेद से २० प्रकार के होते हैं

कृमिनिदानमाह—

बहिर्मलकफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधाः । नामतो विंशतिविधा बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः ॥२॥

कृमियों के निदान—बाहर के मल (पसीना आदि), कफ, रक्त और विष्ठा इनसे उत्पन्न होने के कारण से अर्थात् जन्मभेद से कृमि ४ प्रकार के होते हैं। और नामभेद से २० प्रकार के होते हैं। उनमें से मल से उत्पन्न होने वाले क्रिमि 'बाह्य' कहलाते हैं ॥ २ ॥

***तत्र तेषु बाह्याः क्रिमयो मलोद्भवाः = त्वग्लग्नबहिर्मलस्वेदसंभवाः ॥ २ ॥**

यहां पर 'मलोद्भव = मल से उत्पन्न होने वाले' यह कहने से 'चर्म के ऊपर लगे हुये बाहरी मल तथा स्वेद (पसीना) से उत्पन्न होने वाले' यह भाव समझना चाहिये ॥ २ ॥

बाह्यकृमिरूपमाह—

तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः । बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिख्याश्च नामतः॥३॥

बाह्यकृमि के रूप—बाह्यकृमि देखने में तिल के समान प्रमाण वाले तथा उसी के समान आकृति और वर्णवाले होते हैं। एवम् वे बाल तथा कपड़ों के आश्रय से रहते हैं। और अधिक पैर वाले तथा सूक्ष्म होते हैं, उनके नाम जूं तथा लीख होते हैं ॥ ३ ॥

***तिलानामिव प्रमाणानि परिणाहानि संस्थानान्यवयवसन्निवेशा वर्णा येषां ते, द्विधा-तत्र यूकाः = बहुपादाः कृष्णाः केशाश्रयाः । लिख्याः = सूक्ष्माः श्वेता वस्त्राश्रयाः ॥३॥**

यहाँ पर 'तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः' पदका 'तिल के समान प्रमाण वाले तथा उसी के समान आकृति और वर्णवाले होते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये। और यह भी समझना चाहिये कि बाह्यकृमि दो प्रकार के होते हैं।

१—प्रथम का नाम जूं होता है, उसके अधिक पैर होते हैं, वह काले रङ्ग का बालों के अन्दर रहने वाला होता है।

२—दूसरे का नाम 'लीख' है, वह सूक्ष्म तथा सफेद रङ्ग का होता है, और कपड़ों के अन्दर रहने वाला है ॥ ३ ॥

बाह्यकृमिविकारमाह—

द्विधा ते कोठपिडिकाः कण्डूगण्डान्प्रकुर्वते ॥ ४ ॥

बाह्यकृमि से होने वाले रोग—उक्त दो प्रकार के बाह्य कृमि जूं तथा लीख पड़ जाने से मनुष्यों को कोठ (चकत्ता), पिडिका (फुन्सी), खुजली तथा गलगण्ड आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ४ ॥

आभ्यन्तरकृमिविप्रकृष्टनिदानमाह—

अजीर्णभोजी मधुराम्लसेवी द्रवप्रियः पिष्टगुडोपभोक्ता ।

उसी प्रकार पाश्चात्त्य विज्ञान में भी इस कृमिरोग का पर्याप्त विस्तृत वर्णन मिलता है। वे कृमि टीनिया सोलियम (Taenia Solium), टीनिया साजिनाटा (Taenia Saginata), गण्डूपद कृमि (Round worm), प्रतोदकृमि (Whip Worm), तन्तुकृमि (Thread worm), अङ्कुश मुखकृमि (Hook-worm) तथा स्नायुक कृमि (Guinea worm) इत्यादि संज्ञाओं से विख्यात हैं जिनके सम्बन्ध में विशेष प्रकाश स्थानाभाव के कारण असम्भव है।

यथा अपने यहां इनकी उत्पत्ति मधुर आदि आहार तथा व्यायामाभावादि से होती है ऐसा माना गया है। यद्यपि सम्प्राप्ति का प्रकार ठीक उसी प्रकार पाश्चात्त्य विज्ञान में तो नहीं माना जाता किन्तु फिर भी अधिकांश में आहार ही कारण मानते हैं। 'यथा टीनिया सोलियम कृमि का उन लोगों में प्रसार होता है जो लोग कि सूअर का मांस खाते हैं और टीनिया साजिनाटा नामक कृमिका प्रसार उन लोगों में होता है जो बैल का मांस खाते हैं। पहले ये कृमि उपर्युक्त पशुओं के शरीर में रहते हैं जब इस प्रकार के दूषित मांस को मनुष्य खाते हैं तो वे मनुष्य उपर्युक्त कृमिजन्य व्याधि से ग्रस्त हो जाते हैं। तथा अन्य कृमि प्रायः दूषित आहार, दुग्ध, जल तथा शाक इत्यादि को खाने से मनुष्य पर संक्रान्त होते हैं, ऐसा माना जाता है।

व्यायामवर्जी च दिवाशयी च विरुद्धभोजी लभते क्रिमींश्च ॥ ५॥

आभ्यन्तर (भीतर के) कृमियों के विप्रकृष्ट निदान—जो मनुष्य अजीर्ण होने पर भी भोजन करने वाला होता है, तथा मधुर या अम्ल पदार्थों का सेवन अधिक करता है, द्रव (पतले) पदार्थों पर अधिक रुचि होती है, पीठी तथा गुड़ का अधिक उपयोग (भक्षण) करता है, या इनसे बने पदार्थों को अधिक खाता है, इसके साथ २ व्यायाम (शरीर से विशेष श्रम कसरत आदि) नहीं करता है और दिन में सोने वाला होता है, एवम् जो परस्पर विरुद्धपदार्थ दूध-मछली आदि एक साथ खाने वाला होता है, उसे आभ्यन्तर कृमि उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ५ ॥

जातक्रिमिलक्षणमाह—

ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः। भक्तद्वेषोऽतिसारश्च सञ्जातक्रिमिलक्षणम् ॥ ६ ॥

आभ्यन्तर कृमि के उत्पन्न होने पर प्रगट होने वाले लक्षण—ज्वर, शरीर के वर्ण का बिगड़ जाना, शूल, हृद्रोग, ग्लानि, भ्रम, भोजन से द्वेष तथा अतीसार इन सबों के प्रकट होने पर आभ्यन्तर (शरीर के अन्दर) कृमि उत्पन्न हुआ समझ लेना चाहिये ॥ ६ ॥

कफोत्पन्नक्रिमीणां विप्रकृष्टनिदानसंप्राप्तिलक्षणान्याह—

मांसमाषगुडक्षीरदधिशुक्तैः कफोद्भवाः ॥ ७ ॥

कफ से उत्पन्न होने वाले क्रिमिओं के विप्रकृष्ट (दूर के) निदान, संप्राप्ति तथा लक्षण—मांस, उड़द, गुड़, दूध, दही तथा सिरका इन सबों के भोजन करने से कफसम्बन्धी क्रिमि उत्पन्न होते हैं ॥ ७ ॥

*शुक्तं = कालान्तरेणाम्लीभूत इक्षुरसविकारः ॥ ७ ॥

यहां पर 'शुक्त' पदका 'सिरका अर्थात् अधिक समय तक रखने से खट्टा हुआ ईख के रस का एक प्रकार का पदार्थ' अर्थ समझना चाहिये ॥ ७ ॥

कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः। पृथुब्रध्ननिभाः केचित्केचिद्गण्डूपदोपमाः॥८॥
रूढधान्याङ्कुराकारास्तनुदीर्घास्तथाऽणवः। श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तधा तु ते॥९॥
अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुदाः। चुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते च कुर्वते ॥१०॥
हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम् । मूर्च्छाच्छर्दिज्वरानाहकासक्षवथुपीनसान् ॥११॥

कफज कृमि के सम्प्राप्तिपूर्वक लक्षण—कफ से आमाशय में उत्पन्न हुये तथा वहां ही पर वृद्धि को प्राप्त हुये कृमि उदर में इधर-उधर विचरण करते हैं। इनमें से कितने एक मोटे चर्मलता के समान, कितने एक केंचुये के समान, कितने एक अङ्कुरित (अँखुवाये हुये) धान्य के अङ्कुर के समान, कितने एक पतले तथा लम्बे एवम् कितने एक अत्यन्त छोटे होते हैं। इनमें से कितने एक क्रिमि सफेद होते हैं और कितने एक ताम्र के समान वर्णवाले होते हैं। और वे अन्त्राद, उदरावेष्ट, हृदयाद, महागुद, चुरु, दर्भकुसुम तथा सुगन्ध इन नामों से ७ प्रकार के होते हैं। एवम् उबकाई, मुख से जल गिरना, अन्न न पचना, अरुचि, मूर्च्छा, वमन, ज्वर, अफरा, खांसी, छींक तथा पीनस रोग को उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ ८-११ ॥

*ब्रध्नः = चर्मलता। रूढः = अङ्कुरितः। तनवः परिणाहेन तथा दीर्घास्तनुदीर्घाः। चुरवश्चुरुनामानः। तत्कर्त्तव्यविकारा हृल्लासादयः ॥ ८-११ ॥

यहां पर 'ब्रध्न' पदका 'चर्मलता' तथा 'रूढ' पदका 'अङ्कुरित' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

रक्तोत्पन्नकृमीणां विप्रकृष्टनिदानमाह—

विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि ॥ १२ ॥

रक्त से होने वाले कृमियोंके विप्रकृष्ट कारण—परस्पर संयोग-विरुद्ध क्षीर-मत्स्यादि भोजन एवम् अजीर्ण-भोजन तथा शाकादि-भोजन करने से रक्तज (रक्त से उत्पन्न होने वाले) कृमि उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

रक्तजकृमिलक्षणमाह—

रक्तवाहिशिरास्थाना रक्तजा जन्तवोऽणवः। अपादा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः॥ केशादा लोमविध्वंसा रोमद्वीपा उदुम्बराः। षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातरः॥१४॥

रक्तज कृमियों के लक्षण—रक्तवाही शिराओं के अन्दर रहने वाले, अत्यन्त सूक्ष्म, पैरवाले, गोल तथा ताम्र के समान वर्ण वाले रक्तज कृमि होते हैं, और इनमें से कोई अत्यन्त सूक्ष्म होने से नहीं दिखाई पड़ने वाले होते हैं। एवम् वे केशाद, लोमविध्वंस, रोमद्वीप, उदुम्बर, सौरस तथा मातृनाम से ६ प्रकार के होते हैं। और प्रधानरूप से कुष्ठ रोग को उत्पन्न करने वाले होते हैं॥

***सौरससातृभ्यां सह वर्त्तन्त इति सहसौरसमातरः॥ १३–१४॥**

यहां पर 'सहसौरसमातरः' पद में 'सौरसमातृभ्यां सह वर्त्तन्ते–ऐसा विग्रह तथा सौरस और मातृ नामक' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १३–१४॥

पुरीषजकृमीणां विप्रकृष्टनिदानमाह—

माषपिष्टाम्ललवणगुडशाकैः पुरीषजाः॥ १५॥

विष्ठा से उत्पन्न होने वाले कृमियों के विप्रकृष्ट निदान—उरद, पीठी, अम्ल तथा लवण रस-युक्त पदार्थ, गुड और शाक भोजन करने से पुरीषज (विष्ठा से उत्पन्न होने वाले) कृमि उत्पन्न होते हैं

पुरीषजक्रिमिलक्षणमाह—

पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिणः। वृद्धास्ते स्युर्भवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखाः॥ तदाऽऽस्योद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः। पृथुवृत्ततनुस्थूलाः श्यावपीतसितासिताः ते पञ्च नाम्ना क्रिमयः ककेरुकमकेरुकाः। सौसुरादाः सलूनाख्या लेलिहा जनयन्ति च॥ विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः। रोमहर्षाग्निसदनगुदकण्डूर्विमार्गगाः॥ १७॥

पुरीषज कृमि के लक्षण—पुरीषज कृमि पक्वाशय में उत्पन्न होते हैं, और ये जब वृद्धि को प्राप्त होते हैं तब पक्वाशय से अधोभाग की तरफ प्रायः करके विचरण करते हैं किन्तु ये ही जब कभी अत्यन्त वृद्ध होकर आमाशय की ओर जाने के लिये उन्मुख होते हैं तब रोगी के मुख से जो उद्गार (डकार) तथा निश्वास निकलते हैं उनसे विष्ठा के समान गन्ध आने लगती है। और उनमें से आकार में कोई बड़े, कोई गोल, पतले तथा कोई मोटे हैं, एवम् वर्ण में कोई श्याव (सफेदी लिये काले), कोई पीले, कोई सफेद तथा कोई काले होते हैं। और ये ककेरुक, मकेरुक, सौसुराद, सलूनाख्य तथा लेलिह इन नामों से ५ प्रकार के होते हैं, और वे जब विमार्ग (उलटे मार्ग) से गमन करने वाले होजाते हैं तथा मल का भेद (पतले दस्त होना), शूल, विष्टम्भ (पेट की स्तब्धता), शरीर की कृशता, कठोरता तथा पाण्डुता (सफेदी लिये पीलापन), रोमाञ्च, अग्निमान्द्य और गुदा में खुजली इन सब उपद्रवों को उत्पन्न कर देते हैं॥ १६–१७॥

***वृद्धास्तेऽधोविसर्पिणः स्युः, यदा ते आमाशयोन्मुखा भवेयुरित्यन्वयः। ते विमार्गगाः सन्तो विड्भेदादीन् जनयन्तीत्यर्थः॥ १६–१७॥**

इसका अर्थ मूल की टीका में स्पष्ट है। अतः यहां पर नहीं किया गया॥ १६–१७॥

क्रिमिचिकित्सामाह—

विडङ्गव्योषसंयुक्तमन्नमण्डं पिबेन्नरः। दीपनं क्रिमिनाशाय जठराग्निविवृद्धये॥ १८॥

क्रिमिचिकित्सा—वायविडङ्ग, सोंठ, पीपर तथा काली मिरच का चूर्ण भात के माड़ में मिला कर खाने से क्रिमियों का नाश होता है तथा जठराग्नि की वृद्धि होती है, क्योंकि यह अग्नि-दीपक है॥ १८॥

प्रत्यहं कटुकं तिक्तं भोजनं कफनाशनम्। क्रिमीणां नाशनं रुच्यमग्निसन्दीपनं परम्॥१९॥

प्रतिदिन कटु तथा तिक्त रस युक्त पदार्थों का भोजन करना उचित है क्योंकि इससे कफ का नाश होता है एवम् सम्पूर्ण क्रिमि नष्ट हो जाते हैं तथा रुचि की वृद्धि और अग्नि की अत्यन्त प्रदीप्ति होती है॥ १९॥

विडङ्गशृतपानीयं विडङ्गेनावधूलितम्। पीतं क्रिमिहरं दृष्टं क्रिमिजांश्च गदाञ्जयेत्॥२०॥

वायविडङ्ग डालकर उबाले हुए जल में वायविडङ्ग का ही चूर्ण डालकर पीने से यह देखा गया है कि कृमि नष्ट हो जाते हैं और कृमि से उत्पन्न होने वाले रोग भी दूर हो जाते हैं॥ २०॥

लिह्याद्विडङ्गचूर्णं वा मधुना क्रिमिनाशनम्। पलाशबीजस्य रसं पिबेन्माक्षिकसंयुतम्॥ पिबेत्तद्बीजकल्कं वा मधुना क्रिमिनाशनम्॥ २१॥

अथवा वायविडङ्ग का चूर्ण मधु के साथ चाटना चाहिये, क्योंकि इससे क्रिमियों का नाश होता है। या पलाश के बीज का रस (क्वाथ) शहद मिला कर पीवै, वा पलाश के बीजों का कल्क (चटनी) बना कर मधु के साथ चाटे तो इससे क्रिमि नष्ट होते हैं॥ २१॥

कम्पिल्लचूर्णकर्षार्द्धं गुडेन सह भक्षितम्। पातयेत्तु क्रिमीन्सर्वानुदरस्थान्न संशयः॥२२॥

कबीले[1] का चूर्ण आधा कर्ष (६ माशे) लेकर गुड़ मिला कर यदि खाया जाय तो निःसन्देह उदर के सम्पूर्ण कृमि मल के साथ २ बाहर निकल जाय॥ २२॥

विडङ्गं कौटजं बीजं तथा बीजं पलाशजम्। सञ्चूर्ण्य खादेत्खण्डेन क्रिमीन्नाशयितुं नरः॥२३॥

और मनुष्य को उचित है कि वह कृमियों को नष्ट करने के लिये वायविडङ्ग, इन्द्रजौ, पराश का बीज इन सबों का समभाग चूर्ण खांड के साथ मिला कर भक्षण करे॥ २३॥

निम्बपत्रसमुद्भूतं रसं क्षौद्रयुतं पिबेत्। धत्तूरपत्रजं वाऽपि क्रिमिनाशनमुत्तमम्॥२४॥

नीम के पत्तों का अथवा धत्तूर के पत्तों का रस शहद मिला कर चाटना चाहिये, क्योंकि यह क्रिमियों का नाश करने में उत्तम औषध है॥ २४॥

यूकानाशोपायानाह—

रसेन्द्रेण समायुक्तो रसो धत्तूरपत्रजः। ताम्बूलपत्रजो वाऽपि लेपो यूकविनाशनः॥ २५॥
धत्तूरपत्रकल्केन तद्रसेनैव पाचितम्। तैलमभ्यङ्गमात्रेण यूका नाशयति क्षणात्॥ २६॥

जूओं के नाश का उपाय—धत्तूर अथवा पान के पत्तों के रस में पारा मिला कर लेप करने से जूओं का नाश हो जाता है। और धत्तूर के पत्तों का कल्क और रस के साथ तैलपाक की विधि से तिल का तेल पका कर मालिश करने से तत्काल जुओं का नाश हो जाता है॥ २५-२६॥

क्रिमीणां विट्कफोत्थानामेतदुक्तं चिकित्सितम्। रक्तजानान्तु संहारं कुर्यात्कुष्ठचिकित्सया॥

विष्ठा तथा कफ से उत्पन्न होने वाले क्रिमियों की जो चिकित्सायें होती हैं वे ऊपर कह दी गईं, और रक्त से उत्पन्न होने वाले क्रिमियों की चिकित्सा कुष्ठरोग में कही जाने वाली चिकित्सा के अनुसार करनी चाहिये॥ २७॥

क्रिमिरोगिणोऽपथ्यान्याह—

क्षीराणि मांसानि घृतानि चापि दधीनि शाकानि च पर्णवन्ति।

---

१. आजकल पाश्चात्त्य विज्ञान में भी कबीले के चूर्ण का प्रयोग किया जाता है। इसे दूध या मधु के साथ २-३ ड्राम की मात्रा में देते हैं। इसके अलावे भी बहुत सी आयुर्वेदिक ओषधियों का आजकल पाश्चात्त्य विद्वान् लोग प्रयोग करने लगे हैं। यथा दाडिमत्वक् का। दाडिमत्वक् में पेल्लीटिरीन (Pelletierine) नामक कृमिघ्न अल्कलायड होता है उसी के कारण कृमियों पर इस औषध का प्रभाव होता है, ऐसा वे लोग मानते हैं। अपने यहाँ भी योगरत्नाकर में ऐसा वर्णन अता है कि—

दाडिमत्वक्कृतः क्वाथस्तिलतैलेन संयुतः। त्रिदिनात्पातयत्येव कोष्ठतः कृमिजालकम्'।

इसके अलावे सेन्टोनीन (Santonin) तथा थायमाल (Thymol) नामक ओषधियों का भी पर्याप्त प्रयोग होता है जो कि पारसीक यवानी नामक अजवायन भेद का एक प्रकार सत्त्व है। पारसीक अजवायन का तो अपने यहां कृमिनाशनार्थ प्रायः प्रयोग होता है। यथा—

'पारसीकयवानिका, पीता पर्युषितवारिणा प्रातः। गुडपूर्वा कृमिजातं कोष्ठगतं पातयत्याशु'॥

अम्लञ्च मिष्टञ्च रसं विशेषात्क्रिमीञ्जिघांसुः परिवर्जयेद्धि ॥ २८ ॥
इति सप्तमः क्रमिरोगाधिकारः सम्पूर्णः ॥ ७ ॥



क्रमिरोगियों के लिये अपथ्य—दूध, मांस, घृत, दही, पत्तों का शाक, अम्ल तथा मधुर रस युक्त पदार्थ ये सब क्रमिरोगियों के लिये अपथ्य हैं, अतः जो क्रिमियों को नष्ट करना चाहे तो अवश्य इन सबों का परित्याग कर देवे ॥ २८ ॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डेऽष्टमे चिकित्साप्रकरणे द्वितीयभागे सप्तमः क्रिमिरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ७ ॥



अथाष्टमः पाण्डुरोगकामलाहलीमकाधिकारः ॥ ८ ॥

तत्र पाण्डुरोगस्य संख्यापूर्वकं सन्निकृष्टनिदानमाह—

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः । चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥ १ ॥

आठवें पाण्डुरोग-कामला-हलीमकाधिकार में [1]पाण्डुरोग की संख्यासम्प्राप्तिपूर्वक सन्निकृष्ट (समीप के) कारण—पाण्डु रोग पाँच प्रकार के कहे हुये हैं, उसमें से पृथक् २ वात, पित्त तथा कफ से होने वाले ३ प्रकार के होते हैं और चौथा सन्निपात (त्रिदोष) से होने वाला तथा

---

१. जिस प्रकार अपने यहां—

'व्यवायमम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम् ।
निषेवमाणस्य विदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति' ॥

इस श्लोक के द्वारा पाण्डुरोग का स्पष्ट कारण बतला दिया है । अब तक पाश्चात्त्य विद्वान् इस रोग का कोई कारण निश्चित नहीं कर सके हैं । ये लोग पाण्डुरोग के प्रायः दो भेद करते हैं—

१ प्रधान पाण्डुरोग (Primary anaemia) ।

२ गौण पाण्डुरोग (Secondary anaemia) ।

प्रधान के अन्तर्गत दुष्ट पाण्डुरोग (Pernicious anaemia) तथा हरित रोग (Chlorosis) ये आते हैं । इसी हरित रोग को अपने यहां हलीमक कहा जाता है । इसमें त्वचा का वर्ण किञ्चित् हरा हो जाता है । जैसा कि अपने यहाँ भी हलीमक का वर्णन आता है कि—

'यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्यावपीतकः । बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः ॥
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासतृष्णाऽरुचिभ्रमाः । हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ॥

किन्तु अभी तक उपर्युक्त इस प्रधान पाण्डुरोग (Primary anaemia) का वे लोग कोई निश्चित कारण नहीं ढूंढ़ सके हैं । किन्तु पाण्डुरोग के द्वितीय भेद अर्थात् गौण पाण्डुरोग (Secondary anaemia) का कारण पर्याप्त विस्तार के साथ देते हैं । यह गौण पाण्डुरोग उपद्रव स्वरूप होता है ।

गौण या उपद्रव स्वरूप पाण्डुरोग के कारण—
(Causes of the Secondary anaemia)

१—रक्तस्राव—जैसे शरीर के विविध अङ्गों से होने वाला रक्तस्राव । यथा गर्भाशय इत्यादि से, क्रमि (Worm) रोग, स्कर्वी (Scurvy) तथा परप्यूरा (Purpura) इत्यादि रोगों में । सुश्रुत ने भी रक्तस्राव के कारण पाण्डुरोग का होना माना है । यथा—

'तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमधिमन्थं तिमिरप्रादुर्भावं धातुक्षयमाक्षेपकं पक्षाघातमेकाङ्गविकारं तृष्णादाहौ हिक्कां कासं श्वासं पाण्डुरोगं मरणञ्चापादयति' ऐसा लिखा है ।

२—शरीर के भीतर रक्त का नाश होना—यथा विषमज्वर में ।

३—संक्रामक रोग—जैसे आमवात (Rheumetism), आन्त्रिकज्वर (Typooid

पांचवा मिट्टी खाने से होने वाला, इस भांति से १ वातज, २ पित्तज, ३ कफज, ४ सन्निपातज, ५ मृद्भक्षणज भेदों से ५ प्रकार के पाण्डुरोग होते हैं ॥ १ ॥

***पञ्चमो भक्षणान्मृद इति। ननु मृत्तिकाऽपि दूषितदोषद्वारेणैव पाण्डुरोगं जनयतीति मृद्भक्षणजः पाण्डुरोगो दोषजादभिन्न एव कथं पञ्चम इति? उच्यते—अपरकारणकुपिता वातादयोऽन्यानपि रोगान्कुर्वन्ति, मृत्तिकाभक्षणात्कुपितास्तु वातादयो विशेषतः पाण्डुरोगमेव जनयन्त्येवेति विशेषाच्चिकित्साविशेषाच्च पञ्चमश्चरकेणोक्तः। तच्चिकित्साऽपरकारणकुपितदोषजनितपाण्डुरोगचिकित्सा भवतीति सुश्रुतेन मृत्तिकाजः पृथङ् न पठितः॥**

यहां पर 'पांचवा मिट्टी खाने से होने वाला पाण्डुरोग होता है' ऐसा जो कहा गया है वहां पर यह शङ्का होती है कि—मिट्टी भी (मिट्टी खाने से) दूषित हुये वातादि दोषों के द्वारा ही पाण्डु रोग को उत्पन्न करती है, इसलिये मिट्टी खाने से उत्पन्न होनेवाला पाण्डुरोग दोषज पाण्डु रोग से भिन्न नहीं हुआ, अतः वह पांचवा पाण्डुरोग कैसे कहा गया ?

इसके उत्तर में यह कहते हैं कि—मिट्टी के अतिरिक्त अन्य कारणों से कुपित हुये वातादि दोष पाण्डुरोग से अन्य भी रोगों को उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु मिट्टी खाने से कुपित हुए वातादि दोष विशेष करके पाण्डुरोग ही को उत्पन्न करते हैं, यह विशेष (भेद) होने से चिकित्सा में

---

fever), फिरंग (Syphilis), उपदंश (Softchancer), राजयक्ष्मा (Tuberculosis), शरीर के भीतर चिरकालीन पूयोत्पत्ति तथा कैन्सर (Cancer) इत्यादि।

४—रासायनिक विष-यथा-पारद, संखिया तथा सीस के विष।

५—रक्त के रोग-यथा हाजकिन्स का रोग (Hodg Kinis disease) तथा ल्यूकीमिया (Leukaemia)।

६—वेरीवेरी (Beri Beri) अथा अन्य जीवद्रव्य की कमी से उत्पन्न होने वाले रोग, लौह और ताम्र की कमी तथा थायरायड नामक ग्रन्थि (Thyroid Gland) का कार्य ठीक न होना ये सब भी गौण पाण्डुरोग के कारण माने जाते हैं। उपर्युक्त कारणों का इस स्थल पर उल्लेख इस लिये किया गया है कि हमारा वैद्यसमुदाय भी पाण्डुरोग का निरीक्षण करते समय इन कारणों पर ध्यान दे, जिससे कि रोगि-वर्ग का पर्याप्त कल्याण होने की आशा है। यदि इन सब उपर्युक्त कारणों में से कोई कारण मिल जाय तो प्रायः उनकी भी अवश्य चिकित्सा कर देनी चाहिये। इससे पाण्डु रोग अवश्य नष्ट हो जाता है। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है कि—

'संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्' (सु० उ० त० अ० १)।

स्थल २ पर यथावकाश उपर्युक्त रोगों का वर्णन पाश्चात्यमतानुसार भी किया जायगा।

पाण्डुरोग का लक्षण—इसमें त्वचा तथा श्लेष्मल त्वचा जैसे आंख की झिल्ली तथा ओष्ठ श्वेत और पीले पड़ जाते हैं, रोगी को शारीरिक तथा मानसिक दौर्बल्य मालूम होता है, सिर दर्द होता है, उठने पर आंखों के सामने अंधेरा छा जाता है, कान में ध्वनि होती है, थोड़ा भी श्रम करने पर दिल में धड़कन होने लगता है, श्वास फूलता है, अग्नि मन्द हो जाती है, भोजन करने पर आमाशय प्रदेश में भारीपन तथा क्वचित् पीड़ा भी होती है, गले में जलन होती है, नाड़ी तेज हो जाती है, हृदय विस्फारित हो जाता है और श्रवण करने पर मरमर (Murmur) की ध्वनि सुनाई देती है, तथा कभी २ पैरों पर सूजन आ जाती है। इस प्रकार पाश्चात्त्य विद्वान् पाण्डुरोग के लक्षण का वर्णन करते हैं। उपर्युक्त जो सारा वर्णन पाश्चात्त्य विद्वानों ने किया है वे सभी लक्षण निम्न डेढ़ श्लोकों में आ जाते हैं:—

'सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः' सु० उ० त० अ० ४४।

'उपद्रवास्तेष्वरुचिः पिपासा छर्दिर्ज्वरो मूर्द्धरुजाऽग्निसादः।
शोफस्तथा कण्ठगतोऽबलत्वं मूर्च्छा क्लमो हृद्यवपीडनञ्च' ॥ सु० उ० त० अ० ४४ ॥

भी विशेषता होती है, अतः चरकाचार्यजी ने पांचवा मृद्भक्षणज पाण्डु रोग कहा किन्तु सुश्रुत ने मृद्भक्षणज पाण्डु रोग की चिकित्सा अन्य कारणों से कुपित हुये दोषों से उत्पन्न हुये पाण्डुरोग की चिकित्सा के अन्तर्गत हो हो सकती है अतः पृथक् नहीं कहा है' यह और समझ लेना चाहिये ॥

पाण्डुरोगस्य विप्रकृष्टनिदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

व्यवायमम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम् ।
निषेवमाणस्य विदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति ॥ २ ॥

पाण्डुरोग की विप्रकृष्ट (दूर के) कारणों के साथ २ सम्प्राप्ति-वर्णन—अधिक मैथुन, अम्ल तथा लवण रसयुक्त पदार्थ, मद्य, मिट्टी खाना, दिन में सोना और अत्यन्त तीक्ष्ण पदार्थ इन सबों का सेवन करने वाले मनुष्यों के कुपित हुए दोष रक्त को दूषित करके त्वचा (चर्म) को पाण्डुवर्ण का कर देते हैं ॥ २ ॥

***तीक्ष्णं = राजिकादि ॥ २ ॥**

यहां पर 'तीक्ष्ण पदार्थ' से 'राई' आदि का ग्रहण करना चाहिये ॥ २ ॥

पाण्डुरोगस्य पूर्वरूपमाह—

त्वक्स्फोटनिष्ठीवनगात्रसादमृद्भक्षणप्रेक्षणकूटशोथाः ।
विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥ ३ ॥

पाण्डुरोग का पूर्वरूप—पाण्डुरोग होने के पूर्व में त्वचा का फटना, थूक अधिक निकलना, शरीर में ग्लानि, मिट्टी खाने की इच्छा, नेत्रों के गोलक में शोथ, मल-मूत्र पीले रङ्ग का होना तथा अन्न का परिपाक न होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ३ ॥

***प्रेक्षणकूटशोथ इति = अक्षिगोलकशोथः ॥ ३ ॥**

यहां पर 'प्रेक्षणकूटशोथ' पद का 'नेत्रों के गोलक में शोथ' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३ ॥

वातोत्पन्नपाण्डुरोगस्य लक्षणमाह—

त्वङ्मूत्रनयनादीनां रूक्षकृष्णारुणाभता । वातपाण्ड्वामये कम्पस्तोदानाहभ्रमादयः ॥ ४ ॥

वातज पाण्डुरोग के लक्षण—वायु से उत्पन्न हुये पाण्डु रोग में रोगी की त्वचा, मूत्र तथा नेत्र आदि रूखे, काले तथा लाली लिये हुये होते हैं; एवम् कम्प, शरीर में सुई चुभोने की सी पीडा, अफरा और भ्रम आदि ये सब लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ४ ॥

***कृष्णारुणाभता पाण्डुत्वं नातिक्रामति । अत एव सुश्रुते—**
'सर्वेषु चैतेष्वपि पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः । इति ।
भ्रमादय इति । आदिशब्दाद् भेदशूलादयः ॥ ४ ॥

यहां पर यह और समझना चाहिये कि-त्वचा आदिकों में जो काला और लाल मिश्रित रंग होना कहा है वह पाण्डुता (पीलेपन) को दबाने वाला होता है । अर्थात् पाण्डुता के ऊपर काला तथा लाल रंग का किंचित् झलक मारता है । अतएव इसी विषय में सुश्रुत में भी कहा हुआ है कि-'यह सब होते हुये भी अर्थात् काला और लाल मिश्रित त्वचा आदिकों का वर्णन रहते हुये भी पाण्डुता अधिक रूप से रहती है अतः इसे पाण्डुरोग कहते हैं' और 'भ्रमादयः' इस पद के अन्तर्गत 'आदि' पद से 'भेद (टूटने के समान पीड़ा) तथा शूल' आदि का भी ग्रहण करना चाहिये ॥४॥

पित्तोत्पन्नपाण्डुरोगस्य लक्षणमाह—

पीतत्वङ्नखविण्मूत्रो दाहतृष्णाज्वरान्वितः । भिन्नविट्कोऽतिपीताभः पित्तपाण्ड्वामयी नरः ॥

पित्तज पाण्डुरोग के लक्षण—जो मनुष्य पित्त से उत्पन्न हुये पाण्डु रोग से आक्रान्त होता है, उसके नख तथा मल-मूत्रादि पीले रङ्ग के होते हैं और वह दाह, अधिक प्यास तथा ज्वर से पीड़ित रहता है एवम् उसे दस्त पतले आते हैं, और उसके शरीर की कान्ति अत्यन्त पीली हो जाती है ॥ ५ ॥

***भिन्नविट्कः = सद्रवमलः ॥ ५ ॥**

यहां पर 'भिन्नविट्कः' पद का 'दस्त पतले आते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५ ॥

कफोत्पन्नपाण्डुरोगस्य लक्षणमाह—

कफप्रसेकः श्वयथुस्तन्द्राऽऽलस्यातिगौरवैः। पाण्डुरोगी कफाच्छुक्लैस्त्वङ्मूत्रनयनाननैः॥

कफज पाण्डुरोग के लक्षण—कफ से उत्पन्न हुये पाण्डुरोग से युक्त मनुष्य के थूक के साथ कफ अधिक निकलता है एवम् शोथ, तन्द्रा, आलस्य तथा अत्यन्त शरीर में गुरुता (भारीपन) रहती है और त्वचा, मूत्र, नेत्र तथा मुख ये सब सफेद हो जाते हैं॥ ६॥

***अत्रोपलक्षणे तृतीया॥ ६॥**

यहां पर 'तन्द्रालस्यातिगौरवैः' इत्यादि पदों में सर्वत्र उपलक्षण में तृतीया हुई समझनी चाहिये॥ ६॥

सन्निपातोत्पन्नपाण्डुरोगस्य लक्षणमाह—

सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम्। त्रिदोषलिङ्गं कुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम्॥७॥

सन्निपातज पाण्डुरोग के लक्षण—सभी प्रकार के अन्न खाने वाले मनुष्यों के वातादि तीनों दोष एक साथ दूषित (कुपित) हो जाते हैं, अतः वे तीनों दोषोंके लक्षणों से युक्त, त्रिदोषज (तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाले) अत्यन्त दुःसह पाण्डुरोग उत्पन्न करते हैं॥ ७॥

मृद्भक्षणजनितपाण्डुरोगस्य सम्प्राप्तिमाह—

मृत्तिकाऽदनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः। कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्॥८॥
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तञ्च रूक्षयेत्। पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्ध्यपि॥९॥
इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा। पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम्॥१०॥

मिट्टी खाने से उत्पन्न होने वाले पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति—मिट्टी खाने का जिन्हें अभ्यास हो जाता है ऐसे लोगों को मिट्टी के अनुसार वातादिकों में से कोई एक दोष कुपित हो जाता है, जैसे कि—यदि मिट्टी कसैली हुई तो खाने से वायु को कुपित करती है, खारी हुई तो पित्त को एवम् मीठी हुई तो कफ को कुपित करती है, तथा साथ २ रसादि धातुओं को भी कुपित करती है। और रूक्ष होने के कारण से पूर्वोक्त रसयुक्त मिट्टी अन्न को भी रूक्ष बना देती है, और खाई हुई मिट्टी अविपक्व अवस्था में अर्थात् बिना पचे ही सम्पूर्ण शिराओं के मुखों को रस से पूर्ण करके बन्द कर देती है। एवम् इन्द्रिय का बल, तेज, वीर्य तथा ओज को नष्ट करके पाण्डुरोग को करती है जो कि शरीर के बल, वर्ण तथा अग्नि को नष्ट करने वाला होता है॥ ८-१०॥

***स्रोतांसि = शिरामुखानि। तेजः = दीप्तिः। ओजः = सर्वधातुसारः॥ ८-१०॥**

यहां पर 'स्रोतांसि' पद का 'शिराओं के मुखों को'। 'तेजः' पद का 'शरीर की कान्ति' तथा 'ओजः' पद का 'सब धातुओं का सार पदार्थ' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ८-१०॥

मृद्भक्षणोत्पन्नपाण्डुरोगस्य लक्षणमाह—

मृद्भक्षणाद्भवेत्पाण्डुस्तन्द्राऽऽलस्यनिपीडितः। सकासश्वासशूलार्त्तः सदाऽरुचिसमन्वितः॥
शूनाक्षिकूटगण्डभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः। क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक्कफान्वितम्॥१२॥

मिट्टी खाने से उत्पन्न हुये पाण्डुरोग के लक्षण—मिट्टी खाने से जिसे पाण्डुरोग होता है, वह तन्द्रा तथा आलस्य से युक्त रहता है तथा खांसी, दमा, शूल, इनसे पीड़ित रहता है, और सदा उसे अरुचि बनी रहती है। एवम् उसके नेत्रों के गोलक, गण्डस्थल, भौंह, पैर, नाभि तथा लिङ्ग के ऊपर शोथ हो जाता है, कोष्ठ (उदर) में कीड़े पड़ जाते हैं, और रक्त तथा कफ से युक्त मल अधिक रूप से गुदा के मार्ग से निकलता है॥ ११-१२॥

***क्रिमिकोष्ठः = उदराभ्यन्तरस्थक्रिमिर्भवेदित्यनेन सम्बध्यते। अतिसार्येत मलमिति कर्म कर्तृ तत्कर्मवन्मन्तव्यम्। तस्मिन्कर्मण्यर्थेऽत्र यक्। लिङ्प्रत्ययः॥ ११-१२॥**

यहां पर 'अतिसार्येत मलम्' इस स्थल पर 'मलम्' इस पद में कर्म कर्त्ता हुआ है अतः 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' इस सूत्र से कर्मवद्भाव होने से अति+सारि (सृ+णिच्) धातु से कर्म अर्थ में यक् प्रत्यय हुआ और णिच् का लोप होकर लिङ् प्रत्यय के स्थान में त आदेश हुआ तथा

सीयुट् का आगम और सकार का लोप होकर 'ऽतिसार्यते' पद की सिद्धि समझनी चाहिये ॥

पाण्डुरोगिणोऽसाध्यलक्षणान्याह—

ज्वरारोचकहृल्लासच्छर्दितृष्णाक्लमान्वितः । पाण्डुरोगी त्रिभिर्दोषैस्त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः

पाण्डुरोगियों के असाध्य लक्षण—ज्वर, अरुचि, उबकाई, वमन, अधिक प्यास, क्लम (ग्लानि) इन सब उपद्रवों से युक्त त्रिदोषज पाण्डुरोग होने पर एवं क्षीण तथा इन्द्रियों की सामर्थ्य विषयों को ग्रहण करने में न होने पर पाण्डुरोगी चिकित्सा करने के अयोग्य समझा जाता है अर्थात् ऐसे रोगी की चिकित्सा करना छोड़ देना चाहिये ॥ १३ ॥

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति । कालप्रकर्षाच्छूनाङ्गो यो वा पीतानि पश्यति॥

जो पाण्डुरोग अधिक दिनों का हो गया हो तथा जिससे रोगी के सभी धातुओं में अत्यन्त रूक्षता आ गई हो तो उससे युक्त रोगी चिकित्सा करने से स्वास्थ्यलाभ नहीं कर पाता है। अथवा अधिक काल हो जाने से जिस पाण्डुरोगी के अङ्गों में शोथ होगया हो, किंवा जो सभी वस्तुओं को पीले वर्ण का ही देखता है, वह भी चिकित्सा करने से स्वस्थ नहीं होता है ॥ १४ ॥

***खरीभूतः = अतिरूक्षितसर्वधातुः ॥ १४ ॥**

यहां पर 'खरीभूतः' पद का 'जिस रोगी के सभी धातुओं में अधिक रूक्षता आगई हो' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १४ ॥

बद्धाल्पविट् सहरितं सकफं योऽतिसार्यते । दीनः स्वेदातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृषाऽन्वितः ॥
पाण्डुदन्तनखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत् । पाण्डुसङ्घातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥

और जिस पाण्डुरोगी को बंधा हुआ, थोड़े परिमाण में, हरे रंग का तथा कफयुक्त मल गुदा के मार्ग से निकलता हो, या जो अधिक दुःख होने से दीन प्रतीत होता हो तथा स्वेद (पसीना) से अधिक जिसका शरीर लिप्त हो रहा हो एवम् वमन, मूर्च्छा तथा अधिक प्यास से जो युक्त हो अथवा जिसके दांत तथा नख पीले हो गये हों और नेत्र भी पीले हो गये हों एवम् जिसे सर्वत्र पीले रंग की राशि ही राशि दिखाई पड़ती हो तो ऐसा पाण्डुरोगी नष्ट हो जाता है अर्थात् मर जाता है।

***पाण्डुसङ्घातदर्शी = यः पीतवर्णस्य राशिं पश्यति ॥ १५-१६ ॥**

यहां पर 'पाण्डुसङ्घातदर्शी' पद का जिसे सर्वत्र पीले रंग की राशि ही राशि दिखाई पड़ती हो' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

अन्तेषु शूनं परिहीणमध्यं म्लानं तथाऽन्तेषु च मध्यशूनम् ।
गुदे मुखे शेफसि मुष्कयोश्च शूनं प्रताम्यन्तमसंज्ञकल्पम् ॥
विवर्जयेत्पाण्डुकिनं यशोऽर्थी तथाऽतिसारज्वरपीडितञ्च ॥ १७ ॥

जिस पाण्डुरोगी के हाथ-पैर आदिकों में शोथ होगया हो किन्तु मध्यदेह में क्षीणता आगई हो या हाथ-पैर आदिकों में क्षीणता तथा मध्य देह में शोथ होगया हो वा गुदा, मुख, लिङ्ग तथा दोनों अण्डकोशों पर शोथ हो गया हो जिससे कि ग्लानि को प्राप्त करता हुआ मृत (मरे हुये) के समान हो गया हो किं वा जो अतीसार तथा ज्वर से पीड़ित हो रहा हो तो ऐसे पाण्डुरोगी की चिकित्सा यश चाहने वाले वैद्य को नहीं करना चाहिये, क्योंकि असाध्य होता है ॥ १७ ।

***अन्तेषु = हस्तपादादिषु । म्लानं = क्षीणम् । प्रताम्यन्तं = ग्लानिं गच्छन्तम् । असंज्ञकल्पं = मृतसदृशम् ॥ १७ ॥**

यहां पर 'अन्तेषु' पद का 'हाथ, पैर आदिकों में'। 'म्लान' पदका 'क्षीणता हो गई हो'। 'प्रताम्यन्तम्' पद का 'ग्लानि को प्राप्त करता हुआ' तथा 'असंज्ञकल्पम्' पद का 'मृत के समान हो गया हो' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १७ ॥

पाण्डुरोगभेदकामलाया निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते । तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥

पाण्डुरोग का भेद कामला[1] रोग की निदानपूर्वक सम्प्राप्ति—जो पाण्डुरोगी अधिक रूप से पित्तकारक पदार्थों का सेवन करता है अत एव उसका पित्त बढ़कर रक्त तथा मांस को दूषित करके कामलारूपी रोग को उत्पन्न करने के लिये समर्थ हो जाता है ॥ १८ ॥

***पित्तं कर्तृ, दग्ध्वा=संन्दूष्य, रोगाय=कामलारूपाय। पाण्डुरोगिण एवातिशयितपित्तलसेवया कामला भवति, नायं नियमः; किन्तु कामला स्वतन्त्राऽपि भवति। यथा राजयक्ष्मा कासादुपेक्षिताद्भवति नायं नियमः, किन्तु राजयक्ष्मा स्वतन्त्रोऽपि भवति तद्वदेषाऽपि ॥१८॥**

यहां पर 'पित्त' कर्त्ता (कामला रोग को उत्पन्न करने वाला) है, तथा 'दग्ध्वा' पद का 'दूषित करके'। 'रोगाय' पद का 'कामला रूपी रोग को उत्पन्न करने के लिये' यह अर्थ समझना चाहिये।

और यह भी समझना चाहिये कि—पाण्डुरोगी को ही अधिक रूप से पित्तकारक पदार्थों का सेवन करने से कामला होती है यह नियम नहीं है, किन्तु कामला स्वतन्त्र भी होती है। जैसे कि—

---

१. पाश्चात्य विज्ञान में कामला का नाम जाण्डिस (Jaundice) है। कारण के अनुसार यह कामला निम्न तीन भागों में विभाजित की गई है।

१—रक्तनाशजन्य कामला (Hoemolytic Jaundice)—इसमें रक्त के अन्दर उपस्थित होने वाले विषैले पदार्थों की क्रिया से लाल कणों का नाश होकर उनके रङ्गद्रव्य से बाइलीरुबीन (Bilirubin) उत्पन्न होता है। बाइलीरुबीन (Bilirubin) उत्पन्न होने का स्थान यकृत् है। जहाँ पर उसके कूफर सेल (Kupffer Cell) रक्तस्थ हीमोग्लोबिन (Hoemoglobin) को (Bilirubin) में परिवर्तित करते हैं। रक्त में इसी बाइलीरुबीन की उपस्थिति के कारण यह कामला उत्पन्न होता है।

२—विषैली तथा औपसर्गिक कामला (Toxic and Infective Jaundi·e)-इसमें यकृत् (Liver) के सेल्स (Calls) का नाश शरीर के विषैले पदार्थों के कारण होता है। जिसमें Kupffer के Cells के द्वारा परिवर्तित हुआ बाइलीरुबीन (Bilirubin) पित्त में नहीं जा सकता है। और इसलिये वह (Bilirubin) रक्त में परिभ्रमण करता है। निम्न पदार्थ इस प्रकार की कामला उत्पन्न करते हैं:—अलकोहल (Alcohol), क्लोरोफार्म (Chloroform), संखिया (Arsenic), फास्फरस (Phosphorus), सेन्टोनीन (Sanatonin), सर्पविष तथा छत्राटकविष। और इनके अतिरिक्त निम्न जीवाणु-जन्य रोगों में भी इस प्रकार की कामला कभी२ उत्पन्न होती है। जैसे-परिवर्त्तित ज्वर (Relepsing fever), मलेरिया (Malaria), फिरङ्ग रोग (Syphilis), आन्त्रिकज्वर (Typhoid fever), पीतज्वर (Yellow fever), तीव्र यकृत्क्षय (Acute Tellow atrophy) और जीवाणुमयता (Septicaemia)।

३—अवरोधजन्य कामला (Obestructive Jaundice)-इसमें पित्त की उत्पत्ति यथोचित होती है परन्तु पित्तवाहिनी के ऊपर या उसके बीच में अवरोध उत्पन्न होने के कारण पित्त का उत्सर्ग ठीक नहीं होता। यकृत् में और पित्ताशय में पित्त की राशि अधिक इकट्ठी हो जाती है। उसका कुछ अंश रक्त में शोषित होता रहता है। कहने का मतलब यह कि कामला के उपर्युक्त प्रथम दो प्रकारों में बाइलीरुबीन-जो कि एक प्रकार का विदग्ध पित्त समझना चाहिये वह-रक्त में परिभ्रमण करता है इसीलिये उपर्युक्त प्रथम दोनों प्रकार के कामला उत्पन्न होते हैं तथा अन्तिम तृतीय अवरोधजन्य कामला में अवरोध के कारण पित्त के सीधे रक्त में मिलते रहने के कारण यह कामला होती है। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो—

'पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते। तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते' ॥

जो इस श्लोक में कामला रोग का कारण तथा सम्प्राप्ति बतायी गयी है यदि पूर्णांश में नहीं तो अधिकांश में आधुनिक विज्ञान के कारण तथा सम्प्राप्ति से मिलता ही है। भेद केवल यही है कि आयुर्वेद में पित्त दोष तथा रक्त और मांस दोनों दूष्य माना गया है किन्तु आधुनिक विज्ञान में रक्त ही को दूष्य माना गया है।

राजयक्ष्मा खांसी की उपेक्षा करने (चिकित्सा न करने) से होता है, यह नियम नहीं है किन्तु राजयक्ष्मा स्वतन्त्र भी होता है। उसी भांति यह (कामला) भी होती है ॥ १८ ॥

कामलाया लक्षणमाह—

हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः। पीतरक्तशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥ १९ ॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः ॥ २० ॥

कामला के लक्षण—जो कामला रोग से पीड़ित होता हैं उसके अधिकतर नेत्र, त्वचा, नख तथा मुख ये सब हल्दी के समान पीले वर्ण के हो जाते हैं। मल तथा मूत्र पीले वा लाल वर्ण के हो जाते हैं। और बड़े मेढक के समान शरीर का वर्ण पीला हो जाता है, देखने-सुनने आदि में इन्द्रियों की शक्ति नष्ट (कम) हो जाती है, एवम् वह दाह, अन्न का भलीभांति से परिपाक न होना, शरीर में दुर्बलता तथा शिथिलता प्रतीत होना और अरुचि इन सबों से पीड़ित रहता है ॥ १९-२० ॥

***हारिद्रं = हरिद्रावर्णम्। पीतरक्तशकृन्मूत्रः = पीते रक्ते वा शकृन्मूत्रे यस्य सः। भेकवर्णः = बृहद्भेकवर्णः ॥ १९-२० ॥**

यहां पर 'हारिद्र' पद का 'हल्दी के समान पीले वर्ण के'। 'पीतरक्तशकृन्मूत्रः' पद का 'मल तथा मूत्र पीले या लाल वर्ण के हो जाते हैं' और 'भेकवर्णः' पद का 'बड़े मेढक के समान शरीर का वर्ण पीला हो जाता है' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १९-२० ॥

कामलाभेदमाह—

कामलाबहुपित्तैषा कोष्ठशाखाऽऽश्रया मता। कालान्तरात्खरीभूता कृच्छ्रास्यात्कुम्भकामला॥

कामला का भेद कुम्भकामला—यह कामला अधिक पित्त का सञ्चय होने से उत्पन्न होती है। तथा कोष्ठ और शाखा (रक्तादिक) का आश्रय लेकर रहती है।

कुम्भकामला—जो कामला कुम्भ अर्थात् कोष्ठगत हो जाती है अर्थात् कोष्ठाश्रया हो जाती है उसे कुम्भकामला कहते हैं। यह शाखा (रक्तादि) गत कामला के ही अधिक पुराने हो जाने पर खरीभूत (रूक्ष) होकर होती है और कष्टसाध्य भी होती है ॥ २१ ॥

***तस्या भेदमाह—कामलेति। एका कोष्ठाश्रया। अपरा शाखाऽऽश्रया। तत्र कोष्ठाश्रयां कामलामाह—कालान्तरादिति ॥ २१ ॥**

यहां पर श्लोक के पूर्वार्द्ध 'कामले'त्यादि से कामला के भेद दिखाये गये हैं। जैसे कि—१—कोष्ठाश्रया कामला। २—शाखाऽऽश्रया कामला। और श्लोक के उत्तरार्द्ध 'कालान्तरादि'—त्यादि से कोष्ठाश्रया कामला (कुम्भकामला) का वर्णन करते हैं' यह समझना चाहिये ॥ २१ ॥

कुम्भकामलिनामरिष्टलक्षणमाह—

छर्द्यरोचकहृल्लासज्वरक्लमनिपीडितः। नश्यति श्वासकासार्त्तो विड्भेदी कुम्भकामली ॥२२॥

कुम्भकामला रोगियों के अरिष्ट के लक्षण—जो कुम्भकामला का रोगी वमन, अरुचि, उबकाई, ज्वर, दोषजन्य ग्लानि, श्वास, कास तथा मलभेद (फटे हुये पतले मल का निकलना) इन सब उपद्रवों से युक्त होता है, वह मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

कामलाद्वयारिष्टमाह—

कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः। सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रो यश्च ताम्यति ॥२३॥
दाहारुचितृषाऽऽनाहतन्द्रामोहसमन्वितः। नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान्विपद्यते ॥२४॥

कोष्ठ तथा शाखा गत दोनों कामलाओं के रोगियों के अरिष्ट के लक्षण—जिस कामला-रोगी के मल तथा मूत्र काले या पीले निकलते हों अथवा नेत्र, मुख, वमन, मल तथा मूत्र इन सबों का वर्ण रक्त हो गया हो और अधिक शोथ हो गया हो तथा बेहोशी आती हो तो वह शीघ्र मर जाता है। यह असाध्य का प्रथम लक्षण है।

दूसरा लक्षण यह है कि—जो कामलारोगी-दाह, अरुचि, अधिक प्यास, अफरा, तन्द्रा, मोह

इन सर्वों से युक्त हो और जठराग्नि की पाचन शक्ति तथा संज्ञा नष्ट हो गई हो तो वह शीघ्र मर जाता है ॥ २३-२४ ॥

पाण्डुरोगभेदहलीमकमाह—

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्यावपीतकः। बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः॥ स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासतृष्णाऽरुचिभ्रमाः। हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः॥२६॥

पाण्डुरोग का भेद हलीमक[1] रोग—पाण्डु रोगी के शरीर का वर्ण जब हरा या धूये के समान वा पीला हो जाता है और बल तथा उत्साह का क्षय हो जाता है एवम् तन्द्रा, अग्नि की मन्दता, मन्द २ ज्वर, स्त्रीसङ्ग की इच्छा न होना, शरीर में टूटने की सी पीड़ा होना, श्वास, अधिक प्यास, अन्न में अरुचि, भ्रम ये सब लक्षण प्रकट होते हैं, तब उसे वायु तथा पित्त से उत्पन्न होने वाला हलीमक रोग उत्पन्न हुआ समझना चाहिये ॥ २५-२६ ॥

***पाण्डोः = पाण्डुरोगिणः ॥ २५-२६ ॥**

यहां पर 'पाण्डोः' पद का 'पाण्डुरोगी के' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २५-२६ ॥

पाण्डुरोगचिकित्सामाह—

सप्तरात्रं गवां मूत्रैर्भावितस्त्वायसो रजः। पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसा प्रपिबेन्नरः॥ २७॥

---

१. आजकल हलीमक रोग को हरित या क्लोरोसिस (Chlorosis) कहते हैं। पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं कि यह रोग प्रायः स्त्रियों में ही पाया जाता है। यह रोग स्त्रियों में १४ से १५ वर्ष की आयु तक विवाह या सन्तति होने के पूर्व होता है। इसके पश्चात् आप से आप कम हो जाता है। इसका ठीक कारण अज्ञात है। व्यायाम का अभाव, गन्दी हवा में रहना, पौष्टिक अन्न का न मिलना इत्यादि इसके सहायक कारण बताये जाते हैं।

सम्प्राप्ति—इस रोग में त्वचा का वर्ण किञ्चित् हरा सा हो जाता है। इसीलिये इसे हरितरोग कहते। इसमें रंगद्रव्य तथा लाल कण दोनों की कमी हो जाती है। परन्तु कणों की अपेक्षा रंग द्रव्य अधिक घटता है अत एव रंगनिदर्शक (Colour Index) १ से कम हो जाता है। कणों का आकार स्वाभाविक आकार से छोटा होता है। तीव्रावस्था में रक्तकण शंकु के आकार के (Poikilocyts) और स्वाभाविक आकार से बड़े और केन्द्रयुक्त (Nucleated) लालकण भी दिखाई देते हैं। श्वेतकण प्लेटलेट्स (Platlets) में कोई विशेष फर्क नहीं होता है। रक्त पतला और फीका हो जाता है और उसकी कुछ राशि अधिक हो जाती है। और उसकी गुरुता कम हो जाती है।

लक्षण—पाण्डुरोग के साधारण लक्षण होते हैं। आमावरोध होता है। मासिक धर्म कम या बन्द हो जाता हैं आंख की नाड़ी पर शोथ हो जाता है। त्वचा के नीचे चर्बी अधिक सञ्चित होती है। हृदय बढ़ जाता है तथा विस्फारित हो जाता है। त्वचा का वर्ण पीला सा हरा दिखाई देता है। भूख मात्रा से अधिक मालूम पड़ती है। रोगी असाधारण पदार्थ खाने की इच्छा करता है। सिरदर्द होता है और शरीर में स्थान २ पर वातिक शूल होता है।

पाश्चात्य विद्वानों का इस रोग के लक्षण तथा सम्प्राप्ति के सम्बन्ध में जो मत है वह तो अपने यहां के हलीमक के लक्षणों से मिलता ही जुलता है किन्तु इस बात का एक बड़ा ही भेद है कि वे लोग इस रोग का होना केवल स्त्रियों में ही मानते हैं किन्तु अपने यहाँ तो इसके सम्बन्ध में कोई निर्धारण नहीं है। बल्कि अपने यहां के इस वर्णन से पुरुषों में ही अधिक होता है, ऐसा प्रतीत होता है। यथा—

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्यावपीतकः। बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः॥ स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासतृष्णाऽरुचिभ्रमाः। हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः॥

इस श्लोक में 'स्त्रीष्वहर्षः' ऐसा पद जो आता है, उससे प्रतीत होता है कि यह रोग पुरुषों में ही होता है। यह दोनों विद्वानों में महामतभेद है।

गोमूत्रसिद्धं मण्डूरचूर्णं सगुडमश्नतः। पाण्डुरोगः क्षयं याति पक्तिशूलञ्च दारुणम् ॥२८॥
अयोमलं सुसन्तप्तं भूयो गोमूत्रसाधितम्। मधुसर्पिर्युतं लीढ्वा पाण्डुरोगी सुखी भवेत् ॥

पाण्डु रोग की चिकित्सा—कान्तिसार लौह की भस्म को सात रात्रि तक गोमूत्र द्वारा भावना देकर दूध के साथ पाण्डुरोग की निवृत्ति के लिये रोगी को खिलाना उत्तम होता है। अथवा मण्डूर का चूर्ण गोमूत्र के साथ सिद्ध करके गुड़ मिला कर खाने वाले मनुष्य का पाण्डुरोग तथा कठिन पक्तिशूल (अन्न पचने के समय शूल होना) नष्ट हो जाता है। या मंडूर को वारंवार आग में तपा तपा कर गोमूत्र में बुझाने से भस्म बना कर मधु तथा गोघृत के साथ चाटने से पाण्डुरोगी रोग दूर होने से सुखी हो जाता है ॥ २७-२९ ॥

पुनर्नवादिमण्डूरमाह—

पुनर्नवा त्रिवृद्व्योषं विडङ्गं दारुचित्रकम्। कुष्ठं हरिद्रे त्रिफला दन्ती चव्यं कलिङ्गकम् ॥३०॥
कटुका पिप्पलीमूलं मुस्तं शृङ्गी च कारवी। यवानी कट्फलञ्चेति पृथक्पलमितं समम् ॥३१॥
मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाद् गोमूत्रेऽष्टगुणे पचेत्। गुडेन वटकान्कृत्वा तक्रेणालोड्य तान्पिबेत् ॥
पुनर्नवादिमण्डूरवटकोऽश्विविनिर्मितः। पाण्डुरोगं निहन्त्याशु कामलाञ्च हलीमकम् ॥
श्वासं कासञ्च यक्ष्माणं ज्वरं शोथं तथोदरम्। शूलं प्लीहानमाध्मानमर्शांसि ग्रहणीक्रिमीन् ॥
वातरक्तञ्च कुष्ठञ्च सेवनान्नाशयेद् ध्रुवम् ॥ ३४ ॥

पुनर्नवादिमण्डूर—पुनर्नवा, निसोथ, सोंठ, पीपर, मिरच, वायविडङ्ग, देवदारु, चित्त की जड़ की छाल, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, आंवला, हरड़, बहेड़ा, दन्ती, चव्य, इन्द्रजौ, कुटकी, पिपरामूल, नागरमोथा, काकड़ाशिंगी, कालाजीरा, अजवाइन, कायफल इन सबों के चूर्ण को पृथक् २ एक २ पल लेकर सबों के दुगुना मंडूर का चूर्ण मिलाकर सम्पूर्ण चूर्ण से अठगुने गोमूत्र में डाल कर पकावे, और गुड़ मिला कर गोली बना लेवे, इसके बाद आवश्यकता पड़ने पर तक्र में एक गोली को घोल कर पीना चाहिये। यह पुनर्नवादि मंडूर की गोली सर्वप्रथम अश्विनीकुमार ने बनाई। इसके सेवन से पांडुरोग, कामला, हलीमक ये सब शीघ्र नष्ट हो जाते हैं और श्वास, कास, राजयक्ष्मा, ज्वर, शोथ, उदररोग, शूल, प्लीहा, अफरा, अर्श, ग्रहणी, कृमिरोग, वातरक्त तथा कुष्ठ ये सब भी निश्चय नष्ट हो जाते हैं ॥ ३०-३४ ॥

अत्र पुनर्नवादि २४ प्रत्येक पल १। लौहकिट्टचूर्ण पल ४८। गोमूत्र पल १९२॥ पुनर्नवादिमण्डूरः ॥ ३०-३४ ॥

यहां पर 'पुनर्नवा आदिक २४ ओषधियों को एक २ पल लेना चाहिये। मण्डूर का चूर्ण ४८ पल गोमूत्र १९२ पल लेना चाहिये। तथा इसका नाम 'पुननवा मण्डूर' समझना चाहिये ३०-३४।

नवायसचूर्णमाह—

त्र्यूषणं त्रिफला मुस्तं विडङ्गं चित्रकं तथा। एतानि नवभागानि नवभागा हतायसः ॥३५॥
एतदेकीकृतं चूर्णं नरोऽष्टादशरक्तिकम्। प्रलिह्यान्मधुसर्पिर्भ्यां पिबेत्तक्रेण वा सह ॥ ३६ ॥
गोमूत्रेण पिबेद्वाऽपि पाण्डुरोगं विनाशयेत्। शोथं हृद्रोगमुदरक्रिमिकुष्ठं भगन्दरम् ॥ ३७ ॥
नाशयेदग्निमान्द्यञ्च दुर्नामकमरोचकम्। आर्द्रकस्य रसेनापि लिह्यात्कफसमृद्धिमान् ॥३८॥

नवायस चूर्ण—सोंठ, पीपर, मिरच, आंवला, हरड़, बहेरा, नागरमोथा, वायविडङ्ग, चित्त की जड़ की छाल इन सब ९ द्रव्यों को एक २ भाग लेकर चूर्ण करके ९ भाग लौह [1]भस्म के साथ

---

१. जिस प्रकार अपने यहाँ पाण्डुरोग पर लौहभस्म या मण्डूरभस्म का प्रयोग मुक्तहस्त से किया जाता है, उसीप्रकार पाश्चात्य विधान में भी लौह का बहुतायत से प्रयोग होता है। जिस प्रकार अपने यहाँ नवायसलौह, धात्रीलौह, निशालौह, विडङ्गादिलौह, अष्टादशाङ्गलौह, कामलान्तकलौह, त्रिकत्रयादिलौह, वज्रवटकमण्डूर, पुनर्नवादिमण्डूर तथा पथ्यामृत लौह, मण्डूर लौह तथा मण्डूर के भिन्न २ योग पांडुरोग पर प्रयुक्त किये जाते हैं उसी प्रकार पाश्चात्यविधान में भी इसके अनेक योग प्रयुक्त होते हैं। यथाः—

एकत्र कर उसमें से गोघृत तथा मधु के साथ वा तक्र किंवा गोमूत्र के साथ १८ रत्ती तक की मात्रा में लेकर सेवन करे, इसके सेवन से पाण्डुरोग, शोथ, हृद्रोग, उदर रोग, क्रिमि, कुष्ठ, भगन्दर, अग्नि की मन्दता, ववासीर, अरुचि ये सब रोग नष्ट होते हैं। और जिसे कफ अधिक हो वह इस ओषधि को अदरख के रस के साथ सेवन करे ॥ ३५-३८ ॥

अत्र नवायसलौहं नवरक्तिकापरिमितं भक्षणीयम् । यत उक्तं रसप्रदीपे—

गुञ्जामेकां समारभ्य यावत्स्युर्नवरक्तिकाः । तावल्लौहं समश्नीयाद्यथादोषानलं नरः ॥ १ ॥

यहां पर यह और भी समझना चाहिये कि—यह नवायस लौह ९ रत्ती तक खाना चाहिये। क्यों कि 'रसप्रदीप' में कहा हुआ है कि—'एक रत्ती से आरम्भ करके मनुष्य अपने दोष तथा अग्नि के अनुसार ९ रत्ती तक की मात्रा में लौह भस्म का सेवन करे' ॥ १ ॥

एवं सति प्रथमदिने त्र्यूषणादिसहितं रक्तिकाद्वयमितं प्रतिदिनं रक्तिकाया द्वयं द्वयं वर्द्धयेत् । यावत् त्र्यूषणादिसहिताष्टादशरक्तिकाः स्युः । ततस्ताः प्रतिदिनं खादेत् ॥३५-३८॥

इस वचन के अनुसार प्रथम दिन त्र्यूषणादिक (सोंठ-पीपर, मिर्च, आंवला, हरड, वहेरा, नागरमोथा, वायविडङ्ग तथा चीते के जड़ की छाल) के चूर्ण के साथ मिलकर दो रत्ती (त्र्यूषणादि चूर्ण १ रत्ती, लौह भस्म १ रत्ती मिलकर दो रत्ती) लेकर सेवन करना प्रारम्भ करदे, और इसी भांति प्रतिदिन दो २ रत्ती वढ़ाता जाय, जब तक कि १८ रत्ती न हो जाय, इसके वाद जहां तक सह्य हो वहां तक १८ रत्ती के अन्दर तक वढ़ाकर प्रतिदिन रोग-निवृत्ति पर्यन्त सेवन करे ॥ ३५-३८ ॥

कामलाचिकित्सामाह—

त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या मरिचकस्य वा । क्वाथो माक्षिकसंयुक्तः शीतलः कामलाऽपहः ॥

कामला चिकित्सा—त्रिफला (आंवला, हरड, वहेरा) वा गिलोय या दारुहल्दी किंवा काली मिरच के क्वाथ को शीतल करके शहद मिलाकर सेवन करने से कामला रोग नष्ट हो जाता है ॥३९॥

अञ्जने कामलार्त्तानां द्रोणपुष्पीरसो हितः । गुडूचीपत्रकल्कं वा पिबेत्तक्रेण कामली ॥ ४० ॥

कामलारोगियों के लिये गूमा के रस का अञ्जन आंखों में लगाना परम हितकर होता है। अथवा गिलोय के पत्तों का कल्क (चटनी) वनाकर तक्र के साथ मिलाकर सेवन करने से भी कामलारोगियों के लिये हितकर होता है ॥ ४० ॥

धात्रीलौहरजोव्योषनिशाक्षौद्राज्यशर्कराः । लीढा निवारयन्त्याशु कामलामुद्धतामपि ॥४१॥

आंवला, लौहभस्म, सोंठ, पीपर, काली मिरच, हल्दी इन सवों का चूर्ण तथा शहद, गोघृत, सफेद शक्कर ये सव सम भाग में एकत्र कर सेवन करने से अत्यन्त प्रवल भी कामला रोग शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ४१ ॥

कुम्भाख्यकामलायां तु हितः कामलिको विधिः । गोमूत्रेण पिबेत्कुम्भकामलावाञ्छिलाजतुम् ॥

और कुम्भकामला में भी उक्त कामला रोग की ही सारी विधियां करनी चाहिये, क्योंकि हितकर होती हैं। कुम्भकामला रोगी शिलाजीत को गोमूत्र के साथ पीवे तो हितकर होता है ॥ ४२ ॥

दग्ध्वाऽक्षकाष्ठैर्मलमायसन्तु गोमूत्रनिर्वापितमष्टवारान् ।
विचूर्ण्य लीढं मधुनाऽचिरेण कुम्भाह्वयं पाण्डुगदं निहन्ति ॥ ४३ ॥

मण्डूर (लौहकिट्ट) को वहेड़े की अग्नि में फूंककर आठ वार गोमूत्र में बुझाकर चूर्ण करके शहद के साथ चाटने से शीघ्र कुम्भकामला रोग नष्ट हो जाता है ॥ ४३ ॥

१-फेरस लवण (Ferrous Salts) ।

२-स्काल प्रपरेशन्स (Scal preparations) ।

३-फेरिक लवण (Ferric Salts) ।

४-कोल्वायडल या आर्गेनिक प्रपरेशन्स (Colloidal or organic Preparations) । इन में Ferrous Salts सवसे उत्तम होते हैं और Colloidal or organic Preparations सव से रद्दी होते हैं ।

अपहरति कामलार्त्तिं नस्येन कुमारिकाजलं सद्यः ॥ ४४ ॥

घीकुवार के रस का नास लेने से तत्काल कामला रोग नष्ट होता है ॥ ४४ ॥

हलीमकचिकित्सामाह—

मारितं चायसं चूर्णं मुस्ताचूर्णेन संयुतम् । खदिरस्य कषायेण पिबेद्धन्तुं हलीमकम् ॥ ४५ ॥

हलीमक चिकित्सा—हलीमक रोग दूर करने के लिये लोहभस्म तथा नागरमोथा का चूर्ण एकत्र कर खैर के क्वाथ के साथ सेवन करना चाहिये ॥ ४५ ॥

सितातिलवलायष्टित्रिफलारजनीयुगैः । लौहं लिह्यात्समध्वाज्यं हलीमकनिवृत्तये ॥ ४६ ॥

सफेद शक्कर, काला तिल, खिरेंटी, मुलेठी, त्रिफला (आंवला, हरड, बहेरा), हल्दी, दारुहल्दी इन सबों का चूर्ण एकत्र कर उसके साथ लौह भस्म मिलाकर शहद तथा गोघृत के साथ चाटने से हलीमक रोग की निवृत्ति होती है ॥ ४६ ॥

अमृतलतादिघृतमाह—

अमृतलतारसकल्कं प्रसाधितं तुरगविद्विपः सर्पिः । क्षीरं चतुर्गुणमेतद्धितरेच्च हलीमकार्त्तेभ्यः॥
मधुरैरन्नपानैस्तं वातपित्तहरैर्हरेत् । कामलापाण्डुरोगोक्तां क्रियां चात्रोपयोजयेत् ॥ ४८ ॥

अमृतलतादि घृत—गिलोय का रस वा क्वाथ १६ सेर, गिलोय का कल्क ऽ१ सेर, भैंस का घी ऽ४ सेर तथा भैंस का दूध १६ सेर एकत्र कर यथाविधि घृत सिद्ध करके हलीमकरोगियों को खिलाना चाहिये। यह हितकर होता है। और हलीमकरोगी को मधुर एवम् वात-पित्त नाशक अन्न-पान भोजन में देना चाहिये, तथा कामला और पाण्डुरोग में कही हुई सारी क्रियाओं को भी करना चाहिये अर्थात् जो २ चिकित्सायें कही हुई हों उन्हें करना चाहिये ॥ ४७-४८ ॥

पाण्डुरोगकामलाहलीमकानां सामान्यचिकित्सामाह—

फलत्रिकामृतावासातिक्ताभूनिम्बनिम्बजः क्वाथः ।
क्षौद्रयुतोऽयं हन्याद्धलीमकं पाण्डुकामलारोगम् ॥ ४९ ॥

पाण्डुरोग, कामला तथा हलीमक की सामान्यचिकित्सा—आंवला, हरड़, बहेरा, गिलोय, अडूसा, कुटकी, चिरायता तथा नीम की छाल इन सबों का क्वाथ बनाकर शीतल होने पर शहद डाल कर पीने से हलीमक, पाण्डुरोग तथा कामला रोग नष्ट हो जाता है ॥ ४९ ॥

त्र्यूषणादिमण्डूरवटिकामाह—

त्र्यूषणं त्रिफला मुस्तं विडङ्गं चव्यचित्रकम् । दार्वी त्वङ् माक्षिको धातुर्ग्रन्थिको देवदारु च ॥५०॥
एषां द्विपलिकान्भागान्कृत्वा चूर्णं पृथक्पृथक् । मण्डूरचूर्णं द्विगुणं शुद्धमञ्जनसन्निभम् ॥५१॥
मूत्रे चाष्टगुणे पक्त्वा तस्मिंस्तत्प्रक्षिपेन्नरः । उदुम्बरसमाकारान्वटकांस्तान्यथाऽग्नि च ॥५२॥
उपयुञ्जीत तक्रेण जीर्णे सात्म्यञ्च भोजनम् । मण्डूरवटिका ह्येताः प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम् ५३
कुष्ठानि जठरं शोथमूरुस्तम्भं कफामयान् । अर्शांसि कामलां मेहं प्लीहानं शमयन्ति च ॥५४॥

त्र्यूषणादिमण्डूरवटिका—सोंठ, पीपर, कालीमरिच, आंवला, हरड, बहेरा, नागरमोथा, वायविडङ्ग, चव्य, चीते के जड़ की छाल, दारुहल्दी, दालचीनी, सोनामाखी, पिपरामूल, देवदारु इन सबों का चूर्ण पृथक् २ दो दो पल (८ तोले) लेकर एकत्र कर लेवे, पश्चात् इस सम्मिलित चूर्ण के दुगुना अञ्जन के समान काले शुद्ध मण्डूर का चूर्ण ८ गुने गोमूत्र में डाल कर पकावे, और इसी में उक्त ओषधियों का चूर्ण मिला कर गूलर के फल के समान गोली बना लेवे, और अपने अग्नि-बलानुसार तक्र (मट्ठे) के साथ उसे प्रतिदिन सेवन करे तथा औषध के पच जाने पर हितकर पदार्थों का भोजन करे। यह मण्डूरवटिका सेवन करने से पाण्डुरोगियों के लिये प्राणदायक है। और कुष्ठ, उदररोग, शोथ, ऊरुस्तम्भ, कफसम्बन्धी रोग, बवासीर, कामला, प्रमेह तथा प्लीहा को नष्ट करने वाली हैं ॥ ५०-५४ ॥

अष्टादशाङ्गलौहमाह—

किराततिक्ता सुरदारु दार्वी मुस्ता गुडूची कटुका पटोलम् ।

दुरालभा पर्पटकं सनिम्बं कटुत्रिकं वह्निफलत्रिकञ्च ॥ ५५ ॥
फलं विडङ्गस्य समांशकानि सर्वैः समं चूर्णकमायसञ्च।
सर्पिर्मधुभ्यां वटिका विधेया तक्रानुपानाद्भिषजा प्रयोज्या ॥ ५६ ॥
निहन्ति पाण्डुञ्च हलीमकं च शोथं प्रमेहं ग्रहणीरुजञ्च।
श्वासञ्च कासञ्च सरक्तपित्तमर्शांस्यथो वाग्ग्रहमामवातम् ॥
व्रणांश्च गुल्मान्कफविद्रधिञ्च श्वित्रञ्च कुष्ठञ्च ततः प्रयोगात् ॥ ५७ ॥

अष्टादशाङ्ग लौह—चिरायता, देवदारु, दारुहल्दी, नागरमोथा, गिलोय, कुटकी, परवल, जवासा, पित्तपापड़ा, नीम की छाल, सोंठ, पीपर, कालीमिरच, चीते की छाल, आंवला, हरड़, बहेरा, वायविडङ्ग इन सब औषधों का चूर्ण समभाग में लेकर एकत्र कर लेवे, और सबों के बराबर लौह भस्म मिलाकर शहद तथा गोघृत में सानकर गोलियां बना लेवे, आवश्यकता पड़ने पर वैद्य तक्र के अनुपान के साथ रोगी को खिलावे, इसके सेवन से पाण्डु, हलीमक, शोथ, प्रमेह, ग्रहणीरोग, दमा, खांसी, रक्तपित्त, ववासीर, वाग्ग्रह (बोलते २ वाणी का रुक जाना), आमवात, व्रण, गुल्म, कफजन्य विद्रधि, श्वेत कुष्ठ तथा कुष्ठ नष्ट हो जाता है ॥ ५५-५७ ॥

यवगोधूमशाल्यन्नै रसैर्जाङ्गलजैर्हितैः। मुद्गाढकीमसूराद्यैरेषु भोजनमिष्यते ॥ ५८ ॥

पाण्डुरोग, कामला तथा हलीमक रोग में रोगी को जौ, गेहूँ, जड़हन का चावल, जङ्गली जीवों के मांस का रस (सुरुवा), मूंग, अरहर तथा मसूर आदि हितकारक पदार्थों का भोजन करना उचित होता है ॥ ५८ ॥

***एषु = पाण्डुरोगकामलाहलीमकेषु ॥ ५८ ॥**

इत्यष्टमः पाण्डुरोगकामलाहलीमकाधिकारः समाप्तः ॥ ८ ॥

यहां पर 'एषु' पद का 'पाण्डुरोग, कामला तथा हलीमक रोग में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां-
मध्यखण्डेऽष्टमे चिकित्साप्रकरणेऽष्टमः पाण्डुरोगकामलाहलीमका-
धिकारः समाप्तः ॥ ८ ॥

अथ नवमो रक्तपित्ताधिकारः ॥ ९ ॥

तत्र रक्तपित्तस्य निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

घर्मव्यायामशोकाध्वव्यवायैरतिसेवितैः। तीक्ष्णोष्णक्षारलवणैरम्लैः कटुभिरेव च ॥
पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम् ॥ १ ॥

नवम रक्तपित्ताधिकार में [1]रक्तपित्त की निदानपूर्वक सम्प्राप्ति—धूप, व्यायाम, (कसरत), शोक, रास्ता चलना तथा मैथुन का अधिक प्रयोग करना इनसे और तीक्ष्ण, उष्ण (गर्म), क्षार (खारा), नमकीन, खट्टा तथा चरपरे पदार्थों का अधिकतर सेवन करने से अपने गुणों के द्वारा दूषित हुआ पित्तरक्त को शीघ्र दूषित करता है ॥ १ ॥

---

१. अपने यहां 'ततः प्रवर्त्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा'।
'ऊर्ध्वं नासाऽक्षिकर्णास्यमेढ्रयोनिगुदैरधः।
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्त्तते' ॥

इन डेढ़ श्लोकों में रक्तपित्त का वर्णन करके समाप्त कर दिया गया है। इतना वर्णन पर्याप्त भी है क्योंकि चिकित्सा से लाभ भी हो ही जाया करता है। किन्तु पाश्चात्त्य विज्ञान में इसका पर्याप्त विस्तृत वर्णन मिलता है। वे लोग इसे कोई एक रोग नहीं मानते बल्कि इस रक्तवमन, रक्त का मलद्वार से निकलने तथा समस्त मार्गों और रोमकूपों से रक्तस्राव के होने को अनेक रोगों का कारण मानते हैं।

छतीक्ष्णं = मरिचादि । उष्णम् = अग्नितापादि । क्षारो = यवक्षारादिः । विदग्धं = दूपि-

यथा–आमाशय-प्रक्षोभ विशेष करके विषजन्य (Toxic Gastritis), आमाशय तथा ग्रहणी का व्रण, यकृद् दाल्युदर (Cirrohsis of Liver), आमाशय का कैन्सर (Gastric Cancer), पैत्तिक रक्तक्षय (Spleenic anaemia), बच्चों की प्लीहावृद्धि (Spleenic megly of Children), हीमोफीलिया (Haemophilia), परप्यूरा (purpura), स्कर्वी (Scurvy), तीव्र ज्वरयुक्त शरीर के रोग—जैसे दुष्टमसूरिका, तीव्र यकृत् क्षय (Tellow Atrophy of the Liver) सूक्ष्मधमनी जाल (Aneurism) का विदीर्ण होना, अपतन्त्रक (Hysteria), नासा, गले, अन्नप्रणाली तथा फुफ्फुस का रक्त आमाशय में जाकर वमन होना।

ये सब उपर्युक्त रोग हैं जिनसे कि अधिकांश में वमन–(Haematomasis) होता है और मलद्वार से भी रक्त का स्राव होता है तथा त्वचा द्वारा भी रक्त का स्राव होता है। उपर्युक्त सभी रोगों का यहां पर वर्णन कर सकना सीमा के बाहर है इसलिए नहीं हो सकता। किन्तु हीमोफीलिया (Haemophilia) और परप्यूरा (purpura) का संक्षिप्त वर्णन कर देना परमावश्यक प्रतीत हो रहा है अतः निम्न पंक्तियों में किया जा रहा है।

हीमोफीलिया (Haemophilia) यह एक कुलज तथा सहज स्वरूप का रोग है जो कि स्त्रियों के पुरुष सन्तान में उत्पन्न होता है और केवल पुरुषों में ही दिखाई देता है। स्त्रियों द्वारा पुरुषों में जाता है। पुत्र के पुत्र में न होगा। पुत्री के पुत्र में होगा।

सम्प्राप्ति—इस रोग में रक्त के लाल कण तथा श्वेतकण स्वाभाविक संख्या में होते हैं। प्लेटलेट्स (platelets) भी संख्या में स्वाभाविक होते हैं। परन्तु कभी २ इनकी संख्या अधिक भी हो सकती है। और इनके आकार में भी फर्क दिखाई देता है। मज्जा के जिस स्थान में इनकी उत्पत्ति होती है उसमें बड़े आकार के (platelets) दिखाई देते हैं। रक्त जमने का काल बढ़ता है और उसके साथ २ रक्तस्रवण काल भी बढ़ जाता है।

लक्षण—इस रोग का सबसे प्रधान लक्षण यह है कि—मामूली क्षत होने पर भी उससे अप्रतिबन्ध्य रक्त का स्राव होना। कभी चिकित्सा न करने पर स्राव से रोगी की मृत्यु हो सकती है। कभी रक्त का स्राव आप से आप बन्द भी हो जाता है। यह रोग बाल्यावस्था में दिखाई देता है परन्तु जन्म के समय नहीं होता। साधारणतया द्वितीय वर्ष से आठवें वर्ष तक इसका प्रादुर्भाव होता है। रक्त का स्राव त्वचा से तथा श्लेष्मल त्वचा से होता है। नासास्राव (नकसीर) एक बहुत साधारण सी बात होती है। इसके अतिरिक्त शरीर के भीतर विविध अङ्गों में विशेष करके जोड़ों में रक्तस्राव प्रायः होता है। घुटना तथा कोहिनी में रक्तस्राव साधारणतया अन्य जोड़ों की अपेक्षा अधिक होता है। जिससे ये जोड़ बड़ी तेजी से कूदते हैं और वेदना युक्त होते हैं।

साध्यासाध्यता—प्रायः ९० प्रतिशत रोगी १५–१६ वर्ष के पहिले ही रक्तस्राव से मर जाते हैं। युवावस्था प्राप्त होने के पश्चात् रोगी के बचने की सम्भावना बहुत कुछ हो सक्ती है। किन्तु रोग असाध्य है।

परप्यूरा (Purpura)—इस रोग के चार भेद किये गये हैं—

१—इडिओपैथिक परप्यूरा (Idiopathic Purpura)

२—सिम्पुल परप्यूरा (Simple Purpura)

३—हेनाक्स परप्यूरा (Henachs Purpura)

४—परप्यूरा र्‍युमेटिका (Purpura Rheumética)

१—इडिओपैथिक परप्यूरा—

Idiopathic purpura (Essntial Thromrocy to penia or purpurr Hemorrhagica)

तम् । स्वगुणैः=स्वकारणैर्गुणैस्तीक्ष्णादिभिः । गुणैरिति बहुत्वेन तीक्ष्णाम्ललवणकटूष्णघर्मादयो गृह्यन्ते । विदहति = दूषयति ॥ १ ॥

लक्षण—यह रोग प्रायः युवावस्था प्राप्त होने के पूर्व पैदा होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है। युवावस्था के पश्चात् रक्तस्राव की प्रवृत्ति धीरे २ कम होने लगती है। जरा सा आघात लगने पर रक्तस्राव तीव्रता से शुरू हो जाता है। त्वचा के भीतर रक्तस्राव होने से त्वचा में रक्त से भरे हुए फफोले निकल आते हैं। श्लेष्मलत्वचा से रक्तस्राव होता है। जैसे नासा से रक्तस्राव, मूत्र के द्वारा रक्तस्राव, रक्तवमन तथा रक्तनिष्ठीवन इत्यादि। मसूड़ों से प्रायः रक्तस्राव नहीं होता। जब रक्तस्राव का आवेग आता है तब शरीर का तापमान बढ़ता है। रोगी को अत्यन्त कमजोरी मालूम होती है और वमन भी होता है। इस प्रकार यह रोग महीनों में या वर्षों के बाद बार २ हुआ करता है।

यदि रोग सौम्यस्वरूप का हुआ तो प्रायः दो सप्ताह में अपने आप ठीक हो जाता है। और अधिक से अधिक दो महीने में ठीक हो जाता है। इससे मृत्यु प्रायः नहीं होती।

जब तीव्र स्वरूप का रोग होता है तब कभी २ चौबीस घंटे के अन्दर अत्यधिक रक्तस्राव होने से रोगी की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार का रोग बच्चों में अधिक होता है।

इस रोग में निम्न ५ विशेषतायें होती हैं :—

1—Phatlets[1] की कमी—रक्तस्राव के समय इनकी संख्या १५००० से हमेशा कम या कभी २ पूर्ण अनुपस्थित होती है। इनके आकार में फर्क हो जाता है और उसमें बहुत बड़े आकार के कण भी दिखाई देते हैं। रक्तस्राव बन्द हो जाने पर धीरे २ इनकी संख्या स्वाभाविक संख्या तक हो जाती है।

2—रक्तस्रवण काल आधे से १ घंटे तक बढ़ जाता है।

3—रक्त जमने का काल प्रायः स्वाभाविक रहता है या कुछ बढ़ जाता है।

4—जमा हुआ रक्त स्राव के स्थान में अच्छी तरह से नहीं चिपकता है और उसमें संकोच की शक्ति बहुत कम रहती है।

5—टूर्निकेट बांधने पर नीचे के स्थान में त्वचा के नीचे रक्त के छोटे २ दाग दिखाई देते हैं।

२—सिम्पुल परप्यूरा (Simple Purpura)—इसमें त्वचा के ऊपर प्रायः शाखाओं की त्वचा के ऊपर और रोमकूप के चारों ओर छोटे २ रक्तस्राव होते हैं। यह आकार में गोल तथा घेरे में १ मिली मीटर से ३ इञ्च तक बड़े होते हैं। दबाव देने पर ये नष्ट नहीं होते तथा त्वचा की पृष्ठ से उभरे हुए भी नहीं होते। शाखाओं में दोनों ओर समान स्थान में इनका प्रादुर्भाव होता है। कुछ काल के पश्चात् ये आप से आप मिट जाते हैं। यह रोग प्रायः बाल्यावस्था में होता है। त्वचा से रक्तस्राव के अतिरिक्त अन्य लक्षण इस रोग में प्रायः नहीं होते। कभी २ अतीसार तथा रक्तक्षय होता है। इस रोग की अवधि साधारणतया ६ सप्ताह की है। परन्तु कभी २ एक दो सप्ताह में भी रोग स्वयं ठीक हो जाता है।

३—हेनाक्स परप्यूरा (Henachs purpura)—इस प्रकार में त्वचा के रक्तस्राव के अतिरिक्त आन्त्र की दीवार में भी रक्तस्राव होता है। जिससे उदर की दीवार कड़ी हो जाती है। आन्त्र में शूल होता है तथा वमन होता है। और मलमार्ग से रक्तस्राव होता है।

४—परप्यूरा रयुमेटिका (Purpura Rheumatica) इस प्रकार में त्वचागत रक्तस्राव के अतिरिक्त जोड़ों में पीड़ा और सूजन उत्पन्न होती है। इनके साथ २ टांसिल (Tonsil) का शोथ, शीतपित्त तथा ज्वर इत्यादि लक्षण भी होते हैं। कुछ शास्त्रज्ञ इसको आमवात का ही एक प्रकार मानते हैं क्योंकि इसमें आमवात के ही समान Tonsil का शोथ तथा ज्वर इत्यादि लक्षण के अतिरिक्त हृदय में विकृति जैसे—हृदयावरणशोथ उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार

---

१. ये कण रक्त के जमने में तथा रक्त का थक्का मजबूत करने में सहायता करते हैं।

यहां पर 'तीक्ष्ण' पद से 'मरिच आदि' पदार्थों का बोध करना चाहिये। 'उष्ण' पद से 'आग का तापना आदि' का तथा 'क्षार' पद से 'जवाखार आदि' का बोध करना चाहिये। और 'विदग्ध' पद का 'दूषित हुआ' यह अर्थ समझना चाहिये। 'स्वगुणैः' पद का 'अपने गुणों के द्वारा अर्थात् अपने (पित्त के) कारण स्वरूप तीक्ष्णादि गुणों के द्वारा' यह अर्थ समझना चाहिये। तथा 'गुणैः' इस पद में बहुवचन होने से गुण पद से 'तीक्ष्ण, खट्टा, निमकीन, चरपरे, गर्म, धूप आदि' का भी ग्रहण करना चाहिये। और 'विदहति' पद का 'दूषित करता है' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १ ॥

रक्तपित्तस्य सामान्यलक्षणमाह—

ततः प्रवर्त्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा ॥ २ ॥

रक्तपित्त के सामान्य लक्षण – उपर्युक्त पदार्थों के सेवन करने से दूषित पित्त से ऊपर (मुख तथा नासिका आदि से) या नीचे (गुदा आदि के मार्ग से) या दोनों (ऊपर, नीचे) मार्गों से रक्त निकलने लगता है। इसी को रक्तपित्त कहते हैं ॥ २ ॥

***अत्र रक्तमित्युपलक्षणम्। तेन संसृष्टं पित्तञ्च। अत एव 'रक्तञ्च पित्तञ्च रक्तपित्तमिति, द्वन्द्व' इति सुश्रुतः। 'रक्तञ्च तत्पित्तं चेति रक्तपित्तं, रागप्राप्तं पित्तं रक्तपित्तमित्युच्यते, रक्तपित्तं कर्मधारयश्चे'ति चरकः। उभयत्रापि न दोषः। कारणत्रयाद्रक्तस्यापि समाख्यानम्॥**

यहां पर 'रक्त निकलने लगता है' इसमें जो 'रक्त' पद का प्रयोग किया गया है वह उपलक्षण मात्र है अतः 'रक्त से मिला हुआ पित्त भी निकलने लगता है' यह और समझना चाहिये। अत एव 'रक्त और पित्त जिसमें निकले उसे 'रक्तपित्त' कहते हैं ऐसा अर्थ करके 'रक्तपित्त' पद में सुश्रुत महर्षि द्वन्द्व समास करते हैं। और 'रक्त (रक्त वर्ण को प्राप्त हुआ) जो पित्त अर्थात् जिसमें पित्त रक्त वर्ण का होकर निकले उसे 'रक्तपित्त' कहते हैं ऐसा अर्थ करके 'चरक' भगवान् 'रक्तपित्त' पद में कर्मधारय समास करते हैं। इन दोनों समासों के होने पर भी किसी के मत से रक्तपित्त के लक्षण में कोई दोष नहीं उपस्थित होता है। क्योंकि रक्तपित्त रोग में रक्त भी निकलता है तथा उसके साथ २ मिला हुआ पित्त भी निकलता है, अत एव द्वन्द्व समास होने पर रक्तपित्त का लक्षण घट जाता है, और रक्तके समान वर्ण को प्राप्त हुआ पित्त निकलता है अत एव कर्मधारय समास होने पर भी लक्षण घट ही जाता है। और तीनों कारणों से पित्त के साथ रक्त का कथन है अत एव दोनों समास होने पर लक्षण में दोष नहीं घटित होता है।

***कारणत्रयमाह—**

संयोगाद् दूषणात्तत्तु सामान्याद् गन्धवर्णयोः।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ॥ १ ॥ इति ॥ २ ॥

तीनों कारणों को बताते हुये कहते हैं कि–१ रक्त तथा पित्त का संयोग होना। २ पित्त के द्वारा रक्त का दूषित होना। ३ रक्त के समान पित्त का गन्ध तथा वर्ण होना। इन तीन कारणों से बुद्धिमान् वैद्य लोगों ने इस रोग को रक्तपित्त कहा है ॥ १ ॥ इति ॥ २ ॥

प्रकार इस परप्यूरा (purpura) नामक रोग में—

'ऊर्ध्वं नासाऽक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः। कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत् प्रवर्तते ॥'

प्रायः ये सभी लक्षण मिलते हैं। किन्तु फिर भी पाश्चात्य विज्ञान में रक्तपित्त कहने से purpura या किसी अन्य एक रोग का बोध नहीं हो सकता है। पर्याप्त रोग-निश्चिति के लिये पर्याप्त श्रम की आवश्यकता होती है, कि यह रक्त का स्राव किस रोग के कारण हो रहा है। उसी प्रकार उनकी चिकित्सायें भी भिन्न होती है। इसी लिये इस रक्तपित्त को विद्वान् लोग 'रक्तस्रावी रोग Heemorrhagia Diseases) " इस नाम से पुकारते हैं।

रक्तपित्तप्रवृत्तिमार्गानाह—

ऊर्ध्वं नासाऽक्षिकर्णास्यैर्मेढ्योनिगुदैरधः। कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्त्तते ॥ ३ ॥

रक्तपित्त निकलने के मार्ग—कुपित हुआ पित्त-नासिका, नेत्र, कान तथा मुख द्वारा ऊर्ध्व मार्गों से, लिङ्ग, योनि तथा गुदा द्वारा निम्न मार्गों से और समस्त रोमकूपों से भी निकलता है॥

***मार्गानाह—ऊर्ध्वमिति। कुपितं = पित्तम् ॥ ३ ॥**

यहां पर 'मार्ग' इससे ऊर्ध्व, अधः तथा रोमकूपों से अभिप्राय है। 'कुपितम्' इससे कोप को प्राप्त हुआ पित्त ग्राह्य है॥ ३ ॥

रक्तपित्तस्य पूर्वरूपमाह—

सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः। लौहगन्धस्य निश्वासो भवत्यस्मिन्भविष्यति ॥४॥

रक्तपित्त का पूर्वरूप—जब रक्तपित्त होने वाला होता है तो रोगी को ग्लानि, शीत की इच्छा, गले में धुयें की प्रतीति, वमन, लोह के समान गन्ध का निकलना तथा श्वास का बढ़ जाना ये लक्षण होते हैं॥ ४ ॥

कफजवातजरक्तपित्तयोर्विशिष्टरूपमाह—

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम्। श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षञ्च वातिकम्॥

कफज तथा वातज रक्तपित्त के विशिष्ट रूप—कफज रक्तपित्त का रक्त-गाढ़ा, पाण्डुवर्ण, स्निग्ध और चिपचिपा होता है। तथा वातज रक्तपित्त का काला, लाल, फेनयुक्त, पतला तथा रूक्ष होता है॥ ५ ॥

पित्तजरक्तपित्तस्य विशिष्टरूपमाह—

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम्। मेचकागारधूमाभमञ्जनाभञ्च पैत्तिकम् ॥ ६ ॥

***मेचकम् = चिक्कणं कृष्णवर्णम्। अञ्जनं = स्रोतोऽञ्जनं; तदाभम् ॥ ६ ॥**

पित्तज रक्तपित्त का स्वरूप—पित्तज रक्तपित्त का रक्त काढ़े के समान काला, गोमूत्र के समान, कोयले के धुयें की भांति चिकना कृष्णवर्ण तथा अञ्जन के समान रङ्गवाला होता है॥ ६ ॥

संसर्गविशेषेण मार्गभेदमाह—

संसृष्टलिङ्गसंसर्गात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्। ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं मारुतानुगम् ॥

द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यां तत्प्रवर्त्तते ॥ ७ ॥

संसर्गविशेष से मार्गों के भेद—कफ से संसृष्ट रक्तपित्त-ऊर्ध्व मार्ग से निकलता है तथा वात से संसर्ग रखने वाला रक्तपित्त-अधोमार्ग से बहता है और कफ तथा वायु दोनों दोषों के संसर्ग वाला रक्तपित्त ऊर्ध्व और अधः दोनों मार्गों से प्रवृत्त होता है। तीनों दोषों के संसर्ग से तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त सान्निपातिक रक्तपित्त होता है। अर्थात् सान्निपातिक रक्तपित्त में तीनों दोषों के लक्षण देखे जाते हैं॥ ७ ॥

रक्तपित्तोपद्रवानाह—

दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदाः पाण्डुतादाहमूर्च्छा
भुक्ते घोरो विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा।
तृष्णा कोष्ठस्य भेदः शिरसि च तपनं पूयनिष्ठीवनञ्च
द्वेषो भक्तेऽविपाको विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गाः ॥ ८ ॥

रक्तपित्त के उपद्रवों को कहते हैं—दुर्बलता, श्वास, खांसी, ज्वर, वमन, मद, पाण्डुता, जलन, मूर्च्छा, भोजन करने के पश्चात् तीव्र दाह, धैर्यहीनता, हृदय में सदा विशेष प्रकार की पीड़ा, पिपासा, बार २ दस्त का लगना, शिर में सन्ताप, थूक का दुर्गन्ध युक्त होना, भोजनमें अरुचि, भोजन का परिपाक न होना तथा रक्तविकार ये सब रक्तपित्त के उन्नीस १९ उपद्रव होते हैं॥ ८ ॥

***विकृतिः = मांसप्रक्षालनाभताऽऽदि ॥ ८ ॥**

विकृति इससे 'मांस के धोवन के समान रक्त का वर्ण हो जाता है' इसका ग्रहण है॥ ८ ॥

रक्तपित्तस्य साध्यत्वादिकमाह—

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते । यत्त्रिदोषमसाध्यं स्यान्मन्दाग्नेरतिवेगवत् ॥९॥

रक्तपित्त की साध्यासाध्यता—एक दोष से उत्पन्न रक्तपित्त-साध्य, दो दोषों से उत्पन्न हुआ याप्य तथा जो तीनों दोषों से उत्पन्न होता है, और जो मन्दाग्नि वाले रोगी को अत्यन्त वेगवान् होता है वह असाध्य होता है ॥ ९ ॥

ऊर्ध्वं साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद्गतम् । व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतस्तु यत् ॥

ऊर्ध्व अर्थात् मुख, नासिका, आंख तथा कान के मार्ग से निकलने वाला रक्तपित्त[1] साध्य, अधोमार्ग अर्थात् लिङ्ग, गुदा और योनिमार्ग से निकलने वाला रक्तपित्त[2] याप्य तथा ऊर्ध्व, अधः दोनों मार्गों से निकलने वाला रक्तपित्त असाध्य होता है। और जिन मनुष्यों का शरीर रोगों से दुर्बल हो गया है एवं जो वृद्ध तथा भोजन न करने वाले रोगी हैं, उनको जो रक्तपित होता है वह असाध्य होता है ॥ १० ॥

साध्यरक्तपित्तमाह—

एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम् । रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥११॥

साध्य रक्तपित्त का लक्षण—एक ही मार्ग से निकलने वाला, बलवान् व्यक्ति को उत्पन्न हुआ, अत्यन्त वेग से रहित, तत्काल का पैदा हुआ, सुखकाल में उत्पन्न होने वाला तथा उपद्रवों से रहित रक्तपित्त साध्य होता है ॥ ११ ॥

***सुखे काले = हिमशिशिरयोः ॥ ११ ॥**

यहां पर 'सुखकाल' से 'हेमन्त तथा शिशिर का काल' समझना चाहिये ॥ ११ ॥

साध्यरक्तपित्तमाह—

मांसप्रक्षालनाभं क्वथितमिव च यत्कर्दमाम्भोनिभं वा
मेदःपूयास्रकल्पं यकृदिव यदि वा पक्वजम्बूफलाभम् ।
यत्कृष्णं यच्च नीलं भृशमपि कुणपं यत्र चोक्ता विकारा-
स्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुरपतिधनुषा यच्च तुल्यं विभाति ॥ १२ ॥

असाध्य रक्तपित्त के लक्षण—जिस रक्तपित्त के रक्त का स्वरूप मांस के धोवन के समान होता है या काथके समान रङ्ग वाला होता है या कीचड़ मिश्रित जल के समान होता है या मेद, पूय, रक्त के समान तथा यकृत् के टुकड़े के रङ्ग का होता है। अथवा जो रक्तपित्त पके हुये जामुन के रङ्ग के समान रङ्ग वाला होता है, जो काले रङ्ग का या अत्यन्त नीले वर्ण का होता है, और जिसमें शव के समान गन्ध आती है, जिस रक्तपित्त में उपर्युक्त कहे हुये विकार हैं और जो इन्द्रधनुष के समानवर्ण वाला प्रतीत होता है, वह वर्ज्य अर्थात् असाध्य होता है ॥ १२ ॥

---

१. हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य वै । न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ।
न च कालगुणैस्तुल्यो न देशो दुरुपक्रमः । गतिरेका नवत्वं च रोगस्योपद्रवो न च ॥
दोषश्चैकः समुत्पत्तौ देहः सर्वौषधक्षमः । चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥
निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले । कालप्रकृतिदूष्याणां सामान्येऽन्यतमस्य च ॥
गर्भिणीबालवृद्धानां नात्युपद्रवपीडितम् । शस्त्रक्षाराग्निकृत्यानामनवं कृच्छ्रदेशजम् ॥
विद्यादेकपथं रोगं नातिपूर्णचतुष्पदम् । द्विपथं नातिकालं वा कृच्छ्रसाध्यं द्विदोषजम् ॥
एवं साध्यस्य व्याधेरुपयुक्तौ सुखसाध्यकृच्छ्रसाध्यौ भेदौ स्तः ।

२. असाध्यस्य द्वौ प्रकारौ तद्यथा-याप्यप्रकारः, प्रत्याख्येयप्रकारश्चेति । तयोर्लक्षणानि:-
शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया । लब्ध्वाऽल्पसुखमल्पेन हेतुनाऽऽशुप्रवर्तकम् ॥
गम्भीरं बहुधातुस्थं मर्मसन्धिसमाश्रितम् । नित्यानुशायिनं रोगं दीर्घकालमवस्थितम् ॥
विद्याद् द्विदोषजं तद्वत्प्रत्याख्येयं त्रिदोषजम् । क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमार्गानुसारिणम् ॥
औत्सुक्यारतिसम्मोहकरमिन्द्रियनाशनम् । दुर्बलस्य सुसंवृद्धं व्याधिं सारिष्टमेव च ॥

***उक्ता विकाराः = दौर्वल्यादयः। सुरपतिधनुषा तुल्यं = नानावर्णम् ॥ १२ ॥**

यहां पर उपर्युक्त विकार से मतलब उपर्युक्त दौर्वल्यादि विकारों से है तथा इन्द्र-धनुष के समान वर्ण से अभिप्राय अनेक प्रकार के मिश्रित रङ्ग से है ॥ १२ ॥

येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः। पश्येद् दृश्यं वियच्चापि तदसाध्यमसंशयम् ॥ १३ ॥

जो रक्तपित्त से आक्रान्त व्यक्ति दृश्य पदार्थों को तथा आकाशादि को भी लाल रङ्ग का देखता है वह निःसन्देह असाध्य है ॥ १३ ॥

***येन रक्तपित्तेनोपहतो मनुष्यो दृश्यं = घटपटादिकं रक्तं पश्यति स नश्यति। वियच्चापि = अदृश्यमपीत्यर्थः ॥ १३ ॥**

यहां दृश्य पदार्थ से मतलब है घट-पटादि जो वस्तुयें देखी जा सकती हैं उनको तथा आकाश (वियत्) शब्द से अभिप्राय है अदृश्य पदार्थों से अर्थात् जिन वस्तुओं को मनुष्य देख नहीं पाता उनको भी असाध्य रक्तपित्त रोग से पीडित व्यक्ति रक्तवर्ण का देखता है ॥ १३ ॥

रक्तपित्तारिष्टमाह—

लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः। लोहितोद्गारदर्शी च म्रियते रक्तपैत्तिकः ॥ १४ ॥

***लोहितोद्गारदर्शी = व्याधिमहिम्नोद्गारमपि लोहितं पश्यतीत्यर्थः ॥ १४ ॥**

रक्तपित्त के अरिष्ट—जो रक्तपित्त का रोगी बराबर रक्त का वमन करता है तथा जिसकी आंखें सदा लाल रहती हैं और जिसके डकारमें भी रक्त आ जाता है वह अवश्य मर जायगा ॥१४॥

रक्तपित्तस्य चिकित्सामाह—

पित्तास्रं स्तम्भयेन्नादौ प्रवृत्तं बलिनो यतः। हृत्पाण्डुग्रहणीरोगप्लीहगुल्मज्वरादिकृत् ॥१५॥

रक्तपित्त की चिकित्सा—बलवान् व्यक्ति को उत्पन्न हुये रक्तपित्त का शुरू में ही कदापि स्तम्भन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने में हृदय के रोग, पाण्डुरोग, ग्रहणी, प्लीहा, गुल्म रोग तथा ज्वरादि व्याधियां उत्पन्न होती हैं ॥ १५ ॥

शालिषष्टिकनीवारकोरदूषप्रसाधिकाः। श्यामाकाश्च प्रियङ्गुश्च भोजनं रक्तपित्तिनाम् ॥१६॥

शालि धान्य, साठी का चावल, नीवार[1], कोदो, प्रसाधिका, साँवाँ और कङ्गुनी (टाङ्गुन), इनका भात रक्तपित्ती के भोजन के लिए हितकर है ॥ १६ ॥

मसूरमुद्गचणकाः समकुष्ठाढकीफलाः। प्रशस्ताः सूपयूषार्थे कल्पिता रक्तपित्तिनाम् ॥ १७ ॥

मसूर, मूंग, चने, मोठ और अरहर ये दाल तथा यूष के लिये रक्तपित्त रोगी को देना प्रशस्त माने गये हैं ॥ १७ ॥

दाडिमामलकं विद्वानम्लार्थं चापि दापयेत्। पटोलनिम्बन्यग्रोधप्लक्षवेतसपल्लवाः ॥१८॥

विद्वान् वैद्य अम्ल के लिये अनार तथा आवलों को दे। शाकसात्म्य-रोगियों को वैद्य निम्न शाकों में से जो उचित समझे देवे। परवल, निम्ब, वटके अङ्कुर, पाकड़ के अङ्कुर तथा वेत के कोमल पत्ते और चौलाई के शाक ये सब रक्तपित्त रोगी के लिए परम हितकर हैं ॥ १८ ॥

शाकार्थं शाकसात्म्यानां तण्डुलीयादयो हिताः। पारावतान्कपोतांश्च लावान् रक्ताक्षवर्त्तकान् ॥

शशान्कपिञ्जलानेणान्हरिणान्कालपुच्छजान्। रक्तपित्तहरान्विद्याद्रसांस्तेषां प्रयोजयेत् ॥२०॥

यदि वैद्य रक्तपित्त रोगी को मांस देना चाहे तो कबूतर, परेवा, लवा, चकोर, बत्तक, खरगोश, तीतर, एण[2], हिरण और कालपुच्छ हिरण के मांस का रस देवे। इनका मांस रक्तपित्त में परमोत्तम है ॥ १९-२० ॥

ईषदम्लाननम्लांश्च घृतभृष्टान्ससैन्धवान्। कफानुगे यूपशाकान्दद्याद्वातानुगे रसम् ॥२१॥

पथ्यं सतीनयूषेण ससितैर्लाजसक्तुभिः ॥ २२ ॥

कफज रक्तपित्त में—घी में भुना हुआ सेंधा नमक से युक्त कुछ अम्ल मिला हुआ या अम्ल-

---

१. नीवारः = 'तिन्नो'ति लोके प्रसिद्धो धान्यविशेषः।

२. एण एक विशिष्ट प्रकार का हिरण है।

रहित शाक तथा यूष देना चाहिये तथा वातज रक्तपित्त में मटर के यूष के साथ खीलों के सत्तू में मिश्री मिलाकर मांसरस देना उत्तम होता है ॥ २१-२२ ॥

धान्यकादिहिमादिकमाह—

धान्याकधात्रीवासानां द्राक्षापर्पटयोर्हिमः। रक्तपित्तं ज्वरं दाहं तृष्णां शोषञ्च नाशयेत् ॥२३॥

अब धान्यकादि हिमादि का वर्णन करते हैं:—धनियां, आंवला, अरूस, मुनक्का तथा पित्त-पापड़ा इन ओषधियों से बनाया हुआ हिम[1] रक्तपित्त, ज्वर, दाह, पिपासा और शोष को नष्ट कर देता है। इसका नाम धान्यकादि हिम है ॥ २३ ॥

ह्रीवेरमुत्पलं धान्यं चन्दनं यष्टिकाऽमृता। उशीरञ्च त्रिवृच्चैषां क्वाथं समधुशर्करम् ॥ २४ ॥
पाययेत्तेन सद्यो हि रक्तपित्तं प्रणश्यति। रक्तपित्तं जयत्युग्रं तृष्णां दाहं ज्वरं तथा ॥ २५ ॥
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः पृश्निपर्णी प्रियङ्गुकाः। जले साध्या रसे तस्मिन्पेया स्याद्रक्तपित्तिनाम् ॥

हाऊबेर, कमल, धनियां, चन्दन, मुलहठी, गुरुच, खश की जड़ और निसोथ इनका क्वाथ मधु, और शक्कर मिलाकर पीने से रक्तपित्त तत्काल नष्ट हो जाता है। कमल तथा उत्पल कमल की केसर उग्र रक्तपित्त, प्यास, दाह तथा ज्वर को नष्ट कर देता है। पिठवन और फूलप्रियङ्गु इनके क्वाथ में पकी हुई पेया मिलाकर रक्तपित्त वाले रोगी को पीने के लिये देना चाहिये ॥ २४-२६ ॥

वासापत्रसमुद्भूतो रसः समधुशर्करः। क्वाथो वा हरते पीतो रक्तपित्तं सुदारुणम् ॥ २७ ॥

अरूस के पत्तों के स्वरस[2] अथवा क्वाथ में शहद तथा मिश्री मिलाकर पिलाने से अत्यन्त दारुण भी रक्तपित्त नष्ट हो जाता है ॥ २७ ॥

पिष्टानां वृषपत्राणां पुटपाकरसो हिमः। समधुर्हरते रक्तपित्तं कासज्वरक्षयान् ॥ २८ ॥

पिसे हुये अरूस के पत्तों का पुटपाक द्वारा निकाला हुआ स्वरस मधु मिलाकर पीने से अथवा अरूस के पत्तों का हिम बनाकर मधु मिलाकर पीने से रक्तपित्त, कास, ज्वर तथा राजयक्ष्मा रोग दूर हो जाता है ॥ २८ ॥

उत्पलं कुमुदं पद्मं कह्लारं लोहितोत्पलम्। मधुकञ्चेति पित्तास्रतृष्णाच्छर्दिहरो गणः ॥ २९ ॥

उत्पल, कुमुद (कोइयाँ), कमल, लाल कुमुदिनी और लाल कमल तथा मुलहठी इन सब ओषधियों का समुदाय रक्तपित्त, पिपासा तथा वमन को हरने वाला है ॥ २९ ॥

वासायां विद्यमानायामाशायां जीवितस्य च। रक्तपित्ती क्षयी कासी किमर्थमवसीदति ॥३०॥

जब तक संसार में अडूसा विद्यमान है तब तक जीवन की आशा करने वाले रक्तपित्त, क्षय तथा खाँसी के रोगी व्यर्थ क्यों दुःख पाते हैं ॥ ३० ॥

आटरूषकमृद्वीकापथ्याक्वाथः सशर्करः। क्षौद्राढ्यः सकलश्वासरक्तपित्तनिबर्हणः ॥ ३१ ॥

अरूस, मुनक्का तथा हर्रा इनके क्वाथ में मिश्री तथा मधु मिलाकर पीने से सब प्रकार के श्वास तथा रक्तपित्त रोग दूर हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

दूर्वाऽऽद्यघृतमाह—

दूर्वा सोत्पलकिञ्जल्कमञ्जिष्ठा सलवालुका। शीता शीतमुशीरञ्च मुस्तं चन्दनपद्मकम् ॥३२॥
विपचेत्कार्षिकैरेतैराजं प्रस्थमितं घृतम्। तण्डुलानां जलं छागीक्षीरं दद्याच्चतुर्गुणम् ॥३३॥
तत्पानं वमतो रक्तं नावनं नासिकागते। कर्णाभ्यां यस्य गच्छेत्तु तस्य कर्णौ प्रपूरयेत् ॥३४॥
चक्षुः स्रवति रक्तञ्चेत्पूरयेत्तेन चक्षुषी। मेढ्रपायुप्रवृत्ते तु वस्तिकर्मसु योजयेत् ॥ ३५ ॥
रोमकूपप्रवृत्ते तु तदभ्यङ्गं प्रयोजयेत्। सर्वेषु रक्तपित्तेषु तस्माच्छ्रेष्ठमिदं घृतम् ॥ ३६ ॥

दूर्वाऽऽद्य घृत—दूब, कमल की केसर, मजीठ, एलुआ, आंवला, कबाबचीनी या कपूर, खश,

---

१. द्रव्यादापोथितात्तोये प्रतप्ते निशि संस्थितात्।
कषायो योऽभिनिर्याति स हिमः समुदाहृतः ॥

२. यन्त्रप्रपीडनाद् द्रव्याद्रसः स्वरस उच्यते ॥

नागरमोथा, रक्तचन्दन और पद्मकाठ प्रत्येक औषधि एक २ तोला लेकर कल्क बनावे, इस कल्क को चौगुने चावलों के जल में और बकरी के दूध में ६४ तोले बकरी का घी विधिपूर्वक पकाना चाहिये। यदि रक्त का वमन हो तो इस घृत का पीना उत्तम है यदि नाक में से रक्त निकलता हो तो इस घृत का नस्य लेना हितकारी है। यदि कान में से रुधिर निकलता हो तो इस घृत को कान में डालना प्रशस्त है। यदि नेत्रों में से रुधिर गिरता हो तो इस घृत को नेत्रों में लगाना श्रेष्ठ है। यदि लिङ्ग या गुदा में से रक्त बहता हो तो इस घृत की पिचकारी (वस्ति) लगाना लाभकर है। यदि रोमकूपों में से रक्त निकलता हो तो इस घृतका अभ्यङ्ग अत्यन्त लाभप्रद है। यह दूर्वाद्य घृत सर्व प्रकार के रक्तपित्तों में उपयोगी होने के कारण श्रेष्ठ है ॥ ३२–३६ ॥

मृद्वीकां चन्दनं लोध्रं प्रियङ्गुञ्च विचूर्णयेत्। चूर्णमेतत्पिबेत्क्षौद्रवासारससमन्वितम् ॥ ३७ ॥
नासिकामुखपायुभ्यो योनिमेढ्रादिवेगितम्। रक्तपित्तं स्रवद्धन्ति सिद्ध एष प्रयोगराट् ॥३८॥
यच्च शस्त्रक्षतेनैव रक्तं तिष्ठति वेगतः। तदप्येतेन चूर्णेन तिष्ठत्येवावचूर्णितम् ॥ ३९ ॥

मुनक्का, सफेद चन्दन, पठानी लोध और फूलप्रियङ्गु इन सबों का चूर्ण करके शहद और अडूसे के साथ सेवन करने से नाक, मुख, गुदा, योनि तथा लिङ्गमेंसे वेगपूर्वक गिरते हुए रुधिर को तत्काल बन्द कर देता है। यदि शस्त्र लगने से घाव होकर रक्त बहता हो और यदि रुधिर बन्द न हो सके तो घाव के ऊपर इस चूर्ण को बुरकाने से तत्काल रक्त का बहना बन्द हो जाता है ॥३७–३९ ॥

इक्षूणां मध्यकाण्डानि सकन्दं नीलमुत्पलम्। केशरं पुण्डरीकस्य मोचामधुकपद्मकैः ॥४०॥
वटप्ररोहशुङ्गाश्च द्राक्षा खर्जूरमेव च। एतानि समभागानि कषायं सम्प्रकल्पयेत् ॥ ४१ ॥
उषितं मधुसंयुक्तं पाययेच्छर्कराऽन्वितम्। सप्रमेहं रक्तपित्तं क्षिप्रमेतन्नियच्छति ॥ ४२ ॥

गन्ने की गांठ, जड़ समेत नीलाकमल, कमल की केशर, केला, मुलहठी, पद्मकाष्ठ, वटके अङ्कुर अथवा कोमल पत्ते, मुनक्का और खजूर इन सबको समभाग लेकर हिम बनावे, इस हिम में मिश्री और शहद मिलाकर पिलाने से रक्तपित्त और प्रमेह तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥ ४०–४२ ॥

द्राक्षया फलिनीभिर्वा प्रियालमधुकेन वा। श्वदंष्ट्रया शतावर्या रक्तजित्साधितं पयः ॥४३॥

मुनक्के से अथवा फूलप्रियङ्गु से या चिरौंजी से तथा मुलहठी से या गोखरू से अथवा शतावर से पकाया हुआ दूध रक्तपित्त को नष्ट कर देता है ॥ ४३ ॥

पक्कोदुम्बरकाश्मर्यः पथ्याखर्जूरगोस्तनाः। मधुना घ्नन्ति संलीढा रक्तपित्तं पृथक्पृथक् ॥
***अत्र काश्मर्याः फलमेव ग्राह्यं फलसाहचर्यात् ॥ ४४ ॥**

पके हुये गूलर के फल, काश्मरी अथवा हर्रा या खजूर या मुनक्का इसको शहद में मिलाकर चाटने से रक्तपित्त नष्ट होता है। यहां काश्मरी से काश्मरी का फल ही ग्राह्य है ॥ ४४ ॥

अतिनिःसृतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक्। यकृद्वा भक्षयेदाजं मांसं वा पित्तसंयुतम् ॥४५॥

जिस मनुष्य के शरीर में से बहुत रक्त निकल चुका हो वह मनुष्य बकरे के रक्त में मधु मिला कर अथवा बकरे का कलेजा शहद के साथ खाय या पित्त सहित बकरे के मांस का सेवन करे ॥४५॥

नासाप्रवृत्तरुधिरं घृतभृष्टं श्लक्ष्णपिष्टमामलकम्। सेतुरिव तोयवेगं रुणद्धि मूर्ध्नि प्रलेपेन ॥

यदि नाक से रक्त गिरता हो तो आंवलों को बारीक पीसकर घी में भून कर माथे पर लेप कर देने से जिस प्रकार बांध से जल का वेग रुक जाता है उसी प्रकार इस लेप से रक्त का गिरना बन्द हो जाता है ॥ ४६ ॥

घ्राणप्रवृत्ते जलमाशु पेयं सशार्करं नासिकया च यो वा।
द्राक्षारसं क्षीरघृतं पिबेद्वा सशर्करञ्चेक्षुरसं हिमं वा ॥ ४७ ॥

अथवा ठण्डे जल में चीनी मिलाकर शरबत तैयार करके नाक द्वारा पीने से अथवा नाक से दूध पीने से या दूध के साथ मुनक्के का रस पीने से अथवा ईख के रस में शक्कर मिलाकर पीने से नासिका द्वारा गिरता हुआ रक्त बन्द हो जाता है ॥ ४७ ॥

नस्ये दाडिमपुष्पस्य रसो दूर्वाभवोऽपि वा।
आम्रास्थिजः पलाण्डोर्वा नासिकास्राविरक्तजित् ॥ ४८ ॥

अनार के फूल या मुनक्के के रस अथवा आम की गुठली का रस अथवा प्याज के रस का नास लेने से नाक में से गिरता हुआ रक्त बन्द हो जाता है ॥ ४८ ॥

खण्डकूष्माण्डावलेहमाह—

पुराणं पीनमानीय कूष्माण्डस्य फलं बृहत्। तद्बीजाधारबीजत्वक्छिराशून्यं समाचरेत् ॥
ततस्तस्य तुलां नीत्वा पचेज्जलतुलाद्वये। तस्मिन्नीरेऽर्द्धशिष्टे तु यत्नतः शीतलीकृते ॥५०॥
तानि कूष्माण्डखण्डानि पीडयेद् दृढवाससा। यत्नतस्तज्जलं नीत्वा पुनः पाकाय धारयेत् ॥
कूष्माण्डं शोषयेद्धर्मे ताम्रपात्रे ततः क्षिपेत्। क्षिप्त्वा तत्र घृतं प्रस्थं कूष्माण्डं तेन भर्जयेत् ॥
मधुवर्णं तदालोक्य तज्जलं तत्र निक्षिपेत्। सितायाश्च तुलां तत्र क्षिप्त्वा तल्लेहवत्पचेत् ॥
सुपक्वे पिप्पलीशुण्ठीजीराणां द्विपले पृथक्। पृथक्पलार्द्धं धान्याकं पत्रैलामरिचत्वचम् ॥
चूर्णमेषां क्षिपेत्तत्र घृतार्द्धं क्षौद्रमावपेत्। एतत्पलमितं खादेदथ वाऽग्निबलं यथा ॥ ५५ ॥
खण्डकूष्माण्डलेहोऽयं रक्तपित्तञ्च नाशयेत्। पित्तज्वरं तृषां दाहं प्रदरं कृशतां वमिम् ॥
कासं श्वासञ्च हृद्रोगं स्वरभेदं क्षतं क्षयम्। नाशयत्येव वृद्धिञ्च बृंहणो बलवर्द्धनः ॥ ५७ ॥

खण्डकूष्माण्डावलेह—उत्तम पुराने बड़े तथा मोटे पेठे को लेकर छीलकर बीज और बीजों के रहने के स्थान को निकाल कर फेंक दे, उसमें से १०० [1]पल गूदा लेकर ८०० तोला [2]जल में पकावे। जब पकते-पकते जल आधा बाकी रह जाय तब उतार कर यत्नपूर्वक ठण्डा करे फिर उसमें से पेठे के टुकड़े को निकाल कर उत्तम मोटे वस्त्र में खूब खींच कर बांधे और दबाकर जल निचोड़ देवे और निचुड़े हुये जल को फिर पकाने के लिये अलग रख देवे, फिर उन पेठे के टुकड़ों को धूप में सुखा कर तांबे के बरतन में डालकर ६४ तोले घी मिलाकर भूने जब भुनते-भुनते शहद के समान वर्ण हो जाय तब उसे पूर्वोक्त पेठे के निचुड़े हुये जल में डालकर और उसमें १०० पल उत्तम मिश्री भी डालकर अवलेह की तरह पकावे। जब अच्छी प्रकार से पक कर तैयार हो जाय तब उसमें पीपल, सोंठ, जीरा ८ तोला, धनियां, तेजपात, इलायची सफेद, कालीमिर्च और दालचीनी प्रत्येक २ तो० इन सबका चूर्ण करके मिला दे और ३२ तो० शहद भी मिला देवे तो यह खण्डकूष्माण्डावलेह तैयार होता है। मात्रा—१ पल की है। अथवा अग्निबल के अनुसार इसमें से सेवन करें तो यह अवलेह रक्तपित्त, पित्तज्वर, तृष्णा, दाह, प्रदर, दुर्बलता, वमन, खांसी, श्वास, हृदय रोग, स्वरभेद, क्षत, क्षय और अन्त्रवृद्धि को नष्ट करता है। यह पुष्टिकारक (बृंहण) और बल को बढ़ाने वाला होता है ॥ ४९-५७ ॥

बृहत्कूष्माण्डावलेहमाह—

पुराणं पीनमानीय कूष्माण्डस्य फलं दृढम्। तद्बीजाधारबीजत्वक्छिराशून्यं समाचरेत् ॥
ततोऽतिसूक्ष्मखण्डानि कृत्वा तस्य तुलां पचेत्। गोदुग्धस्य तुलामध्ये मन्देऽग्नौ वा पचेच्छनैः ॥
शर्करायास्तुलां सार्द्धां गोघृतं प्रस्थमात्रकम्। प्रस्थार्द्धं माक्षिकञ्चापि कुडवं नारिकेलतः ॥
प्रियालफलमज्जानां द्विपलं तिखुरीपलम्। क्षिपेदेकं च विपचेल्लेहवत्साधु साधयेत् ॥ ६० ॥
भिषक्सुपक्वमालोक्य ज्वलनादवतारयेद्। कोष्णे तत्र क्षिपेदेषां चूर्णं तानि वदाम्यहम् ॥
ऐकोऽक्षः शतपुष्पाया अथ क्षीरी यवानिका। गोक्षुरः क्षुरकः पथ्या कपिकच्छुफलानि च ॥
सप्तमी त्वक्च सर्वेषामक्षयुग्मं पृथक्पृथक्। धान्यकं पिप्पली मुस्तमश्वगन्धा शतावरी ॥६४॥
तालमूली नागबला बालकं पत्रकं शटी। जातीफलं लवङ्गञ्च सूक्ष्मैला बृहदेलिका ॥ ६५ ॥
शृङ्गाटकं पर्पटकं सर्वं पलमितं पृथक्। चन्दनं नागरं धात्रीफलञ्चापि कशेरुजम् ॥ ६६ ॥

---

१. एक पल चार तोले के बराबर होता है।

२. द्रवद्वैगुण्य परिभाषा से १६०० तो० जल लेना चाहिये।

प्रत्येकं पञ्चकर्षाणि चत्वार्येतानि निक्षिपेत् । पलद्वयमुशीरस्य मसनस्योषणस्य च ॥ ६७ ॥
कूष्माण्डस्यावलेहोऽयं भक्षितः पलमात्रया । किं वा यथावह्निबलं भुक्त्वा रोगान्विनाशयेत् ॥
रक्तपित्तं शीतपित्तमम्लपित्तमरोचकम् । वह्निमान्द्यं सदाहञ्च तृष्णां प्रदरमेव च ॥ ६९ ॥
रक्तार्शोऽपि तथा छर्दिं पाण्डुरोगञ्च कामलाम् । उपदंशं विसर्पञ्च जीर्णञ्च विषमं ज्वरम् ॥७०॥
लेहोऽयं परमो वृष्यो बृंहणो बलवर्द्धनः । स्थापनीयः प्रयत्नेन भाजने मृन्मये नवे ॥ ७१ ॥

बृहत्कूष्माण्डावलेह—पुराने कठिन उत्तम पके हुये कड़े पेठे को लेकर उसको छील कर बीजों और बीजों के रहने के स्थान को निकाल कर फेंक दे, फिर उसके छोटे २ टुकड़े करके उसमें से ४०० तोले लेकर ४०० तो० गाय के दूध में मन्द आंच से पकावे फिर उसमें उत्तम शक्कर १५० पल, गाय का घी ६४ तोले, शहद ३२ तोले, नारियल का गूदा १६ तो०, चिरौंजी की मींगी ८ तो०, तीखुर चार तो० डाल कर विधिपूर्वक अवलेह के समान पकावे, जब अच्छी प्रकार से पक कर तैयार हो जाय तो उसको अग्नि पर से उतार ले । जब कुछ कुछ गर्म ही रहे तभी नीचे लिखी ओषधियों को मिला दे, जो किये हैं, जैसे-सौंफ १ तो०, वंशलोचन, अजवाइन, गोखरू, तालमखाना, हर्रा, केवाच के बीज, दालचीनी प्रत्येक २ तो०, धनिया, पीपल, नागरमोथा, असगन्ध, शतावरी, स्याह मूसली, गंगेरन, सुगन्धवाला, तेजपात, कचूर, जायफल, लौंग, छोटी इलायची, बड़ी इलायची, सिंगाड़े, पित्तपापड़ा प्रत्येक ४ तो०, चन्दन सफेद, सोंठ, आंवला कसेरू प्रत्येक ५ तो०, खश, मखाने, कालीमिर्च प्रत्येक ८ तो० इन सब का चूर्ण करके मिलादे तो यह कूष्माण्डावलेह तैयार हो जाता है । इस अवलेह की ४ तोले की मात्रा अथवा अपनी अग्नि के बलानुसार सेवन करने से रक्तपित्त, शीतपित्त, अम्लपित्त, अरुचि, मन्दाग्नि, दाह, तृषा, प्रदर, रुधिर की बवासीर, वमन, पाण्डुरोग, कामला, उपदंश, विसर्प, जीर्णज्वर और विषमज्वर, नष्ट होता है । यह अवलेह मैथुनशक्ति को अत्यन्त बढ़ाने वाला, बृंहण तथा बलवर्द्धक है । इस अवलेह को मिट्टी के उत्तम नवीन बरतन में भर कर रखना चाहिये ॥ ५८-७१ ॥

खण्डकूष्माण्डकमाह—

कूष्माण्डकस्य स्वरसं पलानां शतमात्रया । रसतुल्यं गवां क्षीरं धात्रीचूर्णं पलाष्टकम् ॥७२॥
मृद्वग्निना पचेत्तावद्यावद्भवति पिण्डवत् । धात्रीतुल्या सिता योज्या पलार्द्धं लेहयेदनु ॥
खण्डकूष्माण्डकं ह्येतद् भुक्तमभ्यासतो हरेत् । रक्तपित्तमम्लपित्तं दाहं तृष्णाञ्च कामलाम् ॥७४॥

खण्डकूष्माण्डक—उत्तम पेठे का स्वरस ४०० तो०, गाय का दूध ४०० तो० और आंवलों का चूर्ण ३२ तो० इन सब को एकत्र मिला कर धीरे-धीरे मन्द आंच से तब तक पकावे जब तक पिंड न बंधे, जब पिंड बँध जाय तब इसमें ३२ तो० उत्तम चीनी मिलादे तो यह 'खण्डकूष्माण्डक' नामक अवलेह तैयार हो जाता है। इस अवलेह में से प्रतिदिन २ तो० प्रमाण सेवन करना चाहिये । इस अवलेह का सेवन करने से रक्तपित्त, अम्लपित्त, दाह, पिपासा और कामला रोग नष्ट हो जाता है ॥ ७२-७४ ॥

खण्डकाद्यलौहमाह—

शतावरी छिन्नरुहा वृषो मुण्डतिका बला । तालमूली च गायत्री त्रिफलायास्त्वचस्तथा ॥७५॥
भार्गी पुष्करमूलञ्च पृथक्पञ्च पलानि च । जलद्रोणे विपक्तव्यमष्टभागावशेषितम् ॥ ७६ ॥
दिव्यौषधिहतस्यापि माक्षिकेण हतस्य वा । पलद्वादशकं देयं रुक्मलौहस्य चूर्णितम् ॥७७॥
खण्डतुल्यं घृतं देयं पलषोडशकं बुधैः । पचेत्ताम्रमये पात्रे गुडपाको मतो यथा ॥ ७८ ॥
प्रस्थार्धं मधुनो देयं शुभाश्मजतुकस्य च । शृङ्गी कृष्णा विडङ्गञ्च शुण्ठ्यजाजी पलं पलम् ॥
त्रिफला धान्यकं पत्रं कणा मरिचकेशरम् । चूर्णं दत्त्वा सुमथितं स्निग्धे भाण्डे निधापयेत् ॥
यथाकालं प्रयुञ्जीत बिडालपदमात्रकम् । गव्यक्षीरानुपानञ्च सेव्यो मांसरसः पयः ॥ ८१ ॥
गुरुवृष्यान्नपानानि स्निग्धमांसादि बृंहणम् । रक्तपित्तं क्षयं कासं पार्श्वशूलं विशेषतः ॥ ८२ ॥

वातरक्तं प्रमेहञ्च शीतपित्तं वमिं क्लमम् । श्वयथुं पाण्डुरोगञ्च कुष्ठं प्लीहोदरं तथा ॥ ८३ ॥
आनाहं मूत्रसंस्रावमम्लपित्तं निहन्ति च । चक्षुष्यं बृंहणं वृष्यं मङ्गल्यं प्रीतिवर्द्धनम् ॥ ८४ ॥
आरोग्यं पुत्रदं श्रेष्ठं कामाग्निबलवर्द्धनम् । श्रीकरं लाघवञ्चैव खण्डकाद्यं प्रकीर्त्तितम् ॥ ८५ ॥
छागं पारावतं मांसं तित्तिरिः क्रकरः शशः । कुरङ्गः कृष्णसारश्च मांसमेषां प्रयोजयेत् ॥८६॥
नारिकेलपयःपानं सुनिषण्णकवास्तुकम् । शुष्कमूलकजीवाख्यं पटोलं बृहतीफलम् ॥ ८७ ॥
वार्ताकुं पक्वमाम्रञ्च खर्जूरं स्वादु दाडिमम् । ककारपूर्वकं यच्च मांसञ्चानूपसम्भवम् ॥ ८८ ॥
वर्जनीयं विशेषेण खण्डकाद्यं समश्नता । लोहान्तरवदत्रापि पुटनादिक्रियेष्यते ॥
न पुनर्माक्षिकेणैव शिलयैव हि मारणम् ॥ ८९ ॥

*भार्गी = बभनेटी । दिव्यौषधिः = मनःशिला । रुक्मलौहं = 'गजवेली' इति लोके । सुनिषण्णं = चतुष्पत्री शाकविशेषः । जीवन्ती = 'जीव' इति शाकविशेषः । ककारपूर्वकं = कटुक-कालशाक-कूष्माण्ड-कर्कटी-कर्कोटक-कलिङ्ग-कर्कन्धु-करमर्दक-करीर-कतक-कशेरु-काञ्जिकमित्यादि वर्जनीयम् ॥ ७५-८९ ॥

खण्डकाद्य लौह—शतावरी, गुडूची, अरूसा, गोरखमुण्डी, खिरेटी, मूसली, खैर, त्रिफला, भारंगी और पोहकरमूल ये ओषधियां प्रत्येक बीस-बीस तोले लेकर एक हजार चौबीस १०२४ तोले भर जल में पकावे, जब पकते २ आठवां भाग क्वाथ अवशिष्ट रह जाय तब मैनशिल अथवा स्वर्णमाक्षिक से मारा हुआ कान्तलौह ४८ तो०, शक्कर ६४ तो०, घृत ६४ तो०, फिर सबको मिला कर तांबे के बरतन में गुडपाक के समान इसको पकावे, शीतल होने पर ३२ तो० शहद मिला दे। वंशलोचन, शिलाजीत, काकड़ासिंगी, पीपल, वायविडंग, सोंठ, जीरा, त्रिफला, धनियां, तेजपात, कालाजीरा, मिर्च और नागकेशर प्रत्येक का चूर्ण चार २ तोले लेकर सबको मिला कर खूब हाथों से मथ कर चिकने पात्र में भरकर रख दे। इसको खण्डकाद्य लौह कहते हैं। समयानुसार इस ओषधि में से १ तोले की मात्रा लेकर गाय के दूध के साथ सेवन करना चाहिये। इस लौह पर मांस का रस, दूध, भारी और वृष्य अन्न-पान, स्निग्ध मांसादि पुष्टिकारक पदार्थ, ये सब सेवन करने चाहिये। इस लौह के सेवन करने से रक्तपित्त, क्षय, खांसी, पार्श्वशूल, वातरक्त, प्रमेह, शीतपित्त, वमन, ग्लानि, सूजन, पाण्डुरोग, कोढ़, प्लीहा, उदर रोग, अफारा, मूत्र का बहना और अम्लपित्त ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं। यह खण्डकाद्य लौह नेत्रों को हितकारी, पुष्टिकारक, मैथुन शक्ति को बढ़ाने वाला, मंगल रूप, प्रीतिवर्द्धक, आरोग्यदायक, सन्तानोत्पत्ति-कारक, परमोत्तम कामाग्नि-बलवर्द्धक, लक्ष्मीजनक और शरीर में हल्कापन लाने वाला है। इस लौह पर बकरे का मांस, कबूतर का मांस, तीतर का मांस, केकड़े का मांस, खरगोश का मांस, कुरंग और कृष्णसारादि हिरणों का मांस खाना चाहिये। इस लौह को सेवन करने वाला मनुष्य सुरवारी का शाक, बथुवा, सूखी मूली, जीवन्ती का शाक, परवल, भटकोइया के फल, बैगन, पके आम, खजूर और मीठे अनार इन सबको त्याग दे। जिन पदार्थों के नामों में प्रथम 'क' अक्षर आवे ऐसे ककारादि नाम वाले समस्त पदार्थ (कन्दुक, कड़वे परवल, कूष्माण्ड, ककड़ी, करेला, केला इत्यादि) और अनूपदेश के जीवों का मांस भी विशेष करके त्याग दे। इस लौह में कान्त लौह को मैनशिल और स्वर्णमाक्षिक से ही केवल मारना ऐसा नहीं समझना चाहिये बल्कि अन्य लौह के समान इसमें भी पुटपाक आदि सम्पूर्ण क्रियायें करनी चाहियें ॥ ७५-८९ ॥

शतावरीपाकमाह—

शतावरीमूलकल्कं कल्कात्क्षीरं चतुर्गुणम् । क्षीरतुल्यं घृतं गव्यं सितया कल्कतुल्यया ॥९०॥
शृतशेषं पचेत्तत्तु पलार्द्धं लेहयेत्सदा । रक्तपित्तं ह्यम्लपित्तं क्षयं श्वासञ्च नाशयेत् ॥ ९१ ॥

इति नवमो रक्तपित्ताधिकारः समाप्तः ॥ ९ ॥

शतावरी पाक—शतावरी का कल्क ८ तो०, दूध ३२ तो०, गोघृत ३२ तो० और मिश्री ८ तो० लेकर सबको विधिपूर्वक मिला कर घृतपाक की विधि से पकावे, जब पकते २ घृतमात्र शेष रह जाय तब उतार ले। इसमें से प्रतिदिन २ तो० की मात्रा से सेवन करे तो रक्तपित्त, अम्लपित्त, क्षय और श्वास ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ९०-९१ ॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे नवमो रक्तपित्ताधिकारः समाप्तः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽम्लपित्तश्लेष्मपित्ताधिकारः ॥ १० ॥

तत्राम्लपित्तस्य विप्रकृष्टं निदानमाह—

विरुद्धदुष्टाम्लविदाहिपित्तप्रकोपिपानान्नभुजो विदग्धम् ।
पित्तं स्वहेतूपचितं पुरा यत्तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्तः ॥ १ ॥

***दुष्टं=व्यापन्नमन्नम् । 'पित्तप्रकोपि' इत्युक्तेऽपि 'अम्लविदाहि' इति विशेषार्थम् । पित्तप्रकोपि पानं=तक्रसुराऽऽदि । अन्नं=माषादि, स्वहेतूपचितं तु पुरा यद्=वर्षास्वम्लविपाकैर्जलैरोषधिभिश्च तादृशीभिरुपचितं=सञ्चितम्, अम्लपित्तम् । तदम्लपित्तं वदन्ति= अम्लपित्ताख्यं रोगं वदन्ति ॥ १ ॥**

अम्लपित्त का विप्रकृष्ट निदान—विरुद्ध[1], दुष्ट (बिगड़ा हुआ), खट्टे, विदाही और पित्त को कुपित करने वाले तक्र, सुरा, उरद आदि अन्न-पानों का जो मनुष्य सेवन करता है उसके अम्ल पाक को प्राप्त हुआ पित्त प्रथम वर्षादि ऋतुओं में अम्लपाकी जलों से तथा ऐसी ओषधियों से सञ्चित हुआ पित्त जो कुपित होता है उसको विद्वान् वैद्य अम्लपित्त रोग कहते हैं ॥ १ ॥

अम्लपित्तरोगस्य लक्षणमाह—

अविपाकः क्लमोत्क्लेशस्तिक्ताम्लोद्गारगौरवैः ।
हृत्कण्ठदाहारुचिभिरम्लपित्तं वदेद्भिषक् । अम्लपित्तं द्विधा प्रोक्तमधोगं च तथोर्ध्वगम् ॥

अम्लपित्त के लक्षण—अन्न का न पचना, ग्लानि, वमन की सी इच्छा, कड़वी और खट्टी डकारों का आना और शरीर में भारीपन, हृदय और गले में दाह और अरुचि, इन लक्षणों के होने से वैद्यलोग अम्लपित्त रोग कहते हैं।

अम्लपित्त—ऊर्ध्वग (ऊपर को गति करने वाला) और अधोग (नीचे की ओर गति करने वाला) इस प्रकार दो तरह का होता है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वगाम्लपित्तस्य लक्षणमाह—

वान्तं हरित्पीतकनीलकृष्णमारक्तरक्ताभमतीव चाच्छम् ।
मत्स्योदकाभं त्वतिपिच्छिलाभं श्लेष्मानुजातं सहितं रसेन ॥ ३ ॥

***आरक्तम्=ईषल्लोहितं रक्ताभं वा । अतीव चाच्छं=निर्मलम् । रसेन=लवणकटुतिक्तरूपेण ॥ ३ ॥**

ऊर्ध्वग अम्लपित्त के लक्षण-हरे, पीले, नीले, काले, कुछ लाल, लाल, अत्यन्त निर्मल, मछली के धोवन के समान अत्यन्त चिकने (पिच्छिल), कफ संयुक्त तथा खारे, तीक्ष्ण और कटवे रसवाले ऐसे पित्त वमन में गिरते हों तो ऊर्ध्वग अम्लपित्त समझना चाहिये ॥ ३ ॥

---

१. 'यच्चापि देशकालाग्निमात्रासात्म्यानिलादिभिः । संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि ॥ परिहारोपचाराभ्यां पाकात्संयोगतोऽपि वा । विरुद्धं तच्च न हितं हृत्सम्पद्विधिभिश्च यत् ॥ विरुद्धं देशतस्तावद्रूक्षतीक्ष्णादि धन्वनि' इत्यादि । (च० सू० अ० २६ श्लो० ८३-८५)

अधोगाम्लपित्तस्य लक्षणमाह—

तृड्दाहमूर्च्छाभ्रममोहकारि प्रयात्यधो वा विविधप्रकारम् ।
हृल्लासकोठानलसादहर्षस्वेदाङ्गपीतत्वकरं कदाचित् ॥ ४ ॥

*मूर्च्छा = सर्वदा ज्ञानशून्यता । मोहो = विपरीतं ज्ञानम् । अधो वेति-वा शब्द ऊर्ध्वंगापेक्षया । विविधप्रकारं–हरिद्रावर्णादियोगात् । कदाचिद्धृल्लासादिकरं च भवति ॥४॥

अधोग अम्लपित्त के लक्षण—प्यास, दाह, मूर्च्छा, भ्रम तथा मोह को करने वाला, हृल्लास, चकत्ते, मन्दाग्नि, रोमाञ्चों का होना, पसीना, अङ्गों में पीलापन इत्यादि विकारों का करने वाला तथा जो अम्लपित्त गुद मार्ग से बहता है उसको अधोग अम्लपित्त कहते हैं ॥ ४ ॥

अम्लपित्तस्यावस्थाविशेषमाह—

भुक्ते विदग्धेऽप्यथ वाऽप्यभुक्ते करोति तिक्ताम्लवमिं कदाचित् ।
उद्गारमेवंविधमेव कण्ठहृत्कुक्षिदाहं शिरसो रुजश्च ॥ ५ ॥
करचरणदाहमौष्ण्यं महतीमरुचिं ज्वरं च कफपित्तम् ।
जनयति कण्डूमण्डलपिडकाशतनिचितरोगचयम् ॥ ६ ॥

*भुक्ते विदग्धे तिक्ताम्लवमिं करोति । तथा–उद्गारम्, एवंविधमेव = तिक्ताम्लमेव करोति । अथ वा कदाचिद्भुक्तेऽपि तिक्ताम्लां वान्तिं करोति । तथा करचरणदाहादिकं जनयति । तथा कण्डूमण्डलपिडकाव्याप्तगात्रे रोगचयं करोति । अन्नाविपाकक्लमादिकं जनयति ॥ ५–६ ॥

अम्लपित्त की विशेष अवस्था—भोजन करने पर अन्न का विदग्ध पाक होता है अथवा कभी २ विना भोजन किये ही कड़वी और खट्टी वमन आती है तथा कड़वी और खट्टी डकारें आती हैं । कण्ठ, हृदय और कुक्षि में दाह होता है । शिर में पीड़ा, हाथ और पांव में जलन तथा सन्ताप होता है । भयङ्कर अरुचि को उत्पन्न करता है । कफ और पित्तजनित ज्वर होता है तथा खुजली, मण्डलाकार चकत्ते और फुंसियों से व्याप्त शरीर में अन्न का विदग्ध पाक तथा ग्लानि आदि रोग समूह को उत्पन्न करता है ॥ ५–६ ॥

अम्लपित्ते दोषसंसर्गमाह—

सानिलं सानिलकफं सकफं तच्च लक्षयेत् । दोषलिङ्गेन मतिमान् भिषङ्मोहकरं हि तत् ॥७॥

*ऊर्ध्वाधःप्रवृत्त्या छर्द्यतीसाराभ्यां तुल्यतया वैद्यभ्रान्तिकृत् ॥ ७ ॥

अम्लपित्त में दोषों के संसर्ग—बुद्धिमान् वैद्य दोषों के चिह्न से यह अम्लपित्त वातसम्बन्धी है अथवा वात और कफ इन दोनों के संसर्ग वाला है अथवा कफसम्बन्धी है जाने । क्योंकि यदि यह अम्लपित्त ऊर्ध्व गति से होता है तो वमन की भ्रान्ति होती है और अधोग होता है तो अतीसार प्रतीत होता है । ऐसे स्थान पर वैद्य को भ्रम उत्पन्न हो जाता है इसलिये खूब विचार कर निदान करना चाहिये ॥ ७ ॥

दोषभेदेन लक्षणभेदमाह—

कम्पप्रलापमूर्च्छाश्चिमिचिमिगात्रावसादशूलानि ।
तमसो दर्शनविभ्रममोहहर्षास्तथाऽनिलयुतेन ॥ ८ ॥
कफनिष्ठीवनगौरवजडताऽरुचिशीतसादवमिलेपाः ।
दहनबलहानिकण्डूनिद्राश्चिह्नं कफानुगे भवति ।
उभयमिदमेव चिह्नं मारुतकफसम्भवेऽम्लपित्ते स्यात् ॥ ९ ॥

*चिमिचिमि = 'झिनिझिनेति' लोके । हर्षो = रोमाञ्चः ॥ ८–९ ॥

दोषभेद से लक्षणभेद—वातजन्य अम्लपित्त में कम्प, प्रलाप, मूर्च्छा, सारे शरीर में झनझनाहट, ग्लानि, आंखों के सामने अन्धेरा छा जाना, विभ्रम, मोह, रोमाञ्चों का होना ये सब लक्षण होते हैं । कफजन्य अम्लपित्त में—कफ का थूकना, शरीर में भारीपन, जड़ता, अरुचि, शीत, ग्लानि,

वमन, मुख और छाती में कफ का लिपा सा रहना, अग्नि का नाश, खुजली और निद्रा का अधिक आना ये सब लक्षण होते हैं। वात और कफ दोनों दोषों से जो अम्लपित्त उत्पन्न हुआ होता है उसमें उपर्युक्त दोषों के मिश्रित लक्षण होते हैं॥ ८-९॥

अम्लपित्तस्य साध्यत्वादिकमाह—

रोगोऽयमम्लपित्ताख्यो यत्नात्संसाध्यते नवः।
चिरोत्थितो भवेद्याप्यः कृच्छ्रसाध्यः स कस्य चित्॥ १०॥

कस्य चिद् = हिताहाराचारशीलस्य॥ १०॥

अम्लपित्त की साध्यासाध्यता—यह अम्लपित्त रोग यदि थोड़े ही दिनों से उत्पन्न हुआ होता है तो औषधि करने से साध्य होता है। बहुत दिनों से उत्पन्न हुआ होता है तो याप्य जानना चाहिये। और किसी २ मनुष्य को (अयोग्य आहार-विहार करने वाले मनुष्य को) तो थोड़े ही दिनों का उत्पन्न हुआ भी अम्लपित्त कष्टसाध्य जानना चाहिये॥ १०॥

कफपित्तस्य लक्षणमाह—

तिक्ताम्लकटुकोद्गारहृत्कुक्षिकण्ठदाहकृत्।
तमो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिरालस्यं च शिरोरुजा। प्रसेको मुखमाधुर्यं श्लेष्मपित्तस्य लक्षणम्॥११॥

कफपित्त के लक्षण—आंखों के सामने अन्धेरा, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, आलस्य, शिर में पीड़ा, मुख से लार का गिरना, मुख में मधुरता का होना ये सब कफपित्त के लक्षण होते हैं॥ ११॥

अम्लपित्तस्य चिकित्सामाह—

अम्लपित्ते तु वमनं पटोलारिष्टवासकैः। कारयेन्मदनैः क्षौद्रैः सैन्धवैश्च तथा भिषक्॥ १२॥
विरेचनं त्रिवृच्चूर्णं मधुधात्रीफलद्रवैः। ऊर्ध्वगं वमनैर्विद्वानधोगं रेचनैर्हरेत्॥ १३॥

अम्लपित्तमिति शेषः॥ १२-१३॥

अम्लपित्त की चिकित्सा—अम्लपित्त रोग में प्रथम वैद्य परवल, नीम, मैनफल, शहद और सेंधानमक के क्वाथ से वमन करावे तथा निशोथ का चूर्ण, मधु और आंवलों के रस इनके द्वारा विरेचन करावे। ऊर्ध्वग अम्लपित्त को वमन कराकर और अधोग अम्लपित्त को विरेचन द्वारा दूर करना चाहिये॥ १२-१३॥

यवगोधूमविकृतीस्तीक्ष्णसंस्कारवर्जिताः। यथास्वं लाजसक्तून्वा सितामधुयुतान्पिबेत्॥१४॥

जौ या गेहूँ के बनाये हुये यूषादि पदार्थों को जिनका कि तीक्ष्ण मिरचादि वस्तुओं से संस्कार न किया हुआ हो पिलाना चाहिये अथवा भक्षण कराना चाहिये तथा खीलों के सत्तुओं में मिश्री और शहद मिलाकर दोषों के अनुसार पिलाना चाहिये॥ १४॥

निस्तुषयववृषधात्रीक्वथितं सलिलं त्रिगन्धमधुयुक्तम्।
द्रुततरमपहरति वमिं सञ्जनितामम्लपित्तेन॥ १५॥

भूसी रहित जौ, अडूसा और आंवला इनका क्वाथ बनाकर उसमें दालचीनी, तेजपात, इलायची, और शहद डाल कर पिलाने से अम्लपित्त से उत्पन्न हुआ वमन तत्काल नष्ट हो जाता है॥ १५॥

छिन्नोद्भवानिम्बपटोलपत्रं क्षौद्रान्वितं पीतमनेकरूपम्।
सुदारुणं हन्ति तदम्लपित्तं यथाऽशनिस्तालतरुं प्रवृद्धम्॥ १६॥

गुडूची, नीम के पत्ते और कड़वे परवल के पत्ते, इनको इकट्ठा पीसकर शहद मिलाकर पीने से जिस प्रकार वज्र से बड़े २ ताड़ के वृक्ष नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार अनेक प्रकार के महादारुण अम्लपित्त नष्ट हो जाते हैं॥ १६॥

वासाऽमृतापर्पटकनिम्बभूनिम्बमार्कवैः। त्रिफलाकुलकैः क्वाथः सक्षौद्रश्चाम्लपित्तहा॥ १७॥

अडूसा, गुर्च, पित्तपापड़ा, नीम की छाल, चिरायता, भंगरइया, हर्रे, बहेड़े, आंवले और कड़वे परवल इनका क्वाथ बनाकर शहद मिलाकर पीने से अम्लपित्त नष्ट हो जाता है॥ १७॥

पाठापटोलयवचन्दनधान्यधात्रीवासावराङ्गदलनागकणाऽभयाभिः।

लेहः सिताऽऽज्यमधुभिः शिवपालपिण्डी हन्त्यम्लपित्तमरुचिज्वरदाहशोषान् ॥१८॥

पाठा, परवल के पत्ते, इन्द्रजौ, धनिया, आंवला, अडूसा, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर, पीपल, हर्रे, मिश्री, घी और शहद इनका अवलेह बनावे। इस अवलेह को 'शिवपालपिण्डी' कहते हैं। यह अवलेह अम्लपित्त, अरुचि, ज्वर, दाह तथा शोष को नष्ट कर देता है ॥ १८ ॥

हन्त्यम्लपित्तवमनारुचिदाहमोहखालित्यमेहशिशिरव्रणशुक्रदोषान्।
भुक्त्वा नरः सततमामलकीरसेन वृद्धोऽप्यनेन हि भवेत्तरुणो रिरंसुः ॥ १९ ॥

जो मनुष्य प्रतिदिन आंवलों के रस के साथ भोजन करता है उसके अम्लपित्त, वमन, अरुचि, दाह, मोह, खालित्य, प्रमेह, शीत, व्रण और समस्त वीर्य के विकार नष्ट हो जाते हैं तथा इसके प्रभाव से वृद्ध पुरुष युवा हो जाता है तथा स्त्रियों के साथ सम्भोग करने की इच्छा करता है ॥ १९ ॥

खण्डकूष्माण्डकावलेहमाह—

कूष्माण्डकरसो ग्राह्यः पलानां शतमात्रकम्। रसतुल्यं गवां क्षीरं धात्रीचूर्णं पलाष्टकम् ॥२०॥
धात्रीतुल्या सिता योज्या गव्यमाज्यं पलद्वयम्। मन्दाग्निना पचेत्सर्वं यावद्भवति पिण्डितम् ॥
पलार्द्धं पलमेकं वा प्रत्यहं भक्षयेदिदम्। खण्डकूष्माण्डकं ख्यातमम्लपित्तापहं परम् ॥२२॥

खण्डकूष्माण्डकावलेह—उत्तम पेठे का रस ४०० तो०, गाय का दूध ४०० तो०, आंवलों का चूर्ण ३२ तो०, खांड ३२ तो० और गोघृत ८ तो० लेकर सब को इकट्ठा करके तब तक पकावे जब तक पिण्ड स्वरूप का न हो जाय। यह 'खण्डकूष्माण्डक' नाम से प्रसिद्ध अवलेह है। इस अवलेह में से प्रतिदिन २ तो० अथवा ४ तो० सेवन करे तो अम्लपित्त भली भांति नष्ट हो जाता है ॥२०-२२॥

नारिकेलखण्डमाह—

कुडवं नारिकेलस्य जले मृद्वग्निना पचेत्। नारिकेलजलाभावे गव्ये पयसि तत्पचेत् ॥२३॥
धान्यकं पिप्पली मुस्तं चातुर्जातं विचूर्णितम्। प्रत्येकंटङ्कमात्रं तु शीते तस्मिन्विनिक्षिपेत् ॥
पलमात्रस्तदर्द्धोऽपि भक्षितः प्रत्यहं नरैः। नारिकेलस्य खण्डोऽयं पुंस्त्वनिद्राबलप्रदः ॥२५॥
अम्लपित्तं रक्तपित्तं शूलञ्च परिणामजम्। क्षयं क्षपयति क्षिप्रं शुष्कं दावानलो यथा ॥ २६ ॥
*पलमात्रगव्यघृतेन नारिकेलस्य भर्जनं कर्त्तव्यमिति सम्प्रदायः ॥ २३–२६ ॥

नारिकेल खण्ड—नारियल का गूदा १६ तो० लेकर नारियल के जल में, यदि नारियल का जल न मिले तो गाय के दूध में पकावे जब पकते-पकते गाढ़ा हो जाय तो उसमें धनियां, पीपल, नागरमोथा, दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची और नागकेशर इन ओषधियों में से प्रत्येक का चूर्ण एक एक टङ्क[1] मिलादे तो नारिकेल खण्ड तैयार हो जाता है। प्रतिदिन इस ओषधिमें से ४ तो० अथवा २ तो० भर खिलाने से पुरुषत्व, निद्रा और बल की प्राप्ति होती है। तथा अम्लपित्त, रक्तपित्त, क्षय और परिणाम शूल ये सब रोग नष्ट होते हैं जिस प्रकार सूखा हुआ वन दावाग्नि से नष्ट हो जाता है। *इस ओषधि में ४तो० गाय के घी में नारियल की गिरि को भूनना चाहिये, ऐसा सम्प्रदाय है॥

बृहन्नारिकेलखण्डमाह—

प्रस्थन्तु नारिकेलस्य सूक्ष्मं दृषदि पेषितम्। निष्कुलीकृतकूष्माण्डखण्डानामर्द्धमाढकम् ॥
तद्द्वयं भक्षयेद्गव्ये घृते तु कुडवोन्मिते। ततस्तत्र क्षिपेच्छुद्धं गोदुग्धञ्चाढकोन्मितम् ॥
तत्रैव निक्षिपेद्भव्यां सितां प्रस्थद्वयोन्मिताम्। पचेत्सर्वाणि चैकत्र मृदुना वह्निना भिषक् ॥
सुपक्वे शीतले तत्र चूर्णीकृत्य विनिक्षिपेत्। सूक्ष्मैलां धान्यकं धात्रीं पर्पटं जलदं जलम् ॥
उशीरं चन्दनं द्राक्षां शृङ्गाटञ्च कशेरुकम्। त्वक्पत्रकं सकर्पूरं कर्षयुग्मं पृथक्पृथक् ॥ ३१ ॥
सर्वं संमिश्रयेद्रक्षेद्भाजने मृन्मये नवे। पलमात्रमिदं प्रातर्भक्षयेद्वा यथाऽनलम् ॥ ३२ ॥
एतन्निषेवितं हन्ति रोगानेतान्न संशयः। अम्लपित्तं ज्वरं पित्तं रक्तपित्तमरोचकम् ॥ ३३ ॥
वातरक्तं तृषां दाहं पाण्डुरोगञ्च कामलाम्। क्षयं क्षपयति क्षिप्रं शूलञ्च परिणामजम् ॥
नारिकेलस्य खण्डोऽयमश्विभ्यां भाषितः पुरा। वर्णदो बृंहणो वृष्यः पुंस्त्वनिद्राबलप्रदः ॥

[1] १. एक टङ्क आधुनिक तौल में ३ माशे या २४ रत्तियों के बराबर होता है।

बृहन्नारिकेल खण्ड—पत्थर पर बारीक पिसा हुआ नारियल ६४ तो०, बिना छिलके तथा बिना बीजवाले पेठे के टुकड़े १२८ तो० लेकर सबको १६ तो० गाय के घी में भूनकर तत्पश्चात् उसमें २५६ तो० उत्तम गाय का दूध और १२८ तो० उत्तम साफ चीनी डालकर सबको मन्द मन्द आंच से धीरे २ पकावे। जब उत्तम प्रकार से पक कर तैयार हो जावे तो उसके ठंढे होनेपर उसमें छोटी इलायची, धनियां, आंवले, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, सुगन्धवाला, खस, चन्दन, मुनक्का, सिङ्घाड़े, कशेरू, दालचीनी, तेजपात और भीमसेनी कपूर ये प्रत्येक ओषधियां दो-दो तोले लेकर सब का चूर्ण करके मिला दे तो यह बृहन्नारिकेल खण्ड बनता है। इस ओषधि को मिट्टी के नवीन बरतन में रखना चाहिये। इस ओषधि में से ४ तो० भर अथवा अपनी अग्नि के बलानुसार प्रातःकाल सेवन करने से अम्लपित्त, ज्वर, पित्त, रक्तपित्त, अरोचक, वातरक्त, तृषा, दाह, पाण्डुरोग, कामला, क्षय और परिणाम शूल ये सब तत्काल नष्ट हो जाते हैं। पूर्वकाल में अश्विनीकुमारों द्वारा कहा हुआ यह नारिकेल खण्ड शरीर के वर्ण को सुन्दर करता है, बृंहण[1] है तथा कामी मनुष्यों के लिये परम हितकर पुरुषत्व, निद्रा और बल को बढ़ाने वाला है॥ १७-३५॥

श्लेष्मपित्तस्य चिकित्सामाह—

अभया पिप्पली द्राक्षा सिताधान्यकवासकम्। मधुना कण्ठदाहघ्नं पित्तश्लेष्महरं परम्॥

श्लेष्मपित्त की चिकित्सा—हर्रा, पीपल, मुनक्का, चीनी, धनियां तथा जवासा इनका चूर्ण करके शहद में मिलाकर चाटने से कफपित्त और कण्ठ का दाह नष्ट हो जाता है॥ ३६॥

पटोलयवधान्याकपिप्पल्यामलकानि च। तेषां क्षौद्रयुतः क्राथः पित्तश्लेष्महरः परः॥३७॥

परवल, इन्द्रजौ, धनियां, पीपल और आंवलों का क्राथ बनाकर ठण्डे होने पर उसमें सहद मिलाकर पिलाने से श्लेष्मपित्त रोग दूर हो जाता है॥ ३७॥

पित्तश्लेष्मवमीकण्डूकोठविस्फोटदाहनुत्। दीपनः पाचनः क्राथः शृङ्गवेरपटोलयोः॥३८॥

अदरक और परवल इनका क्राथ बनाकर पिलाने से अग्नि का दीपन, पाचन और कफपित्त, वमन, खुजली, चकत्ते, फोड़े और दाह रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ३८॥

पिप्पलीखण्डपथ्याभिस्तुल्याभिर्मोदकः कृतः। पित्तश्लेष्महरो भुक्तो वह्निमान्द्यं च नाशयेत्

इति दशमोऽम्लपित्तश्लेष्मपित्ताधिकारः समाप्तः॥ १०॥

पीपल, खांड, और हर्रे, इनको समान भाग लेकर लड्डू बनाकर खाने से कफपित्त रोग और अग्निमान्द्य दूर हो जाता है॥ ३९॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे दशमोऽम्लपित्तश्लेष्मपित्ताधिकारः समाप्तः॥ १०॥

अथैकादशो राजयक्ष्माधिकारः॥ ११॥

तत्र राजयक्ष्मणो विप्रकृष्टं सन्निकृष्टं च निदानमाह—

वेगरोधात्क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्। त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात्॥१॥

राजयक्ष्मा का विप्रकृष्ट तथा सन्निकृष्ट[2] निदान—वेगों के रोकने से (मल-मूत्रादि के),

---

१. बृहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम्।

२. अपने यहां वेगरोध, धातुक्षय, साहस तथा विषमाशन इन चार को राजयक्ष्मा का हेतु बतलाया गया है। किन्तु पाश्चात्त्य विज्ञान में इन्हें भी कारण मानते हैं, और इनके अतिरिक्त अन्य भी कुछ कारणों को मानते हैं। किन्तु ये सब सहायक कारण हैं। वे लोग राजयक्ष्मा (Phthisis) का प्रधान कारण बैसिलस ट्युबर क्युलोसिस (Bacillus Tuber Culosis) नामक जीवाणु

साहस से, धातुओं के क्षय से, विषमाशन करने से क्षयरोग उत्पन्न होता है। क्षयरोग त्रिदोषज

मानते हैं। यह शलाकाकार जीवाणु होता है। यह लम्बाई में २-४ म्यू० होता है। इसके ऊपर एक मेदस (Fatty) आवरण चढ़ा रहता है। जिससे इसकी प्रतिरोधक शक्ति अधिक होती है। थूक के शुष्क कणों में यह महीनों तक सजीव रहता है। आमाशयिक रस का इस पर कुछ भी परिणाम नहीं होता तथा इससे मृत प्राणि का शरीर सड़ने से भी इसका नाश नहीं होता। परन्तु सूर्य-प्रकाश का इस पर शीघ्र ही घातक परिणाम होता है। इस जीवाणु के कई भेद हैं। परन्तु मनुष्यों में मानवी तथा गव्य (Bobine) दो ही प्रकार के जीवाणु विकार उत्पन्न करते हैं। इनमें से फुफ्फुस का विकार केवल मानवीय जीवाणु से ही होना है।

सहायक कारण—

१—आयु—यह रोग अधिकतर वर्द्धमान, यौवन तथा मध्यम आयु में १५-४५ वर्ष तक होता है। परन्तु बालक और वृद्ध भी इससे पीडित होते हैं।

२—वंश या जाति—यद्यपि संसार में कोई भी वंश या जाति राजयक्ष्मा के लिये पूर्ण क्षम नहीं है तथापि रोग सभ्य (Civilised) लोगों में अधिक होता है। जो लोग जंगल या पहाड़ों में आधुनिक सभ्यता से दूर रहते हैं उनमें यह रोग बहुधा नहीं दिखाई देता। किन्तु जब ये लोग अपना स्थान छोड़कर शहरों में आकर आधुनिक सभ्यता में फँस जाते हैं तब सभ्य लोगों की अपेक्षा अधिक बुरी तरह से इस रोग के शिकार बनते हैं।

३—पेशा—जिन लोगों को खराब हवा में, बालू या धातु के सूक्ष्मकणों से भरी हुई हवा में (लोहा अपवाद है) काम करना पड़ता है वे इससे जल्दी बीमार होते हैं। कोयला, चूना तथा सीमेन्ट इनके कणों से भरी हुई हवा क्षयोत्पादक नहीं होती।

४—परिस्थिति—अधिक जनसम्मर्द, गन्दगी, तरी, सूर्यप्रकाश तथा स्वच्छ वायु की कमी इन परिस्थितियों में रहने वालों की प्राणशक्ति (Vitaility) घट जाती है तथा यह परिस्थिति राजयक्ष्मा जीवाणुओं के संक्रमण और प्रसार के लिए भी पोषक होती है। इसलिये जो लोग घने मुहल्लों और बस्तियों के अन्धेरे, गन्दे, सील, खराब हवा के मकानों में रहते हैं वे ही इस रोग के अधिक शिकार बनते हैं। परदा करने वाली स्त्रियां इसी कारण से परदा न करने वाली स्त्रियों की अपेक्षा इस रोग से अधिक पीडित होती हैं।

५—शरीर पोषण—जब उचित खाद्य द्रव्यों के योग्य प्रमाण में न मिलने से शरीर का ठीक २ पोषण नहीं होता तब राजयक्ष्मा हो सक्ता है। और लोगों की दरिद्रता के अनुसार इसकी वृद्धि भी होती है। जो देश अमीर हैं वे इस रोग से कम पीडित होते हैं। इस रोग की वृद्धि दरिद्रता का स्पष्ट निदर्शन करती है। इसी कारण से हमारे देश में यह रोग उतना ही बढ़ता जा रहा है जितना कि यूरोप, अमेरिका में घटता जा रहा है। अपने यहां इसी हेतु को 'विषमाशन' शब्द द्वारा कहा गया है। चरक में इसका बड़ा स्पष्ट वर्णन है यथा—

'यदा पुरुषोऽतिमात्रं कृशो वा सन् रूक्षान्नपानसेवी भवति, दुर्बलप्रकृतिरनाहारो वा भवति, तदा तस्य हृदयस्थायी रसः क्षयमुपैति, स तस्योपक्षयाच्छोषं प्राप्नोति, अप्रतीकाराच्चानुबध्यते यक्ष्मणा'।

६—श्रमाधिक्य—कायिक, वाचिक तथा मानसिक श्रम अत्यधिक करने से राजयक्ष्मा की उत्पत्ति में सहायता होती है। हमारे यहां यह कारण 'साहस' के अन्तर्गत आ जाता है। चरक में इसका इस प्रकार वर्णन आता है—

'यदा पुरुषो बलवता सह विगृह्णाति, अतिमात्रं वा भारमुद्वहति, अतिप्रकृष्टं वाऽध्वानं द्रुतमभिपतति, अन्यद्वा किञ्चिदेवंविधं विषममतिमात्रं वा व्यायामजातमारभते, तस्यातिमात्रेणोरः क्षण्यते। साहसं वर्जयेत् कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः'।

होता है। क्षय रोग के और भी बहुत से कारण हैं किन्तु वे सब इन्हीं चार हेतुओं के अन्तर्भूत हैं ॥१॥

७—अत्यधिक विषय सेवन—अतिमैथुन, स्वप्नदोष, हस्तमैथुन इत्यादि से वीर्यक्षय होने के कारण भी राजयक्ष्मा होता है। राजयक्ष्मा का और विषय-वासना का क्या सम्बन्ध है? इसके बारे में पाश्चात्य विद्वानों का कोई निश्चित मत प्रकट नहीं हुआ है। तथापि दोनों का कुछ सम्बन्ध अवश्य है इसमें सन्देह नहीं, ऐसा मानते हैं। क्योंकि राजयक्ष्मियों के पूर्ववृत्त की जांच करने पर कई बार अविवाहित रोगियों में अत्यधिक स्वप्नदोष या हस्तमैथुन का तथा विवाहित रोगियों में अत्यधिक विषय-तृष्णा का इतिहास मिलता है। किन्तु अपने आयुर्वेद में तो विषयातिसेवन को परम प्रधान कारण माना गया है और चरक में तो इसका बड़ा ही सुस्पष्ट वर्णन मिलता है:—

'यदा वा पुरुषोऽतिप्रहर्षादतिप्रसक्तभावः स्त्रीष्वतिप्रसङ्गमारभते, तस्यातिप्रसङ्गाद्रेतः क्षयमुपैति, क्षयमपि चोपगच्छति रेतसि, यदि मनः स्त्रीभ्यो नैवास्य निवर्त्तते, अतिप्रवर्तत एव, तस्य चातिप्रणीतसङ्कल्पस्य मैथुनमापद्यमानस्य शुक्रं न प्रवर्तते, अतिमात्रोपक्षीणत्वात्। अथास्य वायुर्व्यायच्छमानस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयति, तच्छुक्रक्षयादस्य पुनःशुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्तते, वातानुसृतलिङ्गम्। अथास्य शुक्रक्षयाच्छोणितप्रवर्तनाच्च सन्धयः शिथिलीभवन्ति, रौक्ष्यमुपजायते, भूयः शरीरं दौर्बल्यमाविशति, वायुः प्रकोपमापद्यते; स प्रकुपितो वशिकं शरीरमनुसर्पन्नुदीर्य श्लेष्मपित्ते परिशोषयति मांसशोणिते, प्रच्यावयति श्लेष्मपित्ते, संरुजति पार्श्वे, चावगृह्णात्यंसौ, कण्ठमुद्ध्वंसयति, शिरः श्लेष्माणमुत्क्लेश्य परिपूरयति श्लेष्मणा, सन्धींश्च प्रपीडयन् करोत्यङ्गमर्दमरोचकाविपाकौ च, पित्तश्लेष्मोत्क्लेशात्प्रतिलोमगत्वाच्च वायुर्ज्वरं, कासं, श्वासं, स्वरभेदं, प्रतिश्यायं चोपजनयति; ततः सोऽप्युपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति। तस्मात्पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरमनुरक्षन् शुक्रमनुरक्षेत्; परा ह्येषा फलनिर्वृत्तिराहारस्येति'। चरक निदान अ० ६ सू० ९।

८—कुलजप्रवृत्ति—राजयक्ष्मा रोग खान्दानी होता है इसमें कोई सन्देह नहीं। कई खान्दान ऐसे होते हैं कि जिनकी सन्तान विशिष्ट आयु के प्राप्त होने पर क्षय से पीड़ित होती है। कुल में रोग की उत्पत्ति दो कारणों से हो सक्ती है।

(अ)—रुग्ण माता-पिता के घनिष्ठ सम्बन्ध से।

(ब) माता-पिता के बीज से सन्तान में रोग के कारणभूत जीवाणुओं का प्रवेश होने से।

आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण से यह सिद्ध हुआ है कि-सन्तान में क्षय का जीवाणु नहीं प्रवेश करता। कुछ शास्त्रज्ञों की यह राय है कि राजयक्ष्मा के जीवाणु का सूक्ष्मदर्शकातीत एक भेद होता है जो सन्तान में चला जाता है। कुलज रोग के दो कारण आधुनिक सम्प्राप्ति के अनुसार होते हैं—

(अ) रुग्ण माता-पिता का घनिष्ठ सम्बन्ध।

(आ) इस रोग के लिये माता-पिता से आई हुई एक विशेष प्रकार की सहजानुकूलता (An Inherited Predisposition of the Disease)

अपने यहां भी कुलज रोग का वर्णन आता है और उसमें राजयक्ष्मा का भी ग्रहण होता है।

'तत्रादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः, तेऽपि द्विविधाः—मातृजाः पितृजाश्च'। सु० सू० अ० २४ सू० ५। प्रभृतिग्रहणान्मेहक्षयादयः। डल्हणः।

इसके अतिरिक्त वैवाहिक सम्बन्ध को आयुर्वेद अथवा स्मृतियों में जहां कहीं चर्चा की गई है वहां इसका स्पष्ट वर्णन है, यथा:—

'अथ खलु पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यामसञ्चारिरोगकुलप्रसूतामरोगप्रकृतिमहीनाधिकाङ्गीं विधिनोद्वहेत्'। अष्टाङ्गसंग्रह शा० १।

'अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्। अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्।

*वेगधारणात्=

'वातमूत्रपुरीषाणि निगृह्णाति यदा नरः'।

इति चरकवचनात्। क्षयात्=क्षीयतेऽनेनेति क्षयः। तेनातिव्यवायानशनेर्ष्याऽऽदयो धातुक्षयहेतवः क्षयशब्देनोच्यन्ते। साहसाद्=बलवता समं मल्लयुद्धादितः। विषमाशनाद्=

'बहु स्तोकमकाले वा भुक्तं तद्विषमाशनम्'।

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्। दशपूरुषविख्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात्।
स्फीतादपि न संचारिरोगदोषसमन्वितात्। एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः।
यत्नात्परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमान् जनप्रियः। याज्ञवल्क्यस्मृतिः।

'दशैतानि कुलानि वर्जयेत्:-हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दोरोमशार्शसम्। क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च।' मनुस्मृतिः।

A man or woman who Intends marrying is now more than Justified in carefully examining the personal and medical histories of the families of her his or intended mate (Preventive Medicine and Hygiene by Rosenaue) ।

९—प्रकृति और शारीरिक विकृति—शरीर की कृशता, छाती की अविपुलता, त्वचा की मृदुता तथा अर्द्धपारदर्शकता, शिराओं की स्पष्टता, शरीरयष्टी की उच्चता तथा कोमलता इत्यादि कुल लक्षण ऐसे होते हैं कि जिनको देखने से क्षय का सन्देह हो जाता है और ऐसे व्यक्ति राजयक्ष्मा से अधिक पीडित होते हैं। इन्हें हैबिटस थायूसिकस (Habitus Phthisious) कहते हैं। इसके सिवाय चपटी छाती, नोकीली (Pigeon shaped or Rickety) छाती, श्वासनलिकाओंकी विशेष रचना राजयक्ष्मा के लिये पोषक होती है।

१०—आघात—छाती पर आघात लगने से भी राजयक्ष्मा की उत्पत्ति में सहायता होती है

११—रोगों का परिणाम—निम्नरोग इस रोग की उत्पत्ति में पुरोगामी होते हैं। रोमान्तिका जिसमें—ब्रांको निमोनिया हुआ हो, कुक्कुरखांसी, खांसी, बार २ प्रतिश्याय का होना, मधुमेह, श्वेतकणमयता (Leukaemia) यकृद्दाल्युदर, काला अजीर, विषमज्वर, अतीसार, हृद्रोग में फुप्फुसीय धमनीद्वार-सन्निरोध (Pulmonary Stenosis), आन्त्रिकज्वर, स्त्रियों में सगर्भावस्था तथा प्रसूतावस्था। अर्थात् इन रोगों के पश्चात् क्षय रोग होता है। जैसा कि अष्टाङ्ग-संग्रह में भी लिखा है कि:—

'अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः। राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराडिति च स्मृतः'।

रोग का प्रसार—रोगी के थूक में असंख्य जीवाणु होते हैं। एक शास्त्रज्ञ ने यह अनुमान लगाया है कि तृतीयावस्था के रोगी से २४ घण्टे में जितना कफ निकलता है उसमें दुनिया भर में मनुष्यों की जितनी आबादी है उसके बराबर जीवाणु होते हैं। अर्थात् थूक के द्वारा ही रोग का प्रसार होता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह प्रसार दो प्रकार से होता है—

१—थूक के शुष्ककणों द्वारा—कुछ लोगों का (Current) यह मत है कि थूक सूखने पर उसके सूक्ष्म कण हवा में उड़कर रोग को फैलाते हैं। इसके सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिये कि सूर्यप्रकाश प्रत्यक्ष (Direct) या अप्रत्यक्ष (Diffused) जीवाणुओं का शीघ्र नाश करता है। इसलिये यद्यपि इस तरह से रोग का प्रसार सम्भवनीय है और कुछ होता भी है तथापि यह आम मार्ग नहीं है।

२—विन्दूत्क्षेपः—राजयक्ष्मी के बोलने, खासने तथा छींकने के समय उसके थूक के असंख्य विन्दूत्क्षेप बाहर निकल कर आस-पास की हवा में फैलते हैं और समीपवर्त्ती मनुष्यों के शरीर में प्रवेश करते हैं। इन विन्दूत्क्षेपों में राजयक्ष्मा के प्रबल जीवाणु होते हैं जो सीधे एक मनुष्य से

तस्मात् । त्रिदोष =सान्निपातिकः । हेतुचतुष्टयाद् =अन्येऽपि हेतवो हेतुचतुष्टय एवान्तर्भवन्ति ॥ ५ ॥

चरक[1] में वर्णन आता है कि वायु, मूत्र और मल के वेगों को जो मनुष्य रोकता है उसे भिन्न भिन्न प्रकार के रोग हो जाते हैं । क्षय शब्द से उन सब कारणों से अभिप्राय है जिनमें सब धातुओं का ह्रास होता है । इससे अतिस्त्रीप्रसङ्ग, अनशन तथा ईर्ष्यादि धातुक्षय के जो हेतु हैं उन सब का क्षय शब्द से ग्रहण होता है ।

साहस शब्द से 'अपने से बलवान के साथ कुश्ती लड़ना' । तथा विषमाशन-पदसे 'बहुत भोजन, बहुत ही थोड़ा भोजन तथा बिना समय के भोजन करना' कहलाता है ।

त्रिदोषज-से अभिप्राय सान्निपातिक अर्थात् तीनों दोषों से होने वाली व्याधि से है ॥ १ ॥

यक्ष्मादीनां निरुक्तिमाह—

वैद्यो व्याधिमता यस्माद् व्याधेर्यत्नेन यक्ष्यते । स यक्ष्मा प्रोच्यते लोके शब्दशास्त्रविशारदैः ॥

क्षयक्ष्यते = पूज्यते ॥ २ ॥

वैद्य इस यक्ष्मा रोगी द्वारा उत्तम प्रकार से पूजित होता है इस लिये शब्दशास्त्र के जानने वाले विद्वानों ने इस रोग को 'यक्ष्मा' कहा है ॥ २ ॥

राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः । तस्मात्तं राजयक्ष्मेति प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ३ ॥
क्रियाक्षयकरत्वात्तु क्षय इत्युच्यते बुधैः । संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते ॥ ४ ॥

क्षयक्ष्मणः पर्यायाः–राजयक्ष्मक्षयशोषाः ॥ ३–४ ॥

सब से प्रथम यह रोग राजा चन्द्रमा को हुआ था इस लिये विद्वान् लोग इसे 'राजयक्ष्मा' कहते हैं । यह रोग सम्पूर्ण क्रियाओं का क्षय करता है इस कारण पण्डित लोग इसे 'क्षय' कहते हैं । यह रोग रस-रक्तादि धातुओं का शोषण करता है अतः इसे शोष कहते है ॥ ३–४ ॥

राजयक्ष्मणः सम्प्राप्तिमाह—

कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु । अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तराः ॥
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ॥ ५ ॥

क्षय रोग की[2] सम्प्राप्ति—जब कफप्रधान वातादि तीनों दोष कुपित हो जाते हैं तो उनसे

दूसरे मनुष्य में थोड़े समय में प्रविष्ट होने से हीनबल न होने के कारण रोग उत्पन्न करने में अधिक समर्थ होते हैं । फ्लूजेल (Flugel) नामक शास्त्रज्ञ के मत से रोगप्रसार का यही मुख्य तरीका है । इस प्रकार जो उपसर्ग होता है उसे बिन्दूत्क्षेपोपसर्ग (Droplet infection) कहते हैं । खान्दान में या रोगी के पास रहने वालों में इसी तरीके से उपसर्ग होता है । इसलिये आयुर्वेद में खांसने, छींकने इत्यादि के समय मुँह को रुमाल आदि से ढकने का आदेश दिया गया है । यथाः-

'नावृतमुखः सदसि जृम्भोद्गारश्वासक्षवथूनुत्सृजेत् । सुश्रुत ।

अंग्रेजी में भी इसी प्रकार का मुहावरा होता है ।—

If you want to cough or Sneeze
Do it behind your hank' chief Please.

१. न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान्मूत्रपुरीषयोः । न रेतसो न वातस्य न वम्याः क्षवथोर्न च ॥ नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः । न बाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥ एतान् धारयतो जातान् वेगान् रोगा भवन्ति ये । पृथक्पृथक्चिकित्सार्थं तन्मे निगदतः शृणु ॥
च० सू० अ० ७ श्लो० ३–५

२. सम्प्राप्ति—पाश्चात्य विद्वानों के मत से इस रोग का प्रारम्भिक उपसर्ग बचपन में ही होता है । जांच करने पर यह देखा गया है कि तीसरे महीने तक बालक में इस रोग का उपसर्ग नहीं होता । तत्पश्चात् उपसर्ग का प्रतिशत प्रमाण बढ़ता जाता है और १५ साल की आयु तक ६०–९० प्रतिशत मनुष्यों में इसका उपसर्ग दिखाई देता है ।

रस के बहाने वाली नाड़ियों के मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है जिससे सम्पूर्ण धातुयें क्षीण होने लगती हैं अथवा अत्यन्त स्त्री-प्रसङ्ग करने से वीर्य के क्षीण होने पर सम्पूर्ण धातुयें क्षीण होने लगती हैं और धातुओं के क्षीण होने से मनुष्य भी क्षीण हो जाता है ॥ ५ ॥

बचपन में उपसर्ग के कारण—

१—यक्ष्मी माता-पिता या घर के अन्य लोगों का घनिष्ट सम्बन्ध।

२—जमीन पर खेलना, मिट्टी खाना तथा मिट्टी से दूषित वस्तुओं का मुख में प्रवेश करना। इसीलिये आयुर्वेद में क्रीडाभूमि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। यथाः—

'क्रीडाभूमिः समा कार्या निरशस्त्रोपलशर्करा।
वेल्लोपणकणाऽम्भोभिः सिक्ता निम्बोदकेन वा' ॥ अष्टाङ्गसंग्रह।

३-रोमान्तिका, कुकुरखांसी, खांसी तथा अन्य राजयक्ष्मा सहायक रोगोंसे अधिक पीड़ित होना।

४-प्रेम या दिल्लगी में अपने मित्रों के पास जाकर जोर से बोलना, खांसना, छींकना तथा चूमना।

५-पेन्सिल, तौलिया तथा गिलास इत्यादि दूसरे की वस्तुओं का उपयोग करना।

६-दूध का अधिक सेवन करना जो कि गव्य राजयक्ष्मा का कारण होता है।

बचपन में यदि उपसर्ग तीव्र स्वरूप का हो तो रोग भी तीव्र स्वरूप का होकर बालक की मृत्यु हो जाती हैं। परन्तु यदि सौम्य स्वरूप का हो, जैसा कि हमेशा हुआ करता है, तो शरीर में कुछ क्षमता उत्पन्न हो जाती है जिसकी सहायता से भविष्य में वह राजयक्ष्मा से पीड़ित नहीं होता। परन्तु यह क्षमता सर्वदा तथा सर्वावस्था में शरीर की रक्षा करने में समर्थ नहीं होती। जिन अवस्थाओं में क्षमता घट जाती है उनका कुछ उल्लेख सहायक कारणों में किया गया है। इन अवस्थाओं के अतिरिक्त और भी कुछ अवस्थायें क्षमता घटाने वाली हो सकती हैं जिनका ठीक २ अभीतक ज्ञान नहीं हुआ है। इस कारण अन्य औपसर्गिक रोगों की भांति इस रोग में तथा कुष्ठ जैसे कुछ अन्य रोगों में भी बीज को प्रधानता न देकर क्षेत्र को ही प्रधानता देते हैं।

Only the natural immunity which keeps the Race alive (From the Tuberculosis) Sir william osler. We hold therefore that the golden rule for the treatment of Leprosy is to improve the general health of the Patient, make him Physically fit an athelet if possible. In my opinion general meth-ods (to improve health) Should from 85 Percent and the Special methods 15 Percent of the treatment. Dr. E. muir.

अपने आयुर्वेद में तो किसी भी रोग के सम्बन्ध में बीज की प्रधानता नहीं मानी जाती हमेशा क्षेत्र की ही प्रधानता मानी जाती है। जैसे कि "रक्तजा जन्तवोऽणवः, षट् ते कुष्ठैककर्माणः" कुष्ठ कृमिजन्य होता है इसका निश्चित ज्ञान होते हुए भी कुष्ठ के कारणों में कृमियों का उल्लेख न करके "विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च" इत्यादि कारणों का उल्लेख किया है। सम्भव है भविष्य में अधिक अन्वेषण होने के पश्चात् पाश्चात्य वैद्यक भी बीजप्राधान्यवादी न होकर क्षेत्रप्राधान्यवादी हो जाय।

युवावस्था में रोगोत्पत्ति—इसके सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं।

१-यद्यपि यह रोग युवावस्था में अधिक प्रकट होता है तथापि उसका बीजारोप बाल्यावस्था में ही होता है, और यह बीज क्षेत्रानुकूलता मिलने पर अङ्कुरित होता है। अर्थात् इस मत के अनुसार शरीर में प्रसुप्त हुये जीवाणुओं के द्वारा ही रोग की उत्पत्ति होती है। इसको "स्वोपसर्ग" कहते हैं। खोज करने से यह भी मालूम हुआ है कि प्राणियों के शरीर में राजयक्ष्मा के जीवाणु अधिक काल तक सजीव रह सकते हैं। इस अवस्था को सुप्तावस्था (Lymphoid latency) कहते हैं, अधिक होती है।

*कफप्रधानैर्दोषै रसवर्त्मसु रुद्धेष्वनन्तराः सर्वे धातवः क्षीयन्ते, ततो मानवःशुष्यति। कारणभूतस्य रसस्य क्षये कार्याणां रक्तादीनामनुक्रमेण क्षीयमाणत्वात्। मार्गावरोधं रसक्षयहेतुमाह चरकः—

रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते। स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्त्तते ॥ २ ॥

कफप्रधान दोषों से रस के मार्ग में अवरोध उत्पन्न होने के पश्चात् सब धातुयें सूखने लगती हैं तत्पश्चात् मनुष्य सूखने लगता है क्योंकि कारणभूत रस के क्षय होने पर कार्यभूत रक्तादि धातुओं का क्रम से क्षय होने लगता है। चरक में मार्गावरोध को रसक्षय का कारण कहा गया है:—

स्रोतों के रुद्ध होजाने पर स्वस्थान पर रहने वाले रस का विदाह हो जाता है। इस प्रकार विदाह को प्राप्त हुआ रस ऊपर से खांसी के वेग से मुख द्वारा अनेक प्रकार का होकर निकलता है॥

*स्वस्थानस्थः = हृदयस्थः। कासं विनाऽपि रसक्षयो भवति। मार्गावरोधकुपितवातेन रसस्य शोषणात् ॥ २ ॥

'स्वस्थानस्थ' से हृदय में रहने वाले रस का बोध होता है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि खांसी के ही होने से रस का क्षय होता है किन्तु खांसी के बिना भी रसक्षय होता है क्योंकि मार्गावरोध से कुपित वातद्वारा रस का शोषण होता है ॥ २ ॥

*उक्तं च—

वायोर्धातुक्षयात्कोपान्मार्गस्यावरणेन च ॥ ३ ॥ इति।

जिस प्रकार कारणभूत रस के क्षय से कार्यभूत[१] धातुओं का सीधे क्रम से क्षय होता है उसी प्रकार प्रतिलोम अर्थात् उलटे क्रम से कार्यभूत वीर्य के क्षय से कारणभूत मज्जादि धातुओं का भी क्षय होता है ॥ ३ ॥

*अनुलोमक्षयमुक्त्वा प्रतिलोमक्षयमाह—अतिव्यवायिनो वा रेतसि क्षीणे प्रतिलोमक्रमेणानन्तराः सर्वे धातवो रसपर्यन्ताः क्षीयन्ते। तद्यथा—शुक्रे क्षीणे मज्जा क्षीयते, मज्जनि क्षीणेऽस्थि क्षीयते, एवं पूर्वं पूर्वं क्षीयते। ननु कार्यस्य शुक्रस्य क्षये कथंकारणभूतानांमज्जादीनां क्षयः? उच्यते—शुक्रक्षयाद् वायुः कुप्यति, स वायुः सान्निध्यात् क्रमेण मज्जादीन् सर्वान् धातून् शोषयति, ततस्तदनन्तरं मानवः शुष्यति ॥ ५ ॥

जैसे अत्यन्त स्त्रीप्रसङ्ग करने वाले पुरुष का वीर्य क्षीण होने पर उलटे क्रम से रस पर्यन्त सम्पूर्ण धातुयें क्षीण हो जाती हैं। जैसे कि वीर्य के क्षीण होने पर मज्जा क्षीण होती है, मज्जा के क्षीण होने पर अस्थि क्षीण होती है, अस्थि के क्षीण होने पर मेद क्षीण होता है, मेद के क्षीण होने पर मांस क्षीण होता है, मांस के क्षीण होने पर रक्त क्षीण होता है और रक्त के क्षीण होने पर रस क्षीण हो जाता है।

आशङ्का—कार्य रूप शुक्र के क्षय होने से कारणभूत मज्जा आदि धातुओं का क्षय किस प्रकार होता है?

समाधान—वीर्य के क्षय होने से वात प्रकुपित हो जाता है तथा वह वायु समीप होने के

२—कुछ लोगों की यह राय है कि बाल्यावस्था का उपसर्ग गव्य जीवाणुओं से होता है, और युवावस्था का राजयक्ष्मा मानवीजीवाणुओं का उपसर्ग है। इसलिये जब तक गव्य का मानवी में अवस्थान्तर (Mutation of type) सिद्ध नहीं हुआ है तबतक युवावस्था में होने वाला राजयक्ष्मा पुनरुपसर्गजन्य समझना चाहिये। राजयक्ष्मा का जीवाणु ऐसा प्रबल है कि उसके आक्रमण से शरीर का कोई भी अङ्ग, हिस्सा या धातु नहीं बच सकता। इस तरह यद्यपि शरीर के प्रत्येक अङ्ग में इस जीवाणु से विकृति हो सकती है और होती है तथापि युवावस्था में ९० प्रतिशत रोगियों में विकृति फुफ्फुस में ही हुआ करती है।

१. रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः।

कारण क्रम से मज्जादि समस्त धातुओं का शोषण करता है। तत्पश्चात् मनुष्य सूख जाता है ॥५॥

राजयक्ष्मणः पूर्वरूपमाह—

श्वासाङ्गसादकफसंस्रवतालुशोषवम्यग्निसादमदपीनसकासनिद्राः।
शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः ॥६॥
स्वप्नेषु काकशुकशल्लकिनीलकण्ठगृध्रास्तथैव कपयः कृकलासकाश्च।
तं वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्येच्छुष्कांस्तरून्पवनधूमदवार्दितांश्च ॥ ७ ॥

राजयक्ष्मा के पूर्वरूप—जब क्षय रोग होने को होता है तो उससे पहिले श्वास, अङ्गों में शिथिलता, कफ का गिरना, तालू का सूखना, वमन, अग्नि की मन्दता, मद, नाक से पानी का गिरना और निद्रा ये सब लक्षण होते हैं। एवम् उसके नेत्र सफेद हो जाते हैं, वह मनुष्य मांस खाने और स्त्री-प्रसङ्ग करने की इच्छा करता है तथा वह स्वप्न में कौआ, तोता, शल्लकी, नीलकण्ठ, गिद्ध, बन्दर और गिरगिट अपने को इन पर चढ़ा हुआ देखता है तथा जल रहित सूखी नदियों को देखता है, सूखे हुए और वायु से, धुयें से तथा दावाग्नि से पीड़ित हुये वृक्ष उसे दिखाई देते हैं ॥

राजयक्ष्मिणो लक्षणमाह—

अंसपार्श्वाभितापश्च सन्तापः करपादयोः। ज्वरः सर्वाङ्गिकश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥८॥

राजयक्ष्मी के लक्षण—कन्धे तथा पसलियों में पीड़ा, हाथ और पांव में जलन और सम्पूर्ण अङ्गों में ज्वर ये तीन राजयक्ष्मी के लक्षण हैं ॥ ८ ॥

***अंसयोः = पार्श्वयोश्चाभितापः = पीडा, अत्र सकलधातुक्षयपूर्वकः सकलशरीरशोषो बोद्धव्यः। एतानि त्रीणि लक्षणानि प्रायोभावित्वेन चरकेणोक्तानि ॥ ८ ॥**

इस रोग में सम्पूर्ण धातुओं का क्षय होकर सम्पूर्ण शरीर का शोषण होता है ऐसा समझना चाहिये। कन्धे और पसलियों में पीड़ा आदि जो तीन लक्षण चरक में कहे गये हैं वे तो भावी व्याधि के हैं ॥ ८ ॥

सुश्रुतोक्तानि षड्लक्षणान्याह—

भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम्। स्वरभेदश्च जायन्ते षड्रूपे राजयक्ष्मणि ॥

किन्तु सुश्रुत ने तो यक्ष्मी के छः लक्षण कहे हैं, जैसे-१ भोजन में अरुचि, २ ज्वर, ३ श्वास, ४ खांसी, ५ रक्त का दर्शन और ६ स्वरभेद ये छः लक्षण राजयक्ष्मा में होते हैं ॥ ९ ॥

तस्यैकादशलक्षणान्याह—

स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं सङ्कोचश्चांसपार्श्वयोः। ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ॥
शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च। कासः कण्ठस्य च ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः ॥

राजयक्ष्मा के वातादिभेदजन्य ११ [1]लक्षणः—राजयक्ष्मा में वायु की प्रधानता होने से

१. जिस प्रकार अपने यहाँ राजयक्ष्मा में वात, पित्त तथा कफजन्य उपद्रवों की गणना करके क्षय के ११ रूप बताये गये हैं उसी प्रकार पाश्चात्य विज्ञान में भी राजयक्ष्मा के लक्षणों को तीन भागों में विभक्त किया गया है।

क्षयलक्षणों की त्रिविधता—

१—वातनाडीप्रत्यावर्तनजन्य (Reflex)—स्वरभेद, गले में गुदगुदी, खांसी, छाती तथा कन्धे इत्यादि में पीड़ा। यह हमारे यहां के वातजन्य विकारों से समानता रखता है, यथा—
'स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं सङ्कोचश्चांसपार्श्वयोः'।

२—विषमयताजन्य – बेचैनी, कमजोरी, सहनशक्ति की कमी, लक्षय, मानसिक अस्थैर्य, पचनसंस्थान के विकार, वजन का घटना, नाड़ी की शीघ्रता, रात्रिस्वेद, ज्वर तथा रक्तगत परिवर्तन इत्यादि। ये सब लक्षण अधिकांश में पैत्तिक विकारों से समानता रखते हैं, यथा—
'ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः'।

स्वरभेद, शूल तथा कन्धे और पसलियों में सङ्कोच होता है। पित्त की उल्वणता से ज्वर दाह, अतीसार और रक्त निकलता है। और यदि कफ की प्रधानता हो तो शिर में भारीपन, अन्न में अरुचि, खांसी तथा कण्ठ का जकड़ना ये सब लक्षण होते हैं ॥ १०-११ ॥

३—स्थानिकविकृतिजन्य—प्रतिश्याय, थूक, रक्तष्ठीवन तथा फुप्फुसावरणशोथ। इनमें से पर्याप्त लक्षण कफज विकारों से मिलते हैं। यद्यपि यह समन्वय पूर्ण नहीं होता है तथापि अधिकांशतः होने में सन्देह नहीं।

राजयक्ष्मा के प्रधान लक्षण—पाश्चात्त्य वैद्यक में राजयक्ष्मा के जो प्रधान लक्षण बताये गये हैं वे हमारे यहाँ के लक्षणों से प्रायः पूर्णतया मिलते-जुलते हैं, जो कि आगे चलकर स्पष्ट हो जाता है।

१—कास—

यह लक्षण अधिकसंख्यक रोगियों में प्रारम्भ से अन्त तक होता है। यह कास दो प्रकार का होता है।

१—श्वसन मार्ग में इकट्ठा होकर श्वास-प्रश्वास में बाधा डालने वाले कफ के निकलने के लिये। जैसा कि चरक में भी लिखा है कि—

'रसः स्रोतस्सु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विवर्द्धते। स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्त्तते'।

२—फुप्फुस, फुप्फुसावरण, स्वरयन्त्र, ग्रसनिका तथा गला इत्यादि स्थानों में प्रक्षोभ (Irritation) होने के कारण।

पहिले प्रकार की खांसी—बलगम निकलने के लिये होने के कारण उसके साथ कफ निकलता है और निकल जाने पर वह बन्द हो जाती है। और दूसरे प्रकार की खांसी केवल प्रक्षोभ से होने के कारण सूखी होती है और अधिक पीडादायक होती है। यह प्रक्षोभजन्य खाँसी हमारे यहाँ के वातविकारजन्यकास के लक्षणों से मिलती-जुलती है, यथाः—

'हृच्छङ्खमूर्द्धोदरपार्श्वशूली क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः।
प्रसक्तवेगस्तु समीरणेन भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव'॥

इस प्रकार राजयक्ष्मा में दोनों प्रकार से खांसी होती है। रोग के प्रारम्भ में खाँसी सूखी होती है, धीरे २ उसके साथ कफ निकलने लगता है। थोड़े समय के पश्चात् जब फुप्फुस में विवर बनने लगते हैं तब खाँसी दौरे के साथ विशेषतया सुबह और निद्रा के पश्चात् आया करती है। इसका कारण यह है कि रात भर में और नींद में श्वासनलिकाओं तथा विवरों में श्लेष्मा इकट्ठा होता है। नींद खुलने के पश्चात् इस श्लेष्मा से श्वासनलिकाओं में क्षोभ उत्पन्न होने के कारण उसको निकालने के लिये खाँसी का दौरा आता है और उस समय काफी कफ भी निकलता है। यह श्लेष्मा अधिक चिपचिपा होने के कारण जल्दी नहीं निकलता तब खांसी बड़े जोर के साथ आती है जिससे वमन भी हो जाता है, भोजन के पश्चात् खाँसी का दौरा आने से खाया हुआ अन्न उलट जाता है और प्रतिदिन ऐसा होने से रोगी दुर्बल होता है। स्वरयन्त्र में खराबी होने के कारण खाँसी में कुछ कर्कशता (Husky स्वरभङ्ग) आ जाती है और बोलने तथा निकलने में कुछ पीड़ा भी होती है। क्वचित् खांसी के सिवाय भी राजयक्ष्मा हो सकता है।

२—थूक (Sputum)—

प्रारम्भिक अवस्था में थूक निकलता नहीं या अल्प राशि में निकलता है और उसी समय उसका स्वरूप उबाले हुये साबूदाने की भांति, हरा या सफेद तथा झागदार होता है। जब फुप्फुस में विवर बनने की और सड़ने की क्रिया शुरू होती है तब कफ अधिक राशि में निकलता है, रंग में किञ्चित् भूरापन लिये पीला पूय के समान होता है। उसमें वर्तुलाकार चपटे टुकड़े (Nummular मुद्राकारी) मिलते हैं, एक विशेष प्रकार की दुर्गन्धि आती है और वह पानी में डूबता है। दिन-रात में उसकी राशि आधा से एक सेर तक हो सकती है। चरक में इसके सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है किः—

'उरोमुक्तो बहुश्लेष्मा नीलः पीतः सलोहितः। सततं च्यवते यस्य दूरात्तं परिवर्जयेत्॥

ॐउल्वणतया दोषाणां भेदाद् यक्ष्मणामेकादशलक्षणान्याह-स्वरभेद इति। अनिलादुल्वणात्। एवं पित्तात्कफाच्च। यत आह सुश्रुतः—

एक एव मतः शोषः सन्निपातात्मको गदः।
उद्रेकात्तत्र लिङ्गानि दोषाणां निपतन्ति हि ॥ ४ ॥ इति ॥ १०-११ ॥

सुश्रुताचार्य कहते हैं कि-यह शोष रोग तीनों दोषों का सन्निपात रूप होने से एक ही तरह का माना जाता है तथापि उसमें दोषों की प्रधानता होने से उन्हीं उन दोषों के लक्षण पाये जाते हैं ॥१०-११॥

निष्ठ्यूते यस्य दृश्यन्ते वर्णा बहुविधाः पृथक्। तच्च सीदत्यपः प्राप्य न स जीवितुमर्हति'।

थूक का सङ्गठन—

राजयक्ष्मा के जीवाणु—इनकी उपस्थिति रोगनिदान का प्रधान साधन है। कई बार इनकी संख्या अत्यल्प होती है और अनेक बार सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षा करने पर उनका दर्शन नहीं होता। उस समय २४ घण्टे का थूक लेकर एन्टीफार्मिन पद्धति से संस्कारित करके देखा जाता है। साधारणतया वर्तुलाकार चपटे टुकड़ों में जीवाणु अधिक मिलते हैं। इन जीवाणुओं के सिवाय थूक में स्ट्रेप्टोकोकाय, स्टेफिलोकोकाय तथा अन्य पूयजनक जीवाणु भी मिलते हैं। एक शास्त्रज्ञ ने अनुमान किया है कि दिन-रात में जितने राजयक्ष्मा के जीवाणु थूक में निकलते हैं यदि उनकी लम्बाई में कतार बनाई जाय तो १२ मील की सेना बन जायगी।

लचकीले तन्तु (Elastic Fibres)-फुप्फुस का नाश जिन रोगों में (विद्रधि, कोथ इत्यादि से) होता है उन रोगों में ये तन्तु थूक में मिल जाते हैं। राजयक्ष्मा इनकी उपस्थिति का प्रधान कारण है। थूक में ये जहाँ-तहाँ मिल सकते हैं परन्तु यदि मिलने में कठिनाई हो तो थूक को कास्टिकसोडा के साथ उबालने से तलछट की परीक्षा सूक्ष्मदर्शक से करने पर ये बहुत जल्द मिल सकते हैं। इनकी उपस्थिति राजयक्ष्मानिदर्शक तथा यदि जीवाणुओं के साथ हो तो निश्चितिदर्शक समझनी चाहिये।

अल्व्यूमिन—राजयक्ष्मा के थूक में अल्व्यूमिन अवश्य रहता है। जीवाणु न मिलने पर भी यदि अल्व्यूमिन मिल जाय तो राजयक्ष्मा का ख्याल अवश्य करना चाहिये। यदि हफ्ते-हफ्ते के बाद ३-४ बार परीक्षा करने पर थूक में अल्व्यूमिन न मिले तो प्रायः राजयक्ष्मा नहीं है यह समझना चाहिये।

फुप्फुसाश्मरी-(Pneumo Lith)-यह अश्मरी विवर से निकलती है। आकार में यह राई से मटर के बराबर मोटी और बाहर से खुरदरी होती है।' राजयक्ष्मा में छोटी २ ग्रन्थियाँ बनती हैं जिन्हें कि ट्युबरकिल (Tubercle) कहते हैं। इसी कारण इस रोग को T. B. या ट्युबर क्युलोसिस कहते हैं। यह अश्मरी ग्रन्थिकाओं में जो कैलशियम कार्बोनेट तथा फास्फेट का भरण होता है उससे बनती है। कभी २ श्वासनलिका-समीपवर्तील सीकाग्रन्थियों से भी निकलती हैं।

३—रक्तष्ठीवन—यह लक्षण ६०-८० प्रतिशत रोगियों में किसी न किसी अवस्था में अवश्य दिखाई देता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में, दिन की अपेक्षा रात में और रोगी जब बिस्तरे पर आराम से लेटा रहता है तब अधिक होता है। प्रारम्भ में केशिकाओं के टूटने से जरा सा रक्त आता है, न्युमोनिया युक्त प्रकार में मण्डूरवर्ण थूक निकलता है और पुराने रोग में अधिक राशि में (२-३ पाइन्ट तक) निकलता है। कभी २ अधिक रक्त बाहर निकलने के पूर्व फुप्फुस में भर जाता है। और श्वासावरोध से मृत्यु होती है। वह रक्त विवरगत धमनी के फटजाने से आता है। प्रायः रक्त यकायक आता है। आते समय रोगी के गले में गुदगुदी और कुछ गरमी तथा मुख में नमकीन रुचि मालूम होती है। कुछ खाँसी भी उस वक्त आती है। रक्त देखने पर रोगी डर और चिन्ता के मारे बेचैन हो जाता है तथा उसका हृदय तेज चलता है। रक्त प्रायः लाल रंग का तथा झागदार होता है तथा उसमें कभी २ थक्के (Clots) भी मिलते हैं। साधारणतया यह रक्तष्ठीवन आप से आप बन्द होकर कुछ समय के पश्चात् फिर से आता है। रक्तष्ठीवन बन्द होने के पश्चात् कुछ रोज तक थूक रक्त-

असाध्यं यक्ष्माणमाह—

एकादशभिरेभिर्वा षड्भिर्वाऽपि समन्वितम् ॥ १२ ॥

त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैर्ज्वरकासासृगामयैः। जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन्सुविमलं यशः ॥१३॥

असाध्य यक्ष्मा के लक्षण—विमल यश की इच्छा करने वाले वैद्य उपर्युक्त ग्यारह, छः अथवा ज्वर, खांसी तथा रुधिर का वमन इन तीन लक्षणों से पीड़ित यक्ष्मी को छोड़ देते हैं ॥ १२-१३ ॥

रञ्जित होता है। कभी २ रक्त निकलने के कारण मल का रङ्ग कालापन लिये लाल होता है। रक्तष्ठीवन के साथ २ राजयक्ष्मा का आक्रमण प्रायः सैनिक तथा अधिक परिश्रम और व्यायाम करने वालों में क्वचित् विना परिश्रम से किन्तु प्रायः जरा सा या अधिक व्यायाम करने पर होता है। साधारणतया एक बार रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) होने पर बार २ हुआ करता है और किसी २ में तमाम रुग्ण-काल भर रक्तष्ठीवन होता रहता है। प्रारम्भ में राशि अल्प होती है और उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती जाती है। इस कारण ये लक्षण अपने यहाँ वर्णित उरःक्षत से मिलते हैं, यथा—

'धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम्। युद्ध्यमानस्य बलिभिः पततो विषमोच्चतः।
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं चान्यं निगृह्णतः। शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान्'।
इत्यादि।

तथा 'दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः। कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सासृक् प्रवर्त्तते।
स क्षती क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्' इत्यादि।

४—श्वास—प्रारम्भ में साँस लेने में कठिनाई महाप्राचीरा (Diaphragm) पेशी की गति कम होने से होती है। इन कारणों के अतिरिक्त ज्वर, फुस्फुसावरणशोथ, हृदय-दौर्बल्य इत्यादि भी साँस की कठिनाई उत्पन्न करने में सहायता करते हैं।

५—वेदनापार्श्वार्त्ति—प्रत्येक रोगी में यह लक्षण नहीं होता। वेदना बहुधा फुफ्फुसावरणशोथ के कारण छाती की दीवाल में होती है। जब महाप्राचीरा के साथ सम्बन्धित आवरण में शोथ होता है तब वेदना-ऊर्ध्वामाशयिक प्रदेश में या उस तरफ के कन्धे में होती है। तन्तुभूयिष्ठ (Fibroid) राजयक्ष्मा में तन्तुओं के सङ्कोच के कारण छाती में एक प्रकार की पीड़ा होती है, छाती की दीवाल में रोग की उत्तर स्थिति में एक प्रकार की पीडनाक्षमता (Tenderness) होती है। वायुकोष के फटजाने से या अन्य कारण से आवरण के भीतर वायुप्रवेश (वातोरस Pneumothorax) होता है तब तीव्र स्वरूप की पार्श्ववेदना होती है।

६—ज्वर या सन्ताप राजयक्ष्मा का यह एक महत्त्व का लक्षण है। सन्ताप बहुधा पूर्णविसर्गी स्वरूप का होता है जो प्रातःकाल में उतर जाता है और दो. पहर के बाद चढ़ता है। कभी २ सन्ताप सतत या अर्द्धविसर्गी स्वरूप का होकर उसके चढ़ने-उतरने का काल भी उलटा होता है। ऐसा क्रमविपर्यय (Reverse type) गम्भीरतादर्शक समझा जाता है। इसके सम्बन्ध में सुश्रुत ने भी लिखा है कि—

'ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः। बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः'।

सन्ताप का ठीक २ ज्ञान करने के लिये २-२ घण्टे के बाद थर्मामीटर से ताप देखना चाहिये। इस प्रकार राजयक्ष्मा में सबसे अधिक ताप दोपहर में २-६ तक या क्वचित् ८-९ बजे तक होता है। सबसे कम ताप सुबह २-६ तक आराम तथा स्वेद के कारण होता है। ज्वर देखने के पूर्व आधा घण्टा रोगी बिस्तरे पर होना चाहिये और ज्वरमापक को ५ मिनट तक मुख में रखना चाहिये।

सन्ताप के कारण—विकृत स्थान से विषैले पदार्थ रक्त में प्रविष्ट होकर परिभ्रमण के साथ मस्तिष्कगत उष्णता-नियन्त्रण केन्द्र में पहुंच जाते हैं। इससे उसका कार्य ठीक न होकर शरीर की उष्णता अधिक हो जाती है। इसलिये जिन २ अवस्थाओं में शरीरगत रक्त तथा लसीका का परिभ्रमण तेज हो जाता है उन २ अवस्थाओं में सन्ताप बढ़ता है। साधारण स्वस्थ मनुष्य में जिन क्रियाओं

तत्र विशेषमाह—

सर्वैरर्द्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांसबलक्षये । युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥

*सर्वैर्लिङ्गैः = एकादशभिः । अर्धैः = षड्भिः । त्रिभिः=ज्वरकासरुधिरवमनैः । अतोऽन्यथा = मांसबले सति सर्वरूपोऽपि न प्रत्याख्येयः किन्तु चिकित्स्यः ॥ १४ ॥

राजयक्ष्मी के बल और मांस के क्षय हो जाने पर उनको ग्यारह लक्षणों, छः लक्षणों अथवा तीन लक्षणों से युक्त जानकर छोड़ दे । किन्तु इसके विपरीत जिसका मांस तथा बल क्षीण नहीं हुआ है ऐसे रोगी को सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिये उनकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १४ ॥

से शरीर की उष्णता में कोई फर्क नहीं होता राजयक्ष्मा में उनसे फर्क हो जाता है । यथाः-अतिभोजन, व्यायाम, चिन्ता तथा क्रोध इत्यादि । जब फुप्फुस में विवरीभवन के साथ पूयीभवन भी जारी होता है तब ज्वर प्रलेपक स्वरूप का होता है ।

प्रलेपक ज्वर का लक्षण—दोपहर को ज्वर का चढ़ना, चेहरे की सुर्खी, चमकीली आंखें, फैली हुई पुतलियां, ज्वर के समय तबियत कुछ अच्छी मालूम होना, काफी पसीना आना, पसीने के बाद अत्यन्त थकावट तथा शरीर का ताप कम होना इत्यादि लक्षण इस ज्वर में प्रतिदिन होते हैं और रोगी दिन-प्रतिदिन दुर्बल होता जाता है ।

७—कृशता—यह राजयक्ष्मा का प्रधान लक्षण है । इसी कारण यह रोग क्षयरोग कहलाता है । इसके सम्बन्ध में चरक में लिखा है किः—'पाण्योश्चावेक्षणमत्यर्थमतिमात्रं च बाह्वोः प्रमाणजिज्ञासा' । रोगी के हाथ-पैर दुबले होते जाते हैं इसीलिये उसका ध्यान शाखाओं की ओर विशेष आकृष्ट होता है । सर्वप्रथम छाती की पेशियां विशेषतः विकृत पार्श्व की सूखने लगती हैं जिससे अक्षक के नीचे और ऊपर गढ़े बन जाते हैं और वह अक्षक दूसरी ओर की अपेक्षा अधिक उन्नत और सुव्यक्त हो जाता है । पर्शुकान्तरीय पेशियों के सूखने से पसली २ अलग हो जाती है । रोगी का वजन धातुओं का क्षय होने से घटता जाता है । यह घटने की गति रोग की तीव्रता पर निर्भर होती है । धातुक्षय और भारक्षय के साथ बलक्षय भी होता जाता है यह लक्षण रोग के पूर्वरूप में भी होता है और अन्तिम अवस्था में रोगी केवल नरकङ्काल बन जाता है । कास और ज्वर के साथ कृशता को मिलाने पर राजयक्ष्मा का लक्षण त्रिपुटक (Diagnostic tried) बन जाता है ।

८—रात्रिस्वेद—यह लक्षण यद्यपि अन्य रोगों में क्वचित् मिल सकता है तथापि राजयक्ष्मा में प्रायः होता है । रात की अपेक्षा पसीना प्रातः काल में अधिक आता है और उसी से ज्वर उतरता है । इसके सम्बन्ध में चरक में लिखा है कि—

'गोसर्गे वदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् । लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम्' ।

दिन में निद्रा के समय भी आता है और उस समय बगल में अधिक होता है ।

९—पचनसंस्थान के लक्षण—जिह्वा स्वच्छ होती है । भूख भी अच्छी होती है । एक शास्त्रज्ञ का कथन है कि जो लोग खूब खाते हैं और उसको हजम करते हैं फिर भी ज्वर से पीडित रहते हैं वे अकसर राजयक्ष्मी होते हैं । हमारे यहां चरक में भी 'अश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षयः' ऐसा लेख मिलता है । इसके अतिरिक्त भी लिखा है कि 'महाशनं क्षीयमाणमरोचकनिपीडितम्' इत्यादि । कभी २ अरोचक, भक्तद्वेष (विशेष करके चरबीयुक्त पदार्थों की ओर) भी होता है । प्रायः मलावरोध होता है । परन्तु उत्तरावस्था में जीवाणुयुक्त थूक निगलने से आन्त्र में व्रण उत्पन्न होकर अतीसार भी होता है ।

१०—रक्तवह संस्थान—राजयक्ष्मा में नाड़ी की मन्दता नहीं होती, प्रायः ज्वर न होने पर भी स्वाभाविक से गति कुछ अधिक रहती है । रक्त का भार कम होने से नाड़ी मृदु और पूर्ण होती है । विना कारण युवावस्था में नाड़ी की तीव्रता और रक्तभार की कमी हो तो राजयक्ष्मा का खयाल करना चाहिये ।

महाशनं क्षीयमाणमतीसारनिपीडितम् । शूनमुष्कोदरञ्चैव यक्ष्मिणं परिवर्जयेत् ॥ १५ ॥

⊛'महाशनं क्षीयमाणमि' त्येकमसाध्यं लक्षणम् । 'अतीसारनिपीडितमिति' द्वितीयम् । यत उक्तम्—

मलायत्तं बलं पुंसां शुक्रायत्तञ्च जीवितम् । तस्माद्यत्नेन संरक्षेद्यक्ष्मिणां मलरेतसी ॥ ५ ॥

'शूनमुष्कोदरमि'ति तृतीयम् ॥ १५ ॥

रक्त—रोग की प्रारम्भिक अवस्था में लाल कण तथा रञ्जद्रव्य दोनों ही कम हो जाते हैं, परन्तु रञ्ज द्रव्य अधिक नष्ट होता है जिससे रञ्जनिदर्शक (Colour Index) एक से कम रहता है। उत्तरावस्था में रक्त में विशेष फर्क नहीं होता। श्वेतकणों की संख्या में कोई विशेष फर्क नहीं होता। तीव्र रोग में श्वेत कण कम होते हैं। रोग पुराना होने पर विवर और पूय बनने की स्थिति में, फुप्फुसावरण शोथ, मस्तिष्कावरणशोथ तथा आन्त्रव्रण इत्यादि उपद्रव उत्पन्न होने पर श्वेतकण की संख्या-वृद्धि होती है।

११—मूत्रप्रजनन-संस्थान के लक्षण—रोग के प्रारम्भ में कामवासना बढ़ती है, रोग अधिक बढ़ने पर घट जाती है और रोग का जोर कम होने पर फिर उत्पन्न होती है। अपने यहां भी 'शुक्लेक्षणो मांसपरो रिरंसुः' यह वाक्य आता है। स्त्रियों में मासिक धर्म बन्द होता है परन्तु रोग बढ़ने पर भी गर्भ-धारण हो सकता है। प्रारम्भ में मूत्र स्वाभाविक होता है, ज्वर बढ़ने पर उसमें अल्ब्यूमिन और क्वचित् निर्मोक (Casts) तथा शर्करा भी आ जाती है।

१२—श्यावता या नीलिमा-फुप्फुसका अधिक भाग खराब होने पर यह लक्षण उत्पन्न होता है।

१३—अङ्गुलियों के अग्रों की स्थूलता—(Clubbing of Fingers)—यह लक्षण राजयक्ष्मा का यद्यपि खास नहीं तथापि अकसर होता है। इसमें अङ्गुलियों के अन्तिम पर्व गोल और मोटे होते हैं तथा नख लम्बाई में या चौड़ाई में या दोनों में अधिक वक्र होकर कुछ खुरदरे भी हो जाते हैं। इसका ठीक कारण अभी तक मालूम नहीं हुआ तथापि शरीर की कृशता एक सहायक कारण है। यह स्थूलता पैरों की अँगुलियों में भी हो सकती है। कभी २ हाथ-पैर की हड्डियां और नलकास्थियों के दूरवर्ती सिरे भी मोटे हो जाते हैं (Pulmonary osteo or Thropathy, फुप्फुसजन्य अस्थिसन्धिस्थूलता)।

भौतिकचिह्न—ये चिह्न अवस्था के अनुसार भिन्न २ होते हैं। इस दृष्टि से फुप्फुस में जो खराबी होती है उसकी तीन अवस्थायें की जाती हैं।

१—रक्ताधिक्य की अवस्था २—घनीभवन की अवस्था तथा ३—विवरीभवन की अवस्था।

रक्ताधिक्य अवस्था के चिह्न—

दर्शन—छाती का आकार बहुधा पक्षवत् या चपटा होता है। छाती की दीवाल की त्वचा में छोटी २ सिरायें फूली हुई दिखाई देती हैं। विकृत पार्श्व में ऊपर की ओर सङ्कोच-विस्तार कम दिखाई देता है। अक्षक के ऊपर तथा नीचे कुछ अधिक निम्नता होती है। उसी तरफ कन्धा कुछ नीचे की ओर लटका हुआ सा दीखता है। उस तरफ की छाती की पेशियां कुछ शुष्क सी दीखती हैं। स्त्रियों में विकृत पार्श्व का स्तन कुछ छोटा और नीचे की ओर होता है।

स्पर्शन—छाती पर हाथ रखने से उसकी गति कुछ कम प्रतीत होती है। पेशियों में सख्ती तथा वाचिक लहरियां कुछ अधिक प्रतीत होती हैं।

अङ्गुलिताडन—इससे आवाज कुछ मन्द आती है और भीतरी प्रतीकार कुछ अधिक प्रतीत होता है। पेशियों पर अँगुली से ताडन करने पर एक विशेष प्रकार की प्रक्षुभितावस्था (Myotonic irritability) दिखाई देती है जिससे आघात के स्थान के तन्तु थोड़ी देर के लिये सङ्कुचित होकर उभर आते हैं। यह स्थिति विकृत पार्श्व की उरश्छदा गुर्वी (Pect ralis major) पेशी पर आघात करने से अधिक मिलती है।

जो राजयक्ष्मा का रोगी अधिक भोजन करने पर भी क्षीण होता जाता है, उसको असाध्य समझ कर वैद्य को चाहिये कि उसे छोड़ दे, उसकी चिकित्सा न करे ।

जो क्षय रोगी अतीसार से पीड़ित होता है उसकी भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये क्योंकि कहा है कि 'मल के अधीन मनुष्य का बल होता है और वीर्य के अधीन मनुष्य का जीवन होता है अत एव क्षय-रोगी के मल तथा वीर्य की यत्नपूर्वक बुद्धिमान् वैद्य को रक्षा करनी चाहिये' ।

जिस रोगी के अण्डकोष और उदर शोथ-युक्त हो गये हों उसकी भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥ १५ ॥

अरिष्टमाह—

शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम् । कृच्छ्रेण बहु मेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥१६॥

***मेहन्तं = शुक्रं क्षरन्तम् । शुक्लाक्षत्वाद्येकैकशोऽरिष्टलक्षणमाह ॥ १६ ॥**

जिस क्षयरोगी की आंखें श्वेत हो गई हों, अन्न में अरुचि उत्पन्न हो गई हो, ऊर्ध्वश्वास से पीडित हो तथा कष्ट के साथ अतिमात्रा में वीर्यस्राव होता हो तो ऐसे रोगी को यक्ष्मा अवश्य मार देता है ॥

राजयक्ष्मिणां जीवनावधिमाह—

परं दिनसहस्रन्तु यदि जीवति मानवः । सुभिषग्भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोषपीडितः ॥ १७ ॥

***शोषपीडितो मानवश्चेत्तरुणो भवति, सुभिषग्भिरुपक्रान्तो भवति, तदा परं दिनसहस्रं द्वितीयं दिनसहस्रं यदि जीवति तत्र जीवनविकल्प इत्यर्थः । एतेन शोषपीडितो मानवश्चेत्तरुणो भवति सद्वैद्यैश्चिकित्सितो भवति तथा प्रथमदिनसहस्रं जीवेदेवेत्युक्तम् ॥१७॥**

क्षयरोग से पीड़ित मनुष्य यदि तरुण हो तथा सद्वैद्य द्वारा चिकित्सा की जाय तो एक हजार दिन तक जीता है । यह उसके आयु की परमावधि है ॥ १७ ॥

श्रवण—श्वसन की आवाज कुछ कम सुनाई देती है । बहिःश्वसन अधिक देर तक और अन्तःश्वसन कुछ कर्कश और झटके के साथ (Cogwheel) सुनाई देता है श्वसन की आवाज श्वासनलिका गत (Bronchial) होती है । कभी २ सूक्ष्म बुदबुद ध्वनि (Fine moist Rales) सुनाई देती हैं । यदि खांसने के पश्चात् एक विशिष्ट स्थान पर ये ध्वनियां सुनाई दें तो सन्देहजनक समझना चाहिये । वाचिक प्रतिध्वनि कुछ अधिक स्पष्ट होती है ।

घनीभवन की अवस्था—में ये सब चिह्न अधिक स्पष्ट हो जाते हैं ।

विवरीभवन के चिह्न—छाती के आकार में बहुत फर्क हो जाता है । छाती की स्थिति बहिःश्वसन करने पर जैसी होती है वैसी हमेशा रहती है । वह चपटी और लम्बी होती है । विकृत पार्श्व का कन्धा नीचे की ओर झुकता है । अंसफलक का नीचे का कोन पृष्ठवंश की ओर अधिक चला जाता है । ऊपर की पसलियाँ एक दूसरे से अधिकतर दूर और नीचे की अधिक समीप आजाती हैं जिससे कौड़ी प्रदेश के पसलियों का कोन अधिक सङ्कुचित हो जाता है ।

स्पर्शन—वाचिक लहरियां अधिक प्रतीत होती हैं । किन्तु यदि विवर थूक या द्रव से भरा हो या आवरण मोटा पड़ गया हो तो कम प्रतीत होती हैं ।

अङ्गुलिताडन—यदि विवर थूक से भरा हो तो आवाज मन्द होगी और यदि रिक्त हो तो डिम २ मिलेगी । श्वासनलिका के साथ सम्बन्ध रखने वाले बड़े विवर पर ताडन करने से सच्छिद्र रबड़ की गेंद पिचकने पर जिस तरह की आवाज होती है उस तरह की आवाज (Cracked Pot Sound) मिलती हैं ।

श्रवण—श्वसन-ध्वनि जोर के साथ (Caver nous Amphoric) सुनाई देती है और यह ध्वनि विवर की मोटाई पर निर्भर होती है । वाचिक प्रतिध्वनि भी बड़े जोर से सुनाई देती है (Bronchophony or Pectori logny) मानो कोई कान के पास बोल रहा है । भिन्न-भिन्न प्रकार की बुदबुद ध्वनि भी सुनाई देती है । जो विवर बहुत छोटे और छाती की दीवाल से दूरी पर होते हैं उनसे कुछ भी चिह्न नहीं मिलते ।

राजयक्ष्मिणश्चिकित्सामाह—

ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम्। उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरम्॥ १८॥

***आत्मवन्तं = यत्नवन्तं धृतिमन्तं वा॥ १८॥**

जो राजयक्ष्मी ज्वर से रहित, बलवान्, चिकित्सा-सम्बन्धी क्रियाओं को सहन करने वाला, यत्नवान्, धैर्यवान्, प्रदीप्त अग्निवाला तथा जो कृश न हो गया हो ऐसे क्षयरोगी की चिकित्सा करनी चाहिये॥ १८॥

निदानविशेषैर्विशेषशोषानाह—

व्यवायशोकवार्द्धक्यव्यायामाध्वप्रशोषितान्। व्रणोरःक्षतसंज्ञौ च शोषिणौ लक्षणैः शृणु॥१९॥

***व्रणशोषी उरःक्षतशोषी च॥ १९॥**

अत्यन्त स्त्रीगमन से जो शोष होता है उसको 'व्यवायशोष', शोक से उत्पन्न हुये शोष को 'शोकशोष', वृद्धावस्था से उत्पन्न हुये शोष को 'वार्द्धक्यशोष', अत्यन्त व्यायाम से उत्पन्न हुए शोष को 'व्यायामशोष' तथा अधिक मार्ग के चलने से जो शोष उत्पन्न होता है उसे 'अध्वशोष' कहते हैं। व्रण होने के कारण जो शोष उत्पन्न होता है उसे 'व्रणशोष' और छाती में क्षत होने के कारण जो शोष उत्पन्न होता है उसे उरः 'क्षतशोष' कहते हैं। अब इनके अलग-अलग लक्षणों का वर्णन करते हैं, उसे सुनिये॥ १९॥

व्यवायशोषिणो लक्षणमाह—

व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरुपद्रुतः। पाण्डुदेहो यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य धातवः॥२०॥

***शुक्रस्य क्षयलिङ्गैः सुश्रुतोक्तैः। तानि यथा—'शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदना, व्यवाये चाशक्तिः, चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेकेऽल्पशुक्रदर्शनमि'ति। यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य धातवः=प्रथमं शुक्रं क्षीयते पश्चाच्छुक्रक्षयजनितवायुना मज्जादयोऽपि धातवो यथापूर्वं क्षीयन्ते॥ २०॥**

'व्यवायशोष' में सुश्रुतोक्त सारे वीर्यक्षय के लक्षण होते हैं। जैसे लिङ्ग तथा अण्डकोषों में पीडा, मैथुन में अशक्तता, विलम्ब से वीर्यस्राव होना अथवा अत्यल्प वीर्यस्खलन। व्यवायशोषी व्यक्ति का वर्ण पाण्डु हो जाता है तथा वीर्य के क्षीण होने से, वायु के कुपित होने से ऊपर की मज्जादि धातुयें भी क्रमशः क्षीण हो जाती हैं॥ २०॥

शोकशोषिणो लक्षणमाह—

प्रध्यानशीलः स्रस्ताङ्गः शोकशोष्यपि तादृशः। विना शुक्रक्षयकृतैर्विकारैरुपलक्षितः॥२१॥

***प्रध्यानशीलः = यस्याभावेन शोको जनितस्तद्ध्यानपरः। स्रस्ताङ्गः = शिथिलाङ्गः। तादृशः=व्यवायशोषिसदृशः। तेन शुक्रादिसर्वधातुक्षययुक्तो भवति। परं शुक्रक्षयकृतैर्विकारैर्मेढ्रवृषणवेदनाऽऽदिभिर्वर्जितो भवति व्याधिस्वभावात्॥ २१॥**

'शोकशोष' में रोगी जिस पदार्थ के अभाव से शोक करता है उसी वस्तुका सर्वदा ध्यान किया करता है। उसके अङ्ग शिथिल हो जाते हैं तथा व्यवायशोषी के समान शुक्रादि सम्पूर्ण धातुओं के क्षय से युक्त हो जाता है किन्तु व्याधिस्वभाव से शुक्रक्षयजन्य लिङ्ग तथा अण्डकोषोंकी पीडा आदि उपद्रवों से रहित होता है॥ २१॥

वार्द्धक्यशोषिणो लक्षणमाह—

जराशोषी कृशो मन्दवीर्यबुद्धिबलेन्द्रियः। कम्पनोऽरुचिमान्भिन्नकांस्यपात्रहतस्वरः॥२२॥
ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनं गौरवारुचिपीडितः। सम्प्रस्रुतास्यनासाक्षः शुष्करूक्षमलच्छविः॥

***मन्दशब्दः स्वल्पार्थः। शुष्करूक्षमलच्छविः=शुष्के रूक्षे मलच्छवी यस्य सः २२-२३**

वार्द्धक्यशोषी व्यक्ति का शरीर दुर्बल, वीर्य, बल, बुद्धि तथा इन्द्रियां मन्द हो जाती हैं। शरीर में कम्प होता है। देह की शोभा नष्ट हो जाती है। फूटे हुये कांसे के बर्त्तन के समान स्वर हो जाता है। थूक में कफ नहीं आता, शरीर की गुरुता तथा अरुचि से पीडित होता है। मुख, नासिका और आंखों से रक्तस्राव होता रहता है तथा विष्ठा और शरीर का वर्ण शुष्क तथा रूक्ष हो जाता है॥ २२-२३॥

अध्वशोषिणो लक्षणमाह—

अध्वप्रशोषी स्रस्ताङ्गः सम्भृष्टपरुषच्छविः । प्रसुप्तगात्रावयवः शुष्कक्लोमगलाननः ॥ २४ ॥

⊛सम्भृष्टपरुषच्छविः = सम्भृष्टस्येव परुषा छविर्यस्य सः । प्रसुप्तगात्रावयवः = प्रसुप्तः = स्पर्शाज्ञः, क्लोम = पिपासास्थानम् ॥ २४ ॥

अध्वशोषी मनुष्य के अङ्ग शिथिल, शरीर की कान्ति अग्नि में झुलसे हुये पदार्थ के समान तथा खरदरी हो जाती है। शरीर के अवयवों का स्पर्शज्ञान नष्ट होता है तथा क्लोम (पिपासा-स्थान), गला और मुख सूख जाते हैं ॥ २४ ॥

व्यायामशोषिणो लक्षणमाह—

व्यायामशोषी भूयिष्ठमेभिरेव समन्वितः । लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना ॥ २५ ॥

⊛एभिरेव = स्रस्ताङ्गत्वादिभिरध्वशोषिलक्षणैरेव । भूयिष्ठम् = अत्यर्थम् ॥ २५ ॥

व्यायामशोष में प्रायः अध्वशोष के ही लक्षण मिलते हैं और क्षत के न होने पर भी 'उरःक्षत शोष' के लक्षण होते हैं ॥ २५ ॥

व्रणशोषस्य निदानमसाध्यत्वं चाह—

रक्तक्षयाद्वेदनाभिस्तथैवाहारयन्त्रणात् । व्रणितस्य भवेच्छोषः स चासाध्यतमः स्मृतः ॥

रक्तक्षय होने से, घाव की पीड़ा से तथा आहार के कम होने से व्रणी व्यक्तिको शोष हो जाता है। ये तीनों प्रकार के व्रणशोष अत्यन्त असाध्य हैं ॥ २६ ॥

उरःक्षतशोषस्य निदानमाह—

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम् । युद्ध्यमानस्य बलिभिः पततो विषमोच्चतः ॥
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं चान्यं निगृह्णतः । शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥
अधीयानस्य चात्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम् । महानदीं वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥
सहसोत्पततो दूरं तूर्णञ्चापि प्रनृत्यतः । तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा ॥३०॥
स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः । विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते ॥३१॥

⊛आयस्यतः = आयासं कुर्वतः । हयं = वृषादिकम् । अन्यं = गजोष्ट्रादिकम् । शिला = दीर्घपाषाणः । अश्मा=प्रस्तरखण्डः । निर्घातः=अस्त्रविशेषः । व्याधिः = उरःक्षताख्यः२७-३१

धनुष-बाण के अत्यन्त चलाने से, अत्यन्त भारी बोझ को ले जाने से, बलवान् व्यक्ति के साथ युद्ध करने से, विषम तथा ऊँचे स्थान से गिरने से, दौड़ते हुये बैल, घोड़े, हाथी, ऊँट आदि जानवरों को रोकने से, शिला, लकड़ी, पत्थर और शस्त्रादि को जोर से फेंकने से, दूसरों को मारने से, बहुत उच्च स्वर से वेदादि शास्त्रों को पढ़ने से, तीव्रगति से दूर जाने से, एकाएक उछलने से, जल्दी-जल्दी नाचने से तथा इसी प्रकार के अन्य दूसरे साहस के कार्यों को करने से, जिस व्यक्ति को अत्यन्त चोट लग गई हो ऐसे मनुष्य की तथा स्त्रियों में परम आसक्ति रखनेवाले और रूक्ष तथा बहुत अल्पमात्रा में भोजन करनेवाले मनुष्य की छाती फट जाती है और बलवान् उरःक्षत रोग उत्पन्न हो जाता है ॥

उरःक्षतशोषिणो लक्षणमाह—

उरो विरुज्यतेऽत्यर्थं भिद्यतेऽथ विभज्यते । प्रपीड्येते तथा पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥३२॥
क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते । ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदोऽग्निवधस्तथा ॥
दुष्टश्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः । कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सासृक् प्रवर्त्तते ।
स क्षती क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात् ॥ ३४ ॥

⊛विरुज्यते = पीड्यते । भिद्यते = विदार्यत इव । विभज्यते = द्विधा क्रियत इव । स क्षती—सः = पुरुषः, क्षती = उरःक्षतवान् । अत्यर्थं क्षीयते = क्षीणो भवति ॥ ३२-३४ ॥

उरःक्षत रोगी की छाती बहुत दुखती है। ऐसा मान होता है कि मानों कोई छाती को चीर रहा है अथवा टुकड़े कर रहा है। पसुलियों में दर्द होता है। सारे अङ्ग सूखने लगते हैं तथा शरीर

में कम्प होने लगता है। क्रमशः वीर्य, बल, वर्ण, अन्न में रुचि तथा अग्नि क्षीण होती जाती है। ज्वर, व्यथा, मनोदैन्य, मलभेद, अग्निमान्द्य, खाँसते समय दूषित काले रङ्ग का, दुर्गन्धित, पीतवर्ण, गांठदार तथा बहुत सा रक्तयुक्त कफ बारम्बार निकलता है और उरःक्षती वीर्य तथा ओज के क्षय से अत्यन्त क्षीण हो जाता है ॥ ३२-३४ ॥

उरःक्षतस्य विशिष्टं लक्षणमाह—

उरोरुक्शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते । क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटीग्रहः ॥ ३५ ॥

क्षते = उरःक्षतवति । उरोरुक् शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः = विशेषतो भवत्येव, अस्मिन् उरःक्षतवति सास्रकफशुक्रौजसां क्षयात् क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटीग्रहश्च भवति ॥ ३५ ॥

उरःक्षत रोगी की छाती में तीव्र पीड़ा होती है। रक्त का वमन और खांसी विशेष आती है तथा रक्तयुक्त कफ, वीर्य तथा ओज के क्षय होने से रक्तयुक्त मूत्र आता है। पसली, पीठ तथा कमर में बड़ी वेदना होती है ॥ ३५ ॥

निदानविशेषेणोरःक्षतलक्षणमाह—

व्रणरोधात्क्षयाच्चैव कोष्ठात्प्रतिमलात्तथा । क्षतोरस्कस्यान्नपाके निःश्वासो वाति पूतिकः ॥

क्षयाद् = धातुक्षयहेतोरतिव्यवायोदितात् । कोष्ठात्प्रतिमलात् = कोष्ठात्प्रतिलोममलात् । पूतिकः = पूतिगन्धः ॥ ३६ ॥

व्रण के अवरोध से, धातुक्षय के हेतु से, अत्यन्त मैथुनादिक से, कोष्ठ के वायु की प्रतिलोमता से और प्रतिलोम हुये मल से जिसकी छाती फट जाती है उस व्यक्ति का श्वास अन्न के पचनकाल में दुर्गन्धित होता है ॥ ३६ ॥

उरःक्षतस्य साध्ययाप्यासाध्यलक्षणान्याह—

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः । परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥

जिस उरःक्षत में अल्प लक्षण हों, अग्नि प्रदीप्त हो तथा शरीर बलवान् हो और रोग थोड़े ही समय से हुआ हो तो उसे साध्य समझना चाहिये। जिस उरःक्षत को उत्पन्न हुये एक वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो गया हो वह याप्य होता है और जिस उरःक्षत में सम्पूर्ण लक्षण मिलते हों उसे असाध्य जान कर त्याग देना चाहिये। अर्थात् उसकी चिकित्सा की व्यवस्था नहीं करनी चाहिये ॥३७॥

राजयक्ष्मचिकित्सामाह—

बलिनो बहुदोषस्य पञ्च कर्माणि कारयेत् । यक्ष्मिणः क्षीणदेहस्य तत्कृतं स्याद्विषोपमम् ॥

मलायत्तं बलं पुंसां शुक्रायत्तञ्च जीवितम् । तस्माद्यत्नेन संरक्षेद्यक्ष्मिणो मलरेतसी ॥ ३९ ॥

शालिषष्टिकगोधूमयवमुद्गादयो हिताः । मद्यानि जाङ्गलाः पक्षिमृगाः पथ्या विशुष्यताम् ॥

राजयक्ष्माचिकित्सा—बलवान् तथा बहुत दोषों से युक्त क्षयरोगी को पञ्चकर्म कराना चाहिये। किन्तु दुर्बल शरीर वाले क्षय रोगी को यह पञ्चकर्म विष के समान हानिप्रद है। क्योंकि मनुष्यों का बल मल के अधीन तथा जीवन वीर्य के अधीन होता है। अतः राजयक्ष्मा से पीडित मनुष्य के मल और वीर्य की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। क्षयरोग से पीडित मनुष्यों के लिये शालि चावल, साठी चावल, गेहूं, जौ तथा मूंग आदि अन्न, मद्य और जंगली पशु-पक्षियों का मांस हितकर है ॥ ३८-४० ॥

षडङ्गयूषमाह—

सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम् ॥ ४१ ॥

दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजं रसं पिबेत् । तेन षड् विनिवर्त्तन्ते विकाराः पीनसादयः ॥

द्रव्यतो द्विगुणं मांसं सर्वतोऽष्टगुणं जलम् । पादस्थं संस्कृतञ्चाज्ये षडङ्गो यूष उच्यते ॥४२॥

यथा—यव पल १ । कुलत्थ पल १ । छागमांस पल ४ । जल पल ४८ । शेष पल १२ । ततः पलमिते घृते संस्करणीयम् । तत्र कर्षमितं सैन्धवं देयम् । सौरभार्थं हिङ्गु देयम् । पिप्पली नागरञ्च पृथङ् माषमितं कल्कीकृत्य देयम् । इति षडङ्गयूषः ॥ ४१-४२ ॥

षडङ्गयूष—जौ १ पल, कुल्थी १ पल और बकरे का मांस ४ पल इन सबको ४८ पल जल में पकावे जब जल पकते-पकते १२ पल शेष रह जाय तो उसे ४ तोले घी से छौंक देना चाहिये। और १ तोला सेन्धा नमक डाल कर सुगन्धि के लिये हींग भी डाल देवे। तथा अनार और आंवले का रस डाले। पीपल और सोंठ का कल्क १-१ माशे की मात्रा में डाल देना चाहिये। इस मांसरस को षडङ्गयूष कहते हैं। इसे क्षयरोग से पीडित मनुष्य को पिलाने से राजयक्ष्मागत पीनस आदि समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं॥ ४१-४३॥

ककुभत्वङ्नागबलावानरिबीजं विचूर्णितम्पयसा। पीतं मधुघृतयुक्तंससितं यक्ष्मादिकासहरम्॥ छागमांसं पयश्छागं छागं सर्पिः सनागरम्। छागोपसेवी शयनं छागमध्ये तु यक्ष्मनुत् ४५

अर्जुन की छाल, नागबला (गङ्गेरन) तथा कौंच के बीजों का चूर्ण, मधु, घी तथा मिश्री से युक्त दूध के साथ पिलाने से राजयक्ष्मादि रोग तथा खाँसी दूर हो जाती है।

क्षयरोगी बकरे के मांस को खावे। बकरी के दूध को पीवे। सोंठ मिश्रित बकरी के घी का अवलेहन करे। बकरी की सेवा करे और बकरियों के रहने के स्थान में सोवे। इन उपचारों के करने से यक्ष्मा रोग नष्ट हो जाता है॥ ४४-४५॥

मधुताप्यविडङ्गाश्मजतुलोहघृताभयाः। घ्नन्ति यक्ष्माणमत्युग्रं सेव्यमाना हिताशिनः॥४६॥

***ताप्यं = सुवर्णमाक्षिकम्॥ ४६॥**

मधु, स्वर्णमाक्षिक, वायविडङ्ग, शिलाजीत, लौहभस्म, गोघृत तथा हरड़ इन सब को एकत्र मिला कर सेवन करने से और पथ्याहार करने से अत्यन्त उग्र राजयक्ष्मा नष्ट हो जाता है॥ ४६॥

शर्करामधुसंयुक्तं नवनीतं लिहन्क्षयी। क्षीराशी लभते पुष्टिमतुल्ये चाज्यमाक्षिके॥ ४७॥

शकर और मधु मिला कर मक्खन को खाकर दूधयुक्त भोजन करे अथवा विषम मात्रा में मधु तथा घी मिला कर चाटे। इससे राजयक्ष्मी पुष्टि को प्राप्त होता है॥ ४७॥

सितोपलाऽऽदिचूर्णमाह—

सितोपला तुगाक्षीरी पिप्पली बहुला त्वचः। अन्त्यादूर्ध्वं द्विगुणिताश्चूर्णिता मधुसर्पिषा॥ लेहयेद्राजरोगार्त्तं कासश्वासज्वरातुरम्। पार्श्वशूलिनमल्पाग्निं सुप्तजिह्वं रुचिच्युतम्। हस्तपादाङ्गदाहे च ज्वरे रक्ते तथोर्ध्वगे॥ ४९॥

***सितोपला = (मिश्री)। बहुला = सूक्ष्मैला॥ ४८-४९॥**

दालचीनी १ भाग, छोटी इलायची २ भाग, पीपल ४ भाग, वंशलोचन ८ भाग और मिश्री १६ भाग लेकर सबका चूर्ण करके शहद तथा घी के साथ क्षयरोगी को चटावे। इसके कास, श्वास, क्षय, पार्श्वशूल, मन्दाग्नि, जिह्वाजाड्य, अरुचि तथा हाथ-पांव और सम्पूर्ण शरीर का दाह, ज्वर तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त विनष्ट होता है॥ ४८-४९॥

जातीफलाद्यंचूर्णमाह—

जातीफलं विडङ्गानि चित्रकं तगरं तिलाः। तालीसं चन्दनं शुण्ठी लवङ्गमुपकुञ्चिका॥५०॥ कर्पूरश्चाभया धात्री मरिचं पिप्पली तुगा। एषां त्वक्समा भागाश्चातुर्जातकसंयुताः॥ ५१॥ पलानि सप्त भङ्गायाः सिता सर्वसमा मता। चूर्णमेतत्क्षयं कासं श्वासञ्च ग्रहणीगदम्॥५२॥ अरोचकंप्रतिश्यायं तथा चानलमन्दताम्। एतान् रोगान्निहन्त्येव वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा॥५३॥

जायफल, वायविडङ्ग, चित्त, तगर, तिल, तालीशपत्र, सफेद चन्दन, सोंठ, लौंग, काला जीरा, कपूर, हरड़, आंवला, काली मिर्च, पीपल, वंशलोचन, दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची तथा नागकेशर ये प्रत्येक ओषधियां ३-३ तोले लेकर भाँग २८ तोले लेवे और इन सब के बराबर मिश्री लेकर सब को एकत्र कूट-पीस कर चूर्ण बना कर रख ले। जिस प्रकार इन्द्र-वज्र वृक्षों का विनाश करता है उसी प्रकार यह चूर्ण राजयक्ष्मा, कास, श्वास, ग्रहणी, अरुचि, प्रतिश्याय तथा अग्निमान्द्य को नष्ट करता है॥ ५०-५३॥

लाक्षादितैलप्रयोगमाह—

बालरोगाधिकारोक्तं तैलं लाक्षादि योजयेत्। अभ्यङ्गे यक्ष्मिणो नित्यं वृद्धवैद्योपदेशतः॥

वृद्ध वैद्य के आदेश से राजयक्ष्मा से पीडित पुरुष अभ्यङ्गार्थ बालरोगाधिकारोक्त 'लाक्षादितैल' की योजना करे ॥ ५४ ॥

वासावलेहमाह—

वासकस्य रसप्रस्थं मानिका सितशर्करा। पिप्पल्या द्विपलं तावत्सर्पिषश्च शनैः पचेत्॥
तस्मिँल्लेहत्वमायाते शीते क्षौद्रपलाष्टकम्। दत्वाऽवतारयेद् वैद्यो लीढो लेहोऽयमुत्तमः॥
हन्त्येव राजयक्ष्माणं कासं श्वासञ्च दारुणम्। पार्श्वशूलञ्च हृच्छूलं रक्तपित्तं ज्वरं तथा॥

वासावलेह—अडूसे का रस १६ पल, सफेद चीनी ८ पल, पीपल २ पल तथा घी २ पल लेकर सबको एकत्र मिला कर शनैः २ मन्द अग्नि से पकावे। जब लेह के समान हो जावे तो शीतल होने पर ८ पल शहद मिला दे। इस प्रकार उत्तम वासावलेह तैयार हो जाता है। यह अवलेह राजयक्ष्मा, दारुण कास-श्वास, पार्श्वशूल, हृदयशूल, रक्तपित्त तथा ज्वर को नष्ट करता है ५५-५७॥

व्यवायादिहेतुकशोषचिकित्सामाह—

व्यवायशोषिणं क्षीणं रसमांसाज्यभोजनैः। सुकूलैर्मधुरैर्हृद्यैर्जीवनीयैरुपाचरेत्॥ ५८॥

***रसः=मांसरसः। सुकूलैः=हितैः॥ ५८॥**

'व्यवायशोषी' पुरुष के क्षीण होने पर मांसरस, मांस तथा घृतयुक्त भोजन और अनुकूल मधुर तथा हृद्य जीवनीय पदार्थों के द्वारा उपचार करे॥ ५८॥

शोकशोषचिकित्सामाह—

हर्षणाश्वासनैः क्षीरैः स्निग्धैर्मधुरशीतलैः। दीपनैर्लघुभिश्चान्नैः शोकशोषमुपाचरेत्॥५९॥

'शोकशोषी' मनुष्य का हर्षण पदार्थों से उपचार करे, धैर्य बँधावे, दूध का प्रयोग करे तथा स्निग्ध, मधुर, शीतल और अग्नि को दीपन करने वाले लघु अन्न का सेवन करावे॥ ५९॥

व्यायामशोषचिकित्सामाह—

व्यायामशोषिणं स्निग्धैः क्षतक्षयहितैर्हिमैः। उपाचरेज्जीवनीयैर्विधिना श्लैष्मिकेण तु॥६०॥

'व्यायामशोष' वाले मनुष्य की स्निग्ध, 'उरःक्षतशोष' में हितकर, शीतल और जीवनीय पदार्थ तथा कफ को उत्पन्न करने वाले पदार्थों से बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये॥ ६०॥

अध्वशोषचिकित्सामाह—

आस्यासुखैर्दिवास्वप्नैः शीतैर्मधुरबृंहणैः। अन्नमांसरसाहारैरध्वशोषमुपाचरेत्॥ ६१॥

'अध्वशोषी' पुरुष को उत्तम, मुलायम आसन (गद्दा आदि) पर बैठावे। दिन में सोने का विधान करे और शीतल, मधुर तथा बृंहण अन्न व मांसरस का उपयोग भोजन के लिये करे॥६१॥

व्रणशोषचिकित्सामाह—

व्रणशोषं जयेत्स्निग्धैर्दीपनैः स्वादुशीतलैः। ईषदम्लैरनम्लैर्वा यूषमांसरसादिभिः॥ ६२॥

स्निग्ध, अग्निदीपक, मधुर, शीतल तथा कुछ खट्टे अथवा अम्लरहित यूषों से और मांसरस आदि से 'व्रणशोष' की चिकित्सा करनी चाहिये॥ ६२॥

उरःक्षतचिकित्सा।

तत्र बलादिचूर्णमाह—

बलाऽश्वगन्धा श्रीपर्णी बहुपुत्री पुनर्नवा। पयसा नित्यमभ्यस्ताः शमयन्ति क्षतक्षयम्॥

*श्रीपर्णी=गाम्भारी। बहुपुत्री=शतावरी॥ ६३॥

बला की जड़ (खिरेंटी), असगन्ध, खम्भार के फल, शतावरी और पुनर्नवा इन सब को दूध में पीस कर प्रतिदिन पीने से 'उरःक्षतशोष' दूर हो जाता है॥ ६३॥

एलादिगुटिकामाह—

एलापत्रत्वचोऽर्द्धाक्षाः पिप्पल्यर्द्धपलं पृथक् । सितामधुकखर्जूरमृद्वीकाश्च पलोन्मिताः ॥
सञ्चूर्ण्य मधुना युक्ता वटिकाः सम्प्रकल्पयेत् । अक्षमात्रां ततश्चैकां भक्षयेत्तु दिने दिने ॥
क्षतं क्षयं ज्वरं कासं श्वासं हिक्कां वमिं भ्रमम् । मूर्च्छां मदं तृषां शोषं पार्श्वशूलमरोचकम् ॥
प्लीहानमाढ्यवातञ्च रक्तपित्तं स्वरक्षयम् । एलादिगुटिका हन्ति वृष्या सन्तर्पणी परा ॥

छोटी इलायची ६ मा०, तेजपात ६ मा०, दालचीनी ६ मा०, पीपल २ तो०, मिश्री, मुलहठी, खजूर या छोहारे और दाख प्रत्येक ४-४ तोले लेकर सबको एकत्र पीस कर मधु मिलाकर १-१ तोले की गोलियां बना लें। इनमें से १ गोली नित्य सेवन करनेसे उरःक्षतशोष, ज्वर, खांसी, श्वास, हिक्का, वमन, भ्रम, मूर्च्छा, मद, तृषा, शोष, पार्श्वशूल, अरुचि, प्लीहा, ऊरुस्तम्भ, रक्तपित्त और स्वरभङ्ग नष्ट हो जाते हैं। ये गोलियां वृष्य (कामशक्ति को बढ़ाने वाली) और सन्तर्पण करने वाली हैं॥

द्राक्षादिघृतमाह—

द्राक्षायाः प्रस्थमेकन्तु मधुकस्य पलाष्टकम् । पचेत्तोयाढके शुद्धे पादशेषेण तेन तु ॥ ६८ ॥
पलिके मधुकद्राक्षे पिष्टे कृष्णापलद्वयम् । प्रदाय सर्पिषः प्रस्थं पचेत्क्षीरे चतुर्गुणे ॥ ६९ ॥
सिद्धे शीते पलान्यष्टौ शर्करायाः प्रदापयेत् । एतद् द्राक्षाघृतं सिद्धं क्षतक्षीणसुखावहम् ॥७०॥
वातं पित्तं ज्वरं श्वासं विस्फोटकहलीमकान् । प्रदरं रक्तपित्तञ्च हन्यान्मांसबलप्रदम् ॥७१॥

द्राक्षादिघृत—उत्तम बड़े मुनक्के ६४ तोले और मुलहठी ३२ तो० लेकर १ आढक स्वच्छ जल में पकावे। जब पकते २ चतुर्थांश रह जाय तो उसमें पीसी हुई मुलहठी और मुनक्का ४-४ तोले डाले। पिप्पली का चूर्ण ८ तोले और घी ६४ तोले की मात्रा में लेकर चौगुने दूध में पकावे। जब पकते-पकते केवल घी शेष रह जाय तब उतार ले। शीतल होने पर ३ तो० चीनी मिला दे, तो यह 'द्राक्षादिघृत' सिद्ध होता है। यह घृत उरःक्षतशोष, वायु, पित्त, ज्वर, श्वास, विस्फोटक, हलीमक, प्रदर और रक्तपित्त को नष्ट करता है। तथा मांस और बल को बढ़ाता है॥ ६८-७१ ॥

अमृतप्राशावलेहमाह—

क्षीरे धात्री च मञ्जिष्ठा क्षीरिण्याश्च तथा रसैः । पचेत्समैर्घृतप्रस्थं मधुरैः कर्षसम्मितैः ॥७२॥
द्राक्षाद्विचन्दनोशीरैः शर्करोत्पलपद्मकैः । मधूककुसुमानन्ताकारमरीतृणसंज्ञकैः ॥ ७३ ॥
प्रस्थार्द्धं मधुनः शीते शर्कराऽर्द्धतुलां तथा । पलार्द्धिकांश्च सञ्चूर्ण्य त्वगेलापद्मकेशरान् ॥७४॥
विनीय तत्र संलिह्यान्मात्रां नित्यं सुयन्त्रितः । अमृतप्राशमित्येतदश्विभ्यां परिकीर्त्तितम् ॥
क्षीरमांसाशिनां हन्ति रक्तपित्तं क्षतक्षयम् । तृष्णाऽरुचिश्वासकासच्छर्दिमूर्च्छाप्रमर्दनम् ॥
मूत्रकृच्छ्रज्वरघ्नञ्च बल्यं स्त्रीरतिवर्द्धनम् ॥ ७७ ॥

अमृतप्राश—आंवले, मजीठ तथा विदारीकन्द के स्वरस समान भाग लेकर जीवनीयगण की सारी ओषधियां १-१ तोले लेवे। मुनक्का, सफेद चन्दन, लालचन्दन, खस, चीनी, पद्मकाष्ठ, महुये के फूल, सारिवा, गम्भारी के फल और रोहिष तृण इनका कल्क बना कर १ प्रस्थ घी को दूध में पकावे। जब पक कर तैयार हो जाय तो छान कर शीतल होने पर मधु ३२ तोले, चीनी २०० तोले, दालचीनी, इलायची और कमल के केसर के चूर्ण २-२ तोले लेकर मिला दे तो यह अश्विनी-कुमारोक्त 'अमृतप्राश' नामक अवलेह सिद्ध हो जाता है। इस अवलेह का प्रतिदिन सेवन करने से दूध और मांस के साथ भोजन करने से तथा जितेन्द्रिय होकर रहने से उरःक्षत, रक्तपित्त, तृषा, अरुचि, श्वास, कास, वमन, मूर्च्छा, मूत्रकृच्छ्र तथा ज्वर नष्ट होता है। स्त्रियों के साथ रति करने की वृद्धि होती है तथा बल बढ़ता है॥ ७२-७७ ॥

उरःक्षतरोगिपथ्यान्याह—

यद्यच्च तर्पणं शीतमविदाहि हितं लघु । अन्नपानं निषेव्यं स्यात्क्षतक्षीणैः सुखार्थिभिः ॥
शोकं स्त्रियः क्रोधमसूयताञ्च त्यजेदुदारान्विषयान्भजेच्च ।
तथा द्विजातींस्त्रिदशान्गुरूंश्च वाचश्च पुण्याः शृणुयाद् द्विजेभ्यः ॥ ७९ ॥

कर्त्तव्याकर्त्तव्य—सुखार्थी 'उरःक्षतशोष' वाले को चाहिये कि तृप्तिदायक, शीतल, दाहरहित, हितकर तथा लघु अन्नपान का सेवन करे । और शोक, स्त्रीगमन, क्रोध, परनिन्दा आदिको छोड़ दे । उत्तम, उदार, सन्तोष आदि विषयों का सेवन करे । ब्राह्मण, देवता और गुरुजनों की भक्ति करे तथा ब्राह्मणों से पुण्य कथाओं का श्रवण करे ॥ ७८–७९ ॥

अथ राजयक्ष्मणि रसाः ।

तत्रामृतेश्वररसमाह—

रसभस्मामृतासत्त्वं लोहं मधुघृतान्वितम् । अमृतेश्वरनामायं षड्गुञ्जो राजयक्ष्मणि ॥ ८० ॥

रसभस्म = मारितो रसः । अमृतासत्त्वं = गुडूचीसत्त्वम् । लोहं मारितम् । इत्यमृतेश्वररसो राजयक्ष्मणि रसेन्द्रचिन्तामणौ ॥ ८० ॥

पारद भस्म, सत्त्वगुडूची और लौहभस्म को एकत्र मिलाकर मधु तथा घी के साथ प्रतिदिन ६ रत्ती की मात्रा में चाटे । यह अमृतेश्वररस राजयक्ष्मा को शान्त करता है । इसका वर्णन 'रसेन्द्रचिन्तामणि' के राजयक्ष्माधिकार में आता है ॥ ८० ॥

राजमृगाङ्करसमाह—

त्रयोंशा मारितात्सूतादेकोंशो हेमभस्मतः । एकोंशो मृतताम्रस्य शिला गन्धश्च तालकम् ॥८१॥
प्रत्येकं भागयुग्मं स्यादेतत्सर्वं विचूर्णयेत् । वराटीः पूरयेत्तेन छागीक्षीरेण टङ्कणम् ॥८२॥
पिष्ट्वा तेन मुखं रुद्ध्वा मृद्भाण्डे ताश्च धारयेत् । कुर्य्यां पचेद्गजपुटे स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत् ॥
रसो राजमृगाङ्कोयं चतुर्गुञ्जः क्षयापहः । मरिचैरूनविंशत्या कणाभिर्दशभिस्तथा ॥ ८४ ॥
मधुना सर्पिषा चापि दद्यादेतं रसं भिषग् । अनेन नश्यति क्षिप्रं वातश्लेष्मभवः क्षयः ॥

इति राजमृगाङ्को रसो राजयक्ष्मणि रसेन्द्रचिन्तामणौ ॥ ८१–८५ ॥

मृतपारद ३ भाग, स्वर्णभस्म[1] १ भाग, ताम्रभस्म १ भाग, मनःशिला २ भाग, गन्धक २ भाग, हरताल २ भाग इन सब का एकत्र चूर्ण करके पीली कौड़ी में भर दे । फिर बकरी के दूध से पीसे हुये सुहागे से कौडी के मुख को बन्द करके उस कौड़ी को मिट्टी के वर्तन में रख दे । उस वर्तन के ऊपर कपड़मिट्टी करके गजपुट में जला दें । स्वाङ्गशीत होने पर इसे निकाल कर मिट्टी को अलग करके रस को निकाल ले । इसे 'राजमृगाङ्क रस' कहते हैं । इसे प्रतिदिन उन्नीस मिर्च, दस पीपल, शहद तथा घी के साथ ४ रत्ती की मात्रा में सेवन करावे । इससे तत्काल वायु तथा कफसंबन्धी क्षयरोग नष्ट हो जाता है । इस राजमृगाङ्क रस का वर्णन 'रसेन्द्रचिन्तामणि' के यक्ष्माधिकार में आता है ॥ ८१–८५ ॥

---

१. स्निग्धं मेध्यं विषगरहरं बृंहणं वृष्यमग्र्यं, यक्ष्मोन्मादप्रशमनपरं देहरोगप्रमाथि । इन गुणों के कारण जिस प्रकार अपने आयुर्वेद में स्वर्ण का प्रयोग किया जाता है और उसकी भस्म या उसके भिन्न २ योग यथा राजमृगाङ्क रस, मृगाङ्क रस, स्वल्पमृगाङ्क, महामृगाङ्करस, रत्नगर्भ पोट्टली रस, सर्वाङ्गसुन्दर रस, हेमगर्भपोटली रस, काञ्चनाभ्र रस, चूडामणि रस, चतुर्मुख रस तथा लक्ष्मीविलास इत्यादि काम मे लाये जाते हैं । उसी प्रकार पाश्चात्य विज्ञान में भी यक्ष्मनाशन के लिये सुवर्ण का प्रयोग होता है । वे लोग स्वर्ण को क्षमताजनक मानते हैं उनका कहना है कि स्वर्ण जीवाणुओं का तो नाश नहीं करता किन्तु शरीर के रक्षक दल को सबल बनाकर प्रतीकार-शक्ति को बढ़ाता है । और कुछ शास्त्रज्ञों की राय है कि सोना राजयक्ष्मा के जीवाणु का नाश करके शरीर के भीतर एक प्रकार का वैक्सीन बनाता है जिससे शरीर में क्षमता उत्पन्न होती है । कार्य करने का तरीका कोई भी हो सोना राजयक्ष्मा में फायदा करता है इसके सम्बन्ध में मतभेद नहीं है । पाश्चात्य वैद्यक में भी सुवर्णके कई योग प्रयोग में लाये जाते हैं यथाः-सैनोक्रिसिन (Sanocrysin) यह योग अधिक प्रयोग में आता है, क्रीसालबाइन (Crisalbine), सॉल्गेनाल (Solganal), सॉल्गेनाल, बी० (Solganal, B,) तथा सॉल्गेनाल, बी० आलिओसम (Solganal. B. Oleosum) ।

अग्निरसमाह—

शुद्धं सूतं द्विधा गन्धं कुर्यात्खल्वेन कज्जलीम् । तयोः समं तीक्ष्णचूर्णं मर्दयेत्कन्यकाद्रवैः ॥ द्वियाममातपे गोलं ताम्रपात्रे निधापयेत् । आच्छाद्यैरण्डपत्रेण स्याद्‍उष्णं याममुग्मतः ॥८७॥ धान्यराशौ न्यसेत्पश्चादष्टरात्रात्तमुद्धरेत् । सञ्चूर्ण्य गालयेद्वस्त्रैः सत्यं वारितरं भवेत् ॥ ८८ ॥ त्रिकटुत्रिफलैलाभिर्जातीफललवङ्गकैः । नवभागोन्मितैरेभिः समैरेष रसो भवेत् ॥ ८९ ॥ निष्कद्वयमितं नित्यं मधुना सह लेहयेत् । अयमग्निरसो नाम्ना कासक्षयहरः परः ॥ ९० ॥

*इत्यग्निरसः शार्ङ्गधरे ॥ ८६–९० ॥

इत्येकादशो राजयक्ष्माधिकारः सम्पूर्णः ॥ ११ ॥

अग्निरस—शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग इनको लेकर खरल में रख कर कज्जली बनावे । पुनः कज्जली के बराबर कान्त लौह भस्म लेकर सब को घी कुवार के रस के साथ दो प्रहर तक मर्दन करे तत्पश्चात् इसका गोला बना कर ताम्रपात्र में रख दे। पुनः एरण्डपत्रों से ढक कर पात्र को धूप में दो प्रहर तक गरम करे पुनः धान्यराशि में गाड़ दे और ८ रोज के बाद बाहर निकाल ले। तत्पश्चात् इस गोले का चूर्ण करके वस्त्र द्वारा छान ले तो यह चूर्ण निस्सन्देह वारितर हो जायगा । इसके बाद त्रिकटु ३ भाग, त्रिफला ३ भाग, छोटी इलायची १ भाग, जायफल १ भाग तथा लौंग १ भाग चूर्ण करके ९ भाग रस को इसमें मिलादे तो यह 'अग्निरस' सिद्ध हो जाता है । मधु के साथ प्रतिदिन ४ रत्ती की मात्रा में चाटने से खांसी तथा क्षयरोग नष्ट हो जाता है ॥ ८६–९० ॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकादशो राजयक्ष्माधिकारः समाप्तः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशः कासरोगाधिकारः ॥ १२ ॥

तत्र कासस्य निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—

धूमोपघाताद्रजसस्तथैव व्यायामरूक्षान्ननिषेवणाच्च ।
विमार्गगत्वादपि भोजनस्य वेगावरोधात्क्षवथोस्तथैव ॥ १ ॥

धूमोपघातात्=धूमेन कण्ठप्रविष्टेन कण्ठस्योपघाताद् । रजसः कण्ठप्रविष्टादेव । वेगावरोधाद्=मलादिवेगावरोधात् । क्षवथोरपि धारणात् ॥ १ ॥

प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः सम्भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः ।
निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषो मनीषिभिः कास इति प्रदिष्टः ॥ २ ॥

*सदोषः=तादृक् प्राणानिलरूपः ॥ २ ॥

कास के निदान-सम्प्राप्तिपूर्वक सामान्य लक्षण—धुआँ तथा धूल के मुख अथवा नासिका में जाने से, अत्यन्त व्यायाम करने से, अधिकांश रूक्ष अन्न के सेवन से, भोजन करते समय नासिका आदि विमार्गों द्वारा भोजन के चले जाने से, मल-मूत्रादि तथा छींकों के वेगों को रोकने से प्राणवायु दूषित होकर उदानवायु के साथ मिलकर कांसे के फूटे हुये बर्तन के समान यकायक मुंह से बाहर निकलता है । इसे विद्वद्गण [1]कासरोग कहते हैं ॥ १–२ ॥

१. पाश्चात्त्य विज्ञान में कास रोग का कोई पृथक् वर्णन नहीं है बल्कि यह एक लक्षण या उपद्रव माना जाता है जोकि अनेक रोगों में होता है । हां कुक्कुरखांसी (Whooping cough) नामक एक खांसी का विस्तृत वर्णन मिलता है जोकि प्रायः बच्चों में होता है । इसके अतिरिक्त अन्य कास निम्न रोगों में उपद्रव के स्वरूप में होते हैं । यथाः—फैरिंस (Pharynx), लैरिन्स (Larynx), श्वासप्रणाली (Trachea), फुप्फुस (Lungs), प्ल्यूरा (Plurae), ओसाफेगस या अन्नप्रणाली (Oesophagus), आमाशय (Stomach), क्षुद्रान्त्र (Intestine)

अथ कासंसंख्यामाह—

पञ्चकासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः। क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम् ॥३॥

तथा अन्य उदरगत अङ्गों (Other abdominal Viscera) और कान की विकृतियां।

फेरिंग्स में—फेरिंजाइटिस (Pharyngitis), बढ़े हुये टान्सिल (Enlarged tonsils), तथा बढ़ा हुआ यूवुला या कौआ (Enlarged uvula) ये विकृतियां कास में कारण होती हैं।

लैरिंग्स में—जब विकृति होती है तब स्वरभङ्ग होता है तथा खांसते समय देना चाहिये।

श्वासप्रणाली (Trachea)-में किसी प्रकार का दबाव पड़ने से खाँसी आती है। जैसे किसी एन्यूरिजम का (Pressure of an aneurysm), बढ़ी हुई ग्रन्थि का (Pressure of Enlarged glands) अथवा किसी ट्यूमर का (Pressure of a tumour)।

आमाशय (Stomach)—जब आमाशयजन्य विकृति के कारण खांसी होती है तब अरुचि भी होती है। अपने यहां आमाशय को कफ का मूल स्थान माना गया है, यथा—

'तं कटुतिक्तकषायतीक्ष्णोष्णरूक्षैरुपक्रमैरुपक्रमेत, स्वेदनवमनशिरोविरेचनव्यायामादिभिः श्लेष्महरैर्मात्रां कालञ्च प्रमाणीकृत्य, वमनन्तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलपकर्षति, तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा—भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यभिष्यन्दमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति ॥ च० सू० स्था० अ० २० सूत्र १९ ॥

इसलिये जैसे अपने यहां कफज कास में अरुचि होती है यथा—

'प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजाऽऽर्त्तः कफपूर्णदेहः।
अभक्तरुग्गौरवकण्डुयुक्तः कासेद् भृशं सान्द्रकफः कफेन ॥

उसी प्रकार पाश्चात्य विज्ञान में भी आमाशय (Stomaoh) गत विकृतिजन्य कास में अरुचि होती है। इसके अतिरिक्त अतिसार (Diarrhoea), मलावरोध (Constipation) अथवा कृमियों (worms) से भी आमाशय दूषित होता है जिसके कारण खांसी आसकती है।

कर्णगतविकार–जब कान गूथ से भरा (Impacted wax) रहता है तब भी खांसी आती है।

फुफ्फुसगतविकार—तथा लोबर न्यूमोनिया (Lobar Pneumonia), न्युमोमिया (Pneumonia), ब्रान्काइटिस (Bronchitis), ब्रांकिएक्टैसिस (Bronchiectasis) तथा राजयक्ष्मज विकार केविटी (Phthisical Cavity)। उपर्युक्त सभी विकृतियों में वागस नामक वातनाड़ी (Vagus Nerve) प्रक्षुभित होती है जिसके कारण खांसी उत्पन्न होती है। बच्चों में बढ़ी हुई ग्रन्थियों के दबाव (Pressure of the Enlarged glands in children), उरःफलकीय ट्यूमर (Mediastinal tumour) तथा एन्यूरीजम (Aneurysm) जब इनका दबाव रिकरेन्ट लैरिञ्जियल नामक वातनाड़ी (Recurrent Laryngeal Nerve) पर पड़ता है, तो खांसी आती है।

नासिकागत—विकृति के कारण भी खाँसी आती है जिसमें प्रायः छींक भी आया करती है। यह खाँसी ट्राईजेमिनल नामक वातनाड़ी (Trigeminal Nerve) के प्रक्षोभ के कारण आती है। सबफ्रेनिक अथवा लिवर ऐबसिस (Subphrenic or Liver abscess) में भी खाँसी आती है, वह खाँसी फ्रेनिक नामक वातनाड़ी (Phrenic Nerve) के प्रक्षोभ के कारण आती है।

इस प्रकार खाँसी चाहे किसी भी विकृति के कारण हो लेकिन वह वागस (Vagus), रिकरेन्ट लैरिञ्जियल (Recurrent Laryngeal), ट्राईजेमिनल (Trigeminal) तथा फ्रेनिक (phrenic) नामक वातनाड़ियों (Nerves) के प्रक्षोभ के कारण आती है। हमारे यहां भी

क्षयाय = राजयक्ष्मणे ॥ ३ ॥

ठीक ऐसा ही माना गया है कि खाँसी चाहे किसी दोष से उत्पन्न हुई हो किन्तु उसमें प्रधानता वात ही की रहती है। यथा—

पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥
अधः प्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतः समाश्रितः। उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि ॥
आविश्य शिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन्। आभञ्जन्नाक्षिपन्देहं हनुमन्ये तथाऽक्षिणी ॥
नेत्रे पृष्ठमुरःपार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयंस्ततः। शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात् कास उच्यते॥
च० चि० अ० १८।

धूमोपघातादृजसस्तथैव व्यायामरूक्षान्ननिषेवणाच्च।
विमार्गगत्वादपि भोजनस्य वेगावरोधात्क्षवथोस्तथैव ॥
प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः सम्भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः।
निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषो मनीषिभिः कास इति प्रदिष्टः ॥ सु०उ०त०अ०५२।

पाश्चात्त्य वैद्यक में अन्य कासों का कोई विशिष्ट वर्णन नहीं मिलता है और न कास को कोई अलग रोग माना गया है किन्तु कुक्कुर खांसी (Whooping Cough) नामक खांसी का एक रोग के रूप में वर्णन मिलता है अत एव उसका संक्षिप्त विवरण निम्न पंक्तियों में दिया जारहा है—

कुक्कुरखांसी (Whooping Cough)—

हेतु—इस रोग का कारण वैसिलस पर्ट्युसीस नामक जीवाणु है। जो कि बोर्डेगेंग्यु वैसिलस (Bordetgengou Bacillus) भी कहलाता है।

सहायक कारण—बाल्यावस्था में १० वर्ष की आयु तक यह रोग अधिक होता है। और इस समय जो क्षमता उत्पन्न होती हैं उससे आजीवन मनुष्य की रक्षा इस रोग से होती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है। उत्तर प्रदेश में शीत प्रदेश की अपेक्षा अधिक होता है। ग्रामों की अपेक्षा शहरों में तथा व्यापारी केन्द्रों में अधिक होता है। शीत और आर्द्र हवा में यह रोग अधिक तीव्र होता है तथा उसकी अवधि अधिक होती है। उष्ण और शुष्क हवा में सौम्य होता है और उसकी अवधि भी कम होती है। यह रोग एकैकशः भी कम होता है किन्तु प्रायः मरक के रूप में आता है और यह मरक रोमान्तिका के मरक के बाद या उसके साथ २ आता है।

रोग का प्रसार—रोग के जीवाणु रोगी के गले तथा श्वासनलिकाओं में होते हैं जो कि खांसते समय थूक के सूक्ष्म कणों के साथ बाहर आकर दूसरे स्वस्थ मनुष्यों पर वायु के द्वारा आक्रमण करते हैं। इसके सिवाय रोगी के मुख के साथ सम्बन्ध रखने वाले रबड़, पेन्सिल, गिलास, तौलिया तथा अन्य वस्तुओं द्वारा भी यह रोग स्वस्थ मनुष्यों पर विशेषतया बच्चों में फैलता है। इस लिए बच्चों में पाठशाला तथा क्रीडाङ्गण ये सब स्थान इस रोग के फैलने के महत्त्व के केन्द्र होते हैं।

लक्षण—रोग का आरम्भ शनैः शनैः होने के कारण सञ्चयकाल निश्चित करना कठिन होता है। तथापि साधारणतया सञ्चयकाल १४ दिन का और न्यूनाधिक मर्यादा ४–२७ दिन की होती है। इस काल में प्रायः कोई लक्षण नहीं होते। रोग की तीन अवस्थायें होती हैं—

१—प्रसेक की अवस्था (Catarrhal Stage)–इस अवस्था में श्वसनसंस्थान के ऊपरी हिस्से में प्रसेक होता है। इससे नासास्राव, छींकें, आंखों से पानी बहना तथा आंखों की सुर्खी, सूखी खांसी तथा मन्द अनियमित ज्वर इत्यादि जुकाम या एन्फ्लुएन्जा के समान लक्षण होते हैं। रोग का आक्रमण प्रायः शनैः २ होता है। खांसी पीडादायक होती है और खांसते समय छाती में विशेष प्रकार की ध्वनि सुनाई देती है। इस अवस्था की अवधि ७–१४ दिन की होती है। इस अवस्था के अन्तिम दिनों में जुकाम के प्रायः सभी लक्षण कम हो जाते हैं। परन्तु खांसी कम होने के बदले अधिक पीडादायक होकर उसके दौरे भी शुरू हो जाते हैं और दौरे रात में अधिक पीड़ा देते हैं तथा इनके बाद क्वचित् वमन भी हो जाता है।

काससंख्या—कास रोग वातज, पित्तज, कफज, उरःक्षतज और क्षयज भेद से पाँच प्रकार का होता है। इनकी उपेक्षा करने से अर्थात् समय पर चिकित्सा न कर डालने से राजयक्ष्मा रोग हो जाता है। इन पांचों प्रकार के कासों में उत्तरोत्तर बलवान् हैं अर्थात् वातज कास से पित्तज कास,

---

२—आवेग की अवस्था—इस अवस्था का प्रारम्भ उस दिन से समझना चाहिये कि जिस दिन रोगी खांसी के बाद व्हूप (Whoop) शब्द करता है। इसी शब्द के कारण यह रोग 'व्हूपिङ्गकफ' कहलाता है। कभी २ बिना व्हूप के भी खांसी आती है। इस अवस्था में खांसी के दौरे या आवेग आते हैं। आवेग मानसिक उत्तेजनाओं से, गले में प्रक्षोभ उत्पन्न होने से, पानी पीने से, खाना खाने से, हंसने से, रोग से या गम्भीर सांस लेने से शुरू होते हैं। दौरे का आगमन रोगी को मालूम होता है और वह उसे रोकने की कोशिश करता है परन्तु जब रोका नहीं जाता तब डरके मारे माता या दाई के पास दौड़ता है या समीपवर्ती चीज को पकड़ता है। रात को जब दौरा आता है तब रोगी उठकर बिस्तरे पर बैठता है। प्रत्येक दौरे में खांसी के १५–२० झटके आते हैं जो एक से एक तीव्र होते हैं। उनके बीच में रोगी सांस भीतर नहीं ले सकता, फिर दूसरा दौरा शुरू होता है और इस तरह ४–५ दौरे के बाद थोड़ा सा चिपचिपा कफ मुश्किल से बाहर निकलता है। और उसके साथ प्रायः वमन भी होता है। यह वमन श्लेष्मा जल्दी न निकलने के कारण होता है। इसके पूर्व न जी मिचलाता है और न पश्चात् भूख ही खराब होती है बल्कि रोगी वमन के बाद खाने को मांगता है। पूर्ण आवेग २–३ मिनट का होता है। आवेग के समय छाती दबी हुई, अर्थात् प्रश्वास की स्थिति में चेहरा और आंखें सुर्ख तथा नीलिमा-युक्त, आंखें बाहर को निकली हुई तथा पानी से भरी हुई, सिरायें फूली हुई, त्वचा पसीने से तर होती है तथा श्वासावरोध होता है। यदि आवेग अत्यन्त तीव्र हो तो आंखों में रक्तस्रुति, नासा से रक्तस्राव, कान का पर्दा विदीर्ण होकर उससे रक्तस्राव, त्वचा में स्थान २ पर रक्तस्राव, अनजाने मलमूत्र का उत्सर्ग, आक्षेप, बेहोशी तथा जिह्वा, सीवनी में व्रण इत्यादि लक्षण भी होते हैं। तीव्र आवेग के पश्चात् रोगी थोड़ी देर तक बदहवास और कमजोर रहता है परन्तु उसके बाद पूर्ववत् खेल-कूद या अपने काम में लग जाता है। आवेगों के बीच के समय में रोगी स्वस्थ और शान्त रहता है। सौम्य रोग में तथा आवेगावस्था के प्रारम्भ में आवेगों की संख्या दिन-रात में ४–५ तक होती है और धीरे २ बढ़ती है जो मध्यम रोग में २० तक और तीव्र रोग में ५० वा उससे भी अधिक हो जाती है। इस प्रकार के तीव्र रोग में सेवन किये हुये अन्न के पचने के लिये आवश्यक समय समाप्त होने के पूर्व आवेगजन्य वमन होने के कारण रोगी दिन-प्रतिदिन कृश और दुर्बल होता जाता है। इस अवस्था की अवधि ३ से १० सप्ताह की होती है, जिसमें प्रारम्भिक एकाध सप्ताह में रोग बढ़ता है। फिर एकाध सप्ताह स्थिर होकर धीरे २ घटता है। जाड़े के दिनों में तथा उपद्रव उत्पन्न होने पर इस अवस्था की अवधि बढ़ जाती है और गर्मी के दिनों में कम होती है।

३—प्रशमन की अवस्था—इस अवस्था का प्रारम्भ दर्शाने के लिये कोई लक्षण या चिह्न नहीं होता। साधारणतया आवेगों की तीव्रता कम होने के समय से इसका प्रारम्भ होकर आवेग के पूर्णतया बन्द होने पर इस अवस्था की अवधि भी समाप्त हो जाती है।

पाश्चात्य वैद्यक में उपर्युक्त कास का जो एक फैला हुआ विवरण है, यदि थोड़ा सा भी गम्भीर विचार किया जाय और कुछ विशद विवेचना की जाय तो यह कास बिल्कुल वातिक कास है इसमें सन्देह नहीं। इसके लिये आयुर्वेदोक्त प्रकुपित वात के कर्म तथा वातिक कास के लक्षण पर थोड़ा सा विचार करना होगा, निम्नपंक्तियों में इनका दिग्दर्शन कराया जाता है:—

प्रकुपित वायु के कर्म—

आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रतोदाः
कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलयनं स्रंसशूलप्रभेदाः।

पित्तज कास से कफज कास, कफज कास से उरःक्षत कास और उरःक्षत कास से क्षयजकास बलवान् होता है ॥ ३ ॥

कासपूर्वरूपमाह—

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता । कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥ ४ ॥

***भोज्यानामवरोधः = कवलगिलने कण्ठव्यथा ॥ ४ ॥**

कासपूर्वरूप—खांसी उत्पन्न होने के पहले गला और मुख शूकपूर्ण सा प्रतीत होता है, गले में खुजली सी होती है और भोज्य पदार्थों को निगलते समय गले में अवरोध प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

वातिककासलक्षणमाह—

हृच्छङ्खपार्श्वोदरमूर्द्धशूली क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः ।
प्रसक्तवेगस्तु समीरणेन भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव ॥ ५ ॥

***शङ्खो = ललाटैकदेशः । शुष्कं = श्लेष्मादिरहितम् ॥ ५ ॥**

वातज कासलक्षण—वातज कास में हृदय, शङ्खप्रदेश (कनपटी), पसली, उदर और सिर में पीड़ा होती हैं, मुख की प्रभा हीन हो जाती है, बल, स्वर तथा ओज क्षीण हो जाता है । खांसी वारंवार तथा बड़े वेग से आती है । स्वर नष्ट हो जाता है और खांसी सूखी होती है अर्थात् कफ नहीं निकलता ॥ ५ ॥

पैत्तिककासलक्षणमाह—

उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषाऽऽर्त्तः ।
पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि कासेत्सपाण्डुः परिदह्यमानः ॥ ६ ॥

***सपाण्डुः = पाण्डुरोगयुक्तः ॥ ६ ॥**

पित्तज कासलक्षण—पित्तज कास में हृदय में दाह, ज्वर, मुखशोष, मुख में तीतापन, तृष्णा, पीला तथा कडुवा वमन, पाण्डुरोग और दाह होता है ॥ ६ ॥

श्लैष्मिककासलक्षणमाह—

प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदञ्छिरोरुजाऽऽर्त्तः कफपूर्णदेहः ।
अभक्तरुग्गौरवकण्डुयुक्तः कासेद् भृशं सान्द्रकफः कफेन ॥ ७ ॥

***प्रलिप्यमानेन मुखेन = श्लेष्मलिप्तेन मुखेन, उपलक्षितः । अभक्तरुग् = न भक्ते रुग् = रुचिर्यस्य सः । कण्डूः कण्ठ एव च ॥ ७ ॥**

कफज कासलक्षण—कफज कास में मुख कफ से लिप्त सा रहता है, सिर में पीड़ा होती है,

---

पारुष्यं कर्णनादो विषमपरिणतिभ्रंशदृष्टिप्रमोहा-
विस्पन्दोद्वहनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनं च ॥
नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षो
विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणशुषिरताच्छेदनं वेष्टनञ्च ।
वर्णः श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविश्लेषसङ्गा-
वित्यात् कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात्कषायो रसश्च । इति सुदान्तसेनः ।
(माधवनि० मधुको० व्या० पञ्चनि० श्लो० ॥)

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवाहनोद्यतः । स्वेदासृक्स्रावणो चाऽपि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ॥
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् । पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम् ॥
समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्त्तवान्यधः । क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् वस्तिगुदाश्रयान् ॥
वायुरामाशये क्रुद्धश्छर्द्यादीन् कुरुते गदान् । मोहं मूर्च्छां पिपासाञ्च हृद्ग्रहं पार्श्ववेदनाम् ॥
श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात् क्रुद्धः समीरणः । वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं चुमचुमायनम् ॥
त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम् । व्रणांश्च रक्तगो ग्रन्थीन् समूलान् मांससंश्रितः ॥
सु० नि० स्था० अध्याय १ श्लो० १६–२४ ।

शरीर कफ से भरा रहता है, भोजन में अरुचि रहती है, शरीर में भारीपन होता है, गले में खुजली प्रतीत होती है और खाँसते समय बारम्बार गाढ़ा सा कफ निकलता रहता है ॥ ७ ॥

क्षतजकासस्य निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजनिग्रहैः । रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ॥८॥ स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत् सशोणितम् । कण्ठेन कूजताऽत्यर्थं विभग्नेनेव चोरसा॥९॥ सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना । दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाऽभितापिना॥१०॥ पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः । पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥११॥

***अश्वगजयोर्निग्रहो=दमनम् । कण्ठेनेत्युपलक्षणे तृतीया, एवम्-उरसेति ॥ ८-११ ॥**

क्षतज कास के निदान-सम्प्राप्ति-पूर्वक लक्षण—अत्यन्त स्त्रीप्रसङ्ग से, बहुत भारी बोझा उठाने से, बहुत मार्ग चलने से, अत्यन्त युद्ध करने से और भागते हुए घोड़े, हाथी इत्यादि जानवरों को बलपूर्वक रोकने से रूक्ष मनुष्य का हृदय फट जाता है। और कुपित हुई वायु खाँसी को उत्पन्न कर देती है। क्षतज कास से पीडित मनुष्य प्रथम सूखा खाँसता है फिर रुधिरयुक्त थूकता है। गला सर्वदा कूजता रहता है और हृदय फटा सा प्रतीत होता है। तथा तीक्ष्ण सुइयों से छिदा सा मालूम होता है। छाती में शूल होता है। हृदय का स्पर्श पीड़ा के कारण नहीं सह सकता। फाड़ने के समान पीड़ा, सन्ताप, शरीर के पर्वों में वेदना, श्वास, ज्वर तथा तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। स्वर नष्ट हो जाता है और खाँसी के वेग से कबूतर के समान कूजता है अर्थात् घुट २ शब्द करता है॥ ८-११ ॥

क्षयजकासस्य निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद् वेगनिग्रहात् ।
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः । कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ॥

***घृणिनां=विचिकित्सायुक्तानाम् ॥ १२ ॥**

क्षयज कास के निदान तथा सम्प्राप्ति—विषम तथा असात्म्य आहार से, अत्यन्त मैथुन से, मलमूत्रादि के वेगों को रोकने से, घृणा अर्थात् दूसरे के गुणों में संशय करने से और शोक करने से मनुष्य की जठराग्नि मन्द हो जाती है। तब प्रकुपित तीनों दोष शरीर को क्षय करने वाले 'क्षयज कास' को उत्पन्न कर देते हैं॥ १२ ॥

क्षयजकासस्य लक्षणमाह—

सगात्रशूलज्वरमोहदाहप्राणक्षयं चोपलभेत कासी ॥ १३ ॥
शुष्यन् विनिष्ठीवति निर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् ।
तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति ॥ १४ ॥

क्षयज कास लक्षण—क्षयज कास में रोगी के शरीर में शूल, ज्वर, मोह तथा दाह होता है। प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है। सूखा थूकता है। और बल तथा मांस के क्षीण हो जाने पर पूययुक्त रक्त खाँसी के समय थूकता है। यदि क्षयज कास सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त हो तो चिकित्सक लोग अत्यन्त दुश्चिकित्स्य बतलाते हैं॥ १३-१४ ॥

क्षयजक्षतजकासयोरसाध्ययाप्यत्वमाह—

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ।
साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥ १५ ॥

***एवं क्षतोत्थितः क्षीणानामसाध्यः । बलवतां साध्यो याप्यो वा स्यात् ॥ १५ ॥**

क्षयज तथा क्षतज कास की साध्यासाध्यता आदि—क्षयज कास तथा इसी प्रकार क्षतज कास भी यदि क्षीण मनुष्य को उत्पन्न हो जाता है तो असाध्य होता है। और यदि बलवान् मनुष्य को उत्पन्न होता है तो साध्य अथवा याप्य होता है॥ १५ ॥

नवौ कदा चित्सिद्धयेतामपि पादगुणान्वितौ । स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्त्तितः

*सिद्धयेतां क्षतजक्षयजौ सद्वैद्यसद्भेषजसत्परिचारकयुक्तस्य सदातुरस्य जातौ। स्थविराणां जराकासः=वृद्धानां यः कासो भवति स जराकाससञ्ज्ञः, स सर्व एव वातजादिरपि याप्यः ॥ १६ ॥

यदि चिकित्सा के चारों पाद (वैद्य, ओषधि, परिचारक तथा रोगी) उत्तम हों और क्षतज अथवा क्षयज कास थोड़े ही समय से उत्पन्न हुआ हो तो क्षीण मनुष्य का भी कास कभी २ साध्य हो जाता है। वृद्ध मनुष्यों को होने वाला 'कास' 'जराकास' कहलाता है। यह हर तरह से याप्य ही होता है ॥ १६ ॥

त्रीन्पूर्वान्साधयेत्साध्यान्पथ्यैर्याप्यांस्तु यापयेत् ॥ १७ ॥

पूर्वोक्त, वातज, पित्तज और कफज तीनों प्रकार के कासों को साध्य समझ कर चिकित्सा द्वारा नष्ट कर देना चाहिये। और उरःक्षत तथा क्षय से उत्पन्न हुए कास को याप्य समझ कर पथ्य-विधान से कालयापन कराना चाहिये ॥ १७ ॥

कासोपेक्षायां दोषमाह—

ज्वरारोचकहृल्लासस्वरभेदक्षयादयः। भवन्त्युपेक्षया यस्मात् तस्मात्त्वरया जयेत् ॥१८॥

*स्वल्पोऽपि कास उपेक्षणीयो न भवति, किन्तु शीघ्रं प्रतिकरणीय इत्याह-ज्वरेति ॥

कासोपेक्षा के दोष—कास की उपेक्षा करने से अर्थात समय पर उचित चिकित्सा न करने से ज्वर, अरुचि, हृल्लास, स्वरभेद तथा क्षय आदि रोग उत्पन्न होते हैं। अतः कास की चिकित्सा शीघ्र ही कर डालनी चाहिये ॥ १८ ॥

कासस्य चिकित्सा

तत्र प्रथमं वातजकासस्य चिकित्सामाह—

वास्तूको वायसीशाकं मूलकं सुनिषण्णकम्। स्नेहास्तैलादयो भक्ष्यास्तथेक्षुरसगौडिकाः ॥
दध्यारनालाम्लफलं प्रसन्नापानमेव च। शस्यते वातकासेषु स्वाद्वम्ललवणानि च ॥ २० ॥

*वायसीशाकं='काकोदुम्बरिका'-'माचीकचैया' वेति लोके। सुनिषण्णकं='सुषुणि'—'सिरुआ' वेति लोके शाकविशेषः।

चाङ्गेरीसदृशं पत्रैः सुनिषण्णं चतुर्दलम्। शाको जलान्विते देशे चतुष्पत्रीति चोच्यते ॥१॥

'चौपतिया' इति लोके ॥ १९-२० ॥

वातज कासचिकित्सा—वातज कास में बथुआ, मकोय, मूली तथा चौपतिया के शाक, तैल इत्यादि स्निग्ध पदार्थ, इक्षुरस, गुडनिर्मित पदार्थ, दही, काञ्जी, खट्टे फल और प्रसन्ना (मदिरा विशेष) का सेवन हितकर है। चौपतिया का स्वरूप—इसके पत्ते चाङ्गेरी के पत्तों के समान होते हैं। इसकी एक-एक शाखा में ४-४ पत्ते होते हैं। तथा यह शाक प्रायः सजल भूमि में उत्पन्न होता है। इसे 'चौपतिया' या 'सुनिषण्णक' कहते हैं ॥ १९-२० ॥

ग्राम्यानूपौदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान्। रसैर्माषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्भिषक् ॥२१॥

*ग्राम्यानूपौदकैः रसैरित्यन्वयः। आत्मगुप्ता='कौंच' इति लोके ॥ २१ ॥

वैद्य को चाहिये कि वातिक कास में ग्राम, अनूपदेश और जल में रहने वाले जीवों के मांस के रस के साथ अथवा उड़द या कौंच के यूष के साथ शालि चावल, जौ, गेहूँ और साठी के चावल को खिलावे ॥ २१ ॥

दशमूलीकृता श्वासकासहिक्कारुजाऽपहा। यवागूर्दीपनी वृष्या वातरोगविनाशिनी ॥२२॥

दशमूल द्वारा सिद्ध की गई यवागू श्वास, कास, हिक्का तथा वातरोगों को नष्ट करती है। अग्नि को दीप्त करती है तथा मैथुन शक्ति को बढ़ाती है ॥ २२ ॥

रसः कर्कटकानां वा घृतभृष्टः सनागरः। वातकासप्रशमनः शृङ्गीमत्स्यस्य वा पुनः ॥२३॥

केकड़े अथवा सींगी मछली का रस घी में भून कर सोंठ मिलाकर पीने से 'वातज कास' दूर हो जाता है ॥ २३ ॥

पित्तजकासस्य चिकित्सामाह—

कण्टकारीयुगद्राक्षा-वासाकचूरवालकैः ।

नागरेण च पिप्पल्या क्वथितं सलिलं पिबेत् । शर्करामधुसंयुक्तं पित्तकासहरं परम् ॥ २४ ॥

पित्तज कासचिकित्सा—छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, मुनक्का, अडूसा, कचूर, सुगन्धवाला, सोंठ तथा पीपल का क्वाथ मिश्री तथा मधु मिलाकर पीने से 'पित्तज कास' नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

कफजकासस्य चिकित्सा ।

तत्र पिप्पल्यादिक्वाथमाह—

पिप्पली कट्फलं शुण्ठी शृङ्गी भार्गी तथोषणम् । कारवी कण्टकारी च सिन्दुवारो यवानिका ॥
चित्रको वासकश्चैषां कषायं विधिवत्कृतम् । कफकासविनाशाय पिबेत्कृष्णारजोयुतम् ॥२६॥

कफज कासचिकित्सा—पीपल, कायफल, सोंठ, काकड़ासिंगी, भारङ्गी, काली मिर्च, स्याह, जीरा, कटेरी, सम्भालू, अजवाइन, चित्त तथा अडूसे का विधिपूर्वक क्वाथ बनाकर पिप्पली का चूर्ण डालकर पीने से 'कफज कास' नष्ट हो जाता है ॥ २५-२६ ॥

क्षतजकासचिकित्सामाह—

इक्षुवालिकापद्ममृणालोत्पलचन्दनम् । मधुकं पिप्पली द्राक्षा लाक्षा शृङ्गी शतावरी ॥२७॥
द्विगुणा च तुगाक्षीरी सिता सर्वचतुर्गुणा । लिह्यात्तन्मधुसर्पिर्भ्यां क्षतकासनिवृत्तये ॥ २८ ॥

***इक्षुवालिका = इक्षुभेदः 'चन्द्र' इति लोके । पद्मं=पद्मकाष्ठम् । मृणालं = बिसम् । उत्पलं = कमलम् । चन्दनमत्र धवलं चूर्णत्वात् । शृङ्गी = कर्कटशृङ्गी । तुगाक्षीरी=वंशरोचना सा चेक्षोर्द्विगुणा ।**

क्षतज कास चिकित्सा—ईख, इक्षुवालिका (ईखविशेष), पद्मकाष्ठ, कमल की डंडी, कमल, सफेद चन्दन, मुलहठी, पीपल, मुनक्का, लाख, काकड़ासिंगी, शतावरी, ईख से दुगुना वंशलोचन और सब से चौगुनी मिश्री लेकर सब का चूर्ण करके मधु तथा घी के साथ चाटने से 'क्षतज कास' निवृत्त हो जाता है ॥ २७-२८ ॥

क्षयजकासचिकित्सामाह—

चूर्णं काकुभमिष्टं वासकरसभावितं बहून्वारान् ।
मधुघृतसितोपलाभिर्लेह्यं क्षयकासरक्तहरम् ॥ २९ ॥

***काकुभं चूर्णम् ॥ २९ ॥**

क्षयज कास चिकित्सा—अर्जुन चूर्ण पर अडूसे के स्वरस की बारंबार भावना देकर मधु, घी तथा मिश्री के साथ चटाने से 'क्षयज कास' दूर हो जाता है ॥ २९ ॥

कासरोगस्य सामान्यचिकित्सामाह—

ताप्यमानस्य कासेन नासास्रावे स्वरे जडे । क्षवथौ गन्धनाशे च धूमपानं प्रयोजयेत् ॥३०॥

कास सामान्यचिकित्सा—कासजन्य सन्ताप से नासिका से जल गिरता हो, स्वरजाड्य होगया हो, छींक आती हो घ्राणशक्ति का विनाश हो गया हो तो धूमपान करना चाहिये ॥ ३० ॥

मनःशिलाऽऽलमरिचमांसीमुस्तेङ्गुदैः पिबेत् । धूमं त्र्यहञ्च तस्यानु पयश्च सगुडं पिबेत् ॥३१॥
एष कासान्पृथग्द्वन्द्वसर्वदोषसमुद्भवान् । शतैरपि प्रयोगाणामसाध्यान्साधयेद् ध्रुवम् ॥३२॥

***आलं = हरितालम् ॥ ३१-३२ ॥**

मनःशिला, हरिताल, मिर्च, जटामांसी, नागरमोथा तथा हिङ्गोट का चूर्ण करके चिलममें रखकर दिन में ३ बार धूमपान करे, और उसके बाद गुड़ मिलाकर दूध का सेवन करे। यह प्रयोग एक-दोषज, द्विदोषज तथा सम्पूर्णदोषज कास जो कि सैकड़ों औषधियों के करने पर भी दूर न होता हो वह भी इस धूमपान से अवश्य ठीक हो जाता है ॥ ३१-३२ ॥

बदरीदलमालिप्तं शिलयाऽऽतपशोषितम् । तद्धूमपानं सक्षीरं महाकासनिवारणम् ॥ ३३ ॥

पानी में पिसी हुई मनःशिला को बेर के पत्तों पर लेप करके धूप में सुखा ले। पुनः इसे चिलम में रखकर धूमपान करावे। पश्चात् दुग्ध पिलावे इससे महा भयङ्कर कास शान्त हो जाता है ॥३३॥

कण्टकारीकृतः क्वाथः सकृष्णः सर्वकासहा। कण्टकार्याः कणायाश्च चूर्णं समधु कासहृत्॥

कण्टकारी के क्वाथ में पिप्पली का चूर्ण मिलाकर पीने से प्रत्येक प्रकार का कास नष्ट हो जाता है। कटेरी तथा पिप्पली इन दोनों का चूर्ण मधु में मिलाकर चाटने से कास रोग दूर हो जाता है॥

समशर्करचूर्ण वटिकां चाऽऽह—

लवङ्गजातीफलपिप्पलीनां भागान्प्रकल्प्याक्षसमानमीषाम्।
पलार्द्धमानं मरिचं प्रदेयं पलानि चत्वारि महौषधस्य ॥ ३५॥
सिता समस्तेन समाऽथ चूर्णं रोगानिमानाशु बलान्निहन्ति।
कासज्वरारोचकमेहगुल्मश्वासाग्निमान्द्यग्रहणीविकारान् ॥ ३६॥

समशर्करचूर्ण—लौङ्ग, जायफल, पिप्पली सब को १-१ तोले लेकर काली मिर्च २ तोले, शुण्ठी १६ तोले और सब के बराबर मिश्री लेकर सबका चूर्ण या वटिका बनाले। इस चूर्ण का सेवन करने से कास, ज्वर, अरुचि, प्रमेह, गुल्म, श्वास, मन्दाग्नि तथा ग्रहणीविकार तत्काल नष्ट हो जाते हैं॥

कुनटीसैन्धवव्योषविडङ्गामयहिङ्गुभिः। लेहः साज्यमधुः कासश्वासहिक्कानिवारणः ॥ ३७॥

मनःशिला, सेन्धानमक, सोंठ, मिर्च, पीपल, वायविडङ्ग और भुनी हुई हींग को लेकर सब का चूर्ण करके मधु तथा घृत के साथ चाटने से कास-श्वास तथा हिचकी दूर हो जाती है॥ ३७॥

हरीतकीकणाशुण्ठीमरिचं गुडसंयुतम्। कासश्लेष्मापहं प्रोक्तं परं वह्नेःप्रदीपनम् ॥ ३८॥

हरड़, पिप्पली, सोंठ तथा मिर्च इन सबका चूर्ण बनाकर गुड़ मिलाकर खाने से कास तथा कफ नष्ट हो जाता है और अग्नि प्रदीप्त हो जाती है॥ ३८॥

मरिचाद्यं चूर्णमाह—

कर्षः कर्षांशपलं पलद्वयं स्यात्ततोऽर्द्धकर्षश्च। मरिचस्य पिप्पलीनां दाडिमगुडयावशूकानाम्॥
सर्वौषधिभिरसाध्याः कासा ये वैद्यनिर्मुक्ताः। अपि पूयं छर्दयतां तेषामिदमौषधं परमम् ॥

***कर्षांशोऽत्र कर्षद्वयम् ॥ ३९-४०॥**

मरिचाद्यचूर्ण— मिर्च १ तो०, पिप्पली २ तो०, अनार का छिलका ४ तो०, गुड़ ८ तो० तथा यवक्षार आधा तोला इन सबको लेकर चूर्ण बनाकर (मधु के साथ) चाटने से भयङ्कर कास नष्ट हो जाता है। जो कास अनेक प्रकार की ओषधियों से दूर न हुआ हो तथा जिसे वैद्यों ने त्याग दिया हो वह कास भी इससे शीघ्र नष्ट हो जाता है। तथा जिस कास में रुधिर का वमन भी हो उसके लिये यह ओषधि परमोत्तम है॥ ३९-४०॥

मरिचादिगुटिकामाह—

मरिचं कर्षमात्रं स्यात्पिप्पली कर्षसम्मिता। अर्द्धकर्षो यवक्षारः कर्षयुग्मन्तु दाडिमम्॥४१॥
एतच्चूर्णीकृतं युञ्ज्यादष्टकर्षगुडेन हि। शाणप्रमाणां गुटिकां कृत्वा वक्त्रे विधारयेत्।
अस्याः प्रभावात्सर्वेऽपि कासा यान्त्येव सङ्क्षयम् ॥ ४२॥

***दाडिमफलत्वग् ग्राह्या ॥ ४१-४२॥**

मरिचादि गुटिका—काली मिर्च १ तोला, पिप्पली १ तो०, यवक्षार आधा तो० और अनार के फल का छिलका २ तोले इन सबका चूर्ण ८ तोले गुड में मिला कर २४-२४ रत्ती की गोलियां बना ले। १ गोली मुख में रखने से इसके प्रभाव से सब प्रकार के कास का नाश हो जाता है॥

भृगुहरीतकीमाह—

समूलवल्कच्छदकण्टकार्यास्तुलां ततो द्रोणमितं जलञ्च।
हरीतकीनां शतमेकपात्रे विपाच्य कुर्याच्चरणाम्बुशेषम् ॥ ४३॥
तस्मिन्कषाये तनुवस्त्रपूते हरीतकीभिः सहिते गुडस्य।
तुलां विनिक्षिप्य पचेत्सुपक्वमेतत्समुत्तार्य सुशीतलञ्च ॥ ४४॥

पलं पलञ्चापि कटुत्रयञ्च तथा चतुर्जातपलं विचूर्ण्य ।
पलानि षट् पुष्परसस्य चापि विनिक्षिपेत्तत्र विमिश्रयेच्च ॥४५॥
प्रयुज्यमानो विधिनैष लेहो यथाबलञ्चापि यथाऽनलञ्च ।
वातात्मकं पित्तकृतं कफोत्थं त्रिदोषजातानपि च त्रिदोषम् ॥४६॥
क्षतोद्भवञ्च क्षयजञ्च कासं श्वासञ्च हन्यात्सह पीनसेन ।
यक्ष्माणमेकादशरूपमुग्रं हरीतकी या भृगुणोपदिष्टा ॥४७॥

*पुष्परसो=मधु ॥ ४३-४७ ॥

भृगुहरीतकी—कण्टकारी की जड़, छाल तथा पत्ते मिलाकर १०० पल और १०० हर्रे लेकर दोनों को एक पात्र में एक द्रोण (१०२४ तोले) जल में पकावे। जब पकते-पकते चतुर्थांश क्वाथ अवशिष्ट रह जाय तो बारीक वस्त्र से छानकर रख दे। फिर इस क्वाथ में उपर्युक्त पकाये गये १०० हरड़ों तथा ४०० तोले गुड़ को डाल कर पकावे। जब पकते-पकते अवलेह के समान हो जाय तो उसे उतार कर शीतल कर ले। तत्पश्चात् उसमें सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, इलायची छोटी, दालचीनी, तेजपात तथा नागकेशर इन प्रत्येक ओषधियों को ४-४ तोले लेकर चूर्ण करके तथा मधु २४ तोले, इन सबको मिला दे। इस अवलेह को शरीर के बल तथा अग्नि के बल के अनुसार सेवन करने से वातज, पित्तज, कफज, द्वन्द्वज, त्रिदोषज, क्षतज तथा क्षयज कास, श्वास, पीनस तथा एकादश लक्षणों से युक्त महाउग्र राजयक्ष्मा नष्ट हो जाता है। यह भृगुऋषि द्वारा कही गई 'भृगुहरीतकी' नामक ओषधि है ॥ ४३-४७ ॥

कण्टकार्यवलेहमाह—

कण्टकारीतुलां नीरद्रोणे पक्त्वा कषायकम् । पादशेषं गृहीत्वा च तत्र चूर्णानि दापयेत् ॥४८॥
पृथक्पलांशान्येतानि गुडूची चव्यचित्रकौ । मुस्तं कर्कटशृङ्गी च त्र्यूषणं धन्वयासकः ॥४९॥
भार्गी रास्ना शटी चैव शर्करापलविंशतिः । प्रत्येकञ्च पलान्यष्टौ प्रदद्याद् घृततैलयोः ॥५०॥
पक्त्वा लेहत्वमानीय शीते मधु पलाष्टकम् । चतुर्भागं तुगाक्षीर्याः पिप्पल्याश्च चतुःपलम् ॥
क्षिप्त्वा निदध्यात्सुदृढे मृन्मये भाजने शुभे । लेहोऽयं हन्ति हिक्काऽऽर्तिकासश्वासानशेषतः ।

इति द्वादशः कासाधिकारः समाप्तः ॥ १२ ॥

कण्टकार्यवलेह—कण्टकारी का पञ्चाङ्ग १०० पल लेकर १ द्रोण (१०२४ तो०) जल में पकावे। जब पकते २ चतुर्थांश जल शेष रह जाय तो उसे छानकर रख ले फिर इस क्वाथ में गुडूची, चव्य, चित्रक, नागरमोथा, काकडासिङ्गी, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, जवासा, भारङ्गी, रास्ना तथा कचूर इन प्रत्येक ओषधियों को ४-४ तोला लेकर चूर्ण बनाकर चीनी २० पल, घी ८पल तथा तेल ८ पल लेकर सब को डाल दे। और उत्तम विधिसे पाक करे जब पकते २ अवलेह के समान हो जाय तो शीतल करके ८ पल मधु, ८ तोला० वंशलोचन तथा १६ तो० पीपल का चूर्ण मिला दे। इस अवलेह को उत्तम चिकने तथा दृढ़ मिट्टी के बरतन में भर कर रख दे। इस अवलेह को चाटने से हिक्का, कास तथा श्वास रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ४८-५२ ॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे द्वादशः कासरोगाधिकारः समाप्तः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशो हिक्काऽधिकारः ॥ १३ ॥

तत्र हिक्काया विप्रकृष्टनिदानमाह—

विदाहिगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यन्दिभोजनैः । शीतपानाशनस्नानरजोधूमात्तथाऽनिलैः ॥१॥
व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणैः । हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते ॥ २ ॥

*अपतर्पणम् = अनशनादि ॥ १-२ ॥

विदाही, गुरु, मलावरोधक, रूक्ष तथा अभिष्यन्दी पदार्थों के खाने से शीतल जल पीने से, शीतल अन्न खाने से और शीतल जल में स्नान करने से, धूल तथा धुयें के मुख व नासिका द्वारा भीतर जाने से, तीव्र वायु के लगने से, अधिक व्यायाम से, भारी बोझ के उठाने से, अधिक मार्ग चलने से, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने से तथा अपतर्पण से मनुष्यों को हिक्का[1], श्वास, कास रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १-२ ॥

हिक्कायाः संख्यारूपसम्प्राप्तिमाह—

वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि । अन्नजां यमलां क्षुद्रां गम्भीरां महतीं तथा॥३॥

वायु कफ से मिलकर १-अन्नजा, २-यमला, ३-क्षुद्रा, ४-गम्भीरा तथा ५-महती नामक पांच प्रकार की हिक्का को उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥

हिक्कायाः सामान्यलक्षणमाह—

मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन् ।
स दोषवानाशु हिनस्त्यसून्यतस्ततस्तु हिक्केत्यभिधीयते बुधैः ॥ ४ ॥

***वायुरत्र सोदानप्राणो बोद्धव्यः । उदेति = ऊर्ध्वं याति । सस्वनः = 'हिगि'ति शब्दवान् । ऊर्ध्वगमनं विशिनष्टि—'यकृदि'त्यादि । 'प्लिह'इति शब्दोऽप्यस्ति दीर्घत्वविकल्पात् । 'मुखादि'ति ल्यब्लोपे पञ्चमी, तेन यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखमानीय, आक्षिपन्=निःसारयन्, इवेत्यर्थः । सः=वायुः, दोषवान्=दोषोऽत्र कफस्तद्वान् । 'वायुः कफेनानुगत–' इति संप्राप्तिः । हिनस्तीति हिक्का पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः । हिगिति शब्दं करोतीति ॥ ४ ॥**

उदानवायु प्राणवायु के साथ मिलकर यकृत्, प्लीहा तथा आंतों को मुख की ओर खींचकर लाता हुआ बारम्बार हिक् हिक् शब्द को करता हुआ तीव्र गति के साथ चलता है । और वायु कफ के अनुसरण से मनुष्यों के जीवन का तत्काल अन्त कर देता है । इसमें हिक् हिक् ऐसा शब्द होता है इसलिये विद्वान् लोग इसे हिक्का कहते हैं ॥ ४ ॥

हिक्कायाः पूर्वरूपमाह—

कण्ठोरसोर्गुरुत्वञ्च वदनस्य कषायता । हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥ ५ ॥

***वदनस्य कषायता वातात् ॥ ५ ॥**

कण्ठ तथा छाती में भारीपन, वात की अधिकता से मुख में कसैलापन तथा पेट का फूलना ये सब हिचकी के पूर्वरूप हैं ॥ ५ ॥

अन्नजाया हिक्काया लक्षणमाह—

पानान्नैरतिसंयुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः । हिक्कयेदूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक्॥

***अनिलः = प्राणो वायुः ॥ ६ ॥**

अत्यन्त अन्न तथा जल के सेवन करने से एकाएक प्राणवायु दब कर ऊर्ध्वगति को प्राप्त होकर हिक् हिक् शब्द करता है, उसे वैद्य लोग अन्नजा हिक्का कहते हैं ॥ ६ ॥

---

१. हिक्का रोग को पाश्चात्त्य वैद्यक में हिकप (Hiccup) कहते हैं । इसे कोई रोग न मानकर इसका कोई विशद विवेचन नहीं किया गया है बल्कि यह एक लक्षण (Symptom) है । अतः इसका पाश्चात्त्यमतानुसार विस्तृत विवेचन करना बहुत आवश्यक न समझकर नहीं किया जा रहा है ।

हां इस रोगके सम्बन्ध में केवल इतना कहना पर्याप्त समझता हूँ कि हिक्का रोग पाश्चात्त्य विद्वानों के मत से डायाफाम (Diaphragm) नामक मांसपेशी के सङ्कोचके कारण उत्पन्न होता है । यह सङ्कोच फ्रीनिक नामक वातनाड़ी (phrenic Nerve) के किसी प्रकार प्रक्षुभित होने के कारण होता है ।

यमलाया हिक्काया लक्षणमाह—

चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का सम्प्रवर्त्तते। कम्पयन्ती शिरो ग्रीवां यमलां तां विनिर्दिशेत्॥७॥

अधिक देर में वेग से एक साथ दो-दो हिचकियां आती हैं तथा गरदन और शिर को कंपाती हैं। उसे वैद्यजन 'यमला' हिक्का कहते हैं॥ ७॥

क्षुद्राया हिक्काया लक्षणमाह—

विकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्त्तते। क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलं प्रधाविता॥ ८॥

***अनेकोपद्रववती=तृष्णाज्वरादियुक्ता॥ ९॥**

जो हिक्का बहुत देर में मन्दवेग से वारम्बार जत्रुमूल (कण्ठ तथा हृदय की सन्धि) से चलती है, उसे 'क्षुद्रा' हिक्का कहते हैं॥ ८॥

गम्भीराया हिक्काया लक्षणमाह—

नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी। अनेकोपद्रववती गम्भीरा नाम सा स्मृता॥

***अनेकोपद्रववती=तृष्णाज्वरादियुक्ता॥ ९॥**

जो हिक्का नाभि से उत्पन्न होकर भयङ्कर स्वरूप धारण करके गम्भीर शब्द करती है तथा जिसमें तृष्णा और ज्वरादि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, उसे 'गम्भीरा' हिक्का कहते हैं॥ ९॥

महतीहिक्कालक्षणमाह—

मर्माणि पीडयन्तीव सततं या प्रवर्तते। महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रप्रकम्पिनी॥ १०॥

***मर्माणि=वस्तिहृदयशिरःप्रभृतीनि॥ १०॥**

जो हिक्का सम्पूर्ण गात्र को कँपाती है तथा वस्ति, हृदय और शिर आदि मर्मस्थानों को पीड़ित करती हुई निरन्तर प्रवर्तित होती है, उसे 'महती' या 'महाहिक्का' कहते हैं॥ १०॥

हिक्कासाध्यतामाह—

आकम्पते हिक्कतो यस्य देहो दृष्टिश्चोर्ध्वं ताम्यते नित्यमेव।
क्षीणोऽन्नद्विट् क्षौति यश्चातिमात्रं तौ द्वौ चान्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानौ॥ ११॥

***आकम्पते=विस्फूर्यत इव। तौ द्वाविति='आकम्पत' इत्यादिना 'नित्यमेवे'त्यन्तेनैको हिक्कमानः। 'क्षीण' इत्यादिना 'अतिमात्रमि'त्यन्तेनापरः। तौ, द्वौ अन्त्यौ च गम्भीरया महत्या हिक्कया हिक्कमानौ वर्जयेत्॥ ११॥**

हिक्का आते समय जिस मनुष्य का शरीर विस्फारित हो जाय तथा दृष्टि ऊपर को ग्लानियुक्त होकर फैल जाय, वैद्य को चाहिये कि उस रोगी को त्याग दे। जिस मनुष्य का शरीर क्षीण हो गया हो, अन्न में अरुचि हो तथा अधिक छींकता हो; वैद्य उसकी चिकित्सा न करे। उसी प्रकार जिस मनुष्य को 'गम्भीरा' अथवा 'महती' हिक्का आती हो। वैद्य को उचित है कि उसकी भी चिकित्सा न करे॥ ११॥

अपरञ्च—

यमलाहिक्कासाध्यतामाह—

अतिसञ्चितदोषस्य भक्तद्वेषकृशस्य च। व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः॥१२॥
आयासाच्च समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम्। यमिका च प्रलापार्त्तिमोहतृष्णासमन्विता॥

जिस व्यक्ति को अत्यन्त दोषों का संचय हो, जिसे अरुचि के कारण दुर्बलता उत्पन्न हो गई हो, व्याधियों से जिसका शरीर क्षीण हो गया हो, वृद्ध हो और अत्यन्त स्त्रीप्रसङ्ग करता हो ऐसे मनुष्य की उत्पन्न हुई हिक्का तत्काल उसके जीवन का नाश कर देती है। परिश्रम से उत्पन्न हुई हिक्का तत्काल जीवन का अन्त कर देती है। 'यमला' हिक्का यदि प्रलाप, पीड़ा, मोह तथा तृष्णा से संयुक्त हो तो वह भी तत्काल मारक होती है॥ १२–१३॥

यमिकायाः साध्यत्वमाह—

अक्षीणस्याप्यदीनस्य स्थिरधात्विन्द्रियस्य च। तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा॥

'यमला' हिक्का यदि बलवान्, प्रसन्नचित्त तथा स्थिरधातु और स्थिर इन्द्रियों वाले मनुष्य को उत्पन्न हुई हो तो साध्य समझना चाहिये। क्षीण, दीन चेष्टा वाले और जिसकी धातु तथा इन्द्रियां अस्थिर हैं ऐसे मनुष्य को यदि 'यमला' हिक्का हो जाय तो अवश्य ही मार देती है॥ १४॥

हिक्काचिकित्सामाह—

यत्किञ्चित्कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्। भेषजं पानमन्नं वा हिक्काश्वासेषु तद्धितम्॥१५॥

जो कोई औषधि अथवा अन्न-पान कफ और वायु को हरने वाली, उष्ण तथा वातानुलोमक है वे सब औषधियां तथा अन्नपान हिक्का और श्वास रोग में हितकर हैं॥ १५॥

हिक्काश्वासातुरे पूर्वं तैलाक्ते स्वेद इष्यते। ऊर्ध्वाधःशोधनं शस्तं दुर्बले शमनं मतम्॥१६॥

हिक्का और श्वास से पीड़ित मनुष्य को पहिले तैल का मर्दन करके पुनः स्वेदन करे। वमन तथा विरेचन दे। ये उपचार हितकर हैं। यदि हिक्का अथवा श्वासरोगी दुर्बल हो तो उसको संशमन औषधि देनी चाहिये॥ १६॥

प्राणावरोधतर्जनविस्मापनशीतवारिपरिषेकैः। चित्रैः कथाप्रयोगैः शमयेद्धिक्कांमनोभिघातैश्च॥

श्वास को रोकना, डरवाना, आश्चर्य-जनक वार्ता का कहना, शीतल जल द्वारा परिषेचन, चित्र-विचित्र कथाओं का कहना तथा मन को खिन्न करने वाले प्रयोगों का करना इन सब उपायों से हिक्का को शान्त करना चाहिये॥ १७॥

हिक्कार्त्तस्य पयश्छागं हितं नागरसाधितम्। मधुसौवर्चलोपेतं मातुलुङ्गरसं पिबेत्॥ १८॥
मधुकं मधुसंयुक्तं पिप्पली शर्करान्विता। नागरं गुडसंयुक्तं हिक्काघ्नं नावनत्रयम्॥ १९॥

सोंठ डालकर सिद्ध किया हुआ बकरी का दूध हिक्कारोगी के लिये हितकर है। बिजौरे नींबू के रस को मधु तथा कालानमक के साथ पीने से हिक्का रोग शान्त होता है। १—मुलहठी और शहद, २—पीपल तथा मिश्री, ३—सोंठ तथा गुड़, इन तीनों में से किसी एक का नस्य देने से हिक्का दूर हो जाती है॥ १८-१९॥

प्रवालशङ्खत्रिफलाचूर्णं मधुघृतप्लुतम्। पिप्पली गैरिकञ्चेति लेहो हिक्कानिवारणः॥ २०॥
नेपाल्या गोविषाणाद्वा कुष्ठात्सर्जरसस्य वा। धूपं कुशस्य वा कार्यं पिबेद्धिक्कोपशान्तये॥

*नेपाली = मनःशिला॥ २०-२१॥

मूंगा, शङ्ख, हरड, बहेड़ा, आँवला, पिप्पली और गेरू इन सब का चूर्ण मधु तथा घृत में मिला कर चाटने से हिक्का दूर हो जाती है। हिक्का को शान्त करने के लिये मनःशिला, गाय की सींग अथवा कूठ या राल अथवा कुश का धुवां पीना चाहिये॥ २०-२१॥

निर्धूमाङ्गारनिक्षिप्तहिङ्गुमाषरजोभवः। हिक्काः पञ्चापि हन्त्याशु धूमः पीतो न संशयः॥२२॥

हींग तथा उड़द के चूर्ण को निर्धूम अङ्गारों पर डालकर धूमपान करने से पांचो प्रकार की हिक्कायें निस्सन्देह शीघ्र ही शान्त हो जाती हैं॥ २२॥

हरेणुककणानाञ्च क्वाथो हिङ्गुसमन्वितः। हिक्काप्रशमनश्रेष्ठो धन्वन्तरिवचो यथा॥ २३॥

रेणुका तथा पिप्पली का क्वाथ बनाकर हींग मिला कर पीने से हिक्का अवश्य शान्त हो जाती है यह धन्वन्तरि का वाक्य है॥ २३॥

चन्द्रशूररसमाह—

चन्द्रशूरस्य बीजानि क्षिपेदष्टगुणे जले। यदा मृदूनि मृद्नीयात्ततो वाससि गालयेत्॥२४॥
हिक्कातिवेगविकलस्तज्जलं पलमात्रया। पिबेत्पिबेत्पुनश्चापि हिक्कावश्यं प्रशाम्यति॥ २५॥

इति त्रयोदशो हिक्काऽधिकारः समाप्तः॥ १३॥

चन्द्रशूर के बीजों को लेकर अठगुने जल में पकावे। जब पकते २ गाढ़ा और मृदु हो जाय तो उसे अच्छी प्रकार वस्त्र से छान ले। हिक्का रोगी इस जल में से एक पल की एक मात्रा बारम्बार

पीवे। इस जल के पीने से अत्यन्त वेग से उत्पन्न हुई हिक्का अवश्य शान्त हो जाती है। इसे चन्द्रशूर रस कहते हैं ॥ २४-२५ ॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे त्रयोदशो हिक्कारोगाधिकारः समाप्तः ॥१३॥

अथ चतुर्दशः श्वासरोगाधिकारः ॥ १४ ॥

तत्र श्वासस्य निदानमाह—

यैरेव कारणैर्हिक्का देहिनां सम्प्रवर्त्तते। तैरेव बहुभिः श्वासो व्याधिर्घोरः प्रजायते ॥ १ ॥

जिन कारणों से मनुष्यों को हिक्का रोग होता है उन्हीं बहुत से कारणों से घोर[1] श्वास रोग उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

श्वासस्य भेदानाह—

महोर्ध्वच्छिन्नतमकक्षुद्रभेदैस्तु पञ्चधा। भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः ॥२॥

---

१. पाश्चात्य विद्वान् इस श्वास रोग के कुछ सहायक कारण तथा कुछ वास्तविक कारण मानते हैं। उनकी निम्नपंक्तियों में विवेचना की जा रही है—

सहायक कारण—

१—आयु—यह रोग प्रत्येक अवस्था में हो सकता है। किन्तु प्रायः युवावस्था में होता है।

२—स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में यह दुगुना अधिक दिखाई देता है।

३—कुलजप्रवृत्ति—प्रायः श्वास वंश-परंपरागत रोग होता है और जब कुलपरंपरागत होता है तब इसकी उत्पत्ति शीघ्र होती है।

४—जलवायु—साधारणतया बदली-हवा में, जाड़े के दिनों में यह रोग अधिक हुआ करता है।

५—पचनसंस्थान के विकार—अधिक मात्रा से भोजन का सेवन, 'दुष्पाच्य पदार्थों का सेवन, रात में देर को भोजन करना तथा मलावरोध।

६—मूत्र और प्रजनन संस्थान (Genito Urinary system)—के विकार होने से स्त्रियों में इस रोग की उत्पत्ति में सहायता मिलती है। स्त्रियों में श्वास का विकार मासिकधर्म के समय और गर्भावस्था में अधिक हुआ करता है।

७—वातिक तथा मानसिक विकार, आमाधिक्य, भीति तथा चिन्ता इन विकारों से बहुत बार श्वास की उत्पत्ति में सहायता होती है।

वास्तविक कारण—

१—श्वसन-संस्थान के उपसर्गजन्य विकार (Infectious Diseases of the Respiratory tract) एडीन्वायड्स (Adenoids), टांसिल का शोथ (Tonsil Enlargement), नासाकोटर (Nasal Sinus) इसमें पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग, प्रतिश्याय, नासा के टरमिनेट (Terminate) नामक अस्थि की वृद्धि, नेजल पालीपस (Nasal polypus) की वृद्धि फुफ्फुसगत लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि अर्थात् श्वासनलिका शोथ, प्लूरा (pleura) का शोथ।

२—रासायनिक (Chemical substances)-इसमें प्राणियों के शरीर से आनेवाली गन्ध, अनेक प्रकार के पदार्थों के सूक्ष्म कण जैसे-रुई (Cotton), घास के सूक्ष्म फूलों के कण तथा इसी प्रकार अन्य गन्धयुक्त वायुवाले पदार्थों के सेवन से भी श्वास रोग होता है। जैसा कि सुश्रुत ने भी कहा है कि—

'विषौषधिपुष्पगन्धेन वायुनोपनीतेनाक्रम्यते यो देशस्तत्र दोषप्रकृत्यविशेषेण कासश्वासवमथुप्रतिश्यायशिरोरुग्ज्वरैरुपतप्यन्ते' ॥ सू० अ० ६ सूत्र २० ॥

इन गन्धयुक्त पुष्पों के कणों से पाश्चात्त्य वैद्यक में भी हे फीवर (Hay fever) नामक एक प्रकार का ज्वर होता है जो कि श्वासरोग का एक कारण माना जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ

प्रायः एक ही प्रकार का श्वास नामक महाव्याधि १—महाश्वास, २—ऊर्ध्वश्वास, ३—छिन्नश्वास, ४—तमकश्वास और ५—क्षुद्रश्वास के भेद से पांच प्रकार का होता है ॥ २ ॥

पदार्थों के खाने से भी श्वास रोग होता है यथा—प्राणिज तथा वनस्पतिज प्रोटीन (protein) युक्त द्रव्य जैसे—दूध, अण्डे, मांस, उड़द इत्यादि की दालें तथा मछलियां इत्यादि। अपने यहां भी इन्हें श्वास में कारण माना जाता है क्योंकि ये सब पदार्थ अभिष्यन्दी कफकारक हैं। किन्तु पाश्चात्त्य वैद्यक में उपर्युक्त पदार्थों के सेवन से जो श्वास रोग होता है उसे एलर्गी (Allergy) के अन्तर्गत मानते हैं।

३—आन्त्रस्थ विष—यथा आन्त्रस्थ कृमियों के कारण भी श्वास रोग होता है। संक्षेप में यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो—

'विदाहिगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यन्दिभोजनैः। शीतपानाशनस्थानरजोधूमातपानिलैः ॥
व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणैः। हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते' ॥

अपने यहां ये सब जो श्वासरोग के कारण बताये गये हैं पाश्चात्त्य निदान से प्रायः पूर्णतः मिलते हैं। इसमें सन्देह नहीं।

सम्प्राप्ति—ये कारण मस्तिष्कगत वागस (Vagus) नाड़ी के केन्द्र के ऊपर कार्य करके उसके तन्तु के द्वारा, श्वासनलिका की दीवार के सङ्कोचक तन्तुओं में संकोच पैदा करके रोग उत्पन्न करते हैं। संकोच के साथ २ श्वासनलिका की श्लेष्मल कला में कुछ रक्ताधिक्य और श्लेष्मा का स्राव भी होता है।

खाँसी और श्वास का सम्बन्ध—जब कोई व्यक्ति खांसी से एक बार पीड़ित होता है तब कुछ काल के बाद श्वास उत्पन्न होता है। यह श्वास जब खांसी अधिक होती है उसी समय होता है और खांसी कम होने पर कम हो जाता है। इस प्रकार का श्वास खांसी से उत्पन्न होने वाले श्लेष्मा के प्रकोप से उत्पन्न होता है और उसीके कारण श्वासनलिकाओं में संकोच पैदा होता है। जब श्वास (Allergy) के कारण उत्पन्न होता है और बार २ श्वास का दौरा आता है तब दौरे के कारण श्वासनलिका के श्लेष्मलकला में कमजोरी उत्पन्न होकर वायु में रहने वाले जीवाणुओं का उपसर्ग श्लेष्मलकला पर हो जाता है। इससे आगे चलकर खाँसी उत्पन्न होती है।

रोग के लक्षण—दौरे के पूर्व कभी २ बेचैनी, सुस्ती, प्रतिश्याय, छींक, जृम्भा तथा बहुमूत्रता (polyuria) इत्यादि पूर्वरूप होते हैं। प्रायः रोग का आक्रमण यकायक रात को दो बजे के बाद होता है। उस समय दम घुटने के कारण रोगी अकस्मात् बिस्तरे पर उठकर बैठता है। धीरे २ साँस की कठिनाई बढ़ती जाती है। रोगी कमरे की खिड़कियां खोलता है। पूर्व आक्रमण के समय सांस की कठिनाई बहुत अधिक हो जाती है। जिसके कारण रोगी को श्वसन की सब सहायक पेशियों को काम में लाना पड़ता है। इसलिए रोगी कुर्सी, टेबुल (Table) तकिया, अथवा जो कोई चीज़ समीप हो उसको पकड़ता है। इससे रोगी को सांस लेने में कुछ आराम मालूम पड़ता है। श्वास-प्रश्वास का कार्य कठिनाई से होता है। अन्तःश्वसन जल्दी और जोर से होता है और बहिःश्वसन धीरे २ और अधिक देर में होता है। उस समय एक विशेष प्रकार की आवाज दूर से सुनाई देती है। ये सारे लक्षण तमकश्वास के सम्बन्ध में वर्णित—

'प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते। ग्रीवां शिरश्च सङ्गृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा। अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम्' ॥

इससे भिन्न नहीं हैं। इनके अतिरिक्त सांस में कठिनाई होने पर भी छाती में कोई विशेष हलचल दिखाई नहीं देता। रोगी देखने में चिन्तातुर मालूम पड़ता है। इसके चेहरे पर कुछ नीलिमा मालूम होती है। आँखें उभरी हुई होती हैं। त्वचा पर पसीना आता है और गले की शिरायें फूली हुई हैं। नाड़ी की गति तेज होती है तथा कभी २ इसमें अनियमितता भी उत्पन्न होती है।

तस्य पूर्वरूपमाह—

प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा शूलमाध्मानमेव च। आनाहो वक्त्रवैरस्यं शङ्खनिस्तोद एव च ॥ ३ ॥

हृदय में पीड़ा, शूल, आध्मान, पेट का फूलना, मुख की विरसता तथा शङ्खप्रदेश में तोड़ने की सी पीड़ा ये सब श्वास रोग के पूर्वरूप हैं ॥ ३ ॥

श्वाससम्प्राप्तिमाह—

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः। विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः ॥
***विष्वग् व्रजति = सर्वतो विमार्गान् याति। संरुद्धः = कफेन रुद्धमार्गः ॥ ४ ॥**

जब वायु कफ से संयुक्त होकर प्राणवह, अन्नवह तथा जलवह स्रोतों को अवरुद्ध कर लेता है

आमाशयिक प्रदेश पर-स्पन्दन (Epigastric Pulsation) दिखाई देता है। रोग के प्रारम्भ में खांसी प्रायः नहीं होती है। दौरे के उत्तरार्द्ध में प्रथम सूखी खांसी शुरू होती है और धीरे २ कुछ श्लेष्मा निकलने लगता है। श्लेष्मा निकलने पर खांसी की कठिनाई कम होने लगती है और धीरे २ कम हो जाती है। इस रोग में श्लेष्मा उबले हुये साबूदाने (Boiled Sago) की तरह गांठदार और चिपचिपा होता है।

रोगक्रम—यह रोग दौरे के साथ आता है और दौरे की अवधि कुछ मिनटों से और कुछ घण्टों तक रहती है। रोग का पुनरावर्त्तन सहायक कारणों के ऊपर निर्भर करता है। जो रोगी दौरे के पूर्व रोग का ज्ञान कर लेता है वह किसी प्रकार दौरे को दूर भी कर सकता है। इस रोग की पूर्ण अवधि अनिश्चित होती है। यह रोग घातक नहीं है। यदि दौरे बहुत तीव्र न हों तो स्वास्थ्य को भी खराब नहीं करता है। परन्तु बार २ दौरे आने से श्वासनलिकाशोथ (Emphysema) और हृदय के दक्षिणार्ध की वृद्धि होजाती है। यदि रोगी पथ्यकर आहार से और अनुकूल जल-वायु के स्थान में रहे तो आयु कम नहीं होती है। यह सब वास्तविक श्वास का वर्णन हुआ, इसके अतिरिक्त भी दो प्रकार के श्वास होते हैं जिन्हें पाश्चात्य विद्वान् हृद्विकारजन्य श्वास (Cardiac Asthma) और वृक्कविकारजन्य श्वास (Renal Asthma) कहते हैं।

१—वास्तविक श्वास-पूर्वाह्न में उत्पन्न होता है। और परिश्रम से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

२—हृदय का श्वास प्रायः परिश्रम से सम्बन्ध रखता है। आयुर्वेदिक निदान की दृष्टि से यह श्वास 'क्षुद्रश्वास' ही है यथाः—

'रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन्। क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः' ॥

३—वृक्क का श्वास—मूत्रविषमयता होने की पूर्व स्थिति में उत्पन्न होता है।

४—वास्तविक श्वास—में बहिःश्वसन (Expiration) में कठिनाई और बाकी श्वासों में अन्तःश्वसन (Inspiration) में कठिनाई होती है।

५—वास्तविक श्वास में रक्त का भार (Blood Pressure) कुछ कम रहता है और Albumin नहीं मिलता है। हृदय तथा वृक्क के श्वासों में Blood Pressure अधिक रहता है। और प्रायः Albumin मिलता है।

Allergy तथा खांसी के कारण उत्पन्न होने वाले श्वासों में पार्थक्य—

Allergy से उत्पन्न होने वाले श्वास में खान्दानी रोग का इतिहास मिलता है। परन्तु कासजन्य श्वास में नहीं मिलता है। Allergy से उत्पन्न होने वाले में शीतपित्त और अतीसार का पूर्ववृत्त मिलता है। कासजन्य श्वास में pneumonia और खांसी का इतिहास मिलता है। Allergy से उत्पन्न होने वाला श्वास जल्दी उत्पन्न होता है। जल-वायु से सम्बन्ध नहीं होता है, परन्तु किसी विशेष स्थान से या खाद्य द्रव्य से सम्बन्ध अवश्य होता है। कासजन्य श्वास प्रायः ३० साल की अवस्था के बाद उत्पन्न होता है और वर्षा तथा शीत ऋतु में अधिक उत्पन्न होता है।

और अपने आप भी कफ से संरुद्ध होकर विरुद्ध मार्ग से गमन करता है। तब श्वास रोग को उत्पन्न करता है॥ ४॥

महाश्वासस्य लक्षणमाह—

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद् दुःखितो नरः। उच्चैः श्वसिति सन्नद्धो मत्तर्षभ इवानिशम्॥ प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः। विवृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक्॥६॥ दीनस्य श्वसितश्चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्। महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते॥७॥

*उद्धूयमानवातः=उद्=ऊर्ध्वं, धूयमानो=नीयमानो वातो यस्य सः। शब्दवत्=सशब्दं यथा स्यात्। कीदृक् स शब्दस्तद्बोधयितुमाह—मत्तर्षभ इव, उच्चैः श्वसितीत्यन्वयः। सन्नद्धः=आनद्धः, आनाहयुक्त इति यावत्। ज्ञानं=शास्त्रम्। विज्ञानं=तदर्थविनिश्चयः। विशीर्णवाक्=स्खलितवचनः। दीनः=म्लानः। मारकश्चायं महाश्वासः॥ ५-७॥

महाश्वास से पीड़ित मनुष्य का प्राण वायु शब्द करता हुआ ऊर्ध्व गति को प्राप्त होता है तब वह मनुष्य महादुःख को प्राप्त होता है। जिस प्रकार दौड़ते हुए सांड़ को रोक देने पर उसके सांस का वेग हो जाता है उसी प्रकार यह मनुष्य निरन्तर सांस लेता है। उसका ज्ञान और विज्ञान सब नष्ट हो जाता है। नेत्र भ्रमयुक्त हो जाते हैं। आंखें तथा मुख फैल जाते हैं। मल-मूत्र रुक जाता है। जीभ लड़खड़ा जाती है। रोगी म्लान हो जाता है। और श्वास का शब्द दूर ही से सुनाई देता है। इस महाश्वास से पीड़ित मनुष्य तत्काल मर जाता है॥ ५-७॥

ऊर्ध्वश्वासलक्षणमाह—

ऊर्ध्वं श्वसिति योऽत्यर्थं न च प्रत्याहरत्यधः। श्लेष्मावृतमुखस्रोतःक्रुद्धगन्धवहार्दितः॥ ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंस्तु विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः। प्रमुह्यन्वेदनाऽऽर्त्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः॥ ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुद्ध्यते। मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वश्वासस्तस्य निहन्त्यसून्॥

*सर्वेषु श्वासेषु ऊर्ध्वश्वासोऽत्र अत्यर्थमिति विशेषः। न च प्रत्याहरत्यधः=न श्वासमधः करोति। श्लेष्मावृतेत्यादि=श्लेष्मणाऽऽवृतं यन्मुखं स्रोतांसि च तैः क्रुद्धो यो गन्धवहस्तेनार्दितः। विपश्यन् इतस्ततो=विकृतं यथा स्यादेवं पश्यन्। अधः श्वासो निरुद्ध्यते=श्वासो नाधः प्रवर्त्तत इत्यर्थः। मुह्यतो=मोहं प्राप्नुवतः। ताम्यतो=ग्लानिं प्राप्नुवतश्च। ऊर्ध्वश्वासः, असून्=प्राणान् हन्ति॥ ८-१०॥

ऊर्ध्वश्वास से पीड़ित मनुष्य का श्वास बहुत ऊंचा चलता है। उसका श्वास कभी नीचे नहीं जाता। मुख तथा शरीर के सम्पूर्ण स्रोतसों के कफ द्वारा आवृत हो जाने के कारण प्रकुपित वायु तीव्र वेदना को करता है। उसकी दृष्टि सदा ऊपर को रहती है। आंख को फैला कर चारो ओर विकृत रूप से देखता है। मूर्च्छित होता है। वेदना से पीड़ित होता है। मुख सूख जाता है। अत्यन्त बेचैनी होती है। ऊर्ध्वश्वास के कुपित होने पर नीचे का श्वास रुक जाता है। यह ऊर्ध्वश्वास मोह तथा ग्लानि को प्राप्त हुवे उस मनुष्य के जीवन का अन्त कर डालता है॥ ८-१०॥

छिन्नश्वासलक्षणमाह—

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः। न वा श्वसिति दुःखार्त्तो मर्मच्छेदरुजाऽर्दितः आनाहस्वेदमूर्च्छाऽऽर्त्तो दह्यमानेन वस्तिना। विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः। छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं विजहात्यसून्॥

*विच्छिन्नं=सविच्छेदम्, सर्वप्राणेन=सर्वबलेन। मर्मच्छेदरुजाऽर्दितः=हृदयशिरश्छेदवेदनयैव पीडितः। दह्यमानेन वस्तिनोपलक्षितः। विप्लुताक्षः=अश्रुपूर्णनेत्रः। विचेताः=उद्विग्नचित्तः। छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः, यस्तु श्वसिति='विच्छिन्नमि'त्यादिलक्षणयुक्तो यः स नरश्छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः=पीडितो बोद्धव्यः। मारकश्चायं छिन्नश्वासः॥ ११-१३॥

'छिन्नश्वास' से पीड़ित मनुष्य दुःखी होकर ठहर-ठहर कर अपने सम्पूर्ण बल से श्वास को त्यागता है। मर्म स्थानों में छेदने की सी पीड़ा होती है। तथा समय पर श्वास लेने में असमर्थता

होती है। आनाह, पसीना, मूर्च्छा तथा मूत्राशय के दाह से दुःखी होता है। आंखों में जल भरा रहता है। शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है। निरन्तर हांफता रहता है। एक आंख लाल रहती है। चित्त उद्विग्न रहता है। मुख सूख जाता है। शरीर का रङ्ग बदल जाता है। व्यर्थ का बकवाद करता है। इन लक्षणों से युक्त 'छिन्नश्वास' से युक्त मनुष्य तत्काल प्राणत्याग कर देता है। यह छिन्नश्वास मारक होता है॥ ११-१३॥

तमकश्वासलक्षणमाह—

प्रतिलोमो यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते। ग्रीवां शिरश्च सङ्गृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च॥ करोति पीनसं तेन कण्ठे घुर्घुरकं तथा। अतीव तीव्रवेगञ्च श्वासं प्राणप्रपीडकम्॥१५॥ प्रताम्यति स वेगेन तृष्यते सन्निरुध्यते। प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः॥१६॥ श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः। तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्त्तं लभते सुखम्॥१७॥ तथाऽस्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम्। न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः। आसीनो लभते सौख्यमुष्णञ्चैवाभिनन्दति॥ उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्त्तिमान्। विशुष्कास्यो मुहुःश्वासो मुहुश्चैवावधम्यते॥ मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्द्धते। स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः

सङ्गृह्य =व्यथया। समुदीर्य = वर्द्धयित्वा। पीनसं = नासास्रावम्। तेन = श्लेष्मणा। घुर्घुरं = घुर्घुरशब्दम्। प्राणप्रपीडकं = प्राणाधिष्ठानहृदयप्रपीडकम्। प्रताम्यति = तमसि प्रविशतीव। वेगेन=श्वासवेगेन, सन्निरुध्यते='निश्चेष्टो भवती'ति चरकः। 'सन्निरुध्यते श्वास' इति जेज्जटः। श्लेष्मणा मुच्यमानेन सुखं = सुखमिव। उद्ध्वंसते = व्यथितो भवति। शयानः=शयननिहिताङ्गः। अवगृह्णाति=पीडयति। 'उष्णञ्चैवाभिनन्दती'त्यनेन 'तमको वातकफारब्ध—' इति बोद्धव्यः। उच्छ्रिताक्षः=उच्छूनाक्षः। ललाटेन स्विद्यतो-पलक्षितः। अवधम्यते=गजारूढस्येव सर्वगात्रं चाल्यते॥ १४–२१॥

जब वायु प्रतिलोम होकर स्रोतसों में चली जाती है तो गर्दन तथा शिर को जकड़ कर कफ को बढ़ाकर पीनस, कण्ठ में घुर २ शब्द तथा हृदय में पीड़ा उत्पन्न करने वाले तीव्र श्वास को उत्पन्न कर देता है। इस श्वास से पीडित मनुष्य अपने को घोर अन्धकार में प्रवेश करता हुआ देखता है। त्रस्त होता है। श्वास के वेग से निश्चेष्ट हो जाता है। कास के बारम्बार आने से मूर्च्छित हो जाता है। कफ निकलते समय बहुत दुःखी होता है। जब कफ निकल जाता है तो थोड़े समय के लिये सुख मिलता है। कण्ठ में पीड़ा होती है। बड़े दुःख के साथ बोलता है। उसे नींद नहीं आती है। लेटने पर वायु के कारण पसलियों में तीव्र पीड़ा होती है। बैठने पर कुछ आराम प्रतीत होता है। उष्ण पदार्थों के सेवन की इच्छा करता है। नेत्र ऊंचे उठे रहते हैं। ललाट प्रदेश में पसीना आता है। अत्यन्त वेदना होती है। मुख बारम्बार सूखा करता है। बारम्बार श्वास ले लेकर हाथी पर बैठे हुये मनुष्य के समान झूमता रहता है। यह श्वास बादल घिरने पर, वर्षाकाल में, शीत से, पूर्व की वायु से तथा कफकारक पदार्थों के सेवन करने से बढ़ता है। यह 'तमकश्वास' याप्य है। यदि नवीन हो तो कभी २ साध्य भी होता है। चरक के मत से श्वास के वेग से रोगी 'निश्चेष्ट हो जाता है' जैसा कि लक्षणों के वर्णन करते समय बतलाया गया है। इसी पर जेज्जट का मत है कि मनुष्य का 'श्वास रुक जाता है'। ये दोनों आचार्य 'सन्निरुद्ध्यते' इस पद का इस प्रकार भिन्न २ अर्थ करते हैं॥ १४–२१॥

प्रतमकश्वासलक्षणमाह—

ज्वरमूर्च्छापरीतञ्च विद्यात्प्रतमकं तु तम्॥ २२॥

तमकस्यैव पित्तानुबन्धजनितज्वरादियोगेन प्रतमकसंज्ञामाह–ज्वरेति॥ २२॥

जो 'तमकश्वास' पित्तानुबन्ध से ज्वर तथा मूर्च्छा से युक्त होता है उसे 'प्रतमकश्वास' कहते हैं॥

तस्यैवापरलक्षणमाह—

उदावर्त्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः।
तमसा वर्द्धतेऽत्यर्थं शीतलैश्च प्रशाम्यति। मज्जतस्तमसीवास्य विद्यात्प्रतमकन्तु तम ॥२३॥

*उदावर्त्तो=रोगविशेषः। रजो=धूलिः। अत्राजीर्णमामादि। क्लिन्नं=विदग्धम्। कायनिरोधः=अङ्गे वेगानां निरोधः, तस्मादुत्पन्नः, अथवा क्लिन्नकायो=वृद्धनरः, निरोधः= वेगानान्तु स त्रयोदशविधः॥ २२॥

उदावर्त्त, धूल, आम आदि अजीर्ण, अङ्ग में वेगों के निरोध से, वृद्धावस्था से तथा मल-मूत्रादि सब प्रकार के वेगों के रोकने से, अन्धकार से बढ़ने वाला तथा शीतल पदार्थों से शान्त होने वाला जो श्वास रोग हो जाता है उसे 'प्रतमकश्वास' कहते हैं। इस रोग से पीड़ित व्यक्ति को ऐसा प्रतीत होता है कि मैं अन्धकार में डूबा जाता हूँ॥ २३॥

क्षुद्रश्वासलक्षणमाह—

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन्। क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः॥
हिनस्ति न च गात्राणि न च दुःखो यथेतरे। न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम्॥
नेन्द्रियाणां व्यथाञ्चापि काञ्चिदुत्पादयेद्रुजम्। स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः॥

*क्षुद्रः=अल्पनिदानलिङ्गः। उदीरयन्=ऊर्ध्वं गच्छन्। दुःखः=दुःखप्रदः। इतरे=चत्वारः श्वासाः, तथा नायम्। सर्वे महाश्वासादयोऽपि, अव्यक्तलक्षणाः सन्तः साध्याः॥२४-२६॥

रूक्षता तथा अत्यन्त श्रम से उत्पन्न होने वाला श्वास 'क्षुद्र श्वास' कहलाता है। इसमें वायु की ऊर्ध्वगति हो जाती है। यह 'क्षुद्रश्वास' बहुत दुःखदायी नहीं होता तथा दूसरे श्वास के समान शरीर को पीड़ित भी नहीं करता। अन्न-पान की योग्य गति में अवरोध भी नहीं उत्पन्न करता। इन्द्रियां भी व्यथित नहीं होतीं और किसी प्रकार की वेदना भी नहीं उत्पन्न करता। यह 'क्षुद्रश्वास' साध्य है और दूसरे भी महाश्वासादि चार प्रकार के श्वास यदि अव्यक्त लक्षण वाले हों तो वे भी साध्य होते हैं॥ २४-२६॥

श्वासानां साध्यत्वादिकमाह—

क्षुद्रः साध्यतमस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते। त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च॥
कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा। यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु वै ॥२८॥

*बहवो=ज्वरादयः। न तथा यथा श्वासहिक्के हरतो जीवमाशु ते॥ २७-२८॥

इन पांचो प्रकार के श्वास से 'क्षुद्रश्वास' सुखसाध्य होता है। 'तमकश्वास' कृच्छ्रसाध्य होता है तथा शेष तीनों प्रकार के श्वास असाध्य होते हैं। दुर्बल मनुष्य को उत्पन्न हुआ 'तमकश्वास' भी असाध्य होता है। प्राण को हरने वाले ज्वरादि बहुत से रोग हैं किन्तु श्वास तथा हिक्का के समान तत्काल प्राणनाशक कोई नहीं। श्वास और हिक्का शीघ्र ही जीवन का नाश कर डालते हैं॥२७-२८॥

श्वासस्य चिकित्सामाह—

श्वासहिक्कातुरं प्रायः स्निग्धैः स्वेदैरुपाचरेत्। युक्तैर्लवणतैलाभ्यां तैरस्य ग्रथितः कफः॥
श्वासो विलयमायाति मारुतश्चोपशाम्यति। स्विन्नं ज्ञात्वा ततश्चैनं भोजयेच्च रसौदनम्॥
स्वरसं शृङ्गवेरस्य माक्षिकेण समन्वितम्। पाययेच्छ्वासकासघ्नं प्रतिश्यायकफापहम्॥

*शृङ्गवेरम्=आर्द्रकम्॥ २९-३१॥

श्वास तथा हिक्का से पीड़ित रोगियों को प्रायः नमक तथा तेल युक्त स्निग्ध स्वेदन कराना चाहिये। इस उपचार से कफ फूट जाता है। श्वास नष्ट हो जाता है तथा वात की भी शान्ति हो जाती है। भली प्रकार स्वेदन हो चुकने के पश्चात् रोगी को मांसरस के साथ भात खिलाना चाहिये। और मधु के साथ आर्द्रा का रस पिलाने से श्वास, कास प्रतिश्याय तथा कफ नष्ट होता है॥२९-३१॥

प्रस्थं विभीतकानामस्थि विना साधयेदजामूत्रे। अयमवलेहो लीढो मधुसहितः श्वासकासघ्नः॥

एक प्रस्थ बहेड़ों को लेकर गुठलियों को निकाल कर बकरे के मूत्र में पाक करे। जब पकते-पकते अवलेह के समान हो जाय तो उतार ले। इस अवलेह को मधु मिला कर चाटने से श्वास तथा कास दूर हो जाता है ॥ ३२ ॥

देवदारुबलामांसीः पिष्ट्वा वर्त्तिं प्रकल्पयेत् । तां घृताक्तां पिबेद्धूमं श्वासं हन्ति सुदारुणम् ॥

देवदारु, खिरेंटी तथा जटामांसी को एकत्र पीस कर वर्तिका बना ले। इस बत्ती को घी में सान कर धूमपान करने से सुदारुण श्वास भी दूर हो जाता है ॥ ३३ ॥

दशमूलीशटीरास्नापिप्पलीविश्वपौष्करैः । शृङ्गीतामलकीभार्गीगुडूचीनागराग्निभिः ॥ ३४ ॥
यवागूं विधिना सिद्धां कषायं वा पिबेन्नरः । श्वासहृद्ग्रहपार्श्वार्त्तिहिक्काकासप्रशान्तये ॥३५॥

दशमूल, कचूर, रास्ना, पिप्पली, अतीस, रेड़ की जड़, काकड़ासिङ्गी, भूम्यामलकी, भारङ्गी, गुडूची, सोंठ तथा चित्त द्वारा सविधि बनाई गई यवागू अथवा काथ के पीने से श्वास, हृदयस्तम्भ, पसलियों की पीड़ा, हिचकी तथा कास दूर हो जाते हैं ॥ ३४-३५ ॥

दशमूलस्य वा क्राथः पौष्करेणावचूर्णितः । श्वासकासप्रशमनः पार्श्वशूलनिवारणः ॥ ३६ ॥

दशमूल के क्राथ में पोहकरमूल का चूर्ण मिला कर पीने से श्वास, कास तथा पार्श्वशूल नष्ट हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

रम्भाकुन्दशिरीषाणां कुसुमं पिप्पलीयुतम् । पिष्ट्वा तण्डुलतोयेन पीत्वा श्वासमपोहति ॥३७॥

केला, कुन्द तथा सिरसे के फूलों को पिप्पली के साथ पीस कर चावल के धोवन के साथ पीने से श्वास नष्ट हो जाता है ॥ ३७ ॥

शृङ्गीमहौषधकणाघनपौष्कराणां चूर्णं शटीमरिचयोश्च सिताविमिश्रम् ।
क्राथेन पीतममृतावृषपञ्चमूल्याः श्वासं त्र्यहेण विनिहन्ति हि घोररूपम् ॥३८॥
पञ्चमूली तु सामान्या पित्ते योज्या कनीयसी । महती मारुते देया सैव देया कफाधिके ॥

काकड़ासिङ्गी, सोंठ, पिप्पली, नागरमोथा, पोहकरमूल, कचूर तथा कालीमिर्च इन सब ओषधियों का चूर्ण बना कर सम परिमाण में मिश्री मिलावे। पुनः इस चूर्ण को गुडूची, अडूसा तथा पञ्चमूल के क्राथ में मिला कर पीने से महाघोर श्वास भी ३ दिन में नष्ट हो जाता है।

जहां साधारणतया पञ्चमूली शब्द का विधान है वहां पित्तदोष पर लघु पञ्चमूल तथा वात और कफ की अधिकता पर बृहत्पञ्चमूल लेना चाहिये ॥ ३८-३९ ॥

कूष्माण्डकशिफाचूर्णं पीतं कोष्णेन वारिणा । शीघ्रं शमयति श्वासं कासञ्चापि सुदारुणम् ॥

पेठे की जड़ के चूर्ण को गुनगुने जल के साथ पीने से सुदारुण श्वास तथा कास शीघ्र ही शमन हो जाता है ॥ ४० ॥

हरिद्रां मरिचं द्राक्षां कणां रास्नां शटीं गुडम् । कटुतैलं लिहन्हन्याच्छ्वासान् प्राणहरानपि ॥

हल्दी, काली मिर्च, मुनक्का, पिप्पली, रास्ना, कचूर तथा गुड़ इन सब के चूर्ण को कड़वे तेलमें मिला कर चाटने से महाभयंकर प्राणों को हरने वाला भी श्वास नष्ट हो जाता है ॥ ४१ ॥

भार्गीगुडमाह—

शतं सङ्गृह्य भार्ग्यास्तु दशमूल्यास्तथा शतम् । शतं हरीतकीनाञ्च पचेत्तोये चतुर्गुणे ॥
पादावशेषे तस्मिंस्तु रसे वस्त्रनिपीडिते । आलोड्य च तुलां पूतां गुडस्य त्वभयास्ततः ॥
पुनः पचेत्तु मृद्वग्नौ यावल्लेहत्वमेति तत् । शीते च मधुनस्तत्र षट्पलानि विनिक्षिपेत् ॥
त्रिकटु त्रिसुगन्धञ्च पलमात्रं पृथक् पृथक् । यवक्षारं कर्षयुग्मं सञ्चूर्ण्य प्रक्षिपेत्ततः ॥ ४५ ॥
भक्षयेदभयामेकां लेहस्यार्द्धपलं तथा । श्वासं सुदारुणं हन्ति कासं पञ्चविधं तथा ॥ ४६ ॥
अर्शांस्यरोचकं गुल्मं शकृद्भेदं क्षयं तथा । स्वरवर्णप्रदो ह्येष जठराग्नेश्च दीपनः ॥
नाम्ना भार्गीगुडः ख्यातो भिषग्भिः सकलैर्मतः ॥ ४७ ॥

भारङ्गी १०० पल, दशमूल की ओषधियां १०० पल तथा हरड़ १०० पल लेकर ४०० पल जल में पकावे। जब पकते-पकते १०० पल जल अवशिष्ट रह जाय तो उसे उतार कर वस्त्र द्वारा छान ले।

फिर उसमें १०० पल गुड़ तथा वही पके हुये हरड़ डाल कर फिर मन्द आंच से धीरे २ पकावे। जब पकते-पकते अवलेह के समान हो जाय तो शीतल होने पर उसमें ६ पल मधु मिलावे। सोंठ, मिर्च, पिप्पली, दालचीनी, तेजपात तथा छोटी इलायची इन सब ओषधियों को ४-४ तोले लेकर और जवाखार दो तोले लेकर चूर्ण बना कर मिला दे। फिर इसमें से प्रतिदिन १ हरड़ तथा २ तो० अवलेह का सेवन करने से महादारुण श्वास, पांचों प्रकार की खांसी, अर्शरोग, अरुचि, गुल्म, अतीसार तथा क्षयरोग नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण वैद्यों से सम्मत यह 'भार्गीगुड' नामक अवलेह स्वर और वर्ण को उत्तम करने वाला तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला है॥ ४२-४७॥

महाकट्फलादियोगमाह—

अष्टाङ्गचूर्णसंयुक्तं छागक्षीरं प्रयोजयेत्। श्वासं कासान्वितं घोरं हन्यादेतन्न संशयः॥ ४८॥

कायफल, रेंड़ की जड़, काकड़ासिंगी, अजवाइन, कालाजीरा, सोंठ, कालीमिर्च तथा पिप्पली इन आठ पदार्थों से बना हुआ अष्टाङ्गचूर्ण बकरी के दूध के साथ सेवन करने से घोर कासयुक्त भी श्वास को निस्सन्देह नष्ट कर देता है॥ ४८॥

दशमूलरसमाह—

दशमूलरसो देयः श्वासनिर्मूलशान्तये। अवश्यं मरणीयो यो जीवेद्वर्षशतं नरः॥४९॥

श्वास को समूल नष्ट करने के लिये दशमूल का रस पिलाना चाहिये। जो श्वास से पीड़ित मनुष्य अवश्य मर जाने वाला होता है वह भी इसके प्रताप से १०० वर्ष तक जीता है॥ ४९॥

श्वासकुठाररसमाह—

रसो गन्धो विषञ्चापि टङ्कणञ्च मनःशिला। एतानि कर्षमात्राणि मरिचं चाष्टकर्षकम्॥५०॥
कटुत्रयं कर्षयुग्मं पृथगत्र विनिक्षिपेत्। रसः श्वासकुठारोऽयं सर्वश्वासनिवारणः॥ ५१॥

इति चतुर्दशः श्वासाधिकारः समाप्तः॥ १४॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध वत्सनाभ, शुद्ध सोहागा तथा शुद्ध मनःशिला[1] इन सब ओषधियों को १-१ तो० लेवे। और कालीमिर्च ८ तोले लेकर सब का बारीक चूर्ण बना ले। पुनः उसमें २ तोले सोंठ का चूर्ण, २ तो० काली मिर्च का चूर्ण तथा २ तो० पिप्पली का चूर्ण अलग से मिला देवे तो यह 'श्वासकुठार' नामक रस सिद्ध हो जाता है। इससे सब प्रकार के श्वास नष्ट हो जाते हैं॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे चतुर्दशः श्वासाधिकारः समाप्तः॥ १४॥

---

१. मनःशिला—पाश्चात्य रसायनशास्त्र की दृष्टि से मनःशिला में आर्सेनिक (Arsenic) नामक तत्त्व होता है। यही आर्सेनिक श्वास रोग पर लाभ करता है। इस आर्सेनिक को आयुर्वेदिक भाषा में संखिया कहते हैं। जिस प्रकार अपने यहां मनःशिला का उपयोग श्वास रोग में किया जाता है, उसी प्रकार आजकल पाश्चात्य वैद्यक में आर्सेनिक का प्रचुर प्रयोग हो रहा है।

इसका एक योग है जिसे कि स्वामिन (Swamine) कहते हैं इसका पेशीद्वारा श्वास की शान्ति के लिये इन्जेक्शन दिया जाता है। आर्सेनिक के योगों से सिगरेट्स बनाये जाते हैं। इनको पिलाने से भी श्वास का दौरा बन्द होता है। इस प्रकार इसके अनेक योग पाश्चात्य वैद्यक में प्रयुक्त होते हैं और रामबाण की तरह लाभ भी करते हैं।

अब श्वास रोग के बाद आनेवाले स्वरभेद तथा अरोचक रोगों का पाश्चात्य मतानुसार विवेचन अनावश्यक तथा ग्रन्थविस्तार-भय से नहीं किया जायगा।

पञ्चदशः स्वरभेदाधिकारः ॥ १५ ॥

तत्र स्वरभेदस्य निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

अत्युच्चभाषणविषाध्ययनाभिघातसन्दूषणैः प्रकुपिताः पवनादयस्तु।
स्रोतःसु ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः ॥१॥

***अध्ययनम् = उच्चैर्वेदादिपाठः। अभिघातः=कण्ठादिदेशे लगुडादिभिः। 'एतैरत्युच्चभाषणादिभिश्चतुर्भिः सन्दूषणैरन्यैरपि निजैर्दुष्टिहेतुभिः स्रोतःसु स्वरवहेषु चतुर्षु प्रतिष्ठां= स्थितिं गताः, स्वरं हन्युरि'ति लक्षणम्। सः = स्वरभेदः, षड्विधः, वातपित्तकफसन्निपातक्षयमेदोभवभेदैः ॥ १ ॥**

अत्यन्त उच्च स्वर से बोलने से, विष-भक्षण से, उच्चस्वर से वेदादि शास्त्रों के पाठ से, कण्ठादि प्रदेश में लाठी इत्यादि के चोट से तथा अन्य दूसरे वातादि दोषों को दुष्ट करने वाले कारणों से प्रकुपित हुये वातादि दोष स्वरवह स्रोतसों में स्थित होकर स्वर को नष्ट कर देते हैं। इस रोग को स्वरभेद कहते हैं। यह स्वरभेद १-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-सन्निपातज, ५-क्षयज तथा ६-मेदोज भेद से ६ प्रकार का होता है ॥ १ ॥

तत्र वातिकादिस्वरभेदिनो लक्षणमाह—

वातेन कृष्णनयनाननमूत्रवर्चा भिन्नं शनैर्वदति गर्दभवत्स्वरश्च ॥ २ ॥

वातज स्वरभेद में रोगी फटी हुई आवाज से धीरे २ गदहे के समान स्वर से बोलता है तथा उसके नेत्र, मुख, मूत्र और मल काले हो जाते हैं ॥ २ ॥

पित्तजस्वरभेदिलक्षणमाह—

पित्तेन पीतनयनाननमूत्रवर्चा ब्रूयाद्गलेन स च दाहसमन्वितेन ॥ ३ ॥

***गलदाहो वचनसमय एव बोद्धव्यः ॥ ३ ॥**

पित्तज स्वरभेद में रोगी दाहयुक्त गले से बोलता है। अर्थात् बोलने के समय उसके गले में दाह होता है। तथा उसके नेत्र, मुख, मूत्र और मल पीले हो जाते हैं ॥ ३ ॥

कफजस्वरभेदिलक्षणमाह—

ब्रूयात्कफेन सततं कफरुद्धकण्ठः स्वल्पं शनैर्वदति चापि दिवा विशेषात् ॥ ४ ॥

***दिवा सूर्यरश्मिभिः कफस्याल्पीभावात् ॥ ४ ॥**

कफज स्वरभेद-रोगी निरन्तर कफ से गले के अवरुद्ध होने के कारण धीरे २ बोलता है। और दिन में सूर्यरश्मियों से कफ के कट कर कम हो जाने से कुछ अधिक बोलता है ॥ ४ ॥

सन्निपातजस्वरभेदिलक्षणमाह—

सर्वात्मके भवति सर्वविकारसम्पत्तं चाप्यसाध्यमृषयः स्वरभेदमाहुः ॥ ५ ॥

त्रिदोषज स्वरभेद में तीनों दोषों के लक्षण उपस्थित होते हैं। ऋषियों ने इस स्वरभेद को असाध्य बतलाया है ॥ ५ ॥

क्षयजस्वरभेदिलक्षणमाह—

धूप्येत वाक्क्षयकृते क्षयमाप्नुयाच्च स्यादेव चापि हतवाक्परिवर्जनीयः ॥ ६ ॥

***वाग् धूप्येत = सधूमेव निःसरति। क्षयं चाप्नुयाद् वागेव ॥ ६ ॥**

क्षयज स्वरभेद में बोलते समय रोगी के मुख में से धुवां सा निकलता है अथवा बोलते समय शब्द नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार नष्ट शब्द वाले रोगी को असाध्य समझ कर छोड़ देना चाहिये॥

मेदोभवस्वरभेदिलक्षणमाह—

अन्तर्गलं स्वरमलक्ष्यपदं चिरेण मेदोऽन्वयाद्वदति दिग्धगलस्तृषार्त्तः ॥ ७ ॥

***अन्तर्गलं = गलस्य मध्य एव, स्वरं वदति। दिग्धगलः = मेदसा श्लेष्मणा च लिप्तगलः। तृषार्त्तः = मेदोरुद्धस्रोतस्त्वात् ॥ ७ ॥**

मेदोज स्वरभेद में रोगी बहुत देर से गले के भीतर ही बोलता है, जो कि दूसरों के समझ में नहीं आता है। मेद तथा कफ से उत्पन्न हुये स्वरभेद में गला कफ से लिप्त-सा रहता है तथा मेद की उष्णता से रोगी तृष्णा से पीड़ित रहता है॥ ७॥

स्वरभेदासाध्यलक्षणमाह—

क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य चापि चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः।
मेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च स्वरामयो नैव स सिद्धिमेति ॥ ८ ॥

क्षीणस्य = क्षयरोगिणः। कृशस्य = अपुष्टस्य ॥ ८ ॥

क्षयरोगी, वृद्ध तथा दुर्बल मनुष्य का स्वरभेद, बहुत दिनों का पुराना अथवा जन्मजात स्वरभेद, मेदस्वी व्यक्ति का स्वरभेद तथा त्रिदोषज स्वरभेद असाध्य होता है॥ ८॥

स्वरभेदचिकित्सामाह—

वातादिजनितश्वासकासघ्ना ये प्रकीर्त्तिताः। योगास्तानत्र युञ्जीत यथादोषं चिकित्सकः॥
वाते सलवणं तैलं पित्ते सर्पिः समाक्षिकम्। कफे सक्षारकटुकं क्षौद्रं कवल इष्यते॥
गले तालुनि जिह्वायां दन्तमूलेषु चाश्रितः। तेन निष्कृष्यते श्लेष्मा स्वरश्चाशु प्रसीदति॥
आद्ये कोष्णं जलं पेयं भुक्त्वा घृतरसौदनम्। क्षीराम्बुपानं पित्तोत्थे पिबेत्सर्पिरतन्द्रितः॥९॥
पिप्पली पिप्पलीमूलं मरिचं विश्वभेषजम्। पिबेन्मूत्रेण मतिमान्कफजे स्वरसङ्क्षये॥१०॥

वातादिजन्य श्वास तथा कास को नष्ट करने वाले जिन योगों का वर्णन किया गया है उन्हीं योगों का प्रयोग चिकित्सक जन दोषानुसार स्वरभेद में भी करें।

वातजन्य स्वरभेद में लवणयुक्त तैल का, पित्तज स्वरभेद में मधुयुक्त घृत का और कफज स्वरभेद में क्षार तथा चरपरे पदार्थों से युक्त मधु का कवल धारण कराना चाहिये।

कवल धारण करने से गले, तालु, जिह्वा तथा दन्तमूलों में स्थित हुआ कफ निकल जाता है और स्वर तत्काल ठीक हो जाता है। वातज स्वरभेद में घी तथा मांसरस के साथ भात खाना चाहिये और कुछ उष्ण जल पीना चाहिये। पित्तज स्वरभेद में आलस्य को छोड़कर दूध और पानी तथा घी पीवे। और कफज स्वरभेद में पिप्पली, पिपरामूल, काली मिर्च तथा सोंठ इन सब के चूर्ण को गोमूत्र के साथ पीना चाहिये॥ ९-१०॥

निदिग्धिकाऽवलेहमाह—

निदिग्धिकातुला ग्राह्या तदर्द्धं ग्रन्थिकस्य तु। तदर्द्धं चित्रकस्यापि दशमूलञ्च तत्समम्॥११॥
जले द्रोणद्वये क्वाथ्यं गृह्णीयादाढकं ततः। पूते क्षिपेत्तदर्द्धन्तु पुराणस्य गुडस्य च॥१२॥
सर्वमेकत्र कृत्वा तु लेहवत्साधु साधयेत्। अष्टौ पलानि पिप्पल्यास्त्रिजातकपलं तथा॥१३॥
मरिचस्य पलं चैकं सर्वमेकत्र चूर्णितम्। मधुनः कुडवं दत्वा तदश्नीयाद्यथाऽनलम्॥१४॥
निदिग्धिकाऽवलेहोऽयं भिषग्भिर्मुनिभिर्मतः। स्वरभेदहरो मुख्यः प्रतिश्यायहरस्तथा॥१५॥
कासश्वासाग्निमान्द्यादीन्गुल्ममेहगलामयान्। आनाहमूत्रकृच्छ्राणि हन्याद् ग्रन्थ्यर्बुदानि च॥

छोटी कटेरी १०० पल, पीपल की जड़ ५० पल, चित्त २५ पल तथा दशमूल की ओषधियां २५ पल लेकर दो द्रोण (२०४८ तो०) जल में पकावे। जब पकते २ एक आढक (२५६ तोले) जल अवशिष्ट रह जाय तो उसे वस्त्र द्वारा छान कर उसमें क्वाथ से अर्द्ध परिमाण में पुराना गुड़ डालकर अवलेह के समान पकावे। जब वह अवलेह के समान होजाय तो उसमें पिप्पली का चूर्ण ३२ तो०, त्रिजात (दालचीनी, छोटी इलायची और तेजपात) का चूर्ण ३२ तो०, कालीमिर्च का चूर्ण ४ तो०, तथा शहद १६ तो० मिला दे तो वैद्यों तथा ऋषियों से सम्मत यह 'निदिग्धिकाऽवलेह' सिद्ध हो जाता है। इसका अग्नि के बलानुसार सेवन करने से प्रतिश्याय, कास, श्वास, अग्निमान्द्य, गुल्म, प्रमेह, गले के रोग, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, ग्रन्थि तथा अर्बुद नष्ट हो जाते हैं॥ ११-१६॥

मृगनाभ्याद्यवलेहमाह—

मृगनाभिः ससूक्ष्मैला लवङ्गकुसुमानि च।

स्वक्क्षीरी चेति लेहोऽयं मधुसर्पिः समायुतः । वाक्स्तम्भमुग्रं जयति स्वरभ्रंशसमन्वितम् ॥१७॥

कस्तूरी, छोटी इलायची, लौंग और वंशलोचन इन सबों के चूर्ण को मधु तथा घी मिलाकर अवलेहन करने से उग्र स्वरभेद तथा जिह्वास्तम्भ दूर हो जाता है ॥ १७ ॥

ब्राह्म्याद्यवलेहमाह—

ब्राह्मी वचाऽभया वासा पिप्पली मधुसंयुता । अस्य प्रयोगात्सप्ताहात्किन्नरैः सह गीयते ॥१८॥

इति पञ्चदशः स्वरभेदाधिकारः ॥ १५ ॥

ब्राह्मी, वच, हरड़, अडूसा तथा पिप्पली के चूर्ण को मधु में मिलाकर चाटने से सात दिन में किन्नरों के समान गाने लगता है ॥ १८ ॥

इति 'भावप्रकाश'भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे पञ्चदशः स्वरभेदाधिकारः समाप्तः ॥ १५ ॥

षोडशोऽरोचकाधिकारः ॥ १६ ॥

तत्र सनिदानवातारोचकलक्षणमाह—

वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धैः ।
अरोचकाः स्युः परिहृष्टदन्तः कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥ १ ॥

***अरोचकाः = न भोजने रुचिमुत्पादयन्तीत्यरोचका व्याधयः पञ्च वातादिभेदैः । तत्र वातिकस्य लक्षणमाह—परिहृष्टदन्तः = अम्लभक्षणेनेव परिहृष्टौ दन्तौ यस्य सः । तथा कषायवक्त्रः = कषायरसं वक्त्रं यस्य सः ॥ १ ॥**

वातादि दोषों से, शोक, भय, पीड़ा, लोभ, क्रोध, मन के विरुद्ध भोजन, रूप तथा गन्ध से जो भोजन में अरुचि उत्पन्न हो जाती है उसे 'अरोचक' कहते हैं। १-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-आगन्तुज (शोकादिजन्य) ५-त्रिदोषज भेद से अरोचक ५ प्रकार का होता है।

वातजन्य अरोचक में दांत परिहृष्ट (कोट) रहते हैं तथा मुख का स्वाद कसैला प्रतीत होता है ॥

पित्तजकफजारुचिलक्षणमाह—

कट्वम्लमुष्णं विरसञ्च पूति पित्तेन विद्याल्लवणञ्च वक्त्रम् ।
माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यस्निग्धत्वदौर्गन्ध्ययुतं कफेन ॥ २ ॥

***'कट्वम्लमि'त्यादिना 'विद्यादि'त्यन्तेन पैत्तिकस्य लक्षणमाहुः । श्लैष्मिकमाह—यतो विदग्धश्लेष्मास्यं लवणभावमुपैति लवणञ्च वक्त्रम् । तथा पैच्छिल्यं मुखस्याभ्यन्तरे । स्निग्धत्वं बहिः ॥ २ ॥**

पित्तजन्य अरोचक में मुख का स्वाद कडुवा, खट्टा, विरस तथा दुर्गन्धित रहता है। कफजन्य अरुचि में विदग्ध कफ के नमकीन होने के कारण मुख का स्वाद नमकीन प्रतीत होता है। पर प्रायः मुख का स्वाद मधुर, पिच्छिल, गुरु, शीतलतायुक्त और दुर्गन्धित होता है ॥ २ ॥

आगन्तुजत्रिदोषजारुचिलक्षणमाह—

अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात् ।
स्वाभाविकञ्चास्यमथारुचिश्च त्रिदोषजे नैकरसं भवेच्च ॥ ३ ॥

***आगन्तुजमाह—अरोचक इति । 'क्रोधादी'त्यादिशब्देनाहृद्ययोरनशनरूपयोर्ग्रहणम् । स्वाभाविकञ्च—अविकृतरसम् । त्रिदोषजमाह—नैकरसम् = अनेकरसमास्यं स्यात् ॥ ३ ॥**

शोक, भय, अत्यन्त लोभ, क्रोधादि, अप्रिय भोजन, अप्रिय रूपदर्शन तथा अप्रिय गन्ध को सूंघने इत्यादि आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हुये अरोचक में मुख का रस स्वाभाविक ही रहता है।

तथा त्रिदोषजन्य अरोचक में मुख का स्वाद अनेक रसों वाला होता है ॥ ३ ॥

वातजाद्यरोचकविशेषलक्षणमाह—

हृच्छूलपीडनयुतं पवनेन पित्तात्तृड्दाहचोषबहुलं सकफप्रसेकम् ।
श्लेष्मात्मकं बहुरुजं बहुभिश्च विद्याद् वैगुण्यमोहजडताभिरथापरञ्च ॥ ४ ॥

वातजादिभेदेन मुखे विकृतिमभिधायान्यथा विकृतिमाह—हृच्छूलेति । हृच्छूलपीडनयुतं = हृदि शूलेन पीडनं तेन युतम् । चोषः = पार्श्वस्थिताग्निनेव सन्तापः । बहुभिः = त्रिभिर्दोषैः । बहुरुजम् = उक्तवातादिरोगयुक्तम् । वैगुण्यं = मनसो व्याकुलत्वम् । जडता = शून्यता । अपरम् = आगन्तुजम् ॥ ४ ॥

वातजन्य अरुचि में हृदय में बर्छी चुभाने के समान वेदना होती है । पित्तजन्य अरुचि में पिपासा, दाह तथा पार्श्वस्थित अग्नि के समान सन्ताप होता है । कफजन्य अरुचि में मुख से कफयुक्त थूक निकलता है । त्रिदोषज अरुचि में उपर्युक्त सभी लक्षण मिलते हैं और आगन्तुक अरुचि में मन की विकलता, मोह तथा शून्यता होती है ॥ ४ ॥

अरोचकसामान्यलक्षणमाह—

प्रक्षिप्तन्तु मुखे चान्नं यत्र नास्वाद्यते नरः । अरोचकः स विज्ञेयो भक्तद्वेषमतः शृणु ॥ ५ ॥

भक्तद्वेषाभक्तच्छन्दौ चरकसुश्रुताभ्यामरोचकत्वेनैव सङ्गृहीतौ । वृद्धभोजस्तेषां लक्षणानि पृथगाह—प्रक्षिप्तमिति । नास्वाद्यते = अन्नस्य मिष्टतां न प्राप्नोति । तदन्नं मिष्टं न लगतीति यावत् ॥ ५ ॥

चरक तथा सुश्रुत ने यद्यपि भक्तद्वेष तथा अभक्तच्छन्द को अरुचि के अन्तर्गत ही माना है । तथापि वृद्ध भोज ने इसका लक्षण अरुचि से अलग लिखा है । वृद्ध भोज का मत है कि मुख में प्रक्षिप्त अन्न का ग्रास स्वादिष्ट न प्रतीत हो तो उसे 'अरोचक' कहते हैं । अब इसके बाद 'भक्तद्वेष' के लक्षण बतलाते हैं, उसे सुनिये ॥ ५ ॥

भक्तद्वेषाभक्तच्छन्दयोर्लक्षणमाह—

चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तु भोजनम् । द्वेषमायाति यो जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यते ॥
कुपितस्य भयार्त्तस्य तथा भक्तविरोधिनः । यत्र नान्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते ॥७॥

मन से भोजन का चिन्तन करके, भोजन को देख के तथा भोजन का स्पर्श करके जो भोजन पर द्वेष उत्पन्न होता है उसे 'भक्तद्वेष' कहते हैं । क्रोध से, भय से तथा अन्न के विरोध से युक्त होने वाले की भोजन पर जो अश्रद्धा होती है उसे 'अभक्तच्छन्द' कहते हैं ॥ ६-७ ॥

अरोचकचिकित्सामाह—

भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम् । रोचनं दीपनं वह्नेर्जिह्वाकण्ठविशोधनम् ॥ ८ ॥

भोजन के पहिले सर्वदा सेंधानमक तथा अदरक का भक्षण करना पथ्य है । यह रुचिकारक, अग्नि को प्रदीप्त करने वाला तथा जिह्वा और कण्ठ को शुद्ध करने वाला है ॥ ८ ॥

शृङ्गवेररसं वाऽपि मधुना सह योजयेत् । अरुचिश्वासकासघ्नं प्रतिश्यायकफापहम् ॥ ९ ॥

मधु के साथ आर्द्रक-स्वरस को पीने से अरुचि, श्वास, कास, प्रतिश्याय तथा कफ नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

अम्लीकापानकमाह—

पक्वाम्लीका सिता शीतवारिणा वस्त्रगालिता । एलालवङ्गकर्पूरमरिचैरवधूलिता ॥ १० ॥
पानकस्यास्य गण्डूषं धारयित्वा मुखे मुहुः । अरुचिं नाशयत्येव पित्तं प्रशमयेत्तथा ॥ ११ ॥

पकी हुई इमली तथा मिश्री को ठंढे जल में घोल कर वस्त्र द्वारा छान लें । तत्पश्चात् इसमें छोटी इलायची, लौंग, कर्पूर तथा कालीमिर्च का चूर्ण डाल दें । तो 'अम्लीकापानक' नामक पानक तैयार हो जाता है । इसका गण्डूष मुख में बारम्बार धारण करने से अरुचि नष्ट हो जाती है तथा पित्त का प्रशमन हो जाता है ॥ १०-११ ॥

तक्रमाह—

राजिकाजीरकौ भृष्टौ भृष्टं हिङ्गु सनागरम्। सैन्धवं दधि गोः सर्वं वस्त्रपूतं प्रकल्पयेत् ॥१२॥
तावन्मात्रं क्षिपेत्तत्र यथा स्याद्रुचिरुत्तमा। तक्रमेतद्भवेत्सद्यो रोचनं वह्निवर्द्धनम् ॥ १३ ॥

*तक्रं=गव्यम् ॥ १२-१३ ॥

भुनी हुई राई, भुना हुआ जीरा, भुनी हुई हींग, सोंठ, सेंधानमक और गाय का दही, इन सब को मिलाकर वस्त्र द्वारा छान ले। फिर उसमें इतने परिमाण में छांछ मिलावे कि उसका स्वाद उत्तम बना रहे। इस तक्र के सेवन से तत्काल रुचि उत्पन्न हो जाती है तथा अग्नि प्रदीप्त हो जाती है ॥ १२-१३ ॥

शिखरिणीमाह—

सम्यगावर्तितं दुग्धं निवद्धं दधि माहिषम्। एकीकृत्य पटे घृष्टं शुभ्रशर्करया समम् ॥१४॥
एलालवङ्गकर्पूरमरिचैश्च समन्वितम्। नाम्ना शिखरिणी कुर्याद्रुचिं सकलवल्लभाम् ॥१५॥

भली प्रकार औटाया हुआ दूध और वस्त्र से बँधा हुआ जलरहित भैंस का दही, इनको एकत्र करके उसी के बराबर सफेद चीनी मिला कर एक मोटे कपड़े पर घिस कर छान ले। तत्पश्चात् उसमें छोटी इलायची, लौंग, कपूर और कालीमिर्च का चूर्ण डाल दे तो यह शिखरिणी (सिखरन) सिद्ध हो जाती है। सबको प्रिय यह शिखरिणी रुचि को उत्पन्न करती है ॥ १४-१५ ॥

दाडिमादिचूर्णमाह—

द्वे पले दाडिमाम्लस्य खण्डं दद्यात्पलत्रयम्। त्रिसुगन्धि पलं चैकं चूर्णमेकत्र कारयेत् ॥१६॥
तच्चूर्णं मात्रया भुक्तमरोचकहरं परम्। दीपनं पाचनं च स्यात्पीनसज्वरकासजित् ॥१७॥

खट्टे अनार के दाने ८ तो०, खांड १२ तो०, दालचीनी, इलायची तथा तेजपात १-१ तो० लेकर सबका चूर्ण बनाकर मात्रानुसार खानेसे अरुचि को नष्ट करता है। यह चूर्ण अग्नि को प्रदीप्त करने वाला तथा पाचन है। पीनस ज्वर और कास को दूर करता है ॥ १६-१७ ॥

लवङ्गादिचूर्णमाह—

लवङ्गकक्कोलमुशीरचन्दनं नतं सनीलोत्पलकृष्णजीरकम्।
जलं सकृष्णागुरुभृङ्गकेशरं कणा च विश्वा नलदं सहेलया ॥ १८ ॥
तुषारजातीफलवंशरोचनाः सिताऽर्द्धभागाः सकलं विचूर्णितम्।
सुरोचनं तर्पणमग्निदीपनं बलप्रदं वश्यतमं त्रिदोषजित् ॥ १९ ॥
उरोविबन्धं तमकं गलग्रहं सकासहिक्काऽरुचियक्ष्मपीनसम्।
ग्रहण्यतीसारमुरःक्षतं नृणां तथा प्रमेहान्निखिलान्निहन्ति च ॥ २० ॥

*कक्कोलं=सुगन्धिद्रव्यविशेषः। नतं=तगरम्। जलं=बालकम्। भृङ्गं=त्वक्। नलदम्=उशीरम्। तुषारः=कर्पूरः ॥ १८-२० ॥

लौंग, कङ्कोल, मिर्च, खस, सफेद चन्दन, तगर, नीलकमल, कालाजीरा, सुगन्धबाला, अगर, कालीमिर्च, तज, नागकेशर, पिप्पली, सोंठ, छोटी इलायची, भीमसेनी कपूर, जायफल, वंशलोचन सबके आधे परिमाण में मिश्री लेकर सबका चूर्ण कर डाले। इस चूर्ण के सेवन से रुचि उत्पन्न होती है। तृप्ति होती है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है। बल बढ़ता है। मैथुनशक्ति की वृद्धि होती है। और तीनों दोष शान्त होते हैं। छाती का जकड़ना, तमकश्वास, गलग्रह, कास, हिक्का अरुचि, यक्ष्मा, पीनस, ग्रहणी, अतीसार, उरःक्षत तथा सम्पूर्ण प्रमेह नष्ट हो जाते हैं ॥ १८-२० ॥

यवानीखाण्डवचूर्णमाह—

यवानी दाडिमं शुण्ठी तिन्तिडीकाम्लवेतसैः।
वदराम्लश्च कुर्वीत चतुःशाणमितानि च। सार्द्धद्विशाणं मरिचं पिप्पली दशशाणिका ॥२१॥
त्वक्सौवर्चलधान्याकजीरकं द्विद्विशाणिकम्। चतुःषष्टिमितैः शाणैः शर्करामत्र योजयेत् ॥
चूर्णितं सर्वमेकत्र यवानीखाण्डवाभिधम्। चूर्णं जयेत्पाण्डुरोगं हृद्रोगं ग्रहणीज्वरम् ॥ २३ ॥

छर्दिशोषातिसारांश्च प्लीहानाहविवद्धताम् । अरुचिं शूलमन्दाग्निमर्शोजिह्वागलामयान् ॥

इति षोडशोऽरोचकाधिकारः समाप्तः ॥ १६ ॥

अजवाइन, अनार के बीज, सोंठ, इमली, अम्लवेंत और बदराम्ल (जंगली बेर) ये प्रत्येक पदार्थ १-१ तो०, काली मिर्च ७॥ माशे, पिप्पली २॥ तो०, दालचीनी, कालानमक, धनियां तथा जीरा ये प्रत्येक पदार्थ ६-६ माशे लेवे और खांड ६ तो० लेकर सबको एकत्र चूर्ण कर ले। तो यह 'यवानीखाण्डव' चूर्ण तैयार हो जाता है। इस चूर्ण के सेवन से पाण्डुरोग, हृद्रोग, ग्रहणी, ज्वर, वमन, शोष, अतीसार, प्लीहा, आनाह, मलबन्ध, अरुचि, शूल, मन्दाग्नि, अर्श और जिह्वा तथा गले के रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ २१-२४ ॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां-मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे षोडशोऽरोचकाधिकारः समाप्तः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशश्छर्द्यधिकारः ॥ १७ ॥

तत्र छर्देर्विप्रकृष्टसन्निकृष्टनिदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरपि । अकाले चातिमात्रैश्च तथासात्म्यैश्च भोजनैः ॥ १ ॥

आमाद्भयात्तथोद्वेगादजीर्णात्क्रिमिदोषतः ।

नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नतः । बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्भुक्तमुत्क्लिश्यते बलात् ॥

*आमाद्=असम्यक् पक्काद् रसात् । अजीर्णाद्=यथास्थिताद् भुक्तात् । आपन्नसत्त्वायाः=प्राप्तगर्भायाः । अन्यैर्बीभत्सैर्विकृतैर्हेतुभिर्घृणाकारिभिः=अनिष्टश्रवणस्पर्शनदर्शनभक्षणपानैः, उत्क्लिश्यते ॥ २ ॥

दुष्टैर्दोषैः पृथक्सर्वैर्बीभत्सालोकनादिभिः । छर्दयः पञ्च विज्ञेयास्तासां लक्षणमुच्यते ॥

[1]छर्दिरोग का विप्रकृष्ट तथा सन्निकृष्ट निदान और सम्प्राप्ति—अत्यन्त द्रव, अत्यन्त स्निग्ध, अप्रिय तथा नमकीन भोजन करने से, असमय में भोजन करने से, अधिक भोजन करने से, असात्म्य भोजन करने से, आम, भय, उद्वेग, अजीर्ण, क्रिमिदोष, सगर्भावस्था, बहुत शीघ्र भोजन करने से, भक्षण करने से अथवा जबरदस्ती भोजन करने से, कुपित हुये दोषों से किया हुआ भोजन छर्दि द्वारा बाहर निकल जाता है। यह छर्दि रोग पांच प्रकार का होता है। इनके लक्षणों को कहा जाता है ॥ १-३ ॥

---

१. पाश्चात्य विज्ञान में छर्दि का निदान तथा सम्प्राप्ति निम्न प्रकार मानते हैं-वमन का केन्द्र मेडुला (Medula) में होता है। आमाशय, आन्त्र अथवा अन्य उदरगत अवयवों (Stomach, Intestine or any other abdominal Viscera) से वागस (Vagus) नामक वातनाड़ी द्वारा, जिह्वा तथा फेरिंग्स (Tongue and Pharynx) से ग्लासो फेरिञ्जियल (Glosso pharyngeal) नामक वातनाड़ी द्वारा, नासिका से ट्राईजेमिनल (Trigeminal) नामक वात नाड़ी द्वारा तथा मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर (Meningitis) सेरीबरल ट्यूमर (Cerebral tumour) विषमयावस्था जैसे—यूरीमिया (Toxic conditions as Uraemia), मधुमेहजन्य मूर्च्छा (Diabetic Coma), बच्चों का साइक्लिक वमिटिंग (Cyclic Vomiting of children), सगर्भावस्था (pregnancy), सिनकोप (Syncope), सेरीबरल एनीमिया (Cerebral anaemia) तथा हिस्टीरिया (Hysteria) इन रोगों में सेरीबरल कोर्टेक्स (Cerebral cortex) द्वारा संवेदना मेडुलास्थित वमन केन्द्रतक पहुँचती है तत्पश्चात् फ्रीनिक नर्व (phrenic Nerve) द्वारा डायाफ्राम (Diaphragm), वागस (Vagus) नामक

छर्देः पूर्वरूपमाह—

हृल्लासोद्गारसंरोधौ प्रसेको लवणास्यता। द्वेषोऽन्नपाने च भृशं वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥

हृल्लास, डकार का रुकना, मुख द्वारा लालास्राव, मुख में नमकीन स्वाद तथा अन्नपान में अरुचि ये सब वमन के पूर्वरूप हैं ॥ ४ ॥

वातनाडी के चालक सूत्रों द्वारा आमाशय (Stomach) तथा सौपुम्निक वातनाडियों (Spinal Nerves) द्वारा उदरस्थित मांसपेशियों (Muscles of the abdominal Wall) में संकोच उत्पन्न होने लगता है जिससे कि वमन होने लगता है।

वमन का लक्षण—यह उस अवस्था का नाम है जब कि आमाशय में विरुद्ध गति प्रारम्भ हो जाती है और आमाशयस्थित सारा भोज्य पदार्थ अन्न-प्रणाली तथा मुख द्वारा बाहर निकल जाता कि-जैसा कि—(Bed-Side Medicine, नामक पाश्चात्त्य चिकित्साग्रन्थ में लिखा हुआ है कि—

(This is Reverse Peristalsis of the Stomach and evacuation of its contents through the oesophagus and the mouth)

अपने यहां जो वमन का लक्षण बतलाया गया है ठीक ऐसा ही है यथाः—

'छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः। निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः'।

उपर्युक्त जो वमनके कारण अत्यन्त संक्षेपमें बतलाये गये हैं जिससे कि वातनाडियां उत्तेजित होकर वमन कराने में भाग लेती हैं उनका कुछ विशुद्ध विवेचन करना आवश्यक समझ कर किया जाता है।

कारण—Oesophageal obstruction अन्न-प्रणालीसन्निरोध - यह चाहे स्ट्रिक्चर (Stricture) के कारण हो या स्पाज्म (Spasm) के कारण हो अथवा बाहर से किसी प्रकार का दबाव पड़ने के कारण हो।

(i) STOMACH—आमाशयजन्य विकार—यथाः-आमाशय में स्थानिक प्रक्षोभ (Local irritation in the Stomach) जैसे कि प्रक्षोभकविष (Irritant Poison) अर्थात् संखिया इत्यादि के खाने के पश्चात् होता है। अपने यहां सुश्रुत ने भी आमाशयगत विष को वमन का कारण माना है यथाः—

'मूर्च्छा छर्दिमतीसारमाध्मानं दाहवेपथू।
इन्द्रियाणाञ्च वैकृत्यं कुर्यादामाशयं गतम्' ॥ सु० कल्पस्थान अ० १ श्लोक ३८।

इसके अतिरिक्त अयोग्य, पचने में अत्यन्त गुरु तथा अत्यन्त भोजन (Unsuitable, Indigestible or an excessive amount of food) भी कारण है। अपने यहां भी लिखा है किः—
'अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरपि। अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः'।

इनके अलावे आमाशयजन्य विकारों में गेस्ट्राइटिस (Gastritis), आमाशयिक व्रण (Gastric ulcer) तथा कैन्सर (Cancer) और बच्चों में आमाशय के द्वितीयद्वार का हाइपरट्राफिक स्टेनोसिस (Hyper trophic Stanosis of the Pylorus in babies) ये भी वमन के कारण होते हैं।

(ii) आन्त्र (INTESTINE) आन्त्रगत निम्न विकार वमन में कारण होते हैं। यथाः—जीर्ण मलावरोध (Chronic Constipation), [1]आन्त्र सन्निरोध (intestinal obstruction), तरुण आन्त्रशोथ जैसे कि विसूचिका में होता है, (Acuieenterits like cholera) आन्त्रपुच्छ शोथ (Appendicitis) तथा [2]आन्त्रगत कृमि (intestinal Worms)।

(iii) उदरगत अवयवों की शोथयुक्त अवस्था (inflammatory condition in the Viscera) यथाः—तरुण अग्न्याशय शोथ (Acute Pancreatitis) और गर्भाशय

---

१. इस विकार में जो वमन होता है उसमें मल मिला हुआ होता है।

२. यह प्रायः बच्चों में होता है।

छर्देः सामान्यलक्षणमाह—

छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः। निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ॥ ५ ॥

छादयन्=पूरयन्। अङ्गभञ्जनैः=अङ्गभेदैः। अर्दयन्=अङ्गानि पीडयन्। वक्त्रं प्रधावितो दोषश्छर्दिरित्युच्यते ॥ ५ ॥

छर्दि का सामान्य लक्षण—जो दोष वेग से मुख को पूर्ण करता हुआ, अङ्गों को तोड़ता हुआ तथा शरीर को पीड़ित करता हुआ मुख में आता है उसे छर्दि कहते हैं ॥ ५ ॥

वातजच्छर्दिलक्षणमाह—

हृत्पार्श्वपीडामुखशोषशीर्षनाभ्यर्त्तिकासस्वरभेदतोदः।

(Uterus) बीजग्रन्थियों (Ovarius) तथा बीजवाहिनियों (Fallopian tubes) का शोथ। और इनके अतिरिक्त हिलने वाला वृक्क (Movable Kidney), उदरावरण शोथ (Peritonitis), पित्ताशय शूल (Biliary colic) तथा वृक्कशूल (Renal colic) ये भी वमन के कारण होते हैं। इन उपर्युक्त सभी अवस्थाओं में जो वमन होता है वह वागस (Vagus) नामक वातनाड़ी के उत्तेजित होने के कारण होता है।

दूषित, दुर्गन्धित तथा अप्रिय भोज्य पदार्थों को खाने से तथा भोजन करते समय ऐसे पदार्थों को सूंघने इत्यादि से भी वमन होता है। यह वमन ग्लासोफेरिञ्जियल (Glosso-Pharyngeal) तथा ट्राईजेमिनल (Trigeminal) नामक वात नाड़ी के उत्तेजित होने के कारण होता है। अपने यहां भी अक्षरशः इनका ऐसा ही वर्णन मिलता है। जैसे कि—'बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्भुक्तमुत्क्लिश्यते बलात्' ॥

इसके अतिरिक्त फेरिंग्स का प्रक्षोभ (Pharyngeal irritation) तथा बढ़े हुये टान्सिल तथा युवुला (Enlarged tonsile and Uvula) की अवस्था में जो वमन होता है उसमें भी ग्लासोफेरिञ्जियल (Glosso Pharyngeal Nerva) नामक वात नाड़ी भाग लेती है।

निम्न रोगों में रक्त में रहने वाले विषैले पदार्थ सीधे मेडुला स्थित वमनकेन्द्र ही पर अपना प्रभाव डालकर वमन कराने में कारण होते हैं इन्हें केन्द्रीय कारण (Central Causes) कहते हैं।

जैसेः—बहुत से तरुण ज्वर (Many acute fevers), यूरीमिया (Uraemia), कैटोसिस (Ketosis), एक्सआफथैलमिक ग्वायटर (Exophthalmic goitre), एडीशन के रोग (Addisons disease), मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर (Meningitis), सेरीबरलट्यूमर (Cerebral tumour), मस्तिष्कसम्पीडन (Concussion of the Brain), माईग्रेन[1] (Migraine) तथा टेवस[2] (Tabes) इनके अतिरिक्त मानसिक अवस्थायें जैसे डर (Disgust) अथवा भय (Fear) भी वमन का कारण होता है तथा निम्न और कुछ रोग और अवस्थायें हैं जिनमें कि वमन होता है। जैसे समुद्रीविकार (Sea Sickness), वायुविकार (Air Sickness), सिनकोप (Syncope) और गर्भावस्था के कुछ प्रारम्भिक महीने (Early months of Pregnancy) तथा हिस्टीरिया (Hysteria)। इस प्रकार यद्यपि पाश्चात्त्य विज्ञान में वमन के कारणों तथा सम्प्राप्ति का स्वरूप कुछ विस्तृत प्रतीत हो रहा है तथापि यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो अपने यहां जो वमन के विप्रकृष्ट, सन्निकृष्ट निदान तथा सम्प्राप्ति का वर्णन किया गया है वह इससे भिन्न नहीं है। यथाः—

'अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरपि। अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः।
आमाद्भयात्तथोद्वेगादजीर्णात्क्रिमिदोषतः। नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नतः।
बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्भुक्तमुत्क्लिश्यते बलात्' ॥

---

१. यह एक प्रकार का शिरःशूल होता है।

२. यह उस अवस्था का नाम है जिसमें कि शरीर की मांसपेशियां उत्तरोत्तर अधिकाधिक क्षीण होती जाती हैं। यह प्रायः मधुमेह (Diabetes) में होता है।

उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम् ॥ ६ ॥
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्त्तोऽनिलाच्छर्दयतीव दुःखम् ॥ ७ ॥

*कषायं कषायरसम्। दुःखमिव छर्दयति॥ ६-७ ॥

वातजन्य छर्दि में हृदय तथा पसलियों में पीड़ा, मुखशोष, सिर तथा नाभि में पीड़ा, कास, स्वरभङ्ग, शरीर में सुई चुभोने की सी पीड़ा, डकार का प्रबल शब्द, फेनयुक्त, फटा हुआ, काला, पतला तथा कसैला, अत्यन्त कष्ट से और बड़े वेग से थोड़ा वमन होता है ॥ ६-७ ॥

पित्तजच्छर्दिलक्षणमाह

मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्द्धताल्वक्षिसन्तापतमोभ्रमार्त्तः ।
पीतं भृशोष्णं हरितञ्च तिक्तं धूम्रञ्च पित्तेन वमेत्सदाहम् ॥ ८ ॥

पित्तजन्य छर्दि में मूर्च्छा, पिपासा, मुखशोष, शिर, तालु तथा नेत्रों में दाह, आंखों के सामने अन्धेरा छा जाना तथा भ्रम होता है। पीला, अत्यन्त उष्ण, तिक्त, धूम्रयुक्त और दाहयुक्त वमन होता है ॥ ८ ॥

कफच्छर्दिलक्षणमाह—

तन्द्राऽऽस्यमाधुर्यकफप्रसेकसन्तोषनिद्राऽरुचिगौरवार्त्तः ।
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्धि शुक्लं सलोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु ॥ ९ ॥

*सन्तोषः = तृप्तिः ॥ ९ ॥

कफजन्य छर्दि में तन्द्रा, मुखमाधुर्य, कफ का गिरना, तृप्ति, निद्रा, अरुचि तथा भारीपन होता है। लोमहर्ष के साथ स्निग्ध, गाढ़ा, मधुर, श्वेत तथा अल्प पीडायुक्त वमन होता है ॥ ९ ॥

त्रिदोषजच्छर्दिलक्षणमाह—

शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णा-श्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्ता ।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनील-सान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ॥ १० ॥

त्रिदोषजन्य छर्दिमें शूल, अन्नका भली प्रकार परिपाक न होना, अरुचि, दाह, पिपासा, श्वास और अत्यन्त मोह होता है। नमकीन, खट्टा, नीला, गाढ़ा, उष्ण तथा रुधिरयुक्त वमन होता है॥

आगन्तुच्छर्दिलक्षणमाह—

असात्म्यजा च क्रिमिजाऽऽमजा च बीभत्सजा दौर्हृदजा च या हि ।
सा पञ्चमी ताञ्च विभावयेच्च दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ॥ ११ ॥

*एताः पञ्चाप्यागन्तुजत्वेन साम्यादेकैव। अत एव सा = आगन्तुजा पञ्चमी। विभावयेद् = अनुबन्धयेत् ॥ ११ ॥

असात्म्य भोजन से, कृमि तथा आम दोष से, बीभत्स पदार्थों के देखने से और गर्भवती स्त्रियों के गर्भ रहने से उत्पन्न हुआ, इस प्रकार आगन्तुज वमन ५ प्रकार का होता है। यह आगन्तुज वमन उपर्युक्त लक्षणों से दोषानुसार जानना चाहिये ॥ ११ ॥

कृमिजच्छर्देर्लक्षणमाह—

शूलहृल्लासबहुला कृमिजा च विशेषतः। कृमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन च लक्षिता ॥ १२ ॥

कृमिज हृद्रोग के समान लक्षणों वाली, प्रायः शूल तथा हृल्लास की अधिकता से युक्त 'कृमिज-छर्दि' को जानना चाहिये ॥ १२ ॥

छर्देरुपद्रवानाह—

कासः श्वासो ज्वरस्तृष्णाहिक्कावैचित्त्यमेव च। हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः ॥ १३ ॥

*वैचित्त्यं = विकृतिचित्तत्वम्। तमकोऽत्र तमः, श्वासपदेनैव तमकाख्यस्यापि श्वासस्योक्तेः ॥ १३ ॥

कास, श्वास, ज्वर, तृष्णा, हिक्का, चित्त की विकृति, हृद्रोग तथा आंखों के सामने अन्धेरा छा जाना ये सब वमन के उपद्रव होते हैं। यहां पर तमक शब्द से अन्धकार ही का ग्रहण होता है

न कि 'तमकश्वास' का। 'तमकश्वास' का ग्रहण उसी स्थल पर होगा जब कि तमक शब्द के साथ श्वास शब्द भी उपस्थित हो ॥ १३ ॥

छर्देरसाध्यतां साध्यतां चाह—

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता।
सचन्द्रिकां तां प्रवदन्त्यसाध्यां साध्यां चिकित्सेन्निरुपद्रवां च ॥ १४ ॥

***सचन्द्रिकां = मयूरपिच्छचन्द्रिकाप्रभायुक्ताम् ॥ १४ ॥**

क्षीण मनुष्य को उत्पन्न हुआ वमन, अधिक बार अथवा अधिक मात्रा में होने वाला वमन, उपद्रवयुक्त, रक्त तथा पूययुक्त और मोरपुच्छ के समान कान्तिवाला वमन असाध्य होता है। उपद्रव रहित वमन साध्य होता है, उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १४ ॥

छर्देश्चिकित्सामाह—

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात्।
विधीयते मारुतजां विना तु संशोधनं वा कफपित्तहारि ॥ १५ ॥

वमन चिकित्सा—सब प्रकार के वमन आमाशयोत्क्लेशजन्य होते हैं अतः इनमें लङ्घन करना चाहिये। अथवा कफ और पित्तनाशक संशोधन द्रव्य का उपयोग करना चाहिये। किन्तु वातजन्य छर्दि में इसका विधान नहीं है ॥ १५ ॥

हन्यात्क्षीरोदकं पीतं छर्दिं पवनसम्भवाम्। मुद्गामलकयूषो वा ससर्पिष्कः ससैन्धवः॥१६॥

***क्षीरोदकं = नाशितस्य क्षीरस्योदकम् ॥ १६ ॥**

दूध को फाड़ने से जो पानी मिलता है उसे पीने से अथवा घी तथा सेंधा नमक के साथ मूंग और आंवलों का यूष पीने से वातजन्य छर्दि दूर हो जाती है ॥ १६ ॥

गुडूचीत्रिफलानिम्बपटोलैः क्वथितं जलम्। पिबेन्मधुयुतं तेन छर्दिर्नश्यति पित्तजा ॥ १७ ॥

गुडूची, हरड़, बहेड़ा, आंवला, नीम की छाल तथा पटोलपत्र इन सब का क्वाथ मधु मिलाकर पीने से पित्तजन्य वमन नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

हरीतकीनां चूर्णन्तु लिह्यान्माक्षिकसंयुतम्। अधोमार्गीकृते दोषे छर्दिः शीघ्रं निवर्त्तते ॥

हर्रों के चूर्ण को शहद के साथ चाटने से दोषों के गुदामार्ग द्वारा निकल जाने पर वमन शीघ्र ठीक हो जाता है ॥ १८ ॥

विडङ्गत्रिफलाविश्वा-चूर्णं मधुयुतं जयेत्। विडङ्गप्लवशुण्ठीनां चूर्णं वा कफजां वमिम् ॥१९॥

***प्लवः = कैवर्त्तमुस्तकं 'गुडतजी' इति लोके ॥ १९ ॥**

वायविडङ्ग, हरड़, बहेड़ा, आंवला तथा सोंठ के चूर्ण को शहद के साथ चाटने से अथवा वायविडङ्ग, केवटीमोथा तथा सोंठ के चूर्ण को शहद के साथ चाटने से कफजन्य वमन दूर हो जाता है ॥

पिष्ट्वा धात्रीफलं लाजाञ्छर्कराञ्च पलोन्मिताम्।
दत्वा मधुपलञ्चापि कुडवं सलिलस्य च। वाससा गालितं पीतं हन्ति च्छर्दिं त्रिदोषजाम्॥२०॥

आंवले, धान का लावा और खांड़ ४ तोले की मात्रा में लेकर पीस कर ४ तो० शहद तथा १६ तो० जल मिलाकर वस्त्र द्वारा छान ले। इसको पीने से त्रिदोषजन्य वमन नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

गुडूच्या रचितं हन्ति हिमं मधु समन्वितम्। दुर्निवारामपि च्छर्दिं त्रिदोषजनितां बलात्॥२१॥

गुडूची द्वारा बनाया हुआ हिम मधु मिलाकर पीने से त्रिदोषजन्य तथा अत्यन्त दुर्निवार वमन बलात् अच्छा हो जाता है ॥ २१ ॥

अथैलादिचूर्णमाह—

एलालवङ्गगजकेशरकोलमज्जालाजाप्रियङ्गुघनचन्दनपिप्पलीनाम्।
चूर्णानि माक्षिकसितासहितानि लीढ्वा छर्दिं निहन्ति कफमारुतपित्तजाताम् ॥ २२ ॥

छोटी इलायची, लौंग, नागकेशर, बेर का गूदा, धान का लावा, फूलप्रियङ्गु, नागरमोथा, सफेद

चन्दन तथा पिप्पली का चूर्ण मधु और मिश्री मिलाकर चाटने से कफ, वात तथा पित्तजन्य वमन दूर हो जाता है ॥ २२ ॥

अश्वत्थवल्कलं शुष्कं दग्धं निर्वापितं जले । तज्जलं पानमात्रेण छर्दिं जयति दुर्जयाम् ॥२३॥
पथ्यात्रिकटुधान्याक-जीरकाणां रजो लिहन् । मधुना नाशयेच्छर्दिमरुचिञ्च त्रिदोषजाम्॥२४॥

पीपल की सूखी हुई छाल को जलाकर जल में बुझा दे। इस जल को पीने से तत्काल दुर्जय वमन दूर हो जाता है। हरड़, सोंठ, मिर्च, पीपल, धनियां तथा जीरे के चूर्ण को शहद मिलाकर चाटने से तीनों दोषों से उत्पन्न हुआ वमन तथा अरुचि नष्ट हो जाती है ॥ २३-२४ ॥

बिल्वत्वचो गुडूच्या वा क्वाथः क्षौद्रेण संयुतः । छर्दिं त्रिदोषजां हन्ति पर्पटः पित्तजां तथा ॥

बेल की छाल अथवा गुडूची का क्वाथ मधु मिलाकर पीने से त्रिदोषजन्य वमन दूर हो जाता है। तथा पित्तपापड़े को पीस कर पीने से पित्तजन्य वमन दूर हो जाता है ॥ २५ ॥

आम्रास्थिबिल्वनिर्यूहः पीतः समधुशर्करः । निहन्याच्छर्द्यतीसारं वैश्वानर इवाहुतिम् ॥२६॥
***निर्यूहः = क्वाथः ॥ २६ ॥**

आम की गुठली तथा बेलगिरी का क्वाथ मधु तथा शर्करा मिलाकर पीनेसे इस प्रकार वमन तथा अतीसार का नाश होता है जैसे कि अग्नि आहुति का नाश कर डालती है ॥ २६ ॥

जम्ब्वाम्रपल्लवश्रृतं लाजरजःसंयुतं शीतम् । शमयति मधुना युक्तं वमिमतिसारं तृषामुग्राम् ॥

जामुन के पत्तों तथा आम के पत्तों का क्वाथ, धान के खीलों का चूर्ण तथा शहद मिलाकर पीने से वमन, अतीसार तथा घोर पिपासा शान्त हो जाती है ॥ २७ ॥

बीभत्सजां हृद्यतमैरिष्टैर्दौहृदजां फलैः । लङ्घनैरामजां छर्दिं जयेत्सात्म्यैरसात्म्यजाम् ॥२८॥

बीभत्स पदार्थों के दर्शन आदि से उत्पन्न हुए वमन को अत्यन्त प्रिय पदार्थों के उपयोग से, गर्भजन्य वमन को प्रिय फलों के उपयोग से, आम से उत्पन्न हुए वमन को लङ्घनों से तथा असात्म्य भोजन से उत्पन्न वमन को हित पदार्थों के सेवन से जीतना चाहिये ॥ २८ ॥

कृमिहृद्रोगवद्धन्याच्छर्दिं कृमिसमुद्भवाम् । तत्र तत्र यथादोषं क्रियां कुर्याच्चिकित्सकः ॥

चिकित्सक कृमिदोष से उत्पन्न हुये वमन को कृमिरोगोक्त तथा हृद्रोगोक्त चिकित्सा यथादोष विचारपूर्वक करे ॥ २९ ॥

सोद्गारायां भृशं छर्द्यां मूर्वाया धान्यमुस्तयोः । समधुकाञ्जनं चूर्णं लेहयेन्मधुसंयुतम् ॥३०॥

बहुत डकार आने वाले वमन में मूर्वा, धनियां, नागरमोथा, मुलहठी तथा रसौत के चूर्ण को मधु मिलाकर चटावे ॥ ३० ॥

सौवर्चलमजाजी च शर्करा मरिचानि च । क्षौद्रेण सहितं लीढं सद्यश्छर्दिनिवारणम् ॥३१॥

इति सप्तदशश्छर्द्यधिकारः सम्पूर्णः ॥ १७ ॥

कालानमक, जीरा, चीनी तथा कालीमिर्च के चूर्ण को मधु मिलाकर चाटने से वमन तत्काल बन्द हो जाता है ॥ ३१ ॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे सप्तदशश्छर्द्यधिकारः समाप्तः ॥ १७ ॥

अष्टादशस्तृष्णाऽधिकारः ॥ १८ ॥

तत्र तृष्णाया निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

भयश्रमाभ्यां बलसङ्क्षयाद्वाऽप्यूर्ध्वं चितं पित्तविवर्द्धनैश्च ।
पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालुप्रपन्नं जनयेत्पिपासाम् ॥ १ ॥
स्रोतःस्वपां वाहिषु दूषितेषु दोषैश्च तृट् सम्भवतीह जन्तोः ।

तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी क्षयात्तथाऽन्याऽऽमसमुद्भवा च ।
भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासां निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु ॥ २ ॥

*नराणां पित्तं स्वस्थान एव सञ्चितं पित्तं,सवातम् पित्तविवर्द्धनैः कट्वम्लोष्णादिभिः। कुपितम्पित्तं, भयश्रमाभ्यां बलसङ्क्षयादुपवासादेश्च वातः कुपितस्तद्द्वयमूर्ध्वं प्राप्तम् = ऊर्ध्वं प्रसरत्पिपासां जनयेत् । न केवलं तालुन्येव दूषिते तृषा भवति किन्तु जलवाहिस्रोतःस्वपि । अत आह—'स्रोतःस्वि'त्यादि । ननु-अत्र बहुवचनं न युक्तं, यतो जलवहे द्वे स्रोतसी सुश्रुतेनोक्ते । उच्यते—तयोरेवानेकप्रतानयोगान्न दोषः । अपां वाहिषु स्रोतःस्विति । जिह्वाऽऽदेरप्युपलक्षणम् । यत आह चरकः—
रसवाहिनीश्च धमनीर्जिह्वाहृदयगलतालुक्लोम्नः। संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णामतिबलां तौ
तावि‍ति । पित्तानिलाविति ॥ १ ॥
सङ्ख्यामाह—तिस्र इत्यादि ॥ १-२ ॥

अपने स्थान में स्थित पित्त, तीक्ष्ण, खट्टे और उष्ण आदि पदार्थों के सेवन से कुपित होकर तथा अपने स्थान में स्थित वात, भय, श्रम तथा बलक्षय करने वाले उपवासादि कारणों से कुपित होकर ये दोनों दोष ऊपर आकर तालुप्रदेश को दूषित करके तृष्णा[1] को उत्पन्न करते हैं । न केवल तालु प्रदेश के ही दूषित होने से मनुष्य को तृष्णा उत्पन्न होती है किन्तु जलवाही स्रोतसों के दूषित होने पर भी तृष्णा उत्पन्न होती है । यह तृष्णा १-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-क्षतज, ५-क्षयज, ६-आमदोषज तथा ७-भक्तोद्भवा (भोजन करने के बाद उत्पन्न होने वाली) भेद से ७ प्रकार की होती है । अब इनके लक्षण क्रमशः कहता हूं ।

शङ्का—सुश्रुत के मत से जलवाही दो ही स्रोतस् माने गये हैं यहां पर 'स्रोतःसु' ऐसा बहुवचन शब्द क्यों कहा गया ?

समाधान—यद्यपि जलवाही दो ही स्रोतस् हैं तथापि इनकी बहुत सी शाखा-प्रशाखायें होने से यहाँ पर जो बहुवचन शब्द का प्रयोग किया गया है इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं आता है। यहां 'स्रोतस्' यह शब्द उपलक्षण मात्र है । इस शब्द से जिह्वा आदि का भी ग्रहण होता है। क्योंकि चरकाचार्य का मत है कि:—

पित्त तथा वायु रसवाहिनी धमनियाँ, जिह्वा, हृदय, गल, तालु तथा क्लोम (पिपासास्थान) को सुखा कर मनुष्य के शरीर में अति बलवती तृष्णा को उत्पन्न करते हैं ॥ १-२ ॥

तृष्णायाः सामान्यलक्षणमाह—

ताल्वोष्ठकण्ठास्यविशोषदाहाः सन्तापमोहभ्रमविप्रलापाः ।
सर्वाणि रूपाणि भवन्ति तस्यामुत्पत्तिकाले तु विशेषतो हि ॥ ३ ॥

तालु, ओष्ठ, कण्ठ तथा मुख का शोष, दाह, सन्ताप, मोह, भ्रम और प्रलाप ये सब तृष्णा के लक्षण हैं । तृष्णा के उत्पत्तिकाल में ये सब लक्षण अधिकतर दिखाई देते हैं ॥ ३ ॥

वातजतृषालक्षणमाह—

क्षामास्यता मारुतसम्भवायां तोदस्तथा शङ्खशिरःसु चापि ।
स्रोतोनिरोधो विरसञ्च वक्त्रं शीताभिरद्भिश्च विवृद्धिमेति ॥ ४ ॥

***शङ्खशिरःसु = शङ्खयोः शिरसि च, तोदः । स्रोतोनिरोधः = रसाम्बुवाहिनीधमनीनिरोधः॥**

वातज तृषा में मुख मलिन हो जाता है । पीड़ा होती है । शङ्खप्रदेश तथा शिर में रस तथा जलवाहिनी धमनियों में अवरोध उत्पन्न हो जाता है । मुख का स्वाद विरस हो जाता है और शीतल जल से तृष्णा की वृद्धि होती है ॥ ४ ॥

---

१. जिस प्रकार अपने यहां तृष्णा एक स्वतन्त्र रोग माना जाता है वैसे पाश्चात्य वैद्यक में नहीं माना जाता। वे लोग इसे एक उपद्रव मानते हैं जो कि निम्न कुछ रोगों या अवस्थाओं में पाया जाता है।

पित्तजतृषालक्षणमाह—

मूर्च्छाऽन्नविद्वेषविलापदाहा रक्तेक्षणत्वं प्रततश्च शोषः ।
शीताभिनन्दा मुखतिक्तता च पित्तात्मिकायां परिधूपनञ्च ॥ ५ ॥

विलापः = प्रलापः । प्रततश्च शोषः = अविरतः शोषः । शीताभिनन्दा = शीतेच्छा । परिधूपनं = कण्ठाद् धूमनिर्गम इव ॥ ५ ॥

पित्तज तृषा में मूर्च्छा, अन्नविद्वेष, प्रलाप, दाह, नेत्रों में लाली, निरन्तर शोष, शीतकामिता, मुख का तीता बना रहना और कण्ठ में से धुआं सा निकलना ये सब लक्षण होते हैं ॥ ५ ॥

कफजतृषालक्षणमाह—

वाष्पावरोधात् कफसंवृतेऽग्नौ तृष्णा बलासेन भवेन्नरस्य ।
निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च तयाऽर्दितः शुष्यति चातिमात्रम् ॥ ६ ॥

अग्नौ = जठराग्नौ । कफसंवृते = स्वकारणकुपितेन कफेनोपरिष्टाच्छादिते । वाष्पावरोधाद् = अग्नेरूष्मावरोधाद्, अवरुद्धानलोष्मणाऽम्बुवहस्रोतःशोषणाद् । बलासेन = कफेन । नरस्य तृड् भवेत् । तया = तृष्णया । अर्दितः = पीडितः । शुष्यति = कृशो भवति ॥६॥

जठराग्नि के प्रकुपित कफ द्वारा आच्छादित होने के कारण जठराग्नि की उष्णता रुक कर जल-

---

१—पालीयूरिया (Polyuria = बहुमूत्रता) जो कि डाईबेटस मेलिटस (Diabetes mellitus = मधुमेह भेद), डाईबेटस इन्सीपीडस (Diabetes Insipidus = मधुमेह भेद), और इण्टर्स्टीशियल नेफ्राइटिस (Interstitial Nephritis = वृक्कविकार भेद) तथा हिस्टीरिया (Hysteria) इन रोगों के कारण होता है । तृष्णा का प्रथम कारण माना गया है ।

२—द्रव पदार्थों का अल्प मात्रा में ग्रहण तथा अधिक मात्रा में नाश यह दूसरा कारण माना गया है । जैसा कि निम्न रोगों में होता है । ज्वर (Fevers), प्रोफ्यूज डायरिया (Profuse Diarrhoea = अतिसार भेद), वमन (Vomiting) अथवा प्रश्वास की तीव्रता (Perspiration) । उपर्युक्त तृष्णा के जो ये दोनों कारण पाश्चात्य वैद्यक में बताये गये हैं अपने यहां भी उसका प्रायः वैसा ही वर्णन आता है या कुछ विशेषता भी है यथा—

'ज्वरमेहक्षयशोषश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ।
सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रसक्तानाम् ।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेया ।' च० चि० अ० २२ श्लो० १७-१८ ॥

३—आमाशय के पाइलोरिक नामक द्वार के सङ्कोच के कारण (Due to pyloric Stenosis) आमाशय का विस्तार हो जाता है जिसे कि गेस्ट्रक्टेसिस (Gastrectasis) कहते हैं, पाश्चात्य वैद्यक में वह भी पिपासा का कारण माना गया है ।

४—धतूर का विष तथा क्षोभक द्रव्यों का जैसे-टैनिक या गैलिक अम्ल का स्थानिक उपयोग और लोहे के लवणों का मुँह तथा गले में प्रलेप करना भी पिपासा का कारण माना जाता है जैसा कि 'Bed Side Medicine' नामक पाश्चात्य चिकित्सा ग्रन्थ में लिखा है कि—'Belladonna poisoning and Local application of astringents as tanic or Gallic acids and ferric Salts into the mouth and throat' ।

५—अत्यन्त रक्तस्राव के (Severe haemorrhage) भी पिपासा का कारण माना जाता है । अपने यहां यह क्षतज तृष्णा कहलाती है । भगवान सुश्रुत ने भी वर्णन किया है कि अत्यन्त रक्तस्राव से पिपासा की वृद्धि होती है । यथा—तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमधिमन्थं तिमिरप्रादुर्भावं धातुक्षयमाक्षेपकं पक्षाघातमेकाङ्गविकारं तृष्णादाहौ हिक्कां कासं श्वासं पाण्डुरोगं मरणं चापादयति ।

वह स्रोतसों का शोषण करती है इससे 'कफज तृष्णा' की उत्पत्ति होती है। इस तृष्णा से आक्रान्त मनुष्य को निद्रा बहुत आती है। शरीर में गुरुता प्रतीत होती है। मुख में मिठास बनी रहती है। उस मनुष्य का शरीर अत्यन्त सूख जाता है ॥ ६ ॥

क्षतजतृष्णालक्षणमाह—

क्षतस्य रुक्छोणितनिर्गमाभ्यां तृष्णा चतुर्थी क्षतजा मता तु ॥ ७ ॥

*क्षतस्य = शस्त्रादिक्षतयुक्तस्य । रुक् = पीडा ॥ ७ ॥

शस्त्रादि द्वारा घायल हुए मनुष्य को पीड़ा के कारण तथा रक्तस्राव के कारण जो तृष्णा लगती है उसे चौथी 'क्षतज तृष्णा' कहते हैं ॥ ७ ॥

क्षयजतृपालक्षणमाह—

रसक्षयाद्या क्षयसम्भवा सा तयाऽभिभूतस्तु निशादिनेषु ।
पेपीयतेऽम्भः स सुखं न याति तां सन्निपातादिति केचिदाहुः ॥
रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि तस्यामशेषेण भिषग्व्यवस्येत् ॥ ८ ॥

*रसक्षयलक्षणानि सुश्रुतेनोक्तानि 'रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शोषः शून्यता तृष्णा चेति। व्यवस्येद् = जानीयात् ॥ ८ ॥

रसक्षय से जो तृष्णा उत्पन्न होती है उसे 'क्षयज तृष्णा' कहते हैं। इस तृष्णा से आक्रान्त मनुष्य रात-दिन पानी पिया करता है किन्तु कभी इसे सन्तोष नहीं होता। कुछ वैद्य इसे 'सन्निपातजतृष्णा' भी कहते हैं। इस तृष्णा में सुश्रुतोक्त सारे रसक्षय के लक्षण जैसे—हृदय में पीड़ा, कम्प, शोष, शून्यता तथा तृष्णा ये सब मिलते हैं। ऐसा वैद्यों को जानना चाहिये ॥ ८ ॥

आमोत्पन्नतृपालक्षणमाह—

त्रिदोषलिङ्गाऽऽमसमुद्भवा च हृच्छूलनिष्ठीवनसादकर्त्री ॥ ९ ॥

आमजन्य तृष्णा में तीनों दोषों के चिह्न होते हैं। उसके हृच्छूल, थूक आना तथा ग्लानि ये लक्षण होते हैं ॥ ९ ॥

भक्तोद्भवतृपालक्षणमाह—

स्निग्धं तथाऽम्लं लवणञ्च भुक्तं गुर्वन्नमेवाशु तृषां करोति ॥ १० ॥

*लवणञ्चेति । चकारात्कटु च ॥ १० ॥

स्निग्ध, खट्टे, नमकीन, कड़वे तथा गुरु अन्न के भोजन करने से जो तृष्णा उत्पन्न होती है। उसमें बारम्बार प्यास लगती है ॥ १० ॥

उपसर्गजतृपालक्षणमाह—

दीनस्वरःप्रताम्यन्दीनाननहृदयशुष्कगलतालुः । भवति खलु सोपसर्गा तृष्णा सा शोषिणी कष्टा॥

*शोषिणी = धातुशोषिणी ॥ ११ ॥

जिस तृष्णा में स्वर दीन हो जाता है। ग्लानि, मुख तथा हृदय की दीनता, गले और तालु का शोष ये सब उपद्रव होते हैं वह कष्टसाध्य है। इसमें धातुओं का शोषण होता है ॥ ११ ॥

उपद्रवयुक्ततृपाऽरिष्टमाह—

ज्वरमोहक्षयकासश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् । सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रसक्तानाम्॥
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥ १२ ॥

*आदिशब्दादतीसारादीनां ग्रहणम् । अतिप्रसक्ताः = नितरां घोरोपद्रवयुक्ताः, अतीव मुखशोषादियुक्ताः ॥ १२ ॥

ज्वर, मोह, क्षय, कास, श्वास तथा अतीसार इत्यादि रोगों से आक्रान्त मनुष्यों को, रोग से कृश मनुष्यों को और वमन करने वाले मनुष्यों को मुखशोषादि घोर उपद्रवों से युक्त जो तृषा लगती है—वह मारने ही के लिये उत्पन्न होती है ऐसा जानना चाहिये ॥ १२ ॥

तृषाचिकित्सामाह—

वातघ्नमन्नपानं मृदु लघु शीतञ्च वाततृष्णायाम् ॥ १३ ॥

तृष्णायां पवनोत्थायां सगुडं दधि शस्यते । स्वादु तिक्तं द्रवं शीतं पित्ततृष्णाऽपहं परम् ॥

वातजतृष्णा में—वातघ्न, मृदु, लघु तथा शीतल अन्न-पान का प्रयोग करना चाहिये। वातजन्य तृष्णा में गुड़ मिला कर दही का सेवन श्रेष्ठ माना गया है। मीठे, तिक्त, द्रव तथा शीतल पदार्थों के सेवन करने से पित्तजन्य तृष्णा नष्ट हो जाती है ॥ १३-१४ ॥

षडङ्गपानमाह—

मुस्तपर्पटकोदीच्यच्छत्राख्योशीरचन्दनैः । शृतं शीतं जलं दद्यात्तृड्दाहज्वरशान्तये ॥ १५ ॥

छत्रा=धान्यकं, कश्चिद्धात्रीञ्च दद्यात् । चन्दनमत्र धवलं तस्यातितृष्णाहरत्वात् । शृतमर्द्धपक्रमत्र कर्त्तव्यम् । इति षडङ्गपानम् ॥ १५ ॥

नागरमोथा, पित्तपापड़ा सुगन्धबाला, धनियाँ अथवा आंवला, खस और चन्दन इन सबको जल में पकाकर आधा रहने पर छान कर ठण्डे होने पर पीने से तृष्णा, दाह तथा ज्वर शान्त हो जाते हैं । इसे 'षडङ्गपान' कहते हैं ।

यहां पर चन्दन शब्द से श्वेत चन्दन ही का ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि यह विशेष रूप से तृषानाशक होता है ॥ १५ ॥

लाजोदकं मधुयुतं शीतं गुडविमर्दितम् । काश्मरीशर्करायुक्तं पिबेत्तृष्णाऽर्दितो नरः ॥ १६ ॥

धान के लावों को पानी में भिगोकर मल कर उसमें गुड़, खम्भार के फल तथा मिश्री को मिलाकर तृष्णा से पीड़ित मनुष्य को पिलाना चाहिये ॥ १६ ॥

आस्तरणमार्द्रवासः प्रावरणं चार्द्रवासः स्यात् ।
तेन पिपासा शाम्यति दाहश्चोग्रोऽपि देहिनां नियतम् ॥ १७ ॥

भीगे हुये वस्त्रों पर सोने से अथवा भीगे हुये वस्त्रों को ओढ़ने से तृष्णा तथा उग्र दाह अवश्य शान्त हो जाता है ॥ १७ ॥

गोस्तनीक्षुरसक्षीरयष्टीमधुमधूत्पलैः । नियतं नासिकापीते तृष्णा शाम्यति दारुणा ॥ १८ ॥

इख क रस और दूध को मिश्रित कर उसमें मुनक्का, मुलहठी, मधु तथा कमल को डाल कर नासिका द्वारा पीने से दारुण तृष्णा शान्त होती है ॥ १८ ॥

वैशद्यं जनयत्यास्ये सन्दधाति मुखे जलम् । तृष्णादाहप्रशमनं मधुगण्डूषधारणम् ॥ १९ ॥

मुख में शहद का गण्डूष धारण करने से मुख में विशदता तथा गीलापन उत्पन्न होता है । और तृष्णा तथा दाह शान्त होता है ॥ १९ ॥

जिह्वातालुगलक्लोमशोषे मूर्ध्नि निधापयेत् । केशरं मातुलुङ्गस्य घृतसैन्धवसंयुतम् ॥ २० ॥

जिह्वा, तालु, गला तथा क्लोम का शोष होने पर बिजौरे नींबू के केशर को घी तथा सेन्धानमक के साथ पीसकर शिर पर रखना चाहिये ॥ २० ॥

दाडिमं बदरं लोध्रं कपित्थं बीजपूरकम् । पिष्ट्वा मूर्द्धनि लेपस्तु पिपासादाहनाशनः ॥२१॥

अनार के दाने, बेर, लोध, कैथ तथा बिजौरे नींबू को एकत्र पीसकर शिर पर लेप करने से पिपासा तथा दाह का नाश होता है ॥ २१ ॥

वारि शीतं मधुयुतमाकण्ठाद्वा पिपासितम् । पाययेद्वामयेच्चाथ तेन तृष्णा प्रशाम्यति ॥२२॥

पिपासित मनुष्य को मधु मिलाकर शीतल जल को गले तक पिला कर वमन करा देने से तृष्णा शान्त हो जाती है ॥ २२ ॥

प्रातः शर्करयोपेतः क्वाथो धान्याकसम्भवः । जयेत्तृष्णां तथा दाहं भवेत्स्रोतोविशोधनम् ॥

प्रातःकाल धनियां के क्वाथ को चीनी मिलाकर पीने से तृष्णा तथा दाह दूर हो जाते हैं और स्रोतःशुद्धि होती है ॥ २३ ॥

आमलं कमलं कुष्टं लाजाश्च वटरोहकम् । एतच्चूर्णस्य मधुना गुटिकां धारयेन्मुखे ॥
तृष्णां प्रवृद्धां हन्त्येषा मुखशोपञ्च दारुणम् ॥ २४ ॥

आंवले, कमल, कूठ, धान का लावा और वट के अङ्कुर इन सबका चूर्ण करके शहद मिलाकर गोली बनाकर मुख में धारण करावे । इससे महादारुण तृष्णा तथा दारुण मुखशोष दूर होजाता है॥

क्षतोद्भवां रुग्विनिवारणेन जयेद्रसानामसृजश्च पानैः ।
क्षयोत्थितां क्षीरजलं निहन्यान्मांसोदकं वा मधुरोदकं वा ॥ २५ ॥

क्षतजतृष्णाजन्य पीड़ा को दूर करने से, रसों को पिलाने से, तथा रक्त के पिलाने से दूर होती है । रसक्षयजन्य तृष्णा को दूधमिश्रित जल पिलाकर, मांसरस पिलाकर अथवा शर्बत पिलाकर शान्ति करनी चाहिये ॥ २५ ॥

आमोद्भवां बिल्ववचायुतानां जयेत्कषायैरथ दीपनानाम् ।
गुर्वन्नजामुल्लिखनैर्जयेच्च क्षयं विना सर्वकृताञ्च तृष्णाम् ॥ २६ ॥

*उल्लिखनैः = लेखनद्रव्यैः ॥ २६ ॥

आमजन्य तृष्णा को बेलगिरी और वच तथा दीपन पदार्थों के क्वाथ द्वारा जीतना चाहिये । गुरु अन्न भोजनजन्य तृष्णा को कफ को निकालने वाले (लेखन) पदार्थों से जीतना चाहिये । 'क्षयजन्य तृष्णा' को छोड़ कर सब प्रकार की तृषाओं को इन्हीं पदार्थों से दूर करना चाहिये ॥२६॥

स्निग्धेऽन्ने भुक्ते या तृष्णा स्यात्तां गुडाम्बुना शमयेत् ।
अतिरोगदुर्बलानां तृष्णां शमयेन्नृणामिहाशु पयः ॥ २७ ॥

*पयोऽत्र दुग्धम् ॥ २७ ॥

स्निग्ध अन्न को खाने से जो तृष्णा उत्पन्न होती है उसे गुड़ के शर्बत से शान्त करना चाहिये । अत्यन्त रोग से दुर्बल हुये व्यक्ति की तृष्णा को दूध तत्काल शान्त कर देता है ॥ २७ ॥

मूर्च्छाच्छर्दितृषानाहस्त्रीमद्यभृशकर्षिताः । पिबेयुः शीतलं तोयं रक्तपित्ते मदात्यये ॥ २८ ॥
सात्म्यान्नपानभैषज्यैस्तृष्णां तस्य जयेत्पुनः ।
तस्यां जितायामन्योऽपि व्याधिः शक्यश्चिकित्सितुम् ॥ २९ ॥

मूर्च्छा, वमन, पिपासा, आनाह, स्त्रीसेवन तथा मद्यपान से दुर्बल हुये मनुष्यों को शीतल जल पिलाना चाहिये । रक्तपित्त तथा मदात्यय में हितकर अन्नपान तथा ओषधियों द्वारा तृष्णा को जीतना चाहिये । जब तृष्णा शान्त होजाती है तो दूसरे भी रोग चिकित्सा करने लायक होजाते हैं ॥२८-२९॥

तृष्यन् पूर्वामयक्षीणो न लभेत जलं यदि । मरणं दीर्घरोगं वा प्राप्नुयात्त्वरितं नरः ॥ ३० ॥

यदि पहिले से व्याधिक्षीण तृष्णा से व्याकुल मनुष्य को जल न मिले तो वह मनुष्य मर जाता है अथवा शीघ्र ही किसी बड़े रोग से पीड़ित हो जाता है ॥ ३० ॥

तृषितो मोहमायाति मोहात्प्राणान्विमुञ्चति । तस्मात्सर्वास्ववस्थासु न क्वचिद्वारि वारयेत् ॥
अन्नेनापि विना जन्तुः प्राणान्धारयते चिरम् । तोयाभावात्पिपासार्त्तः क्षणात्प्राणैर्विमुच्यते ॥

इत्यष्टादशस्तृष्णाऽधिकारः समाप्तः ॥ १८ ॥

पिपासित मनुष्य मोह को प्राप्त होजाता है और मोह से प्राणों का परित्याग कर देता है । अत एव सब अवस्थाओं में कभी भी जल का देना वर्जित नहीं है । अन्न के बिना मनुष्य बहुत दिनों तक जी सकता है किन्तु जल के न मिलने पर तृष्णा से पीड़ित मनुष्य क्षणभर में प्राण परित्याग कर देता है ॥ ३१-३९ ॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणेऽष्टादशस्तृष्णाऽधिकारः समाप्तः ॥१८॥

अथैकोनविंशो मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रासंन्यासाधिकारः ॥ १९ ॥

तत्र मूर्च्छायां निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः । वेगाघातादभीघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः ॥ १ ॥
करणायतनेषूग्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च । निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः ॥२॥

***बहुदोषस्य = अधिकदोषस्य, न त्वनेकदोषस्य । तदा मूर्च्छा त्रिदोषजैव स्यात्, तथैवास्तु को दोषः ? तत्र पृथग् दोषजानां मूर्च्छानां वक्ष्यमाणत्वात् । वेगाघाताद्–मलादेः । अभीघाताद्–लगुडादिना । हीनसत्त्वस्य = स्वल्पसत्त्वगुणस्य, अर्थादधिकतमोगुणस्य । यत उक्तम्—'मूर्च्छा पित्ततमः प्राये'ति । करणायतनेषु = करणं मनस्तस्यायतनेषु = स्वस्थानेषु, बाह्येषु = कर्मेन्द्रियेषु, आभ्यन्तरेषु = बुद्धीन्द्रियेषु ॥ १–२ ॥**

क्षीण, बहुत दोषवाले, विरुद्धाहारसेवी, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने वाले, डंडे इत्यादि से आहत और अल्प सत्त्वगुणवाले मनुष्य के मन, कर्मेन्द्रियों तथा बुद्धीन्द्रियों में दोष प्रविष्ट होकर मूर्च्छा उत्पन्न करते हैं।

'बहुत दोषवाले' इस शब्द का अर्थ 'अधिक दोषवाले' ऐसा समझना चाहिये न कि 'अनेक दोष वाले'। क्योंकि यदि यह अर्थ समझा जायगा तो मूर्च्छा त्रिदोषज माननी पड़ेगी।

शङ्का—मूर्च्छा त्रिदोषज होती है ऐसा अर्थ करने में दोष ही क्या है ?

समाधान—एक २ दोष से मूर्च्छा उत्पन्न होती है ऐसा कहा जायगा, अतः यहां तीनों दोषों के सम्मिश्रण से मूर्च्छा उत्पन्न होती है—ऐसा कहना उचित नहीं।

'मल-मूत्रादि के वेगों को धारण करने वाले, डण्डे इत्यादि के चोट से आहत, अल्प सत्त्वगुण वाले मनुष्य को मूर्च्छा उत्पन्न होती है'। इस वाक्य का अर्थ यह होता है कि 'अधिक तमोगुण वाले मनुष्य को मूर्च्छा उत्पन्न होती है'। ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि कहा भी है कि मूर्च्छा में पित्त तथा तमोगुण की अधिकता होती है ॥ १–२ ॥

मूर्च्छासामान्यलक्षणमाह—

संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः । तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत् ॥
सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत् । मोहो मूर्च्छेति तामाहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता ॥

***तमो = गुणोऽज्ञानहेतुः । अभ्युपैति = आगच्छति । सुखदुःखव्यपोहकृत् = सुखदुःखज्ञाननाशकरम् । नष्टे सुखदुःखज्ञाने नरः काष्ठवत्पतति तां मोहो मूर्च्छेति प्राहुरित्यन्वयः । मूर्च्छाया मूर्च्छायोऽपि पर्यायः । यत उक्तम्—**

संज्ञोपघातो मूर्च्छायो मूर्च्छा स्यान्मूर्च्छनं तथा ।
कश्मलं प्रलयो मोहः संन्यासस्तु मृतोपमः ॥ १ ॥ इति ॥ ३–४ ॥

संज्ञावह नाड़ियों के वायुद्वारा अवरुद्ध हो जाने पर एकाएक सुख तथा दुःख का ज्ञान नष्ट करने वाला तमोगुण प्राप्त हो जाता है। इस तमोगुण से सुख और दुःख का ज्ञान नष्ट हो जाने से मनुष्य काष्ठवत् गिर जाता है। यह रोग मोह अथवा मूर्च्छा कहलाता है। यह छः प्रकार का होता है। मूर्च्छा शब्द का पर्याय 'मूर्च्छाय' भी होता है। क्योंकि कहा भी है कि:—

संज्ञोपघात, मूर्च्छाय, मूर्च्छा, मूर्च्छन, कश्मल, प्रलय तथा मोह ये सब मूर्च्छा के नाम हैं। जिससे मनुष्य मृतकवत् हो जाता है उस मोह को संन्यास कहते हैं ॥ १ ॥ इति ॥ ३–४ ॥

मूर्च्छायाः षड्विधत्वमाह—

वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च । षट्स्वप्येतासु पित्तन्तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥ ५॥

***यत उक्तम्—'मूर्च्छा पित्ततमःप्राये'ति ॥ ५ ॥**

मूर्च्छा १—वातज, २—पित्तज, ३-कफज, ४-रक्तज, ५-मद्यज तथा ६-विषज भेद से ६ प्रकार की होती है। इन सब प्रकार की मूर्च्छाओं में पित्त की प्रधानता होती है। क्योंकि कहा भी है—मूर्च्छा में पित्त और तमोगुण की अधिकता होती है ॥ ५ ॥

मूर्च्छापूर्वरूपमाह—

हृत्पीडा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञानाशो बलक्षयः। सर्वासां पूर्वरूपाणि यथास्वं तां विभावयेत्॥

हृदय में पीड़ा, जृम्भा का आना, ग्लानि, संज्ञानाश और बलक्षय ये सब मूर्च्छाओं के पूर्वरूप हैं। वातादि भेद से उनके अलग-अलग लक्षण जानने चाहिये॥ ६॥

वातजमूर्च्छालक्षणमाह—

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथ वाऽरुणम्। पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रञ्च प्रतिबुध्यते॥
वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च। कार्श्यं श्यावारुणा च्छाया मूर्च्छायै वातसम्भवे॥

*नीलं = नीलवर्णम्। कृष्णं = कज्जलाभम्। अरुणम् = अलक्तरागम्। तमः प्रविशति= मूर्च्छेति। श्यावारुणा च्छाया गात्रस्य॥ ७–८॥

वातजन्य मूर्च्छा में रोगी आकाश के वर्ण को नीला, काला अथवा अरुणवर्ण का देखता हुआ मूर्च्छित होजाता है। पुनः शीघ्र चैतन्य भी हो जाता है। शरीर में कम्पन, अङ्गों में पीड़ा, हृदय में पीड़ा, कृशता, शरीर के रंग का काला अथवा लाल हो जाना ये सब वातजन्य मूर्च्छा के लक्षण हैं॥

पित्तजमूर्च्छालक्षणमाह—

रक्तं हरितवर्णं वा वियत्पीतमथापि वा। पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदः प्रतिबुध्यते॥ ९॥
सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः। सम्भिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छायै पित्तसम्भवे॥

पित्तजन्य मूर्च्छा में रोगी आकाश को लाल, हरा अथवा पीले रंग का देखता हुआ अन्धकार में प्रवेश कर जाता है अर्थात् मूर्च्छित होजाता है और पसीने से युक्त होकर पुनः चैतन्य होजाता है। पिपासा तथा सन्ताप होता है। नेत्र लाल तथा पित्त से आकुल होजाते हैं। पतले दस्त आते हैं तथा शरीर पीला हो जाता है। ये सब पित्तजन्य मूर्च्छा के लक्षण हैं॥ ९–१०॥

कफजमूर्च्छालक्षणमाह—

मेघसङ्काशमाकाशं तमोभिर्वा घनैर्वृतम्। पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते॥ ११॥
गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवार्द्रेण चर्मणा। सप्रसेकः सहृल्लासो मूर्च्छायै कफसम्भवे॥ १२॥

*मेघसङ्काशं = शुभ्रमेघसङ्काशमित्यर्थः। अत आह सुश्रुतः—

'कफेन पश्येद्रूपाणि श्वेताभ्रप्रतिमानि तु'। इति।

घनैर्निबिडैस्तमोभिः। गुरुभिरङ्गैरुपलक्षितः॥ ११–१२॥

कफजन्य मूर्च्छा में रोगी आकाश को बादलों से आच्छन्न अथवा घोर अन्धकार से आवृत देखता हुआ मूर्च्छित हो जाता है। और बहुत देर में चैतन्य होता है। जैसे गीले चमड़े से ढका हुआ अङ्ग आर्द्र तथा गुरु प्रतीत होता है उसी प्रकार उसके अङ्ग आर्द्र तथा गुरु प्रतीत होते हैं। मुखप्रसेक और हृल्लास ये सब कफजन्य मूर्च्छा के लक्षण हैं। 'बादलों से आच्छन्न' यह जो शब्द कहा गया है, यहां बादल शब्द से श्वेत बादल समझना चाहिये क्योंकि सुश्रुत ने कहा है कि कफ से रोगी श्वेत बादलों के समान रूपों को देखता है॥ ११–१२॥

चरकमतेन त्रिदोषजमूर्च्छालक्षणमाह—

सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः। स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः॥

*मूर्च्छायः षड्विध उक्तः सुश्रुतेन, चरकस्तु सान्निपातिकमपि मूर्च्छायमाह—सर्वाकृतिरिति। अपस्मार इवागतस्तेन महताऽभिघातेन पतति चिरेण प्रतिबुध्यते, तर्हि तयोः को भेद? इत्यत आह—सान्निपातिको मूर्च्छायो विना बीभत्सचेष्टितैः फेनवमनदन्तघट्टनाक्षिविकृत्यादिभिर्विना पातयति॥ इति॥ १३॥

जो मूर्च्छा सन्निपातज होती है उसमें तीन दोषों के चिह्न होते हैं और उसमें आये हुये अपस्मार के समान मनुष्य विना किसी बीभत्स चेष्टा के शीघ्र गिर पड़ता है। और बहुत समय में चैतन्य होता है। ऐसा चरक का मत है। सुश्रुत ने तो छः ही प्रकार की मूर्च्छा मानी है। उन के मत से सान्निपातिक मूर्च्छा नहीं होती।

शङ्का-जब सन्निपातजन्य मूर्च्छा और अपस्मार के एक ही समान लक्षण मिलते हैं और दोनों में अधिक समय मे चैतन्यता आती है तो फिर इन दोनों में भेद ही क्या है?

समाधान-भगवान् चरक कहते हैं कि अपस्मार में फेनयुक्त वमन, दांतों का कटकटाना, नेत्रों की विकृति इत्यादि भयानक चेष्टायें होती हैं किन्तु सान्निपातिक मूर्च्छा में ये सब चेष्टायें नहीं होतीं।

रक्तजमूर्च्छानिदानमाह—

पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धस्तदन्वयः।
तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः। द्रव्यस्वभावमित्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यति॥

***तमोरूपं=तमोबहुलम्। मानवाश्च=ये तामसाः, न तु सात्त्विका राजसाश्च। अत्रैके वदन्ति-नैव युक्तिः समीचीना, तर्हि चम्पकादिगन्धेनापि मूर्च्छा प्रसज्येत, तत्रापि गन्धस्य पार्थिवत्वादत आह—'द्रव्यस्वभावमि'ति। अत्राह भोजः—**

दर्शनादसृजस्तज्जाद् गन्धाच्चैव प्रमुह्यति॥ २॥ इति॥ १४॥

पृथ्वी तथा जल इन दोनों में तमोगुण का आधिक्य होता है। और गन्ध तथा रक्त पृथ्वी और जल के पदार्थ हैं अतः जो मनुष्य सत्त्वगुणी तथा रजोगुणी नहीं होते किन्तु तमोगुणी होते हैं वे रक्त की गन्ध से मूर्च्छित हो जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि गन्ध तमोगुणयुक्त पृथ्वी का अंश है। अत एव मनुष्य मूर्च्छित होते हैं। यह युक्ति ठीक नहीं। क्योंकि यदि ऐसा होता तो चम्पा इत्यादि फूलों का भी गन्ध पृथ्वी-सम्बन्धी है इसलिये उसके गन्ध से भी मूर्च्छा होनी चाहिये। तब इस युक्ति को छोड़ कर कहते हैं कि नहीं, यह मूर्च्छा द्रव्य के स्वभाव से होती है अर्थात् रुधिर के गन्ध, रुधिर के दर्शन इत्यादि से होती है। इसी स्थल पर भोज ने कहा है कि:—

रक्त के दर्शन से तथा रक्त के गन्ध से मनुष्य मूर्च्छित होता है॥ २॥ इति॥ १४॥

रक्तजमूर्च्छालक्षणमाह—

स्तब्धाङ्गदृष्टिस्त्वसृजा गूढोच्छ्वासश्च मूर्च्छितः॥ १५॥

रक्तजमूर्च्छा में मनुष्य का शरीर तथा दृष्टि जकड़सी जाती है और रोगी गहरी सांस लेता है॥

मद्यजविषजयोर्मूर्च्छयोर्निदानमाह—

गुणास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विषमद्ययोः। त एव तस्मात्ताभ्यान्तु मोहौ स्यातां यथेरितौ॥

***ये गुणाः=लघुरूक्षाशुविशदव्यवायितीक्ष्णविकासिसूक्ष्मोष्णानिर्देश्यरसत्वादयः। तैलादौ द्रव्ये व्यस्तास्तीव्राश्च सन्ति, त एव गुणा विषमद्ययोस्तु तीव्रतरत्वेन स्थिताः। तत्रापि भेदस्तन्त्रान्तरे—**

ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सन्निपातप्रकोपणाः।
त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः'॥ ३॥ इति॥ १६॥

लघुता, रूक्षता, शीघ्रता, विशदता, व्यवायित्व, तीक्ष्णता, विकासित्व, सूक्ष्मता, उष्णता, अनिर्देश्यत्व तथा रसत्व इत्यादि जो तैलादिक पदार्थों के अलग-अलग गुण होते हैं वे ही गुण विष तथा मद्य में अत्यन्त तीव्र स्वरूप से होते हैं। इनमें भी इतना भेद है कि मद्य की अपेक्षा विष में ये गुण अधिक बलवान् होते हैं। मद्य तथा विष में इन गुणों के होने से इनसे मूर्च्छा होती है।

तन्त्रान्तर में भी इनमें भेद इस प्रकार है। विष के जो सन्निपात-प्रकोपक गुण कहे गये हैं वे ही मद्य में भी दिखाई देते हैं किन्तु विष में गुण अधिक बलवान् होते हैं॥ ३॥ इति॥ १६॥

मद्यजमूर्च्छालक्षणमाह—

मद्येन प्रलपञ्छेते नष्टविभ्रान्तमानसः। गात्राणि विक्षिपन्भूमौ जरां यावन्न याति तत्॥

*नष्टविभ्रान्तमानसः=नष्टं=सर्वथा स्मृतिहीनं, विभ्रान्तं=रज्जौ सर्पज्ञानयुक्तं, मानसं यस्य सः। जरां=जीर्णताम्। तद्=मद्यम्॥ १७॥

मद्य की मूर्च्छा में मन सर्वथा स्मृतिहीन हो जाता है। तथा रस्सी में साँप की भ्रान्ति होती

है जब तक मदिरा का परिपाक नहीं हो जाता तब तक वह अपने शरीर को पृथ्वी पर पटका करता है और चिल्लाता है ॥ १७ ॥

विषजमूर्च्छालक्षणमाह—

वेपथुस्वप्नतृष्णाः स्युस्तमश्च विषमूर्च्छिते । वेदितव्यं तीव्रतरं यथास्वं विषलक्षणैः ॥ १८ ॥

***विषस्य = मूलकन्दफलपत्रक्षारादिभेदभिन्नस्य, यथास्वं लक्षणमुक्तं सुश्रुते कल्पस्थाने, तल्लक्षणं मद्यापेक्षया तीव्रतरं वेदितव्यं न तु संज्ञानाशेन साम्यधर्मात् ॥ १८ ॥**

विष की मूर्च्छा में कम्प, निद्रा, पिपासा तथा स्तम्भ उत्पन्न होता है । विष के जो मूल, कन्द फल, पत्र तथा क्षारादिज भेदों के सुश्रुत के कल्पस्थान में जो जो लक्षण कहे गये हैं वे वे लक्षण मद्य के लक्षणों की अपेक्षा अधिक तीव्र होते हैं, ऐसा जानना चाहिये किन्तु संज्ञानाश करने का धर्म दोनों में समान है किन्तु कुछ लक्षणों में असमानता है ॥ १८ ॥

मूर्च्छाभ्रमतन्द्राऽऽदीनां भेदमाह—

मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद् भ्रमः । तमोवातकफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥

***'रजःपित्तानिलाद् भ्रम' इति । नात्र समुच्चयः, केवलपित्तज्वरे भ्रमस्योक्तत्वाद्, भ्रमश्च = चक्रारूढस्येव भ्रमवस्तुज्ञानं, स्वदेहस्य भ्रमत इव ज्ञानञ्च ॥ १९ ॥**

मूर्च्छा में पित्त तथा तमोगुण की अधिकता होती है । भ्रम-रजोगुण पित्त तथा वात से होता है । तन्द्रा-तमोगुण, वात तथा कफ से होती है और निद्रा-तमोगुण तथा कफसे उत्पन्न होती है।

भ्रम-रजोगुण पित्त तथा वात के संमिश्रण से होता है ऐसा नहीं समझना चाहिये । क्योंकि केवल पित्तज्वर में भी भ्रम होता है, ऐसा कहा गया है । जिस प्रकार घूमते हुए चाक के ऊपर स्थित पदार्थ घूमता हुआ दिखाई देता है उसी प्रकार सब वस्तुओं को घूमता हुआ तथा अपने शरीर को भी घूमता हुआ भ्रमरोग से पीड़ित मनुष्य समझता है ॥ १९ ॥

तन्द्राया लक्षणमाह—

इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः । निद्राऽऽर्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्

***इन्द्रियाणामर्थः=प्रयोजनं, येषु=अर्थाद्विषयेषु, असंवित्तिः=असम्यग् ज्ञानम् इति । इन्द्रियार्थासम्यग्ज्ञानादि । निद्रायां प्रबुद्धस्य क्लमाभावस्तन्द्रायान्तु प्रबोधितस्यापि क्लम इत्यनयोर्भेदः ॥ २० ॥**

निद्रा से घिरे हुये के समान विषयों का असम्यग् ज्ञान, शरीर में गुरुता, जृम्भा, ग्लानि ये सब लक्षण जिसमें होते हैं उसे तन्द्रा कहते हैं ।

निद्रा के बाद फिर जागने पर क्लम नहीं रहता किन्तु तन्द्रा में जागने के पश्चात् भी क्लम रहता है । यही निद्रा और तन्द्रा में भेद है ॥ २० ॥

क्लमस्य लक्षणमाह—

योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वाससङ्गतः । क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥

***इन्द्रियाणां = बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणाञ्च, अर्थः=प्रयोजनं विषयग्रहणं, तस्य बाधकः = प्राबल्येन बाधकः ॥ २१ ॥**

बिना परिश्रम किये ही श्वासयुक्त बुद्धीन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के विषयों के ग्रहण का बाधक शरीर में जो श्रम होता है उसे क्लम कहते हैं ॥ २१ ॥

निद्राया लक्षणमाह—

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।
विषयेभ्यो निवर्त्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ २२ ॥

***क्लान्ते=ग्लाने, श्रान्त इति यावत् । कर्मात्मानः क्लमान्विताः=कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि च क्लमान्विताः=इन्द्रियाणि श्रान्तानि ॥ २२ ॥**

जब मन के क्लान्त हो जाने पर ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां अपने २ विषय को ग्रहण नहीं करतीं हैं तब मनुष्य सो जाता है ॥ २२

संन्यासस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः । संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनमाश्रिताः ॥२३॥
स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः ।
प्राणैर्विमुच्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम् ॥ २४ ॥

आक्षिप्य = विनाश्य । संन्यस्यति = मूर्च्छयन्ति । प्राणायतनं=हृदयम् । संन्यस्तः= मूर्च्छितः । काष्ठीभूतः=क्रियारहितः । अत एव-मृतोपम इति । सद्यःफलां क्रियां=सूचीव्यधनाञ्जनावपीडकपिकच्छुघर्षणवृश्चिकादिदंशनादिरूपाम् ॥ २३-२४ ॥

हृदयस्थित अत्यन्त बलवान प्रकुपित दोष, वाणी, शरीर तथा मन की चेष्टाओं को नष्ट करके निर्बल मनुष्य को मूर्च्छित कर देते हैं इसे 'संन्यास[1]' कहते हैं । तब वह संन्यास से मूर्च्छित मनुष्य

१. मूर्च्छा (Cyncope), भ्रम (Gidiness), निद्रा तथा तन्द्रा का पाश्चात्त्य वैद्यक में कोई प्रधान विवरण न होने के कारण और संन्यास (Coma) का पर्याप्त विशद विवरण होने के कारण संन्यास के ऊपर यथासम्भव पाश्चात्त्य मत का प्रदर्शन किया जा रहा है ।

व्याख्या—यह एक अस्वाभाविक दीर्घ और गम्भीर निद्रा की स्थिति है । जिसमें प्रातः अनियमित घर २ युक्त श्वसन होता है और चिकित्सा न करने पर मृत्यु होने की सम्भावना रहती है । यह पाश्चात्त्य व्याख्या अपने यहां की उपर्युक्त व्याख्या से अक्षरशः मिलती है, यथा 'वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला' इत्यादि ।

कारण—

आन्त्रिकज्वर, विसूचिका, दुष्टविषमज्वर, न्यूमोनिया (Pneumonia) तथा औपसर्गिक हृदन्तःशोथ (Infective Endo Carditis) इन रोगों के उत्तर काल में प्रायः यह अवस्था उत्पन्न हो सकती है ।

२—मस्तिष्क के विकार—यथा मस्तिष्क शोथ (Encaphalitis), मस्तिष्कावरण शोथ, मस्तिष्कगत विद्रधि तथा अर्बुद, फिरङ्गजन्य मस्तिष्क-सुषुम्नाविकार, अपस्मार, मस्तिष्क की शिरा सरितों (Sinus) में रक्त का जम जाना (Thrombosis in the Sinuses) तथा मस्तिष्क के ऊपर आघात या प्रहार होना और उसी के कारण मस्तिष्क के भीतर रक्तस्राव और सम्पीडन तथा सन्ताप (Compression and Concussion) ।

३—शारीरिक विकार-मूत्रविषमयता, मधुमेह तथा पित्तविषमयता (Cholemia) ।

४—ओषधियां या विष—अलकोहल (Alcohol), अफीम, कार्बन मोनाक्साइड (Carbon monoxide), लू लगना (Heat Stroke), हिस्टीरिया (Hysteria), मस्तिष्कगत रक्तस्राव, अन्तःशल्यता (Embolism) तथा रक्त का जम जाना । ये सब संन्यास (Coma) के कारण माने गये हैं ।

रोग का लक्षण—इस रोग का प्रधान लक्षण बेहोशी है । इसमें रोगी हिलाने पर या उसके पास जोर से चिल्लाने पर होश में नहीं आता है । वह जल या अन्य तरल पदार्थों को स्वयं निगल नहीं सकता, उसकी पुतलियां प्रकाश के लिए गतिहीन होती हैं और नेत्रों के भीतर उंगली लगाने से वह आंखें बन्द नहीं करता है ।

रोग का निदान—

१—पूर्ववृत्त—इसमें पूर्वरोगों का या आक्रमणों का इतिहास तथा मद्य और अफीम सेवन के इतिहास के सम्बन्ध में पूछना चाहिये । तथा बेहोशी यकायक या धीरे २ हुई है । इसके बारे में भी पूछना चाहिये ।

काष्ठ के समान क्रियारहित मृतवत् हो जाता है। सुई चुभाना, तीक्ष्णाञ्जन तथा तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग, कौंच के फल को घिस कर लगाना और बिच्छू आदि से कटवाना इत्यादि तत्काल फल करने वाली क्रियायें यदि न की जांय तो वह मनुष्य शीघ्र मर जाता है॥ २३-२४॥

२—परिस्थिति—इसमें उस समय की जलवायु की परिस्थिति, रोगी के आसपास कोई चिट्ठी या पत्र देखना चाहिये।

३—आक्रमण यकायक या धीरे धीरे—

निम्न रोगों में आक्रमण यकायक होता है जैसेः—मस्तिष्क के ऊपर आघात या प्रहार, मस्तिष्क में रक्तस्राव, लू लगना तथा अफीम का सेवन।

निम्न रोगों में उत्तर काल में तथा धीरे २ होता है यथाः—आंत्रिक ज्वर, विषमज्वर, न्यूमोनिया (Pneumonia), विसूचिका, मस्तिष्क तथा उसके आवरण का शोथ, मधुमेह, पित्तविषमयता (Cholemia) तथा मूत्रविषमयता (Uraemia) इत्यादि।

४—शरीर में पेशियों का घात एक तरफ का है या दो तरफ का है? इसके लिये रोगी का हाथ या पैर उठा के नीचे छोड़ देना चाहिये। जिस तरफ घात होता है उस तरफ का अङ्ग मुर्दे के समान गिरता है।

५—रोगी की आयु—अपस्मार, मस्तिष्कावरण शोथ, मस्तिष्कगत अर्बुद तथा मस्तिष्कगत शिरा सरितों में रक्त का जमना ये रोग बाल्यावस्था में अधिक हुआ करते हैं। युवावस्था में मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों में रक्त का जमना तथा अन्तश्शल्यता ये विकार अधिक होते हैं। मध्यम आयु और उसके बाद मधुमेहजन्य या मस्तिष्कगत रक्तस्रावजन्य संन्यास अधिक हुआ करता है।

६—शिर का परीक्षण—इसमें शिर, नासा और कर्ण इनका परीक्षण चोट के लिये, रक्तस्राव के लिये और मस्तिष्कसुषुम्नाजल के स्राव के लिये करना चाहिये।

७—श्वास की गन्ध—मधुमेही के श्वास में एक प्रकार की सुगन्ध होती है। मूत्रविषमयता में मूत्र की सी गन्ध आती है। गन्ध के अतिरिक्त श्वसन की ओर भी ध्यान देना चाहिये। मूत्रविषमयताऔर मस्तिष्कगत रक्तस्राव में श्वसन घर २ युक्त होता है।

८—त्वचा की परीक्षा—कार्बन मोनाक्साइड (Carbon monoxide) के विष में त्वचा का वर्ण गुलाबी (Pink) होता है। पित्तविषमयता (Cholemia) में पीला या हरा होता है। शरीर से रक्तस्राव होने पर त्वचा पाण्डुवर्ण की होती है।

९—शरीर का तापक्रम—दोनों तरफ के बगल में देखना उचित है। विषमज्वर, लू लगना, सुषुम्नाशीर्षगत रक्तस्राव तथा मस्तिष्कावरणशोथमें शरीर का तापक्रम अधिक रहता है। अफीम के विष में स्वाभाविक से कम रहता है।

१०—आंख की पुतलियां—पक्षाघात में दोनों तरफ की पुतलियां समान नहीं होती हैं। अफीम और सुषुम्नाशीर्षगत रक्तस्राव में बहुत सिकुड़ी हुई होती है, पित्तविषमयता में आंखों का रंग पीला रहता है। इसके सिवाय प्रकाश और स्पर्श के लिये आंखों की प्रत्यावर्त्तन क्रिया भी देखनी चाहिये। पक्षाघात में ये क्रियायें दोनों तरफ विषम होती हैं। इसके सिवाय आपथोलमोस्कोप (Optholmoscope) से अन्तःपटल (Retina and Disc) भी देखना चाहिये। मस्तिष्कगत विद्रधि और अर्बुद में अन्तःपटल में शोथ (Papillodema) होता है। और मूत्रविषमयता में विशेष प्रकार की सूजन और धमनियों की स्थिति (Albumin uric Retinitis) दिखाई देता है।

११—हृदय और नाड़ी की परीक्षा—मूत्रविषमयता, रक्तभाराधिक्य (High B. P.) और मस्तिष्कगत रक्तस्राव में हृदय बढ़ा हुआ और विस्फारित रहता है। रक्त का भार अधिक मालूम होता है और नाड़ी की दीवार कुछ कठिन प्रतीत होती है। शरीर से बाहर रक्तस्राव होने पर नाड़ी की गति तेज (१२० से १४० तक) होती हैं। मस्तिष्कगत रक्तस्राव में प्रायः मन्द रहती है।

संन्यासस्य मूर्च्छाऽऽदिभ्यो भेदमाह—

दोषेषु मदमूर्च्छाया गतवेगेषु देहिनः। स्वयमप्युपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥२५॥

*मदमूर्च्छायाः = मदः = अप्रवृद्ध उन्मादः। मूर्च्छायाः = मूर्च्छाः ॥ २५ ॥

दोषों के वेग के बीत जाने पर मूर्च्छा और अप्रवृद्ध उन्माद स्वयं शान्त हो जाते हैं किन्तु संन्यास बिना औषध के शान्त नहीं होता ॥ २५ ॥

मूर्च्छाचिकित्सामाह—

सेकावगाहा मणयः सहाराः शीताः प्रदेहा व्यजनानिलाश्च।
शीतानि पानानि च गन्धवन्ति सर्वासु मूर्च्छाविनिवारितानि ॥ २६ ॥

*मणयः = चन्द्रकान्तादयः। हाराः=मुक्ताऽऽदिहाराः। शीताः प्रदेहाः=सकर्पूरचन्दनानुलेपनानि। शीतानि पानानि = सिताऽऽमलकादिपानकानि। गन्धवन्ति = कर्पूरादिसुगन्धवन्ति। सर्वासु मूर्च्छासु हितान्येव, किन्तु वातश्लेष्मजास्वपि न निवारितानि तत्रापि पित्तस्य प्रधानत्वात् ॥ २६ ॥

मूर्च्छाचिकित्सा—शीतल जल का सेचन, शीतल जल में अवगाहन, चन्द्रकान्त आदि मणि तथा मोती आदि की मालाओं का धारण, कर्पूरयुक्त चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों का लेपन,

---

१२—मूत्रपरीक्षण—सलाई से मूत्र निकाल कर शर्करा, एसिटोन (Acetone) पित्त के रङ्ग-द्रव्य, क्षार तथा मूत्रनलिकानिर्मोक इसके लिये देखना चाहिये।

१३—रक्तपरीक्षा—विषमज्वर जीवाणु के लिये करना चाहिये।

१४—कटिवेध—करके मस्तिष्कसुषुम्नाजल का परीक्षण करना चाहिये। मस्तिष्कगत रक्तस्राव में जल में रक्त का कुछ अंश मिलता है। और मस्तिष्कावरणशोथ में जल कुछ जोर के साथ निकलता है और कुछ मटियाला होता है तथा उसमें कई तरह के कण दिखाई देते हैं।

१५—आमाशय में रबर की नलिका डालकर आमाशयगत द्रव को निकाल कर अफीम इत्यादि के लिये परीक्षा करनी चाहिये।

साध्यासाध्यता (Prognosis) प्रायः—कारण के अनुसार साध्यासाध्यता भिन्न हुआ करती है। अपस्मार के पश्चात् उत्पन्न हुये संन्यास से यदि कुछ घण्टों तक रोगी होश में न आ जाय तो वह असाध्यता का सूचक होता है। रोग की अन्तिमावस्था में उत्पन्न हुआ संन्यास प्रायः असाध्य रहता है। अफीम सेवन से उत्पन्न संन्यास अफीम की राशि या मात्रा और सेवन करने के पश्चात् चिकित्सा प्रारम्भ करने के बीच की अवधि के ऊपर निर्भर होता है। मूत्रविषमयता और मधुमेह-जन्य संन्यास यदि उचित चिकित्सा की जाय तो उस समय साध्य हो सकता है।

चिकित्सा—कारण के अनुसार करनी चाहिये। यदि कोई कारण मालूम न हो और रास्ते में या अन्य स्थान में अकेला बेहोश रोगी मिल जाय तो कारण मालूम करने के समय तक निम्न चिकित्सा करनी चाहिये। ग्रीवा के पीछे, पीठ पर और उदर पर सरसों का लेप लगाना, विरेचन के लिये जमालगोटा का तेल १ बूंद रोगी को देना। इसके सिवाय रोगी के शरीर पर ठंडे पानी का छिड़काव कर सकते हैं।

यद्यपि इस प्रकार पाश्चात्य वैद्यक में संन्यास (Coma) रोग का विस्तृत विवरण मिलता है तथापि रोग के साधारण लक्षण, साध्यासाध्यता तथा साधारण चिकित्सा में कोई भी भेद नहीं हैं। ऊपर जो साधारण चिकित्सा का वर्णन किया गया है वह केवल चेतनता लाने के लिये कुछ साधारण उत्तेजनात्मक उपाय हैं। अपने यहाँ भी आगे जो—

'अञ्जनान्यवपीडाश्च धूमाः प्रधमनानि च। सूचीभिस्तोदनं शस्तं दाहः पीडा नखान्तरे।
लुञ्चनं केशलोम्नाञ्च दन्तैर्दशनमेव च। आत्मगुप्ताऽवघर्षश्च हितस्तस्य प्रबोधने॥'

इन श्लोकों में जिन द्रव्यों का वर्णन किया गया है उनका भी यहाँ प्रयोजन है।

मिश्रीयुक्त आंवले आदि के रस का पान और पंखे की वायु ये सब उपचार प्रत्येक प्रकार की मूर्च्छा में हितकर हैं। प्रत्येक प्रकार की मूर्च्छाओं में पित्त ही प्रधान होता है अत एव वातजन्य तथा श्लेष्मजन्य मूर्च्छाओं में भी शीतल जल के परिषेक इत्यादि वर्ज्य नहीं हैं। अपितु हितकर ही हैं ॥ २६ ॥

सिद्धानि वर्गे मधुरे पयांसि सदाडिमा जाङ्गलजा रसाश्च।
तथा यवो लोहितशालयश्च मूर्च्छासु पथ्याः ससतीनमुद्गाः ॥ २७ ॥

*सतीनः = कलायः ॥ २७ ॥

मधुर वर्ग की ओषधियों द्वारा सिद्ध किया गया दूध, अनार का रस मिला हुआ जाङ्गल पशुओं का मांसरस, जौ, रक्तशालि, चावल, मटर तथा मूंग ये सब मूर्च्छा में पथ्य हैं ॥ २७ ॥

कोलमज्जोषणोशीरकेसरं शीतवारिणा। पीतं मूर्च्छां जयेल्लीढ्वा कृष्णां वा मधुसंयुताम् ॥

बेर का गूदा, काली मिर्च, खस तथा नागकेशर इनको शीतल जल में पीसकर पीने से अथवा पिप्पली के चूर्ण को शहद में मिला कर चाटने से मूर्च्छा नष्ट हो जाती है ॥ २८ ॥

शीतेन तोयेन बिसं मृणालं कृष्णां च पथ्यां मधुनाऽवलिह्यात्।
कुर्याच्च नासावदनावरोधं क्षीरं पिबेद्वाऽप्यथ मानुषीणाम् ॥ २९ ॥

कमल का कन्द, कमल की नाल, पिप्पली तथा हरड़ को शीतल जल से पीसकर शहद में मिला कर चटाने से मूर्च्छा नष्ट हो जाती है। नाक तथा मुख के श्वास को अवरुद्ध करने से मूर्च्छा नष्ट हो जाती है। तथा स्त्री का दूध पीने से भी मूर्च्छा नष्ट होती है ॥ २९ ॥

द्राक्षासितादाडिमलाजवन्ति कह्लारनीलोत्पलपद्मवन्ति।
पिबेत्कषायाणि च शीतलानि पित्तज्वरं यानि शमं नयन्ति ॥ ३० ॥

मुनक्का, मिश्री, अनारदाना, धान के लावे, दही का पानी, नीला कमल तथा सफेद कमल इन सब का शीतल क्वाथ पीना चाहिये तथा और भी जो क्वाथ पित्तज्वर को नष्ट करने वाले हैं उन्हें भी पीना चाहिये ॥ ३० ॥

शिरीषबीजगोमूत्रकृष्णामरिचसैन्धवैः। अञ्जनं स्यात्प्रबोधाय सरसोनशिलावचैः ॥ ३१ ॥

सिरस के बीज, पिप्पली, कालीमिर्च, सेन्धा नमक, लहसुन, मनःशिला तथा वच को गोमूत्र में पीस कर अञ्जन करने से चेतनता प्राप्त होती है ॥ ३१ ॥

अन्यच्च—

अञ्जनं सम्यगारब्धं मधुसिन्धुशिलोषणैः। प्रमोहघ्नं हि भवति भाषितं भिषजां वरैः ॥३२॥

*शिला = मनःशिला। ऊषणं = मरिचम् ॥ ३२ ॥

मधु, सेन्धानमक, मनःशिला और काली मिर्च इन सबों का उत्तम प्रकार से बनाया हुआ अञ्जन नेत्रों में लगाने से मूर्च्छाजन्य अचेतनता दूर होती है। ऐसा विद्वान् वैद्यों ने कहा है ॥ ३२ ॥

मधूकसारसिन्धूत्थवचोषणकणाः समाः। श्लक्ष्णं पिष्ट्वाऽम्भसा नस्यं कुर्यात्संज्ञाप्रबोधनम् ॥

महुवे का सार, सेन्धानमक, वच, काली मिर्च और पिप्पली इन सब को समान भाग में लेकर जल द्वारा अच्छी प्रकार पीस कर नस्य देने से चेतनता आजाती है ॥ ३३ ॥

रक्तजादीनां मूर्च्छानां चिकित्सामाह—

रक्तजायान्तु मूर्च्छायां हितः शीतक्रियाविधिः।
मद्यजानां पिबेन्मद्यं निद्रां सेवेत वा सुखम्। विषजायां विषघ्नानि भेषजानि प्रयोजयेत् ॥

रक्तजन्य मूर्च्छा में शीतक्रिया प्रशस्त है। मद्यजन्य मूर्च्छा में पुनः मद्य पिलाना चाहिये अथवा सुखपूर्वक सुलाना हितकर है। विषजन्य मूर्च्छा में विषनाशक ओषधियों का प्रयोग हितकर है ॥३४॥

संन्यासचिकित्सामाह—

प्रभूतदोषस्तमसोऽतिरेकात्सम्मूर्च्छितो नैव विबुध्यते यः।

संन्यस्तसंज्ञः स हि दुश्चिकित्स्यो नरो भिषग्भिः परिकीर्त्तितोऽसौ ॥ ३५ ॥
अञ्जनान्यवपीडाश्च धूमाः प्रधमनानि च। सूचीभिस्तोदनं शस्तं दाहः पीडा नखान्तरे ॥
लुञ्चनं केशलोम्नाञ्च दन्तैर्दंशनमेव च। आत्मगुप्ताऽवघर्षश्च हितस्तस्य प्रबोधने ॥ ३७ ॥

*अवपीडः—कल्कीकृतौषधरसस्य नासापुटे दानम्। प्रधमनम् = औषधचूर्णस्य द्विमुख्या नाडिकया मुखवातेन नासापुटे दानम्। तस्य = संन्यस्तस्य ॥ ३५–३७ ॥

अधिक दोषवाला जो मनुष्य तमोगुण की अधिकता से मूर्च्छित होकर पुनः जागृतावस्था को नहीं प्राप्त होता है उसे वैद्य संन्यासरोगयुक्त कहते हैं। ऐसा रोगी दुश्चिकित्स्य होता है। संन्यासरोगयुक्त मनुष्य को चैतन्य करने के लिये अञ्जन का लगाना, औषधियों का कल्क बनाकर उसका रस नाकमें डालना, धुवां देना, औषधियों के चूर्ण को दो मुखवाली नलिका में भरकर मुंह से फूक कर नासापुट में चढ़ाना, शरीर में सुई चुभाना, नखों में अग्निद्वारा दाह करना, केश और रोमों को उखाड़ना, दांतों से कटवाना और कौंच के फल को शरीर पर घिसना ये सब उपाय हितकर हैं ॥ ३५–३७ ॥

मूर्च्छोपयोगिरसावाह—

कणामधुयुतं सूतं मूर्च्छायां प्राशयेद्भिषक्। शीतसेकावगाहादीन्सर्वाङ्गे पीडनं हठात् ॥३८॥
ताम्रचूर्णसमोशीरं केशरं शीतवारिणा। पीतं मूर्च्छां द्रुतं हन्याद् वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा ॥३९॥

सूतं = मारितम्। ताम्रचूर्णं = मारितताम्रचूर्णम् ॥ ३८–३९ ॥

वैद्य को चाहिये कि मूर्च्छा को दूर करने के लिये पीपल के चूर्ण तथा शहद के साथ पारद को भस्म को चटावे। शीतल परिषेक, शीतल जलावगाहन इत्यादि को करे। तथा बलपूर्वक सारे अङ्ग का पीडन करे।

ताम्रभस्म, खस तथा नागकेशर इन सब को सम परिमाण में लेकर शीतल जल के साथ पीने से इस प्रकार मूर्च्छा शीघ्र नष्ट होजाती है जैसे इन्द्र के वज्र से वृक्ष नष्ट होजाते हैं ॥ ३८–३९ ॥

भ्रमचिकित्सामाह—

पिबेद् दुरालभाक्वाथं सघृतं भ्रमशान्तये। पथ्याक्वाथेन संसिद्धं घृतं धात्रीरसेन वा ॥ ४० ॥

सोंठ, पिप्पली, शतावरी और हरें ये सब औषधियां ४–४ तोले और गुड़ २४ तो० लेकर एक में मिला कर गोलियां बना कर खाने से भ्रम रोग का नाश होजाता है ॥ ४१ ॥

ताम्रं दुरालभाक्वाथः पीतन्तु घृतसंयुतम्। निवारयेद् भ्रमं शीघ्रं तं यथा शम्भुभाषितम् ॥

ताम्रभस्म को घृतयुक्त जवासे के क्वाथ के साथ पीने से भ्रमरोग तत्काल अच्छा हो जाता है। जैसा कि भगवान् शङ्कर ने शिवसंहिता में कहा है ॥ ४२ ॥

तन्द्राया अतिनिद्रायाश्च चिकित्सामाह—

तुरङ्गलालालवणोत्तमेन्दुमनःशिलामागधिकामधूनि।
नियोज्य तान्यक्षिण विमिश्रितानि तन्द्रां सनिद्रां विनिवारयन्ति ॥ ४३ ॥

*इन्दुः=कर्पूरः ॥ ४३ ॥

घोड़े के लार में सेंधानमक, कपूर, मनःशिला, पिप्पली तथा शहद इन सबको इकट्ठा करके महीन पीस कर आंखों में लगाने से निद्रा सहित तन्द्रारोग दूर हो जाता है ॥ ४३ ॥

सैन्धवं श्वेतमरिचं सर्षपाः कुष्ठमेव च। वस्तमूत्रेण सम्पिष्टं नस्यं तन्द्रानिवारणम् ॥४४ ॥

*श्वेतमरिचं = शिग्रुबीजम् ॥ ४४ ॥

सेंधानमक, सहिजन के बीज, सरसों और कूठ इन सबोंको बकरे के मूत्र से पीसकर नस्य देने से तन्द्रा दूर हो जाती है ॥ ४४ ॥

शुण्ठीकणोग्रालवणोत्तमानि नस्येन तन्द्राविजयोल्वणानि ।
क्षुद्राऽमृतापौष्करनागराणि भार्गीशिवाभ्यां क्वथितानि पानात् ॥ ४५ ॥

*शिवा = हरीतकी ॥ ४५ ॥

इत्येकोनविंशो मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रासंन्यासाधिकारः समाप्तः ॥ १९ ॥



सोंठ, पिप्पली, वच और सेन्धा नमक इन सबों को पीसकर नास देने से घोर तन्द्रा भी नष्ट हो जाती है। कटेरी, गुडूची, पोहकरमूल, सोंठ, भारङ्गी तथा हरड़ के क्वाथ को पीने से तन्द्रा दूर हो जाती है ॥ ४५ ॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकोनविंशो मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रासंन्यासाधिकारः समाप्तः ॥



अथ विंशो मदात्ययाधिकारः ॥ २० ॥

तत्र मद्यस्य स्वभावमाह—

मद्यं स्वभावतः प्राज्ञैर्यथैवान्नं तथा स्मृतम् । अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं रसायनम् ॥१॥

अथ[1] मदात्ययाधिकार—विद्वानों ने मद्य को स्वभावतः अन्न ही के समान बतलाया है।

---

१. पाश्चात्त्य वैद्यक में मदात्यय को अलकोहोलिज्म (Alcoholism) कहते हैं। अलकोहल (Alcohol) कई प्रकार के होते हैं यथा—

१—मिथायल अलकोहल (Methyl Alcohol)।
२—इथायल ,, (Ethyl Alcohol)।
३—प्रोपायल ,, (Propyl Alcohol)।
४—एमायल ,, (Amyl Alcohol)।

साधारणतया अलकोहल शब्द से इथायल अलकोहल का अर्थ लिया जाता है। यही वह मद्य है जिसे लोग पीते हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि पाये जाने वाले भिन्न २ मद्यों में इसी अलकोहल की भिन्न २ मात्रायें उपस्थित रहती हैं। शुद्ध अलकोहल में जिसको अबसल्यूट अलकोहल (Absolute Alcohol) कहा जाता है, इथायल अलकोहल ९९ प्रतिशत होता है। क्लोरोफार्म इत्यादि इसी से बनते हैं। पीने के लिये निम्नलिखित वस्तुयें अधिक काम में लाई जाती हैं। उनमें उपस्थित इथायल अलकोहल की मात्रा उनके सामने लिख दी गई है।

ह्विस्की	५१% से ५९% तक
रम, जिन अथवा अन्य तीव्र मद्य	५१% से ५९% ,,
ब्राण्डी	४३% से ५७% ,,
पोर्ट	२०% से ३०% ,,
शेरी तथा मेडीरिया	१०% से २२% ,,
क्लेरेट	१०% से १८% ,,
शेम्पेन	१०% से १३% ,,
एल तथा स्काउट	४% से ६% ,,
बीयर	२% से ३% ,,

जिन लोगों को मद्यपान करने का अभ्यास हो जाता है वे थोड़ी से आरम्भ करके, कुछ ही दिनों में बहुत अधिक मात्रा का प्रयोग करने लगते हैं जिससे पीने वाले व्यक्ति विपाक्त हो जाते हैं।

जिस मद्य का सेवन बिना युक्ति के किया जाता है वह रोगों को उत्पन्न करता है और विधिपूर्वक पिया हुआ मद्य परम रसायन है ॥ १ ॥

लक्षण-शीघ्र ही आरम्भ हो जाते हैं। रोगी की विचारशक्ति ठीक नहीं रहती। उसकी स्मरण-शक्ति जाती रहती है। वह क्रमहीन असम्बद्ध भाषण करता है। शरीर की पेशियों पर उसका अधिकार नहीं रहता। चलनेमें लड़खड़ाता है। कहीं पांव रखता है और कहीं पड़ता है। सिर चकराता है। मुख लाल हो जाता है। कभी २ पीला भी होता देखा गया है। नेत्र लाल हो जाते हैं। कुछ समयके पश्चात् वमन होने पर दशा सुधरने लगती है। वमन का होना शुभसूचक है। उसके पश्चात् निद्रा आ जाती है और सिर भारी रहता है। यदि दशा नहीं सुधरती तो रोगी का भाषण अधिक क्रमहीन हो जाता है। इसकी जिह्वा से शब्दों का ठीक २ उच्चारण नहीं होता। कुछ समय में उसकी चेतनाशक्ति का बिल्कुल नाश हो जाता है और मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है। नेत्रों के तारे विस्फारित हो जाते हैं। माथे और चर्म पर ठण्डा स्वेद आने लगता है। मुंह और श्वास से मद्य की गन्ध आती है। कभी २ मृत्यु के पूर्व शरीर में आक्षेप होते हैं। और श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है। अन्तिम अवस्था में रोगी का मल और मूत्र निकलने लगता है। कभी २ लक्षणों में कमी हो जाती है। और रोगी की अवस्था उन्नत होती है किन्तु फिर सहसा लक्षणों की पुनरावृत्ति होती है और रोगी की मृत्यु हो जाती है।

विष का निर्णय करना बहुत वार कठिन हो जाता है। मस्तिष्क में रक्तस्राव या सिर पर आघात के लगने से उत्पन्न मस्तिष्क-सन्ताप (Concussion Brein), अफीम—का विष, क्लोरल का विष, इक्षुमेह या मूत्रविष-सञ्चार (Uraemia) की मूर्च्छा आदि से अलकोहल के विष को पृथक् करना चाहिये। सिर पर आघात के चिह्न, रोगी की कक्ष, श्वास तथा मुख की गन्ध और वमन इत्यादि से निर्णय में बहुत सहायता मिलती है। अफीम में प्रायः ओष्ठ पीले और नेत्रों के तारे सङ्कुचित होते हैं। मद्य से मूर्च्छित होकर गिरने पर रोगी के सिर में चोट लग सकती है। अथवा मद्य मिलाकर रोगी अफीम खासकता है अतः पूर्ण विचार करके रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये।

घातक मात्रा—शुद्ध अलकोहल का ५ औंस युवा मनुष्य के लिये और दो औंस बालक के लिये घातक कहा जाता है। ५ छटाक जिन (Gin) से युवा मनुष्य की मृत्यु और दूसरे मनुष्य को २½ सेर के पश्चात् आरोग्य होते देखा गया है। अभ्यास होने पर बहुत अधिक मात्रा सहन हो सकती है।

इस प्रकार अब तक पाश्चात्त्य विद्वानों के मतानुसार केवल मद्य तथा मद का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार अलकोहल कई प्रकार का होता है और भिन्न २ मद्यों में उनकी भिन्न २ मात्रायें होती हैं। जिसके अनुसार वे मद्य तीव्र अथवा सौम्य होते हैं। उसी प्रकार अपने यहां भी सुरा, सीधु, माध्वीक, गौडिक तथा पैष्टिक, इत्यादि अनेक प्रकार के मद्यों का वर्णन मिलता है। इनमें भी कुछ मद्य तीक्ष्णं तथा कुछ सौम्य होते हैं।

पाश्चात्त्य वैद्यक में मद के अवस्थाओं का जैसा वर्णन किया गया है उसी प्रकार अपने यहां भी मद की अवस्थाओं को ४ प्रकारों में बांटा गया है। किन्तु अपने यहां जो मद की अवस्थाओं का विभाग किया गया है उसमें पर्याप्त विशिष्ट विशेषता है, वह यह कि मनुष्यों के सात्त्विक, राजस, तामस तथा अतितामस प्रकृतियों के अनुसार उसका विभाग किया गया है। और निम्न श्लोक से सुस्पष्ट कर दिया गया है कि:—

प्रधानाधममध्यानां रुक्माणां व्यक्तिदायकः। यथाऽग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदायकम्।

जीर्णविष—वस्तुतः इसी को अपने यहां 'मदात्यय' कहा जाता है। बहुत दिनों तक मद्य के पीने से शरीर के अङ्गों में विकार उत्पन्न होजाता है जिससे कई भांति के रोग उत्पन्न होते हैं। रोगी की क्षुधा बिल्कुल जाती रहती है। आमाशय में पचाने की शक्ति नहीं रहती। यकृत् अपना कर्म छोड़ देता है। वृक्क भी विकृत हो जाता है जिससे सारे शरीर पर शोथ आजाता है। विचारशक्ति दुर्बल हो जाती है।

युक्तियुक्तस्य महिमानमाह—

प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून् । विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम् ॥२॥

अन्न मनुष्यों का प्राण है किन्तु बिना युक्ति के सेवन किया गया अन्न प्राणों का नाश कर डालता है । विष प्राणनाशक है किन्तु युक्ति के साथ सेवित विष उत्कट रसायन है ॥ २ ॥

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम् । प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतं यथा ॥३॥

जो मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक, सविधि, उचित समय पर, मात्रानुसार, हितकर अन्नोंके साथ, बलाबल का विचार करके मद्यपान करते हैं उन्हें यह मद्य अमृत के समान हितकर होता है ॥ ३ ॥

*तत्र विधिर्यथा—

कृतशारीरसंस्कारः शुचिरुत्तमगन्धवान् । उद्दामगन्धिभिः स्फीतैर्मृदुभिर्वसनैर्वृतः ॥ १ ॥
विचित्रविविधस्रग्वी रत्नाभरणभूषितः । सानन्दः सावधानश्च पिबेन्मद्यं शनैः शनैः ॥ २ ॥

शरीर को अच्छी तरह स्वच्छ (मल-मूत्रादिरहित) करके सुगन्धित द्रव्यों को लगाकर, उत्तम गन्धयुक्त, कोमल तथा बारीक वस्त्रों को धारण करके, चित्रविचित्र, अनेक प्रकार के फूलों की मालाओं को पहिन कर और लाल रङ्ग के आभूषणों से आभूषित होकर आनन्दपूर्वक सावधानी से धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी मदिरा पीनी चाहिये ॥ १-२ ॥

* देशो यथा—

उपवनेषु-सुरभिसुरङ्गसुमनःसमूहमनोहरेषु मञ्जुगुञ्जन्मधुकरनिकरेषु कूजत्कलकण्ठेषु-सुरभिशिशिरमधुरसमीरेषु ।

मन्दिरेषु—सुधाशुभ्रेषु सुधूपधूपितेषु सूपधानेषु संस्तीर्णविहितशयनासनेषु ।
उपविष्टोऽथवा तिर्यग् भृशं हृष्टः सुरां पिबेत् । सौवर्णे राजतैः पात्रैः पिबेन्मणिमयैरपि ॥३॥
वस्त्राभरणमाल्यैश्च भूषिताभिर्यथर्त्तुकैः । दीयमानं मृगाक्षीभिः पिबेन्मद्यं मुदाऽन्वितः ॥४॥

जहां सुन्दर वर्ण तथा सुगन्ध युक्त मन को हरनेवाले पुष्प समूह खिले हों, उन पर मधुर ध्वनि से भ्रमर गुञ्जार करते हों, जहां प्रिय स्वर से कोयल कूजती हो, शीतल, सुगन्धित मन्द वायु धीरे २ चलती हो ऐसे उपवन के भीतर चूने से पुते हुये, हवादार, उत्तम धूपों से धूपित मन्दिर में जहां पर उत्तम पलङ्ग बिछा हुआ हो, जिस पर उत्तम, नर्म बिस्तरे और तकिये लगे हों ऐसे आसन पर बैठ कर अथवा तिरछे लेटकर बहुत प्रसन्नता के साथ मद्य पीना चाहिये । रूप और यौवन से मतवाली परम रमणीक ऋतु के अनुसार वस्त्रों तथा आभूषणों से सुशोभित, सुगन्धित पुष्पों से सुसज्जित, मृग के समान नेत्रों वाली रमणियां सोने, चांदी अथवा रत्नों के प्याले में भर भर कर बारम्बार दें और पुरुष सानन्द उस मद्य को पीवे ॥ ३-४ ॥

***मात्रयेति । मात्रा तन्त्रान्तरे कथिता :—**

शुद्धकायः पिबेन्मद्यं सोपदंशं पलद्वयम् । मध्याह्ने द्विगुणं तच्च सुस्निग्धं भक्षयेदनु ॥ ५ ॥
प्रदोषेऽष्टपलं तद्वन्मात्रा मद्यरसायने । अनेन विधिना सेव्यं मद्यं नित्यमतन्द्रितैः ॥ ६ ॥

शुद्धकायः = उत्सृष्टमलमूत्रः । पलद्वयं पारिशेष्यात्पूर्वाह्णे बोद्धव्यम् । अतन्द्रितैः = मात्रया सावधानैः ॥ ५-६ ॥

मल मूत्रादि को त्याग कर प्रातःकाल नमकीन भुने चने इत्यादि के साथ आठ तोले मद्य पीवे ।

मद्य के चिरकालिक प्रयोग से सकम्प उन्माद (Delerium Treneus) नामक रोग उत्पन्न होजाता है । रोगी को यह मालूम होता है कि बहुत से कीट-पतङ्ग या चूहे अथवा अन्य जन्तु उसको काटने को आरहे हैं और उसके बिस्तरे पर रेंग रहे हैं । उसकी पेशियों में कम्पनायें होने लगती हैं । उसको निद्रा नहीं आती । आत्महत्या या परहत्या के लिये वह प्रयत्न करता रहता है । मदात्यय का यह पाश्चात्य मतानुसार वर्णन हुआ । अपने यहां 'शरीरदुःखं बलवत्प्रमोह' इत्यादि ६ श्लोकों में जो मदात्यय के लक्षण का वर्णन किया गया है प्रायः वह उपर्युक्त पाश्चात्य विवरण से मिलता-जुलता है ।

मध्याह्न काल में १६ तो० मद्य पीकर तत्पश्चात् अत्यन्त स्निग्ध भोजन करे। और सायंकाल में ३२ तो० मद्य पीना चाहिये। मद्य की यह मात्रा रसायन स्वरूप है। इसलिये सावधानी के साथ मात्रानुसार प्रतिदिन इसी विधि से मद्य का सेवन कराना चाहिये॥ ५-६॥

*अन्ये त्वाहुः—

बुद्ध्यादयो गुणा यावदुल्लसन्ति निरत्ययाः। मात्रेयं विहिता मद्यपानेऽन्या रोगजन्मने॥७॥

अन्य ग्रन्थकारों का मत है कि जितनी मात्रा में मद्य पीने से बुद्ध्यादि गुण नष्ट नहीं हो उतनी ही मात्रा में मद्य पीना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य मात्रा में मद्य का सेवन रोगियों के लिये समझना चाहिये। हमेशा अधिक मात्रा में मद्यसेवन रोग उत्पन्न करता है॥ ७॥

***काल इति। यस्मिन्काले यादृशं मद्यमुचितं तस्मिंस्तादृशं पेयम्।**

कस्मिन् ऋतौ कीदृङ् मद्यं पेयमित्याह—

ऋतुसम्बन्धो यथा—

ग्रीष्मे मद्यं हिमं स्वादु माध्वीकादि सुखप्रदम्।
शीते प्रशस्यते चोष्णं तीक्ष्णं गौडिकपैष्टिकम्॥ ८॥ इत्यादि।

जिस ऋतु में जिस प्रकार के मद्य का सेवन करना उचित है वही मद्य पीना चाहिये। जैसे ग्रीष्मऋतु में शीतल तथा मधुर माध्वीक इत्यादि मद्य सुखप्रद है। शीतकाल में उष्ण तथा तीक्ष्ण गौडिक (गुड से बनाये गये) और पैष्टिक (आटे से बनाये गये) मद्य को पीना चाहिये॥ ८॥

***हितैरन्नैरिति।**

मद्यानुकूलैर्विविधैः फलैर्वर्णमनोहरैः। सुगन्धैर्लवणैर्हृद्यैर्भृष्टैर्मांसैः पृथग्विधैः॥ ९॥
स्निग्धैरन्नैश्च भक्ष्यैश्च सह मद्यं पिबेन्नरः॥ १०॥

अन्नैः = सिद्धैरोदनपर्पटकादिभिः। भक्ष्यैः=लड्डुकफेणिकाऽऽदिभिः॥ १०॥ इति॥३॥

मद्य पीने वाला मनुष्य मद्य के अनुकूल मनोहर अनेक प्रकार के फल, सुगन्धित तथा प्रिय नमकीन पदार्थ, भिन्न २ प्रकार के भुने हुये मांस, स्निग्ध भात, पापड़ इत्यादि तथा लड्डू और फेनी आदि के साथ मद्य को पीवे॥ ९-१०॥ इति॥ ३॥

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानवासोधूपानुलेपनैः। स्निग्धोष्णैस्तादृशैरन्नैर्वातप्रकृतिकः पिबेत्॥ ४॥

वातप्रकृतिवाला मनुष्य स्निग्ध तथा उष्ण अभ्यङ्ग, अगर इत्यादि सुगन्धित द्रव्यों का लेपन, स्नान, वस्त्र, धूप और अनुलेपन इत्यादि करके स्निग्ध, उष्ण इत्यादि उसी प्रकार के अन्न के साथ मद्यपान करे॥ ४॥

शीतोपचारैर्विविधैर्मधुरस्निग्धशीतलैः। फलैरन्नैः सह नरः पित्तप्रकृतिकः पिबेत्॥ ५॥

पित्तप्रकृतिवाला विविध प्रकार के शीतल उपचारों को करके, मधुर, स्निग्ध तथा शीतल फलों और अन्नों के साथ मद्यपान करे॥ ५॥

श्लैष्मिको जाङ्गलैर्मांसैर्मरिचैर्मदिरां पिबेत्। प्राक् पिबेच्छ्लैष्मिको मद्यं भुक्तस्योपरि पैत्तिकः॥

कफप्रकृतिवाला मनुष्य जाङ्गल जन्तुओं के मांस तथा मिर्च के साथ मद्य पान करे। और कफप्रकृतिवाला मनुष्य भोजन करने के पहिले तथा पित्तप्रकृतिवाला भोजन करने के बाद मद्यपान करे॥ ६॥

वातिकस्तु पिबेन्मध्ये समदोषो यथेच्छति। वातिकस्तु पिबेन्मद्यं प्रायो गौडिकपैष्टिकम्॥७॥

वातप्रकृतिवाले को भोजन के मध्य में मद्य पीना चाहिये। और समदोषवाला मनुष्य जब चाहे तभी मद्यपान कर सकता है। वातप्रकृतिवाले को चाहिये कि वह प्रायः गौडिक (गुडनिर्मित) तथा पैष्टिक (आटा द्वारा बनाया गया) मद्य पीवे॥ ७॥

कफपित्तात्मको यस्तु माध्वीकं माधवं पिबेत्।
विधिर्वसुमतामेष कथितश्चरकादिभिः। यथोपपत्तिकं वाऽपि पिबेन्मद्यं हि मात्रया॥ ८॥

कफ तथा पित्तप्रकृतिवालों को मधुर द्रव्यों से बनाये गये जैसे 'माध्वीक' तथा 'माधव' नामक मद्यों का सेवन करे।

चरकादि मुनियों ने इन उपर्युक्त विधियों को केवल धनवानों के लिये कहा है। और निर्धन मनुष्य को तो जो ही मद्य मिल जाय मात्रानुसार पी लेना चाहिये ॥ ८ ॥

मद्यगुणानाह—

रसवातादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम्। प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥ ९ ॥
मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान्। दशभिर्दश सङ्क्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ॥१०॥
लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुकरं तथा। रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्॥११॥
गुरु शीतं मृदु स्निग्धं सान्द्रं स्वादु स्थिरं तथा। प्रसन्नं पिच्छिलं सूक्ष्ममोजो दशगुणं स्मृतम् ॥
गौरवं लाघवाच्छैत्यमौष्ण्यादम्लस्वभावतः। माधुर्यं मार्दवं तैक्ष्ण्यात्प्रसादश्चाशु भावनात् ॥
रौक्ष्यात्स्नेहं व्यवायित्वात् स्थिरत्वं सूक्ष्मतामपि।
विकासिभावात्पैच्छिल्यं वैशद्यात्सान्द्रतां तथा ॥ १४ ॥
सौक्ष्म्यान्मद्यं निहन्त्येवमोजसः स्वगुणैर्गुणान्। सत्त्वं तदाश्रयं चाशु सङ्क्षोभ्य कुरुते मदम् ॥

रस और वातादिदोषों के मार्गों का, मन, ज्ञानेन्द्रियों, आत्मा तथा शरीर में सर्वप्रधान ओज का स्थान हृदय है। मद्य हृदय में प्रविष्ट होकर अपने दशगुणों से ओज के दशगुणों को संक्षुभित करके चित्त को विकृत कर देता है।

लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायी, आशुकर, रूक्ष, विकासी और विशद, ये दश मद्य के गुण हैं।

ओज—गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, सान्द्र, मधुर, स्थिर, प्रसन्न, पिच्छिल तथा सूक्ष्म इन दश गुणों वाला है।

मद्य अपनी लघुता से ओज के गौरव को, उष्णता से ओज की शीतलता को, अम्लस्वभाव से ओज के माधुर्य को, तैक्ष्ण्य से ओज की मृदुता को, आशुकारिता से ओज की प्रसन्नता को, रूक्षता से ओज की स्निग्धता को, व्यवायित्व से ओज की स्थिरता को, विकासी होनेके कारण ओज की सूक्ष्मता को, वैशद्य से ओज की पिच्छिलता को और सूक्ष्म होने के कारण ओज की सान्द्रता को नष्ट कर देता है। इस प्रकार मद्य अपने दश गुणों से ओज के दश गुणोंको क्षुभित करता है। मद्य मन और सत्त्वाश्रय हृदय को तत्काल क्षुभित करके मद (नशा) को उत्पन्न करता है ॥ ९-१५ ॥

हृदि मद्यगुणाविष्टे हर्षस्तर्षो रतिः सुखम् ॥ १६ ॥
विकाराश्च यथासत्त्वं चित्रा राजसतामसाः। जायन्ते मोहनिद्रान्ता इत्येतन्मदलक्षणम् ॥१७॥
हर्षमोजो बलं पुष्टिमारोग्यं पौरुषं तथा। युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यं मदसुखप्रदम् ॥१८॥
रोचनं दीपनं हृद्यं स्वरवर्णप्रसादनम्। प्रीणनं बृंहणं बल्यं भयशोकश्रमापहम् ॥ १९ ॥
स्वापनं नष्टनिद्राणां मूकानां वाग्विशोधनम्। नाशनं चातिनिद्राणां विबन्धानां विबन्धनुत् ॥
वधबन्धपरिक्लेशदुःखानां चाप्यबोधनम्। अपि प्रत्ययसां मद्यमुत्सर्गान्मोदकारकम् ॥२१॥
बहुदुःखक्षतस्यास्य शोकैरुपहतस्य च। विश्रामो जीवलोकस्य मद्यं युक्त्या निषेवितम् ॥

मद्य के गुण हृदय में प्रविष्ट होकर हर्ष, तृष्णा, रति, सुख और प्रकृति के अनुसार मोह से निद्रा पर्य्यन्त राजस तथा तामस विचित्र विकार उत्पन्न करते हैं। यही मद का लक्षण है।

युक्तिपूर्वक पिया गया मद्य तत्काल हर्ष, ओज, बल, पुष्टि, आरोग्य तथा पौरुष को उत्पन्न करता है। और मदसुख को देता है।

रुचि उत्पन्न करता है। अग्नि को प्रदीप्त करता है। हृद्य है। स्वर तथा वर्ण को उत्तम करता है। तृप्तिकारक, धातुओं को पुष्ट करने वाला, बल्य तथा भय, शोक और श्रम को दूर करनेवाला है। जिन मनुष्यों को निद्रा न आती हो उन्हें निद्रा आती है। गूंगों की वाणी को शुद्ध करता है। अति-निद्रा को नष्ट करने वाला, मलबन्ध को दूर करने वाला, वध, बन्धन, क्लेशादि दुःखों को भुलाने वाला

है। युक्तिपूर्वक पिया गया मद्य वृद्ध मनुष्यों में भी स्वभावतः आनन्द उत्पन्न करता है। अनेक दुःखों से पीडित भावयुक्त तथा विविध भांति के शोकों से व्याकुल प्राणियों को मद्य संसार में विश्रामस्वरूप है ॥ १६-२२ ॥

तत्र सात्त्विकस्य मदस्य लक्षणमाह—

बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च पानान्ननिद्रारतिवर्द्धनश्च ।
सम्पाठगीतस्वरवर्द्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि ॥ २३ ॥

***मदस्त्रिलक्षणो भवति । एको मदोऽधिकसत्त्वगुणस्य पुंसो भवति । द्वितीयोऽधिकरजोगुणस्य । तृतीयोऽधिकतमोगुणस्य । अत एवोक्तं चरके—**

प्रधानाधममध्यानां रुक्माणां व्यक्तिदायकः ।
यथाऽग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम् ॥ ११ ॥ इति ।

मद तीन प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार का मद अधिक सत्त्वगुणवाले मनुष्यों को होता है। दूसरे प्रकार का मद अधिक रजोगुणवाले मनुष्यों को होता है तथा तीसरे प्रकार का मद अधिक तमोगुणवाले मनुष्य को होता है जिस प्रकार तपाने से स्वर्ण की उत्तमता, मध्यमता तथा अधमता व्यक्त हो जाती है उसी प्रकार मद्य मनुष्यों के उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृतियों को प्रकट कर देता है ॥ ११ ॥ इति ।

***तत्र सात्त्विकस्य मदस्य लक्षणमाह—बुद्धीति । प्रीतिः = परेण मैत्री । सुखः = सुखयतीति सुखः, सुखकर इत्यर्थः । 'पाने'त्यादि = पानादिष्वनुपङ्गवर्द्धनः । अतिरम्यः = मनोविकारित्वेऽपि न दुःखकरः । प्रथमगुणविकारित्वात् प्रथमः । एवं द्वितीयस्तृतीयश्च ॥**

प्रथम प्रकार का मद जो कि सत्त्वगुण का विकार है सात्त्विक मद कहलाता है और यह मद बुद्धि, स्मृति तथा प्रीति को उत्पन्न करने वाला तथा सुख देनेवाला है। पान, अन्न तथा निद्रा में रुचि को बढ़ाता है। पढ़ने तथा गाने में स्वर शुद्ध करता है। मन में विकृति उत्पन्न करने पर भी दुःखकर नहीं है किन्तु मनोरम ही है। यह प्रथम (सत्त्व) का विकार स्वरूप होता है इसलिये प्रथम कहा जाता है। इसी प्रकार जो दूसरे गुण का (रजोगुण का) विकार स्वरूप है वह दूसरा और जो तीसरे गुण का (तमोगुण का) विकार स्वरूप है वह तीसरा मद कहलाता है ॥ २३ ॥

राजसस्य मदस्य लक्षणमाह—

अव्यक्तबुद्धिस्मृतिवाग्विचेष्टः सोन्मत्तलीलाऽऽकृतिरप्रशान्तः ।
आलस्यनिद्राऽभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन ॥ २४ ॥

***अव्यक्तेत्यत्र ईषदर्थे नञ् । विचेष्टः = विरुद्धचेष्टः । उन्मत्तस्य लीलाऽऽकृतिभ्यां सहितः ॥ २४ ॥**

राजस मद से मत्त हुए पुरुष की बुद्धि, स्मृति और वचन ठीक स्पष्ट नहीं होते। वह विरुद्ध चेष्टायें करता है। उन्मत्त के समान लीला करता है और उसकी आकृति भी उन्मत्त के समान रहती है। अशान्त रहता है। आलस्य तथा निद्रा से बारम्बार अभिभूत हुआ करता है ॥ २४ ॥

तामसस्य मदस्य लक्षणमाह—

गच्छेदगम्यां न गुरुंश्च मन्येत्खादेदभक्ष्याणि च नष्टसञ्ज्ञः ।
ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतन्त्रः ॥ २५ ॥
***मन्येदिति परस्मैपदमार्षत्वात् । अस्वतन्त्रः = मदपरवशः ॥ २५ ॥**

तीसरे प्रकार के मद में (तामस मद में) पुरुष मद के अधीन हो जाता है। अगम्या स्त्रियों में गमन करता है। गुरुजनों को कुछ नहीं मानता। अभक्ष्य पदार्थों को खाता है। उसकी सञ्ज्ञा नष्ट हो जाती है और हृदयस्थित गुप्त बातों को कहने लगता है ॥ २५ ॥

अतितामसस्य मदस्य लक्षणमाह—

चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्विव निष्क्रियः । कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादपि परो मृतः ॥२६॥

*यद्यपि मदास्त्रय एव तथाऽपि सुश्रुतानुरोधादतितामसमदलक्षणमाह-मूढो=मोहयुक्तः॥

यद्यपि मद तीन ही प्रकार के होते हैं तथापि सुश्रुत के अनुरोध से 'अतितामस' चतुर्थ मद के लक्षण को कहते हैं। इस मद में मनुष्य मोहयुक्त (अचैतन्य) हो जाता है। टूटी हुई लकड़ी के समान निष्क्रिय हो जाता है। उस मनुष्य को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। मनुष्य मृतक से भी अधिक मृतक हो जाता है ॥ २६ ॥

को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम्। बहुदोषमिवामूढः कान्तारं स्ववशः कृती ॥२७॥

***अमूढः=विचारबहुलः ॥ २७ ॥**

कौन विचारशील मनुष्य इस चौथे मद के समान उन्मादवत् मद को प्राप्त होगा? जिस प्रकार विचारबहुल, स्वतन्त्र तथा बुद्धिमान् पुरुष निर्जन वन में नहीं गमन करते उसी प्रकार इस चतुर्थ मद का कोई मनुष्य सेवन नहीं करता ॥ २७ ॥

केषां मदाधिक्यं केषां च मदाल्पत्वं भवतीत्याह—

नातिमाद्यन्ति बलिनः कृताहारा महाशनाः। स्निग्धाः सत्त्ववयोयुक्ता मद्यनित्यास्तदन्वयाः॥
मेदःकफाधिका मन्दवातपित्ता दृढाग्नयः। विपर्ययेऽतिमाद्यन्ति विष्टब्धाः कुपिताश्च ये॥
मद्येन चाम्लरूक्षेण साजीर्णे बहुनाऽपि च ॥ २९ ॥

बलवान्, भोजन किया हुआ, बहुत भोजन करने वाला, स्निग्ध, धैर्ययुक्त, युवा, नित्य मद्य पीने वाला, कुल-परम्परा से मद्यपान करने वाला, जिसके शरीर में मेद तथा कफ अधिक है या वात और पित्त की मन्दता है, और जो दृढ़ अग्निवाले हैं ऐसे मनुष्यों को मद बहुत नहीं चढ़ता और जो इस से विपरीत गुण वाले या मलबन्धवाले तथा क्रोधी हैं उन मनुष्यों को मद बहुत चढ़ता है। अम्ल तथा रूक्ष मद्य को पीने से, अजीर्ण में मद्य पीने से और अधिक मात्रा में मद्य पीने से भी मद अधिक चढ़ता है ॥ २८–२९ ॥

मदात्ययनिदानमाह—

विषस्य ये गुणा दृष्टाः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः ॥३०॥

त्रिदोष को प्रकुपित करने वाले जो गुण विष में दिखाई देते हैं वे ही गुण मद्य में भी दिखाई देते हैं। किन्तु विष के गुण मद्य की अपेक्षा अधिक बलवान् होते हैं ॥ ३० ॥

तस्मादविधिपीतेन तथा मात्राऽधिकेन च। युक्तेन चाहितैरन्नैरकाले सेवितेन च ॥ ३१ ॥
मद्येन खलु जायन्ते मदात्ययमुखा गदाः ॥ ३२ ॥

इसलिये विधिरहित अधिक मात्रा में पिया गया अहितान्नों के साथ पिया हुआ और असमय में पिया हुआ मद्य मदात्यय आदि रोगों को उत्पन्न करता है ॥ ३१–३२ ॥

विधिमन्तरेण सेवितमद्यमन्यविकारोत्पादकमित्याह—

निर्भुक्तमेकान्तत एव मद्यं निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम्।
उत्पादयेत्कष्टतमान्विकारानुत्पादयेच्चापि शरीरभेदम् ॥ ३३ ॥

***अविधिप्रयुक्तं मद्यं विकारान्तरानुत्पादयतीत्यत आह-निर्भुक्तेति। एकान्ततो= नैरन्तर्येण। विकारान्=मदात्ययादीन्। शरीरभेदं=नाशम् ॥ ३३ ॥**

बिना अन्न के तथा निरन्तर प्रतिदिन मद्य के पीने से महाकष्टकारक मदात्यय आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं और शरीर का नाश हो जाता है ॥ ३३ ॥

मदात्ययादीनां हेत्वन्तरमाह—

क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन।
व्यायामभाराध्वपरिक्षतेन वेगावरोधाभिहतेन चापि ॥ ३४ ॥
अत्यम्लरूक्षावततोदरेण साजीर्णभुक्तेन तथाऽबलेन।
उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं करोति मद्यं विविधान्विकारान् ॥ ३५ ॥

क्रुद्ध, भयभीत, पिपासित, शोक से सन्तप्त, बुभुक्षित तथा व्यायाम, बोझ उठाने और अधिक मार्ग

चलने से थका हुआ, मलमूत्रादि के अवरोध से पीडित, अत्यन्त अम्ल और रूक्ष पदार्थों के खाने से जिसका पेट भर गया हो, अजीर्ण में भोजन करने वाला, निर्बल और उष्णता से सन्तप्त मनुष्य का सेवित मद्य अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न करता है॥ ३४-३५॥

मद्योत्पन्नविकारान् विवृणोति—

पानात्ययं परमदं पानाजीर्णमथापि च। पानविभ्रममत्युग्रं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्॥ ३६॥

मद्यपान से परमद, पानाजीर्ण तथा अत्यन्त उग्र पानविभ्रम रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अब उनके लक्षणों को कहता हूं॥ ३६॥

तत्र मदात्ययस्य सामान्यलक्षणमाह—

शरीरदुःखं बलवत्प्रमोहो हृदयव्यथा। अरुचिः प्रततं तृष्णा ज्वरः शीतोष्णलक्षणः॥ ३७॥
शिरःपार्श्वास्थिसन्धीनां वेदना विद्यते यथा। जायतेऽतिबला जृम्भा स्फुरणं वेपनं श्रमः॥३८॥
उरोविबन्धः कासश्च हिक्का श्वासः प्रजागरः। शरीरकम्पः कर्णाक्षिमुखरोगस्त्रिकग्रहः॥३९॥
छर्दिविड्भेद उत्क्लेशो वातपित्तकफात्मकः। भ्रमः प्रलापो रूपाणामसतां चैव दर्शनम्॥४०॥
तृणभस्मलतापर्णपांशुभिश्चावपूरणम्। प्रधर्षणं विहङ्गैश्च भ्रान्तचेताः स मन्यते॥४१॥
व्याकुलानामशस्तानां स्वप्नानां दर्शनानि च। मदात्ययस्य रूपाणि सर्वाण्येतानि लक्षयेत्॥

मदात्यय से पीडित मनुष्य के शरीर में अत्यन्त दुःख होता है। बलवान् मोह, हृदय में पीड़ा, अरुचि, निरन्तर तृष्णा, शीतल तथा उष्ण लक्षणों वाला ज्वर, सिर, पसली तथा हड्डियों के जोड़ों में फोड़े के समान पीड़ा, अत्यन्त प्रबल जृम्भा, अङ्गस्फुरण, कम्प, श्रम, उरोविबन्ध, कास, हिक्का, श्वास, नींद का न आना, कान, आंख तथा मुख के रोग, त्रिकस्थान में पीड़ा, वमन, पतले दस्तों का आना, वात, पित्त तथा कफात्मक हृल्लास, भ्रम, प्रलाप, बुरे रूपों का देखना ये सब लक्षण होते हैं। और वह मनुष्य अपने शरीर को तृण, भस्म, लता, पत्र तथा धूल से पूर्ण देखता है। उस भ्रान्तचित्त वाले को ऐसा प्रतीत होता है कि चारों ओर से चिड़ियां उड़ी चली आती हैं। व्याकुल और बुरे स्वप्नों को देखता है। ये सब मदात्यय के रूप हैं, इन्हें जानना चाहिये॥

वातजमदात्ययस्य निदानमाह—

स्त्रीशोकभयभाराध्वकर्मभिर्योऽतिकर्षितः। रूक्षाल्पप्रमिताशी च यः पिबत्यतिमात्रया॥४३॥
रूक्षं परिणतं मद्यं निशि निद्रां निहत्य च। करोति तस्य तच्छीघ्रं वातप्रायं मदात्ययम्॥४४॥

*तद् = मद्यम्॥ ४४॥

स्त्रीप्रसङ्ग, शोक, भय, भार तथा मार्ग चलने इत्यादि कर्मों से कृश मनुष्य और रूक्ष, अल्प तथा थोड़ी मात्रा में भोजन करनेवाले मनुष्य, रूक्ष मद्य को अधिक मात्रा में पीते हैं, वह मद्य परिपाक को प्राप्त होकर रात्रि में निद्रा को नष्ट करके तत्काल वातजन्य मदात्यय को उत्पन्न कर देता है॥४३-४४॥

वातजमदात्ययस्य लक्षणमाह—

हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः। विद्याद्बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम्॥ ४५॥

हिक्का, श्वास, शिरःकम्प, पार्श्वशूल, अनिद्रा और बहुत प्रलाप से वातजन्य मदात्यय समझना चाहिये॥ ४५॥

पित्तजमदात्ययस्य निदानमाह—

तीक्ष्णोष्णमद्यमम्लं च योऽतिमात्रं निषेवते। अम्लोष्णतीक्ष्णभोजी च क्रोधनोऽग्निनवातपरः।
तस्योपजायते तीव्रः पित्तप्रायो मदात्ययः॥ ४६॥

यदि तीक्ष्ण, उष्ण तथा अम्ल पदार्थों को भोजन करने वाला, क्रोधी तथा अग्नि और धूप सेवी मनुष्य तीक्ष्ण, उष्ण तथा खट्टे मद्य को अधिक मात्रा में सेवन करता है तो उसको तीव्र पित्तजन्य मदात्यय रोग उत्पन्न हो जाता है॥ ४६॥

पित्तजमदात्ययस्य लक्षणमाह—

तृष्णादाहज्वरस्वेदमोहातीसारविभ्रमैः। विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम्॥ ४७॥

तृष्णा, दाह, ज्वर, स्वेद, मोह, अतीसार, विभ्रम तथा शरीर के वर्ण का हरा होना इन सब लक्षणों से पित्तजन्य मदात्यय समझना चाहिये ॥ ४७ ॥

कफजमदात्ययस्य निदानमाह—

मधुरस्निग्धगुर्वाशी यः पिबत्यतिमात्रया ॥ ४८ ॥
अव्यायामदिवास्वप्नशय्यासनसुखे रतः। मदात्ययं कफप्रायं स नरो लभते ध्रुवम् ॥४९॥

व्यायाम न करने वाला, दिन में सोने वाला, हमेशा बिस्तरे पर बैठ कर आनन्द लेने वाला तथा मधुर, स्निग्ध और दुर्भोजन करने वाला मनुष्य जब अधिक मात्रा में मद्यपान करता है तो वह निश्चित कफजन्य मदात्यय को प्राप्त होता है ॥ ४८-४९ ॥

कफजमदात्ययस्य लक्षणमाह—

छर्द्यरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः। विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ॥ ५० ॥

वमन, अरुचि, हृल्लास, तन्द्रा, शरीर भीगे वस्त्रों से आच्छादित के समान प्रतीत होना और भारीपन तथा शीत लगने से कफजन्य मदात्यय को जानना चाहिये ॥ ५० ॥

सान्निपातिकमदात्ययस्य निदानं लक्षणं चाह—

त्रिदोषो हेतुभिः सर्वैः सर्वैर्लिङ्गैर्मदात्ययः ॥ ५१ ॥

उपर्युक्त सम्पूर्ण भेदों तथा सम्पूर्ण लक्षणोंसे युक्त मदात्ययको 'त्रिदोषज मदात्यय' कहते हैं ॥

परमदलक्षणमाह—

श्लेष्मक्षयोऽङ्गगुरुता विरसास्यता च विण्मूत्रसक्तिरथ तन्द्रिररोचकश्च।
लिङ्गं परस्य तु मदस्य वदन्ति तज्ज्ञास्तृष्णा रुजा शिरसि सन्धिषु चापि भेदः ॥ ५२ ॥
***तन्द्रिः = तन्द्रा ॥ ५२ ॥**

कफक्षय, अङ्गों में गुरुता, मुख की विरसता, मल और मूत्र का अवरोध, तन्द्रा, अरुचि, तृष्णा, सिर तथा संधियों में फोड़ने के समान पीड़ा ये सब विद्वानों द्वारा परमद के लक्षण कहे गये हैं ॥

पानाजीर्णलक्षणमाह—

आध्मानमुग्रमथवोद्गिरणं विदाहः पाने त्वजीर्णमुपगच्छति लक्षणानि।
ज्ञेयानि तत्र भिषजा सुविनिश्चितानि पित्तप्रकोपजनितानि च कारणानि ॥ ५३ ॥
***उद्गिरणं = वान्तिरुद्गारो वा। पीयत इति पानं = मद्यम् ॥ ५३ ॥**

मद्यजन्य अजीर्ण में उग्र आध्मान होता है अथवा वमन होता है या अधिक डकार आती है, दाह होता है और पित्तप्रकोपजन्य लक्षण होते हैं। वैद्य इन सब लक्षणों को देखकर 'पानाजीर्ण' जाने ॥ ५३ ॥

पानविभ्रमलक्षणमाह—

हृद्गात्रतोदकफसंस्रवकण्ठधूममूर्च्छावमीमदशिरोरुजनप्रदेहाः।
द्वेषः सुराऽन्नविकृतेषु च तेषु तेषु तं पानविभ्रममुशन्त्यखिलेषु धीराः ॥ ५४ ॥
***कण्ठधूमः = कण्ठाद् धूमनिर्गम इव। प्रदेहः = कफेन लिप्तास्यता। द्वेषः सुराऽन्नविकृतेषु च तेषु तेषु = सुराविकारेष्वन्नविकारेषु च द्वेषः। अखिलेषु = मद्यविकारेषु ॥ ५४ ॥**

हृदय तथा शरीर में सुई चुभाने के समान पीड़ा, कफस्राव, गले से धुवाँ निकल रहा है ऐसा भान होना, मूर्च्छा, वमन, मद, शिरःशूल, कफ से मुख का लिप्त रहना और सब प्रकार के मद्य तथा सब प्रकार के अन्नों पर द्वेष यदि ये सब लक्षण मिलते हों तो सम्पूर्ण मद्यविकारों में 'पानविभ्रम' को जानना चाहिये, ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥ ५४ ॥

मदात्ययाद्यसाध्यलक्षणमाह—

हीनोत्तरौष्ठमतिशीतममन्ददाहं तैलप्रभाऽऽस्यमपि पानहतं त्यजेच्च।
जिह्वौष्ठदन्तमसितन्त्वथ वाऽपि नीलम्पीते च यस्य नयने रुधिरप्रभे च।
हिक्का ज्वरो वमथुवेपथुपार्श्वशूलाः कासभ्रमावपि च पानहतं त्यजेत्तम् ॥५५॥

अधिक मद्यपान के कारण जिसके ऊपर का ओष्ठ सिकुड़ गया हो, अत्यन्त शीतहो अथवा तीव्र दाहयुक्त हो और जिसके मुख की प्रभा तैलवर्ण की हो गई हो ऐसे मनुष्य की चिकित्सा न करनी चाहिये। और जिस मद्यपान से मूच्छित मनुष्य की जिह्वा, ओष्ठ तथा दांत कृष्णवर्ण अथवा नीले हो गये हों, नेत्र का वर्ण पीला अथवा लाल हो गया हो तथा जिसे हिक्का, ज्वर, वमन, कम्प, पार्श्व-शूल, खांसी तथा भ्रम ये सब उत्पन्न हो गये हों ऐसे रोगी की चिकित्सा वैद्य को नहीं करनी चाहिये ॥ ५५ ॥

मदात्ययादिविकारचिकित्सामाह—

मद्योत्थानाञ्च रोगाणां मद्यमेव हि भेषजम्। यथा दहनदग्धानां दहनं स्वेदनं हितम् ॥५६॥

जिस प्रकार अग्निदग्ध के लिये दाहन तथा स्वेदन क्रियायें हितकारिणी होती हैं उसी प्रकार मद्यजन्य रोगों के लिए मद्य ही औषधि है ॥ ५६ ॥

मिथ्याऽतिहीनमद्येन यो व्याधिरुपजायते। समेनैव निपीतेन मद्येन स हि शाम्यति ॥५७॥

मद्य के मिथ्यायोग, अतियोग तथा हीनयोग से जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं वे व्याधियाँ मद्य के समयोग से शान्त हो जाती हैं ॥ ५७ ॥

बीजपूरकवृक्षाम्लकोलदाडिमसंयुतम्। यवानीहवुषाजाजीशृङ्गबेरावचूर्णितम् ॥ ५८ ॥
सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तसुपदंशैश्चिरोत्थितम्। दद्यात्सलवणं मद्यं वातपैत्तिकशान्तये ॥ ५९ ॥

वात तथा पित्तजन्य मदात्यय को शान्त करने के लिये पुराने मद्य में नमक डालकर और बिजौरा नीबू, अम्लवेत, वेर, अनारदाने, अजवाइन, हाऊबेर, जीरा तथा सोंठ इन सबका चूर्ण डालकर स्नेहयुक्त सत्तुओं तथा मसालों के साथ रोगी को पिलाना चाहिये ॥ ५८–५९ ॥

मद्यं सौवर्चलव्योषयुक्तं किञ्चिज्जलान्वितम्। जीर्णमद्याय दातव्यं वातपानात्ययापहम् ॥

वातजन्य मदात्यय को नष्ट करने के लिये पहले के पिये हुए मदात्यय के जीर्ण हो जाने पर काला नमक, सोंठ, काली मिर्च तथा पिप्पली इनके चूर्ण और जलके साथ मद्य को पिलाना चाहिये।

चव्यं सौवर्चलं हिङ्गु पूरकं विश्वदीपकम्। चूर्णं मद्येन पातव्यं पानात्ययरुजाऽपहम् ॥६१॥

चव्य, काला नमक, भुनी हींग, बिजौरा नीबू, सोंठ तथा अजवाइन के चूर्ण को मद्य में मिला कर पिलाने से मदात्यय रोग नष्ट हो जाता है ॥ ६१ ॥

लावतित्तिरदक्षाणां रसैश्च शिखिनामपि। पक्षिणां मृगमत्स्यानामानूपानां तथौदनैः ॥६२॥
स्निग्धोष्णलवणाम्लैश्च वेशवारैर्मुखप्रियैः। स्निग्धैर्गोधूमकैरन्नैर्वातप्रायं मदात्ययम् ॥६३॥

लवा, तीतर, मुर्गे, मोर तथा अनूपदेशजन्य मृग, मछली तथा पक्षियों के मांसरस के साथ भात, स्निग्ध, उष्ण, नमकीन, खट्टे तथा मुखप्रिय अचार, मसाले इत्यादि के साथ स्निग्ध गेहूं से बनाये गये भोजनों के करने से वातजन्य मदात्यय नष्ट हो जाता है ॥ ६२–६३ ॥

नारीणां यौवनोष्मार्गां निर्दयैरुपगूहनैः। श्रोण्यूरुकुचभारैश्च संरोध्योष्णसुखप्रदैः ॥ ६४ ॥
शयनाच्छादनैरुष्णैश्चान्तर्गेहैः सुखप्रदैः। मारुतैः प्रबलैः शीघ्रं प्रशाम्यति मदात्ययः ॥६५॥

नवयौवन की उष्णता से युक्त युवतियों के निर्दयालिङ्गन से, नितम्ब, जंघा और कुच के भारतथा प्यार पूर्वक जोरसे दबाने से जो उष्णता उत्पन्न होती है तज्जन्य सुखसे, गर्म-शय्या, गर्म ओढने और सुखप्रद भवनों में भीतरवाले घरों में रहने से प्रबल वातजन्य मदात्यय शीघ्र शान्त हो जाता है ॥

पित्तपानात्यये योज्याः सर्वतश्च क्रिया हिमाः। सितामाक्षिकसंयुक्तं मद्यमर्द्धोदकं पिबेत् ॥

पित्तजन्य मदात्यय में सब प्रकारसे शीतल क्रियाका प्रयोग करना चाहिये। मद्य में आधे परिमाण जल मिलाकर मिश्री तथा शहद डालकर पीने से पित्तजन्य मदात्यय दूर हो जाता है ॥६६॥

मद्यं खर्जूरमृद्वीकापरूषकरसैर्युतम्। सदाडिमरसं शीतं शक्तुभिश्चावचूर्णितम् ॥ ६७ ॥
सशर्करं वा माध्वीकं संयुक्तमथ वा परम्। दद्याद्बहूदकं काले पातुं पित्तमदात्यये ॥ ६८ ॥

खजूर, मुनक्के, फालसे तथा अनार के रस के साथ मिश्री और सत्तू डालकर शीतल माध्वीक मद्य अथवा उपर्युक्त औषधियों से संयुक्त दूसरे प्रकार के मद्य में अधिक मात्रामें जल मिलाकर समय पर पिलाने से पित्तजन्य मदात्यय नष्ट हो जाता है ॥ ६७–६८ ॥

शशाङ्कपिञ्जलानेणांल्लावानसितपुच्छकान्। मधुराम्लान्प्रयुञ्जीत भोजने शालिषष्टिकान्॥
पटोलयवमिश्रं वा छागलं कल्पयेद्रसम्। सतीनमुद्गमिश्रं वा दाडिमामलकान्वितम् ॥७०॥

पित्तजन्य मदात्यय में खरगोश, चावल, एण, मृग, लवा तथा कालपुच्छ मृग के मांस को देना चाहिये। मीठे तथा खट्टे पदार्थ और साठी के चावल भोजन के लिये प्रशस्त हैं। यवमिश्रित परवल के यूष, मटरयुक्त मूंग के यूष अथवा अनार और आंवलों के रस के साथ बकरे के मांसरस का उपयोग करना चाहिये ॥ ६९-७० ॥

द्राक्षाऽऽमलकखर्जूरपरूषकरसेन च। कल्पयेत्तर्पणान्यूषान् रसांश्च विविधात्मकान् ॥७१॥

पित्तजन्य मदात्यय को शान्त करने के लिये मुनक्का, आंवला, खजूर तथा फालसे के रस से अनेक प्रकार के सन्तर्पण यूष तथा रसों की कल्पना करनी चाहिये ॥ ७१ ॥

शीतानि चान्नपानानि शीतशय्यासनानि च। शीतवातजलस्पर्शाः शीतान्युपवनानि च॥
क्षौमपद्मोत्पलानाञ्च मणीनां मौक्तिकस्य च। चन्दनोदकशीतानां स्पर्शाश्चन्द्रांशुशीतलाः॥

शीतल अन्न तथा पान, शीतल शय्या, शीतल आसन, शीतल वायु, शीतल जल का स्पर्श, शीतल उपवन और रेशमी वस्त्र, कमल, नीला कमल, मणि, मोती तथा चंदन मिश्रित शीतल जल का स्पर्श और शीतल चन्द्रमा की किरणों का सेवन पित्तजन्य मदात्यय को दूर कर देता है ॥७२-७३॥

रूक्षतर्पणसंयुक्तं यवानीव्योषसंयुतम्। यवगोधूमकञ्चान्नं रूक्षयूषेण भोजयेत् ॥ ७४ ॥
कुलत्थकानां शुष्काणां मूलकानां रसेन वा। प्रभूतकटुसंयुक्तं यवान्नं वा प्रदापयेत् ॥७५॥

कफजन्य मदात्यय में रूक्ष, तृप्तिकारक तथा सोंठ, मिर्च और पीपल के साथ जौ तथा गेहूं का भोजन रूक्ष यूषों के साथ खिलाना चाहिये। अथवा कुल्थी और सूखी मूली के रस के साथ अथवा बहुत कटु पदार्थों के साथ जौ का भोजन देना चाहिये ॥ ७४-७५ ॥

छागमांसरसं रूक्षमम्लं वा जाङ्गलं रसम्। व्योषयूषं मनागम्लं पिबेत् कफमदात्यये ॥७६॥

अथवा कफज मदात्यय में रूक्ष द्रव्यों के साथ बकरे का मांसरस अथवा अम्लयुक्त जाङ्गल जन्तु का रस अथवा कुछ अम्ल के साथ सोंठ, मिर्च और पिप्पली का यूष पिलाना चाहिये ॥ ७६ ॥

स्थाल्यामथ कपाले वा भृष्टं कृत्वा तु नीरसम्। कट्वम्ललवणं मांसं खादेत्कफमदात्यये॥

हण्डी अथवा मिट्टी की खपरी में मांस को सूखा भूनकर कड़वे, खट्टे तथा नमकीन पदार्थों को मिलाकर खाने से कफजन्य मदात्यय नष्ट हो जाता है ॥ ७७ ॥

वामकद्रव्ययुक्तेन मद्येनोल्लेखनं मतम्। मदात्यये कफोद्भूते लङ्घनञ्च यथाबलम् ॥७८॥

कफज मदात्यय में वामक द्रव्यों से संयुक्त मद्य को पिलाकर वमन कराकर कफ का लेखन करना चाहिये तथा यथाशक्ति लङ्घन करना चाहिये ॥ ७८ ॥

यदिदं कर्म्मनिर्दिष्टं वातपित्तकफान्प्रति। सर्वजे सर्वमेवेदं प्रयोक्तव्यं चिकित्सकैः ॥ ७९ ॥

त्रिदोषज मदात्यय में वातजन्य, पित्तजन्य तथा कफजन्य मदात्यय की जो अलग २ चिकित्सायें बतलाई गई हैं उन्हीं सब चिकित्साओं का प्रयोग इसमें करना चाहिये ॥ ७९ ॥

प्रसङ्गप्राप्तकोद्रवादिमदचिकित्सामाह—

सगुडः कूष्माण्डरसः शमयति मदमाशु कोद्रवजम्। धत्तूरजञ्च दुग्धं सशर्करं चाशु पानेन॥

पेठे का रस गुड मिलाकर पीने से कोदो नामक धान्यविशेष के भक्षण से उत्पन्न हुआ मद तत्काल शान्त हो जाता है। धतूरे का मद शर्करासंयुक्त दूध के पीने से शीघ्र नष्ट होता है ॥८०॥

सच्छर्दिमूर्च्छाऽतीसारं मदं पूगफलोद्भवम्। सद्यः प्रशमयेत्पीतमातृप्तेर्वारि शीतलम् ॥८१॥

सुपारी खाने से उत्पन्न हुये वमन, मूर्च्छा तथा अतीसार से युक्त मद को तृप्ति पर्यन्त पिया हुआ शीतल जल तत्काल शान्त कर देता है ॥ ८१ ॥

वन्यकरीषघ्राणाज्जलपानाल्लवणभक्षणादपि च।
शाम्यति पूगफलोद्भवमदः सद्यः सशर्कराकवलात् ॥ ८२ ॥

सुपारीजन्य मद जङ्गली कण्डों को सूंघने से, जलपान से तथा नमक खाने से दूर हो जाता है। यदि सशूल सुपारीजन्य मद हो तो शर्करायुक्त कवल के धारण करने से तत्काल शान्त होता है॥

तत्क्षणान्मृदितं चूर्णं समाघ्रातं प्रणाशयेत्। ताम्बूलोत्थं मदं पुंसामेकमेव स्वभावतः॥८३॥

चूने को मल कर सूंघने से पान का मद तत्काल स्वभावतः शान्त हो जाता है॥ ८३॥

जातीफलमदं शीघ्रं हन्ति पथ्या निषेविता।
शीततोयावगाहश्च शर्करा दधियोजिता। विभीतमदशान्त्यर्थमियमेव मता पुनः॥ ८४॥

जायफल का मद हरड़ को खाने से, शीतल जलावगाहन से अथवा शर्करा-मिश्रित दही को खाने से शान्त हो जाता है। बहेड़े का मद भी शर्करासंयुक्त दही को खाने से शान्त हो जाता हैं॥

मद्यं पीत्वा यदि ना तत्क्षणमवलेढि शर्करां सघृताम्।
जातु न मदयति मद्यं मनागपि प्रथितवीर्यमपि॥ ८५॥

इति विंशो मदात्ययाधिकारः समाप्तः॥ २०॥

यदि मनुष्य मद्य को पीकर तत्काल घी में मिलाकर चीनी को खा ले तो महाप्रबल मद्य भी किञ्चिन्मात्र नशा नहीं उत्पन्न कर सकता है॥ ८५॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे विंशो मदात्ययाधिकारः समाप्तः॥ २०॥

अथैकविंशो दाहाधिकारः॥ २१॥

तत्र प्रथमं पित्तजदाहमाह—

पित्तज्वरसमः पित्ताद् दाहः स्यात्तस्य संक्रमः॥ १॥

***तत्र दाहः सप्तविधस्तेष्वादौ पित्तजं दाहमाह-पित्तज्वरेति। दाहः = ऊष्मात्मको व्याधिः। पित्तज्वरसमानः = पित्तज्वरलक्षणयुक्तः, पित्तज्वरे त्वामाशयदुष्टाद् दाहो ज्वराधिक इति भेदः। तस्य = दाहस्य। पित्तज्वरोक्तः क्रमः = चिकित्सा॥ १॥**

सात प्रकार के दाहों में से सर्वप्रथम पित्तज दाह का वर्णन करते हैं। दाह ऊष्मात्मक व्याधि है। इसमें पित्तज्वर के समान लक्षण होते हैं अत एव पित्तज्वर के लिये जिस चिकित्सा का वर्णन किया गया है दाह की शान्ति के लिये उन्हीं चिकित्साओं को करना चाहिये। पित्तज्वर में आमाशय के दुष्ट होने से दाह तथा ज्वर दोनों होते हैं। और यह रोग तो केवल दाह स्वरूप है अतः पित्तज्वर और दाह में भेद है॥ १॥

रक्तजदाहमाह—

कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रिक्तं दहति ध्रुवम्।
सन्धूप्यते चोष्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनः। लोहगन्धाङ्गवदनो वह्निनेवावकीर्यते॥ २॥

***उद्रिक्तम् = अतिरिक्तम्। सद्। दहति = दाहाख्यं व्याधिं करोति। सन्धूप्यते = अग्निना दह्यत इव। उष्यते = समीपस्थेनेव वह्निना ताप्यते, 'चूष्यत' इति पाठान्तरे— आचूषणेनेव पीडामनुभवतीत्यर्थः। वह्निनेवावकीर्यते = शरीरोपरि वहिः प्रक्षिप्यत इव॥**

सम्पूर्ण शरीर में रहने वाला रक्त अत्यन्त वृद्ध तथा कुपित होकर दाह नामक व्याधि को उत्पन्न करता है। इस व्याधि से ग्रस्त मनुष्य को सारा संसार अग्नि से जलते हुये के समान प्रतीत होता है। अथवा पास में रखी हुई अग्नि से सारा शरीर तपता हुआ प्रतीत होता है। शरीर में चूसने के समान पीड़ा होती है। शरीर पर अग्नि डालने के समान कष्ट होता है। उस मनुष्य के शरीर तथा नेत्र का वर्ण लाल हो जाता है। शरीर तथा मुख में से तप्तलोहे पर जल डालने के समान गन्ध आने लगती है॥ २॥

रक्तपूर्णकोष्ठजदाहमाह;—

असृजा पूर्णकोष्ठस्य दाहोऽन्यः स्यात्सुदुस्तरः ॥ ३ ॥

*असृजा = शस्त्रादिक्षतान्निस्सृतरक्तेन ॥ ३ ॥

शस्त्र इत्यादि के क्षत से निकले हुये रक्त से जब मनुष्य का कोष्ठ भर जाता है तो उसको महा दुस्तर दाह उत्पन्न हो जाता है ॥ ३ ॥

मद्यजदाहमाह—

त्वचं प्राप्तः स पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः । दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥४॥

*स पानोष्मा=मद्यपानजनित ऊष्मा । पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः=पित्तरक्ताभ्यां वर्द्धितः ॥

मद्यपान से उत्पन्न हुई ऊष्मा पित्त तथा रुधिर में प्राप्त होकर बढ़ कर त्वचा से भयङ्कर दाह उत्पन्न कर देती है, इसमें पित्त के समान चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४ ॥

तृष्णानिरोधजदाहमाह—

तृष्णानिरोधादब्धातौ क्षीणे तेजः समुद्धतम् । स बाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेन्मन्दचेतसः ।
संशुष्कगलताल्वोष्ठो जिह्वां निष्काश्य वेपते ॥ ५ ॥

*अब्धातौ = रसे । क्षीणे = क्षयं प्राप्ते । तेजः समुद्धतं = वृद्धम् । मन्दचेतसः = अल्पबुद्धेः, यतस्तेन तृषानिरोधः कृतः ॥ ५ ॥

जो मूर्ख मनुष्य प्यास को रोकता है उसके तृष्णानिरोध से शरीर की जलमय धातुओं के क्षीण हो जाने पर वृद्ध तेज शरीर के बाहर तथा भीतर दाह उत्पन्न कर देता है । और उसमें गला, तालु तथा ओष्ठ सूख जाते हैं और वह जीभ को निकाल कर हांफता है ॥ ५ ॥

धातुक्षयोत्थो यो दाहस्तत्र मूर्च्छातृषाऽन्वितः । क्षामस्वरः क्रियाहीनः स सीदेद् भृशपीडितः ॥

*सीदेत् = म्रियेत ॥ ६ ॥

धातुक्षयजन्य जो दाह होता है उससे मनुष्य मूर्च्छा तथा पिपासा से युक्त होता है । क्रियाहीन हो जाता है । स्वर बैठ जाता है और अन्त में वह मर जाता है ॥ ६ ॥

मर्माभिघातजदाहमाह

मर्माभिघातजोऽप्यस्ति सोऽसाध्यः सप्तमो मतः ॥ ७ ॥

*मर्माणि = शिरोहृदयवस्त्यादीनि ॥ ७ ॥

शिर, हृदय तथा वस्ति इत्यादि मर्मस्थानों की चोट से जो दाह उत्पन्न होता है वह असाध्य है । यह सातवां दाह है ॥ ७ ॥

दाहासाध्यतामाह—

सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीतगात्रस्य देहिनः ॥ ८ ॥

जिसके शरीर में भीतर दाह हो और ऊपर से सारा शरीर शीतल हो ऐसा दाहरोगी वर्जित है । अर्थात् इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥ ८ ॥

दाहचिकित्सामाह—

शतधौतघृताभ्यक्तं लेपं वा यवशक्तुभिः । कोलामलकयुक्तैर्वा धान्याम्लैरपि बुद्धिमान् ॥९॥

*धान्याम्लं = काञ्जिकभेदः ॥ ९ ॥

बुद्धिमान् वैद्य को दाहरोगी के शरीर पर शतधौत घृत का अभ्यङ्ग कराना चाहिये । अथवा जौ के सत्तू और बेल तथा आंवले सहित धान्याम्ल नामक कांजी का लेप करे ॥ ९ ॥

छादयेत्तस्य सर्वाङ्गमारनालार्द्रवाससा । लामज्जकेन युक्तेन चन्दनेनानुलेपयेत् ।
चन्दनाम्बुकणास्यन्दितालवृन्तोपवीजनैः ॥ १० ॥

दाहपीडित मनुष्य के सारे शरीर को कांजी में भीगे वस्त्र से ढक देना चाहिये । अथवा लामज्जकयुक्त चन्दन का प्रलेप करना चाहिये । तथा चन्दनमिश्रित जलकणों से सिक्त ताड़ के पत्तों से हवा करें ॥ १० ॥

सुप्याद् दाहार्दितोऽम्भोजकदलीदलसंस्तरे । परिषेकावगाहेषु व्यजनानाञ्च सेवने ॥ ११ ॥

दाह से व्याकुल मनुष्य कमल तथा केले के पत्तों की शय्या पर सोवे। और जलार्द्र पङ्खों की वायु का सेवन करे ॥ ११ ॥

शस्यते शिशिरं तोयं दाहतृष्णोपशान्तये। फलिनी लोध्रसेव्याम्बुहेमपत्रं कुटन्नटम्।
कालीयकरसोपेतं दाहे शस्तं प्रलेपनम् ॥ १२ ॥

*फलिनी=प्रियङ्गु। सेव्यम्=उशीरम्। अम्बु=बालकम्। हेमपत्रं=नागकेशरपत्रम्। कुटन्नटं=वितुन्नकं 'गुडतजी' इति लोके, क्वचित् 'चम्पावती' इति नाम कालीयकं='कलम्बक' इति लोके ॥ १२ ॥

दाह तथा तृष्णा की शान्ति के लिये शीतल जल का उपयोग करना चाहिये। फूल प्रियङ्गु, लोध, खस, सुगन्धवाला, नागकेशर के पत्ते, केवटी मोथा तथा पीत चन्दन के स्वरस का प्रलेप करना दाह में हितकर है ॥ १२ ॥

ह्रीवेरपद्मकोशीरचन्दनाम्बुजवारिणा। सम्पूर्णामवगाहेत द्रोणीं दाहार्दितो नरः ॥ १३ ॥

ह्राऊबेर, पद्मकाष्ठ, खस, श्वेत चन्दन तथा कमल इन सबों से सुगन्धित किया हुआ जल टब में भर कर उसमें अवगाहन करने के लिये दाहार्दित मनुष्य को बैठाना चाहिये ॥ १३ ॥

वाप्यः कमलहासिन्यो जलयन्त्रगृहाः शुभाः। नार्यश्चन्दनदिग्धाङ्ग्यो दाहदैन्यहरा मताः ॥

सुन्दर तथा मनोहर खिले हुये कमलों से युक्त बावली, फौव्वारे युक्त भवन तथा सर्वाङ्गचन्दनलिप्ता स्त्री दाहसम्बन्धी दुःख को दूर कर देती है ॥ १४ ॥

पाययेत्कमलस्याम्भः शर्कराऽम्भः पयोऽपि च। क्षीरमिक्षुरसञ्चापि कारयेत्पित्तजिद्विधिम् ॥

दाहयुक्त मनुष्य को कमल का जल, चीनी का शर्बत, शर्करा मिश्रित दुग्ध अथवा केवल दुग्ध और ईख के रस को पिलाना चाहिये। तथा पित्तशामक सब उपचार करने चाहिये ॥ १५ ॥

चन्दनादिक्वाथमाह—

पटीरपर्पटोशीरनीरनीरदनीरजैः। मृणालमिसिधान्याकपद्मकामलकैः कृतः ॥१६॥
अर्द्धशिष्टः सिताशीतः पीतः क्षौद्रसमन्वितः। क्वाथो व्यपोहयेद् दाहं नृणाञ्च परमोल्वणम् ॥

*पटीरं=चन्दनम् ॥ १६-१७ ॥

सफेद चन्दन, पित्तपापड़ा, खस, सुगन्धवाला, नागरमोथा, कमलगट्टा, कमल की नाल, सौंफ, धनियां, पद्मकाष्ठ तथा आंवले इन सबोंका अर्द्धावशिष्ट क्वाथ बनाकर शीतल होने पर मिश्री और शहद मिलाकर पीने से मनुष्यों का परमोल्वण दाह शान्त होजाता है ॥ १६-१७ ॥

काञ्जिकतैलमाह—

तिलतैलं भवेत्प्रस्थं तत्षोडशगुणे शनैः। काञ्जिके विपचेत्तत्स्याद्दाहज्वरहरं परम् ॥१८॥
इत्येकविंशो दाहाधिकारः समाप्तः ॥ २१ ॥



तिल का तेल प्रस्थ (६४ तोले) भर लेकर १६ गुने काञ्जी में धीरे-धीरे पकाकर सिद्ध कर लेना चाहिये। यह तेल दाह तथा ज्वर-सन्ताप को नष्ट कर देता है ॥ १८ ॥

इति 'भावप्रकाश'भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकविंशो दाहाधिकारः समाप्तः ॥ २१ ॥



अथ द्वाविंश उन्मादाधिकारः ॥ २२ ॥

तत्रोन्मादस्य निरुक्तिमाह—

मदयन्त्युद्धता दोषा यस्मादुन्मार्गमाश्रिताः। मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्त्तितः॥

*अयमर्थः—यस्माद्=हेतोः, उद्धताः=प्रवृद्धाः। दोषा उन्मार्गमाश्रिताः। मदय-

न्ति = चित्तं विक्षिपन्ति । अस्मिन्सोऽयमुन्माद इति कीर्तितः । सः = उन्मादः । मानसो-व्याधिर्मनोवैकृत्यकारणात् ॥ १ ॥

वृद्ध वात, पित्त तथा कफ दोष अपने-अपने मार्गों को छोड़कर अन्य मार्गों में आश्रित होकर चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। इस लिये इसको [1] 'उन्माद कहते हैं। यह मन को विकृत करता है अत एव यह मानसिक रोग है ॥ १ ॥

अवस्थाभेदेनोन्मादस्य नामान्तरमाह—

स चाप्रवृद्धस्तरुणो मदसंज्ञां बिभर्त्ति च ॥ २ ॥

सः = उन्मादः । तरुणो = नवीनः ॥ २ ॥

यह उन्माद जब बढ़ा नहीं होता है तथा नवीन होता है तब इसकी संज्ञा मद होती है ॥ २ ॥

उन्मादस्य विप्रकृष्टं निदानमाह—

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम् ।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमा च चेष्टा ॥ ३ ॥

दुष्टं=धत्तूरबीजादिसहितम् । अशुचिः=रजस्वलास्पर्शादि । प्रधर्षणम् = अभिभवः । विषमा चेष्टा = बलवद्विग्रहादिः ॥ ३ ॥

विरुद्ध, दुष्ट अर्थात् धत्तूर बीज इत्यादि मिश्रित भोजन, रजस्वला आदि से स्पर्श किया हुआ भोजन करने से, देवता, गुरु तथा ब्राह्मणों के अपमान से, भय अथवा हर्ष से, मन के अभिघात से तथा बलवान् के साथ द्वेषादि विरुद्ध चेष्टाओं के करने आदि कारणों से उन्माद रोग उत्पन्न हो जाता है ॥ ३ ॥

उन्मादस्य सन्निकृष्टं निदानमाह—

एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः । मानसेन च दुःखेन स पञ्चविध उच्यते ।
विषाद्भवति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम् ॥ ४ ॥

अत्यन्त प्रकुपित वात, पित्त तथा कफ से, अत्यन्त प्रकुपित त्रिदोष से, मानसिक दुःख से तथा विषभक्षण से छः प्रकार का उन्माद होता है। इस रोग में दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिये ॥४॥

उन्मादस्य सम्प्राप्तिमाह—

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य ।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः॥ ५ ॥

अल्पसत्त्वस्य=अल्पसत्त्वगुणस्य । मलाः = वातादयः । बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्येति ।

---

१. उन्माद को पाश्चात्त्य विद्वान्-इन्सेनिटी (Insanity) कहते हैं। जिस प्रकार अपने यहां उन्माद रोग के निम्न अनेक भेद हैं यथा-वातिक उन्माद, पैत्तिक उन्माद, कफज उन्माद, सान्निपातिक उन्माद, मनोदुःखज उन्माद, विषजन्य उन्माद तथा देवादिकृतोन्माद। उसी प्रकार पाश्चात्त्य वैद्यक में भी उन्माद (Insanity) के अनेक भेद किये गये हैं यथा-साधारण घातजन्य उन्माद (General paralysis of the Insane), डेल्यूशनल इन्सेनिटी (Delusional Insanity), पारानोइआ (Paranoia), पाराफ्रेनिया (Paraphrenia), डिमेन्शिया प्रीकाक्स (Dementia preacox), एपीलेप्टिक इन्सेनिटी (EPileptic Insanity), हिस्टेरिकल इन्सेनिटी (Hysterical Insanity), चारित्रिक उन्माद (moral Insanity), मद्यजन्योन्माद (Alcoholic Insanity) तथा प्यूरपरल इन्सेनिटी (Puerpural Insanity)।

इसके सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये 'ए सिस्टम आफ् क्लीनिकल मेडिसिन बाई थामस डिक्सन सेविल' (.A System of Clinical Mddicine By Thomas Dixon Savill M. D. Lond.) का अध्ययन करना चाहिये।

एतेनाश्रयस्य दुष्ट्या तदाश्रितायाः बुद्धेरपि दुष्टिरुक्ता। मनोवहानि स्रोतांसि=हृदयाश्रितानि दश, एतानि विशेषतो बोद्धव्यानि। चरकेण सकलशरीरस्रोतांस्येव मनोऽधिष्ठानत्वेनोक्तानि। प्रमोहयन्ति = विकृतिं कुर्वन्ति ॥ ५ ॥

अल्प सत्त्व गुण वाले दुष्ट भोजनादि दुष्ट कारणों से, दुष्ट वातादि दोष बुद्धि के निवासस्थान हृदय को दूषित करके हृदयाश्रित मनोवह दश स्रोतसों में स्थित होकर तत्काल मनुष्य के चित्त को विकृत कर देते हैं। यहां पर हृदयाश्रित दश ही स्रोतस कहे गये हैं। उनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। क्योंकि चरकाचार्य तो 'शरीर के सारे स्रोतस मन के अधिष्ठान हैं' ऐसा कहते हैं ॥ ५ ॥

उन्मादस्य सामान्यलक्षणमाह—

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च।
अबद्धवाक्यं हृदयञ्च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥ ६ ॥

धीविभ्रमः = शुक्तिकायां रजतज्ञानम्। सत्त्वपरिप्लवः = सत्त्वं मनस्तस्य चाञ्चल्यम्। अबद्धवाक्यम् = असम्बद्धभाषितम्। शून्यं = स्मृतिशून्यम् ॥ ६ ॥

सीप में चांदी का ज्ञान ऐसी बुद्धिभ्रान्ति, मन की चञ्चलता, दृष्टि की आकुलता, अधैर्य, असंबद्ध भाषण तथा हृदयशून्यता ये सब उन्मादरोग के सामान्य लक्षण हैं ॥ ६ ॥

वातजोन्मादस्य निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः।
चिन्तादिदुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥ ७ ॥

प्रदूष्य = प्रकर्षेण दूषयित्वा ॥ ७ ॥

रूक्ष, उष्ण तथा शीतल अन्न के भोजन से, विरेचन से, धातुक्षय तथा उपवासादि से अतिवृद्ध वायु चिन्ता इत्यादि से दुष्ट हृदय को अत्यन्त दूषित करके, बुद्धि तथा स्मरणशक्ति को शीघ्र नष्ट कर देती है ॥ ७ ॥

वातजोन्मादस्य लक्षणमाह—

अस्थानहास्यस्मितनृत्यगीतवागङ्गविक्षेपणरोदनानि।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलञ्चानिलजस्य रूपम् ॥ ८ ॥

अस्थाने=अनवसरे। हास्यादीनि रोदनान्तानि। जीर्णे आहारे। बलं व्याधेः ॥ ८ ॥

अनवरत हंसना या मुसकराना, बिना प्रसङ्ग के नाचना या गाना, बिना प्रसङ्ग के बोलना, अकारण इधर-उधर हाथों को चलाना, बेमौके रोना, रूक्षता, कृशता, शरीर का रक्तवर्ण हो जाना, अन्न के जीर्ण होजाने पर रोग का बढ़ना ये सब वातजोन्माद के लक्षण हैं ॥ ८ ॥

पित्तजोन्मादस्य सम्प्राप्तिमाह—

अजीर्णकट्वम्लविदाहशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम्।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि स्थितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥ ९ ॥

हृदि स्थितं पित्तम् चितं=सञ्चितम्। पुनः अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैरुदीर्णवेगं सदुन्मादं कुर्यात्। पूर्ववद् हृदयं प्रदूष्येत्यर्थः ॥ ९ ॥

चञ्चल बुद्धि वाले मनुष्य के हृदय में सञ्चित पित्त अजीर्ण से तथा कटु, खट्टे, दाहकारक तथा उष्ण पदार्थों के भोजन से कुपित होकर हृदय को दूषित करके अत्यन्त उग्र उन्माद रोग को उत्पन्न कर देता है ॥ ९ ॥

पित्तजोन्मादस्य लक्षणमाह—

अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः सन्तर्जनाभिद्रवणौष्ण्यरोषाः।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषा पीता च भा पित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥ १० ॥

अमर्षः=असहिष्णुता। संरम्भः=आरभटी, 'आडम्बर' इति यावत्। सन्तर्जनं=परित्रासनम्। अभिद्रवणं=पलायनम्। औष्ण्यं गात्रे। च। उष्णो=दाहविशेषः। 'प्रच्छा-

येत्यादि = छायायां शीतयोश्चान्नजलयोरभिलाषा ॥ १० ॥

असहिष्णुता, आडम्बर, नङ्गा होजाना, दूसरों को त्रास देना, भाग जाना, शरीर में एक प्रकार का दाह होना, छाया की इच्छा, शीतल अन्न तथा जल की इच्छा और मुख का पीलापन ये सब पित्तजन्योन्माद के लक्षण हैं ॥ १० ॥

कफजोन्मादस्य निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

सम्पूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्मणि सम्प्रवृद्धः ।
बुद्धिं स्मृतिञ्चाप्युपहन्ति चित्तं प्रमोहयन्सञ्जनयेद्विकारम् ॥ ११ ॥

***सम्पूरणैः = भोजनादिभिः । मन्दविचेष्टितस्य = व्यायामरहितस्य । सोष्मा कफ इति = कफोऽप्युन्मादं करिष्यन्पित्तसहायमपेक्षते व्याधिस्वभावात् । मर्मणि = अत्र मर्मशब्देन हृदयमुच्यते । विकारम् = उन्मादरूपम् ॥ ११ ॥**

व्यायाम न करने वाले मनुष्य के भोजन इत्यादि से वृद्ध पित्तयुक्त कफ हृदय में बुद्धि तथा स्मृति को नष्ट कर देता है और चित्त को मोहयुक्त करके उन्माद को उत्पन्न कर देता है।

'पित्तयुक्त कफ' यहां पर ऐसा जो कहा गया है इससे प्रतीत होता है कि जब कफ उन्माद करने को प्रस्तुत होता है तो उसे व्याधिस्वभाव से पित्त के सहायता की आवश्यकता होती है ॥ ११ ॥

कफजोन्मादस्य लक्षणमाह—

वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारीविविक्तप्रियता च निद्रा ।
छर्दिश्च लाला च बलञ्च भुक्ते नखादिशौक्ल्यञ्च कफात्मके स्यात् ॥ १२ ॥

***वाक्चेष्टितं मन्दं=वचनमल्पम् । नारीविविक्तप्रियता = नारीप्रियता, विजनप्रियता च । भुक्ते सति बलं व्याधेः ॥ १२ ॥**

कफजन्य उन्माद से पीड़ित मनुष्य कम बोलता है। स्त्री तथा एकान्तवास प्रिय मालूम होता है। निद्रा आती है। वमन होता है। लालास्राव होता है। भोजनोपरान्त व्याधि बलवान होती है तथा नख इत्यादि शुक्ल वर्ण के होजाते हैं ॥ १२ ॥

सान्निपातिकोन्मादस्य निदानपूर्वकं लक्षणमाह—

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स तु हेतुभिः स्यात् ।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्त्ति तादृग्विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥ १३ ॥

***सः = सान्निपातिक उन्मादः । सन्निपातग्रहणेनैव सर्वात्मकत्वं लब्धं, पुनः सर्वैरिति यत्कृतं तद्रजस्तमःप्रापणार्थं तेन रजस्तमोमिलित इत्यर्थः । तेन वातादयो रजस्तमोभिर्मनोदोषैर्मिलिताः समस्तैश्च निदानैः कुपिता उन्मादं जनयन्ति । सर्वैर्हेतुभिः समस्तैर्मिलितैः स्यात् । यतोऽन्यो व्याधिः सर्वैर्हेतुभिर्मिलितैरेव भवतीति नियमो नास्ति । अयं तु व्याधिप्रभावात्सर्वैर्हेतुभिर्मिलितैः स्यात् । तादृग्=उन्मादः । विरुद्धभैषज्यविधिरिति कोऽर्थः ? त्रिदोषजे प्रत्येकं वातादेः प्रत्यनीका चिकित्सा कार्या, सा च परस्परविरोधिनी, त्रिदोषं हन्ति किञ्चिदेव द्रव्यमामलकादि, न चात्र तद् यौगिकं व्याधिप्रभावादत एव विवर्ज्यः=न चिकित्स्य इत्यर्थः ॥ १३ ॥**

सम्पूर्ण कारणों से कुपित वात, पित्त तथा कफ रजोगुण तथा तमोगुण रूप मानसिक दोषों के साथ मिलकर त्रिदोषज, महाघोर उन्माद को उत्पन्न करते हैं उसे सान्निपातिक उन्माद कहते हैं। इसमें सब दोषों के लक्षण मिलते हैं। इसमें प्रत्येक प्रकार की ओषधि विरुद्ध पड़ती है अत एव इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

अन्य त्रिदोषज व्याधियां सम्पूर्ण कारणों के मिलने से ही होती हैं यह नियम नहीं है किन्तु यह त्रिदोषजन्य उन्माद सम्पूर्ण कारणों के मिलने से ही होता है। इस व्याधि का ऐसा स्वभाव है। यही कारण है कि इसमें चिकित्सायें विरुद्ध पड़ती हैं क्योंकि त्रिदोषज प्रत्येक रोगों में वात इत्यादि

प्रत्येक दोष की परस्पर विपरीत चिकित्सा की जाती है जो कि एक दूसरे दोषों के विरुद्ध होती है। इस उन्माद रोग में तो तीनों दोषों की प्रबलता सम होती है। अत एव परस्पर विरोधिनी चिकित्सा काम नहीं देती। आंवले इत्यादि कुछ ऐसे द्रव्य हैं जो कि तीनों दोषों को एक साथ ही शान्त करते हैं किन्तु व्याधिस्वभाव से इस उन्मादरोग में वे उपयोगी नहीं सिद्ध होते। इसी लिये इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥ १३ ॥

मनोदुःखजोन्मादस्य विप्रकृष्टं निदानमाह—

चौरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथाऽन्यैर्वित्रासितस्य धनबान्धवसंक्षयाद्वा।
गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसोर्जायेत चोत्कटतरो मनसो विकारः ॥ १४ ॥

चोर, राजपुरुष, शत्रु तथा अन्य दूसरे मनुष्यों द्वारा त्रासित होने से, अथवा धन और बान्धवों के नाश होने से, मन की हिंसा इत्यादि कारणों से अत्यन्त दुःखी होने से अथवा जिस स्त्री के साथ रमण करने की प्रबल इच्छा हो उसके न मिलने से मन में अधिक चोट लगती है, इससे परमोत्कट उन्माद उत्पन्न हो जाता है ॥ १४ ॥

मनोदुःखजोन्मादस्य लक्षणमाह—

चित्रं ब्रवीति च मनोऽनुगतं विसंज्ञो गायत्यथो हसति रोदिति चातिमूढः ॥ १५ ॥

***चित्रम् = आश्चर्यम्। मनोऽनुगतं = गोप्यमति। विसंज्ञो = विरुद्धज्ञानः। अतिमूढः = अतीव ज्ञानशून्यः। अत्र विकल्पो बोद्धव्यः ॥ १५ ॥**

मानसिकदुःखजन्य उन्माद में विरुद्ध ज्ञानवाला अथवा ज्ञानशून्य होकर आश्चर्यजनक प्रकार से बोलता है। मनःस्थित गुप्त बातों को भी कह डालता है। कभी गाता है, कभी हँसता है और कभी रोता है ॥ १५ ॥

विषजन्योन्मादस्य लक्षणमाह—

रक्तेक्षणो हतबलेन्द्रियभाः सुदीनः श्यावाननो विषकृते तु भवेत्परासुः ॥ १६ ॥

***परासुः = मृतः ॥ १६ ॥**

विषजन्य उन्माद में नेत्र रक्तवर्ण होते हैं। बल, इन्द्रिय-सामर्थ्य तथा शरीर की कान्ति नष्ट होजाती है। मुख काला होजाता है। और मन अत्यन्त दीन होजाता है तथा उस मनुष्य की मृत्यु होजाती है ॥ १६ ॥

उन्मादारिष्टमाह—

अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा क्षीणमांसबलो नरः। जागरूको ह्यसन्देहमुन्मादेन विनश्यति ॥

जो उन्मादग्रस्त मनुष्य अपने मुख को हमेशा नीचे ही किये रहे अथवा ऊपर ही को उठाये रहे, जागरूक हो तथा जिसका मांस तथा बल क्षीण होगया हो ऐसा मनुष्य निःसन्देह मर जाता है ॥

देवादिकृतोन्मादस्य सामान्यलक्षणमाह—

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादियुक्तः।
प्रकोपकालो नियतश्च यस्य देवादिजन्मा मनसो विकारः ॥ १८ ॥

***अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टः = न मर्त्यस्येव वागादयो यत्र सः। विक्रमः = पराक्रमः। वीर्यं = शौर्यम्। ज्ञानादिविज्ञानबलादियुक्तः=ज्ञानं=बुद्धिः, आदिपदेन तद्भेदा मेधाविचारणास्मृत्यादयो गृह्यन्ते, विज्ञानं = शिल्पादिविषयकं ज्ञानम्, बलम् = चेष्टापाटवम्, आदिपदेनाभिमानादि गृह्यते। नियतो वक्ष्यमाणतिथ्यादिभिः। मनोविकारः = उन्मादः ॥ १८ ॥**

देवादिजुष्ट उन्माद में मनुष्यों की वाक्शक्ति, पराक्रम, वीरता तथा अन्य चेष्टायें मनुष्यों के समान नहीं होतीं और वह मनुष्य बुद्धि, मेधा, विचारणाशक्ति, स्मृति, शिल्पादिविषयक ज्ञान, बल तथा अभिमान इत्यादि से युक्त होता है। इस उन्माद के प्रकोप का समय निश्चित रहता है जिसका वर्णन आगे किया जायगा ॥ १८ ॥

देवग्रहजुष्टस्य लक्षणमाह—

सन्तुष्टः शुचिरतिदिव्यमाल्यगन्धो निस्तन्द्रोऽप्यवितथसंस्कृतप्रभाषी।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥ १९ ॥

अतिदिव्यमाल्यगन्धः=अतिशयेन दिव्यस्य माल्यस्येव गन्धो यस्य सः। निस्तन्द्रो= निद्रारहितः। अवितथं = सत्यम्। ब्रह्मण्यः = ब्राह्मणभक्तः ॥ १९ ॥

देवग्रहजुष्ट उन्माद में मनुष्य सन्तुष्ट होता है, पवित्र रहता है, उसके शरीर से दिव्य पुष्पों की मालाओं के समान गन्ध आती है। निद्रारहित होता है। सत्य तथा शुद्ध संस्कृत बोलता है। तेजस्वी होता है। उसके नेत्र स्थिर होते हैं। वर देता है तथा ब्राह्मणों की भक्ति करता है ॥ १९ ॥

दैत्याविष्टस्य लक्षणमाह—

संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः।
सन्तुष्टो भवति न चान्नपानजातैर्दुष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः ॥ २० ॥

विमार्गदृष्टिः = कुमार्गरतः। दुष्टात्मा = दुष्टस्वभावः ॥ २० ॥

दैत्याविष्ट उन्मादरोगी पसीने से भीगा रहता है। ब्राह्मण, गुरु तथा देवताओं की निन्दा करता है। उसके नेत्र टेढ़े हो जाते हैं। किसी को डरता नहीं। कुमार्गरत रहता है। किसी प्रकार के अन्नपान से सन्तुष्ट नहीं होता तथा वह दुष्ट स्वभाव वाला होता है ॥ २० ॥

गन्धर्वाविष्टस्य लक्षणमाह—

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः।
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ २१ ॥

हृष्टात्मा = हृष्टजीवात्मा। पुलिनं = तोयोत्थितम्, तटम्, वनान्तरं = वनमध्यं तयोः सेवी। चारु चाल्पशब्दमिति हसनक्रियाविशेषणम् ॥ २१ ॥

गन्धर्वाविष्ट उन्मादी प्रसन्नात्मा रहता है। जलाशय, तट तथा वन के मध्य में निवास करता है। सुन्दर आचरण रखता है। गाने, सुगन्धित द्रव्यों तथा पुष्पों पर प्रेम रखता है। नाचते हुये सुन्दर मन्द मुसकान करता है तथा कम बोलता है ॥ २१ ॥

यक्षाविष्टस्य लक्षणमाह—

ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक्सहिष्णुः।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ २२ ॥

यक्षग्रहगृहीत मनुष्य के नेत्र रक्तवर्ण होते हैं। प्रिय, सुन्दर, बारीक, रङ्गीन वस्त्रों को पहिनता है। गम्भीर रहता है। जल्दी-जल्दी चलता है। थोड़ा बोलता है। सहनशील तथा तेजस्वी होता है। और कहता है कि किसको क्या दूं ॥ २२ ॥

पित्राविष्टस्य लक्षणमाह—

प्रेतानां स दिशति संस्तरेषु पिण्डाञ् शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः।
मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिलाषी तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः ॥ २३ ॥

प्रेतानां = मृतानां, पितृणाम्। दिशति = ददाति। अपसव्यवस्त्रः = दक्षिणस्कन्धकृतोत्तरीयः ॥ २३ ॥

पितृग्रहगृहीत मनुष्य कुश आदि पर अपने पितरों को पिण्ड देता है। शान्त चित्त रहता है। अपसव्य अर्थात् दाहिने कन्धे पर वस्त्र रख कर मृत पितरों को जल भी देता है। मांस, तिल, गुड तथा खीर खाने की इच्छा करता है। पितरों की भक्ति करता है ॥ २३ ॥

नागाविष्टस्य लक्षणमाह—

यस्तूर्व्यां प्रसरति सर्पवत्कदाचित् सृक्किण्यौ मुहुरपि जिह्वयाऽवलेढि।
क्रोधालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सुर्विज्ञेयः स खलु भुजङ्गमेन जुष्टः ॥ २४ ॥

प्रसरति = स सर्पवदुरसा चलति। सृक्किण्यौ = ओष्ठप्रान्तौ ॥ २४ ॥

सर्पग्रहजुष्ट मनुष्य कभी-कभी पृथ्वी पर सांप के समान चलता है। बारम्बार जीभ से ओष्ठों को चाटता है। क्रुद्ध होता है तथा मधु, घृत, दुग्ध और खीर खाने की इच्छा करता है ॥ २४ ॥

राक्षसाविष्टस्य लक्षणमाह—

मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सुर्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः।
क्रोधालुर्विविधबलो निशाविहारी शौचद्विड् भवति स राक्षसैर्गृहीतः ॥ २५ ॥

अतिनिष्ठुरः=निर्दयः ॥ २५ ॥

राक्षसग्रहगृहीत मनुष्य मांस, रक्त तथा मद्य के विकारों की इच्छा करता है। अत्यन्त निर्लज्ज, अत्यन्त निर्दय तथा अत्यन्त शूर हो जाता है। क्रोधी हो जाता है। इसके शरीर में विविध भांति के बल आ जाते हैं। रात्रि में विहार करता है। शौच से द्वेष करता है ॥ २५ ॥

ब्रह्मराक्षसाविष्टस्य लक्षणमाह—

देवविप्रगुरुद्वेषी वेदवेदाङ्गनिन्दकः। आत्मपीडाकरोऽहिंस्रो ब्रह्मराक्षससेवितः ॥ २६ ॥

अहिंस्रः=अहिंसाशीलः ॥ २६ ॥

ब्रह्मराक्षसों से पीडित मनुष्य देवता, ब्राह्मण तथा गुरुवर्ग से द्वेष करता है। वेद और वेदाङ्गों की निन्दा करता है और अपने शरीर को पीड़ित करता है। किन्तु किसी दूसरे की हिंसा नहीं करता है ॥ २६ ॥

पिशाचाविष्टस्य लक्षणमाह—

उद्ध्वस्तः कृशपरुषो विरुद्धभाषी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी व्याचेष्टंस्त्रसति रुदन्पिशाचजुष्टः ॥ २७ ॥

उद्ध्वस्तः = नग्नः, 'दिगम्बर' इति विदेहवचनात्। कृशो = निर्मांसः। परुषो = रूक्षः। अतिलोलः = सर्वस्मिन्नन्नपानादौ लोलुपः। व्याचेष्टन् = विरुद्धमाचेष्टन् ॥ २७ ॥

पिशाचग्रहजुष्ट मनुष्य नङ्गा रहता है। दुर्बल तथा रूक्ष हो जाता है। विपरीत बातें करता है। दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। अत्यन्त अपवित्र तथा सब प्रकार के अन्नपानों में लोलुपता करता है। बहुत भोजन करता है। निर्जन वनों के बीच में रहता है, विरुद्ध चेष्टाओं को करता तथा रोता हुआ त्रस्त हो जाता है ॥ २७ ॥

हिंसाऽर्थगृहीतस्य लक्षणमाह—

स्थूलाक्षो द्रुतमटनः सफेनवामी निद्रालुः पतति च कम्पते च योऽति।
यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः स्यात्सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशेऽब्दे ॥ २८ ॥

ग्रहा हिंसाक्रीडापूजाऽर्थं गृह्णन्ति। अत एवोक्तम्।
अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम्। हिंस्युर्हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि वा ॥१॥

तत्र हिंसाऽर्थगृहीतस्य लक्षणमाह—स्थूलाक्ष इति। 'यश्चाद्रि' इत्यादि = यः पर्वतादिपतितः सन् ग्रहैर्गृह्यत इत्यर्थः। आदिशब्देन भित्तिप्रासादादयो गृह्यन्ते। तथा त्रयोदशेऽब्दे सर्व एव = देवादिगृहीता असाध्याः ॥ २८ ॥

जब पर्वत, हाथी, वृक्षादि, भीत तथा ऊंचे भवन इत्यादि के ऊपर से गिरे हुये मनुष्य को राक्षस आदि हिंसक जाति ग्रहण कर लेते हैं। तब उसके नेत्र स्थूल हो जाते हैं, द्रुतगति से चलता है। फेनयुक्त वमन करता है। निद्रालु हो जाता है। गिर पड़ता है तथा बहुत कांपने लगता है। यह उन्माद असाध्य होता है। देवादिग्रहगृहीत सब प्रकार के उन्माद तेरहवें वर्ष में असाध्य हो जाते हैं। ग्रह हिंसा, क्रीड़ा तथा पूजा के लिये मनुष्यों को पकड़ते हैं इसीलिये कहा गया है कि अपवित्र, मर्यादा को तोड़ने वाला, घावयुक्त हो अथवा अक्षत हो राक्षसादि हिंसक जाति उस मनुष्य को मारने के लिये पकड़ते हैं ॥ २८ ॥

देवादीनामावेशसमयमाह—

देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि। गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ ॥

पितरः कृष्णपक्षे च पञ्चम्यामपि चोरगाः। रक्षःपिशाचा रात्रौ च चतुर्दश्यां विशन्ति हि ॥

*कृष्णपक्षे=अमावास्यायाम्। प्रायशः पदादन्यत्रापि। तिथ्यभिधानप्रयोजनं लक्षणार्थं तत्र तिथौ च बलिदानार्थम्।

ननु यदि देवादयो विशन्ति तदा विशन्तस्ते दृश्यन्ते कथं नेत्यत आह—

दर्पणादिं यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा। स्वमणिं भास्करार्चिश्च यथा देहे च देहधृक्।

विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणाम् ॥ २ ॥

दर्पणादिमित्यादिशब्देनान्यदपि निर्मलद्रव्यं जलतैलादिद्रव्यञ्च गृह्यते। छाया=प्रतिबिम्बम्। स्वमणिः=सूर्यमणिः। देहधृग्=जीवात्मा ॥ २ ॥ इति ॥ २९-३० ॥

प्रायः देवग्रह पूर्णिमा[1] के दिन असुर लोग दोनों सन्ध्याओं में, गन्धर्व अष्टमी के दिन, यक्ष लोग प्रतिपत् को, पितृग्रह कृष्णपक्ष में, सर्पग्रह पञ्चमी के दिन, राक्षस तथा पिशाच लोग रात्रि और चतुर्दशी के दिन मनुष्यों के शरीर में प्रविष्ट होते हैं। पितृग्रह प्रायः कृष्णपक्ष की अमावास्या को प्रवेश करते हैं तथा अन्य तिथियों में भी प्रवेश करते हैं। लक्षणों के ज्ञानार्थ तथा उन-उन तिथियों में बलिप्रदान करने के लिये तिथियों का वर्णन किया गया है।

शङ्का—यदि यह निश्चित है कि देवादि ग्रह मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं तो वे प्रवेश करते हुए दिखलाई क्यों नहीं पड़ते ?

समाधान—जिस प्रकार दर्पण, जल अथवा तेल आदि द्रव द्रव्यों में छाया प्रवेश करती है किन्तु प्रवेश करती हुई नहीं दिखलाई देती, जिस प्रकार शीतलता तथा उष्णता मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होती है किन्तु प्रवेश करती हुई नहीं दिखाई देती। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्यकान्त मणि में प्रवेश करती हैं किन्तु प्रवेश करती हुई दिखाई नहीं देतीं। जिस प्रकार जीव शरीर में प्रवेश करता है और प्रवेश करता हुआ नहीं दिखाई पड़ता उसी प्रकार देवादिग्रह शरीर में प्रवेश करते हैं किन्तु प्रवेश करते हुए नहीं दिखाई पड़ते ॥ २ ॥ इति ॥ २९-३० ॥

उन्मादस्य चिकित्सामाह—

वातिके स्नेहपानं प्राग्विरेकः पित्तसम्भवे। कफजे वमनं कार्यं परो बस्त्यादिकः क्रमः ॥

---

१. अपने यहां जो देवग्रहादिजुष्ट उन्माद के प्रविष्ट होने के या प्रकोप के काल के सम्बन्ध में विवरण मिलता है कि देवग्रह पूर्णिमा के दिन, असुरलोग सन्ध्या समय तथा पितृग्रह कृष्ण पक्ष की अमावास्या को मनुष्य के शरीर में समाविष्ट होते हैं। तथा अन्य ग्रह अन्य २ दिनों में मनुष्य देह में प्रविष्ट होते हैं। यद्यपि इनका आयुर्वेद में कोई वैज्ञानिक कारण सुस्पष्टतया नहीं मिलता और न पाश्चात्य वैद्यक में ही मिलता है। तथापि पाश्चात्य वैद्यक में जो उन्माद के अनेक प्रकार के भेदों का वर्णन मिलता है, उनमें से कुछ उन्माद इस प्रकार के मिलते हैं कि जो प्रकाश (Light) की उपस्थिति में प्रकोप को प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ उन्माद ऐसे होते हैं जो कि प्रकाश (Light) की अनुपस्थिति में प्रकोप को प्राप्त होते हैं। बहुत कुछ सम्भव है कि उन्माद के वे ही प्रकार जो कि प्रकाश की उपस्थिति में उत्तेजना को प्राप्त होते हैं पूर्णिमा को प्रकुपित या प्रारम्भ होते हैं। यदि ऐसे रोगी को अमावास्या के दिन भी तीव्र प्रकाश में रक्खा जाय तो उस दिन भी रोगी का उन्माद बढ़ा हुआ प्रतीत होगा। तथा उन्माद के वे प्रकार जो कि प्रकाश की अनुपस्थिति में प्रकुपित होते हैं वे ही वे उन्माद हों जो कि पितृग्रहजुष्ट कहलाते हैं और अमावास्या को समाविष्ट या प्रकुपित होते हैं। यदि ऐसे उन्माद से ग्रस्त रोगी को पूर्णिमा के दिन भी प्रकाशहीन स्थान पर रक्खा जाय तो उस दिन भी उसका उन्माद बढ़ा हुआ प्रतीत होगा। और कुछ उन्माद ऐसे होते हैं जिनके प्रकोप के लिए प्रकाश की उपस्थिति या अनुपस्थिति का कोई प्रश्न नहीं होता या साधारण प्रकाश-युक्त समय में जो प्रकुपित होते हैं ऐसे ही प्रकार के वे उन्माद होते हैं जिनका कि समावेश या प्रकोप अष्टमी या पञ्चमी इत्यादि तिथियों में होता है।

यच्चोपदेक्ष्यते किञ्चिदपस्मारे चिकित्सितम्। उन्मादे तच्च कर्त्तव्यं सामान्याद् दोषदूष्ययोः॥

वातजन्य उन्माद में सर्वप्रथम स्नेहपान, पैत्तिक उन्माद में सर्वप्रथम विरेचन तथा कफजन्य उन्माद में सर्वप्रथम वमन कराना चाहिये। तत्पश्चात् वस्ति इत्यादि देनी चाहिये। अपस्मार में दोषों तथा दोषों से दूषित धातुओं की चिकित्सा बतलाई जायगी उन्हीं सब चिकित्साओं को सामान्यतः उन्माद में भी करनी चाहिये॥ ३१॥

जलाग्निद्रुमशैलेभ्यो विषमेभ्यश्च तं सदा। रक्षेदुन्मादिनं यत्नात्सद्यः प्राणहरं हि तत्॥३२॥

जल, अग्नि, वृक्ष, पर्वत तथा अन्य विषम स्थानों से उन्माद रोगी की सदा यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि ये सब सद्यःप्राणहर होते हैं॥ ३२॥

ब्राह्मीकूष्माण्डीफलषड्ग्रन्थाशङ्खपुष्पिकास्वरसाः। दृष्टा उन्मादहृतः पृथगेते कुष्ठमधुमिश्राः॥

*अयमर्थः—ब्राह्मीरसः (तोला) चत्वारः ४, कुष्ठचूर्णं माषौ द्वौ २, मधुनोऽष्टौ माषाः ८ पेयाः। इत्येको योगः। कूष्माण्डबीजचूर्णमाषा अष्टौ ८, कुष्ठचूर्णमाषौ द्वौ २, मधुनोऽष्टौ ८ माषाः। अयं द्वितीयो योगः। वचस्य माषा अष्टौ ८, कुष्ठचूर्णस्य माषौ द्वौ २, मधुनोऽष्टौ माषाः ८, अयं तृतीयो योगः। शङ्खपुष्पीस्वरसः पलैकम् १, कुष्ठचूर्णमाषद्वयम् २, मधुनोऽष्टौ ८ माषाः पेयाः। अयं चतुर्थो योगः॥ ३३॥

१—ब्राह्मी का स्वरस ४ तोले, कूठ का चूर्ण २ माशे तथा मधु ८ माशे (४८ रत्ती) इन सबको एकत्र मिलाकर पीने से उन्माद दूर हो जाता है।

२—पेठे के बीजों का चूर्ण ८ मा० (४८ र०) तथा कूठ का चूर्ण २ मा० (१२ र०) इनको मधु में मिलाकर चाटने से उन्माद नष्ट हो जाता है।

३—वच ८ मा०, कूठका चूर्ण २ माशे तथा मधु ८ माशे लेकर एकत्र मिलाकर चाटने से उन्माद नष्ट हो जाता है।

४—शङ्खपुष्पीस्वरस ४ तोला, कूठ का चूर्ण १२ रत्ती तथा मधु ८ माशे (४८ र०) इनको एकत्र मिलाकर पीने से उन्माद रोग नष्ट हो जाता है॥ ३३॥

सिद्धार्थकादिघृतमाह—

सिद्धार्थको हिङ्गु वचा करञ्जो देवदारु च। मञ्जिष्ठा त्रिफला श्वेता कटभी त्वक् कटुत्रयम्॥
समांशानि प्रियङ्गुश्च शिरीषो रजनीद्वयम्। वस्तमूत्रेण पिष्टोऽयमगदः पानमञ्जनम्॥३५॥
नस्यमालेपनञ्चैव स्नानमुद्वर्त्तनं तथा। अपस्मारविषोन्मादकृत्याऽलक्ष्मीज्वरापहम्॥ ३६॥
भूतेभ्यश्च भयं हन्ति राजद्वारे च शस्यते। सर्पिरेतेन संसिद्धं सगोमूत्रं तदर्थकृत्॥ ३७॥

सरसों, हींग, वच, कटञ्जा, देवदारु, मजीठ, हरड़, बहेड़ा, आंवला, फिटकिरी, मालकांगुन, दालचीनी, सोंठ, मिर्च, पीपरि, फूलप्रियङ्गु, सिरस के बीज, हल्दी तथा दारुहल्दी इन सबको समान मात्रा में लेकर बकरे के मूत्र में पीस ले। इस औषध के पीने, नेत्रों में अञ्जन करने, नस्य देने, शरीर पर लेप करने, स्नान करने तथा उबटन लगाने से अपस्मार, विष, उन्माद, अभिचार कर्म, अलक्ष्मी, ज्वर तथा भूतबाधा नष्ट होती हैं। इस ओषधि का उपयोग करके राजद्वार में जाना बहुत श्रेयस्कर है। इन्हीं ओषधियों तथा गोमूत्र के साथ घी को पकाकर सेवन करने से भी ये ही गुण होते हैं॥

उन्मादिनस्त्रासमयादिकरणमित्याह—

अथादिष्टविनाशञ्च दर्शयेदद्भुतानि च। बद्धं सर्षपतैलाक्तं रक्षेदुत्तानमातपे॥ ३८॥

उन्माद रोगी को उसके किसी प्रिय इष्ट वस्तु के विनाश का समाचार सुनाना चाहिये। अद्भुत पदार्थों को दिखाना चाहिये। और उसके शरीर में कड़वे तेल की मालिश करके उसे धूप में उत्तान सुलाना चाहिये॥ ३८॥

कपिकच्छ्वाऽथ वा तप्तैर्लोहतैलजलैः स्पृशेत्। कशाभिस्ताडयेत्तं वा सुबद्धं विजने गृहे॥
सर्पेणोद्धृतदन्तेन दमैः सिंहैर्गजैश्च तम्। त्रासयेच्छस्त्रहस्तैश्च शत्रुभिस्तस्करैस्तथा॥४०॥
अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम्। त्रासयेयुर्वधैरेनं तर्जयन्तो नृपाज्ञया॥ ४१॥

देहदुःखभयेभ्यो हि यतः प्राणभयं भवेत्। ततस्तस्य शमं याति सर्वतो विप्लुतं मनः॥

कौंच के फल को उसके शरीर में घिसना चाहिये। एकान्त गृह में अच्छी तरह से बांध कर कोड़े से मारना चाहिये। जिसका दांत निकाल लिया गया हो ऐसे सांप से कटवाना चाहिये। सिंह तथा हाथियों से, हाथ में शस्त्र लिये शत्रुओं से तथा चोरों से डरवाना चाहिये। अथवा राजा की आज्ञा लेकर राजपुरुषों से पागल को बाहर लाकर खूब बांधकर तिरस्कार करते हुये मार डालने की धमकी दिलवानी चाहिये। शारीरिक दुःखों के डर से निश्चय प्राण का भय होता है अतएव उस भय के होने से विकृत हुआ मन शान्त हो जाता है। अर्थात् सब ओर से ठीक स्थान पर आ जाता है॥

इष्टद्रव्यविनाशेन मनो यस्याभिहन्यते। तस्य तत्सदृशप्राप्त्या ज्ञात्वाऽऽश्वासैः शमं नयेत्॥

इष्ट द्रव्य के विनाश से जिसका मन आहत हो जाता है उसके लिये विचार करके उसी के वस्तु देने का आश्वासन देने से चित्त शान्त हो जाता है॥ ४३॥

त्र्यूषणाद्यञ्जनमाह—

त्र्यूषणं हिङ्गु लवणं वचा कटुकरोहिणी। शिरीषस्य करञ्जस्य बीजं गौराश्च सर्षपाः॥ ४४॥
गोमूत्रपिष्टैरेभिस्तु वर्तिर्नेत्राञ्जने हिता। हन्त्युन्मादमपस्मारं तथा चातुर्थकं ज्वरम्॥४५॥

सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हींग, सेंधानमक, वच, कुटकी, सिरस के बीज, करञ्ज के बीज तथा सफेद सरसों इन सबों को गोमूत्र में पीस कर बत्ती बना ले। इस बत्ती द्वारा नेत्रों में अञ्जन करने से उन्माद, अपस्मार तथा चातुर्थक ज्वर नष्ट हो जाता है॥ ४४-४५॥

सारस्वतचूर्णमाह—

कुष्ठाश्वगन्धे लवणाजमोदे द्वे जीरके त्रीणि कटूनि पाठा।
मङ्गल्यपुष्पी च समान्यमूनि सर्वैः समानाञ्च वचां विचूर्ण्य॥ ४६॥
ब्राह्मीरसेनाखिलमेव भाव्यं वारत्रयं शुष्कमिदं हि चूर्णम्।
अक्षप्रमाणं मधुना घृतेन लिह्यान्नरः सप्त दिनानि चूर्णम्॥ ४७॥

सारस्वतमिदं चूर्णं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा। हिताय सर्वलोकानां दुर्मेधानां विचेतसाम्॥४८॥
एतस्याभ्यासतः पुंसां बुद्धिर्मेधा धृतिः स्मृतिः। सम्पत्तिः कविताशक्तिः प्रवर्द्धेतोत्तरोत्तरम्॥

***मङ्गल्यपुष्पी=शङ्खपुष्पी 'शङ्खाहुली'ति लोके॥ ४६-४९॥**

कूठ, असगन्ध, सेंधानमक, अजमोदा, कालाजीरा, सफेदजीरा, सोंठ, मिर्च, पीपल, पाठा तथा शङ्खपुष्पी इन सबको समान मात्रा में लेकर सब ओषधियों के बराबर वचा ले। इनका एकत्र चूर्ण करके ब्राह्मी के रस की तीन भावनायें दें। जब यह चूर्ण सूख जाय तो इसमें से १ तो० चूर्ण लेकर मधु तथा घी में मिला कर सात दिन तक चाटें। प्राचीन काल में ब्रह्मा जी ने सारे संसार के हित के लिये प्रायः दुष्ट बुद्धि वाले तथा विकृत चित्त वाले मनुष्यों के लिये इस 'सारस्वत चूर्ण' का निर्माण किया था। इस चूर्ण के सेवन के अभ्यास से मनुष्यों की बुद्धि, मेधाशक्ति, धैर्य, स्मरणशक्ति, सम्पत्ति तथा कविताशक्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है॥ ४६-४९॥

विश्वाऽजमोदरजनीद्वयसैन्धवोग्रायष्ट्याह्वकुष्ठमगधोद्भवजीरकाणाम्।
चूर्णं प्रभातसमये लिहतः ससर्पिर्वाग्देवता निवसति स्वयमेव वक्त्रे॥ ५०॥

सोंठ, अजमोदा, हल्दी, दारुहल्दी, सेंधानमक, वच, मुलहठी, कूठ, पिप्पली तथा जीरा इन सबके चूर्ण को घी में मिला कर प्रातःकाल चाटने से स्वयं ही सरस्वती देवी उसके मुख में निवास करती है॥ ५०॥

महाचैतसघृतमाह—

क्काथे विचूर्णिते क्षिप्त्वा तत्षोडशगुणं जलम्। पादशेषं प्रकर्त्तव्यमेष क्काथविधिः स्मृतः॥५१॥

क्काथ्यद्रव्यों के चूर्ण में सोलहगुना पानी डालकर पकावे। जब पकते २ चतुर्थांशावशिष्ट रह जाय तो उतार लेना चाहिये। यही क्काथ बनाने की विधि है॥ ५१॥

दशमूली तथा रास्ना वातारिस्त्रिवृता बला। मूर्वा शतावरी चेति क्काथ्यैस्तु कुडवैः पृथक्॥

कृतैः क्वाथैर्घृतप्रस्थद्वयं मृद्वग्निना पचेत्। कल्कीकृतैर्वक्ष्यमाणद्रव्यैः सम्यक् पुनः पचेत् ॥५३॥
विशाला त्रिफला कौन्ती देवदार्वेलवालुकम्। स्थिराऽनन्ता रजन्यौ द्वे प्रियङ्गुः सारिवाद्वयम्॥
नीलोत्पलैला मञ्जिष्ठा दन्ती दाडिमकेसरम्। विडङ्गं ह्यग्निपत्री च कुष्ठं चन्दनपद्मके ॥५५॥
तालीशपत्रं बृहती मालतीकुसुमं नवम्। अष्टाविंशतिभिः कल्कैरेतैः कर्षमितैः पृथक् ॥५६॥
चतुर्गुणं जलं दत्त्वा पिष्टैस्तद्विपचेद् घृतम्। महाचैतसनामेदं सर्वचेतोविकारनुत् ॥ ५७ ॥
अपस्मारे महोन्मादे मन्देऽग्नौ ज्वरकासयोः। वातरक्ते प्रतिश्याये शोषे कार्श्ये तृतीयके ॥
मूत्रकृच्छ्रे कटीशूले विसर्पाभिहतेषु च। पाण्ड्वामये तथा कण्ड्वां विषे मेहे गरेऽपि च ॥
देवादिहतचित्तानां गद्गदानामचेतसाम्। शस्तं स्त्रीणाञ्च वन्ध्यानां धन्यमायुर्बलप्रदम् ॥६०॥
अलक्ष्मीपापरक्षोघ्नं सर्वग्रहनिवारणम्। हन्ति भ्रमं मदं मूर्च्छां मेधास्मृतिमतिप्रदम् ॥६१॥

*अग्निपत्री = 'अग्निनौतो' ति लोके, 'अगिया' च ॥ ५२–६१ ॥

दशमूल, रास्ना, एरण्ड की जड़, निशोथ, खिरेंटी, मूर्वा तथा शतावरी इन सब ओषधियों को सोलह २ तोले लेकर सबको कूटकर उपर्युक्त क्वाथविधि से सोलह गुने जल में पकावे। जब पकते २ चौथाई जल शेष रह जाय तो छानले। पुनः इस क्वाथ में २ प्रस्थ घी डालकर मन्द आंच से पकावे। फिर इसमें इन्द्रायण, हरड़, बहेड़ा, आंवला, रेणुका, देवदारु, एलुआ, शालपर्णी, जवासा, हल्दी, दारुहल्दी, फूलप्रियङ्गु, श्वेतसारिवा, कृष्णसारिवा, नीलाकमल, छोटी इलायची, मजीठ, दन्ती, अनारकी केसर, वायविडङ्ग, अग्निपत्री (अगिया), कूठ, लालचन्दन, पद्मकाष्ठ, तालीसपत्र, बड़ी कटेरी और मालती के नये पुष्प, इन अट्ठाइस ओषधियों को एक २ तोले लेकर चौगुने जल में पीस कर कल्क बना ले पुनः इस कल्क को भी घी में डालकर घृतपाक करले। इस प्रकार 'महाचैतस' नामक घृत सिद्ध हो जाता है। इस घृत को सेवन करने से चित्त के समस्त विकार शान्त हो जाते हैं। अपस्मार, महोन्माद, अग्निमान्द्य, ज्वर, कास, वातरक्त, प्रतिश्याय, शोष, कृशता, तृतीयक ज्वर, मूत्रकृच्छ्र, कटिशूल, विसर्प, पाण्डुरोग, कण्डू, विष, प्रमेह और गरविष नष्ट हो जाते हैं। तथा देवादिग्रहावेशजन्य चित्त के विकार, गद्गद (तुतलापन) और संज्ञानाश को दूर करता है। वन्ध्या को सन्तान देनेवाला, धन, आयु, पुरुषार्थ, मेधा तथा स्मरण शक्ति को देनेवाला है। भ्रम, मद, मूर्च्छा, अलक्ष्मी तथा पापजन्य दुःखों को दूर करता है और सम्पूर्ण ग्रहबाधा तथा भूतबाधाओं को नष्ट करता है॥

देवाद्याविष्टानां चिकित्सामाह—

पूजाबल्युपहारेष्टिहोममन्त्राञ्जनादिभिः। जयेदागन्तुमुन्मादं यथाविधि शुचिर्भिषक् ॥६२॥

उत्तम वैद्य देवादिग्रहजन्य आगन्तुक उन्माद को पूजा, बलिप्रदान, उपहार, इष्टमन्त्रों के जप, हवन तथा अञ्जन इत्यादि से दूर करे ॥ ६२ ॥

कृष्णाद्यञ्जनमाह—

कृष्णामरिचसिन्धूत्थमधुगोरोचनाकृतम्। अञ्जनं सर्वदेवादिकृतोन्मादहरं परम् ॥ ६३ ॥

पिप्पली, कालीमिर्च, सेंधानमक, मधु तथा गोरोचन इन सब ओषधियों को कपड़छान चूर्ण करके अञ्जन बनावे। इस कृष्णाञ्जन के लगाने से देवादिकृत सम्पूर्ण उन्माद शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥६३॥

ऋक्षलोमकधूपमाह—

ऋक्षजम्बूकलोमानि शल्लकी लशुनं तथा। हिङ्गु मूत्रञ्च बस्तस्य धूममस्य प्रयोजयेत् ॥
एतेन शाम्यति क्षिप्रं बलवानपि यो ग्रहः ॥ ६४ ॥

भालू तथा गीदड़ के रोम, शल्लकी, लहसुन, हींग तथा बकरे के मूत्र को मिलाकर धूप देने से बलवान् भी ग्रह तत्काल शान्त हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

कल्याणघृतादिप्रयोगमाह—

कल्याणकञ्च युञ्जीत महद् वा चैतसं घृतम्। तैलं नारायणं वाऽथ महानारायणं तथा ॥
ऋते पिशाचादन्येषु प्रतिकूलं न चाऽऽचरेत्। रोगिणं भिषजं यत् ते क्रुद्धा हन्युर्महौजसः ॥

इति द्वाविंश उन्मादाधिकारः समाप्तः ॥ २२ ॥

वैद्य को चाहिये कि वह कल्याणघृत या महाचैतसघृत अथवा नारायण या महानारायण तैल का उन्माद रोग में प्रयोग करे। पिशाचों को छोड़ कर अन्य देवताओं के विरुद्ध किसी प्रकार का आचरण न करे। क्योंकि महाबलशाली वे प्रतिकूल आचरण से क्रुद्ध होकर रोगी या वैद्य को मार डालते हैं ॥ ६५-६६ ॥

इति "भावप्रकाश" भावप्रकाशकारियां "विद्योतिनी" नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे द्वाविंश उन्मादाधिकारः समाप्तः ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽपस्माराधिकारः ॥ २३ ॥

तत्रापस्मारस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिमाह—

चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिताः। कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥

चिन्ता तथा शोकादि से प्रकुपित दोष हृत्स्रोतसों में स्थित होकर स्मरणशक्ति का नाश करके 'अपस्मार[1]' नामक रोग को उत्पन्न कर देते हैं ॥ १ ॥

---

१. पाश्चात्त्य वैद्यक में अपस्मार को इपीलेप्सी (Epilepsy) कहते हैं।

व्याख्या—

यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों के कार्य में अचानक विकृति उत्पन्न हो जाती है और जो विकृति वर्षों तक या जिन्दगी भर बीच-बीच में दौरे के स्वरूप में उत्पन्न हुआ करती है। कभी २ यह विकृति मस्तिष्क के एक हिस्से में सीमित रहती है और कभी २ चारों ओर फैलती है। उच्च केन्द्रों के कार्य का नाश होने के कारण नीचे के केन्द्र स्वतन्त्र हो जाते हैं और उसी के कारण इस रोग के विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी २ इस रोग में मस्तिष्क-संस्थान तथा शरीर के अन्य अङ्गों में अपक्रान्ति (Degeneration) भी उत्पन्न होती है।

कारण—

१—कुलजप्रवृत्तिः—अपस्मार में कुलजप्रवृत्ति बहुत दिखाई देती है। यदि खान्दान में अपस्मार न हो तो अर्द्धावभेदक (Hemi cranium), अपतन्त्रक (Hysteria), पागलपन (Insanity) तथा मदात्यय (Alcoholism) इन रोगों का इतिहास अवश्य मिल जाता है।

२—आयु (Age)-यह रोग जन्म के दिन से बुढ़ापे तक उत्पन्न हो सकता है। प्रारम्भिक दो सालों के भीतर इसकी उत्पत्ति अधिक हुआ करती है। इसके पश्चात् यौवनावस्था होने के समय और बुढ़ापे में ५० साल की अवस्था में उत्पन्न होता है। ७५ प्रतिशत रोगी २० साल की उम्र के दिखाई देते हैं।

लिङ्ग—पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कुछ अधिक हुआ करता है। मासिक धर्म के साथ इसका सम्बन्ध अधिक रहता है। इस लिये उनमें उसकी उत्पत्ति रजोदर्शन और रजोनिवृत्ति के समय अधिक होती है। मासिक धर्म के समय उसका स्वरूप तीव्र रहता है और सगर्भावस्था में यह सौम्य या बन्द हो जाता है। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा पूर्वग्रह (Aura) अधिक दिखाई देते हैं।

४—मस्तिष्क पर आघात—कभी २ मस्तिष्क पर आघात होने से उसमें कुछ स्थायी विकृति पैदा होती है आघात होने के समय से वर्षों के पश्चात् रोग उत्पन्न हो सकता है। साधारणतया ५ प्रतिशत रोगियों में ही अपस्मार उत्पन्न होता है।

५—मानसिक और शारीरिक स्थिति—भय, मानसिक उत्तेजनायें, चिन्ता, मानसिक अत्यधिक परिश्रम, पर्याप्त निद्रा का न मिलना, अनशन तथा अपनी इच्छा के अनुसार व्यवसाय का न मिलना ये सब कारण इसकी उत्पत्ति में सहायता करते हैं। चरक में भी ऐसा ही लिखा हुआ है कि:—

'चिन्ताकामभयक्रोधशोकोद्वेगादिभिस्तथा। मनस्यभिहते नृणामपस्मारः प्रवर्त्तते'।

अपस्मारसंख्यामाह—

वातात्पित्तात्कफात्सर्वैर्दोषैः स स्याच्चतुर्विधः ॥ २ ॥

६—मस्तिष्क के विकार—मस्तिष्क के अर्बुद, विशेष करके आवरण के अर्बुद (Meningioma), मस्तिष्क में टीनिया सोलियम (Tenia Solium) के अण्डों की उपस्थिति (जब तक यह अण्डा या कृमि मस्तिष्क में जिन्दा रहता है तब तक कोई विशेष लक्षण उत्पन्न नहीं होते। इसके मरने के पश्चात् उत्पन्न होते हैं), मस्तिष्क की ठीक वृद्धि न होना (Agnesia), मस्तिष्कशोथ, मस्तिष्क का फिरङ्ग, मस्तिष्कावरण शोथ (meningitis) और मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों के विकार जैसे थ्रोम्बोसिस (Thrombosis) इत्यादि।

७—शरीरगत और शरीरबाह्यविष—जैसे सीसा (Lead), बिस्मथ (Bismuth), मूत्रविषमयता, पित्तविषमयता, अस्थिवक्रता, यकृत्विकार, थायरायड (Thyroid) और पिट्यूटरी (pituitary) नामक ग्रन्थियों के विकार, मदात्यय और रक्त की क्षारीयता।

८—एलर्जी (Allergy)

९—पचन-संस्थान के विकार—मलावरोध, प्रवाहिका, आमाशय और आन्त्रशूल, मद्यसेवन और मात्रा से अधिक अन्न का सेवन ये सब सहायक कारण होते हैं।

१०—जलवायु—अत्यधिक उष्णता, वायु की आर्द्रता और वायुप्रवाह में बाधा।

११—प्रत्यावर्त्तक कारण (Reflex caurses)—दन्तोद्भेद, आन्त्रकृमि, शिश्नमणि के ऊपर शिश्नचर्म की संसक्ति, नाक में शल्य का प्रवेश तथा अण्डग्रन्थि का वंक्षणसुरंग (Inguinal canal) में रहना।

रोग के प्रकार—

पाश्चात्य वैद्यक में कारण की दृष्टि से इसके मुख्य दो प्रकार के भेद किये गये हैं—

१—कारण रहित (Idiopathic)—इसमें रोग की उत्पत्ति के लिये कोई विशेष कारण नहीं दिखाई देता।

२—औपद्रविक (Symptomatice)—इसमें मस्तिष्क के विकार, अस्थिवक्रता (Rickdts) तथा विविध प्रकार की विषमयता इत्यादि कारण मालूम होते हैं।

सम्प्राप्ति और विकृत शारीर—प्रथम प्रकार में मस्तिष्क के भीतर कोई खराबी नहीं मालूम होती। पुराने रोग में मस्तिष्क-संस्थान में कुछ अपक्रान्ति (Degeneration) दिखाई देती है। परन्तु यह अपक्रान्ति रोग का कारण न होकर परिणाम होता है। रोगियों में मस्तिष्क के विकार होते हैं। उन सब रोगियों में अपस्मार की उत्पत्ति नहीं होती। बहुत थोड़े रोगियों में मिलती है। इस लिये मस्तिष्क के विकार इस रोग के कारण नहीं होते। इसकी उत्पत्ति में निम्न दो उपपत्तियां प्रचलित हैं—

१—मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों की विकृति—इसके अनुसार रोग के दौरे के समय मस्तिष्क के बाह्य स्तर (Cartex) की रक्तवाहिनियों का सङ्कोच होता है और उसी की वजह से बाह्यस्तर में रक्त की कमी हो जाता है और रोग उत्पन्न होता है।

२—शरीरगत परिवर्तन—(metabolism)—और अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की खराबी, इसके अनुसार शरीर में परिवर्तन और अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की कुछ खराबी रहती है, जिसकी वजह से शरीर में कुछ विषैले पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो अपस्मार की उत्पत्ति का प्रधान स्थान मस्तिष्क का बाह्यस्तर उसके ऊपर कार्य करके रोग उत्पन्न करता है। मस्तिष्क के बाह्यस्तर की रक्तवाहिनियों का संकोच इसी विष के कारण ही हुआ करता है। रोग की प्रत्यक्ष उत्पत्ति या दौरा निम्न प्रकार से उत्पन्न होता है—

१—कुछ लोगों का यह मत है कि—यह विष मस्तिष्क के केन्द्रों को अनियमित रूप से उत्तेजित करके रोग उत्पन्न करता है।

वातज, पित्तज, कफज तथा त्रिदोषज भेद से अपस्मार चार प्रकार का होता है ॥ २ ॥

अपस्मारस्य सामान्यलक्षणमाह—

तमःप्रवेशः संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः। अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरतरो हि सः॥ ३॥

*संरम्भः = नेत्रविकृतिहस्तपादादिविक्षेपणादिकम् ॥ ३ ॥

२—कुछ लोगों का यह मत है कि—इस विष के कारण मस्तिष्क के उच्च केन्द्र अकर्मण्य या कार्यहीन हो जाते हैं जिससे निम्न निम्न केन्द्र स्वतन्त्रतया विविध रूप से अपना कार्य करने लगते हैं और उसी की वजह से इस रोग के विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं।

रोग के लक्षण—इस रोग का प्रधान लक्षण संज्ञानाश या बेहोशी है, यह बेहोशी कभी पूर्ण और कभी आंशिक होती है। इस बेहोशी के साथ २ आक्षेप भी उत्पन्न होते हैं। चरक में भी ऐसा ही लक्षण लिखा है—

'स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः। तमःप्रवेशं बीभत्सचेष्टं धीसत्त्वसम्प्लवात् ॥
धमनीभिश्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि। सम्पीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रान्तेन चेतसा ॥
पश्यत्यसन्ति रूपाणि पतति प्रस्फुरत्यपि। जिह्माक्षिभ्रूः स्रवल्लालो हस्तौ पादौ च विक्षिपन्' ॥

च० चि० अ० १० श्लोक ३, ६, ७।

पाश्चात्य विज्ञान में लक्षणों के अनुसार इस रोग के निम्न भेद किये गये हैं:—

१—बड़ा अपस्मार (major epilepsy)—इसकी निम्न अवस्थायें होती हैं :—

(A) पूर्वरूप की अवस्था—इस अवस्था का काल साधारणतया २४ घंटे का और कभी २ चार-पांच दिन का भी हो सकता है। इसमें निम्न पूर्वरूप हुआ करते हैं:—शिरदर्द, बेचैनी, सुस्ती, स्वभाव का चिड़चिड़ापन या विपर्यय तथा भूख अधिक या कम मालूम होना। यह अवस्था आधे रोगियों में दिखाई देती है।

(B) पूर्वग्रह की अवस्था (Stage of Aura)—यह अवस्था रोगी के बेहोश होने से पूर्व होती है और इसी से रोगी को रोग के आक्रमण की सूचना मिल जाती है। इसके सिवाय जिस प्रकार का पूर्वग्रह होता है उसी के अनुसार मस्तिष्क के किस भाग में रोग का प्रारम्भ हो रहा है उसकी भी कल्पना हो जाती है। ये पूर्वग्रह अनेक प्रकार के होते हैं तथापि इनके निम्न चार विभाग किये जा सकते हैं—

१—इन्द्रियविषयक—इस विभाग में निम्न पूर्वग्रह आते हैं:—शरीर में सुन्नता या झुनझुनी मालूम होना। इस प्रकार की संवेदना प्रायः शाखाओं के अग्र से शुरू होती है और धीरे २ ऊपर की ओर बढ़ती है और आखीर में माथे तक चली जाती है। कभी २ एक तरफ की शाखा में उत्पन्न हुई संवेदना ग्रीवा तक आने के पश्चात् दूसरे तरफ की शाखा में फैलती है और अन्त में माथे तक चली जाती है। नासा के द्वारा विविध प्रकार के विशेषतया खराब गन्ध मालूम होते हैं। जिह्वा पर विविध प्रकार की रुचि मालूम होती है। कान में विविध प्रकार की आवाज विशेषतया सङ्गीत की मालूम होती है। आँखों के सामने अन्धेरा, सितारे या चिनगारियां और तेजोगोल (जैसे कि अर्धावभेदक में) दिखाई देते हैं। सामने दिखाई देने वाले पदार्थ का अधिक स्थूल दिखाई देना तथा विपुलदृष्टि (megalopsia) इत्यादि।

२—इसमें पेशियों के सङ्कोच-विकास के पूर्वग्रह समाविष्ट होते हैं यथा:—किसी एक शाखा की पेशियों में अनैच्छिक संकोच-विकास उत्पन्न होना, धीरे २ सम्पूर्ण शरीर पर उसका प्रसार होना, कभी एक तरफ और कभी दूसरी तरफ। कभी २ रोगी आप से आप चलने या दौड़ने लगता है। कभी अपने ही अक्ष के ऊपर चक्कर लगाने लगता है। इस प्रकार के पूर्वग्रह (Aura) साधारणतया जिन अङ्गों में पहिले प्रकार के पूर्वग्रह होते हैं उन्हीं अङ्गों में दिखाई देते हैं। बच्चों में केवल एकाध पेशीसमूह में इस प्रकार के सङ्कोच-विकास दिखाई देते हैं और इनको कारफोलोजी

जिस रोग में ऐसा भान हो कि मैं अन्धकार में घुस रहा हूँ, नेत्र विकृत हो जाय, हाथ-पैर को इधर उधर फेंके तथा दोषों के प्रकोप से स्मरण-शक्ति का नाश हो जाय, इन लक्षणों से युक्त रोग को वैद्यलोग महाघोर 'अपस्मार' रोग कहते हैं ॥ ३ ॥

(Carphology) कहते हैं। यह पूर्वग्रह तीव्र स्वरूप के आक्रमण का सूचक माना जाता है।

३—मानसिक—इसमें मन के भीतर भय उत्पन्न होना तथा उद्विग्नता इत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं। जिसके साथ कुछ भी परिचय नहीं होता उसके साथ अधिक परिचय मालूम होता है। रोगी को पहिले की अपेक्षा अधिक अच्छा मालूम होता है। इसके सिवाय रोगी खाने की कोई वस्तु न होते हुये भी कोई चीज चबाने या निगलने की क्रिया करता है।

४—शारीरिक—इसके पूर्वग्रह अधिकतर प्राणदा (Vagus) नाड़ी से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे—आमाशयिक प्रदेश से बेचैनी, जी मिचलाना, श्वासकृच्छ्र, दम घुटना, दिल में धड़कन तथा चक्कर आना इत्यादि।

संवेदना और पेशियों के पूर्वग्रह अधिकतर एक ही पक्ष में हुआ करते हैं। कभी २ दोनों तरफ के भी पूर्वग्रह होते हैं। इन पूर्वग्रहों की अवधि अत्यल्प होती है। ये पूर्वग्रह रोग का आक्रमण या बेहोशी होने से पूर्व होते हैं इस लिये रोगी इनको भलीभांति स्मरण करता है और उसीसे उसको आक्रमण की सूचना मिल जाती है। कभी २ अपस्मार में बेहोशी तथा अन्य लक्षण न होकर केवल पूर्वग्रह ही दिखाई देते हैं।

(C) अवस्था की दृष्टि से रोग की अवस्था—यह अवस्था पूर्वग्रह के पश्चात् तुरन्त आजाती है जिससे कई बार रोगी बेहोश होने से पूर्व अपने को खतरे के स्थान से दूर नहीं ले जा सकता। इस अवस्था का मुख्य लक्षण बेहोशी है जो यकायक उत्पन्न होती है और उसी की वजह से यदि रोगी खड़ा हो या चलता हो तो जमीन पर गिर पड़ता है और उसके शिर में चोट आ जाती है। बेहोशी के समय रोगी के मुख से एक विशेष प्रकार की आवाज (Epleptic Cry) उत्पन्न होती है। बेहोशी की स्थिति में रोगी का शरीर कड़ा होता है। उसकी पीठ कुछ टेढ़ी होती है। सिर पीछे की ओर या एक तरफ घूमता है और पैर फैले हुये होते हैं। हाथ की मुट्ठियाँ बन्द रहती हैं। कुछ देर तक सांस रुकी रहती है। नाड़ी अत्यन्त क्षीण होती है या बिल्कुल ही मालूम नहीं होती है बेहोशी के प्रारम्भ में रोगी का चेहरा कुछ फीका या पाण्डुरवर्ण होता है परन्तु सांस के रुक जाने से रक्त की अशुद्धता बढ़ने के कारण बीच में कुछ काला सा होता है और आखिर में नीला हो जाता है। इस बेहोशी की स्थिति में रोगी के शरीर में निरन्तर आक्षेप (Tonic Contrection) होता है। यह स्थिति ३० से ४० सेकेण्ड तक प्रायः होती है।

(D) सान्तर आक्षेप की स्थिति (Stage of clonic contraction)-इस स्थिति में शरीर की सम्पूर्ण पेशियों में संकोच और विस्तार हुआ करता है। जैसे आंखों का खोलना और बन्द होना; हाथ-पैरों का शरीर के पास लेजाना और फिर फैलाना। इस स्थिति में रोगी की जिह्वा कई बार दांतों के बीच में अटक जाती या कट जाती है। जिह्वा प्रायः एक तरफ टेढ़ी रहती है इसलिये उसका कटा हुआ भाग अग्र के पास न होकर उसके किनारे के पास होता है। रोगी के मुख से जिह्वा के कट जाने के कारण रक्तमिश्रित लार निकलती है और उसमें झाग भी काफी होता है। रोगी का चेहरा अत्यन्त काला हो जाता है। उसके आंख की पुतलियां फैलती हैं। प्रकाश और स्पर्श से आंखों के ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता है। मूत्र और मल का उत्सर्ग अनजाने हो जाता है। इसमें मूत्र का अधिक, मल का कम और दोनों का २ समय में बहुत कम उत्सर्ग हुआ करता है। जानु प्रत्यावर्तन की क्रिया भी अनुपस्थित रहती है। इस अवस्था में श्वासावरोध काफी हो जाता है और इसकी अधिकता होने के कारण त्वचा तथा मस्तिष्क की रक्तवाहिनियां स्थान २ पर विदीर्ण हो जाती हैं। आक्षेप के समय पेशियों में जो संकोच होते हैं उनसे कभी २ सन्धिविश्लेष होता है, कभी हड्डियाँ टूट जाती हैं और कभी पेशियां विदीर्ण होती हैं। एक बार जिस सन्धि में विश्लेष पैदा हुआ उसमें प्रत्येक दौरे के समय

अपस्मारस्य पूर्वरूपमाह—

हृत्कम्पः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढता। निद्रानाशश्च तस्मिंश्च भविष्यति भवत्यथ॥

*शून्यता हृदयस्यैव। ध्यानम् = विस्मापनम्। मूर्च्छा = मनोमोहः। प्रमूढता = इन्द्रियमोहः। भविष्यति = भाविनि। तस्मिन् = अपस्मारे॥ ४॥

विश्लेष पैदा होता है। मूत्र में कभी २ शर्करा तथा अलब्यूमिन (Albumin) मिलता है। यह स्थिति साधारणतया १ से २ मिनट और कभी २ पांच-छः मिनट तक रहती है। इसके पश्चात् धीरे २ आक्षेपों की संख्या और तीव्रता कम होती जाती है और बीच का अन्तर भी बढ़ता जाता है। इससे रोगी के श्वसन की कठिनाई कम हो जाती है और उसके कारण चेहरे का काला या नीला वर्ण धीरे २ स्वाभाविक हो जाता है। मुख से निकलने वाली लार भी कम हो जाती है। इसके पश्चात् कुछ समय तक रोगी शान्तिपूर्वक वेहोशी की अवस्था में रहता है और उसके पश्चात् उसे स्वाभाविक निद्रा आती है या वह होश में आता है। होश में आने के पश्चात् रोगी शून्य दृष्टि से इधर-उधर देखता है और सिरदर्द की शिकायत करता है। यदि रोगी को अच्छी नींद आजाय तो शिरदर्द की शिकायत बहुत कम रहती है।

२—लघु अपस्मार (Minor Epilepsy)—

इसका आक्रमण होने के पूर्व आधे रोगियों में पूर्वग्रह हुआ करता है। इसमें वेहोशी होती है। परन्तु आक्षेप नहीं होते। यह वेहोशी पूर्ण या आंशिक हुआ करती है। एकाएक आती है और आधे से १ मिनट तक रहती है। अगर रोगी बातचीत करता हो और रोग का आक्रमण हो जाय तो वह बोलना बन्द करता है। शून्य और स्थिर दृष्टि से देखता है। उसकी आंख की पुतलियाँ फैलती हैं। चेहरे पर पाण्डुरता आ जाती है या असम्बद्ध बात करता है। रोगीको स्वयम् आक्रमण का पता नहीं चलता और यदि गौर से न देखा जाय तो उसके समीपवर्त्ती व्यक्ति को भी इसका पता नहीं लगता है। यदि रोगी भोजन करता हो तो न खाने की चीजें वह खाने लगता है। इस तरह थोड़ी देर तक वेहोश होनेके पश्चात् रोगी होशमें आता है और अपना काम शुरू करता है या आराम करनेकी इच्छा करता है। कभी २ रोगीको केवल चक्कर (Giddiness) आता है। कुछ रोगियों में बड़े अपस्मार के समान सांवेदनिक पूर्वग्रह दिखाई देते हैं। कभी २ इस प्रकारमें वेहोशी अपूर्ण या आंशिक होती है। और उस समय रोगी अपने चारो ओर देखता रहता है। परन्तु उस देखने का परिणाम उसके ऊपर कुछ भी नहीं होता और न उसको पीछे याद ही कर सकता है।

३—शिशु अपस्मार (pyknolepsy)—

यह एक लघु अपस्मार का ही प्रकार है। जो बच्चों में अधिक हुआ करता है। जिसके एक दिन में पांच से पचास तक आवेग आसकते हैं। ये दौरे बहुत सौम्य स्वरूप के होते हैं। इससे रोगी के मस्तिष्क के कार्य में किसी प्रकार की खराबी नहीं होती। रोगीका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। दौरे के समय अपस्मारनाशक कोई भी योग इसमें हितकर नहीं होता और युवावस्था प्राप्त होनेपर यह रोग आप से आप ठीक हो जाता है।

आवेगोत्तर विकार या स्थिति (Post Epileptic Conuitions)—आवेग समाप्त होने के पश्चात् प्रायः रोगी को स्वाभाविक नींद आजाती है। (अगर नींद न आजाय तो रोगी कुछ काल तक आधे होश में रहता है,। इसके सिवाय शिरःशूल, मूकता, एकाङ्गघात, स्वभाव का चिड़चिड़ापन, कभी हँसना और कभी रोना, बुद्धि की मन्दता इत्यादि लक्षण होते हैं। जब आक्षेप का आवेग तीव्र रहता है उस समय या उसके पश्चात् वमन होता है। और रोगी होश में न होने के कारण वमन का द्रव्य कण्ठनलिका में से फुफ्फुस में जा सकता है और पश्चात् न्यूमोनिया (Pneumonia) उत्पन्न होता है। इन लक्षणों के सिवाय कई बार रोगी निम्नकार्य अनजाने (Automatic acts) किया करता है, जैसे-समाज में नग्न होना, दूसरे की चीजों को उठा करके

हृदय का कँपना, हृदय-शून्यता, स्वेद का आना, विस्मय, मूर्च्छा, मनोमोह, इन्द्रियों का मोह तथा निद्रानाश ये सब अपस्मार के पूर्वरूप हैं ॥ ४ ॥

अपनी समझ कर जेब में रखना तथा अपने शत्रु के ऊपर या शत्रु समझ कर दूसरे के ऊपर हमला करना, इस प्रकार के कर्म अपस्मारजन्य उन्माद (Epileptic Mania) कहलाते हैं। और इन कर्मों के समय रोगी के मन में भय, द्वेष या अन्य प्रकार के आभास उत्पन्न होते हैं। कई बार कर्मों के अनुसार रोगी के स्वभाव का भी कुछ पता चलता है। ये आवेगोत्तर कर्म प्रायः लघु अपस्मार के पश्चात् ही हुआ करते हैं। परन्तु कभी २ बड़े अपस्मार के पश्चात् भी हो सकते हैं। आवेग की तीव्रता के विरुद्ध प्रमाण में आवेगोत्तर कर्म हुआ करते हैं।

अपस्मार की आक्षेपयुक्त स्थिति (Status Epilepticus)—कुछ रोगियों में आक्षेप के दौरे बहुत अधिक आया करते हैं और दौरों के बीच में समय बहुत थोड़ा होता है तथा रोगी होश में नहीं आता। इस प्रकार की स्थिति कई घण्टों तक और कभी २ कुछ दिनों तक जारी रहती है। आक्षेपों के कारण शरीर का तापक्रम १०४-१०५ तक बढ़ता है। रोगी अन्न और जल का सेवन नहीं कर सकता। जिसके कारण रक्त में अम्लमयता (Acidosis) उत्पन्न होती है। हृदय बहुत तेजी और जोर से चलता है। यदि आक्षेप थोड़े समय में बन्द न हो सके तो उसी आवेग में रोगी की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार की स्थिति सब तरह के अपस्मार में उत्पन्न हो सकती हैं। कभी-कभी किसी कारण के बिना भी होती है। कभी अत्यन्त किसी शारीरिक और मानसिक परिश्रम या उत्तेजनाओं के पश्चात् होती है। और कभी २ रोगी की चिकित्सा यकायक बन्द करने के पश्चात् होती है। इस स्थिति का और एक प्रकार दिखाई देता है जो प्रायः उन रोगियों में होता है, जिनकी बुद्धि उत्तरोत्तर खराब हो रही है। इसमें रोगी केवल सुस्त होता है। अपना भोजन बन्द करता है और धीरे २ बेहोश हो जाता है तथा आखीर में शरीर का तापक्रम बढ़ने के पश्चात् उसकी मृत्यु हो जाती है।

दौरे का काल (Periodic)—साधारणतया एक बार रोग शुरू होने पर नियत समय पर उसके दौरे आया करते हैं, जैसे-रात के समय, दिन में सुबह के वक्त, सोने के समय और मासिक धर्म के समय। प्रत्येक रोगी में साधारणतया जिस समय दौरा आता है, उसी समय बार २ आया करता है। दौरों के बीच का काल साधारणतया सात, चौदह या अट्ठाइस दिन का होता है। और कभी २ एक दिन में कई दौरे आते हैं और कभी २ महीनों या वर्षों के पश्चात् आते हैं। अपने यहाँ भी दौरों के काल के सम्बन्ध में विचार मिलता है, यथा—

'पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः। अपस्मारं प्रकुर्वन्ति वेगं किञ्चिदथान्तरम्' ॥
च० चि० अ० १० श्लो० १३।

दौरों के बीच में रोगी का स्वास्थ्य—यदि दौरे बहुत जल्दी २ न आते हों और तीव्र स्वरूप के न हों तो रोग का परिणाम दौरे के काल को छोड़ कर रोगी के स्वास्थ्य पर कुछ भी नहीं होता। कई अपस्मार के रोगी इसी लिये हट्टे कट्ठे और मजबूत होते हैं। जब दौरे बार २ आया करते हैं और तीव्र स्वरूप के होते हैं तब रोगी का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। परन्तु इसका विशेष परिणाम रोगी के मन और बुद्धि पर हुआ करता है। वह रोगी कुछ सुस्त हो जाता है, उसकी स्मृति कम हो जाती है। वह किसी एक विषय पर एकचित्त नहीं कर सकता। उसकी नीति और शील में कुछ फर्क आ जाता है। जिसके कारण वह अनेक प्रकार के अनीतियुक्त कर्म करता है। कभी २ आत्महत्या तथा परहत्या करने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार का फर्क साधारणतया आवेग के पश्चात् कुछ काल तक अधिक रहता है और धीरे २ कम होता है। कभी यह फर्क स्थायी हो जाता है। तब उसके लिये दौरा आने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। बचपन में जब रोग का प्रारम्भ होता है तथा वृद्धावस्था में होता है, तब इस प्रकार की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है।

वातजापस्मारस्य लक्षणमाह—

कम्पते प्रदशेद्दन्तान्फेनोद्वामी श्वसित्यपि । अभितोऽरुणवर्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥५॥

वातजन्य अपस्मार मे रोगी के शरीर में कम्प होता है, दांतों को कटकटाता है, मुख से फेन का वमन करता है, गहरी साँस लेता है और वह चारो ओर लालवर्ण के रूपों को देखता है ॥५॥

साध्यासाध्यता—अपस्मार स्वयं घातक रोग नहीं है। स्वयं मर्यादित भी नहीं। किन्तु यदि सौम्य स्वरूप का हो और उसकी उचित चिकित्सा की जाय तो उत्तरोत्तर उसकी तीव्रता कम होती जाती है। और एकाध वार वह ठीक भी हो जाता है। बच्चों में होने वाला अपस्मार युवावस्था प्राप्त होने पर आप से आप ठीक हो जाता है। इस रोग में मृत्यु दो कारणों से होती है।

(a) अपस्मार की आक्षेपयुक्त स्थिति (Status Epilepticus)—यह स्थिति बहुत ही कम दिखाई देती है।

(b) आघात—यह मृत्यु का साधारण कारण होता है। आवेग के समय रोगी बेहोश होकर गिर पड़ता है। और कई वार कूयें, नदी या जलाशय में गिरने से रोगी की मृत्यु होती है। अथवा अग्नि के पास होने पर जलने से मृत्यु हो सकती है। अथवा बेहोशी में वमन होने के समय वमन की चीजें फुप्फुस में प्रवेश करने से न्युमोनिया (pneumonia) से मृत्यु हो सकती है। अथवा आवेग के समय की चोट जो प्रायः सिर पर हुआ करती है दूषित (Septic) होने से मृत्यु हो सकती है। अथवा रास्ते में चलते समय आवेग आने पर मोटर या अत्यन्त तेज वाहन के नीचे गिर जाने से मृत्यु हो सकती है। जिस अपस्मारी में उत्तरोत्तर बुद्धि का भ्रंश होता जाता है उसमें आगे चल कर राजयक्ष्मा होने की सम्भावना रहती है। और उसीसे रोगी की मृत्यु होती है।

चिकित्सा का परिणाम—बच्चों में होने वाले अपस्मार के ऊपर चिकित्सा का कुछ भी परिणाम नहीं होता। परन्तु वह अपस्मार साध्य है। लघु अपस्मार में कुछ परिणाम होता है। लघु और बड़े अपस्मार के संयुक्त रोगी पर पहिले से अधिक परिणाम होता है। और बड़े अपस्मार पर सबसे अधिक परिणाम होता है। रात के समय जो अपस्मार (Nocturnal) आता है उसमें पतन या आघात का परिणाम न होने के कारण कुछ साध्यता अधिक रहती है, परन्तु चिकित्सा का परिणाम दिन में आने वाले अपस्मार की अपेक्षा कम होता है।

निम्न लक्षण कृच्छ्रसाध्यता के सूचक होते हैः—

बचपन या युवावस्था के प्रारम्भ के समय अपस्मार की उत्पत्ति, बार २ तीव्र स्वरूप के और अधिक देर तक रहने वाले आवेग, शरीर में निम्न व्यङ्गों की उपस्थिति, यथाः—खराब दांत, ऊंचा तालु, विषम खोपड़ी, बुद्धि की मन्दता, कुल में अपस्मार, मदात्यय तथा नशीली चीजों के सेवन का इतिहास और सगोत्र-विवाह का इतिहास, दिन व दिन बुद्धिमान्द्य का बढ़ना और मस्तिष्क में अर्बुद, विद्रधि की उपस्थिति तथा रक्तभाराधिक्य।

निदान—निदान के समय जितने रोगों में बेहोशी और आक्षेप उत्पन्न होते हैं, उन सब रोगों का ख्याल रख करके रोगी के निम्न अङ्गों का परीक्षण करना चाहिये। यथाः—

१—हृदय, धमनियां और रक्तभार।

२—शरीर में व्रण या व्रणवस्तुओं की उपस्थिति, विशेष कर सिर और जिह्वा पर।

३—मस्तिष्क सुषुम्ना जल (Washermans Reaction के लिये)।

४—मूत्र में अल्ब्यूमिन (Albumin) तथा निर्मोक (Casts) के लिये, इससे यूरीमिया (Uraemia) का ज्ञान होता है।

५—रेटिना (Retina) के शोथ (papilidyma) की परीक्षा—इससे मस्तिष्कगत अर्बुद या विद्रधि का पता चलता है।

अपतन्त्रक (Hysteria) तथा अपस्मार (Epilepsy) में भेद—

पित्तजापस्मारस्य लक्षणमाह—

पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शनः । सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिके ॥ ६ ॥

*पीतस्यासृग्रूपस्य वा वस्तुनो दर्शनं यस्य स पीतासृग्रूपदर्शनः ॥ ६ ॥

अपतन्त्रक के साथ बड़े अपस्मार की कुछ समता होती है अतः दोनों के भेद का निम्न पंक्तियों में दिग्दर्शन किया जाता है—

१—अपतन्त्रक (Hysteria) के आवेग जब रोगी अकेला होता है या उसके तरफ किसी का ध्यान नहीं होता उस समय नहीं आते हैं। अपस्मार में कोई ऐसी विशेषता नहीं होती। अपतन्त्रक के आवेग रात में निद्रावस्था में नहीं आते। किन्तु अपस्मार के आसकते हैं।

२—अपतन्त्रक का आक्रमण धीरे २ होता है। उसका कोई समय नियत नहीं होता तथा मानसिक स्थिति के साथ उसका कुछ सम्बन्ध होता है। अपस्मार का आक्रमण यकायक होता है। और प्रायः नियत समय का होता है तथा केवल मानसिक स्थिति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

३—अपतन्त्रक (Hysteria) में शरीर की गतियां किसी विशेष उद्देश्य से हुआ करती हैं। अपस्मार के समान सान्तर (Clonic) और निरन्तर (Tonic) आक्षेप की तरह नहीं होतीं। इसलिये रोगी की ओर ध्यान देने से तथा उसको होश में लाने की कोशिश करने से वे गतियां बढ़ जाती हैं और यदि रोगी की ओर कुछ भी ध्यान न दिया जाय तो आप से आप कम हो जाती हैं। जैसे अपतन्त्रक का रोगी अपने पास आये हुये लोगों को पकड़ने की कोशिश करता है उस समय मुट्ठियां बन्द करने की या खोलने की कोशिश करता हैं। फर्श पर या दरवाजे पर सिर को धीरे २ पटकता है। और कभी २ उसको दांतों से पकड़ता है।

४—अपतन्त्रक का दौरा अधिक देर तक रहता है। और अपस्मार का थोड़ी देर में समाप्त हो जाता है।

५—अपतन्त्रक के दौरे में रोगी बीच २ में बोलता है, किन्तु अपस्मार में नहीं बोलता।

६—अपतन्त्रक में श्वसन घुरघुर युक्त नहीं होता, किन्तु अपस्मार में होता है।

७—अपतन्त्रक का रोगी दौरे के समय इस तरह गिरने की कोशिश करता है कि उसको जहाँ तक होसके चोट न लगे और यदि आस-पास कोई हो तो उसको अवश्य आघात पहुँच जाय। दौरे में उसकी जिह्वा कदापि भी नहीं कटती और न वह मल या मूत्र का उत्सर्ग करता है।

८—अपतन्त्रक के रोगी की आँखें बन्द रहती हैं। उनको खोलने की कोशिश करने पर रोगी और भी जोर से बन्द करने की कोशिश करता है। उसके पलकों के ऊपर ध्यान दिया जाय तो उनमें कुछ कम्प सा दिखाई देता है। उसको पुतलियां प्रकाश छोड़ने पर सङ्कुचित हो जाती हैं। तथा वह स्थिर भी नहीं होतीं। दोनों आँखों की दृष्टि नासा की ओर (Converging Spasm) होती हैं, शरीर की प्रत्यावर्तन क्रियायें ज्यों की त्यों रहती हैं। अपस्मार में पुतलियों के ऊपर प्रकाश का कोई परिणाम नहीं होता। वह स्थिर रहती है। दोनों आंखों की दृष्टि एक दिशा में दायें या बायें (Conjugate deviation) होती हैं। प्रत्यावर्तन क्रियाओं में फरक हो जाता है। जैसे गम्भीर प्रत्यावर्तन क्रियाओं की अधिकता और त्वचा की प्रत्यावर्तन क्रियाओं का अभाव। इन दोनों रोगों के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिये कि कभी २ अपस्मार के पश्चात् तुरन्त अपतन्त्रक का दौरा आसकता है। या एक ही रोगी में एक समय अपस्मार और दूसरे समय अपतन्त्रक का दौरा आ सकता है।

छद्मरोगी (Maningerer)—

यह रोगी गिरते समय इस तरह गिरने की कोशिश करता है कि उसे किसी प्रकार की चोट न लगने पावे। उसका चेहरा फीका या कुछ काला होने के बदले हमेशा सुर्ख हो जाता है, उसकी त्वचा से पसीना निकलता है, आंखों के पलक कम्पयुक्त होते हैं। पुतलियां फैली हुयी नहीं होतीं। उनके ऊपर प्रकाश का परिणाम होता है। वह होश में रहता है। इसलिये उसकी त्वचा में वेदना

पित्तजन्य अपस्मार में रोगी पीला फेन वमन करता है। उसके शरीर, मुख तथा नेत्र का वर्ण पीत हो जाता है, उसे पीली तथा रक्त वर्ण की वस्तुयें दिखाई देती हैं, पिपासा लगती है तथा उसे सारा संसार अग्नि की ज्वाला से व्याप्त दिखाई देता है॥ ६॥

कफजापस्मारस्य लक्षणमाह—

शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतो हृष्टाङ्गजो गुरुः। पश्येच्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात्॥

***शीतः = शीताङ्गः। हृष्टाङ्गजो = हृष्टरोमा। गुरुः = गुरुगात्रता॥ ७॥**

कफज अपस्मार में रोगी श्वेतवर्ण का फेन वमन करता है, उसके शरीर तथा नेत्रों के वर्ण श्वेत हो जाते हैं, अङ्ग शीतल रहते हैं, रोमाञ्च होता है, शरीर में गुरुता प्रतीत होती है, उसे संसार के सभी रूप सफेद ही दिखाई देते हैं तथा बहुत विलम्ब के बाद उसे चैतन्यता आती है॥ ७॥

सन्निपातापस्मारस्य लक्षणमाह—

समस्तैर्लक्षणैरेतैर्विज्ञातव्यस्त्रिदोषजः। अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः॥८॥

***स च=त्रिदोषजः, असाध्यः। यः क्षीणस्य, अनवश्च, एकदोषजोऽप्यसाध्य इत्यर्थः॥**

उपर्युक्त तीनों दोषों के सम्पूर्ण लक्षण जिस अपस्मार में मिलें उसे त्रिदोषज अपस्मार समझना चाहिये। यह अपस्मार असाध्य होता है। दुर्बल मनुष्य को बहुत दिन से हुआ एकदोषज भी अपस्मार असाध्य होता है॥ ८॥

अपस्मारस्यारिष्टलक्षणमाह—

प्रस्फुरन्तञ्च बहुशः क्षीणं प्रचलितभ्रुवम्। नेत्राभ्याञ्च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत्॥९॥

***प्रस्फुरन्तं=गात्रस्फुरणयुक्तम्। नेत्राभ्याञ्च विकुर्वाणं=नेत्रे विकृते कुर्वन्तम्॥ ९॥**

जिस अपस्मारपीडित मनुष्य के अङ्ग बहुत फड़कते हों, शरीर क्षीण हो गया हो, भौंहें चलायमान हों और नेत्र विकृत हो गये हों तो ऐसे मनुष्य को अपस्मार अवश्य नष्ट कर देता है॥ ९॥

अपस्मारस्य प्रकोपसमयमाह—

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः। अपस्मारं प्रकुर्वन्ति वेगं किञ्चिदथान्तरम्॥

***पक्षात्पित्तं, द्वादशाहाद्वायुर्मासात्कफः अपस्मारं करोतीत्यर्थः। वेगं किञ्चिदथान्तरं = किञ्चित्स्वल्पं वेगम्, आन्तरम्, उक्तकालानामन्तरालेऽपि कुर्वन्ति।**

ननु हेतुभूतेषु दोषेषु विद्यमानेषु सदैव तद्व्याधिप्रकोपः कथं न स्यादत आह—

दैवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानि चित्।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रयाः॥ १॥

अयमर्थः—यथा-उत्पत्तिकारणसामग्र्यां सत्यामपि वास्तुकादिबीजानि स्वभावाच्छरद्येव प्ररोहन्ति, तथा हेतुभूतेषु दोषेषु विद्यमानेष्वपि स्वभावादपस्मारो द्वादशाहादिष्वेव वेगं करोतीत्यर्थः॥ १॥ इति॥ १०॥

प्रकुपित पित्तजन्य अपस्मार एक पक्ष में (१५ दिन में), प्रकुपित वातिक अपस्मार बारह

उत्पन्न करने से या नासिका में नस्य लगाने से उसका परिणाम तुरन्त दिखाई देता है।

लघु अपस्मार और मूर्च्छा—

मूर्च्छा धीरे २ आती है और मूर्च्छितावस्था में रोगी शान्त रहता है। मूर्च्छा समाप्त होने पर रोगी को शारीरिक कमजोरी अधिक मालूम होती है। रोगी की परीक्षा करने से हृदय के विकारों का कुछ पता चल जाता है। मूर्च्छा आने से पहिले चक्कर के सिवाय और कोई भी लक्षण रोगी को मालूम नहीं होता।

वृक्कविकारजन्य मूर्च्छा—इसमें मूत्र में अल्ब्यूमिन (Albumin), रक्तभाराधिक्य, हृदय की वृद्धि और रक्त में यूरिया (Urea) की अधिकता होती है आवेग की अवधि अधिक लम्बी होती है। एक दिन में कई आवेग आते हैं और आवेगों के बीच में रोगी तन्द्रायुक्त रहता है।

दिन में तथा प्रकुपित कफज अपस्मार एक महीने में वेग (दौरा) करता है, तथा कभी २ उपर्युक्त अवधियों के मध्य में भी थोड़ा हल्का वेग आजाया करता है।

शंका—अपस्मार के हेतुभूत दोषों के सदैव वर्तमान रहने पर अपस्मार का प्रकोप सदा क्यों नहीं हुआ करता ?

निराकरण—जैसे वर्षा अथवा अन्य ऋतु में उत्पत्ति-कारणभूत पूर्ण वर्षा के होने पर भी पृथ्वी पर पड़ा हुआ बथुए का बीज नहीं जमता किन्तु स्वभावतः शरद् ऋतु में उगता है, उसी प्रकार कारणरूप दोषों के विद्यमान रहते हुये भी अपस्मार स्वभावतः द्वादशादि दिनों में वेग करता है ॥ १ ॥ इति ॥ १० ॥

अथापस्मारस्य चिकित्सामाह—

तैलेन लशुनः सेव्यः पयसा च शतवरी। ब्राह्मीरसश्च मधुना सर्वापस्मारभेषजम् ॥ ११ ॥

तेल में मिलाकर लहसुन, दूध में उबाल कर शतावरी तथा मधुयुक्त ब्राह्मी-स्वरस का सेवन करने से अपस्मार रोग दूर हो जाता है ॥ ११ ॥

चूर्णैः सिद्धार्थकादीनां भक्षितैरथवाऽपि तैः। गोमूत्रपिष्टैः सर्वाङ्गलेपैः शाम्यत्यपस्मृतिः ॥
सिद्धार्थशिग्रुकट्वङ्गकिणिहीभिः प्रलेपनम्। चतुर्गुणे गवां मूत्रे तैलमभ्यञ्जने हितम् ॥ १३ ॥

***कट्वङ्गः [सोनापाठा]। किणिही [चिरचिरी] ॥ १२-१३ ॥**

सरसों, सहजन, सोनापाठा तथा अपामार्ग इन सब ओषधियों के चूर्ण को खाने अथवा इन्हीं ओषधियों को गोमूत्र में पीसकर शरीर पर लेप करने से अथवा इन ओषधियों को चौगुने गोमूत्र तथा इतने ही तेल में डालकर तैलपाक कर उस तैल की मालिस करने से अपस्मार शान्त हो जाता है ॥ १२-१३ ॥

निर्गुण्डीभववन्दाकनावनस्य प्रयोगतः। उपैति सहसा नाशमपस्मारो महागदः ॥ १४ ॥

निर्गुण्डी के बाँदे के स्वरस का नस्य देने से महाबलशाली अपस्मार सहसा नष्ट हो जाता है ॥

मनोह्वा तार्क्ष्यविष्ठा च शकृत्पारावतस्य च। अञ्जनाद्धन्त्यपस्मारमुन्मादञ्च विशेषतः ॥१५॥

***मनोह्वा = मनःशिला। शकृद् = विष्ठा ॥ १५ ॥**

मनःशिला, रसोत, गोबर तथा कबूतर की विष्ठा को बारीक पीस कर अञ्जन बना ले इस अञ्जन के प्रयोग से अपस्मार तथा उन्माद प्रायः नष्ट हो जाते हैं ॥ १५ ॥

यः खादेत् क्षीरभक्ताशी माक्षिकेण वचारजः। अपस्मारं महाघोरं चिरोत्थं स जयेद् ध्रुवम् ॥

***वचा = घोड़वच ॥ १६ ॥**

जो मनुष्य मधु के साथ घोड़वच के चूर्ण को चाटता और दूध-भात खाता है उसका महाघोर तथा पुराना अपस्मार अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ १६ ॥

कूष्माण्डकफलोत्थेन रसेन परिपेषितम्। अपस्मारविनाशाय यष्ट्याह्वं स पिबेत्त्र्यहम् ॥१७॥

***त्र्यहमिति। एकस्य पानाद् दिवसत्रयेणैवापस्मारोपशमो भवतीत्यभिप्रायः ॥ १७ ॥**

पेठे के रस से पिसी हुई मुलहठी को तीन दिन पीने से अपस्मार रोग नष्ट हो जाता है ॥१७॥

ब्राह्मीघृतमाह—

ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पीश्रृतं घृतम्। पुराणं स्यादपस्मारोन्मादग्रहहरं परम् ॥ १८ ॥

***एतस्य प्रक्रिया—पुराणं गोघृतं प्रस्थमितम्। वचाकुष्ठशङ्खपुष्पीणां समुदितानां कुडवमितानां कल्केन प्रस्थमितब्राह्मीरसपिष्टेन पचेत् ॥ १८ ॥**

वच, कूठ तथा शङ्खपुष्पी इन सब मिलित ओषधियों को १६ तोले लेकर १ प्रस्थ ब्राह्मीस्वरस के साथ पीसकर कल्क बनाले। इसके साथ पुराने १ प्रस्थ गोघृत का परिपाक करे। सिद्ध होनेपर इस घृत के सेवन से अपस्मार, उन्माद तथा ग्रहदोष नष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

कूष्माण्डकघृतमाह—

कूष्माण्डकरसे सर्पिरष्टादशगुणे पचेत्। यष्ट्याह्वकल्कं तत्पानमपस्मारविनाशनम् ॥ १९ ॥

गोघृत को मुलहठी के कल्क तथा अठारह गुने पेठे के स्वरस के साथ पकावे। घृत सिद्ध हो जाने पर उतारकर छानले। इस कूष्माण्डक घृत के सेवन से अपस्मार रोग शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१९॥

हृत्कम्पोऽक्षिरुजा यस्य स्वेदो हस्तादिशीतता। दशमूलीजलं तस्य कल्याणाख्यं प्रयोजयेत् ॥

जिस अपस्मारी के हृदय में कम्प हो, नेत्रों में पीड़ा, स्वेद तथा हाथ-पैरों में शीतलता हो तो उसे दशमूल का क्वाथ अथवा 'कल्याणक' चूर्ण का सेवन कराना चाहिये ॥ २० ॥

कल्याणचूर्णमाह—

पञ्चकोलं समरिचं त्रिफला बिडसैन्धवम्। कृष्णाविडङ्गपूतीकयवानीधान्यजीरकम्।
पीतमुष्णाम्बुना चूर्णं वातश्लेष्मामयापहम् ॥ २१ ॥
अपस्मारे तथोन्मादेऽप्यर्शसां ग्रहणीगदे। एतत्कल्याणकं चूर्णं नष्टस्याग्नेश्च दीपनम् ॥२२॥

पिप्पली, पिपरामूल, चव्य, चित्त की जड़, सोंठ, कालीमिर्च, हरट, बहेड़ा, आंवला, विडनमक, सेंधानमक, पिप्पली, वायविडङ्ग, करञ्ज, अजवायन, धनियां, तथा जीरा इन सब ओषधियों के चूर्ण को उष्ण जल के साथ सेवन करने से वात तथा कफ के विकार, अपस्मार, उन्माद अर्श और ग्रहणी-रोग को यह कल्याणक चूर्ण दूर करता है तथा नष्ट अग्नि को प्रदीप्त करता है ॥ २१–२२ ॥

(ग्रन्थबाह्यम्)

द्वौ कीटमेढ्रौ विधिवदानीय रविवासरे। कण्ठे भुजे वा सन्धार्य जयेदुग्रामपस्मृतिम् ॥ २३ ॥

***अयन्तु कीटो नदीतीरे सिकतामध्ये तिष्ठति ॥ २३ ॥**

विधिपूर्वक रविवार के दिन दो कीटमेढ्रों को लाकर अपस्मार रोगी के कण्ठ तथा भुजा में बांधने से उग्र अपस्मार नष्ट हो जाता है। यह कीड़ा नदी के किनारे बालू के भीतर रहता है ॥ २३ ॥

शिग्रुकुष्ठजलाजाजीलशुनव्योषहिङ्गुभिः। बस्तमूत्रे शृतं तैलं नावनं स्यादपस्मृतौ ॥ २४ ॥

***जलं = बालकम्। अजाजी = जीरकः। बस्तः = छागः। नावनं = नस्यम् ॥ २४ ॥**

सहिजन, कूठ सुगन्धबाला, जीरा, लहसुन, सोंठ मिर्च, पीपल तथा हींग इन सब ओषधियों को पीस कर बकरे के मूत्र के साथ तेल में पकाले। इस तेल के नस्य लेने से अपस्मार नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

उन्मादेषु यदुद्दिष्टं पथ्यं नस्याञ्जनौषधम्। अपस्मारेऽपि तत्सर्वं प्रयोक्तव्यं भिषग्वरैः ॥२५॥

उन्माद में जिस पथ्य, नस्य, अञ्जन तथा ओषधि का वर्णन किया गया है वे सब ही ओषधियां वैद्य को अपस्मार में व्यवहृत करनी चाहिये ॥ २५ ॥

भूतभैरवरसमाह—

मृतसूताभ्रलोहञ्च शिलागन्धञ्च तालकम्। रसाञ्जनञ्च तुल्यांशं नरमूत्रेण मर्दयेत् ॥ २६ ॥
तद्गोलद्विगुणं गन्धं लौहपात्रे क्षणं पचेत्। पञ्चगुञ्जोन्मितं भक्ष्यमपस्मारहरं परम् ॥ २७ ॥
व्योषं सौवर्चलं हिङ्गु नरमूत्रेऽजसर्पिषा। पिबेत्कर्षमितं पश्चाद्रसोऽयं भूतभैरवः ॥ २८ ॥

इति त्रयोविंशोऽपस्माराधिकारः समाप्तः ॥ २३ ॥

पारदभस्म, अभ्रकभस्म, लौहभस्म, मनःशिला, गन्धक, हरताल तथा रसौत इन सब ओषधियों को समान परिमाण में लेकर मनुष्य के मूत्र में खरल करे। फिर इसका गोला बनाकर दूने गन्धक के साथ लौहपात्र में क्षणभर पकावे। इस प्रकार 'भूतभैरव' नामक रस सिद्ध होता है। इस रस को ५ रत्ती की मात्रा में खाने से अपस्मार अवश्य नष्ट होता है। इसे खाकर सोंठ, मिर्च, पीपल, कालानमक तथा हींग इन सबों को चूर्ण कर १ तोले की मात्रा में मनुष्य के मूत्र तथा घृत के साथ सेवन करे ॥ २६–२८ ॥

इति भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां-
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे त्रयोविंशोऽपस्माराधिकारः समाप्तः ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशो वातव्याध्यधिकारः ॥ २४ ॥

तत्र वातव्याधीनां सामान्यतो विप्रकृष्टनिदानान्याह—

कषायकटुतिक्तकप्रमितरूक्षलघ्वन्नतः, पुरःपवनजागरप्रतरणाभिघातश्रमैः।
हिमादनशनात्तथा निधुवनाच्च धातुक्षयान्मलादिरयधारणान्मदनशोकचिन्ताभयैः॥ १ ॥
अतिक्षतजमोक्षणाद्रुदकृतातिमांसक्षयादतीव वमनान्नृणामतिविरेचनादामतः।
पयोदसमये दिनक्षणदयोस्तृतीयांशयोर्जरामतिगतेऽशिते शिशिरसञ्ज्ञकालेऽपि च ॥ २ ॥
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो वली। करोति विविधान् रोगान्सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥

ऋप्रमितमत्र वैपरीत्येनोपसर्गस्तेनापरिमितमित्यर्थः। प्रकर्षेण मितमत्यल्पं वा। लघ्वन्नम् = अतिपुराणं शाल्यादि। कति चिदन्नानि नवान्यपि वातलानि। यत आह गुणरत्नमालायाम्—

नीवारस्त्रिपुटः सतीनचणकश्यामाकमुद्गाढका-
निष्पावाश्च मकुष्ठकश्च वरटा मङ्गल्यकः कोद्रवः॥

एते वातकरा इति शेषः। नीवारः = प्रसाधिका 'तीनी'ति लोके। त्रिपुटः='खेसारी'-ति लोके। सतीनः = कलायः। निष्पावो = राजमाषः 'बोढा' इति लोके। मकुष्ठकः = 'मोठ' इति लोके। वरटा = वरटिका 'वरैं' इति लोके। मङ्गल्यकः=मसूरी। पुरःपवनः = प्राग्वातः। आमतः = आमेन मार्गावरणाद्। यत उक्तम्—

'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च' ॥ १ ॥ इति

पयोदसमये = वर्षासु। जरामतिगतेऽशिते = भुक्तेऽतीव जीर्णतां गते। 'देहे स्रोतांसि' इत्यादिना सम्प्राप्तिरुक्ता। कषायादिभिर्हेतुभिः, वर्षाऽऽदौ समये हेतुभूते वली, अनिलः = प्रवृद्धो वायुः, विविधान् रोगान् करोति। ते रोगाः कथ्यन्ते, उत्तरत्र–शिरोग्रहेत्यादिना ॥१-२॥

कसैले, कटु, तिक्त, अत्यन्त कम, अत्यन्त अधिक, रूक्ष तथा लघु अन्न के भोजन से, पूर्व दिशा की वायु के सेवन से, जागरण, पानी में तैरने, चोट आदि के लगने, श्रम, अत्यन्त शीत लगने, अनशन, अत्यन्त मैथुन, धातुक्षय, मलमूत्रादि के वेगों को रोकने, कामदेवजन्य वेदना, शोक, चिन्ता तथा डर से और अत्यन्त अधिक मात्रा में रक्त निकलवाने, रोग से मांस के क्षीण होने, अधिक वमन, विरेचन तथा आमदोष से वातरोग उत्पन्न होते हैं। वर्षाऋतु, दिन तथा रात्रि के तृतीय भाग में, अन्न के जीर्ण होने पर तथा शिशिरकाल में भी बलवान् वायु शरीर के रिक्त स्रोतसों में भरकर सर्वाङ्ग में अथवा एक अङ्ग में रहने वाले अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है।

बहुत पुराने शालि चावल आदि अन्न लघु अन्न माने जाते हैं, कुछ नवीन अन्न भी वातल होते हैं। जैसा कि 'गुणरत्नमाला' निघण्टु में वर्णित है—तिल्ली, खेसारी, मटर, चना, सांवा, मूंग, अरहर, बोड़ा, मोठ, वरैं, मसूर तथा कोदो ये सब धान्य वात को उत्पन्न करते हैं। आम द्वारा मार्गका अवरोध होता है। अतः आमसे भी वात उत्पन्न होता है। अन्य ग्रन्थकारोंका भी मत है कि—

धातुक्षय तथा मार्गों के अवरोध से वायु प्रकुपित होता है।

अब वातजन्य रोगों को अगले श्लोक में शिरोग्रह इत्यादि लक्षणों से कहते हैं ॥ १-२ ॥

वर्षत्वादिकारणप्रवलवातोत्पन्नव्याधिनामान्याह—

शिरोग्रहोऽल्पकृशता जृम्भाऽत्यर्थं हनुग्रहः। जिह्वास्तम्भो गद्गदत्वं मिन्मिनत्वञ्च मूकता ॥
वाचालता प्रलापश्च रसानामनभिज्ञता। बाधिर्यं कर्णनादश्च स्पर्शाज्ञत्वं तथाऽर्दितम् ॥५॥
मन्यास्तम्भोऽत्र गणितो बाहुशोषोऽपबाहुकः। वर्णिता चैव विश्वाची ऊर्ध्ववात उदीरितः॥
आध्मानञ्च प्रत्याध्मानं वाताष्ठीला प्रतिष्ठीला। तूनी च प्रतितूनी च वह्निवैषम्यमेव च ॥७॥
आटोपः पार्श्वशूलञ्च त्रिकशूलं तथैव च। मुहुश्च मूत्रणं मूत्रनिग्रहो मलगाढता ॥ ८ ॥
पुरीषस्याप्रवृत्तिश्च गृध्रसी च ततः परा। कलायखञ्जता चापि खञ्जता पङ्गुता तथा ॥९॥

क्रोष्टुशीर्षकखल्ल्यौ च वातकण्टक एव च । पादहर्षः पाददाह आक्षेपो दण्डकाभिधः ॥१०॥
वातपित्तकृताक्षेपस्तथा दण्डापतानकः । अभिघातकृताक्षेप आयामो द्विविधः स्मृतः ॥११॥
आन्तरश्च तथा बाह्यो धनुर्वातश्च कुब्जकः। अपतन्त्रोऽपतानश्च पक्षाघातः खिलाङ्गकः॥१२॥
कम्पः स्तम्भो व्यथा तोदो भेदश्च स्फुरणं तथा ।
रौक्ष्यं कार्श्यञ्च कार्ष्ण्यञ्च शैत्यं लोम्नश्च हर्षणम् ॥ १३ ॥
अङ्गमर्दोऽङ्गविभ्रंशः शिरासंकोच एव च । अङ्गशोषश्च भीरुत्वं मोहश्च चलचित्तता ॥ १४ ॥
निद्रानाशः स्वेदनाशो बलहानिस्तथैव च । शुक्रक्षयो रजोनाशो गर्भनाशः परिश्रमः ॥१५॥
एत एवाशीतिसंख्या रोगा योगेन रूढितः । वातव्याधीतिनामानो मुनिभिः परीकीर्त्तिताः ॥

*एत एव = शिरोग्रहादय एव । योगेन = वातेन वाताद् वा व्याधिर्वातव्याधिरिति निरुक्त्या । तदा वातज्वरादिष्वपि प्रसङ्गः स्यादत आह—रूढितः=प्रसिद्धितः । शिरोग्रहादयोऽशीतिरेव वातव्याधिसंख्या प्रसिद्धा न तु वातज्वरादयः ॥ १६ ॥

१-शिरोग्रह, २-अलक्ष्यता, ३-जृम्भा, ४-हनुग्रह, ५-जिह्वास्तम्भ, ६-गद्गदत्व, ७-मिनमिनत्व, ८-मूकता, ९-वाचालता, १०-प्रलाप, ११-रसाज्ञान, १२-बाधिर्य, १३-कर्णनाद, १४-स्पर्शाज्ञत्व, १५-अर्दित, १६-मन्यास्तम्भ, १७-बाहुशोष, १८-अपबाहुक, १९-विश्वाची, २०-ऊर्ध्ववात, २१-आध्मान, २२-प्रत्याध्मान। २३-वाताष्ठीला, २४-प्रतिष्ठीला, २५-तूनी, २६-प्रतितूनी, २७-वह्निवैषम्य, २८-आटोप, २९-पार्श्वशूल. ३०-त्रिकशूल, ३१-मुहुर्मूत्रण, ३२-मूत्रनिग्रह, ३३-मलगाढ़ता ३४-पुरीषाप्रवृत्ति, ३५-गृध्रसी, ३६-कलायखञ्जता, ३७-खञ्जता, ३८-पङ्गुता, ३९-क्रोष्टुशीर्ष, ४०-खल्ली, ४१-वातकण्टक, ४२-पादहर्ष, ४३-पाददाह, ४४-दण्डकाक्षेप, ४५-वातपित्तकृताक्षेप, ४६-दण्डापतानक, ४७-अभिघाताक्षेप, ४८-अन्तरायाम, ४९-बाह्यायाम, ५०-धनुर्वात, ५१-कुब्जक ५२-अपतन्त्र, ५३-अपतान, ५४-पक्षाघात, ५५-सर्वाङ्गवात, ५६-कम्प, ५७-स्तम्भ, ५८-व्यथा, ५९-तोद, ६०-भेद, ६१-स्फुरण, ६२-रौक्ष्य, ६३-कार्श्य, ६४-कार्ष्ण्य, ६५-शैत्य, ६६-लोमहर्ष, ६७-अङ्गमर्द, ६८-अङ्गविभ्रंश, ६९-शिरासङ्कोच, ७०-अङ्गशोष, ७१-भीरुत्व, ७२-मोह, ७३-चलचित्तता, ७४-निद्रानाश, ७५-स्वेदनाश, ७६-बलहानि, ७७-शुक्रक्षय. ७८-रजोनाश, ७९-गर्भनाश तथा ८०-परिश्रम; ये ८० प्रकार के वातरोग हैं । ऐसा मुनियों ने कहा है ।

वातव्याधि' यह शब्द यौगिक तथा रूढ दोनों हैं । यदि वातेन वा वाताद् व्याधिः 'वातव्याधिः' अर्थात्—वात से उत्पन्न होनेवाली व्याधि 'वातव्याधि' कहलाती है । केवल ऐसा ही यौगिक अर्थ होता तो 'वातज्वर' इत्यादि का भी ग्रहण 'वातव्याधि' में हो जाता, किन्तु इस शब्द के यौगिक तथा रूढ़ होने से ही शिरोग्रह इत्यादि ८० प्रकार के वात से उत्पन्न होने वाले रोगों की ही वातव्याधि में गणना होती है न कि 'वातज्वर' इत्यादि की ॥ ४-१६ ॥

वातव्याधीनां सामान्यचिकित्सामाह—

मधुरलवणसाम्लस्निग्धनस्योष्णनिद्रागुरुरविकरवस्तिस्वेदसन्तर्पणानि ।
दहनजलदशोपाभ्यङ्गसम्मर्दनानि प्रकुपितपवनानां शान्तिमेतानि कुर्युः ॥१७॥

मधुर, नमकीन, खट्टे पदार्थों का सेवन, नस्य, उष्ण पदार्थ, निद्रा, गुरु पदार्थ, सूर्य की किरणें, वस्ति, स्वेदन, सन्तर्पण, दहनक्रिया, जलसेचन, सन्ताप, अभ्यङ्ग तथा शरीर का मर्दन ये सब प्रकुपित वात को शान्त करते हैं ॥ १७ ॥

अथ विशिष्टानां वातव्याधीनां लक्षणानि चिकित्सा च ।

तत्रादौ शिरोग्रहस्य लक्षणमाह—

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्द्धधराः शिराः। रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्याच्छिरोग्रहः

*मूर्द्धधराः =ग्रीवागताः । स पवनः शिरोग्रहः स्यादित्यन्वयः । स चासाध्यः ॥१८॥

प्रकुपित वात ग्रीवा में रहने वाली शिराओं को रूक्ष, वेदनायुक्त तथा कृष्णवर्ण कर देती है। उसे शिरोग्रह कहते हैं। यह रोग असाध्य है ॥ १८॥

शिरोग्रहचिकित्सामाह—

शिरोग्रहे तु कर्त्तव्या शिरोगतमरुक्रिया। दशमूलीकषायेण मातुलुङ्गरसेन च॥
शृतेन तैलेनाभ्यङ्गः शिरोवस्तिश्च युज्यते॥ १९॥

शिरोग्रह में शिराओं में रहने वाले वात की चिकित्सा करनी चाहिये। दशमूल के क्वाथ तथा बिजौरे नीबू के स्वरस के साथ पकाये हुये तेल से अभ्यङ्ग करना चाहिये तथा शिरोवस्ति देनी चाहिये॥ १९॥

जृम्भालक्षणमाह—

पीत्वैकं श्वासमनिलः पुनस्त्यजति वेगवान्। आलस्यनिद्रायुक्तश्च स जृम्भ इति कथ्यते॥
***जृम्भाशब्दस्त्रिलिङ्गः। तथा च 'जृम्भस्तु त्रिषु जृम्भणम्' इत्यमरः॥ २०॥**

वेगवान् एक श्वास वायु को पीकर पुनः उस श्वास को बाहर निकलता है और साथ-साथ आलस्य तथा निद्रा सी प्रतीत होती है उसे जृम्भा कहते हैं।

मूल श्लोक में वर्णित 'जम्भ' शब्द संस्कृत भाषा में त्रिलिङ्ग है अर्थात् जृम्भ शब्द तीनों लिङ्गों में होता है। और जृम्भण शब्द नपुंसकलिङ्ग है ऐसा अमरकोष में वर्णित है॥ २०॥

जृम्भाचिकित्सामाह—

शुण्ठी पिप्पल्यूषणं दीप्यकञ्च सिन्धूद्भूतं चेति सर्वे पृथग्वा।
तद्रूपं वा सूक्ष्मचूर्णीकृतं वा जृम्भाऽऽरम्भस्तम्भकृत्स्यात्तदेव॥ २१॥

सोंठ, पिप्पली, काली मिर्च, अजवाइन तथा सेन्धा नमक इन सब का अलग-अलग अथवा एकत्र मिला कर सूक्ष्म चूर्ण करके खाने से तत्काल जृम्भा रुक जाती है॥ २१॥

जृम्भावेगे समुत्पन्ने शोभने शयने नरम्। स्वापयेत्तेन नियमाज्जृम्भावेगः प्रशाम्यति॥ २२॥

जब जृम्भा आना प्रारम्भ हो तभी उस मनुष्य को सुन्दर शय्या पर सुला दे, इस नियम से जृम्भा का वेग शान्त हो जाता है॥ २२॥

जृम्भावेगः क्षयं याति कटुतैलेन मर्दनात्। भोजनात्स्वादुभोज्यानां तथा ताम्बूलभक्षणात्॥

कड़वे तेल की मालिश करने से, मधुर भोजन करने से तथा ताम्बूल भक्षण से जृम्भा शान्त हो जाती है॥ २३॥

हनुग्रहस्य सनिदानं लक्षणमाह—

जिह्वानिर्लेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः। कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वानिलो हनुम्॥२४॥
करोति विवृतास्यत्वमथ वा संवृतास्यताम्। हनुग्रहः स तेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम्॥
*** निर्लेखनं = कर्षणम्। शुष्कं = चणकादि। स्रंसयित्वा = अधःकृत्वा। विवृतास्यत्वं = व्यात्तमुखत्वम्। संवृतास्यतां = दन्तलग्नताम्॥ २४–२५॥**

जिह्वानिर्लेखन से, चने इत्यादि सूखे पदार्थों के चबाने से तथा चोट लगने से हनुमूल में रहने वाला वायु कुपित होकर हनु को नीचे करके मुख को खोल देता है अथवा बन्द कर देता है। इसे हनुग्रह[1] कहते हैं। इस रोग में बोलने तथा चबाने में कठिनाई होती है॥ २४–२५॥

---

१. हनुग्रह में या तो मुख खुल जाता है अथवा एकदम बन्द हो जाता है। अपने यहां इस प्रकार का वर्णन है, जो कि—'करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम्' इस पद से सुस्पष्ट हो जाता है। हनुग्रह का वह लक्षण जिसमें कि मुख एकदम खुल जाता है, अधोहन्विका नामक अस्थि के विश्लेष से होता है। यह विकृति असाधारण है। पेशियों के कर्षण तथा मुख के खुले होने पर चिबुक पर आघात लगने से विश्लेष हो जाता है। कुछ व्यक्तियों में सन्धि के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं अथवा सन्ध्यर्बुद के छोटे होने से हन्विका सुगमता से हनुखात से आगे की ओर फिसल जाती है।

साधारणतया मुख को खोलने के समय हनुमुण्ड हनुखात में आगे की ओर फिसलकर सन्ध्यर्बुद के पीछे पहुंच जाता है। यदि इस स्थिति में चिबुक पर तनिक भी आघात लगे तो वह अर्बुद पर से

हनुग्रहचिकित्सामाह—

संवृतं चिबुकं स्निग्धं स्विन्नमुन्नमयेद्भिषक्। विवृतं नमयित्वा तु कुर्याद्प्राप्तामिह क्रियाम् ॥

यदि मुख बन्द हो गया हो तो चिबुक का स्नेहन तथा स्वेदन करके वैद्य मुख खोल दे। तथा यदि मुख खुल गया हो तो चिबुक को झुका कर उचित क्रिया करे ॥ २६ ॥

पिप्पलीमार्द्रकञ्चापि सञ्चर्व्य च मुहुर्मुहुः। निष्ठीवेत्तप्ततोयेन शोधयेद्वदनान्तरम् ॥ २७ ॥

पिप्पली तथा अदरक को बारम्बार चबा कर थूके और गर्म पानी से मुख के भीतरी भाग को स्वच्छ करे ॥ २७ ॥

निष्कुल्य लशुनं सम्यक्संक्षुद्य तिलतैलवत्। सैन्धवेनान्वितं खादेद्धनुस्तम्भार्दितो नरः ॥

लहसुन को पीसकर सेन्धानमक मिश्रित तिलतैल के साथ खाने से हनुग्रह दूर हो जाता है ॥२८॥

रसोनगुटिकामाषविदलं परिपेष्य च। योजयेत्पिष्टिकां ताञ्च सैन्धवार्द्रकहिङ्गुभिः ॥ २९ ॥
ततस्तु वटकान्कृत्वा तिलतैले पचेच्छनैः। भक्षयेत्तान्यथावह्नि हनुस्तम्भात्सुखी भवेत् ॥३०॥

लहसुन तथा उड़द की धुली दाल को एकत्र पीस कर उसमें सेन्धानमक, अदरक तथा हींग डालकर तिल के तेल में मन्द आँच से बड़े बना कर जठराग्नि के अनुसार सेवन करने से हनुग्रह दूर हो जाता है ॥ २९-३० ॥

अभ्यज्य पक्वतैलेन स्वेदयेन्मृदुनाग्निना। वस्तिं विधारयेन्मूर्ध्नि तैलेन परिपूरितम् ॥३१॥

पके हुये तेल की मालिश करके मन्द अग्नि से स्वेदन कराकर सिर पर तैलपूर्ण वस्ति को धारण करने से हनुग्रह नष्ट हो जाता है ॥ ३१ ॥

प्रसारणीतैलमाह—

समूलपत्रशाखायाः प्रसारण्याः शतं पलैः। सम्यक्संक्षुद्य सलिले द्रोणमात्रे पचेद्भिषक् ॥३२॥

फिसलता हुआ उसके आगे पहुँच जायगा। हनुकुन्त पर लगी हुई संकोचक पेशियां भी अस्थि को आगे की ओर खींचती है। इस प्रकार जो पाश्चात्त्य विज्ञान में इस रोग के कारण के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अनुभव का वर्णन मिलता है। वह ऊपर लिखे हुये—

'जिह्वानिर्लेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः। कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वानिलो हनुम्। करोति विवृतास्यत्वम्'-इत्यादि इस श्लोक से भिन्न नहीं है।

लक्षण—रोगी का मुँह खुला रह जाता है। चिबुक नीचे को दब जाती है। यदि केवल एक ही ओर सन्धि-विश्लेष हुआ है तो चिबुक उसी ओर को मुड़ जायगी। किन्तु दोनों ओर के विश्लेष में केवल नीचे को दबेगी। कपोल पर कर्णमूल के आगे एक गढ़ा और उसके आगे एक उभार दिखाई देगा। मुख के भीतर अँगुली डाल कर परीक्षा करने से हनुकुन्त अपने स्वाभाविक स्थान से आगे की ओर हटा हुआ प्रतीत होगा।

चिकित्सा—रोगी को कुर्सी पर बैठाकर चिकित्सक उसके सामने खड़ा होता है, एक सहायक पीछे की ओर खड़ा होकर रोगी के सिर को पकड़ लेता है। चिकित्सक अपने अंगूठे को शुद्धवस्त्र से ढककर रोगी के मुख के भीतर डालता है और अंगुलियों को बाहर रखकर दोनों के बीच में दाढ़ों को पकड़ कर पीछे और नीचे की ओर दाबता है। पर्याप्त भार डालने से हनुमुण्ड की ओर दबकर सन्ध्यर्बुद पर से फिसलता हुआ अपने पूर्व स्थान में पहुँच जाता। इसके पश्चात् दश दिन तक हन्वस्थि पर बन्धेज बाँधना आवश्यक है। रोगी को नित्य कर्म करने की आज्ञा दी जा सकती है। इसकी चिकित्सा के सम्बन्ध में चरक भगवान् ने भी ठीक ऐसा ही लिखा है, यथाः—

व्यात्तानने हनुं स्विन्नामङ्गुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च। प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य चिबुकोन्नयनं हितम्।
स्रस्तां सङ्गमयेत् स्थानं स्तब्धां स्विन्नां विनामयेत्। च० चि० अ० २८ ॥

हनुग्रह का वह लक्षण जिसमें कि मुख पूर्णतया बन्द हो जाता है। अंग्रेजी में उसका नाम लाक् जा या ट्रिसमस (Lock jaw or Tri smus) है। यह रोग मुख की पेशियों के संकुचित हो जाने के कारण होता है।

सलिलस्य चतुर्थांशं क्वाथं समवशेषयेत्। ततः पलशते तैले तं कषायं पुनः पचेत् ॥ ३३ ॥
पचेत्पलशतं मस्तु काञ्जिकं मस्तुनः समम्। ततः शुद्धं पचेद् दुग्धं गव्यं तैलाच्चतुर्गुणम् ॥
चित्रकं पिप्पलीमूलं मधुकं सैन्धवं वचा। शतपुष्पा देवदारु रास्ना च गजपिप्पली ॥ ३५ ॥
प्रसारणीभवं मूलं मांसी रक्तञ्च चन्दनम्। तथा वातारिमूलञ्च बलामूलञ्च नागरम् ॥ ३६॥
तैलस्य चाष्टमांशेन सर्वकल्कानि साधयेत्। नाम्ना प्रसारणीतैलं विख्यातं तत्प्रयुज्यते ॥
पाने नस्ये शिरोवस्तौ मर्दने स्वेदने तथा। प्रयुक्तं वातजान् रोगान्सर्वानपि विनाशयेत् ॥
विशेषतो हनुस्तम्भं जिह्वास्तम्भं तथाऽर्दितम्। गद्गदत्वञ्च विश्वाचीं मन्यास्तम्भापबाहुकौ ॥
त्रिकशूलं गृध्रसीञ्च खञ्जतां पङ्गुतां तथा। कलायखञ्जतां खल्लीं स्तम्भं सङ्कोचमेव च ॥४०॥
आन्तरं बाह्यमायामं तथा दण्डापतानकम्। धनुर्वातञ्च कुब्जत्वं व्यपोहति न संशयः ॥४१॥
क्षीणानां स्थविराणाञ्च वातसङ्कोचितात्मनाम्। प्रसारयेद्यतोऽङ्गानि तदुक्तैषा प्रसारणी ॥

मूल, पत्र तथा शाखाओं समेत प्रसारिणी १०० पल (४०० तोले) लेकर अच्छी तरह से कूट कर एक द्रोण (१०२४ तोले) जल में पकावे। जब पकते २ चतुर्थांश जल शेष रह जाय तो उतार कर छानकर १०० पल तिल के तेल, १०० पल दही के तोड़, १०० पल काञ्जी तथा तेल से चौगुना गाय का दूध डाल कर यथाविधि पाक करे। इसमें चित्त, पिपरामूल, मुलहठी, सेन्धा नमक, वच, सौंफ, देवदारु, गजपीपल, प्रसारिणी की जड़, जटामांसी, लालचन्दन, एरण्ड की जड़, खिरेटी की जड़ तथा सोंठ इन सब ओषधियों को ५० तोले लेकर कल्क बनाकर तेल में डालकर पकाले। विख्यात प्रसारणी नामक तेल सिद्ध हो जाता है। इस तेल को पीने, नस्य शिरोवस्ति, मर्दन तथा स्वेदन से सम्पूर्ण वातरोग नष्ट हो जाते हैं। विशेषतः हनुग्रह, जिह्वा-स्तम्भ, अर्दित, गद्गदत्व, विश्वाची, मन्यास्तम्भ, अपबाहुक, त्रिकशूल, गृध्रसी, खञ्जता, पङ्गुता, कलायखञ्जता, खल्ली, स्तम्भ, सङ्कोच, अन्तरायाम, बाह्यायाम, दण्डापतानक, धनुर्वात तथा कुब्जत्व का निस्सन्देह नाश हो जाता है। यह प्रसारणी तैल क्षीण, वृद्ध तथा वात से जिनका शरीर सिकुड़ गया है ऐसे मनुष्यों के अङ्गों को फैलाती है। इसीलिये इसका नाम प्रसारणी कहा गया है ॥ ३२-४२ ॥

जिह्वास्तम्भलक्षणमाह—

वाग्वाहिनीशिरासंस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः। जिह्वास्तम्भः स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता॥
*अनीशता = असामर्थ्यम् ॥ ४३ ॥

शब्दों को वहन करने वाली शिराओं में स्थित प्रकुपित वात जिह्वा को स्तब्ध कर देता है। इसे जिह्वास्तम्भ कहते हैं। इस रोग से आक्रान्त मनुष्य भोजन, पान तथा बोलने में असमर्थ हो जाता है॥

जिह्वास्तम्भचिकित्सामाह—

जिह्वास्तम्भे यथाऽवस्थं वातव्याधिचिकित्सितम्।
सामान्योक्ता क्रिया चात्रार्दितस्यापि हिता मता ॥ ४४ ॥

जिह्वास्तम्भ में अवस्था के अनुसार वातव्याधि की ही चिकित्सा करनी चाहिये। तथा अर्दित रोग की जो सामान्य चिकित्सा कही गई है वह भी हितकारिणी है ॥ ४४ ॥

गद्गदमिन्मिनमूकानां लक्षणमाह—

आवृत्य वायुः सकफो धमनीः शब्दवाहिनीः। नरान्करोत्यवचनान्मूकमिन्मिनगद्गदान् ॥
*अवचनान् = अत्राभावे ईषदर्थे नञ्, तेन ईषद्वचनान्। स एव वायुः प्रबलश्चेत्तदा मूकान् = अवचनान्। मिन्मिनान् = सानुनासिकवचनान्। गद्गदान्=लुप्तपदव्यञ्जनाभिधायिनः। करोतीत्यन्वयः। एषां समानाधिकरणत्वेऽपि दुष्टेरनुत्कर्षादिना अदृष्टवशाद्वा भेदोऽवोद्धव्यः ॥ ४५ ॥

कफयुक्त वात शब्दवाहिनी धमनियों को आवृत करके मनुष्यकी वाक्शक्तिको कम कर देता है। यदि वही वायु प्रबल हो तो मूक और जिसमें पद तथा व्यञ्जनों का लोप होजाता है ऐसे गद्गद रोग तथा मिनमिनत्व (जिसमें मनुष्य सानुनासिक बोलता है) को उत्पन्न कर देता है। यद्यपि इन सब रोगों

का स्थान समान है तथापि दोषों की न्यूनाधिकता से अथवा अदृष्टवश रोगों में भेद हो जाता है ॥

अथ गद्गदमिन्मिनमूकानां चिकित्सा ।

तत्र सारस्वतघृतमाह—

प्रस्थं घृतस्य पलिकैः शिग्रुवचालवणधातकीलोध्रैः। आजे पयसि सपाठैः सिद्धं सारस्वतं नाम्ना ॥
विधिवदुपयुज्यमानं जडगद्गदमूकतां क्षणाज्जित्वा। स्मृतिमतिमेधाप्रतिभाःकुर्यात्सुस्पष्टवाग्भवति

सहजन, वच, सेन्धा नमक, धाय के फूल, लोध तथा पाठा इन सब को एक एक पल लेकर कल्क बना कर बकरी के दूध में तथा एक प्रस्थ घी में डाल कर पकाले । इस प्रकार सारस्वत घृत सिद्ध होता है । इस घृत को विधिपूर्वक सेवन करने से जड़ता, गद्गदत्व, मूकता क्षण भर में नष्ट हो जाती हैं । स्मरणशक्ति, मेधाशक्ति तथा प्रतिभा अत्यन्त बढ़ती है और शब्द सुस्पष्ट हो जाते हैं ॥४६-४७॥

कल्याणावलेहमाह—

सहरिद्रा वचा कुष्ठं पिप्पली विश्वभेषजम् । अजाजी चाजमोदा च यष्टीमधुकसैन्धवम् ॥
एतानि समभागानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् । तच्चूर्णं सर्पिषा लेह्यं प्रत्यहं भक्षयेन्नरः ॥४९॥
एकविंशतिरात्रेण भवेच्छ्रुतिधरो नरः । मेघदुन्दुभिनिर्घोषो मत्तकोकिलनिस्वनः ॥ ५० ॥

हल्दी, वच, कूठ, पिप्पली, सोंठ, जीरा, अजमोदा मुलहठी तथा सेन्धनमक इन सब ओषधियों को समान भाग लेकर सूक्ष्मचूर्ण कर डाले । फिर इस चूर्ण को घी के साथ प्रतिदिन चाटे तो इससे मनुष्य २१ दिन में श्रवणमात्र से धारण करने की शक्तिवाला, मेघ तथा दुन्दुभि के समान स्वरवाला और मतवाली कोयल के समान स्वरवाला हो जाता है ॥ ४८-५० ॥

प्रलापस्य लक्षणमाह—

स्वहेतुकुपिताद्वातादसम्बद्धं निरर्थकम् । वचनं यन्नरो ब्रूते स प्रलापः प्रकीर्त्तितः ॥ ५१ ॥

अपने कारणों से प्रकुपित वात के कारण जो मनुष्य असम्बद्ध तथा निरर्थक बोलने लगता है उसे प्रलाप कहते हैं ॥ ५१ ॥

प्रलापचिकित्सामाह—

सतगरवरतिक्तारेवताम्भोदतिक्तानलदतुरगगन्धाभारतीहारहूराः ।
मलयजदशमूलीशङ्खपुष्प्यः सुपक्वाः प्रलपनमपहन्युः पानतो नातिदूरात् ॥५२॥

*वरतिक्तोऽत्र पर्पटः । नलदम् = उशीरम् । भारती = ब्राह्मी । हारहूरा = द्राक्षा ॥५२॥

तगर, पित्तपापड़ा, अमलतास, नागरमोथा, कुटकी, खस, असगन्ध, ब्राह्मी, मुनक्का, चन्दन, दशमूल तथा शङ्खपुष्पी इन सबका क्वाथ बना कर सेवन करने से प्रलाप शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥५२॥

रसाज्ञानस्य लक्षणमाह—

भुञ्जानस्य नरस्यान्नं मधुरप्रभृतीन् रसान् । रसज्ञा यन्न जानाति रसाज्ञानं तदुच्यते ॥

भोजन करते हुये मनुष्य की जिह्वा यदि मधुर प्रभृति रसों को न जान सके तो उसे रसाज्ञान कहते हैं ॥

रसाज्ञानचिकित्सामाह—

घर्षेज्जिह्वां जडां सिन्धुत्र्यूषणैः साम्लवेतसैः । अम्लवेतसकाभावे चुक्रं दातव्यमीरितम् ॥

सेन्धा नमक, सोंठ, मिर्च, पीपल तथा अम्लवेत इन सब को पीस कर जिह्वा को रगड़ना चाहिये । यदि अम्लवेत न मिल सके तो उसके स्थान में चुक्र लेना चाहिये ॥ ५४ ॥

किराततिक्तादिकल्कमाह—

किराततिक्तका कट्वी कुटजस्य फलं त्वचा । ब्राह्मी फलञ्च पालाशं सर्जिका कृष्णजीरकम् ॥
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रं नागरमूषणम् । एषां कल्कैर्मुहुर्घर्षेज्जिह्विकामार्द्रिकारसैः ॥५६॥
तेन सम्यग्विजानाति रसना सकलान् रसान् । कल्कः किराततिक्तादिर्जिह्वायाःशून्यतां हरेत्

चिरायता, कुटकी, इन्द्रजौ, वच, ब्राह्मी, पलाशबीज, सज्जीखार, कालाजीरा, पिप्पली, पिपरामूल, चित्त, सोंठ तथा मिर्च इन सब को अदरक के रस में पीस कर बारम्बार जीभ पर घिसने से जिह्वा अच्छी प्रकार सम्पूर्ण रसों को जान लेती है । यह 'किराततिक्तादि' कल्क जिह्वा की शून्यता को

नष्ट कर देता है ॥ ५५-५७ ॥

(बाधिर्यकर्णनादयोर्लक्षणं चिकित्सा च तदधिकारे वक्ष्यामः ॥)

बाधिर्य तथा कर्णनाद के लक्षण तथा उनकी चिकित्सा कर्णरोगाधिकार में कहेंगे ॥

त्वक्शून्यताया लक्षणमाह—

स्पृश्यमाना त्वचा या तु शीतोष्णं मृदु कर्कशम् ।
न जानाति बुधैस्त्वक् सा शून्येति परिकीर्त्तिता ॥ ५८ ॥

स्पर्श करते समय यदि त्वचा शीत, उष्ण, मृदु तथा कठिन इन सब को न जान सके तो उसे बुद्धिमान लोग त्वक्शून्यता कहते हैं ॥ ५८ ॥

त्वक्शून्यताचिकित्सामाह—

सुप्तवाते त्वसृङ्मोक्षं कारयेद् बहुशो भिषक् । दद्याच्च लवणाङ्गारधूमैस्तैलसमन्वितैः ॥५९॥

त्वक्शून्यता में वैद्य बारम्बार रोगी के शरीर से रक्तमोक्षण करवावे तथा अङ्गार के ऊपर तेल तथा सैन्धानमक डाल कर धूम दे ॥ ५९ ॥

अर्दितस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि च । हसतो जृम्भतो भाराद्विषमाच्छयनासनात् ॥
शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः । अर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयेत्ततः ॥ ६१ ॥
वक्रीभवति वक्त्रार्द्धं ग्रीवा चाप्यपवर्त्तते । शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनाञ्च वैकृतम् ॥६२॥
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन्पार्श्वे च वेदना । तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविशारदाः ॥

*व्याहरतः = वदतः । कठिनानि = पूगफलादीनि । विषमाच्छयनासनात् = ग्रीवादिवैपरीत्येन शयनादासनाच्च । अर्दयति = पीडयति । ततः = तदनन्तरम् । अर्दितं जनयेत् । अर्दिते जाते किं स्यात् ? तदाह-वक्रीभवतीत्यादि । अपवर्त्तते = वक्रीभवति । चलति = कम्पते । वाक्सङ्गः=वाङ्निरोधः। 'नेत्रादीनामि'त्यादिशब्देन भ्रूगण्डनासिकादीऽऽनां ग्रहणम् । वैकृतं = वेदनास्फुरणवक्रत्वादि । 'ग्रीवे'त्यादि=यस्मिन् पार्श्वेऽर्दितं तस्मिन् पार्श्वे ग्रीवादीनां वेदना ॥ ६०-६३ ॥

उच्चस्वर से बोलने से, सुपारी इत्यादि कठिन पदार्थों के खाने से, बहुत हंसने, अत्यन्त जम्भाई लेने तथा अधिक भार को उठाने से, विषम रीति से शयन करने तथा विषम रीति से बैठने से, सिर, नासिका, ओष्ठ, चिबुक, ललाट तथा नेत्रों की सन्धि में रहनेवाला वायु मुख को पीड़ित करता है । इससे अर्दित रोग उत्पन्न होता है । इसके उत्पन्न होने पर आधा मुंह टेढ़ा हो जाता है । ग्रीवा भी टेढ़ी हो जाती है । सिर कंपने लगता है । बोलने में असमर्थता होती है । नेत्र, भौंह, गाल तथा नासिका में विकृति उत्पन्न हो जाती है । अर्थात् उनमें वेदना, स्फुरण तथा वक्रता उत्पन्न हो जाती है और जिस पार्श्व में यह अर्दित रोग होता है उस ओर की ग्रीवा, चिबुक तथा दन्तों में वेदना होती है । व्याधिविशारद लोग इस रोग को अर्दित[1] कहते हैं ॥ ६०-६३ ॥

---

१. पाश्चात्त्य वैद्यक में अर्दित को फेसियल पेरालिसिस (Facial Paralysis) कहते हैं । यह विकृति फेसियल (Facial मौखिकी) नामक वात नाड़ी के घात के कारण उत्पन्न होती है । यह मस्तिष्क की सातवीं नाड़ी है । प्रत्येक मुखार्द्ध के लिये एक स्वतन्त्र नाड़ी है । एक तरफ की नाड़ी का घात होने से अर्दित (Facial Palsy Bells Paralysis) उत्पन्न होता है । इसे व्यावहारिक भाषा में 'लकवा' कहते हैं । यह अर्दित रोग पक्षाघात में हुआ करता है । इसके अतिरिक्त लोहितज्वर (Scarlet Fever), रोहिणी (Diphtheria), प्रसूतज्वर, जलसंत्रास, धनुःस्तम्भ, कक्षा (Herplsi), मध्यकर्णशोथ, पसीने के ऊपर हवा का लगना, शिरोमूल का भंग, आघात तथा कर्णमूलिक शोथ इत्यादि कारणों से भी अर्दित होता है । इस प्रकार जैसे पाश्चात्त्य विद्वान् विकृत फेसियल (Facial मौखिकी) नामक वातनाड़ी को ही इस अर्दित रोग का कारण मानते हैं वैसा ही अपने यहां भी सुश्रुत के वचनानुसार ऊपर कहा ही हुआ है कि:-

'शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः । अर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयेत्ततः' ॥

सलक्षणमर्दितस्य भेदमाह—

वातात्पित्तात्कफाच्च स्यात्त्रिविधं तत्समासतः। लालास्रावो व्यथा कम्पः स्फुरणं हनुवाग्ग्रहः॥
ओष्ठयोः श्वयथुः शूलं चार्दिते वातजे भवेत्॥ ६५॥

पीतमास्यं ज्वरस्तृष्णापि तजे मोहधूपते। गण्डे शिरसि मन्यायां शोथ स्तम्भः कफात्मके॥६६॥

संक्षेप में वातज, पित्तज तथा कफज भेद से अर्दित रोग तीन प्रकार के होते हैं। वातज अर्दित में रोगी के मुख से लालास्राव होता है। व्यथा, कम्प, हनुस्तम्भ तथा बोलने में असमर्थता, ओष्ठों में शोथ और शूल होता है। पैत्तिक अर्दित में मुख का वर्ण पीला होता है। ज्वर, पिपासा, मोह तथा उष्णता होती है। कफजन्य अर्दित रोग में गाल, शिर तथा मन्या में शोथ और स्तम्भ होता है॥ ६४-६६॥

अर्दितासाध्यलक्षणमाह—

क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्ताव्यक्तभाषिणः। न सिध्यत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च॥

*अनिमिषाक्षस्य = निमेषासमर्थचक्षुषः। प्रसक्तं = प्रकर्षेण लग्नम्, अव्यक्तञ्च भाषितुं शीलं यस्य, तस्यार्दितं न सिध्यति। त्रिवर्षम् = अतीतवर्षत्रयम्, अथ वा—त्रयाणां चक्षुर्नासामुखानां वर्षः = स्रावो यत्र तत्। वेपनस्य = कम्पनशीलस्य, तस्य गाढमतिशयेन न सिध्यतीत्यन्वयः॥ ६७॥

क्षीण, पलक भांजने में असमर्थ नेत्रों वाले, परस्पर मिले हुये तथा अव्यक्त बोलने वाले मनुष्य को उत्पन्न हुआ अर्दितरोग असाध्य होता है॥ ६७॥

अर्दितरोगचिकित्सामाह—

स्नेहपानानि नस्यश्च भोज्यान्यनिलहन्ति च। उपनाहाश्च शस्यन्ते नावनं वस्तयोऽर्दिते॥

*वस्तिरत्र शिरोवस्तिरेव॥ ६८॥

जिस मनुष्य को अर्दित रोग हुये तीन वर्ष व्यतीत हो चुके हों अथवा नेत्र, नासिका तथा मुख से स्राव होता हो ऐसा अर्दित रोग असाध्य होता है। अर्दितरोग से पीड़ित मनुष्य को घृतादि स्नेहपान, वातनाशक नस्य तथा भोजन, उपनाह, स्वेद तथा शिरोवस्ति हितकर हैं॥ ६८॥

दशमूलकषायेण मातुलुङ्गरसेन वा। बलया पञ्चमूल्या वा क्षीरं वातात्मके हितम्॥ ६९॥

वातजन्य अर्दित रोग में दशमूल के क्वाथ, बिजौरा नीबू के रस, खिरेंटी के क्वाथ अथवा पञ्चमूल के क्वाथ के साथ पकाये हुये दूध को पिलाना हितकर है॥ ६९॥

पिष्टं मांसघृतं जग्ध्वा नवनीतेन सोऽर्दिती। क्षीरमांसरसैर्भुक्त्वा दशमूलीरसं पिबेत्॥७०॥

अर्दित रोगी मांस को घी में पीस कर मक्खन के साथ खाकर दूध और मांसरस के साथ भोजन करके दशमूल का रस पिये॥ ७०॥

अर्दिते पित्तजे शीतान्स्नेहांश्चैव विनिर्दिशेत्। घृतवस्तिप्रसेकञ्च क्षीरमेकं तथैव च॥ ७१॥

पैत्तिक अर्दित रोग में शीत, स्नेहन का उपयोग, घृतवस्ति अथवा केवल दूध का सेवन करे॥

जिह्मीभूताननो मूको दाहवान्योऽर्दिती भवेत्। कुर्यात्प्रतिक्रियां तस्य वातपित्तविनाशिनीम्॥

जिसका मुंह टेढ़ा हो गया हो, दाह हो तथा मूक हो गया हो ऐसे अर्दित रोग में वातपित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये॥ ७२॥

श्लेष्मभागे क्षयं नीते बृंहणैः समुपाचरेत्। अर्दिते शोथसंयुक्ते वमनं च प्रशस्यते॥ ७३॥

कफजन्य अर्दित रोगी के कफ का क्षय करके बृंहण उपचार करना चाहिये। तथा शोथयुक्त अर्दितरोग में वमन कराना प्रशस्त है॥ ७३॥

रसोनकल्कं तिलतैलमिश्रं खादेन्नरो योऽर्दितरोगयुक्तः।
तस्यार्दितं नाशमुपैति शीघ्रं वृन्दं घनानामिव वायुवेगात्॥ ७४॥

अर्दित रोगयुक्त मनुष्य को लहसुन के कल्क को तिलतेल में मिला कर खिलाने से इस प्रकार उसका अर्दित रोग शीघ्र नष्ट हो जाता है जैसे कि वायु के वेग से बादलों के समूह शीघ्र नष्ट हो जाते हैं॥ ७४॥

मन्यास्तम्भस्य निदानपूर्वकं लक्षणमाह—

दिवास्वप्नासनस्थानविकृतोर्ध्वनिरीक्षणैः । मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः ॥

***आसनस्थानविकृतोर्ध्वनिरीक्षणैः=आसनेन स्थानेन चाऽतिशयेन विकृतं ग्रीवाऽऽदि-विकृतं यथा स्यादेवमुपरि भागे यन्निरीक्षणं तेन स एव कुपितो वातः श्लेष्मणाऽऽवृतो मन्यास्तम्भं करोति । ग्रीवायाः पश्चाद्भागे चतुर्दशशिरा मन्यासंज्ञाः । तथा चामरसिंहः 'पश्चाद्ग्रीवाशिरा मन्याः' इति । तासां स्तम्भं करोति च ॥ ७५ ॥**

दिन में सोने से अथवा विपरीत आसन पर बैठने अथवा विकृत रीति से गर्दन को ऊपर कर के देखने से कफ से आवृत वायु गर्दन के पीछे के भाग में रहने वाली मन्यासंज्ञक चौदह शिराओं को स्तब्ध कर देता है । इसे मन्यास्तम्भ[1] रोग कहते हैं ॥ ७५ ॥

मन्यास्तम्भचिकित्सामाह—

दशमूलीकृतं क्वाथं पञ्चमूल्याऽपि कल्पितम् । रूक्षं स्वेदं तथा नस्यं मन्यास्तम्भे प्रयोजयेत्

दशमूल के क्वाथ अथवा पंचमूल के क्वाथ द्वारा रूक्ष स्वेदन तथा नस्य का उपयोग मन्यास्तम्भ को दूर कर देता है ॥ ७६ ॥

तैलेनाज्येन वा ग्रीवामभ्यज्यार्कदलैरथ । एरण्डपत्रैराच्छाद्य स्वेदयेद् बहुशो भिषक् ॥ ७७ ॥

तैल अथवा घी से गर्दन पर मालिश करके आक के पत्तों अथवा एरण्ड के पत्तों से गर्दन को ढक कर वारम्वार सेक करे, इससे मन्यास्तम्भ नष्ट हो जाता है ॥ ७७ ॥

कुक्कुटाण्डद्रवैरुष्णैः सैन्धवाज्यसमन्वितैः । ग्रीवां सम्मर्दयेत्तेन मन्यास्तम्भः प्रशाम्यति ॥

मुर्गे के अंडे के रस को गर्म करके सेन्धानमक तथा घी मिलाकर गर्दनको मलने से मन्यास्तम्भ दूर हो जाता है ॥ ७८ ॥

बाहुशोषलक्षणमाह—

अंसदेशे स्थितो वायुः शोषयेदंसबन्धनम् । अंसबन्धनशोषात्स्याद् बाहुशोषः सवेदनः ॥

अंस प्रदेश में स्थित वायु अंसबन्धन को सुखा देता है तब अंसबन्धनों के शोष से वेदना युक्त बाहुशोष रोग उत्पन्न हो जाता है ॥ ७९ ॥

बाहुशोषचिकित्सामाह—

बाहुशोषे पिबेद् भुक्त्वा सर्पिः कल्याणकं महत् । बलामूलश्टतं तोयं सैन्धवेन समन्वितम् ॥
बाहुशोषकरे वाते मन्यास्तम्भे च शस्यते ॥ ८० ॥

बाहुशोष में भोजन करने के पश्चात् 'महाकल्याणक' नामक घी को पीना चाहिये । बलामूल का क्वाथ बनाकर सेन्धानमक मिला कर पीने से बाहुशोष तथा मन्यास्तम्भ नष्ट हो जाते हैं ॥ ८० ॥

अपबाहुकलक्षणमाह—

शिराः सङ्कोच्य बाहुस्थः स कुर्यादपबाहुकम् ॥ ८१ ॥

***सः=वायुः, बाहुस्थः । शिराः=बाहुस्थशिराः ॥ ८१ ॥**

बाहु में रहने वाला वायु बाहु में रहने वाली शिराओं को संकुचित करके अपबाहुक नामक रोग उत्पन्न कर देता है ॥ ८१ ॥

अपबाहुकचिकित्सामाह—

परमौषधमपबाहुकमन्यास्तम्भोर्ध्वजत्रुगतरोगे ।

---

१. मन्यास्तम्भ को पाश्चात्य विद्वान् टार्टीकोलीज (Torticulis) कहते हैं । यह उरःकर्ण-मूलिका (Sterno Mastoid) नामक मांसपेशी के संकोच के कारण उत्पन्न होता है ।

यह संकोच वातज (जैसा कि धनुःस्तम्भ के पूर्वरूप में होता है), आमवातज (Rheumatic) जैसा कि सोते समय पसीनायुक्त अवस्था में ग्रीवा पर शीतल वायु के लगने से होता है । जन्मज (Congenital जैसा कि जन्म के समय पेशी पर आघात होने से होता है) और आक्षेपयुक्त (Spasmodi c) इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने इसके चार भेद किये हैं ।

शीतलजलेन नस्यं तदुपशमे जिङ्गिनी च पुरः ॥ ८२ ॥

अपवाहुक, मन्यास्तम्भ तथा ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में शीतल जल का नस्य देना चाहिये। तथा नस्य के शान्त होने के पश्चात् जिगनी तथा गुग्गुलु का उपयोग करे ॥ ८२ ॥

मूलं बलायास्त्वथ पारिभद्रजं तथाऽऽत्मगुप्तास्वरसं पिबेद्वा।
युञ्जीत यो मापरसेन नस्यं भवेदसौ वज्रसमानबाहुः ॥ ८३ ॥

***बलाया मूलं कल्कीकृतं पिबेत्, तथा पारिभद्रमूलञ्च। पारिभद्रोऽत्र 'फरहद' इति लोके वातहरत्वात् ॥ ८३ ॥**

खिरेटी की जड़ तथा फरहद की जड़ को पीसकर पीने से अथवा कौंच के स्वरस को पीने से तथा उड़द के रस का नस्य लेने से बाहु वज्र के समान हो जाता है ॥ ८३ ॥

मापतैलमाह—

मापातसीयवकुरण्टककण्टकारी गोकण्टटुण्टुकजटाकपिकच्छुतोयैः।
कार्पासकास्थिशणबीजकुलत्थकोलक्काथेन बस्तपिशितस्य रसेन चापि ॥
शुण्ठ्या समागधिकया शतपुष्पया च सैरण्डमूलकपुनर्नवया सरण्या।
रास्नाबलाऽमृतलताकटुकैर्विपक्वं मापाख्यमेतदपबाहुहरं हि तैलम् ॥ ८५ ॥

उड़द, अलसी, जौ, कटसरैया, कटेरी, गोखरू, टुण्टुकमूल, जटामांसी, कौंच, सुगन्धवाला, कपास, सन के बीज, कुलथी तथा बेर के क्काथ से, बकरे के मांसरस से, सोंठ, पिप्पली, सौंफ, एरण्डमूल, पुनर्नवा, प्रसारणी, रास्ना, खिरेंटी, गुडूची तथा कुटकी इनके कल्क के साथ पकाया हुआ तेल अपबाहुक को नष्ट कर देता है। यह 'मापतैल' कहलाता है ॥ ८४-८५ ॥

विश्वाचीलक्षणमाह—

तलं प्रत्यङ्गुलीनां याः कण्डरा बाहुपृष्ठतः। बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाची सा निगद्यते ॥८६॥

***कण्डरा=महास्नायुः। तलं=हस्तस्योपरिभागः, तलशब्दोऽत्रोपरिवाचकः, यथाभूमितलमिति। तेनायमर्थः—बाहुपृष्ठतः=बाह्वोः पृष्ठं बाहुपृष्ठमारभ्य। तलं=प्रतिहस्ततलं, यावल्लक्ष्यीकृत्य, अङ्गुलीनां याः कण्डरास्ताः सन्दूष्य, बाह्वोः प्रसारणाकुञ्चनादिकर्मक्षयकरी भवति। सा इह वातव्याधिषु 'विश्वाची' त्युच्यते। बाह्वोरिति द्वित्वं सम्भवपरम्, एकस्मिन्नपि बाहौ विश्वाची भवति ॥ ८६ ॥**

बाहु के पृष्ठ से लेकर हाथ के ऊपरी भाग तक अङ्गुलियों की कण्डराओं को दूषित करके दोनों हाथों के प्रसारण, आकुञ्चन को नष्ट करने वाली जो वातव्याधि होती है उसे 'विश्वाची'[1] कहते हैं। यह रोग एक बाहु में भी होता है ॥ ८६ ॥

विश्वाचीचिकित्सामाह—

दशमूलीबलामापक्काथं तैलाज्यमिश्रितम्। सायं भुक्त्वा पिबेन्नस्यं विश्वाच्यामपबाहुके ॥

विश्वाची तथा अपबाहुक रोग में, दशमूल, बला की जड़ तथा उड़द के क्काथ में तेल तथा घी मिलाकर सायङ्काल में भोजन करने के बाद पिये। तत्पश्चात् नस्य ले ॥ ८७ ॥

मापादितैलमाह—

मापसिन्धुबलारास्नादशमूलकहिङ्गुभिः। वचाशिवजटाऽऽख्याभिः सिद्धं तैलं सनागरम् ॥
ऊर्ध्वं भक्ताशनाद्धन्याद् बाहुशोषापबाहुकौ। विश्वाचीमुद्धतां चापि पक्षाघातं तथाऽर्दितम्

उड़द, सेन्धानमक, खिरेंटी, रास्ना, दशमूल, हींग, वच तथा बेलगिरी इन ओषधियों से सिद्ध

---

१. पाश्चात्यमतानुसार विश्वाची नामक वातरोग भुजानाडीजाल (Brachial Plexue) की विकृति से उत्पन्न होती है। इसे ब्रेकियल पेरालिसिस (Brachial Paralysis), 'एर्बस् पेरालिसिस (E. b3, Paralysis) या मोनो प्लेजिया ब्रेकियेलिस (Noon Plegia Brachialis) कहते हैं।

किया हुआ माषादि तैल का सोंठ के साथ भोजन करने के पश्चात् सेवन करने से बाहुशोष, अपबाहुक, अतिवृद्ध विश्वाची, पक्षाघात तथा अर्दित रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ८८-८९ ॥

ऊर्ध्ववातलक्षणमाह—

अधःप्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन च। करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्ववातः स उच्यते॥

***वायुः = समानवायुः। मारुतेन = अपानवायुना स्वहेतुदुष्टेन। अधः प्रतिहतः = अधो निरुद्धः ॥ ९० ॥**

अपने कारणों से प्रकुपित समान वायु कफ तथा अपान वायु से अधोनिरुद्ध होकर वारम्वार डकार को उत्पन्न कर देता है। इसे ऊर्ध्ववात कहते हैं ॥ ९० ॥

ऊर्ध्ववातचिकित्सामाह—

भागा दश विश्वायास्तत्तुल्या वृद्धदारकस्यापि। त्रय एव च पथ्यायाश्चतुरंशं हिङ्गु सम्भृष्टम्॥
एकः सैन्धवभागस्तत्तुल्यं चित्रकं चात्र। संवृद्धमूर्ध्ववातं हन्त्येतच्चूर्णितं भुक्तम् ॥ ९२ ॥

***अत्र वृद्धदारकालाभे त्रिवृन्मूलं ग्राह्यम् ॥ ९१-९२ ॥**

सोंठ १० भाग, विधारा १० भाग, विधारा के अभाव में निशोथ १० भाग, हरड़ ३ भाग, हींग भुनी हुई ४ भाग, सेन्धानमक १ भाग तथा चित्त १ भाग लेकर चूर्ण करके सेवन करने से अत्यन्त बढ़ा हुआ ऊर्ध्ववात नष्ट हो जाता है ॥ ९१-९२ ॥

आध्मानलक्षणमाह—

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्। आध्मानमिति जानीयाद्घोरं वातनिरोधजम् ॥९३॥

***आटोपो = गुडगुडाशब्दः। भृशमाध्मातं वातपूर्णभस्त्रावत्। वातनिरोधजम्-अधोवातनिरोधजम् ॥ ९३ ॥**

अपानवायु के रुक जाने से पेट में अत्यन्त पीडायुक्त गुडगुड शब्द होता है और पेट वातपूर्ण मसक के समान फूल जाता है। इस घोर व्याधि को आध्मान कहते हैं ॥ ९३ ॥

आध्मानचिकित्सामाह—

आध्माने लङ्घनं पूर्वं दीपनं पाचनं ततः। फलवर्तिक्रियां कुर्याद्वस्तिकर्म च शोधनम् ॥९४॥

आध्मान रोग में पहिले लंघन करा कर अग्निदीपक तथा पाचन औषधियों को देना चाहिये तथा फलवर्त्ति क्रिया, वस्तिकर्म तथा संशोधन भी कराना चाहिये ॥ ९४ ॥

नारायणचूर्णमाह—

कर्षमात्रा भवेत्कृष्णा त्रिवृता स्यात्पलोन्मिता।
खण्डादपि पलं ग्राह्यं चूर्णमेकत्र कारयेत्। मधुनाऽक्षमितं लिह्याच्चूर्णमाध्माननाशनम् ९५

पिप्पली १ तो०, निशोथ ४ तो० तथा खांड ४ तोला इन सबको लेकर चूर्ण करके इस चूर्णको १ तोला की मात्रा में शहद के साथ चाटने से आध्मान रोग नष्ट हो जाता है ॥ ९५ ॥

दारुषट्कलेपमाह—

दारुहैमवतीकुष्ठशताह्वाहिङ्गुसैन्धवैः। लिम्पेदुष्णैरम्लपिष्टैः शूलाध्मानयुतोदरम् ॥ ९६ ॥

***हैमवती-वचा ॥ ९६ ॥**

दारुहल्दी, वच, कूठ, सोया, हींग तथा सेन्धानमक इनको नींबू के रस में पीस कर गर्म करके लेप करने से आध्मान तथा शूल नष्ट हो जाता है ॥ ९६ ॥

---

१. पाश्चात्य वैद्यक में आध्मान को टिम्पेनाइटीज (Tympinites) या मिटिऑरिज़म् (Meteorism) कहते हैं। जैसे अपने यहां 'आध्मानमिति जानीयाद्घोरं वातनिरोधजम्' ऐसा पाठ है, अर्थात् वायु के निरोध से यह रोग पैदा होता है ऐसा वर्णन है उसी प्रकार पाश्चात्य वैद्यक में भी यह बात मानी गई है कि आध्मान या टिम्पेनाइटीज (Tympanites) आन्त्र में वात (Gas) का सञ्चय होने के कारण उत्पन्न होता है। जिससे उदर प्रदेश में आटोप या गुडगुड शब्द (Borborygmus) होता है।

महानाराचरसमाह—

अभयाऽरग्वधो धात्री दन्ती तिक्ता स्नुही त्रिवृत्। मुस्ता प्रत्येकमेतानि ग्राह्याणि पलमात्रया॥ तानि सङ्क्षुद्य सर्वाणि जलाढकयुगे पचेत्। तत्र तोयेऽष्टमं भागं कषायमवशेषयेत् ॥ ९८ ॥ निस्त्वग्जैपालबीजानि नवानि पलमात्रया। तनुवस्त्रधृतान्येव तस्मिन्क्वाथे शनैः पचेत्॥ ज्वालयेदनलं मन्दं यावत्क्वाथो घनो भवेत्। ततः खल्वे क्षिपेद्भागानष्टौ जैपालबीजतः॥

भागांस्त्रीन्नागराद् द्वौ च मरिचाद् द्वौ च पारदात्।
गन्धकाद् द्वौ च तानीह यावद्यामं विमर्दयेत् ॥ १०१ ॥

रसो नाराचनामाऽयं भक्षितो रक्तिकामितः। जलेन शीतलेनैव रोगानेतान्विनाशयेत्॥ आध्मानं शूलमानाहं प्रत्याध्मानं तथैव च। उदावर्त्तं तथा गुल्ममुदराणि हरत्यसौ ॥१०३॥ वेगे शान्ते तु भुञ्जीत शर्करासहितं दधि। ततस्तत्सैन्धवेनापि ततो दध्योदनं मनाक्॥

हरड़, अमलतास, आंवला, जमालगोटा, कुटकी, थूहर, निशोथ तथा नागरमोथा इन प्रत्येक ओषधियों को ४-४ तोले लेकर सबको कूटकर दो आढक (५०० तोले) जल में पकावे। जब पकतेर अष्टमांश जल अवशिष्ट रह जाय तो उसमें छिलके रहित नये जमालगोटे के बीज ४ तोले लेकर बारीक वस्त्र की पोटली में बांध कर धीरे २ पकावे। तब तक मन्द मन्द आंच देनी चाहिये जब तक कि क्वाथ गाढ़ा न हो जाय। फिर इसको खरल में डालकर उसमें जमालगोटे के बीज ८ भाग, सोंठ ३ भाग, काली मिर्च २ भाग, पारद २ भाग तथा गन्धक २ भाग डालकर एक प्रहर तक खरल करे तो यह महानाराच नामक रस सिद्ध हो जाता है। इस रस को १ रत्ती की मात्रा में शीतल जलके साथ सेवन करने से आध्मान, शूल, आनाह, प्रत्याध्मान, उदावर्त्त, गुल्म तथा सम्पूर्ण उदर विकार नष्ट हो जाते हैं। दस्त आना बन्द हो जाय तो चीनी के साथ दही खिलावे और सेन्धानमकके साथ थोड़ी मात्रा में दही भात खिलावे ॥ ९७-१०४ ॥

प्रत्याध्मानलक्षणमाह—

विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्। प्रत्याध्मानं विजानीयात्कफव्याकुलितानिलम् ॥

*विमुक्तपार्श्वहृदयं = पार्श्वहृदये विहाय जातम्, तदेव = आध्मानम्। कफव्याकुलितानिलं = कफेनावरुद्धवातम् ॥१०५॥

पसली तथा हृदय को छोड़कर आमाशय में उत्पन्न हुआ तथा जिस में प्रकुपित कफ से वायु हो ऐसा आध्मान 'प्रत्याध्मान'[1] कहलाता है ॥ १०५ ॥

प्रत्याध्मानचिकित्सामाह—

प्रत्याध्माने समुत्पन्ने कुर्याद्वमनलङ्घने। दीपनादीनि युञ्जीत पूर्ववद्बस्तिकर्म च ॥ १०६ ॥

प्रत्याध्मान के उत्पन्न होने पर सर्व प्रथम वमन तथा लङ्घन करावे दीपन तथा पाचन ओषधियों का प्रयोग करे और आध्मान के समान वस्ति कर्म करावे ॥ १०६ ॥

वाताष्ठीलालक्षणमाह—

नाभेरधस्तात्सञ्जातः सञ्चारी यदि वाऽचलः ॥ १०७ ॥

अष्ठीलावद्घनो ग्रन्थिरूर्ध्वमायत उन्नतः। वाताष्ठीलां विजानीयाद् बहिर्मार्गनिरोधिनीम् ॥

*अष्ठीला = वर्तुलः पाषाणखण्डः। आयतः = दीर्घः वाताष्ठीला = वाताष्ठीलेति स्वरूपपरं, न तु विशेषपरं व्यावर्त्तकाभावात्। बहिर्मार्गनिरोधिनीं = शिश्नभगगुदनिरोधिनीम्। तेन मूत्रशकृन्मलावरोधः सूचितः ॥ १०७–१०८ ॥

नाभि के नीचे वर्तुलाकार पाषाणखण्ड के समान कठोर, घन, ऊपरी भाग में लम्बा तथा ऊंचा

१. प्रत्याध्मान को पाश्चात्य वैद्यक में गेस्ट्रो टिम्पेनाइटीज (Gastro Tympanites) कहते हैं। आध्मान में तो समूचे आन्त्र में वायु (Gas) का सञ्चय होता है किन्तु प्रत्याध्मान में केवल आमाशय में वायु (Gas) का सञ्चय होता है।

स्थिर अथवा चञ्चल जो ग्रन्थि उत्पन्न होती है उसे [1]'वाताष्ठीला' कहते हैं। यह ग्रन्थि-लिङ्ग, योनि तथा गुदा के मार्ग को रोक देती है जिससे मूत्र, वायु तथा मल का अवरोध हो जाता है ॥१०७-१०८॥

प्रत्यष्ठीलालक्षणमाह—

एतामेव रुजायुक्तां वातविण्मूत्ररोधिनीम् । प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ॥१०९॥

***एतामेव = अष्ठीलामेव । जठरे तिर्यगुत्थितामिति भेदः ॥ १०९ ॥**

पीड़ायुक्त और वायु, मल तथा मूत्र को रोकने वाली, तिरछी उठी हुई पेट में जो अष्ठीला होती है उसको '[2]प्रत्यष्ठीला' कहते हैं ॥ १०९ ॥

वाताष्ठीलाप्रत्यष्ठीलयोश्चिकित्सामाह—

अष्ठीलायाः क्रिया कार्या गुल्मस्यान्तरविद्रधेः । चूर्णं हिङ्ग्वादिकं चात्र पिबेदुष्णेन वारिणा॥

गुल्म तथा अन्तरविद्रधि की जो चिकित्सा बतलाई गइ है वही चिकित्सा अष्ठीला की भी करनी चाहिये । और इस रोग में हिङ्ग्वादि चूर्ण को गर्म जल के साथ पीना चाहिये ॥ ११० ॥

हिङ्ग्वादि चूर्णमाह—

हिङ्गुग्रन्थिकधान्यजीरकवचाचव्याग्निपाठाशटी, वृक्षाम्लं लवणत्रयं त्रिकटुकं क्षारद्वयं दाडिमम्
पथ्यापौष्करवेतसाम्लहपुषा योऽयं तदेभिः कृतं, चूर्णं भावितमेतदार्द्रकरसैःस्याद् वीजपूरद्रवैः॥

भुनी हींग, पिपरामूल, धनियां, जीरा, वच, चव्य, चित्त, पाठा, कचूर, विषांबिल, तीनों नमक, सोंठ, मिर्च, पीपल, सज्जीखार, जवाखार, अनार के दाने, हरड़, पोहकरमूल, अम्लवेत तथा हाऊबेर इन सब के चूर्ण पर अदरक के रस तथा बिजौरे नीबू के रस की भावना देनी चाहिये तो हिङ्ग्वादिचूर्ण तैयार हो जाता है ॥ १११ ॥

तूनीलक्षणमाह—

ऊधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता । भिन्दन्तीव गुदोपस्थं सा तूनी नामतो मता ॥

***उपस्थं = शिश्नं भगञ्च ॥ ११२ ॥**

मलाशय तथा मूत्राशय से उठी हुई जो वेदना लिङ्ग तथा योनि में भेदन के समान पीड़ा करती हुई नीचे को जाती है उसे '[3]तूनी' कहते हैं ॥ ११२ ॥

प्रतितूनीलक्षणमाह—

गुदोपस्थोत्थिता सैव प्रतिलोमं विधाविता । वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सोच्यते ॥

***अधस्तादुत्थितोर्ध्वगामिनी । वेगैः = वेदनावेगैः, मुहुर्मुहुः स्वभावोपशमोपलक्षितैः । 'से'त्यनेन' 'भिन्दन्तीवे'त्यतिदिश्यते । सा नामतः प्रतितूनी । सैव वेदनावेगैरुत्पत्तिप्रशमलक्षितैः ॥ ११३ ॥**

यदि वेगपूर्वक बढ़ी वेदना तथा उपस्थ से उठ कर प्रतिलोम दिशा से दौड़ कर बारम्बार शान्त हो होकर पक्वाशय में जाती हो तो उसे [4]'प्रतितूनी' कहते हैं ॥ ११३ ॥

१-२. वाताष्ठीला और प्रत्यष्ठीला वास्तव मे एक विकार हैं । वाताष्ठीला में वेदना उत्पन्न होने पर उसे प्रत्यष्ठीला कहते हैं । ये दोनों वातविकार चरक और वाग्भट में नहीं मिलते । डल्हण ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि—

'उत्तरापथे दीर्घवर्त्तुलपाषाणविशेष-इत्येके, चर्मकाराणां वर्त्तुलदीर्घा लौही भाण्डिरित्यपरे' ।

वाताष्ठीला और प्रत्यष्ठीला की जो क्रमतः विशेषतायें बतायी गई हैं दोनों एक ही बात है यथा 'बहिर्मार्गनिरोधिनीम्' तथा 'वातविण्मूत्ररोधिनीम्' ।

वाताष्ठीला प्रायः पौरुषग्रन्थि की वृद्धि (Ealargement of Prostrate) हो सकती हैं । अथवा—वाताष्ठीला और प्रत्यष्ठीला गुदनलिका या प्रोस्ट्रेट का अर्बुद (Cancer of the Rectum or Prostrate) हो सकता है, ऐसी अन्वेषकों की सम्मति है ।

३-४. तूनी और प्रतितूनी सञ्चरण दिशा के अनुसार किये हुये शूल (Colic) के दो भेद

तूनीप्रतितूनीचिकित्सामाह—

तून्याञ्च प्रतितून्याञ्च प्रशस्ताः स्नेहवस्तयः ।
पिबेद्वा स्नेहलवणं पिप्पल्यादिमथाम्बुना । उष्णेन रामठं क्षारं प्रगाढमथ वा घृतम् ॥११४॥

तूनी तथा प्रतितूनी रोग में स्नेहवस्ति प्रशस्त मानी गई है। अथवा स्नेह में सेन्धानमक मिलाकर पीवे या पिप्पल्यादिगण का क्वाथ पीवे अथवा हींग तथा यवक्षार को गर्म जल से पीवे या अच्छी तरह घृतपान करे ॥ ११४ ॥

त्रिकशूललक्षणमाह—

स्फिगस्थ्नोः पृष्ठवंशास्थ्नोर्यः सन्धिस्तत्त्रिकं मतम् ।
तत्र वातेन या पीडा त्रिकशूलं तदुच्यते ॥ ११५ ॥

श्रोणि प्रदेश की दोनों अस्थियों तथा पृष्ठ वंश की दो अस्थियों की जो सन्धि है उसे त्रिक कहते हैं। इस त्रिकस्थान में वात से जो पीड़ा होती है उसे त्रिकशूल कहते हैं ॥ ११५ ॥

त्रिकशूलचिकित्सामाह—

कारयेद्वालुकास्वेदं त्रिकशूले प्रयत्नतः । यद्वाऽधस्तात्करीषाग्निं धारयेत्सततं नरः ॥११६॥

त्रिकशूल में यत्नपूर्वक वालुकास्वेद करे अथवा उसके चारपाई के नीचे जङ्गली कण्डे की अग्नि रख कर सेंक करे ॥ ११६ ॥

त्रयोदशाङ्गगुग्गुलुमाह—

आभाऽश्वगन्धा हपुषा गुडूची शतावरी गोक्षुरकश्च रास्ना ।
श्यामा शताह्वा च शटी यवानी सनागरा चेति समं विचूर्ण्य ॥ ११७ ॥
सर्वैः समं गुग्गुलुमत्र दद्यात्क्षिपेदिहाज्यञ्च तदर्द्धभागम् ।
तद्भक्षयेदर्द्धपिचुप्रमाणं प्रभातकाले पयसाऽथ यूषैः ॥ ११८ ॥
मद्येन वा कोष्णजलेन चापि क्षीरेण वा मांसरसेन वाऽपि ।
त्रिकग्रहे जानुहनुग्रहे च वाते भुजस्थे चरणस्थिते च ॥ ११९ ॥
सन्धिस्थिते चास्थिगते च तस्मिन्मज्जस्थिते स्नायुगते च कोष्ठे ।
रोगान् हरेद्वातकफानुविद्धान् वातेरितान् हृद्ग्रहयोनिदोषान् ॥ १२० ॥
भग्नास्थिविद्धेषु च खञ्जतायां सगृध्रसीके खलु पक्षघाते ।
महौषधं गुग्गुलुमेतमाहुस्त्रयोदशाङ्गं भिषजः पुराणाः ॥ १२१ ॥

*आभा = बब्बूलः । तथा च—
'आभा बब्बूलपर्यायः कथितः कोविदैरिह' ॥ इति ॥ ११७–१२१ ॥

बबूल, असगन्ध, हाऊवेर, गुडूची, शतावरी, गोखरू, रास्ना, काला निशोथ, सोया, कचूर, अजवाइन तथा सोंठ को सम मात्रा में लेकर चूर्ण करके और इस चूर्ण के बराबर गुग्गुलु ले तथा गुग्गुलु से आधा घी ले। इन सब को इकट्ठा करके अच्छी तरह कूट कर तैयार कर लेने से 'त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु' बन जाता है। इस गुग्गुलु को प्रातःकाल जल अथवा यूष या मद्य अथवा किञ्चित् उष्ण जल या दुग्ध अथवा मांसरस के साथ सेवन करने से त्रिकशूल, जानुग्रह, हनुग्रह, भुजगतवात, पादगतवात, सन्धिगत वात, अस्थिगतवात, मज्जागतवात, स्नायुगतवात, कोष्ठगतवात, वातकफके समस्त रोग, वातरोग, हृद्ग्रह, योनिदोष, भग्नास्थिजन्य रोग, विद्धजन्य रोग, खञ्जता, गृध्रसी तथा पक्षाघात ये सब रोग दूर हो जाते हैं। प्राचीन वैद्यवृन्द इस त्रयोदशाङ्गगुग्गुलु को वातरोग की महौषधि बतलाया है।

है जो शूल पक्वाशय या मूत्राशय या दोनों से नीचे की ओर गुद, या लिङ्ग या दोनों में चला जाता है उसे तूनी कहते हैं। इस प्रकार का शूल रेनल कालिक (Renal colic = वृक्कशूल) में होता है। अतः यह पाश्चात्य वैद्यक में वर्णित वृक्कशूल (Renal colic) है। प्रतितूनी तो साधारण आंत्रशूल का ही प्रकार है। जब शूल की दिशा ऊपर की ओर होती है जैसा कि आन्त्रशूल में कभी २ देखा जाता है तब उसे प्रतितूनी कहते हैं।

मुहुर्मूत्रमूत्रनिग्रहयोर्निदानपूर्वकं लक्षणमाह—

मारुतेऽविगुणे वस्तौ मूत्रं सम्यक्प्रवर्त्तते। विकारा विविधाश्चापि तस्मिन्दुष्टे भवन्ति हि॥

***अविगुणे=अनुलोमे। प्रतिलोमे तु विकारा विविधाः=मुहुर्मूत्रमूत्रनिग्रहादयः॥१२२॥**

वायु के अनुलोम होने पर अर्थात् विकृत न होने पर मूत्राशय में मूत्र अच्छी तरह से प्रवर्त्तित होता है किन्तु जब वायु दुष्ट हो जाता है तो 'मुहुर्मूत्रण' तथा 'मूत्रनिग्रह' आदि अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न कर देता है॥ १२२॥

मुहुर्मूत्रणमूत्रनिग्रहयोश्चिकित्सामाह—

बलामूर्वात्वचश्चूर्णं ससितं कर्षसम्मितम्। पिबेत्कुडवदुग्धेन मुहुर्मूत्रणशान्तये॥ १२३॥

खिरेंटी, मूर्वा तथा दालचीनी इन सब को चूर्ण करके मिश्री मिलाकर एक तोले की मात्रा में १६ तोले दूध के साथ सेवन करने से मुहुर्मूत्रण शान्त हो जाता है॥ १२३॥

पथ्याविभीतधात्रीणां चूर्णं चूर्णं मृतायसः। मधुना सह संलीढं मुहुर्मूत्रणशान्तिकृत्॥१२४॥

हरड़, बहेड़ा तथा आंवले के चूर्ण तथा लौहभस्म को शहद में मिला कर चाटने से मुहुर्मूत्रण शान्त हो जाता है॥ १२४॥

यवक्षारस्य चूर्णस्तु संयोज्य सितया सह। भक्षयेन्नियतं तस्य प्रशाम्येन्मूत्रनिग्रहः॥१२५॥

जवाखार के चूर्ण को मिश्री के साथ मिलाकर खाने से निश्चय 'मूत्रनिग्रह' नष्ट हो जाता है॥

कूष्माण्डस्य तु बीजानि बीजानि त्रपुषस्य च। वस्तौ सन्धारयेत्तेन प्रशाम्येन्मूत्रनिग्रहः॥

पेठे तथा खीरे के बीजों को पीस कर वस्ति प्रदेश पर लेप करने से मूत्रनिग्रह शान्त हो जाता है॥ १२६॥

आमलक्याश्च कल्केन वस्तिभागं प्रलेपयेत्। तेन प्रशाम्यति क्षिप्रं नियमान्मूत्रनिग्रहः॥१२७॥

आंवले के कल्क का पेड़ू पर लेप करने से 'मूत्रनिग्रह' तत्क्षण दूर हो जाता है॥ १२७॥

मेहनस्याथ योनेर्वा मुखस्याभ्यन्तरे शनैः। घनसारयुतां वर्त्तिं धारयेन्मूत्रनिग्रहे॥ १२८॥

लिङ्ग अथवा योनि के मुख के भीतर धीरे धीरे कपूर की बत्ती प्रविष्ट करने से मूत्रनिग्रह नष्ट हो जाता है।

गृध्रसीलक्षणमाह—

स्फिक्पूर्वोरुकटीपृष्ठजानुजङ्घापदं क्रमात्। गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः॥१२९॥
वाताद्वातकफाभ्यां सा विज्ञेया द्विविधा पुनः। वातजायां भवेत्तोदो देहस्यातीव वक्रता॥
जानुजङ्घोरुसन्धीनां स्फुरणं स्तम्भता भृशम्॥१३१॥
वातश्लेष्मोद्भवायान्तु गौरवं वह्निमार्दवम्। तन्द्रा मुखप्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च॥१३२॥

***गृध्रसी वातजा केवला स्फिगादिपदपर्यन्तं स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति। क्रमाद्=वृद्धिक्रमात् तेन यथा यथा वर्द्धते तथा तथा स्फिगादीन्याक्रामति, नात्र ग्रहणे निर्देशक्रमनियमः। तथा-मुहुः स्पन्दते=स्फिगादिषु शिराकम्पं करोतीत्यर्थः॥ १२९-१३२॥**

स्फिक्,-सन्धि, कटि, पीठ, ऊरु, जानु, जङ्घा तथा पैर का स्तम्भ सुई चुभाने के समान पीड़ा, स्फिक् इत्यादि में वारंबार शिराकम्प ये सब लक्षण जिस रोग में होते हैं उसे [1]'गृध्रसी' रोग

---

१. गृद्ध्रसी नामक वातरोग का पाश्चात्य वैद्यक में शियाटिक (Sciatica) नाम है।

गृद्ध्रसी नाडी (Sciatic Nerve) के हिस्से में जब स्थिर स्वरूप की पीडा होने लगती है तब उसको गृध्रसी (Sciatica) कहते हैं। भगवान् सुश्रुत की भी ठीक ऐसी ही व्याख्या है, यथाः—

'पार्ष्णिप्रत्यङ्गुलीनान्तु कण्डरा याऽनिलार्दिता।
सक्थ्नः क्षेपं निगृह्णीयाद् गृध्रसीति हि सा स्मृता'॥

जिस प्रकार अपने यहां वातज तथा वातकफज भेद से इसके दो प्रकार किये गये हैं उसी प्रकार पाश्चात्त्य वैद्यक में भी इस रोग के निम्न दो प्रकार किये जाते हैं—

कहते हैं। ज्यों २ इस रोग की वृद्धि होती है त्यों २ स्फिक् सन्धि इत्यादि उपर्युक्त स्थान अधिक पीडित होते हैं। यह रोग वातज तथा कफज भेद से दो प्रकार का होता है। वातजन्य गृध्रसी में सुई चुभाने के समान वेदना, देह की अत्यन्त वक्रता, जानुसन्धि तथा ऊरुसन्धि इत्यादि

१—प्रधान (Idiopathic) २—औपद्रविक (Symptomatic)

प्रधान के कारण—यह रोग ४० वर्ष के बाद या उसके आसपास उत्पन्न होता है। पुरुषों में अधिक होता है। नाडी के विभाग में आघात, पीडन या मोच होने से होता है। परिश्रम करने के पश्चात् टांगों पर सर्दी लग जाने से या अधिक देर तक पानी में भीगने से होता है। एक स्थान पर कठिन आसन के ऊपर अधिक देर तक बैठने से जैसे मोटर ड्राइविंग (motor Driving) इत्यादि से यह रोग होता है। शर्करामेह, मधुमेह, आमवात, वातरक्त, फिरङ्ग तथा मलावरोध इसके सहायक कारण माने गये हैं।

औपद्रविक के कारण—पृष्ठवंश, त्रिक श्रोणिफलक तथा ऊर्वस्थि का ऊर्ध्व शिर इनके अर्बुद या विकार, मलाशय का अर्बुद, गर्भाशय के अर्बुद, वस्ति के भीतर की बड़ी अश्मरी तथा अधिश्रोणि का धमनी का एन्यूरीज्म (Aneurysm of the Hy hogastric artery) ये सब इस रोग की उत्पत्ति में कारण होते हैं। क्योंकि नाडी के ऊपर इनका दबाव या पीडन होता है।

सम्प्राप्ति और विकृति—नाडी के भीतर कुछ शोथ पैदा होता है, जिससे नाडी आकार में कुछ मोटी और गुलाबी वर्ण की हो जाती है। यह शोथ किसी एक स्थान में या सम्पूर्ण नाडी में हो सकता है। शोथ अधिकतर नाडियों के संयोजक धातु तथा उसके आवरण में होता है। शोथ कम होने के पश्चात् नाडी के भीतर तथा उसके आवरण के भीतर तान्तव धातुकी उत्पत्ति होती है जिसके कारण नाडी के भीतरी तन्तुओं के बन्डल आपसमें संसक्त हो जाते हैं तथा नाडी का आवरण उसके समीपवर्त्ती धातु से संसक्त हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि नाडी की गति में कुछ कठिनाई हो जाती है। तथा उसकी लम्बाई कुछ कम होजाती है। नाडी में यह विकृति होने पर भी त्वचा के स्पर्शज्ञान में या पेशियों की गति में अन्तर बहुत ही कम होता है या नहीं होता है। परन्तु जिस टांग की नाडी में विकृति होती है उसकी पेशियां कुछ कमजोर और क्षीण होजाती हैं। प्रायः एक ही तरफ की नाडी विकृति होती है। परन्तु मधुमेह, फिरङ्ग जैसे सार्वदेहिक रोगों में दोनों तरफ की विकृति होजाती है। जब पश्चिम नाडीमूल (Posterior Nerve Root) तथा नाडी वेणिका (Plexes) में विकृति होती है तो उसे उच्चगृध्रसी (Higher Sciatica) कहते हैं। और जब गृध्रसी नाडीमें विकृति होती है तो उसको निम्न गृध्रसी (Lower Sciatica) कहते हैं।

लक्षण—इसमें नाडी के मार्ग में तथा उसकी शाखा-प्रशाखाओं में पीडा होती है। उच्च गृध्रसी में श्रोणिगुहा के भीतर भी पीडा होती है। रोग का आक्रमण प्रायः धीरे २ क्वचित् यकायक होता है। कभी २ आक्रमण के साथ ज्वर भी आता है। पीडा बहुत तीव्र स्वरूप की होती है। और पीडा के कारण गति में तथा आसन बदलने में कठिनाई होती है। विशेष करके उन गतियों तथा आसनों में जिनमें नाडी के ऊपर तनाव पड़ता है। नाडी के मार्ग में उच्च गृध्रसी को छोड़ कर पीडनाक्षमता होती है। पीड़ा प्रायः लगातार बनी रहती है। और बीच २ में गति या अन्य कारणों से अधिक हुआ करती है। तथा रात्रि के समय भी पीडा प्रायः अधिक हुआ करती है। पैर की पेशियों में भी कुछ पीडनाक्षमता होती है। और गृध्रसी नाडी से सम्बन्धित तथा अन्य पेशियां भी कुछ क्षीण हो जाती हैं। पैर में झुनझुनी, रेंगने की सी पीडा तथा जलन इत्यादि स्पर्शवैकृत्य हुआ करते हैं। परन्तु स्पर्शज्ञान पूर्णतया नष्ट नहीं होता। यदि किसी गृध्रसी के रोगी में स्पर्शज्ञान का अभाव हो तो नाडी विकृति की अपेक्षा नाडी के ऊपर दबाव का अनुमान करना चाहिये। चलने, बैठने तथा खड़े होने में रोगी की कुछ विशेषतायें होती हैं। खड़े होनेकी स्थिति में रोगी अपने शरीर का भार अच्छे पैर पर रखने की कोशिश करता है और दूसरा पैर वंक्षण तथा जानुसन्धि में कुछ

का स्फुरण तथा अत्यन्त स्तब्धता होती है। और जो गृध्रसी वात तथा कफ दोनों दोषों से उत्पन्न हुई होती है उसमें शरीर की गुरुता, अग्निमान्द्य, तन्द्रा, मुखप्रसेक तथा अरुचि ये लक्षण होते हैं ॥ १२१–१३२ ॥

गृध्रसीचिकित्सामाह—

गृध्रस्यार्त्तं नरं सम्यग् रेकेण वमनेन वा। ज्ञात्वा निरामं दीप्ताग्निं वस्तिभिः समुपाचरेत् ॥
नादौ वस्तिविधिं कुर्याद्यावदूर्ध्वं न शुध्यति। स्नेहो निरर्थकःस स्याद्भस्मन्येव हुतं यथा ॥

गृध्रसी रोग से पीड़ित मनुष्य को अच्छी तरह से विरेचन तथा वमन करावे। आमरहित तथा दीप्ताग्नि समझ कर स्नेहवस्ति देनी चाहिये। जब तक ऊर्ध्वशुद्धि (वमन) नहीं कराया जाता तब तक

संकुचित तथा गुल्फसन्धियों में विस्फारित रखता है। चलते समय रोगी विकृत पैर को उसी स्थिति में रखने की कोशिश करता है जिससे पैर का अंगूठा जमीन पर रगड़ता है। विस्तरे पर लेटने की स्थिति में भी विकृत पैर उसी स्वरूप में रखा जाता है। उसका उद्देश्य यह होता है कि नाडी के ऊपर तनाव न पड़े। जानुप्रत्यावर्त्तन क्रिया इस रोग में स्वाभाविक से अधिक तेज हो जाती है। और गुल्फसन्धि की प्रत्यावर्त्तन क्रिया स्वाभाविक से कम हो जाती है या तीव्र रोग में पूर्णतया बन्द हो जाती है। पैर की विकृति के कारण पृष्ठवंश में पार्श्वकुब्जता (Scalea) होती है।

निदान—नाड़ी की दिशा में पीड़ा और गुल्फप्रत्यावर्तनक्रिया की कमी या अभाव इस रोग के प्रधान लक्षण हैं। निदान के समय वास्तविक गृध्रसी या पीडन के कारण उत्पन्न गृध्रसी इन दोनों में भेद करना आवश्यक है। यह भेद निम्न प्रकार से करना चाहियेः—

१—पीडनजन्य गृध्रसी में वास्तविक की अपेक्षा पीड़ा सौम्य हुआ करती है।

२—नाड़ी के ऊपर दवाव देने से या नाड़ी के ऊपर तनाव उत्पन्न करने से वास्तविक गृध्रसी में पीडनजन्य की-अपेक्षा पीडनाक्षमता अधिक होती है।

३—गति और स्पर्शज्ञान—इन कार्यों में पीडनजन्य गृध्रसी में फरक होता है। किन्तु वास्तविक गृध्रसी में कोई अन्तर नहीं होता। रोगी को विस्तरे पर पीठ के बल लिटाकर वंक्षण में सङ्कोच करके यदि घुटने पर पैर विस्तारित किया जाय तो वास्तविक गृध्रसी में बहुत पीडा होती है।

अन्य परीक्षायें—शर्करा के लिये मूत्रपरीक्षा करनी चाहिये। श्रोणिगुहागत अर्बुद के लिये गुदद्वार से परीक्षा करनी चाहिये। पृष्ठवंश, श्रोणिफलक तथा ऊर्वस्थि का ऊपर का हिस्सा इनका परीक्षण एक्सरे (Xray) से करना चाहिये और मस्तिष्क-सुषुम्ना जल का परीक्षण फिरङ्ग के लिये करना चाहिये। जब दोनों तरफ की नाडियों में विकृति होती है तब प्रायः मधुमेह, फिरङ्ग या हड्डियों की विकृति के कारण हुआ करती है।

उच्च और निम्न गृध्रसी में भेद—उच्चगृध्रसी में प्रायः रोग उत्पन्न होने से पूर्व कटिपेशी-शोथ प्रायः हुआ करता है। नाड़ी की दिशा में पीडनाक्षमता कम होती है। कटि और पृष्ठवंश की हड्डियों में कुछ पीडनाक्षमता होती है। गुल्फ प्रत्यावर्तन क्रिया मिलती है। पैर की पेशियों में कुछ सख्ती रहती है। और पृष्ठवंश में कुछ पार्श्वकुब्जता आ जाती है। निम्न गृध्रसी में नाड़ी की दिशा में पीडनाक्षमता होती है। और गुल्फ प्रत्यावर्त्तन क्रिया कम या अनुपस्थित रहती है।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—इस रोग की अवधि निश्चित नहीं। यह रोग प्रायः चिरकालीन होता है और महीनों या वर्षों जारी रहता है। जब तीव्र स्वरूप का होता है तब उसकी अवधि कम रहती है। और बार २ होने की सम्भावना भी कम रहती है। प्रायः दूसरी तरफ की नाड़ी विकृत हो जाती है। जब रोग पहिले से ही सौम्य स्वरूप का होता है तो अवधि अधिक (छः से बारह महीने तक) होती है और उसमें बार २ होने की प्रवृत्ति अधिक रहती है। साधारणतया रोग में छः सप्ताह तक विस्तरे पर आराम करने से तत्पश्चात् ४ सप्ताह तक विशेष भारी काम न करने से रोग ठीक हो जाता है। इससे मृत्यु का डर कदापि नहीं होता।

भस्म में हवन के समान स्नेह निरर्थक हो जाता है ॥ १३३-१३४ ॥

तैलमेरण्डजं प्रातर्गोमूत्रेण पिबेन्नरः । मासमेकं प्रयोगोऽयं गृध्रस्यूरुग्रहापहः ॥ १३५ ॥

प्रातःकाल एरण्डतैल को गोमूत्र के साथ एक मास तक पीने से गृध्रसी तथा ऊरुग्रह नष्ट हो जाते हैं ॥ १३५ ॥

तैलं घृतं चार्द्रकमातुलुङ्गरसं सचुक्रं सगुडं पिबेद्वा ।
कट्यूरुपृष्ठत्रिकशूलगुल्मगृध्रस्युदावर्त्तहरः प्रयोगः ॥ १३६ ॥

तेल, घी, आर्द्रक स्वरस तथा बिजौरे नीबू के रस को एकत्र मिलाकर उसमें चुक्र अथवा गुड़ डाल कर पीने से कटिशूल, ऊरुशूल, पृष्ठशूल, त्रिकशूल, गुल्म, गृध्रसी तथा उदावर्त ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १३६ ॥

निष्कुष्यैरण्डबीजानि पिष्ट्वा क्षीरे विपाचयेत् । तत्पानन्तु कटीशूले गृध्रस्यां परमौषधम् ॥

छिलके रहित एरण्ड बीजों को पीसकर दूध में पका कर पीने से कटिशूल तथा गृध्रसी वात नष्ट हो जाता है । यह परमौषधि है ॥ १३७ ॥

एरण्डमूलं बिल्वञ्च बृहती कण्टकारिका । कषायो रुचकोपेतः पीतो वङ्क्षणबस्तिजम् ।
गृध्रसीजं हरेच्छूलं चिरकालानुबन्धि च ॥ १३८ ॥

*रुचकं=सौवर्चलम् ॥ १३८ ॥

एरण्ड की जड, बेलगिरी, बड़ी कटेरी तथा छोटी कटेरी के क्वाथ में कालानमक डालकर पीने से वंक्षणशूल, बस्तिशूल तथा बहुत पुराना गृध्रसीजन्य शूल नष्ट हो जाते हैं ॥ १३८ ॥

गोमूत्रैरण्डतैलाभ्यां कृष्णाचूर्णं पिबेन्नरः । दीर्घकालोत्थितां हन्ति गृध्रसीं कफवातजाम् ॥

गोमूत्र तथा एरण्ड तैल के साथ पिप्पलीचूर्ण को पीने से बहुत दिनों की उत्पन्न हुई कफवातजन्य गृध्रसी नष्ट हो जाती है ॥ १३९ ॥

सिंहास्यदन्तीकृतमालकानां पिबेत्कषायं रुबुतैलमिश्रम् ।
यो गृध्रसीनष्टगतिः प्रसुप्तः स शीघ्रगः स्याद्धि किमत्र चित्रम् ॥ १४० ॥

अडूसा, दन्ती तथा चिरायता इन ओषधियों के क्वाथ में एरण्डतैल मिलाकर पीने से गृध्रसी से जिसकी गति नष्ट हो गई हो तथा जो जड़ हो गया हो वह निश्चय शीघ्रगामी हो जाता है । इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ १४० ॥

बृहन्निम्बतरोः सारो वारिणा परिपेषितः । स पीतो नाशयेत्क्षिप्रमसाध्यामपि गृध्रसीम् ॥

बकाइन की भीतरी छाल को पानी में पीस कर पीने से असाध्य गृध्रसी रोग नष्ट हो जाता है ॥

शेफालिकादलैः क्वाथो मृद्वग्निपरिपाचितः । दुर्वारं गृध्रसीरोगं पीतमात्रः प्रणाशयेत् ॥१४२॥

*अत्र शेफालिका=निर्गुण्डी ॥ १४२ ॥

मन्द अग्नि से निर्गुण्डी के पत्रों का क्वाथ पकाकर पीने से असाध्य गृध्रसी रोग नष्ट हो जाता है ॥

रास्नागुग्गुलुमाह—

रास्नायास्तु पलं चैकं पञ्चकर्षाणि गुग्गुलोः । सर्पिषा वटिकां कृत्वा भक्षयेद् गृध्रसीहरीम् ॥

४ तोले रास्ना तथा ५ तोले गुग्गुलु को एकत्र कूटकर घी से गोली बना कर खाने से गृध्रसी नष्ट हो जाती है ॥ १४३ ॥

रास्नासप्तकक्वाथमाह—

रास्नामृतारग्वधदेवदारुत्रिकण्टकैरण्डपुनर्नवानाम् ।
क्वाथं पिबेन्नागरचूर्णमिश्रं जङ्घोरुपृष्ठत्रिकपार्श्वशूली ॥ १४४ ॥

रास्ना, गुडूची, अमलतास, देवदारु, गोखरू, एरण्डमूल तथा पुनर्नवा इन सब ओषधियों के क्वाथ को सोंठ का चूर्ण डाल कर पीने से जङ्घाशूल, ऊरुशूल, पृष्ठशूल, त्रिकशूल तथा पार्श्वशूल नष्ट हो जाते हैं ॥ १४४ ॥

पथ्यादिगुग्गुलुमाह—

पथ्याविभीतामलकीफलानां शतं क्रमेण द्विगुणाभिवृद्धम् ।

प्रस्थेन युक्तञ्च पलङ्कषाणां द्रोणे जले संस्थितमेकरात्रम् ॥ १४५ ॥
अर्धावशिष्टं कथितं कषायं भाण्डे पचेत्तत्पुनरेव लौहे।
अमूनि वह्नेरवतार्य दद्याद् द्रव्याणि सञ्चूर्ण्य पलार्द्धकानि ॥ १४६ ॥
विडङ्गदन्तीत्रिफलागुडूचीकृष्णात्रिवृन्नागरकोपणानि।
यथेष्टचेष्टस्य नरस्य शीघ्रं हिमाम्बुपानानि च भोजनानि ॥ १४७ ॥
निषेव्यमाणो विनिहन्ति रोगान्सगृध्रसीं नूतनखञ्जताञ्च।
प्लीहानमुग्रं जठराग्निगुल्मं पाण्डुत्वकण्डूवमिवातरक्तम् ॥ १४८ ॥
पथ्यादिको गुग्गुलुरेष नाम्ना ख्यातः क्षितावप्रमितप्रभावः।
बलेन नागेन समं मनुष्यं जवेन कुर्यात्तुरगेण तुल्यम् ॥ १४९ ॥
आयुःप्रकर्षं विदधाति चक्षुर्बलं तथा पुष्टिकरो विषघ्नः।
क्षतस्य सन्धानकरो विशेषाद्रोगेषु शस्तः सकलेषु तज्ज्ञैः ॥ १५० ॥

१०० हरड़, २०० बहेड़े, ४०० आंवले, ६४ तो० गुग्गुलु, इन सब को १ द्रोण (१०२४ तो०) जल में रात भर भिगो दे। फिर इसका अर्द्धावशिष्ट क्वाथ बना कर छान कर लोहे के बर्त्तन में पकावे जब अच्छी तरह गाढ़ा हो जाय तो आग पर से उतार कर वायविडङ्ग, दन्ती, हरड़, बहेड़ा, आंवला, गुडूची, पिप्पली, निशोथ, सोंठ तथा कालीमिर्च इन सबका २-२ तोले चूर्ण डाले तो 'पथ्यादिगुग्गुलु' तैयार होता है। इस गुग्गुलु को सेवन करने वाला मनुष्य यथेष्ट विहार तथा शीतल जल और शीतल पदार्थों का भोजन करे। इस गुग्गुलु का सेवन करने से गृध्रसी, नूतनखञ्जता, उग्रप्लीहा, मन्दाग्नि, गुल्म, पाण्डुरोग, कण्डू, वमन तथा वातरक्त ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं। यह पथ्यादि नामक गुग्गुलु पृथ्वी पर अत्यन्त प्रभावशाली प्रसिद्ध है। इसको सेवन करने वाला मनुष्य बल में हाथी के समान, वेग में घोड़े के समान हो जाता है और आयु की वृद्धि होती है। नेत्र की ज्योति बढ़ती है। पुष्टि प्रदान करता है। विष को नाश करता है। घाव को भरता है। तथा प्रायः वैद्यों ने सम्पूर्ण रोगों में इसे हितकर बतलाया है ॥ १४५-१५० ॥

खञ्जस्य पङ्गोश्च लक्षणमाह—

वायुः कट्याश्रितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा। खञ्जस्तदाभवेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात्

*सक्थ्नः = कट्यादिगुल्फस्य। कण्डरां = महास्नायुम्। आक्षिपेद् = गमनादौ कम्पयेत्। वधाद् = गमनादिक्रियाघातात् ॥ १५१ ॥

कटि में रहने वाली वायु प्रकुपित होकर कटि से लेकर पांव से गुल्फ तक की कण्डरा को चलते समय कंपाती है तो उसे [1]'खञ्ज' कहते हैं। कमर से पांव के गुल्फ तक दोनों जांघों के चलने की क्रिया नष्ट हो जाती है उसे [2]'पङ्गु' कहते हैं ॥ १५१ ॥

खञ्जपङ्गुचिकित्सामाह—

उपाचरेदभिनवं खञ्जं पङ्गुमथापि च। विरेकास्थापनस्वेदगुग्गुलुस्नेहबस्तिभिः ॥ १५२ ॥

विरेचन, आस्थापन बस्ति, स्वेदन, गुग्गुलु के सेवन तथा स्नेहबस्ति से नवीन खञ्जता तथा पङ्गुता की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १५२ ॥

कलायखञ्जस्य लक्षणमाह—

कम्पते गमनारम्भे खञ्जन्निव च लक्ष्यते। कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् ॥१५३॥

*गमनारम्भे कम्पते एतस्य खञ्जादयमेव भेदः। 'कलायखञ्ज' इति शास्त्रे रूढा संज्ञा न तु यौगिकी ॥ १५३ ॥

चलना प्रारम्भ करने के समय खञ्ज के समान कांपे या चले तथा जिसके सन्धिबन्धन शिथिल होगये हों उस मनुष्य को[3] 'कलायखञ्ज' कहते हैं।

(१-२-३) खञ्ज, पङ्गु तथा कलायखञ्ज ये तीनों अधःशाखाओं के विकार है। इन तीनों की

गमन के आरम्भ में कम्प होता है यही कलायखञ्ज और खञ्जता में भेद है। यह नाम वैद्यकशास्त्र में रूढ़ है न कि यौगिक ॥ १५३ ॥

कलायखञ्जचिकित्सामाह—

क्रमः कलायखञ्जस्य खञ्जपङ्ग्वोरिव स्मृतः। विशेषात्स्नेहनं कर्म कार्यमत्र विचक्षणैः ॥

बुद्धिमान् वैद्य को कलायखञ्ज की चिकित्सा, खञ्जता तथा पङ्गुता के समान करनी चाहिये। इसमें विशेषतः स्नेहन क्रिया करनी चाहिये ॥ १५४ ॥

क्रोष्टुकशीर्षलक्षणमाह—

वातशोणितजः शोथो जानुमध्ये महारुजः। ज्ञेयः क्रोष्टुकशीर्षस्तु स्थूलः क्रोष्टुकशीर्षवत् ॥

***क्रोष्टुकः = शृगालः ॥ १५५ ॥**

घुटने के मध्य में वात तथा रुधिरजन्य अत्यन्त वेदनायुक्त गीदड़ के सिर के समान स्थूल जो शोथ होता है उसे 'क्रोष्टुकशीर्ष' कहते हैं ॥ १५५ ॥

क्रोष्टुकशीर्षचिकित्सामाह—

गुग्गुलुं क्रोष्टुशीर्षे तु गुडूचीत्रिफलाऽम्भसा। क्षीरेणैरण्डतैलं वा पिबेद्वा वृद्धदारकम् ॥१५६॥

***गुग्गुलुं शुद्धं कर्षमितम्। गुडूचीत्रिफलाऽम्भसा=गुडूचीपथ्याविभीतामलकैः समुदितैश्चतुष्कर्षमितैः, प्रस्थमितेन जलेन पक्त्वा क्वाथेनोष्णेन पलद्वयमितेन गुग्गुलुं पिबेत्। एरण्डतैलं कर्षमितं क्षीरेण गव्येन पलपरिमितेन पिबेत्। वृद्धदारकचूर्णं वा दुग्धेन गव्येन पलचतुष्टयमितेन पिबेत् ॥ १५६ ॥**

गुड़ूची, हरड़, बहेड़ा तथा आंवला इन सब ओषधियों को ४-४ तो० लेकर १ प्रस्थ (६४ तो०) जल के साथ पकाकर ८ तोले शेष रहने पर छान ले। फिर इसी उष्ण क्वाथ से १ तो० शुद्ध गुग्गुल का सेवन करे अथवा ४ तो० गोदुग्ध के साथ १ तो० एरण्डतैल या १६ तो० गोदुग्ध के साथ विधारे को पीवे तो इससे 'क्रोष्टुकशीर्ष' रोग नष्ट हो जाता है ॥ १५६ ॥

रसैस्तित्तिरमांसस्य पीतैर्गुग्गुलुसंयुतैः। वातरक्तक्रियाभिश्च जयेज्जम्बूकमस्तकम् ॥ १५७ ॥

तित्तिर के मांसरस के साथ गुग्गुलु का सेवन करे तथा वातरक्त के समान चिकित्सा करने से क्रोष्टुकशीर्ष नष्ट हो जाता है ॥ १५७ ॥

खल्लीलक्षणमाह—

खल्लीतु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटिनी ॥ १५८ ॥

***अवमोटिनी = परिवर्त्तनशीला ॥ १५८ ॥**

जो वात पांव, जङ्घा, ऊरु तथा हाथ के मूल को परिवर्तित करदेता है उसे खल्लीवात कहते हैं॥

खल्लीचिकित्सामाह—

कुष्ठसैन्धवयोः कल्कश्चुक्रतैलसमन्वितः। सुखोष्णो मर्दने योज्यः खल्लीशूलनिवारणः ॥

कूट तथा सेन्धानमक के कल्क को चुक और तेल मिला कर कुछ गर्म करके मर्दन करने से खल्लीवात नष्ट हो जाता है ॥ १५९ ॥

वातकण्टकलक्षणमाह—

रुक् पादे विषमे न्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा। वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् ॥

विषमस्थल में पैर को रख देने से अथवा परिश्रम करने से वात के कारण गुल्फ में जो पीड़ा होती है उसे 'वातकण्टक' कहते हैं ॥ १६० ॥

उपर्युक्त विवेचना मूल श्लोकों से सुस्पष्ट ही है। पाश्चात्त्य विद्वान्-खञ्ज को मानो प्लेजिया क्रुरेलिस (mono Plegia Gruralis) पङ्गु को डाईप्लेजिया (Diplegia) और कलायखञ्ज को लैथीरिज्म (Lathyrism) कहते हैं। यह 'कलायखञ्ज' नामक रोग कलायजाति की एक विशेष दाल के लगातार सेवन से होता है। किन्तु नवीन खोज से यह पता चला है कि यह रोग आंकरा (अँकरी Vicia Sativa) नामक दाल के सेवन से होता है।

वातकण्टकचिकित्सामाह—

रक्तावसेचनं कुर्यादभीक्ष्णं वातकण्टके । पिबेदैरण्डतैलं वा दहेत्सूचीभिरेव च ॥ १६१ ॥

*अभीक्ष्णं = पुनः पुनः ॥ १६१ ॥

वातकण्टक रोग में वारम्बार रक्तमोक्षण करावे अथवा एरण्डतैल पिये या सुइयों से दागे ॥

पाददाहलक्षणमाह—

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः । विशेषतश्चङ्क्रमणे पाददाहं तमादिशेत् ॥

पित्त तथा रक्तयुक्त वात पैरों में दाह करता है । यह दाह चलते समय विशेषरूप से होता है । इसे पाददाह कहते हैं ॥ १६२ ॥

पाददाहचिकित्सामाह—

वातरक्तक्रमं कुर्यात्पाददाहे विशेषतः । मसूरविदलैः पिष्टैः शृतशीतेन वारिणा ॥
चरणौ लेपयेत्सम्यग्पाददाहप्रशान्तये ॥ १६३ ॥

पाददाह में विशेषतः वातरक्त की चिकित्सा करनी चाहिये । तथा शृतशीत जल से मसूर की दाल को पीसकर चरणों पर लेप करने से पाददाह शान्त हो जाता है ॥ १६३ ॥

नवनीतेन संलिप्तौ वह्निना परितापितौ । मुच्येते चरणौ क्षिप्रं परितापात्सुदारुणात् ॥१६४॥

पैर के तलुवों पर मक्खन का लेप करके अग्नि से सेंकने से सुदारुण पाददाह शीघ्र दूर हो जाता है ॥ १६४ ॥

पादहर्षलक्षणमाह—

हृष्येते चरणौ यस्य भवतश्च प्रसुप्तकौ । पादहर्षः स विज्ञेयः कफवातप्रकोपजः ॥ १६५ ॥

*हृष्येते = रोमाञ्चितौ भवतः । प्रसुप्तकौ = झिनिझिनीयुक्तौ ॥ १६५ ॥

जिसके चरण रोमाञ्चयुक्त होकर झिनझिन करते हैं उसे प्रकुपित कफवातजन्य पादहर्ष रोग जानना चाहिये ॥ १६५ ॥

पादहर्षचिकित्सामाह—

पादहर्षे तु कर्त्तव्यः कफवातहरो विधिः ॥ १६६ ॥

पादहर्ष रोग में कफ तथा वात को नष्ट करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १६६ ॥

आक्षेपकस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः । तदा क्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चलः ॥
मुहुराक्षेपणाद्वायुराक्षेपक इति स्मृतः ॥ १६७ ॥

*मुहुर्मुहुर्देहमाक्षिपति = गजारूढस्येव पुरुषस्य गात्रं दोलयति । किंविशिष्टो मारुतः ? मुहुश्चलः = वारंवारं सञ्चरणशीलः । अयं वायुराक्षेपक इति स्मृतः । देहस्य यद् मुहुराक्षेपणं = चालनं, ततः ॥ १६७ ॥

जब प्रकुपित वात सम्पूर्ण धमनियों में प्राप्त हो जाता है तो वारम्वार सञ्चरणशील वायु हाथी पर बैठे हुये मनुष्य के समान रोगी के शरीर को हिलाता है । शरीर को वारम्वार यह वात हिलाता है इसी लिये इसको 'आक्षेपक'[1] कहते हैं ॥ १६७ ॥

---

१. आक्षेपक को पाश्चात्य विद्वान् कन्वल्शन्स् (Convulsions) कहते हैं । शरीर की अधिकांश या सम्पूर्ण पेशियों में सहसा तथा प्रबल जो सङ्कोच होता है उसे आक्षेप कहते हैं । यह मस्तिष्क संस्थान की खराबी का एक लक्षण है जो अपस्मार, अपतन्त्रक (Hysteria), मस्तिष्कार्बुद, मस्तिष्कस्थ रक्तस्राव तथा अन्तःशल्यता (Embolism), मस्तिष्कावरण शोथ, मूत्रविषमयता (Ureamia) तथा धनुःस्तम्भ इत्यादि अनेक रोगों में दिखाई देता है । बच्चों में दन्तोद्भेद, उदरशूल, आध्मान तथा केचुये इत्यादि कारणों से भी आक्षेप उत्पन्न होते हैं । आक्षेप के साथ २ हाथ पैरों का टेढ़ापन, दाँतों का बैठना, मुट्ठी बन्द करना, आँखें फाड़ २ कर देखना, पुतलियों का फैलना तथा बेहोशी इत्यादि लक्षण भी उपस्थित रहते हैं । बच्चों के आक्षेप (बालग्रह) तथा अपस्मार का विचार भलीभाँति सुश्रुत उत्तरतन्त्र में किया गया है ।

पित्तश्लेष्मान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः। कुर्यादाक्षेपकं चान्यं चतुर्थमभिवातजम् ॥१६८॥

*पित्तान्वितः श्लेष्मान्वितश्च केवलश्च वायुः, आक्षेपकत्रितयं कुर्यात्। अन्यं चतुर्थमभिवातजम्। अन्यो दण्डाद्यभिघातजो वायुश्चतुर्थमाक्षेपकं कुर्यादित्यर्थः ॥ १६८ ॥

पित्तयुक्त वातजन्य, कफयुक्त वातजन्य, केवल वातजन्य तथा अभिघातज भेद से यह आक्षेपक रोग चार प्रकार का होता है ॥ १६८ ॥

केवलवातोत्पन्नाक्षेपकस्य लक्षणमाह—

पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तम्भाति मारुतः। दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः॥

*अयं वातजाक्षेपको दण्डाख्यः सोऽनुपक्रमः। स्वस्वभावादेव साध्यः। अत्र च मुहुर्मुहुराक्षेपणं बोद्धव्यम् ॥ १६९ ॥

जिस रोग में वायु हाथ, पैर, शिर, पीठ तथा श्रोणि प्रदेश इन सबको स्तब्ध कर देता है तथा सारे शरीर को डंडे के समान जकड़ देता है उसे 'दण्डकाक्षेप' कहते हैं। केवल वात से उत्पन्न हुआ दण्डकाक्षेप जिसमें कि शरीर हाथी पर बैठे के समान हिला करता है स्वभावतः असाध्य है ॥१६९॥

कफयुक्तवातोत्पन्नदण्डापतानकस्य लक्षणमाह—

कफावृतो यदा वायुर्धमनीष्वेव तिष्ठति। स दण्डवत्स्तम्भयति कृच्छ्रो दण्डापतानकः॥

*दण्डापतानकः = स आक्षेपको दण्डापतानकाख्यः। कृच्छ्रः—कष्टसाध्यः। अत्र च मुहुर्मुहुराक्षेपणं बोद्धव्यम्। आगन्तुजाक्षेपकस्य लक्षणं सामान्यमेव बोद्धव्यम् ॥ १७० ॥

जब कफावृत्त वायु धमनियों में रहती है तो शरीर को दण्डवत् स्तब्ध कर देती है। और शरीर हाथी पर बैठे हुये मनुष्य के समान वारम्बार हिलता है। इसे[1] 'दण्डापतानक' कहते हैं। यह रोग कष्टसाध्य होता है। आगन्तजाक्षेपक के भी लक्षण इसी के समान जानना चाहिये ॥ १७० ॥

अथ चतुष्प्रकाराक्षेपकस्य चिकित्सा।

तत्र महाबलातैलमाह—

बलामूलकषायस्य दशमूलीशृतस्य च। यवकोलकुलत्थानां क्काथस्य पयसस्तथा ॥ १७१ ॥
अष्टावष्टौ स्मृता भागास्तैलादेकस्तदेकतः। पचेदवाप्य मधुरं गणं सैन्धवसंयुतम् ॥१७२॥
तथाऽगुरुं सर्जरसं सरलं देवदारु च। मञ्जिष्ठां पद्मकं कुष्ठमेलां कालानुसारिवाम् ॥ १७३ ॥
मांसीं शैलेयकं पत्रं तगरं सारिवां वचाम्। शतावरीमश्वगन्धां शतपुष्पां पुनर्नवाम् ॥
तत्साधुसिद्धं सौवर्णे राजते मृन्मयेऽपि वा। प्रक्षिप्य कलशे सम्यक्स्वनुगुप्तं निधापयेत् ॥
एतन्महाबलातैलं प्रयुक्तमविलम्बितम्। सर्वानाक्षेपकादींस्तु वातव्याधीन्व्यपोहति ॥
हिक्कां श्वासमधीमन्थं गुल्मं कासं सुदुस्तरम्। षण्मासादुपयुक्तं तदन्त्रवृद्धिञ्च नाशयेत् ॥
यथाबलमतो मात्रां सूतिकायै च दापयेत्। या च गर्भार्थिनी नारी क्षीण शुक्रश्च यः पुमान्॥
क्षीणवाते मर्महते ह्यभिघातहते तथा। भग्ने श्रमाभिपन्ने च सर्वथैतत्प्रयुज्यते ॥ १७९ ॥
एतद्धि राज्ञा कर्त्तव्यं कर्त्तव्यं राजपूजितैः। सुखिभिः सुकुमारैश्च धनिभिर्मानवैः सदा ॥

*एकतः = एकत्र। अवाप्य = प्रक्षिप्य ॥ १७१–१८० ॥

खिरेटी का क्काथ ८ भाग, दशमूल का क्काथ, ८ भाग, जौ, मिर्च तथा कुलथी का क्काथ ८ भाग, दूध ८ भाग तथा तैल १ भाग इन सबको एक पात्र में डालकर और उसमें जीवनीयगण को ओषधियां, सेन्धानमक, अगर, राल, धूप, देवदारु, मजीठ, पद्मकाष्ठ, कूट, छोटी इलायची, काली सारिवा,

---

१. दण्डापतानक को अंग्रेजी में आर्थोटोनस (Orthotonos) कहते हैं। यह पेशियों के तनाव के कारण उत्पन्न होता है। जब पूर्व भाग (छाती की ओर) की पेशियां तथा पश्चिम (पीठ की ओर) की पेशियां समानशक्ति से तनती हैं तब शरीर डण्डे के समान सीधा तथा कठिन हो जाता है। इसी अवस्था को दण्डापतानक या आर्थोटोनस (Orthotonos) कहते हैं।

जटामांसी, छारछरीला, तेजपात, तगर, सारिवा, वच, शतावरी, असगन्ध, सौंफ तथा पुनर्नवा इन सब के कल्क को डालकर यथाविधि तैल पाक कर सोने, चांदी अथवा मिट्टी के घड़े में भर कर रख दे। इसे महाबला तैल कहते हैं। इस तैल के प्रयोग से शीघ्र आक्षेपक इत्यादि सम्पूर्ण वातरोग नष्ट हो जाते हैं। तथा हिक्का, श्वास, अधिमन्थ, गुल्म तथा भयङ्कर कासरोग दूर हो जाता है। तथा इसके ६ महीने तक सेवन करने से आन्त्रवृद्धि नष्ट हो जाती है। यथाबल सूतिका स्त्री को इस तैल की मात्रा देनी चाहिये। गर्भ की इच्छा रखने वाली स्त्री तथा क्षीणवीर्य मनुष्य के लिये यह तैल हितकर है। क्षीणवात, मर्मस्थानों की चोट तथा अन्य स्थानों के अभिघात, भग्न, परिश्रम से आक्रान्त इन सब अवस्थाओं में सर्वदा इस तैल का प्रयोग किया जाता है। राजा, राजपूजित, सुखी लोग, सुकुमार तथा धनी मनुष्यों को इस तैल को सदा तैयार करवा कर रखना चाहिये॥

अन्तरायामलक्षणमाह—

अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः। स्नायुप्रतानमनिलस्तदाऽऽक्षिपति वेगवान्॥ १८१॥
विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन्॥ १८२॥
अभ्यन्तरे धनुरिव यदा नमति मानवः। तदा सोऽभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली॥१८३॥

*यदा स वली मारुतोऽभ्यन्तरायामं कुरुते। तदङ्गुल्यादिसंश्रितोऽनिलः। स्नायुरत्रोपलक्षणम्। तेन सिराकण्डरयोरपि ग्रहणम्। आक्षिपति = कम्पयति। तदा स मानवः। विष्टब्धाक्षः = स्तब्धनेत्रः। भग्नपार्श्वः = भग्ने इव पार्श्वे यस्य सः॥ १८१–१८३॥

जब बलवान वायु 'अन्तरायाम'[१] को करता है उस समय अङ्गुली, गुल्फ, उदरप्रदेश, हृदय वक्षःस्थल तथा गले में स्थित वेगवान् वायु स्नायुमण्डल, शिराओं तथा कण्ठ को कँपाता है। उस समय रोगी की आंखें स्तब्ध हो जाती हैं। हनुग्रह हो जाता है। पसलियां टूटी सी मालूम पड़ती हैं। कफ का वमन करता है। तथा वह भीतरकी ओर धनुषके समान झुक जाता है॥१७१-१८३॥

बाह्यायामलक्षणमाह—

महाहेतुर्बली वायुः सशिराः स्नायुकण्डराः। मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यानामयेद् बहिः
यत्र तं बहिरायामं प्रवदन्ति भिषग्वराः। तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षःकट्यूरुभञ्जनम्॥१८५॥

*वक्षःकट्यूरुभञ्जनम्। तत्रापि यो वक्षःकट्यूरून्, भनक्ति=सम्मर्दयति, तमसाध्यंमाहुः॥ १८४–१८५॥

महान् कारणों से प्रकुपित बलवान् वायु मन्या तथा पीठ में रहने वाली शिराओं, स्नायुओं तथा कण्डराओं को सुखाकर मनुष्य को पीठ की ओर धनुष के समान झुका देता है। इस रोग को श्रेष्ठ वैद्य 'बाह्यायाम'[२] कहते हैं। इस रोग में यदि वक्षःप्रदेश, कटि तथा जांघों में मर्दन के समान वेदना हो तो बुद्धिमान लोग इसे असाध्य कहते हैं॥ १८४-१८५॥

तयोश्चिकित्सामाह—

बाह्यायामेऽन्तरायामे विधेयाऽर्दितवत्क्रिया॥ १८६॥

---

१. अन्तरायाम को अंग्रेजी में इम्प्रोस्थोटोनस (Emprosthotonos) कहते हैं। इस अवस्था में पेशियों में तनाव उत्पन्न होता है। जब पूर्वभाग की पेशियों का तनाव पश्चिम भाग की पेशियों के तनाव की अपेक्षा बलवान् होता है तब शरीर छाती की ओर टेढ़ा हो जाता है। इसी अवस्था को अन्तरायाम या इम्प्रोस्थोटोनस (Emprosthotonos) कहते हैं।

२. बाह्यायाम को अंग्रेजी में ओपिस्थोटोनस (Ooisthotonos) कहते हैं। यह भी पेशियों में तनाव उत्पन्न होने के कारण होता है। यह रोग उस अवस्था में होता है जब कि पूर्व भाग की पेशियों के तनाव की अपेक्षा पश्चिम भाग की पेशियों का तनाव बलवत्तर होता है। ऐसी दशा में शरीर पीछे की ओर झुक जाता है। तब इस अवस्था को बाह्यायाम या ओपिस्थोटोनस (Opisthotonos) कहते हैं।

बाह्यायाम तथा अन्तरायाम में अर्दित के समान चिकित्सा का विधान करना चाहिये ॥१८६॥

धनुःस्तम्भलक्षणमाह—

धनुस्तुल्यो नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसञ्ज्ञितः। विवर्णो बद्धवदनः स्रस्ताङ्गो नष्टचेतनः॥ प्रस्विद्यंश्च धनुःस्तम्भी दशरात्रं न जीवति॥ १८७॥

***अन्तरायामेऽङ्गुल्यादिष्वाक्षेपः स्तब्धाक्षत्वादिकञ्च भवति। धनुःस्तम्भे तु धनुर्वन्नमनमात्रमित्येतयोर्भेदः। विवर्णो बद्धवदनः=बन्धोऽत्र चिबुकस्य ज्ञेयः॥ १८७॥**

प्रकुपित वात के कारण मनुष्य धनुष के समान झुक जाता है उसे 'धनुःस्तम्भ' कहते हैं।

---

१. पाश्चात्त्य विज्ञान में धनुःस्तम्भ को टिटेनस (Tetanus) कहते हैं। यह एक प्रकार का औपसर्गिक रोग है, जिसमें शरीर की पेशियां हमेशा तनी हुई होती हैं और बीच २ में जोर के साथ तनाव के आवेग आते हैं। अपने यहाँ सुश्रुत निदान स्थान में अपतानक नामक वातरोग की ठीक ऐसी ही व्याख्या की गई है, यथा-'सोऽपतानकसंज्ञो यः पातयत्यन्तराऽन्तरा'।

और दण्डापतानक, धनुःस्तम्भ, हनुस्तम्भ, अन्तरायाम और बाह्यायामको अन्तरायाम का ही भेद बताया गया हैं। ठीक इसी प्रकार टिटेनस (Tetanus) भी इसी प्रकार का रोग है, जिसमें भी दण्डापतानक इत्यादि सभी उपद्रव होते हैं, आगे चल कर सबकी सुस्पष्ट व्याख्या की जायगी।

हेतु—इस रोग का प्रधान कारण बसीलस टेटेनी (B. Tetani) नामक जीवाणु है। ये जीवाणु-घोड़ा, बैल, गो तथा बकरी इत्यादि जानवरों के आन्त्र में रहते हैं। मनुष्यों के आन्त्र में भी ये मिल सकते हैं। अतः खादयुक्त भूमि में, विशेषतया ऊपरी तह में ये प्रायः काफी संख्या में मिलते हैं।

प्रवेशमार्ग—इस जीवाणु का शरीर में प्रवेश हमेशा क्षतद्वारा होता है। कभी २ त्वचा का क्षत अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण रोगी को उसका ज्ञान नहीं होता। ऐसी अवस्था में जो धनुःस्तम्भ होता है उसे अक्षतज (Idiopathic, Cryptogenic) कहते हैं। परन्तु यह कथन वास्तव में ठीक नहीं है। क्षत के बिना जीवाणु शरीर में प्रवेश नहीं कर सकते। मनुष्य के आन्त्र में जीवाणु होने के कारण कभी २ आन्त्रक्षत से भी यह रोग हो सकता है। संक्षेप में शरीर की क्षतयुक्त अवस्था में यह रोग हो सकता है। जैसे—

१—मध्यकर्णशोथ, शय्याव्रण, विद्रधि, फोड़े फुन्सियां, मुखदूषिका (Acne) तथा चेचक टीका इत्यादि क्षतयुक्त अवस्थाओं में।

२—किनीन तथा मार्फिया इत्यादि ओषधियों की सुई लगाने के बाद तथा कर्णवेधन के बाद। कर्णवेध के सम्बन्ध में सुश्रुत में लिखा हुआ है कि—

'तत्र लोहितकायां विद्धायां मन्यास्तम्भापतानकशिरोग्रहकर्णशूलानि भवन्ति'।

किनीन की सूई लगाने में इसका सबसे अधिक डर होता है। इस विषय में शास्त्रज्ञों की राय है कि ये जीवाणु बाहर से सूई की नाली में प्रवेश कर वहां वर्द्धित होते हैं और सूई लगाते समय शरीर में प्रवेश करते हैं। किनीन धातुनाशक होने के कारण वहां पर अनुकूल परिस्थिति मिल कर ये बढ़ते हैं।

३—व्रणबन्धन के लिये दूषित रूई, कपड़ा इत्यादि पदार्थ प्रयोग में लाने से तथा पूर्णतया अविशोधित कैटगट के प्रयोग से भी यह रोग होता है। कैटगट सीवन के काम में आता है और बकरी की आंत से बनाया जाता है। बकरी की आंत में जीवाणु होने के कारण पूर्णतया अविशोधित कैटगट में जीवाणु होने की सम्भावना होती है।

४—प्रसूति के समय अविशोधित हाथ तथा यन्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करने से जीवाणु गर्भाशय के भीतर प्रवेश करके जमे हुये रक्त में अपरा के अवशिष्ट टुकड़े में वर्द्धित होकर प्रसूतावस्थामें रोग उत्पन्न करते हैं। अपने यहां भी इसका प्रसङ्ग आता है कि—

'गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः। अभिघातनिमित्तश्च न सिध्यत्यपतानकः'।

सु० नि० अ० १ श्लो० ५६।

जिस धनुःस्तम्भ के रोगी के मुख का वर्ण विकृत हो गया हो तथा दांत बैठ गये हों, अङ्ग शिथिल हो गये हों, संज्ञा नष्ट हो गई हो, पसीना होता हो ऐसा मनुष्य दश रात्रि तक नहीं जीता। अन्तरायाम में अङ्गुली इत्यादि में आक्षेप तथा आखों में स्तब्धता होती है। किन्तु धनुःस्तम्भ में रोगी धनुष के समान केवल झुक मात्र जाता है। यही अन्तरायाम तथा धनुःस्तम्भ में भेद है॥ १८७॥

५—इसी अशुद्धता के कारण नवजात बालक में नालच्छेदन के पश्चात् नाल में जीवाणु प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं। इसे नवजात अपतानक या नवजात धनुःस्तम्भ (Tetanus Neonatorum) कहते हैं।

सहायक कारण—बाह्य या भीतरी त्वचा में व्रण की उत्पत्ति इस रोग का प्रधान सहायक कारण है। जिन व्रणों में आघात से या अन्य कारण (जैसे क्विनीन) से स्थानिक सेल निर्जीव होजाते है, जिनमें कोई विजातीय शल्य उपस्थित रहता है, पूयजनक जीवाणुओं का जिनमें प्रवेश होता है और जिनमें कुछ वातरहित अवस्था (Anaerobic environment) होती है, ऐसे व्रणों में इनकी वृद्धि होने की सम्भावना अधिक होती है। ऐसे व्रण अधिकतर सड़कों में तथा खेतों में जो अपघात होते हैं तथा चोटें लगती हैं तब उत्पन्न होते है और लीद, गोबर तथा खाद इत्यादि के कारण वहां रोग के जीवाणु उपस्थित रहते है। अत एव सड़कों पर तथा खेतों में उत्पन्न घावों से धनुःस्तम्भ (Tetanus) होने का अधिक डर होता है।

सम्प्राप्ति—इस अनुकूल घाव में प्रवेश होने के पश्चात् जीवाणु वहां पर वर्द्धित होते हैं और वहां पर मर्यादित भी रहते हैं। इस जीवाणु से बहिःस्थ विष बनता है। यह विष वर्धन स्थान से शरीर में फैल कर रोग का लक्षण उत्पन्न करता है। अर्थात् धनुर्वात में विषमयता होती है। इसका विष अत्यन्त मारक है। इस विष में दो भाग होते हैं। एक भाग आक्षेप उत्पन्न करने वाला (Tetano Spasmin) और दूसरा रक्तद्रावक (Tetano Lysin) होता है। इस विष का आकर्षण वातनाडियों की ओर तथा सुषुम्ना और मस्तिष्क की ओर होता है और जिस स्थान में जीवाणु का प्रवेश होता है उस स्थान की पेशी में स्थित चेष्टावह नाड्यग्र (Motar end Plate) में से होकर विष—नाड़ी, सुषुम्ना और मस्तिष्क में पहुंचता है। यदि शीर्षनाड़ी (Cranial Nerve) के अग्र के द्वारा विष प्रवेश करे तो सीधा मस्तिष्क में पहुंचना है। मार्ग कोई हो जब तक विष मस्तिष्क या सुषुम्ना की चेष्टावह सेलों (Motar Nerve cells) तक नहीं पहुंचता तब तक रोग के लक्षण नहीं उत्पन्न होते। इन सेलों के पास पहुंचने पर विष सेलों के साथ संयुक्त होता है और यह संयोग यद्यपि पूर्ण स्थायी नहीं है तथापि कुछ स्थायी स्वरूप का होता है। इस संयोग के कारण मस्तिष्क सुषुम्ना के चेष्टावह सेल हमेशा प्रक्षुभित तथा शीघ्रक्षोभी बनते हैं जो बिना कारण या थोड़ा सा कारण होने पर शरीर के पेशा-समूहों को उत्तेजित करके आक्षेप उत्पन्न करते हैं। मस्तिष्क सुषुम्ना सेल और विष के स्थायी संयोग के लिये कुछ समय की भी आवश्यता होती है। और यही समय सञ्चयकाल कहलाता है। यह सञ्चयकाल विष की तीव्रता या मन्दता के अनुसार अधिक या कम होता है। साधारण सञ्चय काल ७–८ रोज का होता है। कम से कम दो दिन और अधिक से अधिक १४ दिन का होता है, तथा चिरकालीन में १ महीने का भी हो सकता है।

लक्षण—प्रथम रोगी को जबड़ा खोलने में तथा चर्वण क्रिया में कठिनाई मालूम होती है। तत्पश्चात् ग्रीवा की पेशियों में जकड़न होती है। एक दो रोज में जबड़ा बिलकुल बन्द (हनुग्रह Lock-jaw, Trismus) हो जाता है जिससे रोगी मुँह खोलने में असमर्थ होता है। चेहरे की पेशियों पर भी परिणाम होकर त्योरियां ऊपर चढ़ती हैं, मुख के कोन बाहर की ओर खिंच जाते हैं और होंठ कुछ अलग होकर मुखचर्या विकृत हास्ययुक्त (Risus Sardonicus) होती है। निगलने की पेशियां सख्त होकर निगलने में कठिनाई होती है। धीरे २ पेशियों का कड़ापन-पीठ, छाती और शाखाओं पर फैलता है। आक्षेप के आवेग भी आने लगते हैं। आवेग के समय शरीर की समस्त

कुब्जकलक्षणमाह—

हृदयं यदि वा पृष्ठमुन्नतं क्रमतः सरुक्। क्रुद्धो वायुर्यदा कुर्यात्तदा तं कुब्जमादिशेत् ॥१८८॥

ह्यदेत्युक्त्वा यदि वेति विकल्पार्थस्तेन न पुनरुक्तिदोषः। ननु अन्तरायामः क्रोडनतो भवति, बहिरायामः पृष्ठनतो भवति, ताभ्यामस्य को भेदः? उच्यते—अन्तरायामबहिराया-

पेशियों में वेदनायुक्त ऐंठन होती हैं, श्वास-प्रश्वास की क्रिया में कठिनाई होती हैं और शरीर प्रायः धनुष के समान टेढ़ा और कड़ा हो जाता है। इसीलिये इस रोग को धनुःस्तम्भ या धनुर्वात कहते हैं। ये आवेग रोगी को स्पर्श करने से, सुई लगाने से, हवा का झोंका लगने से, तीव्र ध्वनि सुनने से, बोलने की कोशिश करने से, खाने-पीने की क्रिया से, संक्षेप में जरा सी उत्तेजना से आते हैं। जिस पेशीसमूह में अधिक सकोच होता है उसके अनुसार आवेग के समय शरीर की आकृति बनती है। पृष्ठ की प्रसारक (Extensors) पेशियों का संकोच अधिक जोर से होने पर शरीर पीछे की ओर टेढ़ा होकर कभी २ सिर एडी के साथ लग जाता है। इसको बाह्यायाम (Opisthotonos) कहते हैं। जब संकोचक पेशियां अधिक शक्ति से सिकुडती हैं तब शरीर छाती की ओर टेढ़ा होता है। इसे अन्तरायाम (Emprosthotonos) कहते हैं। जब प्रसारक और संकोचक पेशियों की संकोचशक्ति सम होती हैं तब शरीर डंडे के समान सीधा और सख्त होता है। इसे दण्डायाम (Orthotonos) कहते हैं। कभी एक पार्श्व की पेशियों में अधिक तनाव उत्पन्न होकर शरीर एक पार्श्व की ओर टेढ़ा होता है तब उसे पार्श्वायाम (Pleurothotonos) कहते हैं। आवेग के समय अमर्याद संकोच के कारण कभी २ पेशियाँ (विशेष करके उदर की दण्डकपेशियां) विदीर्ण भी हो जाती हैं। आवेग का काल कुछ सेकेन्डों का होता है। और घण्टे, आधे घण्टे के बाद आवेग आते हैं। धीरे २ आवेग के बीच का काल कम होता है। आवेगों के बीच के काल में पेशियां पूर्ण शिथिल नहीं होतीं, आवेग के समय चेहरा अधिक विकृत होता है। दाँती बैठ जाती है, साँस में कठिनाई होती है। श्वासावरोध का डर रहता है। रोगी कराहता है। और नाडी अधिक तेज़ हो जाती हैं। शरीर के भिन्न स्थानों की प्रत्यावर्त्तन क्रियायें (Reflex actions) अधिक तेज़ होती हैं। मूत्र प्रायः रुक जाता है और उसको निकालने के लिये सलाई का प्रयोग करना पड़ता है। इस रोग में ज्वर प्रायः नहीं होता, परन्तु कभी २ मृत्यु के पहिले ज्वर होता है और मरणोत्तर तक बढता हैं। रोगी अन्त तक होश में रहता है। उपर्युक्त जो यह सब टिटेनस (Tetanus) रोग का वर्णन किया गया है वह सब निम्न अपतानक रोग के लक्षणों से एकदम मिलता है। धनुःस्तम्भ इत्यादि को तो सुश्रुत ने अपतानक का ही भेद बताया है। अतः (Tetanus) वस्तुतः अपतानक नामक वात रोग को छोड कर और कुछ नहीं है। यथाः—

'सोऽपतानकसञ्ज्ञो यः पातयत्यन्तरान्तरा। कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥
स दण्डवत् स्तम्भयति कृच्छ्रो दण्डापतानकः। हनुग्रहस्तदाऽत्यर्थं सोऽन्नं कृच्छ्रान्निषेवते ॥
धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसञ्ज्ञकः। अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः ॥
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान्। विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन् ॥
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवः। तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली ॥
बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च। तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षःकट्यूरुभञ्जनम् ॥'
सु० नि० अ० १ श्लोक ४९-५४ ॥

रोगक्रमः—यदि रोग घातक हो तो आवेग जल्दी २ आने लगते हैं, और ४-५ दिन में रोगी मरता है। मृत्यु प्रायः क्षीणता से, श्वसनपेशियों की जकड़न से या स्वरयन्त्र के बन्द होने से, श्वासावरोध से या क्वचित् हृद्भेद से होता है परन्तु विष के कारण मस्तिष्क में उत्पन्न हुई विकृति से नहीं होती। कभी २ मृत्यु २-४ सप्ताह के बाद भी होती है। मृत्यु के पूर्व १८-२४ घण्टे तक कभी कभी आवेग बन्द हो जाते हैं। यदि रोग सौम्य हो तो आवेगान्तरीय काल धीरे २ बढ़ता है, आवेग

मयोः प्रकृतस्यैवान्तःशरीरस्य बहिः शरीरस्य च नमनम् , अत्र तु हृदयं पृष्ठं वा शरीराद् बहिर्भवतीति भेदः ॥ १८८ ॥

की तीव्रता घटती है, पेशियों का कड़ापन कम होता है तथा रोगी ठीक हो जाता है।

स्थानिक अपतानक (Local Tetanus)—कभी २ व्रण के स्थान की पेशियों में ही ऐंठन मर्यादित रहती है तब उसको स्थानिक अपतानक कहते हैं। यह अवस्था विशेषतया प्रतिबन्धक लसिका का जिनमें प्रयोग हुआ है ऐसे व्यक्तियों में दिखाई देती है। जैसे, हाथ के घाव में, हाथकी पेशियों में, पैर के घाव में, पैर की पेशियों में तथा शिर के घाव में शिर की पेशियों में ऐंठन मर्यादित रहती है। कभी २ ये आक्षेप सर्व शरीर पर भी फैलते है। स्थानिक अपतानकों में निम्न दो महत्त्व के हैं।

शीर्षापतानक (Cephalic Tetanus)—यह विकार मुख और शिर पर घाव होने से होता है। इसके कई प्रकार होते हैं। एक में जलसन्त्रास की भांति निगलने की और सांस की पेशियों का घात होता है। दूसरे में नेत्रनाड़ी की विकृति से पक्ष्मघात और नेत्र की पेशियों का घात होता है। तीसरे में जिह्वामूलिनी (Hypoglossal) नाड़ी की विकृति होती है। चौथे में मुखनाड़ी की विकृति होकर अर्दित तथा मुख की पेशियों में आक्षेप आते हैं।

आमाशयिक अपतानक (Splanchnic tetanus)-यह प्रकार छाती और उदर के घाव से उत्पन्न होता है। इसमें श्वसन और ग्रसन दोनों में कठिनाई उत्पन्न होती है। ग्रसन की पेशियों में जल देखने से भी जलसन्त्रास की भांति आक्षेप आते हैं।

रोगनिदान—घाव का पूर्ववृत्त (कभी २ रोगी को घाव की याद नहीं होती, परन्तु प्रश्न करने से उसका पता लग जाता है), चर्वण की कठिनाई, हनुग्रह, आवेग के बीच में भी पेशियों का कड़ापन तथा शाखाओं पर हनुग्रह के पश्चात् आक्रमण ये इसके प्रधान लक्षण होते हैं।

प्रायोगिक-जीवाणुदर्शन—शरीर पर जहाँ घाव हो वहाँ से पूय, स्राव या लेखित द्रव्य (Scrapings) लेकर कांच की पट्टी पर उसका लेप करके ग्राम की रञ्जनविधि से रञ्जन करके देखा जाता है। साधारणतया इस विधि से धनुर्वात के जीवाणु का दर्शन होना बहुत कठिन होता है क्योंकि उसके साथ पूयजनक तथा अन्य स्पोर युक्त जीवाणु भी होते हैं। इसके सिवाय मुंगरीके समान जीवाणु प्रायः व्रण में नहीं मिलते।

जीवाणुवर्धन—यह विधि अधिक विश्वसनीय है। इसमें व्रण का दूषित द्रव्य उचित वर्धन द्रव्य में वर्द्धित किया जाता है। चार-पांच दिन ऊष्मपोषण (Incubation) करने के बाद जीवाणु का दर्शन किया जाता है। अन्य जीवाणुओं को तथा स्पोरहीन प्रकार को नष्ट करने के लिए वर्द्धित द्रव्य ८०° से० उष्णता पर ४० मिनट तक उष्ण किया जाता है। पश्चात् उसकी परीक्षा की जा सकती हैं। इससे केवल स्पोरयुक्त जीवाणु बच जाते हैं।

प्राणियों में अन्तःक्षेप—गिनीपिग या अन्य उचित प्राणियों में घाव का दूषित द्रव्य या वर्धन करने के बाद बचा हुवा द्रव (Filtrate) प्रविष्ट करके प्राणि में रोगकी उत्पत्ति करना। यदि धनुर्वात उत्पन्न हो जाय तो रोग की निश्चिति समझना चाहिये।

सापेक्ष रोगनिश्चिति—

कुचलाविष—(Strychnine Poisoning)-इसमें शाखाओं पर आक्षेप प्रथम और अधिक जोर के होते हैं, हनुस्तम्भ देर में होता है या नहीं होता, आवेग के बीच में पेशियाँ पूर्ण शिथिल हो जाती हैं, कुचला खाने का पूर्ववृत्त और खाने के घंटे डेढ़ घंटे के बाद लक्षणों का प्रादुर्भाव ये प्रधान भेद हैं।

जलसन्त्रास (Hydro Phobia)-इसमें कुत्ता या तत्सम जानवर के काटने का पूर्ववृत्त, प्रलाप तथा बेहोशी इत्यादि वातिक लक्षणों का प्राधान्य, ग्रसन और श्वसन की पेशियों के आक्षेप

प्रकुपितवात जब छाती अथवा पीठ को क्रमशः ऊंची तथा वेदनायुक्त कर दे तब इस रोग को कुब्जक कहते हैं ।

शङ्का—अन्तरायाम में रोगी छाती की ओर से झुकता है और बाह्यायाम में पीठ की ओर से झुकता है तो फिर बाह्यायाम, अन्तरायाम और कुब्जक में क्या भेद है ?

की अधिकता, यहाँ तक कि खाने की या पीने की चीज देखने पर आक्षेप आना और हनुस्तम्भका अभाव ये प्रधान लक्षण होते हैं ।

टेटनी (Tetany)-इसमें शाखाओं में ऐंठन आती है, जिससे कोहनी और पहुँचे पर हाथ मुड़कर छाती पर रखा जाता है । पञ्जों की अंगुलियां आपस में मिलकर पञ्जा अधोमुख कमल-मुकुल के समान (इसी को Accoucheurs hand कहते हैं) हो जाता है ।

इस रोग की तीन विशेषतायें होती हैं—

१—विकृत स्थान की नाड़ी या धमनी के पीड़न से आक्षेपकी उत्पत्ति (Trousseau's sign)।

२—विद्युत् प्रवाह के लिए पेशियों की अधिक उत्तेजनशीलता (Erbs Sign) ।

३—मुखनाड़ी पर या मुख की पेशियों पर आघात करने से मुख में आक्षेप उत्पन्न होना (Chvosteks Sign) ।

गले, दांत तथा जबड़े के विकार—इन रोगों में कभी २ हनुग्रह हो जाता है और धनुर्वात के प्रारम्भ में जब कि हनुग्रह के सिवाय दूसरा लक्षण नहीं होता, इन रोगों से तुलना हो सकती है । परन्तु मुख की अभ्यन्तरीय परीक्षा करने से तथा गले की लसिका-ग्रन्थियों को टटोलने से इन रोगों की परीक्षा होती है, क्योंकि इनमें मुख के भीतरी विकार के चिह्न दिखाई देते हैं और गले की ग्रन्थियां पीड़ायुक्त तथा कुछ फूली हुई होती हैं । इसलिए हनुग्रह में हमेशा मुख और गले की लसिकाग्रन्थियों की परीक्षा करनी चाहिये ।

साध्यासाध्यता—तीव्र रोग में तथा देर में चिकित्सा करने पर मृत्युसंख्या ८०-९० प्रतिशत होती है । रोग की साध्यासाध्यता कई बातों पर निर्भर होती है ।

आयु और स्वास्थ्य—जवान, मजबूत तथा स्वस्थ रोगियों में रोग साध्य होता है । बच्चों में और वृद्धों में असाध्य होता है ।

घावकी स्थिति—यदि घाव गहरा न हो और उसकी स्थानिक स्वच्छता और चिकित्सा भली भांति हो सकती हो तो रोग साध्य और यदि घाव गम्भीर हो और जिसकी सफाई ठीक न हो सकती हो तो असाध्य होता है ।

सञ्चयकाल—जितना संचयकाल अधिक होगा उतना रोग सौम्य होगा और जितना संचयकाल कम होगा उतना रोग तीव्र होगा । साधारणतया संचयकाल ५ दिन से कम होने पर कृच्छ्रसाध्य होता है और १० दिन से अधिक होने पर साध्यता बढती है ।

हनुग्रह और ग्रसनकृच्छ्र—यदि रोग के प्रारम्भ से ही तीव्र हनुग्रह और निगलने की कठिनाई हो तो अन्नसेवन में बाधा उत्पन्न होने के कारण रोग की कष्टसाध्यता बढ़ती है ।

रोगवृद्धिकाल (Period of onset)—रोग का प्रारम्भिक लक्षण (हनुग्रह) और सार्वदैहिक आक्षेप के आवेग इनके बीच में जो काल होता है उसे रोगवृद्धिकाल कहते हैं । यह काल दो दिन से कम होने पर रोग असाध्य, ३ दिन का होने पर कष्टसाध्य और उससे अधिक होने पर उत्तरोत्तर साध्यता बढ़ती है ।

चिकित्सा—यदि रोग की सम्पूर्ण चिकित्सा रोगारम्भ के ३६ घण्टे के भीतर प्रारम्भ की जाय साध्यता बढ़ती है और विलम्ब करने पर असाध्यता बढ़ती जाती है क्योंकि अधिकाधिक विष शरीर में फैलता है और मस्तिष्क सुषुम्ना के साथ स्थायीरूप से संयुक्त होता है जिस पर चिकित्सा का अर्थात् लसिका का कुछ भी परिणाम नहीं हो सकता ।

समाधान—अन्तरायाम तथा बाह्यायाम में शरीर छाती की ओर अथवा पीठ की ओर से केवल झुकता मात्र है। शरीर जैसे का तैसा हो रहता है किन्तु कुब्जक में छाती अथवा पीठ शरीर से बाहर निकल जाता है यही भेद है ॥ १८८ ॥

धनुर्वातकुब्जकयोश्चिकित्सामाह—

बाह्यायामेऽन्तरायामे धनुःस्तंभे च कुब्जके। योज्यं प्रसारणीतैलं तेन तेषां शमो भवेत् ॥
वातव्याधिषु सामान्या याः क्रियाः कथिताः पुरा। कर्त्तव्या एव ताः सर्वास्तैलमेतद्विशेषतः ॥

बाह्यायाम, अन्तरायाम, धनुःस्तम्भ तथा कुब्जक में प्रसारणी तैल का उपयोग करने से ये रोग शान्त हो जाते हैं। पहिले वातव्याधियों में जिन चिकित्साओं का वर्णन किया गया है वे ही सब चिकित्सायें इस रोग में भी करनी चाहिये तथा विशेषतः प्रसारिणी तैल का उपयोग श्रेयस्कर है ॥ १८९–१९० ॥

अपतन्त्रकलक्षणमाह—

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते। पीडयन्हृदयं गत्वा शिरः शङ्खौ च पीडयन् ॥
धनुर्वन्नमयेद् गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तथा। स कृच्छ्रादुच्छ्वसेदुच्चैः स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः।
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः ॥ १९२ ॥

***स्थानात् = पक्वाशयात्। ऊर्ध्वं शिर उद्दिश्य। आक्षिपेद् = चालयेत्। अथ, निमीलकः = निमीलिताक्षः स्तब्धाक्षो वा। यत्रैतानि भवन्ति सोऽपतन्त्रकः ॥ १९१–१९२ ॥**

अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वात पक्वाशय से ऊपर शिर की ओर जाकर हृदय को पीडित करता हुआ शिर तथा शङ्खप्रदेश को पीडित करता हुआ शरीर को धनुष के समान झुका देता है, शरीर को कंपाता है तथा चित्त को मोहयुक्त कर देता है तब वह मनुष्य कठिनता से ऊंचा श्वास लेता है। आंखें स्तब्ध हो जाती हैं अथवा आंखों को मूंद लेता है। कबूतर की भांति कूजता है तथा संज्ञारहित हो जाता है। ये सब लक्षण जिस रोग में होते हैं उसे [1]'अपतन्त्रक' कहते हैं ॥ १९१–१९२ ॥

आवेग की तीव्रता—आवेगों का बहुत जल्दी २ आना और अधिक काल तक रहना भी घातक होता है क्योंकि आक्षेपों के कारण रोगी अधिकाधिक क्षीण होता जाता है, उचित मात्रा में उसके शरीर का पोषण नहीं होता और अधिकाधिक विष नाडियों के द्वारा सुषुम्ना और मस्तिष्क की ओर चला जाता है। जसे मर्दन या पेशियों के संकोच से अधिकाधिक रक्त हृदय की ओर चला जाता है। अन्य लक्षण—रोगी हृदय, धमनी तथा फुफ्फुस के विकारों से पीडित हो, तीव्रज्वर, निद्रानाश तथा प्रलाप से युक्त हो तो रोग असाध्य होता है। सक्षेप में यदि रोगी जवान और स्वस्थ हो, संचयकाल अधिक हो, आवेग सौम्य देर में आते हों, रोगी खाद्य-पेय का सेवन उचित मात्रा में कर सकता हो, घाव की स्थानिक चिकित्सा तथा रोग की[1] लसिका द्वारा चिकित्सा जल्दी प्रारम्भ हुई हो तो रोग कृच्छ्रसाध्य होता है। इसके विपरीत अवस्था में असाध्य होता है। साध्यासाध्यता में सञ्चयकाल का जितना महत्त्व है उतना और किसी का नहीं है। सञ्चयकाल ५ रोज से कम हो तो सुसाध्यता के सभी लक्षण उपस्थित होने पर भी रोगी नहीं बचता।

१. अपतन्त्रक नामक वातरोग को हिस्टीरिया (Hysteria) कहते हैं। पाश्चात्य देशों में पहले यह समझा जाता था कि हिस्टीरिया (Hysteria) गर्भाशय की खराबी से होता है।

---

१. लसिका मरे हुये या निर्बल किये हुये जीवाणुओं से बनाया जाता है। इसका प्रयोग इन्जेक्शन द्वारा रोग प्रतिबन्धन या चिकित्सा के लिये किया जाता है। इसका विशेष विवरण करना ग्रन्थ की सीमा के बाहर है। हिन्दी प्रेमीजन यदि उन्हें अधिक जिज्ञासा हो तो डा० बी० जी० घाणेकर प्रोफेसर आयुर्वेदिक कालेज बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के बनाये हुये जीवाणु विज्ञान नामक पुस्तक को पढ़ें।

अपतन्त्रकचिकित्सामाह—

अथापतन्त्रकेणार्त्तमातुरं नापतर्पयेत । निरूहवस्तिं वमनं सेवयेन्न कदा चन ॥ १९३ ॥
श्वसनाः कफवाताभ्यां रुद्धास्तस्य विमोचयेत् । तीक्ष्णैः प्रधमनैः संज्ञां तासु मुक्तासु विन्दति॥

***श्वसनाः = प्रश्वासोच्छ्वासवहा धमनीः ॥ १९३–१९४ ॥**

अपतन्त्रकरोग से पीड़ित रोगी को अपतर्पण क्रिया नहीं करानी चाहिये । तथा कभी भी निरूहवस्ति तथा वमन का सेवन न करावे। किन्तु कफ तथा वात से रुद्ध श्वासोच्छ्वासवहा धमनियों को तीक्ष्ण प्रधमन (तीक्ष्ण चूर्ण को नाक में फूँकना) द्वारा खोल दे । इन धमनियों के खुल जाने पर रोगी चैतन्य हो जाता है ॥ १९३–१९४ ॥

मरिचादिनस्यमाह—

मरिचं शिग्रुबीजानि विडङ्गश्च फणिज्जकम् । एतानि सूक्ष्मचूर्णानि दद्याच्छीर्षविरेचने ॥१९५॥

***फणिज्जको = मरुबकः ॥ १९५ ॥**

कालीमिर्च, सहिजन के बीज, वायविडङ्ग तथा फणिज्जक (मरुवक) इनके सूक्ष्म चूर्ण द्वारा शिरोविरेचनार्थ नस्य देना चाहिये ॥ १९५ ॥

हरीतक्यादियोगमाह—

हरीतकी वचा रास्ना सैन्धवं साम्लवेतसम् ॥ १९६ ॥
घृतमार्द्रकसंयुक्तमपतन्त्रकनाशनम् । अम्लवेतसकाभावे चुक्रं दातव्यमीरितम् ॥ १९७ ॥

हरड़, वच, रास्ना, सेन्धानमक, अम्लवेत (इसके अभाव में चुक्र) तथा आदी का स्वरस इन सबको मिला कर सेवन करने से अपतन्त्रक नष्ट हो जाता है ॥ १९६–१९७ ॥

अपतानकलक्षणमाह—

दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञाश्च हत्वा कण्ठेन कूजति । हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः ।
वायुना दारुणं प्राहुरेके तमपतानकम् ॥ १९८ ॥
गर्भजातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः । अभिघातनिमित्तश्च न सिध्यत्यपतानकः ॥

***दृष्टिं = रूपग्रहणशक्तिम् । संस्तभ्य = नाशयित्वा ॥ १९८–१९९ ॥**

प्रकुपित वायु मनुष्य की दृष्टिशक्ति तथा संज्ञा का नाश करके गले में कूजती है तथा मोहावृत हृदय को जब वायु छोड़ देती है तो फिर चेतनता आ जाती है। इस दारुणरोग को कुछ वैद्य अपतानक कहते हैं । गर्भजातनिमित्तक, रक्तातिस्रावजन्य तथा अभिघातज अपतानक असाध्य होता है ॥ १९८–१९९ ॥

अपतानकचिकित्सामाह—

अथापतानकेनार्त्तमस्रुताक्षमवेपनम् । अखट्वापातिनं चैव त्वरया समुपाचरेत् ॥ २०० ॥

जब तक कि अपतानक रोग से पीड़ित मनुष्य के नेत्रों में से जलस्राव तथा कम्पन न प्रारम्भ हो

परन्तु यह भ्रम है । यह रोग पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों में होता है । अतः हिस्टीरिया के लिये योषापस्मार शब्द का जो प्रयोग प्रचलित भाषा में हो रहा है, वह अशुद्ध है । साधारणतया स्त्रियों में यह रोग अधिक दिखाई देता है, किन्तु गत महायुद्ध के समय आगे रहने वाले सैनिकों में बहुत दिखाई देता था । यह रोग भय, चिन्ता, शोक, निराशा, मानसिक आघात, मानसिक दुर्बलता तथा आकस्मिक दुर्घटनाएँ इत्यादि कारणों से उत्पन्न होता है । कुशिक्षा, भूत तथा चुड़ैल इत्यादि पर विश्वास इत्यादि कारणों से यह रोग और भी बढ़ जाता है । यह एक विचित्र रोग है, जिस में अनेक प्रकार के लक्षण दिखाई देते हैं । कभी रोगी हँसता है, कभी रोता है, कभी बेहोश होता है, कभी पेट में वायुगोला सा उठता है, अर्द्धाङ्ग या अर्दित के लक्षण होते हैं, कभी हिचकी आती है तो घण्टों तक आती है और कभी बोलना बन्द कर देता है । संक्षेप में जितने भी मानव रोग हैं उन में किसी भी रोग के लक्षण हो सकते हैं । परन्तु वास्तव में शरीर के किसी भी संस्थान में खराबी नहीं दिखाई देती ।

गया हो और रोगी चारपाई पर न पड़ गया हो, इसके पहिले ही शीघ्रता से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २०० ॥

अपतानकिने शस्तं दशमूलीशृतं जलम्। पिप्पलीचूर्णसंयुक्तं जीर्णे मांसरसौदनम् ॥२०१॥
तैलेन मर्दनं चैव तथा तीक्ष्णं विरेचनम्। स्रोतोविशोधनं पश्चात् सर्पिष्पानं हितं स्मृतम् ॥

अपतानक रोगी को दशमूल के क्वाथ में पिप्पलीचूर्ण मिला कर पिलाना तथा क्वाथ के जीर्ण हो जाने पर मांसरस के साथ भात खिलाना, तैलमर्दन, तीक्ष्णविरेचन, स्रोतोविशोधन तथा तत्पश्चात् घृतपान हितकर बतलाया गया है ॥ २०१-२०२ ॥

हन्त्यभुक्तवता पीतमम्लं दध्यपतानकम्। मरिचेन समायुक्तं स्नेहबस्तिरथापि वा ॥२०३॥

भोजन करने के पहिले ही काली मिर्च के चूर्ण के साथ खट्टे दही को पीने से अथवा स्नेहबस्ति से अपतानक रोग नष्ट हो जाता है ॥ २०३ ॥

पक्षाघातलक्षणमाह—

गृहीत्वाऽर्द्धं तनोर्वायुः शिराः स्नायूर्विशोष्य च। पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान्विमोक्षयन्
कृत्स्नोऽर्द्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः। एकाङ्गवातं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः॥२०५॥

***अर्द्धम् = अर्द्धनारीश्वरवत्। पक्षं = बाहुपार्श्वोरुजङ्घाऽऽदिभागम्। अन्यतरं = वामं दक्षिणं वा। विमोक्षयन्=शिथिलीकुर्वन्। अकर्मण्यः = कर्मासमर्थः। विचेतनः=ईषत्स्पर्शादिज्ञानयुक्तः॥ २०४-२०५ ॥**

वायु शरीर के आधे भाग को पकड़ कर शिराओं तथा स्नायुओं को सुखा कर तथा सन्धिबन्धनों को ढीला करके दाहिने अथवा बायें किसी एक ओर के अङ्ग (बाहु, पार्श्व, ऊरु, जङ्घा आदि भाग) मार देता है। जिससे उस मनुष्य का सम्पूर्ण आधा शरीर अकर्मण्य हो जाता है और स्पर्शादिज्ञान बहुत कम रह जाता है। इस रोग को कुछ वैद्य[1] 'पक्षाघात' कुछ वैद्य 'एकाङ्गवात' तथा तथा कुछ वैद्य 'पक्षवध' कहते हैं। जिस प्रकार अर्द्धनारीश्वर का आधा शरीर स्त्री तथा आधा शरीर पुरुषमय है, इसी प्रकार इस रोग से पीड़ित मनुष्य का आधा शरीर क्रियाहीन और विचेतन हो जाता है और शेष आधे शरीर में किसी प्रकार की विकृति नहीं होती ॥२०४-२०५॥

---

१. पक्षाघात को पाश्चात्य विद्वान् हेमीप्लीजिया (Hemi Plegia) कहते हैं। इसमें आधे धड़ का घात होता है अर्थात् रोगी अपने इच्छानुसार अर्द्धशरीर की पेशियों का संकोच नहीं कर सकता, मुँह काम नहीं करता, बोलने में विकृति होती है तथा संवेदना में भी फर्क आजाता है। जैसा कि चरक में भी लिखा है कि—

'कुर्याच्चेष्टानिवृत्तिं हि रुजं वाक्स्तम्भमेव च'।

जब वात हस्त-पादादि केवल एक ही अङ्ग में होता है तब उसे 'एकाङ्ग रोग' या मानोप्लीजिया (Mono Plegia) कहते हैं। जब सर्व शरीर का घात होता है तब उसे 'सर्वाङ्ग वातरोग' या डाईप्लीजिया (Diplegia) कहते हैं।

हेतु—पक्षाघात तथा अन्य प्रकार के घात (Paralysis), फिरङ्ग, हृद्रोग, वृक्करोग, वातरक्त, सीसविष, धमनीदाढर्य, अथेरोमा (Atheroma), धमनीप्राचीर का रोग, मस्तिष्क के अर्बुद, सिर पर आघात, मद्य, आहार तथा व्यायाम का अतिसेवन इत्यादि कारणों से उत्पन्न होते हैं। पुरुषों में पक्षाघात अधिक होता है और इसमें कुछ कुलज प्रवृत्ति भी होती है।

सम्प्राप्ति—शरीर के समस्त अङ्गों के साथ मस्तिष्क का सम्बन्ध नाड़ियों द्वारा होता है। मस्तिष्क समस्त शरीर का शासक है। बृहत् मस्तिष्क के दो विभाग होते हैं। दाहिना विभाग शरीर के बायें पक्ष पर और बायां विभाग शरीर के दाहिने पक्ष पर शासन करता है। प्रत्येक विभाग में शरीर के प्रत्येक अङ्ग के लिये और विशेष काम के लिये विशेष स्थान होते हैं, उन्हें केन्द्र (Center) कहते हैं। बोलने का केन्द्र केवल एक होता है और वह बाईं ओर रहता है। इन केन्द्रों से जो चेष्टा-

पक्षाघातस्य साध्यासाध्यज्ञानार्थमाह—

दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते। शैत्यशोथगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते॥२०६॥

*दाहो बाह्यः, सन्ताप आभ्यन्तरः। एतल्लक्षणमन्यत्रापि वातव्याधौ बोद्धव्यं, सामान्यतो वायोरिति निर्दिष्टत्वात्॥ २०६॥

वायु के पित्तयुक्त होने पर अन्तर्दाह, बहिर्दाह तथा मूर्च्छा होती है और यदि वायु कफयुक्त होता है तो शीतलता, शोथ तथा गुरुता होती है। यही लक्षण और दूसरे वातव्याधियों में भी जानने चाहिये, क्योंकि ये लक्षण सामान्यतः वायु शब्द का ग्रहण करते हैं॥ २०६॥

पक्षाघातस्य साध्यत्वादिकमाह—

शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः। साध्यमन्येन संयुक्तमसाध्यं क्षयहेतुकम्॥ २०७॥

*शुद्धः=केवलः। अन्येन=पित्तेन कफेन वा। क्षयहेतुकं= क्षयो = धातुक्षयस्तत्कुपितवातनिमित्तकम्॥ २०७॥

यह पक्षाघात यदि शुद्ध वायु से उत्पन्न हुआ हो तो परम कष्टसाध्य, पित्त तथा कफयुक्त वायु से उत्पन्न हुआ हो तो साध्य तथा धातुक्षयजन्य प्रकुपित वात से उत्पन्न हुआ तो असाध्य जानना चाहिये॥ २०७॥

तस्यैवापरमसाध्यलक्षणमाह—

गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धक्षीणेष्वसृक्क्षये। पक्षाघातं परिहरेद्वेदनारहितो यदि॥ २०८॥

*'वेदनारहितो यदी'ति भिन्नमसाध्यलक्षणम्॥ २०८॥

गर्भिणी स्त्री, प्रसूता, बालक, वृद्ध क्षीण तथा जिसे रक्तक्षयजन्य पक्षाघात हुआ हो ऐसे मनुष्यों के पक्षाघात की चिकित्सा न करनी चाहिये। तथा यदि यही पक्षाघात वेदना रहित हो तो असाध्य जानकर इसकी भी चिकित्सा न करे॥ २०८॥

अथ पक्षाघातचिकित्सा

तत्र माषादिक्वाथमाह—

माषात्मगुप्तावातारिवाट्यालकजटाशृतम्॥ २०९॥
हिङ्गुसैन्धवसंयुक्तं पक्षाघातं विनाशयेत्। माषिके हिङ्गुसिन्धूत्थे जरणाद्यास्तु शाणिकाः॥

उड़द, कौंच के बीज, एरण्डमूल तथा खिरेटी की जड़ के क्वाथ को हींग तथा सेन्धानमक डालकर पीने से पक्षाघात नष्ट हो जाता है। इस क्वाथ में डालने के लिये हींग तथा सेन्धानमक १—१ माशे तथा जीरा आदि पदार्थ १ शाण (२४ रत्ती) लेना चाहिये॥ २०९-२१०॥

ग्रन्थिकादितैलमाह—

ग्रन्थिकाग्निकणाशुण्ठीरास्नासैन्धवकल्कितम्। माषक्वाथशृतं तैलं पक्षाघातं व्यपोहति॥

पिपरामूल, चित्त, पिप्पली, सोंठ, रास्ना तथा सेन्धानमक के कल्क द्वारा उड़द के क्वाथ में पकाया हुआ तैल पक्षाघात को नष्ट कर देता है॥ २११॥

वह सूत्र निकलते हैं, वे सुषुम्ना में मध्यरेखा को पार कर दूसरी ओर की नाड़ियों के उत्पत्तिस्थानों में पहुंचते हैं। उपर्युक्त फिरङ्गादि कारणों से शरीर की धमनियां भङ्गुर या विकृत होती हैं, जिससे वे जल्दी फट सकती हैं या उनमें रक्त जल्दी जम सकता है। जब मस्तिष्क के किसी विभाग में रक्तवाहिनी फट कर रक्त बहता (Haemorrhage) है या रक्तवाहिनी में रक्त जम जाता (Thrombosis) है या अन्तःशल्य (Embolus) के कारण रक्त-बहाव बन्द हो जाता है, तब मस्तिष्क का वह भाग स्वकर्महीन होता है। इस दोष का परिणाम यह होता है कि जिसका सम्बन्ध मस्तिष्क से टूट गया, उस अङ्ग का घात (वध) होता है, उसमें इच्छानुसार गति नहीं होती तथा उसकी संवेदना मस्तिष्क तक नहीं पहुंचती। जब आधा धड़ बेकाम होता है तब उसे अर्धाङ्गवात (Hemi Plegia) कहते हैं। जब एक हाथ, एक पैर या आधा चेहरा बेकाम होता है, तब उसे एकाङ्गवध (Monoplegia) कहते हैं। जब दोनों पैर बेकाम होते हैं, तब उसे पङ्गु (Paraplegia) कहते हैं।

माषादितैलमाह—

माषात्मगुप्ताऽतिविषोरुबूकरास्नांशताह्वालवणैः सुपिष्टैः।
चतुर्गुणे माषबलाकषाये तैलं श्रृतं हन्ति हि पक्षघातम् ॥ २१२ ॥

उड़द, कौंच के बीज, अतीस, एरण्डमूल, रास्ना, सोया तथा सेन्धानमक को अच्छी तरह पीस कर कल्क बना कर चौगुने उड़द तथा खिरेंटी के क्वाथ में पकाया हुआ तेल पक्षाघात को नष्ट कर देता है ॥ २१२ ॥

सर्वाङ्गवातलक्षणमाह—

सर्वाङ्गपवने क्रुद्धे गात्रस्फुरणभञ्जने। वेदनाभिः परीताश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥२१३॥

*सन्धयो वेदनाभिः परीता युताः स्फुटन्तीव ॥ २१३ ॥

सम्पूर्ण शरीर में वायु के प्रकोप होने से शरीर में कम्पन होने लगता है। अङ्ग टूटने लगते हैं तथा सन्धियां वेदना के कारण फुटी सी जाती हैं। इसे सर्वाङ्गवात कहते हैं ॥ २१३ ॥

सर्वाङ्गवातचिकित्सामाह—

सर्वाङ्गगतमेकाङ्गगतञ्चापि समीरणम्। तैलावगाहनं हन्ति तोयवेगमिवाचलः ॥ २१४ ॥

तैलावगाहन सर्वाङ्गवात तथा एकाङ्गवात (पक्षाघात) को इस प्रकार नष्ट कर देता है जैसे कि पर्वत जल के वेग को नष्ट कर देता है ॥ २१४ ॥

स्थाननामलक्ष्यलक्षणान् वातव्याधीनाह—

स्थाननामानुरूपैश्च लिङ्गैः शेषान्विनिर्दिशेत्। सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ॥२१५॥
प्रथमं ह्रस्वकेशत्वं ततो वाचालताऽपि च। आटोपः पार्श्वशूलञ्च पुरीषस्यातिगाढता ॥२१६॥
तथा मलाप्रवृत्तिश्च कम्पः स्तम्भश्च रूक्षता। कार्श्यं कार्ष्ण्यञ्च शैत्यञ्च लोमहर्षो व्यथा तथा॥
तोदो भेदः शिरास्फूर्त्तिरङ्गमर्दोऽङ्गशुष्कता। संकोचश्चाङ्गविभ्रंशो मोहश्चञ्चलचित्तता ॥२१८॥
निद्रानाशः स्वेदनाशो वलहानिश्च भीरुता। शुक्रक्षयो रजोनाशो गर्भनाशः परिश्रमः ॥२१९॥

*आटोपो = गुडगुडाशब्दः। तोदः = सूचीव्यधनेनेव पीडा। भेदो=विदारणेनेव व्यथा। अङ्गविभ्रंशः = अङ्गस्य स्थानत्यागेन स्खलनम्। निद्रानाशो, निद्राऽल्पत्वमपि। गर्भनाशः= आमगर्भपातः, 'गर्भशय्यायां वाताधिष्ठानाद् गर्भाग्रहणमि'ति जेज्जटः। परिश्रमः= आयासं विना श्रमः ॥ २१५–२१९ ॥

शेष वातरोगों को उनके स्थान तथा नाम के अनुसार और लक्षणों से जानना चाहिये। इन सब में पित्तादि के संसर्ग को कल्पना द्वारा जान लेना चाहिये। जैसे केशों की ह्रस्वता को 'ह्रस्व-केशत्व' बहुत बोलने को 'वाचालता' पेट में गुड़गुड़ शब्द होता हो उसे 'आटोप' पसुलियों में दर्द होता हो उसे 'पार्श्वशूल' मल की कठिनता को 'मलगाढता' दस्तके न आने को 'मलाप्रवृत्ति' शरीर के कँपने को 'कम्प' शरीर की जकड़ाहट को 'स्तम्भ' शरीर के रूखेपन को 'रूक्षता' शरीर की दुर्बलता को 'कार्श्य' शरीर के वर्ण के काले हो जाने को 'कार्ष्ण्य' शरीर की शीतलता को 'शैत्य' रोमाञ्च हो जाने को 'लोमहर्ष' शरीर में वेदना होती हो उसे 'व्यथा', अङ्ग में सुई चुभाने के समान पीडा को 'तोद' शरीर को चीरने के समान जो पीड़ा होती है उसे 'भेद' शिराओं के स्फुरण को 'शिरास्फूर्त्ति' अङ्गों के टूटने को 'अङ्गमर्द' अङ्ग के सूखने को 'अङ्गशुष्कता' अङ्ग के सिकुड़ने को 'अङ्गसंकोच', अङ्ग के अपने स्थान से स्खलन को 'अङ्गविभ्रंश', मन के मूढ़ हो जाने को 'मोह', चित्त की चञ्चलता को 'चलचित्तता', नींद के बिल्कुल न आने अथवा कम आने को 'निद्रानाश', पसीना न आने को 'स्वेदनाश', बल के नष्ट हो जाने को 'बलहानि', डरपोकपने को 'भीरुता', वीर्य के नाश को 'शुक्रक्षय', स्त्री के रज के नाश होने को 'रजोनाश', आमगर्भ के गिर जाने को 'गर्भनाश', तथा जेज्जट के मतानुसार गर्भाशय में वायु के स्थित होने के कारण गर्भाधान नहीं होता है, उसे 'गर्भनाश' और बिना परिश्रम किये ही श्रम-प्रतीति को 'परिश्रम' कहते हैं ॥ २१५–२१९ ॥

उक्तवातव्याधिचिकित्सामाह—

सामान्यवातरोगाणां या चिकित्सा प्रवक्ष्यते। एषां सा तु विधातव्या तयैते यान्ति संक्षयम्॥

और सामान्य वातरोगों की जो चिकित्सायें कही गई हैं 'ह्रस्वकेशत्व', इत्यादि रोगों की शान्ति के लिये भी उन्हीं चिकित्साओं का प्रयोग करना चाहिये। इससे वे रोग नष्ट हो जाते हैं॥ २२०॥

अन्यप्रकारेण वातव्याधिं निरूपयन्नाह—

एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः। हेतुस्थानविशेषेण भवेद्रोगविशेषकृत्॥२२१॥

***एवंविधानि रूपाणि शिरोग्रहादीनि, अशीतिः। हेत्विस्त्यादिहेतुविशेषः पित्तश्लेष्माद्यावृतत्वादिः। यथा श्लेष्मावृतो वायुर्मन्यास्तम्भं करोति। स्थानविशेषः कोष्ठादिः। यथा—**

'तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः'॥ २॥ इत्यादि॥ २२१॥

प्रकुपित वात इस प्रकार शिरोग्रह इत्यादि ८० रूपों को उत्पन्न करता है। हेतुओं तथा स्थानों की विशेषता से वातव्याधियों की विशेषता का विवेचन कर लेना चाहिये। हेतु की विशेषता से जैसे–कफावृत वायु मन्यास्तम्भ को उत्पन्न कर देता है, और स्थान की विशेषता से जैसे–कोष्ठाश्रित वात के दुष्ट हो जाने पर मूत्र तथा मल का अवरोध हो जाता है॥ २॥ इत्यादि॥ २२१॥

हेतुविशेषेण वातव्याधिविशेषानाह—

उदाने पित्तसंयुक्ते दाहो मूर्च्छा भ्रमः क्लमः। अस्वेदहर्षौ मन्दाग्निः शीतता च कफावृते॥

कण्ठ में रहने वाले उदान वायु के पित्तसंयुक्त होने पर दाह, मूर्च्छा, भ्रम तथा ग्लानि होती है तथा कफ से आवृत होने पर अस्वेद, रोमाञ्च, अग्निमान्द्य तथा शैत्य होता है॥ २२२॥

प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते। दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैरस्यञ्च कफावृते॥ २२३॥

***प्राणो=हृदयाश्रयो वायुः॥ २२३॥**

हृदय में रहने वाले प्राणवायु के पित्त से आवृत होने पर वमन तथा दाह उत्पन्न होता है। तथा कफावृत होने पर दुर्बलता, ग्लानि, तन्द्रा और वैरस्य-उत्पन्न होता है॥ २२३॥

स्वेदो दाहस्तृषा मूर्च्छा समाने पित्तसंयुते। कफेन सक्ते विण्मूत्रे गात्रहर्षश्च जायते॥२२४॥

***कफेन संयुक्ते। समाने विण्मूत्रे, सक्ते=अवरुद्धे भवतः। गात्रहर्षो=रोमाञ्चः॥२२४॥**

समान वायु के पित्त संयुक्त होने पर स्वेद, दाह, तृष्णा तथा मूर्च्छा उत्पन्न होती हैं और कफ से युक्त होने पर मल तथा मूत्र का अवरोध और रोमाञ्च होता है॥ २२४॥

अपाने पित्तसंयुक्ते दाहौष्ण्यं रक्तमूत्रता। अधःकाये गुरुत्वञ्च शीतता च कफावृते॥ २२५॥

***अत्र गुदाश्रयोऽपानः॥ २२५॥**

गुदा में रहने वाले अपान वायु के पित्त संयुक्त होने पर दाह, उष्णता तथा रक्तमूत्रता उत्पन्न होती है और कफ से आवृत होने पर शरीर के निचले भाग में गुरुता तथा शीतलता होती है॥

व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः। स्तम्भोऽथ दण्डकश्चापि शूलशोथौ कफावृते॥

***दण्डकः=आक्षेपकभेदः॥ २२६॥**

सम्पूर्ण शरीर में रहने वाले व्यान वायु के पित्तावृत होने पर दाह, गात्रविक्षेपण तथा ग्लानि होती है और कफावृत होने पर स्तम्भ, दण्डकाक्षेप, शूल तथा शोथ ये लक्षण होते हैं॥ २२६॥

तेषां चिकित्सामाह—

वाते सपित्ते कुर्वीत वातपित्तहरीः क्रियाः। सकफे तत्र कुर्वीत वातश्लेष्महरीं क्रियाम्॥

वात के पित्तसंयुक्त होने पर वात तथा पित्त को नष्ट करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये। तथा कफयुक्त होने पर वात तथा कफनाशक चिकित्सा करनी चाहिये॥ २२७॥

रसादिधातुगतवायूनां लक्षणान्याह—

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते। आतन्यते सरागा च सर्वरुक्त्वग्गतेऽनिले॥

***सर्वरुक्=सप्तत्वग्व्यथा। त्वग्गते=त्वक्छब्देनात्र रस उच्यते त्वगाधार्यत्वात्तेन रसगत इत्यर्थः॥ २२८॥**

वायु के रस में चले जाने पर चमड़ा-रूक्ष, फटा हुआ, सुप्त, पतला, काला, सुई चुभाने के समान पीड़ायुक्त, तना हुआ और लालिमायुक्त होता है और सम्पूर्ण त्वचाओं (सात प्रकार की त्वचा होती है) में पीड़ा होती है॥ २२८॥

मूल श्लोक में 'त्वग्गते' यह जो शब्द आता है, यहां पर त्वक् शब्द से रस लिया जाता है क्योंकि रस का आधार त्वचा ही है॥ २२८॥

रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः। गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले॥

***अरूंषि = व्रणानि। भुक्तस्य = भुक्तेत्यत्राध्यवसितादित्वात् कर्त्तरि क्तः, तेन भुक्तवतः। स्तम्भः सन्तर्पणेन रक्तवृद्धेः॥ २२९॥**

रक्तगत वात में तीव्र पीड़ा, सन्ताप, शरीर के वर्ण की विकृति, कृशता तथा अरुचि उत्पन्न हो जाती है। शरीर में व्रण हो जाते हैं और भोजन करने के पश्चात् सन्तर्पण से रक्त की वृद्धि से स्तब्धता होती है॥ २२९॥

गुर्वङ्गं तुद्यते स्तब्धं दण्डमुष्टिहतं यथा। सरुक्स्तिमितमत्यर्थं वाते मांससमाश्रिते॥ २३०॥

***दण्डमुष्टिताडितमिव तुद्यते। स्तिमितं = निश्चलमित्यर्थः। मांसमेदसोर्गतवातयोरेकलिङ्गत्वम्, अदूरान्तरेण प्रत्यासत्तेराश्रयप्रभावात्॥ २३०॥**

मांसगत वात में अङ्गों की गुरुता, डंडे या मूका से मारने के समान पीड़ा तथा स्तब्धता होती है। रोगी व्यथायुक्त और अत्यन्त निश्चल हो जाता है। मांस तथा मेद के परस्पर अत्यन्त सन्निकटस्थ होने के कारण आश्रय के प्रभाव से मांस तथा मेदोगत वात के एक ही चिह्न होते हैं॥ २३०॥

तथा मेदःश्रितः कुर्याद् ग्रन्थीन्मन्दरुजो व्रणान्॥ २३१॥

***तथा मेदःश्रितो मांसगवत्। दूरेण प्रत्यासत्तेरस्थिरूपाया भेदाच्च कुर्याद्, ग्रन्थीनित्यादिर्विशेषः॥ २३१॥**

मेदोगत वात के मांसगत वात के समान लक्षण होते हैं। तथा मन्द वेदना वाली ग्रन्थियों और व्रणों को उत्पन्न कर देता है। यही मेदोगवायु में मांसगतवायु से विशेषता है॥ २३१॥

भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः। अस्वप्नः सतता रुक् च वाते दुष्टेऽस्थिसंस्थिते।
वाते मज्जगते पीडा न कदा चित्प्रशाम्यति॥ २३२॥

***मज्जगतेऽस्थिगतवद्। यथा मेदोगतो मांसगतवत्स्यात्। पीडाऽत्र कदा चिन्न शाम्यत्ययं विशेषः॥ २३२॥**

दुष्ट वायु के अस्थियों में चले जाने पर अस्थियों की सन्धियों में भेदन के समान पीड़ा, सन्धिशूल, मांस तथा बल का क्षय, निद्रानाश तथा निरन्तर पीड़ा होती है। मज्जागत वात में अस्थिगत वात के समान लक्षण होते हैं। किन्तु यह विशेषता है कि मज्जागत वायु से जो पीडा उत्पन्न होती है वह कभी भी शान्त नहीं होती॥ २३२॥

क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा। विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः॥

***शुक्रं बध्नाति = स्खलयत्येव न। गर्भं क्षिप्रं मुञ्चति = आममेव पातयति। बध्नाति = मूढं करोति, वातदुष्टशुक्रारब्धत्वात्। विकृतिं=शुक्रस्य वर्णान्तरत्वादिरूपां, गर्भस्य विकृताङ्गत्वादिरूपां जनयति॥ २३३॥**

शुक्रस्थ प्रकुपित वात शुक्रक्षरण नहीं होने देता, शीघ्र ही आमगर्भ को गिरा देता है अथवा मूढ़ कर देता है, वीर्य को विकृत कर देता है अथवा वीर्य के वर्ण को बदल देता है, गर्भ के अङ्ग को विकृत कर देता है॥ २३३॥

रसादिधातुगतवायुचिकित्सामाह—

त्वायौ त्वगाश्रिते स्नेहाभ्यङ्गं स्वेदञ्च कारयेत्। रक्तस्थे शीतलांल्लेपान्विरेकं रक्तमोक्षणम्॥

रसगत वात में स्नेह का अभ्यङ्ग तथा स्वेदन कराना चाहिये। रक्तगत वात में शीतल लेप करना, विरेचन कराना तथा रक्तमोक्षण हितकर है॥ २३४॥

मांसमेदोगते वाते सविरेकं निरूहणम् । अस्थिमज्जगते स्नेहं बहिरन्तश्च योजयेत् ॥२३५॥

मांस तथा मेदोगत वात में विरेचन तथा निरूहवस्ति देनी चाहिये । अस्थि, तथा मज्जगत वात में बाहर तथा भीतर स्नेह की योजना करनी उचित है ॥ २३५ ॥

केतकादितैलमाह—

केतकनागबलाऽतिबलानां यद्बहुलेन रसेन विपक्वम् ।
तैलमनल्पतुषोदकसिद्धं मारुतमस्थिगतं विनिहन्ति ॥ २३६ ॥
हर्षोऽन्नपानं शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम् ॥ २३७ ॥

केवड़ा, नागबला (गंगेरन) तथा कङ्घी के प्रचुर रस तथा अधिक तुषोदक से पकाये हुये तैल के उपयोग से अस्थिगत वात नष्ट हो जाता है । शुक्रस्थ वात में स्त्री द्वारा हर्ष उत्पन्न करावे तथा बल और वीर्य को बढ़ाने वाले अन्नपान का सेवन हितकर है ॥ २३६–२३७ ॥

अथ स्थानविशेषेण वातव्याधिविशेषाः ।

तत कोष्ठगतवायुलक्षणमाह—

वाते कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः । ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शःपार्श्वशूलञ्च जायते ॥२३८॥

कोष्ठाश्रित वात के दुष्ट होने पर मूत्र तथा मल का अवरोध होता है तथा ब्रध्न, हृद्रोग, गुल्म, अर्श और पार्श्वशूल ये सब उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २३८ ॥

*अथ कोष्ठलक्षणमाह—

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥

उण्डुकः 'पोठ' इति लोके । एतेन कोष्ठशब्देन सर्व एवाशयाः कथ्यन्ते । तथाऽपि विशेषार्थमाशयादिगतवातलक्षणान्यपि पृथग्वक्ष्यन्ते ॥ २३८ ॥

आमाशय, अग्न्याशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रक्त का स्थान, हृदय, पोठ और फुफ्फुस इन सब स्थानों को कोष्ठ कहते हैं । यद्यपि कोष्ठ से सभी आशयों का ग्रहण हो जाता है तथापि विशेष ज्ञान के लिये आमाशयादिगत वात के लक्षणों को अलग २ ही कहेंगे ॥ २३८ ॥

कोष्ठगतवातचिकित्सामाह—

पाचनीयै रसैर्युक्तैरन्यैर्वा पाचयेन्मलान् । विशेषतः पिबेत्क्षीरं नरः कोष्ठगतेऽनिले ॥२३९॥

कोष्ठगत वातरोग में रोगी के मल का पाचक रसों अथवा अन्य उपायों से पाचन करे । इस रोग में विशेषतः दुग्धपान करना हितकर है ॥ २३९ ॥

आमाशयगतवायुलक्षणमाह—

हृत्पार्श्वोदरनाभीरुक्तृष्णोद्गारविसूचिकाः । कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयेऽनिले ॥

आमाशयगत वात में हृदय, पसलियों, पेट तथा नाभि में पीड़ा होती है, प्यास लगती है, डकार आता है, विसूचिका, कास, कण्ठशोष तथा श्वास ये सब लक्षण होते हैं ॥ २४० ॥

*अथामाशयस्य लक्षणमाह चरकः—

नाभिस्तनान्तरं जन्तोराहुरामाशयं बुधाः ॥ इति ॥ २४० ॥

भगवान् चरक ने बतलाया है कि प्राणियों के नाभि तथा स्तन के बीच में आमाशय का स्थान है । ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ इति ॥ २४० ॥

आमाशयगतवायुचिकित्सामाह—

आमाशयस्थे त्वनिले प्रशस्तं प्राग् लङ्घनं दीपनपाचनञ्च ।
प्रच्छर्दनं तीक्ष्णविरेचनं वा मुद्गा यवाः शालियुताः पुराणाः ॥ २४१ ॥

आमाशयस्थ वात में सर्वप्रथम लङ्घन कराना तथा दीपन और पाचन ओषधियों का उपयोग प्रशस्त है, अथवा वमन और तीक्ष्ण विरेचन कराना उत्तम है । इस रोग से पीड़ित मनुष्य को पुराना मूंग, जौ तथा शालि चावल हितकर है ॥ २४१ ॥

भूतीकपथ्याशटिपुष्कराणि बिल्वामृतादारुकनागराणि ।

उग्राविषामागधिकाविडानि क्वाथास्त्रयः सामसमीरणघ्नाः ॥ २४२ ॥

*भूतीकः=रोहिषः, सुगन्धतृणविशेषस्तदलाभे उशीरं ग्राह्यम् । पुष्करं=पुष्करमूलम् । दारुकं=देवदारु । उग्रा=वचा । विषा=अतिविषा ॥ २४२ ॥

१–रोहिष सुगन्धित तृणविशेष (इसके अभाव में 'खस' लेना चाहिये), हरड, कचूर तथा पोहकरमूल इन ओषधियों के क्वाथ २—अथवा बेलगिरी, गुडूची, देवदारु तथा सोंठ, इनके क्वाथ ३—अथवा वच, अतीस, पिप्पली तथा विडनमक इनके क्वाथ को पीने से आमाशयगत वात नष्ट हो जाता है ॥२४२॥

षड्धरणयोगमाह—

चित्रकेन्द्रयवौ पाठा कटुकातिविषाऽभया । आमाशयोत्थवातघ्नं चूर्णं पेयं सुखाम्बुना ॥
योगेऽस्मिन्भिषजा ग्राह्याः षण्णां षड्धरणाः पृथक् । दिनेषु षट्सु दातव्यास्तेन षड्धरणः स्मृतः

*अत्र षण्णां समुदितानां षड्धरणमितानां चूर्णीकृतानामेकस्मिन्नहन्येकटङ्को देयः ॥

चित्त, इन्द्रजौ, पाठा, कुटकी, अतीस तथा हरड इन प्रत्येक ओषधियों को १–१ धरण (२४–२४ रत्ती) लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके प्रतिदिन छः दिन तक १–१ धरण की मात्रा में उष्ण जल के साथ सेवन करने से आमाशयगत वात नष्ट हो जाता है । प्रतिदिन १ धरण की मात्रा से ६ दिन तक इस चूर्ण का सेवन किया जाता है इसीलिये इसे षड्धरणयोग कहते हैं ॥ २४३–२४४ ॥

अन्यषड्धरणयोगमाह—

आमाशयगते वाते छर्दिताय यथाक्रमम् । देयः षड्धरणो योगः सप्तरात्रं सुखाम्बुना ॥२४५॥

*अयमर्थः—प्रथमदिवसे वमनं कारयितव्यं, ततो द्वितीयं दिनमारभ्य षड्दिनपर्यन्तं-पाठक्रमेणैकैकस्य चूर्णं टङ्कमितं देयमित्यर्थः ॥ २४५ ॥

आमाशयगत वात में प्रथम दिन वमन कराकर दूसरे दिन चित्त के १ धरण चूर्ण (२४ रत्ती) को, तीसरे दिन इन्द्रजौ के १ धरण चूर्ण (२४ रत्ती) को, चौथे दिन पाठा के १ धरण (२४ रत्ती) चूर्ण को, पाँचवें दिन कुटकी के १ धरण (२४ रत्ती) चूर्ण को, छठे दिन अतीस के १ धरण (२४ रत्ती) चूर्ण को तथा सातवें दिन हरड के १ धरण (२४ रत्ती) चूर्ण को उष्ण जल के साथ सेवन करे । इस प्रकार सात दिन में आमाशयगत वात नष्ट हो जाता है ॥ २४५ ॥

पक्वाशयगतवायुलक्षणमाह—

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च । कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ॥२४६॥

*आटोपो=वातस्य क्षुभितत्वं, न तु गुडगुडाशब्दस्तस्यान्त्रकूजनोक्तत्वात् ॥२४६॥

पक्वाशयस्थ वात में आन्त्रकूजन, शूल, आटोप (वातसंक्षोभ), मूत्रकृच्छ्र, मलकृच्छ्र, आनाह तथा त्रिकस्थान में वेदना होती है ॥ २४६ ॥

पक्वाशयगतवायुचिकित्सामाह—

वह्नेः सम्वर्द्धनं कार्यं व मोदावर्त्तकं तथा । देयः स्नेहविरेकश्च पक्वाशयगतेऽनिले ॥ २४७ ॥

पक्वाशयगत वात में जठराग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये । तथा उदावर्त्त को नष्ट करने वाली चिकित्सा का उपयोग करना और स्नेहयुक्त विरेचन कराना उचित है ॥ २४७ ॥

उदरगतवायुचिकित्सामाह—

वाते जठरगे दद्यात्क्षारचूर्णादिदीपनम् ॥ २४८ ॥

उदरस्थित वात में क्षार तथा चूर्ण आदि दीपन ओषधियों का सेवन कराना चाहिये ॥ २४८ ॥

कुक्षिगतवायुचिकित्सामाह—

शुण्ठीकुटजबीजाग्निचूर्णं कोष्णाम्बु कुक्षिगे ॥ २४९ ॥

कुक्षिगत वात में सोंठ, इन्द्रजौ तथा चित्त के चूर्ण को किञ्चित् उष्ण जल के साथ सेवन कराना चाहिये ॥ २४९ ॥

गुदगतवायुलक्षणमाह—

ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः । जङ्घोरुत्रिकपार्श्वांसपृष्ठरोगी गुदेऽनिले ॥२५०॥

*रोगोऽत्र रुजा, पीडेति यावत् ॥ २५० ॥

गुदगत वात में मल, मूत्र तथा अपान वायु का अवरोध, शूल, आध्मान, अश्मरी, शर्करा और जङ्घा, ऊरु, त्रिक, पसलियों, कन्धे तथा पीठ में पीडा होती है ॥ २५० ॥

गुदगतवायुचिकित्सामाह—

वाते गुदगते दुष्टे कर्मोदावर्त्तकं हितम् ॥ २५१ ॥

गुदगत वात के दुष्ट होने पर उदावर्त्त की चिकित्सा हितकर है ॥ २५१ ॥

हृदयगतवायुचिकित्सामाह—

हृदयानिलनाशाय गुडूचीं मरिचान्विताम् । पिबेत्प्रातः प्रयत्नेन सुखं तप्ताम्भसा सह ॥
पिबेदुष्णाम्भसा पिष्टमाश्वगन्धं विभीतकम् । गुडयुक्तं प्रयत्नेन हृदयानिलनाशनम् ॥
देवदारुसमायुक्तं नागरं परिपेषितम् । हृद्वातवेदनायुक्तः पीत्वा सुखमवाप्नुयात् ॥२५२॥

हृदयगत वात को नष्ट करने के लिये प्रातःकाल मिर्चयुक्त गुडूची को उष्ण जल के साथ पीना चाहिये। अथवा असगन्ध तथा बहेड़े को पीस कर गुड मिला कर प्रयत्नपूर्वक उष्ण जल के साथ पीने से हृदयगत वात नष्ट हो जाता है। अथवा देवदारु तथा सोंठ को पीस कर उष्ण जल के साथ पीने से हृदयगत वात से पीडित मनुष्य को सुख प्राप्त होता है ॥ २५२ ॥

कर्णेन्द्रियादिगतवायुलक्षणमाह—

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात्क्रुद्धः समीरणः ॥ २५३ ॥

प्रकुपित वायु जब कर्ण इत्यादि इन्द्रियों में चली जाती है तो उन २ इन्द्रियों की शक्ति का नाश कर डालती है ॥ २५३ ॥

कर्णेन्द्रियादिगतवायुचिकित्सामाह—

श्रोत्रादिष्वनिले दुष्टे कार्यो वातहरः क्रमः । स्नेहाभ्यङ्गावगाहाश्च मर्दनालेपनानि च॥२५४॥

श्रोत्रादिगत दुष्टवात में वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिये तथा स्नेहाभ्यङ्ग, स्नेहावगाहन, स्नेह-मर्दन तथा स्नेहप्रलेप करना हितकर है ॥ २५४ ॥

शिरागतवायुलक्षणमाह—

कुर्याच्छिरागतः शूलं शिराकुञ्चनपूरणम् । स बाह्याभ्यन्तरायामं खल्लीं कुब्जत्वमेव च ॥२५५॥

*शूलं शिरायामेव । पूरणं=स्थूलत्वम् । कुञ्चनं=सङ्कोचः । बाह्यायामं=पृष्ठेन नतम् । अभ्यन्तरायामं=क्रोडेन नतम् ॥ ५५५ ॥

शिरागत वायु शिराओं में शूल, शिराओं का सङ्कोच, शिराओं में स्थूलता, बाह्यायाम, खल्ली तथा कुब्जत्व को उत्पन्न कर देती है ॥ २५५ ॥

शिरागतवायुचिकित्सामाह—

स्नेहाभ्यङ्गोपनाहाश्च मर्दनालेपनानि च । वाते शिरागते कुर्यात्तथा चासृग्विमोचणम् ॥२५६॥

शिरागत वात में स्नेहाभ्यङ्ग, स्नेहोपनाह, स्नेहमर्दन, स्नेहप्रलेप तथा रक्त-मोक्षण कराना चाहिये ॥ २५६ ॥

स्नायुगतवायोर्लक्षणं चिकित्सां चाह—

शूलमाक्षेपकः कम्पः स्तम्भः स्नाय्वनिलाद्भवेत् । स्वेदोपनाहाग्निकर्मबन्धनोन्मर्दनानि च ।
क्रुद्धे स्नायुगते वाते कारयेत्कुशलो भिषक् ॥ २५७ ॥

स्नायुगत वात से शूल, आक्षेपक, कम्प तथा स्तम्भ होता है। प्रकुपित वात जब स्नायु में चला जाता है तब स्वेदन, उपनाह, अग्निकर्म, बन्धन तथा स्नेहमर्दन इन सब उपचारों को बुद्धिमान् वैद्य करावे ॥ २५७ ॥

सन्धिगतवायुलक्षणमाह—

हन्ति सन्धिगतः सन्धीञ्छूलशोथौ करोति च ॥ २५८ ॥

*हन्ति=विश्लेषयति ॥ २५८ ॥

सन्धिगत वात सन्धियों का विश्लेषण कर देता है तथा शूल और शोथ उत्पन्न करता है ॥२५८॥

सन्धिगतवायुचिकित्सामाह—

कुर्यात्सन्धिगते वाते दाहस्नेहोपनाहनम् । इन्द्रवारुणिकामूलं मागधीगुडसंयुतम् ।
भक्षयेत्कर्षमात्रं तत्सन्धिवातं व्यपोहति ॥ २५९ ॥

सन्धिगत वात में दाहक्रिया, स्नेहन तथा उपनाहन करवाना चाहिये । इन्द्रायण की जड़ तथा पिप्पली को गुड़ मिला कर १ तोले की मात्रा में खाने से सन्धिगत वात नष्ट हो जाता है ॥२५९॥

उक्तरोगाणां कृच्छ्रसाध्यत्वमाह—

हनुस्तम्भार्दिताक्षेपपक्षाघातापतानकाः । कालेन महता यत्नात्सिध्यन्ति न च वा न वा ॥
नवान् बलवतां त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान् ॥ २६१ ॥

॥ शतेष्वेकः कश्चिन्मुच्यत इत्यर्थः । परं कः सिध्यति ? यस्तरुणो भवति तथा बलवानुपद्रवरहितश्च ॥ २६०–२६१ ॥

हनुस्तम्भ, अर्दित, आक्षेपक, पक्षाघात तथा अपतानक ये रोग यत्न करने से बहुत दिनों में अच्छे होते हैं अथवा नहीं भी होते । उपर्युक्त रोगों से पीड़ित सैंकड़ों मनुष्यों में से कोई एक अच्छा होता है जो कि तरुण, बलवान तथा उपद्रवरहित होता है । अन्य रोगी इस रोग से मर ही जाते हैं ॥ २६०–२६१ ॥

तेषामेवोपद्रवानाह—

विसर्पदाहरुग्भङ्गमूर्च्छाऽरुच्यग्निमार्दवैः । क्षीणमांसबलं वाता घ्नन्ति पक्षवधादयः ॥२६२॥

॥वाताः = वातविकाराः, कार्यकारणयोरभेदोपचारात् । 'वातादिति' पाठे वातात्पक्षवधादय इति योज्यम् ॥ २६२ ॥

विसर्प दाह, वेदना, भङ्ग, मूर्च्छा, अरुचि तथा मन्दाग्नि से जिनका मांस तथा बल क्षीण हो गया है, ऐसे रोगियों को पक्षाघात इत्यादि वातरोग मार डालते हैं ॥ २६२ ॥

वातस्य साध्यासाध्यलक्षणमाह—

शूनं सुप्तत्वचं म्लानं कम्पाध्माननिपीडितम् । रुजाऽऽर्तिमन्तञ्च नरं वातव्याधिर्विनाशयेत्॥

शोथयुक्त, जिनकी त्वचा संज्ञाहीन हो गई है, ग्लानियुक्त, कम्प तथा आध्मान से पीड़ित और वेदना से व्याकुल मनुष्यों का वातव्याधि विनाश कर डालता है ॥ २६३ ॥

इदानीं पञ्चविधस्य वायोः कार्यं लिङ्गं चाह—

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः। वायुः स्यात्सोऽधिकंजीवेद्वीतरोगः समाः शतम्॥

जिस मनुष्य का वात अव्याहत गति हो, अपने ठीक स्थान पर स्थित हो तथा प्रकृतिस्थ हो ऐसा मनुष्य रोगरहित होकर १०० वर्ष से अधिक दिन तक जीता है ॥ २६४ ॥

अथ वातव्याधीनां सामान्यानि भेषजानि ।

तत्र चक्रदत्तप्रोक्तमहामाषादितैलमाह—

माषस्यार्द्धाढकं देयं तुलार्द्धं दशमूलतः । पलानि च्छागमांसस्य त्रिंशद्द्रोणेऽम्भसः पचेत्॥
चतुर्भागावशेषं तं कषायमवतारयेत् । प्रस्थञ्च तिलतैलस्य पयो दद्याच्चतुर्गुणम् ॥ २६६ ॥
जीवनीयानि मञ्जिष्ठा चव्यं चित्रककट्फलम् । सव्योषं पिप्पलीमूलं रास्नामलकगोक्षुरम् ॥
आत्मगुप्ता तथैरण्डः शताह्वा लवणत्रयम् । देवदार्वमृताकुष्ठमश्वगन्धा वचा शटी ॥ २६८ ॥
एतैरक्षमितैः कल्कैः पाचयेन्मृदुनाग्निना । पक्षाघातार्दिते पुंसि हनुस्तम्भार्दिते तथा ॥
कर्णशूले शिरःशूले तिमिरे च त्रिदोषजे । पाणिपादशिरोग्रीवाभ्रमणे मन्दचङ्क्रमे ॥ २७० ॥
कलायखञ्जे पङ्गौ च गृध्रस्यामपबाहुके । पाने बस्तौ तथाऽभ्यङ्गे नस्ये कर्णादिपूरणे ॥२७१॥
तैलमेतत्प्रशंसन्ति सर्ववातविकारनुत् । महामाषादिनामेदं भाषितं मुनिभिः पुरा ॥ २७२ ॥

उड़द आधा आढ़क (१२८ तो०), दशमूल ५० पल (२०० तो०) तथा बकरे का मांस ३० पल

(१२० तो०) लेकर १ द्रोण (१०२४ तो०) जल में पकावे । जब पकने २ चतुर्थांश शेष रह जाय तो उतार कर छानले । फिर उसमें २ प्रस्थ (१२८ तो०) तिल का तैल और तेल से चौगुना (५१२ तो०) दूध डाल दे । तत्पश्चात् जीवनीयगण, मजीठ, चव्य, चित्त, कायफल, सोंठ, मिर्च, पीपल, पिपरामूल, रास्ना, आंवले, गोखरू, कौंच के बीज, एरण्डमूल, सोया, तीनों नमक, देवदारु, गुडूची, कूठ, असगन्ध, वच तथा कचूर इन सब ओषधियों को १-१ तो० लेकर कल्क बना कर डाल कर मन्द आंच से पकावे तो यह 'महामाषादितैल' सिद्ध हो जाता है । इस तैल से पक्षाघात, अर्दित, हनुस्तम्भ, कर्णशूल, शिरःशूल, त्रिदोषज तिमिर तथा हाथ-पांव-शिर-ग्रीवा और कानों की जडता, कलायखञ्ज, पङ्गुता, गृध्रसी और अपबाहुक रोग नष्ट हो जाते हैं । पान, वस्ति, अभ्यङ्ग, नस्य तथा कर्णपूरण इत्यादि में इसका प्रयोग हितकर है । इससे सम्पूर्ण वातविकार नष्ट हो जाते हैं । पूर्वकाल में मुनियों ने महामाषादि नामक इस तैल का वर्णन किया है ॥ २६५-२७२ ॥

द्वितीयमहामाषादितैलमाह—

माषा यवातसीक्षुद्रा मर्कटी च कुरण्टकः ॥ २७३ ॥
गोकण्टप्टुण्टुकश्चैषां प्रत्येकं पलसप्तकम् । चतुर्गुणाम्बुना पक्त्वा पादशेषं शृतं नयेत् ॥२७४॥
कार्पासकास्थि बदरं शणबीजं कुलत्थकम् । पृथक्चतुर्दशपलं चतुर्गुणजले पचेत् ॥ २७५ ॥
कषायं तत्र गृह्णीयाच्चतुर्थांशावशेषितम् । प्रस्थञ्च च्छागमांसस्य चतुःषष्टिपले जले ॥ २७६ ॥
प्रक्षिप्य पाचयेद्धीमान्पादशेषं रसं नयेत् । तैलप्रस्थे ततः क्वाथान्सर्वांस्तान्क्रमतः पचेत् ॥
कल्कद्रव्यैः पचेदेभिरमृताकुष्ठसैन्धवैः । रास्नापुनर्नवैरण्डैः पिप्पल्या शतपुष्पया ॥२७८॥
बलाप्रसारणीभ्याञ्च मांस्या कटुकया तथा । पृथक्कर्षमितैरेतैः साधयेन्मृदुनाग्निना ॥ २७९ ॥
हन्यात्तैलमिदं शीघ्रं वातव्याधीनशेषतः । आक्षेपकं पक्षघातमूरुस्तम्भापबाहुकौ ।
हस्तकम्पं शिरःकम्पं विश्वाचीमर्दितं तथा ॥ २८० ॥

इति माषादितैलं शार्ङ्गधरात् ॥ २७३-२८० ॥

उड़द, जौ, अलसी, कटेरी, कौंच के बीज, कटसरैया, गोखरू तथा टुण्टुक (श्योनाक भेद) इन प्रत्येक ओषधियों को ४८-४८ तोले लेकर चौगुने जल में पकावे। चतुर्थांशावशेष रहने पर उतार कर छान ले । कपास के बीज, बेर, सन के बीज तथा कुलथी इन प्रत्येक ओषधियों को १४-१४ पल लेकर चौगुने जल में पकावे, चौथाई भाग जल शेष रहने पर उतार-छान कर रख ले । फिर १ प्रस्थ (६४ तो०) बकरे के मांस को लेकर ६४ पल जल में पकावे, चतुर्थांश जल शेष रहने पर इस जल को छान कर रख ले। क्रमशः इन क्वाथों में ६४ तोले तेल को पकावे । तत्पश्चात् गुडूची, कूठ, सेन्धानमक, रास्ना, पुनर्नवा, पिप्पली, सौंफ, खिरेटी, प्रसारिणी, जटामांसी तथा कुटकी इन प्रत्येक ओषधियों को १-१ तो० लेकर कल्क बनाकर तेल में डाल कर मन्द आंच से पकावे । तो यह 'माषादितैल' सिद्ध हो जाता है। इस तेल से आक्षेपक, पक्षाघात, ऊरुस्तम्भ, अपबाहुक, हस्तकम्प, शिरःकम्प, विश्वाची, अर्दित तथा सम्पूर्ण वातव्याधियां शीघ्र नष्ट हो जाती हैं ॥ २७३-२८० ॥

मध्यमनारायण तैलमाह—

अश्वगन्धाबलाबिल्वं पाटलाबृहतीद्वयम् । श्वदंष्ट्रातिबलानिम्बश्योनाकञ्च पुनर्नवाम् ॥२८१॥
प्रसारणीमग्निमन्थं कुर्याद्दशपलं पृथक् । चतुर्द्रोणे जले पक्त्वा पादशेषं शृतं नयेत् ॥२८२॥
तैलाढकेन संयोज्य शतावर्या रसाढकम् । प्रक्षिपेत्तत्र गोक्षीरं ततस्तैलाच्चतुर्गुणम् ॥२८३॥
पृथक्पलमितैः कल्कैर्द्रव्यैरेभिः पचेद्भिषक् । वचाचन्दनकुष्ठैलामांसीशैलेयसैन्धवैः ॥२८४॥
अश्वगन्धाबलारास्नाशतपुष्पेन्द्रदारुभिः । पर्णीचतुष्टयेनैव तगरेण प्रसाधयेत् ॥ २८५ ॥
तत्तैलं भोजनेऽभ्यङ्गे पाने वस्तौ च योजयेत् । पक्षाघातं हनुस्तम्भं मन्यास्तम्भं गलग्रहम् ॥
कुब्जत्वं बधिरत्वञ्च गतिभङ्गं कटीग्रहम् । गात्रशोषेन्द्रियध्वंसं शुक्रनाशं ज्वरक्षयान् ॥२८७॥
अन्त्रवृद्धिं कुरण्डञ्च दन्तरोगं शिरोग्रहम् । पार्श्वशूलञ्च पङ्गुत्वं बुद्धिनाशञ्च गृध्रसीम् ॥

अन्यांश्च विविधान्वातान्हरेत्सर्वाङ्गसंश्रयान्। अस्याः प्रभावाद्वन्ध्याऽपि नारी पुत्रं प्रसूयते॥
यथा नारायणो देवो दुष्टदैत्यविनाशनः। तथेदं वातरोगाणां नाशनं तैलमुत्तमम् ॥ २९० ॥

असगन्ध, खिरेटी, बेलगिरी, पाढ़ल, कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, कड्ढी, नीम की छाल, सोनापाठा, पुनर्नवा, प्रसारिणी तथा अरनी इन सब औषधियों को १०-१० पल लेकर ४ द्रोण जल (१ मन ११ सेर ३ छटांक १ तो०) में पकावें। जब पकते-पकते चतुर्थांश जल शेष रह जावे तो उतार कर छान लें। तत्पश्चात् इस क्वाथ में तैल १ आढ़क (२५६ तो०), शतावरी स्वरस १ आढ़क (२५६ तो०), गोदुग्ध ४ आढ़क तथा वच, लालचन्दन, कूठ, छोटी इलायची, जटामांसी, छार छबीला, सेन्धानमक, असगन्ध, खिरैटी, रास्ना, सौंफ, देवदारु, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी इन सब औषधियों को ४-४ तोले लेकर कल्क बना कर डालकर तैल को सिद्ध कर लें। इस प्रकार मध्यम नारायण तैल सिद्ध होता है। इस तैल का भोजन, अभ्यङ्ग, पान तथा वस्ति में प्रयोग करे। इससे पक्षाघात, हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, गलग्रह, कुब्जता, बधिरता, गतिभङ्ग, कटिग्रह, गात्रशोष, इन्द्रियध्वंस, वीर्यनाश, ज्वर, क्षय अन्त्रवृद्धि, कुरण्ड, दन्तरोग, शिरोग्रह, पार्श्वशूल, पङ्गुता, बुद्धिनाश, गृध्रसी तथा अन्य विविध प्रकार के सम्पूर्ण शरीर में होने वाले वातरोग नष्ट हो जाते है। तथा इसके प्रभाव से वन्ध्या स्त्री भी पुत्र उत्पन्न करती है। जिस प्रकार नारायण देव दुष्ट दैत्यों का विनाश करते हैं उसी प्रकार यह **मध्यम नारायण तैल** समस्त वातरोगों का नाश करता है॥ २८१—२९० ॥

महानारायणतैलमाह—

तिलतैलं समादाय चतुराढकसम्मितम्। पञ्चपल्लवकल्केन शोधयेद्दोषशान्तये ॥२९१॥
तत्राजं दुग्धमथ वा गव्यं तैलसमं पचेत्। शतावरीरसञ्चापि तैलतुल्यं पचेद्भिषक् ॥२९२॥
दशमूली बला रास्ना शिग्रूत्पलपुनर्नवाः। शेफालिका नागबला बला चैव प्रसारणी ॥२९३॥
अश्वगन्धा सहचरो दशमूलं करञ्जकः। खदिरं चन्दनं लोध्रं वचाऽसनपलाशकम् ॥२९४॥
बकुलैरण्डवरुणशाल्युग्मकटम्भराः। शिरीष शिखरी वासाहिंस्राजम्बूबिभीतकम् ॥२९५॥
काञ्चनारः कपित्थश्च पारिभद्रः प्रियालकम्। पाषाणभेदः शम्पाको दुग्धिका दाडिमीफलम्॥
उदुम्बरः सप्तला च कन्यका मालतीत्वचम्। मागधी नलमूलञ्च यवकोलकुलत्थकम् ॥
आत्मगुप्ताऽर्ककार्पासबीजं वत्सादनी स्नुही। केतकीमूलधत्तूरलाङ्गलीगर्दभाण्डकम् ॥२९८॥
चित्रकञ्च महानिम्बं पञ्चवल्कलमेव च। मुण्डी टङ्कारी मुशली हंसपादी विशल्यकम् ॥२९९॥
एषां दशपलान्भागान्वारिण्यष्टगुणे पचेत्। पादशेषं परिस्राव्य तत्र तैलं पुनः पचेत् ॥३००॥
छागो मेषश्च हरिण एणश्च बहुश्रृङ्गकः। शशः शल्यः शिवा गोधा सिंहो व्याघ्रश्च भल्लुकः॥
वन्यो वराहः खड्गी च महिषो घोटकस्तथा। कपिर्बभ्रुर्बिडालश्च मूषकश्चोरुदर्दुरः ॥३०२॥
वर्तिकस्तित्तिरिर्लावः खञ्जरीटश्चकोरकः। उलूको नीलकण्ठश्च वन्यकुक्कुट एव च ॥३०३॥
गृध्रश्च गरुडो हंसश्चक्रः कारण्डवोऽपि च। कपोतः सारसः क्रौञ्चो वन्यः पारावतस्तथा॥
रोहितो मद्गुरश्चापि शिलीन्ध्रः श्रृङ्गकस्तथा। इल्लिसो गर्गरो वर्मिरथ काकः पिकोऽपि च॥
महामत्स्यः कच्छपश्च शिशुमारश्च साङ्कुचिः। मकरो घण्टिकाऽऽकारस्तदलाभे तु गोधिका॥
यथालाभमसमीपाच्च क्वाथं तैलसमं पचेत्॥ ३०७॥
रास्नाऽश्वगन्धामिसिदारुकुष्ठपर्णीचतुष्कागुरुकेशराणि।
सिन्धूत्थमांसीरजनीद्वयञ्च शैलेयकं चन्दनपुष्करञ्च ॥ ३०८ ॥
एला सयष्टी तगराब्दपत्रं भृङ्गोऽष्टवर्गस्तु वचा पलाशी।
स्थौणेयवृश्चीरकचोरकाख्यं मूर्वात्वचं कट्फलपद्मकं च।
मृणालजातीफलकेतकाख्यं सनागपुष्पं सरलं मुरा च।
जीवन्तिकोशीरवरास्तथैव दुरालभा वानरिका नखश्च ॥ ३१० ॥

केवर्त्तमुस्तार्जुनतिक्तकञ्च वातामखर्जूरकतुम्बुराश्च ।
सधातकीग्रन्थिकपर्पटाश्च पटोलहेमाह्वजयन्तिकाश्च ॥ ३११ ॥
त्रायन्तिकाऽलम्बुषशक्रबीजं रसाञ्जनाभात्रिवृतारुणाश्च ।
द्राक्षाकणाद्रोणपुनर्नवाश्च कोन्ती क्रिमिघ्नो हयमारकश्च ॥ ३१२ ॥
नीलोत्पलं पद्मककारवीभ्यां रम्भाऽनलो गोक्षुरकः क्षुरश्च ।
कङ्कोलकालेयकुसुम्भपुष्पं तुरुष्ककाश्मीरकसिक्थकञ्च ।
लवङ्गकर्पूररसालकाण्डकस्तूरिकावालकमम्बरञ्च ॥ ३१३ ॥

दारु=देवदारु । पर्णीचतुष्कं=शालिपर्णी पृश्निपर्णी मुद्गपर्णी माषपर्णी चेति । केशरः= पुन्नागस्तस्य पुष्पं ग्राह्यम्, तदलाभे नागकेशरं ग्राह्यम् । शैलेयकम् = 'छरीला' इति लोके । चन्दनमत्र श्वेतम् । पुष्करं =पुष्करमूलम् ।

'तगरस्याप्यलाभे तु कुष्ठं दद्याद्भिषग्वरः' ॥ २ ॥

भृङ्गः =त्वक्, अष्टवर्गालाभे शतावरीविदार्यश्वगन्धावाराही द्विगुणा दद्यात् । वाराही = 'गेठि' इति लोके । पलाशी =कर्चूरभेदः, 'गन्धपलाशी'ति कश्मीरे प्रसिद्धा, तदलाभे कर्चूर एव देयः । स्थौणेयः =गठिवनभेद ईषत्सुगन्धि 'थुनेर' इति लोके । वृश्चिरः = श्वेतमूला पुनर्नवा । चोरकः =ग्रन्थिपर्णस्यैव भेदः 'भटिउर' इति नैपालदेशे प्रसिद्धः । केतकस्य मूलं पुष्पञ्च दद्यात् । कैवर्त्तमुस्ता='केवटीमोथा–गुडतजी' इति च लोके । तिक्तकः=किराततिक्तकः । वातामं='बादाम' इति लोके । हेमाह्वं=धत्तूरस्य फलं मूलं पत्रञ्च । जयन्तिका= जैन्तित्वक् । त्रायन्तिका=अत्र लभ्यत एव न, तदलाभे बला । अलम्बुषा=लज्जालुभेदः । आभा=बब्बूलस्तस्य त्वक् । अरुणा = मञ्जिष्ठा । द्रोणः = द्रोणपुष्पः, 'गूमा' पञ्चाङ्गः । पुनर्नवा = रक्तपुष्पा । हयमारकः = करवीरस्तस्य मूलम् । पद्मकं = नीलोत्पलादन्योत्पलम् । पद्मकाष्ठमुक्तमेव । कारवी = 'मगरैला' इति लोके । रम्भायाः कन्दम् । क्षुरस्य फलानि । रसालकाण्डम् = 'आण्डी' सुगन्धद्रव्यम् ॥ २९१–३१३ ॥

कल्कानमीषां विपचेत्सुवैद्यः पृथक् पृथक् कर्षयुगोन्मितानाम् ।
शुभे च नक्षत्रमुहूर्त्तलग्ने सन्तोष्य विप्रांश्च भिषग्वरांश्च ॥ ३१४ ॥
सम्पूज्य नारायणनामधेयं देवं त्रिनेत्रं जगतामधीशम् ।
पात्रे तु हेम्नः खलु राजते वा ताम्रेऽथ वा लोहमयेऽपि रचेत् ॥ ३१५ ॥

अभ्यञ्जनेऽञ्जने नस्ये निरूहे चावगाहने । पाने चैतद्यथाव्याधि प्रयुञ्जीत चिकित्सकः ॥३१६॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन तैलमेतत्प्रयोजितम् । अवश्यं वातजान्व्याधीनशीतिमपि नाशयेत् ॥
एतस्याभ्यासतो जन्तोर्जरा जातु न जायते । पतन्ति वलयो नाङ्गे पलितञ्च न जायते ॥
नेत्रे तेजस्वि नितरां गरुडस्येव जायते । नोच्चैःश्रुतिर्न बाधिर्यं कर्णनादो न जायते ॥३१९॥
पाणिकम्पः शिरःकम्पः प्रलापश्च न जायते । बुद्धिभ्रंशो न जायेत तस्मात्कर्मसु पाटवम् ॥
यथा जलेन सिक्तस्य शाखिनः पल्लवादयः । वर्द्धन्ते धातवस्तद्वद् देहिनोऽनेन नित्यशः ॥
आमं गर्भं त्यजेज्जातु सूतिका तयुता च या । या च दुष्प्रसवस्त्रीणास्ताभ्य एतद्धितं परम् ॥
वन्ध्या च लभते पुत्रं गर्भपातो न जायते । योनिरोगाः प्रणश्यन्ति प्रदरश्च प्रशाम्यति ॥
अस्मात्तैलवरादन्यत्कुत्रचिन्नास्ति भेषजम् । बल्यं वृष्यं बृंहणञ्च रसायनमिदं महत् ॥ ३२४ ॥

पुरा देवासुरे युद्धे दैत्यैरभिहतान्सुरान् ।
भिन्नान्भग्नास्थिकान्विद्धान्पिच्चितान्व्यथयाऽर्दितान् ॥ ३२५ ॥

दृष्ट्वा हिताय देवानां नराणां चाब्रवीदिदम् । तैलं नारायणो देवो महनारायणाभिधम् ॥

४आढक (१०२४ तो०) तिल का तेल लेकर दोष की शान्ति के लिये पञ्चपल्लव के कल्क से शुद्ध कर ले । तत्पश्चात् उस तैल में ४ आढक बकरी अथवा गाय का दूध और ४ आढक शतावरी-

स्वरस डालकर पकावे। फिर दशमूल, खिरैटी, रास्ना, सहिजन, नीलकमल, पुनर्नवा, निर्गुण्टी, कट्टी, गंगेरन, प्रसारणी, असगन्ध, कटसरैया, दशमूल, करञ्ज, खैर, लालचन्दन, लोध, वच, विजयसार, पलाश, मौलसिरी, एरण्डमूल, वरना, दोनों प्रकार के कटंभर (सोनापाठा तथा अपराजिता), सिरसा, अपामार्ग, अड्रूसा, बालछड़, जामुन की छाल, बहेड़ा, कचनार, कैंत, बकाइन, चिरौंजी, पाषाणभेद, अमलतास, दुद्धी, अनार के फल, गूलर, सातला, घृतकुमारी, मालती, तज, पिप्पली, नरसल की जड़, जौ, बेर, कुलथी, कांच के बीज, मदार की जड़, कपास के बीज, गुडूची, थूहर, केवड़े की जड़, धतूर, करियारी, गदहे का अण्टकोष, चित्त, बकाइन, पञ्चवल्कल, मुण्डी, टेकारी, मुसली, लाल लज्जालु तथा इन्द्रायण की जड़ इन प्रत्येक ओषधियों को १०-१० पल लेकर अठगुने जल में पकावे। जब पकते २ चतुर्थांशावशिष्ट रह जाय तो छान कर इस काथ में उपर्युक्त तैल को फिर पकावे। फिर बकरा, भेड़, हरिण, एण मृग, सावर, खरगोश, शल्य (मत्स्य भेद), छिपकली, गोह, सिंह, बाघ, रीछ, जंगली सूअर, गैंडा, भैंसा, घोड़ा, बन्दर, नकुल, बिलाव, चूहा, मेंढ़क, बतख, तीतर, लवा, खञ्जन, चकोर, उल्लू, नीलकण्ठ, वनमुर्गा, गिद्ध, गरुड़, हंस, चकवा, कारण्डव, कबूतर, सारस, क्रौंच, जङ्गली कबूतर, रोहू मछली, मद्गुर मछली, शिलीन्ध्र, शृङ्गक, इल्लीश, गर्गर मछली, वरमी मछली, कौआ, कोयल, महामत्स्य, कछुआ, शिशुमार, सङ्कुच, मगर, घड़ियाल (यदि घड़ियाल न मिल सके तो उसके स्थान में 'गोह' लेना चाहिये। इनमें जितने प्राणियों का मांस मिल सके उतना देना चाहिये। इनके चार आढक रस में तेल का पाक करे। फिर रास्ना, असगन्ध, सोया, देवदारु, कूठ, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी, अगर, पुन्नाग, (यदि 'पुन्नाग' न मिल सके तो 'नागकेशर' लेना चाहिये) सैन्धानमक, जटामांसी, हल्दी, दारुहल्दी, छरीला, श्वेतचन्दन, पोहकरमूल, छोटी इलायची, मुलहठी, तगर (तगर के अभाव में कूठ लेना चाहिये), नागरमोथा, तेजपात, दालचीनी, अष्टवर्ग की ओषधियां (यदि अष्टवर्ग की ओषधियां न मिल सकें तो उनके अभाव में शतावरी, विदारीकन्द, असगन्ध तथा वाराहीकन्द को द्विगुण मात्रा में लेना चाहिये), वच, गन्धपलाशी (कश्मीर में प्रसिद्ध है। यदि गन्धपलाशी न मिले तो कचूर लेना चाहिये), थुनेर (गठिवन भेद), श्वेतजड़वाली पुनर्नवा, नैपालदेश मे प्रसिद्ध भटेउर, मूर्वा, दालचीनी, कायफर, पद्मकाष्ठ, कमल की नाल, जायफल, केवड़े की जड़ तथा फूल. नागकेशर, धूप, मुरा, (गुजरात देश में प्रसिद्ध सुगन्धद्रव्यविशेष), गुडूची, सुगन्धवाला, हरड़, बहेड़ा, आंवला, जवासा, कौंच के बीज, नख, केवटीमोथा, अर्जुन, चिरायता, बादाम, छोहारे, नेपाली धनियां, धाय के फूल, पिपरामूल, पित्तपापड़े, परवल, धतूर के फल-मूल-पत्र, जैन्ती की छाल, त्रायमाण, अलम्बुषा (लज्जालु भेद), इन्द्रजौ, रसौत, बबूल की छाल, निशोथ, मजीठ, मुनक्का, पिप्पली, गूमा, लालमूल का पुनर्नवा, निर्गुण्डी के बीज, वायविडङ्ग, कनेर की जड़, नीलाकमल, कमल, मंगरेला, केले का कन्द, चित्त, गोखरू, तालमखाना, कङ्कोल, पीतचन्दन, कुसुम के फूल, शिलारस, केशर, मोम, लौंग, कपूर, ताड़ की जटा, कस्तूरी, सुगन्धवाला तथा अम्बर इन प्रत्येक ओषधियों को २-२ तोले लेकर कल्क बनाकर इस कल्क से तैल को पकावे तो 'महानारायण तैल' सिद्ध हो जाता है। शुभनक्षत्र, मुहूर्त तथा लग्न में वैद्य ब्राह्मणों तथा उत्तम वैद्यों की पूजा करके संसार के स्वामी नारायणदेव तथा त्रिनेत्र भगवान् शङ्कर की पूजा करके सोने, चांदी, ताम्बे अथवा लोहे के वर्त्तन में इस तैल को भर कर रख दे। फिर वैद्य रोग के अनुसार अभ्यङ्ग, अञ्जन, नस्य, निरूहवस्ति, अवगाहन तथा पान में इसका प्रयोग करे। अधिक कहने से क्या होता है लेकिन इतना तो अवश्य कहते हैं कि इस तैलका सविधि प्रयोग करने से ८० प्रकार के वात रोग अवश्य नष्ट हो जाते हैं। इस तैल के अभ्यास से बुढ़ापा कभी नहीं आता। शरीर में झुर्रियां नहीं पड़तीं। असमय में बाल नहीं पकते। नेत्र निरन्तर गरुड़ के समान तेजस्वी रहते हैं। ऊंचे सुनना, बाधिर्य तथा कर्णनाद कभी नहीं होता। हाथों का कांपना, शिरःकम्प तथा प्रलाप नहीं हो सकता। बुद्धि भ्रष्ट नहीं होती। कार्य करने

में समर्थता उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार जल से सींचने से पेड़ों के पल्लव आदि बढ़ते हैं उसी प्रकार इस तैल से नित्य शरीर को सींचने से मनुष्यों की धातुवृद्धि होती है। जिस स्त्री के आम गर्भ का पात हो जाता हो, सूतिका रोग युक्त तथा जो स्त्री दुष्ट प्रसव से क्षीण हो गई हो उनके लिये यह तैल परम हितकर है। इस तैल के प्रयोग से वन्ध्या स्त्री पुत्र प्राप्त करती हैं। गर्भपात नहीं होता। योनिरोग नष्ट होते हैं तथा प्रदर शान्त हो जाता है। इस परमोत्तम तैल से दूसरा और कहीं कोई भी ओषधि बढ़कर बलवर्द्धक, मैथुन-शक्ति बढ़ानेवाली तथा बृंहण नहीं है। यह तैल महारसायन है। प्राचीन काल में देवता तथा दैत्यों के युद्ध में दैत्यों के प्रहार से देवताओं के शरीर में चोट लगी थी, हड्डियां टूट गई थीं, शरीर विद्ध हो गया था, अस्थि-समूह पिस गये थे तथा पीड़ा से व्याकुल हो गये थे। यह देख कर नारायणदेव ने देवताओं तथा मनुष्यों के हित के लिये महानारायण नामक इस तैल का उपदेश दिया था॥ २९१–३२६॥

महायोगराजगुग्गुलुमाह—

नागरं पिप्पलीमूलं चव्यमूषणचित्रकम्। भृष्टं हिङ्ग्वजमोदा च सर्षपो जीरकद्वयम्॥
रेणुकेन्द्रयवौ पाठा विडङ्गं गजपिप्पली। कटुकाऽतिविषा भार्गी वचा मूर्वा च पत्रकम्॥
देवदारु कणा कुष्ठं रास्ना मुस्ता च सैन्धवम्। एला त्रिकण्टकं पथ्या धान्यकञ्च विभीतकम्॥
धात्री च त्वगुशीरञ्च यवक्षारोऽखिलान्यपि। एतानि समभागानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्॥
यावन्त्येतानि चूर्णानि तावानेवात्र गुग्गुलुः। संमर्द्य सर्पिषा पश्चात्सर्वं संमिश्रयेच्च तत्॥
एवं पिण्डञ्च तत्कृत्वा धारयेद् घृतभाजने। गुटिकाष्टङ्कमात्रास्तु खादेत्तास्तु यथोचिताः॥
***यथोचिताः = दोषकालाद्यपेक्षया॥ ३३२॥**

सोंठ, पिपरामूल, चव्य, कालीमिर्च, चित्त, भुनीहींग, अजमोदा, सरसों, स्याहजीरा, रेणुका, इन्द्रजौ, पाठा, वायविडङ्ग, गजपिप्पली, कुटकी, अतीस, भारङ्गी, वच, मूर्वा, तेजपात, देवदारु, पीपल, कूठ, रास्ना, नागरमोथा, सेन्धानमक, छोटी इलायची, गोखरू, हरड़, धनियां, बहेड़ा, आंवला, दालचीनी, खस तथा जवाखार, इस सब ओषधियों को समान भाग में लेकर सूक्ष्म चूर्ण करे। फिर इस चूर्ण के बराबर गुग्गुल लेकर घी के साथ अच्छी तरह मिलाकर मर्दन करके एक पिण्ड बना ले। और उस पिण्ड को घी के बरतन में रख दे। पुनः उसमें से एक २ टङ्क (२४–२४ रत्ती) की गोलियां बनाकर दोष तथा काल के अनुसार इन गोलियों को खावे॥ ३२७–३३२॥

आदौ शाणोन्मितं खादेत्सार्द्धशाणं ततः परम्। तदग्रे कर्षमर्द्धन्तु पूर्णं कर्षं ततः परम्॥
गुग्गुलुर्योगराजोऽयं महामुख्यो रसायनः। मैथुनाहारपानानां नियमो नात्र विद्यते॥३३४॥
अर्शांसि ग्रहणीरोगं प्लीहगुल्मोदरानपि। आनाहं मन्दमग्निञ्च श्वासं कासमरोचकम्॥
प्रमेहं नाभिशूलञ्च क्रिमिक्षयमुरोग्रहम्। सर्वान्वातामयान्हन्यादामवातमपस्मृतिम्॥३३६॥
वातरक्तं तथा कुष्ठं तथा दुष्टव्रणानपि। शुक्रदोषं रजोदोषमुदावर्त्तं भगन्दरम्॥३३७॥

सेवन विधि—पहले कुछ समय तक १–१ गोली खावे फिर डेढ़-डेढ़ गोली, फिर आधा तोला इसके बाद एक तोले की मात्रा में सेवन करे। यह योगराजगुग्गुलु महामुख्य रसायन है। इसके सेवन काल में मैथुन तथा अन्नपान का कोई नियम नहीं। इसके सेवन से अर्श, ग्रहणीरोग, प्लीहा, गुल्म, उदररोग, आनाह, अग्निमान्द्य, श्वास, कास, अरुचि, प्रमेह, नाभिशूल, कृमिरोग, क्षय, ऊरुग्रह, समस्त वातरोग, आमवात, अपस्मार, वातरक्त, कुष्ठ, दुष्टव्रण, वीर्यदोष, रजोदोष, उदावर्त्त तथा भगन्दर रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ३३३–३३७॥

रास्नाऽऽदिक्काथसंयुक्तः सर्वान्वातामयान्हरेत्। काकोल्यादिश्रृतात्पित्तं कफमारग्वधादिना॥
दार्व्याश्रृतेन मेहांश्च गोमूत्रेण च पाण्डुताम्। मधुना मेदसो वृद्धिं कुष्ठं निम्बश्रृतेन च॥
छिन्नाक्काथेन वातास्रं शोथं मूलकजाच्छृतात्। पाटलाक्काथसहितो विषं मूषकसम्भवम्॥
त्रिफलाक्काथसंयुक्तो दारुणां नेत्रवेदनाम्। पुनर्नवाऽऽदिक्काथेन हन्ति सर्वोदराण्यपि॥३४१॥

इस गुग्गुलु को रास्नादि क्वाथ के साथ सेवन करने से सम्पूर्ण वातव्याधियां नष्ट हो जाती हैं। काकोल्यादि क्वाथ के साथ सेवन करने से पित्त की शान्ति होती है। आरग्वधादि क्वाथ के साथ सेवन करने से कफ नष्ट होता है। दारुहल्दी के क्वाथ के साथ सेवन करने से प्रमेह, गोमूत्र के साथ सेवन करने से पाण्डुरोग, मधु के साथ सेवन करने से मेदोवृद्धि, नीम के क्वाथ के साथ सेवन करने से कुष्ठरोग, गुडूची के क्वाथ के साथ सेवन करने से वातरक्त, मूली के क्वाथ के साथ सेवन करने से शोथ, पाढ़ल के क्वाथ के साथ सेवन करने से चूहे का विष, त्रिफला के क्वाथ के साथ सेवन करने से नेत्र की दारुण वेदना तथा पुनर्नवादि क्वाथ के साथ सेवन करने से सम्पूर्ण उदर विकार नष्ट हो जाते हैं॥ ३३८-३४१॥

रास्नादिक्वाथमाह—

रास्ना पुनर्नवा शुण्ठी गुडूच्येरण्डजं शृतम्। सप्तधातुगते वाते सामे सर्वाङ्गगेऽपि चेत्॥

रास्ना, पुनर्नवा, सोंठ, गुडूची तथा एरण्डमूल इन सब ओषधियों का क्वाथ सप्तधातुगत वात, आमयुक्त वात तथा सर्वाङ्गगत वात में उपयोगी होता है। इसे रास्नादि क्वाथ कहते हैं॥ ३४२॥

रसोनकल्कमाह—

युक्तः कल्को रसोनस्य तिलतैलेन सिन्धुना। वातरोगान्हरेत्सर्वाञ्ज्वरांश्च विषमानपि॥

लहसुन का कल्क बनाकर तिल के तेल के तथा सेन्धानमक के साथ खाने से सम्पूर्ण वातरोग, तथा समस्त विषमज्वर नष्ट हो ज ते हैं॥ ३४३॥

क्षीरेण तैलेन घृतेन वाऽपि मांसेन सार्द्धं लशुनानि खादेत्।
शाल्योदनेनापि च षष्टिकेन पलार्द्धवृद्धया दिवसानि सप्त॥ ३४४॥
वातोत्थरोगान्विषमज्वरांश्च शूलान्सगुल्मान्दहनस्य मान्द्यम्।
प्लीहानमुग्रं भुजपार्श्वशूलं शिरोव्यथां कृन्तति शुक्रदोषान्॥ ३४५॥

दूध, तेल, घी, मांस, शालि चावल का भात अथवा साठी चावल के भात के साथ सात दिन तक क्रमतः प्रत्येक दिन २-२ तोले बढ़ा कर लहसुन का कल्क खाय तो वातजन्य रोग, विषमज्वर, शूल, गुल्म, अग्निमान्द्य, उग्र प्लीहा, हाथ तथा पसलियों की पीड़ा, शिरःशूल तथा शुक्रदोष नष्ट हो जाते हैं॥ ३४४-३४५॥

अन्नप्रकारैः पललप्रकारैर्गोधूमकैर्वा यवशक्तुभिर्वा।
दुग्धेन तैलेन घृतेन वाऽपि युक्तानि शीते लशुनानि खादेत्॥ ३४६॥
संवर्त्तकैर्लावकपिञ्जलैर्वा मृग्याः पलैर्वाऽप्यथ कौक्कुटैर्वा।
वाराहवर्त्तीरकहारिणैर्वा सुसंस्कृतैरग्निबलं समीक्ष्य॥ ३४७॥

अन्न के बने पदार्थों, मांसनिर्मित पदार्थों, गेहूं के बने हुये पदार्थों अथवा जौ के सत्तू के साथ दूध, तेल, घी, संवर्तक के मांस, लवा के मांस, तीतर के मांस, हिरण के मांस, अथवा मुर्गे के मांस, सुअर के मांस, वटेर के मांस अथवा सुसंस्कृत हिरण के मांस के साथ अग्नि तथा बल के अनुसार शीतकाल में लहसुन का सेवन करना चाहिये॥ ३४६-३४७॥

रसोनाष्टकमाह -

रसोनपक्वकन्दस्य गुलिका निस्तुषीकृताः। पाटयित्वा च मध्यस्थं दूरीकुर्यात्तदङ्कुरम्॥३४८॥
निश्युग्रगन्धनाशाय दध्ना सञ्जीय रक्षयेत्। ततःप्रक्षाल्य संशोष्य शिलायां परिपेषयेत्॥
कल्कस्य पञ्चमं भागं चूर्णमेषां विनिक्षिपेत्। सौवर्चलं यवानीञ्च भर्जितं हिङ्गु सैन्धवम्॥
कटुत्रिकं जीरकञ्च समभागानि चूर्णयेत्। तिलतैलञ्च कल्कस्य तुर्यांशं तत्र मिश्रयेत्॥३५१॥
खादेत्कर्षमितं प्रातः किं वा दोषाद्यपेक्षया। अनुपानं प्रकुर्वीत वातारिशृतमन्वहम्॥३५२॥
सर्वाङ्गैकाङ्गजं वातमर्दितञ्चापतन्त्रकम्। अपस्मारं तथोन्मादमूरुस्तम्भञ्च गृध्रसीम्॥३५३॥
उरःपृष्ठकटीपार्श्वकुक्षिपीडां कृमीन्हरेत्। मद्यं मांसं तथाऽम्लञ्च रसं सेवेत नित्यशः॥३५४॥

**आयासमातपं रोपमतिनीरं गुडं स्त्रियम् । रसोनमश्नन्पुरुषस्त्यजेदेतन्निरन्तरम् ॥ ३५५ ॥
वर्जयेत्तदतीसारी प्रमेही पाण्डुरोगवान् । अरोचकी गर्भिणी च मूर्च्छाऽर्शोरोगसंयुतः ॥३५६॥
रक्तपित्ती च शोषी च यक्ष्मी छर्द्यर्दितो नरः । पित्ते तु पथ्यभुक्कुर्यात्प्रयोगान्ते विरेचनम् ॥
अन्यथा तस्य जायन्ते कुष्ठपाण्ड्वामयादयः । स्त्रीस्तन्यं त्वरितं दद्याद्बालानामप्यनिच्छताम् ॥
तथा च लभते सिद्धिं महावीर्याद्रसोनतः ॥ ३५९ ॥**

लहसुन के पके हुये कन्द को छील कर साफ करके उसको चीरकर उसके बीच के अङ्कुर को निकाल दे। तत्पश्चात् लहसुन के उग्र गन्धको दूर करने के लिये उस लहसुन को रात में दही में रख दे। पुनः प्रातःकाल धोकर सुखाकर सिल पर पीस कर कल्क बना ले। पुनः उसमें काला नमक, अजवाइन, भुनी हींग, सेन्धानमक, सोंठ, मिर्च, पीपल तथा सफेद जीरा इन सब के चूर्ण को कल्क में कल्क का पञ्चमांश मिलादे और कल्क का चतुर्थांश प्रमाण में तिल का तेल मिलादे। फिर प्रातःकाल इसमें से १ तो० कल्क का सेवन करे। अथवा दोष तथा अग्नि-बलानुसार सेवन करे। अनुपान के लिये प्रतिदिन एरण्डक्वाथ का सेवन करे। यह रसोनाष्टक सर्वाङ्गवात, एकाङ्गवात, अर्दित, अपतन्त्रक, अपस्मार, उन्माद, ऊरुस्तम्भ, गृध्रसी तथा छाती-पीठ-कटि-पार्श्व और कुक्षि की पीड़ा एवं कृमियों को नष्ट कर डालता है। इसका सेवन करने वाला मनुष्य प्रतिदिन मद्य, मांस तथा खट्टे रस का सेवन करता रहे। परिश्रम, धूप, क्रोध, अत्यन्त जल का सेवन, गुड़ तथा स्त्रीप्रसङ्ग का निरन्तर त्याग कर दे। अतीसार, प्रमेह, पाण्डुरोग तथा अरुचि का रोगी, गर्भिणी, मूर्च्छा व अर्शरोग पीड़ित मनुष्य, रक्तपित्ती, शोषरोगी, यक्ष्मी तथा वमन से पीड़ित मनुष्य इस रसोनाष्टक का सेवन करना छोड़ दे। पित्तजन्य व्यथा हो तो पथ्य भोजन का सेवन करे। इस रसोनाष्टक के प्रयोग के पश्चात् विरेचन देना चाहिये। अन्यथा कुष्ठ तथा पाण्डुरोग इत्यादि व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं। स्त्री के दूध में मिला कर रसोनाष्टक के सेवन करने की इच्छा न करने वाले बालकों को पिलाने से लहसुन के वीर्य की महोत्कर्षता से बच्चों के समस्त वात विकार शीघ्र नष्ट होते हैं ॥ ३४८-३५९ ॥

वातारिरसमाह—

**रसो गन्धो वरा वह्निर्गुग्गुलुः क्रमवर्द्धितः । तत्रैकभागः सूतः स्याद्गन्धको द्विगुणः स्मृतः ॥
त्रिभागा त्रिफला योज्या चतुर्भागस्तु चित्रकः । गुग्गुलुः पञ्चभागः स्याद्रुबुतैलेन मर्दयेत् ॥
क्षिप्त्वा तत्रोदितं चूर्णं तेन तैलेन मर्दयेत् । गुटिकां कर्षमात्रान्तु भक्षयेत्प्रातरेव हि ॥३६२॥
नागरैरण्डमूलानां कषायं प्रपिबेदनु । अभ्यज्यैरण्डतैलेन स्वेदयेत्पृष्ठदेशकम् ॥ ३६३॥
विरेकपरिणामे तु स्निग्धमुष्णञ्च भोजयेत् ।
वातारिसंज्ञको ह्येष रसो नियतसेवितः । मासेन मरुतो रोगान्हरेत्सुरतवर्जिनः ॥ ३६४ ॥
इति चतुर्विंशो वातव्याध्यधिकारः समाप्तः ॥ २४ ॥**

पारद १ भाग, गन्धक २ भाग, त्रिफला ३ भाग, चित्त ४ भाग तथा गुग्गुलु ५ भाग लेकर इन सब को एरण्ड तैल से मर्दन करे। इसमें से प्रतिदिन १ तोले की गोली को प्रातःकाल खावे और इस गोली को खाने के पश्चात् सोंठ तथा एरण्डमूल के क्वाथ का अनुपान करे। तत्पश्चात् एरण्ड तैल को पीठ पर मल कर सेंक दे। यदि विरेचन होने लगे तो स्निग्ध तथा उष्ण अन्न का भोजन करे। इस वातारिसंज्ञक रस का प्रतिदिन सेवन करने से तथा मैथुन का परित्याग कर देने से एक महीने में सम्पूर्ण वातरोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ३६०-३६४ ॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे चतुर्विंशो वातव्याध्यधिकारः समाप्तः ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंश ऊरुस्तम्भाधिकारः ॥ २५ ॥

तत्रोरुस्तम्भस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टनिदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

शीतोष्णद्रवसंशुष्कगुरुस्निग्धैर्निषेवितैः। जीर्णाजीर्णे तथायाससङ्क्षोभस्वप्नजागरैः ॥ १ ॥
सश्लेष्ममेदःपवनः साममत्यर्थसञ्चितम्। अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत् प्रतिपद्यते ॥ २ ॥
सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तःश्लेष्मणा स्तिमितेन सः।
तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥ ३ ॥
परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ। ध्यानाङ्गमर्दस्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः ॥ ४ ॥
संयुतौ पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिः। तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥ ५ ॥

ॐजीर्णाजीर्णे = किञ्चिज् जीर्णे किञ्चिदजीर्णे। शीतादिभिर्निषेवितैर्भुक्तैः। सङ्क्षोभेण = सञ्चलनेन। दिवा स्वप्नेन, रात्रौ जागरणेन। अभिभूय = दूषयित्वा। इतरं दोषं = पित्तम्। स्तिमितेन = आर्द्रेणावृतेनेति यावन्न तु घनेन। सः = पवनस्तदा ऊरू स्तभ्नाति। तेन = स्तम्भेन। अचेतनौ = शून्यौ। परकीयाविव = अक्रियावित्यर्थः। ध्यानम् = मूढता। पादसम्बन्धिनीभिः सदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिश्च संयुक्तौ। अयं सुश्रुतेन महावातव्याधिषु पठितः॥

अन्न के कुछ जीर्ण तथा कुछ अजीर्णावस्था में शीतल, उष्ण, द्रव, शुष्क, गुरु तथा स्निग्ध भोजन करने से, परिश्रम से, शरीर के सञ्चलन से, दिवास्वप्न तथा रात्रिजागरण से कफ तथा मेदयुक्त वायु, आमयुक्त तथा सञ्चित हुये कफ और पित्त को दूषित करके जब ऊरुमें चली जाती है और ऊरु में जाकर लिपटे हुये आर्द्र कफ से ऊरु की हड्डियों में मिलकर स्तम्भ कर देती है। जिससे दोनों ऊरु स्तब्ध, शीतल तथा शून्य हो जाते हैं। और ऐसा प्रतीत होता है कि एक दूसरे मनुष्य की जाँघें हैं। अर्थात् निष्क्रिय हो जाती हैं। जाँघें भारी हो जाती हैं तथा अत्यन्त उग्र वेदना से युक्त होती हैं और रोगी मूढता, अङ्गमर्द, स्तैमित्य, तन्द्रा, वमन, अरुचि, ज्वर, पाँव की ग्लानि, पैरों का कठिनाई से उठना तथा पैरों की जड़ता इन लक्षणों से युक्त हो जाता है। इस रोग को ([1]'ऊरुस्तम्भ') कहते हैं और कुछ वैद्य इसे 'आढ्यवात' कहते हैं। सुश्रुत ने तो इसे महावातव्याधियों में पढ़ा है ॥ १–५ ॥

ऊरुस्तम्भपूर्वरूपमाह—

प्राग्रूपं तस्य निद्रातिध्यानं स्तिमितता ज्वरः। रोमहर्षोऽरुचिश्छर्दिर्जङ्घोर्वोः सदनं तथा ॥६॥

निद्रा, अत्यन्त ध्यान, क्रियाराहित्य, ज्वर, रोमहर्ष, अरुचि, वमन और जङ्घा तथा ऊरुओं में पीडा ये ऊरुस्तम्भ के पूर्वरूप हैं ॥ ६ ॥

---

१. पाश्चात्य वैद्यक में ऊरुस्तम्भ को पाराप्लीजिया (Paraplegia) कहते हैं। इसके भी वे ही कारण हैं जिनका कि पक्षाघात के स्तम्भ में पृष्ठ २५७ में वर्णन किया गया है। यथा:—फिरङ्ग, हृद्रोग, वृक्करोग, वातरक्त, सीसविष, धमनीदार्ढ्य, अथेरोमा (Atheroma) मस्तिष्क के अर्बुद, सिर पर आघात, मद्य, आहार तथा व्यायाम का अतिसेवन इत्यादि ये सब उपर्युक्त फिरङ्गादि के कारण शरीर की धमनियों को भङ्गुर तथा विकृत कर देते हैं। जिससे वे जल्दी फट सकती हैं या उनमें रक्त जल्दी जम सकता है। जब मस्तिष्क के उस विभाग की जिसका कि सम्बन्ध पैरों से है रक्तवाहिनी फट जाती है जिससे कि रक्तस्राव (Haemorrhage) होता है या रक्तवाहिनी में रक्त जम जाता (Thrombosis) है या अन्तःशल्य (Imbolis) के कारण रक्त का बहाव बन्द हो जाता है तब मस्तिष्क का वह भाग अपना कार्य नहीं कर सकता। इसका परिणाम यह होता है कि दोनों पैरों का मस्तिष्क से सम्बन्ध टूट जाने के कारण उनका घात (Paralysis) हो जाता है। अतः अब पैरों में इच्छानुसार गति नहीं होती तथा पैरों की शीतोष्ण इत्यादि सम्बन्धिनी संवेदनायें मस्तिष्क तक नहीं पहुंचतीं जैसा कि अपने यहाँ भी वर्णन है कि:—

'तदा स्तम्भनाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ। परकीयाविव गुरू स्यातामित्यादि'।

तब इस अवस्था को ऊरुस्तम्भ (Paraplegia) कहते हैं।

ऊरुस्तम्भरूपमाह—

वातशङ्किभिरज्ञानात्तत्र स्यात्स्नेहनात्पुनः। पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥ ७ ॥
जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वद्दाहवेदना। पादश्च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥ ८ ॥
संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः। अन्यनेयौ हि सम्भग्नावूरुपादौ च मन्यते ॥

*अज्ञानात्=अनिश्चयात्। स्तम्भसुप्तिकर्मरहितपाददर्शनेन, वातशङ्किभिः=वातव्याधिशङ्किभिः तत्र=ऊरुस्तम्भे। स्नेहात्=स्नेहदानात्। स्नेहादिना स्नेहन्या चिकित्सया पादसदनादय ऊरुभग्नोपमत्वात् ते विकाराः स्युः। जङ्घोर्वोर्गमनादावशक्तिः। अदाहवेदना=ईषद्दाहेन सह वेदना। अन्यनेयौ=अन्यचाल्यौ भवतः ॥ ७-९ ॥

पाँव का स्तम्भ, पाँव की जड़ता तथा क्रियाहीनता इत्यादि लक्षणों को देखकर वातव्याधि से आशङ्कित होकर मनुष्य अज्ञान से वातव्याधियों के समान तैल इत्यादि स्नेहन चिकित्साओं के करने से पैरों में पीडा, जडता, पैरों को उठाते समय अत्यन्त वेदना, जङ्घा तथा ऊरु में अत्यन्त ग्लानि, निरन्तर कुछ दाहयुक्त वेदना होती है। पैरों को उठा कर रखते समय विशेष पीडा होती है तथा शीतल पदार्थों का स्पर्शज्ञान नहीं होता। बैठने, दबाने, चलने तथा मिलाने में असमर्थ होता है। रोगी ऐसा समझता है कि उसके ऊरु तथा पैर टूट से गये हैं, उसके पैर दूसरों के चलाने से चलते हैं ॥ ७-९ ॥

ऊरुस्तम्भारिष्टमाह—

यदा दाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत्। ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्साधयेदन्यथा नवम् ॥

*अन्यथा=दाहाद्युपद्रवरहितं तमपि, नवम्=उत्पन्नमात्रं, साधयेत् ॥ १० ॥

यदि ऊरुस्तम्भ का रोगी दाह, व्यथा, सुई चुभाने के समान पीडा तथा कम्प से युक्त हो तो उसे ऊरुस्तम्भ मार डालता है। यदि दाह इत्यादिक उपद्रवों से रहित हो तथा तत्काल का उत्पन्न हुआ हो तो साध्य है ॥ १० ॥

ऊरुस्तम्भचिकित्सामाह—

स्नेहासृक्स्रावमनं वस्तिकर्म विरेचनम्। वर्जयेदाढ्यवाते तु यतस्तैस्तस्य कोपनम् ॥११॥
तस्मादत्र सदा कार्यं स्वेदलङ्घनरूक्षणम्। आममेदःकफाधिक्यान्मारुतं परिरक्षता ॥ १२ ॥
यद्यत्स्यात्कफप्रशमनं न तु मारुतकोपनम्। तत्सर्वं सर्वदा कार्यमूरुस्तम्भस्य भेषजम् ॥ १३ ॥
सर्वो रूक्षः क्रमः कार्यस्तत्रादौ कफनाशनः। पश्चाद्वातविनाशाय विधातव्याखिला क्रिया॥
भोज्याः पुराणाः श्यामाककोद्रवोद्दालशालयः। जाङ्गलैरघृतैर्मांसैः शाकैश्चालवणैर्हितैः ॥१५॥
शाकैरलवणैर्द्ध्याजलतैलाज्यसाधितैः। सुनिषण्णकनिम्बार्कवृन्ताकवधपल्लवैः ॥ १६ ॥
वायसीवास्तुकाद्यैश्च साधितैः शाकमूलकैः। शाकैरलवणैर्युक्तं जीर्णं शाल्योदनं भिषक् ॥१७॥
रूक्षणाद्वातकोपश्चेन्निद्रानाशार्त्तिपूर्वकः। स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र कार्यो वातामयापहः ॥ १८ ॥
प्रतरयेत्प्रतिस्रोतो नदीं शीतजलां शिवाम्। सरश्च विमलं शीतं स्थिरतोयं पुनःपुनः ॥१९॥
यथा विशुष्केस्य कफे शान्तिमूरुग्रहो व्रजेत्। शरीरबलमग्निश्च कार्यैषा रक्षता क्रिया ॥२०॥

स्नेहन, रक्तमोक्षण, वमन, वस्तिकर्म तथा विरेचन को आमवात रोग में नहीं कराना चाहिये। क्योंकि इन क्रियाओं से ऊरुस्तम्भ प्रकुपित होता है इसलिये इस रोग में सर्वदा स्वेदन, लङ्घन तथा रूक्षण क्रियाओं को करना चाहिये। इस रोग में वायु की रक्षा करते हुये आम, मेद तथा कफ की अधिकता से जो जो ओषधियाँ कफशामक हों और वायुप्रकोपक न हों उन २ सब ही ओषधियों का सर्वदा सेवन करना चाहिये। यही ऊरुस्तम्भ रोग की ओषधि है। इस रोग में सम्पूर्ण रूक्ष क्रिया करनी चाहिये। उसमें भी यह क्रम है कि आदि में कफनाशक चिकित्सा करनी चाहिये तत्पश्चात् वातनाशक सम्पूर्ण क्रियाओं का विधान करना चाहिये। घृतरहित जाङ्गल मांस के साथ अथवा लवण रहित शाक के साथ पुराने साँवा, कोदो, वनकोदो तथा पुराने चावलों को खाना चाहिये। शिरियारी,

नीम के पत्ते, मदार के पत्ते, अमलतास के पत्ते, मकोय, वथुवा तथा मूली आदि के जल, तेल अथवा घी से साधित नमक रहित शाक खाना चाहिये। भोजन के जीर्ण हो जाने पर वैद्य को चाहिये कि रोगी को लवणरहित शाकों के साथ शालि चावलों के भात को खिलावे। यदि रूक्षण क्रिया से निद्रा-नाश तथा वेदनापूर्वक वायु का प्रकोप हो गया हो तो वातनाशक स्नेहन तथा स्वेदन क्रिया को करना चाहिये। रोगी को शीतल जल वाली सुन्दर नदी में धार के साथ साथ तैरावे अथवा निर्मल शीतल और स्थिर जल वाले तालाव में बारम्बार तैरावे। तथा शरीर के वल की और अग्नि की रक्षा करते हुये जिस प्रकार कफ के सूखने पर उरुस्तम्भ शान्त हो ऐसी क्रिया करनी चाहिये ॥ ११-२० ॥

सक्षारमूत्रस्वेदांश्च रूक्षाण्युत्सादनानि च। कुर्याद्दाहे च मूत्राद्यैः करञ्जफलसर्षपैः ॥ २१ ॥
मूलैर्वाप्यश्वगन्धाया मूलैरर्कस्य वा भिषक्। पिचुमर्दस्य वा मूलैरथ वा देवदारुणः ॥२२॥
क्षौद्रसर्षपवल्मीकमृत्तिकासंयुतैर्भिषक्। गाढमुत्सादनं कुर्यादूरुस्तम्भे सवेदने ॥ २३ ॥

क्षार तथा मूत्रयुक्त पदार्थों से स्वेदन तथा रूक्ष पदार्थों से उत्सादन क्रिया करनी चाहिये। यदि दाह हो तो मूत्रादि से अथवा करञ्ज के फलों से युक्त सरसों से अथवा असगन्ध की जड़ के चूर्ण से अथवा मदार की जड़ के चूर्ण से अथवा नीम की जड़ के चूर्ण से या देवदारु के चूर्ण से ऊरु को उत्सादन करे।

वेदनायुक्त ऊरुस्तम्भ में शहद, सरसों तथा वल्मीक मृत्तिका के साथ उपर्युक्त पदार्थों को खूब जोर से मर्दन करे ॥ २१-२३ ॥

दन्तीद्रवन्तीसुरसासर्षपैश्चापि बुद्धिमान्। तर्कारीसुरसाशिग्रुवचावत्सकनिम्बकैः।
पत्रमूलफलैस्तोयं शृतमुष्णञ्च सेवनम् ॥ २४ ॥

ऊरुस्तम्भजन्य पीडा मे बुद्धिमान वैद्य दन्ती, छोटी दन्ती, काली तुलसी तथा सरसों से खूब मर्दन करे। अरणी, काली तुलसी, सहिजन, वच, कुड़े तथा नीम के पत्तों, जड़ तथा फलों के उष्ण क्वाथ का सेवन करे ॥ २४ ॥

भल्लातकामृताशुण्ठीदारुपथ्यापुनर्नवाः। पञ्चमूलीद्वयोन्मिश्रा ऊरुस्तम्भनिवर्हणाः ॥ २५ ॥

भिलावा, गुडूची, सोंठ, दारुहल्दी, हरड़, पुनर्नवा तथा दशमूल इनका सेवन करने से ऊरु-स्तम्भ नष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं भल्लातकफलानि च। कल्कं मधुयुतं पीत्वा ऊरुस्तम्भाद्विमुच्यते ॥

पिप्पली, पिपरामूल तथा भिलावों का कल्क मधु मिला कर सेवन करने से ऊरुस्तम्भ रोग से छुटकारा मिल जाता है ॥ २६ ॥

रास्नादिक्वाथमाह—

रास्नाश्यामाकपथ्यामरिचमिसिशिवावेल्लशट्यश्वगन्धा-
यासच्छिन्नाजमोदासुमुखमतिविषावृद्धदारौ बृहत्यौ।
शुण्ठी तिक्ता यवानि सहचरचविकैरण्डदार्व्यजकर्णा-
ऊरुस्तम्भामवातं कफपवनरुजं दण्डकांश्चाशु हन्यात् ॥ २७ ॥

रास्ना, सावां, हरड़, काली मिर्च, सोया, हल्दी, वायविडङ्ग, कचूर, असगन्ध, जवासा, गुडूची, अजमोदा, वनतुलसी, अतीस, विधारा, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, सोंठ, कुटकी, अजवाइन कटसरैया, चव्य, एरण्डमूल, दारुहल्दी तथा राल इन ओषधियों से सिद्ध रास्नादि क्वाथ का सेवन करने से ऊरु-स्तम्भ, आमवात, कफ तथा वातसम्बन्धी रोग और दण्डकाक्षेप तत्काल नष्ट होजाता है ॥ २७ ॥

ग्रन्थिकारुष्करकृष्णानां क्वाथं क्षौद्रान्वितं पिबेत्। लिह्याद्वा त्रिफलाचूर्णं क्षौद्रेण कटुकायुतम् ॥

पिपरामूल, भिलावा तथा पिप्पली के मधुयुक्त क्वाथ को पीने से अथवा त्रिफला तथा कुटकी के चूर्ण को मधु मिला कर चाटने से ऊरुस्तम्भ नष्ट हो जाता है ॥ २८ ॥

सुखाम्बुना पिबेद्वापि चूर्णं षड्धरणं नरः। पिप्पलीवर्द्धमानं वा माक्षिकेण गुडेन वा ॥२९॥

वातरोगाधिकार रोग में वर्णित षड्धरण चूर्ण को उष्ण जल के साथ पीने से अथवा मधु तथा

गुड़ के साथ वर्द्धमान पिप्पली का सेवन करने से ऊरुस्तम्भ रोग नष्ट हो जाता है ॥ २९ ॥

ऊरुस्तम्भे प्रशंसन्ति गण्डीरारिष्टमेव च ॥ ३० ॥

ऊरुस्तम्भ रोग में कड़वे सूरण के अरिष्ट का सेवन करना प्रशस्त माना गया है ॥ ३० ॥

शिलाजतुं गुग्गुलुं वा पिप्पलीमथ नागरम् । ऊरुस्तम्भे पिबेन्मूत्रैर्दशमूलीरसेन वा ॥ ३१ ॥

शिलाजित, गुग्गुलु, पिप्पली तथा सोंठ को गोमूत्र अथवा दशमूल के रस के साथ पीने से ऊरुस्तम्भ नष्ट हो जाता है ॥ ३१ ॥

त्रिफला पिप्पली मुस्तं चव्यं कटुकरोहिणी । लिह्याद्वा मधुना चूर्णमूरुस्तम्भार्दितो नरः ॥

त्रिफला, पिप्पली, नागरमोथा, चव्य तथा कुटकी इनसब ओषधियों का चूर्ण बना कर मधु मिला कर चाटने से ऊरुस्तम्भ की पीड़ा शान्त होती है ॥ ३२ ॥

घृतं सौरेश्वरं दद्यादूरुस्तम्भे कफोत्तरे । दद्याच्छुण्ठीघृतं वापि वैश्वानरमथापि वा ।

सैन्धवाद्यं हितं तैलममृताख्योपि गुग्गुलुः ॥ ३३ ॥

यदि ऊरुस्तम्भ में कफ की अधिकता हो तो 'सौरेश्वरघृत' अथवा 'शुण्ठीघृत' या 'वैश्वानरचूर्ण' अथवा 'सैन्धवाद्यतैल' या 'अमृतागुग्गुलु' का सेवन कराना हितकर है ॥ ३३ ॥

कुष्ठाद्यतैलमाह—

कुष्ठश्रीवेष्टकोदीच्यसरलं दारु केशरम् । अजगन्धाश्वगन्धे च तैलं तैः सार्षपं पचेत् ॥ ३४ ॥

सक्षौद्रं मात्रया तस्मादूरुस्तम्भार्दितः पिबेत् ॥ ३५ ॥

कूट, लोहबान, सुगन्धबाला, धूप, दारुहल्दी, नागकेशर, वनतुलसी तथा असगन्ध के कल्क द्वारा पकाया गया सरसों का तेल मधु मिला कर मात्रानुसार पीने से ऊरुस्तम्भ रोग नष्ट हो जाता है ॥

अष्टकट्वरतैलमाह—

पलाभ्यां पिप्पलीमूलान्नागरादष्टकट्वरम् । तैलप्रस्थं समं दध्ना गृध्रस्यूरुग्रहापहम् ॥ ३६ ॥

सस्नेहदधिसम्भूतं तक्रं कट्वरमुच्यते । अष्टकट्वरतैले च तैलं सार्षपमिष्यते ।

पिप्पलीमूलशुण्ठ्योश्च प्रत्येकं द्विपलं कृतम् ॥ ३७ ॥

पिपरामूल ८ तो०, सोंठ ८ तो०, मलाई युक्त दही से बनाई गई खट्टी छाँछ ६४ तो०, दही ६४ तो० तथा सरसों का तेल ६४ तो० इन सबको एकत्र मिला देने से 'अष्टकट्वरतैल' तैयार हो जाता है। इस तैल के उपयोग से गृध्रसी तथा ऊरुस्तम्भ रोग नष्ट हो जाता है ॥ ३६-३७ ॥

द्विपञ्चमूलाद्यतैलमाह—

द्विपञ्चमूली त्रिफला चित्रकं देवदारु च । एकाष्ठीला त्वपामार्गं श्रेयसी वायसी शुभा ॥३८॥

बला भार्गी पृश्निपर्णी सुवहा मदयन्तिका । विशालोशीरकाश्मर्यस्तिस्रो देयास्तथाग्निकः ॥

चिरबिल्वो ह्यशोकश्च कलश्यंशुमती तथा पयस्या पीलुपर्ण्यश्च गुडूची च शतावरी ॥ ४० ॥

एषां पञ्च पलान्भागाञ्जलद्रोणेषु सप्तसु । अष्टभागावशेषेण पचेत्तैलाढकं भिषक् ॥ ४१ ॥

कुष्ठञ्च शतपुष्पा च व्यूषणं चित्रकं वरा । देवदार्वगुरु श्रेष्ठं विडङ्गं मुस्तमेव च ॥ ४२ ॥

अश्वगन्धा स्थिरा पाठा मूली श्यामाकमेव च । पिप्पल्यः शृङ्गवेरञ्च दन्ती हिङ्ग्वम्लवेतसम् ॥

अनेन गर्भेण भिषक्कषायेण च साधयेत् । सिद्धशीतञ्च पूतञ्च क्षौद्रेण सह संसृजेत् ॥ ४४ ॥

तदस्य नस्यपानार्थं तदेवाभ्यञ्जने भवेत् ॥ ४५ ॥

ऊरुस्तम्भश्शिरोद्भूतस्तैलेनानेन शाम्यति । आमवातं शीतवातं क्षुद्रवातञ्च नाशयेत् ॥४६॥

दशमूल, त्रिफला, चित्त, देवदारु, बड़ी मौलसिरी, अपामार्ग, गजपिप्पली, कौवाठोंठी, मकोय, खिरेटी, भारङ्गी, पृश्निपर्णी, निर्गुण्डी, नोतिया, इन्द्रायण की जड़, खस, खम्भार, लाल चित्त, करञ्ज, अशोकपत्र, शालपर्णी, क्षीरकाकोली, मूर्वा, गुडूची तथा शतावरी इन सबको ५-५ पल लेकर सात द्रोण जल में पकावे। अष्टमांशावशेष जल रह जाने पर छान कर उस क्वाथ में एक आढ़क तैल को डाल कर पकावे। और कूट, सौंफ, सोंठ, मिर्च, पीपल, चित्त, त्रिफला, देवदारु, उत्तम अगर, वायविडङ्ग, नागरमोथा, असगन्ध, पृश्निपर्णी, पाठा, मूली, सावां, पिप्पली, अदरक, दन्ती, हींग तथा

अम्लवेत इनके कल्क अथवा क्वाथ से पकावे। जब पककर शीतल हो जाय तो छान कर उसमें शहद मिलाकर उपयोग करे। इस तैल का नस्य, पान तथा अभ्यङ्ग में योग करने से बहुत दिन तकका ऊरुस्तम्भ शान्त होजाता है। तथा यह तैल आमवात शीतवात तथा क्षुद्रवात को भी नष्ट करता है॥

महासैन्धवाद्यतैलमाह—

सिन्धुरुग्विश्वजासोग्राभार्गीयष्टीस्थिराफलैः। दारुविश्वशटीधान्यकृष्णाकट्फलपौष्करः॥४७॥
दीप्यकातिविषैरण्डनीलीनीलाम्बुजैः पचेत्। तैलं सकाञ्जिकं हन्ति पानाभ्यञ्जननावनैः॥४८॥
आमवातं कृमीन्गुल्मान्प्लीहोदरशिरोरुजः। मन्दाग्निं पक्षसन्ध्यण्डवातस्तम्भगदानपि॥४९॥

सैन्धानमक, कूट, सोंठ, वच, भारङ्गी, मुलहठी, पृश्निपर्णी, जायफल, दारुहल्दी, सोंठ, कचूर, धनियां, पिप्पली, कायफल, पोहकरमूल, अजवाइन, अतीस, एरण्डमूल, नील तथा नीला कमल इनके द्वारा पकाया तैल का परिपाक करले। इस तैल को काञ्जी में मिला कर पान, अभ्यङ्ग तथा नस्य में उपयोग करने से आमवात, कृमि, गुल्म, प्लीहा, उदररोग शिरःशूल, मन्दाग्नि, पक्षाघात, सन्धिवात, अण्टकोष का शूल और वातस्तम्भ ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ४७-४९॥

द्वे पले सैन्धवात्पञ्च शुण्ठ्या ग्रन्थिकचित्रकात्। द्वे द्वे भल्लातकास्थीनि विंशतिर्द्वे तथाऽऽढके
आरनालात् पञ्च प्रस्थं तैलस्यैरण्डजस्य च। गृध्रस्यूरुग्रहास्यार्त्तिसर्ववातविकारनुत्॥५१॥

इति पञ्चविंश ऊरुस्तम्भाधिकारः समाप्तः॥२५॥



'सैन्धानमक ८ तो०, सोंठ २० तो०, पिपरामूल ८ तो०, चित्त ८ तो०, भिलावे की गुठली २० पल, आरनालकाञ्जी २ आढ़क इनके द्वारा ५ प्रस्थ एरण्डतैल का परिपाक करने से 'सैन्धवाद्यतैल' सिद्ध होजाता है। यह तैल गृध्रसी, ऊरुस्तम्भ, मुख की पीड़ा तथा सम्पूर्ण वातविकार को नष्टकर देता है॥ ५०-५१॥

इति भावप्रकाशे भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां-
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे पञ्चविंश ऊरुस्तम्भाधिकारः समाप्तः॥ २५॥



अथ षड्विंश आमवाताधिकारः॥२६॥

तत्रामवातस्य निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च। स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा॥१॥
वायुना प्रेरितो ह्यामः श्लेष्मस्थानं प्रधावति। तेनात्यर्थमपक्कोऽसौ धमनीभिः प्रपद्यते॥२॥
वातपित्तकफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः। स्रोतांस्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिलः॥
जनयत्यग्निदौर्बल्यं हृदयस्य च गौरवम्। व्याधीनामाश्रयो ह्येष आमसञ्ज्ञोऽतिदारुणः॥४॥

विरुद्धाहारचेष्टस्य = विरुद्धाहारः = क्षीरमत्स्यादिः, विरुद्धचेष्टा = भुक्त्वा व्यायामादिः, ताभ्यां युक्तस्य। निश्चलस्य = निर्व्यायामपरस्य। 'स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वत' इति मिलितो हेतुः। श्लेष्मस्थानम् = आमाशयसन्ध्यादि। तेन = श्लेष्मस्थानगमनेन। अत्यन्तमपक्वः। पित्तस्थानगमनेन पक्वो भविष्यतीत्यभिप्रायः। असौ = आमः। धमनीभिः प्रपद्यते = धमनीमार्गैश्चलति। भूयो दूषितः = अतिशयेन दूषितः। सोऽन्नजो-रसः = आमः। स्रोतांस्यभिष्यन्दयति = संसृत्य रसवहशिरावरोधं कृत्वा स्रोतांसि गुरूणि कुर्यात्। नानावर्णः = वातादिजनितवर्णभेदान्नानावर्णः॥ १-४॥

विरुद्धाहार (दूध मछली आदि का भक्षण) तथा विरुद्ध चेष्टा (भोजन करने के बाद व्यायाम इत्यादि) करने वाले, मन्दाग्नि वाले, व्यायाम न करने वाले तथा स्निग्ध अन्नका भोजन करके

व्यायाम करनेवालेका वायु द्वारा प्रेरित आमरस श्लेष्मस्थान (आमाशय सन्ध्यादि) में दौड़ कर चला जाता है। यदि यह आम पित्त के स्थान (पक्काशय) में जाता तो पक जाता, किन्तु उपर्युक्त आमाशय इत्यादि कफ के स्थानों में जाने के कारण अत्यन्त अपक्व आमरस धमनियों के मार्ग से चलता है। तत्पश्चात् यह आमरस-वात, पित्त तथा कफ से अत्यन्त दूषित होकर स्रोतसों अर्थात् रसवह शिराओं में अवरोध उत्पन्न करके स्रोतसों को भारी कर देता है। वातादि दोषों से उत्पन्न अनेक वर्ण वाला, अत्यन्त पिच्छिल यह आम अग्नि को दुर्बल कर देता है और हृदय में गुरुता उत्पन्न कर देता है। यह अति दारुण आम व्याधियों का आश्रय स्वरूप है ॥ १-४ ॥

आमस्वरूपमाह—

अजीर्णाद्योरसो जातः सञ्चितो हि क्रमेण वै। आमसञ्ज्ञां स लभते शिरोगात्ररुजाकरः ॥५॥

***अजीर्णाद् = भुक्तादजीर्णात् ॥ ५ ॥**

भोजन के न पकने से जो अन्न का अपक्व रस उत्पन्न होता है वह क्रमतः सञ्चित हो जाता है तो यह आम कहलाता है। यह आम शिर तथा शरीर में वेदना उत्पन्न करता है ॥ ५ ॥

आमवातस्य सामान्यलक्षणमाह—

युगपत्कुपितावेतौ त्रिकसन्धिप्रवेशकौ। स्तब्धञ्च कुरुतो गात्रमामवातः स उच्यते ॥ ६ ॥

***एतौ = वातकफौ, त्रिकसन्धिप्रवेशकौ, वेदनयेति बोद्धव्यम् ॥ ६ ॥**

जब एक ही समय प्रकुपित वात तथा कफ ये दोनों त्रिकसन्धि में पीड़ा करते हुए प्रवेश करके शरीर को स्तब्ध कर देते हैं, तब यह 'आमवात[1]' कहा जाता है ॥ ६ ॥

---

१. पाश्चात्य वैद्यक में आमवात को रयूमेटिज्म (Rheumatism) कहते हैं। इस रोग के वास्तविक कारण के सम्बन्ध में अभीतक कोई निर्णय नहीं हुआ है। वर्तमान कालमें इसके कारण के सम्बन्ध में निम्न तीन मत प्रचलित हैं—

१—स्ट्रेप्टोकोकाय—कुछ शास्त्रज्ञों का यह मत है कि आमवात स्ट्रेप्टोकोकस विरिण्डस नामक जीवाणु से होता है।

२—निष्यन्दनशील जीवाणु—अन्य शास्त्रज्ञों का यह मत है कि यह रोग निष्यन्दनशील जीवाणु के कारण होता है।

३—अलर्गी (Allergy)-कुछ शास्त्रज्ञों की राय यह है कि अलर्गी नामक विशेष अवस्था का यह एक स्वरूप है।

सहायक कारण—

१—आयु—यह रोग बड़े बच्चों तथा जवानों का है, जो ३० साल के बाद प्रायः नहीं होता। यदि किसी व्यक्ति को जवानी में यह रोग हुआ हो तो उसके दौरे ४० साल के बाद भी आ सकते हैं, परन्तु उसका प्रथम आक्रमण ४० साल के बाद नहीं होता। एक साल तक बच्चों में आमवात नहीं होता।

२—लिङ्ग—पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है।

३—जलवायु—शीत तथा समशीतोष्ण स्थानोंका यह रोग है। उष्ण प्रदेशों में बहुत कम होता है।

४—परिस्थिति-पानी में भीगना, भींगे हुये कपड़े पहिनना, गीली भूमि पर सोना पसीने पर न। तथा दारिद्र्य ये सब सहायक कारण होते हैं।

शारीरिकदोष-यकृतका कार्य ठीक न चलना, नासा, गला तथा टान्सिल (Tonsil) की दुष्टि।

६—कुलजप्रवृत्ति-कुछ खान्दानों में आमवात होने की प्रवृत्ति होती है।

सम्प्राप्ति—ऊपर जो तीन मत बतलाये हैं उनके आधार पर आमवात की सम्प्राप्ति निम्नप्रकार से होती है—स्ट्रेप्टोकोकाय आमवातकी सम्प्राप्ति में विशेष महत्त्व के हैं। द्वितीय मत वालों का कथन है कि—स्ट्रेप्टोकोकाय के कारण शरीर की प्रतीकारशक्ति घट जाती है जिससे आमवात के

तन्त्रान्तरोक्तामवातलक्षणमाह—

अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा चालस्यं गौरवं ज्वरः। अपाकः शूनताऽङ्गानामामवातस्य लक्षणम् ॥ *विशेषार्थमस्य सङ्ग्रहः ॥ ७ ॥

जीवाणु का शरीर में प्रवेश होकर रोग उत्पन्न होता है, या यदि पहले से शरीर में प्रविष्ट हुआ हो तो जागृत होकर रोग उत्पन्न करता है। तीसरे मत वालों का कथन है कि—स्ट्रेप्टोकोकाय जो प्रायः टान्सिल (Tonsil) में निवास करते हैं, अपने थोड़े २ विष के द्वारा शरीर में एक प्रकार की अत्युत्तेज्य स्थिति (Hyper Sensitiveness) उत्पन्न करते हैं, और यह स्थिति अन्य अज्ञात कारणों की सहायता से एक लक्षण-समूह (Syndrome) उत्पन्न करती है, जिसे हम 'आमवात' कहते हैं। रोग का कारण कोई हो, आमवात संसर्ग से फैलने वाला रोग नहीं है। परन्तु जिसमें एक बार होता है उसमें जरासा सहायक कारण मिलने पर बार २ होने की प्रवृत्ति होती है।

विकृत शरीर—आमवात में त्वचा, सन्धियों की श्लेष्मलकला तथा हृत्पेशी इत्यादि स्थानों में गोल या तर्काकार छोटी २ गांठें (Aschoffs nodes) उत्पन्न होती हैं। इनमें प्रथम बहुकेन्द्रीय और एककेन्द्रीय कणों का भरण होकर पश्चात् तान्तव धातु उत्पन्न होती है। आमवात में मुख्य शारीरिक विकृति सन्धि और हृदय में होती है। लसेग्यु नामक शास्त्रज्ञ ने लिखा है कि-आमवात-सन्धि, फुप्फुस तथा मस्तिष्क इनके आवरणों को चाटता है परन्तु हृदय को काटता है, यथा-Rheumatism is a Disease which Licks the joints, the Pleura and the meninges, but it bites the heart, विकृत सन्धियों में रक्ताधिक्य, श्लेष्मल कलाओं तथा स्नायुबन्धों में शोथ और कला के ऊपर जमी हुई लसिका की पतली तह होती है। सन्धियों का तरल कुछ धुंधला होकर उस से थोड़े से श्वेत कण और फैब्रिन के तन्तु मिलते हैं परन्तु पूय नहीं बनता। आमवात से हृदय की पेशी उसके बाह्यावरण और अन्तरावरण सभी में विकृति हो सकती है। अधिक विकृति अन्तरावरण में होती है। इस विकृति का विशेष परिणाम कपाटों के किनारों पर होता है जहां प्रथम अङ्कुर (Vegetations) उत्पन्न होकर पश्चात् तान्तव धातु बनती है। परिणाम यह होता है कि कपाट कठिन और संकुचित हो जाते हैं जिससे उनके किनारे आपस में अच्छी तरह नहीं मिलते और संकोच या विस्तार (Stenosis or Incompetence) उत्पन्न होता है।

लक्षण—रोग आक्रमण के कुछ दिन पूर्व गले की या टान्सिल (Tonsil) की खराबी प्रायः होती है, जिसमें गले की सुर्खी और टान्सिल (Tonsil) की आकारवृद्धि, क्वचित् उनमें दरार और पूय पड़ना इत्यादि लक्षण होते हैं। रोग का आक्रमण अकस्मात् होता है। आक्रमण के समय कुछ सर्दी होकर ज्वर चढ़ता है और उसके साथ-साथ शरीरकी सन्धियोंमें भी पीड़ा होती है। प्रारम्भ से २४ घण्टे के भीतर रोग का पूर्ण रूप प्रगट होता है, जिसमें १०४ तक ज्वर, मैली आर्द्र जिह्वा, तेज नाड़ी, अरुचि, प्यास, कब्ज, गहरे रंग का आम्लिक प्रतिक्रिया युक्त अल्प मूत्र, खट्टी बू का पसीना तथा जोड़ों में वेदना के मारे हलचल करने में विवशता इत्यादि लक्षण होते हैं।

ज्वर—ज्वर १०२-१०४ तक होता है। यह प्रायः अर्द्धविसर्गी या विसर्गी स्वरूप का होकर रोग के बढ़ने से या उपद्रव उत्पन्न होने से बढ़ता है। ज्वर होने पर भी काफी खट्टा पसीना आता है और शरीर पर राजिकायें (Sudamina) निकलती है। मूत्र अल्पराशि में निकलता है, उसकी प्रतिक्रिया अम्ल होती है, उसमें यूरेट का तलछट बनता है और क्वचित् अल्बूमिन मिलता है।

सन्धिशोथ—इसमें शरीर के प्रायः सभी सन्धि पीड़ित होते हैं। घुटने और टखने अधिक पीड़ित होते हैं। विकृत सन्धि कुछ फूला हुआ गुलाबी वर्णका, स्पर्शमें उष्ण, पीडनाक्षम और पीडायुक्त होता है। पीडनाक्षमता इतनी तीव्र होती है कि जरा सा धक्का लगने पर रोगी को असह्य पीडा होती है। इस कारण से रोगी बिना हलचल किये एक आसन में बिस्तरे पर पड़ा रहता है। हलचल न करने की

अङ्गों का टूटना, अरुचि, तृष्णा, आलस्य, गुरुता, ज्वर, अन्न का परिपाक न होना और अङ्गों की शून्यता ये आमवात के लक्षण हैं। आमवात के विशेष विज्ञान के लिये अन्य ग्रन्थोक्त इन लक्षणों का यहां संग्रह किया गया है ॥ ७ ॥

स्थिति में जोड़ों में पीडा कम होती है।

आमवातज सन्धिविकृति की निम्न विशेषतायें होती हैं—

१—प्रायः बड़े २ जोड़ विकृत होते हैं।

२—रोग में विकृत होने वाले सब जोड़ एक समय में विकृत नहीं होते।

३—प्रथम विकृत हुए जोड़ एक दो दिन में पीडा रहित होकर दूसरे पीडित होते हैं और इस तरह सन्धिविकृति का परिभ्रमण होता रहता है। कभी २ प्रारम्भ में पीडित हुए जोड़ फिर से पीडित होते हैं।

४—विकृत सन्धियों में प्रायः पूय नहीं पड़ता तथा बहुत अधिक तरल भी इकट्ठा नहीं होता।

५—रोग के पुनरावर्तन के कारण यदि सन्धि बार २ पीडित न हुई हो तो रोग ठीक होने पर उसमें विकृति का कोई चिह्न नहीं रहता।

हृदय और रक्त—आमवात के विष का हृदय पर अवश्य कुछ न कुछ परिणाम हो जाता है, जो रोगी की आयु, आराम और रोग की तीव्रता के अनुसार न्यूनाधिक हुआ करता है। हृदय पर परिणाम होने से उसके शब्दों में फरक पड़ता है, उसका कुछ विस्तार होता है और रक्त का भार कुछ कम होता है। नाड़ी की गति तीव्र (९०–१२० तक) होती है। रक्त में श्वेत कण वृद्धि (१५–३० हजार तक) होती है और लाल कणों का नाश होता है। अन्य रोग में आमवात के समान शीघ्रता से लाल कणों का नाश नहीं होता।

उपद्रव—

१—हृद्विकार—ये विशेष महत्त्व के होते हैं। बच्चों में और घूमने-फिरने वाले रोगियों में अधिक और प्रारम्भ से आराम करने वालों में कम होते हैं। प्रायः आधे रोगियों में हृदय की विकृति उत्पन्न होती है। इसकी उत्पत्ति ८–१० वें दिन में होती हैं। अधिकतर हृत्पेशी पर परिणाम होता है। अन्तःकला की विकृति कपाटों पर अधिक होती है। द्विपत्रक कपाट (Mitral)–बृहद्धमनी-कपाटों की अपेक्षा अधिक विकृत होती हैं। हृदय के आवरण की विकृति बहुत कम हुआ करती है। हृदय में उपद्रव बढ़ने से ज्वर बढ़ता है और सांस में कठिनाई होती है। इसके सिवा नाडी तेज होती है, रक्तभार कुछ कम होता है, हृदय के शब्दों में कुछ फर्क पड़ता है और हृदय प्रदेश में बेचैनी होती है। हृदय के विकार युवावस्था में आमवात होने पर उपद्रव कहे जा सकते हैं, परन्तु जब बाल्यावस्था में होता है तब उसका प्रधान स्वरूप होता है।

२—अतितीव्र सन्ताप—ज्वर यकायक बढ़ता है और यदि शीत के द्वारा उसकी चिकित्सा न की जाय तो १०९–११० तक बढ़ता है। ज्वर के कारण प्रलाप, बेहोशी, कम्प, नाडी की शीघ्रता और क्षीणता इत्यादि लक्षण होते हैं। शीत प्रयोग से ज्वर कम होने पर फिर से उसके बढ़ने का डर रहता है।

३—आमवातज गांठें (Nodules)—ये गांठें तान्तव धातु की, त्वचा के नीचे, चल शरीर के दोनों तरफ समस्थानों में, जोड़ों के पास, हड्डियों के उभारों पर तथा जहां उनके और त्वचा के बीच में चर्बी बहुत कम हो वहां उत्पन्न होती हैं। ये बच्चों में अधिक दिखाई देती हैं। इनमें पीडा और पीडनाक्षमता नहीं होती और थोड़े सप्ताहों में मिट जाती है। ये गांठें कोहनी, घुटना, गुदी की उत्तर और अधर तोरणाकार रेखायें अङ्गुलिपर्वसन्धि तथा कशेरुकाओं के पृष्ठकण्टक इत्यादि स्थानों पर अधिक दिखाई देती हैं।

अन्य उपद्रव—न्यूमोनिया, फुफ्फुसावरण शोथ, मस्तिष्कावरण शोथ, त्वचा के विस्फोट, वृक्क-शोथ और कोरिया (अङ्गनर्तन) इत्यादि उपद्रव भी क्वचित् होते हैं।

अतिवृद्धस्यामवातस्य लक्षणमाह—

स कष्टः सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत्। हस्तपादशिरोगुल्फत्रिकजानूरुसन्धिषु ॥ ८ ॥
करोति सरुजं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते। स देशो रुज्यतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः ॥ ९ ॥
जनयेत्सोऽग्निदौर्बल्यं प्रसेकारुचिगौरवम्। उत्साहहानिं वैरस्यं दाहञ्च बहुमूत्रताम् ॥१०॥

प्रकार—उपर्युक्त तीव्र प्रकार के सिवाय और दो निम्न प्रकार दिखाई देते हैं—

१—मध्यम (Subacute)—इसमें रोग के लक्षण सौम्य होते हैं। जोड़ों की विकृति की अपेक्षा इसमें हृदय की विकृति अधिक होती है। बच्चों में आमवात के पुराने रोगियों में यह प्रकार अधिक दिखाई देता है।

२—दुष्ट प्रकार (Malignant)—यह अत्यन्त तीव्र प्रकार है जिसमें रोग का सर्वभार हृदय पर पड़ता है। जोड़ों में विकृति बहुत कम होती है। त्वचा पर विस्फोट निकलते हैं। ज्वर सहसा अतितीव्र होता है और रोगी की मृत्यु होती है।

बालकों में आमवात—बालकों में आमवात का स्वरूप अत्यन्त भिन्न और सौम्य होता है जिससे उसकी ओर दुर्लक्ष होने का डर रहता है और उसी दुर्लक्ष से अधिक नुकसान भी होता है। अतः उनमें मिलने वाले भेद नीचे दिये जाते हैं—

१—बालकों में जोड़ों की विकृति होती ही नहीं या अत्यल्प होती है, जिसके कारण जवान मनुष्य के समान रोग पीड़ित होने पर भी उसको लाचार हो कर बिस्तरे पर आराम करने की आवश्यकता नहीं होती।

२—रोग हमेशा मध्यमस्वरूप का होता है।

३—त्वचा के विस्फोट, जैसे—लाली तथा रक्तस्राव इत्यादि अधिक दिखाई देते हैं।

४—त्वचा की गांठे बच्चों में ही प्रायः दिखाई देती हैं।

५—हृदय की विकृति बालकों में रोग का वास्तविक स्वरूप होता है। जवानों के आमवातज विकार के समान उसको उपद्रव नहीं कह सकते हैं। बालकों में जोड़ों की विकृति एक दृष्टि से उपद्रव होता है जो जवानों में रोग का वास्तविक स्वरूप है।

६—जोड़ों के बदले बच्चों में पेशी और कला इनमें कुछ पीडा होती है। पर्शुकान्तरीय, उदर और पिंडलियां इनके विशेष स्थान होते हैं। यह पीडा हल्की और भ्रमणशील होती है। इस प्रकार की पीडा आमवात के सिवाय भी बच्चों में हो सकती है, परन्तु इसके होने पर आमवात का ध्यान करना चाहिये।

आमवात के ये सारे लक्षण और उपद्रव जिनका कि ऊपर वर्णन किया गया है आयुर्वेद में वर्णित लक्षणों तथा उपद्रवों से मिलते जुलते हैं, यथाः—

अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा ह्यालस्यं गौरवं ज्वरः। अपाकः शूनताङ्गानामामवातस्य लक्षणम् ॥
स कष्टः सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत्। हस्तपादशिरोगुल्फत्रिकजानूरुसन्धिषु ॥
करोति सरुजं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते। स देशो रुज्यतेत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः ॥
जनयेत्सोग्निदौर्बल्यं प्रसेकारुचिगौरवम्। उत्साहहानिं वैरस्यं दाहं च बहुमूत्रताम् ॥
कुक्षौ कठिनतां शूलं तथा निद्राविपर्ययम्। तृट्छर्दिभ्रमभूर्च्छाश्च हृद्ग्रहं विड्विबन्धताम् ॥
जाड्यान्त्रकूजमानाहं कष्टांश्चान्यानुपद्रवान्। माधवनिदान।

निदान—

१—जवानों में—जिसमें आमवात का पूर्ववृत्त हो या जिसका पूर्व स्वास्थ्य उत्तम हो ऐसे व्यक्ति में सहसा रोग का आक्रमण, जोड़ों में पीडा, सूजन और लाली, पीडा के कारण बिस्तरे पर पड़े रहने की स्थिति, ज्वर तथा ज्वर के साथ अम्ल गन्धी स्वेदाधिक्य ये सब निदानकर लक्षण होते हैं।

२—बालकों में—गले की खराबी, त्वचा पर विस्फोट, स्थान पर गांठें, पिंडलियों में तथा अन्य

कुक्षौ कठिनतां शूलं तथा निद्राविपर्ययम् ।
तृट्छर्दिभ्रममूर्च्छाश्च हृद्ग्रहं विड्विबद्धताम् । जाड्यान्त्रकूजनानाहं कष्टांश्चान्यानुपद्रवान् ॥
*यदा प्रकुपितो भवेत् = प्रकर्षेण कुपितः स्यात् , तदा वक्ष्यमाणानुपद्रवान्करोति ।

स्थानों में पीडा, हृदय प्रदेश में बेचैनी तथा हृच्छब्दों में अन्तर ये सब निदानकर लक्षण होते हैं।

३—उपशयात्मक—पाश्चात्य वैद्यक में सोडियम स्यालिस्यालेट इस रोग की खास औषधि है। यदि इसके प्रयोग से रोगी को आराम हो तो आमवात और यदि दो दिन में आराम न हो तो आमवातेतर सन्धियों का रोग समझना चाहिये।

सापेक्ष निदान—इसके लिये वातरक्त, पूयमेहजन्य सन्धिशोथ, तीव्र अस्थिमज्जाशोथ और पूयमयता का ध्यान रखना चाहिये।

वातरक्त—रोगी का वय मध्यम् ४० वर्ष के लगभग, हाथ पैर के छोटे २ सन्धियों में विकृति, एक या दो से अधिक सन्धियों का पीडित न होना, भ्रमण की प्रवृत्ति का अभाव, विकृत सन्धि में लालिमा, तनाव, सूजन, पीडन गर्तिका (Pitting on Pressure), पीडनाक्षमता, आराम की स्थिति में भी पीडा होना, ज्वराल्पता तथा कर्णपाली में चूने की गांठें (Tophi) ये वातरक्त के निदानकर लक्षण होते हैं।

तीव्र अस्थि मज्जा शोथ—इसमें ऊर्वस्थि या अन्तर्जङ्घास्थि का नीचे का सिरा (सन्धि नहीं) विकृत होता है। इसमें पीडनाक्षमता अधिक होती है। ज्वरादि लक्षण भी अधिक तीव्र होते हैं और रक्त में जीवाणु उपस्थित रहते हैं जो वर्धन करने पर प्रत्यक्ष होते हैं।

पूयमयता—इसमें रोगी को शीत हमेशा मालूम होता है। एक या दो सन्धि पीडित होते हैं। उनमें भ्रमणशीलता नहीं होती। पूय प्रायः पड़ती है। रक्त में रोग के जीवाणु होते हैं जो वर्धन करने पर प्रत्यक्ष होते हैं। इसके सिवाय शरीर में कहीं २ दूषित स्थान मिलता है तथा विकृत सन्धि जल्दी ठीक नहीं होते।

पूयमेहजन्य सन्धिशोथ—इसमें पूयमेह का पूयवृत्त या मूत्रमार्ग से स्राव, सन्धि के साथ सन्धि के परिसरीय धातुओं की विकृति, ज्वरादिलक्षणों की सौम्यता, विकृत सन्धियों की संख्याल्पता तथा सन्धि में विकृति की चिरकालीन स्थिति इन लक्षणों से इस रोग का निदान हो जाता है।

आमवातेतर सन्धियों के तीव्र रोगों में विकृत सन्धियों की संख्याल्पता और अचलता (भ्रमणशीलता का अभाव) होती है। इसलिए 'जब तक केवल एक सन्धि विकृत रहती है तब तक आमवात का निदान मत करो' इस नियम का यदि पालन किया जाय तो आमवात के निदान में भूल करने की आपत्ति नहीं उत्पन्न होगी।

इन रोगों के सिवाय निदान के समय शैशवीय स्कर्वी (Infantile Scarvy), शैशवीय अङ्गघात तथा फिरङ्गजन्य सन्धिशोथ इनका भी ध्यान रखना चाहिये।

रोगक्रम तथा साध्यासाध्यता—आमवात स्वयं मर्यादित रोग है। चिकित्सा न करने पर छः सप्ताह में ठीक हो जाता है। आधुनिक समय में स्यालिसिलेटसे चिकित्सा करने पर उसकी अवधि बहुत कम अर्थात् तीन सप्ताह के भीतर हो गई है। ज्वरादि लक्षण एक सप्ताह में कम हो जाते हैं क्योंकि उपद्रव से रोग की अवधि बढ़ जाती है। इसके सिवाय शरीर में कोई दूषित स्थान (Ceptic Forci) हो या हृदय के भीतर विकृति हुई हो तो भी रोग की अवधि बढ़ती है। आमवात में पुनरावर्तन की बड़ी भारी प्रवृत्ति होती है। ये पुनरावर्तन योग्य काल तक योग्य चिकित्सा न करने से या अपथ्य सेवन से होते हैं। पुनरावर्तनों के मध्य में २ से १५ दिनों का काल होता है। ये पुनरावर्तन लक्षणों और उपद्रवों की दृष्टि से प्रथमाक्रमण के समान होते हैं।

आमवात स्वयं घातक नहीं है और पहिली बार कदापि भी घातक नहीं होता है। हृदय के

हस्तेत्यादि। यत्र दोषः=दुष्ट आमः। प्रपद्यते=गच्छति। जाड्यम्=अकर्मण्यत्वम्। अन्यानुपद्रवान्=कलायखञ्जत्वादीन्॥ ८-११॥

सम्पूर्ण रोगों में अत्यन्त कष्टकारक जब इस आमवात का प्रकोप होता है तब हाथ-पैर-सिर-गुल्फ-त्रिक-जानु-ऊरु तथा सन्धियों में वेदनायुक्त शोथ उत्पन्न हो जाता है। यह दूषित आम शरीर के जिस प्रदेश में जाता है उस प्रदेश में विच्छू छेदने के समान अत्यन्त वेदना होती है। आमवात जठराग्नि को निर्बल कर देता है। मुंह से थूक आता है, अरुचि तथा शरीर में गुरुता उत्पन्न हो जाती है। उत्साहहानि, मुखवैरस्य, दाह, बहुमूत्रता, कुक्षि में कठिनता, शूल, निद्रानाश, पिपासा, वमन भ्रम, मूर्च्छा, हृदयस्तम्भ, मलावरोध, जाड्य, आन्त्रकूजन, आनाह तथा अन्य कलायखञ्ज इत्यादि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं॥ ८-११॥

आमवातस्य विशिष्टलक्षणमाह—

पित्तात्सदाहरागञ्च सशूलं पवनात्मकम्। स्तिमितं गुरुकण्डूकं कफजुष्टं तमादिशेत्॥ १२॥

***गुरुकण्डूकम्=बहुकण्डूकम्॥ १२॥**

दाह तथा रक्तिमायुक्त हो तो पित्तजन्य आमवात, शूलयुक्त हो तो वातजन्य आमवात और तीव्र खुजली होती हो तथा जड़ता हो तो कफजन्य आमवात समझना चाहिये॥ १२॥

आमवातस्य साध्यत्वादिकमाह—

एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते। सर्वदेहचरैः शोथैः स कष्टः सान्निपातिकः॥

एक दोषजन्य आमवात साध्य, द्विदोषज आमवात याप्य तथा सान्निपातिक और सम्पूर्ण शरीर में शोथयुक्त आमवात असाध्य कहा जाता है॥ १३॥

आमवातस्य चिकित्सामाह—

लङ्घनं स्वेदनं तिक्तं दीपनानि कटूनि च। विरेचनं स्नेहनञ्च बस्तयश्चाममारुते॥ १४॥

आमवात में सर्वप्रथम लङ्घन, स्वेदन, तिक्तपदार्थ, अग्निप्रदीपक पदार्थ और कटु पदार्थों का सेवन कराना चाहिये। विरेचन, स्नेहन तथा वस्तिकर्म कराना प्रशस्त है॥ १४॥

रूक्षः स्वेदो विधातव्यो वालुकापुटकैस्तथा। उपनाहाश्च कर्त्तव्यास्तेऽपि स्नेहविवर्जिताः॥

बालू की पोटली से रूक्ष स्वेद का विधान करना चाहिये। स्नेहरहित उपनाह स्वेद कराना हितकर है॥ १५॥

आमवाताभिभूताय पीडिताय पिपासया। पञ्चकोलेन संसिद्धं पानीयं हितमुच्यते॥ १६॥

आमवात से दुःखी मनुष्य यदि पिपासासे पीडित हो तो उसे पिप्पली, पिपरामूल, चव्य, चित्त तथा सोंठ से पकाये हुये जल को देना हितकर है॥ १६॥

शुष्कमूलकयूषं वा यूषं वा पाञ्चमौलिकम्। रसकं काञ्जिकं वाऽपि शुण्ठीचूर्णविचूर्णितम्॥

आमवात से पीडित मनुष्य को सूखी मूली का यूष अथवा पञ्चमूल का यूष अथवा सोंठ का चूर्ण मिला कर काञ्जी को पिलाना चाहिये॥ १७॥

सौवीरं स्विन्नवार्ताकं तथा तिक्तफलानि च। वास्तूकशाकं सारिष्टशाकं पौनर्नवं हितम्॥

पटोलं गोक्षुरश्चैव वरुणं कारवेल्लकम्। यवान्नं कोरदूपान्नं पुराणं शालिषष्टिकम्॥ १९॥

लावकानां तथा मांसं हितं तक्रेण संस्कृतम्। हितश्च यूषः कौलत्थः कालायश्चणकस्य च॥

रुच्यं दद्याद्यथासात्म्यमामवातहितञ्च यत्। शतपुष्पा वचा विश्वश्वदंष्ट्रावरुणत्वचः॥२१॥

विकार, अतितीव्र ज्वर तथा फुप्फुसावरणशोथ ये उपद्रव घातक नहीं होते हैं, स्वयं घातक न होने पर भी आमवात एक ऐसा रोग है कि जिससे एक बार पीडित होने पर रोगी का भविष्य स्वास्थ्य की दृष्टि से उज्ज्वल नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर का चैतन्य-स्थान जो हृदय है वह इससे कुछ न कुछ अवश्य विकृत होता है और अपथ्य से तथा रोग की प्रवृत्तिसे बारम्बार पीडित होने के कारण हृदय उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकृत होता है और कचित् उसका परिवर्तन सव्रग हृदन्तःशोथ में होता है

सौवीर नामक काञ्जी में उबाले हुये वेंगन को अथवा तिक्त फलों को उबाल कर सेवन कराना चाहिये। बथुवे का शाक, नीम के पत्तों का शाक, पुनर्नवा का शाक, परवल, गोखरू का शाक, वरुना तथा करेले का शाक. जौ, कोदो, पुराने शालि और साठी के चावल, तक्र से संस्कृत लवा पक्षी का मांस, कुलथी का यूष, मटर, तथा चने ये सब पदार्थ आमवात में हितकर हैं। आमवातरोगी को प्रकृति के अनुसार रुचिकर तथा आमवात में हितकर आहार को देना चाहिये॥ १८-२१॥

पुनर्नवासदेवाह्वाशटीमुण्डितिकाः समाः। प्रसारणी च लकारि फलञ्च मदनस्य च॥ २२॥
शुक्तकाञ्जिकपिष्टं च कोष्णं च लेपने हितम्। अहिंस्रा केबुकान् मूलं शिग्रुर्वल्मीकमृत्तिका॥
मूत्रपिष्टैश्च कर्त्तव्यमुपनाहः प्रलेपनम्॥ २४॥

सौंफ, वच, सोंठ, गोखरू, वरुना की छाल, पुनर्नवा, देवदारु, कचूर, गोरखमुण्डी, प्रसारणी, अरनी तथा मैनफल इनको सिरके की काञ्जी में पीस कर किञ्चित् उष्ण प्रलेप करना आमवात में हितकर है। अहिंस्रा (हिंस), एरण्ड की जड़, सहिजन की छाल तथा बल्मीकमृत्तिका को लेकर गोमूत्र में पीसकर प्रलेप करने से आमवात शान्त होता है॥ २२-२४॥

चित्रकं कटुकापाठाकलिङ्गातिविषाऽमृताः।
देवदारुवचामुस्तनागरातिविषाऽभयाः। पिबेदुष्णाम्बुना नित्यमामवातस्य भेषजम्॥२५॥

चित्त, कुटकी, पाठा, इन्द्रजौ, अतीस, गुडूची, देवदारु, वच, नागरमोथा, सोंठ, अतीस और हरड़ इनको उष्ण जल में पीस कर प्रतिदिन पीने से आमवात दूर हो जाता है॥ २५॥

शटी शुण्ठ्यभया चोग्रा देवाह्वातिविषाऽमृताः। कषायमामवातस्य पाचनं रूक्षभोजनम्॥

कचूर, सोंठ, हरड़, वच, देवदारु, अतीस तथा गुडूची के क्वाथ को पीने और रूक्ष भोजन करने से आमवात नष्ट हो जाता है॥ २६॥

पुनर्नवा च बृहतीवर्द्धमानफणिज्जकैः। कल्पयेत्क्वाथमामे तु मूर्वाशिग्रुद्रुमैर्भिषक्॥ २७॥

पुनर्नवा, बड़ी कटेरी, एरण्डमूल, फणिज्जक (मरुवा) तथा सहिजन के पञ्चांग का क्वाथ बनवा कर वैद्य आमवात के रोगी को पिलावे॥ २७॥

सेचनं चामवातस्य रुबूकपयसाऽपि वा॥ २८॥
लिह्यात्पथ्यां सविश्वां वा मूत्रैर्वा गुग्गुलुं पिबेत्। विश्वाऽलम्बुषयोःकल्कमद्याद्वा.तिलविश्वयोः
विश्वापथ्याऽमृताक्वाथं कवोष्णं कौशिकान्वितम्। कटीजङ्घोरुपृष्ठानां रुजं पीतं निवर्त्तयेत्

आमवात रोग में एरण्ड क्वाथ द्वारा सिञ्चन करे। अथवा सोंठ के साथ हरड़ का सेवन करे। अथवा गोमूत्र के साथ गुग्गुलु को पीवे। अथवा सोंठ तथा गोरखमुण्डी के कल्क का सेवन करे। अथवा तिल तथा सोंठ का कल्क बनाकर खावे। अथवा सोंठ, हरड़ तथा गुडूची के क्वाथ को गुग्गुलु मिला कर कुछ गर्म गर्म पीवे तो कमर, जंघा, ऊरु तथा पीठ की पीड़ा शान्त हो जाती है॥

हिङ्ग्वाद्यचूर्णमाह—

हिङ्गु चव्यं विडं शुण्ठी कृष्णाऽजाजी सपुष्करम्। भागोत्तरमिदं चूर्णं पीतं वातामजिद्भवेत्॥

हींग, चव्य, विडनमक, सोंठ, पिप्पली, काला जीरा तथा पोहकरमूल ये पदार्थ एकसे दूसरे को दुगुने मात्रा में लेकर चूर्ण बनाकर सेवन करने से आमवात नष्ट हो जाता है॥ ३१॥

पिप्पल्यादिचूर्णमाह—

पिप्पली पिप्पलीमूलं सैन्धवं कृष्णजीरकम्। चव्यचित्रकतालीशपत्रकं नागकेशरम्॥३२॥
एषां द्विपलिकान्भागान्पञ्च सौवर्चलस्य च। मरिचाजाजिशुण्ठीनामेकैकस्य पलं पलम्॥
दाडिमात्कुडवञ्चैव द्वे पले चाम्लवेतसात्। सर्वमेकत्र सङ्चूर्ण्य योजयेत्कुशलो भिषक्॥३४॥
पिप्पल्याद्यमिति ख्यातं नष्टस्याग्नेश्च दीपनम्। अर्शांसि ग्रहणीं गुल्ममुदरं सभगन्दरम्॥
कृमिकण्ड्वरुचीर्हन्यात्सुरयोष्णोदकेन वा। नातः परतरं किञ्चिदामवातस्य भेषजम्॥३६॥

पिप्पली, पिपरामूल, सेन्धानमक, काला जीरा, चव्य, चित्त, तालीसपत्र तथा नागकेशर इन सब

को ८–८ तोले, काला नमक २० तोले, कालीमिर्च, जीरा और सोंठ ४-४ तो०, अनार के दाने १६ तो० तथा अम्लवेत ८ तो० लेकर इन सब ओषधियों को एकत्रित करके बुद्धिमान वैद्य कूट कर चूर्ण बनाले। तो यह 'पिप्पल्यादि चूर्ण' तैयार हो जाता है। इसको सुरा अथवा उष्णजल के साथ सेवन करने से नष्ट हुई अग्नि प्रदीप्त हो जाती है और अर्शरोग, ग्रहणी, गुल्म, उदररोग, भगन्दर, क्रिमि, कण्डू और अरुचि नष्ट हो जाती है। इससे उत्तम आमवात की कोई ओषधि नहीं है॥ ३२–३६॥

पथ्याद्यचूर्णमाह—

पथ्याविश्वयवानीभिस्तुल्याभिश्चूर्णितं पिबेत्। तक्रेणोष्णोदकेनापि काञ्जिकेनाथ वा पुनः॥ आमवातं निहन्त्याशु शोथं मन्दाग्नितामपि। पीनसं कासहृद्रोगं स्वरभेदमरोचकम्॥३८॥

हरड़, सोंठ तथा अजवाइन इन सबको समान भाग में लेकर चूर्ण करके मट्ठा, गर्मजल अथवा काञ्जी के साथ पीने से आमवात, शोथ, अग्निमान्द्य, पीनस, कास, हृद्रोग, स्वरभेद तथा अरुचि शीघ्र नष्ट हो जाते हैं॥ ३७–३८॥

रसोनादिकषायमाह—

रसोनविश्वनिर्गुण्डीक्वाथमामार्दितः पिबेत्॥ ३९॥

आम से पीड़ित मनुष्य, लहसुन, सोंठ तथा निर्गुण्डी के क्वाथ को पिये॥ ३९॥

रास्नापञ्चकक्वाथमाह—

रास्नां गुडूचीमेरण्डं देवदारु महौषधम्। पिबेत्सार्वाङ्गिके वाते सामे सन्ध्यस्थिमज्जगे॥४०॥

रास्ना, गुडूची, एरण्डमूल, देवदारु तथा सोंठ के क्वाथ को सर्वाङ्गवात, आमवात, सन्धिगत वात, अस्थिगत वात तथा मज्जागत वात में पीना चाहिये॥ ४०॥

पञ्चकोलक्वाथमाह—

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः। क्वथितं वारि तत्पेयमामवातविनाशनम्॥ ४१॥

पिप्पली, पिपरामूल, चव्य, चित्त तथा सोंठ के क्वाथ को पीने से आमवात नष्ट हो जाता है॥४१॥

शट्यादिकल्कमाह—

शटीविश्वौषधीकल्कं वर्षाभूक्वाथसंयुतम्, सप्तरात्रं पिबेज्जन्तुरामवातविनाशनम्॥ ४२॥

कचूर तथा सोंठ के कल्क को पुनर्नवा के क्वाथ के साथ सात दिन तक पीने से आमवात नष्ट हो जाता है॥ ४२॥

रास्नासप्तकक्वाथमाह—

रास्नाऽमृतारग्वधदेवदारुत्रिकण्टकैरण्डपुनर्नवानाम्।
क्वाथं पिबेन्नागरचूर्णमिश्रं जङ्घोरुपार्श्वत्रिकपृष्ठशूली॥ ४३॥

रास्ना, गुडूची, अमलतास, देवदारु, गोखरू, एरण्डमूल तथा पुनर्नवा के क्वाथ को सोंठ का चूर्ण मिला कर पीने से जंघाशूल, ऊरुशूल, पार्श्वशूल, त्रिकशूल, तथा पृष्ठ शूल नष्ट हो जाता है॥ ४३॥

आमवाते कणायुक्तं दशमूलीजलं पिबेत्। खादेद्वाऽप्यभयाविश्वं गुडूचीं नागरेण वा॥४४॥

आमवात रोग में पिप्पली का चूर्ण मिला कर दशमूल के क्वाथ को पीना चाहिये अथवा हर्रा तथा सोंठ को खाना चाहिये या सोंठ के साथ गुडूची को खाना चाहिये॥ ४४॥

चित्रकादिचूर्णमाह—

चित्रकेन्द्रयवौ पाठा कटुकाऽतिविषाऽभयाः। आमाशयोत्थवातघ्नं चूर्णं पेयं सुखाम्बुना॥

चित्त, इन्द्रजौ, पाठा, कुटकी, अतीस तथा हरड़ इनके चूर्ण को कुछ उष्ण जल के साथ पीने से आमाशय में स्थित वात नष्ट हो जाता है॥ ४५॥

पुनर्नवादिचूर्णमाह—

पुनर्नवाऽमृता शुण्ठी शताह्वा वृद्धदारुकम्। शटी मुण्डितिका चूर्णमारनालेन पाययेत्॥४६॥ आमाशयोत्थवातघ्नं चूर्णं पेयं सुखाम्बुना। आमवातं निहन्त्याशु गृध्रसीमुद्धतामपि॥४७॥

पुनर्नवा, गुडूची, सोंठ, सोवा, विधारा, कचूर तथा गोरखमुण्डी इनके चूर्ण को आरनाल नामक

काञ्जी के साथ अथवा कुछ गर्म जल के साथ पीने से आमाशय में स्थित वात, आमवात तथा तीव्र गृध्रसी नष्ट हो जाती है ॥ ४६–४७ ॥

नागरचूर्णमाह—

कर्षं नागरचूर्णस्य काञ्जिकेन पिबेत्सदा । आमवातप्रशमनं कफवातहरं परम् ॥ ४८ ॥

१ तो० सोंठ के चूर्ण को प्रतिदिन काञ्जी के साथ पीने से आमवात शान्त हो जाता है। तथा कफ और वात शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ४८ ॥

पञ्चकोलचूर्णमाह—

पञ्चकोलकचूर्णन्तु पिबेदुष्णेन वारिणा । मन्दाग्निशूलगुल्मामकफारोचकनाशनम् ॥ ४९ ॥

पिप्पली, पिपरामूल, चव्य, चित्त तथा सोंठ के चूर्ण को गर्म जल के साथ पीने से मन्दाग्नि, शूल, गुल्म, आम, कफ तथा अरुचि इनका नाश हो जाता है ॥ ४९ ॥

एरण्डतैलमाह—

आमवातगजेन्द्रस्य शरीरवनचारिणः । एक एव निहन्त्याशु एरण्डतैलकेशरी ॥ ५० ॥

शरीररूपी जङ्गल में विहार करने वाले आमवात रूपी मतवाले हाथी को एरण्डतैल रूपी सिंह अकेले ही शीघ्र मार डालता है ॥ ५० ॥

एरण्डतैलहरीतकीमाह—

एरण्डतैलयुक्तां हरीतकीं भक्षयेन्नरोविधिवत् । आमानिलार्त्तियुक्तोगृध्रसीवृद्ध्यर्दितो नियतम्

आमवात, गृध्रसी, वृद्धि तथा अर्दितवात से पीडित मनुष्य विधिपूर्वक एरण्ड तैल को मिलाकर हरीतकी के चूर्ण को खावे ॥ ५१ ॥

आरग्वधपत्रप्रयोगमाह—

आरग्वधस्य पत्राणि,भृष्टानि कटुतैलतः । आमघ्नानि नरः कुर्यात्सायं भक्तावृतानि च ॥५२॥

सायंकाल में कड़वे तैल द्वारा भुने हुये अमलतास के पत्तों को खाकर भोजन करने से आम नष्ट हो जाता है ॥ ५२ ॥

कटिग्रहपङ्गुरोगयोर्लक्षणं चिकित्सा चाह—

वायुः कट्याश्रितः शुद्धः सामो वा जनयेद्रुजम् । कटीग्रहः स एवोक्तः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात्॥

कटि में रहनेवाला शुद्ध या आमयुक्त वायु जो वेदना उत्पन्न करता है उसे कटिग्रह कहते हैं। यदि वही वात दोनों ऊरुओं में चला जाता है तो दोनों ऊरू विकृत हो जाते हैं उसे पङ्गुरोग कहते हैं॥

शुण्ठीगोक्षुरकक्काथः प्रातः प्रातर्निषेवितः । सामे वाते कटीशूले पाचनं रुक्प्रणाशनम् ॥५४॥

सोंठ तथा गोखरू के क्काथ को प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करने से आमवात तथा कटिशूल नष्ट हो जाता है तथा आम का पाचन होता है ॥ ५४ ॥

यवक्षारसमायुक्तं मूत्रकृच्छ्रविनाशनम् । दशमूलीकषायेण पिबेद्वा नागराम्भसा ।
कटीशूलेषु पातव्यं तैलमेरण्डसम्भवम् ॥ ५५ ॥

एरण्ड तैल को जवाखार मिलाकर पीने से मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है। कटि शूल में दशमूल के क्काथ के साथ अथवा सोंठ के क्काथ के साथ एरण्डतैल का पाना प्रशस्त है ॥ ५५ ॥

महौषधगुडूच्योश्च क्काथं पिप्पलिसंयुतम् । पिबेदामे सरुक्कोष्ठे कटीशूले विशेषतः ॥ ५६ ॥

आम, कोष्ठशूल तथा विशेषतः कटिशूल में सोंठ तथा गुडूची के क्काथ में पिप्पली चूर्ण मिलाकर पीना चाहिये ॥ ५६ ॥

विशोध्यैरण्डबीजानि पिष्ट्वा क्षीरे विपाचयेत् । तत्पायसं कटीशूले गृध्रस्यां परमौषधम् ॥५७॥

एरण्ड बीजों को साफ करके पीसकर दूध में पकाकर इस पायस को खाने से कटिशूल तथा गृध्रसी दूर हो जाती है। यह इन रोगों की परमौषधि है ॥ ५७ ॥

सर्पिस्तैलं गुडं शुक्तं पञ्चमं विश्वभेषजम् ॥ ५८ ॥

पीतमेतद्भवेत्सद्यस्तर्पणं कटिशूलनुत्। न हि चैतत्समं किञ्चिन्निरामे कटिमारुते ॥ ५९ ॥

घी, तेल, गुड, शुक्तनामक काञ्जी तथा सोंठ इन सब को एकत्र मिलाकर पीने से तत्काल तर्पण होता है तथा कटिशूल नष्ट हो जाता है। निराम कटिशूल पर इसके समान दूसरी ओषधि नहीं है॥

सुरतरुवल्कलसहितं गोमूत्रं स्थापितन्तु सप्ताहम्। हिङ्गुवचाशतपुष्पासैन्धवयुक्तेन तेनाथ ॥
तत्पुटपकं हन्यात्कटीजं दारुणं पुंसाम्। आममेदोवृद्धिभवान्विकारांश्चानिलोद्भवान् ॥६१॥

देवदारु की छाल को गोमूत्र में पीसकर ७ दिन तक रख दे। तत्पश्चात् हींग, वच, सौंफ तथा सेन्धानमक के चूर्ण को मिलाकर पुटपाक विधि से पकाकर सेवन करने से मनुष्यों का दारुण कटिशूल, आम तथा मेदोवृद्धि से उत्पन्न होनेवाले और वात से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ६०-६१ ॥

अमृताद्यचूर्णमाह—

अमृतानागरगोक्षुरमुण्डितिकावरुणकैः कृतं चूर्णम्।
मस्त्वारनालपीतं सामानिलनाशनं ख्यातम् ॥ ६२ ॥

गुडूची, सोंठ, गोखरु, गोरखमुण्टी तथा वरुना के चूर्ण को दही के तोड़ अथवा आरनाल के साथ पीने से आमवात नष्ट हो जाता है ॥ ६२ ॥

आलम्बुषादिचूर्णमाह—

अलम्बुषा गोक्षुरकं त्रिफलानागरामृताः। यथोत्तरं भागवृद्ध्या श्यामाचूर्णञ्च तत्समम्॥६३॥
पिबेन्मस्तुसुरातक्रकाञ्जिकोष्णोदकेन वा। आमवातं जयत्याशु सशोथं वातशोणितम्॥६४॥
त्रिकजानूरुसन्धिस्थं ज्वरारोचकनाशनम्। अलम्बुषाऽऽदिकं चूर्णं रोगानीकविनाशनम् ॥

गोरखमुण्डी १ भाग, गोखरू २ भाग, त्रिफला ३ भाग, सोंठ ४ भाग, गुडूची ५ भाग तथा सबों के बराबर काली निशोथ लेकर सबका चूर्ण करके दही के तोड़, मदिरा, तक्र, काञ्जी अथवा गर्म जल के साथ पीने से शोथयुक्त आमवात, वातरक्त, त्रिकगत वात, जानुगत वात, ऊरुगत वात, सन्धिस्थवात ज्वर तथा अरुचि नष्ट होजाते हैं। यह 'अलम्बुषादि चूर्ण' रोग समूह को नष्ट कर देता है॥

हरीतक्यक्षधात्रीभिः प्रसिद्धा त्रिफला क्रमात्। प्रत्येकं तेन वा युञ्ज्याद्भागवृद्धिं यथोत्तरम् ॥

हरड़, बहेड़ा तथा आंवला इन तीनों को त्रिफला कहते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक को क्रमशः उत्तरोत्तर एक भाग बढ़ाकर उपयोग करना चाहिये ॥ ६६ ॥

द्वितीयमलम्बुषादिचूर्णमाह—

अलम्बुषा गोक्षुरकं मूलं वरुणकस्य च। गुडूची नागरञ्चेति समभागानि कारयेत् ॥ ६६ ॥
काञ्जिकेन तु तत्पेयं विडालपदमात्रकम्। आमवाते प्रवृद्धे च योगोऽयममृतोपमः ॥६८॥

गोरखमुण्टी, गोखरु, वरुना की जड़, गुडूची तथा सोंठ को सम मात्रा में लेकर चूर्ण बना ले। इस चूर्ण को १ तोले की मात्रा में लेकर काञ्जी के साथ पीना चाहिये। प्रवृद्ध आमवात पर यह योग अमृत के समान है ॥ ६७-६८ ॥

तृतीयमलम्बुषादिचूर्णमाह—

अलम्बुषा गोक्षुरकं गुडूची वृद्धदारुकम्। पिप्पली त्रिवृता मुस्ता वरुणं सपुनर्नवम् ॥
त्रिफला नागरञ्चेति सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥६९॥
मस्त्वारनालतक्रेण पयोमांसरसेन वा। आमवातं निहन्त्याशु श्वयथुं सन्धिसंस्थितम् ॥७०॥

गोरखमुण्टी, गोखरू, गुडूची, विधारा, पिप्पली, निशोथ, नागरमोथा, वरुना, पुनर्नवा, त्रिफला तथा सोंठ इन सब ओषधियों का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर दही के तोड़, आरनाल, काञ्जी, तक्र, दूध अथवा मांसरस के साथ सेवन करने से शीघ्र आमवात नष्ट हो जाता है तथा सन्धिस्थ शूल भी दूर होजाता है ॥ ६७-७० ॥

वैश्वानरचूर्णमाह—

मणिमन्थस्य भागौ द्वौ यवान्यास्तद्वदेव तु। भागास्त्रयोऽजमोदाया नागराद्भागपञ्चकम् ॥

दश द्वौ च हरीतक्याः सूक्ष्मचूर्णीकृतं शुभम् । मस्त्वारनालतक्रेण सर्पिषोष्णोदकेन वा ॥७२॥
पीतं जयत्यामवातं गुल्महृद्बस्तिजान्गदान् । प्लीहानं ग्रन्थिशूलादीनानाहं गुदजानि च ॥
विबन्धं जाठरान् रोगान्कटीबस्तिसमुत्थितान् । वातानुलोमनमिदं चूर्णं वैश्वानरं स्मृतम् ॥

सैन्धानमक २ भाग, अजवाइन २ भाग, अजमोदा ३ भाग, सोंठ ५ भाग तथा हरड़ १२ भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण बनाकर दही के तोड़, आरनाल काञ्जी, तक्र, घी अथवा गर्म जल के साथ पीने से आमवात, गुल्म, हृद्रोग, बस्तिरोग, प्लीहा, ग्रन्थि, शूल इत्यादि, आनाह, अर्शरोग, विबन्ध, उदररोग, कटि तथा मूत्राशय के रोग नष्ट हो जाते हैं। यह 'वैश्वानरचूर्ण' वात का अनुलोमन करता है॥

आसीतकादिचूर्णमाह—

असीतकं मागधिका गुडूची श्यामावराहीगजकर्णशुण्ठीः।
समा धृताः कृत्स्नमिदन्तु चूर्णं पिबेत्तदुष्णोदकमण्डयूषैः ॥ ७५ ॥
तक्रै रसैर्मद्यसमस्तुभिर्वा यथेष्टचेष्टस्य च भोजनस्य।
सबाहुकं गृध्रसिखञ्जवातं विश्वाचितूनीप्रतितूनिरोगान् ॥ ७६ ॥
जङ्घाऽऽमवातार्दितवातरक्तं कटीग्रहं गुल्मगुदामयञ्च।
सक्रोष्टुकं पाण्डुगरोग्रशोथं हन्यादुरुस्तम्भमुदीर्णवेगम् ॥ ७७ ॥

विष्णुक्रान्ता, पिप्पली, गुडूची, काली निशोथ, वाराहीकन्द, एरण्डमूल तथा सोंठ इन सब को सम भाग में लेकर चूर्ण बनाकर उष्ण जल, मण्ड, यूष, तक्र, मांस रस, मद्य अथवा दही के तोड़ के साथ पिये और यथेष्ट आहार-विहार का सेवन करे। इससे अपबाहुक, गृध्रसी, खञ्जवात, विश्वाची, तूनी, प्रतितूनी, जङ्घा के रोग, आमवात, अर्दित, वातरक्त, कटिग्रह, गुल्म, अर्शरोग, क्रोष्टुकशीर्ष, पाण्डुरोग, गरविष, उग्र शोथ तथा तीव्र वेगवाला ऊरुस्तम्भ रोग नष्ट हो जाता है॥ ७५-७७॥

शुण्ठीधान्यकघृतमाह—

शुण्ठीनां षट्पलं पिष्टं धान्यकं द्विपलं तथा। चतुर्गुणं जलं दत्त्वा घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥७८॥
वातश्लेष्मामयान् हन्यादग्निवृद्धिकरं परम्। दुर्नामश्वासकासघ्नं बलवर्णाग्निवर्द्धनम् ॥७९॥

२४ तोले सोंठ तथा ८ तो० धनियां को पीसकर कल्क डालकर चौगुने जल में १ प्रस्थ (६४तो० घी को पकाले तो यह शुण्ठीधान्यक नामक घृत सिद्ध होजाता है। यह घृत वात तथा कफसे उत्पन्न होने वाले रोगों को नष्ट करता है तथा परम अग्निवर्द्धक है। अर्शरोग, श्वास तथा कास को नष्ट करता है और बल, वर्ण तथा अग्नि को बढ़ाता है॥ ७८-७९॥

शुण्ठीघृतमाह—

सर्पिर्नागरकल्केन सौवीरं तच्चतुर्गुणम्। सिद्धमग्निकरं श्रेष्ठमामवातहरं परम् ॥८०॥

सोंठ का कल्क डालकर चौगुने सौवीर नामक काञ्जी में घृतपाक करले तो शुण्ठीघृत होता है। यह श्रेष्ठ अग्निवर्द्धक और परम आमवात नाशक है॥ ८०॥

पुष्ट्यर्थं पयसा साध्यं दध्ना विण्मूत्रसंग्रहे। दीपनार्थं मतिमता मस्तुना च प्रकीर्त्तितम् ॥

यदि पुष्टि के लिये इस घृत को बनाना हो तो इसको दूध के साथ सिद्ध करना चाहिये। मल तथा मूत्र के अवरोध के लिये बनाना हो तो दही के साथ सिद्ध करना चाहिये। यदि अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये बनाना हो तो बुद्धिमान वैद्य दही के तोड़ के साथ सिद्ध करे॥ ८१॥

द्वितीयं शुण्ठीघृतमाह—

नागरक्वाथकल्काभ्यां घृतप्रस्थं विपाचयेत्। चतुर्गुणेन तेनाथ केवलेन जलेन वा ॥ ८२ ॥
वातश्लेष्मप्रशमनमग्निसन्दीपनं परम्। नागरं घृतमित्युक्तं कटीशूलामनाशनम् ॥ ८३ ॥

१ प्रस्थ (६४ तो०) घी को सोंठ के कल्क तथा घी से चौगुने सोंठ के क्वाथ में अथवा केवल जल में पकाले तो शुण्ठीघृत सिद्ध होजाता है। यह घृत वात तथा कफ को शमन करता है। परम अग्निवर्द्धक है और कटिशूल तथा आम को नष्ट कर देता है॥ ८२-८३॥

काञ्जिकाद्यघृतमाह—

हिङ्गु त्रिकटुकं चव्यं मणिमन्थं तथैव च। कल्कान्कृत्वा तु पलिकान्घृतप्रस्थं विपाचयेत्॥
आरनालाढकं दत्त्वा तत्सर्पिर्जठरापहम्। शूलं विबन्धमानाहमामवातं कटीग्रहम्॥ ८५॥
नाशयेद् ग्रहणीदोषं मन्दाग्नेर्दीपनं परम्॥ ८६॥

हींग, सोंठ, मिर्चें, पिप्पली, चव्य तथा सेन्धानमक इन सब को ४-४ तो० लेकर कल्क बनाकर १ प्रस्थ (६४ तो०) घी को १ आढ़क (२५६ तो०) काञ्जी में पकाले तो 'काञ्जिकाद्यघृत' सिद्ध हो जाता है। यह घी उदररोग को नष्ट करता है। शूल, मलबन्ध, आनाह, आमवात, कटिग्रह तथा ग्रहणी दोष को नष्ट करता है। और मन्दाग्नि का परम दीपन है॥ ८४-८६॥

शृङ्गवेराद्यघृतमाह—

शृङ्गवेरयवक्षारपिप्पलीमूलपिप्पलीः। पिष्ट्वा विपाचयेत्सर्पिरारनालं चतुर्गुणम्॥ ८७॥
शूलं विबन्धमानाहमामवातं कटिग्रहम्। नाशयेद् ग्रहणीदोषमग्निसन्दीपनं परम्॥ ८८॥

अदरक, जवाखार, पिपरामूल, तथा पिप्पली इनको पीसकर कल्क बनाकर चौगुनी आरनाल काँजी में घी को पकाले। इसे 'शृङ्गवेराद्यघृत' कहते हैं। यह घृत शूल, विबन्ध, आनाह, आमवात, कटिग्रह तथा ग्रहणीदोष को नष्ट करता है और परम अग्निसन्दीपन है॥ ८७-८८॥

पिबेद् बिन्दुघृतं वापि धान्वन्तरमथापि वा। महाशुण्ठीघृतं वापि आमवाते पुनः पुनः॥
यत्किञ्चिल्लेखनं सर्पिर्दीपनं पाचनञ्च यत्। तत्सर्वमामवातेषु योज्यं वा मस्तु षट्पलम्॥

आमवातरोग में बिन्दुघृत अथवा 'धान्वन्तरघृत' या महाशुण्ठीघृत को बारम्बार पीना चाहिये। इनके अलावे जो जो घृत लेखन (कफ को निकालने वाले), दीपन और पाचन हों उन सब को आमवात रोग में प्रयुक्त करना चाहिये। अथवा २४ तोले दही के तोड़ का उपयोग करे॥८९-९०॥

अजमोदादिचूर्णवटकावाह—

अजमोदमरिचपिप्पलीविडङ्गसुरदारुचित्रकशताह्वाः।
सैन्धवपिप्पलीमूलं भागा नवकस्य पलिकाः स्युः॥ ९१॥
शुण्ठी दशपलिका स्यात्पलानि तावन्ति वृद्धदारस्य।
पथ्यापलानि पञ्च च सर्वाण्येकत्र कारयेच्चूर्णम्॥ ९२॥
समगुडवटकानदतश्चूर्णं वाप्युष्णवारिणा पिबतः।
नश्यन्त्यामानिलजाः सर्वे रोगाः सुकष्टाश्च॥ ९३॥
प्रतितूनी विश्वाची रोगाश्चान्येपि गृध्रसी चोग्रा।
कटिपृष्ठगुदस्फुटनञ्चैवार्त्तिर्जङ्घयोस्तीव्रा॥ ९४॥
श्वयथुश्च सर्वसन्धिषु ये चान्येऽप्यामवातसम्भूताः।
सर्वे प्रयान्ति नाशं तम इव सूर्यांशुविध्वस्तम्॥ ९५॥
क्षुद्बोधमरोगित्वं स्थिरयौवनमथ वलीपलितनाशम्।
कुरुते च तथाभ्यासाद् गुणानथान्यांस्तथा सुबहून्॥ ९६॥

अजमोदा, कालीमिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग देवदारु, चित्त, सोया, सेन्धानमक और पिपरामूल ये सब चार २ तोले, सोंठ ४० तो०, विधारा ४० तो०, तथा हरड़ २० तो० लेकर एकत्र कूट कर चूर्ण बनाले। इस चूर्ण के बराबर गुड़ डाल कर बड़े बना ले। इन बड़ों को खाने से अथवा उष्ण जल के साथ उपर्युक्त चूर्ण को खाने से आमवात-सम्बन्धी समस्त महादुःखदायी रोग नष्ट हो जाते हैं। प्रतितूनी, विश्वाची, अन्य वातजन्य रोग, उग्र गृध्रसी. कमर, पीठ, गुदा तथा जङ्घाओं में फोड़ने के समान पीडा, सर्वसन्धिगत तीव्र शोथ तथा अन्य आमवातजन्य रोग इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्य की किरणों से अन्धकार नष्ट हो जाता है। इसके सेवन से भूख लगने लगती है। आरोग्यता उत्पन्न होती है। युवावस्था स्थिर होती है। वली तथा पलित रोगों का नाश होता है। इसके निरन्तर सेवन करने से यह अन्य भी बहुत से गुणों को करता है॥ ९१-९६॥

योगराजगुग्गुलुमाह—

चित्रकं पिप्पलीमूलं यवानीं कारवीं तथा। विडङ्गमजमोदाञ्च जीरके सुरदारु च ॥ ९७ ॥
चव्यैलासैन्धवं कुष्ठं रास्नागोक्षुरधान्यकम्। त्रिफलां मुस्तकं व्योषन्त्वगुशीरं यवाग्रजम् ॥
तालीशपत्रं पत्रञ्च सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्। यावन्त्येतानि चूर्णानि तावन्मात्रन्तु गुग्गुलुम्।
सम्मर्द्य सर्पिषा गाढं स्निग्धे भाण्डे निधापयेत्। अतो मात्रां प्रयुञ्जीत यथेष्टाहारवानपि ॥
योगराज इति ख्यातो योगोऽयममृतोपमः।
अग्निमान्द्यामवातादीन् क्रिमिदुष्टव्रणानपि। प्लीहगुल्मोदरानाहदुर्नामानि विनाशयेत् ॥
अग्निञ्च कुरुते दीप्तं तेजोवृद्धिं बलं तथा। वातरोगाञ्जयत्येष सन्धिमज्जगतानपि ॥ १०२ ॥

चित्त, पिपरामूल, अजवाइन, मगरैल, वायविडङ्ग, अजमोदा, स्याह जीरा, सफेद जीरा, देवदारु, चव्य, छोटी इलायची, सेन्धानमक, कूट, रास्ना, गोखरू, धनिया, त्रिफला, नागरमोथा, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, दालचीनी, खस, जवाखार, तालीसपत्र तथा तेजपात इन सब को लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर डाले फिर इस चूर्ण के बराबर गुग्गुलु लेकर घी मिला कर अच्छी तरह से मर्दन करके चिकने वर्त्तन में रखदे। इसको मात्रानुसार सेवन करे और इच्छानुसार आहार विहार करे। अमृत के समान इस योग को 'योगराजगुग्गुलु' कहते हैं। यह योगराजगुग्गुलु अग्निमान्द्य, आमवात इत्यादि रोग, कृमि, दुष्टव्रण, प्लीहा, गुल्म, उदररोग, आनाह तथा अर्शरोग को नष्ट कर देता है। अग्नि को प्रदीप्त करता है। तेजोवृद्धि करता है तथा बल को बढ़ाता है। और यह गुग्गुलु सन्धिगत तथा मज्जागत वातरोगों को नष्ट कर देता है ॥ ९७-१०२ ॥

प्रसारणीलेहमाह—

प्रसारण्याढके क्वाथे प्रस्थो गुडरसो मतः। पक्वः पञ्चोषणरजोयुक्तः स्यादामवातहा ॥ १०३ ॥

१ आढ़क (२५६ तो०) प्रसारणी के क्वाथ में १ प्रस्थ (६४ तो०) गुड़ का रस मिला कर पकाले। फिर उसमें पिप्पली, पिपरामूल, सोंठ, चित्त तथा चव्य के चूर्ण को मिलाकर सेवन करने से आमवात रोग का नाश हो जाता है ॥ १०३ ॥

खण्डशुण्ठीमाह—

नागरस्य पलान्यष्टौ घृतस्य पलविंशतिम्। क्षीरद्विप्रस्थसंयुक्तं खण्डस्यार्द्धशतं पचेत् ॥१०४॥
व्योषत्रिजातकद्व्याग्प्रत्येकञ्च पलं पलम्। निदध्याच्चूर्णितं तत्र खादेदग्निबलं प्रति ॥१०५॥
आमवातप्रशमनं बलपुष्टिविवर्द्धनम् ॥ १०६ ॥
बल्यमायुष्यमोजस्यं वलीपलितनाशनम्। आमवातप्रशमनं सौभाग्यकरमुत्तमम् ॥१०७॥

सोंठ ८ पल (३२ तो०), घी २० पल, दूध २ प्रस्थ (१२८ तो०) और खांड़ ५० पल लेकर पाक करले। तत्पश्चात् उसमें सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, दालचीनी, तेजपात तथा छोटी इलायची इन सबको ४-४ तो० लेकर चूर्ण बनाकर मिला दे तो यह 'खण्डशुण्ठीपाक' सिद्ध हो जाता है। इसको अग्निबल के अनुसार सेवन करने से आमवात शान्त होता है। बल तथा पुष्टिकी वृद्धि होती है। आयु को बढ़ाता है। ओजोवृद्धि करता है। वली तथा पलित का नाश करता है। और उत्तम सौभाग्य को उत्पन्न करता है ॥ १०४-१०७ ॥

रसोनपिण्डमाह—

पलं शतं रसोनस्य तिलस्य कुडवं तथा। हिङ्गु त्रिकटुकं क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च ॥१०८॥
शतपुष्पा निशा कुष्ठं पिप्पलीमूलचित्रकौ। अजमोदा यवानी च धान्यकञ्चापि बुद्धिमान् ॥
प्रत्येकञ्च पलांशानि श्लक्ष्णचूर्णानि कारयेत्। घृतभाण्डे दृढे चैव स्थापयेद्दिनषोडशम् ॥११०॥
प्रक्षिप्य तैलमानीञ्च प्रस्थार्द्धं काञ्जिकस्य च। खादेत्कर्षप्रमाणन्तु तोयं मद्यं पिबेदनु ॥१११॥
आमवाते रक्तवाते सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रिते। अपस्मारेऽनले मन्दे कासे श्वासे गरेषु च।
सोन्मादे वातभग्ने च शूले जन्तुषु शस्यते ॥ ११२ ॥

लहसुन १०० पल, तिल १६ तो० और हींग, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, जवाखार, सज्जीखार, पञ्च-

लवण, सौंफ, हल्दी, कूट, पिपरामूल, चित्त, अजमोदा, अजवाइन तथा धनियां इन सब को बुद्धिमान् वैद्य ४-४ तो० लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके उसमें ३२ तो० तेल तथा ३२ तो० काञ्जी को डालकर घी के चिकने तथा मजबूत बरतन में भरकर १६ दिन तक रख दे। तत्पश्चात् इस में से प्रतिदिन १ तोले की मात्रा में खाकर जल अथवा मद्य का अनुपान करे। इससे आमवात, वातरक्त, सर्वाङ्गवात, एकाङ्गवात, अपस्मार, मन्दाग्नि, कास, श्वास, गरविष, उन्माद, वातभग्न, शूल तथा कृमिरोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १०८-११२ ॥

प्रसारणीतैलमाह—

प्रसारण्या रसे सिद्धं तैलमेरण्डजं पिबेत्। सर्वदोषहरञ्चैव कफरोगहरं परम् ॥ ११३ ॥

प्रसारणी के रस में पकाये हुये एरण्डतैल को पीने से सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं। तथा यह प्रायः कफ रोग का परम नाशक है ॥ ११३ ॥

द्विपञ्चमूलाद्यतैलमाह—

द्विपञ्चमूलीनिर्यासफलदध्यम्लकाञ्जिकैः ॥ ११४ ॥
तैलं कट्यूरुपार्श्वार्त्तिकफवातामयान्महान्। हन्ति वस्तिप्रदानेन करोत्यग्निबलं महत् ॥ ११५ ॥

दशमूल, गोंद, जायफल, दही और खट्टी काञ्जी इनके द्वारा पकाये हुये तैल द्वारा वस्ति देने से कटिशूल, ऊरुशूल, पार्श्वशूल और कफ तथा वातजन्य रोग नष्ट हो जाते हैं और अग्नि महाबलवान् हो जाता है ॥ ११४-११५ ॥

बृहत्सैन्धवाद्यतैलमाह—

सैन्धवं श्रेयसी रास्ना शतपुष्पा यवानिका। स्वर्जिका मरिचं कुष्ठं शुण्ठी सौवर्चलं विडम् ॥
वचाजमोदाजरणाः पौष्करं मधुकं कणा। एतान्यर्द्धपलांशानि सूक्ष्मपिष्टानि कारयेत् ॥
प्रस्थमेरण्डतैलस्य प्रस्थाम्बुशतपुष्पजम्। काञ्जिकं द्विगुणं दत्त्वा मस्तु च द्विगुणं तथा ॥ ११८ ॥
एतं सम्भृत्य सम्भारं शनैर्मृद्वग्निना पचेत्। सिद्धमेतत् प्रयोक्तव्यमामवातहरं परम् ॥ ११९ ॥
पानाभ्यञ्जनवस्तौ च कुरुतेऽग्निबलं भृशम्। वातार्त्तवङ्क्षणे शस्तं कटीजानूरुसन्धिजे ॥ १२० ॥
शूले हृत्पार्श्वजे तद्वद् वृद्धे श्लेष्मणि पीडिते। बाह्यायामार्दितानाहैरन्त्रवृद्धिनिपीडिते।
अन्यांश्चानिलजान् रोगान्नाशयत्याशु देहिनाम् ॥ १२१ ॥

सैन्धानमक, हरड़, रास्ना, सौंफ, अजवाइन, सज्जीखार, मिर्च, कूट, सोंठ, कालानमक, विड-नमक, वच, अजमोदा, काला जीरा, पोहकरमूल, मुलहठी तथा पिप्पली इन सब को २-२ तो० लेकर पीस कर कल्क बनाले। फिर १ प्रस्थ (६४ तो०) एरण्डतैल, १ प्रस्थ सौंफ, २ प्रस्थ (१२८ तो०) काञ्जी तथा २ प्रस्थ दही के तोड़को एकत्र करके मन्द आँच से धीरे २ पकावे तो 'बृहत्सैन्धवाद्यतैल' सिद्ध होता है। इस तैल का पान, अभ्यङ्ग तथा वस्ति में प्रयोग करने से आमवात भली प्रकार नष्ट हो जाता है। यह अत्यन्त अग्निबलवर्द्धक है। वातजन्य वंक्षणशूल, कटिशूल, जानुशूल, ऊरुशूल, सन्धिशूल, हृच्छूल, पार्श्वशूल, कफवृद्धि, बाह्यायाम, अर्दित, आनाह, अन्त्रवृद्धि तथा मनुष्यों के और भी दूसरे वातजन्य रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ ११६-१२१ ॥

निरूहवस्तिमाह—

स्वल्पप्रसारणीतैलं तैलं वा सैन्धवादिकम्। दशमूलाद्यतैलेन वस्तिदानं प्रशस्यते ॥ १२२ ॥
तैलस्य द्विपलं दद्यात्काञ्जिकस्य चतुःपलम्। दशमूलरसं मूत्रं पृथक्पञ्च पलानि तु ॥ १२३ ॥
वचा मदनवाट्या वा शताह्वाकुष्ठसैन्धवैः। पिप्पल्यतिविषामुस्तरास्नाकट्फलपौष्करैः ॥
अक्षांशिकैश्च तत्सर्वं मन्थयेत विचक्षणः। प्रस्थार्धं प्रथमं देयो वस्तिर्निरभिशङ्कितः ॥ १२५ ॥
द्वितीये च तृतीये च वर्जयेत्प्रसृतद्वयम्। सर्ववातविकारेषु मेहेषु वृषणामये ॥ १२६ ॥
कुक्षौ हत्पृष्ठपार्श्वेषु जानुजङ्घाकटीग्रहे। विबन्धानाहरोगेषु शर्कराऽश्मरिपीडिते ॥ १२७ ॥
भग्नविश्लिष्टगात्रेषु पिच्चितेषु क्षतेषु च। एतन्निरूहवत्प्राज्ञो निरायासो महागुणः ॥ १२८ ॥

आमवात रोग में स्वल्पप्रसारणीतैल अथवा सैन्धवाद्यतैल या दशमूलाद्यतैल द्वारा वस्तिदान

प्रशस्त माना गया है। इस वस्ति में तेल ८ तो०, काञ्जी १६ तो०, दशमूल का रस २० तोले और गोमूत्र २० तो० लेकर एक में मिला कर वच, मैनफल, खिरेटी, सोया, कूट, सेन्धानमक, पिप्पली, अतीस, नागरमोथा, रास्ना, कायफल तथा एरण्डमूल इन प्रत्येक ओषधियों को १-१ मासा लेकर चूर्ण करके इन सब को पूर्वोक्त सम्मिलित तेल में मिलाकर मथ ले। तत्पश्चात् निःशङ्क होकर ३२ तो० इस द्रव द्वारा प्रथम वस्ति दे। पुनः दूसरी बार अथवा तीसरी बार २४ तो० की मात्रा में इस तेल के द्वारा वस्ति दे। इससे सम्पूर्ण वातविकार, प्रमेह, वृषणरोग, कुक्षिरोग, हृद्रोग, पृष्ठशूल, पार्श्वशूल, जानुशूल, जङ्घाशूल, कटिग्रह, विबन्ध, आध्मान, शर्करा, अश्मरी, भग्न द्वारा अलग हुये अङ्ग और पिच्चित व्रण में यह निरूहवस्ति महागुणकारक है। इसमें परिश्रम बहुत कम होता है॥१२२-१२८॥

आमवातेऽपथ्यान्याह—

दधिमत्स्यगुडक्षीरं पोतकीमाषपिष्टकम्। वर्जयेदामवातार्तो मांसमानूपसम्भवम्॥ १२९॥
अभिष्यन्दकरा ये च ये चान्ये गुरुपिच्छिलाः। वर्जनीयाः प्रयत्नेन आमवातार्दितैर्नरैः॥

आमवात-पीड़ित मनुष्य दही, मछली, गुड़, दूध, पोई का शाक, उड़द की पीठी और अनूपदेश में उत्पन्न होने वाले जीवों के मांस का परित्याग कर दे। और जो पदार्थ अभिष्यन्दी हों उन्हें और जो गुरु तथा पिच्छिल हों उन्हें प्रयत्नपूर्वक आमवात से पीड़ित मनुष्य त्याग दे॥ १२९-१३०॥

मध्यमरास्नादिक्काथमाह—

रास्नैरण्डशतावरीसहचरादुःस्पर्शवासामृतादेवाह्वातिविषाभयाघनशटीशुण्ठीकषायः कृतः।
पीतः सोरुबुतैल एष विहितः सामे सशूलेऽनिले कट्यूरुत्रिकपृष्ठकोष्ठजठरक्रोडेषु चामार्त्तिजित्॥

रास्ना, एरण्डमूल, शतावरी, कटसरैया, जवासा, अडूसा, गुडूची, देवदारु, अतीस, हरड़, नागरमोथा, कचूर तथा सोंठ इन सब ओषधियों का क्वाथ बनाकर एरण्ड तैल मिलाकर पीने से आमयुक्त तथा शूलयुक्त वायु, कटिशूल, ऊरुशूल, त्रिकशूल, पृष्ठशूल, कोष्ठशूल, उदरशूल तथा आमदोष से उत्पन्न होनेवाली अन्य व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं॥ १३१॥

महारास्नादिक्काथमाह—

रास्ना वातारिमूलञ्च वासकञ्च दुरालभम्। शटीदारुबलामुस्तनागरातिविषाभयाः॥१३२॥
श्वदंष्ट्रा व्याधिघातश्च मिसिधान्यपुनर्नवाः। अश्वगन्धामृता कृष्णा वृद्धदारः शतावरी॥१३३॥
वचा सहचरश्चैव चविका बृहतीद्वयम्। समभागान्वितैरेतै रास्नाद्विगुणभागिकैः॥ १३४॥
कषायं पाययेत्सिद्धमष्टभागावशेषितम्। शुण्ठीचूर्णसमायुक्तमाभाद्येन युतं तथा॥ १३५॥
अलम्बुषादिसंयुक्तमजमोदादिसंयुतम्। यथादोषं यथाव्याधि प्रक्षेपं कारयेद्भिषक्॥ १३६॥
सर्वेषु वातरोगेषु सन्धिमज्जगतेषु च। आनाहेषु च सर्वेषु सर्वगात्रानुकम्पने॥ १३७॥
कुब्जके वामने चैव पक्षाघाते तथार्दिते। जानुजङ्घास्थिपीडासु गृध्रस्यां च हनुग्रहे॥१३८॥
प्रशस्तं वातरक्ते स्यादूरुस्तम्भे तथार्शसि। विश्वाचीगुल्महृद्रोगविषूचीक्रोष्टुशीर्षके॥ १३९॥
अन्त्रवृद्धौ श्लीपदे च योनिशुक्रामये तथा। पुंसां मेढ्रगते रोगे स्त्रीणां वन्ध्यामये तथा॥
योषितां गर्भदं मुख्यं नास्ति किञ्चिदतः परम्। सर्वेषां पाचनानान्तु श्रेष्ठमेतद्धि पाचनम्॥
महारास्नादिकं नाम प्रजापतिविनिर्मितम्॥ १४२॥

रास्ना, एरण्डमूल, अडूसा, जवासा, कचूर, दारुहल्दी, खिरेटी, नागरमोथा, सोंठ, अतीस, हरड़, गोखरू, अमलतास, जटामांसी, धनियाँ, पुनर्नवा, असगन्ध, गुडूची, पिप्पली, विधारा, शतावरी, वच, कटसरैया, चव्य, छोटी कटेरी तथा बड़ी कटेरी इन सब ओषधियों में रास्ना २ भाग तथा शेष ओषधियों को एक एक भाग लेकर इनका अष्टमांशावशेष क्वाथ बनाकर दोष तथा व्याधि के अनुसार सोंठ के चूर्ण अथवा 'आभाद्यचूर्ण' अथवा 'अलम्बुषाद्यचूर्ण' या 'अजमोदादिचूर्ण' को डालकर वैद्य रोगी को पिलावे। इस क्वाथ को पीने से सम्पूर्ण वातरोग, सन्धिगत वात, मज्जगत वात, सम्पूर्ण प्रकार के आनाह, सम्पूर्ण शरीर का कँपना, कुब्जकवात, वामनवात, पक्षाघात, अर्दित,

जानु जंघागत वातजन्य शूल, अस्थिगत वातजन्य शूल, गृध्रसी, हनुस्तम्भ, वातरक्त, ऊरुस्तम्भ, अर्शरोग, विश्वाची, गुल्फ, हृद्रोग, विषूचिका, क्रोष्टुकशीर्ष, अन्त्रवृद्धि, श्लीपद, योनिरोग, शुक्ररोग, पुरुषों के लिङ्गगत रोग, स्त्रियों के वन्ध्या रोग नष्ट हो जाते हैं। स्त्रियों को गर्भ देनेवाली इससे मुख्य और कोई ओषधि नहीं है। सम्पूर्ण पाचन ओषधियों में यह निस्सन्देह श्रेष्ठ पाचन है। महारास्नादि नामक इस क्वाथ को प्रजापति ने बनाया है॥ १३२-१४२ ॥

रास्नादिदशमूलक्वाथमाह—

रास्नाविश्वविडङ्गानि रुबूकं त्रिफला तथा। दशमूलं पृथक् श्यामा क्वाथो वातामयापहः॥
अर्द्धावभेदके त्वाढ्ये चार्दिते वातखञ्जके।
नेत्ररोगे शिरःशूले ज्वरापस्मारयोस्तथा। मनोभ्रंशे च विविधे कथितश्च शुभप्रदम्॥ १४४॥

इति षड्विंश आमवाताधिकारः समाप्तः॥ २६॥

रास्ना, सोंठ, वायविडङ्ग, एरण्डमूल, त्रिफला, दशमूल तथा निशोथ इन सब ओषधियों का क्वाथ वात रोग को नष्ट करता है। तथा अर्द्धावभेदक, ऊरुस्तम्भ, अर्दितरोग, खञ्ज, नेत्ररोग, शिरःशूल, ज्वर, अपस्मार तथा विविध भांति के मनोविकारों में यह शुभप्रद कहा गया है॥१४३-१४४॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारियां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे षड्विंश आमवाताधिकारः समाप्तः॥ २६॥

अथ सप्तविंशः पित्तव्याध्यधिकारः॥ २७॥

तत्र पित्तव्याधीनां विप्रकृष्टसंनिकृष्टनिदानमाह—

कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातप-
स्त्रीसम्भोगतृषाक्षुधाभिहननव्यायाममद्यादिभिः।
मध्ये चापि हि भोजनस्य जरता भुक्तेन मध्यन्दिने
मध्याह्ने रजनी निदाघशरदोः पित्तं करोत्यामयान्॥ १॥

मद्यादिभिरित्यादिशब्देन दधिमत्स्यमाषतिलातसीकाञ्जिकादीनि संगृह्यन्ते। तीक्ष्णं= राजिकादि। मध्ये चापि हि भोजनस्य= यावत् कालेन भुङ्क्ते, तस्य कालस्य मध्यभागे। जरता भुक्तेन= भुक्तस्य जरणकालमध्ये। मध्यन्दिने= त्रिधा विभक्तस्य दिवसस्य मध्यांशे तथा रात्रेर्मध्यमेंऽशे॥ १॥

कटु, अम्ल, उष्ण, दाहकारक, तीक्ष्ण, नमकीन पदार्थों के खाने से, क्रोध तथा उपवास को करने से, धूप का सेवन करने से तथा स्त्रीप्रसङ्ग करने से, प्यास तथा भूख को मारने से, व्यायाम करने से, मदिरा पीने से, दही, मछली, उड़द, तिल अलसी तथा काञ्जी आदि पदार्थों के सेवन से, भोजन करने के मध्यकाल में भोजन पचने के मध्यकाल में, दिन के मध्यभाग तथा रात्रि के मध्य भाग में, ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु में पित्त प्रकुपित होकर रोगों को उत्पन्न करता है॥ २॥

पित्तरोगानाह—

अकालपलितं नेत्ररक्तता मूत्ररक्तता। नेत्रास्यपीतता तद्वन्मूत्रस्यापि च पीतता॥ २॥
मलस्य पीतता प्रोक्ता शाखानामपि पीतता। दन्तानाञ्चापि पीतत्वं पीतत्वं वपुषस्तथा॥
तमसो दर्शनञ्चापि परितः पीतदर्शनम्। निद्राल्पतादि शोषश्च मुखे गन्धश्च लोहवत्॥४॥
मुखस्य तिक्तता चापि तथा च वदनाम्लता। उच्छ्वासस्योष्णता चापि धूमोद्गारस्तथैव च॥
भ्रमः क्लमस्तथा क्रोधो दाहो भेदसमन्वितः। तेजोद्वेषश्च शीतेच्छाग्रतृप्तिररतिस्तथा॥६॥

भक्षितस्य विदाहश्च जठरानलतीक्ष्णता । रक्तप्रवृत्तिर्विड्भेदः पुरीषस्योष्णता तथा ॥ ७ ॥
मूत्रोष्णता मूत्रकृच्छ्रं मूत्राल्पत्वं तनूष्णता । स्वेदस्य चापि दौर्गन्ध्यं देहप्रावरणं तथा ॥८॥
शरीरस्यावसादश्च पाकश्च वपुषस्तथा । चत्वारिंशदमी पित्तव्याधयो मुनिभिर्मताः ॥ ९ ॥

बालों का असमय में पकना, नेत्रों का लाल अथवा पीला होना, मूत्र की पीतिमा, मल का पीलापन, शरीर का पीलापन, अन्धकार का दिखलाई देना, मुख का खट्टापन, श्वास का उष्ण होना, धुयें की तरह डकार आना, श्रम, ग्लानि, क्रोध, दाह, भेद, प्रकाश से द्वेष, शीत की इच्छा, अतृप्ति, अरति, भोजन का विदाह, जठराग्नि की तीक्ष्णता, रक्त निकलना, दस्तों का आना, मल का उष्ण रहना, मूत्र का उष्ण रहना, मूत्रकृच्छ्र, वीर्य की अल्पता, शरीर का गर्म रहना, पसीने में दुर्गन्धता, देह का फटना, शरीर में पीडा तथा शरीर का पकना इन चालीस रोगों को मुनियों ने पित्तव्याधि कहा है ॥ २—९ ॥

***एषां चिकित्सा तु स्वप्रकरणे बोद्धव्या ॥ २-९ ॥**

इति सप्तविंशः पित्तव्याध्यधिकारः समाप्तः ॥ २७ ॥



इन व्याधियों की चिकित्सा उन्हीं २ व्याधियों के प्रकरण में कही गई है, इसे जान लेना चाहिये ॥ २-९ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे सप्तविंशः पित्तव्याध्यधिकारः समाप्तः ॥ २७ ॥



अथाष्टाविंशः श्लेष्मव्याध्यधिकारः ॥ २८ ॥

तत्र श्लेष्मव्याधीनां सामान्यतः विप्रकृष्टसंनिकृष्टनिदानान्याह—

गुरुमधुररसादिस्निग्धमन्दोदराग्निद्रवदधिदिननिद्राशीलनिश्चेष्टितानि ।
प्रथमदिवसभागे भुक्तमात्रे वसन्ते भवति हि कफरोगो रात्रिभागेऽपि चाद्ये ॥१॥

***मधुररसादीत्यादिशब्देनाम्ललवणौ गृह्येते । निश्चेष्टितानि = कायिकव्यापाराकरणानि । प्रथमदिवसभागे = त्रिधा विभक्तस्य दिवसस्याद्यभागे । भुक्तमात्रे = भुक्तस्य पाककालस्य त्रिधा विभक्तस्य प्रथमकाले । कफरोगो भवति ॥ १ ॥**

गुरु पदार्थों तथा मधुर, अम्ल और लवण रस तथा स्निग्ध पदार्थों को खाने से, जठराग्नि की मन्दता से, द्रव (दूध इत्यादि) का सेवन करने से, दिन में सोने से, भोजन पचने से पहले समय में, रात्रि के प्रथम भाग में तथा वसन्त ऋतु में कफ के रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

कफरोगानाह—

प्रथमं मुखमाधुर्यं तथैव मुखलिप्तता । मुखप्रसेकश्च तथा निद्राधिक्यं तथैव च ॥ २ ॥
कण्ठे घुर्घुरता चापि कटुकाङ्क्षोष्णकामिता । बुद्धिमान्द्यमचैतन्यमालस्यं तृप्तिरेव च ॥३॥
अग्निमान्द्यं मलाधिक्यं मलशौक्ल्यं तथैव च । मूत्राधिक्यं मूत्रशौक्ल्यं शुक्राधिक्यं तथैव च॥
स्तैमित्यं गौरवं शैत्यमेत एव हि विंशतिः । योगतो रूढितः प्रोक्ता मुनिभिः श्लैष्मिका गदाः॥

मुख की मधुरता, मुख का कफ द्वारा लिप्त रहना, मुख से थूक गिरना, निद्राधिक्य, गले में घरघराहट, कटु तथा उष्ण पदार्थों की इच्छा, बुद्धिमान्द्य, अचेतनता, आलस्य, तृप्ति, अग्निमान्द्य, मल की अधिकता, मल की शीतलता, मूत्र की अधिकता, मूत्र की शुक्लता, वीर्य की अधिकता, शरीर का भीगे हुये वस्त्र से ढके हुये के समान प्रतीत होना, शरीर की गुरुता तथा शरीर का शीतल रहना यौगिक तथा रूढ रीति से इन बीस व्याधियों को मुनियों ने श्लेष्मव्याधि कहा है ॥ २-५ ॥

श्लेष्मव्याधीनां सामान्यां चिकित्सामाह—

रूक्षक्षारकषायतिक्तकटुकव्यायामनिष्ठीवनं धूमोष्मानलघर्मनस्यवमनं स्वेदोपवासादिकम्।
तृड्घाताध्वनियुद्धजागरजलक्रीडाङ्गनासेवनम्पानाहारविहारभेषजमिदं श्लेष्मामयान् संहरेत्

*निष्ठीवनं = कवलग्रहः। नियुद्धं = बाहुयुद्धम्। जागरो रात्रौ। स च दिवाशयनोत्थे कफव्याधौ कार्यः। जलक्रीडा—जलक्रीडारूपो व्यायामोऽश्लेष्मजनितोरुस्तम्भसंमूढवातादिषु कार्यः। अङ्गनासेवनं—श्लेष्मजनितस्थौल्यादौ कार्यम्॥ ६॥

इत्यष्टाविंशः श्लेष्मव्याध्यधिकारः समाप्तः॥ २८॥



रूक्ष, क्षार, कसैले, तिक्त तथा कटु पदार्थों का सेवन, व्यायाम करना, गण्डूष धारण करना धूमपान, गर्मी, अग्नि तथा धूप का सेवन, नस्य लेना, वमन करना, स्वेदन तथा उपवास इत्यादि करने से, पिपासा को रोकने से, मार्ग चलने से, बाहुयुद्ध करने से, रात्रिजागरण (यह दिवाशयन से उत्पन्न होने वाले व्याधि में करना चाहिये) से, जल में तैरने (अश्लेष्मजनित ऊरुस्तम्भ, मूढवात इत्यादि में करना चाहिये) से, स्त्रीसेवन (श्लेष्मजन्य स्थौल्य इत्यादि में करना चाहिये), इत्यादि का पान, आहार, विहार इत्यादि में प्रयोग करने से श्लेष्मरोग को दूर करना चाहिये॥ ६॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकाया भाषाटीकायां-
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणेऽष्टाविंशः श्लेष्मव्याध्यधिकारः समाप्तः॥ २८॥



अथैकोनत्रिंशो वातरक्ताधिकारः॥ २९॥

वातरक्तस्य विप्रकृष्टनिदानमाह—

लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः। क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः॥१॥
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः। दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः॥ २॥
विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नातिजागरैः। प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम्।
स्थूलानां सुखिनाञ्चापि प्रकुप्येद्वातशोणितम्॥ ३॥
हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च विदाह्यन्नं सविदाहाशनस्य॥ ४॥
कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च दुष्टं शीघ्रं पादयोश्चीयते तु।
तत्सम्पृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम्॥ ५॥

*क्षारो = यवक्षारादिः। अजीर्णभोजनैः = अजीर्णे भोजनैः, अतिमात्रभोजनैरित्यर्थः। क्लिन्नादीनि मांसविशेषणानि। क्लिन्नं = शटितम्। शुष्कम् = आतपे शोषितम्। अम्बुजं = मत्स्यादिमांसम्, आनूपं = गौडादिपूर्वदेशजम् मांसम्। पिण्याकः = तिलखलिः। मूलकं प्रसिद्धमेव। निष्पावः = [बोडा]। शाकं = पत्रशाकम्। आदिशब्देन वृन्ताकादीनां फलशाकादीनां फलं गृह्यते। पललं = शटितत्वादिदोषरहितमपि मांसम्। वातशोणितं प्रकोपयेत्। शटितादि मांसं तु विशेषतो वातशोणितं प्रकोपयेत्। आरनालसौवीरयुक्तानि = सन्धानभेदाः। तक्र = चतुर्थांशजलयुक्तं वस्त्रपूतं दधि। सुरा = सन्धानभेदः। विरुद्धं = क्षीरमत्स्यादि। अध्यशनम् = 'अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते'।

अतिजागरो निशि। प्रायशः = बाहुल्येन। सुकुमाराणाम् = अल्पतरकायव्यापाराणाम्। अथ च मिथ्याऽऽहारविहारिणाम्। स्थूलानां सुखिनां रक्तवृद्ध्या। हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतः = यतो वायुर्वर्द्धते रुधिरञ्चाधो गच्छति। हस्त्यादय उपलक्षणानि। पद्भ्यामपि चलतः अश्नतश्च विदाह्यन्नम्। विदाहि = निष्पावकुलत्थसर्षपशाकादि। सविदाहाशनस्य = सविदाहि अशनं यस्य, भुक्ते विदग्धे तदुपरि भुञ्जानस्येत्यर्थः। अध्यशनमुक्त्वाऽप्येतद्वचनं

विदग्धं=जीर्णम् । भोजनस्य विशेषतो हेतुत्वार्थम् । पश्चाद् वातशोणितं प्रकुप्यतीत्यन्वयः । एतेषां कारणानां मध्ये केन चिद् वायुः, केन चिद् रक्तं, केन चिदुभयमपि प्रकुप्येत् । अथ सम्प्राप्तिमाह—कृत्स्नेत्यादि । पूर्वोक्तहेतुभिः, कृत्स्नं = समस्तम् । रक्तं विदहति, अत्र दहधातुरविवक्षितकर्मकः, तेन विदहति = विदग्धं भवतीत्यर्थः । तच्च दुष्टं रक्तमधोगतम् । दूषितेन स्वहेतुभिर्वायुना सम्पृक्तं=मिलितम् , वातरक्तमुच्यते । ननु च तस्य सम्प्राप्तिरुक्ता सुश्रुतेन—

शीघ्रं रक्तं दुष्टिमायाति तच्च वायोर्मार्गं संरुणद्ध्याशु वातम् ।
क्रुद्धोऽत्यर्थं मार्गरोधात्स वायुरत्युद्रिक्तं दूषयेद्रक्तमाशु ॥ ५ ॥

अत्र प्रथमं रक्तस्य दुष्टिरतो 'रक्तवातमि'ति व्यपदेष्टुमुचितम्भवति । तत्राह—तत्प्राबल्यादिति । तस्य वातस्य दोषत्वेन प्राधान्याद् वातरक्तमिति व्यपदिश्यते ॥ १–५ ॥

नमकीन, खट्टे, कटु, यवक्षार, इत्यादि क्षार, स्निग्ध तथा उष्ण भोजन करने से, अधिक मात्रा में भोजन करने से, सड़ी हुई तथा धूप में सूखी मछलियों तथा गौड़ इत्यादि पूर्व देश के जीवों का मांस खाने से, तिल की खली को खाने से, मूली, कुलथी, उड़द, बोड़ा, पत्रशाक, बैगन इत्यादि फलशाक तथा मांस को खाने से. दही, आरनाल काञ्जी, सौवीर या शुक्त काञ्जी, तक्र, मद्य और आसव का सेवन करने से विरुद्धाहार (दूध के साथ मछली इत्यादि भोजन) करने से, अजीर्ण में भोजन करने से, क्रोध, दिवास्वप्न तथा रात्रिजागरण से प्रायः मिथ्याहार और विहार करनेवाले सुकुमार (शरीर से कम काम लेने वाले) स्थूल शरीरवाले, सुखपूर्वक बैठे रहनेवाले, हाथी, घोड़े, ऊँट इत्यादि सवारियों पर चलने वाले अथवा बहुत मार्ग चलने वाले, बोड़ा, कुलथी, सरसों तथा शाक इत्यादि विदाही पदार्थों के भोजन करने वाले, भोजन के विदाहयुक्त पाक होने पर भोजन करने वाले मनुष्यों के वायु तथा रक्त कुपित हो जाते हैं । उपर्युक्त कारणों में से कुछ कारण से वायु कुपित होता है तथा कुछ से रक्त कुपित होता है । और कुछ कारणों से दोनों कुपित होते हैं ।

उपर्युक्त कारणों से सम्पूर्ण रक्त शीघ्र विदग्ध हो जाता है तब यह दुष्ट हुआ रक्त तत्काल नीचे जाकर पांव में इकट्ठा हो जाता है । तत्पश्चात् यह रक्त अपने कारणों से प्रकुपित वायु के साथ मिल जाता है । वायु की प्रबलता के कारण यह रोग [1]वातरक्त कहलाता है ।

---

१. वातरक्त को पाश्चात्त्यवैद्यक में गाउट (Gout) कहते हैं ।

इस वातरक्त नामक रोग के निम्न अनेक कारण माने जाते हैं, यथाः—

१—आनुवंशिक या कुलजप्रवृत्ति (५० से ८०% रोगियों में) ।

२—शीतप्रदेश-उष्ण प्रदेश में यह रोग बहुत कम होता है और शीतप्रदेश (Europe) में अधिक होता है ।

३—मानवीय कुछ वंशों में अधिक होता है । जैसे—इङ्गलिश (English) और जर्मन (German) ।

४—स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक (८० से ९०% तक) ।

५—मध्यम आयु में अधिक होता है ।

६—२० वर्ष की आयु के पूर्व प्रायः दिखाई नहीं देता ।

७—मद्यसेवन-पोर्ट तथा ब्राण्डी इत्यादि विलायती मद्य के सेवन से अधिक होता है किन्तु देशी मद्य से नहीं होता ।

८—प्यूरिन युक्त अन्न के सेवन से अधिक होता है ।

९—कभी-२ यकृत् सेवन से भी अधिक होता है ।

१०—व्यायाम न करना ।

११—शरीर में कहीं दूषित स्थान हों तो वे भी सहायता करते हैं ।

शङ्का—सुश्रुत कहते है कि शीघ्र रक्त दुष्ट हो जाता है और वह रक्त वायु के मार्ग को तुरन्त रोक देता है तब मार्ग के अवरोध से क्रुद्ध वायु इस बढ़े हुये रक्त को शीघ्र दूषित कर लेता है। इस मत से पहिले रक्त की दुष्टि होती है इस लिये इस रोग को 'रक्तवात' कहना उचित था फिर इसे वातरक्त क्यों कहा गया ?

सम्प्राप्ति—

इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं तथापि उनमें निम्न दो मत अधिक प्रचलित हैं-

१—वृक्कों की खराबी के कारण यूरिक एसिड (Urice acid) का उत्सर्जन ठीक न होना।

२—शरीरान्तर्गत विष या अन्य उपसर्ग के कारण शरीर की मृदु अस्थियाँ, कण्डरा तथा स्नायु इनकी खराबी होकर या होने से इनमें शरीर में सञ्चित हुये यूरिक एसिड (Urice acid) का सञ्चय होना। इस रोग में रक्त में यूरिक एसिड (Urice acid) की राशि स्वाभाविक राशि से अधिक होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है परन्तु यूरिक एसिड (Urice acid) की अधिकता रोग का कारण नहीं हो सकता, क्यों कि पाण्डुरोग, ल्यूकीमिया। (Leukaemia) तथा तीव्र वृक्कशोथ में भी रक्त में यूरिक एसिड (Urice acid) की अधिकता हो जाती है। कारण कुछ भी हो अधिक यूरिक एसिड (Urice acid) सन्धियों के स्नायुओं में मृदुस्थियों में इकट्ठा हो जाता है। इन अङ्गों में सोडियम वायोरेट (Sodium Viorate) के नुकीले स्फटिक सञ्चित होते हैं। प्रारम्भ से ये स्फटिक पृष्ठ भाग के पास होते हैं और धीरे २ गम्भीर भाग में फैलते हैं। इनके सञ्चय के कारण सन्धियों में गति होने में कठिनता उत्पन्न होती है। सन्धियों के आसपास के अङ्गों के सिवाय ये स्फटिक हड्डियों में कण्डराओं के कोष (Sheath) में और त्वचा के नीचे भी सञ्चित होते हैं। त्वचा में इनका जो सञ्चय होता है उसको टोफस (Tophus) या अर्बुद कहते हैं। ये अर्बुद अधिकतर कान के पाली में होते हैं। जो अङ्ग हृदय से अधिक दूर होता है उसमें इनका सञ्चय भी अधिक होता है। कभी २ त्वचा के नीचे सञ्चित हुये स्फटिक त्वचा को नष्ट करके या त्वचा में व्रण उत्पन्न करते हैं। कभी २ सन्धिश्लेष्मा में भी इसके जल मिलते हैं। रोग पुराना हो जाने पर सन्धियों के अङ्ग लीगामेन्ट्स (Ligaments) तथा टेन्डन (Tendon) आपस में संसक्त हो जाते हैं और सन्धि की गति कम हो जाती है। इसके सिवाय हृदय, वृक्क और धमनियों में भी इसका विषैला प्रभाव होता है। जिसके कारण हृदय का विस्फार (Dilatation) धमनियों की दृढ़ता (Arterioscleros's) और वृक्क में शोथ पैदा हो जाता है। रोग की तीव्रावस्था में सन्धियों में जो शोथ पैदा होता है वह सोडियम वायोरेट (Sodium Viorate) के नोकदार स्फटिकों की रगड़ से होता है।

रासायनिक सम्प्राप्ति—

शरीर में यूरिक एसिड (Urice acid) बनता है। उसकी उत्पत्ति निम्न दो प्रकारों से होती है:—

१—आहारजन्य (Exogenous)-विशेषतया चाय (Tea), काफी (Coffee), कोको (Coco), मांस तथा यकृत इत्यादि पदार्थों के सेवन से।

२—धातुजन्य (Endogenous)—शरीरगत धातुओं से उत्पन्न होना। रक्त में यूरिक एसिड (Urice acid) की राशि मिलीग्राम (Miligram) प्रतिशत (100 c. c. में) होती है। वातरक्त में इसकी मर्यादा बहुत अधिक हो जाती है। रोग के आक्रमण के पूर्व रक्त में यूरिक एसिड (Urice acid) की राशि बढ़ती जाती है और तीन चार दिन तक अधिक रहती है तथा रक्तगत राशि कम हो जाती है। अपने यहां भी प्रायः उपर्युक्त प्रकार के ही आहारविहार वातरक्त को उत्पन्न करते हैं ऐसा लिखा है। पाश्चात्त्य विद्वान् इस रोग में रक्त में यूरिक एसिड की प्रचुर वृद्धि मानते

समाधान—वात के दोष होने के कारण वायु की प्रधानता है इसलिये इस रोग को 'वातरक्त' कहा जाता है ॥ १-५ ॥

' वातरक्तस्य पूर्वरूपमाह—

स्वेदोऽत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक् । सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडिकोद्गमः ॥
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु । निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ॥ ७ ॥

हैं । अपने यहां यूरिक एसिड की वृद्धि न मानकर उसके स्थान में केवल रक्तदोष माना जाता है । यथाः—'लवणाम्लकटुक्षार' इत्यादि उपर्युक्त प्रथम श्लोक से पांचवें श्लोक तक । तथा च—

विदाह्यन्नं विरुद्धं च तत्तच्चासृक्प्रदूषणम् । भजतां विधिहीनं च स्वप्नजागरमैथुनम् ॥
प्रायेण सुकुमाराणामचङ्क्रमणशालिनाम् । अभिघातादशुद्धेश्च नृणामसृजि दूषिते ॥
वातलैः शीतलैर्वायुर्वृद्धः क्रुद्धो विमार्गगः । तादृशेनासृजा रुद्धः प्राक्तदेव प्रदूषयेत् ॥
आढ्यरोगं खुडं वातबलासं वातशोणितम् । तदाहुर्नामभिस्तच्च पूर्वं पादौ प्रधावति ॥

अष्टाङ्गहृदय, चि० अ० १६ श्लो० १-४ ॥

रोग का पूर्वरूप-ठीक नींद न आना, कण्डू, कान में शब्द का प्रतीत होना, लालास्राव, वमन, उदरशूल, आध्मान, मूत्र की राशि कम तथा गहरे रंग का होना ।

रोग के लक्षण—एक दो रोज के बाद रात को एक-दो बजे अंगूठे की सन्धि में विशेष करके दाहिने में जोर से पीडा उत्पन्न होकर रोगी की नींद खुल जाती है । पीडा अत्यन्त तीव्र होती है । सन्धि की त्वचा चमकीली और तनावयुक्त रहती है । दबाने पर कुछ दब जाती है । उसमें जलन और टपक मालूम होती है । उसके आस पास की शिरायें फूलती हैं । रोगी को सर्दी मालूम होकर १०२° तक ज्वर भी चढ़ता है । एक दो घंटे के बाद पसीना आने लगता है और लक्षणों की तीव्रता कुछ कम होकर प्रातःकाल रोगी को कुछ नींद भी आ जाती है । दिनभर सन्धि में शोथ होते हुये भी रोगी को काफी आराम मालूम पड़ता है । रात के समय फिर से जोर करता है और इस तरह कई दिनों तक (१०-१२ दिन तक) रोग का दौरा जारी रहता है । परन्तु दिन प्रतिदिन या रात प्रतिरात रोग की तीव्रता कम हो जाती है । इस रोग में मुख्यतया अँगूठे की सन्धि पीडित होती है परन्तु इसके सिवाय कभी २ टखना, जानु तथा कोहनी इन सन्धियों में भी पीडा हो सकती है । शोथ में पूयोत्पत्ति कदापि नहीं होती और शोथ कम होने के पश्चात् सन्धि के ऊपर की त्वचा निकल जाती है और उसका वर्ण पूर्ववत् हो जाता है । आक्रमण के समय सन्धिपीडा और ज्वर के अतिरिक्त अरुचि, प्यास, जी मिचलाना, मलावरोध, जिह्वा का मैलापन, सांस में कठिनाई क्वचित् प्रलाप और बेहोशी ये लक्षण भी हुआ करते हैं । कभी २ शाखाओं की शिराओं का शोथ भी हो जाता है । रक्त में श्वेतकणों की संख्या २०-२५ हजार तक हो जाती है जिसमें ८०-८५% तक बहु-केन्द्रिय श्वेत कण होते हैं । रोग का दौरा समाप्त होने के बाद रोगी को पहिलेसे भी अधिक आराम मालूम पड़ता है । उसके बाद कुछ महीनों तक कभी २ दो तीन साल तक रोगी उससे पीडित नहीं होता । कुछ लोगों में इसके पुनरावर्तन साल में ३-४ बार भी हुआ करते हैं । अपने यहाँ अष्टाङ्गहृदय में भी प्रायः ऐसा ही वर्णन मिलता है, यथाः—

भविष्यतः कुष्ठसमं तथा सादः श्लथाङ्गता । जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु ॥
कण्डूस्फुरणनिस्तोदभेदगौरवसुप्तताः । भूत्वा भूत्वा प्रणश्यन्ति मुहुराविर्भवन्ति च ॥'

तथा च—पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि ।
आखोरिव विषं क्रुद्धं कृत्स्नं देहं विधावति ॥ अष्टाङ्गहृदय नि०अ० १६ श्लो० ५-७

जिर्ण वातरक्त (Chronic Gout)—

बार २ रोग पीडित होने के कारण जोड़ों की विकृति उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती जाती है अस्थि, मृद्वस्थि, स्नायु तथा अन्य अङ्गों में सोडियम बायोरेट (Sodium Viorate) नामक

लवण का संचय स्थिर हो जाता है और उसी के कारण जोड़ों में शोथ स्थिर हो जाता है और वे वेडौल हो जाते हैं। कर्णपाली में गांठें दिखाई देती हैं। अग्निमन्दता स्थिर हो जाती है। धमनियों में कठिनता आ जाती है। हृदय की विशेषतया वामनिलय की वृद्धि (Hypertrophy of the left Ventricle) हो जाती है और इन दोनों से रक्त का भार बढ़ जाता है। उदर की पेशियों तथा पिण्डलियों (Calf muscles) में ऐंठन होती है। जिस प्रकार पाश्चात्त्य वैद्यक में वातरक्त के तरुण और जीर्ण दो प्रकार माने जाते हैं उसी प्रकार अपने यहां उत्तान तथा गम्भीर दो प्रकार के वातरक्त माने जाते हैं, यथाः—

'उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत्प्रचक्षते। त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्॥
कण्डूदाहरुगायामतोदस्फुरणकुञ्चनैः। अन्विता श्यावरक्ता त्वग्बाह्ये ताम्रा तथोच्यते॥
गम्भीरे श्वयथुः स्तब्धः कठिनोऽन्तर्भृशार्तिमान्। श्यावस्ताम्रोऽथवा दाहतोदस्फुरणपाकवान्॥
रुग्विदाहान्वितोऽभीक्ष्णं वायुः सन्ध्यस्थिमज्जसु। छिन्दन्निव चरत्यन्तर्वक्रीकुर्वंश्च वेगवान्॥
करोति खञ्जं पङ्गुं वा शरीरे सर्वतश्चरन्। सर्वैर्लिङ्गैश्च विज्ञेयं वातासृगुभयाश्रयम्॥

च० चि० अ० २९ श्लो० १९-२२।

रोग के अनुगामी विकार—एक्जिमा (Eczema) या छाजन, अम्लपित्त, अग्नि की मन्दता, धमनीदार्ढ्य, हृत्पेशी की वृद्धि तथा विस्फार, रक्तभाराधिक्य, पुराना वृक्कशोथ, वृक्काश्मरी, सिरदर्द, आधाशीशी, विविध नाडियों के शूल, गृध्रसी (Sciatica), पैरों तथा आखों में जलन, ग्लौकोमा (Glaucoma) और आइराइटिस (Iritis)।

रोग का निदान—कुलजप्रवृत्ति, बार २ आक्रमण का इतिहास, मध्य रात्रि के समय आक्रमण होना, अंगूठे की सन्धि में पीडा, पीडित सन्धि में अत्यन्त पीडनाक्षमता और त्वचामें चमकीलापन, कान में तथा त्वचा के नीचे गांठें उत्पन्न होना तथा रात्रि में पीडा की अधिकता, ये लक्षण वातरक्त सूचक होते हैं। अधिक सन्धियों में विकृति उत्पन्न होना, दिन प्रतिदिन आक्रमण की तीव्रता बढ़ना, पीडित सन्धि में पूयोत्पत्ति और शरीर में कहीं दूषित स्थान न होना ये वातरक्त-विरोधी लक्षण होते हैं।

सापेक्षनिदान—इसमें आमवात (Rheumatic Fever), दूषितसन्धिशोथ (Septic arthritis) और पूयमेहजन्य (Gonorrheal) शोथ इनका ध्यान रखना चाहिये।

दूषितसन्धिशोथ (Septic arthritis) में प्रायः एकही सन्धि दूषित होती है। उसमें पूयोत्पत्ति होती है। शरीर में कहीं दूषित स्थान मिलता है। और ज्वर प्रलेपकस्वरूप (Hectictype) का होता है।

प्रायोगिक पद्धतियाँ—

१—मूत्र में यूरिक एसिड (Uric acid) की परीक्षा करना।

२—लसीकाविषयक—लसीका में यूरिक एसिड (Uric acid) की मात्रा निश्चित करना। यदि प्रतिशत ३-४ मि० ग्रा० से अधिक यूरिक एसिड (Uric acid) हो तो वातरक्त का ध्यान रखना चाहिये।

३—सूक्ष्मदर्शक द्वारा—जहां पर गांठ होती है वहां से लवण के कुछ स्फटिक निकाल कर उनकी परीक्षा सूक्ष्मदर्शक से करनी चाहिये।

४—(Xray) द्वारा भी परीक्षा की जाती है।

साध्यासाध्यता—एक बार इससे पीडित होने पर रोगी इससे पूर्णतया निर्मुक्त नहीं होता है। हृदय और वृक्क में विशेष खराबी न होने पर पथ्य से रहने पर रोगी अपने स्वाभाविक आयु के अन्त तक जी सकता है।

*स्वर्मागमनमत्यर्थं भवति न वा सर्वथा भवति, एतच्च व्याधिमहिम्ना कुष्ठवद्बोद्धव्यम्। क्षतेऽतिरुक्=यदि क्षतं स्यात् तदा तत्रातिरुक्। सदनं=सुप्तिः, अङ्गानाम्। पिडिकाप्रादुर्भावः। जान्वादिषु निस्तोदः=पीडाविशेषः। वैवर्ण्य=त्वक्कान्तिक्षयः॥ ६-८॥

पसीने का बहुत आना अथवा बिल्कुल न आना, शरीर का वर्ण कृष्ण हो जाना, स्पर्शज्ञान का नष्ट हो जाना, यदि व्रण हो जाय तो उस में अत्यन्त वेदना, सन्धियों की शिथिलता, आलस्य, शरीर की जड़ता, पिडकियों का निकलना, जानु, जङ्घा, ऊरु, कन्धा, हाथ, पैर तथा सम्पूर्ण अङ्ग की सन्धियों में सुई चुभाने के समान पीडा, अङ्गों का फड़कना, भेद, गुरुता, शून्यता, कण्डू, सन्धियों में वेदना, वारम्बार दाह हो होकर नष्ट हो जाना, चमड़े की कान्ति का नष्ट हो जाना तथा चकत्ते उत्पन्न हो जाना ये सब वातरक्त के पूर्वरूप हैं।

पसीने का आना या बिल्कुल न आना यह व्याधि की महिमा से कुष्ठ के समान जानना चाहिये॥ ६-८॥

वाताधिकस्य वातरक्तस्य लक्षणमाह—

वातेऽधिकेऽधिकं तत्र शूलं स्फुरणतोदनम्। शोथस्य रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्यावता वृद्धिहानयः॥
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक्। शीतद्वेषानुपशयौ स्तम्भवेपथुसुप्तयः॥१०॥

*तत्र पादयोः शूलादिकमधिकं, यत आह सुश्रुतः—

'स्पर्शोद्विग्नौ तोदभेदप्रशोषौ स्वापोपेतौ वातरक्तेन पादौ' इति॥ २॥

तथा शोथस्य रौक्ष्यादिकं वृद्धिहानयश्च विज्ञेयाः। सुप्तिः=स्पर्शाज्ञता॥ ९-१०॥

वातरक्त में यदि वायु की अधिकता हो तो शूल, स्फुरण, सुई चुभाने के समान पीड़ा होती है। शोथ में रूक्षता तथा कृष्णता और सांवलापन होता है। सूजन में वृद्धि तथा हानि दोनों होती हैं। धमनियों में तथा अङ्गुलियों की सन्धियों में सङ्कोच होता है। अङ्गस्तम्भ तथा दारुण व्यथा होती है। रोगी शीत से द्वेष करता है। शरीर स्तम्भ होजाता है, कांपता है तथा स्पर्शज्ञान नष्ट हो जाता है।

यहां पर शूल और स्फुरण इत्यादि पांव में ही होते हैं। ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि सुश्रुत ने कहा है कि वातरक्त से दोनों पैर स्पर्श से उद्विग्न हो जाते हैं और दोनों पैरों में सुई चुभाने के समान पीडा, भेदन, शोथ तथा जड़ता होती है॥ ९-१०॥

रक्ताधिकस्य वातरक्तस्य लक्षणमाह—

रक्ते शोथोऽतिरुक्तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते। स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदसमन्वितः॥

*'रक्तेऽधिक' इत्यनुवर्त्तनीयम्। एवं वक्ष्यमाणपित्तादिष्विति। एतदारम्भकरक्ताद्रक्तान्तरं बोद्धव्यम्। रक्तमपि रक्तान्तरदूषकं भवति। यदुक्तं दुष्टरक्तलक्षणम्—पित्तवद्रक्ते नातिकृष्णञ्चे'ति। अतिरुक्तोदः=अतिरुक्तोदो यत्र सः। शोथः। चिमिचिमायते='चिमिचिमे'ति कण्डूभेदः, स्पर्शप्रियेति यावत्। 'चुहचुहा' इति लोके, तद्युक्तः। क्लेदसमन्वितः=क्लेदः=आर्द्रता, तद्युक्तः॥ ११॥

वातरक्त में यदि रक्त की अधिकता हो तो अत्यन्त वेदनायुक्त, तोदयुक्त, अरुणवर्ण का, चिमचिम करनेवाला, खुजली तथा क्लेदयुक्त शोथ होता है जो कि स्निग्ध तथा रूक्ष पदार्थों से शान्त नहीं होता।

इस रोग में जो रक्ताधिक्य होता है वह रक्त वातरक्त के उत्पन्न करने वाले रक्त से अलग है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि रक्त भी दूसरे रक्त को दूषित करता है॥ ११॥

पित्ताधिकस्य वातरक्तस्य लक्षणमाह—

पित्ते विदाहः संमोहः स्वेदो मूर्च्छा मदस्तृषा। स्पर्शासहत्वं रुग्दाहः शोथः पाको भृशोष्णता॥

*पित्तेऽधिके विदाहः=विशेषेण दाहः। विदाहादयश्च पादयोरेव बोद्धव्याः। यत आह सुश्रुतः—

'पित्तासृग्भ्यामुग्रदाहौ भवेतामत्यर्थोष्णौ रक्तशोथौ मृदू च।'

'पादावि'ति शेषः। संमोह आतुरस्य। स्वेदः पादयोः। मूर्च्छा = पादयोः समुच्छ्रायः, शोथ इति यावत्। न तु मूर्च्छा = मोहः, संमोहस्योक्तत्वात्॥ १२॥

जिस वातरक्त में पित्त की अधिकता होती है उसमें दाह की विशेषता होती है। रोगी संज्ञाहीन होजाता है। पसीना आता है। मूर्च्छा तथा मद होता है। प्यास लगती है। स्पर्श को सहन नहीं कर सकता है। व्यथा, दाह, शोथ, पाक तथा तीव्र उष्णता होती है।

अत्यन्त दाह का होना और स्पर्श को न सह सकना, स्वेद, शोथ इत्यादि पांव में ही होते हैं। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है-'पित्त तथा रक्त से दोनों पांव अत्यन्त दाहयुक्त, अत्यन्त उष्ण, रक्तवर्ण, शोथयुक्त तथा मृदु होते हैं॥ १२॥

अधिककफद्विदोषत्रिदोषाणां वातरक्तानां लक्षणान्याह—

कफे स्तैमित्यगुरुता सुप्तिः स्निग्धत्वशीतता। कण्डूर्मन्दा च रुग्द्वन्द्वसर्वलिङ्गञ्च सङ्करे॥१३॥

*कफेऽधिके स्तैमित्यं = शरीरस्यार्द्रचर्मावगुण्ठितत्वमिव। गुरुताऽऽदयः पादयोरेव। यत आह सुश्रुतः—

'कण्डूमन्तौ श्वेतशीतौ सशोथौ पीनौ स्तब्धौ श्लेष्मदुष्टे तु रक्ते'॥ ३॥

पादाविति शेषः। अधिकद्विदोषम्, अधिकत्रिदोषं च, तदाह—द्वन्द्वसर्वलिङ्गं च सङ्करे = द्वित्रिदोषसंसर्गे॥ १३॥

वातरक्त में यदि कफ की अधिकता हो तो शरीर आर्द्र चर्म से ढके हुए के समान प्रतीत होता है। गुरुता, जड़ता, स्निग्धता, शीतलता, मन्द कण्डू तथा व्यथा होती है। दो दोषों की अधिकता हो तो दोनों दोषों के लक्षण मिलते हैं। और तीनों दोषों की अधिकता से तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं। गुरुता, जड़ता तथा स्निग्धता इत्यादि लक्षण पावों में ही होते हैं। जैसा कि सुश्रुत ने भी कहा है कि-'रक्त के कफ द्वारा दुष्ट होने पर पावों में कण्डू, श्वेत तथा शीतल शोथ होता है और पांव कठिन तथा स्तब्ध होजाते हैं॥ १३॥

वातरक्तप्रसर्पणप्रकारमाह—

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि। आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमनुसर्पति॥ १४॥

*आखोः = मूषकस्य। आखोर्विषमिवेत्यनेन मन्दविसर्पत्वं बोधितम्। देहमनुसर्पति, अप्रतिक्रियाणाम्॥ १४॥

पावों तथा हाथों के मूल में उत्पन्न होकर चूहे के विष के समान कुपित वातरक्त चिकित्सा न करने वाले मनुष्यों के शरीर में धीरे धीरे फैलता है॥ १४॥

वातरक्तस्योपद्रवानाह—

अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः। मूर्च्छा चामन्दरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः॥१५॥
हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः। अङ्गुलीवक्रतास्फोटदाहमर्मग्रहार्बुदाः॥ १६॥

*मांसकोथो = मांसगलनम्। मूर्च्छा = तदङ्गसमुच्छ्रायः। अमन्दरुक्=पीडाबाहुल्यम्। प्रवेपकः=कम्पः, प्रवेपनं प्रवेपस्ततः स्वार्थे कः॥ १५-१६॥

निद्रानाश, अरुचि, श्वास, मांस का गलना, शिरःशूल, मूर्च्छा, अधिक पीड़ा, तृष्णा, ज्वर मोह, कम्प, हिक्का, पङ्गुता, विसर्प, पाक, सुई चुभाने के समान पीड़ा, भ्रम, ग्लानि, अङ्गुलियों की वक्रता, फूटना, दाह, मर्मस्थानों में पीडा तथा अर्बुद ये सब वातरक्त के उपद्रव होते हैं॥ १५-१६॥

वातरक्तस्य साध्यत्वादिकमाह—

एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन चापि तत्। अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्॥१७॥

*मोहेनैकेनेति वचनम्—अस्वप्नादिभिः समस्तैरसाध्यत्वं बोधयति॥ १७॥

उपर्युक्त इन सब उपद्रवों से युक्त वातरक्त की चिकित्सा न करनी चाहिये। अथवा यदि केवल

मोह ही उत्पन्न होगया हो तो भी असाध्य समझना चाहिये। यदि इन उपद्रवों में से कुछ उपद्रव उत्पन्न होगये हों तो उस वातरक्त को याप्य और निरुपद्रव वातरक्त को साध्य समझना चाहिये ॥१७॥

एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम्। त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः॥

***नवं=संवत्सरादर्वाचीनं, तत्साध्यम् ॥ १८ ॥**

जो वातरक्त एक दोष वाला तथा एक वर्ष का हो उसे साध्य, दो दोष से उत्पन्न हुये वातरक्त को याप्य तथा त्रिदोषज तथा उपद्रवयुक्त वातरक्त को असाध्य समझना चाहिये ॥ १८ ॥

आजानु स्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतञ्च यत्। उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः।
वातरक्तमसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम् ॥ १९ ॥

***आजानु = पद्भ्यां जानुपर्य्यन्तं यद्भवति तदसाध्यं स्यात्। स्फुटितं = यच्च त्वङ्मात्रे शीतेनेव किञ्चिद्विदीर्णम्। प्रभिन्नम् = अधिकविदीर्णम्। प्रस्रुतं = वहत् ॥ १९ ॥**

जो वातरक्त पांवों से घुटने तक फैला हुआ हो जिस प्रकार शीत के लग जाने से चमड़ा फट जाता है उसी प्रकार जिस वातरक्त में चमड़ा फट जाता है, जिस वातरक्त में चमड़ा बहुत फट गया हो और जिससे स्राव होता हो अथवा बल या मांस के क्षय इत्यादि उपद्रवोंसे युक्त हो तो असाध्य और इन लक्षणों वाले वातरक्त को उत्पन्न हुए यदि एक वर्ष हुआ हो तो उसे याप्य जानना चाहिये॥

वातरक्तचिकित्सामाह—

वातशोणितिनो रक्तं स्निग्धस्य बहुशो हरेत्। अल्पाल्पं रक्षयेद्वायुं यथादोषं यथाबलम्॥२०॥

***रक्षयेद् वायुं—यथा वायुर्न वर्धते तथा रक्तं हरेदित्यर्थः ॥ २० ॥**

उग्राङ्गदाहतोदेषु जलौकोभिर्विनिर्हरेत् ॥ २१ ॥

शृङ्गेण वै चिमिचिमाकण्डूरुग्वेपनान्वितम्। प्रच्छन्नेन शिराभिर्वा देशाद्देशान्तरं व्रजेत्॥२२॥

***विनिर्हरेद् = निष्कासयेत्। चिमिचिमा = 'चुहचुहा' इति लोके। प्रच्छन्नं='पच्छना' इति लोके। 'व्रजेदि'ति रक्तविशेषणम् ॥२१-२२॥**

सर्वप्रथम वातरक्त के रोगी को स्निग्ध करके उसके दोष तथा बलके अनुसार बारम्बार थोड़ा २ रक्तमोक्षण कराना चाहिये। रक्त निकलवाते समय वायु की रक्षा करनी चाहिये जिससे वायु न बढ़े उसी प्रकार रक्त को निकलवाना चाहिये। उग्र दाह तथा सुई चुभाने के समान पीड़ायुक्त वातरक्त में जोंक द्वारा रक्त निकलवाना चाहिये। चिमचिम करनेवाले, खुजली, व्यथा तथा कम्पयुक्त वातरक्त में सींगी द्वारा रक्तमोक्षण कराना चाहिये। यदि वातरक्त शिराओं द्वारा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाता हो तो पछना द्वारा रक्त निकलवाना चाहिये ॥ २०-२२ ॥

अङ्गेग्लाने तु न स्राव्यं रक्षेद्वातोत्तरञ्च यत्। गम्भीरं श्वयथुं स्तम्भं कम्पवायुं शिराऽऽमयान्।
ग्लानिमन्यांश्च वातोत्थान्कुर्याद्वायुरसृक्क्षयात् ॥ २३ ॥

अङ्ग में ग्लानि हो तो रक्तमोक्षण न कराना चाहिये। यदि रक्त निकलवावे तो उसमें वायु की वृद्धि न हो ऐसे प्रकार से निकलवाना चाहिये। रक्त के क्षय हो जाने से वृद्ध वायु गम्भीर शोथ, स्तम्भ, कम्पावायु, शिराओं में पीड़ा, ग्लानि तथा अन्य वातसम्बन्धी रोगों को उत्पन्न करता है॥

खञ्जादीन वातरोगांश्च मृत्युञ्चानवशेषितम्। कुर्यात्तस्मात्प्रमाणेन स्निग्धाद्रक्तं विनिर्हरेत्॥

यदि रक्त उचित परिमाण में शेष न रह जाय तो खञ्जता इत्यादि वातरोगों को उत्पन्न करता तथा मृत्यु होजाती है। अतः रोगी को स्निग्ध करके प्रमाण से रक्त निकलवाना चाहिये ॥ २४ ॥

रूक्षैर्वा मृदुभिः शस्तमसकृद्वस्तिकर्म च। नहि वस्तिसमं किञ्चिद्वातरक्तचिकित्सितम्॥२५॥

वातरक्त से पीडित मनुष्य का स्नेहन करके स्नेहयुक्त विरेचक ओषधियों अथवा रूक्ष या मृदु ओषधियों से विरेचन कराना चाहिये। और इस रोग में बारम्बार वस्तिकर्म कराना हितकर है। वस्ति के समान वातरक्त की और कोई दूसरी चिकित्सा नहीं है ॥ २५ ॥

बाह्यमालेपनाभ्यङ्गपरिषेकोपनाहनैः। विरेकास्थापनस्नेहपानैर्गम्भीरमाचरेत् ॥ २६ ॥

यदि वातरक्त बाहर हुआ हो तो लेप, अभ्यङ्ग, परिषेक तथा उपनाह द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये और यदि वातरक्त गम्भीर हो तो विरेचन, आस्थापनवस्ति तथा स्नेहपान द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २६ ॥

दिवास्वप्नं ससन्तापं व्यायामं मैथुनं तथा। कट्वुष्णगुर्वभिष्यन्दि लवणाम्लौ च वर्जयेत् ॥

दिन में सोना, धूप का सेवन, व्यायाम, मैथुन, कटु, उष्ण, गुरु, अभिष्यन्दी, नमकीन तथा अम्ल इन सब पदार्थों का सेवन वातरक्त का रोगी छोड़ दे ॥ २७ ॥

पुराणा यवगोधूमा नीवाराः शालिषष्टिकाः। भोजनार्थे रसार्थे तु विष्किराः प्रतुदा हिताः ॥
आढक्यश्चणका मुद्गा मसूराः सकुलत्थकाः। यूपार्थे बहुसर्पिष्काः प्रशस्ता वातशोणिते ॥२९॥

पुराने जौ, गेहूं, तिन्नी, शालिचावल तथा साठी चावल ये सब वातरक्त के रोगी के भोजन के लिये पथ्य है।

विष्किर (मुर्गा इत्यादि) तथा प्रतुद (तोता इत्यादि) पक्षियों के मांसरस वातरक्त रोगी के लिये हितकर हैं।

वातरक्त से पीडित मनुष्य को अरहर, चने, मूंग, मसूर तथा कुलथी इनके यूप में अधिक घी मिलाकर देना हितकर है ॥ २८-२९ ॥

सुनिषण्णकवेत्राग्रकाकमाचीशतावरी। वास्तुकोपोदिकाशाकं शाकं सौवर्चलं तथा ॥ ३० ॥
घृतमांसरसैर्भृष्टं शाकसात्म्याय दापयेत् ॥ ३१ ॥

***सुनिषण्णः=चाङ्गेरीसदृशः, चतुष्पत्रशाकः सजले स्थले भवति, 'सुसुनि' इति लोके 'धवली चिरमी' इति क्वचित् ॥३०-३१॥**

जिन वातरक्त रोगियों को शाक सात्म्य है उन्हें चौपतिया (सिरियारी) बेंत का अग्र भाग, मकोय, शतावरी, वथुवा, पोई इन शाकों को घी तथा मांसरस में भूनकर काला नमक मिलाकर सेवन कराना चाहिये ॥ ३०-३१ ॥

सर्पिस्तैलवसामज्जपानाभ्यञ्जनवस्तिभिः। सुखोष्णैरुपनाहैश्च वातोत्तरमुपाचरेत् ।
हितो गोधूमचूर्णश्च च्छागक्षीरघृताप्लुतः ॥ ३२ ॥

घी, तेल, वसा तथा मज्जा इनके पान, अभ्यङ्ग वस्ति तथा किञ्चित् उष्ण उपनाह द्वारा वातोत्तर वातरक्त का उपचार करना चाहिये।

गेहूं के आटे को बकरी के घी अथवा दूध के साथ उबालकर लेप करना वातरक्तमें हितकर है ॥

लेपस्तद्वत्तिला भृष्टाः पिष्टाः पयसि निर्वृताः। क्षारपिष्टातसीलेपो वर्द्धमानफलेन वा ॥ ३३ ॥

उसी प्रकार तिलों को भून कर पीस ले। पश्चात् पकाकर लेप करने से अथवा अलसी को दूध में पीसकर लेप करने से या एरण्डबीज को पीसकर लेप करने से वातरक्त शान्त होता है ॥३३॥

उभे शताह्वे मधुकं बलां च, प्रियालकं चापि कसेरुकं च।
वृत्तं विदारीञ्च सितोपलाञ्च, कुर्यात्प्रदेहं पवने सरक्ते ॥ ३४ ॥

सौंफ सोया, मुलहठी, खिरेटी, चिरौंजी, कसेरू, विदारीकन्द तथा मिश्री को पीसकर लेप करने से वातरक्त शान्त होता है ॥ ३४ ॥

रास्ना गुडूची मधुकं बले द्वे सजीवकं सर्षभकं पयश्च।
घृतञ्च सिद्धं मधुशेषयुक्तं रक्तानिलार्त्तिं प्रणुदेत्प्रदेहः ॥३५॥

रास्ना गुडूची, मुलहठी, खिरेटी, महाबला, जीवक, ऋषभक, दूध, घी तथा मोम इनको पकावे। इसका लेप करने से वातरक्त की पीडा नष्ट होती है ॥ ३५ ॥

वासागुडूचीचतुरङ्गुलानामेरण्डतैलेन पिबेत्कषायम्।
क्रमेण सर्वाङ्गजमप्यशेषं जयेदसृग्वातभवं विकारम् ॥३६॥

अडूसा, गुडूची तथा अमलतास के क्वाथ में एरण्डतैल मिलाकर पीने से सम्पूर्ण शरीरमें उत्पन्न हुआ वातरक्तजन्य सम्पूर्ण विकार पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

दशमूलीशृतं क्षीरं सद्यः शूलनिवारणम् । परिषेकोऽनिलप्राये तद्वत्कोष्णेन सर्पिषा ॥ ३७ ॥

जिस वातरक्त में वात की अधिकता हो उसमें दशमूल से पकाये हुये दूध को पीने से अथवा किञ्चित् उष्ण घी के परिषेक से शूल तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ ३७ ॥

पटोलकटुकाभीरुत्रिफलाऽमृतसाधितम् । क्वाथं पीत्वा जयेज्जन्तुः सदाहं वातशोणितम् ॥

परवल, कुटकी, शतावरी, त्रिफला तथा गुडूची इनके क्वाथ को पीने से दाहयुक्त वातरक्त शान्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

त्रिवृद्विदारीक्षुरकक्वाथो वातास्रनाशनः । अमृता कफवातघ्नी कफमेदोविशोषिणी ॥३९॥
वातरक्तप्रशमनी कण्डूवीसर्पनाशिनी ॥ ४० ॥
गुडूच्याः स्वरसं कल्कं चूर्णं वा क्वाथमेव च । प्रभूतकालमासेव्य मुच्यते वातशोणितात् ॥४१॥

निशोथ, विदारीकन्द तथा गोखरू का क्वाथ वातरक्त को नष्ट कर देता है ।

गुडूची कफ तथा वात को नष्ट करती है । कफ तथा मेद का शोषण करती है । वातरक्त को शान्त करती है । कण्डू और विसर्प को नष्ट करती है । इस लिये गुडूची के स्वरस, कल्क, चूर्ण अथवा क्वाथ को अधिक दिनों तक सेवन करके वातरक्त से मुक्त हो जाता है ॥ ३९-४१ ॥

अमृतानागरधान्यक-कर्षत्रितयेन पाचनं सिद्धम् । जयति सरक्तंवातं सामं कुष्ठान्यशेषाणि ॥

गुडूची १ तो०, सोंठ १ तो० तथा धनियां १ तो० इनके क्वाथ को पीने से वातरक्त, आमवात और सम्पूर्ण कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

वत्सादन्युद्भवः क्वाथः पीतो गुग्गुलुमिश्रितः । समीरणसमायुक्तंशोणितं सम्प्रणाशयेत् ॥

गुडूची के क्वाथ में गुग्गुलु मिलाकर पीने से वातरक्त नष्ट हो जाता है ॥ ४३ ॥

तिस्रोऽथ वा पञ्च गुडेन पथ्या जग्ध्वा पिबेच्छिन्नरुहाकषायम् ।
तद्वातरक्तं शमयत्युदीर्ण-माजानुभिन्नं च्युतमप्यवश्यम् ॥ ४४ ॥

तीन अथवा पांच हरड़ों के चूर्ण को गुड़ मिलाकर खाकर गुडूची के क्वाथ को पीने से जानु तक फटा हुआ और स्रावयुक्त दारुण वातरक्त अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ ४४ ॥

गुग्गुलुवटिकामाह—

गुग्गुलवमृतवल्लीभिर्द्राक्षा सुग लुङ्गरसेन वा । त्रिफलाया रसैर्युक्ता गुटिकाः कोलसम्मिताः ॥
भक्षयेन्मधुनालोड्य शृणु कुर्वन्ति यत्फलम् । पादस्फोटं महाघोरं स्फुटत्सर्वाङ्गसञ्चयम् ।
तत्सर्वं नाशयत्याशु साध्यञ्चैव सशोणितम् ॥ ४६ ॥

गुग्गुलु को गुडूची के स्वरस अथवा मुनक्का तथा बिजौरे नीबू के रस अथवा त्रिफला के रस से बेर के बराबर गोली बनाकर मधु मिला कर चाटने से जो फल होता है उसे सुनिये । सम्पूर्ण अङ्गों को फोड़ने वाला महाघोर पादस्फोट रोग तथा सम्पूर्ण साध्य वातरक्त शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥

माहिषं नवनीतं तु बलिना परिमिश्रितम् । गोमूत्रमिश्रितं कृत्वा क्षीरेण लवणेन च ॥४७॥
तदेकत्र समालोड्य वह्निना भावयेच्छनैः । गात्रमुद्वर्त्तयेत्तेन देहस्फुटनशान्तये ॥ ४८ ॥

गन्धक को भैंस के मक्खन, गोमूत्र, दूध तथा सेन्धानमक के साथ मिलाकर धीरे धीरे अग्नि से गर्म करके शरीर में लगाने से अङ्गों का फटना शान्त हो जाता है ॥ ४७-४८ ॥

इति गुग्गुलुवटिका

घृतेन वातं सगुडा विबन्धं पित्तं सिताढ्या मधुना कफञ्च ।
वातासृगुग्रं रुबुतैलमिश्रा शुण्ठ्यामवातं शमयेद् गुडूची ॥ ४९ ॥

गुडूची को घी के साथ सेवन करने से वात, गुड़ के साथ सेवन करने से मलबन्ध, मिश्री के साथ सेवन करने से पित्त और मधु के साथ सेवन करने से कफ, एरण्डतैल के साथ सेवन करने से उग्र वातरक्त तथा सोंठ के साथ सेवन करने से आमवात शान्त हो जाता है ॥ ४९ ॥

सिंहास्यपञ्चमूलीच्छिन्नरुहैरण्डगोक्षुरक्वाथः । एरण्डतैलरामठसैन्धवचूर्णान्वितः पीतः ॥५०॥

प्रशमयति वातरक्तं तथामवातं कटीशूलम् । मूत्रपुरीषविबन्धं ब्रध्नविकारं सुदुर्वारम् ॥५१॥

अडूसा, पञ्चमूल, गुडूची, एरण्डमूल तथा गोखरू के क्वाथ में एरण्डतैल और हींग तथा सेन्धा-नमक का चूर्ण मिलाकर पीने से वातरक्त, आमवात, कटिशूल, मूत्र तथा मल का विबन्ध और दुर्वार ब्रध्न रोग शान्त हो जाता है ॥ ५०–५१ ॥

गन्धर्वहस्तवृषगोक्षुरकामृतानां मूलं बलेक्षुरकयोश्च पचेत्तु धीमान् ।
वातासृगाशु विनिहन्ति चिरप्ररूढमाजानुगं स्फुटितमूर्ध्वगतन्तु धीमान् ॥ ५२ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य एरण्डमूल, अडूसा, गोखरू, गुडूची, खिरेंटी तथा गोखरूमूल इनका क्वाथ बना कर पिये तो बहुत पुराना जानु तक पहुंचा हुआ, फटा हुआ तथा ऊर्ध्वगत वातरक्त शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ५२ ॥

कफपित्तप्रशमनं कण्डूवीसर्पनाशनम् । वातरक्तप्रशमनं हृद्यं गुडघृतं स्मृतम् ॥ ५३ ॥

गुड़ के साथ घी मिलाकर सेवन करने से कफ तथा पित्त शान्त होते हैं । कण्डू और विसर्प नष्ट होते हैं । वातरक्त शान्त होता है तथा हृदय के लिये हितकर है ॥ ५३ ॥

पिप्पलीवर्द्धमानं वा सेव्यं पथ्या गुडेन वा ॥ ५४ ॥

वर्द्धमान पिप्पली को अथवा हरड़ को गुड़ के साथ सेवन करने से वातरक्त शान्त होता है ॥

कोकिलाक्षामृताक्वाथे पिबेत्कृष्णां यथाबलम् । पथ्यभोजी त्रिसप्ताहान्मुच्यते वातशोणितात् ॥

तालमखाना तथा गुडूची इनके क्वाथ में पिप्पली का चूर्ण डालकर अग्नि के बलानुसार सेवन करने से और पथ्य भोजन करने से मनुष्य तीन सप्ताह में वातरक्त से मुक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥

मधुकाद्द्विगुणं तैलं तैलादाजं पयो भवेत् । तद्यथाऽग्निबलं पेयं वातरक्तरुजाऽपहम् ॥५६॥

मुलहठी १ भाग, तेल २ भाग तथा बकरी का दूध ४ भाग लेकर एक में मिला कर अग्नि के बलानुसार पीने से वातरक्त नष्ट हो जाता है ॥ ५६ ॥

अगस्ति पुष्पचूर्णेन माहिषं जनयेद्दधि । तदुत्थनवनीतेन देहजं स्फुटनं जयेत् ॥ ५७ ॥

अगस्त के पुष्पों के चूर्ण को भैंस के दूध में डालकर दही जमा ले । तत्पश्चात् उसमें से मक्खन निकाल कर लेप करने से शरीर का फटना दूर हो जाता है ॥ ५७ ॥

नवकार्षिकक्वाथः—

त्रिफलानिम्बमञ्जिष्ठा वचा कटुकरोहिणी ।
वत्सादनी दारुनिशा कषायो नवकार्षिकः । वातरक्तं तथा कुष्ठं पामानं रक्तमण्डलम् ॥५८॥
कण्डूकपालिकाकुष्ठं पानादेवापकर्षति । पञ्चरक्तिकमाषेण कषायो नवकार्षिकः ॥ ५९ ॥
किञ्चैवं साधिते क्वाथे योग्या मात्रा प्रदीयते । कर्षादौ तु पलं यावद्दद्यात्षोडशिकं जलम् ॥६०॥
ततस्तु कुडवं यावदष्टादशगुणं जलम् । चतुर्गुणमतश्चोर्ध्वं यावत्प्रस्थादिकं भवेत् ॥ ६१ ॥

हरड़, बहेड़ा, आंवला, नीम, मजीठ, वच, कुटकी, गुडूची और दारुहल्दी प्रत्येक १–१ तोला ले क्वाथ बना कर पीने से वातरक्त, कुष्ठ, पामा, रक्तमण्डल तथा कापालिक कुष्ठ तत्काल नष्ट होते हैं । यहां पर ५ रत्ती का माशा माना गया है । इसे 'नवकार्षिक क्वाथ' कहते हैं, इस प्रकार सिद्ध क्वाथ को उचित मात्रा में पीना चाहिये । क्वाथ के लिये १ से ४ तोले तक औषधि में १६ गुना जल डालना चाहिये । इसके बाद १६ तो० ओषधि तक ओषधि से १८ गुना जल डालना चाहिये । तत्पश्चात् ६४ तो० ओषधि तक ओषधि से चौगुना जल डालना चाहिये ॥ ५८–६१ ॥

विरेचनैर्घृतक्षीरपानैः सेकैः सबस्तिभिः । लेपनं शाल्मलीकल्कमविक्षीरेण संयुतम् ॥ ६२ ॥

विरेचन, घी तथा दुग्धपान, परिषेक तथा वस्ति द्वारा और सेमल के चूर्ण को भेड़ के दूध में पीस कर लेप करने से वातरक्त नष्ट होता है ॥ ६२ ॥

रक्तोत्तरं क्षीरघृतं मधुकोशीरवारिभिः । सेचनं चात्र कर्त्तव्यमविक्षीरैः क्षणं क्षणम् ॥ ६३ ॥

वातरक्त में यदि रक्त की अधिकता हो तो दुग्ध, घृत, मुलहठी तथा खस के क्वाथ से अथवा भेंड़ के दूध से प्रतिक्षण सेचन करे ॥ ६३ ॥

सहस्रशतधौतेन घृतेन रुधिरोत्तरे । लेपनं सुष्ठु शीतेन वृतसर्जरसेन वा ॥ ६४ ॥

हजार बार के धोये हुए घृत अथवा सौ बार के धोये हुये घी तथा राल को मिला कर लेप करने से रक्ताधिक्ययुक्त वातरक्त नष्ट हो जाता है ॥ ६४ ॥

शीतैर्निर्वापणैश्चापि रक्तपित्तोत्तरं जयेत् । सरागे सरुजे दाहे रक्तं विस्राव्य लेपयेत् ॥६५॥
तिलाः प्रियालं मधुकं बिसमूलं च वेतसम् । सघृतं पयसा पिष्टं प्रलेपो दाहरोगनुत् ॥६६॥

जिस वातरक्त में रक्त तथा पित्त की अधिकता हो उसका शीतल पदार्थों से परिसेचन करना चाहिये । रक्तवर्ण, दाह तथा वेदनायुक्त वातरक्त में रक्तमोक्षण कराने के पश्चात् तिल, चिरौंजी, मुलहठी, कमल की जड़ तथा बेत इनको दूध में पीस कर घी मिला कर प्रलेप करने से दाह की व्यथा नष्ट हो जाती है ॥ ६५-६६ ॥

पित्तोत्तरे तु काश्मर्यद्राक्षाऽऽरग्वधचन्दनैः ॥ ६७ ॥
मधुकक्षीरकाकोलीयुक्तैः क्वाथं सुशीतलम् । शर्करामधुसंयुक्तं वातरक्ते पिबेन्नरः ॥ ६८ ॥

जिस वातरक्त में पित्त की अधिकता हो उसमें खम्भार के फल, मुनक्का, अमलतास, लालचन्दन, मुलहठी तथा क्षीरकाकोली के क्वाथ को शीतल होजाने पर चीनी तथा मधु मिलाकर पीना चाहिये॥

धारोष्णं मूत्रसंयुक्तं क्षीरं दोषानुलोमनम् । पिबेद्वा सत्रिवृच्चूर्णं पित्तरक्तावृतानिले ॥ ६९ ॥

धारोष्ण दूध में मूत्र तथा निशोथ का चूर्ण मिला कर पीने से पित्त की अधिकता वाला वातरक्त नष्ट होजाता है और दोषों का अनुलोमन होता है ॥ ६९ ॥

क्षीरेणैरण्डतैलं वा प्रयोगेण पिबेन्नरः । बहुदोषे विरेकार्थं जीर्णे क्षीरौदनाशनः ॥ ७० ॥

दोष की अधिकता में मनुष्य विरेचनार्थ दूध के साथ एरण्डतैल को पिये और जीर्ण होजाने पर दूध-भात का भोजन करे ॥ ७० ॥

पटोलं त्रिफला भीरु-गुडूची कटुरोहिणी । क्वाथः पित्ताधिके शस्तः शर्करामधुसंयुतः ॥७१॥

परवल, त्रिफला, शतावरी, गुडूची तथा कुटकी इनके क्वाथ में चीनी तथा मधु मिला कर पीना पित्ताधिक्य वातरक्त में प्रशस्त है ॥ ७१ ॥

तिक्तस्य सर्पिषः पानं बहुशश्च विरेचनम् । वमनं मृदुनाऽभ्यर्थं स्नेहसेको विलङ्घनम् ॥७२॥

पित्ताधिक्य वातरक्त में तिक्त ओषधियों से सिद्ध घृत का पान तथा बारम्बार विरेचन कराना प्रशस्त है। वातरक्त में यदि कफ की अधिकता हो तो मृदु ओषधियों से बारम्बार वमन, स्नेहपान, सेक तथा लङ्घन कराना हितकर है ॥ ७२ ॥

कोष्णाः सेकाश्च शस्यन्ते वातरक्ते कफोत्तरे । तैलमूत्रसुराशुक्तैः परिषेकाः सदा हिताः ॥७३॥

कफाधिक्य वातरक्त में तेल, मूत्र, मद्य तथा शुक्त से परिषेक कराना और कुछ उष्ण सेक कराना हितकर है ॥ ७३ ॥

गौरसर्षपकल्केन प्रदेहो वा रुजापहः ॥ ७४ ॥

अथवा श्वेत सरसों के कल्क के प्रलेप से पीड़ा नष्ट होती है ॥ ७४ ॥

सवरुणशिग्रोः कल्को धान्याम्लेनानिलार्त्तिजिल्लेपात् ।
भवति न वेति विकल्पो न विधेयः सिद्धयोगेऽस्मिन् ॥ ७५ ॥

वरुना तथा सहिजन की छाल को धान्याम्ल नामक काञ्जी में पीस कर लेप करने से वातरक्त की पीड़ा शान्त होती है । यह सिद्धयोग है अतः इस ओषधि से पीड़ा शान्त होगी या नहीं ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिये ॥ ७५ ॥

कल्कः श्लेष्मोत्तरे लेपो वाजिगन्धातिलोद्भवः । लेपः सर्षपनिम्बार्क-हिंस्राक्षारतिलैर्हितः ॥

असगन्ध तथा तिल के कल्क का लेप करने से कफाधिक्य वातरक्त नष्ट हो जाता है । सरसों,

नीम, मदार, वालछड, जवाखार तथा तिल का लेप करना कफाधिक्य वातरक्त में हितकर है ॥७६॥

श्रेष्ठः शक्तुघृतक्षारकपित्थत्वग्भिरेव च। मसूरशिग्रोस्तद्बीजं हितं धान्याम्लसंयुतम्। मुहूर्त्तालिप्तमम्लैश्च सिञ्चेद्वातकफोत्तरे ॥ ७७ ॥

सत्तू, घी, जवाखार तथा कैथ की छाल इनको पीसकर लेप करने से कफाधिक्य वातरक्त शान्त होता है। मसूर की दाल तथा सहिजन के बीज इनको धान्याम्ल नामक काञ्जी में पीस कर एक मुहूर्त तक (एक घंटे के लगभग) लेप करे। तत्पश्चात् अम्ल पदार्थों से सेचन करे, यह वात तथा कफ की अधिकतावाले वातरक्त में हितकर है ॥ ७७ ॥

मुस्तामलकनिशाभिः क्वथितं तोयं समाक्षिकं पेयम्। जयति सदागतिरक्तं सकफं वा सततयोगेन ॥ ७८ ॥

नागरमोथा, आंवला तथा हल्दी इनका क्वाथ बना कर मधु मिला कर पीने का निरन्तर अभ्यास करने से वातरक्त अथवा कफयुक्त वातरक्त नष्ट हो जाता है ॥ ७८ ॥

हरिद्रामृतकक्वाथं मधुना मधुरीकृतम्। पिबेद्वा त्रिफलाक्वाथं वातरक्ते कफाधिके ॥ ७९ ॥

हल्दी तथा गुडूची के क्वाथ अथवा त्रिफला क्वाथ में मधु मिला कर मीठा करके पीने से कफाधिक्य वातरक्त नष्ट हो जाता है ॥ ७९ ॥

हरीतकीं वा तक्रेण पाययेदुदकेन वा। गृहधूमो वचा कुष्ठं शताह्वा रजनीद्वयम्। प्रलेपः शूलनुद्वातरक्ते वातकफोत्तरे ॥ ८० ॥

तक्र अथवा जल के साथ हरड़ के चूर्ण को पीने से कफाधिक्य वातरक्त नष्ट होता है। घर का धुवां, वच, कूठ, सोया, हल्दी तथा दारुहल्दी इनको पीस कर लेप करने से वाताधिक्य तथा कफाधिक्य वातरक्त का शूल नष्ट हो जाता है ॥ ८० ॥

अमृताकटुकायष्टीशुण्ठीकल्कं समाक्षिकम् ॥ ८१ ॥
गोमूत्रपीतं जयति सकफं वातशोणितम्। धात्रीहरिद्रामुस्तानां कषायं वा समाक्षिकम् ॥

गुडूची, कुटकी, मुलहठी तथा सोंठ के कल्क को मधु मिला कर गोमूत्र के साथ पीने से कफाधिक्य वातरक्त नष्ट होता है। अथवा आंवले, हल्दी तथा नागरमोथे के क्वाथ में मधु मिला कर पीने से कफाधिक्य वातरक्त नष्ट हो जाता है ॥ ८१-८२ ॥

लाङ्गलीगुटिकामाह—

लाङ्गल्यास्त्वमृतातुल्यं कन्दमुद्धृत्य यत्नतः। योजयेत्त्रिफलालौहरजस्त्रिकटुकैः समैः ॥८३॥
गुग्गुल्वमृतवल्लीभिर्द्राक्षालुङ्गरसेन वा। त्रिफलाया रसैर्युक्ता गुटिकाः कोलसम्मिताः ॥८४॥
भक्षयेन्मधुनालोड्य शृणु कुर्वन्ति यत्फलम्। पादस्फुटितं दुर्भग्नं जानुप्राप्तं च यद्भवेत् ॥
यच्च देहोद्गतं रक्तं यच्चासाध्यं प्रकीर्त्तितम्। घ्नन्त्येता भक्ष्यमाणस्य प्रबलं वातशोणितम् ॥

कलिहारी के कन्द को यत्नपूर्वक उखाड़ कर उसी के बराबर गुडूची ले। तथा हरड़, बहेड़ा, आंवला, लौहभस्म, सोंठ, मिर्च और पीपल इन सब को समान भाग में मिला दें। तत्पश्चात् गुग्गुलु, गुडूची, मुनक्का, बिजौरे नीबू के रस अथवा त्रिफले के रस से बेर के समान गोली बना ले। इसे मधु में मिला कर खावे। इन गोलियों के खाने से जो फल होता है उन्हें सुनिये। इसके सेवन करने वाले मनुष्य का पादस्फोट, दुर्भग्न, जानु तक हुआ, असाध्य तथा शरीर में से रक्त निकलता हुआ, इन लक्षणों से युक्त प्रबल वातरक्त नष्ट हो जाता है ॥ ८३-८६ ॥

(संसर्गे सन्निपाते च क्रियापथ्यमुक्तं मिश्रं कुर्यात्)

(द्वन्द्वज तथा सान्निपातिक वातरक्त में उपर्युक्त मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिये।)

बलाघृतमाह—

बलामतिबलां मेदामात्मगुप्तां शतावरीम्। काकोलीं क्षीरकाकोलीं रास्नां मृद्वीं च पेषयेत् ॥
घृतं चतुर्गुणं क्षीरं तैः सिद्धं वातरक्तनुत्। हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलादाहनाशनम् ॥८८॥

खिरेटी, कंघी, मेदा, कौंच के बीज, शतावरी, काकोली, क्षीरकाकोली, रास्ना तथा किसमिस को पीसकर चौगुने दूध में घी को सिद्ध कर लेना चाहिये । यह घृत वातरक्त, हृद्रोग, पाण्डुरोग, विसर्प, कामला तथा दाह को नष्ट करता है ॥ ८७–८८ ॥

अपरपिण्डतैलमाह—

बलास्थिरानागबलागुडूचीशतावरीकल्ककषायसिद्धम् ।
तैलं विदध्यादनुवासनेषु तद्वातरक्तं शमयत्युदीर्णम् ॥ ८९ ॥

खिरेटी, पृश्निपर्णी, गंगेरन, गुडूची तथा शतावरी इनके कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध तैल द्वारा अनुवासन वस्ति देने से प्रबल वातरक्त शान्त होता है ॥ ८९ ॥

पारूपकघृतमाह—

त्रायन्तिका चामलकी द्विकाकोली शतावरी । कसेरुका कषायेण कल्कैरेभिः पचेद् घृतम् ॥
उभे परूपके द्राक्षा काश्मर्यः ससुरद्रुमाः । पृथग्विदार्याः स्वरसं तथा क्षीरं चतुर्गुणम् ॥
एतदायोजितं सर्पिः पारूपकमिति स्मृतम् । वातरक्ते क्षते क्षीणे वीसर्पे पैत्तिके ज्वरे ॥९२॥

त्रायमाण, आंवले, काकोली, क्षीरकाकोली, शतावरी तथा कसेरू इनके क्वाथ में दोनों तरह के फालसे, मुनक्का, खम्भार के फल तथा देवदारु इनके कल्क को डाल कर विदारीकन्द के स्वरस तथा चौगुने दूध में घृतपाक कर लेने से पारूपक घृत सिद्ध होता है । यह घृत वातरक्त, क्षतक्षीण, विसर्परोग तथा पित्तज्वर में हितकर है ॥ ९०–९२ ॥

शतावरीघृतमाह—

शतावरीकल्कगर्भं रसे तस्याश्चतुर्गुणे । क्षीरतुल्यं घृतं सिद्धं वातशोणितनाशनम् ॥९३॥

शतावरी का कल्क डालकर तथा चौगुने शतावरी स्वरस में घीके बराबर दूध डालकर घृतपाक करने से शतावरी घृत सिद्ध होता है । इस घृत के सेवन से वातरक्त रोग नष्ट हो जाता है ॥ ९३ ॥

आर्षभकघृतमाह—

ऋषभक्षीरकाकोलीक्षीरिकाजीवकैः समैः । सिद्धं त्वार्षभकं सर्पिः सक्षीरं वातरक्तनुत् ॥९४॥

ऋषभक, क्षीरकाकोली, वंशलोचन तथा जीवक इनको सम परिमाण में लेकर कल्क बनाकर चौगुने दूध में घृतपाक करने से 'ऋषभकघृत' सिद्ध होता है । यह घृत वातरक्त को नष्ट करता है ॥

गुडूचीघृतमाह—

गुडूचीक्वाथकल्काभ्यां सपयस्कं घृतं शृतम् । हन्ति वातं तथा रक्तं कुष्ठं जयति दुस्तरम् ॥
क्षीरं स्नेहसमं दद्याच्चतुर्भिश्च चतुर्गुणम् । एकद्वित्रिद्रवद्रव्यैः कुर्यात्स्नेहाच्चतुर्गुणम् ॥९६॥

गुडूची के क्वाथ तथा कल्क डालकर दूध में घृत सिद्ध करे । इस गुडूची घृत से वातरक्त तथा कुष्ठ नष्ट हो जाता है ॥

परिभाषा—यदि दुग्ध तथा अन्य ४ प्रकार के द्रव के साथ स्नेह पाक करना हो तो वहां पर दूध का परिमाण स्नेह के समान और अपर ४ प्रकार के द्रवों का मिलित परिमाण स्नेह का चौगुना होना चाहिये । किन्तु यदि १, २ या ३ द्रवों के साथ स्नेहपाक करना हो तो प्रत्येक द्रव का परिणाम स्नेह से चौगुना होना चाहिये । यहां पर द्रव से क्वाथ, स्वरस, जल, दुग्ध, दधि, तक्र तथा काञ्जी आदि का ग्रहण करना चाहिये ॥ ९५–९६ ॥

द्वितीयं गुडूचीघृतमाह—

अमृतायाः कषायेण कल्केन च महौषधात् । मृद्वग्निना घृतं सिद्धं वातरक्तहरं परम् ॥९७॥
आमवाताढ्यवातादीन्क्रिमिकुष्ठव्रणानपि । अर्शांसि गुल्मांश्च तथा नाशयेदाशु योजितम् ॥

गुडूची के क्वाथ तथा सोंठ के कल्क के द्वारा मृदु अग्नि से सिद्ध घृत परम वातरक्तनाशक है तथा आमवात और ऊरुस्तम्भ इत्यादि रोगों को क्रिमि, कुष्ठ, व्रण, अर्श तथा गुल्म को शीघ्र नष्ट कर देता है ॥ ९७–९८ ॥

तृतीयं गुडूचीघृतमाह—

अमृतास्वरसविपक्वं सर्पिस्तत्कल्कसाधितं पीतम्। अपहरति वातरक्तमुत्तानं चावगाढं च ॥

गुडूची के स्वरस तथा कल्क द्वारा घृत को सिद्ध करके पीने से अत्यन्त प्रवृद्ध वातरक्त नष्ट हो जाता है ॥ ९९ ॥

चतुर्थं गुडूचीघृतमाह—

अमृतायाः पलशतं जलद्रोणावशेषितम्। घृतप्रस्थं विपक्तव्यं कल्कादष्टौ पलानि च ॥१००॥
चतुर्गुणेन पयसा वातासृक्कुष्ठनाशनम्। कामलापाण्डुरोगघ्नं प्लीहकासज्वरापहम् ॥१०१॥

गुडूची १०० पल लेकर १ द्रोण (१०२४ तोले) जल में क्वाथ बनावे, तत्पश्चात् इस क्वाथ में ३२ तोले गुडूची का कल्क डालकर चौगुने दूध में १ प्रस्थ (६४ तोले) घी को पका ले। इस घी का सेवन करने से वातरक्त, कुष्ठ, कामला, पाण्डुरोग, प्लीहा, कास तथा ज्वर नष्ट हो जाता है ॥

अमृताद्यघृतमाह—

अमृता मधुकं द्राक्षा त्रिफला नागरं बला। वासारग्वधवृश्चीरदेवदारुत्रिकण्टकम् ॥ १०२ ॥
कटुका रोहिणी कृष्णा काश्मर्यस्य फलानि च। रास्नाक्षुरकगन्धर्ववृद्धदारघनोत्पलैः ॥१०३॥
कल्कैरेभिः समैः कृत्वा सर्पिः प्रस्थं विपाचयेत्। धात्रीरसः समो देयो वारित्रिगुणसंयुतः ॥
सम्यक्सिद्धं च विज्ञाय भोज्ये पाने च शस्यते। बहुदोषोत्थितं वातरक्तेन सह मूर्च्छितम् ॥
उत्तानं चापि गम्भीरं त्रिकजङ्घोरुजानुकम्। क्रोष्टुशीर्षे महामूल आमवाते सुदारुणे ॥१०६॥
दाहरोगोपसृष्टस्य वेदनां चातिदुस्तराम्। मूत्रकृच्छ्रमुदावर्त्तं प्रमेहं विषमज्वरान् ॥ १०७ ॥
एतान्सर्वान्निहन्त्याशु वातपित्तकफोत्थितान्। सर्वकालोपयोगेन वर्णायुर्बलवर्द्धनम्।
अश्विभ्यां निर्मितं श्रेष्ठं घृतमेतदनुत्तमम् ॥ १०८ ॥

गुडूची, मुलहठी, मुनक्का, त्रिफला, सोंठ, खिरैटी, अडूसा, अमलतास, श्वेत पुनर्नवा, देवदारु, गोखरू, कुटकी, मजीठ, पिप्पली, खम्भार के फल, रासना, तालमखाना, एरण्डमूल, विधारा, नागरमोथा तथा नीलकमल इनको समभाग में लेकर कल्क बनाकर १ प्रस्थ (६४ तो०) घी को १ प्रस्थ आँवले के रस को डालकर तिगुने जल में अच्छी तरह से सिद्ध कर ले। सिद्ध हो जाने पर घृत का भोजन तथा पान में उपयोग करे। इससे अनेक दोषों से उत्पन्न वातरक्त, ऊपर उभड़ा हुआ तथा गम्भीर वातरक्त, त्रिक, जंघा, ऊरु तथा जानुगतशूल, क्रोष्टुकशीर्ष, महामूल व दारुण आमवात, दाहरोग, महादुस्तर वेदना, मूत्रकृच्छ्र, उदावर्त्त, प्रमेह, विषमज्वर, वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण रोगों को नष्ट कर देता है। इसका सर्वदा सेवन करने से वर्ण, आयु तथा बल की वृद्धि होती है। अश्विनीकुमारों द्वारा बनाया हुआ यह घृत परमोत्तम है ॥ १०२-१२८ ॥

पञ्चमं गुडूचीघृतमाह—

गुडूचीस्वरसे सर्पिर्जीवनीयैश्च साधितम्। कल्कैश्चतुर्गुणैः क्षीरैः सिद्धं वाप्यस्रवातनुत् ॥१०९॥

गुडूची के स्वरस में जीवनीय गण के कल्क तथा चौगुने दुग्ध के साथ तैयार किया हुआ घृत वातरक्त का नाश कर डालता है ॥ १०९ ॥

महागुडूचीघृतमाह—

अमृतायाः शतं प्राप्य जलद्रोणे विपाचयेत्। चतुर्भागावशिष्टन्तु घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥
क्षीरं चतुर्गुणं तत्र दापयेन्मतिमान् भिषक्। कल्कञ्चात्र प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥१११॥
काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकौ च यत्। शतावरी पयस्या च मधुकं नीलमुत्पलम् ॥
अश्वकन्दस्य मूलानि स्थिरां वा कटुरोहिणीम्। ऋद्धिं वृद्धिं तथा मेदे श्वदंष्ट्रां बृहतीद्वयम् ॥
गुडूचीं पिप्पलीं रास्नां वासकं चापि संहरेत्। तदेकस्थं समैर्भागैः पाचयेन्मृदुनाग्निना ॥
पानाभ्यञ्जनबस्तिषु परिषेके च दापयेत्। वातरक्तं सशोफाढ्यं सदाहं क्रोष्टुशीर्षकम् ॥११५॥
सञ्जोरुस्तम्भवातञ्च वातरक्तं सुदारुणम्। बहूदितं वातकृच्छ्रं गृध्रसीं वातकण्टकम् ॥११६॥

नाशयेद्योजितं सर्पिर्धन्वन्तरिवचो यथा ॥ ११७ ॥

१०० पल गुडूची को १ द्रोण (१०२४ तो०) जल में पकावे। चतुर्थांशावशिष्ट रह जाने पर इस क्वाथ में १ प्रस्थ (६४ तो०) घी को पकावे और बुद्धिमान् वैद्य उसमें ४ प्रस्थ दूध भी डाल दे। काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, शतावरी, विदारीकन्द, मुलहठी, नीलाकमल, असगन्ध की जड़, पृश्निपर्णी, कुटकी, ऋद्धि, वृद्धि, मेदा, महामेदा, गोखरू, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गुडूची, पिप्पली, रासना तथा अडूसा इन सब औषधियों को सम भाग में लेकर कल्क बनाकर घृत में डालकर मन्द अग्नि से पकाले। भगवान् धन्वतरि कहते हैं कि इस महागुडूचीघृत को पान, अभ्यंग, नस्य तथा परिषेक में प्रयोग करने से शोष तथा दाहयुक्त वातरक्त, क्रोष्टुकशीर्ष, खञ्जवात, ऊरुस्तम्भ, सुदारुण वातरक्त तथा बहुत दिनों का वातकृच्छ्र, गृध्रसी, और वातकण्टक रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ११०–११७ ॥

शताह्वाऽऽदितैलमाह—

क्वाथेन शतपुष्पायाः कुष्ठस्य मधुकस्य च। एकैकं साधयेत्तैलं वातरक्तरुजापहम् ॥ ११८ ॥

एक बार सौंफ के क्वाथ से दूसरी बार कूठ के क्वाथ से और तीसरी बार मुलहठी के क्वाथ से सिद्ध किया हुआ तेल वातरक्त की व्यथा को नष्ट कर देता है ॥ ११८ ॥

महापिण्डतैलमाह—

सारिवारिष्टकूष्माण्डपोतकीभस्मजाम्बुना। गुडूचीगव्यदुग्धाभ्यां कर्मरङ्गरसेन च ॥ ११९ ॥
विपचेत्तिलजं तैलं द्रव्यैतानि भिषग्वरः। काकोल्यौ जीवकं मेदे शताह्वाक्षीरिणीयुतैः ॥
जिङ्गीसिक्थामृतानन्तासर्जसैन्धवचन्दनैः। हन्याद्वातासजं घोरं स्फुटितं गलितं तथा ॥
चर्मदलाख्यं पामादींस्त्वग्दोषञ्च विपादिकाम्। कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्पं व्रणशोथं भगन्दरम् ॥
न सोऽस्ति वातरक्तस्य विकारो योऽभिवर्द्धितः। यं न हन्यात्प्रसह्यैतत्पिण्डतैलं महत्स्मृतम् ॥

सारिवा, नीम, पेठा तथा पोई शाक की भस्म का जल, गुडूची का क्वाथ, गोदुग्ध तथा कमरख के रस से, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, मेदा, महामेदा, सोया, खिरनी, मंजीठ, मोम, गुडूची, अनन्तमूल, राल, सेंधानमक तथा लालचन्दन के कल्क से पकाया हुआ तिल का तैल घोर वातरक्त, फटा तथा गला हुआ चर्मदल कुष्ठ, पामा इत्यादि चमड़े के समस्त विकार, विपादिका, कुष्ठ, अर्श, विसर्प, व्रणशोथ तथा भगन्दर रोग नष्ट हो जाते हैं ऐसा कोई भी बढ़ा हुआ वातरक्त का विकार नहीं है जिसको कि यह 'महापिण्ड तैल' नष्ट न कर दे ॥ ११९–१२३ ॥

पिण्डतैलमाह—

सारिवासर्जमञ्जिष्ठायष्टीसिक्थैः पयोन्वितैः। तैलं पक्वं प्रयोक्तव्यं पिण्डाख्यं वातशोणिते ॥

सारिवा, राल, मञ्जीठ, मुलहठी तथा मोम के कल्क को डालकर चौगुने दूध में पकाया तेल पिण्डतैल कहलाता है। इस तैल का वातरक्त में उपयोग करना चाहिये ॥ १२४ ॥

द्वितीयं पिण्डतैलमाह—

सारिवासर्जयष्ट्याह्वमधुसिक्थैः पयोन्वितैः। सिद्धमेरण्डजं तैलं वातरक्तरुजापहम्।
अपूतमथितस्यास्य पिण्डतैलस्य योगतः ॥ १२५ ॥

सारिवा, राल, मुलहठी तथा मोम के कल्क को डालकर चौगुने दूध में पकाया हुआ एरण्डतैल वातरक्त की व्यथा को दूर कर देता है। इस पिण्डतैल को बिना छाने हुये मथ कर उपयोग करना चाहिये ॥ १२५ ॥

महापद्मकतैलमाह—

पद्मकेशरयष्ट्याह्वफेनिलैः पद्मकोत्पलैः। पृथक्पञ्चपलैर्दत्तं बलाकिंशुकचन्दनैः ॥ १२६ ॥
जले शृतं पचेत्तैलं प्रस्थं सौवीरसम्मितम्। लोध्रकाकोलिकोशीरजीवकर्षभकेशरैः ॥ १२७ ॥
मदयन्तिलतापत्रपद्मकेशरपद्मकैः। प्रपौण्डरीककालीयमेदामांसीप्रियङ्गुभिः ॥ १२८ ॥

कुङ्कुमैर्द्विगुणैः कर्षैर्मञ्जिष्ठायाः पलेन च। महापद्ममिदं तैलं वातासृग्ज्वरनाशनम् ॥ १२९ ॥

कमल की केशर, मुलहठी, रीठा, पद्मकाष्ठ, नीला कमल, खिरेटी, किंशुक तथा लालचन्दन इन प्रत्येक औषधियों को २०-२० तोले लेकर क्वाथ बना कर उसमें सौवीर नामक कांजी १ प्रस्थ (६४ तो०) तथा तेल १ प्रस्थ मिलाकर लोध, काकोली, खस, जीवक, ऋषभक, नागकेशर, मदनवाण, तेजपात, कमल की केशर, पद्मकाष्ठ, प्रपौण्डरीक, दारुहल्दी, मेदा, जटामांसी तथा फूल प्रियङ्गु इन प्रत्येक औषधियों को १-१ तो० लेकर तथा केशर २ तो० और मञ्जीठ ४ तो० लेकर कल्क बनाकर डालदे। विधिपूर्वक इस तैल को पका लेने से 'महापद्मतैल' सिद्ध हो जाता है। यह तैल वातरक्त तथा ज्वर को नष्ट करता है ॥ १२६-१२९ ॥

खुड्डाकपद्मकतैलमाह—

पद्मकोशीरयष्ट्याह्वरजनीक्वाथसाधितम् ॥ १३० ॥
स्यात्पिष्टैः सर्जमञ्जिष्ठावीराकाकोलिचन्दनैः। खुड्डाकपद्मकमिदं तैलं वातास्रपित्तनुत् ॥

पद्मकाष्ठ, खस, मुलहठी तथा हल्दी इनके क्वाथ में राल, मञ्जीठ, महाशतावरी, काकोली तथा लालचन्दन का कल्क डाल कर पकाया हुआ तैल 'खुड्डाकपद्मक' कहलाता है। यह तैल वातरक्त तथा पित्त को नष्ट करता है ॥ १३०-१३१ ॥

गुडूचीतैलमाह—

तुलां पचेज्जलद्रोणे गुडूच्याः पादशेषितम्। क्षीरद्रोणन्तु ताभ्यां च पचेत्तैलाढकं शनैः ॥१३२॥
कल्कैर्मधुकमञ्जिष्ठाजीवनीयगणोत्थितैः। कुष्ठैलाऽगुरुमृद्वीका मांसी व्याघ्रनखं नखी ॥१३३॥
हरेणुः श्रावणी व्योषं शताह्वा शृङ्गिसारिवे। त्वक्पत्रागुरुविक्रान्ताः स्थिरा तामलकी तथा ॥
नतकेशरह्रीवेरं पद्मकोत्पलचन्दनम्। सिद्धं कर्षसमैर्भागैः पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥१३५॥
सेव्यं वातास्रजान्हन्ति स्रोतोधात्वन्तराश्रितान्। धन्यं पुंसवनं स्त्रीणां गर्भदं वातपित्तनुत् ॥
स्वेदकण्डूरुजाऽऽयामशिरःकम्पामयार्दितान्। हन्याद् व्रणकृतान्दोषान्गुडूचीतैलमुत्तमम् ॥

१०० पल गुडूची को १ द्रोण (१०२४ तोले) जल में पकावे। चतुर्थांशावशिष्ट रहने पर उसमें १ द्रोण दुग्ध डाले और १ आढक (२५६ तो०) तैल को डाल दे। मुलहठी, मञ्जीठ, जीवनीयगण की ओषधियां, कूठ, छोटी इलायची, अगर, मुनक्का, जटामांसी, थूहर, नख, निर्गुण्डी के बीज, गोरखमुण्डी, सोंठ, मिर्च, पीपल, सोया, काकड़ासिंगी, सारिवा, दालचीनी, तेजपात, अगर, अरनी, पृश्निपर्णी, भूम्यामलकी, तगर, नागकेशर, ह्राऊबेर, पद्मकाष्ठ, नीला कमल तथा लालचन्दन इन प्रत्येक ओषधियों को १-१ तो० लेकर कल्क बनाकर डाल कर तैल को सिद्ध कर ले। इस उत्तम गुडूचीतैल का पान, अभ्यङ्ग तथा अनुवासन वस्ति में प्रयोग करने से स्रोतसों तथा धातुओं में गये हुये वातरक्तजन्य विकार नष्ट हो जाते हैं। यह तैल धन, पुत्र तथा स्त्रियों को गर्भ प्रदान करता है। वात और पित्त को नष्ट करता है। स्वेद, कण्डू, वेदना, आयाम, शिरःकम्प, अर्दित तथा व्रणविकार नष्ट हो जाते हैं ॥ १३२-१३७ ॥

अमृताह्वयतैलमाह—

गुडूचीं मधुकं ह्रस्वपञ्चमूलं पुनर्नवाम्। रास्नामेरण्डमूलञ्च जीवनीयानि लाभतः ॥ १३८ ॥
पलानां शतिकैर्भागैर्बलापञ्चशतं भवेत्। कोलं बिल्वं यवान्माषान् कुलत्थांश्चाढकोन्मितान् ॥
काश्मर्याणाञ्च शुष्काणां द्रोणं द्रोणशतेऽम्भसः। साधयेज्जर्जरं पूतं चतुर्द्रोणञ्च शेषयेत् ॥१४०॥
तैलद्रोणं पचेत्तेन दत्वा पञ्चगुणं पयः। पिष्ट्वा त्रिपलिकञ्चैव चन्दनोशीरकेशरम् ॥ १४१ ॥
पत्रैलाऽगुरुकुष्ठानि तगरं मधुयष्टिकाम्। मञ्जिष्ठाऽर्द्धपलञ्चैव तत्सिद्धं सर्वयौगिकम् ॥१४२॥
वातरक्ते क्षते क्षीणे भारार्त्ते क्षीणरेतसि। वेपनोत्क्षिप्तभग्नानां सर्वेकाङ्गजरोगिणाम् ॥१४३॥
योनिदोषमपस्मारमुन्मादं विषमज्वरम्। हन्यात्पुंसवनञ्चैव तैलाग्र्यममृताह्वयम् ॥१४४॥

गुडूची, मुलहठी, लघुपञ्चमूल, पुनर्नवा, रास्ना, एरण्डमूल तथा यथालाभ जीवनीयगण की औष-

मुद्गमाषाख्यपर्णी च दशमूलं पुनर्नवा। बलाऽमृता विदारी च साश्वगन्धाऽश्मभेदकौ॥१५२॥
कुर्यात्कल्कं कषायञ्च ताभ्यां तैलं घृतं पचेत्। लाभतश्च वसामज्जामांसं प्रतुदविष्किरात्॥
चतुर्गुणेन पयसा तत्संसिद्धं वातशोणितम्। सर्वदेहाश्रितान्हन्ति व्याधीन्घोरांश्च वातजान्॥

जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, महाबला, शतावरी, मुलहठी, गुडूची, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, दशमूल, पुनर्नवा, खिरेटी, गुडूची, विदारीकन्द, असगन्ध तथा पाषाणभेद इनके कल्क के साथ तथा इन्हीं के क्वाथ में चौगुना दूध डालकर यथालाभ प्रतुद तथा विष्किर पक्षियों की वसा, मज्जा और मांस को डालकर घी तथा तैल को पकाले। यह 'जीवकाद्यमिश्रक' वातरक्त तथा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त घोर वातव्याधियों को नष्ट कर देता है॥ १५१–१५४॥

शतपाकबलातैलमाह—

बलाकषायकल्काभ्यां तैलं क्षीरचतुर्गुणम्। शतपाकं भवेदेतद्वातासृग्वातपित्तनुत्॥ १५५॥
धन्यं पुंसवनञ्चैव नराणां शुक्रवर्द्धनम्। रेतोयोनिविकारघ्नमेतद्वातविकारनुत्॥ १५६॥

खिरेटी के क्वाथ तथा कल्क द्वारा और चौगुना दुग्ध डालकर तैल को पकाले। जब पक जाय तो फिर उन्हीं द्रव्यों से बारम्बार १०० बार तक तैल को पका ले। तो यह 'शतपाकबलातैल' सिद्ध होता है। यह तैल धन को बढ़ाने वाला, पुत्र को देने वाला, पुरुषों के वीर्य को बढ़ाने वाला, वीर्य तथा योनिविकारों को नष्ट करने वाला तथा वातसम्बन्धी समस्त विकारों को नष्ट कर डालता है॥ १५५–१५६॥

मधुकाद्यतैलमाह—

मधुयष्ट्याः पलशतं कषाये पादशेषिते। तैलाढकं समक्षीरं पचेत्कल्कैः पलोन्मितैः॥ १५७॥
शतपुष्पावरीमूर्वापयस्यागुरुचन्दनैः। स्थिराहंसपदीमांसीद्विमेदामधुपर्णिभिः॥ १५८॥
काकोलीक्षीरकाकोलीतामलक्यृद्धिपद्मकैः। जीवकर्षभजीवन्तीत्वक्पत्रनखवालकैः॥ १५९॥
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठासारिवेन्दुवितुन्नकैः। वातासृक्पित्तदाहार्त्तिज्वरघ्नं बलवर्णकृत्॥ १६०॥

१०० पल मुलहठी का पादावशिष्ट क्वाथ बनाकर उसमें सौंफ, शतावरी, मूर्वा, विदारीकन्द, अगर, लालचन्दन, पृश्निपर्णी, हंसपदी (लज्जालु भेद), जटामांसी, मेदा, महामेदा, गुडूची, काकोली, क्षीरकाकोली, भूम्यामलकी, ऋद्धि, पद्मकाष्ठ, जीवक, ऋषभक, जीवन्ती, दालचीनी, तेजपात, नख, सुगन्धवाला, कमल, मञ्जीठ, सारिवा, कपूर तथा केवटीमोथा इनका कल्क डालकर १ आढक तैल को समान भाग दुग्ध के साथ पकाले तो यह 'मधुकाद्यतैल' सिद्ध होता है। यह तैल वातरक्त, पित्त, दाहजन्य पीडा तथा ज्वर को नष्ट करता है। बल तथा वर्ण को उत्तम करता है॥ १५७–१६०॥

शतपाकमधुकतैलमाह—

मधुयष्ट्याः पलं पिष्ट्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणे। क्षीरे साध्यं शतं वारांस्तदेव मधुकान्वितम्॥१६१॥
सिद्धं देयं त्रिदोषे स्याद्वातास्रश्वासकासनुत्। धन्यं पुंसवनञ्चैव कामलादाहनाशनम्॥१६२॥

४ तो० मुलहठी का कल्क बनाकर चौगुने दूध में १ प्रस्थ (६४ तो०) तैल को पकावे। जब पक जाय तो पुनः पूर्वोक्तविधि से बारम्बार सौ बार तक पकावे तो 'शतपाकमधुकतैल' सिद्ध होता है। इसका सेवन करने से धन की वृद्धि होती है, पुत्र उत्पन्न होता है तथा वातरक्त, कास, कामला और दाह नष्ट होता है। त्रिदोष में भी इस तैल को देना प्रशस्त है॥ १६१–१६२॥

सहस्रपाकबलातैलमाह—

बलाकषायकल्काभ्यां तैलं क्षीरसमं पचेत्। सहस्रशतपाकं वा वातासृग्वातरोगनुत्॥१६३॥

खिरेटी के क्वाथ तथा कल्क में समान भाग दुग्ध डाल कर विधिपूर्वक तैल को पकावे। इसी प्रकार एक हजार बार तक पकाकर सिद्ध कर लेने से 'सहस्रपाकबलातैल' सिद्ध होता है। यह तैल वातरक्त तथा वातरक्त के विकारों को नष्ट करता है॥ १६३॥

रसायनमिदं श्रेष्ठमिन्द्रियाणां प्रसादनम्। जीवनं बृंहणं स्वर्यं शुक्रासृग्दोषनाशनम्॥१६४॥

यह श्रेष्ठ रसायन है, इन्द्रियों को प्रसन्न करता है, जीवन को बढ़ाता है, धातुओं की वृद्धि करता है, स्वर को उत्तम करता है तथा वीर्य तथा रक्तविकार को नष्ट करता है ॥ १६४ ॥

पुनर्नवागुग्गुलुमाह—

पुनर्नवामूलशतं विशुद्धं स्वूकमूलञ्च तथा प्रयोज्य।
दत्त्वा पलं षोडशकञ्च शुण्ठ्याः सङ्कुट्य सम्यग्विपचेद्धटेऽपाम् ॥ १६५ ॥
पलानि चाष्टावथ कौशिकस्य तेनाष्टशेषेण पुनः पचेत्तु।
एरण्डतैलं कुडवञ्च दद्याद्दत्त्वा त्रिवृच्चूर्णपलानि पञ्च ॥ १६६ ॥
निकुम्भचूर्णस्य पलं गुडूच्याः पलद्वयं चार्द्धपलं पलं वा।
फलत्रयव्यूषणचित्रकाणि सिन्धूत्थभल्लातविडङ्गकानि ॥ १६७ ॥
कर्षं तथा माक्षिकधातुचूर्णं पुनर्नवायाः पलमेव चूर्णम्।
चूर्णानि दत्त्वा ह्यवतार्य शीते खादेन्नरः कर्षसमप्रमाणम् ॥ १६८ ॥
वातासृजं वृद्धिगदं च सप्त जयत्यवश्यं त्वथ गृध्रसीं च।
जङ्घोरुपृष्टत्रिकवस्तिजं च तथात्मवातं प्रबलं च हन्ति ॥ १६९ ॥

धुला हुआ पुनर्नवा मूल १०० पल, एरण्ड मूल १०० पल तथा सोंठ १६ पल इन सब ओषधियों को अच्छी तरह से कूटकर १ द्रोण (१०२४ तो०) जल में अच्छी तरह से पकावे। अष्टमांशावशिष्ट रहने पर उतार कर छान ले। फिर इस क्वाथ से ८ पल गुग्गुलु को पकावे। पकते समय इसमें एरण्ड तैल १६ तोले, निशोथ चूर्ण २० तोले, दन्ती का चूर्ण ४ तोले, गुडूची का चूर्ण १० तोले, हरड़ का चूर्ण ४ तोले, बहेड़े का चूर्ण ४ तोले, आंवले का चूर्ण ४ तोले, सोंठ का चूर्ण ४ तोले, कालीमिर्च का चूर्ण ४ तोले, पिप्पलीचूर्ण ४ तोले, चित्त का चूर्ण ४ तोले, सेंधानमक का चूर्ण ४ तोले, भिलावे का चूर्ण ४ तोले, वायविडङ्ग का चूर्ण ४ तोले, स्वर्ण माक्षिक चूर्ण ४ तोले तथा पुनर्नवा का चूर्ण ४ तोले डालकर अच्छी तरह से पक जाने पर उतार ले। शीतल होने पर इसमें से १ तोले की मात्रा में मनुष्य सेवन करे तो वातरक्त, ७ प्रकार के वृद्धिरोग, गृध्रसी और जंघा, ऊरु, पीठ, त्रिक तथा वस्तिगत वात और प्रबल आमवात को अवश्य नष्ट कर देता है ॥ १६५–१६९ ॥

समशर्करगुग्गुलुमाह—

यावशूकसुरदारुसैन्धवं मुस्तकत्रुटिवचायमानिकाः।
व्योषदीप्यकनिशाफलत्रिकं जीरकद्वयविडङ्गचित्रकम् ॥ १७० ॥
कार्षिकं सुमसृणं सुयोजितं संयुतं पुरपलैश्च पञ्चभिः।
शर्करां पुरसमां सुपेषयेत्तत्सर्पिषि विनिक्षिपेत्ततः ॥ १७१ ॥
वातरक्तमुदरं भगन्दरं प्लीहयक्ष्मविषमज्वरं गरम्।
श्वित्रकुष्ठमखिलव्रणानयं चित्तविभ्रमगदांश्च दारुणान् ॥ १७२ ॥
गृध्रसीं च गुदजाग्निमन्दतां हन्ति कोष्ठजनितं महागदम्।
वज्रमिन्द्रसुकरादिव च्युतं गुप्तशैलकुलमुत्तमं द्रुतम् ॥ १७३ ॥
अन्नपानपरिहारवर्जितं सर्वकालसुखदं निरत्ययम्।
सेव्यमानमिदमश्विनिर्मितं गुग्गुलोर्हि वटिका रसायनम् ॥ १७४ ॥
चत्वारो माषका हीने मध्यमेऽष्टौ च माषकाः। श्रेष्ठा द्वादशकाः प्रोक्ताः कोष्ठं विज्ञाय पाययेत्॥
स्रंसनत्वाद् गुरुत्वाद्वा गुग्गुलोः करणक्रमः ॥ १७६ ॥

जवाखार, देवदारु, सेंधानमक, नागरमोथा, छोटी इलायची, वच, अजवायन, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, अजमोदा, हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, सफेदजीरा, स्याहजीरा, वायविडङ्ग और चित्त इन ओषधियों को १-१ तोले की मात्रा में लेकर अच्छी तरह से सूक्ष्म पीसकर इसमें २० तोले गुग्गुलु मिलादे। फिर इसमें २० तोले चीनी डालकर अच्छी तरह से मिलादे। तत्पश्चात् इसे गरम

घी में मिलावे तो यह 'समशर्कर गुग्गुलु' सिद्ध हो जाता है। यह गुग्गुलु वातरक्त, उदर विकार, भगन्दर, प्लीहा, यक्ष्मा, विषमज्वर, गरविष, श्वेतकुष्ठ, सम्पूर्ण व्रण, दारुण चित्त विभ्रम रोग, गृध्रसी, अर्शरोग, अग्निमान्द्य तथा कोष्ठगत महारोगों को इस प्रकार शीघ्र नष्ट करता है जैसे कि इन्द्र के हाथ से छूटा हुआ वज्र बड़े २ पर्वतों को शीघ्र नष्ट कर देता है। अश्विनीकुमारों द्वारा निर्मित यह 'समशर्कर गुग्गुलु' रसायन है। इस गुग्गुलु की वटी को सेवन करने वाले मनुष्य के लिये किसी प्रकार का अन्नपान तथा विहार में परहेज नहीं है। यह सब ऋतुओं में सुखकर है तथा उसके सेवन से किसी प्रकार कष्ट नहीं होता। हीनकोष्ठ वाले मनुष्यों को ४ माशे की मात्रा में, मध्यमकोष्ठ वालों को ८ माशे की मात्रा में तथा श्रेष्ठ कोष्ठ वालों को १२ माशे की मात्रा में इस गुग्गुलु का सेवन कराना चाहिये। इस प्रकार इस गुग्गुलु का प्रयोग कोष्ठ का विचार करके करना चाहिये। गुग्गुलु स्रंसन तथा गुरु है, इसीलिये इसके देने का उपर्युक्त क्रम बतलाया गया है ॥ १७०-१७६ ॥

अमृतागुग्गुलुमाह—

प्रस्थमेकं गुडूच्याश्च अर्द्धप्रस्थं च गुग्गुलोः। प्रत्येकं त्रिफलायास्तु तत्प्रमाणं विनिर्दिशेत् ॥
सर्वमेकत्र सङ्कुट्य क्वाथयेन्नल्वणेऽम्भसि ॥१७७॥
पादशेषं परिस्राव्य कषायं ग्राहयेद्भिषक्। पुनः पचेत्कषायन्तु यावत्सान्द्रत्वमागतम्॥१७८॥
दन्तीव्योषविडङ्गानि गुडूचीत्रिफलात्वचः। ततश्चार्द्धपलं चूर्णं गृह्णीयाच्च प्रतिप्रति ॥१७९॥
कर्षन्तु त्रिवृतायाश्च सर्वमेकत्र चूर्णयेत्। तस्मिन्सुसिद्धं विज्ञाय कवोष्णे प्रक्षिपेद् बुधः ॥
ततश्चाग्निबलं मत्वा खादेत्कर्षप्रमाणतः। वातरक्तं तथा कुष्ठं गुदजान्यग्निसादनम्॥१८१॥
दुष्टव्रणं प्रमेहांश्च आमवातं भगन्दरम्। नाड्याढ्यवातं श्वयथुं सर्वानेतान्व्यपोहति ॥

गुडूची १ प्रस्थ (६४ तोले), गुग्गुल ३२ तोले, हरड़ ६४ तो०, बहेड़े ६४ तो० तथा आंवले ६४ तो० लेकर सबको इकट्ठा अच्छी तरह से कूट कर १ द्रोण (१०२४ तो०) जल में पकावे। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तो इस काढ़े को लेकर फिर तब तक पकावे जब तक कि वह गाढ़ा न हो जाय। फिर उसमें दन्ती, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग, गुडूची, हरड़, बहेड़ा, आंवला तथा दालचीनी इन सब ओषधियों का २-२ तोले चूर्ण तथा निशोथ का १ तोला चूर्ण इन सबको इकट्ठा करके कुछ गर्म रहते ही बुद्धिमान् वैद्य डाल दे। जब अच्छी तरह से सिद्ध हो जाय तो उतार ले। इस 'अमृतागुग्गुलु' को अग्निबल के अनुसार १ तो० की मात्रा में खावे। इससे वातरक्त कुष्ठ, अर्शरोग, अग्निमान्द्य, दुष्टव्रण, प्रमेह, आमवात, भगन्दर, नाडीव्रण, ऊरुस्तम्भ तथा शोथ ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १७७-१८२ ॥

द्वितीयममृतागुग्गुलुमाह—

त्रिप्रस्थममृतायाश्च प्रस्थमेकन्तु गुग्गुलोः। प्रत्येकं त्रिफलाप्रस्थं वर्षाभूप्रस्थमेव च ॥ १८३ ॥
सर्वमेकत्र सङ्कुट्य साधयेन्नल्वणेऽम्भसि। पुनः पचेत्पादशेषं यावत्सान्द्रत्वमागतम् ॥१८४॥
दन्तीचित्रकमूलानां कणाविश्वफलत्रिकम्। गुडुचीत्वग्विडङ्गानां प्रत्येकार्धपलं मतम् ॥
त्रिवृताकर्षमेकन्तु सर्वमेकत्र चूर्णयेत्। सिद्धे चोष्णे क्षिपेत्तत्र अमृतागुग्गुलुं परम् ॥ १८६ ॥
अतो यथाबलं खादेदम्लपित्ती विशेषतः। वातरक्तं तथा कुष्ठं गुदजान्यग्निसादनम् ॥१८७॥
दुष्टव्रणं प्रमेहांश्च आमवातं भगन्दरम्। नाड्याढ्यवातं श्वयथुं हन्यात्सर्वामयांस्तथा ॥१८८॥
अश्विभ्यां निर्मितश्चायममृताऽऽख्यो हि गुग्गुलुः ॥ १८९ ॥
गुडरामठशुण्ठीनां मांसकूष्माण्डयोरपि। गुडूच्या गुग्गुलोश्चैव प्रस्थः षोडशभिः पलैः॥१९०॥

गुडूची ३ प्रस्थ (६४ तो० का एक प्रस्थ होता है), गुग्गुलु १ प्रस्थ, हरड़ १ प्रस्थ, आंवला १ प्रस्थ तथा पुनर्नवा १ प्रस्थ इन सबको एकत्र करके अच्छी तरह से कूटकर १ द्रोण(१०२४ तो०) जल में पकावे। पादावशिष्ट रहने पर उतार कर छान ले। फिर इस क्वाथ को पुनः तब तक पकावे जब तक कि वह गाढ़ा न हो जाय। फिर इसमें दन्ती, चित्त की जड़, पिप्पली, सोंठ, हरड़, बहेड़ा,

आंवला, गुडूची, दालचीनी तथा वायविडङ्ग इन प्रत्येक ओषधियोंको २-२ तो० लेकर तथा निशोथ १ तो० लेकर सबका इकट्ठा चूर्णकर मिला दें तो यह उत्तम अमृतागुग्गुलु सिद्ध हो जाता है। विशेषतः अम्लपित्त का रोगी इसे अग्निबल के अनुसार खावे। इसको सेवन करनेसे वातरक्त, कुष्ठ, अर्शरोग, अग्निमान्द्य, दुष्टव्रण, प्रमेह, आमवात, भगन्दर, नाड़ीव्रण, ऊरुस्तम्भ, शोथ तथा सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं। अमृता नामक यह गुग्गुलु अश्विनीकुमारों द्वारा निर्मित है। गुड़, हींग, सोंठ, मांस, पेठा, गुडूची तथा गुग्गुलुको तौलने का प्रस्थ सोलह पल का होता है ॥१८३-१९०॥

नवपुराणयोर्गुग्गुल्वोर्लक्षणमाह—

स्निग्धः काञ्चनसङ्काशः पक्वजम्बूफलोपमः। नूतनो गुग्गुलुः प्रोक्तः सुगन्धिर्यस्तु पिच्छिलः॥
शुष्को दुर्गन्धिकश्चैव वर्णान्यत्वमुपागतः। पुराणः स तु विज्ञेयो न स देयस्तु रोगिणे॥

जो गुग्गुलु चिकना, सोने के समान, पके हुए जामुन के फल के समान, सुगन्धियुक्त तथा पिच्छिल होता है वह नूतन गुग्गुलु कहलाता है। और जो गुग्गुलु सूखा हुआ, दुर्गन्धयुक्त तथा विकृत वर्ण का हो गया हो उसे पुराना गुग्गुलु जानना चाहिये। यह पुराना गुग्गुलु रोगी को नहीं देना चाहिये ॥ १९१-१९२ ॥

चन्द्रप्रभागुटिकामाह—

क्रिमिरिपुदहनव्योषत्रिफलाऽमरदारुचव्यभूनिम्बाः।
मागधिमूलं मुस्तं शटीवचाधातुमाक्षिकञ्चैव।
लवणक्षारनिशायुक्कुस्तुम्बुरुगजकणाः सहातिविषाः॥ १९३॥
कर्षांशिकान्येव समानि कुर्यात्पलाष्टकं चाश्मजतु प्रदद्यात्।
निष्पत्रशुद्धस्य पुरस्य धीमान्पलद्वयं लौहरजस्तथैव॥ १९४॥
सिताचतुष्कं पलमत्र वांश्या निकुम्भकुम्भत्रिसुगन्धियुक्तम्।
पृथक्पलं चूर्णमथात्रपेच्च चन्द्रप्रभेयं गुटिका विधेया॥ १९५॥
ज्वरातिसारग्रहणीविकारांश्चार्शांसि निर्णाशयते षडेव।
भगन्दरान्कामलपाण्डुरोगान्विनष्टवह्नेः कुरुते च दीप्तिम्॥ १९६॥
हन्त्यामयान्पित्तकफानिलोत्थान्नाडीगते मर्मगते व्रणे च।
क्षतक्षये गृध्रसिचर्मरोगे मेहे गजाख्ये प्रबले प्रयोज्य॥ १९७॥
शुक्रक्षये चाश्मरिमूत्रकृच्छ्रे शुक्रप्रवाहेऽप्युदरामये च।
शम्भुं समभ्यर्च्य कृतप्रसादं प्राप्ता गुटी चन्द्रमसा प्रशस्ता॥ १९८॥
न पानभोज्ये परिहारवादो न शीतवातातपमैथुनेषु।
भक्तस्य पूर्वं सततं प्रयोज्या तक्रानुपानाऽप्यथ मस्तुपाना॥१९९॥
अजारसो जाङ्गलजो रसो वा परोऽथ वा शीतजलानुपानम्॥२००॥
शुक्रदोषान्निहन्त्यष्टौ प्रमेहांश्चापि विंशतिम्। वलीपलितनिर्मुक्तो वृद्धोऽपि तरुणायते॥
गिरिजतुगुग्गुलुलौहान्येकीकृत्याथ भावयेद् बहुशः।
क्वाथैस्तद्व्याधिहरैस्तदनु च चूर्णीकृतं मिलितम्।
कृमिरिप्वादिकचूर्णैर्गिरिजतुसमधान्यपटोलयूषेण॥ २०२॥

वायविडङ्ग, चित्त, सोंठ, चिरायता, पिपरामूल, नागरमोथा, कचूर, वच, स्वर्णमाक्षिक, सेंधानमक, जवाखार, हल्दी, दारुहल्दी, धनियां, गजपिप्पली, मुद्गपर्णी तथा अतीस इन सब ओषधियों को १-१ तो० लेकर चूर्ण बना ले। शिलाजीत ३२ तो०, शुद्ध गुग्गुलु ८ तो०, लौहभस्म ८ तोला मिश्री १६ तो०, निशोथ ४ तोले, जमालगोटा ४ तो०, तेजपात ४ तो०, दालचीनी ४ तो० तथा छोटी इलायची ४ तो० इन सब ओषधियों को कूटकर गुटिका बना ले। ये गोलियाँ 'चन्द्रप्रभा गुटिका' कहलाती हैं। यह 'चन्द्रप्रभा गुटिका' ज्वर, अतीसार, ग्रहणीविकार, ६ प्रकार के अर्शरोग,

भगन्दर, कामला तथा पाण्डुरोग को नष्ट कर देती है और नष्ट की हुई अग्नि को प्रदीप्त करती है। वातपित्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाले रोग, नाडीव्रण, मर्मगतव्रण, क्षयजक्षय, गृध्रसी, राजयक्ष्मा प्रबल हस्तिमेह, वीर्यक्षय, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, शुक्रप्रवाह तथा उदर रोगोंपर प्रयोग करने से ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं। सुप्रसन्न भगवान् शङ्कर की आराधना करके इस प्रशस्त गुटिका को चन्द्रमा ने प्राप्त किया था। इस गुटिका को सेवन करने वाले मनुष्य के लिये पान, भोजन शीत, वात, धूप तथा मैथुन का परिहार नहीं है। निरन्तर भोजन करने के पहिले तक्र, दही के तोड़, बकरे के मांसरस, जङ्गल जन्तुओं के मांसरस, दूध अथवा शीतल जल के अनुपान से इस गुटिका का प्रयोग करना चाहिये। यह गुटिका ८ प्रकार के शुक्र दोषों को तथा बीस प्रकार के प्रमेहों को नष्ट कर देती है। इन गोलियों को सेवन करने से वृद्ध मनुष्य भी वली और पलित से मुक्त होकर तरुण पुरुष के समान हो जाता है। यहां पर शिलाजीत, गुग्गुलु तथा लौहभस्मको एकत्र करके उन रोगों को नष्ट करने वाले क्राथों से अनेक बार भावना देनी चाहिये। और उसके बाद इनके चूर्ण पूर्वोक्त वायविडङ्ग आदिकों के चूर्ण के साथ मिला देना चाहिये और समान परिमाण में धनियाँ तथा परवल के यूष के द्वारा भी प्रथम शिलाजीत को भावित करना चाहिये॥ १९३–२०२॥

कैशोरगुग्गुलुमाह—

वरमहिषलोचनोदरसन्निभवर्णस्य गुग्गुलोः प्रस्थम्।
प्रक्षिप्य तोयराशौ त्रिफलाञ्च यथोक्तपरिमाणाम्॥२०३॥
द्वात्रिंशच्छिन्नरुहापलानि देयानि यत्नेन। विपचेत्तदप्रमत्तो दर्व्या सङ्घट्टयेन्मुहुर्यावत्॥
अर्द्धक्षयितं तोयं जातं ज्वलनस्य सम्पर्कात्। अवतार्य वस्त्रपूतं पुनरपि संसाधयेदयःपात्रे॥
सान्द्रीभूते तस्मिन्नवतार्य हिमोपलप्रख्ये। त्रिफलाचूर्णार्द्धपलं त्रिकटोश्चूर्णं षडक्षपरिमाणम्॥
क्रिमिरिपुचूर्णार्द्धपलं कर्षं कर्षं त्रिवृद्दन्त्योः। पलमेकन्तु गुडूच्या दत्त्वा सञ्चूर्ण्य यत्नेन॥
उपयुज्य चानुपानं यूषं क्षीरं सुगन्धि सलिलञ्च।
इच्छाऽऽहारविहारी भेषजमुपयुज्य सर्वकालमिदम्॥ २०८॥
तनुरोधी वातशोणितमेकद्विद्व्युत्थव्रणं चिरोत्थमपि।
भग्नस्रुतपरिशुष्कं स्फुटितं दीर्णमाजानु यच्चापि॥ २०९॥
व्रणकासकुष्ठगुल्मश्वयथुं गरपाण्डुमेहांश्च।
मन्दाग्निञ्च विबन्धं प्रमेहपिडकाश्च नाशयत्याशु॥ २१०॥
सततं निषेव्यमाणः कालवशाद्धन्ति सर्वगदान्। अभिभूय जरादोषं करोति कैशोरकं रूपम्॥
प्रत्येकं त्रिफलाप्रस्थो जलञ्चाढकमाढकम्। गुडवद् गुग्गुलोः पाकः सन्धेयस्तु विशेषतः॥

उत्तम भैंस के नेत्र के मध्यभाग के समान वर्णवाले गुग्गुलु को ६४ तो० लेकर पानी में डालकर त्रिफला ६४ तो० तथा गुडूची ३२ पल डाल देना चाहिये। फिर सावधानी से पकावे और बारंबार कलछी से चलाता जाय यह क्रिया तब तक करनी चाहिये जब तक कि जल पककर आधा न हो जाय। फिर आग पर से उतारकर कपड़े से छानकर पुनः लोह के पात्र में डालकर आग पर चढ़ा दे। क्राथ के गाढ़ा हो जाने पर उतार कर फिर शीतल होने पर इसमें हरड़, बहेड़ा और आंवला इनका चूर्ण २–२ तो०, सोंठ, मिर्च तथा पिप्पली के चूर्ण २–२ तो० वायविडङ्ग का चूर्ण २ तोला, निशोथ का चूर्ण २ तो०, दन्ती का चूर्ण और गुडूची का चूर्ण ४ तो० मिला दे। इस प्रकार 'कैशोरगुग्गुलु' सिद्ध हो जाता है। इस गुग्गुलु का उपयोग करके यूष, दुग्ध अथवा सुगन्धित जल का अनुपान करे। इस औषधिका उपयोग करके मनुष्य यथेच्छ आहार और विहार का सेवन कर सकता है। यह गुग्गुलु बहुत दिनों का पुराना एकदोषज, द्विदोषज, त्रिदोषज, भग्न, स्रावयुक्त, शुष्क, फूटा हुआ, फटा हुआ तथा जानुपर्य्यन्त व्याप्त वातरक्त, व्रण, कास, कुष्ठ, गुल्म, शोथ, गरविष, पाण्डुरोग, प्रमेह, मन्दाग्नि तथा प्रमेहपिडिका को शीघ्र नष्ट कर देता है। निरन्तर सेवन

से यह कैशोरगुग्गुलु काल के प्रभाव से सम्पूर्ण रोगों को नष्ट कर देता है और बुढ़ापे को दूर करके किशोरावस्था के स्वरूप को उत्पन्न कर देता है ॥ २०३-२१२ ॥

त्रिफलागुग्गुलुमाह—

त्रिफलाऽतिविषादारुदार्वीमुस्तापरूषकैः । खदिरासननक्ताह्वगुडूचीनृपपादपैः ॥ २१३ ॥
भूनिम्बनिम्बकटुकाकलिङ्गकुल्कैः समैः । क्वाथं कृत्वा ततः पूतं श्रुतमष्टगुणेऽम्भसि ॥२१४॥
गुडूच्यास्तत्र सुकृतं चूर्णमर्द्धं तु वारिणि । क्षिप्त्वा सुनूतने भाण्डे वासयेद्रजनीगतम् ॥
सोमोपेतेन पूतेन कौशिकं परिभावयेत् । षड्गुणेन तु सप्ताहं शिलाजतुसमन्वितम् ॥२१६॥
शुक्तस्य तु पलान्यष्टौ समावाप्य विचक्षणः । ताप्यचूर्णं पलञ्चैकं द्वे पले मधुसर्पिषोः ॥
एकीकृत्य समं सर्वं लिह्यात्तु त्रिफलाऽम्बुना । तनुना मुद्गयूपेण जाङ्गलानां रसेन वा ॥
जीर्णेऽजीर्णे तु भुञ्जीत पुराणं शालिषष्टिकम् ॥ २१९ ॥
यथारोगं यथासात्म्यं रसैर्यूपैश्च संस्कृतैः । त्रिसप्ताहप्रयोगेण वातरक्तं सुदारुणम् ॥ २२० ॥
निहन्ति वीर्यतः क्षिप्रं कुष्ठरोगान्व्रणानपि । छिन्नं भिन्नञ्च सन्धत्ते त्रिफलाऽऽख्यो हि गुग्गुलुः॥

हरड़, बहेड़ा, आंवला, अतीस, देवदारु, दारुहल्दी, नागरमोथा, फालसा, खैर, असना, हल्दी, गुडूची, अमलतास, चिरायता, नीम, कुटकी, इन्द्रजौ तथा पटोलपत्र इन सब ओषधियों को समान परिमाण में लेकर अठगुने जल में क्वाथ बनाकर छानले। फिर इस क्वाथ में जल के आधे परिमाण में गुडुची का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर डाल दे और तब इस जल को मिट्टी के नये वर्त्तन में डालकर रातभर पड़ा रहने दे। फिर इसमें ६ गुनी भकुची चूर्ण करके डाल दे और छानकर शिलाजीत मिलाकर सात दिन तक गुग्गुलु पर भावना दे। तत्पश्चात् इस गुग्गुलु में ३२ तोले शुक्त नामक काञ्जी डाल कर सोनामाखी ४ तोले और मधु तथा घी ८ तोले डालकर सबको अच्छी तरह से मिलाकर एक करले। इसको त्रिफला के जल, पतले मूंग के यूप के साथ अथवा जाङ्गल जीवों के मांसरस के साथ मिलाकर चाटे। औषधि के जीर्ण हो जाने पर अथवा अजीर्णावस्था में ही पुराने शालि चावल के भात को अथवा साठी चावल के भात को रोग तथा सात्म्य के अनुसार मांसरस अथवा संस्कृत यूपों के साथ भोजन करे। यह गुग्गुलु ३ सप्ताह में महादारुण वातरक्त को नष्ट कर देता है। तथा अपने प्रभाव से कुष्ठ रोगों और व्रणों को शीघ्र दूर करता है। और यह 'त्रिफला गुग्गुलु' छिन्न तथा भिन्न अङ्गों को जोड़ता है ॥ २१३-२२१ ॥

सिंहनादगुग्गुलुमाह—

पलत्रयं कषायस्य त्रिफलायाः सुचूर्णितम् । सौगन्धिकं पलञ्चैकं कौशिकस्य पलत्रयम् ॥
कुडवं चित्रतैलस्य सर्वमादाय यत्नतः । पाचयेत्पाकविद्वैद्यः पात्रे लोहमये दृढे ॥ २२३ ॥
हन्ति वातं तथा पित्तं श्लेष्माणं खञ्जपङ्गुताम् । श्वासं सुदुर्जयं हन्ति कासं पञ्चविधं तथा ॥
कुष्ठानि वातरक्तञ्च गुल्मशूलोदराणि च । आमवातं जयत्येतदपि वैद्यविवर्जितम् ॥ २२५ ॥
सर्वदाऽस्योपयोगेन जरापलितनाशनम् । सर्पिस्तैलरसोपेतमश्नीयाच्छालिषष्टिकम् ॥२२६॥
सिंहनाद इति ख्यातो रोगवारणदर्पहा । वह्निदीप्तिकरं पुंसां भाषितो दण्डपाणिना ॥२२७॥
अत्राहुस्त्रिफलाक्वाथं पृथक् त्रिपलसम्मितम् । किञ्चिन्निर्याति चैरण्डस्नेहे पाकोऽधिके खरः ॥

*त्रिफलायाः प्रत्येकं पलत्रयं कषायस्य चूर्णस्यापि । सौगन्धिकं=गन्धकम् । चित्रतैलस्य=एरण्डतैलस्य ॥ २२२-२२८ ॥

त्रिफला क्वाथ १२ तोले, सूक्ष्म चूर्ण किया हुआ गन्धक ४ तोले, गुग्गुलु १२ तोले तथा एरण्ड तैल १६ तोले इन सबको लेकर पाक करने में निपुण वैद्य लोहे के दृढ़ पात्र में यत्नपूर्वक पकावे। यह वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न होनेवाले रोग, खञ्जता, पङ्गुता, महादुर्जय श्वास, पांच प्रकार के कास रोग, कुष्ठ, वातरक्त, गुल्म, शूल, उदरविकार तथा जिसकी चिकित्सा करना, वैद्यों ने छोड़ दिया है ऐसे आमवात को भी नष्ट कर देता है। सर्वदा इसके उपयोग से बुढ़ापा तथा पलित नष्ट

होता हैं। इसके सेवन काल में घी, तेल तथा मांसरस के साथ शालि और साठी के चावलों के भात को खाना चाहिये। भगवान् शङ्कर द्वारा कहा गया यह 'सिंहनाद' नामक गुग्गुलु रोग रूपी हाथी के मद को नष्ट कर देता है तथा मनुष्यों की अग्नि को प्रदीप्त करता है ॥२२२-२२८॥

द्वितीयं सिंहनादगुग्गुलुमाह—

अष्टौ पलान्यत्र पलङ्कषायाः प्रस्थः पृथक् शुद्धफलत्रयस्य।
दत्त्वा पचेद् द्रोणयुगे जलस्य पादावशेषं पुनरेव वैद्यः ॥ २२९ ॥
दन्तीत्रिवृत्त्र्यूषणवारुणीनां विडङ्गमुस्तत्रिफलाऽमृतानाम्।
कट्वग्रगन्धालुकमाणकानां सगन्धकानाञ्च सपारदानाम् ॥ २३० ॥
पलार्द्धमानं प्रमितं सुचूर्णं दद्याद्विपक्वं पुनरेव तत्र।
फलानि सञ्चूर्ण्य च कानकानि सहस्रसङ्ख्याकलितानि पश्चात् ॥ २३१ ॥
खादेद्धि मापद्वितयं प्रतप्तं तोयादिकं देयमतोऽनुपाने।
आमानिलं सन्धिगतं सशूलं शिरोगतं जानुकटिस्थितञ्च ॥ २३२ ॥
अर्शोऽतिवृत्तिं विपमज्वरार्त्तिं प्रमेहकुष्ठानि भगन्दरञ्च।
हन्यान्नराणामिति सिंहनादो मेदोमरुच्छ्लेष्मगदान्पुरोऽयम् ॥ २३३ ॥
दाहोऽत्यन्तप्रवृत्तिर्वा विकारोऽन्यो न चेद् बहुः।
तत्कृतस्तु तदा तत्र तक्रभक्तं हितं भवेत्। उद्वर्त्तनं शीतजलस्नानञ्च शयनं तथा ॥२३४॥
विरेकातिशयं कुर्यात्सिंहनादो यतः सुधीः। ज्ञात्वा बलं शरीरे तु दद्यादेवं न वा भिषक् ॥
तोयारनालगोक्षीरैः क्रमात्पक्वं विशुध्यति। फलं कानकसञ्ज्ञन्तु कृत्वा चूर्णं ततः क्षिपेत् ॥

३२ तोले शुद्ध गुग्गुलु, १ प्रस्थ (६४ तोले) शुद्ध हरड़, १ प्रस्थ शुद्ध बहेड़ा तथा १ प्रस्थ शुद्ध आंवला, इन सबको वैद्य २ द्रोण (२०४८ तोले) जल में पकावे और चतुर्थांशावशिष्ट रहनेपर उतार ले, फिर इसमें दन्ती, निशोथ, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, भूम्यामलकी, वायविडङ्ग, नागरमोथा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, गुडूची, कुटकी, वच, आलू, मानकन्द, गन्धक तथा पारद इन सब ओषधियों को २—२ तोले की मात्रा में लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके डालदे और फिर पकावे। पक जाने के पश्चात् २ हजार धतूर के फलों को सूक्ष्म चूर्ण करके डालदे। इस 'सिंहनाद' नामक गुग्गुलु को उष्ण जल इत्यादि के अनुपान से २ माशे (१२ रत्ती) की मात्रा में खावे। यह सिंहनाद गुग्गुलु' आमवात, शूलयुक्त सन्धिगत वात, शिरोगत वात, जानुगत वात तथा कटिस्थित वात, अर्शरोग, विषमज्वरजन्य व्यथा, प्रमेह, कुष्ठ, भगन्दर, मेदोरोग और वायु तथा कफ से उत्पन्न होनेवाले रोगों को नष्ट कर देता है। यदि इस गुग्गुलु का सेवन करने से दाह, अत्यन्त दस्तों का आना या अन्यान्य विकार उत्पन्न हो जायँ तो दही भात का खिलाना हितकर होता है। उबटन, शीतल जल से स्नान तथा शयन प्रशस्त माना गया है। 'सिंहनाद गुग्गुलु' अधिक दस्तों को लाता है अतएव बुद्धिमान् वैद्य को रोगी के शारीरिक बल का विचार करके इसकी मात्रा देनी चाहिये। इस गुग्गुलु में १ हजार धतूरे के फलों के चूर्ण को डालने को जो ऊपर कह आये हैं, इन फलों को सबसे पहिले पानी में फिर आरनाल-काञ्जी में और तत्पश्चात् गोदुग्ध में पका कर, शुद्ध करने के उपरान्त इनके चूर्णों को डाले। इस प्रकार पकाने से धतूर के फल शुद्ध होजाते हैं। बिना शुद्ध किये धतूर के फलों के चूर्ण को नहीं डालना चाहिये ॥ २२९-२३६ ॥

तृतीयं सिंहनादगुग्गुलुमाह—

पिण्डितां गुग्गुलोर्मानीं कटुतैले पलाष्टके। प्रत्येकं त्रिफलाप्रस्थं सार्द्धद्रोणे जले पचेत् ॥२३७॥
पादशेषं सुपूतञ्च पुनरग्नावधिश्रयेत्। त्रिकटुत्रिफलामुस्तविडङ्गामलकानि च ॥ २३८ ॥
गुडूच्यग्नित्रिवृद्दन्तीवचासूरणमानकम्। कस्तूरीरससूतांशं प्रत्येकं शुक्तिसन्मितम् ॥२३९॥

सहस्रं कानकफलं सिद्धे सञ्चूर्ण्य निक्षिपेत् । ततो माषद्वयं जग्ध्वा पिबेत्तप्तजलादिकम् ॥
अग्निञ्च कुरुते शीघ्रं वडवाऽनलसन्निभम् । मेधावृद्धिं वयोवृद्धिं बलं सुविपुलं तथा ॥२४१॥
आमवातं शिरोवातं ग्रन्थिवातं भगन्दरम् । जानुजङ्घाश्रितं वातं सकटीग्रहवेदनम् ॥ २४२ ॥
अश्मरीमूत्रकृच्छ्रे च भग्ने च तिमिरोदरे । अम्लपित्तं तथा कुष्ठं प्रमेहं गुदनिर्गमम् ॥२४३॥
कासं पञ्चविधं श्वासं क्षयञ्च विषमज्वरम् । प्लीहानं श्लीपदं गुल्मान्पाण्डुरोगं सकामलम् ॥
शोथान्त्रवृद्धिशूलानि गुदजानि विनाशयेत् । मेदःकफामसञ्जातरोगवारणदर्पहा ॥ २४५ ॥
सिंहनाद इति ख्यातो योगोऽयममृतोपमः । भिषग्भिर्वर्जिते रोगे भाषितो दण्डपाणिना ॥

३२ तोले कड़वे तेल में अच्छी तरह कुटा हुआ गुग्गुलु ३२ तोले, हरड़ १ प्रस्थ (६४ तोले), बहेड़ा १ प्रस्थ और आँवला १ प्रस्थ इन सब ओषधियों को डेढ़ द्रोण (१५३६ तोले) जल में पकावे । चौथाई शेष रह जाने पर उतारकर छानकर फिर अग्नि पर चढ़ा दे और उसमें सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, वायविडङ्ग, आँवला, गुडूची, चित्त, निशोथ, दन्ती, वच, सूरन, मानकन्द, कस्तूरी, रसौत तथा पारद इन प्रत्येक ओषधियों को २—२ तोले लेकर चूर्ण कर डाले और १००० धतूरे के शुद्ध फलों का भी चूर्ण करके डाल दे । तत्पश्चात् इस गुग्गुलु को २ माशे (१२ रत्ती) की मात्रा में खाकर उष्ण जल इत्यादि का अनुपान करे । यह गुग्गुलु अग्नि को शीघ्र वडवाग्नि के समान दीप्त कर देता है । मेधा तथा आयु की वृद्धि करता है । महाविपुल बल को उत्पन्न करता है । आमवात, शिरोवात, ग्रन्थिवात, भगन्दर, जानुगतवात, जङ्घागतवात, कटिशूल, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, भग्न, तिमिररोग, अम्लपित्त, कुष्ठ, प्रमेह, गुदभ्रंश, पाँच प्रकार के कास, श्वास, क्षय, विषमज्वर, प्लीहा, श्लीपद, गुल्म, पाण्डुरोग, कामला, शोथ, आंत्रवृद्धि, शूल तथा अर्शरोग को नष्ट कर देता है । मेद, कफ तथा आम से उत्पन्न हुये रोग रूपी हस्ती के मद को नष्ट करता है । जिन रोगों की चिकित्सा करना वैद्यों ने छोड़ दिया है ऐसे रोगों को दूर करने के लिये भगवान शंकर ने अमृत के समान इस 'सिंहनाद' नामक गुग्गुलु का वर्णन किया है ॥ २३७–२४६ ॥

योगसारामृतमाह—

शतावरी नागबला वृद्धदारकमुच्चटा । पुनर्नवामृता कृष्णा वाजिगन्धा त्रिकण्टकम् ॥२४७॥
पृथग्दशपलान्येषां श्लक्ष्णचूर्णानि कारयेत् । तदर्धशर्करायुक्तं चूर्णं संमर्दयेद् बुधः ॥२४८॥
स्थापयेत्सुदृढे भाण्डे मध्वर्द्धाढकसंयुतम् । घृतप्रस्थेन वालोड्य त्रिसुगन्धपलेन च ॥ २४९ ॥

तं खादेदिष्टभक्ष्याशो यथावह्निबलं नरः ।
वातरक्तं क्षयं कुष्ठं कार्श्यं पित्तास्रसम्भवम् ॥ २५० ॥
वातपित्तकफोत्थांश्च रोगानन्यांश्च तत्कृतान् ।
हत्वा करोति पुरुषं हत्वा सर्वामयान् द्रुतम् ॥ २५१ ॥
वलीपलितनिर्मुक्तं मेधास्मृतिविभूषितम् ।
करोति पुरुषं धन्यं पञ्चवर्षशतायुषम् ॥ २५२ ॥
योगसारामृतो नाम लक्ष्मीकीर्त्तिविवर्द्धनः ॥ २५३ ॥

शतावरी, गङ्गेरन, विधारा, शुद्धश्वेतगुञ्जा, पुनर्नवा, गुडूची, पिप्पली, अश्वगन्धा तथा गोखरू इन प्रत्येक औषधियों को १०–१० पल लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर डाले। और इस चूर्ण से आधे परिमाण में चीनी मिलाकर खूब मर्दन करे । फिर इस चूर्ण को दृढ़ भाण्ड में १२८ तोले मधु, ६४ तो० घी, तज, तेजपात तथा इलायची के ४ तो० चूर्ण को मिलाकर भरकर रख दे । फिर इस 'योगसारामृत' नामक योग को अग्निबल के अनुसार खावे और यथेच्छ भोजन करे । यह 'योगसारामृत' नामक योग वातरक्त, क्षय, कुष्ठ, कार्श्य, पित्त तथा रक्त से उत्पन्न होने वाले रोग, वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाले अन्यान्य सम्पूर्ण रोगों को शीघ्र नष्ट करके मनुष्य को वली तथा पलित से निर्मुक्त

करता है। मेधा और स्मरणशक्ति से विभूषित करता है। धन को बढ़ाता है। तथा उसकी आयु ५०० वर्ष की कर देता है। लक्ष्मी तथा कीर्ति को बढ़ाता है॥ २४७-२५३॥

वातरक्ते त्याज्यान्याह—

व्यायामं मैथुनं कोपमुष्णाम्ललवणं रसम्।
दिवास्वप्नमभिष्यन्दि गुरु चान्यद्विवर्जयेत्॥ २५४॥

इत्येकोनत्रिंशो वातरक्ताधिकारः समाप्तः॥ २९॥

इति मध्यखण्डे द्वितीयो भागोऽपि समाप्तः॥ २॥



व्यायाम, मैथुन, क्रोध, उष्ण, अम्ल तथा लवण रस का सेवन, दिवास्वप्न तथा अन्य दूसरे अभिष्यन्दी और गुरु पदार्थों का सेवन करना छोड़ दे॥ २५४॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकोनत्रिंशो वातरक्ताधिकारः समाप्तः॥ २९॥

इति मध्यखण्डे द्वितीयो भागोऽपि समाप्तः॥ २॥



अथ मध्यखण्डम्

तृतीयो भागः

अथ त्रिंशः शूलाधिकारः ॥ ३० ॥

शूलस्य सन्निकृष्टं निदानमाह—

दोषैः पृथक्समस्तामद्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत् । सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः ॥१॥

*प्रभुः = कर्त्ता ॥ १ ॥

वात, पित्त, कफ, त्रिदोष, आम, वातपित्त, वातकफ तथा कफपित्त से उत्पन्न हुआ इस भांति [1]शूल आठ प्रकार का होता है। इन समस्त शूलों में प्रायः वायु प्रभु होता है ॥ १ ॥

वातोत्पन्नशूलस्य विप्रकृष्टनिदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

व्यायामयानादतिमैथुनाच्च प्रजागराच्छीतजलातिपानात् ।
कलायमुद्गाढकिकोरदूषादत्यर्थरूक्षाध्यशनाभिघातात् ॥ २ ॥
कषायतिक्तातिविरूढजान्नविरुद्धवल्लूरकशुष्कशाकैः ।
विट्शुक्रमूत्रानिलसन्निरोधाच्छोकोपवासादतिहास्यभाषात् ॥ ३ ॥
वायुः प्रवृद्धो जनयेद्धि शूलं हृत्पृष्ठपार्श्वत्रिकबस्तिदेशे ।
जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च शीते च कोपं समुपैति गाढम् ॥ ४ ॥
मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपौ विण्मूत्रसंस्तम्भनतोदभेदैः ।
संस्वेदनाभ्यञ्जनमर्दनाद्यैः स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शमं प्रयाति ॥ ५ ॥

*व्यायामो = मल्लयुद्धादिः । यानं = तुरगरथादि । मैथुनं = स्त्रीसेवा । प्रजागरो रात्रौ । एषामतियोगात् । शीतलजलप्रभूतपानात् । कलायः = त्रिपुटः । आढकी = तुवरी । कोरदूषः = कोद्रवः । अत्यर्थरूक्षम् = अतिरूक्षद्रव्यसेवा । अध्यशनं = भुक्तस्योपरि भोजनम् । अभिघातो लोष्ट्रादिभिः । कषायतिक्तरससेवा विरूढजान्नम् = विरूढमङ्कुरितमन्नं कलायचणकादि, तज्जमन्नं भक्ष्यम् । वल्लूरकं = शुष्कमांसम् । तस्य शूलस्य देशमाह—हृदादिषु । तत्र हृच्छूलस्य पृथगपि लक्षणं पठन्ति ॥ २-५ ॥

मल्लयुद्ध इत्यादि व्यायाम, घोड़े, रथ इत्यादि की सवारी । अत्यन्त मैथुन, रात्रिजागरण इनके अत्यन्त सेवन से, शीतलजल के अत्यन्त पान से, मटर, मूंग, अरहर, कोदो तथा रूक्ष पदार्थों के भोजन से, भोजन के ऊपर भोजन करने से, अभिघात से, कसैले तथा तिक्त रसों के सेवन से, अत्यन्त

---

१. पाश्चात्त्य वैद्यक में शूल को कालिक (Colic) कहते हैं। अपने यहां इस शूल के जो वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, आमज, वातपैत्तिक, वातकफज तथा कफपित्तज भेद से आठ प्रकार किये गये हैं। पाश्चात्त्य वैद्यक में ऐसा नहीं है। अपने यहां वातिक शूल के अन्तर्गत हृच्छूल, पार्श्वशूल तथा वस्तिशूल को लिया जाता है। यद्यपि शूल वात के ही कारण होता है, यथा 'सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः' वैसा ही पाश्चात्त्य चिकित्सक भी मानते हैं कि शूल हमेशा वातनाड़ियों (Narve) के प्रक्षोभ से ही होता है तथापि हृच्छूल, पार्श्वशूल स्वयम् अलग २ रोग हैं या बहुत से रोगों में उपद्रव के स्वरूप में भी होते हैं।

अङ्कुरित मटर, चना इत्यादि अन्नों को खाने से, मछली, दूध इत्यादि विरुद्ध पदार्थों के सेवनसे सूखे हुये शाकों को खाने से, मल, वीर्य, मूत्र तथा अपानवायु के वेगों को रोकने से, शोक, उपवास, अत्यन्त हंसने तथा भाषण करने से वायु बढ़कर हृदय, पीठ, पार्श्व, त्रिकस्थान तथा वस्ति में शूल को उत्पन्न कर देता है। अन्न के जीर्ण हो जाने पर, सायंकाल, वर्षाऋतु एवं मेघ के उदय होने पर तथा शीतकाल में वायु के कुपित होने पर मूत्र अधिक कोप करता है। बारम्बार शान्त तथा प्रकुपित होता है। इस शूल से मल तथा मूत्र स्तब्ध हो जाते हैं और सुई चुभाने के समान तथा भेदनवत् पीड़ा होती है। स्वेदन, अभ्यङ्ग तथा मर्दन से और स्निग्ध तथा उष्ण भोजन से शान्त होता है। कुछ ग्रन्थकार हृदय इत्यादि के शूलों का पृथक् वर्णन भी करते हैं॥ २-५॥

हृदयशूललक्षणमाह—

कफपित्तावरुद्धस्तु मारुतो रसवर्द्धितः।
हृदयस्थः प्रकुरुते शूलमुच्छ्वासरोधकम्। स हृच्छूल इति ख्यातो रसमारुतकोपजः॥६॥

रस से बढ़ा हुआ और कफ तथा पित्त से अवरुद्ध वायु श्वास को रोकने वाले हृदयस्थित शूल को उत्पन्न कर देता है। रस तथा वायु के कोपसे उत्पन्न होने वाला यह हृच्छूल कहलाता है॥६॥

पार्श्वशूलस्यापि लक्षणमाह—

कफं निगृह्य पवनः सूचीभिरिव निस्तुदन्। पार्श्वस्थः पार्श्वयोः शूलं कुर्यादाध्मानसंयुतम्॥
तेनोच्छ्वसिति वक्त्रेण नरोऽन्नञ्च न काङ्क्षति। निद्राञ्च नाप्नुयादेष पार्श्वशूलः प्रकीर्त्तितः॥

वायु कफ को पकड़कर सुई से चुभाने के समान पसलियों में आध्मान युक्त शूल को उत्पन्न कर देता है इस शूल के कारण मनुष्य मुंह से ऊंची श्वास लेता है। अन्न की इच्छा नहीं करता। नींद भी नहीं आती। इस शूल को पार्श्वशूल कहते हैं॥ ७-८॥

वस्तिशूलस्यापि लक्षणमाह—

संरोधात्कुपितो वायुर्वस्तिं संश्रित्य तिष्ठति॥ ९॥
वस्तेरध्वनि नाडीषु ततः शूलोऽस्य जायते। विण्मूत्रवातसंरोधी वस्तिशूलः स उच्यते॥

***प्रकृतमनुसरति। जीर्णे = भुक्ते। प्रदोषे = रात्र्यागमे, रात्रिभवशीतेन वातप्रकोपात्। घनागमे = वर्षासु मेघोदये च॥ ९-१०॥**

वेगों के अवरोध से कुपित वायु मूत्राशय में भरा रहता है। इससे मूत्राशय के मार्गके नाड़ियों में शूल उत्पन्न होता है और मल, मूत्र तथा अपानवायु अवरुद्ध हो जाते हैं। यह 'वस्तिशूल' कहलाता है॥ ९-१०॥

पित्तशूलस्य निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

क्षारातितीक्ष्णोष्णविदाहितैलनिष्पावपिण्याककुलत्थयूषैः।
कट्वम्लसौवीरसुराविकारैः क्रोधानलायासरविप्रतापैः॥ ११॥
ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धैः पित्तं प्रकुप्याथ करोति शूलम्।
तृण्मोहदाहार्त्तिकरं हि नाभ्यां संस्वेदमूर्च्छाभ्रमशोषयुक्तम्॥ १२॥
मध्यन्दिने कुप्यति चार्द्धरात्रे निदाघकाले जलदात्यये च।
शीते च शीतैः समुपैति शान्तिं सुस्वादुशीतैरपि भोजनैश्च॥ १३॥

***निष्पावो—राजमाषः। सौवीरं = सन्धानभेदः। सुराविकारैः =**
***परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्ना सुरा मता।**
तस्याः प्रकारैः। रविप्रतापः = आतपः। ग्राम्यातियोगो = मैथुनाधिक्यम्। 'विदाही'-त्युक्त्वाऽपि 'अशनैर्विदग्धैरि'ति बोधयति-अविदाहिवस्तुनोऽपि पित्तवशाद्विदाहित्वं भवति। जलदात्यये = शरदि, शीतैर्वातादिभिः॥ ११-१३॥

यवक्षार इत्यादि क्षार, अत्यन्त तीक्ष्ण, उष्ण तथा दाहकारक पदार्थों के सेवन से, तेल, बोड़ा,

खली तथा कुलथी के यूष से, कटवे, अम्ल पदार्थों के सेवन से, सौवीर, काञ्जी, (कच्चे अथवा पके जवों की भूसी निकाल कर जल में सन्धान करने से सौवीर नामक काञ्जी सिद्ध होती है), सुराविकार, क्रोध, अग्नि, अधिक परिश्रम तथा धूप के अत्यन्त सेवन से, अधिक मैथुन करने से और विदाही आहार के सेवन करने से पित्त प्रकुपित होकर नाभिप्रदेश में शूल को उत्पन्न करता है। इस शूल में पिपासा, मोह, दाह, पसीना, मूर्च्छा, भ्रम तथा शोष ये उपद्रव होते हैं। यह शूल मध्याह्नकाल, अर्द्धरात्र, ग्रीष्मऋतु तथा शरदऋतु में कुपित होता है। शीतकाल में शीतल वायु इत्यादि के स्पर्श और अत्यन्त मधुर तथा शीतल भोजनों के करने से शान्त होता है ॥ ११-१३ ॥

कफजशूलस्य निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

आनूपवारिजकिलाटपयोविकारैर्मांसेक्षुपिष्टकृशरातिलशष्कुलीभिः।
अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम् ॥ १४ ॥
हृल्लासकाससदनारुचिसम्प्रसेकैरामाशये स्तिमितकोष्ठशिरोगुरुत्वैः।
भुक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च ॥ १५ ॥

*आनूपं = बहुलजलदेशजं भक्ष्यम्। वारिजं = शालूकादि ॥

*पक्वं दध्ना समं क्षीरं विज्ञेया दधिकूर्चिका। तक्रेण तत्कूर्चकं स्यात्तयोः पिण्डः किलाटकः॥

*पयोविकारः = पायसादिः। पिष्टं = माषादिः। अन्यैः = गुर्वादिभिः। स्तिमितम् = आर्द्रपटावगुण्ठितत्वमिव, यत्कोष्ठं शिरश्च तयोर्गुरुत्वैः सह। सूर्योदय इति-त्रिधाविभक्तदिवसप्रथमभागस्योपलक्षणम्। शिशिरे-तत्र कफस्यातिसञ्चयात्। कुसुमागमे=वसन्ते ॥

अनूपदेश (जलप्राय देश) में उत्पन्न भक्ष्य पदार्थों के सेवन से, जल में उत्पन्न होने वाले शालूक (भसीड़) इत्यादि के खाने से, किलाट (फटे हुये दूध का खोवा), दुग्धविकार (पायस इत्यादि), मांस, ईख का रस, उड़द इत्यादि की पीठी, खिचड़ी, तिल, पूड़ी तथा अन्य कफजनक कारणों से कोप को प्राप्त होकर कफ आमाशय में शूल को उत्पन्न करता है। इस शूल में हल्लास, कास, ग्लानि, अरुचि तथा मुखप्रसेक होता है। उदर तथा शिर आर्द्र वस्त्र से लपेटा हुआ सा और भारी होता है। भोजनोपरान्त सर्वदा यह शूल अत्यन्त पीडा उत्पन्न करता है। दिन के पूर्व तृतीयांश में (दिन के १० बजे तक), शिशिर ऋतु में (कफ के अत्यन्त सञ्चय के कारण) तथा वसन्त ऋतु में यह शूल तीव्र पीड़ा उत्पन्न करता है। दही के साथ दूध को पकाने से जो पदार्थ बनता है उसे 'दधिकूर्चिका' समझना चाहिये। तक्र के साथ दूध को पकाने से 'कूर्चक' बनता है। और दधिकूर्चिका तथा कूर्चक इन दोनों के पिण्ड को 'किलाट' कहते हैं ॥ १४-१५ ॥

द्विदोषोत्पन्नशूलस्य लक्षणमाह—

द्विदोषलक्षणैरेतैर्विद्याच्छूलं द्विदोषजम् ॥ १६ ॥

उपर्युक्त दो दोषों के लक्षणों से युक्त शूल को 'द्विदोषज शूल' जानना चाहिये ॥ १६ ॥

त्रिदोषोत्पन्नशूलस्य लक्षणमाह—

सर्वेषु देशेषु च सर्वलिङ्गं विद्याद्भिषक्सर्वभवं हि शूलम्।
सुकष्टमेनं विषवज्रकल्पं विवर्जनीयं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ १७ ॥

*सर्वेषु देशेषु = हृत्पृष्ठपार्श्वत्रिकबस्तिनाभ्यामाशयेषु। सर्वभवं = त्रिदोषजम् ॥ १७ ॥

जो शूल हृदय, पीठ, पार्श्वभाग, त्रिकस्थान, मूत्राशय, नाभि तथा आमाशय इन सम्पूर्ण स्थानों में होता है और तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होता है उसको वैद्य 'त्रिदोषज शूल' समझें। यह शूल महाकष्टकारक है, विष और वज्र के समान है। इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये, ऐसी विद्वान् वैद्यों की राय है ॥ १७ ॥

आमोत्पन्नशूलस्य लक्षणमाह—

आटोपहृल्लासवमीगुरुत्वस्तैमित्यकानाहकफप्रसेकैः।
कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्गमामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति ॥ १८ ॥

❀कफस्य=कफशूलस्य। आमोद्भवम्=आमादुद्भवो यस्य तम्। तत्रामशूले जाते पश्चाद्दोपसम्बन्धः, अत एवास्य शूलस्याष्टमत्वमुक्तम्, स च प्रथममामाशये भवति, पश्चात् सम्बन्धिभिर्दोषैर्वस्तिनाभिहृत्पार्श्वकुक्षिषु भवति यथादोषसम्बन्धः॥ १८॥

जिस शूल में आध्मान, हृल्लास, वमन, गुरुता, आर्द्रता, आनाह तथा कफ का स्राव होता है और कफज शूल के समान जिस में लक्षण होते हैं वैद्य लोग उसे 'आमशूल' कहते हैं। आमशूल के उत्पन्न हो जाने पर पश्चात् दोषों का सम्बन्ध हो जाता है। अत एव इस शूल को अष्टम शूल कहा गया है। यह शूल सर्वप्रथम आमाशय में होता है, पुनः सम्बन्धी दोषों के कारण यथादोष वस्ति, नाभि, हृदय, पार्श्व तथा कुक्षि में शूल होता है॥ १८॥

आमशूलस्य दोषविशेषेण देशविशेषमाह—

वातात्मकं वस्तिगतं वदन्ति पित्तात्मकञ्चापि वदन्ति नाभ्याम्।
हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसन्निविष्टं सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात्॥ १९॥

❀हृत्पार्श्वकुक्षौ=हृत्पार्श्वाभ्यां सहिते कुक्षौ। कफसन्निविष्टं=कफेनाविष्टम्॥ १९॥

आमशूल यदि वात से सम्बन्धित हो तो मूत्राशय में, यदि पित्त से सम्बन्धित हो तो नाभि में, यदि कफ से आविष्ट हो तो हृदय तथा पार्श्व सहित कुक्षि में और यदि तीनों दोषों से सम्बन्धित हो तो सम्पूर्ण स्थानों में शूल होता है॥ १९॥

वस्तौ हृत्कटिपार्श्वेषु स शूलः कफवातिकः।
कुक्षौ हृन्नाभिमध्ये तु स शूलः कफपैत्तिकः। दाहज्वरकरो घोरो विज्ञेयो वातपैत्तिकः॥२०॥

आमशूल यदि कफ तथा वात से सम्बन्धित हो तो वस्ति, हृदय, कटिप्रदेश तथा पार्श्व में और कफ तथा पित्त से सम्बन्धित होने पर कुक्षि, हृदय तथा नाभि के बीच में शूल होता है। यदि दाह तथा ज्वर को उत्पन्न करने वाला महादारुण शूल हो तो उस आमशूल को वात तथा पित्त से सम्बन्धित समझना चाहिये॥ २०॥

तन्त्रान्तरोक्तामशूलस्य लक्षणमाह—

अतिमात्रं यदा भुक्तं पावके मृदुतां गते। स्थिरीकृतन्तु तत्कोष्ठे वायुरावृत्य तिष्ठति॥२१॥
यदाऽन्नं न गतं पाकं तच्छूलं कुरुते भृशम्। मूर्च्छाध्मानविदाहांश्च हृत्क्लेशं सविलम्बिकम्॥
कम्पं वान्तिमतीसारं प्रमोहं जनयेदपि। अविपाकोद्भवं शूलमेतमाहुर्मनीषिणः॥ २३॥

❀अविपाकोद्भवम्=आमोद्भवमित्यर्थः॥ २१-२३॥

अधिक मात्रा में भोजन करने के कारण जब अग्नि मन्द हो जाती है तो कोष्ठ में स्थित अन्न को वायु चारों ओर से घेर लेता है तब वह अन्न पाक को नहीं प्राप्त होता और महान् तीव्र शूल को उत्पन्न कर देता है। और मूर्च्छा, आध्मान, दाह, हृत्क्लेश, विलम्बिका, कम्प, वमन, अतीसार और प्रमोह को उत्पन्न करता है इस शूल को विद्वान लोग आमशूल कहते हैं॥ २१-२३॥

शूलोपद्रवानाह—

वेदनातितृषा मूर्च्छा आनाहो गौरवारुची। कासः श्वासो वमिर्हिक्का शूलस्योपद्रवाः स्मृताः॥

व्यथा, अत्यन्त तृष्णा, मूर्च्छा, आनाह, गुरुता, अरुचि, कास, श्वास, वमन तथा हिक्का; शूल के ये दश उपद्रव कहे गये हैं॥ २४॥

शूलस्य साध्यत्वादिकमाह—

एकदोषानुगः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः। सर्वदोषान्वितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः॥

एक दोष से उत्पन्न होने वाला शूल साध्य, दो दोषों से उत्पन्न होने वाला कृच्छ्रसाध्य तथा तीनों दोषों से युक्त और अधिक उपद्रवों वाला शूल महादारुण तथा असाध्य होता है॥ २५॥

शूलारिष्टमाह—

वेदनातितृषामूर्च्छा आनाहो गौरवं ज्वरः॥ २६॥

श्रमो रुचिः कृशत्वञ्च बलहानिस्तथैव च। उपद्रवा दशैवैते यस्य शूलेषु नास्ति सः ॥२७॥

वेदना, अत्यन्त, पिपासा, मूर्च्छा, आनाह, गुरुता, ज्वर, भ्रम, अरुचि, कृशता तथा बल की हानि ये दश उपद्रव जिस रोगी के शूल में होते हैं उसे जीवित नहीं समझना चाहिये ॥२६-२७॥

शूलस्यैव भेदं परिणामशूलमाह—

स्वैर्निदानैः प्रकुपितो वातः सन्निहितो यदा। कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद् बली।
भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम् ॥ २८ ॥

%'स्वैर्निदानैरि'त्यादिना निदानपूर्विका सम्प्राप्तिरुक्ता। 'भुक्ते जीर्यती'त्यादिना लक्षणमुक्तम्। समावृत्य = व्याप्य ॥ २८ ॥

तस्य लक्षणमप्येतत्समासेनाभिधीयते ॥ २९ ॥

अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित प्रबल वायु-कफ और पित्त को आवृत करके शूल उत्पन्न करता है। यह शूल भोजन के पचने के समय में होता है इसे परिणाम शूल कहते हैं। अब उसके लक्षण को संक्षेप से कहते हैं ॥ २८-२९ ॥

आध्मानाटोपविण्मूत्रविबन्धारतिवेपनैः। स्निग्धोष्णोपशमप्रायं वातिकं तद्वदेद्भिषक् ॥३०॥

जो शूल आध्मान, पेट में गुड़गुड़ शब्द का होना, मल तथा मूत्र का अवरोध, बेचैनी तथा कम्प इन लक्षणों से युक्त हो और स्निग्ध तथा उष्ण पदार्थों से शान्त हो जाता हो उसे वैद्य वातिक परिणामशूल कहते हैं ॥ ३० ॥

तृष्णादाहारतिस्वेदकट्वम्ललवणोत्तरम्। शूलं शीतशमप्रायं पैत्तिकं लक्षयेद् बुधः ॥ ३१ ॥

तृष्णा, दाह, ग्लानि तथा स्वेद इन उपद्रवों से युक्त, कटु, अम्ल तथा लवण पदार्थों से उत्पन्न होने वाले और शीतल द्रव्यों से शान्त होने वाले शूल को बुद्धिमान् आदमी पैत्तिक परिणाम-शूल समझे ॥ ३१ ॥

छर्दिहृल्लाससंमोहस्वल्परुग्दीर्घसन्तति। कटुतिक्तोपशान्तौ च विज्ञेयञ्च कफात्मकम् ॥३२॥

जिसमें वमन, हृल्लास, मोह तथा अल्प वेदना हो, जो बहुत समय तक रहता हो और कटु तथा तिक्त द्रव्यों के सेवन से शान्त होजाता हो उसे कफजन्य परिणाम शूल की कल्पना करनी चाहिये॥

संसृष्टलक्षणं बुद्ध्वा द्विदोषं परिकल्पयेत्। त्रिदोषजमसाध्यं स्यात्क्षीणमांसबलानलम् ॥३३॥

उपर्युक्त दो लक्षणों से युक्त जानकर द्विदोषज परिणाम शूल की कल्पना करनी चाहिये। उपर्युक्त तीनों लक्षणों से युक्त त्रिदोषज परिणामशूल कहलाता है। यदि यह शूल जिस मनुष्य का मांस, बल तथा जठराग्नि क्षीण होगई हो ऐसे मनुष्य को उत्पन्न हुआ हो तो असाध्य समझना चाहिये ॥३३॥

अन्नद्रवनामकशूलविशेषस्य लक्षणमाह—

जीर्णे जीर्यति चाप्यन्ने यच्छूलमुपजायते।
पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन वा। न शमं याति नियमात्सोऽन्नद्रव उदाहृतः ॥ ३४ ॥

%नेदं शूलमसाध्यं चिकित्साभिधानात ॥ ३४ ॥

भोजन के पच जाने पर अथवा पचने के समण जो शूल उत्पन्न होता है और पथ्य तथा अपथ्य के प्रयोग से, भोजन करने से या न करने से जो नियम से शान्त नहीं होता उसे अन्नद्रवशूल कहते हैं। यह शूल असाध्य नहीं होता क्योंकि वैद्यों ने इसकी चिकित्सा का विधान किया है ॥ ३४ ॥

शूलस्य चिकित्सामाह—

वमनं लङ्घनं स्वेदः पाचनं फलवर्त्तयः। क्षाराश्चूर्णानि गुटिकाः शस्यन्ते शूलशान्तये ॥३५॥

वमन, लङ्घन, स्वेदन, पाचन, फलवर्त्ति, क्षार, चूर्ण तथा गुटिका ये सब शूल को शान्त करने के उत्तम उपाय हैं ॥ ३५ ॥

विज्ञाय वातशूलन्तु स्नेहस्वेदैरुपाचरेत्। स्वल्पशूलाकुलस्य स्यात्स्वेद एव सुखावहः ॥३६॥

यदि यह मालूम हो कि यह वातजन्य शूल है तो स्नेहन तथा स्वेदन उपचारों को करे। यदि बहुत थोड़ा शूल हो तो स्वेदन ही सुखकर होता है ॥ ३६ ॥

मृत्तिकास्वेदमाह—

मृत्तिकां सजलां पाकाद्घनीभूतां पटे क्षिपेत्। कृत्वा तत्पोट्टलीं शूली यथास्वेदं विधारयेत् ॥

मिट्टी में पानी मिलाकर पकावे। जब मिट्टी गाढ़ी हो जाय तो कपड़े पर डाल दे और पोटली बना कर उपयुक्त स्वेदन करे तो इससे वातशूल नष्ट होता है ॥ ३७ ॥

कार्पासास्थ्यादिस्वेदमाह—

कार्पासास्थिकुलत्थकैस्तिलयवैरेरण्डमूलातसी-
वर्षाभूशणबीजकाञ्जिकयुतैरेकीकृतैर्वा पृथक्।
स्वेदः स्यादथ कूर्परोदरशिरःस्फिग्जानुपादाङ्गुली-
गुल्फस्कन्धकटीरुजो विजयते निःशेषवातार्त्तिहा ॥ ३८ ॥

बिनौले, कुलथी, तिल, जौ, एरण्डमूल, अलसी, पुनर्नवा, सन के बीज तथा काञ्जी इन सबको एकट्ठा करके अथवा अलग अलग गर्म करके स्वेदन करने से कूर्परसन्धि, पेट, शिर, स्फिक्, जानु, अङ्गुली, गुल्फ, कन्धा तथा कटि इन स्थानों में होने वाले शूल को नष्ट करता है तथा सम्पूर्ण वातजन्य व्यथा को दूर कर देता है ॥ ३८ ॥

तिलादिगुटिकामाह—

तिलैश्च गुटिकां कृत्वा भ्रामयेज्जठरोपरि ॥ ३९ ॥

शूलं सुदुस्तरं तेन शान्तिं गच्छति सत्वरम्। नाभिलेपाज्जयेच्छूलं मदनं काञ्जिकान्वितम् ॥

***मदनं = मयनफलम् ॥ ३९-४० ॥**

तिलों को पीस कर गुटिका बनाकर पेट पर घुमावे तो इस उपाय से शीघ्र महादारुण शूल भी शान्त हो जाता है। मैनफल को काञ्जी के साथ पीस कर नाभि पर लेप करने से शूल दूर होता है ॥

विश्वमेरण्डजं मूलं क्वाथयित्वा जलं पिबेत्। हिङ्गुसौवर्चलोपेतं सद्यः शूलनिवारणम् ॥ ४१ ॥

सोंठ तथा एरण्डमूल का क्वाथ बनाकर हींग तथा काला नमक मिलाकर पीने से तत्काल शूल शान्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

वातशूलचिकित्सामाह—

पुंसः शूलाभिपन्नस्य स्वेद एव सुखावहः। पायसैः कृशरैः पिण्डैः स्निग्धैर्वा पिशितोत्करैः ॥

शूलयुक्त मनुष्य का पायस, खिचड़ी, पिण्ड अथवा स्निग्ध मेंढक इत्यादि के मांस से स्वेदन करना ही सुखद होता है ॥ ४२ ॥

वातात्मकं हन्त्यचिरेण शूलं स्नेहेन युक्तस्तु कुलत्थयूषः।
ससैन्धवव्योषयुतः सलावः सहिङ्गुसौवर्चलदाडिमाढ्यः ॥ ४३ ॥

लवा पक्षी का मांस तथा कुलथी इन दोनों के क्वाथ में सेंधा नमक, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हींग, काला नमक, अनार के रस और स्नेह मिलाकर पीने से वातिक शूल शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥४३॥

बलापुनर्नवैरण्डबृहतीद्वयगोक्षुरैः। सहिङ्गुलवणोपेतं सद्यो वातरुजापहम् ॥ ४४ ॥

खिरेटी, पुनर्नवा, एरण्डमूल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू के क्वाथ में हींग और सेन्धा-नमक मिलाकर पीने से वातिक शूल तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ ४४ ॥

तुम्बुरूण्यभया हिङ्गु पौष्करं लवणत्रयम्। पिबेदुष्णाम्बुना वापि शूलगुल्मापतन्त्रकी ॥४५॥

अथवा तुम्बुरु (नेपाली धनियां), हरड, हींग, पोहकरमूल, सेंधा नमक, काला नमक तथा बिड नमक इन सबके चूर्ण को उष्ण जल के साथ पीने से शूल, गुल्म तथा अपतन्त्रक वात नष्ट होते हैं॥

यवानीहिङ्गुसिन्धूत्थक्षारसौवर्चलाभयाः। सुरामण्डेन पातव्या वातशूलनिषूदनाः ॥ ४६ ॥

अजवाइन, हींग, सेन्धानमक, जवाखार, काला नमक तथा हरड़ इन सबके चूर्ण को सुरामण्ड के साथ पीने से वातशूल नष्ट हो जाता है ॥ ४६ ॥

सौवर्चलाम्लिकाजाजीमरिचैर्द्विगुणोत्तरैः । मातुलुङ्गरसैः पिष्ट्वा गुटिका वातशूलनुत् ॥ ४७ ॥

कालानमक १ भाग, इमली २ भाग, कालाजीरा ४ भाग तथा कालीमिर्च ८ भाग इन सब को लेकर विजौरे नीबू के रस में पीसकर गोलियां बना ले। ये गोलियां वातशूल को नष्ट करती हैं ॥

बीजपूरकमूलं च घृतेन सह पाययेत् । जयेद्वातभवं शूलं कर्षमेकं प्रमाणतः ॥ ४८ ॥

विजौरे नींबू के जड़ को १ तोले की मात्रा में लेकर पीसकर घी के साथ पिलाने से वातजन्य शूल नष्ट होता है ॥ ४८ ॥

पित्तशूलचिकित्सामाह—

गुडः शालिर्यवक्षारः सर्पिष्पानं विरेचनम् । जाङ्गलानि च मांसानि भेषजं पित्तशूलिनाम् ॥

गुड़, शालिचावल, जवाखार, घृतपान, विरेचन तथा जाङ्गल जन्तुओं का मांस ये सब पित्तशूल युक्त मनुष्यों की ओषधियां हैं ॥ ४९ ॥

मणीरजतताम्राणां भाजनानि गुरूणि च । तोयेन परिपूर्णानि शूलस्योपरि धारयेत् ॥५०॥

मणि, चान्दी तथा ताम्रके गुरु पात्रों को जल से भर कर पैत्तिक शूल में पेट के ऊपर धारण करे॥

विरेचनं पित्तहरं प्रशस्तं रसाश्च शस्ताः शशलावकानाम् ।
सगुडां घृतसंयुक्तां भक्षयेद्वा हरीतकीम् । प्रलिह्याच्छूलशान्त्यर्थं धात्रीचूर्णं समाक्षिकम् ॥

पित्तनाशक विरेचन और खरगोश तथा लवा पक्षी का मांसरस पैत्तिकशूल में प्रशस्त माना गया है। हरड़ के चूर्ण को गुड़ तथा घी मिला कर खाने से अथवा आंवले के चूर्ण को चाटनेसे पैत्तिकशूल शान्त होता है ॥ ५१ ॥

कफजशूलचिकित्सामाह—

शाल्यन्नं जाङ्गलं मांसमरिष्टं कटुकं रसम् । मधुना जीर्णगोधूमं कफशूले प्रयोजयेत् ॥५२॥

***अरिष्टं = भेषजवारिक्वाथसिद्धमद्यम् ॥ ५२ ॥**

कफजन्य शूल में शाली चावल, जाङ्गल जीवों का मांस, अरिष्ट (ओषधियों के जल के क्वाथ से सिद्ध किया हुआ मद्य), कटुरस तथा मधु के साथ पुराने गेहूं के बने हुये पदार्थों का प्रयोग करना चाहिये ॥ ५२ ॥

लवणत्रयसंयुक्तं पञ्चकोलं सरामठम् । सुखोष्णेनाम्बुना पीतं कफशूलं प्रणाशयेत् ॥ ५३ ॥

सेन्धानमक, विटनमक, कालानमक, सोंठ, पिप्पली, पिपरामूल, चव्य, चित्त तथा हींग इनके चूर्ण को किञ्चित् उष्ण जल के साथ पीने से कफशूल नष्ट हो जाता है ॥ ५३ ॥

आमशूलचिकित्सामाह—

आमशूले क्रिया कार्या कफशूलप्रणाशिनी । सेव्यमामहरं सर्वमग्नेर्मन्दस्य वर्द्धनम् ॥५४॥

आमशूल में कफशूल को नष्ट करने वाली सारी क्रियाओं को करना चाहिये । आमदोष को दूर करने वाले सम्पूर्ण द्रव्यों का सेवन करना चाहिये और मन्द हुई अग्नि को बढ़ाना चाहिये ॥५४॥

तीक्ष्णायाश्चूर्णसंयुक्तं त्रिफलाचूर्णमुत्तमम् । प्रयोज्यं मधुसर्पिर्भ्यां सर्वशूलनिवारणम् ॥५५॥

***तीक्ष्णायाश्चूर्णं = राजिकाऽऽदिचूर्णम् ॥ ५५ ॥**

त्रिफला के उत्तम चूर्ण को राई इत्यादि का चूर्ण मिलाकर मधु तथा घी के साथ चाटने से सम्पूर्ण शूल नष्ट हो जाते हैं ॥ ५५ ॥

दारुहैमवतीकुष्ठशताह्वाहिङ्गुसैन्धवैः । अम्लपिष्टैः सुखोष्णैश्च लिम्पेच्छूलयुतोदरम् ॥ ५६ ॥

देवदारु, श्वेतवच, कूठ, सोया, हींग तथा सेन्धानमक इनको नीबू के रस के साथ पीस कर कुछ गर्म-गर्म पेट पर लेप करने से उदरशूल नष्ट होता है ॥ ५६ ॥

मूलं वैल्वं तथैरण्डं चित्रकं विश्वभेषजम्। हिङ्गुसैन्धवसंयुक्तं सद्यः शूलनिवारणम्॥ ५७॥

*वातरोगान्तर्गताध्मानचिकित्सायां लिखितो नाराचनामा रसोऽन्यच्च विरेचनं शूले हितम्॥ ५७॥

बेल की जड़, एरण्ड की जड़, चित्त, सोंठ, हींग तथा सेन्धानमक इनके चूर्ण को खानेसे तत्काल शूल नष्ट हो जाता है। वातरोगान्तर्गत आध्मानचिकित्सा में लिखा हुआ नाराच नामक रस तथा और भी दूसरे विरेचन शूल में हितकर हैं॥ ५७॥

कूष्माण्डक्षारमाह—

कूष्माण्डं तनु कृत्वा तु क्षिप्त्वा घर्मे विशोषयेत्।
स्थाल्यां निक्षिप्य तत्सर्वं पिधानेन पिधाय च॥ ५८॥

चुल्ल्यां निवेश्य वह्निञ्च ज्वालयेत्कुशलो जनः। यथा तन्न भवेद्भस्म किन्त्वङ्गारो दृढो भवेत्॥
तदा निर्वापयेच्छीतं सर्वथा चूर्णितन्तु तत्। माषद्वयमितं तावच्छुण्ठीचूर्णेन मिश्रितम्॥
जलेन भक्षयेन्नित्यं महाशूलाकुलो नरः। असाध्यमपि यच्छूलं तदप्येतेन शाम्यति॥६१॥

पेठे के बारीक टुकड़े करके धूप में डालकर सुखावें। तत्पश्चात् इन टुकड़ों को हंडिया में भरकर शराव से ढककर चूल्हे पर रख कर बुद्धिमान् मनुष्य अग्नि को जला दे। इसमें इतनी आंच देनी चाहिये कि ये टुकड़े जल कर भस्म न हो जांय किन्तु दृढ़ अङ्गारों के समान हो जांय, फिर इन्हें उतार ले और सर्वथा शीतल होजाने पर इनका चूर्ण करले फिर इस चूर्ण को २ माशे (१२ रत्ती) की मात्रामें लेकर और इसमें दो ही माशे सोंठ का चूर्ण मिलाकर पानी के साथ प्रतिदिन महा भयङ्कर शूल से व्याकुल मनुष्य खावे। असाध्य शूल भी इसके सेवन से शान्त होजाता है॥५८-६१॥

परिणामशूलचिकित्सामाह—

लङ्घनं प्रथमं कुर्याद्वमनं सविरेचनम्। पक्तिशूलोपशान्त्यर्थं तत्र वान्तेर्विधिर्यथा॥ ६२॥
पीत्वा तु क्षीरमाकण्ठं मदनक्वाथसंयुतम्। कान्तारकस्य पौण्ड्रस्य कोशकारस्य वा रसम्॥
कषायो वाऽथ निम्बस्य कटुतुम्बीरसोऽथ वा। यथाविधि वमेद्धीमान्पक्तिशूलार्दितो जनः॥

परिणामशूल की शान्ति के लिये सर्वप्रथम लङ्घन तत्पश्चात् वमन और विरेचन कराना चाहिये। वमन कराने की विधि इस प्रकार है:—परिणामशूल से पीडित मनुष्य मैनफल के क्वाथ के साथ दूध को अथवा कान्तार (कैतारा) नामक ईख के रस को अथवा पौण्ड्र ईख के रस को या कोशकार ईख के रस को अथवा नीम के क्वाथ को या कड़वी तुम्बी के रस को कण्ठपर्य्यन्त पीकर विधिपूर्वक वमन करे॥ ६२-६४॥

त्रिवृता च तथा दन्त्या तैलेनैरण्डजेन वा। दत्तं विरेचनं सद्यः पक्तिशूलनिवारणम्॥६५॥

निशोथ, दन्ती अथवा एरण्ड तैल का विरेचन देने से परिणामशूल शीघ्र नष्ट होजाता है॥

विडङ्गादिमोदकमाह—

विडङ्गतण्डुलव्योषत्रिवृद्दन्ती सचित्रका। सर्वाण्येतानि संहृत्य सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्॥६६॥
गुडेन मोदकान्कृत्वा खादेदुष्णेन वारिणा। जयेत्त्रिदोषजं शूलं परिणामसमुद्भवम्॥६७॥

वायविडङ्ग के बीज, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, निशोथ, दन्ती तथा इन सब को एकत्र करके सूक्ष्म चूर्ण कर डाले। फिर इस चूर्ण को गुड़ के साथ मोदक बनाकर उष्ण जल केसाथ खावे तो त्रिदोषजन्य परिणामशूल नष्ट होजाता है॥ ६६-६७॥

शुण्ठ्यादिकल्कमाह—

नागरतिलगुडकल्कं पयसा सम्पिष्य यः पुमांल्लिह्यात्। उग्रं परिणतिशूलं नश्येत्तस्य त्रिरात्रेण॥

जो मनुष्य सोंठ, तिल तथा गुड़ के कल्क को दूध के साथ पीसकर चाटता है उसका उग्र परिणामशूल तीन दिन में नष्ट होजाता है॥ ६८॥

पीतं शम्बूकजं भस्म जलेनोष्णेन तत्क्षणात्। पक्तिजं नाशयत्येव शूलं विष्णुरिवासुरान्॥

छोटे घोंघे की भस्म को उष्ण जल के साथ पीने से परिणामशूल इस प्रकार तत्काल नष्ट हो जाता है जैसे कि विष्णु भगवान् राक्षसों का नाश कर डालते हैं ॥ ६९ ॥

पथ्यादिलौहमाह—

लौहपथ्याकणाशुण्ठीचूर्णं समधुसर्पिषा । विलिहन्विनिहन्त्येव शूलं हि परिणामजम् ॥७०॥

लौहभस्म, हरड़, पिप्पली तथा सोंठ के चूर्ण को मधु तथा घी के साथ चाटते ही परिणामशूल नष्ट हो जाता है ॥ ७० ॥

नारिकेलक्षारमाह—

नारिकेलं सतोयं च लवणेन सुपूरितम् । मृदाऽऽववेष्टितं शुष्कं पक्वं गोमयवह्निना ॥ ७१ ॥
पिप्पल्या भक्षितं हन्ति शूलं हि परिणामजम् । वातिकं पैत्तिकञ्चापि श्लैष्मिकं सान्निपातिकम्

पानी भरे हुये नारियल में नमक भर कर मिट्टी से आवेष्टित कर सुखाकर कण्डे की आंच से पका कर भस्म करले। इस भस्म को पिप्पली के चूर्ण के साथ खाने से वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा सान्निपातिक परिणामशूल नष्ट हो जाता है ॥ ७१-७२ ॥

अन्नद्रवशूलचिकित्सामाह—

अन्नद्रवाख्ये शूले तु न तावत्स्वास्थ्यमश्नुते । यावत्कटुकपित्ताम्लमन्नं न च्छर्दयेद् द्रवम् ॥

जब तक कड़वे तथा पित्तयुक्त अम्ल अन्न को रोगी वमन नहीं करेगा तब तक अन्नद्रव नामक शूल में स्वास्थ्य नहीं प्राप्त कर सकता है ॥७३॥

जातमात्रे जरत्पित्ते शूलमाशु विनाशयेत् । पित्तान्तं वमनं कृत्वा कफान्तञ्च विरेचनम् ॥

पित्तजन्य परिणामशूल के उत्पन्न होते ही वमन करके नष्ट कर दे तथा कफ से उत्पन्न हुये परिणामशूल को विरेचन द्वारा नष्ट कर दे ॥ ७४ ॥

अन्नद्रवे च तत्कार्यं जरत्पित्ते यदीरितम् । जरत्पित्तेऽपि तत्पथ्यं प्रोक्तमन्नद्रवे तु यत् ॥७५॥

परिणामशूल में जिन चिकित्साओं का वर्णन किया गया है अन्नद्रवशूल में उन्हीं का उपयोग करना चाहिये तथा जो जो पदार्थ परिणामशूल में पथ्य कहे गये हैं वे ही अन्नद्रवशूल में भी समझने चाहिये ॥ ७५ ॥

आमपक्वाशये शुद्धे गच्छेदन्नद्रवः शमम् ॥ ७६ ॥

आमाशय तथा पक्वाशय के शुद्ध हो जानेपर अन्नद्रवशूल शान्त हो जाता है ॥ ७६ ॥

माषेण्डरीं सलवणां सुस्विन्नां तैलपाचिताम् । तादृशीं सर्पिषा खादेदन्नद्रवनिपीडितः॥७७॥

अन्नद्रव से पीड़ित मनुष्य सेन्धानमक मिलाकर उड़द की पीठी की छोटी २ बड़ियों को वाष्पस्वेदित कर तेल में पकाकर घी के साथ खावे ॥ ७७ ॥

धात्रीफलभवं चूर्णमयश्चूर्णसमन्वितम् । यष्टीचूर्णेन वा युक्तं लिह्यात्क्षौद्रेण तद्द्रवे ॥ ७८ ॥

आंवलों के चूर्ण में लौहभस्म अथवा मुलहठी का चूर्ण मिलाकर मधु के साथ चाटने से अन्नद्रवशूल शान्त होता है ॥ ७८ ॥

श्यामाकतण्डुलैः सिद्धं सिद्धं कोद्रवतण्डुलैः । प्रियङ्गुतण्डुलैः सिद्धं पायसं सहितं हितम् ॥
*अत्र प्रियङ्गुः = विशेषः ॥ ७८ ॥

सांवा, कोदो तथा कांगुनी के चावलों से पायस बनाकर उसमें हितकर द्रव्यों को डालकर खाना अन्नद्रवशूल से पीड़ित मनुष्य के लिये हितकर हैं ॥ ७८ ॥

गौडिकं शौरणं कन्दं कूष्माण्डमपि भक्षयेत् । कलाययवशक्तून्वा शक्तून्वा लाजसम्भवान् ॥
*गौडिकं=गुडेन संस्कृतं पक्वान्नम् ॥ ७९ ॥

कुलत्थशक्तूनथ वा दध्नाऽद्याद् दाधिकं तथा । चणकानामथो शक्तून्कोद्रवस्यौदनं तथा ॥
*दाधिकं=दध्ना संस्कृतं भक्तं 'महेरि' इति लोके ॥ ८० ॥

गुड़ द्वारा निर्मित अन्न, सूरनकन्द, पेठा, मटर, जौ के सत्तू, खीलों के सत्तू अथवा कुलथी के सत्तू को दही के साथ खाय या दहीनिर्मित पदार्थों (मट्ठर) को खाय अथवा चने के सत्तू या कोदो के भात को खाय ॥ ७९-८० ॥

गोधूममण्डकं तत्र सर्पिषा गुडसंयुतम् । ससितं शीतदुग्धेन मृदितं कथितं हितम् ॥ ८१ ॥

गेहूं के मण्डक अर्थात् खीर को घी, गुड़ तथा मिश्री मिलाकर ठण्डे दूध में मलकर खाना अन्न-द्रवशूल में हितकर है ॥ ८१ ॥

अन्नद्रवो दुश्चिकित्स्यो दुर्विज्ञेयो महागदः । तस्मात्तस्य प्रशमने परं यत्नं समाचरेत् ॥८२॥

अन्नद्रव शूल दुश्चिकित्स्य, बड़ी कठिनाई से समझ में आनेवाला तथा महारोग है। अतएव वैद्य को उचित है कि उसकी शान्ति के लिए भली भांति उपाय करे ॥ ८२ ॥

अन्नद्रवे जरत्पित्ते वह्निर्मन्दो भवेद्यतः । तस्मादत्रान्नपानानि मात्राहीनानि कारयेत् ॥८३॥

अन्नद्रवशूल तथा परिणामशूल में अग्नि मन्द हो जाती है। अतः इन रोगों में अन्न तथा जल की मात्रा अल्प कर देनी चाहिये ॥ ८३ ॥

कलाययवगोधूमाः श्यामाकाः कोरदूषकाः । राजमाषाश्च माषाश्च कुलत्थाः कङ्गुशालयः ॥
दधिलुप्तरसं क्षीरं सर्पिर्गव्यं समाहितम् । वास्तूकं कारवेल्ली च कर्कोटकफलानि च ॥८५॥
बर्हिणो हरिणा मत्स्या रोहिताद्याः कपिञ्जलाः । एतस्मिन्नामये शस्ता मता मुनिचिकित्सकैः

*दधिलुप्तरसं=दध्ना लुप्तो रसः=प्रकृतरसो यस्य तत्क्षीरं, दधियुक्तं क्षीरमित्यर्थः ॥

मटर, जौ, गेहूं, सांवां, कोदो, राजमाष, उड़द, कुलथी, काकुन, शालिचावल, दधिमिश्रित दुग्ध, गाय तथा भैंस का घी, बथुआ, करैले, ककोड़े, मोर तथा हिरन का मांस, रोहू इत्यादि मछलियां तथा तीतर का मांस, ये सब अन्नद्रव शूल में हितकर हैं, ऐसा चिकित्सक ऋषियों का मत है ॥ ८४-८६ ॥

गुडमण्डूरमाह—

गुडामलकपथ्यानां चूर्णं प्रत्येकशः पलम् । त्रिपलं लोहकिट्टस्य तत्सर्वं मधुसर्पिषा ॥ ८७ ॥
समालोड्य समश्नीयादक्षमात्रप्रमाणतः । आदिमध्यावसानेषु भोजनस्य निहन्ति तत् ॥८८॥
अन्नद्रवं जरत्पित्तमम्लपित्तं सुदारुणम् । परिणामसमुत्थञ्च शूलं संवत्सरोत्थितम् ॥ ८९ ॥

गुड़, आवले का चूर्ण तथा हरड़ों का चूर्ण प्रत्येक ४ तोले तथा मण्डूर भस्म १२ तोले इनको मधु तथा घी में मिलाकर १ तोले की मात्रा में भोजन के आदि, मध्य तथा अन्त में खाने से सुदारुण अन्नद्रव शूल, जरत्पित्त, अम्लपित्त तथा एक वर्ष का पुराना परिणाम शूल नष्ट हो जाता है ॥

शूलरोगे पथ्यान्याह—

व्यायामं मैथुनं मद्यं लवणं कटुकं रसम् । वेगरोधं शुचं क्रोधं विदलं शूलवांस्त्यजेत् ॥ ९० ॥

इति त्रिंशः शूलाधिकारोऽथवा शूलपरिणामशूलान्नद्रवजरत्पित्ताधिकारः समाप्तः ॥ ३० ॥



व्यायाम, मैथुन, मद्य, लवण, कटुरस, मलमूत्र के वेगों को रोकना, शोक, क्रोध तथा द्विदल धान्य जैसे-चना, अरहर और मटर इत्यादि को शूलरोगी त्याग दे ॥ ९० ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे त्रिंशः शूलाधिकारः समाप्तः ॥ ३० ॥



अथैकत्रिंश उदावर्त्तानाहाधिकारः ॥ ३१ ॥

तत्रोदावर्त्तस्य विप्रकृष्टनिदानमाह—

वातविण्मूत्रजृम्भाऽश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः । क्षुत्तृष्णोच्छ्वासनिद्राणां धृत्योदावर्त्तसम्भवः॥

*इन्द्रियमत्र शुक्रम् । अत्र तृतीया सहार्था । धृत्या = वेगविघातेन ॥ १ ॥

अपान वायु, मल, मूत्र, जृम्भा, आँसू , छींक, डकार, वमन, शुक्र, भूख, प्यास, श्वास तथा निद्रा इन तेरह वेगों को रोकने से उदावर्त्त उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

उदावर्त्तस्य सामान्यलक्षणमाह—

यथोर्ध्वं जायते वायोरावर्त्तः स चिकित्सकैः। उदावर्त्त इति प्रोक्तो व्याधिस्तत्रानिलः प्रभुः॥

*आवर्त्तो = भ्रमः ॥ २ ॥

जिस रोग में वायु का आवर्त्त (भ्रम, चक्कर) ऊपर को जाता है उस रोग को वैद्यलोग उदावर्त्त कहते हैं । इस रोग में वायु की प्रधानता होती है ॥ २ ॥

अधोवातावरोधोत्पन्नोदावर्त्तस्य लक्षणमाह—

वातमूत्रपुरीषाणां सङ्गो ध्मानं क्लमो रुजा । जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात्॥

*तत्तद्वेगाभिघातभिन्नानामुदावर्त्तानां क्रमेण विशिष्टानि लक्षणान्याह । तत्रापानवातनिरोधजस्योदावर्त्तस्य लक्षणमाह—वातेति । सङ्गः = अप्रवृत्तिः । ध्मानम् = आध्मानम् । क्लमः = अनायासश्रमः । रुजा जठरे । अन्ये = तोदशूलगुल्मादयः ॥ ३ ॥

अपान वायु को रोकने से वायु, मूत्र तथा मल का अवरोध, पेट का फूलना, विना परिश्रम के थकान प्रतीत होना, पेट में पीड़ा तथा अन्य वातजन्य तोद, शूल तथा गुल्म इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

पुरीषावरोधोत्पन्नोदावर्त्तस्य लक्षणमाह—

आटोपशूलौ परिकर्त्तिका च सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः ।
पुरीषमास्यादथवा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य ॥ ४ ॥

*पुरीषवेगे धारिते सति, आटोपः=सरुग् गुडगुडशब्दः । शूलमिति पक्वाशये । परिकर्त्तिका=गुदे कर्त्तनवत्पीडा । ऊर्ध्ववातः = उद्गारः ॥ ४ ॥

मल के वेग को रोकने से पेट में आटोप अर्थात् अल्प पीडायुक्त गुड़गुड़ शब्द, पक्वाशय में शूल, गुदा में कतरने के समान वेदना, मलावरोध, डकारों का आना अथवा मुखमार्ग से मल का निकलना ये लक्षण होते हैं ॥ ४ ॥

मूत्रावरोधोत्पन्नोदावर्त्तस्य लक्षणमाह—

बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा । विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥

*विनामः = व्यथया वपुषो नमनम् । वङ्क्षणानाहः = वङ्क्षणयोराकर्षणवद्व्यथा ॥

मूत्र के वेग को रोकने से मूत्राशय तथा लिङ्ग में शूल, मूत्रकृच्छ्र, शिरःशूल, व्यथा के मारे शरीर का झुक जाना तथा वङ्क्षणानाह अर्थात् ऐसी व्यथा प्रतीत होना मानो कोई मनुष्य दोनों वङ्क्षणों को खींच रहा हो ॥ ५ ॥

जृम्भाऽवरोधोत्पन्नोदावर्त्तस्य लक्षणमाह—

मन्यागलस्तम्भशिरोविकारा जृम्भोपघातात्पवनात्मकाः स्युः ।
तथाऽक्षिनासावदनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह कर्णरोगैः ॥ ६ ॥

जृम्भा को रोकने से मन्या तथा गले का स्तम्भ, वातसम्बन्धी शिरःशूल, आंख, नासिका, मुख तथा कानों में भी वेदना होती है ॥ ६ ॥

नेत्रोदकावरोधोत्पन्नोदावर्त्तस्य लक्षणमाह—

मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्द्धावभेदकौ। इन्द्रियाणाञ्च दौर्वल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात्

छींक के वेग को रोकने से मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, अर्दित, अर्द्धावभेदक तथा इन्द्रियों की दुर्वलता ये रोग उत्पन्न हो जाते हैं॥ ८ ॥

उद्गारावरोधोत्पन्नोदावर्त्तस्य लक्षणमाह—

कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः कूजश्च वायोरथ वाऽप्रवृत्तिः।
उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति जन्तोर्विकाराः पवनप्रसूताः॥ ९॥

छकण्ठास्यपूर्णत्वं—कवलेनेव। तोदो—हृद्यामाशये च। कूजोऽव्यक्तशब्दः। उदरे वायोरप्रवृत्तिः, उच्छ्वासादिनिरोधात्। पवनप्रसूताः=पवनाज्जाताः, विकाराः=हिक्कादयः॥९॥

डकार के वेग को रोकने से गला कवल (ग्रास) से रुंधा-सा प्रतीत होता है। आमाशय तथा हृदय में सुई चुभाने के समान पीड़ा होती है। पेट में वायु का कूजना, श्वास इत्यादि के निरोध से उदर में वायु की अप्रवृत्ति तथा अन्य हिक्का इत्यादि वातजन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं॥ ९॥

वमनावरोधोत्पन्नोदावर्तस्य लक्षणमाह—

कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः। कुष्ठहृल्लासवीसर्पाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः॥ १०॥

वमन को रोकने से कण्डू, चकत्ते, अरुचि, व्यङ्ग, शोथ, पाण्डुरोग, ज्वर, कुष्ठ, हृल्लास तथा विसर्प ये सब रोग उत्पन्न हो जाते हैं॥ १०॥

वीर्यावरोधोत्पन्नोदावर्त्तस्य लक्षणमाह—

मूत्राशये वै गुदमुष्कयोश्च शोथो रुजा मूत्रविनिग्रहश्च।
शुक्राश्मरी तत्स्रवणं भवेच्च ते ते विकारा विहते तु शुक्रे॥ ११॥

छतत्स्रवणं=शुक्रस्रावः। ते ते विकाराः=वातकुण्डलिकाऽऽदयः॥ ११॥

शुक्र के वेग को रोकने से मूत्राशय, गुदा तथा अण्डकोषों में पीडा, मूत्र का अवरोध, शुक्राश्मरी, वीर्यस्राव तथा अन्यान्य वातकुण्डलिका इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं॥ ११॥

क्षुधावरोधोत्पन्नोदावर्त्तस्य लक्षणमाह—

तन्द्राऽङ्गमर्दावरुचिः श्रमश्च क्षुधाविघातात्कृशता च दृष्टेः॥ १२॥

भूख को रोकने से तन्द्रा, अङ्गमर्द, अरुचि, श्रम तथा दृष्टि की दुर्वलता ये रोग उत्पन्न होते हैं॥

तृषावरोधोत्पन्नोदावर्त्तस्य लक्षणमाह—

कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोधस्तृष्णाविघाताद्धृदये व्यथा च॥ १३॥

पिपासा को रोकने से कण्ठ का शोष, कम सुनाई देना तथा हृदय में पीड़ा, ये सब लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं॥ १३॥

श्वासावरोधोत्पन्नोदावर्त्तस्य लक्षणमाह—

श्रान्तस्य निश्वासविनिग्रहेण हृद्रोगमोहावथवाऽपि गुल्मः॥ १४॥

श्वास को रोकने से थके हुये मनुष्य के हृदय में पीडा, मोह तथा गुल्मरोग उत्पन्न हो जाता है॥

निद्रावरोधोत्पन्नोदावर्त्तस्य लक्षणमाह—

जृम्भाऽङ्गमर्दाक्षिशिरोऽतिजाड्यं निद्राविघातादथ वाऽपि तन्द्रा॥ १५॥

छअतिजाड्यं=गौरवम्। 'शिरोगात्राक्षिगौरवमिति' तन्त्रान्तरे पाठात्॥ १५॥

निद्रा को रोकने से जृम्भा, अङ्गों का टूटना, शिर में गुरुता तथा तन्द्रा ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। तन्त्रान्तर में ऐसा पाठ है कि शिर, गात्र तथा नेत्रों में गुरुता होती है॥ १५॥

रूक्षादिकुपितवातोत्पन्नोदावर्त्तस्य निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

वायुः कोष्ठानुगो रूक्षैः कषायकटुतिक्तकैः। भोजनैः कुपितः सद्य उदावर्त्तं करोति च।

वातमूत्रपुरीषाश्रुकफमेदोवहानि वै। स्रोतांस्युदावर्त्तयति पुरीषं न प्रवर्त्तयेत्।
ततो हृद्वस्तिशूलार्त्तो हृल्लासारतिपीडितः। वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण लभते नरः॥ १६॥
श्वासकासप्रतिश्यायदाहमोहतृषाज्वरान्। वमिहिक्काशिरोरोगमनःश्रवणविभ्रमान्।
बहूनन्यांश्च लभते विकारान्वातकोपजान्॥ १७॥

*वेगावरोधजमुदावर्त्तमभिधाय रूक्षादिकुपितवातजमाह—वायुरिति। उदावर्त्तयति=वायुरूर्ध्वं भ्रमेणेव वातादिवहानि स्रोतांसि निरुणद्धि न तु विडादीनधो गमयति। मनोविभ्रमः=रज्जौ सर्पज्ञानम्। श्रवणविभ्रमः=अन्यथा श्रवणम्॥ १६–१७॥

कोष्ठ में रहने वाला वायु रूक्ष, कसैले, कटु तथा तिक्त पदार्थों के भोजन करने से तत्काल उदावर्त्त को उत्पन्न कर देता है। प्रकुपित वात अपानवायु, मूत्र, मल, आंसू, कफ तथा मेदोवह स्रोतसों को अवरुद्ध करके मल को नीचे नहीं जाने देता। उस समय हृदयशूल तथा वस्तिशूल से दुःखी, हृल्लास तथा अरति से पीड़ित मनुष्य बड़ी कठिनाई से वायु, मल तथा मूत्र को बाहर निकाल पाता है। तथा श्वास, खांसी, प्रतिश्याय, दाह, मोह, पिपासा, ज्वर, वमन, हिक्का, शिरःशूल, मनोविभ्रम (रस्सी में सर्प का भान), कुछ का कुछ सुनाई देना तथा और भी दूसरे प्रकुपित वातजन्य विकार हो जाते हैं॥ १६–१७॥

असाध्योदावर्त्तस्य लक्षणमाह—

तृष्णाच्छर्दिपरिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरुपद्रुतम्। शकृद् वमन्तं मतिमानुदावर्त्तिनमुत्सृजेत्॥१८॥

*परिक्लिष्टं=क्लेशसंयुक्तम्॥ १८॥

यदि उदावर्त्त का रोगी तृषा और वमन से पीडित हो, क्षीण हो गया हो, शूलयुक्त हो, मल का वमन करता हो तो बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि उसकी चिकित्सा न करे॥ १८॥

आनाहस्य सामान्यलक्षणमाह—

आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।
प्रवर्त्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति॥ १९॥

*आमम्=अपक्वमाहाररसम्। शकृत्=पुरीषं वा। क्रमेण निचितं=सञ्चितम्। भूयो विगुणानिलेन=दुष्टवायुना, विबद्धं=व्यायामशोषितं वा, यथास्वं=पूर्ववदप्रवर्त्तमानम्। एनं विकारमानाहमाहुः॥ १९॥

क्रमतः सञ्चित आम, आहार का न पका हुआ रस अथवा मल दुष्ट वायु द्वारा सूखकर अथवा बंधकर अपने मार्ग से नहीं निकलता इस विकार को वैद्यवृन्द आनाह कहते हैं॥ १९॥

आमजानाहस्य लक्षणमाह—

तस्मिन्भवन्त्यामसमुद्भवे तु तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहाः।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृत्स्तम्भ उद्गारविघातनञ्च॥ २०॥

*विघातनम्–अप्रवृत्तिः॥ २०॥

आमरसजन्य आनाह में तृष्णा, प्रतिश्याय, शिर में दाह, आमाशय में शूल, शरीर में गुरुता, हृत्स्तम्भ तथा डकार का न आना ये लक्षण होते हैं॥ २०॥

मलसंचयेनोत्पन्नानाहस्य लक्षणमाह—

स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे शूलोऽथ मूर्च्छा शकृतो वमिश्च।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि॥ २१॥

*पक्वाशयजे=शकृत्सञ्चयजे, आनाहे। स्तम्भशब्दः=कटीपृष्ठयोः स्तब्धतावाची पुरीषमूत्रयोरप्रवृत्तिवाची च। अलसोक्तानि लक्षणानि=आध्मानवातविघातादीनि॥ २१॥

मलसञ्चयजन्य आनाह में कमर तथा पीठ की स्तब्धता, मल तथा मूत्र का अवरोध, शूल,

मूर्च्छा, मल का वमन तथा अलसोक्त लक्षण जैसे–आध्मान और वात का विघात इत्यादि लक्षण होते हैं ॥ २१ ॥

उदावर्त्तानां चिकित्सामाह—

अधोवातनिरोधोत्थे उदावर्त्ते हितं मतम्। स्नेहपानं तथा स्वेदो वर्त्तिर्वस्तिर्हितो मतः ॥२२॥

***वर्त्तिः = फलवर्त्तिः ॥ २२ ॥**

अपानवायु के निरोध से उत्पन्न होने वाले उदावर्त्त में स्नेहपान, स्वेद, फलवर्ति तथा वस्तिकर्म हितकर बतलाया गया है। २२ ॥

विड्विघातसमुत्थे तु विड्भङ्गाऽन्नं तथौषधम्। वर्त्यभ्यङ्गावगाहाश्च स्वेदो वस्तिर्हितो मतः ॥

मल के वेग को रोकने से उत्पन्न हुए उदावर्त रोग में विरेचक अन्न, विरेचक ओषधि, फलवर्त्ति, अभ्यङ्ग, अवगाहन, स्वेद तथा वस्तिकर्म हितकर बतलाया गया है ॥ २३ ॥

मूत्रावरोधजनिते क्षीरवारिवचां पिबेत्। दुःस्पर्शास्वरसं वाऽपि कषायं ककुभस्य च ॥२४॥

***दुःस्पर्शा=कण्टकारी दुरालभा च, तुल्यगुणत्वात् ॥ २४ ॥**

मूत्रावरोधजन्य उदावर्त्त में जलमिश्रित दुग्ध में वच का चूर्ण मिलाकर पीवे अथवा कण्टकारी का स्वरस या अर्जुन की छाल का स्वरस पीवे। यहां पर दुःस्पर्शा से कण्टकारी तथा यवासा दोनों का ग्रहण होता है क्योंकि ये दोनों ओषधियाँ गुण में समान हैं ॥ २४ ॥

एर्वारुबीजं तोयेन पिबेद्वा लवणीकृतम्। सितामिक्षुरसं क्षीरं द्राक्षां यष्टीमथापि वा ॥
सर्वथैव प्रयुञ्जीत मूत्रकृच्छ्राश्मरीविधिम् ॥ २५ ॥

ककड़ी के बीजों को जल से पीसकर नमक मिलाकर पीवे अथवा मिश्री, ईख का रस, दूध, मुनक्का तथा मुलहठी का रस पान करे। इस उदावर्त में मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी की चिकित्सा को सर्वथा प्रयुक्त करे ॥ २५ ॥

जृम्भाऽभिघातजे स्नेहं स्वेदं वाऽपि प्रयोजयेत्। अन्यानपि प्रयुञ्जीत समीरणहरान्विधीन् ॥

जृम्भानिरोधज उदावर्त्त में स्नेहन, स्वेदन तथा अन्य वातनाशक उपचारों को करे ॥२६॥

नेत्रनीरावरोधोत्थे मुञ्चेद्वाऽपि दृशोर्जलम्। स्वप्यात्सुखञ्च तस्याग्रे कथयेच्च कथाः प्रियाः ॥

अश्रुस्रावनिरोधज उदावर्त में आँखों में अश्रुधारा बहावे तत्पश्चात् सुखपूर्वक सोवे और रोगी के सामने प्रिय कथाओं को कहे ॥ २७ ॥

क्षवथोर्घातजे तीक्ष्णघ्राणनस्यार्कदर्शनैः। प्रवर्त्तयेत्क्षुतं सक्तां स्नेहस्वेदौ च शीलयेत् ॥ २८ ॥

***तीक्ष्णं=मरिचराजिकाऽऽदि ॥ २८ ॥**

छींक रोकने से उत्पन्न उदावर्त में कायफर के चूर्ण, मिर्च, राई इत्यादि तीक्ष्ण पदार्थों को सुंघाकर अथवा सूर्य को दिखाकर छिकावे, स्नेहन तथा स्वेद का भी प्रयोग करे ॥ २८ ॥

उद्गारस्यावरोधे तु स्नैहिकं धूममाचरेत्। छर्दिनिग्रहसञ्जाते वमनं लङ्घनं हितम् ॥ २९ ॥
विरेचनं चात्र मतं तैलेनाभ्यञ्जनं तथा। वस्तिशुद्धिकरैः सिद्धं चतुर्गुणजलं पयः ॥ ३० ॥
आ वारिनाशात् क्वथितं पीतवन्तं प्रकामतः। रमयेयुः प्रिया नार्यः शुक्रोदावर्तिनं नरम् ॥
तस्याभ्यङ्गोऽवगाहश्च मदिरा चरणायुधः। शालिः पयो निरूहश्च हितं मैथुनमेव च ॥ ३२ ॥

उद्गारनिरोधज उदावर्त्त में स्निग्ध पदार्थों का धूमपान करे। वमन को रोकने से उत्पन्न उदावर्त्त में वमन तथा लङ्घन कराना हितकर है। और विरेचन कराना तथा तैलाभ्यङ्ग कराना प्रशस्त माना गया है।

वीर्यविघातजन्य उदावर्त्त में दूध में चौगुना जल तथा वस्तिशोधक ओषधियों को डालकर पकाले। जब सब जल जल जाय तब उतार कर छान कर पिलावे। और प्रिया रमणियोंसे सम्भोग कर रखे तथा उसे अभ्यङ्ग, अवगाहन, मद्यपान, मुरगे का मांस, शालि चावल, दूध, निरूहवस्ति तथा मैथुन का सेवन ये सब हितकर हैं ॥ २९–३२ ॥

क्षुद्विघातसमुद्भूते स्निग्धमुष्णं तथा लघु । रुच्यमल्पं हितं भक्ष्यं पुष्पं सेव्यं सुगन्धि यत् ॥

भूख को रोकने से उत्पन्न उदावर्त्त में स्निग्ध, उष्ण, लघु, रुचिकर तथा हितकर अन्न अल्प मात्रा में भोजन कराना चाहिये । तथा इस उदावर्त्त का रोगी सुगन्धित पुष्पोंका भी सेवन करे ॥

तृषाविघातसम्भूते शीतः सर्वो विधिर्हितः । कर्पूरशिशिरं स्वल्पं पिबेत्तोयं शनैः शनैः ॥३४॥

तृड्विघातज उदावर्त में समस्त शीतल उपचार हितकर है । कर्पूर से शीतल तथा सुगन्धित किये हुये जल का बारम्बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में सेवन करे ॥ ३४ ॥

श्रमश्वासधृतौ शस्तो विश्रामः सरसौदनः ॥ ३५ ॥

श्रमजन्य श्वास को रोकने से उत्पन्न हुये उदावर्त्त में विश्राम तथा मांसरसयुक्त अन्न का भोजन करे ॥ ३५ ॥

निद्रावेगविघातोऽथे पिबेत्क्षीरं सितायुतम् । संवाहनं सुशय्याऽत्र हितः स्वप्नः प्रियाः कथाः

निद्राविघातजन्य उदावर्त्त में मिश्रीयुक्त दूध को पीवे तथा हाथ-पैर को मलवाकर सुन्दर विस्तरे पर सोजाय और प्रिय कथाओं का श्रवण करे, ये सब हितकर हैं ॥ ३६ ॥

अथ रूक्षादिहेतुकुपितवातोत्पन्नोदावर्त्तचिकित्सामाह—

तत्र हिङ्ग्वादिफलवर्तिमाह—

हिङ्गुमाक्षिकसिन्धूत्थैः पिष्टैर्वर्त्ति विनिर्मिताम् । घृताभ्यक्तां गुदे न्यस्येदुदावर्त्तविनाशिनीम् ॥

*वातादिवेगविघातजनितानामुदावर्त्तानां चिकित्सामभिधाय रूक्षादिकुपितवातजनितस्योदावर्त्तस्य चिकित्सामाह—हिङ्ग्विति ॥ ३७ ॥

हींग, मधु तथा सेन्धानमक को पीसकर वर्ति बना ले । तत्पश्चात् इस वर्त्ति को घी से भिगोकर गुदा में रक्खे इससे उदावर्त्त रोग नष्ट हो जाता है ॥ ३७ ॥

मदनफलादिवर्त्तिमाह—

मदनं पिप्पली कुष्ठं वचा गौराश्च सर्षपाः । गुडक्षीरसमायुक्ताः फलवर्त्तिरिहोदिता ॥ ३८ ॥

मैनफल, पिप्पली, कूठ, वच तथा सफेद सरसों इन सब ओषधियों को गुड़ तथा दूध के साथ पीसकर फलवर्त्ति बनाकर गुदा में रखने से उदावर्त्त रोग नष्ट होता है ॥ ३८ ॥

नाराचचूर्णमाह—

खण्डपलं त्रिवृताऽक्षः कृष्णाकर्षो द्वयोश्चूर्णम् । प्राग्भोजनस्य मधुना विडालपदकं नरो लिह्यात्
एतद् गाढपुरीषे देयं विज्ञैरुदावर्त्ते । मधुरं नरपतियोग्यं चूर्णं नाराचकं नाम्ना ॥ ४० ॥

खांड़ ४ तोले, निशोथ १ तोला तथा पिप्पली का चूर्ण १ तोला इन सब ओषधियों को एकत्र मिलादे । इस चूर्ण में से भोजन करने के पहिले १ तोले की मात्रा में लेकर मधु के साथ मिलाकर चाटने से उदावर्त्त रोग नष्ट हो जाता है । जिस उदावर्त्त में मल शुष्क हो गया हो उसमें इस चूर्ण का उत्तम वैद्य उपयोग करे । यह मधुर 'नाराच' नामक चूर्ण राजाओं को खाने लायक है ॥ ४० ॥

गुडाष्टकमाह—

सव्योषपिप्पलीमूलं त्रिवृद्दन्ती च चित्रकम् । तच्चूर्णं गुडसम्मिश्रं भक्षयेत्प्रातरुत्थितः ॥४१॥
एतद् गुडाष्टकं नाम्ना बलवर्णाग्निवर्द्धनम् । उदावर्त्तप्लीहगुल्मशोथपाण्ड्वामयापहम् ॥४२॥

सोंठ, मिर्च, पिप्पली, पिपरामूल, निशोथ, दन्ती तथा चित्त इनके चूर्णको गुड़ मिलाकर प्रातः काल उठते ही खाने से यह 'गुडाष्टक' बल, वर्ण तथा अग्नि की वृद्धि करता है, उदावर्त, प्लीहा, गुल्म, शोथ तथा पाण्डु रोग को नष्ट कर देता है ॥ ४१–४२ ॥

शुष्कमूलकाद्यघृतमाह—

मूलकं शुष्कमार्द्रं च वर्षाभूः पञ्चमूलकम् ॥ ४३ ॥
कृतमालफलं चाप्सु पक्त्वा तेन घृतं पचेत् । तत्पीतं शमयेत्क्षिप्रमुदावर्त्तमशेषतः ॥४४॥

*पञ्चमूलकमत्र बृहत् ॥ ४३–४४ ॥

सूखी अथवा गीली मूली, पुनर्नवा, बृहत् पञ्चमूल तथा अमलतास का गूदा इन ओषधियों के क्वाथ से घी पकाले। इस घी को पीने से तत्काल उदावर्त्त रोग पूर्णतया नष्ट होजाता है ॥

आनाहस्य चिकित्सामाह—

तुल्यकारणकार्यत्वादुदावर्त्तहरीं क्रियाम्। आनाहेषु च कुर्वीत विशेषश्चाभिधीयते ॥ ४५ ॥
त्रिवृत्कृष्णाहरीतक्यो द्विचतुष्पञ्चभागिकाः। गुडेन तुल्या गुटिका हरत्यानाहमुल्वणम् ॥

उदावर्त्त तथा आनाह के कारण और कार्य समान हैं अत एव आनाह रोग में उदावर्त्त की ही चिकित्सा करनी चाहिये। तथा जो इसकी विशिष्ट चिकित्सा है उसका वर्णन करते हैं।

निशोथ २ भाग, पिप्पली ४ भाग तथा हरड़ ५ भाग लेकर इनके चूर्ण को समान भाग गुड़ के साथ मिलाकर गोलियां बनाले। इनका सेवन करने से दारुण आनाह नष्ट हो जाता है ॥ ४५-४६ ॥

त्रिकट्वादिवर्तिमाह—

वर्त्तिस्त्रिकटुकसैन्धवसर्षपगृहधूमकुष्ठमदनफलैः।
मधुनि गुडे वा पक्वैर्विहिता साऽङ्गुष्ठसम्मिता विज्ञैः ॥४७॥
वर्त्तिरियं दृष्टफला शनैः प्रणिहिता गुदे घृताभ्यक्ता।
आनाहमुदरजार्त्ति शमयति जठरे तथा गुल्मम् ॥ ४८ ॥

इत्येकत्रिंश उदावर्त्तानाहाधिकारः समाप्तः ॥ ३१ ॥



सोंठ, मिर्च, पिप्पली, सेन्धानमक, सरसों, घरका धुआँ, कूठ तथा मैनफल के चूर्णको मधु अथवा गुड़ के साथ पकाकर अंगूठे के समान वर्ति बनाले। फिर इस वर्ति को घी से भिगोकर धीरे २ गुदा में रख देने से आनाह, उदररोग, गुल्म नष्ट हो जाते हैं। इसका फल प्रत्यक्ष देखा गया है ॥ ४८ ॥

इति भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां-
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकत्रिंश उदावर्त्तानाहाधिकारः समाप्तः ॥ ३१ ॥



अथ द्वात्रिंशो गुल्माधिकारः ॥ ३२ ॥

तत्र गुल्मस्य सन्निकृष्टविप्रकृष्टकारणपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—

दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहारविहारतः। कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्मं कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम् ॥

दुष्टाः स्वकारणैर्मिथ्याहाराध्यशनादिभिः। मिथ्याविहारो = बलवद्विग्रहादिः। पञ्चधेति – वातपित्तकफसन्निपातरक्ता एवं पञ्च। द्वन्द्वजास्तु प्रकृतिसमसमवेतत्वात् पृथग् न गण्यन्ते, अर्शोवत्। कोष्ठान्तः = हृदयाद्बस्तिपर्यन्तं कोष्ठस्तस्य मध्ये, कुत्रापि। ग्रन्थिरूपिणम् = गुटिकाकारम् ॥ १ ॥

अध्यशन (भोजन करने के बाद पुनः थोड़ी देर में भोजन कर लेना) इत्यादि मिथ्या आहार तथा बलवान् के साथ लड़ना इत्यादि मिथ्या विहार से दूषित हुये वात, पित्त, कफ, तथा रक्त कोष्ठ में हृदय से वस्ति तक के भाग में गोली के समान [1]गुल्म को उत्पन्न कर देते हैं। वातज, पित्तज,

---

१. गुल्म को पाश्चात्य वैद्यक में ॲबडामिनल ट्यूमर (Abdominal tumour) कहते हैं। ट्यूमर (Tumour) प्रायः दो प्रकार के होते हैं—१-सामान्य और २-घातक।

सामान्य ट्यूमर घातक नहीं होते। किन्तु दूसरी प्रकार के ट्यूमर से जीवन का नाश होता है।

सामान्य ट्यूमर के लाइपोमा (Lipoma), जन्थोमा (zanthoma), काण्ड्रोमा (Chondroma), आस्टिओमा (Osteoma), माइलोमा (Myeloma), मायोमा (Myoma), फाईब्रोमा (Fibroma), मिक्सोमा (Myxoma), ओडोन्टोमा (Odontoma), एपीथीलियल ओडोन्टोमा (Epithelial odontoma), फालीकुलर ओडोन्टोमा (Follicular odontoma), फाईब्रसओडोन्टोमा (Fibrous odontoma), तथा कम्पोजिट ओडोन्टोमा (Composite odontoma) इत्यादि अनेक भेद होते हैं। इन सब प्रकार के ट्यूमरों में से उदर प्रदेश प्रायः अन्त्रियों में मायोमा (Myoma) जाति का ट्यूमर होता है। अतः यहां पर मायोमा (Myoma) का कुछ विशिष्ट विवरण दिया जाता है—

मायोमा (Myoma)—

ये अनैच्छिक मांस-सूत्रों के बने होते हैं। यह उन अङ्गों में अधिक होते हैं जिनमें मांससूत्र के स्तर पाये जाते हैं। आमाशय, अन्त्रियों तथा गर्भाशय इत्यादि में ये ट्यूमर उत्पन्न होते हैं। काटने पर उनके भीतर चारों ओर को जाते हुये सूत्र दिखाई देते हैं। सूत्रों के गुच्छों की स्थिति में विशेष क्रम पाया जाता है, सूत्रों के कोषाणु लम्बे होते हैं और उनके भीतर स्थित केन्द्रक का आकार भी लम्बा होता है। इन पर एक कोष होता है। रक्तसञ्चार भी इनमें अधिक होता है। बहुत बार एक से अधिक अर्बुद भी उपस्थित होते हैं। सामान्यतया इनसे कोई कष्ट नहीं होता। किन्तु जब वह समीपवर्ती अङ्ग पर भार डालते हैं, तब उनमे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यह अर्बुद गर्भाशय में अधिक पाया जाता है, जहाँ माँससूत्रों के साथ सौत्रिक धातु भी मिली रहती है। इसके कारण कभी २ गर्भाशय से अत्यन्त रक्तस्राव हो जाता है।

घातक ट्यूमर के दो विशेष प्रकार होते हैं—

१—सारकोमा (Sarcoma)।

२—कैन्सर (Cancer)।

इन दोनों भेदों में से अधिकांश में उदर गुहा के भीतर कैन्सर (cancer) ही हुआ करता है। अतः स्थानानुसार इसी कैन्सर का ही कुछ विशद विवरण इस स्थल पर दिया जा रहा है।

आमाशय का कैन्सर—

आमाशय में कैन्सर अधिकतर उस भाग में पाया जाता है जो पक्वाशय के पास रहता है, यद्यपि

कफज, त्रिदोषज तथा रक्तज भेद से गुल्म पांच प्रकार का होता है। प्रकृतिसमसमवेत होने के कारण अर्श के समान द्वन्द्वज इत्यादि गुल्मों का परिगणन नहीं किया जाता है।

अन्य भागों में भी होता है। प्रायः कैन्सर आमाशय में पूर्वजात व्रण पर उत्पन्न होता है कभी २ कैन्सर सारे आमाशय में फैल जाता है। जिससे आमाशय की विस्तार या सङ्कोच की शक्ति जाती रहती है। साधारणतया यह ट्यूमर एक कठिन ग्रन्थि के समान उत्सेध के रूप में प्रारम्भ होता है किन्तु उसकी वृद्धि तीव्र गति से होती है और शीघ्र ही उस पर अङ्कुर तथा व्रण दोनों उत्पन्न हो जाते हैं। आमाशय की धाराओं पर जो लसीकाग्रन्थियाँ स्थित होती हैं वे भी आक्रान्त हो जाती हैं। कुछ समय में ट्यूमर समीपवर्ती अङ्गों के साथ संयुक्त हो जाता है।

लक्षण—

इसके दो विशेष लक्षण हैं:-पीडा और वमन।

प्रारम्भ में उदर में हल्की २ पीडा होती है, कुछ समय के पश्चात् पीडा बढ़ जाती है और अन्त में अत्यन्त दारुण पीडा होने लगती है जो प्रत्येक समय में होती रहती है। भोजन से पीडा प्रायः बढ़ जाती है, किन्तु कभी-कभी घटती भी देखी गई है।

प्रथम रोगी को खट्टी डकार आती है। कुछ समय में वमन आरम्भ हो जाता है। वमन का रङ्ग काफी के समान मैला लाल होता है। इस रङ्ग का कारण वह रक्त होता है जो अर्बुद के व्रणों से निकलता है रोगी को भूख नहीं मालूम होती उसका पाचन बिगड़ जाता है। भोजन पचता नहीं। शरीर कृश होने लगता है। रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है और अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है। परीक्षा करने पर उदरभित्तियों के नीचे आमाशय प्रान्त में ट्यूमर (गुल्म) प्रतीत होता है किन्तु कभी २ अन्त समय तक नहीं मालूम होता। वमन में प्रायः ट्यूमर के टुकड़े टूट २ कर निकलते हैं। इसकी परीक्षा सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से हो जाती है।

अन्त्रियों का कैन्सर—यह ट्यूमर क्षुद्रान्त्रियों में बहुत कम होता है किन्तु बृहदन्त्र में बहुधा पाया जाता है। यहाँ गुल्म या ट्यूमर शीघ्रता से वृद्धि करता है जिससे थोड़े ही समय में आन्त्र के भीतर का स्थान ट्यूमर से भर जाता है। कभी २ ट्यूमर आन्त्र के बाहर चारों ओर से घेर लेता है। जिससे आन्त्र के किसी विशेष स्थान पर ट्यूमर का एक कुण्डल-सा बन जाता है और भीतर से आन्त्र के मार्ग में संकीर्णता आजाती है। कभी २ ट्यूमर इतना बढ़ता है कि वह आन्त्र के मार्ग को पूर्णतया अवरुद्ध कर देता है। उसके द्वारा एक तिनका निकलना भी कठिन हो जाता है। इस स्थान से ऊपर का मार्ग विस्तृत हो जाता है। श्लैष्मिक कला में वृद्धि हो जाती है और वहां व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ समय में पास के अन्य अङ्गों के साथ जुड जाता है और लसीका ग्रन्थियों में अर्बुद की गौणवृद्धियां होने लगती हैं। कैन्सर के कोषाणु बहुत दूर तक फैल जाते हैं।

लक्षण—प्रारम्भ में लक्षण निश्चित नहीं होते। रोगी को कभी कोष्ठबद्धता हो जाती है और कभी दस्त आने लगते हैं। कभी उसको उदरशूल के समान पीडा होती है। मल के साथ रक्त और श्लेष्मा निकलते हैं। रोगी की शारीरिक दशा क्षीण हो जाती है। कुछ समय के पश्चात् रोगी को बद्धान्त्र होकर उसकी मृत्यु हो जाती है।

यदि परीक्षा करने पर उदर में गुल्म प्रतीत हो अथवा बद्धान्त्र के बार २ आक्रमण हों और उदर किसी विशेष स्थान पर फूला हुआ प्रतीत हो तथा उदर की भित्तियाँ कड़ी हो गई हों तो शस्त्रकर्म द्वारा तुरन्त चिकित्सा करनी चाहिये। ट्यूमर का प्रथम उदर में चलायमान होना तथा कुछ समय के बाद स्थिर हो जाना अत्यन्त संदेहजनक है। यदि ट्यूमर का तनिक भी सन्देह हो तो उचित परीक्षा द्वारा शीघ्र ही निर्णय करके जितना जल्दी हो सके आन्त्र के आक्रान्त भाग को काट कर निकाल देना चाहिये।

पञ्चविधत्वं विवृणोति—

स व्यस्तैर्जायते दोषैः समस्तैरपि चोच्छ्रितैः । पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रक्तजश्चोपजायते ॥ २ ॥

ये गुल्म पुरुषों तथा स्त्रियों के दुष्ट वात, पित्त तथा कफ और सन्निपात तथा रक्त से उत्पन्न होते हैं ॥ २ ॥

आर्त्तवोत्पन्नगुल्ममाह—

आर्त्तवादपि गुल्मः स्यात्स तु स्त्रीणां प्रजायते । अन्यस्त्वसृग्भवः पुंसां तथा स्त्रीणां प्रजायते ॥

***आर्त्तवरूपादपि रक्ताद् गुल्मो भवतीत्याह-आर्तवादिति ॥ ३ ॥**

आर्त्तव से भी गुल्म उत्पन्न होता है किन्तु यह गुल्म केवल स्त्रियों को ही होता है। और दूसरे रक्त से उत्पन्न होने वाले गुल्म पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों को होते हैं ॥ ३ ॥

कोष्ठेऽपि स्थाननियममाह—

तस्य पञ्चविधं स्थानं पार्श्वहृन्नाभिवस्तयः ॥ ४ ॥

उस गुल्म के दोनों पार्श्व, हृदय, नाभि तथा मूत्राशय ये पांच स्थान होते हैं ॥ ४ ॥

गुल्मस्य सामान्यलक्षणमाह—

हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः सञ्चारी यदि वाऽचलः । वृत्तश्चयोपचयवान्स गुल्म इति कीर्त्तितः ॥

***नाभिशब्देन वस्तिर्बोध्यः, सामीप्यादेव, यथा गङ्गायां घोष इति । वस्तेरपि गुल्माश्रयत्वेनोक्तत्वाद्, अन्ये तु 'हृद्वस्त्योरेव' इति पाठान्तरं पठन्ति । अन्ये तु-'वस्तौ विद्रधिः स्यान्न गुल्म' इति, तन्न, वस्तेरपि गुल्मस्थानत्वात् । तथा च चरके—**

'पञ्च स्थानानि गुल्मस्य पार्श्वहृन्नाभिवस्तयः' । इति ।

सञ्चारी = चलनशीलः । अचलः = स्थिरः । वृत्तो = वर्तुलः । चयोपचयवानिति—कदाचिच्चीयते = वृद्धिं गच्छति, कदाचिदपचीयते = हीनो भवति । 'एतल्लक्षणं सामान्योक्तमपि वातिके व्यवतिष्ठत' इति जेज्जटः । गयदासस्तु सामान्यमेवाह, सर्वगुल्मानां वातमूलत्वात् ॥ ५ ॥

हृदय तथा नाभि के बीच में सञ्चरणशील अथवा अचल तथा बढ़ने घटनेवाली जो गोलाकार ग्रन्थि होती है उसे गुल्म कहते हैं । यहां पर नाभि शब्द से वस्ति जानना चाहिये । क्योंकि नाभि वस्ति के समीप है । जैसे कि 'गङ्गा में घोष है' इस वाक्य में 'गङ्गा में' इससे गङ्गा के किनारे रहने वाला ऐसा बोध होता है । उसी प्रकार नाभि से वस्ति का बोध होता है । क्योंकि वस्ति गुल्म का स्थान है । कुछ वैद्य 'हृदय तथा वस्ति के बीच में होता है' ऐसा पाठ पढ़ते हैं और कुछ वैद्य यह कहते हैं कि 'वस्ति में विद्रधि होता है गुल्म नहीं होता है' । किन्तु यह बात ठीक नहीं ।

अब तक गुल्म के सम्बन्ध में जो मायोमा (Myoma) तथा कैन्सर (Concer) का वर्णन किया गया है । वे वस्तुतः गुल्म के लक्षणों से बराबर मिलते हैं । यथा—गोलाकार प्रतीति, कदाचित् शूल तथा चलायमान या स्थिर होना, आध्मान, मलावरोध इत्यादि । जैसा कि अपने यहां भी गुल्म का यों ही लक्षण तथा पूर्वरूप का वर्णन किया गया है । यथाः—

सामान्यलक्षणं—

'हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः संचारी यदि वाऽचलः । वृत्तश्चयोपचयवान् स गुल्म इति कीर्त्तितः' ।

गुल्म का पूर्वरूप—

उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्धतृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि ।
आटोपमाध्मानमपक्तिशूलमासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥

तथा—

अरुचि कृच्छ्रविण्मूत्रवातत्वं चान्त्रकूजनम् । आनाहं चोर्ध्ववातश्च सर्वगुल्मेषु लक्षयेत् ।

क्योंकि वस्ति भी गुल्म का स्थान है। जैसा कि चरक में पाठ आता है कि 'गुल्म के दोनों पार्श्व, हृदय, नाभि तथा वस्ति ये पाँच स्थान हैं'।

उपर्युक्त लक्षण यद्यपि सामान्य रीति से कहे गये हैं तथापि ये लक्षण वातज गुल्म में ही मिलते हैं ऐसा जेज्जट का मत है। किन्तु गयदास कहते हैं कि सम्पूर्ण गुल्मों के ये साधारण लक्षण हैं क्योंकि सब गुल्मों का मूल कारण वात ही है ॥ ५ ॥

गुल्मस्य पूर्वरूपमाह—

उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्धतृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि ।
आटोपमाध्मानमपक्तिशूलमासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥ ६ ॥

डकारों की अधिकता, विबन्ध, तृप्ति, बलनाश, आन्त्रकूजन, पेट में गुड-गुड शब्द का होना, आध्मान, अन्न का परिपाक न होने के कारण शूल, ये सब आसन्न गुल्म के चिह्न हैं ॥ ६ ॥

अरुचिं कृच्छ्रविण्मूत्रवातत्वं चान्त्रकूजनम् । आनाहं चोर्ध्ववातञ्च सर्वगुल्मेषु लक्षयेत् ॥७॥

अरुचि, मल, मूत्र तथा वात का कष्टपूर्वक निःसरण, आन्त्रकूजन, आनाह तथा डकारों का आना ये लक्षण सम्पूर्ण गुल्मों में होते हैं ॥ ७ ॥

वातिकगुल्मनिदानमाह—

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टनं वेगविनिग्रहश्च ।
शोकाभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ॥ ८ ॥

***विचेष्टनं=विरुद्धा चेष्टा बलवद्भिग्रहादिः । शोकाभिघातः=शोकेन मनोऽधिष्ठानस्य हृदयस्याभिघातः । अतिमलक्षयो विरेकादिना । निरन्नता=उपवासः ॥ ८ ॥**

रूक्ष, विषम तथा अधिक मात्रा में भोजन करने से, बलवान् पुरुषों के साथ लड़ना इत्यादि विरुद्ध चेष्टा करने से, मल-मूत्र इत्यादि के वेगों को रोकने से, शोक के कारण, मनोऽधिष्ठान हृदय में चोट लगने से, विरेचन इत्यादि से, मल के अत्यन्त क्षय होने से तथा उपवास करने से वातज गुल्म उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

वातिकगुल्मलक्षणमाह—

यः स्थानसंस्थानरुजाविकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम् ।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरञ्च हृत्कुक्षिपार्श्वाङ्गशिरोरुजञ्च ॥ ९ ॥
करोति जीर्णेऽभ्यधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च ।
वातात्स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषायतिक्तं कटु चोपशेते ॥ १० ॥

***श्यावारुणत्वं शरीरस्य । शिशिरज्वरं=शीतज्वरम् । जीर्णे आहारे प्रकुप्यति, भुक्ते च शान्तिं गच्छति, स वातिको गुल्मः । रूक्षः=आहारः । कषायतिक्तकटुरसाः । तत्र=तस्मिन्वातगुल्मे, नोपशेते=न सुखयति ॥ ९-१० ॥**

जिस गुल्म में स्थान २ में पीड़ा, मल तथा अपान वायु का अवरोध, गले तथा मुख का सूखना, शरीर के वर्ण का नीला तथा रक्त वर्ण हो जाना, शीतज्वर, हृदय, कुक्षि, पसलियों, शरीर तथा सिर में पीड़ा, अन्न के जीर्ण हो जाने पर अधिक प्रकोप तथा भोजन कर चुकने पर गुल्म का मृदु हो जाना ये लक्षण हों तो उसे वातजन्य गुल्म समझना चाहिये। इस गुल्म में रूक्ष, कसैले, तिक्त तथा कटु पदार्थों का भोजन सुखकर नहीं होता ॥ ९-१० ॥

पैत्तिगुल्मनिदानमाह—

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा ।
आमोऽभिघातो रुधिरञ्च दुष्टं पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ॥ ११ ॥

***विदाहि=वंशकरीरादि । अतिशब्दो मद्यादिषु योज्यः । आमोऽत्र विदग्धाजीर्णबोधकः । अभिघातो लगुडादिना ॥ ११ ॥**

कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, वंशकरीर इत्यादि विदाही तथा रूक्ष पदार्थों का सेवन, क्रोध, अत्यन्त मद्यपान तथा धूप का सेवन, विदग्धाजीर्ण, लाठी इत्यादि का चोट तथा दूषित हुआ रक्त, ये पैत्तिक गुल्म के कारण हैं ॥ ११ ॥

पैत्तिकगुल्मलक्षणमाह—

ज्वरः पिपासा सदनाङ्गरागौ शूलं महज्जीर्यति भोजने च ।
स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥ १२ ॥

***अङ्गरागः = देहस्य लौहित्यम् । जीर्यति भोजने च विदाहो, व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः, पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥ १२ ॥**

ज्वर, पिपासा, ग्लानि, अङ्गों का रक्तवर्ण हो जाना, भोजन की पच्यमानावस्था में महाशूल, स्वेद, प्रचण्ड दाह तथा जो गुल्म व्रण के समान स्पर्श को न सह सके ये सब पैत्तिक गुल्म के लक्षण हैं ॥

श्लैष्मिकसान्निपातिकयोर्गुल्मयोः कारणमाह—

शीतं गुरु स्निग्धमचेष्टनञ्च सम्पूरणं प्रस्वपनं दिवा च ।
गुल्मस्य हेतुः कफसम्भवस्य सर्वस्तु दुष्टो निचयात्मकस्य ॥ १३ ॥

***सम्पूरणम् = उदरपूरणम् । निचयात्मकस्य=सान्निपातिकस्य । सर्वो हेतुः=वातपित्तकफानां हेतुः ॥ १३ ॥**

शीतल, गुरु तथा स्निग्ध आहार का सेवन, परिश्रम न करना, खूब भोजन करना तथा दिन में सोना ये सब कफज गुल्म के हेतु हैं । तथा उपर्युक्त सभी कारणों के समुदाय से सान्निपातिक गुल्म होता है ॥ १३ ॥

श्लैष्मिकगुल्मलक्षणमाह—

स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसादहृल्लासकासारुचिगौरवाणि ।
कफस्य लिङ्गानि च यानि तानि भवन्ति गुल्मे कफकोपजाते ॥ १४ ॥

***कफस्य लिङ्गानि = वेदनाऽल्पतावह्निमान्द्यादीनि ॥ १४ ॥**

कफजन्य गुल्म में शरीर की आर्द्रता, शीतज्वर, शरीरका ढीला रहना, हल्लास, खांसी, अरुचि, शरीर की गुरुता तथा अल्प वेदना और अग्निमान्द्य इत्यादि लक्षण होते हैं ॥ १४ ॥

द्वन्द्वजगुल्मलक्षणमाह—

व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनाऽर्थम् ॥ १५ ॥

***सान्निपातिके सर्वो हेतुरुपलक्षणम्—व्यामिश्रेति ॥ १५ ॥**

ओषधिकल्पना के लिए सम्मिलित लक्षणों को देखकर वातपित्त-जन्य, वातकफ-जन्य तथा कफपित्त-जन्य गुल्मों की कल्पना कर लेनी चाहिये ॥ १५ ॥

त्रिदोषजगुल्मलक्षणमाह—

महारुजं दाहपरीतमश्मवद्घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम् ।
मनःशरीराग्निबलापहारिणं त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥ १६ ॥

***दाहपरीतं=दाहेन व्याप्तसकलदेहम् । शीघ्रविदाहि=शीघ्रविदग्धाजीर्णकरम् । दारुणं=मारकम् । मनोऽपहारिणं = मनोवैक्लव्यकारकम् । शरीरापहारिणं = शरीरस्य कार्श्यकरम् ॥**

त्रिदोषज गुल्म में अत्यन्त वेदना तथा सम्पूर्ण शरीर में दाह होता है । गुल्म पत्थर के समान घन तथा ऊपर को उभड़ा रहता है । शीघ्र विदग्धाजीर्ण को उत्पन्न करता है । मन को विकृत, शरीर को कृश तथा अग्निबल को नष्ट कर देता है । तथा इससे मृत्यु हो जाती है । यह गुल्म असाध्य है ॥ १६ ॥

आर्त्तवरूपरक्तजगुल्मलक्षणमाह—

नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा ।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम् ॥ १७ ॥

पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं विशेषणञ्चाप्यपरं निबोध ।
यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात्सशूलः समगर्भलिङ्गः ।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥ १८ ॥

*नवप्रसूता = प्रकृताग्निबलवर्णमांसहीना, अहितभोजना । या चामगर्भं विसृजेत् = नवममासादर्वाक् प्रसूयते, साऽप्यहितभोजना । ऋतौ वा आर्त्तववृत्तिकालेऽहितभोजना । अपथ्याचरणाद्वा वायू रक्तं परिगृह्य गुटिकाऽऽकारं गर्भाशये गुल्मं करोति । भोजनपदं विहारस्याप्युपलक्षणम् । यतश्चाह चरकः—

'ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च ।
संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रिया रक्तभवोऽभ्युपैति' ॥ १ ॥

यदि नवप्रसूता स्त्री (इस समय स्वाभाविक अग्नि, बल, वर्ण तथा मांस का ह्रास हो जाता है) अहित आहार तथा विहार को करती है । अथवा जो स्त्री आमगर्भ के गिर जाने के बाद अहित आहार-विहार करती है या जो स्त्री ऋतुकाल में अहितकर आहार तथा विहार का सेवन करती है उस स्त्री के रक्त को वायु ग्रहण करके दाह तथा पीड़ा युक्त, पैत्तिक गुल्म के समान चिह्नवाले रक्त[1] गुल्म को उत्पन्न कर देती है । यद्यपि उपर्युक्त श्लोक में 'अहितभोजना' यही शब्द आया है तथापि यहां पर 'भोजन' शब्द से 'विहार' का भी उपलक्षण हो जाता है । जैसा कि भगवान चरक ने भी कहा है-ऋतुकाल में उपवास करने से, भय से, रूक्ष पदार्थों के सेवन से, मल-मूत्र इत्यादि के वेगों को रोकने से, स्तम्भन करने से, लेखन करने से तथा योनिदोष से स्त्रियों को रक्तजन्य गुल्म उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

*धातुरूपरक्तजस्यापि विप्रकृष्टनिदानानि लक्षणानि च पैत्तिकस्येव बोद्धव्यानि । परमत्राभिघातादिर्हेतुविशेषः । चिरात् स्पन्दते = चलति । नाङ्गैः = न हस्तपादाद्यैः । समगर्भलिङ्गः=अत्र समशब्दः सर्वशब्दार्थः, तेन समानि=सर्वाणि, गर्भलिङ्गानि=आर्त्तवप्रवृत्तिकाले 'आर्त्तवादर्शन-मुखपीतता-स्तनमुखकृष्णता-दोहदादीनि यत्र सः । एते च व्याधिप्रभावाद्, यथा यक्ष्मिणो रिरंसा । स रौधिरः=आर्त्तवरूपरक्तजः स्त्रीणां प्रजायत इति । गर्भसमानलिङ्गत्वे विशेषज्ञानार्थमाह—'मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः' । नवमदशममासयोः प्रसवकालत्वादित्येके, तन्न 'यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैरि'त्यादिनैव संशयस्य निराकृतत्वात् । गर्भः प्रत्यङ्गैर्निरन्तरं निःशूलं स्पन्दते गुल्मश्चैतद्विपरीत इति । किञ्च—'नवमे दशमे प्रसूयत' इत्युत्सर्गो न तु नियमः । तदधिककालेऽपि प्रसवदर्शनादागमाच्च । यत आह चरकः—

'तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टं यदा वर्षगणैरपि स्यात् ॥ २ ॥

धातुरूप रक्त से उत्पन्न गुल्म का विप्रकृष्ट निदान तथा लक्षण पैत्तिक गुल्म के ही समान होता है । किन्तु रक्तगुल्म अभिघात इत्यादि हेतुविशेष से होते हैं । इस रक्तगुल्म की और जो विशेषतायें हैं उन्हें सुनियेः—जिस समय सदा रजःस्राव होता था उस समय रज का न दिखाई देना, मुख का पीलापन, स्तनों के चूचुकों का कालापन तथा दोहद (भिन्न २ वस्तुओं को खाने तथा न खाने की इच्छा) इत्यादि गर्भ के चिह्न व्याधिप्रभाव से इस गुल्म में दीखते हैं । जैसे कि व्याधिप्रभाव से यक्ष्मारोग से पीड़ित मनुष्य में स्त्रीप्रसङ्ग की इच्छा होती है । इसमें स्पन्दन पिण्ड ही द्वारा होता है हाथ-पैर इत्यादि अङ्गों द्वारा नहीं होता है । यह स्पन्दन बहुत समय में होता है

१. पाश्चात्त्य वैद्यक में रक्तगुल्म के सम्बन्ध में कोई पर्यायवाचक शब्द नहीं है। किन्तु गर्भाशय के भीतर जो भिन्न २ प्रकार के ट्यूमर होते हैं । प्रायः वे ही रक्तगुल्म कहलाते हैं । इनमें से मायोमा (Myoma), फायब्रोमा (Fibroma) तथा कैन्सर (Cancer) विशेष महत्त्व के होते हैं ।

तथा शूलयुक्त होता है। यह गुल्म स्त्रियों में ही उत्पन्न होता है और यह रजोरूप रक्त से उत्पन्न होता है। इसकी चिकित्सा १० महीने के बाद करनी चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि—नवां तथा दशवां महीना प्रसव काल है इसलिए दशवें महीने के व्यतीत हो जाने के पश्चात् चिकित्सा करनी चाहिये। यह मत ठीक नहीं क्योंकि यह गुल्म हाथ-पैरों द्वारा नहीं चलता बल्कि पिण्डाकारस्वरूप में तथा विलम्ब में चलता है और इसमें शूल होता है किन्तु गर्भ प्रत्येक अङ्गों से निरन्तर शूल रहित स्पन्दन करता है इन सब उपर्युक्त सिद्धान्तों से गर्भ के सन्देह को निर्मूल किया जा सकता है इसके अलावे प्रसव नवें तथा दशवें महीने में हो यह भी कोई नियम नहीं है। इससे अधिक समय व्यतीत होने के पश्चात् प्रसव होते देखा गया है तथा ग्रन्थों द्वारा भी यह मत प्राप्त है। जैसा कि भगवान् चरक ने कहा है कि—'स्त्री गर्भ-धारण करने के बहुत समय पश्चात् अर्थात् कई वर्षों के बाद भी गर्भ को उत्पन्न करती है, वह बालक पुष्ट होता है' ॥ २ ॥

***तस्माद्—'मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्य' इति न संशयव्यवच्छेदार्थं किन्तु तदा सुखेन चिकित्साऽर्थम् , यत उक्तम्—**

'रक्तगुल्मपुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्'।

पुराणता चास्य दशमासातिक्रमेणैव भवति। जेज्जटेनाप्युक्तम्। 'दशमासोपरि पिण्डिते गुल्मे स्नेहादिनोपस्कृतदेहाया न गर्भाशयक्षतिमादधाति रक्तभेदनमिति ॥ १७-१८ ॥

इसलिये 'दशवें महीने के व्यतीत होने के पश्चात् चिकित्सा करनी चाहिये' जो यह कथन है वह गर्भ के संशय को दूर करने के लिए नहीं कहा गया है बल्कि रक्त गुल्म की दशवें महीने के बाद सुखपूर्वक चिकित्सा हो सकती है ऐसा समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है—'रक्तगुल्म का पुरानापन सुखसाध्य का लक्षण है'।

दशवां महीना व्यतीत हो जाने पर रक्तगुल्म पुराना माना जाता है। जेज्जट भी कहते हैं कि—'दश महीने के बाद स्नेह इत्यादिसे संस्कारित शरीरवाली स्त्री के पिण्डित गुल्म में रक्तभेदन करने से स्त्री के गर्भाशय को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचती है ॥ १७-१८ ॥

असाध्यगुल्मलक्षणमाह—

सञ्चितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः। कृतमूलः शिरानद्धो यदा कूर्म इवोन्नतः ॥१९॥
दौर्बल्यारुचिहृल्लासकासच्छर्द्यरतिज्वरैः। तृष्णातन्द्राप्रतिश्यायैर्युज्यते न स सिध्यति ॥२०॥

***महावास्तुपरिग्रहः = व्यापकतया बृहत्स्थलं गृह्णाति। युज्यते=युक्तो भवति ॥१९-२०॥**

जो गुल्म क्रमतः सञ्चित होकर बहुत अधिक स्थान को घेर लिया हो, शूल करता हो, शिराओं से बंधा हुआ कछुवे के समान ऊँचा हो और जो दुर्बलता, अरुचि, हृल्लास, कास, वमन, आन्त्र ज्वर, पिपासा, तन्द्रा तथा प्रतिश्याय से युक्त हो वह गुल्म असाध्य होता है ॥ १९-२० ॥

अपरञ्च—

गृहीत्वा सज्वरश्वासं छर्द्यतीसारपीडितम्। हृन्नाभिहस्तपादेषु शोथः कर्षति गुल्मिनम् ॥२१॥

***कर्षति = मारणाय कर्षति ॥ २१ ॥**

ज्वर, श्वास, वमन तथा अतीसार से पीड़ित तथा हृदय, नाभि, हाथ और पैर में शोथयुक्त रोगी को गुल्म मार डालता है ॥ २१ ॥

अपरञ्च—

श्वासः शूलं पिपासाऽन्नविद्वेषो ग्रन्थिमूढता। जायते दुर्बलत्वञ्च गुल्मिनो मरणाय वै ॥२२॥

***ग्रन्थिमूढता = ग्रन्थिरूपस्य गुल्मस्याकस्माद्विलयनम् ॥ २२ ॥**

श्वास, शूल, पिपासा, अन्न में अरुचि, गुल्म का अकस्मात् विलीन हो जाना तथा दुर्बलता ये सब गुल्म रोगी को मार डालने के लिये उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

गुल्मचिकित्सामाह—

वातारितैलेन पयोयुतेन पथ्यासमेतेन विरेचनं हि।
संस्वेदनं स्निग्धमतिप्रशस्तं प्रभञ्जनक्रोधकृते च गुल्मे ॥ २३ ॥

प्रकुपित वातजन्य गुल्म में दूध तथा हरड़ चूर्ण के साथ एरण्ड तैल द्वारा विरेचन देना तथा स्निग्ध पदार्थों से स्वेदन करना प्रशस्त है ॥ २३ ॥

स्वर्जिकाकुष्ठसहितः क्षारः केतकसम्भवः। पीतस्तैलेन शमयेद् गुल्मं पवनसम्भवम् ॥२४॥

सज्जीखार, कूठ तथा केतकी के क्षार को तेल में मिलाकर पीने से वातजन्य गुल्म शान्त हो जाता है ॥ २४ ॥

तित्तिरांश्च मयूरांश्च कुक्कुटान्क्रौञ्चवर्त्तकान्। सर्पिः शालिं प्रसन्नाञ्च वातगुल्मे प्रयोजयेत् ॥

वातजन्य गुल्म में तीतर, मोर, मुरगा, क्रौञ्च तथा बटेर का मांस, घी, शालि चावल तथा प्रसन्ना नामक मद्य का प्रयोग करना चाहिये ॥ २५ ॥

पित्तगुल्मे त्रिवृच्चूर्णं पातव्यं त्रिफलाम्बुना। विरेकाय सितायुक्तं कम्पिल्लं वा समाक्षिकम् ॥
***त्रिफलाऽम्बुना = त्रिफलाक्काथेन। कम्पिल्लकं = 'कबीला' इति लोके ॥ २६ ॥**

पैत्तिक गुल्म में विरेचन के लिये त्रिफला के क्वाथ के साथ निशोथ का चूर्ण खिलाना चाहिये। अथवा मधु के साथ कबीले का सेवन करे ॥ २६ ॥

अभयां द्राक्षया खादेत्पित्तगुल्मी गुडेन वा। योगैश्च वातगुल्मोक्तैः श्लेष्मगुल्ममुपाचरेत्।
अपरैश्च बलासघ्नैर्युक्तियुक्तैः शमं नयेत् ॥ २७ ॥

पैत्तिक गुल्म का रोगी मुनक्का अथवा गुड के साथ हरड़ को खाय तो पैत्तिक गुल्म शान्त हो जाता है।

कफज गुल्म में वातजन्य गुल्म को नष्ट करनेवाले योगों का प्रयोग करें तथा कफघ्न अन्य योगों को युक्तिपूर्वक प्रयुक्त करके कफज गुल्म को शान्त करना चाहिये ॥ २७ ॥

हिङ्ग्वादिचूर्णमाह—

हिङ्गुग्रन्थिकधान्यजीरकवचाचव्याग्निपाठाशटीवृक्षाम्लं लवणत्रयं त्रिकटुकं क्षारद्वयं दाडिमम्
पथ्यापौष्करवेतसाम्लहवुषाऽजाज्यस्तदेभिः कृतं चूर्णं भावितमेतदार्द्रकरसैः स्याद्बीजपूरद्रवैः
गुल्माध्मानगुदाङ्कुरान्ग्रहणिकोदावर्त्तसंज्ञं गदं प्रत्याध्मानगरोदराश्मरियुतांस्तूनीद्वयारोचकान्
ऊरुस्तंभमतिश्रमं च मनसो बाधिर्यमष्ठीलिकां प्रत्यष्ठीलिकया सहापहरते प्राक्पीतमुष्णाम्बुना
हृत्कुक्षिवङ्क्षणकटीजठरान्तरेषु वस्तिस्तनांसफलकेषु च पार्श्वयोश्च।
शूलानि नाशयति वातबलासजानि हिङ्ग्वाद्यमाद्यमिदमाश्विनसंहितोक्तम् ॥ ३० ॥

हींग, पिपरामूल, धनिया, जीरा, वच, चव्य, चित्त, पाठा, कचूर, विसांविल, तीनोनमक, सोंठ मिर्च, पिप्पली, जवाखार, सज्जीखार, अनार के दाने, हरड़, पोहकरमूल, अम्लवेत, हाऊवेर तथा काला जीरा इन सब ओषधियों का चूर्ण बनाकर अदरख के रस तथा बिजौरे नीबू के रस की भावना देकर तैयार करले। इस चूर्ण को गरम जल के साथ खाने से गुल्म, आध्मान, अर्श, ग्रहणी, उदावर्त्त, प्रत्याध्मान, गरविष, उदर रोग, अश्मरी, तूनी, प्रतितूनी, अरुचि, ऊरुस्तम्भ, मनका अत्यन्त भ्रम, बधिरता, अष्ठीला तथा प्रत्यष्ठीला ये सब रोग तत्काल नष्ट हो जाते हैं।

यह आश्विनसंहिता में कहा गया 'हिङ्ग्वाद्यचूर्ण' हृदय, कुक्षि, वंक्षणसन्धि, कटि, उदर, वस्ति, स्तन प्रदेश, कन्धे तथा दोनों पसलियों में होने वाले वातकफजन्य शूलों को नष्ट कर देता है ॥ २८–३० ॥

धीमानुपाचरेद् गुल्मं प्रत्याख्याय त्रिदोषजम्। सन्निपातोत्थिते गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः ॥

बुद्धिमान् वैद्य प्रत्याख्यान करके अर्थात् रोगी त्रिदोषजन्य गुल्म से पीडित है यह रोग असाध्य

होता है, ऐसा कहकर त्रिदोषज गुल्म की चिकित्सा करे। इस सान्निपातिक गुल्म में त्रिदोषनाशक चिकित्सा हितकारिणी होती है ॥ ३१ ॥

शरपुङ्खस्य लवणं पथ्याचूर्णं समं द्वयम्। शाणप्रमाणमश्नीयाच्चूर्णं गुल्मगदापहम् ॥३२॥

शरपुङ्खा के क्षार तथा हरड के चूर्ण को समान भाग में मिलाकर ४ माशे की मात्रा में सेवन करने से गुल्म नष्ट हो जाता है ॥ ३२ ॥

स्वर्जिका शाणमाना स्यात्तावदेव गुडं भवेत्। उभयोर्वटिकां खादेद् गुल्मामयविनाशिनीम्

सज्जीखार १ शाण (४ माशे) तथा उतना ही गुड़ मिलाकर गोली बनाकर खाने से गुल्म रोग नष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥

क्षाराष्टकमाह—

पलाशवज्रीशिखरिचिञ्चाऽर्कतिलनालजाः। यवजः स्वर्जिका चेति क्षारा ह्यष्टौ प्रकीर्त्तिताः।
एते गुल्महराः क्षारा अजीर्णस्य च पाचकाः ॥ ३४ ॥

पलाश, थूहर, अपामार्ग, इमली, मदार, तिल, जौ इनका क्षार तथा सज्जीखार ये 'क्षाराष्टक' कहलाते हैं। ये गुल्म को नष्ट करते हैं तथा अजीर्ण के पाचक हैं ॥ ३४ ॥

वज्रक्षारमाह—

सामुद्रं सैन्धवं काचं यवक्षारं सुवर्चलम्। टङ्कणं स्वर्जिकाक्षारतुल्यं चूर्णं प्रकल्पयेत् ॥ ३५ ॥
वज्रीक्षीरैरर्कक्षीरैरातपे भावयेत् त्र्यहम्। वेष्टयेदर्कपत्रेण रुद्ध्वा भाण्डे पुटे पचेत् ॥ ३६ ॥
तत्क्षारं चूर्णयेत्पश्चात्त्र्यूषणं त्रिफला तथा। यवानी जीरको वह्निश्चूर्णमेषाञ्च कारयेत् ॥ ३७ ॥
सर्वचूर्णसमं क्षारं सर्वमेकत्र कारयेत्। तच्चूर्णं टङ्कयुगलं सलिलेन प्रयोजयेत् ॥ ३८ ॥
गुल्मे शूले तथाऽजीर्णे शोथे सर्वोदरेषु च। मन्दे वह्नावुदावर्त्ते प्लीह्नि चापि परं हितम् ॥
वातेऽधिके जलैः कोष्णैर्हितं पित्तेऽधिके घृतैः। गोमूत्रेण कफाधिक्ये काञ्जिकेन त्रिदोषजे ॥
वज्रक्षार इति ख्यातः प्रोक्तः पूर्वं स्वयम्भुवा। सेवितो हरतेऽजीर्णं तथाऽजीर्णभवान्गदान् ॥

सामुद्रनमक, सेन्धानमक, कचियानमक, जवाखार, कालानमक, सोहागा तथा सज्जीखार इन सब को समान मात्रा में लेकर चूर्ण बनाले। फिर इस चूर्णको थूहर के दूध तथा मदार के दूध से धूप में ३ दिन तक भावना दे। तत्पश्चात् उसका गोला बनाकर मदार के पत्तों से लपेट कर हंडिया में रखकर उसका मुंह बन्द करके अग्नि में पकाले। तत्पश्चात् उसका चूर्ण कर डाले। फिर सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, अजवायन, जीरा तथा चित्त इन ओषधियों का चूर्ण बनाले। तदनन्तर इस चूर्ण के बराबर क्षार चूर्ण को लेकर एक में मिलादे। फिर इस चूर्णको २ टङ्क (८ माशे) की मात्रा में पानी के साथ उपयोग करे। इससे गुल्म, शूल, अजीर्ण, शोथ, सब प्रकार के उदररोग, मन्दाग्नि, उदावर्त्त तथा प्लीहा ये रोग अच्छी तरह से दूर होजाते हैं। वाताधिक्य में उष्ण जल के साथ, पित्त की अधिकता में घी से, कफ की अधिकता में गोमूत्र से तथा त्रिदोषज में काञ्जी के साथ सेवन करना चाहिये। प्राचीन काल में ब्रह्माजीके कहे हुये इस 'वज्रक्षार' के सेवन से अजीर्ण तथा अजीर्णजन्य व्याधियां नष्ट होजाती हैं ॥ ३५-४१ ॥

सुवर्चिका टङ्कमिता तत्समानाऽऽर्द्रिकाऽपि च। उभे भुञ्जीत युगपद् गुल्मामयनिवृत्तये ॥

*सुवर्चिका = 'सोरा' इति लोके ॥ ४२ ॥

गुल्मरोग की शान्ति के लिये ४ माशे सोरा तथा अदरख चार माशे इनको एक साथ खावे ॥

शुक्तिचूर्णस्य गुटिकां टङ्कमात्रां सुवेष्टयेत्। गुडेन शाणमानेन तां लिहेद् गुल्मरोगवान् ॥

गुल्म रोगी शुक्तिभस्म की ४-४ माशे की गोलियां बना ले। इनमें से १-१ गोली को ४ माशे गुड़ के साथ मिलाकर खावे ॥ ४३ ॥

गुल्मी कुमारिकामांसं कर्षार्द्धं गोघृतान्वितम्। गिलेद्व्योषाभयासिन्धुसूक्ष्मचूर्णावधूलितम् ॥

*कुमारिका = 'घिवकुमारी' इति लोके ॥ ४४ ॥

गुल्मरोगी आधे तोले घृतकुमारी के गूदे को घी मिलाकर तथा ऊपर से सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हरड़ तथा सेंधानमक इनके सूक्ष्म चूर्ण को बुरक कर सेवन करे। इससे गुल्म नष्ट हो जाता है॥

गुल्मरोगिण्याज्यपदार्थानाह—

वल्लूरं मूलकं मत्स्यं शुष्कशाकानि वैदलम्। न खादेदालुकं गुल्मी मधुराणि फलानि च॥
***वैदलानां निषेधेऽपि माषकुलत्थयोर्नात्र निषेध इति सुश्रुतटीका॥ ४५॥**

सूखा हुआ मांस, मूली, मछली, सूखे शाक, दाल वाले अन्न, आलू तथा मीठे फल इन सबको गुल्म रोगी न खाय।

दाल वाले अन्नों का गुल्म रोगी के लिये निषेध होने पर भी उड़द तथा कुलथी का निषेध नहीं है। ऐसा सुश्रुत की टीका में है॥ ४५॥

रक्तगुल्मचिकित्सामाह—

स्निग्धस्विन्नशरीरस्य योज्यं स्नेहविरेचनम्। शताह्वाचिरविल्वत्वग्दारुभार्गीकणोद्भवः॥४६॥
कल्कः पीतो जयेद् गुल्मं तिलक्वाथेन रक्तजम्। तिलक्वाथो गुडव्योषघृतभार्गीयुतो भवेत्॥
योनिरक्तभवे गुल्मे नष्टपुष्पेषु योषिताम्। पीतो धात्रीरसो युक्तो मरिचैश्चास्रगुल्मनुत्॥४८॥

सर्वप्रथम रक्तगुल्मी के शरीर का स्नेहन तथा स्वेदन करके स्नेहयुक्त ओषधियों द्वारा विरेचन, देना चाहिये।

शतावरी, करञ्ज की छाल, दारुहल्दी, भारङ्गी तथा पिप्पली इन ओषधियों के कल्क को तिल के क्वाथ के साथ पीने से रक्तज गुल्म नष्ट हो जाता है।

स्त्रियों के आर्त्तवनाश होने पर योनिरक्त से उत्पन्न गुल्म में तिल के क्वाथ को गुड़, सोंठ मिर्च, पिप्पली, घी तथा भारङ्गी को डालकर पिलाना चाहिये।

आंवले के स्वरस को मिर्च का चूर्ण डालकर पीने से रक्तगुल्म नष्ट होता है॥ ४६–४८॥

गुण्डारोचनिकाचूर्णं शर्करामाक्षिकान्वितम्। विदधीताशु गुल्मिन्या मलसञ्चक्रमाय च॥

रक्तगुल्म वाली स्त्री के दोषों को दूर करने के लिए गोरखमुण्डी तथा वंशलोचन के चूर्ण को मिश्री तथा मधु मिलाकर सेवन करावे॥ ४९॥

विशेषमपरञ्चाशु शृणु रक्तप्रभेदनम्। पलाशक्षारतोयेन सर्पिः सिद्धं पिबेच्च सा॥ ५०॥
सक्षारं त्र्यूषणं सर्पिः प्रपिबेदस्रगुल्मिनी॥ ५१॥

रक्तगुल्म को शीघ्र नष्ट करने वाले अन्य भी विशिष्ट योगों को कहते हैं, सुनियेः—पलाशक्षार के जल के साथ पकाये हुये घी को पीवे अथवा जवाखार, सोंठ, मिर्च तथा पिप्पली के चूर्ण को घी में मिलाकर रक्तगुल्मिनी को पिलाने से उसका गुल्म नष्ट हो जाता है॥ ५०–५१॥

यस्मिन्न च रसक्षीरतोयसाध्यरसादिषु।
फेनोद्गारस्य निष्पत्तिर्नष्टदुग्धसमाकृतेः। स एव तस्य पाकस्य कालो नेतरलक्षणः॥ ५२॥

इति द्वात्रिंशो गुल्माधिकारः समाप्तः॥ ३२॥

जिसमें 'रस, क्षीर, जल से साध्य घृतादिकों में विगड़े हुये दूध के समान फेन की उत्पत्ति जब न होने लगे तब उसके परिपाक का काल हुआ समझना चाहिये' इस परिभाषानुसार घृतपाक का काल समझना चाहिये॥ ५२॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां-
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे द्वात्रिंशो गुल्माधिकारः समाप्तः॥ ३२॥

अथ त्रयस्त्रिंशः प्लीहयकृदधिकारः ॥ ३३ ॥

तत्र प्लीहः शरीरावयवविशेषस्य स्वरूपमाह—

शोणिताज्जायते प्लीहा वामतो हृदयादधः । रक्तवाहिशिराणां स मूलं ख्यातो महर्षिभिः ॥

प्लीहा रक्त से उत्पन्न होती है। वाम पार्श्व में हृदय से नीचे रहती है। ऋषियों ने इसे रक्तवाही शिराओं का मूल वतलाया है ॥ १ ॥

प्लीहरोगस्य निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक्कफश्च ।
प्लीहाऽभिवृद्धिं कुरुतः प्रवृद्धौ तं प्लीहसञ्ज्ञं गदमामनन्ति ॥ २ ॥
वामे स पार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र ।
मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ॥ ३ ॥

विदाहि = कुलत्थमाषसर्षपशाकादि । अभिष्यन्दि = माहिषदध्यम्लादि । कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुत इत्यर्थः । प्रदुष्टमत्यर्थमसृक्कफश्चेति सम्प्राप्तेः, असृजः पित्तस्य च समानधर्मत्वात् ॥ २-३ ॥

कुलथी, उड़द तथा सर्षप शाक इत्यादि विदाही पदार्थ तथा भैंस का दही इत्यादि अभिष्यन्दी पदार्थों को खाने वाले मनुष्य का अत्यन्त दूषित रक्त तथा कफ बढ़कर प्लीहा को बढ़ा देते हैं तब उसे प्लीहा नामक रोग कहते हैं। 'अत्यन्त दूषित रक्त तथा कफ प्लीहा को बढ़ा देता है' इस वाक्य को प्लीहा की सम्प्राप्ति समझना चाहिये। क्योंकि रक्त तथा पित्त समानधर्मा हैं।

यह प्लीहा वामपार्श्व में बढ़ती है। इससे रोगी बहुत कष्ट पाता है, मन्दज्वर, मन्दाग्नि और कफ तथा पित्त के चिह्नों से युक्त होता है, बल क्षीण होजाता है तथा रोगी का वर्ण अत्यन्त पीला हो जाता है ॥ २-३ ॥

रक्तजप्लीहलक्षणमाह—

क्लमो भ्रमो विदाहश्च वैवर्ण्यं गात्रगौरवम् । मोहो रक्तोदरत्वञ्च ज्ञेयं रक्तजलक्षणम् ॥४॥

क्लान्ति, भ्रम, तीव्र दाह, विवर्णता, शरीर की गुरुता, मोह तथा रक्तोदर ये सब रक्तज प्लीहा के लक्षण समझना चाहिये ॥ ४ ॥

पित्तजप्लीहलक्षणमाह—

सज्वरः सपिपासश्च सदाहो मोहसंयुतः । पीतगात्रो विशेषेण प्लीहा पैत्तिक उच्यते ॥ ५ ॥

जिस प्लीहा रोग में ज्वर, पिपासा, दाह, मोह तथा शरीर के वर्ण का पीला होजाना ये लक्षण प्रायः हों उसे पैत्तिक प्लीहा कहते हैं ॥ ५ ॥

कफजप्लीहलक्षणमाह—

प्लीहा मन्दव्यथः स्थूलः कठिनो गौरवान्वितः । अरोचकेन संयुक्तः प्लीहा कफज उच्यते ॥

यदि प्लीहा रोग में प्लीहा मन्द व्यथावाला हो, मोटा, कठिन तथा भारी हो और अरुचि भी हो तो उसे कफज प्लीहा कहते हैं ॥ ६ ॥

वातजप्लीहलक्षणमाह—

नित्यमानद्धकोष्ठः स्यान्नित्योदावर्त्तपीडितः । वेदनाभिः परीतश्च प्लीहा वातिक उच्यते ॥

जिस प्लीहा रोग में रोगी का कोष्ठ प्रतिदिन जकड़ा रहे, उदावर्त्त से पीडित हो तथा चारो ओर पीड़ायुक्त हो उसे वातिक प्लीहा कहते हैं ॥ ७ ॥

प्लीहासाध्यलक्षणमाह—

दोषत्रितयरूपाणि प्लीह्न्यसाध्ये भवन्त्यपि ॥ ८ ॥

जिस प्लीहा में तीनों दोषों के लक्षण मिलें वह असाध्य होता है ॥ ८ ॥

शरीरावयवविशेषस्य यकृतः स्वरूपमाह—

अधो दक्षिणतश्चापि हृदयाद् यकृतः स्थितिः। तत्तु रञ्जकपित्तस्य स्थानं शोणितजं मतम् ॥९॥

दाहिने पार्श्व में हृदय से नीचे यकृत् की स्थिति है। यह यकृत् रक्त से उत्पन्न होता है। यह रञ्जक पित्त का स्थान है ॥ ९ ॥

यकृद्रोगमाह—

प्लीहामयस्य हेत्वादि समस्तं यकृदामये। किन्तु स्थितिस्तयोर्ज्ञेया वामदक्षिणपार्श्वयोः ॥

प्लीहा रोग के जो भी हेतु, सम्प्राप्ति तथा लक्षण हैं वे ही सब निदान, सम्प्राप्ति तथा लक्षण यकृत् का भी समझना चाहिये। भेद केवल इतना ही है कि प्लीहा की स्थिति वामपार्श्व में तथा यकृत् की स्थिति दक्षिण पार्श्व में है ॥ १० ॥

प्लीहरोगचिकित्सामाह—

पातव्यो युक्तितः क्षारः क्षीरेणोदधिशुक्तिजः। तथा दुग्धेन पातव्याः पिप्पल्यः प्लीहशान्तये ॥

प्लीहा की शान्ति के लिये समुद्र के सीप की भस्म को युक्तिपूर्वक दूध के साथ पीना चाहिये अथवा पिप्पली के चूर्ण को दूध के साथ पीवे ॥ ११ ॥

अर्कपत्रं सलवणं पुटदग्धं सुचूर्णितम्। निहन्ति मस्तुना पीतं प्लीहानमतिदारुणम् ॥१२॥

मदार के पत्तों को नमक के साथ पुटपाक द्वारा जलाकर चूर्ण करके दही के तोड़ के साथ पीने से अत्यन्त दारुण प्लीहा नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

हिङ्गु त्रिकटुकं कुष्ठं यवक्षारं च सैन्धवम्। मातुलुङ्गरसोपेतं प्लीहशूलहरं भवेत् ॥ १३ ॥

हींग, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, कूठ, जवाखार तथा सेंधानमक के चूर्ण को बिजौरे नींबू के रस के साथ पीने से प्लीहा तथा शूल नष्ट होता है ॥ १३ ॥

पलाशक्षारतोयेन पिप्पली परिभाविता। प्लीहगुल्मार्त्तिशमनी वह्निमान्द्यहरी मता ॥१४॥

पलाशक्षार के जल से भावित पिप्पलीचूर्ण प्लीहा तथा गुल्म की पीड़ा को शान्त करता है तथा अग्निमान्द्य को दूर करता है ॥ १४ ॥

रसेन जम्बीरफलस्य शङ्खनाभीरजः पीतमवश्यमेव।
शाणप्रमाणं शमयेदशेषं प्लीहामयं कूर्मसमानमाशु ॥ १५ ॥

जम्बीरी नींबू के रस के साथ चार माशे की मात्रा में शंखनाभि की भस्म को सेवन करने से कछुए के समान प्लीहा अवश्यमेव शीघ्र पूर्णतया नष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥

शरपुङ्खमूलकल्कस्तक्रेणालोडितः पीतः। प्लीहानं यदि न हरति शैलोऽपि तदा प्लवते ॥

शरपुङ्खा की जड़ का कल्क तक्र में घोल कर पीने से यदि प्लीहा न नष्ट हो तो पत्थर भी जल में तैरने लगे ॥ १६ ॥

सुपक्वसहकारस्य रसः क्षौद्रसमन्वितः। पीतः प्रशमयत्येव प्लीहानं नेह संशयः ॥ १७ ॥

भलीभाँति पके हुए आम का रस मधु मिलाकर पीने से प्लीहा अवश्य शान्त हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ १७ ॥

सुस्विन्नं शाल्मलीपुष्पं निशापर्युषितं नरः। राजिकाचूर्णसंयुक्तं खादेत्प्लीहोपशान्तये ॥१८॥

प्लीहा की शान्ति के लिये सेमल के फूल को उबालकर रात भर पड़ा रहने दे। फिर प्रातःकाल राई के चूर्ण के साथ खाना चाहिये ॥ १८ ॥

यवानिकाचित्रकयावशूकषड्ग्रन्थिदन्तीमगधोद्भवानाम्।
चूर्णं हरेत् प्लीहगदं निपीतमुष्णाम्बुना मस्तुसुराऽऽसवैर्वा ॥ १९ ॥

अजवायन, चित्त, जवाखार, पिपरामूल, दन्ती तथा पिप्पली के चूर्ण को उष्ण जल, दही के तोड़, मद्य अथवा आसव के साथ पीने से प्लीहा नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥

यकृद्रोगचिकित्सामाह—

प्लीहोद्दिष्टाः क्रियाः सर्वा यकृद्रोगे समाचरेत् । कार्यञ्च दक्षिणे बाहौ तत्र शोणितमोक्षणम् ॥

प्लीहा के लिये जिन २ क्रियाओं का वर्णन किया गया है उन्हीं सब क्रियाओं को यकृत् में भी करनी चाहिये । तथा दाहिने हाथ में रक्तमोक्षण करना चाहिये ॥ २० ॥

क्षारं विडङ्गकृष्णाभ्यां पूतीकस्याम्बु निःसृतम् । पिबेत्प्रातर्यथावह्नि यकृत्प्लीहप्रशान्तये ॥

***पूतीकः = करञ्जः ॥ २१ ॥**

इति त्रयस्त्रिंशः प्लीहयकृदधिकारः समाप्तः ॥ ३३ ॥



वायविडङ्ग तथा पिप्पली के क्षार को करञ्ज के क्वाथ के साथ प्रातःकाल जठराग्नि के बलानुसार पीने से यकृत् तथा प्लीहा शान्त होता है ॥ २१ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे त्रयस्त्रिंशः प्लीहयकृदधिकारः समाप्तः ॥ ३३ ॥



अथ चतुस्त्रिंशो हृद्रोगाधिकारः ॥ ३४ ॥

तत्र हृद्रोगस्य विप्रकृष्टनिदानमाह—

अत्युष्णगुर्वम्लकषायतिक्तश्रमाभिघाताध्यशनप्रसङ्गैः ।
सञ्चिन्तनैर्वेगविधारणैश्च हृदामयः पञ्चविधः प्रदिष्टः ॥ १ ॥

***प्रसङ्गः = सततं सेवा । सञ्चिन्तनम् = अतिचिन्ता, राजभयादिकमिति यावत् । हृदामयः, स पञ्चविधः—१ वातिकः २ पैत्तिकः ३ श्लैष्मिकः ४ सान्निपातिकः ५ क्रिमिजश्चेति ॥१॥**

निरन्तर अत्यन्त उष्ण, गुरु, अम्ल, कसैले तथा तिक्त पदार्थों के सेवन से, परिश्रम, अभिघात तथा अध्यशन (भोजन के ऊपर भोजन करना) से, राजभय इत्यादि के अत्यन्त चिन्तन से तथा मलमूत्र के वेगों को रोकने से वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक तथा कृमिज भेद से पांच प्रकार के हृद्रोग हो जाते हैं ॥ १ ॥

हृद्रोगस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयङ्गताः । हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥ २ ॥

***विगुणाः = दुष्टाः । बाधां = दोषभेदेन नानाविधां व्यथाम् । 'भङ्गवत्पीडामि'ति गयदासः ॥ २ ॥**

दूषित वातादि दोष हृदय में रहने वाले रस को दूषित कर के हृदय में नाना प्रकार की पीड़ा को उत्पन्न कर देते हैं उसे[1] हृद्रोग कहते हैं । गयदास का मत है कि यह पीड़ा टूटे हुए के समान होती है ॥ २ ॥

---

१. हृद्रोग को पाश्चात्त्य वैद्यक में डिजीजेज् आफ् दी हार्ट (Diseases of the Heart) कहते हैं । हृदय के ऊपर एक प्रकार की झिल्ली चढ़ी रहती है उसे पेरीकार्डियम (Pericardium) कहते हैं । पाश्चात्त्य वैद्यक में पेरीकार्डियम तथा हृदय के विकार दोनों साथ २ वर्णित मिलते हैं ।

हृद्रोग के अन्तर्गत पाश्चात्यमतानुसार प्रायः निम्न रोग आते हैं यथाः—

पेरीकार्डाइटिस (Pericarditis), एक्यूट इण्डोकार्डाइटिस (Acute Endocarditis), एन्जिना पेक्टोरिस (Angina Pectoris), कोरोनरी थ्रेम्बोसिस (Coronary Thrambosis),

वातजहृद्रोगलक्षणमाह—

आयम्यते मारुतजे हृदयं तुद्यते तथा। निर्मथ्यते दीर्यते च स्फोटयते पाट्यतेऽपि वा ॥ ३ ॥

*'मारुतजे हृद्रोग' इति शेषः। आयम्यते=व्यथया विस्तार्यत इव। तुद्यते=सूचीभिरिव विद्ध्यते। निर्मथ्यते-मन्थनेनेव। दीर्यते=करपत्रेण द्विधा क्रियत इव। स्फोटयते-अस्त्रेणेव। पाट्यते=कुठारेण बहुधा क्रियत इव ॥ ३ ॥

वातजन्य हृद्रोग में सारा हृदय पीड़ा से व्याप्त रहता है। इसमें सुई चुभाने के समान, मथने के समान, चीरने के समान, अस्त्र द्वारा फाड़ने के समान तथा कुल्हाड़ी से काटने के समान, पीड़ा होती है ॥ ३ ॥

पित्तजहृद्रोगलक्षणमाह—

तृष्णोष्मदाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदये क्लमः। धूमायनं च मूर्च्छा च क्लेदः शोषो मुखस्य च ॥

*ऊष्मा=शीतगात्रस्येव शीतवाताभिलाषहेतुः किञ्चिदन्तरौष्ण्यम्। दाहः=पार्श्वस्थेन वह्निनेव दुःखहेतुर्गात्रस्य सन्तापः। चोषः=चूषणेनेव पीडा हृदये। क्लमः=हृदयाकुलत्वं, ग्लानिवदित्यर्थः। धूमायनम्=कण्ठाद्धूमनिर्गमः। क्लेदः=किञ्चिद्दुर्गन्धः शटित इव ॥ ४ ॥

पैत्तिक हृद्रोग में तृष्णा, भीतर कुछ उष्णता जिसमें कि रोगी शीतल वायु के सेवन की इच्छा करता है, पार्श्व में रखी हुई अग्नि के समान दुःखद सन्ताप, चूसने के समान पीड़ा, हृदय को व्याकुल करने वाली ग्लानि, गले से धुयें का निकलना, मूर्च्छा, सड़े हुये के समान किञ्चिद् दुर्गन्धयुक्त पसीना तथा मुखशोप ये लक्षण होते हैं ॥ ४ ॥

कफजहृद्रोगलक्षणमाह—

गौरवं कफसंस्रावोऽरुचिः स्तम्भोऽग्निमार्दवम्। माधुर्यमपि चास्यस्य बलासावतते हृदि ॥५॥

*बलासावतते=कुपितकफव्याप्ते, हृदि। गौरवं हृदयस्य। स्तम्भो=जडता। मार्दवं=जलप्लुतमिव। माधुर्यं मुखे ॥ ५ ॥

कफजन्य हृद्रोग में कुपित कफ से व्याप्त हृदय में गुरुता, कफ का स्राव, अरुचि, जड़ता, अग्नि की मृदुता तथा मुख का मीठापन ये लक्षण होते हैं ॥ ५ ॥

त्रिदोषजहृद्रोगलक्षणमाह—

विद्यात्त्रिदोषमप्येवं सर्वलिङ्गं हृदामयम् ॥ ६ ॥

उपर्युक्त तीनों दोषों के लक्षण जिस हृद्रोग में मिलते हों उसे त्रिदोषज हृद्रोग समझना चाहिये ॥

हृदय की मांस-पेशी का क्लान्त होना (Exhaustion of the heart muscle), कार्डियक हाइपरट्रोफी (Cardiac Hypertrophy), कार्डियक डायलेटेशन (Cardiac Dilatation), पेरीकार्डियल इफ्यूजन (Pericardial Effusion), एडरेण्ट पेरीकार्डियम (Adherent Pericardium), मायोकार्डियल डीजेनरेशन (Myocardial Degeneration), इन्डोकार्डाइटिस (Endocarditis), सहज हृद्रोग (Congenital Heart Disease), साइनस एरीथमिया (Sinus Arrhythmia), प्रीमेच्योर बीट्स (Premature Beate), टेकीकार्डिया (Tachy Cardia), आरीकुलर फ्लटर (Auri Calar flutter), आरीकुलर फिब्रिलेशन (Auricullar Fibrillation), ब्रेडीकार्डिया (Bradycardia) तथा हार्टब्लाक (Heart-Block)

ये सब रोग हृद्विकारों के अन्तर्गत आते हैं। यहां पर इनका विशद विवरण स्थानाभाव के कारण नहीं दिया जा सकता। विशेष जानकारी के लिए 'ए सिस्टम आफ क्लीनिकल मेडिसिन (A System of Clinical medicine. By Thoms Dixon Savill) देखिये।

क्रिमिजहृद्रोगस्य विप्रकृष्टनिदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

त्रिदोषहेतुहृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते। तिलक्षीरगुडादींश्च ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ ७ ॥
मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चाप्युपगच्छति। संक्लेदात्क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः ॥ ८ ॥

*मर्मैकदेशे=हृदयैकदेशे। संक्लेदं=शटितत्वम्, रस उपगच्छति। संक्लेदाद्=रसस्य शटितत्वाद्; उपहतात्मनस्तिलाद्यहिताहारेण ॥ ७-८ ॥

जो मूर्ख त्रिदोषज हृद्रोग में तिल, दूध तथा गुड़ इत्यादि का सेवन करता है उसको ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। और उसका रस हृदय के एक भाग में सड़ जाता है। उसके सड़ने से उस मूर्ख के हृदय में क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ७-८ ॥

क्रिमिजहृद्रोगलक्षणमाह—

उत्क्लेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः। अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोषश्च क्रिमिजे भवेत् ॥९॥

*उत्क्लेदः=वमनमिवोपस्थितत्वम्। शोषो=यक्ष्मा। अत्र क्रिमयो जायन्तेऽस्मिन्निति क्रिमिज इति निरुक्तिः ॥ ९ ॥

क्रिमिज हृद्रोग में उत्क्लेद (मानों वमन होने वाला है), मुख से थूक का गिरना, सुई चुभाने से समान हृदय में पीड़ा, शूल, हृल्लास, अंधेरे का छा जाना, अरुचि, नेत्रों का काला हो जाना तथा यक्ष्मा ये सब लक्षण होते हैं ॥ ९ ॥

हृद्रोगोपद्रवानाह—

क्लोम्नः सादो भ्रमः शोषो ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः।
क्रिमिजे तु क्रिमीणां ये श्लैष्मिकाणां हि ते मताः ॥ १० ॥

*क्लोम्नः=पिपासास्थानस्य। सादः=शोषः। शोषो मुखस्य। तेषां = हृद्रोगाणाम्। क्रिमिजे तु हृद्रोगे श्लैष्मिकाणां क्रिमीणां ये उपद्रवाः=हृल्लासास्यस्रवणाविपाकादयः, ते मताः ॥ १० ॥

क्लोम (पिपासास्थान) का शोष, भ्रम तथा मुखशोष ये हृद्रोग के उपद्रव हैं। क्रिमिज हृद्रोग में कफज क्रिमिजन्य हृल्लास, मुखस्राव तथा अविपाक इत्यादि उपद्रव भी होते हैं ॥ १० ॥

हृद्रोगचिकित्सामाह—

घृतेन दुग्धेन गुडाम्भसा वा पिबन्ति चूर्णं ककुभत्वचो ये।
हृद्रोगजीर्णज्वररक्तपित्तं हत्वा भवेयुश्चिरजीविनस्ते ॥ ११ ॥

घी, दूध अथवा गुड़ के शर्बत के साथ अर्जुन के चूर्ण को जो मनुष्य पीते हैं वे हृद्रोग, जीर्ण ज्वर तथा रक्तपित्त को नष्ट कर चिरजीवी होते हैं ॥ ११ ॥

हरीतकीवचारास्नापिप्पलीनागरोद्भवम्। शटीपुष्करमूलोत्थं चूर्णं हृद्रोगनाशनम् ॥ १२ ॥

हरड़, वच, रास्ना, पिप्पली, सोंठ, कचूर तथा पोहकरमूल इन के चूर्ण को सेवन करने से हृद्रोग नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

पुटदग्धहरिणशृङ्गं पिष्टं गव्येन सर्पिषा पिबतः। हृत्पृष्ठशूलमचिरादुपैति शान्तिं सुकष्टमपि॥

पुटपाक द्वारा जलाये हुये हरिन के सींग के चूर्ण को गाय के घी के साथ पीने से महाकष्टकारक हृदय तथा पीठ का शूल तत्काल शान्त हो जाता है ॥ १३ ॥

तैलाज्यगुडविपक्वं चूर्णं गोधूमपार्थोत्थम्। पिबति पयोभुक्स भवति गतसकलहृदामयः पुरुषः॥

*पार्थः='कोह' इति लोके ॥ १४ ॥

तेल, घी तथा गुड़ के साथ पकाये हुये गेहूँ के आँटे तथा अर्जुन के चूर्ण का सेवन करने से और दूध का पथ्य लेने से सम्पूर्ण हृदय रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १४ ॥

गोधूमककुभचूर्णं पक्वमजाक्षीरगव्यसर्पिर्भ्याम्। मधुशर्करासमेतं शमयति हृद्रोगमुद्धतं पुंसाम्

गेहूँ के आँटे तथा अर्जुन के चूर्ण को बकरी के दूध तथा गोघृत के साथ पकाकर मधु तथा चीनी मिलाकर सेवन करने से पुरुषों का अतिवृद्ध हृद्रोग नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

अर्जुनघृतमाह—

पार्थस्य कल्केन रसेन सिद्धं शस्तं घृतं सर्वहृदामयेषु ॥ १६ ॥

अर्जुन के कल्क तथा क्वाथ द्वारा सिद्ध किया हुआ घी समस्त हृद्रोगों में प्रशस्त हैं ॥ १६ ॥

बलाद्यघृतमाह—

घृतं बलानागबलाऽर्जुनानां क्वाथेन कल्केन च यष्टिकायाः ।
सिद्धन्तु हन्याद्धृदयामयं हि सवातरक्तक्षतरक्तपित्तम् ॥ १७ ॥

इति चतुस्त्रिंशो हृद्रोगाधिकारः समाप्तः ॥ ३४ ॥

खिरेटी, गंगेरन तथा अर्जुन के क्वाथ और मुलहठी के कल्क द्वारा सिद्ध घृत हृद्रोग, वातरक्त, क्षत तथा रक्तपित्त को नष्ट कर देता है ॥ १७ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां-मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे चतुस्त्रिंशो हृद्रोगाधिकारः समाप्तः ॥ ३४ ॥

अथ पञ्चत्रिंशो मूत्रकृच्छ्राधिकारः ॥ ३५ ॥

तत्र मूत्रकृच्छ्रस्य विप्रकृष्टं निदानमाह—

व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्यप्रसङ्गनृत्यद्रुतपृष्ठयानात् ।
आनूपमत्स्याध्यशनादजीर्णात् स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणां तथाऽष्टौ ॥ १ ॥

तीक्ष्णौषधं=राजिकाशूरणादिकयुक्तम् । 'रूक्षे'ति मद्यविशेषणम् । प्रसङ्गः=सततंसेवा । नृत्यं=नर्त्तनम् । 'नित्ये'ति द्वितीयः पाठः । द्रुतपृष्ठयानाद्=अश्वादिना गमनात् । आनूपमत्स्यः=प्रचुरजलदेशसम्भवमत्स्यः । अष्टौ = वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकसान्निपातिकशल्यजपुरीषजशुक्रजाश्मरीजानि ॥ १ ॥

अधिक व्यायाम करने से, राई, सूरन इत्यादि तीक्ष्ण ओषधियों के सेवन से, रूक्ष मद्य को पीने से, बहुत नाचने तथा घोड़े इत्यादि पर चढ़कर तेज दौड़ाने से, अनूप देश की मछलियों को खाने से, अध्यशन तथा अजीर्ण से १-वातिक, २-पैत्तिक, ३-श्लैष्मिक, ४-सान्निपातिक, ५-शल्य, ६-पुरीषज, ७-शुक्रज तथा ८-अश्मरीज भेद से आठ प्रकार का 'मूत्र[1]कृच्छ्र' उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

---

१. मूत्रकृच्छ्र को पाश्चात्य वैद्यक में इन्कान्टिनेन्स आफ् यूरिन (Incontinence of urine) कहते हैं ।

यह उस दशा का नाम हैं जब मूत्रमार्ग से मूत्र बूंद बूंद करके टपकता रहता है, अथवा थोड़े २ समय पर मूत्रत्याग होता है । यह रोग दो प्रकार का पाश्चात्य विज्ञान में माना गया है—

१—बच्चों में जो रोग होता है उसका कारण मूत्राशय की सङ्कोचकपेशी की शक्ति का अपूर्ण विकास हैं । साथ में मूत्राशयसम्बन्धी नाड़ियों में कुछ क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, जिससे मूत्राशय मूत्र को धारण नहीं कर सकता । बच्चों में स्वाभाविकतया ही मूत्र रोकने की शक्ति कम होती है । इस पर जब गुदा में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं अथवा निरुद्धप्रकश या इस स्थान के अन्य रोग हो जाते हैं तो इस शक्ति का पूर्ण ह्रास हो जाता है जिससे मूत्र बूंद २ करके प्रत्येक समय टपका करता है ।

२—दूसरे प्रकार का मूत्रकृच्छ्र मूत्राशय के मूत्रमार्ग के छिद्र के प्रसरित हो जाने से उत्पन्न

मूत्रकृच्छ्रस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथ वा कोपमुपेत्य वस्तौ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात्॥ २॥

अपने २ प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वात, पित्त, कफ तथा त्रिदोष वस्ति में जाकर कुपित होकर मूत्र के मार्ग को पीडित करते हैं तब मनुष्य बहुत कष्ट से मूत्र त्याग कर पाता है॥ २॥

वातजमूत्रकृच्छ्रलक्षणमाह—

तीव्रा च रुग्वङ्क्षणवस्तिमेढ्रे स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात्॥ ३॥

***तीव्रा = मारणात्मिका। वङ्क्षणः = ऊरुमेढ्राणामभ्यन्तरालसन्धिः॥ ३॥**

वातज मूत्रकृच्छ्र में वंक्षणसन्धि, मूत्राशय तथा लिङ्ग में तीव्र पीड़ा होती है तथा वारम्वार थोड़ी थोड़ी मात्रा में पेशाव होता है॥ ३॥

पित्तजमूत्रकृच्छ्रलक्षणमाह—

पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात्॥ ४॥

***'कृच्छ्रमि'ति क्रियाविशेषणम्॥ ४॥**

पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र में रोगी पीला, रक्तमिश्रित, वेदना तथा दाहयुक्त कठिनाई से वारम्वार मूत्र त्याग करता है॥ ४॥

कफजमूत्रकृच्छ्रलक्षणमाह—

वस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे॥ ५॥

***सपिच्छं = पिच्छिलम्॥ ५॥**

कफजन्य मूत्रकृच्छ्र में मूत्राशय तथा लिङ्ग में गुरुता तथा शोथ होता है तथा मूत्र पिच्छिल (चिपचिपा) उतरता है॥ ५॥

सन्निपातजमूत्रकृच्छ्रलक्षणमाह—

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम्॥ ६॥

तीनों दोषों से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र में उपर्युक्त तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं। यह मूत्रकृच्छ्र महाकष्टकारक होता है॥ ६॥

शल्यजनितमूत्रकृच्छ्रलक्षणमाह—

मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वभिहतेषु च।
मूत्रकृच्छ्रं तदाघाताज्जायते भृशदारुणम्। वातकृच्छ्रेण तुल्यानि तस्य लिङ्गानि निर्दिशेत्॥

***मूत्रवाहिषु स्रोतःसु। शल्येन = कण्टकेन। क्षतेषु = सक्षतीकृतेषु। अथ वा। अभिहतेषु = मुष्ट्यादिभिरभिहतेषु। तदाघाताद् = मूत्रमार्गाघातात्। तत्कृच्छ्रं जायते। भृशदारुणं = मारकम्। तस्य = शल्यजस्य॥ ७॥**

होता है। इस छिद्र के चारों ओर जो सङ्कोचक पेशी रहती है उसके दुर्वल हो जाने से रोगोत्पत्ति होती है। जब मूत्रमार्ग के छिद्र में कोई अर्वुद उत्पन्न हो जाता है या वहां पर अश्मरी अटक जाती है तो मूत्र धीरे २ बराबर निकलता रहता है अपने यहां भी अश्मरी तथा अर्वुद को मूत्रकृच्छ्र का कारण माना गया है। किन्तु अर्वुद को शल्यज मूत्रकृच्छ्र के अन्तर्गत ही माना जायगा।

चिकित्सा—यदि वच्चों में रोग उत्पन्न हो जाय तो रोग के कारण को ढूंढना चाहिये। यदि मणिच्छदा (Prepuce) संकुचित है तो उसका प्रसार करना आवश्यक है। गुदा के भीतर उपस्थित अर्वुद तथा कृमियों का नाश करना चाहिये। साथ में रोगी को वलकारक ओषधियों का प्रयोग करवाना उचित है। यदि मूत्रमार्ग में कोई अर्वुद उत्पन्न हो गया है तो उसका छेदन कर देना चाहिये। वच्चे को सोने से पहिले तथा रात्रि में उठाकर मूत्रत्याग करने का अभ्यास डलवाना चाहिये। टिंक्चर वेलाडोना-को अवस्थानुसार मात्रा में दिन में ३ वार देने से लाभ होता है।

मूत्रवाही स्रोतस में काँटे इत्यादि से क्षत होने पर अथवा मुद्गी इत्यादि द्वारा मूत्रमार्ग में चोट लगने से मृत्युकारक महादारुण मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न होता है। इस शल्यज मूत्रकृच्छ्र के सम्पूर्ण लक्षण वातज मूत्रकृच्छ्र के समान होते हैं ॥ ७ ॥

पुरीषजमूत्रकृच्छ्रलक्षणमाह—

शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः। आध्मानं वातशूलञ्च मूत्रसङ्गं करोति च ॥ ८ ॥

मल को रोकने से वायु प्रतिलोम होकर आध्मान, वातिक शूल तथा मूत्रकृच्छ्र को उत्पन्न कर देता है ॥ ८ ॥

वीर्यजन्यमूत्रकृच्छ्रलक्षणमाह—

शुक्रे दोषैरुपहते मूत्रमार्गे विधाविते। सशुक्रं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्बस्तिमेहनशूलवान् ॥ ९ ॥

***उपहते = दूषिते ॥ ९ ॥**

दोषों से दुष्ट शुक्र के मूत्रमार्ग में चले जाने पर मनुष्य कठिनाई से शुक्रमिश्रित पेशाब करता है तथा मूत्राशय और लिङ्ग में शूल होता है ॥ ९ ॥

अथाश्मरीजन्यमूत्रकृच्छ्रलक्षणमाह—

अश्मरीहेतुतत्पूर्वं मूत्रकृच्छ्रमुदाहृतम्। अश्मरी शर्करा चैव तुल्यसम्भवलक्षणे।
विशेषणं शर्करायाः शृणु कीर्त्तयतो मम। पच्यमानाऽश्मरी पित्ताच्छोष्यमाणा च वायुना।
विमुक्तकफसन्धाना क्षरन्ती शर्करा मता ॥ १० ॥

***सुश्रुते शर्कराजमपि मूत्रकृच्छ्रमुक्तमत्र तु तस्य नवमसङ्ख्यानियमार्थमश्मरीशर्करयोः साम्यमाह—अश्मरीति। सम्भवः = कारणम्। पित्तेन पच्यमाना मूत्रशुक्रश्लेष्मसंहतिः, प्रथमं पित्तेनेन्धनकर्मणा पच्यमाना पश्चाद्वातेन शोषिता कफेनाश्लिष्टा अश्मरी, सैव विमुक्तकफसन्धाना=त्यक्तकफाश्लेषा सती शर्करारूपा मूत्रमार्गात् क्षरन्ती शर्करा मता, एतावता किञ्चिदेव भेदः ॥ १० ॥**

अश्मरी (पथरी) के कारण जो मूत्रकृच्छ्र होता है उसे 'अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र' कहते हैं। सुश्रुत ने तो 'शर्कराज' नामक नवाँ मूत्रकृच्छ्र भी कहा है। किन्तु यहां पर केवल आठ ही प्रकार के मूत्रकृच्छ्रों का वर्णन किया गया है। क्योंकि अश्मरी तथा शर्करा दोनों का उत्पत्तिकारण तथा लक्षण एक ही है। अश्मरी से शर्करा में जो कुछ विशेषता है उसे कहता हूँ, सुनियेः—मूत्र, शुक्र तथा कफ की समुदायस्वरूपा अश्मरी पित्त से पककर, वायु द्वारा शोषित होकर कफ के संयोग से मुक्त होकर शर्करा के समान मूत्रमार्ग से झरने लगती है। केवल यही इतना भेद है ॥ १० ॥

शर्करोपद्रवानाह—

हृत्पीडा वेपथुः शूलं कुक्षावग्निश्च दुर्बलः। तथा भवति मूर्च्छा च मूत्रकृच्छ्रञ्च दारुणम् ॥ ११ ॥

हृदय में पीड़ा, कम्प, कुक्षिशूल, मन्दाग्नि, मूर्च्छा तथा दारुण मूत्रकृच्छ्र ये शर्करा के उपद्रव हैं ॥ ११ ॥

वातजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सामाह—

अभ्यञ्जनस्नेहनिरूहबस्तिस्वेदोपनाहोत्तरबस्तिसेकान्।
स्थिराऽऽदिभिर्वातहरैश्च सिद्धान्दद्याद्रसांश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे ॥ १२ ॥

वातज मूत्रकृच्छ्र में अभ्यङ्ग, स्नेह, निरूहबस्ति, स्वेद, उपनाह (पुल्टिस), उत्तरबस्ति तथा सेक करे और वातनाशक शालिपर्णी इत्यादि ओषधियों से सिद्ध मांसरस को पिलावे ॥ १२ ॥

अमृता नागरं धात्री वाजिगन्धा त्रिकण्टकः। प्रपिबेद्वातरोगार्त्तः शूलवान्मूत्रकृच्छ्रवान् ॥ १३ ॥

गुडूची, सोंठ, आँवले, असगन्ध तथा गोखरू के क्वाथ को पीने से वातरोग, शूल तथा मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है ॥ १३ ॥

पुनर्नवाद्यमिश्रकमाह—

पुनर्नवैरण्डशतावरीभिः पत्तूरवृश्चीरबलाऽश्मभिद्भिः।
द्विपञ्चमूलेन कुलत्थकेन यवैश्च तोयोत्कथिते कषाये॥ १४॥
तैलं वराहर्क्षवसाघृतञ्च तैरेव कल्कैर्लवणैश्च सिद्धम्।
तन्मात्रयाऽत्र प्रतिहन्ति पीतं शूलान्वितं मारुतमूत्रकृच्छ्रम्॥ १५॥

पुनर्नवा, एरण्डमूल, शतावरी, पत्तूर, सफेद फूल वाली कण्टकारी, खिरेटी, पाषाणभेद, दशमूल, कुलथी तथा जौ इनके क्वाथ में इन्हीं ओषधियों के कल्क को डालकर तथा सेंधानमक मिलाकर तेल, सूअर की चर्बी, रीछ की चर्बी और घी को डालकर पका ले। फिर इस स्नेह को मात्रानुसार पीने से शूलयुक्त वातज मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है॥ १४–१५॥

पित्तजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सामाह—

सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहा ग्रैष्मो विधिर्वस्तिपयोविकाराः।
द्राक्षाविदारीक्षुरसैर्घृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः॥ १६॥

पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र में शीतल जल का परिषेक तथा अवगाहन, शीतल प्रलेप, ग्रीष्मर्तुचर्या और मुनक्का, विदारीकन्द तथा ईख का रस और घी द्वारा वस्ति दे। तथा इन्हीं ओषधियों को डालकर दूध के बने पदार्थों को खिलावे॥ १६॥

तृणपञ्चमूलमाह—

कुशः काशः शरो दर्भ इक्षुश्चेति तृणोद्भवम्। पित्तकृच्छ्रहरं पञ्चमूलं वस्तिविशोधनम्॥१७॥

कुश, कास, रामसर, डाभ तथा ईख इन ओषधियों के मूल को 'तृणपञ्चमूल' कहते हैं। यह पञ्चमूल पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करता है तथा मूत्राशय को शुद्ध करता है॥ १७॥

शतावर्यादिक्वाथमाह—

शतावरीकाशकुशश्वदंष्ट्राविदारिशालीक्षुकसेरुकाणाम्।
क्वाथं सुशीतं मधुशर्कराभ्यां युक्तं पिबेत्पैत्तिकमूत्रकृच्छ्रे॥ १८॥

शतावरी, कास, कुश, गोखरू, विदारीकन्द, शालिचावल, ईख तथा कसेरू के शीतल क्वाथ को मधु तथा मिश्री मिलाकर पीने से पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है॥ १८॥

अथैर्वारुबीजादिपानमाह—

एर्वारुबीजं मधुकञ्च दार्वीं पैत्ते पिबेत्तण्डुलधावनेन।
दार्वीं तथैवामलकीरसेन समाक्षिकं पित्तकृते तु कृच्छ्रे॥ १९॥

खीरे के बीज, मुलहठी तथा दारुहल्दी को पीसकर चावल के धोवन के साथ पीने से अथवा दारुहल्दी को आँवले के रस के साथ पीसकर मधु मिलाकर पीने से पैत्तिक कृच्छ्र नष्ट हो जाता है॥

हरीतक्यादिक्वाथमाह—

हरीतकीगोक्षुरराजवृक्षपाषाणभिद्धन्वयवासकानाम्।
क्वाथं पिबेन्माक्षिकसम्प्रयुक्तं कृच्छ्रे सदाहे सरुजे विबन्धे॥ २०॥

हरड़, गोखरू, अमलतास का गूदा, पाषाणभेद, धनियां तथा यवासा इनके क्वाथ को मधु मिलाकर पीने से दाह तथा वेदनायुक्त मूत्रकृच्छ्र और विबन्ध नष्ट हो जाता है॥ २०॥

शतावरीघृतं क्षीरं चाह—

शतावरीकाशकुशश्वदंष्ट्राविदारिकेक्ष्वामलकेषु सिद्धम्।
सर्पिः पयो वा सितया विमिश्रं कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु योज्यम्॥ २१॥

शतावरी, कास, कुश, गोखरू, विदारीकन्द, ईख का रस तथा आंवले इन ओषधियों के क्वाथ में सिद्ध घृत अथवा दुग्ध में मिश्री मिलाकर पीने से पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र दूर होता है॥ २१॥

त्रिकण्टकाद्यघृतमाह—

त्रिकण्टकैरण्डकुशाद्यभीरुकर्कारुकेषु स्वरसेषु सिद्धम्।
सर्पिर्गुडार्द्धांशयुतं प्रयोज्यं कृच्छ्राश्मरीमूत्रविघातदोषे।
अयं विशेषेण पुनर्विधेयः सर्वाश्मरीणां प्रवरः प्रयोगः॥ २२॥

गोखरू, एरण्डमूल, कुश इत्यादि की जड़, शतावरी तथा ककड़ी के बीज इन औषधियों के क्वाथ में पकाया हुआ घी, तौल में आधे गुड़ के साथ चाटने से मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी तथा मूत्राघात नष्ट हो जाते हैं। इस उत्तम योग को विशेषतः सम्पूर्ण अश्मरी रोग पर देना चाहिये॥ २२॥

कफजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सामाह—

क्षारोष्णतीक्ष्णौषधमन्नपानं स्वेदो यवान्नं वमनं निरूहः।
तक्रञ्च तिक्तौषधसिद्धतैलान्यभ्यङ्गपानं कफमूत्रकृच्छ्रे॥ २३॥

क्षार, उष्ण तथा तीव्र ओषधियों तथा अन्नपान का सेवन, स्वेदन, जौ का भोजन, वमन, निरूहवस्ति, तक्र का सेवन तथा तिक्त पदार्थों तथा कालीमिर्च के द्वारा सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग अथवा पान कफजन्य मूत्रकृच्छ्र में हितकर है॥ २३॥

मूत्रेण सुरया वाऽपि कदलीस्वरसेन वा। कफकृच्छ्रविनाशाय सूक्ष्मं पिष्ट्वा त्रुटीं पिबेत्॥२४॥

गोमूत्र, मदिरा अथवा केले के रस से पीस कर छोटी इलायची को पीने से कफज मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है॥ २४॥

तक्रेण युक्तं शितिमारकस्य बीजं पिबेन्मूत्रविघातहेतोः।
पिबेत्तथा तण्डुलधावनेन प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे॥ २५॥

कफसम्बन्धी मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करने के लिये शितिमार (शालिञ्च शाक या शिरिआरी) के बीजों को तक्र में पीसकर पीना चाहिये। अथवा प्रवालभस्म को चावल के धोवन के साथ पीने से कफजन्य मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है॥ २५॥

त्रिकटु त्रिफला मुस्तं गुग्गुलुञ्च समाक्षिकम्। गोक्षुरक्वाथसंयुक्तं गुटिकां भक्षयेद् बुधः॥२६॥
प्रमेहं मूत्रकृच्छ्रञ्च मूत्राघातं तथैव च। अश्मरीं प्रदरञ्चैव नाशयेदविकल्पतः॥ २७॥

सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, गुग्गुलु तथा शहद इनकी गोली बनाकर बुद्धिमान् मनुष्य गोखरू के क्वाथ के साथ सेवन करे तो प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी तथा प्रदर ये रोग निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं॥ २६-२७॥

त्रिदोषजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सामाह—

सर्वत्रिदोषप्रभवे च वायोः स्थानानुपूर्व्या प्रसमीक्ष्य कार्यम्।
त्रिभ्योऽधिके प्राग्वमनं कफे स्यात्पित्ते विरेकः पवने तु वस्तिः॥ २८॥

त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र में वायु का स्थानानुसार विशेष लक्ष्य रखते हुये ही दोषों की चिकित्सा करनी चाहिये। यदि तीनों दोषों में कफ की अधिकता हो तो सर्वप्रथम वमन, यदि पित्त की अधिकता हो तो विरेचन और यदि वायु की अधिकता हो तो वस्ति देनी चाहिये॥ २८॥

बृहतीधावनीपाठायष्टीमधुकलिङ्गकाः। पाचनीयो बृहत्यादिः कृच्छ्रदोषत्रयापहः॥ २९॥

बड़ी कटेरी, पृश्निपर्णी, पाठा, मुलहठी तथा इन्द्रजौ इनका क्वाथ 'बृहत्यादि' क्वाथ कहलाता है। यह पाचन तथा त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करने वाला है॥ २९॥

गुडेन मिश्रितं क्षीरं कदुष्णं कामतः पिबेत्। मूत्रकृच्छ्रेषु सर्वेषु शर्करावातरोगनुत्॥ ३०॥

कुछ गरम दूध को गुड़ मिलाकर इच्छानुसार पीने से सम्पूर्ण मूत्रकृच्छ्र, शर्करा तथा वातरोग नष्ट हो जाते हैं॥ ३०॥

अभिघातजन्यमूत्रकृच्छ्रचिकित्सामाह—

मूत्रकृच्छ्रेऽभिघातोत्थे वातकृच्छ्रक्रिया मता॥ ३१॥

अभिघातज मूत्रकृच्छ्र में वातजन्य मूत्रकृच्छ्र की ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३१ ॥

मद्यं पिबेद्वा ससितं ससर्पिः शृतं पयो वाऽर्द्धसिताप्रयुक्तम् ।
धात्रीरसञ्चेक्षुरसं पिबेद्वा कृच्छ्रे सरक्ते मधुना विमिश्रम् ॥ ३२ ॥

रक्तयुक्त मूत्रकृच्छ्र रोग में मद्यपान करे अथवा उबाले हुये दूध को घी तथा मिश्री मिलाकर पीवे अथवा अर्द्धपरिमाण में चीनी मिलाकर आंवले का स्वरस या मधु मिलाकर ईख का रस पीवे ॥३२॥

पुरीषजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सामाह—

स्वेदचूर्णक्रियाऽभ्यङ्गवस्तयः स्युः पुरीषजे । क्वाथो गोक्षुरबीजस्य यवक्षारयुतः सदा ।
मूत्रकृच्छ्रं शकृज्जन्म पीतः शीघ्रं नियच्छति ॥ ३३ ॥

पुरीषजन्य मूत्रकृच्छ्र में स्वेदन, विरेचकचूर्णों का सेवन, अभ्यङ्ग तथा वस्ति क्रिया करनी चाहिये । गोखरू के बीजों में जवाखार मिलाकर प्रतिदिन पीने से 'पुरीषज मूत्रकृच्छ्र' शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥

वीर्यजन्यमूत्रकृच्छ्रचिकित्सामाह—

लेहः शुक्रविबन्धोत्थे सशिलाजतु माक्षिकम् । एलाहिङ्गुयुतं क्षीरं सर्पिर्मिश्रं पिबेन्नरः ॥ ३४ ॥
मूत्रदोषप्रशुद्ध्यर्थं शुक्रदोषहरञ्च तत् । वृष्यैर्बृंहितधातोश्च विधेयाः प्रमदोत्तमा ॥ ३५ ॥

शुक्रजन्य मूत्रकृच्छ्र में मधु मिलाकर शिलाजीत को चाटना चाहिये ।

छोटी इलायची, हींग तथा घी मिश्रित दूध को पीने से मूत्र के दोष शुद्ध हो जाते हैं तथा शुक्र दोष नष्ट हो जाते हैं । अथवा शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में वृष्य पदार्थों का भोजन कराकर वीर्य को बढ़ा के, तत्पश्चात् उत्तम रमणियों के साथ सम्भोग करावे ॥ ३४-३५ ॥

अश्मरीजन्यमूत्रकृच्छ्रचिकित्सामाह—

सप्तच्छदारग्वधकेबुकैला निम्बः करञ्जः कुटजो गुडूची ।
साध्या जले तेन पचेद्यवागूं सिद्धं कषायं मधुसंयुतं वा ॥ ३६ ॥

सप्तच्छद (सतौन), अमलतास, सुपारी, छोटी इलायची, नीम की छाल तथा गुडूची इन ओषधियों के क्वाथ से यवागू सिद्ध करके खाने अथवा मधु मिलाकर उक्त क्वाथ को पीने से अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है ॥ ३६ ॥

एर्वारुबीजकल्कश्च श्लक्ष्णपिष्टोऽक्षसंमितः । धान्याम्ललवणैः पेयो मूत्रकृच्छ्रविनाशनः ॥३७॥

ककड़ी के बीजों के कल्क को खूब महीन पीसकर १ तोले की मात्रा में लेकर धान्याम्ल नामक काञ्जी तथा सेंधानमक के साथ पीने से मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है ॥ ३७ ॥

त्रिकण्टकारग्वधदर्भकाश-दुरालभापर्वतभेदपथ्याः ।
निघ्नन्ति पीता मधुनाऽश्मरीन्तु सम्प्राप्तमृत्योरपि मूत्रकृच्छ्रम् ॥ ३८ ॥

गोखरू, अमलतास, डाभ, कास, जवासा, पाषाणभेद तथा हरड़ को पीस कर मधु मिला कर पीने से अश्मरी तथा आसन्नमृत्यु मनुष्य का भी मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है ॥ ३८ ॥

मूत्रकृच्छ्रसामान्यचिकित्सामाह—

निदिग्धिकायाः स्वरसं कुडवं मधुसंयुतम् । मूत्रदोषहरं पीत्वा नरः सम्पद्यते सुखी ॥ ३९ ॥

१ कुडव (१६ तोले) कण्टकारीस्वरस को मधु मिला कर पीने से मूत्रदोष नष्ट होता है तथा मनुष्य सुखी होता है ॥ ३९ ॥

कषायोऽतिबलामूलसाधितोऽशेषकृच्छ्रजित् । पीतञ्च त्रपुसीबीजं सतिलाज्यपयोऽन्वितम् ॥

कंघी के जड़ के क्वाथ को पीने से समस्त मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाते हैं । अथवा खीरे के बीजों को घी तथा दूध के साथ पीस कर पीने से मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है ॥ ४० ॥

त्रिफलायाः सुपिष्टायाः कल्कं कोलसमन्वितम् । वारिणा लवणीकृत्य पिबेन्मूत्ररुजाऽपहम् ॥

त्रिफला को अच्छी तरह से पीसकर कल्क बनाले। फिर इस कल्क में बेर की मींगी तथा सेंधा नमक मिलाकर पानी के साथ पीने से मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है ॥ ४१ ॥

यवोरुबूकैस्तृणपञ्चमूलीपाषाणभेदैः सशतावरीभिः।
कृच्छ्रेषु गुग्गुल्वभयाविमिश्रैः कृतः कषायो गुडसम्प्रयुक्तः ॥ ४२ ॥

जौ, एरण्डमूल, तृणपञ्चमूल, पाषाणभेद, शतावरी, गुग्गुलु तथा हरड़ के क्वाथ को गुड मिलाकर पीने से मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

मूलानि कुशकाशेक्षुशराणां चेक्षुवालिका। मूत्राघाताश्मरीकृच्छ्रे पञ्चमूली तृणात्मिका ॥४३॥

कुश, कास, ईख, रामसर तथा नरसल की जड़ को पीसकर पीने से मूत्राघात, अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है इसे भी तृणपञ्चमूल कहते हैं ॥ ४३ ॥

गुडमामलकं वृष्यं श्रमघ्नं तर्पणं प्रियम्। पित्तासृग्दाहशूलघ्नं मूत्रकृच्छ्रनिवारणम् ॥ ४४ ॥

गुड तथा आंवलों का सेवन, वृष्य, श्रमनाशक, तर्पण, प्रिय तथा रक्तपित्त, दाह एवम् शूल-नाशक है और मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करता है ॥ ४४ ॥

सितातुल्यो यवक्षारः सर्वकृच्छ्रप्रसाधनः। द्राक्षासितोपलाकल्कं कृच्छ्रघ्नं मस्तुना युतम् ॥४५॥

समपरिमाण में मिश्री मिलाकर जवाखार का सेवन करने से समस्त मूत्रकृच्छ्र नष्ट होते हैं। तथा मुनक्का और मिश्री के कल्क को दही के तोड़ के साथ पीने से मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है ॥ ४५ ॥

विदारिसारिवा छागशृङ्गी वत्सादनी निशा। कृच्छ्रं पित्तानिलाद्धन्ति वल्लीजं पञ्चमूलकम् ॥४६॥

विदारीकन्द, सारिवा, मेढ़ासिङ्गी, गुडूची तथा हल्दी इनको पीसकर पीने से वातज तथा पित्तज मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है इसको वल्लीपञ्चमूल कहते हैं ॥ ४६ ॥

एलाऽश्मभेदकशिलाजतुपिप्पलीनामेर्वारुबीजलवणोत्तमकुङ्कुमानाम्।
चूर्णानि तण्डुलजले लुलितानि पीत्वा प्रत्यग्रमृत्युरपि जीवति मूत्रकृच्छ्री ॥ ४७ ॥

छोटी इलायची, पाषाणभेद, शिलाजात, पिप्पली, ककड़ी के बीज, सेंधानमक तथा केसर के चूर्ण को चावल के धोवन में मिलाकर पीने से मरणासन्न मूत्रकृच्छ्री स्वस्थ होकर जीवित रहता है ॥४७॥

अयोरजः सूक्ष्मपिष्टं मधुना सह योजितम्। मूत्रकृच्छ्रं निहन्त्याशु त्रिभिर्लेहैर्न संशयः ॥४८॥

लौहभस्म को मधु के साथ तीन दिन तक पीने से शीघ्र मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ४८ ॥

सुकुमारकुमारकपुनर्नवाद्यवलेहमाह—

पुनर्नवामूलतुलां दशमूलं शतावरीम्। बलां तुरङ्गगन्धां च तृणमूलं त्रिकण्टकम् ॥ ४९ ॥
विदारिकन्दनागाह्वगुडूच्यतिबलास्तथा। पृथग्दशपलान्भागानपां द्रोणे विपाचयेत् ॥ ५० ॥
तेन पादावशेषेण घृतस्यार्धाढकं पचेत्। मधुकं शृङ्गवेरञ्च द्राक्षां सैन्धवपिप्पलीम् ॥ ५१ ॥
द्विपलांशान्पृथग्दत्वा यवान्याः कुडवं तथा। त्रिंशद्गुडपलान्यत्र तैलस्यैरण्डजस्य च ॥५२॥
एतदीश्वरपुत्राणां प्राग्भोजनमनिन्दितम्। राज्ञां राजसमानानां बहुस्त्रीपतयश्च ये ॥ ५३ ॥
मूत्रकृच्छ्रे कटिस्रस्ते तथा गाढपुरीषिणाम्। मेढ्रवङ्क्षणशूले च योनिशूले च शस्यते ॥५४॥
यथोक्तानाञ्च गुल्मानां वातशोणितिनश्च ये। वल्यं रसायनं श्रीदं सुकुमारकुमारकम् ॥५५॥
पुनर्नवाशते द्रोणः प्रदेयोऽन्येऽपि चापरः ॥ ५६ ॥

पुनर्नवा की जड़ १ तुला (४०० तोले) तथा दशमूल की ओषधियां (कहीं २ दशमूल के स्थान में दर्भमूल ऐसा पाठ है), शतावरी, खिरेंटी, असगन्ध, तृणपञ्चमूल, गोखरू, विदारीकन्द, नागकेशर, गुडूची तथा गंगेरन इन प्रत्येक ओषधियों को १०–१० पल लेकर १ द्रोण (१०२४ तोले) जल में पकावे। जब चतुर्थांश शेष रह जाय तो छान कर इस क्वाथ से आधा आढक (१२८ तोले) घी को पकावे फिर इस प्रकार सिद्ध घृत में मुलहठी, अदरख, मुनक्का, सेंधानमक, तथा पिप्पली इनमें से प्रत्येक के चूर्ण को ८–८ तोले, अजवायन का चूर्ण १६ तोले तथा एरण्डतैल ३०

पल (१२० तोले) डाल कर मिला दे तो 'सुकुमारकुमारक पुनर्नवावलेह' सिद्ध हो जाता है। इस प्रशस्त अवलेह को धनियों, राजाओं, राजाओं के समान मनुष्यों को तथा बहुत स्त्री वाले मनुष्यों को भोजन करने के पहिले ही चटावे। इसके सेवन से मूत्रकृच्छ्र, कमर की शिथिलता, मल की गाढ़ता, लिङ्गशूल, वंक्षणशूल, योनिशूल तथा समस्त गुल्म और वातरक्त नष्ट हो जाते हैं। यह अवलेह बलवर्धक, रसायन, लक्ष्मीदायक तथा बालकों को सुकुमार (सुन्दर) बनाता है। और कोई पुनर्नवा मूल १०० पल लेकर एक द्रोण जल में पकाकर चतुर्थांश जल अवशिष्ट रहने पर उतार कर उपर्युक्त घृत तथा प्रक्षेप्य द्रव्य भी मिलाकर लेह की भांति पकाकर तैयार करने से दूसरा पुनर्नवादि लेहपाक सिद्ध होना बताते हैं ॥ ४९-५६ ॥

ॐ मूत्राघातादिविधानमप्यत्र कार्यम् ।

इति पञ्चत्रिंशो मूत्रकृच्छ्राधिकारः समाप्तः ॥ ३५ ॥

मूत्राघात में जिन चिकित्साओं का विधान है, उनका भी प्रयोग इस रोग में करना चाहिये।

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे पञ्चत्रिंशो मूत्रकृच्छ्राधिकारः समाप्तः ॥ ३५ ॥

अथ षट्त्रिंशो मूत्राघाताधिकारः ॥ ३६ ॥

तत्र मूत्राघातस्य कारणं भेदश्चाह—

जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातास्त्रयोदश । प्रायो मूत्रविघाताद्यैर्वातकुण्डलिकाऽऽदयः ॥ १ ॥

प्रायः मूत्र इत्यादि के वेगों को रोकने से प्रकुपित वात द्वारा वातकुण्डलिका आदि १३ प्रकार के 'मूत्राघात'[1] उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १ ॥

वातकुण्डलिकालक्षणमाह—

रौक्ष्याद्वेगविघाताद्वा वायुर्बस्तौ सवेदनः । मूत्रमाविश्य चरति विगुणः कुण्डलीकृतः ॥ २ ॥

---

१. मूत्राघात को पाश्चात्य वैद्यक में रिटेन्शन ऑफ यूरिन (Retention of urine) कहते हैं। यह उस दशा का नाम है जब कि रोगी मूत्रत्याग करने में असमर्थ होता है। मूत्राशय में मूत्र भरता रहता है, जिससे वह विस्तृत होकर अपने स्वाभाविक आकार से कहीं अधिक बढ़ जाता है। जब वह अधिक विस्तृत होता है तब भगसन्धानिका के ऊपर उसकी सीमा देखी जा सकती है। किन्तु विस्तार के इतने अधिक न होने पर समाघात और स्पर्श से उसकी ऊपरी सीमा मालूम करना चाहिये। इसके लिये समाघात बहुत विश्वसनीय विधि है।

इस रोग के निम्नलिखित मुख्य कारण होते हैं—

१—मूत्रमार्ग में किसी स्थान पर अवरोध की उत्पत्ति। यह अवरोध कई स्थानों पर उत्पन्न हो सकता है।

(अ) मूत्राशय की ग्रीवा पर जहां मूत्रमार्ग प्रारम्भ होता है यदि वहां अथवा मूत्राशय में किसी दूसरे स्थान पर कोई अर्बुद उत्पन्न हो जाता है तो मूत्रमार्ग रुक जाता है। यदि बस्ति में उत्पन्न हुआ कोई अर्बुद मूत्रमार्ग को बाहर की ओर से दबाता है अथवा मूत्राशय में चोट लगने से रक्त-प्रवाह होकर रक्त जम जाता है तो मूत्रमार्ग के अवरोध से मूत्र-प्रवाह बन्द हो जाता है।

मूत्रमल्पाल्पमथवा सरुजं सम्प्रवर्त्तते। वातकुण्डलिकां तीव्रां व्याधिं विद्यात्सुदारुणम् ॥३॥

(आ) मूत्रमार्ग के दूसरे भाग में जो पौरुष-ग्रन्थि के द्वारा निकल कर जाता है, अवरोध उत्पन्न हो सकता है। ग्रन्थि की वृद्धि, अर्बुद, विद्रधि तथा अश्मरी मूत्रमार्ग के इस भाग को दबाकर मूत्र-प्रवाह को रोक देते हैं। अपने यहां इसी को अष्ठीलाजन्य मूत्राघात कहते हैं।

(क) इसी प्रकार मूत्रमार्ग के तीसरे कलाकृत भाग में विद्रधि तथा सङ्किरण (Stricture) के उत्पन्न होने से मूत्र-प्रवाह रुक जाता है।

(ख) मूत्रमार्ग में किसी स्थान पर अश्मरी के अटकने से भी मूत्र का निकलना बन्द हो जाता है।

(ग) मूत्रमार्ग के बहिश्छिद्र के भीतर की ओर स्थित कठिन व्रण से भी मूत्रावरोध उत्पन्न हो सकता है।

२—नाडीसम्बन्धी विकारों से भी मूत्रावरोध उत्पन्न हो जाता है। जब किसी कारण से मूत्र-मार्ग की सङ्कोचकपेशी उत्तेजित और प्रसारकपेशी दुर्बल हो जाती है तो मूत्राशय का द्वार इतना सङ्कुचित होता है कि उससे मूत्र बाहर नहीं निकल सकता। यह दशा केवल मानसिक रोगों अथवा अवस्थाओं में उत्पन्न होती है। जिनको अभ्यास नहीं है वह दूसरे व्यक्ति के सामने मूत्रत्याग नहीं कर सकते। जननेन्द्रियों पर के शस्त्रकर्मों के पश्चात् प्रायः मूत्रावरोध उत्पन्न हो जाता है। नाडी-मण्डल के कुछ रोगों में भी ऐसा ही होता है।

३—मूत्रमार्ग के शोथ के कारण (जैसा पूयमेह में होता है) मूत्रत्याग नहीं हो पाता।

४—कभी २ मूत्रत्याग की इच्छा को मारने और उसी दशा में कुछ समय तक बैठे रहने से भी मूत्रप्रवाह रुक जाता है। दफ्तरों या स्कूलों में जब मूत्रत्याग का अवसर नहीं मिलता और बहुत समय तक बैठे रहना पड़ता है तो ऐसी दशा उत्पन्न हो जाती है। अपने यहां उसे मूत्रातीत कहते हैं। यथा:—

'चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते। मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते॥

मूत्रावरोध दो प्रकार से उत्पन्न होता है—

१—तरुण अवरोध—जो थोड़े ही समय में अथवा तत्काल उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण प्रायः शोथ होता है।

२—जीर्ण अवरोध—जो धीरे २ उत्पन्न होता है। यह प्रायः सङ्किरण (Stricture) का फल होता है। पूयमेह में उत्पन्न हुये मूत्रमार्ग में स्थित व्रणों के आरोहण से वहां पर जो सौत्रिक धातु बनती है, वह कुछ समय में सङ्कुचित हो जाती है, इससे मूत्रमार्ग में सङ्कीर्णता उत्पन्न होकर मूत्र के प्रवाह में बाधा डालती है। इसको सङ्किरण (Stricture) कहते हैं।

इस कारण रोगी से पूछ लेना चाहिये कि मूत्र का निकलना अकस्मात् बन्द हुआ अथवा धीरे २ मूत्र की धार क्रमशः पतली हुई अथवा मूत्र रुक २ कर आने लगा। पौरुषग्रन्थि (अष्ठीला Prostate) की वृद्धि में रोगी को बार-बार मूत्र आता है। विशेष कर रात्रि के समय अधिक आता है। मूत्र के साथ पूय का आना मूत्रमार्ग के शोथ का सूचक है। यदि पूय पतला है और बहुत दिनों से आरहा है तो जीर्ण शोथ समझना चाहिये। ऐसी दशाओं में पूयमेह, उपदंश तथा फिरङ्ग रोग इत्यादि का इतिहास जानना बहुत आवश्यक है। उदर की परीक्षा करने पर मूत्राशय का आकार मालूम हो जायगा। यदि वह बहुत विस्तृत हो (कभी २ वह नाभि तक विस्तृत हो जाता है) तो दीर्घकालिक अवरोध समझना चाहिये। इसमें पीडा कम अथवा नहीं होती तरुण अवरोध में तीव्र पीड़ा होती है। ऐसी दशा में मूत्राशय भी अधिक विस्तृत नहीं होता, क्योंकि ऐसी अवस्था में रोगी चिकित्सा के लिये बाध्य हो जाता है।

कभी २ मूत्रमार्ग के द्वार पर रक्त की कुछ बूँदें दिखाई देती हैं। ये प्रायः मूत्रमार्ग के

छरोधयात्कायस्य । वेगविघाताद् = मूत्रादिवेगनिरोधात् । आविश्य = आवृत्य, मूत्र-

किसी प्रकार क्षत हो जाने से आती हैं । पौरुषग्रन्थि से भी रक्त आ सकता है । यदि अवरोध सङ्किरण (Stricture) के कारण है तो उसकी स्थिति जानना भी बहुत आवश्यक है । शिश्न को एक भाग से पकड़कर आगे खींच कर दूसरे हाथ के अँगूठे और अंगुली के बीच में शिश्न को दाबकर प्रतीत करना चाहिये ।

जिस स्थान पर सङ्किरण स्थित है वह अंगुलियों को कड़ा प्रतीत होता है । यदि इस संकिरण की स्थिति का पता न लगे तो रबर के कैथिटर (Catheter) का प्रयोग करना चाहिये । धातु का कैथिटर अन्त के लिये छोड़ देना चाहिये ।

पौरुष ग्रन्थि को प्रतीत करना भी आवश्यक है । गुदामार्ग में दो अंगुलियां डाल कर उनको ऊपर की ओर दबाने से जीर्णशोथ में ग्रन्थि बढ़ी हुई प्रतीत होती है । यदि वहां कई ग्रन्थियां प्रतीत हों अथवा ग्रन्थि क्रमहीन प्रतीत हो तो पौरुषग्रन्थि का कैन्सर (Cancer) समझना चाहिये । किन्तु यदि पूयसञ्चार के लक्षण मालूम हों तो विद्रधि का सन्देह किया जा सकता है ।

चिकित्सा—कारण के अनुसार चिकित्सा का आयोजन करना चाहिये । यदि मूत्रमार्ग में तरुण शोथ है तो जहाँ तक हो सके शस्त्रों को वस्ति में प्रविष्ट न किया जावे । शस्त्रों द्वारा मूत्रमार्ग से मूत्राशय में संक्रमण के पहुँचने का डर होता है । रोगी को उष्ण जल से स्नान तथा उष्ण जल के टब में जिस में जल रोगी की कटि तक रहे, आधे घण्टे तक बैठाना चाहिये । इस प्रयोग से सम्भव है रोगी को मूत्रत्याग हो जावे । कभी २ केवल वस्तिकर्म (Enema) में मूत्रत्याग हो जाता है । आधा या १ औंस उष्ण ग्लिसिरिन को मूत्रमार्ग द्वारा भीतर प्रविष्ट करने से भी मूत्रत्याग होते देखा गया है । इस कारण मूत्राशय में कैथिटर प्रविष्ट करने से पूर्व इन प्रयोगों को कर लेना चाहिये । पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि से उत्पन्न हुये अवरोध में साधारण कैथिटर से काम नहीं चलता । ग्रन्थिवृद्धि के कारण मूत्रमार्ग विकृत होकर टेढ़ा हो जाता है । उसमें एक या दो स्थानों पर मोड़ उत्पन्न हो जाते हैं । उसकी लम्बाई भी अधिक हो जाती है । इस कारण ऐसी दशाओं में प्रयोग करने के लिये विशेष आकार के कैथिटर बनाये जाते हैं । एक मोड़वाला कैथिटर 'कुडे' (Coude) और दो मोड़ वाला 'बाई कुडे' (Bicoude) कहलाता है । शिश्न के अग्रभाग और इस कैथिटर को शुद्ध करके और उसपर शुद्ध ग्लीसिरिन लगाकर उसको मूत्रमार्ग में प्रविष्ट किया जाता है । प्रविष्ट करते हुये उसको इधर-उधर घुमाते और आगे की ओर चलाते जाते हैं, यहां तक कि उससे मूत्र निकलने लगता है एक बार में मूत्राशय से लगभग २० औंस मूत्र निकाल देना चाहिये ।

सङ्किरण से उत्पन्न हुये अवरोध में साधारण कैथिटर का प्रयोग किया जाता है । किन्तु प्रथम बार सबसे बड़े आकार के कैथिटर नं० १२ को शुद्ध करके और ग्लीसिरिन लगाकर शिश्न के अग्रभाग को स्वच्छ कर मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करना चाहिये । इतने बड़े आकार के कैथिटरका संकिरण में होकर मूत्राशय में पहुँचना असम्भव है । किन्तु तो भी उसी को प्रथमबार मूत्रमार्ग में डाला जाता है । छोटे आकार के कैथिटर को प्रविष्ट करने से मूत्रमार्ग-संकोचकपेशी संकुचित हो जाती है बड़े कैथिटर से ऐसा नहीं होता । इस कैथिटर को संकिरण तक, पहुंचा कर उसको कुछ समय तक घुमाते रहना चाहिये । तत्पश्चात् उसको निकालकर उससे छोटा कैथिटर डालना उचित है । यदि यह भी सङ्किरण पर ही रुक जावे तो इससे भी छोटे कैथिटर को डालना चाहिये । इस प्रकार कोई न कोई कैथिटर संकिरण में होकर मूत्राशय में पहुंच जायगा । यदि कैथिटर बहुत छोटे आकार का हो तो उसको मूत्राशय में प्रविष्ट करके १२ घंटे तक छोड़ देना चाहिये । इससे मूत्र धीरे २ निकलता रहेगा और संकिरण भी कुछ प्रसरित होगा । इसको निकालने के पश्चात् प्रायः इससे बड़े आकार का कैथिटर प्रविष्ट किया जा सकता है । कैथिटर को प्रविष्ट करते समय बलका प्रयोग करना उचित

मिति । रौक्ष्यादिभिर्वेगविघातादिभिश्च, विगुणः = दुष्टः, कुण्डलीकृतो वातावर्त्तवद् वस्तावेव

नहीं । इससे संकिरण में छिद्र होकर कैथिटर मूत्रमार्ग को छोड़ कर उस स्थान की धातुओं में घुस जाता है और इस प्रकार असत्य मार्ग (False Passage) बन जाते हैं जिनसे चिकित्सा में बड़ी कठिनाई होती है ।

बच्चों में प्रायः अश्मरी के अटक जानेसे मूत्राघात उत्पन्न हो जाता है । कभी २ उनको केवल पेट के बल लिटा देने से अथवा हाथों और घुटनों के बल आगे की ओर झुकाकर बिठा देने से अश्मरी अपने स्थान से हट जाती है जिससे तुरन्त मूत्र त्याग हो जाता है । कभी २ अश्मरी मूत्रमार्ग के अग्रिम भाग पर आकर रुक जाती है । यदि ऐसा हो तो उसे अश्मरीसंदंश से पकड़ कर खींच लिया जाता है । यदि वह मूत्रमार्ग में पीछे की ओर स्थित हो तो धातु के कैथिटर या सङ्किरण-शलाका (Sounds oi Bougies) से उसको पीछे की ओर मूत्राशय में ठेल देना उचित है, जिससे मूत्रमार्ग के तुरन्त खुल जाने से मूत्र त्याग हो जावेगा ।

कैथिटर और उनका प्रयोग—इनका आकार लम्बी नली के समान होता है जिसका आगे का भाग मुड़ा होता है । उनके अगले सिरे पर पार्श्व की ओर एक लम्बा छिद्र होता है जो कैथिटर का नेत्र (Eye) कहलाता है । इसमें होकर मूत्र कैथिटर में प्रवेश करता है । इससे आगे का भाग ठोस होता है जिससे उसमें मूत्र नहीं रहने पाता ।

ये कैथिटर ३ प्रकार के होते हैं—रबर के कैथिटर सबके कोमल होते हैं । दूसरे प्रकारके कैथिटर रबर के कैथिटरों से कड़े किन्तु धातु के कैथिटरों से नरम होते हैं । इनको जैसा चाहें मोड़ सकते हैं और जब तक उनको दूसरी ओर को न मोड़ा जावे अथवा सीधा किया जावे तब तक वह उसी दशा में रहते हैं मूत्रमार्ग के भीतर ये स्वयं मुड़ते हुये चले जाते हैं । इनके प्रयोग के समय भी बल लगाना उचित नहीं । इनसे भी असत्यमार्ग (False Passage) बन सकते हैं । इनको 'गम इलास्टिक कैथिटर' कहते हैं । यह और रबर के कैथिटर प्रायः नं० १२ तक के आते हैं । १२ नं० सबसे मोटा होता है ।

धातु के कैथिटर प्रायः निकिल अथवा चांदी के बनाये जाते हैं । ये कैथिटर आगे की ओर से मुड़े होते हैं यह भाग अत्यन्त स्वच्छ और चिकना होना चाहिये । उसके खुरदरे होनेसे मूत्रमार्ग की श्लैष्मिक कला, जो अत्यन्त कोमल होती है, छिल जाती है । जिससे तरुणशोथ उत्पन्न हो सकता है ।

कैथिटर द्वारा मूत्र निकालने के लिये सबसे प्रथम रबर के कैथिटर का प्रयोग करना चाहिये इनसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता । उनसे श्लैष्मिक कलाके छिलने या असत्य मार्गों के बनने का कोई अवसर नहीं होता । जब इनसे सफलता न हो तो 'गम इलास्टिक कैथिटर' को काम में लाना चाहिये । धातु के कैथिटरों का अन्त में प्रयोग करना उचित है ।

कैथिटरों की शुद्धि—प्रयोग करने से पूर्व कैथिटरों को पूर्णतया शुद्ध करना चाहिये । यदि इनके द्वारा मूत्राशय में जहां पूर्व ही शोथ उपस्थित है, तनिक भी संक्रमण पहुंच गया हो तो भयङ्कर दशा उत्पन्न हो सकती है ।

रबर और धातु के कैथिटर अन्य शस्त्रों की भाँति जल में उबाल कर शुद्ध किये जा सकते हैं । उनको १० मिनट तक उबालना पर्याप्त है । गम इलास्टिक कैथिटरों को फार्मेलिन के द्वारा शुद्ध किया जाताहै । इसके लिये एक विशेष आकार का पात्र आता है जिसमें दो खण्ड होते हैं ऊपर के खण्ड में कैथिटर रखे जाते हैं । निचले खण्ड में फारमेलिन की टिकिया का तरल फार्मेलिन रहता है । पात्र के नीचे स्पिरिट लैम्प रहता है । फारमेलिन से जो वाष्प उत्पन्न होते हैं वे कैथिटरों का पूर्ण निसंक्रामण कर देते हैं ।

प्रमंस्तिष्ठति । कुण्डलीभूतो वायुर्बस्तौ=मूत्राशये, चरति=प्रधावति । आवद्धत्वाद् भ्रमं-स्तिष्ठति ॥ २-३ ॥

शरीर की रूक्षता तथा मूत्र इत्यादि के वेगों को रोकने से दुष्ट वायु कुण्डलाकार होकर मूत्र के साथ मिलकर मूत्राशय में दौड़ता है। उस समय वेदना होती है तथा पीडायुक्त थोड़ा २ मूत्र उतरता है। इस तीव्र महादारुण व्याधि को 'वातकुण्डलिका' समझना चाहिये ॥ २-३ ॥ -

---

सङ्किरण-शलाका तथा कैथिटर को मूत्राशय में प्रविष्ट करना—

रवर के कैथिटर को प्रविष्ट करने में किसी विशेष कौशल की आवश्यकता नहीं होती। रोगी को पीठ के बल लिटाकर उसके ऊरु तथा उदर के प्रान्त को शुद्ध तौलियों से ढक दिया जाता है। चिकित्सक हाथों को शुद्धकर रोगी के दाहिने ओर खड़े हो शिश्न के अग्रभाग को खोलकर अपने दाहिने हाथ से विसंक्रामक विलयन में भीगे हुये प्लोत द्वारा उसको स्वच्छ करता है। समस्त मार्ग और विशेष कर मूत्रमार्ग के छिद्र को भली भांति स्वच्छ किया जाता है। कुछ लोग मूत्रमार्ग में सिरिंज द्वारा थोड़ी शुद्ध गिलसिरिन या जैतून का तेल छोड़ देते हैं। तत्पश्चात् चिकित्सक दाहिने हाथ के अँगूठे और तर्जनी के बीच में शुद्ध कैथिटर को ऊपर की ओर से पकड़ता है। कैथिटर का शेष भाग भी उसकी हथेली में रहता है जिसको वह दूसरी अंगुलियों से दाबे रहता है। इससे कैथिटर किसी अन्य वस्तु के सम्पर्क में आने नहीं पाता। इस प्रकार वह कैथिटर की नोक को मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करता है और उसे नीचे की ओर को दवाता है। और साथ में इधर-उधर को घुमाता जाता है। ज्यों ही वह मूत्राशय में प्रवेश करता है त्यों ही उसके बाहरी छिद्र से मूत्र निकलने लगता है। जिसके एकत्र होने के लिये पूर्व ही एक शुद्ध पात्र रख लेना चाहिये। मूत्र निकल चुकने पर कैथिटर को निकाल कर शुद्ध करके रख दिया जाता है। गम इलास्टिक कैथिटर भी इसी प्रकार प्रयुक्त होते हैं। धातु के कैथिटर तथा सङ्किरणशलाका के प्रयोग की विधि भिन्न है। ये शलाकायें आकार में कैथिटर ही के समान होती हैं और उन्हीं की भांति प्रयुक्त होती हैं। किन्तु ये ठोस होती हैं। कुछ शलाकाओं के आगे की नोक चौड़ी होती है। कुछ की सामान्य होती है। इसका पिछला भाग चवन्नीके सिक्के की भांति चपटा और गोल होता है जिसको दाहिने हाथ के अंगूठे और तर्जनी के बीच में पकड़ा जाता है। कैथिटर के पिछले सिरे पर दोनों ओर दो कुण्डे होते हैं। शस्त्र और हाथोंको शुद्ध करने के पश्चात् उदर और ऊरु प्रान्तको तौलिया से ढँककर चिकित्सक रोगी के दाहिनी ओर खड़ा होकर मणिच्छदाको ऊपर हटाकर मणि तथा मूत्रमार्ग के मुखको किसी विसंक्रामक विलयन से शुद्ध करता है और शिश्न को, जिसकी मणि खुली हुई है, ऊपर और दाहिनी ओर को खींचता है। इस समय कैथिटर या शलाका का बाहरी सिरा चिकित्सक के दाहिने हाथ, अंगूठे और तर्जनी के बीच में और उसकी नोक मूत्रमार्ग के छिद्रपर रहती है। चिकित्सक का हाथ रोगी के नितम्बास्थि के पुरोर्ध्वकूट की ओर रहता है। और वह शलाका को इस प्रकार पकड़े रहता है कि वह रोगी के चर्मके प्रायः समानान्तर पर रहती है। इस प्रकार कैथिटर या शलाका की नोक मूत्रमार्ग के छिद्रपर किन्तु शस्त्र का गात्र मूत्रमार्ग के बाहर, पार्श्व की ओर तथा तनिक नीचे को झुका रहता है। तत्पश्चात् चिकित्सक तनिक दवाकर शस्त्र को मूत्रमार्ग में प्रविष्ट कर देता है। शस्त्र स्वयं अपने भार ही से भीतर जाने लगता है, बल लगाने की आवश्यकता नहीं होती और न बल लगाना ही चाहिये। यदि आवश्यक हो तो प्रयोगकर्ता शस्त्र के पिछले भाग को, जिसको वह अपने दाहिने हाथमें पकड़े हुये है, तनिक नीचे या आगे की ओर दवाता रहे साथ में शिश्न को ऊपर की ओर भी खींचता रहे। जब इस प्रकार शिश्न पूरा खिंच चुकता है, और शस्त्र आगे बढ़ने से रुक जाता है तब शिश्न सहित शस्त्र को पूर्व स्थिति में बाईं ओर घुमाया जाता है, यहां तक कि वह उदर के मध्य में उदर-सीवनी की रेखा में आ जाता है। तत्पश्चात् शस्त्र के पिछले चपटे भाग को जो चर्म के प्रायः समाना-

अष्ठीलालक्षणमाह—

आध्मापयन्वस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम्। कुर्यात्तीव्रार्त्तिमष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम्॥

ख्वातो वस्तिगुदं रुद्ध्वा-अर्थात्तदन्तर्गतं मूत्रं मलञ्च निरुद्ध्य, वस्तिं गुदञ्च, आध्मापयन्= आध्मानं कुर्वन्, अष्ठीलाम्=अष्ठीलातुल्यां ग्रन्थिं कुर्यात्। चलोन्नतां=चलामुन्नताञ्च ॥ ४ ॥

वायु मूत्र तथा मल को अवरुद्ध करके मूत्राशय तथा गुदा में आध्मान को उत्पन्न करता हुआ चल, उन्नत तथा तीव्र पीडा वाली, मूत्र तथा मल को रोकने वाली अष्ठीला (पिण्डाकार ग्रन्थि) को उत्पन्न कर देता है ॥ ४ ॥

न्तर पर था, ऊपर की ओर उठाया जाता है जिससे सारा शस्त्र सीधा खड़ा हो जाता है और चर्म के साथ समकोण बनाता है। इस दूसरी क्रिया के समय शस्त्र मूत्रमार्ग की पूर्वभित्ति के सहारे अपने ही भार से निरन्तर आगे बढ़ता रहता है और त्रिकोणिकेबन्धन (Triangular Ligament) पर पहुंच जाता है। इस समय शस्त्र के पिछले सिरे को पकड़ कर धीरे से तनिक नीचे अथवा गुदा स्थान की ओर झुका दिया जाता है, जिससे वह मूत्रमार्ग के पौरुषग्रन्थिक (Prostatic Urethra) और कलाकृत (Membranous Urethra) भागों में होता हुआ मूत्राशय में पहुंच जाता है। यह नीचे की ओर को झुकाने की क्रिया उस समय करनी चाहिये जब शस्त्र मूत्रमार्ग में पर्याप्त दूरी तक पहुंच जावे। शस्त्र के प्रयोग के समय बल लगाना भूल है। यदि वह स्वयं अपने ही भार से आगे की ओर नहीं बढ़ता तो क्रिया में कहीं भूल हुई है। ऐसी दशा में उसको निकाल कर फिर से प्रविष्ट करना चाहिये।

इन धातु के शस्त्रों के उपयोग से कभी २ निम्न लिखित उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, यथा—

स्तब्धता—यह दशा उन व्यक्तियों में उत्पन्न होती है जिनमें कैथिटर या शलाका का प्रथम बार प्रयोग किया जाता हैं। वृद्धावस्था में यह दशा अधिक बार उत्पन्न होते देखी गई है। शस्त्र को डालते समय अथवा उसको निकालने के पश्चात् स्तब्धता उत्पन्न होती हैं। रोगी की दशा अकस्मात् विकृत हो जाती है। नेत्रों के तारे प्रसारित और नाडी मन्द हो जाती है। चेतना जाती रहती है। गले में गड़गड़ाहट आरम्भ हो जाती है। रोगी वेग से एक श्वास बाहर निकालता है और उसकी मृत्यु हो जाती है। यदि ऐसी दशा उत्पन्न हो जावे तो उत्तेजक ओषधियों को तुरन्त इञ्जेक्शन द्वारा शरीर में प्रविष्ट करना चाहिये। कृत्रिम श्वास क्रिया से लाभ होता है। शस्त्र को डालने से पूर्व ५ प्रतिशत केनोकेन विलयन को मूत्रमार्ग में प्रविष्ट कर देने से इस दशा की उत्पत्ति का भय बहुत कुछ कम हो जाता है।

ज्वर—शस्त्रप्रयोग करने के दो या तीन घण्टे अथवा तीन या चार दिन के पश्चात् ज्वर उत्पन्न हो सकता है। इसका कारण संक्रमण होता है, जो शस्त्र के साथ भीतर पहुंच जाता है। इसके लक्षण संक्रमण की प्रबलता के अनुसार होते हैं। प्रायः केवल दो या तीन दिन तक मन्द ज्वर रह कर जाता रहता है। संक्रमण के प्रबल होने पर वह अधिक समय तक रह सकता है। यदि वृक्क-शोथ के लक्षण दिखाई दें तो दशा चिन्ताजनक है। इस रोग में रोगी की सात या आठ दिन में मृत्यु हो सकती है।

शस्त्रों को प्रयोग करते समय पूर्ण स्वच्छता और शुद्धि का ध्यान रखना चाहिये। पूर्ण विसंक्रामण किये बिना उनका प्रयोग करना उचित नहीं। यदि रबर के कैथिटरों से काम चल सके तो धातु के शस्त्रों का उपयोग नहीं करना चाहिये। इनके द्वारा मूत्रमार्ग में व्रण बनने और संक्रमण के पहुंचने का अधिक भय रहता है।

ज्वर उत्पन्न होने पर रोगी को शय्यारूढ करके उसको उष्ण तरल द्रव्य पीने को देने चाहिये। भोजन के लिए केवल दुग्ध देना उचित है। कुनैन से लाभ होता है। यदि दो या तीन दिन के पश्चात् भी ज्वर बना रहे और लक्षण दारुण प्रतीत हों तो विरेचक और मूत्रल ओषधियों द्वारा विरेचन और

वातवस्तिलक्षणमाह—

वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याकुशलो नरः । निरुणद्धि मुखं तस्य वस्तेर्वस्तिगतोऽनिलः ॥५॥
मूत्रसङ्गो भवेत्तेन वस्तिकुक्षिनिपीडितः । वातवस्तिः स विज्ञेयो व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः ॥

*अकुशलो = मूर्खः । तस्य पुरुषस्य वस्तेर्मुखं निरुणद्धि वस्तिगतो वायुः । तेन = वायुना, मूत्रसङ्गो = विघातो भवति । वस्तिकुक्षिनिपीडित इति-वस्तौ कुक्षौ निपीडितः = सम्पीडितो वायुरिति सम्बन्धः । मूत्रसङ्गः = मूत्रावरोधः ॥ ५-६ ॥

जो मूर्ख मनुष्य मूत्र के वेग को धारण करता है उसके मूत्राशय में रहने वाला वायु मूत्राशय के मुख को बन्द कर देता है तब मूत्र रुक जाता है । इससे मूत्राशय तथा कुक्षि में पीडा होती है । इसे वातवस्ति जानना चाहिये । यह रोग कष्टसाध्य है ॥ ५-६ ॥

मूत्रातीतलक्षणमाह—

चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते । मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ॥ ७ ॥

*मेहमानस्य = मूत्रमुत्सृजतः, मन्दम् = अल्पं वा ॥ ७ ॥

अधिक समय तक मूत्र को धारण करने वाले मनुष्य का मूत्र शीघ्रता से नहीं उतरता तथा पेशाब करने के समय थोड़ा २ पेशाब उतरता है । इस रोग को मूत्रातीत कहते हैं ॥ ७ ॥

मूत्रजठरलक्षणमाह—

मूत्रस्य वेगेऽभिहते तदुदावर्तहेतुकः । अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद् भृशम् ॥ ८ ॥
नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम् । तन्मूत्रजठरं विद्यादधोवस्तिनिरोधजम् ॥ ९ ॥

*तदुदावर्तहेतुक इति-मूत्रवेगधारणजनितोदावर्तनिदानम्, आध्मानं कुर्यात् । अधोवस्तिनिरोधजम् = वस्तेरधोदेशे विबन्धकारकम् ॥ ८-९ ॥

मूत्र के वेग को रोकने से अपान वायु उदर को अच्छी तरह से भर देती है । तब मूत्रवेग-विधारणजन्य उदावर्त्त नाभि के नीचे तीव्र वेदना युक्त आध्मान को उत्पन्न कर देता है जिससे मूत्राशय का निम्न भाग अवरुद्ध हो जाता है । इस रोग को 'मूत्रजठर' समझना चाहिये ॥ ८-९ ॥

मूत्रत्याग करवाना चाहिये । कटि के पार्श्व में उष्ण स्वेद करने से भी मूत्रत्याग होता है । रोगी को स्वेदन करवाना चाहिये । विरेचक इस प्रकार के हों जिनसे मल के साथ तरल अधिक निकले । यदि इस पर भी मूत्र का उचित प्रवाह न आरम्भ हो तो शस्त्रकर्म द्वारा मूत्रद्वार का छेदन करना आवश्यक है।

रक्तप्रवाह—धातु के शस्त्रों और कभी २ रबर के कैथिटरों के प्रयोग के पश्चात् रक्त-प्रवाह होने लगता है । मूत्रमार्ग में शोथ होने से इन शस्त्रों से श्लैष्मिक कला में क्षत हो जाता है और उससे रक्त निकलने लगता है । असत्य मार्गों के बनने पर रक्त अधिक निकलता है किन्तु साधारण अवस्थाओं में भी कुछ रक्त निकलता है। प्रायः यह इतना अधिक नहीं होता कि जिसके लिये कोई विशेष उपचार आवश्यक हो कुछ समय के पश्चात् वह स्वयं ही बन्द हो जाता है । यदि वह अधिक हो तो किसी शस्त्र को भीतर डालकर बांध देना चाहिये । अन्य रक्तस्तम्भक औषधियां भी प्रविष्ट की जा सकती हैं ।

असत्य मार्ग (False Passage)-सङ्किरण की चिकित्सा में कभी २ असत्य मार्ग उत्पन्न हो जाते हैं । जब ऐसा होता है तो शस्त्र बीच की रेखा में न रहकर एक ओर को हट जाता है । कैथिटर या शलाका का पिछला सिरा एक ओर को मुड़ा हुआ दीखता है । प्रविष्ट करने के समय कैथिटर पर जो अवरोध प्रतीत होता था वह अकस्मात् हट जाता है और शस्त्र वेग से आगे को बढ़ जाता है । रोगी को तीव्र पीडा होती है और रक्तप्रवाह भी अधिक होता है । कभी २ शस्त्र सङ्किरण के पूर्व श्लैष्मिक कला को छेद कर उसके नीचे २ सङ्किरण से आगे पहुंच कर कला का फिर छेदन कर मूत्रमार्ग में आ जाता है । मूत्राशय तक शस्त्रद्वारा छिन्न होते देखा गया है। इन मार्गों द्वारा मूत्र चारों ओर के स्थान की धातुओं में फैल सकता है । यदि मूत्र संक्रमित है तो धातुओं में भी पाक प्रारम्भ हो जायेगा ।

मूत्रोत्सङ्गलक्षणमाह—

वस्तौ वाप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः। मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः॥
स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वापि नीरुजम्। विगुणानिलजो व्याधिः स मूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः॥

***नाले=मेढ्रे। मणौ = मेहनग्रन्थौ। सज्जेत = निरुद्धं स्यात्। सरक्तं प्रवाहतः=कण्ठ-हृद्बलेन सशब्दं मूत्रपुरीषवातानामधः प्रेरणम् = प्रवाहणं, तेन कुपितेन वायुना वस्त्यादि-भेदात् सरक्तं मूत्रं स्रवेदित्यर्थः॥ १०-११॥**

जिस मनुष्य का प्रवर्त्तित मूत्र मूत्राशय, लिङ्ग अथवा शिश्नमुण्ड में रुक जाय और कण्ठ तथा हृदय स्थित वायु के बल से प्रवाहरण करने से वायु वस्ति इत्यादि का भेदन कर देता है। तब वेदनायुक्त या वेदनारहित धीरे २ थोड़ी २ मात्रा में रक्तमिश्रित मूत्रस्राव होता है। दुष्टवायुजन्य इस व्याधि को 'मूत्रोत्सङ्ग' कहते हैं॥ १०-११॥

मूत्रक्षयलक्षणमाह—

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ। मूत्रक्षयं सरुग्दाहं जनयेतां तदाह्वयम्॥१२॥

***क्लान्तदेहस्य=ग्लानदेहस्य। तदाह्वयं=मूत्रक्षयसंज्ञम्॥ १२॥**

रूक्ष तथा क्लान्त मनुष्य के मूत्राशय में रहने वाले पित्त तथा वायु मूत्रक्षय, वेदना तथा दाह को उत्पन्न कर देते हैं। इस रोग को 'मूत्रक्षय' कहते हैं॥ १२॥

मूत्रग्रन्थिलक्षणमाह—

अन्तर्वस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत्।
अश्मरी तुल्यरुग्ग्रन्थिर्मूत्रे ग्रन्थिः स उच्यते॥ १३॥

मूत्राशय के भीतर सहसा गोल, स्थिर, छोटे आंवले के बराबर तथा अश्मरी के समान पीड़ा वाली ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। इसे मूत्रग्रन्थि कहते हैं॥ १३॥

अन्तर्वस्तिमुखे=वस्त्यभ्यन्तरे। अल्पः=क्षुद्रामलकप्रमाणः=नन्वस्याश्मर्या सह को भेदः? उच्यते-अश्मरी क्रमशः सञ्चयेन स्यादयन्तु सहसा भवेदिति भेदः। अपरो भेदः-अश्मर्यां पित्ताधिक्यम् मन्यते, अत्र तु रक्तमेव। यत उक्तं तन्त्रान्तरे—

'रक्तं वातकफाद् दुष्टं वस्तिद्वारे सुदारुणम्।
ग्रन्थिं कुर्यात्स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम्'॥ १॥ इति॥ १३॥

शंका—मूत्रग्रन्थि तथा अश्मरी में क्या भेद है?

निराकरण—अश्मरी क्रमशः सञ्चय से उत्पन्न होती है किन्तु यह मूत्रग्रन्थि सहसा उत्पन्न हो जाती है यही भेद है। और दूसरा भेद यह है कि-अश्मरी में पित्त की अधिकता होती है ऐसा माना जाता है, किन्तु मूत्रग्रन्थि में रक्त ही की अधिकता होती है। जैसा कि अन्य ग्रन्थों में भी कहा गया है:—वात तथा कफ से दुष्ट होकर रक्त वस्तिद्वार में सुदारुण ग्रन्थि को उत्पन्न कर देता है तब मूत्रमार्ग के आवृत हो जाने के कारण बड़े कष्ट के साथ मूत्र उतरता है॥ १॥ इति॥ १३॥

मूत्रशुक्रलक्षणमाह—

मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम्। स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्त्तते।
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते॥ १४॥

***मूत्रितस्य=मूत्रवेगयुक्तस्य। शुक्रं स्थानाच्च्युतं, पश्चाद्वायुना, उद्धतम्=ऊर्ध्वं नीतं, भस्मोदकप्रतीकाशं=भस्मसहितजलसदृशम्, मूत्रशुक्रं तदुच्यते॥ १४॥**

मूत्र के वेग होने पर बिना मूत्रत्याग किये ही स्त्रीप्रसङ्ग करने से स्थानच्युत वीर्य को वायु ऊपर चढ़ा देता है। तब मूत्रत्याग करते समय मूत्रत्याग के पूर्व या पश्चात् राख मिश्रित जल के समान निकलता है। इसे 'मूत्रशुक्र' कहते हैं॥ १४॥

उष्णवातलक्षणमाह—

व्यायामाध्वातपैः पित्तं वस्तिं प्राप्यानिलावृतम् । वस्तिं मेढ्रं गुदञ्चैव प्रदहत् स्रावयेदधः ॥
मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा । कृच्छ्रात्पुनः पुनर्जन्तोरुष्णवातं वदन्ति तम् ॥ १६ ॥

*सरक्तम् = ईषल्लोहितम् ॥ १५–१६ ॥

अत्यन्त व्यायाम करने, मार्ग चलने तथा धूप-सेवन से पित्त मूत्राशय में जाकर वायु द्वारा आवृत होकर मूत्राशय, लिङ्ग तथा गुदा में दाह उत्पन्न कर देता है। तब रोगी कष्ट के साथ बार-बार हल्दी के समान, कुछ लाल अथवा रक्तमिश्रित पेशाब करता है। इस रोग को 'उष्णवात' कहते हैं ॥ १५–१६ ॥

मूत्रसादलक्षणमाह—

पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेन चेत् ।
कृच्छ्रान्मूत्रं तदा पीतं रक्तं श्वेतं घनं स्रवेत् ॥ १७ ॥
सदाहं रोचनाशङ्खचूर्णवर्णं भवेच्च तत् ।
शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम् ॥ १८ ॥

*संहन्येते = घनीक्रियेते । शुष्कम् = अल्पम् । समस्तवर्णम् = उक्तसकलवर्णयुक्तम् ॥

यदि पित्त, कफ अथवा दोनों वायु द्वारा घन हो जायँ तो रोगी कठिनाई से पीला, लाल अथवा श्वेत, वंशलोचन अथवा शंखचूर्ण के समान वर्ण का अथवा उक्त सम्पूर्ण वर्ण का दाहयुक्त, अल्पमात्रा में तथा गाढ़ा मूत्रत्याग करता है। इस रोग को 'मूत्रसाद' कहते हैं ॥ १७–१८ ॥

विड्विघातलक्षणमाह—

रूक्षदुर्बलयोर्वातेनोदावर्त्तं शकृद्यदा ॥ १९ ॥
मूत्रस्रोतोऽनुपद्येत विट्संसृष्टं तदा नरः । विड्गन्धं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विड्विघातं विनिर्दिशेत् ॥

उदावर्त्तम्=ऊर्ध्वं नीतं विट्संसृष्टं विड्गन्धं वा, वाशब्दोऽत्र योजनीयः ॥ १९–२० ॥

रूक्ष तथा दुर्बल मनुष्य का वायुद्वारा ऊपर ले जाया गया मल जब मूत्रस्रोत में चला जाता है तब मनुष्य कष्ट के साथ मलमिश्रित अथवा मल के गन्ध से युक्त मूत्र त्याग करता है। इसे 'विड्विघात' कहते हैं ॥ १९–२० ॥

वस्तिकुण्डललक्षणमाह—

द्रुताध्वलङ्घनायासैरभिघातात्प्रपीडनात् । स्वस्थानाद्वस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥
शूलस्पन्दनदाहार्त्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि । पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्त्तिमान् ॥
वस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम् । पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ॥ २३ ॥
तस्मिन् पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता । श्लेष्मणा गौरवं शोथः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम्

द्रुताध्वलङ्घनं=शीघ्रं मार्गचलनम् । उद्वृत्तः=उत्थितः । स्पन्दनं = किञ्चिच्चलनम् । घोरं = मारकम् । शस्त्रविषोपमं = शस्त्रं=खड्गादि, तद्वच्छीघ्रं मारकम् , विषमत्र गरलस्त-द्वद्विलम्ब्य मारकम् । एतावता मारकमवश्यं शीघ्रं विलम्बेन वा ॥ २१–२४ ॥

शीघ्र मार्ग चलने से, अधिक श्रम से, चोट लग जाने से अथवा दबाने से मूत्राशय अपने स्थान से ऊपर उठकर गर्भ के समान मोटा हो जाता है। तब रोगी शूल, कम्पन तथा दाह से पीड़ित होता है और मूत्र बूंद-बूंद करके चूता है। दबाने से मूत्र की धार निकलती है। धार निकलते समय, स्तम्भ तथा पीड़ा होती है। इस शस्त्र और विष के समान तत्काल अथवा विलम्ब से अवश्य मार डालने वाले महाघोर व्याधि को 'वस्तिकुण्डल' कहते हैं। इसमें वायु की प्रबलता होती है। और प्रायः मूर्ख लोगों से इस रोग का निवारण होना बड़ा कठिन है यदि इस रोग में पित्त भी सम्मिलित हो तब दाह, शूल तथा मूत्रविवर्णता होती है और यदि कफयुक्त हो तब गुरुता तथा शोथ होता है और मूत्र स्निग्ध, घन तथा श्वेत वर्ण का होता है ॥ २१–२४ ॥

वस्तिकुण्डलासाध्यलक्षणमाह—

श्लेष्मरुद्धविलो वस्तिः पित्तोदीर्णो न सिद्ध्यति ।
अविश्रान्तविलः साध्यो न च यः कुण्डलीकृतः ।
स्याद्वस्तौ कुण्डलीभूते तृण्मोहः श्वास एव च ॥ २५ ॥

*विलं = वस्तिमुखरन्ध्रम् । पित्तोदीर्णः = पित्तेनोद्धृतः । अविश्रान्तविलः=कफेनानावृतविलः । पश्चात्कुण्डलीकृतः साध्यः । एतेन कुण्डलीभूतोऽसाध्यः । कुण्डलीभूतस्य लक्षणमाह–तृडित्यादि । कुण्डलीभूतस्यायमर्थः कफेन विलावरोधात्तत्र वातः कुण्डलाकारेण तिष्ठतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

जिसमें मूत्राशय का मुख कफ से अवरुद्ध हो गया हो तथा पित्त द्वारा मूत्राशय ऊपर को उभड़ गया हो वह 'वस्तिकुण्डल' रोग असाध्य होता है । तथा जिसमें मूत्राशयका मुख कफ द्वारा अवरुद्ध न हुआ हो और वायु कुण्डलाकार न हुआ हो वह 'वस्तिकुण्डल' साध्य होता है । वस्ति में वायु के कुण्डलाकार हो जाने पर तृषा, मोह तथा श्वास उत्पन्न हो जाता है ॥ २५ ॥

मूत्राघातचिकित्सा—

स्नेहस्वेदोपपन्नस्य हितं स्नेहविरेचनम् । दद्यादुत्तरवस्तिं च मूत्राघाते सवेदने ॥ २६ ॥

पीडायुक्त मूत्राघात में स्नेहन तथा स्वेदन किये हुये मनुष्य को स्नेहयुक्त पदार्थों से विरेचन देना चाहिये तथा उत्तरवस्ति देनी चाहिये ॥ २६ ॥

नलकुशकाशेक्षुबलाक्वाथं प्रातः सुशीतलंससितम् ।
पिवतो नश्यति नियतं मूत्रग्रह इत्युवाच कचः ॥ २७ ॥

नरकुल, कुश, कास, ईख तथा खिरेटी के क्वाथ को शीतल करके मिश्री मिलाकर पीने से मूत्राघात अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ २७ ॥

गोजीनाम्नो मूलं पलमेकं क्वथितशेषितं पीतम् । क्षिप्त्वा मधु च सिताञ्च प्रणुदति मूत्रस्य संरोधम्

४ तोले गोजिया की जड़ का क्वाथ बनाकर मधु तथा मिश्री मिलाकर पीने से मूत्रावरोध नष्ट हो जाता है ॥ २८ ॥

गोधापद्या मूलं क्वथितं घृततैलगोरसोन्मिश्रम् । पीतं निरुद्धमचिराद्भिनत्ति मूत्रस्य संघातम् ॥

स्याह मूसली की जड़ का क्वाथ बनाकर उसमें घी, तेल तथा दूध मिलाकर पीने से मूत्रावरोध को शीघ्र नष्ट कर देता है ॥ २९ ॥

पिवेच्छिलाजतु क्वाथे युक्तं वीरतरादिजे । क्वाथं सपत्रमूलस्य गोक्षुरस्य फलस्य च ॥ ३० ॥
पिवेन्मधुसितायुक्तं मूत्रकृच्छ्ररुजाऽपहम् ॥ ३१ ॥

वीरतरादि गण के क्वाथ में शिलाजीत मिलाकर पीने से अथवा पत्ते, जड़ तथा फल सहित गोखरू के क्वाथ को मधु तथा मिश्री मिलाकर पीने से मूत्रकृच्छ्र की पीड़ा नष्ट हो जाती है ॥ ३०–३१ ॥

घनसारस्य चूर्णेन वस्तस्याथाविकाम्बुना । गुण्डयित्वा ध्वजे क्षिप्त्वा मूत्ररोधो जहाति तम् ॥

कपूर के चूर्ण को बकरी अथवा भेंड़ के मूत्र के साथ पीस कर कपड़े की बत्ती पर लेप कर के लिङ्ग में डालने से मूत्रावरोध नष्ट हो जाता है ॥ ३२ ॥

सदाभद्राऽश्मभिन्मूलं शतावर्याः सचित्रकम् । रोहिणीकोकिलाक्षौ च वचाशैलत्रिकण्टकम् ॥
श्लक्ष्णपिष्टः सुरापीतो मूत्राघातप्रबाधनः । पिवेद्बर्हिशिखामूलं दुग्धभुक्तण्डुलाम्भसा ॥३४॥

खम्भार, पाषाणभेद, शतावरी, चित्त, कुटकी, तालमखाना, वच, छारछरीला तथा गोखरू इन ओषधियों को महीन पीस कर मदिरा के साथ पीने से मूत्राघात नष्ट हो जाता है । मयूरशिखा की जड़ को पीसकर चावल के धोवन के साथ पीने से और दुग्ध भोजन से मूत्राघात नष्ट होता है ॥

वस्तिमुत्तरवस्तिं वा सर्वेषामेव दापयेत् । निदिग्धिकायाः स्वरसं पिवेद्वस्त्रपरिस्रुतम् ॥

सम्पूर्ण मूत्राघातों में उत्तर वस्ति देनी चाहिये। अथवा कण्टकारी के स्वरस को वस्त्र द्वारा छान कर पीना चाहिये इससे मूत्राघात नष्ट होता है ॥ ३५ ॥

जले कुङ्कुमकल्कं वा सक्षौद्रमुषितं निशि। सतैलं पाटलाभस्मक्षारं बद्ध्वा परिस्रुतम् ॥३६॥

अथवा केशर के कल्क को मधु मिलाकर रात भर पड़ा रहने दे। फिर प्रातः काल जल में मिलाकर पीने से मूत्राघात नष्ट होता है। अथवा पाढ़ल की भस्म तथा जवाखार को पानी में मिलाकर तेल डाल कर पीने से मूत्राघात दूर होता है ॥ ३६ ॥

त्रिकण्टकैरण्डशतावरीभिः सिद्धं पयो वा तृणपञ्चमूलैः।
गुडप्रगाढं सघृतं पयो वा रोगेषु कृच्छ्रादिषु शस्तमेतत् ॥ ३७ ॥

गोखरू, एरण्डमूल तथा शतावरी का क्वाथ अथवा तृण-पञ्चमूल का क्वाथ अथवा गुडमिश्रित घी तथा दूध को पीना मूत्रकृच्छ्रादि रोगों में हितकर है ॥ ३७ ॥

सिताक्षारान्वितं मूलं वायसीतिलकन्दयोः[1]। कोशकाररसैः पीतं वस्तिकुण्डलजिद्भवेत् ॥

मालुकाकुन तथा मकोय और तिलकन्द के मूल को पीस कर मिश्री तथा जवाखार मिला कर ईख (कोषकार=ईख या काली ईख) के रस के साथ पीने से वस्तिकुण्डल नष्ट हो जाता है ॥ ३८ ॥

शृतशीतपयोऽन्नाशी चन्दनं तण्डुलाम्बुना। पिबेत्सशर्करं श्रेष्ठमुष्णवाते सशोणिते ॥ ३९ ॥

घिसे हुये चन्दन को मिश्री मिला कर चावलों के धोवन के साथ पीने तथा उबाले हुये शीतल दुग्ध के साथ भोजन करने से रक्त-युक्त उष्णवात नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

शिलोद्भिदादितैलमाह—

शिलोद्भिदैरण्डसमस्थिराभिः पुनर्नवाभीरुरसेषु सिद्धम्।
तैलं शृतं क्षीरमथानुपानं कालेषु कृच्छ्रादिषु सम्प्रयोज्यम् ॥ ४० ॥

पाषाणभेद, एरण्डमूल, शालिपर्णी, पुनर्नवा तथा शतावरी के स्वरस द्वारा सिद्ध तेल को दूध के अनुपान से उचित समय पर पीने से मूत्रकृच्छ्र आदि रोग नष्ट होते हैं ॥ ४० ॥

धान्यगोक्षुरकघृतमाह—

धान्य गोक्षुरकक्वाथकल्कयुक्तं घृतं हितम्। मूत्राघाते मूत्रकृच्छ्रे शुक्रदोषे च दारुणे ॥ ४१ ॥

धनियां तथा गोखरू के क्वाथ तथा कल्क द्वारा सिद्ध किये गये घृत को सेवन करने से मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र तथा दारुण शुक्रदोष नष्ट हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

भद्रावहघृतमाह—

अम्बष्ठा पाटला चैव वर्षाद्वभूयमेव च। विदारीकन्दः काशश्च कुशमोरटगोक्षुराः ॥ ४२ ॥
पाषाणभेदो वाराही शालिमूलं शरस्तथा। भल्लातकं शिरीषस्य मूलमेषामथाहरेत् ॥ ४३ ॥
समभागानि सर्वाणि क्वाथयित्वा विचक्षणः। पादशेषकषायेण घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ ४४ ॥
कल्कं दत्त्वाऽथ मतिमान् गिरिजं मधुकं तथा। नीलोत्पलञ्च काकोली बीजं त्रापुषमेव च ॥४५॥
कूष्माण्डञ्च तथैर्वारुसम्भवञ्च समं भवेत्। उष्णवातं निहन्त्येतद् घृतं भद्रावहं स्मृतम् ॥४६॥

पाठा, पाढल, श्वेत पुनर्नवा, रक्त पुनर्नवा, विदारीकन्द, काश, कुश, ईख की जड़, गोखरू, पाषाणभेद, वाराहीकन्द, शालिधान्य की जड़, रामसर, भिलावा तथा सिरस की जड़ इन सब ओषधियों को सम परिमाण में लेकर क्वाथ बनावे। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तब उतारकर छानले और इस क्वाथ में शिलाजीत, मुलहठी, नीला कमल, काकोली, खीरा के बीज, पेठे के बीज तथा ककडी के बीजों को समान मात्रा में लेकर कल्क बना कर डाल दे। फिर इन के द्वारा १ प्रस्थ (६४ तो०) घी को सिद्ध करले। यह 'भद्रावह' नामक घी उष्णवातको नष्ट कर देता है ॥४२-४६॥

---

१. अश्वारिपत्रसंकाशस्तिलविन्दुसमन्वितः। स स्निग्धाधःस्थभूमिस्थस्तिलकन्दोऽतिविस्तृतः ॥ रा० नि० व० ७ ॥

विदारीघृतमाह—

विदारी वृषको यूथी मातुलुङ्गी च भूतृणम्। पाषाणभेदः कस्तूरी वसुको वशिरोऽनलः ॥४७॥
पुनर्नवा वचा रास्ना बला चातिबला तथा। कशेरुविषशृङ्गाटतामलक्यः स्थिराऽऽदयः॥४८॥
शरेक्षुदर्भमूलञ्च कुशः काशस्तथैव च। पलद्वयन्तु संहृत्य जलद्रोणे विपाचयेत् ॥४९॥
पादशेषे रसे तस्मिन्घृतप्रस्थं विपाचयेत्। शतावर्यास्तथा धात्र्याः स्वरसो घृतसम्मितः ॥५०॥
षट्पलं शर्करायाश्च कार्षिकाण्यपराणि च। यष्ट्याह्वं पिप्पलीद्राक्षाकाश्मर्यं सपरूषकम् ॥५१॥
एलाद्दुरालभाकौन्तीकुङ्कुमं नागकेशरम्। जीवनीयानि चाष्टौ च दत्त्वा च द्विगुणं पयः ॥५२॥
एतत्सर्पिर्विपक्वव्यं शनैर्मृद्वग्निना बुधैः। मूत्राघातेषु सर्वेषु विशेषात्पित्तजेषु च ॥५३॥
शर्कराऽश्मरिशूलेषु शोणितप्रभवेषु च। हृद्रोगे पित्तगुल्मे च वातासृक्पित्तजेषु च ॥५४॥
कासश्वासक्षतोरस्कधनुःस्त्रीभारकर्षिते। तृष्णाच्छर्दिमनःकम्पशोणितच्छर्दने तथा ॥५५॥
रक्ते यक्ष्मण्यपस्मारे तथोन्मादे शिरोग्रहे। योनिदोषे रजोदोषे शुक्रदोषे स्वरामये ॥५६॥
एतत्स्मृतिकरं वृष्यं वाजीकरणमुत्तमम्। पुत्रदं बलवर्णाढ्यं विशेषाद्वातनाशनम् ॥५७॥
पानभोजननस्येषु न क्वचित्प्रतिहन्यते। विदारीघृतमित्युक्तं रसायनमनुत्तमम् ॥५८॥

विदारीकन्द, अडूसा, जूही, बिजौरा, भूतृण, पाषाणभेद, कस्तूरी, साँभर नमक, सामुद्र नमक, चित्त, पुनर्नवा, वच, रास्ना, खिरेटी, गंगेरन, कसेरू, भसीड़, सिघाड़ा, भूम्यामलकी, स्थिरादि गण की ओषधियाँ, रामसर, ईख, डाभ, कुश तथा कास की जड़ इन प्रत्येक ओषधियों को ८–८ तोले लेकर १ द्रोण (१०२४) तोले जल में पकावे। जब पकते २ चतुर्थांश शेष रह जाय तो इस क्वाथ में १ प्रस्थ (६४ तो०) घी को पकावे। और उसमें शतावरी तथा आंवलों का रस ६४ तोले, चीनी २४ तोले तथा मुलहठी, पिप्पली, मुनक्का, खम्भार के फल, फालसा, छोटी इलायची, यवासा, रेणुका, केसर, नागकेसर तथा जीवनीय गण की आठों ओषधियाँ इन प्रत्येक ओषधियों को १–१ तोला लेकर कल्क बना कर डाल दे और दो प्रस्थ दूध डाल कर मन्द आँच से पकाले। इस 'विदारीघृत' को सम्पूर्ण मूत्राघात, विशेष कर के पित्तजन्य मूत्राघात, शर्करा, अश्मरी, शूल, रक्तविकारजन्य शूल, हृदय रोग, पैत्तिक गुल्म, पैत्तिक वातरक्त, कास, श्वास, उरःक्षत तथा धनुष चलान, स्त्री-प्रसङ्ग करने और भार उठाने से कर्षित अवस्था में, तृष्णा, वमन, मानसिक दोष, कम्प, रक्त का वमन, रक्त–विकार, यक्ष्मा, अपस्मार, उन्माद, शिरःशूल, योनिदोष, रजोदोष, शुक्रदोष तथा स्वर रोग में सेवन करना हितकर है। यह घृत स्मरण–शक्ति को बढ़ाता है, वृष्य, उत्तम वाजीकरण, पुत्र देने वाला, बल तथा वर्ण को उत्तम करने वाला तथा विशेषतः वातनाशक है। पान, भोजन तथा नस्य में इस का सर्वत्र उपयोग हो सकता है और रसायन है॥ ४७–५८ ॥

पिष्ट्वाऽऽखुमलमुष्णेन चारनालेन लिप्यते। बद्धमूत्रं निहन्त्याशु तथैव करभीभवम् ॥ ५९ ॥

मूसाकानी की जड़ को अथवा अरणी की जड़ को उष्ण आरनाल नामक काञ्जी के साथ पीस कर पीने से मूत्रावरोध तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ ५९ ॥

स्त्रीणामतिप्रसङ्गेन शोणितं यस्य रिच्यते। मैथुनोपरमश्चास्य बृंहणीयो विधिर्हितः ॥ ६० ॥

अत्यन्त स्त्री-प्रसङ्ग के कारण जिस मनुष्य के मूत्र में रक्त आता है उस मनुष्य को मैथुन से रोक कर धातुवर्द्धक विधि का उपयोग करना हितकर है ॥ ६० ॥

ताम्रचूडवसातैलं हितं चोत्तरवस्तिषु। स्वगुप्ताफलमृद्वीकाकृष्णेक्षुरसितारजः ॥ ६१ ॥
समांशमर्धभागानि क्षीरक्षौद्रघृतानि च।
सर्वं सम्यग्विमथ्याक्षमात्रं लीढ्वा पयः पिबेत्। हन्ति शुक्रक्षयोत्थांश्च दोषान्वन्ध्यासुतप्रदम् ॥

उपर्युक्त रोगों को मुरगे की वसा तथा तैल द्वारा उत्तरवस्ति देना प्रशस्त है। अथवा कौंच के बीज, मुनक्का, काली ऊख का रस, पिप्पली, तालमखाना तथा मिश्री के चूर्ण को समान मात्रा में ले तथा दूध, मधु और घी को आधे परिमाण में लेकर मिला दे। फिर सब को अच्छी तरह से

मथकर इस अवलेह को १ तोले की मात्रा में चाट कर दूध पीने से वीर्यक्षय-जन्य दोष नष्ट हो जाते हैं तथा वन्ध्या स्त्री पुत्र प्राप्त करती है ॥ ६१-६२ ॥

क्षौद्रार्द्धभागयोगमाह—

क्षौद्रार्द्धभागः कर्त्तव्यो भागः स्यात्क्षीरसर्पिषोः ॥ ६३ ॥

शर्करायाश्च चूर्णं च द्राक्षाचूर्णं च तत्समम् । स्वयंगुप्ताफलञ्चैव तथैवेक्षुरसस्य च ॥ ६४ ॥

पिप्पलीनां तथा चूर्णं समभागं प्रदापयेत् । तदैकध्यं समानीय खल्ले नातिविमथ्य च ॥६५॥

तस्य पाणितलं चूर्णं लिहेत्क्षीरं ततः पिबेत् । एतत्सम्यक् प्रयुञ्जानो योनिदोषात्प्रमुच्यते ॥

मधु आधा भाग, दूध १ भाग, घी १ भाग, चीनी, मुनक्का का चूर्ण, कौंच के बीज, तालमखाना, तथा पिप्पली इन सब के चूर्ण को १-१ भाग लेकर सब ओषधियों को एकत्र करके खरल में रख कर अच्छी तरह घोट कर मिलादे। फिर इसमें से १ तोले की मात्रा में लेकर चाट कर ऊपर से दूध पीवे। इस घृत के सम्यक् उपयोग से स्त्री योनिदोष से मुक्त हो जाती है ॥ ६३-६६ ॥

वर्त्तिमाह—

कर्पूररसजा युक्ता वस्त्रवर्त्तिः शनैः शनैः । मेढ्रमार्गान्तरे न्यस्ता मूत्राघातं व्यपोहति ॥६७॥

कर्पूर चूर्ण से लिप्त वस्त्र की बत्ती बना कर लिङ्गमार्ग में रखने से मूत्राघात नष्ट होजाता है ॥६७॥

अतिदेशमाह—

मूत्रकृच्छ्रेऽश्मरीरोगे भेषजं यत्प्रकीर्त्तितम् । मूत्राघातेषु कृच्छ्रेषु तत्कुर्याद् देशकालवित् ॥६८॥

इति षट्त्रिंशो मूत्राघाताधिकारः समाप्तः ॥ ३६ ॥



देश तथा काल को जानने वाला वैद्य मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी रोग में जिन ओषधियों का वर्णन किया गया है उन्हीं सब ओषधियों का प्रयोग मूत्राघात तथा मूत्रकृच्छ्र में भी करे ॥ ६८ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे षट्त्रिंशो मूत्राघाताधिकारः समाप्तः ॥ ३६ ॥



अथ सप्तत्रिंशोऽश्मरीरोगाधिकारः ॥ ३७ ॥

तत्राश्मरीसंख्यामाह—

वातपित्तकफैस्तिस्रश्चतुर्थी शुक्रजा मता । प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वा अश्मर्यः स्युर्यमोपमाः ॥

***श्लेष्माश्रयाः = श्लेष्मसमवायिकारणाः, शुक्रजां विना, शुक्रजायास्तु शुक्रस्यैव समवायिकारणत्वात्, अन्ये तु—शुक्राश्मर्यामपि कफकारणत्वमिच्छन्ति । प्रायःशब्दश्चात्र विशेषार्थः । यमोपमाः-चिकित्सां विना ॥ १ ॥**

वात, पित्त तथा कफ के प्रकोप से होने वाली तीन प्रकार की तथा चौथी शुक्रजा [1]अश्मरी (पथरी) होती है । शुक्रजा अश्मरी को छोड़ कर शेष तीनों प्रकार की अश्मरी प्रायः कफाश्रय से उत्पन्न होती है । और शुक्रजा अश्मरी तो शुक्र के ही समवायिकारण से उत्पन्न होती है । कुछ लोग तो शुक्रजा अश्मरी में भी कफ को कारण मानते हैं । ये समस्त अश्मरी बिना चिकित्सा के यम के समान मारक होती हैं ॥ १ ॥

---

१. अश्मरियां मूत्र के घन अवयवों के एकत्र होने से बनती हैं । प्रथम किसी वस्तु से, जैसे श्लैष्मिक कला का कुछ भाग, शुष्क हुआ श्लेष्मा, जमा हुआ रक्त इत्यादि अश्मरी का केन्द्र बन जाता है, जिसके चारों ओर घन अवयव एकत्र होने लगते हैं और कुछ समय में अश्मरी बन

अश्मरीसम्प्राप्तिमाह—

विशोषयेद्वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा।
यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः॥ २॥

जाती है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि अश्मरी जीवाणुओं के कारण उत्पन्न होती है। पाश्चात्त्य विज्ञान में इसी प्रकार अश्मरी की सम्प्राप्ति का संक्षिप्त विवरण है। अपने यहां भी जो अश्मरी की सम्प्राप्ति मिलती है, वह ठीक इसी प्रकार है। यथाः—

'अप्सु स्वच्छास्वपि यथा निषिक्तासु नवे घटे। कालान्तरेण पङ्कः स्यादश्मरीसम्भवस्तथा।'
सु० नि० अ० ३ श्लो० २५

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त 'विशोषयेद्वस्तिगतमि'त्यादि श्लोक में भी यही वर्णन किया गया है।

जिस प्रकार पाश्चात्त्य विज्ञान में श्लेष्मल कला के टुकड़े तथा सूखे श्लेष्मा को अश्मरी का केन्द्र माना गया है उसी प्रकार अपने यहां भी प्रधान रूप से यह बात मानी गयी है। यथाः—

'चतस्रोऽश्मर्यो भवन्ति श्लेष्माधिष्ठानाः। तद्यथा श्लेष्मणा, वातेन, पित्तेन, शुक्रेण चेति।'
सु० नि० अ० ३ सू० २।

तथा च 'वातपित्तकफैस्तिस्रश्चतुर्थी शुक्रजा मता। प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वा' इत्यादि श्लोक में भी यही अभिप्राय वर्णित है।

जिस प्रकार अपने यहां 'वातज, पित्तज, कफज तथा शुक्रज भेद से अश्मरी चार प्रकार की मानी गयी है उसी प्रकार पाश्चात्त्य वैद्यक में भी अश्मरी प्रायः यूरिक अम्ल (Uric acid), अमोनिया के यूरेट लवण, आक्जेलेट लवण अथवा चूने के फास्फेट लवणों से बनती है, ऐसा माना गया है।

उनमें निम्नलिखित विशेषतायें पायी जाती हैं—

१—फास्फेट—इन लवणों की अश्मरी खड़िया के समान श्वेत और चिकनी होती है। वह भुरेरी होने के कारण सहज ही में टूट जाती है। यह साधारणतया 'टिपिल फास्फेट' और चूने के फास्फेट लवणों के मिलने से बनी होती है। प्रायः फास्फेट लवणों के साथ अन्य लवण भी मिल जाते हैं। वास्तव में केवल फास्फेट से बनी हुई अश्मरी बहुत कम मिलती है। अन्य प्रकार की अश्मरियों पर भी फास्फेट लवणों का स्तर चढ़ जाता है और वह देखने से अश्मरी की ही भांति दीखती है। किन्तु उनकी भीतरी रचना पृथक् होती है। फास्फेट की अश्मरियों को काटने पर उनके भीतर मध्य भाग में एक वस्तु-समूह स्थित मिलता है। उसके चारो ओर एक-केन्द्री श्वेत रङ्ग के स्तर पाये जाते हैं। अन्य अश्मरियों में भी इसी भाँति के स्तर होते हैं। किन्तु उनका रङ्ग पृथक् होता है। फास्फेट की अश्मरी कफाश्मरी से मिलती-जुलती है, यथाः—

'तत्रात्यर्थं श्लेष्मलमन्नमभ्यवहरतः श्लेष्मा सङ्घातमुपगम्य यथोक्तां परिवृद्धिं प्राप्य वस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतीघाताद्दाल्यते, भिद्यते निस्तुद्यत इव च वस्तिर्गुरुः शीतश्च भवति; अश्मरी चात्र श्वेता स्निग्धा महती कुक्कुटाण्डप्रतीकाशा मधुपुष्पवर्णा वा भवति, तां श्लैष्मिकीमिति विद्यात्। सु० नि० अ० ३ सू० ७।

२—यूरिक अम्ल की अश्मरी (Uric acid calculus)—यह अश्मरी कठिन और सघन होती है। यह सहज में टूटती नहीं। प्रायः वह अण्डाकार और चपटी होती है। उसके बाहरी पृष्ठ साधारणतया चिकने होते हैं। कभी २ उस पर छोटे २ अङ्कुर उठे रहते हैं। बहुधा उस पर फास्फेट का एक स्तर चढ़ा रहता है। इस अश्मरी में पैत्तिक अश्मरी के सारे लक्षण मिलते हैं, यथा—

पित्तयुक्तस्तु श्लेष्मा सङ्घातमुपगम्य यथोक्तां परिवृद्धिं प्राप्य वस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतीघातादूष्यते, चूष्यते, दह्यते पच्यत इव वस्तिरुष्णवातश्च भवति; अश्मरी चात्र सरक्ता पीतवभासा, कृष्णा भल्लातकास्थिप्रतिमा मधुवर्णा वा भवति, तां पैत्तिकीमिति विद्यात् (सु० नि० अ० सू० ८)

छयदा पवनो वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं, सपित्तं कफं वा शोषमुपनयेत्तदाऽश्मरी भवति। क्रमेण=क्रमतो वर्द्धमाना। गोः पित्तेषु रोचनेवेत्यन्वयः॥ २॥

३—अमोनिया के यूरेट लवण से उत्पन्न हुई अश्मरी की रचना साधारण यूरेट-अश्मरी ही के समान होती है। किन्तु उसका रंग हल्का होता है।

४—चूने के आक्जेलेट लवण की अश्मरी (Oxalate of lime calculus)-यह अश्मरी अत्यन्त असम होती है। उसका पृष्ठ किसी बड़े कङ्कण के समान कहीं से उभरा हुआ और कहीं से गहरा होता है। उसकी शहतूत से समानता दी गई है, क्योंकि उसके पृष्ठ पर शहतूत की भांति चारो ओर अङ्कुर उठे रहते हैं। यह अश्मरी अत्यन्त कठिन होती है। भीतर से यह भी अन्य अश्मरियों की भांति स्तरित और सघन होती है। उत्पत्ति के समय इस में प्रायः कुछ रक्त मिश्रित हो जाता है जिससे इसका रङ्ग लालिमायुक्त गहरा भूरा अथवा काला हो जाता है। यह अश्मरी पूर्णतया वाताश्मरी से मिलती है, यथा—

'वातयुक्तस्तु श्लेष्मा सङ्घातमुपगम्य यथोक्तां परिवृद्धिं प्राप्य वस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतीघातात्तीव्रा वेदना भवति, तथाऽत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् खादति नाभिं पीडयति, मेढ्रं मृद्नाति पायुं स्पृशति विशर्धते विदहति वा मूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण चाऽस्य मेहतो निःसरन्ति; अश्मरी चात्र श्यावा परुषा विषमा खरा कदम्बपुष्पवत्कण्टकाचिता भवति, तां वातिकीमिति विद्यात्'।

५—सिस्टीन और जेन्थीन नामक वस्तुओं से निर्मित अश्मरी भी पायी जाती है।

शुक्राश्मरी को पाश्चात्य वैद्यक में सेमिनल या स्पर्मेटिक कांक्रीशन्स, स्पर्मोलिथ (Seminal or Spermatic concretions, Spermolith) कहते हैं।

मूत्राशय में अश्मरी की स्थिति—कभी २ अश्मरी मूत्राशय के पार्श्विकभाग में उत्पन्न होकर श्लैष्मिक कला से वेष्टित हो जाती है। इस कारण वह स्वतन्त्र नहीं रहती, किन्तु एक प्रकार के कोष्ठ में जो मूत्राशय ही का भाग होता है, बन्द रहती है। उस प्रकार की अश्मरी को 'आवेष्टित अश्मरी' कहते हैं। प्रायः अश्मरी मूत्राशय के भीतर स्वतन्त्र स्थित है। और व्यक्ति की स्थिति के अनुसार वह भी अपनी स्थिति बदलती रहती है। रोगी के करवट लेने पर वह मूत्राशय में पार्श्व की ओर चली जाती है। ऐसी अवस्था में मूत्रत्याग में कठिनाई नहीं होती। मूत्र के निकल चुकने पर मूत्राशय के संकुचित हो जाने के कारण उसकी भित्तियां अश्मरी पर चारो ओर से चिपट जाती हैं, जिससे अश्मरी को इधर-उधर हिलने का स्थान नहीं मिलता। मूत्राशय के जीर्णशोथ में भी भित्तियों में उत्पन्न हुवे नये अङ्कुर अश्मरी को घेर लेते हैं।

कारण—मूत्राशय की अश्मरियों की उत्पत्ति प्रायः गवीना अथवा वृक्क से आई हुई अश्मरी के कारण होती है। यह अश्मरी जिसका आकार छोटा होता है, केन्द्र की भांति काम करती है। इसके चारो ओर लवणों के कण एकत्र होते रहते हैं जिनसे कुछ समय में पूर्ण अश्मरी बन जाती है। जो बाह्यवस्तुयें भीतर रह जाती हैं, जैसे—कैथिटर का टूटा हुआ अग्रभाग, उसके चारों ओर इसी भांति, अश्मरी उत्पन्न हो जाती है। शारीरिक दशायें भी अश्मरी की उत्पत्ति में भाग लेती हैं। पीने के जल के साथ अश्मरी का बहुत कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है। पर्वतीय स्थानों के रहने वालों को यह रोग अधिक होता है, जिसका मुख्य कारण वहां के जल में चूने के लवणों का आधिक्य है। उष्ण देशों में अश्मरी की अधिकता का कारण शरीर से जल का बाष्पीभवन है, जिसके कारण मूत्र में घन अवयवों की मात्रा बढ़ जाती है।

लक्षण—यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। इसका कारण स्त्रियों के मूत्रमार्ग का छोटा और चौड़ा होना प्रतीत होता है। छोटे आकार की अश्मरी सहज ही में मूत्र द्वारा

जब वायु वस्ति में रहने वाले शुक्रयुक्त मूत्र को अथवा विषयुक्त कफ को सुखा देता है तब अश्मरी उत्पन्न हो जाती है। यह अश्मरी जिस प्रकार गाय का पित्त गोरोचन बढ़ता है उसी प्रकार क्रमतः बढ़ती है॥ २॥

बाहर निकल जाती है। बच्चों में, विशेषतया लड़कों में, यह रोग अधिक पाया जाता है।

लक्षण—अश्मरी के आकार, स्थिति तथा मूत्रमार्ग और मूत्राशय की श्लैष्मिक कला के शोथ पर निर्भर करते हैं। छोटी अश्मरी से बड़ी अश्मरी की अपेक्षा अधिक पीड़ा होती है। वह छोटी होने के कारण चारो ओर को फिरती है। किन्तु बड़ी अश्मरी को मूत्राशय की भित्तियां अधिक नहीं फिरने देतीं। इसी भांति फास्फेट की अपेक्षा आक्जेलेट की अश्मरी से अधिक पीड़ा होती है। बालक और युवा व्यक्तियों की अपेक्षा वृद्ध मनुष्यों को पीड़ा कम होती है। उनकी श्लैष्मिककला कड़ी होकर कुछ चेतनारहित हो जाती है।

इस रोग के विशेष लक्षण—पीड़ा, मूत्र का बारम्बार त्याग और रक्त-प्रवाह हैं। दौड़ने, असम स्थानों में किसी सवारी में जाने तथा घोड़े इत्यादि पर चढ़ने से इन लक्षणों में वृद्धि हो जाती है। ये लक्षण रात्रि की अपेक्षा दिन में तीव्र होते हैं। 'शिश्न, पेडू, मलद्वार के चारो ओर के भाग तथा दोनों ओर के ऊरुप्रान्त में पीड़ा प्रतीत होती है। कभी २ रोगी के मूत्र त्याग करते समय मूत्र-प्रवाह अकस्मात् बन्द हो जाता है। कोई अश्मरी मूत्रमार्ग में अटक कर प्रवाह को रोक देती है। ऐसे समय तीव्र पीड़ा मालूम होती है। किन्तु रोगी की अपनी शारीरिक स्थिति बदलने पर मूत्र का प्रवाह फिर से जारी हो जाता है, क्यों कि शरीर के अन्दर अश्मरी की स्थिति भी बदल जाती है। प्रायः रोगी स्वयं इस बात को कहते हैं कि मूत्रप्रवाह के बन्द हो जाने पर यदि वह किसी ओर को झुक जाँय अथवा तिर्यक् दिशा में खड़े होकर मूत्र-त्याग करें तो मूत्र फिर से प्रवाहित होने लगता है। यह अश्मर का निश्चित लक्षण है। किन्तु सदा नहीं पाया जाता। जब अश्मरी मूत्रमार्ग को पूर्णतया अवरुद्ध नहीं करती तो मूत्र की बहुत पतली धार निकलती है। रक्त-प्रवाह भी सदा नहीं उपस्थित होता। कभी २ मूत्रत्याग के पश्चात् एक या दो बूँद रक्त निकल आता है। किन्तु आक्जेलेट के छोटे आकार की अश्मरियों से, जिनमें कुछ प्रवर्धन निकले होते हैं, अर्बुद के समान तीव्र रक्त प्रवाह हो सकता है किन्तु वह रोगी के शय्यारूढ होते ही बन्द हो जाता है। अश्मरी से कुछ समय के पश्चात् मूत्राशय के शोथ के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रात्रिको अथवा शय्या पर लेटने से भी लक्षणों में कमी नहीं होती। प्रत्येक समय पीड़ा होती रहती है। अश्मरी के मूत्राशय की ग्रीवा के सम्पर्क में आ जाने से वहां की नाड़ियां उत्तेजित हो जाती हैं और मूत्राशय सङ्कुचित हो जाता है। इस समय रोगी को दारुण पीड़ा होती है। दिन-रात में रोगी को इस प्रकार के कई आक्रमण हो सकते हैं। कुछ समय के पश्चात् मूत्र-त्याग के समय निरन्तर बल करने के कारण अर्श और गुदभ्रंश तक उत्पन्न हो जाते हैं। मूत्राशय से शोथ का संक्रमण, गवीनी में होता हुआ वृक्क में फैल जाता है और अन्त को वृक्क के संक्रमित हो जाने से रोगी की मृत्यु हो जाती है। अपने यहां 'सामान्यलिङ्गं रुगि'त्यादि श्लोक में ये ही लक्षण मिलते हैं।

रोग-निश्चिति—वृक्क का निश्चय करना कठिन नहीं है। रोगी के कथन से रोग के अनुमान में बहुत कुछ सहायता मिलती है। तत्पश्चात् रोगी की परीक्षा से अश्मरी का निश्चय करना चाहिये।

परीक्षा की दो मुख्य विधियां हैं—एक्सरे (XRay) द्वारा और दूसरी सङ्किरण-शलाका द्वारा अश्मरी को प्रतीत करना।

एक्सरे (XRay) रोगी को एक्सरे की मेजपर लिटाकर वस्ति की एक्सरे द्वारा परीक्षा की जाती है। इससे अश्मरी की छाया दिखाई देती है। यह मेज इस प्रकार की होती है कि किरणोत्पादक नलिका मेजके नीचे लगी रहती है। उसको जहां चाहे हटा सकते हैं। इसके द्वारा अश्मरी को देखने

तस्या अनेकदोषाश्रयत्वमाह—

नैकदोषाश्रयाः सर्वा अथासां पूर्वलक्षणम् ।
बस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक् । मूत्रे बस्तसगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः ॥३॥

*बस्तः = छागलकः ॥ ३ ॥

ये सब प्रकार की अश्मरी अनेक दोषों के आश्रय से होती हैं । मूत्राशय में आध्मान, मूत्राशय के समीपस्थ भाग में चारो ओर से वेदना, मूत्र में बकरे के मूत्र समान गन्ध, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर तथा अरुचि ये अश्मरी के पूर्वरूप हैं ॥ ३ ॥

अश्मरीसामान्यलक्षणमाह—

सामान्यलिङ्गं रुग् नाभिसेवनीबस्तिमूर्द्धसु । विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गनिरोधने ॥४॥
तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम् । तत्संक्षोभात्क्षते सास्रमायासाच्चातिरुग्भवेत् ॥५॥

*बस्तिमूर्द्धा = नाभेरधोदेशः । विशीर्णधारं = सविच्छेदधारम् । तया = अश्मर्या । मार्गः = मूत्रवाहिस्रोतः, तद्व्यपायात् = कदाचिद्वायुनाश्मर्या मूत्रमार्गादन्यत्र गमनात् । सुखं, मेहेद् = मूत्रयेद् । गोमेदकोपमम् = गोमेदको मणिः किञ्चिल्लोहितस्तद्वर्णम् । तत्संक्षोभात् = तस्या अश्मर्याः सञ्चाराद् । घर्षणेन मूत्रवहे स्रोतसि क्षते जाते, सास्रं = सरक्तं, मेहेत् । आयासात्-प्रवाहणादिजनितात् ॥ ४-५ ॥

नाभि, सीवनी तथा नाभि के निम्न भाग में व्यथा, अश्मरीद्वारा मूत्रवह-मार्ग में अवरोध होने पर मूत्र कटी हुई धार युक्त होता है । और कभी २ वायु द्वारा अश्मरी के मूत्रमार्ग से अन्य स्थान में चले जाने से रोगी गोमेदमणि के समान (कुछ लाल रङ्ग के) वर्ण का स्वच्छ तथा सुखपूर्वक मूत्रत्याग करता है । घर्षण से मूत्रवह स्रोतस के क्षत होजाने पर रक्तमिश्रित मूत्र उतरता है तथा प्रवाहणजन्य आयास से बड़ी तीव्र पीडा होती है ॥ ४-५ ॥

रामठक्षारलवणचूर्णं दत्त्वा पिबेन्नरः । अश्मरीमूत्रकृच्छ्रघ्नं दीपनं पाचनं परम् ॥
हन्यात्कोष्ठाश्रितं वातं कट्यूरुगुदमेढ्रजम् ॥ १० ॥

पर उसका पूर्ण निश्चय हो जाता है । आक्जेलेट की अश्मरी की गहरी छाया बनती है । फास्फेट अश्मरी आक्जेलेट से हल्की छाया उत्पन्न करती है । केवल यूरेट अथवा यूरिक अम्ल की अश्मरी की छाया बहुत हल्की अथवा नहीं बनती । इस छाया को देखते समय यह स्मरण रखना चाहिये कि श्रोणि की अस्थियों से उत्पन्न होने वाले अर्बुद, मूत्राशय के अर्बुद, जिन पर फास्फेट के लवण एकत्र हो गये हों, गर्भाशय के अर्बुद, पौरुषग्रन्थि तथा श्रोण्यन्तर्गत आन्त्र में स्थित मल भी छाया उत्पन्न कर सकते हैं ।

१-सङ्किरण-शलाका-इसके द्वारा मूत्राशय में स्थित अश्मरी को प्रतीत किया जाता है । रोगी को मेज़ पर लिटाकर मूत्राशय से मूत्र को निकाल कर उसमें ८-१० औंस गरम बोरिकका विलयन भर दिया जाता है । रोगी की टांगे ऊपर को उठा दी जाती हैं । चिकित्सक दाहिने हाथ में शलाका को पकड़ कर उसके अग्रभाग पर शुद्ध तैल लगा कर उसको मूत्राशय में प्रविष्ट करता है । और उसको मूत्राशय के भीतर चारो ओर घुमाता है । ऐसा करने में शलाका कहीं न कहीं अश्मरी पर लगती है । यूरिक और आक्जेलेट अश्मरी पर जब शलाका लगती है तो उससे शब्द उत्पन्न होता है किन्तु फास्फेट की अश्मरी से केवल रगड़ की प्रतीति होती है । यदि इस प्रकार से अश्मरी प्रतीत न हो तो गुदा के भीतर दो अंगुलियां डाल कर उनको ऊपर की ओर दबाना चाहिये । सम्भव है पौरुष ग्रन्थि के बढ़ने से उसके आगे की ओर, जहाँ एक गढ़ा सा बन जाता है, अश्मरी स्थित हो । आजकल मूत्राशय-दर्शक यन्त्र की सहायता से अश्मरी तथा मूत्राशय के अन्य रोगों के निश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं होती ।

वातोल्बणाश्मरीलक्षणमाह—

तत्र वाताद् भृशं चार्त्तो दन्तान्खादति वेपते। मृद्नाति मेहनं नाभिं पीडयत्यनिशं क्वणन्॥
सानिलं मुञ्चति शकृन्मुहुर्मेहति बिन्दुशः। श्यावा रूक्षाश्मरी सा स्यात्सञ्चिता कण्टकैरिव॥

यदि अश्मरी में वायु की अधिकता हो तो रोगी अत्यन्त वेदनायुक्त होता है, दांतों को चबाता है, काँपता है, लिङ्ग को मलता है और निरन्तर चिल्लाता हुआ नाभि को दबाता है। अपान वायु मिश्रित मलत्याग करता है तथा बारम्बार बूंद २ मूत्र त्याग करता है। यह सञ्चिता अश्मरी श्याव वर्ण, रूक्ष तथा कांटे के समान लगने वाली होती है॥ ६–७॥

वातोल्बणाश्मरीचिकित्सामाह—

तस्याः पूर्वेषु रूपेषु स्नेहादिक्रम इष्यते॥ ८॥

वातोल्बणा अश्मरी के पूर्वरूपावस्था में स्नेहन इत्यादि क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिये॥८॥

शुण्ठ्यादिकषायमाह—

शुण्ठ्यग्निमन्थपाषाणशिग्रुवरुणगोक्षुरैः। काश्मर्यारग्वधफलैः क्वाथं कृत्वा विचक्षणः॥ ९॥
रामठक्षारलवणचूर्णं दत्त्वा पिबेन्नरः। अश्मरीमूत्रकृच्छ्रघ्नं दीपनं पाचनं परम्॥
हन्यात्कोष्ठाश्रितं वातं कट्यूरुगुदमेढ्रजम्॥ १०॥

सोंठ, अरनी, पाषाणभेद, सहजन, वरुना, गोखरू, खम्भार तथा अमलतास का गूदा इनका क्वाथ बनाकर उसमें हींग, जवाखार तथा सेंधानमक का चूर्ण डालकर यदि बुद्धिमान् मनुष्य पीये तो इससे अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, कोष्ठाश्रित वात तथा कमर, ऊरु, गुदा तथा लिङ्ग में रहने वाला वात नष्ट हो जाता है और यह क्वाथ दीपन तथा उत्तम पाचन है॥ ९–१०॥

एलाऽऽदिक्वाथमाह—

एलोपकुल्यामधुकाश्मभेदकौन्तीश्वदंष्ट्रावृषकोरुबूकैः।
शृतं पिबेदश्मजतु प्रगाढं सशर्करे चाश्मरिमूत्रकृच्छ्रे॥ ११॥

छोटी इलायची, पिप्पली, मुलहठी, पाषाणभेद, रेणुका, गोखरू, अडूसा तथा एरण्ड के क्वाथ में शिलाजीत मिलाकर पीने से शर्करा युक्त अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र नष्ट होजाता है॥ ११॥

वरुणादिकषायमाह—

वरुणस्य त्वचं श्रेष्ठां शुण्ठीं गोक्षुरसंयुताम्।
यवक्षारगुडं दत्त्वा क्वाथयित्वा पिबेद्धिमम्। अश्मरीं वातजां हन्ति चिरकालानुबन्धिनीम्॥

वरुना की छाल, त्रिफला, सोंठ, गोखरू, जवाखार तथा गुड़ इन सबका शीतल क्वाथ पीने से बहुत दिनों की पुरानी वातोल्बण अश्मरी नष्ट हो जाती है॥ १२॥

पाषाणभेदाद्यघृतमाह—

पाषाणभेदो वसुको वशिरोऽश्मन्तकस्तथा। शतावरी श्वदंष्ट्रा च बृहती कण्टकारिका॥१३॥
कपोतवङ्कार्त्तगलकाञ्चनोशीरगुन्द्रकाः। वृक्षादनी भल्लुकश्च वरुणः शाकजं फलम्॥ १४॥
यवाः कुलत्थाः कोलानि कतकस्य फलानि च॥ १५॥
ऊषकादिप्रतीवापमेषां क्वाथे शृतं घृतम्। भिनत्ति वातसम्भूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु॥ १६॥

पाषाणभेद, मदार की जड़, अपामार्ग, कोविदार, शतावरी, गोखरू, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, ब्राह्मी, कटसरैया, कचनार, खस, गुन्द्रतृण, बांदा, सोनापाठा, वरुना, शाक नामक वृक्ष (कुछ लोग इसे सागौन कहते हैं) के फल, जौ, कुलथी, बेर तथा निर्मली के फल, इन, ओषधियों के क्वाथ में ऊषकादिगण की ओषधियों को डालकर सिद्ध किया हुआ घृत वातजन्य अश्मरी को तत्काल ही नष्ट कर डालता है॥ १३–१६॥

वीरतरादिगणमाह—

क्षारान्यवागूः पेयाश्च कषायांश्च पयांसि च। भोजनानि प्रकुर्वीत वर्गेऽस्मिन्वातनाशने॥१७॥

वीरवृक्षोऽग्निमन्थश्च काशवृक्षादनीकुशाः । मोरटेन्दीवरीसूर्यभक्तागोक्षुरटुण्टुकाः ॥ १८ ॥
वसुको वशिरो दर्भशैरीयावश्मभेदकः । गुन्द्रो नलः कुरुण्टश्च गणो वीरतरादिकः ॥ १९ ॥
अश्मरीशर्कराकृच्छ्रमारुतार्त्तिहरो मतः । वृहद्वाते वीरतरस्तदभावे मतः शरः ॥ २० ॥

निम्नलिखित वातनाशक वीरतरादि गण की ओषधियों में क्षार, यवागू, पेया, क्वाथ, दूध तथा भोजन को सिद्ध करके देना चाहिये । अर्जुन, अरनी, कास, बांदा, कुश, ईख की जड़, नीला कमल, हुलहुल, गोखरू, स्योनापाठा, मदार की जड़, अपामार्ग, डाभ, कटसरैया, पाषाणभेद, गुन्द्रतृण, नरकुल तथा पीली कटसरैया यह वीरतरादि गण कहलाता है । यह अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र तथा वातजन्य रोगों को नष्ट करता है । यदि वीरतर (अर्जुन) न मिल सके तो उनके स्थान में रामसर लेना चाहिये ॥ १७–२० ॥

पित्तोल्वणाश्मरीलक्षणमाह—

पित्तेन दह्यते वस्तिः पच्यमान इवोष्मणा । भल्लातकास्थिसंस्थाना रक्ता पीता सिताऽश्मरी ॥

पित्तोल्वणा अश्मरी में अग्नि से पकाने के समान पित्त के कारण वस्ति में दाह होता है । इसमें अश्मरी भिलावे की गुठली के समान, लाल, पीली तथा श्वेत वर्ण की होती है ॥ २१ ॥

अथ पित्ताश्मरीचिकित्सा

तत्र कुशादिघृतमाह—

कुशः काशः शरो गुन्द्र इत्कटो मोरटाश्मभित् । दर्भो विदारी वाराही शालिमूलं त्रिकण्टकः ॥
भल्लुकः पाटला पाठा पत्तूरोऽथ कुरुण्टकः । पुनर्नवा शिरीषश्च कथितास्तेषु साधितम् ॥२३॥
घृतं शिलाऽऽह्वमधुकैर्बीजैरिन्दीवरस्य च । त्रपुसैर्वारुकादीनां बीजैश्चावापितं शुभम् ॥
भिनत्ति पित्तसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव च ॥ २४ ॥

*बीजं = बीजसारः सरोजबीजं वा ॥ २४ ॥

कुश, कास, रामसर, गुन्द्रतृण, इत्कट (तृण विशेष), ईख की जड़, पाषाणभेद, डाभ, विदारीकन्द, वाराहीकन्द, शालिधान्य की जड़, गोखरू, सोनापाठा, पाढल, पाठा, कचूर, कटसरैया, पुनर्नवा तथा सिरस इन के क्वाथ में घी को पकाकर शिलाजीत, मुलहठी, इन्दीवर (नीला कमल) के बीज, खीरे के बीज तथा ककड़ी के बीजों के चूर्णों को मिलाकर खाने से पित्ताश्मरी तत्काल नष्ट हो जाती है । यहां पर बीजों से बीज की मींगी लेना चाहिये ॥ २२–२४ ॥

क्षारान्यवागूः पेयाश्च कषायांश्च पयांसि च । भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन्पित्तनाशने ॥
मधुकः कृतहस्वत्वाद्वीजैर्बीजकमुच्यते । शिलाजतु शिलाऽऽह्वं स्यात्पटीरो गुरुगुन्द्रको ॥
कुर्यात्क्षीरादिकं काथे तस्मिन्क्षेपमावापकैः । वर्गत्वेन यथालाभं परिभाषा प्रवर्त्तते ॥ २७ ॥

उपर्युक्त पित्तनाशक वीरतरादिगण की ओषधियोंमें क्षार, यवागू, पेया, क्वाथ, दूध तथा भोजन पकाकर पित्तोल्वणाश्मरी में देना चाहिये । शिलाजीत, मैनशिल, वंशलोचन, गुडूची, गुन्द्रतृण, मुलेठी तथा बिजौरा इनको बीजक कहते हैं इनके क्वाथ में क्षार इत्यादि डालकर सिद्ध करके देना चाहिये । यह आयुर्वेदिक परिभाषा है कि यदि वर्ग की समस्त ओषधियां न मिल सकें तो जितनी मिल सकें उन्हीं का उपयोग करें ॥ २५–२७ ॥

कफोल्वणाश्मरीलक्षणमाह—

वस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेष्मणा शीतलो गुरुः । अश्मरी महती श्लक्ष्णा मधुवर्णाऽथवा सिता ॥
एता भवन्ति बालानां तेषामेव तु भूयसा । आश्रयोपचयाल्पत्वाद् ग्रहणाहरणे सुखाः॥२९॥

कफ की उल्बणता से उत्पन्न अश्मरी में मूत्राशय में सूई चुभाने के समान पीड़ा होती है तथा वह शीतल और गुरु होती है बड़ी अश्मरी चिकनी, मधु के समान वर्ण वाली अथवा श्वेत होती है । यह अश्मरी प्रायः बच्चों को ही होती है । बालकों के उपचय का आश्रय अल्प होने के कारण बच्चों की अश्मरी निकालने में आसानी होती है ॥ २८–२९ ॥

अथ कफाश्मरीचिकित्सा।

तत्र वरुणादिघृतमाह—

गणे वरुणकादौ तु गुग्गुल्वेलाहरेणुभिः।
कुष्ठभद्राह्वमरिचचित्रकैः ससुराह्वयैः। एतैः सिद्धमजासर्पिरूषकादिगणेन च ॥ ३० ॥
भिनत्ति कफसम्भूतामश्मरीं क्षिप्रमेव च। शस्व्यादिस्तेन चात्रेष्टो गणः श्यामाऽऽदिको बुधः ॥

वरुणादि गण की ओषधियों में गुग्गुल, छोटी इलायची, रेणुका के बीज, कूठ, नीम, काली मिर्च, चित्त तथा देवदारु को डालकर सिद्ध हुआ बकरी की घी अथवा ऊषकादिगण की ओषधियों द्वारा पकाये गये बकरी के घी का सेवन करने से अथवा शस्व्यादिगण की ओषधियों द्वारा या श्यामादि गण की ओषधियों द्वारा सिद्ध बकरी के घी का सेवन करने से शीघ्र कफजन्याश्मरी नष्ट हो जाती है, ऐसी विद्वानों की सम्मति है ॥ ३०-३१ ॥

वरुणादिगणमाह—

वरुणार्त्तगलौ शिग्रुस्तर्कारीनक्तमालकौ। मोरटारणिविल्वाश्च विम्बीवसुकचित्रकाः ॥ ३२ ॥
शैरीयो वशिरोऽक्षीवश्चाजश्रृङ्गी शतावरी। दर्भो बृहतिका व्याघ्री मुनिभिः परिकीर्त्तितः ॥
वरुणादिगणो ह्येष कफमेदोनिवारणः। विनिहन्ति शिरःशूलं गुल्माभ्यन्तरविद्रधीन् ॥३४॥
क्षारान्यवागूः पेयाश्च कषायांश्च पयांसि च। भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन्कफनाशने ॥

वरुना, झिंटी, सहजन, जैती, करञ्ज, ईख की जड़, अरनी, बेल, माहरि की जड़, मदार की जड़, चित्त, कटसरैया, अपामार्ग, मधु, मेढ़ासींगी, शतावरी, डाभ, बड़ी कटेरी तथा छोटी कटेरी इन्हें मुनियों ने 'वरुणादिगण' कहा है। यह वरुणादि गण कफ तथा मेद का निवारण करता है और शिरःशूल, गुल्म तथा अन्तर्विद्रधि को नष्ट करता है। कफनाशक इस वरुणादिगण में क्षार, यवागू, पेया, क्वाथ, दूध तथा भोजन को सिद्ध करके खानेसे कफोल्वण अश्मरी नष्ट हो जाती है ॥३२-३५॥

शुक्राश्मरीनिदानमाह—

शुक्राश्मरी तु महती जायते शुक्रधारणात् ॥ ३६ ॥

*अव्ययानामनेकार्थत्वात् तुशब्दोऽत्रावधारणार्थः, तेन महतामेव न तु बालानां वक्ष्यमाणसम्प्राप्तेरसम्भवान्नतु शुक्राभावो वाच्यः। शुक्रधारणाद् = उपस्थितशुक्रवेगस्य मैथुनाकरणात् ॥ ३६ ॥

वीर्य के वेग को धारण करने से शुक्राश्मरी होती है। यह अश्मरी बड़ी होती है। शुक्राश्मरी अधिक अवस्था वालों को ही होती है बच्चों को नहीं होती। यद्यपि बच्चों को भी शुक्र होता है तथापि आगे कही जाने वाली सम्प्राप्ति का होना बच्चों में असम्भव होने के कारण बच्चों को यह अश्मरी नहीं होती। स्थानभ्रष्ट प्रवर्तित वीर्य के रुकने से शुक्राश्मरी होती है ॥ ३६ ॥

शुक्राश्मरीसंप्राप्तिमाह—

स्थानाच्च्युतममुक्तं हि मुष्कयोरन्तरेऽनिलः। शोषयित्वोपसंहृत्य शुक्रं तच्छुक्रमश्मरी ॥

*अनिलो मैथुनवेगेन स्थानाच्च्युतं शुक्रं मैथुनवेगनिवारणेन धृतं शुक्रं, मुष्कयोः=मेढ्रसहितयोः, 'मेढ्रवृषणयोरन्तर' इति सुश्रुतवचनात्तेन मेढ्रवृषणमध्यगतबस्तिमुखे उपसंहृत्य एकीकृत्य, शोषयति। तच्छुक्राश्मरी = तथाभूतं शुक्रमेवाश्मरी ॥ ३७ ॥

मैथुन के वेग से स्थानच्युत शुक्र तथा मैथुन के वेगको निवारण कर देने से बाहर नहीं निकले हुये वीर्य को वायु लिङ्ग तथा अण्डकोष के बीच में मूत्राशय के मुख पर सुखाकर घन कर देता है। इसे शुक्राश्मरी कहते हैं ॥ ३७ ॥

शुक्राश्मरीलक्षणमाह—

बस्तिरुक्कृच्छ्रमूत्रत्वमुष्कश्वयथुकारिणी।
तस्यामुत्पन्नमात्रायां शुक्रमेति विलीयते। पीडिते त्ववकाशेऽस्मिन्नश्मर्येव च शर्करा ॥

तस्यां=शुक्राश्मर्याम् , उत्पन्नमात्रायां यदा सा कथमपि विलीयते=विलयं याति, तदा शुक्रम् , एति=मूत्रमार्गात् प्रवर्त्तते । पीडिते त्ववकाशेऽस्मिन् =तुशब्दोऽवधारणे तेनास्मिन्नेव, अवकाशे = स्थाने, मेढ्वृषणयोरन्तरे पीडिते सति, सा विलीयते=अन्तर्लीना भवति । अवस्थाभेदादश्मरी शर्करा सिकता भवतीत्याह—'अश्मर्येव च शर्करा' । चकारात् सिकता च भवति, शर्करासिकतयोश्च भेदो महत्त्वाल्पत्वाभ्यां बोद्धव्यः ॥ ३८ ॥

शुक्राश्मरी के उत्पन्न होते ही मूत्राशय में पीड़ा, कठिनाई से रह २ मूत्र का उतरना तथा अण्डकोष के बीच में दबाने से अश्मरी अन्तर्लीन हो जाती है तब वीर्य निकलता है । अवस्था भेद से यही अश्मरी शर्करा तथा सिकता भी हो जाती हैं । यदि कण बड़े होते हैं तो शर्करा, यदि छोटे होते हैं तो सिकता कहलाती है ॥ ३८ ॥

शुक्राश्मर्याः शर्करारूपत्वमाह—

सा भिन्नमूर्त्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते ॥ ३९ ॥

***कथमश्मरी शर्करा भवतीत्याह—सेति । सा = अश्मरी ॥ ३९ ॥**

वही शुक्राश्मरी जब वायु द्वारा विदीर्ण हो जाती है तब शर्करा कहलाने लगती है ॥ ३९ ॥

शर्करायाः पातमवरोधञ्च सहेतुकमाह—

अणुशो वायुना भिन्ना सा तस्मिन्ननुलोमगे । निरेति सह मूत्रेण प्रतिलोमे निरुध्यते ।
मूत्रस्रोतःप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान् ॥ ४० ॥

***अश्मरी तस्मिन्नाश्रये, सा = शर्करा, सक्ता = लग्ना सती उपद्रवान् कुर्यात् ॥ ४० ॥**

जब वही शुक्राश्मरी वायु द्वारा विदीर्ण होकर अणु के रूप में वायु की अनुलोमावस्था में मूत्र के साथ निकलती है और प्रतिलोम वायु में अवरुद्ध हो जाती है । मूत्रमार्ग द्वारा प्रवर्तित अश्मरी तथा उससे मिली हुई शर्करा अनेक उपद्रवों को उत्पन्न करती है ॥ ४० ॥

अश्मर्य्युपद्रवानाह—

दौर्बल्यं सदनं कार्श्यं कुक्षिरोगमथारुचिम् । पाण्डुत्वमुष्णवातञ्च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम् ॥

***उष्णवातं मूत्राघातविशेषणम् ॥ ४१ ॥**

दुर्बलता, ग्लानि, कृशता, कुक्षिशूल, अरुचि, पाण्डुता, उष्णवात (मूत्राघात विशेष), तृष्णा, हृदय में पीड़ा तथा वमन ये अश्मरी के उपद्रव हैं ॥ ४१ ॥

अश्मरीशर्करासिकतानामरिष्टमाह—

प्रसूननाभिवृषणं बद्धमूत्रं रुजाऽऽतुरम् । अश्मरी क्षपयत्याशु शर्करा सिकताऽन्विता ॥४२॥

***शर्करा-सिकतेति नामद्वयमन्वर्थम् ॥ ४२ ॥**

जिसकी नाभि तथा अण्डकोष में शोथ हो गया हो, मूत्रबद्धता हो तथा पीड़ा से आकुल हो ऐसे रोगी को शर्करा तथा सिकता युक्त अश्मरी शीघ्र मार डालती है । शर्करा तथा सिकता यह अन्वर्थक संज्ञा है

अश्मरीचिकित्सामाह—

शुक्राश्मर्यान्तु सामान्यो विधिरश्मरिनाशनः । यवक्षारगुडोन्मिश्रं रसं पुष्पफलोद्भवम् ॥४३॥
पिबेन्मूत्रविबन्धघ्नं शर्कराऽश्मरिनाशनम् । तिलापामार्गकदलीपलाशयवबिल्वजः ॥४४॥
क्वाथः पेयोऽविमूत्रेण शर्कराऽश्मरिनाशनः ॥ ४५ ॥

शुक्राश्मरी में अश्मरीनाशक साधारण चिकित्सा करनी चाहिये । पेठे के रसमें जवाखार तथा गुड मिलाकर पीने से मूत्रविबन्ध, शर्करा तथा अश्मरी नष्ट हो जाती है ।

तिल, अपामार्ग, केला, पलाश, जौ तथा बेल के क्वाथ को भेड़ के मूत्र के साथ पीने से शर्करा तथा अश्मरी नष्ट हो जाती है ॥ ४३-४५ ॥

केबुकाङ्कोलकतकशाकेन्दीवरजैः फलैः । पीतमुष्णाम्बु सगुडं शर्करां पातयत्यधः ॥ ४६ ॥

सुपारी, अङ्कोल, निर्मली के फल, सागौन का फल तथा कमलगट्टा के क्वाथ में गुड़ मिलाकर पीने से शर्करा नष्ट होती है ॥ ४६ ॥

पाषाणभिद्गोक्षुरकोरुबूकौ द्वे कण्टकार्यौ क्षुरकाह्वमूलम्।
दध्ना पिबेत्क्षीरसुपिष्टमेतत् स्याद् भेदनार्थौ सिकताऽश्मरीणाम् ॥ ४७ ॥

पाषाणभेद, गोखरू, एरण्डमूल, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी तथा तालमखाने के दूध में अच्छी तरह से पीसकर दही के साथ पीने से सिकता तथा अश्मरी नष्ट हो जाती है ॥ ४७ ॥

यः पिबेद्रजनीं सम्यक् सगुडां तुषवारिणा। तस्याशु चिररूढाऽपि यात्यस्तं मेढ्रशर्करा ॥४८॥

जो मनुष्य हल्दी को गुड के साथ भली भांति मिलाकर तुषोदक के साथ पीता हैं उसकी बहुत दिनों की पुरानी शर्करा नष्ट हो जाती है ॥ ४८ ॥

पिबतः कुटजं दध्ना पथ्यमन्नञ्च खादतः। निपतन्त्यचिरात्तस्य नियतं मेढ्रशर्कराः ॥ ४९ ॥

कुड़े की छाल को पीसकर दही के साथ पीने और पथ्य अन्न खाने से शर्करा अवश्य शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥ ४९ ॥

त्रापुसबीजं पयसा पीतं वा नारिकेरजं कुसुमम्। विण्मूत्रशर्करायां भवति सुखी कतिपयैर्दिवसैः

खीरे के बीज अथवा नारियल के फल को पीसकर दूध के साथ पीने से पुरीषज मूत्रकृच्छ्र तथा शर्करा से पीड़ित मनुष्य कुछ ही दिनों में सुखी हो जाता हैं ॥ ५० ॥

श्वदंष्ट्रा वरुणः शुण्ठीक्वाथं क्षौद्रयुतं पिबेत्। शर्कराऽश्मरिशूलघ्नं मूत्रकृच्छ्रहरं परम् ॥५१॥

गोखरू, वरुना तथा सोंठ के क्वाथ को मधु मिलाकर पीने से शर्करा, अश्मरी, शूल तथा मूत्रकृच्छ्र भली भाँति नष्ट हो जाता है ॥ ५१ ॥

कूष्माण्डकरसो हिङ्गुयवक्षारसमायुतः। वस्तौ मेढ्रे सशूलघ्नो मूत्रकृच्छ्रहरः परम् ॥ ५२ ॥

पेठे के रस में हींग तथा जवाखार मिलाकर पीने से वस्तिशूल, लिङ्गशूल तथा मूत्रकृच्छ्र भली भाँति नष्ट हो जाता है ॥ ५२ ॥

पुनर्नवाऽयो रजनी श्वदंष्ट्रा वरी प्रवालश्च सदर्भपुष्पः।
क्षीराम्रमद्येक्षुरसप्रपिष्टो हितो भवेदश्मरिशर्करासु ॥ ५३ ॥

पुनर्नवा, लौहभस्म, हल्दी, गोखरू, शतावर, प्रवालभस्म तथा डाभ के फूलको दूध, आमके रस मदिरा और ईख के रस में पीसकर पीने से अश्मरी तथा शर्करा नष्ट हो जाती है ॥ ५३ ॥

वरुणत्वक्शिलाभेदशुण्ठीगोक्षुरकैः कृतः। कषायः क्षारसंयुक्तः शर्कराश्च भिनत्त्यपि ॥ ५४ ॥

वरुना की छाल, पाषाणभेद, सोंठ और गोखरू इन ओषधियों द्वारा बनाये गये क्वाथ को जवाखार मिलाकर पीने से शर्करा नष्ट हो जाती है ॥ ५४ ॥

तृणपञ्चमूलाद्यघृतमाह—

पञ्चमूल्यास्तृणाख्यायास्तथा गोक्षुरकस्य तु। पृथग्दशपलान्भागाञ्जलद्रोणे विपाचयेत् ॥५५॥
चतुर्भागावशिष्टेन घृतप्रस्थं विपाचयेत्। गुडगोक्षुरबीजञ्च कल्कं तत्र प्रदापयेत् ॥ ५६ ॥
तत्सिद्धं मूत्रदोषेषु शर्करास्वश्मरीषु च। स्नेहने भोजने चैव प्रयोज्यं सर्पिरुत्तमम् ॥५७॥

तृणपञ्चमूल की ओषधियां तथा गोखरू इन प्रत्येक ओषधियों को १०-१० पल लेकर १ द्रोण (१०२४ तोले) जल में पकावे। जब चतुर्थांश शेष रह जाय तब इस क्वाथके साथ गुड़ और गोखरू को डाल कर १ प्रस्थ (६४ तोले) घी को सिद्ध कर ले। इस उत्तम घृत का स्नेहन तथा भोजन में उपयोग करने से मूत्रदोष, शर्करा तथा अश्मरी नष्ट हो जाती हैं ॥ ५५-५७ ॥

वरुणतैलमाह—

त्वक्पत्रफलमूलस्य वरुणस्य त्रिकण्टकात्। कषायेण पचेत्तैलं वस्तिनाऽऽस्थापनेन च ॥
शर्कराऽश्मरिशूलघ्नं मूत्रकृच्छ्रात्प्रमुच्यते ॥ ५८ ॥

छाल, पत्ते, फल तथा मूल सहित वरुना तथा गोखरू के क्वाथ द्वारा पकाये हुये तेलका आस्थापन वस्ति देने से शर्करा, अश्मरी तथा शूल नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य मूत्रकृच्छ्र से छुटकारा पा जाता है ॥ ५८ ॥

कुशाद्यतैलमाह—

कुशाग्निमन्थशैरीयनलदर्भेक्षुगोक्षुराः । कपोतवङ्कावसुकवशिरेन्दीवरीशराः ॥ ५९ ॥
धातक्यरलुवन्दाकाः कर्णपूराश्मभेदकाः । एषां कल्ककषायाभ्यां सिद्धं तैलं प्रयोजयेत् ॥
पानाभ्यञ्जनयोगेन वस्तिनोत्तरवस्तिना । शर्कराश्मरिरोगेषु मूत्रकृच्छ्रे च दारुणे ॥ ६१ ॥
प्रदरे योनिशूले च शुक्रदोषे तथैव च । वन्ध्यागर्भप्रदं प्रोक्तं तैलमेतत्कुशादिकम् ॥ ६२ ॥

कुश, अरणी, पियावासा, नरकुल, डाभ, ईख, गोखरू, ब्राह्मी, मदार की जड़, अपामार्ग, शतावरी, रामसर, धाय के फूल, अरलू, बांदा, नीलाकमल तथा पाषाणभेद इन ओषधियों के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध तैल का पान, अभ्यङ्ग, वस्ति तथा उत्तरवस्ति द्वारा उपयोग करने से शर्करा, अश्मरी, दारुण मूत्रकृच्छ्र, प्रदर, योनिशूल तथा शुक्रदोष नष्ट होते हैं और यह तैल वन्ध्या स्त्रियों को पुत्र प्रदान करता है। इस तैल को 'कुशादितैल' कहते हैं ॥ ५९–६२ ॥

अश्मरीणां सामान्यचिकित्सामाह—

नागरवारुणगोक्षुरपाषाणभित्कपोतवङ्कजः क्वाथः।
गुडयवशूकविमिश्रः पीतो हन्त्यश्मरीमुग्राम् ॥ ६३ ॥

सोंठ, वरुना, गोखरू, पाषाणभेद तथा ब्राह्मी का क्वाथ गुड़ तथा जवाखार मिलाकर पीने से उग्र अश्मरी नष्ट हो जाती है ॥ ६३ ॥

त्रिकण्टकस्य बीजानां चूर्णं माक्षिकसंयुतम् । अविक्षीरेण सप्ताहं पेयमश्मरिनाशनम् ॥६४॥

गोखरू के बीजों के चूर्ण को मधु मिलाकर भेड़ के दूध के साथ ७ दिन तक पीने से अश्मरी नष्ट हो जाती है ॥ ६४ ॥

पिबेद्वरुणजं मूलं क्वाथं तत्कल्कसंयुतम् । क्वाथश्च शिग्रुमूलोत्थः कदुष्णोऽश्मरिनाशनः ॥६५॥

वरुना की जड़ के क्वाथ को वरुना की जड़ का ही कल्क मिलाकर पीने से अथवा सहजन की जड़ के क्वाथ को कुछ गरम २ पीने से अश्मरी नष्ट हो जाती है ॥ ६५ ॥

शृङ्गवेरयवक्षारपथ्याकालीयकान्वितः । दधिमण्डो भिनत्त्युग्रामश्मरीमाशु पानतः ॥६६॥

अदरख, जवाखार, हरड़ तथा दारुहल्दी को पीस कर दही के मण्ड के साथ पीने से उग्र अश्मरी शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥ ६६ ॥

पाषाणभेदवरुणगोक्षुरककपोतवङ्कजः क्वाथः । गिरिजतुगुडप्रगाढः कर्कटिकात्रपुसबीजयुतः ॥
पेयोऽश्मरीमवश्यं दुर्भेदामपि भिनत्ति योगवरः ।
शिखरिणमिव शतकोटिः शतमन्योर्हस्तनिर्मुक्तः ॥ ६८ ॥

पाषाणभेद, वरुना, गोखरु तथा ब्राह्मी के क्वाथ में शिलाजीत और गुड़को अच्छी तरह से मिला कर तथा ककड़ी और खीरे के बीजों का कल्क डालकर पीने से यह श्रेष्ठ योग दुर्भेद्य अश्मरी का भी शीघ्र भेदन कर देता है। जिस प्रकार इन्द्र के हाथों से छोड़ा गया वज्र पर्वतों का भेदन कर डालता है उसी प्रकार यह योग अश्मरी का भेदन कर डालता है ॥ ६७–६८ ॥

श्रीकरिणीफलबीजं पिष्टं मथितेन यः पुमानद्यात् ।
शाकमशितमथवाऽस्या हन्याद् रोगाश्मरीपीडाम् ॥ ६९ ॥

अरनी के बीजों को मट्ठे के साथ पीसकर खाने से अथवा शाक को खाने से अश्मरीजन्य पीड़ा नष्ट होती है ॥ ६९ ॥

श्वदंष्ट्रैरण्डबीजानि नागरं वरुणत्वचः । एतत्क्वाथवरं प्रातः पिबेदश्मरिनाशनम् ॥७०॥

गोखरू, एरण्डबीज, सोंठ और वरुना की छाल, इनके उत्तम क्वाथ को प्रातःकाल पीने से अश्मरी नष्ट होती है ॥ ७० ॥

रक्तोद्भवे रुग्मृणालतालकाशेक्षुबालेक्षुकुशोदकानि ।
पिबेत्सिताक्षौद्रयुतानि खादेद्विदारिमिक्षुत्रपुसानि चैव ॥ ७१ ॥

अश्मरी के कारण यदि मूत्र में रक्त जा रहा हो तो सूखी हुई कमल की नाल, ताड़ के फल, कास, इक्षुवालिका, ईख तथा कुश के क्वाथ को मिश्री तथा मधु मिला कर पीना तथा विदारीकन्द, ईख तथा खीरे को खाना चाहिये ॥ ७१ ॥

वरुणाद्यचूर्णमाह—

पलान्यष्टौ तु कुर्वीत क्षाराणां वरुणत्वचाम्। तदर्द्धं यावशूकन्तु ततोऽप्यर्द्धं गुडात्स्मृतम् ॥७२॥
एकीकृत्य विमृद्यैतत्खादेत्कर्षप्रमाणतः। घर्माम्बुपानतोऽवश्यं कृच्छ्राश्मरिविनाशनम् ॥७३॥

वरुना के छाल का क्षार ३२ तोले, जवाखार १६ तोले, तथा ८ तोले गुड़ इन सबको इकट्ठा करके भली भांति मलकर १ तोले की मात्रा में गरम जल के साथ खाने से मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी अवश्य नष्ट होती है ॥ ७२-७३ ॥

वरुणकभस्मपरिस्रुतसलिलं तच्चूर्णं यावशूकयुतम्। क्वथनीयं तत्तावद्यावच्चूर्णत्वमायाति ॥
तद्गुडयुक्तं हन्यात्तदुदारामश्मरीं घोराम्। प्लीहानं गुल्मवरं श्रोण्यां कुक्षौ रुजां तीव्राम् ॥
आमचयं वस्तिगदान्कृच्छ्रं वा वातजं घोरम्। वह्निसदनं सुकष्टामश्मसमर्यामश्मरीञ्चाशु ॥७६॥

वरुना के भस्म को पानी में घोल कर वस्त्र द्वारा छान कर इस जल में जवाखार के चूर्ण को मिला कर तब तक पकावे जब तक कि सम्पूर्ण जल दग्ध होकर चूर्ण रूप न हो जाय फिर इस चूर्ण को गुड़ मिला कर खाने से उदर रोग, घोर अश्मरी, प्लीहा, वृद्ध गुल्म, श्रोणि और कुक्षि का तीव्र शूल, आमसञ्चय, वस्ति रोग, घोर वातजन्य मूत्रकृच्छ्र, मन्दाग्नि तथा महाकष्टकारक पत्थर के समान कठिन अश्मरी तत्काल नष्ट हो जाती है ॥ ७४-७६ ॥

वरुणकगुडमाह—

नो जग्धं कृमिभिर्घनं सुतरुणं स्निग्धं शुचिस्थानजं
घस्रे पुण्यनिरीक्षिते वरुणकं छित्त्वा तुलां ग्राहयेत्।
संगृह्याशु चतुर्गुणासु विपचेत्पादावशेषं जलं
तत्तुल्येन गुडेन वै दृढतरे भाण्डे पचेत्तत्पुनः ॥ ७७ ॥
ज्ञात्वैवं घनतां गुडे परिणते प्रत्येकमेषां पलं
शुण्ठ्येर्वारुकबीजगोक्षुरकणापाषाणभिच्छीतलाः।
कूष्माण्डत्रपुसाक्षबीजकुनटीवास्तूकशोभाञ्जनै-
र्द्राक्षैलागिरिजाभयाकृमिहृतां चूर्णीकृतानां क्षिपेत् ॥ ७८ ॥
पथ्याशी प्रतिवासरं गुडममुं युञ्ज्यात्प्रमाणं नरः
खादेत्तस्य समस्तदोषजनिताश्मर्यः पतन्ति द्रुतम् ॥ ७९ ॥

कृमियों द्वारा नहीं खाये हुये, सुतरुण, स्निग्ध तथा पवित्र स्थान में उत्पन्न हुये वरुना के वृक्ष को पुण्य दिन तथा पुण्य लग्न में काटकर उसमें से १०० पल छाल को लेले फिर इस छाल को चौगुने जल में पकावे जब चतुर्थांश शेष रह जाय तब उसमें उसी के बराबर (१०० पल) गुड मिलाकर दृढ पात्र में पकावे। जब पक कर गाढ़ा हो जाय तब उसमें सोंठ, ककड़ी के बीज, गोखरू, पिप्पली, पाषाणभेद, पद्मकाष्ट, पेठा, खीरा तथा बहेड़े का बीज, धनियाँ, बथुआ, सहजन, मुनक्का, छोटी इलायची, शिलाजीत, हरड़ तथा वायविडङ्ग इन प्रत्येक पदार्थों के ४-४ तोले चूर्ण को मिला दे। पथ्य भोजन करने वाले प्रतिदिन मात्रानुसार इस 'वरुण गुड' को खाने वाले मनुष्य की अनेक दोषों से उत्पन्न अश्मरी तत्काल गिर पड़ती है ॥ ७७-७९ ॥

कुलत्थाद्यघृतमाह—

कुलत्थसिन्धूत्थविडङ्गसारं सशर्करं शीतलियावशूकम्।
बीजानि कूष्माण्डकगोक्षुराभ्यां घृतं पचेत्तद्वरुणस्य तोये ॥ ८० ॥

दुःसाध्यसर्वाश्मरिमूत्रकृच्छ्रं मूत्राभिघातञ्च समूत्रबन्धम् ।
आमूलमेतानि निहन्ति शीघ्रं मरूढवृक्षानिव वज्रपातः ॥ ८१ ॥

वरुने के क्वाथ में कुल्थी, सेंधानमक, वायविडङ्ग की गुठली, चीनी, पद्मकाष्ठ, जवाखार, पेठे के बीज और गोखरू के कल्क को डालकर तैलपाक करे । जिस प्रकार वज्रपात दृढ जड़ वाले वृक्षों को भी तत्काल नष्ट कर देता है उसी प्रकार यह 'कुलत्थाद्य घृत' दुःसाध्य प्रत्येक प्रकार की अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात तथा मूत्रविबन्ध को आमूल नष्ट कर देता है ॥ ८०–८१ ॥

शरादिपञ्चमूलाद्यघृतमाह—

शरादिपञ्चमूल्या वा कषायेण पचेद् घृतम् । प्रस्थं गोक्षुरकल्केन सिद्धमद्यात्सशर्करम् ।
अश्मरीमूत्रकृच्छ्रघ्नं रेतोमार्गरुजाऽपहम् ॥ ८२ ॥

रामसर इत्यादि तृणपञ्चमूल के क्वाथ तथा गोखरू के कल्क के साथ १ प्रस्थ (६४ तो०) घी पकाकर इस घी को शक्कर मिलाकर खाने से अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है और वीर्यमार्ग की पीड़ा दूर हो जाती है ॥ ८२ ॥

वरुणाद्यघृतमाह—

वरुणस्य तुलां क्षुण्णां जलद्रोणे विपाचयेत् । पादशेषं परिस्राव्य घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥८३॥
वरुणं कदलीं बिल्वं तृणजं पञ्चमूलकम् । अमृतां चाश्मभेदञ्च बीजञ्च त्रपुसस्य च ॥८४॥
शतपर्वा तिलक्षारं पालाशक्षारमेव च । यूथिकायाश्च मूलानि कार्षिकाणि समावपेत् ॥८५॥
अस्य मात्रां पिबेज्जन्तुर्देशकालाद्यपेक्षया ॥ ८६ ॥
जीर्णे चास्मिन्पिबेत्पूर्वं गुडं जीर्णञ्च मस्तु च । अश्मरीं शर्कराञ्चैव मूत्रकृच्छ्रञ्च नाशयेत् ॥८७॥

१०० पल वरुना की छाल को कूट कर १ द्रोण (१०२४ तो०) जल में पकावे । चौथाई बच रहने पर छान कर उसमें १ प्रस्थ (६४ तो०) घी को पकावे । उस घी में बरुना, केला, वेल, तृणपञ्चमूल, गुडूची, पाषाणभेद, खीरे के बीज, वच, तिलक्षार, पलाशक्षार तथा जूही की जड़ इन प्रत्येक ओषधियों को १–१ तोले लेकर कल्क बनाकर डाल दे । इस प्रकार सिद्ध 'वरुणाद्यघृत' को देश तथा काल का विचार करके मात्रानुसार पीवे । और घृत के जीर्ण हो जाने पर पुराना गुड़ तथा दही मिला कर पीवे तो अश्मरी, शर्करा तथा मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है ॥ ८३–८७ ॥

वीरतराद्यतैलमाह—

सैन्धवाद्यन्तु यत्तैलमृषिभिः परिकीर्त्तितम् । तत्तैलं द्विगुणं क्षीरं पचेद्वीरतरादिना ॥ ८८ ॥
क्वाथेन पूर्वकल्केन साधितन्तु भिषग्वरैः । एतत्तैलवरं श्रेष्ठमश्मरीणां निवारणम् ॥ ८९ ॥
मूत्राघाते मूत्रकृच्छ्रे पिच्चिते मथिते तथा । भग्ने श्रमाभिपन्ने च सर्वथैव प्रशस्यते ॥ ९० ॥

ऋषियों ने जिस तैल का वर्णन 'सैन्धवाद्य' नाम से किया है । उस तैल में दूना दूध डालकर वीरतरादिगण के क्वाथ तथा पूर्वोक्त कल्क के साथ उत्तम वैद्य द्वारा पकाया हुआ तैल 'वीरतरादि तैल' कहलाता है । यह उत्तम तैल अश्मरी को भली भांति नष्ट कर देता है । मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, पिच्चित अभिघात, मथित अभिघात, भग्न तथा अत्यन्त श्रम के कारण क्लान्त अवस्था में यह तैल सर्वथा हितकर है ॥ ८८–९० ॥

अपरवीरतरादितैलमाह—

वीरवृक्षाश्मभेदाग्निमन्थश्योनाकपाटलाः । वृक्षादनीसहैरण्डभल्लूकोशीरपद्मकम् ॥९१॥
कुशकाशशरेक्षूणामास्फोताकोकिलाक्षयोः । शतावरी श्वदंष्ट्रा च सैत्कटाह्वयवञ्जुलाः ॥९२॥
कपोतवङ्का श्रीपर्णी काश्मरीमूलसंयुता । एतैः कषायैः कल्कैश्च तैलं धीरो विपाचयेत् ॥९३॥
वातपित्तविकारेषु वस्ति दद्याद्विचक्षणः । शर्कराऽश्मरिशूलघ्नं मूत्रकृच्छ्रविनाशनम् ॥९४॥

अर्जुन की छाल, पाषाणभेद, अरनी, सोनापाठा, पाढल, बांदा, स्वर्णक्षीरी, एरण्डमूल, सोनापाठा (जो औषधियां दो बार आती हैं उन्हें दुगुनी लेनी चाहिये), खस, पद्मकाष्ठ, कुश, कास,

रामसर, ईख जड़, मोंगरा, तालमखाना, शतावरी, गोखरू, इरफट, वेंत, ब्राह्मी, छोटी अरनी तथा खम्भार की जड़ इन सब ओषधियों के क्वाथ तथा कल्क के साथ तेल को पकावे। वात तथा पित्त-जन्य विकारों में बुद्धिमान् वैद्य इस तेल द्वारा वस्ति दे। इस तेल के उपयोग से शर्करा, अश्मरी, शूल तथा मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है ॥ ९१-९४ ॥

पुनर्नवाद्यतैलमाह—

पुनर्नवाऽमृताभीरुसक्षारलवणत्रयैः । शटीकुष्ठवचामुस्तरास्नाकट्फलपौष्करैः ॥ ९५ ॥
यवानीहवुषाहिङ्गुशताह्वासाजमोदकैः । विडङ्गातिविषायष्टीपञ्चकोलकसंयुतैः ॥ ९६ ॥
एतैरक्षसमैः कल्कैस्तैलप्रस्थं विपाचयेत्। गोमूत्रं द्विगुणं देयं काञ्जिकं तद्वदेव तु ॥ ९७ ॥
पुनर्नवाऽद्यमित्येतत्तैलं पानेन वस्तिना। शर्कराऽश्मरिशूलघ्नं मूत्रकृच्छ्रप्रमोचनम् ॥ ९८ ॥
कट्यूरुवस्तिमेढ्रस्य कुक्षिवङ्क्षणसंयुतम्। कफवातामशूलघ्नमन्त्रवृद्धेश्च नाशनम् ॥ ९९ ॥

पुनर्नवा, गुडूची, शतावरी, जवाखार, तीनों लवण, कचूर, कूठ, वच, नागरमोथा, रास्ना, कायफर, पोहकरमूल, अजवायन, हाऊवेर, हींग, सोया, अजमोदा, वायविडङ्ग, अतीस, मुलहठी तथा पञ्चकोल इन प्रत्येक ओषधियों के १-१ तोले कल्क के साथ ४ प्रस्थ (६४ तो०) तेल को पकावे। फिर पकते समय इस तेल में दूनी मात्रा में गोमूत्र तथा उतनी ही काञ्जी डाल कर तेल को सिद्ध कर ले। इस 'पुनर्नवाद्य तैल' को पीने तथा वस्ति देने से शर्करा, अश्मरी, शूल, मूत्रकृच्छ्र तथा वात और कफ से उत्पन्न होने वाले कटि, ऊरु, वस्ति, लिङ्ग, कुक्षि तथा वंक्षण सन्धि के शूल, आमशूल तथा अन्त्रवृद्धि नष्ट हो जाती हैं ॥ ९५-९९ ॥

सैन्धवाद्यतैलवीरतरादिगणोपयोगमाह—

ब्रध्नाधिकारनिर्दिष्टं सैन्धवाद्यमिहेष्यते। सर्वदैवोपयोज्यस्तु गणो वीरतरादिकः ॥ १०० ॥

अश्मरी, शर्करा तथा सिकता में ब्रध्नरोगाधिकार में कहे हुये 'सैन्धवाद्य तैल' का प्रयोग प्रशस्त माना गया है। वीरतरादिगण का उपयोग सर्वथा हितकर है ॥ १०० ॥

घृतैः शीतैः कषायैश्च क्षीरैश्चोत्तरवस्तिभिः। बलवत्यो न शाम्यन्ति प्रत्याख्याय समुद्धरेत् ॥

घृत, शीत क्वाथ, दूध तथा उत्तरवस्तियों से यदि बलवती अश्मरी शान्त न हो तो प्रत्याख्यान करके[1] यन्त्र द्वारा निकाल ले ॥ १०१ ॥

यदृच्छया मूत्रमार्गमायान्त्यस्त्वन्तराश्रिताः। स्रोतसाऽपहरेच्छित्त्वा बडिशेनाथ चोद्धरेत् ॥

इति सप्तत्रिंशोऽश्मरीरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ३७ ॥



भीतर रहने वाली अश्मरी यदि यदृच्छा से मूत्र मार्ग में आती हो तो उसे काट कर अथवा बडिश यन्त्र से निकाल ले ॥ १०२ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे सप्तत्रिंशोऽश्मरीरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ३५ ॥



१. जिस प्रकार यहां पर असाध्य अश्मरियों को यन्त्र द्वारा निकालने का आदेश दिया गया है और सुश्रुत ने भी अश्मरीछेदन का उत्तम वर्णन किया है उसी भांति आज कल पाश्चात्य वैद्यक में भी अश्मरी को मूत्राशय से बाहर निकालने के लिये विविध भांति के छेदनादि प्रयोग काम में लाये जाते हैं। जैसे-अश्मरी-भञ्जन (Lithotriay), भगसन्धानोपरिभेदन (Supra-Pubic Cystotomy) तथा मूलाधार द्वारा भेदन (Perineal Cystotomy) इत्यादि सुश्रुत ने मूलाधार भेदन का ही वर्णन किया है। यहां पर अश्मरी-भञ्जन इत्यादि की रीतियों का अवकाशाभाव के कारण वर्णन नहीं किया जा रहा है।

अथाष्टत्रिंशत्तमः प्रमेहपिडिकाऽधिकारः ॥ ३८ ॥

प्रमेहस्य निदानमाह—

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि ।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ॥ १ ॥

*आस्यासुखम् = आस्या = उपविष्टिस्तया सुखम्, अव्यायाम इति यावत् । स्वप्नसुखं = दिवास्वप्नसुखम् । 'दधीनी'ति बहुवचनत्वं दध्नोऽपविधानत्वाद् । ग्राम्यौदकानूपरसाः = ग्राम्याः = छागलमेषमेदःपुच्छप्रभृतयः, औदकाः = मत्स्यकूर्मादयः । आनूपाः = बहुलजलभवा हंसचक्रवाकादयः, तेषां रसाः = रस्यन्त इति रसाः । अत्र मांसानि पयांसीति बहुत्वं दधिवत् । नवान्नपानं = नवमन्नम् । पीयत इति पानं = पानीयं, तच्च नवम् । गुडवैकृतं = गुडविकाराः शर्करादयः । गुडविकाराण्यन्यान्यपि भक्ष्याणि । अनुक्तसंग्रहार्थमाह-कफकृच्च सर्वमिति । तदा दध्यादीनां पृथङ्निर्देशो विशेषार्थः ॥ १ ॥

बैठे रहने का सुख अर्थात् व्यायाम न करना, दिवास्वप्न का सुख, दही तथा बकरी, भेड़ इत्यादि ग्राम्य जीवों का मांसरस, मछली, कछुवा इत्यादि जलजीवों का मांसरस, हंस-चक्रवाक इत्यादि अनूपदेशीय जीवों का मांसरस, दूध, नवीन अन्न, नवीन पान, गुड के विकार (चीनी इत्यादि) तथा सम्पूर्ण कफकारक पदार्थ [1]प्रमेह के कारण हैं ॥ १ ॥

प्रमेहाणां सम्प्राप्तिमाह—

मेदश्च मांसञ्च शरीरजञ्च क्लेदं कफो वस्तिगतं प्रदूष्य ।
करोति मेहान्समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि ।
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य धातून्सन्दूष्य मेहान्कुरुतेऽनिलश्च ॥ २ ॥

*वस्तिगतं = वस्तिप्राप्तं, कफः प्रदूष्य श्लैष्मिकान् प्रमेहान् करोति । उष्णैः = उष्णस्पर्शैर्द्रव्यैः, पित्तं शरीरजं क्लेदं=जलम्, अत्र कफजा एव मेहा भूयस्त्वेन साध्यत्वेन चादावुच्यन्ते । समुदीर्णम् = उद्धतम्, तानेव = मेदोमांसशरीरजक्लेदानेव, वस्तिगतान् प्रदूष्य पैत्तिकान् मेहान् करोति । वायुः—समानापेक्ष्यमाणदोषेषु पित्तकफेषु बहुत्वं तयोर्मेदोबाहुल्यात्, क्षीणेष्वनिलापेक्षया । धातून् = असृङ्मज्जवीर्यरूपान्, अवकृष्य=वस्तिमुखं नीत्वा, वातजान् मेहान् करोति। रसलसीकाऽसृग्वसामज्जौजःशुक्राण्यपि सर्वेष्वेव प्रमेहेषु दूष्याणि॥

कफ वस्तिगत मेद, मांस तथा शरीर के क्लेद को दूषित करके प्रमेह को उत्पन्न करता है। उष्ण द्रव्यों से बढ़ा हुआ पित्त भी उन्हीं उपर्युक्त वस्तिगत मेद इत्यादि को दूषित करके पैत्तिक प्रमेहों को उत्पन्न करता है । वायु, कफ इत्यादि सम्पूर्ण धातुओं के क्षीण होने पर रक्त, मज्जा तथा वीर्य को दूषित करके वस्तिमुख पर लाकर वातजन्य प्रमेहों को उत्पन्न करता है । रस, लसीका, रक्त, वसा, मज्जा तथा वीर्य ये सम्पूर्ण प्रमेहों में दूष्य होते हैं ॥ २ ॥

---

१. पाश्चात्य वैद्यक में प्रमेह को एनोमलीज़ आफ़ यूरीनरी सिक्रीशन Anomalies of Urinary Secretion कहते हैं । यह उस अवस्था का नाम है जब कि मूत्र की राशि प्रचुर मात्रा में तथा मैली होती हैं अर्थात् असाधारण पदार्थ युक्त होती है । जैसा कि सुश्रुत में लिखा है कि—

'तत्राखिलप्रभूतमूत्रलक्षणाः सर्व एव प्रमेहाः' । सु० नि० अ० ६ श्लो० ५ ।

तथा अष्टाङ्गहृदयकार ने भी लिखा है कि—

'सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता । मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते ।' अष्टाङ्गहृदय ।

यहां पर जो प्रमेह के २० प्रकार के भेद किये गये हैं वे मूत्र में स्थित पदार्थों और उनके वर्णके अनुसार किये गये हैं। जैसा कि उपर्युक्त श्लोक के 'मूत्रवर्णादिभेदेन' इत्यादि श्लोक से सुस्पष्ट ही है ।

प्रमेहाणां संख्यां साध्यत्वादिकं चाह—

साध्याः कफोत्था दश पित्तजाः षड् याप्या न साध्याः पवनाच्चतुष्काः।
समक्रियत्वाद्विषमक्रियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ॥ ३ ॥

***कफोत्था दश साध्याः, समक्रियत्वात् = कफस्य दोषस्य दूष्याणां = मेदोमांसदेहक्लेदरसशुक्रमूत्राणां, कटुतीक्ष्णोष्णादिभिरुपशमनेन तुल्यप्रतिक्रियत्वात्। अत्रायमभिप्रायः— अत्र व्याधिस्वभावात् तुल्यदूष्यता साध्यताया हेतुः। यत उक्तम्—**

***ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥ १ ॥**

पित्तजाः षड् याप्याः, विषमक्रियत्वात् = पित्तस्य दोषस्य दूष्याणां = मेदोमांसदेहक्लेदरसरक्तशुक्रमूत्राणां विषमोपक्रमत्वाद् यतः पित्तहरं शीतमधुरादि, तन्मेदःप्रभृतिकरं, कटुकादि = तत् पित्तकरमिति चिकित्सायां वैषम्यम्। पवनाच्चतुष्का असाध्याः, महात्ययत्वाद् = महतां मज्जादिगम्भीरधातूनामत्ययो-नाशो येन स महात्ययः, तद्भावात् ॥ ३ ॥

कफ से उत्पन्न होनेवाले १० प्रकार के प्रमेह साध्य होते हैं। पित्त से उत्पन्न होनेवाले ६ प्रकार के प्रमेह याप्य होते हैं, और वात से उत्पन्न होने वाले ४ प्रकार के प्रमेह असाध्य होते हैं। कफज-प्रमेह इस लिये साध्य होते हैं कि इसमें दोष तथा दूष्य समान रहते हैं अतः इनकी क्रियायें भी समान हैं जैसे कि–कटु, तीक्ष्ण तथा उष्ण इत्यादि पदार्थों के सेवन से कफ की शान्ति होती है तथा इन्हीं द्रव्यों के दूष्य मेद, मांस, शरीरक्लेद, रस तथा शुक्रकी भी शान्ति होती है। व्याधिके स्वभाव से तुल्यदूष्यता साध्यता का कारण है। जैसा कि कहा भी है:–'ज्वर में ऋतु तथा दोष की तुल्यता, प्रमेह में दोष तथा दूष्य की समानता और रक्तगुल्म में पुराणता ये सब सुखसाध्य के लक्षण हैं। पित्तज ६ प्रकार के प्रमेह याप्य इसलिये हैं कि इनमें क्रियायें विषम पड़ती हैं। जैसे कि शीतल तथा मधुर इत्यादि पदार्थ पित्त की शान्ति करते हैं और इन्हीं पदार्थों से मेद, मांस, शरीरक्लेद, रस, रक्त, वीर्य तथा मूत्र की वृद्धि होती है। और कटु इत्यादि द्रव्य उपर्युक्त दूष्यों की शान्ति करते हैं किन्तु इन पदार्थों से पित्त की वृद्धि होती है। इन्हीं विषमताओं के कारण पैत्तिक प्रमेह याप्य होता है। और वायु से उत्पन्न होने वाले ४ प्रकार के प्रमेह इसलिये असाध्य होते हैं कि इनकी मज्जा तथा शुक्र इत्यादि गम्भीर धातुओं का नाश होता है अतः मनुष्य द्रुतगति से क्षीण होता चला जाता है। इसी लिये वायु से उत्पन्न होने वाले ४ प्रकार के प्रमेह असाध्य हैं ॥ ३ ॥

प्रमेहदोषदूष्यज्ञानमाह—

कफश्च पित्तं पवनश्च दोषा मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः।
मज्जारसौजःपिशितञ्च दूष्याः प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः ॥ ४ ॥

***अस्रं=रुधिरम्। अम्बु=शरीरस्थः क्लेदः। वसा=मांसस्नेहः। लसीका=उदकविशेषः ॥४॥**

प्रमेहियों के कफ, पित्त तथा वायु ये दोष हैं। मेद, रक्त, वीर्य, शरीर का क्लेद, वसा, लसीका, मज्जा, रस तथा ओज ये दूष्य हैं। इनसे उपर्युक्त २० प्रकार के प्रमेह हैं ॥ ४ ॥

प्रमेहपूर्वरूपमाह—

दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयोः। दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्यञ्च जायते ॥

***आदिशब्देन तात्वादिग्रहणम्, यत उक्तं सुश्रुते—**

'तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिरि'ति।

अत्र मलभूयस्त्वं मेदोदोषात्। हस्तपादयोः सन्तापः। चिक्कणता–देहे, मेदःकफदुष्टेः। स्वाद्वास्यं=मधुरास्यता। चकारात् सुश्रुतोक्तकेशजटिलीभावनखवृद्धी, एतच्च व्याधिमहिम्ना बोद्धव्यम्, अन्यथा। मेदोदुष्टेरेवं कर्तुमक्षमः ॥ ५ ॥

दांत इत्यादि में मल का जमना, हाथ तथा पैर में दाह, शरीर में चिकनापन, पिपासा तथा मुख का मीठा रहना ये सब प्रमेह के पूर्वरूप हैं। मूल श्लोक में 'दन्तादीनाम्' जो ऐसा लिखा है

वहां पर आदि शब्द से ताल्वादि का ग्रहण होता है। जैसा कि सुश्रुत ने लिखा है कि:—तालु, कण्ठ, जिह्वा तथा दाँतों में मैल की उत्पत्ति होती है। यहां पर मैल की अधिकता मेदोदोष से होती है। सुश्रुत के मत से प्रमेह के पूर्वरूपावस्था में केशों का जटिलीभवन और नाखूनों की वृद्धि होती है। ये लक्षण व्याधि के प्रभाव से होते हैं न कि मेदोदुष्टि से, क्योंकि मेदोदुष्टि ऐसा करने में असमर्थ है ॥ ५ ॥

प्रमेहसामान्यलक्षणमाह—

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता ॥ ६ ॥
दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः। मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते ॥ ७ ॥

***ननु दोषास्त्रयः, दूष्याण्येकादश, तत्कथं विंशतिर्मेहाः ? इत्याशङ्कायामाह—दोषेति। तत्संयोगविशेषतः = तेषां दोषदूष्याणामुत्कर्षापकर्षकृतात् संयोगभेदात्। सुश्रुतोऽप्याह—'यथा पञ्चानां वर्णानामुत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण कपिलादिनानावर्णोत्पत्तिरेवं दोषदूष्यसंयोगभेदात् मेहेषु नानाविधत्वमि'ति। पञ्चानां वर्णानां = श्वेतपीतलोहितहरितकृष्णानाम् ॥ ६–७ ॥**

मूत्र की अधिकता तथा गँदलापन ये प्रमेह के सामान्य लक्षण हैं। आशङ्का—दोष तीन प्रकार के होते हैं और दूष्य ११ प्रकार के होते हैं यह निश्चित है तो फिर २० प्रकारके प्रमेह कैसे होते हैं? समाधान—दोषों तथा दूष्यों के संयोग की विशेषता से अर्थात् दोषों तथा दूष्यों के अधिक तथा कम मात्रा में संयुक्त होने की विशेषता से, मूत्र के वर्ण इत्यादि के भेद से प्रमेहों में भेदोंकी कल्पना कर लेनी चाहिये। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है कि—'जिस प्रकार श्वेत, पीत, रक्त, हरित तथा कृष्ण इन पाचों वर्णोंके अधिक तथा कम मात्रामें मिलनेकी विशेषता से कपिलादि नाना प्रकार के वर्ण हो जाते हैं उसी प्रकार दोष तथा दूष्य के संयोग-भेद से प्रमेह भी अनेक प्रकार का हो जाता है' ॥६–७॥

कफजप्रमेहलक्षणान्याह—

अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम्। मेहत्युदकमेहेन किञ्चिचाविलपिच्छिलम् ॥८॥

***अच्छमिति—प्रमेहान्तरापेक्षया। नन्वच्छमेव प्रभूताविलमूत्रतेति सामान्यलक्षणात्? अत एव पुनर्विशेषमाह—किञ्चिदाविलपिच्छिलमिति। मेहति = मूत्रयति ॥ ८ ॥**

कफज प्रमेहों के[1] लक्षण—उदकमेह से रोगी स्वच्छ, अधिक मात्रा में, श्वेत, शीतल, गन्धरहित, जल के समान तथा कुछ गंदला और चिकना पेशाव करता है ॥ ८ ॥

---

१. अपने यहां आयुर्वेद में कहे गये प्रमेहों के लक्षण अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण आधुनिक प्रमेहों के साथ उनका ठीक ठीक मेल करना अत्यन्त कठिन है। तथापि उपलब्ध चरक-सुश्रुतादि के लक्षणों से जितना मेल हो सकता है उतना किया जायगा।

१—उदकमेह—यह बहुमूत्रमेह (Polyuria) है, जिसमें मूत्रवर्ण और गुरुता (Specific Gravity) में पानी के समान होता है। स्थायी और अस्थायी करके उदकमेह दो प्रकार का होता है।

अस्थायी उदकमेह—जल, चाय, काफी, कोको तथा अन्य पेय अधिक मात्रामें पीने से, हृच्छूल, अर्द्धावभेदक, अपस्मार तथा अपतन्त्रक इत्यादि के आवेग के पश्चात् भीति तथा मानसिक आघात या उत्तेजना से होता है।

स्थायी उदकमेह—पुराने वृक्कशोथ से, धमनीदार्ढ्य के कारण रक्तभार बढ़ जाने से, ग्रन्थिक वृक्क (Cystic Kidneys) से और मस्तिष्कगत पिच्युटरी (Pituitary) ग्रन्थिकी विकृति से होता है। पिच्युटरी से होने वाले उदकमेह को डायबेटीज इन्सीप्रीडस (Diabetes Insipidsus) कहते हैं।

२—इक्षुमेह—इसमें मूत्र में शर्करा होती है। शर्करायुक्त प्रमेह को ग्लायकोसूरिआ (Glycosuria) कहते हैं। आयुर्वेद में शर्करायुक्त प्रमेह कफ और वात से पृथक्-पृथक् होते हैं। कफजन्य सन्तर्पण से और वातजन्य धातुक्षय से होता है यथाः—

इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुरं चेक्षुमेहतः। सान्द्रीभवेत्पर्युषितं सान्द्रमेहेन मेहति ॥ ९ ॥

२—इक्षुमेह से रोगी ईख के रस के समान अत्यन्त मधुर मूत्र त्यागता है।

३—सान्द्रमेह के कारण यदि रात भर रख दे तो प्रातः काल मूत्र गाढ़ा हो जाता है ॥ ९ ॥

सुरामेही सुरातुल्यमुपर्यच्छमधो घनम्। संहृष्टरोमा पिष्टेन पिष्टवद् बहुलं सितम् ॥ १० ॥

***मेहतीति शेषः। पिष्टवत् = पिष्टतण्डुलवत्। बहुलं = गाढम्। मेहतीति योजनीयम् ॥**

४—सुरामेह से पीडित मनुष्य मदिरा के समान मूत्र त्यागता है। यह मूत्र ऊपर से तो स्वच्छ रहता है और नीचे गाढ़ा रहता है।

५—पिष्टमेह के कारण मूत्र का वर्ण चावल के धोवन के समान सफेद तथा अधिक मात्रा में होता है। इस प्रमेह में मूत्रत्याग करते समय रोमाञ्च होता है ॥ १० ॥

शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति। मूर्ताणून्सिकता मेही सिकतारूपिणो मलान् ॥११॥

***शुक्राभं = मूत्रं शुक्रवत्। मलान् = मेदःप्रभृतीन्। प्रमेहतीति विशेषः ॥ ११ ॥**

६—शुक्रमेही वीर्य के समान अथवा वीर्यमिश्रित मूत्रत्याग करता है।

७—सिकतामेही मेदःप्रभृति धातुओं को रेत के समान घन तथा अणु स्वरूप में मूत्र द्वारा त्यागता है ॥ ११ ॥

'दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद् द्विविधो विचारः।

क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात् सन्तर्पणाद्वा कफसम्भवः स्यात्' ॥ (चरक, प्रमेहचिकित्सा)

इस सन्तर्पणजन्य (कफज) इक्षुमेह को एलीमेण्टरी ग्लायकोसूरिया (Alimentary Glycosuria) कहते हैं। संतर्पणके अतिरिक्त अत्यधिक मानसिक और शारिरिक परिश्रमसे मस्तिष्काघात से तथा वृक्क की शर्करावन्धन मर्यादा (Renal Threshold) कम होने से भी इक्षुमेह होता है। वृक्कके कारण होनेवाले इक्षुमेह को रनिल ग्लायकोसूरिआ (Renal Glycoauria) कहते हैं।

३—सान्द्रमेह—इसमें मूत्र थोड़ी देर तक रखने के बाद गाढ़ा होजाता है—

'यस्य पर्युषितं मूत्रं सान्द्रीभवति भाजने' चरक।

मूत्र में पूय या फैब्रिन उपस्थित होने से वह गाढ़ा होता है। इसके वर्ण का निर्देश न होने के कारण दोनों में से एक का निर्णय नहीं किया जा सकता। पूययुक्त मूत्र का वर्ण श्वेत और फैब्रिनयुक्त मूत्र का वर्ण किंचित् रक्तवर्ण होता है।

४—सुरामेह—इसमें मूत्र 'उपर्यच्छमधो घनम्' होता है। सुरामेह बहुधा फास्फेटयूरिया (Phosphaturia) होगा यदि सुरामेह का विचार गन्ध की दृष्टि से किया जाय तो इसको एसिटोन्यूरिआ (Acetonuria) कह सकते हैं। परन्तु चरक, सुश्रुत, वाग्भट तथा भेल इनकी संहिताओं में इसका उल्लेख नहीं मिलता। केवल हाराणचन्द्र 'सुरातुल्यमित्याकृत्या गन्धतश्चैव' ऐसा अर्थ करते हैं। एसिटोन्यूरिआ मधुमेह में मिलता है।

५—पिष्टमेह—इसमें मूत्र 'पिष्टमिश्रोदकतुल्य' होता है। इस प्रमेह में जो रोमाञ्च होता है वह पिष्टमिश्र मूत्र देखनेका परिणाम मालूम होता है। इस प्रकार का सफेद मूत्र अल्ब्यूमिन, पूय या काईल (Chyle) की उपस्थिति से होता है। मूत्र में काईल (अन्नरस) श्लीपदकृमि के कारण आता है। ये कृमि आन्त्रस्थ रसवाहिनियों में अवस्थान करके रसप्रवाह को अवरुद्ध करते हैं इस अवरोध के कारण जब मूत्रवह संस्थान की रसवाहिनियां फूटती हैं तब रस मूत्र के साथ बाहर निकल आता है। इसको काईल्यूरिआ (Chyluria) कहते हैं।

६—शुक्रमेह—इसमें मूत्र 'शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा' होता है। शुक्रतुल्य मूत्र को अल्ब्यूमिन्यूरिआ (Albuminuria) और शुक्रमिश्र मूत्र को स्पर्मेट्युरिया (Spermarturia) कहते हैं। मूत्र में अल्ब्यूमिन वृक्क के विविध विकारों में, विविध पाण्डु रोगों में, यकृद्दाल्युदर, हृद्विकार, मदात्यय तथा सगर्भावस्था इत्यादि विकारों में मिलता है।

शीतमेही सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम् । शनैः शनैः शनैर्मेही मन्दं मन्दं प्रमेहति ।
लालातन्तुयुतं मूत्रं लालामेहेन पिच्छिलम् ॥ १२ ॥

*शनैः=कालविलम्बेन । मन्दं मन्दम्=अल्पमल्पम् । प्रमेहतीति शेषः ॥ १२ ॥

८—शीतमेह से पीडित मनुष्य अनेक बार मधुर तथा अत्यन्त शीतल मूत्र त्याग करता है।

९—शनैर्मेही धीरे २ थोड़ी २ मात्रा में मूत्रत्याग करता है।

१०—लालामेह के कारण लालातन्तु के तार युक्त तथा चिपचिपा मूत्र होता है॥ १२॥

पित्तजप्रमेहलक्षणान्याह—

गन्धवर्णरसस्पर्शैः क्षारेण क्षारतोयवत् ॥ १३ ॥

क्षारेण=क्षारमेहेन, मूत्रं मूत्रयेदिति योजनीयम् ॥ १३ ॥

पित्तज प्रमेहों के[1] लक्षण—१—क्षारमेह के कारण मूत्र गन्ध, वर्ण, रस तथा स्पर्श में क्षारजल के समान होता है॥ १३॥

नीलमेहेन नीलाभं कालमेही मसीनिभम् । हारिद्रमेही कटुकं हरिद्रासन्निभं दहत् ॥ १४ ॥

७—सिकतामेह—इसमें मूत्र त्यागते समय पथरी के छोटे २ कण निकल आते हैं।

८—शीतमेह—शीतमेह, इक्षुमेह का ही एक प्रकार है क्योंकि इसमें भी मूत्र मधुर होता है।

९—शनैर्मेह—यह प्रमेह सिकता से मूत्रमार्ग के कुछ अवरुद्ध होने के कारण होता है, यथा—

मूत्रेण युक्तः सिकताप्रमेहो मन्देन मूत्रेण शनैः प्रमेहः ।

१०—लालामेह-लाला मेह में मूत्र 'पिच्छिलं तन्तुबद्धमिव' होता है। लालामेह को अल्ब्यूमिन्यूरिआ—(Albuminuria) कह सकते हैं। सुश्रुत में इस लालामेह के स्थान में फेनमेह का वर्णन मिलता है जिसका लक्षण यों है:-'स्तोकं स्तोकं सफेनं फेनमेही मेहति'। इसमें मूत्र झागदार होता है। इसको न्यूमाट्युरिआ (Pneumaturia) कहते हैं। वस्ति का सम्बन्ध स्थूलान्त्र या मलाशय के साथ होने से अथवा वस्ति में बैसीलस कोलीकम्यूनिस या यष्टि नामक जीवाणु प्रविष्ट होने से मूत्र में वायु उत्पन्न होकर फेन के साथ उसका त्याग होता है। कामला में भी मूत्र अधिक झागदार होता है और झाग देर तक रहता है।

१. १-क्षारमेह—इसे पाश्चात्य वैद्यक में अलकलाइन यूरिन (Alkalinurin) कहते हैं। वस्ति में अधिक देर तक रोककर रखने से, प्रोस्टेट ग्रन्थि की वृद्धि के कारण या मूत्रमार्ग-संकोच से अधिक देर वस्ति में रहने से, फास्फेट की अधिकता से या पुराने वस्ति शोथ से मूत्र क्षारीय होजाता है।

२—नीलमेह—इसको इण्डिकन्यूरिआ (Indicanuria) कहते हैं। इसमें मूत्र में इण्डिकन नामक पदार्थ उपस्थित रहता है। आन्त्र में या आन्त्रेतर शरीर के अन्य हिस्से में अल्ब्यूमिन के सड़ने से यह द्रव्य मूत्र में आ जाता है। यथा-पुराना मलावरोध, आन्त्रावरोध, अतीसार, प्रवाहिका, आन्त्रशोथ, फुफ्फुसशोथ, दुर्गन्धयुक्त खांसी तथा राजयक्ष्मा की तृतीयावस्था इत्यादि। नीलमेह में त्यागते समय मूत्र का वर्ण प्रकृत और थोड़ी देर के बाद नील हो जाता है। परन्तु कभी २ त्यागते समय भी नील होता है।

३—कालमेह—सुश्रुत में कालमेह के स्थान में अम्लमेह का वर्णन मिलता है किन्तु दोनों में समानता नहीं है। उसका लक्षण 'अम्लरसगन्धमम्लमेही' इस प्रकार है। कालमेह में मूत्र 'मसीवर्ण' अर्थात् स्याही के रंग का होता है। अंग्रेजी में कालमेह को ब्राउन एण्ड ब्लेक यूरिन्स (Brown and Black urines) कहते हैं।

मूत्र का कृष्ण वर्ण निम्न कारणों से उत्पन्न होता है—

a—पुरानी कामला—इसमें मूत्र के भीतर बिलिवर्डिन (Biliverdin) नामक रंग द्रव्य उपस्थित होता है।

*नीलाभं=नीलवर्णम्। मूत्रयेदिति योजनीयम्। दहदिति मूत्रविशेषणम्। मूत्रयेदिति योजनीयम्॥ १४॥

२—नीलमेह के कारण रोगी नीले रंग का मूत्र त्याग करता है।

३—कालमेही स्याही के समान कृष्णवर्ण का मूत्र त्याग करता है।

४—हारिद्रमेही हल्दी के समान वर्ण का, दाहयुक्त तथा कटु रसवाला मूत्र त्याग करता है॥१४॥

विस्रं माञ्जिष्ठमेहेन मञ्जिष्ठासलिलोपमम्। विस्रमुष्णं सलवणं रक्ताभं रक्तमेहिनः॥ १५॥

*विस्रम्=आमगन्धि। मूत्रं मूत्रयेदिति योजनीयम्॥ १५॥

---

b—मूत्र में रक्त या रक्त के रंग द्रव्य की अधिक मात्रा में उपस्थिति।

c—मूत्र में इन्डिकम तथा इन्डोल के उच्च श्रेणी के अपद्रव्य की अधिक राशि में उपस्थिति।

d—मूत्र में मेलेनिन (Melanin) नामक रंग की उपस्थिति से यह प्रमेह मेलन्यूरिआ (Melanuria) कहलाता है, और शरीर में मेलेनोटिक सार्कोमा (Melanotic Sarcoma) एक प्रकार का घातक अर्बुद होने से पैदा होता है।

e—मूत्र में होमोजेन्टिसिनिक एसिड (Homogentisinic Acid) की उपस्थिति से। इसको अल्केप्टोन्यूरिया (Alkaptonuria) कहते हैं। यह सहज प्रमेह है जो रोगी की जिन्दगी भर रहता है, परन्तु इससे स्वास्थ्यहानि नहीं होती।

f—कार्बोलिक एसिड का उपयोग व्रण-विशोधन के लिये करने से उसका शोषण रक्त में होकर कालमेह उत्पन्न होता है, उसे कार्बोल्यूरिया (Carboluria) कहते हैं।

g—सलाल, स्यालिसायलेट, गैलिक एसिड तथा रिसोर्सिन इत्यादि पदार्थों के सेवन से भी कालमेह उत्पन्न होता है इनमें से कार्बोल्यूरिआ, अल्केप्टोन्यूरिआ और मेलेन्यूरिया में मूत्र त्यागने के थोड़ी देर के पश्चात् मूत्र काला हो जाता है।

४, ६-हारिद्रमेह तथा रक्तमेह—ये प्रमेह मूत्र में रक्त की उपस्थिति से उत्पन्न होते हैं। मूत्र मार्ग के रक्तपित्त में भी हारिद्र और रक्तवर्ण मूत्र निकालता है, परन्तु इसमें प्रमेह के अन्य लक्षण उपस्थित न होने के कारण यह प्रमेह नहीं कहलाता, यथा—

'हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥' चरक, प्रमेहचिकित्सा।

यह रक्त जब केवल रंग द्रव्य के रूप में उपस्थित होता है, तब उस प्रमेह को हीमोग्लोबिन्यूरिया (Haemoglobinuria) कहते हैं। इसमें मूत्र में रक्तकण उपस्थित नहीं होते। जब पूर्ण रक्त उपस्थित होता है, तब उसको हीमाट्यूरिआ (Haematuria) कहते हैं, इसमें मूत्र में रक्तकण उपस्थित होते हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से मूत्र के तलछट की परीक्षा किये विना दोनों का पार्थक्य करना असम्भव होता है। यदि आधुनिक कल्पना के अनुसार दोनों में पार्थक्य करना हो तो हारिद्रमेह को हीमोग्लोबिन्यूरिआ और रक्तमेह को हीमाट्यूरिआ कह सकते हैं। ये दोनों प्रमेह वृक्कार्बुद, वृक्काश्मरी, वस्ति का अर्बुद, विषमज्वर, पीतज्वर, शोणितमेहज्वर (Black Water fever) हीमोफायलीया, पर्प्यूरा तथा स्कर्वी इत्यादि रक्तविकारों में होते हैं।

५—माञ्जिष्ठमेह—इसमें मूत्र का वर्ण 'मञ्जिष्ठोदकसंकाश' होता है। इस प्रकार का पीतवर्ण मूत्र में पित्त का विलीरुबीन (Bilirubin) नामक रंग उपस्थित रहने से होता है। इस प्रमेह को कोल्यूरिआ (Coluria) कहते हैं। यह प्रमेह कामला में दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त मूत्र का स्वाभाविक रंग यूरो वाइलीन (Urobilin) की अधिक राशि उपस्थित होने से भी पीतवर्ण हो जाता है। इस प्रमेह को यूरोबाइलीन्यूरिआ (Urobilinuria) कहते हैं। यह प्रमेह दुष्ट पाण्डुरोग, विषमज्वर तथा यकृद्दाल्युदर इत्यादि रक्तनाशक रोगों में होता है।

५—माञ्जिष्ठमेह से रोगी कच्चे पदार्थ के समान गन्धवाला तथा मंजीठ के क्वाथ के वर्ण का मूत्र त्यागता है।

६—रक्तमेही का मूत्र आमगन्धि, उष्ण, नमकीन तथा रक्त के समान होता है ॥ १५ ॥

वातजप्रमेहलक्षणान्याह—

वसामेही वसामिश्रं वसाऽऽभं मूत्रयेन्मुहुः । मज्जाभं मज्जमिश्रं वा मज्जमेही मुहुर्मुहुः ॥१६॥

***वसाऽऽभं=सर्वमूत्रं वसाऽऽनुकल्पं वा । मूत्रं मूत्रयेदिति योजनीयम् ॥ १६ ॥**

वातज प्रमेहों के[1] लक्षण—

१—वसामेही या चर्बीयुक्त तथा चर्बी के समान वर्ण वाला वारम्वार मूत्र त्याग करता है।

---

१. १-वसामेह—मूत्र में पूय, अल्ब्यूमिन अथवा चर्बी उपस्थित होने से ये मेह होते हैं। पूय उपस्थित होने पर उसे पायूरिया (Pyuria) कहते हैं। मूत्र में पूय वृक्कविद्रधि, गवनीमुखशोथ (Pyelitis), वस्तिशोथ, सूजाक तथा मूत्रसंस्थान के राजयक्ष्मा इत्यादि विकारों में मिलता है। यदि वसा का योगार्थ लिया जाय तो वसामेह को लायप्यूरिआ (Lipuria) कह सकते हैं। वसामेह चर्बीयुक्त पदार्थ अधिक मात्रा में खाने से मधुमेह में, वृक्क के चिरकारी शोथ में और पूयमयवृक्क (Pyo-Nephrosis) में होता है। कायल्यूरिआ में भी मूत्र में वसा होती है। पीछे पिष्टमेह देखिये।

२-मज्जमेह—सुश्रुत में मज्जमेह के स्थान में सर्पिर्मेह का वर्णन मिलता है। इसके सम्बन्ध में जो कुछ भी विवेचना की जायगी वह वसामेह के समान ही होगी।

३-मधुमेह—इसको अंग्रेजी में डायाबिटीज़ मेलिटस (Diabetes Mellitus) कहते हैं। इसमें मूत्र के भीतर 'मधुरस्वभाव ओज' उपस्थित रहता है। आधुनिक रासायनिक परिभाषा में इसको ग्लूकोज (Glucose) कहते हैं। यह एक प्रकार की शर्करा है जो और शर्कराओं के साथ मधु में उपस्थित रहती है। इस लिये मधुमेह शब्द सार्थ है। इसकी उपस्थिति में मूत्र, यद्यपि मधु के बराबर तो नहीं किन्तु कुछ गाढ़ा हो जाता है और उसकी गुरुता (Sp. Gravity) बढ़ जाती है। मूत्र में मधु की उपस्थिति होने के कई कारण हैं, जिनका परिज्ञान होने के लिये शरीर में शर्कराओं तथा अन्य शालिपिष्टमय पदार्थों (Corbohydrates) का उपयोग कैसे होता है, इसकी जानकारी बहुत आवश्यक है। अतः शर्करा परिवर्त्तन का संक्षेप में वर्णन किया जाता है। जितने प्रकार के शालिपिष्टमय पदार्थ मनुष्य सेवन करता है, वे सब पाचक द्रव्यों के द्वारा ग्लूकोज़ में परिवर्तित होते हैं। कुछ ग्लूकोज़ यकृत् और पेशियों में ग्लायकोजन (Glycogen) के रूप में संचित होता है और आवश्यकता के अनुसार फिर ग्लूकोज़ शरीर के अन्यान्य स्थानों में चर्बी के रूप में सञ्चित होता है। कुछ ग्लूकोज़ रक्त में उपस्थित होता है और पेशियों को शक्ति प्रदान कर अन्त में कार्बन डायोक्साइड और जल में परिवर्त्तित होता है रक्त में ग्लूकोज़ की प्रकृति राशि १००० में १ भाग होती है। भोजन के पश्चात् यह राशि कुछ बढ़ती और अनशन से कुछ घटती है। पेशियों में व्यय न होने से या अधिक मात्रा में शालिपिष्टमय पदार्थ सेवन करने से रक्तस्थ ग्लूकोज़ की राशि प्रकृतांश से अधिक होती है। तब उसका सञ्चय यकृत में ग्लायकोजन के रूप में होता है। और जब यकृत् इस से पूर्ण हो जाता है तब ग्लूकोज़ मेद के रूप में परिवर्तित होकर शरीर के विभिन्न अङ्गों में सञ्चित होता है। जब पेशियों के द्वारा ग्लूकोज़ का अधिक व्यय होने के कारण रक्तस्थ ग्लूकोज़ प्रकृतांश से कम हो जाता है तब यकृत् का ग्लायकोजन ग्लूकोज बनकर रक्त में आता है और रक्तस्थ शर्करा का प्रमाण पूर्ववत् हो जाता है।

मूत्र में शर्करा उपस्थित होने के कारणः—

१—वृक्क—इसमें यह विशेषता होती है कि रक्तस्थ शर्करा को एक विशेष प्रमाण तक ये रोक रखकर उसे मूत्र में नहीं आने देते। यह प्रमाण १०८% तक है। इसको वृक्क की शर्करावन्धन

२—मज्जामेही मज्जा मिश्रित तथा मज्जा के वर्ण का बारम्बार मूत्र त्याग करता है ॥ १६॥

कषायं मधुरं रूक्षं क्षौद्रमेहं वदेद् बुधः। हस्ती मत्त इवाजस्रं मूत्रवेगविवर्जितम्। सलसीकं विबद्धञ्च हस्तिमेही प्रमेहति ॥ १७ ॥

मर्यादा (Renal threshold) कहते हैं। जब कारणवश रक्तस्थ शर्करा की राशि इस प्रमाण से अधिक होती है तब मूत्र में शर्करा आने लगती है। कभी २ यह देखा गया है कि वृक्क की शर्करा-बन्धनमर्यादा कुछ मनुष्यों में स्वाभाविक नीची होती है जिससे मूत्र में शर्करा आती है। इस अवस्था को वृक्कज शर्करामेह (Renel Glycosuria) कहते हैं। यह चिन्ताजनक विकृति नहीं है।

२—शालिपिष्टमय पदार्थों का अत्यशन—संचय और व्यय की शक्ति के बाहर इन पदार्थों का सेवन करने से रक्तस्थ शर्करा की राशि जब वृक्क की शर्करावन्धन मर्यादा से अधिक हो जाती है तब मूत्र में शर्करा आने लगती है। इसको ऐलीमेन्टरी ग्लायकोसूरिया (Alimentoryglycosuria) कहते हैं। इसका निर्देश पीछे कफप्रमेहों में सन्तर्पणजन्य इक्षुमेह करके किया गया है। यह विकृति वातरक्तियों में अधिक मिलती है।

३—मस्तिष्क और मानसिक विकार—क्रोध, शोक, चिन्ता तथा भय इत्यादि मानसिक विकारों से और मस्तिष्क-विद्रधि, अर्बुद, रक्तस्राव तथा शोथ इत्यादि से मस्तिष्क का कार्य अव्यवस्थित होने के कारण भी मूत्र में शर्करा आने लगती है।

४—अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के विकार—शरीरस्थ शर्करा-परिवर्त्तन का नियन्त्रण अग्न्याशय, थॉयरायड, सुप्रारीनल (अधिवृक्क ग्रन्थि) और पिच्युटरी, इन चार अन्तःस्रावी ग्रन्थियों द्वारा होता है। इनमें अग्न्याशय का कार्य एक प्रकार का और शेष तीनों का कार्य दूसरे प्रकार का होता है। अग्न्याशय—इस ग्रन्थि का एक भाग पाचकरस बनाता है जो पित्तरस के साथ मिल कर ग्रहणी में स्रवता है। दूसरा भाग जो लैंगरहेन्स का द्वीप (Islets of Langerhens) कहलाता है, विशेष प्रकार का स्राव बनाता है। यह स्राव रक्त में मिलता है और इसमें इन्सूलीन (Insulin) नामक पदार्थ होता है। यह इन्सूलीन पेशियों को शर्करा का व्यय करने में तथा यकृत् को उसका संचय करने में सहायता करता है। बिना इसके ये कार्य हो नहीं सकते हैं। मधुमेह की उत्पत्ति में इस पदार्थ का अभाव या कमी, यही एक प्रधान कारण है। इसके अभाव में न ग्लूकोज़ शरीर में संचित हो सकता है और न पेशियां उसका उपयोग ही कर सकती हैं। परिणाम यह होता है कि रक्त में शर्करा की राशि वृक्कबन्धन मर्यादा से अधिक होकर वह मूत्र में से शरीर के बाहर निकल जाती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि मधुमेह वृक्क का विकार नहीं है। अधिवृक्कादि शेष तीन ग्रन्थियों के कार्य इन्सूलीन के विरुद्ध होते हैं। ये चारों ग्रन्थियां आपस में मिल कर शर्करा का विनियोग सुचारु रूप से करके शरीर को शक्ति प्रदान करती हैं, मधुमेह में प्रायः अग्न्याशय के लैंगरहेन्स के द्वीप की सेलें नष्ट हो कर उनके स्थान पर तान्तव धातु या मेद बन जाता है। मध्यम मधुमेह में भोजन के पश्चात् २-३ घण्टे तक रक्त का शर्करा की राशि प्रकृतांश की अपेक्षा अधिक होकर उसी समय में मूत्र द्वारा शर्करा निकलती है। तीव्र मधुमेह में निरन्तर रक्तस्थ शर्करा की राशि प्रकृतांश से ३-४ गुना अधिक होती है और मूत्र द्वारा निरन्तर शर्करा का उत्सर्ग होता रहता है। शर्करा का विनियोग ठीक न होने से प्रोटीन और मेद का भी विनियोग ठीक नहीं होता। मेद से मेदसाम्ल, एसिटो असेटिक एसिड, बीटा आक्सी ब्यूट्रिक एसिड तथा एसिटोन इत्यादि पदार्थ उत्पन्न होकर मूत्र में उत्सर्गित होते हैं। इन पदार्थों से रक्त की क्षारीयता घट जाती है और संन्यासादि दारुण उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

५—हस्तिमेही—'मत्तमातङ्गवदनुप्रबन्धं हस्तिमेही मेहति' (सु० नि० अ० ६ सू० १३)।

कषायं = कषायवर्णम् । अजस्रम्=अनवरतम् । अत एव मूत्रवेगविवर्जितम् । विबद्धं = घनम् ॥ १७ ॥

३—मधुमेह में मूत्र कषाय वर्ण का, मीठा तथा रूक्ष होता है ।

४—हस्तिमेही मतवाले हाथी के समान निरन्तर वेगरहित, लसीकायुक्त तथा घन मूत्र त्याग करता है ॥ १७ ॥

कफजप्रमेहोपद्रवानाह—

अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः । उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ॥

भोजन का ठीक परिपाक न होना, अरुचि, वमन, निद्रा, कास तथा पीनस ये सब कफजन्य प्रमेह के उपद्रव होते हैं ॥ १८ ॥

पित्तजप्रमेहोपद्रवानाह—

वस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वरः । दाहस्तृष्णाऽम्लको मूर्च्छा विड्भेदः पित्तजन्मनाम्

मूत्राशय तथा लिङ्गमें सुई चुभाने के समान पीड़ा, अण्डकोषोंका फटना, ज्वर, दाह, पिपासा, खट्टी डकारों का आना, मूर्च्छा तथा पतले दस्त का होना ये सब पित्तजन्य प्रमेह के उपद्रव हैं ॥

वातजप्रमेहोपद्रवानाह—

वातजानामुदावर्त्तकम्पहृद्ग्रहलोलताः । शूलमुन्निद्रता शोषः श्वासः कासश्च जायते ॥२०॥

वातजन्य प्रमेह के उदावर्त्त, कम्प, हृत्स्तम्भ, चञ्चलता, शूल, निद्रानाश, शोष, श्वास तथा कास ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं ॥ २० ॥

प्रमेहारिष्टमाह—

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रस्रुतमेव च । पिडिकापीडितं गाढं प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥ २१ ॥

***उक्तोपद्रवैरविपाकादिभिरन्यैश्च सुश्रुतोक्तालस्योपदेहशैथिल्यकफप्रसेकमक्षिकाऽऽद्युपसर्पणादिभिर्युक्तम् । अतिप्रस्रुतम् = अतिशयबहुमूत्रस्राविणम् । पिडिकापीडितम् = वक्ष्यमाणशराविकाऽऽदिपीडितम् ॥ २१ ॥**

उपर्युक्त अविपाक इत्यादि तथा अन्य सुश्रुतोक्त आलस्य, उपदेह, शिथिलता, कफस्राव तथा मक्षिका इत्यादि का शरीर पर अधिक बैठना आदि उपद्रवों से युक्त, जिसे अधिक बार तथा अधिक मात्रा में मूत्र आता हो और आगे कही जाने वाली शराविका इत्यादि पिडिकाओं से अत्यन्त पीडित जो मनुष्य है उसको प्रमेह मार डालता है ॥ २१ ॥

मूर्च्छाच्छर्दिज्वरश्वासकासवीसर्पगौरवैः । उपद्रवैरुपेतो यः प्रमेही दुष्प्रतिक्रियः ॥ २२ ॥

हस्तिमेह में रोगी के मूत्रमार्ग से मूत्र वेगवर्जित अर्थात् बूंद २ कर के निरन्तर टपकता रहता है । इस प्रमेह में मूत्रमार्ग में कुछ रुकावट भी होती है—

'विक्षेपणाच्च वायोः खल्वस्यातिमूत्रप्रवृत्तिसङ्गं करोति' (चरक) ।

इसकी टीका में गङ्गाधर जी लिखते हैं कि—'मूत्रस्य प्रवृत्तिश्च सङ्गश्च तयोः समाहारः । समाहारकरणान्निःशेषेण न मूत्रातिप्रवृत्तिं करोति, किन्तु सङ्गपूर्वकमूत्रातिप्रवृत्तिं करोति, सावशेषमूत्रातिक्षरणं करोतीत्यर्थः ।'

इन लक्षणों का विचार करने पर हस्तिमेह—फालस इन्कान्टिनेन्स आफ यूरिन (False incontinence of erin) या इनकान्टीनेन्स फ्रॉम ओह्वर फ्लो (Incontenence from over flow) नामक रोग मालूम पड़ता है । यह विकार सुषुम्नागत मूत्रकेन्द्र का घात होने से, वस्तिवध के कारण, अश्मरी के कारण या प्रोस्टेट ग्रन्थि की वृद्धि के कारण होता है । इस में वस्ति में मूत्र भरा रहता है और अतिरिक्त मूत्र निरन्तर स्रवता रहता है । कुछ आधुनिक शास्त्रज्ञ इसे 'डायबिटीज इन्सीपीडस' समझते हैं ।

मूर्च्छा, वमन, ज्वर, श्वास, कास, विसर्प तथा गुरुता इन उपद्रवों से युक्त प्रमेही असाध्य होता है ॥ २२ ॥

स्त्रीणां प्रमेहाभावे कारणमाह—

रजः प्रवर्त्तते यस्मान्मासि मासि विशोधयेत्। सर्वाञ्छरीरदोषांश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः॥

स्त्रियों के महीने २ पर रजःस्राव होता रहता है जिससे कि उन के शारीरिक दोष शुद्ध होते रहते हैं, इसी लिये स्त्रियों को प्रमेह नहीं होता ॥ २३ ॥

असाध्यप्रमेहलक्षणमाह—

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्यरोगः स हि बीजदोषात्।
ये चापि के चित्कुलजा विकारा भवन्ति तांश्चापि वदन्त्यसाध्यान्॥ २४ ॥

जन्मजात प्रमेही अथवा मधुमेह से पीडित मनुष्य का प्रमेह असाध्य होता है क्यों कि यह रोग वीर्य के दोष से उत्पन्न होता है। तथा पिता यदि प्रमेह से पीडित रहा हो और बच्चे में भी प्रमेह उत्पन्न होगया हो तो वह प्रमेह असाध्य होता है। प्रमेह के अतिरिक्त और भी जो कोई रोग कुलपरम्परा से चले आते हों वे सभी विकार असाध्य होते हैं—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥२४॥

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः। मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति च॥

***सर्वेषां च प्रमेहाणामवस्थाविशेषं मधुमेहत्वमाह—सर्व इति। अप्रतिकारिणः = अप्रतिकारो येषामस्तीत्यप्रतिकारिणः, उपेक्षिता इति यावत्। कालेन = बहुभिर्दिनैः॥ २५॥**

सभी प्रमेह अधिक दिनों तक कोई चिकित्सा न करने से मधुमेह का स्वरूप धारण कर लेते हैं। तब वे असाध्य हो जाते हैं॥ २५॥

मधुमेहो मधुनिभो जायते स किल द्विधा। क्रुद्धे धातुक्षयाद्वायौ दोषावृतपथेऽथ वा॥२६॥
आवृतो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयन्। क्षणात्क्षीणः क्षणात्पूर्णो भजते कृच्छ्रसाध्यताम्॥

मधुमेह मधु के समान होता है और वह दो प्रकार का होता है। पहिले प्रकार का मधुमेह धातुओं के क्षय होने से वायु के कुपित होने पर होता है। और दूसरा दोषों से वायु के मार्ग के आवृत हो जाने पर होता है।

दोषों से आवृत वायु अकस्मात् दोषों के चिह्न को दिखाता हुआ क्षण मात्र में मूत्राशय को खाली कर देता है तथा क्षण भर में भर देता है। इसी से यह मधुमेह कष्टसाध्य हो जाता है ॥२६-२७॥

मधुमेहशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तमाह—

मधुरं यच्च सर्वेषु प्रायो मध्विव मेहति। सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः॥

प्रायः सम्पूर्ण प्रमेहों में रोगी मधुर तथा मधु के समान मूत्र त्याग करता है और शरीर में मधुरता होती है। अतः सब प्रमेहों को मधुमेह कहा जाता है॥ २८॥

शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी। मसूरिका सर्षपिका पुत्रिणी सविदारिका॥
विद्रधिश्चेति पिडिकाः प्रमेहोपेक्षया दश। सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु॥३०॥

प्रमेह की उपेक्षा करने से सन्धियों, मर्मस्थानों तथा मांसल स्थानों में शराविका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, अलजी, मसूरिका, सर्षपिका, पुत्रिणी, विदारिका तथा विद्रधि नामकी दश प्रकार की प्रमेह[1] पिडिकायें उत्पन्न हो जाती हैं॥ २९-३०॥

---

१. प्रमेह-पिटिका को आज कल के पाश्चात्य विज्ञान में कार्बङ्कल (Carbuncle) कहते हैं। लक्षणों के अनुसार इसके १० भेद किये गये हैं। चरक में केवल सात ही भेदों का वर्णन मिलता है। प्रमेह पिडिका में जाल सदृश कई सूक्ष्म छेद होते हैं, क्योंकि एक पिडिका कई फुन्सियों से बनती है। यह पिटिका प्रायः ग्रीवापश्चाद्भाग, पीठ, अंस, चूतड़, ओष्ठ तथा चेहरे पर होती है।

उक्तदशविधपिडिकानां लक्षणान्याह—

अन्तोन्नता च तद्रूपा निम्नमध्या शराविका। गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा तु सर्षपी ॥३१॥

जो पिडिका किनारों पर ऊँची, बीच में नीची होती है तथा आकार में सकोरे के समान होती है उसे 'शराविका' पिडिका कहते हैं। जो पिडिका सफेद सरसों के समान रूप तथा प्रमाण वाली होती है उसे 'सर्षपी' कहते हैं ॥ ३१ ॥

सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः। जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता॥

दाहयुक्त तथा कछुये की पीठ के समान पिडिका को बुद्धिमान् मनुष्य 'कच्छपिका' जाने।

जो पिडिका तीव्र दाह वाली तथा मांस और सूक्ष्म नसों के जाल से आवृत हो उसे 'जालिनी' नामक पिडिका समझनी चाहिये ॥ ३२ ॥

अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा। महती पिडिका नीला सा बुधैर्विनता स्मृता॥

जो बड़ी, नीले वर्ण की, अधिक वेदना वाली तथा क्लेदयुक्त पिडिका पीठ अथवा उदर प्रदेश में होती है उसे विद्वान् लोग 'विनता' कहते हैं ॥ ३३ ॥

महत्यल्पचिता ज्ञेया पिडिकाऽपि च पुत्रिणी। मसूरदलसंस्थाना विज्ञेया तु मसूरिका॥

जो पिडिका बड़ी हो और छोटी २ फुन्सियों से व्याप्त हो उसे 'पुत्रिणी' नाम की पिडिका जानना चाहिये और जो पिडिका मसूर की दाल के समान हो उसे 'मसूरिका' कहते हैं ॥ ३४ ॥

रक्ताऽसिता स्फोटचिता विज्ञेया त्वलजी बुधैः। विदारीकन्दवद् वृत्ता कठिना च विदारिका॥

जो पिडिका रक्तवर्ण तथा काली हो और फुन्सियों से व्याप्त हो उस बुद्धिमान् मनुष्य को 'अलजी' जानना चाहिये। तथा विदारीकन्द के समान गोल तथा कठिन पिडिका को 'विदारिका' कहते हैं॥

विद्रधेर्लक्षणैर्युक्ता ज्ञेया विद्रधिका तु सा ॥ ३६ ॥

विद्रधि के लक्षणों से युक्त पिडिका को 'विद्रधिका' कहते हैं ॥ ३६ ॥

प्रमेहपिडिकादोषनिर्णयमाह—

ये यन्मयाः स्मृता मेहास्तेषामेतास्तु तन्मयाः ॥ ३७ ॥

जो प्रमेह जिन २ दोषों से युक्त होते हैं उनकी प्रमेह-पिडिकायें भी उन्हीं २ दोषों से युक्त होती हैं॥

प्रमेहमन्तरा पिडिकोत्पत्तिमाह—

विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः। तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहाः ॥३८॥

विना प्रमेह ही के दुष्ट मेद वाले मनुष्य को ये पिडिकायें उत्पन्न हो जाती हैं। जब तक ये पिडिकायें अपने २ स्थान को पकड़ नहीं लेतीं तब तक नहीं दिखाई देतीं ॥ ३८ ॥

पिडिकानामसाध्यत्वमाह—

गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मसु चोत्थिताः। सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडिकाः परिवर्जयेत् ॥३९॥

गुदा, हृदय, शिर, कन्धा पीठ तथा मर्म स्थानों में उत्पन्न हुई, उपद्रवों से युक्त तथा मन्दाग्नि वाले मनुष्य को उत्पन्न हुई पिडिकाओं की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥ ३९ ॥

इसमें दाह, पीडा तथा रक्तिमा बहुत होती है और जल्दी फैलती है। इसका मुख्य कारण मधुमेह या इक्षुमेह और वसामेह होता है, यथाः—

'उपेक्षयाऽस्य (मधुमेहस्य) जायन्ते पिडकाः सप्त दारुणाः।
मांसलेष्ववकाशेषु मर्मस्वपि च सन्धिषु'। (चरक)।

परन्तु कभी २ यह पिडिका प्रमेह के अतिरिक्त दुर्बलता उत्पन्न करनेवाले ज्वरादिकों से भी उत्पन्न होती है, चरक में भी लिखा है किः—

'विना प्रमेहमप्येता जायन्ते'। पिडिका के पूय में बहुधा स्वर्णवर्णपूयजनक गुच्छाणु (Staphylococcus Pyogenes aureus) मिलते हैं।

पिडिकोपद्रवानाह—

तृट्श्वासमांससंकोचमोहहिक्कामदज्वराः। विसर्पमर्मसंरोधाः पिडिकानामुपद्रवाः॥ ४०॥

पिपासा, श्वास, मांस का सङ्कोच, मोह, हिक्का, मद, ज्वर, विसर्प तथा मर्म स्थानों का अवरुद्ध हो जाना ये पिडिका के उपद्रव हैं॥ ४०॥

प्रमेहिणां पथ्यान्याह—

श्यामाककोद्रवोद्दालगोधूमाश्चणकास्तथा। आढक्यश्च कुलत्थाश्च पुराणा मेहिनां हिताः॥

सांवां, कोदो, वनकोदो, गेहूं, चना, अरहर तथा कुल्थी ये सब पुराने अन्न प्रमेह रोगी के लिये हितकर हैं॥ ४१॥

मेहिनां तिक्तशाकानि जाङ्गला हरिणाण्डजाः। यवान्नविकृतिर्मुद्गाः शस्यन्ते शालिषष्टिकाः॥

तिक्त शाक, जंगली हिरन तथा पक्षी, जौ के बने पदार्थ, मूंग, शालिचावल और साठी के चावल प्रमेहियों के लिये प्रशस्त हैं॥ ४२॥

प्रमेहिणामहितवस्तून्याह—

सौवीरकं सुरा तक्रं तैलं क्षीरं घृतं गुडम्। अम्लेक्षुरसपिष्टान्नानूपमांसानि वर्जयेत्॥ ४३॥

सौवीर काञ्जी, मदिरा, तक्र, तेल, दूध, घी, गुड़, खट्टे पदार्थ, ईख का रस, आटे के बने पदार्थ और अनूपदेश के जीवों का मांस इन सबको प्रमेहपीडित मनुष्य त्याग दे॥ ४३॥

प्रमेहचिकित्सामाह—

तत्रादित एव प्रमेहिणमुपस्निग्धमन्यतमेन प्रियङ्ग्वादिसिद्धेन तैलेन वामयेत् प्रगाढं विरेचयेच्च। विरेचनादनन्तरं सुरसाऽऽदिककषायेणास्थापयेत्, महौषधभद्रदारुमुस्तावापेन मधुसैन्धवयुक्तेन, दह्यमानं वा न्यग्रोधादिकषायेण निस्तैलेन।

वातोत्कटेषु मेहेषु स्नेहपानं विशेषतः। पारिजातजयानिम्बवह्निगायत्रीणां पृथक्॥ ४४॥

पाठायाः सागुरोः पीताद्वयस्य शारदस्य च। जलेक्षुमद्यसिकताशनैर्लवणपिष्टकान्।

सान्द्रमेहान्क्रमाद् घ्नन्ति क्वाथाश्चाष्टौ समाक्षिकाः॥ ४५॥

प्रमेह रोगी को पहिले प्रियङ्ग्वादि ओषधियों से सिद्ध तैल द्वारा स्निग्ध करके वमन करावे तथा अच्छी तरह से विरेचन करावे। विरेचन के पश्चात् सुरसादिगण के क्वाथ में सोंठ, देवदारु तथा नागरमोथा इन ओषधियों के चूर्ण, मधु और सेंधानमक मिलाकर निरूहवस्ति देनी चाहिये। यदि दाह होता हो तो तैलरहित न्यग्रोधादि कषाय से निरूहवस्ति देवै।

वाताधिक्य प्रमेहों में प्रायः स्नेहपान कराना चाहिये।

१—पारिजात के क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से उदकमेह नष्ट होता है।

२—जया के क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से इक्षुमेह नष्ट होता है।

३—नीम के क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से सुरामेह नष्ट होता है।

४—चित्त के क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से सिकतामेह नष्ट होता है।

५—खैर के क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से शनैर्मेह नष्ट होता है।

६—पाठा के क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से क्षारमेह नष्ट होता है।

७—अगर के क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से पिष्टमेह नष्ट होता है।

८—हल्दी, दारुहल्दी तथा श्वेत कमल के क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से सान्द्रमेह नष्ट हो जाता है॥ ४४-४५॥

हरीतकीकट्फलमुस्तलोध्राः पाठाविडङ्गार्जुनधन्वनाश्च।

उभे हरिद्रे तगरं विडङ्गं कन्दं विशालाऽर्जुनदीप्यकाश्च॥ ४६॥

१—हरड़, कायफल, नागरमोथा तथा लोध का क्वाथ, २—पाठा, वायविडङ्ग, अर्जुन तथा जवासा का क्वाथ, ३—हल्दी, दारुहल्दी, तगर तथा वायविडङ्ग इनका क्वाथ, ४—कदम्ब, शाल, अर्जुन तथा चित्त इन ओषधियों का क्वाथ मधु मिलाकर पीने से कफजन्य प्रमेह नष्ट हो जाते हैं ॥

दार्वी विडङ्गः खदिरो धवश्च सुराह्वकुष्ठागुरुचन्दनानि ।
दार्व्यग्निमन्थौ त्रिफला वचा च पाठा च मूर्वा च तथा श्वदंष्ट्रा ॥ ४७ ॥

५—दारुहल्दी, वायविडङ्ग, खैर तथा धाय के फूल इनका क्वाथ, ६—देवदारु, कूठ, अगर और चन्दन का क्वाथ, ७—दारुहल्दी, अरनी, हरड, बहेड़ा, आंवला तथा वच का क्वाथ और ८—पाठा, मूर्वा और गोखरू का क्वाथ मधु मिलाकर पीने से कफप्रमेह नष्ट होते हैं ॥ ४७ ॥

वचा ह्युशीराण्यभया गुडूची वृषं शिवाचित्रकसप्तपर्णाः ।
पादैः कषायाः कफमेहविज्ञैर्दशोपदिष्टा मधुसम्प्रयुक्ताः ॥ ४८ ॥

९—वच, खस, हरड़ तथा गुडूची इनका क्वाथ और १०—अडूसा, हरड़, चित्त तथा सतौने का क्वाथ मधु मिलाकर पीने से कफजन्य प्रमेह नष्ट हो जाते हैं। कफमेह के विशेषज्ञ विद्वानों ने उपर्युक्त श्लोकों के १० पादों में दस क्वाथों का उपदेश किया है ॥ ४८ ॥

उशीरलोध्रार्जुनचन्दनानामुशीरमुस्तामलकाभयानाम् ।
पटोलनिम्बामलकामृतानां मुस्ताभयामुष्ककवृक्षकाणाम् ॥ ४९ ॥

१—खस, लोध, अर्जुन तथा चन्दन का क्वाथ,

२—खस, नागरमोथा, आँवला तथा हरड़ का क्वाथ,

३—परवल, नीम की छाल, आंवला तथा गुडूची का क्वाथ, और

४—नागरमोथा, हरड़, मोखा, (पलास के समान पर्वत पर उत्पन्न होने वाला वृक्षविशेष) तथा सफेद कुड़े की छाल के क्वाथ को मधु मिलाकर पीने से पैत्तिक प्रमेह नष्ट होते हैं ॥ ४९ ॥

लोध्राम्रकासीसकधातकीनां विश्वार्जुनैलाशिरिपोत्पलानाम् ।
शिरीषधान्यार्जुनकेशराणां प्रियङ्गुपद्मोत्पलकिंशुकानाम् ॥ ५० ॥

५—लोध, आम की छाल, दारुहल्दी तथा धाय के फूल का क्वाथ,

६—सोंठ, अर्जुन, छोटी इलायची, अतीस तथा कमल का क्वाथ,

७—सिरसा, धनियां, अर्जुन और नागकेशर इन ओषधियों का क्वाथ और

८—फूलप्रियङ्गु, कमल, नीलकमल तथा किंशुक के क्वाथ को मधु मिलाकर पीने से पैत्तिक प्रमेह दूर होता है ॥ ५० ॥

अश्वत्थपाठाऽसनवेतसानां कटङ्कटेर्युत्पलमुस्तकानाम् ।
पैत्तेषु मेहेषु दशोपदिष्टाः कषाययोगा मधुसम्प्रयुक्ताः ॥ ५१ ॥

९—पीपल की छाल, पाठा, असना तथा वेंत का क्वाथ और १०—दारुहल्दी, उत्पल तथा नागरमोथा इन ओषधियों का क्वाथ मधु मिलाकर पीने से पैत्तिक प्रमेह नष्ट होता है। उपर्युक्त मधु मिश्रित दश कषायों का वर्णन पैत्तिक प्रमेह की शान्ति के लिये किया गया है ॥ ५१ ॥

कफमेहहरक्वाथसिद्धं सर्पिः कफे हितम् । पित्तमेहघ्ननिर्यूहसिद्धं पित्तहरं घृतम् ॥ ५२ ॥

कफ प्रमेह को नष्ट करने वाले क्वाथों द्वारा सिद्ध किया हुआ घी प्रमेहों पर हितकर है। पित्तजन्य प्रमेह को नष्ट करने वाले क्वाथ से पकाया गया घी पैत्तिक प्रमेह को नष्ट कर देता है ॥५२॥

कम्पिल्लसप्तच्छदशालजानि वैभीतरोहीतककौटजानि ।
पटोलकालीयगदागुरूणि क्षौद्रेण लिह्यात्कफपित्तमेही ॥ ५३ ॥

कबीला, सतौना, शाल, बहेड़ा, रोहीड़ा, इन्द्रजौ, परवल, दारुहल्दी, कूठ तथा अगर इनके चूर्ण को मधु मिलाकर चाटने से कफप्रमेह तथा पित्तप्रमेह नष्ट होता है ॥ ५३ ॥

दूर्वाकसेरुपूतीककुम्भीकप्लवशैवलम् । जलेन कथितं पीतं शुक्रमेहहरं परम् ॥ ५४ ॥

दूब, कसेरू, करञ्ज, कायफल, केवटीमोथा तथा सेवार इन ओषधियों के क्वाथ को पीने से शुक्रमेह अवश्य दूर हो जाता है ॥ ५४ ॥

त्रिफलाऽऽरग्वधद्राक्षाकषायो मधुसंयुतः । पीतो निहन्ति फेनाभं प्रमेहं नियतं नृणाम् ॥

हरड़, बहेड़ा, आँवला, अमलतास का गूदा तथा मुनक्का इनके क्वाथ को मधु मिलाकर पीने से मनुष्यों का फेन के समान प्रमेह अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ ५५ ॥

अश्वत्थाच्चतुरङ्गुल्यान्न्यग्रोधादेः फलत्रयात् । सरक्तसारमञ्जिष्ठाः क्वाथाः पञ्च समाक्षिकाः ।
नीलहारिद्रफेनाख्यक्षारमाञ्जिष्ठकाह्वयान् ॥ ५६ ॥

१—पीपल के क्वाथ को मधु मिलाकर अथवा २—अमलतास के गूदे के क्वाथ को मधु मिला कर अथवा ३—न्यग्रोधादि गण की ओषधियों का क्वाथ मधु मिलाकर अथवा ४—त्रिफला क्वाथ को मधु मिलाकर या ५—लालचन्दन तथा मंजीठ के क्वाथ को मधु मिलाकर पीने से क्रमशः नील-मेह, हारिद्रमेह, फेनमेह, क्षारमेह तथा मञ्जिष्ठामेह नष्ट हो जाते हैं ॥ ५६ ॥

मधुना त्रिफलाचूर्णमथवाश्मजतूद्भवम् । लौहजं वाभयोत्थं वा लिहेन्मेहनिवृत्तये ॥ ५७ ॥

त्रिफला के चूर्ण अथवा शिलाजीत का चूर्ण अथवा लौहभस्म अथवा हरड़ के चूर्ण को मधु मिलाकर चाटने से प्रमेह रोग निवृत्त हो जाता है ॥ ५७ ॥

कटङ्कटेरीमधुकत्रिफलाचित्रकैः समैः । सिद्धः कषायः पातव्यः प्रमेहाणां विनाशनः ॥ ५८ ॥

दारुहल्दी, मुलहठी, त्रिफला तथा चित्त इन सब ओषधियों को समान भाग में लेकर क्वाथ बनाकर पीने से प्रमेह नष्ट हो जाते हैं ॥ ५८ ॥

फलत्रिकादिकाथमाह—

फलत्रिकं दारुनिशां विशालां मुस्तां च निष्काथ्य निशांशकल्कम् ।
पिबेत्कषायं मधुसम्प्रयुक्तं सर्वप्रमेहेषु समुच्छ्रितेषु ॥ ५९ ॥

त्रिफला, दारुहल्दी, इन्द्रायण की जड़ तथा नागरमोथा इनका काथ बनाकर हल्दी का कल्क मिलाकर और मधु डालकर पीने से सम्पूर्ण प्रमेह नष्ट हो जाते हैं ॥ ५९ ॥

गोभक्षितान्यवान्मूत्रभावितान्केवलानपि । चित्रकोदश्विता खादेन्निम्बमुद्गरसेन वा ॥६०॥

गाय के खाये हुए जौ (जो जौ गाय के गोबर में मिलता है) को गोमूत्र से भावित करके अथवा केवल जौ को चितकबरी गाय के उदश्वित (मट्ठाभेद) के साथ अथवा नीम के काथ तथा मूंग के रस के साथ खाने से प्रमेह नष्ट हो जाते हैं ॥ ६० ॥

भक्षयीताम्बुना मासं प्रमेही यवपिष्टकम् । मेदोघ्ना बद्धमूत्राश्च समाः सर्वेषु धातुषु ।
यवास्तस्माद्विशिष्यन्ते प्रमेहेषु विशेषतः ॥ ६१ ॥

जल के साथ १ महीने तक जौ के आटे को खाने से प्रमेह नष्ट हो जाता है। जौ मेद को नष्ट करता है, मूत्र को रोकता है और सम्पूर्ण धातुओं में समता उत्पन्न करता है। इसलिए प्रमेह रोग में जौ हितकर होते हैं ॥ ६१ ॥

त्रिकट्वाद्यमोदकमाह—

त्रिकटु त्रिफला पाठा मूलं शोभाञ्जनस्य च । विडङ्गतण्डुला हिङ्गु तथा कटुकरोहिणी ॥६२॥
बृहती कण्टकारी च हरिद्रे द्वे यवानिका । क्रमुकं शालपर्णी च तथाऽतिविषचित्रकौ ॥६३॥
सौवर्चलं जीरकञ्च हपुषा धान्यमेव च । एषां कर्षप्रमाणञ्च श्लक्ष्णचूर्णञ्च कारयेत् ॥ ६४ ॥
यवशक्तु पलानाञ्च नवतिं द्वितयाधिकाम् । घृततैलमधूनाञ्च प्रत्येकञ्च पलानि षट् ॥ ६५ ॥
एभिः कर्षप्रमाणञ्च प्रत्यहं मोदकं सुधीः । भक्षयेन्नाशयेदुग्रान्प्रमेहानतिदारुणान् ॥ ६६ ॥

सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, पाठा, सहजनकी जड़, वायविडङ्ग के चावल, हींग, कुटकी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, हल्दी, दारुहल्दी, अजवायन, सुपारी, शालिपर्णी, अतीस, चित्त,

कालानमक, जीरा, हाऊवेर तथा धनियां इन प्रत्येक ओषधियों को १-१ तोले लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर ले। तत्पश्चात् इस चूर्ण में ९२ पल (३६८ तो०) जौ का सत्तू, २४ तोले घी तथा २४ तोले मधु मिलाकर १-१ तोले के लड्डू बना ले। इनमें से १-१ लड्डू प्रतिदिन बुद्धिमान् आदमी खाय तो अत्यन्त दारुण उग्र प्रमेह नष्ट हो जाता है ॥ ६२-६६ ॥

न्यग्रोधाद्यचूर्णमाह—

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थश्योनाकारग्वधासनम् । आम्रं कपित्थं जम्बूश्च प्रियालं ककुभं धवम् ॥
मधूकं मधुकं लोध्रं वरुणं पारिभद्रकम् । पटोलं मेषशृङ्गी च दन्ती चित्रकमाढकी ॥ ६८ ॥
करञ्जत्रिफलाशक्रभल्लातकफलानि च । एतानि समभागानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥६९॥
न्यग्रोधाद्यमिदं चूर्णं मधुना सह योजयेत् । फलत्रयरसं चानु पिबेन्मूत्रं विशुद्ध्यति ॥ ७० ॥
एतेन विंशतिर्मेहा मूत्रकृच्छ्राणि यानि च । प्रशमं यान्ति योगेन पिडिका न च जायते ॥

बरगद, गूलर, पीपल, स्योनापाठा, अमलतास का गूदा, असना, आम, कैथ, जामुन, चिरौंजी, अर्जुन, धाय के फूल, महुआ, मुलहठी, लोध, वरुना, बकायन, परवल, मेढासींगी, दन्ती, चित्त, अरहर, करञ्ज, हरड़, वहेड़ा, आंवला, इन्द्रजौ तथा भिलावा इन सब ओषधियों को समान भागमें लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर डाले। इस 'न्यग्रोधाद्य' चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर चाटने से और त्रिफला के क्काथ का अनुपान करने से मूत्र शुद्ध हो जाता है। इसके सेवन से २० प्रकार के प्रमेह तथा सब प्रकार के मूत्रकृच्छ् शान्त हो जाते हैं और प्रमेह-पिडिका उत्पन्न नहीं होती है ॥ ६७-७१ ॥

लोहादिचूर्णगुडूचीस्वरसावाह—

चूर्णानि लोहत्रिफलासितानां क्षौद्रेण लिह्याच्च पृथक् समं वा ।
मेहान्समस्तानपि नाशयन्ति पीतः कदा चित्स्वरसो गुडूच्याः ॥ ७२ ॥

लोहभस्म, त्रिफला तथा मिश्री के चूर्ण को मधु के साथ चाटने से अथवा अलग २ लोहभस्म या त्रिफला चूर्ण अथवा मिश्री के चूर्ण को मधु मिलाकर चाटने से समस्त प्रमेह नष्ट हो जाते हैं। अथवा केवल गुडूचीस्वरस के पीने से प्रमेह नष्ट होते हैं ॥ ७२ ॥

त्रिकटुगुटिकामाह—

त्रिकटु त्रिफलातुल्यं गुग्गुलुश्च समांशिकम् । गोक्षुरक्काथसंयुक्तं गुटिकां कारयेद् बुधः ॥७३॥
दोषकालबलापेक्षी भक्षयेच्चानुलोमिकीम् । न चात्र परिहारोऽस्ति कर्म कुर्याद्यथेप्सितम् ॥
प्रमेहान्वातरोगांश्च वातशोणितमेव च । मूत्राघातं मूत्रदोषं प्रदरं चाशु नाशयेत् ॥ ७५ ॥

सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा तथा आंवला इन सबको समान परिमाण में लेकर चूर्ण बना ले फिर उसमें समान भाग शुद्ध गुग्गुल मिला कर गोखरू के क्काथ से बुद्धिमान् वैद्य गोलियां बना ले। वात का अनुलोमन करने वाली इन गोलियों को दोष, काल तथा बल का विचार करके खावे। इसमें किसी प्रकार का परहेज नहीं है। इसके सेवन काल में मनुष्य यथेष्ट आहार-विहार कर सकता है। ये गोलियां प्रमेह, वातरोग, वातरक्त, मूत्राघात, मूत्रदोष तथा प्रदर को शीघ्र नष्ट कर देती हैं ॥ ७३-७५ ॥

दाडिमस्य च बीजानि कृमिघ्नस्य च तण्डुलाः । रजनी चविकाऽजाजी नागरं त्रिफला कणा ॥
त्रिकण्टकस्य च फलं यवानी धान्यकं तथा । वृक्षाम्लचविकालोध्रसिन्धूद्भवसमाहितैः ॥७७॥
कल्कैरक्षसमैरेभिर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् । भोज्ये पाने प्रदातव्यं सर्वर्तुषु च मात्रया ॥ ७८ ॥
प्रमेहान्विंशतिं चैव मूत्राघातं तथाऽश्मरीम् । कृच्छ्रं सुदारुणञ्चैव हन्यादेव न संशयः ॥७९॥
विबन्धानाहशूलघ्नं कामलाज्वरनाशनम् । दाडिमाद्यं घृतं चैतदश्विभ्यां परकीर्त्तितम् ॥८०॥

अनार के बीज, वायविडङ्ग के चावल, हल्दी, चव्य, काला जीरा, सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आंवला, पिप्पली, गोखरू, अजवायन, धनियां, वृक्षाम्ल (तिंतडीक), चव्य, लोध तथा सेन्धानमक इन प्रत्येक ओषधियों के १-१ तोले कल्क के साथ १ प्रस्थ (६४ तोले) घी को पकावे। फिर इस अश्विनी-

कुमारों द्वारा कहे हुये 'दाडिमाद्यनामक घृत' का सम्पूर्ण ऋतुओं में मात्रानुसार भोजन तथा पान में प्रयुक्त करने से २० प्रकार के प्रमेह, मूत्राघात, अश्मरी तथा सुदारुण मूत्रकृच्छ्र को नष्ट ही कर देता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। और यह घृत विबन्ध, आध्मान, शूल, कामला तथा ज्वर को नष्ट कर देता है ॥ ७६-८० ॥

गोक्षुरादिचूर्णगुटिके आह—

श्वदंष्ट्रा सकणा मुस्ता गुडूची फल्गुपल्लवाः। दर्भाङ्कुरास्तु गण्डीरो रोहिषस्य च पल्लवाः ॥
काला पुनर्नवा श्यामा शारिवा देवदारु च। पिप्पली शृङ्गवेरञ्च विडङ्गं मरिचानि च ॥८२॥
पाठा कम्पिल्लकं भार्गी द्वे हरिद्रे निदिग्धिका। एरण्डमूलं दन्ती च चित्रकं कटुरोहिणी ॥८३॥
एतानि समभागानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्। यावन्त्येतानि चूर्णानि तावत्स्याच्चाप्ययोरजः ॥
ततो विडालपदकं पिबेदुष्णेन वारिणा। अलाभे चापि मद्यानां प्रमेहान्हन्ति विंशतिम् ॥
श्वयथुञ्च तथाऽर्शांसि पाण्डुरोगं हलीमकम्। उदाराण्यथ शूलानि प्लीहानं चापकर्षति ॥
एभिर्गोमूत्रपिष्टैस्तु गुटिकाः कारयेद्भिषक्। रोगेष्वेतेषु मुख्याः स्युर्बलमांसविवर्द्धनाः ॥ ८७ ॥

गोखरू, पिप्पली, नागरमोथा, गुडूची के कोमल पत्ते, डाभ के अङ्कुर, मजीठ, रोहिष (तृणविशेष) के पत्ते, असगन्ध, पुनर्नवा, कृष्ण सारिवा, देवदारु, पिप्पली, अदरख, वायविडङ्ग, कालीमिर्च, पाठा, कबीला, भारंगी, हल्दी, दारुहल्दी, कण्टकारी, एरण्डमूल, दन्ती, चित्त तथा कुटकी इन ओषधियों को समान मात्रा में लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर डाले। फिर जितना यह चूर्ण है उतना ही लौहभस्म को लेकर मिलादे। इस 'गोक्षुरादि' चूर्ण को १ तोले की मात्रा में मद्य के साथ सेवन करने से और यदि मद्य न मिल सके तो उष्ण जल के साथ खाने से २० प्रकार के प्रमेह, शोथ, अर्शरोग, पाण्डुरोग, हलीमक, उदरविकार, शूल तथा प्लीहा नष्ट हो जाती है। वैद्य उपर्युक्त चूर्ण को गोमूत्र द्वारा पीस कर गोलियां बना ले। ये गोलियां उपर्युक्त रोगों को नष्ट करने में मुख्य हैं तथा बल और मांस को बढ़ाती हैं ॥ ८१-८७ ॥

सिंहामृतघृतमाह—

कण्टकार्या गुडूच्याश्च संहरेच्च शतं शतम्। संकुट्योदूखले विद्वांश्चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥
तेन पादावशेषेण घृतप्रस्थं विपाचयेत्। त्रिकटुत्रिफलारास्नाविडङ्गान्यथ चित्रकम् ॥८९॥
काश्मर्याणाञ्च मूलानि पूतीकस्य त्वगेव च। कलिङ्ग इति सर्वाणि सूक्ष्मपिष्टानि कारयेत् ॥
अक्षमात्रां पिबेत्प्राज्ञः शालिभिः पयसा हि तैः। प्रमेहं मधुमेहञ्च मूत्रकृच्छ्रं भगन्दरम् ॥
आलस्यं चान्त्रवृद्धिञ्च कुष्ठरोगं विशेषतः। क्षयञ्चैव निहन्त्येतन्नाम्ना सिंहामृतं घृतम् ॥

१०० पल कण्टकारी तथा १०० पल गुडूची को लेकर ओखली में कूट कर ४ द्रोण (१०२४ तोले का १ द्रोण होता है) जल में विद्वान् मनुष्य पकावे। जब चौथाई जल शेष रह जाय तो इस क्वाथ से १ प्रस्थ (६४ तो०) घी को पकावे। और पकते समय घी में सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, रास्ना, वायविडङ्ग, चित्त, खम्भार की जड़, करञ्ज की छाल तथा इन्द्रजौ इनका सूक्ष्म कल्क करके डाल दे। इस प्रकार सिद्ध घृत को एक तोले की मात्रा में पीवे और दूध के साथ शालिचावलों का भात खाय तो प्रमेह, मधुमेह, मूत्रकृच्छ्र, भगन्दर, आलस्य, आन्त्रवृद्धि, कुष्ठ रोग तथा यक्ष्मारोग अवश्य नष्ट हो जाता है। इस घृत का 'सिंहामृतघृत' नाम है ॥ ८८-९२ ॥

धान्वन्तरघृतमाह—

दशमूलं करञ्जौ द्वौ देवदारु हरीतकी। वर्षाभूर्वरुणो दन्ती चित्रकं सपुनर्नवम् ॥ ९३ ॥
सुधार्नीपकदम्बाश्च बिल्वं भल्लातकानि च। शटी पुष्करमूलं च पिप्पलीमूलमेव च ॥९४॥
पृथग्दशपलान्भागानेतांस्तोयेऽर्मणे पचेत्। यवकोलकुलत्थानां प्रस्थं प्रस्थं विपाचयेत् ॥९५॥
तेन पादावशेषेण घृतप्रस्थं पचेद्भिषक्। निचुलं त्रिफला भार्गी रोहिषं गजपिप्पली ॥९६॥

शृङ्गवेरविडङ्गानि चव्यं कम्पिल्लकं तथा। गर्भेणानेन तत्सिद्धं पाययेत्तु यथाबलम् ॥९७॥
एतद्धान्वन्तरं नाम विख्यातं सर्पिरुत्तमम्। कुष्ठप्रमेहगुल्मांश्च श्वयथुं वातशोणितम् ॥९८॥
प्लीहोदराणि चार्शांसि विद्रधिं पिडिकाश्च याः। अपस्मारं तथोन्मादं सर्पिरेतन्नियच्छति ॥

दशमूल, दोनों प्रकार के करञ्ज, देवदारु, हरड़, पुनर्नवा, वरुना, दन्ती, चित्त, पुनर्नवा, शालिपर्णी, अशोक, कदम्ब, बेल, भिलावा, कचूर, पोहकरमूल तथा पिपरामूल ये प्रत्येक ओषधियाँ ४०-४० तोले, जौ ६४ तोले, बेर ६४ तोले तथा कुल्थी ६४ तोले इन ओषधियों को १ द्रोण (१०२४ तो०) जल में पकावे। चौथाई शेष रह जाने पर इस क्वाथ से १ प्रस्थ (६४ तो०) घी को पकावे। पकते समय घी में नीम, त्रिफला, भारंगी, रोहिषतृण, गजपिप्पली, अदरख, वायविडङ्ग, चव्य तथा कबीला इनका चूर्ण डालकर घी को सिद्ध करले। इस उत्तम 'धान्वन्तर नामक' घी को बलानुसार पिलाने से कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, शोथ, वातरक्त, प्लीहा, उदररोग, अर्शरोग, विद्रधि, पिडिका, अपस्मार तथा उन्माद नष्ट हो जाते हैं ॥ ९३-९९ ॥

पृथक्तोयेऽर्मणे ह्यत्र पचेद् द्रव्याच्छतं शतम्। शतत्रयाधिके तोये व्युत्सर्गः क्रमतो भवेत् ॥

प्रत्येक सौ पल द्रव्य अलग २ एक द्रोण जल में पकाना चाहिये, ३०० पल से अधिक होने पर साधारण नियमानुसार जल देकर पाक करना चाहिये ॥ १०० ॥

अर्जुनाद्यं तैलं घृतं चाह—

अर्जुनपटोलनिम्बैः सवचादीप्यकरसासमञ्जिष्ठैः। भल्लातकागुरुघनैः सगदानलचन्दनोशीरैः॥
गोक्षुरकसोमवल्कैर्नवपटोलैर्हरिद्रया त्रिफलया।
अश्मन्तकार्जुनाभ्यां दीप्यकयुक्तेन चैव लोध्रेण ॥ १०२ ॥
मञ्जिष्ठाऽतिविषाभ्यां कल्ककषायैः पचेत्तैलम्। कफवातोत्थे मेहे पित्तकृते साधयेत्सर्पिः ॥

अर्जुन, परवल, नीम, वच, अजवायन, रास्ना, मंजीठ, भिलावा, अगर, नागरमोथा, कूठ, चित्त, चन्दन, खस, गोखरू तथा श्वेत खदिर के क्वाथ और नया परवल, हल्दी, त्रिफला, पाषाणभेद, अर्जुन, अजवायन, लोध, मंजीठ तथा अतीस के कल्क के साथ तैल या घृत पकाले। इस तैल के उपयोग से कफ तथा वात से उत्पन्न होने वाले प्रमेह और घृत से पित्तजन्य प्रमेह नष्ट होते हैं ॥

सारलेहमाह—

सारवर्गकषायं चतुर्थांशावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य पुनरपनीय साधयेत्। सिद्ध्यति चामलकलोध्रप्रियङ्गुदन्तीकृष्णायसताम्रचूर्णान्यावपेत्। तदेतददग्धं लेहीभूतमवतार्यानुगुप्तं निदध्यात्। ततो यथायोगमुपयुञ्जीत। एष लेहः सर्वमेहानपहन्ति ॥ १०४ ॥

सारवर्ग की ओषधियों का क्वाथ बनावे। चतुर्थांशावशिष्ट रहने पर उतारकर छानकर फिर इस क्वाथ को आँचपर चढ़ा दे। सिद्ध होते समय आँवला, लोध, फूलप्रियङ्गु, दन्ती, पिप्पली, लौहभस्म, और ताम्रभस्म इन सब ओषधियों को चूर्ण करके डाल दे। जब अवलेह के समान हो जाय और जलने न पावे तभी उतार कर शुद्ध पात्र में रखदे। फिर उचित रीति से उपयोग करे। यह अवलेह समस्त प्रमेहों को नष्ट कर देता है ॥ १०४ ॥

गोक्षुरकाद्यवलेहमाह—

गोकण्टकं सदलमूलफलं गृहीत्वा सङ्कुट्टितं पलशतं क्वथितं तु तोये।
पादस्थितेन सलिलेन पलानि दत्त्वा पञ्चाशतं तु विपचेदथ शर्करायाः ॥ १०५ ॥
तस्मिन्घनत्वमुपगच्छति चूर्णितानि दद्यात्पलद्वयमितानि सुभाजनानि।
शुण्ठीकणामरिचनागदलत्वगेला-जातीयकोपककुभत्रपुसीफलानि ॥ १०६ ॥
वांशीपलाष्टकमिह प्रणिधाय नित्यं लेह्यं तु शुद्धममृतं पलसम्मितन्तु।
हन्त्याशु मूत्रपरिदाहविबन्धशुक्रकृच्छ्राश्मरीरुधिरमेहमधुप्रमेहान् ॥ १०७ ॥

१०० पल पत्र, मूल तथा फल समेत गोखरू को लेकर अच्छी तरह कूट कर पानी में पकावे। जब जल चतुर्थांश रह जाय तो उसमें ५० पल (२०० तोले) चीनी डाल कर पकावे। जब पानी गाढ़ा होने लगे तो उसमें सोंठ, पिप्पली, मरिच, नागकेशर, तेजपात, दालचीनी, छोटी इलायची, जायफल, कङ्कोल, अर्जुन के फल तथा खीरे के बीज, इन प्रत्येक ओषधियों के चूर्ण को ८-८ तोले और वंशलोचन का चूर्ण ३२ तोले डालकर सिद्ध करले। इस शुद्ध अमृत के समान अवलेह को ४ तोले की मात्रा में चाटने से मूत्रदाह, मलबन्ध, शुक्रदोष, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, रक्तमेह और मधुमेह तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ १०५-१०७ ॥

असनादियोगमाह—

असनञ्च प्रियालञ्च शालं खादिरकं तथा। शालवर्गं तथा ग्राह्यं भवेच्चैतद्विचक्षणैः ॥ १०८ ॥
मधुमेहत्वमापन्नं भिषग्भिः परिवर्जितम्। योगेनानेन मतिमान्प्रमेहिणमुपाचरेत् ॥ १०९ ॥

असना, चिरौंजी, शाल, खैर तथा शालवर्ग की ओषधियां, इन सबको बुद्धिमान् वैद्य लेकर जिस रोगी का प्रमेह मधुमेहत्व को प्राप्त हो गया हो तथा जिसकी चिकित्सा करना वैद्यों ने छोड़ दिया हो ऐसे प्रमेहपीडित रोगी का इस योग से उपचार करे ॥ १०८-१०९ ॥

शिलाजतुस्वर्णमाक्षिकरौप्यमाक्षिकप्रयोगानाह—

मासि शुक्रे शुचौ वाऽपि शैलाः सूर्यांशुतापिताः। जतुप्रकाशं स्वरसं शिलाभ्यः प्रस्रवन्ति हि ॥
शिलाजस्विति विख्यातं महाव्याधिनिवारणम्। त्रप्वादीनां तु लोहानां षण्णामन्यतमञ्च यत् ॥
ज्ञेयं स्वगन्धतश्चापि षड्योनिप्रथितं क्षितौ। लोहाद्भवति तद्यस्माच्छिलाजतु जतुप्रभम् ॥
तस्य लोहस्य तद्वीर्यरसं वापि बिभर्त्ति तत्। त्रपुसीसायसादीनि प्रधनान्युत्तरोत्तरम् ॥
यथा तथा प्रयोगेपि श्रेष्ठे श्रेष्ठगुणाः स्मृताः। तत्सर्वं तिक्तकटुकं कषायानुरसं सरम् ॥११४॥
कटुपाक्युष्णवीर्यञ्च शोषणं छेदनं तथा। तत्र यल्लघु कृष्णाभं स्निग्धं निःशर्करञ्च यत् ॥११५॥
गोमूत्रगन्धि नीलं वा तत्प्रधानञ्च वक्ष्यते। तद्भावितं सारगणैर्हृतदोषं दिनादितः ॥ ११६ ॥
पिबेत्सारोदकेनैव श्लक्ष्णपिष्टं यथाबलम्। जाङ्गलेन रसेनाद्यात्तस्मिञ्जीर्णे तु भोजनम् ॥११७॥
उपयुज्य तुलामेकाममृतस्यास्य जन्मतः। विजित्य मधुमेहाख्यमातङ्कं रोगकारकम् ॥
वपुर्वर्णबलोपेतः शतं जीवत्यनामयः। शतं शतं तुलायां तु सहस्रं दशतौलिकम् ॥ ११९ ॥
भल्लातकविधानेन परिहारविधिः स्मृतः। मेहं कुष्ठमपस्मारमुन्मादं श्लीपदं गरम् ॥ १२० ॥
शोषं शोफार्शसी गुल्मं पाण्डुतां विषमज्वरम्। व्यपोहत्यचिरात्कालाच्छिलाजतु निषेवितम् ॥
न सोऽस्ति रोगो यं वापि न निहन्याच्छिलाजतु।
शर्करां चिरसम्भूतां भिनत्ति च तथाश्मरीम् ॥ १२२ ॥
भावनालोडने चास्य कर्त्तव्ये भेषजैर्हितैः। एवं च माक्षिकं धातुं तापीजममृतोपमम् ॥१२३॥
मधुरं काञ्चनाभासमम्लं वा रजतप्रभम्। व्यपोहति जराकुष्ठमेहपाण्ड्वामयक्षयान् ॥१२४॥
तद्भावितान्कुलत्थांश्च कपोतांश्च विवर्जयेत् ॥ १२५ ॥

ज्येष्ठ अथवा आषाढ़ के महीने में पर्वत सूर्य की किरणों से तप्त हो जाते हैं। और शिलाखण्डों से लाख के समान रस चूता है इसे शिलाजीत कहते हैं। यह महाव्याधियों को नष्ट कर देता है। राँगा से लेकर लौह पर्यन्त छः धातुओं का शिलाजीत होता है पृथ्वी पर विख्यात छः प्रकार के शिलाजीत को उनके गन्ध से समझना चाहिये। जो शिलाजीत लौह से लाख के समान उत्पन्न होता है उसका वीर्य तथा रस लोहे के सदृश होता है। राँगा, सीसा तथा लोहे इत्यादि से उत्पन्न होने वाले शिलाजीत उत्तरोत्तर अधिक गुण वाले होते हैं। सभी प्रकार के शिलाजीत में लौह शिलाजीत प्रयोग में श्रेष्ठ गुण वाला है। सम्पूर्ण प्रकार के शिलाजीत स्वाद में तिक्त, कटु तथा कषायानुरस, दस्तावर, पाक में कटु, वीर्य में उष्ण, शोषण तथा छेदन हैं। उन सभी शिलाजीतों में जो शिलाजीत लघु, कृष्णवर्ण, स्निग्ध, शर्करारहित तथा गोमूत्र के समान गन्ध वाला होता है, वह सर्वोत्तम है।

सारगण की ओषधियों से उत्तम शिलाजीत को भावित करके दोषरहित शिलाजीत को अच्छी तरह से पीसकर सारगण के क्वाथ के साथ बलानुसार पीना चाहिये। और ओषधि के जीर्ण हो जाने पर जाङ्गल जीवों के मांसरस के साथ भोजन करे। जन्म से इस अमृततुल्य शिलाजीत को १०० पल सेवन करके मनुष्य रोगकारक मधुमेह नामक रोग को जीत कर उत्तम शरीर, उत्तम वर्ण तथा उत्तम बल से युक्त होकर नीरोग १०० वर्ष तक जीता है। यदि १ तुला (४०० तोले) शिलाजीत को खाने से मनुष्य १०० वर्ष जीता है तो १० तुला (१००० पल) शिलाजीत को खाने से १००० वर्ष तक जीता है। भल्लातक सेवन के समय जैसा परहेज किया जाता है वैसा ही इसमें भी करना चाहिये। यह शिलाजीत प्रमेह, कुष्ठ, अपस्मार, उन्माद, श्लीपद, गरविष, शोष, शोथ, अर्श, गुल्म, पाण्डुरोग तथा विषमज्वर को शीघ्र नष्ट कर देता है। ऐसा कोई रोग नहीं है जिसको कि शिलाजीत नष्ट न कर दे। बहुत दिनों से उत्पन्न शर्करा तथा अश्मरी का भेदन कर देता है। शिलाजीत पर भावना हितकर ओषधियों की देनी चाहिये तथा हितकर ओषधियों के क्वाथ के साथ आलोडन करना चाहिये।

अमृत के समान स्वर्णवर्ण तथा मधुर, स्वर्णमाक्षिक तथा चांदी के समान वर्ण वाला तथा खट्टा रौप्यमाक्षिक को सारगण की ओषधियों से भावित करके सेवन करने से जरा, कुष्ठ, प्रमेह, पाण्डुरोग तथा क्षयरोग नष्ट हो जाते हैं। स्वर्णमाक्षिक तथा रौप्यमाक्षिक के सेवनकाल में कुलथी और कबूतर का मांस नहीं खाना चाहिये ॥ ११०–१२५ ॥

प्रमेहपिडिकाचिकित्सामाह—

प्रमेहपिडिकानां प्राक्कार्यं रक्तावसेचनम्। पाटनञ्च विपकानां तासां पाने प्रशस्यते ॥१२६॥
क्वाथो वनस्पतेर्वास्त्यं मूत्रं तीक्ष्णञ्च शोधनम्। एलादिकेन कल्केन तैलं च व्रणरोपणम् ॥
आरग्वधादिना क्वाथं कुर्यादुद्वर्त्तनानि च। शालसारादिना सेकान्भोज्यार्दीश्चणकादिना ॥

प्रमेहपिडिकाओं में सर्वप्रथम रक्तमोक्षण कराना चाहिये। यदि पिडिकायें पक गई हों तो इन्हें शस्त्र द्वारा चीर देना चाहिये। रोगी को वनस्पतियों का क्वाथ पिलाना चाहिये। बकरी के मूत्र तथा तीक्ष्ण ओषधियों द्वारा पिडिकाओं का शोधन करना चाहिये। तथा छोटी इलायची इत्यादि के कल्क से सिद्ध तैल द्वारा व्रण रोपण करना चाहिये। रोगी को अमलतास के गूदे इत्यादि का क्वाथ पिलाना चाहिये। और उबटन लगाना चाहिये। शालसारादिगण की ओषधियों के क्वाथ द्वारा सेवन तथा पिडिकापीडित मनुष्य को चने इत्यादि पदार्थों का भोजन करना प्रशस्त है ॥ १२६–१२८ ॥

प्रमेहनिवृत्तिलक्षणमाह—

प्रमेहिणो यदा मूत्रमनाविलमपिच्छिलम्। विशदं तिक्तकटुकं तदारोग्यं प्रचक्षते ॥ १२९ ॥

इत्यष्टत्रिंशः प्रमेहपिडिकाऽधिकारः समाप्तः ॥ ३८ ॥



जब प्रमेहपीडित मनुष्य का मूत्र स्वच्छ हो जाय, उसकी पिच्छिलता जाती रहे, विशद, तिक्त तथा कटु हो जाय तब आरोग्य हुआ समझना चाहिये ॥ १२९ ॥

इति 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणेऽष्टत्रिंशः प्रमेहपिडिकाधिकारः समाप्तः ॥ ३८ ॥



अथैकोनचत्वारिंशत्तमः स्थौल्याधिकारः ॥ ३९ ॥

तत्र मेदोवृद्धिनिदानमाह—

अव्यायामदिवास्वप्नश्लेष्मलाहारसेविनः । मधुरोऽन्नरसः प्रायः स्नेहान्मेदो विवर्द्धयेत् ॥१॥

छतत्र मेदसो विप्रकृष्टं निदानमाह—अव्यायामेति । अन्नरसः=आमरसः ॥ १ ॥

व्यायाम न करने से, दिन में सोने से, कफकारक आहार के सेवन से, मधुर रस वाले पदार्थों के सेवन से, आमरस से तथा प्रायः घी इत्यादि स्नेहों के सेवन से मेदोवृद्धि होती है ॥ १ ॥

मेदोवृद्धिसम्प्राप्तिमाह—

मेदसावृतमार्गत्वात्पुष्यन्त्यन्ये न धातवः । मेदस्तु चीयते तस्मादशक्तः सर्वकर्मसु ॥ २ ॥

मेद द्वारा मार्गों के अवरुद्ध हो जाने के कारण शरीर के अन्य धातुओं का पोषण नहीं होता, इसलिये मेद बढ़ता जाता है। जिससे कि मनुष्य सब कामों में अशक्त होता जाता है ॥ २ ॥

मेदोवृद्धिलक्षणमाह—

क्षुद्रश्वासतृषामोहस्वप्नक्रथनसादनैः । युक्तः क्षुत्स्वेददौर्गन्ध्यैरल्पप्राणोऽल्पमैथुनः ॥ ३ ॥

छक्रथनम्=उच्छ्वासावरोधः, 'कण्ठघुर्घुर' इत्यन्ये ॥ ३ ॥

मेदोवृद्धि वाला मनुष्य क्षुद्र श्वास, तृष्णा, मोह, निद्रा, उच्छ्वासावरोध या गले में घुर्घुर शब्द से युक्त, ग्लानि, भूख, पसीना तथा दुर्गन्ध युक्त होता है और अल्पशक्ति वाला तथा अल्प मैथुन कर सकने वाला होता है ॥ ३ ॥

मेदसः स्थानमाह—

मेदस्तु सर्वभूतानामुदरे हि व्यवस्थितम् । अत एवोदरे वृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत् ॥४॥

मेद सब प्राणियों के पेट में रहता है अत एव मेदस्वी मनुष्य का प्रायः पेट बढ़ जाता है ॥४॥

मेदस्विनोऽग्निवृद्धौ हेतुमाह—

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः । चरन्सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि ॥ ५ ॥
तस्मात्स शीघ्रं जरयत्याहारञ्चाभिकाङ्क्षति । विकारांश्चाश्नुते घोरान्कांश्चित्कालव्यतिक्रमात्

छसन्धुक्षयति=प्रदीपयति । सः=मेदस्वी, आहारं शीघ्रं जरयति, पुनर्भोक्तुं वा काङ्क्षति । स दीप्ताग्निः, कालव्यतिक्रमात्=भोजनकालातिक्रमात् । कांश्चिद् विकारान्=वातपित्तविकारान् । घोरान्, अश्नुते=प्राप्नोति ॥ ५-६ ॥

मेद द्वारा वायु के मार्ग रुक जाने से वायु विशेष करके कोष्ठ में घूमता हुआ अग्नि को प्रदीप्त कर देता है और आहार को सुखा देता है। जिससे भोजन शीघ्र पच जाता है और मेदस्वी मनुष्य फिर भोजन करने की इच्छा करता है। भोजनकाल के अतिक्रमण से घोर वात तथा पित्तजन्य विकारों को प्राप्त हो जाता है ॥ ५-६ ॥

एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ । एतौ हि दहतः स्थूलं वनं दावानिलौ यथा ॥ ७ ॥

छ'एते वातपित्ते मेदसाऽवरुद्धे विशेषादुपद्रवकरे' इत्याह—एताविति । एतौ पित्तमारुतौ मेदसा रुद्धमार्गत्वात्, कोष्ठमध्ये च प्रवृद्धौ सन्तौ विशेषादुपद्रवकरौ । दहतः=नाशयेताम् ॥

मेद द्वारा मार्ग के अवरुद्ध हो जाने के कारण अग्नि तथा वायु विशेषतः उपद्रवों को उत्पन्न कर देते हैं। जिस प्रकार दावाग्नि तथा वायु वन को जला देते हैं उसी प्रकार ये अग्नि तथा वायु स्थूल मनुष्य को नष्ट कर देते हैं ॥ ७ ॥

मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः । विकारान्दारुणान्कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम् ॥८॥

छमेदसोऽतिवृद्धिर्विनाशहेतुश्चेत्याह—मेदसीति । विकारान्=प्रमेहपिडिकाज्वरभगन्दरविद्रधिवातरोगाणामन्यतमान् ॥ ८ ॥

मेद के अत्यन्त बढ़ जाने पर वायु इत्यादि सहसा प्रमेहपिडिका, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि तथा वात रोग इत्यादि दारुण विकारों को उत्पन्न करके जीवन का नाश कर डालते हैं ॥ ८ ॥

अतिस्थूलस्य लक्षणमाह—

मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः । अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥ ९ ॥

मेद तथा मांस के अत्यन्त बढ़ जाने के कारण चूतड़, पेट तथा स्तन हिलते रहते हैं । बेकायदे आदमी मोटा हो जाता है और उसमें उचित उत्साह नहीं रहता । ऐसा मनुष्य अतिस्थूल कहलाता है॥

अतिस्थूलताया वैगुण्यमाह—

स्थूले स्युर्दुस्तराः कुष्ठा विसर्पाः सभगन्दराः । ज्वरातीसारमेहार्शःश्लीपदापचिकामलाः ।
मेदसः स्वेददौर्गन्ध्याज्जायन्ते जन्तवोऽणवः ॥ १० ॥

***जन्तवः = क्रिमयः ॥ १० ॥**

स्थूल मनुष्य को दुस्तर कुष्ठ, विसर्प, भगन्दर, ज्वर, अतीसार, प्रमेह, अर्श, श्लीपद, अपची और कामला रोग हो जाते हैं । मेद से पसीने में दुर्गन्ध उत्पन्न होती है जिसके कारण छोटे २ कृमि उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १० ॥

मेदोवृद्धिचिकित्सामाह—

पुराणाः शालयो मुद्गाः कुलत्थोद्दालकोद्रवाः । लेखना बस्तयश्चैव सेव्या मेदस्विना सदा ॥
धूमपानं तथा क्रोधो रक्तमोक्षणमेव च । जीर्णे च भोजनं कार्यं यवगोधूमयोः सदा ॥१२॥
उपवासोऽसुखा शय्या सत्त्वौदार्यं तमोजयः । सन्तर्पणकृतैर्दोषैः स्थौल्याद् युक्त्या विमुच्यते॥
श्रमचिन्ताव्यवायाध्वक्षौद्रजागरणप्रियः । हन्त्यवश्यमतिस्थौल्यं यवश्यामाकभोजनः ॥१४॥

मेदस्वी पुरुष सदा पुराना शालिचावल, मूंग, कुलथी, वनकोदो, कोदो तथा लेखन वस्ति का सेवन करे । धूमपान, क्रोध, रक्तमोक्षण, भोजन के जीर्ण हो जाने पर जौ तथा गेहूँ के बने पदार्थों का हमेशा भोजन करे । उपवास, असुखकर शय्या पर सोना, मन की उदारता, तथा निद्रा इत्यादि तमोगुण का जीतना इनसे स्थूलता दूर होती है । सन्तर्पणकृत दोषों से उत्पन्न स्थूलता से मनुष्य इस युक्ति से मुक्त हो जाता है:—परिश्रम, चिन्ता, स्त्रीप्रसंग, मार्ग का अत्यन्त चलना, मधु का सेवन तथा रात्रिजागरण इन उपायों से प्रीति करने वाला तथा सांवां का भोजन करने वाला मनुष्य अतिस्थौल्य को अवश्य नष्ट कर देता है ॥ ११-१४ ॥

सचव्यजीरकव्योषहिङ्गुसौवर्चलानलाः । मस्तुना शक्तवः पीता मेदोघ्ना वह्निदीपनाः ॥१५॥

चव्य, जीरा, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हींग, कालानमक तथा चित्त के चूर्ण को दही के पानी में डाल कर इसके साथ सत्तू मिलाकर पीने से मेद नष्ट हो जाता है तथा अग्नि प्रदीप्त होती है ॥१५॥

फलत्रयं त्रिकटुकं सतैलं लवणान्वितम् । षण्मासादुपयोगेन कफमेदोऽनिलापहम् ॥ १६ ॥

हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मिर्च, पिप्पली के चूर्ण को तेल तथा नमक मिला कर ६ महीने तक उपयोग करने से कफ, मेद तथा वायु नष्ट हो जाती है ॥ १६ ॥

विडङ्गं नागरं क्षारः काललोहरजो मधु । यवामलकचूर्णन्तु योगोऽतिस्थौल्यनाशनः ॥१७॥

वायविडङ्ग, सोंठ, जवाखार, कान्तलौह भस्म, जौ तथा आंवले के चूर्ण को मधु मिला कर सेवन करने से अतिस्थूलता नष्ट होती है ॥ १७ ॥

मूलं वा त्रिफलाचूर्णं मधुयुक्तं मधूदकम् । बिल्वादिपञ्चमूलस्य प्रयोगः क्षौद्रसंयुतः ॥ १८ ॥
अतिस्थौल्यहरः प्रोक्तो मण्डकः सेवितो ध्रुवम् ॥ १९ ॥

मूली अथवा त्रिफले के चूर्ण को मधु मिला मधूदक (मधु का शर्बत) के साथ सेवन करने से अथवा बृहत्पञ्चमूल के चूर्ण का मधु मिलाकर प्रयोग करने से अथवा मांड का सेवन करने से अतिस्थूलता अवश्य नष्ट हो जाती है ॥ १८-१९ ॥

कर्कशदलवह्निसलिलं शतपुष्पाहिङ्गुसंयुक्तम् । पिबतो निहन्ति नियतं सर्वभवां मेदसां वृद्धिम्॥

परवल के पत्ते तथा चित्त के क्वाथ में सौंफ तथा हींग का चूर्ण मिलाकर पीने से सम्पूर्ण दोषों से उत्पन्न उदरगत मेदोवृद्धि अवश्य नष्ट हो जाती है ॥ २० ॥

क्षारं वातारिपत्रस्य हिङ्गुयुक्तं पिबेन्नरः। मेदोवृद्धिविनाशाय भक्तं मण्डसमन्वितम् ॥२१॥

एरण्डपत्र के क्षार को हींग मिलाकर पीने से तथा मांड़ भात खाने से मेदोवृद्धि नष्ट हो जाती है॥

गवेधुकानां पिष्टानां यवानाञ्चाथ शक्तवः। सक्षौद्रत्रिफलाक्वाथः पीतो मेदोहरो मतः ॥२२॥

गवेधुक (धान्य विशेष) का आंटा अथवा जौ का सत्तू या मधुमिश्रित त्रिफले के क्वाथ को पीने से मेद नष्ट हो जाती है ॥ २२ ॥

गुडूचीत्रिफलाक्वाथस्तथा लोहरजोऽन्वितः। अश्मजं महिषाक्षं वा तेनैव विधिना पचेत् ॥

गुडूची, हरड़, बहेड़ा तथा आँवला इनके क्वाथ में लौहभस्म मिलाकर पीने से मेदोवृद्धि नष्ट होती है। शिलाजीत अथवा महिषाक्ष गुग्गुलु को उपर्युक्त गुडूची इत्यादि के क्वाथ के साथ विधिपूर्वक पकाकर खाने से मेदोवृद्धि नष्ट होती है ॥ २३ ॥

अतिमुक्तबीजमध्यं मधुलीढं हन्त्युदरवृद्धिम्। मधुना चित्रकमूलं तथैव हितभोजनो भुङ्क्ते

यद्वोरुबूकमूलं मधुदिग्धं स्थाप्यते निशां सकलाम्।

तस्य सलिलस्य पानाज्जठरे वृद्धिः शमं याति ॥ २५ ॥

अतिमुक्त (माधवीलता) के बीज के मध्य भाग (मींगी) को मधु मिलाकर चाटने से उदरवृद्धि नष्ट होती है। चित्त की जड़ के चूर्ण को मधु मिलाकर चाटने से अथवा एरण्डमूल को रातभर मधु में भिगो कर प्रातःकाल निचोड़ कर उसके रस को पीने से तथा हितकर आहार करने से उदरवृद्धि शान्त हो जाती है ॥ २४-२५ ॥

प्रातर्मधुयुतं वारि सेवितं स्थौल्यनाशनम्। उष्णमन्नस्य मण्डं वा पिबन्कृशतनुर्भवेत् ॥ २६ ॥

प्रातःकाल मधुमिश्रित जल को पीने से स्थूलता नष्ट हो जाती है। अथवा भात के उष्ण मांड़ को पीने से मनुष्य का शरीर कृश हो जाता है ॥ २६ ॥

बदरीपत्रकल्केन पेया काञ्जिकसाधिता। स्थौल्यनुत्स्यादग्निमन्थरसक्वाथः शिलाजतु ॥२७॥

बेर के पत्तों का कल्क डालकर काञ्जी द्वारा पकाइ गई पेया का सेवन करने से अथवा अरनी के क्वाथ में शिलाजीत को मिलाकर पीने से स्थूलता नष्ट हो जाती है ॥ २७ ॥

शैलेयकुष्ठागुरुदेवदारुकौन्तीसमुस्तान्यथ पञ्चपत्रैः।
श्रीवासपृक्काखरपुष्पदेवपुष्पं तथा सर्वमिदं प्रपिष्य।
धत्तूरपत्रस्य रसेन गाढमुद्वर्त्तनं स्थौल्यहरं प्रदिष्टम् ॥ २८ ॥

शिलाजीत, कूठ, अगर, देवदारु, रेणुका, नागरमोथा, चण्डालकन्द, श्रीवास, स्पृक्का, दौना तथा लौंग इनको धतूर के पत्तों के रस से पीसकर गाढ़ा उबटन लगाने से स्थूलता नष्ट हो जाती है ॥२८॥

अमृतादिगुग्गुलुमाह—

अमृतात्रुटिवेल्लवत्सकं कलिपथ्याऽमलकानि गुग्गुलुः।
क्रमवृद्धमिदं मधुप्लुतं पिडिकास्थौल्यभगन्दराञ्जयेत् ॥ २९ ॥

गुडूची १ भाग, छोटी इलायची २ भाग, वायविडङ्ग ३ भाग, इन्द्रजौ ४ भाग, हरड़ ५ भाग, बहेड़ा ६ भाग, आँवला ७ भाग तथा गुग्गुलु ८ भाग इन सबको मधु मिलाकर सेवन करने से पिडिका, स्थूलता तथा भगन्दर नष्ट हो जाते हैं ॥ २९ ॥

दशाङ्गगुग्गुलुमाह—

व्योषाग्नित्रिफलामुस्तविडङ्गैर्गुग्गुलुंसमम्। खादन्सर्वाञ्जयेद् व्याधीन्मेदःश्लेष्मामवातजान्॥

सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, नागरमोथा तथा वायविडङ्ग इन सबके चूर्ण के बराबर गुग्गुलु मिलाकर खाने से मेद, कफ, आम तथा वायु से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ३० ॥

त्र्यूषणादिगुग्गुलुमाह—

त्र्यूषणाग्निघनवेल्लवचाभिर्भक्षयन्समघृतं महिषाक्षम्।
आशु हन्ति कफमारुतमेदोदोषजान्बलवतोऽपि विकारान् ॥ ३१ ॥

सोंठ, मिर्च, पिप्पली, चित्त, नागरमोथा, वायविडङ्ग तथा वच इन सबका चूर्ण करके सबके बराबर महिषाक्ष गुग्गुलु मिलावे और गुग्गुलु के बराबर घी मिला दे। यह 'त्र्यूषणादि गुग्गुलु' कफ, वात तथा मेदो दोष से उत्पन्न होने वाले समस्त बलवान् विकारों को शीघ्र नष्ट कर देता है ॥३१॥

लोहरसायनमाह—

गुग्गुलुस्तालमूली च त्रिफला खदिरं वृषम् । त्रिवृताऽलम्बुषा शुण्ठी निर्गुण्डी चित्रकस्तथा ॥
एषां दशपलान्भागांस्तोये पञ्चाढके पचेत् । पादशेषं ततः कृत्वा कषायमवतारयेत् ॥ ३३ ॥
पलद्वादशकं देयं रुक्मलोहं सुचूर्णितम् ॥ ३४ ॥
पुराणसर्पिषः प्रस्थं शर्कराऽष्टपलोन्वितम् । पचेत्ताम्रमये पात्रे सुशीते चावतारिते ॥ ३५ ॥
प्रस्थार्द्धं माक्षिकं देयं शिलाजतु पलद्वयम् । एलात्वचोः पलार्द्धञ्च विडङ्गानि पलत्रयम् ॥३६॥
मरिचं चाञ्जनं कृष्णा द्विपलं त्रिफलाऽन्वितम् । पलद्वयन्तु कासीसं सूक्ष्मचूर्णीकृतं बुधैः ॥
चूर्णं दत्त्वा सुमथितं स्निग्धे भाण्डे निधापयेत् । ततः संशुद्धदेहस्तु भक्षयेदक्षमात्रकम् ॥३८॥
अनुपानं पिबेत्क्षीरं जाङ्गलानां रसं तथा । वातश्लेष्महरं श्रेष्ठं कुष्ठमेहोदरापहम् ॥ ३९ ॥
कामलां पाण्डुरोगञ्च श्वयथुं सभगन्दरम् । मूर्च्छामोहविषोन्मादगराणि विषमाणि च ॥४०॥
स्थूलानां कर्षणं श्रेष्ठं मेदुरे परमौषधम् । कर्षयेच्चातिमात्रेण कुक्षिं पातालसन्निभम् ॥ ४१ ॥
बल्यं रसायनं मेध्यं वाजीकरणमुत्तमम् । श्रीकरं पुत्रजननं वलीपलितनाशनम् ॥ ४२ ॥
नाश्नीयात्कदलीकन्दं काञ्जिकं करमर्दकम् । करीरं कारवेल्लञ्च ककारादि विवर्जयेत् ॥४३॥

गुग्गुलु, स्याह मूसली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, खैर, अडूसा, निशोथ, गोरखमुण्डी, सोंठ, निर्गुण्डी तथा चित्त इन सब ओषधियों को ४०-४० तोले लेकर ५ आढ़क (२० सेर) जल में पकावे। चतुर्थांश जल शेष रहने पर काढ़े को उतार ले। फिर इस क्वाथ में ४८ तोले उत्तम लोह भस्म, ६४ तोले पुराना घी तथा ३२ तोले चीनी डालकर तांबे के बर्तन में फिर पकावे। फिर उतार कर शीतल होने पर उसमें ३२ तोले मधु, ८ तोले शिलाजीत, २ तोले इलायची, २ तोले दालचीनी, १२ तोले वायविडङ्ग, ८ तोले मिर्च, ८ तोले रसौत, ८ तोले पिप्पली, ८ तोले त्रिफला तथा ८ तोले कासीस इन सब ओषधियों का सूक्ष्म चूर्ण डालकर अच्छी तरह से मथ कर चिकने बर्तन में रख दे। तत्पश्चात् वमन-विरेचन इत्यादि से शरीर की शुद्धि करके इस 'लोहरसायन' को १ तोले की मात्रा में खावे। और अनुपान के लिये दूध तथा जाङ्गल जीवों का मांसरस पीवे। इसके सेवन से वात, कफ, कुष्ठ, प्रमेह, उदर रोग, कामला, पाण्डुरोग, शोथ, भगन्दर, मूर्च्छा, मोह, विष, उन्माद, गर विष तथा विषमज्वर नष्ट हो जाते हैं। यह स्थूल मनुष्यों का भली भाँति कर्षण करता है तथा मेदरोगी की परमौषधि और पाताल के समान पेट को भी अत्यन्त कृश कर देता है। लोहरसायन बलवर्द्धक, रसायन, मेधावर्द्धक, उत्तम वाजीकरण, लक्ष्मीदायक, पुत्र उत्पन्न करने वाला तथा वली और पलित को नाश करने वाला है। इसके सेवन काल में केलाकन्द, कांजी, करौना, करील तथा करैला इन ककारादि को त्याग देना चाहिये ॥ ३२-४३ ॥

लोहारिष्टमाह—

शालसारादिनिर्यूहं चतुर्थांशावशेषितम् । परिस्रुतं ततः शीतं मधुना मधुरीकृतम् ॥ ४४ ॥
फाणितीभावमापन्नं गुडं शोधितमेव च । सूक्ष्मपिष्टानि चूर्णानि पिप्पल्यादेर्गणस्य च ॥४५॥
ऐकध्यमावपेत्कुम्भे संस्कृते घृतभाविते । पिप्पलीचूर्णमधुभिः प्रलिप्ते चान्तरे शुचौ ॥ ४६ ॥
सूक्ष्माणि तीक्ष्णलोहस्य तनुपत्राणि बुद्धिमान् । खदिराङ्गारतप्तानि बहुशः प्रक्षिपेद् बुधः ॥
सुपिधानं ततः कृत्वा यवपल्ले निधापयेत् । मासांस्त्रींश्चतुरो वाऽपि यावद्वा लोहसंक्षयात् ॥
ततो जातरसं जन्तुः प्रातः प्रातर्यथाबलम् । उपयुञ्ज्याद्यथायोग्यमाहारं चास्य कल्पयेत् ॥
एष स्थूलं समाकर्षेन्नष्टस्याग्नेः प्रबोधनः । शोथघ्नः कुष्ठमेहघ्नो गुल्मपाण्ड्वामयापहः ॥५०॥
प्लीहोदरहरः शीघ्रं विषमज्वरनाशनः । अभिष्यन्दापहरणे लोहारिष्टो महागुणः ॥ ५१ ॥

शालसारादिगण की ओषधियों के क्वाथ को चतुर्थांशावशिष्ट रहने पर उतार कर छान ले। फिर इस क्वाथ के शीतल हो जाने पर मधु द्वारा मीठा करे। फिर इस क्वाथ, गुड़ की चासनी तथा पिप्पल्यादिगण की ओषधियों के सूक्ष्म चूर्ण को घी चुपड़े हुए तथा भीतर से पिप्पली चूर्ण और मधु से प्रलिप्त पवित्र घड़े में रख दे। फिर बुद्धिमान् वैद्य तीक्ष्ण लोह के सूक्ष्म तथा पतले पत्रों को खदिर की अग्नि में बारम्बार तपाकर उसमें डाले, तत्पश्चात् घड़े के मुख को भली भांति बन्द करके घड़े को जौ की राशि में तीन चार महीने तक अथवा जब तक लोहपत्र गल न जायँ तब तक रक्खे जब लोहा गल कर रसरूप हो जाय तो 'लोहारिष्ट' को सिद्ध समझना चाहिये। इस अरिष्ट को बलानुसार प्रतिदिन प्रातः काल सेवन करे तथा उचित आहार की व्यवस्था करे तो स्थूल मनुष्य अच्छी तरह से कृश हो जाता है। नष्ट हुई अग्नि जग जाती है। शोथ, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, पाण्डु-रोग, प्लीहा तथा उदर रोग नष्ट हो जाते हैं और विषमज्वर शीघ्र नष्ट हो जाता है। यह 'लोहारिष्ट' अभिष्यन्दको दूर करने में महागुणकारी है॥ ४४-५१॥

व्योषाद्यशक्तुप्रयोगमाह—

व्योषचित्रकशिग्रूणि त्रिफलां कटुरोहिणीम्। बृहत्यौ द्वे हरिद्रे च पाठामतिविषां स्थिराम्॥
हिङ्गुकेबुकमूलानि यवानीं धान्यचित्रकम्। सौवर्चलमजाजीञ्च हपुषां चेति चूर्णयेत्॥५२॥
चूर्णतैलघृतक्षौद्रभागाः स्युर्मानतः समाः। शक्तूनां षोडशगुणो भागः सन्तर्पणं पिबेत्॥
प्रयोगास्यस्य शाम्यन्ति रोगाः सन्तर्पणोत्थिताः। प्रमेहा मूढवाताश्च कुष्ठान्यर्शांसि कामलाः॥
प्लीहा पाण्ड्वामयः शोथो मूत्रकृच्छ्रमरोचकः। हृद्रोगो राजयक्ष्मा च कासश्वासौ गलग्रहः॥
क्रिमयो ग्रहणीदोषः श्वैत्र्यं स्थौल्यमतीव च। नराणां दीप्यते वह्निः स्मृतिर्बुद्धिश्च वर्द्धते॥

सोंठ, मिर्च, पिप्पली, चित्त, सहजन, हरड़, बहेड़ा, आंवला, कुटकी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, हल्दी, दारुहल्दी, पाठा, अतीस, शालिपर्णी, हींग, सुपारी की जड़, अजवायन, धनियां, चित्त, काला नमक, काला जीरा तथा हाऊबेर इन ओषधियों का चूर्ण बना ले। फिर १ भाग चूर्ण, १ भाग तेल, १ भाग घी, एक भाग मधु तथा १६ भाग सत्तू लेकर सबको एक साथ मिलाकर इस सन्तर्पण को पीवे तो इस प्रयोग से सन्तर्पण से होने वाले रोग, प्रमेह, मूढवात, कुष्ठ, अर्शरोग, कामला, प्लीहा, पाण्डु रोग, शोथ, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, हृद्रोग, राजयक्ष्मा, कास, श्वास, गलग्रह, कृमिरोग, ग्रहणीदोष, श्वेत कुष्ठ तथा अतिस्थूलता ये व्याधियां शान्त होती हैं। मनुष्यों की जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा स्मरणशक्ति और बुद्धि बढ़ती है॥ ५२-५७॥

त्रिफलाऽऽद्यतैलमाह—

त्रिफलातिविषामूर्वात्रिवृच्चित्रकवासकैः। निम्बारग्वधषड्ग्रन्थासप्तपर्णनिशाद्वयैः॥ ५८॥
गुडूचीन्द्रासुरीकृष्णाकुष्ठसर्षपनागरैः। तैलमेभिः समैः पक्वं सुरसादिरसाप्लुतम्॥ ५९॥
पानाभ्यञ्जनगण्डूषनस्यबस्तिषु योजितम्। स्थूलतालस्यपाण्ड्वादीञ्जयेत्कफकृतान्गदान्॥

हरड़, बहेड़ा, आंवला, अतीस, मूर्वा, निशोथ, चित्त, अडूसा, नीम, अमलतास, वच, सतौना, हल्दी, दारुहल्दी, गुडूची, इन्द्रवारुणी, पिप्पली, कूठ, सरसों तथा सोंठ इनको समान भाग में लेकर कल्क बनाकर इस कल्क से पकाये हुये तैल को सुरसादिगण की ओषधियों के क्वाथ के साथ पीने से अभ्यङ्ग, गण्डूषधारण, नस्य तथा बस्ति में उपयोग करने से स्थूलता, आलस्य तथा पाण्डुता इत्यादि कफजन्य समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ५८-६०॥

महासुगन्धितैलमाह—

चन्दनं कुङ्कुमोशीरप्रियङ्गुत्रुटिरोचनाः। तुरुष्कागुरुकस्तूरीकर्पूरा जातिपत्रिका॥ ६१॥
जातीकङ्कोलपूगानां लवङ्गस्य फलानि च। नलिका नलदं कुष्ठं हरेणु तगरं प्लवम्॥ ६२॥
नवव्याघ्रनखं स्पृक्का चोलं दमनकं तथा। स्थौणेयकं चोरकञ्च शैलेयं सैलवालुकम्॥ ६३॥
सरलं सप्तपर्णञ्च लाक्षा तामलकी तथा। लामज्जकं पद्मकञ्च धातक्याः कुसुमानि च॥ ६४॥

प्रपौण्डरीकं कचूरं समांशैः शाणमात्रकैः। महासुगन्धमित्येतत्तैलप्रस्थेन साधयेत् ॥ ६५ ॥
प्रस्वेदजलदौर्गन्ध्यकण्डूकुष्ठहरं परम्। अनेनाभ्यक्तगात्रस्तु वृद्धः सप्ततिकोपि वा ॥ ६६ ॥
युवा भवति शुक्राढ्यः स्त्रीणामत्यन्तवल्लभः। सुभगो दर्शनीयश्च गच्छेच्च प्रमदाशतम् ॥६७॥
वन्ध्यापि लभते गर्भं पण्ढोपि पुरुषायते। अपुत्रः पुत्रमाप्नोति जीवेच्च शरदां शतम् ॥६८॥

इति महासुगन्धितैलम्।

चन्दन, केशर, खस, फूलप्रियङ्गु, छोटी इलायची, गोरोचन, लोहवान, अगर, कस्तूरी, कपूर, जावित्री, जायफल, कंकोल, सुपारी, लौंग, नली, जटामांसी, कूठ, रेणुका, तगर, केवटीमोथा, नवीन व्याघ्र नख, स्पृक्का, बोल, दौना, स्थौणेयक, चोरक, छारछबीला, एलुआ, सरल काष्ठ, सतौना, लाख, आँवला, लामज्जक, कमल, धाय के फूल, पुंडरीक कमल तथा कचूर इन प्रत्येक ओषधियों को १-१ शाण (३-३ माशे) लेकर कल्क बनाकर इस कल्क से १ प्रस्थ (६४ तोले) तेल को सिद्ध करे। तो 'महासुगन्धि तैल' सिद्ध हो जाता है। इस तेल के उपयोग से पसीना, मलजन्य दुर्गन्धि, कण्डू तथा कुष्ठ भली भाँति नष्ट हो जाते हैं। इस तेल का अभ्यङ्ग करने से ७० वर्ष का वृद्ध-युवा, वीर्य का निधान, स्त्रियों को अत्यन्त प्रिय, भाग्यवान, दर्शनीय तथा १०० स्त्रियों के साथ रमण करने में समर्थ होजाता है। वन्ध्या स्त्री भी पुत्र को प्राप्त करती है, नपुंसक भी पौरुष को प्राप्त करता है, पुत्रहीन पुत्र को प्राप्त करता है तथा मनुष्य १०० वर्ष तक जीता है ॥ ६१-६८ ॥

वासादलरसो लेपाच्छङ्खचूर्णेन संयुतः। बिल्वपत्ररसो वापि गात्रदौर्गन्ध्यनाशनः ॥ ६९ ॥

अडूसे के पत्तों के रस का शंखभस्म मिलाकर लेप करने से अथवा बेल के पत्तों के रस का लेप करने से शरीर की दुर्गन्धि नष्ट होती है ॥ ६९ ॥

अलम्बुषाभवं चूर्णं पीतं काञ्जिकसंयुतम्। दौर्गन्ध्यं नाशयत्याशु दुष्टं मेदोभवं नृणाम् ॥७०॥

गोरखमुण्डी के चूर्ण को काञ्जी के साथ पीने से मनुष्यों की मेदोजन्य तीव्र दुर्गन्धि शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥ ७० ॥

बिल्वशिवा समभागा लेपाद् भुजमूलगन्धमपहरति।
परिणतपिडिकाश्चापि पूतिकरञ्जोत्थबीजं वा ॥ ७१ ॥

बेल के पत्ते तथा हरड को समान भाग में लेकर पीसकर लेप करने से कक्ष प्रदेश की दुर्गन्धि नष्ट होती है। पूतिकरञ्ज के बीजों को पीसकर लेप करने से शरीर की दुर्गन्धि तथा दूषित पिडिका की दुर्गन्धि नष्ट होती है ॥ ७१ ॥

चिञ्चापत्रस्वरसं म्रक्षितकल्कादियोजितं जयति।
दग्धहरिद्रोद्वर्त्तनमचिराच्चिरदेहदौर्गन्ध्यम् ॥ ७२ ॥

इमली के पत्तों के स्वरस को किसी सुगन्धित द्रव्यके कल्क के साथ मिलाकर लेप करने से शरीर की दुर्गन्धि नष्ट हो जाती है। जली हुई हल्दी के कल्क का उबटन करने से शीघ्र शरीर की दुर्गन्धि नष्ट होती है ॥ ७२ ॥

शिरीषलामज्जकहेमलोध्रैस्त्वग्दोषसंस्वेदहरः प्रघर्षः।
पत्राम्बुलोहाभयचन्दनानि शरीरदौर्गन्ध्यहरः प्रदेहः ॥ ७३ ॥

सिरसा, लामज्जक, नागकेशर तथा लोध इनके चूर्ण को शरीर पर रगड़ने से चर्मविकार तथा पसीने का आना नष्ट हो जाता है। तेजपात, सुगन्धवाला, अगर, खस तथा सफेद चन्दन को पीसकर शरीर पर लेप करने से शरीर की दुर्गन्धि नष्ट होती है ॥ ७३ ॥

हिलमोचिरसो युक्तश्चूर्णैरुदधिफेनजैः। प्रलेपेन हरत्याशु देहदौर्गन्ध्यमुत्कटम् ॥ ७४ ॥

समुद्रफेन के चूर्ण को हिलमोचिका (शाकविशेष या ब्राह्मी) के रस में पीसकर लेप करने से शरीर की उत्कट दुर्गन्धि शीघ्र दूर हो जाती है ॥ ७४ ॥

हरीतकीं तु सम्पिष्य गात्रमुद्वर्त्तयेन्नरः । पश्चात्स्नानं प्रकुर्वीत देहस्वेदप्रशान्तये ॥ ७५ ॥

शरीर के पसीने को बन्द करने के लिये हरड़ों को पीसकर उबटन करने के बाद में स्नान कर लेना चाहिये ॥ ७५ ॥

हरीतकी लोध्रमरिष्टपत्रं चूतत्वचो दाडिमवल्कलञ्च ।
एषोऽङ्गरागः कथितोऽङ्गनानां जम्ब्वाः कषायस्तु नराधिपानाम् ॥ ७६ ॥

हरड, लोध, नीम के पत्ते, आम की छाल तथा अनार की छाल को पीसकर प्रलेप करने से शरीर की दुर्गन्धि दूर होती है। यह अङ्गराग स्त्रियों के लिये कहा गया है । जामुन के काढ़े से स्नान करने से शरीर की दुर्गन्धि दूर होती है । यह प्रयोग राजाओं के लिए कहा गया है ॥ ७६ ॥

गोमूत्रपिष्टं विनिहन्ति कुष्ठं वर्णोज्ज्वलं गोपयसा च युक्तम् ।
कक्षादिदौर्गन्ध्यहरं पयोभिः शस्तं वशीकृद्रजनीद्वयेन ॥ ७७ ॥

उपर्युक्त हरडे, लोध, नीम के पत्ते, आम की छाल तथा अनार की छाल को गोमूत्र में पीसकर प्रलेप करने से कुष्ठ रोग नष्ट होता है । गोदुग्ध के साथ पीसकर लेप करने से वर्ण उज्ज्वल होता है। जल में पीसकर लेप करने से कक्षा इत्यादि की दुर्गन्धि दूर होती है । तथा हल्दी और दारुहल्दी के साथ पीस कर लेप करने से वशीकरण होता है ॥ ७७ ॥

बब्बूलस्य दलैः सम्यग्वारिणा परिपेषितैः । गात्रमुद्वर्त्तयेत्पश्चाद्धरीतक्या सुपिष्टया ॥ ७८ ॥
भूय उद्वर्त्तनं कृत्वा पश्चात्स्नानं समाचरेत् । प्रस्वेदान्मुच्यते शीघ्रं ततस्त्वेवं समाचरेत् ॥७९॥

बबूल के पत्तों को पानी में अच्छी तरह से पीसकर उबटन करके बाद में स्नान कर डाले । इस प्रकार करने से शीघ्र ही अधिक पसीने का आना बन्द हो जाता है ॥ ७८–७९ ॥

बिल्वाम्रजम्बूफलपूरकाणां पत्रैः कपित्थस्य दलानुमिश्रैः ।
आपूर्ववत्कर्मविधानयोगैर्वचा विशोध्या वरगन्धहेतोः ॥ ८० ॥

बेल, आम, जामुन, बिजौरा नीबू और कैथ के पत्तों को अच्छी तरह से पीसकर उबटन करके तत्पश्चात् वच को पीसकर उबटन करे । और बाद में पूर्ववत् स्नान करा डाले तो शरीर में सुन्दर गन्ध आने लगती है ॥ ८० ॥

पथ्यानखीचन्दनकुष्ठसर्जैः पुनःपुनश्चागुरुशर्कराभ्याम् ।
धूपो जनानां हृदयापहारी विख्यातनामा मलयानिलोऽयम् ॥ ८१ ॥

हरड, नखी, सफेद चन्दन, कूठ, राल, अगर तथा चीनी द्वारा बारम्बार धूप देने से शरीर में सुगन्धि उत्पन्न हो जाती है । मनुष्यों के मन को मुग्ध करने वाला यह धूप 'मलयानिल' नाम से विख्यात है ॥ ८१ ॥

चण्डांशुकतिलैर्लोध्रशिरीषोशीरकेशरैः । उद्वर्त्तनं भवेद् ग्रीष्मे स्वेदकर्मनिवारणम् ॥ ८२ ॥

दारुहल्दी, तिल, लोध, सिरस, खस तथा केशर इनको पीसकर उबटन लगाने से ग्रीष्मऋतु में पसीने का अधिक आना बन्द हो जाता है ॥ ८२ ॥

सुरया सममभयाफलचूर्णं मधुना विलिह्य प्रत्यूषे ।
स्वेदान्हत्वा लभते पुरुषोप्यत्यन्तसौरभ्यम् ॥ ८३ ॥

हरड के चूर्ण को मदिरा अथवा मधु के साथ प्रातःकाल चाटने से पसीने का आना बन्द हो जाता है और शरीर सुगन्धित हो जाता है ॥ ८३ ॥

मल्लीकुसुमाभयकरिलेपो घर्मे विचर्चिकादाहे ।
विचकिलपत्रहरिद्रे पर्कटिपत्रञ्च दूर्वया सहितम् ॥ ८४ ॥
सम्पिष्य गात्रलेपाद्धर्मविचर्चौ शमं याति ॥ ८५ ॥

बेलमोगरा, लौंग, खस तथा नागकेसर को पीसकर उबटन करने से पसीना का आना, विचर्चि

का तथा दाह दूर हो जाता है। दौना के पत्ते, हल्दी, पाकड़ के पत्ते तथा दूब इन सबको पीसकर शरीर पर लेप करने से पसीने का आना तथा विचर्चिका शान्त हो जाती है॥ ८४-८५॥

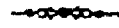
हस्तपादस्रुतौ योज्यो गुग्गुलुः पञ्चतिक्तकः। अशक्तौ पञ्चतिक्ताख्यं घृतं खादेदतन्द्रितः॥८६॥

इत्येकोनचत्वारिंशत्तमः स्थौल्याधिकारो वा मेदोरोगाधिकारः समाप्तः॥ ३९॥



हाथों और पैरों में यदि अधिक पसीना होता हो तो गुग्गुल और 'पञ्चतिक्त' घृत का उपयोग करना चाहिये। यदि शरीर में शक्ति न हो तो आलस्यरहित होकर 'पञ्चतिक्त घृत' का सेवन करना चाहिये॥ ८६॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां-
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकोनचत्वारिंशत्तमः स्थौल्याधिकारो वा
मेदोरोगाधिकारः समाप्तः॥ ३९॥



अथ चत्वारिंशत्तमः कार्श्याधिकारः॥ ४०॥

तत्र कार्श्यस्य निदानमाह—

वातो रूक्षान्नपानानि लङ्घनं प्रमिताशनम्। क्रियाऽतियोगः शोकश्च वेगनिद्राविनिग्रहः॥१॥
नित्यं रोगो रतिर्नित्यं व्यायामो भोजनाल्पता। भीतिर्धनादिचिन्ता च कार्श्यकारणमीरितम्

***लङ्घनम् = उपवासः। प्रमितम् = अल्पम्। क्रियाऽतियोगः=वमनविरेकाद्यतिविधानम्। वेगनिद्राविनिग्रहः= निद्रानिग्रहो विशोषाय॥ १-२॥**

वायु, रूक्ष अन्नपान का सेवन, उपवास, अल्प भोजन, अधिक मात्रा में वमन तथा विरेचन का प्रयोग, शोक, मल-मूत्रादि के वेगों को तथा निद्रा के वेग को रोकना, नित्य रोगी रहना, नित्य मैथुन करना, निरन्तर व्यायाम, भोजन का कम मिलना, डर तथा धन इत्यादि की चिन्ता ये सब कृशता के कारण कहे गये हैं। निद्रा को रोकने से शीघ्र कृशता उत्पन्न होती है॥ १-२॥

कृशलक्षणमाह—

शुष्कस्फिगुदरग्रीवाधमनीजालसन्ततिः। त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वानरो मतः॥३॥

जिसका श्रोणि प्रदेश, उदर तथा गरदन सूखा हुआ हो, शरीर में धमनी का जाल फैला हुआ दिखाई देता हो, चमड़ा तथा अस्थिमात्र शेष हो और मुख तथा जोड़ मोटे हो गये हों तो उस मनुष्य को अत्यन्त कृश कहा जाता है॥ ३॥

अतिकृशस्य रोगानाह—

प्लीहकासक्षयश्वासगुल्मार्शांस्युदराणि च।
भृशं कृशं प्रधावन्ति रोगाश्च ग्रहणीमुखाः। कश्चिदन्यः कृशोऽतीव बलवान्दृश्यते तदा॥४॥

अत्यन्त कृश मनुष्य को प्लीहा, कास, राजयक्ष्मा, श्वास, गुल्म, अर्शरोग, उदरविकार तथा ग्रहणी रोग दौड़ कर पकड़ लेते हैं। कोई कोई कृश मनुष्य तो अत्यन्त बलवान् भी दिखलाई पड़ते हैं॥

सत्यपि कार्श्ये बलवत्त्वकारणमाह—

आधानसमये यस्य शुक्रभागोऽधिको भवेत्। मेदोभागस्तु हीनः स्यात्स कृशोऽपि महाबलः॥

***यस्याधानसमये जनयितुः शुक्रस्याधिक्यं भवति, मेदसोऽल्पता, तस्य कृशस्यापि बहुबलमित्यर्थः॥ ५॥**

गर्भाधान के समय जिसमें पिता के शुक्र का भाग अधिक होता है और मेद का भाग कम आया होता है वह कृश मनुष्य भी महा बलवान् होता है॥ ५॥

सत्यामपि स्थूलतायां बलहीनत्वकारणमाह—

मेदसस्त्वधिको यस्य शुक्रभागोऽल्पको भवेत् । स स्निग्धोऽपि सुपुष्टोऽपि बलहीनो विलोक्यते

क्षकस्य चित् स्थूलस्यापि तादृग्बलं न दृश्यते, तत्र हेतुमाह–मेदेति । व्याख्यानं पूर्ववत् ॥

गर्भाधान के समय जिसमें पिता के वीर्य का भाग अल्पमात्रा में तथा मेदा का भाग अधिक मात्रा में आ जाता है वह स्निग्ध तथा सुपुष्ट होने पर भी बलहीन दिखाई देता है ॥ ६ ॥

कार्श्यचिकित्सामाह—

रूक्षान्नादिनिमित्ते तु कृशे युञ्जीत भेषजम् । बृंहणं बलकृद् वृष्यं तथा वाजीकरञ्च यत् ॥ ७ ॥

जो मनुष्य रूक्ष अन्न इत्यादि के सेवन करने से कृश हो गया है उसके लिये धातुओं को बढ़ाने वाले, बलवर्द्धक, वृष्य तथा वाजीकरण औषधि का उपयोग करना चाहिये ॥ ७ ॥

पीताऽश्वगन्धा पयसाऽर्द्धमासं घृतेन तैलेन सुखाम्बुना वा ।
कृशस्य पुष्टिं वपुषो विधत्ते बालस्य सस्यस्य यथाऽम्बुवृष्टिः ॥ ८ ॥

१५ दिन तक असगन्ध के चूर्ण को दूध, घी, तेल अथवा उष्ण जल के साथ सेवन करने से कृश मनुष्य के शरीर की इस प्रकार पुष्टि होती है कि जिस प्रकार जलवृष्टि से छोटे धान्यों की पुष्टि होती है॥

अश्वगन्धातैलमाह—

अश्वगन्धस्य कल्केन क्वाथे तस्मिन्पयस्यपि । सिद्धं तैलं कृशाङ्गानामभ्यङ्गादङ्गपुष्टिदम् ॥९॥

असगन्ध के क्वाथ, कल्क तथा दूध में सिद्ध तेल के अभ्यङ्ग से कृश मनुष्यों के अङ्ग पुष्ट होते हैं ॥९॥

पुष्टिकृद्बालरोगोक्तमश्वगन्धाघृतं भजेत् । वाजीकरोदितं तद्वदश्वगन्धाघृतादिकम् ॥ १० ॥

बालरोगाधिकार तथा वाजीकरणाधिकार में कहे गये 'अश्वगन्धाघृत' का सेवन करना चाहिये । ये पुष्टिकारक हैं ॥ १० ॥

असाध्यकार्श्यमाह—

स्वभावादतिकार्श्यो यः स्वभावादल्पपावकः । स्वभावादबलो यश्च तस्य नास्ति चिकित्सितम्

इति चत्वारिंशत्तमः कार्श्याधिकारः समाप्तः ॥ ४० ॥



जो मनुष्य स्वभावतः अत्यन्त कृश होता है, स्वभावतः अल्प अग्नि वाला होता है तथा स्वभावतः निर्बल होता है उसकी चिकित्सा नहीं है ॥ ११ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां-
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे चत्वारिंशत्तमः कार्श्याधिकारः समाप्तः ॥ ४० ॥



अथैकचत्वारिंशत्तम उदराधिकारः ॥ ४१ ॥

उदरस्य निदानमाह—

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च । अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायते मलसञ्चयात् ॥१॥

क्षअग्नौ मन्दे सर्वे रोगा जायन्ते । किन्तु–सुतराम् = अतिशयेन, उदराणि जायन्ते । अपरानपि हेतूनाह—अजीर्णाद् मलिनैश्चान्नैः = अत्यन्तदोषजनकैः । मलसञ्चयाद्=मलानां= दोषाणां पुरीषस्य चातिवृद्धेः । अत्रोदरशब्देनोदरस्थो रोग उच्यते । यत आह—

अर्थतो धर्मतः साम्यात्तत्समीपतयाऽपि च ।
तत्साहचर्याच्छब्दानां वृत्तिरुक्ता चतुर्विधा ॥ १ ॥ इति ॥ १ ॥

यों तो अग्नि के मन्द हो जाने पर सम्पूर्ण रोग उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु अधिकतर उदर रोग उत्पन्न होते हैं । अजीर्ण से, अत्यन्त दोषोत्पादक अन्नों के खाने से तथा दोषों और विष्ठा की

अधिक वृद्धि से भी[1] उदररोग उत्पन्न हो जाते हैं। मूल श्लोक में जो उदर शब्द है उससे उदरस्थ रोग समझा जाता है। क्योंकि कहा है कि 'अर्थ से, धर्म की समानता से, समीप रहने से तथा साहचर्य से इस प्रकार शब्दों की वृत्ति ४ प्रकार की होती है॥ १॥ इति॥ १॥

उदररोगसम्प्राप्तिमाह—

रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि सञ्चिताः। प्राणानपानान्संदूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम्॥

---

१. यहां पर उदर शब्द से अभिप्राय है उभारयुक्त उदरस्थ रोग। यहां पर उदर शब्द के प्रयोग की यह विशेषता है कि उससे रोग के स्थान तथा रोग के प्रधान लक्षण (उभार) का बोध होता है। क्योंकि निम्न नियम के अनुसार शब्दों की चार प्रकार की वृत्तियां मानी गई हैं। यथाः-

'तात्स्थ्यतद्धर्मताभ्यां च तत्समीपतयाऽपि च। तत्साहचर्याच्छब्दानां वृत्तिरेषा चतुर्विधा॥

पाश्चात्त्य वैद्यक में उदर रोग के लिये जेनेरलाइज्ड एवडामिनल इन्लार्जमेन्ट्स शब्दका प्रयोग होता है।

उदर का उभार प्रायः निम्न कारणों से होता है—

१—मेदोवृद्धि—इससे उदर फूलता है, परन्तु नाभि के गर्त्त में कोई अन्तर नहीं उत्पन्न होता। उदर के साथ २ शरीर के अन्य स्थानों में मेदोवृद्धि के लक्षण (चलस्फिगुदरस्तनः। चरकः) मिलते हैं। पार्श्व कम फूले होते हैं। उदरभित्ति पर अंगुली से पीडन करने पर गढ़ा नहीं बनता और अंगुलि ताडन करने पर कुछ निनादित (Pesonant) ध्वनि मिलती है।

२—वायु—आन्त्र में वायु-सञ्चय होने से भी उदर फूलता है। अंगुलिताडन करने से इसमें ढोल के समान सर्वत्र निनादित ध्वनि मिलती है। करवट बदलने से भी ध्वनि में कोई फर्क नहीं होता। वातोदर में आध्मान होता है और उसमें अंगुलिताडन करने से ढोलवत् ध्वनि होती है। यथा :—आहतमाध्मातदृतिशब्दवत् (वातपूर्णचर्मशब्दवत्) भवति। चक्रपाणिः।

आध्मान में कब्ज, शूल तथा गुडगुड शब्द इत्यादि अन्य लक्षण भी साथ होते हैं। कब्ज, अग्निमान्द्य, आन्त्र की दुर्बलता तथा आन्त्रावरोध इत्यादि के कारण आध्मान होता है। कभी २ इसमें आन्त्र की गेंडुलियां और गति भी दिखाई देती हैं। कभी २ आमाशय या आन्त्र में छेद बनने से वायु उदरावरण की गुहा में इकट्ठी होती है। इसमें उदर अधिक फूलता है। आघात ध्वनि अधिक ऊँची होती है। रोगी अवसन्न (Collapsed) होकर थोड़े समय में मरता है।

३—जल—उदरावरणगुहा में जब जल इकट्ठा होता है तब उसे जलोदर कहते हैं। इसके लक्षणादि का विवरण आगे इसी अधिकार में किया जा रहा है। कभी २ उदर की दीवाल में जल इकट्ठा होने से उदर फूला-सा दीखता है। परन्तु इसमें अंगुलिपीडन से गढ़ा पड़ता है। दोनों पार्श्व और वस्तिप्रदेश में सूजन अधिक होती है और हाथ, पैर तथा मुख इत्यादि शरीर के अन्य अङ्गों पर भी सूजन मिलती है। क्योंकि उदर-प्राचीर-शोथ सर्वांग-शोथ का प्रादेशिक लक्षण होता है।

४—मल—जीर्णमलावरोध से भी पेट फूलता है। इसमें टटोलने पर मल तथा उसकी गांठें प्रतीत होती हैं और दबाने पर वे दब जाती हैं या विभक्त हो जाती हैं। इसके साथ सिरदर्द, मन्दाग्नि, आलस्य तथा आध्मान इत्यादि लक्षण भी होते हैं। बद्धगुदोदर मलसंचयजन्य उदररोग है। दो एकबार विरेचन का प्रयोग कर देने से मलसंचयजन्य उदर का उभार प्रायः घट जाता है।

६—उदरस्थ अङ्गों का परिमाण बढ़ना—उदरस्थ प्रत्येक अङ्ग का परिमाण बढ़ने से तमाम उदर फूल नहीं सकता। परन्तु वस्ति, गर्भाशय, बीजकोष, यकृत् तथा प्लीहा का परिमाण अत्यधिक बढ़ने से समस्त उदर फूला सा दिखाई देता है।

वस्ति—मूत्र के रुक जाने से वस्ति का परिमाण बढ़ता है। इसको मूत्रजठर (Distended bladder) कहते हैं। इससे भगास्थि के ऊपर उदर का मध्यभाग फूलता है, उस पर अङ्गुलिताडन

सञ्चित हुये दोष स्वेदवह तथा जलवह स्रोतसों को अवरुद्ध करके और प्राण तथा अपान वायु को दूषित करके मनुष्यों को उदररोग उत्पन्न कर देते हैं ॥ २ ॥

उदररोगस्य सामान्यरूपमाह—

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता। शोथः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः। दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ॥ ३ ॥

आध्मान, चलने में असमर्थता, दुर्बलता, मन्दाग्नि, शोथ, अङ्गों की शिथिलता, अपानवायु तथा मल का अवरोध, दाह और तन्द्रा ये सब लक्षण सम्पूर्ण उदरविकार में होते हैं ॥ ३ ॥

उदररोगस्य सन्निकृष्टनिदानपूर्विकां संख्यामाह—

पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः। सम्भवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥४॥

वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, सन्निपातोदर, प्लीहोदर, बद्धोदर, क्षतोदर तथा जलोदर भेद से उदररोग आठ प्रकार के होते हैं। अब उनमें से प्रत्येक के अलग-अलग लक्षणों को सुनिये ॥ ४ ॥

तत्र वातोदरस्य लक्षणमाह—

तत्र वातोदरे शोथः पाणिपान्नाभिकुक्षिषु। कुक्षिपार्श्वोदरकटीपृष्ठरुक्पर्वभेदनम् ॥ ५ ॥
शुष्ककासोऽङ्गमर्दश्च गुरुतामलसंग्रहः। श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद्ध्रासवृद्धिमत् ॥ ६ ॥
सतोदभेदमुदरं तनुकृष्णशिराततम्। आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च ॥ ७ ॥
वायुश्चात्र सरुक्छब्दो विचरेत्सर्वतो गतिः ॥ ८ ॥

***'पाणिपादि'त्यत्र व्यञ्जनान्तः पाच्छब्द आर्षत्वात्। 'कुक्षिपार्श्वोदरे'त्यत्र कुक्षिशब्द उदरस्य वामदक्षिणभागद्वयवाची। सर्वतो गतिः=सकलकोष्ठे सञ्चरन् ॥ ६–८ ॥**

वातोदर में हाथ, पैर, नाभि तथा कुक्षिमें शोथ होता है। कुक्षि, पार्श्व, उदर तथा पीठ में पीड़ा होती है। जोड़ों में टूटने के समान व्यथा होती है, शुष्क कास, अङ्गों का टूटना, गुरुता, मल का संग्रह, त्वचा इत्यादि का काला और रक्त वर्ण हो जाना, व्यथा का एकाएक घटना और बढ़ना, पेट में सुई चुभाने के समान तथा भेदने के समान पीड़ा, उदर प्रदेश का पतली तथा कृष्णवर्ण की शिराओं से व्याप्त रहना, पेट पर हाथ से मारने से फूले हुए मशक के समान शब्द का होना ये लक्षण तथा समस्त कोष्ठों में विचरण करती हुई वायु पीडा तथा शब्द को करती है ॥ ५–८ ॥

पित्तोदरलक्षणमाह—

पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृट् कटुकास्यता। भ्रमोऽतिसारः पीतत्वं त्वगादावुदरं हरित् ॥
पीतताम्रशिरानद्धं सस्वेदं सोष्म दह्यते। धूमायते मृदुस्पर्शः क्षिप्रपाकं प्रदूयते ॥ १० ॥

***हरित्=शाकवर्णात्मकम्। सोष्म=अन्तस्तापयुक्तम्। दह्यते=बहिर्दाहयुक्तं भवति। धूमायते=धूममिवोद्गमति। क्षिप्रपाकं=क्षिप्रपाकाज्जलोदरं जायते। प्रदूयते=व्यथते ९–१०**

करने से ध्वनि मन्द होती है, परन्तु दोनों पार्श्वों में निनादित होती है, शनैर्मेह होता है तथा कैथिटर डालने पर उदर का उत्सेध नष्ट होता है।

गर्भाशय—गर्भवृद्धि के कारण गर्भाशय सब से अधिक बढ़ता है। कभी २ गर्भोदक की प्रचुरता होती है तब उदर जलोदर की भांति मालूम पड़ता है। इस अवस्था को जलगर्भ (Hydramnios) कहते हैं। दोनों अवस्थाओं में मासिक धर्म का बन्द होना, स्तनों की कृष्णता तथा गर्भस्पन्द इत्यादि गर्भावस्था के लक्षण होते हैं। बीजकोष ग्रन्थि, प्लीहोदर तथा यकृद्दाल्युदर का विवरण इस अधिकार में आगे किया गया है।

६—कैन्सर (Cancer)–उदरावरण में कैन्सर होने से भी पेट फूलता है। इसमें टटोलने पर गांठें मालूम होती हैं, उदर में जल इकट्ठा होता है, रोगी कृश होता जाता है, कक्षा या वंक्षण की ग्रन्थियां फूलती हैं और शरीर के अन्य स्थान में मूल कैन्सर का पता चल जाता है। उदर का निदान करते समय इन बातों पर ध्यान देना चाहिये।

पित्तोदर में ज्वर, मूर्च्छा, दाह, पिपासा, मुख का कडुवापन, भ्रम, अतीसार, त्वचा इत्यादि का पीलापन, उदर प्रदेश का शाक के समान हरितवर्ण, पीत तथा ताम्रवर्ण की शिराओं से व्याप्त होना, पसीनायुक्त-भीतर उष्णता तथा बाहर दाह होना, धूवाँ सा वमन, स्पर्श में मृदु, शीघ्र पकने वाला तथा व्यथायुक्त होता है। शीघ्र पक जाने से जलोदर उत्पन्न हो जाता है॥ ९-१०॥

कफोदरलक्षणमाह—

श्लेष्मोदरेऽङ्गसदनं श्वयथुर्गौरवं तथा। तन्द्रोत्क्लेशोऽरुचिः स्वापः कासः शौक्ल्यं त्वगादिषु॥ उदरं स्तिमितं स्निग्धं शुक्लराजीततं महत्। चिराभिवृद्धि कठिनं शीतस्पर्शं गुरु स्थिरम्॥

*गौरवमङ्गानाम्। तन्द्रा = निद्राबाहुल्यम्। उत्क्लेशो = हृल्लासः। स्वापः = स्पर्शाज्ञता। शुक्लराजीततं = शुक्लशिराव्याप्तम्॥ ११-१२॥

कफोदर में अङ्गों की शिथिलता, शोथ, गुरुता, तन्द्रा, वमन करने की इच्छा, अरुचि, अङ्गों में स्पर्शाज्ञान, कास, त्वचा इत्यादि में शुक्लता, उदरप्रदेश का गीले चमड़े से ढका सा प्रतीत होना, स्निग्धता, श्वेतवर्ण की शिराओं से व्याप्त होना, बड़ा, बहुत दिनों में बढ़ने वाला, कठिन, स्पर्श में शीतल, गुरु तथा स्थिर होना ये लक्षण होते हैं॥ ११-१२॥

सन्निपातोदरलक्षणमाह—

स्त्रियोऽन्नपानं नखलोममूत्रविडार्त्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाच्च॥ १३॥
तस्याशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः कुर्युः सुघोरं जठरं त्रिलिङ्गम्।
तच्छीतवाते भृशदुर्दिने च विशेषतः कुप्यति दह्यते च॥ १४॥
स चातुरो मूर्च्छति हि प्रसक्तं पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च।
दूष्योदरं दीत्तितमेतदेव प्लीहोदरं कीर्त्तयतो निबोध॥ १५॥

*'स्त्रिय' इत्यविवेकिसन्निहितजनोपलक्षणम्। ताश्च स्वसौभाग्यमिच्छन्त्यः। विड्— मार्जारादीनाम्। आर्त्तवं=रजः। अरयो वा। गरान्=संयोगजानि विषाणि। दुष्टमम्बु=सविषमत्स्यतृणपर्णादियुक्तम्। दूषीविषं=विषमेवाग्न्याद्युपघातेन स्वल्पप्रभावम्। यत उक्तम्—

'जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं च।
स्वभावतो वा गुणविप्रयुक्तं विषं हि दूषीविषतामुपैति'॥ २॥

गुणविप्रयुक्तं = गुणवियुक्तम्॥ २॥

तद् = उदरं, शीतादिषु कुप्यति, तत्र दूषीविषस्य प्रकोपात्। मूर्च्छति विषयोगात्। प्रसक्तं = निरन्तरम्। एतदेव = सन्निपातोदरं तन्त्रान्तरे—दूष्योदरं कीर्त्तितम्। अथ वा— परस्परं दूषयन्ति दोषा एव दूष्याः, तैः कृतमुदरं दूष्योदरम्॥ १३-१५॥

बुरे आचरण वाली स्त्रियां अपने सौभाग्य की इच्छापूर्ति के लिये जिस मनुष्य को नख, रोम, मूत्र, बिलाव इत्यादि का मल तथा आर्त्तव से युक्त अन्न-पान कराती हैं (यहां पर स्त्री शब्द से अन्य भी अविवेकी मनुष्यों का ग्रहण होता है) अथवा शत्रुवर्ग जिस मनुष्य को संयोगज विषों को खिलाते हैं या विषयुक्त मछलियाँ, तृण तथा पत्ते इत्यादि से दूषित हुये जल, दूषीविष इत्यादि के सेवन से शीघ्र उस मनुष्य का प्रकुपित रक्त तथा कुपित हुये दोष महादारुण तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त उदर रोग को उत्पन्न कर देते हैं। यह उदररोग शीतलवायु के समय में तथा अत्यन्त मेघाच्छन्न दिन में विशेष प्रकार से प्रकोप तथा दाह कराता है। वह रोगी मूर्च्छित हो जाता है क्योंकि ऐसे समय में दूषीविष का प्रकोप होता है। और विष के संयोग से मूर्च्छा होती है। वह रोगी मनुष्य निरन्तर पाण्डुवर्ण, कृश, तृषार्त्त और शोषयुक्त होता है। यह उदररोग सन्निपातोदर कहलाता है और अन्य तन्त्रों में इसको दूष्योदर भी कहा गया है क्योंकि दोष परस्पर दूसरे दोष को दूषित करते हैं। इसमें

दोष ही दूष्य होते हैं और इसी लिये उनसे किया हुआ उदररोग 'दूष्योदर' कहलाता है। अब प्लीहोदर को कहते हैं सुनो। ऊपर दूषीविष का सेवन सन्निपातोदर का कारण माना गया है। दूषीविष से अग्नि इत्यादि के उपघात के कारण अल्प प्रभावयुक्त विष का ग्रहण होता है, जैसा कि कहा भी है कि–'पुराना, विषघ्न ओषधियों से आहत अथवा दावाग्नि, वायु तथा धूप से शोषित अथवा स्वभावतः गुणहीन विष दूषीविषता को प्राप्त होता है' ॥ १२–१५ ॥

प्लीहोदरलक्षणमाह—

वर्द्धते प्लीहवृद्ध्या यद्विद्यात्प्लीहोदरं हि तत्। हृद्वामे वर्द्धते पार्श्वे निमित्तं तत्र यस्य यत् ॥
प्रवृद्धे प्लीह्नि लिङ्गानि यान्युक्तानि भिषग्वरैः। प्लीहोदरेपि दृश्यन्ते तानि सर्वाणि देहिनाम्
प्लीहोदरस्यैव भेदो यकृद्दाल्युदरं तथा ॥ १७ ॥
सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रवृद्धे ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव ॥ १८ ॥

***तस्य पुनरपि विशेषत्वमित्याह—सव्येति। यकृद्दालयति=दोषैर्भिनत्तीति यकृद्दाल्युदरम्। तदेव=उदरमेव ॥ १८ ॥**

प्लीहा की वृद्धि के कारण जो उदर बढ़ता है उसे [1]प्लीहोदर जानना चाहिये। वह प्लीहा वाम पार्श्व में होती है। और प्लीहवृद्धि के जो कारण तथा लक्षण होते हैं वे ही सब इस प्लीहोदर रोग में भी उत्तम वैद्यों द्वारा कहे गये हैं। यकृद्दाल्युदर नामक उदर रोग भी प्लीहोदर का एक भेद

---

१. प्लीहोदर को अंग्रेजी में क्रानिक इन्लार्जमेन्ट ऑफ् दी स्प्लीन (Chronic Enlargement of the Spleen) कहते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक खोज से यह सिद्ध हुआ है कि प्लीहा का रक्त के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यद्यपि पूर्णरूपेण प्लीहा के विशेष कार्य अज्ञात हैं, तथापि अनुमान से प्लीहा के निम्न कार्य माने जाते हैं—

१—रक्तकणों की उत्पत्ति करना। अपने यहां भी प्लीहा को रञ्जकपित्त का स्थान माना गया है और यह भी माना गया है कि वहां पर रस जाकर रक्तवर्ण को धारण कर लेता है। यथा :—

'यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा, स रसस्य रागकृदुक्तः।
सु० सू० अ० २१ सूत्र ९।

२—श्वेत कणों का बनाना।

३—जो लाल कण अपना कार्य कर चुके हैं और जिनकी आयु पूरी हो चुकी है उनका नाश करना।

४—रक्त का संचय करना।

५—शरीर पर आक्रमण करके रक्त में प्रविष्ट हुए विकारी जीवाणुओं से मुकाबला करके शरीर की रक्षा करना। इस प्रकार जब रक्त में दोष उत्पन्न हो जाता है तथा रक्त में रोग के जीवाणु प्रविष्ट हो जाते हैं तब प्लीहा का कार्य बढ़ जाता है, और इस बढ़े हुये कार्य को पूरा करने के लिये प्लीहा की भी धीरे २ वृद्धि हो जाती है जिसको कि प्लीहोदर कहते हैं। अपने यहां भी रक्त दोष को ही प्लीहोदर का प्रधान निदान माना गया है। यथा—

विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च।
प्लीहाभिवृद्धिं सततं करोति प्लीहोदरं तत् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥

पाश्चात्य विज्ञान में निम्न अनेक रक्तदोषोत्पादक कारण प्लीहा-वृद्धि के कारण माने जाते हैं यथाः—

१—श्वेतकणाभिवृद्धि (ल्यूकोमिया Leukaemia) के विविध प्रकार जैसे—स्प्लीनोमेडुलरी (Splenomedullary), लिम्फेटिक (Lymphatic) तथा मिश्र (Mixed)। प्लीहक पाण्डुरोग (Splenic anaemia) और दुष्ट पाण्डु रोग (Pernicious anaemia)।

है। किन्तु यह यकृद्दाल्युदर दक्षिण पार्श्व में स्थित यकृत् के बढ़ने पर होता है ऐसा समझना चाहिये। इस रोग में दोषों के कारण यकृत् विदीर्ण हो जाता है इसीलिये [1]यकृद्दाल्युदर कहा गया है १६-१८

बद्धगुदोदरलक्षणमाह—

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत्।
सञ्चीयते यस्य मलो नरस्य शनैः शनैः सङ्करवच्च नाड्याम् ॥ १९ ॥
निरुध्यते तस्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादति चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति तस्योदरं बद्धगुदं वदन्ति ॥ २० ॥

*उपलेपिभिः=शाकशाल्कादिभिः। बालाश्मभिः=वालुकाभिः, शर्करैर्वा। यथावद्= यस्य यत् सम्भवति। मलः = पुरीषम्। सङ्करवत्=संमार्जनीक्षिप्ततृणधूल्यादिवत्। नाड्याम्=अन्त्रनाड्याम्। हृन्नाभिमध्ये=हृन्नाभ्योर्मध्ये ॥ १९–२० ॥

अन्न, शाक तथा कमल की जड़ इत्यादि, बालू, पत्थर के टुकड़े इत्यादि से जिस मनुष्य की आंत अत्यन्त ढक जाती है इससे धीरे धीरे झाड़ू से बहारे हुये कूड़े के समान आन्त्रनाड़ी में मल सञ्चित हो जाता है तब गुदा में मल का अवरोध हो जाता है और कष्ट के साथ थोड़ी २ मात्रा में मल बाहर निकलता है और हृदय तथा नाभि के बीच में पेट की वृद्धि होती है, इसे [2]बद्धगुदोदर कहते हैं॥

२—जीवाणुजन्यरोग—जीर्ण विषज्वर, काला अजार, हॉजकिन (Hgodkin) का रोग और फिरङ्ग। इनके अतिरिक्त यकृताभिवृद्धि (Girrhosis of the Liver) तथा प्लीहा के अर्बुद इत्यादि।

१. जिसमें प्लीहा के साथ यकृत् की भी वृद्धि होती है उसे यकृद्दाल्युदर कहते हैं। अंग्रेजी में यकृद्दाल्युदर को इन्लार्जमेन्ट आफ् दी स्प्लीन विद इन्लार्ज्ड लिवर (Eenlargement of the Spleen with enlarged Liver) कहते हैं। केवल यकृत् की वृद्धि (Enlarged Liver) को यकृद्दाल्युदर नहीं कह सकते। उसके निम्न लिखित कारण हैं यथा :—

१—डल्हणाचार्य अपनी टीका में लिखते हैं कि—

तदेव प्लीहोदरं यकृद्दाल्युदरं ज्ञेयम्, क ज्ञेयमित्याह–यकृति कालखण्डे किं भूते ? प्रदुष्टे।

२—अपने इस भावप्रकाश में भी लिखा है कि:–'प्लीहोदरस्यैव भेदो यकृद्दाल्युदरं तथा।'

३—आयुर्वेद में कहीं भी यकृद्दाल्युदर के लिये स्वतन्त्र स्थान नहीं है उसका समावेश प्लीहोदर में ही किया जाता है। उसका कारण तथा उसकी चिकित्सा भी प्लीहोदर के ही समान होती है। उसकी स्वतन्त्र संख्या भी नहीं गिनी जाती है। तथा उसको यकृत् प्लीहोदर भी कहा जाता है। यथा:—

'तुल्यहेतुलिङ्गौषधत्वात्तस्य प्लीहजठर एवावरोध इत्येतद्यकृत्प्लीहोदरं विद्यात्'।

(चरक–उदरचिकित्सा)।

४—आधुनिक विकृति–विज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो यह कह सकते हैं कि प्लीहावृद्धि के लिये ऊपर रक्तविकार तथा विषमज्वरादि जो रोग बतलाये गये हैं, उनमें प्रायः एक अवस्था अवश्य आती है जिसमें यकृत् भी प्रदुष्ट होकर कुछ बढ़ जाता है।

५—केवल यकृत् की वृद्धि का विचार किया जाय तो भी यह कह सकते हैं कि प्लीहावृद्धि न होकर यकृत् की उतनी वृद्धि कचित् होती है जिसमें उस वृद्धि के कारण पेट उदर के समान फूला हुआ दिखाई देता है।

२. बद्धगुदोदर को पाश्चात्य वैद्यक में पेल्वी–रेक्टल कांस्टीपेशन–(Pelvi–Rectal Constipation) कहते हैं।

आन्त्रमार्ग में अवरोध उत्पन्न करने वाले ही इसके निम्न कई कारण होते हैं यथा:—

१—कठिन मल (Due to hard and bulky faeces)

क्षतोदरलक्षणमाह—

शल्यं तथाऽन्नोपहितं यदन्त्रं भुक्तं भिनत्त्यागतमन्यथा वा।
तस्मात्स्रुतोऽन्त्रात्सलिलप्रकाशः स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः ॥ २१ ॥
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं निस्तुद्यते दाल्यति चातिमात्रम्।
एतत्परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं क्षतोदरं कीर्त्तयतो निबोध ॥ २२ ॥

शल्यं=कण्टकशर्कराऽदि। अन्नोपहितं भुक्तं यदन्त्रं भिनत्ति। तथा–अन्यथा आगतं=भोजनं विना आगतम्। शरादितरथाऽपि यदन्त्रं भिनत्ति तद्, उपलक्षणम्। जृम्भणमत्यशनं वा यदन्त्रं भिनत्ति। यत उक्तं चरके—
शर्करातृणकाष्ठास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः। भिद्येतान्त्रं यदा भुक्तं जृम्भयाऽत्यशनेन चेत् ॥३॥
तस्माद्=भिन्नाद्, आन्त्रात्। गुदतस्तु भूयः=अन्त्रात् संस्रुत्य पुनर्गुदतः स्रवेदित्यर्थः। दाल्यति=विदार्यत एव। पदसिद्धिरार्षत्वात्। एतत् क्षतोदरं, तन्त्रान्तरे—परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं=कथितम् ॥ २१–२२ ॥

अन्न के साथ खाया हुआ अथवा अन्य प्रकार से पेट में आया हुआ कांटा इत्यादि शल्य आंतों का भेदन कर देता है जिसके कारण आंत से पानी के समान स्राव होता है। अथवा गुदा द्वारा स्राव

२—मलाशय अथवा गुदभाग का संकोच (Stricture of the Rectum onus)

३—स्फिक्टर एनाई नामक मांसपेशी का संकोच (Spasm of the Spinctor or enter ospasm)।

४—अर्श (Haemorrhoids)

५—आन्त्रदौर्बल्य (Due to weariness of the Intestines)।

६—एक्यूट इन्टेस्टाइनल आवस्ट्रक्शन (Acute Intestinal obstruction)

इन उपर्युक्त कारणों से आन्त्रमार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाने से आन्त्र में मल का संचय होने लगता है। इसी संचय के कारण उदर फूल आता है। और बद्धगुदोदर कहलाने लगता है।

ऊपर जो कुछ पाश्चात्य मतानुसार आन्त्रावरोधकारक कारण बताये गये हैं। वे सभी निम्न चरकोक्त श्लोक से मिलते-जुलते हैं यथाः—
'पक्ष्मवालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे। उदावर्त्तैस्तथाऽर्शोभिरन्त्रसम्मूर्च्छनेन वा।
अपानो मार्गसंरोधाद्धात्वग्निकुपितोऽनिलः। वर्चः पित्तकफान् रुद्ध्वा जनयत्युदरं ततः।
चरक–उदरचिकित्सा–श्लो० ३९–४०।

जब मल का नीचे का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तब आन्त्र में उलटी गति उत्पन्न हो जाती है जो कि अपनी भाषा में 'प्रतिलोमगत वायु'.के कारण होती हैं ऐसा माना जायगा। इस उलटी गति के कारण आन्त्रस्थित सभी पदार्थ मुख द्वारा बाहर निकला करते हैं और अन्त में वमन में मल की उपस्थिति तथा गन्ध भी रहता है। मल के समान दुर्गन्ध युक्त छर्दि क्षुद्रान्त्र में ऊपर की ओर अवरोध उत्पन्न होने से बहुत शीघ्र तथा बहुत अधिक हुआ करता है, और यदि रुकावट स्थूलान्त्र म हो तो देर से और कम हुआ करती है। अपने यहां सुश्रुत में इस विषय का ठीक ऐसा ही विवरण मिलता है यथाः—

'निरुद्ध्यते चास्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति तच्चोदरं विट्समगन्धिकं च।
प्रच्छर्दयन् बद्धगुदी विभाव्यः। सु० नि० अ० ७ श्लो० १७।

बद्धगुदोदर का यह उपद्रव असाध्य माना जाता है। अपने यहां भी कहा है कि
'छर्दिर्वेगवती मूत्रशकृद्ग्रन्थिः सचन्द्रिका। हन्ति'। अष्टाङ्गहृदय शा० अ० ५ श्लो० ७७।

होता है नाभि के नीचे पेट बढ़ जाता है। सूचीभेदनवत् पीड़ा होती है। फाड़ने के समान अत्यन्त व्यथा होती है। इस उदररोग को [1]'क्षतोदर' कहते हैं। अन्य ग्रन्थों में इसे 'परिस्राव्युदर' कहते हैं। जृम्भा आने से अथवा अधिक मात्रा में भोजन करने से जो आन्त्रभेद हो जाता है और उससे आंतों में से पानी के समान स्राव होता है और बाद में गुदा द्वारा स्राव होता है इसे भी क्षतोदर कहा जाता है जैसा कि चरक ने भी कहा है कि—'बालू, तृण, काष्ठ, अस्थि या कांटे के साथ पेट में चले जाने से अथवा जृम्भा आने या अधिक मात्रा में भोजन करने से आन्त्र विद्ध हो जाता है तब आंतों में निकला हुआ स्राव बाद में गुदा द्वारा निकलता है इसे क्षतोदर कहते हैं॥ २१-२२॥

दकोदरलक्षणमाह—

यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोऽप्यथ वा निरूढः।
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दूष्यन्ति हि तद्वहानि॥ २३॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथ वाऽपि तेषु दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति।
स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि समन्ततः पूर्णमिवाम्बुना च।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते वाऽप्युदकोदरं तत्॥ २४॥

*स्नेहपीतः='पीत' इत्यत्राध्यवसितादित्वात् कर्त्तरि क्तः। यश्च स्नेहपीत इति तत् पुनरार्षः, तेन स्नेहं पीतवानित्यर्थः। अनुवासितो वा=गृहीतानुवासनवस्तिः। वान्तः=अत्रापि पूर्ववत् कर्त्तरि क्तः। तेन वान्तवानित्यर्थः। एवं विरिक्तः=विरिक्तवान्। तथा निरूढः=गृहीतनिरूढवस्तिः। स चेदाशु शीतलं जलं पिबेत्। तस्य तद्वहानि=जलवहानि

---

१. क्षतोदर को पाश्चात्य वैद्यक में आन्त्रछेदजन्य उदरावरण शोथ (Peritonitis Due to Perforation of the bowel) कहते हैं।

अस्थिकण्टक तथा सुई इत्यादि शल्य, अन्न के साथ आन्त्र में प्रविष्ट होने पर यदि सीधे नीचे चले जांय तब आन्त्रच्छेद होने की कोई सम्भावना नहीं होती किन्तु टेढ़ होने पर छेद होता है यथाः—विलोमेनागतमन्त्रं भिनत्ति, ऋज्वागतं हि शल्यमपि नान्त्रभेदकम्। अन्यथा वेति जृम्भणात्यशनाभ्यामन्त्रं भिद्यते। (माधवनिदान, मधुकोशव्याख्या)।

जृम्भण तथा अत्यशन से आन्त्रच्छेद तभी हो सकता है जब आन्त्र में पहिले का व्रण उपस्थित हो। आन्त्रच्छेद में से कुछ स्राव आन्त्र में स्रवता है जो गुदामार्ग से बाहर निकलता है और कुछ स्राव आन्त्र के बाहर उदर गुहा में स्रवता है जो नाभि के नीचे के भाग में इकट्ठा होकर उदरवृद्धि को करता है। अपने यहां भी ठीक ऐसा ही वर्णन है यथाः—

शेषं चापूर्य जठरं जठरं घोरमावहेत्। वर्धते तदधो नाभेः। (अष्टाङ्गसंग्रह)।

आन्त्र से उदरगुहा में प्रविष्ट हुआ वह स्राव उदरावरण (peritoneum) में शोथ उत्पन्न करता है। इस प्रकार क्षतोदर या आन्त्रच्छेदजन्य उदरावरणशोथ (pritonitis Due to perforation of the bowel) की उत्पत्ति होती है। और 'निस्रुद्यते' इत्यादि पद में वर्णित लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। चरक में तो इससे अधिक उपद्रवों का वर्णन मिलता है यथाः—

'तदधो नाभ्यां प्रायोऽभिनिर्वर्त्तमानमुदकोदरस्य च यथाबलं च दोषाणां रूपाणि दर्शयत्यपि चातुरः स लोहितनीलपीतपिच्छिलकुणपगन्ध्यामवर्चं उपवेश्यते, हिक्काश्वासकासतृष्णाप्रमेहारोचकाविपाकदौर्बल्यपरीतश्च भवति; एतच्छिद्रोदरं विद्यात्'।

चरक० चि० अ० १३ सू० ४४।

यहां पर आन्त्र में छिद्र हो जाने के कारण नाभि के नीचे जो जल इकट्ठा हो जाता है। उसका जलोदर से कैसे भेद किया जाय, इसके सम्बन्ध में अष्टाङ्गसंग्रह में प्रकाश डाला गया है, वह यह कि—क्षतोदर में जलोदर की अपेक्षा जल शीघ्र पैदा होता है यथाः—'आशु चैति जलात्मताम्'।

स्रोतांसि दूष्यन्ति। जलवहेषु स्रोतःसु दुष्टेषु सत्सु। अन्नरस उपस्नेहन्यायेन वहिर्निःसृतो-दकोदरमायाति। तथाऽपि जले वहिर्निःसृते दकोदरमायाति। तद् = उदरम्। परिवृत्तनाभि = गम्भीरनाभि। समन्ततो जलमपयाति सर्वतः। यथा दृतिः = चर्ममयं जलाहरणपात्रं, क्षुभ्यति = अन्तर्जलद्दोलनेन सञ्चलति। कम्पते, वहिः शब्दायते=कम्पमानं सत् शब्दं करोति॥

स्नेहपान, अनुवासन वस्ति, वमन, विरेचन अथवा निरूहवस्ति लेने के वाद जो मनुष्य तत्काल शीतल जल को पी लेता है उसके जलवाही स्रोतस दुष्ट हो जाते हैं। जलवह स्रोतसों के दुष्ट हो जाने पर जिस प्रकार जल के साथ पकाये हुये अन्न में डाला हुआ घी वाहर निकल जाता है उसी प्रकार वह जल पेट में आकर गुदा द्वारा वाहर निकलने लगता है इस उदररोग को 'जलोदर' कहते हैं। नाभि गहरी और नाभि के चारों तरफ पेट वड़ा स्निग्ध और जल से भर जाता है। पेट में स्थित जल जल से भरे मशक के समान हिलाने से डोलता है। वाहर से कंपता हुआ दीखता है और कंपती हुई अवस्था से शब्द भी होता है इसको '[1]जलोदर' कहते हैं॥ २३-२४॥

---

१. जलोदर को पाश्चात्य वैद्यक में एसाइटिस (Ascites) कहते हैं।

इसके निम्न मुख्य ६ कारण माने जाते हैं—

१—यकृद्वृद्धि के कारण या यकृद्वाह्य अङ्गों की वृद्धि के कारण प्रतिहारिणी महासिरा (Portal vein) के रक्तसंचार में वाधा उत्पन्न होना।

२—(Mitral Steuose, Myocardial Depeneration)

३—वृक्करोग (Chronic and Acute Nebritis)

४—उदरावरण शोथ (Peritonitis)

५—रक्तदोष, जिनका वर्णन प्लीहोदर में किया गया है।

६—रसप्रवाह में वाधा उत्पन्न होना।

इनमें प्रतिहारिणी सिरावरोधजन्य जलोदर में अग्निमान्द्य, मलावरोध, अर्श, कामला, सिराओं की कुटिलता, यकृत् तथा प्लीहा की वृद्धि इत्यादि लक्षण होते हैं।

हृद्विकारजन्य जलोदर में दिल की धड़कन तथा पादशोथ इत्यादि लक्षण उदर में जलसंचय से पूर्व दिखाई पड़ते हैं।

वृक्कविकारजन्य जलोदर में समस्त शरीर पर विशेष करके आँखों के आस-पास, तथा पाँव पर शोथ होता है और मूत्र में मूत्रनलिकानिर्मोक (Oacasry) मिलते हैं।

उदरावरणशोथजन्य जलोदर में स्थानिक लक्षण अधिक होते हैं।

रक्तदोष जलोदर में प्लीहावृद्धि प्रायः होती है और रक्तपरीक्षा करने से निदान होता है तथा जल की राशि अल्प रहती है। रसप्रवाह के अवरोध के सम्बन्ध में श्लीपदाधिकार में विवेचना की गई है।

लक्षण—उदर प्रायः धीरे २ जल के सञ्चय से वढ़ता जाता है। और जब काफी जल इकट्ठा हो जाता है तब उसका दबाव शिरा (Vanacava) के ऊपर पड़ता है। जिनके कारण उदर प्राचीरगत शिराओं की विस्तृति और स्पष्टता प्रतीत हो जाती है। पैरों तथा जननेन्द्रियों पर शोथ आ जाता है। वृक्कों के ऊपर दवाव पड़ने से उनका कार्य ठीक नहीं होता, जिससे मूत्र की राशि अल्प हो जाती है। उसमें अलव्यूमिन (Albumin) आने लगता है। आन्त्र के ऊपर दवाव पड़ने से मलावरोध हो जाता है। महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm muscle) हृदय, यकृत् तथा प्लीहा ये अङ्ग दवाव के कारण ऊपर की ओर चले जाते हैं। इससे श्वासकृच्छ्र, दिलमें धड़कन तथा हृदय की गति में अनियमितता इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। छाती और उदर की पेशियां कृश हो जाती हैं। उदर की दीवार पर शिरायें स्पष्टतया दीखती हैं। इन स्थानिक लक्षणों के सिवाय जिस कारणसे जलोदर उत्पन्न हुआ है उसके भी लक्षण मिल सकते हैं। अपने यहां भी ठीक ऐसा ही

उदररोगस्य साध्यत्वादिकमाह—

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम्। बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम्॥
***बलिनोऽजाताम्बु नवोत्थितञ्च यत्नसाध्यमित्यन्वयः॥ २५॥**

वर्णन मिलता है किन्तु अपने यहां के वर्णन में विशेषता है कि हमारे यहां नेत्र, लिङ्ग तथा योनि इत्यादि मार्मिक अङ्गों के शोथयुक्त हो जाने पर माना जाता है जब उनके साथ अन्य सहवर्णित लक्षण भी उपस्थित हों यथा—

अनन्नकाङ्क्षापिपासागुदस्रावशूलश्वासकासदौर्बल्यान्यपि चोदरं नानावर्णराजिसिरासन्ततमुदकपूर्णदृतिक्षोभसंस्पर्शी भवति; एतदुदकोदरं विद्यात्। च० चि० अ० १३ सू० ४७॥

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम्। बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणं च संत्यजेत्।
श्वयथुः सर्वमर्मोत्थः श्वासो हिक्काऽरुचिः सतृट्। मूर्च्छा छर्द्यतिसारौ च निहन्त्युदरिणं नरम्॥
च० चि० अ० १३ श्लो० ५२-५३॥

भौतिकचिह्न (Physical Signs)

१—दर्शन-जल की राशि के अनुसार उदर न्यूनाधिक फूला हुआ रहता है। यदि जल की राशि अधिक हो और थोड़े दिनों में इकट्ठा हुई हो तो उदर का उभार आगे की ओर अधिक पड़ता है। यदि जल धीरे २ इकट्ठा हुआ हो तो आगे की अपेक्षा दोनों पार्श्वों में उदर का उभार अधिक रहता है। जल के दबाव से नीचे की दोनों तरफ की पसुलियां आगे की ओर निकली हुई दिखाई पड़ती हैं और उनके महराव कुछ अधिक चौड़े हो जाते हैं। त्वचा तनावयुक्त और चमकीली होती है। यदि जल की राशि कम हो तो ये लक्षण उत्पन्न नहीं होते। रोगी की स्थिति उसके आसन के अनुसार भिन्न २ होती है। करवट या पार्श्व में सोने पर नीचे का पार्श्व अधिक उभरा हुआ रहता है। पीठ के बल सोने पर दोनों पार्श्व उभरे हुए दिखाई देते हैं और नाभि का प्रदेश बैठा हुआ या चपटा हो जाता है। बिस्तरे पर बैठने से नाभि तथा उसके नीचे का भाग उभरा हुआ रहता है।

जब पानी की राशि बहुत अधिक हो जाती है तब आसन बदलने से उभार में फर्क बहुत कम हो जाता है। अधिक जलराशि होने पर नाभि की आकृति बदल जाती है। कभी वह सपाट और दोनों पार्श्वों की ओर खिंची हुई रहती है। और कभी प्रायः जल की विशेष अधिकता से उल्टी हो जाती है। अपने यहां भी इस रोग में नाभि की अवस्था पर प्रकाश डाला गया है, यथा—

'स्निग्धं महत्सम्परिवृत्तनाभि भृशोन्नतं पूर्णमिवाम्बुना च। सु० नि० अ० ७ श्लो० २१।

श्वास में उदर बहुत कम हिलता है या नहीं हिलता है। उदर-दीवार की शिरायें विस्तृत और स्पष्ट दिखाई देती हैं।

२—स्पर्शन-स्पर्श करने पर उदर-दीवार के तनाव का कुछ अन्दाज हो जाता है। इनके सिवाय उदर पर जरा सा आघात करने से जल की लहरियां स्पष्टतया प्रतीत होती हैं इसको कम्पन परीक्षा (Fluctuation test) कहते हैं।

३—अङ्गुलिताडन (Purcussion) जब रोगी पीठ के बल लेटता है तब दोनों पार्श्वताडन करने पर मन्द (Dull) मालूम पड़ते हैं और नाभि के आस-पास का भाग उसके पीछे जल के ऊपर अन्त्रियों के तैरने के कारण कुछ निनादित (Resonant) मालूम पड़ता है। जब रोगी एक करवट लेटता है तब नीचे का पार्श्व और नाभिप्रदेश मन्द और ऊपर का पार्श्व नादयुक्त या निनादित होता है। आसन बदलने से ध्वनि में फर्क होना यह जलोदर का एक महत्त्व का चिह्न है। जब जल की राशि बहुत अधिक हो जाती है तब इस प्रकार का फर्क नहीं मिलता। इस प्रकार उपर्युक्त स्पर्शन तथा अङ्गुलिताडन परीक्षा से वही फल मिलता है, जो कि:—

यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत्। सू० नि० अ० ७ श्लो० २१।

'४—'तोयपूर्णदृतिस्पर्शशब्दप्रक्षोभवेपथुः।' (अष्टाङ्गसंग्रह)

प्रायः सम्पूर्ण उदररोग उत्पन्न होने के समय से ही कष्टसाध्य होते हैं। बलवान पुरुष को उत्पन्न हुआ तथा जिसमें अभी तक जल नहीं उत्पन्न हुआ है और थोड़े ही समय का उत्पन्न हुआ हो ऐसा उदर रोग यत्नसाध्य है ॥ २५ ॥

पक्षाद् बद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा। प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम् ॥

क्षशरादिना छिद्रमन्त्रं यस्य तदुदरमभावाय भवति ॥ २६ ॥

बद्धगुदोदर यदि पन्द्रह दिन से अधिक का हो वह, जिनमें जल उत्पन्न हो गया हो ऐसे संपूर्ण उदर रोग तथा बाण इत्यादि के लगने से आंत्र में छेद हो गया हो ऐसा उदर रोग प्रायः मनुष्यों को मारने ही के लिए होता है ॥ २६ ॥

जातोदकस्योदरस्य लक्षणमाह चरकः—

पयःपूर्णा दृतिरिव क्षोभे. शब्दकरं मृदुः। अप्रव्यक्तशिराशून्यं नीरात्तमुदरं महत् ॥ २७ ॥

आलस्यमास्यवैरस्यं मूत्रं बहुशकृद् द्रुतम्। जातोदकस्य लिङ्गं स्यान्मन्दाग्निः पाण्डुताऽपि च

और—उदकपूर्णदृतिक्षोभसंस्पर्शम्'। च० चि० अ० १३।

इन वाक्यों से मिलता है। इन परीक्षाओं के अतिरिक्त भी दो प्रकार की परीक्षा जलोदर के लिये की जाती है यथा—

१—नापपरीक्षा। Mensuration।—और

२—जलोदर के जल द्वारा परीक्षा—यह परीक्षा रासायनिक तथा सूक्ष्मदर्शक यन्त्रात्मक होती है। यह द्वितीय परीक्षा सर्वसाधारण के लिए बिल्कुल आवश्यक न होने के कारण नहीं दी जा रही है। किन्तु नापपरीक्षा (Mensuration) कुछ महत्त्व का है क्योंकि इस परीक्षा से बीजकोष ग्रन्थि (Ovarian cyst) तथा जलोदर में भेद करने में बहुत सहायता मिलती है। बीजकोष ग्रन्थि केवल स्त्रियों में होती है।

अब यहां पर बीजकोष ग्रन्थि तथा जलोदर-भेदक कोष्ठक दिया जा रहा है जिससे नापपरीक्षा का महत्त्व तथा दोनों में भेद ये दोनों बातें समझ में आ जायगीं:—

	बीजकोष ग्रन्थि—	जलोदर—
१—दर्शन—	कुक्षिपार्श्व सपाट तथा कुक्षिमध्य भाग उभड़ा हुआ।	कुक्षिपार्श्व उभड़ा हुआ तथा कुक्षिमध्य सपाट।
२—आघात—	कुक्षिपार्श्व पर डिम २ ध्वनि, कुक्षिमध्य में मन्दध्वनि तथा करवट बदलने से कुक्षिपार्श्व की ध्वनि में कोई अन्तर न होना।	कुक्षिपार्श्व पर मन्द ध्वनि, कुक्षिमध्य में डिम २ ध्वनि, करवट बदलने पर ऊपर की ओर डिम २ ध्वनि तथा नीचे की ओर मन्द ध्वनि।
३—नाप परीक्षा—	१-जघनकपाल पुरःकूट से नाभि की दूरी दोनों तरफ बराबर नहीं होती। २—नाभि पर उदर का घेरा नीचे की अपेक्षा कुछ कम होता है। ३—उरःफलकाग्रपत्र से नाभि की लम्बाई, नाभि से भगास्थि की लम्बाई से कम होती है।	१—दोनों तरफ समान होती है। २—किन्तु इसमें कुछ अधिक होता है। ३—किन्तु इसमें उरःफलकाग्रपत्र से नाभि की लम्बाई, नाभि से भगास्थि की लम्बाई से अधिक होती है।

पेट पानी से भरे हुए मशक के समान क्षोभ उत्पन्न करने पर शब्द करता हो, मृदु हो तथा पेट पर की शिरायें व्यक्त हों और पेट बड़ा हो ऐसे उदररोग को जलोदर समझना चाहिये। आलस्य, मुख की विरसता, मूत्राधिक्य, मल का पतला होना, मन्दाग्नि तथा पाण्डुता ये सब पेट में जल उत्पन्न हो जाने के लक्षण हैं ॥ २७-२८ ॥

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम्। बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणञ्च वर्जयेत् ॥ २९ ॥

*कुटिलोपस्थम्=वक्रमेहनम्। उपक्लिन्नतनुत्वचम्=उपरि आर्द्रा तन्वी त्वग् यस्य, तमुदरिणं विवर्जयेत् ॥ २९ ॥

जिस जलोदर रोगी की आंखें शोथयुक्त हों, लिङ्ग टेढ़ा हो गया हो, त्वचा गीली तथा पतली हो गई हो, बल-रक्त-मांस तथा अग्नि क्षीण हो गया हो तो ऐसे रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥ २९ ॥

पार्श्वभङ्गान्नविद्वेषशोफातीसारपीडितम्। विरिक्तं चाप्युदरिणं पूर्यमाणं विवर्जयेत् ॥ ३० ॥

*विरिक्तमपि पूर्यमाणं=पूर्यमाणोदरम्, उदरिणं विवर्जयेत् ॥ ३० ॥

जिस जलोदर रोगी की पसली टूट गई हो, अन्न में अरुचि हो, शोथ अथवा अतीसार से पीडित हो और विरेचन देने पर भी उदर पूर्ण हो गया हो ऐसे रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥ ३० ॥

उदररोगचिकित्सामाह—

एरण्डतैलं दशमूलमिश्रं गोमूत्रयुक्तस्त्रिफलारसो वा।
निहन्ति वातोदरशोथशूलं क्वाथः समूत्रो दशमूलजश्च ॥ ३१ ॥

दशमूल का क्वाथ मिला कर एरण्डतैल अथवा गोमूत्र मिला कर त्रिफला का रस अथवा गोमूत्र युक्त दशमूल का क्वाथ इनको पीने से वातोदर, शोथ तथा शूल नष्ट होते हैं ॥ ३१ ॥

कुष्ठादिचूर्णमाह—

कुष्ठं दन्ती यवक्षारो व्योषं त्रिलवणं वचा ॥ ३२ ॥
अजाजी दीप्यकं हिङ्गु स्वर्जिकाचव्यचित्रकम्। शुण्ठी चोष्णाम्भसा पीता वातोदररुजाऽपहा ॥

कूठ, दन्ती, जवाखार, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, सेन्धानमक, कालानमक, सांभरनमक, वच, कालाजीरा, अजवाइन, हींग, सज्जीखार, चव्य, चित्त तथा सोंठ इनके चूर्ण को गर्म जल के साथ सेवन करने से वातोदरसम्बन्धी व्यथा नष्ट होती है ॥ ३२-३३ ॥

लशुनतैलमाह—

लशुनस्य तुलामेकां जलद्रोणे विपाचयेत्। त्रिकटु त्रिफला दन्ती हिङ्गुसैन्धवचित्रकम् ॥
देवदारु वचा कुष्ठं मधु शिग्रुः पुनर्नवा। सौवर्चलं विडङ्गानि दीप्यको गजपिप्पली ॥ ३५ ॥
एतेषां पलिकान्भागांस्त्रिवृतः षट् पलानि च। पिष्ट्वा कषायेणानेन तैलं मृद्वग्निना पचेत् ॥
तत्पिबेत्प्रातरुत्थाय यथाऽग्निबलमात्रया। निहन्ति सकलान् रोगानुदराणि विशेषतः ॥३७॥
मूत्रकृच्छ्रमुदावर्त्तमन्त्रवृद्धिं गुदक्रिमीन्। पार्श्वकुक्षिभवं शूलमामशूलमरोचकम् ॥ ३८ ॥
यकृदष्ठीलिकानाहान्प्लीहार्शं चाङ्गवेदनाम्। मासमात्रेण नश्यन्ति ह्यशीतिर्वातजा गदाः ॥

१०० पल लहसुन को १ द्रोण (१०२४ तो०) जल में पकावे। तत्पश्चात् सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, दन्ती, हींग, सैन्धानमक, चित्त, देवदारु, वच, कूठ, मुलहठी, सहजन, पुनर्नवा, कालानमक, वायविडङ्ग, अजवाइन, गजपिप्पली इन प्रत्येक ओषधियों को ४-४ तोले तथा निशोथ को २४ तो० लेकर पीसकर कल्क बनालें। फिर इस कल्क तथा उपर्युक्त क्वाथ द्वारा मृदु अग्नि से तैल को पकालें। इस तैल को प्रातःकाल उठ कर अग्नि-बल के अनुसार उचित मात्रा में पीवे तो यह तैल सम्पूर्ण रोगों को विशेषतः उदररोगों को नष्ट करता है तथा मूत्रकृच्छ्र, उदावर्त्त, आन्त्रवृद्धि, गुदा के कृमि, पार्श्वशूल, कुक्षिशूल, आमशूल, अरुचि, यकृत्, अष्ठीला, आनाह, प्लीहा तथा अर्श

की वेदना नष्ट होती है। और इस तैल के एक महीने मात्र सेवन करने से ८० प्रकार के वातरोग नष्ट होजाते हैं॥ ३४-३९॥

पित्तोदरकफोदरयोश्चिचिकित्सामाह—

पित्तोदरे तु बलिनं पूर्वमेहं विरेचयेत्। पयसा च त्रिवृत्कल्कै रुबूकस्य शृतेन च॥ ४०॥

पित्तोदर में यदि रोगी बलवान् हो तो सर्वप्रथम दूध, निशोथ के कल्क तथा एरण्डक्वाथ द्वारा विरेचन करावे॥ ४०॥

पिप्पल्यादिगणेनाज्यं पाचितं पाययेद्भिषक्। नरं पथ्यभुजं नित्यं कफोदरनिवृत्तये॥ ४१॥

कफोदर की शान्ति के लिये वैद्य रोगी को हमेशा पथ्य भोजन देवे और पिप्पल्यादिगण से पकाये हुये घृत को पिलावे॥ ४१॥

नागरादि तैलं घृतं चाह—

नागरत्रिफलाकल्कैर्दध्यम्बुपरिपेषितैः। पाचितं तैलमाज्यं वा पिबेत्सर्वोदरेषु च॥ ४२॥

सोंठ, हरड़, बहेड़ा तथा आंवला इनको दही के पानी में पीस कर इनके कल्क से तेल या घी को पकाकर पिलावे। इससे सम्पूर्ण उदररोग नष्ट होते हैं॥ ४२॥

शालिषष्टिकगोधूमयवनीवारभोजनम्। निरूहो रेचनं श्रेष्ठं सर्वेषु जठरेषु च॥ ४३॥

सम्पूर्ण उदररोग में शालिचावल, सांठी चावल, गेहूं, जौ तथा तिन्नीचावल का भोजन, निरूह-वस्ति तथा विरेचन श्रेष्ठ माना गया है॥ ४३॥

आनूपमौदकं मांसं शाकं पिष्टकृतं तिलाः। व्यायामाध्वदिवास्वप्नस्नेहपानानि वर्जयेत्॥

अनूप देश तथा जल में रहनेवाले जीवों का मांस, शाक, पीठी के बने पदार्थ, तिल, व्यायाम, मार्ग का चलना, दिन में सोना तथा स्नेहपान इन सब को उदररोगी छोड़ दे॥ ४४॥

तथोग्रलवणोष्णानि विदाहीनि गुरूणि च। नाद्यादन्नाति जठरे तोयपानञ्च वर्जयेत्॥ ४५॥

उदर रोग में मनुष्य तीक्ष्ण, नमकीन, उष्ण, विदाही तथा गुरु अन्नों का भक्षण न करे तथा जल का पीना भी छोड़ देवे॥ ४५॥

उदराणां मलाढ्यत्वाद् बहुशः शोधनं हितम्। क्षीरमेरण्डजं तैलं पिबेन्मूत्रेण वाऽसकृत्॥
वातोदरी पिबेत्तक्रं पिप्पलीलवणान्वितम्। शर्करामरिचोपेतं स्वादु पित्तोदरी पिबेत्॥४७॥
यवानीहपुषाऽजाजीव्योषयुक्तं कफोदरी। सन्निपातोदरी युक्तं त्रिकटुक्षारसैन्धवैः॥ ४८॥

उदररोग में मल की बहुत अधिकता होती है इसलिये बारम्बार शोधन कराना (विरेचन कराना) हितकर है। इसके लिये एरण्डतैल और दुग्ध को अथवा गोमूत्र के साथ एरण्डतैल को बारम्बार पिये। वातोदर से पीड़ित मनुष्य पिप्पली तथा सेन्धानमक मिला कर तक्रपान करे। पित्तोदरी चीनी तथा कालीमिर्च को डालकर मधुर तक्रपान करे। कफोदर से पीड़ित मनुष्य अजवाइन, हाऊबेर, काला जीरा, सोंठ, मिर्च तथा पिप्पली इनके चूर्ण को मिलाकर तक्रपान करे और सन्निपातोदर से पीड़ित मनुष्य सोंठ, मिर्च, पिप्पली, जवाखार तथा सैन्धानमक डालकर तक्रपान करे॥ ४६-४८॥

नारायणचूर्णमाह—

यवानी हपुषा धान्यं त्रिफला चोपकुञ्चिका। कारवी पिप्पलीमूलमजगन्धा शटी वचा॥

*उपकुञ्चिका कारवी च = बृहज्जीरकः 'मङ्गरैला' इति लोके॥ ४९॥

शताह्वा जीरकं व्योषं स्वर्णक्षीरी च चित्रकम्। द्वौ क्षारौ पौष्करं मूलं कुष्ठं लवणपञ्चकम्॥
विडङ्गञ्च समांशानि दन्त्या भागत्रयं भवेत्। त्रिवृद्विशाला द्विगुणा शातला स्याच्चतुर्गुणा॥

*विशाला = इन्द्रवारुणी। शातला = 'सेहुण्ड' इति प्रसिद्धः॥ ५१॥

एष नारायणो नाम्ना चूर्णो रोगगणापहः। एनं प्राप्य निवर्त्तन्ते रोगा विष्णुमिवासराः॥
तक्रेणोदरिभिः पेयो गुल्मिभिर्बदराम्बुना। आनद्धवाते सुरया वातरोगे प्रसन्नया॥ ५३॥

दधिमण्डेन विड्भेदे दाडिमाम्बुभिरर्शसि । परिकर्त्तिषु वृक्षाम्लैरुष्णाम्बुभिरजीर्णके ॥५४॥
*परिकर्त्तिः = गुदे परिकर्त्तनवत्पीडा ॥ ५४ ॥
भगन्दरे पाण्डुरोगे कासे श्वासे गलग्रहे । हृद्रोगे ग्रहणीरोगे कुष्ठे मन्देऽनले ज्वरे ॥ ५५ ॥
दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे । यथाऽर्हं स्निग्धकोष्ठेन पेयमेतद्विरेचनम् ॥ ५६ ॥

अजवाइन, हाऊबेर, धनिया, हरड़, बहेड़ा, आंवला, कालाजीरा, मंगरैल, पिपरामूल, अजमोदा, कचूर, बच सोया, जीरा, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, स्वर्णक्षीरी (भड़भांड़), चित्त, सज्जीखार, जवाखार, पोहकरमूल, कूठ, पांचो नमक तथा वायविडङ्ग इन सबको बराबर २ भाग में ले तथा दन्ती ३ भाग, निशोथ २ भाग, इन्द्रायण २ भाग और सेहुंड ४ भाग लेकर इन सब का चूर्ण कर डाले। यह नारायण नामक चूर्ण रोग समूह को नष्ट करता है। जिस प्रकार असुर लोग विष्णु को प्राप्त होकर नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार रोग इस चूर्ण को प्राप्त होकर नष्ट हो जाते हैं। उदररोगियों को यह चूर्ण तक्र के साथ, गुल्मरोगियों को बेर के काढ़े के साथ, आनाह में मदिरा के साथ, वातरोग में प्रसन्ना (मदिरा की काञ्जी) के साथ, दस्त आते हों तो दही के मण्ड के साथ, अर्शरोग में अनार के रस के साथ, यदि गुदा में कतरने के समान पीड़ा हो तो तिन्तिडीक के साथ और अजीर्ण में उष्ण जल के साथ सेवन करे। भगन्दर, पाण्डुरोग, कास, श्वास, गलग्रह, हृद्रोग, ग्रहणी रोग, कुब्जवात, मन्दाग्नि ज्वर, दन्तविष, मूलविष, गरविष तथा कृत्रिम विष में रोगी के कोष्ठ को स्निग्ध करके इस नारायण चूर्ण को विरेचन के लिये उचित मात्रा में पिलावे ॥ ४९-५६ ॥

नाराचघृतमाह—

स्नुक्क्षीरदन्तीत्रिफलाविडङ्गसिंहीत्रिवृच्चित्रककर्षकल्कैः ।
घृतं विपक्वं कुडवप्रमाणं तोयेन तस्याक्षमथार्द्धकर्षम् ॥ ५७ ॥
पीत्वोष्णमम्भोऽनुपिबेद्विरिक्ते पेयां रसं वा प्रपिबेद्विधिज्ञः ।
नाराचमेतज्जठरामयानां युक्त्योपयुक्तं प्रवदन्ति सन्तः ॥ ५८ ॥

थूहर का दूध, दन्ती, हरड़, बहेड़ा, आंवला, वायविडङ्ग, छोटी कटेरी, निशोथ तथा चित्त इन सब औषधियों को १-१ तो० लेकर कल्क बनाले। फिर इससे १६ तोले घी को पकावे। विरेचन के लिये जल के साथ इस घी को १ तो० या आधे तो० की मात्रा में पीकर ऊपर से उष्ण जल का अनुपान करे। विरेचन होजाने पर विधिज्ञ मनुष्य पेया अथवा मांसरस का पान करे। युक्तिपूर्वक सेवन किया हुआ यह नाराच घृत उदर विकारों को नष्ट कर देता है, ऐसा विद्वानों का मत है ॥

वज्रकल्कमाह—

वज्राण्ड्याः कर्षमात्रायाः कल्कं दध्यादिवेष्टितम् । निगिलेद्वारिणा नित्यमुदरव्याधिशान्तये ॥
*वज्राण्डीति 'वनसूरणे'ति लोके ॥ ५९ ॥

उदरव्याधि की शान्ति के लिये प्रतिदिन वनसूरण के एक तोले कल्क को दही इत्यादि से लपेट कर जल द्वारा निगलना चाहिये ॥ ५९ ॥

पुनर्नवाऽऽदिकाथमाह—

पुनर्नवा दारुनिशा सतिक्ता पटोलपथ्यापिचुमन्दमुस्ताः ।
सनागरा च्छिन्नरुहेति सर्वैः कृतः कषायो विधिना विधिज्ञैः ॥ ६० ॥
गोमूत्रयुग्गुग्गुलुना च युक्तः पीतः प्रभाते नियतं नराणाम् ।
सर्वाङ्गशोथोदरकासशूलश्वासान्वितं पाण्डुगदं निहन्ति ॥ ६१ ॥

इत्येकचत्वारिंशत्तम उदररोगाधिकारः समाप्तः ॥ ४१ ॥

———

पुनर्नवा, दारुहल्दी, कुटकी, परवल, हरड़, नीम, नागरमोथा, सोंठ तथा गुडूची इन सब ओषधियों का विधिपूर्वक विधिज्ञ मनुष्य द्वारा बनाया हुआ क्वाथ गोमूत्र तथा गुग्गुलु मिलाकर प्रातःकाल पीने से मनुष्यों का सर्वाङ्गशोथ, उदरविकार, कास, शूल तथा श्वासयुक्त पाण्डुरोग अवश्य नष्ट होजाता है ॥ ६०-६१ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकचत्वारिंश उदररोगाधिकारः समाप्तः ॥ ४१ ॥

अथ द्विचत्वारिंशत्तमः शोथाधिकारः ॥ ४२ ॥

तत्र शोथस्य विप्रकृष्टं निदानमाह—

शुद्ध्यामयाभक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा ।
दध्याममृच्छाकविरोधिपिष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणाच्च ॥ १ ॥
अर्शांस्यचेष्टा वपुषो ह्यशुद्धिर्मर्माभिघातो विषमा प्रसूति ।
मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणाञ्च निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ॥ २ ॥

*शुद्धिः=वमनविरेकादिः । आमयाः=पाण्डुरोगादयः । अभक्तम्=अभोजनञ्च । आमः=अपक्वो भुक्तस्य रसः । पिष्टगरोपसृष्टान्नम्=पिष्टो यो गरः=संयोगजं विषं, तेन संसृष्टमन्नम् । वपुषो ह्यशुद्धिः=शोधनार्हस्य वपुषोऽशोधनम् । मर्मोपघातो दोषकृत एव ज्ञेयः । बाह्यहेतुकृतस्तु मर्मोपघात आगन्तुजशोथहेतुरेव । विषमा प्रसूतिः=आमगर्भपतनादिका । प्रतिकर्मणां=वमनादिपञ्चकर्मणाम् । मिथ्योपचारः=असम्यक्करणम् । श्वयथोः=शोथस्य । निजस्य=आत्मीयस्य सन्निकृष्टस्य हेतुर्वाताद्यात्मकस्योक्तः ॥ १-२ ॥

वमन, विरेचन इत्यादि संशोधन, पाण्डुरोग इत्यादि रोगों अथवा उपवास से कृश तथा निर्बल मनुष्यों को यवक्षार इत्यादि क्षार, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण तथा गुरु पदार्थों के सेवन करने से, दही खाने से, भोजन किये हुये अन्न के कच्चे रस से, मिट्टी, शाक, विरुद्धाहार तथा पिसे हुये कृत्रिम विषसे युक्त अन्न के सेवन से, अर्शरोग, अकर्मण्यता, शोधन करने योग्य शरीर का शोधन न करना, मर्म स्थानों का अभिघात (यह अभिघात दोषकृत ही समझना चाहिये बाह्यकारणों से जो मर्म का उपघात होता है वह तो आगन्तुज शोथ का कारण है), वमन इत्यादि पञ्चकर्मों के मिथ्योपचार ये सब निज अर्थात् वातादिदोषजन्य शोथ के लक्षण कहे गये हैं ॥ १-२ ॥

शोथस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं सामान्यं लक्षणमाह—

रक्तपित्तकफान्वायुर्दुष्टो दुष्टान्बहिः शिराः । नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम् ।
उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादतः ॥ ३ ॥
सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमूष्माऽथ शिरातनुत्वम् ।
सलोमहर्षञ्च विवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम् ॥ ४ ॥

*उत्सेधम्=उन्नतत्वम् । किंविशिष्टमुत्सेधम् ? अतः पूर्वोक्तान्निचयाद्=रक्तपित्तकफवातानां समुदायात्, संहतं=घनम् । तमुत्सेधं शोथमाहुरित्यन्वयः । तस्य शोथस्य किं स्याद् ? इत्याकाङ्क्षायामाह—अनुपस्थितत्वं स्याद्=अनियता स्थितिः स्यादित्यर्थः । चिकित्साव्यतिरेकेणापि निवृत्तेः । तच्चानवस्थितत्वं सगौरवं स्यात् । गौरवमप्यनवस्थितं स्यात् । अथ च सोत्सेधं स्याद्=उन्नतत्वमप्यनवस्थितत्वं स्यादित्यर्थः ॥ ३-४ ॥

दुष्ट वायु दूषित हुये रक्त, पित्त तथा कफ को बाहर की शिराओं में ले आकर रुद्धगति हो जाता है तब रक्त, पित्त तथा कफ के समुदाय से त्वचा तथा मांस में घन उत्सेध उत्पन्न हो जाता है उसे

¹'शोथ' कहते हैं। इस शोथ की स्थिति अनियत होती है क्योंकि उसकी चिकित्सा न करने पर भी यह शान्त होजाता है। यह अनवस्थितता गुरुतायुक्त होती है अर्थात् गुरुता भी अनियत होती है और उत्सेध अर्थात् ऊंचाई भी अनियत होती है। उष्णता, शिराओं का पतलापन, रोमाञ्च होना तथा विवर्णता ये शोथ के सामान्य लक्षण कहे गये हैं ॥ ३-४ ॥

वातजशोथलक्षणमाह—

चरस्तनुत्वक्परुषोऽरुणोऽसितः प्रसुप्तिहर्षार्त्तियुतोऽनिमित्ततः।
प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो दिवाबली स्याच्छ्वयथुः समीरणात् ॥ ५ ॥

***चरः=सञ्चारी। प्रसुप्तिः=स्पर्शाज्ञता। हर्षोऽत्र 'झिनिझिनी-रोमाञ्चो' वा आर्त्तिः= पीडा। एतद्युक्तः। दिवाबली=दिवाभागे बली, विकृतिविषमसमवायारब्धत्वात्। अत एवोक्तं चरकेण—**

***स्नेहोष्णमर्दनाद्यैर्यः प्रशाम्येत स वातिकः।**
यश्चाप्यरुणवर्णः स्याच्छोथो नक्तं प्रशाम्यति ॥ १ ॥ इति ॥ ५ ॥

वातजन्यशोथ-सञ्चरणशील, पतली त्वचावाला, रूखा, रक्तवर्ण, काला, स्पर्शज्ञानशून्य, झिन्झिनी या रोमाञ्च तथा पीड़ायुक्त, अकारण शान्त होनेवाला, बहुत दबाने से ऊंचा होने वाला तथा दिन में बलवान होता है। दिन में बलवान होने का कारण यह है कि यह शोथ विकृतिविषमसमवाय से उत्पन्न होता है इसीलिये 'चरक' ने कहा है कि 'जो शोथ-स्नेहन, उष्णोपचार तथा मर्दन इत्यादि से शान्त हो और रक्तवर्ण का हो तथा रात्रि में शान्त होजाता हो वह वातिकशोथ है ॥१॥इति॥५॥

पित्तजशोथलक्षणमाह—

मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान् भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः।
यस्तूष्यते स्पर्शरुगक्षिरागवान्स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान् ॥ ६ ॥

***उष्यते=सन्तप्यते। भृशदाहपाकवान्=भृशं दाहो यः पाकस्तद्युक्तः ॥ ६ ॥**

जो शोथ मृदु, गन्धयुक्त, काला अथवा पीत वर्ण का हो, भ्रम, ज्वर, स्वेद, पिपासा तथा मद से युक्त हो, सन्तापयुक्त हो, छूने से व्यथा हो, नेत्र लाल होगये हों और पकते समय अत्यन्त दाह हो वह पैत्तिक शोथ कहलाता है ॥ ६ ॥

कफजशोथलक्षणमाह—

गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकृत्।
सकृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो न चोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः ॥ ७ ॥

जो शोथ गुरुतायुक्त, स्थिर, पाण्डुवर्ण, अरुचियुक्त, लालास्राव, निद्रा, वमन तथा अग्निमान्द्य को उत्पन्न करने वाला हो। उत्पत्ति तथा शमन के समय में अधिक कष्टकारक हो। दबाने से ऊंचा न होता हो और रात्रि में बलवान् हो उसे कफजन्य शोथ कहते हैं ॥ ७ ॥

---

१. पाश्चात्य वैद्यक में शोथ-स्वेलिङ्ग (Swelling), ड्राप्सी (Dropsy) एनासारका (Anasarca) तथा ओडीमा (Oedema) इत्यादि नामों से विख्यात है। यहां पर स्थानाभाव के कारण इसका विशद विवेचन नहीं किया जारहा है किन्तु फिर भी वैद्य समुदाय को पाश्चात्य विद्वानों के अन्वेषण से प्राप्त सुन्दर फल सादर भेंट किया जारहा है वह यह कि 'यदि प्रथम पैरों में सूजन उत्पन्न हुआ हो तो उसे हृद्विकारजन्य जाने तथा यदि शोथ मुख की ओर से प्रारम्भ हुआ हो अथवा प्रातःकाल आंखों के आस पास अधिक शोथ होजाता हो तो उसे वृक्कविकार के कारण जाने, अतः शोथचिकित्सा के साथ पादशोथयुक्त रोगी को हृद्य तथा मुखशोथयुक्त रोगी को वृक्कविकार-नाशक ओषधि प्रदान करें। इससे बड़ा उपकार होगा।

द्विदोषजशोथलक्षणमाह—

निदानाकृतिसंसर्गाज्ज्ञेयः शोथो द्विदोषजः ॥ ८ ॥

जिस शोथ में दो दोषों के उत्पन्न करने वाले कारण तथा लक्षण मिलते हों उस शोथ को द्वन्द्वज समझना चाहिये ॥ ८ ॥

सन्निपातजशोथलक्षणमाह—

सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रलक्षणः ॥ ९ ॥

***'व्यामिश्रलक्षण' इत्युक्तेः 'सर्वाकृतिरिति' उक्तवातजादिशोथसकललक्षणनियमार्थम्॥**

जिस शोथ में सम्पूर्ण शोथों के लक्षण मिलते हों अथवा मिश्रित लक्षणों वाला हो उसे सान्निपातिक शोथ कहते हैं ॥ ९ ॥

अभिघातजशोथलक्षणमाह—

अभिघातेन शस्त्रादिच्छेदभेदक्षतादिभिः। हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लातकपिकच्छुजैः ॥१०॥
रसैः शूकैश्च संस्पर्शाच्छ्वयथुः स्याद्विसर्पवान्। भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणः

***छेदः—खड्गादिना। भेदः—पाषाणादिना। क्षतं—शरादिना। आदिना—व्रणादि। आदिशब्देन लगुडप्रहारादि गृह्यते। भल्लातजैः रसैः। कपिकच्छुजैः—शूकैः। विसर्पवान्=प्रसरणशीलः। पित्तलक्षणः=पैत्तिकशोथलक्षणः ॥ १०-११ ॥**

जो शोथ तलवार इत्यादि के छेदन से, पत्थर इत्यादि के भेदन से, बाण इत्यादि के घाव हो जाने से, लाठी इत्यादि के चोट से उत्पन्न हुआ हो अथवा भिलावे के रस से या कौंच की फली के स्पर्श से हुआ हो, तीव्रदाहयुक्त हो, रक्तवर्ण का हो तथा प्रायः पैत्तिक लक्षणों से युक्त हो उस शोथ को अभिघात से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये ॥ १०-११ ॥

विषजशोथलक्षणमाह—

विषजः सविषप्राणिपरिसर्पणमूत्रणात्। दंष्ट्रादन्तनखाघातादविषप्राणिनामपि ॥ १२ ॥
विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्तुसङ्करात्। विषवृक्षानिलस्पर्शाद्गरयोगावचूर्णनात् ॥
मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाहरुजाकरः ॥ १३ ॥

***परिसर्पणात्=शरीरोपरि सञ्चरणात्। दंष्ट्रा=द्विगुणीकृता दन्तावलिः 'चोह' इति लोके। दन्ताः—अग्रेभवाः। अविषप्राणिनां दंष्ट्राऽऽदिविषशोथव्यथाऽऽदिकरं भवतीति विशेषः। विण्मूत्रेत्यादि। विडाद्युपहतं मलिनञ्च यद् यद्वस्तु तथा सङ्करः=सम्मार्जनीभिः-क्षिप्तो धूल्यादिः, तेषां सम्पर्कात्। गरयोगावचूर्णनात्=गरः=संयोगजं विषं, तस्य योगो यस्य, तेन वस्तुनाऽवधूलनात्। अवलम्बी=लम्बमानः। अयमप्यागन्तुजस्तथाऽपि सामान्यागन्तुजशोथचिकित्सातोऽस्य विशिष्टचिकित्साऽभिधानात्पृथक्पठितः ॥ १२-१३ ॥**

जो शोथ विषैले जन्तुओं के शरीर पर रेंग जाने से अथवा मूत्रत्याग करने से, निर्विष जीवों के भी दाढ़, दांत तथा नख के अभिघात से, निर्विषप्राणियों के मल-मूत्र तथा वीर्य से उपहत वस्तु के सम्बन्ध से, झाडू इत्यादि से झाड़कर फेंके हुये कूड़े इत्यादि के स्पर्श से, विषैले वृक्ष अथवा विषैली वायु के स्पर्श से तथा संयोगज विष के अवचूर्णन से जो शोथ उत्पन्न होता है उसे 'विषजशोथ' समझना चाहिये। यह शोथ कोमल, चल, लटकता हुआ, शीघ्र उत्पन्न होने वाला, दाह तथा व्यथा को करने वाला होता है ॥ १२-१३ ॥

यत्र स्थिता दोषा यत्र शोथं कुर्वन्ति तदाह—

दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशये स्थिताः।
पित्ताशयस्था मध्ये तु वर्चःस्थानगतास्त्वधः। कृत्स्नं देहमनुप्राप्य कुर्युः सर्वसरन्तथा ॥१४॥

***ऊर्ध्वम्=उरःप्रभृत्यूर्ध्वम्। मध्ये=उरःपक्वाशयमध्ये। अधः=पक्वाशयादधः ॥**

आमाशय में स्थित दोष हृदय के ऊपरी भाग में शोथ उत्पन्न करते हैं, पित्ताशय में स्थित दोष हृदय तथा पक्वाशय के बीच में शोथ उत्पन्न करते हैं, मलाशय में स्थित दोष पक्वाशय के नीचे के भाग में शोथ उत्पन्न करते हैं और सम्पूर्ण शरीर में फैले हुये दोष सारे शरीर में शोथ को उत्पन्न करते हैं ॥ १४ ॥

शोथोपद्रवानाह—

छर्दिःश्वासोऽरुचिस्तृष्णा ज्वरोऽतीसार एव च। सप्तकोऽयं सदौर्बल्यः शोथस्यैते उपद्रवाः ॥

वमन, श्वास, अरुचि, पिपासा, ज्वर, अतीसार तथा दुर्बलता ये शोथ के सात उपद्रव हैं ॥१५॥

शोथासाध्यतामाह—

श्वासः पिपासा छर्दिश्च दौर्बल्यं ज्वर एव च। यस्य चान्ने रुचिर्नास्ति शोथिनं तं विवर्जयेत् ॥

जो शोथरोगी श्वास, पिपासा, वमन, दुर्बलता तथा ज्वर से युक्त हो और अन्न में अरुचि हो ऐसे शोथरोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥ १६ ॥

शोथस्य कष्टसाध्यत्वादिकमाह—

यो मध्यदेशे श्वयथुः कष्टः सर्वाङ्गगश्च यः। अर्द्धाङ्गेऽरिष्टभूतः स्याद्यश्चोर्ध्वं परिसर्पति ॥१७॥

*मध्यदेशे=उरःपक्वाशयमध्ये। सर्वाङ्गगः=सकलशरीरव्यापी। सर्वाङ्गज इति वा पाठः। सान्निपातिकः। अर्धाङ्गे—अर्द्धनारीश्वराकारः। यश्चोर्ध्वं परिसर्पतीति पुरुषविषयः। तथा च—

*ऊर्ध्वगामी नरं पद्भ्यामधोगामी तथा स्त्रियम्।
उभयं वस्तिसञ्जातः शोथो हन्ति न संशयः ॥ २ ॥

*ऊर्ध्वगामी=मुखगामी। तथा च तन्त्रान्तरे—
*पादात्प्रयातः श्वयथुर्नृणां यः प्राप्नुयान्मुखम्। इति।
*स न सिध्यतीति शेषः। अधोगामी=पादगामी। तथा च तन्त्रान्तरे—
*स्त्रीणां वक्त्रात्पदं याति वस्तिजश्च न सिध्यति ॥ ३ ॥ इति ॥
*उभयं=नरं नारीञ्च। इति ॥ १७ ॥

जो शोथ हृदय तथा पक्वाशय के मध्य में होता है अथवा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है वह कष्टसाध्य होता है। जो शोथ अर्द्धनारीश्वर के आकार के समान होता है वह मृत्युकारक होता है और जो शोथ पुरुषों में नीचे से ऊपर को गमन करता है वह भी मृत्युकारक होता है। जैसा कि कहा गया है कि–जो शोथ पावों से ऊपर को मुख की ओर चढ़ता है वह पुरुष को, जो शोथ मुख से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर जाता है वह स्त्री को तथा जो शोथ मूत्राशय में होता है वह स्त्री और पुरुष दोनों को मार डालता है इसमें सन्देह नहीं। अन्य ग्रन्थों में भी लिखा है कि–पैर से प्रारम्भ होकर मुख की ओर जो शोथ जाता है वह पुरुष को और जो शोथ मुख से प्रारम्भ होकर पैरों तक जाता है वह स्त्री को मार डालता है। अर्थात् असाध्य है। और भी अन्य ग्रन्थों में लिखा है कि—स्त्रियों को उत्पन्न हुआ जो शोथ मुख से पैर की ओर जाता है वह असाध्य होता है और वस्ति में उत्पन्न हुआ शोथ स्त्री और पुरुष दोनों को असाध्य होता है। इति ॥ १७ ॥

अपरञ्च—

अनन्योपद्रवकृतः शोथः पादसमुत्थितः। पुरुषं हन्ति नारीन्तु मुखजो वस्तिजो द्वयम् ॥१८॥

*अयमर्थः—पादसमुत्थितः=पादाभ्यामुत्थितो, मुखगामीति यावत्। शोथः पुरुषं हन्ति। स किंविशिष्टः? अनन्योपद्रवकृतः=शोथादन्ये व्याधयोऽतिसारग्रहण्यर्शःप्रभृतयस्तेषामुपद्रवैः कृतः, अन्योपद्रवकृतः=तदुपद्रवत्वेन जात इत्यर्थः। न अन्योपद्रवकृतोऽनन्योपद्रवकृतः—अर्थात् स्वहेतुभिरेव जातः। द्वयम्=पुरुषञ्च नारीञ्च, हन्ति। सोऽप्यनन्योपद्रवकृत एव ॥ १८ ॥

और भी कहा है कि-अतीसार, ग्रहणी और अर्श रोग प्रभृति अन्य रोगों का उपद्रव स्वरूप न हो अर्थात् अपने ही कारणों से उत्पन्न हुआ हो ऐसा शोथ यदि पुरुषों में पैर से उत्पन्न होकर मुख की तरफ जाय तो उस पुरुष को और यदि मुख से प्रारम्भ होकर पैरों के तरफ जाय तो स्त्री को मार डालता है। मूत्राशय में उत्पन्न हुआ शोथ यदि उपर्युक्त रोगों के उपद्रवस्वरूप न हो अर्थात् अपने ही कारणों से उत्पन्न हुआ हो तो वह शोथ स्त्री और पुरुष दोनों को मार डालता है ॥ १८ ॥

शोथचिकित्सामाह—

शुण्ठीपुनर्नवैरण्डपञ्चमूलीशृतं जलम् । वातिके श्वयथौ शस्तं पानाहारपरिग्रहे ॥ १९ ॥

सोंठ, पुनर्नवा, एरण्डमूल तथा पञ्चमूल के क्वाथ को पीना तथा भोजन में भी इसी क्वाथ का सेवन करना वातिकशोथ में हितकर है ॥ १९ ॥

पटोलत्रिफलाऽरिष्टदार्वीक्वाथः सगुग्गुलुः । तद्वत्पित्तकृतं शोथं हन्ति श्लेष्मोद्भवं तथा ॥२०॥

परवल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, नीम तथा दारुहल्दी का क्वाथ गुग्गुल मिलाकर पीने से पैत्तिक तथा श्लैष्मिक शोथ नष्ट हो जाते हैं ॥ २० ॥

मिश्रे मिश्रक्रमं कुर्यात्सर्वजे सर्वमेव हि । बिल्वपत्ररसं पूतं सोषणं त्रिभवे पिबेत् ॥ २१ ॥

जो शोथ दो दोषों से उत्पन्न हुआ हो उसमें दोनों दोषों की शामक मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिये और तीनों दोषों से उत्पन्न हुये की त्रिदोषशामक चिकित्सा करनी चाहिये। त्रिदोषजन्य शोथ में बेल के पत्तों का रस निकाल कर छान ले और उसमें सोंठ, मिर्च तथा पिप्पली के चूर्ण को डाल कर पीना हितकर है ॥ २१ ॥

शोथे त्वागन्तुजे कुर्यात्सेकलेपादि शीतलम् । भल्लातक्यां हरेच्छोथं सतिला कृष्णमृत्तिका ॥

आगन्तुज शोथ में शीतल परिषेक तथा शीतल लेप का उपयोग करना चाहिये। भिलावे से उत्पन्न हुआ शोथ तिल तथा काली मिट्टी को पीस कर लेप करने से शान्त होता है ॥ २२ ॥

महिषीक्षीरसंपिष्टैर्नवनीतसमन्वितैः । तिलैर्लिप्तः शमं याति शोथो भल्लातकोत्थितः ॥ २३ ॥

भैंस के दूध के साथ तिलों को पीस तथा भैंस का मक्खन मिला कर लेप करने से भिलावे से उत्पन्न हुआ शोथ शान्त हो जाता है ॥ २३ ॥

यष्टीदुग्धतिलैर्लेपो नवनीतेन संयुतः । शोथमारुष्करं हन्ति चूर्णैः शालदलस्य च ॥ २४ ॥

विषजशोथचिकित्सा तु विषचिकित्सायां द्रष्टव्या ॥ २४ ॥

मुलहठी तथा तिल को दूध में पीस कर और मक्खन मिला कर लेप करने से अथवा शाल के पत्तों के चूर्ण को जल के साथ पीने से भिलावे का शोथ नष्ट होता है। विषजन्य शोथ की चिकित्सा तो विषचिकित्सा में देखनी चाहिये ॥ २४ ॥

शोथस्य सामान्यचिकित्सामाह—

महिष्या नवनीतं वा लेपाद् दुग्धतिलान्वितम् ॥ २५ ॥

***अत्र दुग्धञ्च महिष्या एव ॥ २५ ॥**

भैंस के दूध में पिसे हुये तिलों को भैंस के मक्खन के साथ मिला कर लेप करने से शोथ नष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥

पथ्यादिक्वाथमाह—

पथ्यानिशाभार्ग्यमृताऽग्निदार्वीपुनर्नवादारुमहौषधानाम् ।

क्वाथः प्रसह्योदरपाणिपादमुखाश्रितं हन्त्यचिरेण शोथम् ॥ २६ ॥

हरड़, हल्दी, भारङ्गी, गुडूची, चित्त, दारुहल्दी, पुनर्नवा, देवदारु तथा सोंठ इनका क्वाथ पेट, हाथ, पैर तथा मुख में उत्पन्न हुये शोथ को बलात्कार से शीघ्र नष्ट कर देता है ॥ २६ ॥

फलत्रिकक्वाथमाह—

फलत्रिकोद्भवं क्वाथं गोमूत्रेणैव साधितम् । वातश्लेष्मोद्भवं शोथं हन्याद् वृषणसम्भवम् ॥

हरड़, बहेड़ा तथा आंवले के क्वाथ को गोमूत्र मिला कर पीने से वात तथा कफ से उत्पन्न होने वाले वृषणशोथ नष्ट हो जाते हैं ॥ २७ ॥

वृश्चीरदेवद्रुमनागरैर्वा दन्तीत्रिवृत्त्र्यूषणचित्रकैर्वा ।
दुग्धं सुसिद्धं विधिना निपीतं गीतं परं शोथहरं भिषग्भिः ॥ २८ ॥

*अत्र वृश्चीरः = श्वेतवर्षाभूः ॥ २८ ॥

श्वेतपुनर्नवा, देवदारु तथा सोंठ से अथवा दन्ती, निशोथ, सोंठ, मिर्च, पिप्पली तथा चित्रक से अच्छी प्रकार विधिपूर्वक सिद्ध किये हुये दूध को पीने से शोथ अवश्य नष्ट हो जाता है ऐसा वैद्यों ने कहा है ॥ २८ ॥

सेकस्तथार्कवर्षाभूनिम्बक्काथेन शोथहृत् । गोमूत्रेणापि कुर्वीत सुखोष्णेनावसेचनम् ॥२९॥

मदार, पुनर्नवा तथा नीम के क्वाथ द्वारा परिषेक करने से शोथ नष्ट हो जाता है । किञ्चित् उष्ण गोमूत्र द्वारा परिसेचन करने से शोथ दूर होता है ॥ २९ ॥

पुनर्नवा दारु शुण्ठी शिग्रुः सिद्धार्थकस्तथा । अम्लपिष्टः सुखोष्णोऽयं प्रलेपः सर्वशोथहृत् ॥

पुनर्नवा, देवदारु, सोंठ, सहिजन तथा सरसों को अम्ल में पीस कर कुछ गर्म करके लेप करने से समस्त प्रकार के शोथ नष्ट हो जाते हैं ॥ ३० ॥

गुडार्द्रकं वा गुडनागरं वा गुडाभयां वा गुडपिप्पलीं वा ।
कर्षाभिवृद्ध्या त्रिपलप्रमाणं खादेन्नरः पक्षमथापि मासम् ॥ ३१ ॥
शोथप्रतिश्यायगलास्यरोगान्सश्वासकासारुचिपीनसादीन् ।
जीर्णज्वरार्शोग्रहणीविकारान्हन्यात्तथान्यान्कफवातरोगान् ॥ ३२ ॥

गुड़ तथा अदरक, गुड़ तथा सोंठ, गुड़ तथा हरड़ और गुड़ तथा पिप्पली इनको प्रतिदिन १-१ तोले बढ़ा कर १२ तोले तक पन्द्रह दिन अथवा एक मास तक सेवन करने से शोथ, प्रतिश्याय, गले तथा मुख के रोग, श्वास, कास, अरुचि तथा पीनस इत्यादि, जीर्णज्वर, अर्शरोग तथा ग्रहणी विकार और अन्य कफ तथा वात से उत्पन्न होने वाले रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ३१-३२ ॥

विश्वं गुडेन तुल्यं वृश्चीररसानुपानमभ्यस्तम् ।
विनिहन्ति सर्वशोथं घनवृन्दं चण्डवायुरिव ॥ ३३ ॥

सोंठ को समान भाग गुड़ के साथ खाकर ऊपर से श्वेतपुनर्नवाके रस का अनुपान करने का अभ्यास करने से सम्पूर्ण शोथ इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे प्रचण्ड वायु घन-समूह को नष्ट कर देता है ॥ ३३ ॥

कणानागरजं चूर्णं सगुडं शोथनाशनम् । आमाजीर्णप्रशमनं शूलघ्नं बस्तिशोधनम् ॥ ३४ ॥

पिप्पली तथा सोंठ के चूर्ण को गुड़ मिलाकर खाने से शोथ, आमजीर्ण तथा शूल नष्ट हो जाते हैं और मूत्राशय की शुद्धि होती है ॥ ३४ ॥

गुडादिवटिकामाह—

गुडात्पलत्रयं ग्राह्यं शृङ्गवेरपलत्रयम् । शृङ्गवेरसमा कृष्णा लोहविट्तिलयोः पलम् ॥
चूर्णमेतत्समुद्दिष्टं सर्वश्वयथुनाशनम् ॥ ३५ ॥

गुड़ १२ तो०, अदरक १२ तो०, पिप्पली १२ तो०, मण्डूरभस्म ४ तो० तथा तिल ४ तो० इन सबको चूर्ण करके खाने से सब प्रकार के शोथ नष्ट हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

माणकघृतमाह—

माणकक्काथकल्काभ्यां घृतप्रस्थं विपाचयेत् । एकजं द्वन्द्वजं शोथं त्रिदोषञ्च व्यपोहति ॥३६॥

मानकन्द के क्वाथ तथा कल्क द्वारा १ प्रस्थ (६४ तो०) घी को पकावे । यह घृत एक दोषजन्य, द्विदोषज तथा त्रिदोषज शोथ को नष्ट कर देता है ॥ ३६ ॥

शुष्कमूलकतैलमाह—

शुष्कमूलकवर्षाभूदारुरास्नामहौषधैः। पक्कमभ्यञ्जनं तैलं सशूलं श्वयथुं हरेत्॥ ३७॥

इति द्विचत्वारिंशत्तमः शोथाधिकारः समाप्तः॥ ४२॥

सूखी हुई मूली, पुनर्नवा, देवदारु, रास्ना तथा सोंठ इनके कल्क से पकाये हुये तैल का अभ्यङ्ग करने से शूलयुक्त शोथ नष्ट हो जाता है॥ ३७॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे द्विचत्वारिंशत्तमः शोथाधिकारः समाप्तः॥ ४२॥

अथ त्रिचत्वारिंशत्तमो वृद्धिब्रध्नाधिकारः॥ ४३॥

तत्र वृद्धेर्निदानं संख्यां चाह—

दोषास्रमेदोमूत्रान्त्रैः स वृद्धिः सप्तधा गदः। मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलः॥ १॥

वात, पित्त, कफ, रक्त, मेद, मूत्र तथा आन्त्र के भेद से वृद्धिरोग सात प्रकार का होता है। मूत्रजन्य तथा आन्त्रजन्यवृद्धि वात ही से उत्पन्न होती है। केवल निदान तथा चिकित्सा में भेद होने के कारण अलग कही गई है॥ १॥

वृद्धिसम्प्राप्तिमाह—

वृद्धिं करोति कोपस्य फलकोशाभिवाहिनीः। रुद्ध्वा रुद्धगतिर्वायुर्धमनीर्मुष्कगामिनीः॥२॥

अण्डकोष में जानेवाली शिराओं के मार्ग को अवरुद्ध करके रुद्धगति वायु अण्डकोष में [1]वृद्धि उत्पन्न कर देती है॥ २॥

वातजवृद्धिलक्षणमाह—

वातपूर्णदृतिस्पर्शो रूक्षो वातादहेतुरुक्॥ ३॥

***अहेतुरुग् = अत्रेषदर्थे नञ्। तेन स्वल्पादपि विप्रकृष्टात् कारणाद्रुक्=पीडा यत्र सः॥**

जो वृद्धि वायु से भरे हुये मशक के समान स्पर्शवाली रूक्ष तथा थोड़े ही कारणों से पीड़ायुक्त होजाय उसे वातजन्य वृद्धि कहते हैं॥ ३॥

पित्तजन्यवृद्धिलक्षणमाह—

पक्वोदुम्बरसङ्काशः पित्ताद् दाहोष्मपाकवान्॥ ४॥

***दाहः-आभ्यन्तरः, ऊष्मा-बहिस्तप्तता॥ ४॥**

जो वृद्धि पके हुये गूलर के फल के समान भीतर से दाह और ऊपर से तापयुक्त हो और पकने वाली हो उसे पैत्तिकवृद्धि समझनी चाहिये॥ ४॥

---

१. वृद्धिरोग की व्याख्या—

'अधः प्रकुपितोऽन्यतमो हि दोषः फलकोशवाहिनीरभिप्रपद्य धमनीः फलकोषयोर्वृद्धिं जनयति, तां वृद्धिमित्याचक्षते'। सु० नि० अ० १२ सू० ३।

अधोभाग में कुपित हुआ दोष वृषणकोशवाहिनी धमनी में प्राप्त होकर वृषणकोषों को मोटा कर देता है। इसी को वृद्धि कहते हैं। अंग्रेजी में इसे स्क्रोटल स्वेलिङ्ग (Scrotal Swelling) कहते हैं। वातादि दोषों से उत्पन्न हुई वृद्धि को एक्यूट अथवा क्रानिक आरकाइटिस (Acute or Chronic orchitis), रक्तजवृद्धि को हीमेटोसील (Haematocele), मेदोवृद्धि को वृषणगतश्लीपद (Elephantiasis of the Scrotum), मूत्रजवृद्धि को हाइड्रोसील (Hydrocele) तथा आन्त्रवृद्धि को हर्निया (Hernia) कहते हैं।

कफजवृद्धिमाह—

कफाच्छीतो गुरुः स्निग्धः कण्डूमान्कठिनोऽल्परुक् ॥ ५ ॥

कफ से उत्पन्न हुई वृद्धि-शीतल, गुरु, स्निग्ध, कण्डूयुक्त, कठिन तथा अल्प वेदनायुक्त होती है॥

रुधिरवृद्धिलक्षणमाह—

कृष्णस्फोटावृतः पित्तवृद्धिलिङ्गश्च रक्तजः ॥ ६ ॥

***कृष्णस्फोटावृत इति पैत्तिकोद्भवः ॥ ६ ॥**

जो वृद्धि कृष्ण वर्ण के फोड़ों से आवृत हो तथा पैत्तिक वृद्धि के लक्षणों से युक्त हो उसे पैत्तिक वृद्धि समझनी चाहिये ॥ ६ ॥

मेदोजवृद्धिलक्षणमाह—

कफवन्मेदसो वृद्धिर्मृदुस्तालफलोपमः ॥ ७ ॥

***नीलवर्त्तुलः ॥ ७ ॥**

जो वृद्धि मृदु हो तथा ताड़ के फल के समान नीलवर्ण तथा गोल हो और कफजन्यवृद्धि के लक्षणों से युक्त हो उसे मेदोजन्यवृद्धि समझनी चाहिये ॥ ७ ॥

मूत्रजवृद्धिलक्षणमाह—

मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजः स तु गच्छतः । अम्भोभिः पूर्णदृतिवत्क्षोभं याति सरुङ् मृदुः ।
मूत्रकृच्छ्रमधः कुर्यात्सञ्चलं फलकोषयोः ॥ ८ ॥

***सञ्चलं फलकोषयोरधो मूत्रकृच्छ्रं=मूत्रेण व्यथां कुर्यादित्यर्थः ॥ ८ ॥**

मूत्र के वेग को रोकने वाले मनुष्य के मूत्रजन्य वृद्धि होती है। चलते समय वह [1]मूत्रवृद्धि

---

१. मूत्रवृद्धि को पाश्चात्य वैद्यक में हाइड्रोसील (Hydrocele) कहते हैं । 'मूत्रधारणशीलस्य मूत्रवृद्धिर्भवति' इस प्रकार की सम्प्राप्ति पाश्चात्य वैद्यक में नहीं मानी जाती है। वे लोग मानते हैं कि-वृषणकोश की लसीकावाहिनियों से लसीका चू चू कर इकट्ठी होती रहती है। इसी लसीका के संचय के कारण कोष फूलता है। अभी तक हाइड्रोसील (Hydrocele) के कारणों का ठीक २ पता नहीं चल सका है। पुराना वृषणप्रकोप (Chronic orchitis) और फिरङ्गजन्य वृषणविकृति के साथ मूत्रवृद्धि मिलती है। इसका आकार बहुधा अण्डे के समान दीर्घवृत्त होता है। भीतरी जल की राशि के अनुसार यह वृद्धि स्पर्श में कठिन या मृदु प्रतीत होती है। टटोलने से पीछे की ओर वृषणग्रन्थि प्रतीत होती है। जलोदर के समान इसमें भी कम्पनपरीक्षा मिलती है। जैसा कि सुश्रुत में भी कहा है। कि-'सा गच्छतोऽम्बुपूर्णा दृतिरिव क्षुभ्यति'।

इसकी एक खास परीक्षा यह होती है कि-वृद्धि के एक ओर बत्ती जलाकर रक्खी जावे तो दूसरी ओर कुछ हल्का प्रकाश दिखाई देगा तथा भीतरी वृषणग्रन्थि का भी कुछ पता चल जायगा। इस परीक्षा को अंग्रेजी में ट्रान्सील्युमिनेशन (Transillumination) परीक्षा कहते हैं। रोग पुराना होने पर कोश की भित्ति मोटी होने से यह दीपपरीक्षा नहीं मिलती। इसके कोई खास लक्षण नहीं होते। परन्तु जब वृद्धि काफी बढ़ती है। तब वृषणरज्जु में खींचने की सी पीड़ा होती है, तथा कोष की त्वचा के भीतर छिद्रन चले जाने से मूत्र वृषण की त्वचा पर होकर बहता है जिससे कण्डू उत्पन्न होती है।

चिकित्सा—यद्यपि इसके लिये अनेक ओषधियों का वर्णन मिलता है और उनसे लाभ भी हो सकता है, किन्तु मूत्रवृद्धि के लिये शस्त्रकर्म (Operation) बहुत ही उत्तम साधन है। यह शस्त्रकर्म दो प्रकार का होता है।

१—अण्डकोष से तरल निकालना, २—वेधसपत्र द्वारा छेदन।

अण्डकोष से तरल निकालना—अण्डकोष के चर्म को शुद्ध करने के पश्चात् चिकित्सक अपने बांये हाथ से कोष को पकड़ता है और अङ्गूठे तथा अङ्गुलियों से उसको ऊपर तथा पीछे की ओर

जलपूर्ण मशक के समान हिलती है। व्यथायुक्त तथा मृदु होती है। अण्डकोषों में सञ्चलन तथा मूत्रकृच्छ्र के समान व्यथा उत्पन्न करती है ॥ ८ ॥

आन्त्रवृद्धिलक्षणमाह—

वातकोपिभिराहारैः शीततोयावगाहनैः। धारणेरणभाराध्वविषमाङ्गप्रवर्त्तनैः ॥
क्षोभणैः क्षोभितोऽन्यैश्च क्षुद्रान्त्रावयवं यदा। पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेत् ॥
कुर्याद्वङ्क्षणसन्धिस्थो ग्रन्थ्याभं श्वयथुं तदा ॥ ९ ॥

धारणम्—उपस्थितस्य वेगस्य। ईरणम्=अनुपस्थितस्य वेगस्य प्रेरणम्। विषमाङ्गप्रवर्त्तनं=वक्रत्वेनाङ्गमोटनम्। अन्यानि क्षोभणानि=बलवद्विग्रहकठोरधनुराकर्षणादीनि, तैः क्षोभितः=सन्दूष्य सञ्चालितः, पवनो यदा क्षुद्रान्त्रावयवं विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेत्, वङ्क्षणसन्धिस्थः सन् वङ्क्षणसन्धौ ग्रन्थिरूपं श्वयथुं कुर्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥

वातप्रकोपक आहारों के सेवन, शीतल जल के अवगाहन, मूत्र इत्यादि के वेगों को रोकने, मल-मूत्र इत्यादि को बिना वेग के बलात्कार से प्रवृत्त करने, भारी बोझा उठाने, अधिक मार्ग चलने, अङ्गों की विषम चेष्टा करने, बलवान् के साथ युद्ध, कठोर धनुष इत्यादि के चढ़ाने इत्यादि के कारणों से क्षुभित वायु क्षुद्रान्त्र के अवयव को दूषित करके उनके निवास स्थान से नीचे ले जाती है तथा वह वायु वङ्क्षणसन्धि में जाकर ग्रन्थि के समान शोथ को उत्पन्न कर देती है इसे आन्त्रवृद्धि[1] कहते हैं ॥ ९ ॥

दबाता है इससे कोषके भीतर स्थित ग्रन्थियां ऊपर की ओर हट जाती हैं। तत्पश्चात् चिकित्सक दाहिने हाथ में ट्रोकार एण्ड केन्युला (Trocar and canula) को लेकर उसको कोष में शुद्ध किये हुये स्थान द्वारा, पीछे और नीचे की ओर प्रविष्ट करता है। यन्त्र के भीतर चले जाने के पश्चात् ट्रोकार को बाहर खींच लिया जाता है जिससे केन्युला से तरल निकलने लगता है। तरल निकल चुकने पर केन्युला को निकाल कर चर्म के छिद्र पर कोलोडियन में भिगोकर एक रूई का टुकड़ा लगा दिया जाता है। अपने यहां सुश्रुत में ठीक इसी प्रकार का वर्णन मिलता है यथा—

मूत्रजां स्वेदयित्वा तु वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्। सेवन्याः पार्श्वतो हस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन तु। अथात्र द्विमुखां नाडीं दत्त्वा विस्रावयेद् भिषक्। मूत्रनाडीमथोद्धृत्य स्थगिकाबन्धमाचरेत्।

२—वेधसपत्रद्वारा छेदन—उपर्युक्त शस्त्रकर्म में यह दोष है कि कुछ दिनों के पश्चात् पुनः जल का संचय हो जाता है। किन्तु इससे सन्तोषजनक फल होता है। चर्म को पूर्णतया शुद्ध करके नोवोकीन या कोकीन द्वारा स्थान को चेतनारहित करके चर्म और प्रावरणी को काटने के पश्चात् कोष के स्तरों का भेदन किया जाता है। अन्त में भेदन द्वारा कोष का जल निकल जाता है। यह भेद इतना बड़ा होना चाहिये कि कोष को बाहर से दाबने पर अण्डग्रन्थि उसके द्वारा बाहर निकल आवे इस कारण कोष के भेदन को कैंची से पर्याप्त बढ़ा देना चाहिये। इस प्रकार अण्डग्रन्थियों के बाहर निकलने पर कोष उलट जायगा। अर्थात् कोष का जो पृष्ठ बाहर था वह भीतर हो जायगा और भीतर वाला बाहर आ जायगा। तत्पश्चात् कोष के कटे हुये दोनों भागों को कैटगट से सी दिया जाता है। अन्त में अण्डग्रन्थियों को चर्म के भेदन द्वारा कोष के भीतर करके चर्म के भेदन को सी दिया जाता है। शस्त्रकर्म के पश्चात् ३ महीने तक लँगोटा लगाना आवश्यक होता है।

१. आन्त्रवृद्धि को पाश्चात्य वैद्यक में हर्निया (Hernia) कहते हैं। हर्निया वास्तव मे शरीर के किसी अङ्ग के अपने स्थान के छिद्र से बाहर निकल कर दूसरे स्थान में पहुंच जाने को कहते हैं। इस प्रकार फुप्फुस, मस्तिष्क तथा आन्त्र की हर्निया हो सकती है। व्यवहार में यह

उपेक्षिताया अन्त्रवृद्धेरवस्थामाह—

उपेक्ष्यमाणस्य च मुष्कवृद्धिमाध्मानरुक्स्तम्भवतीं स वायुः।
प्रपीडितोऽन्तःस्वनवान्प्रयाति प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः॥ १०॥

विकृति आन्त्र के सम्बन्ध में अधिक देखने में आने के कारण हर्निया शब्द से आन्त्रवृद्धि का ही बोध प्रायः होता है।

कारण—इसके सहज तथा जातोत्तर ऐसे दो प्रकार के कारण होते हैं।

सहज कारणों में अण्डग्रन्थि का अधिक समय में उदर से वृषण में उतरना, उदर से वृषण तक का मार्ग बन्द न होना, उदर-प्राचीर की पेशियों का दुर्बल होना तथा आन्त्रनिबन्धिनी की लम्बाई की अधिकता इत्यादि प्रधान होते हैं।

जातोत्तर कारणों में आघात या शस्त्रकर्म के कारण उदर-प्राचीर की दुर्बलता, भारी बोझ उठाना, मलावरोध, अष्ठीलावृद्धि, मूत्रमार्गसंकोच, निरुद्धप्रकश इत्यादि के कारण मल तथा मूत्र त्याग में अधिक बल का प्रयोग करना तथा पुरानी खांसी इत्यादि प्रधान होती हैं। जैसा कि सुश्रुत में भी लिखा है कि:—

'भारहरणबलवद्विग्रहवृक्षप्रपतनादिभिरायासविशेषैर्वायुरतिप्रवृद्धः प्रकुपितश्च स्थूलान्त्रस्येतरस्य चैकदेशं विगुणमादायाधो गत्वा वङ्क्षणसन्धिमुपेत्य ग्रन्थिरूपेण स्थित्वाऽप्रतिक्रियमाणे च कालान्तरेण फलकोशं प्रविश्य मुष्कशोफमापादयति, आध्मातो बस्तिरिवाततः प्रदीर्घः स शोफो भवति, सशब्दमवपीडितश्चोर्ध्वमुपैति विमुक्तश्च पुनराध्मायते तामन्त्रवृद्धिमसाध्यामित्याचक्षते॥

सु० नि० अ० १२ सू० ८॥

अपने यहां कही हुई आन्त्रवृद्धि आधुनिक परिभाषा के अनुसार वङ्क्षणीय आन्त्रवृद्धि (Inguinal Hernia) है। क्योंकि इसमें आन्त्र वङ्क्षणीय छिद्र में से होकर फलकोष में उतरता है। यथाः—

'अन्त्रं विगुणमादाय जन्तोर्नयति वङ्क्षणम्' भोजः।

यदि आन्त्र बहिर्वङ्क्षणीय छिद्र तक आकर ग्रन्थि के रूप में स्थित होता है तो उसे अप्राप्तफलकोषवृद्धि कहते हैं। यथाः—

'अप्राप्तफलकोशायां वातवृद्धिक्रमो हितः'। सु० चि० अ० १९।

आधुनिक परिभाषा में इसको अपूर्ण आन्त्रवृद्धि या ब्यूबोनोसील (Incomplete hernia or Bubonocele) कहते हैं। यदि बहिर्वङ्क्षणीय छिद्र में से होकर अण्डग्रन्थि के ऊपर तक आन्त्र पहुँच जाय तो उसको कोषप्राप्त वृद्धि कहते हैं। यथा—

कोशप्राप्तां तु वर्जयेत्'। (सु० चि० अ० १९)।

आधुनिक परिभाषा में इसको पूर्ण आन्त्रवृद्धि (Complete hernia) कहते हैं।

हर्निया की रचना—

हर्निया में बाहर से भीतर की ओर निम्न आवरण मिलते हैं—

१ त्वचा, २ उपत्वचा, ३ उदरच्छदा आदिम पेशी के तन्तु से बनी हुई कला, ४ फलकोषकर्षिणी पेशी और कला, ५ उदरान्तश्छदा कला, ६ मेदस्तर तथा ७ उदरकला। वृद्धि का कोष उदरकला से बनता है।

कोष के अङ्ग—कोष में निम्न अङ्ग पाये जाते हैं।

क्षुद्रान्त्र—अन्य अङ्गों की अपेक्षा क्षुद्रान्त्र अधिक पाया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह में भी इसका वर्णन मिलता है। यथाः—'क्षुद्रान्त्रावयवं यदा स्वनिवेशादधो नयेत्'।

तत्राध्मानमुदरे, रुग्वृद्धयोर्मुष्कयोः, स्तम्भो गात्रे, तद्युक्तां कुर्यादित्यर्थः। भोजोऽप्याह–
*अन्त्रं विगुणमादाय वातो नयति वङ्क्षणम्। वङ्क्षणात् तद्रुजायुक्तं फलकोषं प्रपद्यते ॥१॥ इति।
*स मुष्कवृद्धिम्, अन्तः–उदरे, प्रध्मापयन्=आगमनमार्गं निरुद्धं कुर्वन्, एति=आयाति ॥ १० ॥

आन्त्रवृद्धि की उपेक्षा अर्थात् समय पर चिकित्सा न करने से वायु उदर में आध्मान, वृषणोंमें पीड़ा, शरीर का स्तम्भ उत्पन्न कर देता है। इस वृद्धि को दबाने से शब्द करती हुई भीतर प्रविष्ट हो जाती है। और छोड़ देने पर आगमन मार्ग को निरुद्ध करती हुई फिर आ जाती है। भोज का

इसके अतिरिक्त वपा, स्थूलान्त्र; विशेष करके उण्डुक, आन्त्रपुच्छ, वस्ति, बीजग्रन्थि तथा बीजवाहिनी इत्यादि अङ्ग भी मिलते हैं। संक्षेप में अन्याशय के अतिरिक्त उदरगुहाका कोई भी अङ्ग वृद्धि में मिल सकता है।

लक्षण—पूर्णवङ्क्षणीय आन्त्रवृद्धिका आकार अण्डे के समान दीर्घ वृत्त होता है। दिन प्रतिदिन उसका उत्सेध बढ़ता जाता है। जब रोगी खड़ा होकर खांसता है तब वृद्धि में खांसनेकी प्रेरणा प्रतीत होती है तथा उत्सेध बढ़ जाता है। वृद्धि पर ताडना करने से डिम २ ध्वनि आती है। ऊपरकी ओर दबाने से गड़गड़ाहट के साथ आन्त्र उदर के भीतर चली जाती है और उत्सेध नष्ट हो जाता है,–तथा दबाव छोड़ देने से आन्त्र लौटकर फिर उत्सेध उत्पन्न कर देता है। वाग्भट ने भी लिखा है कि:–

प्रपीडितोऽन्तःस्वनवान् प्रयाति प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः।

वृद्धि के जीर्ण होने पर अग्निमान्द्य, मलावरोध तथा उदरशूल इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा कोषकी दीवार मोटी होकर बाहर के आवरणों से संसक्त होती है या भीतर आन्त्रके साथ जुड जाती है। अतएव वृद्धिस्तम्भित हो जाती है और ऊपर के दोनों लक्षण कठिनता से मिलते हैं। यथा:–

'उपेक्ष्यमाणस्य च मुष्कवृद्धिमाध्मानरुक्स्तम्भवतीं स वायुः (अष्टाङ्गसंग्रह)'

यदि वृषण-वृद्धि में आन्त्र न होकर केवल वपा (Omentel Hernia) होनेसे स्पर्श में वह बहुत मृदु होती है, खांसने पर उनमें प्रेरणा बहुत कम या नहीं प्रतीत होती है। ऊपर की ओर दबाने से बिना शब्द के भीतर चली जाती है, और छोड़ देने से शनैः २ उत्सेध उत्पन्न होता है तथा अङ्गुलिताडन परीक्षा से मन्द ध्वनि आती है। वपाजन्य तथा आन्त्रजन्य वृषणवृद्धिमें अण्ड ऊपर टटोलने से अण्डरज्जु ठीक २ प्रतीत नहीं होती। वङ्क्षणीय आन्त्रवृद्धि (Inguinal Hernia) के अतिरिक्त इसके और निम्न प्रकार होते हैं। यथा:—

१—और्वी आन्त्रवृद्धि (Femoral Hernia)-जिसके द्वारा और्वी धमनी तथा सिरा ऊरु में आती है उस और्वी छिद्र (Femoral Canal) से होकर आन्त्र ऊरु प्रदेश के ऊपरी भाग में आकर उत्सेध उत्पन्न करती है। यह आन्त्रवृद्धि-स्त्रियों में अधिक हुआ करती है।

२—नाभि की आन्त्रवृद्धि-इसमें नाभि के द्वारा आन्त्रावयव बाहर निकल आता है। और नाभि प्रदेश में उत्सेध दिखाई देता है। नालच्छेदन के पश्चात् नाभिपाक होने से यदि नाभि दुर्बल होगई हो तो शिशुओं और बालकों में यह विकार दिखाई देता है, जो युवावस्था तक स्वयं ठीक हो जाता है। नाडीकत्तन कठिन होने पर अपने यहां चरक में—

'आयामव्यायामात्तुण्डिता' तथा सुश्रुत में तुण्डिसंज्ञिता नामक विकार से इसी का उल्लेख किया है। युवावस्था में नाभि के बदले उदरसीवनी के विच्छिन्न होने से छिद्र उत्पन्न होकर उसके द्वारा आन्त्रावयव बाहर आता है। इस प्रकारकी आन्त्रवृद्धि स्थूल स्त्रियोंमें अधिक दिखाई देती है।

वृषणवृद्धि के कारणों का सापेक्ष विचार—वृषण की वृद्धि निम्न कारणों से होती है यथा:—आन्त्रवृद्धि, मूत्रवृद्धि, रक्तवृद्धि, मेदोवृद्धि, सिरावृद्धि, आण्टप्रकोप और अण्डके अर्बुद।

मत है कि-वायु दूषित हुए आन्त्र को लेकर वङ्क्षण-सन्धि में उतरता है, फिर वङ्क्षण सन्धि से पीड़ा के साथ अण्डकोष में चला जाता है ॥ १० ॥

आन्त्रवृद्धेरसाध्यलक्षणमाह—

यस्यान्त्रावयवाश्लेषो मुष्कयोर्वातसञ्चयात्। अन्त्रवृद्धिरसाध्योऽयं वातवृद्धिसमाकृतिः॥

वातवृद्धिसमाकृतिरिति। योऽन्त्रवृद्धौ रोगः, सोऽसाध्यः॥ ११ ॥

वात के सञ्चय से जिस मनुष्य के दोनों अण्डकोषों में आंतों के अवयव मिल जाते हैं और यदि वातवृद्धि के समान आकृति वाली हो तो वह आन्त्रवृद्धि असाध्य होती है ॥ ११ ॥

सिरावृद्धि (Varicocele)-यह सिराजन्य वृषणवृद्धि है। इस में अण्डरज्जु के साथ होने वाली सिरायें फूल कर मोटी हो जाती हैं। यह वृद्धि दाहिनी ओर की अपेक्षा बाईं ओर तथा वृद्धावस्था की अपेक्षा युवावस्था में होती है। युवावस्था में हस्तमैथुन से इसकी उत्पत्ति होती है और इसकी उत्पत्ति से वीर्यपात भी अधिक होता है। वृक्क के घातक अर्बुद के साथ भी यह विकार बहुधा पाया जाता है।

लक्षण—स्पर्श में वृषणकोश एक ऐसे थैले की भांति प्रतीत होता है कि जिसमें केंचुये भरे हों, खांसने पर सिराओं में कुछ सरसराहट मालूम होती है। रोगी के लेट जाने पर सिराओं का रक्त लौट जाने के कारण उत्सेध आप से आप नष्ट होता है। रोगी के खड़े हो जाने पर रक्त के भरने से उत्पन्न होता है, रोगी को हमेशा वृषण में भार लटका हुआ मालूम होता है।

वपाजन्य वृषणवृद्धि और सिरावृद्धि में अन्तर यह है कि रोगी के खड़े होने के समय बहिर्वङ्क्षणीय छिद्र अङ्गुली से दबाया जाय तो सिरावृद्धि में उत्सेध उत्पन्न होता है परन्तु वपाजन्यवृषणवृद्धि में नहीं उत्पन्न होता।

सापेक्ष विचार—वृषण वृद्धि का रोगी सामने आने पर प्रथम अण्डरज्जु को भली भांति टटोल कर देखना चाहिये। यदि रज्जु ठीक प्रतीत न होती हो तो आन्त्रवृद्धि या वपावृद्धि हो सकती हैं। इनकी परीक्षाओं का ऊपर वर्णन हो चुका है। यदि रज्जु ठीक २ प्रतीत हो तो केवल वृषण का ही विकार होगा, ऐसा समझना चाहिये। तत्पश्चात् वृद्धि द्रवगर्भ है या घनगर्भ इसका विचार करना चाहिये।

द्रवगर्भ वृद्धि दो प्रकार की होती है : १—रक्तज, २—मूत्रज।

मूत्रज की परीक्षाओं का वर्णन हो चुका है। रक्तज वृद्धि में वृषणपर हुये आघात का इतिहास मिलता है।

घनगर्भवृद्धि तीन प्रकार की होती है—१—मेदोज, २—प्रकोपज तथा ३—अर्बुदज।

मेदोजवृद्धि—में वृषण की त्वचा बहुत मोटी और खुरदरी होती है तथा श्लीपद के ज्वरादि लक्षणों का इतिहास मिल सकता है।

पुराना प्रकोप फिरङ्ग और राजयक्ष्मा से होता है। फिरङ्गजन्य प्रकोप में केवल वृषणग्रन्थि बढ़ती है, पीड़ा कुछ भी नहीं होती, वृषण की खास संवेदना (Feel) जाती रहती है और वृषण सख्त प्रतीत होता है। राजयक्ष्माजन्य प्रकोप में वृषणग्रन्थि के साथ उपवृषण और रज्जु भी विकृत होकर गांठयुक्त बनती है, वृषण की संवेदना नष्ट नहीं होती। फिरङ्ग तथा राजयक्ष्माजन्य विकृति दोनों वृषणों में हुआ करती है।

अर्बुदजन्य वृद्धि बहुधा एक अण्ड में प्रारम्भ होती है, धीरे २ बढ़ती है, पीडायुक्त होती है तथा रज्जु भी शीघ्र विकृत हो जाती है और वङ्क्षणों की लसीकाग्रन्थियां फूलती हैं। वृषण की स्थानिक परीक्षा के साथ २ रोगी की सार्वदैहिक परीक्षा तथा रोग की अवधि और रोगी की आयु इत्यादि अनेक बातों की परीक्षा करनी चाहिये।

ब्रध्नस्यापि वृद्धिसमीपोत्पन्नत्वादत्र सनिदानं तल्लक्षणमाह—

अत्यभिष्यन्दिगुर्वन्नशुष्कपूत्यामिषाशनात्। करोति ग्रन्थिवच्छोथं दोषो वङ्क्षणसन्धिषु॥ ज्वरशूलाङ्गसादाढ्यं तं ब्रध्नेति विनिर्दिशेत्॥ १२॥

अत्यन्त अभिष्यन्दि तथा गुरु अन्न और सूखे तथा दुर्गन्धित मांस के खाने से प्रकुपित दोष वङ्क्षणसन्धि में ग्रन्थि के समान शोथ को उत्पन्न कर देते हैं। इस शोथ के समय ज्वर, शूल तथा अङ्गों में ग्लानि होती है। इस शोथ को ब्रध्न समझना चाहिये॥ १२॥

वृद्धिरोगचिकित्सामाह—

वृद्धावत्यशनं मार्गमुपवासं गुरूणि च। वेगाघातं पृष्ठयानं व्यायामं मैथुनं त्यजेत्॥ १३॥

वृद्धि रोग में अधिक भोजन, अधिक मार्ग चलना, उपवास करना, गुरु पदार्थों का भोजन, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकना, घोड़े इत्यादिकी सवारी, व्यायाम तथा मैथुन इन सबका परित्याग कर देना चाहिये॥ १३॥

वातवृद्धौ पिबेत् स्निग्धं यथाप्राप्तं विरेचनम्। सक्षीरञ्च पिबेत्तैलं मासमेरण्डसम्भवम्॥

वातजन्यवृद्धि में जिस प्रकार मिल सके स्निग्ध विरेचन को पीना चाहिये। दूध तथा एरण्ड तैल को मिला कर एक महीना पीने से वातवृद्धि नष्ट हो जाती है॥ १४॥

गुग्गुल्वेरण्डजं तैलं गोमूत्रेण पिबेन्नरः। वातवृद्धिं जयत्याशु चिरकालानुबन्धिनीम्॥१५॥

एरण्ड तैल में गुग्गुलु मिलाकर गोमूत्र के साथ पीने से बहुत दिनोंकी पुरानी वातवृद्धि शीघ्र नष्ट हो जाती है॥ १५॥

पित्तग्रन्थिक्रमेणैव पित्तवृद्धिमुपाचरेत्। जलौकाभिर्हरेद्रक्तं वृद्धौ पित्तसमुद्भवे॥ १६॥

पित्तग्रन्थि की जो चिकित्सायें कही गयी हैं पैत्तिक वृद्धि की भी उन्हीं चिकित्साओं से उपचार करना चाहिये। पैत्तिक वृद्धि में जोंक द्वारा रक्त को निकलवाना चाहिये॥ १६॥

चन्दनं मधुकं पद्ममुशीरं नीलमुत्पलम्। क्षीरपिष्टं प्रलेपेन दाहशोथरुजाऽपहम्॥ १७॥

चन्दन, मुलहठी, कमल, खस तथा नीले कमल को दूध में पीस कर प्रलेप करने से पित्तजन्यवृद्धि का दाह, शोथ तथा पीडा नष्ट होती है॥ १७॥

त्रिकटुत्रिफलाक्वाथं सक्षारलवणं पिबेत्। विरेचनमिदं श्रेष्ठं कफवृद्धिविनाशनम्॥ १८॥

सोंठ, मिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा तथा आँवले के क्वाथ को जवाखार तथा सेन्धा नमक मिला कर पीने से कफजन्यवृद्धि नष्ट होती है। यह कफवृद्धि नाश करने में श्रेष्ठ विरेचन है॥ १८॥

लेपनाः कटुतीक्ष्णोष्णाः स्वेदनं रूक्षमेव च। परिषेकोपनाहौ च सर्वमुष्णमिहेष्यते॥ १९॥

कडवे, तीक्ष्ण तथा उष्ण पदार्थों का प्रलेप, रूक्ष, स्वेद, परिषेक, उपनाह तथा सम्पूर्ण उष्णोपचार कफजन्यवृद्धि में हितकर होता है॥ १९॥

मुहुर्मुहुर्जलौकाभिः शोणितं रक्तजे हरेत्। पिबेद्विरेचनं वाऽपि शर्कराक्षौद्रसंयुतम्॥ २०॥

रक्तजन्यवृद्धि में वारम्बार जोंक द्वारा रक्त निकलवाना चाहिये अथवा चीनी तथा मधु मिला कर विरेचन पिलाना चाहिये॥ २०॥

शीतमालेपनं शस्तं सर्वपित्तहरं तथा। पित्तवृद्धिक्रमं कुर्यादामे पक्वे च रक्तजे॥ २१॥

आम अथवा पक्व रक्तजन्यवृद्धि में शीतल प्रलेप, सम्पूर्ण पित्तनाशक क्रियायें तथा पैत्तिक वृद्धि की चिकित्सा हितकर होती है॥ २१॥

स्विन्नं मेदःसमुत्थन्तु लेपयेत्सुरसाऽऽदिना। शिरोविरेचनद्रव्यैः सुखोष्णैर्मूत्रसंयुतैः॥२२॥ संस्वेद्य मूत्रप्रभवं वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्। सीवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन वै॥ मुष्ककोषमगच्छन्त्यामन्त्रवृद्धौ विचक्षणः। वातवृद्धिक्रमं कुर्यात्स्वेदं तत्राग्निना हितम्॥

*व्रीहिमुखेन=शस्त्रविशेषेण। अगच्छन्त्याम्=अस्रवन्त्याम्॥ २२-२४॥

मेदोजन्यवृद्धि को स्वेदित करके सुरसादि गण की ओषधियों का प्रलेप करना चाहिये और

मूत्रजन्यवृद्धि को किञ्चित् उष्ण गोमूत्रयुक्त शिरोविरेचन—द्रव्यों से स्वेदित कर के वस्त्रपट्ट से बांध देना चाहिये। अथवा मूत्रवृद्धि में सीवन के बगलमें नीचे की ओर व्रीहिमुख शस्त्र से वेधन कर दे।

स्रावरहित आन्त्रवृद्धि में बुद्धिमान वैद्य वातवृद्धि की क्रिया करे और अण्डकोष पर अग्नि द्वारा स्वेदन करना हितकर है ॥ २२-२४ ॥

तैलमेरण्डजं पीत्वा बलासिद्धं यथोचितम्। आध्मानशूलोपचितामन्त्रवृद्धिं जयेन्नरः ॥२५॥

खिरेटी के क्वाथ द्वारा सिद्ध किये हुए एरण्ड तैलको उचित मात्रा में पीने से आध्मान तथा शूल युक्त आन्त्रवृद्धि नष्ट हो जाती है ॥ २५ ॥

रास्नाऽऽदिक्वाथमाह—

रास्नायष्ट्यमृतैरण्डबलाऽऽरग्वधगोक्षुरैः। पटोलेन वृषेणापि विधिना विहितं शृतम्।
रुबुतैलेन संयुक्तमन्त्रवृद्धिं व्यपोहति ॥ २६ ॥

रास्ना, मुलहठी, गुडूची, एरण्डमूल, खिरेटी, अमलतास- गोखरू, परवल तथा अडूसे द्वारा विधिपूर्वक बनाये हुए क्वाथ को एरण्ड तैल मिलाकर पीने से आन्त्रवृद्धि नष्ट हो जाती है ॥ २६ ॥

गन्धर्वहस्ततैलेन क्षीरेण विहितं शृतम्। विशालामूलजं चूर्णं वृद्धिं हन्ति न संशयः ॥२७॥

***विशाला = इन्द्रवारुणी ॥ २७ ॥**

इन्द्रायण की जड़ के चूर्ण को या उससे विधिपूर्वक बनाये हुये क्वाथ को एरण्ड तैल तथा दूध के साथ मिला कर पीने से आन्त्रवृद्धि नष्ट हो जाती, इसमें सन्देह नहीं ॥ २७ ॥

वचासर्षपकल्केन प्रलेपः शोथनाशनः। शिग्रुत्वक्सर्षपैर्लेपः शोथश्लेष्मानिलापहः ॥ २८ ॥

वच तथा सरसों के कल्क का लेप करने से शोथ नष्ट होता है। सहिजन की छाल तथा सरसों को पीस कर लेप करने से शोथ, कफ तथा वायु नष्ट होता है ॥ २८ ॥

वृद्धिबाधिकां वटिकामाह—

शुद्धसूतं तथा गन्धं मृतान्येतानि योजयेत्। लोहं वङ्गं तथा ताम्रं कांस्यञ्चाथ विशोधितम्
तालकं तुत्थकञ्चापि तथा शङ्खवराटकम्। त्रिकटु त्रिफलां चव्यं विडङ्गं वृद्धदारकम् ॥ ३० ॥
कर्चूरं मागधीमूलं पाठां हबुषां वचाम्। एलाबीजं देवकाष्ठं तथा लवणपञ्चकम् ॥ ३१ ॥
एतानि समभागानि चूर्णयेदथ कारयेत्। कषायेण हरीतक्या वटिकां टङ्कसम्मिताम् ॥३२॥
एकां तां वटिकां यस्तु निगिलेद्वारिणा सह। अण्डवृद्धिरसाध्याऽपि तस्य नश्यति सत्वरम्

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लौहभस्म, वङ्गभस्म, ताम्रभस्म, कांसे की भस्म, शुद्ध तूतिया, शङ्ख भस्म, कौड़ी की भस्म, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, चव्य, वायविडङ्ग, विधारा, कचूर, पिपरामूल, पाठा, हाऊबेर, वच, इलायची के बीज, देवदारु तथा पांचों लवण इन सबको समान भाग लेकर चूर्ण बना ले। फिर हरड़ के क्वाथ से १-१ टङ्क (२४-२४ र०) की गोलियां बना ले। जो मनुष्य प्रतिदिन इस एक गोली को जल के साथ निगल जाता है उसकी असाध्य भी अण्डवृद्धि अवश्य ही शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥ २९-३३ ॥

ब्रध्न (बद)स्य चिकित्सामाह—

भृष्टश्चैरण्डतैलेन सम्यक्कल्कोऽभयाभवः। कृष्णासैन्धवसंयुक्तो ब्रध्नरोगहरः परः ॥ ३४ ॥

अच्छे प्रकार से बनाये हुये हरड़ के कल्क को एरण्ड तैल में भूनकर पिप्पली तथा सेन्धा नमक का चूर्ण मिलाकर खाने से ब्रध्न रोग अवश्य नष्ट होता है ॥ ३४ ॥

अजाजी हबुषा कुष्टं गोमेदं बदरान्वितम्। काञ्जिकेन तु सम्पिष्टं तल्लेपो ब्रध्नजित्परः ॥

***गोमेदं = पत्रकम्। तथा निघण्टौ धन्वन्तरिः—**

***पत्रं दलाह्वयं रासं गोमेदं रसनाह्वयमि'ति ॥ ३५ ॥**

इति त्रिचत्वारिंशत्तमो वृद्धिब्रध्नाधिकारः समाप्तः ॥ ४३ ॥

कालाजीरा, हाऊबेर, कूठ, तेजपात तथा बेर इनको काञ्जी में पीसकर लेप करने से ब्रध्न रोग अवश्य नष्ट होता है श्लोक में जो गोमेद शब्द है उसका तेजपात अर्थ किया गया है क्योंकि धन्वन्तरि निघण्टु में लिखा है कि-पत्र, दल वाचकशब्द, रास, गोमेद तथा रसना के जितने नाम हैं वे सब तेजपत्र के नाम हैं ॥ ३५ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे त्रिचत्वारिंशत्तमो वृद्धिब्रध्नाधिकारः समाप्तः ॥ ४३ ॥



अथ चतुश्चत्वारिंशत्तमो गलगण्डगण्डमालाग्रन्थ्यर्बुदाधिकारः ॥ ४४ ॥

तत्र गलगण्डस्य सामान्यलक्षणमाह—

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले । महान्वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥

***निबद्धः-दृढोऽचलो वा । मुष्कवद् = अण्डवत् । 'गले' इति हनुमन्ययोरुपलक्षणम् । तथा च भोजः—**

***महान्तं शोथमल्पं वा हनुमन्यागलाश्रयम् ।**
मुष्कवल्लम्बमानन्तु गलगण्डं विनिर्दिशेत् ॥ १ ॥ इति ॥ १ ॥

गले में बड़ा अथवा छोटा, दृढ़ या अचल जो शोथ अण्डकोष के समान लटकता है उसे गलगण्ड कहते हैं। गला यहां उपलक्षण मात्र है। यहां पर गला शब्द से हनु तथा मन्या का भी ग्रहण होता है। जैसा कि भोजने कहा है कि—हनु, मन्या, तथा गले में होनेवाला बड़ा अथवा छोटा जो शोथ होता है और अण्डकोष के समान लटकता है उसे[1] 'गलगण्ड' कहते हैं ॥ १ ॥ इति ॥ १ ॥

---

१. गलगण्ड को पाश्चात्त्य वैद्यक में सिम्पलग्वायटर (Simple Goiter) कहते हैं।

निदान—इसके निदान के सम्बन्ध में अभी तक ठीक निर्णय नहीं हुआ। कुछ शास्त्रज्ञ मल-मूत्र-दूषित खाद्य-पेय के सेवन से, कुछ खाद्य-पेय से आयोडीन (Iodine) की कमी से कुछ जीवनीयद्रव्य ए० बी० (Vitamin A., B.) की कमी से और फास्फेट की कमी से, कुछ मकई, मूंगफली और गोभी इत्यादि पदार्थों में मिलने वाले गलगण्डजनक (Goitrigenous) पदार्थ के सेवन से गलगण्ड की उत्पत्ति मानते हैं। कुछ शास्त्रज्ञ इस का कारण जीवाणु भी मानते हैं, जिसका अभी तक ठीक २ ज्ञान नहीं हुआ है। इसमें सन्देह नहीं है कि गलगण्ड अनेक कारणों से होता है परन्तु आयोडीन की कमी उसका प्रधान कारण है अपने यहां उपर्युक्त 'वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टौ' इत्यादि श्लोक में तो जो कुछ निदान दिया गया वह तो है ही, इसके अतिरिक्त सुश्रुत में लिखा है कि—'हिमालय से उत्पन्न हुई नदियों का जल पीने से भी यह रोग होता है, यथाः—

'हिमवत्प्रभया हृद्रोगश्वयथुशिरोरोगश्लीपदगलगण्डानुपजनयन्ति'। सु०सू०अ०४५सू०२१।

यह अत्यन्त सूक्ष्म अनुसन्धान है क्योंकि ऐसा बराबर देखने में आता है कि राप्ती इत्यादि नदियों के किनारे रहने वालों में जो कि उनका जल पीते हैं उनमें यह रोग अधिकांश में होता है। इसके अतिरिक्त हिमालय की तराई में यह रोग प्रायः होता है।

गलगण्ड में थायरायड (Thyroid) ग्रन्थि की स्थायी अतिवृद्धि होती है। यह ग्रन्थि ग्रीवा में टेंटुवे के सामने तथा दोनों ओर होती है। इसके शङ्खाकार दो पार्श्विक खण्ड होते हैं, जो टेंटुवे के दूसरे और तीसरे छल्लों के सामने एक तङ्ग भाग द्वारा एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। इसका औसत

गलगण्डसम्प्राप्तिमाह—

वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टौ मन्ये तु संश्रित्य तथैव मेदः ।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमतः स्वलिङ्गैः समाचितं तं गलगण्डमाहुः ॥ २ ॥

*स्वलिङ्गैः = वातकफमेदोलक्षणैः ॥ २ ॥

गले में दुष्टवात, कफ और मेद दोनों मन्याओं के स्थान पर जाकर क्रमतः अपने अपने लक्षणों वाले शोथ को उत्पन्न करते हैं इस रोग को गलगण्ड कहते हैं ॥ २ ॥

वातजगलगण्डलक्षणमाह—

तोदान्वितः कृष्णशिराऽवनद्धः श्यावारुणो वा पवनात्मकस्तु ।
पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाको यदृच्छया पाकमियात्कदाचित् ।
वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः ॥ ३ ॥

*चिरवृद्ध्यपाकः = चिरेण वृद्धिरपाकश्च यस्य सः ॥ ३ ॥

वातज गलगण्ड-सुई चुभाने के समान पीड़ायुक्त, कृष्ण वर्ण की शिराओं से व्याप्त, काले तथा लाल वर्ण का होता है। यह गलगण्ड कठिन तथा बहुत दिनों में बढ़नेवाला और पाकहीन होता है। कभी २ अपने आप पक भी जाता है। गलगण्ड के रोग का मुख विरस रहता है और तालु तथा गला सूखा रहता है ॥ ३ ॥

कफजगलगण्डलक्षणमाह—

स्थिरः सवर्णो गुरुरुग्रकण्डूः शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु ।
चिराच्च वृद्धिं भजते चिराद्वा प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित् ॥ ४ ॥

भार ३० माशे के लगभग होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह ग्रन्थि कुछ बड़ी होती है, जो मासिकधर्म और गर्भावस्था के समय और भी कुछ बढ़ जाया करती है। यह ग्रन्थि स्वास्थ्य के लिये परमावश्यक है जो बाल्यावस्था में शरीर की वृद्धि और साधारणतया आहारपरिवर्तन का नियन्त्रण करती है। यह ग्रन्थि दूध, अण्डा, प्याज तथा मूली इत्यादि खाद्यद्रव्यों में रहनेवाले आयोडीन (Iodine) नामक पदार्थ को ग्रहण कर थायरोक्सिन (Thyroxine) नामक द्रव्य बनाती है जो रक्त में मिलकर उपर्युक्त कार्य किया करती है। इसकी कमी से शरीर में मोटापन और अधिकता से पतलापन आजाता है। शरीर के अन्य अङ्गों की अपेक्षा स्वयं यह ग्रन्थि अपने द्रव्य की न्यूनाधिकता से अधिक प्रभावित होती है। जब खाद्य-पेय द्रव्यों में सदा आयोडीन की कमी होती है, अथवा चर्बी की अधिकता, खटिक की अधिकता, जीवद्रव्य की कमी तथा आन्त्र में जीवाणुकी उपस्थिति होने के कारण खाद्यद्रव्यों में योग्य मात्रा में आयोडीन उपस्थित होने पर भी उसका ठीक शोषण नहीं होता तब इस ग्रन्थि में थायरोक्सिन नामक पदार्थ उचित मात्रा में नहीं बनता। इसका सर्वप्रथम प्रभाव स्वयं ग्रन्थि के ऊपर होकर वह स्थायी रूप से बढ़ जाती है। यह गलगण्ड ऐसे स्थान में होता है जहां टेंटुवा, अन्नप्रणाली, रक्तवाहिनियां तथा नाड़ियां इत्यादि अनेक महत्त्व के अङ्ग उपस्थित होते हैं। जब यह ग्रन्थि बढ़ती है तब इन अङ्गों पर दबाव डालती है, जिससे भिन्न २ लक्षण उत्पन्न होते हैं। टेंटुवे पर दबाव पड़ने से वह चपटा होता है या एक ओर अपसारित होता है और श्वास-प्रश्वास में कठिनाई हो जाती है। अन्नप्रणाली दब जाने से निगलने में कठिनाई होती है। स्वरयन्त्र की नाड़ी (Recurrent laryngeal Nerve) पर दबाव पड़ने से स्वरभेद, स्वराघात अथवा स्वरपरिवर्तन हो जाता है। रक्तवाहिनियों पर दबाव पड़ने से गले की सिरायें फूल जाती हैं तथा मस्तिष्क-रक्तसंचार में बाधा उत्पन्न होकर चक्कर आना तथा अन्य वातिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। सुश्रुत के निम्न 'कृच्छ्राच्छ्वसन्तम्'इत्यादि श्लोक में अधिकांश में यही भाव है। रोग पुराना होने पर गलगण्ड घटता नहीं परन्तु इससे मृत्यु बहुत कम होती है। क्वचित् श्वासावरोध, गलगण्ड में रक्तस्राव अथवा कैन्सर (Cancer) के उत्पन्न होने से मृत्यु हो सकती है।

माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रलेपः ॥ ५ ॥

*कदा चित्प्रपच्यते वा पाकोऽपि चिराद्भवति । प्रलेपः-श्लेष्मणा ॥ ४-५ ॥

कफजन्य गलगण्ड स्थिर, उत्पत्ति स्थान की त्वचाके वर्ण के समान, गुरु, तीव्र कण्डूयुक्त, शीतल तथा बड़ा होता है। अधिक दिन में बढ़ता है। बहुत दिनों में पकता है या कभी २ पकता है, और कभी २ मन्द पीड़ा होती है। कफजन्य गलगण्ड रोगी का मुख मीठा मालूम होता है और तालु तथा गला कफ से लिप्त होता है ॥ ४-५ ॥

मेदोजन्यगलगण्डलक्षणमाह—

स्निग्धो मृदुः पाण्डुरनिष्टगन्धो मेदोऽन्वितः कण्डुयुतोऽरुजश्च ।
प्रलम्बतेऽलावुवदल्पमूलो देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः ।
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तोर्गलेऽणुशब्दं कुरुते च नित्यम् ॥ ६ ॥

जो गलगण्ड स्निग्ध, मृदु, पाण्डुरवर्ण, दुर्गन्धित, कण्डूयुक्त, पीड़ारहित, तुम्बी के समान लटकने वाला, अल्पमूल हो और शरीर के क्षय तथा वृद्धि के अनुसार क्षीण तथा वृद्ध होता हो ऐसे गलगण्ड को मेदोजन्य गलगण्ड समझना चाहिये। इस गलगण्ड से पीडित मनुष्य का मुख स्निग्ध रहता है तथा गले में सदैव शब्द होता है ॥ ६ ॥

असाध्यगलगण्डलक्षणमाह—

कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं संवत्सरातीतमरोचकार्त्तम् ।
क्षीणञ्च वैद्यो गलगण्डयुक्तं भिन्नस्वरं नैव नरं चिकित्सेत् ॥ ७ ॥

कठिनाई से सांस लेने वाले, जिस का सम्पूर्ण शरीर मृदु हो चुका हो, अरुचि तथा क्षीणता से युक्त हो और स्वर बैठ गया हो ऐसे गलगण्ड से पीडित रोगी की चिकित्सा कभी नहीं करनी चाहिये ॥ ७ ॥

गण्डमालालक्षणमाह—

कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवङ्क्षणेषु ।
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डः ॥ ८ ॥

*कर्कन्धुः = क्षुद्रबदरम् । कोलं = बृहद्बदरम् । चिरमन्दपाकैः = चिरेण मन्दोऽल्पः पाको येषां तैः ॥ ८ ॥

कक्षा, कन्धा, मन्याप्रदेश, गले तथा वङ्क्षणसन्धि में मेद तथा कफ से छोटी बेर अथवा बड़ी बेर या आंवले के समान जो बहुत सी गांठें (गण्ड) उत्पन्न हो जाती हैं उसे 'गण्डमाला' कहते हैं। ये गण्ड बहुत दिनों में तथा धीरे २ पकते हैं ॥ ८ ॥

गण्डमालाया एवावस्थाविशेषस्यापच्या लक्षणमाह—

ते ग्रन्थयः केचिदवाप्तपाकाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ।
कालानुबन्धं चिरमादधाति सैवापचीति प्रवदन्ति केचित् ॥ ९ ॥

*ते ग्रन्थयः = गण्डमालाया एव गण्डाः, केचिदवाप्तपाकाः सन्तः स्रवन्ति । केचिन्नश्यन्ति संरोहन्ति, अन्ये भवन्ति च, कालानुबन्धं चिरमादधाति = या गण्डमाला चिरं तिष्ठति, सैवापचीति केचिद्वदन्ति ॥ ९ ॥

उसी गण्डमाला की कुछ ग्रन्थियां पक कर स्रवित होने लगती हैं। कुछ ग्रन्थियां नष्ट हो जाती हैं और कुछ नये नये गण्ड उत्पन्न होते हैं। गण्डों की यह अवस्था बहुत दिनों तक लगी रहती है। कुछ वैद्य गण्डमाला की इस अवस्था को[1] 'अपची' कहते हैं ॥ ९ ॥

---

१. अपची को पाश्चात्त्य वैद्यक में क्रानिक ट्युवर कुलस लिम्फेडेनाइटिस या स्क्रोफुला (Chronic tuberculous Lymphadenitis or Scrofula) कहते हैं। यह विकार बाल्य

अपच्याः साध्यत्वादिकमाह—

साध्या स्मृता पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुता त्वसाध्या ॥ १० ॥

उपद्रव रहित यह अपची रोग साध्य होता है और पीनस, पार्श्वशूल, कास, ज्वर तथा वमन से युक्त अपची असाध्य होती है ॥ १० ॥

तथा यौवन अवस्था में अधिक होता है। इस रोग का प्रधान कारण राजयक्ष्मा का जीवाणु है। यह वायु या खाद्य-पेय पदार्थों से शरीर में प्रविष्ट होता है। यदि खसरा, कुक्कुरखांसी, विषमज्वर, कालाअजार तथा फिरङ्ग इत्यादि विकारों से या मद्य तथा अन्य नशीली चीजों से अथवा घने मुहल्लों से, या आवश्यकतानुसार स्वास्थ्यवर्द्धक खाद्य के न मिलने से अथवा मैथुनादि अन्य दौर्बल्यजनक कारणों से मनुष्य की प्राणशक्ति घट गई हो तो ये धीरे २ शरीर में अपना कदम जमाते हैं और महीनों या सालों पीछे अपना प्रभाव दिखाते हैं। फुप्फुस, लसीकाग्रन्थि तथा आन्त्र इत्यादि विविध अङ्गों में इनका प्रभाव पड़ता है। आधुनिक अन्वेषणों से यह सिद्ध हुआ है कि पेशियां और आमाशयप्राचीर को छोड़कर शरीर का कोई भी धातु या अवयव इनके आक्रमण से नहीं बच सकता। अपची में शरीर की लसीकाग्रन्थियां (Lymphatic glands) विकृत हो जाती हैं।

निम्न स्थानों की लसीकाग्रन्थियां प्रायः विकृत होती हैं; यथाः—

हनु के नीचे की ग्रन्थियां (Submoxigary glands), कक्षा की ग्रन्थियां (Axillary glands), अक्षकास्थि के पास की ग्रन्थियां (Supra and Infra claiji cular glands), बाहुसन्धि की ग्रन्थियां (glansin the Porterior ceruicol triangle), मन्या की ग्रन्थियां (Deepceruical glands), गले की ग्रन्थियां (Superficial ceruical glands) और वंक्षण सन्धि की ग्रन्थियां (Inguinal glands)।

सुश्रुत के निम्न श्लोकों में इनका पूर्ण विवरण आ जाता है। यथाः—

'हन्वस्थिकक्षाक्षकबाहुसन्धिमन्यागलेषूपचितन्तु मेदः।

ग्रन्थिं स्थिरं वृत्तमथायतं वा स्निग्धं कफश्चाल्परुजं करोति।' सु० नि० अ० ११ श्लो० ९।

'मेदःस्थाः कण्ठमन्याऽक्षकक्षावङ्क्षणजा मलाः।' (सु० उ० त० अ० २९)

ये ग्रन्थियां शनैः २ बढ़ती हैं, उनमें पूय पड़ जाती है फिर फूट जाती हैं। इस प्रकार इनका सिलसिला वर्षों तक लगा रहता है। इसी बात को सुश्रुत में भी कहा गया है, किः—

मेदःकफाभ्यां खलु रोग एष सुदुस्तरो वर्षगणानुबन्धी'। सु० नि० अ० ११ श्लो० ११।

जब केवल गले की ही ग्रन्थियां फूलती हैं तब उन्हें गण्डमाला कहा जाता है। यथाः—

'गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः।' च० शोथचिकित्सा।

रोगी के स्वास्थ्यास्वास्थ्य के अनुसार इनमें घटाबढ़ी अवश्य होती है किन्तु इनका निर्मूलन नहीं होता। इसी सत्य को वर्णन करने के लिए वाग्भट ने दूर्वा का अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त दिया है। यथाः—'गण्डमालाऽपची चेयं दूर्वेव क्षयवृद्धिभाक्'। अष्टाङ्ग सं०, उत्तरस्थान अ० ३४।

अर्थात्—जैसे हरी दूब पानी न मिलने से पूर्णतया सूख जाया करती है परन्तु बिना प्रयत्न के जड़ से नष्ट नहीं होती, वैसे ही अपची स्वास्थ्य ठीक होने पर कम हो जाती है किन्तु जड़ से नष्ट नहीं होती। जिस प्रकार दूर्वा पानी मिलने से हरी-भरी होकर अपने प्रतानों से चारों ओर फैलती है; उसी प्रकार अस्वास्थ्य रूप जल मिलने से यह अपची भी समस्त शरीर में फैलती है। इस अवस्था में ज्वर, खांसी तथा पार्श्वशूल इत्यादि राजयक्ष्मा के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं तब यह विकार असाध्य हो जाता है। जो कि उपर्युक्त चरकोक्त—

'साध्या स्मृता पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुता त्वसाध्या'। इससे स्पष्ट मिलता है।

ग्रन्थिलक्षणमाह—

वातादयो मांसमसृक्प्रदुष्टाः सन्दूष्य मेदश्च तथा सिराश्च।
वृत्तोन्नतं विग्रथितन्तु शोथं कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ॥ ११ ॥

***विग्रथितं=ग्रथितरूपम्, अत एव ग्रन्थिः, स पञ्चधा—१ वार्तिकः २ पैत्तिकः ३ श्लैष्मिको ४ मेदोजः ५ सिराजश्चेति ॥ ११ ॥**

दूषित हुए वात, पित्त, कफ, मेद तथा शिरा ये सब मांस और रक्त को दूषित करके गोलाकार ऊंचा ग्रन्थि के समान शोथ को उत्पन्न करती हैं इसीलिये इसे[1] 'ग्रन्थि' कहते हैं। यह ग्रन्थि-रोग १—वातिक, २—पैत्तिक, ३—श्लैष्मिक, ४—मेदोज तथा ५—सिराज भेद से पांच प्रकार का होता है ॥ ११ ॥

वातजग्रन्थिलक्षणमाह—

आयम्यते वृश्च्यति तुद्यते च प्रभ्रश्यते मथ्यति भिद्यते च।
कृष्णो मृदुर्वस्तिरिवाततश्च भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥ १२ ॥

***आयस्यते = आकृष्य दीर्घ क्रियत इव। वृश्च्यति=आश्रयं छिनत्तीव। प्रभ्रश्यते= स्खलतीव। भिद्यते = विदार्यत इव। आततः = विस्तारित इव। मृदुः = न त्वत्यन्तकठिनः। अस्रम्=रुधिरम्, अच्छं=प्रकृतं स्रवेदित्यर्थः ॥ १२ ॥**

जो ग्रन्थि खींचकर बढ़ाये हुवे के समान हो, अपने स्थान को छेदती हो, जिसमें सुई चुभाने के समान पीड़ा हो, गिर-सी पड़ती हो, मथने तथा फाड़ने के समान पीड़ा हो, मृदु तथा फैलाई वस्ति के समान कृष्णवर्ण की हो और जिससे प्राकृतिक स्वच्छ रक्त का स्राव होता हो उसे वातजन्य ग्रन्थि कहते हैं ॥ १२ ॥

पित्तजग्रन्थिलक्षणमाह—

दन्दह्यते धूप्यति चूष्यते च पापच्यते प्रज्वलतीव चापि।
रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ताद्भिन्नः स्रवेद् दुष्टमतीव चास्रम् ॥ १३ ॥

***दन्दह्यते = भृशं दाहं करोति, सकलशरीरे। धूप्यति = अन्तस्तापं करोति। चूष्यते—शृङ्गेणेव। पापच्यते = भृशं पाकं करोति। प्रज्वलतीव = अग्निरिव ज्वालायुक्त इव भवति, ग्रन्थिः। अस्रम् = रुधिरम्। अतीव दुष्टं = कृष्णताऽऽदियुक्तम् मज्जयुक्तं च ॥ १३ ॥**

जो ग्रन्थि सम्पूर्ण शरीर में प्रचण्ड दाह को उत्पन्न करती हो; शरीर के भीतर सन्ताप उत्पन्न करती हो और जिसमें सींगी लगाकर चूसने के समान पीड़ा होती हो, तीव्रता से पकती हो और अग्नि के समान ज्वालायुक्त हो और फूलने पर जिससे अत्यन्त दुष्ट, कृष्णता इत्यादि से युक्त रक्तस्राव हो और लाल अथवा पीतवर्ण का हो उसे पैत्तिक ग्रन्थि समझना चाहिये ॥ १३ ॥

---

१. ग्रन्थि को पाश्चात्य वैद्यक में सिस्ट (cyst) कहते हैं। सिस्ट उस रचना का नाम है जो कि आकार में गोल हो, उसके ऊपर एक कोष श्लेष्मल कला का आवरण चढ़ा हो और उसके मध्य में कुछ अर्द्ध तरल पदार्थ उपस्थित हो। यथाः—

By a Cyst is usually meant more or less rounded cavity with a Distirct lining membrane, Distended with Some fluid or Semisolid Material. (Rose and Carless Surgery)

इस प्रकार सिस्ट का जो विवरण पाश्चात्य वैद्यक में किया गया है उसका पूर्ण वर्णन निम्न उक्तियों में हो जाता है। यथाः—

'वृत्तोन्नतं विग्रथितं तु शोफं कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः'। सु० नि० अ० ११ श्लो० २। तथा—

'विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोशं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत्'। चरक शोथचिकित्सा।

कफजग्रन्थिलक्षणमाह—

शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डूः पाषाणवत्संहननोपपन्नः ।
चिराभिवृद्धिश्च कफप्रकोपाद्भिन्नः स्रवेच्छुक्लघनञ्च पूयम् ॥ १४ ॥

*अविवर्णः = प्रकृतिवर्णः । पाषाणवत्, संहननोपपन्नः = संहततायुक्तः ॥ १४ ॥

जो ग्रन्थि शीतल, प्राकृतिक वर्ण के समान वर्ण वाली, अल्प पीड़ा तथा अधिक खुजली युक्त हो, पत्थर के समान अत्यन्त कठिन, बहुत समय में बढ़ती हो और फूटने पर जिस ग्रन्थि में श्वेत वर्ण का तथा घन पूय का स्राव होता हो उसे कफजन्य ग्रन्थि कहते हैं ॥ १४ ॥

मेदोजग्रन्थिलक्षणमाह—

शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः स्निग्धो महान् कण्डुयुतोऽरुजश्च ।
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्ने पिण्याकसर्पिःप्रतिमन्तु मेदः ॥ १५ ॥

*तिलसदृशं घृतसदृशं वा मेदो गच्छति = स्रवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

जो ग्रन्थि शरीर की वृद्धि के साथ २ बढ़ती है और क्षीण होने पर क्षीण होती है । स्निग्ध, बड़ी, कण्डूयुक्त तथा पीड़ारहित होती है और फूटने पर जिससे खली अथवा घी के समान मेदःस्राव हो उसे मेदोज ग्रन्थि कहते हैं ॥ १५ ॥

शिराजन्यग्रन्थिलक्षणमाह—

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तैराक्षिप्य वायुश्च शिराप्रतानम् ।
सङ्कोच्य सम्पीड्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ॥ १६ ॥

*तैस्तैः = बलवद्विग्रहादिभिः । आक्षिप्य = चालयित्वा । सम्पीड्य = संहतीकृत्य ॥

बलहीन मनुष्य जब बलवान् के साथ युद्ध इत्यादि व्यायाम करता है तो प्रकुपित वायु शिरा-समूह को चलायमान करके संकोच उत्पन्न करके दबा कर और सुखा कर शीघ्र ऊंची तथा गोल ग्रन्थि को उत्पन्न कर देती है । इसे शिराज ग्रन्थि कहते हैं ॥ १६ ॥

ग्रन्थेः कष्टसाध्यतामसाध्यतां चाह—

ग्रन्थिः शिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो भवेद्यदि स्यात्सरुजश्चलश्च ।
अरुक्स एवाप्यचलो महांश्च मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥ १७ ॥

*अरुजत्वादियुक्ता अन्येऽपि ग्रन्थयोऽसाध्याः । तथा च भोजः—

पञ्चैतानरुजो ग्रन्थीन्मर्मजानचलांस्त्यजेत् ।
कपोलगलमन्यासु दुश्चिकित्स्या हि सन्धिषु ॥ २ ॥ इति ॥ १७ ॥

यदि शिराजन्य ग्रन्थि पीडायुक्त तथा चल हो तो वह कष्टसाध्य होती है और यदि वही ग्रन्थि पीडारहित, अचल, बड़ी तथा मर्मस्थानों में स्थित हो तो उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये । पीडारहित, अचल, बड़ी तथा मर्मस्थलों में स्थित अन्य भी ग्रन्थियां असाध्य होती हैं जैसा कि भोज ने कहा है । इन पांच प्रकार की ग्रन्थियों में जो ग्रन्थि पीडारहित, मर्मस्थानों में उत्पन्न तथा अचल हो उनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये और कपोल, गले, मन्या तथा संधियों में उत्पन्न हुई ग्रन्थियां दुश्चिकित्स्य होती हैं ॥ २ ॥ इति ॥ १७ ॥

अर्बुदस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः सम्मूर्च्छिता मांसमसृक्प्रदूष्य ।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम् ।
कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगाधं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ॥ १८ ॥

*महान्तं ग्रन्थ्यपेक्षया । चिरेण वृद्धिर्यस्य तच्चिरवृद्धि । 'अपाकमि'ति ग्रन्थेः सकाशादस्य भेदज्ञापकम् । अत्यगाधं = दूरानुप्रविष्टम् ॥ १८ ॥

प्रकुपित दोष शरीर के किसी प्रदेश में मांस तथा रक्त को दूषित करके गोल, स्थिर, अल्प पीड़ा वाला ग्रन्थि की अपेक्षा बड़ी जड़ वाला, अधिक समय में बढ़ने वाला और पाकरहित दूर तक अन्तःप्रविष्ट मांस की ऊंचाई को उत्पन्न कर देते हैं। शास्त्रज्ञ गण इसे 'अर्बुद'[1] कहते हैं। ग्रन्थि में पाक उत्पन्न होता है किन्तु अर्बुद पकते नहीं, यही दोनों में भेद है॥ १८॥

अर्बुदस्य विशिष्टानि लक्षणान्याह—

वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा च।
तज्जायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थेः समानानि सदा भवन्ति॥ १९॥

***ग्रन्थेः समानानि=वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकमेदोजानामर्बुदानां लक्षणानि तुल्यानि भवन्ति॥**

यह अर्बुद वात, कफ, रक्त, मांस तथा मेद से उत्पन्न होते हैं और इनमें वात, पित्त, कफ तथा मेद से उत्पन्न होनेवाले अर्बुदों का लक्षण हमेशा ग्रन्थियों के लक्षणों के समान ही होता है॥ १९॥

रुधिरजन्यार्बुदस्य निदानसंप्राप्तिलक्षणान्याह—

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं सिराश्च सङ्कोच्य सम्पीड्य ततस्त्वपाकम्।
सास्रावमुन्नह्यति मांसपिण्डं मासाङ्कुरैरावृतमाशु वृद्धिम्॥ २०॥
स्रवत्यजस्रं रुधिरं प्रदुष्टमसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं तु।
रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात्पाण्डुर्भवेदर्बुदपीडितस्तु॥ २१॥

***दोषोऽत्र पित्तम्। रुधिरं सिराश्च सङ्कोच्य सम्पीड्य=संहतीकृत्य, मांसासृजोः सर्वेष्वर्बुदेषु दूष्यत्वम्। रक्तजे तु विशेषतो रक्तदुष्टिः एवं मांसार्बुदे विशेषतो मांसदुष्टिर्बोद्धव्या। ततो मांसपिण्डम्, उन्नह्यति = उद्धतं करोति। अपाकम् = 'ईषत्पाकं यथा स्यादेवमि'ति क्रियाविशेषणम्। ईषत्पाकश्चैकदेशपाकेन। रक्तक्षयोपद्रवाः सुश्रुतोक्तास्तैः पीडितत्वात्। अर्बुदपीडितः = रक्तार्बुदपीडितः॥ २०-२१॥**

दूषित हुआ पित्त, रक्त तथा शिराओं को संकुचित करके और दबाकर इकट्ठा करके स्रावयुक्त कुछ पकने वाले अथवा एक प्रदेश में पकने वाले मांस के अङ्कुरों से आवृत, शीघ्र बढ़ने वाले मांसपिण्ड को उत्पन्न कर देता है। इससे निरन्तर दूषित रक्त का स्राव होता है। यह रक्तजन्य अर्बुद असाध्य होता है। इस अर्बुद से पीडित मनुष्य रक्तक्षय के उपद्रवों से पीडित होने के कारण पाण्डुवर्ण का हो जाता है। सम्पूर्ण अर्बुदों में मांस तथा रक्त दूष्य होते हैं। रक्तजन्य अर्बुद में प्रायः रक्त की दुष्टि होती है। और इसी प्रकार मांसार्बुद में विशेषतः मांस की दुष्टि समझनी चाहिये॥२०-२१॥

मांसार्बुदसम्प्राप्तिमाह—

मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे मांसं प्रदुष्टं समुपैति शोथम्।
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम्॥ २२॥

***मांसं प्रदुष्टं वातेन। अवेदनम् = वेदनारहितमीषद्वेदनं वा। अपाकं=पाकरहितमीषत्पाकं वा॥ २२॥**

मुष्टि इत्यादि के प्रहार से पीडित अङ्ग में वायु के प्रकोप से दूषित हुये मांस में वेदनारहित अथवा अल्प वेदनायुक्त, स्निग्ध, अनन्य वर्ण, पाकरहित अथवा अल्प पाक वाला, पत्थर के समान तथा अचल शोथ उत्पन्न होता है॥ २२॥

मांसजन्यार्बुदनिदानमाह—

प्रदुष्टमांसस्य नरस्य गाढमेतद्भवेन्मांसपरायणस्य॥ २३॥

***मांसाशनाभ्यासेन यः प्रदुष्टमांसस्तस्य, एतद्भवतीत्यर्थः॥ २३॥**

---

१. अर्बुद को अंग्रेजी में ट्यूमर (Tumour) या नीओप्लाज्म कहते हैं। इसका विवरण गुल्मरोगाधिकार में पढ़िये।

मांसभक्षण के अभ्यास से जिसका मांस दूषित हो गया है ऐसे मनुष्य को यह दृढ़ अर्बुद उत्पन्न होता है ॥ २३ ॥

असाध्यार्बुदलक्षणमाह—

यज्जायतेऽन्यत्खलु पूर्वजाते ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः ।
यद् द्वन्द्वजातं युगपत्क्रमाद्वा द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥ २४ ॥

जो दूसरा अर्बुद पहिले अर्बुद के उत्पन्न होने के बाद उत्पन्न होता है अर्बुद के जानने वालों को इसे अध्यर्बुद जानना चाहिये और यदि दो दोषों से उत्पन्न हुआ हो, एक साथ अथवा क्रमतः उत्पन्न हुआ हो तो इसे द्विरर्बुद को असाध्य समझना चाहिये ॥ २४ ॥

अर्बुदस्यापरमसाध्यलक्षणमाह—

मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमाहुः साध्येष्वपीमानि विवर्जयेच्च ।
सम्प्रस्रुतं मर्मसु यच्च जातं स्रोतःसु वा यत्तु भवेदचाल्यम् ॥ २५ ॥

***साध्येष्वपि वातजादिष्वपीमानि वक्ष्यमाणानि सम्प्रस्रुतादीनि विवर्जयेत् ॥ २५ ॥**

यह मांसार्बुद असाध्य कहा गया है। वातादिजन्य साध्य अर्बुद कहते हैं उनमें भी जो अर्बुद स्रावयुक्त, मर्मस्थल तथा स्रोतसों में उत्पन्न हुये हों और अचल हों उनकी भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥ २५ ॥

अर्बुदानां पाकाभावे कारणमाह—

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्मेदोबहुत्वाच्च विशेषतस्तु ।
दोषस्थिरत्वाद् ग्रथनाच्च तेषां सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु ॥ २६ ॥

***ग्रथनाद् = ग्रन्थिरूपत्वात् । ननु—अपच्यां कफमेदसोराधिक्येऽपि पाको दृश्यते, तथा अत्र कथं न पाकः ? इत्याह—निसर्गतः = स्वभावात् ॥ २६ ॥**

सब प्रकार के अर्बुद कफ तथा मेद की अधिकता से विशेषतः दोषों की स्थिरता से तथा ग्रन्थि रूप होने से स्वभावतः नहीं पकते।

शङ्का—अपची में कफ तथा मेद की अधिकता होने पर भी पाक दिखलाई देता है तो उसी प्रकार अर्बुद में पाक क्यों नहीं होता ?

समाधान—निसर्गतः अर्थात् अर्बुद का स्वभाव ही है कि उसमें पाक बहुत समय तक नहीं होता अथवा यदि होता भी है तो एक देश में बहुत थोड़ा होता है ॥ २६ ॥

गलगण्डचिकित्सामाह—

सर्षपाञ्छिग्रुबीजानि शणबीजातसीयवान् । मूलकस्य च बीजानि तक्रेणाम्लेन पेषयेत् ॥२७॥
गलगण्डगण्डमालाग्रन्थयश्चैव दारुणाः । प्रलेपादेव नश्यन्ति विलयं यान्ति सत्वरम् ॥२८॥

सरसों, सहिजन के बीज, सन के बीज, अलसी, जव तथा मूली के बीजों को खट्टे तक्र के साथ पीसकर प्रलेप करने से गलगण्ड, गण्डमाला तथा दारुण ग्रन्थियां शीघ्र नष्ट हो जाती हैं और गल जाती हैं ॥ २७–२८ ॥

रक्षोघ्नतैलयुक्तेन जलकुम्भीकभस्मना । लेपनं गलगण्डस्य चिरोत्थस्यापि शस्यते ॥ २९ ॥

***रक्षोघ्नः = सर्षपः ॥ २९ ॥**

जलकुम्भी के भस्म को कड़वे तेल में मिलाकर लेप करने से बहुत दिनों का भी गलगण्ड नष्ट हो जाता है ॥ २९ ॥

श्वेतापराजितामूलं प्रातः पिष्ट्वा पिबेन्नरः । सर्पिषा नियताहारो गलगण्डप्रशान्तये ॥ ३० ॥

श्वेत अपराजिता की जड़ को पीस कर प्रातःकाल घी के साथ पिये और पथ्य आहार का सेवन करे तो गलगण्ड शान्त हो जाता है ॥ ३० ॥

तिक्तालाबुफले पक्के सप्ताहमुषितं जलम् । सद्यः स्याद्गलगण्डघ्नं पानात् पथ्यान्नसेविनाम् ॥

कड़वी तुम्बी के पके हुए फल में सात दिन तक रक्खे हुए वासी जल को पीने से और पथ्य अन्न का सेवन करने से शीघ्र गलगण्ड नष्ट हो जाता है ॥ ३१ ॥

अथामृतादितैलमाह—

तैलं पिबेद्वाऽमृतवल्लिनिम्बहिंस्राऽभयावृत्तकपिप्पलीभिः ।
सिद्धं वलाभ्यां सह देवदारुणा हिताय नित्यं गलगण्डरोगी ॥ ३२ ॥

*वृक्षकोऽत्र तुणिः । उक्तञ्च निघण्टौ धन्वन्तरिणा—

*'तुणिस्तुणिकपीतश्च नन्दिवृक्षश्च वृक्षकः' । इति ।

*वलाभ्यां = वलातिवलाभ्याम् ॥ ३२ ॥

गुडूची, नीम, हिंस्रा (हैंस), हरड़, वृक्षक (तुणि), पिप्पली, खिरेटी, गङ्गेरन तथा देवदारु के कल्क से सिद्ध किये हुए तेल को प्रतिदिन पीये । यह गलगण्ड रोगी के लिए हितकर है । यहाँ-पर वृक्षक शब्द का अर्थ 'तुणि' किया गया है जैसा कि धन्वन्तरि निघण्टु में लिखा हुआ है कि—तुणि, कपीत, नन्दिवृक्ष तथा वृक्षक ये पर्यायवाची शब्द हैं ॥ ३२ ॥

यवमुद्गपटोलादिकटुरूक्षान्नभोजनम् । वमनं रक्तमोक्षञ्च गलगण्डे प्रयोजयेत् ॥ ३३ ॥

गलगण्ड रोग में जौ, मूँग, परवल इत्यादि, कटु तथा रूक्ष पदार्थों का भोजन तथा वमन कराना चाहिए ॥ ३३ ॥

दापयेत्प्रच्छनान्यत्र गण्डगोपालिकोद्भवः । प्रलेपस्त्वनुभूतोऽयं बहुधा बहुभिर्जनैः ॥ ३४ ॥

*प्रच्छनानि = 'पच्छना' इति लोके । गण्डगोपालिका 'गण्डगुयारी'ति च प्रसिद्धा आम्रवाटिकायां सुलभः कीटविशेषो भवति ॥ ३४ ॥

गलगण्ड पर पछना लगाकर गण्डगोपालिका नामक कीड़े का लेप करना चाहिए, इससे गल-गण्ड नष्ट हो जाता है । इस प्रयोग का अनेक वैद्यों ने बहुत वार अनुभव किया है । गण्ड-गोपालिका—गण्डगुयारी नाम से प्रसिद्ध है, जो कि आम के वगीचे में सुगमता से प्राप्त होनेवाला विशेष प्रकार का कीड़ा है ॥ ३४ ॥

लवणं जलकुम्भीञ्च कणाचूर्णेन संयुतम् । प्रभाते नित्यमश्नीयाद्गलगण्डप्रशान्तये ॥ ३५ ॥

गलगण्ड की शान्ति के लिए जलकुम्भी के भस्म को सेन्धानमक तथा पिप्पली के चूर्ण के साथ मिलाकर प्रतिदिन प्रातःकाल खाना चाहिए ॥ ३५ ॥

गण्डमालाचिकित्सामाह—

काञ्चनारत्वचः क्काथः शुण्ठीचूर्णेन संयुतः । माक्षिकाढ्यः सकृत्पीतः क्काथो वरुणमूलजः ॥
गण्डमालां हरत्याशु चिरकालानुबन्धिनीम् ॥ ३७ ॥

कचनार की छाल का क्काथ सोंठ के चूर्ण को मिलाकर पीने से अथवा वरुना की जड़ के क्काथ को मधु मिला कर एक ही वार पीने से बहुत दिनों की पुरानी गण्डमाला तत्काल नष्ट हो जाती है ३६–३७

पलमर्द्धपलञ्चापि पिष्टां तण्डुलवारिणा । काञ्चनारत्वचं पीत्वा गण्डमालां व्यपोहति ॥३८॥

४ तोले अथवा २ तो० कचनार की छाल को चावल के पानी के साथ पीसकर पीने से गण्डमाला नष्ट हो जाती है ॥ ३८ ॥

काञ्चनारगुग्गुलुमाह—

काञ्चनारस्य गृह्णीयात्त्वचं पञ्चपलोन्मिताम् । नागरस्य कणायाश्च मरिचस्य पलं पलम् ॥
पथ्याविभीतधात्रीणां पलमर्द्धं पृथक्पृथक् । वरुणस्याक्षमेकं च पत्रकैलात्वचां पुनः ॥ ४० ॥
टङ्कं टङ्कं समादाय सर्वाण्येकत्र चूर्णयेत् । यावच्चूर्णमिदं सर्वं तावानेवात्र गुग्गुलुः ॥ ४१ ॥
संकुट्य सर्वमेकत्र पिण्डं कृत्वा विधारयेत् । गुटिकाः शाणिकाः कृत्वा प्रभाते भक्षयेन्नरः ॥
गलगण्डं जयत्युग्रमपचीमर्बुदानि च । ग्रन्थीन्व्रणानि गुल्मांश्च कुष्ठानि च भगन्दरम् ॥४३॥

अदेयश्चानुपानार्थं क्वाथो मुण्डितिकाभवः। क्वाथः खदिरसारस्य क्वाथः कोष्णोऽभयाभवः॥

कचनार की छाल को २० तोले, सोंठ ४ तो०, पिप्पली ४ तो०, मिर्च ४ तो०, हरड़ २ तो०, बहेड़ा २ तो०, आंवले २ तो० वरुन की छाल १ तो०, तेजपात १ टङ्क—इन सबका एकत्र चूर्ण कर डाले। फिर जितना यह चूर्ण है, उतना ही शुद्ध गुग्गुलु लेकर सबको इकट्ठा कूटकर पिण्ड बनाकर रख ले। फिर इसमें से १-१ टङ्क (२४-२४ रत्ती) की गोलियाँ बना ले। प्रतिदिन प्रातःकाल १-१ गोली को खाये तो उग्र गलगण्ड, अपची, अर्बुद, ग्रन्थि, व्रण, गुल्म, कुष्ठ तथा भगन्दर—ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं। इन गोलियों पर अनुपान के लिए गोरखमुण्डी, खैरसार अथवा हरड़ का किञ्चित् उष्ण क्वाथ देना चाहिए॥ ३९-४४॥

चक्रमर्दतैलमाह—

चक्रमर्दकमूलस्य पलकल्के विपाचयेत्। केशरागरसे तैलं कटुकं मृदुनाऽग्निना॥ ४५॥
पादांशिकं विनिक्षिप्य सिन्दूरमवतारयेत्। एतत्तैलं निहन्त्याशु गण्डमालां सुदारुणाम्॥

***केशरागः=भृङ्गराजः॥ ४५-४६॥**

चकवड़ के ४ तो० कल्क तथा भृङ्गराज के स्वरस में कड़वे तेल को मन्द अग्नि से पकाये। पक जाने पर चतुर्थांश सिन्दूर को डालकर उतार ले। यह 'चक्रमर्द' नामक तेल दारुण गण्डमाला को शीघ्र नष्ट कर देता है॥ ४५-४६॥

गुञ्जातैलमाह—

गुञ्जामूलफलैस्तैलं विपक्वं द्विगुणाम्भसा। हरेदभ्यङ्गनस्याभ्यां गण्डमालां सुदारुणाम्॥४७॥

गुञ्जा की जड़ तथा फल के कल्क से दुगुना जल डालकर पकाये हुए तैल का अभ्यङ्ग करने तथा नस्य लेने से महादारुण गण्डमाला नष्ट हो जाती है॥ ४७॥

अथापचीचिकित्सा।

तत्र चन्दनादितैलमाह—

चन्दनं साभया लाक्षा वचा कटुकरोहिणी। एतैस्तैलं शृतं पीत्वा समूलामपचीं हरेत्॥४८॥

लालचन्दन, हरड़, लाख, वच तथा कुटकी इनके क्वाथ द्वारा पकाये हुए तैल को पीने से अपची समूल नष्ट हो जाती है॥ ४८॥

व्योषादितैलमाह—

व्योषं विडङ्गं मधुकं सैन्धवं देवदारु च। तैलमेभिः शृतं नस्यात्सकृच्छ्रामपचीं हरेत्॥ ४९॥

सोंठ, मिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग, मुलेठी, सेन्धानमक तथा देवदारु इनके क्वाथ से पकाये हुए तैल से नस्य लेने से महाकष्टकारक अपची नष्ट हो जाती है॥ ४९॥

ग्रन्थ्यर्बुदचिकित्सामाह—

स्वर्जिकामूलकक्षारः शङ्खचूर्णसमन्वितः। एतेन विहितो लेपो हन्ति ग्रन्थिं तथाऽर्बुदम्॥

सज्जीखार, मूली का क्षार तथा शङ्खचूर्ण इनको पीसकर लेप करने से ग्रन्थि तथा अर्बुद नष्ट हो जाते हैं॥ ५०॥

ग्रन्थिर्न यो नश्यति भेषजेन निष्कास्य तं शस्त्रचिकित्सकेन।
जात्यादिपक्वेन घृतेन वैद्यो व्रणेन चान्येन च सच्चिकित्सेत्॥ ५१॥

जो ग्रन्थि ओषधियों से नष्ट न हो, उसे शस्त्र से निकालकर वैद्य 'जात्यादि घृत' अथवा अन्य व्रण में हितकर चिकित्साओं का उपयोग करे॥ ५१॥

ग्रन्थिमुद्धृत्य तत्रापि व्रणोक्तं क्रममाचरेत्। शिराग्रन्थिं विहायान्ये शेषे शस्त्रं प्रयुञ्जते॥

***अन्ये=आचार्याः, इति कथयन्ति॥ ५२॥**

अन्य आचार्यों का मत है कि ग्रन्थि को निकालकर उसमें व्रणोक्त चिकित्सा का उपयोग करना चाहिए। शिराजन्य ग्रन्थि को छोड़कर शेष ग्रन्थियों में शस्त्रचिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए॥ ५२॥

ग्रन्थ्यर्बुदानां न यतो विशेषः प्रदेशहेत्वाकृतिदोषदूष्यैः।
अतश्चिकित्सेद्भिषगर्बुदानि विधानविद् ग्रन्थिचिकित्सितेन ॥ ५३ ॥

ग्रन्थि तथा अर्बुदों के प्रदेश, निदान, स्वरूप, दोष तथा दूष्य में कोई विशेषता तथा अन्तर नहीं। अतः शस्त्रचिकित्सा के विधान को जाननेवाला वैद्य ग्रन्थि के समान अर्बुद की भी चिकित्सा करे ॥ ५३ ॥

हरिद्रालोध्रपत्राङ्गगृहधूममनःशिलाः। मधुप्रगाढो लेपोऽयं मेदोऽर्बुदहरः परः ॥ ५४ ॥

हल्दी, लोध, पतङ्ग, घर का धुआँ तथा मैनशिल इनको पीस कर अच्छी तरह से मधु मिलाकर लेप करने से मेदोजन्य अर्बुद अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ ५४ ॥

मूलकस्य कृतः क्षारो हरिद्रायास्तथैव च। शङ्खचूर्णेन संयुक्तो लेपः सिद्धोऽर्बुदापहः ॥ ५५ ॥

मूली तथा हल्दी के क्षार और शङ्खचूर्ण को पीसकर लेप करने से अर्बुद नष्ट हो जाते हैं। अर्बुद को नष्ट करने का यह सिद्ध प्रयोग है ॥ ५५ ॥

वटदुग्धकुष्ठरोमकलिप्तं बद्धं वटस्य पत्रेण। अध्यस्थि सप्तरात्रान्महदप्युपशान्तिमर्बुदं गच्छेत्॥

बरगद के दूध, कूट तथा सांभर नमक को पीसकर अर्बुद के ऊपर लेप करने से और बरगद के पत्ते को ऊपर से बाँध देने से सात दिन में अस्थि के ऊपर उत्पन्न बहुत बड़ा अर्बुद भी शान्त हो जाता है ॥ ५६ ॥

शिग्रुमूलकयोर्बीजं रक्षोघ्नं सुरसा यवम्। तक्रेणाश्वरिपुं पिष्ट्वा लिम्पेदर्बुदशान्तये ॥ ५७ ॥

***रक्षोघ्नं=सर्षपम्। सुरसा=तुलसी। यवम्=इन्द्रयवम्। अश्वरिपुः=करवीरम् ॥५७॥**

इति चतुश्चत्वारिंशत्तमो गलगण्डगण्डमालाग्रन्थ्यर्बुदाधिकारः समाप्तः ॥ ४४ ॥



सहिजन तथा मूली के बीज, सरसों, तुलसी, इन्द्रजौ तथा कनेर की जड़ को तक्र के साथ पीसकर अर्बुद की शान्ति के लिए लेप करे ॥ ५७ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषा-टीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे चतुश्चत्वारिंशत्तमो गलगण्ड-गण्डमालाग्रन्थ्यर्बुदाधिकारः समाप्तः ॥ ४४ ॥



अथ पञ्चचत्वारिंशत्तमः श्लीपदाधिकारः ॥ ४५ ॥

तत्र श्लीपदस्य विप्रकृष्टकारणमाह—

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः। ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥ १ ॥

***'विशेषत' इति वचनेनान्यत्रापि श्लीपदं भवतीति बोध्यते ॥ १ ॥**

जिस प्रदेश में बरसात का पानी अधिक समय तक भरा रहता है और जो प्रदेश सब ऋतुओं में शीतल रहता है, ऐसे प्रदेशों में विशेषतः श्लीपद रोग उत्पन्न होता है। 'विशेषतः' शब्द से अन्य देशों में भी श्लीपद रोग उत्पन्न होता है, ऐसा समझना चाहिए ॥ १ ॥

श्लीपदस्य सामान्यलक्षणमाह—

यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्त्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तच्छ्लीपदं स्यात्करकर्णनेत्रशिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः ॥ २ ॥
*तत्त्रिविधम्-१ वातिकं, २ पैत्तिकं, ३ श्लैष्मिकञ्चेति ॥ २ ॥

मनुष्यों के वङ्क्षण प्रदेश में ज्वरयुक्त तीव्र पीडायुक्त जो शोथ उत्पन्न होता है और क्रमशः पाँवों तक पहुँचता है, उस शोथ को 'श्लीपद' [1] कहते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि-हाथ, कान,

---

१. पाश्चात्य वैद्यक में श्लीपद को एलीफेण्टिआसिस (Elephantiacis) कहते हैं। यह रोग फायलेरिआ सांग्वीनिस-होमनिसि (Filaria Sanguinis-hominis) नामक कृमि के कारण होता है। युवा कृमि को फायलेरिआ बैंकोफ्टाई कहते हैं। ये कृमि श्वेतवर्ण, पारदर्शी, केश सदृश पतले और ३–४ इंच लम्बे होते हैं। स्त्री और पुरुष कृमि भिन्न-भिन्न होते हैं। ये हमेशा आपस में पेच की भाँति मुड़े हुए इस तरह से रहते हैं कि इनको स्वतन्त्र करना कठिन होता है।

दोनों का पिछला सिरा थोथा रहता है, सिर चौड़ा रहता है और बीच में मुंख होता है। स्त्रीकृमि पुरुषकृमि की अपेक्षा दुगुनी लम्बी और अधिक मोटी होती है तथा जननेन्द्रिय सिर के समीप रहता है। ये कृमि रसकुल्या, रसायनी, लसिकाग्रन्थियाँ और रसायनी जालक इत्यादि में रहते हैं। स्त्रीकृमि समय-समय पर असंख्य सूक्ष्मकृमि (Microfilaria) उत्पन्न करती है, जो रक्त और लसिकावाहिनियों में संचार करते हैं। इन सूक्ष्म कृमियों की लम्बाई $\frac{1}{80}$ इंच के लगभग होती है और चौड़ाई लाल कण के बराबर होती है। ये किंचित गतियुक्त होते हैं; किन्तु इनमें स्थानान्तर करने की शक्ति नहीं होती। इनकी एक विचित्रता यह है कि ये त्वचा के रक्त में दिन में नहीं पाये जाते। सन्ध्याकाल से थोड़े-थोड़े रक्त में आने लगते हैं। और ज्यों-ज्यों रात बीतती जाती है, त्यों-त्यों इनकी संख्या बढ़ती जाती है। मध्यरात्रि के समय इनकी संख्या सबसे अधिक होती है। उस समय एक बूंद रक्त में ये ३०० से ६०० तक पाये जाते हैं। इसके आधार पर मैन्सन नामक शास्त्रज्ञ ने अनुमान किया है कि समस्त रक्त में इनकी संख्या ५ करोड़ के लगभग हो सकती है। दो बजने के बाद इनकी संख्या फिर घटती जाती है और ८–९ बजे दिन तक रक्त में ये बिल्कुल नहीं मिलते। दिन में इनका निवास फुफ्फुस, वृक्क और बड़ी-बड़ी रक्तवाहिनियों में होता है। रात्रि की इस घटना के कारण इस प्रकार के कृमियों का नाम रात्रि का (Nocturna) रखा गया है। इनकी दूसरी जाति के कृमि दिन में मिलते हैं। उनका नाम दिन का (Diurna) रखा गया है। दूसरी जाति के कृमि दिन-रात रक्त में मिलते हैं। भारतवर्ष में रात्रि के कृमि मिलते हैं। इस विचित्र घटना का कारण यह हो सकता है कि सूक्ष्म कृमियों की वृद्धि के लिए जिस मच्छर की आवश्यकता होती है, वह क्यूलेक्स फेटीजीनस नामक मच्छर रात्रि के समय काटता है।

मच्छर के शरीर में सूक्ष्म कृमियों का जीवन—जब फायलेरिआ से पीडित रोगी को क्यूलेक्स जाति की मच्छरी रात में काटती है, तो उसके पेट में रक्त के साथ बहुत से सूक्ष्म कृमि प्रविष्ट होते हैं। वहाँ पहुँचने पर ये अपने आवरण से बाहर निकलकर वक्ष की पेशियों में घुस जाते हैं। वहाँ १०–२० दिनों के भीतर इनमें विशेष परिवर्तन होकर ये पूर्ण वृद्धिगत होते हैं। इस अवस्था में इनकी लम्बाई $\frac{1}{16}$ इञ्च के लगभग होती है। वक्षपेशियों से ये मच्छरी के शरीर में फैलते हैं और बहुत से शुण्डा के पास पहुँच जाते हैं। जब मच्छरी किसी व्यक्ति को काटती है, तब ये शुण्डा में से निकल कर त्वचा पर आते हैं और काटने के छिद्र में से त्वचा में घुसकर लसिका द्वारा लसिकावाहिनियों में और ग्रन्थियों में निवास करते हैं। करीब ६ महीने के बाद ये युवा कृमियों में परिवर्तित होते हैं। स्त्रीकृमि असंख्य सूक्ष्म कृमियों की उत्पत्ति करने लगती है। इस प्रकार इस कृमि का जीवन-चक्र सदैव जारी रहता है।

श्लीपदवाहक मच्छर—इसका नाम क्यूलेक्स फैटीजीनस है। यह घरेलू मच्छर है, जो मकान के पास सञ्चित हुए दूषित जल में अण्डे देती हैं। मच्छरी रोग फैलाने का काम करती है।

नेत्र, लिङ्ग, ओष्ठ तथा नासा में भी यह श्लीपद रोग होता है। यह श्लीपद—१ वातिक, २ पैत्तिक और ३ श्लैष्मिक भेद से ३ प्रकार का होता है ॥ २ ॥

तेषां क्रमेण लक्षणान्याह—

वातजं कृष्णरूक्षं हि स्फुटितं तीव्रवेदनम्। अनिमित्तरुजश्चास्य बहुशो ज्वर एव च ॥ ३ ॥

वातजन्य श्लीपद—कृष्णवर्ण, रूक्ष, फटा हुआ, तीव्र वेदनायुक्त होता है। इसमें अकारण पीड़ा होती है तथा बार-बार ज्वर आया करता है ॥ ३ ॥

पित्तजं पीतसंकाशं दाहज्वरयुतं भृशम्। श्लैष्मिकन्तु भवेत्स्निग्धं श्वेतं पाण्डु गुरु स्थिरम् ॥

पित्तजन्य श्लीपद—पीत वर्ण का, तीव्र दाह तथा ज्वरयुक्त होता है। कफजन्य श्लीपद—स्निग्ध, पाण्डुरवर्ण का, गुरु, स्थिर होता है ॥ ४ ॥

त्रीण्यप्येतानि जानीयाच्छ्लीपदानि कफोच्छ्रयात्। गुरुत्वञ्च महत्वञ्च यस्मान्नास्ति विना कफात्

ये तीनों प्रकार के श्लीपद कफ की अधिकता से होते हैं, ऐसा समझना चाहिए; क्योंकि गुरुता तथा कड़ापन बिना कफ के नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

श्लीपदासाध्यतामाह—

वल्मीकमिव सञ्जातं कण्टकैरुपचीयते। अब्दात्मकं महत्तत्तु वर्जनीयं विशेषतः ॥ ६ ॥

इसकी छाती उदर पर झुकी रहती है। अर्थात् वह कुबड़ी-सी दिखाई देती है। दीवार पर बैठते समय इसका उदर दीवार से समानान्तर होता है। शुण्डा शरीर के साथ सीधी न रहकर कोण बनाती है। पंख के ऊपर चित्तियाँ नहीं होतीं। मच्छरी रात्रि के समय काटती है।

श्लीपद की सम्प्राप्ति—

श्लीपद में पैर तथा अन्य अङ्गों पर सख्त सूजन आ जाती है, जो दबाने से दबती नहीं। यथा—

'शिलावत्पदं श्लीपदम्। शनैः शनैर्घनं शोफं श्लीपदं तत्प्रचक्षते'। (अष्टाङ्गसंग्रह)।

इस प्रकारका शोथ कैसे उत्पन्न होता है, इस विषय का ज्ञान अभी तक ठीक-ठीक नहीं हुआ है। जब तक लसिकावाहिनियाँ अनवरुद्ध रहती हैं, तब तक युवा और सूक्ष्म कृमियों की उपस्थिति से कुछ भी खराबी नहीं होती। परन्तु युवाकृमियों के कारण जब लसिका के प्रवाह का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, तब श्लीपद उत्पन्न हो सकता है। कृमि एक सहायक कारण है। इनके कारण त्वचा, उपत्वचा और लसिकावाहिनियों में लसिकासंचय होने से उनमें कमजोरी आ जाती है, जिससे अन्य जीवाणु (Cocci) उनमें शोथ उत्पन्न करके कठिन स्वरूप का शोथ उत्पन्न कर सकते हैं। श्लीपद के आवेग बार-बार नियत समय पर आया करते हैं। आवेग के समय ज्वर आया करता है। ज्वर के साथ-साथ टांगोंपर या वृषणों पर सूजन भी आ जाती है तथा सूजन के स्थान में पीड़ा होती है। कुछ दिनों के बाद ज्वर अच्छा हो जाता है; परन्तु कुछ सूजन शेष रहती है, जो प्रत्येक आवेग के समय अधिकाधिक बढ़ती जाती है और अन्त में वह भाग मोटा पड़ जाता है। श्लीपद अधिकतर टांगों पर और अण्डकोष पर होता है, किन्तु हाथ, शिश्न, भग, स्तन तथा वृषण इत्यादि पर भी हो सकता है। ठीक यही बात माधवनिदान में भी लिखी है, यथाः—

यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्त्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तच्छ्लीपदं स्यात् करकर्णनेत्रशिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः ॥

जब वृषण की त्वचा मोटी पड़ जाती है, तब उसको मेदोज वृषणवृद्धि कहते हैं। जब कृमि उदरस्थ बड़ी-बड़ी रसवाहिनियों में निवास करके रसप्रवाह में रुकावट उत्पन्न करते हैं तब रस उदरगुहा में संचित होता है। फिर जलोदर उत्पन्न होता है। जब रस वस्ति में आता है, तब पिष्टमेह उत्पन्न होता है और जब रस आन्त्र में आता है, तब अतिसार उत्पन्न होता है। इस प्रकार ये कृमि स्थान-स्थान पर रसप्रवाह में बाधा उत्पन्न करके विविध रोग उत्पन्न कर सकते हैं।

यच्छ्लैष्मिकाहारविहारजातैर्जातं तथा भूरिकफस्य पुंसः ।
सास्रावमत्युन्नतसर्वलिङ्गं सकण्डुकं चापि विवर्जनीयम् ॥ ७ ॥

जो श्लीपद वल्मीक के समान अनेक काँटों से उपचित हो गया हो तथा बड़ा हो गया हो, विशेषतः उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। जो श्लीपद कफजन्य आहार-विहारों से उत्पन्न हुआ हो तथा अधिक कफवाले पुरुष को हुआ हो, स्रावयुक्त हो, अधिक ऊँचा, तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त और खुजलीयुक्त हो, ऐसे श्लीपद की भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ॥ ६-७ ॥

श्लीपदचिकित्सामाह—

लङ्घनालेपनस्वेदरेचनै रक्तमोक्षणैः । प्रायः श्लेष्महरैरुष्णैः श्लीपदं समुपाचरेत् ॥ ८ ॥

लङ्घन, आलेप, स्वेदन, विरेचन, रक्तमोक्षण तथा प्रायः कफहर उष्ण ओषधियों से श्लीपद का उपचार करना चाहिए ॥ ८ ॥

सिद्धार्थशोभाञ्जनदेवदारुविश्वौषधैर्मूत्रयुतैः प्रलिम्पेत् ।
पुनर्नवानागरसर्षपाणां कल्केन वा काञ्जिकमिश्रितेन ॥ ९ ॥

*श्लीपदमिति शेषः ॥ ९ ॥

सरसों, सहिजन, देवदारु तथा सोंठ—इनको गोमूत्र में पीसकर प्रलेप करने से श्लीपद नष्ट होता है। पुनर्नवा, सोंठ तथा सरसों इनके कल्क में कांजी मिलाकर लेप करने से श्लीपद नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

धत्तूरैरण्डनिर्गुण्डीवर्षाभूशिग्रुसर्षपैः । प्रलेपः श्लीपदं हन्ति चिरोत्थमपि दारुणम् ॥ १० ॥

धतूर, एरण्ड की जड़, निर्गुण्डी, पुनर्नवा, सहिजन तथा सरसों को पीसकर प्रलेप करने से बहुत दिनों का पुराना भी दारुण श्लीपद नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

असाध्यमपि यात्यस्तं श्लीपदं चिरकालजम् । मूलेन सहदेवायास्तालमिश्रेण लेपनात् ॥

*तालस्य फलरसो ग्राह्यः ॥ ११ ॥

सहदेवी की जड़ को ताड़ के फलों के रस के साथ पीसकर लेप करने से बहुत दिनों का पुराना असाध्य भी श्लीपद रोग नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

सप्ततान्मूलपत्राणां कल्कं तप्तेन वारिणा । संसृष्टं लवणोपेतं सेवितं श्लीपदं हरेत् ॥ १२ ॥

सात पान के पत्तों के कल्क का नमक मिलाकर उष्ण जल के साथ सेवन करने से श्लीपद रोग नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

शाखोटवल्कलक्वाथं गोमूत्रेण युतं पिबेत् । श्लीपदानां विनाशाय मेदोदोषनिवृत्तये ॥१३॥

श्लीपद के विनाश तथा मेदोदोष की निवृत्ति के लिए सिहोर की छाल के क्वाथ को गोमूत्र मिलाकर पीना चाहिए ॥ १३ ॥

रजनीं गुडसंयुक्तां गोमूत्रेण पिबेन्नरः । वर्षाभूत्रिफलाचूर्णं पिप्पल्या सह योजितम् ।
सक्षौद्रं श्लीपदे लिह्याच्चिरोत्थं श्लीपदं जयेत् ॥ १४ ॥

गुड़मिश्रित हल्दी को गोमूत्र में मिलाकर पीये अथवा पुनर्नवा, हरड़, बहेड़ा, आँवला और पिप्पली—इनके चूर्ण को मधु मिलाकर श्लीपद रोग में चाटने से बहुत दिनों का पुराना श्लीपद नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

गन्धर्वतैलसिद्धां हरीतकीं गोऽम्बुना पिबेन्नित्यम् । श्लीपदबन्धनमुक्तो भवत्यसौ सप्तरात्रेण ॥

*गन्धर्वतैलम् = एरण्डतैलम् । गोऽम्बु = गोमूत्रम् ॥ १५ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशत्तमः श्लीपदाधिकारः समाप्तः ॥ ४५ ॥

एरण्ड तेल में पकाये हुए हरड़ों को प्रतिदिन गोमूत्र के साथ पीने से मनुष्य सात दिन में श्लीपदरूपी बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे पञ्चचत्वारिंशत्तमः श्लीपदाधिकारः समाप्तः ॥४५॥



अथ षट्चत्वारिंशत्तमो विद्रध्यधिकारः ॥ ४६ ॥

तत्र विद्रधेः सम्प्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—

त्वग्रक्तमांसमेदांसि प्रदूष्यास्थिसमाश्रिताः । दोषाः शोथं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम् ॥ महामूलं रुजावन्तं वृत्तं वाऽप्यथ वाऽऽयतम् । स विद्रधिरिति ख्यातो विज्ञेयः षड्विधश्च सः॥

***'अस्थिसमाश्रिता दोषा' इति वक्ष्यमाणशोथाद्विद्रधेर्भेदार्थम् । यतो व्रणशोथे दोषाणामस्थिसमाश्रयनियमो नास्ति । व्रणशोथं, घोरं = दारुणम् । आयतं = दीर्घम् ॥ १-२ ॥**

अस्थि में रहनेवाले अत्यन्त बढ़े हुए दोष-त्वचा, रक्त, मांस तथा मेद को दूषित करके धीरे धीरे बड़ी जड़वाला तथा वेदनायुक्त छोटा अथवा बड़ा दारुण शोथ को उत्पन्न कर देते हैं। इस शोथ को 'विद्रधि'[1] कहते हैं। यह छः प्रकार का होता है। 'अस्थि में रहने वाले' यह शब्द आगे कहे जाने वाले व्रणशोथ से विद्रधि का भेद करने के लिए कहा गया है। क्योंकि व्रणशोथ में दोषों के अस्थि में रहने का नियम नहीं है ॥ १-२ ॥

विद्रधिषड्विधत्वं विवृणोति—

पृथग् दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा । षण्णामपि हि तेषां तु लक्षणं सम्प्रचक्ष्यते ॥३॥

१—वातिक, २—पैत्तिक, ३—कफज, ४—सान्निपातिक, ५—क्षतज तथा रक्तज भेद से विद्रधि छः प्रकार की होती है। इन छहों प्रकार की विद्रधियों के साधारण लक्षण समान ही होते हैं ॥ ३ ॥

अथ विशिष्टानि लक्षणानि ।

तत्र वातजविद्रधिलक्षणमाह—

कृष्णोऽरुणो वा विषमो भृशमत्यर्थवेदनः । चिरोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसम्भवः ॥ ४ ॥

***विषमो भृशं=क्षणमल्पः क्षणं महान् । चिरोत्थानप्रपाकः=चिराद्विलम्बादुत्थानप्रपाकौ यस्य सः ॥ ४ ॥**

वातजन्य विद्रधि काली अथवा लाल, क्षण में छोटी और क्षण में बड़ी होनेवाली, तीव्र वेदनायुक्त तथा बहुत दिन में उठने और पकनेवाली होती है ॥४॥

पित्तजविद्रधिलक्षणमाह—

पक्वोदुम्बरसंकाशः श्यावो वा ज्वरदाहवान् । क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसम्भवः ॥

जो विद्रधि पके हुए गूलर के फल के समान श्याम वर्ण की, ज्वर तथा दाह युक्त और शीघ्र उठने और पकनेवाली होती है, उसे पित्तजन्य विद्रधि समझना चाहिए ॥ ५ ॥

कफजविद्रधिलक्षणमाह—

शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्निग्धोऽल्पवेदनः । चिरोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः कफसम्भवः ॥ तनुपीतसिताश्चैषामास्रावाः क्रमतो मताः ॥ ६ ॥

---

[1]. विद्रधि को अंग्रेजी में आम तौर पर अब्सेस (Abscess) कहते हैं, परन्तु आभ्यन्तरीय विद्रधियों में कहीं-कहीं इन्फ्लेमेशन (Inflamation) का भी प्रयोग होता है। विद्रधि, शोथ तथा इन्फ्लेमेशन के सम्बन्ध में विशिष्ट विवरण अगले व्रणशोथाधिकार में किया जायगा।

जो विद्रधि मिट्टी के सकोरे के समान हो, पाण्डुवर्ण, शीतल, स्निग्ध, अल्पवेदनायुक्त तथा बहुत समय में उठने और पकनेवाली होती है, उसे कफजन्य विद्रधि कहते हैं। उपर्युक्त वातिक, पैत्तिक तथा कफज विद्रधियों का स्राव क्रमशः पतला, पीला तथा श्वेत होता है। अर्थात् वातजन्य विद्रधि का स्राव पतला, पित्तजन्य का पीला तथा कफजन्य विद्रधि का स्राव श्वेत वर्ण का होता है॥ ६॥

सान्निपातिकविद्रधिलक्षणमाह—

नानावर्णरुजास्रावी घाटालो विषमो महान्। विषमं पच्यते वाऽपि विद्रधिः सान्निपातिकः॥

***नाना = अनेकविधाः, वर्णाः = कृष्णरक्तपाण्डुरूपाः, रुजाः = तोददाहकण्ड्वादिरूपाः, स्रावाः = तनुपीतसिताः, यस्य सः। घाटालः=घाटा = कोटिः, साऽस्यास्तीति घाटालः= अत्युच्छ्रिताग्र इत्यर्थः। विषमः = निम्नोन्नतः। विषमं पच्यते वाऽपि = चिराचिरगम्भीरोत्तानोर्ध्वानूर्ध्वभेदेन विषमं यथा स्यात्तथा पच्यते॥ ७॥**

जो विद्रधि, काली, लाल तथा पाण्डुर वर्ण की हो, सुई चुभाने के समान पीड़ा, दाह तथा कण्डू इत्यादि से युक्त हो, पतले, पीतवर्ण तथा श्वेत स्राव से युक्त हो, अत्यन्त ऊँची तथा नोकदार हो, विषम अर्थात् नीची-ऊँची हो, बड़ी हो तथा जिसका पाक विषम, हो अर्थात् जो अधिक दिन में अथवा शीघ्र, गम्भीर अथवा उत्तान, ऊपर अथवा नीचे के भेद से अनियमित पाक, उसे सान्निपातिक विद्रधि समझना चाहिए॥ ७॥

अभिघातजविद्रधेः सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वाऽपथ्यकारिणाम्। क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत्॥८॥
ज्वरस्तृषा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः। आगन्तुर्विद्रधिर्ह्येष पित्तविद्रधिलक्षणः॥९॥

***तैस्तैर्भावैः=काष्ठलोष्टपाषाणादिभिः, अभिहते यथा रक्तस्रावो भविष्यति तथा क्षते कृते क्षतोष्मा। अत्र क्षतशब्देन हतमात्र उच्यते, तेनाभिहतक्षतयोरुभयोरप्यूष्मा वायुना विसृतः। अभिहते=अभिघातात्क्षते, रक्तक्षयात्कुपितेन वायुना प्रसृतः, ईरयेत्=कोपयेत्॥**

काष्ठ, ईंट, पत्थर इत्यादि के अभिघात हो जाने पर अथवा तलवार, बर्छी इत्यादि से क्षत हो जाने पर रक्तस्राव होने से, अपथ्यसेवी मनुष्य के शरीर में प्रकुपित वायु द्वारा विस्तृत हो कर अभिघात तथा क्षत की उष्णता रक्त तथा पित्त को प्रकुपित कर देती है, जिससे मनुष्यों को ज्वर, पिपासा तथा दाह उत्पन्न हो जाता है। इस आगन्तुक विद्रधि का लक्षण पैत्तिक विद्रधि के लक्षणों के समान होता है॥ ८-९॥

रुधिरजन्यविद्रधिलक्षणमाह—

कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्रदाहरुजाज्वरः। पित्तविद्रधिलिङ्गस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते॥ १०॥

जो विद्रधि काले स्फोटों से व्याप्त हो, श्याववर्ण, तीव्रदाह, वेदना तथा ज्वर युक्त हो और पैत्तिक-विद्रधि के समान सब लक्षण मिलते हों, तो उसे 'रक्तज विद्रधि' कहा जाता है॥ १०॥

अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गविशेषं बोधयितुमाभ्यन्तरविद्रधेर्लक्षणान्याह—

आभ्यन्तरानतस्तूर्ध्वं विद्रधीन् परिचक्षते। गुर्वसात्म्यविरुद्धान्नशुष्कशाकाम्लभोजनैः॥११॥
अतिव्यवायव्यायामवेगाघातविदाहिभिः। पृथक् सम्भूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम्॥
वल्मीकवत्समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम्। गुदे वस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा॥
वृक्कयोः प्लीह्नि यकृति हृदि वा क्लोम्नि चाप्यथ।
एषां लिङ्गानि जानीयाद् बाह्यविद्रधिलक्षणैः॥ १४॥

***सम्भूय वा = मिलित्वा वा। समुन्नद्धं = समन्तादुन्नतम्॥ ११-१४॥**

अब भीतरी विद्रधियों का वर्णन करते हैं—गुरु, असात्म्य तथा विरुद्ध भोजन करने से, सूखे हुए शाक तथा खट्टे पदार्थों को खाने से, अत्यन्त मैथुन तथा व्यायाम करने से, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने से, अत्यन्त दाह-जनक पदार्थों के सेवन से, अलग-अलग अथवा सब दोष प्रकुपित

होकर गुदा, मूत्राशय के मुख, नाभि, कुक्षि, वङ्क्षणसन्धियों, वृक्क, प्लीहा, यकृत्, हृदय अथवा क्लोम में वल्मीक के समान चारों तरफ से ऊँची गुल्म के समान अन्तर्विद्रधि उत्पन्न कर देते हैं। इन विद्रधियों के लक्षण बाहरी विद्रधि के लक्षणों के समान समझने चाहिए ॥ ११-१४ ॥

स्थानविशेषेण रूपविशेषमाह—

गुदे वातनिरोधस्तु वस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता । नाभ्यां हिक्काजृम्भणं च कुक्षौ मारुतकोपनम् ॥
कटिपृष्ठग्रहस्तीव्रो वङ्क्षणोत्थे तु विद्रधौ । वृक्कयोः पार्श्वसङ्कोचः प्लीह्न्युच्छ्वासावरोधनम् ॥
सर्वाङ्गप्रग्रहस्तीव्रो हृदि कासश्च जायते । श्वासो यकृति हिक्का च क्लोम्नि पेपीयते पयः ॥

गुदा में विद्रधि होने पर अपान वायु का निरोध होता है। वस्ति में विद्रधि होने पर कठिनाई से थोड़ा-थोड़ा मूत्र उतरता है। नाभि में विद्रधि होने पर हिक्का तथा जृम्भा होती है। कुक्षि में विद्रधि होने पर वायु का कोप होता है। वङ्क्षण सन्धि में विद्रधि होने पर कमर तथा पीठ में तीव्र जकड़ाहट होती है। दोनों वृक्कों में विद्रधि होने पर पसलियों का सङ्कोच होता है। प्लीहा में विद्रधि होने पर श्वासावरोध होता है। हृदय में विद्रधि होने पर सम्पूर्ण अङ्ग अत्यन्त जकड़ जाते हैं और कास उत्पन्न होता है। यकृत् में विद्रधि होने पर श्वास तथा हिक्का उत्पन्न होती हैं। और क्लोम में विद्रधि उत्पन्न होने पर रोगी बार-बार जल पीता है ॥ १५-१७ ॥

विद्रधिस्रावमार्गमाह—

नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः ॥ १८ ॥

***उपरिजाः=वृक्कादिजाताः, यान्ति=स्रवन्ति । ऊर्ध्वं=मुखात् । इतरे=वस्त्यादिजाः । अधः=गुदात् । नाभिजस्तु=उभाभ्यां मार्गाभ्याम् । तथा च हारीतः—**

ऊर्ध्वं प्रभिन्नेषु मुखान्नराणां प्रवर्त्ततेऽस्रवसहितो हि पूयः ।
अधः प्रभिन्नेषु तु पायुमार्गाद् द्वाभ्यां प्रवृत्तिस्त्विह नाभिजेषु ॥१॥ इति ॥ १८ ॥

नाभि से ऊपर अर्थात् वस्ति इत्यादि में उत्पन्न हुई विद्रधि का स्राव पकने पर मुख से होता है और नाभि से नीचे अर्थात् मूत्राशय इत्यादि में उत्पन्न हुई विद्रधि जब पकती है, तब उसका स्राव गुदा द्वारा होता है। और नाभि में उत्पन्न हुई विद्रधि के पकने पर मुख तथा गुदा दोनों मार्गों से स्राव होता है। हारीतसंहिता में भी ऐसा ही लिखा है कि—'नाभि से ऊपर उत्पन्न हुई विद्रधि के फूटने पर मनुष्यों के मुख द्वारा रक्तयुक्त पूय निकलता है। नाभि से नीचे उत्पन्न हुई विद्रधि के फूटने पर रुधिरयुक्त पूय गुदमार्ग से निकलता है और नाभि में उत्पन्न हुई विद्रधि के फूटने पर गुदा तथा मुख दोनों मार्गों से रक्तमिश्रित पूय निकलता है ॥ १ ॥ इति ॥ १८ ॥

विद्रधिसाध्यत्वादिकमाह—

अधः स्रुतेषु जीवेत्तु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति । हृन्नाभिवस्तिवर्ज्येषु तेषु भिन्नेषु बाह्यतः ॥
जीवेत् कदाचित्पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥ १९ ॥

***हृन्नाभिवस्तिवर्ज्येषु प्लीहक्लोमादिजाः, तेषु तथा भिन्नेषु न जीवेत्, हृदादीनां मर्मत्वाद् । अत एव भोजः—**

***असाध्यो मर्मजो ज्ञेयः पक्वोऽपक्वश्च विद्रधिः । सन्निपातोत्थितोऽप्येवं पक्व एव हि वस्तिजः ॥**
त्वग्जो नाभेरधोजश्च साध्यो यश्च समीपजः । अपक्वश्चैव पक्वश्च साध्यो नोपरि नाभितः ॥
आध्मातं बद्धनिस्यन्दं छर्दिहिक्कातृषान्वितम् ।
रुजाश्वाससमायुक्तं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥ ४ ॥ इति ॥ १९ ॥

यदि विद्रधि का स्राव गुदमार्ग से होता हो; तो मनुष्य जीवित रहता है किन्तु मुख द्वारा स्राव होने पर नहीं जीता। हृदय, नाभि तथा वस्ति को छोड़कर शेष प्लीहा, क्लोम इत्यादि स्थानों में उत्पन्न हुई विद्रधि यदि फूटकर बाहर निकले, तो कदाचित् मनुष्य जी जाता है, किन्तु हृदय, नाभि तथा मूत्राशय की विद्रधि के बाहर फूटने पर मनुष्य कभी भी नहीं जीता। क्योंकि हृदय

इत्यादि मर्मस्थान हैं। इसीलिए भोज ने कहा है कि 'मर्मस्थानों में उत्पन्न हुई विद्रधि चाहे पकी हो या न पकी हो, असाध्य समझनी चाहिए। इसी प्रकार सान्निपातिक विद्रधि भी असाध्य होती है। जो वस्ति में उत्पन्न हुई विद्रधि–त्वचा में, नाभि के नीचे अथवा नाभि के समीप उत्पन्न हुई होती है, वह साध्य होती है। नाभि के ऊपर उत्पन्न हुई विद्रधि पकी हो या न पकी हो, साध्य होती है। जो विद्रधि आध्मान, मल-मूत्र के अवरोध, वमन, हिक्का, पिपासा, पीड़ा तथा श्वास से युक्त होती है, वह-मनुष्य को अवश्य नष्ट कर देती है ॥ २–४ ॥ इति ॥ १९ ॥

बहिर्विद्रधिसाध्यासाध्यत्वमाह—

साध्या विद्रधयः पञ्च विवर्ज्यः सान्निपातिकः। आमपक्वविदग्धत्वं तेषां ज्ञेयञ्च शोथवत् ॥

***शोथवद् = वक्ष्यमाणव्रणशोथवत् ॥ २० ॥**

वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, क्षतज तथा रक्तज ये पाँच प्रकार की बाह्य विद्रधियाँ साध्य होती हैं तथा त्रिदोषजन्य विद्रधि असाध्य होती है। विद्रधि का अपाक, पाक तथा विदग्धता व्रणशोथ के समान जाननी चाहिए, जिसका वर्णन आगे किया जायगा ॥ २० ॥

विद्रधिचिकित्सामाह—

जलौकापातनं शस्तं सर्वस्मिन्नेव विद्रधौ। रेको मृदुर्लङ्घनञ्च स्वेदः पित्तोत्तरं विना ॥२१॥

सम्पूर्ण विद्रधियों में जोंक लगाना, मृदु विरेचन तथा लङ्घन प्रशस्त माने गये हैं। पैत्तिक विद्रधि को छोड़कर शेष सब विद्रधियों में स्वेदन करना उत्तम है ॥ २१ ॥

अपक्वे विद्रधौ युञ्ज्याद् व्रणशोथवदौषधम्। वातघ्नमूलकल्कैस्तु वसातैलघृतान्वितैः ॥
सुखोष्णैर्बहुलैर्लेपः प्रयोज्यो वातविद्रधौ। यवगोधूममुद्गैश्च पिष्टैराज्येन लेपयेत् ॥ २३ ॥
विलीयते क्षणेनैव ह्यविपक्वस्तु विद्रधिः ॥ २४ ॥

अपक्व विद्रधि में आगे कहे जानेवाली व्रणशोथ की ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए। वातजन्य विद्रधि में वातनाशक ओषधियों के मूलों के कल्क में चर्वी, तेल तथा घी मिलाकर कुछ गर्म कर के गाढ़े लेप का प्रयोग करना चाहिए। जौ, गेहूँ तथा मूँग को घी में पीसकर लेप करने से अपक्व विद्रधि क्षण भर में लुप्त हो जाती है ॥ २२–२४ ॥

पैत्तिकं विद्रधिं वैद्यः प्रदिह्यात्सर्पिषा युतैः। पयस्योशीरमधुकचन्दनैर्दुग्धपेषितैः ॥ २५ ॥

***पयस्या = अनेकार्थत्वादत्र 'क्षीरकाकोली' गुणाधिक्यात्तस्या अलाभे 'अश्वगन्धा' ग्राह्या ॥ २५ ॥**

वैद्य पैत्तिक विद्रधि पर दूध में पीसी हुई क्षीरकाकोली, खस, मुलेठी तथा लालचन्दन के कल्क में घी मिलाकर लेप करे, तो पैत्तिक विद्रधि नष्ट होती है। मूल श्लोक में जो पयस्या शब्द आया है, इसके अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु यहाँ गुण की अधिकता से 'पयस्या' का अर्थ क्षीरकाकोली ही लिया गया है। यदि क्षीरकाकोली न मिल सके, तो उसके अभाव में असगन्ध लेना चाहिए ॥२५॥

पञ्चवल्कलकल्केन घृतमिश्रेण लेपयेत्। पिबेद्वा त्रिफलाक्वाथं त्रिवृत्कल्काक्षसंयुतम् ॥ २६ ॥

पैत्तिक विद्रधि पर पञ्चवल्कल का कल्क बनाकर उसमें घी डालकर लेप करना चाहिए अथवा हरड़, बहेड़ा तथा आँवला इनके क्वाथ को १ तोला निशोथ का कल्क डालकर पीने से भी पैत्तिक विद्रधि नष्ट होती है ॥ २६ ॥

इष्टिका सिकता लोहकिट्टं गोशकृता सह। मूत्रैः सुखोष्णैर्लेपेन स्वेदयेच्छ्लेष्मविद्रधिम् ॥

ईंट का चूर्ण, बालू, मण्डूर तथा गाय के गोबर को गोमूत्र में पीसकर कुछ उष्ण प्रलेप द्वारा स्वेदन करे, तो कफजन्य विद्रधि नष्ट होती है ॥ २७ ॥

दशमूलीकषायेण सस्नेहेन रसेन वा। शोथव्रणं वा कोष्णेन सशूलं परिषेचयेत् ॥ २८ ॥

दशमूल के क्वाथ अथवा स्वरस में घी डालकर कुछ गर्म करके परिषेचन करने से व्रणशोथ तथा शूलयुक्त विद्रधि नष्ट होती है ॥ २८ ॥

पित्तविद्रधिवत्सर्वाः क्रिया निरवशेषतः। विद्रध्योः कुशलः कुर्याद्रक्तागन्तुनिमित्तयोः ॥२९॥

रक्तजन्य तथा आगन्तुक विद्रधियों को नष्ट करने के लिए कुशल वैद्य पैत्तिक विद्रधि के समान सम्पूर्ण उपचार करे॥ २९॥

रक्तचन्दनमञ्जिष्ठानिशामधुकगैरिकैः। क्षीरेण विद्रधौ लेपो रक्तागन्तुनिमित्तके॥ ३०॥

लालचन्दन, मञ्जीठ, हल्दी, मुलेठी तथा गेरू इनको दूध में पीसकर लेप करने से रक्तज तथा आगन्तुक विद्रधि नष्ट होती है॥ ३०॥

पीता ह्येते निहन्त्याशु विद्रधिं कोष्ठसम्भवम्। कृष्णाऽजाजी विशाला च धामार्गवफलं तथा॥
*धामार्गवफलं = कोशातकीफलम्॥ ३१॥

पिप्पली, कालाजीरा, इन्द्रायण की जड़ तथा कड़वी तरोई को पीसकर पीने से कोष्ठ में उत्पन्न हुई विद्रधि शीघ्र नष्ट हो जाती है॥ ३१॥

श्वेतवर्षाभुवो मूलं मूलं वा वरुणस्य च। जलेन क्वथितं पीतमन्तर्विद्रधिहृत्परम्॥ ३२॥

श्वेत पुनर्नवा अथवा वरुन की जड़ को पानी में उबालकर पीने से अन्तर्विद्रधि अवश्य नष्ट हो जाती है॥ ३२॥

गायत्रीत्रिफलानिम्बकटुकामधुकं समम्। त्रिवृत्पटोलमूलाभ्यां चत्वारोंऽशाः पृथक्पृथक्॥
मसूरान्निस्तुषान्दद्यादेष क्वाथो व्रणाञ्जयेत्। गुल्मविद्रधिवीसर्पदाहमोहज्वरापहः॥ ३४॥
तृण्मूर्च्छाच्छर्दिहृद्रोगपित्तासृक्कुष्ठकामलाः। शिग्रुमूलं जले धौतं पिष्टं वस्त्रेण गालयेत्।
तद्रसं मधुना पीत्वा हन्त्यन्तर्विद्रधिं नरः॥ ३५॥

खैर, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नीम, कुटकी तथा मुलेठी इन सबको समान भाग में निशोथ तथा परवल की जड़ को ४–४ भाग अलग-अलग ले, फिर इन सब ओषधियों को और बिना छिलके के मसूर की दाल को लेकर क्वाथ बना डाले। यह क्वाथ व्रण, गुल्म, विद्रधि, विसर्प, दाह, मोह, ज्वर, पिपासा, मूर्च्छा, वमन, हृद्रोग, रक्तपित्त, कुष्ठ तथा कामला को नष्ट कर देता है। सहिजन की जड़ को धोकर जल में पीसकर वस्त्र द्वारा छान ले। फिर इस रस को मधु मिलाकर पीने से अन्तर्विद्रधि नष्ट हो जाती है॥ ३३–३५॥

शोभाञ्जनकनिर्यूहो हिङ्गुसैन्धवसंयुतः। हन्त्यन्तर्विद्रधिं शीघ्रं प्रातः प्रातर्विशेषतः॥ ३६॥
इति षट्चत्वारिंशत्तमो विद्रध्यधिकारः समाप्तः॥ ४६॥

सहिजन के क्वाथ में हींग तथा सेन्धानमक मिलाकर विशेषतः प्रातःकाल पीने से अन्तर्विद्रधि शीघ्र नष्ट हो जाती है॥ ३६॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे षट्चत्वारिंशत्तमो विद्रध्यधिकारः समाप्तः॥ ४६॥

अथ सप्तचत्वारिंशत्तमो व्रणशोथाधिकारः॥ ४७॥

तत्र व्रणशोथस्य संख्याविवरणपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—

पृथक्समस्तदोषोत्था रक्तजागन्तुजौ तथा। व्रणशोथाः षडेते स्युः संयुक्ताः शोथलक्षणैः॥१॥
*शोथलक्षणैः पूर्वोक्तैः॥ १॥

वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, रक्तज तथा आगन्तुज भेद से [1]व्रणशोथ छः प्रकार के होते हैं। ये छहों प्रकार के व्रणशोथ पूर्वोक्त शोथ के लक्षणों से युक्त होते हैं॥ १॥

---

१. व्रणशोथ को अंग्रेजी में इन्फ्लेमेटरी ओडीमा (Inflammatory oedema) या केवल इन्फ्लेमेशन (Inflamation) कहते हैं।

व्रणशोथस्य विशिष्टरूपमाह—

विषमं पच्यते वातात्पित्तोत्थश्चाचिराच्चिरम् । कफजः पित्तवच्छोथौ रक्तागन्तुसमुद्भवौ ॥२॥

व्रणशोथ का निदान—नवीन कल्पना के अनुसार व्रणशोथ के निम्न कारण माने गये हैं:—

१—विकारी जीवाणु ।

२—दबाव, चोट, मरोड, मोच तथा आघात इत्यादि ।

३—अग्नि या तप्त पदार्थों से जल जाना ।

४—रासायनिक पदार्थ—यथाः—तीव्र अम्ल, क्षार, वनस्पतिज और प्राणिज विष ।

५—विद्युत्-प्रवाह ।

इनमें से विकारी जीवाणु व्रणशोथ के प्रधान कारण होते हैं । अपने यहाँ तो उपर्युक्त सभी कारणों को केवल आगन्तुक कारण माना गया है । यथाः—

"तत्रागन्तवश्छेदनभेदनक्षणनभञ्जनपिच्छनोत्पेषणप्रहारवधबन्धनवेष्टनव्यधनपीडनादिभिर्वा भल्लातकपुष्पफलरसात्मगुप्ताशूककृमिशूकाहितपत्रलतागुल्मसंस्पर्शनैर्वा स्वेदनपरिसर्पणावमूत्रणैर्वा विषिणां सविषाविषप्राणिदंष्ट्रादन्तविषाणनखनिपातैर्वा सागरविषवातहिमदहनसंस्पर्शनैर्वा शोथाः समुपजायन्ते" । च० सू० अ० १८ सू० ३ ।

व्रणशोथ के ४ प्रधान लक्षण होते हैं । यथा-१-शोथ, २-रक्तिमा, ३-ताप तथा ४ वेदना ।

शोथ—यह शोथ दो कारणों से होता है—१ रक्ताधिक्य, २ रक्त से रक्तरस का निकलकर वहाँके धातुओं में जमा होना ।

पोले स्थान में शोथ होने से सूजन शीघ्र बढ़नेवाली और मृदु भी होती है । कठिन स्थान में शोथ होने से सूजन बहुत कम, धीरे-धीरे बढ़नेवाली और कठिन भी होती है । कभी-कभी शोथ के स्थान से दूरी पर सूजन दिखाई देती है । यथा—हस्ततल तथा पादतल के शोथ में कलाई और टखने पर सूजन होती है तथा कनपटी के शोथ में आँखों पर सूजन आ जाती है । कारण यह है कि शोथ के स्थान पर आवरण कड़ा होने से उसका प्रभाव समीपवर्ती मृदु अङ्गों पर दिखाई देता है।

रक्तिमा—इसका भी मुख्य कारण रक्ताधिक्य है । प्रारम्भिक अवस्था में जब रक्तप्रवाह की अधिकता होती है और रक्त में प्राणवायु की राशि भी अधिक होती है, तब शोथयुक्त स्थान का वर्ण लाल होता है, जो अङ्गुली से दबाने पर पीला और अङ्गुली हटाने पर पूर्ववत् लाल हो जाता है । दूसरी अवस्था में जब रक्तप्रवाह मन्द होता है तथा रक्त का प्राणवायु कम होता है, तब वर्ण किञ्चित् कालिमायुक्त हो जाता है और अङ्गुली के दबाने तथा हटाने से परिवर्तन इतने शीघ्र नहीं होते ।

ताप—इसका भी कारण रक्ताधिक्य है । शोथयुक्त स्थान अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक गरम प्रतीत होता है । इसका प्रत्यय करने के लिए प्रथम शोथस्थान पर कुछ समय तक हाथ को रखना चाहिए । तत्पश्चात् किसी दूसरे स्थान पर रखना चाहिए । परन्तु शोथस्थान का तापक्रम रक्त के तापक्रम से अधिक नहीं होता । बाह्यत्वचा की उष्णता भीतरी उष्णता से हमेशा कम होती है । जिस स्थान में शोथ उत्पन्न होता है, वहाँ रक्त का परिभ्रमण उत्तम होने के कारण उसकी उष्णता रक्त के बराबर हो जाती है ।

वेदना—शोथयुक्त स्थान में धमनीगत रक्तभार बढ़ जाने से तथा लसिका का स्पन्दन अधिक होने से वातनाड़ियों के अग्रों (Nerve terminals) पर दबाव पड़ता है और उनका क्षोभ हो जाता है, जिससे वेदना प्रतीत होती है । यदि स्थान पोला हो, तो वेदना कम होती है, यदि कठिन हो, तो अधिक होती है । शोथ की वेदना की यह विशेषता है कि आभ्यन्तर या बाह्य दबाव बढ़ाने से वेदना की वृद्धि होती है । यदि हाथ में शोथ हो, तो हाथ नीचे लटका देने से आभ्यन्तरीय रक्त-भार बढ़ जाता है और वेदना की वृद्धि होती है । यदि शोथस्थान पर अङ्गुली या अन्य पदार्थ से दबाव दिया जाय, तो भी वेदना की वृद्धि होती है । और इसी कारण रोगी स्पर्श सहन नहीं कर सकता है । इस अवस्था को पीडनाक्षमता (Jenderness) कहते हैं ।

वातजन्य व्रणशोथ विषम प्रकार से पकता है, पित्तजन्य व्रणशोथ शीघ्र पकता है तथा कफजन्य व्रणशोथ अधिक समय में पकता है। और रक्तज तथा आगन्तुज व्रणशोथ पैत्तिक व्रणशोथ के समान शीघ्र पकता है॥ २॥

अपक्वव्रणशोथलक्षणमाह—

मन्दोष्णताऽल्पशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता। मन्दवेदनता चापि शोथस्यामस्य लक्षणम्॥३॥

अल्प उष्णता, शोथ का कम होना, कठिनता, शोथ का वर्णत्वचा के समान होना तथा अल्प वेदना होना—ये आमशोथ के लक्षण हैं॥ ३॥

पच्यमानव्रणशोथलक्षणमाह—

दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव प्रपच्यते। पिपीलिकागणेनेव दश्यते छिद्यते तथा॥ ४॥
भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते। पीड्यते पाणिनेवान्तःसूचीभिरिव तुद्यते॥ ५॥
सोषचोषो विवर्णः स्यादङ्गुल्येवावपीड्यते। आसने शयने स्थाने शान्तिं वृश्चिकविद्धवत्॥
न गच्छेदाततः शोथो भवेदाध्मातवस्तिवत्। ज्वरस्तृष्णाऽरुचिश्चैतत्पच्यमानस्य लक्षणम्॥७॥

***छिद्यते = द्विधा क्रियत इव। भिद्यते = विदार्यत इव। ऊषो = दाहः, चोषः = पार्श्वस्थाग्निनेव सन्तापः, ताभ्यां युक्तः। आततः = त्वक्सङ्कोचरहितः। वस्तिः = मूत्राशयश्चर्मपुटो वा॥ ४–७॥**

जो शोथ अग्नि से जलते हुए के समान, क्षार से पकते के समान, चीटियों के काटने के समान प्रतीत हो, शस्त्रद्वारा चीरने अथवा फाड़ने के समान, डण्डे से पीटने के समान, हाथ से दवाने के समान; भीतर सुई चुभाने के समान वेदनायुक्त, अंगुलियों से अवपीडन के समान व्यथायुक्त,

---

उपर्युक्त इन चार लक्षणों के अतिरिक्त सकर्मगुणहानि यह एक पाँचवाँ लक्षण भी शोथ का माना जाता है। वेदना की वृद्धि होने से तथा स्थानिक शारीरिक परमाणुओं (cells) के कार्य में वाधा उत्पन्न होने से यह पांचवां लक्षण उत्पन्न होता है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शोथ सर्वलक्षण रक्ताधिक्य के कारण उत्पन्न होते हैं। शोथ के समय रक्तवाहिनियाँ प्रसृत हो जाती हैं। उनमें से रक्त का प्रवाह वढ़ता है और उसके साथ-साथ लसिका का स्पन्दन होकर धातुओं में वह जमा होती है। शरीर की दृष्टि से ये परिवर्तन आवश्यक तथा हितकर हैं। कारण, रक्त शरीर-रक्षा का प्रधान साधन है। रक्त ही के द्वारा शोथ के स्थान में शरीर–परमाणुओं के लिए खाद्य द्रव्य, विषनाशक वस्तुएँ, रक्षक तथा भक्षक सेल पहुँचाये जाते हैं। रक्त की कमी से इन आवश्यक पदार्थों की भी कमी हो जाती है।

ये विकारी जीवाणु प्रवेश-स्थान के सेलों को मारकर तथा खाद्य पदार्थों का ग्रहण कर अतिशीघ्रता से अपनी संख्या को वढ़ाते हैं और वढ़ाते समय विषैली वस्तुएं भी बनाते हैं, जो स्थानिक सेलों को हानि पहुँचाती हैं। शरीर के सेल इन जीवाणुओं के साथ अपनी तरफ से अन्य शरीररक्षक सेलों की सहायता लेकर मुकावला करते हैं और यही शोथ है। संक्षेप में शोथ जीवाणुओं के प्रति शारीरिक सेलों के युद्ध का एक लक्षण है। शोथ की प्रारम्भिक अवस्था को 'आमावस्था' कहते हैं। जब तक शारीरिक परमाणुओं का नाश होता है, पूय की वृद्धि होती है। और पूय फैलता रहता है तब तक उस स्थिति को 'पच्यमानावस्था' कहते हैं। जब पूयोत्पत्ति वन्द हो जाती है, शरीर के धातुओं का नाश होना वन्द हो जाता है, पूय के चारो ओर रोहणधातु (Granulation tissue) की भित्ति बनकर उसका प्रसार रुक जाता है और पूय परिमित स्थान में एकत्र हो जाता है। तब उस स्थिति को 'पक्वावस्था' कहते हैं। इसीका ही दूसरा नाम 'विद्रधि' है। विद्रधि के चारो ओर जो भित्ति है, वह रक्तवाहिनियों का जाल, श्वेतकण तथा स्थानिक धातुओं के सेलों से बनती हैं। शोथ जब पाकाभिमुख होता है, तब स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त शारीरिक लक्षण भी पाये जाते हैं। ये लक्षण जीवाणुजन्य स्थानिक विष के शरीर में व्याप्त होने से उत्पन्न होते हैं।

दाहयुक्त, पार्श्व में स्थित अग्नि से सन्तप्त के समान और विवर्ण हो, विच्छू से काटे हुए के समान, बैठने, सोने तथा उठने में कभी शान्ति न मिलती हो और जो शोथ मूत्राशय अथवा चर्मपुट के समान फूला हुआ तथा चमड़े पर संकोच न हो और ज्वर, तृष्णा तथा अरुचि से युक्त हो, ऐसे व्रणशोथ को पकता हुआ समझना चाहिए ॥ ४–७ ॥

पक्वव्रणशोथलक्षणमाह—

वेदनोपशमः शोथो लोहितोऽल्पो न चोन्नतः । प्रादुर्भावो वलीनाञ्च तोदः कण्डूर्मुहुर्मुहुः ॥
उपद्रवाणां प्रशमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम् । वस्ताविवाम्बुसञ्चारः स्याच्छोथेऽङ्गुलिपीडिते ॥
पूयश्च पीडयेदेकमन्तमन्ते च पीडिते । बुभुक्षा व्रणशोथस्य भवेत्पक्वस्य लक्षणम् ॥ १० ॥

***वेदनोपशमः = दाहादिदुःखोपशमः । अल्पो लोहित इत्यन्वयः । न चोन्नतः पच्यमानापेक्षया । उपद्रवाणां = ज्वरादीनाम् । निम्नता = स्वरूपतोऽङ्गुलिपीडनाद्वा अवनतत्वम् । स्फुटनं = किञ्चिद्विदारणम् । वस्ताविवेत्यादि–शोथेऽङ्गुलिपीडिते सति, अङ्गुलिपीडितादेशादन्यदेशेऽम्बुसञ्चारः । वस्तौ = चर्मपुटके । एवमन्ते=एकदेशे पीडिते, एकमन्तम्=अपरमन्तम् , आपूर्य पीडयति ॥ ८–१० ॥**

दाहादि वेदना का शमन, शोथ में थोड़ी लाली, पच्यमानावस्था की अपेक्षा ऊँचाई का कम होना, वली का प्रादुर्भाव, सुई चुभाने के समान व्यथा, बारम्बार खुजली का होना, ज्वर इत्यादि उपद्रवों की शान्ति, अंगुली से दबाने के समान निम्नता, चमड़े का कुछ फट जाना, शोथ पर अंगुली से दबाने से जिस प्रकार मशक में से पानी एक स्थान से दूसरे स्थान पर चला जाता है, उसी प्रकार इसमें से पूय का एक स्थान से दूसरे स्थान को चला जाना, एक प्रदेश में दबाने से दूसरे प्रदेश में पूय भर कर व्यथा होना और भूख लगना ये पक्व व्रणशोथ के लक्षण हैं ॥८–१०॥

अथैकदोषजोऽपि शोथः पाककाले सकलैर्दोषैः सम्बध्यत इत्याह—

ऋतेऽनिलाद्रुङ् न विना न पित्तं पाकः कफञ्चापि विना न पूयः ।
तस्माद्धि सर्वं परिपाककाले पचन्ति शोथास्त्रिभिरेव दोषैः ॥ ११ ॥

***एकदोषारब्धेऽपि शोथे पाककाले सर्वदोषसम्बन्धमाह–ऋत इति । पचन्ति = पाकं प्राप्नुवन्ति । एवशब्दोऽत्राप्यर्थः, अव्ययानामनेकार्थत्वात् ॥ ११ ॥**

वात के विना पीड़ा, पित्त के विना पाक तथा कफ के विना पूय नहीं होता, इसलिए एक दोष से उत्पन्न होने पर भी परिपाक-काल में शोथ तीनों ही दोषों के सम्बन्ध से पकते हैं ॥११॥

शोथपाके मतान्तरमाह—

कालान्तरेणाभ्युदितन्तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य ।
पचत्यतः शोणितमेष पाको मतः परेषां विदुषां द्वितीयः ॥ १२ ॥

***वशे कृत्वा=हीनीकृत्य, शोणितं–कर्म । पूर्वत्र कफात्पूयोऽत्र शोणितात्पूय इति भेदः ॥**

कालान्तर से उदित पित्त–वात तथा कफ को कम करके बलात् रक्त को पकाता है। पाक के सम्बन्ध में दूसरे विद्वानों का यह दूसरा मत है। पहले मत में कफ से पूय उत्पन्न होता है, ऐसा माना गया है और दूसरे मत में रक्त से पूय उत्पन्न होता है, ऐसा माना गया है–इन दोनों में यही भेद है ॥ १२ ॥

गम्भीरपाकलक्षणमाह—

कफजेषु च शोथेषु गम्भीरं पाकमेत्यसृक् । पक्वलिङ्गं ततः स्पष्टं यतः स्याच्छोथशीतता ।
त्वक्सावर्ण्यं रुजोऽल्पत्वं घनस्पर्शत्वमश्मवत् ॥ १३ ॥

***गम्भीरपाके शोथे पाकज्ञानार्थं लक्षणान्तरमाह सुश्रुतः–कफजेष्विति । कफजेषु च शोथेषु गम्भीरमसृक्पाकमेति । तत्र कथं पाकज्ञानम् ? इत्याह–तत्र ततः=कारणात्, पक्वलिङ्गं स्पष्टम् , यतः पच्यमानावस्थाऽन्तर्गतरागदाहव्यथावनान्तरशोथशीतताऽऽदयो भवन्ति । घनस्पर्शत्वं = स्पर्शेऽव्यथत्वम् ॥ १३ ॥**

कफजन्य शोथ में रक्त का गम्भीर पाक होता है, तभी पकने के लक्षण स्पष्ट होते हैं, जैसे कि शोथ की पच्यमानावस्था में होने वाली रक्तिमा, दाह, पीड़ा तथा घनता इत्यादि के बाद शोथ में शीतलता उत्पन्न होती है और शोथ का वर्ण चमड़े के वर्ण के समान हो जाता है। वेदना कम हो जाती है तथा शोथ पत्थर के समान स्पर्श में व्यथाहीन हो जाता है॥ १३ ॥

पक्वव्रणशोथात्पूयानिःसृतौ दोषमाह—

कक्षं समासाद्य यथैव वह्निर्वातेरितः संदहति प्रसह्य।
तथैव पूयो ह्यविनिःसृतस्तु मांसं शिराः स्नायुमपीह खादेत्॥ १४ ॥

कक्षं = तृणवनम्॥ १४ ॥

जिस प्रकार वायु से प्रेरित अग्नि तृणों के वनों को प्राप्त करके बलात् जला देती है, उसी प्रकार पके हुए व्रण में से पूय को न निकाल देने से पूयमांस, शिरा तथा स्नायुओं को भी खा जाती है॥१४॥

व्रणशोथस्य पकापकज्ञानाज्ञाने वैद्यगुणदोषावाह—

आमं विदह्यमानञ्च सम्यक्पक्वन्तु यो भिषक्। जानीयात्स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः॥

विदह्यमानं = विपच्यमानम्। तस्करवृत्तयः = तेषां तस्कराणामिव द्रव्यलाभमात्र-प्रयोजनं भवति न तु धर्मयशोमैत्रीलाभः॥ १५ ॥

जो वैद्य शोथ के आमावस्था, शोथ पक रहा है अथवा अच्छी तरह से पक चुका है—इन बातों को अच्छी तरह से जानता है, वही वैद्य है और शेष जो वर्णशोथ की[1] आमावस्था, विदह्यमानावस्था तथा पकावस्था को नहीं जानता है, उन्हें चोर समझना चाहिए, क्योंकि उनको चोरों के समान धन लेने मात्र का प्रयोजन होता है। धर्म, यश तथा मैत्रीलाभ से कुछ मतलब नहीं होता है॥ १५ ॥

यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते। श्वपचाविव विज्ञेयौ तावनिश्चितकारिणौ॥ १६ ॥

जो वैद्य अपनी मूर्खतावश कच्चे फोड़े को पका समझकर चीर देता है और पके हुए फोड़े को कच्चा समझकर नहीं चीरता है, उन दोनों बिना समझे-बूझे क्रिया करनेवाले नासमझों को चण्डाल के समान समझना चाहिए॥ १६ ॥

व्रणशोथचिकित्सामाह—

आदौ शोथहरो लेपस्ततस्तु परिषेचनम्। विम्लापनमसृङ्मोक्षस्ततः स्यादुपनाहनम्॥
पाचनं भेदनं पश्चात्पीडनं शोधनं तथा। रोपणं वर्णकरणं व्रणस्यैते क्रमाः स्मृताः॥ १८ ॥

---

१. शोथ की आमावस्था में शरीर के शत्रु जीवाणु तथा रक्षक श्वेत कण आपस में मिले हुए रहते हैं, रक्त का आधिक्य होता है, त्याज्य द्रव्य एक स्थान में इकट्ठा नहीं होता और बाह्य त्वचा, जिसमें से होकर पूय बाहर निकल आता है, मृत नहीं होती। अतः इस अवस्था में चीरने से शरीर के धातुओं का अधिक नाश, रक्त का अधिक स्राव, शरीर के लिए त्याज्य पदार्थों का भी शरीर में शेष रहना तथा वेदना इत्यादि हानिकारक घटनाएँ होती हैं।

पकावस्था में त्याज्य पदार्थ एक स्थान में पूय के स्वरूप में इकट्ठा हुए मिलते हैं। शरीर इनको बाहर निकालना चाहता है और त्वचा के किसी दुर्बल स्थान को फोड़कर बाहर निकाल देता है। किन्तु जब पूय अधिक गहराई पर स्थित होने से बाह्य त्वचा को फोड़ने में असमर्थ होता है, उस समय यदि मूर्ख वैद्य त्वचा में चीरा लगाकर पूय को बाहर निकालने का यत्न न करे, तो पूय रक्तवाहिनियों के साथ और आवरणों (Fascia) के नीचे-नीचे कई दिशाओं में फैलकर शरीर के अन्य धातुओं को हानि पहुँचाता है। इसलिए उपर्युक्त—

यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते। श्वपचाविव विज्ञेयौ तावनिश्चितकारिणौ॥

श्लोक में इसी विषय का निर्देश किया है।

*अत्र क्रमाः=चिकित्साः। सुश्रुते व्रणस्य षष्टिरूपका लिखिताः सन्ति। ते सर्वे अत्र विस्तरभयान्न लिखिताः ॥ १७-१८ ॥

व्रणशोथ[1] की चिकित्सा—सर्वप्रथम शोथनाशक ओषधियों का लेप करना चाहिए,

---

१. पाश्चात्य वैद्यक में व्रणशोथ चिकित्सा के निम्न साधारण सिद्धान्त हैं:—

१—शोथ के कारण का नाश करना—जीवाणु के (जिनके कारण शोथ उत्पन्न हुआ है) नाश का पूर्ण उद्योग करना चाहिए। यदि वहाँ पर पूय उपस्थित हो अथवा धातुएँ गल गई हों, तो उनको काटकर निकाल देना उचित है। विद्रधि को चीर देना बहुत आवश्यक है। साथ ही व्रण के भीतर गौज इत्यादि रखकर इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि वहाँसे पूय बराबर निकलता रहे, जिससे जीवाणुओं की संख्या न बढ़ने पाये। अस्वस्थ भाग को शुद्ध कार्बोलिक अम्ल अथवा दाहकशलाका से अस्वस्थ भाग का दाह करना चाहिए।

२—स्थान को पूर्ण विश्राम देना—ऐसा करने से जीवाणु तथा उनके विष फैलने नहीं पायेंगे।

३—रुग्णस्थान में अधिक रक्तसंचार का उपाय करना—शोथयुक्त स्थान में जो रक्त जमा हो रहा है, उसको वहाँसे हटाना आवश्यक है, जिससे वहाँपर शुद्ध रक्त का सञ्चार हो। स्थान को ऊपर की ओर उठाकर रखना और वहाँ पुल्टिस अथवा ऊष्मस्वेद का प्रयोग करना चाहिए। यदि इससे भी इच्छित फल न हो, तो एक तीव्र वेधसपत्र द्वारा उस स्थान के चर्म का कई स्थानों पर छेदन कर देना उचित है। इससे वहाँपर एकत्र हुआ रक्त निकलने लगेगा, जिसके साथ बहुत से जीवाणु और विष भी बाहर निकल जायेंगे। और वहाँ नवीन रक्त का प्रवाह प्रारम्भ होगा।

रक्तप्रवाह को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित उपाय किये जाते हैं—

शीतप्रयोग—से कभी-कभी बहुत सहायता मिलती है। किन्तु उससे अङ्ग की शक्ति के क्षय का भय रहता है। इस कारण वृद्ध मनुष्यों में बड़ी सावधानी से शीत का प्रयोग करना चाहिए। इसके लिए रबर के थैले होते हैं, जिनमें बर्फ भरकर उस स्थान पर रखा जाता है। इसके लिए एक प्रकार की पीतल की नलियाँ भी प्रयुक्त होती हैं। शीतप्रयोग का विधान अपने यहाँ वाग्भटजी ने भी किया है, यथाः—

कुर्याच्छीतोपचारन्तु शोफावस्थस्य सन्ततम्। दोषाग्निरग्निवत्तेन प्रयाति सहसा शमम् ॥

वा० उ० त० अ० २५ श्लो० २४।

उष्णता—इसकी क्रिया शीत से बिल्कुल भिन्न है। शीत से रक्तनलिकाओं के सङ्कुचित हो जाने के कारण रक्त आना कम हो जाता है। उष्णता के प्रयोग से नलिकाओं का प्रसार होता है। इस कारण वहाँ जो रक्त जमा था, वह दूसरी ओर चला जाता है और वहाँ नवीन रक्त का सञ्चार होने लगता है। पीडा कम हो जाती है।

गरम जल को रबर के थैलों में भर कर रखते हैं। पुल्टिस और ऊष्म स्वेद के द्वारा भी उष्णता का प्रयोग किया जाता है।

पुल्टिस (उपनाह)-प्रायः आटे अथवा अलसी की बनाई जाती है। आटे में जल मिलाकर उसको पकाया जाता है, पकाते समय थोड़ा घी या तेल मिला सकते हैं। उसमें बहुधा साधारण लवण, सुहागा या बोरिक अम्ल भी मिलाये जाते हैं।

अलसी की पुल्टिस बनाने के लिए अलसी बहुत बारीक पीसकर उसमें इतना उबलता हुआ जल मिलाया जाता है कि उसकी एक कड़ी लोई बन जाती है। जल और अलसी के आटे को मिलाकर नहीं उबाला जाता। यह पुल्टिस गरम, चिकनी तथा गीली होती है। अङ्ग पर लगाते समय स्वच्छ वस्त्र के एक टुकड़े पर पुल्टिस को फैलाकर दूसरी ओर से उसी प्रकार के एक वस्त्र से उसे ढँक दिया जाता है। इस प्रकार पुल्टिस वस्त्र के भीतर रहती है। इसको अङ्ग पर लगाकर ऊपर से पट्टी बाँध दी जाती है।

तत्पश्चात् क्वाथादि से परिषेक करना चाहिए, फिर विम्लापन-क्रिया करनी चाहिए, तत्पश्चात् रक्तमोक्षण फिर उष्ण उपनाहन, इसके बाद पाचन, पाचन के बाद शस्त्र अथवा औषधियों द्वारा भेदन, भेदन करने के बाद पीडन अर्थात् दबाकर पूय को निकालना, पुनः क्काथादि से शोधन अर्थात् घाव को स्वच्छ करना, तदुपरान्त रोपणक्रिया और सबके बाद वर्णकरण अर्थात् व्रण का वर्ण शारीरिक त्वचा के समान करना। इस प्रकार ये ग्यारह व्रणचिकित्सा के प्रकार बतलाये

ऊष्मस्वेद—जल को भली भाँति गरम करके, यहाँ तक कि वह उबलने लगे, उसमें कोई विसंक्रामक, साधारणतया बोरिक अम्ल मिला दिया जाता है। इस विलयन को टोंटीदार बर्तन में भर कर उसके द्वारा एक चौड़े वस्त्र अथवा तौलियाँ के बीच में रखे हुए लिंट के टुकड़े पर जल की धार डाली जाती है। तत्पश्चात् तौलिये के दोनों सिरों को पकड़कर विरुद्ध दिशाओं में मरोड़ा जाता है। इससे लिंट का जल निकल जाता है। तत्पश्चात् तौलिये को खोलकर लिंट को शोथयुक्त स्थान में रखकर शुष्क रूई अथवा तौलिये से ढँक दिया जाता है, जिससे भीतर की उष्णता बाहर न निकलने पाये। जब लिंट ठण्डा हो जाता है, तो उसको हटाकर पहिले की ही भाँति लिंट के दूसरे टुकड़े को विलयन में भिगो और निचोड़कर प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार यह क्रिया १० या १५ मिनटतक आवश्यकतानुसार २–३ बार की जाती है।

रक्तसञ्चार बढ़ाने के लिए बायर की विधि (Bior's artificial hyperaemia) काम में लायी जाती है।

शोथयुक्त स्थान के कुछ ऊपर की ओर एक रबर की पट्टी इतनी कसकर बाँधी जाती है कि उसके कारण शिराओं में रक्त का सञ्चालन बन्द हो जाता है; किन्तु धमनी अपना कार्य करती रहती है। इस कारण वहाँ रक्त की अधिक मात्रा एकत्र हो जाती है। किन्तु न तो उष्णता ही बढ़ती है और न किसी प्रकार की पीडा होती है। यदि वह स्थान नीला पड़ जाय अथवा वहाँ पीड़ा होने लगे तो समझना चाहिए कि पट्टी ठीक प्रकार से नहीं बँधी है। पट्टी को २०–२२ घंटे बँधे रहने के पश्चात् खोल देना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो पुनः प्रयोग हो सकता है। जब तक शोथ कम न होने लगे, पट्टी का प्रयोग जारी रखना चाहिए।

रक्तसंचालन को बढ़ाने के लिए चूषकयन्त्र (Clapps Suction ball) का भी प्रयोग किया जाता है। रबर का एक गोला एक नलिका के द्वारा काँच के एक पात्र से संयुक्त होता है। जिन स्थानों पर पट्टी नहीं बाँधी जा सकती, जैसे–स्तन, उदर या वक्ष में–वहाँ इसका प्रयोग किया जा सकता है। काँच के मुख के चारो ओर वैस्लीन लगाकर उसे शोथ के ऊपर लगा देते हैं और रबर के गोले को दबाकर छोड़ देते हैं। इससे पात्र की वायु खिंचती है। इस कारण जिस स्थान पर पात्र लगा हुआ है, वह भी भीतर को खिंचता है। जिससे रक्तनलिकाओं के प्रसरित हो जाने से वहाँ रक्त का संचार बढ़ जाता है। जितने वेग से रबर का गोला वायु को खींचता है, उतना ही उस स्थान में अधिक रक्त आता है। एक बार में यह प्रयोग ५ से १० मिनट तक किया जाता है। इसी भाँति पाश्चात्य वैद्यक में शोथनाशन के लिए उपयुक्त उपाय किये जाते हैं। अपने यहाँ तो शोथचिकित्सार्थ उपर्युक्त उपाय किये ही जाते हैं, इनके अतिरिक्त भी कुछ और विशिष्ट बातें भी की जाती हैं। यथाः–प्रधानतः सवर्णीकरण और लोमोत्पादन। जो कि निम्न भगवान् सुश्रुत की उक्तियों से सुस्पष्ट हो जाता हैः—

'आदौ विम्लापनं कुर्याद् द्वितीयमवसेचनम्। तृतीयमुपनाहं तु चतुर्थीं पाटनीं क्रियाम्॥
पञ्चमं शोधनं कुर्यात् षष्ठं रोपणमिष्यते। एते क्रमा व्रणस्योक्ताः सप्तमं वैकृतापहम्'॥
सु० सू० अ० १८ श्लो० २१–२२॥

गये हैं। सुश्रुत में तो व्रण के ६० उपक्रमों का वर्णन किया गया है, किन्तु यहाँ पर उन सबका वर्णन ग्रन्थ-विस्तार के भय से नहीं किया गया है ॥ १७–१८ ॥

शोथनाशकलेपमाह—

यथा प्रज्वलिते वेश्मन्यम्भसा परिषेचनम्। क्षिप्रं प्रशमयत्यग्निमेवमालेपनं रुजः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार जलते हुए घर पर जल द्वारा सिञ्चन करने से शीघ्र अग्नि शान्त हो जाती है, उसी प्रकार औषधियों का लेप शीघ्र पीडा को शान्त कर देता है ॥ १९ ॥

बीजपूरजटाहिंस्रा देवदारु महौषधम्। रास्नाऽग्निमन्थौ लेपोऽयं वातशोथविनाशनः ॥२०॥

बिजौरे नीबू की जड़, बालछड़, देवदारु, सोंठ, रास्ना तथा अरनी को पीसकर लेप करने से वातजन्य शोथ नष्ट होता है ॥ २० ॥

कल्कः काञ्जिकसम्पिष्टः स्निग्धो मधुकचन्दनैः। दूर्वा च नलमूलञ्च पद्मकाष्ठञ्च केशरम्।
उशीरं वालकं पद्मं लेपोऽयं पित्तशोथहा ॥ २१ ॥

मुलेठी तथा चन्दन की काञ्जी में पिसे हुए घृतमिश्रित कल्क का प्रलेप करने से अथवा दूब, नरसल की जड़, पद्मकाष्ठ, केशर, खस, सुगन्धबाला तथा कमल को पीसकर प्रलेप करने से पैत्तिक शोथ नष्ट हो जाता है ॥ २१ ॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसकल्कलैः। ससर्पिष्कैः प्रदेहः स्याच्छोथे पित्तसमुद्भवे ॥ २२ ॥
आगन्तुजे रक्तजे च लेप एषोऽभिपूजितः ॥ २३ ॥

बरगद, गूलर, पाकर तथा बेत की छाल को पीसकर घी मिलाकर लेप करने से पित्तजन्य शोथ दूर हो जाता है। आगन्तुज तथा रक्तज शोथ पर भी यह लेप श्रेष्ठ है ॥ २२–२३ ॥

अजगन्धाऽजश्रृङ्गी च मञ्जिष्ठा सरलस्तथा। एकैपिकाऽश्वगन्धा च लेपोऽयं श्लेष्मशोथहा ॥
***अजश्रृङ्गी=[मेढाशिङ्गी] एकैपिका = श्याम पनिलर निशोथः ॥ २४ ॥**

वनतुलसी, मेढ़ासींगी, मंजीठ, देवदारु, काली निशोथ तथा असगन्ध—इनको पीसकर प्रलेप करने से कफजन्य शोथ नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

कृष्णापुराणपिण्याकं शिग्रुत्वक् सिकता शिवा। मूत्रपिष्टः सुखोष्णोऽयं प्रलेपः श्लेष्मशोथहा ॥

पिप्पली, पुरानी खली, सहजन की छाल, बालू तथा हरड़—इनको गोमूत्र में पीसकर कुछ गरम-गरम प्रलेप करने से कफजन्य शोथ नष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥

परिभाषामाह—

न रात्रौ लेपनं दद्याद्दत्तञ्च पतितं तथा। न च पर्युषितं शुष्यमाणं तन्नैव धारयेत् ॥ २६ ॥
***दत्तमेव पुनर्न दद्यात्। पतितं = दीयमानं सद् गदाङ्गात् पतितम्। पर्युषितं=लेपनद्रव्यं कल्कीकृतं यत् पर्युषितम् ॥ २६ ॥**

परिभाषा—रात्रि में लेप नहीं करना चाहिए। एक बार लेप किये हुए लेप को पुनः लेप नहीं करना चाहिए। शोथ के ऊपर प्रलिप्त लेप के गिर जाने के बाद फिर उस लेप का पुनः प्रयोग नहीं करना चाहिए। लेपनद्रव्यों का कल्क यदि बासी हो जाय, तो उसका उपयोग न करना चाहिए। और सूखे हुए लेप का धारण कभी नहीं करना चाहिए अर्थात् सूखे हुए लेप को छुड़ा देना चाहिए ॥ २६ ॥

तथाः—'अपतर्पणमालेपः परिषेकोऽभ्यङ्गः स्वेदो विम्लापनमुपनाहः पाचनं विस्रावणं स्नेहो वमनं विरेचनं छेदनं भेदनं दारणं लेखनमेषणमाहरणं व्यधनं विस्रावणं सीवनं सन्धानं पीडनं शोणितास्थापनं निर्वापणमुत्कारिका कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णनं व्रणधूपनमुत्सादनमृदुकर्म दारुणकर्म क्षारकर्माग्निकर्म कृष्णकर्म पाण्डुकर्म प्रतिसारणं रोमसञ्जननं लोमा[illegible]स्तकर्मबन्धः पत्रदानं कृमिघ्नं बृंहणं विषघ्नं शिरोविरेचनं नस्यं कवलधारणं [illegible]यन्त्रमाहा[illegible] रक्षाविधानमिति' ॥ सु० चि० अ० १ सू० ८ ॥

रात्रिलेपनिषेधे हेतुमाह—

तमसा पिहितोऽप्युष्मा रोमकूपमुखोत्थितः। विना लेपेन निर्याति रात्रौ नालेपयेदतः॥

रात्रि में तम (अन्धकार) से आवृत रोमकूपों से निकली हुई ऊष्मा लेप न करने से बाहर निकलती है। इसलिए रात में लेप नहीं करना चाहिए॥ २७॥

रात्रिलेपनिषेधाविषयमाह—

रात्रावपि प्रलेपस्तु विधातव्यो विचक्षणैः। अपाकिशोथे गम्भीरे रक्तपित्तसमुद्भवे॥ २८॥

किन्तु जो शोथ पकता न हो, गम्भीर हो अथवा रक्त तथा पित्त से उत्पन्न हुआ हो, उसपर बुद्धिमान् वैद्य रात्रि में भी प्रलेप करे॥ २८॥

शोथोपरि क्वाथादिपरिषेचनमाह—

यथाऽम्बुभिः सिच्यमानः शान्तिमग्निर्हि गच्छति। दोषाग्निरेवं सहसा परिषेकेण शाम्यति॥

जिस प्रकार जल द्वारा सेचन करने से अग्नि शान्त होती है, उसी प्रकार परिषेक से सहसा दोष रूपी अग्नि शान्त हो जाती है॥ २९॥

वातघ्नौषधनिष्क्वाथैस्तैलैर्मांसरसैर्घृतैः। उष्णैः संसेचयेच्छोथं वातिकं काञ्जिकेन च॥३०॥

वातनाशक ओषधियों के क्वाथ, तेल मांसरस, घृत तथा काञ्जी को गरम कर के परिषेक करनेसे वातजन्य शोथ नष्ट होता है॥ ३०॥

पित्तरक्ताभिघातोत्थं शोथं सिञ्चेत्सुशीतलैः। क्षीराज्यमधुखण्डेक्षुरसैः पित्तहरैः शृतैः॥३१॥

पित्तरक्त तथा अभिघात से उत्पन्न हुए शोथ पर शीतल ओषधियों के क्वाथ, दूध, घी, मधु, खाँड़ तथा ईख के रस से और पित्तनाशक क्वाथों से सेचन करे॥ ३१॥

कफघ्नौषधनिष्क्वाथैः शीतैस्तु परिषेचयेत्। तैलक्षाराम्बुमूत्रैश्च शोथं श्लेष्मसमुद्भवम्॥३२॥

कफजन्य शोथ पर कफनाशक ओषधियों के शीतल क्वाथ से, तेल, क्षार, जल तथा गोमूत्र से परिषेक करना चाहिए॥ ३२॥

विम्लापनमाह—

जातस्य कठिनस्यास्य कार्यं विम्लापनं शनैः॥ ३३॥

उत्पन्न हुए कठिन शोथ का धीरे-धीरे 'विम्लापन' करना चाहिए॥ ३३॥

शोथस्य विम्लापनस्य विधिमाह सुश्रुतः—

अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुनाढ्या शनैः शनैः। विमर्दयेद्भिषङ् मन्दं तलेनाङ्गुष्ठकेन वा॥

***वेणुनाड्या = वंशनलिकया। स्वेदयित्वा = उष्णस्वेदं कृत्वा॥ ३४॥**

शोथ के विम्लापन की विधि को सुश्रुत ने इस प्रकार बतलाया है कि—वैद्य शोथ के ऊपर अभ्यङ्ग कर के उष्ण स्वेदन करने के पश्चात् बाँस की नली, हाथ के तलवे अथवा अंगूठे से धीरे-धीरे मन्द-मन्द मर्दन करे॥ ३४॥

रक्तमोक्षणमाह—

वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च। अचिरोत्पतिते शोथे शोणितस्रावणं चरेत्॥ ३५॥

***चरेत् = कुर्यात्॥ ३५॥**

वेदना की शान्ति तथा पाककी शान्ति के लिए तत्काल उत्पन्न हुए शोथ में से रक्तमोक्षण कराना चाहिए॥ ३५॥

एकतस्तु क्रियाः सर्वा रक्तमोक्षणमेकतः। रक्तं हि वेदनामूलं तच्चेन्नास्ति न चास्ति रुक्॥

विवर्णः कठिनः श्यावो व्रणो यश्चाल्पवेदनः। विषाणैश्च विशेषेण जलौकाभिः पदैरपि॥३७॥

***शोणितस्रावणं चरेदित्यनेनान्वयः॥ ३६–३७॥**

शोथ की शान्ति के लिए सम्पूर्ण क्रियाएँ एक ओर तथा रक्तमोक्षण अकेले एक तरफ; क्योंकि वेदना रक्त ही है। यदि रक्त न हो तो वेदना नहीं होती। यदि शोथ विवर्ण, कठिन, श्याव

वर्ण तथा व्रण के समान अल्प पीडावाला हो तो विशेषतः सींगी, जोंक अथवा पछने द्वारा रक्त-मोक्षण कराना चाहिए ॥ ३६-३७ ॥

अथोपनाहमाह—

रुजावतां दारुणानां कठिनानां तथैव च। शोथानां स्वेदनं कार्यं ये चाप्येवंविधा व्रणाः॥

***उपनाहः स्वेदस्तस्य विधिर्भेपजसाधनप्रकरणे कथित एवास्ति। शोथानां = सामान्यानाम्। व्रणाः = व्रणशोथाः, तेपामपि स्वेदनं कार्यम् ॥ ३८ ॥**

जो शोथ पीड़ायुक्त, दारुण तथा कठिन हों, उनका अथवा इसी प्रकार के व्रणशोथों का स्वेदन करना चाहिए। यहाँपर स्वेदन से उपनाह-स्वेदन का ग्रहण करना चाहिए, जिसका कि वर्णन ओषधिनिर्माण प्रकरण में किया ही गया है ॥ ३८ ॥

शोथयोरुपनाहश्च दद्यादामविदग्धयोः। प्रशाम्यत्यविदग्धस्तु विदग्धः पक्वतां व्रजेत् ॥ ३९॥

***आमविदग्धौ = अपक्वपाकोन्मुखौ ॥ ३९ ॥**

शोथ चाहे आम हो या पक रहा हो–दोनों अवस्थाओं में उपनाह-स्वेद देना चाहिए। क्योंकि इससे जो शोथ कच्चा होता है, वह शान्त हो जाता है तथा जो पाकोन्मुख होता है, वह शीघ्र पक जाता है ॥ ३९ ॥

यथा—

दशमूली बला रास्ना वाजिगन्धा प्रसारिणी। मूलं वातरिपोः सिन्धुर्वारिपूर्णे घटे क्षिपेत् ॥
शोभाञ्जनः कणा चापि सैन्धवं विश्वभेपजम्। शणकार्पासयोर्बीजमतसी च कुलत्थिका॥
तिला यवाश्च सिद्धार्थः कुठेरो मूलकं मिसिः। यथाप्राप्तैरमीभिश्च द्रव्यैरम्लेन संयुतैः ॥४२॥
कल्कीकृतैः सुखोष्णैश्च स्वेदयेद्विधिवच्छनैः। अनेन प्रशमं याति वातशोथो न संशयः ॥४३॥

***कुठेरः = 'कृष्णवर्वरी'। इति दशमूल्यादिरुपनाहः ॥ ४०-४३ ॥**

दशमूल, खिरेटी, रासना, असगन्ध, प्रसारिणी, एरण्ड की जड़ तथा सेंधानमक के चूर्ण को जल से भरे हुए घड़े में डाल दे। और सहजन, पिप्पली, सेंधानमक, सोंठ, सन के बीज, कपास के बीज, अलसी, कुल्थी, तिल, जौ, सरसों, काली तुलसी, मूली तथा सोया–इन ओषधियों में से जितनी मिलें, उतनी लेकर अम्लरस से पीसकर कल्क बना लें। फिर इस कल्क को कुछ उष्ण करके शोथ पर बाँध दे। और उपर्युक्त घड़े में स्थित जल तथा ओषधियों को गरम करके धीरे-धीरे विधिपूर्वक स्वेदन करे। इससे वातजन्य शोथ शान्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। इसे दशमूल्यादि उपनाह कहते हैं ॥ ४०-४३ ॥

पुनर्नवाऽद्युपनाहमाह—

पुनर्नवा दारु शुण्ठी शिग्रुः सिद्धार्थ एव च। अम्लपिष्टः सुखोष्णोऽयं प्रलेपः सर्वशोथहा ॥

पुनर्नवा, देवदारु, सोंठ, सहजन की छाल तथा सरसों–इनको खट्टे रस से पीसकर गरम करके प्रलेप करने से सम्पूर्ण प्रकार के शोथ नष्ट हो जाते हैं ॥ ४४ ॥

शोथपाचनमाह—

न प्रशाम्यति यः शोथः प्रलेपादिविधानतः। द्रव्याणि पाचनीयानि दद्यात्तत्रोपनाहने ॥४५॥

जो शोथ प्रलेप इत्यादि के विधान से शान्त नहीं होता है, उसपर पाचनद्रव्यों को पीसकर गरम करके बाँधना चाहिए ॥ ४५ ॥

पाचनद्रव्याण्याह—

शणमूलकशिग्रूणां फलानि तिलसर्षपाः। अतसी शक्तवः किण्वमुष्णद्रव्यञ्च पाचनम् ॥४६॥

***शणफलादीनामतस्यन्तानां शक्तवः कर्त्तव्याः। किण्वं = सुराबीजम्। यवगोधूमधान्यादिप्रकारोऽन्यच्चोष्णं द्रव्यं व्रणस्य पाचनं भवति ॥ ४६ ॥**

सन के बीज, मूली के बीज, सहजन के बीज, तिल, सरसों, अलसी, सत्तू, सुराबीज तथा अन्य जौ, गेहूँ तथा धान्य इत्यादि उष्ण द्रव्यों का पकाने के लिए उपयोग करना चाहिए ॥ ४६ ॥

शोथभेदनमाह—

अन्तःपूयेष्ववक्त्रेषु तथा चोत्सङ्गवत्स्वपि । गतिमत्सु च रोगेषु भेदनं सम्प्रयुज्यते ॥ ४७ ॥

***उत्सङ्गवत्सु = कोटरवत्सु, गतिमत्सु=नाडीव्रणेषु । भेदनम्=शस्त्रमौषधकर्म च ॥४७॥**

जिस शोथ के भीतर पूय भरी हो, जिसका मुँह न हुआ हो, जो कोटर के समान भीतर से खाली हो, उनका तथा नाड़ीव्रण का शस्त्र अथवा ओषधियों से भेदन करना चाहिए ॥ ४७ ॥

शस्त्रसाध्यं भेदनमाह—

रोगे व्यधेन साध्ये तु यथादेशं प्रमाणतः। शस्त्रं विधाय दोषांस्तु स्रावयेत्कथितं यथा ॥४८॥

व्यधसाध्य रोग में अर्थात् जिस रोग की शान्ति शस्त्र द्वारा भेदन करने से ही होगी, उसमें स्थानानुसार प्रमाण से शस्त्र का प्रयोग करके दोषों को निकाल दे, ऐसा सुश्रुतादि मुनियोंने कहा है ॥

व्रणविशेषे शस्त्रनिक्षेपापवादमाह—

बालवृद्धासहक्षीणभीरूणां योषितामपि । व्रणेषु मर्मजातेषु भेदनं द्रव्यलेपनम् ॥ ४९ ॥

बालक, वृद्ध, शस्त्रकर्म को न सह सकनेवाला, क्षीण तथा डरपोक मनुष्य और स्त्रियों के मर्मस्थलों में व्रण उत्पन्न होने पर ओषधियों के प्रलेप से भेदन करना चाहिए। शस्त्र का उपयोग करना उत्तम नहीं ॥ ४९ ॥

भेदनद्रव्यमाह—

चिरविल्वोऽग्निको दन्ती चित्रको हयमारकः। कपोतकाकगृध्राणां मललेपेन भेदनम् ॥५०॥

करञ्ज, भिलावा, दन्ती, चित्त, कनेर, कबूतर, कौवे तथा गृद्ध्र की विष्ठा का लेप करने से व्रण का भेदन होता है ॥ ५० ॥

दारणमाह—

क्षारद्रव्यं तथा क्षारो दारणः परिकीर्तितः। हस्तिदन्तो जले पिष्टो बिन्दुमात्रप्रलेपितः। अत्यर्थं कठिने शोथे कथितो भेदनः परः ॥ ५१ ॥

***क्षारद्रव्यम् =अपामार्गादि, क्षारः =स्वर्जिकायवक्षारादिः ॥ ५१ ॥**

अपामार्ग इत्यादि क्षारद्रव्य तथा सज्जीखार और जवाखार इत्यादि क्षारों का लेप करने से व्रण फूट जाता है। हाथी के दाँत को पानी में पीसकर अत्यन्त कठिन शोथ पर भी बिन्दुमात्र प्रलेप करने से भेदन अवश्य हो जाता है ॥ ५१ ॥

शोथपीडनमाह—

द्रव्याणां पिच्छिलानान्तु त्वङ्मूलातिप्रपीडनम्। यवगोधूममाषाणां चूर्णानि च समासतः॥ शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रलेपं पीडनं प्रति । न चापि मुखमालिम्पेत्तथा दोषः प्रसिच्यते ॥ ५२ ॥

***पीडनं प्रति=पीडनद्रव्यलेपं प्रति, पीडनद्रव्यलेपं शुष्यन्तमपि, धारयेदित्यर्थः। तथा व्रणस्य मुखलेपं विना प्रस्रवति ॥ ५२–५३ ॥**

पिच्छिल अर्थात् चिपचिपे द्रव्यों की छाल तथा जड़ को पीसकर लेप करने से शोथ का पीडन होता है। जौ, गेहूँ तथा उड़द के आँटे की लुगदी को लगाने से शोथ का पीडन होता है। पीडन अर्थात् शोथ को दबाने के लिए जो प्रलेप किया गया है, यद्यपि सूखे हुए लेप के धारण का निषेध है, तथापि इस लेप के सूख जाने पर भी इसे धारण करना चाहिए। यहाँपर उपर्युक्त नियम की उपेक्षा करनी चाहिए। व्रण के मुख पर लेप नहीं करना चाहिए, जिससे कि दोषों का भली भाँति स्राव होता रहे ॥ ५२–५३ ॥

व्रणशोधनमाह—

व्रणस्य तु विशुद्धस्य क्वाथः शुद्धिकरः परः। पटोलनिम्बपत्रोत्थः सर्वत्रैव प्रयुज्यते ॥ ५४ ॥

पूय इत्यादि के निकल जाने पर व्रण को परवल तथा नीम के पत्तों के क्वाथ से धोने से व्रण अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। यह क्वाथ प्रत्येक प्रकार के व्रणों को शुद्ध करने के लिए प्रयुक्त होता है॥

वातिके दशमूलानां क्षीरिणां पैत्तिके व्रणे। आरग्वधादेः कफजे कषायः शोधने हितः ॥५५॥

शोधन के लिए वातजन्य व्रण में दशमूल के क्वाथ का प्रयोग, पैत्तिक व्रण में क्षीरिवृक्षों के क्वाथ का प्रयोग तथा कफजन्य व्रण में आरग्वधादिगण की ओषधियों के क्वाथ का प्रयोग हितकर है॥

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटवेतसजं शृतम्। व्रणशोथोपदंशानां नाशनं क्षालनात्स्मृतम् ॥ ५६ ॥

पीपल, गूलर, पाकर, बरगद तथा बेत के क्वाथ से धोने से व्रणशोथ तथा उपदंश नष्ट हो जाते हैं ॥ ५६ ॥

तिलसैन्धवयष्ट्याह्वनिम्बपत्रनिशायुगैः। त्रिवृद्घृतयुतैः पिष्टैः प्रलेपो व्रणशोधनः ॥ ५७ ॥

तिल, सेंधानमक, मुलेठी, नीम के पत्ते, हल्दी, दारुहल्दी तथा निशोथ इनको पीसकर और घी मिलाकर लेप करने से व्रण शुद्ध हो जाते हैं ॥ ५७ ॥

एकं वा सारिवामूलं सर्वव्रणविशोधनम् ॥ ५८ ॥

अकेली सारिवा की जड़ को पीसकर लेप करने से सम्पूर्ण प्रकार के व्रण शुद्ध हो जाते हैं ॥५८॥

निम्बपत्रं तिला दन्ती त्रिवृत्सैन्धवमाक्षिकम्। दुष्टव्रणप्रशमनो लेपः शोधनकेशरी ॥ ५९ ॥

***शोधनकेशरी = शोधनश्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ५९ ॥**

नीम के पत्ते, तिल, दन्ती, निशोथ, सेंधानमक तथा मधु को पीसकर लेप करने से दूषित व्रण शान्त होते हैं। यह लेप शोधनों में श्रेष्ठ है ॥ ५९ ॥

लेपान्निम्बदलैः कल्को व्रणशोधनरोपणः। भक्षणाच्छर्दिमन्दाग्निपित्तश्लेष्मकृमीन्हरेत्।
व्रणान्विशोधयेद्वर्त्या सूक्ष्मान् हि सन्धिमर्मजान् ॥ ६० ॥

नीम के पत्तों को पीसकर प्रलेप करने से व्रण शुद्ध होते हैं तथा व्रणों का रोपण होता है। नीम के पत्तों के कल्क को खाने से वमन, मन्दाग्नि, पित्तविकार, कफज रोग तथा कृमि नष्ट हो जाते हैं। और नीम के पत्तों के कल्क की बत्ती बनाकर व्रणमुख में डालने से सन्धि तथा मर्मस्थानों में उत्पन्न हुए सूक्ष्म व्रण शुद्ध हो जाते हैं ॥ ६० ॥

अभयात्रिवृतादन्तीलाङ्गलीमधुसैन्धवैः ॥ ६१ ॥
निम्बपत्रघृतक्षौद्रदार्वीमधुकसंयुतैः। वर्त्तिस्तिलानां कल्को वा शोधयेद्रोपयेद् व्रणम् ॥६२॥

हरड़, निशोथ, दन्ती, कलिहारी, मधु, सेंधानमक, नीमके पत्ते, घी, मधु, दारुहल्दी तथा मुलेठी–इनको पीसकर प्रलेप करने से अथवा तिलों के कल्क या वर्त्ती का उपयोग करने से व्रण का शोधन तथा रोपण होता है ॥ ६१–६२ ॥

व्रणरोपणमाह—

अपेतपूतिमांसानां मांसस्थानामरोहताम्। कल्कस्तु रोपणो देयस्तिलजो मधुसंयुतः ॥६३॥

मांस में उत्पन्न हुए जिस व्रण का मांस सड़कर गिर गया हो और रोपण न होता हो, उसके ऊपर तिल के कल्क को मधु मिलाकर लगाना चाहिए। इससे व्रण भरता है ॥ ६३ ॥

अश्वगन्धा रुहा लोध्रं कट्फलं मधुयष्टिका। समङ्गा धातकीपुष्पं परमं व्रणरोपणम् ॥ ६४ ॥

***रुहा = रोहिणी ॥ ६४ ॥**

असगन्ध, कुटकी, लोध, कायफल, मुलेठी, मंजीठ तथा धाय के फूल इनके कल्क का प्रयोग परम व्रणरोपण बतलाया गया है ॥ ६४ ॥

मधुयुक्ता सुरा पुंसां कथिता व्रणरोपणी। सुपर्वीपत्रधत्तूरवलामोटाकुठेरकाः।
पृथगेतैः प्रलेपेन गम्भीरव्रणरोपणम् ॥ ६५ ॥

***सुपर्वीपत्रं = मगरैलापत्रम्। वलामोटा—अस्मात्तदेव नाम पुस्तकधृतम्। कुठेरकः= कृष्णवर्वरी ॥ ६५ ॥**

मधुमिश्रित मदिरा का प्रलेप करने से मनुष्यों के सब प्रकार के व्रण भर जाते हैं। मंगरैल के पत्ते, धतूर, खिरेटी, मोटा (खिरेटी भेद) अथवा काली तुलसी के पत्तों को पीसकर लेप करने से गम्भीर व्रण भी भर जाते हैं ॥ ६५ ॥

ककुभोदुम्बराश्वत्थजम्बूकफललोध्रजैः । त्वक्चूर्णैर्धूलिताः क्षिप्रं संरोहन्ति व्रणा ध्रुवम् ॥६६॥

अर्जुन, गूलर, पीपल, जामुन, कायफल तथा लोध की छाल के चूर्ण को बुरकने से व्रण अवश्य भर जाते हैं ॥ ६६ ॥

प्रियङ्गुधातकीपुष्पं यष्टीमधुजतूनि च । सूक्ष्मचूर्णीकृतानि स्यू रोपणान्यवधूलनात् ॥ ६७ ॥

फूलप्रियङ्गु, धाय के फूल, मुलेठी तथा लाख के चूर्ण को बुरकने से घाव भर जाते हैं ॥ ६७ ॥

यवचूर्णं समधुकं सतैलं सह सर्पिषा । दद्यादालेपनं कोष्णं दाहशूलोपशान्तये ॥ ६८ ॥

जौ का आँटा, मुलेठी का चूर्ण, तेल तथा घी मिलाकर कुछ गरम-गरम लेप करने से व्रण का दाह तथा शूल शान्त होता है ॥ ६८ ॥

करञ्जारिष्टनिर्गुण्डीलेपो हन्याद् व्रणकृमीन् । लशुनस्याथवा लेपो हिङ्गुनिम्बकृतोऽथवा ॥

***अरिष्टः=निम्बः ॥ ६९ ॥**

करञ्ज, नीम तथा निर्गुण्डी के पत्तों को पीसकर लेप करने से व्रण में पड़े हुए कीड़े मर जाते हैं। लहसुन का लेप करने अथवा नीम के पत्तों तथा हींग को पीसकर लेप करने से व्रण में पड़े हुए कीड़े नष्ट हो जाते हैं ॥ ६९ ॥

निम्बपत्रवचाहिङ्गुसर्पिर्लवणसर्षपैः । धूपनं स्याद् व्रणे रूक्षकृमिकण्डूरुजाऽपहम् ॥ ७० ॥

नीम के पत्ते, वच, हींग, घी, सेंधानमक तथा सरसों–इन ओषधियों द्वारा व्रणपर धूपन करने से व्रण की रूक्षता, कृमि, कण्डू तथा पीड़ा नष्ट हो जाती है ॥ ७० ॥

ये क्लेदपाकस्रुतिगन्धवन्तो व्रणाश्चिरोत्थाः सतताश्च शोथाः ।
प्रयान्ति ते गुग्गुलुमिश्रितेन पीतेन शान्तिं त्रिफलाशृतेन ॥ ७१ ॥

जो व्रण क्लेद, पाक, स्राव तथा गन्ध से युक्त हों, बहुत दिनों के पुराने हों तथा जिनमें शोथ निरन्तर बना रहता हो, ऐसे व्रण गुग्गुलुमिश्रित त्रिफलाक्वाथ को पीने से शान्त हो जाते हैं ॥६१॥

पटोलनिम्बासनसारधात्रीपथ्याऽक्षनिर्यूहमहर्मुखेषु ।
पिबेद्युतं गुग्गुलुना विसर्पविस्फोटदुष्टव्रणशान्तिमिच्छन् ॥ ७२ ॥

परवल, नीम, विजयसार, आँवले, हरड़ तथा बहेड़े के क्वाथ में गुग्गुलु मिलाकर प्रातःकाल पीने से विसर्प, विस्फोट तथा दुष्ट व्रण शान्त हो जाते हैं ॥ ७२ ॥

सवर्णताकारकलेपमाह—

मनःशिला समञ्जिष्ठा सलाक्षा रजनीद्वयम् । प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वचः सावर्ण्यकृत्स्मृतः ॥

मैनशिल, मंजीठ, लाख, हल्दी तथा दारुहल्दी–इनके चूर्ण में घी तथा मधु मिलाकर लेप करने से व्रण के स्थान का वर्ण त्वचा के वर्ण के समान हो जाता है ॥ ७३ ॥

व्रणरोगिभोजनमाह—

जीर्णशाल्योदनं स्निग्धमल्पमुष्णं द्रवान्तरम् । भुञ्जानो जाङ्गलैर्मांसैः शीघ्रं व्रणमपोहति ॥
तण्डुलीयकजीवन्तीवास्तूकसुनिषण्णकैः । बालमूलकवार्त्ताकुपटोलैः कारवेल्लकैः ॥ ७५ ॥
सदाडिमैः सामलकैर्घृतभृष्टैः ससैन्धवैः । अन्यैरेवङ्गुणैर्वाऽपि मुद्गादीनां रसेन वा ॥ ७६ ॥

***एभिः सह जीर्णशाल्योदनं भुञ्जानः शीघ्रं व्रणमपोहतीत्यन्वयः ॥ ७४–७६ ॥**

स्निग्ध, कुछ गरम तथा पतले पुराने शालि चावलों के भात को जाङ्गल जन्तुओं के मांस तथा चौलाई, जीवन्ती, बथुआ, शिरिआरी, कच्ची मूली, बैगन, परवल, करैले, अनार तथा आँवले को घी में भूनकर सेंधानमक मिलाकर इनके शाक के साथ अथवा इनके समान गुणवाली अन्य वस्तुओं के साथ या मूंग के रस के साथ खाये, इससे व्रण शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ७४–७६ ॥

अम्लं दधि च शाकञ्च मांसमानूपमौदकम् । क्षीरं गुरूणि चान्नानि व्रणे च परिवर्जयेत् ॥

खट्टा दही, खट्टा शाक, अनूपदेश तथा जल में रहनेवाले जीवों का मांस, दूध तथा गुरु अन्न इनका व्रणरोग में त्याग करना चाहिए ॥ ७७ ॥

व्रणे श्रमादिजोपद्रवानाह—

व्रणे श्वयथुरायासात्स च रागश्च जागरात् । तौ च रुक्च दिवास्वापात्ते च मृत्युश्च मैथुनात् ॥

व्रणरोग में परिश्रम करने से शोथ उत्पन्न होता है। रात्रिजागरण से शोथ तथा लाली–दोनों उत्पन्न हो जाते हैं। दिन में सोने से शोथ, लाली तथा पीडा–ये तीनों होती हैं। और व्रण रोग में मैथुन करने से शोथ, लाली, पीडा तथा मृत्यु–ये चारो होते हैं ॥ ७८ ॥

आगन्तुकव्रणचिकित्सामाह—

क्रुद्धे सद्योव्रणे कुर्यादूर्ध्वं चाधश्च शोधनम् । क्रिया शीता प्रयोक्तव्या रक्तपित्तोष्मनाशिनी ॥

आगन्तुज तत्काल उत्पन्न हुए व्रण के कुपित होने पर वमन तथा विरेचन द्वारा शरीर का शोधन करना चाहिए। और रक्त तथा पित्त की उष्णता को नष्ट करनेवाली शीतल क्रिया का प्रयोग करना चाहिए ॥ ७९ ॥

लङ्घनञ्च बलं ज्ञात्वा भोजनं चास्रमोक्षणम् । घृष्टे विदलिते चैव सुतरामिष्यते विधिः ॥८०॥

घिसे तथा फटे हुए व्रण में बलानुसार लङ्घन, उचित भोजन तथा रक्तमोक्षण करना चाहिए। यह विधि परमोत्तम है ॥ ८० ॥

छिन्ने भिन्ने तथा विद्धे क्षते वाऽसृगतिस्रवेत् । रक्तक्षयात्तत्र रुजः करोति पवनो भृशम् ॥

परिषेकंस्नेहपानं लेपं तत्रोपनाहनम् । कुर्वन्ति स्नेहबस्तिञ्च रुजाघ्नं चौषधं पृथक् ॥ ८२ ॥

खड्गादिच्छिन्नगात्रस्य तत्काले पूरितो व्रणः । गाङ्गेरुकीमूलरसैः सद्यः स्याद्गतवेदनः ॥८३॥

***गाङ्गेरुकी = नागबला, 'गुलसकरी' ति लोके ॥ ८३ ॥**

अङ्ग में छिन्न, भिन्न अथवा विद्ध क्षत के उत्पन्न हो जाने पर रक्त का अधिक स्राव होने लगता है। इस प्रकार रक्त के क्षय होने से वायु तीव्र पीडा को उत्पन्न कर देती है। ऐसी अवस्था में परिषेक, स्नेहपान, लेप, उपनाहस्वेद, स्नेहबस्ति तथा वेदनाहर ओषधियों का अलग-अलग प्रयोग करना चाहिए। तलवार इत्यादि से अङ्ग के कट जाने पर तत्काल गङ्गेरन की जड़ के स्वरस से घाव को भर देने से पीड़ा चली जाती है ॥ ८१–८३ ॥

कषाया मधुराः शीताः क्रियाः सर्वाः प्रयोजयेत् । सद्योव्रणानां सप्ताहात्पश्चात्पूर्वोक्तमाचरेत् ॥

सद्योव्रण अर्थात् आगन्तुज व्रणके ऊपर सात दिन तक सम्पूर्ण कसैली, मधुर तथा शीतल क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिए। तत्पश्चात् अर्थात् आठवें दिन से पूर्वोक्त व्रणोपचार करना चाहिए॥८४॥

आमाशयस्थे रुधिरे विदध्याद्वमनं नरः । तस्मिन्पक्वाशयस्थे तु प्रकुर्वीत विरेचनम् ॥८५॥

यदि रक्त आमाशय में स्थित हो तो मनुष्य को वमन करना चाहिए। और यदि रक्त पक्वाशय में स्थित हो तो विरेचन करना चाहिए ॥ ८५ ॥

क्वाथो वंशत्वगैरण्डश्वदंष्ट्राऽश्मभिदा कृतः । हिङ्गुसैन्धवसंयुक्तः कोष्ठस्थं स्रावयेदसृक् ॥८६॥

बाँस की छाल, एरण्डमूल, गोखरू तथा पाषाणभेद के क्वाथ को हींग तथा सेंधानमक मिलाकर पीने से कोष्ठ में स्थित रक्त निकल जाता है ॥ ८६ ॥

यवकोलकुलत्थानां निःस्नेहेन रसेन च । भुञ्जीतान्नं यवागूं वा पिबेत्सैन्धवसंयुताम् ॥८७॥

आगन्तुज व्रणपीड़ित मनुष्य जौ, बेर तथा कुलथी के स्नेहरहित रस के साथ भात खाये। अथवा सेन्धानमक मिलाकर यवागू को पीये ॥ ८७ ॥

जात्यादिघृतमाह—

जातीनिम्बपटोलपत्रकटुकादार्वीनिशासारिवा-
मञ्जिष्ठाऽभयसिक्थतुत्थमधुकैर्नक्ताह्वबीजं समैः ।

सर्पिः सिद्धमनेन सूक्ष्मवदना मर्माश्रिताः स्राविणो
गम्भीराः सरुजो व्रणाः सगतिकाः शुध्यन्ति रोहन्ति च ॥ ८८ ॥
वृद्धवैद्योपदेशेन पारम्पर्योपदेशतः। जातीघृते तु संसिद्धे देयमत्र सिक्थकं बुधैः ॥ ८९ ॥

चमेली के पत्ते, नीम के पत्ते, परवल के पत्ते, कुटकी, दारुहल्दी, हल्दी, सारिवा, मंजीठ, खस, मोम, तूतिया, गन्धक, मुलेठी तथा करञ्ज के बीज को समान-समान भाग में लेकर कल्क बनाकर घृत सिद्ध कर ले। इस प्रकार 'जात्यादिघृत' सिद्ध होता है। इस घृत को लगाने से सूक्ष्म मुखवाले, मर्मस्थलों में उत्पन्न हुए, स्रावयुक्त, गम्भीर, वेदनायुक्त तथा शरीर में गति करनेवाले व्रण शुद्ध होते तथा भरते हैं। यद्यपि उपर्युक्त श्लोकों में 'जात्यादिघृत' में मोम डालने का विधान नहीं है, तथापि वृद्ध वैद्यों के उपदेश से तथा उपदेशपरम्परा से 'जात्यादिघृत' के सिद्ध हो जाने के पश्चात् इस घृत में बुद्धिमान् मनुष्य को मोम छोड़ना चाहिए ॥ ८८–८९ ॥

जात्यादितैलमाह—

जातीनिम्बपटोलानां नक्तमालस्य पल्लवाः। सिक्थकं मधुकं कुष्ठं द्वे निशे कटुरोहिणी ॥९०॥
मञ्जिष्ठा पद्मकं पथ्या लोध्रत्वङ्नीलमुत्पलम्। सारिवा तुत्थकञ्चापि नक्तमालफलं तथा ॥
एतानि समभागानि कल्कीकृत्य प्रयत्नतः। तिलतैलं पचेत्सम्यग्वैद्यः पाकविचक्षणः ॥९२॥
विषव्रणे समुत्पन्ने स्फोटके कुष्ठरोगिणि। दद्रुवीसर्परोगेषु कीटदष्टेषु सर्वथा ॥ ९३ ॥
सद्यः शस्त्रप्रहारेण दग्धविद्धेषु चैव हि। नखदन्तक्षते देहे दुष्टमांसापकर्षणे ॥ ९४ ॥
म्रक्षणेन हितं तैलमिदं शोधनरोपणम्। तैलं जात्यादिनाम्नैतत्प्रसिद्धं भिषगादृतम् ॥ ९५ ॥

चमेली, नीम, परवल तथा करञ्ज के पत्ते, मोम, मुलेठी, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, कुटकी, मंजीठ, पद्मकाष्ठ, हरड़, लोध की छाल, नीला कमल, सारिवा, नीलाथोथा तथा करञ्ज के फल–इन सब ओषधियों को समान भाग में लेकर प्रयत्नपूर्वक कल्क बनाकर पाककुशल वैद्य भली भाँति तिलतैल को पका ले। यह तेल विष से उत्पन्न हुए व्रण, विस्फोट, कुष्ठ, दद्रु, विसर्प, कीड़े द्वारा काटे हुए व्रण, तत्काल शस्त्र-प्रहार से उत्पन्न हुए व्रण, जलने से उत्पन्न व्रण, विद्धव्रण और नख तथा दाँत के क्षत पर लगाने से दूषित मांस निकलने लगता है। घाव का शोधन तथा रोपण होता है। वैद्यों द्वारा आदृत यह तेल 'जात्यादितैल' के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ९०–९५ ॥

विपरीतमल्लतैलमाह—

चित्रकरसोनरामठशरपुङ्खालाङ्गलीकसिन्दूरैः। सविषैस्तथा सकुष्ठैः कटुतैलं साधु सम्पक्वम् ॥
विपरीतमल्लसंज्ञं तैलं दुष्टव्रणं तथा नाडीम्। बहुभेषजैरसाध्यामपथ्यभोक्तुश्च निस्तुदति ॥

चित्त, लहसुन, हींग, शरपुङ्खा, कलिहारी, सिन्दूर, वत्सनाभ तथा कूट इनके कल्क द्वारा विधिपूर्वक सिद्ध किये गये कड़वे तेल को विपरीतमल्लतैल कहते हैं। इस तेल से अपथ्य भोजन करनेवाले मनुष्य का अनेक ओषधियों के कर चुकने पर भी न अच्छा हुआ असाध्य दुष्ट व्रण तथा नाड़ीव्रण अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ ९६–९७ ॥

अथामृताऽऽदिगुग्गुलुमाह—

अमृतापटोलमूलत्रिफलात्रिकटुककृमिघ्नानाम्। समभागानां चूर्णं सर्वसमो गुग्गुलोर्भागः ॥
प्रतिवासरमेकैकां गुटिकां खादेदिहापि परिमाणाम्।
जेतुं व्रणवातासृग्गुल्मोदरशोथवातरोगांश्च ॥ ९९ ॥

गुडूची, परवल की जड़, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मिर्च, पिप्पली तथा वायविडङ्ग इन सबको समान भाग में लेकर चूर्ण बना ले। इस सम्पूर्ण चूर्ण के बराबर गुग्गुलु लेकर कूटकर मिला दे। तत्पश्चात् इसकी उचित परिमाण की गोलियाँ बना ले। प्रतिदिन इन गोलियों में से १–१ गोली मात्रानुसार खाने से व्रण, वातरक्त, गुल्म, उदररोग, शोथ तथा वातरोग नष्ट हो जाते हैं। इस गुग्गुलु का नाम अमृतादिगुग्गुलु है ॥ ९८–९९ ॥

अग्निदग्धचिकित्सामाह—

प्लुष्टस्याग्निप्रतपनं कार्यमुष्णं तथौषधम्। सम्यक् स्विन्ने शरीरे तु स्विन्नं भवति शोभनम्॥
प्रकृत्या सलिलं शीतं स्कन्दयत्यतिशोणितम्। तस्मात्सुखयति ह्युष्णं न तु शीतं कदाचन॥
*स्कन्दयति = शोषयति ॥ १००-१०१ ॥

प्लुष्टदग्ध को अग्नि में तपाना चाहिए तथा उष्ण ओषधियों का उपयोग करना चाहिए। क्योंकि अच्छी तरह से शरीर के सिक जाने पर रक्त पतला हो जाता है और स्थान की उष्णता बाहर निकल जाती है। जिससे कि प्लुष्टदग्ध स्थान स्वस्थ हो जाता है। जल स्वभावतः शीतल होता है, इसलिए यह प्लुष्टदग्ध स्थान के रक्त को जमा देता है। अत एव प्लुष्टदग्ध स्थान पर उष्ण पदार्थों का ही प्रयोग सुखकर होता है। शीतल पदार्थों का प्रयोग कभी सुखकर नहीं होता।

विमर्श—तत्र प्लुष्टं दुर्दग्धं सम्यक्दग्धमतिदग्धमिति चतुर्विधं भवत्यग्निदग्धम्। तत्र विवर्णमात्रं प्लुष्यते तत्प्लुष्टम्। यत्रोत्तिष्ठन्ति स्फोटास्तीव्रदाहवेदनाश्चिराच्चोपशाम्यन्ति तद्दुर्दग्धम्। सम्यग्दग्धमवगाढं तालफलवर्णं सुस्थितं पूर्वलक्षणयुक्तञ्च। अतिदग्धन्तु त्वङ्मांसावलम्बनगात्रविश्लेषणं शिरास्नायुसन्ध्यस्थिव्यापादनमतिमात्रवेदनाज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्वासोपद्रवा भवन्ति। इति प्लुष्टादिभेदेनाग्निदग्धश्चतुर्विधो व्रणो भवति॥ इति चन्द्रसेनः।

अग्निदग्ध ४ प्रकार के होते हैं:—१—प्लुष्ट, २—दुर्दग्ध, ३—सम्यक्दग्ध, ४—अतिदग्ध।

१—प्लुष्ट—तो केवल अग्नि से दग्ध होने पर विवर्ण होनेमात्र को कहते हैं।

२—दुर्दग्ध—जिस अग्नि से दग्ध स्थान में फफोले उठ आयें, तीव्रदाह, तीव्रवेदना हो और अधिक समय में शान्त हो, उसे दुर्दग्ध कहते हैं।

३—सम्यग्दग्ध—उसे कहते हैं, जिसमें दाह खूब गाढ़ा हो, जले हुए स्थान का वर्ण ताड़ के फल के वर्ण के समान हो, सुस्थित हो तथा दुर्दग्ध के समान स्फोटादि लक्षणों से युक्त हो।

४—अतिदग्ध—उसे कहते हैं, जिसमें त्वचा तथा मांस जलकर गात्र शरीर से विश्लिष्ट हो जाता है। शिरा, स्नायु, सन्धि तथा अस्थियाँ जलकर नष्ट हो जाती हैं। वेदना बहुत होती है, ज्वर, दाह, पिपासा, मूर्च्छा तथा श्वास—ये सब उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार प्लुष्टादि भेद से अग्निदग्ध ४ प्रकार का होता है॥ १००-१०१॥

शीतामुष्णाञ्च दुर्दग्धे क्रियां कुर्यात्ततः पुनः। घृतलेपप्रदेहांश्च शीतानेवास्य कारयेत् ॥१०२॥

वैद्य दुर्दग्ध में शीतल तथा उष्ण दोनों प्रकार की क्रियाओं को करे। किन्तु घृत, प्रलेप तथा प्रदेह का प्रयोग शीतल ही करना चाहिए॥ १०२॥

सम्यग्दग्धे तुगाक्षीरीप्लक्षचन्दनगैरिकैः। सामृतैः सर्पिषा युक्तैरालेपं कारयेद्भिषक्।
ग्राम्यानूपौदकैर्मांसैः पिष्टैरेनं प्रलेपयेत् ॥ १०३॥

सम्यग्दग्ध में वंशलोचन, पाकर, लालचन्दन, गेरू तथा गुडूची को पीसकर घी मिलाकर वैद्य लेप करवाये। अथवा गाँव में रहनेवाले, अनूप देश में रहनेवाले या जल में रहनेवाले जीवों के मांस को पीसकर प्रलेप करे॥ १०३॥

अतिदग्धे विशीर्णानि मांसान्युद्धृत्य शीतलाम्।
क्रियां कुर्यात्ततः पश्चाच्छालितण्डुलकण्डनैः ॥ १०४॥

अतिदग्ध में वैद्य फटे हुए मांस को निकालकर शीतल क्रिया करे। और इसके बाद शालि चावल के चूर्ण को व्रण पर बुरक दे॥ १०४॥

तिन्दुक्यास्त्वक्कषायैर्वा घृतमिश्रैः प्रलेपयेत्। सर्वेषामग्निदग्धानामेतद्रोपणमुत्तमम् ॥ १०५॥

तेंदू के क्वाथ में घी मिलाकर प्रलेप करे। यह समस्त अग्निदग्ध व्रणों के लिए उत्तम रोपण है॥ १०५॥

सिक्थकादिघृतमाह—

सिक्थककर्दमजीरकमधुपथ्यासर्वमिश्रितं लेपात्।
गव्यं घृतमपहरति विपाकजनितं व्रणं सद्यः ॥ १०६ ॥

मोम, कीचड़, जीरा, मधु तथा हरड-इन सबको पीसकर गोघृत मिलाकर प्रलेप करने से दग्धव्रण तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ १०६ ॥

पटोलादितैलमाह—

सिद्धं कषायकल्काभ्यां पटोल्याः कटुतैलकम्। दग्धव्रणरुजास्रावदाहविस्फोटनाशनम् ॥

परवल के पत्तों के क्वाथ तथा कल्क द्वारा सिद्ध किये हुए कडवे तेल को लगाने से दग्धव्रण, पीडा, स्राव, दाह तथा विस्फोट नष्ट हो जाते हैं ॥ १०७ ॥

व्रणग्रन्थिचिकित्सामाह—

वातास्रमस्रुतं दुष्टं सशोथं ग्रथितं व्रणम्। कुर्यात्सदाहं कण्ड्वाद्यं व्रणग्रन्थिस्तु स स्मृतः ॥
कम्पिल्लकं विडङ्गानि त्वचं दार्व्यास्तथैव च। पिष्ट्वा तैलं पचेत्तत्तु व्रणग्रन्थिहरं परम् ॥

इति सप्तचत्वारिंशत्तमो व्रणशोथाधिकारो वा व्रणशोथागन्तुव्रणाग्निदग्धव्रणाधिकारः समाप्तः ॥ ४७ ॥

वायु तथा रक्त ये दोनों व्रण को स्रावहीन, दुष्ट, शोथयुक्त, ग्रन्थियुक्त, दाह तथा कण्डूयुक्त कर देते हैं, ऐसे व्रण को व्रणग्रन्थि कहते हैं।

कबीला, वायविडङ्ग और दारुहल्दी की छाल को पीसकर कल्क बनाकर इस कल्क से तेल पका ले। इस तेल को लगाने से व्रणग्रन्थि अवश्य नष्ट हो जाती है ॥ १०८-१०९ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे सप्तचत्वारिंशत्तमो व्रणशोथाधिकारो वा व्रणशोथागन्तुव्रणाग्निदग्धव्रणाधिकारः समाप्तः ॥ ४७ ॥

अथाष्टचत्वारिंशत्तमो भग्नाधिकारः ॥ ४८ ॥

तत्र भग्नस्य भेदमाह—

भग्नं समासाद् द्विविधं हुताश ! काण्डे च सन्धावपि तत्र सन्धौ।
उत्पिष्टविश्लिष्टविवर्त्तितानि तिर्यग्गतं क्षिप्तमधश्च भग्नम् ॥ १ ॥

***अत्र भावेऽर्थे क्तप्रत्ययस्तेन, भग्नं=भङ्गः, स चात्र विश्लेषोऽभिप्रेतः। तेन भग्नमत्रास्थिविश्लेषलक्षणम्। समासात्=सङ्क्षेपात्। हुताश !=हे अग्निवेश !, यतश्चरकेऽग्निवेशस्य हुताशेति नामान्तरमुक्तम्। काण्डे=सन्धिपर्यन्ते एकखण्डे। अस्थिसन्धौ=द्वयोरस्थ्नोः सन्धाने। तत्र=सन्धौ। उत्पिष्टादिभेदैः षट्प्रकारकं भग्नं भवति। स्वल्पवक्तव्यत्वेन सन्धिभग्नस्यादौ विवरणम्, उत्पिष्टेत्यादि। अधः=अधोभग्नम् ॥ १ ॥**

चरक में भगवान् पुनर्वसु ने अपने शिष्य अग्निवेश से कहा है कि-'हे अग्निवेश !'[1] भग्नरोग

---

१. जिस प्रकार अपने यहाँ भग्न को काण्डभग्न और सन्धिभग्न करके दो प्रकार का माना गया है, उसी भाँति पाश्चात्त्य वैद्यक में भी वे ही दो प्रकार के भग्न माने जाते हैं। काण्डभग्न को फ्रैक्चर (Fracture) और सन्धिभग्नको सन्धिविश्लेष या डिस्लोकेशन (Dislocation) कहते हैं। जैसे-इनके अनेक भेद किये गये हैं, उसी प्रकार पाश्चात्त्य वैद्यकमें भी अनेक भेद किये गये हैं।

सङ्क्षेपतः दो प्रकार का कहा गया है। १—काण्डभग्न और २—सन्धिभग्न। सन्धियों के

कारण—भग्न के तात्कालिक और गौण दो प्रकार के कारण माने जाते हैं। तात्कालिक कारण प्रायः अभिघात और पेशीकर्षण होते हैं। इनके अतिरिक्त आयु, रोग तथा व्यवसाय इत्यादि गौण कारण कहलाते हैं। बाल्यावस्था में अस्थियाँ केवल मुड़ जाती हैं, टूटती नहीं। ३० से ४० वर्ष के बीच सबसे अधिक भग्न होते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति अत्यन्त उद्यमशील होते हैं और जीविनोपार्जन तथा मनोरञ्जन के लिए प्रायः आपत्तिजनक कार्यों को करते रहते हैं। वृद्धावस्था में भग्नों की संख्या कम हो जाती है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक भग्न होते हैं। पैतृक भग्न-प्रवृत्ति (Fragilitas ossium) नामक दशा में अस्थियों में भग्न होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यह रोग माता-पिता से बच्चों को होता है। अस्थियों के रोग जैसेः—अस्थिक्षय (Caries of bone), पक्षाघात (Paralysis) तथा अस्थिवक्रता (Rickets) इत्यादि भी भग्न की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देते हैं।

सन्धिविश्लेष (Dislocation)—सन्धिबन्ध के ढीले या कमजोर होने से तथा सन्धि का गढ़ा या उदूखल के उथला होने से जरा सा जोर पड़ने पर हो जाता है।

अपने यहाँ सुश्रुत ने भी इन्हीं अधिकांश कारणों को भग्न का कारण माना है। यथाः—

'पतनपीडनप्रहाराक्षेपणव्यालमृगदशनप्रभृतिभिरभिघातविशेषैरनेकविधमस्थ्नां भङ्गमुपदिशन्ति'।

सु० नि० अ० १५ सू०।

काण्डभग्न के प्रकार—

भग्न दो प्रकार के होते हैं, एक साधारण और दूसरे संयुक्त।

साधारण भग्न में चर्म भिन्न नहीं होता, चर्म और पेशी सब पूर्व ही के समान रहते हैं। केवल भीतर की अस्थि टूट जाती है। इस कारण भग्न हुई अस्थि तक वायु नहीं पहुँच पाती।

संयुक्त भग्न में चर्म, पेशी तथा श्लैष्मिक कला इत्यादि छिन्न हो जाती है, जिससे वायु का अस्थि तक प्रवेश होने लगता है। ऐसे भग्न से चर्म और मांस भिन्न होने से रक्त-प्रवाह होता है। यदि क्षत में जीवाणु प्रविष्ट हो जाते हैं, तो वह शोथ उत्पन्न कर देते हैं।

भग्न पूर्ण (Complete) और अपूर्ण (Incomplete) दोनों तरह के हो सकते हैं।

अपूर्ण (Incomplete) भग्न में पूरी अस्थि नहीं टूटती, केवल लम्बाई की ओर से उसका कुछ भाग टूट जाता है। बच्चों में इसी प्रकार के भग्न होते हैं। इनको नवशाखाभग्न (Grieen stick fracture) कहते हैं। अवनत भग्न कपाल की अस्थियों में पाये जाते हैं। इन अस्थियों में दो स्तर होते हैं। अभिघात से बाहर का स्तर केवल नीचे को दब जाता है। किन्तु नीचे का स्तर ज्यों का त्यों बना रहता है। कभी-कभी दोनों स्तर टूटकर नीचे को दब जाते हैं। जब अस्थि में दरारें पड़ जाती हैं, तो उसे रन्ध्रित भग्न कहते हैं।

पूर्ण भग्न (Complete fracture) कई प्रकार के होते हैं।

१—जब अस्थि अभिघात ही के स्थान पर पूर्णतया टूट जाती है, तो वह अनुप्रस्थ भग्न (Transverse fracture) कहलाता है।

२—जब भग्न की रेखा टेढ़ी होती है, तो उसे तिर्यक् भग्न (Oblique fracture) कहते हैं।

३—जब अस्थि लम्बाई की दिशा में टूटती है, तो उसे अनुदैर्घ्य भग्न (Longitudinal fracture) कहते हैं। इसमें अस्थि का एक पतला लम्बा टुकड़ा टूटकर अलग हो जाता है। इस प्रकार का भग्न बन्दूक की गोली से हो सकता है।

४—यदि भग्नकी रेखा लहरदार या चक्र के समान हो तो उसे अनुवेल्लित भग्न (Spinal fracture) कहते हैं। यह केवल लम्बी अस्थियों में पाया जाता है।

अस्थि के एक भाग में जो भग्न होता है, वह 'काण्डभग्न' तथा दो अस्थियों के सन्धिस्थान में जो

५—यदि अस्थि के कई छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं, तो उसे अवशीर्ण भग्न (Comminuted fracture) कहते हैं।

६—जब अस्थि का टूटा हुआ भाग दूसरे में धँस जाता है, तो उसे अन्तराविष्ट भग्न कहते हैं। अपने यहाँ तो भगवान् सुश्रुत ने इस काण्डभग्न के १२ भेद बतलाये हैं यथाः—

'कर्कटम्, अश्वकर्णम्, चूर्णितम्, पिच्चितम्, अस्थिच्छल्लितम्, काण्डभग्नम्, मज्जानुगतम्, अतिपातितम्, वक्रम्, छिन्नम्, पाटितम्, स्फुटितमिति द्वादशविधम्॥' सु० नि० अ० १५ सू० ७।

भग्न के लक्षण और चिह्न—

१—पीड़ा—अभिघात के स्थान पर नाड़ी इत्यादि के क्षत से पीड़ा होती है।

२—स्थानिक लक्षण—भग्न के स्थान पर अभिघात के चिह्न, चर्म का छिलना, पेशीसूत्रों का टूटना तथा शोथ दिखाई देता है।

३—अङ्ग की विकृति—भग्न के कारण स्थान विकृत हो जाता है। अस्थि के टूटे हुए भाग अपने स्थान से भ्रष्ट होकर विकृति को भी बढ़ा देते हैं।

४—कर्महीनता—अङ्ग अकर्मण्य हो जाता है।

५—अस्वाभाविक अस्थिरता (preter natural mobility)—यदि भग्नकी दोनों ओर से अङ्ग को पकड़कर हिलाया जाय, तो दोनों भाग स्वतन्त्र दिशाओं में हिलेंगे। इस चिह्न को प्रतीत करने का सदा उद्योग न करना चाहिए। इससे अक्षत धमनियों तथा नाड़ियों को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है।

६—भग्नध्वनि (Creptitus)—अङ्ग को हिलाने से अस्थि के दोनों टुकड़े आपस में रगड़ खाते हैं, जिससे एक विशेष प्रकार का शब्द उत्पन्न होता है। इस शब्द को भग्नध्वनि कहते हैं। अस्थि के दोनों भागों की रगड़ अङ्गुली को प्रतीत होती है और उससे उत्पन्न हुआ शब्द सुनाई देता है। किन्तु जहाँ तक हो सके, इस चिह्न को प्रतीत करने का प्रयास न करना चाहिए।

उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त अङ्ग की लम्बाई में भी कुछ कमी हो जाती है। अत एव परीक्षा करते समय दोनों ओर के अङ्गों को नापकर देखना चाहिए कि भग्न के कारण अङ्ग कितना छोटा हो गया है। लम्बाई नापने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। दोनों ओर यह माप समान होना चाहिए।

एक्सरे-चित्रण—जब भग्न तथा उसके स्वरूप के निर्णय में कोई भी कठिनाई प्रतीत हो, तो एक्सरे द्वारा भग्न का चित्र लेना चाहिए। ये किरणें मांस में होकर निकल जाती हैं, किन्तु अस्थि को पार नहीं कर सकती। इस कारण अस्थि की छाया दिखाई देती है। आजकल इन किरणों का बहुत उपयोग किया जाता है। भग्न स्थान के सामने और पार्श्व से दो चित्र लेने आवश्यक हैं। भग्नस्थान के चित्र में अस्थि के दोनों टुकड़ों के बीच अन्तराल दिखाई देता है। जिन दशाओं में भग्न भाग अन्तराविष्ट हो जाते हैं, उनमें यह अन्तर स्पष्ट नहीं होता। जब अस्थि जुड़ने लगती है, तब सन्धानवस्तु में होकर किरणें निकल जाती हैं और इस कारण इसकी कोई छाया नहीं बनती। अपने यहाँ सुश्रुत ने काण्डभग्न का लक्षण इस प्रकार किया है, जो कि उपर्युक्त लक्षणों से ठीक मिलता है। यथा :—

श्वयथुबाहुल्यं स्पन्दनविवर्त्तनस्पर्शासहिष्णुत्वमवपीड्यमाने शब्दः स्रस्ताङ्गता विविधवेदनाप्रादुर्भावः सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभ इति समासेन काण्डभग्नलक्षणमुक्तम्॥

सु० नि० अ० १५ सू० ८॥

भग्न होता है, वह 'सन्धिभग्न' कहलाता है। यह 'सन्धिभग्न' १—उत्पिष्ट, २—विश्लिष्ट,

भग्न से उत्पन्न होनेवाले उपद्रव—

१—स्तब्धता-यदि आघात किसी मर्मस्थानपर होता है तो उससे गाढ़ी स्तब्धता उत्पन्न होती है।

२—भग्नज्वर (Fracture fever)-भग्न के दूसरे, तीसरे या चौथे दिन ज्वर हो आता है, जो दो या तीन दिन तक रहकर जाता रहता है।

३—वसा रक्तावरोध (Fat Embolism)—वसामय धातुओं के फटने से वसा के कण पृथक् होकर रक्त द्वारा फुफ्फुस और मस्तिष्क में पहुँच जाते हैं। फुफ्फुस में अधिक वसा के एकत्र होने से श्वासावरोध उत्पन्न हो जाता है, जिससे मृत्यु तक हो सकती है। मस्तिष्क में वसा पहुँचकर मूर्च्छा उत्पन्न कर सकती है।

४—सकम्प उन्माद (Delirium tremors)-जो व्यक्ति मद्य के अभ्यस्त होते हैं, उनमें यह दशा उत्पन्न होती है। रोगी को निद्रा बहुत कम आती है। उन्माद की सी दशा उत्पन्न हो जाती है। रोगी को भयानक स्वप्न दिखाई देते हैं, जिससे डरकर वह शय्या से कूद पड़ता है। ऐसे रोगी कभी-कभी खिड़की से कूदकर जान गवाँ देते हैं। सारे शरीर में कम्प होता है। दूसरी अवस्था में मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है। अन्त में रोगी का प्राणान्त हो जाता है।

सकम्प उन्माद की चिकित्सा—भग्न की चिकित्सा करने के पश्चात् रोगी की साधारण दशा की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है। यदि इस उपद्रव का पूर्व ही से भय हो, तो रोगी को पुष्टिकारक लघु भोजन देकर उसकी शक्ति को सँभालना चाहिए। निद्रा की कमी के लिए निद्राल औषधों का प्रयोग कराना उचित है। ब्रोमाइड, क्लोरल, हाईड्रेट, अफीम, फार्मेल्डीहायड़ तथा वेरोनाल इत्यादि वस्तुओं से विशेष लाभ होता है।

५—रक्तप्रवाह—यह प्रायः अधिक नहीं होता।

६—धमनियों के क्षत—संयुक्त भग्नों में धमनियाँ क्षत हो जाती हैं, जिससे उस स्थान में रक्त एकत्र हो जाता है। इससे निर्जीवाङ्गत्व उत्पन्न हो सकता है।

७—नाड़ियों के क्षत—अभिघात के समय नाड़ी क्षत हो सकती है अथवा आरोहण के समय सन्धान-वस्तु के बीच में आ सकती है। यदि क्षत सूक्ष्म है, तो केवल संज्ञाशक्ति में कुछ विकृति हो जायगी। क्षत के गहरे होने से नाड़ी की सञ्चालन-शक्ति नष्टप्राय हो जाती है।

८—मांसपेशियों को हानि—साधारण की अपेक्षा संयुक्त भग्न में मांस-पेशियों को अधिक हानि पहुँचती है।

९—सन्धियों को हानि—सन्धियों के पास भग्नों में सन्धि के भीतरी अवयवों को भी हानि पहुँचती है। सन्धि में आवरणशोथ तथा अस्थिशोथ उत्पन्न हो सकते हैं।

१०—सन्धिच्युति—अस्थिभग्न के कारण कभी-कभी सन्धि भी विश्लिष्ट हो जाती है।

अस्थि-संयोजन—अस्थिभग्न के कुछ समय के पश्चात् टूटे हुए भागों में फिर रोहण आरम्भ होता है। वहाँपर नवीन धातु बनने लगती है। चारो ओर नये अङ्कुर उग आते हैं, जिनसे नवीन सूक्ष्म नलिकाएँ बन जाती हैं। इन नलिकाओं के चारो ओर सौत्रिक धातु बन जाती है, जिसका कुछ समय के पश्चात् अस्थिजनक धातुमें परिवर्तन हो जाता है। इस समय इस धातु में अस्थिजनक कोषाणु उपस्थित होते हैं। धीरे-धीरे वहाँ चूने के लवण एकत्र होने लगते हैं और अस्थि के दोनों भागों के बीच जो वस्तु बनती है, उसको सन्धान-वस्तु (Callus) कहते हैं। प्रथम यह वस्तु अस्थि के चारो ओर फैली रहती है, किन्तु धीरे-धीरे यह सङ्कुचित होती जाती है और अन्त में उसका केवल इतना भाग रह जाता है कि वह अस्थि के भग्न सिरों को जोड़े रहे। कुछ समय में यह वस्तु अस्थि में परिणत हो जाती है और भग्न भागों के बीच पूर्ण अस्थि बन जाती है। इसके

३—विवर्तित, ४—तिर्यग्गत, ५—क्षिप्त तथा ६—अधोगत भेद से ६ प्रकार का है। सन्धिभग्न

बीच में अस्थि की स्वाभाविक नलिका होती है। उचित सन्धान के पश्चात् भग्न अस्थि का आकार पूर्ववत् हो जाता है। किन्तु सन्धान ठीक न होने से अस्थि की आकृति बिगड़ जाती है।

कुसंयोजन (Malunion)–जब अस्थि के भग्नभागों का सन्धान ठीक नहीं होता, तो दोनों भागों के बीच में अन्तर रह जाता है अथवा एक भाग दूसरे के ऊपर चढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में उचित संयोजन नहीं होता। अङ्ग विकृत हो जाता है। उत्तम सन्धान के पश्चात् भी अङ्गों के हिलने से यही परिणाम होता है, जैसा कि भगवान् सुश्रुत ने भी लिखा है कि:—

'आदितो यच्च दुर्जातमस्थिसन्धिरथापि वा। सम्यग्यमितमप्यस्थिदुर्न्यासाद्दुर्निबन्धनात्।
सङ्क्षोभाद्वाऽपि यद्गच्छेद्विक्रियां तच्च वर्जयेत्।।' सु० नि० अ० १५ श्लो० १२–१३।

ऐसी दशा में सन्धित भग्न अथवा सन्धान-वस्तु को तोड़कर फिर से भग्नभागों का सन्धान करना पड़ता है। वृद्धावस्था में सन्धान-वस्तु के बन जाने के पश्चात् उसको तोड़ना नहीं चाहिए। इस आयु में अस्थि का जुड़ना कठिन होता है। सन्धान-वस्तु को तोड़ना अङ्ग की विकृति और उसकी अनुपयोगिता की सीमा पर निर्भर करता है।

चिकित्सा—भग्नके पश्चात् जितना जल्दी हो सके, चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। अधिक समय व्यतीत होने पर वहाँ रक्त और सीरम एकत्र हो जाते हैं और मांसपेशियाँ संकुचित होकर उत्तम सन्धान में बाधा डालती हैं।

भग्न की चिकित्सा में तीन योजनाएँ करनी होती हैं:—

१–टूटे हुए भागों का पूर्ण और उत्तम सन्धान, जिससे भग्न भागोंके आपस में मिलने से अस्थि पूर्ववत् हो जाय।

२—आवश्यक समय तक अङ्ग को इस प्रकार स्थिर करना कि रोगी उसको हिला न सके। अङ्ग के हिलने से सन्धित भागों के अपने स्थान से हटने से विकृति उत्पन्न हो जाती है।

३—अङ्ग के आकार और कर्म को पूर्ववत् बनाये रखना।

इन तीन अभिप्रायों को ध्यान में रखते हुए चिकित्सा का आयोजन करना चाहिए।

अस्थिसन्धान—भग्न भागों को जो स्थानच्युत हो जाते हैं, पूर्वस्थिति में ले आनेको अस्थिसन्धान कहते हैं। अङ्ग की विकृति विशेष कर पेशियों के कर्षण और अङ्ग के भार के कारण उत्पन्न होती है। इस कारण सन्धान करते समय पेशियों को ढीली कर देना आवश्यक है। प्रायः पेशियों को धीरे-धीरे मलने और अङ्ग को उचित स्थिति में रखने से वे ढीली हो जाती हैं। यदि पेशियाँ इस प्रकार ढीली न हों तो रोगी को क्लोरोफार्म दिया जाता है। इससे सारे शरीर की पेशियाँ ढीली हो जाती हैं। साधारण भग्नों में केवल पेशियों के ढीली होने से प्रायः अस्थि के भाग पूर्वस्थिति में आ जाते हैं। सन्धान के लिए किसी विशेष उद्योग की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जब इस प्रकार से सन्धान न हो तो अङ्ग का प्रसारण आवश्यक है। अङ्ग को भग्न के नीचे से पकड़ कर लम्बाई की दिशा में नीचे की ओर और भग्न से ऊपर के भाग को ऊपर की ओर खींचना चाहिए। किन्तु यह अत्यन्त आवश्यक है कि दोनों भागों का कर्षण एक ही रेखा में किया जाय। कोई भाग एक-दूसरे के ऊपर-नीचे न होने पाये। यदि दोनों भागों के कर्षण की दिशा में कुछ अन्तर रहेगा तो सन्धान ठीक न होगा। यह कर्षण सहायकों द्वारा होना चाहिए। जिस समय चिकित्सक की आज्ञानुसार सहायक भग्नभागों को खींचे, उस समय स्वयं चिकित्सक को हस्त-कौशल से अस्थि के भागों का सन्धान करना उचित है। यदि पेशियाँ पूर्ण ढीली हो गई हैं तो उपर्युक्त सन्धान में कोई कठिनाई न होगी। अङ्गों को मोड़ने से भी पेशियाँ ढीली हो जाती हैं। पेशियों का उस समय तक बराबर कर्षण करते रहना चाहिए, जब तक भग्नभाग स्वाभाविक स्थिति में न आ जायें।

के विषय में थोड़ा कहना है, इसी लिए इसका पहिले विवरण किया गया है ॥ १ ॥

२—अङ्ग को स्थिर करना—अङ्ग को स्थिर करने के लिए कई प्रकार के कुशा (Splints स्प्लिन्ट्स्) प्रयोग किये जाते हैं। यह कुशा लकड़ी, चमड़े, नमदे, गेटा पार्चा तथा लोह की शलाका इत्यादि वस्तुओं के बनाये जाते हैं। अपने यहाँ तो वृक्षों की छालों की कुशाओं का वर्णन आता है। यथाः—

'मधुकोदुम्बराश्वत्थकदम्बनिचुलत्वचः। वंशसर्जार्जुनानाञ्च कुशार्थमुपसंहरेत्' ॥

सु० चि० अ० ३ श्लो० ६ ॥

आजकल अन्य वस्तुओं की अपेक्षा लोहे और लकड़ी के कुशा अधिक काम में लाये जाते हैं। साधारण भग्नों में लकड़ी के कुशा द्वारा अङ्ग को स्थिर कर दिया जाता है। कुशा की लम्बाई अङ्ग के अनुसार बनायी जाती है। उनको कहीं-कहीं से काट या रेतकर गहरा कर दिया जाता है। इनकी लम्बाई अङ्ग से कुछ अधिक होती है, जिससे वे अङ्ग को पूर्णतया ढँक लेते हैं। प्रयोग करने के पूर्व उनपर पर्याप्त रूई लगा देनी चाहिए, जिससे वह अङ्ग पर रगड़ने न पायें। उनके रगड़ खाने से चर्म पर व्रण बन जाते हैं। अङ्ग पर कुशाओं को लगाकर उनको पट्टी से बाँध दिया जाता है। जो पट्टी कुशा पर बाँधी जाय, वह न बहुत कसी और न बहुत ढीली होनी चाहिए। जिससे फलक अपने स्थान पर रहे और रक्तसञ्चालन में भी कोई बाधा न पड़े। जैसा कि भगवान् सुश्रुत ने भी लिखा है कि—

'तथापि शिथिले वृद्धे सन्धिस्थैर्यं न जायते।
गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक् पाक एव च।
तस्मात् साधारणं बन्धं भग्ने शंसन्ति तद्विदः'। सु० चि० अ० ३।

गूक का कुशा पदार्थ (Goock's Splinting) काठ का बना होता है। एक मोटे वस्त्र पर काठ के लम्बे और पतले पत्र लगे रहते हैं। बाजार में इस वस्तु के लम्बे-लम्बे टुकड़े बिकते हैं। आवश्यकतानुसार इस वस्तु के टुकड़े काटकर प्रयोग किये जा सकते हैं।

नमदे के कुशाओं में यह गुण होता है कि उनको जिस आकार का चाहें काट सकते हैं। अङ्ग पर लगाने के पूर्व उनको उपयुक्त आकार का काटकर जल में भिगो दिया जाता है, जिससे वे नरम हो जाते हैं। तत्पश्चात् उनको अङ्ग पर लगाकर उसीके आकार के समान बना दिया जाता है। शुष्क होने पर वह वैसे ही बने रहते हैं।

आधुनिक समय में कङ्कालकुशाओं (Skeleton splints)-का बहुत उपयोग होता है। भिन्न-भिन्न अङ्गों के लिए भिन्न-भिन्न आकार के कुशा बनाये जाते हैं। यह कुशा लोहे के दो छड़ों के बने होते हैं, जो अङ्ग के दोनों ओर रहती हैं। आगे की ओर यह छड़ आपस में एक सीधी छड़ से जुड़ी रहती है। जो भाग अङ्ग के मूल पर रहता है, वह वृत्त के समान गोल होता है। इसको रूई से ढँककर उसपर चमड़ा चढ़ा दिया जाता है। इसके भीतर अङ्ग को डालकर दोनों ओर की छड़ों में लिंट के टुकड़े पिनों द्वारा लगाकर उनपर अङ्ग को रख दिया जाता है। आवश्यकतानुसार इन टुकड़ों को ढीला या तङ्ग किया जा सकता है। अङ्ग के प्रसारण के लिए अनुबन्धक प्लास्टर की दो पट्टियाँ भग्न के ऊपर से अङ्गके दोनों ओर लगाई जाती हैं और पाँव या हाथ के नीचे तक ले जाकर कुशा की अनुप्रस्थ छड़ में जिसके द्वारा दोनों ओर की छड़ें जुड़ी रहती हैं, बाँध दी जाती हैं। दोनों ओर की लम्बी पट्टियों के ऊपर होती हुई प्लास्टर की कई छोटी-छोटी पट्टियाँ अङ्ग के चारों ओर लगाई जाती हैं, जिससे लम्बी पट्टियाँ हटने न पायें। जब अधिक प्रसारण करना होता है, तो लम्बी पट्टियों के सिरों को कङ्काल की छड़ में न बाँधकर लकड़ी के एक इञ्च लम्बे और ३ इञ्च चौड़े टुकड़े पर लगा दिया जाता है। इस टुकड़े के बीच एक छिद्र होता है। इसमें होकर रस्सी का एक टुकड़ा डाल दिया जाता है। इस रस्सी को एक घिर्री पर होकर जो रोगी की शय्या पर पाँव की

सन्धिभग्नस्य सामान्यलक्षणमुत्पिष्टविश्लिष्टकयोर्विशिष्टलक्षणं चाह—

प्रसारणाकुञ्चनवर्त्तनोग्रा रुक् स्पर्शविद्वेषणमेतदुक्तम्।
सामान्यतः सन्धिगतस्य लिङ्गमुत्पिष्टसन्धेः श्वयथोः समन्तात्।

ओर लगी रहती है निकालते हैं, जो उसके दूसरे सिरे से एक टीन के पीपे को, जिसमें कङ्कड़ अथवा छोटे-छोटे छर्रे भरे रहते हैं लटका देते हैं। इस प्रकार इस पीपे के भार से जंघा अथवा बाहु सदा खिंचता रहता है।

इस प्रकार की कुशाओं में यह सुविधा होती है कि अङ्ग को जिस दिशा में चाहें रख सकते हैं। विशेष कर संयुक्तभग्नों में इनका प्रयोग बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है। व्रणोपचार करते समय केवल स्लिट के एक या दो टुकड़ों को निकाल देना पर्याप्त है। व्रण की शुद्धि के पश्चात् उनको फिर पूर्ववत् लगाया जा सकता है। इस प्रकार अङ्ग को बिना हिलाये ही व्रणोपचार हो जाता है।

पेरिस का प्लास्टर (Plaster of Paris)-यह उस समय प्रयोग किया जाता है, जब अङ्ग को बहुत समय तक स्थिर रखना होता है। बच्चों में, जिनको पूर्णतया स्थिर रखना असम्भव होता है, इस वस्तु का अधिक प्रयोग किया जाता है।

यह एक श्वेत रंग का बारीक चूर्ण होता है। प्रयोग करने के समय इसे इस प्रकार तैयार करते हैः—जिस अंग पर प्लास्टर का कुशा लगाना होता है, उसके बालों को उस्तरे से मूड़ दिया जाता है। तत्पश्चात् अङ्ग पर एक साधारण चिकनी मलमल की पट्टी बाँध दी जाती है। इसके पश्चात् ३ गज के लगभग लम्बी मोटी मलमल या किसी दूसरे मोटे वस्त्र की पट्टी में, प्लास्टर के शुष्क चूर्ण को भली भाँति रगड़कर उसको ठण्डे जल में भिगो देते हैं। जब तक उससे वायु के बुलबुले निकलते रहें, उसको जल ही में पड़ी रहने देना चाहिए। जब वायु का निकलना बन्द हो जाय, तब पट्टी को जल से निकालकर मलमल की पट्टी के ऊपर, जो अङ्ग पर बँधी हुई है नीचे से ऊपर की ओर बाँधना चाहिए। पट्टी को कड़ी बाँधना उचित नहीं। उसका प्रत्येक भाग जल से पूर्णतया भीगा हो। तत्पश्चात् इस पट्टी पर प्लास्टर की लेई, जो गरम जल में थोड़े-थोड़े चूर्ण को मिलाने और किसी लकड़ी इत्यादि के चलाने से बनाई जाती है, लगाये। पट्टी पर लेई का हलका स्तर लगाना चाहिए। तत्पश्चात् ५ मिनट तक अङ्ग को थामे रहना चाहिए। इस समय में लेई के कड़े हो जाने से बन्धेज दृढ़ हो जायगा।

इस प्लास्टर का कुशा दूसरे प्रकार से भी बनाया जाता है—अङ्ग के आकार के अनुसार फलालैन के दो इस प्रकार के टुकड़े काटे जाते हैं कि वह अङ्ग को पूर्णतमया ढँक लें और एक टुकड़े का कुछ भाग दूसरे के ऊपर आ जाय। इनसे छोटे फलालैन के दो और टुकड़े काटे जाते हैं। इनमें से दो टुकड़े एक बड़ा और एक छोटा, अङ्ग के बाहर और दो भीतर की ओर रहते हैं। प्लास्टर की लेई पहले ही की भाँति तैयार की जाती है। इस लेई में फलालैन के टुकड़ों को भिगोने के पश्चात् बड़े टुकड़ों से अङ्ग को ढँककर उनपर छोटे टुकड़ों को लगाना चाहिए। लगाते समय इनमें कोई सिल्वट न आने पाये। इस प्रकार अङ्ग की आकृति और आवश्यकता के अनुसार उचित कुशा बनाये जा सकते हैं। भीतर के फलालैन के टुकड़ों के जो भाग कुशा के किनारों से बाहर निकले हों, उनको ऊपर की ओर मोड़ देना चाहिए। इस प्रकार यह कुशा दो भागों में तैयार होगा, जिनको जब उचित समझें, तब अङ्ग से उतार सकते हैं।

प्लास्टर चढ़ाने के दूसरे दिन उसपर गोंद का पानी या अण्डे की सफेदी लगाई जाती है, जिससे प्लास्टर शुष्क नहीं होने पाता। बच्चों को प्लास्टर पर स्पिरिट में मिली हुई वार्निश लगा दी जाती है। इससे मूत्र इत्यादि से प्लास्टर के भीगने का डर नहीं रहता। उतारने के समय प्लास्टर को कुछ समय तक जल से भिगो देना चाहिए। इससे वह ढीला हो जायगा। इसको काटने के लिए एक विशेष आकार का यन्त्र आता है।

विशेषतो रात्रिभवा रुजा च विश्लिष्टकेलौ च रुजा च नित्यम् ॥ २ ॥

गटापार्चा के भी उत्तम कुशा बनते हैं और चमड़े की भाँति अङ्ग के आकार और आवश्यकतानुसार बनाये जा सकते हैं। गटापार्चा को अङ्ग के आकार का काटकर गरम जल में भिगोकर ठण्डा करने के पश्चात् उसको अङ्गपर लगा दिया जाता है। जब वह कड़ा हो जाय, तो अङ्ग पर से हटाकर उसके किनारों को छीलकर समान कर देना चाहिए। उनमें छोटे-छोटे छिद्र कर देना उचित है, जिनके द्वारा वायु चर्म तक पहुँचती रहे।

चमड़े को भी कुशा बनाने के काम में लाया जाता है। अङ्ग को स्थिर करने का दूसरा उपाय शस्त्रकर्म है। भग्न भागों को धातु की प्लेट या खूँटी से जोड़ दिया जाता है।

निम्नलिखित दशाओं में शस्त्र-कर्म की प्रायः आवश्यकता होती है:—

१—सन्धि के भीतर अथवा उसके समीपवर्ती भग्न।

२—जान्वस्थि और अन्तःप्रकोष्ठास्थि के कूर्पर-कूट के भग्न। इन दोनों भग्नों में अस्थि के टूटे हुए भाग पेशियों द्वारा इतनी दूर खिंच जाते हैं कि साधारण उपायों से उनका सन्धान नहीं हो पाता।

३—जब भग्न भागों का स्थान-भ्रंश अन्य उपायों से ठीक न किया जा सके।

४—जब भग्न के साथ नाड़ी, पेशी तथा रक्तनलिकाएँ इत्यादि भी कट गई हों।

५—जब यह भय हो कि शस्त्रकर्म के बिना अस्थियाँ नहीं जुड़ेंगी। जैसे-वृद्धावस्था में ऊर्वस्थि की ग्रीवा के भग्न।

साधारणतया भग्न के चार से दस दिन के भीतर शस्त्रकर्म कर देना चाहिए। उनके पश्चात् नवीन अस्थि का बनना प्रारम्भ हो जाता है, जिससे शस्त्रकर्म में बाधा पड़ती है। शस्त्र-कर्म के पूर्व भी प्रसारण (Extansion) का आयोजन करना उचित है, जिससे अङ्ग की विकृति बढ़ने न पाये। शस्त्रकर्म के पूर्व यदि हो सके तो भग्न का एक्स-रे द्वारा चित्र ले लेना चाहिए, जिससे भग्न के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हो जाय। शस्त्रकर्म में निर्विषता का पूर्ण आयोजन अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे कर्मों में संक्रमण के प्रवेश से अत्यन्त भयङ्कर परिणाम होते हैं।

शस्त्रकर्म द्वारा टूटे हुए भागों को जोड़ने के लिए कई वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है।

उनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं:—

१—चाँदी का तार-यह जान्वस्थि और कूर्पर कूट के भग्नों में प्रयुक्त होता है।

२—लेन का प्लेट-यह धातु की प्लेट होती है, जिसमें छिद्र होते हैं। छिद्रों द्वारा अस्थि में पेंच या कील ठोंक दी जाती है। वह अस्थि के भीतर पहुँचकर उसको दृढ़ता से पकड़ लेती है। ये प्लेटें कई आकार की होती हैं, जिनमें छिद्रों की संख्या भिन्न होती है।

३—धातु, अस्थि या हाथीदाँत की कीलें, पेंच तथा खूँटियाँ भी प्रयोग की जाती हैं। अर्बुद अथवा शिखरों के भग्न में पेंच या कील प्रयोग किये जाते हैं। प्रथम अस्थिमें एक यन्त्र द्वारा छिद्र कर दिया जाता है। तत्पश्चात् पेंच या कील लगा दी जाती है। उसी अस्थि की बनी हुई कील अधिक सन्तोषजनक होती है। धातु की बनी हुई वस्तुओं का, जहाँ तक हो सके प्रयोग नहीं करना चाहिए। चाँदी का तार अवश्य प्रयोग किया जा सकता है।

४—उद्वर्त्तन और चालन—उद्वर्त्तन का अर्थ अङ्ग पर मालिश करना है और चालन से यह प्रयोजन है कि चिकित्सक अथवा उपचारक गण रोगी के अङ्ग को पकड़कर उसको धीरे-धीरे हिलायें और साथ में गति भी पकायें। इससे सन्धिजाड्य नहीं हो पाता। लकड़ी या धातु के कड़े कुशाओं में महीनों तक अङ्गों को रखने से वे कड़े पड़ जाते हैं। और कभी-कभी पेशियाँ अकर्मण्यता के कारण नष्टप्राय हो जाती हैं। उद्वर्तन और चालन से अङ्ग की उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं आता। उचित

समयपर जब कुशा को अङ्ग से हटाया जाता है, तो भी अङ्ग की गति करने की शक्ति पूर्ववत् ही रहती है। साधारण भग्नों में पाँचवे दिन या इससे भी पूर्व उद्वर्तन प्रारम्भ किया जा सकता है। लकड़ी की कुशाओं की अपेक्षा कङ्काल-कुशाओं द्वारा अङ्ग का उद्वर्तन करना सहज होता है। सन्धियों का धीरे-धीरे चालन भी आरम्भ किया जा सकता है। यदि पुरानी लकड़ी के कुशा प्रयोग किये गये हैं, तो उनको भी ८-१० दिन के पश्चात् खोलकर उद्वर्तन और चालन क्रियाएँ प्रारम्भ कर देनी चाहिए। इस समय सन्धान-वस्तु बन जाती है और टूटे हुए भागों को अपने स्थान से भ्रष्ट नहीं होने देती।

भग्नों की आधुनिक चिकित्सा की सफलता उद्वर्तन और चालन पर ही निर्भर करती है। कङ्काल-कुशा भी, जो आजकल प्रयोग किये जाते हैं, ऐसे होते हैं कि उनमें अङ्ग को गति कराने में कोई बाधा नहीं पड़ती।

संयुक्तभग्न—इस प्रकार के भग्नों में अङ्ग पर व्रण बन जाता है, जिसके द्वारा वायुका अस्थि तक-प्रवेश होता है। कभी-कभी कुशा के ठीक न लगने अथवा अन्य प्रकार से भार पड़ने से साधारण भग्न भी संयुक्तभग्न हो जाता है। अस्थि का कोई नुकीला सिरा चर्म छेदकर बाहर निकल आता है। मशीन इत्यादि से कुचल जाने से अस्थि के टूटकर कई भाग हो जाते हैं और पेशी, त्वचा इत्यादि भी फट जाते हैं। ऐसे भग्न अत्यन्त चिन्ताजनक होते हैं। इन भग्नों में जीवाणुओं के क्षत में प्रविष्ट होकर पूयोत्पादन करने का बहुत भय रहता है, जिससे अस्थि-शोथ इत्यादि उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। अधस्त्वक्-शोथ तथा विसर्प बहुत बार उत्पन्न होते देखे गये हैं। अत एव भग्न के पश्चात् तुरन्त ही व्रण की शुद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि व्रण पूर्णतया शुद्ध हो जाता है अथवा वहाँ जीवाणुओं का प्रवेश ही नहीं होता तो अस्थियों के जुड़ने में कोई बाधा नहीं पड़ती। किन्तु जब व्रण संक्रमित हो जाता है तो अस्थिमज्जा-शोथ (Osteomylitis) अथवा अस्थिगलन (Necrosis of bone) के उत्पन्न होने से अस्थि का कुछ भाग नष्ट होकर पृथक् हो जाता है। जब तक यह भाग (Sequestrum) अस्थि ही में रहता है, तब तक अस्थि का संयोजन नहीं हो सकता। इन कारणों से संयोजन में बहुत समय लगता है।

चिकित्सा—सबसे पहिले क्षत को पूर्णतया शुद्ध किया जाता है। यदि क्षत छोटा और साधारण है तो उसको विसंक्रामक विलयनों द्वारा शुद्ध करने में अधिक कठिनाई नहीं होगी। किन्तु यदि व्रण क्रमहीन है और कुचल जाने से मांस खिचकर फट गया है तो उसके स्वस्थ होने की अधिक आशा न करनी चाहिए। ऐसी दशा में जो मांस या चर्म फटकर लटकने लगा है, उसको काटकर निकाल देना ही उचित है, जिससे समस्त क्षत एक समान और विस्तृत हो जाय। तत्पश्चात् विसंक्रामकों द्वारा उसको शुद्ध करने का आयोजन करना चाहिए। कुछ समय तक विलयनों से धोने के पश्चात् जब यह समझा जाय कि व्रण पूर्णतया शुद्ध हो गया है तो उसको शुद्ध अल्कोहल से धोकर उसमें बिस्मथ-आयडोफार्म का कल्क भरकर व्रण को सीया जा सकता है। यदि व्रण के पूर्ण शुद्ध होने में सन्देह हो तो उसमें दूसरी ओर भेदन करके एक निर्हरण नलिका डाल देनी चाहिए; किन्तु यह नलिका अस्थि के भग्न भागों के सम्पर्क में न आने पाये, नहीं तो वहाँ घुण-रोग (Necrosis) प्रारम्भ हो जायगा। व्रण की पूर्ण शुद्धि के पश्चात् अङ्ग को उचित कुशा पर स्थिर कर देना उचित है। ऐसे भग्नों के लिए कङ्काल-कुशा उपयुक्त है। इनमें व्रण का उपचार बहुत सहज में किया जा सकता है। जब अस्थि के कई टुकड़े हो जाते हैं तो उन छोटे-छोटे टुकड़ों को, जो अस्थ्यावरण से पृथक् हो गये हैं, काटकर निकाल देना चाहिए। बड़े टुकड़ों को, जो अस्थ्यावरण के साथ जुड़े हुए हैं, निकालना आवश्यक नहीं। किन्तु यदि उनमें पाक

रिथभ्यां पिष्टः सन्धिर्यस्य, तस्य समन्तादुभयभागयोः शोथो भवति। विश्लिष्टमाह—

प्रारम्भ हो गया हो अथवा प्रारम्भ होने की सम्भावना हो, तो उनको भी निकाल देना उचित है। तो भी आवश्यकता से अधिक भाग निकाल देने से अङ्ग की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। इस कारण अस्थि का जितना भी भाग बचाया जा सके, उसको बचाने का उद्योग करना चाहिए। व्रण की शुद्धि और टूटे हुए भागों का सन्धान करने के पश्चात् साधारण भग्न की भाँति कुशा, उद्वर्तन तथा चालन का प्रबन्ध करना चाहिए।

संयुक्त भग्नों में अनेक बार अङ्गच्छेदन करना पड़ता है। ऐसा करने के पूर्व यह भली भाँति विचार लेना चाहिए कि अङ्ग की किसी प्रकार से रक्षा की जा सकती है या नहीं। यदि पूर्ण विचार के पश्चात् इस बात का निश्चय हो जाय कि अङ्ग को बचाना सम्भव नहीं है अथवा यदि बच भी गया तो भी वह उपयोगी न होगा, तो अङ्गच्छेदन करने में विलम्ब करना उचित नहीं।

अस्थियों का न जुड़ना—

सन्धान करने के पश्चात् अस्थि के न जुड़ने के प्रायः ये कारण होते हैं:—

१—उचित सन्धान न होना।

२—अस्थिभागों के बीच पेशियों का आ जाना।

३—सन्धान के पश्चात् अङ्ग को विश्राम न मिलना।

४—अस्थिरोग।

५—रोगी की शारीरिक दशा का क्षीण होना। संयोजन न होने पर अस्थियों को हिलाने से दोनों भाग स्वतन्त्र दिशाओं में हिलते हैं। भग्नध्वनि भी होती है। अङ्ग की पेशियों को ढीला करने पर अङ्ग की विकृति बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

चिकित्सा—यदि अङ्ग में विकृति न हो तो अस्थि को उपयुक्त स्थिति में रखकर स्थिर कर देना उचित है। ऊष्म स्वेद इत्यादि के प्रयोग से रक्त-संचालन बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। रोगी को उत्तम भोजन और ओषधि देने की आवश्यकता है।

यदि अस्थि के भागों की स्थिति उत्तम न हो और उनके द्वारा अङ्ग में विकृति उत्पन्न हो गई हो तो उनको शस्त्रकर्म द्वारा ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिए। कोमल भागों का छेदन करके और यदि आवश्यक हो तो अस्थि के सिरों का आकार ठीक करके उनको चांदी के तार या प्लेट इत्यादि से जोड़ा जा सकता है। इस कर्म में अस्थि के कुछ भाग का काटना भी आवश्यक हो सकता है। किन्तु उससे अङ्ग की उपयोगिता में कोई हानि न होगी। वृद्धावस्था में अस्थि को केवल प्लेट इत्यादि से जोड़ देना उचित है। स्थिति बुरी होने पर भी उसमें हस्तक्षेप करना उचित नहीं। इस प्रकार अब तक जो कुछ वर्णन किया गया है, वह साधारण भग्न के सम्बन्ध में है। यद्यपि यही नियम प्रत्येक प्रकार के भग्नों के लिए है, तथापि यहाँ विशेष-विशेष अस्थियों के विशिष्ट-विशिष्ट काण्डभग्नों का विवरण स्थानाभाव के कारण नहीं किया जा सकता। अपने यहाँ भी इन्हीं सब उपायों का वर्णन मिलता है। यद्यपि आजकल साधन कुछ अधिक हो गये हैं, जिनका कि वर्णन 'आदौ भग्नं विदित्वा' इत्यादि चौदहवें श्लोक से आगे किया ही गया है।

सन्धिविश्लेष (Dislocation)—

सन्धियों के भीतर बन्धनों द्वारा अस्थियों के सिरे एक-दूसरे के समीप रहते हैं और एक कोष द्वारा ढँके रहते हैं, जो सन्धिकोष कहलाता है। इस कोष में कहीं-कहीं सूक्ष्म छिद्र होते हैं। यह स्नैहिककला-निर्मित होता है। सन्धिविश्लेष के समय अस्थियों के सिरे अपने स्थान से हट जाते हैं, जिससे उनके बीच का अन्तर बढ़ जाता है। यह अस्थिप्रान्त कोष के छिद्रों के विस्तृत हो जाने तथा बन्धनों के टूटने से, जिसके साथ कभी-कभी कोष का कुछ भाग भी टूट जाता है, कोष के

विश्लिष्ट इत्यादि। तौ उभयतः शोथौ, रात्रिरुजा च नित्यम्। सदा रुजाऽधिका भवतीत्युत्पिष्टभेदः ॥ २ ॥

बाहर आ जाते हैं। यह विकृति प्रायः अभिघात से उत्पन्न होती है। समीपवर्ती और दूरवर्ती दोनों प्रकार के अभिघात इस दशा को उत्पन्न कर सकते हैं।

लक्षण—अङ्ग के आकार का विकृत हो जाना सन्धिविश्लेष का सबसे बड़ा लक्षण है। सन्धि में सम्मिलित अस्थियों के भाग अपने स्थान से हटकर दूसरी अस्वाभाविक स्थिति में पहुँच जाते हैं। इससे जिस स्थान पर पहले अस्थि थी, वहाँ पर गढ़ा और दूसरे स्थान में उभार दिखाई देने लगता है। परीक्षा करते समय क्षतसन्धि की दूसरे ओर की स्वस्थ सन्धि से तुलना करनी चाहिए।

अङ्ग की गति परिमित हो जाती है, अथवा वह अकर्मण्य हो जाता है। रोगी को कुछ स्तब्धता भी हो जाती है, यद्यपि वह अस्थिभग्न के समान गाढ़ी नहीं होती। सन्धि—अवयवों के क्षत हो जाने से पीड़ा अधिक होती है। उसमें शोथ भी उत्पन्न हो जाता है। अपने यहाँ सुश्रुत ने इसका लक्षण इस प्रकार बतलाया है:—

तत्र प्रसारणाकुञ्चनविवर्तनाक्षेपणाशक्तिरुग्ररुजत्वं स्पर्शासहत्वं चेति सामान्यं सन्धिमुक्तलक्षणमुक्तम्।

विशेषेणोत्पिष्टे सन्धावुभयतः शोफो वेदनाप्रादुर्भावो विशेषतश्च नानाप्रकारा वेदना रात्रौ प्रादुर्भवन्ति।

विश्लिष्टेऽल्पः शोफो वेदनासातत्यं सन्धिविक्रिया च,
विवर्तिते तु सन्धिपार्श्वापगमनाद्विषमाङ्गता वेदना च।

अवक्षिप्ते सन्धिविश्लेषस्तीव्ररुजत्वं च, अतिक्षिप्ते द्वयोः सन्ध्यस्थ्नोरतिक्रान्तता वेदना च, तिर्यक्क्षिप्ते त्वेकास्थिपार्श्वापगमनमत्यर्थं वेदना चेति। सु० नि० अ० १५ सू० ५-६॥

चिकित्सा—सन्धिविश्लेष के पश्चात् जितना भी शीघ्र हो सके, सन्धान कर देना चाहिए। जिस मार्ग से अस्थि सन्धि से बाहर निकली थी, उसीके द्वारा फिर सन्धि के भीतर पहुँचाने का उद्योग करना आवश्यक है। अत एव सन्धि की रचना को ध्यान में रखते हुए हस्तव्यापार से अस्थि को उसके पूर्व स्थान में बैठाया जा सकता है। अस्थि को बैठाने के लिए शारीरिक बल की अपेक्षा कौशल की आवश्यकता अधिक होती है।

सन्धिविश्लेष के सन्धान करने में विशेषकर ३ बाधाएँ उपस्थित होती हैं:—

१—सन्धि के चारों ओर की पेशियों का संकोच, जिससे अस्थि को चारों ओर घुमाने और उचित स्थान पर पहुँचाने में कठिनाई होती है।

२—कभी-कभी सन्धि के भीतर अस्थि का कोई भाग पेशीसूत्र, बन्धन अथवा दूसरी अस्थि के किसी प्रवर्धन इत्यादि में अटक जाता है।

३—सन्धिकोष का छिद्र इतना छोटा होता है कि वह अस्थि के सन्धि में पुनः प्रवेश करने में बाधा डालता है।

पेशियों को ढीला करने के लिए अङ्ग को कुछ समय तक निरन्तर खींच रखना आवश्यक है। यदि इससे भी पेशियाँ ढीली न हों, तो क्लोरोफार्म सुंघाकर रोगी को मूर्च्छित कर देना चाहिए।

जिस समय अस्थि सन्धिकोष में प्रविष्ट होती है, उस समय एक धीमा-सा शब्द होता है। एक बार सन्धान कर चुकने पर विकृति पुनः उत्पन्न होने की प्रवृत्ति नहीं होती। सन्धि में उपस्थित रक्त, सीरम इत्यादि का शोषण हो जाता है। टूटे हुए बन्ध भी फिर से जुड़ जाते हैं। कुछ व्यक्तियों में बन्धन इतने ढीले हो जाते हैं कि सन्धि का बार-बार विश्लेष हो जाता है। सन्धान के पश्चात् प्रत्येक दिन कम से कम १०-१५ मिनट तक उद्वर्तन और चालन करने से बहुत लाभ होता है।

फैलाने, सिकोड़ने तथा घुमाने में उग्र पीड़ा और स्पर्श करने से पीड़ा होना—ये सन्धिभग्न के सामान्य लक्षण हैं।

उत्पिष्ट सन्धिभग्न में अर्थात् जिसमें दोनों अस्थियों के परस्पर घिसने से सन्धि दब जाती है, ऐसे भग्न में दोनों भागों में चारो तरफ से शोथ उत्पन्न हो जाता है और विशेषतः रात्रि में पीड़ा होती है। और विश्लिष्ट सन्धिभग्न में अर्थात् जिसमें अस्थियाँ सन्धिस्थान से इधर-उधर चली गई हैं, उसमें दोनों भागों में चारो तरफ शोथ तथा सर्वदा पीड़ा रहती है। उत्पिष्ट भग्न में केवल रात्रि में पीड़ा होती है, किन्तु विश्लिष्टभग्न में निरन्तर पीड़ा बनी रहती है—यही दोनों में भेद है ॥ २ ॥

यदि सन्धान किये विना अस्थियों को उसी प्रकार छोड़ दिया जाय तो अस्वाभाविक सम्पर्क से उनमें असत्य सन्धि (False joint) बन जाती हैं। अस्थियों के जो पृष्ठ एक-दूसरे के सम्पर्क में रहते हैं, उनमें से एक में गोल उत्सेध उत्पन्न हो जाता है और दूसरे में उसीके आकार के समान एक गड्ढा बन जाता है। गोल उत्सेध इस गड्ढे में रहता है। सन्धि में जो पहिले गड्ढा था, वह भर जाता है और कार्टिलेज सौत्रिक धातु में परिवर्तित हो जाता है। अङ्ग की उपयोगिता कम हो जाती है।

अभिघात की प्रबलता से संयुक्त भग्न की भाँति संयुक्तसन्धि-विश्लेष भी हो जाता है। इसकी चिकित्सा कठिन होती है। सन्धि के संक्रमित होने से अस्थिशोथ उत्पन्न होकर मृत्यु तक हो सकती है।

चिकित्सा—संयुक्तसन्धि-विश्लेष की चिकित्सा संक्रमित क्षतों की भाँति की जाती है। चारों ओर के स्थान को शुद्ध करके क्षत को पूर्णतया शुद्ध करने का आयोजन करना चाहिए। तत्पश्चात् सन्धि का सन्धान करना आवश्यक है। यदि क्षत पूर्णतया शुद्ध हो जाय तो उसको टाँकों द्वारा सीया जा सकता है।

इस प्रकार यहाँ पाश्चात्त्य मतानुसार सन्धिविश्लेष की साधारण प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। यहाँ विशेष विशेष प्रकार के सन्धिविश्लेषों का वर्णन अवकाशाभाव के कारण नहीं किया जा सकता, तथापि अपने यहाँ वर्णित सन्धिविश्लेषों का अंग्रेजी में नाम और कुछ विवरण भी दे दिया जाता है। यथाः—

तत्र सन्धिमुक्तम्—उत्पिष्टम्, विश्लिष्टम्, विवर्त्तितम्, अवक्षिप्तम्, अतिक्षिप्तम्, तिर्यक्क्षिप्तमिति षड्विधम्। सु० नि० अ० १५ सू० ४।

१—उत्पिष्ट—जिसमें हड्डी का चूर्ण या पेषण होता है। इसको फ्रेक्चर डिस्लोकेशन (Fracture Dislocation) कहते हैं।

२—विश्लिष्ट—जिसमें जरा-सा विश्लेष हो जाता है। इसको सबलक्सेशन (Subluxation) या इन्कम्प्लीट डिस्लोकेशन (Incomplete Dislocation) कहते हैं।

३—विवर्तित—जिसमें वाम या दक्षिण विभाग में हड्डी सरकती है। इसको लेटरल डिस्प्लेसमेन्ट (Lateral Displacement) कहते हैं।

४—अवक्षिप्त—जिस में हड्डी नीचे की ओर सरक जाती है। इसको डाउनवर्ड डिस्प्लेसमेन्ट (Downward Displacement) कहते हैं।

५—अतिक्षिप्त—जिसमें मांस, सिरा, धमनी इत्यादि अङ्ग विदीर्ण होते हैं। इसको कॉम्प्लीकेटेड फ्रेक्चर (Complicated fracture) कहते हैं।

६—तिर्यक्क्षिप्त—जिसमें सन्धि टेढ़ा हो गया है अर्थात् जिसमें पूर्ण विश्लेष हुआ है। इसको कम्प्लीट डिस्लोकेशन (Complete Dislocation) कह सकते हैं।

विवर्त्तितादिलक्षणमाह—

विवर्त्तिते पार्श्वरुजश्च तीव्रास्तिर्यग्गते तीव्ररुजो भवन्ति ।
क्षिप्तेऽतिशूलं विगमं रुजश्च क्षिप्ते त्वधोरुग्विघटश्च सन्धेः ॥ ३ ॥

*विवर्त्तिते=सन्धावमुक्ते अस्थिद्वये परिवर्त्तिते, पार्श्वरुजः=सन्धिस्थितास्थिखण्डद्वय-पार्श्वयोः रुजः, तिर्यग्गते=एकस्मिन्नस्थिन सन्धिस्थानं त्यक्त्वा तिर्यग्गते। क्षिप्ते=सक्थ्यूरुसन्ध्योरेकस्मिन्नस्थिन परस्मादस्थ्न उपरिगते, अस्थ्नोऽतिशूलम्। तत्र विषमं=कदाचिदधिकं कदाचिन्न्यूनम्। अधःक्षिप्ते सन्धिगते=एकस्मिन्नस्थिन अधोगते, रुक्सन्धिविघट्टनञ्च ॥ ३ ॥

विवर्तित भग्न में अर्थात् जिसमें सन्धि नहीं टूटा है, किन्तु सन्धि की दोनों अस्थियाँ टेढ़ी हो जाती हैं, उसमें अस्थि के झुके हुए स्थान पर तीव्र पीड़ा होती है।

तिर्यग्गत भग्न में अर्थात् जिसमें सन्धि की दोनों अस्थियों में से एक अस्थि सन्धिस्थान को छोड़ कर तिरछी हो जाती है, उसमें तीव्र पीड़ा होती है।

क्षिप्तभग्न में अर्थात् सक्थिसन्धि तथा ऊरुसन्धि की दो अस्थियों में से एक अस्थि के दूसरी अस्थि के ऊपर चढ़ जाने पर अत्यन्त शूल होता है। यह शूल विषम रीति से कभी अधिक तथा कभी कम होता है।

और अधोगत सन्धिभग्न में अर्थात् एक के दूसरी अस्थि के नीचे चले जाने पर पीड़ा होती है तथा सन्धि पृथक्-पृथक् हो जाती है ॥ ३ ॥

काण्डभग्नद्वादशभेदानाह—

भग्नन्तु काण्डे बहुधा प्रयाति विशेषतो नामभिरेव तुल्यम् ॥ ४ ॥

*भग्नं काण्डे=काण्डविषये, बहुधा=बहुभिः प्रकारैः, प्रयाति। अत्र बहुविधत्वं द्वादशविधत्वं बोद्धव्यम्। बहुविधस्य काण्डभग्नस्य पृथग् लक्षणं नोक्तं, किन्तु नामभिरेव तुल्यम्। कर्कटकादिनामानुरूपमेव लक्षणं बोद्धव्यम् ॥ ४ ॥

काण्डभग्न १२ प्रकार के होते हैं। उनके लक्षण अलग नहीं कहे गये हैं। इनका लक्षण प्रायः इनके कर्कटादि नामों के अनुसार ही समझ लेना चाहिए ॥ ४ ॥

तान्प्रकारानाह—

काण्डे त्वतः कर्कटकाश्वकर्णौ विचूर्णितं पिच्चितमस्थिखल्लितम् ।
काण्डेषु भग्नं ह्यतिपातितञ्च मज्जागतं विस्फुटितञ्च वक्रम् ॥ ५ ॥
छिन्नं द्विधा द्वादशधाऽपि काण्डे सामान्यमग्रे किल तस्य लिङ्गम् ॥ ६ ॥

*अतः सन्धिभग्नानन्तरं काण्डे काण्डभग्नं; तदाह—कर्कटकः=अस्थिविश्लेषपूर्वको मध्ये प्रोन्नतः पार्श्वयोरवनतः कर्कटकतुल्यरूपत्वात्कर्कटकः। अश्वकर्णः=अश्वकर्णवद्विपुलास्थिनिर्गमादश्वकर्णः। विचूर्णितम्=चूर्णितमस्थि, तच्च शब्दस्पर्शाभ्यां बोद्धव्यम्। पिच्चितं=नियन्त्रितं बहुशोथम्। खल्लितं=विश्लिष्टमस्थि निस्रवम्। काण्डेषु भग्नम्=काण्डभग्नम्। यद्यपि कर्कटकादि सर्वमेव काण्डभग्नन्तथाऽपि इयं काण्डभग्नसञ्ज्ञा विशिष्टा। अत्र भग्नं भङ्गस्त्रुटितं तेन सर्वथा त्रुटितम्=पृथग्भूतं त्वचि स्थितं यत्तत् काण्डभग्नम्। अतिपातितम्=अशेषेण छित्त्वा पातितमस्थि। मज्जागतम्=अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्ये प्रविश्य मज्जां गतम्। विस्फुटितं=स्तोकं बहुधा विदीर्णम्, शूकपूर्ण इव वेदनावत्। वक्रं=स्थानं त्यक्त्वा कुब्जीभूतम्। छिन्नं द्विधा=एकं विदीर्णं संलग्नम्, अपरं विदीर्णं द्विधाभूतम्, द्वादशधा च काण्ड इति=कर्कटकादिकाण्डे काण्डे च भग्नं द्वादशधेत्यन्वयः। तच्चोक्तमेव ॥ ५–६ ॥

अब सन्धिभग्न का वर्णन समाप्त करने के पश्चात् काण्डभग्न का वर्णन करते हैं:—

१—कर्कटक, २—अश्वकर्ण, ३—विचूर्णित, ४—पिच्चित, ५—अस्थिखल्लित, ६—काण्डभग्न, ७—अतिपातित, ८—मज्जागत, ९—विस्फुटित, १०—वक्र, ११—अल्पच्छिन्न तथा १२—अतिच्छिन्न भेद से काण्डभग्न १२ प्रकार का होता है। इनके सामान्य लक्षण आगे कहेंगे।

१—कर्कटभग्न—अस्थियोंके अंश टूटकर बीच में ऊँचे तथा दोनों पार्श्व में दबकर केकड़े के समान स्वरूपवाला भग्न हो जाता है। इसीलिए इस भग्न को कर्कटकभग्न कहते हैं।

२—अश्वकर्णभग्न—घोड़े के कान के समान बड़ी अस्थि बाहर निकल आती है, इसलिए इसे अश्वकर्ण कहते हैं।

३—विचूर्णितभग्न—अस्थि चूर्णित हो जाय, उसे विचूर्णित भग्न कहते हैं। यह भग्न शब्द तथा स्पर्श द्वारा जाना जाता है।

४—पिच्चितभग्न—अस्थि आघात के कारण पिचक गई हो तथा अत्यन्त शोथयुक्त हो तो इस भग्न को पिच्चितभग्न कहते हैं।

५—खल्लितभग्न—अस्थि का टुकड़ा विश्लिष्ट होकर बाहर निकल आये, तो इस भग्न को खल्लितभग्न कहते हैं।

६—काण्डभग्न—यद्यपि कर्कटकादि सभी भग्न काण्डभग्न कहलाते हैं, तथापि यह काण्डभग्न संज्ञाविशिष्ट है। इस काण्डभग्न से अभिप्राय उस भग्न से है, जिसमें अस्थि सर्वथा टूटकर अलग हो जाती है और चमड़े के भीतर पड़ी रहती है।

७—अतिपातितभग्न—अस्थि यदि पूर्णतया छिन्न होकर गिर जाय तो इसे अतिपातितभग्न कहते हैं।

८—मज्जागतभग्न—यदि अस्थि के अवयव अस्थि के बीच में घुसकर, मज्जा में चले जायँ तो इसे 'मज्जागतभग्न' कहते हैं।

९—विस्फुटितभग्न—जो अस्थि थोड़ी अथवा अधिक फट गई हो और सुई चुभने के समान वेदना हो, तो इसे 'विस्फुटितभग्न' कहते हैं।

१०—वक्रभग्न—यदि अस्थि अपने स्थान को छोड़कर कुबड़ी हो गई हो, तो उसे 'वक्रभग्न' कहते हैं।

११—अल्पच्छिन्नभग्न—यदि अस्थि विदीर्ण होकर उसी स्थान पर लगी रहे तो उसे 'अल्पच्छिन्न भग्न' कहते हैं।

१२—अतिच्छिन्नभग्न—यदि अस्थि विदीर्ण होकर दो टुकड़े हो जाय तो उसे 'अतिच्छिन्नभग्न' कहते हैं॥ ५-६॥

कर्कटकादिकाण्डभग्नलक्षणमाह—

स्रस्ताङ्गता शोथरुजाऽतिवृद्धिस्तथा व्यथावृद्धिरतीव नित्यम्।
सम्पीड्यमाने भवतीह शब्दः स्पर्शासहं स्पन्दनतोदशूलाः।
सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभो भग्नस्य काण्डे खलु चिह्नमेतत्॥ ७॥

*'स्पर्शासहमि'ति काण्डभग्नस्य विशेषणम्। स्पन्दनं—नाडीनां स्फुरणम्। तोदः=शूलेनेव च व्यथा। रुजा=सामान्यपीडा। सर्वास्ववस्थासु=शयनादिषु॥ ७॥

अङ्गों की शिथिलता, शोथ तथा पीडा की अत्यन्त वृद्धि, व्यथा की निरन्तर अधिक वृद्धि होती है, दबाने से शब्द होता है, स्पर्श असह्य होता है, स्पन्दन, सूई चुभाने के समान पीडा तथा शूल के समान व्यथा होती है और सोने, बैठने इत्यादि सम्पूर्ण अवस्थाओं में आराम नहीं मालूम होता। ये सब काण्डभग्न के समान लक्षण हैं॥ ७॥

भग्नस्य कष्टसाध्यतामाह—

अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च। उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति॥

अनात्मवतः=रोगप्रतीकारे यत्नरहितस्य। वातात्मकस्य=वातप्रकृतेः। उपद्रवैः=ज्वराध्मानमोहमूत्रपुरीषसङ्गादिभिः॥ ८॥

अल्प मात्रा में भोजन करनेवाले, रोग के प्रतीकारमें यत्नरहित मनुष्य का, वात प्रकृतिवाले तथा ज्वर, आध्मान, मोह, मूत्र और मल के अवरोध इत्यादि उपद्रवों से युक्त मनुष्य का भग्न कठिनता से ठीक होता है॥ ८॥

भग्नस्यासाध्यतामाह—

भिन्नं कपालं कट्यान्तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम्। जघनं प्रतिपिष्टञ्च वर्जयेत्तु चिकित्सकः॥

कपालम् = जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खवङ्क्षणशिरोऽस्थीनि कपालानि। तथा च्युतम्=अधः क्षिप्तम्। प्रतिपिष्टम्=उत्पिष्टम्॥ ९॥

यदि कपाल अस्थि (जानु, नितम्ब, कन्धे, गाल, तालु, शङ्खप्रदेश, वंक्षणसन्धि तथा सिर की अस्थियाँ 'कपालसंज्ञक' कहलाती हैं) टूट गई हो, कटि में सन्धि छूट गई हो अथवा अधोगतभग्न हुआ हो और जघन प्रदेश में उत्पिष्ट नामक भग्न हुआ हो तो वैद्य को उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ ९॥

पुनस्तदसाध्यतामाह—

असंश्लिष्टकपालञ्च ललाटे चूर्णितञ्च यत्। भग्नं स्तने गुदे पृष्ठे शङ्खे मूर्द्धनि वर्जयेत्॥१०॥

'असंश्लिष्टकपालमि'ति भग्नविशेषणम्। स्तने=स्तनयोरन्तरे। मूर्द्धनि=चूडास्थाने॥ १०॥

उपर्युक्त कपालास्थियाँ यदि अपने सन्धिस्थान से हट गई हैं, ललाट में यदि विचूर्णित नामक भग्न हो गया है और दोनों स्तनों के बीच में, गुदा, पीठ, शङ्खप्रदेश (कनपटी) तथा चोटी के स्थान में यदि काण्डभग्न हुआ है तो उनकी चिकित्सा करना छोड़ देना चाहिए॥ १०॥

अपरां तदसाध्यतामाह—

सम्यक्संहितमप्यस्थि दुर्न्यासाद् दुष्टबन्धनात्। सङ्क्षोभाद्वाऽपि यद्गच्छेद्विक्रियां तच्च वर्जयेत्॥

सम्यक्संहितमपि=सम्यग् योजितमपि। अस्थि। दुर्न्यासाद्=दुःस्थापनात्। सुन्यस्तमपि, दुष्टबन्धनात्। सुबद्धमपि, सङ्क्षोभाद्=अभिघातादिना सञ्चलनात्। विक्रियां गच्छेद्=विकृतं भवति। तद् वर्जयेत्॥ ११॥

भली भाँति जुड़ी हुई अस्थि भी अनुचित रीति से रखने अथवा बन्धन की दुष्टता से अथवा अच्छी प्रकार बधा हुआ भग्न अभिघात के कारण यदि विकृत हो जाता है, तो उसकी भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ ११॥

अस्थिविशेषेण भग्नविशेषमाह—

तरुणास्थीनि नम्यन्ते भिद्यन्ते नलकानि तु। कपालानि विभज्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि च॥

तरुणास्थीनि=घ्राणकर्णाक्षिपुटेषु कोमलास्थीनि। नम्यन्ते=वक्रीभवन्ति। तेनात्र वक्रतालक्षणं भग्नम्। नलकानि=नलादीनि नाडीवत्सरन्ध्राण्यस्थिपर्वाणि। भिद्यन्ते=अस्थ्यन्तरानुप्रवेशाद्विदार्यन्ते। कपालानि=जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खवङ्क्षणशिरोऽस्थीनि विभज्यन्ते। स्फुटन्ति=त्रुट्यन्ति। रुचकाः=दन्ताः, स्फुटन्ति। अस्थीनि च तरुणनलककपालरुचकवलयभेदात्पञ्चविधानि। तत्र रुचकानि चेति चकाराद्वलयान्यपि त्रुट्यन्तीति बोद्धव्यम्॥ १२॥

तरुणास्थियाँ अर्थात् नाक, कान तथा अक्षिपुट में स्थित कोमल अस्थियाँ झुक जाती हैं, जिससे इनमें 'वक्रभग्न' होता है। नलकास्थियाँ (नली के समान छिद्रयुक्त अस्थिपर्वोवाली) दूसरी

अस्थि के भीतर घुस जाने के कारण फट जाती हैं। जानु, नितम्ब, कन्धे, गाल, तालु, शङ्ख प्रदेश, वंक्षणसन्धि तथा शिर की कपालसंज्ञक अस्थियाँ टूटकर विभक्त हो जाती हैं। रुचकास्थियाँ अर्थात् दाँत की अस्थियाँ फूट जाती हैं।

अस्थियाँ तरुण, नलक, कपाल, रुचक तथा वलय के भेद से ५ प्रकार की होती हैं। यहाँ प्रथम ४ प्रकार की अस्थियों के भग्न के सम्बन्ध में कहा गया है; किन्तु वलयास्थि के भग्न के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है, तथापि मूल श्लोक में 'च' शब्द से 'वलय नामक अस्थि भी फूटती है' ऐसा समझना चाहिए॥ १२॥

पाण्योः पार्श्वयुगे पृष्ठे वक्षोजठरपायुषु। पादयोरपि चास्थीनि वलयानि बभाषिरे॥ १३॥

दोनों हाथों, दोनों पसलियों, पीठ, छाती, गुदा तथा दोनों पाँवों में 'वलयास्थियाँ' कही गई हैं॥ १३॥

भग्नचिकित्सामाह—

**आदौ भग्नं विदित्वा तु सेचयेच्छीतलाम्बुना। पङ्केनालेपनं कार्यं बन्धनञ्च कुशान्वितम्॥
अवनामितमुन्नह्येदुन्नतं चावपीडयेत्। आञ्छेदतिक्षिप्तमधो गतं चोपरि वर्त्तयेत्॥ १५॥**

सर्वप्रथम भग्न को जानकर शीतल जल से सेचन करे। कीचड़ का प्रलेप करे और कुशायुक्त बन्धन बाँधे, दबी हुई अस्थि को ऊपर उठाये, ऊँची उठी हुई अस्थि को नीचे दबाये। जो हड्डी अपने स्थान से दूर हट गई है, उसे नजदीक लाये तथा जो अस्थि अधःक्षिप्त अर्थात् नीचे चली गई है, उसे ऊपर चढ़ा दे॥ १४-१५॥

**मधूकोदुम्बराश्वत्थकदम्बनिचुलत्वचः। वंशसर्जार्जुनानाञ्च कुशार्थमुपसंहरेत्॥ १६॥
पटस्योपरि बध्नीयान्न गाढं शिथिलं न च। सप्तसप्तदिनाच्छीते घर्मे मुञ्चेत्त्र्यहात्त्र्यहात्।
मासान्ते पञ्चपञ्चाहाद्भग्नदोषवशेन वा॥ १७॥**

महुआ, गूलर, पीपल, कदम्ब, बेत, बाँस, राल तथा अर्जुन की छाल को कुशा के लिए ले। फिर इस कुशा के ऊपर न अधिक कड़ा और न अधिक ढीला बन्धन बाँधे। शीतकाल में ७-७ दिन में और ग्रीष्मऋतु में ३-३ दिन में बन्धन को खोले। महीने भर के बाद ५-५ दिन पर अथवा भग्न के दोषानुसार उचित समय पर पट्टी खोले॥ १६-१७॥

आलेपनार्थं मञ्जिष्ठा मधूकं चाम्बुपेषितम्। शतधौतघृतोन्मिश्रं शालिपिष्टञ्च लेपनम्॥१८॥

आलेपन के लिए मंजीठ तथा मुलेठी को जल में पीसकर प्रयोग करे। अथवा शालि चावलों को पीसकर शतधौत घृत मिलाकर भग्न पर प्रलेप करे॥ १८॥

**सद्योऽभिघातजनिता आगन्तुश्वयथवः प्रशाम्यन्ति।
पिष्टकलवणालेपादम्लीकाफलरसाभ्यां वा॥ १९॥**

इमली के फल तथा पत्तों के स्वरस से शालि चावल तथा सैंधानमक को पीसकर प्रलेप करने से तत्काल अभिघातजन्य आगन्तुक शोथ शान्त हो जाता है॥ १९॥

**आम्रातकजटाऽम्लीकाफलं पत्राणि शिग्रुजम्॥ २०॥
मूलं पौनर्नवं वर्द्धमानस्यापि च केम्बुकात्। सर्वं संक्षुद्य तक्रेण काञ्जिकेन तथैव च॥ २१॥
पाचयित्वा चरेच्छ्रेष्ठं तेन पीडा प्रणश्यति। शोथश्चास्थि च शीघ्रेण सन्धानं याति वै ध्रुवम्॥**

अम्बाड़े की जड़, इमली के फल, इमली के पत्ते, सहजन की जड़, पुनर्नवा की जड़, मानकन्द तथा सुपारी की जड़ इन सबको कूटकर तक्र अथवा कांजी से पीसकर पकाकर इस श्रेष्ठ लेप को लगाने से पीड़ा तथा शोथ नष्ट होता है और शीघ्र ही हड्डियाँ अवश्य जुड़ जाती हैं॥२०-२२॥

**न्यग्रोधादिकषायन्तु सुशीतं परिषेचने। पञ्चमूलीकषायं सक्षीरं दद्यात्सवेदने॥ २३॥
सुखोष्णमवचार्यं वा चक्रतैलं विजानता। अविदाहिभिरन्नैश्च पिष्टकैः समुपाचरेत्॥ २४॥**

भग्न पर न्यग्रोधादि गण की ओषधियों के शीतल क्वाथ से सेचन करना चाहिए। यदि भग्न में पीड़ा हो तो पञ्चमूल की ओषधियों के क्वाथ में दूध मिलाकर सेचन करे। अथवा वैद्य तत्काल पेरे हुए तेल का गरम-गरम प्रलेप करे। अथवा अविदाही अन्नों की पीठी की भग्न पर पुल्टिस बाँधे॥

ग्लानिर्हि निहता तस्य सन्धिविश्लेषकारिका। मांसं मांसरसः क्षीरं सर्पिर्यूषः सतीनजः॥
बृंहणञ्चान्नपानञ्च देयं भग्नाय जानता॥ २५॥

सन्धियों के विश्लिष्ट हो जाने से रोगी ग्लानियुक्त भी अवश्य होता है, अत एव रोगी को विचार कर मांस, मांसरस, दूध, घी मटर का यूष तथा धातुवर्द्धक अन्न-पान का सेवन कराना चाहिए॥

गृष्टिक्षीरं ससर्पिष्कं मधुरौषधसाधितम्। शीतलं लाक्षया युक्तं प्रातर्भग्नः पिबेन्नरः॥ २६॥

भग्नपीडित मनुष्य प्रथम बार ब्याई हुई गौ के दूध को जीवनीय गण की ओषधियों के साथ सिद्ध कर शीतल करके घी तथा लाख के चूर्ण को मिलाकर प्रातःकाल पीये॥ २६॥

सघृतेनास्थिसंहारं लाक्षागोधूममर्जुनम्। सन्धिमुक्तेऽस्थिसम्भग्ने पिबेत्क्षीरेण वा पुनः॥

सन्धिभग्न अथवा काण्डभग्न में हड़जोड़, लाख, गेहूँ तथा अर्जुन की छाल को पीसकर घृतमिश्रित दुग्ध के साथ पीये॥ २७॥

रसोनमधुलाक्षाऽऽज्यसिताकल्कं समश्नताम्। छिन्नभिन्नच्युतास्थीनां सन्धानमचिराद्भवेत्॥

लहसुन, मधु, लाख, घी तथा मिश्री के कल्क को खाने से छिन्न, भिन्न तथा स्थानच्युत अस्थियाँ शीघ्र जुड़ जाती हैं॥ २८॥

चूर्णं पुरेण संयोज्य घृतेनार्जुनलाक्षयोः। भग्नः सन्धानमायाति लीढं क्षीरघृताशिना॥२९॥

अर्जुन की छाल तथा लाख के चूर्ण को गुग्गुलु तथा घी को मिलाकर चाटने से और दूध तथा घी के साथ भोजन करने से भग्न अस्थि जुड़ जाती है॥ २९॥

मूलं श्रृगालविन्नायाः पीत्वा मांसरसेन तु। चूर्णीकृत्य त्रिसप्ताहादस्थिभग्नमपोहति॥३०॥

पृश्निपर्णी की जड़ के चूर्ण को मांसरस के साथ पीने से २१ दिन में अस्थिभग्न नष्ट हो जाता है॥ ३०॥

आभाचूर्णं मधुयुतमस्थिभग्नस्त्र्यहं पिबेत्। पीते चास्थि भवेत्सम्यग्वज्रसारनिभं दृढम्॥३१॥

अस्थिभग्न से पीड़ित मनुष्य बबूल के फली के चूर्ण को मधु मिलाकर ३ दिन तक पीये तो अस्थि भली भाँति वज्र के समान दृढ़ हो जाती है॥ ३१॥

अम्लीकाफलकल्कैः सौवीरैस्तैलमिश्रितैः स्वेदात्।
भग्नाभिहतरुजाघ्नैरथ चौषधसाधितं श्वयथौ॥ ३२॥

इमली के फल के कल्क में सौवीर नामक काञ्जी तथा तेल मिलाकर स्वेदन करने से भग्न तथा अभिघातजन्य व्यथा दूर होती है। उपर्युक्त ओषधियों से साधित तेल का भग्न तथा अभिघातजन्य शोथ में प्रयोग करना चाहिए॥ ३२॥

आभागुग्गुलुमाह—

आभाफलत्रिकव्योषैः सर्वैरेतैः समांशकैः। तुल्यं गुग्गुलुना योज्यं भग्नसन्धिप्रसाधनम्॥

बबूल की फली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मिर्च तथा पिप्पली इन सबको समान-समान भाग लेकर चूर्ण बना ले। फिर इस चूर्ण के बराबर गुग्गुलु लेकर मिला दे। इस प्रकार 'आभागुग्गुलु' तैयार होता है। इस गुग्गुलु को सेवन करने से टूटी हुई अस्थि भली भाँति जुड़ जाती है॥३३॥

लाक्षाऽऽद्यगुग्गुलुमाह—

लाक्षाऽस्थिसंहृत्ककुभोऽश्वगन्धा चूर्णीकृता नागबला पुरश्च।
सम्भग्नमुक्तास्थिरुजं निहन्यादङ्गानि कुर्यात्कुलिशोपमानि॥ ३४॥

लाख, हड़जोड़, अर्जुन की छाल, असगन्ध तथा गंगेरन की जड़ के चूर्ण में गुग्गुलु मिलाकर

सेवन करने से टूटी हुई तथा अपने स्थान से हटी हुई अस्थि की पीड़ा नष्ट होती है, अस्थि जुड़ जाती है और अङ्ग वज्र के समान दृढ़ हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

गन्धतैलमाह—

रात्रौ रात्रौ तिलान्कृष्णान्वासयेदस्थिरे जले। दिवा दिवा शोषयित्वा गवां क्षीरेण भावयेत्॥
तृतीयं सप्तरात्रन्तु भावयेन्मधुकाम्बुना। ततः क्षीरं पुनः पीतान्शुष्कान्सूक्ष्मान्विचूर्णयेत्॥
काकोल्यादि सयष्ट्याह्वं मञ्जिष्ठां सारिवां तथा ॥ ३७ ॥
कुष्ठं सर्जरसं मांसीं सुरदारु सचन्दनम्। शतपुष्पाञ्च सञ्चूर्ण्य तिलचूर्णेन योजयेत् ॥३८॥
पीडनार्थं तु कर्त्तव्यं सर्वगन्धैः शृतं पयः। चतुर्गुणेन पयसा तत्तैलं पाचयेत्पुनः ॥३९॥
यष्टीमंशुमतीम्पत्रं जीवन्तीं तुरगं तथा। रोध्रं प्रपौण्डरीकञ्च तथा कालानुसारिवाम् ॥४०॥
शैलेयकं क्षीरशुक्लामनन्तां समधूलिकाम्। पिष्ट्वा शृङ्गाटकञ्चैव प्रागुक्तान्यौषधानि च ॥४१॥
एभिस्तद्विपचेत्तैलं शास्त्रविन्मृदुनाऽग्निना। एतत्तैलं सदा पथ्यं भग्नानां सर्वकर्मसु ॥४२॥
आक्षेपके पक्षघाते तालुशोषे तथाऽर्दिते। मन्यास्तम्भे शिरोरोगे कर्णशूले हनुग्रहे ॥४३॥
बाधिर्ये तिमिरे चैव ये च स्त्रीषु क्षयङ्गताः। पथ्यं पाने तथाऽभ्यङ्गे नस्ये वस्तिषु भोजने ॥
ग्रीवास्कन्धोरसां वृद्धिरेतेनैव प्रजायते। मुखञ्च पद्मप्रतिमं ससुगन्धिसमीरणम् ॥४५॥
राजार्हमेतत्कर्त्तव्यं राज्ञामेव चिकित्सकैः। तिलचूर्णसमं तत्र मिलितं चूर्णमिष्यते ॥३६॥

काले तिलों को बहते हुए जल में प्रतिदिन रात में भिगो दे। और प्रतिदिन दिनमें सुखा ले। यह क्रिया ७ दिन तक करे। पुनः दूसरे सप्ताह भर गोदुग्ध की भावना दे। और तीसरे सप्ताह में मुलेठी के क्वाथ की भावना दे। तत्पश्चात् इन तिलों को दूध में भिगोकर सुखाकर सूक्ष्म चूर्ण कर डाले, काकोल्यादिगण की ओषधियाँ, मुलेठी, मंजीठ, सारिवा, कूठ, राल, जटामांसी, देवदारु चन्दन तथा सौंफ का चूर्ण बनाकर तिलचूर्ण में समान परिमाण में मिला दे। फिर इस तिल-चूर्ण को समस्त सुगन्धित द्रव्यों से सिद्ध दुग्ध के साथ मिलाकर तेल पेरवा ले। फिर इस तेल को सम्पूर्ण सुगन्धित द्रव्यों से सिद्ध चौगुने दूध के साथ पका ले। तत्पश्चात् मुलेठी, शालिपर्णी, तेजपात, जीवन्ती, असगन्ध, लोध, पुण्डरीक कमल, काली सारिवा, छारछबीला, क्षीरकाकोली, अनन्तमूल, मूर्वा, सिंघाड़ा तथा उपर्युक्त काकोल्यादि ओषधियों के कल्क से विद्वान् वैद्य पुनः तेल को मन्द-मन्द आँच से पका ले। इस प्रकार 'गन्धतैल' सिद्ध होता है। यह तेल भग्नसम्बन्धी समस्त उपचारों के लिए सर्वदा हितकर है। आक्षेप, पक्षाघात, तालुशोष, अर्दित, मन्यास्तंभ, शिरोरोग, कर्णशूल, हनुस्तम्भ, बधिरता, तिमिर रोग तथा अत्यन्त स्त्रीप्रसङ्ग से उत्पन्न हुए क्षयरोग में पान, अभ्यङ्ग, नस्य, वस्तिकर्म तथा भोजन में प्रयोग करना हितकर है। इस तेल का सेवन करने से गरदन, कन्धे तथा छाती की वृद्धि होती है। मुख कमल के समान और सुगन्धित श्वास से युक्त हो जाता है। वैद्यों को राजाओं के योग्य इस तेल का निर्माण राजाओं के लिए करना चाहिए ॥

अवस्थानुसारेण भग्नोपशान्तिमाह—

पूर्वे वयसि जातं हि भग्नं सुकरमादिशेत्। अल्पदोषस्य जन्तोश्च काले तु समशीतले ॥४७॥

पहिली अवस्था में हुआ भग्न सुखसाध्य है। अल्प दोषवाले मनुष्य का भग्न और शीतकाल में हुआ भग्न साध्य होता है ॥ ४७ ॥

प्रथमे वयसि त्वेवं मासात्सन्धिः स्थिरो भवेत्। मध्यमे द्विगुणात्कालादन्तिमे त्रिगुणात्तथा

इसी प्रकार प्रथम अवस्था का भग्न १ महीने में, मध्यम अवस्था में हुआ भग्न २ महीने में तथा अन्तिम अवस्था में उत्पन्न भग्न ३ महीने में दृढ़सन्धि होता है ॥ ४८ ॥

भग्नस्य विशेषरक्षामाह—

नैति पाकं यथा भग्नं तथा यत्नेन रक्षयेत्। पक्वमांसशिरास्नायु तद्धि कृच्छ्रेण सिध्यति ॥

यत्नपूर्वक भग्न की इस प्रकार की रक्षा करनी चाहिए, जिससे भग्न पके न। क्योंकि मांस, शिरा तथा स्नायु के पक जाने पर भग्न कृच्छ्रसाध्य हो जाता है ॥ ४९ ॥

भग्नविशेषोपदेशमाह—

पतनादभिघाताद्वा शूनभङ्गं यदक्षतम्। शीतान्सेकान्प्रदेहांश्च भिषक्तस्यावचारयेत् ॥५०॥

गिरने से अथवा चोट लग जाने से जो अङ्ग शोथयुक्त हो जाय, किन्तु क्षतयुक्त न हो तो वैद्य उसपर शीतल परिषेक तथा शीतल प्रदेह का प्रयोग करे ॥ ५० ॥

सव्रणस्य तु भग्नस्य व्रणं सर्पिर्मधूत्तरैः। प्रतिसार्य कषायैश्च शेषं भग्नवदाचरेत्।
वातव्याधिविनिर्दिष्टान्स्नेहांस्तत्रापि योजयेत् ॥ ५१ ॥

व्रणयुक्त भग्न के व्रण को घी तथा मधु मिले हुए क्वाथ से धोकर शेष सब भग्न के समान उपचार करे। और इसपर वातव्याधि पर कहे गये स्नेहों का भी प्रयोग करे ॥ ५१ ॥

भग्नापथ्यमाह—

लवणं कटुकक्षारमम्लमायासमैथुनम्। व्यायामञ्च न सेवेत भग्नो रूक्षान्नमेव च ॥ ५२ ॥

भग्नपीड़ित मनुष्य नमक, कड़वे पदार्थ, क्षारद्रव्य, खट्टे पदार्थ, परिश्रम, मैथुन, व्यायाम तथा रूक्ष अन्न का सेवन न करे ॥ ५२ ॥

भग्नारोग्यलक्षणमाह—

भग्नसन्धिमनाविद्धमहीनाङ्गमनुल्बणम्। शुभचेष्टाप्रचारञ्च सम्यक्सन्धितमादिशेत् ॥५३॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमन्मिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मध्यखण्डे-
ऽष्टचत्वारिंशत्तमो भग्नाधिकारः समाप्तः ॥ ४८ ॥

तृतीयो भागः समाप्तः ॥ ३ ॥



अङ्ग को फैलाने तथा सिकोड़ने में किसी प्रकार का कष्ट न हो, अङ्ग छोटा न हो जाय, शोथ बिल्कुल जाता रहे तथा चलने-फिरने, बैठने-उठने तथा उठाने रखने इत्यादि चेष्टाएँ सुखपूर्वक होने लगें तो भग्नसन्धि को भली भाँति जुड़ा हुआ समझना चाहिए ॥ ५३ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणेऽष्टचत्वारिंशत्तमो भग्नाधिकारः समाप्तः ॥ ४८ ॥

तृतीयो भागोऽपि समाप्तः।



अथ मध्यखण्डम्

चतुर्थो भागः।

अथैकोनपञ्चाशत्तमो नाडीव्रणाधिकारः ॥ ४९ ॥

तत्र नाडीव्रणस्य सम्प्राप्तिपूर्विकां निरुक्तिमाह—

यः शोथमाममिति पक्वमुपेक्षतेऽज्ञो यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः॥
तस्यातिमात्रगमनाद् गतिरिष्यते तु नाडीव यद्वहति तेन मता च नाडी ॥ १ ॥

उपेक्षते = तस्य शोथस्य मुखं न कारयति। यो वा 'अयमाम' इति मत्वा पक्वं व्रणं चोपेक्षते = शोधनैर्न शोधयति। प्रचुरपूयमिति शोथस्य व्रणस्यापि विशेषणम्। असाधुवृत्तः = अहिताहारविहारः। सः=पूयः। ततः = तदनन्तरम्। तस्य पूर्वविहितानि स्थानानि = सुश्रुतोक्तानि त्वङ्मांसशिरास्नायुसन्ध्यस्थिकोष्ठमर्माणि। प्रविदार्य = सच्छिद्राणि कृत्वा। अभ्यन्तरं प्रविशति। तस्य पूयस्य। अतिमात्रगमनाद् = अभ्यन्तरे दूरप्रवेशाद्। गतिरिष्यते = सर्वदा स्राव इष्यते। इति सम्प्राप्तिः। अथ निरुक्तिः–अयं व्रणो नाडीवत्सरन्ध्रनलादिनाडीव प्रच्छेतोर्वहति तेन नाडी मता ॥ १ ॥

जो अज्ञानी मनुष्य पके हुए शोथ को यह कच्चा है, ऐसा मानकर शोथ का मुँह शस्त्र या ओषधियों द्वारा खोलवा नहीं देता है अथवा अधिक मात्रा में पूय से भरे हुए शोथ तथा पके हुए व्रण को कच्चा समझकर उपेक्षा करता है अर्थात् शोधन-ओषधियों से शोधन नहीं करता और अहितकर आहार-विहार का सेवन करता है, ऐसे मनुष्य का वह पूय सुश्रुतोक्त त्वचा, मांस, शिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि तथा मर्मस्थानों में छिद्र करके भीतर प्रविष्ट हो जाता है। फिर इस पूय के भीतर बहुत दूर तक घुस जाने के कारण हमेशा स्राव हुआ करता है। यह नाडीव्रण की सम्प्राप्ति है।

नाडीव्रण शब्द की निरुक्ति—यह व्रण छिद्रयुक्त बाँस के नली के समान होता है, जिससे कि निरन्तर बहा करता है। इसीलिए इस व्रण को[1] नाडीव्रण कहा है ॥ १ ॥

---

१. पाश्चात्त्य वैद्यक में नाडी को साइनस (Sinus) या फिस्चुला (Fistula) कहते हैं। पाश्चात्त्य परिभाषा दोनों में भी कुछ भेद करती है, यथाः—जिस नाडी का एक मुख बाह्य त्वचापर खुलता है और दूसरा मुख पाकस्थान से सम्बन्ध रखता है, वह नाडी साइनस (Sinus) कहलाती है। दो आशयों को या आशयऔर बाह्यत्वचा को मिलानेवाली सहज या जन्मोत्तर (Congenital or acquired) नाडी को फिस्चुला (Fistula) कहते हैं। जैसे भगन्दर, वस्ति और योनि को मिलानेवाली नाडी (Vesico-Vaginal Fistula) तथा वस्तिमलाशय नाडी (Recto-Vesical Fistula) इत्यादि।

कारण—

इसके कारण के सम्बन्ध में दोनों विज्ञान सुश्रुतोक्त कारण को एक स्वरसे मानते हैं। यथाः—

'स यदा भयमोहाभ्यां पक्वमप्यपक्वमिति मन्यमानश्चिरमुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा गम्भीरानुगतो द्वारमलभमानः पूयः स्वमाश्रयमवदार्योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा नाडीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वेति' (सु० सू० अ० १७ सू० १३)।

ये नाडीव्रण निम्न कारणों से बने रहते हैं या जल्दी नहीं भरते:—

१—सूत्र, रेशम, ताँत, तार तथा हड्डी इत्यादि के टुकड़े पाकस्थान में शेष रहने से।

अथास्या दोषानुबन्धेन संख्यामाह—

दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च सम्मूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या ॥ २ ॥

यह नाडीव्रण वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज तथा शल्यज भेद से ५ प्रकार का होता है ॥ २ ॥

वातजनाडीव्रणलक्षणमाह—

तत्रानिलात्परुषसूक्ष्ममुखी सशूला फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपासु ॥ ३ ॥

जिस नाडीव्रण का मुख सूक्ष्म तथा कठिन हो, शूलयुक्त हो और जिससे रात्रि में अधिक मात्रा में फेनयुक्त स्राव होता हो, उसे वातजन्य नाडीव्रण समझना चाहिए ॥ ३ ॥

पित्तजनाडीव्रणलक्षणमाह—

पित्तात्तु तृड्ज्वरकरी परिदाहयुक्ता पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु चापि ॥ ४ ॥

जो नाडीव्रण पिपासा तथा ज्वर को उत्पन्न करती हो, दाहयुक्त हो और जिससे दिन में अधिक मात्रा में उष्ण तथा पीत वर्ण का स्राव निकलता हो, उसे पित्तजन्य नाडीव्रण समझना चाहिए ॥४॥

कफजनाडीव्रणलक्षणमाह—

ज्ञेया कफाद् बहुघना सितपिच्छिलास्रा स्तब्धा सकण्डुररुजा रजनीप्रवृद्धा ॥ ५ ॥

***सितपिच्छिलास्रा = अस्रं=रक्तं, तच्चोपलक्षणं पूयादिश्च बोद्धव्यः। सकण्डुररुजा= कण्डूप्रधानवेदनायुक्ता ॥ ५ ॥**

जिस नाडीव्रण से बहुत गाढ़ा, श्वेत तथा पिच्छिल पूयादिका स्राव हो, जो नाडीव्रण स्तब्ध, खुजलीसहित वेदनायुक्त हो और रात्रि में जिसका स्राव अधिक बढ़ जाता हो, उसे कफज नाडीव्रण समझना चाहिए ॥ ५ ॥

२—मूत्र, तेजाबी पूय तथा मल इत्यादि का स्राव व्रण से होने से।

३—पूय का निःशेष निर्हरण न होने से।

४—जिस अङ्ग में व्रण हो, उसको विश्राम न मिलने से।

५—व्रण में क्षय की विकृति होने से।

६—बाह्यत्वचा के सेल व्रणमुख के भीतर उत्पन्न होने से।

७—रोगी के दुर्बल होने से।

८—व्रण के आस-पास तान्तवधातु (Fibroustissue) की अधिकता होने से।

चिकित्सा—पूय के पूर्ण निर्हरण का आयोजन करना, व्रण के भीतर यदि वस्त्र या रेशम इत्यादि के टुकड़े हों तो उनको वहाँसे निकालना, यदि व्रण कला से आच्छादित हो गया है, तो कला को काटकर निकाल देना, सौत्रिक धातु (Fibvoustissue) का नाश करना, व्रण की भित्तियों को काटकर उनको चौड़ा कर देना, जिससे पूय भीतर न रहने पाये, इत्यादि चिकित्सा के मुख्य साधन हैं। यदि व्रण का कुछ भाग क्षयजन्य हो चुका है तो उसको चमसक से खुरच कर निकाल देना चाहिए। अस्वस्थ भाग को दाहकशलाका (Cautery) अथवा अन्य वस्तुओं से दग्ध भी किया जाता है। कभी-कभी वैक्सीन का प्रयोग बहुत लाभदायक सिद्ध होता है। अपने यहाँ सुश्रुत में भी इन्हीं प्रक्रियाओं का वर्णन है। यथा—

'तत्रानिलोत्थामुपनाह्य पूर्वमशेषतः पूयगतिं विदार्य, पित्तात्मिकां प्रागुपनाह्य धीमानुत्कारिकाभिः सपयोघृताभिः, निपात्य शस्त्रम्, नाडीं कफोत्थामुपनाह्य···मृदूकृतामेष्यगतिं विदित्वा निपातयेच्छस्त्रमदोषकारी।

तथा—नाडीन्तु शल्यप्रभवां विदार्य निर्हृत्य शल्यं प्रविशोध्य मार्गम्। संशोधयेत्।

इत्यादि। सु० चि० अ० १७।

इन वर्णनों से सुस्पष्ट सामञ्जस्य है।

त्रिदोषजनाडीव्रणमाह—

दाहज्वरश्वसनमूर्च्छनवक्त्रशोषा यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि ।
तामादिशेत्पवनपित्तकफप्रकोपाद् घोरां गतिं त्वसुहरामिव कालरात्रिम् ॥ ६ ॥

*कालरात्रिं = यमरात्रिमिव । असुहरां = मारिकाम् ॥ ६ ॥

जो नाडीव्रण दाह, ज्वर, श्वास, मूर्च्छा तथा मुखशोष इन उपद्रवों से युक्त हो और जिसमें उपर्युक्त तीनों दोषों के लक्षण मिलते हों—उसे वात, पित्त तथा कफ इन तीनों दोषों के प्रकोप से उत्पन्न हुआ समझना चाहिए। यह नाडीव्रण कालरात्रि के समान भयङ्कर तथा प्राणों को नष्ट कर देनेवाला है ॥ ६ ॥

शल्यनिमित्तजनाडीव्रणलक्षणमाह—

नष्टं कथञ्चिदणुमार्गमुदीरितेषु स्थानेषु शल्यमचिरेण गतिं करोति ।
सा फेनिलं मथितमुष्णमसृग्विमिश्रं स्रावं करोति सहसा सरुजञ्च नित्यम् ॥ ७ ॥

*उदीरितेषु स्थानेषु = त्वङ्मांसादिषु, कथञ्चिन्नष्टम् = अदृश्यमानं, शल्यं किंविशिष्टम् ? अणुमार्गम्, अत एवादृश्यमानम् । गतिम्, अचिरेण = शीघ्रं स्रावं करोति । सा = शल्यनिमित्ता नाडी । मथितं = मथितमिव, स्रावं करोति । स्रावश्च प्रसारणाकुञ्चनादौ शल्यसञ्चलनेन भवति ॥ ७ ॥

त्वचा, मांस, शिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि, कोष्ठ तथा मर्मस्थलों में किसी प्रकार टूटकर रह गया हुआ और मार्ग के परम सूक्ष्म होने के कारण न दिखाई देनेवाला शल्य शीघ्र ही स्राव को उत्पन्न कर देता है। इस शल्यज नाडीव्रण में से फेनयुक्त, मट्ठे के समान, उष्ण तथा रक्तमिश्रित स्राव होता है। यह स्राव अङ्गको फैलाने तथा सिकोड़ने इत्यादि के समय शल्य के चलायमान होने के कारण होता है और निरन्तर सहसा पीड़ा होती रहती है ॥ ७ ॥

नाडीव्रणस्यासाध्यत्वं कष्टसाध्यत्वं चाह—

नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्येदन्याश्चतस्रः खलु यत्नसाध्याः ॥ ८ ॥

त्रिदोषजन्य नाडीव्रण असाध्य तथा अन्य चार प्रकार के नाडीव्रण कष्टसाध्य हैं ॥ ८ ॥

अथ नाडीव्रणचिकित्सा ।

तत्र वातजनाडीव्रणचिकित्सामाह—

तत्रानिलोत्थामुपनाह्य पूर्वमशेषतः पूयगतिं विदार्य ।
तिलैरपामार्गफलैः सुपिष्टैः ससैन्धवैः सम्परिपूर्य बन्धेत् ।
प्रक्षालने वाऽपि सदा व्रणस्य योज्यं महद्यत्खलु पञ्चमूलम् ॥ ९ ॥

वातजन्य नाडीव्रण को सर्वप्रथम वातनाशक ओषधियों से उपनाहन करके शस्त्र द्वारा सम्पूर्ण पूयमार्ग को चीरकर तिल तथा अपामार्ग के बीज को पीसकर और सेंधानमक मिलाकर व्रण में भरकर पट्टी से बाँध दे। और व्रणके प्रक्षालन में बृहत्पञ्चमूल के क्वाथ का प्रतिदिन प्रयोग करे ॥ ९ ॥

हिंस्राद्यतैलमाह—

हिंस्रां हरिद्रां कटुकां बलाञ्च गोजिह्विकाञ्चापि सबिल्वमूलाम् ।
संहृत्य तैलं विपचेद् व्रणस्य संशोधनं पूरणरोपणञ्च ॥ १० ॥

हिंस, हल्दी, कुटकी, खिरेटी, गोजिह्वा तथा बेल की जड़ इन ओषधियों के कल्क से तेल पका ले। इस प्रकार 'हिंस्राऽद्यतैल' सिद्ध होता है। यह तेल व्रणका शोधन, पूरण तथा रोपण करता है ॥ १० ॥

पित्तजनाडीव्रणचिकित्सामाह—

पित्तात्मिकां प्रागुपनाह्य धीमानुत्कारिकाभिः सपयोघृताभिः ।
निपात्य शस्त्रं तिलनागदन्तीयष्ट्याह्वकल्कैः परिपूरयेच्च ।
प्रक्षालने चापि ससोमनिम्बा निशा प्रयोज्या कुशलेन नित्यम् ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् वैद्य पित्तजन्य नाडीव्रण का सर्वप्रथम दूध तथा घृतयुक्त उत्कारिका (जौ, उड़द एरण्डबीज, अलसी तथा कुसुमबीज इत्यादि ओषधियों की पिसी हुई लुगदी) से उपनाह स्वेदन करके शस्त्रद्वारा चीरकर व्रणको तिल, नागदन्ती (महाराष्ट्र तथा कर्नाटक में होनेवाला वृक्षविशेष) तथा मुलेठी के कल्क से भर दे। और प्रक्षालन के लिए कुशल वैद्य प्रतिदिन हल्दी, सोमलता, तथा नीमकी छाल के क्वाथ का प्रयोग करे ॥ ११ ॥

श्यामाघृतमाह—

श्यामात्रिभण्डी त्रिफलासुसिद्धं हरिद्रया तिल्वककल्कलेन।
घृतं सदुग्धं व्रणतर्पणेन हन्याद्गतिः कोष्ठगताऽपि या स्यात् ॥ १२ ॥

काली निशोथ, सफेद निशोथ, हरड, बहेड़ा, आँवला, हल्दी तथा लोध इन सब ओषधियों के कल्क से सिद्ध किये हुए घृत में दूध मिलाकर व्रण का तर्पण करने से कोष्ठगत नाडीव्रण का भी स्राव नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

कफजनाडीव्रणचिकित्सामाह—

नाडीं कफोत्थामुपनाह्य पूर्वं कुलत्थसिद्धार्थकशक्तुकिण्वैः।
मृदूकृतामेष्यगतिं विदित्वा निपातयेच्छस्त्रमशेषकारि ॥ १३ ॥
दद्याद् व्रणे निम्बतिलाग्निदन्तीसुराष्ट्रजाः सैन्धवसम्प्रयुक्ताः।
प्रक्षालने चापि करञ्जनिम्बजात्यर्कपीलुस्वरसाः प्रयोज्याः ॥ १४ ॥

कफजन्य नाडीव्रण का सर्वप्रथम कुलथी, सरसों, सत्तू तथा बेलगिरी को पीसकर इससे उपनाहन करके नाडीव्रण के मृदु हो जाने पर पूयमार्ग को जानकर भलीभाँति शस्त्र द्वारा चीर दे। फिर व्रण में नीम के पत्ते, तिल, चित्त, दन्ती, फिटकिरी तथा सेंधानमक के कल्क को भर दे। और प्रक्षालन में प्रतिदिन करञ्ज, नीम, चमेली, मदार तथा पीलु के स्वरसों का प्रयोग करे ॥ १३-१४ ॥

स्वर्जिकाऽऽद्यतैलमाह—

स्वर्जिकासिन्धुदन्त्यग्नियूथिका जलनीलिका। खरमञ्जरिबीजेषु तैलं गोमूत्रसाधितम्।
दुष्टव्रणप्रशमनं कफनाडीव्रणापहम् ॥ १५ ॥

सज्जीखार, सेंधानमक, दन्ती, चित्त, जूही, सेवार तथा अपामार्ग के बीज के कल्क से गोमूत्र डालकर पकाये हुए 'स्वर्जिकाद्य' नामक तेल का प्रयोग करने से दुष्टव्रण तथा कफजन्य नाडीव्रण नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

सैन्धवाद्यतैलमाह—

सैन्धवार्कमरिचज्वलनाख्यैर्मार्कवेण रजनीद्वयसिद्धम्।
तैलमेतदचिरेण निहन्याद् दूरगामपि कफानिलनाडीम् ॥ १६ ॥

सेंधानमक, कालीमिर्च, चित्त, भृङ्गराज, हल्दी तथा दारुहल्दी-इन ओषधियों के कल्क द्वारा पकाया गया 'सैन्धवाद्य' नामक तेल दूर तक पहुँचे हुए भी कफ तथा वातजन्य नाडीव्रण को शीघ्र नष्ट कर देता है ॥ १६ ॥

शल्यजनाडीव्रणचिकित्सामाह—

नाडीं तु शल्यप्रभवां विदार्य निष्कास्य शल्यं प्रविशोध्य मार्गम्।
बन्धेद् व्रणं क्षौद्रघृतप्रगाढैस्तिलैस्ततो रोपणमस्य कुर्यात् ॥ १७ ॥

शल्यज नाडीव्रण को भलीभाँति चीरकर शल्य को निकालकर और पूयमार्ग को अच्छी तरह शुद्ध करके मधु तथा घृतमिश्रित तिल के कल्क का प्रलेप करके व्रण को पट्टी से बाँध दे। इस भाँति व्रण का रोपण करे ॥ १७ ॥

कुम्भीकाद्यतैलमाह—

कुम्भीकखर्जूरकपित्थबिल्ववनस्पतीनाञ्च शलाटुवर्गे।

कृत्वा कषायं विपचेत्तु तैलमावाप्य मुस्तं सरलां प्रियङ्गुम् ॥ १८ ॥
सौगन्धिकं मोचरसाहिपुष्पं लोध्राणि दत्त्वा खलु धातकीञ्च ।
एतेन शल्यप्रभवा हि नाडी रोहेद् व्रणो वा सुखमाशु चैव ॥ १९ ॥

जलकुम्भी, खजूर, कैथ, वेलगिरी तथा वरगद इन सबके कच्चे फलों का क्वाथ बना ले। फिर यह क्वाथ तथा नागरमोथा, धूप, फूलप्रियङ्गु, रोहिषतृण, मोचरस, नागकेशर, लोध और धाय के फूल के कल्क डालकर तेल पका ले। इस प्रकार 'कुम्भीकाद्य' नामक तेल सिद्ध होता है। इस तेलका प्रयोग करने से शल्यज नाडीव्रण तथा अन्य दूसरे भी व्रण शीघ्र भरते हैं ॥ १८–१९ ॥

इति कुम्भीकाद्यतैलम् ।

स्नुह्यर्कदुग्धदार्वीणां वर्त्तिं कृत्वा प्रपूरयेत् । एष सर्वशरीरस्थां नाडीं हन्यात्प्रयोगराट् ॥२०॥

थूहर तथा मदार का दूध और दारुहल्दी इनको पीसकर वत्ती बनाकर नाडीव्रण में भर दे। यह प्रयोगराट् समस्त शरीर में रहनेवाले नाडीव्रण को नष्ट कर देता है ॥ २० ॥

आरग्वधनिशाकालाचूर्णाज्यक्षौद्रसंयुता । सूत्रवर्त्तिर्व्रणे योज्या शोधनी गतिनाशिनी ॥२१॥

अमलतास, हल्दी तथा निशोथ के चूर्ण में घी तथा मधु मिलाकर एक सूत को वत्तीपर लगा दे। फिर इस वत्ती को नाडीव्रण में रखने से व्रण शुद्ध होता है तथा पूय का आना बन्द हो जाता है ॥

वर्त्तीकृतं माक्षिकसम्प्रयुक्तं नाडीघ्नमुक्तं लवणोत्तमं वा ।
दुष्टव्रणे यद्विहितं तु तैलं तत्सेव्यमानं गतिमाशु हन्ति ॥ २२ ॥

वत्ती बनाकर उसपर मधुमिश्रित सेंधानमक को लगाकर नाडीव्रण में रखने से नाडीव्रण नष्ट हो जाता है। तथा दुष्टव्रण पर विहित तेल का सेवन करने से पूय का आना शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

जात्यर्कसम्पाककरञ्जदन्तीसिन्धूत्थसौवर्चलयावशूकैः ।
वर्त्तिः कृता हन्त्यचिरेण नाडीं स्नुक्क्षीरपिष्टा तु सचित्रकेण ॥ २३ ॥

चमेली, मदार, अमलतास, करञ्ज, दन्ती, सेंधानमक, कालानमक, जवाखार तथा चित्त इनको थूहर के दूध से पीसकर वत्ती बनाकर नाडीव्रण में रखने से नाडीव्रण शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥२३॥

विभीतकाम्रास्थिवटप्रवालहरेणुकाशङ्खिनिबीजमिश्रा ।
वाराहविट्सूक्ष्ममसी प्रदेया नाडीषु तलेन च मिश्रयित्वा ॥ २४ ॥

बहेड़े, आम की गुठली, वड़ के अङ्कुर, प्रवाल, रेणुका के बीज, शंखिनी के बीज और सूअर के मल की सूक्ष्म राख को पीसकर तेल में मिलाकर नाडीव्रण में भरने से नाड़ीव्रण नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

मेषरोममसीतुम्ब्या कटुतैलं विपाचितम् नाडीव्रणं चिरोद्भूतं जयेत्तु तूलसङ्गमात् ॥ २५ ॥

भेड़ के बालों का भस्म तथा कड़वी तुम्बी के कल्क से पकाये हुए कडुवे तेल का वत्ती द्वारा प्रयोग करने से बहुत दिनों का पुराना भी नाडीव्रण नष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥

कर्चूरतैलमाह—

कर्चूरकस्य स्वरसे कटुतैलं विपाचयेत् । सिन्दूरकल्कितं नाडीदुष्टव्रणविसर्पनुत् ॥ २६ ॥

कचूर के स्वरस में सिन्दूर के कल्क द्वारा कड़वे तैल को पका ले। इस तेल के प्रयोग से नाडी-व्रण, दुष्टव्रण तथा विसर्प नष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥

कर्चूरकरसे तैलं पुरसिन्दूरकल्कितम् । पामादुष्टव्रणं नाडीं हन्यात्सर्वव्रणान्तकृत् ॥ २७ ॥

कचूर के स्वरस में गुग्गुलु तथा सिन्दूर के कल्क द्वारा पकाया गया कड़ुवा तेल खुजली, दुष्ट-व्रण, नाड़ीव्रण तथा समस्त व्रणों का नाश कर देता है ॥ २७ ॥

भल्लातकाद्यतैलमाह—

भल्लातकार्कमरिचैर्लवणोत्तमेन सिद्धं विडङ्गरजनीद्वयचित्रकैश्च ।
स्यान्मार्कवस्य च रसेन निहन्ति तैलं नाडीं कफानिलकृतामपचीं व्रणांश्च ॥

भिलावा, मदार, काली मिर्च, सेंधानमक, वायविडङ्ग, हल्दी, दारुहल्दी तथा चित्त इन ओषधियों के कल्क तथा भृङ्गराजस्वरस से सिद्ध किया हुआ 'भल्लातकाद्यतैल' नाडीव्रण, कफ तथा वातजन्य अपची और व्रण को नष्ट कर देता है ॥ २८ ॥

स्वर्जिकाऽद्यतैलमाह—

स्वर्जिका सैन्धवं दन्ती नीलीमूलं फलं तथा। मूत्रे चतुर्गुणे सिद्धं तैलं नाडीव्रणापहम्। सर्वो व्रणक्रमः कार्यः शोधनारोपणादिकः ॥ २९ ॥

सज्जीखार, सेंधानमक, दन्ती, नील की जड़ तथा नील के फल के कल्क से और चौगुने गोमूत्र में पकाया हुआ 'स्वर्जिकाऽद्यतैल' नाडीव्रण को नष्ट कर देता है। इस तेल से शोधन, रोपणादि समस्त व्रणोपचार करना चाहिए ॥ २९ ॥

सप्ताङ्गगुग्गुलुमाह—

गुग्गुलुत्रिफलाव्योषैः समांशैराज्ययोजितैः। अक्षप्रमाणां गुटिकां खादेदेकामतन्द्रितः ॥३०॥ नाडीं दुष्टव्रणं शूलमुदावर्त्तं भगन्दरम्। गुल्मञ्च गुदजान्हन्यात्पचिरात् पन्नगानिव ॥ ३१ ॥

गुग्गुलु, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मिर्च तथा पिप्पली इन ओषधियों को समान-समान परिमाण में लेकर चूर्ण बनाकर घी मिलाकर १-१ तोले की गोलियाँ बना ले। और प्रतिदिन १-१ गोली खाये। ये गोलियाँ नाडीव्रण, दुष्टव्रण, शूल, उदावर्त्त, भगन्दर, गुल्म तथा अर्शरोग को इस प्रकार नष्ट कर देती हैं, जैसे कि गरुड साँपों को नष्ट कर देते हैं ॥ ३०-३१ ॥

या द्विव्रणीये विहितास्तु वर्त्यस्ताः सर्वनाडीषु भिषग्विदध्यात् ॥ ३२ ॥

द्विव्रणीयचिकित्साध्याय (निज तथा आगन्तुज व्रणाधिकार) में जिन वर्त्तियों का विधान किया गया है, वैद्य उन्हीं वर्त्तियों का उपयोग सम्पूर्ण नाडीव्रण में भी करें ॥ ३२ ॥

कृशदुर्बलभीरूणां नाडीं मर्माश्रितामपि। क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्न शस्त्रेण कदाचन ॥३३॥

कृश, दुर्बल तथा भीरु मनुष्य के और मर्मस्थलों में उत्पन्न हुए नाडीव्रण का क्षारसूत्र से छेदन करे, शस्त्र से कभी भी छेदन न करे ॥ ३३ ॥

एषण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारिणीम्। सूचीं निदध्याद्गत्यन्ते प्रोन्नाम्याशु विनिर्हरेत् ॥ सूत्रस्यान्तं समानीय गाढं बन्धनमाचरेत्। ततः क्षारबलं वीक्ष्य सूत्रमन्यत्प्रवेशयेत् ॥३५॥ क्षाराक्तं मतिमान्वैद्यो यावन्न छिद्यते गतिः। भगन्दरेष्वेष विधिः कार्यो वैद्येन जानता ॥

एषणी (Probe) द्वारा नाडीव्रण की गतिको जानकर क्षारलिप्त सूत्र को सूई में डालकर उस गति के अनुसार सूई को प्रविष्ट करे। फिर गति के अन्त में सूई को उभाड़कर निकाल ले और क्षारसूत्र के अन्तिम भाग पर मजबूत गाँठ बाँध दे। तत्पश्चात् क्षार के बल को देखकर अर्थात् यदि एक बार प्रयुक्त किये गये क्षारसूत्र से छेदन न हो सका तो फिर दूसरे क्षारसूत्र को बुद्धिमान् वैद्य तब तक प्रविष्ट करता रहे, जब तक कि नाडीव्रण की गति का भली भाँति छेदन न हो जाय। विद्वान् वैद्य को भगन्दर रोग में भी इसी विधि का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३४-३६ ॥

अर्बुदादिषु चोत्क्षिप्य मूले सूत्रं निधापयेत्। सूचीभिर्यववक्त्राभिराचितं वा समन्ततः। मूले सूत्रेण बध्नीयाच्छिन्ने चोपचरेद् व्रणम् ॥ ३७ ॥

इत्येकोनपञ्चाशत्तमो नाडीव्रणाधिकारः समाप्तः ॥ ४९ ॥

अर्बुद इत्यादि के उत्पन्न हो जाने पर उन्हें ऊँचा उठाकर उनके मूल में क्षारसूत्र को बाँध दे अथवा जौ के समान मुखवाली सूई से चारो तरफ से छेदकर उनकी जड़ में क्षारसूत्र को बाँध दे। इस प्रकार अर्बुद इत्यादि के कट जाने पर व्रण के समान उपचार करे ॥ ३७ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकोनपञ्चाशत्तमो नाडीव्रणाधिकारः समाप्तः ॥४९॥

अथ पञ्चाशत्तमो भगन्दराधिकारः ॥ ५० ॥

तत्र भगन्दरस्य पूर्वरूपसहितं स्वरूपमाह—

कटीकपालनिस्तोददाहकण्डूरुजाऽऽदयः। भवन्ति पूर्वरूपाणि भविष्यति भगन्दरे ॥ १ ॥

भगन्दर जब होनेवाला होता है, तब कमर तथा शिर में सूई चुभाने के समान पीड़ा, दाह, खुजली तथा पीड़ा इत्यादि पूर्वरूप होते हैं ॥ १ ॥

गुदस्य द्व्यङ्गुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकाऽऽर्त्तिकृत्। भिन्नो भगन्दरो ज्ञेयः स च पञ्चविधो भवेत्॥

*आर्त्तिकृत्=पीडाकृत्। पञ्चविधः=वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकसान्निपातिकशल्यजभेदैः॥

गुदा के पार्श्व में दो अङ्गुल स्थान में पीड़ा करनेवाली फटी हुई फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उसे भगन्दर[1] समझना चाहिए। यह भगन्दर रोग १—वातिक, २—पैत्तिक, ३—श्लैष्मिक, ४—सान्निपातिक तथा ५—शल्यज भेद से ५ प्रकार का होता है ॥ २ ॥

---

१. भगन्दर को पाश्चात्त्य वैद्यक में फिस्चुला इन् एनो (Fistula in ano) कहते हैं। यह वास्तव में नाड़ीव्रण होता है, जो गुदा तथा मलाशय के पास पाया जाता है। इस स्थान के नाडीव्रणों ही को भगन्दर कहा जाता है। इसका एक मुख मलद्वार के पास चर्म पर होता है और दूसरा द्वार मलाशय के भीतर अथवा उसके पास रहता है। जिस प्रकार अपने यहाँ शतपोनक (Multiple fistula) भगन्दर माने जाते हैं, उसी भाँति पाश्चात्त्य वैद्यक में भी भगन्दर कई प्रकार का माना गया है। यथा :—

१—द्विमुखी या पूर्ण भगन्दर—इसका एक मुख मलाशय के भीतर और दूसरा मलद्वार के पास चर्म पर होता है। इस प्रकार चर्म से बीच की धातुओं में होता हुआ मलाशय के भीतर तक एक पूरा मार्ग बन जाता है। यह भगन्दर किसी विद्रधि से उत्पन्न होता है और उसीकी स्थिति के अनुसार भगन्दर की भी स्थिति होती है। यदि विद्रधि मलद्वार के पास ही उत्पन्न है तो मलाशय और भगन्दर के बीच केवल श्लैष्मिक कला रह जाती है। किन्तु यदि विद्रधि उससे तनिक दूर होती है; जैसे गुदपार्श्व विद्रधि (Schio-Rectal abscess), तो भगन्दर का बाह्य छिद्र विद्रधि के अनुसार मलद्वार से कुछ दूरी पर होता है और आन्तरिक छिद्र लगभग एक इन्च ऊपर की ओर मलाशय की आन्तरिक संकोचक पेशी के पास स्थित होता है। बहुधा इस मुख्य मार्ग से कई नाडीव्रण शाखा की भाँति फूटकर चारो ओर की धातुओं में जाते हैं। कभी-कभी इस प्रकार का भगन्दर पाया जाता है, जो मलमार्ग के निचले भाग को चारो ओर से घेर लेता है। इससे फूटती हुई और शाखाएँ मिल सकती हैं।

२—बहिर्मुखी या बाह्य अन्ध भगन्दर—इसका केवल एक ही छिद्र बाहर चर्म पर खुलता है। इस प्रकार के भगन्दर का मलाशय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह मलाशय के पास आकर समाप्त हो जाता है। यदि एक एषणी (Probe) बाहर से इस भगन्दर में डाली जाय, तो उसको मलाशय के द्वारा प्रतीत किया जा सकता है। मलाशय के भीतर अङ्गुली और एषणी के बीच केवल मलाशय कला रहती है।

३—अन्तर्मुखी या आन्तरिक अन्ध भगन्दर—इसका छिद्र चर्म पर नहीं होता। यह केवल भीतर की ओर मलाशय में खुलता है और उसमें उत्पन्न हुआ पूय भी मलाशय ही में जाता है। इस प्रकार के भगन्दर में मल के साथ पूय आता है। अङ्गुली के द्वारा मलाशय में स्थित भगन्दर के छिद्र को प्रतीत किया जा सकता है। अथवा यदि एक मुड़ी हुई एषणी (Probe) उसमें डालें तो उसके द्वारा भगन्दर के मार्ग तथा उसकी गहराई मालूम हो जाती है।

भगन्दरशब्दस्य निरुक्तिमाह भोजः—

भगं परिसमन्ताच्च गुदं बस्तिं तथैव च। भगवद् दारयेद्यस्मात्तस्मादेष भगन्दरः ॥ ३ ॥

***भजन्त्यनेनेति भगो = मेहनम्। भजन्त्यस्मिन्निति भगं = योनिः। अत्र भगशब्देन द्वयमपि कथ्यते। भगवद् = योनिवत् ॥ ३ ॥**

चिकित्सा—केवल शस्त्र के द्वारा की जा सकती है। मलाशय से सदा दूषित पदार्थ भगन्दर के भीतर पहुँचा करते हैं, जिससे भगन्दर भी दूषित हो जाता है। इस कारण उनका नीरोग होना कठिन होता है।

शस्त्रकर्म करने के एक घण्टे पूर्व वस्ति-कर्म द्वारा मलाशय को पूर्णतया स्वच्छ कर देना आवश्यक है। पूर्व रात्रि को रोगी को अण्डी का तेल इत्यादि विरेचक देने चाहिए। इन दोनों कर्मों द्वारा अन्त्रियों को जितना हो सके, उतना मलरहित कर देना उचित है, क्योंकि शस्त्र-कर्म के पश्चात् रोगी को ४ या ५ दिन तक बद्धकोष्ठ रखना पड़ता है।

वस्ति-कर्म के पश्चात् रोगी को मेज पर लिटाकर उसकी टाँगों को ऊपर की ओर उठाकर मेज के दोनों ओर के आकड़ों में बाँध देते हैं। दोनों ओर की ऊरु के भीतरी स्थान तथा नितम्ब या मलद्वार के चारो ओर के स्थानों को पहिले ही शुद्ध कर लिया जाता है। इन स्थानों को अब शुद्ध तौलियों से ढककर चिकित्सक एक स्टूल पर मलद्वार के सामने की ओर बैठता है।

भगन्दर के बाहरी छिद्र के द्वारा एक शुद्ध एषणी मलाशय तक डाली जाती है और उसके सहारे एक प्रदर्शक शलाका जिसमें हल्की सी परिखा बनी होती है, भीतर प्रविष्ट की जाती है। इस शलाका की नली द्वारा एक मुड़े हुए वेधसपत्र को भीतर प्रविष्ट करके मलाशय और भगन्दर के बीच की धातु काट दी जाती है। भगन्दर की स्थिति के अनुसार कभी-कभी दोनों बाह्य और आन्तरिक सङ्कोचक पेशियाँ (External and Internal Sphincters) काटनी पड़ती हैं, कभी-कभी दोनों बच जाती हैं। प्रायः बाह्यसङ्कोचिनी पेशी का कुछ भाग अवश्य ही काटना पड़ता है। इसके पश्चात् इस भगन्दर के मुख्य मार्ग से जो शाखाएँ इधर-उधर को जाती हैं, उनको भी भली प्रकार ढूँढ़कर और वेधसपत्र से भली भाँति खोलकर उनके प्रत्येक दूषित भाग को खुरच या काटकर निकाल दिया जाता है। जिस स्थान पर चर्म स्वस्थ न हो, उसको भी काट डालना चाहिए। इतना ध्यान रहे कि सङ्कोचक पेशी दो स्थानों पर न कटे। इस प्रकार भगन्दर का छेदन करके सारी धातुओं को स्वच्छ करने के पश्चात् जिन धमनियों से रक्त निकल रहा हो, उनका बन्धन कर देना चाहिए। और व्रणों में आइडोफार्म छिड़ककर आइडोफार्म और ग्लिसरिन में भीगा हुआ गौज उस स्थान में भर देना चाहिए। उसके ऊपर रूई रखकर टी (T) के आकार का बन्धेज लगा दिया जाय। कर्म के पश्चात् बहुधा कर्मक्षेत्र में आइडोफार्म की गुदवर्त्ति (Supository) को रख दिया जाता है।

शस्त्रकर्म के पश्चात् की चिकित्सा—चार दिन तक रोगी को मलत्याग करने से रोकना और शस्त्रकर्म किये हुए सारे स्थान को अत्यन्त शुद्ध रखना आवश्यक है। चौबीस या अड़तालीस घण्टे तक भीतर भरे हुए गौज को निकालने की आवश्यकता नहीं है। केवल चारों ओर के स्थान को गरम कारबोलिक विलयन से धो देना चाहिए। जब भीतर के गौज के टुकड़े निकाले जायें तो प्रतिदिन दो बार व्रण को धोकर आइडोफार्म और ग्लिसरिन में भीगे हुए गौज के नये टुकड़े रखे जायँ और ऊपर से पहिले ही की भाँति व्रणोपचार किया जाय।

चौथे दिन रोगी को अण्डी का तेल दिया जाता है। उसके पश्चात् प्रतिदिन रोगी को एक बार मलत्याग कराना चाहिए। इस व्रण में रोहण होने लगता है और वह धीरे-धीरे भर जाता है। रोगी को लौह इत्यादि बलकारक वस्तुएँ देनी उचित हैं। इस प्रकार अब तक जो कुछ भगन्दर के

भग, गुदा तथा वस्ति के चारो ओर योनि के समान विदीर्ण कर देता है, इसीसे यह रोग भगन्दर रोग कहलाता है। यहाँपर भग शब्द से लिङ्ग तथा योनि दोनों का ग्रहण होता है अर्थात् भग शब्द से गुदा तथा वस्ति के बीच के स्थान का ग्रहण होता है ॥ ३ ॥

वातजशतपोनकभगन्दरलक्षणमाह—

कषायरूक्षैरतिकोपितोऽनिलस्त्वपानदेशे पिडकां करोति याम् ।
उपेक्षणात्पाकमुपैति दारुणं रुजा च भिन्नाऽरुणफेनवाहिनी ।
तत्रागमो मूत्रपुरीषरेतसां व्रणैरनेकैः शतपोनकं वदेत् ॥ ४ ॥

*दारुणम् = अतिदारुणम् । व्रणैरनेकैः सूक्ष्ममुखैः । शतपोनकं=शतपोनकः=चालनी, तत् तुल्यम् ॥ ४ ॥

कसैले तथा रूक्ष पदार्थों के सेवन करने से प्रकुपित हुआ वात गुदप्रदेश में जिन फुन्सियों को उत्पन्न करता है, उन फुन्सियों की उपेक्षा करने से वे दारुण पाक को प्राप्त हो जाती हैं, पीड़ा होती है, फूटने पर इनसे लाल रंग का फेन बहता है और उनमें से मूत्र, मल तथा वीर्य निकलता है। इसमें छोटे-छोटे मुखवाले अनेक व्रण हो जाते हैं, इसीलिए इसे 'शतपोनक' कहते हैं। 'शतपोनक' संस्कृत में 'चलनी' का नाम है, चलनी में जैसे अनेक छिद्र होते हैं, उसी भाँति इसमें भी अनेक सूक्ष्म छिद्र होते हैं ॥ ४ ॥

पैत्तिकोष्ट्रग्रीवभगन्दरलक्षणमाह—

प्रकोपनैः पित्तमतिप्रकोपितं करोति रक्तां पिडकां गुदे गताम् ।
तदाशुपाकाऽहिमपूतिवाहिनीं भगन्दरं चोष्ट्रशिरोधरं वदेत् ॥ ५ ॥

*आशुपाकां = शीघ्रपाकाम्, अहिमपूतिवाहिनीम् = उष्णदुर्गन्धवाहिनीं च । तदा भगन्दरमुष्ट्रशिरोधरं वदेत् । उष्ट्रग्रीवसञ्ज्ञा च पिडका गलेन वक्रतयोष्ट्रग्रीवाऽऽकारत्वेन॥

पित्तप्रकोपक पदार्थों के सेवन से अत्यन्त प्रकुपित पित्त गुदा के पार्श्व में रक्तवर्णकी फुन्सियों को उत्पन्न कर देता है। ये फुन्सियाँ शीघ्र पकती हैं, और उनमें से उष्ण तथा दुर्गन्धयुक्त पूय बहता है। ये फुन्सियाँ 'उष्ट्रग्रीव' कहलाती हैं। इन फुन्सियों का गला ऊँट के गले के समान टेढ़ा होता है, इसीलिए ये फुन्सियाँ 'उष्ट्रग्रीव' कहलाती हैं ॥ ५ ॥

श्लैष्मिकपरिस्राविभगन्दरलक्षणमाह—

कण्डूयनो घनस्रावी कठिनो मन्दवेदनः । श्वेतावभासः कफजः परिस्रावी भगन्दरः ॥६॥

*कठिनः—पिडकाऽवस्थायाम् । परिस्रावी = निरन्तरस्रावशीलः ॥ ६ ॥

कफज भगन्दर की फुन्सी कण्डूयुक्त, गाढ़े स्राववाली, कठिन अल्प पीड़ायुक्त, श्वेतवर्ण तथा निरन्तर स्रावयुक्त होती है। इस भगन्दर को कफज परिस्रावी भगन्दर कहते हैं ॥ ६ ॥

त्रिदोषजन्यशम्बूकावर्त्तकभगन्दरलक्षणमाह—

बहुवर्णरुजास्रावा पिडका गोस्तनोपमा । शम्बूकावर्त्तगतिकः शम्बूकावर्त्तको मतः ॥ ७ ॥

सम्बन्ध में पाश्चात्य मतानुसार चिकित्सा का वर्णन किया गया है, वह सुश्रुतोक्त चिकित्साक्रम से भिन्न नहीं है। यथा :—

'तत्र भगन्दरपिडकोपद्रुतमातुरमपतर्पणादिविरेचनान्तेनैकादशविधेनोपक्रमेणोपक्रमेतापकपिडकम् । पक्वेषु चोपस्निग्धमवगाहस्विन्नं शय्यायां सन्निवेश्यार्शसमिव यन्त्रयित्वा, भगन्दरं समीक्ष्य पराचीनमवाचीनं वा, बहिर्मुखमन्तर्मुखं वा ततः प्रणिधायैषणीमुन्नम्य साशयमुद्धरेच्छस्त्रेण, अन्तर्मुखं चैवं सम्यग्यन्त्रं प्रणिधाय प्रवाहमाणस्य भगन्दरमुखमासाद्यैषणीं दत्वा शस्त्रं पातयेत् । आसाद्य वाऽग्निक्षारं चेत्येतत्सामान्यं सर्वेषु ।

सु० चि० अ० ८ सू० ४।

*बहुवर्णरुजास्रावा = बहुशब्दो वर्णादिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते। गतिः = स्रावमार्गः॥७॥

त्रिदोषजन्य भगन्दर की पिडिका अनेक प्रकार के वर्ण, वेदना तथा स्राववाली होती है। और ये फुन्सियाँ गाय के स्तन के समान होती हैं। तथा इनका स्रावमार्ग शङ्खावर्त्त होता है। इसलिए इस त्रिदोषजन्य भगन्दर को 'शम्बूकावर्त्त' भगन्दर कहते हैं॥ ७॥

शल्यादिक्षतजन्योन्मार्गिभगन्दरलक्षणमाह—

क्षताद्गतिः पायुगता विवर्द्धते ह्युपेक्षणात्स्युः क्रमयो विदार्य ते।
प्रकुर्वते मार्गमनेकधा मुखैर्व्रणैस्तमुन्मार्गिभगन्दरं वदेत्॥ ८॥

***क्षतात् = कण्टकादिना नखेन कण्डूयनादिना वाऽभिघातात्। गतिः = स्रावः। उन्मार्गिभगन्दरम्—एतस्य तिर्यक्कृतमार्गैः पुरीषादिनिर्गमादुन्मार्गिसंज्ञा॥ ८॥**

काँटे इत्यादि के लगने तथा नख से खुजलाने इत्यादि से गुदा के पार्श्व में क्षत उत्पन्न हो जाता है। उपेक्षा करनेसे यह क्षत बढ़ता है और इसमें कीड़े पड़ जाते हैं। ये कीड़े व्रण को फाड़कर अनेक मार्ग बना देते हैं। तब अनेक व्रणमुखों से स्राव होने लगता है। इन व्रणों के तिरछे मार्गों से मल इत्यादि का निःसरण होता है। इसीलिए इस भगन्दर को 'उन्मार्गी' भगन्दर कहा जाता है॥८॥

भगन्दरस्य कष्टसाध्यत्वमसाध्यत्वं चाह—

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः। तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च विशेषतः॥९॥
वातमूत्रपुरीषाणि शुक्रञ्च क्रमयस्तथा। भगन्दरात्स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम्॥ १०॥

सभी भगन्दर भयङ्कर तथा कृच्छ्रसाध्य होते हैं। इन सभी भगन्दरों में विशेषतः त्रिदोषज तथा क्षतज-भगन्दर असाध्य होते हैं। यदि भगन्दर से वायु, मूत्र, मल, शुक्र तथा कीड़ों का स्राव हो, तो वह भगन्दर रोगी को मार डालता है॥ ९-१०॥

भगन्दरचिकित्सामाह—

अथास्य पिडकामेव तथा यत्नादुपाचरेत्। शुद्ध्यस्रस्रुतिसेकाद्यैर्यथा पाकं न गच्छति॥११॥

शोधन, रक्तमोक्षण तथा परिषेक इत्यादि द्वारा भगन्दर की फुन्सी का उत्पन्न होते ही यत्नपूर्वक ऐसा उपचार करना चाहिए कि जिससे फुन्सी पकने न पाये॥ ११॥

वटपत्रेष्टकाशुण्ठीसगुडूचीपुनर्नवाः। सुपिष्टः पिडकाऽवस्थे लेपः शस्तो भगन्दरे॥ १२॥

बरगद के पत्ते, ईंट, सोंठ, गुडूची तथा पुनर्नवा इन ओषधियों को अच्छी तरह पीसकर पिडिका के स्थान पर लेप करना भगन्दर में प्रशस्त माना गया है॥ १२॥

पिडकानामपक्वानामपतर्पणपूर्वकम्। कर्म कुर्याद्विरेकान्तं भिन्नानां वक्ष्यते क्रिया॥ १३॥

यदि भगन्दर की फुन्सियाँ पकी न हों, तो लङ्घन से लेकर विरेचन पर्यन्त क्रियाएँ करे और फुन्सियों के फूट जानेके पश्चात् जिन क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है, उन्हें आगे कहेंगे॥ १३॥

एषणीपाटनक्षारवह्निदाहादिकं क्रमम्। विधाय व्रणवत्कार्यं यथादोषं यथाक्रमम्॥ १४॥

एषणी (Probe) द्वारा एषण, चीरना, क्षारप्रयोग तथा अग्नि द्वारा दाह इत्यादि क्रियाओं को करके दोषानुसार यथाक्रम व्रणवत् उपचार करे॥ १४॥

पयःपिष्टैस्तिलारिष्टमधुकैश्च सुशीतलैः। भगन्दरे प्रशस्तोऽयं सरक्ते वेदनावति॥ १५॥

रक्त तथा वेदनायुक्त भगन्दर में तिल, नीम के पत्ते तथा मुलेठी इन ओषधियों को दूध से पीसकर भलीभाँति शीतल करके लेप करे। यह लेप उत्तम माना गया है॥ १५॥

सुमना वटपत्राणि गुडूची विश्वभेषजम्। ससैन्धवस्तक्रपिष्टो लेपो हन्ति भगन्दरम्॥१६॥

चमेली के पत्ते, बरगद के पत्ते, गुडूची, सोंठ तथा सेंधानमक को तक्र में पीसकर लेप करने से भगन्दर नष्ट हो जाता है॥ १६॥

त्रिवृत्तिला नागदन्ती मञ्जिष्ठा सह सर्पिषा। उत्सादनं भवेदेतत्सैन्धवक्षौद्रसंयुतम्॥१७॥

निशोथ, तिल, नागदन्ती (महाराष्ट्र तथा कर्नाटक में होनेवाला वृक्षविशेष) तथा मजीठ-इनको पीसकर सेंधानमक, घी तथा मधु मिलाकर भगन्दर के ऊपर लेप करनेसे भगन्दर नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

खदिराम्बुरतो भूत्वा कषायं त्रैफलं पिबेत् । महिषाक्षविडङ्गानां भगन्दरविनाशनम् ॥१८॥

हरड़, बहेड़ा, आँवला, महिषाक्ष गुग्गुलु तथा वायविडङ्ग इनके क्वाथ को पीये और जल पीने की इच्छा हो, तब खदिरक्वाथ को पीये । इससे भगन्दर नष्ट ही हो जाता है ॥ १८ ॥

शम्बूकमांसं भुञ्जीत प्रकारैर्व्यञ्जनादिभिः । अजीर्णवर्जी मासेन मुच्यते तु भगन्दरात् ॥१९॥

व्यञ्जन प्रकारों में अर्थात् रोटी शाक इत्यादि भोज्य पदार्थों में शङ्खस्थित जीव के मांस को मिलाकर खाये और अजीर्ण न होने दे तो १ महीने के भीतर ही मनुष्य भगन्दर रोग से छुटकारा पा जाता है ॥ १९ ॥

न्यग्रोधादिर्गणो यस्तु हितः शोधनरोपणः । तैलं घृतं वा तत् पक्वं भगन्दरविनाशनम् ॥

न्यग्रोधादिगण[1] के कल्क से जो कि व्रणशोधन तथा व्रणरोपण में हितकर है, तेल अथवा घी पकाकर लगाने से भगन्दर का नाश हो जाता है ॥ २० ॥

तिला ज्योतिष्मती कुष्टं लाङ्गली गिरिकर्णिका । शताह्वात्रिवृतादन्त्यः शोधनाश्च भगन्दरे ॥

तिल, मालकाकुन, कूट, कलिहारी, अपराजिता, सोया, निशोथ तथा दन्ती इन ओषधियों के क्वाथ से धोने से भगन्दर शुद्ध होता है ॥ २१ ॥

तिलाभयालोध्रमरिष्टपत्रं निशे बला लोध्रमगारधूमम् ।
भगन्दरे चाप्युपदंशजे च दुष्टव्रणे रोपणशोधनाय ॥ २२ ॥

तिल, हरड़, लोध, नीम के पत्ते, हल्दी, दारुहल्दी, खिरैटी, लोध तथा गृहधूम इन ओषधियों का प्रयोग भगन्दर, उपदंश के व्रण तथा दुष्टव्रण में शोधन तथा रोपण के लिए करे ॥ २२ ॥

स्नुह्यर्कदुग्धदार्वीभिर्वर्त्तिं कृत्वा विचक्षणः । भगन्दरगतिं ज्ञात्वा पूरयेत्तां प्रयत्नतः ॥२३॥
एषा सर्वशरीरस्थां नाडीं हन्यान्न संशयः । त्रिफलारससंयुक्तं बिडालास्थिप्रलेपनम् ॥२४॥
भगन्दरं निहन्त्याशु दुष्टव्रणहरं परम् । त्रिवृत्तेजोवतीदन्तीकल्को नाडीव्रणापहः ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् वैद्य थूहर के दूध, मदार के दूध तथा दारुहल्दी को एकत्र पीसकर वत्ती बना ले। इस वत्ती को भगन्दर में उसकी गति को जानकर यत्नपूर्वक भर दे। यह वत्ती समस्त शरीर में स्थित नाडीव्रण को नष्ट कर देती है, इसमें सन्देह नहीं। अथवा बिलाव की हड्डी को त्रिफले के रस में पीसकर लेप करने से भगन्दर तथा दुष्टव्रण तत्काल अवश्य नष्ट हो जाता है। अथवा निशोथ, मालकाकुन तथा दन्ती के कल्क का प्रयोग करने से नाडीव्रण नष्ट होता है ॥ २३–२५ ॥

ज्योतिष्मती लाङ्गलकी श्यामा दन्ती त्रिवृत्तिलाः ।
कुष्ठं शताह्वा गोलोमी तिल्वको गिरिकर्णिका ॥ २६ ॥
कासीसकाञ्चनक्षीर्यौ वर्गः शोधन इष्यते ॥ २७ ॥

मालकाकुन, कलिहारी, निशोथ, दन्ती, निशोथ, तिल, कूट, सोया, वच, लोध, अपराजिता, कासीस तथा स्वर्णक्षीरी यह वर्ग भगन्दर के व्रण को शुद्ध करनेवाले हैं ॥ २६–२७ ॥

---

१. न्यग्रोधपिप्पलसदाफललोध्रयुग्मजम्बूद्वयार्जुनकपीतनसोमवल्काः—
प्लक्षाम्रवञ्जुलप्रियालपलाशनन्दिकोलीकदम्बविरलामधुकं मधूकम् ॥ इति द्रव्याणि न्यग्रोधादिगणस्य।
बरगद, पीपल, गूलर, शाबरलोध, पठानीलोध, बड़ाजम्बू, राजजम्बू, अर्जुन, आमड़ा, कायफल, पाकर, आम, बेत, चिरौंजी, पलाश, नन्दीवृक्ष, बेर, कदम्ब, तेंदू, मुलेठी, महुआ ये न्यग्रोधादिगण के द्रव्य हैं। वा० सू० १५ अ०।

मधुतैलयुता विडङ्गसारत्रिफलामागधिकाकणाश्च लीढाः ।
कृमिकुष्ठभगन्दरप्रमेहक्षयनाडीव्रणरोपणा भवन्ति ॥ २८ ॥

वायविडङ्ग, खैरसार, हरड़, बहेड़ा, आँवला तथा दो भाग पिप्पली इन सब ओषधियों के चूर्ण को मधु तथा तेल मिलाकर चाटने से कृमि, कुष्ठ, भगन्दर, प्रमेह तथा क्षय रोग नष्ट हो जाते हैं और नाडीव्रण का रोपण होता है ॥ २८ ॥

विष्यन्दनतैलमाह—

चित्रकार्कौ त्रिवृत्पाठे मलयूहयमारकौ । सुधां वचां लाङ्गलकीं हरितालं सुवर्चिकाम् ॥२९॥
ज्योतिष्मतीञ्च संहृत्य तैलं धीमान्विपाचयेत् । एतद्विष्यन्दनं नाम तैलं दद्याद्भगन्दरे ।
शोधनं रोपणञ्चैव सवर्णकरणं तथा ॥ ३० ॥

चित्त, मदार, निशोथ, पाठा, कठगूलर, कनेर, थूहर, वच, कलिहारी, हरिताल, सज्जीखार तथा मालकाकुन इन सब ओषधियों को इकट्ठा पीसकर कल्क बनाले और फिर इस कल्क से बुद्धिमान् वैद्य तेल को पकाये तो 'विष्यन्दन' नामक तैल सिद्ध हो जाता है। इस तेल का भगन्दर पर प्रयोग करने से व्रण का शोधन तथा रोपण करता है और व्रण के स्थान का वर्ण शरीर के वर्ण के समान कर देता है ॥ २९-३० ॥

निशाऽऽद्यतैलमाह—

निशाऽर्कक्षीरसिन्धूत्थपुराश्वहरवत्सकैः । सिद्धमभ्यञ्जनं तैलं भगन्दरहरं परम् ॥ ३१ ॥

हल्दी, मदार का दूध, सेंधानमक, गुग्गुलु, कनेर तथा इन्द्रजौ इन ओषधियों के कल्क से सिद्ध किये हुए तेल का अभ्यङ्ग करने से भगन्दर अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ ३१ ॥

करवीरादितैलमाह—

करवीरनिशादन्तीलाङ्गलीलवणाग्निभिः । मातुलुङ्गकवत्साह्वैः पचेत्तैलं भगन्दरे ॥ ३२ ॥

कनेर, हल्दी, दन्ती, कलिहारी, सेंधानमक, चित्त, बिजौरा नीबू की जड़ तथा इन्द्रजौ इन ओषधियों के कल्क से सिद्ध किये हुए तेल को लगाने से भगन्दर नष्ट हो जाता है ॥ ३२ ॥

नवकार्षिकगुग्गुलुमाह—

त्रिफलापुरकृष्णानां त्रिपञ्चैकांशयोजिता । गुटिका शोथगुल्मार्शोभगन्दरवतां हिता ॥३३॥

त्रिफला ३ भाग, गुग्गुलु ५ भाग तथा पिप्पली १ भाग इन सब ओषधियों को पीसकर गोलियाँ बना ले। इन गोलियों को खाने से शोथ, गुल्म, अर्शरोग तथा भगन्दर नष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥

भगन्दरशस्त्रक्रियाकर्तव्यतामाह—

नाड्यन्तरे व्रणान्कुर्याद्भिषक् तु शतपोनके । ततस्तेष्ववरूढेषु शेषा नाडीरुपाचरेत् ॥३४॥

वैद्य शतपोनक नामक भगन्दर की नाड़ी में शस्त्रद्वारा चीरा देकर व्रण कर दे। फिर इस व्रण के भर जाने पर शेष दूषित नाड़ियों का भी उपर्युक्त उपचार करे ॥ ३४ ॥

व्याधौ तत्र बहुच्छिद्रे भिषजा तु विजानता । अर्द्धलाङ्गलकच्छेदः कार्यो लाङ्गलकोऽपि वा ॥
सर्वतोभद्रको वाऽपि कार्यो गोतीर्थकोऽपि वा ॥ ३६ ॥

बुद्धिमान् वैद्य अनेक छिद्रवाले (शतपोनक नामक) भगन्दर रोग में अर्द्धलाङ्गलक, लाङ्गलक, सर्वतोभद्रक अथवा गोतीर्थक नामक छेदन करे ॥ ३५-३६ ॥

लाङ्गलकादिच्छेदलक्षणान्याह—

द्वाभ्यां समाभ्यां पार्श्वाभ्यां छेदो लाङ्गलको मतः । ह्रस्वमेकतरं यत्तु सोऽर्द्धलाङ्गलकः स्मृतः

जिस छेद के दोनों पार्श्व समान हों, उसे लाङ्गलक छेद कहते हैं। और जिस छेद का एक पार्श्व दूसरे पार्श्व से छोटा हो, उसे अर्द्धलाङ्गलक छेद कहते हैं ॥ ३७ ॥

सेवनीं वर्जयित्वा तु चतुर्द्धा दारिते गुदे। सर्वतोभद्रकं छेदमाहुश्छेदविदो जनाः।
पार्श्वादागतशस्त्रेण च्छेदो गोतीर्थको मतः॥ ३८॥

सेवनी को छोड़कर चारों ओर से गुदा में जो चीरा लगाया जाता है, छेदविद् व्यक्ति उसे 'सर्वतोभद्रक' नामक छेद कहते हैं। पार्श्व में शस्त्र द्वारा जो छेद किया जाता है, उसे 'गोतीर्थक' नामक छेद कहते हैं॥ ३८॥

सर्वानास्रावमार्गांस्तु दहेद्वैद्यस्तथाऽग्निना। अथोष्ट्रग्रीवमेषिण्या छित्वा क्षारं निपातयेत्॥

वैद्य शतपोनक नामक भगन्दर के समस्त स्रावमार्गों को चीरकर अग्नि द्वारा दग्ध कर दे। और उष्ट्रग्रीव नामक भगन्दर के पूयमार्ग को एषणी द्वारा जानकर शस्त्र से छेदन करके क्षारपातन करे॥

उत्कृत्यास्रावमार्गन्तु परिस्राविणि बुद्धिमान्। क्षारेण वा स्रावगतिं दहेद्धुतवहेन वा॥४०॥

बुद्धिमान् वैद्य 'परिस्रावी' नामक भगन्दर में स्रावमार्ग को चीरकर क्षार अथवा अग्नि द्वारा स्रावगति का दाह करे॥ ४०॥

गतिमन्विष्य शस्त्रेण छिन्द्यात्खर्जूरपत्रकम्॥ ४१॥
चन्द्रार्द्धं चन्द्रचक्रञ्च सूचीमुखमवाङ्मुखम्। छित्वाऽग्निना दहेत्सम्यगेवं क्षारेण वा पुनः॥

शम्बूकावर्त्त नामक भगन्दर स्राव के मार्ग को शस्त्र द्वारा खर्जूरपत्रक, चन्द्रार्द्ध, चन्द्रचक्र, सूचीमुख तथा अवाङ्मुख नामक छेदन करके अग्नि अथवा क्षार द्वारा भलीभाँति दाह करे॥४१-४२॥

एषां तु शस्त्रपतनाद्वेदना यत्र जायते। तत्राणुतैलेनोष्णेन परिषेकः प्रशस्यते॥ ४३॥

शस्त्रद्वारा चीरने में यदि वेदना उत्पन्न हो जाय तो वहाँ उष्ण अणुतैल द्वारा परिषेक करना प्रशस्त माना गया है॥ ४३॥

आगन्तुजे भिषङ् नाडीं शस्त्रेणोत्कृत्य यत्नतः॥ ४४॥
जम्ब्वोष्ठेनाग्निवर्णेन तप्तया वा शलाकया। दहेद्यथोक्तमतिमांस्तं व्रणं सुसमाहितः॥४५॥

बुद्धिमान् वैद्य आगन्तुक भगन्दर में यत्नपूर्वक नाडीको शस्त्र द्वारा चीरकर अग्निके समान सन्तप्त जम्ब्वोष्ठ नामक पत्थर अथवा तप्त शलाका से व्रण को यथोक्त विधि से भलीभाँति दग्ध कर दे॥ ४५॥

व्रणिनोऽपथ्यान्याह—

व्यायामं मैथुनं युद्धं पृष्ठयानं गुरूणि च। संवत्सरं परिहरेदुपरूढव्रणो नरः॥ ४६॥

इति पञ्चाशत्तमो भगन्दराधिकारः समाप्तः॥ ५०॥



भगन्दर का रोगी व्रण के भलीभाँति भर जाने पर भी १ वर्ष तक व्यायाम, मैथुन, युद्ध, घोड़े, हाथी इत्यादि पर बैठना तथा गुरु पदार्थों का सेवन करना छोड़ दे॥ ४६॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे पञ्चाशत्तमो भगन्दराधिकारः समाप्तः॥ ५०॥



अथैकपञ्चाशत्तम उपदंशाधिकारः ॥ ५१ ॥

उपदंशनिदानमाह—

हस्ताभिघातान्नखदन्तघाताद्धावनादत्युपसेवनाद्वा ।
योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशा विविधापचारैः ॥ १ ॥

*हस्ताभिघाताद्=हस्तेन मैथुनात् । नखदन्तघाताद्=नखदन्तघातस्थानत्वेनानुक्तेऽपि मेहने नखदन्तघातो बलवद्नुरागोदयाद् । उक्तञ्च कामशास्त्रे—

*शास्त्रस्य विषयस्तावद् यावन्मन्दरसो नरः । रतिचक्रे प्रवृत्ते तु न शास्त्रं नापि च क्रमः ॥

*कलहे तु दुष्टस्त्रीकृतो वा मेहने नखदन्तघातः । उत्कलादौ स्त्रियो मुखयोनयो भवन्ति ताभिर्वा मेहने दन्तघातः । योनिप्रदोषाद् = दीर्घकर्कशयोनिलोमप्रयोगाद्, योनिच्छिद्रस्यातिसूक्ष्मत्वाद्वा वातादिकृतद्वा, योनिनिषेवणात् । विविधापचारैः = दुष्टजलप्रक्षालनब्रह्मचारिणीगमनादिभिः । पञ्चोपदंशाः = १ वातिकः, २ पैत्तिकः, ३ श्लैष्मिकः, ४ सान्निपातिकः, ५ आगन्तुजश्चेति ॥ १ ॥

हाथ का आघात लगने से, नख अथवा दाँत द्वारा क्षत हो जाने से, मैथुनोपरान्त लिङ्ग को न धोने से, अत्यन्त मैथुन करने से, योनिदोष से तथा अन्य विविध भाँति के अपचारों को करने से लिङ्ग में ५ प्रकार के [1]उपदंश होते हैं ॥

---

१. पाश्चात्य वैद्यक में उपदंश को सॉफ्ट शैंकर (Soft chancre) कहते हैं। यह रोग बैसीलस ऑफ ड्यूक्रे (Bacillus of Ducrey) नामक जीवाणु के कारण होता है। इस जीवाणु का आविष्कार ड्यूक्रे नामक शास्त्रज्ञने सन् १८८९ ई० में किया। उपदंश-पीडित व्यक्ति के साथ मैथुन करने से उपदंश उत्पन्न होता है। इसमें मैथुन के पश्चात् दूसरे से सातवें दिन के बाच जननेन्द्रिय के ऊपर स्फोट उत्पन्न होता है, जो थोड़े समय में गलकर पीडायुक्त व्रण में परिवर्त्तित होता है। यह व्रण अन्य अङ्गों में न होकर सदा जननेन्द्रिय पर पाया जाता है।

व्रण के किनारे साफ कटे हुए होते हैं। इनमें कठिनता नहीं होती, इसीलिए इसको मृदुव्रण-(Soft chancre) कहते हैं। इससे कुछ दिनों तक काफी गाढ़ा, पीला तथा रक्तमिश्रित मवाद जाता है। और यह व्रण बढ़ता है, परन्तु यदि सफाई रखी जाय तो वह स्वयं तीन सप्ताह में भर जाता है। इसका स्राव बहुत विषैला होता है, इसलिए जिन स्थानों पर लगता है, वहाँ पहिले के समान व्रण बन जाते हैं। व्रण के आस-पास का भाग लाल रहता है। प्रायः एक तरफ वंक्षण में गिल्टियाँ निकल आती हैं। इन स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त सार्वदैहिक लक्षण इसमें प्रायः नहीं होते। उपदंश स्त्री और पुरुष दोनों में होता है। जैसा कि अपने यहाँ भी लिखा है कि:—

'स्त्रीणां पुंसां च जायन्ते उपदंशाश्च दारुणाः।'

पुरुषों में इसका व्रण—शिश्न के मणि पर, मणि की त्वचा के बाहर और भीतर सेवनी पर तथा मणि के आभ्यन्तरीय मूत्रमार्ग पर होता है। स्त्रियों में इसका व्रण भगालिन्द, भगशिश्निका और लघु भगौष्ठ के ऊपर होता है। स्राव लग जाने से बृहद् भगौष्ठ, मूलाधार, नितम्ब और ऊरु के आभ्यन्तरीय प्रदेश में भी व्रण हो सकते हैं। यदि योग्य समय पर चिकित्सा न की जाय तो व्रण शीघ्रता से फैलता है, जिससे शिश्नमणि, त्वचा इत्यादि गलकर नष्ट हो जाते हैं। वंक्षण की गिल्टियाँ पककर फूटती हैं। कभी-कभी समस्त शिश्न का शोथ होता है, जैसा कि अपने यहाँ माधवनिदान में भी लिखा है कि:—

'सञ्जातमात्रे न करोति मूढः क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः ।
कालेन शोथकृमिदाहपाकविशीर्णशिश्नो म्रियते स तेन' ॥

हाथ के आघात से मतलब हस्तमैथुन करने से है। यद्यपि नख तथा दाँतों द्वारा क्षत कैसे होता है, इसका वर्णन श्लोक में नहीं आया है, तथापि लिङ्ग में यह नख और दाँतों का आघात अत्यन्त बलवान् अनुराग के उत्पन्न होने से होता है। उस समय स्त्री-पुरुष को यह ध्यान नहीं रह जाता है कि लिंग में किसी भाँति की चोट लगती है या क्षत हुआ है। उस समय मनुष्य ज्ञानशून्य-सा रहता है। जैसा कि कामशास्त्र में भी कहा है कि-'शास्त्र का विषय तभी तक है, जब तक कि मनुष्य मन्दरस रहता है अर्थात् तभी तक मनुष्य उचितानुचित, कर्तव्याकर्तव्य का विचार कर सकता है, जब तक कि उसकी बुद्धि काम द्वारा डाँवाडोल नहीं हो जाती है। और जब मनुष्य रति-चक्र में प्रवृत्त हो जाता है अर्थात् जब वह कामदेव के चर्खे में फँसता है, तब न कोई शास्त्र रह जाता है और न कोई क्रम रह जाता है अर्थात् वासनापूर्त्ति के अतिरिक्त उसे किसी बात का ज्ञान नहीं रह जाता'। नख, दन्त, द्वारा क्षत हो जाने का दूसरा कारण यह भी है कि दुष्ट स्त्रियाँ रति-कलह में लिङ्ग में नख तथा दाँतों द्वारा घाव उत्पन्न कर देती हैं। तथा उत्कलादि देशों में स्त्रियाँ मुख में मैथुन कराती हैं। इस प्रकार भी दाँतों द्वारा लिङ्ग में क्षत हो सकता है। योनिदोष से निम्न कई प्रकार की दुष्ट योनियों से अभिप्राय है। जैसे तीक्ष्ण तथा लम्बे बालों से युक्त योनि में मैथुन करने से अथवा अतिसूक्ष्म छिद्रवाली योनि में मैथुन करने से या वातादि दोषों से दूषित योनि में मैथुन करने से, ये सब अभिप्राय है। विविध भाँति के अपचारों को करने से अभिप्राय यह है कि जैसेः-दूषित जल से लिङ्ग को धोना अथवा ब्रह्मचारिणी स्त्रियों के साथ मैथुन करना इत्यादि। पाँच प्रकार के उपदंश उत्पन्न होते हैं, अर्थात् १-वातिक, २-पैत्तिक, ३-श्लैष्मिक, ४-सान्निपातिक तथा ५-आगन्तुज उपदंश होते हैं ॥ १ ॥

पञ्चोपदंशानां पृथक्त्वेन लक्षणान्याह—

सतोदभेदस्फुरणैः सकृष्णैः स्फोटैर्व्यवस्येत्पवनोपदंशम् ।
पीतैर्बहुक्लेदयुतः सदाहैः पित्तेन रक्तैः पिशितावभासैः ॥ २ ॥

जिस उपदंश में सुई चुभाने के समान अथवा भेदनवत् पीड़ा हो, स्फुरण हो और कृष्णवर्ण के स्फोट हों, उसे वातिक उपदंश समझना चाहिए।

जो उपदंश पीतवर्णका, अत्यन्त क्लेदयुक्त, दाहयुक्त तथा देखने में मांस के समान रक्तिमायुक्त हो, उसे पैत्तिक उपदंश समझना चाहिए ॥ २ ॥

स्फोटैः सकृष्णै रुधिरं स्रवन्तं रक्तात्मकं पित्तसमानलिङ्गम् ।
सकण्डुरैः शोथयुतैर्महद्भिः शुक्लैर्घनैः स्रावयुतैः कफेन ।
नानाविधस्रावरुजोपपन्नमसाध्यमाहुस्त्रिमलोपदंशम् ॥ ३ ॥

जिस उपदंश का स्फोट कृष्णवर्ण का हो, रक्त का स्राव होता हो तथा जो पैत्तिक उपदंश के समान लक्षणों से युक्त हो, उसे रक्तजन्य उपदंश कहते हैं।

जो उपदंश कण्डू तथा भारी शोथयुक्त हो और सफेद, घन स्राववाला हो, उसे कफजन्य उपदंश समझना चाहिए।

जो उपदंश अनेक प्रकार के स्राव तथा विविध भाँति की पीड़ाओं से युक्त हो, उसे सान्निपातिक उपदंश समझना चाहिए। इस उपदंश को ऋषियों ने असाध्य कहा है ॥ ३ ॥

उपदंशासाध्यतामाह—

प्रशीर्णमांसं कृमिभिः प्रजग्धं मुष्कावशेषं परिवर्जनीयम् ॥ ४ ॥

***प्रशीर्णमांसं = गलितमांसम् । प्रजग्धं = खादितम् । मुष्कावशेषं = विशीर्णसमस्तमेहनमांसत्वेनावशिष्टं फलकोपमात्रम् ॥ ४ ॥**

जिस उपदंश में लिङ्ग का मांस गल गया हो, अथवा कीड़ोंने खा लिया हो और समस्त लिङ्ग के गल जाने पर अण्डकोषमात्र अवशिष्ट रह गया हो, ऐसे उपदंश की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ॥

उपदंशोपेक्षाफलमाह—

सञ्जातमात्रे न करोति मूढः क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः।
कालेन शोथक्रिमिदाहपाकैः प्रशीर्णशिश्नो म्रियते स तेन ॥ ५ ॥

जो विषयासक्त मूर्ख मनुष्य उत्पन्न होते ही उपदंश की चिकित्सा नहीं करता है, कुछ समय में शोथ, कृमि, दाह तथा पाक के कारण उस मनुष्य का लिङ्ग गलकर नष्ट हो जाता है। इसीसे उस मनुष्य की मृत्यु भी होती है ॥ ५ ॥

उपदंशचिकित्सामाह—

उपदंशेषु साध्येषु स्निग्धस्विन्नस्य देहिनः। मेढ्रमध्ये शिरां विध्येत्पातयेद्वा जलौकसः ॥६॥

साध्य उपदंशोंमें मनुष्य का स्नेहन तथा स्वेदन करके लिङ्ग के बीच में शिरा का व्यध करे अथवा जोंक द्वारा रक्तमोक्षण कराये ॥ ६ ॥

हरेदुभयतश्चापि दोषानत्यर्थमूर्च्छितान्। सद्यो निर्हृतदोषस्य रुक्शोथावुपशाम्यतः ॥ ७ ॥

उपदंश पीड़ित मनुष्य के अत्यन्त बढ़े हुए दोषों को वमन तथा विरेचन द्वारा दूर करे। इस प्रकार दोषों के निकल जाने पर पीड़ा तथा शोथ ये दोनों तत्काल शान्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

यदि वा दुर्बलो जन्तुर्न वा प्राप्तविरेचनः। निरूहेण हरेत्तस्य दोषानत्यर्थमूर्च्छितान्।
पाको रक्ष्यः प्रयत्नेन शिश्नक्षयकरो हि सः ॥ ८ ॥

यदि उपदंशपीडित व्यक्ति दुर्बल हो अथवा विरेचन देने के योग्य न हो, तो उसके अत्यन्त बढ़े हुए दोषों को निरूह वस्ति देकर दूर करे। इस उपदंश रोग में प्रयत्नपूर्वक पाक की रक्षा करनी चाहिए अर्थात् ऐसा उपाय करते रहना चाहिए कि, जिससे पाक न होने पाये; क्योंकि पाक लिङ्ग का क्षय कर देता है ॥ ८ ॥

प्रपौण्डरीकयष्ट्याह्वसरलागुरुदारुभिः। सरास्नाकुष्ठपृथ्वीकैर्वातिके लेपसेचने ॥ ९ ॥

वातिक उपदंश में प्रपौण्डरीक, मुलेठी, देवदारु, अगर, दारुहल्दी, रास्ना, कूट तथा इलायची- इन सब ओषधियोंका कल्क लेपनके लिए तथा इन्हीं सब ओषधियों का क्वाथ परिषेकके लिए प्रयोग करे॥

निचुलैरण्डबीजानि यवगोधूमशक्तवः। एतैश्च वातजं स्निग्धैः सुखोष्णैः सम्प्रलेपयेत् ॥

नीम के बीज, एरण्ड के बीज, जौ का सत्तू तथा गेहूँ का सत्तू इन सबको पीसकर स्निग्ध करके कुछ गरम-गरम प्रलेप करे, तो वातिक उपदंश नष्ट होता है ॥ १० ॥

गैरिकाञ्जनमञ्जिष्ठामधुकोशीरपद्मकैः। सचन्दनोत्पलैः स्निग्धः पैत्तिकं सम्प्रलेपयेत् ॥ ११ ॥

गेरू, निशोथ, मजीठ, मुलेठी, खस, पद्मकाष्ठ, चन्दन तथा कमल इन सबको पीसकर स्निग्ध करके प्रलेप करने से पैत्तिक उपदंश नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

पद्मोत्पलमृणालैश्च ससर्जार्जुनवेतसैः। सर्पिःस्निग्धैः समधुकैः पैत्तिकं संप्रलेपयेत् ॥ १२ ॥

श्वेतकमल, रक्तकमल, कमल की नाल, साल की छाल, अर्जुन की छाल, वेत की छाल तथा मुलेठी इन सब ओषधियों को पीसकर और घी से स्निग्ध करके प्रलेप करे तो पैत्तिक उपदंश दूर हो जाता है ॥ १२ ॥

सेचयेच्च घृतक्षीरशर्करेक्षुमधूदकैः। अथवाऽपि सुशीतेन कषायेण वटादिना ॥ १३ ॥

घी या दूध, शर्करा, ईख के रस, मधु तथा जल इन सबसे परिषेक करे अथवा न्यग्रोधादिगण की ओषधियों के भलीभाँति शीतल क्वाथ से सेचन करे तो पित्तजन्य उपदंश नष्ट हो जाता है ॥ १३॥

शालाजकर्णाश्वकर्णधवत्वग्भिः कफोत्थितम्। सुरापिष्टाभिरुष्णाभिः सतैलाभिः प्रलेपयेत् ॥

*अजकर्णः = शालभेदः। अश्वकर्णो = गजहडः ॥ १४ ॥

साल की छाल, अजकर्ण (शालभेद) की छाल, अश्वकर्ण (यह भी शाल ही का भेदविशेष है) की छाल तथा धाय की छाल—इन सब ओषधियों को सुरा के साथ पीसकर तेल मिलाकर गरम करके लेप करने से कफजन्य उपदंश नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

आरग्वधादिक्वाथेन परिषेकञ्च दापयेत् ॥ १५ ॥

आरग्वधादि गण[1] की ओषधियों के क्वाथ द्वारा परिषेचन करने से कफज उपदंश नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

निम्बार्जुनाश्वत्थकदम्बशालजम्बूवटोदुम्बरवेतसैश्च ।
प्रक्षालनालेपकृतानि कुर्याच्चूर्णं सपित्तास्रभवोपदंशे ॥ १६ ॥

नीम, अर्जुन, पीपल, कदम्ब, साल, जामुन, वरगद, गूलर तथा वेत इन सब वृक्षों की छाल को लेकर क्वाथ बनाकर परिषेक करने से अथवा इन्हीं ओषधियों के कल्क का प्रलेप करने से अथवा इन्हींके चूर्ण को बुरकने से पित्त तथा रक्तजन्य उपदंश नष्ट हो जाता है ॥ १६ ॥

त्वचो दारुहरिद्रायाः शङ्खनाभी रसाञ्जनम् । लाक्षागोमयनिर्यासस्तैलं क्षौद्रं घृतं पयः ॥
एभिस्तु पिष्टैस्तुल्यांशैरुपदंशं प्रलेपयेत् । व्रणाश्च तेन शाम्यन्ति श्वयथुर्दाह एव च ॥१८॥

दारुहल्दी की छाल, शङ्ख की नाभि, रसौत, लाख, गोबर, गोंद, तेल, मधु, घी तथा दूध इन सबको समान-समान भाग में लेकर इकट्ठे पीसकर प्रलेप करने से उपदंश के व्रण, शोथ तथा दाह शान्त हो जाते हैं ॥ १७–१८ ॥

उपदंशद्वयेऽप्येतौ प्रत्याख्यायाचरेत्क्रियाम् । तयोरव च या योग्या वीक्ष्य दोषबलाबलम् ॥

शेष दो प्रकार के उपदंशों में अर्थात् त्रिदोषज तथा रक्तज उपदंश में प्रत्याख्यान करके चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् साध्य समझकर पहिले इसकी चिकित्सा न करे। यदि आग्रह करने पर करनी पड़े तो इन उपदंशों की असाध्यता का रोगी के सम्बन्धियों अथवा रोगी को परिचय देकर चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए। उपर्युक्त दोनों उपदंशों में दोष के बलाबल का विचार करके जो उचित समझे, चिकित्सा करे ॥ १९ ॥

शस्त्रेणोल्लेखयेत्क्वापि पाकमागतमाशु वै। तमपोह्य तिलैः सर्पिःक्षौद्रयुक्तैः प्रलेपयेत् ॥२०॥

यदि उपदंश पक गया हो तो तत्काल शस्त्र द्वारा भेदन कर देना चाहिए। इस प्रकार दोष का निर्हरण करके तिल के कल्क का घी मिलाकर प्रलेप कर दे ॥ २० ॥

वटप्ररोहार्जुनजम्बुपथ्या लोध्रं हरिद्रा च हिताः प्रलेपे ।
तथोपदंशेष्ववरोहणार्थं चूर्णञ्च कार्यं विमलाञ्जनेन ॥ २१ ॥

वट के अङ्कुर, अर्जुन की छाल, जामुन की छाल, हरड, लोध तथा हल्दी इन ओषधियों के कल्क का उपदंश पर प्रलेप करना प्रशस्त माना गया है। तथा उपदंश में अवरोहण के लिए रौप्य-माक्षिक तथा रसौत के चूर्ण को भरना चाहिए ॥ २१ ॥

त्रिफलायाः कषायेण भृङ्गराजरसेन वा । व्रणप्रक्षालनं कार्यमुपदंशप्रशान्तये ॥ २२ ॥

उपदंश को शान्त करने के लिए त्रिफला के क्वाथ अथवा भृङ्गराज के स्वरस से व्रण का प्रक्षालन करना चाहिए ॥ २२ ॥

जयाजपाऽश्वमारार्कशम्पाकानां दलैः क्रमात् । कृतं प्रक्षालनं क्वाथं मेढ्पाके प्रयोजयेत् ॥

अरनी के पत्ते, अढउल के पत्ते, कनेर के पत्ते, मदार के पत्ते इनके क्वाथों से क्रमशः धोने से लिङ्गपाक नष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

---

१. आरग्वधेन्द्रयवपाटलकाकतिक्ता—निम्बामृतामधुरसास्रुववृक्षपाठाः । भूनिम्बसैर्यकपटोल-करञ्जयुग्मं सप्तच्छदाग्निसुषवीफलबाणघोण्टाः । इत्यारग्वधादिः ।

अमलतास, इन्द्रजौ, सफेद पाढ़ल, लताकरञ्ज, नीम, गिलोय, मूर्वा, कटाई, पाठा, चिरायता, कटसरैया, परवल, काँटा करञ्ज, घीयाकरञ्ज, सतवन, चित्त, काला जीरा, जायफल, नीली कटसरैया, सुपारी ।

शम्पाकनिम्बत्रिफलाकिरातकाथं पिबेद्वा खदिरासनाभ्याम् ।
सगुग्गुलुं वा त्रिफलायुतं वा सर्वोपदंशापहरः प्रयोगः ॥ २४ ॥

अमलतास, नीम, हरड़, बहेड़ा, आँवला तथा चिरायता के क्वाथ को खैरसार तथा विजयसार डालकर गुग्गुलु मिलाकर अथवा त्रिफले का चूर्ण मिलाकर पीने से सब प्रकार के उपदंश नष्ट हो जाते हैं ॥ २४ ॥

नीलोत्पलानि कुमुदं पद्मसौगन्धिकानि च । उपदंशेषु चूर्णानि प्रदेहोऽयं प्रशस्यते ॥ २५ ॥

नील कमल, कुमुद, श्वेत कमल तथा लाल कमल-इन सबके चूर्ण को पीसकर प्रलेप करने से उपदंश दूर हो जाते हैं ॥ २५ ॥

बन्धूकदलचूर्णेन दाडिमत्वग्भवोऽथवा । गुण्डनं वृषणे शस्तं लेपः पूगफलेन वा ॥ २६ ॥

गुलदुपहरिया के पत्तों के चूर्ण अथवा अनार की छाल के चूर्ण का अण्डकोष पर भली भाँति लगाना अथवा सुपारी के कल्क का प्रलेप करना उपदंश रोग में प्रशस्त माना गया है ॥ २६ ॥

सौराष्ट्री गैरिकं तुत्थं पुष्पकासीससैन्धवम् । लोध्रं रसाञ्जनञ्चापि हरितालं मनःशिला ॥२७॥
हरेणुकैले तु तथा समं संहृत्य चूर्णयेत् । तच्चूर्णं क्षौद्रसंयुक्तमुपदंशेषु पूजितम् ॥ २८ ॥

फिटकिरी, गेरू, नीला थोथा, हीराकसीस, सेंधानमक, लोध, रसौत, हरताल, मैनशिल, रेणुका के बीज तथा छोटी इलायची, इन सबको समान-समान भाग में लेकर चूर्ण बना ले। इस चूर्ण को मधु मिलाकर लेप करने से उपदंश नष्ट हो जाते हैं ॥ २७–२८ ॥

पुटदग्धं कृतं भस्म हरितालं मनःशिला । उपदंशविसर्पाणामेतद्धानिकरं परम् ॥ २९ ॥

हरताल तथा मैनशिल के पुटपाकविधि से किये हुए भस्म का प्रलेप उपदंश तथा विसर्प का परम विनाशक है ॥ २९ ॥

दहेत्कटाहे त्रिफलां तां मसीं मधुसैन्धवम् । उपदंशे प्रलेपोऽयं सद्यो रोपयति व्रणम् ॥ ३० ॥

हरड़, बहेड़ा तथा आँवले को कड़ाही में जलाकर भस्म कर ले। इस भस्म को मधु तथा सेंधा नमक के साथ मिलाकर उपदंश पर प्रलेप करने से व्रण तत्काल भर जाते हैं ॥ ३० ॥

तिरीटाञ्जनवक्राह्वकोविदारेभकेशरैः । लेपनं पुरुषव्याधौ जलपिष्टैः प्रशस्यते ॥ ३१ ॥

लोध, रसौत, तगर, कचनार तथा नागकेशर इन सबको जल में पीसकर लेप करने से उपदंश नष्ट हो जाता है ॥ ३१ ॥

रसाञ्जनं शिरीषेण पथ्यया वा समन्वितम् । सक्षौद्रं लेपनं योज्यं सर्वाङ्गगदापहम् ॥३२॥

रसौत को सिरस की छाल अथवा हरड़ के साथ पीसकर मधु मिलाकर लेप करने से सर्वाङ्ग-व्याप्त उपदंश नष्ट हो जाता है ॥ ३२ ॥

भार्गीसम्भवशिखरिजमूलं भद्रश्रियं सुसम्पिष्टम् । मनःशिला वै मधुना शमयत्युपदंशमचिरेण॥

भारङ्गी की जड़, अपामार्ग की जड़ तथा चन्दन को अच्छी तरह पीसकर प्रलेप करने से उपदंश शीघ्र नष्ट होता है। अथवा मैनशिल को चूर्ण करके मधु मिलाकर प्रलेप करने से उपदंश शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥

शतधौतं प्रयत्नेन लिङ्गोत्थमवचूर्णयेत् । रोगं कासीसचूर्णेन पुरुषः सुखमाप्नुयात् ॥ ३४ ॥

उपदंश के व्रण को १०० बार धोकर उसके ऊपर हीराकसीस के चूर्ण को बुरकने से उपदंश-जन्य व्यथा दूर होती है और रोगी को आराम मालूम होता है ॥ ३४ ॥

करवीरस्य मूलेन परिपिष्टेन वारिणा । असाध्याऽपि व्रजत्यस्तं लिङ्गोत्था रुक्प्रलेपनात् ॥३५॥

कनेर की जड़ को जल से पीसकर प्रलेप करने से असाध्य भी उपदंश रोग नष्ट हो जाता है और लिङ्ग की पीड़ा शान्त होती है ॥ ३५ ॥

वरादिगुग्गुलुमाह—

वरानिम्बार्जुनाश्वत्थखदिरासनवासकैः । चूर्णितैर्गुग्गुलुसमैर्वटका अक्षसंमिताः ॥ ३६ ॥

कर्त्तव्या नाशयन्त्याशु सर्वाल्लिङ्गसमुत्थितान् । उपदंशानसृग्दोषांस्तथा दुष्टव्रणानपि ॥३७॥

हरड़, बहेड़ा, आँवला, नीम, अर्जुन, पीपल की छाल, खैर, विजैसार तथा अडूसा इन सबका सूक्ष्म चूर्ण कर ले। फिर इस चूर्ण में इसीके बराबर गुग्गुलु मिलाकर १-१ तोले की गोलियाँ बना ले। ये गोलियाँ लिङ्ग में उत्पन्न हुए सम्पूर्ण प्रकार के उपदंश, रक्तदोष तथा दुष्ट व्रणों को शीघ्र नष्ट कर देती हैं ॥ ३६-३७ ॥

करञ्जाद्यघृतमाह—

करञ्जनिम्बार्जुनशालजम्बूवटादिभिः कल्ककषायसिद्धम् ।
सर्पिर्निहन्यादुपदंशदोषं सदाहपाकस्रुतिरागयुक्तम् ॥ ३८ ॥

करञ्ज, नीम, विजयसार, साल, जामुन तथा न्यग्रोधादिगण की ओषधियों के कल्क तथा क्वाथ द्वारा सिद्ध किया गया घृत दाह, पाक, स्राव तथा रक्तिमायुक्त उपदंश को नष्ट कर देता है ॥३८॥

भूनिम्बाद्यघृतमाह—

भूनिम्बनिम्बत्रिफलापटोलकरञ्जधात्रीखदिरासनानाम् ।
सतोयकल्कैर्घृतमाशु पक्वं सर्वोपदंशापहरं प्रदिष्टम् ॥ ३९ ॥

चिरायता, नीम, हरड़, बहेड़ा, आँवला, परवल, करञ्ज, आँवला, खैर तथा विजयसार इन सब ओषधियों के क्वाथ तथा कल्क द्वारा पकाया हुआ घी सब प्रकार के उपदंशों को तत्काल नष्ट कर देता है ॥ ३९ ॥

अथातिदेशमाह—

घृतानि यानि वक्ष्यामि कुष्ठे नाडीव्रणे व्रणे । उपदंशे प्रयोज्यानि सेकाभ्यञ्जनभोजनैः ॥४०॥

कुष्ठ, नाड़ीव्रण तथा व्रणरोग पर जिन-जिन घृतों को कहेंगे, वे सभी घृत परिषेक, अभ्यङ्ग तथा भोजन के लिए उपदंश रोग में व्यवहृत करने चाहिए ॥ ४० ॥

आगारधूमाद्यतैलमाह—

आगारधूमो रजनी सुराकिट्टं च तैस्त्रिभिः । यथोत्तरैः पचेत्तैलं कण्डूशोथरुजाऽपहम् ॥
शोधनं रोपणं चैव ह्युपदंशहरं परम् ॥ ४१ ॥

घर का धुआँ १ भाग, हल्दी २ भाग तथा सुराकिट्ट ३ भाग इन सबके साथ तैल को पका ले। यह तैल कण्डू, शोथ तथा पीड़ा को नष्ट करता है, उपदंश का परम नाशक है, शोधन तथा रोपण है ॥ ४१ ॥

गोजीतैलमाह—

गोजीविडङ्गयष्टीभिः सर्वगन्धैश्च संयुतम् । एतत्सर्वोपदंशेषु तैलं रोपणमिष्यते ॥ ४२ ॥

गोजिह्वा, वायविडङ्ग, मुलेठी तथा समस्त सुगन्धित द्रव्यों के कल्क द्वारा पकाया हुआ तेल सब प्रकार के उपदंशों को भर देता है ॥ ४२ ॥

जम्ब्वादितैलमाह—

जम्बूवेतसपत्राणि धात्रीपत्रं तथैव च । नक्तमालस्य पत्राणि तद्वत्पद्मोत्पलानि च ॥ ४३ ॥
एला चातिविषाऽऽम्रास्थि मधुकञ्च प्रियङ्गवः । लाक्षा कालीयकं लोध्रं चन्दनं त्रिवृताह्वया ॥
एतान्येकीकृतान्येव वस्तमूत्रेण पेषयेत् । अक्षमात्रैरिमैर्द्रव्यैस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥ ४५ ॥
सर्वव्रणहरं तैलमेतत्सिद्धं न संशयः । उपदंशहरं श्रेष्ठं मुनिभिः परिकीर्त्तितम् ॥ ४६ ॥

जामुन के पत्ते, बेंत के पत्ते, आँवले के पत्ते, करञ्ज के पत्ते, श्वेतकमल, लालकमल, छोटी इलायची, अतीस, आम की गुठली, मुलेठी, फूलप्रियङ्गु, लाख, दारुहल्दी, लोध, सफेद चन्दन तथा निशोथ, इन सब ओषधियों को १-१ तोले की मात्रा में लेकर बकरे के मूत्र से इकट्ठा पीस ले। फिर इस कल्क द्वारा १ प्रस्थ (६४ तोले) तैल को पकाये। यह तैल हर प्रकार के व्रण तथा उपदंश को अवश्य नष्ट कर देता है, ऐसा मुनियों ने कहा है ॥ ४३-४६ ॥

कोशातकीतैलमाह—

यस्य लिङ्गस्य मांसं तु शीर्यते मुष्कशेषतः ॥ ४७ ॥
तिक्तकोशातकीलाबुबीजं नागरसाधितम् । तैलं हन्त्यविशेषेण व्रणं दुष्टमनेकधा ॥ ४८ ॥

यदि उपदंश के कारण लिङ्ग का मांस गल गया हो, अण्डकोषमात्र अवशिष्ट रह गया हो, अथवा विविध भाँति के दुष्ट व्रण हो गये हों तो उन्हें कड़वी तोरई के बीज, कड़वी तुम्बी के बीज तथा सोंठ इनके कल्क द्वारा सिद्ध किया हुआ तेल भली भाँति नष्ट कर देता है ॥ ४७-४८ ॥

उपदंशे पथ्यमाह—

सेवेन्नित्यं यवान्नञ्च पानीयं कौपमेव च । अर्शसां छिन्नदग्धानां क्रियां चात्र प्रयोजयेत् ॥

इत्येकपञ्चाशत्तम उपदंशाधिकारः समाप्तः ॥ ५१ ॥



उपदंश रोग से पीडित मनुष्य प्रतिदिन जौ का भोजन करे और कुएँ का पानी पीये। तथा अर्श रोग और छिन्न तथा दग्ध व्रण की चिकित्साओं का प्रयोग करे ॥ ४९ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकपञ्चाशत्तम उपदंशाधिकारः समाप्तः ॥ ५१ ॥



अथ द्विपञ्चाशत्तमो लिङ्गार्शोऽधिकारः ॥ ५२ ॥

तत्र लिङ्गार्शोलक्षणमाह—

अङ्कुरैरिव सञ्जातैरुपर्युपरि संस्थितैः । क्रमेण जायते वर्त्तिस्ताम्रचूडशिखोपमा ॥ १ ॥
कोषस्याभ्यन्तरे सन्धौ पर्वसन्धिगतापि वा । लिङ्गवर्त्तिरिति ख्याता लिङ्गार्श इति चापरे ।
सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषजा ॥ २ ॥

*कोषस्याभ्यन्तरे = अण्डकोषस्याभ्यन्तरे । सन्धौ = लिङ्गरन्ध्रसन्धौ । पर्वसन्धिगता= मणिपर्वणः सन्धिगता ॥ १-२ ॥

अण्डकोष के सन्धि, लिङ्गछिद्र के सन्धि अथवा मणि तथा लिङ्ग के सन्धिस्थान में धान्य के अङ्कुर के समान एक-दूसरे के ऊपर क्रमशः स्थित होकर मुरगे की चोटी के समान जो वर्त्ति उत्पन्न हो जाती है, उसे लिङ्गवर्त्ति कहते हैं। कुछ वैद्य इसे [1]लिङ्गार्श भी कहते हैं। जो लिङ्गवर्त्ति वेदना-युक्त, पिच्छिल तथा तीनों दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होती है, वह दुश्चिकित्स्य होती है ॥ १-२ ॥

१. पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार जिनको पेपिलोमा (Papilloma), वार्ट (Wart), कान्डिलोमा (Condyloma), ग्रेनुलोमा (Granuloma) और पोलीपस (Polypus) कहते हैं, वे सब विकार इसमें समाविष्ट हैं। क्योंकि सुश्रुतोक्त लिङ्गार्श का वर्णन उपर्युक्त रोगों से मिलता है। यथाः—

प्रकुपितास्तु दोषा मेढ्रमभिप्रपन्ना मांसशोणिते प्रदूष्य कण्डूं जनयन्ति, ततः कण्डूयनात् क्षतं समुपजायते, तस्मिंश्च क्षते दुष्टमांसजाः प्ररोहाः पिच्छिलरुधिरस्राविणो जायन्ते कूर्चकिनोऽभ्यन्तरमुपरिष्टाद्वा, ते तु शेफोविनाशयन्त्युपघ्नन्ति च पुंस्त्वं, योनिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलरुधिरस्राविणश्छत्राकारान् करीरान्जनयन्ति, ते तु योनिमुपघ्नन्त्यार्त्तवं च'। सु० नि० अ० २ सू० १७ ॥

लिङ्गार्शश्चिकित्सामाह—

क्षारेण प्रदहेच्छित्त्वा लिङ्गवर्त्तिमशेषतः । व्रणवच्चाचरेत्सम्यक् समं चूर्णमुपद्रवान् ॥ ३ ॥

लिङ्गवर्त्ति को शस्त्रद्वारा भली भाँति काटकर क्षार से दग्ध करे। और उपद्रवों का व्रण के समान लेप तथा चूर्ण इत्यादि से अच्छी तरह उपचार करे ॥ ३ ॥

स्वर्जिकातुत्थशैलेयमञ्जनं सरसाञ्जनम् । मनःशिलाऽऽले च समं चूर्णं मांसाङ्कुरापहम् ॥

सज्जीखार, नीलाथोथा, शिलाजीत, सुरमा, रसौत, मैनशिल तथा हरताल इन सब ओषधियों को समान-समान भाग में लेकर चूर्ण कर ले, यह चूर्ण लिङ्गार्श को नष्ट कर देता है ॥ ४ ॥

हरति घृतकुमारीपत्रमावेष्टनेन ग्रथनविधिविशेषांश्चर्मकीलांस्तृतीये ।
अहनि गुरुतरानप्यङ्गलब्धप्रतिष्ठान् विधिरिव विपरीतः पौरुषस्य प्रकारान् ॥ ५ ॥

घृतकुमारी के पत्ते को बाँधने से अत्यन्त प्रबल, अङ्ग में जमा हुआ तथा ग्रन्थि के समान चर्मकील ३ दिन में इस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार दैव के विपरीत होने पर प्रबल पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

शुभे तु चारटीमूलं वृषमूत्रेण पेषयेत् । चर्मकीलान्निहन्त्याशु प्रलेपात्साधनोद्भवान् ॥ ६ ॥

इति द्विपञ्चाशत्तमो लिङ्गार्शोधिकारः समाप्तः ॥ ५२ ॥



गुञ्जामूल को शुभ दिन में लेकर बैल के मूत्र से पीसकर लेपन करने से लिङ्ग में उत्पन्न हुए चर्मकील तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥ ६ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे द्विपञ्चाशत्तमो लिङ्गार्शोऽधिकारः समाप्तः ॥ ५२ ॥



अथ त्रिपञ्चाशत्तमः शूकदोषाधिकारः ॥ ५३ ॥

तत्र शूकदोषनिदानमाह—

अक्रमाच्छेफसो वृद्धिं योऽभिवाञ्छति मूढधीः । व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्टौ च शूकजाः ॥

*अक्रमाद् = अनुचितवृद्धिक्रमात् । अनुचिता च वृद्धिर्भूरिविकारजनकस्य योगेन । शूकजाः = शूको = जलशूकः सविषो जलजन्तुविशेषः, स तु जलमलोद्भवोल्पद्दुण्डुभ इत्यादिकः । तथा शूकप्रधानो लिङ्गवृद्धिकरो वात्स्यायनाद्युक्तो योगः शूक उच्यते । यथा—

*भल्लातकास्थिजलशूकमथाब्जपत्रमन्तर्विदाह्य मतिमान्सह सैन्धवेन ।
एतद्विरूढबृहतीफलतोयपिष्टमालेपितं महिषविड्विमलीकृतेऽङ्गे ॥ १ ॥
स्थूलं महत्तरतुरङ्गमलिङ्गतुल्यं शेफः करोत्यभिमतं न हि संशयोऽत्र ॥ २ ॥

जो मूर्ख अनुचित क्रम से अथवा सहसा लिङ्ग की वृद्धि करने की इच्छा करता है, अर्थात् जलशूक इत्यादि पानी के मैल से उत्पन्न होनेवाले विषैले जलजन्तुओं के भस्म इत्यादि का प्रयोग करता है, उसे शूकदोषजन्य १८ प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वात्स्यायन इत्यादि ऋषियों द्वारा कहा गया शूकजन्तु–प्रधान लिङ्गवर्द्धक योग 'शूक' कहलाता है। जैसे कि–'भिलावे की गुठली, शूकसंज्ञक जलजन्तु तथा कमल के पत्ते इन सबका अन्तर्धूम भस्म बनाकर बुद्धिमान् मनुष्य सैंधानमक के साथ मिला दे, तत्पश्चात् इन ओषधियों को बड़ी कटेरी के फल के रस में पीस ले। फिर लिङ्ग को भैंस के गोबर से धोकर पिसी हुई ओषधि का लेप करे। इससे लिङ्ग यथेच्छ तथा घोड़े के लिङ्ग के समान बड़ा और मोटा हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं ॥ १–२ ॥

*इत्यादि। यत्तु जलशूकरहितमश्वगन्धादितैलं तदुचितमेव लिङ्गवर्द्धनम्। यथा—

*(अश्वगन्धाऽऽदितैलमाह—)

*अश्वगन्धावरीकुष्ठं मांसीसिंहीफलान्वितम्। चतुर्गुणेन दुग्धेन तिलतैलं विपाचयेत्। तत्तैलं मेढ्रवक्षोजकर्णपालिविवर्द्धनम् ॥ ३ ॥ इति ॥ १ ॥

इत्यादि उपर्युक्त जलशूकयुक्त लिङ्गवर्द्धक योगों से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु जो योग जलशूक रहित है, जैसे कि 'अश्वगन्धादितैल' वह तो उचित ही लिङ्गवर्द्धक योग है। जैसे किः— 'असगन्ध, शतावरी, कूट, जटामांसी तथा कटेरी के फल इनके कल्क तथा चौगुने दूध के साथ पकाया हुआ तिल का तेल 'अश्वगन्धादितैल' कहलाता है। यह तेल लिङ्ग, कुच तथा कर्णपाली को बढ़ाता है ॥ ३ ॥ इति ॥ १ ॥

शूकदोषा दश चाष्टौ च भवन्ति।

१ तत्रादौ सर्षपिकालक्षणमाह—

गौरसर्षपसंस्थाना शूकदुर्भगहेतुका। पिडिका श्लेष्मवाताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका तु सा ॥ २ ॥

*शूकदुर्भगहेतुका = शूकदुष्टयोनिनिमित्ता च ॥ २ ॥

शूक से अथवा दुष्ट योनि में मैथुन करने से कफ-वातजन्य सफेद सरसों के समान जो फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उन्हें 'सर्षपिका' समझना चाहिए ॥ २ ॥

२ अष्ठीलिकालक्षणमाह—

कठिना विषमैर्भुग्नैर्वायुनाष्ठीलिका भवेत् ॥ ३ ॥

*अष्ठीला लौहकारस्य डाण्डीविशेषः 'निहाई' इति लोके। ततः कठिनेत्यष्ठीलिका। 'विषमैर्भुग्नैरि'ति वक्ष्यमाणशूकविशेषणम्। विषमैः = ह्रस्वदीर्घैः। भुग्नैः = वक्रैः ॥ ३ ॥

छोटे, बड़े तथा वक्र काँटों से युक्त वायु से उत्पन्न होनेवाली तथा लोहार की निहाई के समान कड़ी जो फुन्सी होती है, उसे 'अष्ठीलिका' कहते हैं ॥ ३ ॥

३ ग्रथितलक्षणमाह—

शूकैर्यत्पूरितं शश्वद् ग्रथितं नाम तत्कफात् ॥ ४ ॥

*यल्लिङ्गं सदा शूकैः पूरितं तद् ग्रथितत्वाद् ग्रथितम् ॥ ४ ॥

जो लिङ्ग निरन्तर जौ के शूक के समान शूकों से व्याप्त रहे, उसे 'ग्रथित' कहते हैं, यह ग्रन्थित कफदोष से उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

४ कुम्भिकालक्षणमाह—

कुम्भिका रक्तपित्तोत्थाजाम्बवास्थिनिभा सिता ॥ ५ ॥

*कुम्भिका कुम्भीफलतुल्यत्वात् ॥ ५ ॥

रक्त तथा पित्त से उत्पन्न होने वाली तथा जामुन की गुठली के समान सफेद जो फुन्सी उत्पन्न होती है, उसे 'कुम्भिका' कहते हैं। यह फुन्सी कुम्भी के फल के समान होती है इसीलिए इसे कुम्भिका कहते हैं ॥ ५ ॥

५ अलजीलक्षणमाह—

अलजी स्यात्तथा याद्दक्प्रमेहपिडका तथा। सा च रक्तासिता स्फोटचिता च कथिता बुधैः ॥

*अलजी रक्तपित्तनिमित्ता ज्ञेया ॥ ६ ॥

जैसी कि अलजी नामक प्रमेहपिडिका होती है यदि उसी प्रकार की फुन्सी लाल तथा काली हो और अन्य फुन्सियों से व्याप्त हो तो उसे बुद्धिमान् लोग अलजी कहते हैं यह 'अलजी' रक्त तथा पित्त दोष से उत्पन्न होती है ऐसा जानना चाहिए ॥ ६ ॥

६ मृदितलक्षणमाह—

मृदितं पीडितं यत्तु संरब्धं वातकोपतः ॥ ७ ॥

*शूकदोषे जाते पीडितं यत् तत् संरब्धं = सशोथं भवति, तल्लिङ्गं मृदितमुच्यते ॥ ७ ॥

शूकदोष के उत्पन्न होने पर लिङ्ग को दबाने से यदि शोथ उत्पन्न हो जाय तो उसे 'मृदित' कहते हैं। यह वात के कोप से उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

७ संमूढपिडिकालक्षणमाह—

पाणिभ्यां भृशसंमूढे संमूढपिडिका भवेत् ॥ ८ ॥

*शूकदोषे जाते पाणिभ्यां भृशसंमूढे पिच्चिते लिङ्गे। अत्रापि 'वातकोपत' इत्यनुवर्त्तते ॥ ८ ॥

शूकदोष के उत्पन्न होने पर दोनों हाथों से अधिक मर्दन करने से यदि लिङ्ग के ऊपर पिडिका उत्पन्न हो जाय तो उसे 'संमूढपिडिका' कहते हैं। यह भी पिडिका वात के कोप से उत्पन्न होती है ॥

८ अवमन्थलक्षणमाह—

दीर्घा बह्वयश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः। सोऽवमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षकृत् ॥

*दीर्घाः = दीर्घाङ्कुराः ॥ ९ ॥

जो फुन्सियाँ बड़ी तथा मात्रा में बहुत हों, बीच से फूट जाती हों और वेदना तथा रोमहर्ष को उत्पन्न करने वाली हों उन्हें 'अवमन्थ' कहते हैं। ये पिडिकाएँ कफ तथा रक्त के प्रकोप से उत्पन्न होती हैं ॥ ९ ॥

९ पुष्करिकालक्षणमाह—

पिडिका पिडिकाव्याप्ता पित्तशोणितसम्भवा। पद्मकर्णिकसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिकेति सा ॥

*पिडिकाव्याप्ता = पार्श्वतः क्षुद्रपिडिकाव्याप्ता। अत एव पद्मकर्णिकसंस्थाना ॥ १० ॥

जो पिडिका चारों ओर से छोटी-छोटी फुन्सियों से घिरी हुई हो, कमलकर्णिका के समान हो तथा रक्तदोष से उत्पन्न हुई हो, उसे 'पुष्करिका' कहते हैं ॥ १० ॥

१० स्पर्शहानिलक्षणमाह—

स्पर्शहानिन्तु जनयेच्छोणितं शूकदूषितम् ॥ ११ ॥

*अत्र स्पर्शासहत्वमेव लक्षणम् ॥ ११ ॥

जो पिडिका स्पर्श को न सह सके उसे 'स्पर्शहानि' कहते हैं। यह पिडिका शूकदोष से दूषित रक्त से उत्पन्न होती है ॥ ११ ॥

११ उत्तमालक्षणमाह—

मुद्गमाषोपमा रक्ता रक्तपित्तोद्भवा च या। एषोत्तमाख्यपिडका शूकाजीर्णसमुद्भवा ॥ १२ ॥

जो पिडिका शूकदोष तथा अजीर्ण से उत्पन्न होती है और मूँग या उड़द के समान आकार की तथा रक्तवर्ण की होती है, उसे 'उत्तमा' नामक पिडिका कहते हैं। यह रक्त तथा पित्तदोष-जन्य होती है ॥ १२ ॥

१२ शतपोनकलक्षणमाह—

छिद्रैरणुमुखैर्लिङ्गं चितं यस्य समन्ततः। वातशोणितजो व्याधिर्विज्ञेयः शतपोनकः ॥ १३ ॥

*शतपोनकः = चालनी, तत्तुल्यत्वाच्छतपोनकः ॥ १३ ॥

लिङ्ग चारों ओर से छोटे-छोटे सूक्ष्म छिद्रों से व्याप्त होकर शतपोनक (चलनी) के समान हो जाय तो उसे 'शतपोनक' कहते हैं। यह वात-रक्त-दोष से उत्पन्न होता है ॥ १३ ॥

१३ त्वक्पाकलक्षणमाह—

वातपित्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहकृत् ॥ १४ ॥

ज्वर तथा दाह को उत्पन्न करने वाला लिङ्ग के त्वचा का जो पाक होता है उसे 'त्वक्पाक' कहते हैं। यह वात तथा पित्त दोष से उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

१४ शोणितार्बुदलक्षणमाह—

कृष्णैः स्फोटैः सरक्ताभिः पिडकाभिर्निपीडितम् । लिङ्गं वास्तुरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तच्छोणितार्बुदम् ॥

***वास्तुरुजः = स्फोटपिडकाधिष्ठानवेदनाः ॥ १५ ॥**

लिङ्ग कृष्णवर्ण के फफोलों तथा रक्त वर्ण की फुन्सियों से पीडित हो तथा स्फोटों में और पिडिका के स्थान में उग्र पीडा हो तो उसे 'शोणितार्बुद' कहते हैं ॥ १५ ॥

१५ मांसार्बुदलक्षणमाह—

मांसदुष्टं विजानीयादर्बुदं मांससम्भवम् ॥ १६ ॥

मांस के दुष्ट हो जाने से लिङ्ग पर मांस का अर्बुद उत्पन्न हो जाता है उसे 'मांसार्बुद कहते हैं ॥

१६ मांसपाकलक्षणमाह—

शीर्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाश्च वेदनाः । विद्यात् तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक् ॥

***शीर्यन्ते = गलन्ति । सर्वाश्च वेदनाः = वातपित्तकफजाः ॥ १७ ॥**

लिङ्ग का मांस गल कर गिर जाता हो और जिसमें सब प्रकार की अर्थात् वात, पित्त तथा कफ-जन्य वेदना होती हो उसे वैद्य 'मांसपाक' समझे । यह तीनों दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होता है ॥

१७ विद्रधिलक्षणमाह—

विद्रधिं सन्निपातेन यथोक्तमभिनिर्दिशेत् ॥ १८ ॥

***उक्तसान्निपातिकविद्रधितुल्यं कथयेत् ॥ १८ ॥**

उक्त सान्निपातिक विद्रधि के समान लक्षणों वाली जो पिडिका लिङ्ग में उत्पन्न हो जाती है उसे 'विद्रधि' कहते हैं । यह विद्रधि भी त्रिदोषजन्य होती है ॥ १८ ॥

१८ तिलकालकलक्षणमाह—

कृष्णानि चित्राण्यथवा शुक्लानि सविषाणि तु । पातितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ॥
कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः । सन्निपातसमुत्थांश्च तान्विद्यात्तिलकालकान् ॥

***चित्राणि = नानावर्णानि । शुक्लानि = शुक्लवर्णानि । मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् । सविषाणि = सविषशूकाख्यजन्तुविशेषकृतत्वात् सविषाणीति । शूकानां सविषत्वेपि विशेषार्थमुक्तम् । शीर्यन्ते—गलन्ति । कालानीति—कृष्णानि, कृष्णतिलतुल्यत्वात्तिलकालकाः ॥१९॥**

काले, सफेद तथा अन्य अनेक वर्ण के विषैले 'शूक' नामक जन्तु का प्रयोग करने से सारा लिङ्ग तत्काल पक जाता है । तथा लिङ्ग का मांस कृष्णवर्ण का होकर गलकर गिर जाता है, उसे 'तिलकालक' कहते हैं । इस रोग में लिङ्ग का मांस काले तिल के समान-वर्ण का हो जाता है इसीलिए इसे तिलकालक कहते हैं । यह तीनों दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

शूकदोषासाध्यलक्षणमाह—

तत्र मांसार्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः । विद्रधिश्च न सिध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥

उपर्युक्त १८ प्रकार के शूकदोषों में मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि तथा तिलकालक ये असाध्य होते हैं ॥ २० ॥

शूकदोषचिकित्सामाह—

शूकदोषेषु सर्वेषु विषघ्नीं कारयेत्क्रियाम् । जलौकाभिर्हरेद्रक्तं रेचनं लघु भोजयेत् ॥
गुग्गुलुं पाचयेच्चापि त्रिफलाक्वाथसंयुतम् । क्षीरेण लेपसेकांश्च शीतेनैव हि कारयेत् ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण शूक दोषों में विषनाशक चिकित्सा करनी चाहिए, जोंक द्वारा रक्त निकलवाना चाहिए, विरेचन देना चाहिए, लघु भोजन देना चाहिए, त्रिफला-क्वाथ के साथ गुग्गुलु को पिलावे और शीतल दूध का प्रलेप तथा परिषेक करावे ॥ २१ ॥

दार्वीतैलमाह—

दार्वीसुरसयष्ट्याह्वैर्गृहधूमनिशायुतैः । सम्पक्वं तैलमभ्यङ्गान्मेढ्ररोगं हि नाशयेत् ॥ २२ ॥

*सुरसः = तुलसी ॥ २२ ॥

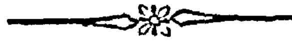
दारुहल्दी, तुलसी, मुलहठी, घर का धुआं तथा हल्दी इन ओषधियों के कल्क द्वारा सिद्ध किये हुए 'दार्वी' नामक तैल के अभ्यङ्ग से लिङ्गसम्बन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ २२ ॥

रसाञ्जनलेपमाह—

रसाञ्जनं साह्वयमेकमेव प्रलेपमात्रेण नयेत्प्रशान्तिम् ।
सपूतिपूयव्रणशोथकण्डूशूलान्वितं सर्वमनङ्गरोगम् ॥ २३ ॥

*साह्वयमित्यनङ्गरोगस्य विशेषणम् । अनङ्गरोगस्य नामापि दूरीकरोतीत्यर्थः ॥२३॥

इति त्रिपञ्चाशत्तमः शूकदोषाधिकारः समाप्तः ॥ ५३ ॥



अकेले रसौत के प्रलेपमात्र से दुर्गन्धि, पूय, व्रण, शोथ, कण्डू तथा शूलयुक्त समस्त लिङ्ग-सम्बन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं । रसौत के प्रलेप से लिङ्गरोग का नाम तक दूर हो जाता है ॥२३॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे त्रिपञ्चाशत्तमः शूकदोषाधिकारः समाप्तः ॥ ५३ ॥



अथ चतुष्पञ्चाशत्तमः कुष्ठरोगाधिकारः ॥ ५४ ॥

तत्र कुष्ठस्य निदानं संख्यां चाह—

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च । भजतामागतां छर्दि वेगांश्चान्यान्प्रतिघ्नताम् ॥
व्यायाममग्नितापञ्चाप्यतिभुक्त्वा निषेविणाम् । शीतोष्णलङ्घनाहारान्क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम्
घर्मश्रमभयार्त्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् । अजीर्णाध्यशिनां चापि पञ्चकर्मापचारिणाम् ॥
नवान्नदधिमत्स्यादिलवणाम्लनिषेविणाम् । माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम् ॥४॥
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने दिवानिद्रां निषेविणाम् । विप्रान्गुरून्धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्
वातादयस्त्रयो दोषास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च । दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसङ्ग्रहः ।
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्तचैकादशैव च ॥ ६ ॥

*विरोधीन्यन्नपानानि = क्षीरमत्स्यादीनि दधिदुग्धादीनि । व्यायाममित्यादि । अति-भुक्त्वा व्यायामम् । अग्निसन्तापम् = अग्निरुपलक्षणः, सूर्यादिसन्तापञ्च । निषेविणामिति । कृदन्तस्य योगे षष्ठी प्राप्ता, द्वितीया तु मुनिवचनात् । एवमग्रेऽपि 'शीतोष्णलङ्घनाहारा-नि'त्यादिष्वपि द्वितीया । अत्र-क्रमं = विधिम् । घर्मेत्यादि । घर्मार्त्तत्वे सति द्रुतमवि-श्रम्य पाने स्नाने शीताम्बु सेविनाम् । अजीर्णाध्यशिनां = भुक्तेऽजीर्णे भुञ्जानाम् । पञ्चक-र्मापचारिणां=पञ्चकर्माणि=वमनविरेचनस्यनिरूहानुवासनानि, तेषु कृतेष्वपचारिणाम् । नवान्नदधिमत्स्याद्याहारादिसेविनाम् । व्यवायमित्यादि । अन्ने, अजीर्णे=विदग्धादिरूपे सति, व्यवायं=मैथुनं, निषेविणाम् । 'दिवानिद्रां निषेविणामि'ति भिन्नो हेतुः । धर्षय-ताम्=अभिभवताम् । दोषदूष्यसङ्ग्रहार्थमाह—वातादय इत्यादिशब्देन त्रिष्वपि प्रतीतेषु त्रय' इति पदं सर्वेषु कुष्ठेषु त्रयाणामपि वातादीनां दुष्टत्वबोधनार्थम् । त्वग्=रसः । अ-म्बु=लसीका । अथ संख्यामाह—अतः कुष्ठानीत्यादि । अतः=पूर्वोक्तदोषदूष्यसमुदायात् । सप्तचैकादशेति संख्याविच्छेदपाठेन सप्तानां महाकुष्ठत्वमेकादशानां क्षुद्रकुष्ठत्वं बोधयति ॥

दूध तथा मछली अथवा दही और दूध इत्यादि परस्पर विरोधी अन्नपानों के सेवन करने से, द्रव, स्निग्ध तथा गुरु पदार्थों के सेवन से, आते हुए वमन के वेग को अथवा मल-मूत्रादि अन्यान्य वेगों को

रोकने से, अधिक मात्रा में भोजन करके व्यायाम करने से, आग तापने या धूप का सेवन करने से, शीत, उष्ण, लङ्घन तथा आहार का विधि-विरुद्ध सेवन करने से, धूप, परिश्रम तथा भय से पीड़ित मनुष्य के सहसा शीतल जल के सेवन करने से, अजीर्ण में भोजन करने से अथवा अध्यशन करने से, पञ्चकर्म के अपचार से, नवीन अन्न, दही, मछली इत्यादि, नमकीन तथा खट्टे पदार्थों के सेवन करने से, उड़द, मूली, पीठी के बने पदार्थों तथा तिल के सेवन करने से, दूध तथा गुड़ को विशेष खाने से विदग्धादि रूप अजीर्ण होने पर मैथुन करने से, दिन में सोने से (यह भिन्न हेतु है), (ब्राह्मणों और गुरुजनों का अपमान करने से और पापकर्म करने से कुष्ठ[1] रोग उत्पन्न होते हैं। वात, पित्त और कफ

---

१. पाश्चात्य वैद्यक में कुष्ठ को लेप्रोसी (Leprosy) कहते हैं।

हेतु-इस रोग का प्रधान कारण वैसीलस लेप्री नामक जीवाणु है। कुष्ठसेल (Lepra cell) -नामक बड़े बड़े सेलों के भीतर बीड़ी के बंडल (Cigar bundles) की भाँति ये जीवाणु इकट्ठे हुए दिखाई देते हैं। क्वचित् उनके बाहर भी होते हैं।

सहायक कारण—

१—आयु-यह रोग किसी भी आयु में हो सकता है। रोग का उपसर्ग प्रायः बचपन में ही हुआ करता है क्योंकि सबसे अधिक अक्षमता इसी काल में होती है, फिर इससे घटकर वर्द्धमानावस्था (Adolescent Period) में होती है। युवावस्था से अक्षमता बहुत कम हो जाती है। इसलिए ५-३० साल की आयुतक इस रोग का अधिक उद्भव दिखाई देता है। ५०% रोगियों में २० साल तक रोग का प्रादुर्भाव होता है। ५ साल की आयु के पूर्व प्रायः इसका उद्भव नहीं होता क्योंकि उससे पूर्व रोग का उपसर्ग होने पर भी सञ्चयकाल अधिक होने के कारण लक्षण प्रकट नहीं होते। १० साल के बाद उपसर्ग होने पर रोग तीव्र स्वरूप का और सांसर्गिक (ग्रन्थिक) नहीं होता और युवावस्था के बाद प्रत्यक्ष-संसर्ग होने पर भी इस रोग का प्रादुर्भाव बहुत कम होता है।

२—लिङ्ग-स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में तीनगुना अधिक होता है।

३—वंश या जाति—संसार की कोई जाति इससे मुक्त नहीं है। प्रायः आधुनिक सभ्यता से दूर रहने वाले जङ्गली लोगों में यह रोग बहुत कम दिखाई देता है। जब ये लोग सभ्यों का अनुकरण कर सभ्यता की ओर बढ़ते हैं तो इनमें यह रोग अधिक होने लगता है। संक्षेप में जङ्गली स्थिति में नैसर्गिक जीवन होने के कारण और पूर्ण सभ्य स्थिति (Civliyed stage) में प्रतिबन्धक उपाय, उच्च जीवन तथा स्वच्छता इत्यादि के कारण यह रोग कम होता है और दोनों के स्थित्यन्तर (Contact yone) की दशा में अधिक होता है।

४—परिस्थिति-अधिक जनसम्मर्द, गन्दगी, तरी, प्रकाश और शुद्ध वायु की कमी ऐसी परिस्थिति में अर्थात् गुञ्जार मुहल्लों और बस्तियों के अंधेरे, गन्दे, शील, खराब हवा के मकानों में रहने वाले इससे अधिक पीडित होते हैं।

५—सामाजिक कुरीतियाँ-एक बिस्तरे पर सोना, एक थाली में खाना, एक बर्तन में पानी पीना तथा एक हुक्के का पीना इत्यादि कुरीतियाँ रोग-प्रसार में सहायता करती हैं।

६—व्यक्तिगत कुरीतियाँ-आहार-विहार में व्यभिचार, विषयातिसेवन, आलस्य, श्रमाधिक्य, शरीर और कपड़ों की स्वच्छता न रखना इत्यादि।

७—आहारदोष—बासी तथा सड़े गले अन्न का तथा मांस मछली का सेवन, अतिपक्व और अपक्व (over cooked and under cood), अन्न का सेवन, मांसजातीय पदार्थों का एवम् लवण तथा खनिजों का अतिसेवन, अपर्याप्त तथा हीन (ill balanced) आहार का सेवन।

८—कुलजप्रवृत्ति—कुष्ठी माता पिता से उत्पन्न हुई सन्तान आधुनिक सम्प्राप्ति के अनुसार

यह तीनों दोष और रस, रुधिर, मांस तथा लसीका ये चार दूष्य कुष्ठ के कारण हैं। इस प्रकार

यद्यपि कुष्ठी नहीं होते तथापि उनमें कुष्ठोत्पत्ति के लिये अनुकूलता (Predisposition) होती है। जिससे कुष्ठ के साथ उसका सम्बन्ध होनेपर औरों की अपेक्षा वह जल्द उससे पीड़ित होता है।

९—अन्य रोगों का परिणाम—त्वचा के रोग, अङ्कुशमुख तथा अन्य कृमि, अतीसार, काला अजार, फिरङ्ग, दांत-मसूड़े तथा गले के रोग, विषमज्वर, आन्त्रिकज्वर तथा इन्फ्लुएन्जा, इत्यादि रोगों से पीडित या दुर्बल हुये रोगियों में प्रणशक्ति कमजोर होने के कारण कुष्ठ जल्दी हो सकता है।

१०—जलवायु—जिस स्थान में पानी काफी बरसता है तथा जहाँ वायुमण्डल में आर्द्रता अधिक रहती है ऐसे स्थानों में यह रोग अधिक होता है। जहाँ प्रतिवर्ष १० इञ्च से वर्षा कम होती है ऐसे स्थान म यह रोग कम होता है। यह उष्ण कटिबन्ध (Eropics) का रोग है जो इस समय भारतवर्ष, चीन और अफ्रीका में सबसे अधिक मिलता है।

११—घनिष्ठ सम्बन्ध—कुष्ठी के साथ अधिक काल तक अधिक निकट सम्बन्ध कुष्ठोत्पत्तिका सहायक कारण है। विशेषकर जब यह चिरकालीन सम्बन्ध बाल्य और वर्धमानावस्था में होता है तब रोगोत्पत्ति अन्य काल की अपेक्षा अधिक होती है।

अपने यहाँ तो प्रायः उन सभी कारणों को जिनको कि पाश्चात्य वैद्यक में सहायक कारण माना गया है, प्रधान कारण माना गया है, यथाः—

मिथ्याहाराचारस्य विशेषाद् गुरुविरुद्धासात्म्याजीर्णाहिताशिनः स्नेहपीतस्य वान्तस्य वा व्यायामग्राम्यधर्मसेविनो ग्राम्यानूपौदकमांसानि वा पयसाऽभीक्ष्णमश्नतो यो वा मज्जत्यप्सूष्माभितप्तः सहसा छर्दिं वा प्रतिहन्ति, तस्य पित्तश्लेष्माणौ प्रकुपितौ परिगृह्यानिलः प्रवृद्धस्तिर्यग्गाः सिराः संप्रतिपद्य समुद्धूय बाह्यं मार्गं प्रति समन्ताद्विक्षिपति, यत्र यत्र च दोषो विक्षिप्तो निःसरति तत्र तत्र मण्डलानि प्रादुर्भवन्ति, एवं समुत्पन्नस्त्वचि दोषस्तत्र तत्र च परिवृद्धिं प्राप्याप्रतिक्रियमाणोऽभ्यन्तरं प्रतिपद्यते धातूनभिदूषयन्'।

सु० नि० अ० ५ सू० २।

'अचोक्षंदुष्टमुत्सृष्टं पाषाणतृणलोष्ठवत्। द्विष्टं व्युषितमस्वादु पूति चान्नं विवर्जयेत्। सुश्रुत

यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते नोपजायते चानुपतापात्। पिता यदि कुष्ठ्यपि भवति बीजं चादुष्टं भवति कुष्ठाधारत्वगादिजनकं, ततो निष्कुष्ठान्येव त्वगादीन्यनुपतप्तत्वगादिबीजात् सदृशानि जायन्ते। यदा त्वतिवृद्धकुष्ठतया पित्रोर्बीजमपि कुष्ठजनक दोषेण दुष्टं भवति तदा दुष्टत्वगादिबीजभागात् कुष्ठं दुष्टैव त्वग्जायते। एवं कुष्ठिनोऽपि यदि हेतुबलाद्बीजे कुष्ठजनको दोषो भवति तदा कुष्ठिनोऽपि कुष्ठवदपत्यं भवति।

शरीर में प्रवेश मार्ग—जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश मुखद्वारा या मैथुन के समय जननेन्द्रियों द्वारा हो सकता है। किन्तु इसके लिए कोई आनुभविक प्रमाण नहीं मिलता। सब शास्त्रज्ञों का इस विषय में एक मत है कि त्वचा में जो सूक्ष्म विदार (Breach of Surface) होते हैं उनमें से जीवाणु भीतर प्रवेश करते हैं। ये विदार अधिकतर अनावृत (En Posed) प्रदेश में (यथा शाखाओं तथा चेहरे में) और अधिक रगड़ तथा दबाव के प्रदेश में (जैसे चूतड़ में) हो सकते हैं। और इन्हीं स्थानों में कुष्ठ का प्रारम्भिक दर्शन होता है। फिर प्रवेश के स्थान से जीवाणु शरीर के अन्य अङ्गों में १—लसिका-वाहिनियों द्वारा। २—तथा कण्डू के कारण नखों के द्वारा (Auto-In-oculation) प्रसार करते हैं। जिस स्थान में जीवाणु प्रवेश करते हैं उसके चारों ओर ये पहिये के आरे के समान फैलते हैं जिससे विकृत स्थान गोल या दीर्घवृत्त होता है। ऐसे ऐसे मण्डल आपस में मिलकर बड़े-बड़े चकत्ते बन जाते हैं।

पूर्वोक्त दोष तथा दूष्य के समुदाय से सात तथा ग्यारह प्रकार के कुष्ठ उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर सात और ग्यारह इस संख्याविच्छेद पाठ से सात महाकुष्ठ तथा ग्यारह क्षुद्र कुष्ठों का बोध होता है ॥ १–६ ॥

स्थानिक विकृति की अवस्थायें—

गुप्त (Ouiesdent Stage)—इसमें जीवाणुओं की वृद्धि, त्वचा के नीचे लसिका-स्थानों में होती है और वे चारों ओर फैलते हैं तथा उनके विष का परिणाम शरीर पर नहीं होता। इनकी वृद्धि के साथ-साथ एक गोंद सदृश चिपचिपा पदार्थ भी बनता है जो हमेशा इन्हें इकट्ठा रखता है।

२—प्रतिक्रिया या प्रकोप की अवस्था (Reactionary or inflamatory)—इसमें विकृत स्थान पर शोथ पैदा होता है, केशिकायें विस्फारित होती हैं और जीवाणु तथा विषरस रक्त द्वारा सर्व शरीर में फैलकर नये-नये स्थानों में विकृति प्रारम्भ कर ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न करते हैं।

३—प्रशम की अवस्था–इसमें स्थानिक शोथ कम होता है, त्वचा पतली और सलवटदार होती है तथा उसमें तान्तवधातु बनती है और ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण कम होते हैं। इस प्रकार कुष्ठ-ज्वर—(Leprous fever) के दौरे बार-बार आते हैं और रोग का शरीर में प्रसार होता जाता है।

लक्षण—इस रोग का संचय काल बहुत ही अनिश्चित है। कुष्ठी के साथ अधिक काल तक घनिष्ठ सम्बन्ध होने से संचयकाल कम होता है और कम सम्बन्ध होने पर अधिक होता है। साधारण संचय काल २–५ साल का होता है। परन्तु कभी-कभी इससे कम और इससे अधिक भी दिखाई देता है।

पूर्वरूप—शरीर के भिन्न अङ्गों में विवर्ण स्थान उत्पन्न होते हैं। ये स्थान आकार में गोल या दीर्घवर्त्तुल चारों ओर की त्वचा से किञ्चित् उभड़े हुए आधे से चार इञ्च तक मोटे, मृदु, चमकीले और मध्य से पाण्डुरवर्ण के होते हैं। इनकी उत्पत्ति के पूर्व कभी-कभी उन स्थानों में जलन चुनचुनायन (Tingling), स्पर्शासहिष्णुता और मध्य में स्वाप (Numbness) होता है। स्पर्श-ज्ञान की कमी का लक्षण विशेष महत्त्व पूर्ण है। उन स्थानों में स्वेद की कमी होती है, केश झड़ जाते हैं। इस प्रकार के विवर्ण मण्डल अधिकतर चेहरा, भौंह, नासिका, कर्णपाली, शाखाओं के प्रसारक (Extensor) भाग, पीठ, छाती तथा उदर विभाग पर होते हैं। नासा से रक्तस्राव, नासा की खुश्की, सिरदर्द, चक्कर, हाथ–पैरों में पीड़ा, धड़ पर स्वेदाधिक्य और शाखाओं पर स्वेदभाव इत्यादि लक्षण भी होते हैं।

रोग के प्रकार–इस रोग के मुख्य दो प्रकार माने जाते हैं—

१—ग्रन्थिक, २—वातिक, इसके सिवाय कभी कभी दोनों का मिश्रण भी होता है उसको मिश्र प्रकार कहते हैं।

१—ग्रन्थिक प्रकार–इस प्रकार में त्वचा पर चकत्ते उत्पन्न होते हैं। ये चकत्ते सेलाभरण से होते हैं। इनका आकार दाल से लेकर कई इञ्च मोटा, वर्तुल या दीर्घ वर्तुल होता है। ये वर्ण में लाल या तांबे के समान, एक, अनेक, एक पार्श्व में, दोनों पार्श्वों में और कभी समान स्थानों में (Symmetrical) होते हैं। इन चकत्तों में या इनके अतिरिक्त स्थानों में गाठें उत्पन्न होती हैं। ये कभी स्थायी होती हैं और कभी अस्थाई होती हैं। इन गाँठों के तथा चकत्तों के ऊपर की त्वचा में प्रथम स्पर्शासह्यता—(Hyperaesthesia), मध्य में स्पर्शज्ञान की कमी और अन्त में स्पर्शज्ञान (Auncsthesia) होता है। इन चकत्तों मे तथा गाँठों में जब उपशम हो जाता है तब ऊपर की त्वचा क्षीण और सलवटदार होती है। इनमें से कुछ गांठें सड़कर व्रण बन जाते हैं

सप्तमहाकुष्ठनामान्याह—
पूर्वं त्रिकं तथा सिध्मं ततः काकणकं तथा। पुण्डरीकर्क्षजिह्वके महाकुष्ठानि सप्त च ॥ ७ ॥

और उनसे स्राव होता है, जिसमें कुष्ठ के जीवाणु असंख्य होते हैं। इस प्रकार के चकत्ते और गांठें शरीर के सभी अङ्गों पर हो सकते हैं, परन्तु खुले स्थान पर अधिक होते हैं। इनके कारण शरीर बेडौल हो जाता है, नासा मोटी होती है, कर्णपाली मोटी, गाँठदार और लम्बी होती है, मुख चमकीला, स्थूल-कंगूरेदार, सुस्त, उदासीन और इङ्गित रहित (Evpressionlonless), सिंहसम (Leonineface) होता है। बाह्य त्वचा के समान श्लेष्मल त्वचा में भी यही विकृति होकर आखिर में उसमें व्रण बनते हैं और जीवाणुयुक्त स्राव होता है। यह अवस्था विशेष करके नासा में होती है। नासा के सिवाय ग्रसनिका और स्वरयन्त्र की विकृति से स्वरभङ्ग, मूकता, ग्रसनकृच्छ्रता (Dysphagia) इत्यादि उपद्रव होते हैं। पुरुषों में स्तनाग्र मोटे होकर उभर आते हैं। व्रणों के साथ सम्बन्धित लसिकाग्रन्थियाँ फूलती हैं। त्वचा, श्लेष्मलत्वचा और ग्रन्थियों के अतिरिक्त धीरे-धीरे यकृत्-प्लीहा, वृक्क, अस्थि, सन्धि, नख, वृषण तथा बीजग्रन्थि (Ovary) इत्यादि शरीर के सभी अङ्गों में फैलता है। इस प्रकार बीच में ज्वर भी आता है। अपने यहाँ सुश्रुत में भी कुष्ठ के सम्बन्ध में इसी प्रकार का वर्णन मिलता है, यथाः—

यथा वनस्पतिर्जातः प्राप्य कालप्रकर्षणम्। अन्तर्भूमिं विगाहेत मूलं कृमिविवर्धितः॥
एवं कुष्ठं समुत्पन्नं त्वचि कालप्रकर्षतः। क्रमेण धातून् व्याप्नोति नरस्याप्रतिकारिणः॥
स्पर्शहानिः स्वेदनत्वमीषत्कण्डूश्च जायते। वैवर्ण्यं रूक्षभावश्च कुष्ठे त्वचि समाश्रिते।
त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्त्तनम्। कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते।
बाहुल्यं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः। तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते॥
दौर्गन्ध्यमुपदेहश्च पूयोऽथ कृमयस्तथा। गात्राणां भेदनं चापि कुष्ठे मेदः समाश्रिते।
कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां सम्भेदः क्षतसर्पणम्। शुक्रस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च॥

सु० नि० अ० ५ श्लो० १९-२६।

यह कुष्ठज्वर (Leprous fever) कहलाता है, ज्वर के समय बेचैनी, अग्नि की मन्दता, कफ तथा सुस्ती इत्यादि सार्वदैहिक लक्षण होते हैं, चकत्ते या ग्रन्थियाँ फूलती हैं, उनका वर्ण लाल हो जाता है और शरीर के नये-नये स्थानों में गांठें निकलती हैं। थोड़े दिनों के बाद ज्वर तथा अन्य लक्षण आप से आप कम हो जाते हैं और बहुसंख्य चकत्ते और गांठें बैठ जाती हैं, परन्तु कुछ पीछे रह जाती हैं। इस प्रकार ज्वर के आवेग बार-बार आया करते हैं और शरीर में रोग की वृद्धि होती जाती है। कभी-कभी ज्वर के पश्चात् नयी-नयी गांठें निकलती हैं। इस प्रकार का ज्वर कभी-कभी रोग के प्रारम्भ से आता है।

२—वातिक प्रकार (Nerve Leprosy)-इस प्रकार में विकृति वातनाड़ियों में होती है। नाड़ियों में जीवाणु त्वचा से जाते हैं या रक्तके द्वारा पहुंचते हैं। मार्ग कोई भी हो नाड़ियों में अपक्रान्ति (Degeneration) और क्षय प्रारम्भ होता है। त्वचा में चकत्ते प्रारम्भ होने के पूर्व सुन्नता, सरसराहट, कण्डू, जलन, पीड़ा तथा नाड़ियों के मार्गमें स्पर्शनासहिष्णुता इत्यादि वातिक लक्षण होते हैं। ये चकत्ते वर्ण में फीके होते हैं, उनकी त्वचा में सुन्नता होती है जो स्पर्श, उष्णता तथा शीत इन सबके लिए रहती है। प्रथम प्रकार के चकत्तों के समान ये मोटे और उभरे हुए नहीं होते। उनके ऊपर के केश पतले तथा भङ्गुर होकर धीरे-धीरे झड़ने लगते हैं। कुछ काल तक पसीना अधिक आता है फिर कम हो जाता है। त्वचा पतली, क्षीण, चमकीली या खरस्पर्श और कर्कश हो जाती है। चकत्तों के साथ सम्बन्ध रखनेवाली त्वचागत नाड़ियाँ मोटी, कठिन, पीडायुक्त या पीड़ारहित, स्पर्शसुलभ (Palpalle) और रस्सी के समान हो जाती हैं। शरीर की असंख्य नाड़ियों

*पूर्वं त्रिकं=कपालोदुम्बरमण्डलाख्यम्। सिध्मशब्दोऽकारान्तो नपुंसकः। ननु कथं सिध्मस्य महाकुष्ठेषु गणना? सुश्रुतेन क्षुद्रकुष्ठेषूक्तत्वात्।

में अन्तर्बाहुका (Ulner) पुरोजंघिका (Peroneal) तथा श्रावणी (Ausicular) ये नाड़ियाँ सबसे अधिक विकृत होती हैं और मध्यबाहुका (Median) बहिर्बाहुका (Redial), वक्रा (Facial) पश्चिमजंघिका (Tilial) और ऊर्ध्वनेत्र गुहा (Supra or bital) ये नाड़ियाँ कुछ कम पीडित होती हैं। ये नाड़ियाँ प्रारम्भ में शोथ के कारण मोटी, गाँठदार पीडनाक्षम और रज्जुवत् होती हैं; परन्तु अन्त में क्षीण, पतली और पीडारहित हो जाती हैं। नाड़ियोंकी विकृति के कारण उनका पोषक परिणाम (Trophiegn flience) जाता रहता है। इससे त्वचा में फफोले (Bullae) और व्रण बनते हैं। पैर में तो ये व्रण भेदक रूप धारण करते हैं। पेशियाँ क्षीण और कमजोर हो जाती हैं। हाथ-पैर की अङ्गुलियाँ टेढ़ी होकर पञ्जा विचित्र मर्कट सम (Apeoand) हो जाता है। अस्थियों का शोषण होता है। यह असर अधिकतर हाथ-पैर की अङ्गुलियों में होकर तमाम अङ्गुलियाँ नष्ट हो जाती हैं। सन्धियों में शोथ होकर द्रव भर जाता है। हाथ-पैरों पर सूजन आती है। यह सूजन घन (Solid) होती है। नेत्र में व्रण, पक्ष्मघात, अन्धता इत्यादि विकार होते हैं। वक्त्रनाड़ी के विकार से अर्दित (Jacial Paralysis) होता है। इस प्रकार अभी तक ३ प्रकार के कुष्ठभेदों का जो पाश्चात्य मतानुसार वर्णन वातिकप्रकार (Nerve leprosy) वातिककुष्ठ से, ग्रन्थिककुष्ठ (Nodular loprosy) कफज तथा पैतिक कुष्ठ से और मिश्रित (Mised) सान्निपातिक कुष्ठ के साथ मिलता है। और अधिकतर यही अन्तिम मिश्रित (Mised) कुष्ठ ही मिलता है। यथाः—

कुष्ठेषु तु त्वक्संकोचस्वापस्वेदशोफभेदकौण्यस्वरोपघातता वातेन, पाकावदरणाङ्गुलिपतनकर्णनासाभङ्गाक्षिरागसत्त्वोत्पत्तयः पित्तेन, कण्डूवर्णभेदशोफास्रावगौरवाणि श्लेष्मणा।

सु० नि० अ० ५ सू० १८॥

न च किञ्चिदस्ति कुष्ठमेकदोषप्रकोपनिमित्तम्। चरक।

सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि, सपित्तानि, सश्लेष्माणि, सक्रिमीणि च भवन्ति, उत्सन्नतस्तु दोषग्रहणमभिभवात्। सु० नि० अ० ५ सु० ६।

ठीक यही बात अंग्रेजी के एक वैद्यक ग्रन्थ में लिखी है। यथाः—

So the Distinction (Nerve or Skin Leprosy) is not Sharply Difiined (Tropical medicine by Rogersd an megan)

चिकित्सा सामान्यः—

१—स्वच्छता-कुष्ठ रोग शरीर और कपड़ों की सफाई ठीक न रखने से होता है। इसलिए कुष्ठी अपने शरीर और कपड़ों की सफाई की ओर विशेष ध्यान दे। प्रतिदिन कम से कम एक बार स्नान करना बहुत आवश्यक है।

२—व्यायाम-प्रत्येक कुष्ठी को खुली हवा में व्यायाम करना बहुत जरूरी है। बगीचे या खेत में काम करना भी अच्छा है। व्यायाम में शरीर के प्रत्येक अवयव का सञ्चालन होना चाहिए, इससे पंजों की खराबी नहीं होती।

३—आहार-कुष्ठी प्रायः दरिद्री, अर्द्धभुक्त तथा कमजोर लोग होते हैं। कुष्ठियों को उचित आहार न मिलने से उनका रोग उचित चिकित्सा करने पर भी ठीक नहीं हो सकता और कभी २ दुर्बल रोगियों में उस चिकित्सा से अधिक हानि होने की सम्भावना होती है। इसलिए कुष्ठी को रोटी, दाल, विविध प्रकार के साग—सब्जी, तरकारी, फल, दूध दही, मट्ठा, मक्खन तथा घी इत्यादि पदार्थ दोनों समय मिलना चाहिए। चावल का सेवन जितना कम हो, उतना ही, अच्छा

*धातुप्रविष्टं सिध्मं तु स्यान्महाकुष्ठमेव च'।

*एवंविधस्य सिध्मस्य चरकेण महाकुष्ठेषु दर्शितत्वात्। एषां महाकुष्ठत्वञ्च शीघ्रमुत्तरोत्तरधात्ववगाहनाद्, उल्बणदोषजन्यत्वाच्चिकित्साबाहुल्याच्च॥ ७॥

कपाल, औदुम्बर, मण्डल, सिध्म, काकणक, पुण्डरीक तथा जिह्वक ये सात महाकुष्ठ कहलाते हैं।

शङ्का–सुश्रुत ने जो सिध्म की क्षुद्र कुष्ठों में गणना किया है फिर यहां पर सिध्म का महाकुष्ठ मेंगणना कैसे की गई?

है। मद्य तथा धूमपान भी वर्जित करना चाहिए। यदि मलावरोध हो तो आहार की चीजों में फरक करके, साग-सब्जी का अधिक सेवन करके तथा व्यायाम से उसे दूर करने की कोशिश करनी चाहिए। इससे फायदा न हो तो विरेचन ओषधि का प्रयोग करना उचित है।

४—स्वतन्त्र जीवन और मानसिक स्वास्थ्य–कुष्ठी के संसर्ग से समाज में कुष्ठ फैलता है। अतः रोग-प्रतिषेध तथा अपने स्वास्थ्य की दृष्टि से कुष्ठी के लिए स्वतन्त्र हवादार तथा सुप्रकाशित स्थान में रहना हितकर होता है। वहाँ पर स्नान, कपड़े धोना तथा वर्तन माजना इत्यादि कामोंके लिये स्वतन्त्र व्यवस्था हो सकती हैं और रोगी स्वतन्त्रता से सभी कामकर सकता है। इसके सिवाय समाज कुष्ठी से अत्यन्त घृणा करता है। इस घृणा से कुष्ठी हमेशा मनमें कुढ़ता हैं, विषण्ण रहता हैं, शर्मिन्दा होता हैं, अपने विकारको छिपाने की कोशिश करता है और अपने पूर्व कर्म कोकोसता रहता है। इस मानसिक स्थिति का परिणाम उसके शारीरिक स्वास्थ्य पर होकर रोग जल्दी बढ़ता हैं। समाज से दूर स्वतन्त्र स्थान में रहने पर उसका मन कुछ शान्त हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक क्षण उसको समाज की घृणा का डर नहीं रहता। इसके सिवाय कुष्ठी भी वहाँ पर प्राप्त परिस्थिति के साथ सफलता से मुकाबला करने के लिए मनको शिक्षा देकर वह आनन्दी, उत्साही, धैर्यशील और कृतसंकल्प बनता है। कृतसंकल्प रोगी अन्य रोगियों की अपेक्षा जल्दी अच्छे हो जाते हैं। जैसा कि सुप्रसिद्ध कुष्ठ-चिकित्सक डाक्टर म्यूर ने लिखा है कि—The Intelligent patient who is fullaf Courage and determination to getbetter Stands a much better ehance than the Stupid, Lazy, or opinionated one. This is true of other diseases, but of none So true as of Leprosy Prognoni. Vol. II.

साध्यासाध्यता की दृष्टि से अपने यहाँ तो रोगी की मानसिक स्थिति का अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार किया गया है। यथाः—

स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च। ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः। चरक।

ज्ञापकः = वैद्यं रोगाहारविहारादीनामन्वयव्यतिरेकं बोधयितुं समर्थः। इन्दुः।

आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्त्ववानपि। अष्टाङ्गसंग्रहः।

सत्त्ववानभीरुः। इन्दुः।

इनके अतिरिक्त चरक में लिखा हैं कि—

'विषादो रोगवर्द्धनानाम्' (श्रेष्ठः)।

सुश्रुत में तो कुष्ठ के सम्बन्ध में सुस्पष्ट लिखा हुआ है किः—

कुष्ठमात्मवतः साध्यम्। पञ्चकर्मगुणातीतं श्रद्धावन्तं विजीवितुम्। योगेनानेन मतिमान् साधयेदपि कुष्ठिनम्। दिदृक्षुरन्तं कुष्ठस्य। इत्यादि।

पुरोगामी और सहवर्त्ती रोगों की चिकित्सा—अङ्कुशमुख कृमि, केंचुवे, अतीसार, विषमज्वर, काला अजार, टान्सिल, मसूड़ों तथा दाँतों के विकार इनसे स्वास्थ्य खराब होने से कुष्ठोत्पत्तिमें सहायता होती हैं। इसलिए इन रोगों की प्रथम चिकित्सा करके पश्चात् कुष्ठ की विशेष चिकित्सा करनी चाहिए। फिरङ्ग की चिकित्सा महीनों तक चलती है, इसलिए दोनों चिकित्सायें साथ २ शुरू

उत्तर–जो सिध्म धातुओं में प्रविष्ट होगया है उसे महाकुष्ठ कहा जाता है क्योंकि भगवान् चरक ने इस प्रकार के सिध्म को महाकुष्ठों में गिना है। इन सातों को उत्तरोत्तर धातुओं में शीघ्र प्रवेश करने से, उल्वण दोष से उत्पन्न होने के कारण तथा चिकित्साबाहुल्य के कारण उपर्युक्त इन सातों कुष्ठों को महाकुष्ठ कहा गया है ॥ ७ ॥

एकादशक्षुद्रकुष्ठनामान्याह—

एककुष्ठं स्मृतं पूर्वं गजचर्म ततः स्मृतम्। ततश्चर्मदलं प्रोक्तं ततश्चापि विचर्चिका ॥ ८ ॥
विपादिकाऽभिधा सैव पामा कच्छूस्ततः परम्। दद्रुविस्फोटकिटिभालसकानि च वेष्टितम्॥
क्षुद्रकुष्ठानि चैतानि कथितानि भिषग्वरैः ॥१० ॥

***ननु दद्रुरोगस्य कथं क्षुद्रकुष्ठेषु गणना? सुश्रुतेन महाकुष्ठेषूक्तत्वात्। उच्यते–असिताऽवगाढमूला दद्रुः सुश्रुतेन महाकुष्ठेषूक्ता। असितेतराऽनवगाढमूला दद्रुः क्षुद्रकुष्ठमेव। एवं विधा दद्रुश्चरकेण क्षुद्रकुष्ठमेव क्षुद्रकुष्ठेषु दर्शितत्वात् ॥ ८–१० ॥**

-एककुष्ठ, गजचर्म, चर्मदल, विचर्चिका, विपादिका, पामा, कच्छू, दद्रु, विस्फोट, किटिभ, अलसक तथा शतारु इन्हें उत्तम वैद्य क्षुद्रकुष्ठ कहते हैं। जो पैर में होता है वही विपादिका कहलाता है। अत एव क्षुद्र कुष्ठों की संख्या ग्यारह ही रहती है।

शङ्का–यहाँ दद्रूरोग की क्षुद्रकुष्ठों में गणना क्यों किया? सुश्रुत ने तो दद्रु की महाकुष्ठों में गणना किया है।

उत्तर–जो दद्रु कृष्णवर्ण तथा दृढ़मूल वाला होता है उसीकी महाकुष्ठ में सुश्रुत ने गणना

करनी चाहिए क्योंकि उतनी देर तक कुष्ठ चिकित्सा को स्थगित रखना उचित नहीं है। इस प्रकार सहवर्त्ती रोगों की चिकित्सा से तथा स्वच्छता, व्यायाम, उचित आहार, स्वतन्त्रजीवन और मानसिक स्वास्थ्य के द्वारा रोगी रोग के साथ भलीभाँति मुकाबला कर सकता है तथा कुष्ठ के विशेष ओषधियों का भी सुपरिणाम होता है। दुर्बल रोगी में न स्वयं टक्कर लेने की शक्ति होती है और न ओषधि सहन करने की शक्ति होती है। इसलिए सामान्य चिकित्सा विशेष चिकित्सा से अधिक महत्त्वकी है।

विशेष चिकित्सा—

यद्यपि कुष्ठ के लिए पाश्चात्य वैद्यक में अभीतक कोई अमोघ ओषधि नहीं प्राप्त हुई है तथापि उपलब्ध ओषधियों में तुवरक सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

तुवरक तैल (Hydnocarpus oil)—

यह तेल तुवरक वृक्ष (Hydnocarpus Wightiana) के ताजे फलों से निकाला जाता है। इसके सिवाय Hydnocarpus Anthel mintica और Tarakto genus Kurzll नामक दो इसी जाति के वृक्षों के फलों से भी तैल निकाला जाता है। इस तेल का मर्दन द्वारा, मुख द्वारा तथा इञ्जेक्शन द्वारा प्रयोग होता है। इसके अलावे फल के चूर्ण का भी १५–३० ग्रेन की मात्रा में ½ भाग के साथ मिलाकर भोजन के पश्चात् दिन में दो बार दिया जाता है। अपने यहाँ भी तुवरक का वर्णन मिलता है यथाः—

वृक्षास्तुवरका ये स्युः पश्चिमार्णवभूमिषु। वीचीतरङ्गविक्षेपमारुतोद्भूतपल्लवाः ॥
तेषां फलानि गृह्णीयात् सुपक्वान्यम्बुदागमे। मज्जां तेभ्योऽपि संहृत्य शोषयित्वा विचूर्ण्य च ॥
तिलवत्पीडयेद् द्रोण्यां स्रावयेद्वा कुसुम्भवत्। तत्तैलं संहृतं भूयः पचेदातोयसंक्षयात् ॥
अवतार्य करीषे च पक्षमात्रं निधापयेत्। मन्त्रपूतस्य तैलस्य पिबेन्मात्रां यथाबलम् ॥
तेनाभ्यक्तशरीरस्तु कुर्वीताहारमीरितम्। भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं विशीर्णं क्रिमिभक्षितम् ॥
अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत् कुष्ठिनं नरम्। महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठमेहापहः परः। सुश्रुत ॥

किया है। और जो दद्रु कृष्णवर्ण के नहीं होते तथा जिनका मूल दृढ़ नहीं होता उसे तो क्षुद्र कुष्ठ ही समझना चाहिए। भगवान् चरक ने भी इस प्रकार के दद्रु को क्षुद्रकुष्ठों में ही गिना है ॥८-१०॥

कुष्ठानां त्रिदोषजत्वेनैकस्याऽपि दोषस्योल्बणतया सप्तधात्वमाह—

कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथग्द्वन्द्वैः समागतैः। सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः ॥११॥

***सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशः कापालादिसञ्ज्ञास्तेषामष्टादशरूपं यदधिकत्वं, ततः कुष्ठानि सप्तधा। कैर्दोषैः कथम्भूतैः? पृथग्द्वन्द्वैः समागतैः=सङ्गतैः, सम्मिलितैरिति यावत्। अस्यायमर्थः—१ किमपि कुष्ठं वातोल्बणं, २ किमपि पित्तोल्बणं, ३ किमपि कफोल्बणं, ४ किमपि पित्तश्लेष्मोल्बणं, ५ किमपि वातपित्तोल्बणं, ६ किमपि वातश्लेष्मोल्बणं, ७ किमपि त्रिदोषोल्बणमिति ॥ ११ ॥**

यद्यपि तीनों दोषों से उत्पन्न कुष्ठ कापालादि, संज्ञायें हैं तथापि उन नामों के अठारह होने के कारण वातादि दोषों की उल्बणता के अनुसार सात प्रकार के माने गए हैं। वे कुष्ठ किन दोषों से और किस प्रकार होते हैं? उन्हें बतलाते हैं। १–कोई कुष्ठ वात की उल्बणता से २–कोई पित्त की उल्बणता से ३–कोई कफ की उल्बणता से ४–कोई पित्त तथा कफ की उल्बणता से ५–कोई वात तथा पित्त की उल्बणता से, ६–कोई वात तथा कफ की उल्बणता से और ७–कोई त्रिदोष की उल्बणता से होता है ॥ ११ ॥

कुष्ठपूर्वरूपमाह—

अतिश्लक्ष्णः खरस्पर्शः स्वेदास्वेदविवर्णता। दाहः कण्डूस्त्वचि स्वापस्तोदः कोठोन्नतिः क्लमः। व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः। रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽपि कोपनम्। रोमहर्षोऽसृजः कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम् ॥ १३ ॥

***अतिश्लक्ष्णः=अतिमृदुः। अथवा घर्मादिप्रसङ्गेऽपि स्वेदाभावः। त्वचि स्वापः=स्पर्शाज्ञता। शीघ्रोत्पत्तिर्व्रणानाम् ॥ १२–१३ ॥**

जिस स्थान में कुष्ठ उत्पन्न होने वाला होता है वह स्थान स्पर्श में अत्यन्त मृदु तथा अत्यन्त खर प्रतीत होता है। पसीना आता है अथवा धूप इत्यादि के प्रसङ्ग होने पर भी स्वेदाभाव होता है। स्थान का वर्ण विकृत हो जाता है। दाह, कण्डू, त्वचा में स्पर्शज्ञान का अभाव, सुई चुभोने के समान वेदना, चकत्तों का पड़ जाना, ग्लानि, व्रणों में अत्यन्त पीड़ा, व्रणों का शीघ्र उत्पन्न होना, अधिक समय तक रहना, व्रणों के भर जाने पर भी रूक्षता का रहना, थोड़े ही कारण से व्रणों का प्रकुपित होना, रोमहर्ष तथा रक्त का काला हो जाना ये सब कुष्ठ रोग के पूर्वरूप हैं॥

दूषयन्ति श्लथीकृत्य निश्चलत्वादितस्ततः। त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दोषाः कुष्ठमुशन्ति तम् ॥

निश्चल होने के कारण दोष त्वचा को शिथिल करके चारों तरफ से चमड़े के वर्ण को विकृत कर देते हैं ऐसे को कुष्ठ रोग कहते हैं ॥ १४ ॥

येनोल्बणेन यत् कुष्ठमुत्पद्यते तन्नामान्याह—

वातेन कुष्ठं कापालं पित्तेनौदुम्बरं कफात्। मण्डलाख्यं विचर्ची च ऋक्षाख्यं वातपित्ततः ॥ चर्मैककुष्ठकिटिभसिध्मालसविपादिकाः। वातश्लेष्मोद्भवाः पित्तकफाद्दद्रुशतारुषी ॥ १६ ॥ पुण्डरीकं सविस्फोटं पामा चर्मदलं तथा। सर्वैरेवोल्बणैर्दोषैराहुः काकणकं बुधाः ॥ १७ ॥

***विचर्ची च कफादित्यन्वयः। पुण्डरीकं च विस्फोटः पामा चर्मदलं तथा पित्तकफादित्यन्वयः ॥ १५–१७ ॥**

वात की उल्बणता से कापाल कुष्ठ, पित्त की उल्बणता से औदुम्बर कुष्ठ, कफ की उल्बणता से मण्डल तथा विचर्चिका कुष्ठ वात तथा पित्त की उल्बणता से ऋक्षजिह्वकुष्ठ, वात तथा कफ की उल्बणता से गजचर्म, एककुष्ठ, किटिभ, सिध्म, अलसक तथा विपादिका कुष्ठ, पित्त तथा कफ की

उल्वणता से दद्रु, शतारु, पुण्डरीक, विस्फोट, पामा तथा चर्मदल कुष्ठ, और तीनों दोषों की उल्वणता से काकणककुष्ठ उत्पन्न होता है, ऐसा विद्वानोंका मत है ॥ १५-१७ ॥

१ महाकुष्ठानां मध्ये प्रथमं कापालस्य लक्षणमाह—

कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु। कापालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् ॥ १८ ॥

※किञ्चित् कृष्णाः किञ्चिदरुणाः, ये कपालाः स्फुटितमृत्पात्रखण्डाः 'खर्परा' इति यावत्। तद्वर्णम्। परुषं = खरस्पर्शम्। तनु = तनुत्वक्। कापालं = कापालसञ्ज्ञं, विषमं = दुश्चिकित्स्यम् ॥ १८ ॥

किञ्चित् कृष्ण तथा रक्तवर्ण, खपड़े के समान, रूक्ष, स्पर्श में खर पतली त्वचा वाला तथा सुई चुभाने के समान तीव्र पीड़ायुक्त जो कुष्ठ होता है उसे कापालकुष्ठ कहते हैं। यह कुष्ठ दुश्चिकित्स्य बतलाया गया है ॥ १८ ॥

२ औदुम्बरकुष्ठलक्षणमाह—

उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं वदेत्। रुग्दाहरागकण्डूभिः परीतं रोमपिञ्जरम् ॥ १९ ॥

※उदुम्बरफलाकारम् ॥ १९ ॥

जो कुष्ठ गूलर के फल के समान, रोमयुक्त, पीड़ा, दाह, रक्तिमा तथा कण्डू से व्याप्त होता है उसे औदुम्बर कुष्ठ कहते हैं ॥ १९ ॥

३ मण्डलकुष्ठलक्षणमाह—

श्वेतरक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम्। कृच्छ्रमन्योऽन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ॥

※श्वेतरक्तं = किञ्चिच्छ्वेतं किञ्चिद्रक्तम्। स्थिरं = चिकित्सां विनाऽविनाशि। स्त्यानम् = आर्द्रम्। स्निग्धं = सस्वेदम्। उत्सन्नमण्डलम् = उद्गतमण्डलम्। कृच्छ्रं = कष्टसाध्यम्। अन्योन्यसंसक्तं = परस्परमिलितम् ॥ २० ॥

जो कुष्ठ किञ्चित् श्वेत तथा किञ्चित् रक्तवर्ण का होता है, चिकित्सा के विना नष्ट न होने वाला, आर्द्र, स्वेदयुक्त, उभड़े हुए मण्डल के समान हो और परस्पर मिला हुआ हो उसे मण्डलकुष्ठ कहते हैं। यह कुष्ठ कष्टसाध्य होता है ॥ २० ॥

४ सिध्मकुष्ठलक्षणमाह—

श्वेतताम्रञ्च तनु यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति। प्रायेणोरसि तत्सिध्ममलाबुकुसुमोपमम् ॥ २१ ॥

※श्वेतताम्रं = श्वेतं ताम्रम्। तनु = तनुत्वक्। प्रायेणोरसि = प्रायःशब्दादन्यत्रापि बोद्धव्यम् ॥ २१ ॥

जो कुष्ठ श्वेत तथा ताम्र वर्ण हो, पतलीत्वचा वाला हो, रगड़ने से जिसमें धूल के समान छोटे-छोटे टुकड़े गिरें तथा लौकी के फूल के समान हो उसे सिध्मकुष्ठ कहते हैं। यह कुष्ठ प्रायः छाती में होता है। छाती के अतिरिक्त अन्य अङ्गों में भी हो सकता है ॥ २१ ॥

५ काकणकुष्ठलक्षणमाह—

यत्काकणन्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनम्। त्रिदोषलिङ्गं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति ॥ २२ ॥

※काकणं=काकणन्ती=गुञ्जा, गुञ्जावर्णत्वेन मध्ये कृष्णमन्ते रक्तम्। अथवा मध्ये रक्तमन्ते कृष्णम्। अपाकं स्वभावात्। त्रिदोषलिङ्गम् = सर्वेषां कुष्ठानां त्रिदोषजत्वेपि, उल्वणदोषत्रयलिङ्गम् ॥ २२ ॥

जो कुष्ठ गुञ्जा के वर्ण के समान अर्थात् बीच में कृष्णवर्ण और अन्त में रक्तवर्ण हो अथवा बीच में रक्तवर्ण तथा अन्त में कृष्णवर्ण हो स्वभावतः न पकने वाला, तीव्र वेदनायुक्त तथा तीनों दोषों की उल्वणता से उत्पन्न होने वाला (यद्यपि सभी कुष्ठ त्रिदोषजन्य ही होते हैं तथापि इस में तीनों दोषों की उल्वणता होती है) होता है उसे काकणकुष्ठ कहते हैं। यह कुष्ठ असाध्य होता है ॥ २२ ॥

६ पुण्डरीककुष्ठलक्षणमाह—

तच्छ्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम् । सरागञ्चैव सोत्सेधं पुण्डरीकं कफोल्वणम् ॥२३॥

पुण्डरीकदलोपमं = पुण्डरीकं = श्वेतकमलं, तत्पत्रोपमम् । सरागञ्चैव । अत एव श्वेतं रक्तपर्यन्तम् = अन्ते रक्तम् । सरागमिति—अन्ते लोहिताधिक्यबोधनार्थम् । सोत्सेधम् = उद्गतम् ॥ २३ ॥

जो कुष्ठ श्वेत कमल के पत्र के समान श्वेतवर्ण, अन्त में अत्यन्त लालिमा युक्त हो, उभार युक्त हो तथा कफ की उल्वणता से युक्त हो, उसे पुण्डरीककुष्ठ कहते हैं ॥ २३ ॥

ऋक्षजिह्वकुष्ठलक्षणमाह—

कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनम् । यदृक्षजिह्वासंस्थानमृक्षजिह्वं तदुच्यते ॥ २४ ॥

रक्तपर्यन्तम् = अन्ते रक्तम् । अन्तःश्यावं = मध्ये धूम्रवर्णम् । ऋक्षजिह्वासंस्थानम् = ऋक्षो भल्लूकस्तस्य जिह्वाऽऽकृति ॥ २४ ॥

जो कुष्ठ कठिन, अन्त में रक्तवर्ण, मध्य में धूम्रवर्ण, वेदना युक्त तथा रीछ की जिह्वा के समान आकृति वाला हो, उसे ऋक्षजिह्वकुष्ठ कहते हैं ॥ २४ ॥

८–९ क्षुद्रकुष्ठानां मध्ये एककुष्ठगजचर्मणोर्लक्षणमाह—

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम् । तदेककुष्ठं चर्माख्यं बहलं गजचर्मवत् ॥ २५ ॥

महावास्तु=महास्थानम् । मत्स्यशकलोपमम्=अत्र शकलशब्देन लक्षणया त्वगुच्यते, तेन चक्राकारमभ्रकपत्रसदृशं भवति । एककुष्ठमिति–क्षुद्रकुष्ठेषु मुख्यत्वात् । चर्माख्यं=गजचर्माख्यम् । बहलं= स्थूलम् । गजचर्मवत् = रूक्षं कृष्णं च ॥ २५ ॥

जो कुष्ठ पसीना रहित, अधिक विस्तृत, मछली के चमड़े के समान, चक्राकार तथा अभ्रकपत्र के समान हो, उसे एककुष्ठ कहते हैं । और जो कुष्ठ स्थूल, हाथी के चमड़े के समान रूक्ष तथा कृष्णवर्ण वाला हो उसे गजचर्म नामक कुष्ठ कहते हैं ॥ २५ ॥

१० चर्मदलनामकक्षुद्रकुष्ठलक्षणमाह—

रक्तं सशूलं कण्डूमत्सस्फोटं दलयत्यपि । तच्चर्मदलमाख्यातं स्पर्शस्यासहनञ्च यत् ॥ २६ ॥

दलयत्यपि = विदारयत्यपि । चर्मेति शेषः ॥ २६ ॥

जो कुष्ठ रक्तवर्ण, शूलयुक्त, कण्डूयुक्त, स्फोटों से व्याप्त, चमड़े को फाड़ने वाला और स्पर्श को न सह सकने वाला हो, उसे चर्मदल कुष्ठ कहते हैं ॥ २६ ॥

११ विचर्चिकानामकक्षुद्रकुष्ठमाह—

सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका ॥ २७ ॥

पिडका—क्षुद्रपिडका ॥ २७ ॥

जो कुष्ठ, कण्डूयुक्त, श्याववर्ण तथा अत्यन्त स्रावयुक्त छोटी-छोटी फुन्सियों से व्याप्त हो, उसे विचर्चिका कुष्ठ कहते हैं ॥ २७ ॥

विपादिकानामकक्षुद्रकुष्ठलक्षणमाह—

वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ॥ २८ ॥

ननु क्षुद्रकुष्ठानां कथमेकादशत्वं? विपादिकाया द्वादशत्वसम्भवात् । उच्यते-विचर्चिकेव पादयोर्भवतीति विपादिका, तेन न संख्याऽतिरेकः । अत एवाह भोजः—

दोषाः प्रदूष्य त्वङ्मांसं पाणिपादसमाश्रिताः । पिडकां जनयन्त्याशु दाहकण्डूसमन्विताम् ॥

हाथ तथा पाँव फट जाय और तीव्र वेदना हो तो उसे विपादिका नामक क्षुद्र कुष्ठ कहते हैं ।

आशंका—विपादिका को लेकर तो क्षुद्र कुष्ठों की संख्या बारह होती है, फिर आपने ग्यारह ही क्षुद्र कुष्ठों की गणना कैसे की ? उत्तर—पाँव में उत्पन्न हुई विचर्चिका ही विपादिका कहलाती है,

इसीलिए संख्या की वृद्धि नहीं होती। जैसा कि भोज ने भी कहा है:—हाथ तथा पाँव में स्थित दोष त्वचा और मांस को दूषित करके शीघ्र ही दाह तथा कण्डूयुक्त पिडिकाओं को उत्पन्न कर देते हैं॥ १॥

***दाल्यते त्वक् खरा रूक्षा पाण्योर्ज्ञेया विचर्चिका। पादे विपादिका ज्ञेया स्थानभेदाद्विचर्चिका**

***दाल्यते=विदार्यते। केचिद्विचर्चिकातो विपादिकां भिन्नामाहुः। पाणिपादस्फुटनं= पाण्योः पादयोश्च स्फुटनं=विदारणं येन तत्॥ २८॥**

हाथों का रूक्ष तथा खर चर्म फट जाता है, उसे विचर्चिका और जब पांव की त्वचा फट जाती है तो उसे विपादिका कहते हैं। विचर्चिका और विपादिका वस्तुतः एक ही वस्तु है, केवल स्थान-भेद से भिन्नता है। कुछ आचार्य तो विचर्चिका से विपादिका को भिन्न बतलाते हैं॥ २८॥

१२ पामालक्षणमाह—

सूक्ष्मा बह्वयः स्राववत्यः प्रदाहाः पामेत्युक्ताः पिडकाः कण्डुमत्यः॥ २९॥

***पिडकाः=पीडयन्तीति पिडका इति क्षिपकादित्वान्निपात्यते॥ २९॥**

स्रावयुक्त, दाहयुक्त तथा कण्डूयुक्त जो अधिक संख्या में छोटी-छोटी पिडिकाएँ होती हैं, उन्हें पामा कहते हैं। पीडा करती हैं, इसीलिए फुन्सियों को पिडका कहा जाता है। क्षिपकादित्वात् निपातन से पिडका शब्द बनता है॥ २९॥

१३ कच्छूनामकक्षुद्रकुष्ठलक्षणमाह—

सैव स्फोटस्तीव्रदाहैरुपेता ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च॥ ३०॥

***सैव=पामा। स्फोटैर्महद्भिः। स्फिचोः=प्रोथयोः॥ ३०॥**

वही पामा जब हाथों और स्फिक् प्रदेश में होती है तथा बड़े-बड़े फफोलों से, तीव्रदाह से व्याप्त होती है और उग्र स्वरूपवाली होती है, तब उसे कच्छू कहते हैं॥ ३०॥

१४ दद्रुनामकक्षुद्रकुष्ठलक्षणमाह—

सकण्डूरागपिडकं दद्रूर्मण्डलमुद्गतम्॥ ३१॥

***दद्रुर्मण्डलरूपेणोत्पत्तिम्। उद्गतम्=उच्छूनम्॥ ३१॥**

कण्डू तथा लाल फुन्सियों से युक्त मण्डलाकार उत्पत्तिवाला और ऊपर को सूजा हुआ जो क्षुद्रकुष्ठ होता है, उसे [1]दद्रु कहते हैं॥ ३१॥

१५ विस्फोटनामकक्षुद्रकुष्ठलक्षणमाह—

स्फोटाः श्यावारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः॥ ३२॥

श्याव तथा लालिमायुक्त, पतली त्वचावाले जो फफोले होते हैं, उन्हें विस्फोटक कहते हैं॥३२॥

१६ किटिभकुष्ठलक्षणमाह—

श्यामं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम्॥ ३३॥

***किणखरस्पर्शम्=किणः=शुष्कव्रणस्थानं, तद्वत्कर्कशस्पर्शम्। परुषं=रूक्षम्॥३३॥**

जो क्षुद्रकुष्ठ वर्ण में श्यामा, रूक्ष तथा स्पर्श में सूखे हुए व्रणस्थान के समान कर्कश प्रतीत हो, उसे किटिभकुष्ठ कहते हैं॥ ३३॥

१७ अलसकनामकक्षुद्रकुष्ठलक्षणमाह—

कण्डुमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम्॥ ३४॥

***गण्डैः=महापिडकाभिः। चितं=वेष्टितम्॥ ३४॥**

---

१. दद्रुको अंग्रेजी में रिंगवर्म या टीनिया (Ring worm or Tinea) कहते हैं। इस त्वग्विकार का कृमि मोल्ड या फंगस (Mould or Fungus) जाति का है। यह अनेक सेलों का तन्तुसदृश होता है। इसका नाम ट्रिचोफटन इन्डोथ्रिक्स या ट्रिचोफिटन एक्टोथ्रिक्स(Trichophyton endothrix or Trichophyton ectothrix) है।

जो क्षुद्रकुष्ठ कण्डूयुक्त, रक्तवर्ण की बड़ी-बड़ी फुन्सियों से व्याप्त होता है, उसे अलसक कहते हैं॥

१८ शतारुकुष्ठलक्षणमाह—

रक्तश्यावं सदाहार्त्ति शतारुः स्याद् बहुव्रणम् ॥ ३५ ॥

जो क्षुद्रकुष्ठ रक्तिमायुक्त श्याव वर्ण का, दाहसम्बन्धी वेदना से युक्त तथा बहुत व्रणों से युक्त होता है, उसे शतारु कहते हैं ॥ ३५ ॥

अथ सप्तधातुगतानां कुष्ठानां लक्षणानि ।

तत्र रसगतकुष्ठलक्षणमाह—

त्वक्स्थे वैवर्ण्यमङ्गेषु कुष्ठे रौक्ष्यञ्च जायते । त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्त्तनम् ॥३६॥

***त्वक्छब्देनात्र रस उच्यते । धातुप्रस्तावात् त्वक्स्थत्वाच्च त्वक्स्वापः=स्पर्शाज्ञत्वम् । 'त्वक्स्वाप' इत्यादिकं केचिद्रक्तगतस्य लिङ्गं मन्यन्ते ॥ ३६ ॥**

कुष्ठ के रसगत होने पर अङ्गों में विवर्णता तथा रूक्षता उत्पन्न हो जाती है, स्पर्शज्ञान का अभाव हो जाता है, रोमाञ्च होता है तथा अधिक मात्रा में पसीना निकलने लगता है।

धातु-प्रस्ताव तथा चमड़े में स्थित होने के कारण यहाँ त्वक् शब्द से रस शब्द का ग्रहण किया जाता है। कुछ आचार्य स्पर्शज्ञान का अभाव, रोमाञ्च होना तथा पसीने का बहुत आना—ये सब लक्षण रक्तगत कुष्ठ के मानते हैं ॥ ३६ ॥

रुधिरगतकुष्ठलक्षणमाह—

कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसम्भवे ॥ ३७ ॥

***विपूयकः = विशेषेण पूयः ॥ ३७ ॥**

रक्तगत कुष्ठ में कण्डू तथा पूय की अधिकता होती है ॥ ३७ ॥

मांसगतकुष्ठलक्षणमाह—

बाहुल्यं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः । तोदः स्फोटः स्थिरत्वञ्च कुष्ठे मांससमाश्रिते ३८

***बाहुल्यं = कुष्ठस्य पुष्टिः । पिडकोद्गमः = क्षुद्रपिडकोद्भवः । स्फोटः = बृहत्पिडका । स्थिरत्वम् = असञ्चारित्वम् ॥ ३८ ॥**

मांसगत कुष्ठ में कुष्ठ की पुष्टि, मुखशोष, शरीर की कर्कशता, छोटी-छोटी फुन्सियों का निकलना, सुई चुभाने के समान पीड़ा, बड़े बड़े फोड़ों का होना तथा कुष्ठ की स्थिरता ये सब लक्षण होते हैं ॥ ३८ ॥

मेदोगतकुष्ठलक्षणमाह—

कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां सम्भेदः क्षतसर्पणम् । मेदःस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च ॥३९॥

***कौण्यं = हस्तनाशः । अङ्गानां सम्भेदः = अङ्गभङ्गः । क्षतसर्पणं = क्षतप्रसरणम् । पूर्वोक्तानि=रक्तमांसगतलिङ्गानि ॥ ३९ ॥**

मेदोगत कुष्ठ में हस्तनाश अर्थात् हाथ का लूला होना, चलने की शक्ति का नाश, अङ्गों का भंग, व्रण का फैलना और पूर्वोक्त रक्तगत तथा मांसगत कुष्ठ के समस्त लक्षण होते हैं ॥ ३९ ॥

अस्थिमज्जागतकुष्ठलक्षणमाह—

नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षतेषु कृमिसम्भवः । स्वरोपघातः पीडा च भवेत्कुष्ठेऽस्थिमज्जगे॥४०॥

अस्थिगत तथा मज्जागत कुष्ठ में नासाभंग अर्थात् नाक का बैठ जाना, आँखों का लाल होना, क्षतों में कीड़ों का पड़ जाना, स्वर का नाश तथा पीड़ा—ये सब लक्षण होते हैं ॥ ४० ॥

शुक्रगतकुष्ठलक्षणमाह—

दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद् दुष्टशोणितशुक्रयोः । यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ॥४१॥

***ननु शुद्धशोणितशुक्रयोरेव दम्पत्योर्गर्भसम्भवः । दुष्टशोणितशुक्रयोः कथमपत्योत्पत्तिः ? यत आह सुश्रुतः—**

कामान्मिथुनसंयोगे शुद्धशोणितशुक्रजे । गर्भः सञ्जायते नार्याः स जातो बाल उच्यते ॥

कुष्ठ की बहुलता से दूषित स्त्री के रज तथा पुरुष के शुक्र के संयोग से जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह भी कुष्ठी होती है ।

शंका—शुद्ध रज तथा शुद्ध शुक्रवाले ही स्त्रीपुरुष के समागम से गर्भ उत्पन्न होता है, तो दुष्ट रज तथा दुष्ट वीर्यवाले स्त्री-पुरुषों के समागम से सन्तान क्यों कर उत्पन्न होगी ? जैसा कि सुश्रुत ने कहा है कि:—काम के वेग से स्त्री-पुरुष का संयोग होने पर शुद्ध रज तथा शुद्ध शुक्र से स्त्री को गर्भ उत्पन्न होता है, वही गर्भ पैदा होने के पश्चात् बालक कहलाता है ॥ ३ ॥

***अथान्यच्च—वातादिदुष्टरेतसोऽपत्योत्पादने न समर्था इति । उच्यते-गर्भोऽत्र शुद्धो बोद्धव्यः । अशुद्धगर्भोऽपि दुष्टशोणितशुक्रयोरपि भवति । गतकर्णान्धबधिरादीनां सम्भवात् । शोणितम् = आर्त्तवम् । कुष्ठितं कुष्ठं सञ्जातमस्येति, तारकादित्वादितच् । 'शुक्रार्त्तवगतं कुष्ठमपत्येन व्यज्यते' इति तात्पर्यम् ॥ ४१ ॥**

इसके अलावे भी कहा गया है कि:—वातादि दोषों से दुष्ट वीर्यवाले सन्तानोत्पादन में समर्थ नहीं होते ।

उत्तर—'गर्भ' से यहाँ पर सुश्रुतादि के मतानुसार 'शुद्ध गर्भ' समझना चाहिए । दुष्ट रज तथा दुष्ट शुक्र के संयोग से अशुद्ध गर्भ भी होता है । क्योंकि कर्णविहीन, अन्धे तथा बहरे इत्यादि गर्भों की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है । तात्पर्य यह कि शुक्र तथा रजोगत कुष्ठ सन्तान को कुष्ठी कर सकता है ॥ ४१ ॥

कुष्ठेषूल्वणवातादिदोषलिङ्गमाह—

खरं श्यावारुणं रूक्षं वातकुष्ठं सवेदनम् । पित्तात्प्रकुथितं दाहरागस्रावान्वितं मतम् ॥
कफोत्क्लेदि घनं स्निग्धं सकण्डूशैत्यगौरवम् । द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं कुष्ठं त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ॥

***खरं = कर्कशम् । श्यावारुणं = श्यावं वा, अरुणं वा । प्रकुथितं=पूतिक्लेदबहलम् । क्लेदि=आर्द्रतायुक्तम् । घनं=पुष्टम् ॥ ४२ ॥**

वातोल्वणकुष्ठ—खर, श्याववर्ण अथवा रक्तवर्ण, रूक्ष तथा वेदनायुक्त होता है । पित्तोल्वण-कुष्ठ—दुर्गन्धित तथा अधिक क्लेदयुक्त, दाह, रक्तिमा तथा स्रावयुक्त होता है । कफोल्वणकुष्ठ-क्लेद युक्त अर्थात् गीला, पुष्ट, स्निग्ध, कण्डूयुक्त, शीतल तथा गुरुतायुक्त होता है । जो कुष्ठ उपर्युक्त दो दोषों के लक्षणों से युक्त हो, उसे दो दोषों की उल्वणता से उत्पन्न हुआ समझना चाहिए । तथा जिस कुष्ठ में तीनों दोषों के लक्षण मिलते हों, उसे तीनों दोषों की उल्वणतावाला समझना चाहिए ।

कुष्ठस्य साध्यत्वादिकमाह—

साध्यं त्वग्रक्तमांसस्थं वातश्लेष्माधिकञ्च यत् । मेदोगं द्वन्द्वजं याप्यं वर्ज्यं मज्जास्थिसंश्रितम् । कृमिकृद् दाहमन्दाग्निसंयुक्तं यत् त्रिदोषजम् ॥ ४३ ॥

***वातश्लेष्माधिकञ्च यद्=एतेन सिध्मैककुष्ठगजचर्मविपादिकाकिटिभालसकानि साध्यानि । मज्जागतं शुक्रगतमप्यसाध्यम् । कृमिर्वाह्योऽपि वर्ज्य इत्यन्वयः ॥ ४३ ॥**

रस, रक्त तथा मांसगत कुष्ठ, वात और कफ की उल्वणतावाले कुष्ठ जैसे-सिध्म, एककुष्ठ, गजचर्म, विपादिका, किटिभ तथा अलसक—ये सब साध्य होते हैं । मेदोगत तथा द्वन्द्वज कुष्ठ याप्य होते हैं । और मज्जा तथा अस्थि में प्राप्त हुआ कुष्ठ, दाह, मन्दाग्नियुक्त तथा त्रिदोषज कुष्ठ ये वर्ज्य हैं अर्थात् वैद्य को चाहिए कि इनकी चिकित्सा न करे । और कृमियों को उत्पन्न करनेवाला बाह्य भी कुष्ठ वर्ज्य है । तथा मज्जागत और शुक्रगत भी कुष्ठ असाध्य हैं ॥ ४३ ॥

कुष्ठारिष्टमाह—

प्रभिन्नं प्रस्रुताङ्गञ्च रक्तनेत्रं हतस्वरम् । पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह कुष्ठिनम् ॥ ४४ ॥

ॐप्रभिन्नं=विदीर्णम् । हतस्वरं = घर्घरस्वरम् । पञ्चकर्मगुणातीतम् = असञ्जातवमनादिपञ्चकर्मगुणम् ॥ ४४ ॥

जिस कुष्ठी के अङ्ग विदीर्ण हो गये हों, अङ्ग प्रस्रुत हो रहे हों अर्थात् टपक रहे हों, नेत्र रक्तवर्ण हों, स्वर बैठ गया हो तथा वमन, विरेचनादि पञ्चकर्म गुण न करते हों, तो ऐसे रोगी को कुष्ठ मार डालता है ॥ ४४ ॥

त्वग्दुष्टिसाम्यात् कुष्ठभेदत्वाच्चात्रैव श्वित्रं सभेदमाह—

कुष्ठैकसम्भवं श्वित्रं किलासं चारुणं भवेत् । निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥ ४५ ॥

ॐकुष्ठैकसम्भवं = कुष्ठेन सह सम्भवो = निदानं यस्य तत् । अथ श्वित्रस्य भेदमाह—किलासं चारुणं भवेत् = श्वित्रमेव रक्तमांसाश्रयात्किलासमरुणञ्च भवेदित्यर्थः । ननु कुष्ठस्य श्वित्रस्य च को भेदः ? इत्यत आह—निर्दिष्टमपरिस्रावीति । श्वित्रमपरिस्रावि भवति, कुष्ठन्तु स्रावि । अथ च त्रिधातूद्भवसंश्रयमिति । श्वित्रम् , त्रयो धातवो=वातपित्तकफास्तेभ्यः पृथग्भूतेभ्य उद्भवो यस्य तद् । अथवा त्रयो धातवो = रक्तमांसमेदांसि संश्रयोऽधिष्ठानं यस्य तत् । कुष्ठन्तु सान्निपातिकं = सर्वधातुगतं भवतीति भेदः ॥ ४५ ॥

कुष्ठ तथा श्वित्र इन दोनों का निदान एक ही है अर्थात् जिन कारणों से कुष्ठ होता है, उन्हीं सब कारणों से श्वित्र भी होता है । श्वित्र के दो भेद होते हैं: १–किलास और २–अरुण । श्वित्र जब रक्त के आश्रय से होता है तब किलास, तथा मांस के आश्रय से होता है, तब अरुण कहलाता है ।

श्वित्र तथा कुष्ठ में क्या भेद है, उसे बतलाते हैं:—श्वित्र स्रावरहित तथा कुष्ठ स्रावयुक्त होता है । श्वित्र वात, पित्त तथा कफ इनमें से किसी एक दोष से उत्पन्न होता है; किन्तु कुष्ठ तीनों दोषों के प्रकोप से होता है और श्वित्र रक्त, मांस तथा मेद–इन तीन ही धातुओं में होता है, किन्तु कुष्ठ रसादि सातों धातुओं में होता है ॥ ४५ ॥

दोषभेदेन लक्षणभेदानाह—

वाताद्रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत् । सदाहं रोमविध्वंसि कफाच्छ्वेतं घनं गुरु ॥
सकण्डुकं क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेत् । वर्णेनैवेदृगुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम् ॥ ४६ ॥

ॐअरुणम् = ईषल्लोहितम् । 'कमलपत्रवदि'त्यनेन मध्ये श्वेतमन्ते लोहितं बोधयति । घनं = पुष्टम् । क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेत् । तथा च चरकः—

ॐअरुणं रक्तगे वाते ताम्रं पित्ते पलं गते ।
श्वेतं श्लेष्मणि मेदःस्थे श्वित्रं कुष्ठं परात्परम् ॥ ४ ॥ इति ।

ॐउभयं = द्विविधमपि श्वित्रं वर्णेनैव । अरुणं ताम्रं श्वेतञ्च दोषभेदात् । द्विविधं—दोषजं व्रणजञ्च । तथा च भोजः—

ॐ'श्वित्रं तु द्विविधं विद्याद्दोषजं व्रणजं तथा' ॥ ५ ॥ इति ॥ ४६ ॥

वात से उत्पन्न होनेवाला श्वित्र रूक्ष तथा किञ्चित् रक्तवर्ण होता है और रक्त में रहता है, पित्त से उत्पन्न होनेवाला श्वित्र ताम्रवर्ण तथा कमल पत्र के समान बीच में श्वेत और अन्त में लाल होता है तथा मांस में रहता है । और कफ से उत्पन्न हुआ श्वित्र श्वेतवर्ण का, पुष्ट, गुरु तथा कण्डूयुक्त होता है और मेद में रहता है । दोषज तथा व्रणज दोनों प्रकार का श्वित्र वर्ण में दोषानुसार उपर्युक्त ही प्रकार का होता है । यह श्वित्र उत्तरोत्तर अर्थात् वातज से पित्तज तथा पित्तज से कफज श्वित्र कृच्छ्रसाध्य होता है । भगवान चरक ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है:—वातजन्य श्वित्र रक्त में रहता है तथा लाल होता है, पित्तज श्वित्र मांस में रहता है तथा ताम्रवर्ण का होता है और कफ से उत्पन्न होनेवाला श्वित्र मेद में रहता है तथा श्वेतवर्ण का होता है । वातज से पित्तज तथा पित्तज से कफज श्वित्र कृच्छ्रसाध्य होता है ॥ ४ ॥ इति । भोज भी कहते हैं कि—दोषज तथा व्रणज भेद से श्वित्र दो प्रकार का जानना चाहिए ॥ ५ ॥ इति ॥ ४६ ॥

श्वित्रस्य साध्यासाध्यत्वमाह—

अशुक्लरोमाबहलमसंश्लिष्टमथो नवम्। अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ॥४७॥

***अबहलं=तनु ॥ ४७ ॥**

अन्यच्च—

गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम्। वर्जनीयं विशेषेण किलासं सिद्धिमिच्छता ॥४८॥

***गुह्यं=मेहनम्भगञ्च। तलमत्र पदतलम्। जातं सुश्रुतेनान्ते जातमिति सामान्यतो निर्दिष्टत्वात्। अप्यचिरन्तनम्=नवमपि ॥ ४८ ॥**

जो श्वित्र काले रोमों से युक्त हो, पतला हो, मिला हुआ न हो, नया हो और अग्निदग्धजन्य न हो, तो ऐसा श्वित्र साध्य तथा इसके विपरीत वर्ज्य होता है। इसके अलावे अन्यत्र भी कहा गया है कि:—जो श्वित्र लिङ्ग, योनि, हाथ तथा पैर के तलवे में उत्पन्न हुआ होता है, यदि ऐसा श्वित्र नवीन भी हो, तब भी सिद्धि की इच्छा करनेवाला वैद्य विशेषतः उसकी चिकित्सा न करे॥

कुष्ठादिरोगाणां संसर्गजत्वमाह—

प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शान्निश्वासात्सहभोजनात्। एकशय्याऽऽसनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कण्डूकुष्ठोपदंशाश्च भूतोन्मादव्रणज्वराः। औपसर्गिकरोगाश्च सङ्क्रामन्ति नरान्नरम् ॥४९॥

***प्रसङ्गो=मैथुनम् ॥ ४९ ॥**

मैथुन करने से, गात्र-संस्पर्श से, श्वास-प्रश्वास से, एक साथ भोजन करने से, एक शय्या पर बैठने से तथा धारण किये हुए वस्त्र, माला और चन्दनादि अनुलेपन को धारण करने से खुजली, कुष्ठ, उपदंश, भूतोन्माद, व्रण, ज्वर तथा औपसर्गिक रोग एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य पर संक्रमण करते हैं॥ ४९॥

म्रियते यदि कुष्ठेन पुनर्जातस्य तद्भवेत्। अतो निन्दितरोगोऽयं कुष्ठंकुष्ठं प्रकीर्त्तितम् ॥५०॥

***एतावता कुष्ठिनां कुष्ठं कष्टं सर्वथा प्रतिकरणीयं न तूपेक्षणीयम् ॥ ५० ॥**

यदि मनुष्य कुष्ठ रोग से मर जाता है, तो फिर उसे दूसरे जन्म में भी कुष्ठरोग हो जाता है। इसीलिए यह कुष्ठ निन्दित रोग कहा गया है और कष्टरूप बतलाया गया है। अत एव कुष्ठियों के कुष्ठ का सर्वदा चिकित्सादि द्वारा प्रतीकार करना चाहिए। इस रोग की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए॥ ५०॥

कुष्ठचिकित्सामाह—

वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु। पित्तोत्तरेषु लेपः सेको रक्तस्य मोचनं श्रेष्ठम्॥

वातोल्बण कुष्ठों में घृतप्रयोग, कफोल्बण कुष्ठों में वमन तथा पित्तोल्बण कुष्ठों में प्रलेप, परिषेक तथा रक्तमोक्षण करना श्रेष्ठ माना गया है॥ ५१॥

पथ्याऽऽदिलेपमाह—

पथ्याकरञ्जसिद्धार्थनिशाऽवल्गुजसैन्धवैः। विडङ्गसहितैः पिष्टैर्लेपो मूत्रेण कुष्ठनुत् ॥५२॥

***अवल्गुजः='वाकुची'ति लोके ॥ ५२ ॥**

हरड़, करञ्ज, सरसो, हल्दी, वाकुची, सेंधानमक तथा वायविडङ्ग को गोमूत्र में पीसकर लेप करने से कुष्ठ नष्ट हो जाता है॥ ५२॥

सोमराज्युद्वर्त्तनमाह—

सोमराजीभवं चूर्णं शृङ्गवेरसमन्वितम्। उद्वर्त्तनमिदं हन्ति कुष्ठमुग्रं कृतास्पदम् ॥ ५३ ॥

सोमराजी='वाकुची'ति लोके ॥ ५३ ॥

वाकुची के चूर्ण को अदरख के रस में मिलाकर उद्वर्तन करने से उग्र तथा गहरी जड़वाला भी कुष्ठ नष्ट हो जाता है॥ ५३॥

पञ्चनिम्बकावलेहमाह—

रसायनं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् । मार्कण्डेयप्रभृतिभिर्यत्प्रयुक्तं महर्षिभिः ॥
पुष्पकाले तु पुष्पाणि फलकाले फलानि च । संगृह्य पिचुमर्दस्य त्वङ्मूलानि दलानि च ॥
द्विरंशानि समाहृत्य भागिकानि प्रकल्पयेत् । त्रिफला त्र्यूषणं ब्राह्मी श्वदंष्ट्राऽरुष्कराग्नयः ॥
विडङ्गसारवाराहीलोहचूर्णामृताः समाः । निशाद्वयबावल्गुजकं व्याधिघातः सशर्करः ॥
कुष्ठमिन्द्रयवाः पाठाः चूर्णमेषां तु संयुतम् । खादिरासननिम्बानां घनक्वाथेन भावयेत् ॥
सप्तधा पञ्चनिम्बं तु मार्कवस्य रसेन च । स्निग्धः शुद्धतनुर्धीमान्योजयेत्तच्छुभे दिने ॥
मधुना तिक्तहविषा खदिरासनवारिणा । लेह्यमुष्णाम्भसा वाऽपि कालवृद्ध्या पलं भवेत् ॥
जीर्णे तस्मिन्समश्नीयात्स्निग्धं लघु हितञ्च यत् ॥ ५९ ॥
विचर्चिकौदुम्बरपुण्डरीककापालदद्रूकिटिभालसादि ।
सतारुविस्फोटविसर्पमालाः कफप्रकोपं त्रिविधं किलासम् ॥ ६० ॥
भगन्दरश्लीपदवातरक्तजडान्धनाडीव्रणशीर्षरोगान् ।
सर्वान्प्रमेहान्प्रदरांश्च सर्वान्दंष्ट्राविषं मूलविषं निहन्ति ॥ ६१ ॥
स्थूलोदरः सिंहकृशोदरः स्यात्सुश्लिष्टसन्धिर्मधुनोपयोगात् ।
सदोपयोगादपि ये दशन्ति सर्पादयो यान्ति विनाशमाशु ॥ ६२ ॥
जीवेच्चिरं व्याधिजराविमुक्तः शुभे रतश्चन्द्रसमानकान्तिः ॥ ६३ ॥

अस्यायमर्थः—निम्बस्य पुष्पफलत्वक्पत्रमूलानि सर्वाणि समुदितानि द्विगुणानि चूर्णितानि भृङ्गराजस्वरसेन सप्तवारान्भावयेत् । त्रिफलाऽऽदीनि पाठाऽन्तानि–समुदितान्येकभागानि चूर्णितानि खदिरासननिम्बक्वाथेन भावयेत् । ततः सर्वमेकीकृत्य मध्व.दिनाऽवलिह्यात् ॥ ५४–६३ ॥

ब्रह्मा ने जिस रसायन का वर्णन किया है अब मैं उसीको कहने जा रहा हूँ, जिसको मार्कण्डेय प्रभृति महर्षियों ने प्रयुक्त किया है :—पुष्प अथा फल के समय नीम के दो तोले फूल तथा दो तोले फल, दो तोले जड़ तथा दो तोले पत्तों को लेकर चूर्ण बनाकर भृङ्गराज स्वरस से सात बार भावनाएँ दे । हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, ब्राह्मी, गोखरू, भिलावा, चित्त, वायविडङ्ग का सार, वाराहीकन्द, लौहभस्म, हल्दी, दारुहल्दी, बाकुची, अमलतास, चीनी, कूट, इन्द्रजव तथा पाठा—इन सब ओषधियों को १–१ तोले लेकर चूर्ण बना ले । फिर इस चूर्णपर खैर, विजयसार तथा नीम के घन क्वाथ से भावना दे । तत्पश्चात् भृङ्गराज स्वरस से सात बार भावनाएँ दे । अब दोनों चूर्णों को एक में मिला दे तो पञ्चनिम्ब नामक चूर्ण तैयार हो जाता है । अब वमन–विरेचनादि पञ्चकर्मों द्वारा शुद्ध तथा स्निग्ध बुद्धिमान पुरुष शुभ दिन में इस चूर्ण को मधु, पञ्चतिक्त घृत, खैर अथवा विजयसार के क्वाथ से या उष्ण जल के साथ चाटे और प्रतिदिन ६–६ माशे बढ़ाता हुआ १ पल (४ तो०) तक बढ़ाकर इस चूर्ण का सेवन करे । और ओषधि के जीर्ण हो जाने पर स्निग्ध, लघु तथा हितकर आहार का सेवन करे ।

यह अवलेह विचर्चिका, औदुम्बर, पुण्डरीक, कपाल, दद्रु, किटिभ, अलसक इत्यादि, शतारु, विस्फोट, विसर्प, गण्डमाला, कफ का प्रकोप, तीन प्रकार का श्वित्र, भगन्दर, श्लीपद, वातरक्त, जड़ता, अन्धता, नाडीव्रण, शिरोरोग, सब प्रकार के प्रमेह, सब प्रकार के प्रदर और सब प्रकार के दंष्ट्राविष तथा मूलविष को नष्ट कर देता है । इस अवलेह को मधु के साथ सदा चाटने से मोटे पेटवाले मनुष्य सिंहके समान पतले पेटवाले तथा दृढ़ सन्धियोंवाले हो जाते हैं । यदि इस अवलेह का सदा उपयोग करनेवाले मनुष्य को सर्प इत्यादि काटें, तो शीघ्र मर जाते हैं । इस अवलेह का सेवन करने से मनुष्य रोग तथा वृद्धावस्थारहित होकर और शुभकर्मों में लगा हुआ बहुत दिनों तक जीता रहता है । तथा शरीर की कान्ति चन्द्रमा के समान हो जाती है ॥ ५४–६३ ॥

स्वायम्भुवगुग्गुलुमाह—

शशिलेखा पञ्चपलं तावद्गिरिजस्य गुग्गुलोस्तु दश।
ताप्यस्य पलत्रितयं द्वे लोहस्रावणीकयोश्च पले॥ ६५॥
त्रिफलाकरञ्जपल्लवखदिरगुडूचीत्रिवृद्दन्त्यः। मुस्ताविडङ्गरजनीकुटजत्वङ्निम्बवह्निसंपाकाः
एतै रचितां वटिकां मधुसंमिश्रां गिलेत्प्रातः। गोमूत्रेण च कुष्ठं नुदत्यसृग्वातमचिरेण॥६६॥
श्वित्राणि पाण्डुरोगं विषमानुदरप्रमेहगुल्मांश्च।
नाशयति वलीपलितं योगः स्वायम्भुवो नाम्ना॥ ६७॥

*शशिलेखा = सोमराजी। गिरिजस्य = शिलाजतुनः। ताप्यस्य = सुवर्णमाक्षिकस्य। स्रावणीका = 'मुण्डी' इति लोके॥ ६४-६७॥

वाकुची २० तोले, शिलाजीत २० तोले, गुग्गुलु ४० तोले, स्वर्णमाक्षिक १२ तोले, लौहभस्म ४ तोले, मुण्डी ४ तोले, हरड़ २ तोले, आँवले २ तोले, करञ्ज के पत्ते २ तोले, खैर २ तोले, गुडूची २ तोले, निशोथ २ तोले, जमालगोटा २ तोले, नागरमोथा २ तोले, वायविडङ्ग २ तोले, हल्दी २ तोले, कुड़े की छाल २ तोले इन सब ओषधियों को एकत्र पीसकर मधु के साथ गोलियाँ बना ले। प्रातःकाल एक गोली गोमूत्र के साथ खाने से कुष्ठ तथा वातरक्त शीघ्र नष्ट हो जाता है। यह स्वायम्भुव नामक गुग्गुलु श्वित्र, पाण्डुरोग, कृच्छ्रसाध्य उदररोग, प्रमेह और गुल्मरोग, वली तथा पलित को नष्ट कर देता है॥ ६४-६७॥

एकविंशतिकगुग्गुलुमाह—

चित्रकं त्रिफला व्योषमजाजी कारवी वचा। सैन्धवातिविषाकुष्ठं चव्यैला च यवासकम्॥
विडङ्गान्यजमोदा च मुस्ता चामरदारु च। यावन्त्येतानि सर्वाणि तावन्मानन्तु गुग्गुलोः॥
सङ्कुट्य सर्पिषा सार्द्धं गुटिकां कारयेद्भिषक्। प्रातर्भोजनकाले च खादेदग्निबलं यथा॥७०॥
हन्त्यष्टादश कुष्ठानि कृमिदुष्टव्रणानि च। ग्रहण्यर्शोविकारांश्च मुखामयगलग्रहान्॥७१॥
गृध्रसीमथ भग्नञ्च गुल्मं चापि नियच्छति। व्याधीन्कोष्ठगतांश्चापि जयेद्विष्णुरिवासुरान्॥

चित्त, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, जीरा, कलौंजा, वच, सेंधानमक, अतीस, कूट, चव्य, छोटी इलायची यवासा, वायविडङ्ग, अजमोदा, नागरमोथा तथा देवदारु—इन सब ओषधियों को १-१ भाग लेकर चूर्ण बना ले। फिर इन सब ओषधियों के चूर्ण के बराबर गुग्गुलु लेकर इकट्ठा कूटकर घी के साथ वैद्य गुटिका बना ले। फिर इस गुटिका को अग्निबल के अनुसार प्रातःकाल तथा भोजन के समय खाये, तो अठारह प्रकार के कुष्ठ, कृमि, दुष्ट व्रण, ग्रहणी, अर्श के विकार, मुखरोग, गलग्रह, गृध्रसी, भग्न, गुल्मरोग और कोष्ठगत रोग इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे विष्णु भगवान् असुरों को नष्ट कर देते हैं॥ ६८-७२॥

कैशोरगुग्गुलुप्रयोगमाह—

वातरक्ताधिकारोक्तः पुरः कैशोरकाभिधः। कुष्ठानां वातरक्तानां नाशनं परमौषधम्॥

वातरक्ताधिकारमें जो कैशोर नामक गुग्गुलु कहा गया है। वह कुष्ठ तथा वातरक्त को नष्ट करने के लिए परमौषध है॥ ७३॥

अमृतभल्लातकावलेहमाह—

भल्लातकप्रस्थयुगं छित्वा द्रोणजले क्षिपेत्। प्रस्थद्वयं गुडूच्याश्च क्षुण्णं तत्राम्भसि क्षिपेत्॥
चतुर्थांशावशेषं तु कषायमवतारयेत्। वस्त्रपूते कषाये तु वक्ष्यमाणं विनिक्षिपेत्॥ ७५॥
शरावमात्रकं सर्पिर्दुग्धं स्यादाढकं तथा। सितां प्रस्थमितां दद्यात्प्रस्थार्द्धं माक्षिकं क्षिपेत्॥
सर्वाण्येकत्र भाण्डे तु पचेन्मृद्वग्निना शनैः। सर्वद्रवे घनीभूते पावकादवतारयेत्॥ ७७॥
तत्र क्षेप्याणि चूर्णानि ब्रूमो बिल्वविषामृताः। वाकुची चाथ दद्रुघ्नः पिचुमर्दो हरीतकी॥
अक्षो धात्री च मञ्जिष्ठा मरिचं नागरं कणा। यवानी सैन्धवं मुस्तं त्वगेला नागकेशरम्॥

पर्पटं पत्रकं वालमुशीरं चन्दनं तथा। गोक्षुरस्य च बीजानि कर्चूरो रक्तचन्दनम् ॥ ८० ॥
पृथक्पलार्द्धमानानां चूर्णमेषामिह क्षिपेत्। पलमात्रमितं प्रातः समश्नीयाज्जलेन हि ॥८१॥
नाशयेदवलेहोऽयं पथ्यान्यन्नानि खादतः। कुष्ठानि वातरक्तानि सर्वाण्यर्शांसि सेवितः ॥८२॥
व्यायाममातपं वह्निमम्लं मांसं दधि स्त्रियम्। तैलाभ्यङ्गं तथाध्वानं नरो भल्लातकी त्यजेत् ॥

भिलावे २ प्रस्थ (१२८ तोले) लेकर १ द्रोण (१०२४ तोले) जल में डाल दे और फिर उसी जल में २ प्रस्थ (१२८ तो०) कूटी हुई गुडूची डालकर पकाये। जब पकते-पकते जल चौथाई शेष रह जाय, तो कषाय को उतार ले। फिर इस क्वाथ को वस्त्र द्वारा छान लेने के बाद इसमें घी ३२ तोले, दूध १ आढक (२५६ तोले), मिश्री १ प्रस्थ (६४ तो०) तथा मधु ३२ तोले डाल दे। फिर उपर्युक्त सभी ओषधियों को एकत्र किसी वर्तनमें मृदु अग्नि द्वारा शनैः-शनैः पकाये। जब पकते-पकते घन हो जाय तो अग्नि पर से उतार ले। और उसमें बेल का गूदा, गुडूची, बाकुची, चकवड़ के बीज, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मजीठ, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, अजवायन, सेन्धानमक, नागरमोथा, दालचीनी, छोटी इलायची, नागकेशर, पित्तपापड़ा, तेजपात, सुगन्धवाला, खस, चन्दन, गोखरू के बीज, कचूर तथा लाल चन्दन—इन प्रत्येक ओषधियों को २-२ तोले लेकर सबका चूर्ण बनाकर मिलादे तो 'अमृतभल्लातक' नामक अवलेह सिद्ध हो जाता है। इस अवलेह को ४ तोले की मात्रा में प्रतिदिन प्रातःकाल जल के साथ सेवन करे तथा पथ्य अन्न को खाता रहे, तो कुष्ठ, वातरक्त तथा सब प्रकार का अर्श रोग नष्ट हो जाता है। भिलावे को सेवन करनेवाला पुरुष व्यायाम, धूप, अग्नि, अम्लपदार्थ, मांस, दही, मैथुन, तैलाभ्यङ्ग तथा मार्ग का चलना त्याग दे ॥ ७४-८३ ॥

महाभल्लातकावलेहमाह—

निम्बगोपारुणाः कट्वी त्रायन्ती त्रिफला घनम्। पर्पटावल्गुजानन्तावचाखदिरचन्दनम् ॥
पाठाशुण्ठीशटीभार्गीवासाभूनिम्बवत्सकम्। श्यामेन्द्रवारुणीमूर्वाविडङ्गेन्द्रयवानलम् ॥८५॥
हस्तिकर्णामृताद्रेकापटोलरजनीद्वयम्। कणारग्वधसप्ताह्वत्रिवृद्वेत्रोच्चटाफलम् ॥ ८६ ॥
मञ्जिष्ठा लाङ्गली रास्ना नक्तमालं पुनर्नवा। दन्तीबीजकसारञ्च भृङ्गराजं कुरण्टकम् ॥ ८७ ॥
अङ्कोटकञ्च शाखोटं द्विपलांशं पृथक्पृथक्। गृह्णीयात्तानि सर्वाणि जलद्रोणे पचेच्छनैः ॥८८॥
अष्टमांशावशेषन्तु कषायमवतारयेत्। विधाय वाससा पूतं स्थापयेद्भाजने दृढे ॥ ८९ ॥
भल्लातकसहस्राणि छित्वा तु द्व्यर्मणाम्भसि। पचेदष्टावशेषं तत्कषायमवतारयेत् ॥ ९० ॥
तच्च वस्त्रेण संशोध्य द्वौ कषायौ विमिश्रयेत्। गुडं शतपलं दत्त्वा लेहवत्तत्पचेच्छनैः ॥९१॥
त्रिकटु त्रिफला मुस्तं विडङ्गं चित्रकं तथा। सैन्धवं चन्दनं कुष्ठं दीप्यकञ्च पलं पृथक्।
सौगन्ध्यार्थं क्षिपेत्तत्र चातुर्जातं पलं पलम् ॥ ९२ ॥
महाभल्लातको ह्येष महादेवेन भाषितः। प्राणिनां हितकामेन जयेच्छीघ्रं प्रयोजितः ॥ ९३ ॥
श्वित्रमौदुम्बरं दद्रुमृष्यजिह्वन्तु काकणम्। पुण्डरीकं सचर्माख्यं विस्फोटं रक्तमण्डलम् ॥९४॥
कण्डूं कपालकं कुष्ठं पामानञ्च विपादिकाम्। वातरक्तं षडर्शांसि पाण्डुरोगव्रणान्क्रिमीन् ॥
रक्तपित्तमुदावर्तं कासं श्वासं भगन्दरम्। सदाभ्यासेन पलितमामवातं सुदुस्तरम् ॥ ९६ ॥
निर्यन्त्रणस्तु कथितो विहाराहारमैथुने। कुरुते परमां कान्तिं प्रदीप्तं जठरानलम् ॥ ९७ ॥
अनुपानं प्रयोक्तव्यं छिन्नातोयं पयोऽथवा। भोजने तु सदा त्याज्यमुष्णमम्लं विशेषतः ॥९८॥

गोपा = 'श्वेतसारिवा' इति लोके। अरुणा = अतिविषा। अवल्गुजः = 'सोमराजी' (वाकुची)। अनन्ता = दुरालभा। चन्दनं = श्वेतम्। भार्ग्या अलाभे कण्टकारीमूलं गृह्णीयात्। श्यामा = कृष्णसारिवा। हस्तिकर्णः = हस्तिकन्दः। द्रेका = 'वकाइन' इति लोके। सप्ताह्वा = छतिवन। वेत्रं=कृष्णवेत्रं जलवेतसश्च। उच्चटाफलं=श्वेतगुञ्जाफलम्। कुरण्टकः= पीतझिण्टी (कटसरैया)। अङ्कोटकः = (ढेला) अङ्कोल इति लोके। शाखोटं = 'सहोर' इति लोके। दीप्यकं = यवानी ॥ ८४-९८ ॥

नीमकी छाल, श्वेत सारिवा, अतीस, कुटकी, त्रायमाण, हरड, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, वाकुची, जवासा, वच, खैर, श्वेतचन्दन, पाठा, सोंठ, कचूर, भारङ्गी (अभाव में कण्टकारीमूल), अडूसा, चिरायता, इन्द्रजौ, काली सारिवा, इन्द्रायण की जड़, मूर्वा, वायविडङ्ग, कुड़े की छाल, चित्त की छाल, हस्तिकन्द, गुडूची, बकायन, परवल, हल्दी, दारुहल्दी, पिप्पली, अमलतास, सतौना, निशोथ, बेतकी छाल, सफेद गुञ्जा, मजीठ, कलिहारी, रास्ना, करञ्ज, पुनर्नवा, दन्ती, विजयसार, भृङ्गराज, पियावांसा, अकोल तथा सिहोर की छाल इन प्रत्येक ओषधियों को ८-८ तोले लेकर सबको १ द्रोण (१०२४ तोले) जल में धीरे-धीरे पकाये। जब पकते-पकते अष्टमांश रह जाय तो उतार ले और वस्त्र से छानकर मजबूत पात्र में रख दे। फिर १००० भिलावे को छीलकर ३ द्रोण (३०७२ तोले) जल में पकाये। जब पकते-पकते अष्टमांश शेष रहे तो उतारकर वस्त्र द्वारा छानकर दोनों क्वाथों को एक में मिला दे। फिर इस क्वाथ में ४०० तोले गुड़ डालकर धीरे-धीरे अवलेह के समान पका ले। फिर इसमें सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, वायविडङ्ग, चित्त, सेंधानमक, चन्दन, कूठ तथा अजवायन इन प्रत्येक ओषधियों को ४-४ तोले लेकर पीसकर डाल दे। और सुगन्धि के लिए दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची तथा नागकेशर इन प्रत्येक ओषधियों के ४-४ तोले चूर्ण को छोड़ दे। इस प्रकार प्राणियों की हित-कामना से भगवान् शङ्कर द्वारा कहा गया महाभल्लातक नामक अवलेह सिद्ध होता है। इस अवलेह का प्रयोग करने से श्वित्र, औदुम्बर, दद्रु, ऋक्षजिह्व, काकणक, पुण्डरीक, चर्मदल, विस्फोट, रक्तमण्डल, कण्डू, कापालकुष्ठ, पामा, विपादिका, वातरक्त, छः प्रकार के अर्श रोग, पाण्डुरोग, व्रण, कृमि, रक्तपित्त, उदावर्त्त, कास, श्वास तथा भगन्दर—ये सब रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इस अवलेह को सदा सेवन करने से, पलित तथा सुदुस्तर आमवातरोग नष्ट हो जाता है। इसके सेवन-काल में आहार, विहार तथा मैथुन के सम्बन्ध में कोई परहेज रखने का नियम नहीं है। यह अवलेह कान्ति को बढ़ाता है तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। इस अवलेह को चाटने के पश्चात् अनुपान के लिए गुडूची स्वरस अथवा गोदुग्ध का उपयोग करे। और भोजन में हमेशा विशेषतः उष्ण तथा अम्ल पदार्थों का परित्याग कर दे॥ ८४–९८॥

लघुमञ्जिष्ठादिक्वाथमाह—

मञ्जिष्ठा त्रिफला तिक्ता वचादारुनिशाऽमयाः। निम्बश्चैषां कृतः क्वाथः सर्वकुष्ठं विनाशयेत्॥
वातरक्तं तथा कण्डूं पामां चै रक्तमण्डलम्। दद्रूं विसर्पं विस्फोटं पानाभ्यासेन नाशयेत्॥

मजीठ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, कुटकी, वच, दारुहल्दी, कूठ तथा नीमकी छाल—इन सब ओषधियों के क्वाथ को बनाकर पीने से समस्त कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं। इस क्वाथ के अभ्यास से वातरक्त, कण्डू, पामा, रक्तमण्डल, दद्रु, विसर्प तथा विस्फोट—ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ९९–१००॥

मध्यमञ्जिष्ठादिक्वाथमाह—

मञ्जिष्ठा वाकुची चक्रमर्दश्च पिचुमर्दकः। हरीतकी हरिद्रा च धात्री वासा शतावरी॥१०१॥
बला नागबला यष्टीमधुकं क्षुरकोपि च। पटोलस्य लतोशीरं गुडूची रक्तचन्दनम्॥ १०२॥
मञ्जिष्ठादिरयं क्वाथः कुष्ठानां नाशनः परः। वातरक्तस्य संहर्त्ता कण्डूमण्डलनाशनः॥१०३॥

मजीठ, वाकुची, चकवड़, नीम की छाल, हरड़, हल्दी आँवले, अडूसा, शतावरी, खिरेटी की जड़, गंगेरन, मुलेठी, गोखरू, परवल की लता, खस, गुडूची और लालचन्दन—इन सब ओषधियों से बनाया गया मञ्जिष्ठादि नामक यह क्वाथ कुष्ठों का परम विनाशक है, वातरक्त को दूर करता है और कण्डू तथा मण्डल को नष्ट करता है॥ १०१–१०३॥

बृहन्मञ्जिष्ठादिक्वाथमाह—

मञ्जिष्ठाकुटजामृताघनवचामुण्डीहरिद्राद्वयं क्षुद्रारिष्टपटोलतिक्तकटुकाभार्गीविडङ्गाग्निकम्।

मूर्वादारुकलिङ्गभृङ्गमगधात्रायन्तिपाठावरीगायत्रीत्रिफलाकिरातकमहानिम्बासनारग्वधाः ॥
श्यामावल्गुजचन्दनं वरुणकं दन्तीकशाखोटकं-
वासासर्पटसारिवाप्रतिविषानन्ताविशालाजलम् ।
मञ्जिष्ठाप्रथमं कषायमिति यः संसेवते तस्य तु
त्वग्दोषाः सुचिरेण यान्ति विलयं कुष्ठानि चाष्टादश ॥ १०५ ॥
नाशं गच्छति वातरक्तमखिला नश्यन्ति रक्तामया-
वीसर्पस्त्वचि शून्यता नयनजा रोगाः प्रशाम्यन्ति च ॥ १०६ ॥

*अरिष्टं=निम्बः । कलिङ्गः=इन्द्रयवः । भृङ्गः='भङ्गरैया' इति । वरी=शतावरी । गायत्री=खदिरः । असनः=विजयसारः । श्यामा=प्रियङ्गुः । चन्दनमत्र रक्तं ग्राह्यम् । सारिवा [साहु] । अनन्ता=दुरालभा । विशाला=इन्द्रवारुणी । जलम्=नेत्रवाला ॥१०५-१०६॥

मजीठ, कुडे की छाल, गुडूची, नागरमोथा, वच, सोंठ, हल्दी, दारुहल्दी, कण्टकारी का पञ्चाङ्ग, नीम की छाल, परवल, कुटकी भारङ्गी, वायविडङ्ग चित्तकी छाल, मूर्वा, देवदारु, इन्द्रयव, भृङ्गराज, पिप्पली, त्रायमाण, पाठा, शतावरी, खैर, हरड़, बहेड़ा, आँवला, चिरायता, बकायन, विजयसार, अमलतास, फूलप्रियङ्गु, बाकुची, लालचन्दन, वरुना की छाल, दन्ती की जड़, सिहोरकी छाल, अडूसा, पित्तपापड़ा, सारिवा, अतीस, जवासा, इन्द्रायणकी जड़ तथा सुगन्धवाला-इन औषधियोंसे बनाये हुए इस मञ्जिष्ठादि क्वाथ को जो मनुष्य पीता है, उस मनुष्य का बहुत पुराना चर्मविकार, अठारह प्रकार के कुष्ठरोग, वातरक्त, सम्पूर्ण रक्तविकार, विसर्प, चमड़े की शून्यता तथा नेत्र के रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १०४-१०६ ॥

लघुमरिचादितैलमाह—

मरिचं त्रिवृता मुस्तं हरितालं मनःशिला । देवदारु हरिद्रे द्वे मांसी कुष्ठं सचन्दनम् ॥१०७॥
विशाला करवीरश्च क्षीरमर्कसमुद्भवम् । गोमयस्य रसं कुर्यात्प्रत्येकं कर्षसम्मितम् ॥१०८॥
विषस्यार्द्धपलं देयं तैलं प्रस्थमितं कटु । पचेच्चतुर्गुणे नीरे गोमूत्रे द्विगुणे तथा ॥ १०९ ॥
मरिचाद्यमिदं तैलमभ्यङ्गात्कुष्ठनाशनम् । एतस्याभ्यङ्गतः श्वित्रं विवर्णं तत्क्षणाद्भवेत् ॥११०॥
तैलमेतज्जयेत्कण्डूं पामां सिध्मविचर्चिकाम् । पुण्डरीकं तथा दद्रूं शून्यतां नित्यसेविनाम् ॥

कालीमिर्च, निशोथ, नागरमोथा, हरताल, मैनसिल, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, जटामांसी, कूट चन्दन, इन्द्रायण की जड़, कनेर, मदार का दूध तथा गोबरका रस-इन सबको १-१ तोले, वत्सनाभविष २ तोले तथा कडुआ तेल १ प्रस्थ (६४ तोले) लेकर चौगुने जल तथा दुगुने गोमूत्र में पका ले तो 'लघुमरिचादि' नामक तेल सिद्ध हो जाता है। इस तेल के अभ्यङ्ग से कुष्ठरोग नष्ट हो जाता है। इस तेल के अभ्यङ्ग से श्वित्र कुष्ठ का रंग तत्काल बदल जाता है। इस तेल का प्रतिदिन सेवन करने से कण्डू, पामा. सिध्म, विचर्चिका, पुण्डरीक, दद्रु तथा त्वक्शून्यता नष्ट हो जाती है ॥ १०७-१११ ॥

महामरिचाद्यतैलमाह—

मरिचं त्रिवृता दन्ती क्षीरमार्कं शकृद्रसः । देवदारु हरिद्रे द्वे मांसी कुष्ठं सचन्दनम् ॥११२॥
विशाला करवीरश्च हरितालं मनःशिला । चित्रकं लाङ्गली मुस्तं विडङ्गं चक्रमर्दकः ॥११३॥
शिरीषः कुटजो निम्बः सप्तपर्णोऽमृता स्नुही । श्यामाको नक्तमालश्च खदिरो वाकुची वचा
ज्योतिष्मती च पलिका विषं द्विपलिकं भवेत् । आढकं कटुतैलस्य गोमूत्रञ्च चतुर्गुणम् ॥
मृत्पात्रे लोहपात्रे च शनैर्मृद्वग्निना पचेत् । मरिचाद्यमिदं तैलं महन्मुनिभिरीरितम् ॥११६॥
भिषगेतेन तैलेन म्रक्षयेत्कौष्ठिकान्व्रणान् । पामाविचर्चिकादद्रूकण्डूविस्फोटकानि च ॥११७॥
वलयः पलितं छाया नीलं व्यङ्गं तथैव च । अभ्यङ्गेन प्रणश्यन्ति सौकुमार्यञ्च जायते॥११८॥

प्रथमे वयसि स्त्रीणां यासां नस्यं प्रदीयते। तासामपि जरां प्राप्य न स्यातां स्खलितौ स्तनौ।
बलीवर्दस्तुरङ्गो वा गजो वा वायुपीडितः। त्रिभिरभ्यञ्जनैरस्य भवेन्मारुतविक्रमः ॥१२०॥

*ज्योतिष्मती = 'मालकांगुनी'ति लोके ॥ ११२-१२० ॥

कालीमिर्च, निशोथ, दन्ती की जड़, मदार का दूध, गोबर का रस, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, जटामांसी, कूट, चन्दन, इन्द्रायण की जड़, कनेर की जड़, हरताल, मैनशिल, चित्त की जड़, कलिहारी, नागरमोथा, वायविडङ्ग, चकवड़, सिरस की छाल, कुड़े की छाल, नीम की छाल, सतौना, गुडूची, थूहर का दूध, श्यामाक, करञ्ज, खैर, वाकुची, वच तथा मालकाकुनी ये प्रत्येक ओषधियाँ ४-४ तोले, वत्सनाभ विष ८ तोले, कडुआ तेल १ आढक (२५६ तोले) तथा गोमूत्र ४ आढक (१०२४ तोले) लेकर इन सब ओषधियों को मिट्टी अथवा लोहेके पात्र में मन्द-मन्द आँचसे धीरे-धीरे पकाये। इस प्रकार श्रेष्ठ मुनियों द्वारा कहा गया 'महामरिचादि' नामक तेल सिद्ध हो जाता है। वैद्य इस तेल से कुष्ठ के व्रणों पर मर्दन कराये। इस तैल के अभ्यङ्ग से पामा, विचर्चिका, दद्रु, कण्डू, विस्फोटक, वली, पलित, छाया, नीलिका तथा व्यंग ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं और सुकुमारता उत्पन्न होती है। स्त्रियों को यदि प्रथमावस्था में इस तेल का नस्य दे दिया जाय, तो बुढ़ापे में भी उनके स्तन नहीं गिरते। वायुरोग से पीड़ित बैल, घोड़ा अथवा हाथी को यदि तीन बार इस तेल का अभ्यङ्ग कराया जाय तो वे वायु के समान वेगवाले हो जाते हैं ॥ ११२-१२० ॥

तालकेश्वररसमाह—

तालताप्यशिलासूतटङ्कणाः सिन्धुसंयुताः। गन्धको द्विगुणः सूताच्छङ्खचूर्णञ्च तत्समम् ॥
जम्बीराद्भिर्दिनं घृष्ट्वा त्रिंशदंशं विषं क्षिपेत्। अस्य माषद्वयं खादेन्महिषीघृतसंयुतम् ॥१२२॥
मध्वाज्यैर्वाकुचीबीजकर्षं लिह्यात्ततः परम्। तालकेश्वरनामाऽयं सर्वकुष्ठहरो रसः ॥१२३॥

हरताल, स्वर्णमाक्षिक, मैनसिल, पारद, सुहागा, सेन्धानमक, पारद से दूना गन्धक तथा गन्धक के बराबर शङ्खभस्म इन सबको एक दिन तक नीबू के स्वरस के साथ खरल करके उसमें ३० भाग वत्सनाभविष मिलादे तो यह 'तालकेश्वर' नामक रस सिद्ध होता है। इस रस को भैंस के घी के साथ दो माशे की मात्रा में खाने और इसके बाद मधु तथा घी के साथ १ तोला वाकुची के चूर्ण को चाटने से तो सब प्रकार के कुष्ठरोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १२१-१२३ ॥

गलितकुष्ठारिरसमाह—

रसो बलिस्ताम्रमयः पुरोऽग्निः शिलाजतु स्याद्विषतिन्दुकश्च।
वरा च तुल्यं गगनञ्च सर्वैः करञ्जबीजं सचतुष्टयञ्च ॥ १२४ ॥
सम्मर्द्य सर्वं मधुना घृतेन वृतस्य पात्रे निहितं प्रयत्नात्।
कर्षं भजेत्प्रत्यहमस्य पथ्यं शाल्योदनं दुग्धमधुत्रयञ्च ॥ १२५ ॥
विशीर्णकर्णाङ्गुलिनासिकोऽपि भवेदनेन स्मरतुल्यमूर्त्तिः।
दारापरित्याग इह प्रदिष्टो जलौदनं तत्र निबद्धमूले ॥ १२६ ॥

*तालम्, अयो-मारितम्। पुरो=गुग्गुलुः। अग्निः = चित्रकम्। विषतिन्दुकः=[कुचिला]। वरा=त्रिफला। रसादि त्रिफलाऽन्तं सर्वं तुल्यम्। गगनम्=अभ्रकम्। करञ्जबीजं च पृथक् चतुर्गुणं रसात्। तत्र कुष्ठे, बद्धमूले सति। जलौदनमेव पथ्यम् ॥ १२४-१२६ ॥

पारद, गन्धक, ताम्रभस्म, लौहभस्म, गुग्गुलु, चित्त की जड़, शिलाजीत, कुचिला, हरड, बहेड़ा तथा आँवला इन सबको समान-समान भाग ले, अभ्रकभस्म तथा करञ्ज के बीज इन दोनोंको पारद से चौगुना ले। फिर इन सब ओषधियों को मधु तथा घी के साथ मर्दन करके घी के चिकने बर्तन में यत्नपूर्वक रखदे। इस प्रकार 'गलितकुष्ठारिरस' सिद्ध होता है। इस रस को प्रतिदिन १ तोले की मात्रा में सेवन करे और शालि चावलों का भात, दूध तथा मधु इन तीनों को पथ्य स्वरूप में

सेवन कराये तो जिस कुष्ठ रोगी के कान, अङ्गुलियाँ तथा नासिका ये सब गल गये हों, वह मनुष्य भी इस रस के प्रभाव से कामदेव के समान सुन्दर मूर्त्तिवाला हो जाता है। इस रस के सेवनकाल में स्त्रीप्रसङ्ग वर्जित है। यदि कुष्ठ दृढमूलवाला हो गया हो तो केवल जल और भात का पथ्य देना चाहिए ॥ १२४-१२६ ॥

सिध्मचिकित्सामाह—

कुष्ठं मूलकबीजं प्रियङ्गवः सर्षपास्तथा रजनी। एतत्केशरषष्ठं निहन्ति चिरकालजं सिध्मम्॥

इति केशरषट्कम्।

कूठ, मूली के बीज, फूलप्रियङ्गु, सरसों, हल्दी तथा नागकेशर इन छः ओषधियों को पीसकर प्रलेप करने से बहुत दिनों का पुराना भी सिध्मरोग नष्ट हो जाता है। १२७ ॥

शिखरीरसेन पिष्टं मूलकबीजं प्रलेपतः सिध्मम्। क्षारेण वा कदल्या रजनीमिश्रेण नाशयति

अपामार्ग स्वरस के साथ मूली के बीज को पीसकर हल्दी अथवा केले का क्षार मिलाकर प्रलेप करने से सिध्म नष्ट हो जाता है ॥ १२८ ॥

दार्वीमूलकबीजानि तालकं सुरदारु च। ताम्बूलपत्रं सर्वाणि कार्षिकाणि पृथक्पृथक् ॥१२९॥
शङ्खचूर्णन्तु शाणं स्यात्सर्वाण्येकत्र वारिणा। प्रलेपयेत्प्रलेपोऽयं सिध्मनाशन उत्तमः॥१३०॥

दारुहल्दी, मूली के बीज, हरताल, देवदारु तथा पान के पत्ते इन सबको अलग-अलग एक-एक तोले और शङ्खभस्म १ शाण (४ माशे या २४ रत्ती) लेकर जल में पीसकर प्रलेप करदे। यह प्रलेप सिध्म को नष्ट करने के लिए उत्तम है ॥ १२९-१३० ॥

चर्मदलचिकित्सामाह—

सलिले चाम्रपेशी तु किञ्चित्सैन्धवसंयुता। ताम्रपात्रे विनिर्घृष्टा लेपाच्चर्मदलापहा ॥१३१॥

*आम्रपेशी='आमचूर' इति लोके ॥ १३१ ॥

आमचूर को ताम्रपात्र पर पानी में घिसकर और थोड़ा-सा नमक मिलाकर प्रलेप करने से चर्मदल कुष्ठ नष्ट हो जाता है ॥ १३१ ॥

सलिलेन तु शुष्काणि घृष्ट्वा धात्रीफलानि च। कराभ्यां सुखमाप्नोति नरश्चर्मदलान्वितः॥

सूखे हुए आँवलों को पानी के साथ हाथों से घिसकर प्रलेप करने से चर्मदल कुष्ठ से पीड़ित मनुष्य सुख को प्राप्त होता है ॥ १३२ ॥

अथ पामाचिकित्सामाह—

तत्र जीरकाद्यतैलमाह—

जीरकस्य पलं पिष्टं सिन्दूरार्द्धपलं तथा। कटुतैलं पचेदाभ्यां सर्वपामाहरं परम् ॥ १३३ ॥

पीसा हुआ जीरा ४ तोले और सिन्दूर २ तोले इन दोनों ओषधियों के साथ सरसों के तेल को पकाये। इस प्रकार सिद्ध हुआ 'जीरकाद्यतैल' सब प्रकार के पामा को भली भाँति नष्ट कर देता है॥

आदित्यपाकतैलमाह—

मञ्जिष्ठात्रिफलालाक्षालाङ्गलीरात्रिगन्धकैः। चूर्णितैस्तैलमादित्यपाकं पामाहरं परम् ॥१३४॥

मजीठ, हरड, बहेड़ा, आँवला, लाख, कलिहारी, हल्दी तथा गन्धक इनके कल्क के साथ पकाया हुआ 'आदित्यपाक' नामक तेल पामा को भली प्रकार नष्ट कर देता है ॥ १३४ ॥

सैन्धवादिलेपमाह—

सैन्धवं चक्रमर्दश्च सर्षपाः पिप्पली तथा। आरनालेन संपिष्टाः पामाकण्डूहराः पराः ॥१३५॥

सेंधानमक, चकवड़, सरसों तथा पिप्पली इन ओषधियों को आरनाल नामक काञ्जी के साथ पीसकर प्रलेप करने से पामा तथा कण्डू अच्छी तरह नष्ट हो जाती है ॥ १३५ ॥

अथ कच्छूचिकित्सा ।

तत्रार्कतैलमाह—

अर्कपत्ररसे पक्वं हरिद्राकल्कसंयुतम् । नाशयेत्सार्षपं तैलं पामाकच्छूविचर्चिकाः ॥ १३६ ॥

मदार के स्वरस में हल्दी का कल्क डालकर पकाया हुआ सरसों का तेल पामा, कच्छू तथा विचर्चिका को नष्ट कर देता है ॥ १३६ ॥

कच्छूराक्षसतैलमाह—

मनःशिलाऽऽलं कासीसं गन्धाश्म सिन्धुजन्म च । स्वर्णक्षीरी शिलाभेदी शुण्ठी कुष्ठञ्च मागधी ॥
लाङ्गली करवीरञ्च दद्रुघ्नः कृमिहाऽनलः । दन्ती निम्बदलं चैभिः पृथक्कर्षमितैर्भिषक् ॥
कल्कीकृत्य पचेत्तैलं कटु प्रस्थद्वयोन्मितम् । अर्कसेहुण्डदुग्धेन पृथक्पलमितेन च ॥१३९॥
गोमूत्रस्याढकेनापि शनैर्मृद्वग्निना पचेत् । अभ्यङ्गेन हरेदेतत्कच्छूदुःसाध्यतामपि ॥१४०॥
पामानञ्च तथा कण्डूं त्वग्व्याधिरुधिरामयान् । कण्डूराक्षसनामेदं तैलं हारीतभाषितम् ॥

मैनशिल, हरताल, हीराकसीस, गन्धक, स्वर्णमाक्षिक, सेन्धानमक, स्वर्णक्षीरी (चोक या भड़-भाड़), पाषाणभेद, सोंठ, कूठ, पिप्पली, कलिहारी, कनेर की जड़, चकवड़, वायविडङ्ग, चित्त की छाल, जमालगोटा तथा नीम के पत्ते इन प्रत्येक ओषधियों को वैद्य १-१ तोले लेकर कल्क बनाकर २ प्रस्थ (१२८ तोले) सरसो के तेल को पकाये । फिर ४ तोले मदार के दूध, ४ तोले सेहुंड के दूध तथा १ आढ़क (२५६ तोले) गोमूत्र को डालकर शनैः-शनैः मन्द आँच से पकाये । इस प्रकार 'कच्छूराक्षस' नामक तेल सिद्ध होता है । इस तेल के अभ्यङ्ग से दुःसाध्य भी कच्छू रोग नष्ट हो जाता है । हारीत मुनि द्वारा कहा गया यह 'कच्छूराक्षस' नामक तेल पामा, खुजली, चर्मरोग तथा रक्तविकारों को नष्ट कर देता है ॥ १३७-१४१ ॥

कृतमालादिकल्कमाह—

कृतमालस्य पत्राणि नक्तमालदलानि च । द्रोणपुष्पीपलाशानि सर्षपा राजिका निशा ॥
कुटजो मधुकं मुस्तं नागरं रक्तचन्दनम् । धात्री यवानिका दारु कल्क एष प्रकल्पितः ॥
उद्वर्त्तनादयं कल्कः कटुतैलसमन्वितः । कच्छूं पामां हरत्येव शीतपित्तादिकान्गदान् ॥१४४॥

अमलतास के पत्ते, कडजे के पत्ते, गूमा के पत्ते, तथा पलाश के पत्ते, सरसो, राई, हल्दी, कुड़े की छाल, मुलेठी, नागरमोथा, सोंठ, लालचन्दन, आँवले, अजवायन तथा देवदारु इन सब ओषधियों का कल्क बनाकर और सरसों का तेल मिलाकर उद्वर्तन (उबटन) करने से कच्छू, पामा तथा शीतपित्त इत्यादि रोग नष्ट ही हो जाते हैं ॥ १४१-१४३ ॥

दद्रूचिकित्सामाह—

कुष्ठं कृमिघ्नो दद्रुघ्नो निशासैन्धवसर्षपाः । अम्लपिष्टः प्रलेपोऽयं दद्रुकुष्ठनिषूदनः ॥१४५॥

कूठ, वायविडङ्ग, चकवड़, हल्दी, सेन्धानमक तथा सरसो इन सब ओषधियों को अम्ल (नींबू-स्वरस) के साथ पीसकर प्रलेप करने से दद्रू तथा कुष्ठ नष्ट हो जाता है ॥ १४५ ॥

दूर्वाभयासैन्धवचक्रमर्दकुठेरकाः काञ्जिकतक्रपिष्टाः ।
त्रिभिः प्रलेपैरपि बद्धमूलां दद्रूञ्च कुष्ठञ्च विनाशयन्ति ॥ १४६ ॥

कुठेरकः 'बाबुई तुलसी' इति लोके ॥ १४६ ॥

दूब, हरड़, सेन्धानमक, चकवड़ तथा वनतुलसी इन सबों को काञ्जी तथा तक्र के साथ पीसकर तीन बार प्रलेप करने से बद्धमूल दद्रू तथा कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं ॥ १४६ ॥

गण्डलिकाख्यं तृणमपि सिद्धार्थकश्च स्नुहीपत्रम् ।
त्रयमपि समभागं स्यादेषां द्विगुणस्तु दद्रुघ्नः ॥ १४७ ॥

अष्टगुणे गोतक्रे तानि प्रकृतानि सन्दध्यात् । दिवसत्रितयादूर्ध्वं सम्यङ्निष्पेषयेत्तानि ॥

न्योपलेन घृष्ट्वा च दद्रूमालेपयेत्तेन । सप्ताहाल्लेपोऽयं दद्रूमचिराद्विनाशयति ॥ १४९ ॥

गण्डलिक नामक तृणविशेष, सरसों तथा थूहर के पत्ते इन तीनों ओषधियों को समान-समान भाग, और इनसे दूना चकवड़ लेकर अठगुने गाय के मट्ठे में मिला दे। और तीन दिन के बाद इन ओषधियों को अच्छी तरह पीस डाले। फिर दद्रू को जंगली कण्डे से रगड़कर लेप करदे। सात दिन के प्रयोग से यह लेप शीघ्र ही दद्रू का नाश कर डालता है ॥ १४७–१४९ ॥

श्वित्रकुष्ठचिकित्सामाह—

विभीतकत्वङ्मलयूजटानां क्वाथेन पीतं गुडसंयुतेन ।
आवल्गुजं बीजमपाकरोति श्वित्राणि कृच्छ्राण्यपि पुण्डरीकम् ॥ १५० ॥

*मूलयूः = काकोदुम्बरिका । अवल्गुजः = सोमराजी ॥ १५० ॥

बहेड़े की छाल तथा काकोदुम्बरिका (कठूमर) की जड़, इनके क्वाथमें गुड़ मिलाकर वाकुची के चूर्ण को पीने से कृच्छ्रसाध्य भी श्वित्र तथा पुण्डरीक कुष्ठ नष्ट हो जाता है ॥ १५० ॥

कुडवमवल्गुणबीजं हरितालचतुर्थभागसम्मिश्रम् ॥ १५१ ॥
मनःशिलां तोलकार्द्धं गुञ्जाफलमग्निमूलञ्च । मूत्रेण गवां पिष्टं सवर्णताकरं श्वित्रे ॥१५२॥

वाकुची के बीज १ कुडव (१६ तोले), हरताल ४ तोले, मैनशिल ६ माशे, गुञ्जा के फल तथा चित्त की-जड़ इन सब ओषधियों को गोमूत्र से साथ पीसकर श्वित्र पर प्रलेप करने से श्वित्र के चमड़े का वर्ण शरीर के साधारण चमड़े के वर्ण के समान हो जाता है ॥ १५१–१५२ ॥

श्वेतं कुष्ठं व्रजत्यस्तं पक्षार्द्धेनाधिकेन वा । गिरिकर्ण्यास्तु कृष्णाया मूलेन परिलेपितम् ॥

*गिरिकर्णी = नीला अपराजिता ॥ १५३ ॥

नील अपराजिता की जड़ को पीसकर प्रलेप करने से पक्षार्द्ध में (१ हसे में) अथवा कुछ अधिक दिन में श्वेत कुष्ठ नष्ट हो हो जाता है ॥ १५३ ॥

क्वाथः सवाकुचीचूर्णो धात्रीखदिरसारयोः । शङ्खेन्दुकुन्दधवलं श्वित्रं संसेवितो हरेत् ॥

आँवले तथा खैरसार के क्वाथ को वाकुची के चूर्ण को मिलाकर पीने से शङ्ख, कुन्द तथा चन्द्रमा के समान सफेद श्वेतकुष्ठ नष्ट हो जाता है ॥ १५४ ॥

मथितेन पिबेच्चूर्णं काकोदुम्बर्यवल्गुजम् । तैलाक्तो धर्मसेवी स्यात्तक्राशी श्वित्रहृद्भवेत् ॥

*मथितं = निर्जलं विलोडितं दधि । तक्रं = चतुर्थांशजलयुतं वस्त्रपूतं दधि ॥ १५५ ॥

कठूमर तथा वाकुची के चूर्ण को जलरहित दही के साथ पीने से, तेल का अभ्यङ्ग करके धूप का सेवन करने तथ तक्र को पीते रहने से श्वेतकुष्ठ नष्ट हो जाता है ॥ १५५ ॥

सोमराजीघृतमाह—

चतुष्पलं सोमराज्याः खदिरस्य पलं तथा । पटोलमूलं त्रिफला त्रायमाणा दुरालभा ॥१५६॥
कल्कार्थं कटुकं चापि कार्षिकान्सूक्ष्मपेषितान् । पलद्वयं कौशिकस्य शुद्धस्यात्र प्रदापयेत् ॥
सिद्धं सर्पिरिदं श्वित्रं हन्याद्भ्रम इवानलम् । अष्टादशानां कुष्ठानां परमं चैतदौषधम् ॥
समराजीघृतं नाम निर्मितं ब्रह्मणा पुरा । लोकानामुपकाराय श्वित्रकुष्ठादिरोगिणाम् ॥१५९॥

इति चतुष्पञ्चाशत्तमः कुष्ठाधिकारः समाप्तः ॥ ५४ ॥



वाकुची के बीज १६ तोले, खैरसार ४ तोले और परवल की जड़, हरड़, बहेड़ा आँवला, त्रायमाण, जवासा तथा कुटकी इन सब ओषधियों को १–१ तोले लेकर सूक्ष्म पीसकर कल्क बनाले और उसमें ८ तोले शुद्ध गुग्गुलु मिलादे। फिर इस कल्क से घृत को सिद्ध करले। इस प्रकार 'सोमराजी' नामक घृत सिद्ध हो जाता है। यह घृत श्वित्र को इस प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे कि

अग्नि को जल नष्ट कर देता है। यह अठारह प्रकार के कुष्ठों की परमौषध है। प्राचीन काल में श्वित्र तथा कुष्ठ इत्यादि रोगों से पीडित मनुष्य के हित के लिए ब्रह्माजी ने इस 'सोमराजी' नामक घृत का निर्माण किया था॥ १५६-१५९॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे चतुष्पञ्चाशत्तमः,कुष्ठाधिकारः समाप्तः॥ ५४॥



अथ पञ्चपञ्चाशत्तमः शीतपित्तोदर्दकोठोत्कोठाधिकारः॥५५॥

तत्र शीतपित्तादीनां विप्रकृष्टसन्निकृष्टनिदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

शीतमारुतसम्पर्कात्प्रवृद्धौ कफमारुतौ। पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः॥ १॥

***शीतमारुतसम्पर्कात् पित्तेन स्वहेतुदुष्टेन, सम्भूय=सङ्गम्य, बहिः=त्वचि, अन्तः रुधिरादौ। विसर्पतः=प्रसरतः॥ १॥**

शीतल वायु के सम्पर्क से बढ़े हुए वायु तथा कफ अपने प्रकोपक हेतुओं से दुष्ट हुए पित्त के साथ मिलकर बाहर त्वचा तथा भीतर रक्त इत्यादि में फैलते हैं। उससे शीतपित्तादि रोग उत्पन्न होते हैं।

शीतपित्तादीनां पूर्वरूपमाह—

पिपासाऽरुचिहृल्लासदेहसादाङ्गगौरवम्। रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम्॥ २॥

पिपासा, अरुचि, हृल्लास, शरीर की शिथिलता, अङ्गों का भारीपन और नेत्रों में लाली ये सब शीतपित्तादि रोगों के पूर्वरूप हैं॥ २॥

शीतपित्तलक्षणमाह—

वरटीदष्टसंस्थानः शोथः सञ्जायते बहिः। सकण्डूतोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवान्॥
वाताधिकतमं विद्याच्छीतपित्तमिमं भिषक्॥ ३॥

वर्रे के काटनेके समान कण्डू, अत्यन्त वेदना, वमन, ज्वर तथा दाह सहित बाहर याने त्वचा पर जो शोथ या चकत्ते उत्पन्न हो जाते हैं, उसे उदर्द कहते हैं। और कुछ लोग शीतपित्त कहते हैं। किन्तु जिसमें वात की अधिकता होती है—उसे शीतपित्त तथा जिसमें कफ की अधिकता होती है, उसे उदर्द कहते हैं॥३॥

अथोदर्दलक्षणमाह—

सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः। शैशिरः श्लेष्मबहुल उदर्द इति कीर्त्तितः॥

***सोत्सङ्गैः=मध्यनिम्नैः। शैशिरः =शिशिरर्त्तुभवः॥ ४॥**

मध्य में निम्न, लालिमा तथा कण्डूयुक्त और शिशिर ऋतु में होनेवाले जो चकत्ते होते हैं, उन्हें उदर्द कहते हैं। इनमें कफदोष की अधिकता होती है॥ ४॥

कोठोत्कोठयोर्लक्षणमाह—

असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः॥ ५॥
मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च। सानुबन्धस्तु स प्राज्ञैरुत्कोठ इति कथ्यते॥ ६॥

***सः=कोठः॥ ५-६॥**

वमन के भली प्रकार न होने के कारण बढ़ हुए पित्त, कफ तथा अन्न के रुक जाने से कण्डू तथा लालिमायुक्त बहुत से मण्डल अर्थात् चकत्ते उत्पन्न हो जाते हैं, उसे कोठ कहते हैं। जब इनका अनुबन्ध बराबर बना रहता है अर्थात् एक चकत्ते के नष्ट होने पर दूसरा चकत्ता उत्पन्न होता रहता है, तो ऐसे चकत्तों को उत्कोठ कहते हैं॥ ५-६॥

शीतपित्तोदर्दकोठोत्कोठचिकित्सामाह—

शीतपित्ते तु वमनं पटोलारिष्टवासकैः। त्रिफलापुरकृष्णाभिर्विरेकश्च प्रशस्यते ॥ ७ ॥

शीतपित्त में परवल के पत्ते, नीम तथा अडूसा इनके क्वाथ से वमन करना तथा हरड़, बेहड़ा, आँवला, गुग्गुलु तथा पिप्पली द्वारा विरेचन करना प्रशस्त माना जाता है ॥ ७ ॥

अभ्यङ्गः कटुतैलेन सेकश्चोष्णेन वारिणा। त्रिफलां क्षौद्रसंयुक्तां खादेच्च नवकार्षिकम् ॥८॥

सरसों के तेल से अभ्यङ्ग, गरम जल से परिषेक करे तथा मधु के साथ त्रिफला के चूर्ण को खाये और 'नवकार्षिक गुग्गुलु' का सेवन करे, तो शीतपित्त नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

नवकार्षिको यथा—

त्रिफलापुरकृष्णानां त्रिपञ्चैकांशयोजिता। गुटिका शीतपित्तार्शोभगन्दरवतां हिता ॥ ९ ॥

इति नवकार्षिकः।

त्रिफला ३ भाग, गुग्गुलु ५ भाग तथा पिप्पली १ भाग इन सबको कूटकर बनाई हुई गुटिका शीतपित्त, अर्श तथा भगन्दर से पीडित व्यक्तियों के लिए हितकारिणी है। इसे 'नवकार्षिक गुग्गुलु' कहते हैं ॥ ९ ॥

सितां त्रिकटुसंयुक्तां गुडमामलकैः सह। यवानीं खादयेच्चापि सव्योषक्षारसंयुताम् ॥१०॥

त्रिकटु (सोंठ, मिर्च तथा पिप्पली) के साथ चीनी को खाने से, गुड के साथ आँवलों को खाने से और व्योष (सोंठ, मिर्च तथा पिप्पली), जवाखार के साथ अजवायन को खाने से भी शीतपित्त नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

आर्द्रकस्य रसः पेयः पुराणगुडसंयुतः। शीतपित्तापहः श्रेष्ठो वह्निमान्द्यविनाशनः ॥ ११ ॥

पुराना गुड़ मिलाकर अदरख के स्वरस को पीने से शीतपित्त भलीभाँति नष्ट हो जाता है तथा मन्दाग्नि दूर हो जाती है ॥ ११ ॥

सिद्धार्थरजनीकल्कैः प्रपुन्नाटतिलैः सह। कटुतैलेन सम्मिश्रमेतदुद्वर्त्तनं हितम् ॥ १२ ॥

सरसों, हल्दी, चकवड़ तथा तिल इनके कल्क के साथ सरसों, का तेल मिलाकर उबटन करने से शीतपित्त नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

सुगुडं दीप्यकं यस्तु खादेत्पथ्यान्नभुङ्नरः। तस्य नश्यति सप्ताहादुदर्दः सर्वदेहजः ॥ १३ ॥

जो मनुष्य गुड़के साथ अजवायन को खाता है और पथ्यान्न का सेवन करता है, उसका सारे शरीर में व्याप्त उदर्द सात दिन में नष्ट हो जाता है ॥ १३ ॥

घृतं पीत्वा महातिक्तं शोणितं मोचयेत्तथा। स्निग्धस्विन्नस्य संशुद्धिमादौ कोठे समाचरेत् ॥
उत्कोटे शुद्धदेहस्य कुष्ठघ्नीं कारयेत्क्रियाम् ॥ १४ ॥

'महातिक्त' नामक घृत को पीकर रक्तमोक्षण करवाने से भी उदर्द नष्ट होता है। कोठ के उत्पन्न होने पर स्नेहन तथा स्वेदन कराकर वमन, विरेचन इत्यादि संशोधनों का प्रयोग करना चाहिए। और यदि उत्कोठ उत्पन्न हुआ हो तो वमनादि द्वारा शोधन कराकर कुष्ठनाशक चिकित्सा करवानी चाहिए ॥ १४ ॥

निम्बस्य पत्राणि सदा घृतेन धात्रीविमिश्राणि नरः प्रयुञ्ज्यात्।
विस्फोटकण्डूकृमिशीतपित्तमुदर्दकोठौ च कफञ्च हन्यात् ॥ १५ ॥

नीम के पत्तों तथा आँवलों को एकत्र पीसकर घी मिलाकर हमेशा प्रयोग करे तो विस्फोटक, कण्डू, कृमि, शीतपित्त, उदर्द, कोठ तथा कफ नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

आर्द्रकखण्डमाह—

आर्द्रकं प्रस्थमेकं स्याद् गोघृतं कुडवद्वयम्। गोदुग्धं प्रस्थयुगलं तदर्द्धं शर्करा मता ॥१६॥
पिप्पली पिप्पलीमूलं मरिचं विश्वभेषजम्। चित्रकञ्च विडङ्गञ्च मुस्तकं नागकेशरम् ॥१७॥
त्वगेलापत्रकर्चूरं प्रत्येकं पलमात्रकम्। विधाय पाकं विधिवत्खादेत्तत्पलसम्मितम् ॥१८॥

इदमार्द्रकखण्डं हि प्रातर्भुक्तं व्यपोहति। शीतपित्तमुदर्दञ्च कोठमुत्कोठमेव च ॥ १९ ॥
यक्ष्माणं रक्तपित्तञ्च कासं श्वासमरोचकम्। वातगुल्ममुदावर्तं शोथं कण्डूं कृमीनपि ॥२०॥
दीपयेदुदरे वह्निं बलं वीर्यञ्च वर्द्धयेत्। वपुः पुष्टं प्रकुरुते तस्मात्सेव्यमिदं सदा ॥ २१ ॥

इति पञ्चपञ्चाशत्तमः शीतपित्तोदर्दकोठोत्कोठाधिकारः समाप्तः ॥ ५५ ॥



अदरख १ प्रस्थ (६४ तोले), गाय का घी २ कुडव (३२ तोले), गोदुग्ध २ प्रस्थ (१२८ तोले) और उसकी आधी चीनी, पिप्पलीमूल, मिर्च, सोंठ, चित्त की जड़, वायविडङ्ग, नागरमोथा, नागकेशर, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात तथा कचूर-इन प्रत्येक ओषधियों को ४-४ तोले लेकर विधिवत् पाक बनाकर ४ तोले की मात्रा में खाये। इस 'आर्द्रकखण्ड' को प्रतिदिन प्रातःकाल खाने से शीतपित्त, उदर्द, कोठ, उत्कोठ, राजयक्ष्मा, रक्तपित्त, कास, श्वास, अरुचि, वातगुल्म, उदावर्त्त, शोथ, कण्डू तथा कृमि नष्ट हो जाते हैं। जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, बल तथा वीर्य को बढ़ाता है और शरीर को पुष्ट करता है, अत एव सदा इसका सेवन करते रहना चाहिए ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी'नामिकायां भाषाटीकायां
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकोनपञ्चाशत्तमो पञ्चपञ्चाशत्तमः
शीतपित्तोदर्दकोठोत्कोठाधिकारः समाप्तः ॥ ५५ ॥



अथ षट्पञ्चाशत्तमो विसर्पाधिकारः ॥ ५६ ॥

तत्र विसर्पस्य विप्रकृष्टनिदानं संख्यां निरुक्तिं चाह—

लवणाम्लकटूष्णादिसेवनाद्दोषकोपतः। विसर्पः सप्तधा ज्ञेयः सर्वतः परिसर्पणात् ॥ १ ॥
*आदिशब्दाच्चारकोक्तहरितशाकशिण्डाकीप्रभृतीनां ग्रहणम् ॥ १ ॥

नमकीन, खट्टे, कड़वे तथा उष्ण इत्यादि पदार्थों का सेवन करने से दोषों के प्रकुपित होने के कारण 'विसर्प'[1] रोग होता है। यह विसर्प ७ प्रकार का होता है। चूँकि यह रोग चारों ओर

१. विसर्प को अंग्रेजी में इरीसिपेलस (Erysipelas) कहते हैं।

हेतु—इस रोग का प्रधान कारण विसर्पजनक मालाकार जीवाणु (Streptococcus Erysipelatis) है। परन्तु जब विसर्प में पूय या कोथ होता है, तब अन्य पूयजनक जीवाणु भी उपस्थित रहते हैं।

सहायक कारण—त्वचा में क्षत या व्रण होने से यह रोग होता है, इसलिए प्रसूता स्त्री, नवजात बालक, टीका लगाये हुए बालक, व्रणी तथा शस्त्रकर्म किये हुए मनुष्यों के अधिक पीडित होने की सम्भावना होती है। बाल्यावस्था के प्रथम वर्ष में तथा ४० के ऊपर की अवस्था में यह रोग अधिक होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है। जो लोग वृक्क और यकृत् के चिरकालीन विकारों से पीड़ित होते हैं, अधिक मद्य पीते हैं, मधुमेह और वातरक्त से पीडित होते हैं, तथा जो दुर्बल होते हैं, उनमें यह रोग अधिक होता है। सीड़, गन्दे, खराब हवा के स्थानों में रहनेवालों में अधिक होता है। कुछ लोगों में प्रकृति के कारण या कुलज-प्रवृत्ति के कारण यह रोग अधिक होता है। एक बार होने से बार-बार होने की प्रवृत्ति इसमें होती है, जो मद्यपी लोगों

फैलता है, अतः इसे विसर्प कहा जाता है। श्लोक में जो 'आदि' शब्द पढ़ा गया है, इससे चरकोक्त हरे शाक तथा शिण्डाकी इत्यादि का ग्रहण होता है॥ १॥

में विशेषतः दिखाई देती है। मसूरिका, आन्त्रिकज्वर इत्यादि रोगों में उपद्रव के तौर पर भी कभी-कभी होता है। अपने यहाँ चरक में भी ऐसा ही या कुछ विशिष्ट वर्णन है, यथा—

लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात्। दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च॥
व्यापन्नबहुमद्योष्णरागषाडवसेवनात्। शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम्॥
कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मस्तुकस्य च। दध्नः शिण्डाकिपूर्वाणामासुतानां च सेवनात्॥
तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पिष्टकस्य च। ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां लशुनस्य च॥
प्रक्लिन्नानां च मत्स्यानां विरुद्धानां च सेवनात्। अत्यादानाद्दिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनात्क्षतात्॥
क्षतबन्धप्रपतनाद्धर्मकर्मातिसेवनात्। विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः॥
एतैर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः। संदूष्यान् दूष्यरक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम्॥
च० चि० अ० २१ श्लो० १६–२२।

स्थान—विसर्प समस्त शरीर पर उत्पन्न हो सकता है। परन्तु प्रायः चेहरे पर या सिर पर होता है। नवजात बालकों में नाभि के पास होता है। क्वचित् गले के भीतर, स्त्रियों में स्तनों पर तथा जननेन्द्रियों पर और पुरुषों में वृषणों पर होता है।

लक्षण—विसर्प का संचयकाल २–५ दिन का है। रोग का आक्रमण प्रायः अकस्मात् जोर के शीत के साथ होता है। बच्चों में आक्षेप आते हैं। सर्दी के सिवाय सिरदर्द, वमन, अग्निमान्द्य, शरीर में पीड़ा तथा बेचैनी इत्यादि लक्षण भी होते हैं। कभी-कभी सिरदर्द इतना अधिक होता है कि मस्तिष्कावरण शोथ का सन्देह हो जाता है। उसके साथ-साथ जब प्रलाप भी रहता है, तो यह सन्देह और भी बढ़ जाता है। थोड़े ही घण्टों में प्रायः चेहरे पर या उसके पास एक छोटा-सा रक्त वर्ण स्थान दिखाई देता है और धीरे-धीरे चारों ओर बढ़ने लगता है। यह स्थान वर्ण में लाल, शोथयुक्त, चमकीला, उष्ण, वेदनायुक्त, पीडनाक्षम और तना हुआ होता है। दबाने से किञ्चित् दब जाता है। इसकी फैलने की गति स्थान की मृदुता या कठिनता के अनुसार शीघ्र या मन्द होती है। यदि स्थान मृदु हो, जैसा कि आँखों के आस-पास होता है तो यह अत्यन्त शीघ्रता से फैलता है और शोथ भी कम रहता है। यदि स्थान कठिन हो तो वह मन्दगति से फैलता है और शोथ भी कम रहता है। इसका किनारा किञ्चित् उभरा हुआ, कड़ा और फुन्सियों से युक्त होता है। जिनमें पीले रंग की लसिका होती है। ३–४ दिन में तमाम चेहरा तथा कान फूल जाते हैं, आँखें बन्द हो जाती हैं और चेहरे से रोगी की पहचान मुश्किल हो जाती है। गले की लसिका—ग्रन्थियाँ फूलती हैं, निगलने में कठिनाई होती है। विसर्प के स्थान पर बेचैनी, तनाव और जलन होती है। जैसे-जैसे विसर्प आगे फैलता जाता है, वैसे-वैसे प्रारम्भिक स्थान और पीछे का शोथ कम होता है और वहाँकी त्वचा भूसी के रूप में छिलने लगती है। खोपड़ी पर जहाँ विसर्प होता है, वहाँके बाल गिरने लगते हैं। कभी-कभी विसर्प में तीव्र जलन होती है और उससे बड़े-बड़े फफोले (Bullae) निकल आते हैं। कभी-कभी विसर्प मुख से भीतर गले में, टान्सिल या स्वरयन्त्र में प्रवेश करता है और साँस लेने में तथा ग्रास निगलने में कठिनाई होती है या श्वासावरोध (Asphyxia) होता है। अपने यहाँ भी आभ्यन्तरिक, बाह्य और उभयाश्रित तीन प्रकार के विसर्पों का स्थानभेद से विवरण मिलता है, यथाः—

'बहिःश्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः। विसर्पो बलमेषान्तु ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम्॥
बहिर्मार्गाश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम्। विसर्पं दारुणं विद्यात्सुकृच्छ्रं त्वन्तराश्रयम्॥
च० चि० अ० २१ श्लो० २३–२४।

विसर्पस्य सप्तधात्वं विवृणोति—

वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः। चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ॥२॥

वातिक पैत्तिक, कफज तथ सान्निपातिक ये चार तथा आगे कहे जानेवाले ३ द्वन्द्वज विसर्प, इस प्रकार विसर्प रोग ७ प्रकार का होता है ॥ २ ॥

स्थानिक विकृति के सिवा रोग के प्रारम्भ से ज्वर होता है, जो चौवीस घण्टे में १०२° से १०४° तक चढ़ता है। ज्वर के साथ-साथ जिह्वा मैली होती है, नाड़ी १०० से १२० तक तेज हो जाती है, मूत्र की राशि कम होती है और क्वचित् उसमें अल्ब्यूमिन मिलता है।

रोगक्रम (Course)-विसर्प स्वयं मर्यादित रोग है, जो अपनी तीव्रता के अनुसार २ से ३ सप्ताह में स्वयं ठीक हो जाता है। यदि कोई उपद्रव पैदा न हुआ हो और शोथ गम्भीर न हो तो ज्वर प्रायः पाँचवें या छठें दिन से अकस्मात् या धीरे-धीरे उतरने लगता है, स्थानिक शोथ भी कम होता है तथा उसका प्रसार बन्द होता है। फिर उसके बाद एक-दो सप्ताह तक विकृत स्थान की त्वचा छिलती रहती है और रोगी ठीक हो जाता है। जिस प्रकार अपने यहाँ विसर्प ७ प्रकार के होते हैं, वैसे ही पाश्चात्त्य वैद्यक में भी निम्नलिखित अनेक भेद माने गये हैं।

विसर्प के प्रकार—

१—भ्रमणशील विसर्प (Erysipelasmigrans)—कभी-कभी विसर्प में मुख से ग्रीवा, वक्ष तथा शरीर के अन्य अङ्गों पर फैलने की प्रवृत्ति होती है।

२—कर्दम विसर्प (Cellulocutaneous or gangrenous)—इसमें त्वचा तथा उपत्वचा का गम्भीर पाक होकर विकृत स्थान के धातु गल जाते हैं।

३—परिवर्त्तित विसर्प (Relapsing)—कभी-कभी एक ही स्थान में विसर्प का वार वार आक्रमण होता है। इसका परिणाम यह होता है कि उस स्थान की त्वचा प्रत्येक आक्रमण के समय अधिकाधिक मोटी होती जाती है तथा उसके आस-पास की लसिकावाहिनियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं। इससे आक्रान्त स्थान श्लीपद के समान मोटा पड़ जाता है। इसको एलिफेन्टिएसिस नास्ट्रस (Elephantiasis nostras) कहते हैं।

४—नवजात विसर्प—नवजात बालक में नालच्छेदन के पश्चात् यह विसर्प होता है।

साध्यासाध्यता—यद्यपि विसर्प प्रायः साध्य और स्वयं मर्यादित है, तथापि बालक, वृद्ध, दुर्बल, प्रसूता स्त्री, मद्यपी, चिरकालीन, वृक्कविकारी, मधुमेही तथा स्थूल मनुष्य में असाध्य होता है। कर्दम विसर्प, नवजात विसर्प तथा भ्रमणशील विसर्प भी असाध्य होते हैं। मस्तिष्कावरण शोथ, तीव्रवृक्कशोथ, हृदन्तःशोथ, न्युमोनिया, जीवाणुमयता—ये उपद्रव तथा अतितीव्र सन्ताप, विसर्प नीलिमा अनुबद्ध (Persisnant) छर्दि तथा बेहोशीयुक्त प्रलाप—ये लक्षण अरिष्टसूचक होते हैं।

सामान्य चिकित्सा—रोग अत्यन्त सांसर्गिक होने के कारण रोगी को पृथक् कमरे में रखना चाहिए। परिचारक के सिवाय अन्य मनुष्यों को उससे सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। विसर्प की चिकित्सा तथा शुश्रूषा करनेवाला वैद्य और परिचारक को प्रसूति के लिए तथा प्रसूता स्त्रियों के पास नहीं जाना चाहिए। रोगी को बिस्तरे पर आराम से रखना चाहिए। पीने के लिए काफी पानी देना चाहिए। खानेके लिए जौ का यूष, चाय, कांजी, ग्लूकोज तथा अन्य तरल पौष्टिक पदार्थ देना चाहिए। पानी तथा अन्य तरल पदार्थ बरफ डालकर देना उचित है। इससे वमन भी कम होता है और रोगी को आराम मालूम पड़ता है। वमन अधिक हो तो चूसने के लिए बरफ देना चाहिए। मलावरोध सौम्य विरेचक ओषधि या वस्ति से दूर करना चाहिए। यदि सिरदर्द अधिक हो तो सिर पर बरफ की थैली रखना या बरफ का ठंडा पानी छोड़ना चाहिए। ज्वर और बेचैनी अधिक हो तो भी शीतल जल या बरफ का प्रयोग करना चाहिए।

आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः।
यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसम्भवः ॥ ३ ॥

वात तथा पित्त से आग्नेय विसर्प, कफ तथा वात से ग्रन्थि-विसर्प और पित्त तथा कफ से कर्दम-विसर्प नामक घोर विसर्प उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

विसर्पस्य दोषदूष्याण्याह—

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः। विसर्पाणां समुत्पत्तौ हेतवः सप्त धातवः॥

*त्रयो मलाः = वातपित्तकफाः, दोषाः = दूषका इत्यर्थः। अन्यथा 'दोषाः = मलाः' इत्यत्र पुनरुक्तिदोषो लगिष्यते ॥ ४ ॥

रक्त, लसिका, त्वचा तथा मांस—ये चार दूष्य तथा वात, पित्त और कफ ये तीनों दूषक होते हैं। इस प्रकार विसर्प की उत्पत्ति में उपर्युक्त धातुएँ हेतु हैं। यहाँ पर केवल, वात, पित्त, कफ के लिए 'दोषाः' और 'मलाः' ऐसे दो शब्द आये हैं। 'मलाः' का अर्थ होता है वात, पित्त और कफ तथा 'दोषाः' का अर्थ होता है दूषित करनेवाले। इस प्रकार 'दोषाः' और 'मलाः' ऐसा पढ़ने से पुनरुक्ति दोष नहीं लगता ॥ ४ ॥

वातजविसर्पलक्षणमाह—

तत्र वातात्परीसर्पो वातज्वरसमव्यथः। शोफस्फुरणनिस्तोदभेदायामार्त्तिहर्षवान् ॥ ५ ॥

*परीसर्पो = विसर्पः। वातज्वरसमव्यथः=शिरोहृद्गात्रोदरशूलादियुक्तः। भेदः=विदारणेनेव व्यथा। आयामः = आकर्षणेनेव व्यथा ॥ ५ ॥

वातजन्य विसर्प में वातज्वर के समान व्यथा होती है अर्थात् शिरःशूल, हृच्छूल गात्रशूल तथा उदरशूल इत्यादि होते हैं। शोथ होता है, अङ्गमें स्फुरण होता है, सुई चुभाने के समान वेदना होती है, चीरने के समान व्यथा होती है तथा खींचने या चूसने के समान वेदना होती है और रोमाञ्च होता है ॥ ५ ॥

पित्तजविसर्पलक्षणमाह—

पित्ताद् द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ॥ ६ ॥

*द्रुतगतिः = शीघ्रप्रसरणशीलः ॥ ६ ॥

पित्तज विसर्प शीघ्र फैलनेवाला होता है, पित्तज्वर के समस्त लक्षणों से युक्त होता है तथा अत्यन्त लाभ होता है ॥ ६ ॥

इस प्रकार पाश्चात्त्य वैद्यक में विसर्प की साधारण चिकित्सा की जाती है। अपने यहाँ जो विसर्प के साधारण चिकित्सा के सूत्र हैं, वे बहुत ही उपयोगी तथा अवश्यकरणीय हैं और उपर्युक्त पाश्चात्य विवरण से सामञ्जस्य भी रखते हैं। यथाः—

विरेकवमनालेपसेचनास्रविमोक्षणैः। उपाचरेद्यथादोषं विसर्पानविदाहिभिः।
भा० प्र० विसर्पचि० श्लो० २६।

शतधौतघृतेनाग्नि प्रदिह्यात्केवलेन वा। सेचयेद् घृतमण्डेन शीतेन मधुकाम्बुना।
शीताम्भसाऽम्भोदजलैः क्षीरेणेक्षुरसेन वा। पानलेपनसेकेषु महातिक्तं परं घृतम्।
विसर्पो नह्यसंसृष्टः सोऽस्रपित्तेन जायते। रक्तमेवाश्रयश्चास्य बहुशोऽस्रं हरेदतः।
शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत्। त्वङ्मांसस्नायुसंक्लेदो रक्तक्लेदाद्धि जायते।
निर्हृतेऽस्रे विशुद्धेऽन्तर्दोषे त्वङ्मांससन्धिगे। बहिः क्रियाः प्रदेहाद्याः सद्यो वीसर्पशान्तये।
मोक्षयेद्बहुशश्चास्य रक्तमुत्क्लेशमागतम्। अष्टाङ्गहृदय चि० अ० १८।
यानीहोक्तानि कर्माणि विसर्पाणां निवृत्तये। एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः।
च० चि० अ० २१ श्लो० १४०।

कफजविसर्पलक्षणमाह—

कफात्कण्डूयुतः स्निग्धः कफज्वरसमानरुक् ॥ ७ ॥

कफज विसर्प कण्डूयुक्त, चिकना तथा कफज्वर के समान वेदनावाला होता है ॥ ७ ॥

सान्निपातिकविसर्पलक्षणमाह—

सन्निपातसमुत्थश्च सर्वरूपसमन्वितः ॥ ८ ॥

जो विसर्प तीनों दोषों से उत्पन्न होता है, उसमें उपर्युक्त तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं ॥८॥

वातपित्तजाग्निविसर्पलक्षणमाह—

वातपित्ताज्ज्वरच्छर्दिमूर्च्छाऽतीसारतृड्भ्रमैः। अस्थिभेदाग्निसदनतमकारोचकैर्युतः।
करोति सर्वमङ्गञ्च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत्। यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत्स सः ॥ ९ ॥
शीताङ्गारासितो नीलो रक्तो वाऽऽशूपचीयते। अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद् द्रुतश्च सः
मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्वातोऽतिवलस्ततः। व्यथेताङ्गं हरेत्संज्ञां निद्राञ्च श्वासमीरयेत् ॥
हिध्माञ्च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न ना। क्वचिच्छर्मारतिग्रस्तो भूमिशय्याऽऽसनादिषु॥
चेष्टमानस्ततः क्लिष्टो मनोदेहसमुद्भवाम्। दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रां कोऽग्निवीसर्प उच्यते ॥

*'स्फोटैरुपचीयतः' इत्यन्वयः। मर्मानुसारी = उदरहृदयानुसारी। 'हरेद्विसर्प' इत्यन्वयः। हिध्मां = हिक्काम्। ईरयेद् = उपर्युपरि प्रेरयेत्। मनोदेहसमुद्भवां निद्रां = मरणरूपाम्। अश्नुते = प्राप्नोति ॥ ९–१३ ॥

वात तथा पित्त दोषों से उत्पन्न हुए विसर्प में ज्वर, वमन, मूर्च्छा, अतीसार, पिपासा, भ्रम, अस्थिशूल, अग्निमान्द्य, आँखों के सामने अँधेरा छा जाना तथा अरुचि—ये सब विकार उत्पन्न हो जाते हैं और सारा शरीर दीप्त अङ्गारों से व्याप्त के समान हो जाता है। जिस-जिस प्रदेश में यह विसर्प फैलता है, वह-वह प्रदेश बुझे हुए अङ्गारों के समान कृष्णवर्ण, नीला अथवा रक्तवर्ण हो जाता है और अग्निदग्ध के समान फफोलों से व्याप्त हो जाता है। यह विसर्प शीघ्र गति करनेवाला है। यह विसर्प शीघ्र ही उदर तथा हृदय प्रदेश पर चला जाता है। इस विसर्प में वात की अत्यन्त प्रवलता होती है, जिसके कारण यह अङ्गों में वेदना उत्पन्न करता है, संज्ञा को नष्ट करता है और निद्रा, श्वास तथा हिचकी को वढ़ाता है। इस अवस्था को प्राप्त मनुष्य कहीं भी सुख नहीं पाता, भूमि शय्या तथा आसन इत्यादि पर कहीं भी उसे आनन्द नहीं मिलता। किसी प्रकार की भी चेष्टा करने से उसे क्लेश ही होता रहता हैं, मन तथा शरीरके कष्ट के कारण उसे दुष्प्रबोध निद्रा या मरणरूप निद्रा उत्पन्न होती है, अर्थात् रोगी की मृत्यु हो जाती है। इस विसर्प को 'अग्निविसर्प' कहते हैं ॥ ९–१३ ॥

वातकफजग्रन्थिविसर्पलक्षणमाह—

कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं वहुधा कफम्। रक्तं वा वृद्धरक्तस्य त्वक्शिरास्नायुमांसगम् ॥
दूषयित्वा तु दीर्घाणां वृत्तस्थूलखरात्मनाम्। ग्रन्थीनां कुरुते मालां रक्तानां,तीव्ररुग्ज्वराम् ॥
श्वासकासातिसारास्यशोषहिक्कावमिभ्रमैः। मोहवैवर्ण्यमूर्च्छाऽङ्गभङ्गाग्निसदनैर्युतः ॥
इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पो वातश्लेष्मप्रकोपजः ॥ १६ ॥

*कफेन स्वहेतुदुष्टेन। पवनोऽपि स्वहेतुदुष्टः। तेनायं वातश्लैष्मिकः। तं=कफं वहुधा भित्त्वा रक्तं वा दूषयित्वेत्यन्वयः। 'त्वगादिकमि'ति रक्तस्य विशेषणम् ॥ १४–१६ ॥

अपने प्रकोपक हेतुओं से प्रकुपित कफसे अवरुद्ध तथा स्वप्रकोपक कारणों से दूषित हुआ वायु कफ को अनेक प्रकार से भेदन करके वढ़े हुए रक्तवाले पुरुष के त्वचा, शिरा, स्नायु तथा मांस में स्थित रक्त को दूषित करके लम्बी, गोल, मोटी, खर तथा रक्तवर्ण की ग्रन्थिमाला को उत्पन्न कर देती है। इन ग्रन्थियों के कारण प्रवल वेदना ज्वर, श्वास, कास, अतीसार, मुखशोष, हिक्का, वमन,

भ्रम, मोह, विवर्णता, मूर्च्छा, अङ्गों का टूटना तथा अग्निमान्द्य-ये सब उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इस विसर्प को 'ग्रन्थि-विसर्प' कहते हैं। यह विसर्प वात तथा वात-कफ के प्रकोप से उत्पन्न होता है॥ १४-१६ ॥

कफपित्तजकर्दमाख्यविसर्पलक्षणमाह—

कफपित्ताज्ज्वरस्तम्भनिद्रातन्द्राशिरोरुजाः। अङ्गावसादविक्षेपप्रलेपारोचकभ्रमाः॥ १७॥
मूर्च्छाऽग्निहानिर्भेदोऽस्थ्नां पिपासेन्द्रियगौरवम्। सामोपवेसनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति॥
प्रायेणामाशयं गृह्णन्नेकदेशं च चातिरुक्। पिडकैरवकीर्णोऽसितपीतलोहितपाण्डुरः॥ १९॥
स्निग्धोऽसितो मेचकाभो मलिनः शोफवान्गुरुः।
गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते॥ २०॥
पङ्कत्वक्शीर्णमांसश्च स्पष्टस्नायुशिरागणः। शवगन्धी च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशन्ति तम्॥

स च सर्पति, एकदेशमित्यन्वयः। पिडकैः=पिडकाभिः, अवकीर्णः=व्याप्तः। असितः=कृष्णः। मेचकः=रूक्षकृष्णः। प्राज्योष्मा=प्रचुरोष्मा। स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते=स्पृष्टः सन्नार्द्रो भवति, विदीर्यते। पङ्कत्वक्=कर्दमवर्णा त्वग् यत्र सः। शीर्णमांसः। अतएव स्पष्टस्नायुशिरागणः॥ १७-२१॥

कफ तथा पित्त दोष से उत्पन्न होनेवाले विसर्प में ज्वर, जकड़ाहट, निद्रा, तन्द्रा, शिरोवेदना, अङ्गों में शिथिलता, विक्षेप (शाखाओं का इतस्ततः विक्षेप), प्रलाप, अरुचि, भ्रम, मूर्च्छा, अग्नि की मन्दता, अस्थिभेद, पिपासा, इन्द्रियों की गुरुता, आमदोषयुक्त मल का होना तथा स्रोतसों का प्रलेप (मुखादिकों में कफ का लिपा-सा होना) ये सब लक्षण होते हैं। यह विसर्प एक प्रदेश को ग्रहण करके फैलता है। इसमें अधिक व्यथा नहीं होती। अत्यन्त पीली, लाल तथा पाण्डुर वर्ण की फुन्सियों से व्याप्त, स्निग्ध, कृष्णवर्ण, मेचकाभ (रूक्ष तथा काला), मैला, शोथयुक्त, गुरु, गम्भीर पाकवाला, अत्यन्त उष्ण, स्पर्श में आर्द्र तथा फटनेवाला होता है। त्वचा का वर्ण कीचड़ के समान होता है। मांस गलकर गिर जाता है। अत एव स्नायु तथा शिराएँ स्पष्ट हो जाती हैं और उस में शव के समान गन्ध आती है। ऐसे विसर्प को 'कर्दम विसर्प' कहते हैं॥ १७-२१॥

सान्निपातिकविसर्पलक्षणमाह—

सन्निपातसमुत्थस्तु सर्वरूपसमन्वितः॥ २२॥

त्रिदोष से उत्पन्न होनेवाले विसर्प में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं॥ २२॥

क्षतागन्तुनिमित्तकाष्टमवीसर्पलक्षणमाह—

बाह्यहेतोः क्षतात्क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन्। विसर्पं मारुतः कुर्यात्कुलत्थसदृशैश्चितम्॥
स्फोटैः शोथज्वररुजादाहाढ्यं श्यावशोणितम्॥ २३॥

बाह्यहेतोः=शस्त्रप्रहारव्यालदन्तनखाद्यागन्तुहेतोः। श्यावशोणितं=कृष्णवर्णरक्तम्॥

शस्त्रप्रहार तथा व्याघ्र इत्यादि पशुओं के दाँत तथा नख इत्यादि आगन्तुक हेतुओंसे उत्पन्न क्षत से प्रकुपित वायु रक्तसहित पित्त को प्रेरित करके विसर्प को उत्पन्न कर देता है। यह विसर्प कुलथी के समान आकारवाली फुन्सियों से व्याप्त होता है। कृष्णवर्ण के रक्त से युक्त होता है। तथा शोथ, ज्वर, पीड़ा और दाह से युक्त होता है॥ २३॥

विसर्पोपद्रवानाह—

ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसदरणक्लमाः। अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः॥२४॥

ज्वर, अतीसार, वमन, त्वचा तथा मांस का फटना, ग्लानि, अरुचि तथा भोजन का ठीक परिपाक न होना—ये सब विसर्प के उपद्रव हैं॥ २४॥

विसर्पस्य साध्यत्वादिकमाह—

सिद्ध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति।
पित्तात्मकोऽञ्जनवपुश्च भवेदसाध्यः कृच्छ्राश्च मर्मसु भवन्ति हि सर्व एव ॥ २५ ॥

***पित्तात्मकोऽञ्जनवपुः = पित्ततः स च कज्जलवर्णः। सर्वे एव साध्या अपि ॥ २५ ॥**

वात, कफ तथा पित्तदोष से उत्पन्न होनेवाले विसर्प साध्य होते हैं। त्रिदोषज विसर्प तथा क्षतज विसर्प असाध्य होते है। पित्तज विसर्प यदि कृष्णवर्ण का हो तो वह भी असाध्य होता है। तथा वे सभी साध्य विसर्प भी यदि मर्मस्थलों में उत्पन्न हों तो कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥ २५ ॥

विसर्पचिकित्सामाह—

विरेकवमनालेपसेचनास्रविमोक्षणैः। उपाचरेद्यथादोषं विसर्पानविदाहिभिः ॥ २६ ॥

दोषों का विचार करते हुए जो दाहकारक न हों, ऐसे विरेचन, वमन, प्रलेप, परिषेक तथा रक्तमोक्षण द्वारा विसर्प का उपचार करना चाहिए ॥ २६ ॥

रास्ना नीलोत्पलं दारु चन्दनं मधुकं बला। घृतक्षीरयुतो लेपो वातवीसर्पनाशनः ॥ २७ ॥

***चन्दनमत्र रक्तं प्रयोज्यम् ॥ २७ ॥**

रास्ना, नीला कमल, देवदारु, लालचन्दन, मुलेठी तथा खिरेटी–इन सब ओषधियों को पीसकर घी तथा दूध मिलाकर प्रलेप करने से वातजन्य विसर्प नष्ट हो जाता है ॥ २७ ॥

कशेरुशृङ्गाटकपद्मगुन्द्रैः सशैवलैः सोत्पलकर्दमैश्च।
वस्त्रान्तरैः पित्तकृते विसर्पे लेपो विधेयः सघृतः सुशीतः ॥ २८ ॥

विसर्प पर वस्त्र को रखकर ऊपर से कसेरू, सिंघाड़े, पद्मकाष्ठ, गुन्द्र नामक तृणविशेष, सेवार, कमल तथा कीचड़ इन सबको एकत्र पीसकर घी मिलाकर शीतल प्रलेप करने से पित्तजन्य विसर्प नष्ट हो जाता है ॥ २८ ॥

त्रिफलापद्मकोशीरसमङ्गाकरवीरकम्। नलमूलमनन्ता च लेपः श्लेष्मविसर्पके ॥ २९ ॥

***समङ्गा = लज्जालुः ॥ २९ ॥**

हरड़, बहेड़ा, आँवला, पद्मकाष्ठ, खस, लज्जालु, कनेर की जड़, नरकुल की जड़, तथा अनन्तमूल–इन सब ओषधियों को पीसकर प्रलेप करने से कफजन्य विसर्प नष्ट हो जाता है ॥२९॥

वातपित्तप्रशमनमग्निवीसर्पणे हितम्। वातश्लेष्महरं कर्म ग्रन्थिवीसर्पणे हितम् ॥३०॥
पित्तश्लेष्मप्रशमनं हितं कर्दमसंज्ञके। त्रिदोषजे क्रियां कुर्याद्विसर्पे त्रितयापहाम् ॥ ३१ ॥

अग्निविसर्प में वात तथा पित्त दोष को शमन करनेवाली चिकित्सा हितकारिणी होती है। ग्रन्थिविसर्प में वात तथा कफनाशक कर्म हितकर होता है। कर्दम विसर्प में पित्त तथा कफ को शान्त करनेवाली क्रिया उत्तम होती है। त्रिदोषज विसर्प में तीनों दोषों को दूर करनेवाली क्रिया करनी चाहिए ॥ ३०–३१ ॥

दशाङ्गलेपमाह—

शिरीषयष्टीनतचन्दनैलामांसीहरिद्राद्वयकुष्ठवालैः।
लेपो दशाङ्गः सघृतः प्रयोज्यो विसर्पकुष्ठज्वरशोथहारी ॥ ३२ ॥

***नतं = तगरम्। चन्दनं = रक्तं ग्राह्यम्। इति दशाङ्गो लेपः ॥ ३२ ॥**

सिरस की छाल, मुलेठी, तगर, लालचन्दन, छोटी इलायची, जटामांसी, हल्दी, दारुहल्दी, कूठ तथा सुगन्धवाला–इन दस ओषधियों को पीसकर घी मिलाकर प्रलेप करने से विसर्प, कुष्ठ, ज्वर तथा शोथ नष्ट हो जाता है। इस लेप को 'दशाङ्ग लेप' कहा जाता है ॥ ३२ ॥

परिषेकाः प्रलेपाश्च शस्यन्ते पञ्चवल्कलैः। पद्मकोशीरमधुकैश्चन्दनैर्वा विसर्पणे ॥ ३३ ॥

पञ्चवल्कलों या चन्दन अथवा पद्मकाष्ठ, खस तथा मुलेठी–इन ओषधियों के क्वाथ से परिषेक करने अथवा इन्हींको पीस कर प्रलेप करने से विसर्प नष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥

भूनिम्बवासाकटुकापटोलीफलत्रयीचन्दननिम्बसिद्धः ।
विसर्पदाहज्वरशोथकण्डूविस्फोटतृष्णावमिहृत्कषायः ॥ ३४ ॥

चिरायता, अडूसा, कुटकी, कड़वे परवल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, लाल चन्दन तथा नीम की छाल इन सब के क्वाथ को बनाकर पीने से विसर्प, दाह, ज्वर, शोथ, कण्डू, विस्फोट, पिपासा तथा वमन नष्ट हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

कुष्ठेषु यानि सर्पीषि व्रणेषु विविधेषु च । विसर्पे तानि योज्यानि सेकालेपनभोजनैः ॥३५॥

कुष्ठरोग में तथा अनेक प्रकार के व्रणों पर जिन-जिन घृतों का वर्णन किया गया है; विसर्प रोग में उन सबका परिषेक, प्रलेप तथा भोजन में प्रयोग करना चाहिए ॥ ३५ ॥

करञ्जतैलमाह—

करञ्जसप्तच्छदलाङ्गलीकस्नुह्यर्कदुग्धानलभृङ्गराजैः ।
तैलं निशामूत्रविषैर्विपक्वं विसर्पविस्फोटविचर्चिकाघ्नम् ॥ ३६ ॥

करञ्ज, सतौना, कलिहारी, थूहर तथा मदार का दूध, चित्त की छाल, भृङ्गराज, हल्दी, गोमूत्र तथा वत्सनाभ विष द्वारा पकाये गये तैल को लगाने से विसर्प, विस्फोट तथा विचर्चिका नष्ट हो जाती हैं ॥ ३६ ॥

कुष्ठामयस्फोटमसूरिकोक्तचिकित्सयाऽप्याशु हरेद्विसर्पान् ।
सर्वान्विपक्वान्परिशोध्य धीमान्व्रणक्रमेणोपचरेद्यथोक्तम् ॥ ३७ ॥

इति षट्पञ्चाशत्तमो विसर्पाधिकारः समाप्तः ॥ ५७ ॥

कुष्ठरोग, विस्फोट तथा मसूरिका रोग की जो चिकित्सा कही गयी है, उसी चिकित्सा से शीघ्र विसर्प को दूर करना चाहिए। बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि वह पके हुए विसर्प का परिशोधन करके व्रणोक्त चिकित्सा से उपचार करे ॥ ३७ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी'नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे षट्पञ्चाशत्तमो विसर्पाधिकारः समाप्तः ॥ ५६ ॥

अथ सप्तपञ्चाशत्तमो स्नायुरोगाधिकारः ॥ ५७ ॥

तत्र स्नायुरोगस्य निदानं लक्षणं चाह—

शाखासु कुपितो दोषः शोथं कृत्वा विसर्पवत् । भित्त्वैव तं क्षते तत्र सोष्म मांसं विशोष्य च ॥
कुर्यात्तन्तुनिभं सूत्रं तत्पिण्डैस्तक्रशक्तुजैः । शनैः-शनैः क्षताद्याति च्छेदात्तत्कोपमावहेत् ॥२॥

तत्पाताच्छोथशान्तिः स्यात्पुनः स्थानान्तरे भवेत् ।
स स्नायुरिति विख्यातः क्रियोक्ताऽत्र विसर्पवत् ॥ ३ ॥

बाह्वोर्यदि प्रमादेन त्रुट्यते जङ्घयोरपि । सङ्कोचं खञ्जतां चापि छिन्नो नूनं करोत्यसौ ॥४॥

शाखाओं अर्थात् हाथ तथा पाँवों में कुपित हुआ दोष विसर्प के समान शोथ को उत्पन्न करता है। फिर उस शोथ का भेदन करके तथा उष्णतायुक्त मांस को सुखाकर उस क्षत में तन्तु के समान सूत्र को उत्पन्न कर देता है। उस सूत्र के ऊपर तक्र में पिसे हुए सत्तू के पिण्ड को बाँधने से वह सूत्र धीरे-धीरे क्षत से बाहर निकल जाता है। और यदि वह तन्तु टूट जाय तो और अधिक कोप होता है अर्थात् भारी शोथ उत्पन्न हो जाता है। और उसके भलीभाँति बाहर निकल जाने पर

शान्त हो जाता है। यह रोग एक स्थान के बाद फिर दूसरे स्थान में हुआ करता है। यह रोग 'स्नायुरोग'[१] के नाम से विख्यात है। इसकी चिकित्सा विसर्प के समान बतलाई गई है। यदि यह तन्तु प्रमाद से बाहु अथवा जंघा में टूट जाय तो हाथों में संकोच (लूलापन) तथा पैरों में खञ्जता (लँगड़ापन) अवश्य उत्पन्न कर देता है ॥ १–४ ॥

---

१. स्नायुक रोग को अंग्रेजी में गिनी वर्म डिसीज् (Guinea worm disease) कहते हैं।

व्याख्या—स्नायुक कृमि के उपसर्ग से होनेवाला एक रोग है, जिसमें कृमि की उपस्थिति से फोड़ा, उपत्वचाशोथ तथा सन्धिपीडा इत्यादि स्थानिक विकार और वमन, शीतपित्त तथा ज्वर इत्यादि सार्वदैहिक लक्षण होते हैं। अपने यहाँ योगरत्नाकर में भी इसकी व्याख्या ऐसी ही है, यथाः—

शाखासु कुपितो दोषः शोथं कृत्वा विसर्पवत्। भिनत्ति तत्क्षते तत्र सोष्मा स्नायुं विशोष्य च।
कुर्यात्तन्तुनिभं जीवं वृत्तं श्वेतद्युतिं बहिः। स स्नायुकेति विख्यातः।

हेतु—इस रोग का कारण स्नायुक या गिनी वर्म (Guinea worm) नामक कृमि होता है। स्त्रीकृमि ३० से १२० सेन्टीमीटर लम्बी होती है। पुरुषकृमि इससे छोटा होता है। यह कृमि गोल, तन्तुसदृश, श्वेतवर्ण और मृदु होता है। पूँछ नोकदार और किञ्चित् मुड़ी होती है। सिर मोटा और गोल होता है। अन्नप्रणाली बहुत छोटी होती है। स्त्री का शरीर गर्भप्रणाली से भरा रहता है। जिसमें असंख्य अण्डे होते हैं। ये चपटे ५००–७५० म्यू० लम्बे और १५ से २५ म्यू० चौड़े होते हैं। इनका सिर गोल, पूँछ नोकदार और शरीर रेखायुक्त होता है। ये अत्यन्त चञ्चल होते हैं और पानी में ठहर-ठहर कर तैरते हुए दिखाई देते हैं। पानी के साथ सम्बन्ध होने पर स्त्रीकृमि उसमें अण्डों का उत्सर्ग करती है। कृमि की वृद्धि के लिए पानी की आवश्यकता होने के कारण शरीर में प्रवेश करने के पश्चात् कृमि ऐसे स्थान पर निकलता है, जहाँ पानी के साथ सम्बन्ध होने की अधिक सम्भावना हो।

रोग का प्रसार—पानी के साथ सम्बन्ध होने पर अण्डे उसमें चल देते हैं, जो जलपिस्सू (Water flea) से ग्रहण किये जाते हैं। एक-एक जलपिस्सू के शरीर में १५–२० अण्डे मिलते हैं। उनके शरीर में इन अण्डों में कुछ परिवर्तन होता है, जिनके लिए ४–६ सप्ताह का समय लग जाता है। इस अवस्था में इसकी लम्बाई १ मिलीमीटर होती है। जिस पानी में ये पिस्सू होते हैं, उस पानी के सेवन से अण्डों के साथ वे मनुष्य के आमाशय में चले जाते हैं। वहाँ आमाशयिक रस से पिस्सू का नाश होकर कृमियों के बच्चे स्वतन्त्र होकर आमाशय की दीवाल में से उदरावरणकला के पीछे (Retro Peritoneal tissue) पहुँचकर वहाँ बढ़ते हैं। उसके बाद पुरुषकृमि स्त्रीकृमि को गर्भित करके स्वयं मर जाता है और स्त्रीकृमि जिस अङ्ग का पानी के साथ अधिक सम्बन्ध होने की सम्भावना होती है, उस अङ्ग की ओर चल देती है। साधारणतया शरीर में प्रवेश होने के बाद त्वचा में कृमि निकलने के लिए एक साल के करीब समय लगता है। जब कृमियुक्त अङ्ग पानी में जाता है, तब उसके अण्डे उसमें उत्सर्गित होते हैं और इस तरह कृमि का जीवन मनुष्य और जलपिस्सू दोनों में विभक्त होता है। रोग का प्रसार दूषित जल के पीने से होता है। जहाँ पर वापी और तालाब से पीने का पानी उपयोग में आता है, वहाँ पर स्नायुक-पीडित लोगों का पानी में प्रवेश होने से वह दूषित होता है। बड़े-बड़े शहरों में जहाँ पर बंबे और कल का पानी पीया जाता है, वहाँ पर पानी दूषित होने का कोई अवसर नहीं होता अर्थात् यह रोग वापी और तालाब से पानी पीनेवाले कुछ देहातों में ही मर्यादित रहता है और वहाँ पर इससे बहुत लोग पीडित होते हैं।

भौगोलिक प्रविभाग—यह रोग अफ्रीका, एशिया माइनर, अरेबिया और भारतवर्ष में होता है। भारतवर्ष में वायव्य सरहद प्रान्त, पंजाब, राजपूताना, मध्य भारत, बम्बई, मद्रास और मैसूर

स्नायुकरोगचिकित्सामाह—

स्नेहस्वेदप्रलेपादि कर्म कुर्याद्यथोचितम् । रामठं शीततोयेन पीतं स्नायुकरोगनुत् ॥ ५ ॥

इन विभागों में होता है। संयुक्तप्रान्त, विहार, बंगाल, आसाम और उड़ीसा इनमें नहीं होता है। संक्षेप में यह रोग भारत के पश्चिम भाग में होता है। पूर्व भाग में नहीं होता।

सम्प्राप्ति–इस कृमि से शरीर में जो विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं, उनके चार मुख्य कारण हैं:-

१—कृमि का विष, २–अण्डों का उत्सर्ग, ३–पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग और ४–कृमि की उपस्थिति।

जब कृमि त्वचा पर आने में असमर्थ होता है, तब प्रायः रास्ते में ही कहीं पर मर जाता है और मृत कृमि के चारों ओर तान्तव धातु और खटिकाभरण हो जाता है। जिस स्थान पर और जिस धातु में इस मृत कृमि का अवस्थान होगा, उसके अनुसार भिन्न-भिन्न लक्षण होंगे। जैसे–नाड़ी में अवस्थान होने पर नाडीशूल और शोथ, पेशी में अवस्थान होने से पेशीशूल और पेशी-शोथ, सन्धि में अवस्थान होने से सन्धिपीडा और सन्धिशोथ इत्यादि। कृमि निकालने के समय जब कभी उसको अधिक खींचने के कारण वह समूचा न निकलकर आधा भीतर ही टूट जाता है, तब उसके व्रण में स्टेप्टोकोकाय, स्टेफिलोकोकाय, वैसीलसकोलाई इत्यादि पूयोत्पादक जीवाणुओं का उपसर्ग हो जाता है और विविध उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

विकृत शारीर—इस कृमि से प्रायः स्थानिक विकृति उत्पन्न होती है। जहाँ पर कृमि अवस्थान करता है, वहाँ उसके चारो ओर स्नायुतन्तुओं का एक कोश (Fibroustissue canal) बन जाता है। उसके मरने पर उसमें खटिकाभरण होता है। सन्धियों में विकृत होने से उनकी हड्डियाँ आपस में संयुक्त होकर सन्धि वेकाम (Ankylosis) हो जाती है। रक्त में इओसिनोफाइल की संख्यावृद्धि होती है।

लक्षण—रोग का संचयकाल एक वर्ष के लगभग होता है। इस अवधि में प्रायः कोई लक्षण नहीं होते। जब कृमि कहीं पर त्वचा में से निकलने को आता है, तब मिचली, वमन, प्रवाहिका, श्वासकृच्छ्र, शीतपित्त, चक्कर तथा ज्वर इत्यादि सार्वदैहिक लक्षण होते हैं और कुछ घंटों के बाद जहाँ पर कृमि निकलता है, वहाँ कण्डू, जलन या पीडा होकर अन्त में पानीदार फुन्सी और व्रण बन जाता है। इस व्रण में से गाढ़ा पानीदार श्वेत स्राव निकलता है, जिसमें कृमि के अण्डे होते हैं। साधारणतया समस्त अण्डों का उत्सर्ग होने के लिए ३ सप्ताह की अवधि आवश्यक होती है। पैरों का सम्बन्ध पानी से अधिक होने के कारण ८०–९० प्रतिशत रोगियों में कृमि पैरों में टखने के पास निकलता है। परन्तु कभी-कभी हाथ, पीठ, नितम्ब तथा वृषण–इन अङ्गों की त्वचा में भी निकलता है। भिश्तियों की पीठ हमेशा पानी से तर रहनेके कारण कई बार कृमि उनके पीठ पर निकलते हैं। जिस अङ्ग में कृमि होता है, उसमें सूजन और पीड़ा होती है, जिसके कारण रोगी चल-फिर नहीं सकता। प्रायः एकाध कृमि निकलता है, परन्तु कभी-कभी अनेक कृमि अनेक स्थानों पर निकलते हैं, तब रोगी की स्थिति बड़ी शोचनीय होती है।

उपद्रव—कृमि के टूटने पर पूयजनक जीवाणुओं के उपसर्ग से विद्रधि, उपत्वचाशोथ (Cellulitis) तथा जीवाणुमयता इत्यादि उपद्रव उत्पन्न होते हैं। अपने यहाँ भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। यथा:—

शनैः शनैः क्षयायाति छेदात्कोपमुपैति च।
तत्पाताच्छोफशान्तिः स्यात्पुनः स्थानान्तरं व्रजेत् ॥
बाह्वोर्यदि प्रमादेन जङ्घयोस्त्रुट्यति क्वचित्।
सङ्कोचं खञ्जतां चैव छिन्नस्तन्तुः करोत्यसौ ॥ योगरत्नाकर।

इस रोग में स्नेहन, स्वेदन तथा प्रलेप इत्यादि यथोचित चिकित्सा करनी चाहिए। हींग को शीतल जल के साथ मिलाकर पीने से स्नायुक रोग नष्ट होता है ॥ ५ ॥

स्वेदात्स्नायुकमत्युग्रं भेकः काञ्जिकसाधितः। तद्वद् बब्बूलजं बीजं पिष्टं हन्ति प्रलेपनात् ॥

मेढक को काञ्जी में पकाकर उससे स्वेदन करने से अत्यन्त उग्र स्नायुक रोग नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार बबूल के बीजों को पीसकर प्रलेप करने से भी स्नायुक रोग नष्ट होता है ॥ ६ ॥

गव्यं सर्पिस्त्र्यहं पीत्वा निर्गुण्डीस्वरसं त्र्यहम्। पिबेत्स्नायुकमत्युग्रं हन्त्यवश्यं न संशयः ॥

तीन दिन तक गोघृत को पीकर तीन दिन तक निर्गुण्डी स्वरस को पीने से अत्यन्त उग्र स्नायुक रोग अवश्य नष्ट हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ७ ॥

मूलं सुषव्या हिमवारिपिष्टं पानादिदं तन्तुकरोगमुग्रम्।
शान्तिं नयेत्सव्रणमाशु पुंसां गन्धर्वगन्धेन घृतेन पीत्वा ॥ ८ ॥

गन्धर्वगन्धेन = गन्धर्वगन्धोऽस्यास्तीति स गन्धर्वगन्धः = अश्वगन्धस्तेन ॥ ८ ॥

काले जीरे की जड़को शीतल जल में पीसकर पीने से उग्र स्नायुक रोग नष्ट हो जाता है। अथवा अश्वगन्ध के कल्क द्वारा पकाये गये घृत को पीने से मनुष्यों का व्रणयुक्त स्नायुक रोग नष्ट होता है।

निदान—स्नायुक-कृमिपीड़ित प्रदेश में विशेषतः देहातों में रहने का या प्रवास करने का पूर्ववृत्त, पैर पर टखने के पास छाला-सा पड़ना और उसके फूटने के बाद उससे सफेद स्राव उत्पन्न होना ये सब सूचक लक्षण होते हैं। कृमि जब त्वचा के पास होता है, तब बारीकी से देखने पर दिखाई देता है। उस जगह एथिलक्लोराइड का फुवारा करने पर कृमि अधिक स्पष्ट होकर त्वचा के नीचे एक सफ़ेद लकीर के रूप में दिखाई देता है। जब कृमि त्वचा के पास आने में असमर्थ होने से या अन्य कारण से धातुओं के भीतर मर जाता है, तब खटिकावृत होने के बाद एक्स-रे द्वारा उसका निदान हो सकता है।

रोगक्रम और साध्यता—रोग स्वयंघातक नहीं है, पीडादायक और वैकल्यकर होता है। जब कृमि के सब अण्डे उत्सर्गित होते हैं और जिसके लिए साधारणतया ३ हफ्ते की जरूरत होती है, कृमि स्वयं विना तकलीफ के निकल आता है। जब वह निकालने की उतावली में टूट जाता है, तब पूयजनक जीवाणुओं के उपसर्ग से विद्रधि और उपत्वचाशोथ इत्यादि उपद्रव उत्पन्न होकर उनमें जीवाणुमयता होकर रोगी की मृत्यु हो सकती है। जब मृत कृमि स्थान पर अवस्थित होते हैं, तब अङ्गवैकल्य होता है।

साधारण चिकित्सा—खराब पानी के सेवन से यह रोग होता है। इसलिए पानी हमेशा उबालकर पीना उचित है। कृमिवाहक जलपिस्सू मोटा और दृष्टिगम्य होता है, इसलिए यदि उबालने का कार्य न हो सके तो महीन कपड़े से छानने से भी दूषित जल दोषरहित हो जाता है। अतः पानी हमेशा कपड़े से छानकर पीना उचित है। अपने यहाँ धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेद में सर्वत्र जल को छानकर ही पीने का आदेश दिया गया है, यथाः—

'दृष्टिपूतं न्यसेत्-पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥' मनुस्मृति।

जलेषु क्षुद्रजन्त्वादिवारणार्थं वस्त्रशोधितं जलं पिबेत् ॥ कुल्लूकभट्टः।

घनवस्त्रपरिस्रावैः क्षुद्रजन्त्वभिरक्षणम्। अष्टाङ्गसंग्रहः।

नदी, तालाब तथा वापी में रोगी के चलने-फिरने से उनका पानी दूषित हो जाता है, अतः जहाँ पर रोग होता है, वहाँ पर जिन जलाशयों के भीतर मनुष्य पानी लाने के लिए जा सकता है, ऐसे जलाशयों का पानी पीना वर्ज्य करके गहरा या नालीदार कुआँ (Tube well) बनाकर उसका पानी पीने के काम में लाना चाहिए।

श्लोक में सीधे 'अश्वगन्ध' ऐसा शब्द न आकर 'गन्धर्वगन्ध' यह शब्द आया है। जिसका अर्थ होता है कि 'गन्धर्व के समान गन्ध जिस ओषधि का हो, उसे गन्धर्वगन्ध कहते हैं। इस गन्धर्वगन्ध शब्द से अश्वगन्ध इसी ओषधि का बोध होता है ॥ ८ ॥

अतिविषमुस्तकभार्गीविश्वौषधपिप्पलीविभीतक्यः ।
चूर्णमिदं तन्तुघ्नं पुंसामुष्णेन वारिणा पीतम् ॥ ९ ॥

अतीस, नागरमोथा, भारङ्गी, सोंठ, पिप्पली तथा बहेड़ा इन ओषधियों के चूर्ण को उष्ण जल के साथ पीने से मनुष्यों का स्नायुक रोग नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

शिग्रुमूलदलैः पिष्टैः काञ्जिकेन ससैन्धवैः । लेपनं स्नायुकव्याधेः शमनं परमं मतम् ॥ १० ॥

सहजन की जड़ को और पत्तों को काञ्जी के साथ पीसकर और सेंधानमक मिलाकर प्रलेप करने से स्नायुक रोग भली भाँति नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

अहिंसकमूलकल्केन तोयपिष्टेन यत्नतः । लेपसम्बन्धनात्तन्तुर्निःसरेन्नैव संशयः ॥ ११ ॥

इति सप्तपञ्चाशत्तमः स्नायुरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ५७ ॥



हिंस की जड़ को जल के साथ पीसकर प्रलेप करने से स्नायुक रोग का तन्तु अवश्य निकल जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ११ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी'नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे सप्तपञ्चाशत्तमः स्नायुकरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ५७ ॥



अथाष्टपञ्चाशत्तमो विस्फोटकाधिकारः ॥ ५८ ॥

तत्र विस्फोटकस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टनिदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्षारैरजीर्णाध्यशनातपैश्च ।
तथर्तुदोषेण विपर्ययेण कुप्यन्ति दोषाः पवनादयस्तु ॥ १ ॥
त्वचमाश्रित्य ते रक्तं मांसास्थीनि प्रदूष्य च । घोरान्कुर्वन्ति विस्फोटान्सर्वाञ्ज्वरपुरःसरान् ॥

*ऋतुदोषेण = ऋतुहेतुकशीतोष्णादीनामतियोगेन । विपर्ययेण = ऋतूचिताहारविहारवैपरीत्येन । त्वचमाश्रित्य=त्वचि, विस्फोटान्कुर्वन्तीत्यर्थः । ज्वरपुरःसरान्=ज्वरपूर्वान् ॥

कड़वे, खट्टे, तीक्ष्ण, उष्ण, दाहकारक, रूक्ष तथा क्षार पदार्थोंको खाने से, अजीर्ण से, अध्यशन (भोजन पर भोजन करने) से, धूप का सेवन करने से और ऋतुदोष अर्थात् ऋतुओं में होनेवाले शीत तथा उष्णता के अतियोग से तथा ऋतूचित आहार तथा विहार की विपरीतता से वातादि दोष प्रकुपित होते हैं। तत्पश्चात् ये प्रकुपित हुए वातादि दोष रक्त, मांस तथा अस्थि को दूषित करके ज्वर को उत्पन्न करके सब प्रकार के घोर विस्फोटों को उत्पन्न करते हैं ॥ १-२ ॥

विस्फोटकसामान्यलक्षणमाह—

अग्निदग्धा इव स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्तजाः । क्वचित्सर्वत्र वा देहे विस्फोटा इति ते स्मृताः ॥

*रक्तपित्तजाः = एतेन सर्वेषु विस्फोटकेषु रक्तपित्तयोः प्रधानकारणत्वम्, यथा शूलेषु वातस्य, तथा वातानुगतिरपि बोद्धव्या । तथा च भोजः—

*यदा रक्तञ्च पित्तञ्च वातेनानुगतं त्वचि ।
अग्निदग्धनिभान्स्फोटान्कुरुतः सर्वदेहगान् ॥ १ ॥ इति ॥ ३ ॥

रक्त तथा पित्तदोष से उत्पन्न, ज्वरयुक्त तथा अग्नि से जले हुए के समान, इस प्रकार का स्फोट चाहे सम्पूर्ण शरीर में हो अथवा शरीर के किसी प्रदेशविशेष में हो, उसे विस्फोट कहते हैं।

जैसे सभी प्रकार के शूलों में वात की प्रधानता होती है, उसी प्रकार सब प्रकार के विस्फोटों में रक्त तथा पित्त की प्रधानता होती है। इसमें वात की भी अनुगति होती है अर्थात् सम्बन्ध होता है, ऐसा समझना चाहिए। जैसा कि भोज भी कहते हैं कि:—जब रक्त तथा पित्त वात से सम्बन्धित होते हैं, तब सम्पूर्ण शरीर की त्वचा में अग्निदग्ध के समान विस्फोटों को उत्पन्न करते हैं ॥ १ ॥ इति ॥

वातजविस्फोटकलक्षणमाह—

शिरोरुक् शूलभूयिष्ठं ज्वरतृट्पर्वभेदनम्। सकृष्णवर्णता चेति वातविस्फोटलक्षणम् ॥ ४ ॥

***शूलं=तोदरूपम् ॥ ४ ॥**

शिरःशूल विस्फोटों में सूई चुभाने के समान पीडा की अधिकता, ज्वर, पिपासा, सन्धियों का टूटना तथा कृष्णवर्णता ये सब वातज विस्फोट के लक्षण हैं ॥ ४ ॥

पित्तजविस्फोटकलक्षणमाह—

ज्वरदाहरुजापाकस्रावतृष्णासमन्वितम्। पीतलोहितवर्णञ्च पित्तविस्फोटलक्षणम् ॥ ५ ॥

ज्वर, दाह, पीडा, पाक, स्राव तथा पिपासा इनसे युक्त होना और वर्ण में पीला अथवा लाल होना—ये सब पैत्तिक विस्फोट के लक्षण होते हैं ॥ ५ ॥

कफजविस्फोटकलक्षणमाह—

छर्द्यरोचकजाड्यानि कण्डूकाठिन्यपाण्डुताः। यस्मिन्न रुक् चिरात्पाकः स विस्फोट कफात्मकः॥६

***जाड्यम्=जडत्वमङ्गानाम् ॥ ६ ॥**

जिस विस्फोट में वमन, अरुचि, अङ्गों की जड़ता, कण्डू, कठिनता तथा पाण्डुवर्णता—ये सब लक्षण मिलते हों और जिसमें पीडा न होती हो तथा पाक बहुत दिन में उत्पन्न होता हो, उसे कफज विस्फोट कहते हैं ॥ ६ ॥

कफपित्तजविस्फोटकलक्षणमाह—

कण्डूर्दाहो ज्वरश्छर्दिरेतैश्च कफपैत्तिकः ॥ ७ ॥

कण्डू, दाह, ज्वर तथा छर्दि यदि ये लक्षण मिलें तो उसे कफ तथा पित्त इन दो दोषोंसे उत्पन्न विस्फोट समझना चाहिए ॥ ७ ॥

वातपित्तजविस्फोटकलक्षणमाह—

वातपित्तकृतो यस्तु तत्र स्यात्तीव्रवेदना ॥ ८ ॥

जो विस्फोट वात तथा पित्त दोषों से उत्पन्न होता है, उसमें तीव्र वेदना होती है ॥ ८ ॥

कण्डूस्तैमित्यगुरुभिर्जानीयात्कफवातिकम् ॥ ९ ॥

यदि विस्फोट में कण्डू, शरीर का गीलापन तथा गुरुता—ये लक्षण मिलें तो उसे कफ तथा वातदोष से उत्पन्न हुआ समझना चाहिए ॥ ९ ॥

त्रिदोषजविस्फोटकलक्षणमाह—

मध्यनिम्नोन्नतान्तश्च कठिनः स्वल्पपाकवान्।

दाहरागतृषामोहच्छर्दिमूर्च्छारुजाज्वराः। प्रलापो वेपथुस्तन्द्रा सोऽसाध्यश्च त्रिदोषजः ॥१०॥

***मोहो=विपरीतं ज्ञानम्। मूर्च्छा=सर्वथा ज्ञानशून्यता ॥ १० ॥**

मध्य में नीचा, किनारों पर उभरा हुआ, कठिन, स्वल्प पाकवाला, दाह, रक्तिमा, पिपासा, मोह (विपरीतज्ञान), वमन, मूर्च्छा (सर्वथा ज्ञानशून्यता), वेदना, ज्वर, प्रलाप, कम्प तथा

तन्द्रा इन लक्षणों से युक्त हो तो उसे त्रिदोषज विस्फोट समझना चाहिए। यह विस्फोट असाध्य होता है ॥ १० ॥

रुधिरजन्यविस्फोटकलक्षणमाह—

वेदितव्याश्च रक्तेन पैत्तिकेन च हेतुना।
गुञ्जाफलसमा रक्ता रक्तस्रावा विदाहिनः। न ते सिद्धिं समायान्ति सिद्धैर्योगशतैरपि ॥११॥

*पैत्तिकेन हेतुना=पित्तस्य हेतुना कट्वादिना, रक्तपित्तस्य तुल्यत्वात्। सिद्धैर्योगशतैरपि ते सिद्धिं न समायान्ति ॥ ११ ॥

* जिन कटु इत्यादि पदार्थों के सेवन करने से पित्त का प्रकोप होता है, उन्हीं सब हेतुओं से रक्त भी प्रकुपित होता है। क्योंकि रक्त और पित्त समान होते हैं। इस प्रकार जो प्रकुपित रक्त से उत्पन्न हुए विस्फोट गुञ्जाफल के समान लाल, रक्तवर्ण के स्राव से युक्त तथा दाह को उत्पन्न करनेवाले होते हैं; ये विस्फोट सैंकड़ों सिद्ध योगों के प्रयोग से भी ठीक नहीं होते अर्थात् असाध्य हैं॥

विस्फोटकभेदानाह—

एते चाष्टविधा बाह्या आन्तरोऽपि भवेदयम्। तस्मिन्नन्तर्व्यथातीव्रा ज्वरयुक्ताऽभिजायते॥
यस्मिन्बहिर्गते स्वास्थ्यं न वा तस्य बहिर्गतिः। तत्र वातिकविस्फोटक्रिया कार्या विजानता॥

इस प्रकार बाहर होनेवाले ये विस्फोट ८ प्रकार के होते हैं। जैसे बाहर विस्फोट होते हैं, उसी तरह एक प्रकार का विस्फोट भीतर भी उत्पन्न होता है। जब यह विस्फोट उत्पन्न होता है तो भीतर तीव्र व्यथा होती है और ज्वर भी बना रहता है। यदि यह विस्फोट बाहर निकल आता है तो रोगी स्वस्थ हो जाता है। और यदि बाहर न निकला हो तो वैद्य को चाहिए कि उसकी चिकित्सा वातिक विस्फोट के समान करे ॥ १२–१३ ॥

विस्फोटकोपद्रवानाह—

तृट्श्वासमांससङ्कोथदाहहिक्कामदज्वराः। विसर्पमर्मसंरोधास्तेषामुक्ता उपद्रवाः ॥ १४ ॥

*मांससङ्कोथः=मांसस्य शटितत्वम्। मर्मसंरोधो=मर्मव्यथा ॥ १४ ॥

तेषां विस्फोटानामुपद्रवाणां लक्षणान्तरं केचित्पठन्ति।

तद्यथा—

हिक्का श्वासोऽरुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दा हृदि व्यथा। विसर्पज्वरहृल्लासा विस्फोटानामुपद्रवाः॥१५

पिपासा, श्वास, मांस का कोथ अर्थात् सड़ना, दाह, हिक्का, मद, ज्वर, विसर्प तथा मर्मस्थलों में पीड़ा—ये सब विस्फोटकों के उपद्रव होते हैं। और कुछ आचार्य विस्फोटकों के उपद्रवों को लक्षणान्तरों से कहते हैं:—हिक्का, श्वास, अरुचि, पिपासा, अङ्गों का टूटना, हृदय में पीडा, विसर्प, ज्वर तथा हृल्लास ये सब विस्फोटकों के उपद्रव होते हैं ॥ १४–१५ ॥

विस्फोटकस्य साध्यत्वादिकमाह—

एकदोषो स्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः। सर्वरूपान्वितो घोरो ह्यसाध्यो भूर्युपद्रवः॥

एक दोष से उत्पन्न होनेवाला विस्फोट साध्य, दो दोषों से उत्पन्न होनेवाला कष्टसाध्य तथा जिस विस्फोट में तीनों दोषों के लक्षण मिलें और अनेक उपद्रवों से युक्त हो, वह घोर तथा असाध्य होता है ॥ १६ ॥

विस्फोटकचिकित्सामाह—

विस्फोटे लङ्घनं कार्यं वमनं पथ्यभोजनम्। यथादोषबलं वीक्ष्य युक्तमुक्तं विरेचनम्॥१७॥

विस्फोटक में दोष तथा बल का विचार करके लङ्घन, वमन तथा पथ्य भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए। तथा इस रोग में विरेचन का कराना भी प्रशस्त माना गया है ॥ १७ ॥

जीर्णशालियवा मुद्गा मसूराश्चाढकी तथा। एतान्यन्नानि विस्फोटे हितानि मुनयोऽब्रुवन्॥

पुराने शालि चावल तथा यव, मूँग, मसूर और अरहर इन अन्नों को विस्फोटक रोग में मुनियों ने हितकर बतलाया है ॥ १८ ॥

द्वे पञ्चमूल्यौ रास्ना च दार्व्युशीरं दुरालभा।
गुडूची धान्यकं मुस्तमेषां क्वाथं पिबेन्नरः। विस्फोटान्नाशयन्त्याशु समीरणनिमित्तकान्॥

दोनों पञ्चमूल (बृहत्पञ्चमूल, लघु पञ्चमूल), रास्ना, दारुहल्दी, खस, जवासा, गुडूची, धनिया तथा नागरमोथा—इन ओषधियों के क्वाथ को पीने से वातजन्य विस्फोट शीघ्र ही नष्ट होजाते हैं॥

द्राक्षाकाश्मर्यखर्जूरपटोलारिष्टवासकैः। कटुकालाजदुःस्पर्शैः सितायुक्तं तु पैत्तिके॥ २०॥

किसमिस, काश्मरी, खजूर, परवल के पत्ते, नीम की छाल, अडूसा, कुटकी, धान की खील और जवासा इन ओषधियों के क्वाथ में मिश्री मिलाकर पीने से पैत्तिक विस्फोट नष्ट हो जाते हैं॥२०॥

भूनिम्बसवचावासात्रिफलेन्द्रजवत्सकैः। पिचुमर्दपटोलाभ्यां कफजे मधुयुक्शृतम्॥ २१॥

चिरायता, वच, अडूसा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, इन्द्रजौ, कुड़े की छाल, नीम तथा परवल के पत्ते इन ओषधियों के क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से कफजन्य विस्फोट दूर हो जाता है॥ २१॥

किराततिक्तकादिद्वादशाङ्गक्वाथमाह—

किराततिक्तकारिष्टयष्ट्याह्वाम्बुदवासकैः।
पटोलपर्पटोशीरत्रिफलाकौटजान्वितैः। क्वथितैर्द्वादशाङ्गन्तु सर्वविस्फोटनाशनम्॥ २२॥

चिरायता, नीम की छाल, मुलेठी, नागरमोथा, अडूसा, परवल के पत्ते, पित्तपापड़ा, खस, हरड़, बहेड़ा, आँवला तथा इन्द्रजौ इन बारह ओषधियों के द्वारा बनाये गये क्वाथ को 'द्वादशाङ्ग क्वाथ' कहते हैं। इस क्वाथ को पीने से सब प्रकार के विस्फोट नष्ट हो जाते हैं॥ २२॥

विस्फोटव्याधिनाशाय तण्डुलाम्बुप्रपेषितैः। बीजैः कुटजवृक्षस्य लेपः कार्यो विजानता॥

विद्वान् वैद्य को चाहिए कि विस्फोट व्याधि को नाश करने के लिए इन्द्रजौ को चावल के पानी से पीसकर प्रलेप कराये॥ २३॥

छिन्नापटोलभूनिम्बवासकारिष्टपर्पटैः। खदिराब्दयुतैः क्वाथो हन्ति विस्फोटकज्वरम्॥२४॥

गुडूची, परवल के पत्ते, चिरायता, अडूसा की छाल, नीम की छाल, पित्तपापड़ा, खैर तथा नागरमोथा इन ओषधियों के क्वाथ को पीने से विस्फोटक ज्वर नष्ट हो जाता है॥ २४॥

चन्दनं नागपुष्पञ्च सारिवा तण्डुलीयकम्। शिरीषवल्कलं जातीलेपः स्याद्दाहनाशनः॥२५॥

रक्तचन्दन, नागकेशर, सारिवा, चौलाई, सिरसा की छाल तथा चमेली की पत्तियाँ इन सब ओषधियों को पीसकर प्रलेप करने से विस्फोटजन्य दाह नष्ट होता है॥ २५॥

उत्पलं चन्दनं लोध्रमुशीरं सारिवाद्वयम्। जलपिष्टेन लेपेन स्फोटदाहार्त्तिनाशनम्॥ २६॥

कमल, लालचन्दन, लोध, खस तथा दोनों सारिवा–इन सबको जल के साथ पीस कर प्रलेप करनेसे विस्फोटक-सम्बन्धी दाहजन्य वेदना नष्ट हो जाती है॥ २६॥

पुत्रजीवस्य मज्जानं जले पिष्ट्वा प्रलेपयेत्। कालस्फोटं च विस्फोटं सद्यो हन्ति सवेदनम्॥

पुत्रजीवक (जियापोता) नामक ओषधि की मींगी को जल में पीसकर प्रलेप करने से कृष्णवर्ण के स्फोट तथा अन्य प्रकार के विस्फोट और उनकी वेदना तत्काल नष्ट हो जाती है॥२७॥

कक्षग्रन्थिं गलग्रन्थिं कर्णग्रन्थिञ्च नाशयेत्। हन्याच्च स्फोटकं ताम्रं पुत्रजीवो विनाशयेत्॥

इत्यष्टपञ्चाशत्तमो विस्फोटकाधिकारः समाप्तः॥ ५८॥

पुत्रजीव (जियापोता) नामक ओषधि को पीसकर प्रलेप करने से कक्षा प्रदेश में उत्पन्न हुई ग्रन्थि, गले की ग्रन्थि, कान की ग्रन्थि तथा ताम्रवर्ण वाले विस्फोट नष्ट हो जाते हैं॥ २८॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी'नामिकायां भाषाटीकायां
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणेऽष्टपञ्चाशत्तमो विस्फोटकाधिकारः समाप्तः॥ ५८॥

अथैकोनषष्टितमः फिरङ्गरोगाधिकारः ॥ ५९ ॥

तत्र फिरङ्गशब्दस्य निरुक्तिमाह—

फिरङ्गसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्भवेत्। तस्मात्फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः ॥ १ ॥

यह रोग फिरङ्ग नामक देश में अधिकता से होता है। इसलिए इसे व्याधिविशारदों ने [1]'फिरङ्गरोग' कहा है ॥ १ ॥

---

१. फिरङ्गरोग को पाश्चात्त्य वैद्यक में सिफिलिस (Syphilis) कहते हैं।

हेतु—इस रोग का कारण स्पैरोकीटा पालिडा (Spirochoete Pallido or Freponema Pallidum) नामक जीवाणु है। यह अत्यन्त चञ्चल होता है, जो अपने स्थान पर हिलता रहता है। तथा अत्यन्त कोमल होने के कारण शरीर के बाहर सूखने से और अत्यन्त सौम्य जीवाणुनाशक द्रव्यों से जल्दी मर जाता है।

संक्रमण—इस जीवाणु का संक्रमण कई प्रकार से होता है।

१—मैथुन फिरङ्ग-जीवाणु से उपसृष्ट पुरुष या स्त्री के साथ मैथुन करने से संक्रमण स्वस्थ मनुष्य पर होता है। मैथुन की रगड़ से जननेन्द्रिय की श्लेष्मल त्वचा पर जो सूक्ष्म क्षत बनते हैं, उनमें से जीवाणु शरीर में प्रवेश करता है। संक्रमण का यह प्रधान मार्ग है, जो ,९०-९५ प्रतिशत रोगियों में मिलता है और इसी कारण फिरङ्ग मैथुनजन्य (Venlreal) रोग कहलाता है। मैथुनजन्य व्याधि होने पर भी संक्रमणार्थ पुरुष के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके शिश्न पर फिरङ्गजन्य व्रण या स्फोट हो। उसके शुक्र के भीतर फिरङ्ग के जीवाणु होते हैं, जो स्वस्थ स्त्री को उपसर्ग पहुँचा सकते हैं। साधारणतया फिरङ्गोपसृष्ट होने के दो साल पश्चात् फिरङ्गी पुरुष से रोगका संक्रमण होने की सम्भावना पूर्णतया नष्ट हो जाती है। फिरङ्गोपसृष्ट स्त्री में यह संक्रमणकाल पुरुष की अपेक्षा अधिक होता है।

२—गात्रसंस्पर्श–जननेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य अङ्गों का फिरङ्गदूषित स्थानों से सम्बन्ध होने पर इसका उपसर्ग ५-१० प्रतिशत रोगियों में होता है। और इनमें वैद्य, डाक्टर, नर्स, परिचारक तथा दाई इनकी अधिकता होती है। इस मार्ग को बहिर्जननेन्द्रिय (Extra Genital) मार्ग कहते हैं।

३—माता—गर्भावस्था में माता के द्वारा फिरङ्ग का संक्रमण बालक में होता है। यह संक्रमण प्रायः गर्भावस्था के उत्तरार्द्ध (Second half) में होता है। फिरङ्गोपसृष्ट स्त्री बहुत वर्ष तक अपने गर्भ को फिरङ्ग का उपसर्ग पहुँचा सकती है। पुरुष के समान उसमें २ से ५ साल की मर्यादा पर्याप्त नहीं होती। प्रथम दो मार्गों से संक्रमण होने पर जो रोग उत्पन्न होता है, वह स्वकृत (Acquired) कहलाता है और तीसरे मार्ग से जो रोग उत्पन्न होता है, वह सहज (Congenital) कहलाता है।

रोग की ४ अवस्थाएँ:—

प्रथमावस्था—मैथुन से दो से छः सप्ताह के बीच में (साधारणतया तीसरे सप्ताह में) जननेन्द्रिय पर एक छोटा-सा दाना पड़ जाता है। पुरुषों में प्रायः यह दाना शिश्नमणि पर या उसकी त्वचा के भीतर अङ्गपर होता है और स्त्रियों में बृहद् भगोष्ठ के भीतरी अङ्गपर होता है। कभी-कभी फिरङ्ग का विष लग जाने से होठ, स्तन, अङ्गुलियाँ तथा जीभ इत्यादि जननेन्द्रियेतर अङ्गों पर भी दाना पड़ जाता है। धीरे-धीरे बढ़कर यह दाना फूट जाता है और व्रण बनता है। टटोलने से यह व्रण कठिन प्रतीत होता है, इसीलिए इसको कठिनव्रण (Hard chancre) भी कहते हैं। इससे न रक्त बहता है, न पूय बहती है और न पीड़ा होती है। केवल लसिका का कुछ स्राव होता है, जिसमें रोग के जीवाणु उपस्थित होते हैं। व्रण प्रायः एकही होता है। विषैला स्राव लगने पर भी और व्रण प्रायः उत्पन्न नहीं होते। व्रण होने के एक से दो सप्ताह के पीछे वंक्षण की लसिका-

फिरङ्गस्य विप्रकृष्टनिदानमाह—

गन्धरोगः फिरङ्गोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम्। फिरङ्गिणोऽङ्गसंसर्गात्फिरङ्गिण्याः प्रसङ्गतः ॥२॥

ग्रन्थियाँ बढ़कर बन्दूक की गोली की भाँति सख्त होती हैं। वे ग्रन्थियाँ न आपस में संसक्त होती हैं, न पीड़ा देती हैं और न पकती हैं। इस अवस्था में रोग का विष स्थानिक होता है।

द्वितीयावस्था—इस अवस्था में रोग का विष समस्त शरीर में पहुँचकर विविध अङ्गों में विकार उत्पन्न करता है, व्रण होने के तीसरे या चौथे सप्ताह के बाद बाह्यत्वचा पर दाने निकलते हैं।

इनकी निम्न विशेषताएँ होती हैं—

१—वर्ण, आकार और परिमाण में ये एक-से नहीं होते।

२—शरीर के दोनों ओर समान स्थानों पर निकलते हैं।

३—नष्ट होने पर इनके स्थान में कुछ समय तक ताम्रवर्ण या मांसवर्ण के लाल धब्बे होते हैं।

४—इनमें खाज बहुधा नहीं होती।

बाह्यत्वचा की भाँति ओष्ठ, जीभ, तालु तथा गाल—इनकी श्लेष्मल कला पर छाले पड़ते हैं। ये छाले गोल, सर्पाकार, राख के-से रंगवाले, बिल्कुल साफ कटे हुए किनारेवाले और उत्तान होते हैं। जहाँ त्वचा हमेशा गीली रहती है एवं जहाँ श्लेष्मल तथा बाह्यत्वचाएँ मिलती हैं (जैसे—मलद्वार, भग और ओष्ठ के किनारे इत्यादि), वहाँ चौड़े-चौड़े मस्से (अर्श) के रूप में दाने निकल आते हैं। जंघा से अतिरिक्त और भागों की, विशेष करके ग्रीवा, कोहनी तथा कक्षा इत्यादि की लसिका-ग्रन्थियाँ बढ़कर सख्त होती हैं।

इन खास लक्षणों के अतिरिक्त रोगी को ज्वर आता है, सिर में दर्द होता है, बाल गिरने लगते हैं, जोड़ों में तथा हड्डियों में प्रायः रात में दर्द होता है, रक्त की कमी होकर पाण्डुता और दौर्बल्य हो जाता है, कनीनिकाका प्रकोप होता है। आँखें दुखनी हैं और दृष्टि घट जाती है।

तृतीयावस्था—यह अवस्था कभी-कभी व्रण के बाद छः मास में भी प्रारम्भ होती है; परन्तु साधारणतया दो-तीन साल बाद होती है। इस अवस्था में त्वचा, उपत्वचा, लसिकाग्रन्थियाँ, पेशियाँ, अस्थ्यावरण, मस्तिष्कावरण, यकृत्, प्लीहा तथा वृषणग्रन्थि इत्यादि शरीर के विविध भागों में ग्रन्थियाँ बनने लगती हैं, जो गमा (Gumma) कहलाती हैं। ये ग्रन्थियाँ गाँठदार और चपटी होती हैं। धीरे-धीरे गमा सड़कर फोड़े की तरह फूट जाती और उनसे गोंद के समान स्राव निकलता है। त्वचा में होने से गहरे व्रण बन जाते हैं। नाक में होने से नाक बैठ जाती है, तालु में होने से वहाँ छिद्र हो जाता है और फिर खाना-पीना मुश्किल हो जाता है। मस्तिष्क और सुषुम्ना में होने से पक्षाघात, पङ्गुत्व इत्यादि विकार होते हैं, कान, आँख में होने से सुनने तथा देखने की शक्ति नष्ट होती है। जिह्वा पर होने से जिह्वा फट जाती है और रक्तवाहिनियों में होने से उनकी दिवार मोटी होती है। उनकी लचक जाती रहती है, जिनके कारण रक्त का भार तथा वेग सहन करने में वे असमर्थ होती हैं, अतः कभी-कभी फट जाती हैं या उनके भीतर रक्त जम जाता है। मस्तिष्क की वाहिनियों में यह विकार होने से अङ्गघात तथा पक्षाघात इत्यादि अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चतुर्थावस्था—इस अवस्था में मस्तिष्क-संस्थान पर विशेष असर पड़ता है।

इस अवस्था के दो विशेष रोग होते हैं—

१—जनरल पेरेलाइसिस आफ दी इनसेन (General Paralysis of the insane) तथा २—लोकोमोटर एटेक्सिआ या टेबस् डारसेलिस (Locomotor ataxia or tabes Dorsalis)।

व्याधिरागन्तुजो ह्येष दोषाणामत्र सङ्क्रमः। भवेत्तं लक्षयेत्तेषां लक्षणैर्भिषजां वरः॥ ३॥
*फिरङ्गिण्याः प्रसङ्गत इति विशेषपाठार्थम्॥ २-३॥

प्रथम रोग से रोगी को एक प्रकार का पागलपन हो जाता है। दूसरे से रोगी चलने-फिरने में लाचार हो जाता है और चलते समय लड़खड़ा कर चलता है।

फिरङ्ग के विष का मस्तिष्क-संस्थान पर प्रभाव आक्रमण के बाद तीन महीनों के भीतर भी हो सकता है या पचीस-तीस वर्षों के पश्चात् भी हो सकता है। ये अवस्थाएँ उपेक्ष्यमाण रोगी की हैं। यदि प्रारम्भ में अचूक ओषधियों से योग्य चिकित्सा की जाय, तो रोग न बढ़कर निर्मूल हो जाय।

कुलजफिरङ्ग—फिरङ्ग ऐसी घोर व्याधि है कि जो न केवल पीड़ित व्यक्ति को ही हानि पहुँचाती है, अपितु उसकी भावी सन्तान को भी सताती है।

साक्षेप रोगनिश्चिति—फिरङ्ग और उपदंश दोनों विकार दूषित मैथुन के पश्चात् जननेन्द्रिय पर व्रण या स्फोट के रूप में प्रकट होते हैं। दोनों की चिकित्सा अलग होती है, अत एव इनको आपस में पृथक् करना बहुत आवश्यक है। अतः दोनों के विश्लेषक लक्षण नीचे कोष्ठक में दिये जाते हैं—

उपदंश व्रण	फिरङ्गज व्रण
१—मैथुन के पश्चात् तीसरे या चौथे दिन दाना उत्पन्न होता है।	१—मैथुन के पश्चात् प्रायः तीसरे सप्ताह में दाना उत्पन्न होता है।
२—साधारणतया अनेक दाने होते हैं।	२—साधारणतया एक ही दाना होता है।
३—टटोलने से मृदु प्रतीत होता है।	३—तरुणास्थि के पीछे कठिन प्रतीत होता है।
४—उसमें दाह होता है तथा प्रचुर पूय और लसिका इत्यादि बहते हैं।	४—दाह नहीं होता तथा उससे लसिका के अतिरिक्त कुछ भी नहीं निकलता।
५—व्रण के किनारे साफ कटे हुए, भीतर से कुछ पोले और व्रण के तल से कुछ ऊँचे हो जाते हैं।	५—किनारे न साफ होते हैं, न पोले होते हैं और न तल से ऊँचे होते हैं।
६—अत्यन्त पीड़ायुक्त।	६—पीड़ारहित।
७—सूक्ष्मदर्शक से व्रणस्राव की परीक्षा करने पर ड्यूक्रे का जीवाणु मिलता है।	७—ट्रिपोनेमापालिडम नामक पेचदार जीवाणु मिलता है।
८—व्रणस्राव से अन्यस्थान पर त्वचा में सुई प्रविष्ट करने के समान व्रण पैदा होता है।	८—स्राव प्रविष्ट करने से समान व्रण पैदा नहीं होता है।
९—व्रण की ओर की जंघा की ग्रन्थियाँ फूलती हैं। वह मृदु, पकनेवाली और अत्यन्त वेदना युक्त होती हैं।	९—दोनों ओर की ग्रन्थियाँ फूलती हैं। वे कठिन, न पकनेवाली और वेदनारहित होती हैं।
१०—चिकित्सा न होने से व्रण अधिक बढ़कर स्थानिक धातुओं का नाश होता है, परन्तु सार्वदैहिक लक्षण प्रायः नहीं उत्पन्न होते।	१०—चिकित्सा न करने से भी स्थानिक विकृति नहीं बढ़ती, परन्तु विष सर्व शरीर में फैलकर सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न होते हैं।

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कभी-कभी फिरङ्ग के साथ उपदंश का तथा उपदंश के साथ फिरङ्ग का उपसर्ग हो सकता है। इसलिए व्रण में मिश्र स्वरूप के लक्षण मिलने पर भी व्यामोह उत्पन्न होने की आवश्यकता नहीं है। लक्षणों की खूब छान-बीन करने से तथा व्रणस्राव की सूक्ष्मदर्शक की सहायता से परीक्षा करने से रोग-निश्चिति हो सकती है।

यह फिरङ्गरोग गन्ध से उत्पन्न होनेवाला रोग है। यह रोग फिरङ्गदेश के मनुष्यों के अङ्ग-संसर्ग तथा फिरङ्गदेश की युवतियों के साथ प्रसङ्ग करने से उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह रोग आगन्तुक रोग है और इसमें दोषों का संक्रमण पश्चात् होता है। उत्तम वैद्य को चाहिए कि वह लक्षणों से दोषों की पहचान कर ले।

श्लोक में जो 'फिरङ्गिण्याः प्रसङ्गतः' यह वाक्य लिखा गया है, वह विशेषता प्रकट करने के लिए लिखा गया है अर्थात् फिरङ्गिणियों के साथ प्रसङ्ग करने से यह रोग विशेष होता है ॥ २-३ ॥

फिरङ्गरोगरूपमाह—

फिरङ्गस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्य आभ्यन्तरस्तथा। बहिरन्तर्भवश्चापि तेषां लिङ्गानि च ब्रुवे ॥४॥
तत्र बाह्यः फिरङ्गः स्याद्विस्फोटसदृशोऽल्परुक्। स्फुटितो व्रणवद्वेद्यः सुखसाध्योऽपि स स्मृतः॥
सन्धिष्वाभ्यन्तरः स स्यादामवात इव व्यथाम्। शोथञ्च जनयेदेष कष्टसाध्यो बुधैः स्मृतः॥

यह फिरङ्ग रोग १—बाह्य, २—आभ्यन्तर और ३—बहिरन्तर्भव (बाहर तथा भीतर दोनों स्थान पर होनेवाला) इन भेदों से ३ प्रकार का होता है। अब इनके लक्षणों को कहता हूँ—

उपर्युक्त तीनों प्रकार के फिरङ्गों में जो बाह्य फिरङ्ग होता है, वह विस्फोट के समान होता है, पीड़ा कम होती है तथा व्रण के समान फूटता है। यह बाह्य फिरङ्ग सुखसाध्य बतलाया गया है।

आभ्यन्तर फिरङ्ग सन्धियों में होता है। इसमें आमवात के समान व्यथा होती है। और यह शोथ को भी उत्पन्न करता है। विद्वान् वैद्यों ने इस आभ्यन्तर फिरङ्ग को कष्टसाध्य बतलाया है॥

फिरङ्गस्योपद्रवानाह—

कार्श्यं बलक्षयो नासाभङ्गो वह्नेश्च मन्दता। अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरङ्गोपद्रवा अमी॥

कृशता, बलक्षय, नासाभङ्ग (नाक का बैठना), अग्निमान्द्य, अस्थिशोष तथा अस्थियों का टेढ़ा होना ये सब फिरङ्ग रोग के उपद्रव हैं ॥ ७ ॥

फिरङ्गस्य साध्यत्वादिकमाह—

बहिर्भवो भवेत्साध्यो नवीनो निरुपद्रवः। आभ्यन्तरस्तु कष्टेन साध्यः स्यादयमामयः॥
बहिरन्तर्भवो जीर्णः क्षीणस्योपद्रवैर्युतः। व्याप्तो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहुर्मुनयः पुरा ॥९॥

बाहर उत्पन्न हुआ, नवीन तथा उपद्रवरहित फिरङ्ग रोग साध्य, आभ्यन्तर फिरङ्ग कष्टसाध्य और यदि फिरङ्ग बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का हो, पुराना हो, दुर्बल मनुष्य को हुआ हो, उपद्रवों से युक्त हो तथा सारे शरीर में व्याप्त हो तो असाध्य होता है, ऐसा प्राचीन काल के मुनियों ने कहा है ॥ ८-९ ॥

अथ फिरङ्गरोगस्य चिकित्सा।

तत्र कर्पूररसमाह—

फिरङ्गसंज्ञकं रोगं रसः कर्पूरसंज्ञकः। अवश्यं नाशयेदेतदूचुः पूर्वचिकित्सकाः ॥ १० ॥
लिख्यते रसकर्पूरप्राशने विधिरुत्तमः। अनेन विधिना खादेन्मुखे शोथं न विन्दति ॥ ११ ॥
गोधूमचूर्णं सन्नीय विदध्यात्सूक्ष्मकूपिकाम्। तन्मध्ये निक्षिपेत्सूतं चतुर्गुञ्जामितं भिषक्॥
ततस्तु गुटिकां कुर्याद्यथा न दृश्यते बहिः। सूक्ष्मचूर्णे लवङ्गस्य तां वटीमवधूलयेत् ॥ १३॥
दन्तस्पर्शो यथा न स्यात्तथा तामम्भसा गिलेत्। ताम्बूलं भक्षयेत्पश्चाच्छाकाम्ललवणांस्त्यजेत्।
श्रमम्नातपमध्वानं विशेषात्स्त्रीनिषेवणम् ॥ १४ ॥

यद्यपि फिरङ्ग रोग का पाश्चात्त्य वैद्यक में बहुत बड़ा साहित्य है, तथापि संक्षेप में ऊपर सबका दिग्दर्शन करा दिया गया है। अपने यहाँ प्राचीन संहिताओं में फिरङ्ग रोग का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता, केवल इसी प्रस्तुत भावप्रकाश में ही इसका वर्णन मिलता है। यदि आप समन्वय का दृष्टि से देखेंगे, तो दोनों विवरण ठीक एक ही समान मिलेंगे।

रसकर्पूर फिरङ्ग नामक रोग को अवश्य नष्ट कर देता है, ऐसा प्राचीन वैद्यों ने कहा है। अब रसकर्पूर खानेकी उत्तम विधि को लिखते हैं। इस विधि से खाने से मुँह में शोथ नहीं उत्पन्न होता।

विधि—गेहूँ के आटे को सानकर छोटी-छोटी कूपियाँ बना ले। फिर वैद्य इन कूपियों में चार-चार रत्ती रसकर्पूर को डालकर गोलियाँ बना ले। जिससे कि रसकर्पूर बाहर न दिखलाई पड़े। और फिर इन गोलियों को लौंग के सूक्ष्म चूर्ण में लपेट ले। तत्पश्चात् इस गोली को पानी के साथ इस प्रकार निगले कि वटी दाँत का स्पर्श न कर सके। इस गोली को खाने के बाद पान खाना चाहिए। रसकर्पूर का सेवन करनेवाला मनुष्य शाक, अम्ल तथा नमकीन पदार्थ, परिश्रम, धूप, मार्ग का चलना तथा विशेषतः स्त्रीप्रसङ्ग इन सबका परित्याग कर दे॥ १०–१४॥

सप्तशालिवटीमाह—

पारदष्टङ्कमानः स्यात्खदिरष्टङ्कसंमितः। आकारकरभश्चापि ग्राह्यष्टङ्कद्वयोन्मितः॥ १५॥
टङ्कत्रयोन्मितं क्षौद्रं खल्वे सर्वं विनिक्षिपेत्। संमर्द्य तस्य सर्वस्य कुर्यात्सप्तवटीर्भिषक्॥१६॥
स रोगी भक्षयेत्प्रातरेकैकामम्बुना वटीम्। वर्जयेदम्ललवणं फिरङ्गस्तस्य नश्यति॥ १७॥

पारद १ टंक (२४ रत्ती), खैर १ टङ्क (२४ र०), अकरकरा २ टंक (४८ र०) और मधु ३ टङ्क (७२ र०) वैद्य इन सबको खरल में डालकर अच्छी तरह मर्दन करके ७ गोलियाँ बना ले। फिर इस 'सप्तशालि' नामक वटी को १–१ गोली की मात्रा में प्रातःकाल रोगी खावे और अम्ल तथा नमकीन पदार्थोंका सेवन करना छोड़ दे, तो फिरङ्ग रोग नष्ट हो जाता है॥ १५–१७॥

धूमप्रयोगमाह—

पारदः कर्षमात्रः स्यात्तावानेव हि गन्धकः। तण्डुलाश्चाक्षमात्राः स्युरेषां कुर्वीत कज्जलीम्॥
तस्याः सप्त वटीः कुर्यात्ताभिर्धूमं प्रयोजयेत्। दिनानि सप्त तेन स्यात्फिरङ्गान्तो न संशयः॥१९॥

पारद १ तोला, गन्धक १ तोला तथा चावल १ तोला इनकी कज्जली बनाकर ७ गोलियाँ बनाले। इन गोलियों का धुआँ पीने से फिरङ्ग रोग नष्ट हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं॥

पीतपुष्पबलापत्ररसैष्टङ्कमितं रसम्। हस्ताभ्यां मर्दयेत्तावद्यावत्सूतो न दृश्यते॥ २०॥
ततः संस्वेदयेद्धस्तावेवं वासरसप्तकम्। त्यजेल्लवणमम्लञ्च फिरङ्गस्तस्य नश्यति॥ २१॥

१ टंक (२४ रत्ती) पारद को पीले फूलवाली खिरेंटी के रसके साथ दोनों हाथों से तब तक मले, जब तक पारद का दिखलाई देना बन्द न हो जाय। इसके बाद हाथों को अग्नि में सेंक ले। इस प्रकार यह क्रिया ७ दिन तक करता रहे और नमकीन तथा खट्टे पदार्थों का सेवन करना त्याग दे तो फिरङ्ग रोग नष्ट हो जाता है॥ २०–२१॥

चूर्णयेन्निम्बपत्राणि पथ्या निम्बाष्टमांशिका। धात्री च तावती रात्रिर्निम्बषोडशभागिका॥२२॥
शाणमानमिदं चूर्णमश्नीयादम्भसा सह। फिरङ्गं नाशयत्येव बाह्यमाभ्यन्तरं तथा॥ २३॥

नीम के पत्तों का चूर्ण बनाकर उसमें अष्टमांश हरड़ का चूर्ण, अष्टमांश आँवलों का चूर्ण तथा षोडशांश हल्दी का चूर्ण मिलादे। फिर इस चूर्णको १ शाण (२४ र०) की मात्रा में जलके साथ खाये तो बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार का फिरङ्ग अवश्य नष्ट हो जाता है॥ २२–२३॥

चोपचीनीभवं चूर्णं शाणमानं समाक्षिकम्। फिरङ्गव्याधिनाशाय भक्षयेल्लवणं त्यजेत्॥२४॥
लवणं यदि वा त्यक्तुं न शक्नोति यदा जनः। सैन्धवं स हि भुञ्जीत मधुरं परमं हितम्॥२५॥

२४ रत्ती चोपचीनी के चूर्ण को मधु मिलाकर चाटने से तथा नमकीन पदार्थों का परित्याग करने से फिरङ्ग रोग नष्ट हो जाता है।

यदि मनुष्य नमक का परित्याग करने में असमर्थ हो तो सेंधानमक खाये, क्योंकि यह नमक मधुर तथा अत्यन्त हितकर होता है॥ २४–२५॥

पारदः कर्षमात्रः स्यात्तावन्मात्रं तु गन्धकम्। तावन्मात्रस्तु खदिरस्तेषां कुर्यात्तु कज्जलीम्॥

रानी केशरं त्रुट्यौ जीरयुग्मं यवानिका। चन्दनद्वितयं कृष्णा वांशी मांसी च पत्रकम् ॥२७॥
अर्द्धकर्षमितं सर्वं चूर्णयित्वा च निक्षिपेत् । तत्सर्वं मधुसर्पिर्भ्यां द्विपलाभ्यां पृथक्पृथक् ॥
मर्दयेदथ तत्खादेदर्द्धकर्षमितं नरः । व्रणः फिरङ्गरोगोत्थस्तस्यावश्यं विनश्यति ॥ २९ ॥
अन्योऽपि चिरजातोऽपि प्रशाम्यति महाव्रणः । एतद्भक्षयतः शोथो मुखस्यान्तर्न जायते ॥
वर्जयेदत्र लवणमेकविंशतिवासरान् ॥ ३१ ॥

इत्येकोनषष्टितमः फिरङ्गरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ५९ ॥

पारद १ तोला, गन्धक १ तोला तथा खैरसार १ तोला–इन सबको लेकर कज्जली बना ले। फिर इस कज्जली में हल्दी, नागकेशर, छोटी इलायची, बड़ी इलायची, स्याहजीरा, सफेदजीरा, अजवायन, सफेदचन्दन, लालचन्दन, पिप्पली, वंशलोचन, जटामांसी तथा तेजपात–इन सब ओषधियों के आधतोले चूर्ण को डाल दे। फिर इस समस्त चूर्ण को ८ तोले मधु तथा ८ तोले घी के साथ मिलाकर मर्दन करे। तत्पश्चात् इसमें से आधे तोले की मात्रा में ओषधि को मिलाकर रोगी सेवन करे तो उसका फिरङ्ग रोग से उत्पन्न व्रण अवश्य नष्ट हो जाता है। अन्य व्रण भी अच्छे हो जाते हैं। बहुत दिनों का पुराना महाव्रण भी नष्ट हो जाता है। इस ओषधि को खाने-वाले मनुष्य के मुख में शोथ नहीं उत्पन्न होता। इस ओषधि को सेवन करते समय २१ दिन तक नमक का परित्याग करना चाहिए ॥ २६–३१ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकोनषष्टितमः फिरङ्गरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ५९ ॥

अथ षष्टितमो मसूरिकाशीतलाऽधिकारः ॥ ६० ॥

तत्र मसूरिकाणां विप्रकृष्टसन्निकृष्टनिदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

कट्वम्ललवणक्षारविरुद्धाध्यशनाशनैः । दुष्टनिष्पावशाकाद्यैः प्रदुष्टपवनोदकैः ॥ १ ॥
क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे दोषाः समुद्धताः । जनयन्ति शरीरेऽस्मिन्दुष्टरक्तेन सङ्गताः ।
मसूराकृतिसंस्थानाः पिडकास्ता मसूरिकाः ॥ २ ॥

क्षारो=यवक्षारादिः । विरुद्धाध्यशनाशनैः=कट्वम्लादिविरुद्धान्नाशनैः । अथ च—अध्यशनाशनम्=अधिकमशनमध्यशनम् । दुष्टनिष्पावशाकाद्यैः=दुष्टैः, निष्पावशाकम्, आद्यशब्दान्मध्वालुकादि, तैः । प्रदुष्टपवनोदकैः सविषकुसुमादिसंसर्गात् । क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे-देशे क्रूरग्रहा राहुशनैश्चरादयस्तेषामीक्षणाद्=दृष्टेः, यस्मिन्देशे क्रूरग्रहदृष्टिस्तत्रापि मसूरिकोत्पत्तिरित्यर्थः । मसूराकृतिसंस्थानाः=मसूरस्य या आकृतिस्तद्वत्संस्थानमाकृतिर्यासां ताः ॥ १–२ ॥

चरपरे, खट्टे, नमकीन तथा जवाखार इत्यादि क्षार पदार्थों को खाने से, विरुद्धाहार-सेवन करने से, भोजन पर भोजन करने से दूषित निष्पाव, बोड़ा, मधु तथा आलू इत्यादि शाकों को खाने से, विषैले पुष्प इत्यादि के सम्पर्क से दूषित वायु तथा जल के सम्बन्ध से और देश में राहु तथा शनि इत्यादि क्रूरग्रहों की दृष्टि से वातादि दोष कुपित होकर दूषित रक्त के साथ मिलकर शरीर में मसूर के समान आकारवाली फुन्सियों को उत्पन्न कर देते हैं, उन्हें [1]मसूरिका कहते हैं ॥ १–२ ॥

१. मसूरिका को अंग्रेजी में स्मालपाक्स या वेरीओला (Small Pox or variola) कहते हैं।

मसूरिकापूर्वरूपमाह—

तासां पूर्वं ज्वरः कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरतिर्भ्रमः। त्वचि शोथः सवैवर्ण्यो नेत्ररागस्तथैव च॥

हेतु—इस रोग का कारण निष्यन्दशील जीवाणु है। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि इस रोग के कारणभूत सूक्ष्मदर्शक से देखे जा सकनेवाले जीवाणु हैं। परन्तु इस विषय में अब तक कोई ठीक निर्णय नहीं हुआ है।

सहायक कारण—टीका से या पूर्व आक्रमण से जिसकी रक्षा नहीं हुई है, ऐसा कोई व्यक्ति उपसर्ग होने पर इससे नहीं बच सकता। संसार भर में कोई व्यक्ति मसूरिका के लिए सहज क्षम नहीं होता है। औपसर्गिक रोगों में मसूरिका ही एक ऐसा रोग है, जो देश, काल, लिङ्ग, वय, व्यवसाय, वंश तथा जाति की कोई अपेक्षा न करता हुआ प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर अपना अधिकार जमाता है। तथापि इसकी कुछ विशेषताएँ भी होती हैं।

आयु—मसूरिका बचपन में अधिक हुआ करती है। जन्म से चार साल की उम्र तक अधिक होती है। गर्भवती स्त्री को होने से गर्भ को भी होती है। आजकल बचपन में टीका का प्रयोग होने के कारण जवानों में भी यह काफी दिखाई देती है।

देश—यह रोग संसार के सभी देशों में पाया जाता है, परन्तु इस समय हमारे देश में मसूरिका का सबसे बड़ा केन्द्र है।

ऋतु और जलवायु—गरम, शुष्क तथा धूलियुक्त हवा इसके लिए अनुकूल होती है, अतः भारतवर्ष में मसूरिका जनवरी से जून तक गर्मी के मौसम में अधिक होती है। जब वायु-मण्डल में गर्मी के साथ आर्द्रता भी बढ़ती है, तब मसूरिका कम हो जाती है; क्योंकि सार्द्र उष्णता मसूरिका-विरोधी है। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष ५०००० के लगभग मनुष्यों की मृत्यु मसूरिका से होती है।

मकरचक्र—मसूरिका की महामारी प्रतिवर्ष गर्मियों में आती है, परन्तु यह देखा गया है कि प्रत्येक ५-६ साल के बाद इसका एक अधिक व्यापक और अधिक घातक आक्रमण होता है। इस तरह मरक की लहरें आती हैं। व्यापक आक्रमण के समय डर के मारे टीका का अधिक उपयोग करने से तथा रोग की निर्मुक्तक्षमता होने से मसूरिका कम होती है, परन्तु आगे टीका का प्रयोग कम होने से तथा नई प्रजा उत्पन्न होने से एक काल ऐसा आता है कि जिस समय जनता में अरक्षित मनुष्यों की काफी संख्या होती है। उस समय जल-वायु की अनुकूलता होने पर प्रायः ये व्यापक आक्रमण होते हैं।

क्षमता—मसूरिका के लिए कोई व्यक्ति जन्म से क्षम नहीं हो सकता। मसूरिका से पीड़ित होना, मसूरिकाकरण या टीका लगाना—ये क्षमता उत्पन्न होने के मार्ग हैं।

१—मसूरिका से पीड़ित होकर निर्मुक्त होने के पश्चात् शरीर में स्थायी क्षमता उत्पन्न होती है, जिसके कारण दूसरी बार वही व्यक्ति प्रायः मसूरिका से पीड़ित नहीं होता। क्वचित् दूसरी बार या तीसरी बार मसूरिका पीड़ित होने के उदाहरण मिलते हैं।

२—मसूरिका विस्फोटों की लसिका का स्वस्थ मनुष्य की त्वचा में प्रवेश करके कृत्रिम तौर पर रोग उत्पन्न कर क्षमता उत्पन्न करने का एक मार्ग होता है। उसे मसूरिकाकरण (Variolation) कहते हैं। स्वाभाविक मसूरिका होने पर जैसी क्षमता उत्पन्न होती है, वैसी ही क्षमता मसूरिकाकरण मार्ग से होती है; परन्तु इसमें कई दोष होने के कारण तथा टीका का आविष्कार होने के कारण अब यह मार्ग प्रचलित नहीं है।

३—टीका लगाकर (Variolation) कृत्रिम क्षमता उत्पन्न करके भी मसूरिका से रक्षा होती है। टीका से जो क्षमता होती है, वह ४-७ साल तक पूर्ण होती है, उसके बाद वह आंशिक होता

ज्वर, कण्डू, शरीर का टूटना, किसी काम में मन न लगना, भ्रम, त्वचा में शोथ, विवर्णता तथा नेत्रों की लाली–ये सब मसूरिका रोग के पूर्वरूप हैं ॥ ३ ॥

है या पूर्णतया नष्ट होती है। मसूरिका बाल्यावस्था में अधिक होती है और बचपन में टीका लगाने से प्रायः मसूरिका से मनुष्य सदा के लिए बच जाता है। परन्तु यदि शरीर की इस रोग से रक्षा करनी हो तो प्रथम टीका के ७ साल के बाद दूसरी टीका लगवानी आवश्यक है। पुनः टीकाकरण Re-Vaccinatin) का परिणाम प्रायः स्थायी होता है। जर्मनी, हालैण्ड तथा यूरोप के अन्य देशों से टीका और पुनः टीकाकरण के द्वारा मसूरिका की पूर्ण निकासी हुई है।

रोगप्रसार—रोग का विष रोगी की त्वचा में, श्लेष्मल त्वचा में, मुख-नासा के स्रावों में, विस्फोटों के पूय में तथा उनके खुरण्डों में, मल मूत्रादि में, संक्षेप में शरीर के प्रत्येक स्राव और त्याज्य पदार्थों में होता है। अर्थात् इन जहरीले वस्तुओं से दूषित कपड़े, रूमाल, तौलिये तथा वर्तन इत्यादि रोगी के पास की चीजों के द्वारा यह रोग औरों को लग जाता है। मक्खियाँ, चीटियाँ और कीड़े भी इसको फैला सकते हैं। जहरीले द्रव्यों के सूक्ष्म कणों से दूषित वायु द्वारा भी यह रोग फैलता है और इसके फैलने का मुख्य मार्ग यही है। तथापि इसके सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि अन्य वायुग्राह्य रोगों की भाँति यह रोग बहुत दूर नहीं फैलता। रोगी का विष कमरे के आस-पास और चेचक के अस्पताल के मील–आधा मील के क्षेत्र में मर्यादित रहता है। इसका विष बहुत प्रतिरोधक होता है, जो विस्फोटों की सूखी त्वचा में तथा नासिका के बलगम इत्यादि के सूखे कणों में बहुत काल तक जिन्दा रहता है। अतएव गद्दे, कम्बल तथा रोगी के अन्य अविशोधित कपड़े विशेष या उपयोग में न आनेवाले अलग रखे हुए बहुत काल के पश्चात् भी रोग का उपसर्ग पहुँचा सकते हैं। सञ्चयकाल के अन्तिम दो दिनों से वास्तविक विस्फोट उत्पन्न होने के समय तक रोग मध्यम संसर्गज और विस्फोट दर्शन-काल से सूखे विस्फोट पूर्णतया गिर जाने के समय तक रोग अत्यन्त संसर्गज (Contagicus) होता है।

लक्षण—

आक्रमण की अवस्था—मसूरिका का सञ्चयकाल १०–१२ दिन का होता है। कचित् ५–२३ दिन का भी होता है। आक्रमण अकस्मात् बड़े जोर के साथ होता है। सर्दी, झुरझुरी, सिर के पूर्व भाग में असह्य पीड़ा, कटि में पीड़ा, मिचली, वमन, चक्कर आना, कमजोरी, आक्षेप और प्रलाप इत्यादि लक्षण मुख्यतया होते हैं। २४ घण्टे में ज्वर १०३°–१०४° तक चढ़ता है और उसके साथ तृषा अरोचक, कब्ज, नाड़ी की तेजी और पूर्णता, त्वचा की शुष्कता और गर्मी, चेहरे की सुर्खी, जिह्वा का मैलापन, साँस में बदबू इत्यादि ज्वरानुषङ्गिक लक्षण होते हैं। साधारणतया सौम्य रोग में आक्रमण के लक्षण सौम्य और तीव्र रोग में तीव्र होते हैं। कचित् इसमें विपर्यय भी देखा जाता है। यह आक्रमण की या विषमयता की अवस्था है। इसकी अवधि ४ दिन की होती है। इसमें कभी-कभी (१५ प्रतिशत रोगियों में) आक्रमण के दूसरे दिन पूर्वविस्फोट (Predromal Rash) दिखाई देते हैं। ये विस्फोट युवावस्था के रोगियों में अधिक तथा १० साल से कम उम्र के बालकों में कम दिखाई देते हैं। वास्तविक विस्फोट उत्पन्न होने के पूर्व ये प्रायः मिट जाते हैं।

रक्तवर्ण (Erythe matosu) और रक्तस्रावी (Haemorrhagic) इस प्रकार ये दो प्रकार के होते हैं।

रक्तवर्ण प्रकार—अधिक दिखाई देता है और अन्तराधि तथा शाखाओं के सङ्कोचक भाग (Fxor surface) पर होता है। यह प्रकार जल्दी मिट जाता है और साध्यताका सूचक होता है।

रक्तस्रावी प्रकार—जंघासे ऊरु के ऊपरी तृतीयांश पर, उदर पर कचित् घुटने के पिछले

वातजमसूरिकालक्षणमाह—

स्फोटाः कृष्णारुणा रूक्षास्तीव्रवेदनयान्विताः। कठिनाश्चिरपाकाश्च भवन्त्यनिलसम्भवाः॥

भागपर तथा बगलमें दिखाई देता है। यह प्रकार जल्दी मिटता नहीं, प्रायः वास्तविक विस्फोटों के साथ मिलता है और रोग की तीव्रता का निदर्शक होता है।

विस्फोट-दर्शन की अवस्था—आक्रमण के बाद तीसरे या चौथे दिन मसूरिका के वास्तविक विस्फोट निकलने लगते हैं। इनका प्रथम दर्शन माथे पर, कनपट्टी पर और बाहुओं पर होता है। वहाँसे समस्त शरीर पर फैलकर २४ घण्टे में ये अधःशाखाओं पर पहुँचते हैं। विस्फोट-दर्शन के पूर्व ज्वर अधिक रहता है और विस्फोट निकलने के साथ धीरे-धीरे कम होता है। सौम्य प्रकार में ज्वर स्वाभाविक अंश तक भी पहुँच जाता है। ज्वर कम होने के साथ सिरदर्द, कमर में दर्द, वमन तथा अन्य पीडाकर लक्षण कम होकर रोगी को आराम मालूम होता है। दाने निकलने के समय त्वचा में कुछ कण्डू भी उत्पन्न होती है। प्रत्येक स्थान के सब विस्फोट प्रायः एक समयमें निकलते हैं और शरीर के दोनों तरफ समता (Symmetry) रखते हैं।

शारीरिक प्रविभाग—इसके मसूरिका के दानों की निम्न विशेषताएँ होती हैं—

१—वे मध्यापसारी—(Centrifugal) होते हैं अर्थात् मध्य में कम और शाखाओं तथा सिर पर अधिक होते हैं।

२—रगड़, दबाव, चोट इत्यादि से हमेशा पीडित होनेवाले तथा खुले स्थानों में वे अधिक संख्या में निकलते हैं।

३—गर्तयुक्त, सङ्कोचक, वस्त्रावृत, गुप्त तथा आघातादि से रक्षित स्थानों में कम निकलते हैं। इस दृष्टि से इनकी सबसे अधिक घनता माथे पर होती है और उसके बराबर अग्रबाहु में मणिबन्ध पर तथा कनपट्टी पर होती है। विस्फोटक कितने भी सौम्य और संख्या में कम क्यों न हों, माथे को वे कदापि नहीं छोड़ते। छातीपर, छाती से कुछ अधिक पीठ में (अंसफलक और उनके बीच में) और कन्धों पर इनकी संख्या मध्यम होती है। उदर, जंघासा, बगल, पार्श्व (Flanks) ऊर्ध्वाक्षक (Supravicular) और नेत्र के गर्त तथा पैरों पर इनकी संख्या सबसे कम होती है।

स्थित्यन्तर—मसूरिका के विस्फोटकों की एक विशेषता यह होती है कि वे नियम और कालक्रम के अनुसार कई स्थितियाँ (Stages) में होकर उत्क्रान्त होते हैं। इस प्रकार की नियमित उत्क्रान्ति अन्य विस्फोटक ज्वरों के विस्फोटों के सम्बन्ध में नहीं दिखाई देती। इनकी चार अवस्थाएँ होती हैं—

१—गांठदार—जब प्रथम विस्फोट निकलते हैं, तब वे मोटाई में छोटे मटर के बराबर (२–३ मि० मि०) और सख्त होते हैं। ऊपर की त्वचा पर से उनको टटोलने पर ऐसा मालूम होता है कि मानो त्वचा के नीचे छोटे-छोटे छर्रे निविष्ट हुए हैं, यह अवस्था उद्गम के प्रथम दिन अर्थात् रोग के तीसरे या चौथे दिन होती है।

२—पानीदार—उद्गम के दूसरे दिन से उनमें पानी जमना शुरू होकर ३ दिन में वे पानी से पूर्ण भर जाते हैं। इस अवस्था में ये निम्नमध्य होते हैं, सूई से छेदने पर विस्फोट से जरा सा द्रव निकलता है और पूरा बैठता नहीं, क्योंकि उसमें कई खाने होते हैं। यह द्रव २४ घंटे तक पानी के समान साफ होता है। यह अवस्था उद्गम के छठें या सातवें दिन तक और रोग के आठवें या नौवें दिन तक होती है।

३—पूयदार—इसके बाद पूयजनक जीवाणुओं के उपसर्ग से उनमें पूय बनने लगता है, जो २–३ दिन में अर्थात् रोग के ११ वें या १२ वें दिन तक और उद्गम के नौवें दिन तक पूरा हो जाता है। पूय पूर्ण होनेपर विस्फोटकों की निम्नमध्यता और अनेकावकाशता-नष्ट होकर वे गोल हो जाते हैं।

वातजन्य मसूरिका के विस्फोट, काले रक्तवर्ण, रूक्ष, तीव्रवेदनायुक्त, कठिन तथा अधिक समय में पकनेवाले होते हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ ४ ॥

इनके चारों ओर एक शोथजन्य वलय भी होता है। ये विस्फोट बहुत पास-पास होने से उनके वलय आपस में मिल जाते हैं। इससे तमाम त्वचा फूल जाती है। यह दशा अधिकतर चेहरे पर होती है, जिससे बोलने, खाने, पीने और आँखे खोलने में रोगी को बहुत कष्ट होता है। इसी समय ज्वर फिर से बढ़ता है और अन्य लक्षण भी तेज होते हैं। त्वचा में पीडा, तनाव और कण्डू होती है, हाथ-पैरों की हलचल में हरकत होती है। संक्षेप में सब तरह से रोगी का जीवन अत्यन्त कष्टमय और शोचनीय होता है।

४—शुष्कीभवन—विस्फोटकों की यह अन्तिम अवस्था है, जो उद्गम के नौवें दिन से प्रारम्भ होती है। सूखने का कार्य माथे से प्रारम्भ होकर जिस क्रम से विस्फोट निकलते हैं, उसी क्रम से नीचे की ओर बढ़ता है। शुष्कीभवन के समान अन्य अवस्थाओं का कार्य भी माथे से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर बढ़ता है। २–३ दिन में माथे के विस्फोट सूखने पर उनके स्थान में खुरण्ड बनते हैं, जो धीरे-धीरे गिरते जाते हैं। गिरने का यह कार्य तीसरे सप्ताह भर जारी रहता है। हथेलियों और तलुवों के खुरण्ड जल्दी नहीं गिरते।

संक्षेप में विस्फोट उद्गम के प्रथम ३ दिन तक गाँठदार, तीसरे से पाँचवें दिन तक पानीदार पाँचवें से नौवें दिन तक पूयदार होते हैं और नौवें से सत्रहवें दिन तक शुष्क होते हैं। खुरण्ड उतर जाने पर उनके स्थान पर दाग दिखाई देते हैं, जो थोड़े दिनों में बीच में जरा सा दब जाते हैं। खुरण्ड गिरने के समय कभी-कभी बाल और नख भी गिर जाते हैं।

मसूरिका में बाह्यत्वचा के समान मुख, होंठ, प्रसनिका, स्वरयन्त्र, कण्ठनलिका, अन्नमार्ग, आमाशय इत्यादि श्लेष्मल त्वचा पर भी साथ-साथ दाने निकलते हैं। नेत्र की श्लेष्मलत्वचा (Confunetiua) पर तथा शुभ्रमण्डल (Cornea) पर प्रायः नहीं निकलते। श्लेष्मलत्वचा की आर्द्रता के कारण विस्फोटकों के वृद्धिक्रम में कुछ फर्क हो जाता है। वे पूयदार प्रायः नहीं बनते हैं। केवल भूरे रङ्ग के उभरे हुए दिखाई देते हैं। उनके ऊपर की त्वचा जल्दी छिल जाती है और उनके स्थान में व्रण बनते हैं। नासा के विस्फोटों से सांस में कठिनाई, मुख और गले के विस्फोटों से खाने-पीने में कठिनाई तथा स्वरयन्त्र के विस्फोटों से बोलने में कठिनाई होती है और क्वचित् आवाज बैठ जाती है। आक्रमण का ज्वर दाने निकलने के समय अत्यधिक होता है, दानों के निकलने के साथ-साथ ज्वर कम पड़ जाता है। कभी-कभी ज्वर इस समय स्वाभाविक तक उतरता है और रोगी अपना व्यवसाय करने की कोशिश भी करता है। दानों में पूय पड़ने के समय फिर से ज्वर चढ़ता है। इसको द्वितीयक ज्वर कहते हैं। यह २–३ दिन तक (रोगारम्भ से १२ दिन तक) अधिक रहकर फिर उतरने लगता है। तीव्र प्रकार में इसकी अवधि १ से २ सप्ताह की होती है और विस्फोट निकलने के समय ज्वर बहुत कम भी नहीं होता। द्वितीयक ज्वर के साथ रोगी को सर्दी और झुरझुरी भी मालूम पड़ती है। ज्वर १०४°–१०५° तक चढ़ता है और सिरदर्द, निद्रानाश तथा प्रलाप इत्यादि वातिक लक्षण भी दिखाई देते हैं। पूयावस्था के समय रोगी के शरीर से एक विशेष प्रकार की दुर्गन्ध आती है। अपने यहाँ शीतलास्तोत्र में भी लिखा है कि:—

'शीतले ज्वरदग्धस्य पूतिगन्धयुतस्य च'।

जब दाने सूखने लगते हैं, तब ज्वर फिर उतरने लगता है और रोगारम्भ के चौदहवें या पन्द्रहवें दिन स्वाभाविक हो जाता है। उसके बाद यदि कोई उपद्रव न हुआ हो तो रोगनिवृत्तावस्था प्रारम्भ होती है। रोगावस्था में मूत्र गहरे रंग का, अल्प और अल्ब्यूमिनयुक्त होता है तथा उसमें डायजो प्रतिक्रिया मिलती है।

पित्तजमसूरिकालक्षणमाह—

सन्ध्यस्थिपर्वणां भेदः कासः कम्पोऽरतिर्भ्रमः। शोषस्ताल्वोष्ठजिह्वानां तृष्णा चारुचिसंयुता

मसूरिका के प्रकार—

१—सौम्य—इसमें रोग के सभी लक्षण सौम्य होते हैं, विस्फोट कम निकलते हैं, द्वितीयक ज्वर नहीं आता है।

२—असंमीलित (Discrete)—यह तीव्र स्वरूप का रोग होता है, दाने भी बहुत निकलते हैं, परन्तु वे अलग-अलग रहते हैं। ऊपर का वर्णन प्रायः इसी प्रकार का है।

३—सम्मीलित (Confluent)—इसमें प्रारम्भिक लक्षण अधिक तेज होते हैं। विस्फोट कुछ पहले (प्रायः दूसरे दिन) से दिखाई देते हैं, जल्दी निकलते हैं, और संख्या में अधिक होते हैं। प्रारम्भ से ही ये आपस में मिल सकते हैं, परन्तु इनका सम्मीलन प्रायः पानी भरने के या पीप पड़ने के समय होता है। सम्मीलन चेहरे पर और शाखाओं पर अधिक होता है, शरीर के मध्य भाग में प्रायः नहीं होता। दाने मिलने के कारण त्वचा एक बड़ी भारी विद्रधि-सी हो जाती है। इससे रोगी पहचानना मुश्किल होता है। सौम्य या असम्मीलित प्रकार में विस्फोटोद्गम के समय जैसे ज्वर और अन्यलक्षण कम होते हैं, वैसे इसमें नहीं होते और पूयावस्था में द्वितीयक ज्वर अधिक तेज होता है, नाड़ी की शीघ्रता, प्यास, गले की ग्रन्थियों की सूजन तथा प्रलाप इत्यादि लक्षण होते हैं। बाह्यत्वचा के समान श्लेष्मल त्वचा पर भी विस्फोट अधिक संख्या में निकलते हैं। इससे नेत्राभिष्यन्द, मूकता, खाँसी, लालास्राव तथा प्रवाहिका इत्यादि लक्षण होते हैं। इस रोग में प्रारम्भ से ही विषमयता अधिक होती है, जो पूयावस्था में और भी अधिक होती है। रोगी की मृत्यु द्वितीय सप्ताह के अन्त में विषमयता, जीवाणुमयता या हृदयावसाद से होती है। यदि दैवयोगात् रोगी बचनेवाला हो तो ११ वें या १२ वें दिन से विस्फोट सूखने लगते हैं। विदीर्ण हुए विस्फोटों से शहद की भाँति गाढ़ी पूय बहती है। सूखने पर खुरण्ड काले रङ्ग के और बदबूदार होते हैं। सूखने की और खुरण्ड उतरने की अवस्था में मन्द ज्वर आया करता है। खुरण्ड उतरने के लिए २-३ महीनों की आवश्यकता होती है और रोगी का स्वास्थ्य अधिक काल तक गिरा रहता है।

४—कृष्णमसूरिका (Black small Pox, Purpuric Small Pox)—यह भयङ्कर स्वरूप की मसूरिका जिसको टीका नहीं लगाया गया है, ऐसे युवा मनुष्यों में कभी-कभी दिखाइ देती है। सिरदर्द, वमन, बेहद कमजोरी, पीठ और कमर में पीड़ा इत्यादि आक्रमण-कालीन लक्षण इसमें अत्यन्त तीव्र होते हैं, पीठ का दर्द असह्य होता है। ज्वर १०२° से अधिक नहीं होता। दूसरे दिन कभी-कभी चौबीस घण्टे के भीतर शरीर पर रक्तवर्ण फुन्सियाँ निकल आती हैं, चेहरा और आँखें सुर्ख हो जाती हैं तथा समस्त शरीर में जलन मालूम होती है। तीसरे दिन नासा, शिश्न, गुदा तथा आमाशय इत्यादि के श्लेष्मल कला से रक्तस्राव होने लगता है। जैसा कि माधव-निदान में भी लिखा है कि:—'मुखेन प्रस्रवेद्रक्तं तथा घ्राणेन चक्षुषा'।

इसमें वास्तविक विस्फोट जब निकलते हैं, तब वे संख्या में बहुत कम और अप्रगल्भ होते हैं। तीव्र विषमयता, रक्तनाश तथा रक्तस्राव के कारण रोगी की मृत्यु वास्तविक विस्फोट निकलने के पूर्व दूसरे या तीसरे दिन होती है और अधिक छठे दिन होती है। मृत्यु के समय तक रोगी होश में होता है।

५—रक्तस्रावी मसूरिका (Variola Haemorrhagica Pustulosa)—यह प्रकार कृष्ण मसूरिका की अपेक्षा अधिक दिखाई देता है और प्रायः मद्यपी, वृद्ध और रोगदुर्बल लोगों में अधिक होता है। इसमें रोग के प्रारम्भिक लक्षण अत्यन्त तीव्र होते हैं; परन्तु रक्तस्राव वास्तविक विस्फोट उत्पन्न होने के पश्चात् जल या पूय उत्पन्न होने के समय होता है। इसी समय मुख-नासादि

रक्ताः पीताः सिताः स्फोटाः सदाहास्तीव्रवेदनाः। भवन्त्यचिरपाकाश्च पित्तकोपसमुद्भवाः॥

पित्तजन्य मसूरिका में सन्धि, अस्थि तथा पर्वों में भेदने के समान पीड़ा, कास, कम्प, किसी पदार्थ में मनका न लगना, भ्रम, तालु, होंठ तथा जिह्वा का सूखना, और अरुचि के साथ-साथ पिपासा

अङ्गों से भी रक्तस्राव होता है। रक्तस्रुति प्रथम अधःशाखाओं पर प्रारम्भ होती है। इसमें विस्फोट भलीभाँति विकसित नहीं होते, प्रायः सम्मीलित और किरमिजी रङ्ग के होते हैं। उनके मूल तल में तथा आस-पास चारो ओर रक्तस्राव होता है। यह प्रकार कृष्ण मसूरिका से कुछ कम विषैला होता है, इसलिए कचित् इससे बचने की आशा की जा सकती है और जब मृत्यु होती है, तब दूसरे सप्ताह में होती है। सम्प्राप्ति की दृष्टि से कृष्ण और रक्तस्रावी मसूरिका का स्वरूप एक-सा होता है। भेद केवल रक्तनाश के समय के अनुसार किया है। कृष्ण में रक्तनाश आक्रमण के समय होने के कारण वह अत्यन्त घातक और रक्तस्रावी में देर होने के कारण कुछ कम घातक होती है। रक्तस्राव के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि विस्फोटकों के तल में तथा उनके चारो ओर रक्तस्राव न होकर केवल विस्फोट भिन्न होने पर उनसे रक्तवर्ण तरल निकलना, विशेषतया अधःशाखाओं के विस्फोटों से यह रक्तस्रावी मसूरिका का अर्थात् असाध्यता का सूचक लक्षण नहीं समझना चाहिए। वैसे ही स्त्रियों में तीव्र ज्वर होने पर मासिक धर्म के समान गर्भाशय से रक्तस्राव होता है और मसूरिका के तीव्र ज्वर में अकसर हुआ करता है। अतः केवल गर्भाशयगत रक्तस्राव देखकर रक्तस्रावी का निदान करना भी उचित नहीं है।

६—मृदुल मसूरिका (Modified Small Pox or variolid)-टीका लगाये हुए मनुष्यों में जब मसूरिका उत्पन्न होती है, तब उसका स्वरूप बहुत मृदु होता है। इसीलिए वह मृदुल कहलाती है। टीकाजन्य आंशिक क्षमता के कारण मसूरिका का विषैलापन बहुत कुछ चला जाता है। इसमें सिरदर्द, कमर का दर्द तथा वमन इत्यादि आक्रमण के लक्षण प्रायः सौम्य होते हैं। विस्फोटकों का दर्शन उचित काल के पूर्व होता है, उनकी संख्या कम होती है। समस्त शरीरों के विस्फोट एक समय में (In one crop) निकलते हैं, उनका यथाक्रम विकास नहीं होता और उतरने के बाद त्वचा पर दाग भी नहीं रहता। द्वितीयक ज्वर इसमें प्रायः होता ही नहीं। इस तरह इसमें बहुत फर्क होने पर भी उद्गम के समय विस्फोटकों का स्वरूप वास्तविक मसूरिका के विस्फोटकों के समान होता है और संख्या में बहुत कम होने पर भी माथा, बाँह, हथेली, टाँगें तथा तलुवे इनसे नहीं बच सकते।

७—अप्रगल्भ प्रकार (Abo-rlive)-इनमें रोग का आक्रमण सामान्यतया तेजी से होता है और उचित समय पर विस्फोट निकलते हैं। इसके बाद रोगका बल एकाएक कम होकर विस्फोटों का विकास होना बन्द होकर पूयावस्था के पूर्व वे सूखने लगते हैं और रोगी एक-दो हफ्ते में ठीक हो जाता है।

८—क्षुद्र मसूरिका (Alastrim variola minor)-मसूरिका का यह क्षुद्र प्रकार है, जो अमेरिका के संयुक्तसंस्थानों में, इङ्गलैण्ड में तथा अन्य पाश्चात्य देशों में मिलता है। भारतवर्ष में यह प्रायः नहीं मिलता है। इसका संचयकाल २०-२१ दिन तक होता है। कभी इसका आक्रमण तेज, कभी सौम्य होता है। विस्फोट बहुत कम और दूर-दूर होते हैं, पूयदार नहीं बनते हैं और उनका विकास जल्दी होता है, जिससे एक सप्ताह में वे सूखने लगते हैं। द्वितीयक ज्वर नहीं होता। यह प्रकार टीका न लगाये हुए लोगों में भी हमेशा ऐसा हल्का होता है, यही इसकी विशेषता है। इसका कारण यह माना गया है कि यद्यपि इसका करणभूत जीवाणु सामान्य मसूरिका के जीवाणु से अभिन्न है, तथापि यह सौम्यस्वरूप (Mild Strain) का है।

९—गार्भिकी मसूरिका (Foetal Small Pox)-माता को मसूरिका का उपसर्ग पहुँचता है, परन्तु इसकी कई अवस्थाएँ होती हैं।

ये सब लक्षण होते हैं। और इसके स्फोट लाल, पीले, सफेद, दाहयुक्त तथा तीव्र वेदनायुक्त होते हैं, और इनमें पाक शीघ्र उत्पन्न हो जाता है ॥ ५-६ ॥

१—गर्भाशय में उपसर्ग की उत्पत्ति।

२—गर्भाशय में यदि उपसर्ग न हुआ हो तो प्रसव के समय उपसर्ग का पहुँचना।

३—यदि दोनों अवस्थाओं में बालक उपसर्ग से बच गया हो तो जन्म के पश्चात् मसूरिका का संचयकाल समाप्त होने पर भी वह मसूरिका से पीड़ित होता है।

४—गर्भवती माता मसूरिकापीड़ित होने पर भी जब गर्भ गर्भाशय में रहता है, तब प्रायः वह मसूरिका के लिए जन्मोत्तर क्षम होता है।

५—मसूरिकाऽभिभूत रोगी के सम्पर्क में आयी हुई गर्भवती माता कभी-कभी स्वयम् उससे पीड़ित न होने पर भी उसका गर्भ उपसृष्ट होता है।

इस तरह गार्भिकी मसूरिका जन्मबलप्रवृत्त (Cangenilal) रोग है। कभी-कभी गार्भिकी मसूरिका गर्भाशय में प्रकट होकर ठीक भी हो जाती है और जन्म के पश्चात् बालक के शरीर पर उसके दाग दिखाई देते हैं। कभी-कभी जन्म के समय बालक के शरीर पर विस्फोट होते हैं। ये दोनों अवस्थाएँ विरल दृष्ट हैं। साधारणतया जन्म के पश्चात् १५ दिन के भीतर बालक में मसूरिका प्रकट होती है। जिस प्रकार उपर्युक्त पाश्चात्य वैद्यक मतानुसार मसूरिका के १—सौम्य, २—असम्मीलित (Discrete), ३—सम्मीलित (Confluent), ४—कृष्णमसूरिका (Black small-Pox turpuric Small Pox), ५—रक्तस्रावी मसूरिका (Variola Haemorrhagica Pustulosa), ६—मृदुलमसूरिका (Modified small Pox or Varioloid) ७—अप्रगल्भप्रकार (Alortive) ८—क्षुद्रमसूरिका (Alastrim, Variola minor), तथा ९—गार्भिकी मसूरिका (Foetalmall. Pox) और ये ९ भेद किये गये हैं, उसीप्रकार अपने यहाँ १—वातज, २—पित्तज, ३—रक्तज, ४—कफज, ५—सन्निपातज, ६—रसगत, ७—रक्तगत, ८—मांसगत, ९—मेदोगत, १०—अस्थिमज्जागत, ११—शुक्रगत, १२—चर्मजा तथा १३—रोमान्तिका करके १३ भेद किये गये हैं। रोमान्तिका को पाश्चात्य वैद्यक में अलग रोग माना गया है और यह मिजिल्स (Measles) नाम से विख्यात है। समन्वय की दृष्टि से विचार कर लें।

चिकित्सा—

पाश्चात्य वैद्यक में इस रोग के लिए कोई औषधि नहीं है। आहार-विहार, परिचर्या तथा उपद्रवों के सम्बन्ध में सतर्कता इत्यादि उपायों द्वारा इसकी चिकित्सा की जाती है। रोगी को एक प्रशस्त स्वतन्त्र हवादार स्थान में रखा जाता है। कुछ तज्ञों की यह राय है कि लाल रङ्ग के किरणों से पूयभवन कम होकर त्वचा पर दाग भी कम होते हैं। इसलिए रोगी के कमरेके दरवाजों और खिड़कियों पर लाल रङ्ग के पर्दे टाँगे जाते हैं। प्रारम्भ में रोगी को विरेचक औषधि देकर कोष्ठ शुद्ध किया जाता है। उसके बिस्तरे और ओढ़ने के कपड़े हलके और मुलायम होने चाहिए। उसका कमरा तथा खाने के पदार्थ शीतल रखने का प्रयत्न किया जाता है। खुजलाने से त्वचा के व्रण दूषित होने का डर रहता है, इसलिए जहाँ तक हो सके, त्वचा को खरोंचना उचित नहीं है। बच्चों को खरोंचने से रोकना बहुत कठिन होता है, इसलिए उनके पञ्जे कपड़ों या लिंट से अथवा चारपाई के साथ बाँधकर रखे जाते हैं। खुरण्ट उतरने के दिनों में प्रतिदिन कार्बोलिक घोल या जन्तुघ्नतैल लगाकर पश्चात् गरम पानी से स्नान कराया जाता है। जब तक पूरे खुरण्ट नहीं उतरते हैं, तब तक अन्य लोगों से मिलना-जुलना बन्द कराया जाता है। तथा उपद्रवों की लाक्षणिक चिकित्सा की जाती है।

रुधिरजन्यमसूरिकालक्षणमाह—

विड्भेदश्चाङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिस्तथा ॥ ७ ॥
मुखपाकोऽक्षिपाकश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः। रक्तजासु भवन्त्येते विकाराः पित्तलक्षणाः ॥८॥

रक्तज मसूरिका में विड्भेद (अतीसार), अङ्गों का टूटना, दाह, पिपासा, अरुचि, मुखपाक, आँखों का पकना तथा अत्यन्त तीव्र और सुदारुण ज्वर—ये सब पैत्तिक लक्षणवाले विकार होते हैं ॥ ८ ॥

कफजमसूरिकालक्षणमाह—

कफप्रसेकः स्तैमित्यं शिरोरुग्गात्रगौरवम्। हृल्लासः सारुचिर्निद्रा तन्द्राऽलस्यसमन्विता ॥९॥
श्वेताः स्निग्धा भृशं स्थूलाः कण्डूरा मन्दवेदनाः।
मसूरिकाः कफोद्भूताश्चिरपाकाः प्रकीर्तिताः ॥ १० ॥

कफज मसूरिका में कफप्रसेक (मुख द्वारा कफ का गिरना), स्तिमितता (शरीर की आर्द्रता), शिरःशूल, शरीर का भारीपन, हृल्लास, अरुचि, निद्रा, तन्द्रा तथा आलस्य-ये सब लक्षण होते हैं। तथा इस मसूरिका के स्फोट श्वेत वर्णवाले, स्निग्ध, अत्यन्त स्थूल, कण्डूयुक्त, मन्द वेदनावाले तथा अधिक समय में पकनेवाले होते हैं ॥ ९–१० ॥

त्रिदोषजमसूरिकालक्षणमाह—

नीलाश्चिपिटविस्तीर्णा मध्ये निम्ना महारुजः। पूतिस्रावाश्चिरात्पाकाः प्रभूताः सर्वदोषजाः ॥११॥

त्रिदोषज मसूरिका के स्फोट नील वर्णवाले, चिपटे, विस्तीर्ण, बीच में दबे हुए, अत्यन्त वेदनावाले, दुर्गन्धित स्राववाले, अधिक समय में पकनेवाले तथा संख्या में अधिक होते हैं ॥ ११ ॥

अथ सप्तधातुगतमसूरिकाणां पृथक् पृथग् लक्षणानि।

तत्र रसगतमसूरिकालक्षणमाह—

मसूरिकास्त्वचं प्राप्तास्तोयबुद्बुदसन्निभाः। स्वल्पदोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति च॥
***त्वचं प्राप्ताः=त्वक्छब्देनात्र रस उच्यते, रसाश्रयत्वात् ॥ १२ ॥**

त्वचा में प्राप्त (यहाँ पर त्वचा शब्द से रस समझना चाहिए, क्योंकि रसका आश्रय त्वचा ही है) मसूरिका–अल्प दोषवाली तथा पानी के बुलबुले के समान होती है। इस मसूरिका को फोड़ने से जल का स्राव होता है ॥ १२ ॥

रक्तजमसूरिकालक्षणमाह—

रक्तस्था लोहिताकाराः शीघ्रपाकास्तनुत्वचः। साध्या नात्यर्थदुष्टास्तु भिन्ना रक्तं स्रवन्ति च॥
***साध्या रक्तस्था इत्यर्थः नात्यर्थदुष्टास्तु=अत्यर्थदुष्टशोणिताः पुनर्न साध्याः ॥ १३ ॥**

रक्तगत मसूरिका–आकार में लाल, शीघ्र पकनेवाली और पतली त्वचावाली होती है, तथा फूटने पर रक्त का स्राव होता है। यह मसूरिका साध्य होती है, किन्तु यदि यह अत्यन्त दूषित रक्तवाली हो तो असाध्य होती है ॥ १३ ॥

मांसगतमसूरिकालक्षणमाह—

मांसस्थाः कठिनाः स्निग्धाश्चिरपाका घनत्वचः। गात्रशूलतृषाकण्डूज्वरारतिसमन्विताः ॥

मांसगत मसूरिका–कठिन, स्निग्ध, अधिक समय में पकनेवाला, मोटी त्वचावाली और शरीर में शूल, पिपासा, कण्डू, ज्वर तथा अरति (किसी वस्तु में मन न लगना) इन लक्षणों से युक्त होती है ॥ १४ ॥

मेदोगतमसूरिकालक्षणमाह—

मेदोजा मण्डलाकारा मृदवः किञ्चिदुन्नताः। घोरज्वरपरीताश्च स्थूलाः स्निग्धाः सवेदनाः।
सम्मोहारतिसन्तापाः कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेत् ॥ १५ ॥

मेदोगत मसूरिका-मण्डलाकारवाली, मृदु, कुछ उभड़ी हुई, तीव्र ज्वर से युक्त, मोटी, स्निग्ध, वेदनायुक्त तथा अचेतनता, अरति और सन्ताप से युक्त होती है। इन मसूरिकाओं से कोई एक बचता है॥ १५॥

अस्थिमज्जागतमसूरिकालक्षणमाह—

क्षुद्रा गात्रसमा रूक्षाश्चिपिटाः किञ्चिदुन्नताः। मज्जोत्था भृशसम्मोहा वेदनाऽरतिसंयुताः॥ भ्रमरेणेव विद्धानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः। छिन्दन्ति मर्मधामानि प्राणानाशु हरन्ति च॥

***गात्रसमाः = गात्रतुल्यवर्णाः। चिपिटाः = चिपिटाकाराः। मज्जाग्रहणेनास्थ्नोऽपि ग्रहणं तदाधारत्वात्। अत एवाग्रे 'भ्रमरेणेव विद्धानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वत' इति। मर्मधामानि = मर्मस्थानानि॥ १६–१७॥**

मज्जा तथा अस्थिगत मसूरिका-क्षुद्र, शरीर के वर्ण के समान वर्णवाली, रूक्ष, चिपटी, कुछ उभरी हुई, अत्यन्त बेहोशी, वेदना तथा अरति इनसे युक्त होती है।

श्लोक में यद्यपि 'मज्जोत्था' यही शब्द आया है, तथापि यहाँ 'मज्जा' इस शब्द से अस्थि का भी ग्रहण होता है, क्योंकि अस्थि आधार है। इसीलिए आगे कहा गया है कि:—अस्थियाँ चारों तरफ से भौंरों द्वारा बिधे हुए के समान हो जाती हैं। मर्मस्थलों को छेदती हैं और प्राणों का शीघ्र नाश कर देती हैं॥ १६–१७॥

शुक्रगतमसूरिकालक्षणमाह—

पक्काभाः पिडकाः स्निग्धाः श्लक्ष्णाश्चात्यर्थवेदनाः। स्तैमित्यारतिसंमोहदाहोन्मादसमन्विताः॥ शुक्रजायां मसूर्यान्तु लक्षणानि भवन्ति हि। निर्दिष्टं केवलं चिह्नं जीवनं न तु दृश्यते॥ दोषमिश्रा तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः॥ २०॥

***पक्काभाः = पक्काकारा न तु पक्काः। श्लक्ष्णाः = कोमलाः। निर्दिष्टं केवलं चिह्नं, न त्वस्याश्चिकित्सा युक्ता, यतो जीवनं न दृश्यते। सप्ताप्येता दोषहेतुं विना न भवन्ति, दोषमन्तरेण रसादिदुष्टेरसम्भवादित्यत आह—'दोषमिश्रा' इति॥ १८–२०॥**

शुक्रगत मसूरिका की फुन्सियाँ पके हुए के समान दीखती हैं; किन्तु पकती नहीं। चिकनी, कोमल, अत्यन्त वेदनायुक्त, स्तैमित्य (भीगे के समान), अरति, अचेतनता, दाह तथा उन्माद से युक्त होती हैं अर्थात्-शुक्रगत मसूरिका में ये सब लक्षण होते हैं। इस शुक्रगत मसूरिका का निर्देश केवल जानने के लिए किया गया है। इसकी चिकित्सा करनी उचित नहीं, क्योंकि इस मसूरिका से पीड़ित मनुष्य का जीवन रहता हुआ नहीं देखा जाता है। ये सातों प्रकार की मसूरिकाएँ दोषमिश्रिता होती हैं अर्थात् ये सातों प्रकार की मसूरिकाएँ दोषरूपी हेतु के बिना नहीं उत्पन्न होतीं; क्योंकि वातादि दोषों के बिना रसादि सप्त धातुओं की दुष्टि असम्भव है। वातादि दोषों के लक्षणों को उपर्युक्त दोषों के लक्षणों के अनुसार समझना चाहिए॥ १८–२०॥

चर्मजामसूरिकालक्षणमाह—

कण्ठरोधारुचिस्तम्भप्रलापारतिसंयुताः। दुश्चिकित्स्याः समुद्दिष्टाः पिडकाश्चर्मसंज्ञिताः॥

यदि मसूरिका में गले का रुँध जाना, अरुचि, तन्द्रा, प्रलाप तथा अरति ये सब लक्षण हों तो उसे चर्मगत मसूरिका समझना चाहिए। यह मसूरिका कष्टसाध्य बतलाई गई है॥ २१॥

रोमान्तिकामसूरिकालक्षणमाह—

रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः। कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः॥

जो मसूरिका कफ तथा पित्तदोषों से उत्पन्न होती है, रोमकूप के समान ऊँची, रक्त वर्ण की, कास और अरुचि से युक्त तथा रोम के अन्त तक पहुँचनेवाली होती है और जिसमें सर्वप्रथम ज्वर आता है, उस मसूरिका को रोमान्तिका कहते हैं॥ २२॥

मसूरिकायाः सुखसाध्यतामाह—

त्वग्गता रक्तगाश्चैव पित्तजाः श्लेष्मजास्तथा। श्लेष्मपित्तकृताश्चैव सुखसाध्या मसूरिकाः।
एता विनाऽपि क्रियया प्रशाम्यन्ति शरीरिणाम् ॥ २३ ॥

*त्वग्गताः=रसगताः ॥ २३ ॥

रसगत, रक्तगत, पित्त दोष से उत्पन्न हुई, कफ से उत्पन्न हुई और कफ तथा पित्त इन दोनों दोषों से उत्पन्न हुई मसूरिका सुखसाध्य होती है। मनुष्यों के शरीर में उत्पन्न हुई ये मसूरिकाएँ विना चिकित्सा के भी शान्त हो जाती हैं ॥ २३ ॥

मसूरिकायाः कष्टसाध्यतामाह—

वातजा वातपित्तोत्था वातश्लेष्मकृताश्च याः। कष्टसाध्यतमास्तस्माद् यत्नादेता उपाचरेत्॥

जो मसूरिकाएँ वातजन्य, वात तथा पित्त इन दोनों दोषों से उत्पन्न हुई अथवा वात तथा कफ दोषों से उत्पन्न हुई होती हैं, वे अत्यन्त कष्टसाध्य होती हैं, इसलिए इनकी चिकित्सा यत्नपूर्वक करनी चाहिए ॥ २४ ॥

मसूरिकाणामसाध्यतामाह—

असाध्याः सन्निपातोत्थास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम्।
प्रवालसदृशाः काश्चित्काश्चिज्जम्बूफलोपमाः ॥ २५ ॥
लोहजालसमाः काश्चिदतसीफलसन्निभाः। आसां बहुविधा वर्णा जायन्ते दोषभेदतः ॥२६॥

*प्रवालसदृशा इत्यादि–आसां प्रवालजम्बूफललोहगुटिकाऽतसीफलसादृश्यं वर्णेन। अनुक्तवर्णग्रहणार्थमाह–आसां बहुविधा वर्णा इति ॥ २५–२६ ॥

त्रिदोषज मसूरिकाएँ साध्य होती हैं। इन मसूरिकाओं के लक्षणों को कहता हूँ। इन मसूरिकाओं में से कोई मसूरिका मूँगा के समान लाल, कोई जामुन के फल के समान वर्णवाली, कोई लोहे की गोली के समान और कोई अलसी के फल के समान वर्णवाली होती है। इनके अलावे भी ये मसूरिकाएँ अनेक प्रकार के वर्णों से युक्त होती हैं ॥ २५–२६ ॥

अस्या अपरामसाध्यतामाह—

कासो हिक्का प्रमेहश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः। प्रलापारतिमूर्च्छाश्च तृष्णा दाहोऽतिघूर्णता ॥

*दाहस्थाने 'दौर्गन्ध्य' इति च पाठः। अतिघूर्णता=अतिनिद्रा ॥ २७ ॥

मुखेन प्रस्रवेद्रक्तं तथा घ्राणेन चक्षुषा। कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा श्वसित्यत्यर्थदारुणम् ॥ २८ ॥
मसूरिकाऽभिभूतस्य यस्य तानि भिषग्वरैः। लक्षणानीह दृश्यन्ते न देयं तस्य भेषजम् ॥

जो मसूरिकापीडित मनुष्य कास, हिक्का, प्रमेह, तीव्र तथा अत्यन्त दारुण ज्वर, प्रलाप, बेचैनी, मूर्च्छा, पिपासा, दाह (कहीं-कहीं दाह के स्थान पर दौर्गन्ध्य यह भी पाठ है) तथा अत्यन्त निद्रा इन उपद्रवों से युक्त हो, मुख, नाक तथा आँखों से रक्त का स्राव होता हो और गले में घरघर आवाज करके जो अत्यन्त दारुण श्वास लेता हो, उत्तम वैद्य को चाहिए कि उपर्युक्त इन सब लक्षणों से युक्त मसूरिकापीडित रोगी को ओषधि न दे ॥ २७–२९ ॥

मसूरिकाऽरिष्टमाह—

मसूरिकाऽभिभूतो यो भृशं घ्राणेन निःश्वसेत्। स भृशं त्यजति प्राणांस्तृष्णावान्वायुदूषितः॥

*वायुदूषितः=अपतानकादिवातव्याधिदूषितः ॥ ३० ॥

जो मसूरिकाऽभिभूत मनुष्य नाक द्वारा अत्यन्त तीव्र श्वास को लेता है, पिपासा तथा अपतानक इत्यादि वातव्याधियों से पीडित होता है, वह शीघ्र प्राणों का परित्याग कर देता है ॥ ३० ॥

मसूरिकाहेतुकं शोथविशेषमाह—

मसूरिकाऽन्ते शोथः स्यात्कूर्परे मणिबन्धके। तथांऽसफलके वाऽपि दुश्चिकित्स्यः सुदारुणः॥

*दुश्चिकित्स्यः सुदारुणः = दुश्चिकित्स्यः = कष्टसाध्यः। 'दुःशब्दोऽत्र निषेधार्थस्तेनासाध्य' इत्येके ॥ ३१ ॥

मसूरिका के अन्त में कूर्परसन्धि (कोहनी) पर, मणिबन्ध सन्धि पर अथा अंसफलक (कन्धे के पीछे) पर यदि महादारुण शोथ उत्पन्न हो जाय तो वह मसूरिका कष्टसाध्य तथा वैद्यों के मत से असाध्य होती है ॥ ३१ ॥

काश्चिद्विनाऽपि यत्नेन सिध्यन्त्याशु मसूरिकाः ॥ ३२ ॥
दृष्टाः कृच्छ्रतराः काश्चित्काश्चित्सिध्यन्ति वा न वा।
काश्चिन्नैव तु सिध्यन्ति साध्यपाकाः प्रयत्नतः ॥ ३३ ॥

कुछ मसूरिकाएँ बिना किसी प्रकार का यत्न किये ही तत्काल ठीक हो जाती हैं, कुछ मसूरिकाएँ कष्टसाध्य देखी गई हैं, कुछ मसूरिकाएँ ठीक हो जाती हैं, कुछ नहीं भी होतीं और कुछ मसूरिकाएँ ऐसी होती हैं, जो यत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर भी नहीं ही सिद्ध होतीं ॥ ३२-३३ ॥

मसूरिकाचिकित्सामाह—

मसूरिकायां कुष्ठेषु लेपनादिक्रियाहिता। पित्तश्लेष्मविसर्पोक्ता क्रिया चात्र प्रशस्यते ॥३४॥

कुष्ठ रोगों पर जो लेपन इत्यादि क्रियाएँ हितकर होती हैं, वे ही क्रियाएँ मसूरिका में भी हितकर होती हैं। अथवा कफ तथा पित्तजन्य विसर्प की जो चिकित्सा कही गई है, वही चिकित्सा मसूरिका पर भी प्रशस्त मानी जाती है ॥ ३४ ॥

श्वेतचन्दनकल्कोत्थं हिलमोचीभव द्रवम्। पिबेन्मसूरिकाऽऽरम्भे नैव वा केवलं रसम् ॥
*हिलमोचिका = शाकविशेषः 'हुरहुरे'ति लोके ॥ ३५ ॥

मसूरिका के आरम्भ में ही हिलमोचिका (हुरहुर) के पत्तों के स्वरस में श्वेत चन्दन के कल्क को डालकर पीना अथवा केवल हुरहुर के पत्तोंके स्वरस को ही पीना हितकर होता है ॥ ३५ ॥

द्वौ पञ्चमूल्यौ रास्ना च धात्र्युशीरं दुरालभा। सामृता धान्यकं मुस्तं जयेद्वातमसूरिकाम् ॥

लघु पञ्चमूल, बृहत्पञ्चमूल, रास्ना, आँवला, खस, जवासा, गुडूची, धनिया तथा नागरमोथा इनके क्वाथ को पीने से वातजन्य मसूरिका नष्ट हो जाती है ॥ ३६ ॥

मञ्जिष्ठावहुपात्प्लक्षशिरीषोदुम्बरत्वचः। वातजाया मसूर्यां स्यात्प्रलेपः सर्वतो हितः ॥३७॥
*बहुपाद् = वटः ॥ ३७ ॥

मजीठ, बरगद की छाल, पाकर की छाल, सिरसा की छाल तथा गूलर की छाल—इन सबको पीसकर चारो ओर लेप करने से वातजन्य मसूरिका नष्ट होती है ॥ ३७ ॥

गुडूची मधुकं द्राक्षा मोरटं दाडिमैः सह। पाककाले प्रदातव्यं भेषजं गुडसंयुतम्।
तेन कुप्यति नो वायुः पाकं यान्ति मसूरिकाः ॥ ३८ ॥

*मोरटम् = ऐक्षवं मूलम् ॥ ३८ ॥

मसूरिका के पाककाल में गुडूची, मुलेठी, किसमिस, ईख की जड़ तथा अनार इन सबको पीसकर और गुड़ मिलाकर पीने से वायु का प्रकोप नहीं होता तथा मसूरिकाएँ पक जाती हैं ॥

मसूरिकासु भुञ्जीत शालीन्मुद्गमसूरकान् ॥ ३९ ॥
रसं मधुरमेवाद्यात्सैन्धवं चाल्पमात्रकम्। पटोलमूलं क्वथितं मोरटस्वरसं तथा ॥
आदावेव मसूर्यां तु पित्तजायां प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥
*'पटोलमूलं क्वथितमि'त्यत्र 'पटोलं क्वथितं चैव' वा पाठः ॥ ४० ॥
निम्बः पर्पटकः पाठा पटोलश्चन्दनद्वयम् ॥ ४१ ॥
उशीरं कटुका धात्री तथा वासा दुरालभा। एषां पानं शृतं शीतमुत्तमं शर्कराऽन्वितम् ॥
मसूर्यां पित्तजायान्तु प्रयोक्तव्यं विजानता। दाहे ज्वरे विसर्पे च व्रणे पित्ताधिकेऽपि च ॥

मसूरिका रोग में शालिचावल, मूँग, मसूर, केवल मधुर रस तथा अल्पमात्रा में सेंधानमक इनका भोजन करना चाहिए।

पित्तजन्य मसूरिका में प्रथम ही परवल की जड़ अथवा परवल के पत्तों के क्वाथ को ईख की जड़ के स्वरस के साथ प्रयोग करना चाहिए।

नीम की छाल, पित्तपापड़ा, पाठा, परवल के पत्ते, सफेद चन्दन, लाल चन्दन, खस, कुटकी, आँवला, अडूसा तथा जवासा इन ओषधियों के क्वाथ को शीतल करके तथा चीनी मिलाकर पित्तजन्य मसूरिका में वैद्य रोगी को पिलाये। यह शीतल क्वाथ दाह, ज्वर, विसर्प, व्रण तथा पित्त की अधिकता में भी हितकर होता है ॥ ३९–४३ ॥

मसूर्यो रक्तजा नाशं यान्ति शोणितमोक्षणैः। वासामुस्तकभूनिम्बत्रिफलेन्द्रयवासकम् ॥

*इन्द्रः = इन्द्रयवः ॥ ४४ ॥

पटोलारिष्टकं चापि क्वाथयित्वा समाक्षिकम्। पिबेत्तेन प्रशाम्यन्ति मसूर्यः कफसम्भवाः ॥

रक्तजन्य मसूरिकाएँ रक्तमोक्षणसे नष्ट होती हैं। अडूसा, नागरमोथा, चिरायता, हरड़, बहेड़ा, आँवला, इन्द्रजौ, जवासा, परवल के पत्ते तथा नीम की छाल–इन सब ओषधियों का क्वाथ बनाकर और मधु मिलाकर पीने से कफजन्य मसूरिका नष्ट हो जाती है ॥ ४४–४५ ॥

शिरीषोदुम्बरत्वग्भ्यां खदिरारिष्टजैर्दलैः। कफोत्थासु मसूरीषु लेपः पित्तोत्थितासु च ॥४६॥

सिरसा की छाल, गूलर की छाल, खैर के पत्ते तथा नीम के पत्ते इनको पीस कर प्रलेप करने से कफजन्य तथा पित्तजन्य मसूरिका नष्ट हो जाती है ४६ ॥

निम्बादिक्वाथमाह—

निम्बः पर्पटकः पाठा पटोलः कटुरोहिणी। चन्दने द्वे उशीरञ्च धात्री वासा दुरालभा ॥ ४७ ॥

एष निम्बादिकः क्वाथः पीतः शर्करयाऽन्वितः। मसूरीं सर्वजां हन्ति विसर्पज्वरसंयुताम् ॥

नीम, पित्तपापड़ा, पाठा, परवल के पत्ते, कुटकी, श्वेतचन्दन, खस, आँवला, अडूसा तथा यवासा–इन औषधियों द्वारा बनाये हुए क्वाथ को 'निम्बादिक्वाथ' कहते हैं। इस क्वाथ को चीनी मिलाकर पीने से विसर्प तथा ज्वरयुक्त सब प्रकार की मसूरिका नष्ट हो जाती है ॥ ४७–४८ ॥

उत्थिता प्रविशेद्या च तां पुनर्बाह्यतो नयेत्। काञ्चनारत्वचः क्वाथस्ताप्यचूर्णावचूर्णितः ॥

*ताप्यं = सुवर्णमाक्षिकम् ॥ ४९ ॥

यदि ऊपर निकली हुई मसूरिका फिर भीतर चली गई हो तो कचनार की छाल के क्वाथ को स्वर्णमाक्षिक का चूर्ण मिलाकर पिलाने से वह मसूरिका फिर बाहर निकल आती है ॥ ४९ ॥

धात्रीफलं समधुकं क्वथितं मधुसंयुतम्। मुखे कण्ठे व्रणे जाते गण्डूषार्थं प्रशस्यते।
अक्ष्णोः सेकं प्रशंसन्ति गवेधुमधुकाम्बुना ॥ ५० ॥

*गवेधुः = गवेधुका 'गडगडिया' इति लोके ॥ ५० ॥

मुख तथा गले में यदि व्रण उत्पन्न हो गया हो तो आँवले तथा मुलेठी के क्वाथ में मधु मिलाकर गडूष (कुल्ले) कराना हितकर होता है। गवेधुका (गडगडिया) तथा मुलेठी इनके क्वाथ से आँखों का परिषेक करना उत्तम है अर्थात् इस क्वाथ द्वारा नेत्रपरिषेचन करने से नेत्रगत मसूरिका-जन्य विकृति उत्पन्न नहीं हो पाती ॥ ५० ॥

मधुकं त्रिफला मूर्वा दार्वीत्वङ्नीलमुत्पलम्। उशीरलोध्रमञ्जिष्ठाः प्रलेपाश्च्योतने हिताः ॥

नश्यन्त्यनेन दृग्जाता मसूर्यो न भवन्ति च। प्रलेपं चक्षुषोर्दद्याद् बहुवारस्य वल्कलैः ॥

मुलेठी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मूर्वा, दारुहल्दी की छाल, नीला कमल, खस, लोध तथा मंजीठ–इन ओषधियों को पीसकर प्रलेप करने अथवा इनके क्वाथ द्वारा आश्च्योतन करने से आँखों में उत्पन्न हुई मसूरिकाएँ नष्ट हो जाती हैं तथा फिर से उत्पन्न नहीं होतीं।

अथवा लिसोड़े की छाल को पीसकर आँखों पर प्रलेप करने से नेत्रगत मसूरिका नष्ट होती हैं ॥ ५१–५२ ॥

पञ्चवल्कलचूर्णेन क्लेदिनीमवधूलयेत् । भस्मना केचिदिच्छन्ति केचिद्गोमयरेणुना ॥ ५३ ॥

यदि मसूरिका क्लेदयुक्त हो तो उसपर पञ्चवल्कल का चूर्ण छिड़कना चाहिए। कुछ वैद्य उसके ऊपर राख का छिड़कना तथा कुछ वैद्य उसपर गोबर के चूर्ण का छिड़कना पसन्द करते हैं ॥५३॥

सुषवीपत्रनिर्यासं हरिद्राचूर्णसंयुतम् । रोमान्तीज्वरवीसर्पव्रणानां शान्तये पिबेत् ॥ ५४ ॥

इति मसूरिकाऽधिकारः ।

काले जीरे के पत्तों के क्वाथ में हल्दी का चूर्ण मिला कर पीने से रोमान्तिका, मसूरिका, ज्वर, विसर्प तथा व्रण शान्त हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

इति मसूरिकाऽधिकारः ।

अथ मसूरिकाभेदशीतलाऽधिकारः ।

तत्र शीतलायाः स्वरूपं भेदं भेषजं चाह—

देव्या शीतलयाऽऽक्रान्ता मसूर्येव ही शीतला । ज्वरयेच्च यथा भूताधिष्ठितो विषमज्वरः ॥
सा च सप्तविधा ख्याता तासां भेदान्प्रचक्ष्महे । ज्वरपूर्वा बृहत्स्फोटैः शीतला बृहती भवेत् ॥
सप्ताहान्निःसरत्येव सप्ताहात्पूर्णतां व्रजेत् । ततस्तृतीये सप्ताहे शुष्यति स्खलति स्वयम् ॥
तासां मध्ये यदा काचित्पाकं गत्वा स्फुटेत्स्रवेत् । तत्रावधूलनं कुर्याद्घनगोमयभस्मना ॥
निम्बसत्पत्रशाखाभिर्मक्षिकामपसारयेत् । जलञ्च शीतलं दद्याज्ज्वरेऽपि न तु तत्पचेत् ॥
स्थापयेत्तं स्थले पूते रम्ये रहसि शीतले । नाशुचिः संस्पृशेत्तन्तु न च तस्यान्तिकं व्रजेत् ॥
बहवो भिषजो नात्र भेषजं योजयन्ति हि । केचित्प्रयोजयन्त्येव मतं तेषामथ ब्रुवे ॥ ६१ ॥

यदि वह उपर्युक्त मसूरिका शीतल नामक देवी से आक्रान्त हो जाय तो [1]शीतला कहलाती

---

१. शीतला नामक मसूरिका को अंग्रेजी में चिकेन पाक्स या वेरीसेला (chiqken pox, or varicella) कहते हैं।

लक्षण—रोग का संचय-काल ११–१३ दिन और साधारण दो सप्ताह का होता है। इसमें पूर्वरूप प्रायः नहीं होते; परन्तु जवानों में कभी-कभी मन्दज्वर, सिर और पीठ में दर्द, हल्की-सी सर्दी और बालकों में वमन और आक्षेप होते हैं। आम तौर से इसमें पूर्वविस्फोट भी नहीं होते हैं, परन्तु जब कभी-कभी होते हैं, तब रक्तवर्ण, या रोमान्तिकासमता शीतपित्तसम होते हैं और चेहरे पर नहीं होते।

विस्फोट—प्रायः दाने ही सबसे पहिले निकलते हैं। इनका प्रथम दर्शन धड़ पर होता है, फिर चेहरे और कनपटी पर तथा अन्त में हाथ-पैरों पर, मुँह, गला तथा ग्रसनिका इत्यादि की श्लेष्मल कला पर भी कभी-कभी निकलते हैं।

विशेषताएँ—

१—शरीर पर फैलने की इनकी कोई विशेष पद्धति नहीं होती।

२—ये धड़ पर विशेषतया पीठ पर संख्या में सबसे अधिक होते हैं। शाखाओं पर ये धड़ के पास अधिक रहते हैं और कोहनी तथा घुटने से दूसरी ओर कम रहते हैं। क्वचित् हथेलियों और तलुवों पर इने-गिने विस्फोट दिखाई देते हैं, बगल में भी ये निकलते हैं और दबाव के स्थानों में अधिकता से निकलने की प्रवृत्ति इनमें नहीं होती।

है। इस शीतला में भौतिक विषमज्वर के समान ज्वर होता है। यह शीतला ७ प्रकार की होती है। अब उनके भेदों को कह रहे हैं। सर्वप्रथम ज्वर आकर और बाद में बड़े-बड़े स्फोट निकल आयें तो उसे 'बृहती शीतला' कहते है।

यह शीतला प्रथम सात दिनों में निकलती है, द्वितीय सात दिनों में पूर्णता को प्राप्त होती है, और तृतीय सात दिनों में सूखती है तथा आप से आप झड़ जाती है। इनमें से यदि कोई शीतला फूटे अथवा स्रावयुक्त हो तो उसके ऊपर जंगली कण्डों के भस्म को बुरकना चाहिए। नीम के

३—ये संख्या में कम अर्थात् दस-बीस से सौ-दो सौ तक होते हैं।

४—ये एक समय में सब नहीं निकलते, भिन्न-भिन्न समय पर समूह-समूह में निकला करते हैं। सौम्य प्रकार में दो तीन दिन तक और तीव्र प्रकार में ७-८ दिन तक इनके झुण्ड के झुण्ड निकलते रहते हैं। इसलिए एक स्थान में सब अवस्थाओं के दाने दिखाई देते हैं।

५—इन विस्फोटों में भी कई स्थित्यन्तर होते हैं, परन्तु पूय का स्थित्यन्तर बहुत कम होता है। कुछ दाने केवल धुंधले हो जाते हैं और बहुसंख्य जलयुक्त अवस्था से ही सूखने लगते हैं।

६—इनकी पानीदार अवस्था विशेष महत्त्व की होती है। इनमें खाने और निम्नमध्यता न होने के कारण विस्फोट आकार में गोल, पानी के बुद्बुद या मोती के समान अर्द्धपारदर्शक दिखाई देते हैं। इनमें पानी भरने का कार्य भी बहुत जल्द अर्थात् २४ घण्टे में होता है। मोटाई में ये अधिक से अधिक १-३ इञ्च के बराबर होते हैं। ये आपस में कभी नहीं मिलते, हमेशा अलग रहते हैं। क्वचित् इनके चारो ओर शोथजन्य वलय मिलता है। स्पर्श में ये बहुत सख्त नहीं होते। सब विस्फोट आकार में एक-से नहीं होते, कुछ दीर्घवृत्त, कुछ बड़े और कुछ छोटे होते हैं।

७—पानीदार अवस्था से ये सूखने लगते हैं और बहुत जल्द सूखकर उनके स्थान पर पतली पपड़ी बनती है, जिसके उतर जाने पर हल्का-सा निशान रहता है और आगे चलकर पूर्णतया मिट जाता है।

अन्य लक्षण—दाने निकलने के समय मन्दज्वर होता है। क्वचित् ज्वर के बिना भी दाने निकलते हैं और क्वचित् १०३° तक किन्तु उससे अधिक ज्वर नहीं होता। क्वचित् प्रत्येक विस्फोट-समूह के निकलने के समय ज्वर में कुछ वृद्धि हो जाती है। कभी-कभी गले की लसिकाग्रन्थियाँ फूलती हैं। इनके सिवाय इसमें पीडादायक लक्षण नहीं होते।

प्रकार—

१—अतिसौम्य—इसमें रोग बहुत सौम्य होता है। यहाँ तक कि कभी-कभी शरीर पर केवल एकाध विस्फोट के सिवा इसका कुछ भी लक्षण नहीं प्रकट होता।

२—तीव्र या बृहत्स्फोट (Varicelia Bullosa) इस प्रकार में विस्फोटों के बड़े बड़े फफोले बन जाते हैं, जिनके फूटने पर पीडादायक व्रण बनते हैं।

३—कर्दमत्वङ्मसूरिका (V. gangrenosa) यह प्रकार कमजोर या रुग्ण बालकों में दिखाई देता है। इसमें त्वचा पर काले-काले खुरण्ड बनते हैं, जिनके छिल जाने पर दुष्ट व्रण बनते हैं, जो शीघ्र चारो ओर तथा गहराई में फैला करते हैं। इसमें ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण तथा फुफ्फुस के उपद्रव होते हैं।

४—रक्तस्रावी—इसमें विस्फोटकों में उनके चारों ओर तथा श्लेष्मल त्वचा से रक्तस्राव होता है। अपने यहाँ शीतला ७ प्रकार की मानी जाती है, यथा १-बृहती, २-कोद्रवशीतला, ३-पाषाणसहा, ४-सर्षपिका, ५-राजिकाकृति मसूरिका, ६-बहुस्फोटा, तथा ७-चर्मजा। इनका विवरण माधवनिदान परिशिष्ट में शीतलानिदानान्तर्गत 'ज्वरपूर्वा बृहत्स्फोटैः' इत्यादि दूसरे श्लोक से 'एकस्फोटा च कृष्णा च बोद्धव्या चर्मजाऽभिधा' १० वे श्लोक तक होता है।

कोमल पत्तों से युक्त टहनियों द्वारा मक्खियों को उड़ाना चाहिए। यदि ज्वर हो, तब भी शीतल ही जल पीने को दे, उष्ण जल नहीं देना चाहिए। शीतलापीडित मनुष्य को पवित्र, सुन्दर, एकान्त तथा शीतल स्थान में रखना चाहिए। इस रोगी को कोई अपवित्र मनुष्य न छूने पाये। बहुत से वैद्य इस शीतलापीडित रोगी को ओषधि नहीं देते; किन्तु कुछ वैद्य तो अवश्य देते हैं। अब हम ओषधि देनेवाले वैद्यों के मत का वर्णन करते हैं ॥ ५५-६१ ॥

ये शीतलेन सलिलेन विपिष्य सम्यङ् निम्बाक्षबीजसहितां रजनीं पिबन्ति।
तेषां भवन्ति न कदाचिदपीह देहे पीडाकरा जगति शीतलिकाविकाराः ॥ ६२ ॥

जो मनुष्य नीम के बीज, बहेड़े के बीज तथा हल्दी को शीतल जल के साथ अच्छी तरह से पीसकर पीता है, संसार में उस मनुष्य के शरीर में कभी भी पीडाकारक शीतला का विकार नहीं होता ॥ ६२ ॥

मोचारसेन सहितं सितचन्दनेन वासारसेन मधुकं मधुकेन चाथ।
आदौ पिबन्ति सुमनास्वरसेन मिश्रं ते नाप्नुवन्ति भुवि शीतलिकाविकारान् ॥६३॥

***मोचारसेन = कदलीस्तम्भजलेन। मधुकेन चाथ = अथवा मधुना। आदौ = पूर्वरूपे ज्वरागमनमात्रे। सुमनास्वरसेन = जातीपत्रस्वरसेन ॥ ६३ ॥**

जो मनुष्य शीतला के पूर्वरूप में अर्थात् ज्वरागमन मात्र की अवस्था में ही कदली स्तम्भ के जल के साथ, अडूसा के स्वरस के साथ, मधु के साथ अथवा चमेली के पत्तों के रस के साथ मुलेठी के चूर्ण को पीते हैं, वे संसार में शीतलासम्बन्धी विकार से मुक्त रहते हैं ॥ ६३ ॥

शीतलासु क्रिया कार्या शीतला रक्षया सह। बध्नीयान्निम्बपत्राणि परितो भवनान्तरे ॥६४॥
कदाचिदपि नो कार्यमुच्छिष्टस्य प्रवेशनम् ॥ ६५ ॥

शीतला रोग में मन्त्रादिकों से रक्षाविधान के साथ-साथ शीतल उपचार करना चाहिए। घर के चारो ओर नीम के पत्तों को बाँधना चाहिए। तथा कभी भी उच्छिष्ट (जूठे) पदार्थों को घर के भीतर नहीं ले जाना चाहिए ॥ ६४-६५ ॥

स्फोटेष्वपि सदाहेषु रक्षारेणूत्करो हितः। तेन ते शोषमायान्ति प्रपाकं न भजन्ति च ॥६६॥

***रक्षारेणूत्करः = शुष्कगोमयभस्मचूर्णप्रक्षेपः ॥ ६६ ॥**

शीतला के दाहयुक्त स्फोटों पर सूखे हुए गोबर की राख को बुरकना हितकर होता है। इससे वे स्फोट सूख जाते हैं तथा पकते भी नहीं ॥ ६६ ॥

साध्यासाध्यता—रोग सुसाध्य है। प्रायः ८-१० दिन में रोग ठीक हो जाता है। रक्तस्रावी और कर्दम प्रकार की मृत्यु होती है। मस्तिष्कशोथ का उपद्रव होने से कभी-कभी मृत्यु हो सकती है।

चिकित्सा—जैसे अपने यहाँ 'न मन्त्रमौषधं तस्य पापरोगस्य विद्यते' (शीतलास्तोत्र) यह लिखा है, उस भाँति पाश्चात्य वैद्यक में भी इस रोग के लिए कोई प्रधान ओषधि नहीं है। किन्तु पाश्चात्य परिचर्या क्रमानुसार रोगी को प्रारम्भ से खुरण्ड पूर्णतया उतर जाने के समय तक पृथक् रहना चाहिए। पीने के लिए विपुल जल, जौ का यूष, फलों का रस तथा ग्लूकोज इत्यादि हल्के पदार्थ देने चाहिए। विरेचन से कोष्ठशुद्धि करनी चाहिए। ज्वर के लिए स्वेदल ओषधियाँ दी जाती हैं। कण्डू के लिए डस्टिंग पाउडर लगाया जाता है। यदि कण्डू अधिक हो तो बालकों में खुजाने से रोकने के लिए हाथों को बाँधना या कुशा (Splint) लगाना चाहिए। रोगनिवृत्त होने के पश्चात् विस्फोटों में कहीं सूजन अथवा पीड़ा हो तो टंकणाम्ल से स्वेद कराया जाता है। खुरण्ड उतर जाने के बाद यदि व्रण हों तो पारद का मरहम लगाया जाता है। रोग निवृत्त होने के पश्चात् कभी-कभी बड़ी कमजोरी होती है। इसके लिए पौष्टिक बल्य आहार तथा लोह, कुचला और फोस्फेट इत्यादि बल्य ओषधियों का सेवन तथा स्थानान्तर कराया जाता है।

चन्दनं वासको मुस्तं गुडूची द्राक्षया सह। एषां शीतकषायस्तु शीतलाज्वरनाशनः ॥६७॥

*शीतकषायः = हिमः ॥ ६७ ॥

लाल चन्दन, अडूसा, नागरमोथा, गुडूची तथा किसमिस—इन सबका हिम बनाकर पीने से शीतला सम्बन्धी ज्वर नष्ट हो जाता है ॥ ६७ ॥

जपहोमोपहारैश्च दानस्वस्त्ययनार्चनैः। विप्रगोशम्भुगौरीणां पूजनैस्ताः शमं नयेत् ॥६८॥

जप, होम, बलि, दान, स्वस्तिवाचन, अर्चन और ब्राह्मण, गो, भगवान् शङ्कर तथा गौरी के पूजन से शीतला को शान्त करना चाहिए ॥ ६८ ॥

स्तोत्रञ्च शीतलादेव्याः पठेच्छीतलिकाऽन्तिके। ब्राह्मणः श्रद्धया युक्तस्तेन शाम्यन्ति शीतलाः॥

शीतला से पीड़ित मनुष्य के पास यदि ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक निम्न शीतला देवी के स्तोत्र का पाठ करे तो शीतला शान्त हो जाती हैं ॥ ६९ ॥

शीतलास्तोत्रमाह—

अस्य श्रीशीतलास्तोत्रस्य महादेवऋषिरनुष्टुप्छन्दः। शीतला देवता शीतलोपद्रवशान्त्यर्थं जपे विनियोगः।

स्कन्द उवाच—

भगवन्देवदेवेश ! शीतलायाः स्तवं शुभम्। वक्तुमर्हस्यशेषेण विस्फोटकभयापहम् ॥ ७० ॥

ईश्वर उवाच—

वन्देऽहं शीतलां देवीं रासभस्थां दिगम्बराम्। यामासाद्य निवर्त्तेत विस्फोटकभयं महत् ॥

शीतले शीतले चेति यो ब्रूयाद्दाहपीडितः। विस्फोटकभयं घोरं क्षिप्रं तस्य प्रणश्यति ॥७२॥

यस्त्वामुदकमध्ये तु ध्यात्वा सम्पूजयेन्नरः। विस्फोटकभयं घोरं कुले तस्य न जायते ॥७३॥

शीतले ! ज्वरदग्धस्य पूतिगन्धयुतस्य च। प्रनष्टचक्षुषः पुंसस्त्वामाहुर्जीवितौषधम् ॥ ७४ ॥

नमामि शीतलां देवीं रासभस्थां दिगम्बराम्। मार्जनीकलशोपेतां शूर्पालङ्कृतमस्तकाम् ॥

शीतले ! तनुजान्रोगान्नृणां हरसि दुस्तरान्। विस्फोटकविशीर्णानां त्वमेकाऽमृतवर्षिणी ॥

गलगण्डग्रहा रोगा ये चान्ये दारुणा नृणाम्। त्वदनुध्यानमात्रेण शीतले ! यान्ति ते क्षयम् ॥

न मन्त्रो नौषधं किञ्चित्पापरोगस्य विद्यते। त्वमेका शीतले ! धात्री नान्यां पश्यामि देवताम् ॥

मृणालतन्तुसदृशीं नाभिहृन्मध्यसंस्थिताम्। यस्त्वां सञ्चिन्तयेद्देवि ! तस्य मृत्युर्न जायते ॥

अष्टकं शीतलादेव्या यः पठेन्मानवः सदा। विस्फोटकभयं घोरं कुले तस्य न जायते ॥

श्रोतव्यं पठितव्यञ्च नरैर्भक्तिसमन्वितैः। उपसर्गविनाशाय परं स्वस्त्ययनं महत् ॥ ८१ ॥

शीतलाऽष्टकमेतद्धि न देयं यस्य कस्यचित्।
किन्तु तस्मै प्रदातव्यं भक्तिश्रद्धाऽन्वितो हि यः ॥ ८२ ॥

इति श्रीकाशीखण्डे शीतलाऽष्टकस्तोत्र सम्पूर्णम्।

इस श्रीशीतलास्तोत्र के महादेव ऋषि हैं। अनुष्टुप् छन्द है। तथा शीतला देवता है। मैं शीतला के उपद्रवों की शान्ति के लिए इस स्तोत्र के जप में प्रवृत्त होता हूँ।

स्वामि कार्तिकेय जी ने भगवान् शङ्कर से कहा कि हे देवताओं के भी ईश ! भगवान् ! विस्फोटक के भय को नष्ट करनेवाली शीतला के शुभ स्तोत्र को आद्योपान्त मुझसे कहिये। तब भगवान् महादेव ने कहना प्रारम्भ किया:—

मैं गधे पर चढ़ी हुई तथा नग्न शीतला देवी को प्रणाम करता हूँ, जिस शीतला देवी की स्तुति करने से विस्फोटक-सम्बन्धी महाभय दूर हो जाता है। दाह से पीड़ित जो मनुष्य हे शीतले ! हे शीतले ! ऐसा कहता है, उसका विस्फोटक-सम्बन्धी घोर भय शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

हे देवि ! जो मनुष्य जल के अन्दर तुम्हारा ध्यान करके तुम्हारी पूजा करता है, उसके कुल में विस्फोटक का घोर भय कभी उत्पन्न नहीं होता। हे शीतले ! ज्वर से जलते हुए, दुर्गन्धयुक्त

तथा जिनकी आँखें नष्ट हो गई हैं, ऐसे मनुष्यों को तुम्हीं जीवनप्रद ओषधि हो, ऐसा विद्वानों ने कहा है। गधे पर चढ़ी हुई, नग्न, एक हाथ में मार्जनी (झाडू) तथा दूसरे हाथ में कलश को ली हुई और मस्तक पर सूप को धारण करनेवाली शीतला देवी को मैं नमस्कार करता हूँ।

हे शीतले ! मनुष्यों के शरीर में उत्पन्न होनेवाले दारुण रोगों को तू हरती है तथा विस्फोटकों से जिनका शरीर विशीर्ण हो गया है, ऐसे मनुष्यों के ऊपर अमृत की वर्षा करनेवाली अकेली तू ही है।

हे शीतले ! मनुष्यों के गलगण्ड तथा अन्यान्य दारुण रोगों का तुम्हारे ध्यानमात्र से क्षय हो जाता है। इस पापरोग के लिए कोई मन्त्र तथा ओषधि नहीं है। हे शीतले ! इस रोग से त्राण करनेवाली एक तू ही है और तुमको छोड़कर इस रोग से परित्राण करनेवाली कोई देवता मुझे दिखाई भी नहीं देती। हे देवि ! कमलनाल के तन्तु के समान नाभि तथा हृदय के मध्य में स्थित तुम्हारा जो मनुष्य ध्यान करता है, उसकी मृत्यु नहीं होती। जो मनुष्य शीतला देवी के उपर्युक्त अष्टक (शीतलाष्टक) अर्थात् शीतलास्तोत्रके आठ श्लोकों को हमेशा पढ़ता है, उसके कुल में विस्फोटक सम्बन्धी घोर भय कभी उत्पन्न नहीं होता।

मनुष्य को दुःख के नाशार्थ भक्तिपूर्वक इस शीतलास्तोत्र का पाठ करना तथा श्रवण करना चाहिए। यह स्तोत्र परम कल्याणकारी है। इस शीतलाष्टक नामक स्तोत्र को जिस-किसीको नहीं बतला देना चाहिए; किन्तु जो पुरुष भक्ति तथा श्रद्धा से युक्त हो, उसीको देना चाहिए। इस प्रकार यह श्रीकाशीखण्ड में कथित 'शीतलाष्टकस्तोत्र' सम्पूर्ण हुआ॥ ७०-८२॥

अथ शीतलाया भेदाः।

तत्र शीतलाया द्वितीयं भेदमाह—

वातश्लेष्मसमुद्भूता कोद्रवा कोद्रवाकृतिः। तां कश्चित्प्राह पक्वेति सा तु पाकं न गच्छति॥
जलशूकवदङ्गानि सा विध्यति विशेषतः। सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा शान्तिं याति विनौषधम्॥
यदि वा भेषजं दद्यात्खदिराष्टकनिर्मितम्। कषायं हि तदा दद्यात्कोद्रवायाः प्रशान्तये॥

***कोद्रवा 'कोदवा' इति लोके॥ ८३-८५॥**

वात तथा कफ दोषों से उत्पन्न होनेवाली तथा कोदो के समान आकृतिवाली जो शीतला होती है, उसे 'कोद्रवा' कहते हैं। उस शीतला को कुछ लोग पकी हुई शीतला कहते हैं, किन्तु वह शीतला पकती नहीं।

वह शीतला विशेषतः जलशूक के समान अङ्गों को वेधती है और सात दिन अथवा बारह दिनों में ओषधि के बिना ही शान्त हो जाती है। यदि इस कोद्रवा नामक शीतला की शान्ति के लिए ओषधि देनी हो, तो 'खदिराष्टक' से निर्मित क्वाथ को देना चाहिए॥ ८३-८५॥

अथ शीतलायास्तृतीयं भेदमाह—

ऊष्मणा तूष्मजारूपा सकण्डूः स्पर्शनप्रिया।
नाम्ना पाणिसहा ख्याता सप्ताहाच्छुष्यति स्वयम्॥ ८६॥

***ऊष्मजारूपा = यदूष्मजा राजिकाऽऽकृतिः। 'अमौरी' इति लोके वदन्ति, तद्रूपा। पाणिसहा = 'पानिसहा' इति लोके॥ ८६॥**

जो शीतला उष्णता के कारण उत्पन्न, राई के समान आकारवाली, कण्डूयुक्त तथा स्पर्श करने में प्रिय होती है, उसे पाणिसहा (पनिसहा या अमौरी) कहते हैं। वह शीतला सात दिन में आप से आप सूख जाती है॥ ८६॥

अथ शीतलायाश्चतुर्थं भेदमाह—

चतुर्थी सर्षपाकारा पीतसर्षपवर्णिनी। नाम्ना सर्षपिका ज्ञेयाऽभ्यङ्गमत्र विवर्जयेत्॥ ८७॥

एक चौथे प्रकार की शीतला होती है, जो कि आकार में सरसों के समान तथा वर्ण में भी पीले सरसों के समान होती है, इसे 'सर्षपिका' नामक शीतला समझना चाहिए। इस शीतला में अभ्यङ्ग का परित्याग कर देना चाहिए ॥ ८७ ॥

अथ शीतलायाः पञ्चमं भेदमाह—

किञ्चिदूष्मनिमित्तेन जायते राजिकाऽऽकृतिः। एषा भवति बालानां मुखं शुष्यति च स्वयम् ॥

***एषा = 'दुःखकोद्रवा' इति लोके ख्याता ॥ ८८ ॥**

जो शीतला किञ्चत् उष्णता के कारण उत्पन्न होती है और आकार में राई के समान होती है, उसे 'दुःखकोद्रवा' कहते हैं। यह शीतला बालकों के मुख पर होती है तथा अपने आप सूख जाती है ॥ ८८ ॥

शीतलायाः षष्ठं भेदमाह—

कोठवज्जायते षष्ठी लोहितोन्नतमण्डला। ज्वरपूर्वा व्यथायुक्ता ज्वरस्तिष्ठेद्दिनत्रयम् ॥८९॥
स्फोटानां मेलनादेषा बहुस्फोटाऽपि दृश्यते।

***एषा मगधदेशे = 'दाम' इति प्रसिद्धा ॥ ८९ ॥**

एक छठे प्रकार की शीतला होती है, जो कि कोठ के समान, रक्तवर्ण तथा उन्नत मण्डलवाली और व्यवस्थायुक्त होती है। इस शीतला के उत्पन्न होने के पूर्व ज्वर आता है। यह शीतला केवल तीन दिन तक रहती है। तथा अनेक स्फोटों के मिल जाने के कारण अनेक स्फोट भी दिखाई देते हैं। मगधदेश में यह शीतला 'दाम' इस नाम से प्रसिद्ध है ॥ ८९ ॥

शीतलायाः सप्तमं भेदमाह—

एकस्फोटा च कृष्णा च बोद्धव्या चर्मजाऽऽभिधा ॥ ९० ॥

***चर्मजाऽभिधा = 'चमरगोटी' इति लोके ॥ ९० ॥**

यदि शीतला एक स्फोट के स्वरूप में हो तथा कृष्णवर्ण की हो, उसे 'चर्मजा' या 'चरमगोटी' नामक शीतला कहते हैं ॥ ९१ ॥

एताः सप्तापि बोद्धव्याः शीतलादेव्यधिष्ठिताः। शीतलोचितमाचारमासु सर्वासु वा चरेत् ॥

ये सातों प्रकार की शीतला शीतलादेवी के अधिष्ठान से उत्पन्न होती हैं, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए इनमें समस्त शीतलोचित उपचार करना चाहिए ॥ ९१ ॥

शीतलायाः साध्यत्वादिकमाह—

काश्चिद्विनाऽपि यत्नेन सुखं सिद्ध्यन्ति शीतलाः।
दृष्टाः कष्टतराः काश्चित्काश्चित्सिध्यन्ति वा न वा।
काश्चिन्नैव तु सिद्ध्यन्ति यत्नतोऽपि चिकित्सिताः ॥ ९२ ॥

इति षष्टितमः शीतलामसूरिकाऽधिकारः समाप्तः ॥ ६० ॥



कुछ शीतला बिना किसी प्रकार के यत्न ही के सुखपूर्वक शान्त हो जाती हैं। कुछ शीतला अत्यन्त कष्टसाध्य होती हैं। कुछ शीतला उपचार करने से शान्त होती हैं तथा कुछ नहीं भी शान्त होती हैं। और कुछ शीतला तो यत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर भी ठीक नहीं ही होती ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे षष्टितमः शीतलामसूरिकाऽधिकारः समाप्तः ॥६०॥



अथैकषष्टितमः क्षुद्ररोगाधिकारः ॥ ६१ ॥

तत्र पलितरोगस्य निदानपूर्वकं लक्षणमाह—

क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः। पित्तञ्च केशान्पचति पलितं तेन जायते ॥ १ ॥

शरीरोष्मा = देहाग्निः। पित्तञ्च=भ्राजकाख्यं, तच्च शिरोगतं क्रोधात्कुपितं पित्तं पचति। शोकेन श्रमेण च कुपितो वायुः शरीरोष्माणं शिरो नयति।

'एकः प्रकुपितो दोष इतरावपि कोपयेद्'।

इति वचनाद्वातपित्ताभ्यां श्लेष्मा च कोपितः, स एव केशानां शौक्ल्यं करोति। एवं त्रयोऽपि दोषाः पलितस्य हेतवः। पलितं = केशस्य शुक्लता ॥ १ ॥

क्रोध, शोक तथा श्रम से प्रकुपित वायु शरीर की ऊष्मा को शिर में ले जाता है। शिर में रहनेवाला भ्राजक नामक पित्त भी क्रोध से प्रकोप को प्राप्त होता है। 'प्रकुपित हुआ एक दोष अन्य दोषों को भी कुपित कर देता है' इस वचन के अनुसार प्रकुपित हुआ वायु पित्त तथा कफ को भी प्रकुपित कर देता है। इस प्रकार प्रकुपित हुआ कफ बालों को श्वेत कर देता है। इस प्रकार तीनों दोष पलित अर्थात् केशों की शुक्लता के हेतु होते हैं ॥ १ ॥

पलितचिकित्सामाह—

लोहचूर्णस्य कर्षं तु दशार्द्धं चूतमज्जतः। धात्रीपलद्वयं पथ्ये द्वे तथैकं विभीतकम् ॥ २ ॥
पिष्ट्वा लोहमये भाण्डे स्थापयेन्निशि वासयेत्। लेपोऽयमचिराद्धन्ति पलितं नात्र संशयः ॥३॥

दशार्द्धं = पञ्चकर्षाणि ॥ २-३ ॥

लोहे का चूर १ तोला, आमकी मज्जा ५ तोले, आँवले ८ तोले, हरड़ ८ तोले तथा बहेड़े ४ तोले—इन सब ओषधियों को पीसकर लोहे के पात्र में रातभर पड़ा रहने दे। फिर इस लेप को करने से शीघ्र ही पलित रोग नष्ट हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ २-३ ॥

काश्मर्या मूलमादौ सहचरकुसुमं केतकस्यापि मूलं
लौहं चूर्णं सभृङ्गं त्रिफलपलयुतं तैलमेभिः पचेद्यः।
कृत्वा लौहस्य भाण्डे क्षितितलनिहितं स्थापयेन्मासमेकं
केशाः काशप्रकाशा अपि मधुपनिभा अस्य योगाद्भवन्ति ॥ ४ ॥

काश्मरी (कुम्भेर) की जड़, पियावाँसे के फूल, केतकी की जड़, लोहे का चूर, भृङ्गराज तथा चार तोले त्रिफला, इन सब ओषधियों के कल्क के साथ तेल का पाक करले। फिर इस तेल को लोहपात्र में भरकर १ महीने तक जमीन में गाड़ दे। इस तेल को लगाने से कास के फूल के समान श्वेत केश भी भौंरे के समान काले हो जाते हैं ॥ ४ ॥

त्रिफला नीलिकापत्रं भृङ्गराजोऽयसो रजः। अविमूत्रेण संपिष्टं लेपात्कृष्णीकरं परम् ॥ ५ ॥

हरड़, बहेड़ा, आँवला, नील के पत्ते, भृङ्गराज तथा लोहे का चूरा—इन सब ओषधियों को भेड़ के मूत्र में पीसकर प्रलेप करने से बाल अत्यन्त काले हो जाते हैं ॥ ५ ॥

अथेन्द्रलुप्तस्य निदानपूर्वकसम्प्राप्तिलक्षणमाह—

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम्। प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ॥
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसम्भवः। तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं 'रुह्ये'ति च विभावयेत् ॥

रोमकूपों में स्थित पित्त वात के साथ प्रकुपित होकर रोमों को गिरा देता है। तत्पश्चात् रक्तमिश्रित कफ रोमकूपों को अवरुद्ध कर देता है। अतएव दूसरे रोमों का उत्पन्न होना असम्भव हो जाता है। इस रोग को इन्द्रलुप्त, खालित्य तथा रुह्या कहते हैं। गंवार भाषा में इसे गञ्जा रोग कहते हैं ॥६-७॥

इन्द्रलुप्तचिकित्सामाह—

तिक्तपटोलीपत्रस्वरसैर्घृष्टा शमं याति । चिरकालजाऽपि रुह्या नियतं दिवसत्रयेणापि ॥ ८ ॥

कड़वे परवल के पत्तों के स्वरस को मलने से तीन दिन में ही बहुत पुराना भी इन्द्रलुप्त शान्त हो जाता है ॥ ८ ॥

गोक्षुरस्तिलपुष्पाणि तुल्ये च मधुसर्पिषी । शिरः प्रलेपितं तेन केशैः समुपचीयते ॥ ९ ॥

गोखरू, तिल के फूल तथा उन्हींके बराबर मधु और घृत-इनको पीसकर शिर पर प्रलेप करने से शिर केशों से भर जाता है ॥ ९ ॥

हस्तिदन्तमसीं कृत्वा छागीदुग्धं रसाञ्जनम् । लोमान्येतेन जायन्ते लेपात्पाणितलेष्वपि ॥

हाथीदाँत का भस्म तथा रसौत—इनको बकरी के दूध के साथ पीसकर प्रलेप करने से हथेली में बाल उग आते हैं ॥ १० ॥

यष्टीन्दीवरमृद्वीकातैलाज्यक्षीरलेपनैः । इन्द्रलुप्तं शमं याति केशाः स्युश्च घना दृढाः ॥११॥

मुलेठी, नीले कमल, मुनक्का, तेल, घी तथा दूध—इनको पीसकर प्रलेप करने से इन्द्रलुप्त नष्ट हो जाता है तथा बाल सघन तथा दृढ़ हो जाते हैं ॥ ११ ॥

जातीकरञ्जवरुणकरवीराग्निपाचितम् । तैलमभ्यञ्जनाद्धन्यादिन्द्रलुप्तं न संशयः ॥ १२ ॥

चमेली के पत्ते, करञ्ज, वरुन की छाल, कनेर तथा चित्त-इनके कल्क द्वारा पकाये गये तेल का अभ्यङ्ग करने से इन्द्रलुप्त नष्ट हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ १२ ॥

स्नुहीदुग्धादितैलमाह—

स्नुहीपयः पयोऽर्कस्य लाङ्गली मार्कवो विषम् । अजामूत्रं सगोमूत्रं रक्तिका सेन्द्रवारुणी ॥
सिद्धार्थकस्तीक्ष्णगन्धा सम्यगेभिर्विपाचितम् । तैलं भवति नियमात्खालित्यव्याधिनाशनम्॥

थूहर का दूध, मदार का दूध, कलिहारी, भृङ्गराज, वत्सनाभविष, बकरी का मूत्र, गोमूत्र, गुञ्जा, इन्द्रायण की जड़, सरसों तथा वच इन-सब ओषधियों के कल्क द्वारा पकाये हुए तेल को नियम पूर्वक लगाने से इन्द्रलुप्त नष्ट हो जाता है ॥ १३-१४ ॥

दारुणकचिकित्सामाह—

दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रजायते । मारुतश्लेष्मकोपेन विद्याद्दारुणकन्तु तत् ॥१५॥

*दारुणा = कर्कशा । दारुणकं = लोके 'रूसी'ति ख्यातम् ॥ १५ ॥

वायु तथा कफ के प्रकोप से केशभूमि कर्कश, कण्डूयुक्त तथा रूक्ष हो जाती है । इस रोग को 'दारुणक' कहते हैं । यह रोग लोक में 'रूसी' इस नाम से विख्यात है ॥ १५ ॥

दारुणकचिकित्सामाह—

कार्यो दारुणके मूर्ध्नि प्रलेपो मधुसंयुतः । प्रियालबीजमधुककुष्ठमाषैः ससैन्धवः ॥ १६ ॥

दारुणक रोग में चिरौंजी के बीज, मुलेठी, कूठ, उड़द तथा सेंधानमक इन सब ओषधियों को पीसकर और मधु मिलाकर शिर पर प्रलेप करना चाहिए ॥ १६ ॥

आम्रबीजं तथा पथ्या द्वयं स्यान्मात्रया समम् । दुग्धेन पिष्टं तल्लेपो दारुणं हन्ति दारुणम्।
दुग्धेन खाखसं बीजं प्रलेपाद्दारुणं हरेत् ॥ १७ ॥

आम का बीज तथा हरड़ इन दोनों को समान-समान भाग में लेकर दूध के साथ पीसकर प्रलेप करने से दारुण दारुणक रोग नष्ट हो जाता है । अथवा खसखस के बीज को दूध के साथ पीसकर प्रलेप करने से दारुणक रोग नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

गुञ्जाऽऽदितैलमाह—

गुञ्जाफलैः शृतं तैलम्भृङ्गराजरसेन च । कण्डूदारुणहृत्कुष्ठकापालव्याधिनाशनम् ॥ १८ ॥

गुञ्जाफल के कल्क तथा भृङ्गराज स्वरस के साथ पकाये हुए तेल को लगाने से कण्डू, दारुणक रोग, कुष्ठ तथा कापालकुष्ठ—ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

अथारूंषिकालक्षणमाह—

अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्द्धनि । कफासृक्कृमिकोपेन तानि विद्यादरूंषिकाम् ॥

कफ, रक्त तथा कृमियों के प्रकोप से शिर में अनेक मुखोंवाले तथा अत्यन्त क्लेदयुक्त जो व्रण हो जाते हैं, उन्हें अरूंषिका कहते हैं ॥ १९ ॥

अथारूंषिकाचिकित्सामाह—

नीलोत्पलस्य किञ्जल्को धात्रीफलसमन्वितः । यष्टीमधुकयुक्तश्च लेपाद्धन्यादरूंषिकाम् ॥

नीले कमल की केशर, आँवले तथा मुलेठी—इन तीनों को पीसकर प्रलेप करने से अरूंषिका नष्ट हो जाती है ॥ २० ॥

त्रिफलाद्यतैलमाह—

त्रिफलाऽयोरजोयष्टीमार्कवोत्पलसारिवाः । सैन्धवं पक्वमेतस्तु तैलं हन्यादरूंषिकाम् ॥२१॥

हरड़, बहेड़ा, आँवला, लोहे का चूर, मुलेठी, कमल, सारिवा तथा सेंधानमक-इन ओषधियों के कल्क द्वारा सिद्ध किया गया तेल अरूंषिकाको को नष्ट कर देता है ॥ २१ ॥

इरिवेल्लिकालक्षणमाह—

पिडकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्ररुजाज्वराम् । सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम् ॥

शिर में गोल, उग्रपीडायुक्त, उग्र ज्वरयुक्त, तीनों दोषों से उत्पन्न हुई तथा तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त जो पिडिका होती है, उसे 'इरिवेल्लिका' समझना चाहिए ॥ २२ ॥

इरिवेल्लिकाचिकित्सामाह—

पैत्तिकस्य विसर्पस्य या चिकित्सा प्रकीर्त्तिता । तयैव भिषगेताञ्च चिकित्सेदिरिवेल्लिकाम् ॥२३॥

पैत्तिक विसर्प के लिए जिस-जिस चिकित्सा का वर्णन किया गया है, वैद्य को चाहिए कि इरिवेल्लिका की भी चिकित्सा उसी प्रकार करे ॥ २३ ॥

पनसिकालक्षणमाह—

कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडकामुग्रवेदनाम् । स्थिरां पनसिकां तान्तु विद्याद्वातकफोत्थिताम् ॥

कान के भीतर वात तथा कफदोषों से उत्पन्न हुई, उग्र वेदनायुक्त तथा स्थिर जो पिडिका होती है, उसे 'पनसिका' कहते हैं ॥ २४ ॥

पनसिकाचिकित्सामाह—

भिषक् पनसिकां पूर्वं स्वेदयेदथ लेपयेत् ॥ २५ ॥

कल्कैर्मनःशिलाकुष्ठनिशातालकदारुभिः । पक्वां विज्ञाय तां भित्त्वा व्रणवत्समुपाचरेत् ॥२६॥

वैद्य को चाहिए सर्वप्रथम पनसिका का स्वेदन करे, तत्पश्चात् मनःशिला, कूठ, हल्दी, हरताल तथा देवदारु इनको पीसकर प्रलेप करे। और जब समझ में आवे कि पिडिका पक गई है, तो उसका भेदन करके व्रणवत् उपचार करे ॥ २५-२६ ॥

पाषाणगर्दभलक्षणमाह—

वातश्लेष्मसमुद्भूतः श्वयथुर्हनुसन्धिजः । स्थिरो मन्दरुजः स्निग्धो ज्ञेयः पाषाणगर्दभः ॥

*स्थिरः=कठिनः ॥ २७ ॥

हनुसन्धि में वात तथा कफ के प्रकोप से उत्पन्न, कठिन, मन्द वेदनावाला तथा स्निग्ध जो शोथ होता है, उसे [1]'पाषाणगर्दभ' कहते हैं ॥ २७ ॥

---

१. पाषाणगर्दभ को कुछ लोग औपसर्गिक कर्णमूलिक शोथ या कर्णफेर (Epidemic Protitis or Mumps) कहते हैं। परन्तु कर्णफेर के लक्षण पाषाणगर्दभके बिल्कुल विरुद्ध होते हैं। पाषाणगर्दभ में पित्तानुबन्ध न होनेके कारण ज्वर नहीं हो सकता, न उसके लक्षणों में ज्वर का उल्लेख ही है, कर्णफेर में ज्वर होता है। पाषाणगर्दभ का शोथ एक तरफ होता है,

पाषाणगर्दभचिकित्सामाह—

पाषाणगर्दभं पूर्वं स्वेदयेत्कुशलो भिषक्। ततः पनसिकाप्रोक्तैः कल्कैरुष्णैः प्रलेपयेत्॥ २८॥

कुशल वैद्य को चाहिए कि पाषाणगर्दभ को सर्वप्रथम स्वेदन करे। तत्पश्चात् पनसिका के लिए कहे गये उष्ण कल्कों का प्रलेप करे॥ २८॥

वातश्लैष्मिकशोथघ्नः कल्कैरन्यैश्च लेपयेत्। परिपाकगतं भित्त्वा व्रणवत्तमुपाचरेत्॥ २९॥

वात तथा कफजन्य शोथ को नष्ट करनेवाले अन्य कल्कों का भी प्रलेप करे। और जब यह पाषाणगर्दभ परिपाक को प्राप्त हो जाय, तो उसका भेदन करके व्रणवत् उपचार करे॥ २९॥

जलौकोभिर्हृते रक्ते स शाम्यति विनौषधम्। एतत्स्थलेषु बहुषु प्रेक्षितं लिखितं ततः॥३०॥

जोंकों द्वारा रक्त को निकलवाने से ओषधि के बिना ही पाषाणगर्दभ शान्त हो जाता है। ऐसा अनेक स्थलों पर देखा गया है, इसीलिए यहाँ लिखा गया है॥ ३०॥

मुखदूषिकालक्षणमाह—

शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतरक्तजाः। जायन्ते पिडका यूनां ज्ञेयास्ता मुखदूषिकाः[1]॥

***प्रख्याः=सदृशाः। एता यूनामेव मुखे भवन्ति स्वभावात्॥ ३१॥**

मुखदूषिका के लक्षण—युवा मनुष्यों के मुख के ऊपर सेमर के कांटों के समान कफ-वायु तथा रक्त के दोष से उत्पन्न होनेवाली जो फुन्सियाँ होती हैं, वे युवानपिडका या मुखदूषिका कहलाती हैं। ये फुंसियाँ स्वभावतः युवापुरुषों ही के मुख पर होती हैं, इसलिए युवानपिडका भी कही जाती हैं॥ ३१॥

अथ मुखदूषिकाचिकित्सा।

तत्र मुखलेपमात्रामाह—

अङ्गुलस्य चतुर्थांशो मुखलेपो विधीयते। मध्यमस्तु त्रिभागः स्यादुत्तमोऽर्द्धाङ्गुलो भवेत्॥

मुखदूषिका की चिकित्सा में मुखलेप की मात्रा—जो मुखलेप चौथाई अङ्गुल प्रमाण मोटा होता है, वह निकृष्ट मात्रा का, तिहाई अङ्गुल प्रमाण मोटा लेप मध्यम मात्रा का और आधा अङ्गुल प्रमाण मोटा लेप उत्तम मात्रा का कहलाता है॥ ३२॥

मुखलेपस्य स्थितिकालमाह—

स्थितिकालोऽपि तस्योक्तो यावत्कल्को न शुष्यति।
शुष्कस्तु गुणहीनः स्यात्तथा दूषयति त्वचम्॥ ३३॥

कर्णफेर में दोनों ओर शोथ होता है। पाषाणगर्दभ में अल्प पीड़ा होती है, कर्णफेर में अधिक पीड़ा होती है। पाषाणगर्दभ का शोथ स्थिर अर्थात् कठिन और चिरज होता है। यथाः—

'पाषाणवत् काठिन्यात् पाषाणगर्दभः' मधुकोशः।

कर्णफेर का शोथ न कठिन होता है और न चिरकालीन होता है। अत एव पाषाणगर्दभ कर्णमूलिक लालाग्रन्थि (Parotid gland) का कोई साधारण अर्बुद, यथा-एडेनोमा, फाइब्रोमा अथवा इण्डो थीलिओमा (Adenoma, Fibroma or Endothelieoma)।

१. मुखदूषिका को अंग्रेजी में एक्नी वल्गेरिस (Acne Vulgaris) कहते हैं। इस मुहासे में मुख की त्वचा के मेदपिण्ड (Sebaceous glands) के द्वार बन्द होकर फूलते हैं। तत्पश्चात् एक्नी नामक जीवाणु (Acne Bacillus) से दूषित होकर पकती हैं। अपने यहाँ अष्टाङ्गसंग्रह में भी लिखा हुआ है कि:—मेदोगर्भा मुखे यूनां ताभ्यां च मुखदूषिका।

मुखलेप का स्थितिकाल—जब तक लेप की हुई औषधि सूख न जाय, तब तक उसे मुखपर रखना चाहिए, सूखने के बाद अलग कर देना चाहिए; क्योंकि सूखने पर लेप गुणहीन हो जाता है, अतः पड़ा रहने देने से त्वचा को दूषित कर देता है ॥ ३३ ॥

मुखलेपानाह—

लोध्रधान्यवचालेपस्तारुण्यपिडकाऽपहः । तद्वद्गोरोचनायुक्तं मरिचं मुखलेपितम् ॥ ३४ ॥

मुखलेप—लोध, धनिया और वच इनका लेप करने से युवावस्था में होनेवाली मुख पर की फुन्सियाँ नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार से गोरोचन के साथ काली मरिच का भी लेप करने से जवानी में उत्पन्न हुई मुख-की फुन्सियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥ ३४ ॥

सिद्धार्थकवचालोध्रसैन्धवैश्च प्रलेपनम् । वमनञ्च निहन्त्याशु पिडकां यौवनोद्भवाम् ॥३५॥

सरसों, वच, लोध और सेंधा नमक-इन सबोंका लेप करने से, एवं वामक द्रव्यों को खाकर वमन करने से जवानी से निकली हुई मुख की फुन्सियाँ शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं ॥ ३५ ॥

मुखकान्तिकरलेपमाह—

केवलाः पयसा पिष्टास्तीक्ष्णाः शाल्मलिकण्टकाः । आलिप्त त्र्यहमेतेन भवेत्पद्मोपमं मुखम् ॥

मुखकान्तिकर लेप—केवल तीखे सेमल के काँटों को दूध के साथ पीसकर मुख पर तीन दिन तक लेप करनेसे मुख कमल की भाँति कोमल तथा चिकन हो जाता है, अर्थात् मुहासे नष्ट हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

व्यङ्गलक्षणमाह—

क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः । मुखमागत्य सहसा मण्डलं प्रसृजत्यतः ।
नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे [1]व्यङ्गं तमादिशेत् ॥ ३७ ॥

***व्यङ्गम् = 'झाँई' इति लोके ॥ ३७ ॥**

व्यङ्ग के लक्षण—क्रोध तथा परिश्रम करने से प्रकुपित हुआ वायु पित्त से युक्त होने पर मुख-भाग पर आकर सहसा मुख के ऊपर वेदनारहित, अत्यन्त पतला तथा श्याव वर्ण (काला मिला हुआ सफेद वर्ण) का जो मण्डल उत्पन्न करता है, उसे लोक में व्यङ्ग अर्थात् झाईं कहते हैं ॥ ३७ ॥

नीलिकालक्षणमाह—

कृष्णमेवङ्गुणं वक्त्रे गात्रे वा नीलिकां विदुः ॥ ३८ ॥

***एवंगुणम् = नीरुजं तनुकं मण्डलम् ॥ ३८ ॥**

नीलिका के लक्षण—मुख के ऊपर या देह के किसी भी भाग में इसी प्रकार के गुणों से युक्त अर्थात् वेदनारहित, अत्यन्त पतला तथा नील वर्ण का जो मण्डल होता है, उसे नीलिका कहते हैं। व्यङ्ग तथा नीलिका में यह भेद है कि-व्यङ्ग श्याम वर्ण का तथा नीलिका अत्यन्त काली होती है। भोज यह भी कहते हैं कि-व्यङ्ग केवल मुख में होता है और नीलिका सर्वाङ्ग में ॥ ३८ ॥

---

१. व्यङ्ग, न्यच्छ और नीलिका वास्तव में एक विकृति के ही नाम हैं। यथाः—
'न्यच्छं लाञ्छनमुच्यते' तथा 'श्यामलं मण्डलं व्यङ्गं वक्त्रादन्यत्र नीलिका'। अष्टाङ्गसंग्रह।
पाश्चात्य वैद्यक में इन्हें कैपिलरी एन्जियोमाटा या नार्वी (Capillary angiomata or Naevi) कहते हैं। ये विकार धमनियों, शिराओं और केशिकाओं का एक छोटा-सा गुच्छ त्वचा में बनने से उत्पन्न होते हैं। इसलिए अपने यहाँ इन रोगों में शिराव्यध का विधान किया गया है। यथाः—
'शिरावेधैः प्रलेपैश्च तथाऽभ्यङ्गैरुपाचरेत्। व्यङ्गं च नीलिकां वाऽपि न्यच्छं च तिलकालकम् ॥'
भा० प्र० व्यङ्गचि०।

व्यङ्गनीलिकयोश्चिकित्सामाह—

शिरावेधैः प्रलेपैश्च तथाऽभ्यङ्गैरुपाचरेत्। व्यङ्गं च नीलिकां वाऽपि न्यच्छञ्च तिलकालकम् ॥

व्यङ्ग तथा नीलिका की चिकित्सा—शिरावेध (नस खुलवाकर खून निकलवाना), प्रलेप तथा तैलादि की मालिश के द्वारा, व्यङ्ग (झाईं), नीलिका, न्यच्छ तथा तिलकालक की चिकित्सा करनी चाहिए॥ ३९॥

वटाङ्कुरा मसूराश्च प्रलेपाद्व्यङ्गनाशनम्। व्यङ्गे मञ्जिष्ठया लेपः प्रशस्तो मधुयुक्तया॥ ४०॥

बड़ के अङ्कुर और मसूर की दाल–इनका लेप करने से व्यङ्ग (झाईं) नष्ट होता है। और व्यङ्ग में मजीठ मधु के साथ पीसकर लेप करना उत्तम होता है, अर्थात् यह भी व्यङ्ग-नाशक योग है॥ ४०॥

अथवा लेपनं शस्तं शशस्य रुधिरेण च। व्यङ्गहृद्वरुणत्वक्स्यादजामूत्रेण पेषिता॥ ४१॥

अथवा केवल खरगोश के रक्त का ही लेप करने से व्यङ्ग नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार केवल वरुन की छाल को बकरी के मूत्र के साथ पीसकर लेप करने से व्यङ्ग नष्ट होता है॥ ४१॥

जातीफलस्य लेपस्तु हरेद्व्यङ्गञ्च नीलिकाम्। अर्कक्षीरहरिद्राभ्यां मर्दयित्वा प्रलेपनात्॥
मुखकार्ष्ण्यं शमं याति चिरकालोद्भवं ध्रुवम्॥ ४२॥

केवल जायफल का लेप करने से व्यङ्ग तथा नीलिका नष्ट हो जाती है। (यहाँ पर जायफल को दूध के साथ पीसकर लेप करना उचित समझना चाहिए।) आक का दूध और हल्दी का चूर्ण एकत्र मसल कर लेप करने से बहुत दिनों से उत्पन्न हुई भी मुख की कृष्णता निश्चय दूर हो जाती है॥ ४२॥

मसूरैः क्षीरसम्पिष्टैर्लिप्तमास्यं घृतान्वितैः। सप्तरात्राद्भवेत्सत्यं पुण्डरीकदलोपमम्॥ ४३॥

मसूर की दाल को दूध में पीसकर घी मिलाकर मुख पर लेप करने से ७ दिन में मुख सचमुच कमल के समान चिकना तथा मुलायम हो जाता है॥ ४३॥

वटस्य पाण्डुपत्राणि मालती रक्तचन्दनम्॥ ४४॥
कुष्ठं कालीयकं लोध्रमेभिर्लेपं प्रयोजयेत्। युवानपिडकानां तु व्यङ्गानां तु विनाशनम्॥
स्यादेतेन मुखञ्चापि वर्जितं नीलिकादिभिः॥ ४५॥

***कालीयकं='कदम्बक' इति लोके। युवानपिडका=यूनामानने यत्पिडका पृषोदरादित्वान्नकारलोपः॥ ४४–४५॥**

बड़ के पीले पत्ते, मालती के पुष्प, लालचन्दन, कूठ, कदम्बक (पीत चन्दन) और लोध–इन सबोंको एकत्र पीसकर लेप करने से जवानी की मुख पर की फुन्सियाँ तथा झाईं नष्ट हो जाती है।

यहाँ पर 'युवानपिडका' पद में 'यूनामाननं युवाननं; तत्र पिडका युवानपिडका' ऐसा विग्रह करके 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस सूत्र से 'युवानन' में 'नकार' का लोप हुआ समझना चाहिए॥ ४४—४५॥

कुङ्कुमाद्यतैलमाह—

कुङ्कुमं चन्दनं लोध्रं पतङ्गं रक्तचन्दनम्। कालीयकमुशीरञ्च मञ्जिष्ठा मधुयष्टिका॥ ४६॥
पत्रकं पद्मकं पद्मं कुष्ठं गोरोचना निशा। लाक्षा दारुहरिद्रा च गैरिकं नागकेशरम्॥ ४७॥
पलाशकुसुमञ्चापि प्रियङ्गुश्च वटाङ्कुराः। मालती च मधूच्छिष्टं सर्षपः सुरभिर्वचा॥ ४८॥
चतुर्गुणपयःपिष्टैरेतैरक्षमितैः पृथक्। पचेन्मन्दाग्निना वैद्यस्तैलं प्रस्थद्वयोन्मितम्॥ ४९॥
वदनाभ्यञ्जनादेतद्व्यङ्गं नीलिकया सह। तिलकं मापकं न्यच्छं नाशयेन्मुखदूषिकाम्॥
पद्मिनीकण्टकञ्चापि हरेज्जतुमणिं तथा। विदध्याद्वदनं पूर्णं चन्द्रमण्डलसुन्दरम्॥ ५१॥

पतङ्गं='वकम' इति लोके। कालीयकं=कदम्बकम्। सुरभिर्वचा='महाभरी' इति लोके॥ ४६-५१॥

कुङ्कुमाद्यतैल—केसर, सफेद चन्दन, लोध, पतङ्ग (वकम), लालचन्दन, कदम्बक, खस, मंजीठ, मुलेठी, तेजपात, पद्माख, कमल, कूठ, गोरोचन, हल्दी, खान, दारुहल्दी, गेरू, नागकेशर पराश के फूल, फूलप्रियङ्गु, वड़ के अङ्कुर, मालती के फूल, मोम, सरसों और महाभरी वच ये सब प्रत्येक १-१ तोला लेकर दूध के साथ पीसकर इस कल्क को ८ प्रस्थ दूध तथा दो प्रस्थ (१२८ तो०) तेल के साथ मिलाकर वैद्य मन्द-मन्द अग्नि से पकाये। जब तैल मात्र रह जाय, तब उतार छानकर रख ले। मुखपर इस तैल की मालिश करने से व्यङ्ग, नीलिका, तिल, मसा, न्यच्छ, मुखदूषिका (मुहासे) पद्मिनीकण्टक और जतुमणि-ये सब दूर हो जाते हैं और मुखमण्डल पूर्ण चन्द्र की भाँति उज्ज्वल होकर सुन्दर हो जाता है॥ ४६-५१॥

वल्मीकलक्षणमाह—

ग्रीवांसकक्षाकरपाददेशे सन्धौ गले वा त्रिभिरेव दोषैः।
ग्रन्थिः स वल्मीकवदक्रियाणां जातः क्रमेणैव गतः प्रवृद्धिम्॥ ५२॥
मुखैरनेकैः स्रुतितोदवद्भिर्विसर्पवत्सर्पति चोन्नताग्रैः।
वल्मीक [1]माहुर्भिषजो विकारं निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात्॥ ५३॥

ग्रीवा=कृकाटिका। अंसः=स्कन्धः। कक्षा=बाहुमूलम्। 'वल्मीकवदि'त्यनेन प्रचुरशिखरत्वमुच्चत्वमवगाढमूलत्वञ्च सूच्यते। निष्प्रत्यनीकम्=उपचारायोग्यम्॥

वल्मीक के लक्षण—ग्रीवा, कन्धे, काँख, हाथ और पाँव इन अङ्गों में, सन्धियों में या गले में वल्मीक (बाँबी) के समान अर्थात् अनेक शिखरों वाली, ऊँची और दृढ़ जड़वाली, वात-पित्त तथा कफ-इन तीनों दोषों के प्रकुपित होने से जो ग्रन्थि उत्पन्न होती है, वह चिकित्सा न करने से क्रम से वृद्धि को प्राप्त होकर स्राव तथा वेदना से युक्त आगे से ऊँची अनेक मुखों से विसर्प की भाँति फैल जाती है। अत एव उसे वैद्य लोग वल्मीक कहते हैं। यह रोग यदि बहुत दिन का पुराना हो जाय तो विशेष रूप से चिकित्सा के अयोग्य अर्थात् असाध्य हो जाता है॥ ५२-५३॥

असाध्यवल्मीकलक्षणमाह—

पाणिपादोपरिष्टात्तु च्छिद्रैर्बहुभिरावृतम्। वल्मीकं यत्सशोफं स्याद्वर्ज्यं तद्धि विजानता॥

---

१. पाणिपादतले सन्धौ ग्रीवायामूर्ध्वजत्रुणि। ग्रन्थिर्वल्मीकवद्यस्तु शनैःसमुपचीयते।
तोदक्लेदपरीदाहकण्डूमद्भिर्व्रणैर्वृतः।
व्याधिर्वल्मीक इत्येष कफपित्तानिलोद्भवः॥ सु० नि० अ० १३ श्लो० ८-९।
मुखैरनेकैः स्रुतितोदवद्भिर्विसर्पवत् सर्पति चोन्नताग्रः।
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात्॥ माधवनि०।

इस प्रकार सुश्रुत और माधवाचार्य के लक्षणों को मिलाकर वल्मीक का जो स्वरूप बनता है, उसका बहुत कुछ साम्य एक्टिनोमाइकोसिस और मायसीटोमा या मदूरापाद (Actinomycosis and mycetoma or madura foot) नामक पाश्चात्त्य वैद्यक-वर्णित विकारों के साथ होता है। ये दोनों विकार एक्टिनोमाइस (Actinomyce) नामक जीवाणु के कारण होते हैं। वल्मीक की भाँति ये पादतल, हाथ, जानुसन्धि, हनुसन्धि, शंखक और ग्रीवा इत्यादि स्थानों में होते हैं, वल्मीक के समान आकार में होते हैं, अत्यन्त चिरज (Cronic), विसर्प के समान सन्निधि में फैलनेवाले, निष्प्रतिक्रिय, अनेक पूयुक्त नाडीव्रणों से युक्त और मर्मस्थानों पर आक्रमण करने से घातक होते हैं। रोग स्थानिक होता है, उसमें सार्वदैहिक लक्षण कुछ भी नहीं होते। इन सब बातों का विचार करने से यह प्रतीत होता है कि वल्मीक वस्तुतः यही विकार है।

असाध्य वल्मीक के लक्षण—हाथ अथवा पाँव के ऊपर उत्पन्न हुआ बहुत छिद्रों से व्याप्त और शोथ से युक्त जो वल्मीक हो, उसे असाध्य समझकर वैद्य चिकित्सा करना छोड़ दे ॥ ५४ ॥

वल्मीकचिकित्सामाह—

शस्त्रेणोत्कृत्य वल्मीकं क्षाराग्निभ्यां प्रसाधयेत्। विधानेनार्बुदोक्तेन शोधयित्वा च रोपयेत् ॥
वल्मीकं तु भवेद्यस्य नातिवृद्धममर्मजम्। तत्र संशोधनं कृत्वा शोणितं मोक्षयेद्भिषक् ॥५६॥

वल्मीक की चिकित्सा—वल्मीक को शस्त्र से चीरकर क्षार से तथा अग्नि से जला दे, अर्बुद में कही हुई विधि से शोधन करके व्रण का रोपण करना चाहिए। और जिसका वल्मीक अत्यन्त बढ़ा हुआ न हो तथा मर्मस्थल में उत्पन्न न हुआ हो तो वैद्य उसका संशोधन करके रक्त-मोक्षण कराये ॥ ५५–५६ ॥

कुलत्थकानां मूलैश्च गुडूच्या लवणेन च। आरेवतस्य मूलैश्च दन्तीमूलैस्तथैव च ॥ ५७ ॥
श्यामामूलैः सपललैः शक्तुमिश्रैः प्रलेपयेत्। सुस्निग्धैश्च सुखोष्णैश्च भिषक्तमुपनाहयेत् ॥५८॥
पक्वं सदा विजानीयाद्गतीः सर्वा यथाक्रमम्। अभिज्ञाय गतिं छित्वा प्रदिह्यान्मतिमान्भिषक्॥
संशोध्य दुष्टमांसानि क्षारेण प्रतिसारयेत्। व्रणं विशुद्धं विज्ञाय रोपयेन्मतिमान्भिषक् ॥६०॥

कुल्थी की जड़, गुरुच, सेंधानमक, अमलताश की जड़, दन्ती की जड़, श्यामा की जड़, तिल का चूर्ण, जौ का सत्तू—वैद्य इन सबों को एकत्र पीसकर घृत मिलाकर किंचित् गरम करके वल्मीक के ऊपर पुल्टिस बाँध दे। और वल्मीक को पका हुआ समझकर उसके पूय के निकलने के मार्गों को देखकर क्रम से उन्हें शस्त्र से चीरकर बुद्धिमान् वैद्य व्रणचिकित्सोक्त प्रदेह (प्रलेप विशेष) का प्रयोग करे। और दूषित मांसों को संशोधन करके क्षार द्वारा दूर करे। और बुद्धिमान् वैद्य व्रण को शोधित हुआ समझ कर रोपण औषधियों का प्रयोग करे ॥ ५७–६० ॥

मनःशिलाद्यतैलमाह—

मनःशिलालभल्लातसूक्ष्मलाऽगुरुचन्दनैः। जातीपल्लवतक्रैश्च निम्बतैलं विपाचयेत् ॥ ६१ ॥
वल्मीकं नाशयेत्तद्धि बहुच्छिद्रं बहुव्रणम् ॥ ६२ ॥

मनःशिलाद्यतैल—मैनशिल, हरताल, भिलावा, छोटी इलायची, अगर, सफेद चन्दन और चमेली की पत्ती—इनके कल्क के साथ तक्र मिलाकर नीम का तैल पकाये तो यह मनःशिलाद्यतैल सिद्ध होता है। जो कि अनेक छिद्रोंवाले तथा अनेक व्रणोंवाले वल्मीक को नष्ट कर देता है ॥

कक्षागन्ध (नाम्न्योः) माल्योर्लक्षणमाह—

बाहुकक्षांऽसपार्श्वेषु कृष्णस्फोटां सवेदनाम्। पित्तप्रकोपसम्भूतां कक्षां तामिति निर्दिशेत् ॥
एकान्तु तादृशीं दृष्ट्वा पिडकां स्फोटसन्निभाम्।
त्वग्जातां पित्तकोपेन गन्ध (नाम्नीं) मालां प्रचक्षते ॥ ६४ ॥
क्षतादृशीं = बाह्वादिषु कृष्णां सवेदनाञ्च ॥ ६३–६४ ॥

कक्षा (कंखौरी) लक्षण—बाहु, काँख, कन्धा तथा पसलियों में पित्त के प्रकोप से उत्पन्न हुई वेदना से युक्त कृष्णवर्ण की जो फुड़िया होती है, उसे[1] कक्षा (कंखौरी) कहते हैं।

गन्धमालालक्षण—ऊपर कही हुई बाहु, आदि के स्थानों की त्वचा में पित्तप्रकोप से उत्पन्न हुई

---

१. कक्षा के लिए सुश्रुत में पित्तप्रकोपजन्य केवल एक ही फोड़े का वर्णन मिलता है।
बाहुपार्श्वांसकक्षासु कृष्णस्फोटां सवेदनाम्। पित्तप्रकोपसम्भूतां कक्षामिति विनिर्दिशेत्।
सम्भवतः इसीको वाग्भट और माधवाचार्य ने गन्धमाला नाम से कहा है। यथाः—
एकान्तु तादृशीं दृष्ट्वा पिडकां स्फोटसन्निभाम्। त्वग्जातां पित्तकोपेन गन्धमालां प्रचक्षते।
चरक और वाग्भट की कक्षा वातपित्तजन्य तथा अनेक सूक्ष्म फुन्सियों से युक्त होती है। यथाः—
यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु कक्षाः। (चरक)।

काली तथा वेदना से युक्त कक्षा की भाँति जो एक फुड़िया होती है, उसे गंधमाला कहते हैं ॥

कक्षागन्ध (नाम्न्योः) मालयोश्चिकित्सामाह—

कक्षाञ्च गन्ध (नाम्नीं) मालाञ्च चिकित्सेच्च चिकित्सकाः।
पैत्तिकस्य विसर्पस्य क्रियया पूर्वमुक्तया ॥ ६५ ॥

कक्षा तथा गन्धमाला की चिकित्सा—वैद्य कक्षा तथा गन्धमाला की पूर्व में कही हुई पैत्तिक विसर्प की भाँति चिकित्सा करे ॥ ६५ ॥

अग्निरोहिणीलक्षणमाह—

कक्षाभागेषु विस्फोटा जायन्ते मांसदारणाः। अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसन्निभाः ॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा घ्नन्ति मानवम्।
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सान्निपातिकीम् ॥ ६७ ॥

अग्निरोहिणी के लक्षण—कक्षाभाग में मांस को विदीर्ण करनेवाले, अन्तर्दाह तथा ज्वर उत्पन्न करनेवाले, प्रदीप्त अग्नि के समान जो फोड़े उत्पन्न होते हैं, उन्हें अग्निरोहिणी कहते हैं। यह सन्निपातज (त्रिदोषज) व्याधि होने से असाध्य होती है और ७-१० या १५ दिनों में रोगी को मार डालती है ॥ ६६-६७ ॥

***'सप्ताहादि'त्यादि वातपित्तकफापेक्षया बोद्धव्यम्। 'घ्नन्ती'त्यनुपक्रान्ता, उपक्रान्तास्तु साध्या एव चरकेणाग्निरोहिण्यां चिकित्साया उक्तत्वात् ॥ ६६-६७ ॥**

यहाँ पर रोगियों के मारने में ७-१०-१५ दिनों का जो निर्देश किया गया है, वह क्रम से वात, पित्त तथा कफ की प्रबलता की अपेक्षा करके ही किया गया है। और अग्निरोहिणी चिकित्सा न करने ही पर रोगी को उक्त दिनों में मार डालती है; किन्तु यदि प्रारम्भ से ही चिकित्सा की जाय तो साध्य होती है। अत एव चरक में भी इसकी चिकित्सा कही गई है ॥ ६६-६७ ॥

अग्निरोहिणीचिकित्सामाह—

पित्तवीसर्पविधिना साधयेदग्निरोहिणीम्। रोहिण्यां लङ्घनं कुर्याद्रक्तमोक्षणरूक्षणम्।
शरीरस्य च संशुद्धिं तान्तु वृद्धां परित्यजेत् ॥ ६८ ॥

अग्निरोहिणी की चिकित्सा—वैद्य को पैत्तिक विसर्प की भाँति अग्निरोहिणी की चिकित्सा करनी चाहिए। और अग्निरोहिणी में रोगी को लङ्घन कराना चाहिए। एवं रक्तमोक्षण, रूक्षक्रिया तथा देह का विरेचनादि से संशोधन करना चाहिए और अग्निरोहिणी को बढ़ा हुआ समझ कर रोगी की चिकित्सा करना बन्द कर देना चाहिए ॥ ६८ ॥

विदारिकालक्षणमाह—

विदारीकन्दवद् वृत्तां कक्षावङ्क्षणसन्धिषु। रक्तां विदारिकां विद्यात्सर्वजां सर्वलक्षणाम् ॥
***अत्र 'पिडिकामिति' विशेष्यपदमध्याहरणीयम् ॥ ६९ ॥**

विदारिका लक्षण—काँख अथवा वङ्क्षण-सन्धि में विदारीकन्द की भाँति गोल तथा रक्तवर्ण की जो पिडिका (फुड़िया) होती है, उसे तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होने से त्रिदोष से उत्पन्न होनेवाली विदारिका समझना चाहिए ॥ ६९ ॥

कक्षेति कक्षासन्नेषु प्रायो दशेषु सानिलात्। पित्ताद् भवन्ति पिटिकाः सूक्ष्मा लाजोपमा घनाः।
[अष्टाङ्गसंग्रहः।

सुश्रुतोक्त कक्षा के कक्षालसिकाग्रन्थिशोथ (Acute Lymphadenitis of the axillary Glands) का बोध होता है। कक्षा की लसिकाग्रन्थि में शोथ होने से धीरे-धीरे वह शोथ पार्श्व, अंश और बाहु की ओर फैलता है। चरक तथा वाग्भट की कक्षा को हर्पिसझोस्टर (Herpes Zoster) कह सकते हैं। इसमें सौष्णुम्न विशेष करके पशुकान्तरीय नाड़ियों (Intercostal nerves) के मार्ग पर कठिन छोटी-छोटी फुन्सियाँ निकल आती हैं।

विदारिकाचिकित्सामाह—

विदारिकां प्रथमं जलौकायोजनं हितम्। पाटनञ्च विपक्वायां ततो व्रणविधिः स्मृतः ॥७०॥

विदारिका चिकित्सा—विदारिका में पहले जोंक लगाना हितकर होता है, और पक जाने पर शस्त्रसे चीरना उत्तम होता है। तत्पश्चात् व्रण के समान उपचार करना उचित होता है॥ ७० ॥

चिप्पलक्षणमाह—

नखमांसमधिष्ठाय वातः पित्तञ्च देहिनाम्। करोति दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्प[1]मादिशेत्
***चिप्पं 'वेडवा' इति लोके ॥ ७१ ॥**

चिप्पलक्षण—जिस रोग में वात और पित्त ये दोनों मनुष्यों के नख के मांस को दूषित करके दाह और पाक से युक्त कर देते हैं, उसे चिप्प (वेडवा) रोग कहते हैं॥ ७१ ॥

कुनखस्य निदानं लक्षणं चाह—

अभिघातात्प्रदुष्टो यो नखो रूक्षः सितः खरः। भवेत्तं [2]कुनखं विद्यात्कुलीरं वाभिधानतः॥
***अभिधानतः = नामतः ॥ ७२ ॥**

कुनख का निदान तथा लक्षण—लकड़ी आदि के आघात से यदि नख दोषयुक्त होकर रूक्ष, श्वेत वर्ण का तथा खरखरा हो जाय तो कुनख या कुलीर नाम से वैद्य लोग कहते हैं॥ ७२ ॥

चिप्पकुनखयोश्चिकित्सामाह—

चिप्पं रुधिरमोक्षेण शोधनेनाप्युपाचरेत्। गतोष्माणमथैनन्तु सेचयेदुष्णवारिणा ॥ ७३ ॥
शस्त्रेणापि यथायोग्यमुत्छिद्य स्रावयेत्ततः। व्रणोक्तेन विधानेन रोपयेत्तं विचक्षणः ॥ ७४ ॥
स्वरसेन हरिद्रायाः पात्रे कृत्वायसेऽभयाम्। घृष्ट्वा तज्जेन कल्केन लिम्पेच्चिप्पं पुनःपुनः॥
काश्मर्याः सप्तभिः पात्रैः कोमलैः परिवेष्टितः। अङ्गुलीवेष्टकः पुंसां ध्रुवमाशु प्रशाम्यति॥
श्लेष्मविद्रधिकल्पेन कुनखं समुपाचरेत् ॥ ७७ ॥
नखकोटिप्रविष्टेन टङ्कणेन न शाम्यति। कुनखश्चेत्तदा शैलाः सलिले प्लवतेपि च ॥ ७८ ॥

चिप्प और कुनख की चिकित्सा—यदि चिप्परोग हुआ हो तो रोगी की रक्तमोक्षण और संशोधन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। उसके बाद गर्मी निकल गयी जानकर उसका गर्मजल से सेचन करे। और योग्यतानुसार शस्त्र से चिप्प को चीरकर उससे रक्तस्राव कराना चाहिए, उसके बाद बुद्धिमान् वैद्य व्रण में कही हुई चिकित्सा के अनुसार उस क्षत की रोपण-क्रिया करे। लोहे के पात्र में हल्दी का रस डालकर उसमें हरड़ को घिसकर चिप्प पर गाढ़ा-गाढ़ा बारंबार लेप करना चाहिए। गाम्भारी के ७ कोमल-कोमल पत्रों से अंगुली को लपेट कर रखने से निश्चय ही शीघ्र चिप्प रोग शान्त हो जाता है।

कफज विद्रधि की चिकित्सानुसार कुनख की भी चिकित्सा करनी चाहिए। नख के अन्दर सुहागा भर देने से भी यदि कुनख रोग शान्त न हो तो यह समझ लेना चाहिए कि जल में पत्थर तैरने लग जायगा, अर्थात् अवश्य कुनख दूर होता है॥ ७३–७८ ॥

परिवर्त्तिकाया निदानं लक्षणञ्चाह—

मर्दनात्पीडनाद्वापि तथैवाप्यभिघातः। मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरन् ॥ ७९ ॥
तदा वातोपसृष्टन्तु तच्चर्म परिवर्त्तते। सवेदनं सदाहं च पाकञ्च व्रजति क्वचित् ॥ ८० ॥
मणेरधस्तात्कोषस्तु ग्रन्थिरूपेण लम्बते। सरुजां वातसम्भूतां विद्यात्तां परिवर्त्तिकाम्[3] ॥

---

१. चिप्प को अंग्रेजी में अनीकिया पुरलेन्टा (Onychia Purulenta) कहते हैं। इसमें नखमांस (Nail Matrix) पकता है।

२. कुनख को अंग्रेजी में ओनिकोग्रिफोसिस (OnychogryPhosis) कहते हैं।

३. परिवर्त्तिका को पाश्चात्य वैद्यक में पाराफायमोसिस (Paraphymosis) कहते हैं।

सकण्डूः कठिना चापि सैव श्लेष्मसमन्विता ॥ ८१ ॥

*अस्यां वातजायामपि पित्तानुबन्धो बोद्धव्यो दाहपाकभावात् । कोपः = चर्मकोषः ॥

परिवर्त्तिका का निदान तथा लक्षण—लिङ्ग का मर्दन करने या पीडन से अथवा उसपर आघात लगने से सम्पूर्ण शरीर में विचरण करनेवाली व्यान वायु कुपित होकर जब लिङ्गचर्म का आश्रय करती है, तब वह वात से दूषित होकर परिवर्त्तित हो जाता है। और इसमें पीडा तथा दाह होता है और कभी-कभी यह पक भी जाता है। इससे लिङ्ग की मणि के नीचे भाग में जो चर्मकोष गाँठ के समान लटकने लगता है, उसे वायु तथा आघात आदि आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हुई परिवर्त्तिका समझना चाहिए। और इसमें यदि खुजली हो तथा यह कठिन हो तो कफ से युक्त वात से उत्पन्न हुई समझना चाहिए ॥ ७९-८१ ॥

'यह यद्यपि विशेष करके वात से उत्पन्न हुई होती है, तथापि इसमें पित्त का भी अनुबन्ध है' ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि इसमें दाह तथा पाक भी होता है, जो कि विना पित्त के नहीं हो सकता है ॥ ७९-८१ ॥

परिवर्त्तिकाचिकित्सामाह—

परिवर्त्तिं घृताभ्यक्तां सुस्विन्नामुपनाहयेत् । त्रिरात्रं पञ्चरात्रञ्च वातघ्नैः शाल्वणादिभिः ॥
ततोऽभ्यज्य शनैश्चर्म पाटयेत्पीडयेन्मणिम् । प्रविष्टे चर्मणि मणौ स्वेदयेदुपनाहनैः ॥८३॥

निरुद्धप्रकाश की अवस्था में जब शिश्नचर्म का द्वार या छेद अत्यल्प होने पर चर्म वेग से ऊपर की ओर चढ़ाया जाता है, तब यह अवस्था उत्पन्न होती है। इसमें चर्म तथा शिश्नमणि में शोथ उत्पन्न होता है, जिससे चर्म का नीचे को उतरना और भी कठिन हो जाता है। यदि योग्य समय पर चिकित्सा न की जाय तो व्रणोत्पादन होता है, मणि और चर्म आपस में संसक्त हो जाते हैं और क्वचित् शिश्न सड़ने लगता है। यद्यपि परिवर्त्तिका निरुद्धप्रकाश की अवस्था में होती है, अपने यहाँ ऐसा कोई सुस्पष्ट वर्णन नहीं है, तथापि यह अवस्था विना मेढ्चर्म के छिद्र के सङ्कुचित हुए उत्पन्न ही नहीं हो सकती।

चिकित्सा—यदि रोग के प्रारम्भ होते ही रोगी चिकित्सा के लिए आ जाय तो केवल हस्तकौशल से चर्म को नीचे उतारा जा सकता है। यदि रोग का कारण पूयमेह नहीं है तो वह प्रायः शान्त हो जाता है। शोथ इत्यादि सब लक्षण जाते रहते हैं। रोगी को कुर्सी पर बिठाकर या शय्या पर लिटाकर चिकित्सक दोनों हाथों की अङ्गुली और अंगूठों के बीच में ऊपर चढ़े हुए चर्म को पकड़कर दाबता है, जिससे वहाँका रक्त शिराओं द्वारा बाहर निकल जाता है। तत्पश्चात् अँगूठों से शिश्न के अग्र भाग को नीचे और भीतर की ओर दबाया जाता है। यह दबाने की क्रिया धीमी और एक समान होनी चाहिए, जिससे रोगी को पीडा न मालूम हो। इस दबाव से मणिमें एकत्र हुए रक्त के बाहर निकल जाने से मणि का आकार छोटा हो जाता है। यदि मणि का आकार काफी छोटा हो गया है, तो चर्म नीचे उतर आयेगा। यदि ऐसा न हो तो मणि पर बर्फ रगड़ना चाहिए। इससे मणि संकुचित हो जायगी और चर्मके नीचे उतरने में अधिक कठिनाई नहीं होगी। इस प्रकार चर्म को उतारने के पश्चात् उसपर शुद्ध गौज के टुकड़े को रखकर पट्टी बाँध दी जाती है।

जब चर्म में शोथ इतना अधिक होता है कि उपर्युक्त विधि से सफलता नहीं होती तो चर्म में कई स्थानों पर छोटे-छोटे छेदन करके रक्त निकाल देना पड़ता है। तत्पश्चात् चर्म को उतारने का प्रयत्न किया जाता है। यदि इससे भी सफलता नहीं होती तो एक वेंधपत्र से मणि के चर्म के आकुञ्चन (Constriction) को काट दिया जाता है। तत्पश्चात् चर्म के नीचे उतरने में कोई कठिनाई नहीं होती। दो या तीन दिन के पश्चात्, जब उस स्थान का शोथ जाता रहे, मणिच्छद छेदन कर देना उचित है।

दद्याद्वातहरान्वस्तीन् स्निग्धान्यन्नानि भोजयेत् ॥ ८४ ॥

परिवर्त्तिका की चिकित्सा—परिवर्त्तिका को प्रथम घी से चुपड़कर भली भाँति स्वेदन करना चाहिए। उसके बाद तीन या पाँच रात्रि तक वातनाशक शाल्वण आदि कल्कों की पुल्टिस बाँधनी चाहिए। फिर चर्म को घी से चुपड़कर धीरे-धीरे फैलाकर लिङ्ग की मणि को चर्म के अन्दर करने के लिए दबाये, और चर्म के अन्दर मणि के प्रविष्ट होने पर उपनाह स्वेद का प्रयोग करके वातनाशक वस्ति (पिचकारी) का प्रयोग करना चाहिए। तथा रोगी को स्निग्ध अन्न का भोजन कराना चाहिए ॥ ८२-८४ ॥

अवपाटिकाया निदानं लक्षणं चाह—

अल्पीयःखां यदा हर्षाद् बलाद्गच्छेत्स्त्रियं नरः। हस्ताभिघातादथवा चर्मण्युद्वर्त्तिते बलात्॥
मर्दनात्पीडनाद्वापि शुक्रवेगाभिघाततः। यस्यावपाट्यते चर्म तं विद्यादवपाटिकाम् ॥ ८६ ॥

अल्पीयः=अल्पतरं, खं=योनिच्छिद्रं, यस्यास्ताम्। अवपाट्यते=विदीर्यते ॥८५-८६॥

अवपाटिका का निदान तथा लक्षण—जब कोई पुरुष अत्यन्त छोटी योनि के छिद्रवाली स्त्री के साथ कामातुर होकर बलपूर्वक मैथुन करने लगता है या हस्तमैथुनादि करने लगता है, तब उसके लिङ्ग का चर्म उलट जाने से जो फट जाता है, अथवा बलपूर्वक लिङ्ग का चर्म उलट जाने से या लिङ्ग का मर्दन या पीडन या शुक्रवेग के अभिघात से लिङ्ग का चर्म जो फट जाता है, उसे अवपाटिका कहते हैं ॥ ८५-८६ ॥

वातेन कर्कशा रूक्षा सूक्ष्मा कृष्णा रुगन्विता। पित्तेन पीता रक्ता वा दाहतृष्णासमन्विता।
श्लेष्मणा कठिना स्निग्धा कण्डूमत्स्वल्पवेदना ॥ ८७ ॥

यह अवपाटिका यदि वायु से उत्पन्न हुई हो तो कर्कश, रूक्ष, सूक्ष्म, काली तथा वेदना से युक्त होती है, पित्त से उत्पन्न हुई हो तो पीली या लाल वर्ण की होती तथा रोगी दाह तथा तृष्णा से युक्त होता है और कफ से उत्पन्न हुई हो तो कठिन, स्निग्ध और खुजलीवाली एवं स्वल्प पीडा से युक्त होती है ॥ ८७ ॥

अवपाटिकाचिकित्सामाह—

स्नेहस्वेदैरिमां वैद्यश्चिकित्सेदवपाटिकाम् ॥ ८८ ॥

अवपाटिका-चिकित्सा—वैद्य इस अवपाटिका की स्नेहन तथा स्वेदन से चिकित्सा करे ॥८८॥

निरुद्धप्रकाशलक्षणमाह—

वातोपसृष्टे मेढ्रे तु चर्म संश्रयते मणिम्। मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च ॥ ८९ ॥
निरुद्धप्रकशे तस्मिन्मन्दधारमवेदनम्। मूत्रं प्रवर्त्तते जन्तोर्मणिर्विव्रियते न च ॥ ९० ॥
[1]निरुद्धप्रकशं विद्यात्सरुजं वातसम्भवम् ॥ ९१ ॥

---

१. निरुद्धप्रकश को पाश्चात्त्य वैद्यक में फायमोसिस (Phimosis) कहते हैं। यह निरुद्धप्रकश सहज और जन्मोत्तर दो प्रकार का माना गया है। यहाँ पर जन्मोत्तर निरुद्ध-प्रकश का वर्णन किया गया है। जन्मोत्तर निरुद्धप्रकश बाल, युवा तथा वृद्ध इन तीनों में होता है। बालकों में शिश्नचर्मकच्छू और वस्तिगत अश्मरी ये निरुद्धप्रकश के दो प्रधान कारण हैं। कच्छु में खुजलाने के लिए और अश्मरी से मूत्रोत्सर्ग की असह्य वेदना को मिटाने के लिए बालक बारम्बार शिश्नचर्म को मसलता है, जोर से दबाता है और आगे की ओर खींचता है। मर्दन, पीडन तथा कच्छु इत्यादि से उत्पन्न हुए व्रणों के भर जाने पर शिश्नचर्म सङ्कुचित होता है और निरुद्धप्रकश बनता है। युवावस्था में औपसर्गिक पूयमेह या सूजाक से यह विकार उत्पन्न होता है। सूजाक के कारण शिश्नचर्म में शोथ और खाज होती है और निरुद्धप्रकश बनता है। मध्यमायु के बाद वस्ति-गत अश्मरी, मूत्रमार्ग-संकोच, अष्ठीलावृद्धि तथा शिश्नचर्म की अस्वच्छता इत्यादि कारणों से शिश्नचर्म में खुजली और क्षोभ पैदा होकर खुजलाने से और मसलने से निरुद्धप्रकश बनता है।

ॐ'निरुद्धप्रकाश' इत्यस्य स्थाने निरुद्धप्रकशपदमार्षत्वात् ॥ ८९-९१ ॥

निरुद्धप्रकश के लक्षण—शिश्न में वात के प्रकुपित होने से चर्म शिश्नमणि को अपने भीतर कर लेता है और वह चर्म अधिक बढ़कर मूत्र की धार को रोकता है। इससे थोड़ी पीड़ा के साथ पतली और मन्द धार से पुरुष का मूत्र निकलता है और मणि खुलता नहीं। इस रोग को 'निरुद्धप्रकश' कहते हैं। यह वातजन्य रोग है। निरुद्धप्रकाश नाम ठीक था, किन्तु आर्षप्रयोग होने से 'निरुद्धप्रकश' ठीक है ॥ ८९-९१ ॥

सहज निरुद्धप्रकश जन्म से होता है और गर्भवृद्धि-दोष से इसकी उत्पत्ति होती है। यह प्रकार बालकों में दिखाई देता है। यदि छिद्र बहुत छोटा न हो तो इसके परिणाम बाल्यावस्था में न दिखाई देकर युवावस्था में दिखाई देते हैं। इस आयु में शिश्नोत्थापन से उसमें जो क्षोभ पैदा होता है, उससे हस्तमैथुन की कुटेव पड़ जाती है। तथा स्त्री के साथ मैथुन करते समय पीड़ा होती है और कभी-कभी अवपाटिका या परिवर्तिका उत्पन्न होती है। यदि छिद्र बहुत ही अल्प यानी सूचीमुख हो तो मूत्र निकलने में कठिनाई होती है। बच्चा शिश्नचर्म को आगे की ओर खींचता है और अश्मरी के समान लक्षण प्रतीत होते हैं। निरुद्धप्रकश किसी भी कारण से उत्पन्न हुआ हो, उसके भीतर शिश्नमणि के ऊपर श्वेत रंग का मैल जम जाता है। यह मैल टायसन की ग्रन्थियों (Tyson's Clands) का स्राव है और उसे स्मेग्मा (Smegma) कहते हैं। यह जमा हुआ मैल कभी-कभी अश्मरी की भाँति कड़ा हो जाता है। यदि निरुद्धप्रकश की चिकित्सा न करने से मल बहुत दिनों तक वहाँ रहे तो निरन्तर पीडन, मर्दन और क्षोभ से शिश्न में आगे चलकर घातक मांसार्बुद (Cancer) उत्पन्न होने की बहुत कुछ सम्भावना होती है।

चिकित्सा—यदि बच्चे में जन्म से यह विकार उपस्थित हो, तो प्रत्येक दिवस १०-१५ मिनट तक तेल लगाकर चर्म को ऊपर की ओर खींचने का प्रयत्न करना चाहिए। सम्भव है कि कुछ मास के पश्चात् छिद्र बढ़ जाने से चर्म शिश्न के ऊपर को चढ़ने लगे। यदि १ वर्ष के भीतर ऐसा न हो, तो शस्त्रकर्म करना आवश्यक है। यदि सम्भव हो तो छिद्र द्वारा एक बन्द संदंश के अग्रिम भाग को अग्रचर्म के नीचे प्रविष्ट करके उसको चारों ओर घुमाना चाहिए। यदि कहीं पर चर्म और शिश्न का अग्रभाग जुड़ गये हैं, तो वह इससे पृथक् हो जायँगे। तत्पश्चात् संदंश को खोलकर उस के द्वारा छिद्र को चौड़ा करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि इसमें सफलता हो जाय तो चर्म के नीचे के स्थान को स्वच्छ करके उसपर तेल लगाकर चर्म को फिर उतार देना चाहिए। दूसरे दिन फिर इसी प्रकार किया जाय। यदि इसमें सफलता न हो तो मणिच्छद-छेदन द्वारा सारे अग्रचर्म को काट देना उचित है। उपर्युक्त 'निरुद्धप्रकशे नाडीं लौहीमुभयतोमुखीम्' इत्यादि ९२-९४ श्लोक तक ऐसी ही चिकित्सा का वर्णन है।

मणिच्छद-छेदन (Circumscission)-यह शस्त्रकर्म बच्चों में प्रथम वर्ष की आयु के भीतर करना चाहिए। इस समय उन्हें पीड़ा अधिक नहीं होती और रक्तस्राव भी कम होता है।

अग्रचर्म को संदंशों द्वारा मध्य रेखा के दोनों ओर पकड़ कर आगे की ओर खींचा जाता है। तत्पश्चात् चर्म के नीचे अर्थात् चर्म और शिश्नाग्र भाग के बीच में एक शलाका, जिसके बीच एक परिखा रहती है, डाली जाती है और उसके सहारे एक तेज कैंची को डालकर चर्म को बीच से विभक्त कर दिया जाता है। शिश्न के ऊपर एकत्र मैल को स्वच्छ करके चर्मके दोनों भागों को पकड़कर कैंची से उनको काटना आरम्भ करते हैं। ऊपर से नीचे और पीछे की ओर काटते चले जाते हैं। इस प्रकार जितना भी चर्म का भाग अधिक बढ़ा होता है, उसको काट दिया जाता है। जिन रक्तनलिकाओं से रक्त निकल रहा हो, उनका बन्धन करके और व्रण के किनारों पर के क्रम-हीन भाग को काटकर चर्म और श्लैष्मिक कला को टाँकों द्वारा सी दिया जाता है। तत्पश्चात् शिश्न

निरुद्धप्रकशचिकित्सामाह—

निरुद्धप्रकशे नाडीं लौहीमुभयतोमुखीम्। दारवीं जतुकृतां वा घृताक्तां सम्प्रवेशयेत्॥ ९२॥
परिषिञ्चेद्वसां मज्ज्ञां शिशुमारवराहयोः। चक्रतैलं तथा योज्यं वातघ्नद्रव्यसंयुतम्॥९३॥
त्र्यहात्स्थूलतरां सम्यङ् नाडीं मार्गे प्रवेशयेत्। स्रोतो विवर्द्धयेदेवं स्निग्धमन्नञ्च भोजयेत्।
भित्त्वा वा सेवनीं मुक्त्वा सद्यः क्षतवदाचरेत्॥ ९४॥

निरुद्धप्रकश की चिकित्सा—लौह, लकड़ी या लाही की बनी हुई दोनों तरफ मुखवाली नाडी (नाडीयन्त्र) पर खूब घी पोतकर निरुद्धप्रकश वाले शिश्नचर्म के छिद्र में प्रवेश करे और बाहर से चर्म को शिशुमार (सूँस) और सूअर की चर्बी और मज्जा से सींचे तथा वातनाशक द्रव्यों के साथ चक्रतैल से सेचन करे। इसी तरह धीरे-धीरे बढ़ाये। तीन-तीन दिन के बाद उत्तरोत्तर मोटी-मोटी नाड़ी प्रवेश करे और स्निग्ध भोजन खाने को दे। इस प्रकार चर्म का छिद्र बड़ा करे। अथवा शस्त्रकर्म द्वारा सेवनी (शिश्नचर्मका पिछला भाग, जो मणि से मूत्रद्वार के समीप तक जुड़ा रहता है या Frenulum of Prepuce) को छोड़कर चर्म के शेष भाग को काटकर शिश्न से अलग कर दे और सद्यः क्षत की भाँति उपचार करे॥ ९२–९४॥

सन्निरुद्धगुदस्य निदानं लक्षणं चाह—

वेगसन्धारणाद्वायुर्विहतो गुदसंश्रितः। निरुणद्धि महत्स्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च॥ ९५॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात्कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति। सन्निरुद्ध[1] गुदं व्याधिमेतं विद्यात्सुदुस्तरम्॥

सन्निरुद्ध गुद के लक्षण—मलमूत्रादि के वेगों को रोकने से गुदगत वायु प्रकुपित होकर गुदा के महास्रोत को रोककर उसे सँकरा करा देता है। मार्ग के संकरे हो जाने से कठिनाई से मलत्याग होता है। यह सुदुस्तर व्याधि 'सन्निरुद्धगुद' कहलाती है॥ ९५–९६॥

सन्निरुद्धगुदचिकित्सामाह—

सन्निरुद्धगुदे तैलैः सेको वातहरैर्हितः। तथा निरुद्धप्रकशक्रियाऽपि कथिताऽथवा॥ ९७॥

चिकित्सा—सन्निरुद्धगुद में वातनाशक तैलों से परिसेच करना हितकारक है अथवा निरुद्धप्रकश की प्रथम चिकित्सा करनी चाहिए॥ ९७॥

के चारो ओर व्रण पर शुद्ध गौज रखकर उसको रूई से ढककर उसपर पट्टी बाँध दी जाती है। पाँच दिन के पश्चात् ये टाँके काटे जा सकते हैं। इस कर्म को करने की दूसरी विधि यह है कि शिश्नाग्र चर्म को मणि के आगे की ओर खींचकर उसपर एक नाडीव्रण–संदंश अथवा मणिच्छद–संदंश लगा देते हैं। इस प्रकार चर्म का जितना अधिक भाग होता है, वह संदंश से आगे की ओर निकला रहता है। एक तीव्र–वेधसपत्र से संदंश के सहारे इस भाग को काटने के पश्चात् संदंश को हटा दिया जाता है। इस प्रकार चर्म को काटने से चर्म तो कट जाता है, किन्तु चर्म के नीचे की कला वैसी ही रहती है। इसको कैंची से इस प्रकार काटा जाता है कि मणि के चारों ओर ४ इञ्च के लगभग कला की एक झालर-सी रह जाती है। अन्त में चर्म और कला के इस भाग को आपस में टाँकों से सी दिया जाता है। तत्पश्चात् साधारण व्रणोपचार किया जाता है।

१. सन्निरुद्धगुद को पाश्चात्य वैद्यक में स्टिक्चर ऑफ दी रेक्टम (Strictur of the Rectum) कहते हैं। यह रोग प्रवाहिका, अतीसार, अर्श, भगन्दर, राजयक्ष्मा, फिरङ्ग तथा सूजाक इत्यादि से गुदा में जो व्रण होते हैं, उनके स्थान पर संकोच होने से होता है। रुद्धगुद से प्रारम्भ में कब्ज होता है। पीछे क्रम से कब्ज और पतले दस्त होते हैं। दिन-प्रतिदिन मलोत्सर्ग का कष्ट बढ़ता जाता है। मल कड़ा, फीते के समान चपटा और लम्बा निकलता है। उसके साथ कुछ रक्त और आँव भी गिरती है। पीछे अग्निमान्द्य और आध्मान उत्पन्न होता है।

वृषणकच्छ्वा निदानं लक्षणं चाह—

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंस्थितः। प्रक्लिद्यते यदा स्वेदात्कण्डूं जनयते तदा॥ ततः कण्डूयनात्क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते। प्राहुर्वृषणकच्छूं[1] तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम्॥

***उत्सादनम् = उद्वर्त्तनम्। मलः = 'मैलि' इति लोके। प्रक्लिद्यते = आर्द्रो भवति॥**

वृषणकच्छू के निदान और लक्षण—जो लोग स्नान नहीं करते और उबटन भी नहीं लगाते, उनके अण्डकोषों पर मैल जम जाती है और जब पसीना होता है तो यह मैल गीली होकर उसमें खुजली पैदा कर देती है। खुजलाने से फफोले पैदा हो जाते हैं और स्राव होने लगता है। इस रोग को वृषण कच्छू कहते हैं। यह कफ और रक्त के प्रकुपित होने से होता है॥ ९८-९९॥

वृषणकच्छूचिकित्सामाह—

सर्जाह्वकुष्ठसैन्धवसितसिद्धार्थैः प्रकल्पितो योगः।
उद्वर्त्तनेन नियतं शमयति वृषणस्य कण्डूतिम्॥ १००॥

भिषग्वृषणकच्छूं तु चिकित्सेत्पामरोगवत्। अहिपूतननिर्दिष्टक्रियया्ऽपि च तां हरेत्॥१०१॥

चिकित्सा—राल, कूट, सेंधानमक, सफेद सरसो इनसे बनाया हुआ उबटन प्रयोग करने से वृषण कच्छू अवश्य नष्ट हो जाती है। वैद्य वृषणकच्छू की चिकित्सा पामा की भाँति करे और अहिपूतना में कहे हुए उपचारों द्वारा उसे नष्ट करे॥ १००-१०१॥

अहिपूतनस्य निदानं लक्षणं चाह—

शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्। स्विन्ने वाऽस्नाप्यमानस्य कण्डू रक्तकफोद्भवा॥ कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते। एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम्[2]॥

अहिपूतना के निदान और लक्षण—बच्चों की गुदा में मल-मूत्र लगे रहने पर न धोने से, पसीना होने से अथवा नहवाने से उनकी गुदा मे रक्त-कफजन्य खुजली होती है। खुजलाने से फफोले पड़कर स्राव होने लगता है। यह अहिपूतना रोग फफोलों के परस्पर मिलाकर एक हो जाने से भीषण हो जाता है॥ १०२-१०३॥

अहिपूतनचिकित्सामाह—

तत्र संशोधनैः पूर्वं धात्रीस्तन्यं विशोधयेत्। त्रिफलाखदिरक्वाथैर्व्रणानां क्षालनं हितम्।
शङ्खसौवीरयष्ट्याह्वैर्लेपः कार्योऽहिपूतने॥ १०४॥

चिकित्सा—सर्वप्रथम धाय (बच्चे को दूध पिलानेवाली चाहे माता हो या अन्य धाय हो) का दूध संशोधक ओषधियों द्वारा शुद्ध करे। हरड, बहेड़ा, आँवला और खैर के काढ़े से अहिपूतना के व्रणों (घावों) को धोये तथा शंख, सफेद सुरमा और मुलेठी से लेप करे॥ १०४॥

गुदभ्रंशस्य निदानं लक्षणं चाह—

प्रवाहिकाऽतिसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः। रूक्षदुर्बलदेहस्य गुदभ्रंशं[3] तमादिशेत्॥१०५॥

---

१. वृषणकच्छू को अंग्रेजी में एक्जीमा ऑफ् दी स्क्रोटम (Exyema of the Scrotum) कहते हैं।

२. जिस प्रकर अपने यहाँ अहिपूतन के कई नाम हैं, यथा—

'केचित्तु मातृकादोषं वदन्त्यन्येऽपि पूतनम्।
पृष्ठारुर्गुदकुण्डं च केचिच्च तमनामिकम्॥' (अष्टाङ्गसंग्रह)

उसी भाँति पाश्चात्त्य वैद्यक में अहिपूतन को इन्फेन्टाइल एरिथीमा आफ् जाक्वेट (Infantile erythema of jacquet) या नेप्किन रैश (Napkin rash) या सोअर बटक्स (Sore Buttocks) कहते हैं।

३. गुदभ्रंश का वर्णन पीछे हो चुका है।

गुदभ्रंश—रूखे और दुर्बल शरीरवाले प्रवाहिका और अतिसार के रोगियों की गुदा बाहर निकल आती है। इसे गुदभ्रंश या काँच निकलना कहते हैं॥ १०५॥

गुदभ्रंशचिकित्सामाह--

गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं स्नेहेनाक्तं प्रवेशयेत्। प्रविष्टं रोधयेद्यत्नाद्गव्यसच्छिद्रचर्मणा॥१०६॥
पद्मिन्याः कोमलं पत्रं यः खादेच्छर्कराऽन्वितम्। एतन्निश्चित्य निर्दिष्टं न तस्य गुदनिर्गमः॥
मूषकाणां वसाभिर्वा गुदभ्रंशे प्रलेपनम्। सुस्विन्नं मूषिकामांसेनाथवा स्वेदयेद् गुदम्॥
वृक्षाम्लानलचाङ्गेरीबिल्वपाठायवाग्रजम्। तक्रेण शीलयेत् पायुभ्रंशार्त्तोऽनलदीपनम्॥

चिकित्सा--गुदभ्रंश रोग में गुदा का स्वेदन करके घी या तेल लगाकर गुदा को भीतर लौटा कर यत्नपूर्वक बैल के सच्छिद्र चर्म से (चर्म में छिद्र ऐसा हो कि पखाना होने में कठिनाई न हो किन्तु गुदा बाहर न निकल सके। चर्म को लंगोटी की तरह बाँधे रहे) गुदा का बाहर निकलना रोक दे। कमलिनी के कोमल पत्तों को चीनी के साथ खाने से अवश्य गुदभ्रंश अच्छा हो जाता है। चूहे की चर्बी को गुदभ्रंश पर पोते या चूहे के मांस से गुदा में स्वेदन करे (वफारा दे)। वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक), अभाव में इमली, चीता, खट्टी चौपतिया, बेल, पाढ़, जवाखार इनका चूर्ण मट्ठे के साथ खाने से पाचकाग्नि उद्दीप्त होती है और गुदभ्रंश दूर हो जाता है॥ १०६-१०९॥

मूषकतैलमाह--

मूषका दशमूलानि गृह्णीयादुभयं समम्। तयोः क्वाथेन कल्केन पचेत्तैलं यथोदितम्॥
अभ्यङ्गात्तस्य तैलस्य गुदभ्रंशो विनश्यति। विनश्यति तथाऽनेन गुदशूलं भगन्दरम्॥

मूषकतैल--चूहा और दशमूल इन्हें समान भाग लेकर उनके क्वाथ और कल्क से विधिपूर्वक तेल पकाये। इस तेल की गुदा में मालिश करते रहने से कांच निकलना, गुदा में पीड़ा होना तथा भगन्दर रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ११०-१११॥

शूकरदंष्ट्रकलक्षणमाह--

सदाहो रक्तपर्यन्तस्त्वपाकी तीव्रवेदनः। कण्डूमाञ्ज्वरकारी च स स्याच्छूकरदंष्ट्रकः॥११२॥
***सः=गुदभ्रंशः॥ ११२॥**

शूकरदंष्ट्रक--जो गुदभ्रंश जलनयुक्त, लाल किनारोंवाला, पाकहीन, तीव्र पीड़ायुक्त तथा खुजली और ज्वर पैदा करनेवाला हो, उसे 'शूकरदंष्ट्रक' कहते हैं॥ ११२॥

शूकरदंष्ट्रकचिकित्सामाह--

भृङ्गराजकमूलस्य रजन्या सहितस्य च। चूर्णन्तु सहसा लेपाद्वाराहद्विजनाशनम्॥ ११३॥
राजीवमूलकल्कः पीतो गव्येन सर्पिषा प्रातः। शमयति शूकरदंष्ट्रं दंष्ट्रोद्भूतं ज्वरं घोरम्॥
रजनी मार्कवं मूलं पिष्टं शीतेन वारिणा। तल्लेपाद्धन्ति वीसर्पवाराहदशनाह्वयम्॥११५॥

चिकित्सा--भंगरैया की जड़ और हल्दी का चूर्ण लेप करने से शूकरदंष्ट्रक नष्ट हो जाता है। कमल की जड़ का कल्क प्रातःकाल गोघृत के साथ पीने से शूकरदंष्ट्र तथा तज्जन्य ज्वर नष्ट हो जाता है। हल्दी और भाँगरे की जड़ ठंढे जल से पीसकर लेप करने से विसर्प और शूकरदंष्ट्र रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ११३-११५॥

अनुशयीलक्षणमाह--

गम्भीरामल्पशोथां च सवर्णामुपरि स्थिताम्। पादस्यानुशयीं तान्तु विद्यादन्तःप्रपाकिनीम्
***अत्र 'पिडकामि'ति विशेष्यपदमध्याहरणीयम्। गम्भीरा—अन्तःपाकेन॥ ११६॥**

अनुशयी के लक्षण—गम्भीर, भीतर की ओर पकनेवाली, अल्प शोथयुक्त (निदान के अल्प होने से), आस-पास के समान चर्मवाली, ऊपर ही (बहुत गहराई में नहीं) स्थित 'अनुशयी'-नामक फुंसिया पाँवों में होती है॥ ११६॥

आनुशयीचिकित्सामाह—

हरेदनुशयीं वैद्यः क्रियया श्लेष्मविद्रधेः ॥ ११७ ॥

चिकित्सा—अनुशयी की चिकित्सा श्लेष्मविद्रधि की तरह करनी चाहिए ॥ ११७ ॥

अलसलक्षणमाह—

क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहसमन्वितौ । दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं[1] तं विभावयेत् ॥११८॥

*अलसं='कन्दई' इति लोके ॥ ११८ ॥

अलस के लक्षण—सड़े कीचड़ के अधिक लगते रहने से पैर की अङ्गुलियों के बीच का भाग (गवाई) गीला हो जाता है और उसमें जलन के साथ खुजली होती है। इसे 'अलस' (पैर की गवाई का सड़ना) कहते हैं ॥ ११८ ॥

अलसचिकित्सामाह—

पादौ सिक्त्वाऽऽरनालेन लेपनं त्वलसे हितम् । पटोलकुनटीनिम्बरोचनामरिचैस्तिलैः ॥

क्षुद्रास्वरससिद्धेन कटुतैलेन लेपयेत् । ततः कासीसकुनटीतिलचूर्णैर्विचूर्णयेत् ॥ १२० ॥

*विचूर्णयेद्=अवधूलयेत् ॥ ११९-१२० ॥

चिकित्सा—पैर को काँजी से तर कर के परोरा, मैनशिल, नीम, गोरोचन, मरिच और तिल का लेप करे अथवा भटकटैया के स्वरस से पकाये हुए कड़ुवे तेल को पैर में पोतकर हीराकसीस, मैनशिल और तिल का चूर्ण उसपर बुरक दे ॥ ११९-१२० ॥

करञ्जबीजं रजनी कासीसं पद्मकं मधु । रोचना हरितालञ्च लेपोऽयमलसे हितः ॥ १२१ ॥

करंज का बीज, हलदी, हीराकसीस, पद्माख, गोरोचन, शहद और हरताल इनका लेप भी अलस के लिए हितकारक है ॥ १२१ ॥

दारीलक्षणमाह—

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः । पादयोः कुरुते दारीं सरुजां तलसंश्रिताम् ॥१२२॥

*दारी='बिवाई' इति लोके ॥ १२२ ॥

दारी के लक्षण—बहुत चलनेवालों के पैरों के तलुए अत्यधिक रूक्षता के कारण फट जाते हैं और उस फटे में पीड़ा भी होती है। इसीको 'दारी' (बिवाई) कहते हैं।

दारीचिकित्सामाह—

पाददार्यां शिरां प्राज्ञो मोचयेत्तलशोधिनीम् । स्नेहस्वेदोपपन्नौ तु पादौ वा लेपयेन्मुहुः ।
मधूच्छिष्टवसामज्जाघृतैः क्षारविमिश्रितैः ॥ १२३ ॥

*वसा मज्जा च सामान्यतश्छागादीनां, विशेषानभिधानतः । उक्तञ्च मदनपाले—

*मेदो मज्जा वसा ज्ञेया ग्राम्यानूपौदकोद्भवा ।
स्नेहोऽस्थ्नः शुचिरेव स्यात्स मज्जा कथितो बुधैः ॥ १ ॥

*वसा=शुद्धमांसभवः स्नेहः ॥ १ ॥ क्षारो=यवक्षारः ॥ १२३ ॥

चिकित्सा—पैर के तलवे को साफ करके तलवे के रक्त को (हृदय की ओर) ले जानेवाली सिरा का वेधन करे (फस्त खोलावे)। फिर स्नेहन और स्वेदन करके मोम, चर्बी और मज्जा, घी तथा यवक्षार इनको—एक में मिलाकर लेप करे। यहाँ पर वसा और मज्जा बकरे आदि ग्राम्य जन्तुओं की ही लेनी चाहिए, क्योंकि मदनपाल ने कहा है कि-'मेद, मज्जा अर्थात् अस्थियों के भीतर रहनेवाला शुद्ध स्नेह, और चर्बी ये क्रम से ग्राम्य (पालतू पशुओं की), अनूप (जलप्राय प्रदेशों के जन्तुओं की) और जलचर जन्तुओं का प्रयोग करना चाहिए' ॥ १२३ ॥

---

१. अलस को अंग्रेजी में चिल्ब्लेन (Chilblain) कहते हैं।

सर्जाह्वसिन्धूद्भवयोश्चूर्णं घृतमधुप्लुतम्। निर्मथ्य कटुतैलाक्तं हितं पादप्रमार्जने ॥१२४॥

राल और सेंधानमक का चूर्ण घी और मधु में मिलाकर खूब मथे, फिर कड़वे तेल के साथ इसे पावों में लगानेसे 'बिवाई' नष्ट होती है ॥ १२४ ॥

मधुसिक्थकगैरिकघृतगुडमहिषाक्षशालनिर्यासैः। गैरिकसहितैर्लेपः पादस्फुटनापहः सिद्धः॥

*मधुसिक्थकं='मोम' इति लोके। प्रथमं गैरिकं=शिलाजतु, द्वितीयं गैरिकं='गेरू' इति लोके। शालनिर्यासः='राल' इति लोके॥ १२५॥

मोम, शिलाजीत, घी, गुड, भैसा गुग्गुलु, राल, गेरू इनको मिलाकर लेप करने से पैरों का फटना बन्द हो जाता है ॥ १२५ ॥

अथोन्मत्ततैलमाह—

उन्मत्तकस्य बीजेन मानकक्षारवारिणा। विपक्वं कटुतैलन्तु हन्याद्दारीं न संशयः॥ १२६॥

उन्मत्त तैल—धतूरे के बीज और मानकन्द की राख के जल से पकाया हुआ कड़ुवा तेल लगाने से पाददारी नष्ट हो जाता है ॥ १२६ ॥

कदरलक्षणमाह—

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः। ग्रन्थिः कोलवदुत्सन्नो जायते [1]कदरस्तु सः॥

*शर्कराऽत्र वालुका। कोलवत्=क्षुद्रबदरवत्। उत्सन्नः=उद्गतः॥ १२७॥

कदर का लक्षण—वालू, कंकड़ी, पत्थर आदि से रगड खा जाने से या काँटों के गड़ जाने से पाँवों में घाव होकर बेरकी गुठली की तरह उभरी हुई गाँठ बन जाती है। इसीको 'कदर' कहते हैं ॥ १२७ ॥

कदरचिकित्सामाह—

दहेत्कदरमुद्धृत्य तैलेन दहनेन वा॥ १२८॥

चिकित्सा—कदर की गाँठ को निकालकर गरम तेल से या अग्नि से उस स्थान को जला दे (दाग दे)॥ १२८॥

तिलकालकलक्षणमाह—

कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च। वातपित्तकफोद्रेकात्तान्विद्यात्तिलका[2]लकान्॥

*समानि=अनुद्गतानि। अयं 'तिल' इति लोके॥ १२९॥

तिलकालक का लक्षण—वात, पित्त और कफ के प्रकोप से तिलके समान काली, पीड़ारहित और चर्म के समान (आसपास के चर्म से उभरे हुए नहीं) दाग होते हैं, उसे तिलकालक (तिल) कहते हैं ॥ १२९ ॥

मशकलक्षणमाह—

अवेदनं स्थिरञ्चैव यस्तु गात्रे प्रदृश्यते। माषवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मशकं दिशेत॥ १३०॥

*स्थिरम्=अचलम्। अवेदनं=वेदनारहितं, 'मशक' इति लोके॥ १३०॥

---

१. कदर को अंग्रेजी में कार्न (Corn) कहते हैं। अत्यन्त दबाव पड़ने के कारण उस स्थान की त्वचा के ऊपर के स्तर के सेल वर्द्धित होते हैं, जिससे की कदर की उत्पत्ति होती है।

२. तिलकालक, मशक तथा जतुमणि ये तीनों त्वचा के विकार हैं। इन विकारों में त्वचा पर मेलेनिन (Melanin) नामक काला रंग जम जाता है। अंग्रेजी में इनको मोल (Mole) कहते हैं। सम या अनुन्नत (Noneleveted type) और उत्सन्न या उन्नत (Elevated type) करके इसके दो भेद होते हैं। सम को तिलकालक या तिल (Nonelevated mole) कहते हैं। उन्नत को मशक या मस्सा (Elevated mole) कहते हैं। जो तिल या मस्सा सहज होता है, उसे जतुमणि (Congental mole) कहते हैं।

मशक के लक्षण—शरीर में उड़द की भाँति उभरे हुए, काले, स्थिर और पीड़ारहित दाग पाये जाते हैं, उन्हें 'मशक' 'मस्सा' कहते हैं। यह वातजन्य होता है॥ १३०॥

श्यावपिण्डिकालक्षणमाह—

त्विवचस्तनवः स्फोटाः सूक्ष्माग्राः श्यावपिण्डिकाः।
भवन्ति कफपित्ताभ्यां क्षिप्रं नाशं प्रयान्ति च॥ १३१॥

श्यावपिण्डिका—पतली त्वचावाले, काले, नोकीले और शीघ्र ही मिट जानेवाले स्फोटों को श्यावपिण्डिक कहते हैं। ये कफ-वात से उत्पन्न होते हैं॥ १३१॥

जतुमणिलक्षणमाह—

सममुत्सन्नमरुजं मण्डलं कफरक्तजम्। सहजं लक्ष्म चैकेषां लक्ष्यो जतुमणिश्च सः॥१३२॥
कृष्णः स्निग्धो जतुमणिर्ज्ञेयः श्लेष्मोत्तरैस्त्रिभिः। अरुजं त्वपरे रक्तं लक्ष्मेत्याहुर्भिषग्वराः॥

***समं=मसृणम्। उत्सन्नं=किञ्चिदुन्नतम्। सहजं = शरीरेण सह जातम्। एवंविधं यन्मण्डलं स जतुमणिर्लक्ष्यः। लक्ष्म चैकेषामिति। एकेषामाचार्याणां मते तन्मण्डलं लक्ष्मसञ्ज्ञञ्च। लक्ष्म='लशुन' इति लोके। अपरे पुनर्जतुमणिलक्ष्मणोर्भेदकं लक्षणमाहुः— 'कृष्ण' इत्यादि॥ १३२-१३३॥**

जतुमणि—कफ-रक्त से उत्पन्न, चिकने, आसपास के चर्म से किञ्चित उभरे हुए, पीड़ारहित और जन्म से ही उत्पन्न मण्डलाकार चिह्नको लक्ष्म या जतुमणि (लहसन) कहते हैं। कुछ दूसरे आचार्य इन दोनों में भेद करते हैं। उनके मतसे कफोल्वण त्रिदोष से उत्पन्न, काला और चिकना चिह्न जतुमणि और पीड़ारहित लाल चिह्न 'लक्ष्म' कहलाता है॥ १३२-१३३॥

तिलकालकमशकजतुमणिचिकित्सामाह—

चर्मकीलं जतुमणिं मशकांस्तिलकालकान्। उत्कृत्य शस्त्रेण दहेत्क्षाराग्निभ्यामशेषतः॥

तिलकालक, मशक और जतुमणि की चिकित्सा—चर्मकील, जतुमणि, मशक और तिलकालक को शस्त्र से चीरकर या खुरचकर तत्पश्चात् क्षार या अग्नि से जलाकर (दागकर) निर्मूल कर डाले॥ १३४॥

न्यच्छलक्षणमाह—

महद्वा यदि वा चाल्पं श्यावं वा यदि वाऽसितम्। नीरुजं मण्डलं गात्रे न्यच्छं तदभिधीयते॥

न्यक्ष के लक्षण—बड़ा या छोटा, काला या सफेद, पीड़ारहित दाग जो शरीर में उत्पन्न हो जाता है, उसे 'न्यच्छ या छाँही' कहते हैं॥ १३५॥

न्यच्छचिकित्सामाह—

शिरावेधैः प्रलेपैश्च तथाऽभ्यङ्गैरुपाचरेत्। न्यच्छं लिम्पेत्पयः पिष्टैः कल्कैः क्षीरतरूद्भवैः॥
त्रिभुवनविजयापत्रं मूलं स्थविरस्य शिंशपा चैभिः। उद्वर्तनं विरचितं न्यच्छव्यङ्गापहं सिद्धम्॥

***स्थविरस्य=वृद्धदारस्य॥ १३६-१३७॥**

चिकित्सा—शिरोवेध, प्रलेप और अभ्यङ्ग (मालिश) के द्वारा न्यच्छ की चिकित्सा करनी चाहिए अथवा क्षीरिवृक्ष (वट, गूलर, पीपर, पाकर, पारिष) की छाल को दूध में पीसकर न्यच्छ पर भाँग के पत्ते, विधारे की जड़ और शीशम का पत्ता-इनका उबटन बनाकर लगाने से न्यच्छ और व्यंग नष्ट हो जाते हैं॥ १३६-१३७॥

पद्मिनीकण्टकलक्षणमाह—

कण्टकैराचितं वृत्तं कण्डूमत्पाण्डु मण्डलम्। पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्त[1] दाख्यं कफवातजम्॥

---

१. पद्मिनीकण्टक को पेपिलोमा ऑफ दी स्किन (Papilloma of the Skin) कहते हैं। इसमें उपत्वचा के अङ्कुरों की वृद्धि होती है। यह एक प्रकार का त्वचा का सौम्य अर्बुद है। यह श्लेष्मल त्वचा पर भी होता है।

*आचितं=व्याप्तम् । पद्मिनीकण्टकप्रख्यैः = पद्मिनीनालकण्टकसदृशैः । तदाख्यं = पद्मिनीकण्टकन्नामैव ॥ १३८ ॥

पद्मिनीकण्टक के लक्षण—कफ-वात से उत्पन्न, खुजलीयुक्त, कुछ पीला तथा गोल मण्डल जिसमें कमल की नाल के काँटों के समान आकारवाले काँटे (चर्म में उभरे हुए) भरे हों, उसे पद्मिनीकण्टक कहते हैं ॥ १३८ ॥

पद्मिनीकण्टकचिकित्सामाह—

पद्मिनीकण्टके रोगे छर्दयेन्निम्बवारिणा । तेनैव सिद्धं सक्षौद्रं सर्पिः पातुं प्रदापयेत् ॥१३९॥
निम्बारग्वधकल्कैर्वा मुहुरुद्वर्त्तनं हितम् ॥ १४० ॥

चिकित्सा—पद्मिनीकण्टक के रोगी को नीम का पानी पिलाकर वमन कराकर नीम से ही सिद्ध किया हुआ घी, शहद मिलाकर पिलाये अथवा नीम और अमलतास के पत्तों का उबटन बनाकर बार-बार लगाना हितकर है ॥ १३९–१४० ॥

निम्बादिघृतमाह—

जतुर्गुणेन निम्बोत्थपत्रक्काथेन गोघृतम् । पचेत्ततस्तु निम्बस्य कृतमालस्य पत्रजैः ॥१४१॥
कल्कैर्भूयः पचेत्सिद्धं तत्पिबेत्पलसम्मितम् । पद्मिनीकण्टकाद्रोगान्मुक्तो भवति नान्यथा ॥

निम्बादिघृत—नीम के पत्तों के चौगुने क्वाथ के साथ घी को पकाये । फिर उसी घी को नीम और अमलतास के पत्तों के साथ पकाये । इस घी को एक पल (४ तो०) की मात्रा में पीने से 'पद्मिनीकण्टक' नामक रोग दूर हो जाता है ॥ १४१–१४२ ॥

अजगल्लिकालक्षणमाह—

स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसन्निभा । कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका ॥

*ग्रथिता=गुम्फितेव । मुद्गसन्निभा=मुद्गाकृतिः ॥ १४३ ॥

अजगल्लिका के लक्षण—बालकों को कफ-वात से उत्पन्न, चिकनी, शरीर के चर्म के सदृश चर्मवाली, गुथी हुई, पीड़ारहित और मूंग के सदृश जो फुड़िया होती है, उसे अजगल्लिका कहते हैं ॥

अजगल्लिकाचिकित्सामाह—

तत्राजगल्लिकां सामां जलौकोभिरुपाचरेत् । शुक्तिसौराष्ट्रिकाक्षारकल्कैश्चालेपयेन्मुहुः ।
कठिनां क्षारयोगेन द्रावयेदजगल्लिकाम् ॥ १४४ ॥

चिकित्सा—अपक्व अजगल्लिका में जोंक लगवाये और सीप की भस्म तथा फिटकिरी के लावण का कल्क बनाकर उसपर बार-बार लेप करे । यदि अजगल्लिका कड़ी हो तो उसपर क्षार लगाकर मुलायम करे ॥ १४४ ॥

यवप्रख्यालक्षणमाह—

यवाकारा प्रकठिना ग्रथिता मांससंश्रया । पिडका श्लेष्मवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥

*यवाकारा=मध्ये स्थूला प्रान्ते कृशा ॥ १४५ ॥

यवप्रख्या के लक्षण—कफ और वायु से उत्पन्न, बीच में मोटी और दोनों सिरों पर जौ की भाँति नोकीली, कड़ी और गुथी हुई मांस की फुड़िया को 'यवप्रख्या' कहते हैं ॥ १४५ ॥

अन्त्रालजीलक्षणमाह—

घनामवक्त्रां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम् । अन्त्रालजीमल्पपूयां तां विद्यात्कफवातजाम् ॥

*घनां=कठिनाम् । परिमण्डलाम्=वर्त्तुलाम् ॥ १४६ ॥

अन्त्रालजी के लक्षण—कड़ी, समान (ऊँची, नीची या टेढ़ी नहीं), उभरी हुई और गोलाकार फुड़िया को जिसमें पूय थोड़ी निकलती हो, 'अन्त्रालजी' कहते हैं । यह कफ और वायु से उत्पन्न होती है ॥ १४६ ॥

यवप्रख्याऽन्त्रालजीचिकित्सामाह—

अन्त्रालजीयवप्रख्ये पूर्वं स्वेदैरुपाचरेत । मनःशिलादेवदारुकुष्टकल्कैः प्रलेपयेत् ।
पक्वां व्रणविधानेन तथोक्तेन प्रसाधयेत् ॥ १४७ ॥

चिकित्सा—अन्त्रालजी और यवप्रख्या को पहले स्वेदन करें; फिर पकाने के लिए मैनसिल, देवदारु और कडुवा कूट इनके कल्क का उसपर लेप करें और पक जाने पर फोड़े का पहले कही हुई विधि के अनुसार उपचार करें ॥ १४७ ॥

विवृतालक्षणमाह—

विवृतास्यां महादाहां पक्वोदुम्बरसन्निभाम् । विवृतामिति तां विद्यात्पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥

*परिमण्डलाम्=परितः शोथवतीम् ॥ १४८ ॥

विवृता के लक्षण—खुले हुए मुखवाली, अत्यधिक दाहयुक्त, पकी हुई गूलर के सदृश रंगवाली, गोल, पित्तजन्य फुड़िया को 'विवृता' कहते हैं ॥ १४८ ॥

इन्द्रविद्धालक्षणमाह

पद्मकर्णिकवन्मध्ये पिडकां पिडकाचिताम् । इन्द्रविद्धान्तु तां विद्याद्वातपित्तोत्थितां भिषक् ॥

*पद्मकर्णिकवत्=पद्मफलाधारोपमाम् । पिडकाचितां–किञ्जल्कवल्लघुपिडकाचिताम् ॥

इन्द्रविद्धा के लक्षण—बीच में कमल की कर्णिका की तरह एक फुड़िया हो और उसके चारों ओर छोटी छोटी फुन्सियाँ हों तो उसे 'इन्द्रविद्धा' कहते हैं । यह वात-पित्त से उत्पन्न होती है ॥

गर्दभिकालक्षणमाह—

मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितम् । रुजाकरीं गर्दभिकां तां विद्याद्वातपित्तजाम् ॥

गर्दभिका के लक्षण—गोल, उभरा हुआ, लाल फुड़िय से भरा हुआ और पीडायुक्त मंडल 'गर्दभिका' कहलाता है । यह वात-पित्त से पैदा होता है ॥ १५० ॥

जालगर्दभलक्षणमाह—

विसर्पवत्सर्पति यः शोथस्तनुरपाकवान् । दाहज्वरकरः पित्तात्स ज्ञेयो जालगर्दभः ॥१५१॥

*अपाकवान्=ईषत्पाकवान् । पित्तकृतत्वेन सर्वथा पाकाभावस्यायुक्तत्वात् । अयमग्निवात इति ख्यातः ॥ १५१ ॥

जालगर्दभ के लक्षण—विसर्प की तरह फैलनेवाले, दाह और ज्वर पैदा करनेवाले, कभी-कभी थोड़ा ही पकनेवाले और हलके शोथ को 'जालगर्दभ' या 'अग्निवात' कहते हैं । यह पित्तजन्य होता है ॥ १५१ ॥

विवृतेन्द्रविद्धागर्दभिकाजालगर्दभानां चिकित्सामाह—

विवृतामिन्द्रविद्धाञ्च गर्दभीं जालगर्दभम् । पैत्तिकस्य विसर्पस्य क्रियया साधयेद्भिषक् ।
पाके तु रोपयेदाज्यैः पक्वैर्मधुरभेषजैः ॥ १५२ ॥

विवृता, इन्द्रविद्धा, गर्दभिका और जालगर्दभ की चिकित्सा:—इन चारों की चिकित्सा पित्तजन्य विसर्प की भाँति करनी चाहिए और पक जाने पर जीवनीयगण की ओषधियों से सिद्ध घी से रोहण करना चाहिए ॥ १५२ ॥

कच्छपिकालक्षणमाह—

ग्रथिताः पञ्च वा षड् वा दारुणाः कच्छपोन्नताः ।
कफानिलाभ्यां पिडकाः सा स्मृता कच्छपी बुधैः ॥ १५३ ॥

*कच्छपोन्नताः=मध्ये प्रोन्नताः प्रान्ते नताः ॥ १५३ ॥

कच्छपिका के लक्षण—कछुए की पीठ के समान (बीच में उठी हुई) उठी हुई, परस्पर गुथी हुई, पाँच या छः भीषण फुड़िया जो होती हैं, उन्हें 'कच्छपिका' कहते हैं । यह कफ और वात से उत्पन्न होती हैं ॥ १५३ ॥

कच्छपिकाचिकित्सामाह—

कच्छपीं स्वेदयेत्पूर्वं तत एव प्रलेपयेत् ॥ १५४ ॥
कल्कीकृतैर्निशाकुष्ठसितातालकदारुभिः। तां पक्वां साधयेच्छीघ्रं भिषग्व्रणचिकित्सया ॥

चिकित्सा—कच्छपिका को पहले स्वेदित करे, फिर हलदी, कडुवा कूठ, चीनी, हरताल और दारुहल्दी—इन सबके कल्क का लेप करे और इस प्रकार जब पक जाय तो व्रणवत् चिकित्सा करे ॥ १५४–१५५ ॥

शर्कराऽर्बुदलक्षणमाह—

प्राप्य मांसशिरास्नायुमेदः श्लेष्मा तथाऽनिलः। ग्रन्थिं करोत्यसौ भिन्नो मधुसर्पिर्वसानिभम्॥
स्रवति स्रावमत्यर्थं तत्र वृद्धिं गतोऽनिलः। मांसं विशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयत्यतः॥
दुर्गन्धं क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः शिराः। स्रवन्ति सहसा रक्तं तां विद्याच्छर्कराऽर्बुदम्[1] ॥
*शर्करा = वालुकातुल्या ॥ १५६–१५८ ॥

शर्करार्बुद के लक्षण—प्रकुपित कफ और वायु मांस, शिरा, स्नायु, और मेद को पाकर ऐसी गाँठ उत्पन्न कर देते हैं, जिससे फूटने पर शहद, घी या चर्बी की भाँति अत्यधिक पूय निकलती है। इसीमें वायु अत्यन्त बढ़कर मांस को सुखा कर गुथी हुई और रेते के समान गाँठें बना देता है। तत्पश्चात् दुर्गन्धयुक्त तथा अत्यन्त क्लेदयुक्त अनेकों रंग का रक्त सहसा बहने लगता है, इसे 'शर्करार्बुद' कहते हैं ॥ १५६–१५८ ॥

शर्कराऽर्बुदचिकित्सामाह—

मेदोऽर्बुदविधानेन साधयेच्छर्कराऽर्बुदम् ॥ १५९ ॥

चिकित्सा—शर्करार्बुद की चिकित्सा मेदजन्य अर्बुद की भाँति करनी चाहिए ॥ १५९ ॥

सहेतुकान् सलक्षणान् कतिचिदालस्यादिक्षुद्रविकारानाह—

शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मण्यालस्यमुच्यते। अस्वास्थ्यं चिन्तयाऽत्यर्थमरतिः कथ्यते बुधैः॥

आलस्य के लक्षण— शरीर में सामर्थ्य होने पर भी काम करने में उत्साह न हो, तो उसे 'आलस्य' कहते हैं।

अरति—चिन्ता करने से जो अस्वस्थता (किसी काम में मन न लगना) रहती है, उसे 'अरति' कहते हैं ॥ १६० ॥

उत्क्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत्प्रसेकः ष्ठीवनेरितम्। हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत्॥

उत्क्लेश—अन्न पेट से बाहर निकलना चाहे किन्तु निकल न सके, मुख में पानी छूटे और थूक से प्रेरित हृदय में पीड़ा हो, उसे 'उत्क्लेश' कहते हैं ॥ १६१ ॥

वक्त्रे मधुरता तन्द्रा हृदयोद्वेष्टनं भ्रमः। न चान्नं रोचते यस्मै ग्लानिं तस्य विनिर्दिशेत्।

---

१. तमेव भिन्नं दुर्गन्धं घृतमेदोनिभं शिराः।
स्रवन्ति स्रावमनिशं यदा स्याच्छर्करार्बुदम्। (भोजः)

शर्करार्बुद—इसकी उत्पत्ति मेदोग्रन्थि (Seba Ceous cyst) के ऊपर होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसलिए शर्करार्बुद या तो सब आसिअस हार्न (Sebaceous Horn) होगा या कॉक्स पिक्यूलियर ट्यूमर (Cock's Peculiar Tumour) होगा। कॉक के ट्यूमर का वर्णन शर्करार्बुद के साथ बहुत मिलता है। यथाः—

'Should the Contents only escape partially, the remainder is liable to undergo pulrefactive changes. Giving-rise to an offensive ulcarated Surface with raised edges, which may readily be mistaken for epithelioma. Manual of Surgery by Rose and Carless.

ग्लानिरोजःक्षयाद् दुःखादजीर्णाच्च श्रमाद्भवेत् ॥ १६२ ॥

ग्लानि—मुख में मीठापन, तन्द्रा, हृदय का बँधा सा प्रतीत होना, चक्कर और अन्न में अरुचि हो, तो ऐसी दशा को 'ग्लानि' कहते हैं। यह ग्लानि ओजःक्षय से, दुःख से, अजीर्ण से तथा थकावट से उत्पन्न होती है ॥ १६२ ॥

उदानकोपादाहारसुस्थितत्वाच्च यद्भवेत्। पवनस्योर्ध्वगमनं तमुद्गारं प्रचक्षते ॥ १६३ ॥

उद्गार (डकार)—उदान वायु के प्रकोप से तथा आहार के उचित रूप से स्थित होने से जो वायु पेट से ऊपर मुख की ओर जाता है, उसे 'डकार' कहते हैं ॥ १६३ ॥

आटोपो गुडगुडाशब्दः प्रोक्तो जठरसम्भवः। तमःस्थस्येव यज्ज्ञानं तत्तमः कथ्यते बुधैः ॥

इत्येकषष्टितमः क्षुद्ररोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६१ ॥

आटोप—पेट में जो गुड़गुड़ाहट की आवाज होती है, उसीको 'आटोप कहते हैं।

तम—अन्धकार में रहने जैसा ज्ञान (आँख खोले रहने पर भी दिखाई न देना) होना 'तम' कहलाता है ॥ १६४ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी'नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकषष्टितमः क्षुद्ररोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६१ ॥

अथ द्विषष्टितमः शिरोरोगाधिकारः ॥ ६२ ॥

तत्र शिरोरोगस्य निदानं संख्यां चाह—

शिरोरोगास्तु जायन्ते वातपित्तकफैस्त्रिभिः। सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण कृमिभिस्तथा ॥१॥
सूर्यावर्त्तानन्तवातशङ्खकार्द्धावभेदकाः। एकादशविधस्यास्य लक्षणानि प्रचक्षते ॥ २ ॥

*शिरोरोगाः=अत्र शिरोगता शूलरूपा रुगभिधीयते। वातपित्तकफैस्त्रिभिः। ननु 'वातपित्तकफैरि'त्युक्तेस्त्रित्वबोधः। किमर्थं त्रिभिरिति पदम्? उच्यते—सर्वेषां शिरोरोगाणां सन्निपातजत्वख्यापनार्थम्, वातपित्तकफानां पृथक्कारणत्वं चोत्कर्षात्। क्षयेण= रसादिक्षयेण ॥ १–२ ॥

निदान और संख्या—१ वातज, २ पित्तज, ३ कफज, ४ सन्निपातज, ५ रक्तज, ६ रसादिक्षयज, ७ कृमिज, ८ सूर्यावर्त्त, ९ अनन्तवात, १० शंखक और ११ अर्धावभेदक–इस प्रकार शिर के रोग (शिर के शूलरूप रोग) ग्यारह प्रकार के होते हैं। सभी शिरोरोग त्रिदोषज ही होते हैं, किन्तु दोषों के बलाबल के अनुसार वातजादि पृथक्-पृथक् कहे जाते हैं ॥ १–२ ॥

१ तत्र वातजशिरोरोगलक्षणमाह—

यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम्।
बन्धोपतापैः प्रशमो भवेच्च शिरोऽभितापः स समीरणेन ॥ ३ ॥

*भवेदिति शेषः। अनिमित्तम्=अतर्कितविप्रकृष्टनिमित्तम्। निशि चातिमात्रं-रात्रौ शैत्येन वायोराधिक्यात्। उपतापः=स्वेदनम्। शिरोऽभितापः=शिरःपीडा ॥ ३ ॥

वातज शिरोरोग—अकस्मात् अज्ञात कारणों से शिर में तीव्र पीड़ा होना, रात्रि में पीड़ा का अत्यधिक बढ़ जाना और शिर को बाँधने या सेकने से पीड़ा का कम या शान्त होना–ये सब 'वातज शिरोरोग' के लक्षण हैं ॥ ३ ॥

पित्तजशिरोरोगलक्षणमाह—

यस्योष्णमङ्गारचितं यथैव भवेच्छिरो दह्यति चाक्षिनासम् ।
शीतेन रात्रौ च भवेच्छमश्च शिरोऽभितापः स तु पित्तकोपात् ॥ ४ ॥

***दह्यतीत्यार्षत्वात् ॥ ४ ॥**

पित्तज शिरोरोग—जिसमें शिर गरम अंगार की तरह मालूम हो, आँखों और नाकों में जलन हो तथा शीत पदार्थों से या रात्रि में पीड़ा शान्त हो जाय, उस शिरोरोग को 'पित्तज' समझना चाहिए ॥ ४ ॥

३ कफजशिरोरोगलक्षणमाह—

शिरो भवेद् यस्य कफोपदिग्धं गुरु प्रतिष्टब्धमथो हिमञ्च ।
शूनाक्षिनासावदनञ्च यस्य शिरोऽभितापः स कफप्रकोपात् ॥ ५ ॥

***कफोपदिग्धम् = अन्तःकफलिप्तम् । प्रतिष्टब्धं तच्च शिरः ॥ ५ ॥**

रक्तज शिरोरोग—जिसमें शिर कफ से लिपा हुआ, भारी, जकड़ा हुआ और ठंडा प्रतीत हो, आँख, नाक और चेहरा फूला हुआ हो, उस शिरोरोग को कफज समझें ॥ ५ ॥

४ सन्निपातजशिरोरोगलक्षणमाह—

शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति ॥ ६ ॥

सन्निपातज शिरोरोग—इसमें उपर्युक्त तीनों प्रकार के शिरोरोगों के लक्षण होते हैं ॥ ६ ॥

५ रुधिरजन्यशिरोरोगलक्षणमाह—

रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च ॥ ७ ॥

***पैत्तिकाद्भेदमाह—शिरसःस्पर्शासहत्वमिति ॥ ७ ॥**

कफज शिरोरोग—इसमें पित्तज शिरोरोग के समान ही लक्षण होते हैं। (भेद केवल इतना है कि) इसमें शिर के किसी चीज से छू जाने पर बड़ी पीड़ा होती है ॥ ७ ॥

६ रसादिधातुक्षयजन्यशिरोरोगलक्षणमाह—

वसाबलासक्षतसम्भवानां शिरोगतानामतिसङ्क्षयेण ।
क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम् ।
संस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यैरसृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति ॥ ८ ॥

***क्षतसम्भवं = रुधिरम् । कष्टः = कष्टसाध्यः ॥ ८ ॥**

अङ्गं भ्रमति तुद्येत शिरो विभ्रान्तनेत्रता । मूर्च्छा गात्रावसादश्च शिरोरोगे क्षयात्मके ॥९॥

रसादिधातुक्षयजन्य शिरोरोग—शिर की चर्बी, कफ और रक्त के अत्यन्त क्षय हो जाने से तीव्र पीड़ायुक्त क्षयज शिरोरोग उत्पन्न होता है। इस रोग में सेंकने, वमन करने, धूम्र-पान करने, नस्य लेने और फस्त खुलवाने से शिर की पीड़ा बढ़ जाती है। क्षयजन्य शिरोरोग के ये लक्षण होते हैं:—सारा शरीर घूमता-सा प्रतीत होता है, शिर में सूई कोचने जैसी पीड़ा होती है, आँखें बार-बार इधर-उधर घूमती हैं, बेहोशी होती है और अंग शिथिल होता जाता है ॥ ८-९ ॥

७ कृमिजशिरोरोगलक्षणमाह—

निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं सम्भक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः ।
घ्राणाच्च गच्छेद्रुधिरं सपूयं शिरोऽभितापः कृमिभिः स घोरः ॥ १० ॥

***सम्भक्ष्यमाणम् । कृमिभिरिति शेषः । घ्राणाच्चेति चकारेण कृमिनिर्गमोऽपि बोद्धव्यः ॥ १० ॥**

कृमिज शिरोरोग—जिसमें शिर में सुई कोचने जैसी अत्यधिक पीडा हो, शिर के अन्दर कृमि काट रहे हों, एवं चल रहे हों ऐसा प्रतीत हो और नासिका की राह से रक्तमिश्रित पीव तथा कृमि भी निकलें, तो उसे भीषण 'कृमिज शिरोरोग' जाने ॥ १० ॥

८ सूर्यापवर्त्तलक्षणमाह—

सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्दमक्षिभ्रुवौ रुक् समुपैति गाढम् ।
विवर्द्धते चांशुमता सहैव सूर्यापवृत्तौ विनिवर्त्तते च ॥ ११ ॥
शीतेन शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाद्वा ।
सर्वात्मकं कष्टतमं विकारं सूर्यापवर्तं तमुदाहरन्ति ॥ १२ ॥

*सूर्योदयं प्रति लक्ष्यीकृत्य=आरभ्येति यावत् । सूर्यस्यापवृत्तौ=सूर्यस्याधोगतौ ॥११-१२॥

सूर्यापवर्त्त के लक्षण—जिसमें सूर्योदय के समय भौंहों के पास से मन्द-मन्द पीड़ा प्रारम्भ होकर सूर्य ज्यों-ज्यों ऊपर बढ़ें, त्यों-त्यों वह बढ़ती जाय और (दोपहर के बाद) सूर्य ज्यों-ज्यों उतरें त्यों-त्यों कम होती जाय और कभी शीतलोपचार से शान्त हो और कभी उष्णोपचार से, उस परम कष्टदायक शिरोरोग को 'सूर्यापवर्त्त' कहते हैं। यह सन्निपातज होता है ॥ ११-१२ ॥

९ अनन्तवातलक्षणमाह—

दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां सम्पीड्य गाढं स्वरुजां सुतीव्राम् ।
कुर्वन्ति योऽक्षिण भ्रुवि शङ्खदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ॥ १३ ॥
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं हनुग्रहं लोचनजान्विकारान् ।
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् ॥ १४ ॥

*एवशब्दोऽत्राप्यर्थः, अव्ययानामनेकार्थत्वात् । स्वरुजां=स्वस्वरूपां रुजां व्यथामाह-गौरवादिरूपाम्, दोषाः कुर्वन्ति । अयमनन्ते वातसमः, अनन्तवातः । अक्ष्यादिषु स्थितिं करोति । विशेषतो गण्डपार्श्वे स्थितिं करोति । पीडायाः स्थितिं कृत्वा कम्पादींश्च करोति ॥ १३-१४ ॥

दूषित हुए वातादि तीनों दोष मन्या नामक नाड़ी को भली भाँति पीड़ित करके अपने स्वरूप के अनुसार व्यथा, दाह तथा गौरवादि रूप तीव्र वेदना को उत्पन्न करते हैं। यह वेदना तत्काल आँखों, भौंहों तथा शङ्ख प्रदेश में स्थित हो जाती है। यह पीड़ा विशेषतः गण्डस्थलों के पार्श्व में स्थित होती है। इस प्रकार पीड़ा की स्थिति को उत्पन्न करके दोष कम्प, हनुग्रह तथा नेत्रविकारों को उत्पन्न कर देते हैं। तीनों दोषों से उत्पन्न इस शिरोविकार को अनन्तवात कहते हैं ॥

पित्तरक्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः । तीव्ररुग्दाहरागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम् ॥
स शिरो विषवद्वेगान्निरुध्याशु गलं तथा । त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नाम नामतः ।
त्र्यहं जीवति भैषज्यं प्रत्याख्यायास्य कारयेत् ॥ १६ ॥

*पित्तरक्तानिला अत्र कफोऽपि योज्यः । 'कृतानुयात्रः कफपित्तरक्तैः' इति सुश्रुतवचनात् । विमूर्च्छिताः=प्रवृद्धाः । सः=शङ्खकः । त्रिरात्रात्=त्रिरात्रिमध्ये, मारयतीति यावत् ॥ १५-१६ ॥

शङ्ख प्रदेश में दूषित हुए तथा वृद्ध पित्त, रक्त और वायु तीव्र पीड़ा, दाह तथा लालिमायुक्त दारुण शोथ को उत्पन्न कर देते हैं। यह शोथ विषवेग के समान अपने वेग से शीघ्र ही शिर तथा गले को अवरुद्ध करके तीन दिन में रोगी को मार डालता है। इस शिरोरोग को 'शङ्खक' कहा जाता है। यह शिरोरोगी तीन ही दिन तक जीता है। इसलिए इस रोग का प्रत्याख्यान करके इसकी चिकित्सा करनी चाहिए। यद्यपि यहाँ इस रोग के हेतु पित्त, रक्त तथा वायु तीन ही माने गये हैं, किन्तु सुश्रुत ने कफ को भी इस रोग का कारण माना है। अत एव यहाँ पर भी कफ का प्रयोग कर लेना चाहिए। इस प्रकार इस रोग के हेतु दूषित हुए पित्त, रक्त, वायु तथा कफ —ये चार हुए ॥ १५-१६ ॥

११ अर्द्धावभेदकस्य निदानं लक्षणं चाह—

रूक्षाशनाद्यध्यशनप्राग्वातावश्यमैथुनैः। वेगसन्धारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥१७॥
केवलः सकफो वाऽर्द्धं गृहीत्वा शिरसो बली। मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्द्धेषु वेदनाम् ॥
शस्त्राशनिनिभां कुर्यात्तीव्रां सोऽर्द्धावभेदकः[1]। नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत्॥

---

१. अर्धावभेदक को पाश्चात्त्य चिकित्सा-विज्ञान में 'मिग्रेन या हीमीक्रेनिया (migraine or hemicrania) कहते हैं। यह एक प्रकार का शूल है, जो नेत्र के ऊपर या शंखक (कनपट्टी) या इनमें से किसी एक में प्रारम्भ होकर क्रमशः धीरे-धीरे फैलता तथा बढ़ता है और प्रायः आधे ही शिर में सीमित रहता है।

कारण—यह शिरःशूल प्रायः बचपन में अधिक होता है, मध्यम आयु में कम और वृद्धावस्था में प्रायः अपने आप बन्द हो जाता है। यह रोग बहुधा कुलज भी होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह पीड़ा अधिक पाई जाती है और उनमें मासिक धर्म के समय रजोनिवृत्ति (menopause मेनापाज) काल में तथा डिम्बग्रन्थि (ovary 'ओवरी') अथवा पीयूषग्रन्थि (Pituatry पिच्युएट्री) विकारों के कारण प्रायः होती है। सामान्य स्वास्थ्यका अत्यधिक गिर जाना (Allergy एलर्जी) यकृत् और पित्ताशय के विकार, आहार के दोष (विषम तथा गुरु आहार का सेवन), मलावरोध, नेत्र के दोष (नेत्र की पेशियों की दुर्बलता, सिनेमा आदि नेत्र पर हानिकारक प्रभाव करनेवाले खेलों को अधिक देखना), मस्तिष्कगत दोष, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (Endocrene glands इन्डोक्रीन ग्लैण्ड्स) के विकार, त्रिधारा नाडी के शूल (Trigeminal neuralgia ट्राइजेमिनल न्यूरेल्जिया) तथा अपस्मार आदि अर्द्धावभेदक के कारण माने जाते हैं।

लक्षण—प्रायः प्रातःकाल भौंहों में या आँखों में या शंखक (कनपट्टी) में या इन सबमें मन्द पीड़ा प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे बढ़ती है (सूर्यावर्तकी भाँति) और क्रमशः शिर के आधे भाग में फैल जाती है और प्रायः शिर के आधे ही भाग में सीमित रहती है; किन्तु कभी-कभी एक तरफ से दूसरी तरफ फैलकर सारे शिर में भी हो जाती है। यह पीड़ा सौम्य और तीव्र दोनों प्रकार की होती है। सौम्य प्रकार में पीड़ा कम होती है और रोगी अपना काम-काज करता रहता है; किन्तु तीव्र प्रकार में पीड़ा बहुत तीव्र होती है। कभी-कभी तो पीड़ा ग्रीवा और हाथों तक भी फैल जाती है। अर्द्धावभेदक की पीड़ा प्रकाश, शब्द और शिरको हिलाने-डुलाने से बढ़ जाती है। कभी-कभी आक्रमण दौरे के साथ होता है। पीडा अत्यधिक होने पर जी मचलाना, वमन, सुस्ती आदि होते हैं। रोगी बेचैन हो जाता है। पीड़ा के तीव्रतम होने पर रोगी का चेहरा फीका और पाण्डु हो जाता है, कुछ सर्दी मालूम होती है, हाथ-पैर ठण्डे और नाड़ी क्षीण और मन्द हो जाती है, कभी-कभी प्रलाप भी होता है, क्वचित् आक्षेप भी आते हैं। कभी-कभी तो कोई वेदनाहर ओषधि काम नहीं करती, केवल स्वाभाविक निद्रा से ही कुछ आराम मिलता है। कभी-कभी रोगका प्रारम्भ चक्कर के साथ भी होता है। वमन हो जाने पर थोड़ा आराम मालूम होने लगता है। पीड़ा अपने आप भी बन्द हो जाती है और कुछ काल बाद पुनः दौरे के साथ इस रोग का आक्रमण होता है। दौरों के बीच के काल में रोगी का स्वास्थ्य प्रायः अच्छा रहता है। कभी कभी (यद्यपि बहुत कम और अतितीव्र प्रकार में) आँख की पेशियों का घात, हनुग्रह (अनन्तवातवत्) भी होते हैं।

साक्षेप निदान—इस रोग को (Allergy) जन्य शिरःशूल, मस्तिष्कगत अर्बुदजन्य शिरःशूल, फिरङ्गजन्य शिरःशूल और अन्तर्विषजन्य शिरःशूल से पृथक् करना चाहिए। कभी-कभी अपस्मार का प्रारम्भ भी अर्द्धावभेदक के समान लक्षणों के साथ होता है। इसलिए इन दोनों में

*अवश्यः = अवश्यायः । आयासः = अतिचलनभारोद्वहनादिः । व्यायामः = मल्लश्रमः । शस्त्राशनिनिभां=शस्त्रघातेनेव वज्रपातेनेव वेदनाम् ॥ १७–१९ ॥

रूक्ष भोजन करने से, अध्यशन करने से, पुरवा हवा का सेवन करने से, ओस में रहने से, मैथुन करने से, मल-मूत्रादि के वेगों को धारण करने से, अत्यन्त चलने तथा बोझ इत्यादि ढोने रूप आयास करने से तथा दण्ड इत्यादि मल्लश्रम को करने से प्रकुपित हुआ केवल बलवान् वायु अथवा कफयुक्त वायु शिर के आधे भाग को पकड़कर मन्या, भौंह, शङ्खप्रदेश, कान, आँख तथा ललाट के आधे हिस्से में शस्त्र-प्रहार के समान अथवा वज्रपात की भाँति तीव्र वेदना को उत्पन्न कर देता है। इस रोग को अर्द्धावभेदक कहते हैं। जब यह रोग अत्यन्त बढ़ जाता है, तब आँख को अथवा कान को नष्ट कर देता है॥ १७–१९ ॥

शिरोरोगचिकित्सामाह—

वातजातशिरोरोगे स्नेहस्वेदं विघर्षणम् । पानाहारोपनाहांश्च कुर्याद्वातामयापहान् ॥२०॥

वातजन्य शिरोरोग में स्नेहन, स्वेदन तथा तैलमर्दन करना चाहिए। और वातनाशक पान, आहार का सेवन तथा उपनाह स्वेदन करना चाहिए॥ २० ॥

कुष्ठमेरण्डमूलञ्च नागरं तक्रपेषितम् । कदुष्णं शिरसः पीडां भाले लेपनतो हरेत् ॥ २१ ॥

कूठ, एरण्डमूल, तथा सोंठ इन ओषधियों को तक्र में पीसकर कुछ गरम करके ललाट पर लेप करने से वातजन्य शिरोव्यथा नष्ट हो जाती है॥ २१ ॥

पार्थक्य करना आवश्यक है। अर्द्धावभेदक में वमन बाद में होता है; किन्तु अपस्मार में वमन पहले होता है। अर्द्धावभेदक में रोगी बेहोश नहीं होता; किन्तु अपस्मार में होता है।

उपद्रव और अनुगामी विकार—मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों की खराबी और उनमें रक्त का जम जाना जिससे पक्षाघात, एकाङ्गघातादि होता है। नेत्र के अन्तःपटल (Retina रेटिना) में रक्त जम जाना और इससे अन्धता होती है। शरीर की दुर्बलता, रक्तभार स्वाभाविक से कम होना, अपस्मार होना और अकाल में वृद्धावस्था आना-इनमें से कोई एक या अनेक रोग अर्द्धावभेदक के उपद्रव स्वरूप उत्पन्न हो सकते हैं।

साध्यासाध्यता—यह रोग प्रायः घातक नहीं है; किन्तु रोगी का जीवन अत्यन्त कष्टमय बना देता है। यदि सौम्य हो, तो ओषधियों से ठीक हो जाता है अन्यथा (तीव्र स्वरूप का) प्रायः निर्मूल नहीं हो पाता। पुरुषों में ५० वर्ष की आयु के बाद और स्त्रियों में रजोनिवृत्तिके पश्चात् प्रायः अपने आप धीरे-धीरे बन्द हो जाता है।

चिकित्सा—दौरे के समय रोगी को प्रशान्त और अन्धेरे कमरे में रखना चाहिए। शिर पर ठंढा पानी या बर्फ रखे तथा निम्न वेदनाहर ओषधियों का प्रयोग करे। यथाः-फेनासिटीन, एस्प्रीन, एन्टीपायरीन, कैफीन साइट्रेट, वेरामन ल्यूमिनाल।

दौरे के समय यदि आवश्यकता समझे तो सिर्फ पानी, चाय या काफी (Coffee) देना चाहिए। एक ही ओषधि बार-बार देने से उसका प्रभाव कुछ कम होता है, इसलिए प्रत्येक दौरे के समय ओषधि बदल कर प्रयोग करना चाहिए।

दौरे के बीच की चिकित्सा—स्वच्छ, खुली हवा में रहना, पौष्टिक और हलका आहार सेवन करना, मलावरोध को दूर करना, मुख और गले में यदि कोई दोष हो तो मुख की सफाई करते रहना, जिस व्यवसाय में शारीरिक और मानसिक परिश्रम अधिक होता हो, उसे त्यागना। रोग के वास्तविक कारण की चिकित्सा करना, यदि अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के विकार हों तो उनका सत्त्व ('एक्स्ट्रेक्ट' Extract) देना और स्त्रियों में ऐसी दशा में 'ओवरी का सत्त्व' (Extract of ovary) दिया जा सकता है।

रसः श्वासकुठारो यस्तस्य नस्यं विशेषतः। शिरःशूलं हरत्येव विधेयो नात्र संशयः ॥२२॥

श्वासकुठार रस का नस्य देने से शिरःशूल अवश्य ही नष्ट हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अत एव इस नस्य का प्रयोग अवश्य करना चाहिए ॥ २२ ॥

शिरोवस्तिविधिमाह—

आ शिरो व्यायतं चर्म षोडशाङ्गुलमुच्छ्रितम्। तेनावेष्ट्य शिरोऽधस्तान्माषकल्केन लेपयेत्॥
निश्चलस्योपविष्टस्य तैलैः कोष्णैः प्रपूरयेत्। धारयेदा रुजः शान्तेर्यामं यामार्द्धमेव वा॥२४॥
शिरोवस्तिर्हरत्येष शिरोरोगं मरुद्भवम्। हनुमन्याऽक्षिकर्णार्त्तिमर्दितं मूर्द्धकम्पनम् ॥२५॥
विना भोजनमेवैष शिरोवस्तिः प्रयुज्यते। दिनानि पञ्च वा सप्त रुचितोऽग्रे ततोऽपि च ॥
ततोऽपनीतस्नेहस्तु मोचयेद्वस्तिवन्धनम्। शिरोललाटवदनंग्रीवांऽसादीन्विमर्दयेत् ॥२७॥
सुखोष्णेनाम्भसा गात्रं प्रक्षाल्याश्नाति यद्धितम्।
आमिषं जाङ्गलं पथ्यं तत्र शाल्यादयोऽपि च ॥ २८ ॥
मुद्गमाषान्कुलत्थांश्च खादेद्वा निशि केवलान्। कटुकोष्णान्ससर्पिष्कानुष्णं क्षीरं पिबेत्तथा ॥

शिरोवस्तिप्रकार—जो शिर को पूरा घेर ले, इतना लम्बा तथा १६ अङ्गुल ऊँचा चमड़ेका टुकड़ा ले। फिर इस चर्मपट्टसे शिरको आवेष्टित करके नीचे के जोड़ को उड़द की पीठा से प्रलिप्त कर दे। तत्पश्चात् रोगी को निश्चल बैठाकर उपर्युक्त चर्म में किञ्चित् उष्ण तैल भर दे। जब तक पीड़ा शान्त न हो, तब तक अथवा एक प्रहर तक या आधे प्रहर तक रोगी इस शिरोवस्ति को धारण किये रहे। यह शिरोवस्ति वातजन्य शिरोरोग, हनुग्रह, मन्यास्तम्भ, अक्षिशूल, कर्णशूल, अर्दित तथा शिरःकम्प इन रोगों को नष्ट कर देता है। इस शिरोवस्ति का प्रयोग भोजन करने के पहले ही करना चाहिए। पाँच दिन तक या सात दिन तक और यदि अनुकूल प्रतीत हो तो इससे अधिक दिन तक भी इस शिरोवस्ति का प्रयोग कर सकते हैं तत्पश्चात् तेल को निकाल कर वस्ति के बन्धन को अलग कर दे और शिर, ललाट, मुख ग्रीवा तथा कन्धे इत्यादिका मर्दन करे। तत्पश्चात् किञ्चित् उष्ण जल से गात्र का प्रक्षालन करके हितकर आहार का सेवन करे। जाङ्गल जन्तुओं का मांस तथा शालि चावल इत्यादि पथ्य हैं। रात में केवल मूँग, उड़द अथवा कुलथी को उबाल कर गरम तथा कड़वे मसाले और घी मिलाकर खाये तथा ऊपर से उष्ण दुग्ध का पान करे ॥२३–२९॥

पित्तात्मके शिरोरोगे शीतानां चन्दनाम्भसा। कुमुदोत्पलपद्मानां स्पर्शाः सेव्याश्च मारुताः ॥

पित्तजन्य शिरोरोग में शीतल पदार्थों का सेवन, चन्दनमिश्रित जल से आर्द्र किये हुए पंखे के वायु का सेवन, कुमुदिनी, लाल तथा श्वेत कमल का स्पर्श और शीतल जल का सेवन करना हितकर होता है ॥ ३० ॥

सर्पिषः शतधौतस्य शिरसा धारणं हितम्। रसः श्वासकुठारोऽल्पः कर्पूरः कुङ्कुमं नवम् ॥
सिता छागीपयः सर्वं चन्दनेनानुवर्पयेत्। तस्य नस्यं भिषग्दद्यात्पित्तजायां शिरोरुचि ॥
किन्तु मस्तकशूलेषु सर्वेष्वेवं हितं मतम् ॥ ३२ ॥

पैत्तिक शिरोरोग में शतधौत घृत का मस्तक पर धारण करना हितकर होता है। थोड़ा-सा श्वासकुठार रस, कपूर, नई केशर, मिश्री तथा बकरी का दूध इन सबको सफेद चन्दन के साथ घिसकर वैद्य पित्तात्मक शिरःशूल में नस्य दे। इससे पित्तजन्य शिरःशूल नष्ट हो जाता है। यह नस्य समस्त शिरःशूल में हितकर बताया गया है ॥ ३१–३२ ॥

गुडनागरकल्कस्य नस्यं मस्तकशूलनुत् ॥ ३३ ॥

गुड़ तथा सोंठ के कल्क का नस्य देने से शिरःशूल नष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥

रक्तजे पित्तवत्सर्वं भोजनालेपसेचनम्। शीतोष्णयोश्च विन्यस्य विशेषो रक्तमोक्षणम् ॥

रक्तजन्य शिरोरोग में पैत्तिक शिरोरोग के समान शीत तथा उष्ण पदार्थों का विचार करके

भोजन, प्रलेप तथा परिषेक इत्यादि समस्त उपचार करना चाहिए। रक्तज शिरोरोग में रक्तमोक्षण कराना विशेष हितकर होता है ॥ ३४ ॥

कफजे लङ्घनं स्वेदो रूक्षोष्णैः पावकात्मकैः। सन्निपातभवे कार्या सन्निपातहरी क्रिया।
पुराणसर्पिषः पानं विशेषेण दिशन्ति हि ॥ ३५ ॥

कफज शिरोरोग में लङ्घन कराना तथा उष्ण, रूक्ष और आग्नेय द्रव्यों से स्वेदन कराना प्रशस्त है। यदि शिरोरोग सन्निपातज हो तो त्रिदोषनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। इस त्रिदोषजन्य सन्निपात में पुराने घृत का पान कराने का विद्वान् लोग विशेष आदेश करते हैं ॥ ३५ ॥

षड्बिन्दुतैलमाह—

एरण्डमूलं तगरं शताह्वा जीवन्तिका रास्निकसैन्धवं च।
भृङ्गं विडङ्गं मधुयष्टिका च विश्वौषधं कृष्णतिलस्य तैलम् ॥ ३६ ॥
अजापयस्तैलविमिश्रितञ्च चतुर्गुणं भृङ्गरसे विपक्वम्।
षड्बिन्दवो नासिकया प्रदेयाः सर्वान्निहन्युः शिरसो विकारान् ॥ ३७ ॥
च्युतांश्च केशान्पलितांश्च दन्तान्निर्बन्धमूलान्सुदृढीकरोति।
सुपर्णगृध्रप्रतिमञ्च चक्षुः कुर्वन्ति बाह्वोरधिकं बलञ्च ॥ ३८ ॥
***जीवन्तिकाऽत्र हरीतकी शाकविशेषश्च ॥ ३६-३८ ॥**

षट्बिन्दुतैल-एरण्ड की जड़, तगर, शतावरी, जीवन्ती (हरीतकी अथवा शाक विशेष), रास्ना, सेंधानमक, भृङ्गराज, वायविडङ्ग, मुलेठी तथा सोंठ—इन ओषधियों का कल्क, बकरी का दूध तथा चौगुने भृङ्गराजस्वरस के साथ काले तिलों के तेल को पकाये। इस प्रकार 'षट्बिन्दु' नामक तेल सिद्ध होता है। इस तेल के छः बूंदों को नासिका में डालने से सम्पूर्ण शिरोविकार नष्ट हो जाते हैं। इसके प्रयोग से बालों का गिरना और असमय में पकना दूर हो जाता है और हिलते हुए दाँत सुदृढ़ हो जाते हैं, नेत्र गरुड तथा गृध्र के समान हो जाते हैं और बाहुओं में अधिक बल आ जाता है ॥ ३६-३८ ॥

क्षयजे क्षयनाशाय कर्त्तव्यो बृंहणो विधिः। पाने नस्ये च सर्पिः स्याद्वातघ्नैर्मधुरैः शृतम् ॥

क्षयजन्य शिरोरोग में क्षय का नाश करने के लिए बृंहण-विधि का प्रयोग करना चाहिए तथा वातघ्न और मधुर द्रव्यों से पकाये गये घृत का पान कराना और उसीका नस्य देना चाहिए॥

कृमिजे व्योषनक्ताह्वशिग्रुबीजैश्च नावनम्। अजामूत्रयुतं नस्यं कर्त्तव्यं कृमिनुत्परम् ॥४०॥

कृमिजन्य शिरोरोग में सोंठ, मिर्च, पिप्पली, करञ्ज तथा सहजन के बीज इनको बकरी के मूत्र में पीसकर नस्य देना चाहिए। यह नस्य परम कृमिनाशक है ॥ ४० ॥

सूर्यावर्त्ते विधातव्यं नस्यकर्मादि भेषजम् ॥ ४१ ॥

सूर्यावर्त नामक शिरोरोग में नस्यकर्म इत्यादि चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ४१ ॥

कुमारीतैलमाह

कुमार्याः स्वरसप्रस्थे धत्तूरस्य रसे तथा। भृङ्गराजस्य च रसे प्रस्थद्वयसमायुते ॥ ४२ ॥
चतुःप्रस्थमिते क्षीरे तैलप्रस्थं विपाचयेत्। कल्कैर्मधुकह्रीबेरमञ्जिष्ठाभद्रमुस्तकैः ॥ ४३ ॥
नखकर्पूरभृङ्गैलाजीवन्तीपद्मकुष्ठकैः। मार्कवासकतालीससर्जनिर्यासपत्रकैः ॥ ४४ ॥
विडङ्गशतपुष्पाऽश्वगन्धागन्धर्वहस्तकैः। शोथहृन्नारिकेलाभ्यां कर्षमानैर्विपाचिते ॥ ४५ ॥
उत्तार्य वस्त्रपूतं तु शुभे भाण्डे सुधूपिते। त्रिरात्रमथ गुप्तञ्च धारयेद्विधिवद्भिषक् ॥ ४६ ॥
ततस्तु तैलमभ्यङ्गे मूर्ध्नि चैवे नियोजयेत्। शमयेदर्दितं गाढं मन्यास्तम्भशिरोगदान्।
तालुनासाऽक्षिजातन्तु शोषं मूर्च्छां हलीमकम् ॥ ४७ ॥
हनुग्रहगदार्त्तिं वा बाधिर्यं कर्णवेदनाम् ॥ ४८ ॥

कुमारी तैल—घृतकुमारी का स्वरस १ प्रस्थ (६४ तोले), धतूर के पत्तों का स्वरस ६४ तोले, भृङ्गराजस्वरस २ प्रस्थ (१२८ तोले) तथा दूध ४ प्रस्थ (२५६ तोले) और मुलेठी, हाऊबेर, मजीठ, नागरमोथा, नख, कपूर, भृङ्गराज, वायविडङ्ग, सौंफ, असगन्ध, एरण्डमूल, वट तथा नारियल इन प्रत्येक ओषधियों के कल्क १-१ तोले। इन सबके साथ १ प्रस्थ तेल का परिपाक कर ले। फिर उतारकर वस्त्र द्वारा छानकर सुन्दर तथा सुधूपित पात्र में भरकर वैद्य विधिवत् तीन दिन तक जमीन में गाड़ दे। तत्पश्चात् इस तेल का अभ्यङ्ग करे तथा शिर पर लगाये। इससे कष्टसाध्य अर्दित, मन्यास्तम्भ, शिरोविकार, तालुशोष, नासाशोष, अक्षिशोष, मूर्च्छा, हलीमक, हनुस्तम्भ, बाधिर्य तथा कर्णमूल नष्ट हो जाता है॥ ४२-४८॥

योजयेत्सगुडं सर्पिर्घृतपूरांश्च भक्षयेत्। नावनं क्षीरसर्पिर्भ्यां पानञ्च क्षीरसर्पिषोः॥ ४९॥
क्षीरपिष्टैस्तिलैः स्वेदो जीवनीयैश्च शस्यते। भृङ्गराजरसश्छागीक्षीरतुल्योऽर्कतापितः।
सूर्यावर्त्तं निहन्त्याशु नस्येनैव प्रयोगराट्॥ ५०॥

गुडमिश्रित घृत का सेवन करना, घी में बनाये हुए मालपूए को खाना, घृतमिश्रित दुग्ध का नस्य लेना, घृतमिश्रित दुग्ध का पान करना तथा दूध के साथ पिसे हुए तिलों से अथवा जीवनीय गण की ओषधियों द्वारा स्वेद करना सूर्यावर्त्त नामक शिरोरोग में प्रशस्त माना गया है। अथवा भृङ्गराजस्वरस तथा बकरी का दूध इन दोनों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर और धूप में गरम करके नस्य देने मात्र से सूर्यावर्त्त तत्काल नष्ट हो जाता है। यह प्रयोग सभी प्रयोगों का राजा है॥

अर्द्धावभेदके पूर्वं स्नेहस्वेदौ हि भेषजम्। विरेकः कायशुद्धिश्च धूपः स्निग्धोष्णभोजनम्॥

अर्द्धावभेदक नामक शिरोरोग में सर्वप्रथम स्नेहन, स्वेदन, विरेचन तथा अन्य प्रकार से यथा-अनुवासन, आस्थापनवस्ति इत्यादिकों द्वारा शरीर की शुद्धि करनी चाहिए और धूप, स्निग्ध तथा उष्ण भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए॥ ५१॥

विडङ्गानि तिलान्कृष्णान्समान्पिष्टान्विलेपयेत्। नस्यञ्चाप्याचरेत्तस्मादर्द्धभेदो व्यपोहति॥

वायविडङ्ग तथा काले तिल इन दोनों को समान-समान भाग में लेकर तथा पीसकर प्रलेप करने से अथवा इसीको निचोड़ कर नस्य देने से 'अर्द्धावभेदक' नामक शिरोरोग नष्ट हो जाता है॥५२॥

पिबेत्सशर्करं क्षीरं नीरं वा नारिकेलजम्। सुशीतं वाऽपि पानीयं सर्पिर्वा नस्यतस्तयोः॥
***नस्यतः=नासिकया, पिबेदित्यन्वयः। तयोः=सूर्यावर्त्तार्द्धभेदयोः॥ ५३॥**

नासिका द्वारा शर्करा मिश्रित दुग्ध को पीने से, नारियल का जल पीने से शीतल जल पीने से अथवा घृत का पान करने से सूर्यावर्त तथा अर्द्धावभेदक नामक शिरोरोग नष्ट हो जाता है॥५३॥

अनन्तवाते कर्त्तव्यः सूर्यावर्तहितो विधिः। शिरावेधश्च कर्त्तव्योऽनन्तवातप्रशान्तये॥५४॥

अनन्तवात नामक शिरोविकार में सूर्यावर्त्त में जो विधियाँ हितकर बतलाई गई हैं, उन्हीं-का प्रयोग करना चाहिए। तथा अनन्तवात की शान्ति के लिए शिराव्यध द्वारा रक्तमोक्षण करवाना चाहिए॥ ५४॥

आहारश्च प्रदातव्यो वातपित्तविनाशनः। मधुमस्तकसंयावो घृतपूपो विशेषतः॥ ५५॥
***संयावः=पक्वान्नविशेषः 'पेरकिया' इति लोके। स च मधुमस्तकः=मधुनोपलिप्तः। घृतपूपः='पूआ' इति लोके॥ ५५॥**

अनन्तवात में वात तथा पित्तविनाशक आहार देना चाहिए। विशेषतः मधु से भली भाँति लिप्त संयाव (पक्वान्न विशेष, पेरकिया या चूरमा) अथवा मालपूआ खिलाना चाहिए॥ ५५॥

पथ्याऽऽदिक्वाथमाह—

पथ्याऽक्षधात्रीरजनीगुडूचीभूनिम्बनिम्बैः सगुडः कषायः।
भ्रूशङ्खकर्णाक्षिशिरोऽर्द्धशूलं निहन्ति नासानिहितः क्षणेन॥ ५६॥

हरड़, बहेड़ा, आँवला, हल्दी, गुडूची, चिरायता तथा नीम की छाल इन ओषधियों के क्वाथ में गुड़ मिलाकर नस्य देने से क्षण भर में भौंह, शङ्खप्रदेश, कान तथा आँख का शूल और अर्द्धावभेदक नष्ट हो जाता है ॥ ५६ ॥

दार्वी हरिद्रा मञ्जिष्ठा सनिम्बोशीरपद्मकम् । एतत्प्रलेपनं कुर्याच्छङ्खकस्य प्रशान्तये ॥ ५७ ॥

शङ्खक नामक शिरोविकार की शान्ति के लिए दारुहल्दी, हल्दी, मजीठ, नीम की छाल, खस तथा पद्मकाष्ठ इन ओषधियों को पीसकर प्रलेप करना चाहिए ॥ ५७ ॥

शीततोयाभिषेकश्च शीतलक्षीरसेवनम् । कल्पश्च क्षीरवृक्षाणां शङ्खके लेपनं हितम् ॥ ५८ ॥

शङ्खक नामक शिरोरोग में शीतल जल का परिषेक, शीतल दुग्ध का सेवन तथा क्षीरिवृक्षों के कल्प का प्रलेप हितकर होता है ॥ ५८ ॥

सर्वशिरोरोगाणां सामान्यचिकित्सामाह—

यष्टीमधुकमाषः स्यात्तुर्यांशं तु विषं भवेत् । तयोश्चूर्णं सुसूक्ष्मं स्यात्तच्चूर्णं सर्षपोन्मितम् ॥
नासिकाऽभ्यन्तरे न्यस्तं सर्वां शीर्षव्यथां हरेत् । दृष्टप्रयोगो योगोऽयमनुभाविभिरादृतः ॥

मुलेठी १ माशा तथा वत्सनाभ चतुर्थांश अर्थात् २ रत्ती इन दोनों ओषधियों का अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण करके इस चूर्ण को सरसों के बराबर लेकर नासिका में डालने से सब प्रकार की शिरोव्यथा नष्ट हो जाती है । अनुभवी वैद्यों द्वारा आदृत यह योग प्रयुक्त करके भी देख लिया गया है ॥

आर्द्रं यच्छुक्तिकाचूर्णं चूर्णितं नवसादरम् । उभयं योजितं तस्य गन्धान्नश्यति शीर्षरुक् ॥

इति द्विषष्टितमः शिरोरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६२ ॥

सीपी का गीला चूना यथा नौसादर का चूर्ण इन दोनों को एक में मिलाकर सूँघने से शिरःशूल नष्ट हो जाता है ॥ ६१ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी'नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे द्विषष्टितमः शिरोरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६२ ॥

अथ त्रिषष्टितमो नेत्ररोगाधिकारः ॥ ६३ ॥

नेत्रस्य [1]प्रमाणमाह—

विद्याद् द्व्यङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसम्मितम् । द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्द्धं भिषङ् नयनमण्डलम् ॥

द्व्यङ्गुलबाहुल्यं = द्व्यङ्गुलप्रमाणं स्थौल्यं यस्य तत् । अङ्गुलीनां स्थौल्यस्य वैषम्यात्पुनराह–स्वाङ्गुष्ठोदरसम्मितं, द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्द्धं दैर्घ्येण ॥ १ ॥

वैद्य नेत्रमण्डल को दो अङ्गुल मोटा तथा ढाई अङ्गुल लम्बा जाने । प्रत्येक मनुष्य की अङ्गुलियों की स्थूलता में वैषम्य होता है । अत एव बतलाया गया है कि यह प्रमाण अपने अङ्गूठे के मध्य भाग की चौड़ाई के बराबर होता है अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के नेत्रमण्डल का प्रमाण उसी के अङ्गुष्ठोदर का नाप मान कर दो अङ्गुल लम्बा बतलाया गया है ॥ १ ॥

---

१. दृष्टि का आयाम—

'नेत्रायामत्रिभागं तु कृष्णमण्डलमुच्यते ।' 'कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः ।'

अर्थात् पूरे नेत्रगोलक के विस्तार के तिहाई भाग के बराबर कृष्णमण्डल का आयाम (विस्तार) है और कृष्णमण्डल के आयाम के सप्तमांश के बराबर दृष्टि (Pupil) का आयाम होता है। पाश्चात्यों ने 'कार्निया' (Cornea) को नेत्रगोलक का पञ्चांश माना है ।

नेत्रस्याङ्गान्याह—

पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्णदृष्टीनां मण्डलानि तु। अनुपूर्वन्तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम्॥

***ते = पक्ष्मादयो दृष्ट्यन्ताः। अनुपूर्वं = यथापूर्वम्। मध्याश्चत्वारः = कृष्णादयः, यथोत्तरमन्त्याः॥ २॥**

१ पक्ष्ममण्डल, २ वर्त्ममण्डल, ३ श्वेतमण्डल, ४ कृष्णमण्डल तथा ५ दृष्टिमण्डल—नेत्र में ये पाँच मण्डल होते हैं। उनमें से चार मण्डल (वर्त्ममण्डल, श्वेतमण्डल, कृष्णमण्डल तथा दृष्टिमण्डल) पूर्वक्रम से मध्य में रहते हैं। अर्थात् सब से बाहर वर्त्ममण्डल, उसके भीतर श्वेतमण्डल फिर उसके भीतर कृष्णमण्डल तत्पश्चात् उसके भी भीतर दृष्टिमण्डल होता है। और वे ही चार मण्डल यथोत्तर क्रम से अन्त में रहते हैं अर्थात् सबसे मध्य में दृष्टिमण्डल फिर उसके अन्त में कृष्णमण्डल तत्पश्चात् श्वेतमण्डल और उसके भी अन्त में वर्त्ममण्डल होता है॥ २॥

नेत्रमण्डलोत्पन्नाष्टसप्तति (७८) रोगानाह—

द्वादश व्याधयो दृष्टौ तत्रैवान्यौ गदावुभौ। कृष्णमार्गे तु चत्वारो दशैकः शुक्लभागजाः॥
वर्त्मन्येको विंशतिश्च पक्ष्मजौ द्वौ प्रकीर्त्तितौ। नव सन्धिषु सर्वस्मिन्नेत्रे सप्तदशोदिताः।
एवं नेत्रे समस्ताः स्युरष्टसप्ततिरामयाः॥ ४॥

***तत्र = दृष्टौ। अन्यौ = चरकोक्तौ सुश्रुतोक्तषट्सप्ततिसंख्येभ्योऽधिकौ॥ ३-४॥**

दृष्टिमण्डल में १२ रोग होते हैं, ऐसा सुश्रुत ने बताया है, किन्तु चरक ने दृष्टिगत दो अन्य रोगों को भी बताया है। इस प्रकार दृष्टिगत १४ रोग हुए। कृष्णमण्डल में ४ रोग, शुक्लमण्डल में ११ रोग, वर्त्ममण्डल में २१ रोग, पक्ष्ममण्डल में २ रोग, सन्धियों में ९ रोग और समस्त नेत्र में १७ रोग इस प्रकार नेत्र में सबको जोड़ने पर १४+४+११+२१+२+९+१७=७८ रोग होते हैं। सुश्रुत ने तो ७६ रोगों का ही वर्णन किया है॥ ३-४॥

सुश्रुतोक्तषट्सप्तति (७६) सङ्ख्यामाह—

वाताद्दश तथा पित्तात्कफाच्चैव त्रयोदश॥ ५॥
रक्तात्षोडश विज्ञेयाः सर्वजाः पञ्चविंशतिः बाह्यौ पुनर्द्वौ नयने रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः॥

वात से १०, पित्त से १०, कफ से १३, रक्त से १६, तीनों दोषों से २५ तथा नेत्र के बाहरी भाग में होनेवाले २ रोग इस प्रकार नेत्र में होनेवाले १०+१०+१३+१६+२५+२=७६ रोगों का सुश्रुत ने वर्णन किया है, ऐसा जानना चाहिए॥ ५-६॥

सामान्यरीत्या नेत्ररोगाणां विप्रकृष्टनिदानमाह—

उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशाद् दूरेक्षणात्स्वप्नविपर्ययाच्च।
स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्च छर्देर्विघाताद्वमनातियोगात्॥ ७॥
शुक्तारनालाम्लकुलत्थमाषाद्विण्मूत्रवातागमनिग्रहाच्च।
प्रसक्तसंरोदनशोकतापाच्छिरोऽभिघातादतिशीघ्रयानात्॥ ८॥
तथा ऋतूनाञ्च विपर्ययेण क्लेशाभितापादतिमैथुनाच्च।
बाष्पग्रहात्सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च नेत्रे विकारं जनयन्ति दोषाः॥ ९॥

गर्मी से अत्यन्त संतप्त होकर जलावगाहन करने से, दूरस्थ पदार्थों को देखने से, स्वप्नविपर्यय (दिन में सोने तथा रात में जागने, अथवा मात्रा से अधिक या कम सोने) से, अग्नि इत्यादि के सेवन से, आँख में धूल इत्यादि के पड़ जाने से, धुआँ लगने से, वमन को रोकने अथवा अत्यन्त वमन करनेसे, शुक्त तथा आरनाल नामक काँजी के सेवन से, कुलथी तथा उड़द के सेवन से, मल-मूत्र और वायु के वेगों को रोकने से, निरन्तर रोते रहने से, शोक के सन्ताप से, शिर पर चोट लगने से, अत्यन्त वेगवाली सवारी पर चलने से, ऋतुचर्या के विरुद्ध आचरण करने से, कामक्रो-

धादि जन्य दुःखों के अभिताप अर्थात् पीड़ा से, अत्यन्त स्त्रीप्रसङ्ग करने से आँसू के वेग को रोकने से तथा सूक्ष्म वस्तुओं को देखने से वात, पित्त तथा कफदोष नेत्रों में विकार को उत्पन्न कर देते हैं॥

***उष्णाभितप्तस्य, जलप्रवेशात्=आतपादिजनितोष्मणा सह बहिर्भूतस्य नयनतेजसो जलावगाहनेनाभिभवाद्, दूरेक्षणाद्=दूरस्थद्रव्यदर्शनात्। स्वेदात्=विद्यतेऽनेनेति स्वेदोऽग्न्यादिस्तस्मात्। रजोधूमनिषेवणाद्रजोधूमनिषेवणाच्चेत्रेण। शोकतापाद्=शोकजनितात्सन्तापात्। शिरोऽभिघाताद्=शिरसि प्रहारात्। ऋतूनां विपर्ययेण=ऋतूक्तचर्याविपरीताचरणेन। क्लेशाभितापात्=क्लिश्यतेऽनेनेति क्लेशः=कामक्रोधादिदुःखं तेनाभितापः=पीड़ा, ततः। बाष्पग्रहात्=अश्रुवेगविघातात्॥ ७–९॥**

ऊपर 'उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशात्' इसका यह अर्थ किया है कि—'धूप इत्यादि के सेवनजन्य ऊष्मा के साथ बहिर्भूत नेत्र के तेज के जलावगाहन से नष्ट होने के कारण'। 'स्वेदात्' शब्द का अर्थ यों किया गया है कि:—'स्वेदन किया जाता है जिससे उसे 'स्वेद' कहते हैं। इस प्रकार स्वेद शब्द से गृहीत अग्नि इत्यादि के सेवन से। 'क्लेशाभितापात्' पद का अर्थ यों किया है कि:—'क्लेश अर्थात् दुःख प्राप्त होता है जिससे उसे 'क्लेश' कहते हैं और दुःख का कारण सर्वदा काम तथा क्रोधजन्य दुःख होता है' इस प्रकार 'क्लेश' पद से 'कामक्रोधादिजन्य दुःख' यह अर्थ हुआ। इस दुःख के अभिताप अर्थात् पीड़ा से॥ ७–९॥

नेत्ररोगसम्प्राप्तिमाह—

शिराऽनुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूर्ध्वमाश्रितैः। जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः॥ १०॥

***नेत्रभागेषु=नेत्रस्य दृष्ट्याद्यवयवेषु॥ १०॥**

शिराओं में स्थित दुष्ट हुए वातादि दोष, ऊर्ध्व भाग में जाकर नेत्रों के दृष्टि इत्यादि अवयवों में अत्यन्त दारुण रोगों को उत्पन्न कर देते हैं॥ १०॥

आदौ दृष्टिरोगानाह।

तत्र नेत्रदृष्टिलक्षणमाह—

मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम्। खद्योतविस्फुलिङ्गाभां सिद्धां तेजोभिरव्ययैः॥ ११॥
आवृतां पटलेनाक्ष्णोर्बाह्येन विवराकृतिम्। शीतसात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः॥१२॥

***मसूरदलमात्रां=नेत्रगतकृष्णमण्डलमध्यस्थमसूरद्विदलप्रमाणाम्। पञ्चभूतप्रसादजाम्=प्रसन्नपञ्चभूतात्मिकाम्। खद्योतविस्फुलिङ्गाभां=निमेषैः कदाचित्खद्योताभां खद्योतवद्, निमेषाभावे विद्योतमानत्वाद्विस्फुलिङ्गवत्। अव्ययैः=चिरस्थायिभिः। तेजोभिः, सिद्धाम्=उत्पन्नाम्। विवराकृतिं=सच्छिद्राम्। अक्ष्णोर्बाह्येन पटलेन=रसरक्ताधारभूतेन, आवृताम्॥ ११–१२॥**

नेत्रगत कृष्णमण्डल के मध्य में स्थित मसूर की दाल के प्रमाणवाली, निर्मल पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न हुई, किसी क्षण में खद्योत (जुगनू) के समान तथा किसी क्षण में चिनगारी के समान कान्तियुक्त, अविनाशी तेजों से सिद्ध आँखों के रक्त तथा रक्त से निर्मित बाह्य पटल से आवृत, छिद्रयुक्त तथा शीतसात्म्य जो मनुष्यों के नेत्र का भाग होता है, उसे नेत्रों के विशेषज्ञ वैद्य दृष्टि कहते हैं॥ ११–१२॥

तत्र चत्वारि[1] पटलान्याह—

तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत्पिशिताश्रितम्। मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वस्थि चापरम्।
पञ्चमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते॥ १३॥

---

१. नेत्र का सूक्ष्म शरीर—
'पलं भुवोऽग्नितो रक्तं वातात् कृष्णं सितं जलात्। आकाशादश्रुमार्गाश्च जायन्ते नेत्रबुद्बुदे।'

*तत्र तेजो=रक्तम्, जलं=रसः, तेन रसरक्ताधारमित्यर्थः । पटलं=त्वक् । अपरं=चतुर्थम् । दृष्टेः=स्वाङ्गुष्ठोदरस्थूलस्य नेत्रस्य । पञ्चमांशसमं तेषां चतुर्णां पटलानां मिलितानां बाहुल्यं=स्थौल्यमिष्यते ॥ १३ ॥

नेत्र में चार पटल होते है, उनमें से बाह्य प्रथम पटल-रस तथा रक्त के आश्रित रहता है। द्वितीय पटल-मांस के आश्रित रहता है। तृतीय पटल-मेद के आश्रित रहता है। तथा चतुर्थ पटल-अस्थि के आश्रित रहता है। इन चारों पटलों की मिलित मोटाई नेत्र के (अपने अङ्गूठे के मध्यभाग की मोटाई के) पञ्चमांश के समान मानी है ॥ १३ ॥

[1]प्रथमपटलगतदोषस्वभावमाह—

प्रथमे पटले यस्य दोषो दृष्टेर्व्यवस्थितः । अव्यक्तानि स्वरूपाणि कदाचिदथ पश्यति ॥१४॥

*प्रथमे पटले=पूर्वाभ्यन्तरे न तु बाह्ये ।

*दृष्टेरभ्यन्तरे दोषाः पटले समधिष्ठिताः । एकैकमनुपद्यन्ते पर्यायात्पटलान्तरम् ॥ १ ॥

*इति विदेहवचनात् । व्यवस्थितः=स्थितः । अव्यक्तानि=ईषद्व्यक्तानि । अथ कदाचित्पश्यति । व्यक्तान्येवेति शेषः । दोषाल्पतया ॥ १४ ॥

जिस व्यक्ति के नेत्र के प्रथम पटल में दोष स्थित होता है, वह मनुष्य स्वरूप को अव्यक्त देखता है और यदि दोष अल्प हो तो कभी-कभी व्यक्त भी देखता है।

यहाँ पर प्रथम पटल से आभ्यन्तर प्रथम पटल का बोध होता है, न कि बाह्य का, क्योंकि विदेह का ऐसा वचन मिलता है कि—'दृष्टि के आभ्यन्तर पटल में स्थित दोष क्रमतः बाहर की ओर एक के बाद दूसरे पटल में प्राप्त होते हैं' ॥ १४ ॥

द्वितीयपटलगतदोषस्वभावमाह—

दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीये पटले गते । मक्षिकामशकान् केशाञ्जालकानीव पश्यति ॥ १५ ॥
मण्डलानि पताकाश्च मरीचीन्कुण्डलानि च । परिप्लवांश्च विविधान्वर्षमभ्रं तमांसि च ॥
दूरस्थानि च रूपाणि मन्यते च समीपतः । समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ॥ १७ ॥

अर्थात् नेत्रबुद्बुद (नेत्र के खोखले गोलक) का मांसभाग पृथ्वीतत्त्व से, रक्त अग्नितत्त्व से, कृष्णमण्डल वायुतत्त्व से, श्वेतमण्डल जलतत्त्व से और अश्रुमार्ग आकाशतत्त्व से बना है।

यदि पाश्चात्त्य नेत्र-शरीर से पटलों की तुलना की जाय, तो ये कॉर्निया, आइरिस, कोरायड, लेन्स, विट्रिअस तथा रेटिना आदि ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि पटलगत दोषों के लक्षण इन्हीं उपर्युक्त कार्निया आदि की कुछ विकृतियों से मिलते हैं।

आयुर्वेद में दृष्टि का जैसा वर्णन किया गया है, वह नेत्रतारक या कनीनिका (Pupil प्यूपिल) के समान है, किन्तु दृष्टिगत रोगों का वर्णन पाश्चात्य नेत्ररोग-विज्ञान के प्रायः उन रोगों के वर्णन से मिलता-जुलता है, जिनका समावेश Diseases of the refracting media के रोगों में होता है। इसलिए दृष्टिगत रोग वास्तव में एक्कुअस (Aquous), 'लैंस' (Lens) नेत्र लाल, विट्रिअस (Vitrious) और दृष्टिनाडी (Optic nerve 'आप्टिक नर्व') के रोगों से तथा कुछ-कुछ उन रोगों के लक्षणों से भी मिलते हैं, जिनमें कि परिणामस्वरूप उपर्युक्त Aquous आदि में दोष उत्पन्न होता है।

१. प्रथम और द्वितीय पटलगत दोषों से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, वैसे लक्षणः-Choroiditis, Cyclitis, Vitrious opacities, Paralysis of Ciliary muscles, Commencing Cataract, Chronic Iridichoroiditis, Errors of refraction Astiqmatism आदि रोगों में होते हैं।

यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीच्छिद्रं न पश्यति ॥ १८ ॥

*विह्वलति=रूपं सम्यक् कृत्वा ग्रहीतुं न शक्नोति। विह्वलत्वमेव विवृणोति–मक्षिकाऽऽदीन्, जालकानीव=मर्कटरचितजालानीव पश्यति। मण्डलादीन्यसन्त्यपि सन्तीव पश्यति। कुण्डलानि–कुण्डलानीव विद्योतमानानि। किञ्चित्पश्यति। परिप्लवांश्च विविधान्=प्रतिच्छायाऽऽदीनां सञ्चारादूर्ध्वाधस्तिर्यग्गतान्नानाविधान्पश्यति। वर्षं=वृष्टिम्। अभ्रं=मेघम्। वर्षाऽऽदीन्यसन्त्यपि सन्तीव पश्यति। गोचरविभ्रमाद्=गोचरोऽत्र रूपम्, तत्र भ्रमः=अयथाग्रहणं, तस्मात् ॥ १५–१८ ॥

दोष के द्वितीय पटल में स्थित होने पर दृष्टि रूप को अच्छी तरह से ग्रहण करने में समर्थ नहीं होती है। और मक्खी तथा मच्छर तथा केशों को मकड़ी के बनाये जाल के समान देखता है। मण्डल, पताका तथा किरणों को न होते हुए भी होने के समान देखता है। प्रकाशयुक्त पदार्थों को कुण्डल के समान देखता है। परछाईं इत्यादि का सञ्चार ऊँचा, नीचा तथा तिरछा इत्यादि नाना प्रकार का देखता है। वर्षा, मेघ तथा अन्धकार के न होते हुए भी होने के समान देखता है। दृष्टि के रूपों के अयथाग्रहण के कारण दूरस्थित द्रव्यों को समीपस्थ देखता है तथा अत्यन्त यत्न करने पर भी सूई के छिद्र को नहीं देखता है ॥ १५–१८ ॥

[2]तृतीयपटलगतदोषस्वभावमाह—

ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात्तृतीयं पटलं गते। सुमहान्त्यपि रूपाणि च्छादितानीव चाम्बरैः ॥
कर्णनासाऽक्षिरूपाणि विकृतानि च पश्यति। यथादोषञ्च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि ॥२०॥
अधःस्थे तु समीपस्थं दूरस्थं चोपरिस्थिते। पार्श्वस्थिते पुनर्दोषे पार्श्वस्थानि न पश्यति ॥
समन्ततः स्थिते दोषे संकुलानीव पश्यति। दृष्टिमध्यस्थिते दोषे महद्ध्रस्वं च पश्यति ॥२२॥
दोषे दृष्टिस्थिते तिर्यगेकं वा मन्यते द्विधा। द्विधास्थिते द्विधा पश्येद्बहुधा चानवस्थिते ॥

*ऊर्ध्वं पश्यति–ऊर्ध्वमपि यादृक् पश्यति तादृगाह–सुमहान्तीत्यादि। अम्बरैः=वस्त्रैः। अधःस्थे तु समीपस्थं न पश्यतीत्यन्वयः। तथा—उपरिस्थिते दोषे दूरस्थं न पश्यति। समन्ततः स्थिते दोषे संकुलानीव पश्यति। दृष्टिमध्यस्थिते दोषे महत्तद्ध्रस्वं च पश्यति ॥ अनवस्थिते=अनियतावस्थाने। बहुधा=बहूनि, पश्येत् ॥ १९–२३ ॥

दोष के तृतीय पटल में स्थित होने पर मनुष्य केवल ऊपर देखता है, नीचे नहीं देख सकता है। ऊपर स्थित बहुत बड़े पदार्थों को भी वस्त्र से ढँके के समान देखता है। कर्ण, नासिका तथा नेत्रादि के स्वरूप को विकृत देखता है। यदि दोष बलवान् हो तो दोषानुसार दृष्टि का वर्ण हो जाता है। यदि दोष अधोभाग में स्थित हो तो समीपस्थ पदार्थों को नहीं देखता, यदि दोष ऊर्ध्वभाग में स्थित हो तो दूरस्थ पदार्थों को नहीं देखता तथा यदि दोष पार्श्वस्थित हो तो पार्श्वस्थ पदार्थों को नहीं देखता है। यदि दोष ऊपर, नीचे तथा पार्श्वभाग में अर्थात् चारो तरफ स्थित हो तो मनुष्य अलग-अलग स्थित पदार्थों को भी मिला हुआ-सा देखता है। यदि दोष दृष्टि के मध्य भाग में स्थित हो, तो व्यक्ति बड़े पदार्थों को छोटा देखता है। यदि दोष दृष्टि में तिरछा स्थित हो, तो मनुष्य एक वस्तु को दो वस्तु मानता है। यदि दोष दृष्टि के दो भाग में स्थित हो तो भी

---

२. तृतीय पटलगत दोष के लक्षणः—Dislocation of lens. Detachment of retina. oqtic neuritis, Exudate in pupil, opacities in the lens, Amblyopia औरMata morphosia आदि रोगों के कुछ लक्षणों से मिलते हैं।

तृतीय पटलगत दोषों का कुछ लक्षण वाग्भट ने द्वितीय पटलगत दोषों के लक्षणों में ही लिखा है, यथा—'प्राप्ते द्वितीयं पटलं·········दृष्टेरभ्यन्तरगते ह्रस्ववृद्धविपर्ययम्।
नान्तिकस्तमधःसंस्थे दूरगं नोपरिस्थिते। पार्श्वे पश्येन्न पार्श्वस्थे तिमिराख्योऽयमामयः ॥' वा०।

मनुष्य एक वस्तु को दो वस्तु देखता है और यदि दोष अनियमित स्थित हो तो मनुष्य एक पदार्थ को अनेक पदार्थ देखता है ॥ १९–२३ ॥

चतुर्थ[1] पटलगतदोषस्वभावमाह—

[2]तिमिराख्यः स यो दोषश्चतुर्थं पटलं गतः। रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाश इति क्वचित् ॥

---

१. यहाँ पर दोषों के तृतीय पटल को दूषित करने पर तिमिर की उत्पत्ति मानी गई है और चतुर्थ पटलगत दोष होने से यही तिमिर लिङ्गनाश कहा जाता है और काच तथा नीलिका लिङ्गनाश के पर्याय हैं (यह सुश्रुत का मत है), किन्तु वाग्भट ने दोषों के द्वितीय पटल को दूषित करने पर ही तिमिर की उत्पत्ति को माना है। इनके मत से दोषोंके तृतीय पटल में प्रवेश करने पर यही तिमिर 'काच' नामसे पुकारा जाता है और चतुर्थ पटलगत दोष होने पर काच 'लिङ्गनाश' का रूप धारण कर लेता है। गदाधर ने तृतीय पटलगत दोष का 'काच' और चतुर्थ पटलगत दोष का 'नीलिका' नाम रखा है। किन्तु इस बात से सभी सहमत हैं कि तिमिर ही बढ़कर काच, लिङ्गनाश और नीलिका कहलाने लगता है। इसलिए वाग्भटोक्त तिमिर की विविध अवस्थाओं (काचादि) का समावेश सुश्रुतोक्त (अपूर्ण और पूर्ण) लिङ्गनाश में हो जाता है। यथाः—लिङ्गनाश (अपूर्ण) (गदाधर, वाग्भट)—

'तस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरिक्षे च विद्युतः।
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णूनि च पश्यति ॥'

लिङ्गनाश (पूर्ण)-नीलिका (ग०)—'चतुर्थपटलं गतः।
रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशः स उच्यते ॥'

२. तिमिर—आप्टिक एट्राफी (Optic atrophy) या 'ग्लाकोमेटस आप्टिक एट्राफी (Glacomatius optic atrophy) का नाम है। यही 'एट्राफी' (दृष्टिनाड़ी का क्षय) जब तक पूर्ण रूप से नहीं हुई रहती, तब तक बहुत चमकीली वस्तुएँ, यथा–सूर्य, विद्युत् आदि की कुछ झलक रोगी को मालूम होती है। दृष्टि के रोगों पर Glaucoma, cataract तथा optic atrophy का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसलिए इनका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

कटरेक्ट (Cataract) या मोतियाबिन्दः—नेत्र के ताल (Lens) तथा उसके आवरण (Capsule of the lens) में अपारदर्शकता उत्पन्न हो जाने से यह रोग उत्पन्न हो जाता है। यह स्वतन्त्र और उपद्रवभूत इस तरह दो प्रकार का होता है। स्वतन्त्र मोतियाबिन्द कारणानुसार तीन प्रकार का होता हैः—१ जराजन्य, २ जन्मजात, ३ अभिघातज। उपद्रवभूत मोतियाबिन्द मधुमेह, वृक्कशोथ, वातरक्त, सव्रणशुक्ल (Ulcerative keratitis), कोरायड का शोथ (Choroiditis) समलवायु (Glaucoma), Iridocyclitis, तथा Detachment of retina, इन रोगों के कारण उत्पन्न होता है।

कटरेक्ट की प्रारम्भिक दशा में प्रायः निम्न लक्षण होते हैंः—

१—रोगी की दृष्टि (Acuteness of vision) उत्तरोत्तर मन्द होती जाती है।

२—रोगी को दृश्य पदार्थों में धब्बे दिखाई देते हैं।

३—दूर की वस्तुएँ नहीं दिखाई देतीं (Myopia)।

४—द्विधादृष्टि (Diplopia) और बहुधा दृष्टि (Polyopia) अर्थात् रोगी एक ही वस्तुको दो या अधिक देखता है।

जराजन्य कटरेक्ट (Senile cataract)-प्रायः ४० वर्ष के बाद उत्पन्न होता है। इस रोग में Lens तथा उसके Capsule में विकृतियाँ उत्तरोत्तर होती हैं। उसके इस रोग की चार अवस्थाएँ (Stages) की जाती हैं। इसकी मुख्य चिकित्सा शस्त्रकर्म है, जो इस रोग की तीसरी अवस्था में की

अस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे। चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरिक्षे च विद्युतः ॥२५॥
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णूनीव पश्यति। स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिकाकाचसंज्ञितः॥

दोषो दोषः = दोषोऽत्र रोगः। चतुर्थं पटलं = बाह्यं पटलं, गतः। सः = तिमिराख्यः तिमिरदर्शनेन, तिमिरमस्यास्तीति तिमिरः, अर्श आदित्वादच्। तस्य लक्षणमाह-रुगद्धीत्यादि। सर्वतः = सर्वत्र, लिङ्गनाश इति क्वचित् = तन्त्रान्तरे लिङ्गनाशसंज्ञः। तस्य निरुक्तिश्च-लिङ्ग्यते = ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गं = दृष्टितेजः, तस्य नाशोऽस्मिन्निति लिङ्गनाशः। अस्मिन्नपि = तिमिरेऽपि, तमोभूते = तमस्तुल्ये, अत्र भूतशब्दस्तुल्यार्थः। 'भूतं, प्राप्यतीते समे त्रिषु' इत्यमरात्। नातिरूढे = अप्रौढे नवे। चन्द्रादित्यौ नक्षत्राणि च पश्यति अन्तरिक्षे, अन्तरिक्षस्य प्रकाशमयत्वेन तमोऽभिभवात्। तेजांसि-अग्न्यादयः। भ्राजिष्णूनि = रत्नसुवर्णादीनि। अस्मिन् प्रौढे = चिरजे, चन्द्रादीन्यपि न पश्यतीत्याशयः। नीलिकाकाचसंज्ञितः = नीलिका काचश्चेति नामान्तराभ्यां युक्तः॥ २४-२६॥

चतुर्थ अर्थात् बाह्यपटल में स्थित तिमिर (इस रोग में अन्धेरा दीखता है, इसीलिए इसे तिमिर कहा जाता है) नामक जो रोग है, वह चारो ओर से दृष्टि को अवरुद्ध कर देता है। तन्त्रान्तर में इसी तिमिर रोग को लिङ्गनाश नाम दिया गया है। इस अन्धकार के समान महाव्याधि के नवीन रहने पर रोगी आकाश में चन्द्रमा, सूर्य तारों तथा बिजली को देखता है। क्योंकि आकाश के प्रकाशमय होनेके कारण तम की शक्ति नष्ट रहती है। अग्नि इत्यादि के निर्मल तेज तथा रत्न स्वर्णादि प्रकाशयुक्त द्रव्यों को देखता है। तथा रोग के पुराने हो जाने पर उपर्युक्त चन्द्रमा इत्यादि भी नहीं दिखाई देते। वही तिमिराख्य रोग लिङ्गनाश ही के समान नीलिका तथा काच इन दो नामान्तरों से भी पुकारा जाता है।

ऊपर लिङ्गनाश शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की गई है कि 'ज्ञान जिससे होता है उसे लिङ्ग कहते हैं। अर्थात् लिङ्ग पद से दृष्टितेजका बोध हुआ, इस दृष्टितेज का इस रोग में नाश होता है, इसीलिए इस रोग को लिङ्गनाश कहा गया है॥ २४-२६॥

दृष्टिरोगाणां नामानि संख्यां चाह—

दृष्ट्याश्रयाः षट् च षडेव रोगाः षड् लिङ्गनाशा हि भवन्ति तत्र।
वातेन पित्तेन कफेन सर्वै रक्तात्परिम्लाय्यभिधश्च षष्ठः॥ २७॥

दृष्ट्याश्रया रोगाः षट् षट् = द्वादशेत्यर्थः। तत्र लिङ्गनाशाः षट्। तान्विवृणोति—वातेनेत्यादि॥ २७॥

तथा नरः पित्तविदग्धदृष्टिः कफेन वाऽन्यस्त्वथ धूमदर्शी।
यो ह्रस्वजात्यो नकुलान्ध्यसंज्ञो गम्भीरसंज्ञश्च तथैव दृष्टिः॥ २८॥

पित्तविदग्धदृष्ट्यादयश्च षट्। एवं दृष्ट्याश्रया द्वादश रोगाः। तत्र द्वावन्यौ चाह-तत्रैवान्यौ चरकोक्तगदौ बुद्धौ सनिमित्तकानिमित्तकौ॥ २८॥

जाती है और जब कटरेक्ट की परिपक्वावस्था (Mature stage) होती है। इस अवस्था में Lens प्रायः बिलकुल श्वेत हो जाता है। रोगी केवल तीव्र प्रकाश की झलक मात्र अनुभव कर पाता है। यही अवस्था शस्त्रकर्म के लिए उपयुक्त मानी जाती है। कटरेक्ट किसी भी अवस्था में सालों तक स्थिर भी रह सकता है। कभी-कभी नेत्रमें चोट लगने से उसके लेन्स में कटरेक्ट बनने लगता है। इसे अभिघातज कटरेक्ट (Traumatic Cataract) कहते हैं। जब चोट लगे तो अभिघात का उपचार करना चाहिए। यथाः—पूर्ण विश्राम, आँखों पर बर्फ रखना (Ice Compress) और एट्रोपीन आँख में डालना आदि। यदि बाद में कटरेक्ट पैदा ही हो जाय तो उसका शस्त्रकर्म कराना चाहिए।

दृष्टि में होनेवाले १२ रोग होते हैं। चरक ने सनिमित्तक तथा अनिमित्तक दो और रोगों की गणना की है। इन १२ रोगों में से ६ रोग लिङ्गनाश कहलाते हैं। १ वातज, २ पित्तज, ३ कफज, ४ त्रिदोषज, ५ रक्तज तथा छठवाँ परिम्लायी संज्ञक लिङ्गनाश होता है। तथा शेष ६ दृष्टि-रोगों से युक्त मनुष्य की निम्न संज्ञाएँ होती हैं यथा:—१ पित्तविदग्धदृष्टि, २ कफविदग्धदृष्टि, ३ धूमदर्शी, ४ ह्रस्वजात्य, ४ नकुलान्ध्य तथा ६ गम्भीरसंज्ञक ॥ २७–२८ ॥

तत्र[1] वातजलिङ्गनाशस्य लक्षणमाह—

वातेन खलु रूपाणि भ्रमन्तीव च पश्यति। आविलान्यरुणाभानि व्याविद्धानीव मानवः॥

***आविलानि = कलुषाणि। अरुणाभानि = अव्यक्तलौहित्ययुक्तानि ॥ २९ ॥**

वातज लिङ्गनाश में मनुष्य रूपों को घूमता हुआ-सा, कलुषित, किञ्चित् लाल वर्ण तथा टेढ़ा देखता है ॥ २९ ॥

[2]पित्तजलिङ्गनाशलक्षणमाह—

पित्तेनादित्यखद्योतशक्रचापतडिद्गुणान्। नृत्यतश्चैव शिखिनः सर्वं नीलञ्च पश्यति ॥३०॥

***आदित्यादीनां गुणान् = रूपाणि ॥ ३० ॥**

पैत्तिक लिङ्गनाश में मनुष्य सूर्य, खद्योत (जुगनू), इन्द्रधनुष तथा बिजली को नाचते हुए मोर के समान नीले रङ्ग का देखता है ॥ ३० ॥

[3]कफजलिङ्गनाशलक्षणमाह—

गौरचामरगौराणि श्वेताभ्रप्रतिमानि च। पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं व्यभ्रे चैवाभ्रसंप्लवम् ॥३१॥

कफेन पश्येद्रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च। सलिलप्लावितानीव जालकानीव मानवः ॥

कफज लिङ्गनाश में मनुष्य वस्तुओं को श्वेत चामर के समान गौर वर्ण, श्वेत बादल समान तथा अत्यन्त मेघहीन आकाश को मेघाच्छन्न देखता है। और रूपों को स्निग्ध, श्वेतवर्ण तथा पानी में डुबाकर निकाले हुए जाल के समान देखता है ॥ ३१–३२ ॥

[4]सन्निपातजलिङ्गनाशलक्षणमाह—

सन्निपातेन चित्राणि विप्लुतानि च पश्यति। बहुधाऽपि द्विधा वाऽपि सर्वाण्येव समन्ततः।

हीनाधिकाङ्गान्यथ वा ज्योतींष्यपि च पश्यति ॥ ३३ ॥

***चित्राणि = नानावर्णानि। विप्लुतानि = विपरीतानि। वैपरीत्यं विवृणोति—'बहुधे' त्यादि ॥ ३३ ॥**

सान्निपातिक लिङ्गनाश में मनुष्य रूपों को अनेक वर्णों का तथा विपरीत अर्थात् एक रूप का अनेक रूप अथवा दो रूप या चारों ओर सब प्रकार का, हीनाङ्ग, अधिकाङ्ग तथा प्रकाश-मय देखता है ॥ ३३ ॥

[5]रक्तजन्यलिङ्गनाशलक्षणमाह—

पश्येद्रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च। हरितान्यथ कृष्णानि पीतान्यपि च मानवः ॥

---

१. वातज लिङ्गनाश, रेटिनाइटिस (Retinitis) और युविआइटस (Uveitis) प्रतीत होता है।

२. पित्तज लिङ्गनाश को वाग्भट ने 'ह्रस्वदृष्टि' कहा है। यथा—

'दृष्टिः पित्तेन ह्रस्वाख्या सा ह्रस्वा ह्रस्वदर्शिनी॥' वा०।

३. कफज लिङ्गनाश white cataract, Dislocated Cararactous lens & Abseess of vitrious के लक्षणों से मिलता है। वाग्भट में कफज लिङ्गनाश का कुछ विस्तृत वर्णन है।

४. सन्निपातज लिङ्गनाश Cataract और Chronic Intraocular haemorihage से मिलता है।

५. रक्तज लिङ्गनाश के लक्षण पाश्चात्त्य शालाक्य-विज्ञान के नेत्र के भीतर के रक्तस्राव

रक्तज लिङ्गनाश में मनुष्य रूपों को रक्त, हरित, कृष्ण तथा पीतवर्ण का देखता है और विविध भाँति के अन्धकार देखता है ॥ ३४ ॥

[1]परिम्लायिलिङ्गनाशलक्षणमाह—

रक्तेन मूर्च्छितं पित्तं परिम्लायिनमाचरेत् ॥ ३५ ॥

तेन पीता दिशः पश्येदुद्यन्तमिव भास्करम् । विकीर्यमाणान्खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव हि ॥

*विकीर्यमाणान् = व्याप्यमानान् । तेजोभिः = अग्न्यादिभिरिव ॥ ३५-३६ ॥

(Intraocular haemorrhage) और Citaract after injury (नेत्रताल की अभिघातजन्य अपारदर्शकता) के लक्षणों के समान है ।

१. परिम्लायी लिङ्गनाश को वाग्भट ने संसर्ग लिङ्गनाश कहा है । इसके लक्षण, विशेषतः ४३ वें श्लोक से तथा डल्हण के वचनः—(अयं याप्यः) से, 'ग्लाकोमा' (glaucoma) के नेत्रगत लक्षणों से मिलते हैं । इसलिए हमें लिङ्गनाश को ही Glaucoma समझना चाहिए ।

Glaucoma या समलवायु या परिम्लायी लिङ्गनाशः—इस रोग में नेत्रगोलक के भीतर का दवाव उत्तरोत्तर बढ़ता है । दवाव के परिणामस्वरूप विकृति के अनुसार शोथयुक्त (Inflammatory or Congestive) तथा शोथहीन (Non-inflammatory) दो प्रकार होता है । शोथयुक्त प्रकार लक्षणों की तीव्रता तथा सौम्यता के अनुसार पुनः दो प्रकार का होता है:— तीव्र (Acute), चिरकालीन (Chronic) । इस रोग की प्रारम्भिक दशा में आँखों के सामने कुहरा-सा प्रतीत होना, दृष्टि कुछ धीरे-धीरे मन्द होना, दीपक आदि के चारो ओर इन्द्रधनुष के समान दिखाई देना, सिर में कुछ हलकी-हलकी पीड़ा होना, नेत्र में कुछ लालिमा हो आना (विशेषतः कृष्णमंडल के चारो ओर)। कुछ दिनों बाद ये सब लक्षण अपने आप बिलकुल ठीक हो जाते हैं । किन्तु दृष्टि की शक्ति ठीक पहले जैसी नहीं होती । कुछ दिनों या महीनों बाद आँख और शिर में तीव्र पीड़ा आँखों में ललाई, सूजन कार्निया में धुँधलापन, दृष्टिमन्द, pupil का अण्डाकार हो जाना Anterior Chamber उथला हो जाना--आदि लक्षण हो जाते हैं, किन्तु ये भी कुछ दिनों में ठीक हो जाते हैं । किन्तु दृष्टि इस बार इस आक्रमण के पहले जैसी थी, वैसी नहीं हो पाती । इसी प्रकार कुछ-कुछ समयों के बाद तीव्र शिरःशूल के साथ उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न होते और अच्छे होते रहते हैं । पहले दौरे अधिक दिनों के अन्तर से और कुछ हलके आते हैं, किन्तु उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों रोग पुराना होता जाता है, त्यों-त्यों दौरे जल्दी-जल्दी आते हैं और उत्तरोत्तर उग्रतर होते जाते हैं । प्रत्येक दौरे के बाद दृष्टि उत्तरोत्तर मन्द पड़ती जाती है और अन्त में बिलकुल मन्द पड़ जाती है । द्रव के दवाव की तीव्रता या न्यूनता के अनुसार लक्षणों की गति और तीव्रता में कमी-वेशी होती है । विकृति के अनुसार इस रोग की भी चार अवस्थाएँ की जाती हैं । कभी-कभी रोग एक ही अवस्था में अधिक दिनों तक स्थिर रह सकता है । रोग की अन्तिम अवस्था में नेत्रगोलक बिलकुल सिकुड़कर मुलायम हो जाता है या व्रणादि होकर Panophthalmitis हो जाती है । (विस्तृत विवरण नेत्ररोग की पुस्तकों में देखिये) ।

चिकित्सा—कोई सन्तोषजनक चिकित्सा नहीं है । तात्कालिक या कुछ काल के लाभ के लिए ट्रिफाइनिङ्ग (Triphining) की जाती है ।

वक्तव्य—आयुर्वेद में जिन नेत्ररोगों के साथ शिरःशूल भी होता है, उस शिरःशूल को उन नेत्ररोगों के साथ नहीं लिखा गया है, बल्कि शिरःशूल को प्रायः शिरोरोग के अन्दर मान लिया गया है और केवल नेत्रगत विकृतिमात्र ही नेत्ररोग के अन्दर कही गई है । नेत्ररोगों की पाश्चात्य नेत्रविज्ञानगत रोगों से तुलना करते समय इसका भी ध्यान रखना चाहिए ।

रक्त से मूर्च्छित हुआ पित्त परिम्लायी नामक लिङ्गनाश को उत्पन्न करता है। इस लिङ्गनाश के कारण सारी दिशाएँ पीली दिखाई देती हैं, सूर्य उदय होता-सा दिखाई देता है। और वृक्षों को खद्योतों तथा अग्न्यादि के तेजों से व्याप्त देखता है॥ ३५–३६॥

वातादिजनेत्रवर्णेन लिङ्गनाशस्य षड्विधत्वमाह—

वातादिजनितैर्नेत्रवर्णैरपि च षड्विधः। लिङ्गनाशो निगदितो वर्णो वातादिजो यथा॥३७॥
रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टो म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तात्।
कफात्सितः शोणितजः सरक्तः समस्तदोषप्रभवो विचित्रः॥ ३८॥

वातादिजन्य नेत्रों के वर्णों के अनुसार भी लिङ्गनाश ६ प्रकार का कहा गया है। वातादिदोषजन्य लिङ्गनाश में नेत्र के वर्ण निम्न प्रकार के होते हैं। यथा:-वातज लिङ्गनाश में नेत्र लाल वर्ण, पित्तजन्य परिम्लायी नामक लिङ्गनाश में नीलवर्ण, कफज लिङ्गनाश में श्वेतवर्ण, रक्तज लिङ्गनाश में रक्तिमायुक्त तथा सान्निपातिक लिङ्गनाश में चित्र-विचित्र वर्ण के होते हैं॥ ३७–३८॥

वातादिजनिते रोगे नेत्रमण्डलरूपविशेषमाह—

अरुणं मण्डलं वाताच्चञ्चलं परुषं तथा। पित्ततो मण्डलं नीलं कांस्याभं वा सपीतकम्॥३९॥
***श्वेतं पीतं वा कथमेतद्? व्याधिप्रभावात्॥ ३९॥**
श्लेष्मणा बहलं स्निग्धं शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम्॥ ४०॥
बहलं=स्थूलम्॥ ४०॥
चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः। मृद्यमाने तु नयने मण्डलं तद्विसर्पति॥
मण्डलं तु भवेच्चित्रं लिङ्गनाशे त्रिदोषजे। प्रवालपद्मपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम्॥ ४२॥
***चित्रं—वातादिवर्णम्॥ ४२॥**
रक्तजं मण्डलं दृष्टौ स्थूलकाचारुणप्रभम्। परिम्लायिनि रोगे स्यान्म्लानं नीलमथापि वा।
दोषक्षयात्स्वयं तत्र कदाचित्स्यात्तु दर्शनम्॥ ४३॥
***रक्तजं=पित्तानुगामिरक्तजम्। स्थूलकाचारुणप्रभं=स्थूलकाचस्येवारुणा प्रभा यस्य तद्, एतेन स्थौल्यमरुणत्वं च बोध्यते। दोषक्षयादित्यादि। तत्र=परिम्लायिनि, कालान्तरेण दोषक्षयात् कदाचित्स्वयमेव दर्शनं स्यात्॥ ४३॥**

वातज लिङ्गनाश में नेत्रमण्डल रक्तवर्ण, चञ्चल तथा कड़ा होता है। पित्तज लिङ्गनाश में मण्डल नीला, कांसे के समान अथवा व्याधिप्रभाव से श्वेत तथा पीतवर्ण होता है। कफज लिङ्गनाश में नेत्रमण्डल स्थूल, चिकना तथा शङ्ख, कुन्द और चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण का तथा हिलते हुए कमल के पत्ते पर पड़े हुए जल की बूंद के समान शुक्लवर्ण का होता है और नेत्र को मलने से मण्डल फैल जाता है। त्रिदोषज लिङ्गनाश में मण्डल का वर्ण चित्र अर्थात् वातादि तीनों दोषों से उत्पन्न लिङ्गनाशों के सामूहिक वर्णों के समान होता है। रक्तज लिङ्गनाश में नेत्रमण्डल का वर्ण प्रवाल अथवा कमल की पंखुड़ियों के वर्णके समान होता है। पित्तानुगामी रक्तज लिङ्गनाश में नेत्रमण्डल स्थूल तथा रक्त वर्ण के काँच के समान स्थूल तथा रक्तवर्ण का होता है। परिम्लायी नामक लिङ्गनाश में मण्डल ग्लानियुक्त तथा नीले वर्ण का होता है और कालान्तर में दोष के क्षय होने पर कदाचित् अपने आप दिखाई देने लगता है॥ ३९–४३॥

लिङ्गनाशेऽनुक्तदाहादिदोषलिङ्गमाह—

यथास्वं दोषलिङ्गानि सर्वेष्वेव भवन्ति हि॥ ४४॥
***अनुक्तव्यथादाहगौरवादिदोषलिङ्गसङ्ग्रहार्थमाह—यथास्वमिति॥ ४४॥**

सब प्रकार के लिङ्गनाशों में उन-उन दोषों के व्यथा, दाह तथा गौरव इत्यादि चिह्न भी होते हैं॥ ४४॥

[1]पित्तविदग्धदृष्टिलक्षणमाह—

पित्तेन दुष्टेन गतेन दृष्टिं पीता भवेद्यस्य नरस्य दृष्टिः ।
पीतानि रूपाणि च तेन पश्येत्स वै नरः पित्तविदग्धदृष्टिः ॥ ४५ ॥

***पित्तेन गतेन दृष्टिं=दृष्टावपि प्रथमद्वितीयपटलगतेनेति बोद्धव्यम् । तेन=व्याधिना ॥**

यदि दुष्ट हुआ पित्त नेत्र के प्रथम तथा द्वितीय पटल में चला जाता है, तो उस मनुष्य की दृष्टि पीली हो जाती है और इस रोग के कारण वह समस्त रूपों को पीला देखता है। यह रोग जिस मनुष्य को होता है, वह 'पित्तविदग्ध दृष्टि' कहलाता है ॥ ४५ ॥

प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे दिवा न पश्येन्निशि वीक्षते सः ।
रात्रौ स शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्ताल्पभावात्सकलानि पश्येत् ॥ ४६ ॥

***तस्मिन्नेव पित्ते दृष्टौ तृतीयपटलं गते विशेषरूपमाह–प्राप्त इति । दोषेऽत्र पित्ते ॥४६॥**

जब वही पित्त दृष्टि के तृतीय पटल में चला जाता है, तो वह मनुष्य दिनमें नहीं देखता; किन्तु रात्रि में पित्त के कम हो जाने तथा शीत के दुष्टयनुकूल होने से सम्पूर्ण पदार्थों को देखता है ॥४६॥

[2]कफविदग्धदृष्टिलक्षणमाह—

तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिस्तान्ये शुक्लानि हि मन्यते तु ।
त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषो नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य ।
दिवा स सूर्यानुगृहीतदृष्टिः पश्येत्तु रूपाणि कफाल्पभावात् ॥ ४७ ॥

***तत्रापि श्लेष्मणो दृष्टौ प्रथमद्वितीयपटलगतस्यैतल्लिङ्गं बोद्धव्यम् । स एव श्लेष्मा दृष्टौ पटलत्रयं गतो नक्तान्ध्यं करोतीत्याह—त्रिष्विति । दोषोऽत्र कफस्तस्योपक्रान्तत्वाद्, नक्तान्ध्यस्य श्लेष्मविदग्धदृष्टावन्तर्भूतत्वान्न पृथग्गणना ॥ ४७ ॥**

जब दूषित कफ नेत्र के प्रथम तथा द्वितीय पटल में चला जाता है, तो वह मनुष्य 'कफविदग्ध-दृष्टी' कहलाता है। ऐसा मनुष्य समस्त पदार्थ को श्वेतवर्ण का देखता है।

वही दुष्ट हुआ अल्प भी कफ जब तीनों पटलों में व्याप्त हो जाता है, तो बलात् 'नक्तान्ध्य' (रतौंधी) नामक रोग को उत्पन्न कर देता है।

किन्तु दिन में दृष्टि पर सूर्य के अनुग्रह से तथा कफ की अल्पता से सम्पूर्ण रूपों को देखता है। नक्तान्ध्य कफविदग्ध दृष्टि के ही अन्तर्गत आ जाता है, इसीलिए इसकी पृथक् गणना नहीं की गई है ॥ ४७ ॥

[3]धूमदर्शिलक्षणमाह—

शोकज्वरायासशिरोऽभितापैरभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः ।
धूमांस्तु यः पश्यति सर्वभावात्स धूमदर्शीति नरः प्रदिष्टः ॥ ४८ ॥

---

१. पित्तविदग्ध दृष्टि (दिवान्ध्य) को पाश्चात्य नेत्ररोग-विज्ञान में हिमरलोपिया (Hemeralopia) कहते हैं। वाग्भट ने उष्णविदग्ध दृष्टि तथा अम्लविदग्ध दृष्टि और अम्लोषित नामक तीन दृष्टिरोग भी लिखे हैं। शार्ङ्गधर ने अम्लपित्तविदग्ध दृष्टि तथा अन्य तन्त्रकारों ने अम्लाध्युषित दृष्टि भी लिखा है। वास्तव में उष्णविदग्ध दृष्टि को छोड़कर शेष सब एक ही हैं।

२. श्लेष्मविदग्ध दृष्टि को रतौंधी या 'निक्टेलोपिया' (Nyctalopia) कहते हैं, जो अन्तः-पटल के एक प्रकार के शोथ 'रेटिनाइटिस पिगमेन्टोजा' (Retinitis Pigmentosa) और Xerophthalmia के कारण होता है। इस रोग अर्थात् रात्र्यन्धता (Nightblindedness) के मुख्यतः तीन कारण हैं:—१ रसादि धातुक्षय (General debility), २ स्कर्वी (Scurvy), ३ अत्यधिक रक्ताल्पता।

३. धूमदर्शी के लक्षण 'ग्लाकोमा' (Glaucoma) या रेटिनाइटिस (Retinitis) में पाये जाते हैं।

*शिरोऽभितापः = शिरसि घर्मादिनां सन्तापः। एतस्य पित्तदोषो बोद्धव्यः ॥ ४८ ॥
शोक, ज्वर, श्रम तथा शिर पर धूप इत्यादि के सन्ताप से जिस मनुष्य की दृष्टि खराब हो जाती है, वह मनुष्य समस्त पदार्थों को धूमवर्ण का देखता है। ऐसे मनुष्य को धूमदर्शी कहा जाता है। यह रोग पित्त की दृष्टि से होता है ॥ ४८ ॥

[1]ह्रस्वजात्यलक्षणमाह—

यो वासरे पश्यति कष्टतोऽथ रूपं महच्चापि निरीक्षतेऽल्पम्।
रात्रौ पुनर्यः प्रकृतानि पश्येत्स ह्रस्वजात्यो मुनिभिः प्रदिष्टः ॥ ४९ ॥

जो मनुष्य दिन में कष्ट से देखता है और बड़े रूप को छोटा देखता है तथा रात्रि में जिसकी दृष्टि फिर प्रकृतिस्थ हो जाती है अर्थात् ज्यों का त्यों देखने लगता है, ऐसे व्यक्ति को मुनियों ने 'ह्रस्वजात्य' कहा है ॥ ४९ ॥

[2]नकुलान्ध्यलक्षणमाह—

विद्योतते यस्य नरस्य दृष्टिर्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत्।
चित्राणि रूपाणि दिवा च पश्येत्स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः ॥ ५० ॥

जिस रोग में मनुष्य की दोषयुक्त दृष्टि नेवले की दृष्टि की भाँति चमकती है और दिन में अनेक वर्ण की वस्तुओं को देखता है, ऐसे विकार का नकुलान्ध्य नाम है ॥ ५० ॥

[3]गम्भीरिकालक्षणमाह—

दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा सङ्कोचमभ्यन्तरतः प्रयाति।
रुजाऽवगाढा च तमक्षिरोगं गम्भीरिकेति प्रवदन्ति धीराः ॥ ५१ ॥

***विरूपा = विकृता। श्वसनोपसृष्टा = वातोपहता। रुजाऽवगाढा = गम्भीरवेदनाऽन्विता ॥ ५१ ॥**
वात से उपहत दृष्टि जब विकृत हो जाती है, भीतर से संकुचित हो जाती है तथा गम्भीर वेदना से युक्त होती है, तो ऐसे नेत्ररोग को धीर लोग 'गम्भीरिका' कहते हैं ॥ ५१ ॥

[4]सनिमित्तलिङ्गनाशस्य निदानं लक्षणं चाह—

बाह्यौ पुनर्द्वाविह सम्प्रदिष्टौ निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च।
निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापाज्ज्ञेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनैः सः ॥ ५२ ॥

***बाह्यौ = सुश्रुतोक्तद्वादशसंख्येभ्योऽधिकौ। तत्र निमित्तजमाह—शिरोऽभितापाद् = शिरोऽभितप्यते येन विषकुसुमगन्धवहपवनस्पर्शेन शिरोऽभितापस्तस्माद्। अभिष्यन्दनिदर्शनैः = 'रक्ताभिष्यन्दलिङ्गैरि'ति गदाधरः। 'सन्निपाताभिष्यन्दलिङ्गैरि'ति कार्त्तिकः ॥ ५२ ॥**

सुश्रुत के कहे हुए १२ नेत्ररोगों के अतिरिक्त चरक ने जो दो और रोग बतलाये हैं, उनमें से एक को सनिमित्त लिङ्गनाश और दूसरे को अनिमित्त लिङ्गनाश कहा जाता है। उनमें से सनिमित्त

---

१. ह्रस्वजात्य पाश्चात्य नेत्ररोग-विज्ञान के Day-Blindness due to glaucoma or Retinitis का नाम है। वाग्भट ने पित्तज लिङ्गनाश के साथ एक 'ह्रस्वदृष्टि' रोग का भी वर्णन किया है।

२. नकुलान्ध्य को पाश्चात्य नेत्ररोग-विज्ञान में 'एरिथ्रॉप्सिया' (Erythropsia-A disease of the optic nerve and Retina) नामक रोग कहते हैं।

३. गम्भीरिका को पाश्चात्य विज्ञान की दृष्टि से Paralysis of the 6th Nerve कह सकते हैं। वाग्भट ने इसीको गम्भीरा कहा है।

४. सनिमित्त लिङ्गनाश को 'फोटो रेटिनाइटिस' (Photoretinitis) कह सकते हैं।

लिङ्गनाश, विषयुक्त पुष्पों के गन्ध को बहानेवाले वायु के स्पर्श से उत्पन्न शिरोऽभिताप के कारण होता है। इस रोग को अभिष्यन्द के लक्षणों से युक्त समझना चाहिए। यहाँ पर अभिष्यन्द से गदाधर वैद्य रक्ताभिष्यन्द तथा कार्तिक सन्निपाताभिष्यन्द मानते हैं ॥ ५२ ॥

[1]अनिमित्तलिङ्गनाशस्य निदानं लक्षणं चाह—

सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां सन्दर्शनेनापि च भास्करस्य।
हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसञ्ज्ञः ॥ ५३ ॥
तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति वैदूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः।
विदीर्यते सीदति हीयते वा नृणामभीघातहता तु दृष्टिः ॥ ५४ ॥

*अनुपलभ्यमानानां सुरादीनां निमित्तमप्यनिमित्तं मन्यते। विस्पष्टं=ज्योतिर्युक्तम्। वैदूर्यवर्णा=श्यामा। विमला=निर्मला ॥ ५४ ॥

देवता, ऋषि, गन्धर्व तथा महासर्प इत्यादि अनुपलभ्य पदार्थों को देखने से और सूर्य को देखने से जिस मनुष्य की दृष्टि नष्ट हो जाती है, वह अनिमित्तसंज्ञक लिङ्गनाश कहलाता है। इस लिङ्गनाश में दृष्टि तेजोयुक्त, श्याम तथा निर्मल होती है। मनुष्यों की अभिघात से हत दृष्टि विदीर्ण हो जाती है, बह जाती है अथवा छोटी हो जाती है ॥ ५३-५४ ॥

इति दृष्टिगतरोगाः।

अथ कृष्णमण्डलजा रोगाः।

तत्र तेषां नामानि संख्यां चाह—

सत्रणं शुक्लमथाव्रणञ्च पाकात्ययश्चाप्यजका तथैव।
चत्वार एते नयनामयास्तु कृष्णप्रदेशे नियता भवन्ति ॥ ५५ ॥

नेत्र के कृष्ण मण्डल में सव्रणशुक्ल, अव्रणशुक्ल, पाकात्यय तथा अजका—ये चार प्रकार के नेत्ररोग नियत प्रकार से होते हैं ॥ ५५ ॥

१ तत्र सव्रणशुक्ललक्षणमाह—

निमग्नरूपं तु भवेद्धि कृष्णे सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद्वै।
स्रावं स्रवेदुष्णमतीव चापि तत्सव्रणं शुक्लमुदाहरन्ति ॥ ५६ ॥

*'निमग्नरूपमि'ति शुक्लविशेषणम्। 'सूच्येव विद्धमि'ति शुक्लस्य वर्तुलत्वं व्यथायुक्तत्वञ्च बोधयति। 'स्रवेदि'त्यनेनैव स्रावी बोधितः, स्रावपदान्निरन्तरं स्रावः ॥ ५६ ॥

जो शुक्ल (शुक या फूला) नेत्र के कृष्णमण्डल में गढा-सा दिखाई देता है, सूचीविद्ध-सा गोल व्यथायुक्त होता है तथा जिसमें से निरन्तर अत्यन्त उष्ण स्राव बहता रहता है, उसको सव्रण शुक्ल कहते हैं ॥ ५६ ॥

---

१. अनिमित्त लिङ्गनाश 'ऑप्टिक एट्रॉफी' (Optic atrophy) के समान लक्षणोंवाला होता है। इसी लिङ्गनाश को वाग्भट ने औपसर्गिक लिङ्गनाश कहा है। यथा:—

'कुर्वन्ति तेजः संशोष्य दृष्टिमुपितदर्शनाम्। वैडूर्यवर्णा स्तिमितां प्रकृतिस्थामिवाव्यथाम् ॥ औपसर्गिक इत्येव लिङ्गनाशः'-वा०

प्रसंगवशात् optic atrophy (दृष्टिनाड़ी का क्षय) का सङ्क्षिप्त वर्णन किया जाता है। यह रोग (Optic atrophy) दो प्रकार का होता है।

यथा: १—प्रारम्भिक २—उपद्रवभूत।

प्रारम्भिक या स्वतन्त्र प्रकार निम्न कारणों से उत्पन्न होता है—

क—टेब्स डार्सेलिस (Tabes dorsalis) नामक रोग।

[1]सव्रणशुक्लस्य साध्यासाध्यलक्षणान्याह—

दृष्टेः समीपे न भवेत्तु यच्च न चावगाढं न च संस्रवेद्यत्।
अवेदनं यन्न च युग्मशुक्लं तत्सिद्धिमायाति कदाचिदेव ॥ ५७ ॥

ख—फिरङ्ग की चौथी अवस्था जब नाड़ियों में फिरंग के व्रण बनने लगते हैं।

ग—कुछ विष यथा–'मिथिल अल्कोहल' (Methyl alcohol) और संखिया आदि।

घ—अत्यधिक रक्तस्राव, मासिक रजोस्राव का दोष।

ङ—धमनीदार्ढ्य (Arterio Sclerosis)।

उपद्रवभूत प्रकार—अन्तःपटल का शोथ 'रेटिनाइटिस' (Retinitis) 'कोरायडायटिस' (Choroiditis) के कारण होता है।

लक्षण—१—क्रमशः दृष्टि का मन्द पड़ जाना।

२—दृष्टिक्षेत्र के केन्द्रीय भाग का घटना (Contraction of the central vision)

३—एक या दो वर्षों के बाद केवल प्रकाश का ज्ञान मालूम हो पाता है।

४—कुछ दिनों के बाद बिलकुल अन्धता।

५—शेष लक्षण नेत्र की आभ्यन्तरिक परीक्षा द्वारा ही जाने जा सकते हैं।

चिकित्सा—Mercury and Iodide देना और आराम तथा कोष्ठशुद्धि करना। पौष्टिक सुपच आहार, स्वच्छ वायु आदि का सेवन कराना। इस रोग की सफलता अनिश्चित ही होती है।

१. वाग्भट ने सव्रणशुक्र को 'क्षतशुक्र' लिखा है। सव्रणशुक्ल—पाश्चात्य विज्ञानानुसार 'सपुरेटिव केरेटाइटिस' (Suppurative keratitis) कहलाता है। इस रोग में नेत्र के कृष्ण-मण्डल में व्रण उत्पन्न होता है, जिसके कारण उसमें शोथ उत्पन्न हो जाता है और इसीसे कृष्ण-मंडल में सफेदी दिखाई देती है। पाश्चात्त्य विज्ञान की दृष्टि से 'न्यूमोकोकस' (Pneumococcus) 'गोनोकोकस' (Gonococcus) और डिफ्थीरिया का जीवाणु ये ही तीनों जीवाणु सव्रण शुक्ल अर्थात् कृष्णमण्डल के व्रण (Ulcers of the cornea) पैदा करते हैं। कभी-कभी व्रण फिलक्टि-न्यूल' (Phlyctinule) तथा फिरंग के कारण भी होते हैं।

लक्षण—पीड़ा, प्रकाशासह्यता (Photophobia), पानी का बहना (Lacrymation), पलकों का न खुलना (Blephrospasm), आँख में कृष्णमण्डल के चारों तरफ ललाई। कभी-कभी कृष्ण-मण्डल के शोथ की तीव्रता के कारण उससे पीछे की ओर अर्थात् 'एन्टीरियर चैम्बर' (Anterior Chamber) में कुछ श्वेत पदार्थ जम जाता है और इस दशा को 'हाइपोपियान' (Hypopyon) कहते हैं। कभी-कभी कृष्णमण्डल में व्रण काफी बड़ा और भयानक स्वरूप का हुआ रहता है; किन्तु पीड़ा बहुत ही कम या बिलकुल नहीं होती। जब व्रण की पूय कृष्णमण्डल में छेद कर देती है, तो पीड़ा पहले की अपेक्षा कुछ कम हो जाती है। व्रणों की दशा में कृष्णमण्डल को अत्यन्त ध्यान से और प्रकाश की सहायता से (टार्च के प्रकाश से) देखने पर उसका व्रणित भाग छिला हुआ-सा जान पड़ता है। यदि व्रण या शोथ दृष्टि अर्थात् 'प्यूपिल' (pupil) के सामने होगा, तो दिखाई देने में भी थोड़ी या अधिक बाधा होगी।

सव्रणशुक्ल (Suppurative keratitis) से निम्नलिखित उपद्रव तथा अनुगामी विकार उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु इनका होना न होना व्रण की भीषणता तथा चिकित्सा की उत्तमता पर निर्भर है।

१—सव्रणशुक्ल के बाद अव्रणशुक्ल उत्पन्न हो जाना अर्थात् व्रणजन्य व्रणवस्तु के कारण कृष्णमण्डल में अपारदर्शकता पैदा हो जाना।

२—केरेटोसील (keratocele) अर्थात् कृष्णमण्डल के बाहरी स्तर का भीतर से दब. पड़ने के कारण बाहर निकल आना।

छ्न चावगाढम्=एकत्वग्गतं, न च संस्रवेत्=किंचिदेव स्रवेदित्यर्थः। अवेदनम्=ईषद्वेदनम्। न च युग्मशुक्लम्=अयुग्मशुक्लमेकमित्यर्थः। एवंविधं कदाचित्सिध्यति, एतद्विपरीतं न सिध्यति ॥ ५७ ॥

जो सव्रण शुक्ल दृष्टि के समीप न हो, एक त्वचा में हो, जिसमें से थोड़ा ही स्राव होता हो, अल्प वेदनायुक्त हो और एक हो; ऐसा सव्रण शुक्ल कदाचित् साध्य होता है तथा इसके विपरीत असाध्य होता है ॥ ५७ ॥

२ अव्रण[1] शुक्ललक्षणमाह—

स्यन्दात्मकं कृष्णगतन्तु शुक्लं शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासम्।

३—'परफोरेशन' (Perforation) अर्थात् कृष्णमण्डल का भेदन करके पूय का Anterior chamber में पहुँच जाना।

४—'एन्टीरियर सिनिकिया' (Anterior Synaechia) अर्थात् 'आइरिस' (Iris) का कृष्णमण्डल से सट या बँध जाना।

५—अजकाजात या 'एन्टीरियर स्टेफिलोमा' (Anterior Staphyloma) का उत्पन्न हो जाना अर्थात् फटे और छिदे हुए कृष्णमण्डल में से होकर Iris का बाहर निकल आना।

६—'कार्नियल फिस्चुला' (Corneal fistula) अर्थात् कृष्णमण्डल का नाड़ीव्रण।

७—'इण्ट्राआकुलर हीमरेज' (Intraocular haemorrhage) नेत्रगोलक की गुहा में रक्तस्राव होना।

८—'आइरिडो सिक्लाइटिस' (Iridocyclitis)

९—'पेनाफ्थल्माइटिस' (Panophthalmitis)

चिकित्सा—पूर्ण विश्राम, स्वच्छ वायु, सुपच और पौष्टिक आहार देना और मलावरोधादि हो तो दूर करना और इस प्रकार रोगी की शक्ति बढ़ाना। यदि किसी चीज के पड़ जाने से व्रण हुआ हो तो उसे निकाल देना, यदि फिरंग या औपसर्गिक मेहादि के कारण हुआ हो तो उनकी चिकित्सा करना।

ओषधि—

१—रुई की नोकीली बत्ती से या ऊँट के बाल से व्रण पर 'टिंचर आयोडीन' लगाकर तुरन्त कोष्ण जल या बोरिक एसिड के हलके कोष्ण घोल से धो देना। टिंचर आयोडीन लगाने से व्रण का प्रसार कुछ मन्द पड़ जाता है, किन्तु इसे इस सावधानी से लगाना चाहिए कि व्रण के अतिरिक्त कृष्णमण्डल के स्वस्थ भाग में तनिक भी न लगे।

२—आँख धो देने के बाद 'एट्रोपीन' (Atropine) एक या दो बूँद (१ प्र० श० घोल या मलहम) डालना चाहिए। इससे पीड़ा और पानी बहना कम होगा। Anterior Synaechia होने की सम्भावना कम रहेगी।

३—आर्द्र स्वेदन (Hot fommentation) प्रतिदिन कई बार और प्रतिवार दस-पन्द्रह मिनट तक करना। इससे व्रण के पुरने में सहायता मिलेगी और पीड़ा कम होगी।

४—आँख पर पट्टी आदि बाँधकर उसकी सुरक्षा करना।

५—'प्रोटार्गल' (Protargal १० प्र० श०), आर्जिराल (Argyrol १० प्र० श०) आदि, इनके दो-चार बूँद दिन में दो या एक बार आँख में डालने चाहिए।

६—यदि रोग बहुत तीव्र स्वरूप का हो तो 'पालिवेलेण्ट सीरम' (Polyvalent serum) का सूचीवेध देना या उबाले हुए दूध का (५ सी० सी०) नितम्ब की पेशियों में (नितम्ब के बाहरी और ऊपरी भाग में) सूचीवेध (Injection) देना।

१. इसी अव्रण शुक्ल को वाग्भट ने 'शुद्ध शुक' कहा है। कहीं-कहीं इसीको केवल 'शुक'

वैहायसाभ्रप्रतनुप्रकाशमथाव्रणं साध्यतमं वदन्ति ॥ ५८ ॥

*स्यन्दात्मकम् = अभिष्यन्दहेतुकं, सर्वेषामक्षिरोगाणामभिष्यन्दहेतुकत्वे, अस्य नियमबोधनार्थं स्यन्दात्मकमिति । शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासं = शङ्खेन्दुकुन्दसदृशमवभासते । एतेन शुक्लत्वं बोध्यते। वैहायसाभ्रप्रतनुप्रकाशमाकाशस्थमेघवत्तनु यथा स्यादेवं प्रकाशते यत् ॥ ५८ ॥

नेत्र के कृष्णमण्डल में स्थित अभिष्यन्द से उत्पन्न, शङ्ख, चन्द्रमा तथा कुन्द पुष्प के समान श्वेत और आकाशस्थित मेघ के समान पतला तथा प्रकाशयुक्त जो फूला होता है, वह अव्रण-शुक्ल कहलाता है, यह फूल अत्यन्त साध्य होता है।

यद्यपि समस्त नेत्ररोग अभिष्यन्दमूलक ही होते हैं, तथापि यह अव्रण शुक्ल तो 'अभिष्यन्द' मात्र से होता है, इसी नियम को बतलाने के लिए ही 'स्यन्दात्मक' (अभिष्यन्द से उत्पन्न) पद कहा गया है ॥ ५८ ॥

अव्रणशुक्लस्य साध्यत्वेऽप्यवस्थाभेदेन कष्टसाध्यतामाह—

गम्भीरजातं बहलञ्च शुक्लं चिरोत्थितञ्चापि वदन्ति कृच्छ्रम् ॥ ५९ ॥

*गम्भीरजातं = द्वित्रित्वग्गतम्, बहलं = पुष्टम् ॥ ५९ ॥

जो अव्रणशुक्ल गम्भीरजात अर्थात् दो-तीन पटलों में प्राप्त हुआ होता है और पुष्ट तथा बहुत दिनों का पुराना होता है, वह कष्टसाध्य होता है ॥ ५९ ॥

अव्रणशुक्लस्यासाध्यतां चाह—

विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतञ्च चलं शिरासूतमदृष्टिकृच्च ।
द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च चिरोत्थितञ्चापि विवर्जनीयम् ॥ ६० ॥

*विच्छिन्नमध्यं = विशीर्णमांसत्वान्निम्नमध्यम् । शिरासूतं = शिरायां जातम् । अदृष्टिकृत् = दर्शनाभावकृत् । द्वित्वग्गतं = पटलद्वयगतम् । एतद्विच्छिन्नमध्यत्वादिलिङ्गसहितमसाध्यं न तु केवलं गम्भीरजातस्य कष्टसाध्यत्वाभिधानात् । एवं चिरोत्थितमपि ॥ ६० ॥

यदि अव्रणशुक्ल मांस के गल जाने के कारण बीच में नीचा हो अथवा मांसावृत होने के कारण उभरा हुआ हो, चञ्चल, शिरा में उत्पन्न हुआ हो, दृष्टि को नष्ट करनेवाला हो अर्थात् जिसके कारण मनुष्य वस्तुओं को देख न सके, दो पटलों में व्याप्त हो, जिसके किनारे रक्तवर्ण के हों तथा जो बहुत दिनों का पुराना हो, ऐसे अव्रण शुक्ल की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। केवल गम्भीरजात अर्थात् दो पटलों में व्याप्त तथा चिरोत्थित अव्रणशुक्ल कष्टसाध्य होता है। किन्तु जब गम्भीरजात तथा चिरोत्थित अव्रणशुक्ल उपर्युक्त लक्षणों से युक्त होता है, तभी असाध्य होता है ॥

भी कहा है। अव्रणशुक्ल को 'कार्नियल ऑपेसिटी' (Corneal opacity) कहते हैं (देखें सव्रणशुक्ल की टिप्पणी का प्रथम उपद्रव)। यदि यह अपारदर्शकता इतनी हल्की हो कि स्पष्ट प्रतीत न हो तो 'नेबुला' (Nebula), यदि स्पष्ट प्रतीत हो तो 'मेकुला' (Mecula) और यदि बहुत गाढ़ी हो तो 'ल्यूकोमा' (Leucoma) कहलाती है। सव्रणशुक्ल का फूला या फुल्ली नहीं बढ़ती। इसलिए यदि अव्रणशुक्ल दृष्टि या छोटी काली पुतली (Pupil) के सामने न हो अर्थात् दिखाई देने में बाधा न होती हो तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। यदि फुल्ली बढ़ती हो तो उसे सव्रणशुक्ल ही समझना चाहिए।

चिकित्सा—'सेलाइन' (Saline) के सन्तृप्त विलयन को नेत्र की श्लेष्मल त्वचा के नीचे सूचीवेध द्वारा प्रवेश करना (Sub-Conjunctival injection), सूचीवेध आधा सी० सी० से प्रारम्भ करके उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्रा में देना और 'डायनिन' (Dionin) के कुछ बूँद डालना। आयुर्वेद की 'चन्द्रोदया' भी इनके स्थान में उत्तम है। यदि इनसे लाभ न हो तो कुरूपता मिटाने के लिए 'टैटूइङ्ग और कलरिङ्ग' (Tattooing and Colouring) कराना चाहिए।

अव्रणशुक्लस्यापरमप्यसाध्यलक्षणमाह—

उष्णाश्रुपातः पिडका च कृष्णे यस्मिन्भवेन्मुद्गनिभञ्च शुक्लम् ।
तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचिदन्ये तु तत्तित्तिरिपक्षतुल्यम् ॥ ६१ ॥

*मुद्गनिभञ्च शुक्लमाकारेण । तद्=नेत्रम् । तित्तिरिपक्षतुल्यं=तित्तिरिपक्षवच्छदनम् ॥

यदि अव्रणशुक्ल मूँग के सदृश आकारवाला हो, नेत्र में से उष्ण अश्रुपात होता रहता हो तथा नेत्र में फुन्सी भी उत्पन्न हो गयी हो तो ऐसा अव्रणशुक्ल असाध्य होता है । तथा कुछ दूसरे वैद्यों का मत है कि यदि नेत्र की पलक तीतर के पंख के समान हो गयीं हों तो ऐसा अव्रणशुक्ल असाध्य होता है ॥ ६१ ॥

३ अथाक्षिपाकात्यय[1]लक्षणमाह—

श्वेतः समाक्रामति सर्वतो हि दोषेण यस्यासितमण्डले तु ।
तमक्षिपाकात्ययमक्षिकोपं सर्वात्मकं वर्जयितव्यमाहुः ॥ ६२ ॥

*यः श्वेतः, दोषेण कृत इति शेषः । तमक्षिकोपमक्षिपाकात्ययमाहुः । अत्र पाकोऽपि स्यादत एव सुश्रुतः-'शोफाश्रुपाकार्त्तियुते च नेत्रे' इति ॥ ६२ ॥

यदि नेत्र के कृष्णमण्डल में चारो ओर से दोष से उत्पन्न हुई श्वेतता फैल जाती है तो इस नेत्रविकार को अक्षिपाकात्यय कहते हैं । यदि यह अक्षिपाकात्यय नाम नेत्ररोग तीनों दोषों से उत्पन्न हुआ होता है तो त्याज्य अर्थात् असाध्य होता है । इस रोग में पाक भी होता है । इसलिए सुश्रुत ने 'शोफाश्रुपाकार्त्तियुते च नेत्रे' ऐसा कहा है ॥ ६२ ॥

४ अजकाजात[2]लक्षणमाह—

अजापुरीषप्रतिमो रुजावान् सलोहितो लोहितपिच्छिलाश्रुः ।
विगृह्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति तं चाजकाजातमिति व्यवस्येत् ॥ ६३ ॥

---

१. अक्षिपाकात्यय को 'हाईपोपिआन अल्सर' (Hypopyon ulcer) कह सकते हैं । यह एक प्रकार का कृष्णमंडल (Cornea) का व्रण है, जो उत्तरोत्तर दृष्टि की ओर अर्थात् कृष्ण-मण्डल के केन्द्र की ओर बढ़ता जाता है और पहला व्रणित भाग अच्छा होकर अपने पीछे व्रण-वस्तु (Scar) छोड़ता जाता है । दृष्टि के सामने इस व्रण के या इसकी व्रणवस्तु के आ जाने से दिखाई देने में बाधा उत्पन्न होती है । शार्ङ्गधर ने अक्षिपाकात्यय को सिरासङ्ग कहा है । यथा :—

'नेत्रगतशिराणां सङ्गोऽप्रवृत्तिर्यत्र तेनाक्षिपाकात्ययो भवति तस्मादन्यत्राक्षिपाकात्यय इति प्रसिद्धः ॥ शा०, आ० ॥'

वाग्भट ने पाकात्ययशुक्र और अक्षिपाकात्यय दो नाम लिखे हैं, यथा:—

'यस्य वा लिङ्गनाशोऽतः श्यावं यद्वा सलोहितम् ।
अत्युत्सेधावगाढं वा सास्रनाडीव्रणावृतम् ।
पुराणं विषमं मध्ये विच्छिन्नं यच्च शुक्रकम्–' इति पाकात्ययशुक्रलक्षणम् ।

'अक्षिपाकात्यये शोफः संरम्भः कलुषाश्रुता । कफोपदिग्धमसितं सितं प्रक्लेदरागवत् ॥
दाहो दर्शनसंरोधो वेदनाश्चानवस्थिताः' इदमक्षिपाकात्ययलक्षणम् ।

चिकित्सा—शुद्ध कार्बोलिक एसिड से या विद्युत् द्वारा दग्ध करना या शस्त्रकर्म करना । वर्चों में सेक करना (Irrigation) और जिंकसल्फेट (zn so4) अथवा 'एलो आएन्टमेन्ट' (yellow ointment) लगाना । आवश्यकता होने पर आर्द्र स्वेदन भी करना ।

२. अजकाजात को 'एन्टीरियर स्टेफिलोमा' (Anterior staphyloma) कह सकते हैं । (देखो सव्रणशुक्ल का उपद्रव नं० ५)

क्षयः प्रचयः = उच्छ्रायः, स च मेदसो बोद्धव्यः, यत एतस्योत्पत्तिर्विदेहेन तृतीयपटले कथिता। सलोहितः = ईषल्लोहितः। विगृह्य कृष्णमभ्युपैति = महत्त्वेन समस्तं कृष्णभागं ग्राहयित्वा आयाति। व्यवस्येद् = जानीयात्॥ ६३॥

इति कृष्णमण्डलजा रोगाः।

बकरी के मल के समान, पीडायुक्त, किञ्चित् रक्तवर्ण, लाल तथा चिकने आँसुओं से युक्त जो उभार अपनी महत्ता से समस्त कृष्णमण्डल में व्याप्त हो जाता है, उसे अजकाजात नामक नेत्ररोग समझना चाहिए॥ ६३॥

इति कृष्णमण्डलजा रोगाः।

अथ नेत्रशुक्ल[1]भागजा रोगाः।

तेषां नामानि संख्यां चाह—

प्रस्तारिशुक्लक्षतजाधिमांसस्नाय्वर्मसंज्ञाः खलु पञ्च रोगाः।
स्याच्छुक्तिका चार्जुनपिष्टकौ च जालं शिराणां पिडकाश्च याः स्युः।
रोगा बलासग्रथितेन सार्द्धमेकादशाक्ष्णोः खलु शुक्लभागे॥ ६४॥

नेत्रों के श्वेतभाग में १-प्रस्तार्यर्म, २-शुक्लार्म, ३-रक्तार्म, ४-अधिमांसार्म, ५-स्नाय्वर्म, ६-शुक्ति, ७-अर्जुन, ८-पिष्टक, ९-शिराजाल, १०-शिराजपिडका तथा ११-बलासग्रथित ये ११ रोग होते हैं॥ ६४॥

१ तेषु प्रस्तार्यर्म[2]लक्षणमाह—

प्रस्तार्यर्म तनु स्तीर्णं श्यावं रक्तनिभं सितम्॥ ६५॥

क्षतनु = पत्तलम्, स्तीर्णं=विस्तीर्णम्, श्यावं रक्तनिभमित्यत्र विकल्पो बोद्धव्यः॥६५॥

नेत्र के श्वेतमण्डल में पतला, विस्तृत तथा श्याववर्ण अथवा रक्तवर्ण से युक्त जो श्वेत चिह्न होता है, उसे प्रस्तार्यर्म कहते हैं॥ ६५॥

२ शुक्लार्म[3]लक्षणमाह—

सुश्वेतं मृदु शुक्लार्म शुक्ले तद् वर्द्धते चिरात्॥ ६६॥

---

१. नेत्र के शुक्लमण्डल को पाश्चात्त्य नेत्र-शारीर में 'स्क्लीरा' (Sclera) कहते हैं।

२. शुक्लार्म को छोड़कर अन्य प्रकार के चर्म को पाश्चात्त्य नेत्रविज्ञान की दृष्टि से 'टेरिजियम' (Pterygium) कह सकते हैं। यह झिल्ली के समान कला की मुड़ी हुई त्रिकोणाकार पर्त होती है, जिसका नोकीला भाग कृष्णमण्डल (Cornea) के किनारे से और आधारभाग नेत्र के बाहरी (कनपट्टी की ओर के) या भीतरी (नासिका की ओर के) कोने से लगा रहता है। इन दोनों के बीच का भाग शुक्ल भाग (Sclera) से मजबूती से सटा रहता है। इसका नोकीला सिरा कृष्णमण्डल के मध्य की ओर बढ़ता जाता है और कुछ काल में दृष्टि (Pupil) को ढक लेता है और देखने में बाधा डालता है। इसके कारण 'कंजंक्टाइवा' (Conjunctiva) में क्षोभ भी पैदा होता है। प्रारंभ में यह लाल वर्ण का (रक्तार्म या प्रस्तार्यर्म) रहता है, किन्तु कुछ दिनों के बाद धीरे-धीरे श्वेत प्रावरणी के रूप में (स्नाय्वर्म) हो जाता है। यही pterygium जब (प्रारम्भिक दशा में) बहुत गहरा लाल और कुछ कालिमा लिये रहता है तो अधिमांसार्म के समान होता है।

चिकित्सा—

शस्त्रकर्म—इसके नोकीले सिरे को काटकर उसकी जगह को खूब खुरच देना चाहिए, जिससे इसकी पुनरुत्पत्ति न हो।

३. शुक्लार्म को 'पिङ्गिक्युलम' (pingueculum) कह सकते हैं। यह Conjunctiva के मोटा पड़ जाने से उसीका शिखराकार उभरा हुआ भाग होता है। इससे नेत्र की कोई हानि नहीं होती।

नेत्र के श्वेतभाग में अत्यन्त सफेद तथा कोमल जो चिह्न होता है, उसे शुक्लार्म कहते हैं, यह शुक्लार्म बहुत दिनों में बढ़ता है ॥ ६६ ॥

३ रक्तार्मलक्षणमाह—

पद्माभं मृदु रक्तार्म यन्मांसं चीयते सिते ॥ ६७ ॥

***पद्माभं=वर्णेन रक्तमित्यर्थः । चीयते=उपचीयते ॥ ६७ ॥**

नेत्र के श्वेत भाग में रक्तवर्ण तथा कोमल जो मांस की वृद्धि होती है, उसे रक्तार्म कहते हैं ॥

४ अधिमांसार्मलक्षणमाह—

पृथु मृद्वधिमांसार्म बहलञ्च यकृन्निभम् ॥ ६८ ॥

***पृथु=विस्तीर्णम् , बहलं=पुष्टम् , यकृन्निभम्=ईषत्कृष्णलोहितम् ॥ ६८ ॥**

नेत्र के श्वेतभाग में विस्तीर्ण, कोमल, पुष्ट तथा किञ्चित् कालिमा लिये रक्त वर्ण की जो मांसवृद्धि होती है, उसे अधिमांसार्म कहते हैं ॥ ६८ ॥

५ स्नाय्वर्मलक्षणमाह—

स्थिरं प्रसारि मांसाढ्यं शुष्कं स्नाय्वर्म पञ्चमम् ॥ ६९ ॥

***स्थिरं=कठिनम् , शुष्कं=स्रावरहितम् ॥ ६९ ॥**

नेत्र के श्वेतभाग में कठिन, फैलनेवाला तथा स्रावरहित जो मांसपिण्ड होता है, उसे पाँचवा स्नाय्वर्म कहते हैं ॥ ६९ ॥

६ शुक्ति [1]लक्षणमाह—

श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवो ये शुक्लाभाः सितनिचिताः स शुक्तिसञ्ज्ञः ॥ ७० ॥

***श्यावा इत्यादिवर्णत्रये विकल्पो बोद्धव्यः ॥ ७० ॥**

नेत्र के श्वेत भाग में एकत्रित श्याववर्ण या मांस के समान अथवा शुक्लवर्ण जो बिन्दु होते हैं, उनको शुक्ति कहते हैं ॥ ७० ॥

७ अथार्जुन [2]लक्षणमाह—

एको यः शशरुधिरप्रभस्तु बिन्दुः शुक्लस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति ॥ ७१ ॥

नेत्र के शुक्ल भाग में खरगोश के रक्त की भाँति जो एक बिन्दु होता है, उसे अर्जुन कहते हैं ॥

८ पिष्टक [3]लक्षणमाह—

श्लेष्ममारुतकोपेन शुक्ले मांसं समुन्नतम् । पिष्टवत्पिष्टकं विद्धि मलाक्तादर्शसन्निभम् ॥७२॥

***पिष्टवत्=श्वेतम् ॥ ७२ ॥**

नेत्रके श्वेतमण्डल में कफ तथा वायु के कोप से आटे के समान श्वेत अथवा मैलयुक्त शीशे के समान जो उन्नत मांस होता है, उसे पिष्ट नामक नेत्ररोग समझना चाहिए ॥ ७२ ॥

९ शिराजाल [4]लक्षणमाह—

जालाभः कठिनशिरोऽरुणः शिराणां सन्तानो भवति शिराऽऽदिजालसञ्ज्ञः ॥ ७३ ॥

---

१. शुक्ति को 'जेरोसिस' (Xerosis) अर्थात् नेत्र की श्लेष्मल त्वचा (Conjunctiva) में मछली के छिलके की भाँति दाग बन जाना कहते हैं ।

२. अर्जुन को कुछ लोग 'सब कंजंक्टाइवल इकिमोसिस' (Sub conjunctival Ecchymosis) कहते हैं ।

३. पिष्टक को पिष्टार्म भी कहते हैं । इसे Pheyctinule of Sclera या Scleral nodule कह सकते हैं ।

४. शिराजाल को 'पेनस' (Pannus) कहते हैं । पोथकी (Trachoma) और पक्ष्मकोप (Trichiasis) के कारण निरन्तर कृष्णमण्डल पर रगड़ पड़ते रहने से उसका कुछ भाग तनिक

*शिराजालसञ्ज्ञः ॥ ७३ ॥

नेत्र के श्वेतमण्डल में कठिन शिराओं से युक्त तथा रक्तवर्ण का जो शिराओं का समुदाय होता है, उसे शिराजाल कहते हैं ॥ ७३ ॥

१० शिराजपिडका [1]लक्षणमाह—

शुक्लस्थाः सितपिडकाः शिरावृता यास्ता विद्यादसितसमीपजाः शिराजाः ॥ ७४ ॥

नेत्र के श्वेतभाग में कृष्णमण्डल के समीप उत्पन्न हुई, शिराओं से आवृत जो सफेद फुन्सियाँ होतीं हैं, उन्हें शिराजपिडका कहते हैं ॥ ७४ ॥

११ बलासग्रथित [2]लक्षणमाह—

कांस्याभोऽमृदुरथ वारिबिन्दुकल्पो विज्ञेयो नयनसिते बलाससञ्ज्ञः ॥ ७५ ॥

***कांस्याभः = श्वेत इत्यर्थः। अमृदुः = कठिनः। वारिबिन्दुकल्पः, एतेन मनागुन्नतत्वं बोध्यते। बलाससञ्ज्ञः=बलासग्रथितसञ्ज्ञः, क्वचिदेकदेशेनापि समुदायावगमात्, यथा भीमो=भीमसेन इति। अत एव सुश्रुते नामसंग्रहे बलासग्रथितपदं निर्दिष्टम् ॥ ७५ ॥**

इति शुक्लभागजा रोगाः।

नेत्र के श्वेत भाग में कांसे के समान सफेद, कठिन तथा जलबिन्दु के समान किञ्चित् उन्नत जो बिन्दु होता है, उसे बलासग्रथित समझना चाहिए। यद्यपि मूल श्लोक में बलाससंज्ञः ऐसा पद है, तथापि केवल बलास शब्द से बलासग्रथित यह अर्थ किया जाता है, क्योंकि किसी किसी-स्थान में नाम के एक देश के ग्रहण से समुदाय का ग्रहण होता है! जैसे—भीम शब्द से भीमसेन का ग्रहण होता है। इसलिए सुश्रुत में नामों के संग्रह में बलासग्रथित यही पद कहा गया है ॥ ७५ ॥

इति शुक्लभागजा रोगाः।

अथ वर्त्मजा [3]रोगाः।

तत्रत्यानां रोगाणां नामानि संख्यां चाह—

उत्सङ्गिन्यथ कुम्भीका पोथकी वर्त्मशर्करा। तथाऽर्शोवर्त्म शुष्कार्शस्तथैवाञ्जनदूपिका ॥

भूरा, धुँधला, श्वेत और अपारदर्शक हो जाता है तथा उसमें Conjunctiva की कुछ रक्त-नलिकाएँ बढ़ आती हैं। प्रायः यह पहले कॉर्निया के ऊपरी भाग में दिखाई देता है। कभी-कभी यह फैलकर दृष्टि को भी ढक लेता है। कदाचित् इसके तीव्र रूप धारण करने से 'कॉर्निया' में शोथ भी हो जाता है।

चिकित्सा—अव्रणशुक्लवत्।

१. शिराजपिडिका को Nodule of Scleritis (near the limbus) कहा जा सकता है।

२. बलासग्रथित के लक्षण—Scleritis के उस Nodule से मिलते जुलते हैं, जो कृष्ण-मण्डल से दूर श्वेतभाग में हो।

३. वर्त्मजा रोगाः (Diseases of the lids)—नेत्र की पलक के रोगों को तथा उनके प्राच्य तथा पाश्चात्य दृष्टि से वर्गीकरण को भली भाँति समझने के लिए पलक की स्थूलतः संक्षिप्त रचना जाननी आवश्यक है। नेत्र की पलक को मुख्यतः ४ पर्तों में विभक्त किया गया है।

१—सबसे बाहर की ओर चर्म–जो ढीला–ढीला रहता है और इसी कारण यहाँ पर अधिक द्रव समा सकने के कारण अत्यधिक सूजन होने के लिए सुविधा भी रहती है।

२—चर्म के भीतर (गहराई में) मांसपेशीनिर्मित पर्त।

३—मांसपेशी से गहराई में 'टार्सस' (Tarsus) नामक सौत्रिक तन्तुओं की दृढ़ रचना–जिससे पलकों में दृढ़ता आती है। टार्सस में 'मिबोमियन' (meibomian) नामक एक प्रकार की वसाग्रन्थियाँ (Sebaceous glands) होतीं हैं।

बहलं वर्त्म यच्चापि तथाऽन्यो वर्त्मबन्धकः। क्लिष्टवर्त्म तथा वर्त्मकर्दमः श्यावबर्त्म च॥
प्रक्लिन्नवर्त्म चाक्लिन्नवर्त्म वातहतञ्च तत्। वर्त्मार्बुदं निमेषश्च शोणितार्शस्तथैव च॥
लगणो बिसवर्त्मापि कुञ्चनं नाम तत्परम्। एकविंशतिरित्येते विकारा वर्त्मसंश्रयाः॥७६॥
*तत्र वर्त्मनी द्वे, यत आह—'वर्त्मनी नयनच्छदावि'ति॥ ७६॥

प्रत्येक नेत्र में दो वर्त्म (पलके) होते हैं। उनमें ये निम्न २१ प्रकार के रोग होते हैं। यथाः—१–उत्सङ्गिनी, २–कुम्भीका, ३–पोथकी, ४–वर्त्मशर्करा, ५–अर्शोवर्त्म, ६–शुष्कार्श, ७–अञ्जनदूपिका, ८–बहलवर्त्म, ९–वर्त्मबन्धक, १०–क्लिष्टवर्त्म, ११–वर्त्मकर्दम, १२–श्यावबर्त्म, १३–प्रक्लिन्नवर्त्म, १४–अक्लिन्नवर्त्म, १५–वातहतवर्त्म, १६–वर्त्मार्बुद, १७–निमेष, १८–शोणितार्श, १९–लगण, २०–बिसवर्त्म और २१–कुञ्चन॥ ७६॥

१ तत्रोत्सङ्गिनी[1]लक्षणमाह—

अभ्यन्तरमुखी ताम्रा बाह्यतो वर्त्मसंश्रया। सोत्सङ्गोत्सङ्गपिडका सर्वजा स्थूलकण्डुरा॥

४—सबसे भीतरी (नेत्रगोलक के सम्पर्क में रहनेवाली) पर्त, कंजंक्टाइवा (Conjunctiva) नामक श्लेष्मल कला से बनी है। इसे पाश्चात्य शारीर में वर्त्मगत श्लेष्मल कला या 'टार्सल' या पल्पेब्रल कंजंक्टाइवा' (Tarsul or Palpebral conjunctiva) कहते हैं।

Conjunctiva—पतली, पारदर्शक श्लेष्मलकला है, जो दोनों पलकों के उन पृष्ठों को ढकती है, जो नेत्रगोलक के स्पर्श में रहते हैं। पलकों के इन पृष्ठों को ढकती हुई यह कला नेत्रगोलक के सम्मुखस्थ समस्त श्वेतभाग पर भी चढ़ी रहती है। श्वेतभाग (Sclera) से यह कला ढीली-ढाली लगी है, किन्तु श्वेत और कृष्णभाग की सन्धि (Limbus) पर यह बिलकुल मजबूती से सट जाती है। इस कला में पर्याप्त रक्तवाहिनियाँ फैली हुई हैं। नेत्र की इसी श्लेष्मलकला (Conjunctiva) में जब शोथ हो जाता है तो उस दशा को नेत्राभिष्यन्द (Conjunctivitis) कंजंक्टाइविटिस' कहते हैं। पोथकी आदि रोग वर्त्मगत श्लेष्मलत्वचा (palpebral Conjunctiva) में होते हैं। इसलिए पाश्चात्य शालाक्यविद् इन रोगों की गणना -'कंजंक्टाइवा' के रोगों में करते हैं, किन्तु प्राच्य शालाक्य में इन्हें वर्त्मरोगों में ही मान लिया गया है।

१. उत्सङ्गिनी को आढमल ने 'उत्सङ्गा या पक्ष्मोत्सङ्ग' तथा विदेह ने 'उत्सङ्गपिडिका' कहा है। विदेह ने इसे और स्पष्ट कर दिया है। यथाः—
'पिडिका पिडिकामिश्च चिताऽन्याभिः समन्ततः। उत्सङ्गपिडिका नाम कठिना मन्दवेदना।
सा प्रभिन्ना स्रवेत् स्रावं कुक्कुटाण्डरसोपमम्।'

चिकित्सा—साध्या लेख्या च।
'कल्पयित्वा तु शस्त्रेण लिखेत्पश्चाद्तन्द्रितः'॥

पाश्चात्य विज्ञान में इस रोग को 'हार्डिओलम या स्टाईल' (Hordeolum or style) कहते हैं। बरौनी के रोमकूपों के आस-पास की धातुओं (Tissues) में शोथ होने से यह उत्पन्न होती है।

चिकित्सा—आर्द्रस्वेदन द्वारा इसे पकाना, पुनः पूय निकाल देना। रोग की पुनरुत्पत्ति को रोकने के लिए कब्ज आदि दूर करना, यदि पलकों के शोथ का कारण यह रोग हुआ हो, तो उसकी चिकित्सा करना। मछली का तेल (God liver oil) और जीवद्रव्य A&D तथा लौहादि खिला कर शरीर का स्वास्थ्य सुधारना। बहुत ही हठीले Styles में स्वजन्य वेक्सीन (autogenous Vaccine) दी जा सकती है। उत्सङ्गिनी या Style को लोक में 'बिलनी' कहते हैं।

*अभ्यन्तरमुखी=वर्त्मनोऽभ्यन्तरे मुखं यस्याः सा। वर्त्मनो बाह्यतस्ताम्रा। सोत्सङ्गा=अन्तःपूया। उत्सङ्गपिडका=उत्से=क्रोडे बह्व्यः पिडका यस्याः सा। स्थूलकण्डुरा=स्थूला कण्डुरा चेति कर्मधारयः। एषा 'अधरवर्त्मजा' बोद्धव्या। 'वर्त्मोत्सङ्गेऽधरे जन्तोरि'ति विदेहवचनात्॥ ७७॥

पलक में स्थित, पलक के भीतर की ओर मुखवाली, पलक के बाहर से ताम्रवर्ण की, अन्तः-पूययुक्त, जिसके पास अनेक पिडिकाएँ हों तथा जो स्थूल और कण्डूयुक्त पिडिका होती है, उसे उत्सङ्गिनी कहते हैं। यह पिडिका तीनों दोषों से उत्पन्न होती है। और नीचे के पलक में उत्पन्न होती है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि 'उत्सङ्गिनी' मनुष्य के निचले पलक में होती है, ऐसा विदेह का वचन है॥ ७७॥

२ कुम्भीका[1]लक्षणमाह—

वर्त्मान्ते पिडका ध्माता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च। कुम्भीकाबीजसदृशाः कुम्भीकाः सन्निपातजाः

*कुम्भीकाबीजसदृशाः=कुम्भीका=कठोरदेशे दाडिमाकारफला लता, तद्बीजतुल्या॥

पलक के अन्त में कुम्भीका नाम की लता के बीज के समान, फूली हुई तथा सन्निपात से उत्पन्न हुई और फूट-फूट कर बहनेवाली जो फुन्सी होती है, उसे कुम्भीका कहते हैं।

कुम्भीका नामक लता कठोर प्रदेश में उत्पन्न होती है तथा उसका फल अनार के फलके समान होता है॥ ७८॥

३ पोथकी[2]लक्षणमाह—

स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसन्निभाः। रुजावत्यश्च पिडकाः पोथक्य इति कीर्त्तिताः॥

नेत्र के पलक में स्रावयुक्त, कण्डूयुक्त, गुर्वी, लाल सरसों के समान तथा व्यथायुक्त जो पिडिकाएँ होती हैं, उन्हें पोथकी कहा जाता है॥ ७९॥

---

१. कुम्भीका का नाम अन्य ग्रन्थकारोंने कुम्भीकिनी भी रखा है। यह (कुम्भीका) भी साध्य तथा लेख्य है। इसे Secondary Style कह सकते हैं।

२. वाग्भट ने पोथकी (रोहा या रोहुआ) में कुछ लक्षण अधिक लिखा है। यथा—'शोफोपदेहकण्डूपिच्छिलाश्रुसमन्विता'। यह साध्य तथा लेख्य है। प्राच्य शालाक्य की दृष्टि से यह वर्त्मगत रोग है, किन्तु पाश्चात्त्य विद्वानों ने इसे 'ग्रेनुलर कंजंक्टाइविटिस' (Granular conjunctivitis) कहा है अर्थात् वर्त्मगत कंजंक्टाइवा का ऐसा शोथ, जिसमें लाल सरसों के दानेकी भाँति उभार बन गये हों। इसी रोग को 'ट्रेकोमा' (Trachoma) भी कहते हैं। यह बड़ा ही हठीला नेत्ररोग है, जो बहुत दिनों तक रहता है और प्रारम्भिक काल में ही उचित चिकित्सा न करने से प्रायः याप्य हो जाता है और बहुत से अनुगामी विकार भी उत्पन्न करता है। प्रायः नेत्राभिष्यन्द की उपेक्षा करने से यह रोग पैदा होता है। इसमें नेत्र वर्त्मगत श्लेष्मल कला में दाने पड़ जाते हैं। जब इसका प्रकोप होता है, तो आँख से पानी बहना, आँख गड़ना, प्रकाशासह्यता, पीडा, चकाचौंध आदि लक्षण होते हैं। कभी-कभी ये लक्षण हलके या बिलकुल नहीं होते। इसके अतिरिक्त पलकों का फूला हुआ होना, मोटाई के भार के कारण पलकों का बन्द रहना, कीचड़ निकलना आदि लक्षण भी होते हैं।

पोथकी मुख्यतः दो प्रकार की होती है:—

१—शोथयुक्त प्रकार—जिसमें नेत्र की श्लेष्मल त्वचा में ललाई आदि तथा उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं।

२—साधारण या शोथहीन प्रकार—जिसमें उपर्युक्त लक्षण बहुत ही सामान्य होते हैं या बिलकुल नहीं होते। यहाँ तक कि बहुत दिनों तक रोगी को पोथकी की उपस्थिति का ज्ञान भी नहीं होता। उपद्रव तथा अनुगामी विकारों की उत्पत्ति की दृष्टि से पोथकी का बड़ा महत्त्व है।

४ वर्त्मशर्करा[1] लक्षणमाह—

पिडकाभिः सुसूक्ष्माभिर्घनाभिरभिसंवृता । पिडका या खरा स्थूला वर्त्मस्था वर्त्मशर्करा ॥

चारों ओर से बहुत छोटी-छोटी घनी फुन्सियों से घिरी हुई पलक में स्थित जो तीक्ष्णाग्र तथा स्थूल पिडिका होती है, उसे वर्त्मशर्करा कहते हैं ॥ ८० ॥

५ अथार्शोवर्त्म[2] लक्षणमाह—

एर्वारुबीजप्रतिमाः पिडका मन्दवेदनाः । श्लक्ष्णाः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते ॥

*एर्वारुः = कर्कटी । खराः = तीक्ष्णाग्राः ॥ ८१ ॥

पलकमें ककड़ी के बीज के समान, मन्द वेदनायुक्त, चिकनी तथा तीक्ष्ण नोकवाली जो फुन्सी होती है, उसे अर्शोवर्त्म कहा जाता है ॥ ८१ ॥

६ शुष्कार्शो[3] लक्षणमाह—

दीर्घाङ्कुरः खरः स्तब्धो दारुणोऽभ्यन्तरोद्भवः । व्याधिरेषोऽभिविख्यातः शुष्कार्शो नाम नामतः

पलक के भीतर होनेवाले, खर, जकड़े हुए तथा दारुण जो बड़े-बड़े अङ्कुर होते हैं, वे शुष्कार्श इस नाम से विख्यात होते हैं अर्थात् यह व्याधि शुष्कार्श कहलाती है ॥ ८२ ॥

७ अञ्जनदूषिका[4] लक्षणमाह—

दाहतोदवती ताम्रा पिडका वर्त्मसम्भवा । मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जनदूषिका ॥

उपद्रव मुख्यतः दो होते हैं—१-Ponnus (शिराजाल) २-सव्रणशुक्र (Corneal ulcer) ।

अनुगामी विकारः—जैसा पहले कहा जा चुका है, पोथकी बड़ा हठीला रोग है । इसलिए अधिक दिन तक रहने के कारण रोग के अच्छा हो जाने पर भी पलकों की श्लेष्मल कला (Palpebral conjunctiva) में व्रणवस्तु (Scar) बन जाती है । जिससे संकोच पैदा होकर पक्ष्मकोप (Trichiasis, entropian, ectorpian) उत्पन्न हो जाता है और नेत्रगोलक तथा पलकों में संसक्ति हो जाती है (अर्थात्-Symblepharon बन जाना) । व्रणवस्तुयुक्त पलकों के निरन्तर कृष्णमण्डल पर लगते रहने से रगड़ खाकर कृष्णमण्डल (Cornea) में शिराजाल, अव्रण-शुक्ल, शुक्तिका (Xeroris) तथा अजकाजात (Anterior Staphyloma) बन जाते हैं ।

चिकित्सा—प्रारम्भ में क्षोभक पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए । यथा:—चन्द्रोदया वर्त्ति, स्फटिका या तुत्थ के टुकड़ों से अथवा, सिल्वर नाइट्रेट (Silver Nitrate १ या २ प्र० श० घोल), ग्लीसराल ऑफ् टैनिन (Glycerol of tannin) या मरक्यूरिक क्लोराइड (५०० भाग जल में १ भाग) के फाहे से पोथकी के दानों को रगड़ना । यदि कुछ काल तक इनका प्रयोग करने पर भी लाभ न हो तो लेखन, शस्त्रकर्म करना चाहिए । शस्त्रकर्म के लिए पाश्चात्य नेत्ररोग की किसी पुस्तक में (Ophthalmalogy) या सुश्रुत उत्तरतन्त्र के लेख्य रोग-प्रतिषेधीय अध्याय में देखिये ।

१. वर्त्मशर्करा को वाग्भट ने सिकतावर्त्म और विदेह ने वर्त्मकर्करिका लिखा है । पाश्चात्य विज्ञान की दृष्टि से इसे Herpes Ophthalmicus कह सकते हैं । वर्त्मशर्करा लेख्य रोगों में से है ।

२. किसी के (आढामल के) मत से इसे (अर्शोवर्त्म को) पक्ष्मार्श कहते हैं । यह साध्य और छेद्य है ।

३. शुष्कार्श साध्य और छेद्य है । यह सम्भवतः Fibroma of the Eyelid हो सकता है ।

४. अञ्जन-दूषिका (बिलनी) को वाग्भट ने अञ्जननामिका कहा है । यह साध्य तथा भेद्य है । इसको वर्त्मगत वसाग्रन्थि का शोथ (Acute inflammation of the Meibomian glands) कह सकते हैं ।

पलक में उत्पन्न हुई जो सूक्ष्म पिडिका दाहयुक्त, सुई चुभाने के समान पीड़ा से युक्त, ताम्रवर्ण कोमल तथा मन्द वेदनावाली होती है, उसे अञ्जनदूषिका समझना चाहिए ॥ ८३ ॥

८ वहलवर्त्म[1] लक्षणमाह—

वर्त्मोपचीयते यस्य पिडकाभिः समन्ततः। सवर्णाभिः स्थिराभिश्च विद्याद्बहलवर्त्म तत् ॥

यदि मनुष्य की पलक, पलक के वर्ण के समान वर्णवाली तथा स्थिर पिडिकाओं से चारो ओर से व्याप्त हो जाती है, उसे बहलवर्त्म कहा जाता है ॥ ८४ ॥

९ वर्त्मबन्धक[2] लक्षणमाह—

कण्डूरेणाल्पतोदेन वर्त्मशोफेन मानवः। न समं छादयेदक्षि यत्रासौ वर्त्मबन्धकः ॥८५॥

यदि मनुष्य खुजली तथा अल्प सुई चुभाने के समान वेदनायुक्त पलक के शोथ के कारण आँख को बराबर न ढक सके, तो उसे वर्त्मबन्धक कहते हैं ॥ ८५ ॥

१० क्लिष्टवर्त्म[3] लक्षणमाह—

मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद्वर्त्म सममेव च। अकस्माच्च भवेद्रक्तं क्लिष्टवर्त्मेति तद्विदुः ॥ ८६ ॥

***एतत्कफदुष्टरक्तजम् ॥ ८६ ॥**

यदि दोनों पलक साथ-साथ कोमल, मन्द वेदनायुक्त तथा ताम्रवर्ण के रहें और अकस्मात् लाल हो जायँ तो क्लिष्टवर्त्म समझना चाहिए। यह रोग कफदूषित रक्त से उत्पन्न होता है ॥८६॥

वर्त्मकर्दमलक्षणमाह—

क्लिष्टं पुनः पित्तयुतं शोणितं विदहेद्यदा। तदा क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दमः ॥ ८७ ॥

***क्लिन्नम् = आर्द्रत्वम् ॥ ८७ ॥**

जब उपर्युक्त क्लिष्टवर्त्म युक्त पलकों में, पित्तयुक्त रक्त दाह को उत्पन्न कर देता है और पलकें आर्द्र हो जाती हैं, तो उसे वर्त्मकर्दम कहा जाता है ॥ ८७ ॥

१२ श्याववर्त्म[4] लक्षणमाह—

यद्वर्त्म बाह्यतोऽन्तश्च श्यावं शूनं सवेदनम्। सकण्डूकं परिक्लेदि श्याववर्त्मेति तन्मतम् ॥

यदि नेत्र की पलकें बाहर तथा भीतर से भी श्याव वर्ण की (साँवली) हो जायँ और शोथ, वेदना से युक्त रहें और गीली हों तो यह रोग श्याववर्त्म कहलाता है ॥ ८८ ॥

---

१. माधवकर ने बहलवर्त्म को बहुलवर्त्म लिखा है। यह साध्य और लेख्य है। यह सम्भवतः 'मोलस्कम कन्टिजिओजम' molluscum Contigiosum (वर्त्म का एक प्रकार का सौम्य अर्बुद, जो छूत की बीमारियों की तरह फैलता है) है।

२. वर्त्मबन्धक को ही बद्धवर्त्म भी कहते हैं। इसे पाश्चात्त्य विज्ञान की दृष्टि से Oedema of the eyelid (वर्त्मशोथ) कह सकते हैं।

३. क्लिष्टवर्त्म के विषय में श्रीकण्ठदत्त ने लिखा है कि वेदना की तीव्रता के कारण ही क्लिष्ट शब्द का प्रयोग किया गया है। यथाः—

'अत्र पक्षे क्लिष्टत्वं वेदनाऽतियोगादवगन्तव्यम्'—श्रीकण्ठः ॥

इसलिए कभी-कभी क्लिष्टवर्त्म में तीव्र वेदना भी होती है। क्लिष्टवर्त्म और वर्त्मकर्दम साध्य तथा लेख्य हैं। और इन दोनों रोगों के लक्षण पाश्चात्त्य विज्ञानानुसार Erysepelas (क्षत विसर्प), Cellulitis (वर्त्मगत अधस्त्वक्-शोथ) के लक्षणों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। वर्त्मकर्दम, Panophthalmitis (समस्त अक्षिगोलक का तीव्र शोथ) से भी बहुत मिलता-जुलता है।

४. श्याववर्त्म साध्य और लेख्य रोग है। विदेह और निमि ने इसको और स्पष्ट किया है। यथाः—'दुष्टश्लेष्मानिलास्पित्तं वर्त्मनोश्चीयते तदा। अग्निदग्धसमं श्यावम्–'।

१३ प्रक्लिन्नवर्त्म[1] लक्षणमाह—

अरुजं बाह्यतः शूनं वर्त्म यस्य नरस्य हि । प्रक्लिन्नवर्त्म तद्विद्याक्लिन्नमत्यर्थमन्ततः ॥८९॥

***अरुजम् = ईषद्व्यथम् ॥ ८९ ॥**

जिस मनुष्य की पलक, किञ्चित् पीड़ायुक्त, बाहर से शोथयुक्त और भीतर से अत्यन्त चिपचिपी होती है, तो उसके उस वर्त्मरोग को प्रक्लिन्नवर्त्म समझना चाहिए ॥ ८९ ॥

१४ अक्लिन्नवर्त्म[2] लक्षणमाह—

यस्य धौतान्यधौतानि सम्बध्यन्ते पुनः पुनः । वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्यादक्लिन्नवर्त्म तत् ॥

यदि पलकें धोने पर अथवा बिना धोने पर भी बारम्बार चिपक जाती हों तथा उनमें पाक न उत्पन्न होता हो तो उसे अक्लिन्नवर्त्म समझना चाहिए ॥ ९० ॥

१५ वातहतवर्त्म[3] लक्षणमाह—

विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं वर्त्म यस्य न मील्यते । एतद्वातहतं विद्यात्सरुजं यदि वारुजम् ॥

विमुक्तसन्धि=स्वस्थानच्युतसन्धि । निश्चेष्टम्=निमेषोन्मेषादिरहितम् ॥ ९१ ॥

यदि पलकें अपने सन्धिस्थान से च्युत हो गयी हों, पलकों का खुलना, बन्द होना रूप चेष्टा न होती हो तथा पलकें मिलती न हों तो उसे वातहतवर्त्म कहते हैं । यह रोग वेदनायुक्त होता है और कभी-कभी वेदनारहित भी होता है ॥ ९१ ॥

---

* सम्भवतः यह purulent Conjunctivitis की तृतीयावस्था (Third Stage या papillary Swelling) है ।

१. वाग्भटने प्रक्लिन्नवर्त्म को कफोत्क्लिष्टवर्त्म भी कहा है । यथाः—

'कफोत्क्लिष्टं भवेद्वर्त्म स्तम्भक्लेदोपदेहवत्'–वाग्भ० ।

'कफस्योत्क्लिष्टत्वेन प्रक्लिन्नवर्त्मत्वमुपान्ते तेन प्रक्लिन्नवर्त्मेति नाम्ना प्रसिद्धः ।' आढामल ॥

पाश्चात्य शालाक्यानुसार यह psenudo-membranous or Diphteritic Conjunctivitis प्रतीत होती है ।

२. वाग्भट ने अक्लिन्नवर्त्म को श्लिष्टवर्त्म कहा है । यथा—

'श्लिष्टाख्यवर्त्मनी श्लिष्टे कण्डुश्वयथुरागिणी–' वा० ।

'श्लिष्टवर्त्मनोऽक्लिन्नवर्त्मेति नामान्तरम्–' आढा० ॥

यह रोग Blepharitis (पलक के उस किनारे का शोथ, जिसमें बरौनी लगी है) है ।

यह शोथ दो प्रकार का होता है—१–Non-ulcerative, २–Ulcerative.

प्रथम प्रकार में पलकों के किनारे लाल और सूजे हुए रहते हैं और बरौनी (lashes) की जड़ के पास सफेद छिलके लगे रहते हैं । दूसरे प्रकार में छिलके (Scales) पीले भी होते हैं और उनके हटा देने पर बरौनी की जड़ में बहुत छोटे-छोटे व्रण दिखाई देने लगते हैं ।

३. वाग्भट ने उत्क्लिष्टवर्त्म नामक एक रोग लिखा है, जिसका समावेश 'आढामल' ने 'वातहतवर्त्म' में ही किया है, किन्तु वास्तव में यह रक्तदोषयुक्त सन्निपातज रोग है । यथाः—

'यद्वर्त्मोत्क्लिष्टमुत्क्लिष्टमकस्मान्म्लानतामियात् ।

रक्तदोषत्रयोत्क्लेशाद् वदन्त्युत्क्लिष्टवर्त्म तत्' ॥ वा० ।

'उत्क्लिष्टवर्त्मेति–उत्क्लिष्टो वातस्तेन व्याप्तं यद्वर्त्म ।

अत एव तत्रान्तरे वातहतवर्त्म कथितम् ।' आढा० ॥

पाश्चात्यमतानुसार इसे ptosis कहते हैं । यह रोग तृतीय मस्तिष्कीय नाड़ी के उस भाग में

१६ वर्त्मार्बुद[1] लक्षणमाह—

वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम्। आचक्षीतार्बुदमिति सरक्तमवलम्बि च ॥ ९२ ॥

***विषमम्=अवर्त्तुलं, ग्रन्थिभूतं=कठिनम्, अवेदनम्=ईषद्वेदनम्, सरक्तम्=ईषल्लोहितम्। अवलम्बि=अस्रस्तम् ॥ ९२ ॥**

पलकों के भीतर विषम अर्थात् गोलाकार नहीं, किञ्चित् वेदनायुक्त, थोड़ी लाल तथा नीचे को गिरी हुई जो कठिन ग्रन्थि होती है, उसे वर्त्मार्बुद समझना चाहिए ॥ ९२ ॥

१७ निमेष[2] लक्षणमाह—

निमेषिणीः शिरा वायुः प्रविष्टो वर्त्मसंश्रयाः। सञ्चालयति वर्त्मानि निमेषः स न सिध्यति

वायु पलकों में रहनेवाली निमेषिणी (पलकों को खोलने तथा बन्द करनेवाली) शिराओं में प्रविष्ट होकर पलकों को चञ्चल कर देती है। इस रोग को निमेष कहते हैं। यह रोग असाध्य है ॥

१८ शोणितार्शो[3] लक्षणमाह—

वर्त्मस्थो यो विवर्द्धेत लोहितो मृदुरङ्कुरः। तद्रक्तजं शोणितार्शश्छिन्नं वाऽपि विवर्द्धते ॥

यदि पलकों में रहनेवाला लाल तथा कोमल अङ्कुर बढ़े, तो उसे शोणितार्श कहते हैं। यह रोग रक्तदोष से उत्पन्न होता है। यदि इसको काट दिया जाय, तब भी बढ़ता है ॥ ९४ ॥

१९ लगण[4] लक्षणमाह—

अपाकी कठिनः स्थूलो ग्रन्थिवर्त्मभवोऽरुजः। सकण्डूः पिच्छिलः कोलप्रमाणो लगणः स्मृतः

पाकहीन, कठिन, स्थूल, वेदनारहित, कण्डूयुक्त, चिकनी तथा बेर के बराबर जो ग्रन्थि पलक में उत्पन्न होती है, उसे लगण कहते हैं ॥ ९५ ॥

२० विसवर्त्म[5] लक्षणमाह—

त्रयो दोषा बहिः शोथं कुर्युश्छिद्राणि वर्त्मनोः। प्रस्रवन्त्यन्तरुदकं बिसवद्विसवर्त्म तत् ॥

***छिद्राणि=अन्तश्छिद्राणि च कुर्युरित्यन्वयः। बिसवत् बहुच्छिद्रत्वात् ॥ ९६ ॥**

तीनों दोष दोनों पलकों के बाहर शोथ को उत्पन्न कर देते हैं तथा भीतर से छेदों को उत्पन्न कर देते हैं, अतएव कमल की नाल के समान अनेक छिद्र होने के कारण भीतर से जल बहा करता है। इस रोग को विसवर्त्म कहते हैं ॥ ९६ ॥

घात के कारण होता है (Paralysis of the 3rd nerve), जो ऊर्ध्व वर्त्म को पेशी को जाती है। कभी-कभी ऊपरी पलक को उठानेवाली पेशी का अपूर्ण विकास होने से भी यह रोग होता है। ऐसी दशा में दोनों आँखों में यह रोग होता है। इस रोग में ऊपरी पलक खुलती नहीं या कठिनाई से खुलती है।

१. श्रीकण्ठदत्त ने लिखा है कि:—'अपाकि तच्च कफेन'। पाश्चात्य मतानुसार वर्त्मार्बुद Cyst, Polypus या Fatty tumour of the interior of the Eyelid प्रतीत होता है।

२. निमेष को तन्त्रान्तर में निमिष या निमेषिणी लिखा है। यह कभी हिस्टीरिया आदि के कारण उत्पन्न होता है और इसे Chronic blepharospasm कहा जा सकता है।

३. तन्त्रान्तर में शोणितार्श को 'अर्श' (वा०), रक्तार्श (श्रीकण्ठ०) तथा रक्तोत्क्लिष्ट लिखा है। यह सम्भवतः वर्त्म का sarcoma है।

४. लगण को अलगण और नगण भी कहते हैं। यह श्लेष्मज और भेद्य रोग है। इसे पाश्चात्त्य विज्ञान के अनुसार Chalazion कहते हैं। जिसमें पलक की स्वेदवाहिनी नलिका के मार्ग के बन्द हो जाने के कारण meibomian gland बढ़ती है और साथ ही टार्सस के आस-पास के तन्तुओं में भी चिरकालीन शोथ हो जाता है। इसीको Tarsal cyst और Tarsal tumour भी कहते हैं।

५. विसवर्त्म को Hordeolum Internum कहते हैं।

२१ कुञ्चन[1]लक्षणमाह—

वाताद्या वर्त्मसंकोचं जनयन्ति मला यदा। तदा द्रष्टुं न शक्नोति कुञ्चनं नाम तद्विदुः॥

इति वर्त्मजा रोगाः।

वातादि दोष जब पलकों को सङ्कुचित कर देते हैं तो मनुष्य किसी पदार्थ को देख नहीं सकता। इस रोग को कुञ्चन कहते हैं॥ ९७॥

इति वर्त्मजा रोगाः।

अथ पक्ष्मरोगाः।

तत्रत्ययो रोगयोर्नामान्याह—

पक्ष्मकोपः पक्ष्मशातो रोगौ द्वौ पक्ष्मसंश्रयौ॥ ९८॥

पक्ष्म अर्थात् बरौनियों में पक्ष्मकोप तथा पक्ष्मशात नामक दो रोग होते हैं॥ ९८॥

पक्ष्मकोप[2] लक्षणमाह—

प्रचालितानि वातेन पक्ष्माण्यक्षि विशन्ति हि।
घृष्यन्त्यक्षि मुहुस्तानि संरम्भं जनयन्ति च॥

---

१. कुञ्चन को वाग्भट ने 'कृच्छ्रोन्मील' लिखा है। यथा—

'···चलस्तत्र, प्राप्य वर्त्माश्रयाः शिराः। सुप्तोत्थितस्य कुरुते वर्त्मस्तम्भं सवेदनम्।
पांशुपूर्णाभनेत्रत्वं कृच्छ्रोन्मीलनमश्रु च।
विमर्दनात्स्याच्च शमः कृच्छ्रोन्मीलं वदन्ति तम्॥ वा०॥'

पाश्चात्त्य विज्ञानानुसार यह Keratitis या Iritis का उपद्रवभूत ophthalmoplegia (नेत्र की पेशियों का घात होना) प्रतीत होता है। इन २१ रोगों के अतिरिक्त तन्त्रान्तरों में कुकूणक नामक रोग भी वर्त्मरोगों में कहा गया है। यथा—

'स्तन्यप्रकोपकफमारुतपित्तरक्तैर्बालाक्षिवर्त्मभव एव कुकूणकोऽन्यः।
मृद्नाति नेत्रमतिकण्डुमथाक्षिकूटं नासाललाटमपि तेन शिशुः स नित्यम्।
सूर्यप्रभां न सहते स्रवति प्रवृद्धं तस्याहरेद्रुधिरमाशु विनिर्लिखेच्च॥'

वाग्भट ने कुकूणक की उत्पत्ति दन्तोत्पत्ति के कारण बतलायी है। Ulcerative Blepharitis, Acute Blenorrhoea (अश्रुमार्ग का शोथ) of the new-born, तथा बच्चों की Granularlids (बच्चों के रोहे) के लक्षण कुकूणक के समान हैं।

२. पक्ष्मकोप को तन्त्रान्तरों में उपपक्ष्ममाला, परिवाल, पक्ष्मोपरोध तथा पित्तोक्लिष्ट भी कहा गया है। सुश्रुत में इतना अधिक लक्षण लिखा है कि:—'उद्धृतैरुद्धृतैः शान्तिः पक्ष्मभिश्चोपजायते।' यह रोग याप्य है। पित्तोत्क्लिष्ट के लक्षण—

'सदाहक्लेदनिस्तोदं रक्ताभं स्पर्शनाक्षमम्। पित्तेन जायते वर्त्म पित्तोत्क्लिष्टमुशन्ति तत्॥ वा०॥
उत्क्लिष्टं पित्तं यत्र स पक्ष्मप्रकोप इति नाम्ना प्रसिद्धः। आढ०॥'

पक्ष्मकोप को पाश्चात्त्य मतानुसार trichiasis और Distichiasis कहते हैं। Trichiasis रोग में नेत्र की पक्ष्म (बरौनी) नेत्र के भीतर की ओर मुड़ जाती है, जिससे नेत्र के कृष्णमंडल और शुक्लमण्डल पर इनके रगड़ खाने से पीडा, ललाई, शोथादि लक्षण नेत्र में होते हैं। Entropian नामक एक और वर्त्मरोग होता है, जिसमें पलक का बरौनीवाला किनारा ही भीतर की ओर मुड़ जाता है, जिससे trichiasis जैसा ही परिणाम होता है। Distichiasis में पिछली कतार की बरौनियाँ Trichiasis की भाँति भीतर की ओर मुड़ जाती हैं, जिससे इसीकी तरह लक्षण भी नेत्र में पैदा होते हैं। उपर्युक्त पक्ष्म के तीनों रोग-पोथकी, अक्लिन्नवर्त्म (Blepharitis) आदि के कारण पलकों

अलिते सितभागे च मूलकोशात्पतन्त्यपि। पक्ष्मकोपः स विज्ञेयो व्याधिः परमदारुणः॥

*पक्ष्माणि = अक्षिलोमानि। संरम्भं = शोथम्॥ ९९॥

वायु से चलित पक्ष्म अर्थात् पलकों के रोम या बरौनियाँ नेत्र में प्रवेश करती हैं। और आँखों को बार-बार घिसती हैं, जिससे नेत्र के कृष्ण तथा श्वेतमण्डल में शोथ उत्पन्न होता है। और मूल-कोश अर्थात् जड से भी उखड़कर गिर जाती हैं। इस रोग को पक्ष्मकोप कहते हैं। यह अत्यन्त दारुण व्याधि है॥ ९९॥

अन्यग्रन्थोक्तपक्ष्मकोपलक्षणमाह—

यत्पक्ष्मदेहलीं मुक्त्वा वर्त्मनोऽन्तः प्रजायते। घर्षेत्पक्ष्मासिते श्वेते पक्ष्मकोपः स उच्यते॥

यदि रोम पक्ष्मदेहली अर्थात् मूलकोश को छोड़कर पलकों के भीतर उत्पन्न हों और वे रोम नेत्र के कृष्ण तथा श्वेतमण्डल में घिसते रहें तो उन्हें पक्ष्मकोप कहते हैं॥ १००॥

पक्ष्मशात[1]लक्षणमाह—

वर्त्मपक्ष्माशयगतं पित्तं लोमानि शातयेत्। कण्डूं दाहं च कुरुते पक्ष्मशातं तमादिशेत्॥

*शातयेत् = स्खलयेत्॥ १०१॥

इति पक्ष्मरोमौ।

पलकों में रहनेवाला पित्त पलक के रोमों को गिरा देता है तथा कण्डू और दाह को उत्पन्न करता है। इस रोग को पक्ष्मशात कहते हैं॥ १०१॥

इति पक्ष्मरोमौ।

अथ सन्धिजा रोगाः।

तत्र सन्धीनाह—

पक्ष्मवर्त्मगतः[2] सन्धिर्वर्त्मशुक्ल[3] गतोऽपरः।
शुक्लकृष्ण[4] गतश्चान्यः कृष्ण[5] दृष्टिगतोऽपि च॥

में स्थायी संकोचन होने से उत्पन्न होते हैं। Ectropian नामक एक और रोग होता है, जिसमें पलकों का रोमवाला किनारा तनिक बाहर की ओर स्थायी रूप से उलट जाता है। इससे कंजंक्टाइवा का कुछ भाग सदा (आँख बन्द करने पर भी) खुला रहता है और कालान्तर में लाल और वर्द्धित (Hypertrophy युक्त) हो जाता है। यह (अन्तिम) रोग पुराने नेत्राभिष्यन्द और अक्लिन्नवर्त्म के कारण तथा मौखिकी नाड़ी (Facial nerve) के घात तथा पलक के किनारे पर व्रणवस्तुजन्य संकोचादि के कारण होता है।

चिकित्सा—शस्त्रकर्म। वाग्भट ने 'अल्प' नामक एक और रोग लिखा है। यथा—

'कण्टकैरिव तीक्ष्णाग्रैः घृष्टं तैरक्षि सूयते। उष्यते चानिलादिद्विडल्पाह्वः शान्तिरुद्धृतैः।'

१. पक्ष्मशात रोग को Blepharitis marginalis कह सकते हैं।

२. पक्ष्मवर्त्मगत सन्धि—(Free margins of the lids) पलकों के इस किनारे पर पक्ष्म (बरौनियाँ) दो कतारों में लगी हैं।

३. शुक्लवर्त्मगत सन्धि—Fornix.

४. शुक्लकृष्णगत सन्धि—Limbus.

५. कृष्णदृष्टिगत सन्धि—वास्तव में कृष्ण (Cornea) और दृष्टि (pupil) में कोई सन्धि नहीं है, क्योंकि दृष्टि कृष्णमण्डल के पीछे रहती है। दृष्टि एक गोलाकार छिद्र है, जो 'आइरिस' (Iris) के खुले किनारे द्वारा बनता है या इस प्रकार कहा जा सकता है कि कृष्णमण्डल (Cornea) के पीछे एक दूसरे प्रकार का कृष्णमण्डल (Iris) है, जिसके केन्द्र में एक गोलाकार

मतः कनीनक[1] गतः षष्ठश्चापाङ्ग[2] संश्रितः ॥ १०२ ॥

नेत्र में ६ सन्धियाँ होती हैं, यथा:—१-पलकों के बालों तथा पलकों के बीच में, २-पलकों तथा नेत्र के श्वेतमण्डल के बीच में, ३-नेत्र के श्वेतमण्डल तथा कृष्णमण्डल के बीच में, ४-कृष्णमण्डल तथा दृष्टि के बीच में, ५-कनीनिका में और ६-अपाङ्ग की ओर (कनपट्टी की ओर जहाँ पलकें परस्पर मिलती हैं) ॥ १०२ ॥

तत्रत्यानां रोगाणां संख्यामाह—

पूयालसः सोपनाहः स्रावाश्चत्वार एव च । पर्वणिकाऽलजी जन्तुग्रन्थिः सन्धौ नवामयाः ॥

सन्धिगत रोग—१ पूयालस, २ उपनाह, ३ पित्तजस्राव, ४ कफजस्राव, ५ सन्निपातजस्राव, ६ रक्तजस्राव, ७ पर्वणिका, ८ अलजी तथा ९ जन्तुग्रन्थि-ये नव रोग नेत्र की सन्धियों में होते हैं ॥

१ पूयालस[3] लक्षणमाह—

पक्वः शोथः सन्धिजः संस्रवेद्यः सान्द्रं पूयं पूति पूयालसाख्यः ॥ १०४ ॥

***सन्धिजः=कनीनकसन्धिजो बोद्धव्यः ।**

'पूयालसन्तु तं विद्यात्सन्धौ कानीनके नृणाम्' इति वचनात् ॥ १०४ ॥

पूयालस—नेत्र की सन्धियों में होनेवाला पका हुआ शोथ, जिससे दुर्गन्धित पीव बहे, उसे 'पूयालस' कहते हैं । यह पूयालसक-कनीनक के सन्धिस्थान में होता है ॥ १०४ ॥

२ अपनाह[4] लक्षणमाह—

ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्धावपाकी कण्डूप्रायो नीरुजश्चोपनाहः ॥ १०५ ॥

***नाल्पः=महान् । अपाकी=ईषत्पाकी । नीरुजः=ईषद्वेदनः ।**

'अरुणं कठिनं ग्रन्थिं जनयत्यल्पवेदनम्' ॥ २ ॥ इति विदेहवचनात् ॥ १०५ ॥

उपनाह—दृष्टि की सन्धि में अत्यल्प पीड़ावाली, खुजलाहटयुक्त, बहुत ही कम पकनेवाली जो ग्रन्थि होती है, उसे 'उपनाह' कहते हैं । यह ग्रन्थि अरुणवर्ण की तथा कठोर भी होती है ॥

स्रावाणां सम्प्राप्तिमाह—

गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः कुर्युः स्रावांल्लक्षणैः स्वैरुपेतान् ।

तं हि स्रावं नेत्रनाडीति चैके तस्या लिङ्गं कीर्त्तयिष्ये चतुर्द्धा ॥ १०६ ॥

***'सन्धीनि'ति बहुवचनेन सर्व एव सन्धयो गृह्यन्ते । एके वदन्तीति शेषः । वातिकस्रावो न भवति, केवलेन वातेन तदसम्भवात् ॥ १०६ ॥**

नेत्रस्राव की सम्प्राप्ति—अश्रुमार्ग से सभी सन्धियों में दोष प्रवेश करके अपने-अपने लक्षणों से युक्त स्राव उत्पन्न करते हैं । यह दोषों के अनुसार चार प्रकार का होता है । अर्थात् पित्तज, कफज, सन्निपातज और रक्तज । वातज स्राव नहीं होता, क्योंकि केवल वात से स्राव उत्पन्न नहीं हो सकते । कोई-कोई विद्वान् नेत्रस्राव को 'नाड़ी' कहते हैं ॥ १०६ ॥

छिद्र है । इसी छिद्र को दृष्टि (Pupil) कहते हैं । दृष्टि के पीछे नेत्र का ताल (Lens) स्थित है । इसलिए कृष्णदृष्टिगत सन्धि को 'Free margin of the Iris' कहा जा सकता है । दृष्टि और कृष्णमण्डल (Cornea) के बीच के स्थान को, जिसमें एक प्रकार का पारदर्शक द्रव (Aquous) भरा रहता है, Anterior chamber कहते हैं ।

१. कनीनकगत सन्धि—medial palpebral commissure.

२. अपाङ्गगत सन्धि—Lateral palpebral commissure.

३. पूयालस को Suppurative Dacryocystitis (अश्रुमार्ग के ऊपरी भाग अर्थात् Lacrymal sac का पाकयुक्त शोथ) कहा जा सकता है ।

४. विदेह ने उपनाह को श्लेष्मोपनाह कहा है ।

३ पित्तज[1] स्रावलक्षणमाह—

हरिद्राभं पीतमुष्णं जलं वा पित्तस्रावः संस्रवेत्सन्धिमध्यात् ॥ १०७ ॥

ॐहरिद्राभं = पीतरक्तम् । परतः पीतशब्दप्रयोगाद् । जलं वेति—वाशब्दो हरिद्राऽऽभं पीतं वेत्यत्र सम्बध्यते । पित्तस्रावः = पित्तात्स्रावः । एवं श्लेष्मस्रावादयः ॥ १०७ ॥

पित्तजस्राव—सन्धि के बीच से हलदी की तरह पीला, लाल अथवा केवल पीला और गरम जल बहे, तो उसे 'पित्तज स्राव' समझना चाहिए ॥ १०७ ॥

४ कफजस्रावलक्षणमाह—

श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं यः स्रवेत्तु श्लेष्मस्रावोऽसौ विकारः प्रदिष्टः ॥ १०८ ॥

कफजस्राव—यदि सफेद, गाढा और चिकना पानी आँख की सन्धि से बहे तो उसे 'कफज स्राव' कहते हैं ॥ १०८ ॥

५ सन्निपातज[2] स्रावलक्षणमाह—

शोथः सन्धौ संस्रवेद्यस्तु पक्वः पूयं स्रावः सर्वजः सम्मतः स्यात् ॥ १०९ ॥

सन्निपातजस्राव—नेत्र की सन्धियों में पके हुए शोथ (सूजन) से यदि पीव की तरह स्राव हो तो उसे 'सन्निपातज' समझना चाहिए ॥ १०९ ॥

६ रुधिरजन्य[3] स्रावलक्षणमाह—

रक्तास्रावः शोणिताद्यो विकारो गच्छेदुष्णं तत्र रक्तं प्रभूतम् ॥ ११० ॥

रक्तजस्राव—जिस स्राव का रङ्ग लाल हो, रक्त अधिक उसमें मिला हो और गरम हो, उसे 'रक्तजस्राव' कहते हैं ॥ ११० ॥

७-८ [4]पर्वण्यलज्योर्लक्षणमाह—

ताम्रा तन्वी दाहपाकोपपन्ना रक्ताज्ज्ञेया पर्वणी वृत्तशोफा ।
जाता सन्धौ कृष्णशुक्लेऽलजी स्यात्तस्मिन्नेव व्याहृता पूर्वलिङ्गैः ॥ १११ ॥

---

१. पित्तज और कफज दोनों स्रावों को 'Chronic dacryocystitis or Blenorrhoea' कह सकते हैं।

२. सन्निपातजस्राव को 'पूयस्राव' भी कहते हैं। वाग्भट ने इस स्राव का वर्णन इस प्रकार किया है—

'पूयास्रावे मलाः सास्रा वर्त्मसन्धेः कनीनकात् । स्रावयन्ति मुहुः पूयं सास्रत्वङ्मांसपाकतः' वा० ॥

अश्रुमार्ग का (lacrymo nasal duct) अवरोध या संकोचयुक्त चिरकालीन अश्रुमार्ग-शोथ chronic Dacryocystitis with obstiuction or Stenosis of the Lacrymo nasal duct) ही सन्निपातज स्राव प्रतीत होता है।

३. रुधिरस्राव को Acute Dacryocystitis कह सकते हैं। वाग्भट ने एक जलस्राव नामक रोग भी लिखा है, यथाः—

'वायुः क्रुद्धः शिराः प्राप्य जलाभं जलवाहिनीः । अश्रु स्रावयते वर्त्मशुक्लसन्धेः कनीनकात् ।
तेन नेत्रं सरुग् रागशोफं स्यात्सजलास्रवः'—वा० ।

४. पर्वणी का लक्षण वाग्भट में कुछ भिन्न प्रकार से दिया गया है। यथाः—

'वर्त्मसन्ध्याश्रया शुक्ले पिटिका दाहशूलिनी ।
ताम्रा मुद्गोपमा भिन्ना रक्तं स्रवति पर्वणी'—वा० ।

वाग्भट ने पलक और शुक्लमण्डल की सन्धि में पर्वणी को बतलाया है; किन्तु अन्यत्र इसे शुक्लमण्डल और कृष्णमण्डल की सन्धि (Limbus) पर कहा गया है। यथाः—

'शुक्लकृष्णान्तःसन्धौ तु चीयतेऽसृक्कफानिलाः । पर्वणी पिडका ।'

*अलजीमाह—'अलजी स्यादि'त्यादि। तस्मिन्नेव=कृष्णशुक्लयोरेव सन्धौ। भेदार्थमाह—पूर्वलिङ्गैः=प्रमेहाधिकारलिखितैः।

*रक्ता सिता स्फोटचिता दारुणा त्वलजी भवेत्॥ ३॥ इति॥ १११॥

पर्वणी और अलजी के लक्षण—नेत्र के कृष्ण और शुक्लभाग की सन्धि में लाल रङ्गवाली, जलन और (फुन्सी के चारों ओर) गोलाई में सूजनवाली छोटी फुन्सी को 'पर्वणी' कहते हैं। इस स्थान पर अर्थात् कृष्ण-शुक्ल सन्धि में यदि प्रमेहाधिकार में लिखित लक्षणोंवाली अर्थात् लाल, सफेदी युक्त और फुन्सियों से व्याप्त दारुण फुड़िया हो तो उसे 'अलजी' कहते हैं॥ १११॥

९ जन्तुग्रन्थि [1]लक्षणमाह—

जन्तुग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च कण्डूं कुर्युर्जन्तवः सन्धिजाताः।
नानारूपा वर्त्मशुक्लान्तसन्धौ गच्छन्त्यन्तर्लोचनं दूषयन्तः॥ ११२॥

*वर्त्मनः पक्ष्मणश्च सन्धिजाता इत्यन्वयः॥ ११२॥

इति सन्धिजा रोगाः।

वाग्भट के कथनानुसार यह Single Follicular Conjunctivitis भी हो सकती है, किन्तु इस पुस्तक के वर्णन से यह phlyctenular Conjunctivitis प्रतीत होती है।

आढामल ने तन्वी (पतली और छोटी) पिडिका को 'पर्वणी' और स्थूल पिडिका को 'अलजी' कहा है, किन्तु वास्तव में दोनों पिडिकाएँ एक ही वस्तु हैं; केवल उत्पत्ति-स्थान और आकार में भेद होने से पर्वणी और अलजी दो भिन्न नाम रखे गये हैं। वाग्भट ने 'अलजी' नामक दो रोग लिखे हैं। एक वर्त्मगत रोगों में, दूसरा सन्धिगत रोगों में (तालिका देखें)।

सन्धिगत अलजी के लक्षण—'कनीनस्यान्तरलजी शोफो रुक्तोददाहवान्।'

वर्त्मगत अलजी के लक्षण—

'कनीनके बहिर्वर्त्म कठिनो ग्रन्थिरुन्नतः। ताम्रः पक्वोऽस्रपूयस्रुदलज्याध्मायते मुहुः'—वा०॥

भावप्रकाशोक्त अलजी पाश्चात्त्य मतानुसार कृष्णश्वेत की सन्धि पर स्थित एक पिडिका (Phlyctenule at limbus) है। पाश्चात्त्य मतानुसार पर्वणी और अलजी दोनों ही Phlyctenule हैं। सुश्रुत और भावप्रकाश ने कृष्ण और शुक्ल की सन्धि पर स्थित कई छोटी फुंसियों से घिरे हुए phlyctenule को अलजी और एक ही छोटे तथा पतले phlyctenule को पर्वणी कहा है, किन्तु वाग्भट ने नेत्र के भीतरी कोने के समीप स्थित Phlyctenule को ही 'अलजी' कहा है। 'phlyctenule'-नेत्र में प्रायोमात्रि एक छोटे उभार का नाम है, जो Sclera (शुक्लमण्डल), Cornea (कृष्णमण्डल) और Bulbar Conjunctiva में किसी भी स्थान पर हो सकता है। यदि यह Cornea में उत्पन्न होता है और प्रायः शोथ भी उत्पन्न करता है तो Phlyctenular Keratitis (एक प्रकार का सव्रणशुक्र) पैदा होती है और यदि Sclera अथवा bulbar Conjunctiva में होता है तो Phlyctenular Conjunctivitis उत्पन्न होती है। Phlyctenule प्रारम्भ में उभार-सा रहता है। फिर फूटकर क्षत या व्रण-सा बन जाता है।

१. वाग्भट ने जन्तुग्रन्थि को कृमिग्रन्थि लिखा है।

कृमिग्रन्थि का लक्षण—

'अपाङ्गे वा कनीने वा कण्ड्वापक्ष्मपोटवान्।
पूयास्रावः कृमिग्रन्थिर्ग्रन्थिकृमियुतोऽर्तिमान्'—वा०॥

इस रोग में पूय के साथ नेत्र से कृमि गिरते हैं। पाश्चात्त्य मतानुसार यह रोग Blepharitis-acarica due to pediculis pudis, Demodex follicularum और pediculis capitis हो सकता है।

जन्तुग्रन्थि—पलक और वरौनी (पलक के वाल) की सन्धि में पड़े हुए अनेकों रूपवाले कृमि जव नेत्र में खुजली पैदा करते हैं और नेत्र को दूषित करके पलक और नेत्र के सफेद भाग की सन्धि में जाते हैं तो उसको 'जन्तुग्रन्थि' रोग कहते हैं ॥ ११२ ॥

इति सन्धिजा रोगाः ।

अथ समस्तनेत्रजा रोगाः ।

तेषां नामानि संख्यां चाह—

स्यन्दाश्चतुष्का इह सम्प्रदिष्टाश्चत्वार एवेह तथाऽधिमन्थाः ।
पाकः सशोथः स च शोथहीनो हताधिमन्थोऽनिलपर्ययश्च ॥ ११३ ॥
शुष्काक्षिपाकस्त्विह कीर्त्तितश्च तथाऽन्यतो वात उदीरितश्च ।
दृष्टिस्तथाऽम्लाध्युषिता शिराणामुत्पातहर्षौ च समस्तनेत्रे ॥ ११४ ॥
एवं समस्तनेत्रे स्युरामया दश सप्त च । तेषामिह पृथग्वक्ष्ये यथावल्लक्षणान्यपि ॥ ११५ ॥

समस्त नेत्रज रोगों के नाम और संख्या—१-४-अभिष्यन्द, ५-८अधिमन्थ, ९ सशोथपाक, १० अशोथपाक, ११ हताधिमन्थ, १२ वातपर्य्यय, १३ शुष्काक्षिपाक, १४ अन्यतोवात, १५ अम्लाध्युषित, १६ शिरोत्पात, १७ शिराहर्ष—ये सत्रह रोग समस्त नेत्र में होते हैं। अव इनके पृथक् पृथक् लक्षण कहते हैं ॥ ११३-११५ ॥

चत्वार्यभिष्यन्द[1]नामान्याह—

वातात्पित्तात्कफाद्रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विधः । प्रायेण जायते घोरः सर्वनेत्रामयाकरः ॥११६॥

अभिष्यन्द के नाम—वाताभिष्यन्द, पित्ताभिष्यन्द, कफाभिष्यन्द और रक्ताभिष्यन्द-ये चार भयङ्कर अभिष्यन्द रोग होते हैं, जो प्रायः समस्त नेत्ररोगों के भण्डार होते हैं अर्थात् अभिष्यन्द से प्रायः समस्त नेत्ररोग उत्पन्न होते हैं ॥ ११६ ॥

१ वाताभिष्यन्द[2]लक्षणमाह—

निस्तोदनस्तम्भनरोमहर्षसंघर्षपारुष्यशिरोऽभितापाः ।
विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ११७ ॥

*संघर्षः=करकरिका । शिरोऽभितापः=शिरसो व्यथा । विशुष्कभावः=दूषिकाराहित्यम् । वाताभिपन्ने=वातेनोपद्रुते ॥ ११७ ॥

वाताभिष्यन्द— आँख में सूई कोंचने की तरह पीड़ा, जकड़ाहट, रोमांच होना, वालू की तरह आँखों में गड़ना, नेत्रों में कीचड़ अधिक न आना, शिर में पीड़ा, न चिपकना और आँखों से ठंडा आँसू वहना ये सव 'वाताभिष्यन्द' के लक्षण हैं ॥ ११७ ॥

२ पित्ताभिष्यन्द[3] लक्षणमाह—

दाहः प्रपाकः शिशिराभिनन्दा धूमायनं वाष्पसमुच्छ्रयश्च ।
उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ११८ ॥

---

१. नेत्राभिष्यन्द (आँख उठना या आँख आना) को Conjunctivitis कहते हैं ।
प्रायः नेत्र के समस्त रोग अभिष्यन्द के कारण ही उत्पन्न होते हैं । यथाः—
'प्रायेण सर्वे नयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमूलाः ।
तस्मादभिष्यन्दमुदीर्यमाणमुपाचरेदाशु हिताय धीमान्' ॥
समस्त अभिष्यन्द साध्य और व्यध्य हैं ।

२. वाताभिष्यन्द को कञ्जंक्टाइवा का साधारण रक्ताधिक्य (Simple hyperaemia of the Conjunctiva) अथवा Catarrhal conjunctivitis कह सकते हैं ।

३. पित्ताभिष्यन्द के विषय में वाग्भट ने नेत्र में राग (ललाई) और 'क्षारोक्षितक्षताक्षित्वं'

*शिशिराभिनन्दा = शीतलेच्छा । धूमायनं = नेत्राद् धूमोद्गम इव । बाष्पसमुद्भवः = अश्रुस्रावः ॥ ११८ ॥

पित्ताभिष्यन्द—नेत्रों में जलन और पाक होना, ठंडी चीजों की इच्छा, नेत्र से धूआँ की तरह निकलना, गरम आँसू निकलना, नेत्र का पीला हो जाना, ये सब 'पित्ताभिष्यन्द' के लक्षण हैं ॥

३ कफाभिष्यन्द[1] लक्षणमाह—

उष्णाभिनन्दा गुरुताऽक्षिशोथः कण्डूपदेहावतिशीतता च ।
स्रावो मुहुः पिच्छिल एव चापि कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ११९ ॥

*उपदेहः = दूषिकया लिप्तता ॥ ११९ ॥

कफाभिष्यन्द—गरम चीजों की इच्छा होना, आँखों में भारीपन, सूजन और खुजली होना, कीचड़ के कारण आँख का चिपकना, अधिक ठंडापन मालूम होना, बार-बार चिकना स्राव होना, ये सब 'कफाभिष्यन्द' के लक्षण हैं ॥ ११९ ॥

४ रक्ताभिष्यन्द[2] लक्षणमाह—

ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च राज्यः समन्तादतिलोहिताश्च ।
पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ १२० ॥

*अनुक्तसंग्रहार्थमाह—पित्तस्य लिङ्गानि = पित्ताभिष्यन्दलिङ्गानि ॥ १२० ॥

रक्ताभिष्यन्द—नेत्र से लाल रंग का पानी बहना, ललाई, लाल-लाल रेखाओं का नेत्रभर में फैलाव होना तथा पित्ताभिष्यन्द के अन्य लक्षण जिसमें हों, उसे रक्ताभिष्यन्द समझना चाहिए ॥ १२० ॥

अधिमन्थानामभिष्यन्दजत्वमाह—

वृद्धैरेतैरभिष्यन्दैर्नराणामक्रियावताम् । तावन्तस्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः ॥१२१॥

उपर्युक्त चारों अभिष्यन्दों की यदि चिकित्सा नहीं की जाती है तो वे बढ़ जाते हैं और तब इन्हें अधिमन्थ कहते हैं । इसमें नेत्र में पीड़ा बहुत तीव्र होती है । यह भी चार प्रकार का (वातज, पित्तज, कफज और रक्तज) होता है ॥ १२१ ॥

५-८ अधिमन्थानां[3] लक्षणान्याह—

उत्पाट्यत इवात्यर्थं तथा निर्मथ्यतेऽपि च । शिरसोऽर्द्धं तु तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः ॥

*स्वलक्षणैः = यथोक्तवातादिकृताभिष्यन्दलक्षणैः । अधिमन्थं विद्यात् । अभिष्यन्देऽधिमन्थानां भेदार्थमाह—'शिरसोऽर्द्धमुत्पाट्यत इव तथा निर्मथ्यतेऽपि चे' ति चतुर्ष्वधिमन्थेषु बोध्यम् । शिरसोऽर्द्धवेदना व्याधिप्रभावात् ॥ १२२ ॥

अधिमन्थ के लक्षण—अधिमन्थ रोग में (व्याधि की विशेषता के कारण) आधे सिर में उखाड़ने और मथने की-सी तीव्र पीड़ा होती है (यही अभिष्यन्द से विशेषता है) और इसके अलावा जिस दोष से अधिमन्थ उत्पन्न हुआ रहता है, उसके लक्षण भी वर्तमान रहते हैं ॥ १२२ ॥

(आँखों में क्षारदग्ध क्षत की भाँति क्षत बन जाना) भी बतलाया है । पित्ताभिष्यन्द, Acute purulent Conjunctivitis हो सकता है ।

१. 'सान्द्रस्निग्धबहुश्वेतपिच्छवद्दूषिकाश्रुता' इतना और भी वाग्भट ने कफाभिष्यन्द के लक्षण में कहा है । यह रोग सम्भवतः चिरकालीन नेत्राभिष्यन्द (Chronic Conjunctivitis) है ।

२. रक्ताभिष्यन्द को Acute Catarrhal Conjunctivitis कह सकते हैं ।

३. अधिमन्थ में शिर के अतिरिक्त दांतों, कपोलों और कनपट्टी में भी तीव्र पीड़ा होती है । यथा:—'शङ्खदन्तकपोलेषु कपाले चातिरुक्कराः'—वा० ॥

हन्याद् दृष्टिं श्लैष्मिकः सप्तरात्राद्योऽधीमन्थो रक्तजः पञ्चरात्रात् ।
षड्रात्राद्वा वातिको वै निहन्यान्मिथ्याऽऽचारात्पैत्तिकः सद्य एव ॥ १२३ ॥

***स चाधिमन्थो यदात्मको यावता कालेन मिथ्याऽऽचाराद् दृष्टिं हन्ति, तमाह—हन्यादिति । अत्र सद्यःशब्देन त्रिरात्रमुच्यते, तन्त्रान्तरे त्रिरोत्रवचनात् ॥ १२३ ॥**

श्लैष्मिक अधिमन्थ में मिथ्योपचार करने से ७ रात्रि में, रक्तज रात्रि में, वातज ६ रात्रि में और पित्तजाधिमन्थ तुरत अर्थात् तीन रात्रि में नेत्र को नष्ट कर देते हैं ॥ १२३ ॥

९–१० [1]सशोथशोथहीनाक्षिपाकयोर्लक्षणमाह—

कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसन्निभः । संरम्भी पच्यते यस्तु नेत्रपाकः सशोथकः ।
शोथहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोथजे ॥ १२४ ॥

***पक्वोदुम्बरसन्निभो लोहितत्वात् ॥ १२४ ॥**

सशोथ तथा अशोथ अक्षिपाक के लक्षणः—जिसमें खुजली और जलन हो, आँख चिपके, आँसू बहें तथा नेत्र पके गूलर के फल के समान लाल दिखाई दे, पक भी जाय, उसे 'सशोथ अक्षिपाक' कहते हैं । इन्हींमें से पाक के अलावा शेष लक्षण यदि हों तो उसे 'अशोथ अक्षिपाक' कहते हैं ॥

११ हताधिमन्थ[2] लक्षणमाह—

उपेक्षणादक्षि यदाऽधिमन्थो वाताधिकः शोषयति प्रसह्य ।
रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एष हताधिमन्थः खलु नाम रोगः ॥ १२५ ॥

---

१. सशोथाक्षिपाक को कार्तिक ने 'महारम्भवान्' लिखा है । तन्त्रान्तर में लक्षण और लिखे हैं । यथाः—

'दाहसंहर्षताम्रत्वशोफनिस्तोदगौरवैः । जुष्टो मुहुः स्रवेच्चास्रमुष्णशीताम्बु पिच्छिलम् ॥'

यह रोग सन्निपातज, साध्य और व्यध्य है । पाश्चात्य मतानुसार इसे 'पेनाफ्थेल्माइटिस' (Panophthalmitis) कहते हैं । इस रोग में सम्पूर्ण नेत्रगोलक में शोथ होता है और वह पूय से भरी थैली-सा बन जाता है । यह रोग प्रायः Purulent iridocyclitis (आइरिस और ciliary body का भीषण पाकयुक्त शोथ) और purulent choroiditis [शुक्लमण्डल के आभ्यन्तरिक स्तर (कोरायड) का सपाक शोथ] नामक रोगों के कारण उत्पन्न होता है और बड़ा भीषण रोग है । इस रोग की अत्यधिक वृद्धि होकर Orbital cellulitis (अक्षिगुहा 'Orbit' के अस्थ्यंतर धातुओं का शोथ) भी उत्पन्न हो सकता है ।

शोथहीनाक्षिपाक को 'थाइसिस बल्बाई (phthisis bulbi) कह सकते हैं । इसमें नेत्रगोलक सूखता जाता है । यह रोग प्रायः panophthalmitis और Serous Irido-cyclitis or Serous uveitis के पश्चात् अनुगामी विकार के रूप में होता है । वाग्भट ने शोथहीनाक्षिपाक को 'अल्पशोफपाक' कहा है ।

२. वाग्भट ने हताधिमन्थ का लक्षण इस प्रकार लिखा हैः—

'अन्तःशिराणां श्वसनः स्थितो दृष्टिं प्रतिक्षिपन् । हताधिमन्थं जनयेत्तमसाध्यं विदुर्बुधाः ॥
...वेदनाः, अनेकरूपा जायन्ते व्रणो दृष्टौ च दृष्टिहा'—वा० ॥

विदेहतन्त्र में यही रोग 'सकलाक्षिशोप' तथा दृष्टिनिर्गम या 'दृष्ट्युत्क्षेप' इन दो नामों से लिखा गया है । यथाः—

(दृष्टिनिर्गम) दृष्ट्युत्क्षेप के लक्षणः—

'अन्तर्गतः सिराणां तु यदा तिष्ठति मारुतः । स तदा नयनं शीघ्रं प्राप्य दृष्टिं निरस्यति ॥
तस्यां निरस्यमानायां निर्मथन्निव मारुतः ।
नयनं निर्वमत्याशु शूलतोदाधिमन्थनैः ॥'—विदेहः ।

*शोपयति=शोपयित्वा नाशयति। अतं एवाह विदेहः—
*'तत्पक्वमिव संशुष्कमवसीदति लोचनम् ॥' इति ॥ १२५ ॥

हताधिमन्थ के लक्षण:—जब वातोल्वण अधिमन्थ की उपेक्षा की जाती है अर्थात् ठीक चिकित्सा नहीं की जाती है और अत्यन्त उग्र पीड़ा के साथ नेत्र सूखकर नष्ट हो जाता है तो उसे 'हताधिमन्थ' कहते हैं। यह असाध्य है ॥ १२५ ॥

११ वातपर्यय[1] लक्षणमाह—

वारंवारञ्च पर्येति भ्रुवौ नेत्रे च मारुतः। रुजाश्च विविधास्तीव्राः स ज्ञेयो वातपर्ययः ॥१२६॥

***पर्येति=पर्यायेण याति, कदाचिद् भ्रुवौ कदाचिन्नेत्रे ॥ १२६ ॥**

वातपर्य्यय के लक्षण—जिस नेत्ररोग में वायु बार-बार कभी भौंहों में अनेकों प्रकार की तीव्र पीड़ा करता है, कभी नेत्र में, उस रोग को 'वातपर्यय' कहते हैं ॥ १२६ ॥

१२ शुष्काक्षिपाक[2] लक्षणमाह—

यत्कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म सन्दह्यते चाविलदर्शनं यत्।
सुदारुणं यत्प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥ १२७ ॥

सकलाक्षिशोषः—'अथवा शोपयेदक्षि क्षीणतेजोबलानलम्।
उत्पक्वमिव संशुष्कमवसीदति लोचनम् ॥' विदेहः।

हताधिमन्थ का वाग्भट ने तथा दृष्टिनिर्गम का विदेह ने जैसा वर्णन किया है, वह Phlegmonous orbital Cellulitis और Last Stage of Panophthalmitis (जिस Stage के बाद ही नेत्रगोलक को छेदकर पूय बाहर निकलती है और Phthisis bulbi उत्पन्न होता है) के समान है। सकलाक्षिशोप के लक्षण Phthisis bulbi से बिलकुल मिलते हैं। There is infiltration of Tanon's Capsule, followed by exophthalmos (नयनं निर्वमत्याशु) and limitation of the movements of the eye-ball.

'Pus usually breaks through the interior portion of Sclera, after which the pain and other symptoms subside. In the course of several weeks the process has run its course, leaving a shrunken, sightless eye-ball (Phthisis bulbi)'-May and worths' ophthalmology. इससे यह निष्कर्ष निकला कि भावप्रकाशोक्त हताधिमन्थ में दृष्टिनिर्गम और सकलाक्षिशोष इन दोनों का समावेश हो जाता है अर्थात् इस हताधिमन्थ के लक्षण Panophthalmitis की अन्तिम अवस्था और तज्जन्य Phthisis bulbi के लक्षणों से बिलकुल मिलते हैं।

१. वातपर्यय को तन्त्रान्तरों में वातविपर्यय, वातपर्याय और स्पन्दमारुत भी कहा गया है। यथा:—

'पक्षद्वयाक्षिभ्रुवमाश्रितस्तु यत्रानिलः सञ्चरति प्रदुष्टः।
पर्यायशश्चापि रुजः करोति तं वातपर्यायमुदाहरन्ति ।'
'तद्वन्नेत्रं भवेज्जिह्मभूतं वातविपर्यये'—वा०।

यह रोग साध्य और व्याप्य है। यह पाश्चात्य मतानुसार neuralgia of the optic nerve (दृष्टिनाड़ी का शूल) हो सकता है।

२. शुष्काक्षिपाक में वाग्भट ने कुछ विशेष लक्षण लिखा है। यथा:—

'वातपित्तोत्तरं घर्षतोदभेदोपदेहवत्। विकूणनं विशुष्कत्वं शीतेच्छाशूलपाकवत् ॥'

सम्भवतः यह रोग ophthalmoplegia (नेत्रगोलक की पेशियों का घात) है।

*कूणितं=सङ्कोचितं, मुद्रितमिति यावत्। दारुणरूक्षवर्त्म=दारुणं=विकृतं रूक्षं च वर्त्म यस्य तत्। इदमक्ष्णोर्विशेषणम्। सन्दह्यते=सदाहं भवति। आविलदर्शनम्=आविलस्य=अनच्छस्य दर्शनं येन तत्। यत्प्रतिबोधने=उद्घाट्य, सुदारुणम्=अतिशयेन विकृतम्॥

शुष्काक्षिपाकात्ययः—जिस नेत्ररोग में आँख सिकुड़ गयी हो, पलक विकृत और रूखी हो जलन होती हो, साफ-साफ दिखाई न देता हो और नेत्र खोलते समय अत्यन्त विकृत दिखाई दे, उसे शुष्काक्षिपाकात्यय कहते हैं॥ १२७॥

१४ अन्यतोवात[1] लक्षणमाह—

यस्यावटूकर्णशिरोहनुस्थो मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा।
कुर्याद्रुजोऽति भ्रुवि लोचने च तमन्यतोवातमुदाहरन्ति॥ १२८॥

*अवटूः='घाट' इति मैथिलादिलोकाः। अन्यतो वा=पृष्ठादिदेशश्चागतः। अन्यतोवातः=अन्यत्र स्थितोऽन्यत्र रुजं करोतीत्यन्यतोवातः। विदेहेनाप्युक्तम्—

*मन्यानामन्तरे वायुरस्थितः पृष्ठतोऽपि वा॥ ४॥
करोति भेदं निस्तोदं शङ्खे वाऽक्ष्णोर्भ्रुवस्तथा।
तमाहुरन्यतोवातं रोगं दृष्टिविदो जनाः॥ ५॥ इति॥ १२८॥

अन्यतोवात के लक्षण:—जब अवटू (घाँट या गला), कनपट्टी, सिर या निचले जबड़े, मन्या या किसी अन्य स्थान में स्थित वायु भौंहों और नेत्रों में पीड़ा पैदा करे तो उसे 'अन्यतोवात' कहते हैं। विदेह ने भी कहा है कि यदि दोनों मन्या या नाड़ी के बीच में या पृष्ठ में प्रकुपित वायु शंखप्रदेश (कनपट्टी) या दोनों आँखों में सूई कोंचने की-सी पीड़ा या चीरने जैसी पीड़ा करे तो इसे 'अन्यतोवात' कहते हैं॥ १२८॥

१५ अम्लाध्युषित[2] लक्षणमाह—

श्यावं लोहितपर्यन्तं सर्वमक्षि प्रपच्यते। सदाहशोथं सास्रावमम्लाध्युषितमम्लतः॥१२९॥

*अम्लतः=अम्लभोजनात्। तथा च सुश्रुतः—'अम्लेन भुक्तेने'त्यादि॥ १२९॥

अम्लाध्युषित के लक्षण—अधिकतर अम्ल भोजन करने से चारों ओर लाल और मध्य में काले रङ्गवाला, दाह तथा स्रावयुक्त जो शोथ होता है, जिससे समस्त आँख पक जाती है, उसे 'अम्लाध्युषित' कहते हैं॥ १२९॥

---

१. अन्यतोवात को अन्युमारुत भी कहते हैं। इसे पाश्चात्य मत से neuralgia of the 5th (Trigeminal) nerve कह सकते हैं।

२. अम्लाध्युषित का लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार लिखा है। यथा—

'अम्लेन भुक्तेन विदाहिना च संछाद्यते सर्वत एव नेत्रम्।
शोफान्वितं लोहितकैः सनीलैरेतादृगम्लाध्युषितं वदन्ति॥'

अष्टाङ्गसंग्रह में अम्लोषित और अम्लविदग्धदृष्टि नामक दो रोग लिखे हैं।

अम्लोषित के लक्षण—'अन्नसारोऽम्लतां नीतः पित्तरक्तोल्वणैर्मलैः।
सिराभिर्नेत्रमारूढः करोति श्यावलोहितम्। सशोफदाहपाकाश्रु भृशं चाविलदर्शनम्॥'

अम्लाध्युषित और अम्लोषित नामक रोग सर्वगत रोग है। किन्तु अम्लविदग्धदृष्टि अथवा शार्ङ्गधरोक्त अम्लपित्तविदग्धदृष्टि ये दोनों दृष्टिरोग हैं।

अम्लविदग्धदृष्टि का लक्षण—

'भृशमम्लाशनाद् दोषैः सास्रैर्या दृष्टिराचिता। सक्लेदकण्डूकलुषा विदग्धाम्लेन सा स्मृता।' वा०

अम्लाध्युषित को पाश्चात्य विज्ञानानुसार (Premonitary Symptoms of glucomaa) कह सकते हैं।

१६ शिरोत्पात[1] लक्षणमाह—

अवेदना वाऽपि सवेदना वा यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः ॥
मुहुर्विरज्यन्ति च याः समन्ताद् व्याधिः शिरोत्पात इति प्रदिष्टः ॥ १३० ॥

***अक्षिराज्यः=अक्षिशिराः । विरज्यन्ति=विकृतवर्णा भवन्ति ॥ १३० ॥**

शिरोत्पात के लक्षण—पीड़ायुक्त अथवा बिना पीड़ा के आँख में सर्वत्र लाल-लाल जो सिरा-सा बन जाता है, जो बार-बार विकृत वर्णवाला हो जाता है, उसे 'शिरोत्पात' कहते हैं ॥ १३० ॥

१७ शिराहर्षलक्षणमाह—

मोहाच्छिरोत्पात उपेक्षितस्तु जायेत रोगः स शिराप्रहर्षः ।
ताम्राक्षिता स्रावयति प्रगाढं तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुञ्च ॥ १३१ ॥

शिराहर्ष के लक्षण—प्रमादवश जब शिरोत्पात की ठीक-ठीक चिकित्सा नहीं की जाती, तो वही 'शिराहर्ष' हो जाता है । इसमें आँखों में ललाई आ जाती है । देखने की शक्ति नहीं रहती और गाढ़ा स्राव होने लगता है ॥ १३१ ॥

नेत्रस्य सामतालक्षणमाह—

उदीर्णवेदनं नेत्रं रागशोथसमन्वितम् । घर्षनिस्तोदशूलाश्रुयुक्तमामान्वितं विदुः ॥१३२॥

***उदीर्णवेदनम्=उद्धटवेदनम् । घर्षः=कारकटिका, एतल्लक्षणं लङ्घनादिविधानार्थमञ्जनादिनिषेधार्थं चोक्तम् । तथा च तन्त्रान्तरे-**

***स्वेदोदितानि चत्वारि लङ्घनं भोजने रसः । स्वादुतिक्तश्च लेपश्च वाष्पस्वेदनमेव च ।**
एतानि नेत्ररोगाणां सामान्याचरणानि हि ॥ ६ ॥

अञ्जनं सर्पिषः पानं कषायं गुरुभोजनम् । नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानञ्च परिवर्जयेत् ॥७॥ इति

नेत्ररोगों की समता के लक्षण—जिस नेत्ररोग में तीव्र वेदना हो, ललाई और सूजन हो, किरकिरी, सूई कोंचने की-सी पीड़ा मालूम हो, आँसू अधिक बहें, उसे आम कच्चे या बिना पके,

---

१. शिरोत्पात में शोथ, स्राव और पलकों का चिपकना, ये लक्षण अल्प मात्रा में होते हैं । यथाः—'अशोफाश्रुपदेहं च शिरोत्पातः सशोणितात्' ।

यह रोग सम्भवतः सौम्य Keratitis जन्य Ciliary injection या सौम्य Conjuntivitis के कारण उत्पन्न Conjunctival injection है और जब ये ही Keratitis और Conjunctivitis उग्ररूप धारण कर लेती हैं तो शिरोत्पात से शिराप्रहर्ष हो जाता है ।

वाग्भट ने एक 'पिल्ल' नामक अक्षिरोग भी लिखा है । तन्त्रान्तर में इसीको 'अतिलोमश' कहा है । वास्तव में पिल्ल कोई पृथक् रोग नहीं है, बल्कि यह नेत्र के अठारह हठीले या चिरकालीन रोगों का एक सामान्य नाम है । यथाः—

'उत्क्लिष्टा कफपित्तास्रनिचयोत्थाः कुकूणकः । पक्ष्मोपरोधः शुष्काक्षिपाकः पूयालसो बिसः ॥
पोथक्यम्लोषितोऽलसाख्यः स्यन्दमन्था विनाऽनिलात् ।
एतेऽष्टादशपिल्लाख्या दीर्घकालानुबन्धिनः'–वा० ॥
'विद्यात् प्रक्लिन्नवर्त्मेति तत् पिल्लं सन्निपातजम्'–वि० ।

अर्थात्—कफोत्क्लिष्ट, पित्तोत्क्लिष्ट, रक्तोत्क्लिष्ट तथा सन्निपातोत्क्लिष्ट, कुकूणक, पक्ष्मोपरोध, शुष्काक्षिपाक, पूयालस, बिसवर्त्म, पोथकी, अम्लोषित, अलस, पित्तज-कफज-रक्तज-अभिष्यन्द, पित्तज और कफज अधिमन्थ—ये १८ रोग चिरकालीन (Chronic) होते हैं और पिल्ल कहलाते हैं ।

पिल्ल की चिकित्सा—

'वर्त्मावलेखं बहुशस्तद्वच्छोणितमोक्षणम् । पुनः पुनर्विरेकं च नित्यमाश्च्योतनाञ्जनम् ॥
नावनं धूमपानं च पिल्लरोगातुरो भजेत् ॥'

दोषोंवाला कहते हैं। ये आमादि के लक्षण लङ्घन आदि क्रियाओं का प्रयोग करने तथा अञ्जन आदि का निषेध करने के लिए दिये गये हैं ॥

तन्त्रान्तरोक्त नेत्ररोगों में सामान्य उपचार तथा परिहार—स्वेदन, लङ्घन, मधुर और कडुए रस का भोजन करना, लेप और वाष्प स्वेदन करना। ये सब नेत्ररोग में सामान्यतः उपचार हैं। और अञ्जन, घृतपान, कषाय और गुरुभोजन तथा स्नान ये सब कार्य आमयुक्त या कच्चे दोषों-वाले नेत्ररोग में वर्जित हैं ॥ १३२ ॥

नेत्रस्य निरामतालक्षणमाह—

मन्दवेदनताकण्डूसंरम्भाश्रुप्रशान्तताः। प्रसन्नवर्णता चाक्ष्णोर्निरामेक्षणलक्षणम् ॥ १३३ ॥

***संरम्भः = शोथः ॥ १३३ ॥**

इति [1]समस्तनेत्रजा रोगाः।

---

१. नेत्ररोगों की संख्या के विषय में बहुत मतभेद है। सुश्रुत ने ७६, चरक और भावप्रकाश ने ७८, वाग्भट और शार्ङ्गधर ने ९४, कुछ अन्य लोगों ने ९६, कौशिक ने ८० और कराल ने ९६ नेत्ररोग बतलाये हैं। वाग्भट और भावप्रकाश के अक्षिरोगों के नामों का सरलतापूर्वक तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए नीचे एक तालिका दी जाती है। जो रोग दोनों में एक ही नाम से कहे गये हैं, उनके सामने वाग्भटवाले कोष्ठ में -- चिह्न बना है। भावप्रकाश और सुश्रुत का क्रम एक ही है। केवल भावप्रकाश ने सनिमित्त और अनिमित्त लिङ्गनाशों की भी गणना कर ली है। शार्ङ्गधर और वाग्भट का क्रम एक ही है। तालिका के तुलनात्मक अंग्रेजी नाम प्रायः भावप्रकाशोक्त लक्षणों को ही ध्यान में रखकर लिखे गये हैं।

दृष्टिगत रोग—

भावप्रकाश	वाग्भट		अंग्रेजी नाम
१ वातज लिङ्गनाश	१	—	Retinitis, Uveitis.
२ पित्तज ,,	२	—	
३ कफज ,,	३	—	White cataract.
४ सन्निपातज ,,	४	—	cataract.
५ रक्तज ,,	५	—	cataract after injury.
६ सनिमित्त ,,		×	photoretinitis
७ अनिमित्त ,,	६ औपसर्गिक लिङ्गनाश		Optic atrophy.
८ परिम्लायी ,,	७ संसर्गज ,,		Glaucoma.
९ पित्तविदग्धदृष्टि	८	—	Hemeralopia.
१० कफविदग्धदृष्टि	९ उष्णविदग्ध		Nyctalopia.
	१० दोषान्ध		
११ धूमदर्शी	११ धूमर		Glaucoma, Retinitis
१२ ह्रस्वजात्य	१२ ह्रस्वदृष्टिक		Day-blindness.
१३ नकुलान्ध्य	१३	—	Erythropsia.
१४ गंभीरिका	१४ गंभीर		paralysis of the 6th nerve
	१५ वातज तिमिर		
	१६ पित्तज ,,		
	१७ कफज ,,		
	१८ रक्तज ,,		

निराम नेत्ररोग के लक्षण—पीड़ा की कमी, खुजली, सूजन और आँसू का बहुत कम या

भावप्रकाश	वाग्भट	अंग्रेजी नाम
	१९ सन्निपातज	
	२० संसर्गज ,,	
	२१ वातज कांच	
	२२ पित्तज ,,	
	२३ कफज ,,	
	२४ रक्तज ,,	
	२५ सन्निपातज,,	
	२६ संसर्गज ,,	
	२७ अम्लविदग्धदृष्टि (अम्लपित्तविदग्धदृष्टि–शा०)	
	कृष्णमण्डलगत रोग—	
१ सव्रणशुक्ल	१ क्षतशुक्र	Suppurative Keratatitis or ulcers of the cornea.
२ अव्रणशुक्ल	२ शुद्धशुक्र,(शुद्धशुक्ल-शा.)	Opacity of the cornea
३ अक्षिपाकात्यय	३ पाकात्ययशुक्र, (शिरासंस-शा.)	Hypopyon Ulcer
४ अजकाजात	४ —	Anterior staphyloma.
	५ शिराशुक्र	

नोट—वाग्भट ने अक्षिपाकात्यय नामक रोग समस्त नेत्रगत रोगों में कहा है।

शुक्लमण्डलगत रोग—

१ प्रस्तार्यर्म	१ —	Pterygium
२ शुक्लार्म	२ —	Pingueculum
३ रक्तार्म	३ शोणितार्म	Pterygium
४ अधिमांसार्म	४ —	,,
५ स्नाय्वर्म	५ स्नावार्म	,,
६ शुक्ति	६ शुक्तिका	Xerosis.
७ अर्जुन	७ —	Sub-conjunctival ecchymosis
८ पिष्टक	८ —	Nodule of the Sclera.
९ शिराजाल	९ —	pannus
१० शिराजपिडिका	१० शिरासंज्ञा पिडिका	Nodule of Scleritis (near limbus)
११ बलासग्रन्थि	११ —	Nodule of Scleritis.
	१२ शिरोत्पात	
	१३ शिराहर्ष	

नोट—नं० १२, १३ को भावप्रकाश ने समस्त नेत्रगत रोगों में कहा है।

वर्त्मगतरोग—

१ उत्संगिनी	१ उत्संगपिडिका	Hordeolum or Style.
२ कुम्भीका	२ कुम्भी	Secondary Style.

बिलकुल न होना, प्रसन्नवर्णता और पहले से साफ दिखाई—देना ये निराम या परिपक्व दोषवाले नेत्ररोगों के लक्षण हैं ॥ १३३ ॥

इति समस्तनेत्रजा रोगाः।

भावप्रकाश	वाग्भट	अंग्रेजी नाम
३ पोथकी	३ —	Trachoma.
४ वर्त्मशर्करा	४ सिकतावर्त्म	Herpes ophthalmicus.
५ अर्शोवर्त्म	×	
६ शुष्कार्श	×	Fibroma of the eyelid.
७ अञ्जनदूषिका	५ अञ्जननामिका	Acute inflammation of the meibomian galand.
८ बहलवर्त्म	६ बहल	Molluscum Contigiosum.
९ वर्त्मबन्धक	×	Oedema of the lid.
१० क्लिष्टवर्त्म	×	Erysepelas Cellulitis ?
११ वर्त्मकर्दम	७ कर्दम	Cellulitis of the lid.
१२ श्याववर्त्म	८ —	Third stage of purulent Conjunctivitis ?
१३ प्रक्लिन्नवर्त्म	९ कफोत्क्लिष्टवर्त्म	Pseudo-membranous or Diphtheritic Conjunctivitis.
१४ अक्लिन्नवर्त्म	१० श्लिष्टवर्त्म	Blepharitis.
१५ वातहतवर्त्म	११ —	ptosis.
१६ वर्त्मार्बुद	१२ —	Cyst, polypus or fatty Tumour of the interior of the eyelid.
१७ निमेष	१३ —	
१८ शोणितार्श	१४ अर्श	Sarcoma ?
१९ लगण	१५ लगण	Chalazion.
२० बिसवर्त्म	१६ —	Hordeolum internum.
२१ कुञ्चन	१७ कृच्छ्रोन्मीलन	Ophthalmoplegia.
	१८ पित्तोत्क्लिष्ट	
	१९ उत्क्लिष्ट	
	२० कुकूणक	
	२१ अलजी	

पक्ष्मगत रोग—

१ पक्ष्मकोप	{ १ पक्ष्मोपरोध २ अल्प	Trichiasis, distichiasis.
२ पक्ष्मशात	३ —	Blepharitis Marginalis

सन्धिगत रोग—

१ पूयालस	१ —	Suppurative Dacryocystitis.
२ उपनाह	२ —	

नेत्ररोगचिकित्सामाह—

द्वे पादमध्ये पृथुसन्निवेशे शिरोगते ते बहुधा हि नेत्रे।
ताः प्रोक्षणोत्सादनलेपनादीन्पादप्रयुक्तान्नयनं नयन्ति ॥ १३४ ॥

*प्रोक्षणं = सेवनम्। उत्सादनम् = उद्वर्त्तनम् ॥ १३४ ॥

मलोष्मसंघट्टनपीडनाद्यैस्ता दूषयन्ते नयनानि दुष्टाः।
भजेत्सदा दृष्टिहितानि तस्मादुपानदभ्यञ्जनधावनानि ॥ १३५ ॥

*मलं = धूल्यादि। मलादिभिर्दुष्टास्ताः = शिराः, नयनानि दूषयन्त इत्यन्वयः ॥ १३५ ॥

नेत्ररोग-चिकित्सा—पैरों के तलवे से दो शिराएँ ऊपर की ओर जाती हैं, जो प्रायः नेत्रों तक चली गयी हैं। इसलिए पैर के तलवे में सेचन, उबटन और लेप जो कुछ प्रयोग किया जाता है,

---

भावप्रकाश	वाग्भट	अंग्रेजी नाम
३ पित्तज स्राव	३ —	Chronic Dacryocystitis or Blenorrhoea
४ कफज ,,	४ —	
५ सन्निपातज ,,	५ —	Chronic dacryocystitis with obstruction or Stenosis of lacrymo-nasal duct ?
६ रुधिरज ,,	६ —	Acute darcryocystitis.
७ पर्वणी	७ दाहशूलवती पिटिका	Phlyctenule at limbus
८ अलजी	८ —	,, ,,
९ जन्तुग्रन्थि	९ कृमिग्रन्थि	Blepharitis acarica due to Pediculis pubis & Pediculis capitis & Demox follicularum ?

समस्तनेत्रगत रोग—

भावप्रकाश	वाग्भट	अंग्रेजी नाम
१ वाताभिष्यन्द	१ —	Simple Hyperaemia of the Conjunctiva or Catarrhal Conjunctivitis.
२ पित्ताभिष्यन्द	२ —	purulent conjunctivitis.
३ कफाभिष्यन्द	३ —	Chronic Conjunctivitis.
४ रक्ताभिष्यन्द	४ —	Acute Catarrhal Conjunctivitis.
५ वाताधिमन्थ	५ —	Orbital Cellulitis ?
६ पित्ताधिमन्थ	६ —	,, ?
७ कफाधिमन्थ	७ —	,, ?
८ रक्ताधिमन्थ	८ —	,, ?
९ सशोथाक्षिपाक	९ —	Panophthalmitis.
१० शोथहीनाक्षिपाक	१० अल्पशोफपाक	Phthisis bulbi ?
११ हताधिमन्थ	११ —	Last Stage of Panophthalmitis resulting in Phthisis bulbi.

उसे ये शिराएँ नेत्रों तक ले जाती हैं। गन्दगी, गरमी और रगड़ या घिसने तथा दबाने आदि से ये शिराएँ दूषित होकर नेत्रों को भी दूषित कर देती हैं। इसलिए नेत्रों के लिए हितकारक कार्य, यथा:—पादत्राण (जूता) धारण करना, पैरों के तलवों में मालिश करना, पैर को धोना आदि कार्य सदैव करते रहना चाहिए ॥ १३४-१३५ ॥

नेत्ररोगिणां हिताहितपदार्थानाह—

चक्षुष्याः शालयो मुद्गा यवा मांसन्तु जाङ्गलम्। पक्षिमांसं विशेषेण वास्तूकं तण्डुलीयकम्।
पटोलकर्कोटककारवेल्लफलानि सर्पिःपरिपाचितानि।
तथैव वार्त्ताकफलं नवीनमक्ष्णोर्हितः स्वादुरथापि तिक्तः।
कट्वम्लगुरुतीक्ष्णोष्णमाषनिष्पावमैथुनम्। मद्यवल्लूरपिण्याकमत्स्यशाकविरूढजम्।
विदाहीन्यन्नपानानि न हितान्यक्षिरोगिणे। सेक आश्च्योतनं पिण्डी विडालस्तर्पणं तथा।
पुटपाकोऽञ्जनं चैभिः कल्कैर्नेत्रमुपाचरेत् ॥ १३६ ॥

नेत्ररोग के लिए हिताहितः—निम्न वस्तुएँ नेत्रों के लिए हितकारक हैं:—शालि के चावल, मूंग, जव, जङ्गली पशुओं के मांस, विशेषतः पक्षियों के मांस, बथुआ, चौलाई, घी में पके हुए परवल, खेखसा और करैला, नया बैंगन, मधुर तथा तिक्त पदार्थ। निम्नलिखित वस्तुएँ नेत्ररोगियों के लिए अहितकर हैं, यथा:—कडुवे, खट्टे, गुरु, तीखे तथा गरम पदार्थ, उड़द, शिम्बी (लोबिया), मैथुन, मादक द्रव्य, सूखे मांस, खली, मछली, शाक, जमे हुए अन्न और जलन पैदा करनेवाली खाने-पीने की वस्तुएँ, सेक (धार की तरह गिराना), आश्च्योतन, पिण्डी (लुगदी बाँधना), विडाल (लेपादि), तर्पण, पुटपाक, अञ्जन तथा कल्क—इनसे नेत्ररोगों की चिकित्सा करनी चाहिए॥

सेकविधिमाह—

सेकस्तु सूक्ष्मधाराभिः सर्वस्मिन्नयने हितः। मिलिताक्षस्य मर्त्यस्य प्रदेयश्चतुरङ्गुलः ॥
स चापि स्नेहनो वाते पित्ते रक्ते च रोपणः। लेखनस्तु कफे कार्यस्तस्य मात्राऽभिधीयते ॥
षड्भिर्वाचां शतैः स्नेहे चतुर्भिस्तैस्तु रोपणे। तैस्त्रिभिर्लोचने कार्यः सेको नेत्रप्रसादने ॥

भावप्रकाश	वाग्भट	अंग्रेजी नाम
१२ वातपर्यय	१२ वातविपर्यय	Neuralgia of the optic nerve
१३ शुष्काक्षिपाक	१३ —	Ophthalmoplegia.
१४ अन्यतोवात	१४ —	neuralgia of the 5th (Trigeminal) nerve.
१५ अम्लाध्युषित	१५ अम्लोषित	Premonitary Symptoms of Glucoma.
१६ शिरोत्पात	×	Ciliary injection., Conjunctival injection,
१७ शिराहर्ष	×	
	१६ अक्षिपाकात्यय (भावप्रकाश में यही रोग कृष्णमण्डल गत रोगों में लिखा है)	

नोट—वाग्भटने 'शिरोत्पात' और शिराहर्ष को शुक्लमण्डलगत रोगों में लिखा है।

कुल रोगसंख्या-१४+४+११ +२१+२+९+१७=७८ । कुल रोगसंख्या = २७+५+१३ +२१+३+९+१६=९४

निमेषोन्मेषणं पुंसामङ्गुल्या च्छोटिकाऽथवा । गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृता बुधैः ॥

छोटिका = 'चुटकी' इति लोके ॥ १४० ॥

सेकस्तु दिवसे कार्यो रात्रौ चात्यन्तिके गदे ॥ १४१ ॥

सेक की विधि—रोगी की आँख बन्द कराकर चार अङ्गुल की ऊँचाई से पतली धार उसकी आँख पर छोड़े । यह सभी नेत्ररोगों में हितकारक है । वातज रोगों में स्नेहन-द्रव्यों का सेक, पित्तज और रक्तज में रोहण करनेवाले तथा कफज में लेखन करनेवाले (दोषों को खुरचकर निकालनेवाले) द्रव्यों का सेक-प्रयोग करना चाहिए । स्नेहन-सेक को ६०० मात्रा तक, रोपण-सेक को ४०० मात्रा तक, लेखन-सेक को ३०० मात्रा तक करना चाहिए । आँखों को बन्द कर तुरन्त खोलने में जितना समय लगता है अथवा एक चुटकी बजाने में जितना समय लगता या एक गुरु अक्षर के उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतना समय एक 'वाङ्मात्रा' मानी जाती है । सेक दिन में ही करना चाहिए, किन्तु रात्रि में भी अत्यन्त दुःखदायी दशा में करना चाहिए ॥१३७-१४१॥

स यथा—

एरण्डदलमूलत्वक्छृतमाजं पयो हितम् । सुखोष्णं नेत्रयोः सिक्तं वाताभिष्यन्दनाशनम् ॥

पथ्याऽक्षामलखाखसवल्कलकल्केन सूक्ष्मवस्त्रेण ।
कृत्वा पोटलिकां तामहिफेनोत्थद्रवेण संयुक्ताम् ॥ १४२ ॥
निदधीत लोचने स्यात्सर्वाभिष्यन्दसंक्षयः शीघ्रम् ।
योगोऽयमृषिभिरुक्तो जगदुपकाराय कारुणिकैः ॥ १४३ ॥

सेक—रेड़ की पत्ती, छाल और जड़ से पकाया हुआ बकरी के दूध का सुहाता सेक करने से वाताभिष्यन्द का नाश हो जाता है । हरड़, बहेड़ा, आँवला, पोस्ते के फल, छिलका—इनका कल्क बनाकर और उसमें अफीम का पानी डालकर इनको एक पोटली में बाँधकर नेत्र के ऊपर रखे तो समस्त अभिष्यन्द शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । इस योग को परमकारुणिक ऋषियों ने कहा है ॥

भुक्त्वा पाणितलं घृष्ट्वा चक्षुषोर्यदि दीयते । अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति ॥
स्नानं कृष्णतिलैश्चापि चक्षुष्यमनिलापहम् । आमलैः सततं स्नानं परं दृष्टिबलावहम् ॥
त्रिफलायाः कषायस्तु धावनान्नेत्ररोगजित् । कवलान्मुखरोगघ्नः पानतः कामलापहः ॥

भोजन करने के बाद गीले हाथों की हथेली को घिसकर आँखों पर रखा जाय, तो वह हाथ का जल शीघ्र ही 'तिमिर' रोग का नाश कर देता है । काली तिलों को पीसकर शिर में मलकर स्नान करना वातनाशक तथा नेत्रों के लिए हितकर है । आँवलों को शिर में सदा मलकर स्नान करना नेत्रों को अत्यन्त दृष्टिबल देनेवाला है । त्रिफला के काढ़े से आँखों को धोने से नेत्ररोग नष्ट होते हैं, मुख में कवल धारण करने या कुल्ला करने से मुखरोग और पीने से कामलारोग नष्ट होता है ॥ १४४-१४६ ॥

आश्च्योतनविधिमाह—

क्वाथक्षीरद्रवस्नेहबिन्दूनां यत्तु पातनम् । द्व्यङ्गुलोन्मीलिते नेत्रे प्रोक्तमाश्च्योतनं हि तत् ॥
बिन्दवोऽष्टौ लेखनेषु रोपणे दश बिन्दवः । स्नेहने द्वादश प्रोक्तास्ते शीते कोष्णरूपिणः ॥
उष्णे तु शीतरूपाः स्युः सर्वत्रैवैष निश्चयः । वाते तिक्तं तथा स्निग्धं पित्ते मधुरशीतलम् ॥

कफे तिक्तोष्णरूक्षं स्यात्क्रमादाश्च्योतनं हितम् ।
आश्च्योतनानां सर्वेषां मात्रा स्याद्वाक्छतोन्मिता ॥ १५० ॥

ततः परं लोचनाभ्यां भेषजाय त्रयो मता । आश्च्योतनं न कर्त्तव्यं निशायां केनचित्क्वचित् ॥

आश्च्योतनविधि—रोगी की आँख बन्द कराकर काढा, दूध द्रव या स्नेहद्रव्यों को दो अङ्गुल की ऊँचाई से आँख में बूँद करके गिराना 'आश्च्योतन' कहलाता है । लेखन के लिए ८ बूँद,

रोपण के लिए १० बूँद, स्नेहन के लिए १२ बूँद आश्च्योतन करना चाहिए। शीतकाल में गरम और उष्णकाल में शीत आश्च्योतन करना चाहिए। वातज नेत्ररोगों मे तिक्त और स्निग्ध द्रव्यों का आश्च्योतन, पित्तज में मधुर और शीतल तथा कफज में तिक्त, उष्ण और रूक्ष आश्च्योतन करना हितकर है। सभी प्रकार के आश्च्योतनों को, १०० गुरु अक्षर उच्चारण करने में जो समय लगे, उतनी देरतक डालना चाहिए अथवा अधिक से अधिक दोनों नेत्रों के लिए ३०० मात्रा तक आश्च्योतन किया जा सकता है। रात्रि में किसी भी दशा में आश्च्योतन नहीं करना चाहिए॥

तद् यथा—

बिल्वादिपञ्चमूलेन बृहत्यैरण्डशिग्रुभिः। क्वाथ आश्च्योतने कोष्णो वाताभिष्यन्दनाशनः।
त्रिफलाऽऽश्च्योतनं नेत्रे सर्वाभिष्यन्दनाशनम्॥ १५२॥

आश्च्योतन—बिल्वादि पञ्चमूल (बृहत्पञ्चमूल), बड़ी कटेरी, रेंड के जड़ की छाल और सहजन की छाल इनके काढ़े का कुछ गरम-गरम आश्च्योतन करने से वाताभिष्यन्द नष्ट हो जाता है। त्रिफला के काढ़े का आश्च्योतन सभी प्रकार के अभिष्यन्द को दूर करता है॥ १५२॥

पिण्डीविधिमाह—

उक्तभेषजकल्कस्य पिण्डी च कोलमात्रया। वस्त्रखण्डेन सम्बद्धाऽभिष्यन्दव्रणनाशिनी॥
स्निग्धोष्णा पिण्डिका वाते पित्ते सा शीतला मता।
रूक्षोष्णा श्लेष्मणि प्रोक्ता विधिरुक्तो बुधैरयम्॥ १५४॥

पिण्डी की विधि—उपर्युक्त ओषधियों के कल्क की छोटी बेर के बराबर टिकिया बनाकर कपड़े में लपेट कर आँख पर बाँधना 'पिण्डी' कहलाता है। यह अभिष्यन्द तथा नेत्रगत व्रण को नाश करती है। वातज नेत्ररोगों में स्निग्ध और उष्ण पदार्थों की पिण्डी, पित्तज में शीतल और कफज में रूक्ष और उष्ण पदार्थों की पिण्डी का प्रयोग करना चाहिए। यही विद्वान् चिकित्सकों की राय है॥ १५३–१५४॥

स यथा—

एरण्डपत्रमूलत्वङ्निर्मिता वातनाशिनी। धात्रीविरचिता पित्ते शिग्रुपत्रकृता कफे॥१५५॥
निम्बपत्रकृता पिण्डी पित्तश्लेष्महरी भवेत्। शुण्ठीनिम्बदलैः पिण्डी सुखोष्णा स्वल्पसैन्धवा॥
धार्या नेत्रेऽनिलकफे शोथकण्डूव्यथाहरी। त्रिफलापिण्डिका नेत्रे वातपित्तकफापहा॥
पथ्याऽक्षामलखाखसवल्कलकल्कोऽहिफेनजलयुक्तः।
तेन विरचिता पिण्डी शमयति सकलानभिष्यन्दान्॥ १५८॥

विविध पिण्डियाँ—रेंड़ का पत्ता और जड़ की छाल इनसे बनी हुई पिण्डी वातनाशक, आँवले की पिण्डी पित्तनाशक, सहजन की पिण्डी कफनाशक, नीम के पत्तों की पिण्डी कफ-पित्तनाशक होती है। सोंठ, नीम के पत्तों और सेंधानमक की सुहाती हुई गरम-गरम पिण्डी वात-कफज नेत्ररोगों में प्रयोग करने से नेत्र की सूजन, खुजली और पीड़ा का नाश करनेवाली होती है। त्रिफला की पिण्डी वात, पित्त और कफ तीनों से उत्पन्न नेत्ररोगों का नाश करती है। हरड़, बहेड़ा, आँवला, पोस्ते के फल के छिलके इन सबके कल्क और अफीम के पानी से बनी हुई पिण्डी समस्त अभिष्यन्दों को नष्ट करती है॥ १५५–१५८॥

बिडालकविधिमाह—

बिडालको बहिर्लेपो नेत्रे पक्ष्मविवर्जिते। तस्य मात्रा परिज्ञेया मुखालेपविधानवत्॥

बिडालक की विधि—नेत्र के बाहर-बाहर चारों ओर बरौनी को छोड़कर पलकों पर ओषधिलेप करना 'बिडालक' कहलाता है। इसकी मात्रा वही है, जो मुख के लेप की है॥ १५९॥

मुखलेपो यथा—

अङ्गुलस्य चतुर्थांशो मुखलेपः कनिष्ठकः। मध्यमस्तु त्रिभागः स्यादुत्तमोऽर्द्धाङ्गुलो भवेद्॥

स्थितिकालोऽपि तस्योक्तो यावत्कल्को न शुष्यति ।
शुष्कस्तु गुणहीनः स्यात्तथा दूषयति त्वचम् ॥ १६१ ॥

मुख के लेप की मात्रा—अंगुल के चौथाई भाग के बराबर मोटा लेप कनिष्ठ है, तिहाई अंगुल मोटा मध्यम और आधा अंगुल मोटा लेप उत्तम होता है। जब तक कल्क सूखे नहीं, तभी तक रहने देना चाहिए। सूखने के तनिक पहले ही छुड़ाकर पुनः नया लेप लगाना चाहिए। क्योंकि सूखा हुआ लेप गुणहीन होता है और चर्म को बिगाड़ देता है ॥ १६०–१६१ ॥

यष्टिगैरिकसिन्धूत्थदार्वीतार्क्ष्यैः समांशकैः। जलपिष्टैर्बहिर्लेपः सर्वनेत्रामयापहः ॥ १६२ ॥

छताचर्यं = रसाञ्जनम् ॥ १६२ ॥

मुलेठी, गेरू, सेंधानमक, दारुहल्दी तथा रसौत इनको समान भाग में लेकर जल में पीसकर नेत्रों के बाहर लेप करने से सब प्रकार के नेत्ररोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १६२ ॥

रसाञ्जनेन वा लेपः पथ्याबिल्वदलैरपि । वचाहरिद्राविश्वैर्वा तथा नागरगैरिकैः ॥ १६३ ॥

रसौत का लेप या हरड़ और बेल के पत्तों का लेप या बच, हरदी और सोंठ का लेप अथवा सोंठ और गेरू का लेप समस्त नेत्ररोगों को नष्ट करता है ॥ १६३ ॥

तर्पणविधिमाह—

वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिनः । आधारौ माषचूर्णेन क्लिन्नेन परिमण्डलौ ॥१६४॥
समौ दृढावसम्बाधौ कर्त्तव्यौ नेत्रकोशयोः । पूरयेद् घृतमण्डेन विलीनेन सुखोदकैः ॥१६५॥
सर्पिषा शतधौतेन क्षीरजेन घृतेन वा । निमग्नान्यक्षिपक्ष्माणि यावत्स्युस्तावदेव हि ॥१६६॥
पूरयेन्मीलिते नेत्रे तत उन्मीलयेच्छनैः । भिषग्भिरेष कथितः पुराणैस्तर्पणो विधिः ॥१६७॥

तर्पण की विधि—रोगी को ऐसे गृह में उत्तान लिटाकर जिसमें झोंके की वायु, धूप और धूल न आती हो; उसकी प्रत्येक आँख के चारों ओर उर्दी की पीठी से गोल, समान और दृढ़ मेंड़ बनानी चाहिए। फिर रोगी के नेत्र को बन्द करके मेंड़ के भीतर घी का द्रवभाग या जल अथवा किञ्चित् उष्णजल से सौ बार धोया हुआ घी अथवा दूध से निकाला हुआ घी (मक्खन) इतना भरे कि बरौनी डूब जाय। तत्पश्चात् रोगी अपने नेत्र को धीरे-धीरे खोल दे। इस विधि को प्राचीन वैद्यों ने 'तर्पण' कहा है ॥ १६४–१६७ ॥

यद्रूक्षं परिशुष्कञ्च नेत्रं कुटिलमाविलम् । शीर्णपक्ष्मशिरोत्पातकृच्छ्रोन्मीलनसंयुतम् ॥
तिमिरार्जुनशुक्राद्यैरभिष्यन्दाधिमन्थकैः । शुष्काक्षिपाकशोथाभ्यां युक्तं पवनपर्ययैः ॥
तन्नेत्रं तर्पयेत्सम्यङ् नेत्ररोगविशारदः ॥ १६९ ॥

तर्पणार्ह रोग—जो नेत्र रूखा, सूखा हुआ, टेढ़ा और गँदला हो, पलक के बाल गिर गये हों, शिरोत्पात हुआ हो, कठिनाई से खुलते हों, और जिन नेत्रों में तिमिर, अर्जुन, शुक्र, अभिष्यन्द, अधिमन्थ, शुष्काक्षिपाकादि, शोथ, वातपर्य्यय ये रोग हुए हों, उनमें नेत्ररोग-विशारद वैद्य अच्छी तरह से तर्पण करे ॥ १६८–१६९ ॥

तर्पणं धारयेद्वर्त्मरोगे वाचां शतं बुधः ॥ १७० ॥
स्वस्थे कफे सन्धिरोगे वाचां पञ्चशतानि च । षट्शतानि कफे कृष्णरोगे सप्तशतानि हि ॥
दृष्टिगे च शतान्यष्टावधिमन्थे सहस्रकम् । सहस्रं वातरोगेषु धार्यमेवं हि तर्पणम् ॥१७२॥
ततश्चापाङ्गतः स्नेहं स्रावयित्वाऽक्षि शोधयेत् । स्विन्नेन यवपिष्टेन स्नेहवीर्येरितं ततः ॥
यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विरेचयेत् । एकाहं वा त्र्यहं वाऽपि पञ्चाहं वाऽपि तर्पयेत् ॥

तर्पण की मात्रा—पलक के रोगों में १०० गुरु अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय तक तर्पण को धारण किये रहे, नीरोग नेत्र में, कफ में तथा कफ सन्धिरोगों में इसी प्रकार की ५०० मात्रा तक, पित्त के रोगों में छः सौ मात्रा तक, कृष्णमण्डल के रोगों में

७०० मात्रा तक तथा अधिमन्थ और वातरोग में १००० मात्रा तक तर्पण धारण करना चाहिए। तत्पश्चात् मेंड़ के भीतर का स्नेह अपाङ्ग (नेत्र का बाहरी कोना) की ओर से बाहर निकालकर नेत्र को जौ के उबाले हुए आँटे से साफ करे। तब स्नेह के प्रभाव से बढ़े कफ को कफनाशक धूम्रपान से निकाले। तर्पण का प्रयोग एक, तीन या पाँच दिन तक करना चाहिए॥ १७४॥

तर्पणे तृप्तिलिङ्गानि नेत्रस्यैतानि लक्षयेत्॥ १७५॥
सुखसुप्तावबोधत्वं वशद्यं दृष्टिपाटवम्। निर्वृतिर्व्याधिशान्तिश्च क्रियालाघवमेव च॥१७६॥
***क्रियालाघवं = नेत्रस्य क्रियायां निमेषोन्मेषादौ लघुताम्॥ १७५–१७६॥**

सम्यक् तृप्त होने के लक्षण—सुख से नींद का आना और सुख से जागना, नेत्र का निर्मल हो जाना, नेत्रों की शक्ति का बढ़ाना (जिसके लिए तर्पण किया हो उसे), रोग का अच्छा हो जाना तथा नेत्र खोलने और बन्द करने में हलकापन मालूम होना, ये सब भलीभाँति तर्पित नेत्र के लक्षण हैं॥ १७५–१७६॥

गुर्वाविलमतिस्निग्धमश्रुकण्डूपदेहवत्। घर्षतोदयुतं नेत्रमतितर्पितमादिशेत्॥ १७७॥

अतितृप्त के लक्षण—नेत्र में भारीपन, गँदलापन, अत्यधिक चिकनाहट, पानी बहना, चिपकना, बालू की तरह और सूई कोंचने की तरह गड़ना, ये सब 'अतितृप्त नेत्र' के लक्षण हैं॥

आस्रावशोफरोगाढ्यमसहं रूपदर्शने। आविलं परुषं रूक्षं नेत्रं स्याद्धीनतर्पितम्॥ १७८॥

अतृप्त के लक्षण—यदि नेत्र का तर्पण उचित मात्रा में न हुआ, तो नेत्र से पानी बहाना, सूजन, चीजों को देखने में पीड़ा होना, गंदलापन, कठिनता, रूक्षता, ये सब लक्षण होते हैं॥१७८॥

अनयोर्दोषबाहुल्यात् प्रयत्नेन चिकित्सिते। रूक्षस्निग्धोपचाराभ्यामनयोः स्यात्प्रतिक्रिया
***अनयोः = अतितर्पितहीनतर्पितयोः॥ १७९॥**

नेत्र में उचित से अधिक तर्पण हो जाने से या कम तर्पण होनेसे बहुत से दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए अतितृप्त नेत्र की रूक्ष ओषधि से तथा अतृप्त की स्निग्धोपचार से बड़े यत्न के साथ पुनः चिकित्सा करनी चाहिए॥ १७९॥

तर्पणनिषेधविषयानाह—

दुर्दिनात्युष्णशीतेषु चिन्तायां सम्भ्रमेषु च। अशान्तोपद्रवे वाऽक्षि तर्पणं न प्रशस्यते॥
***सम्भ्रमोऽत्र भयम्॥ १८०॥**

तर्पणनिषेध—दुर्दिन (बादलों से आच्छादित) तथा अत्यन्त गरमी के दिनों में, अत्यन्त ठंडक के दिन में, चिन्ता में, भ्रम में और उपद्रवों के शान्त होने से पहले इन दशाओं में तर्पण करना चाहिए॥ १८०॥

पुटपाकविधिमाह—

द्वे बिल्वे स्निग्धमांसस्य परं द्रव्यपलं मतम्। द्रव्यस्य कुडवोन्मानं सर्वमेकत्र पेषयेत्॥
तदेकत्र समालोड्य पत्रैः सुपरिवेष्टितम्। पुटपाकविधानेन तत्पक्त्वा तद्रसं बुधः॥ १८२॥
तर्पणोक्तेन विधिना यथावद्विनियोजयेत्। दृष्टिमध्ये निषेक्तव्यो नित्यमुत्तानशायिनः॥
तेजांस्यनिलमाकाशमातपं भास्करस्य च। नेक्षेत तर्पिते नेत्रे यश्च वा पुटपाकवान्॥ १८४॥

पुटपाकविधि—स्निग्धमांस ८ तो०, अन्य द्रव्य ४ तो०, द्रवद्रव्य १६ तो० इन सबको इकट्ठा पीसकर गोला बनाकर पत्तों से लपेटकर पुटपाक की विधि से पकाये और उससे रस निकालकर रोगी को उत्तान लिटाकर उसके नेत्र में तर्पण की विधि से प्रतिदिन यह रस छोड़े। नेत्रों में तर्पण या पुटपाकविधि का प्रयोग करने के बाद चमकीली वस्तुएँ, वायु का झोंका, आकाश और धूप अथवा सूर्य ये वस्तुएँ न देखे॥ १८१–१८४॥

अञ्जनविधिमाह—

अथ सम्पक्वदोषस्य प्राप्तमञ्जनमाचरेत्। अञ्जनं क्रियते येन तद् द्रव्यं चाञ्जनं मतम्॥१८५

अञ्जनविधि—दोषों के पक जाने के बाद यथोचित आँख में 'आंजन' का प्रयोग करना चाहिए। जिन पदार्थों को आँख में आंजा जाता है (लगाया जाता है), उसे 'अञ्जन' कहते हैं ॥ १८५ ॥

तद् यथा—

वटिकारसचूर्णानि त्रिविधान्यञ्जनानि हि ।
कुर्याच्छलाकयाऽङ्गुल्या हीनानि स्युर्यथोत्तरम् ॥ १८६ ॥
स्नेहनं रोपणं चापि लेखनं तत्त्रिधा पृथक् ।
मधुरं स्नेहसम्पन्नमञ्जनं स्नेहनं मतम् ॥ १८७ ॥

*तत्त्रिधा पृथगिति = तद्वटिकारसचूर्णरूपं पृथक् प्रत्येकं त्रिधा, स्नेहनं, रोपणं, लेखनं चेति ॥ १८७ ॥

अञ्जन के प्रकार—अञ्जन तीन प्रकार के होते हैः-वटिका, रस और चूर्ण । इनमें से प्रत्येक के पुनः तीन-तीन भेद होते हैं । यथा—स्नेहन, रोपण और लेखन । स्नेहयुक्त मधुर द्रव्यों का अञ्जन 'स्नेहन' कहलाता है ॥ १८६-१८७ ॥

कषायतिक्तरसयुक्सस्नेहं रोपणं स्मृतम् । अञ्जनं क्षारतिक्ताम्लरसैर्लेखनमुच्यते ॥ १८८ ॥
हरेणुमात्रां कुर्वीत वर्तीं तीक्ष्णाञ्जने भिषक् । प्रमाणं मध्यमे सार्द्धं द्विगुणं तु मृदौ भवेत् ॥१८९॥

कसैले और तिक्तरस तथा स्नेहयुक्त अञ्जन को 'रोपण' कहते हैं । खार तिक्त और अम्ल रसवाले अञ्जन को लेखन कहते हैं । यदि अञ्जन तीक्ष्ण हो, तो उसकी मटर के बराबर गोलियाँ बनानी चाहिए । यदि अञ्जन मध्यम हो अर्थात् न तीक्ष्ण और न मृदु, तो उसकी डेढ मटर के बराबर गोलियाँ बनानी चाहिए । यदि अञ्जन मृदु हो, तो दो मटर के बराबर गोली बनानी चाहिए ॥ १८८-१८९ ॥

रसक्रिया तूत्तमा स्यात् त्रिविडङ्गमिता मता । मध्यमा द्विविडङ्गा सा हीना त्वेकविडङ्गिका ॥

रसरूप अञ्जन की मात्रा—यदि अञ्जन रसरूप हो या रसक्रिया द्वारा बनाया गया हो, तो उसकी उत्तम मात्रा ३ वायविडङ्ग के बराबर, मध्यम मात्रा दो विडङ्ग के बराबर और सबसे छोटी मात्रा १ विडङ्ग के बराबर होती है ।

वक्तव्य—क्वाथादि द्रव वस्तुओं को इतना पकाना कि वे चटनी की तरह गाढ़े हो जायँ, यही रसक्रिया कहलाती है । यथा—'क्वाथादीनां पुनः पाकाद् घनत्वं सा रसक्रिया' । ॥ १९० ॥

शलाकाः स्नेहने चूर्णे चतस्रः प्राहुरञ्जने । रोपणे तासु तिस्रः स्युस्ते उभे लेखने स्मृते ॥

चूर्णाञ्जन की मात्रा—यदि चूर्णाञ्जन स्नेहन हो, तो उसकी चार सलाई (अर्थात् चूर्ण में सलाई डुबा-डुबाकर ४ बार आँख में लगानी चाहिए), रोपण चूर्णरूप अञ्जन हो तो ३ सलाई और लेखन हो, तो दो सलाई लगानी चाहिए ॥ १९१ ॥

मुखयोः कुञ्चिता श्लक्ष्णा शलाकाऽष्टाङ्गुलोन्मिता ।
अश्मजा धातुजा वा स्यात्कलायपरिमण्डला ॥ १९२ ॥

*अग्रे कलायवत्परिवर्त्तुला ॥ १९२ ॥

सुवर्णरजतोद्भूता शलाका स्नेहने स्मृता । ताम्रलोहाश्मसञ्जाता शलाका लेखने मता ॥
अङ्गुली तु मृदुत्वेन रोपणे कथिता बुधैः ॥ १९३ ॥

सलाई का परिमाण तथा आकार—सलाई पत्थर या धातु की बनी हुई और चिकनी, सिरों पर पतली तथा मटर के बराबर मोटाई या गोलाईवाली होनी चाहिए । स्नेहन के लिए सोने या चाँदी की सलाई और लेखन के लिए ताँबे, लोहे या पत्थर की सलाई का प्रयोग करना चाहिए । किन्तु रोपण अञ्जन के कोमल होने के कारण अङ्गुली से ही लगाना ठीक है ॥ १९२-१९३ ॥

अथाञ्जने केवलमपि शलाकाविशेषमाह।

तत्र दृष्टिप्रसादनीं शलाकामाह—

त्रिफलाभृङ्गशुण्ठीनां रसैः शुद्धश्च सर्पिषा ॥ १९४ ॥
गोमूत्रमध्वजाक्षीरैः सिक्तो नागः प्रतापितः। तच्छलाका हरत्येव सकलान्नेत्रजान्गदान् ॥

दृष्टिप्रसादनी शलाका—शुद्ध सीसे को बार-बार अग्नि में तपा-तपाकर त्रिफला के काढ़े में, भंगरैया के रस में, सोंठ के काढ़े में, गाय के घी में, गोमूत्र में, मधु में और बकरी के दूध में बुझाकर तब इस प्रकार पुनः शुद्ध सीसे से शलाका बनाये तो यह समस्त नेत्ररोगों को नष्ट करती है। इसीसे इसे 'दृष्टिप्रसादनी' शलाका कहते हैं ॥ १९४-१९५ ॥

अञ्जनकरणविधिमाह—

कृष्णभागादधः कुर्याद्यावन्नयनमञ्जनम्। हेमन्ते शिशिरे चापि मध्याह्नेऽञ्जनमिष्यते ॥१९६॥
पूर्वाह्ने वाऽपराह्ने वा ग्रीष्मे शरदि चेष्यते। वर्षास्वदभ्रे नात्युष्णे वसन्ते तु सदैव हि ॥
प्रातः सायन्तु तत्कुर्यान्न च कुर्यात्सदैव हि ॥ १९८ ॥

अञ्जन लगाने की विधिः—काली बड़ी पुतली के नीचे आँखों के कोने तक अञ्जन आंजना (लगाना) चाहिए। हेमन्त, शिशिर ऋतुओं में दोपहर के समय अञ्जन लगाना चाहिए, गरमी और शरद ऋतुओं में दोपहर के पहले (पहले पहर में) या दोपहर के बाद लगाना चाहिए। वर्षा ऋतु में जब आकाश मेघहीन (निर्मल) हो और अधिक गरमी न हो, उस समय लगाना चाहिए। वसन्त में सदैव अञ्जन लगाना चाहिए। सामान्यतः सवेरे और शाम को अञ्जन लगाना चाहिए। किन्तु निरन्तर अञ्जन नहीं लगाना चाहिए ॥ १९६-१९८ ॥

अञ्जननिषेधविषयानाह—

श्रान्ते प्ररुदिते भीते पीतमद्ये नवज्वरे। अजीर्णे वेगघाते च नाञ्जनं सम्प्रशस्यते ॥ १९९ ॥

अञ्जन का निषेध—निम्न दशाओं में अञ्जन नहीं लगाना चाहिए—थके होने पर, रोने के बाद ही, डरा होने पर, मद्य पीने पर, नवज्वर में, अजीर्ण होने पर, मलमूत्रादि के वेग रोकने पर' और कब्ज की दशा में ॥ १९९ ॥

स्नेहनीं वटिकामाह—

पथ्याऽक्षधात्रीबीजानि एकद्वित्रिगुणानि च। पिष्ट्वाऽम्बुना वटीं कुर्यादञ्जनं द्विहरेणुकम् ॥
नेत्रस्रावं हरत्याशु वातरक्तरुजं तथा ॥ २०० ॥

स्नेहनवटी—हरड़ का बीज (गिरी) एक भाग, बहेड़े की गिरी दुगुनी, और आँवले की गिरी तिगुनी (हरड़ की गिरी से तिगुनी)—इन सबको इकट्ठा पानी में खूब पीसकर दो-दो मटर की गोलियाँ बना ले। इस गोली से नेत्रों से पानी बहना तथा वायु और रक्त की पीड़ा शीघ्र बन्द होती है ॥

रोपणीं वटीमाह—

रसाञ्जनं हरिद्रे द्वे मालतीनिम्बपल्लवाः। गोशकृद्रससंयुक्ता वटी नक्तान्ध्यनाशिनी।
एतस्याश्चाञ्जने मात्रा प्रोक्ता सार्द्धं हरेणुका ॥ २०१ ॥

रोपणी वटी—रसौत, हरदी, दारुहल्दी, मालती की पत्ती तथा नीम की पत्ती—इन सबको गाय के गोबर के रस में खूब बारीक पीसकर मटर के सामन गोली बना लें और आधी मटर भर घिसकर लगाने से रतौंधी नष्ट हो जाती है ॥ २०१ ॥

लेखनीं चन्द्रोदयां वटिकामाह—

शङ्खनाभिर्बिभीतस्य मज्जा पथ्या मनःशिला। पिप्पली मरिचं कुष्ठं वचा चेति समांशकम् ॥
छागीक्षीरेण संपिष्य वर्तीं कुर्याद्यवोन्मिताम्। हरेणुमात्रं संघृष्य जलेनाञ्जनमाचरेत् ॥
तिमिरं मांसवृद्धिञ्च काचं पटलमर्बुदम्। राज्यन्ध्यं वार्षिकं पुष्पं वटी चन्द्रोदया जयेत् ॥

लेखन चन्द्रोदया वटी—शङ्ख की नाभि, बहेड़े की गिरी, हरड़, मैनशिल, पीपर, मरिच, कूट, वच—इन सबको परस्पर समान भाग लेकर बकरी के दूध में बारीक पीसकर यव के समान वत्ती या गोली बना ले। इसे 'चन्द्रोदया वटी' कहते हैं। इसको जल में मटर भर घिसकर आँख में आँजने (लगाने) से तिमिर, मांसवृद्धि, काँच, पटल, अर्बुद, रतौंधी और एक वर्ष तक की पुरानी फुल्ली, ये सब नेत्ररोग नष्ट हो जाते हैं॥ २०२-२०४॥

पुष्पहरीं वर्त्तिमाह—

पलाशपुष्पस्वरसैर्बहुशः परिभावितम्। करञ्जबीजं तद्वर्त्तिर्दृष्टेः पुष्पं विनाशयेत्॥ २०५॥

पुष्पहरी वर्त्ति—करंज की गिरी को पलाश के फूल के रस में, खूब पीसकर बत्ती बना ले। यह फुल्ली या फूला को नष्ट करती है॥ २०५॥

स्नेहनीं रसक्रियामाह—

कतकस्य फलं पिष्ट्वा मधुना नेत्रमञ्जयेत्। ईषत्कर्पूरसहितं तत्स्यान्नेत्रप्रसादनम्॥२०६॥

स्नेहनी रसक्रिया—निर्मली के फल को शहद में घीसकर थोड़े कपूर के साथ पीसकर लगाने से नेत्र निर्मल होता है और उसकी दृष्टिशक्ति बढ़ती है॥ २०६॥

रोपणीं रसक्रियामाह—

रसाञ्जनं सर्जरसो जातीपुष्पं मनःशिला। समुद्रफेनं लवणं गैरिकं मरिचं तथा॥ २०७॥
एतत्समांशं मधुना पिष्टं प्रक्लिन्नवर्त्मनि। अञ्जनं क्लेदकण्डूघ्नं पक्ष्मणाञ्च प्ररोहणम्॥२०८॥

रसौत, राल, चमेली के फूल, मैनसिल, समुद्रफेन, सेंधानमक, पीला गेरू और काली मिर्च, इन सबको समान भाग में लेकर शहद में पीसकर अञ्जन करने से प्रक्लिन्नवर्त्मवाले नेत्र का क्लेद और खुजली नष्ट हो जाती है और गिरे हुए पक्ष्म (बरौनी या पलक के बाल) पुनः उत्पन्न हो जाते हैं॥ २०७-२०८॥

दुग्धेन कण्डूं क्षौद्रेण नेत्रस्रावञ्च सर्पिषा। पुष्पं तैलेन तिमिरं काञ्जिकेन निशाऽन्धताम्॥
पुनर्नवा हरत्याशु भास्करस्तिमिरं यथा॥ २१०॥

पुनर्नवा (गदहपुर्ना) की जड़ को दूध में घिसकर अञ्जन करने से नेत्र की खुजली, शहद में घिसकर अञ्जन करने से नेत्रस्राव, गोघृत में रगड़कर अञ्जन करने से पुष्परोग (फुल्ली), तिलतेल के साथ घिसकर अञ्जन करने से तिमिररोग तथा कांजी के साथ आँजने से रात्र्यन्धता (रतौंधी), ये सब उसी प्रकार नष्ट होते हैं, जैसे सूर्यप्रकाश से अन्धेरा नष्ट होता है॥२०९-२१०॥

बब्बूलदलनिष्क्वाथो लेहीभूतस्तदञ्जनात्। नेत्रस्रावो व्रजेच्छोषं मधुयुक्तान्न संशयः॥२११॥

बबूल की पत्तियों का काढ़ा बनाकर उस काढ़े के जलीयांश को जलाकर अवलेह की तरह बना ले। इस लेह को मधु के साथ अञ्जन करने से नेत्रस्राव निःसंशय सूख ही जाता है॥ २११॥

लेखनीं रसक्रियामाह—

वटक्षीरेण संयुक्तं मुख्यकर्पूरजं रजः। क्षिप्रमञ्जनतो हन्ति कुसुमं तु द्विमासिकम्॥२१२॥
क्षौद्राश्वलालासंघृष्टैर्मरिचैर्नेत्रमञ्जयेत्। अतिनिद्रा शमं याति तमः सूर्योदयादिव॥२१३॥

भीमसेनी कपूर का अत्यन्त बारीक चूर्ण बरगद के दूध के साथ अञ्जन करने से दो महीने का पुराना फूला रोग (फुल्ली) शीघ्र नष्ट हो जाता है। काली मिरिच को शहद और घोड़े की लार में घिसकर नेत्रों में अञ्जन करने से अतिनिद्रा का आना उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्योदय के बाद अन्धकार नष्ट हो जाता है॥ २१२-२१३॥

स्नेहनं चूर्णमाह—

अग्नितप्तं हि सौवीरं निषिञ्चेत्त्रिफलारसैः। सप्तवेलं तथा स्तन्यैः स्त्रीणां सिक्तं विचूर्णितम्॥
अञ्जयेत्तेन नयने प्रत्यहं चक्षुषो हितम्। सर्वानक्षिविकारांस्तु हन्यादेतन्न संशयः॥२१५॥

सौवीरांजन (सफेद सुर्मा) को अग्नि में तपा-तपाकर त्रिफला के काढ़े में सात बार बुझाये। इसी प्रकार फिर तपा-तपाकर स्त्री के दुग्ध में भी (सात बार) बुझाये। फिर इसका प्रतिदिन अञ्जन करे। यह अञ्जन नेत्रों के लिए हितकारक है और समस्त नेत्रविकारों को निःसंशय नष्ट करता है॥

रोपणं चूर्णमाह—

शिलायां रसकं पिष्ट्वा सम्यगाप्लाव्य वारिणा। गृह्णीयात्तज्जलं सर्वं त्यजेच्चूर्णमधोगतम्॥ शुष्कञ्च तज्जलं सर्वं पर्पटीसन्निभं भवेत्। विचूर्ण्य भावयेत्सम्यक्त्रिवेलं त्रिफलारसैः॥ कर्पूरस्य रजस्तत्र दशमांशेन निक्षिपेत्। अञ्जयेन्नयने तेन नेत्राखिलगदच्छिदा॥२१८॥

पत्थर के खरल में खर्पर (खपरिया) का बारीक चूर्ण कर ले और उसे पुनः पर्याप्त जल में घोल दे, जो चूर्ण नीचे बैठा रहे, उसे छोड़ दे और ऊपर के पानीको नितार ले। इस जलको पुनः सुखा डाले, जल सूख जाने पर एक प्रकार की पपड़ी बनेगी। इस पपड़ी का चूर्ण करके तीन बार त्रिफला के काढ़े में घोंटे। इसमें (पर्पटी से) दशमांश भीमसेनी कपूर मिलाकर अञ्जन करे। इससे समस्त नेत्ररोग नष्ट हो जाते हैं॥ २१६-२१८॥

लेखनं चूर्णमाह—

दक्षाण्डत्वविच्छुलाकाचशङ्खचन्दनसैन्धवैः। चूर्णितैरञ्जनं प्रोक्तं पुष्पादीनां निकृन्तनम्॥

मुर्गे के अण्डे का छिल्का (कड़ा श्वेतभाग), मैनसिल, काँच, शख, लाल चन्दन और सेंधा नमक इनका अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण बनाकर अञ्जन करने से पुष्पादि (फुल्ली आदि) नेत्ररोग नष्ट हो जाता है॥ २१९॥

अथ सामान्यान्यञ्जनानि।

तत्र मुक्ताऽऽदिमहाञ्जनमाह—

मुक्ताकर्पूरकाचागुरुमरिचकणासैन्धवं सैलवालं-
शुण्ठीकक्कोलकांस्यत्रपुरजनिशिलाशङ्खनाभ्यभ्रतुत्थम्।
दक्षाण्डत्वक्च सार्क्षं क्षतजमथ शिवा क्लीतकं राजवर्त्तं-
जातीपुष्पं तुलस्याः कुसुममभिनवं बीजकं स्यात्तथैव॥ २२०॥
पूतीकनिम्बार्जुनभद्रमुस्तं सताम्रसारं रसगर्भयुक्तम्।
प्रत्येकमेषां खलु माषकैकं यत्नेन पिष्येन्मधुनाऽतिसूक्ष्मम्॥ २२१॥
भवन्ति रोगा नयनाश्रिता ये नितान्तमात्रोपचिताश्च तेषाम्।
विधीयते शान्तिरवश्यमेव मुक्ताऽऽदिनाऽऽनेन महाञ्जनेन॥ २२२॥

***एलवालम् = एलवालुकनाम्ना प्रसिद्धम्। कक्कोलं—सुगन्धिद्रव्यं 'सुगन्धकोकिले'ति प्रसिद्धा, तदलाभे 'जातीपुष्पं' ग्राह्यम्, तस्याप्यलाभे लवङ्गम्। कांस्यं = तच्च मारितं ग्राह्यम्। त्रपु = 'रङ्गं' तच्च मारितं ग्राह्यम्। शिला = मनःशिला। अभ्रम् = अभ्रकं, तच्च मारितं ग्राह्यम्। दक्षाण्डत्वक् = दक्षः = कुक्कुटः, तस्याण्डत्वक्। अक्षं = विभीतकफलम्। क्षतजमत्र कुङ्कुमम्। शिवा = हरीतकी। क्लीतकं = यष्टीमधु। राजवर्त्तं = 'रावटी' इति लोके। पूतीकः = 'घोराकरञ्ज' इति लोके। अञ्जनं = 'सुरमा' इति लोके। भद्रमुस्तं = नागरमुस्तम्। ताम्रं सारञ्च मारितं ग्राह्यम्। रसगर्भं = रसाञ्जनम्॥ २२०-२२२॥**

मोती, भीमसेनीकपूर, कचियानमक, अगर, कालीमिर्च, पिप्पली, सेंधानमक, एलुआ, सोंठ, कक्कोल (शीतलचीनी नामक सुगन्धिद्रव्य, इसके अभाव में चमेली का फूल और चमेलीपुष्प के भी अभाव में लवंग ग्रहण करना), कांस्यभस्म, नागभस्म, हरदी, मैनसिल, शङ्ख की नाभि, अभ्रकभस्म, तूतिया, मुर्गेके-अण्डेका छिलका, बहेड़ा, क्षतज (केशर), हरड़, मुलेठी, राजावर्त्त (लाजवर्त या रावटी पत्थर), चमेली का फूल, तुलसी के नये-नये फूल, सफेद सहजन के बीज, दुर्गन्धित करञ्ज के बीज, नीम की पत्ती, अर्जुन (कोहवृक्ष) की छाल, नागरमोथा, ताम्रभस्म और रसगर्भ (रसाञ्जन

या रसौत) इनमें से प्रत्येक को एक-एक मासा लेकर मधु के साथ अत्यन्त सूक्ष्म पीस डाले। इस मुक्ताऽऽदिमहाञ्जन नामक अञ्जन के लगाने से नेत्र के समस्त रोग, चाहे वे बहुत बढ़े हुए भी क्यों न हों, अवश्य शान्त हो जाते हैं ॥ २२०-२२२ ॥

नयनशोणाञ्जनमाह—

कणा सलवणोषणा सहरसाञ्जना साञ्जना-सरित्पतिकफः सिता सितपुनर्नवासम्भवा।
रजन्यरुणचन्दनं मधुकतुत्थपथ्याशिला हरिष्टदलशाबरस्फटिकशङ्खनाभीन्दवः ॥ २२३ ॥
इमानि तु विचूर्णयेन्निविडवाससा शोधयेत्-तथाऽयसि विमर्दयेत्समधु ताम्रखण्डेन तत्।
इदं मुनिभिरीरितं नयनशोणनामाञ्जनं-करोति तिमिरक्षयं पटलपुष्पनाशं बलात् ॥२२४॥

छलवणं = सैन्धवम्। अञ्जनं = सुरमा। सरित्पतिकफः = समुद्रफेनः। शिला = मनःशिला। शाबरो = लोध्रः। स्फटिकाः = [फिटकिरी]। इन्दुः = कर्पूरः। तिमिरे नूतनकुसुमे नूतनपटले च ॥ २२३-२२४ ॥

पीपर, सेंधानमक, मरिच, रसौत, सुरमा समुद्रफेन, मिश्री, सफेद गदहपुर्ना की जड़, हरदी, लाल चन्दन, मुलेठी, तूतिया, हरड़, मैनसिल, नीम के पत्ते, लोध, फिटकिरी, शङ्ख की नाभि, भीमसेनी कपूर, इनका बारीक चूर्ण बनाकर गाढ़े कपड़े से छान ले। फिर लोहे के खरलमें डालकर तांबे के पैसे से शहद के साथ खूब घोंटे। इस प्रकार मुनियों द्वारा कहा हुआ 'नयनशोण' नामक अञ्जन बनता है। यह अंजन-तिमिर, पटल और फुल्ली नामक नेत्ररोगों को बलपूर्वक नष्ट करता है ॥

चन्द्रोदयां वर्तीमाह—

हरीतकी वचा कुष्ठं पिप्पली मरिचानि च। बिभीतकस्य मज्जा च शङ्खनाभिर्मनःशिला ॥
सर्वमेतत्समं कृत्वा गव्यक्षीरेण पेषयेत्। नाशयेत्तिमिरं कण्डूपटलान्यर्बुदानि च ॥ २२६ ॥
अपि त्रिवार्षिकं शुक्लं मासेनैकेन नाशयेत्। अधिकानि च मांसानि रात्र्यन्धत्वमेव च ॥
छइति चन्द्रोदया वर्ती। पुष्पे तिमिरे च ॥ २२५-२२७ ॥

हरड़, वच, कूट, पीपर, कालीमिर्च, बहेड़े की मींगी या गिरी, शङ्ख की नाभी और मैनसिल इन सबको समान भाग लेकर गोदुग्ध में पीसकर गोली बना ले। इस गोली को (पानी में घिसकर) अञ्जन करने से नेत्र की खुजली, पटल के रोग, नेत्रार्बुद तथा रतौंधी आदि नष्ट हो जाते हैं। एक महीने तक इसका अञ्जन करने से नेत्रगत मांसवृद्धि तथा तीन वर्ष का पुराना फूला भी कट जाता है ॥ २२५-२२७ ॥

चन्द्रप्रभां वर्तिमाह—

रजनी निम्बपत्राणि पिप्पली मरिचानि च। विडङ्गं भद्रमुस्तं च सप्तमीत्वभया स्मृता ॥
अजामूत्रेण सम्पिष्य च्छायायां शोषयेद्वटीम्। वारिणा तिमिरं हन्ति गोमूत्रेण तु पिष्टकम् ॥
मधुना पटलं हन्ति नारीक्षीरेण पुष्पकम्। एषा चन्द्रप्रभा वर्त्तिः स्वयं रुद्रेण निर्मिता ॥

हरदी, नीम के पत्ते, पीपर, काली मिर्च, वायविडङ्ग, नागरमोथा और हरड़-इन्हें समभाग लेकर बकरी के मूत्र में पीसकर गोली बनाकर छाया में सुखा ले। इस वटी को पानीमें घीसकर अञ्जन करने से तिमिर, गोमूत्र के साथ अञ्जन करने से पिष्टक, मधु के साथ पटल तथा स्त्री-दुग्ध के साथ अञ्जन करने से फूला नष्ट होते हैं। इस वटी का नाम 'चन्द्रप्रभा वटी' है। इसे सर्वप्रथम स्वयं शिवजी ने बनाया था ॥ २२८-२३० ॥

कणामरिचयोः प्रयोगमाह—

कणा च्छागयकृन्मध्ये पक्त्वा तद्रसपेषिता। अचिराद्धन्ति नक्तान्ध्यं तद्वत्सक्षौद्रमूषणम् ॥

पीपर को बकरी के यकृत (कलेजी) में पकाकर पुनः उसी यकृत के रस में पीसकर अञ्जन करने से भी शीघ्र रतौंधी नष्ट होती है ॥ २३१ ॥

महात्रिफलाऽऽद्यं घृतमाह—

त्रिफलाया रसं प्रस्थं प्रस्थं भृङ्गरजस्य च। वृषस्य च रसं प्रस्थं शतावर्याश्च तत्समम्॥
गुडूच्या आमलक्याश्च रसं छागीपयस्तथा। प्रस्थं प्रस्थं समाहृत्य सर्वैरेभिर्घृतं पचेत्॥
कल्कः कणा सिता द्राक्षा त्रिफला नीलमुत्पलम्। मधुकं क्षीरकाकोली मधुपर्णी निदिग्धिका
तत्साधु सिद्धं विज्ञाय शुभे भाण्डे निधापयेत्। ऊर्ध्वं पानमधपानं मध्ये पानं च शस्यते॥
यावन्तो नेत्ररोगाः स्युस्तान्पानादपकर्षति। सरक्ते रक्तदुष्टे च रक्ते वा विस्रुते तथा॥
नक्तान्ध्ये तिमिरे काचे नीलिकापटलार्बुदे। अभिष्यन्देऽधिमन्थे च पक्ष्मकोपे सुदारुणे॥
नेत्ररोगेषु सर्वेषु दोषत्रयकृतेष्वपि। परं हितमिदं प्रोक्तं त्रिफलाऽऽद्यं महाघृतम्॥ २३८॥

ॐभृङ्गराजः=भृङ्गराजः। क्षीरकाकोल्या अलाभे अश्वगन्धामूलं ग्राह्यम्। मधुपर्णी=अत्र यष्टीमधु चक्षुष्यत्वात्तदलाभे सामान्यं यष्टीमधु तुल्यगुणत्वात्॥ २३२-२३८॥

त्रिफला का काढ़ा, भांगरे का रस, अडूसे का रस, शतावर का रस, गुरुच का रस, आँवले का रस तथा बकरी का दूध-प्रत्येक एक-एक प्रस्थ (६० तो०) लेकर इनमें पीपर, सफेद चीनी, मुनक्का, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा आँवला), नील कमल का फूल, दुगुनी मुलेठी, क्षीरकाकोली (अभाव में असगन्ध), भटकटैया—इनका (मिलित २८ तो०) कल्क डालकर (११२ तो०) घी के साथ पकाये। जब घी भली भाँति सिद्ध हो जाय तो उतारकर अच्छे बर्तन में (कांच या मिट्टी के) रख ले। भोजन के पूर्व, भोजन के मध्य में तथा भोजनोत्तर इस घृत का पान करते रहने से सभी प्रकार के नेत्ररोग नष्ट हो जाते हैं। यह 'त्रिफलाऽऽद्य महाघृत' रक्तवृद्धि, रक्तकोष, रक्तस्राव, रतौंधी, तिमिर, कांच, नीलिका, पटल, अर्बुद, अभिष्यन्द, अधिमन्थ तथा भीषण पक्ष्मकोप और त्रिदोषजन्य समस्त नेत्ररोगों के लिए भी परम हितकारक है॥ २३२-२३८॥

द्वितीयं त्रिफलाऽऽद्यघृतमाह—

शतमेकं हरीतक्या द्विगुणञ्च विभीतकम्। चतुर्गुणं त्वामलकं वृषमार्कवयोः समम्॥२३९॥
चतुर्गुणोदकं दत्त्वा शनैर्मृद्वग्निना पचेत्। भागं चतुर्थं संरक्ष्य क्वाथं तमवतारयेत्॥ २४०॥
शर्करा मधुकं द्राक्षा मधुयष्टी निदिग्धिका। काकोली क्षीरकाकोली त्रिफला नागकेशरम्॥
पिप्पली चन्दनं मुस्तं त्रायमाणा तथोत्पलम्। घृतप्रस्थं समं क्षीरं कल्कैरेतैः शनैः पचेत्॥
हन्यात्सतिमिरं काचं नक्तान्ध्यं शुक्रमेव च। तथा स्रावं च कण्डूञ्च श्वयथुं च कषायताम्॥
कलुषत्वं च नेत्रस्य विन्दूर्मपटलानि च। बहुनाऽत्र किमुक्तेन सर्वान्नेत्रामयान्हरेत्॥
यस्य चोपहता दृष्टिः सूर्याग्निभ्यां प्रपश्यतः। तस्यैतद् भेषजं प्रोक्तं मुनिभिः परमं हितम्॥
मार्जितं दर्पणं यद्वत्परां निर्मलतां व्रजेत्। तद्वदेतेन पीतेन नेत्रं निर्मलतामियात्।
वारिद्रोणद्वयं चात्र वृषमार्कवयोस्तुले॥ २४६॥

ॐकाकोलीयुगलालाभेऽश्वगन्धामूलं द्विगुणं ग्राह्यम्॥ २३९-२४६॥

हरड़ सौ तोले, बहेड़ा दो सौ तोले, आँवला चार सौ तोले, अडूसा चार सौ तोले, भाँगर चार सौ तोले—इनको चौगुने जल से मन्द अग्नि पर पकाये, चतुर्थांश जल शेष रहने पर उतार कर काढ़े को छान ले। फिर इस काढ़े में १ प्रस्थ (६४ तो०) घी, एक प्रस्थ गोदुग्ध और सफेद चीनी, दुगुनी मुलेठी, मुनक्का, भटकटैया, काकोली, क्षीरकाकोली (दोनों के अभाव में द्विगुण असगन्ध की जड़), हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागकेशर, पीपर, लालचन्दन, नागरमोथा, त्रायमाण, नीलाकमल—इनका कल्क डालकर धीरे-धीरे पकाये। घी के सिद्ध हो जाने पर उतार ले। यह घृत तिमिर, काँच रतौंधी, फूला, नेत्रस्राव, नेत्र की खुजली, शोथ, कषायता, गँदलापन, बिन्दु, अर्म तथा पटलरोगों को नष्ट करता है। जिनकी दृष्टि सूर्य या अग्नि की ओर देखने से नष्ट हो गयी हो, उनके लिए मुनियों द्वारा कहा हुआ यह घृत परमोत्तम ओषधि है। जिस प्रकार वस्त्र से पोंछ

देने पर दर्पण अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार इस घृत के पीते रहने से नेत्र निर्मल (दोषहीन) हो जाता है ॥ २३९-२४६ ॥

वासकादिक्वाथमाह—

वासाविश्वाऽमृतादार्वीरक्तचन्दनचित्रकैः । भूनिम्बनिम्बकटुकापटोलत्रिफलाऽम्बुदैः ॥ २४७ ॥
निशाकलिङ्गकुटजैः क्वाथः सर्वाक्षिरोगहा । वैस्वर्यं पीनसं श्वासं कासं नाशयति ध्रुवम् ॥

इति त्रिषष्टितमो नेत्ररोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६३ ॥

अडूसा, सोंठ, गुरुच, दारुहल्दी, लालचन्दन, चित्त, चिरायता, नीम की पत्ती, कुटकी, परोरा की पत्ती, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, हल्दी, इन्द्रजव और कोरैया इनका काढ़ा समस्त नेत्ररोगों को नाश करता है तथा स्वरभङ्ग, पीनस, श्वास और खाँसी को भी अवश्य नष्ट करता है ॥ २४७-२४८ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे त्रिषष्टितमो नेत्ररोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६३ ॥

अथ चतुःषष्टितमः कर्णरोगाधिकारः ॥ ६४ ॥

तत्र कर्णरोगाणां नामानि संख्याञ्चाह—

कर्णशूलः कर्णनादो बाधिर्यं क्ष्वेड एव च । कर्णस्रावः कर्णकण्डूः कर्णगूथस्तथैव च ॥ १ ॥
प्रतिनाहो जन्तुकर्णो विद्रधिर्द्विविधस्तथा । कर्णपाकःपूतिकर्णस्तथैवार्शश्चतुर्विधः ॥ २ ॥
तथाऽर्बुदं सप्तविधं शोफश्चापि चतुर्विधः । एते कर्णगता रोगा अष्टाविंशतिरीरिताः ॥ ३ ॥

कर्णशूल, कर्णनाद, बाधिर्य, क्ष्वेड, कर्णस्राव, कर्णकण्डू, कर्णगूथ, प्रतिनाह, कृमिकर्ण, दो प्रकार की विद्रधि, कर्णपाक, पूतिकर्ण, चार प्रकार के कर्णार्श, सात प्रकार के अर्बुद और चार प्रकार के कर्णशोथ इस प्रकार २८ कर्णरोग होते हैं ॥ १-३ ॥

१ कर्णशूलस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथा चरन्समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः ।

---

१. कर्ण की संक्षिप्त रचनाः—शरीर-विद्या-विशारदों ने कान को तीन भागों में विभाजित किया । कान का बाहरी शुक्तिकाकार भाग कर्णशष्कुली (pinna) कहलाता है । इसीका निचला मुलायम भाग कर्णपाली कहलाता है । कान में भीतर जाती हुई जो नलिका दिखाई देती है, वह कुछ भीतर जाकर एक मजबूत झिल्ली के पर्दे द्वारा पूर्णतः बन्द हो जाती है । कर्णशष्कुली और कर्ण की इस नलिका का उपर्युक्त पर्दे तक का भाग बहिःकर्ण (External ear) कहलाता है । यह कर्ण का पहला भाग है । बहिःकर्ण के आखिरी सिरे पर स्थित उपर्युक्त पर्दे को कर्ण-पटह (Tympanic membrane) कहते हैं । पटह का मध्यभाग किंचित् भीतर दबा रहता है और पटह पर ध्यानपूर्वक देखने से एक श्वेत रेखा दीखती है । यह स्वस्थावस्था में श्वेत और चमकदार दिखाई देता है । कान को साधारणतया देखने से यह पटह नहीं दिखाई दे सकता । इसको देखने के लिए कर्णदर्शक यन्त्र (auroscope) की सहायता लेनी पड़ती है । पटह के दूसरी ओर मध्य-कर्ण (middleear) स्थित है । इसका अधिकांश भाग शंखास्थि में रहता है । इसमें मुद्गर, निहाई और रकाब नामक तीन बहुत ही छोटी अस्थियाँ हैं, जिनमें से मुद्गर (Malleus)

करोति दोषैश्च यथास्वमावृतः स कर्णशूलः कथितो दुराचरः ॥ ४ ॥

*अन्यथा चरन् समन्ततः = प्रतिलोम चरन्। दोषैः=पित्तकफरक्तैः। रक्तस्यापि रुजाऽऽदिकर्तृत्वेन दोषसाम्याद्दोषत्वमत्र, यथास्वम् = आत्मीयनिदानकुपितः, अथवा–'यथास्वमि'ति शूलविशेषणम्। दुराचरः = दुरुपचारः ॥ ४ ॥

का एक सिरा कर्णपट्ट से लगा है और दूसरा सिरा निहाई (Incus) से तथा रिकाब (Stapes) का एक सिरा निहाई से और दूसरा अन्तःकर्ण के एक छिद्र से लगा रहता है। अर्थात् ये अस्थियाँ परस्पर मिलकर एक ऐसी शृङ्खला बना देती हैं, जिसके द्वारा कर्ण–पटह अन्तःकर्ण से सम्बन्धित हो जाता है। मध्यकर्ण से एक नलिका निकलकर गले में जाकर खुलती है। इसे श्रुति सुरंगा (Eustachian tube) कहते हैं। यह सुरङ्गा और मध्यकर्ण श्लेष्मलकला से घिरे हैं। मुख, नासिका और गले की खराबी का उपसर्ग इसी मार्ग द्वारा मध्यकर्ण में पहुँचकर उसमें भी शोथ पैदा कर देता है। इसी सुरङ्गा के द्वारा मध्यकर्ण में वायु प्रविष्ट होकर कर्ण–पटह के दोनों ओर की वायु का दबाव समान रखती है, जिससे कर्ण–पटह अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता है और उसमें समुचित प्रकार से कम्पन भी हो पाता है। कर्ण का तीसरा भाग अन्तःकर्ण (Internal ear) कहलाता है। यह श्रवण नाडी से बना है और शंखास्थि में रहता है। शब्दजन्य लहरें बहिःकर्ण में होकर कर्णपटह पर टकराती हैं, जिससे पटह में भी तद्रूप कम्पन होता है। यह कम्पन उपर्युक्त तीनों कर्णास्थियों द्वारा अन्तःकर्ण तक पहुँचा दिया जाता है, जहाँ से मस्तिष्क में श्रावण नाडी द्वारा कम्पन का ज्ञान पहुँचने से शब्द का ज्ञान होता है। यही श्रवणक्रिया का संक्षिप्त रहस्य है।

२. कर्णशूल को पाश्चात्य मतानुसार otalgia या Pain in the ear कहते हैं। यह वास्तव में एक लक्षण है, जो कान के विविध रोगों में अधिकतर देखा जाता है।

निम्नलिखित कर्ण–रोगों में कर्णशूल होता है:—

१—कर्णगत तीव्र विचर्चिका (Acute eczema) में जलनयुक्त पीड़ा होती है, परन्तु बहुत तीव्र नहीं होती।

२—Furunculosis में-बहुत तीव्र और कोंचने-फाड़ने जैसी पीड़ा होती है, जो प्रायः रात में नींद भी लगने नहीं देती।

३—मध्यकर्ण के तीव्र सपाक शोथ में भी बहुत तीव्र पीड़ा होती है, जो कभी-कभी रोगी को दाँत की पीडा की भाँति प्रतीत होती है। किन्तु मध्यकर्ण के चिरकालीन शोथ में अधिक तीव्र नहीं होती और विस्तृत स्थान में प्रतीत होती है और कभी-कभी बीच-बीच में बन्द भी हो जाया करती है।

४—कभी-कभी शंखास्थि में अथवा मस्तिष्कावरण तथा करोटि की अस्थियों के बीच में किसी प्रकार का शोथ या विद्रधि हो जाने से भी कान में तीव्र पीड़ा प्रतीत होती है। यह पीड़ा एक सीमित स्थान में प्रतीत होती है और शिर के एक पार्श्व में होती हुई ग्रीवा तक फैल जाती है। सबसे तीव्र प्रकार की और असह्य नाडीशूलवत् पीड़ा मध्यकर्ण और अन्तःकर्ण के तीव्र शोथ में होती है। कभी-कभी जैसे ऊपरी जबड़े के सड़े हुए दाँत से असनिका (Pharynx) और स्वरयन्त्र (Larynx) के दुष्ट अर्बुद के कारण भी कान में पीड़ा प्रतीत होती है; किन्तु ऐसी दशाओं में कान के भीतर देखने से कोई विकार दिखाई नहीं देता। नासामार्ग के बन्द हो जाने तथा श्रुतिसुरङ्गा के (Eustachian tube) असनिका की ओर स्थित सिरे में व्रण हो जाने से भी कान में पीड़ा होती है। यदि पीड़ा या स्पर्शनाक्षमता (tenderness) कर्णमूलिक स्थान में हो, तो उसी स्थान में (Mastaid में) शोथादि की सम्भावना समझनी चाहिए। यदि पीड़ा कान के ऊपर और पीछे की ओर हो अथवा पूर्वकपाल (Frontal fone) की अस्थि में तीव्र पीड़ा हो, तो

जब अपने कारणों से प्रकुपित दोषों (पित्त-कफ-रक्त) द्वारा आवृत होकर (घिरकर) कर्णगत वायु उलटी-गति से चलने लगता है, तो जिस दोष से वह आवृत रहता है, उस दोष के लक्षणों से युक्त कष्टसाध्य शूल को उत्पन्न करता है। इसीको 'कर्णशूल' कहते हैं। पीड़ा आदि उत्पन्न करने के कारण रक्त को भी यहाँ पर दोषों में मान लिया गया है। 'सुश्रुत' ने शल्यशास्त्र की दृष्टि से रक्त को भी दोष माना है ॥ ४ ॥

कर्णशूलस्योपद्रवास्तदसाध्यतां चाह—

मूर्च्छा दाहो ज्वरः कासः श्वासोऽथ वमथुस्तथा। उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः ॥

कर्णशूल में मूर्च्छा, दाह, ज्वर, कास, श्वास और वमन या उलटी ये उपद्रव करनेवाले रोगी को होते हैं ॥ ५ ॥

२ कर्णनाद[1] लक्षणमाह—

कर्णश्रोत्रस्थिते वाते शृणोति विविधान्स्वनान्। भेरीमृदङ्गशङ्खानां कर्णनादः स उच्यते ॥६॥

यह समझना चाहिए कि पीड़ा का कारण करोटि (Skull) में स्थित है। मध्यम आयु तथा उससे अधिक अवस्था के लोगों में प्रायः कभी-कभी ऐसा होता है कि वे कर्णशूल की शिकायत करते हैं; किन्तु कान तथा उसके आस-पास के अङ्गों की परीक्षा करने पर कोई विकृति नहीं प्रतीत होती। ऐसी दशा में कर्णपाली के मूल में नीचे की ओर स्थित शंखास्थि और निचले जबड़े की अस्थि की सन्धि (Tempore-mandibular Joint) की सन्धिशोथ के लिए परीक्षा करनी चाहिए।

बच्चों में कर्णशूल की परीक्षा—कान को छूने या धोने पर बच्चा रोवे या अपना हाथ बार-बार कान के समीप ले जाय और सिर को इधर-उधर पटके तो यह समझना चाहिए कि उसके कान में पीड़ा हो रही है। यदि ब्रांकोन्यूमोनिया के कारण बच्चे में कर्णशूल उत्पन्न हुआ हो तो कभी-कभी बच्चे का सिर कुछ पीछे की ओर झुका भी रहता है।

१. कर्णनाद को पाश्चात्य शालाक्यमतानुसार 'टिनिटस' (Tinnitus) कहते हैं। टिनिटस दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१—जिसे केवल रोगी ही सुनता है। २-जिसे रोगी तथा अन्य लोग भी सुन सकते हैं।

प्रथम प्रकार का (केवल रोगी को सुनाई देनेवाला) नाद भी दो प्रकार का होता है।

क-शिर में प्रतीत होनेवाला। ख-कान में प्रतीत होनेवाला।

शिर में प्रतीत होनेवाला नाद—कर्णगत रोगों के कारण अथवा बृहन्मस्तिष्कगत विकारों के कारण उत्पन्न होता है। कर्णगत रोगों से उत्पन्न कर्णनाद सीटी बजाने की भाँति या सुसकारी देने की तरह (Hissing Sound) अथवा गाने की तरह (Singing Sound) देर तक सुनाई देता है और उसकी तीक्ष्णता सुनाई देने के पूरे समय में एक-सी ही रहती है। मस्तिष्कगत रोगों के कारण होनेवाला कर्णनाद मानसिक विकृति का प्रारम्भिक लक्षण है और कुछ दिनों के बाद धीरे-धीरे वह कर्णनाद स्पष्ट शब्दों के रूप में सुनाई देने लगता है। कभी-कभी कर्णगत रोगों के कारण उत्पन्न कर्णनाद भी शब्दों का रूप धारण कर लेता है और जब कभी ऐसा हो तो रोगी की मानसिक दशा की सावधानी के साथ जाँच करने की आवश्यकता के लिए इसे एक प्रकार का संकेत समझना चाहिए।

कान में प्रतीत होनेवाला नाद मध्यकर्ण के सपाक और अपाक दोनों प्रकार के शोथों में (Suppurative and non-Suppurative diseases.) उत्पन्न हो सकता है।

ये नाद दो प्रकार के होते हैं:—

१—हृदय की गति के साथ-साथ धड़कन की भाँति सुनाई देनेवाला नाद, जो हृदय तथा रक्तवाहिनियों की विकृति-विशेष के कारण अथवा अस्थिजन्य शब्द-प्रवाह (bone-Conduction) के किसी दोष के कारण सुनाई देता है।

*भेरीमृदङ्गशङ्खानामित्युपलक्षणं, तेन भृङ्गादिकृतशब्दानां ग्रहणम् ॥ ३ ॥

कान की शब्दवाहिनी नाड़ी में स्थित वायु के प्रकुपित होने से भेरी, शंख, मृदङ्ग आदि विविध प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं, इसीको 'कर्णनाद' कहते हैं ॥ ६ ॥

३ बाधिर्य[1]लक्षणमाह—

यदा शब्दवहं वायुः स्रोत आवृत्य तिष्ठति। शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते॥

२—(Labrynth) अन्तःकर्णगत विकृति के कारण सुनाई देनेवाला नाद, जो सुसकारी देने की भाँति या सीटी बजाने की तरह अथवा भोजन के बर्तनों में उबाल आने पर जैसा शब्द होता है, उसी तरह का सुनाई देता है। कभी-कभी गान-वाद्य (यथाः-बाँसुरी, हारमोनियम आदि) की भाँति ऊँचा सुरीला स्वर भी (Loud musical notes) सुनाई देता है (यही कर्णक्ष्वेड है, देखिये मू० श्लो० ९)।

सुसकारी और गाने की तरह के नादों के अधिकतर रात्रि में हो या प्रातःकाल सोकर उठने के बाद सुनाई देने की शिकायत रोगी करता है। कर्णनाद से रोगी की नींद बिल्कुल रुकती तो नहीं, किन्तु बहुधा इससे नींद आने में कठिनाई अवश्य होती है। मस्तिष्क या नाड़ी-विकारवाले (neurotic) रोगियों में कर्णनाद कभी-कभी इतना दुःखजनक और असह्य हो जाता है कि वे आत्म-हत्या तक कर लेते हैं, यदि रोगी ऐसे कर्णनाद की शिकायत करे, जो उसके कर्णगत रोगसे सापेक्षतया अधिक तीव्र हो तो रोगी का रक्तभार (Blood pressure) नापना चाहिए और एल्ब्यूमिन के लिए मूत्र की परीक्षा करनी चाहिए।

ऐसे कर्णनाद जो रोगी को तथा दूसरे व्यक्तियों को भी सुनाई देते हैं, वे प्रायः Tensor Tympani और Tensor palati नामक पेशियों के संकोच के कारण उत्पन्न होते हैं।

कभी-कभी कुछ ओषधियों के अधिक मात्रा में या अत्यधिक काल तक सेवन करने से भी (यथाः-डिजिटेलिस, क्विनाइन और सेलिसिलेट आदि से) कर्णनाद उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में इन ओषधियों का सेवन बन्द या बहुत कम कर देना चाहिए। ऐसा करने से इस प्रकार का कर्णनाद कुछ देर से अपने आप शान्त हो जाता है।

१. वाग्भट ने कर्णनाद की उपेक्षा करने से भी बाधिर्य कीउत्पत्ति बतलाई है। यथाः—
'श्लेष्मणाऽनुगतो वायुर्नादो वा समुपेक्षितः। उच्चैः कृच्छ्राच्छ्रुतिं कुर्याद्बधिरत्वं क्रमेण च ॥'

बधिरता दो प्रकार की होती हैः—

१—जन्मजात (Congenital) बधिरता-इसमें जन्मजात फिरंग के कारण या स्वभावतः अन्तःकर्ण के श्रवणयंत्र का प्रधान अङ्ग (Labrynth) अथवा मस्तिष्कगत श्रवण-केन्द्र जन्म से ही पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुआ रहता, ऐसे रोगियों को बोलचाल के शब्दों का तनिक भी श्रवण-ज्ञान नहीं होता, उनके श्रवण-शक्ति की परीक्षा घंटा या सीटी की आवाज से करनी चाहिए।

२—उपलब्धबधिरता (Aquired Deafness)-इस प्रकार का बहरापन-मध्यकर्ण, लेब्रिन्थ (अन्तः कर्ण) या शब्दवाहिनी नाड़ी (auditory nerve or Acoustis nerve) में शोथ-मूलक विकृति होने से उत्पन्न होता है।

जो बच्चे अभी बोलना न सीखे हों और उन्हें सुनाई देना अकस्मात् बन्द हो जाय तो वे बहरे और गूङ्गे (deaf-mute) हो जाते हैं। ऐसी बधिरता मस्तिष्कावरणशोथ (meningitis), स्कार्लेटज्वर, पाषाणगर्दभ (mumps), रोमान्तिका (measles), विस्फोटयुक्त ज्वर आदि तीव्र रोगों के कारण और कभी-कभी मस्तिष्कावसाद (Conussion of the brain) में उत्पन्न होती है, इसलिए बधिरता की साध्यासाध्यता की दृष्टि से बाधिर्य के रोगी के पारिवारिक इतिहास (जन्मजात फिरङ्ग आदि के लिए) का पता लगाना चाहिए और यह भी पता लगाना चाहिए कि

जब शब्दवाहिनी नाड़ी को वायु स्वयम् (अकेला) या कफ के साथ प्रकुपित होकर घेर लेता है तो 'बाधिर्य' (बहरापन) उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

बाधिर्यासाध्यतामाह—

बाधिर्यं बालवृद्धोत्थं चिरोत्थञ्च विवर्जयेत् ॥ ८ ॥

बालक तथा वृद्ध को उत्पन्न हुआ अथवा बहुत दिनों का जो बाधिर्य (बहरापन) होता है, उसकी चिकित्सा करना छोड़ देना चाहिए, अर्थात् वह असाध्य होता है ॥ ८ ॥

४ कर्णक्ष्वेडलक्षणमाह—

वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषसमं स्वनम् । करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते ॥

क्ष्वेडशब्दार्थं व्यनक्ति—वेणुघोषसमं स्वनमिति। यत उक्तम्—'क्ष्वेडनं वेणुघोषवदि'-ति । ननु कर्णनादकर्णक्ष्वेडयोः को भेदः ? उच्यते–कर्णनादः = केवलेन वातेन जायते, तत्र नानाशब्दांश्च शृणोति । कर्णक्ष्वेडस्तु = पित्तादियुक्तेन वातेन जन्यते, तत्र नियमेन वेणुघोषमेव शृणोतीति भेदः ॥ ९ ॥

पित्तादि दोषों से युक्त प्रकुपित वायु जब कानों में बांसुरी की आवाज जैसा शब्द उत्पन्न करता है तो उसे 'कर्णक्ष्वेड' कहते हैं ।

कर्णनाद और कर्णक्ष्वेड में भेद—कर्णनाद केवल वातजन्य होता है, किन्तु कर्णक्ष्वेड पित्तादि-युक्त वायु से उत्पन्न होता है । इसके अतिरिक्त इसमें केवल बांसुरी ही की तरह आवाज सुनायी देती है ॥ ९ ॥

बधिरता उत्पन्न होने के पूर्व बच्चा बोलना या रोना जानता था, कुछ दिन पूर्व तक कर्णस्राव होता था ? या किसी तीव्र रोग के बाद तो बहरापन प्रारम्भ नहीं हुआ ? मस्तिष्कावरण और मध्यकर्ण के शोथ के कारण तथा विशेष प्रकार के शोथ (यथाः-Bironcho-pneumonia जन्य मध्यकर्ण-शोथ) के कारण उत्पन्न होनेवाली बधिरता की साध्यासाध्यता कुछ आशाजनक होती है ।

कभी-कभी मध्यकर्ण का ग्रसनिकागत द्वार बन्द होने से या मध्यकर्ण में श्लेष्म या पूय आदि भरकर उसमें अवरोध पैदा कर देने से अथवा बहिःकर्ण में अत्यधिक पूय एकत्रित होने से भी भारीपन के साथ बधिरता उत्पन्न हो जाती है ।

मध्यकर्ण या उसके द्वार के बन्द होने के निम्न कारण हो सकते हैं:—

श्रुतिसुरङ्गा के ग्रसनिकागत द्वार पर या उसके समीप किसी प्रकार का शोथादि होना या नासा द्वारा श्रुतिसुरङ्गा में पानी जाना अथवा नासागत, मुखगत या ग्रसनिकागत किसी व्रणादि का स्राव या मैल श्रुतिसुरङ्गा में प्रवेश करना । इन सब कारणों से कर्णपटह (Tympanic membrane) के पीछे की वायु का दबाव कम हो जाने से पटल भीतर की ओर दब जाता है और बाहर की ओर से देखने पर तनिक प्याले जैसा बीच में गहरा प्रतीत होता है। ऐसी दशा में बहिःकर्ण में यदि पूय हो तो उसे निकालना चाहिए और यदि मध्यकर्ण में किसी प्रकार का अवरोध हो तो Eustachian Catheter (मध्यकर्ण में नासा द्वारा प्रवेश करने के लिए धातुमय नाडीयन्त्र) द्वारा प्रधमन करके या कारणानुसार अन्य समुचित उपचार द्वारा बधिरता की चिकित्सा करनी चाहिए । इन उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त, अपतन्त्रक (Hysteria) लघुमस्तिष्क के बाहर का अर्बुद (Extra-Cerbellar tumour), चिरकालीन रक्ताल्पता (Chronic anaemia) अन्तःकर्णगत रक्ताधिक्य (Congestioa of the labrynth), तम्बाकू (Tobacco) और किसी बाहरी द्रव्य का बहिःकर्ण या मध्यकर्ण में पड़ जाना आदि कारणों से भी बधिरता उत्पन्न होती हुई देखी जाती है ।

५ कर्णस्राव[1] लक्षणमाह—

शिरोऽभिघातादथ वा निमज्जतो जले प्रपातादथ वाऽपि विद्रधेः।

---

१. कान का स्राव गाढ़ा, पतला, पूययुक्त, पानी जैसा, दुर्गन्धयुक्त या गन्धहीन किसी भी प्रकार का हो सकता है। कर्णस्राव भी एक लक्षण है। यह निम्नलिखित रोगों के कारण होता है:—

१—वहिःकर्ण की विचर्चिका (Eczema of the external ear) में कर्णस्राव पानी जैसा या गोंद की तरह चिपचिपा होता है। प्रायः गाढ़ा पूययुक्त स्राव बहुत कम होता है। किन्तु बहुत पुरानी विचर्चिका में कभी-कभी गाढ़ा पूययुक्त स्राव भी आ सकता है और कर्णगत उपकला के सड़ने से उसमें हलकी दुर्गन्ध भी हो सकती है।

२—वहिःकर्णगत पिडिका (Furunculosis of the Meatus) में कर्णस्राव के पूर्व पीड़ा भी अधिक रहती है। स्राव गाढ़ा, थोड़ा और पूयमय होता है। कान के भीतर ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि स्राव कान की बहुत गहराई से या श्रुतिपटल (Tympanic membrane) का भेदन करके नहीं आ रहा है, वल्कि वहिःकर्ण की दीवार के बाहरी भाग के एक स्थान से आ रहा है।

३—तीव्र मध्यकर्णशोथ (Acute otitis media) में प्रारम्भ में स्राव कुछ पतला रहता है, किन्तु धीरे-धीरे पूययुक्त गाढ़ा और तारदार हो जाता है।

४—चिरकालीन मध्यकर्णशोथ (Chronic otitis media) में कभी-कभी इतना कम कर्ण-स्राव होता है कि कान केवल गीलामात्र बना रहता है। किन्तु अधिकतर दशाओं में स्राव पर्याप्त मात्रा में होता हुआ देखा जाता है, यहाँ तक कि कभी-कभी रात्रि में कान के समीप का बिस्तरा या तकिया भी भींग जाती है। स्राव अधिकतर पूयपुक्त और बहुत दुर्गन्धयुक्त होता है; किन्तु कभी-कभी पानी जैसा पतला और गन्धहीन भी हो सकता है। कर्णगत Polypus (मांसवृद्धि) या रोहण धातु (grannulation) के कारण बहुधा रक्तमिश्रित स्राव भी होता है। कभी-कभी कान की सड़ी अस्थियों के टुकड़े भी स्राव के साथ आते हैं, जिनसे एक विचित्र प्रकार की गन्ध आती है।

५—रक्तस्रावी मध्यकर्णशोथ (otitis media haemorrhagica) में वहिःकर्ण द्वारा एक बार या अनेक बार रक्तस्राव होता है। इस प्रकार का स्राव प्रायः इन्फ्लुएञ्जा में या इन्फ्लुएञ्जा के बाद, कभी-कभी वृक्करोगों के उपद्रव के रूप में तथा अज्ञात कारणों से भी देखा जाता है।

६—करोटितल का भग्न (Fracture of the base of the skull)–इसमें यदि भग्न शङ्खास्थि में भी हुआ हो तो कान से रक्तस्राव होता है और कभी-कभी इसके बाद थोड़ा या अधिक मात्रा में पानी जैसा (किन्तु पानी की अपेक्षा न्यून गुरुतावाला) स्राव अर्थात् मस्तिष्कसुषुम्नाद्रव (Cerebro-spinal feuid) निकलते हैं।

७—वहिः या मध्यकर्ण के घातक अर्बुद (malignant disease of the middle ear or of the meatus) में स्राव, थोड़ा, पतला और प्रायः बहुत दुर्गन्धयुक्त होता है।

भावप्रकाश ने (अथवा सुश्रुत ने) कान से जो स्राव निकलता है, उसको दो भागों में बाँट दिया है:—एक को 'पूतिकर्ण' कहते हैं, जिसमें कान से दुर्गन्धयुक्त ही स्राव आता है। दूसरा 'कर्णस्राव' कहलाता है, जिसमें शेष सब प्रकार के स्रावों का समावेश होता है और उसमें प्रायः पीड़ा भी होती है। इस प्रकार मध्यकर्ण तथा वहिःकर्ण के घातक अर्बुद तथा मध्यकर्ण-शोथ के चिरकालीन प्रकार में निकलनेवाला स्राव प्रायः 'पूतिकर्ण' और शेष स्राव 'कर्णस्राव' कहे जा सकते हैं। कर्णस्राव और पूतिकर्ण को पाश्चात्य शालाक्यशास्त्र की दृष्टि से otorrhoea अथवा Discharge from the Ear कहते हैं।

स्रवेद्धि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः ॥ १० ॥

*'पूयमि'त्युपलक्षणम् । जलं रसञ्च स्रवेत् । श्रवणशब्दः पुंलिङ्गोऽप्यस्ति ॥ १० ॥

शिर में चोट लगने से, जल में डूबने या डूबकर स्नान करने से, कान के बल गिरने से, अथवा कान में फोड़े होने से वायु प्रकुपित होकर कान में से (पीव) या कभी कभी पानी की तरह पतला द्रव भी जो बहाता है, उसे 'कर्णस्राव' कहते हैं ॥ १० ॥

६ कर्णकण्डू[1]लक्षणमाह—

मारुतः कफसंयुक्तः कर्णे कण्डूं करोति हि ॥ ११ ॥

कफयुक्त वायु कान में खुजली पैदा करता है, उसे 'कर्णकण्डू' कहते हैं ॥ ११ ॥

७ कर्णगूथ[2]लक्षणमाह—

पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा कुरुते कर्णगूथकम् ॥ १२ ॥

*कर्णे गूथ्यते यस्मात्स कर्णगूथो व्याधिः ॥ १२ ॥

---

१. कान में खुजली दो कारणों से उत्पन्न हो सकती है:—

१—कान की गन्दगी से।

२—कान में उकौत या विचर्चिका (Eczema) होने से।

इसलिए कर्णकण्डू को पाश्चात्त्य विज्ञानानुसार Eczema of the ear कहा जा सकता है।

२. 'कर्णगूथ' को पाश्चात्त्य शालाक्यशास्त्र में wax or cerumen कहते हैं। बहिःकर्ण-कुहर (External auditory meatus) के मुख्यतः तरुणास्थिनिर्मित भाग की दीवार में बहुत-सी सूक्ष्म ग्रन्थियाँ होती हैं, जिन्हें Ceruminous glands कहते हैं। इनसे एक प्रकार का चिपचिपा पदार्थ निकलता है, जो बहिःकर्ण को भी किञ्चित् चिपचिपा बना देता है। बाहर से उड़कर कान में जानेवाली धूल, रोयें आदि उसी चिपचिपे स्राव से चिपकते जाते हैं और कालान्तर में काफी परिमाण में एकत्रित हो जाते हैं। इसीको कर्णगूथ कहते हैं। इसके अतिरिक्त आसपास की श्लैष्मिक कला के कुछ छिलके भी गूथ में शामिल रहते हैं। कभी-कभी उपर्युक्त ग्रन्थियों का स्राव सामान्य से कुछ कम हो जाता है। इसी दशा में कान सूखासा रहता है और उसमें से श्लैष्मिक कला के कुछ छिलके निकलते हैं तथा कान में हलकी खुजली भी मालूम होती है। कभी-कभी इन ग्रन्थियों में सामान्य से अत्यधिक स्राव भी होने लगता है। यह विकृति प्रायः ग्रसनिका के नासा-पश्चिमभाग (nasopharynx) गत विकृति के कारण और बच्चों में विशेषतः Adenoids के कारण होती है। यहाँसे उपसर्ग श्रुतिसुरङ्गा की ग्रन्थियों में होता हुआ इन Ceruminous glands में भी पहुँच जाता है। इस विकृति के परिणामस्वरूप अधिकाधिक गूथ बहिःकर्ण में एकत्रित होती जाती है और धीरे-धीरे कर्णकुहर को बन्द कर देती है। कालान्तर में यह गूथ सूखकर कड़ी और काली हो जाती है। कर्णकुहर के गूथ द्वारा अवरुद्ध हो जाने से बधिरता, अपना शब्द अधिक सुनाई देना; किन्तु दूसरे का या बाहरी शब्द बहुत ही कम सुनाई देना (अर्थात् Autophonia), कर्णनाद (किसी-किसी में) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं और साथ ही कभी-कभी शिर के बगल में नाडीशूलवत् पीड़ा भी होती है। सम्भवतः वाग्भटोक्त 'कर्णप्रतीनाह' इन्हीं लक्षणों का समूह है, यथाः—

'वातेन शोषितः श्लेष्मा स्रोतो लिम्पेत्ततो भवेत्। रुग्गौरवं पिधानं च स प्रतीनाहसंज्ञितः' ॥

कर्णगूथ की चिकित्सा के लिए दो उपाय हैं। १—गूथ को निकालना। २—गूथ का बनना बन्द करना। गूथ को निकालने के लिए किञ्चित् उष्ण जल से कानमें एक या अनेक बार पिचकारी देनी चाहिए। पिचकारी देते समय पानी की धार कर्णकुहर की पिछली दीवार के सबसे ऊपरी भाग में जोर के साथ लगनी चाहिए। कभी-कभी गूथ बहुत कड़ा रहता है, उस दशा में रोगी के कान में

पित्त की उष्णता से कान की श्लेष्मा सूख जाने से कान में (विष्ठा की तरह) मैल उत्पन्न हो जाता है, इसलिए इस रोग को 'कर्णगूथ' कहते हैं ॥ १२ ॥

८ कर्णप्रतिनाह[1] लक्षणमाह—

स कर्णगूथो द्रवतां यदा गतो विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते।
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो भवेद्विकारः शिरसोऽर्द्धभेदकृत् ॥ १३ ॥

*घ्राणञ्च मुखञ्च घ्राणमुखम्, एकत्वं द्वन्द्वे। शिरसोऽर्द्धभेदकृत् = अर्द्धावभेदकाख्य-शिरोरोगकृत् ॥ १३ ॥

वही कर्णगूथ जब पिघलकर पतला हो जाता है तो नाक और मुख में आता है, इसीको 'कर्णप्रतिनाह' कहते हैं। इस रोग से अर्द्धावभेदक (आधी शीशी) नामक शिरोरोग उत्पन्न हो जाता है ॥ १३ ॥

९ कृमिकर्णक[2] लक्षणमाह—

यदा तु मूर्च्छन्त्यथवा तु जन्तवः सृजन्त्यपत्यान्यथवाऽपि मक्षिकाः।
तदञ्जनत्वाच्छ्रवणे निरुच्यते भिषग्भिराद्यैः कृमिकर्णको गदः ॥ १४ ॥

*तदञ्जनत्वात् = कृमिलक्षणत्वात्। श्रवणे कृमिकर्णको गदो निरुच्यत इत्यन्वयः ॥

जब कान में कीड़े पड़ जाते हैं या मक्खियाँ कान में अपने बच्चे पैदा कर देती हैं तो कान में कृमियों के लक्षण मिलने लगते हैं, इसलिए इसे वैद्यलोग 'कृमिकर्णक' रोग कहते हैं ॥ १४ ॥

पतङ्गादिषु कर्णप्रविष्टेषु[3] लक्षणमाह—

पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य हि। अरतिं व्याकुलत्वञ्च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ॥

लिकिड पाराफिन डालकर या कडु तेल डालकर गूथ को मुलायम कर लेना चाहिए और बाद में पिचकारी या कर्ण-संदंश (Ear forceps) द्वारा निकालना चाहिए। गूथ की उत्पत्ति रोकने के लिए गूथोत्पादक ग्रन्थियों को स्वस्थ रखने का उपाय करना चाहिए। इसके लिए गूथ को निकाल लेने के बाद कान में yellow oint. अत्यल्प मात्रा में कुछ दिनों तक लगाते रहना चाहिए या कुष्ठादि बिल्वादि तैल का उपयोग करना चाहिए।

१. भावप्रकाशोक्त प्रतीनाह सम्भवतः श्रुतिसुरङ्गा का तीव्र अवरोध (Acute Eustachian obstruction) या कर्णमूलक विद्रधि का ग्रसनिका तथा नासाग्रसनिका में फूटना है:-"In other instances, usually, in adults, where the outer table is of considerable density and where the mastoid process is formed entirely of Cells, the pus (of the antral abcsess) may perforate the outer wall of the diagastric fossa, and then following the direction of the fascial planes, present itself in the pharynx, nasppharynx" (अर्थात् घ्राणमुखं प्रपद्यते)—Diseases of the Ear, by Richard Lake.

२. वाग्भट ने कृमिकर्णक का लक्षण कुछ अधिक स्पष्ट लिखा है। यथाः—

'वातादिदूषितं श्रोत्रं मांसासृक्क्लेदजां रुजम्। खादन्तो जन्तवः कुर्युस्तीव्रां स कृमिकर्णकः ॥'

सम्भवतः ठीक सफाई न करने से मध्यकर्ण के चिरकालीन शोथ में या बहिःकर्ण के Rodent ulcer में कीड़े पड़ जाने पर उन्हें 'कृमिकर्णक' कहा जाता रहा हो।

३. यदि कान में कीड़े या पतङ्गादि पड़ गये हों तो कान में क्लोरोफार्म की भाफ देकर या कडुतैलादि अन्य कृमिनाशक उपायों द्वारा कीड़ों को मारकर पिचकारी (Syringe) या संदंश द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए।

कर्णो निस्तुद्यते तस्य तथा च फर्फरायते । कीटे चरति रुक्तीव्रा निस्पन्दे मन्दवेदना ॥१५॥

छनिस्पन्दः = निश्चलः ॥ १५ ॥

जब पतंग या कनपट्टा (कानखजूरा) आदि कान में प्रवेश करके बेचैनी और व्याकुलता उत्पन्न करके अत्यन्त तीव्र पीड़ा पैदा करते हैं तो कान में सुई कोचने जैसी पीड़ा होती है और कान में फरफराहट प्रतीत होती है। जब कीड़ा कान में रेंगता है तो तीव्र पीड़ा होती है और जब स्थिर रहता है, तब धीमी-धीमी पीड़ा होती है ॥ १५ ॥

१०-११ अथ द्विविधकर्णविद्रधि[1]लक्षणमाह—

क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः ।
स रक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत्प्रतोदधूमायनदाहचोषवान् ॥ १६ ॥

छक्षतप्रभवोऽभिघातप्रभवश्च, तयोर्द्वयोरप्यागन्तुजत्वादैक्यम् । अस्रम्=अस्रावमित्यर्थः ॥

कान में दो प्रकार की विद्रधि होती है। १-क्षत(घाव)जन्य या अभिघात(चोट)जन्य। (इन दोनों विद्रधियों का समावेश आगन्तुज में होता है, इससे ये दोनों एक ही गिनी जाती हैं।) २ वातादिदोषजन्य—इन विद्रधियों के होने पर कान से लाल, पीला और अरुणवर्ण का स्राव होता है और सुई कोंचने जैसी पीड़ा, धूआँ निकलने जैसा दाह और अग्नि के ताप जैसी गर्मी कान में प्रतीत होती है ॥ १६ ॥

१२ कर्णपाक[2]लक्षणमाह—

कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथविक्लेदकृद्भवेत् ॥ १७ ॥

छकोथः = पूतीभावः । विक्लेदः = आर्द्रता ॥ १७ ॥

प्रकुपित पित्त के कारण कान में कोथ (दुर्गन्धयुक्त सड़न) और गीलापन उत्पन्न होता है। इससे कर्णपाक उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥

---

१. कर्णविद्रधि को पाश्चात्त्य कर्णरोग-विज्ञान में Furunculosis or abscess or boil of the external meatus कहते हैं। इसका मुख्य लक्षण तीव्र पीड़ा है, जो कभी-कभी अपनी तीव्रता के कारण नींद नहीं लगने देती। कान को छूने से या कुछ चबाने से पीड़ा अधिक हो जाती है। पीड़ा प्रारम्भ होने के कुछ ही दिन बाद थोड़ी-सी गाढ़ी पूय निकलती है। ज्वरादि लक्षण प्रायः बहुत कम या नहीं रहते। पूय के निकलने पर पीड़ा कुछ कम हो जाती है। कर्णकुहर को देखने पर किसी स्थान पर ललाई और पीड़नाक्षमता दिखाई देती है। विद्रधि प्रायः बहिःकर्ण की पश्चिम भित्ति पर ही अधिकतर होती है और पूर्वभित्ति पर बहुत कम होती है। विद्रधि यदि पकी न हो तो सेक आदि उपचार करना और पक जाने पर यदि स्वयं न फूटे तो (आवश्यकता हो तो संज्ञाहरण करके) उसे खोल देना और ५ प्र० श० कार्बोलिक एसिड या १० प्र० श० हाइड्रोजन पेराक्साइड से धोकर ५ प्र० श० कार्बोलिक एसिड में भिगोया हुआ पिचु (plug) कान में भर देना चाहिए। प्रत्येक २४ घण्टे के बाद पुनः इसी प्रकार धोकर पिचु भर देना चाहिए। विद्रधि की पक्व अथवा अपक्व अवस्थाओं में पीड़ा के लिए कर्ण-वेदनाहरण उपायों का प्रयोग करना तथा आवश्यकता समझकर मुखद्वारा या त्वचा द्वारा (injection द्वारा) भी निद्राल ओषधि-प्रयोग करके वेदना का शमन करना चाहिए।

२. कर्णपाक को Herpes of the external ear कह सकते हैं। यह कान की ठीक सफाई न करने से अथवा यदि शरीर के किसी भाग में Herpes हुई हों तो खुजलाने आदि के द्वारा उसका उपसर्ग कान में भी जाने से उत्पन्न होती है। इसमें कान की सफाई करके बोरिक एसिड और आयडोफार्म को अवधूलित (insuffate) करना चाहिए अथवा आवश्यकता हो तो कर्णविद्रधिवत् उपचार करना चाहिए।

१३ पूतिकर्णकलक्षणमाह—

कर्णविद्रधिपाकेन कर्णे वा वारिपूरणात्। पूयं स्रवति यः पूति स ज्ञेयः पूतिकर्णकः ॥ १८ ॥

कर्णस्रावाद् भेदार्थमाह—'पूती'ति। नियमेन पूति यथा स्यादेवं स्रवति ॥ १८ ॥

कर्णविद्रधि के पक जाने से या कान में पानी भर जाने से कान से दुर्गन्धित पूय बहा करती है। इसको-'पूतिकर्ण' कहते हैं। इससे सदा दुर्गन्धित ही स्राव होता है। यही कर्णस्राव से भेद है ॥१८॥

१४-२८ [1]कर्णशोथकर्णार्शोलक्षणान्याह—

कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणैः ॥ १९ ॥

कर्णशोथाश्च चत्वारो = वातपित्तकफरक्तजाः। एवमर्शोऽपि चतुर्विधम्। अन्येषां शोथानामर्शसां चासम्भवः, आधारप्रभावात्। अर्बुदं सप्तविधं = वातपित्तकफरक्तमांसमेदःशिराजम्। एते कर्णरोगा अष्टाविंशतिः सुश्रुतोक्ताः ॥ १९ ॥

इति सुश्रुतोक्ताः कर्णरोगाः।

कर्णशोथ चार प्रकार का होता है। यथाः—वातज, पित्तज, कफज, रक्तज। इसी तरह कर्ण के अर्श भी चार प्रकार के होते हैं। यथाः—वातार्श, पित्तार्श, कफार्श और रक्तार्श। कर्णार्बुद सात प्रकार के होते हैं। यथाः—वाजत, पित्तज, कफज, रक्तज, मांसज, मेदज और शिराजन्य। इस प्रकार सुश्रुत में कहे हुए २८ कर्णरोग कहे गये ॥ १९ ॥

अथेदानीं चरकोक्तं कर्णरोगचतुष्टयं वातपित्तकफसन्निपातकृतमाह—

१ तत्र वातजकर्णरोग[2] लक्षणमाह—

नादोऽतिरुकर्णमलस्य शोथः स्रावस्तनुश्चाश्रवणञ्च वातात् ॥ २० ॥

अब चरकोक्त वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज-इन चार प्रकार के कर्णरोगों को कहते हैं। उनमें वातजन्य कर्णरोग में कान में विविध प्रकार का शब्द होता है, पीड़ा होती है, शोथ होता है और पतला स्राव निकलता है तथा सुनाई नहीं देता है ॥ २० ॥

२ पित्तजकर्णरोग[3] लक्षणमाह—

शोथः सरागो दरणं विदाहः सपूतिपीतस्रवणञ्च पित्तात् ॥ २१ ॥

---

१. कर्णशोथ को Acute diffused inflammation of the External meatus कह सकते हैं। कर्णार्बुद में बहिःकर्ण के cyst, papilloma, epithilioma, Fibroma of lobule और Sarcoma of the temporal bone का समावेश किया जा सकता है। सम्भवतः polypus को कर्णार्श कह सकते हैं।

२. वातज कर्णरोग में Furunculosis, मध्यकर्ण-शोथ की प्रारम्भिक अवस्था तथा कर्णगूथ-जन्य अवरोध के लक्षणों (Symptoms caused by inpacted cerumen) का समावेश किया जा सकता है।

३. पित्तज कर्णरोग के लक्षण में वाग्भट ने 'ज्वर' भी पढ़ा है और वे रक्तज कर्णरोग भी मानते हैं। यथाः—

'रक्तं पित्तसमानार्ति किंचिद्वाऽधिकलक्षणम्।' पित्तज और रक्तज कर्णरोगों को तीव्र मध्यकर्ण-शोथ (Acute otitis media) कह सकते हैं।

मध्यकर्ण में मुख्यतः तीन प्रकार का शोथ होता है:-१-मध्यकर्ण का तीव्र शोथ २—मध्यकर्ण का प्रसेकयुक्त शोथ ३—मध्यकर्ण का चिरकालीन सपाक शोथ।

१—मध्यकर्ण का तीव्र शोथ (Acute otitis media):—मध्यकर्ण में शोथोत्पादक जीवाणुओं का उपसर्ग रक्त द्वारा, लसिकावाहिनियों द्वारा अथवा नासाग्रसनिका के शोथयुक्त विकारों से श्रुतिसुरंगा द्वारा पहुँचता है। इनमें से अन्तिम मार्ग सर्वप्रधान है। बहुत से तीव्र रोगों

पित्तज—कर्णरोग में शोथ, ललाई, कान फटने जैसी पीड़ा, जलन और पीला तथा दुर्गन्धित स्राव होता है ॥ २१ ॥

में उपद्रव के रूप में भी मध्यकर्णशोथ होता है। इन रोगों में से स्कार्लेट ज्वर, रोमान्तिका, रोहिणी (Diphtheria), कूकर खाँसी (whooping Cough), इन्फ्लुएन्जा, बच्चों की पुरानी खाँसी और आन्त्रिकज्वर प्रधान हैं। जिन रोगियों में नासाप्रतीनाह या polypus आदि के कारण नासावरोध हुआ रहता है या जिनकी tonsil (उपजिह्विका) बढ़ी रहती हैं, उनमें इस रोग के होने की अधिक संभावना रहती है।

विकृति—श्रुतिसुरंगा और श्रुतिकुहर (Lustachian tube and Tympanic cavity) की श्लेष्मलकला में शोथ उत्पन्न होता है। श्रुतिपटल स्वयं भी शोथयुक्त हो जाता है। कभी-कभी शोथ बहिःकर्ण में पहुँच जाता है और उसमें स्फोट उत्पन्न होकर मार्ग को अवरुद्ध कर देता है।

लक्षण—तीव्र कर्णशूल (दौरे के साथ या निरन्तर होनेवाला), शिर के उसी रुग्ण भाग में अथवा समस्त शिर में भी तीव्र शूल, रात्रि में पीड़ा का बहुत बढ़ जाना, ज्वर (१०१ फा० से १०३ फा० तक), कान में भारीपन, आटोफोनिया (Autophonia), बधिरता, श्रुतिपटल लाल, चमकहीन, बाहर को दबा हुआ, यदि बहिःकर्ण में भी उपसर्ग पहुँच आया हो तो उसमें भी ललाई, शोथ और स्फोट। इसके बाद यदि शोथ का प्रशमन प्रारम्भ हो जाता है, तब तो धीरे-धीरे उपर्युक्त सब लक्षण दूर हो जाते हैं और श्रुतिपटल का रंग तथा आकारादि पूर्ववत हो जाता है, अन्यथा यदि पाक प्रारंभ हो गया तो कुछ काल में श्रुतिपटल का भेदन (perforation) करके पूय बहिःकर्ण में आ जाती है। इस समय पीड़ा कुछ कम हो जाती है। प्रारंभ में स्राव पतला रहता है, किन्तु कुछ दिनों में पूययुक्त और गाढ़ा हो जाता है। कभी-कभी समस्त श्रुतिपटल पूय से सड़कर नष्ट हो जाता है और कर्ण की अस्थियाँ भी सड़ने लगती हैं। कभी-कभी उरःकर्णमूलिका पेशी के नीचे स्थित लसिकाग्रन्थियों में शोथ होजाने से भी कान में तीव्र पीड़ा होती है। ऐसी दशा में चिकित्सक को प्रायः मध्यकर्णशोथ का भ्रम हो जाता है। किन्तु तीव्र मध्यकर्ण-शोथ में श्रुतिपटल लाल, सूजनयुक्त और विकृत रंग का होता है। इसके विपरीत कर्णमूलिक ग्रन्थियों के शोथ में श्रुतिपटल स्वस्थ और स्वाभाविक रूप में रहता है। इसलिए इसीको देखकर दोनों में सरलता से विभेद किया जा सकता है। साथ ही मुख और ग्रसनिका में उस समय कोई न कोई ऐसा विकार अवश्य उपस्थित रहता है, जिसका उपसर्ग उपर्युक्त कर्णमूलिक लसिकाग्रन्थियों के शोथ का मुख्य कारण होता है।

चिकित्सा सूत्र—यदि शोथ की प्रारम्भिक स्थिति हो तो पीड़ा को शान्त करने और पाक को रोकने और इस प्रकार श्रुतिपटल में भेदन होने से बचाने का प्रयत्न करना चाहिए। और यदि भेदन हो गया हो तो इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि शोथ और पाक कर्णमूलकभाग (mastoid and mastoid antrum) में न पहुँचने पाये और फटे हुए श्रुतिपटल का रोपण हो जाय तथा स्राव बन्द हो जाय।

उपद्रव—अर्दित (Facial palsy), लसिकाग्रन्थिशोथ (Adenitis), कर्णमूलिकशोथ (mastoiditis), कर्णमूलिक विद्रधि (mastoid abscess), करोटिगुहागत विद्रधि (abscess within the cranium), अन्तःकर्णशोथ (Labrynthitis), तीव्र मस्तिष्कावरण शोथ (Acute meningitils) और लघुमस्तिष्कगत विद्रधि (Cerebellar abscess)।

मध्यकर्ण का प्रसेकयुक्त शोथ (Chronic catarrhal non-Suppurative otitis med ia) यह मध्यकर्ण की श्लैष्मिक कला का चिरकालीन शोथ है, जो बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है और इसमें प्रायः पूय नहीं पड़ती। अधिकतर नासाग्रसनिका की श्लैष्मिक कला का शोथ (catarrh of the mucosa of the nasopharynx) श्रुतिसुरंगा में से होता हुआ मध्यकर्ण में पहुँचकर वहाँ भी

३ कफजकर्णरोग[1]लक्षणमाह—

वैश्रुत्यकण्डूरिथरशोथशुक्का स्निग्धा स्रुतिः स्वल्परुजा कफाच्च ॥ २२ ॥

शोथ उत्पन्न करता है। नासाग्रसनिका की लसिकाग्रंथियाँ (Adenoids) भी कभी-कभी इस शोथ के उत्पन्न होने में कारण हुआ करती हैं। इस रोग में आनुवंशिक परम्परा भी देखी जाती है।

लक्षण—शोथ का प्रारम्भ धीरे-धीरे होता है और प्रायः दोनों कान में साथ ही प्रारम्भ नहीं होता, एक कान के बाद दूसरे में शोथ का प्रारम्भ प्रायः बहुत पीछे होता है। कुछ सार्वदैहिक रोगों या दशाओं का (यथाः—रक्ताल्पता, वातरक्त, मलेरिया, मलावरोध, मन्दाग्नि, नासा या नासाग्रसनिका के अवरोध आदि का) इस रोग से ग्रस्त रोगियों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। श्रुतिपटल कुछ अधिक नतोदर हो जाता है। रोगी को अधिकतर सर्दी लगकर जुकाम होने पर बधिरता हो जाया करती है। फिर कुछ दिनों में सुनाई देने लगता है; किन्तु हरएक बार की सर्दी में उत्तरोत्तर बधिरता दूर होने में अधिक समय लगता है और प्रत्येक बार उत्तरोत्तर (जुकाम अच्छा होने पर भी) सुनाई देने की शक्ति भी पूर्व से कुछ घटती ही जाती है। इस कारण सामान्य बातचीत के समय रोगी को सुनने में कुछ कठिनाई होती है और उसे बातचीत करनेवाले की तरफ अपना एक कान लगाना पड़ता है। जब कभी बधिरता ठीक होती है तो एक प्रकार के शब्द के साथ होती है। यह शब्द अवरुद्ध श्रुतिसुरङ्गा में सहसा वायु के प्रविष्ट होने से उत्पन्न होता है। इस रोग का रोगी प्रायः दो कारणों से उत्पन्न कष्टों का अनुभव करके चिकित्सक के पास आता है:—

१—श्रुतिसुरङ्गा का अवरोध, २—उस अवरोध का मध्यकर्ण पर विकारी प्रभाव।

बधिरता और कर्णनाद इस रोग के मुख्य प्रारम्भिक लक्षण हैं। ये दोनों लक्षण क्रमशः उत्तरोत्तर तीव्र होते जाते हैं। कर्णनाद, सुसकारी देने या गाने की भाँति या गान-वाद्य की भाँति कर्णक्ष्वेड (musicar Sound) होता है। धीरे-धीरे कर्णनाद उत्तरोत्तर तीव्र होता जाता है और आगे चलकर लगातार होता है और रात्रि तथा प्रातःकाल में अधिक सुनाई देता है। इससे रोगी को बड़ा कष्ट प्रतीत होता है। मद्यपान, काफी तथा चाय आदि से नाद में और वृद्धि हो जाती है। मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य में शिथिलता आती है। आटोफोनिया [अपना शब्द (स्वयं रोगी का) अधिक तीव्र सुनाई देना], Paracusis willisii (शोरगुल में भी अच्छी तरह सुनना) और paracusis loci (शब्द जिस स्थान से आ रहा है, उस स्थान के अन्दाज करने की शक्ति का ह्रास)—ये सब लक्षण होते हैं। चक्कर (Vertigo) आता है, जो प्रायः रोग की पिछली अवस्था में उत्पन्न होता है और कभी-कभी बड़ा तीव्ररूप भी धारण कर लेता है। श्रुतिपटल मोटा, सामान्य से अधिक श्वेत, धारीदार या रेखायुक्त हो जाता है।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा के तीन उद्देश्य हैं:—

१—आन्तरिक ओषधियों द्वारा बधिरता और कर्णनाद को दूर करना। इसके लिए कुचिला, हाइड्रोब्रोमिक एसिड, ब्रोमाइड्स (प्रायः रात्रि में), वेलेरियन अथवा ब्राह्मी देना चाहिए। पांडु या रक्ताल्पता के रोगियों में संखिया और लौह का प्रयोग करे। पाचन-शक्ति और मलावरोध को सुधारे तथा वातरक्तादि यदि हों तो उनका समुचित प्रतीकार करे और मद्य, चाय, काफी, मरिच, पीपर आदि चरपरी चीजों का उपयोग न करे।

२—श्रुतिसुरंगा का अवरोध दूर करना—इसके लिए कर्णनाडीयन्त्र (Eustachian Gatheter) और Polilfzer' s bag से प्रधमन करे।

३—नासा तथा नासाग्रसनिका के दोषों को दूर करना।

१. वाग्भट ने कफज कर्णरोग के लक्षण में 'श्वेतघना स्रुतिः' लिखा है। इसलिए कफज कर्णरोग को Suppurative Chronic otitis media कह सकते हैं।

*वैश्रुत्यम् = अन्यथाश्रवणम् ॥ २२ ॥

कफज कर्णरोग में विपरीत शब्द सुनना, कान में खुजली, कड़ा और सफेद शोथ और थोड़ी-थोड़ी पीड़ा होती है तथा कान से चिकना स्राव होता है ॥ २२ ॥

४ सन्निपातजकर्णरोगलक्षणमाह—

सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात्स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥ २३ ॥

सन्निपातज कर्णरोग में तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं और जिस दोष की प्रबलता रहती है, उसीके समान रङ्गवाला स्राव होता है ॥ २३ ॥

मध्यकर्ण का चिरकालीन सपूय शोथ (Suppurative Chronic otitis media)—

इस प्रकार का शोथ तीव्र मध्यकर्ण शोथ के परिणामस्वरूप भी होता है। मध्यकर्ण का क्षयज रोग भी (Tuberculart diseases of the middle ear) चिरकालीन सपाक मध्यकर्णशोथ का प्रायोभावि कारण है। इसके अतिरिक्त प्रायः यह भी देखा जाता है कि सभी चिरकालीन कर्ण, स्राव नासा तथा नासाग्रसनिका की शोथयुक्त विकृतियों उपसर्ग के कारण होते हैं। अधिकतर बच्चों का चिरकालीन कर्णस्राव ग्रसनिकागत उपजिह्विका (Pharyngeal tonsil) के शोथ के कारण ही होता है।

लक्षण—पूययुक्त कर्णस्राव (कभी-कभी दुर्गंधयुक्त), बहुधा रक्तमिश्रित स्राव, श्रुतिपटल का भेदन (Perforation), बधिरता, चक्कर आना, मुख का स्वाद अरुचिकर, कर्णनाद, सिर के किसी विशेष स्थल में या समस्त शिर में पीड़ा, स्वभाव का चिड़चिड़ा होना, किसी विषय पर ध्यान का (प्रयत्न करने पर भी) एकाग्र न हो सकना। यदि यह पाक कई सालों तक रह जाता है तो रोगी के शरीर में पूय का विष धीरे-धीरे फैलता है। इससे रोगी का चेहरा धँस जाता है, कर्णमूलिक प्रदेश के सीमित तथा विस्तृत क्षेत्र में पीड़ा होती है, (nystagmus) वमन और अर्दित (Facial paralysis) आदि लक्षण होते हैं। कभी-कभी कर्णस्राव बीच-बीच में कुछ दिनों के लिए बन्द भी हो जाया करता है। ऐसा बन्द स्राव जब कभी पुनः दिखाई देता है तो प्रायः कर्णशूल या शिरःशूल भी होता है। यदि स्राव का आना अकस्मात् बन्द हो जाय तो करोटिगुहागत किसी भयानक विद्रधि आदि के उत्पन्न होने की शंका करनी चाहिए। बहिःकर्ण में पूय आने के लिए श्रुतिपटल का भेदन हो जाना (यद्यपि प्रायः ऐसा ही होता है) सदैव आवश्यक नहीं है। बल्कि कभी-कभी श्रुतिपटल ज्यों का त्यों रहता है और इसके एक तरफ से नाडीव्रण बनकर उसीके द्वारा पूय मध्यकर्ण से बहिःकर्ण में आती है।

चिकित्सा—चिरकालीन सपाक मध्यकर्णशोथ में स्राव को बन्द करने के लिए विसंक्रामक (Antiseptics) द्रव्यों का या संकोचक द्रव्यों (Astringents) का प्रयोग किया जाता है अथवा शस्त्रकर्म करना पड़ता है। विसंक्रामक चिकित्सा पुनः शुष्क और सद्रव इस तरह दो प्रकार की होती है। इनमें सद्रव चिकित्सा सामान्यतः अधिक लाभकर होती है। इस कार्य के लिए बिनायोडाइट या परक्लोराइट ऑफ् मर्करी, बोरिक एसिड, क्रियोलीन, और Lysol का बहुधा प्रयोग किया जाता है। इन द्रव्यों की पिचकारी देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो भी भाग पिचकारी की धार की पहुँच के भीतर हो, वह भली भाँति साफ हो जाय। पिचकारी की धार कर्ण की पिछली और ऊपरी दीवार पर लगनी चाहिए। आवश्यकतानुसार प्रत्येक चार या छह हफ्ते के बाद पहली दवा बदलकर दूसरी का प्रयोग करना चाहिए। दिन में तीन बार तक कान की सफाई की जा सकती है। पिचकारी देने के बाद मध्य और बहिःकर्ण को भलीभाँति सुखा अवश्य लेना चाहिए। कभी-कभी मध्यकर्ण से पूय बाहर निकालने के लिए नासामार्ग से श्रुतिसुरंगा में वायुप्रधमन भी करते हैं। कभी-कभी (जब पूय बहुत चिपचिपी हो) केवल हाइड्रोजन पेराक्साइट

अथ कर्णपालीरोगाः।

तत्र सनिदानं परिपोटकलक्षणमाह—

सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसैवातिवर्धिते। कर्णे शोथो भवेत्पाल्यां सरुजः परिपोटवान्। कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात्परिपोटकः॥ २४॥

*कर्णपाल्याः कर्णावयवत्वाद्, तद्विकारमप्यत्रैवाह। परिपोटवान्=मनाग्विदारणवान्॥

कर्णपाली कान का ही एक भाग है, अतएव इसके रोगों को भी कर्णरोगों के प्रकरण में लिखते हैं। बहुत दिनों तक भारी वस्तु को कर्णपाली के छिद्र में डाले रहने से कोमलता के कारण कर्णपाली में सहसा शोथ पैदा हो जाता है। कर्णपाली तनिक फट जाती है। उसमें पीड़ा और जकड़ाहट होती है। और उसका रङ्ग काला या कालिमा लिये हुए लाल हो जाता है। इस रोग को 'परिपोटक' कहते हैं॥ २४॥

का उपयोग करने से भी पर्याप्त लाभ होता है। पिचकारी देने के बाद भी इसका उपयोग किया जा सकता है, किन्तु इसके उपयोग के पहले और पीछे भी प्रत्येक वार कान को अच्छी तरह सुखा लेना आवश्यक है।

शुष्क चिकित्सा के लिए शुद्ध (Sterilixed) बोरिक एसिड या बोरिक और आयडोफार्म मिलाकर कान में दिन में एक या दो बार प्रधमन (Insufflate) करना चाहिए, किन्तु प्रत्येक चौथे दिन विसंक्रामक द्रव्यों की पिचकारी से कान को धोकर सुखा लेना चाहिए। ऐसा न करने से बोरिक और पूय मिलकर कान को अवरुद्ध कर लेते हैं। उपर्युक्त शुष्क और सद्रव दोनों चिकित्साएँ तभी प्रभावकर होती हैं, जब श्रुतिपटल में पर्याप्त बड़ा छिद्र रहता है, जिससे ओषधि मध्यकर्ण के अधिकांश भाग में पहुँच सके। इस चिकित्सा के साथ-साथ मुख, ग्रसनिका और नासा के विकारों को (जो ऐसी दशा में प्रायः होते हैं) दूर करना चाहिए और बलदायक ओषधियों द्वारा सामान्य स्वास्थ्य को भी उन्नत करना चाहिए। यदि कान में स्राव अत्यधिक जमा न हो तो पिचकारी देना या हाइड्रोजन पेराक्साइड का उपयोग करना हितकर नहीं है। ऐसी दशा में कान को केवल रुई से साफ करके पूर्वोक्त किसी उपयुक्त विसंक्रामक द्रव्य के घोल में रुई भिगोकर कान में रख देना चाहिए।

उपद्रवः—वहिःकर्ण में विचर्चिका (Eczema), भ्रम (Vertigo), nystagmus (अक्षिगोलक का नाचना), पीड़ा, शिरःशूल, कर्णनाद, कर्णार्श (Polypus), Cholesteatoma (मध्यकर्ण की श्लेष्मल कला का छिलके के रूप में तीव्रता से अलग होना), कर्ण की अस्थियों में तथा शङ्खास्थि में व्रण होना, अन्तःकर्ण का पाक तथा व्रण, वहिः या अन्तःनाडीव्रण, वहिःकर्णद्वार का सँकरा हो जाना, अर्दित, मस्तिष्कावरण के बाहर तथा भीतर विद्रधि होना, मस्तिष्कावरणशोथ, लघु और बृहन्मस्तिष्क में विद्रधि इत्यादि। वाग्भट ने कुचिकर्णक तथा पिप्पली नामक दो और विकार पढ़े हैं। यथाः—

'गर्भेऽनिलात्संकुचिता शष्कुली कुचिकर्णकः। एको नीरुगनेको वा गर्भे मांसाङ्कुरः स्थिरः॥ पिप्पली पिप्पलीमानः'

ये दोनों विकार गर्भगत विकास की कर्णगत विकृतियाँ (malformations of the external ear) हैं।

वाग्भटोक्त कर्णरोगगत 'विदारिका' सम्भवतः 'Suppurating cyst of lobule of the ear' है। यथाः—

'सन्निपाताद्विदारिका। सवर्णः सरुजः स्तब्धः श्वयथुः स उपेक्षितः॥
कटुतैलनिभं पक्वः स्रवेत् कृच्छ्रेण रोहति। सङ्कोचयति रूढा च सा ध्रुवं कर्णशष्कुलीम्॥'

उत्पातलक्षणमाह—

गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद्धर्षणादपि । शोथः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकरुजाऽन्वितः ।
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः सगदः स्मृतः ॥ २५ ॥

भारी आभूषण पहनने से, चोट लगने से या रगड़ा जाने से कान की (पाली) में जलन और पीड़ायुक्त सूजन हो जाती है । यह पक भी जाती है । इसका रङ्ग साँवला या लाल होता है । इसे 'उत्पात' कहते हैं । यह रक्त और पित्त से उत्पन्न होता ॥ २५ ॥

उन्मन्थकलक्षणमाह—

कर्णं बलाद्वर्द्धयतः पाल्यां वायुः प्रकुप्यति । कफं संगृह्य कुरुते शोथं स्तब्धमवेदनम् ।
उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः ॥ २६ ॥

*अवेदनम् = ईषद्वेदनम् ॥ २६ ॥

कर्ण की पाली को बलात् बढ़ाने से उसमें वायु प्रकुपित हो जाता है और कफ के साथ मिलाकर जकड़ाहट, खुजली और अल्प पीड़ायुक्त शोथ पैदा करता है । उसे 'उन्मन्थक' कहते हैं और यह कफवातजन्य होता है ॥ २६ ॥

दुःखवर्द्धनलक्षणमाह—

संवर्ध्यमाने दुर्विद्धे कण्डूदाहरुजाऽन्वितः । शोथो भवति पाकश्च त्रिदोषो दुःखवर्द्धनः ॥२७॥

*संवर्ध्यमाने दुर्विद्धे । कर्णे इति शेषः ॥ २७ ॥

ठीक तरह से न छेदे हुए कान को बढ़ाने से खुजली, जलन और पीड़ायुक्त त्रिदोषज जो शोथ होता है और पक भी जाता है, उसे 'दुःखवर्द्धन' कहते हैं ॥ २७ ॥

परिलेहिलक्षणमाह—

कफासृक्कृमयः क्रुद्धाः सर्षपाभा विसारिणः । कुर्वन्ति पिडकां पाल्यां कण्डूदाहसमन्विताम् ॥
कफासृक्कृमिसम्भूतः स विसर्पन्नितस्ततः। लिह्यात्सशष्कुलीं पालीं परिलेही च स स्मृतः ॥

*सः = पिडकाऽऽत्मकः परिलेहिसंज्ञो गदः । लिह्याद् = निर्मांसीकुर्यात् ॥ २८ ॥

इति कर्णपाली[1]रोगाः ।

कफ, रक्त और कृमि—ये तीनों प्रकुपित होकर सरसों के समान आकारवाली तथा फैलनेवाली फुन्सियाँ कर्णपाली में उत्पन्न कर देते हैं । इनमें खुजली और जलन भी होती है । ये फुन्सियाँ चारों ओर फैलकर कर्णपाली और कर्णशष्कुली (कान का बाहरी तरुणास्थिमय शूर्पाकार भाग) को खाकर मांसहीन कर देती हैं । इस रोग को 'परिलेही' कहते हैं ॥ २८ ॥

कर्णरोगचिकित्सामाह—

कर्णशूले कर्णनादे बाधिर्ये क्ष्वेड एव च । चतुर्ष्वपि च रोगेषु सामान्यं भेषजं स्मृतम् ॥
शृङ्गवेरं सहमधु सैन्धवं तैलमेव च । कदुष्णं कर्णयोर्धार्यमेतत्स्याद् वेदनाऽपहम् ॥ २९ ॥
लशुनार्द्रकशिग्रूणां वारुण्या मूलकस्य च । कदल्याः स्वरसः श्रेष्ठः कदुष्णः कर्णपूरणे ॥३०॥

*वारुणी = वरुणः ॥ ३० ॥

कर्णशूल, कर्णनाद, बाधिर्य और कर्णक्ष्वेड—इन चारों में एक-सी चिकित्सा करनी चाहिए । आदी का रस और शहद तथा सेंधा नमक और तेल एक में मिलाकर थोड़ा गरम करके सहाता हुआ

---

१. इन रोगों के अतिरिक्त वाग्भट ने पाली रोगों में 'पालीशोष' और 'तन्त्रिका' नामक दो रोग और भी लिखे हैं । और उत्पात को 'श्याव' तथा उन्मन्थक (मू० श्लो० २६) को 'गल्लिर' कहा है ।

परिलेही को सम्भवतः 'Rodent ulcer of the external ear' कह सकते हैं ।

कान में डालने से कान की पीडा दूर होती है। लहसुन, आदी और सहजन, वरुना, मूली और केले का रस थोडा गरम करके कान में डालने से भी पीडा नष्ट होती है॥ २९-३०॥

अर्काङ्कुरानम्लपिष्टान्सतैललवणान्विलान्। सच्छिद्रय्यात्सुधाकाण्डे कोरिते मृत्स्नयाऽऽवृते॥
पुटपाकक्रमात्स्विन्न पीडयेदारसागमात्। सुखोष्णं तद्रसं कर्णे प्रक्षिपेच्छूलशान्तये॥ ३२॥
अर्कस्य पत्रं परिणामपीतमाज्येन लिप्तं शिखियोगतप्तम्।
आपीड्य तस्याम्बु सुखोष्णमेव कर्णे निषिक्तं हरते हि शूलम्॥ ३३॥

मदार के अङ्कुरों को अम्लरस में पीसकर उसमें तेल और सेंधानमक, सेहुण्ड के टुकड़े में छेद करके उसीमें भर ले और उस सेहुण्ड के टुकड़े पर कपड़मिट्टी करके पुटपाकविधि से पकाकर रस निकाल ले। इस रस को थोड़ा गरम-गरम कान में डालने से पीड़ा शान्त होती है। मदार के पके हुए पीले पत्तों पर घी पोतकर अग्नि पर सेंक ले। फिर उन सिके हुए पत्तों को निचोड़कर निकाला हुआ रस सहाता हुआ कान में डालने से पीड़ा नष्ट होती है॥ ३१-३३॥

तीव्रशूलातुरे कर्णे सशब्दे क्लेदवाहिनि। छागमूत्रं प्रशंसन्ति कोष्णं सैन्धवसंयुतम्॥३४॥

कान में तीव्र पीड़ा और शब्द, तथा स्राव होने पर बकरी के मूत्र में सेंधानमक मिलाकर गरम करके थोड़ा गरम-गरम कान में डालना उत्तम है॥ ३४॥

तैलं श्वेतार्कमूलेन मन्देऽग्नौ विधिना कृतम्। हरेदाशु त्रिदोषोत्थं कर्णशूलप्रपूरणात्॥३५॥

सफेद मदार की जड़ से विधिपूर्वक मन्दाग्नि पर सिद्ध किया हुआ तेल कान में डालने से त्रिदोषजन्य कर्णशूल भी नष्ट होता है॥ ३५॥

हिङ्गुसैन्धवशुण्ठीभिस्तैलं सर्षपसम्भवम्। विपक्वं हरतेऽवश्यं कर्णशूलं प्रपूरणात्॥ ३६॥

हींग, सेंधानमक और सोंठ से पकाया हुआ सरसों का तेल कान में डालने से पीड़ा को अवश्य दूर करता है॥ ३६॥

कर्णशूले कर्णनादे बाधिर्ये क्ष्वेड एव च। पूरणं कटुतैलेन हितं वातघ्नमौषधम्॥ ३७॥

कर्णशूल, कर्णनाद, बाधिर्य और कर्णक्ष्वेड में कान में सरसो का तेल डालना और वातनाशक ओषधि करना हितकारी है॥ ३७॥

शिखरिक्षारजवारि तत्कृतकल्केन साधितं तैलम्। अपहरति कर्णनादं बाधिर्यं चापि पूरणतः॥
*शिखरी=अपामार्गः॥ ३८॥

चिचड़ा के क्षार को पानी में घोलकर उसी पानी से तथा चिचड़ा के कल्क से तेल सिद्ध करके कान में डालने से कर्णनाद और बधिरता नष्ट हो जाती हैं॥ ३८॥

बिल्वतैलमाह—

गवां मूत्रेण बिल्वानि पिष्ट्वा तैलं विपाचयेत्। सजलञ्च सदुग्धञ्च तद्बाधिर्यहरं परम्॥३९॥
*क्षीरं गव्यमेव ग्राह्यम्॥ ३९॥

इति बिल्वतैलम्।

बिल्व तैल—गोमूत्र में बेल को पीसकर इसी कल्क से जल और गोदुग्ध (दोनों मिलकर तेल से चौगुना) के साथ तेल पका ले। इस तेल को कान में डालने से बहरापन नष्ट होता है॥ ३९॥

कर्णस्रावे पूतिकर्णे तथैव कृमिकर्णके। सामान्यं कर्म कुर्वीत योगान्वैशेषिकानपि॥ ४०॥

कर्णस्राव, पूतिकर्ण तथा कृमिकर्ण में एक ही-सी चिकित्सा तथा निम्नलिखित विशेष चिकित्साएँ भी करनी चाहिए॥ ४०॥

स्वर्जिकाचूर्णसंयुक्तं बीजपूररसं क्षिपेत्। कर्णस्रावरुजो दाहस्ते नश्यन्ति न संशयः॥ ४१॥

सज्जीखार और बिजौरा, नीबू का रस कान में डालने से कान का बहना, पीडा और जलन अवश्य बन्द हो जाता है॥ ४१॥

आम्रजम्बूप्रवालानि मधुकस्य वटस्य च । एभिस्तु साधितं तैलं पूतिकर्णगदं हरेत् ॥ ४२ ॥

आम, जामुन, महुआ और बरगद के छोटे-छोटे लाल पत्तों से सिद्ध किया हुआ तेल कान में डालने से 'पूतिकर्ण' रोग नष्ट होता है ॥ ४२ ॥

जातीपत्ररसैस्तैलं विपक्वं पूतिकर्णजित् । पिष्टं रसाञ्जनं नार्याः क्षीरेण क्षौद्रसंयुतम् ।
प्रशस्यते चिरोत्थे तत्स्रावके पूतिकर्णके ॥ ४३ ॥

चमेली के पत्तों के रस से पकाया हुआ तेल 'पूतिकर्ण' को नष्ट करता है । स्त्री के दूध में रसौत पीसकर और उसमें शहद मिलाकर कान में डालने से 'पुराना कर्णस्राव' तथा 'पूतिकर्ण' नष्ट होता है ॥ ४३ ॥

कुष्ठादितैलमाह—

कुष्ठहिङ्गुवचादारुशताह्वाविश्वसैन्धवैः । पूतिकर्णापहं तैलं बस्तमूत्रेण साधितम् ॥ ४४ ॥

कुष्ठादि तैल-कड़ुवा कूठ, हींग, घोड़वच, दारुहल्दी, सौंफ, सोंठ, सेंधानमक, इनके कल्क और बकरे के मूत्र से सिद्ध किया हुआ तेल पूतिकर्णनाशक होता है ॥ ४४ ॥

शम्बूकस्य तु मांसेन कटुतैलं विपाचयेत् । तस्य पूरणमात्रेण कर्णनाडी प्रशाम्यति ॥४५॥

जीवित घोंघे के भीतर के मांस से कटु तेल पका ले । इस तेल को कान में डालने मात्र से कर्णनाडीरोग (पुराना कर्णस्राव) नष्ट हो जाता है ॥ ४५ ॥

चूर्णेन गन्धकशिलारजनीभवेन मुष्टयंशकेन कटुतैलपलाष्टकन्तु ।
धत्तूरपत्ररसतुल्यमिदं विपक्वं नाडीं जयेच्चिरभवामपि कर्णजाताम् ॥ ४६ ॥

*मुष्टिः = पलम् ॥ ४६ ॥

गंधक, मैनसिल, हल्दी इन सबोंका चूर्ण एक पल और कड़ुवा तेल ८ पल तथा धतूर के पत्तों का रस ८ पल इन सबको पकाकर तेल मात्र रह जाने पर इस तेल को कान में डालने से पुराना कर्णस्राव भी बन्द हो जाता है ॥ ४६ ॥

कृमिकर्णविनाशाय कृमिघ्नीं कारयेत्क्रियाम् । वार्त्ताकुधूमश्च हितः सार्षपः स्नेह एव च ॥
पूरणं हरितालेन गव्यमूत्रयुतेन च । धूपने कर्णदौर्गन्ध्ये गुग्गुलुः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ४८ ॥

कृमिकर्ण के कृमियों का नाश करने के लिए कृमिनाशक चिकित्सा करनी चाहिए । यथाः— कान में बैंगन का धूआँ देना या सरसों का तेल डालना अथवा गोमूत्र के साथ हरताल का चूर्ण डालना । कर्ण से दुर्गन्ध आने पर गूग्गुल का धूआँ देना उत्तम है ॥ ४७-४८ ॥

चिकित्सा कर्णशोथानां तथा कर्णार्शसामपि । कर्णार्बुदानां कुर्वीत शोथार्शोऽर्बुदवद्भिषक् ॥

कर्णशोथ, कर्णार्बुद और कर्णार्श की चिकित्सा क्रम से शोथ, अर्बुद और अर्श की चिकित्सा की भाँति करनी चाहिए ॥ ४९ ॥

कर्णपालीरोगचिकित्सामाह—

पालीसंशोषणे कुर्याद्वातकर्णरुजः क्रियाः । स्वेदयेद्यत्नतस्तां च स्विन्नां संवर्धयेत्तिलैः ॥५०॥

कान की पाली (लहरी) के सूख जाने पर वातज कर्णरोगों की तरह चिकित्सा करे और कान की पाली में स्वेदन करके तिलका कल्क लगाकर उसे बढ़ाये ॥ ५० ॥

शतावरीतैलमाह—

शतावरीवाजिगन्धापयस्यैरण्डबीजकैः । तैलं विपक्वं सक्षीरं पालीं संवर्द्धयेत्सुखम् ॥ ५१ ॥

*पयस्याऽत्र क्षीरकाकोली ॥ ५१ ॥

शतावरी तैल—शतावर, असगन्ध, पयस्या (क्षीरकाकोली, इसके अभाव में असगन्ध) और एरण्ड का बीज तथा गोदुग्ध इनसे सिद्ध तैल को लगाने से सुखपूर्वक कर्णपाली बढ़ती है ॥ ५१ ॥

जीवनीयस्य कल्केन तैलं दुग्धेन पाचयेत् । चिकित्सेत्तेन तैलेन हृतासं परिपोटकम् ॥५२॥

परिपोटक रोग में पहले कर्णपाली से थोड़ा रक्त निकाल ले, तत्पश्चात् जीवनीय गण की ओषधियों के कल्क और गोदुग्ध से सिद्ध तैल पाली में लगाये ॥ ५२ ॥

शीतलेपैर्जलौकोभिरुत्पातं समुपाचरेत् । हलिनीसुरसाभ्यां च गोधाकङ्कवसाऽन्वितम् ॥
तैलञ्च पक्कमभ्यङ्गादुन्मन्थं नाशयेद् ध्रुवम् । दुःखवर्द्धनकं सिक्त्वा जम्ब्वाम्रबिल्वपत्रजैः ॥
क्वाथैस्तैलेन सुस्निग्धं तच्चूर्णैश्चावधूलयेत् । बहुशो गोमयैस्तप्तैः स्वेदितं परिलेहितम् ।
घनसारैः समालिम्पेदजामूत्रेण कल्कितैः ॥ ५५ ॥

इति चतुःषष्टितमः कर्णरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६४ ॥

उत्पात रोग की चिकित्सा के लिए ठंडी ओषधियों का लेप तथा जोंक लगाये। कलिहारी, तुलसी तथा गोह और कङ्क पक्षी की चर्बी से पकाया हुआ तेल मालिश करने से 'उन्मन्थ' नामक रोग अवश्य नष्ट हो जाता है।

'दुःखवर्धनक' रोग में कर्णपाली को जामुन, आम और बेल की पत्तियों के काढ़े से खूब सींचकर पुनः तेल से चिकनी करके जामुन, आम और बेल के पत्तों के चूर्ण उसपर बुरक दे।

परिलेही रोग में गोबर के कण्डों को तपाकर कर्णपाली को सेंके और इसके बाद बकरी के मूत्र में पिसे हुए कपूर का लेप कर दे ॥ ५३-५५ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे चतुःषष्टितमः कर्णरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६४ ॥



अथ पञ्चषष्टितमो नासारोगाधिकारः ॥ ६५ ॥

तत्र [1]नासारोगाणां नामानि संख्यां चाह—

आदौ च पीनसः प्रोक्तः पूतिनस्यस्ततः परम् । नासापाकोऽत्र गणितः पूयशोणितमेव च ॥
क्षवथुर्भ्रंशथुर्दीप्तिः प्रतीनाहः परिस्रवः । नासाशोषः प्रतिश्यायाः पञ्च सप्तार्बुदानि च ॥२॥
चत्वार्यर्शांसि चत्वारः शोथाश्चत्वारि तानि च । रक्तपित्तानि नासायां चतुस्त्रिंशद्गदाः स्मृताः॥

नासिका के रोगों के नाम और संख्या—१ पीनस, २ पूतिनस्य, ३ नासापाक, ४ पूयशोणित, ५ क्षवथु (छींक), ६ भ्रंशथु (नासाभ्रंश), ७ दीप्ति, ८ प्रतिनाह, ९ परिस्राव, १०

---

१. नासिका की संक्षिप्त रचना—ये दो (भीतर से) विषमाकार गुहाएँ हैं, जिनका पिछला द्वार ग्रसनिका के नासाभाग (nasal part of the Pharynx) में खुलता है। नासिका का कुछ भाग (अगला भाग) तरुणास्थि-निर्मित और कुछ भाग अस्थि-निर्मित होता है। इसको बनाने में १४ अस्थियाँ भाग लेती हैं। नासागुहाएँ आगे और पीछे की अपेक्षा बीच में सँकरी हैं। दोनों तरफ की नासागुहाएँ एक पर्दे के द्वारा एक-दूसरे से अलग हैं। इस पर्दे को नासामध्यप्राचीर (Septumnasi) कहते हैं। नासिकागुहाओं की पार्श्वीय भित्ति बड़ी विषम होती है। उसमें तीन सुरङ्गाकार भाग होते हैं। इनमें सबसे निचली और बड़ी सुरङ्ग को अधःसुरङ्ग (Inferior meatus) कहते हैं। अश्रुमार्ग का निचला द्वार इसीमें खुलता है। इस सुरङ्ग के ऊपर अधःशुक्तिकास्थि रहती है। पूर्वकपालास्थि, झर्झरास्थि, जातुकास्थि और ऊर्ध्वहन्वस्थियों के वायुकोटर नासागुहा से छिद्रों द्वारा सम्बन्धित हैं। इसलिए नासागुहा के शोथ के इन कोटरों में पहुँच जाने का भय रहता है। इन्हीं सब विषमाकार रचनाओं के कारण नासारोगों में पूयादि की ठीक सफाई

नासाशोष, ११-१५ पाँच प्रकार के प्रतिश्याय, १६-२२ सात प्रकार के अर्बुद, २३-२६ चार प्रकार के अर्श, २७-३० चार प्रकार के शोथ, ३१-३४ चार प्रकार के रक्तपित्त, इस प्रकार नासिका में ३४ रोग होते हैं ॥ १-३ ॥

१ तत्र २पीनसलक्षणमाह—

आनह्यते शुष्यति यस्य नासा प्रक्लेदमायाति तु धूप्यते च ।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येदिह पीनसेन ॥ ४ ॥
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं ब्रूयात्प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् ॥ ५ ॥

*आनह्यते=श्वासशोषितकफेन बध्यते, अवरुध्यत इति यावत् । प्रक्लेदम्=आर्द्रताम् । आयाति = गच्छतीति यावत् । धूप्यते = सन्ताप्यते । गन्धान्सुरभीनसुरभींश्च न वेत्ति, नासाया आनद्धत्वं तत्र हेतुः, तथा रसान् = मधुरादींश्च न वेत्ति, नासारोगारम्भकदोषेण रसनाया अपि दुष्टिः । व्यवस्येद् = जानीयात् । अपीनसपीनसौ द्वावपि शब्दौ स्तः, 'अवाप्योस्तंसनद्धादिषु वे'ति सूत्रेण विकल्पेनाकारलोपात् । तं विकारं = पीनसम् । प्रतिश्यायसमानलिङ्गं = वातश्लैष्मिकप्रतिश्यायतुल्यलक्षणम् ॥ ४-५ ॥

पीनस के लक्षण—पीनस रोग में श्वास द्वारा शोषित कफ से नासामार्ग कभी रुक जाता है, कभी गीला हो जाता है, कभी गरम मालूम होने लगता है, सुगन्धि और दुर्गन्धि का ज्ञान नहीं होता । पीनसोत्पादक दोषों द्वारा जिह्वा भी दूषित हो जाती है, जिससे मधुरादि रसों का भी ज्ञान नहीं होता, नासिका में कृमि भी पड़ जाते हैं । इस रोग को 'अपीनस' भी कहते हैं । क्योंकि 'अवाप्योस्तंसनद्धादिषु वा' इस सूत्र से विकल्प कर के अपीनस में अपि के अकार का लोप होने से

न होने से वे रोग हठीले या चिरकालीन हो जाते हैं । समस्त नासागुहा बहुत पतली श्लेष्मलकला से ढकी है । इस कला में असङ्ख्य सूक्ष्म रक्तनलिकाएँ फैली हुई हैं । श्वास द्वारा भीतर जानेवाली वायु जब नासागुहा से होकर गुजरती है, तब इन रक्तनलिकाओं का रक्त अपनी गरमी द्वारा वायु को भी शरीर के तापक्रम के बराबर गरम बना देता है । और यदि वायुमण्डल की वायु में शरीर से अधिक गर्मी हो तो उसकी कुछ गरमी अपने अन्दर लेकर भी वायु को सदा शरीर के तापक्रम के बराबर रखता है । इससे बाहरी गर्म या सर्द वायु अपने साथ रुग्ण नासिका का उपसर्ग ग्रसनिका, स्वरयन्त्र, श्वासनलिका रोग हो जाता है तो कला में रक्त की कमी हो जाने से तथा उसके मोटी हो जाने से उपर्युक्त कार्य ठीक नहीं हो पाता, इस कारण फेफड़े भी गर्मी-सर्दी के शिकार होकर रुग्ण हो जाते हैं । इससे श्वास-प्रश्वास का कार्य बिगड़ जाने से इसका हानिकारक प्रभाव समस्त शरीर पर भी होता है । इसके अतिरिक्त श्वास की वायु अपने साथ रुग्ण नासिका का उपसर्ग ग्रसनिका, स्वरयन्त्र, श्वासनलिका तथा फुफ्फुस तक पहुँचाकर भी इन अङ्गों को रुग्ण करवा देती है । इन सब बातों को देखते हुए नासारोगों की चिकित्सा बड़ी सावधानी और तत्परता से करनी चाहिए ।

२. पीनस के लक्षण कुछ-कुछ (Apophic Rhinitis) से मिलते हैं । पीनस में सदैव कृमि पड़े हुए हों, ऐसा आवश्यक नहीं । जिस-किसी प्रकार के चिरकालीन सपूय नासा-विकार में अधिक गन्दगी रहेगी, उन सब में कृमियों के पड़ जाने की सम्भावना हो सकती है और यदि सफाई रहेगी तो कृमि नहीं पड़ सकते । यदि नासिका में कोई बाहरी चीज पड़ गयी हो और कालान्तर तक उसी में पड़ी रह जाय और बाद में सड़ने लगे तो, अथवा यदि नाक में किसी प्रकार का दुष्ट अर्बुद उत्पन्न हो तो भी, नासिका में आनाह (अवरोध, कम या अधिक) भी उत्पन्न होता है और दुर्गन्धित स्राव भी नाक से निकलता है । किन्तु 'न वेत्ति यो गन्धरसांश्च' यह लक्षण (Atrophic Rhinitis) में प्रधान रूप से पाया जाता है ।

पीनस तथा अपीनस दोनों प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसके अन्य लक्षण वातकफजन्य प्रतिश्याय के समान ही होते हैं ॥ ४–५ ॥

२ पूतिनस्य[1] लक्षणमाह—

दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूले सन्दूषितो यस्य समीरणस्तु।
निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम् ॥ ६ ॥

दोषैः=पित्तकफरक्तैः। अत्र रक्तस्यापि दोषत्वं दोषसाहचर्यात्। विदग्धैः=दुष्टैः। सन्दूषितः=पूतिभावं नीतः। पूतिनस्यं=नासायां भवो नस्यो=वायुः, पूतिर्नस्यो यत्र स पूतिनस्यस्तम् ॥ ६ ॥

पूतिनस्य के लक्षण—गला और तालुमूल में स्थित वायु जब दुष्ट दोषों (पित्त-कफ-रक्त) द्वारा दूषित होता है (दुर्गन्धित बना दिया जाता है) तो मुख और नाक से दुर्गन्ध आने लगती है। इस रोग को 'पूतिनस्य' कहते हैं ॥ ६ ॥

३ नासापाक[2] लक्षणमाह—

घ्राणाश्रितं पित्तमरूंषि कुर्याद्यस्मिन्विकारे बलवांश्च पाकः।

---

१. पूतिनस्य को ozaena कह सकते हैं और यह पूतिनस्य उन सभी रोगों में उत्पन्न हो सकता है, जिनके कारण नासिका से दुर्गन्धित स्राव निकलता है। किन्तु Atrophic Rhinitis का तो यह (पूतिनस्य) एक प्रधान लक्षण है।

नासिका से दुर्गन्धित स्राव प्रायः निम्नलिखित कारणों से निकलता है:—

१—सभी प्रकार के चिरकालीन निर्गन्ध नासास्राव कालान्तर में प्रायः दुर्गन्धित स्राव का रूप धारण कर लेते हैं।

२—फिरङ्गजन्य नासाशोथ (Syphilitic Rhinitis)

३—नासिका का क्षयरोग (Tuberculosis of the nose)

४—कलाक्षयजन्य नासाशोथ (Atrophic Rhinitis)

५—नासिका से सम्बन्धित एक या अनेक अस्थि-कोटरों का चिरकालीन शोथ (Chronic Sinusitis)

६—नासिका का दुष्ट अर्बुद (Cancer)

७—Polypus (पॉलिपस–एक प्रकार की वृद्धि)

८—कभी-कभी बाहरी पदार्थ (Foreign body) भी नासिका में पड़कर रुके रहते हैं और कालान्तर में स्वयं सड़कर और नासा की श्लैष्मिक कला में व्रण पैदा करके दुर्गन्धित स्राव कराते हैं। इन सबका कुछ विस्तृत वर्णन आगे दिया जायगा।

२. नासिका-पाक को पाश्चात्य नासारोग-विज्ञान की दृष्टि से ulceration of the nose कहते हैं। नासिका में व्रण (ulcers) मुख्यतः दो कारणों से उत्पन्न होते हैं:—

१—फिरङ्गजन्य नासाशोथ (Syphilitic Rhinitis) से।

२—नासा की श्लैष्मिक कला के एक विशेष प्रकार के रोग (Lupus Vulgaris of the nose) से।

फिरङ्ग की प्रारम्भिक अवस्था से नासा के व्रण उथले और निर्गन्ध तथा प्रायः रक्तमिश्रित स्राववाले होते हैं, किन्तु बाद की अवस्थाओं के फिरङ्गज व्रण गहरे और बहुत दुर्गन्धित स्राववाले होते हैं। यदि इस अवस्था के स्राव में भी रक्त आने लगे तो यह 'पूयरक्त' हो सकता है। किन्तु 'दुष्ट पालीपस' (malignant polypus) में रक्तयुक्त दुर्गन्धित स्राव अधिकतर होता है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि 'पूयरक्त' नामक नासारोग 'malignant polypus' का लक्षण है। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस प्रकार polypus बहुत कम उत्पन्न होता है।

तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्विक्लेदकोथावथवाऽपि यत्र ॥ ७ ॥

भौतिक लक्षणों के अनुसार नासारोग को पाश्चात्य रोगविज्ञान की दृष्टि से पाँच स्थूल विभागों में बाँटा जा सकता है:—

१—नासागत रक्तपित्त (Epistaxis)

२—नासाप्रतीनाह (Nasal obstruction)

३—गन्धहीन तीव्र नासास्राव (Acute Rhinorrhoea)

४—गन्धहीन चिरकालीन नासास्राव (Chronic Rhinorrhoea)

५—पूतिगंधी चिरकालीन नासास्राव (ozeena)

वास्तव में पीनस, पूतिनस्य, नासापाक और पूयरक्त ये सब नासारोग इसी 'ozeena' (ऊजिना) के भिन्न-भिन्न लक्षण मात्र हैं। इसके (ozeena के) कारणों को श्लो० ६ की टिप्पणी में गिनाया जा चुका है। उन्हींका कुछ विस्तृत विवरण यहाँ पर दिया जाता है:—

आ-फिरंगज नासाशोथ (Syphilitic Rhinitis)—इसका कुछ विवरण श्लो० ८ की टिप्पणी में दिया जा चुका है। फिरंग की तृतीयावस्था के व्रण प्रायः ozeena के उत्पादक होते हैं। नासा में कई स्थानों पर की इस अवस्था की प्रसिद्ध विकृति (अर्थात् 'गमा' Gumma) बनती है, जिसके फूटने पर व्रण बन जाता है। शीघ्र ही नासा की अस्थि में भी व्रण पहुँच जाता है और अत्यन्त तीव्र गति से फैलता हुआ नासिका की मध्यप्राचीर (Septum) और तालु को नष्ट कर डालता है। नाक धँस जाती है। नासिका के व्रणों का तीव्र गति से बढ़ना नासागत फिरंग की एक खास पहचान है।

अ-नासिका का क्षयरोग—नासा में क्षयज व्रण बहुत ही कम हुआ करते हैं। केवल एक रोग जिसे Lupus Vulgaris 'ल्यूपस वल्गेरिस' कहते हैं, प्रायः होता हुआ देखा जाता है।

Lupus Vulgaris—इस रोग में पिन के सिर के बराबर सूक्ष्म ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनका रंग कुछ ललाई लिये हुए भूरा होता है। ये मुलायम और किंचित् पारभासक होती हैं। इनमें क्षयरोग के जीवाणुओं का उपसर्ग भी हो जाता है। यह रोग प्रायः बचपन में ही दिखाई देता है और २० वर्ष से अधिक आयुवालों में बहुत कम देखा जाता है। यह रोग प्रायः बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है। कभी-कभी इसका शोथयुक्त भाग छिलकर अलग हो जाता है या बीच में अच्छा होता जाता है, पर किनारों की ओर बढ़ता जाता है। किन्तु अधिकतर इसकी ग्रन्थियाँ क्षयरोग के जीवाणुओं के या अन्य जीवाणुओं के उपसर्ग के कारण व्रण का रूप धारण कर लेती हैं। ये व्रण मछली के छिलके जैसी छिलकेदार रचना से ढके रहते हैं, जिनके नीचे दुर्गन्धित पूय भरी रहती है। यह रोग स्त्रियों में अधिक दिखाई देता है। कभी-कभी नासा की मध्य प्राचीर को यह रोग खा डालता है और उसमें छिद्र कर देता है।

चिकित्सा—सामान्य स्वास्थ्य को सुधारना। पीड़ित भाग पर सूर्यप्रकाश अधिक लगे, ऐसा प्रबन्ध करना। दाहक पदार्थों यथा—'कार्बोलिक या सेलिसिलिक अम्ल' से जला देना अथवा लेखन करने (Scraping) के बाद दग्ध करना आदि।

इ—Atrophis Rhinitis या Idiopathic या true ozeena-इसमें नासिका की श्लैष्मिक-कला का क्षय होता है।

इसके लक्षण:—

(क) नासिका से गाढा और पूतिगन्ध स्राव अत्यधिक मात्रा में निकलना और कभी-कभी अत्यल्प मात्रा में भी।

(ख) नासागुहा प्रायः बड़ी हो जाती है। उसकी छत चौड़ी और कभी-कभी दबी हुई हो जाती है। नासिका की श्लैष्मिक कला पतली, पीली, कड़ी, संसक्त, सूखी, छिलकेदार रचना से ढकी हुई और

*विक्लेदः = आर्द्रता। कोथः = पूतीभावः ॥ ७ ॥

सड़नयुक्त होती है। यह व्याधि कभी दोनों नासारंध्रों में और कभी एक ही रन्ध्र में होती है। प्रायः इस रोग के साथ ग्रसनिका शोथ (Pharyngitis) भी रोगी में मौजूद रहता है।

(ग) निश्वास दुर्गन्धित निकलता है, जिसको रोगी स्वयं नहीं समझ पाता, क्योंकि उसकी घ्राणेन्द्रिय मन्द हो गयी रहती है।

नासा के चौड़ा होने से, नासागुहागत श्लेष्मलकला के रंग द्वारा तथा व्रण की अनुपस्थिति से; इन तीन लक्षणों के द्वारा यह रोग अन्य प्रकार के ozeena से पृथक् किया जाता हैं।

चिकित्सा—सामान्य स्वास्थ्य को सुधारना और नासागुहा की श्लैष्मिक कला की स्वास्थ्य सुधारने के लिए 'चिरकालीन गन्धहीन नासास्राव' की भाँति चिकित्सा करनी चाहिए (यह आगे लिखी है)।

ई–Chronic Sinusitis नासागुहा से संक्रमण पहुँचने के कारण नासा से सम्बन्धित अस्थि–कोटरों में भी शोथ उत्पन्न हो जाता है। तीव्र नासाशोथ, सिर में सर्दी लगना, इन्फ्लुएन्जा, तीव्र प्रकार के कुछ ज्वर, नासिका के आघात तथा शस्त्रकर्म, इस रोग के प्रायः सहायक कारण हुआ करते हैं। कभी-कभी देखा गया है कि ऊपरी जबड़े का दाँत उखड़वाने के बाद उर्ध्वहन्वस्थिगत कोटर में शोथ हो जाता है। इस रोग का मुख्य लक्षण यह है कि एक नासारंध्र से पूय या पूययुक्त श्लेष्मा निकला करती है, जो दुर्गन्धित होती है। पूर्विकास्थि-कोटर (Frontal Sinuses), झर्झरास्थि–कोटर (Ethmoidal Sinuses) और जतुकास्थि–कोटर (Sphenoidal Sinuses)—ये भी इस रोग के शिकार होते हैं।

चिकित्सा—यह चिरकालीन और हठीला रोग है। सामयिक लाभ के लिए २५ प्रतिशत 'मेन्थाल' स्पिरिट में घुलाकर इसका १० बूंद आधा सेर जल में डालकर इसकी भाफ सूँघनी चाहिए। बाद में स्थायी लाभ के लिए शस्त्रकर्म कराना चाहिए।

उ—Polypus—यह नासागुहागत अस्वाभाविक वृद्धि है, जो तीन प्रकार की हो सकती है:—

१—श्लैष्मिक कलाजन्य (mucous), २—नासाग्रसनिकागत (naso–pharyngeal) ३—घातक (maligoant)।

१—श्लैष्मिककलाजन्य 'पालिपस' (mucous polypus)–यह प्रकार अधिकतर मिलता है। प्रायः ये युवावस्था में और पुरुषों में अधिक दिखाई देते हैं। ये श्लैष्मिककला के कड़े शोथ-युक्त (oedematous) भाग हैं और प्रायः दोनों नासागुहाओं में होते हैं। किन्तु एक में भी उत्पन्न हो सकते हैं। इनका आकार बहुत छोटी गुटिका से लेकर इतना बड़ा भी हो सकता है कि नासागुहा को बिलकुल बन्द कर दें। यदि सावधानी से देखा जाय तो किसी-किसी श्वास के रोगियों में भी ये पाये जाते हैं। प्रायः ये लम्बे नाल या डंठलवाले पीले, भूरे और चमकीले होते हैं। इसलिए अपने इन्हीं लक्षणों के द्वारा ये आसानी से पहचान में भी आ सकते हैं। श्लैष्मिक कलाजन्य 'पालिपस' को किसी अंश में 'नासार्श' (देखिये मू० श्लो० ३१) कह सकते हैं।

२—नासाग्रसनिकागत 'पालिपस' (Fidroma of the naso pharynx) इस प्रकार के 'पालिपस' बहुत ही कम होते हैं। ये नासाग्रसनिका को बनानेवाली अस्थियों के आवरणों (Periosteum) से उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी ये मुख की अस्थियों को फैला देते हैं। इससे चेहरा विकृत दीखता है।

इसके लक्षण—नासागुहा का अपूर्ण या पूर्ण अवरोध, शिरःशूल, नकसीर या नासागत रक्तपित्त (नासिका से रक्त निकलना), और नासा से स्राव होना। ये सौम्य प्रकार के अर्बुद समझे जाते हैं। किन्तु इनमें पुनरुत्पत्ति की भी प्रवृत्ति होती है।

नासापाक के लक्षण—नासिकागत पित्त जब नाक में बहुत से व्रण, पाक, गीलापन और सड़न पैदा करता है तो इस रोग को 'नासापाक' कहते हैं ॥ ७ ॥

४ पूयरक्तलक्षणमाह—

दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जन्तोर्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तैः ।
नासा स्रवेत्पूयमसृग्विमिश्रं तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥ ८ ॥

पूयरक्त के लक्षण—दूषित दोषों द्वारा अथवा ललाट में किसी तरह चोट लगने से नासामार्ग से जब रक्तमिश्रित पूय (पीब) बहने लगती है, तो इस रोग को 'पूयरक्त' कहते हैं ॥ ८ ॥

५ दोषजक्षवथु[1] लक्षणमाह—

घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदुष्टो यस्यानिलो नासिकया निरेति ।
कफानुयातो बहुशोऽतिशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं गदज्ञाः ॥ ९ ॥

***घ्राणाश्रिते मर्मणि=शृङ्गाटके ॥ ९ ॥**

दोषजन्य छींक—नासिका के शृङ्गाटक नामक मर्म में स्थित वायु जब दूषित होकर नासिका के द्वारा कफ के साथ बार-बार आवाज के साथ निकलता है तो इस रोग को वैद्य लोग 'दोषजन्य छींक' कहते हैं ॥ ९ ॥

आगन्तुजक्षवथुलक्षणमाह—

तीक्ष्णोपयोगादतिजिघ्रतो वा भावान्कटूनर्कनिरीक्षणाद्वा ।
सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्मण्युद्घट्टितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति ॥ १० ॥

***तीक्ष्णोपयोगाद् = राजिकाऽऽदिभक्षणात् । अर्कनिरीक्षणात्=सूर्यदर्शनात्, तेन कफविलयनात् । तरुणास्थिमर्मणि = नासावंशास्थिमर्मणि । तरुणास्थ्नि च मर्मणि च = शृङ्गाटके, द्वन्द्वैकत्वं वा । अन्यः आगन्तुजः ॥ १० ॥**

आगन्तुक छींक—राई आदि तीखी वस्तुओं के उपयोग करने से, तीक्ष्ण वस्तुओं की गन्ध से, सूर्य की ओर देखने से (कफ के पिघलने के कारण), सूत्रादि से नासिका की तरुणास्थि (नासा की मध्य दीवार) या शृङ्गाटक नामक मर्म के छू जाने या रगड़ खा जाने से दूसरे प्रकार की अर्थात् आगन्तुक छींक उत्पन्न होती है ॥ १० ॥

६ भ्रंशथु[2] लक्षणमाह—

प्रभ्रश्यते नासिकया तु यस्य सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु ।

३—घातक 'पालिपस' (malignant polypus)—इस प्रकार के 'पालिपस' बहुत कम होते हैं। जब ये होते हैं तो मुख्यतः Epithelioma, endothelioma और Sarcoma-इतने प्रकार के होते हैं। ये शीघ्र बढ़कर चेहरे की आकृति में एक विशेष प्रकार की विकृति उत्पन्न करते हैं, जिसे Frog face (मेढक की तरह मुख) कहते हैं। इनसे पीड़ा होती है और रक्तमिश्रित पूतिगन्धी नासास्राव होता है अर्थात् घातक पालिपस के कारण 'पूयरक्त' उत्पन्न होता है।

चिकित्सा—प्रथम प्रकार के 'पालिपस' को स्नेयर (Snare) या 'पञ्चफारसेप्स' (Punch forceps) नामक शस्त्रों से काट देने पर कभी-कभी पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए इनका समुचित शस्त्रकर्म करना चाहिए। Eibroma और malignant polypus की चिकित्सा X-ray (एक्स-किरणों) से और रेडियम से करनी चाहिए।

१. तीव्र प्रतिश्याय, नासा की श्लैष्मिक कला का प्रसेक (Catarrh) या शिर में ठंडक लग जाने से जो तीव्र नासाशोथ उत्पन्न हो जाता है, उसमें छींक अधिक आना एक प्रधान लक्षण होता है। यही छींक 'दोषज क्षवथु' है। इसे अंग्रेजी में Sheezing कहते हैं।

२. भ्रंशथु को 'चिरकालीन निर्गन्ध नासास्राव' (Chronic Nasal Discharge or chronic Rhihorrhoea) कह सकते हैं तथा उन सभी रोगों का समावेश भ्रंशथु में हो सकता है,

प्राक्सञ्चितो मूर्धनि पित्ततप्ते तं भ्रंशथुं व्याधिमुदाहरन्ति ॥ ११ ॥

भ्रंशथु के लक्षण—पित्तद्वारा सिर या ललाट के गरम होने पर जब पहले का एकत्रित गाढ़ा, दूषित और नमकीन कफ नासिका से गिरता है तो उस रोग को 'भ्रंशथु' कहते हैं ॥ ११ ॥

जिनसे गाढ़ी-गाढ़ी और निर्गन्ध कफ नासिका से निकलती है। इस दृष्टि से Chronic Rhinorrhoea को उत्पन्न करनेवाले प्रायः सभी नासारोग अपनी प्रारंभिक अवस्थाओं में 'भ्रंशथु' को उत्पन्न करनेवाले होते हैं, किन्तु बाद में जब उनका स्राव दुर्गन्धयुक्त हो जाता है तो पीनस, पूतिनस्य, नासापाक और पूयरक्त में से किसी एक या अनेक का रूप धारण कर लेते हैं।

'चिरकालीन निर्गन्ध नासास्राव' निम्न रोगों के कारण उत्पन्न होता है:—

क—चिरकालीन नासाशोथ (Chronic Rhinitis)—इसमें नासिका की श्लैष्मिक कला में *पुराना शोथ उत्पन्न हो जाता है। जिससे श्लैष्मिक कला मोटी हो जाती है और उससे स्राव होता* है। चिरकालीन नासाशोथ तीन प्रकार का होता है:—(i) साधारण (Simple) (ii) वृद्धिजन्य (hypertrophic) और क्षयज (Atrophic)।

(i) साधारण चिरकालीन नासाशोथ (Simple chronic Rhinitis) इसमें नासा की श्लैष्मिककला में रक्ताधिक्ययुक्त पुराना शोथ होता है। कभी-कभी बाद में चलकर श्लैष्मिक कला की वृद्धि भी होती है। इसमें पूयहीन या पूययुक्त श्लेष्मा का निरन्तर स्राव होता है। प्रायः कभी-कभी इसमें नासाप्रतीनाह (नासिका में अवरोध) भी हो जाया करता है, जिससे आवाज बदल जाती है और निद्रा में रोगी खर्राटे युक्त श्वास लेता है। हृदय और फुफ्फुस के रोग, मद्यपान, बार-बार प्रतिश्याय का होना और उसकी उपेक्षा करना, अभिघातादि, नासा में क्षोभ पैदा करनेवाले पदार्थों यथा—उग्र गन्ध, धूआँ या धूल का निरन्तर नासिका में जाते रहना, 'एडिनायड' (Adenoids) और बढ़ी हुई टान्सिल (Tonsil) आदि साधारण चिरकालीन नासाशोथ के उत्पन्न होने में सहायक कारण होते हैं। इसके शोथ के श्रुतिसुरंगा में बढ़ जाने का भय रहता है, इसके अलावा बच्चों में यदि यह रोग होता है तो उनके श्वासकार्य में बाधा उत्पन्न होती है।

चिकित्सा—प्रारंभिक दशा में नमक (१ औंस जल में १० ग्रेन), या बोरिक एसिड (१ औं० जल में ५ ग्रेन) या खानेवाला सोडा (१ औं० जल में १० ग्रेन) अथवा कार्बोलिक एसिड (१ औं० जल में ३ बूँद)—इन सबसे नासिका का परिसेचन (Douche) 'डूश') करना। इसके बाद मेन्थाल और युकेलिप्टस (१ औं० जल में दोनों का मिलित २० या ३० ग्रेन) लगाना अथवा केवल नौसादर की भाफ श्वास द्वारा लेना या कोकेन और थाइमॉल का मलहम लगाना। रोग की बाद की बढ़ी हुई दशाओं में दग्ध करना (Cautery)। सामान्य स्वास्थ्य को सुधारने के लिए मछली का तेल आदि के द्वारा जीवद्रव्य 'A' को पर्याप्त मात्रा में शरीर में पहुँचाना, अन्य बलदायक ओषधियों का प्रयोग करना। ऊँची जगह (पर्वतादि) में और सूखी जलवायु में रहना और मद्यपान से बचना चाहिए। इस रोग के लिए चिरकालीन चिकित्सा की आवश्यकता होती है।

(आ) वृद्धिजन्य चिरकालीन नासाशोथ (Chronic Hypertrophic Rhinitis)—इसमें नासिका की श्लैष्मिक कला की पर्याप्त वृद्धि होती है। यही इसकी मुख्य पहचान है। यह वृद्धि अधिकतर अधःशुक्तिकास्थि (Inferior Turbinate) के अगले और पिछले सिरों पर होती है। इसके वही लक्षण होते हैं, जो साधारण चिरकालीन नासाशोथ के; विशेषता केवल यह होती है कि इसके लक्षण कुछ तीव्र मात्रा में होते हैं, यहाँ तक कि हलकी वृद्धि में भी शिरःशूल और मानसिक दौर्बल्य हो जाता है। प्रायः इस रोग के साथ 'adenoids' भी मौजूद रहते हैं। यह रोग कृच्छ्रसाध्य है।

७ दीप्ति[1]लक्षणमाह—

घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु विनिःसरेद् धूम इवेह वायुः।
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तोर्व्याधिन्तु तं दीप्तिमुदाहरन्ति ॥ १२ ॥

*प्रदीप्तेव = प्रज्वलितेव ॥ १२ ॥

दीप्ति के लक्षण—जब नासिका की जलन के साथ धूएँ की तरह वायु निकले और नाक जलती हुई-सी मालूम हो तो इस रोग को 'दीप्ति' रोग कहते हैं ॥ १२ ॥

८ प्रतीनाह[2]लक्षणमाह—

उच्छ्वासमार्गन्तु कफः सवातो रुन्ध्यात्प्रतीनाहमुदाहरेत्तम् ॥ १३ ॥

प्रतिनाह के लक्षण—वायु के सहित कफ जब श्वास-मार्ग को बन्द कर देता है तो इस रोग को 'प्रतीनाह' कहते हैं ॥ १३ ॥

चिकित्सा—साधारण नासाशोथवत्, किन्तु कुछ अधिक तीव्र उपचार। यथाः—बिजली का उपचार या शस्त्रकर्म।

(ई) Atrophic Rhinitis-का विवरण मू० श्लोक० ८ की टिप्पणी 'स' में देखिये।

कभी-कभी चोट लगने के कारण या किसी ऐसे रोग के कारण जिससे नासागुहा का सम्बन्ध मस्तिष्क सुषुम्ना जल से हो जाता है, नासिका से जल जैसा द्रव-पदार्थ बूँद-बूँद गिरता रहता है। यह द्रव चालनी पटल के द्वारा नासागुहा में पहुँचता है। यह मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव (Cerebro-Spinal fluid) होता है। इसकी चिकित्सा प्रायः सफल नहीं होती, क्योंकि इसके उपचार करने में मस्तिष्कावरण में शोथ हो जाया करता है।

१. दीप्ति की भाँति लक्षण तीव्र नासाशोथ (Acute Rhinitis) में होती है। क्योंकि जब नासिका की श्लैष्मिक कला सूजन के कारण रक्ताधिक्ययुक्त हो जाती है तो इसमें जलन प्रतीत होती है और इसी कारण नासिका से गरम-गरम वायु भी निकलती है।

२. प्रतीनाह—प्रायः नासा के प्रत्येक रोगों में कम या अधिक मात्रा में पाया जाता है। यह दो तरह का हो सकता हैः—

१—अल्पकालीन—जैसा जुकाम आदि में हो जाया करता है और उनके अच्छा होने पर ठीक हो जाता है। २—चिरकालीन प्रतीनाह या अवरोध-यह अधिक या कम मात्रा में हो सकता है। इसमें रोगी नींद की दशा में ऊँचे शब्द के साथ खर्राटेयुक्त और प्रायः मुख से श्वास लेता है। यह चिरकालीन अवरोध निम्न रोगों के कारण हो सकता हैः—

१—वृद्धिजन्य चिरकालीन नासाशोथ—इसका वर्णन हो चुका है।

२—नासार्श-(Nasal polypi) इनका वर्णन भी हो चुका है।

३—नासागत विजातीय द्रव्य (foreign body)।

४—नासागत दुष्टार्बुद (Neoplsams) नासामध्यप्राचीर की विद्रधि (Abscess of the Septum), अभिघातज रक्तार्बुद (daematoma) नासामध्यप्राचीर का ठीक मध्य रेखा में न होकर किसी एक तरफ होना (Deviation of the Septum) या नासामध्यप्राचीर का एक या दोनों तरफ की नासागुहा की ओर इतना नतोदर होना कि उसके एक ही पृष्ठ में कोण जैसा बन जाय (Spur of the Septum), शुक्तिकास्थि की वृद्धि (hypertrophy of the Turbinate) और Adenoids।

चिरकालीन प्रतिनाह (chronic Nasal obstruction) के प्रभाव-मुख से श्वास लेना, निद्रा की दशा में शब्दयुक्त श्वास लेना, इनके अतिरिक्त रोगी में निम्न रोगों के हो जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती हैः—ग्रसनिकाशोथ (Pharyngitis), जिह्वारोग या निनावं (Stomatitis),

९ स्राव[1]लक्षणमाह—

घ्राणाद्धनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत्स्रावमुदाहरेत्तम् ॥ १४ ॥

क्लोमशाखा की श्लैष्मिक कला का प्रसेकयुक्त शोथ (Bronchiae Catarrh), फुफ्फुस में ठण्डी वायु के प्रवेश करने से जो बुरे परिणाम हो सकते हैं, वे सब; शब्द का सानुनासिक हो जाना और समस्त शरीर के श्वासकार्य (Tissue-respiration) में बाधा उत्पन्न होना आदि।

Adenoids—ग्रसनिका (Pharynx) में बहुत छोटी-छोटी (प्रायः सरसों जैसी) बहुत सी लसिकाग्रन्थियाँ पायी जाती हैं। मुख, ग्रसनिका और नासागुहा के रोगों के कारण प्रायः इन ग्रन्थियों में भी शोथ हो जाया करता है तथा इन लसिकाग्रन्थियों के उपसर्ग के कारण भी मुखादि में तथा मध्यकर्ण में शोथ उत्पन्न होता है। इन्हीं शोथयुक्त ग्रन्थियों को Adenoid कहते हैं। जो बच्चे मुख से श्वास लेते हैं या नींद की दशा में खर्राटे युक्त शब्द के साथ श्वास लेते हैं, उनमें Adenoids के पहले से ही उपस्थित होने की अत्यधिक सम्भावना करनी चाहिए। यह रोग निम्न तीन कारणों से विशेष चिन्त्य होता है:—

क—यह चिरकालीन मध्यकर्ण-शोथ के प्रधान कारणों में से है और अन्त में बधिरता उत्पन्न कर देता है।

ख—समस्त शरीर का श्वास-कर्म गड़बड़ा देता है।

ग—मस्तिष्कशक्ति (बुद्धि) को प्रायः किञ्चित् मन्द कर देता है।

१. सुश्रुत ने नासास्राव का लक्षण इस प्रकार लिखा है:—

'अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं यस्याविवर्णं स्रवतीह नासा।
रात्रौ विशेषेण हि तं विकारं नासापरिस्रावमिति व्यवस्येत् ॥'

वाग्भट ने भी इसी आशय का लक्षण बतलाया है। इससे जान पड़ता है कि तनु (पतला) स्राव ही विशेषतः नासास्राव में निकलता है। इसलिए नासास्राव को पाश्चात्त्य नासारोग-विज्ञानोक्त Acute Rhinorrhoea समझना चाहिए। यदि पतला तीव्र नासास्राव बहुत ही छोटे बच्चे को होता हो तो जन्मजात फिरंग (Congenital Syphilis) की शंका की जा सकती है और यदि सयाने बच्चे में होता हो तो Diphtheria समझी जा सकती है और यदि युवकों में हो तो प्रतिश्याय (Coryza) या नासागत अस्थि-कोटरों का तीव्र शोथ (Acute Sinusitis) की शंका करनी चाहिए।

निम्नलिखित कारणों से तीव्र नासास्राव (Acute Rhinorrhoea) उत्पन्न होता है :—

1–Acute Rhinitis, 2–Acute Coryza, 3–The Snuffles, 4–Cipherai, 5–Acute Sinusitis, 6–Hay fever, 7–Spasmodic Rhinorrhoea, 8–Glanders.

१—तीव्र नासाशोथ—इसमें नासिका की श्लेष्मल कला में तीव्र शोथ होता है। किसी प्रकार से नासागत श्लेष्मल कला में शोथ पैदा होने से, धूल या किसी बाहरी पदार्थ (Foreign body) के प्रवेश करने से, नासिका में चोट लगने से या सिर में ठंढक लगने से यह रोग उत्पन्न होता है। कभी-कभी यह मरक (Epidemic) के रूप में भी फैलता है। चिरकालीन नासाशोथ, Adenoids (नासाप्रतिनाह की टिप्पणी देखो) और नासागुहा, नासाकोटर आदि का उपसर्गयुक्त (Septic) होना, ये सब तीव्र नासाशोथ के सहायक कारण होते हैं। यह रोग घातक नहीं होता; किन्तु अधिक काल तक रहने से या बार-बार होने से मध्यकर्णशोथ और क्लोमशाखा की श्लेष्मल कला में शोथ (Bronchitis) उत्पन्न कर देता है।

२—तीव्र प्रतिश्याय (Acute Coryza) या नासाप्रसेक में नासिका से किंचित् पूययुक्त पतली श्लेष्मा का स्राव होता है। साथ ही साथ छींक भी आती है। आँख से पानी गिरता

स्राव के लक्षण—जब नाक से पीत, श्वेत, गाढ़ा या पतला दोष (कफ) निकला करता है तो उसे 'नासास्राव' कहते हैं ॥ १४ ॥

१० नासाशोषलक्षणमाह—

घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च ।
कृच्छ्राच्छ्वसित्यूर्ध्वमधश्च जन्तुर्यस्मिन्स नासापरिशोष उक्तः ॥ १५ ॥

नासाशोष के लक्षण—पित्त और वायु नासिका की श्लेष्मा को अधिक सुखा देते हैं, इससे श्वास लेने में कुछ कठिनाई मालूम होती है । इस रोग को 'नासापरिशोष' कहते हैं ॥ १५ ॥

है । सिर के अगले भाग में पीड़ा होती है और कुछ ज्वर भी बना रहता है । यह दशा कुछ दिनों तक रहती है ।

३—जिन बच्चों में जन्मजात फिरङ्ग होता है, उनमें प्रायः पैदा होने के कुछ ही हफ्तों बाद नासिका से पर्याप्त स्राव होने लगता है और नाक की श्लेष्मल कला में शोथ हो आता है । इसीको 'Snuffles' कहते हैं । श्वास आवाज के साथ चलती है और स्राव रक्तमिश्रित भी आता है ।

४—'डिफ्थीरिया'–इसमें नासिका से स्राव होता है, जो प्रायः रक्तमिश्रित होता है । नासागुहा और ऊपरी ओठ छिल जाते हैं । नासिका में अवरोध पैदा हो जाता है, किन्तु डिफ्थीरिया के सार्वदैहिक लक्षण यथाः—अत्यधिक दौर्बल्यादि बहुत अल्प परिमाण में ही रहते हैं । नासामध्य-प्राचीर और अधःशुक्तिकास्थि पर भूरी और श्वेत झिल्ली दिखाई देती है ।

चिकित्सा—रोग से बचने के लिए–सामान्य स्वास्थ्य को बढ़ाना चाहिए तथा गरम और सर्द तथा नम जलवायु सहने योग्य अपने शरीर को बना लेना चाहिए । धूलादि से बचने के लिए रुमाल का प्रयोग करना चाहिए । इस रोग से पीड़ित व्यक्ति की खाँसी और छींक द्वारा रोग के जीवाणु आस-पास की वायु में मिल जाते हैं । इसलिए ऐसे रोगियों के संपर्क से बचे । रोगी को एक रूमाल मुंह या नाक के सामने रखकर खाँसना, छींकना चाहिए, ताकि दूसरों में उसका उपसर्ग न फैलने पाये । नासिका के प्रसेकयुक्त शोथ का शमन करने के लिए 'एड्रेनेलीन' (Adrenaline), 'मेन्थॉल' (menthol), कर्पूर (Camphor), टंकण (Borax) और 'पेरोलीन' (Paroleine) का स्थानिक प्रयोग करना चाहिए । रोग का अन्य स्वस्थ व्यक्तियों में प्रसार रोकने के लिए रोगी को चाहिए कि विसंक्रामक द्रव्यों की भाफ और उन्हींका मलहम आदि नाक में प्रयोग करे । सार्वदैहिक लक्षणों की लक्षणानुसार चिकित्सा करनी चाहिए । यदि Adenoids और tonsils (उपजिह्विका) हो तो उनकी भी समुचित चिकित्सा करनी चाहिए । स्वजनित वैक्सीन (autogenous vaccine) भी रोगप्रतिरोध (Prophylaxis) और चिकित्सा दोनों कामों के लिए उपयुक्त होती है । इन सब उपचारों के साथ-साथ कारण का त्याग करना और विश्राम लेना भी बहुत आवश्यक है । यदि इस रोग का कारण जन्मजात फिरंग और डिफ्थीरिया हो तो उसकी भी चिकित्सा करना आवश्यक है ।

५—Acute sinusitis–इसके भी उत्पन्न होने के वही कारण हैं, जो Chronic Sinusitis में कहे गये हैं । इस रोग में नासास्राव होता है और नासिका के मार्ग में अवरोध (प्रतीनाह) पैदा होता है ।

६—Hay fever–यह एक प्रकार का ज्वर है, जिसका सम्बन्ध एक प्रकार की घास की गन्ध से होता है । इसमें नासिका और नेत्र से अकस्मात् और बहुत अधिक मात्रा में स्राव होता है ।

७—Spasmodic Rhinorrhoea (आवेशिक स्राव)—इसके लक्षण भी Hay fever के समान ही होते हैं ।

८—ग्लण्डर्स (Glanders)—अत्यधिक नासास्राव इसका एक प्रधान लक्षण है ।

प्रतिश्यायस्य[1] सद्योजनकनिदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

सन्धारणाजीर्णरजोऽतिभाष्यक्रोधर्त्तुवैषम्यशिरोऽभितापैः ।
सञ्जागरातिस्वपनाम्बुशीतावश्यायकैर्मैथुनबाष्पसेकैः ॥
संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु ॥ १६ ॥

ॐअथ प्रतिश्यायमाह-तस्य निदानं द्विविधम् , एकं सद्योजनकं, तत्प्रबलत्वेनापेक्षते न क्रमम् , यत उक्तम्—

ॐन केवलं चयं प्राप्य दोषाः कुप्यन्ति देहिनाम् ।
अन्यदाऽपि हि कुप्यन्ति हेतुबाहुल्यतोरणात् ॥ १ ॥

ॐहेतुबाहुल्यतोरणाद् = हेतूनां बाहुल्येन त्वराकरणात् ॥ १ ॥

ॐअपरञ्च चयादिक्रमेण जनकं, चयादिक्रमोत्पन्नश्च दोषो गरीयान् सकलशरीरसम्भावनया बद्धमूलत्वात् । चयादिक्रमो यथा-निदानात्सञ्चयः, सञ्चयात्प्रकोपः, प्रकोपात्प्रसरः, प्रसरात्स्थानसंश्रयः, ततो व्यक्तिः, ततो भेद इति । तत्र सद्योजातमाह—सन्धारणेति । संधारणं मूत्रपुरीषवेगधारणम् । रजो = धूलिः, तच्च नासाप्रविष्टं हेतुः । ऋतुवैषम्यम् = ऋतुचर्याविपरीताचरणम् । शिरोऽभितापः=शिरसोऽभितापो येन धूपादिना सः । अवश्यायः = तुषारः । बाष्पसेको = रोदनम् । संस्त्यानदोषे शिरसि=संहतकफे ॥ १६ ॥

रोगों के निदान की द्विविधता:—निदान दो प्रकार के होते हैं–१ रोग को शीघ्र उत्पन्न करनेवाले । २—रोग को चयादिक्रम (सर्वप्रथम सञ्चय, फिर प्रकोप, पुनः प्रसर, तत्पश्चात् स्थानसंश्रय फिर व्यक्ति, तब भेद) से उत्पन्न करनेवाले । प्रथम प्रकार के निदान अत्यन्त बलवान होने के कारण दोषों को इतना अधिक दूषित कर देते हैं कि दोष चयादिक्रम की अपेक्षा किये बिना ही अत्यधिक बढ़कर रोग पैदा कर देते हैं । किन्तु दूसरे प्रकार के निदान द्वारा चयादिक्रम से उत्पन्न दोषों की जड़ बहुत गहराई तक शरीर में जड़ जमाये रहती है ।

प्रतिश्याय की सद्योजनक निदानपूर्वक सम्प्राप्ति—मल-मूत्रादि के वेगों को रोकना, अजीर्ण, धूल आदि का नाक में जाना, अत्यन्त बोलना, अत्यन्त क्रोध, ऋतुचर्या के नियम का ठीक तरह से पालन न करना, शिर में धूपादि से उष्णता का लगना, अधिक जागना, अधिक सोना, जल का अधिक प्रयोग करना, शीतोपचार करना, तुषार लगना, अत्यधिक मैथुन और रोना, इन कारणों से शिर में कफ के जम जाने से तथा (शीतलतादि पाकर) वायु बढ़कर 'प्रतिश्याय' रोग को उत्पन्न कर देता है ॥ १६ ॥

प्रतिश्यायस्य चयादिक्रमजनकनिदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

चयं[2] गता मूर्द्धनि मारुतादयः पृथक्समस्ताश्च तथैव शोणितम् ।
प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैस्ततः प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि ॥ १७ ॥

---

१. प्रतिश्याय की निरुक्ति—वातं प्रति (अभिमुखं)-श्यायो (गमनं) कफादीनां यत्र स प्रतिश्यायः ॥ माधवकरः ।

चरक ने भी कहा है:—

'घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा । मारुताध्मातशिरसो श्यायते मारुतं प्रति ॥'

२. चयं गताः = 'स्वस्थानवृद्धिर्दोषाणां चय इत्यभिधीयते' ।

ऐसी दशा में यह शङ्का हो सकती है कि अपने स्थान में ही स्थित दोष शिर में जाकर प्रतिश्याय कैसे पैदा करते हैं ? इसी शंका के निवारण के लिए आगे 'प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैः' लिखा है ।

चयादिक्रमजनक निदानपूर्वक प्रतिश्याय की सम्प्राप्तिः—सिर में सञ्चित वातादि दोष तथा रक्त अलग-अलग या सम्मिलित रूप से विविध प्रकार के प्रकोपक कारणों से प्रकुपित होकर 'प्रतिश्याय' उत्पन्न करते हैं ॥ १७ ॥

प्रतिश्यायपूर्वरूपमाह—

क्षवप्रवृत्तिः शिरसोऽभिपूर्णता स्तम्भोऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता ।
[1]उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा नृणां प्रतिश्यायपुरःसराः स्मृताः ॥ १८ ॥

*शिरसोऽभिपूर्णता = शिरसो भारेणेव व्याप्तिः । अपरे पृथग्विधाः = घ्राणधूमायनतारुग्विदाहनासामुखस्रावादयो विदेहोक्ता बोद्धव्याः ॥ १८ ॥

प्रतिश्याय का पूर्वरूप-बार-बार छींक आना, शिर का भरा-सा मालूम होना, जकड़ाहट, शरीर में पीड़न, रोमांच होना तथा अन्य विदेहोक्त लक्षण यथा-नासिका से धूआँ की तरह निकलना, तालु में जलन और नाक तथा मुख से पानी गिरना ये सब प्रतिश्याय के पूर्वरूप हैं ॥ १८ ॥

११ [2]वातजप्रतिश्यायलक्षणमाह—

आनद्धाऽपिहिता नासा तनुस्रावप्रसेकिनी । गलताल्वोष्ठशोषश्च निस्तोदः शङ्खयोस्तथा ।
क्षवप्रवृत्तिरत्यर्थं वक्त्रवैरस्यमेव च । भवेत्स्वरोपघातश्च प्रतिश्यायेऽनिलात्मके ॥ १९ ॥

*आनद्धा = स्तब्धा । अपिहिता = न पिहिता, अत एव तनुस्रावप्रसेकिनी ॥ १९ ॥

वातज प्रतिश्याय के लक्षणः-नाक बार-बार रुक जाय, फिर खुल जाय, पतला पानी जैसा नाक से स्राव हो, गला, तालु और ओठ सूखे, कनपट्टी में सुई कोंचने जैसी पीडा हो, छींक बहुत आये, मुख का स्वाद फीका हो, स्वरभेद (आवाज विगड़ जाना) हो जाय, ये सब लक्षण जिस प्रतिश्याय में हों, उसे वातजन्य समझना चाहिए ॥ १९ ॥

१२ पित्तजप्रतिश्यायलक्षणमाह—

उष्णः सपीतकः स्रावो घ्राणात्स्रवति पैत्तिके । कृशोऽतिपाण्डुः सन्तप्तो भवेदुष्णाभिपीडितः ॥

*सपीतकः = ईषत्पीतकः ॥ २० ॥

पित्तज प्रतिश्याय के लक्षणः—इसमें नाक से गरम और कुछ पीला स्राव होता है, रोगी दुर्बल अत्यन्त पाण्डुवर्ण का, सन्तप्त (उष्णता का अत्यधिक अनुभव करनेवाला) और गरमी से बेचैन रहता है, उसकी नाक से धुआँ जैसा निकलता है और अत्यधिक उलटी होती है ॥ २० ॥

१३ कफजप्रतिश्यायलक्षणमाह—

घ्राणात्कफकृते श्वेतः कफः शीतः स्रवेद् बहुः ॥ २१ ॥

---

१. 'उपद्रवाः—तत्कालभाविनो रोगा न तु पारिभाषिकाः पश्चात्कालभाविनः । ते च घ्राणधूमायनमन्थादयः' इति माधवकरः ।

२. प्रतिश्याय को Coryza कहते हैं । वातज,पित्तजादि त्रिविध प्रतिश्याय इसीकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ मात्र हैं । उपर्युक्त टिप्पणियों से स्पष्ट हो गया है कि एक नासारोग से दूसरा नासारोग उत्पन्न हो जाता है । इसीसे बार-बार प्रतिश्याय उत्पन्न होने से या उसकी उपेक्षा करने से वह चिरकालीन रूप धारण कर लेता है और नासिका में चिरकालीन नासाशोथ उत्पन्न हो जाता है, जो आगे चलकर पूतिगंधी रूप धारण कर सकता है । इसी अवस्था को दुष्ट प्रतिश्याय कहते हैं । इसीकी ठीक सफाई न करने से कृमि भी पड़ सकते हैं । वास्तव में प्रतिश्याय दुष्ट होने पर ozaena (पीनस, पूतिनस्य, पूयरक्त) के समान ही हो जाता है । अन्तर केवल यही है कि दुष्टप्रतिश्याय में पूर्व में बार-बार प्रतिश्याय होने के लक्षण मिलते हैं, किन्तु पीनस में ऐसा होना आवश्यक नहीं है, इसके अतिरिक्त पीनस के बहुत से उत्पादक कारण भी भिन्न-भिन्न हैं ।

शुक्लावभासः शूनाक्षो भवेद् गुरुशिरा नरः। गलताल्वोष्ठशिरसां कण्डूभिरतिपीडितः॥

कफज प्रतिश्याय के लक्षणः—इसमें नाक से सफेद, ठण्डा और अधिक मात्रा में कफ का स्राव होता है, रोगी का रङ्ग कुछ श्वेत हो जाता है, आँख कुछ फूली हुई रहती है, शिर भारी हो जाता है। गला, तालु, ओठ और शिर में अत्यधिक खुजली होती है॥ २१-२२॥

त्रिदोषजप्रतिश्यायलक्षणमाह—

भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो योऽकस्मात्सन्निवर्त्तते।
सम्पक्को वाऽप्यपक्को वा स च सर्वभवः स्मृतः॥ २३॥

*अत्र यद्यपि दोषत्रयलिङ्गानि नोक्तानि तथापि तानि ज्ञेयानि। त्रिदोषजत्वादयमसाध्यः। अत एवाह—

*नृणां दुष्टः प्रतिश्यायः सर्वजश्च न सिद्ध्यति॥ इति॥ २३॥

त्रिदोषज प्रतिश्याय के लक्षणः—जो प्रतिश्याय बार-बार अकस्मात् उत्पन्न हो और बार-बार बिना पके हुए या पककर अकस्मात् अच्छा हो जाया करे, उसे त्रिदोषज प्रतिश्याय कहते हैं। इसमें तीनों दोषों का भी लक्षण (यद्यपि श्लोक में नहीं कहे गये हैं, तथापि) समझ लेना चाहिए। त्रिदोषज तथा दुष्ट प्रतिश्याय असाध्य होते हैं॥ २३॥

दुष्टप्रतिश्यायलक्षणमाह—

प्रक्लिद्यते मुहुर्नासा पुनश्च परिशुष्यति। पुनरानह्यते वाऽपि पुनर्विव्रियते तथा॥ २४॥
निश्वासो वाऽपि दुर्गन्धो नरो गन्धान्न वेत्ति च।
एवं दुष्टं प्रतिश्यायं जानीयात्कृच्छ्रसाधनम्॥ २५॥

*आनह्यते=विबद्धा भवति। विव्रियते =अविबद्धा स्यात्। क्लेदशोषविबन्धविवृतत्वानि नैककालं भवन्ति, किन्तु यदा यदा यद्दोषाधिक्यं भवति, तदा तदा तत्तद्दोषकृतः स स बोद्धव्यः, इति न विरोधः। कृच्छ्रसाध्यश्च॥ २४-२५॥

दुष्ट प्रतिश्याय के लक्षणः—इसमें कभी नाक गीली हो जाती है, कभी सूख जाती है, कभी बन्द हो जाती है, कभी खुल जाती है। ये सब परस्परविरोधी लक्षण एक ही साथ नहीं होते, वरन् बारी-बारी से होते हैं। जिस समय जिस दोष की अधिकता होती है, उसीके अनुसार उपर्युक्त लक्षण होते हैं। निश्वास में दुर्गन्ध आती है, रोगी को सुगन्ध और दुर्गन्ध नहीं मालूम पड़ती। इस प्रकार के लक्षणवाले प्रतिश्याय को 'दुष्ट प्रतिश्याय' कहते हैं। यह कभी कष्टसाध्य और कभी असाध्य भी होता है॥ २४-२५

१५ रक्तजप्रतिश्यायलक्षणमाह—

रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्त्तते। पित्तप्रतिश्यायकृतैर्लिङ्गैश्चापि समन्वितः॥ २६॥
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तु [1]रुरोघातप्रपीडितः। दुर्गन्धोच्छ्वासवक्त्रश्च गन्धानपि न वेत्ति सः॥

*उरोघातप्रपीडितः= उरोघातेनेव प्रपीडितः॥ २६-२७॥

रक्तज प्रतिश्याय के लक्षणः—इसमें नासिका से रक्त का स्राव होता है। इसके अन्य लक्षण पित्तज प्रतिश्याय के समान होते हैं, रोगी की आँखें लाल हो जाती हैं, उसके वक्ष में चोट लगने की भाँति पीडा होती है। निश्वास तथा मुख से दुर्गन्ध आती है और गन्धज्ञान की शक्ति नष्ट हो जाती है॥ २६-२७॥

चिकित्सामन्तरेण सर्वे प्रतिश्यायाः कालान्तरेणासाध्या भवन्तीत्याह—

सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः। दुष्टतां यान्ति कालेन तदाऽसाध्या भवन्ति च॥

---

१. उरोघात का लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार लिखा है:—
'उरःक्षतमुरस्तम्भः पूतिकर्णकफोरसः। सकासः सज्वरो ज्ञेयः उरोघातः सपीनसः'॥

*अप्रतीकारेण कालान्तरे एव सर्वे प्रतिश्याया असाध्या भवन्तीत्याह—सर्वं इति ॥

चिकित्सा न करने से सभी प्रकार के प्रतिश्याय कालान्तर में दुष्ट प्रतिश्याय का रूप धारण कर लेते हैं और तब असाध्य हो जाते हैं ॥ २८ ॥

प्रतिश्यायदुष्टौ कृम्युत्पत्तिं तल्लक्षणं चाह—

मूर्च्छन्ति कृमयश्चात्र श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः ।
कृमिजन्यशिरोरोगैस्तुल्यं तेनात्र लक्षणम् ॥ २९ ॥

*अत्र=एषु प्रतिश्यायेषु । कफजा एव कृमयो भवन्तीति श्वेताः स्निग्धाश्च ॥ २९=

प्रतिश्याय के दूषित हो जाने पर (बिगड़ जाने पर) सफेद और चिकने (क्योंकि कफ से ही कृमि उत्पन्न होते हैं) तथा अतिसूक्ष्म कृमि पड़ जाते हैं और इस प्रकार के प्रतिश्यायों के लक्षण कृमिजन्य शिरोरोग के समान होते हैं ॥ २९ ॥

वृद्धाः प्रतिश्याया अपरानपि विकारान् कुर्वन्तीत्याह—

बाधिर्यमान्ध्यमघ्नत्वं घोरांश्च[1] नयनामयान् । शोफाग्निमान्द्यकासांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः॥

*'घोरांश्च नयनामयान्' इति वचनेऽप्यान्ध्यग्रहणं पुनर्विशेषार्थम् । अघ्रत्वं=न जिघ्रतीत्यघ्रस्तस्य भावोऽघ्रत्वम् ॥ ३० ॥

वृद्धप्रतिश्यायजन्य अन्य विकार-पीनस तथा प्रतिश्याय रोग अत्यन्त बढ़ जाने पर बहरापन, अन्धापन, गन्धज्ञान की शक्ति का नाश, भीषण नेत्ररोग, शोष, अग्निमान्द्य और खाँसी इन रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ ३० ॥

चतुस्त्रिंशत्संख्यापूरणायाह—

अर्बुदं सप्तधा शोथाश्चत्वारोऽर्शश्[2]चतुर्विधम् । चतुर्विधं[3] रक्तपित्तमुक्तं घ्राणेऽपि तद्विदुः ॥

---

१. इन सब विकारों का वर्णन हो चुका है (ऊपरलिखित टिप्पणियों को ध्यान से पढ़िये, प्रायः ये सब विकार मिल जायँगे) ।

२. 'पालिपस' (polypoid growth) को नासार्श कहा जा सकता है । (इसके लिए देखिये मू० श्लो० ८ की टिप्पणी 'ई') ।

३. नासा के रक्तपित्त या नकसीर को Epistaxis कह सकते हैं ।

Epistaxis:—नासिका की श्लेष्मल कला में असंख्य रक्तवाहिनियाँ रहती हैं । शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा ये बहुत कम गहराई में और बहुत पतली दीवारवाली होती हैं । यही कारण है कि कभी-कभी प्रायः आसानी से फट जाया करती हैं और नासा से रक्त आने लगता है । बहुत ऊँचे पहाड़ों पर जहाँ वायुमण्डल का दबाव काफी कम रहता है, जाने से कभी कभी नासिका से रक्त आने लगता है । यह विकृति भी उपर्युक्त कारणों से ही होती है । नासिका से रक्तस्राव होने (Epistaxis) के दो प्रकार के कारण होते हैं:-१-नासागत (Local), २-सार्वदैहिक (Constitutional) ।

१—नासागत कारण—इनमें प्रायः बहुत थोड़ा-सा रक्तस्राव होता है और उसका मुख्य कारण नासागत कला का रक्तमय हो जाना ही होता है । यह रक्तमयता (Congestion) निम्न दशाओं में हो सकती है:—Adenoids, नासार्श (Polypi), तीव्र नासाशोथ (Acute Rhinitis), नासिका में कृमि पड़ जाना, नासिका का करोटितल (Rase of the Skull) पर अभिघात लगना या किसी विजातीय बाहरी द्रव्य (Foreign body) का नासिका में घुस जाना । निम्नलिखित नासागत रोगों में नासा से रक्तस्राव बार-बार हो सकता है:-घातक वृद्धियाँ यथा-दुष्टार्बुद (Cancer) आदि, फिरंगजन्य तथा क्षयजन्य व्रण या किसी अन्य प्रकार के व्रण (जो यदि बहुत छोटे हों तो जल्द पहचान में भी नहीं आते) । कभी-कभी जब नासागत रक्तस्राव

*अर्बुदानि सप्त=वातपित्तश्लेष्मसन्निपातरक्तमांसमेदोजानि । शोथाश्चत्वारो=वातपित्तश्लेष्मसन्निपातजाः । अर्शांसि चत्वारि=वातपित्तश्लेष्मसन्निपातजानि । रक्तपित्तानि

वहुत अल्पमात्रा में होता है तो पीछे गले में जाकर निगला जाता है और थूक के साथ या खाँसी के साथ बाहर निकलता है। ऐसी दशा में haematemesis (आमाशय से रक्तस्राव) या haemoptysis (फुफ्फुस से रक्तस्राव) का भ्रम हो जाता है। इसलिए बड़ी सावधानी से नासागुहा को देखकर उपर्युक्त रोगों का तथा Epistaxis का निर्णय करना चाहिए।

२—सार्वदैहिक कारण—इनसे प्रायः पर्याप्त मात्रा में रक्तस्राव होता है; यहाँ तक कि किसी-किसी रोगी में चिन्ताजनक रूप धारण कर लेता है। कुछ लोगों में यह रोग पारिवारिक होता है और कुछ लोगों में नासा से रक्तस्राव होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी होती है। सार्वदैहिक कारणों को पुनः दो भागों में बाँटा जा सकता है:—

(क) रक्तवाहक अङ्गों की विकृति,

(ख) रक्तगत विकृति।

क—यदि रोगी स्वस्थ और ४० वर्ष से अधिक अवस्था का हो और उसे पहले पहल नकसीर फूटे तो 'ब्राइट' का चिरकालीन रोग (Chronic Bright's disease) या रक्तभाराधिक्य (high blood Pressure) की आशंका करनी चाहिए। हार्दिक कपाटों की विकृति (Cardiac valvular disease) 'एम्फीसीमा' (Emphysema), पुरानी खाँसी (Chronic bronchitis) और यकृत् की 'शिरोसिस' (Cirrhosis of the liver), इन रोगों में भी नासा से रक्तस्राव का होना प्रायः देखा जाता है। इनके अतिरिक्त निम्न दशाओं में भी यह रक्तस्राव होता है:—वक्षगुहागत अर्बुद (thoratic tumours), तीव्रतम ज्वर (extreme temperature), अत्यधिक व्यायाम के बाद, आर्त्तवकाल (menstrul period), ऊँचे पहाड़ों पर जाना या वायुयान की यात्रा।

ख—इसमें रक्त में ही कुछ ऐसी विकृति हो जाती है कि उसमें जो शरीर के बाहर आने पर शीघ्र जम जाने का गुण होता है, उसीमें कुछ दोष आ जाता है। यहाँ पर यह जान लेना चाहिए कि रक्तस्राव के बन्द होने में स्वयं रक्त भी बहुत सहायक होता है; क्योंकि जो रक्त शरीर के बाहर आ जाता है, वह जमकर फटी हुई धमनी या शिरा अथवा व्रण के मुख को बन्द कर देता है। इस प्रकार रक्त का बहना अपने आप बन्द हो जाता है। रक्त के जमने के गुण में विकार आ जाने से या तो वह बिलकुल जमता नहीं, यथा—'हीमोफिलिया' (haemophilia) में, या देर में जमता है। निम्नलिखित रोगों में रक्त में यह दोष उत्पन्न होने से नासिका से रक्तस्राव होता है:—'परप्यूरा' (Purpura) haemophilia, 'स्कर्वी' (Scurvy), 'ल्यूकीमिया' (Leukaemia), साधारण या दुष्ट पाण्डुरोग (Simple spernecious anaemia) रक्तकणिकाओं (Bloodplatelets) की कमी, (Thrombocytopenia) कुछ विशिष्ट ज्वर यथाः—आन्त्रिकज्वर (Typhoid), आमवात Rheumatism और रक्तस्रावी प्रकार के विस्फोट haemorrhagic forms of exanthamata बच्चों में कूकर-खाँसी (hopping cough) और कई प्रकार के ज्वरों की प्रारम्भिक दशाओं में प्रायः नासिका से रक्तस्राव भी कभी-कभी हो जाता है।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए नासागत रक्तपित्त (Epistaxis) यदि अधिक मात्रा में बार-बार हो तो बहुत ही सावधानी के साथ उसके कारण का पता लगाना परमावश्यक है।

चिकित्सा—यदि हृदय या फुफ्फुस के रोगों के कारण नकसीर फूटी हो और यदि अधिक रक्त न जाता हो तो उसे रोकने की आवश्यकता नहीं है। इन रोगों में शिर में पीड़ा होती है और

चत्वारि = वातपित्तश्लेष्मसन्निपातजानि । एतानि यथोक्तलिङ्गानि घ्राणेऽपि भवन्ति ॥

नाक में अर्बुद सात प्रकार के होते हैं, यथा—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज, मांसज, और मेदज । शोथ चार प्रकार के होते हैं, यथा—वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज । अर्श चार प्रकार के होते हैं, यथाः—वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज । रक्तपित्त भी चार प्रकार का होता है, यथा :—वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज—इनके लक्षण पूर्वोक्त वातजादि अर्बुद तथा शोथादि की भाँति होते हैं ॥ ३१ ॥

चिकित्साभेदादामपीनसलक्षणमाह—

शिरोगुरुत्वमरुचिर्नासास्रावस्तनुः स्वरः । क्षामः ष्ठीवति चाभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् ॥३२॥

***नासास्रावस्तनुस्वरः क्षाम इत्यन्वयः ॥ ३२ ॥**

आमपीनस के लक्षणः—शिर में भारीपन, अरुचि, नाक से पतला स्राव, स्वर का क्षीण हो जाना (आवाज मन्द पड़ जाना) और अत्यधिक थूकना, ये सब कच्चे पीनस के लक्षण हैं ॥ ३२ ॥

पक्वपीनसलक्षणमाह—

आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति । स्वरवर्णविशुद्धिश्च पक्वपीनसलक्षणम् ॥३३॥

***आमलिङ्गान्वितः = आमलिङ्गैः = शिरोगुरुत्वादिभिर्युक्तः, श्लेष्मा । पश्चाद्, घनः=निविडः । अथवा-खेषु = नासारन्ध्रेषु । निमज्जति = सक्तो भवति । वर्णविशुद्धिः = श्लेष्मणः प्रकृतवर्णता ॥ ३३ ॥**

पक्वपीनस का लक्षण—आम पीनस के शिरोगुरुत्वादि लक्षणोंवाला कफ यदि बाद में गाढ़ा होकर नासिका के कोटरों (छिद्रों) में रुक जाय और उसका रंग स्वाभाविक हो जाय तथा रोगी की आवाज भी साफ हो जाय तो पीनस को पका हुआ समझना चाहिए ॥ ३३ ॥

रक्त का भार अधिक रहता है। इसलिए प्रत्येक नकसीर की दशामें रक्तभार (Blood pressure) नापना चाहिए । जब तक रक्तभार अधिक रहता है, तब तक कोई भय नहीं रहता ।

अ—नकसीर के आवेग के समय की चिकित्सा—इसमें रक्तस्राव को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए । रोगी को आराम से और शान्तिपूर्वक रखे और उसे इस प्रकार उत्तान लिटा दे कि उसका शिर सीधा और चिबुक सामने की ओर रहे । शिर को ठंढा तथा पैर को गरम रखे । ग्रीवा के पीछे पृष्ठवंश पर बर्फ रखे । हाथों को भी ऊपर उठाया जा सकता है । चूँकि सार्वदैहिक कारणों से उत्पन्न रक्तस्राव प्रायः नासामध्य प्राचीर के पूर्वभाग के एक स्थान से होता है । इसलिए शरीर के उस भाग को अङ्गुली और अँगूठे से दबाये रहे । अग्निदग्ध भी किया जा सकता है । रक्तस्राव के स्थान पर 'एड्रेनेलीन' लगाने पर भी रक्त का आना बन्द हो जाता है । यदि ये सब उपचार रक्तस्राव बन्द करने में असफल हो जायँ तो नासागुहा को सूखे पिचु या प्लोत (ribbon gauze) से खूब कसकर भर देना चाहिए और उसे प्रतिदिन बदलते रहना चाहिए, मुख द्वारा चार-चार घण्टे पर 'कैल्सियम क्लोराइड' लेना चाहिए । Calcium chloride का त्वचागत सूचीवेध (Subcuteneous injection) द्वारा भी प्रयोग किया जा सकता है । आवश्यकता होने पर घोड़े की लसिका (Horse -Serum) का भी (१० से २० सी० सी० प्रतिदिन) त्वचागत सूचीवेध द्वारा प्रयोग करना चाहिए । यदि इतना अधिक रक्तस्राव हो गया हो कि त्वचा में पीलिमा Blood transfusion आ गयी हो तो किसी स्वस्थ व्यक्ति का रक्त रुग्ण व्यक्ति में प्रवेश कराना चाहिए ।

ब—दौरे के बीच में नासागुहा के पूर्व और पश्चात् भागों को सावधानी से देखकर कारण का पता लगाकर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए । समय-समय पर नासिका में वैसलीन या गोघृत जैसी चिकनी वस्तु लगाते रहने से भी रक्तस्राव रोके रखने में सहायता मिलती है ।

नासारोगचिकित्सामाह—

सर्वेषु सर्वकालं पीनसरोगेषु जातमात्रेषु। मरिचं गुडेन दध्ना भुञ्जीत नरः सुखं लभते ॥३४॥

नासारोग चिकित्सा:—सभी प्रकार के पीनस रोगों के उत्पन्न होते ही-सदैव गुड़, मरिच और दही खाने से मनुष्य सुख प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

कट्फलं पौष्करं श्रृङ्गी व्योषं यासश्च कारवी। एषां चूर्णं कषायं वा दद्यादार्द्रकजै रसैः ॥३५॥
पीनसे स्वरभेदे च तमके च हलीमके। सन्निपाते कफे कासे ज्वरे श्वासे च शस्यते ॥ ३६ ॥

कायफल, पोहकरमूल, काकड़ासिंगी, सोंठ, मरिच, पीपर, जवासा और सोवा—इनका चूर्ण अथवा क्वाथ (काढ़ा) आदि के रस के साथ दे। यह पीनस, स्वरभेद, तमकश्वास, हलीमक, सन्निपात, कफजन्य रोग, खाँसी, ज्वर और श्वासरोगों में अति उत्तम है ॥ ३५-३६ ॥

कलिङ्गहिङ्गुमरिचलाक्षासुरसकट्फलैः। कुष्ठोग्राशिग्रुजन्तुघ्नैरवपीडः प्रशस्यते ॥ ३७ ॥
***पीनसादिषु ॥ ३७ ॥**

इन्द्रजव, हींग, काली मिर्च, लाह, तुलसी, कायफल, कडुवा कूट, बच, सहिजन और वायविडंग के चूर्ण का अवपीडन, नस्य लेना पीनस आदि रोगों में उत्तम है ॥ ३७ ॥

व्योषादिवटीमाह—

व्योषचित्रकतालीसतिन्तिडीकाम्लवेतसम्। स च व्याजाजितुल्यांशमेलात्वक्पत्रपादिकम् ॥
व्योषादिकमिदं चूर्णं पुराणगुडमिश्रितम्। पीनसश्वासकासघ्नं रुचिस्वरकरं परम् ॥ ३९ ॥

व्योषादिवटी—सोंठ, मरिच, पीपर, तालीसपत्र, इमली, अम्लवेत, चव और जीरा ये सब परस्पर समान भाग और बड़ीलायची, दालचीनी, तेजपत्र प्रत्येक चौथाई भाग, इन सबका चूर्ण व्योषादि चूर्ण कहलाता है। इसमें पुराना गुड़ मिलाकर वटी के रूप में सेवन करने से पीनस, श्वास और खाँसी नष्ट होती है और भोजन में रुचि उत्पन्न होती है तथा स्वरभेद दूर होता है ॥

व्याघ्रीतैलमाह—

व्याघ्रीदन्तीवचाशिग्रुसुरसाव्योषसिन्धुजैः। सिद्धं तैलं नासि दिष्टं पूतिनासागदापहम् ॥

व्याघ्री तैल—भटकटैया, जमालगोटे की जड़, घोड़बच, सहजन, तुलसी, सोंठ, मरिच, पीपर और सेंधानमक इनसे पकाया हुआ तेल नासिका में डालते रहने से पीनस रोग नष्ट हो जाता है ॥

शिग्रुतैलमाह—

शिग्रुसिंहीनिकुम्भानां बीजैः सव्योषसैन्धवैः। बिल्वपत्ररसैः सिद्धं तैलं स्यात्पूतिनस्यनुत् ॥
***निकुम्भो = दन्ती। पूतिनस्यनुद्—न स्यात् ॥ ४१ ॥**

शिग्रुतैल—सहजन, भटकटैया और जमालगोटा—इन तीनों का बीज, मरिच, पीपर, सेंधानमक तथा श्रीफल के पत्तों का स्वरस इन सबसे पकाये हुए तेल का नस्य लेने से नासिका की दुर्गन्धता (पीनस) नष्ट होती है ॥ ४१ ॥

घृतगुग्गुलमिश्रस्य सिक्थकस्य प्रयत्नतः। धूमं क्षवथुरोगघ्नं भ्रंशथुघ्नञ्च निर्दिशेत् ॥ ४२ ॥

घी, गुग्गुल और मोम इनको मिलाकर यत्नपूर्वक इनके धूएँ का नस्य लेने से छींक और भ्रंशथु (नाक से गाढ़ा कफ गिरना) नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

शुण्ठीकुष्ठकणाबिल्वद्राक्षाकल्ककषायवत्। तैलं पक्वमथाज्यं वा नस्यात्क्षवथुनाशनम् ॥४३॥

सोंठ, कूट, पीपर, बेल, मुनक्का इनके कल्क और इन्हींके काढ़े से तेल अथवा घी पकाकर नस्य लेने से बहुत छींक का आना बन्द हो जाता है ॥ ४३ ॥

नस्यं हितं निम्बरसाञ्जनाभ्यां दीप्ते शिरःस्वेदनमल्पशस्तु।
नस्ये कृते क्षीरजलावसेकान्छ्वसन्ति भुञ्जीत च मुद्गयूषैः ॥ ४४ ॥

दीप्त नामक नासारोग में शिर में तनिक स्वेद करके नीम की पत्ती का रस और रसौत का नस्य लेना हितकर है। नस्य लेने के बाद दूध या जल से नासिका का अवसेचन करना चाहिए और भोजन के लिए मूँग का यूष लेना चाहिए ॥ ४४ ॥

नासास्रावे घ्राणयोश्चूर्णमुक्तं नाड्या देयं येऽवपीडाश्च पथ्याः।
तीक्ष्णान्धूमान्देवदार्वग्निकाभ्यां मांसं छागं पथ्यमत्रादिशन्ति ॥ ४५ ॥

नासास्राव में उपर्युक्त चूर्ण को नली द्वारा नाक में डालना चाहिए और हितकारक अवपीडन नस्य लेना चाहिए तथा देवदारु और चित्त का तीक्ष्ण धूआँ पिलाना और बकरे का मांस खिलाना चाहिए ॥ ४५ ॥

प्रतिश्यायेषु सर्वेषु गृहं वातविवर्जितम्। वस्त्रेण गुरुणा तेन शिरसो वेष्टनं हितम् ॥ ४६ ॥
विडङ्गं सैन्धवं हिङ्गु गुग्गुलुः समनःशिलः। वचैतच्चूर्णमाघ्रातं प्रतिश्यायं विनाशयेत्।
घृततैलसमायुक्तं शक्तुधूमं पिबेन्नरः ॥ ४७ ॥
सधूमः स्यात्प्रतिश्यायकासहिक्काहरः परः। प्रतिश्याये पिबेद्धूमं सर्वगन्धसमायुतम् ॥४८॥
चातुर्जातकचूर्णं वा घ्रेयं वा कृष्णजीरकम् ॥ ४९ ॥

*कृष्णजीरकमत्र कलौञ्जी ॥ ४९ ॥

प्रतिश्याय चिकित्सा:—समस्त प्रतिश्यायों (जुकामों) में प्रवातहीन घर में रहना और मोटे कपड़े से सिर को लपेटे (ढके) रहना हितकर है।

वायविडङ्ग, सेंधानमक, हींग, गुग्गुलु, मैनसिल और बच—इनका चूर्ण नस्य लेने से प्रतिश्याय को नष्ट करता है।

घी, तेल और सत्तू इनको मिलाकर धूम्रपान करने से प्रतिश्याय, खाँसी और हिचकी अवश्य नष्ट हो जाती हैं।

प्रतिश्याय में सर्वगन्ध का या चातुर्जात (दालचीनी, तेजपत्ता, बड़ी लायची, नागकेशर) का चूर्ण अथवा कलौंजी सूंघे ॥ ४६–४९ ॥

पुटपक्वं जयापत्रं तैलसैन्धवसंयुतम्। प्रतिश्यायेषु सर्वेषु शीलितं परमौषधम् ॥ ५० ॥

*जया = विजया, 'भङ्गे'ति यावत्। शीलितं = भुक्तम् ॥ ५० ॥

भाँग को पुटपाक द्वारा पकाकर तेल और सेंधा नमक के साथ सेवन करे तो यह सभी प्रतिश्यायों की परमौषधि है ॥ ५० ॥

पिप्पल्यः शिग्रुबीजानि विडङ्गमरिचानि च। अवपीडः प्रशस्तोऽयं प्रतिश्यायनिवारणे ॥५१॥

पीपर, सहजन का बीज, वायविडंग और मरिच इनका अवपीडन नस्य प्रतिश्याय दूर करने के लिए उत्तम है ॥ ५१ ॥

शिरसोऽभ्यञ्जनैः स्वेदैर्नस्यैर्मन्दोष्णभोजनैः। वमनैर्घृतपानैश्च तान्यथास्वमुपाचरेत् ॥५२॥

शिर में मालिश और स्वेदन करके, नस्य लेकर, किञ्चित् उष्ण भोजन द्वारा, वमन द्वारा तथा घृतपान द्वारा प्रतिश्याय की दोषानुकूल चिकित्सा करे ॥ ५२ ॥

क्रिमिघ्ना ये क्रमाः प्रोक्तास्तान्वै कृमिषु योजयेत्।
नावनानि कृमिघ्नानि भेषजानि च बुद्धिमान् ॥ ५३ ॥

कृमियुक्त दुष्ट प्रतिश्याय में कृमिनाशक चिकित्सा-क्रम, कृमिघ्न नस्य तथा कृमिघ्न औषधियों का बुद्धिमान् वैद्य प्रयोग करे ॥ ५३ ॥

रक्तपित्तानि शोथांश्च तथाऽर्शांस्यर्बुदानि च। नासिकायां स्युरेतेषां स्वं स्वं कुर्याच्चिकित्सतम् ॥

नासिका के रक्तपित्त, शोथ, अर्श तथा अर्बुद रोगों की चिकित्सा इन्हीं रोगों की पूर्वोक्त चिकित्सा की भाँति करे ॥ ५४ ॥

गृहधूमकणादारुक्षारनक्ताह्वसैन्धवैः ।
सिद्धं शिखरिबीजैश्च तैलं नासाऽर्शसां हितम् ॥ ५५ ॥

इति पञ्चषष्टितमो नासारोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६५ ॥

घर का धूआँ, पीपर, देवदार, यवक्षार, हरदी, सेंधा नमक और चिचिड़ा का बीज इनसे पकाया हुआ तेल नासार्श के लिए लाभदाक होता है ॥ ५५ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां
मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे पञ्चषष्टितमो नासारोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६५ ॥

अथ षट्षष्टितमो मुखरोगाधिकारः ॥ ६६ ॥

तत्र मुखस्य स्वरूपमाह—

ओष्ठौ च दन्तमूलानि दन्ता जिह्वा च तालु च । गलो मुखादि सकलं सप्ताङ्गं मुखमुच्यते ॥

मुख का स्वरूप—दोनों ओठ, दाँतों की जड़ें (मसूड़े), दांत, जिह्वा, तालु, गला और मुख आदि ये सब सातों अङ्ग मिलाकर मुख कहलाते हैं ॥ १ ॥

मुखरोगसंख्यामाह—

स्युरष्टावोष्ठयोर्दन्तमूले तु दश षट् तथा । दन्तेष्वष्टौ च जिह्वायां पञ्च स्युर्नव तालुनि ॥
कण्ठे त्वष्टादश प्रोक्तास्त्रयः सर्वेषु च स्मृताः । एवं मुखमयाः सर्वे सप्तषष्टिर्मता बुधैः ॥ ३ ॥

मुखरोगों की सख्या—ओठों में ८, दन्तमूल में १६, दांतो में ८, जिह्वा में ५, तालु में ९, गले में १८ और समस्त मुख में ३ रोग होते हैं। इस प्रकार मुख में कुल ६७ रोग होते हैं ॥ २-३ ॥

मुखरोगनिदानमाह—

आनूपपिशितक्षारदधिमाषादिसेवनात् । मुखमध्ये गदान्कुर्युः क्रुद्धा दोषाः कफोत्तराः ॥४॥

मुखरोगनिदान—अनूप देश मे पाये जाने वाले प्राणियों का मांस तथा क्षार, दही और उड़द आदि (कफकारक) वस्तुओं का सेवन करने से दोष प्रकुपित होकर कफ को प्रधान करके मुख में रोग उत्पन्न करते हैं ॥ ४ ॥

अथौष्ठरोगाणां निदानपूर्विकां संख्यामाह—

पृथग्दोषैः समस्तैश्च रक्तजो मांसजस्तथा मेदोजश्चाभिघातोत्थ एवमष्टौष्ठजा गदाः ॥ ५ ॥

ओष्ठगत रोगों की निदानपूर्वक संख्या।—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज, मांसज, मेदज, और अभिघातज-इस तरह ओष्ठ में ८ रोग होते हैं ॥ ५ ॥

१ वातजौष्ठरोग[1]लक्षणमाह—

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ संप्राप्तानिलवेदनौ । दाल्येते परिपाट्येते ओष्ठौ मारुतकोपतः ॥ ६ ॥
***परुषौ = रूक्षौ । दाल्येते=विदार्येते । परिपाट्येते = किञ्चिद्विदीर्णत्वचौ क्रियेते ॥ ६ ॥**

वातज ओष्ठ के लक्षण— वायु के प्रकोप से ओठ खरखरे, रूखे, कड़े, वायुजन्य पीड़ा से युक्त, फाड़ने जैसी पीड़ावाले और कुछ फटे हुए चमड़ेवाले होते हैं ॥ ६ ॥

---

१. वातज ओष्ठप्रकोप को क्रैकेड (Cracked) या चैपेड लिप्स (Chapped Lips) कह सकते हैं, क्योंकि इनके प्रायः वे ही लक्षण होते हैं, जो उपर्युक्त वातज ओष्ठप्रकोप के लक्षण हैं।

२ पित्तजौष्ठरोग[1]लक्षणमाह—

चीयेते पिडकाभिस्तु सरुजाभिः समन्ततः। सदाहपाकपिडकौ पीताभासौ च पित्ततः॥

***सरुजाभिः=पैत्तिकरुगन्विताभिः॥ ७॥**

पित्तज ओष्ठरोग—पैत्तिक पीड़ावाली फुन्सियों से घिरा हुआ, जलन, पाक और फुड़ियोंवाला पीलिमा लिये हुए पित्तज ओष्ठ होता है॥ ७॥

३ कफजौष्ठरोगलक्षणमाह—

सवर्णाभिस्तु चीयेते पिडकाभिरवेदनौ। कण्डूमन्तौ कफाच्छ्वेतौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरू॥

कफज ओष्ठरोग के लक्षण—कफजन्य ओष्ठरोग में आस-पास के स्वस्थ चर्म के रङ्ग के समान रङ्गवाली फुन्सियों से घिरा हुआ, पीड़ाहीन, खुजलीयुक्त, श्वेत, चिकना, ठण्डा और भारी होता है॥

४ त्रिदोषजौष्ठरोगलक्षणमाह—

सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च। सन्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडकाऽन्वितौ॥

त्रिदोषज ओष्ठरोग के लक्षण—सन्निपातज ओष्ठ किसी समय काला, कभी पीला, कभी श्वेत रङ्गवाला और अनेकों रङ्गवाली बहुत-सी फुन्सियोंवाला होता है॥ ९॥

५ रक्तजौष्ठ[2]रोगलक्षणमाह

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिर्निपीडितौ। रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवन्तौ शोणितप्रभौ॥ १०॥

रक्तज ओष्ठरोग के लक्षण—खजूर के फल के रङ्गवाली फुड़ियों से युक्त और रक्त के रङ्ग का रक्तज ओष्ठ होता है तथा उससे खून भी बहा करता है॥ १०॥

६ मांसजौष्ठरोगलक्षणमाह—

मांसदुष्टौ गुरू स्थूलौ मांसपिण्डवदुद्गतौ। जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति नरस्योभयतो मुखात्॥

***जन्तवः=कृमयः। मूर्च्छन्ति=वर्द्धन्ते। मुखादुभयतः=सृक्किण्योः॥ ११॥**

मांसज ओष्ठरोग के लक्षण—ओष्ठ के मांस के दूषित होने से ओठ भारी, मोटे, मांस के लोथड़े की तरह उठे हुए होते हैं और उनमें कीड़े पड़ जाते हैं॥ ११॥

७ मेदोजौष्ठ[3]रोगलक्षणमाह—

सर्पिर्मण्डप्रतीकाशौ मेदसा कण्डुरौ मृदू। स्वच्छस्फटिकसंकाशमास्रावं स्रवतो भृशम्॥

मेदज ओष्ठरोग के लक्षण—ओष्ठगत मेद के दूषित होने से ओठ घी के माँड़ (घी का ऊपरी तरल भाग) के रङ्गवाले, खुजलीयुक्त और कोमल होते हैं तथा उनसे स्फटिकके समान स्वच्छ स्राव भी होता है॥ १२॥

८ अभिघातजौष्ठरोगलक्षणमाह—

क्षतजाभौ विदीर्येते पीड्येते चाभिघाततः। मथितौ च समाख्यातावोष्ठौ कण्डूसमन्वितौ॥

***मथितौ=मृदिताविव। अत एव क्षतजाभौ=रुधिराभाविति सङ्गतम्॥ १३॥**

अभिघातज ओष्ठरोग के लक्षण—चोट लगे हुए ओष्ठ रक्तवर्ण के, फाड़ने जैसी पीड़ावाले, मसले (कुचले) हुए और खुजलीयुक्त होते हैं॥ १३॥

---

१. पित्तज, कफज तथा सन्निपातज ओष्ठप्रकोप के वर्णित लक्षण हर्पस लेबिडेलिस (Herpes labidilis) नामक पाश्चात्य वैद्यक में वर्णित ओष्ठविकार से मिलते-जुलते हैं।

२. रक्तज तथा मांसज ओष्ठप्रकोप और वाग्भटोक्त अर्बुद जिसका कि लक्षण यों है—

'खर्जूरसदृशं चात्र क्षाणे रक्तोऽर्बुदं भवेत्'।

ओष्ठ का अर्बुद एपिथेलिओमा (Epithelioma) हो सकता है।

३. मेदोज ओष्ठप्रकोप पाश्चात्य वैद्यकोक्त मेक्रोचेलिया (Macrochelia) नामक रोग से मिलता है।

अथौष्ठरोगचिकित्सामाह—

गलदन्तमूलदशनच्छदेषु रोगाः कफास्रभूयिष्ठाः। तस्मादेतेष्वसकृद्रुधिरं विस्रावयेदुष्णम्॥
चतुर्विधेन स्नेहेन मधूच्छिष्टयुतेन च। वातजेऽभ्यञ्जनं कुर्यान्नाडीस्वेदञ्च बुद्धिमान्॥ १५॥

***चतुर्विधेन स्नेहेन=तैलघृतवसामज्जरूपेण॥ १५॥**

ओष्ठरोगों की चिकित्सा–गला, दाँतों की जड़ और ओठों में कफप्रधान और रक्तप्रधान रोग होते हैं। इसलिए इनमें उष्ण रक्त को (फस्त खोलकर) निकाल देना चाहिए।

वातज ओष्ठरोग में बुद्धिमान रोगी को चाहिए कि तिलतैल, गोघृत, चर्बी और मज्जा तथा मोम को मिलाकर इससे मालिश करके नाडीस्वेद करे॥ १४–१५॥

वेधं शिराणां वमनं विरेकं तिक्तस्य पानं रसभोजनञ्च।
शिताः प्रदेहाः परिरेचनञ्च पित्तोपसृष्टेष्वधरेषु कुर्यात्॥ १६॥
शिरोविरेचनं धूमः स्वेदः कवल एव च। हृते रक्ते प्रयोक्तव्यमोष्ठकोपे कफात्मके॥ १७॥
मेदोजे शोधिते स्विन्ने स्वेदिते कवलो हितः। प्रियङ्गुत्रिफलालोध्रं सक्षौद्रं प्रतिसारणम्॥१८॥

पित्तज—ओष्ठरोग में शिरावेध (फस्त) कराना, वमन, विरेचन, तिक्तरसों का पान करना, मांसरस भोजन करना, शीतवीर्य लेप लगाना और परिषेचन करना चाहिए। कफजन्य ओष्ठरोगों में रक्त निकलवाकर उसके बाद शिरोविरेचन, धूम्रपान स्वेदन और कवल धारण करना चाहिए। मेदज ओष्ठरोग में शोधन (रक्तमोक्षण) करके स्वेदन कराये। तत्पश्चात् कवल धारण करे और अन्त में प्रियङ्गु, हरड़, बहेड़ा आँवला, लोध और शहद, इनसे प्रतिसारण करे॥ १६–१८॥

प्रतिसारणविधिमाह—

दन्तजिह्वामुखानां यच्चूर्णकल्कावलेहकः। शनैर्घर्षणमङ्गुल्या तदुक्तं प्रतिसारणम्॥ १९॥

प्रतिसारणविधि—दाँत, जिह्वा और मुख में अंगुली द्वारा चूर्ण करके अथवा अवलेह के धीरे-धीरे मलने को 'प्रतिसारण' कहते हैं॥ १९॥

ओष्ठरोगेष्वशेषेषु दृष्ट्वा दोषमुपाचरेत्। तेषु व्रणत्वं जातेषु व्रणवत्समुपाचरेत्॥ २०॥

समस्त ओष्ठरोगों में प्रकुपित दोष के अनुसार चिकित्सा (प्रतिसारणादि) करे और यदि उनमें व्रण हो जाय तो व्रण की चिकित्सा करे॥ २०॥

दन्तवेष्टजरोगाणां नामानि संख्यां चाह—

शीतादो गदितः पूर्वं दन्तपुप्पुटकस्तथा। दन्तवेष्टः सौषिरश्च महासौषिर एव च॥२१॥
ततः परिदरः प्रोक्तस्ततस्तूपकुशः स्मृतः। वैदर्भश्च ततः प्रोक्तः खल्लीवर्द्धन एव च॥२२॥
अधिमांसकनामा च दन्तनाड्यश्च पञ्च च। दन्तविद्रधिरप्यत्र दन्तवेष्टेषु षोडश॥२३॥

दन्तवेष्ट के रोगों की संख्या—१ शीताद, २ दन्तपुप्पुट, ३ दन्तवेष्ट, ४ सौषिर, ५ महासौषिर, ६ परिदर, ७ उपकुश, ८ वैदर्भ, ९ खल्लीवर्द्धन, १० अधिमांस, ११–१५ पाँच प्रकार की दन्तनाड़ी, १६ दन्तविद्रधि, ये सोलह रोग मसूड़ों में होते हैं॥ २१–२३॥

१ शीताद[1] लक्षणमाह—

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात्प्रवर्त्तते। दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्। शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसम्भवः॥

***दन्तवेष्टेभ्यः=दन्तवेष्टनमांसेभ्यः। अकस्माद्=अभिघातं विना। शीर्यन्ते=पतन्ति। पचन्ति च परस्परं=पाकोष्मणा मांसानि शोणितं पचन्ति॥ २४–२५॥**

---

१. शीताद को पाश्चात्य वैद्यक में ब्लीडिङ्ग या स्पॉञ्जी गम्स (Bleeding or Spongy gums) कहते हैं। यह रोग मुख की ठीक सफाई न करने से, पारद-सेवन से या स्कर्वी (Scurvy) नामक रोग से उत्पन्न होता है।

शीताद का लक्षण—यदि मसूड़ों से बिना किसी प्रकार की चोट लगे अनायास ही रक्त निकले, दन्तमांस (मसूड़े) दुर्गन्धयुक्त, काला, गीला, मुलायम हो जाय और रक्त के सहित पककर गिरने लगे तो इसे 'शीताद' कहते हैं। यह रोग कफ और रक्त से उत्पन्न होता है ॥ २४-२५ ॥

२ दन्तपुप्पुटक[1] लक्षणमाह—

दन्तयोस्त्रिषु वाऽप्यत्र श्वयथुर्जायते महान्। दन्तपुप्पुटको नाम स व्याधिः कफरक्तजः॥

दन्तपुप्पुटक के लक्षण—दो या तीन दाँतों में यदि बड़ा सा शोथ हो जाय तो उसे 'दन्तपुप्पुटक' कहते हैं। यह कफ और रक्तजन्य रोग है ॥ २६ ॥

३ दन्तवेष्ट[2] लक्षणमाह—

स्रवन्ति पूयं रुधिरं चला दन्ता भवन्ति च। दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसम्भवः॥ २७॥

***अत्र 'दन्तमूलानी'ति कर्त्तृपदमध्याहरणीयम् ॥ २७ ॥**

दन्तवेष्ट के लक्षण—यदि मसूड़ों से पीव और रक्त निकले तथा दांत हिले तो इसे दूषित रक्तजन्य 'दन्तवेष्ट' रोग कहते हैं ॥ २७ ॥

४ सौषिर[3] लक्षणमाह—

श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान्कफवातजः। लालास्रावी च कण्डूरः स ज्ञेयः सौषिरो गदः॥ २८॥

सौषिर के लक्षण—यदि मसूड़ों में पीड़ायुक्त कफ और वातजन्य शोथ हो, उससे लार बहे और खुजली हो तो यह सौषिर रोग कहलाता है ॥ २८ ॥

५ महासौषिर[4] लक्षणमाह—

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते। दन्तमांसानि पच्यन्ते मुखञ्च परिपच्यते।
यस्मिन्स सर्वजो व्याधिर्महासौषिरसंज्ञकः॥ २९ ॥

---

१. दन्तपुप्पुटक को 'गम बाइल' (Gum boil) कहते हैं। दन्तविद्रधि से यह छोटा और परिमित होता है और बहुधा मसूड़े को छेद करके फूटता है। दन्तविद्रधि अधिक गहराई तक फैलता है और कभी-कभी हनु का नाश (Necrosis of the jaw) भी करता है।

२. दन्तवेष्ट को अंग्रेजी में पायोरिया अल्विओलारिस (Pyorrhoea alveolaris) या सुप्युरेटिह जिन्जिवाइटिस (Suppurative-Gingivitis) कहते हैं।

३. सौषिर से लेकर दन्तवैदर्भ तक जिन्जिवाइटिस (Gingivitis) नामक दन्तवेष्ट के रोग के विविध प्रकार प्रतीत हो रहे हैं।

४. महासौषिर के लक्षण ग्रन्थान्तर में इस प्रकार मिलते हैं:—

'ससन्निपातज्वरवान् सपूयरुधिरस्रुतिः'। अष्टाङ्गसंग्रह।

'विवृद्धमनिशं दन्तांस्ताल्वोष्ठमपि दारयेत्। महासौषिरमित्येतत् ससरात्रान्निहन्त्यसून्' ॥ (भोज)।

इन लक्षणों का विचार करने से महासौषिर प्रायः गेंग्रीनस स्टोमाटायटीज या कैंक्रम ओरिस (Gangrenous stomatitis or Cancrum oris) हो सकता है। इसमें गाल के भीतर या मसूड़ों पर एक व्रण बनता है, जो जिह्वा, तालु इत्यादि पर फैलता है। तीव्र ज्वर भी होता है और रोगी ७-१० दिन के अन्दर मरता है:—This rare Disease occurs in children. It occurred in two men. A Sloughing ulcer developes in the inside of the cheek or on the gums. Perforates the cheek or Spreads to the longue, chin, jaw. bone. cancrumoris is accompained by sever constitutional symptoms. The patient bing prostrated with a high temperature and rapid pulse. Death generally occurs betwen seven and ten days of the onset.

(Text book of the Practice of medicine, by F. W. Price.)

*तालु चाप्यवदीर्यते—चकाराद् दन्तवेष्टश्चाप्यवदीर्यते, सप्तरात्रान्मारकश्चायम्। यत आह भोजः—

*'महासौषिर इत्येष सप्तरात्रान्निहन्त्यसून्' ॥ इति ॥ २९ ॥

महासौषिर के लक्षण—दांत हिलें, तालु और मसूड़े में फटने की सी पीड़ा हो, मसूड़े और मुख पक जायँ तो इसे 'महासौषिर' नामक रोग कहते हैं। यह त्रिदोषज है और सात ही रात्रि में मार डालता है ॥ २९ ॥

६ परिदरलक्षणमाह—

दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन्ष्ठीवति चाप्यसृक्।
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः ॥ ३० ॥

परिदर के लक्षण—जिस रोग में मसूड़े गिरने लगें और थूक के साथ रक्त निकले, उसे 'परिदर' कहते हैं। यह पित्त, रक्त और कफ से उत्पन्न होता है ३० ॥

७ उपकुशलक्षणमाह—

वेष्टेषु दाहः पाकश्च ताभ्यां दन्ताश्चलन्ति च। आघट्टिताः प्रस्रवन्ति शोणितं मन्दवेदनम् ॥
आध्मायन्तेऽस्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते। यस्मिन्नुपकुशः स स्यात्पित्तरक्तसमुद्भवः ॥३२॥

*आघट्टिताः = घृष्टाः ॥ ३१–३२ ॥

उपकुश के लक्षण—जिस रोग में मसूड़ों में जलन और पाक हो, दाँत हिलें, मसूड़ों को रगड़ने से उनसे खून बहे, हलकी-हलकी पीड़ा हो, रक्त निकलने के बाद वे फूल आयें और मुख से दुर्गन्ध निकले तो उसे 'उपकुश' कहते हैं। यह पित्त और रक्त से उत्पन्न होता है ॥ ३१–३२ ॥

८ वैदर्भलक्षणमाह—

घृष्टेषु दन्तमूलेषु संरम्भो जायते महान्। चलन्ति च रदा यस्मिन्स वैदर्भोऽभिघातजः ॥

*संरम्भः = शोथः। 'चलन्ति चे' ति चकाराद्वेदनादाहपाकाः ॥ ३३ ॥

वैदर्भ के लक्षण—जिस रोग में घिसे हुए मसूड़ों में पीड़ा, जलन और पाकयुक्त सूजन हो जाय और दाँत हिलने लगें उसे 'वैदर्भ' कहते हैं। यह चोट लगने से उत्पन्न होता है ॥ ३३ ॥

९ खल्लीवर्द्धन[1]लक्षणमाह—

मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः। खल्लीवर्द्धनसंज्ञोऽसौ सञ्जाते रुक्प्रशाम्यति ॥३४॥

*सञ्जाते दन्ते ॥ ३४ ॥

खल्लीवर्द्धन के लक्षण—यदि किसी दाँत के ऊपर दूसरा (अधिक) दाँत जमने लगे तो उसे 'खल्लीवर्द्धन' कहते हैं। इसमें दाँत के पैदा हो जाने पर पीड़ा शान्त हो जाती है। यह वायु की अधिकता से होती है ॥ ३४ ॥

१० अधिमांस[2]लक्षणमाह—

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महाशोथो महारुजः। लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः ॥

---

१. खल्लीवर्द्धन को अधिदन्त तथा खलवर्द्धन भी कहते हैं, यथा:—

'दन्तोऽधिकोऽधिदन्ताख्यः स चोक्तः खलवर्द्धनः'। (अष्टाङ्गसंग्रह)।

अंग्रेजी में इसको एक्स्ट्रा टूथ (Extra tooth) कहते हैं। अन्य आधुनिक टीकाकार इसे बुद्धिदन्त (Wisdom tooth) समझते हैं। किन्तु इसकी चिकित्सा में इसे उखाड़ने का विधान किया गया है, यथा—'उद्धृत्याधिकदन्तंन्तु ततोऽग्निमवचारयेत्'। अत एव यह बुद्धिदन्त (Wisdom tooth) नहीं हो सकता।

२. अधिमांस में निचले जबड़े के अन्तिम दाँत के ऊपर पीछे की ओर से कुछ मांस आ जाता है, जो चर्वण के समय कुचल जाने से हनुसन्धि तथा कर्ण में पीड़ा को उत्पन्न करता है और निगलते समय भी कठिनाई उपस्थित करता है। यथा—

*हानव्ये = हनुभवे, पश्चिमे दन्ते = अन्त्यजे ॥ ३५ ॥

अधिमांस के लक्षण—यदि निचले जबड़े के पिछले (आखिरी) दाँतों में अत्यन्त पीड़ायुक्त तीव्र शोथ हो और लार बहे तो उसे 'अधिमांस' रोग कहते हैं। यह रोग कफजन्य होता है ॥३५॥

११–१५ पञ्चविधदन्तनाडीलक्षणमाह—

दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः ॥ ३६ ॥

***यथा नाडीव्रणे वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्ताः पञ्च नाड्यः कथितास्तथाऽत्रापीत्यर्थः ॥ ३६ ॥**

दन्तनाडी— (नाडीव्रणाधिकार में कहे हुए) वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और आगन्तुज नाडीव्रणों के लक्षणों से युक्त पाँच प्रकार के नाडीव्रण (नासूर) मसूड़ों में होते हैं। उन्हें 'दन्तनाडी' कहते हैं ॥ ३६ ॥

१६ दन्तविद्रधि [1]लक्षणमाह—

दन्तमांसमलैः सास्रैर्बाह्यान्तः श्वयथुर्महान्। सदाहरुक् स्रवेद्भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः ॥

***दन्तमांसमलैः = दन्तवेष्टगतदोषैः। सास्रैः = सरक्तैर्हेतुभिः ॥ ३७ ॥**

दन्तविद्रधि— रक्त के सहित दन्तमांसगत दोष (प्रकुपित होकर) यदि मसूड़े के बाहर और भीतर पीड़ा और जलनयुक्त बड़ी-सी ऐसी सूजन उत्पन्न करे, जिससे फूटने पर पीब और रक्त बहे तो उसे 'दन्तविद्रधि' कहते हैं ॥ ३७ ॥

दन्तवेष्टरोगचिकित्सामाह—

शीतादे हृतरक्ते तु तोये नागरसर्षपान्। निष्क्वाथ्य त्रिफलाञ्चापि कुर्याद्गण्डूषधारणम् ॥ ३८ ॥

कासीसलोध्रकृष्णामनःशिलाप्रियङ्गुतेजोह्वाः। एषां चूर्णं मधुयुक्छीतादे पूतिमांसहरम् ॥ ॥

***तेजोह्वा = 'तेजबल्कल' इति लोके ॥ ३९ ॥**

तैलं घृतं वा वातघ्नं शीतादे सम्प्रशस्यते। दन्तपुप्पुटके कार्यं तरुणे रक्तमोक्षणम् ॥ ४० ॥

सपञ्चलवणक्षारः सक्षौद्रः प्रतिसारणम्। शिरोविरेकश्च हितो नस्यं स्निग्धञ्च भोजनम् ॥४१॥

दन्तवेष्टरोगों की चिकित्सा—शीताद रोग में (मसूड़ों से) रक्त निकालकर सोंठ, सरसों, हरड़, बहेड़ा और आँवला इनके काढ़े से कुल्ला करे। कसीस, लोध, पीपर, मैनसिल, फूलप्रियङ्गु और तेजबल इनका चूर्ण शीताद के मसूड़ों की दुर्गन्ध दूर करता है। अथवा शीताद में वातनाशक तैल या घी सेवन करना उत्तम है। नये दन्तपुप्पुट में रक्तमोक्षण (फस्त) करना चाहिए और पाँचो नमक, जवाखार और शहद इन्हें मिलाकर मसूड़ों पर धीरे-धीरे मलना चाहिए। इस रोग में शिरोविरेचन, नस्य और स्निग्ध भोजन हितकर है ॥ ३८–४१ ॥

विस्राविते दन्तवेष्टे व्रणन्तु प्रतिसारयेत्। लोध्रपत्तङ्गमधुकलाक्षाचूर्णैर्मधुप्लुतैः ॥ ४२ ॥

***प्रतिसारयेद् = अङ्गुल्या घर्षयेत्। पत्तङ्गः = 'चोक' इति लोके ॥ ४२ ॥**

गण्डूषे क्षीरिणो योज्याः सक्षौद्रघृतशर्कराः चलदन्तस्थिरकरं कार्यं बकुलचर्वणम् ॥ ४३ ॥

दन्तवेष्ट में रक्त निकालकर लोध, चोक, मुलेठी और लाह इनका चूर्ण मधु के साथ मिलाकर व्रण (घीरे) पर धीरे-धीरे मले और क्षीरिवृक्षों के वल्कल के काढ़ा से शहद, घी, शक्कर मिलाकर कुल्ला करे तथा हिलते हुए दाँतों को स्थिर करने के लिए मौलसरी के छिलके को मुख में रखकर चूसे ॥ ४२–४३ ॥

मुस्ताऽदिवटीमाह—

भद्रमुस्ताऽभयाव्योपविडङ्गारिष्टपल्लवैः। गोमूत्रपिष्टं गुटिकां छायाशुष्कां प्रकल्पयेत् ॥४४॥

'हनुकर्णरुजाकरः। प्रतिहन्त्यभ्यवहृतिम्'। अष्टाङ्गसंग्रह।

यह रोग अंग्रेजी में इम्पेक्टेड विजडम टूथ (Impacted Wisdom tooth) हो सकता है।

१. दन्तविद्रधि को अंग्रेजी में एल्विओलर एब्सेस (Alveolar abscess) कहते हैं।

तां निधाय मुखे स्वप्याच्चलदन्तातुरो नरः। वातः परतरं किञ्चिच्चलदन्तस्य भेषजम् ॥४५॥

मुस्तादिवटिका—नागरमोथा, हरड़, सोंठ, मरिच, पीपर, वायविडंग और नीम की पत्ती इन्हें गोमूत्र में पीसकर गोली बनाकर छाया में सुखाकर हिलते हुए दाँत का रोगी इसे मुख में सोते समय रखे। हिलते हुए दाँत की इससे बढ़कर कोई ओषधि नहीं है॥ ४४–४५॥

सहचराद्यतैलमाह—

तुलावृतं नीलसहाचरन्तु द्रोणाम्भसा संश्रपयेद्यथावत्।
ततश्चतुर्भागरसे तु तैलं पचेच्छनैरर्द्धपलप्रमाणैः॥ ४६॥
कल्कैरनन्ताखदिरेरिमेदजम्ब्वाम्रयष्टीमधुकोत्पलानाम्।
तत्तैलमाज्यञ्च धृतं मुखेन स्थैर्यं द्विजानां विदधाति सद्यः॥ ४७॥

*नीलसहाचरः = (नीलपुष्पकटसरैया)। अनन्ता = अनन्तमूलं (दुरालभा), तदलाभे 'यवासो' ग्राह्यः। इरिमेदो = दुर्गन्धखदिरः॥ ४६–४७॥

सहचराद्यतैल—एक तुला (४०० तोला) नीले फूलवाली कटसरैया का एक हजार चौबीस तोला जल में चतुर्थांशावशेष काढा बनाये और इस काढ़े से तथा अनन्तमूल खैर, दुर्गन्धखैर, जामुन, आम, मुलेठी और नीलाकमल–हर एक दो-दो तो०, इनके कल्क से धीरे-धीरे घी या तेल पकाये। यह तेल और घी मुख में रखने से शीघ्र (हिलते) दाँतों को स्थिर करता है॥ ४६–४७॥

सौषिरे हृतरक्ते तु लोध्रमुस्तारसाञ्जनैः। सक्षौद्रैः शस्यते लेपो गण्डूषे क्षीरिणो हिताः॥

सौषिर रोग में रक्त निकालकर लोध, नागरमोथा, रसौत और मधु का मसूड़े पर लेप करे और वटादि क्षीरिवृक्षों के काढ़े से कुल्ला करे॥ ४८॥

क्रियां परिदरे कुर्याच्छीतादोक्तां विचक्षणः। संशोध्योभयतः कार्यं शिरश्चोपकुशे तथा॥
काष्ठोदुम्बरिकापत्रैर्व्रणं विस्रावयेद्भिषक्। लवणैः क्षौद्रयुक्तैश्च सव्योषैः प्रतिसारयेत्॥ ५०॥

परिदर में शीताद की तरह चिकित्सा करे तथा उपकुश में शरीर को वमन और विरेचन द्वारा शुद्ध करे और शिरोविरेचन भी दे और कठगूलर के पत्तों से मसूडे का दूषित रक्त निकालकर सोंठ, मरिच, पीपर और पाँचों नमक के चूर्ण में शहद मिलाकर प्रतिसारण करे॥ ४९–५०॥

शस्त्रेणोद्धृत्य वैदर्भे दन्तमूलानि शोधयेत्। ततः क्षीरं प्रयुञ्जीत क्रियाः सर्वाश्च शीतलाः॥

वैदर्भ रोग में शस्त्रद्वारा मसूड़े को चीरकर शुद्ध करे। इसके बाद दूध का प्रयोग करे तथा और सब शीतोपचार करे॥ ५१॥

उद्धृत्याधिकदन्तं तु ततोऽग्निमवचारयेत्। कृमिदन्तकवच्चात्र विधिः कार्यो विजानता॥
*इयं खल्लीवर्धनस्य चिकित्सा॥ ५२॥

खल्लीवर्द्धन रोग मे अधिक दाँत को उखाड़कर अग्निदग्ध करे और इसके बाद कृमिदन्त की भाँति चिकित्सा करे॥ ५२॥

छित्त्वाऽधिमांसं सक्षौद्रैरेतैश्चूर्णैरुपाचरेत्। वचातेजोवतीपाठास्वर्जिकायावशूकजैः॥ ५३॥
*तेजोवती = तेजोवल्कलः–स्वर्णजीवन्ती च॥ ५३॥

क्षौद्रद्वितीयाः पिप्पल्यः कवले चात्र कीर्तिताः। पटोलनिम्बत्रिफलाकषायश्चात्र धावने॥

अधिमांस रोग में मसूड़े का छेदन करके वच, तेजबल या जीवन्ती, पाढ़, सज्जीखार और जवाखार इनके चूर्ण को शहद के साथ मले। और पीपर तथा शहद का कवल धारण करे तथा परोरा, नीम, हरड़, बहेड़ा और आँवले के काढे से धोये॥ ५३–५४॥

नाडीव्रणहरं कर्म दन्तनाडीषु कारयेत्। यद्दन्तमध्ये जायेत नाडीदन्तं तदुद्धरेत्॥ ५५॥
छित्त्वा मांसानि शस्त्रेण यदि नोपरिजो भवेत्। उद्धृत्य च दहेच्चापि क्षारेण ज्वलनेन वा॥
भिन्नस्युपेक्षिते दन्ते हनुनस्थिगतिर्ध्रुवम्। समूलं दशनं तस्मादुद्धरेद्भग्नमस्थि च॥ ५७॥

उद्धृते तूत्तरे दन्ते शोणितं प्रस्रवेदति । रक्तातियोगात्पूर्वोक्ता घोरा रोगा भवन्ति हि ॥५८॥
काणः सञ्जायते जन्तुरर्दितं तस्य जायते । चलमप्युत्तरं दन्तमतो नैवोद्धरेद्भिषक् ।
धावनं जातिमदनस्वादुकण्टकखादिरैः ॥ ५९ ॥

*कषायैरिति शेषः ॥ ५९ ॥

दन्तनाडीचिकित्सा—दन्तनाड़ी में नाडीव्रणनाशक चिकित्सा करे। यदि नाड़ी ऊपरी दाँत में न हो तो नाड़ीवाले दाँत का मसूड़ा शस्त्र से चीरकर शुद्ध करके दाँत को निकालकर क्षार या अग्नि से जला दे या दाग दे । यदि दाँत निकाला नहीं जाता और उपेक्षा की जाती है तो जबड़े की हड्डी में भी नासूर हो जाता है और जबड़े की अस्थि टूट जाती है। अतएव जड़ के सहित दाँत को तथा सड़ी हुई अस्थि को भी निकाल डाले । ऊपरी जबड़े के दाँत को निकालने से अत्यधिक रक्त बहता है । अत्यधिक रक्तस्राव होने से पूर्वोक्त तृष्णा, दाह, पाण्डु, हिक्कादि रक्तातिप्रवृत्तिजन्य भीषण रोग होते हैं और वह रोगी काना हो जाता है या उसे अर्दित हो जाता है। इसलिए यदि ऊपरी जबड़े का दाँत हिलता भी हो तो भी उसे न निकाले। चमेली की पत्ती, धतूर की पत्ती, गोखरू और खैर इनका काढा दन्तनाडी में शस्त्रकर्म करने पर मसूड़े के धोने के लिए प्रयोग करे ॥ ५५–५९ ॥

जात्यादितैलमाह—

कषायैर्जातिमदनकण्टकीस्वादुकण्टकैः ॥ ६० ॥
मञ्जिष्ठालोध्रखदिरयष्ट्याह्वैश्चापि यत्कृतम्। तैलं यत्साधितं तत्तु हन्याद् दन्तगतां गतिम्॥

*जात्यादिचतुष्टयस्य कषायेण मञ्जिष्ठाऽऽदिचतुष्टयस्य च कषायेण तैलमिदं पचेत्। जाती = 'चम्बेली' इति लोके, तस्याः पत्रं ग्राह्यम् । मदनो = धत्तूरस्तस्यापि पत्रमत्र ग्राह्यम् । कण्टकी = (बडी कटैया), तस्या मूलं ग्राह्यम् । स्वादुकण्टको=गोक्षुरस्तस्य पञ्चाङ्गं ग्राह्यम् ॥ ६०–६१ ॥

जात्यादि तैल—चमेली की पत्ती, धतूर की पत्ती, बड़ी कटेरी की जड़, गोखरू का पंचांग, मजीठ, लोध, खैर और मुलेठी इनमें काढ़े से सिद्ध किया हुआ तैल दाँत का नासूर नष्ट करता है ॥

विद्रध्युक्तं विधिं युक्तं विदध्याद् दन्तविद्रधौ । शस्त्रकर्म नरस्तत्र कुशलो नैव कारयेत् ॥

दन्तविद्रधि में विद्रधि जैसा चिकित्सा करे किन्तु दक्ष वैद्य भी दन्तविद्रधि में शस्त्रकर्म न करे ॥

दन्तरोगाणां नामानि संख्यां चाह—

दालनः कथितः पूर्वं कृमिदन्तक एव च । प्रोक्तो भञ्जनको दन्तहर्षो वै दन्तशर्करा ॥ ६३ ॥
कपालिकाऽत्र कथिता श्यावदन्तक एव च। करालसंज्ञ इत्यष्टौ दन्तरोगाः प्रकीर्त्तिताः॥६४॥

दन्तरोगों का नाम और उनकी संख्या—१ दालन, २ कृमिदन्तक, ३ भञ्जनक, ४ दन्तहर्ष, ५ दन्तशर्करा, ६ कपालिका, ७ श्यावदन्तक, ८ कराल ये आठ रोग दाँत में होते हैं ॥ ६३–६४ ॥

१ दालन[1]लक्षणमाह—

दीर्यमाणेष्विव रुजा यत्र दन्तेषु जायते। दालनो नाम स व्याधिः सदागतिनिमित्तजः ॥

दालन का लक्षण—यदि दाँत में फाड़ डालने की तरह पीड़ा हो तो उसे 'दालन' नामक दन्तरोग कहते हैं । यह वातजन्य होता है ॥ ६५ ॥

२ कृमिदन्तक[2]लक्षणमाह—

कृष्णच्छिद्रश्चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः । अनिमित्तरुजो वातात्स ज्ञेयः कृमिदन्तकः ॥

---

१. दालन नामक दन्तरोग को टूथ एक (Tooth ache) या ओडोन्टोटायनिया (Odontodynia) कहते हैं ।

२. कृमिदन्तक को डेन्टल केरीज (Dental caries) कहते हैं । दाँतों के बीच में फंसे हुए खाद्य द्रव्यों के सड़ने से जो अम्ल उत्पन्न होते हैं, उनकी क्रिया से दाँत पोले होते हैं ।

*ससंरम्भः = दन्तमूलशोथयुक्तः, तत्रैव स्रावो बोद्धव्यः । अनिमित्तजः=अवघट्टनादिनिमित्तं विनैव महारुजावान् ॥ ६६ ॥

कृमिदन्तक के लक्षण—दाँत में काला छिद्र या गड्ढा हो, वह हिले, मसूड़े में शोथ हो और उससे स्राव भी हो, विना चोट या रगड़ लगे अर्थात् विना कारण ही तीव्र पीड़ा हो तो उसे 'कृमिदन्तक' कहते हैं । यह वायु के कारण उत्पन्न होता है ॥ ६६ ॥

३ भञ्जनकलक्षणमाह—

वक्त्रं वक्रं भवेद्यत्र दन्तभङ्गश्च जायते । कफवातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञकः ॥ ६७ ॥

भञ्जनक के लक्षण—जिसमें मुख टेढ़ा हो जाय, दाँत टूट जायँ, उसे 'भञ्जनक' कहते हैं । यह रोग कफ और वातजन्य होता है ॥ ६७ ॥

४ दन्तहर्ष[1]लक्षणमाह—

शीतरूक्षप्रवाताम्लस्पर्शानामसहा द्विजाः । तत्र स्युर्वातपित्ताभ्यां दन्तहर्षः स कीर्त्तितः ॥

दन्तहर्ष का लक्षणः—जिसमें ठंडी, रूखी वस्तुओं को तथा वायु के झोके और खटाई को दाँत सह सकें, उसे 'दन्तहर्ष' नामक रोग कहते हैं । यह वातपित्तज रोग है ॥ ६८ ॥

५ दन्तशर्करा[2]लक्षणमाह—

मलो दन्तगतो यस्तु कफश्चानिलशोषितः । शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा ॥६९॥

***शर्करा = सिकता ॥ ६९ ॥**

दन्तशर्करा के लक्षण—यदि मुख की मैल और कफ वायु द्वारा दाँतों पर सूखकर छूने पर बालू की तरह खरखरा मालूम हो तो उसे 'दन्तशर्करा' नामक रोग कहते हैं ॥ ६९ ॥

६ कपालिका[3]लक्षणमाह—

कपालेष्विव दीर्यत्सु दन्तेषु समलेषु च । कपालिकेति विज्ञेया दन्तच्छिद् दन्तशर्करा ॥७०॥

***कपालानि = मृन्मयघटादिखण्डानि, तेष्विव । समलेषु दन्तेषु = मलसहितदन्तावयवेषु । दीर्यत्सु सत्सु । या दन्तशर्करा सा कपालिकेति विज्ञेया । सा कपालिका, दन्तच्छिद् = दन्तनाशिनी ॥ ७० ॥**

कपालिका के लक्षण—जिस तरह मिट्टी के बर्तन कटते हैं, उसी तरह दाँतों से यदि उनके छिलके के सहित शर्करा छूटे तो उसे 'कपालिका' कहते हैं । यह दाँतों को नष्ट करनेवाली होती है ॥ ७० ॥

दन्तशूल या दालन रोग का कृमिदन्त प्रधान कारण है । जीव द्रव्य डी और खटिक की कमी से भी दाँतों में कीड़ा लग जाता है ।

१. अंग्रेजी में दन्तहर्ष को ओडोन्टाइटीज् (Odontitis) कहते हैं ।

२. दन्तशर्करा को टार्टर (Tarter) कहते हैं । इसमें दाँतों के बीच में फंसी हुई चीजों के सड़ने से खनिज पदार्थ, विशेष करके कैलशियम फास्फेट (Calcium phosphate) उनकी जड़ पर जम जाते हैं ।

३. कपालिका का सुश्रुत में इस प्रकार वर्णन है:—

दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह । ज्ञेया कपालिका सैव दशनानां विनाशिनी ।

दन्तवल्कल को इनेमल (Enamel) कहते हैं । शरीर में जितने धातु हैं, उनमें दन्तवल्क सबसे कठिन है । मसूड़ों से ऊपर दाँतों का जो भाग निकला रहता है, उसपर इस द्रव्य का आवरण होता है और इसीके कारण कठिन से कठिन खाद्य द्रव्यों का चर्वण मनुष्य कर सकता है । मुख की ठीक सफाई न करने से जब इस कवच पर पथरी जम जाती है, तब मोर्चा लगे हुए लोहे के समान कवच की दृढ़ता जाती रहती है । और किसी दिन जाकर पथरी के साथ वह कवच निकल जाता है । इसी पथरी को दन्तशर्करा कहते हैं ।

७ श्यावदन्तकलक्षणमाह—

योऽसृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः। श्यावतां नीलतां वापि गतः स श्यावदन्तकः
  दग्धः=दग्ध इव ॥ ७१ ॥

श्यावदन्त के लक्षण—यदि रक्तसहित पित्त द्वारा किसी दाँत का समस्त भाग काला या नीला हो जाय तो उसे 'श्यावदन्तक' कहते हैं ॥ ७१ ॥

८ कराललक्षणमाह—

शनैः शनैः प्रकुरुते यत्र दन्ताश्रितोऽनिलः। करालान्विकटान्दन्तान्स करालो न सिद्ध्यति॥
  करालान्=भयानकान्। अयं सुश्रुतेनोक्तः, संग्रहकारेण संगृहीतः ॥ ७२ ॥

कराल के लक्षण—यदि दन्तगत वायु धीरे-धीरे दाँतों को भयानक और विकट बना दे तो उसे 'कराल' कहते हैं। यह साध्य होता है ॥ ७२ ॥

अथ दन्तरोगचिकित्सा।

तत्र लाक्षाद्यतैलमाह—

तैलं लाक्षारसं क्षारं पृथक्प्रस्थमितं पचेत्। द्रव्यैः पलमितैरेतैः क्वाथैश्चापि चतुर्गुणैः ॥७३॥
लोध्रकट्फलमञ्जिष्ठापद्मकेशरपद्मकैः। चन्दनोत्पलयष्ट्याह्वस्तत्तैलं वदने धृतम् ॥ ७४ ॥
दालनं दन्तचालं च दन्तमोक्षं कपालिकाम्। शीतादं पूतिवक्त्रञ्च विरुचिं विरसास्यताम् ॥
हन्यादाशु गदानेतान्कुर्याद् दन्तानपि स्थिरान्। लाक्षादिकमिदं तैलं दन्तरोगेषु पूजितम् ॥

लाक्षादितैल—तिल तैल ६४ तो०, लाक्षारस ६४ तो०, दूध ६४ तो० और लोध, कायफर मजीठ, कमल की केशर, पद्मकाष्ठ, लाल चन्दन, नीलकमल, मुलेठी—प्रत्येक एक-एक पल (चार-चार तो०) इनका (चतुर्थांशावशेष) तैल से चौगुना अर्थात् २५६ तो० काढ़ा इन सबसे पकाया हुआ तैल लाक्षादि तैल कहलाता है। इसे मुख में धारण करने से दाँत की पीड़ा, दाँत का हिलना, दन्तमोक्ष, कपालिका, शीताद, मुख की दुर्गन्ध, अरुचि, मुख का फीकापन आदि मुखरोग शीघ्र नष्ट होते हैं ॥ ७३-७६ ॥

जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदन्तकम्। तथाऽवपीडैर्वातघ्नैः स्नेहगण्डूषधारणैः ॥ ७७ ॥
भद्रदार्वादिवर्षाभूलेपैः स्निग्धैश्च भोजनैः। कृमिदन्तापहं कोष्णं हिङ्गु दन्तान्तरे स्थितम् ॥
बृहतीभूमिकदम्बपञ्चाङ्गुलकण्टकारिकाक्वाथः। गण्डूषस्तैलयुतः कृमिदन्तकवेदनाशमनः ॥
नीलीवायसजङ्घाकटुतुम्बीमूलमेकैकम्। सञ्चूर्ण्य दशनविधृतं दशनकृमिनाशनं प्राहुः ॥८०॥

कृमिदन्त-चिकित्सा—यदि कृमिदन्तक हिलता न हो तो स्वेदन करके रक्तमोक्षण करे तथा अवपीडन नस्य ले और वातनाशक स्नेहों का गण्डूष (कुल्ला) धारण करे। देवदार्वादिगण की ओषधियों और गदहपूर्ना का लेप करे और स्निग्ध भोजन करे। गरम (भुनी हुई) हींग दाँतों के बीच में रखने से कृमिदन्त के कृमि और पीड़ा नष्ट होती है। बड़ी भटकटैया, गोरखमुण्डी, सफेद एरंड, छोटी भटकटैया इनका काढ़े में तैल मिलाकर कुल्ला करने से कृमिदन्त की पीड़ा नष्ट होती है। नीली काकजंघा, कडुई तुम्बी (तितलौकी) की जड़ इनमें से प्रत्येक का चूर्ण दाँतों में मलने से कृमिदन्त का नाश होता है ॥ ७७-८० ॥

स्नेहानां कवलाः कोष्णाः सर्पिषस्त्रैवृतस्य च। निर्यूहाश्चानिलघ्नानां दन्तहर्षप्रमर्दनाः ॥८१॥
  त्रैवृतस्य सर्पिषः=त्रिवृतापक्वस्य सर्पिषः, कवल इत्यर्थः ॥ ८१ ॥
स्नैहिकोऽत्र हितो धूमो नस्यं स्नैहिकमेव च। पेया रसा यवाग्वश्च क्षीरसन्तानिकाघृतम् ।
  शिरोवस्तिर्हितश्चापि क्रमो यश्चानिलापहः ॥ ८२ ॥
  अत्र=दन्तहर्षे ॥ ८२ ॥

दन्तहर्ष-चिकित्सा—स्नेहों का (तैल-घृतादिका), निशोथ से पकाये हुए घी का तथा वातनाशक द्रव्यों के काढ़े का गरम-गरम कवल धारण करने से दन्तहर्ष नष्ट होता है। स्नेहयुक्त धूम और नस्य, पेया, मांसरस, यवागू, दूध, मलाई, घी, शिरोविरेचन तथा वातनाशक चिकित्सा-क्रम दन्तहर्ष में हितकर होते हैं ॥ ८१-८२ ॥

अच्छिन्दन्दन्तमूलानि शर्करामुद्धरेद्भिषक्। लाक्षाचूर्णैर्मधुयुतैस्ततस्तां प्रतिसारयेत् ॥८३॥
दन्तहर्षक्रियां चात्र कुर्यान्निरवशेषतः। कपालिका कृच्छ्रतमा तत्राप्येषा क्रिया मता ॥८४॥

***एषा क्रिया = दन्तहर्षक्रिया ॥ ८४ ॥**

दन्तशर्करा और कपालिका चिकित्साः—मसूड़ों को बचाते हुए दन्तशर्करा को दाँतों से छुड़ा ले, इसके बाद लाही का चूर्ण और शहद उन दाँतों पर मले तथा दन्तहर्ष की समस्त चिकित्सा करे। यही (दन्तहर्ष की) चिकित्सा कृच्छ्रतम कपालिका में भी करे ॥ ८३-८४ ॥

दन्तरोगिणोऽपथ्यान्याह—

फलान्यम्लानि शीताम्बु रूक्षान्नं दन्तधावनम्। तथाऽतिकठिनं भक्ष्यं दन्तरोगी न भक्षयेत् ॥

दन्तरोगों में पथ्यापथ्य—खट्टे फल, ठण्डा जल, रूक्ष अन्न, दातून तथा बहुत कड़े खाद्य पदार्थ दाँत के रोगियों को नहीं सेवन करने चाहिए ॥ ८५ ॥

जिह्वारोगाणां निदानं नामानि संख्यां चाह—

[1]वातजः पित्तजश्चापि कफजोऽलाससंज्ञकः। उपजिह्विका च गदा जिह्वायां पञ्च कीर्त्तिताः ॥

जिह्वा के रोगों के नाम और उनकी संख्याः—१ वातज, २ पित्तज, ३ कफज जिह्वारोग, ४ अलास, ५ उपजिह्विका ये पाँच रोग जिह्वा में होते हैं ॥ ८६ ॥

१ वातजजिह्वारोगलक्षणमाह—

जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा ॥ ८७ ॥

***स्फुटिता = मनाग्विदीर्णा। प्रसुप्ता = रसानामनभिज्ञतया सुप्तेव। शाकच्छदनप्रकाशा= शाको = मरुभूमिजद्रुमस्तद्दलकण्टकाचिता, अयं लोके 'जली' इति ख्यातः ॥ ८७ ॥**

वातज जिह्वारोग—वातज जिह्वा कुछ फटी हुई, रसों का ज्ञान न करनेवाली, और मरुभूमि में होने वाले सागौन के काँटों की तरह काँटों (अङ्कुरों) से ढकी हुई सी होती है ॥ ८७ ॥

२ पित्तजजिह्वारोगलक्षणमाह—

पित्तात्सदाहैरुपचीयते च दीर्घैः सरक्तैरपि कण्टकैश्च ॥ ८८ ॥

पित्तज जिह्वारोग—पित्तज जिह्वा में बड़े-बड़े लाल काँटे भरे रहते हैं ॥ ८८ ॥

३ कफजिह्वारोगलक्षणमाह—

कफेन गुर्वी बहुला चिता च मांसोच्छ्रयैः शाल्मलिकण्टकाभैः ॥ ८९ ॥

***बहुला = स्थूला। मांसोच्छ्रयैः = मांसजकण्टकैः ॥ ८९ ॥**

कफज जिह्वारोग—कफज जिह्वा भारी, मोटी और सेमर के काँटों के आकारवाले मांसजन्य अङ्कुरों से ढकी हुई होती है ॥ ८९ ॥

४ अथालास[2]लक्षणमाह—

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्त्तिः।

---

१. वातज, पित्तज तथा कफज जिह्वारोग या जिह्वाकण्टक को क्रॉनिक सुपरफिसियल ग्लोसाइटिस (Chronic Superficial glossitis) कहते हैं।

उनमें से वातज जिह्वारोग को क्रेकेड या फिसर्ड टंग (Cracked or fissured tongue), पित्तज जिह्वारोग को रेड ग्लाज्ड टंग (Red glaged tongue) और कफज जिह्वा रोग को इक्थ्योसिस (Ichthyosis) कहते हैं।

२. अलास को अंग्रेजी में सबलिंगुअल एब्सेस (Sublingual abscess) कहते हैं।

जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो मूले च जिह्वा भृशमेति पाकात् ॥ ९० ॥

*प्रगाढः=प्रकर्षेण गाढो दारुणः। कफरक्तमूर्तिः=कफरक्ताभ्यां मूर्त्तिर्यस्य सः, कफरक्तज इत्यर्थः। जिह्वास्तम्भेन वायुरप्यत्र बोद्धव्यः। भृशं पाकेन पित्तञ्च, अतस्त्रिदोषजोऽयम्, असाध्यत्वञ्चास्य ॥ ९० ॥

अलास के लक्षण—जिह्वा के नीचे कफ और रक्त द्वारा जो भीषण शोथ होता है, उसे 'अलास' कहते हैं। बहुत बढ़कर यह जिह्वा को जकड़ देता है और जिह्वा की जड़ में भीषण पाक उत्पन्न करता है। यह रोग त्रिदोषज है, अत एव असाध्य भी है ॥ ९० ॥

५ उपजिह्विका[1]लक्षणमाह—

जिह्वाऽग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः।
प्रसेककण्डूपरिदाहयुक्तः प्रकथ्यतेऽसावुपजिह्विकेति ॥ ९१ ॥

*जिह्वाऽग्ररूपः=जिह्वाऽग्राकृतिः ॥ ९१ ॥

उपजिह्विका-लक्षण—जिह्वा के अग्रभाग के समान आकृतिवाला कफ और रक्त से उत्पन्न प्रसेक (लार बहना), खुजली और जलन युक्त ऐसा शोथ जो जिह्वा को ऊँचा उठा देता है, वह 'उपजिह्विका' कहलाता है ॥ ९१ ॥

जिह्वारोगचिकित्सामाह—

जिह्वागतविकाराणां शस्तं शोणितमोक्षणम्। गुडूचीपिप्पलीनिम्बकवलः कटुभिः सुखः।
ओष्ठप्रकोपेऽनिलजे यदुक्तं प्राक्चिकित्सितम्। कण्टकेष्वनिलोत्थेषु तत्कार्यं भिषजा खलु ॥

जिह्वारोग-चिकित्सा—जिह्वा के रोगों में रक्त निकलवाना और गुरुच, पीपर और नीम तथा कटु द्रव्यों का कवल धारण करना उत्तम होता है। वातजन्य जिह्वा के कण्टकों में पूर्वोक्त वातज ओष्ठ की चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ९२ ॥

पित्तजे परिघृष्टे तु निःसृते दुष्टशोणिते। प्रतिसारणगण्डूषनस्यञ्च मधुरं हितम् ॥ ९३ ॥

पित्तज जिह्वाकण्टक में घिसकर (रगड़कर) जिह्वा से दूषित रक्त निकालने के बाद मधुर गण के द्रव्यों को धीरे-धीरे जिह्वा पर मलना और उन्हींसे कुल्ला करना और नस्य लेना चाहिए ॥९३॥

कण्टकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृजः क्षये। पिप्पल्यादिर्मधुयुतः कार्यस्तु प्रतिसारणे ॥९४॥

कफज जिह्वारोग में कण्टकों को छीलकर या खरोचकर दूषित रक्त को निकालकर पिप्पल्यादि गण की ओषधियों को शहद के साथ मिलाकर जिह्वा पर मले ॥ ९४ ॥

उपजिह्वां तु संलिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत्। शिरोविरेकगण्डूषधूमैश्चैनामुपाचरेत् ॥९५॥
व्योषक्षाराभयावह्निचूर्णमेतत्प्रघर्षणम्। उपजिह्वाप्रशान्त्यर्थमेभिस्तैलञ्च पाचयेत् ॥९६॥

उपजिह्वा का लेखन (खुरचना Scraping) करके उसपर क्षार मले और शिरोविरेचन, कुल्ला तथा धूम्रपान द्वारा चिकित्सा करे। सोंठ, मरिच, पीपर, जवाखार, हरड़ और चित्त, इन सबका चूर्ण तथा इन्हींसे पकाया हुआ तैल उपजिह्विका की चिकित्सा के लिए प्रयोग करे ॥

तालुरोगाणां नामानि संख्यां चाह—

गलशुण्डी तुण्डिकेर्यश्रुपः कच्छप एव च। तालवर्बुदश्च कथितो मांससङ्घात एव च ॥९७॥
तालुपुप्पुटनामा च तालुशोषस्तथैव च। तालुपाकश्च कथितास्तालुरोगा अमी नव ॥९८॥

बढ़ने पर यह शोथ नीचे की ओर गमन कर अधोहन्वुपत्वचा शोथ (Submaxiliary cellulitis) उत्पन्न करता है।

१. उपजिह्विका को अंग्रेजी में रैन्यूला (Ranula) कहते हैं। इसमें जिह्वा के नीचे श्लेष्मलद्रव (Glairy mucoial fluid) का संचय होने से उत्सेध उत्पन्न होता है। बहुधा यह संचय जिह्वाऽधःस्थित लालाग्रन्थि के स्रोतसों में होता है।

तालुरोगों का नाम और उनकी संख्या—१ गलशुण्डी, २ तुण्डिकेरी, ३ अध्रूष, ४ कच्छप, ५ तालवर्बुद, ६ मांससंघात, ७ तालुपुप्पुट, ८ तालुशोष, ९ तालुपाक, ये नवरोग तालु में होते हैं॥

१ गलशुण्डी[1] लक्षणमाह—

श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूलात्प्रवृद्धो दीर्घः शोथो ध्मातवस्तिप्रकाशः।
तृष्णाकासश्वासकृत्तं वदन्ति व्याधिं वैद्याः कण्ठशुण्डीति नाम्ना॥ ९९॥

*ध्मातवस्तिप्रकाशः=वातपूरितचर्मपुटतुल्यः॥ ९९॥

गलशुण्डी के लक्षण—तालुमूल से निकली हुई, वायु से भरे हुए चर्म के थैली की तरह फूली हुई, कफ-रक्तजन्य बड़ी सी सूजन को वैद्य लोग 'गलशुण्डी' कहते हैं। इसमें प्यास, खाँसी और श्वास भी उत्पन्न होता है॥ ९९॥

२ तुण्डिकेरी[2] लक्षणमाह—

शोथः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी श्लेष्मासृग्भ्यां कीर्त्तिता तुण्डिकेरी॥ १००॥

*तुण्डिकेरी='वनकार्पासीफलं' तत्तुल्या॥ १००॥

तुण्डिकेरी का लक्षण—कफ और रक्त से उत्पन्न स्थूल सूजन को, जिसमें सूई कोंचने की सी पीड़ा, जलन और पाक हो। 'तुण्डिकेरी' जङ्गली कपास के फल के नाम हैं। चूँकि यह शोथ इसीके आकार का होता है, इसलिए इसको भी तुण्डिकेरी कहा जाता है॥ १००॥

३ अध्रूलक्षणमाह—

शोथः स्तब्धो लोहितः शोणितोत्थो ज्ञेयोऽध्रूषः सज्वरस्तीव्ररुक्च॥ १०१॥

अध्रूष के लक्षण—ज्वर और तीव्र पीडा युक्त, कड़े और लाल (तालु के) शोथ को 'अध्रूष' कहते हैं। यह रक्तजन्य होता है॥ १०१॥

४ कच्छप[3] लक्षणमाह—

कूर्मोत्सन्नोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा रोगो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणः स्यात्॥ १०२॥

*कूर्मोत्सन्नः=मध्ये प्रोच्चः प्रान्ते नतः॥ १०२॥

कच्छप का लक्षण—कछुए की तरह (बीच में ऊँचा और किनारों की ओर ढालुआ) उठे हुए, पीड़ाहीन, और देर में उत्पन्न होनेवाले कफजन्य शोथ को 'कच्छप' कहते हैं॥ १०२॥

५ तालवर्बुदलक्षणमाह—

पद्माकारं तालुमध्ये तु शोथं विद्याद्रक्तादर्बुदं पित्तलिङ्गम्॥ १०३॥

*पद्माकारं=पद्मकर्णिकावत्केशरैरिव पार्श्वतो दीर्घैर्मांसाङ्कुरैर्वेष्टितम्॥ १०३॥

तालवर्बुद के लक्षण—जैसे कमल के फूल में बीच में कर्णिका और उस कर्णिका के चारो ओर केशर रहती है, उसी तरह बड़े-बड़े अङ्कुरों से घिरा हुआ, तालु के मध्य में होनेवाला शोथ 'तालवर्बुद' कहलाता है। इसमें पित्तजन्य लक्षण (दाहादि) भी होते हैं। यह दूषित रक्त से उत्पन्न होता है॥

---

१. गलशुण्डी को इलांगेटेड युवुला (Elongated uvula) कहते हैं। इसके कारण जो कास उत्पन्न होता है, उसकी विशेषता यह है कि वह रात्रि के समय या लेटने पर अधिक आता है। कारण यह है कि—गलशुण्डिका लेटे हुए मनुष्य के गले के पिछले भाग पर स्पर्श कर सुरसुराहट उत्पन्न करती है, जिससे खाँसी आती है। इससे कभी वमन भी होता है।

२. तुण्डिकेरी का वर्णन अष्टाङ्गसंग्रह में इस प्रकार है:—

'हनुसन्ध्याश्रितः कण्ठे कार्पासीफलसन्निभः। पिच्छिलो मन्दरुक् शोफः कठिनस्तुण्डिकेरिका'॥

इस वर्णन के अनुसार तुण्डिकेरी प्रायः बढ़ा हुआ टान्सिल (Enlarged Tonsils) हो सकता है।

३. कच्छप का 'कूर्मोत्सन्नोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा' इत्यादि जो वर्णन है, उसके अनुसार वह तालु का सारकोमा (Carcoma), रक्तार्बुद अथवा तालु का कैन्सर (Cancer) हो सकता है।

६ मांससंघात[1]लक्षणमाह—

दुष्टं मांसश्लेष्मणा नीरुजञ्च तालव्वन्तःस्थं मांससंघातमाहुः ॥ १०४ ॥

मांससंघात के लक्षण—तालु में पीड़ाहीन और कफ द्वारा दूषित होकर एकत्रित मांस को 'मांससंघात' कहते हैं ॥ १०४ ॥

७ तालुपुप्पुटलक्षणमाह—

नीरुक्स्थायी कोलमात्रः कफात्स्यान्मेदोयुक्तात् पुप्पुटस्तालुदेशे ॥ १०५ ॥

तालुपुप्पुट के लक्षण—छोटी बेर के बराबर, पीड़ाहीन तथा कफ और मेदजन्य (तालुगत) उभार को 'तालुपुप्पुट' कहते हैं ॥ १०५ ॥

८ तालुशोषलक्षणमाह—

शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चाऽपि तालु श्वासश्चोग्रस्तालुशोषोऽनिलाच्च ॥ १०६ ॥

तालुशोष का लक्षण—यदि तालु अत्यन्त सूख जाये या फट जाये और उग्र श्वास भी उत्पन्न हो तो उसे 'तालुशोष' कहते हैं ॥ १०६ ॥

९ तालुपाक[2]लक्षणमाह—

पित्तं कुर्यात्पाकमत्यर्थघोरं तालुन्येवं तालुपाकं वदन्ति ॥ १०७ ॥

तालुपाक के लक्षण—पित्त के कारण तालु में अत्यन्त भीषण पाक उत्पन्न हो जाता है, उसे 'तालुपाक' कहते हैं ॥ १०७ ॥

१० तालुरोगचिकित्सामाह—

कुष्ठोषणवचासिन्धुकणापाठाप्लवैः सह । सक्षौद्रैर्भिषजा कार्यं गलशुण्डीप्रघर्षणम् ॥१०८॥

*प्लवः='केवटी मोथा'-'गुढतजी'ति लोके ॥ १०८ ॥

अङ्गुष्ठाङ्गुलिसन्दंशेनाकृष्य गलशुण्डिकाम् । छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि तु संस्थिताम् ॥

*मण्डलाग्रेण=शस्त्रविशेषेण ॥ १०९ ॥

अत्यादानात्स्रवेद्रक्तं ततः स म्रियते नरः । हीनच्छेदाद्भवेच्छोथो लालास्रावो भ्रमस्तथा ॥
तस्माद्वैद्यः प्रयत्नेन दृष्टकर्मा विशारदः । गलशुण्डीं तु संछिद्य कुर्यात्प्रासमिमं क्रमम् ॥
पिप्पल्यतिविषाकुष्ठवचामरिचनागरैः । क्षौद्रयुक्तैः सलवणैस्ततस्तां प्रतिसारयेत् ॥
वचामतिविषापाठारास्नाकटुकरोहिणीः । निष्क्वाथ्य पिचुमर्दञ्च कवलं तत्र कारयेत् ॥
तुण्डिकेर्यध्रुपे कूर्मे सङ्घाते तालुपुप्पुटे । एष एव विधिः कार्यो विशेषः शस्त्रकर्मणि ॥११०॥

तालुरोगों की चिकित्सा—कूट, सोंठ, मरिच, पीपर, वच, सेंधानमक, पाढ़ और केवटीमोथा इन सबके चूर्ण को शहद में मिलाकर 'गलशुण्डी' पर मले और जिह्वा के ऊपर स्थित 'गलशुण्डी' को अंगूठे तथा अंगुली से पकड़कर खींचकर मण्डलाग्र नामक शस्त्र से उसका छेदन करे। अधिक छेदन करने से अत्यधिक रक्तस्राव होने के कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है; और थोड़ा छेदन करने से सूजन, लालास्राव (लार बहना) होता है तथा चक्कर आता है। अत एव दृष्टकर्मा और निपुण वैद्य अत्यन्त सावधानी से गलशुण्डी का छेदन करके उसके बाद निम्न उपचार करे-पीपर, अतीस, वच, मरिच और सोंठ इनका चूर्ण शहद और सेंधानमक के साथ उसपर मले। वच, अतीस, पाढ़ रासना, कुटकी और नीम इनके काढ़े से कवल धारण करे। तुण्डिकेरी, अध्रुष, कच्छप मांससंघात और तालुपुप्पुट में भी यही उपचार करना चाहिए, किन्तु इनके शस्त्रकर्म एक-दूसरे से कुछ विशेष (भिन्न भिन्न) हैं ॥ १०८–११० ॥

---

१. मांससंघात को एडीनोमा ऑफ् दी पैलेट (Adenoma of the Palate) कह सकते हैं, क्योंकि लक्षणों में समानता है।

२. तालुपाक को अंग्रेजी में अल्सरेशन ऑफ् दी पैलेट (Ulceration of the palate) कहते हैं।

तालुपाके तु कर्त्तव्यं विधानं पित्तनाशनम्। स्नेहस्वेदौ तालुशोषे विधिश्चानिलनाशनः॥

तालुपाक में पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिए और तालुशोष में स्नेहन स्वेदन आदि वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए॥ ११९॥

गलरोगाणां नामानि संख्यां चाह—

रोहिणी पञ्चधा प्रोक्ता कण्ठशालूक एव च। अधिजिह्वश्च वलयो वलासश्चैकवृन्दकः॥११२॥ ततो वृन्दः शतघ्नी च गिलायुः कण्ठविद्रधिः। गलौघश्च स्वरघ्नश्च मांसतानस्तथैव च॥ विदारी कण्ठदेशे तु रोगा अष्टादश स्मृताः॥ ११४॥

गलरोगों के नाम और उनकी संख्या—१-५ (पाँच प्रकार की) रोहिणी, ६ कण्ठशालूक, ७ अधिजिह्वक, ८ वलय, ९ वलास, १० एकवृन्द, ११ वृन्द, १२ शतघ्नी, १३ गिलायु, १४ गलविद्रधि, १५ गलौघ, १६ स्वरघ्न, १७ मांसतान और १८ विदारी, ये अठारह रोग गले में होते हैं॥११४॥

पञ्चरोहिणीनां[१] सामान्यां सम्प्रातिमाह—

गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ प्रदूष्य मांसञ्च तथैव शोणितम्।
गलोपसंरोधकरैस्तथाऽङ्कुरैर्निहन्त्यसून्व्याधिरयं च रोहिणी॥ ११५॥

***गले-अनिलः, मूर्च्छितः = प्रवृद्धः। तथा-पित्तकफौ च मूर्च्छितौ = पित्तं वा मूर्च्छितं कफो वा मूर्च्छितः। ननु त्रयोऽपि मूर्च्छिताः, पृथग्दोषजाया विवक्ष्यमाणत्वात्। मांसं शोणितं च प्रदूष्य तथा गलोपसंरोधकरैरसून्निहन्ति। अयं = व्याधिः। सर्वा रोहिण्यस्त्रिदोषजा उत्कर्षात्तु वातादिव्यपदेशः॥ ११५॥**

पाँचों रोहिणी की सामान्य सम्प्राप्ति—गले में वायु, पित्त, या कफ अथवा तीनों बढ़कर मांस और रक्त को दूषित करके गले को अवरुद्ध करनेवाले अङ्कुर पैदा करते हैं। इसीको 'रोहिणी' कहते हैं। यह प्राणनाशक रोग है। वास्तव में यह रोग त्रिदोषजन्य होता है, किन्तु दोषों की प्रबलता के अनुसार वातजादि नाम दिया जाता है॥ ११५॥

---

१. रोहिणी को पाश्चात्य वैद्यक में डिफ्थीरियल इन्फ्लेमेशन ऑफ् दी थ्रोट (Diphtherial inflammation of the throat) कहते हैं। यह विकार बैसीलस डिफ्थीरिया (B, Diphtheria) नामक जीवाणु से होता है। इसमें गले के भीतर एक झिल्ली बनती है, जो स्वरयन्त्र और नासा में फैलकर श्वासावरोध करती है। प्रायः इसी कारण बहुसंख्यक रोगी मरते हैं। ज्वर प्रायः १०४ तक रहता है। नाड़ी तेज और हृदय कमजोर होता है। यदि प्रारम्भ में ही योग्य चिकित्सा न की जाय तो श्वासावरोध या हृदयावसाद से मृत्यु होती है। यदि रोगी सौभाग्यवश रोगनिर्मुक्त हो जाय तो अनेक उपद्रवों से पीडित होता है। इसमें हृदयदौर्बल्य और पेशीघात प्रधान उपद्रव होते हैं। तालु और ग्रसनिका की पेशियों का घात होने से स्वर अनुनासिक होता है, फिर निगलने में कठिनाई होती है। आँखों की पेशियों का घात होने से द्विधादृष्टि हो जाती है। कभी-कभी पक्षाघात (Hemiplegir) और पङ्गुता (paraplegia) भी उत्पन्न होती है। इन सारे लक्षणों का समावेश 'वातात्मकोपद्रवगाढजुष्टा' के अन्दर हो जाता है। रोगी के गले में जो झिल्ली होती है, उसमें रोग के जीवाणु होते हैं, जो खाँसने, बोलने तथा छींकने के समय थूक और झिल्ली के सूक्ष्म कणों के साथ बाहर आते हैं और समीपस्थ मनुष्यों के गले में वायु के साथ प्रवेश करके रोग उत्पन्न करते हैं। बालकों में रोहिणी अधिक होती है। उनमें इसका संक्रमण प्रायः पेन्सिल, तौलिया, रूमाल तथा गिलास इत्यादि मुख के साथ सम्बन्ध रखनेवाली चीजों से होता है। यह बड़ा भयानक संक्रामक रोग है। इसकी भयानकता के सम्बन्ध में तो—

'गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ प्रदूष्य मांसं च तथैव शोणितम्।
गलोपसंरोधकरैस्तथाऽङ्कुरैर्निहन्त्यसून्व्याधिरयं च रोहिणी।

इस उपर्युक्त श्लोक से सुस्पष्ट ही विदित है।

१ वातजरोहिणीलक्षणमाह—

जिह्वासमन्ताद् भृशवेदनास्तु मांसाङ्कुराः कण्ठनिरोधनाः स्युः।
सा रोहिणी वातकृता प्रदिष्टा वातात्मकोपद्रवगाढजुष्टा॥ ११६॥

*जिह्वासमन्ताद् = जिह्वायाः सर्वतः। वातात्मकोपद्रवगाढजुष्टा = कम्पविनामस्तम्भादिभिरतिशयेन युक्ता॥ ११६॥

वातज रोहिणी के लक्षण—जिस रोहिणी के अङ्कुर गले को अवरुद्ध करनेवाले जिह्वा के चारों ओर तक फैले हुए तथा तीव्र पीडायुक्त और भीषण कम्प-विनाम-स्तम्भादि वातिक उपद्रवों से युक्त हों, उसे 'वातज रोहिणी' कहते हैं॥ ११६॥

२ पित्तजरोहिणीलक्षणमाह—

क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजाता॥ ११७॥

पित्तज रोहिणी के लक्षण—पित्तज रोहिणी तीव्र ज्वरयुक्त, शीघ्र उत्पन्न होनेवाली तथा विदग्ध होकर शीघ्र ही पकनेवाली होती है॥ ११७॥

३ कफजरोहिणीलक्षणमाह—

स्रोतोनिरोधिन्यपि मन्दपाका गुर्वी स्थिरा सा कफसम्भवा तु॥ ११८॥

*स्रोतोऽत्र कण्ठस्रोतः॥ ११८॥

कफज रोहिणी के लक्षण—गले के मार्ग को रोकनेवाली, देर से पकनेवाली, भारी और स्थिर रोहिणी 'कफजन्य' होती है॥ ११८॥

त्रिदोषजरोहिणीलक्षणमाह—

गम्भीरपाकिन्यनिवार्यवीर्या त्रिदोषलिङ्गा त्रिभवा भवेत्सा॥ ११९॥

त्रिदोषज रोहिणी के लक्षण—त्रिदोषजन्य रोहिणी बहुत गहराई में पकनेवाली और तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त तथा अनिवार्यवीर्य (असाध्य) होती है॥ ११९॥

५ रक्तजरोहिणीलक्षणमाह—

स्फोटैश्चिता पित्तसमानलिङ्गा साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिका तु॥ १२०॥

रक्तज रोहिणी के लक्षण—रक्तज रोहिणी फफोलों या पिडिकाओं से भरी हुई तथा पित्तजरोहिणी के लक्षण से युक्त होती है॥ १२०॥

रोहिणीनां मारकत्वावधिमाह—

सद्यस्त्रिदोषजा हन्ति त्र्यहात्कफसमुद्भवा। पञ्चाहात्पित्तसम्भूता सप्ताहात्पवनोत्थिता॥१२१॥

रोहिणी की मारक अवधि—त्रिदोषज रोहिणी शीघ्र मारक होती है, कफज तीन दिन में, पित्तज पाँच दिन में तथा वातज रोहिणी सात दिनों में मारती है॥ १२१॥

६ [1]कण्ठशालूक लक्षणमाह—

कोलास्थिमात्रः कफसम्भवो यो ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति॥ १२२॥

*कण्टकशूकभूतः = कण्टकवच्छूकवच्च वेदनाजनकः॥ १२२॥

---

१. कण्ठशालूक को अंग्रेजी में एडीनॉएड्स Adenoides कहते हैं। यह विकार गले के नासा पश्चिमभाग में होता है। इससे नासामार्ग का अवरोध होता है। जैसा कि अपने यहाँ अष्टाङ्गसंग्रह में भी लिखा है:-'शालूको मार्गरोधनः'। इसलिए रोगी मुख से श्वास लेता है। सोते समय खर्राटे के साथ साँस चलती है। यथाः—

'अन्तर्गले घुर्घुरिकाऽन्वितश्च शालूकमुच्छ्वासनिरोधकारि।' च० चि० अ० १२।

कण्ठशालूक के लक्षण—गले में काँटे तथा शूक की भाँति पीड़ा करनेवाली, छोटी बेर की गुठली के बराबर खुरदरी और स्थिर जो कफजन्य गाँठ होती है, उसे 'कण्ठशालूक' कहते हैं। यह शस्त्रसाध्य होती है ॥ १२२ ॥

७ अधिजिह्वक[1] लक्षणमाह—

जिह्वाऽग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु जिह्वोपरिष्टादसृजैव मिश्रात्।
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एव विवर्जयेदागतपाकमेनम् ॥ १२३ ॥

***असृजा मिश्राद्वेत्यन्वयः ॥ १२३ ॥**

अधिजिह्वक के लक्षणः—जिह्वा के अग्रभाग के समान आकृतिवाले और जिह्वा के ऊपर तक फैले हुए कफ तथा रक्तजन्य शोथ को 'अधिजिह्वक' कहते हैं। इसमें यदि पाक प्रारंभ हो गया हो तो इसे त्याग देना चाहिए ॥ १२३ ॥

८ वलयलक्षणमाह—

बलास एवागतमुन्नतञ्च शोथं करोत्यन्नगतिं निवार्य।
तं सर्वथैवाप्रतिवार्यमेव विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥ १२४ ॥

वलय के लक्षणः—यदि कफ गले में विस्तृत और ऊँचा-सा ऐसा शोथ पैदा करे, जिससे अन्न निगलने में रुकावट हो तो उसे 'वलय' कहते हैं। यह बिलकुल असाध्य होता है, अतएव इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ॥ १२४ ॥

९ बलासलक्षणमाह—

गले तु शोथं कुरुतः प्रवृद्धौ श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम्।
मर्मच्छिदं दुस्तरमेनमाहुर्बलाससंज्ञं भिषजो विकारम् ॥ १२५ ॥

***मर्मच्छिदं=हृदयमर्मणि छेदेनेव वेदनाजनकम् ॥ १२५ ॥**

बलास के लक्षण—बढ़े हुए वात और कफ द्वारा गले में ऐसा शोथ उत्पन्न होता है, जिससे पीडायुक्त श्वास पैदा होकर हृदयमर्म को छेदने के समान पीडा होती है। इस दुःसाध्य रोग को वैद्य लोग 'बलास' कहते हैं ॥ १२५ ॥

१० एकवृन्दलक्षणमाह—

वृत्तोन्नतोऽन्तः श्वयथुः सदाहः सकण्डुरोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च।
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्त्तितोऽसौ व्याधिर्बलासक्षतजप्रसूतः ॥ १२६ ॥

***अन्तः=गलमध्ये। अपाकी=ईषत्पाकी। अमृदुः=ईषन्मृदुः ॥ १२६ ॥**

एकवृन्द के लक्षण—गले में गोल, उठा हुआ जलन और खुजलीयुक्त, तनिक मुलायम, और भारी तथा किंचित् ही पकनेवाला जो शोथ होता है, उसे 'एकवृन्द' कहते हैं। यह कफ और रक्त से उत्पन्न होता है ॥ १२६ ॥

११ वृन्दलक्षणमाह—

समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति।
तं चापि पित्तक्षतजप्रकोपाद्विद्यात्सतोदं पवनात्मकं तु ॥ १२७ ॥

वृन्द के लक्षण—पित्त और रक्त के प्रकोप से गले में गोलाकार तीव्र जलन और तीव्र ज्वरयुक्त, अत्यन्त उठी हुई सूजन पैदा होती है, उसे 'वृन्द' कहते हैं। यदि इसीमें सूई कोंचने जैसी पीड़ा भी हो तो उसे वातसम्बन्धि समझना चाहिए ॥ १२७ ॥

१२ शतघ्नीलक्षणमाह—

वर्त्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी तु चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः।
अनेकरुक्प्राणहरी त्रिदोषाज्ज्ञेया शतघ्नीसदृशी शतघ्नी ॥ १२८ ॥

---

१. अधिजिह्विका को अंग्रेजी में एपीग्लाटाइटिस Epiglotitis कहते हैं।

*घना = कठिना। अनेकरुग्=वातपित्तकफजतोददाहकण्ड्वादियुक्ता। शतघ्नीसदृशी=लौहकण्टकसञ्छन्ना शतघ्नी महती शिला, तत्तुल्या, यतः प्राणहरी ॥ १२८ ॥

शतघ्नी के लक्षण—वात, पित्त और कफ से उत्पन्न होनेवाली और तोद, दाह, कण्डू आदि विविध प्रकार की पीड़ा से युक्त, मांस के अङ्कुरों से अत्यन्त व्याप्त, प्राणनाशक और गले में रुकावट पैदा करनेवाली जो वर्त्ती होती है, उसे 'शतघ्नी' कहते हैं। यह त्रिदोषज होती है। 'शतघ्नी' (लोहे के तीखे काँटों से ढकी हुई भारी शिला) के समान होने से इसे 'शतघ्नी' कहा जाता है ॥ १२८ ॥

१३ गिलायुलक्षणमाह—

ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः स्थिरोऽल्परुक्स्यात्कफरक्तमूर्त्तिः।
संलक्ष्यते सक्तमिवाशितश्च स शस्त्रसाध्यस्तु गिलायुसंज्ञः ॥ १२९ ॥

गिलायु के लक्षण—कफ और रक्त से उत्पन्न होनेवाली, आँवले की गुठली के बराबर कठिन और थोड़ी पीड़ायुक्त गले में गाँठ हो जाती है, जिससे जो कुछ भोजन किया जाता है, वह अटका हुआ-सा प्रतीत होता है। इसको 'गिलायु' कहते हैं। यह रोग शस्त्रकर्म से ठीक होता है ॥१२९॥

१४ गलविद्रधिलक्षणमाह—

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः शोथो रुजः सन्ति च यत्र सर्वाः।
स सर्वदोषैर्गलविद्रधिस्तु तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य ॥ १३० ॥

गलविद्रधि—समस्त दोषों से उत्पन्न होने के कारण तोद, दाह, कण्डू आदि वातादि सभी दोषों की पीड़ाओं से युक्त, समस्त गले में फैला हुआ जो शोथ होता है, उसे 'गलविद्रधि' कहते हैं। इसके लक्षण त्रिदोषज विद्रधि के समान ही होते हैं ॥ १३० ॥

१५ गलौघलक्षणमाह—

शोथो महान्यस्तु गलावरोधी तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहन्ता।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौघः परिकीर्त्तितोऽसौ ॥ १३१ ॥

*वायुगतेर्निहन्ता = उदानवायुगतिरोधकः ॥ १३१ ॥

गलौघ—कफ और रक्त से उत्पन्न, तीव्र ज्वरयुक्त, गले को (अन्नजल को) और उदानवायु की गति को रोकनेवाला भारी शोथ जो गले में होता है, उसे 'गलौघ' कहते हैं ॥ १३१ ॥

१६ स्वरघ्नलक्षणमाह—

यस्ताम्यमानः श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः।
कफोपदुष्टेष्वनिलायनेषु ज्ञेयः स रोगः श्वसनात्स्वरघ्नः ॥ १३२ ॥

*ताम्यमानः = तमः पश्यन्। शुष्कविमुक्तकण्ठः = शुष्को विमुक्तो = ऽस्वाधीनः कण्ठो यस्य सः। अस्वाधीनता भक्तं गिलितुमशक्यत्वात्। अनिलायनेषु = वायुवर्त्मसु। श्वसनात् = वातात् ॥ १३२ ॥

स्वरघ्न—वातवह स्रोतसों के कफ द्वारा दूषित हो जाने से प्रकुपित वायु द्वारा 'स्वरघ्न' नामक गलरोग उत्पन्न होता है। इससे आँखों के सामने अन्धकार छा जाता है, रोगी बार-बार हाँफता है, उसका स्वर बदल जाता है, गला सूख जाता है और कुछ उससे निगला नहीं जाता है ॥ १३२ ॥

१७ मांसतानलक्षणमाह—

प्रतानवान्यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत्सर्वकृतो विकारः ॥ १३३ ॥

*प्रतानवान् = विस्तारवान्। सुकष्टः = अतिशयितं कष्टं यत्र सः ॥ १३३ ॥

मांसतान—अतिशय कष्टदायक और गले में लटकता हुआ विस्तृत शोथ होता है, जो धीरे-धीरे गले को रोक देता (अन्नादि नहीं निगला जाता) है, इसे 'मांसतान' कहते हैं। यह त्रिदोषज और प्राणनाशक होता है ॥ १३३ ॥

१८ विदारीलक्षणमाह—

सदाहतोदं श्वयथुं सताम्रमन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम् ।
पित्तेन विद्याद्वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात्स तु येन शेते ॥ १३४ ॥

*सः=पुरुषो, येन=पार्श्वेन, विशेषाद् बाहुल्येन, शेते तस्मिन्पार्श्वे, सा विदारी भवतीत्यर्थः ॥ १३४ ॥

विदारी के लक्षण—प्रकुपित पित्त द्वारा, जलन और सूई कोचने जैसी पीडावाला, लाल तथा दुर्गन्धित और गली हुई मांसवाला जो शोथ गले में होता है, उसे 'विदारी' कहते हैं। यह (विदारी) गले में उसी तरफ होता है, जिस करवट आदमी अधिकतर सोया करता है ॥ १३४ ॥

गलरोगचिकित्सामाह—

रोहिणीनान्तु साध्यानां हितं शोणितमोचनम् । वमनं धूमपानञ्च गण्डूषो नस्यकर्म च ॥
वातजान्तु हृते रक्ते लवणैः प्रतिसारयेत् । सुखोष्णान्स्नेहगण्डूषान्धारयेच्चाप्यभीक्ष्णशः ॥
विस्राव्य पित्तसम्भूतां सिताक्षौद्रप्रियङ्गुभिः । घर्षयेत्कवलो द्राक्षापरूषैः क्वथितो हितः ॥
आगारधूमकटुकैः कफजां प्रतिसारयेत् ॥ १३५ ॥

*आगारधूमः='कोल' इति लोके । कटुकानि=शुण्ठीपिप्पलीमरिचानि ॥ १३५ ॥

श्वेताविडङ्गदन्तीषु तैलं सिद्धं ससैन्धवम् । नस्यकर्मणि दातव्यं कवलञ्च कफोच्छ्रये ॥१३६॥

*श्वेता=अपराजिता ॥ १३६ ॥

गलरोगों की चिकित्सा—साध्य रोहिणियों में रक्त निकलवाना हितकर है। इसके बाद वमन, धूम्रपान, कुल्ला और नस्यकर्म करना चाहिए। वातज रोहिणी में रुधिर निकलवाकर सेंधा नमक से प्रतिसारण करे और सहाते गर्म स्नेह से बार-बार कुल्ला करे। पित्तज रोहिणी में रक्त निकालने के बाद शक्कर, शहद और फूलप्रियंगु के चूर्ण से प्रतिसारण करे और मुनक्के और फालसे के काढ़े से कवल धारण करे। कफज रोहिणी में घर के धूएँ और सोंठ, मरिच, पीपर के चूर्ण से प्रतिसारण करे और अपराजिता, वायविडङ्ग तथा जमालगोटे के कल्क से पकाये हुए तेल में सेंधा नमक डालकर नस्य करे तथा कवल धारण करे ॥ १३५-१३६ ॥

पित्तवत्साधयेद्वैद्यो रोहिणीं रक्तसम्भवाम् । विस्राव्य कण्ठशालूकं साधयेत्तुण्डिकेरिवत् ॥
एककालं यवान्नञ्च भुञ्जीत स्निग्धमल्पशः । उपजिह्वकवच्चापि साधयेदधिजिह्वकम् ॥ १३८ ॥

रक्तज रोहिणी की चिकित्सा पित्तजन्यरोहिणी की भाँति करनी चाहिए। कण्ठशालूक से रक्त निकालकर पुनः तुण्डिकेरी की भाँति उसकी चिकित्सा करे और रोगी को यव के बने हुए स्निग्ध भोजन को थोड़ी सी मात्रा एक ही शाम खिलाये। उपजिह्विका की ही तरह अधिजिह्विका की भी चिकित्सा करे ॥ १३७-१३८ ॥

एकवृन्दं तु विस्राव्य विधिं शोधनमाचरेत् । एकवृन्दमिव प्रायो वृन्दञ्च समुपाचरेत् ॥१३९॥

एकवृन्द से रक्त निकालकर बाद में शोधन उपचार करे और एकवृन्द की ही भाँति प्रायः वृन्द की भी चिकित्सा करे ॥ १३९ ॥

गिलायुश्चापि यो व्याधिस्तञ्च शस्त्रेण साधयेत् । अमर्मस्थं सुसम्पक्वं छेदयेद्गलविद्रधिम् ॥

गिलायु रोग की शस्त्रकर्म द्वारा चिकित्सा करे और यदि गलविद्रधि मर्मस्थान में न हो और अच्छी तरह पक गई हो तो उसका छेदन करे ॥ १४० ॥

गलरोगाणां सामान्यचिकित्सामाह—

कण्ठरोगेष्वसृङ्मोक्षैस्तीक्ष्णैर्नस्यादिकर्मभिः । चिकित्सकश्चिकित्सान्तु कुशलोऽत्र समाचरेत् ॥

गलरोगों की सामान्य चिकित्सा—चतुर वैद्य गले के रोगों से रक्त निकालकर तीक्ष्ण नस्य आदि देकर चिकित्सा करे ॥ १४१ ॥

क्वाथं दद्याच्च दार्वीत्वङ्निम्बताार्क्ष्यकलिङ्गजम । हरीतकीकषायो वाहितो माक्षिकसंयुतः॥
कटुकाऽतिविषादारुपाठामुस्तकलिङ्गकाः । गोमूत्रक्वथिताः पीता कण्ठरोगविनाशनाः ॥

दारुहल्दी, दालचीनी, नीम, रसौत और इन्द्रजौ का काढ़ा देना या हरड़ के काढ़े में शहद डालकर देना (कण्ठरोग में) लाभदायक होता है, यह चिकित्सा वातज गलरोग-नाशक है ॥

मृद्वीका कटुका व्योषं दार्वीत्वक् त्रिफला घनम् । पाठा रसाञ्जनं दूर्वा तेजोह्वेति सुचूर्णितम् ॥
क्षौद्रयुक्तं विधातव्यं गलरोगे महौषधम् । योगाश्चैते त्रयः प्रोक्ता वातपित्तकफापहाः ॥१४५॥

मुनक्का, कुटकी, सोंठ, मरिच, पीपर, दारुहल्दी, तेज, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, पाढ़, रसौत, दूब और तेजबल इनका बारीक चूर्ण शहद में मिलाकर प्रयोग करने से कफज गलरोग नष्ट होते हैं । इस प्रकार ये तीनों योग क्रम से वातज, पित्तज और कफज गलरोग को नष्ट करनेवाले कह दिये गये ॥ १४४-१४५ ॥

यवाग्रजं तेजवतीञ्च पाठां रसाञ्जनं दारुनिशां सकृष्णाम् ।
क्षौद्रेण कुर्याद् गुटिकां मुखेन तां धारयेत्सर्वगलामयेषु ॥ १४६ ॥

जवाखार, तेजबल, पाढ, रसौत, दारुहल्दी और पीपर इन सबकी शहद के साथ गोली बना लेनी चाहिए । इन गोलियों को मुख में रखने से समस्त प्रकार के गलरोग नष्ट हो जाते हैं ॥१४३॥

समस्तमुखरोगाणां निदानं संख्यां चाह—

पृथग्दोषैस्त्रयो रोगाः समस्तमुखजाः स्मृताः ॥ १४७ ॥

समस्तमुखगत रोग—सम्पूर्ण मुख में वातज, पित्तज और कफज (इस प्रकार) तीन रोग होते हैं ॥ १४७ ॥

१ वातजमुखरोगलक्षणमाह—

स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ताद्यत्राचितं सर्वसरः[1] सवातात् ॥ १४८ ॥

वातज सर्वसर–यदि मुख में सूई कोचने की तरह पीड़ायुक्त बहुत से छाले पड़ गये हों तो उसे 'सर्वशर' कहते हैं । यह वातजन्य होता है ॥ १२८ ॥

२ पैत्तिकमुखरोगलक्षणमाह —

रक्तैः सदाहैः पिडकैः सपीतैर्यत्राचितं चापि स पित्तकोपात् ॥ १४९ ॥

पित्तज सर्वसर–यदि समस्त मुख में लाल, जलनयुक्त और पीले छाले पड़े हों तो उसे पित्तज सर्वसर समझना चाहिए ॥ १४९ ॥

३ कफजमुखरोगलक्षणमाह—

अवेदनैः कण्डुयुतैः सवर्णैर्यत्राचितं चापि स वै कफेन ॥ १५० ॥
*यत उक्तं सुश्रुतेन—अल्पवेदनैरिति ॥ १५० ॥

कफज सर्वसर–यदि थोड़ी पीडावाले, खुजलीयुक्त और आस-पास के स्वस्थ भाग की ही तरह रंगवाले छाले मुख में पड़े हों तो उन्हें 'कफज सर्वसर' जानना चाहिए ॥ १५० ॥

मुखरोगेष्वसाध्यानाह—

ओष्ठप्रकोपे वर्ज्यास्तु मांसरक्तत्रिदोषजाः । दन्तवेष्टेषु वर्ज्यौ तु त्रिलिङ्गगतिसौषिरौ ॥१५१॥

मुख के असाध्य रोग–ओष्ठ के रोगों में मांसज, रक्तज और त्रिदोषज ओष्ठरोग असाध्य होते हैं । और मसूड़े के रोगों में त्रिदोषजन्य दन्तनाड़ी और सौषिर ये दो रोग वर्ज्य हैं ॥ १५१ ॥

दन्तेषु च न सिध्यन्ति श्यावदालनभञ्जनाः । जिह्वारोगेष्वलासस्तु तालुजेष्वर्बुदं तथा ।

---

१. सर्वसर या मुखपाक को अंग्रेजी में स्टोमाटायटीज—(Stomatitis) कहते हैं । स्टोमाटायटीज के जो लक्षण हैं, वे सारे सर्वसर के लक्षणों से ठीक मिलते हैं ।

स्वरघ्नो वलयो वृन्दो बलासः स हि दारुगः (च विदारिका)।
गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी गले। असाध्याः कीर्त्तिता ह्येते रोगा दश नवोत्तराः।
तेषु वाऽपि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥ १५२ ॥

दन्तरोगों में श्यावदन्त, दालन और भञ्जन ये तीन रोग, जिह्वारोगों में अलास, तालु के रोगों में तात्वर्बुद और गले के रोगों में स्वरघ्न, वलय, वृन्द, बलास, विदारी, गलौघ, मांसतान, शतघ्नी तथा रोहिणी ये १९ रोग (श्लो० १५१ के ५.१४ = १९) मुखरोगों में असाध्य कहे गये हैं। वैद्य को चाहिए कि यह बतलाकर कि ये रोग असाध्य हैं, इनकी भी चिकित्सा करे (कदाचित् अच्छे ही हो जायँ) ॥ १५२ ॥

सम्पर्णमुखरोगाणां चिकित्सामाह—

वातात्सर्वसरं चूर्णैर्लवणैः प्रतिसारयेत्। तैलं वातहरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ॥ १५३ ॥

सम्पूर्ण मुख के रोगों की चिकित्सा—वातज सर्वसर में नमकीन चूर्णों द्वारा प्रतिसारण करना चाहिए और वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध किए हुए तेल का कवल धारण करना और नस्य लेना चाहिए ॥ १५३ ॥

पित्तात्मके सर्वसरे शुद्धकायस्य देहिनः। सर्वः पित्तहरः कार्यो विधिर्मधुरशीतलः ॥ १५४ ॥
प्रतिसारणगण्डूषधूमसंशोधनानि च। कफात्मके सर्वसरे क्रमं कुर्यात्कफापहम् ॥ १५५ ॥

पित्तज सर्वसर की चिकित्सा के लिए उपयुक्त विरेचनादि द्वारा शरीर को शुद्ध करके पित्तनाशक मधुर और शीतल समस्त उपचार करे और प्रतिसारण, कुल्ला, धूम्रपान और संशोधन ये सब पित्तनाशक ही प्रयोग करे। कफज सर्वसर में कफनाशक प्रतिसारणादि चिकित्सा करे ॥

मुखपाके शिरावेधः शिरसश्च विरेचनम्। मधुमूत्रघृतक्षीरैः शीतैश्च कवलग्रहः ॥ १५६ ॥

मुखपाक की चिकित्सा के लिए शिरावेध और शिराविरेचन करे तथा शहद, गोमूत्र, घी और दूध तथा अन्य शीतल द्रव्यों का कवल धारण करे ॥ १५६ ॥

जातीपत्रामृताद्राक्षायासदार्वीफलत्रिकैः। क्वाथः क्षौद्रयुतः शीतो गण्डूषो मुखपाकनुत् ॥

चमेली की पत्ती, गुरुच, मुनक्का, जवासा, दारुहल्दी, हरड़, बहेड़ा और आँवला इन सबका काढ़ा बनाकर ठंडा होने पर उसीमें शहद डालकर कुल्ला करने से मुखपाक नष्ट हो जाता है ॥

कार्यञ्च बहुधा नित्यं जातीपत्रस्य चर्वणम्। कृष्णजीरककुष्ठेन्द्रयवचर्वणतस्त्र्यहात् ॥१५८॥
मुखपाकव्रणक्लेददौर्गन्ध्यमुपशाम्यति। पटोलनिम्बजम्ब्वाम्रमालतीनवपल्लवैः ॥ १५९ ॥
पञ्चपल्लवजः श्रेष्ठः कषायो मुखधावने। पञ्चवल्कलजः क्वाथस्त्रिफलासम्भवोऽथ वा ॥१६०॥
मुखपाके प्रयोक्तव्यः सक्षौद्रो मुखधावने। स्वरसः कथितो दार्व्या घनीभूतो रसक्रिया।
सक्षौद्रामुखरोगासृग्दोषनाडीव्रणापहा ॥ १६१ ॥

मुखपाक में चमेली की पत्ती को बार-बार चबाते रहने से बहुत लाभ होता है। काला जीरा, इन्द्रजौ, कूट और बालवच इनका चर्वण करने से तीन ही दिन में मुख का पाक, व्रण या छाला, मुख का क्लेद (लिपलिपापन) और मुख की दुर्गन्ध दूर हो जाती है।

परोरा, नीम, जामुन, आम और मालती, इन सबके नए-नए पत्तों के अर्थात् इस पञ्चपल्लव के काढ़े से मुख धोना या कुल्ला करना मुखपाक में उत्तम होता है। पीपर, बड़, गूलर, पकड़ी और शिरीष अथवा जलवेत इन पाँचों की छाल के काढ़े में अथवा हरड़, बहेड़ा, आँवला के काढ़े में शहद मिलाकर मुख धोने से या कुल्ला करने से मुखपाक नष्ट होता है। दारुहल्दी के काढ़े को रसक्रिया द्वारा गाढ़ा कर उसीमें शहद मिलाकर लगाने से मुखरोग, रक्तविकार और नाडीव्रण नष्ट हो जाते हैं ॥ १५८-१६१ ॥

सप्तच्छदोशीरपटोलमुस्तहरीतकीतिक्तकरोहिणीभिः।
यष्ट्याह्वराजद्रुमचन्दनैश्च क्वाथं पिबेत्पाकहरं मुखस्य ॥ १६२ ॥

*राजद्रुमः='धनबहेरा' इति लोके ॥ १६२ ॥

छितवन, खश, कडुवा परोरा, नागरमोथा, हरड़, कुटकी, मुलेठी, अमलतास और लाल चन्दन, इनका काढ़ा पीने से मुखपाक नष्ट हो जाता है ॥ १६२ ॥

तिला नीलोत्पलं सर्पिः शर्करा क्षीरमेव च । क्षौद्राढ्या दग्धवक्त्रस्य गण्डूषो मुखपाकनुत् ॥

तिल, नीला कमल, घी, शक्कर, दूध और शहद इनका कुल्ला करने से मुख जल जाने से जो मुखपाक होता है, वह नष्ट हो जाता है ॥ १६३ ॥

आस्वादिता सकृदपि मुखगन्धं सकलमपनयति । त्वग्बीजपूरफलजा पवनमपाच्यं वारयति॥

बिजौरे नीबू के फल का छिलका एक बार भी खा लेने से मुख की समस्त दुर्गन्ध और अपच के कारण पैदा होनेवाली अपान वायु नष्ट हो जाती है ॥ १६४ ॥

हरिद्रा निम्बपत्राणि मधुकं नीलमुत्पलम् । तैलमेभिर्विपक्तव्यं मुखपाकहरं परम् ॥ १६५ ॥

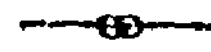
हरदी, नीम के पत्ते, मुलेठी, नीला कमल का फूल, इनसे पकाया हुआ तेल मुखपाक नष्ट करने के लिए परमोत्तम है ॥ १६५ ॥

यष्टीमधु पलमेकं त्रिंशन्नीलोत्पलस्य तैलस्य । प्रस्थं तद् द्विगुणपयोविधिनापक्वं तु नस्येन ॥

निशि वदनस्य स्रावं क्षपयति गात्रस्य दोपसंघातम् ।

कचघर्षस्वमवश्यं क्रमतोऽभ्यङ्गेन जन्तूनाम् ॥ १६७ ॥

इति षट्षष्टितमो मुखरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६६ ॥



मुलेठी ४ तोला, नीलाकमल ३० तोला इनके कल्क में ६४ तो० तेल-१२८ तो० दूध डालकर पकाये । यह तेल रात्रि में होनेवाले मुखस्राव को तथा शरीर के समस्त दोषों के समूह को नष्ट करता है । इसकी मालिश करने से बालों की कमजोरी, उनका घिसना, गिरना और उनके जुवे आदि धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं ॥ १६६-१६७ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे षट्षष्टितमो मुखरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६६ ॥



अथ सप्तषष्टितमो विषाधिकारः ॥ ६७ ॥

तत्र विषस्य [1]द्वैविध्यमाह—

स्थावरं जङ्गमञ्चैव द्विविधं विषमुच्यते । दशाधिष्ठानमाद्यं तु द्वितीयं षोडशाश्रयम् ॥ १ ॥

---

१. अपने यहाँ विष का वर्गीकरण विष के स्वरूप के अनुसार किया गया है, जो कि उपर्युक्त श्लोकों से विदित होते हुए भी सुखानुबोध के लिए नीचे दे दिया जाता है, यथाः—

स्थावरं जङ्गमञ्चैव द्विविधं विषमुच्यते । दशाधिष्ठानमाद्यन्तु द्वितीयं षोडशाश्रयम् ।

मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सारमेव च । निर्यासो धातवः कन्दः स्थावरस्याश्रया दश ।

दृष्टिनिःश्वासदंष्ट्राश्च नखमूत्रमलानि च । शुक्रं लालाऽऽर्त्तवस्पर्शसंदंशश्चावमर्दितम् ॥

गुदास्थिपित्तशूकानि दश षड् जङ्गमाश्रयाः ॥

किन्तु पाश्चात्त्य वैद्यक में विष का वर्गीकरण उनके गुण के अनुसार अथवा शरीर के भिन्न-भिन्न संस्थानों के ऊपर उनकी क्रिया के अनुसार किया गया है, यथाः—

१—दाहक (Corrosiues) अम्ल, जैसे हाइड्रोक्लोरिक (नमक का तेजाब) और सल्फ्यूरिक एसिड (गन्धक का तेजाब) इत्यादि ।

विष दो प्रकार का होता है—१–स्थावर, २–जगम। स्थावर विष के दस आश्रय और जंगम विष के १६ आश्रय (स्थान) हैं ॥ १ ॥

२—क्षोभक (Irritants)

(अ) खनिजधातवीय (Metallic)—संखिया, अंजन, पादर, सीस, ताम्र, यशद, लोह, चाँदी या रजत और बिस्मथ। अधातवीय (Nonmetallic)—फास्फोरस, क्लोरीन, ब्रोमीन, आयोडीन, काँच, बाल तथा हीरे की कनी इत्यादि।

(ब) वानस्पतिक (Vegetable)—जमालगोटा, मदार, भेलुवा, इन्द्रायण, एरण्ड, आक्जेलिक एसिड तथा अर्गट।

अतिविष (Aconite), धतूर, तम्बाकू, तथा भांग इत्यादि।

(क) जङ्गम (Animal)—सर्पविष, वृश्चिकदंश, कीटदंश, कैथेराइड और खाद्यजन्य विष (Plomaines)।

३—नाडीमण्डल के प्रभावक (Neurotic)—

मस्तिष्क पर क्रिया करनेवाले—

१—निद्राल (Narcotic) अफीम तथा मॉरफिया (Morphive)

२—संज्ञाहारी–क्लोरोफार्म, क्लोरल हाइड्रेट और कोकेन।

३—मादक–अलकोहल, ईथर और फिनासिटीन–कर्पूर, तारपीन और कार्बोलिक एसिड इत्यादि।

४—प्रलापक–धतूरा, खुरसानी अजवायन, भांग तथा बेलाडोना इत्यादि।

५—सुषुम्ना पर क्रिया करनेवाले—कुचला तथा स्ट्रिकनीन।

६—हृदय पर प्रभाव डालनेवाले–तम्बाकू, डिजिटेलिस, अतिविष और हाइड्रोसियेनिक एसिड

७—फुफ्फुस पर प्रभाव करनेवाले–कार्बन डाई आक्साइड और कोलगैस इत्यादि।

८—नाडियों पर प्रभाव करनेवाले—कोनियम और क्यूरारा इत्यादि। कुछ लोग दाहक और क्षोभक को पृथक् नहीं मानते। वे दाहक को क्षोभक ही के वर्ग में गिनते हैं।

दाहक—ये रासायनिक पदार्थ अपनी क्रिया में बहुत तीव्र और प्रबल होते हैं। शरीर की धातुओं के सम्पर्क में आते ही उनका नाश करने लगते हैं। शरीर के जिस स्थान पर शुद्ध नमक या गन्धक का तेजाब पड़ जाता है, उसका तुरन्त नाश होने लगता है। रोगी को दारुण पीड़ा होती है। उसकी तीव्र क्रिया के कारण वहाँ पर शोथ नहीं उत्पन्न होने पाता। यदि उनमें जल मिला होता है तो उसकी मात्रा के अनुसार उनकी क्रिया कम हो जाती है।

क्षोभक—ये वस्तुएँ शरीर में क्षोभ और शोथ उत्पन्न कर देती हैं। खाने पर दाह, वमन और विरेचन आरम्भ हो जाते हैं। प्रायः वमन के साथ रक्त भी मिला रहता है, जैसे संखिये के विष से जो वमन होता है, उसमें रक्त आता है।

नाडीमण्डल पर प्रभाव डालनेवाले विष—इनमें कुछ ऐसे होते हैं, जो विशेष कर मस्तिष्क ही पर अपनी क्रिया करते हैं और उसीके द्वारा विष के लक्षण उत्पन्न करते हैं। निद्राल, मूर्च्छक और प्रलापक सब इसी श्रेणी के विष हैं। दूसरी श्रेणी के वे विष हैं, जिनकी क्रिया केवल सुषुम्ना ही पर होती है। कुचला सुषुम्ना ही पर विशेष प्रभाव करता है और वहींसे नाड़ियों की उत्तेजना से पेशियों में आक्षेप होने लगते हैं। शेष जो वस्तुएँ हैं वे अपने नाम के ही अनुसार क्रिया करती हैं। जो वस्तुएँ सुषुम्ना पर क्रिया करती हैं, उनके प्रभाव में शरीर का विशेष अङ्ग संज्ञाहीन हो जाता है अथवा उसकी संज्ञाशक्ति बहुत बढ़ जाती है, जिससे तनिक भी छूने से रोगी को पीड़ा मालूम होती है। कभी-कभी ऐसा न होकर पेशियों में कम्पनाएँ होने लगती हैं अथवा

*तद्यथा–मूलविषं=करवीरादि। पत्रविषं=विषपत्रिकाऽऽदि। फलविषं=कर्कोटकादि। पुष्पविषं=वेत्रादि। त्वक्सारनिर्यासविषाणि=करम्भादीनि। क्षीरविषं=स्नुह्यादि। धातुविषं=हरितालादि। कन्दविषं=वत्सनाभशक्तुकादि॥ २॥

चिकित्सक धीरे-धीरे रोगी की परीक्षा कर सकता है, किन्तु विष की अवस्था में एक-एक पल और मिनट अत्यन्त अमूल्य होता है, जिसपर रोगीका प्राण निर्भर करता है। इसलिए उसकी प्रत्येक दशा को विचारते हुए शीघ्रता के साथ परिणाम पर पहुँचकर रोगी की चिकित्सा आरम्भ कर देनी चाहिए। निम्नलिखित तालिका में मुख्य-मुख्य लक्षणों के अनुसार कारण या विष को बताने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु उनको इतना पूर्ण न समझना चाहिए कि चिकित्सक उसीके द्वारा सारा काम चलाने का प्रयत्न करने लगे। यह भली भाँति स्मरण रखना चाहिए कि बिना रोगों तथा ओषधियों की क्रिया का पूर्णज्ञान हुए कभी भी चिकित्सक को इच्छित सफलता नहीं हो सकती। भिन्न अङ्गों पर ओषधियों की क्रिया का पूर्णज्ञान उसके लिए अनिवार्य है। उसके बिना न तो वह रोग का निर्णय कर सकता है और न उसकी चिकित्सा ही कर सकता है।

१—रोगी की तत्काल मृत्यु हो गई हो—

१—प्रुसिक एसिड—दो या तीन मिनट में मृत्यु हो जाती है।

२—पोटेशियम सायनायड—तत्काल मृत्यु हो जाती है।

३—शुद्ध अमोनिया—कुछ मिनटों में मृत्यु हो सकती है।

४—कारवोलिक एसिड गैस-अथवा शुद्ध कार्बन डाई आक्साइड—इससे तत्काल मृत्यु हो सकती है।

५—कार्बन-मानो-आक्साइड गैस—

६—आक्जेलिक अम्ल से भी शीघ्र ही मृत्यु होती है।

२—रोगी मूर्च्छावस्था में हो—

१-अफीम, मार्फिया। २-अलकोहल। ३-क्लोरल। ४-क्लोरोफार्म। ५-कर्पूर।

३—रोगी को हृदयावसाद हो रहा हो—

१-शुद्ध या प्रबल अम्ल-कार्बोलिक या आक्जेलिक। २-क्षार। ३-विष या वत्सनाभ। ४-लोबीलिया। बहुत विषों में अन्त में यह दशा हो जाती है।

४—रोगी के मुख पर पीलापन आ गया हो—

ऐनिलीन, ऐण्टीफेब्रिन और एक्सेलिजन।

५—रोगी उन्मत्त हो अथवा प्रलाप करता हो—

१-बेलाडोना। २-खुरासानी अजवायन। ३-स्ट्रैमोनियम। ४-भांग। ५-अलकोहल। ६-कर्पूर।

६—रोगी की पेशियों में आक्षेप होते हों—

१-कुचला, स्ट्रिक्नीन। २-नीलाञ्जन, संखिया—पीड़ा की अधिकता से धनुर्वात के समान रोगी के शरीर में ऐंठन होती है।

७—रोगी को पक्षाघात हो गया हो—

१-विष या वत्सनाभ। २-संखिया। ३-सीस। ४-जेलसीमियम। ५—फाइसोस्टिगमा।

८—रोगी के नेत्रों के तारे विस्फारित हों—

१—बेलाडोना और एट्रोपीन। २-खुरासानी अजवायन। ३-अफीम (अन्तिम अवस्था में)। ४-अलकोहल। ५-क्लोरोफार्म (यह तरल अवस्था में ली जाती है अथवा अन्तिम या चौथी अवस्था में)। ६-विष। ७-स्ट्रैमोनियम।

स्थावर विष के १० आश्रय—१-मूल, २-पत्र, ३-फल, ४-फूल, ५-छाल, ६-दूध, ७-सार, ८-गोंद, ९-धातुएँ, १०-कन्द, इस प्रकार स्थावर विष के ये दश स्थान हैं। उदाहरणः—कनेर आदि

९—नेत्रों के तारे संकुचित हों—

१—अफीम (अत्यन्त सङ्कुचित यदि बहुत अधिक मात्रा में खा ली गई है)। २-क्लोरल हाइड्रेट। ३-फाइसोस्टिगमीन। ४-कार्बोलिक अम्ल।

१०—शरीर का चर्म शुष्क हो—

१—बेलाडोना और एट्रोपीन। २-खुरासानी अजवायन। ३-स्ट्रेमोनियम।

११—शरीर का चर्म आर्द्र हो—

१—अफीम। २-विष। ३-अलकोहल। ४-तम्बाकू। ५-लोबीलिया। ६-नीलाञ्जन। ७-प्रत्येक विष की अन्तिम अवस्था में जब अवसन्नता आरम्भ हो जाती है।

१२—चर्म पर पिडिका निकली हो—

ये पिडिकाएँ कई प्रकार की होती हैं। विष का निश्चय करने में इनसे बहुत सहायता मिलती है। किन्तु एक ही प्रकार की पिडिकाएँ कई द्रव्यों से निकल सकती हैं। ये पिडिकाएँ भी सदा नहीं निकलतीं और न सब पिडिकाएँ एक ही प्रकार की होती हैं।

बेलाडोना, खुरासानी अजवाइन और स्ट्रेमोनियम-इनसे जो पिडिकाएँ निकलती हैं वे चर्म पर केवल लाल चकत्तों के रूप में उदय होती हैं, जो एक-दूसरे से पृथक् रहते हैं।

ब्रोमाइड से छोटी-छोटी पिटिकाएँ निकलती हैं, जिनमें आगे चलकर पूयोत्पादन के पश्चात् व्रण बन सकते हैं। ये विशेषकर मुख और पीठ पर निकलती हैं।

आयोडाइड से भी पिडिकाएँ निकलती हैं, अथवा कभी-कभी केवल अङ्गों पर लाल चित्ती सी उछल आती है। दोनों में पहिले द्रव भर आता है, जो अन्त को पूय बन जाता है।

कुपेवा और कंकोल (कबाबचीनी) से मसूरिका की भाँति लाल रङ्ग के दानों के चकत्ते उत्पन्न हो जाते हैं, जो धीरे-धीरे सारे शरीर में फैल जाते हैं। उनमें खुजली और दाह होता है।

संखिया से कच्छू की भाँति पिडिकाएँ निकल आती हैं। ये पिडिकाएँ अनेक रूपों की हो सकती हैं। केवल लाल चकत्ते हों, अथवा उठे हुए भिन्न-भिन्न दाने हों, अथवा उनमें द्रव भरा हो या पूय भरी हो। जब विष जीर्ण होता है तो उससे चर्म यतस्ततः गहरे लाल रङ्ग का या भूरा दिखाई देने लगता है।

नीलाञ्जन के दाने मसूरिका के दानों के समान होते हैं, जिनमें पूय पड़ जाती है।

क्लोरल हाइड्रेट से लाल रंग के चकत्ते निकलते हैं, जो शिर पर से निकलना आरम्भ करते हैं और सारे शरीर पर फैल जाते हैं। ये बड़ी-बड़ी नाड़ियों के मार्ग पर ही फैलते हैं और उन्हींसे इनका सम्बन्ध होता है।

अफीम और मार्फिया से भी कभी-कभी चित्ती के समान लाल चकत्ते निकल आते हैं, जिनमें खुजली होती है।

कुनेन से भी कभी-कभी इसी प्रकार के दाने निकलते देखे गये हैं, जिनमें खुजली बहुत अधिक होती है। जमालगोटे का तेल, गन्धक या आर्निका इत्यादि से भी दाने निकलते हैं।

१३—रोगी के श्वास से विष की गन्ध आती हो—

१—प्रुसिक एसिड। २-अफीम-विशेष कर टिंक्चर ओपियाई। ३-अलकोहल। ४-कार्बोलिक अम्ल। ५-एसटिक अम्ल। ६-अमोनिया। ७-क्लोरोफार्म। ८-क्रियाजोट। ९-आयोडीन। १०-फास्फोरस। ११-कर्पूर।

१४—मुख और जिह्वा शुष्क हों—

१—बेलाडोना और एट्रोपीन। २-अफीम। ३-खुरासानी अजवायन। ४-स्ट्रेमोनियम।

की जड़ में विष रहता है, विषपत्रिका आदि के पत्ते में विष रहता है, कर्कोटक आदि का फल विषैला होता है, वेंत आदि का फूल विषैला होता है, करम्भादि (चोटली आदि) छाल, सार और गोंद

१५—मुंह से थूक गिरता हो—

१—संखिया । २-अमोनिया । ३-कैंथेराइड । ४-जो विष मुँह में दाह उत्पन्न करते हैं, जैसे अम्ल या क्षार । ५-पारद ।

१६—मुंह श्वेत हो गया हो—

१—कार्बोलिक एसिड-सारी श्लैष्मिक कला श्वेत और कड़ी पड़ जाती है । २-आक्जेलिक अम्ल-मुंह, जिह्वा और गले की कला श्वेत पड़ जाती है । ३-अमोनिया-मुंह की कला मांस से पृथक् होने लगती है । ४-पोटाश, सोडा । ५-नाइट्रिक अम्ल । शोरे का तेजाब-कला श्वेत या पीली पड़ जाती है । ६—रसकर्पूर और मीठे तेलिए से ओष्ठ, मुख और जिह्वा चेतनाहीन हो जाती है ।

१७—रोगी वमन करता हो—

१—संखिया-वमन-रक्त के कारण कुछ लाली लिए होता है । २-नीलाञ्जन-वमन में श्वेत रङ्ग का गाढ़ा श्लेष्मा निकलता है, जिसमें कभी कभी रक्त मिला होता है। ३-डिटेजि़लिस-वमन का घास के समान हरा रङ्ग होता है । ४-विष या वत्सनाभ । ५—अमोनिया-गाढ़ा श्वेत रङ्ग का श्लेष्मा निकलता है, जिसमें कभी-कभी रक्त मिला होता है । ६-फास्फोरस-वमन को यदि अंधेरे में रखा जाय तो वह चमकेगा । ७-इन्द्रायण—साथ में विरेचन भी होता है ।

१८—रोगी को दस्त आते हों—

१-संखिया-पीड़ा अधिक होती है और रक्त मिला होता है । २-नीलाञ्जन । ३-रसकर्पूर-हरे रङ्ग का, रक्त मिला हुआ । ४-कैथेराइड-रक्त और श्लेष्मायुक्त । ५-इन्द्रायण । ३-डिजिटेलिस ।

१९—रोगी को उदर-शूल होता हो—

१-सीस-विशेषकर नाभि के पास । २-ताम्र । ३-संखिया । ४-इन्द्रायण ।

२०—पेशियों में आक्षेप आते हों—

१-संखिया । २-नीलाञ्जन । ३-सीस ।

२१—मूत्र रङ्गयुक्त होता हो—नीले रङ्गका-मिथिलिनब्लू । काला अथवा गाढ़ा हरा—

१—कार्बोलिक अम्ल । २-सेलीसिलिक अम्ल । ३-क्लोरेट आफ पोटाश । गहरा, लाल या पोर्टवाइन जैसा—सल्फोनाल, ट्रायोनाल, वेरोनाल, नेप्थेलीन, पायरोगैलिक अम्ल और आर्सिन्यूरेटेड हाइड्रोजन से मूत्र में रक्त आने लगता है, जिससे मूत्र का रङ्ग इस प्रकार का हो जाता है। लाल या गुलाबी रंग का मूत्र फिनोल्फ्थलीन से आता है । रेवन्दचीनी से मूत्र का रङ्ग लाली लिए हुए पीला हो जाता है । यदि उसमें कुछ क्षारीय वस्तु मिला दी जाय तो उसका रङ्ग चमकता हुआ लाल हो जायेगा । सेंटोनीन से नारङ्गी रङ्ग का मूत्र आता है ।

२२—ओषधियाँ, जिनको त्वचा के नीचे इन्जेक्शन द्वारा प्रविष्ट किया जाता है—

१-मार्फिया २-कोकेन । ३-स्ट्रिकनीन ।

श्वास के द्वारा सूंघे जानेवाले विष—१-अमोनिया । २-प्रुसिकअम्ल । ३-क्लोरोफार्म । ४-ईथर । ५-बेंजीन । ६-कार्बन डाई आक्साइड । ७-कार्बन-मानो-आक्साइड । ८-कोल-गैस । ९-मोरी की गैस ।

ऊपर बताई हुई बातों के विचार से रोगी की दशा का निर्णय करने में चिकित्सक को सहायता अवश्य मिल सकती है, किन्तु उसको स्वयं पूर्णतया विचार करना चाहिए । रोगी के नेत्रों के तारों की अवस्था, उसके चर्म की दशा, मूर्च्छा है या अवसन्नता, ताप तो नहीं है, वमन, विरेचन, शरीर

विषैले होते हैं। थूहर आदि के दूध में विष होता है, हरताल, संखिया आदि धातुविष हैं और वत्सनाभ तथा शक्तुक के कन्द में विष होता है ॥ २ ॥

की पेशियों की दशा तथा रोग के प्रारम्भ होने का इतिहास इत्यादि बातों का उचित और पूर्ण विचार करना चाहिए।

२— विष का निर्णय-मृत्यु के पश्चात्—

मृत्यु के पश्चात् निम्नलिखित विधियों द्वारा विष का निश्चय किया जाता है:—

१-मृत्यूत्तर रूप। २-रासायनिक विश्लेषण। ३-जन्तुओं पर प्रयोग। ४-परिस्थितिजनक प्रमाण।

१मृत्यूत्तर रूप—मृतक की परीक्षा करने से पूर्व पुलिस की रिपोर्ट को पढ़ लेना उचित है। साथ ही मृत व्यक्ति के सम्बन्धियों से भी उचित प्रश्नों द्वारा मृत्यु के कारणों को जानने का प्रयत्न करना चाहिए। मृत्यु के पूर्व व्यक्ति ने जो कुछ खाया हो, उसका रूप, मात्रा, खाने का समय, वस्तु को खाने और रोग की उत्पत्ति का अन्तर तथा मृत्यु का समय जानने का उद्योग करना उचित है। प्रायः पुलिस के रिपोर्टों तथा सम्बन्धियों से प्राप्त सूचना के अनुपयुक्त होने से परीक्षक को पूरी सहायता नहीं मिलती। इस कारण शव की पूर्ण परीक्षा करनी आवश्यक है।

बाह्य परीक्षा—

शव के बाह्य रूप का भली भाँति निरीक्षण करना आवश्यक है। कुछ विष मुख पर दाह उत्पन्न कर देते हैं। अन्य विषों से विशेष प्रकार की गन्ध आने लगती है। मृतक के शरीर पर वमन, मूत्र मल तथा श्लेष्मा इत्यादि उपस्थित पाये जा सकते हैं। सम्भव है कि वमन में विष की कुछ मात्रा उपस्थित हो। फास्फोरस से नेत्र और चर्म कामला के समान पाण्डुवर्ण हो सकते हैं। ताम्रसे वे पीले पड़ जाते हैं।

यह न भूलना चाहिए कि घातक आघात के लक्षणों की उपस्थिति विष की सम्भावना को किसी प्रकार कम नहीं करती। सम्भव है विष का सन्देह मिटाने के लिए मृत्यु के पश्चात् शरीर पर इस प्रकार के आघात लगा दिये गये हों।

आन्तरिक परीक्षा—

बाह्य परीक्षा करने के पश्चात् शरीर के प्रत्येक अङ्ग को क्रमानुसार छेदकर उसकी पूर्ण परीक्षा करनी चाहिए। पाचक अङ्गों की परीक्षा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। क्षोभ और दाहक विषों से पाचक अङ्ग विशेषतया आमाशय, अधिक विकृत होते हैं। इनमें निम्नलिखित परिवर्तन पाये जाते हैं:—

१—रक्तपरिपूर्णता। २-मसृणीकरण। ३-श्लैष्मिक कला में व्रणोत्पत्ति। ४-भेदन।

१—रक्तपरिपूर्णता—प्रायः लालिमायुक्त शोथ के प्रान्त पाये जाते हैं, जो आमाशय के स्कन्ध और पूर्व धारा पर अधिक होते हैं। सारी श्लैष्मिक कला शोथयुक्त हो सकती है। अन्य रंगों के प्रान्त भी मिल सकते हैं। संखिये से कला पीली, ताम्र से हरी या नीली, और सल्फ्युरिक अम्ल से काली हो जाती है। रोगों से भी श्लैष्मिक कला में शोथ उत्पन्न हो सकता है, किन्तु वह सारे आमाशय में एक समान होता है। मृत्यु के पश्चात् शव के कुछ समय तक रखे रहने से भी आमाशय में रक्त एकत्र हो जाता है। किन्तु केवल सबसे निचले भाग में एकत्र होता है और श्लैष्मिक कला में शोथ नहीं होता।

२—मसृणीकरण (Softening)—दाहक विषों के कारण मुख, अन्नप्रणाली तथा आमाशय की श्लैष्मिक कला का मसृणीकरण हो जाता है। यह परिवर्तन आमाशय में पूर्व धारा पर अधिक है। कार्बोलिक अम्ल तथा ऐसे ही कुछ अन्य विषों के कारण आमाशय की श्लैष्मिक

स्थावरविषस्य दश स्थानान्याह—

दृष्टिनिश्वासदंष्ट्राश्च नखमूलमलानि च। शुक्रं लालाऽऽर्त्तवस्पर्शसंदंशाश्चावमर्दितम्।
गुदास्थिपित्तशूकानि दश षड् जङ्गमाश्रयाः ॥ ३ ॥

कला कड़ी हो जाती है तथा सिकुड़ जाती है। विगलन से जो मसृणीकरण होता है, वह सबसे निचले भाग में प्रारम्भ होता है। उसके चारो ओर शोथयुक्त प्रान्त नहीं होता। वह आमाशय के सब स्तरों में एक समान पाया जाता है।

३—व्रणोत्पत्ति—आमाशय के पूर्व धारा पर व्रण पाये जाते हैं, जिनके किनारे पतले और शोथ से परिमित होते हैं। लालिमा पक्वाशय और क्षुद्रान्त तक फैली रहती है।

४—भेदन—विषों से भेदन अथवा छिद्र प्रायः नहीं होता है। यदि होता है तो वह आकार में बड़ा और क्रमहीन होता है। किनारों से वाहर की धातु भी गलित मालूम होती है और सारा आमाशय-दग्ध के समान दिखाई देता है। ऐसे भेदन को रोग के द्वारा उत्पन्न भेदन से पृथक् करना आवश्यक है। रोगों से जो छिद्र होता है, उसके किनारे क्रमहीन नहीं होते। छिद्रयुक्त स्थान प्रायः समीप के किसी अङ्ग से जुड़ा होता है और आमाशय में दाह के कोई लक्षण नहीं पाये जाते।

२—रासायनिक विश्लेषण—

विष का पूर्ण प्रमाण रासायनिक विश्लेषण से मिलता है। इस कारण आमाशय तथा अन्त्रियों में से जो कुछ भी निकले, उसको विधिपूर्वक बोतलों में वन्द करके सरकारी रसायनज्ञ के पास भेज देना चाहिए। कभी-कभी विषाक्त होने पर भी आमाशय तथा अन्त्रियों की वस्तु में विष नहीं मिलता।

वस्तुओं तथा अङ्गों को भेजने के पूर्व प्रत्येक वस्तु का पूर्ण विवरण लिख लेना चाहिए। उसका रङ्ग, प्रतिक्रिया, उसमें उपस्थित वस्तुओं जैसे बीज और छोटे-छोटे टुकड़े, पत्तियाँ तथा मूल इत्यादि की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

रासायनिक विश्लेषण का कार्य केवल विशेषतया नियुक्त रसायनज्ञों के सुपुर्द होता है, जो भिन्न-भिन्न विधियों द्वारा वातवीय, वानस्पतिक और उड़नशील पदार्थों का पता लगाते हैं।

३—जन्तुओं पर प्रयोग

आमाशय या अन्त्रियों में से जो वस्तु निकले, उसे जन्तुओं को खिलाकर उनमें उत्पन्न हुए लक्षणों को देखना चाहिए। किन्तु उनपर बहुत अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। कुछ जन्तु विशेष वस्तुओं से प्रभावित नहीं होते। खरगोश पर स्ट्रैमोनियम, बेलाडोना और हायोसियेमस् इत्यादि का प्रभाव नहीं होता। कबूतर अफीम से क्षम्य है।

४—परिस्थितिजनक प्रमाण—

यह कार्य न्यायालय का है कि वह साधारण साक्षियों से अन्य प्रकार के प्रमाण एकत्र करे। किन्तु चिकित्सक को रोगी अथवा मृतक के चारों ओर की परिस्थिति को देखकर कारण का अनुमान करना चाहिए। प्रायः आत्महत्या अथवा परहत्या के लिए प्रयुक्त विष के पश्चात् सम्बन्धिगण शव के दाह के लिए अत्यन्त आतुर होते हैं।

रोगी की चिकित्सा—

रोगी की दशा विष की अवस्था में दारुण होती है। और उसीके जीवन की रक्षा उचित चिकित्सा के उपयुक्त समय पर हो जाने पर निर्भर करती है। एक-एक मिनट उस के लिए भारी होता है। इसलिए जब विष के रोगी के लिए चिकित्सक को बुलाया जाय तो उसको तनिक भी विलम्ब न करना चाहिए। तुरन्त ही सब काम छोड़कर अपने चिकित्सा के बैग को लेकर, जिसमें ऐसी दशा में प्रयोग की जानेवाली सब ओषधियाँ पहले ही से तैयार रखी हुई हैं, जाना चाहिए। उस की त्वरा और कौशल पर रोगी का जीवन निर्भर करता है। इसलिए बैग को सदा

*तद्यथा-दृष्टिनिश्वासविषाः = दिव्याः सर्पाः। दंष्ट्राविषाः = भौमसर्पाः। दंष्ट्रानखविषाः = व्याघ्रादयः। मूत्रपुरीषविषाः = गृहगोधिकाऽऽदयः। शुक्रविषाः = मूषिकाऽऽदयः। लालविषाः = उच्चिटिङ्गादयः। लालास्पर्शमूत्रपुरीषार्त्तवशुक्रमुखसंदंशावमर्दितगुदपुरीष-

---

तैयार रखना चाहिए। जिससे आवश्यक वस्तुओं को खोजने में व्यर्थ समय नष्ट न हो। यदि बैग तैयार नहीं है तो जितनी भी जल्दी आवश्यक वस्तुएँ ली जा सकती हैं, उनको संग्रह कर लेना चाहिए। विना उन सब आवश्यक ओषधियों और यन्त्रों के, जिनकी ऐसी दशा में आवश्यकता हुआ करती है, जाना व्यर्थ है। उनके विना चिकित्सक वहाँ जाकर भी रोगी को किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकता।

रोगी के लिए चिकित्सक को जो बुलाने आया है, उससे हाल पूछने पर यह अनुमान किया जा सकता है कि किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता होगी और किस भाँति कार्य करना होगा। इतनी सूचना चिकित्सक को आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करने के लिए पर्याप्त है, जिनको लेकर उसको तुरन्त रोगी के पास पहुँचना चाहिए।

रोगी के स्थान पर पहुँच कर तुरन्त रोगी के पास जाना चाहिए। दूसरे लोगों से बातचीत करने में समय गँवाना उचित नहीं है। केवल एक या दो प्रश्न, जो आवश्यक हों, पूछे जा सकते हैं।

रोगी के पास पहुँचकर तेजी के साथ थोड़े ही समय में विष का निर्णय करके तुरन्त चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए। यदि पूर्ण निश्चय न हो पाये तो भी आमाशय को प्रक्षालन-नलिका या पम्प द्वारा धोना आरम्भ करना चाहिए। और रोगी को वमनकारी ओषधियाँ मुख द्वारा अथवा सिरिञ्ज द्वारा चर्म के नीचे प्रविष्ट करनी चाहिए। जिससे आमाशय में जो कुछ भी हो, वह घुलकर बाहर निकल आये। इससे प्रत्येक विष में लाभ होता है। जिन विषों में नलिका को बहुत सावधानी से प्रयोग करना होता है अथवा प्रयोग करना नहीं होता, वे ऐसे विष हैं जिनका निश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती, जैसे अम्ल या अन्य दाहक वस्तुएँ। इनके प्रयोग के लक्षण मुख, जिह्वा, ओष्ठ और गन्ध इत्यादि से ही तुरन्त मालूम हो जायँगे।

विष का निश्चय कर चुकने पर जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, जैसे—गरम जल, तौलिया, अण्डा, मक्खन तथा दूध इत्यादि उनके लिए तुरन्त आज्ञा देनी चाहिए। यदि कोई ओषधि पास न हो अथवा रह गई हो तो उसको भी मंगवाने की तुरन्त आज्ञा देनी चाहिए। किन्तु चिकित्सक के आचरण से रोगी के सम्बन्धियों को यह न मालूम होना चाहिए कि चिकित्सक बहुत जल्दी में है अथवा घबराया हुआ है। इसलिए विना किसी प्रकार की घबराहट दिखाये हुए आवश्यक वस्तुओं के लिए दृढ़ता और त्वरा के साथ आज्ञा देनी चाहिए।

जितने समय में जल या अन्य वस्तुएँ आयें उतने समय में चिकित्सक को रोगी के चारों ओर की वस्तुओं पर ध्यान देना चाहिए। यदि कमरे में बहुत से मनुष्य हों तो उनको कमरे से बाहर कर देना चाहिए, जिससे रोगी को वायु मिले। कमरे [illegible]तर वे ही दो या तीन मनुष्य रहें, जिनसे चिकित्सा में सहायता मिल सकती है।

यदि रोगी के पास ही कोई खाली या भरी हुई शीशी पड़ी हो तो उसको देखना चाहिए। उसके भीतर की वस्तु का कुछ पता गन्ध से चल सकता है। किन्तु इन सब बातों को देखने का यह समय नहीं है। चिकित्सा के पश्चात् उनका पूर्ण निरीक्षण आवश्यक है। इसलिए चिकित्सक को ऐसी वस्तुओं को अपने अधिकार में कर लेना चाहिए। यदि रोगी ने कुछ वमन किया हो तो वह भी सँभालकर किसी स्थान में रख देना चाहिए। सम्भव है परीक्षा के लिए उसकी आवश्यकता हो।

विषः = चित्रशीर्षादयः। अस्थिविषाः = सर्पादयः। पित्तविषाः—शकुलमत्स्यादयः। शूक-विषाः = भ्रमरादयः ॥ ३ ॥

'जब तक श्वास तब तक आश' रोगी की चाहे जैसी विकृत दशा हो, किन्तु चिकित्सक को कभी निराश नहीं होना चाहिए। आशा के साथ अन्त तक, जब तक हो सके, रोगी की रक्षा का प्रयत्न करना चिकित्सक का कर्तव्य है। यदि रोगी को प्रारम्भावस्था में ही देख लिया गया है और उसकी चिकित्सा आरम्भ हो गई है तो रोगी के बचने की पूरी आशा की जा सकती है। बहुधा ऐसे रोगी देखने में आते हैं, जिनकी दशा बहुत बुरी मालूम होती है, किन्तु उचित चिकित्सा के बराबर करते रहने से बच जाते हैं। ऐसी दशा में चिकित्सक के धैर्य और उसके परिश्रम की अवश्य ही परीक्षा होती है। किन्तु यदि वह सारे कष्ट सहन करने के पश्चात् भी रोगी के जीवन की रक्षा कर सके—उसको जीवनदान दे सके, तो उसका परिश्रम सफल है।

यदि आरम्भ में चिकित्सा से लाभ दिखाई नहीं देता या सन्तोषजनक परिणाम नहीं होते तो उसका अर्थ यह नहीं होता है कि रोगी को लाभ नहीं हो रहा है। सम्भव है, अभीतक रोगी के शरीर से पर्याप्त विष बाहर न निकला हो। जब वह बाहर आ जायगा तो रोगी को लाभ के लक्षण दिखाई देंगे। इसलिए चिकित्सक को निराश होकर प्रयत्न नहीं छोड़ देना चाहिए। जब रोगी की चिकित्सा बहुत देर से आरम्भ होती है, तब उसके आरोग्य होने में अवश्य सन्देह होता है। किन्तु यदि आरम्भ ही से रोगी को हाथ में ले लिया गया है तो निराशा का कोई कारण नहीं है। चिकित्सक को चाहिए कि वह अन्त तक वैसा ही उद्यमशील रहे, जैसा कि आरम्भ में था। सम्भव है कि ३ या ४ घण्टे तक चिकित्सा करने के पश्चात् उसका फल निकले।

रोगी की दशा ठीक हो जाने पर भी उसको अकेला नहीं छोड़ना चाहिए। चिकित्सक को स्वयम् उपस्थित रहना चाहिए। प्रायः देखा गया है कि रोगी की दशा के ठीक होने पर रक्त के सञ्चालन की दशा उत्तम हो जाती है और उससे विष का अधिक शोषण होने लगता है। यदि रोगी ने आत्महत्या का प्रयत्न किया है तो सम्भव है कि वह दशा के सुधरने पर फिर वैसा ही प्रयत्न करे।

रोगी को देखने के पश्चात् उसके सम्बन्धी चिकित्सक से सदा रोग के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं। किस रोग से रोगी पीड़ित है? और वह नीरोग होगा या नहीं? अथवा कितने समय में होगा? ये प्रश्न करते हैं। विष-रोगियों के सम्बन्ध में चिकित्सक को बहुत सावधानी के साथ इन प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए। यदि विष का निश्चय पूर्ण और ठीक-ठीक नहीं हुआ है तो स्पष्ट उत्तर देना उचित नहीं है। ऐसी दशा में रोगी के भविष्य के सम्बन्ध में और भी अधिक सावधानी के साथ उत्तर देना चाहिए। यदि रोगी की दशा दारुण है तो सम्बन्धियों से यह कह देना कि 'कुछ बात नहीं है, रोगी अच्छा हो जायगा' ठीक नहीं है। उससे यदि रोगी की मृत्यु हो गई तो चिकित्सक की बदनामी होती है।

रोगी की चिकित्सा को समाप्त करके घर जाकर चिकित्सक को एक विशेष रजिस्टर में रोगी के लक्षण, चिकित्सा या अन्य विशेष बातें, जो भी उसने वहाँ देखी हों, लिख लेनी चाहिए। साथ में तिथि और समय भी लिख लेना चाहिए। रोगी के पास से जो आवश्यक वस्तुएँ चिकित्सक उठाकर लाया है, उनको देखने का अब समय है। प्रत्येक वस्तु को शीशी में रखकर, उसके मुँह को बन्द करके, उसपर लेबिल लगा देनी चाहिए। सम्भव है उनकी आवश्यकता पड़े।

किसी दूसरे चिकित्सक को सलाह के लिए बुलाना उचित है या नहीं? इस प्रकार का उत्तर स्वयं चिकित्सक पर निर्भर करता है। यदि वह समझता है कि वह स्वयं रोगी की चिकित्सा कर सकता है और उसको मृत्यु से बचा सकता है तो किसी दूसरे चिकित्सक को बुलाने की आवश्य-

जङ्गम विष के १६ आश्रय—दृष्टि, निश्वास, दाढ़, (दाँत), नख, मूत्र, विष्ठा, वीर्य, लार, रज, स्पर्श, डसना, अपान वायु, गुदा, हड्डी, पित्त, शूक (मुख या पुच्छ की अनी) इस प्रकार के १६ अधि-

कता नहीं है। किन्तु यदि उसको अपने ऊपर इतना विश्वास नहीं है अथवा रोगी की अवस्था बहुत दारुण है तो किसी ऐसे चिकित्सक को बुला लेना चाहिए, जिसके साथ उसका घनिष्ठ परिचय हो और जो उसकी प्रत्येक प्रकार से सहायता करे। उसके साथ होने से चिकित्सक का उत्तर-दायित्व कम हो जायगा।

पुलिस और चिकित्सक का सम्बन्ध—

यदि चिकित्सक को यह निश्चय हो जाय कि रोगी की हत्या करने के लिए उसको विष दिया गया है तो उसको उचित है कि वह तुरन्त पुलिस को सूचना दे। उसको स्वयम् अपने को रोगी की स्थिति में रखकर काम करना चाहिए और हत्यारों को पूरा दण्ड दिलवाने में भरसक प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु यदि विष का खाना केवल एक आकस्मिक घटना हुई है तो पुलिस को उसकी सूचना देने की कोई आवश्यकता नहीं है और न आत्महत्या में ही वह पुलिस के पास सूचना भेजने के लिये बाध्य है। वस्तुतः ऐसी दशा में या आकस्मिक दुर्घटना में उसको पुलिस को सूचित नहीं करना चाहिए। इस प्रकार की सब सूचना या रोगी के सम्बन्ध में उसको जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह व्यावसायिक रहस्य है, जिसका उद्घाटन करना चिकित्सक के लिए अनुचित है।

चिकित्सा के सिद्धान्त—

विष की चिकित्सा निम्नलिखित सिद्धान्तों के अनुसार की जाती है:—

१—जिस विष का शरीर में अभी तक शोषण नहीं हुआ है, अर्थात् जो आमाशय ही में है, उसको आमाशय से बाहर निकालना।

२—जिस विष का शरीर में शोषण हो चुका है उसको शरीर के भिन्न-भिन्न उत्सर्ग मार्गों से, जैसे विरेचन, मूत्र तथा स्वेद इत्यादि के द्वारा निकालना।

३—ऐसी ओषधियों का प्रयोग करना, जिनसे शरीर में प्रविष्ट विष निर्वीर्य हो जाय, जैसे अम्ल के लिए क्षार।

४—रोगी की लाक्षणिक चिकित्सा।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए रोगी की चिकित्सा की जाती है।

१—अशोपित विष को शरीर से निकालना।

१—साधारणतया विष मुख ही के द्वारा खाया जाता है। इसलिए वह प्रथम आमाशय में पहुँचता है और वहाँसे अन्त्रियों में जाता है, जहाँ पर उसका शोषण होता है। यहाँ से अशोपित विष को निकालने के लिए आमाशय को धोया जाता है। यह कर्म प्रक्षालन-नलिका अथवा पम्प द्वारा किया जाता है। पम्प में एक पिचकारी होती है और उसके आगे के सिरे पर दो ओर को जाती हुई दो नलियाँ लगी रहती हैं। जहाँ पर ये नलियाँ पिचकारी के साथ जुड़ती हैं, वहाँ एक पेच रहता है, जिसके घुमाने से चाहे जिस नली का पिचकारी के साथ सम्बन्ध किया तथा दूसरी नली के सम्बन्ध को रोका जा सकता है। जब इसको प्रयोग करना होता है तो एक पात्र में जल या लवण के द्रव अथवा अन्य किसी वस्तु के द्रव को भर कर उस में पार्श्व की नालिका को डुबो देते हैं। साथ में पेंच को घुमाकर इस नलिका का पिचकारी के साथ सम्बन्ध कर दिया जाता है और दूसरी नलिका के अग्रभाग में कोई शुद्ध किया हुआ तैलीय पदार्थ या ग्लीसरीन लगाकर उसको मुख के द्वारा आमाशय तक पहुँचा दिया जाता है। जब पिचकारी के हैण्डिल को बाहर की ओर खींचते हैं, तब पात्र से द्रव पिचकारी में भर जाता है। इसके पश्चात् पेच को घुमाकर पिचकारी के हैण्टिल को नीचे दबाते हैं, जिससे पिचकारी में का सारा द्रव आमाशय में चला जाता है। इस बार फिर पेच को

घुमाकर पिचकारी में द्रव भर लिया जाता है और पहले की भाँति फिर आमाशय में भर दिया जाता है। जब आमाशय में काफी द्रव भर जाता है, तब द्रव के पात्र को पृथक् कर दिया जाता है और आमाशय में से द्रव को खींचकर दूसरी नलिका के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है।

इस पम्प की अपेक्षा प्रक्षालन-नलिका अधिक सरल होती है। उसका प्रयोग भी सरल होता है और उसका मूल्य भी पम्प की अपेक्षा कम होता है। प्रत्येक चिकित्सक के पास एक प्रक्षालन-नलिका अवश्य होनी चाहिए। यह आध इञ्च चौड़ी एक रबर की नली होती है। चार या पाँच फुट रबर की नली को लेकर उसके एक सिरे पर एक कांच के फनल को जोड़ दिया जाता है। प्रयोग करते समय इस नलिका के दूसरे सिरे पर ग्लिसरिन या कोई ऐसा ही शुद्ध स्निग्ध पदार्थ लगाकर उसको रोगी के मुँह में होकर भीतर डाला जाता है। तब फनल को रोगी के सिर से ऊँचा करके उसके द्वारा द्रव को आमाशय में डालते हैं। यहाँ तक कि आमाशय द्रव से भर जाता है और अधिक द्रव भीतर नहीं जाता। उस समय, जब फनल में द्रव भरा हुआ है, फनल को रोगी के आमाशय से नीचे लाकर किसी पात्र में उलट दिया जाता है, जिससे आमाशय का द्रव बाहर आने लगता है, यहाँ तक कि सारा द्रव बाहर आ जाता है। इस प्रकार जितनी बार आवश्यक हो, आमाशय को धोया जा सकता है, यहाँ तक कि आमाशय से लौटनेवाला द्रव जैसा भीतर गया था, वैसा ही बाहर आने लगे। जो द्रव प्रथम लौटकर आयेगा, उसमें वह विष सम्मिलित होगा, जो रोगी ने खाया है। यदि अफीम खाई है तो उसकी गन्ध उपस्थित होगी और रंग भी काला होगा। अन्त में जब सारी अफीम निकल आयेगी, तब लौटनेवाले द्रव का रङ्ग पूर्ववत् ही रहेगा।

प्रत्येक चिकित्सक के बैग में एक प्रक्षालन-नलिका सदा रहनी चाहिए, चाहे वह वर्षों तक काम में न आये। सम्भव है कि वह वर्षों में एक ही बार काम आये और उससे रोगी की जान बच जाय। सुविधा के लिए रबर की नली और फनल पृथक् रखे जा सकते हैं। यदि फनल न हो तो एक पतले मुँह की शीशी को दूसरी ओर से तोड़कर फनल के स्थान में काम में लाया जा सकता है। प्रयोग करने के पश्चात् नलिका को पूर्णतया शुद्ध कर लेना चाहिए।

२—आमाशय को खाली करने की दूसरी विधि वमन करवाना है, जिसके लिए निम्नलिखित वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है:—

१—साधारण गरम जल—कुछ लोगों को केवल गरम जल से वमन होने लगता है। किन्तु इसपर विश्वास नहीं किया जा सकता।

२—राई को बारीक पीसकर और पाँच छटाँक जल में एक बड़े चम्मच भर मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिए।

३—साधारण नमक—इसके मिलने में कहीं भी कठिनता नहीं होती। यह वस्तु सब स्थानों पर प्राप्य है। अत एव यदि दूसरी प्रबल वस्तुएँ उपस्थित न हों तो इसका तुरन्त प्रयोग किया जा सकता है। दो बड़े चम्मच भर नमक पाँच छटाँक गरम जल में मिलाकर रोगी को पिलाया जा सकता है।

४—जिंक सल्फेट—३० ग्रेन या १५ रत्ती जिंक सल्फेट को जल में मिलाकर रोगी को देना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो फिर दूसरी या तीसरी बार भी दिया जा सकता है। प्रायः वमन शीघ्र ही आरम्भ हो जाता है।

५—कॉपर सल्फेट (नीला तूतीया) ५ से १० ग्रेन तक जल में मिलाकर देना चाहिए। जहाँ तक हो सके, इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

में रहता है, पृथ्वी पर के साँपों के दाँत में विष होता है, व्याघ्रादि के दाँत और नख में विष

६—एमोनियम कार्बोनेट १५ से ३० ग्रेन तक जल में मिलाकर दिया जा सकता है।

७—इपीके कुआना चूर्ण—३० ग्रेन, जल के साथ दिया जा सकता है। वाइन आफ इपीकेकुआना को छह ड्राम तक प्रयोग किया जा सकता है। इसपर सदा निर्भर नहीं कर सकते।

८—एपोमारफीन—इसका इञ्जेक्शन दिया जाता है। १० ग्रेन एपोमारफीन हाइड्रोक्लोराइड को थोड़े से जल में घोलकर उसका इञ्जेक्शन देना चाहिए। इसकी टिकिया बनी हुई आती हैं, जो बहुत समय तक उत्तम दशा में रहती हैं। १० ग्रेन की टिकिया के इञ्जेक्शन से ३ या ४ मिनट में वमन होना आरम्भ हो जाता है। यह वस्तु एक प्रबल वमनकारी विश्वसनीय ओषधि है। अफीम के विष में भी इसका इञ्जेक्शन दिया जा सकता है। इससे दुर्बलता बहुत हो जाती है। इस कारण सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिए। विषाक्त अवस्था में इस प्रकार का विचार नहीं होता कि कौन वमनकारी ओषधि सबसे उत्तम है। वहाँ पर जो कोई ओषधि उस समय सहज में प्राप्त हो सके, उसका प्रयोग करना होता है। कुछ लोग बहुत सहज में वमन करने लगते हैं। किन्तु कुछ को बिना किसी प्रबल ओषधि के वमन नहीं होता। कभी-कभी कई ओषधियाँ लगातार कई बार देनी पड़ती हैं। जिंक सल्फेट या राई को देने के पश्चात् इपिकेकुआना चूर्ण देना पड़ता है और उसके पश्चात् फिर भी एपोमारफीन का इञ्जेक्शन दिया जाता है। यदि आवश्यक होता है तो फिर भी इसको दोहराया जाता है। कार्बोलिक अम्ल और निद्राजनक विषों में वमन करना कठिन हो जाता है।

२—शोषित विष को शरीर से निकालना—

यह अत्यन्त कठिन है और निश्चय के साथ इसका पूर्ण आयोजन असम्भव है। विरेचन, मूत्र या स्वेद के द्वारा शरीर से विषों के निकालने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिए विरेचक, मूत्रल या स्वेदल ओषधियों का प्रयोग करवाया जाता है। अथवा उष्णस्नान या वाष्पस्नान इत्यादि कराये जाते हैं। किन्तु यह विधि ऐसी नहीं है, जिसका निश्चय के साथ उपयोग किया जा सके।

३—प्रतिविषों का प्रयोग—

ये वस्तुएँ विष के प्रभाव को मारती हैं। प्रतिविष कई प्रकार के होते हैं। एक तो केवल विष के साथ मिलकर उसको कर्म नहीं करने देते। यदि पिसा हुआ काँच, जो विष की भाँति क्रिया करता है, आमाशय में बहुत से भोजन के साथ मिल जाय तो आमाशय पर उसकी क्रिया न होगी। पिसे हुए कोयले, आटे और खड़िया का इसी भाँति प्रयोग किया जाता है।

दूसरे—रासायनिक प्रतिविष होते हैं, जिनकी रासायनिक क्रिया विष से बिलकुल विरुद्ध होती है। जब वे आमाशय में विष के साथ मिलते हैं, तब एक-दूसरे की क्रिया को स्थगित कर देते हैं, जैसे अम्ल और क्षार। यदि रोगी ने अम्ल खा लिया है तो उसको क्षार पिलाया जाता है, जिससे शरीर के भीतर किसी प्रकार की क्रिया नहीं होने पाती।

तीसरे—ऐसे प्रतिविष होते हैं, जिनका प्रभाव शरीर पर विष के विरुद्ध होता है। जैसे मार्फिया और एट्रोपीन। किन्तु अधिकतर इस जाति के प्रतिविष अपूर्ण होते हैं। ये विष की प्रत्येक क्रिया को नहीं मारते और पूर्ण क्रिया के लिए उनका इतनी अधिक मात्रा में प्रयोग करना होता है कि उनसे रोगी की हानि होने की सम्भावना होती है। इसलिए उसका सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिए।

प्रथम जाति के प्रतिकारों में कोयले या चारकोल का बहुत प्रयोग किया जाता है। इसको सूक्ष्म खरल में पीसा जाता है और उसके पश्चात् जल से धोकर सुखाया जाता है। तत्पश्चात् यदि

होता है, छिपकली आदि के मूत्र और विष्ठा में विष होता है, चूहे आदि के वीर्य में विष होता है, मकड़ी आदि की लार में विष होता है, चित्रशीर्षादि की लार, स्पर्श, मूत्र, विष्ठा, रज, वीर्य, मुख

आवश्यक होता है तो उसको फिर पीसते और धोते हैं, जब तक कि वह मैदे के समान बारीक नहीं हो जाता। इसको जल में मिलाकर रोगी को दिया जाता है। इससे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती। इसलिए जितना भी आवश्यक होता है, बिना किसी प्रकार के सन्देह के रोगी को दिया जा सकता है। अलकोहल, भोजनजन्य विष (Plomaines) और बहुत से खनिज, वानस्पतिक या पाशविक विषों में इससे लाभ होता है।

आयोडाइड ऑफ् स्टार्च भी एक ऐसी ही वस्तु है, जिसका बहुत से विषों में प्रयोग किया जाता है।

निम्नलिखित वस्तुओं के मिश्रण का प्रयोग बहुत लाभदायक पाया गया है:—

१—कासीस (हरा तूतिया) का संयुक्त द्रव १०० भाग। यह कासीस को जल में घोलकर बनाया जाता है। जल में कासीस मिलाते जाते हैं, यहाँ तक कि उसका घुलना बन्द हो जाता है और थोड़ा कासीस तल में बैठ जाता है।

२-शुद्ध पाशविक चारकोल ४० भाग, कैल्साइन्ड मग्नेशिया २२ भाग और जल १०० भाग।

नं० १ और २ को भिन्न बोतलों में काँच की डाट लगाकर रख देते हैं और जब आवश्यकता होती है, तब मिलाकर प्रयोग करते हैं। कुछ चिकित्सक कासीस और जल को मिलाकर एक बोतल में और दूसरे चूर्णों के मिश्रण को शुष्क दशा में रखते हैं और प्रयोग करने के समय मिला लेते हैं। उस समय तूतिए के संपृक्त द्रव में उससे आठगुना जल मिलाना चाहिए। इस वस्तु के प्रयोग से संखिया, यशद और डिजिटेलिस क्रियाहीन हो जाते हैं और पारद, मार्फिया और स्ट्रिकनीन की क्रियाएँ भी रुक जाती हैं। क्षार, नीलाञ्जन, फास्फोरस और हाइड्रोसियेनिक अम्ल पर इसकी कुछ क्रिया नहीं होती।

३-रासायनिक प्रतिकारों में पोटेशियम-परमैंगनेट का बहुत प्रयोग होता है। जितने पाशविक, वानस्पतिक या ऐन्द्रिक विष हैं उनपर इसकी क्रिया होती है। जल में इतना पोटेशियम परमैंगनेट मिलाया जाता है कि द्रव का रंग लाल हो जाता है। इससे प्रक्षालन-नलिका द्वारा आमाशय को धोया जाता है। अफीम के विष में इसका बहुत प्रयोग होता है। प्रत्येक ऐन्द्रिक विष में इसका प्रयोग करना चाहिए। प्रथम बार जब आमाशय को धोकर द्रव बाहर निकलता है, तब वह बिल्कुल रङ्गहीन हो जाता है और उसमें विष की गन्ध आती है तथा उसमें मिलकर विष का कुछ भाग बाहर निकलता है। ज्यों-ज्यों आमाशय धुलता है त्यों-त्यों भीतर से लौटनेवाला द्रव भी स्वच्छ होता जाता है और उसका रङ्ग भी नहीं उड़ता। जब आमाशय पूर्णतया धुल चुकता है और उसके भीतर विष नहीं रह जाता तब द्रव अपने पूर्वरूप में ही लौटता है।

इस द्रव से विष का नाश हो जाता है। रोगी की मृत्यु के पश्चात् रोगी के आमाशय इत्यादि की रासायनिक परीक्षा-द्वारा विष का कुछ भी पता नहीं चलता।

४—लाक्षणिक चिकित्सा-पीड़ा कम करने के लिए मार्फिया अथवा अन्य शामक वस्तुओं का प्रयोग करना, स्तब्धता के लिए रोगी के शरीर में उत्तेजना पहुँचाना, शरीर पर गरम जल के बोतलों का प्रयोग करना, टाँगों और बाहुओं को सेकना तथा ब्राँडी, सल्फ्यूरिकया ईथर स्ट्रिकनीन $\frac{1}{60}$ ग्रेन इत्यादि का इञ्जेक्शन देना चाहिए।

जब रोगी बहुत दुर्बल होता है, उसकी नाड़ी मन्द पड़ जाती है, तब शिरा के द्वारा शरीर में लवण विलयन प्रविष्ट किया जाता है। यदि शिरा द्वारा न हो सके तो एक केन्यूला को स्तन अथवा कक्षा के चर्म के नीचे प्रविष्ट करके विलयन को शरीर में पहुँचाना चाहिए। पूर्ण शुद्धता अत्यन्त आवश्यक है।

के काटने में और अपान वायु में विष रहता है। सर्प आदि की हड्डियों में भी विष रहता है,

---

निम्नलिखित वस्तुओं को मिलाकर इस द्रव को तैयार किया जाता है—

साधारण नमक १ ड्राम (६० ग्रेन), सोडियम वाई कार्बोनेट २ ग्रेन, कैल्शियम क्लोराइड २ ग्रेन, पोटेशियम क्लोराइड १ ग्रेन और जल २० औंस, जिसकी उष्णता १०० फॅरनहाइट होनी चाहिए।

कभी-कभी कृत्रिम श्वासक्रिया करनी पड़ती है। आक्सीजन के प्रयोग से भी लाभ होता है।

चिकित्सक का विष-चिकित्सा का बैग या पेटी—

जैसा पहले कहा चुका है, यह बैग सब आवश्यक वस्तुओं से भरा हुआ सदा तैयार रहना चाहिए। चिकित्सक को उचित है कि वह अवकाश के समय उसको कभी-कभी खोलकर देखता रहे, यदि कोई वस्तु कम हो जाय तो उसको तुरन्त पूरा कर देना चाहिए। ऐसा न हो कि आवश्यकता के समय वस्तुओं को चारो तरफ ढूँढ़ना पड़े, जिससे अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट हो। यह बैग चिकित्सक के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना युद्ध में सिपाही के लिए उसका शस्त्र। इसके बिना चिकित्सक कुछ भी नहीं कर सकता।

विषचिकित्सा के बैग में निम्नलिखित वस्तुएँ होनी चाहिए:—

अ—यन्त्र और शस्त्र—१ प्रक्षालन-नलिका, फनल या कूशकेन के साथ।

२—एक पतली प्रक्षालन-नलिका बच्चों के लिए।

३—मुंह खोलने का यन्त्र।

४—इन्जेक्शन देने के लिए सिरिञ्ज। रोगी के पास जाने के पूर्व इस सिरिञ्ज की परीक्षा कर लेनी चाहिए।

५—लवण विलयन को शिराद्वारा भीतर पहुँचाने का यन्त्र। इसमें कांच का एक गोला बड़ा फ्लास्क होता है, जिसमें द्रव भर दिया जाता है। फ्लास्क की नीचे ओर की नली रबर की नली से जुड़ी होती है। उसके आगे जोड़ने के लिए एक केन्यूला होता है, जिसको शिरा में प्रविष्ट किया जाता है। इसमें एक पेच लगा रहता है, जिससे केन्यूला को खोला या बन्द किया जाता है। यह यन्त्र शस्त्रचिकित्सा के शस्त्रों को बनानेवाले के यहाँ मिल सकता है।

६—कैथिटर, रबर के और एक या दो धातु के।

७—वस्तिकर्म का यन्त्र-एनीमा।

८—चाकू।

९—चिमटी।

१०—कैंची।

११—सूई।

१२—सीने का सामान-कैटगट, रेशम।

१३—शुद्ध शोषक रूई।

१४—गौज, तागे इत्यादि।

(क) वमनकारी ओषधियाँ—इनकी टिकिया बनी हुई आती हैं, उन्हींको रखना चाहिए।

१—जिंक-सल्फेट—३० ग्रेन की टिकिया एक या दो औंस जल में मिलाकर दी जाती है।

२—इपीके कुआना चूर्ण (२० ग्रेन की टिकिया) जल के साथ एक या दो दी जाती है।

३—एपोमारफीन की १/१० ग्रेन की टिकिया जल में घोलकर इनका इन्जेक्शन दिया जाता है।

(ख) शामक ओषधियाँ—१-क्लोरल हाइड्रेट ३० ग्रेन की मात्रा। २-शुद्ध अफीम १/२ की मात्रा। पोटेशियम ब्रोमाइड, ६०-१२० ग्रेन की मात्रा।

शकुल आदि मछलियों के पित्त में विष रहता है और भौरे आदि के मुख के अग्रभाग में अथवा डङ्क में विष होता है ॥ ३ ॥

(च) उत्तेजक ओषधियाँ—१ ब्राण्डी । २-स्पिरिट अमोनिया ऐरोमैटिक । ३-स्पिरिट क्लोरोफार्म । ४-स्पिरिट ईथरसल्फ । ५-केफीन की टिकिया-इनका इन्जेक्शन भी दिया जा सकता है। ६-पिच्यूटरीन । ७-स्ट्रिकनीन $\frac{1}{100}$ ग्रेन की टिकिया ।

(ब) प्रतिकारक ओषधियाँ या प्रतिविष—

१—चारकोल या पिसा और धुला हुआ कोयले का चूर्ण ।

२—स्टार्च आयोडाइड ।

३—पोटेशियम परमेंगनेट १० छटाँक जल में १० ग्रेन, आमाशय के प्रक्षालन के लिए। यह अफीम या मर्फिया के विष में प्रयोग किया जाता है । जितनी वार आवश्यकता हो, प्रयोग किया जा सकता है ।

४—डायेलाइज्ड लौह (Dialysed Iron) संखियाविष में प्रयोग किया जाता है ।

५—सोडियम बाई कार्बोनेट ।

६—अमोनियम कार्बोनेट ।

७—भारी मैगनीशिया ।

नं० ५ से ७ तक अम्ल के विष में प्रयोग किये जाते हैं ।

८—सोडियम और मैगनीशियम सल्फेट-यशद के विष में प्रयुक्त होते हैं ।

९— टैनिक अम्ल ६० ग्रेन की मात्रा में । अलकलायड, जैसेमार्फिया के विषमें प्रयुक्त होता है।

१०—क्लोरल हाइड्रेट २०-३० ग्रेन की टिकिया कुचला या स्ट्रिकनीन के विष में प्रयुक्त होती हैं ।

११—पोटेशियम ब्रोमाइड ६० ग्रेन की टिकिया-स्ट्रिकनीन के विष में कई बार प्रयुक्त की जा सकती हैं ।

१२—हाइड्रोजन-पर-आक्साइड-फास्फोरस के विष में प्रयुक्त होता है । पुराने तारपीन के तेल से भी काम लिया जा सकता है ।

१३—क्लोरोफार्म १ या २ औंस की वन्द नली आती है, उसी को रखना चाहिए ।

(द) चर्म के नीचे इन्जेक्शन द्वारा प्रविष्ट की जाने वाली ओषधियाँ—

१—एपोमारफीन हाइड्रोक्लोराइड की $\frac{1}{10}$ ग्रेन की टिकिया वमन के लिए ।

२—ऐट्रोपीन सल्फेट $\frac{1}{100}$ ग्रेन की टिकिया, वत्सनाभ या मारफीन के विष के लिए ।

३—मार्फीन सल्फेट $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ ग्रेन की टिकिया स्तब्धता और पीड़ा के लिए ।

४—डिजिटेलिन $\frac{1}{200}$ ग्रेन की टिकिया मीठे तेलिए के विष के लिए प्रयोग की जाती है ।

५—केफीन-सोडियम-सेलीसिलेट, $\frac{1}{2}$ ग्रेन की टिकिया ।

६—पिच्यूटरीन के ऐम्प्यूल, स्तब्धता के लिए ।

७—लवण विलयन तैयार करने की टिकिया ।

अन्य वस्तुएँ:—जैसे गौज तथा कोलोडियन इत्यादि ।

शस्त्र बनानेवालों के यहाँ ऐसे बेग बनाए जाते हैं जिनमें प्रायः बहुत सी ऊपर बतायी हुई वस्तुएँ रखी रहती हैं । जिन टिकियों का ऊपर नाम बताया गया है वह सब Burroughs welcome and co (जिन की शाखाएँ बम्बई और कलकत्ते में हैं) के कारखाने की बनी हुई आती हैं । वे लोग बहुत सी ओषधियों की टिकिया बनाते हैं जिन्हें बहुत सुगमता के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकते हैं । ये टिकिया रखने से बिगड़ती भी नहीं ।

अथ स्थावरविषाणां सामान्यकार्याणि ।

१ तत्र मूलविषस्य कार्य्यमाह—

उद्वेष्टनं मूलविषैर्मोहः प्रलपनं तथा ॥ ४ ॥

मूलविष के कार्य—मूलविष के खा जाने से शरीर में ऐंठन, बेहोशी और प्रलाप होता है ॥४॥

२ पत्रविषकार्यमाह—

जृम्भणं वेपनं श्वासो नृणां पत्रविषैर्भवेत् ॥ ५ ॥

पत्रविष के कार्य—पत्रविषों के भक्षण करने से जँभाई आती है, रोगी काँपता है और श्वास चलने लगती है ॥ ५ ॥

३ फलविषकार्यमाह—

मुष्कशोथः फलविषैर्दाहो द्वेषश्च भोजने ॥ ६ ॥

फलविषों के कार्य—फलविषों के खा जाने से अण्डकोषों में सूजन होती है, जलन होती है और भोजन करने की रुचि नहीं होती है ॥ ६ ॥

४ पुष्पविषकार्यमाह—

भवेत्पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं मूर्च्छनं तथा ॥ ७ ॥

फूलविष के कार्य—फूल वाले विषों से उलटी, पेट फूलना और बेहोशी होती है ॥ ७ ॥

५-७ त्वक्सारनिर्यासविषकार्याण्याह—

त्वक्सारनिर्यासविषैरुपभुक्तैर्भवन्ति हि । आस्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोरुक्कफसंस्रवाः ॥ ८ ॥

छाल, सार और गोंद वाले विषों को खा लेने से मुख से बदबू आना, शरीर में रूक्षता, शिरःशूल और मुख से कफ का गिरना ये सब लक्षण होते हैं ॥ ८ ॥

८ क्षीरविषकार्यमाह—

फेनागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो गुरुजिह्वता ॥ ९ ॥

क्षीरविष के कार्य—क्षीरविषों से मुख से फेन निकलता है, पतले दस्त होते हैं और जिह्वा भारी हो जाती है ॥ ९ ॥

९ धातुविषकार्यमाह—

हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि । प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत् ॥

***एतानि = मूलविषाणि नव । कालघातीनि = कालान्तरमारकाणि ॥ १० ॥**

धातुविष के कार्य—धातुविषों के खाने से हृदय में पीड़ा, बेहोशी और तालु में जलन होती है । इन मूल आदि उपर्युक्त नव विषों को खाने से प्रायः कालान्तर में मृत्यु होती है ॥ १० ॥

घातक मात्रा—

जिस मात्रा से मनुष्य की मृत्यु की जाती है उसको घातक मात्रा कहते हैं । प्रत्येक वस्तु की, जो विष की सूची में सम्मिलित हैं दो प्रकार की मात्राएँ होती हैं । एक वह मात्रा जिसको औषधि की भाँति प्रयोग करते हैं और दूसरी वह मात्रा जिसके प्रयोग करने से विष के लक्षण उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है । यद्यपि प्रत्येक विष की एक घातक मात्रा मानी गई है, परन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर उसके प्रभाव में बहुत भेद होता है । जो मात्रा एक के लिए घातक हो वह सम्भवतः दूसरे के लिए घातक न हो । यद्यपि आधे औंस कार्बोलिक अम्ल से मृत्यु हो जाती है तथापि चार औंस पी जाने के पश्चात् भी लोग बच गए हैं । आयु, शरीर की अवस्था, आमाशय की अवस्था (भरा या खाली), विष खाने के पश्चात् वमन का होना तथा ओषधियों का प्रयोग इत्यादि बातों पर मात्रा की घातकता निर्भर करती है । रोगी की सहनशक्ति या अभ्यास का भी इस पर बहुत प्रभाव पड़ता है ।

कन्दविषविशेषकार्यमाह—

कन्दजान्युग्रवीर्याणि यान्युक्तानि त्रयोदश । सर्वाण्येतानि कुशलैर्ज्ञेयानि दशभिर्गुणैः ॥११॥

कन्दविषों की विशेषता—तेरह प्रकार के कन्दविष जो सुश्रुतादि ग्रन्थों में कहे गए हैं वे उग्रवीर्य वाले होते हैं अर्थात् शीघ्र मारक होते हैं क्योंकि इन कन्दविषों में दसों गुण होते हैं ॥११॥

अथ विषपरीक्षा ।

स्थावरं जङ्गमं वाऽपि कृत्रिमं चापि यद्विषम् । सद्यो निहन्ति तत्सर्वं गुणैश्च दशभिर्युतम् ॥

विष के तीव्रता की परीक्षा—स्थावर, जंगम तथा कृत्रिम जितने भी विष हैं उनमें यदि दशो गुण हों तो शीघ्र ही मार डालते हैं ॥ १२ ॥

विषस्य दशगुणानाह—

रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च । विकाशि विशदश्चैव लघुपाकि च ते दश ॥

विष के दशों गुण—रूक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, आशु (शीघ्र प्रभाव दिखानेवाला या मारने वाला), व्यवायी (पचने के पहले ही शरीर में फैल जानेवाला), विकाशी, विशद, लघु और अपाकी ये विष में दश गुण होते है ॥ १३ ॥

तैर्गुणैर्विषस्य कार्यमाह—

तद्रौक्ष्यात्कोपयेद्वायुमौष्ण्यात् पित्तं सशोणितम् ।
तैक्ष्ण्यान्मतिं मोहयति मर्मबन्धाञ्छिनत्ति हि ॥
शरीरावयवान्सौक्ष्म्यात्प्रविशेद्विकरोति च । आशुत्वादाशु तत्प्रोक्तं व्यवायात्प्रकृतिं हरेत् ॥
विकाशित्वात्क्षपयति दोषान्धातून्मलानपि ।
अतिरिच्यते वैशद्याद् दुश्चिकित्स्यं च लाघवात् ॥ १४ ॥
दुर्जरं चाविपाकित्वात्तस्मात्क्लेशयते चिरम् ॥ १५ ॥

दशों गुणों के कार्य—विष, रूक्ष होने कारण वायु को और उष्ण होने के कारण पित्त और रक्त को प्रकुपित कर देता है । तीक्ष्ण होने से बेहोशी उत्पन्न कर देता है और मर्मस्थान के बन्धनों को तोड़ देता है । सूक्ष्म होने के कारण शरीर के अवयवों में प्रवेश कर जाता है, आशुगुण वाला होने के कारण प्रकृति को बदल देता है, विकाशी होने के कारण दोषों, धातुओं और मलों का क्षय करता है, विशद होने से बहुत सी पतली दस्त (विरेचन) कराता है, लघु होने के कारण दुश्चिकित्स्य हो जाता है और अपाकी होने के कारण बड़ी कठिनाई और यत्न से पचता है । इन गुणों और कार्यों के कारण विष बहुत दिनों तक कष्ट देता है ॥ १४–१५ ॥

विषलिप्तशस्त्रहतस्य लक्षणमाह—

सद्यः क्षतं पच्यते यस्य जन्तोः स्रवेद्रक्तं पच्यते चाप्यभीक्ष्णम् ।
कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति क्षतान्मांसं शीर्यते यस्य वाऽपि ॥ १६ ॥
तृष्णातापौ दाहमूर्च्छे च यस्य दिग्धं विद्धं तं मनुष्यं व्यवस्येत् ।
लिङ्गान्येतान्येव कुर्यादमित्रैर्दत्तः क्ष्वेडो वा व्रणे यस्य चापि ॥ १७ ॥

*पच्यते चाप्यभीक्ष्णं=पुनः पुनः पाकमेति । तापः—बहिः स्थितः । दाहोऽभ्यन्तरे । कुर्यादित्यत्र 'क्षतं' कर्तृपदं बोद्धव्यम् ॥ १६–१७ ॥

विषैले शस्त्रजन्य प्रहार के लक्षण—घाव तत्काल पक जाय, रक्त बहे, बार-बार पक जाया करे, काला, गीला और अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त मांस उस घाव से गिरे, प्यास लगे, बाहर गरमी मालूम हो और भीतर जलन प्रतीत हो, बेहोशी हो—ऐसे लक्षण शत्रुओं द्वारा व्रण में दिये गये विष से होते हैं या विषैले शस्त्र से प्रहार करने से उत्पन्न हुए क्षत से होते हैं ॥ १६–१७ ॥

विषदातृलक्षणमाह—

इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः । जानीयाद्विषदातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान् ॥१८॥
न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षुर्मोहमेति च । अपार्थं बहु सङ्कीर्णं भाषते चापि मूढवत् ॥ १९ ॥
अङ्गुलीः स्फोटयेदुर्वी विलिखेत्प्रहसेदपि वेपथुश्चास्य भवति त्रस्तश्चैकैकमीक्षते ॥ २० ॥
विवर्णवक्त्रो ध्यामश्च नखैः किञ्चिच्छिनत्ति च । आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान् ॥
निर्यियासुरपद्वारैर्वीक्षते च पुनः पुनः । वर्त्तते विपरीतं च विषदाता विचेतनः ॥ २२ ॥

*प्रायेण राजादीनामन्नादौ शत्रवो विषं ददति, तेषां ज्ञानार्थं लक्षणमाह—इङ्गितज्ञ इति । इङ्गितम् = अभिप्रायसूचकमाकारम् । मुखवैकृतं = मुखवैवर्ण्यादि । एभिर्लिङ्गैर्वक्ष्यमाणैः । ददात्युत्तरं पृष्टः— स्वीयासत्कर्मजनितव्यामोहात् । संकीर्णम्—अस्फुटम् । भयजनितपर्वव्यथाऽपनोदनायाङ्गुलीः स्फोटयेत् । प्रहसेदहेतावपि । ध्यामः = दग्धसमानवर्णः । आलभेत = स्पृशेत् । विपरीतं यथा स्यादेवं वर्त्तते ॥ १८–२२ ॥

विष देने वाले के लक्षण—प्रायः राजा या राजकर्मचारी लोगों को, श्रीमानों को, कुलटा स्त्रियाँ अपने पतियों को या अन्य किसी भी व्यक्ति को द्वेष या किसी तरह के लाभ के कारण उनके शत्रु लोग अन्नादि में विष दे देते हैं । इसलिए मनुष्यों के अभिप्राय के समझने वाले व्यक्ति को वाणी, चेष्टा (उठना बैठना आदि) और मुख के विकार आदि निम्नलिखित लक्षणों के द्वारा विष देने वाले व्यक्ति को पहचान लेना चाहिए । विष देने वाला व्यक्ति पूछने पर उत्तर नहीं देता । यदि हिम्मत करके कुछ बोलना भी चाहता है तो बेहोश हो जाता है या घबड़ा जाता है । मूर्ख की तरह बहुत व्यर्थ और गिड़गिड़ाकर अस्पष्ट बोलता है । भय के कारण संधियों में पीड़ा होने से अंगुली पुटकाता है, जमीन को नाखून से खोदता है, बिना प्रयोजन के हंसता है, काँपता है और प्रत्येक आदमी की ओर डर-डर के देखता है, उसके मुख का रङ्ग उतर जाता है, जले हुए सा रंग हो जाता है, नख से कुछ तोड़ता रहता है, दरिद्रों या दुःखियों की तरह शिर के बालों को बारबार छूता है, खास दरवाजे को छोड़ कर दूसरे मार्ग से निकल जाने की बारम्बार चेष्टा करता है, और सब काम विपरीत करता है, पागल की तरह इधर उधर देखता है और सबकी तरफ पीठ करके बैठता है ॥ १८–२२ ॥

जङ्गमविषस्य सामान्यकार्याण्याह—

निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहं सम्पाकं लोमहर्षणम् । शोथं चैवातिसारं च कुरुते जङ्गमं विषम् ॥

जङ्गमविषों के सामान्य कर्म—जङ्गमविष-निद्रा, तन्द्रा ग्लानि, जलन, पाक (फोड़े आदि का), रोमांच, सूजन और अतिसार इन सबको उत्पन्न करता है ॥ २३ ॥

सर्पानाह—

वातपित्तकफात्मानो भोगिमण्डलिराजिलाः । यथाक्रमं समाख्याता द्व्यन्तराद्वन्द्वरूपिणः ॥
फणिनो भोगिनो ज्ञेयाः संख्यातास्तेऽत्र विंशतिः । मण्डलैर्विविधैश्चित्राः पृथवो मन्दगामिनः ॥
षट् ते मण्डलिनो ज्ञेया ज्वलनार्कविषाः स्मृताः ॥ २५ ॥
स्निग्धा विविधवर्णाभिस्तिर्यगूर्ध्वञ्च राजिभिः ।
विचित्रा इव ये भान्ति राजिलास्ते हि तेऽपि षट् ॥ २६ ॥

*जङ्गमेषु तीक्ष्णतरत्वादादौ तदाश्रयसर्पानाह—वातेति । एते यथाक्रमं वातपित्तकफात्मानो बोध्याः । द्व्यन्तराः = द्वे अन्तरे = भेदौ येषां ते द्व्यन्तराः यथा भोगिनो मण्डलिन्यां जाता इत्यादि ॥ २४–२६ ॥

दोषानुसार सर्पों की मुख्य तीन जातियाँ:—वात, पित्त और कफ प्रकृति वाले क्रम से भोगी, मण्डली और राजिल ये तीन प्रकार के सर्प मुख्यतः होते हैं । अर्थात् भोगी-जाति का सर्प वातप्रकृति वाला, मण्डली जाति का सर्प पित्तप्रकृति और राजिल सर्प कफप्रकृति वाले होते हैं । तथ

जो सर्प एक जाति के सर्प और दूसरी जाति की सर्पिणी से यथाः--जो भोगी जाति के सर्प और मण्डली जाति की सर्पिणी से पैदा होते हैं वे दोनों के मिश्रित लक्षण वाले होते हैं। भोगी सर्प फणवाले होते हैं और उनके २० भेद हैं। विविध प्रकार के मण्डलों (चकत्ते) वाले, मोटे तथा धीरे-धीरे चलनेवाले सर्प मण्डली जाति के होते हैं। ये छह प्रकार के होते हैं। और उनमें अग्नि तथा सूर्य की भाँति तीव्र विष होता है। चिकने सर्प जो अनेकों प्रकार की लम्बी और तिरछी रेखाओं के कारण विचित्र प्रकार के दीखते हैं, राजिल कहलाते हैं। उनके ६ भेद हैं ॥ २४-२६ ॥

भोगिसर्पादिकृतदंशलक्षणभेदानाह--

दंशो भोगिकृतः कृष्णः सर्ववातविकारकृत्। पीतो मण्डलिनः शोथो मृदुः पित्तविकारवान्॥
राजिलोत्थो भवेद्दंशः स्थिरशोथश्च पिच्छिलः।
पाण्डुः स्निग्धोऽतिसान्द्रासृक्सर्वश्लेष्मविकारवान्॥ २८॥

भोगी आदि सर्पों के दंश के लक्षण--भोगी जाति के सर्पों का दंश (काटा हुआ स्थान) काला होता है और सब प्रकार का वातज विकार उत्पन्न करता है। मण्डली सर्प का दंश पीले शोथ युक्त, मुलायम और पित्तजन्य रोगों को पैदा करने वाला होता है। राजिल सर्पों का दंश स्थिर (कड़ी), सूजन सहित, चिकना और पाण्डुवर्ण होता है तथा उससे स्निग्ध और गाढ़ा रक्त निकलता है और समस्त कफ के विकार उत्पन्न होते हैं॥ २७-२८॥

देशविशेषे च दष्टस्यासाध्यत्वमाह

अश्वत्थदेवायतनश्मशानवल्मीकसन्ध्यासु चतुष्पथेषु।
याम्ये च पित्र्ये परिवर्जनीयाः ऋक्षे नरा मर्मसु ये च दष्टाः॥ २९॥

***याम्ये = भरण्याम्। पित्र्ये = मघायाम्॥ २९॥**

विशिष्ट स्थानों में काटने से सर्पविष की असाध्यता--पीपल के पेड़ के नीचे, मन्दिर या देवस्थान में, श्मशान में, बांबी पर, संध्याकाल में, चौराहे में, भरणी और मघानक्षत्र में तथा सिरामर्म में यदि सर्प काटे तो असाध्य होता है। इसलिए ऐसे सर्प काटे हुए की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ २९॥

दर्वीकरजातिसर्पाणां विषकृत्यमाह--

दर्वीकराणां विषमाशु हन्ति मेघानिलोष्णे द्विगुणीभवन्ति॥ ३०॥
***उष्णे = उष्णसंयोगे॥ ३०॥**

दर्वीकर जाति के सर्पों का विष--दर्वीकर जाति के सर्पों का विष शीघ्र ही मार डालता है और वर्षा, वायु और गरमी के संयोग से इनका विष दुगुना बढ़ जाता है॥ ३०॥

दर्वीकरलक्षणमाह--

रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकाङ्कुशधारिणः। ज्ञेया दर्वीकराः सर्पाः फणिनः शीघ्रगामिनः॥३१॥

दर्वीकर के लक्षण--दर्वीकर जाति के सर्प फणवाले होते हैं और उनके ऊपर चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक अथवा अंकुश का चिह्न रहता है और वे शीघ्र चलने वाले होते हैं॥ ३१॥

येषु विषमाशु मारकं भवति तानाह--

अजीर्णपित्तातपपीडितेषु बालेषु वृद्धेषु बुभुक्षितेषु।
क्षीणे क्षते मेहिनि कुष्ठजुष्टे रूक्षेऽबले गर्भवतीषु चापि॥ ३२॥

कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में विष की घातकता--अपच, पित्त या गरमी से पीडित, बालक, वृद्ध, भूखे, क्षतक्षीण, प्रमेह रोगवाले, कुष्ठ रोग वाले, सूखे, कमजोर लोग और गर्भवती स्त्री इन सब को यदि सांप काटे या अन्य प्रकार से इन्हें विष दिया जाय तो इनको विष शीघ्र ही मार डालता है॥ ३२॥

विषाभिभूतस्यासाध्यलक्षणान्याह—

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमस्ति राज्यो लताभिश्च न सम्भवन्ति ।
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम् ॥ ३३ ॥
जिह्मं मुखं यस्य च केशशातो नासाऽवसादश्च सकण्ठभङ्गः ।
कृष्णश्च रक्तः श्वयथुश्च दंशे हन्वोः स्थिरत्वञ्च विवर्जनीयः ॥ ३४ ॥

***केशशातः—आकर्षणात् । नासाऽवसादः = नासाया नतत्वम् । कण्ठभङ्गः = ग्रीवाधारणाऽशक्तिः । हन्वोः स्थिरत्वं = हनुद्वयस्तम्भः ॥ ३३-३४ ॥**

सर्पदष्ट के असाध्य लक्षण—विष से पीडित व्यक्ति के शरीर में यदि शस्त्र से घाव करने पर रक्त न निकले, चाबुक मारने से साट या दाग न बने शरीर पर ठंढा पानी डालने पर रोमाञ्च न हो तो ऐसे विषवाले को त्याग दे । जिसका मुख टेढ़ा हो जाय, छूने पर बाल उखड़-उखड़ कर गिरें नाक टेढ़ी हो जाय या बैठ जाय, गर्दन झुक जाय या लटक जाय, दंश स्थान पर काली और लाल सूजन हो, दोनों जबड़े बैठ जायँ (जकड़ जायँ) ऐसे विषयुक्त रोगी को भी असाध्य जान कर त्याग दे ॥ ३३-३४ ॥

अपरञ्च—

वान्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्राद्रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ।
दंष्ट्रानिपातांश्चतुरश्च पश्येद्यस्यापि वैद्यैः परिवर्जनीयः ॥ ३५ ॥

***रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य = यस्य च नासामुखलिङ्गगुदादिभ्यो रक्तं स्रवेत् ॥ ३५ ॥**

असाध्य सर्पविष के अन्य लक्षण—जिस के मुख से गाढ़ी या अत्यधिक उलटी (वमन) हो, मुख, नाक, आँख, गुदा और शिश्नादि से रक्त निकले अथवा जिसके दंशस्थान में सर्प के चार दाँतों के निशान बने हों ऐसे सर्पदष्ट रोगी की भी चिकित्सा न करे ॥ ३५ ॥

उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा हीनस्वरं वाऽप्यथवा विवर्णम् ।
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनञ्च जह्यान्नरं तत्र न कर्म कुर्यात् ॥ ३६ ॥

***अत्यर्थमुपद्रुतं वा = ज्वरातिसारादिभिरतिशयेनोपद्रुतम् । हीनस्वरं = वक्तुमक्षमम् । विवर्णं = कृष्णवर्णम् । सारिष्टं = नासाभङ्गादियुक्तम् । अवेगिनं = वेगो=विषवेगः, 'लहरि' इति लोके, तद्रहितम् ॥ ३६ ॥**

यदि सर्पविष से पीडित रोगी पागल हो जाय, ज्वर,अतिसार आदि उपद्रवों से अत्यधिक पीडित हो, बोल न सके, काले रङ्ग का हो जाय, जिसमें नासाभङ्ग आदि अरिष्ट लक्षण उत्पन्न हो गये हों, विषवेग (लहर) न आता हो तो ऐसे रोगी की भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ॥ ३६ ॥

दूषीविषलक्षणमाह—

जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा ।
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति ॥ ३७ ॥

***स्थावरं जङ्गमं च विषमेव जीर्णत्वादिभिः कारणैर्दूषीविषसंज्ञां लभते । तदाह—जीर्णमिति । जीर्णम् = अतिपुराणम् । विषघ्नौषधिभिर्हतं = विषघ्नीभिरोषधिभिर्वीर्यहीनीकृतम् । स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं = स्वभावादेव दशानां गुणानां मध्ये एकद्वित्र्यादिगुणहीनम् ॥**

दूषीविष के लक्षण—स्थावर और जङ्गम विष ही जीर्णतादि (पुराने हो जाने आदि) कारणों से 'दूषीविष' कहे जाते हैं । अत्यधिक पुराना हो जाने से विषनाशक ओषधियों द्वारा विषप्रभाव कुछ कम हो जाने से, दावाग्नि, वायु तथा उष्णता के कारण अत्यन्त सूख जाने से अथवा स्वभाव से ही दशों गुणों में से कुछ (दो चार) गुण कम रहने से (जङ्गम अथवा स्थावर) विष दूषीविष कहे जाते हैं ॥ ३७॥

दूषीविषकार्यमाह—

वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत्कफान्वितं वर्षगणानुबन्धि।
तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो विगन्धिवैरस्ययुतः पिपासी।
मूर्च्छां भ्रमं गद्गदवाग्वमिञ्च विचेष्टमानोऽरतिमाप्नुयाद्वा॥ ३८॥

***न निपातयेद् = न मारयेत्। कफान्वितं=कफेन मन्दीकृतौष्ण्यादिगुणम्। वर्षगणानुबन्धि = कफेनाग्नेर्मान्द्यादित्वादपाकाच्चिरस्थायि। तथा दूषीविषजदद्रुरोगवतां। भिन्नपुरीषवर्णः = भिन्नपुरीषः = उद्गतमलः, भिन्नवर्णः = विवर्णः। विचेष्टमानः = विरुद्धां चेष्टां कुर्वन्, मूर्च्छाऽऽदीन्व्याधींल्लभते॥ ३८॥**

दूषीविष का कार्य—यह दूषीविष हीनवीर्य होने के कारण मारता तो नहीं किन्तु (दूषीविष द्वारा) शरीर के उष्णादि गुणों के दब जाने से और कफ ही के द्वारा जठराग्नि के मन्द पड़ जाने से वह (दूषीविष) न पचने के कारण शरीर में सालों तक रहता है। दूषीविष से पीड़ित व्यक्ति को पतले-पतले दस्त आते हैं, शरीर का रङ्ग बिगड़ जाता है, मुख या शरीर से दुर्गन्ध आती है, मुख फीका हो जाता है, प्यास बहुत लगती है, बेहोशी होती है, चक्कर आता है, बोलने में गद्गदपना होता है, वमन होता है, और वह रोगी विरुद्ध चेष्टाएँ करता तथा बेचैन रहता है॥ ३८॥

स्थानविशेषोत्थितदूषीविषलक्षणविशेषमाह—

आमाशयस्थे कफवातरोगी पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी।
भवेत्समुद्ध्वस्तशिरोऽङ्गरुट्को विलूनपक्षश्च यथा विहङ्गः॥ ३९॥

***समुद्ध्वस्तशिरोङ्गरुट्कः = समुद्ध्वस्ताः शिरोरुहाः = केशाः, अङ्गरुहाणि = लोमानि यस्य सः एतदपि लिङ्गं पक्वाशयस्थे दूषीविषे बोद्धव्यम्॥ ३९॥**

स्थानविशेष से दूषीविष के विशेष लक्षण—यदि दूषीविष आमाशय में स्थित रहता है तो कफ और वायु के रोग होते हैं और यदि पक्वाशय में रहता है तो वायु और पित्त के रोग होते हैं तथा शिर के बाल और शरीर के रोयें झड़ जाते हैं, इससे रोगी पङ्खरहित पक्षी की तरह हो जाता है॥

स्थितं रसादिष्वथ तद्यथोक्तान्करोति धातुप्रभवान्विकारान्॥ ४०॥

***तद् = दूषीविषम्। यथोक्तान् = सुश्रुतव्याधिसमुद्देशीयोक्तान्॥ ४०॥**

धातुगत दूषीविष का लक्षण—यदि दूषीविष रसादि धातुओं में रहता है तो सुश्रुतोक्त व्याधिसमुद्देशीय नामक २४ वें अध्याय में कहे हुए धातुगत रोग उत्पन्न होते हैं॥ ४०॥

दूषीविषस्य प्रकोपसमयमाह—

कोपं तु शीतानिलदुर्दिनेषु यात्याशु पूर्वं शृणु तस्य रूपम्॥ ४१॥

दूषीविष के प्रकोप का समय—अत्यन्त ठण्डक के समय, अत्यन्त वायु चलने के समय और दुर्दिन अर्थात् बादलों आदि से घिरे हुये दिन में दूषीविष प्रकुपित हो जाता है। अब आगे प्रकुपित दूषीविष का स्वरूप बतलाते हैं॥ ४१॥

प्रकुपितदूषीविषस्य पूर्वरूपमाह—

निद्रा गुरुत्वञ्च विजृम्भणञ्च विश्लेषहर्षावथवाऽङ्गमर्दः॥ ४२॥

***विश्लेषः = गात्रशैथिल्यम्। हर्षः = रोमाञ्चः॥ ४२॥**

दूषीविष का पूर्वरूप—निद्रा, शरीर में भारीपन, जँभाई आना, शरीर की शिथिलता, रोमाञ्च या अङ्गों का टूटना, ये सब दूषीविष के पूर्वरूप हैं॥ ४२॥

प्रकुपितदूषीविषरूपमाह—

ततः करोत्यन्नमदाविपाकावरोचकं मण्डलकोठजन्म।
मांसक्षयं पाणिपदे प्रशोथं मूर्च्छां तथा छर्दिमथातिसारम्।

दूषीविषं श्वासतृषाज्वरांश्च कुर्यात्प्रवृद्धिं जठरस्य चापि ॥ ४३ ॥

*अन्ने भुक्ते पूगफलेनेव मदः । अविपाकः—अन्नस्य ॥ ४३ ॥

प्रकुपित दूषीविष के लक्षण—दूषीविष प्रकुपित होकर भोजन खाने पर सुपारी की तरह मद (नशा) उत्पन्न करता है। अपच, अरुचि, चकत्ते, गाँठ, मांसक्षय, हाथ-पैरों में सूजन, बेहोशी, उलटी, पतले दस्त, श्वास, प्यास और ज्वर पैदा करता है और उदर की वृद्धि उत्पन्न करता है अर्थात् उदर बढ़ आता है ॥ ४३ ॥

दूषीविषभेदेन विकारभेदानाह—

उन्मादमन्यज्जनयेत्तथाऽन्यदानाहमन्यत्क्षपयेच्च शुक्रम् ।
गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं तांस्तान्विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥ ४४ ॥

*अन्यद् = दूषीविषम् । तांस्तान्विकारान् = विसर्पविस्फोटादीन् ॥ ४४ ॥

विभिन्न दूषीविषों से विभिन्न विकारों की उत्पत्ति—कोई दूषीविष पागलपन को उत्पन्न करता है, कोई मल या आम को रोक कर आनाह पैदा करता है, कोई वीर्य का नाश करता है, कोई वाणी को गद्गद बना देता है, और कोई दूषीविष कुष्ठरोग उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार विसर्प, विस्फोट आदि अनेकों विकार दूषीविषों से उत्पन्न होते हैं ॥ ४४ ॥

दूषीविषशब्दस्य निरुक्तिमाह—

दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः । यस्मात्सन्दूषयेद्धातूंस्तस्माद् दूषीविषं स्मृतम् ॥

*देशः = आनूपादिः । कालो = दुर्दिनादिः । अन्नं = कुलत्थतिलमसूरादि । धातुदूषकत्वाद् दूषीविषम् ॥ ४५ ॥

दूषीविष की निरुक्ति—आनूप (जलप्राय) आदि देशों से, दुर्दिन आदि (बदली वाले दिनों) से, कुलथी, तिल और मसूर आदि अन्नों के सेवन से और दिन में सोने से बार-बार दूषित होकर यह विष धातुओं को दूषित कर देता है। इसलिए यह दूषीविष कहलाता है ॥ ४५ ॥

दूषीविषस्य साध्यत्वादिकमाह—

साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम् । दूषीविषमसाध्यं स्यात्क्षीणस्याहितसेविनः ॥

जितेन्द्रिय अर्थात् पथ्य सेवन करने वाले व्यक्ति का दूषीविष तत्काल साध्य होता है, साल भर का पुराना होने पर याप्य होता है और दुबले और अपथ्य करने वाले व्यक्ति का दूषीविष असाध्य होता है ॥ ४६ ॥

कृत्रिमविषलक्षणमाह—

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदं रजो नानाऽङ्गजान्मलान् ।
शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान्प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥ ४७ ॥

*कृत्रिमं विषं द्विविधम् । एकं सविषं दूषीविषसंज्ञम्, अपरमविषं तदेव गरसंज्ञम् । तथा च काश्यपसंहितायाम्—

*'संयोगजश्च द्विविधं द्वितीयं विषमुच्यते । दूषीविषं तु सविषमविषं गर उच्यते ॥ १ ॥'

*संयोगजं = कृत्रिमं विषं, द्वितीयं = स्वाभाविकं, तच्च द्विविधम् । तत्र दूषीविषमभिधाय गरं दर्शयितुमाह—सौभाग्यार्थमिति ॥ ४७ ॥

कृत्रिम विष का लक्षण—कृत्रिम और स्वाभाविक दो प्रकार के विष होते हैं। इनमें कृत्रिम विष पुनः दो प्रकार का होता है:—

१—दूषीविष जिसमें विष का सम्बन्ध रहता है।

२—गरविष—इसमें विष का सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि दो निर्विष चीजों के मिल जाने से विषैला पदार्थ बन जाता है।

दूषीविष का लक्षण—स्त्रियाँ पति को अपने वश में करने के लिए पसीना, रज और अनेक अंगों के मलों को भोजन में अपने पतियों को खिला देती हैं तथा शत्रु भी इसी प्रकार कृत्रिम 'गर' विषों को भोजन में मिलाकर खिला देते हैं। यहाँ पर स्वेदादि 'गर' हैं ॥ ४७ ॥

गरकार्यमाह—

तैः स्यात्पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरैश्चास्योपजायते । मर्मप्रधमनाध्मानं हस्तयोः शोथसम्भवः ॥
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मगुल्मक्षयज्वराः । एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥

***तैः = गरैः, स्वेदरजःप्रभृतिभिः । गरैश्चास्योपजायत इति–अपाकात् । मर्मप्रधमनं = मर्मव्यथा । क्षयो = धातुक्षयः ॥ ४८–४९ ॥**

गरविष का कार्य—उपर्युक्त पसीना, रज आदि गरविषों के खाने से पाण्डु, कृशता, मन्दाग्नि (न पचने के कारण), मर्मस्थान में पीड़ा, पेट का फूलना, हाथों में सूजन, उदर रोग, ग्रहणी, राजयक्ष्मा, गुल्म, धातुक्षय और ज्वर आदि; इसी तरह के अन्य रोग भी उत्पन्न होते हैं ॥४८–४९॥

लूतानामेकजन्तोरुत्पत्तिं निरुक्तिं सङ्ख्यां चाह—

यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदबिन्दवः । तेभ्यो जातास्तथा लूता इति ख्यातास्तु षोडश ॥

लूता की निरुक्ति—ऋषि के पसीने के बूँद काट कर रखे हुए तृणों पर गिरे, उनसे जो जन्तु पैदा हुए वे 'लूता' कहे गए हैं। यह सोलह प्रकार के होते हैं। 'लू' धातु का अर्थ 'काटना' होता है ॥ ५० ॥

अत्र सुश्रुतः—

विश्वामित्रो नृपवरः कदाचिदृषिसत्तमम् । वसिष्ठं कोपयामास गत्वाऽऽश्रमपदं किल ॥५१॥
कुपितस्य मुनेस्तस्य ललाटात्स्वेदबिन्दवः । अपतन्दर्शनादेव ह्यधस्तात्तीव्रवर्चसः ॥ ५२ ॥
लूने तृणे महर्षेस्तु धेन्वर्थे सम्भृतेऽपि च । ततो जातास्त्विमे घोरा नानारूपा महाविषाः ॥
तासामष्टौ कष्टसाध्या वर्ज्यास्तावत्य एव हि ॥ ५४ ॥

***तत्र त्रिमण्डलप्रभृतयोऽष्टौ कष्टसाध्याः, सौवर्णिकप्रभृतयोऽष्टावसाध्याः ॥ ५४ ॥**

सुश्रुत के मतानुसार लूता की उत्पत्ति—राजाओं में श्रेष्ठ विश्वामित्र जी ने किसी समय वसिष्ठ जी के आश्रम में जाकर उन्हें क्रुद्ध कर दिया। देखते ही अत्यन्त क्रुद्ध हुए उस महातेजस्वी वसिष्ठके ललाट से पसीने के बूंद गाय के खाने के लिए काट कर रखे हुए तृण पर गिरे। उसी से अनेकों रूप वाले महाविषैले लूता उत्पन्न हुए। इनमें त्रिमण्डल आदि ८ लूता कष्टसाध्य हैं और शेष सौवर्णिक आदि ८ लूता असाध्य हैं ॥ ५१–५४ ॥

तासां सामान्यानां दंशलक्षणमाह—

ताभिर्दष्टे दंशकोथः प्रवृत्तिः क्षतजस्य च । ज्वरो दाहोऽतिसारश्च गदाः स्युश्च त्रिदोषजाः ॥
पिडका विविधाकारा मण्डलानि महान्ति च । शोथा महान्तो मृदवो रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा ॥
सामान्यं सर्वलूतानामेतद् दंशस्य लक्षणम् ॥ ५६ ॥

***दंशकोथः = दंशमध्ये पूतिभावः ॥ ५५–५६ ॥**

लूता के दंश का सामान्य लक्षण—इन लूताओं (मकड़ी आदि) के काटने पर कटा हुआ स्थान सड़ने लगता है, उससे रक्त बहता है, ज्वर, जलन, अतिसार तथा त्रिदोषजन्य रोग, अनेकों आकारवाली फुड़िया, बड़े-बड़े चकत्ते उत्पन्न होते हैं और कोमल, लाल सांवले और अस्थिर तथा बड़े शोथ (सूजन) भी हो जाते हैं। यह सब लूताओं के दंश (काटने) का सामान्य लक्षण है ॥ ५५–५६ ॥

दंशमध्ये तु यत्कृष्णं श्यावं वा जालकावृतम् । दग्धाकृति भृशं पाकक्लेदशोथज्वरान्वितम् ।
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तद्दष्टमिति निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥

दूषीविष लूता के दंश का लक्षण—यदि दंश (काटने का स्थान) काला, सांवला, जाले की तरह, जला हुआ-सा, शीघ्र पक जाने वाला और क्लेद, सड़न तथा ज्वरयुक्त हो तो समझना चाहिए कि दूषीविष १-नामक लूता ने काटा है (यह चरक का श्लोक है। चरक ने कीटों को दो वर्ग में बाँटा है—१-दूषीविष कीट, २-प्राणहर कीट। श्लो० ५७ में दूषीविष प्रकार के लूता नामक कीट के दंश का लक्षण कहा गया है।) ॥ ५७ ॥

असाध्यसौवर्णकाद्यष्टलूतानां दंशलक्षणमाह—

शोथः श्वेताः सिता रक्ताः पीता वा पिडका ज्वरः।
प्राणान्तकाश्च जायन्ते दाहहिक्काशिरोग्रहाः ॥ ५८ ॥

असाध्य लूतादंश के लक्षणः—असाध्य सौवर्णिक आदि आठ लूताओं के काटने से सूजन के साथ सफेद या लाल और पीली फुन्सी के साथ ज्वर होता है और प्राणनाशक दाह, हिचकी और शिर में पीड़ा उत्पन्न होती है ॥ ५८ ॥

मूषकविषलक्षणमाह—

आदंशाच्छोणितं पाण्डु मण्डलानि ज्वरोऽरुचिः। लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते ॥

मूषक के विष का लक्षण—चूहे के काटने पर उसके दूषीविष के कारण दंशस्थान का रक्त पीला पड़ जाता है, चकत्ते उठ आते हैं, ज्वर, अन्न में अनिच्छा, रोमाञ्च और जलन—ये रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ५९ ॥

प्राणहरमूषकविषकार्यमाह—

मूर्च्छाऽङ्गशोथवैवर्ण्यं क्लेदो मन्दश्रुतिर्ज्वरः। शिरोगुरुत्वं लालाऽसृक्छर्दिश्चासाध्यमूषकात्॥
*अङ्गशोथोऽत्र मूषकाकारो बोद्धव्य इति तन्त्रान्तरे ॥ ६० ॥

प्राणनाशक मूषकविष का लक्षण—असाध्य विष वाले चूहों के काटने से बेहोशी, अङ्गों में (या काटे हुए अंग में) सूजन, शरीर का रंग बदल जाना, क्लेद, बहरापन, ज्वर, शिर में भारीपन, लार बहना और रक्त का वमन-ये लक्षण होते हैं ॥ ६० ॥

कृकलासदष्टस्य लक्षणमाह—

शोथस्य कार्ष्ण्यमथवा नानावर्णत्वमेव च। मोहोऽथ वर्चसो भेदो दष्टस्य कृकलासकैः ॥६१॥

गिरगिट के विष का लक्षण—कृकलासक (गिरगिट) के काटने पर काले वर्ण की अथवा अनेकों वर्णवाली सूजन होती है तथा बेहोशी और मलभेद (बहुत से पतले दस्त आना) होता है ॥

वृश्चिकविषलक्षणमाह—

दहत्यग्निरिवादौ तु भिनत्तीवोर्द्ध्वमाशु च। वृश्चिकस्य विषं याति पश्चाद् दंशेऽवतिष्ठते ॥

बिच्छू के विष का लक्षण--बिच्छू का विष प्रारम्भ में अग्नि की तरह जलाता है, फिर अङ्गों को फाड़ने जैसी पीड़ा करता हुआ ऊपर को चढ़ता है फिर कुछ समय के बाद दंश-स्थान में आकर स्थिर हो जाता है ॥ ६२ ॥

असाध्यवृश्चिकदष्टस्य लक्षणमाह—

दृष्टोऽसाध्यैस्तु हृद्घ्राणरसनोपहतो नरः। मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनाऽऽर्त्तो जहात्यसून् ॥
*असाध्यैर्वृश्चिकैस्तेषामेवानुवृत्तेः। हृदादिभूपहतः=हृदादिकार्यरहितो भवति, अत्यर्थं वेदनाऽऽर्त्त इत्यन्वयः ॥ ६३ ॥

बिच्छू के असाध्य विष का लक्षण—असाध्य विष वाले बिच्छू के काटने से हृदय, नासिका और जिह्वा में ऐसी तीव्र पीड़ा होती है मानो ये सब अपना-अपना कार्य बन्द कर दे रहे हैं, मांस गल-गल कर गिर जाता है और पीड़ा से ही रोगी मर भी जाती है ॥ ६३ ॥

कणभकृमिदष्टस्य लक्षणमाह—

विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि वा। लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैव विशीर्यते ॥ ६४ ॥

*कणभः = कीटविशेषः ॥ ६४ ॥

कणभ कृमि के विष का लक्षण—कणभ नामक कृमि के काटने से विसर्प, सूजन, पीड़ा तथा ज्वर या वमन होते हैं और काटे हुए स्थान से मांस गल-गलकर गिरता है ॥ ६४ ॥

उच्चिटिङ्गदष्टस्य लक्षणमाह—

कृष्णलोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्त्तिमान्। दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥

*कृष्णलोमा = अधिकतरकृष्णरोमा। उच्चिटिङ्गः = 'चींटा' कीटविशेषः ॥ ६५ ॥

उच्चिटिङ्ग (चींटा) के काटने के लक्षण—काले और बड़े रोएँ वाले उच्चिटिङ्ग (चींटे या झींगुर) के काटने से स्तब्धता के लक्षण होते हैं, तीव्र पीड़ा होती है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे समस्त शरीर पर ठंडा पानी छिड़क दिया गया हो ॥ ६५ ॥

सविषमण्डूकदष्टस्य लक्षणमाह—

एकदंष्ट्राऽर्दितः शूनः सरुजः पीतकः सतृट्। सनिद्रश्छर्दिमान्दष्टो मण्डूकैः सविषैर्भवेत् ॥६६॥

*एकदंष्ट्राऽर्दितः = स्वभावादेकयैव दंष्ट्रया दष्टो भवति ॥ ६६ ॥

विषैले मेढक के काटने का लक्षण—विषैले मेढक के काटने पर दंश-स्थान में एक ही दाँत का निशान होता है, पीड़ायुक्त पीली सूजन होती है, प्यास लगती है, नींद आती है और वमन होता है ॥ ६६ ॥

मत्स्यविषस्य लक्षणमाह—

मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहं शोथं रुजं तथा ॥ ६७ ॥

विषैली मछली के काटने का लक्षण—विषैली मछली के काटने से सूजन, पीड़ा और जलन होती है ॥ ६७ ॥

जलौकाविषकार्यमाह—

कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः ॥ ६८ ॥

*कुर्युरिति शेषः ॥ ६८ ॥

जोंक के विष का लक्षण—विषैली जोंक के काटने से खुजली, सूजन, ज्वर और बेहोशी होती है ॥ ६८ ॥

गृहगोधिकाविषकार्यमाह—

विदाहश्वयथुं तोदं प्रस्वेदं गृहगोधिकाः ॥ ६९ ॥

*कुर्युरिति शेषः ॥ ६९ ॥

छिपकली काटने के लक्षण—छिपकली के काटने से जलन, सूई कोंचने की तरह पीड़ा और पसीना होता है ॥ ६९ ॥

शतपदीविषकार्यमाह—

दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्याच्छतपदीविषम् ॥ ७० ॥

*शतपदी = 'गिजाई' इति लोके ॥ ७० ॥

गोजर काटने के लक्षण—कानखजूरा या गोजर के काटने से दंश-स्थान पर पसीना, पीड़ा और जलन ये लक्षण होते हैं ॥ ७० ॥

मशकविषकार्यमाह—

कण्डूमान्मशकैरीषच्छोथः स्यान्मन्दवेदनः ॥ ७१ ॥

मच्छर काटने के लक्षण—मच्छर काटने से दंशस्थान पर खुजली, हल्की-सी सूजन और हल्की-हल्की पीडा होती है ॥ ७१ ॥

असाध्यमशकदंशलक्षणमाह—

असाध्यकीटसदृशमसाध्यं मशकक्षतम् ॥ ७२ ॥

असाध्यकीटसदृशम् = असाध्यैः कीटलूताऽऽदिभिः कृतं यत्क्षतं तत्सदृशवेदनम् ॥ ७२ ॥

असाध्य विष वाले मच्छर के काटने से जो क्षत बनता है उसमें असाध्य लूता आदि कीटों के क्षत की तरह पीड़ा होती ॥ ७२ ॥

मक्षिकादंशलक्षणमाह—

सद्यः संस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता ।
पिडका मक्षिकादंशे तासान्तु स्थगिकाऽसुहृत् ॥ ७३ ॥

***तासामित्यादि । तासां = सुश्रुतोक्तानां षण्णां मक्षिकाणां मध्ये 'स्थगिका' नाम्नी ॥ शीघ्रं प्राणान्हरतीत्यर्थः ॥ ७३ ॥**

मक्षिकादंश का लक्षण—विषैली मक्खी के काटने से स्राववाली, काली फुंसियाँ, दाह, मूर्च्छा और ज्वर के साथ पैदा हो जाती हैं । सुश्रुत ने जो छः प्रकार की मक्खियाँ बतलायी हैं उनमें से स्थगिका नामक मक्खी शीघ्र प्राणनाशक होती है ॥ ७३ ॥

व्याघ्रादिविषकार्यमाह—

चतुष्पाद्भिर्द्विपाद्भिर्वा नखैर्दन्तैश्च यत्कृतम् । शूयते पच्यते तत्तु स्रवति ज्वरयत्यपि ॥ ७४ ॥

***चतुष्पाद्भिः = व्याघ्रादिभिः । द्विपाद्भिः = वनमनुष्यादिभिः । शूयते = शूनं भवति ॥**

व्याघ्रादिविष के लक्षण—व्याघ्रादि तथा वनमानुष आदि दो पैर वाले जन्तुओं के काटने पर उनके नख या दाँत से जो घाव बनता है उसमें सूजन होती है, पकता है, रक्त या पूय का स्राव होता है और रोगी को ज्वर भी आता है ॥ ७४ ॥

विषोज्झितस्य लक्षणमाह—

प्रसन्नदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकाङ्क्षं सममूत्रविट्कम् ।
प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम् ॥ ७५ ॥

***प्रसन्नदोषं = प्रकृतिस्थदोषम् । शेषं सुगमम् ॥ ७५ ॥**

विष-निर्मुक्त व्यक्ति के लक्षण—यदि विषयुक्त रोगी के वातादि दोष अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ जायँ, रसादि धातुएँ भी स्वाभाविक स्थिति में हो जायँ, भोजन खाने की इच्छा होने लगे, मल-मूत्र अच्छी तरह निकलने लगे, शरीर का रंग, इन्द्रियाँ और चित्त प्रसन्न अर्थात् निर्मल हो जायँ तो वैद्य को यह समझना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति का विष दूर हो गया है ॥ ७५ ॥

अथ विषचिकित्सा ।

तत्र प्रथमं स्थावरविषघ्नोपायानाह—

स्थावरेण विषेणार्त्तं नरं यत्नेन वामयेत् । वमनेन समं नास्ति यतस्तस्य चिकित्सितम् ॥
विषमत्यर्थमुष्णञ्च तीक्ष्णं च कथितं यतः । अतः सर्वविषेषूक्तः परिषेकस्तु शीतलः ।
औष्ण्यात्तैक्ष्ण्याद्विशेषेण विषं पित्तं प्रकोपयेत् । वमितं सेचयेत्तस्माच्छीतलेन जलेन च ॥
पाययेन्मधुसर्पिर्भ्यां विषघ्नं भेषजं द्रुतम् । भोक्तुमम्लं रसं दद्याद्घर्षयेन्मरिचानि च ॥७६॥

स्थावर विष की चिकित्सा—स्थावर विष से पीड़ित रोगी को यत्नपूर्वक वमन करावे क्योंकि वमन कराने से बढ़कर इस विष की कोई दूसरी चिकित्सा नहीं है । विष अत्यन्त उष्ण और तीक्ष्ण कहे गए हैं, इसलिए सब प्रकार के विषों में शीतल सेचन करना चाहिए । उष्ण और तीक्ष्ण होने के कारण विष पित्त को विशेष रूप से प्रकुपित कर देता है । इसलिए वमन कराने के बाद शीतल जल से सेचन करना चाहिए और विषनाशक ओषधियों को घी और शहद के साथ तुरन्त खिलाना चाहिए । खाने के लिए खट्टा रस देना चाहिए तथा शरीर पर मरिच का चूर्ण मलना चाहिए ॥

यस्य यस्य च दोषस्य पश्येल्लिङ्गानि भूरिशः । तस्य तस्यौषधैः कुर्याद्विपरीतगुणैः क्रियाम् ॥
शालयः षष्टिकाश्चैव कोरदूषाः प्रियङ्गवः । भोजनार्थं विषार्त्तानामूर्ध्वञ्चाधश्च शोधनम् ॥

*प्रियङ्गुः = कङ्गुः ॥ ७८ ॥

विष के रोगी में जिन जिन दोषों का लक्षण अधिक देखे, उन-उन दोषों से विपरीत गुण वाली ओषधियों से चिकित्सा करे और विषपीडित व्यक्ति को खाने के लिए शालि और साठी चावल, कोदो और काँगुन धान्य दे तथा वमन–विरेचन द्वारा शोधन करे ॥ ७७–७८ ॥

मलत्वक्पत्रपुष्पाणि बीजं चेति शिरीषतः। गवां मूत्रेण सम्पिष्टं लेपाद्विषहरं परम् ॥ ७९ ॥

सिरस की लड़, छाल, पत्ते, फूल और बीज इन पाँचों को गोमूत्र में पीसकर लगाये। यह परम विषनाशक है ॥ ७९ ॥

दूषिविषार्त्तं सुस्निग्धमूर्ध्वञ्चाधश्च शोधनम्। पाययेदगदं मुख्यमिदं दूषीविषापहम् ॥८०॥
पिप्पली ध्यामकं मांसी लोध्रमेला सुवर्चिका। मरिचं वालकञ्चैला तथा कनकगैरिकम्।
क्षौद्रयुक्तः कषायोऽयं दूषीविषमपोहति ॥ ८१ ॥

*ध्यामकं = रोहितं, तदलाभे 'उशीरं' देयम्। कनकगैरिकम् = अत्यन्तमारक्तं गैरिकं 'सोनागेरू' इति लोके ॥ ८१ ॥

दूषीविष के रोगी का भली भाँति स्नेहन करके वमन, विरेचन द्वारा शोधन करे, पश्चात् निम्न-लिखित प्रधान अगद (विषनाशक योग) को पिलाये:—

पीपर, रोहित (यदि न मिले तो अभाव में खश), वालछड़, लोध, इलायची, सज्जी, काली मिर्च, सुगन्धवाला, छोटी इलायची और सोनागेरू इनके काढ़े में शहद पिलाने से दूषीविष नष्ट हो जाता है ॥ ८०–८१ ॥

अथ जङ्गमविष[1] चिकित्सा।

तत्र मृत्युपाशच्छेदि घृतमाह—

अभयां रोचनां कुष्ठमर्कपत्रं तथोत्पलम्। नलवेतसमूलानि गरलं सुरसां तथा ॥ ८२ ॥

---

१. जङ्गमविषों में सर्पविष महाभयानक तथा शीघ्र प्राणघातक होता है। अत एव इस तरह स्थल पर सविष–निर्विष सर्पों की विवेचना, उन के प्रकार तथा निदान का अत्यन्त स्थानाभाव के कारण विवेचन न कर पाते हुए भी यहाँ पर सर्पविष–चिकित्सा के उपक्रमों तथा ओषधियों का वर्णन अत्यन्त आवश्यक समझकर कर रहे हैं:—

सर्पविष अत्यन्त तीव्र स्वरूप का विष है, जो अल्प काल में दंशस्थान से शोषित होकर रक्त में मिलता है। समस्त शरीर की विविध धातुओं पर अपना विषैला प्रभाव डालता है। इसलिए सर्प-दंश की चिकित्सा तुरन्त करनी चाहिए, जिससे कि गरल शरीर के रक्त में न मिलने पाये।

यह चिकित्सा ४ प्रकार से की जाती है:—

१—विषस्तम्भन—दंशस्थान का सम्बन्ध शरीर के सर्वसाधारण रक्तपरिभ्रमण से तोड़ना।

२—विषहरण—दंशस्थान में गिरे हुए विष की राशि को कम करना।

३—विषनिर्विषीकरण—दंशस्थान में गिरे हुए विष को ओषधियों से निर्विष करना।

४—प्रतिविष—रक्तपरिभ्रमण में पहुँचे हुए विष को निर्विष करना। ये कार्य निम्न पद्धतियों से होते हैं।

१—विषस्तम्भन—दंशस्थान के विष को शरीर में फैलने से रोकने का काम रज्जुबन्धन (Ligature) से होता है। यह कर्म सबसे पहले और अत्यन्त शीघ्रता से करना चाहिए। जैसा कि सुश्रुत में भी लिखा है:—

सर्वैरेवादितः सर्पैः शाखादष्टस्य देहिनः। दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टाश्चतुरङ्गुले।
प्लोतचर्मान्तवल्कानां मृदुनाऽन्यतमेन वै। न गच्छति विषं देहमरिष्टाभिनिवारितम्।
अरिष्टामपि मन्त्रैश्च बध्नीयान्मन्त्रकोविदः। सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता।

सु० कल्पस्थान।

सकलिङ्गां समञ्जिष्टामनन्ताञ्च शतावरीम् । शृङ्गाटकं समङ्गां च पद्मकेशरमित्यपि ॥ ८३ ॥
कल्कीकृत्य पचेत्सर्पिः पयो दद्याच्चतुर्गुणम् । सम्यक्पक्वेऽवतीर्णे च शीते तस्मिन्विनिक्षिपेत् ८४

अम्बुवत् सेतुबन्धेन बन्धेन स्तभ्यते विषम् । न वहन्ति सिराश्चास्य विषं बन्धाभिपीडिताः ।
अष्टाङ्गसंग्रह ।

इससे विष का शोषण रुक जाता है और अन्य प्रकार की स्थानिक तथा सार्वदैहिक चिकित्सा के लिए अधिक समय मिलता है । रज्जुबन्धन का उपयोग केवल शाखाओं के दंशों के लिए उपयोगी है । धड़पर तथा शिर पर के दंशों के लिए इसका उपयोग नहीं कर सकते । बन्धन के लिए रबर की चीज (Rubber cord) सबसे उत्तम होती है । यदि यह न हो तो सायकिल की ट्यूब भी काम में ला सकते हैं । यदि जल्दी से रबर की कोई चीज न मिले तो साफा, पगड़ी, धोती, हाथ की रूमाल, सुतरी या अन्य जो चीजें मिलें, उसकी पट्टी लेकर दंश के ऊपर बाँधना चाहिए ।

वन्धन के लिए सूचनाएँ:—

१—दंश के पश्चात् शीघ्रता से यह कर्म करना चाहिए । १० मिनट से अधिक विलम्ब करने से यह कर्म व्यर्थ होता है । और जितनी शीघ्रता की जाती है, उतनी अधिक सफलता मिलती है ।

२—जिस स्थान पर केवल एक हड्डी हो वहाँ पर बन्धन बाँधना चाहिए । जैसे पैरों के दंश में जानु के ऊपर और हाथों के दंश में कोहनी के ऊपर बन्धन होना चाहिए । बन्धन का उद्देश्य हृदय की ओर का रक्त और लसिकाप्रवाह बन्द करने का होता है ।

३—जहाँ पर दो हड्डियाँ होती हैं, जैसे अग्रबाहु और जंघा, वहाँ पर बन्धन कसने पर भी हड्डियों के बीच का रक्तसंचार नहीं रोका जा सकता है, जिसके कारण बन्धन व्यर्थ होता है ।

४—बाहु या ऊरु के बन्धन के सिवा यदि दंशस्थान इस बन्धन के पास न हो तो दूसरा बन्धन दंशस्थान से कुछ अंगुल ऊपर बाँधना चाहिए । यदि दंश अङ्गुली में हो तो अङ्गुली के मूल में यह बन्धन बाँधना उचित है ।

५—बन्ध इस प्रकार कसकर बाँधना चाहिए कि सिरा और लसिकावाहिनियों में रक्तलसिका का प्रवाह पूर्णतया बन्द हो जाय, धमनीगत रक्तप्रवाह रोकने की आवश्यकता नहीं होती । यदि वह भी बन्द हो जाय तो कोई आपत्ति नहीं होती, परन्तु सिरा, रसायनीगत रक्तप्रवाह किसी दशा में जरा सा भी जारी न रहना चाहिए अन्यथा रज्जुबन्धन व्यर्थ होता है । धमनीगत प्रवाह अधिक देर तक बिल्कुल बन्द होने पर रक्त की कमी से स्थानिक धातुओं का नाश और कोथ होता है । इस आपत्ति को दूर करने के लिए प्रत्येक २०–३० मिनट के पश्चात् बन्धन को थोड़े सेकण्डों के लिए ढीला करना चाहिए । नीचे का अङ्ग गुलाबी रंग का होने पर फिर से बन्धन कसना चाहिए ।

२—विषहरण—

इस दंशस्थान में गिरे हुए विष का निम्न उपायों से निर्हरण किया जाता है ।

(अ) क्षालन–रज्जुबन्धन के पश्चात् प्रथम दंशस्थान तथा उसके आस-पास की त्वचा को अच्छी तरह पोंछना चाहिए या पानी से साफ धोना चाहिए । कई बार विष दंश–स्थान के बाहर त्वचा पर भी गिरता और सूख जाता है । ऐसी त्वचा पर छेद करने से और भी विष रक्त में मिलने का डर रहता है । इसलिए प्रक्षालन का कार्य आवश्यक है ।

(आ) भेदन (Incision) धोने के बाद साफ चाकू से प्रथम दंश की गहराई के बराबर गहरा चीरा लगाना चाहिए । चीरने के समय बड़ी रक्तवाहिनियों का और वातनाड़ियों (Nerves) का ख्याल रखना चाहिए । पश्चात् स्तनचूषक (Breast Pump), तोंबी, मुख या पीडन से रक्त

सर्पिस्तुल्यं भिषक्क्षौद्रं कृतरक्षं निधापयेत्। विषाणि हन्ति दुर्गाणि गरदोषकृतानि च॥
स्पर्शाद्धन्ति विषं सर्वं गरैरुपहतां त्वचम्। योगजं तमकं कण्डूं मांससादं विसंज्ञताम्॥

निकालना चाहिए। पीछे दूसरी बार गहरा चीरा सूजन के किनारे तक देना चाहिए। चीरे हमेशा दंश से आरे के समान सूजन के किनारे तक देने चाहिए। यदि चीरा देने से कुछ समय के बाद सूजन बढ़ जाय तो सूजन के किनारे तक फिर से चीरा लगाये।

(इ) छेदन—(Amputation)—यह कर्म हाथ-पैरों की अङ्गुलियों के दंश में उपयोगी होता है। दंश होते ही यदि वह अङ्गुली काट दी जाय तो यह कर्म दष्ट मनुष्य को स्वयं करना चाहिए। या १० मिनट के भीतर दष्ट मनुष्य डाक्टर के पास पहुँच जाय तो वह भी इसको कर सकता है।

(ई) दहन—इसमें दहकता हुआ कोयला, उत्तप्त लौह, सिल्वर नाइट्रेट क्षार, सल्फ्यूरिक, नाइट्रिक या कार्बोलिक अम्ल इनका उपयोग दंशस्थान पर लगाने के लिए किया जाता है। इसमें दोष यह है कि इसका परिणाम अधिक गहराई तक नहीं होता, इसलिए गहराई पर स्थित विष के शोषण में कोई रुकावट नहीं होती। अपने यहाँ भी दाह का प्रयोग किया जाता था, यथाः—

'दहेद्दंशमथोत्कृत्य यत्र बन्धो न जायते। आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव तु पूजिताः।'

सुश्रुत, कल्पस्थान।

दंशमण्डलिनां मुक्त्वा पित्तलत्वादथापरम्। प्रतप्तैर्हेमलोहाद्यैर्दहेदाशूल्मुकेन वा।
करोति भस्मसात् सद्यो वह्निः किं नाम न क्षणात्॥ अष्टाङ्गसंग्रह।

(उ) आचूषण (Suction)-चीरा लगाने के बाद इसका प्रयोग करना उचित है। चूषण के लिए तोम्बी उत्तम है। यह न मिले तो मुख का उपयोग भी कर सकते हैं। मुख में जिह्वा, तालु, मसूड़ों पर कहीं भी व्रण न होने चाहिए। अर्थात् व्रणित मुख का उपयोग चूषण के लिए निषिद्ध है। चूषण के पूर्व तेल या घी से कुल्ला करना उचित है। इससे यदि कोई सूक्ष्म व्रण हो तो उससे शोषण का कार्य नहीं हो सकता। चूसने पर चूसा हुआ विष थूक देना चाहिए। जैसा कि अपने यहाँ भी लिखा हुआ हैः—

प्रतिपूर्य मुखं वस्त्रैर्हितमाचूषणं भवेत्। सुश्रुतः।

आचूषेत् पूर्णवक्त्रो वा मृद्भस्मागदगोमयैः। प्रच्छायान्तररिष्टायां मांसलन्तु विशेषतः।

अष्टाङ्गसंग्रहः।

(ऊ) सिरावेधन—रोगी के ही रक्त द्वारा दंशस्थान का क्षालन करने का यह तरीका है—इसमें दो बन्धन लगाये जाते हैं। मूल बधन इतना कसा जाता है कि धमनीगत रक्तप्रवाह भी बन्द हो जाता है। उसके नीचे कुछ अन्तर पर दूसरा बन्धन बाँधा जाता है जो सिरा और लसिकावाहिनियों का प्रवाह रोकता है। पश्चात् दंशस्थान से रक्त ले जानेवाली सिरा का वेधन करके ऊपर का बन्धन बीच-बीच में मिनट दो मिनट के लिए कुछ ढीला किया जाता है, जिससे धमनीगत प्रवाह जारी हो जाय, इस तरह २०-३० औंस रक्त निकाला जाता है। अपने यहाँ भी इसका वर्णन है, यथाः—

समन्ततः सिरां दंशाद्विध्येत्तु कुशलो भिषक्। रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्।
तस्माद्विस्रावयेद्रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया। सुश्रुत कल्पस्थान।

२—निर्विषीकरण—इसमें दंशस्थान में ओषधियों द्वारा विषका निर्विषीकरण किया जाता है। इसके लिए निम्न ओषधियाँ प्रयुक्त होती हैंः—

पोटेशियम परमैंगनेट-सस्ती और देहातों में भी मिलने वाली यह ओषधि सर्पदंश में बहुत उपयोगी है। चीरा लगाने के बाद इसके स्फटिक दंशस्थान पर खूब रगड़ने चाहिए, या ३ से ५ प्रतिशत घोल से दंशस्थान को धोना चाहिए, या १-२ प्रतिशत घोल सिरिञ्ज से दंशस्थान में

नाशयत्यञ्जनाभ्यङ्गपानबस्तिषु योजितम् । सर्पकीटाखुलूताऽऽदिदष्टानां विषहृत्परम् ॥८७॥

तथा उसके आसपास आधा इञ्च गहराई तक कई जगह सुई चुभोकर प्रविष्ट करना चाहिए, जिससे कि वह वहाँ से चूने लगे। इस प्रकार १०–२० सी० सी० घोल दंशस्थान में प्रविष्ट कर सकते हैं। इसके बाद स्थान को मालिश करना तथा सेकना चाहिए। सुई द्वारा घोल का उपयोग सर्वोत्तम है।

ब्लीचिंग पाउडर और कैलसियम हाइपोक्लोराइड—ब्लीचिङ्ग पाउडर के ५ प्रतिशत घोल के या कै० हा० के २ प्रतिशत घोल के १० सी० सी० सुई द्वारा दंशस्थान में उपर्युक्त पद्धति से प्रविष्ट किए जाते हैं। स्वर्णहरिद (Gold Chloride) उपर्युक्त पद्धति के अनुसार सुई और पिचकारी से इसके १–५ प्रतिशत घोल के १०–२० सी० सी० दंशस्थान तथा उसके पासके स्थान में प्रविष्ट किए जाते हैं। स्वर्ण हरिद १५ ग्रेन की राशि में हवाबन्द छोटी शीशी में मिलता है। उसको २० सी० सी० तिर्यक् पातित जल में विद्रुत करने से ५ प्रतिशत का घोल बन जाता है। अपने यहाँ भी स्वर्ण विषनाशक माना गया है:—

'स्निग्धं मेध्यं विषगरहरं बृंहणं वृष्यमग्र्यम्' । रसरत्नसमुच्चय ।

हेम सर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति । न सज्जते हेमतोऽङ्गे विषं पद्मदलेऽम्बुवत् । चरक ।

स्वर्णहरिद और पोटाश परमैंगनेट के घोल के स्थानिक इन्जेक्शन से सेलों का और धातुओं का नाश होता है और व्रण भरने में कई सप्ताह लग जाते हैं। ब्लीचिंग पाउडर में यह दोष नहीं है।

४—प्रतिविष, प्रतिगरल (Antivenene)—यह एन्टीवेनीन या प्रतिविष केवल नाग (फनवाले साँप) और रसेल का व्याल (बोरा) इनके दंश में उपयोगी होता है। करैत और फुरसे के विष की मात्रा वैसी ही कम रहती है और पाले हुए ये साँप अच्छी तरह न पनपने के कारण यह मात्रा और भी कम हो जाती है। अतः प्रतिविष बनाने के लिए आवश्यक विष की राशि न मिलने से इनके लिए प्रतिविष उपलब्ध नहीं हुआ है। एवम् यह उपाय करैत और फुरसे के लिए व्यर्थ है। बाजार में जो प्रतिविष मिलता है वह नागविष और रसेल के व्यालविष का संयुक्त होता है, अर्थात् दोनों के दंश में उपयोगी होता है। मात्रा—प्रतिविष की १ सी० सी० नागविष के $\frac{५}{१०}$ मिलीग्राम को और व्यालविष के $\frac{७}{१०}$ मि० ग्रा० को निर्विष करती है अर्थात् नाग के पूरे विष को ४०० या उससे अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। परन्तु इतनी विष की राशि प्रत्येक दंश के समय नहीं निकल सकती। व्याल के पूरे विष के लिए १०० सी० सी० की आवश्यकता होती है। नाग की अपेक्षा व्याल का पूरा विष दंशस्थान में गिरने की अधिक संभावना होती है, क्योंकि उसका मुँह तथा दाँत दोनों ही बड़े होते हैं। इसलिए इनके दंश में प्रथम १०० सी० सी० मात्रा दी जाती है। पर्याप्त मात्रा शरीर में जाने पर १२–२४ घण्टे में सब लक्षण दूर हो जाते हैं। यदि प्रथम खुराक देने के बाद रोगी में कुछ भी सुधार न हो तो फिर १०० सी० सी० की दूसरी मात्रा देनी चाहिए। इस प्रकार लक्षणों के अनुसार जवान रोगी को ४०० सी० सी० तक मात्रा दे सकते हैं। प्रतिविष विषैला असर कदापि नहीं करता, इसलिए उसकी अधिक मात्रा देने में डर नहीं है, कम मात्रा देने में नुकसान है। आजकल सकेन्द्रित (Concentration) प्रतिविष भी मिलता है। इसकी मात्रा ५०–१५० सी० सी० होती है।

देने के मार्ग—प्रतिविष सिरा द्वारा देना चाहिए। इस मार्ग से कार्य जल्दी और अल्प मात्रा में होता है। ऊपर की मात्रा इसी मार्ग की है। पेशी और उदरावरण में इससे दुगुनी मात्रा और अधिक समय लगता है। त्वचा में चौगुनी मात्रा लगती है। सर्पविष अत्यन्त तीव्र और अल्प काल में घातक होने के कारण अल्प काल में परिणाम करने वाले मार्ग से (सिरा से) प्रतिविष देना आवश्यक है।

मृत्युपाशच्छेदी घृत—हरड़, गोरोचन, कूट, मदार का पत्ता, नीला कमल, नरकट और बेंत की जड़, शुद्ध मीठा तेलिया, तुलसी, इन्द्रजौ, मजीठ, लाल धमासा, शतावर, सिंघाड़ा, लज्जावन्ती

देने का काल—नाग या बोरे के दंश के पश्चात् यदि तुरन्त प्रतिविष दिया जाय तो दष्ट मनुष्य कदापि नहीं मर सकता। यदि ३–४ घण्टे के बाद दिया जाय तब भी बचने की बहुत कुछ आशा की जा सकती है, यदि रज्जुबन्धन और भेदन के उपचार प्रथम किए गए हों तो रोगी को अन्तिम अवस्था में भी प्रतिविष देने से नुकसान नहीं है, कदाचित् लाभ हो सकता है। प्रतिविष सरकारी अस्पताल और दवाखाने में मिलता है। सर्पदंश देहातों में अधिक होता है। यदि मोटर इत्यादि साधन उपलब्ध हो सके तो सर्पदंश होते ही रज्जुबन्धन और चीरा लगाकर रोगी को शहर या तहसील के अस्पताल में ले जाना चाहिए। वहाँ पर प्रतिविष देने का पूरा प्रबन्ध होता है।

प्रतिविष देने के लिए सूचना—प्रतिविष घोड़े की लसिका के रूप में होता है। अत एव इसके देने से लसिका रोग (Serum disease) होने का डर रहता है। यदि उत्पन्न हो जाय तो १/२–१ सी० सी० अड्रेन्यालीन का इन्जेक्शन देना चाहिए। लसिकारोग (Serum disease) के लिए पूज्यतम डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर जी द्वारा निर्मित 'जीवाणुविज्ञान' पृष्ठ २३४ देखिए।

उपद्रवों की चिकित्सा—

स्तब्धता (Shock)—व्याल के दंश से रक्तकणों का नाश, रक्तवाहिनियों की दीवाल का नाश, रक्तस्राव तथा रक्तवहन-केन्द्र का अवसाद इत्यादि कारणों से रोगी में एक प्रकार की बड़ी भारी स्तब्धता आ जाती है। इसी के लिए तीव्र गरम काफी, स्पिरिट, अमोनिया ऐरोमेटिक अड्रेन्यालीन, पिच्युट्रीन (दोनों १ सी० सी०), स्ट्रिकनीन (१/१६ ग्रेन) तथा कर्पूर इत्यादि उत्तेजक ओषधियों में से एक या अनेक देनी चाहिए। इसके सिवाय रक्तसंक्रमण (Blood-transfusion) ग्लूकोज और एड्रेन्यालीन युक्त नमक के पानी का भी प्रयोग होता है।

रक्तस्राव—इसके लिए कैलसियम क्लोराइड, ५ प्रतिशत घोल के ५–१० सी० सी० सिरा द्वारा; घोड़े की लसिका तथा हीमो फ्लास्टिन इत्यादि का प्रयोग होता है।

श्वसनावसाद—यह उपद्रव नागविष में अधिक होता है। इसके लिए कृत्रिम श्वसन और आक्सीजन सूँघने के लिए देना ये उपाय करने चाहिए।

वेदना या जलन—इसके लिए कोकेन या मारफिया का इन्जेक्शन देना चाहिए।

कोथ, पाक इत्यादि—ये उपद्रव अधिकतर व्यालदंश में उत्पन्न होते हैं। इसके लिए ऐण्टी-स्टेप्टो कोकल सीरम का प्रयोग करना चाहिए।

सर्पचिकित्सा की सामग्री—सर्पदंश एक ऐसी घातक आगन्तुक व्याधि है जिसमें प्रत्येक क्षण महत्त्व का होता है अतः जो वैद्य देहातों में व्यवसाय करते हैं और जहाँ पर सर्पदंश एक साधारण घटना है वहाँ वे अपने पास निम्न सामग्री सदैव तैयार रखें, जिससे कि सर्पदष्ट मनुष्य आते ही या सर्पदष्ट के लिए बुलावा आते ही बिना विलम्ब उसकी चिकित्सा की जाय।

१—रबर की रज्जु (Rubber Tourniquent)

२—पोटाशियम परमैंगनेट, स्वर्णहरिद, ब्लीचिंग पाउडर, कैलसियम क्लोराइड, स्ट्रिकनीन तथा सर्पप्रतिविष इत्यादि ओषधियाँ।

३—चाकू, १०–२० सी० सी० की रिकार्ड सिरिञ्ज।

४—सिरा में ओषधि देने का यन्त्र।

५—प्राणवायु सुंघाने का यन्त्र।

सर्पदष्ट का चिकित्सा-क्रम—

१—साँप के काटते ही सर्व प्रथम शाखाओं के दंश में दंश के कुछ अङ्गुल ऊपर एक और कोहनी या घुटने के ऊपर दूसरा बन्धन कसकर बाँधना चाहिए।

और कमल की केशर इन सब ओषधियों के कल्क के साथ चौगुना (घी की अपेक्षा) पानी या दूध देकर घी सिद्ध करे। पक जाने पर घी को छान करके ठंडा हो जाने पर घी के बराबर शहद मिला कर सावधानी से अच्छे वर्तन में रख दे। यह 'मृत्युपाशच्छेदी' नामक घृत कहलाता है। यह विषदोष से उत्पन्न होने वाले समस्त रोगों और कठिन विषों को नष्ट करता है। अञ्जन, अभ्यङ्ग, पान (पीना) और वस्ति द्वारा प्रयोग करने से समस्त विषों को, तमकश्वास को, खुजली को, मांससाद (मांस का क्षीण या नष्ट होना) और वेहोशी को दूर कर देता है, विष से दूषित चर्म को

२—यदि सर्प देखा हो या मारा गया हो तो उसके चिह्नों से, न मिला हो तो दंश के निशान से सर्प विषैला था या नहीं इसका निर्णय कर लेना चाहिए।

३—यदि यह पता चल जाय कि साँप विषैला नहीं था तो रोगी को प्रसन्न और निर्भय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। तथा उस को इस बात का विश्वास दिलाना चाहिए कि किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। जैसे कि अपने यहाँ भी लिखा है:—

दुरन्धकारे दष्टस्य केनचिद्विषशङ्कया । विषोद्वेगाज्ज्वरश्छर्दिमूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत् ॥
ग्लानिर्मोहोऽतिसारश्चाप्येतच्छङ्काविषं मतम् । चिकित्सितमिदं तस्य कुर्यादाश्वासनं बुधः ॥
सिता वैगन्धिको द्राक्षा पयस्या मधुकं मधु । पानं समन्त्रपूताम्बुप्रोक्षणं सान्त्वहर्षणम् ॥ चरक

निर्विष सर्प की कोई चिकित्सा करने की आवश्यकता नहीं होती। अधिक से अधिक पो० परमैंगनेट के घोल से दंशस्थान को धोकर साधारण व्रण के समान उसको बाँध देना पर्याप्त है।

४—यदि सर्प विषैला हो तो रोगी को तुरन्त आराम से विस्तरे पर लिटाए रखना चाहिए। सर्प विषैला होने पर भी उसका दंश कई कारणों से घातक नहीं होता। इस बात का विश्वास दिला कर उसे प्रसन्न और निर्भय करने की कोशिश करनी चाहिए। सर्पदंश में रोगी कमजोर, सुस्त और तन्द्रायुक्त होता है। उसको कदापि चलना-फिरना न चाहिए।

आराम कराने पर उस को हृदयोत्तेजक ओषधि देनी चाहिए। अपने यहाँ भी हृदय-रक्षण का आदेश दिया गया है, यथा:—

विषं कषति तीक्ष्णत्वाद्धृदयी तस्य गुप्तये । पिबेद् घृतं घृतक्षौद्रमगदं वा घृताप्लुतम् ।
—अष्टाङ्गसंग्रह।

५—यदि दंशस्थान हाथ, पैर की अङ्गुली में हो तो बन्धन बाँधने के पश्चात् तुरन्त अङ्गुली को काट देना चाहिए।

६—शाखाओं के दंश के बन्धन बाँधने के पश्चात् और धड़ के दंश में सर्वप्रथम दंशस्थान में चीरा लगाकर दबाकर रक्त निकाले और पश्चात् आचूषण से शेष रक्त और विष को निकाले। अन्त में पो० परमैंगनेट के गाढ़े घोल से उसको धोवे। तथा उसमें पिचकारी से उस घोल को या स्वर्ण-हरिद के घोल को या प्रतिविष को प्रविष्ट करे।

७—यदि नाग या वोरे ने काटा हो तो प्रतिविष की १०० सी० सी० मात्रा शिरा द्वारा शरीर में प्रविष्ट करे। यदि सिरा में प्रविष्ट करने में कठिनाई मालूम हो तो उदर प्राचीर के दोनों ओर त्वचा में प्रविष्ट करे।

८—उपद्रवों के अनुसार उनकी चिकित्सा करे।

९—रोगी को केवल तरल पदार्थ जैसे दूध, ग्लूकोज, पानी, साधारण जल तथा काफी इत्यादि देने चाहिए। ठोस पदार्थ न देने चाहिए। ग्रसनिका का घात होने पर आमाशय-नलिका से रोगी का पोषण करना चाहिए।

१०—विषनिवृत्ति होने के पश्चात् भी कुछ रोज तक विस्तरे पर आराम करना उचित है।

केवल स्पर्शमात्र से अच्छा करता है तथा यह घी सर्प, कृमि, चूहे, लूता आदि के विषों का नाश करने के लिए उत्तम् ओषधि है ॥ ८२-८७ ॥

धत्तूरस्य शिफा पेया क्षीरेण परिपेषिता । अङ्कोटवंशजा चापि श्वविषघ्नी प्रयत्नतः ॥८८॥

कुत्ते के विष की चिकित्सा—धतूरा अथवा अङ्कोट की जड़ को यत्न के साथ दूध में पीस कर पीने से कुत्ते का विष नष्ट हो जाता है ॥ ८८ ॥

रजनीयुग्मपत्तङ्गमञ्जिष्ठानागकेशरैः । शीताम्बुपिष्टैरालेपः सद्यो लूतां विनाशयेत् ॥ ८९ ॥

लूताविष की चिकित्सा—हरदी, दारुहरदी, पतङ्ग, मजीठ और नागकेशर इनको ठण्डे जल में पीसकर लेप करने से शीघ्र लूता का विष नष्ट हो जाता है ॥ ८९ ॥

जीरकस्य कृतः कल्को घृतसैन्धवसंयुतः । सुखोष्णो मधुना लेपो वृश्चिकस्य विषं हरेत् ॥

बिच्छू के विष की चिकित्सा—जीरा और सेंधानमक के कल्क में घी और शहद मिलाकर सहाता गरम लगाने से बिच्छू का विष नष्ट हो जाता है ॥ ९० ॥

गन्धमाघ्राय मृदितं सूर्यावर्त्तदलस्य तु । वृश्चिकेन नरो विद्धः क्षणाद्भवति निर्विषः ॥ ९१ ॥

इति सप्तषष्टितमो विषाधिकारः समाप्तः ॥ ६७ ॥



हुरहुर के पत्तों को मलकर सूंघने से क्षणमात्र में बिच्छू का विष उतर जाता है ॥ ९१ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे सप्तषष्टितमो विषाधिकारः ॥ ६७ ॥



अथ स्त्रीरोगाणामधिकारः ॥ ६८ ॥

तत्राष्टषष्टितमः स्त्रीरोगाधिकारः ॥ ६८ ॥

प्रदररोगस्य विप्रकृष्टनिदानं सङ्ख्याश्चाह—

विरुद्धमद्याध्यशनादजीर्णाद्गर्भप्रपातादतिमैथुनाच्च ।
यानाध्वशोकादतिकर्षणाच्च भाराभिघाताच्छयनाद्दिवा च ॥ १ ॥
तं श्लेष्मपित्तानिलसन्निपातश्चतुष्प्रकारं प्रदरं वदन्ति ॥ २ ॥

***अत्र वातपित्तयोरादौ श्लेष्मणोऽभिधानं श्लैष्मिकेऽतिप्रवृत्तिबोधनार्थम् ॥ २ ॥**

प्रदर रोग का विप्रकृष्ट (दूरस्थ) निदान तथा उसकी संख्या—विरुद्ध भोजन करने से, मद्य पीने से, पहले भोजन के विना पचे ही तुरन्त फिर भोजन कर लेने से, अनपच से, गर्भपात हो जाने से, अत्यन्त मैथुन कराने से, अत्यधिक सवारी (घोड़ा, हाथी, रथ, गाड़ी आदि) का उपयोग करने से या इन पर चढ़ कर तेज दौड़ाने से, शोक करने से, अत्यधिक मार्ग चलने से उपवासादि

अपने यहाँ विषों का विशद विवरण चरक चि० अ० २३ और सुश्रुत कल्पस्थान में है । अब तक जिन भी किन्हीं साधनों का तथा चिकित्साओं का वर्णन किया गया है, भगवान् चरक के बताये हुए इन २४ उपक्रमों को अतिक्रमण नहीं कर सके हैं, यथाः—

मन्त्रारिष्टोत्कर्तननिष्पीडनचूषणाग्निपरिषेकाः । अवगाहनरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानानि ।
हृदयावरणाञ्जननस्यधूमलेहौषधिप्रधमनानि । प्रतिसारणं प्रतिविषं संज्ञासंस्थापनं लेपः ॥
मृतसंजीवनमेव च विंशतिरेते चतुर्भिरिधिकाः । स्युरुपक्रमा यथा ये यत्र योग्याः शृणु तथा तान् ।
च० चि० अ० २३ श्लोक ३५-३७ ।

द्वारा अत्यन्त कर्षण करने से, बहुत बोझा ढोने से, चोट लगने से और दिन में अधिकतर सोनेसे स्त्रियों को प्रदर नामक रोग होता है। यह रोग १ कफज, २ पित्तज, ३ वातज, और ४ सन्निपातज, इस तरह चार प्रकार का होता है।

यहाँ पर कफ को पित्त और वात से पहले कहा गया है, इसका अभिप्राय यह है कि कफज प्रदर में स्राव अत्यधिक मात्रा में होता है ॥ १-२ ॥

प्रदरस्य सामान्यलक्षणमाह—

असृग्दरं भवेत्सर्वं साङ्गमर्दं सवेदनम् ॥ ३ ॥

ॐअसृग्दरम् = असृग्दीर्यते = च्यवतेऽस्मिन्नित्यसृग्दरम्, अच्प्रत्ययान्तम् । सवेदनं = सशूलम् ॥ ३ ॥

प्रदर का सामान्य लक्षण—प्रदर रोग में दूषित रज का अत्यधिक स्राव होता है और अङ्ग टूटता है तथा शूल की तरह पीड़ा होती है। असृक् (दूषित रज) इस रोग में अत्यधिक गिरता है, इसीलिए इस रोग को असृग्दर (प्रदर) कहते हैं ॥ ३ ॥

कफजप्रदर[1] लक्षणमाह—

आमं सपिच्छाप्रतिमं सपाण्डु पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु ॥ ४ ॥

ॐआमम् = अपक्वरसयुक्तम् । सपिच्छाप्रतिमं = पिच्छा = शाल्मल्यादिनिर्यासस्तत्तुल्यं,

---

१. कफज प्रदर को पाश्चात्य वैद्यक में ल्यूकोरिया (Leucorrhoea) कहते हैं।

लक्षण—ल्यूकोरिया (Leucorrhoea) उत्पादक अङ्गों (Genital organs) द्वारा निकले हुए उस स्राव (Discharge) विशेष को कहते हैं, जो गाढ़ा और श्वेत अथवा किञ्चित् पीत वर्ण चिपचिपा तथा श्लैष्मिककला के टुकड़ों (Mucous membrane) से व्याप्त हो। अपने यहाँ भी इसका लक्षण इसी प्रकार का है, यथा:—

'आमं सपिच्छाप्रतिमं सपाण्डु पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु'।

कारण (Causes)—

१—जननेन्द्रियात्मक (Genital) २—बहिर्जननेन्द्रियात्मक (Extra genital)।

१—जननेन्द्रियात्मक (Genital) में गर्भाशय (uterus), अपत्यपथ (Vagina) और योनि (Vulva) इनमें शोथयुक्त स्थान की उपस्थिति।

२—गर्भाशय के भीतरी स्तर—(Endometrium) में परिवर्त्तन, गर्भाशयग्रीवा की श्लैष्मिककला (Cirvical mucous membrane) में परिवर्तन तथा रक्ताधिक्य।

३—ग्रन्थियों (Glands) का स्राव (Discharge) अधिक होना।

४—बीजग्रन्थि (Ovary) के कार्य (Action) का बढ़ जाना-इसके कारण गर्भाशय के भीतरी स्तर की ग्रन्थियों (Endometrial glands) का स्राव (Secretion) अधिक होता है।

५—ऐसे अर्बुदों की उपस्थिति-जो गर्भाशय की श्लैष्मिककला पर प्रभाव डालते हों अथवा अपत्यपथ और योनि (Vulva) पर प्रभाव डालते हों।

६—ऐसे अर्बुद जो टूट रहे हों अथवा नाशकारी (Degenarative) हों इनकी उपस्थिति। ये सब ल्यूकोरिया के कारण माने जाते हैं। संक्षेप में यह वस्तुतः अनेक प्रकार के उपसर्गों से उत्पन्न होने वाला एक लक्षण मात्र है।

श्वेत प्रदर (Leucorrhoea) का उपसर्ग (Infection) दो प्रकार से फैलता है।

१—गर्भाशय तथा गर्भाशयिक ग्रीवा से उत्पन्न होने वाले स्राव (Cirvical and uterine Discharge or activity) को बढ़ा देना और कभी कभी (Vulvular glands) की क्रिया (Activity) को बढ़ा देना।

पिच्छिलमित्यर्थः। सपाण्डु = सहशब्दोऽत्रेषदर्थः, तेनेषत्पाण्डु। पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु पुलाकः = तुच्छधान्यं, तद्धावनतोयतुल्यमित्यर्थः। रुधिरं स्रवेदित्यर्थः॥ ४॥

कफज प्रदर के लक्षण—कफज प्रदर में कच्चे रस वाला, सेम आदि के गोंद की तरह चिकना, तनिक पीले वर्ण का और पुलाक नामक तुच्छ धान्य के धोवन के समान रुधिर (दूषित रज) बहता रहता है॥

[1]पित्तजप्रदरलक्षणमाह—

सपीतनीलासितरक्तमुष्णं पित्तार्तियुक्तं भृशवेगि पित्तात्॥ ५॥

२—अपत्यपथ Vagina की म्यूकस मेम्ब्रेन (mucous membrane) की दशा (Condition) को अस्वस्थ (unhealthy) बना देना और योनिगत रक्त और लसिकावाहिनियों (vaginal Vessels) में से लसिका (Serum) टपकने लगता है। इस प्रकार का उपसर्ग (Infection) बहुत कठिन होता है। gonoccocal infection बहुत भीषण स्वरूप का होता है। यह साधारण भी हो सकता है Staphylococcii, स्ट्रेप्टोकोकाई (Strepto cocci) का अन्दर घुस कर Infection हो जाना।

Ulceration of cervix यह कुमारियों में भी हो सकता है। यह leucorrhoea का सामान्य प्रकार है। यह (cirvical gland) में थोड़े उपसर्ग (Infection) के कारण होता है।

(Ovarian action) का बढ़ जाना:—असाधारण (abnormal) अथवा अधिक Sexual exitement का होना जो कि किसी प्रकार की (ovary) की बीमारी के कारण होता है। (tumours) जोकि टूटना शुरू (Degeneration) किये हुए हैं वह अपने आस-पास की Glands पर प्रभाव डाल कर (Leucorrhoea) उत्पन्न करते हैं। जब वह टूट जाते हैं तो Discharge उनके slough के रूप में निकलता है। ऐसे Tumours निम्नलिखित हैं।

Found in the Uterus—

(1) Myoma (2) Sarcoma (3) Carcinoma (4) Polypus आदि और भी हैं। देखा गया है कि जब Leucorrhoea एक साधारण Inflammation या Inflammatory condition का लक्षण होता है तो वह serious type की Generative disease का Infection होगा। यह बड़ी ब्याही हुई स्त्रियों के ही लिए आवश्यक नहीं है।

२—Extra genital Causes—ये Common हैं और Important नहीं हैं। इनमें कुछ अस्वस्थावस्था की condition आती है। जैसे Anaemia इसमें mucous membrane से Serum निकल आता है और ऐसी Condition जो Genital organs में रक्ताल्पता पैदा कर दे, जैसे constipation, Abdominal tumours, जलोदर (Ascitis), अर्श (Piles), सिस्टाइटिस इत्यादि। इन अवस्थाओं में भी होते हैं।

१. पाश्चात्त्य वैद्यक में पैत्तिक प्रदर या रक्तप्रदर मेट्रोरेजिया और मेनोरेजिया (Metrorrhagia and menorrhagia) कहते हैं। किन्तु वस्तुतः रक्तप्रदर को मेट्रोरेजिया (Metrorrhagia) ही कहते हैं।

इनकी परिभाषा निम्न पंक्तियों में दी जाती है। भेद स्पष्ट हो जायगा:—

१—मासिकस्राव (Menstural discharge) में प्रथम ४–५ दिन में अधिक रक्त के निकलने को मेनोरेजिया (menorrhagia) कहते हैं।

२—रजःस्राव-काल के बाद रक्त (Blood) का अधिक निकलना मेट्रोरेजिया (Metrorrhagia) कहलाता है।

इन दोनों के निम्न कई प्रकार के कारण होते हैं:—

१—जननेन्द्रियात्मक (Genital)।

*सपीतनीलासितरक्तम् = पीतादिवर्णयुक्तम् । पित्तार्त्तियुक्तं=दाहादियुक्तम् । भृशवेगि=वारंवारं प्रवृत्तियुक्तम् ॥ ५ ॥

पित्तज प्रदर के लक्षण--पित्तजन्य प्रदर में पीला, नीला, साँवला, लाल तथा गरम रक्त (दुष्ट रज), पित्तजन्य दाह--आदि लक्षणों के साथ वार-वार वहा करता है ॥ ५ ॥

वातजप्रदरलक्षणमाह--

रूक्षारुणं फेनिलमल्पमल्पं वातात्सतोदं पिशितोदकाभम् ॥ ६ ॥

*पिशितोदकाभं=मांसधावनतोयाभम् ॥ ६ ॥

वातज प्रदर[1] के लक्षण—वातजन्य प्रदर में रूखा, कालिमा लिये हुए लाल, फेन युक्त और मांस के धोवन के रंग का थोड़ा-थोड़ा स्राव, सूई कोंचने जैसी पीड़ा के सहित होता है ॥ ६ ॥

२—रक्तवहसंस्थान के दोष (Circulatory)।

३—मस्तिष्कसंस्थान के विकार (Nervous cause)।

४—निःस्रोतग्रन्थियाँ (Ductless glands)।

१—जननेन्द्रियात्मक कारण (Genital causes)-इसमें बीजग्रन्थि (ovary) और गर्भाशय (uterus) के अर्बुद (Tumours) तथा बहिर्गर्भस्थिति (Extra uterine pregnancy) और इसके अतिरिक्त गर्भाशय के भीतर शोथ (Inflammation) अथवा गर्भाशयस्थानभ्रंश (Displacements of uterus) और प्रसव के बाद गर्भाशय में अपरा (placenta) अथवा कला (Membrane) आदि का कोई टुकड़ा रह जाना ये सब कारण होते हैं।

२—रक्तवह (circulatory) संस्थान के दोष—वे सारे कारण तथा रोग जिनसे रक्तभार (Blood pressure) की वृद्धि होती है, यथा-हृदय और किडनी के रोग (Heart and Kidney Diseases), उदरप्रदेश के अर्बुद (Abdominal tumours), इनके अतिरिक्त ब्रांकियेक्टेसिस (Bronchiectesis) तथा एम्फीसीमा इत्यादि फेफड़े की बीमारियाँ ये सब मेनोरेजिया (Menorrhagia) के कारण होते हैं।

३—मस्तिष्कसंस्थान के विकार (Nervous cause) कुछ ऐसी दशाएँ हैं, जो रिफलेक्स मेनोरेजिया (Reflex menorrhagia) को पैदा करती हैं। अधिकतर मेनोरेजिया (Menorrhagia) अधिक विषय-सेवन से होता है अथवा अधिक गर्म जल से स्नान करने से या अधिक मानसिक परिश्रम इत्यादि करने से होता है।

४—निःस्रोतग्रन्थियाँ (Ductless glands)

१—बीजग्रन्थि (ovary) का अधिक रसस्राव (Secretion)

२—अवटुकाग्रन्थि (Thyroid gland) का अधिक रसस्राव (Secretion)।

ये दोनों मेनोरेजिया (Menorrhagia) को उत्पन्न करते हैं।

चिकित्सा—सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि यह जननेन्द्रियात्मक (Genital) कारणों से उत्पन्न हुआ है या बहिर्जननेन्द्रियात्मक (Extra-genital) कारणों से उत्पन्न हुआ है। यदि इन कारणों से उत्पन्न हुआ है तो इसकी चिकित्सा आरम्भ में ही कर डालनी चाहिए। बाद में करने से कोई लाभ नहीं होता। यदि निःस्रोत ग्रन्थियों (Ductless glands) की अस्वाभाविकता (Abnormality) के कारण रोग होता है तो चिकित्सा अधिक महत्त्व की होती है।

१—यदि बीजग्रन्थिस्राव (ovarian secretion) की अधिकता हो तो सुप्रारीनल या पिट्यूटरी (Suprarenl or Pituitary) के स्राव (Secretion) का इन्जेक्शन देना चाहिए।

त्रिदोषजप्रदरलक्षणमाह—

सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्णं मज्जप्रकाशं कुणपं त्रिदोषम् ।

२—अवटुका ग्रन्थि (Thyroid secretion) की अधिकता में कैलशियम लेक्टेट Calcium lactate) ५ से ६ ग्रेन की मात्रा में लाभप्रद होता है ।

१. वातजन्य प्रदर को पाश्चात्त्य परिभाषा के अनुसार डिसमिनोरिया (Dysmenorrhoea या कष्टार्त्तव) कहते हैं । यदि आर्त्तव मात्रा में कम किन्तु आराम के साथ होता हो तो उसे डिसमिनोरिया (Dysmenorrhoea) नहीं कहते । यदि थोड़ा दर्द जैसा कि साधारणतः मासिक-धर्म के समय हुआ करता है, हो तो उसे भी डिसमिनोरिया नहीं कहते; किन्तु जब आर्त्तव के समय बहुत अधिक पीड़ा होती है, उसी अवस्था को कष्टार्त्तव या डिसमिनोरिया (Dysmenorrhoea) कहते हैं । यथाः—

कटीवंक्षणहृत्पार्श्वपृष्ठश्रोणिषु मारुतः । कुरुते वेदनां तीव्रामेतद् वातात्मकं विदुः ॥ चरक ।

इसके कारण को निम्न-निम्न भागों में बाँटा गया हैः—

१—जननेन्द्रियात्मक (Genital)

२—बहिर्जननेन्द्रियात्मक (Extra genital)

१—जननेन्द्रियात्मक (Genital) कारण—

(क) वीजग्रन्थि (Ovary) और गर्भाशय का पूर्ण रूप से विकसित न होना (Undeveloped condition of ovary and uterus) ।

(ख) वीजग्रन्थि (ovary), गर्भाशय (uterus) तथा फेलोपिअन ट्यूबस् (Fallopion tubes), इनका शोथ (Inflammation) होना, इस अवस्था (Condition) के बाद इनमें व्रण (ulceration) हो जाता है ।

(ग) गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) के अन्तःस्तर (Endometrium) का उलट जाना ।

(घ) गर्भाशय का स्थानभ्रंश (Displacement of uterus) ।

(ङ) वीजग्रन्थि (ovary), गर्भाशय (uterus) फेलोपिअन ट्यूबस् (Fallopion tubes) के अर्बुद (Tumours) ।

(च) सहज या जन्म के पश्चात् (Congenital or acquired) गर्भाशय ग्रीवा के मार्ग (Cervical canal) का बन्द हो जाना (Stenosis) ।

आर्त्तव काल में रक्ताधिक्य (congeston) के कारण रक्तनलिकाओं (Blood vessels) में तनाव (Tension) पैदा होता है । इस तनाव के कारण ज्ञानतन्तुओं के अग्रभागों (Endings of the Nerve filaments) पर दबाव पड़ता है और इसी दबाव के कारण पीड़ा होती है।

जब डिसमिनोरिया (Dysmenorrhoea) रक्ताधिक्य (congestion) के कारण नहीं होता है तो यह यान्त्रिक कारण (Mechanical cause) से होता है । इससे मासिक स्राव का प्रवाह (Menstrual flow) किसी अवरोध (obstruction) के कारण रोक दिया जाता है ।

अवरोध के प्रकारः-१-गर्भाशयग्रीवा की नलिका (Cervical canal) का अवरुद्ध हो जाना

२—गर्भाशय या गर्भाशयग्रीवा अथवा गर्भाशयद्वार पर किसी अर्बुद (Tumours) का उत्पन्न हो जाना ।

३—गर्भाशय मुखद्वार का रक्ताधिक्ययुक्त गर्भाशयान्तःस्तर (Congested andometrium) के द्वारा अवरुद्ध हो जाना और यह गर्भाशय (uterus) के बिल्कुल झुक जाने (Flexion) के कारण होता है । ओवल्यूशन (ovulution) के लिए जो अवरोध (obstruction) होता है वह पेरीफराइटिस (Periphritis) के कारण होता है । जिससे वीजग्रन्थि का आवरण

तच्चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा न तत्र कुर्वीत भिषक्चिकित्साम् ॥ ७ ॥

*सक्षौद्रसर्पिः = क्षौद्रादिवर्णसहितम् । कुणपं = शवगन्धि ॥ ७ ॥

(Capsule) मोटा होने के कारण ग्रेफियन फालीकिल (Graffian follicle) को फटने नहीं देता । ऐसे रोगियों के बीजग्रन्थि (ovary) में अनेक सिस्ट (Cyst) उत्पन्न हो जाती है । जो कि ग्रेफियन फालीकिल (Graffion follicle) के पास पहुँचते हैं । ऐसी अवस्था में जो पीड़ा होती है वह अधिकतर मासिक धर्म के मध्यकाल में (Midmenstrual Pain) उपस्थित होती है । सब अवस्थाओं में मासिकचक्र (menstrual cycle) के छठवें दिन ग्रेफियन फालीकिल (Graffion follicle) फटते हैं अथवा गतमासिक-काल (Last menstrual Period) के ११ दिन बाद । कुछ थोड़े बहुत रोगियों में गर्भाशय (uterus) की बिना फटी श्लेष्मलकला (Membrane) प्रत्येक मासिकस्राव के समय (Menstrual Period) में अलग हो जाती है । इस प्रकार अलग होकर अन्तिम अवस्था में दर्द पैदा कर देती है । इसको मेम्ब्रेनस-डिसमिनोरिया (Membranous Dysmenorrhoea) कहते हैं ।

१—कष्टार्त्तव के बहिर्जननेन्द्रियात्मक कारण—

(Extra genital Causes of dysmenorrhoea):—

१—साधारण स्वास्थ्य की खराबी (General ill health) जैसे कि पाण्डुरोग (Anaemia) तथा हरितरोग (chlorosis) ।

२—आमवात अथवा वातरक्त की प्रवृत्ति (Rheumatic or Gouty tendency)।

३—न्यूरेल्जिया (Neuralgia)

४—नासिकाविकार (Nasal condition)

५—न्यूरेस्थीनिया (Neurasthenia)

चिकित्सा—

१—साधारण स्वास्थ्य की खराबी (General ill health) के जो कारण हों उन्हें दूर करना।

२—पौष्टिक और दस्तावर ओषधियों (Tonic and Laxative madicines) का प्रयोग करना । रक्त की कमी (Anaemia) को दूर करना । सड़े हुए दाँत, नासा के पालीपस, एडीन्वायट्स, ग्रन्थियों (Glands) का शोथ, मलावरोध (Constipation), भोजन की कमी, आन्त्रपुच्छशोथ (Appendicitis) तथा अर्श (Piles) इनको दूर करने का उपाय करना ।

३—वातरक्तजन्य (Due to Gouty) की चिकित्सा आमवात (Rheumatic) के अनुसार करनी चाहिए ।

४—न्यूरेलजिया (Neuralgia) से उत्पन्न होने वाले कष्टार्त्तव में फिनस्टीन (२ से ५ ग्रेन), एन्टीपायरीन (Antipyrine $\frac{1}{10}$ gr. by mouth), एस्पिरीन (Aspirin) तथा ब्रोमाइड्स (Bromides) इत्यादि का सेवन कराना चाहिए ।

५—नासिकादोषजन्य कष्टार्त्तव (Nasal Dysmenorrhoea) यह नासिका की ट्यूबरकुलम (Tuberculum) जो कि एक प्रकार का धातु (Tissue) होता है, उसमें पाया जाता है । यह मासिकधर्म (Menstruation) में फूल जाता है । इसमें %२० कोकीन के घोल को लगाना चाहिए । यदि इससे ठीक नहीं होता है तो दाहकर्म किया जाता है । अथवा अम्ल (Acid) लगाकर काट दिया जाता है ।

५—न्यूरेस्थीनिया (Neurasthenia) का कष्टार्त्तव (Dysmenorrhoea)—इसकी चिकित्सा बहुत कठिन है । इसमें ऐसे कारण लाभदायक होते हैं, जिनसे मानसिक शक्ति बढ़े । बीजग्रन्थिका सत्त्व (ovarian Extract) इसकी विशेष चिकित्सा है । इसमें अवटुका, ग्रन्थिका

त्रिदोषज प्रदर का लक्षण—त्रिदोषज प्रदर में शहद, घी, हरताल के समान रंग वाला, मज्जा के समान और सड़े मुर्दे की सी गंधवाला स्राव होता है। प्रदर-विशेषज्ञ वैद्य इस (त्रिदोषज) प्रदर को असाध्य कहते हैं, इसलिए इस की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ ७॥

अत्यन्तरुधिरनिःसरणोपद्रवानाह—

तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं श्रमो मूर्च्छा मदस्तृषा। दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः॥

***वातजा रोगाः = आक्षेपकादयः॥ ८॥**

अत्यधिक रुधिर (दूषित रज) का स्राव होजाने से उपद्रव—अत्यधिक रुधिर बहने से दुर्बलता, थकावट, बेहोशी, मद, अत्यधिक प्यास, जलन, प्रलाप, शरीर में पीलापन, तन्द्रा और आक्षेपक, अपतन्त्रक आदि वातजन्य रोग होते हैं॥ ८॥

असाध्यप्रदररोगिणीलक्षणमाह—

शश्वत्स्रवन्तीमास्रावं तृष्णादाहज्वरान्विताम्। दुर्बलां क्षीणरक्ताञ्च तामसाध्यां विवर्जयेत्॥

प्रदर का असाध्य लक्षण—जिस प्रदररोगिणी के निरन्तर स्राव हो, अत्यधिक प्यास और जलन तथा ज्वर से पीड़ित हो, अत्यन्त दुर्बल हो और जिस के शरीर का रक्त अधिक क्षीण हो गया हो, उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह असाध्य होती है॥ ९॥

चिकित्सानिवृत्त्यर्थं शुद्धार्त्तवलक्षणमाह—

मासान्निष्पिच्छदाहार्त्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च। नैवातिबहु नात्यल्पमार्त्तवं शुद्धमादिशेत्॥

चिकित्सा बन्द कर देने के लिए शुद्ध आर्त्तव का लक्षण—ठीक महीने के दिनों में, बहुत चिकनाहट रहित, जलन रहित और शूलहीन अर्थात् विकृत कफ, वात, पित्त आदि के लक्षणों से रहित, न अधिक न थोड़ा अर्थात् मध्यम परिणाम में रजःस्राव हो, जो पाँच रात तक रहे तो उसे शुद्ध आर्त्तव समझना चाहिए और तब ऐसे प्रदररोगिणी की चिकित्सा बन्द कर देनी चाहिए॥

***निष्पिच्छादाहार्त्ति = अपिच्छिलमदाहमशूलम्, एतेन विकृतवातादिलक्षणरहितमित्यर्थः। पञ्चरात्रानुबन्धि = प्रभूतप्रवृत्त्या त्रिरात्रानुबन्धि, ततो मध्यमप्रवृत्त्या पञ्चरात्रानुबन्धि, ततः परं कस्याश्चिच्चेत्स्रवति, तदा स्वल्पप्रवृत्त्या षोडशदिनानि यावत्तदपि शुद्धमेव॥**

रजोदर्शन काल में यदि रक्त अधिक जाता है तो तीन दिन तक स्रवता है, यदि मध्यम परिमाण में जाता है तो ५ दिन तक रहता है और किसी-किसी स्त्री के अल्पस्राव होने के कारण थोड़ा-थोड़ा १६ दिन तक गिरता रहता है, किन्तु यदि उपर्युक्त शुद्ध रज के लक्षण उसमें मिलते हों तो इसे भी शुद्ध ही जान कर प्रदर को शान्त समझना चाहिए॥ १०॥

प्रदरचिकित्सामाह—

दध्ना सौवर्चलं जाजी मधुकं नीलमुत्पलम्। पिबेत्क्षौद्रयुतं नारी वातासृग्दरशान्तये॥११॥

***सौवर्चल-जीरा यष्टीमधु-नीलकमलपुष्पाण्येषां प्रत्येकं माषद्वयं, सर्वमेकीकृत्य दध्ना कर्षचतुष्टयेन पिष्ट्वा तत्र माषाष्टकं मधु क्षिप्त्वा पिबेत्॥ ११॥**

वातज प्रदर की चिकित्सा—काला नमक, जीरा, मुलेठी और नीले कमल का फूल प्रत्येक दो-दो माशा एक में मिलाकर चार तो० दही में पीस कर ८ माशा शहद मिलाकर खाते रहने से वातजन्य प्रदर नष्ट हो जाता है॥ ११॥

मधुकं कर्षमेकं तु कर्षकाञ्च सितां तथा। तण्डुलोदकसम्पिष्टां लोहिते प्रदरे पिबेत्॥

सत्त्व (Thyroid Extract) मिलाकर देना चाहिए। एन्टीरियर लोब आफ् पिट्यूटरी (Anterior love of pitutary) को भी दे सकते हैं। इसमें मद्य तथा अफीम (Alcohol and opium) की चिकित्सा लाभप्रद नहीं होती।

रक्तप्रदर-चिकित्सा—मुलेठी १ तो० और मिश्री १ तो०, इन दोनों को चावलों के धोवन में पीस कर पीने से रक्त प्रदर नष्ट हो जाता है।

बला कङ्कतिकाऽऽख्या या तस्या मूलं सुचूर्णितम्। लोहितप्रदरे खादेच्छर्करामधुसंयुतम्॥

कंघी की जड़ का चूर्ण मिश्री और शहद में मिलाकर खाने से रक्त प्रदर नष्ट हो जाता है।

शुचिस्थाने व्याघ्रनख्या मूलमुत्तरदिग्भवम्। नीतमुत्तरफल्गुन्यां कटिबद्धं हरेदसृक्॥ १२॥

*व्याघ्रनखी 'बघनखी' इति लोके॥ १२॥

'पवित्र स्थान में होने वाली और उत्तर दिशा में स्थित व्याघ्रनखी (बघनखी) को उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में लाकर कमर में बाँधने से प्रदर नष्ट हो जाता है॥ १२॥

रसाञ्जन तण्डुलकस्य मूलं क्षौद्रान्वितं तण्डुलतोयपीतम्।
असृग्दरं सर्वभवं निहन्ति श्वासञ्च भार्गी सह नागरेण॥ १३॥

*तण्डुलकस्य = तण्डुलीयकस्य॥ १३॥

रसौत और चौलाई की जड़ चावलों के धोवन में पीस कर शहद मिला कर पीने से सभी दोषों से उत्पन्न प्रदर भी नष्ट हो जाता है। सोंठ और भारंगी को चावलों के धोवन के साथ पीने से श्वास और प्रदर नष्ट हो जाते हैं॥ १३॥

अशोकवल्कलक्काथश्रृतं दुग्धं सुशीतलम्। यथाबलं पिबेत्प्रातस्तीव्रासृग्दरनाशनम्॥ १४॥

*अशोकवल्कलपलं द्वात्रिंशत्पलसम्मितेन जलेन निक्वाथ्य शेषं रक्षेत्पलाष्टकं क्वाथं, तेन क्वाथेन सह क्षीरं पलाष्टकमितं विपचेत्तत्र दुग्धावशेषः कर्त्तव्यः, तन्मध्ये पलचतुष्टयमितं दुग्धं पेयं वह्निबलापेक्षया॥ १४॥

अशोक की १ पल (४ तो०) छाल को ३२ पल जल में पकाये, जब ८ पल शेष रह जाय तो इसी काढ़े के साथ ८ पल दूध डालकर पकाये और जब काढ़ा जल जाय केवल दूध ही रह जाय तो उतार कर छान कर ठंढा कर ले। इसमें से ४ पल दूध प्रातःकाल पीये और यदि अग्नि मन्द हो तो और कम पीये। इससे तीव्र प्रदर भी नष्ट हो जाता है॥ १४॥

कुशमूलं समुद्धृत्य पेषयेत्तण्डुलाम्बुना। एतत्पीत्वा त्र्यहं नारी प्रदरात्परिमुच्यते॥ १५॥

कुश की जड़ को चावलों के धोवन से पीस कर पीने से तीन ही दिन में स्त्री प्रदर से मुक्त हो जाती है॥ १५॥

क्षौद्रयुक्तं फलरसमौदुम्बरभवं पिबेत्। असृग्दरविनाशाय सशर्करपयोऽन्नभुक्॥ १६॥

*अन्नम् = ओदनम्॥ १६॥

गूलर के कच्चे फलों के रस में शहद मिला कर पीने से और दूध, मिश्री और भात खाने से प्रदर नष्ट हो जाता है॥ १६॥

अलाबुफलचूर्णस्य शर्करासहितस्य च। मधुना मोदकं कृत्वा खादेत्प्रदरशान्तये॥ १७॥

प्रदर की शान्ति के लिए लौकी के फल के चूर्ण में समभाग शक्कर डालकर शहद के साथ लड्डू बनाकर बलानुसार खाना चाहिए॥ १७॥

दार्व्यादिक्वाथमाह—

दार्वीरसाञ्जनकिरातवृषाब्दबिल्वसक्षौद्रचन्दनदिनेशभवप्रसूनैः।
क्वाथः कृतो मधुयुतो विधिना निपीतो रक्तं सितञ्च सरुजं प्रदरं निहन्ति।
रक्तपित्ताधिकारोक्तं हितं कूष्माण्डखण्डकम्॥ १८॥

इत्यष्टषष्टितमः प्रदराधिकारः समाप्तः॥ ६८॥



दारुहल्दी, रसौंत, चिरायता, अडूसा, नागरमोथा, श्रीफल की गिरी, लाल चन्दन और मंदार का फूल इनके काढे में शहद (प्रत्येक चीज से दुगुनी) डालकर विधिपूर्वक पीने से रक्त और श्वेत प्रदर तथा उन की पीड़ाएँ सब नष्ट हो जाती हैं।

रक्तपित्ताधिकार में जो कुष्माण्डखण्ड कहा गया है वह भी प्रदर रोग में हितकर है ॥१७-१८॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणेऽष्टषष्टितमः प्रदराधिकारः समाप्तः ॥ ६८ ॥



अथैकोनसप्ततितमः सोमरोगाधिकारः ॥ ६९ ॥

तत्र सोमरोगस्य निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

स्त्रीणामतिप्रसङ्गेन शोकाच्चापि श्रमादपि । आभिचारिकयोगाद्वा गरयोगात्तथैव च ॥ १ ॥
आपः सर्वशरीरस्थाः क्षुभ्यन्ति प्रस्रवन्ति च । तस्यास्ताः प्रच्युताः स्थानान्मूत्रमार्गं व्रजन्ति हि

सोमरोग की निदान सहित सम्प्राप्ति—अत्यन्त मैथुन करने से, अत्यन्त शोक करने से, अत्यन्त परिश्रम से, अभिचार (मंत्रादि) के प्रयोग से और विषप्रयोग से स्त्रियों के समस्त शरीर का जलीय धातु क्षुभित होकर अपने समुचित स्थान से च्युत होकर मूत्रमार्ग द्वारा शरीर से बाहर स्रवता (जाता) है ॥ १-२ ॥

सोमरोगलक्षणमाह—

प्रसन्ना विमलाः शीता निर्गन्धा नीरुजाः सिताः ।
स्रवन्ति चातिमात्रं ताः सा न शक्नोति दुर्बला ॥ ३ ॥

वेगं धारयितुं तासां न विन्दति सुखं क्वचित् । शिरः शिथिलता तस्य मुखं तालु च शुष्यति ॥
मूर्च्छा जृम्भा प्रलापश्च त्वग्रूक्षा चातिमात्रतः । भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च न तृप्तिं लभते सदा ॥
सन्धारणाच्छरीरस्य ता आपः सोमसंज्ञिताः । ततः सोमक्षयात्स्त्रीणां सोमरोग इति स्मृतः ॥

सोमरोग के लक्षण—ऐसी स्त्रियों के मूत्रमार्ग से प्रसन्न, निर्मल, ठंडा, गन्धहीन, पीड़ाहीन, श्वेत जल अत्यधिक मात्रा में जाया करता है। वह स्त्री इस जलीय धातु को रोकने में असमर्थ होने से अत्यन्त दुर्बल हो जाने के कारण सदा बेचैन रहती है। उसका शिर शिथिल हो जाता है, मुख और तालु सूखता है, बेहोशी होती है, जम्हाई आती है, प्रलाप होता है और त्वचा में अत्यन्त रूक्षता आ जाती है तथा भक्ष्य, भोज्य और पीने वाले किसी भी पदार्थ से कभी उस स्त्री को तृप्ति नहीं होती। यह जलीय धातु शरीर को धारण करने के कारण 'सोम' कहलाता है। इसलिए स्त्रियों के इस सोम नामक जलीय धातु के क्षय होने के कारण इस रोग को 'सोमरोग' कहा जाता है ॥ ३-६ ॥

सोमरोगचिकित्सामाह—

कदलीनां फलं पक्वं धात्रीफलरसं मधु । शर्करासहितं खादेत्सोमधारणमुत्तमम् ॥ ७ ॥

सोमरोग की चिकित्सा—केले का पका हुआ फल, आँवले के फल का स्वरस शहद और मिश्री मिलाकर खाने से सोमरोग अच्छा हो जाता है ॥ ७ ॥

माषचूर्णं समधुकं विदारीं मधुशर्कराम् । पयसा पाययेत्प्रातः सोमधारणमुत्तमम् ॥ ८ ॥

उड़द का चूर्ण, मुलेठी का चूर्ण, विदारीकन्द, शहद और मिश्री इनको मिलाकर दूध के साथ प्रातःकाल पीने से सोमरोग नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

स एव सरुजः सोमः स्रवेन्मूत्रेण चेन्मुहुः । तत्रैलापत्रचूर्णेन पाययेद्वारुणीं सुराम् ॥ ९ ॥

यही सोम यदि पीड़ायुक्त और मूत्र के साथ बार-बार निकले तो इलायची और तेज पत्ते के चूर्ण को ताजी मदिरा (ताड़ी) के साथ पिलाना चाहिए ॥ ९ ॥

जलेनामलकी बीजकल्कं समधुशर्करम् । पिबेद्दिनत्रयेणैव श्वेतप्रदरनाशनम् ॥ १० ॥

आँवले की गिरी जल के साथ पीसकर शहद और मिश्री मिलाकर पीने से तीन दिन में (शीघ्र) ही श्वेत प्रदर नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

तक्रौदनाहाररता सम्पिबेन्नागकेशरम् । त्र्यहं तक्रेण सम्पिष्टं श्वेतप्रदरशान्तये ॥ ११ ॥

नागकेशर को मट्ठे के साथ पीने से और नित्य मट्ठा और भात खाते रहने से तीन दिन में (शीघ्र) श्वेतप्रदर नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

सोमरोगे मूत्रातिसारलक्षणमाह—

सोमरोगे चिरं जाते यदा मूत्रमतिस्रवेत् । मूत्रातिसारं तं प्राहुर्बलविध्वंसनं परम् ॥ १२ ॥

इत्यैकोनसप्ततितमः सोमरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ६९ ॥



मूत्रातिसार के लक्षण—सोमरोग के पुराने हो जाने पर जब मूत्र अत्यधिक मात्रा में जाने लगता है तो इसे 'मूत्रातिसार' कहते हैं। यह रोग (मूत्रातिसार) बल का अत्यन्त नाश करता है ॥ १२ ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे एकोनसप्ततितमः सोमरोगाधिकारः समाप्तः ॥६९॥



अथ सप्ततितमो योनिरोगाधिकारः ॥ ७० ॥

तत्र योनिरोगनिदानमाह—

मिथ्याऽऽहारविहाराभ्यां दुष्टैर्दोषैः प्रदूषिताम् । आर्त्तवाद्बीजतश्चापि दैवाद्वा स्युर्भगे गदाः ॥

योनिरोगों का निदान—मिथ्या आहार और विहार से प्रकुपित वातादि दोषों से दूषित होने से, रजोदोष से, वीर्य के दोष से या कभी-कभी पूर्व जन्मकृत अशुभ कर्म के कारण योनि में रोग होते हैं ॥ १ ॥

योनिरोगनामान्याह—

उदावर्त्ता तथा वन्ध्या विप्लुता च परिप्लुता । वातला योनिजो रोगो वातदोषेण पञ्चधा ॥

योनिरोगों के नाम—१ उदावर्त्ता योनि, २ वन्ध्या योनि, ३ विप्लुता योनि, ४ परिप्लुता योनि तथा ५ वातला योनि इस प्रकार वायु द्वारा दूषित होने से ये पाँच योनियाँ होती हैं ॥ २ ॥

पञ्चधा पित्तदोषेण तत्रादौ लोहितक्षरा । प्रस्रंसिनी वामनी च पुत्रघ्नी पित्तला तथा ॥ ३ ॥

पित्त के दोष से भी ५ प्रकार के योनिरोग उत्पन्न होते हैं, यथा:—१ लोहितक्षरा योनि, २ प्रस्रंसिनी योनि, ३ वामनी योनि, ४ पुत्रघ्नी योनि और ५ पित्तला योनि ॥ ३ ॥

अत्यानन्दा कर्णिनी च चरणानन्दपूर्विका । अतिपूर्वाऽपि सा ज्ञेया श्लेष्मला च कफादिमाः ॥

१ अत्यानन्दा योनि, २ कर्णिनी योनि, ३ आनन्दचरणा योनि, ४ अतिचरणा योनि और ५ श्लेष्मला योनि, इस प्रकार कफ द्वारा योनि के दूषित होने पर ५ प्रकार के योनिरोग उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥

षण्ढ्यण्डिनी च महती सूचीवक्त्रा त्रिदोषिणी । पञ्चैता योनयः प्रोक्ताः सर्वदोषप्रकोपतः ॥

१ षण्ढी योनि, २ अण्डिनी योनि, ३ विवृता योनि, ४ सूचीवक्त्रा योनि और ५ त्रिदोषिणी योनि इस प्रकार तीनों दोषों के प्रकोप से भी पाँच प्रकार के योनिरोग होते हैं ॥ ५ ॥

उपर्युक्तयोनिरोगलक्षणमाह—

सफेनिलमुदावर्त्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति। वन्ध्या निरार्त्तवा ज्ञेया विप्लुता नित्यवेदना॥

उदावर्त्ता, वन्ध्या और विप्लुता के लक्षण—जिस योनि से बड़े कष्ट के साथ झागयुक्त रजःस्राव हो उसे 'उदावर्त्ता' कहते हैं। जिस योनि से रजःस्राव कभी होता ही नहीं उसे 'वन्ध्या' कहते हैं। जिस योनि में सदा पीड़ा हुआ करती है उसे 'विप्लुता' कहते हैं॥ ६॥

परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मरुजा भृशम्। वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोदपीडिता। चतसृष्वपि चाद्यासु भवन्त्यनिलवेदनाः॥ ७॥

***अनिलवेदनाः = तोदादयः, वातलायां त्वतिवातवेदना बोद्धव्या, वातलेत्यन्वर्थात्॥**

परिप्लुता और वातला योनिरोग के लक्षण—मैथुन करने पर जिस योनि में अत्यन्त पीड़ा होती है उसे 'परिप्लुता' कहते हैं। जो योनि खरखरी और कठिन हो तथा जिसमें तीव्र शूल और सूई कोंचने जैसी तीव्र पीड़ा हो उसे 'वातला योनि' कहते हैं। उदावर्त्ता आदि प्रारम्भ की चारो योनियों में ये लक्षण अति तीव्र होते हैं इसी से इस का नाम 'वातला' रखा गया है॥७॥

सदाहं क्षरते रक्तं यस्याः सा लोहितक्षरा। प्रस्रंसिनी स्रंसते च क्षोभिता दुष्प्रजायिनी॥८॥

***क्षोभिता = विमर्दिता। स्रंसते=स्वस्थानाच्च्यवते। दुष्प्रजायिनी=दुष्टप्रजननशीला॥८।**

लोहितक्षरा और प्रस्रंसिनी योनि के लक्षण—जिस योनि स जलनयुक्त रुधिर गिरता है, उसे 'लोहितक्षरा' कहते हैं। जो योनि मर्दन करने से अपने समुचित स्थान से हट जाय और विकृत सन्तान पैदा करे अथवा अत्यन्त कठिनाई से प्रसव करे उसे 'प्रस्रंसिनी' कहते हैं॥ ८॥

सवातमुद्गिरद्बीजं वामनी रजसा युतम्। स्थितं हि पातयेद्गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंस्रवात्॥ ९॥

***पुत्रशब्दोऽत्रापत्योपलक्षकः॥ ९॥**

वामनी और पुत्रघ्नी के लक्षण—जो योनि वायु के साथ रजसहित वीर्य को बाहर निकाल देती है उसे 'वामनी' कहते हैं। *और जो योनि स्थित गर्भ का स्राव कर दे अथवा अत्यधिक रुधिर* बहा कर गर्भपात कर दे उसे 'पुत्रघ्नी' कहते हैं। यहाँ पर 'पुत्र' शब्द 'अपत्य' का उपलक्षण है, अतः 'पुत्रघ्नी' पद में 'पुत्र-पुत्री' दोनों का ही बोध करना चाहिए॥ ९॥

अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाहपाकज्वरान्विता। चतसृष्वपि चाद्यासु पित्तलिङ्गोच्छ्रयो भवेत्॥

पित्तला योनि के लक्षण—अत्यधिक पित्त से दूपित योनि जलन और पाकयुक्त होती है तथा रोगिणी को ज्वर भी आता है। उपर्युक्त लोहितक्षरा, प्रस्रंसिनी, वामनी और पुत्रघ्नी में भी पित्तजन्य दाहादि लक्षण होते हैं; किन्तु इस पित्तला में ये पित्तज लक्षण अत्यधिक मात्रा में होते हैं, इसी लिए इसे 'पित्तला' कहते हैं॥ १०॥

अत्यानन्दा न सन्तोषं ग्राम्यधर्मेण विन्दति। कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां प्रजायते॥

***कर्णिका = मांसस्य कर्णिकाऽऽकारो ग्रन्थिः॥ ११॥**

अत्यानन्दा और कर्णिका योनियों के लक्षण—जिस योनि में अधिक मैथुन करने पर भी और मैथुन कराने की इच्छा बनी ही रहे उसे 'अत्यानन्दा' कहते हैं और प्रकुपित रक्त और कफ़ जिस योनि में मांस की गोली-सी गांठ पैदा कर देते हैं, उसे 'कर्णिनी' कहते हैं॥ ११॥

मैथुने चरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते। बहुशश्चातिचरणा तयोर्बीजं न तिष्ठति॥ १२॥

***अतिरिच्यते = रजो मुञ्चतीत्यर्थः। बहुशः = वारंवारमतिरिच्यते। तयोः = चरणातिचरणयोः॥ १२॥**

आनन्दचरणा और अतिचरणा के लक्षण—जो योनि मैथुन के समय पुरुष के पहले ही स्खलित हो जाती है उसे 'आनन्दचरणा' कहते हैं। और जो योनि पुरुष से पहले कई बार स्खलित हो जाती है उसे 'अतिचरणा' कहते हैं। इन दोनों योनियों में वीर्य नहीं रुकता॥ १२॥

श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्डूयुक्ताऽतिशीतला।
चतसृष्वपि चाद्यासु श्लेष्मलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥ १३ ॥

श्लेष्मला योनि के लक्षण—जो योनि अत्यन्त चिकनी, खुजलीयुक्त और अत्यन्त ठंढी होती है उसे 'श्लेष्मला' कहते हैं। कफ के ये पिच्छिलादि उपर्युक्त अत्यानन्दा आदि चारों कफज योनियों में भी होते हैं, किन्तु इस पाँचवीं (श्लेष्मला) में ये गुण अत्यधिक मात्रा में होते हैं। इसी लक्षण से इसे विशेषरूप से 'श्लेष्मला' कहते हैं ॥ १३ ॥

अनार्त्तवाऽस्तनी षण्ढी खरस्पर्शा च मैथुने। महामेढ्रगृहीताया बालायास्त्वण्डिनी भवेत् ॥

***अस्तनी = ईषत् स्तनौ यस्याः सा, अत्र लघ्या षण्ढी। महामेढ्रः पुरुषस्तेन गृहीतायाः, बालायाः, सूक्ष्मयोनिच्छिद्रायाः अण्डिनी = अण्डवल्लम्बमाना योनिर्भवति ॥ १४ ॥**

षण्ढी और अण्डिनी योनियों के लक्षण—जिस योनि से कभी रजोदर्शन नहीं होता और स्त्री के स्तन नाम मात्र के ही होते हैं और जो योनि मैथुन करने पर खरदरी प्रतीत होती है उसे 'षण्ढी' कहते हैं और जब बहुत छोटे छिद्र वाली स्त्री से कोई-कोई मोटे शिश्न वाला पुरुष मैथुन करता है तो उसकी योनि निकलकर अण्डकोष की भाँति लटकने लगती है। इस प्रकार की योनि को 'अण्डिनी' कहते हैं ॥ १४ ॥

विवृतां सूचीवक्त्रां चाह—

विवृताऽतिमहायोनिः सूचीवक्त्राऽतिसंवृता ॥ १५ ॥

विवृता और सूचीवक्त्रा के लक्षण—जिस योनि का छिद्र बहुत बड़ा हो उसे 'विवृता' और जिस का बहुत छोटा हो उसे 'सूचीवक्त्रा' कहते हैं ॥ १५ ॥

त्रिदोषजामाह—

सर्वलिङ्गसमुत्थाना सर्वदोषप्रकोपजा। चतसृष्वपि चाद्यासु सर्वलिङ्गनिदर्शनम् ॥ १६ ॥

त्रिदोषजा योनि के लक्षण—समस्त प्रकुपित दोषों द्वारा दूषित होने के कारण जिस योनि में सब दोषों के लक्षण मिलें, उसे 'त्रिदोषजा' कहते हैं। यद्यपि षण्ढी, अण्डिनी आदि उपर्युक्त चारों त्रिदोषज योनियों में भी तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं किन्तु इस पाँचवीं में ये त्रिदोषज लक्षण अत्यधिक मात्रा में मिलते हैं, इसीलिए इसका पृथक् 'त्रिदोषजा' नाम रखा गया है ॥ १६ ॥

असाध्ययोनिरोगानाह—

पञ्चासाध्या भवन्तीह योनयः सर्वदोषजाः ॥ १७ ॥

***पञ्च = षण्ढीप्रभृतयः ॥ १७ ॥**

असाध्य योनिरोग—उपर्युक्त योनियों (२० प्रकार की) में से षण्ढी आदि पाँचों त्रिदोषज योनियाँ असाध्य होती हैं ॥ १७ ॥

योनिकन्दस्य निदानमाह—

दिवास्वप्नादतिक्रोधाद् व्यायामादतिमैथुनात्। क्षताच्च नखदन्ताद्यैर्वाताद्याः कुपिता यथा ॥

***यथास्वनिदानं कुपिता वाताद्याः ॥ १८ ॥**

योनिकन्द के निदान—दिन में अधिकतर सोने से, अत्यन्त क्रोध करने से, बहुत कसरत या परिश्रम का काम करने से, अतिमैथुन कराने से और नख या दाँत आदि से योनि में घाव हो जाने से। अपने-अपने कारणों से वातादि दोष प्रकुपित होकर योनि में 'योनिकन्द' नामक रोग पैदा कर देते हैं ॥ १८ ॥

योनिकन्दलक्षणमाह—

पूयशोणितसङ्काशं लकुचाकृतिसन्निभम्। जनयन्ति यदा योनौ नाम्ना कन्दः स योनिजः॥

***लकुचाकृतिसन्निभं = लकुचाकारम्। गुडकमत्र विशेष्यं बोध्यम् ॥ १९ ॥**

योनिकन्द के लक्षण—पीब और रक्त के रङ्ग की और बड़हल के समान आकार वाली गाँठ योनि में उपर्युक्त दोषों द्वारा उत्पन्न हो जाती है, इसीको 'योनिकन्द' कहते हैं ॥ १९ ॥

वातजादिभेदेन योनिकन्दरूपमाह—

रूक्षं विवर्णं स्फुटितं वातिकं तं विनिर्दिशेत्। दाहरागज्वरयुतं विद्यात्पित्तात्मकं तु तम्॥ तिलपुष्पप्रतीकाशं कण्डूमन्तं कफात्मकम्। सर्वलिङ्गसमायुक्तं सन्निपातात्मकं वदेत्॥२१॥

वातादि दोषभेद से योनिकन्द का स्वरूप—जो योनिकन्द रूखा, विवर्ण और फटा-सा हो उसे वातज समझना चाहिए। जो योनिकन्द जलन, ललाई और ज्वरयुक्त हो उसे पित्तज समझना चाहिए। जिस योनिकन्द का आकार तिल के फूल की तरह हो और जिसमें खुजली भी होती हो उसे कफजन्य समझना चाहिए और जिस योनिकन्द में सब दोषों के लक्षण मिलें उसे त्रिदोषज जानना चाहिए॥ २०-२१॥

अथ योनिरोगचिकित्सा।

तत्र नष्टार्त्तव[1] चिकित्सामाह—

आर्त्तवादर्शने नारी मत्स्यान्सेवेत नित्यशः। काञ्जिकं च तिलान्माषानुदश्विच्च तथा दधि॥

---

१. नष्टार्त्तव (Amenorrhoea)-मासिकस्राव (menstrual discharge) का न दिखाई देना नष्टार्त्तव या एमीनोरिया (Amenorrhoea) कहलाता है। यथाः-'दोषैरावृतमार्गत्वादार्त्तवं नश्यति स्त्रियाः'। सु०।

इसके दो भेद होते हैं—

१—मिथ्या नष्टार्त्तव (Pseudo Amenorrhoea)।

२—वास्तविक नष्टार्त्तव (Actual Amenorrhoea)।

१—मिथ्यानष्टार्त्तव (Pseudo Amenorrhoea)

इस में स्राव (Discharge) बाहर नहीं दिखाई देता और गर्भाशय (uterus) के अन्दर ही स्राव होता रहता है। यह दशा किसी रुकावट (obstruction) की वजह से होती है। यह प्रायः कुमारीच्छदा नामक योनि की आवरणकला के न फटे होने के कारण (Due to congenital or acquired Iperforated hymen) होता है। गर्भाशयग्रीवा अथवा भग (Cervix or Vagina) के बन्द होने के कारण बहुत कम होता है। या व्रणवस्तु (Scar) के कारण रुकावट उत्पन्न होती है।

२—वास्तविक नष्टार्त्तव (Actual or true Amenorrhoea)—

इस में रजःस्राव बिल्कुल बन्द हो जाता है। अथवा कुछ समय के लिए ही बिल्कुल रुक जाता है। मासिकधर्म (Menstruation) का ठीक होना शेष संस्थानों (Systems) के ठीक होने पर निर्भर करता है। यदि उन संस्थानों (Systems) में कुछ गड़बड़ी हो तो एमीनोरिया (Amenorrhoea) हो जाता।

वे संस्थान निम्न हैं:—

१—प्रजनन संस्थान (Generative system)

२—रक्तवह संस्थान (Circulatory system)

३—मस्तिष्क संस्थान (Nervous system)

४—निःस्रोत ग्रन्थियाँ) Ductless glands)

१—प्रजनन संस्थान (Generative system)—

यदि इस की वजह से एमीनोरिया (Amenorrhoea) है तो इसके ७ कारण हैं:—

१—गर्भाशय तथा बीजग्रन्थि (Uterus and ovary) की अनुपस्थिति अथवा शस्त्रकर्म (operation) द्वारा निकाल दिये गये हों।

२—बीजग्रन्थि (ovary) की वृद्धि।

नष्टार्त्तव की चिकित्सा—जो स्त्री रजस्वला न हुई हो या जिसका रजोदर्शन रुक गया हो वह मछली का प्रतिदिन सेवन करे तथा काँजी, तिल, उड़द, छाछ (मट्ठा) और दही का भी सेवन करे॥

३—गर्भाशयान्तःस्तर (Endometrium) की वृद्धि।

४—शोथ (Inflammation) के कारण।

५—नववृद्धि (Newgrowth) के कारण।

६—रेडियम (Radium) के प्रभाव (Action) के कारण।

७—गर्भाधान के कारण।

२—रक्तवह संस्थान (Circulatory system)—

रक्त (Blood) की कमी जैसे पाण्डुरोग (Anaemia) तथा ल्यूकीमिया (Luecemia) रक्तस्राव, क्षय, पाइरेक्सिया तथा आक्षेप इत्यादि।

३—मस्तिष्क संस्थान (Nervous System) ज्ञानतन्तुओं (Nerves) के ऊपर अचानक प्रभाव करने वाले रोग सहसा नष्टार्त्तव (Amenorrhoea) को पैदा करते हैं, इसीलिए इसको रिफ्लेक्स एमीनोरिया (Reflex Amenorreboea) कहते हैं। जो सहसा जाड़ा लग जाने (Sudden chill) से, बर्फ पीने से तथा शीतल जल से स्नान आदि से हुआ करता है। यह नष्टार्त्तव (Amenorrhoea) क्षणिक होता है जो कि थोड़े समय के बाद ठीक हो जाता है।

बहुत से मानसिक आघात (Mental shock) स्थायी या अस्थायी नष्टार्त्तव (Permanent or temporary Amenorrhoea) को उत्पन्न कर देते हैं।

सिम्पेथिटिक एमीनोरिया (Sympathetic Amenorrhoea)-इस प्रकार (Variety) में स्त्री अपने को गर्भवती समझती है या जिनकी आर्त्तवविनाश (Menopause) की स्थिति हो जाती है, उन में यह हुआ करता है।

४—निःस्रोतग्रन्थियाँ (Ductless glands) यह प्रकार चार तरीके से होता है:-

१—प्रजनन संस्थान (Genital system) की वृद्धि (Development) में गड़बड़ होने से मासिक धर्म के क्रम (Menstrual process) के ठीक होने पर भी निःस्रोतग्रन्थियाँ इनके प्रबन्ध में गड़बड़ी कर देती हैं। जिससे कि नष्टार्त्तव (Amenorrhoea) उत्पन्न हो जाता है।

२—बीजग्रन्थि (ovary) की अनुपस्थिति अथवा उसके अन्तःस्राव (Secretion) की कमी या अभाव से गर्भाशय (Uterus) नहीं बढ़ता जिससे कि आर्त्तव नहीं होता।

३—यदि मासिक धर्म प्रारम्भ हो जाने (Puberty) के बाद बीजग्रन्थि (ovary) निकाल दी जाय या उसके कार्य में कमी (out of function) हो जाय तो वह मासिकस्राव (Menstrual discharge) को क्रमशः अदृष्ट कर देती है।

४—अवटुकाग्रन्थि (Thyroid) के स्राव (Secretion) की कमी से भी नष्टार्त्तव (Amenorrhoea) हो जाता है।

चिकित्सा—

१—यदि रक्त (Blood) की कमी के कारण नष्टार्त्तव (Amenorrhoea) हुआ हो तो स्वास्थ्य सुधार की सारी चिकित्साएँ लाभप्रद होती हैं।

२—लौहयुक्त पौष्टिक तथा दस्तावर (Tonic and laxatives. Containg iron) औषधियों का प्रयोग।

३—भोजन तथा रहन-सहन में परिवर्त्तन (change in diet and Surrounding)।

इक्ष्वाकुबीजदन्तीचपलागुडमदनकिण्वयवशूकैः।
सस्नुक्क्षीरैर्वर्त्तिर्योनिगता कुसुमसञ्जननी ॥ २३ ॥

*इक्ष्वाकुः = कुटुतुम्बी। चपला = पिप्पली। मदनो = मयनफलम्। किण्वं = सुराबीजम् ॥ २३ ॥

४—अवटुका ग्रन्थि अथवा पिट्युटेरी ग्रन्थि का १ ग्रेन सत्त्व (Thyroid or pitutary extract ½ gr) का प्रयोग करना।

५—कार्पस लूटियम के सत्त्व (Extract of carpus luteum) और कैलसियम के लवणों (Calcium Salts) का प्रयोग करना।

६—प्रजनन अङ्गों की वृद्धि के सामञ्जस्य के लिए (To control Sexual development) एड्रीनेलीन (Adrinalin) का प्रयोग करना चाहिए।

आर्त्तवक्षय (Menopause)—

यह अवस्था ४० से ५० वर्ष के अन्दर आती है, किन्तु प्रायः ४५ से ५० वर्ष के भीतर अधिक होती है। सुश्रुतने भी कहा है कि 'याति पंचाशता क्षयम्'। आर्त्तव क्षय (Menopause) उस काल का नाम है, जिस में कि रजःस्राव बिल्कुल बन्द हो जाता है और गर्भधारण-शक्ति का ह्रास हो जाता है। जल्दी रजःस्राव आरम्भ होने से जल्दी (Menopause) भी हो जाता है। यह रजःस्रावकाल (sexual Period) प्रायः ३३ वर्ष का है। परन्तु जलवायु के कारण भिन्नता पाई जाती है। Menopause का प्रारम्भ होना, ovarian activity के समाप्त होने और निःस्रोत ग्रन्थियों (Ductless glands) के अन्तःस्राव (Internal secretion) में परिवर्तन होने से होता है। बीजग्रन्थि (ovary) को किसी प्रकार से निकालने या अन्य बीमारियों के कारण भी हो जाता है। यह phisiology के हिसाब से खराब नहीं है।

इसमें बहुत से वातिक लक्षण (Nervous and mental Symptoms) उपस्थित हो जाते हैं, जो कुछ समय तक रहते हैं। बीजग्रन्थि (ovary) को अत्यन्त आवश्यकता होने पर ही निकालना चाहिए। ऐसे रोग जो थोड़ा काटनेपर अच्छे न हों, उसके पड़ोसी रोग जिनके कारण निकालना आवश्यक हो, Tube, गर्भाशय (uterus), भग (Vagina) का Malignant tissue के कारण निकालना, Fallopian tube में Infection, Tubal pregnancy. uterus का Myomet, ovary के तथा Vaginal tumours, कष्टार्त्तव (Dysmenorrhoea) इनके कारण भी menopause आ जाता है। menopause का प्रारम्भ कभी-कभी कुछ समय के लिए होता है जैसे कि उसके प्रारम्भ के बाह्य लक्षण उत्पन्न हैं, परन्तु ovulation बराबर जारी रहता है। ऐसे Cases बहुत कम होते हैं। menstruation बन्द होने के सप्ताह के बाद जो गर्भ (Pregnancy) होगा, उसमें उपर्युक्त menopause के लक्षण पैदा होंगे। पहिले धीरे-धीरे पानी कम होता है और क्रमशः कम होकर बन्द हो जाता है। वासोमोटर में विकार उत्पन्न होता है और स्वेद निकलता रहता है। Nervousness और mental irritability भी कभी-कभी उपस्थित होती है। किसी-किसी में Mental symptoms बहुत बढ जाते हैं और पागलों के समान हालत हो जाती है। Surgical menopause में operation होता है। इसके लक्षण (Symptoms) बहुत ही अनिश्चित होते हैं। और इससे मानसिक दशा पर बहुत प्रभाव पड़ता है। प्रजनन अंगों (Generative organs) में जो परिवर्तन ((Changes) होते हैं, वे Retrogative होते हैं। लेबिया की वसा गायब हो जाती है। Vagina की श्लेष्मलकला (Mucous membrane) सिकुड़ जाती है। Cervix and uterus की Body कम हो जाती है। Fallopian tubes के Longitudinal folds और Fimbria अदृष्ट हो जाते हैं। स्तनग्रन्थि का क्षय (Atrophy) होता है, जिससे वह छोटी

कड़ुवी तुम्बी (तितलौकी) के बीज, जमालगोटा, पीपर, गुड़, मैनफल, सुराबीज और जवाखार, इन सब को सेहुड़ के दूध में पीस कर वत्ती बना कर योनि में रखने से रजोधर्म होने लगता है ॥

पीतं ज्योतिष्मतीपत्रं स्वर्जिकोग्रासनं त्र्यहम् । शीतेन पयसा पिष्टं कुसुमं जनयेद् ध्रुवम् ॥

*ज्योतिष्मती=कटभीवृक्षविशेषः 'करही' इति लोके। अथवा-'उमिजिनी'-'मालकङ्गुनी' इति च। असनम्='असने'ति लोके-'विजयसार' इति च। पयसा=दुग्धेन ॥ २४ ॥

मालकाँगुनी के पत्ते, सज्जीखार, वच और विजयसार, इन को पीस कर ठंढे जल के साथ पीने से रजःस्राव होने लगता है ॥ २४ ॥

वन्ध्या[1] चिकित्सामाह—

बला सिता सातिबला मधूकं वटस्य शुङ्गं गजकेशरं च ।

होती है। शरीर में सब जगह वसा (Fat) जमा हो जाती है। इस समय यदि अनियमित रक्तस्राव हो तो इसे menopause की असाधारण दशा (Abnormal condition) समझना चाहिए। इससे वहाँ बीमारी सिद्ध होती है। यह मामूली और क्षणिक हो सकती है और यह आवश्यक है। इस दशा में यदि रक्तस्राव हो तो उसे छोड़ना नहीं चाहिए, सावधानी से परीक्षा करके देखना चाहिए कि क्या रोग (Disease) है।

चिकित्सा—(treatment)—Normal menopause में चिकित्सा की कोई खास आवश्यकता नहीं है। शरीर की आवश्यकताओं को न छोड़ा जाय, जैसा कि गर्भ (Pregnancy) के समय स्त्रियाँ स्वस्थ जीवन व्यतीत करती हैं, उसी प्रकार Menopause में भी करती हैं। मानसिक कार्य का अधिक करना रोकना चाहिए। पाखाना (मल) का साफ होना आवश्यक है। जहाँ इसके लक्षण प्रतीत हों, वहाँ बीजग्रन्थि (Ovary) का सत्त्व (Extract) या कार्पस लूटियम (Carpus luteum) का सत्त्व (Extract) मिलाकर देने से अच्छा फल देते हैं।

जहाँ पर मानसिक दशा के कारण हों वहाँ अवटुकाग्रन्थि का सत्त्व (Thyroid extract) देना चाहिए। दस्तावर (Laxatives) देना भी लाभदायक है। Anaemic Patient में लौह तथा हीमोग्लोबिन (Iron and haemoglobin) के योग (Preparations) लाभप्रद हैं। जब मानसिक दशा में अधिक फर्क हो तो एतद्विषयक किसी विद्वान् को दिखाकर चिकित्सा करानी चाहिए।

१. वन्ध्यात्व को पाश्चात्य वैद्यक में स्टेरिलिटी (Sterility) कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है।

१—Absolute.
२—Relative.

Absolute में गर्भ (Pregnancy) नहीं होता।

Relative में गर्भ होता है, परन्तु पूर्ण गर्भ नहीं होता, स्राव या पात हो जाता है।

Causes of absolute:—इसमें -ovum Fertilised नहीं होता इसके Fertelised न होने के कारण:—

१—शुक्राणु (Sperm) की अनुपस्थिति अथवा गर्भाशय तक पहुँचने में असमर्थ रहना अथवा शुक्राणुओं (Sperms) का रास्ते में ही नष्ट हो जाना। रास्ते में यान्त्रिक अवरोध (mechanical obstruction) होना, जैसे कि अपत्यपथ (Vagina) या गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) का अवरुद्ध होना। अथवा गर्भाशय ग्रीवा या ट्यूब (cervix or tube) में किसी प्रकार का अवरोध या गर्भाशयान्तःस्तर (Endometrium) के ठीक न होने के कारण अथवा किसी उपसर्ग के कारण गर्भित डिम्ब (Fertilised ovum) का डेसीडुआ (Decidua) में ठीक-ठीक न बैठ सकना, ये सब आपेक्षिक वन्ध्यात्व Relative sterility के कारण होते हैं।

एतन्मधुक्षीरघृतैर्निपीतं वन्ध्या सुपुत्रं नियतं प्रसूते ॥ २५ ॥

वन्ध्या की चिकित्सा—बरियारा, खाँड, कंघी, महुआ, बड़का अंकुर, नागकेशर–इन सबको शहद, दूध और घी के साथ पीते रहने से वन्ध्या स्त्री अवश्य पुत्र उत्पन्न करती है ॥ २५ ॥

अश्वगन्धाकषायेण सिद्धं दुग्धं घृतान्वितम् । ऋतुस्नाताऽङ्गना प्रातः पीत्वा गर्भं दधाति हि ॥

असगन्ध के काढ़े से दूध सिद्ध करके और घी डालकर यदि ऋतुस्नान करने के बाद प्रातःकाल स्त्री पीये तो गर्भधारण करती है ॥ २६ ॥

पुष्योद्धृतं लक्ष्मणाया मूलं दुग्धेन कन्यया । पिष्टं पीत्वा ऋतुस्नाता गर्भं धत्ते न संशयः ॥

Local causes:—

कोई जन्मजात विकृति होना यथा:—Inperforated Vagina, Hermophrodite या अविकसित गर्भाशय (Infantile uterus), गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) का छोटा होना, os या Cervix मे छोटा-सा बारीक छेद होना तथा गर्भाशय (Uterus) का पश्चाद्भ्रंश (Backward displacement) या बीजग्रन्थि (ovary) का ठीक विकास न होना, वहाँ पर डिम्बों (ova) की अनुपस्थिति अथवा ट्यूब में कोई बीमारी हो, जिसके कारण अवरोध (obstruction) हो सके।

Spasmatic dyspenimia—संयोग के समय पीड़ा होना, Laceration, ईरोजिन, cervicitis, chronic metriois, Fibrrids. Perisalpingoophritis, antiflexion, Uterine Stenosis, Developmental fals (वृद्धि में गड़बड़ी होना) os stenosis–ये सब स्थानिक (Local) कारण हो सकते हैं।

Constitutional causes. (बनावट के आधार में कमी के कारण)—

१—Depressed constitutional condition:–जैसे Morphia, Alcohol की आदत, mental disease सिफलिस का होना, अथवा विषय की activity कम हो जाना।

२—ठीक प्रकार का भोजन आदि न मिलना या Protein वगैरह के न मिलने से, उपवास इत्यादि से विकृति होने से, या Vitamine का अभाव, तथा Thyroid and Pitutary की कमी, Thyroid general metabolism पर प्रभाव डालती है। और Pitutary तथा ovary पर प्रभाव डालती है।

पति की परीक्षा करनी:—देखना चाहिए कि वह क्या खाता पीता है तथा अन्य सब बातों की परीक्षा करनी चाहिए।

चिकित्सा:–पुरुष का साधारण स्वास्थ्य (General health) देखना चाहिए। यदि कोई कारण मालूम पड़े तो उसे दूर करना चाहिए।

स्त्री के लिए Fallopian tube की धारणशक्ति और उनकी पोटेन्सी (Potency) देखने के लिए रियूमिन्स टेस्ट है। (रियूमिन ट्यूबटेस्टिंग आपरेटस के द्वारा देखा जाता है।) Taste करने के लिए रोगी को Dilatation की तरह तैयार करना चाहिए और नं० १० तक के Hegars dilators Dilate किया जाता है। धातु की ट्यूब (Tube) गर्भाशय में प्रविष्ट की जाती है और फिर उसको Pump करना चाहिए और फिर stethescope के द्वारा Lower abdomen में सुनना चाहिए। भार (Pressure) १०० से १२० m. m. तक हो सकता है और भार (Pressure) को २०० m. m. से अधिक नहीं बढ़ाना चाहिए नहीं तो ट्यूब (Tube) फट जायगा।

रजःस्राव के एक सप्ताह बाद यह उपर्युक्त परीक्षा करनी चाहिए। यह एक प्रकार की दवा का कार्य करता है। बहुत से cases में उपर्युक्त रीति से ट्यूब की परीक्षा करने के बाद गर्भ की स्थिति हुई है। जिस case में रुकावट अधिक होती है वहाँ ट्यूब की प्लास्टिक शल्यक्रिया (Plastic

यदि ऋतुस्नाता स्त्री पुष्य नक्षत्र में उखाड़ी हुई सफेद भटकटैया की जड़ को कुँवारी कन्या से दूध में पिसवा कर पीये तो निस्सन्देह गर्भधारण करती है ॥ २७ ॥

कुरण्टमूलं धातक्याः कुसुमानि वटाङ्कुराः । नीलोत्पलं पयोयुक्तमेतद् गर्भप्रदं ध्रुवम् ॥

***कुरण्टमूलम् = (पीतपुष्पकटसरैया) ॥ २८ ॥**

पीले फूल वाली कटसरैया, धव का फूल, वड़ के अंकुर और नीला कमल इन सब को दूध के साथ पीने से निश्चय रूप से गर्भ धारण हो जाता है ॥ २८ ॥

याऽवला पिवति पार्श्वपिप्पलं जीरकेण सहितं हिताशिनी ।
श्वेतया विशिखपुङ्खया युतं सा सुतं जनयतीह नान्यथा ॥ २९ ॥

***पार्श्वपिप्पलं='गजहड' इति लोके । श्वेतपुष्पया शरपुङ्खया सह ॥ २९ ॥**

जो स्त्री पारिस पीपल के डोड़े को जीरा और सफेद सरफोंका के साथ पीती है और पथ्यपूर्वक भोजन करती है उसे अवश्य गर्भ रह जाता है ॥ २९ ॥

पत्रमेकं पलाशस्य पिष्ट्वा दुग्धेन गर्भिणी । पीत्वा पुत्रमवाप्नोति वीर्यवन्तं न संशयः ॥३०॥

पलाश का एक पत्ता दूध में पीस कर पीने से गर्भिणी स्त्री को निस्सन्देह बलवान् पुत्र उत्पन्न होता है ॥ ३० ॥

शूकरशिम्बीमूलं मध्यं वा दधिफलस्य सपयस्कम् ।
पीत्वाऽथो भवलिङ्गीवीजं कन्यां न सूते स्त्री ॥ ३१ ॥

***शूकरशिम्बी = (सुअरासेम) । दधिफलं = कपित्थस्तस्य मज्जा । भवलिङ्गी = (पञ्चगुरिया) ॥ ३१ ॥**

कैंवाच की जड़ या कैथ के फल का गूदा और शिवलिङ्गी के बीजों को दूध में पीस कर पीने से स्त्री कन्या नहीं उत्पन्न करती, वल्कि पुत्र ही उत्पन्न करती है ॥ ३१ ॥

पुत्रकमञ्जरिमूलं विष्णुक्रान्तेशलिङ्गिनी सहिता । घृतङ्गर्भेऽष्टदिनं पीत्वा कन्यां न सर्वथा सूते॥

***पुत्रमञ्जरी = (पतजिया) तस्या मूलम् । ईशलिङ्गी='पञ्चगुरिया' इति लोके ॥३२॥**

पतजिया की जड़ और विष्णुक्रान्ता की जड़ शिवलिङ्गी के बीजों के साथ आठ दिन पीने से स्त्री पुत्र ही उत्पन्न करती है ॥ ३२ ॥

गर्भानास्थापकयोगानाह—

पिप्पलिविडङ्गटङ्कणसमचूर्णं या पिवेत्पयसा । ऋतुसमये न हि तस्या गर्भः सञ्जायते क्वापि॥

गर्भाधान को रोकने वाले योग—जो स्त्री ऋतुकाल में पीपर, वायविडङ्ग और सोहागा, इन सवको दूध के साथ पीती है उसे गर्भ कदापि नहीं रहता है ॥ ३३ ॥

आरनालपरिपेपितं त्र्यहं या जपाकुसुममत्ति पुष्पिणी ।
सत्पुराणगुडमुष्टिसेविनी सन्दधाति न हि गर्भमङ्गना ॥ ३४ ॥

जो स्त्री ऋतुकाल में वड़हुल का फूल आरनाल नामक कांजी के साथ पीस कर पीती है और ४ तोला उत्तम पुराना गुड़ भी सेवन करती है, उसे कभी भी गर्भस्थिति नहीं होती ॥ ३४ ॥

साध्ययोनिरोगाणां सामान्यचिकित्सामाह—

तासु योनिषु चाद्यासु स्नेहादिक्रम इष्यते । वस्त्यभ्यङ्गपरीषेकप्रलेपपिचुधारणम् ॥ ३५ ॥

***वस्तिरत्रोत्तरवस्तिः । पिचुः 'फाहा' इति लोके ॥ ३५ ॥**

---

operation) की जाती है। यह सिर्फ ट्रायल मात्र है। Leprotomy भी की जाती है और दूसरे मार्ग को देखकर अवलम्बित किए जाते है। D. C. के परिणाम अधिक लाभप्रद होते हैं। यदि निःस्रोत ग्रन्थियों के कारण हो तो इनका Secretion देना चाहिए या ovary को उत्तेजित रना चाहिए।

योनिरोगों की सामान्य चिकित्सा—उपर्युक्त २० प्रकार की योनियों में साध्य योनिरोगों की स्नेहनादि क्रम से चिकित्सा करनी चाहिए तथा उत्तरवस्ति, अभ्यंग (मालिश), परिसेचन और लेप का प्रयोग करना चाहिए तथा उपर्युक्त ओषधियों में भिगोया हुआ फाहा योनि में रखना चाहिए ॥ ३५ ॥

वातादिजयोनिरोगाणां यथाक्रमं चिकित्सामाह—

नतवार्त्ताकिनीकुष्ठसैन्धवामरदारुभिः । तिलतैलं पचेन्नारी पिचुमस्य विधारयेत् ।
विप्लुतायां सदा योनौ व्यथा तेन प्रशाम्यति ॥ ३६ ॥

***नतं = तगरम् । वार्त्ताकिनी 'वरहेटा' इति लोके ॥ ३६ ॥**

वातादिजन्य योनिरोगों की क्रमानुसार चिकित्सा—तगर, भटकटैया, कूट, सेंधानमक, देवदारु इन सबसे तिल का तेल पका कर इसका पिचु (फाहा) 'विप्लुता' नामक योनि में सदा रखने से उसकी पीड़ा नष्ट हो जाती है ॥ ३६ ॥

वातलां कर्कशां स्तब्धामल्पस्पर्शां तथैव च । कुम्भीस्वेदैरुपचरेदन्तर्वेश्मनि संवृते ।
धारयेद्वा पिचुं योनौ तिलतैलस्य सा सदा ॥ ३७ ॥

कठिन (कड़ी), स्तब्ध और थोड़े स्पर्श वाली वातल योनि के लिए परदेदार या बन्द कमरे के भीतर रोगिणी की योनि में कुम्भीस्वेद की विधि से स्वेदन करना चाहिए अथवा सदैव तिल के तेल में तर किया हुआ पिचु (फाहा) योनि में रखना चाहिए ॥ ३७ ॥

पित्तलानां च योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः । शीताः पित्तहराः कार्याः स्नेहनार्थं घृतानि च
प्रस्रंसिनीं घृताभ्यक्तां क्षीरस्विन्नां प्रवेशयेत् । पिधाय वेशवारेण ततो बन्धं समाचरेत् ॥
शुण्ठीमरिचकृष्णाभिर्धान्यकाजाजिदाडिमैः । पिप्पलीमूलसंयुक्तैर्वेशवारः स्मृतो बुधैः ॥४०॥

पित्तजन्य योनिरोगोंमें शीतल और पित्तनाशक द्रव्यों का सेचन, अभ्यङ्ग और पिचु-प्रयोग करे तथा योनि में स्नेहन करने के लिए घी का प्रयोग करे । प्रस्रंसिनी योनि (जो अपने स्थान से हट गई हो) को घी लगा कर दूध से स्वेदन करके यथास्थान भीतर प्रविष्ट कर दे, इसके बाद निम्नलिखित 'वेसवार' योनि के मुख पर रख कर बाँध दे । सोंठ, मरिच, पीपर, धनियाँ, जीरा, अनार, पिपरामूल इन सब के चूर्ण को यहाँ पर योनिरोगविशेषज्ञ पण्डित लोग 'वेशवार' कहते हैं ॥ ३८–४० ॥

धात्रीरसं सितायुक्तं योनिदाहे पिबेत्सदा । सूर्यकान्ता भवं मूलं पिबेद्वा तण्डुलाम्बुना ॥

योनिदाह चिकित्सा—आँवले के स्वरस में मिश्री मिलाकर सदैव पीने से अथवा कमलिनी की जड़ को चावलों के धोवन के साथ पीस कर पीने से योनि में जलन होना बन्द हो जाता है ॥४१॥

योन्यां तु पूयस्राविण्यां शोधनद्रव्यनिर्मितैः । सगोमूत्रैः सलवणैः पिण्डैः सम्पूरणं हितम् ॥

***शोधनद्रव्याणि = निम्बपत्रादीनि ॥ ४२ ॥**

योनि से पूय निकलने की चिकित्सा—यदि योनि से पीव का स्राव होता हो तो नीम की पत्ती आदि शोधनद्रव्यों को गोमूत्र में पीस कर सेंधानमक मिलाकर गोली बना कर योनि में रखने से लाभ होता है ॥ ४२ ॥

दुर्गन्धां पिच्छिलां वाऽपि चूर्णैः पञ्चकषायजैः । पूरयेद्धारयेद्राजवृक्षादिक्वथिताम्बुना ॥४३॥

***पञ्चकषायाः = वचावासापटोलप्रियङ्गुनिम्बाः । राजवृक्षः 'धनवहेरा' इति लोके ॥४३॥**

दुर्गन्धयुक्त और पिच्छिल योनि में वच, अडूसा, परोरा, फूलप्रियंगु और नीम—इन सबका चूर्ण भर दे और अमलतास आदि के काढ़े से योनि को धोवे ॥ ४३ ॥

पिप्पल्या मरिचैर्माषैः शताह्वाकुष्ठसैन्धवैः । वर्त्तिस्तुल्या प्रदेशिन्या योनौ श्लेष्मविशोधिनी॥

***तुल्या प्रदेशिन्या–दैर्घ्येण परिणाहेन च ॥ ४४ ॥**

पीपर, मरिच, उड़द, शोआ, कूट और सेंधानमक इन सब की तर्जनी अंगुली के बराबर लम्बी और मोटी वत्ती बना कर कफज योनि में रखने से श्लेष्मा का शोधन करती है ॥ ४४ ॥

कर्णिन्यां वर्त्तयो देयाः शोधनद्रव्यनिर्मिताः ॥ ४५ ॥

कर्णिनी नामक योनि में शोधनद्रव्यों की वत्ती बना कर योनि में रखना चाहिए ॥ ४५ ॥

गुडूची त्रिफलादन्तीक्वथितोदकधारया । योनिं प्रक्षालयेत्तेन तत्र कण्डूः प्रशाम्यति ॥४६॥

यदि योनि में खुजली होती हो तो गुरुच, हरड़, वहेड़ा, आँवला, जमालगोटा इन सब के काढ़े की धारों से योनि को धोने से वह शान्त हो जाती है ॥ ४६ ॥

मुद्गयूषं सखदिरं पथ्यां जातीफलं तथा । निम्बं पूगञ्च सञ्चूर्ण्य वस्त्रपूतं क्षिपेद्भगे ॥ ४७ ॥
योनिर्भवति सङ्कीर्णा न स्रवेच्च जलं ततः । कपिकच्छूभवं मूलं क्वाथयेद्विधिना भिषक् ।
योनिः सङ्कीर्णतां याति क्वाथेनानेन धावने ॥ ४८ ॥

खैर, हरड़, जायफल, नीम और सुपाड़ी इनका चूर्ण मूग के यूष में पीस कर छानकर सुखा ले। फिर इस चूर्ण को योनि में डालने से वह संकुचित हो जाती है और स्राव का होना बन्द हो जाता है। कैंवाच की जड़ के काढ़े से योनि को धोने से वह संकुचित हो जाती है ॥ ४७–४८ ॥

जीरकद्वितयं कृष्णा सुषवी सुरभिर्वचा । वासकः सैन्धवश्चापि यवक्षारो यवानिका ॥४९॥
एषां चूर्णं घृते किञ्चिद्भृष्ट्वा खण्डेन मोदकम् । कृत्वा खादेद्यथावह्नि योनिरोगाद्विमुच्यते ॥

सफेद जीरा, स्याह जीरा, पीपर, कलौंजी, सुगन्धित वच, अड़ूसा, सेंधा नमक जवाखार और अजवाइन इन सब के चूर्ण को घी में तनिक भून कर खाँड डालकर लड्डू बनाये। इन लड्डूओं को पाचनशक्ति के अनुसार खाते रहने से योनिरोग नष्ट हो जाता है ॥ ४९–५० ॥

मूषकक्वाथसंसिद्धतिलतैलकृतः पिचुः । नाशयेद् योनिरोगांस्तान्धृतो योनौ न संशयः ॥५१॥

चूहे के मांस का काढ़ा बनाकर उसी काढ़े से तिल का तेल पका ले। इस तेल का फाहा योनि में रखने से योनि रोग निःसन्देह नष्ट हो जाता है ॥ ५१ ॥

त्रिफलाऽदिघृतमाह—

त्रिफलां द्वौ सहचरौ गुडूचीं सपुनर्नवाम् । शुकनासां हरिद्रे द्वे रास्नां मेदां शतावरीम् ॥५२॥
कल्कीकृत्य घृतप्रस्थं पचेत्क्षीरे चतुर्गुणे । तत्सिद्धं पाययेन्नारीं योनिरोगप्रशान्तये ॥ ५३ ॥

त्रिफलाऽऽदिघृत—हरड़, वहेड़ा, आँवला, सफेद फूल की और पीले फूल की कटसरैया, गुरुच, गदहपुर्ना, श्योनाक, हरदी, दारुहल्दी, रासना, मेदा और शतावर इन सबके कल्क से ६४ तो० घी चौगुना दूध डाल कर पकाये। इस प्रकार सिद्ध किए हुए इस 'त्रिफलाऽऽदिघृत' को स्त्रियों को पिलाने से उनका योनिरोग नष्ट हो जाता है ॥ ५२–५३ ॥

फलघृतमाह—

मञ्जिष्ठा मधुकं कुष्ठं त्रिफला शर्करा बला । मेदे पयस्याकाकोल्यौ मूलं चैवाश्वगन्धजम् ॥
अजमोदा हरिद्रे द्वे प्रियङ्गुः कटुरोहिणी । उत्पलं कुमुदं द्राक्षा काकोल्यौ चन्दनद्वयम् ॥
एतेषां कार्षिकैर्भागैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् । शतावरीरसं क्षीरं घृताद्देयं चतुर्गुणम् ॥ ५६ ॥
सर्पिरेतन्नरः पीत्वा स्त्रीषु नित्यं वृषायते । पुत्राञ्जनयते वीरान्मेधाऽऽढ्यान्प्रियदर्शनान् ॥
या चैवास्थिरगर्भा स्यात्पुत्रं वा जनयेन्मृतम् । अल्पायुषं वा जनयेद्या च कन्यां प्रसूयते ॥
योनिरोगे रजोदोषे परिस्रावे च शस्यते । प्रजावर्धनमायुष्यं सर्वग्रहनिवारणम् ॥ ५९ ॥
नाम्ना फलघृतं ह्येतदश्विभ्यां परिकीर्त्तितम् । अनुक्तं लक्ष्मणामूलं क्षिपन्त्यत्र चिकित्सकाः ॥
जीवद्वत्सैकवर्णाया घृतं तत्र प्रयुज्यते । आरण्यगोमयेनैव वह्निज्वाला च दीयते ॥ ६१ ॥

फलघृत—मजीठ, मूलेठी, कूट (मीठा), हरड़, वहेड़ा, आँवला, खाँड, वरियारा, मेदा, महामेदा [अभाव में चौगुनी शतावर, काकोलिका दो पाठ आने से], क्षीरकाकोली, काकोली (अभाव में दुगुना असगन्ध), असगन्ध की जड़, अजमोदा, हरदी, दारुहल्दी, फूलप्रियङ्गु (पाठान्तर–हींग), कुटकी,

नीला कमल, कोइन (कुमुदिनी), मुनक्का, सफेद और लालचन्दन ये प्रत्येक पदार्थ एक-एक तोला लेकर कल्क बना ले। इस कल्क से ६४ तो० घृत, दुगुना (घी से दुगुना) सतावर का रस और दुगुना दूध डालकर पका ले। यह फलघृत कहलाता है। इसे अश्विनीकुमारों ने बतलाया है। इसे पीने से पुरुष की मैथुन करने की शक्ति प्रतिदिन बढ़ती है और वह बलवान बुद्धिमान और सुन्दर पुत्र उत्पन्न करता है। यदि किसी स्त्री के गर्भ न स्थिर रहता हो, मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ करता हो या अल्पायु सन्तान उत्पन्न होती हो अथवा बार-बार कन्या ही उत्पन्न हो तो ऐसी स्त्री को यह घृत पिलाने से ये दोष शान्त हो जाते हैं। यह घृत समस्त योनिरोगों में, रजोदोष में और योनि-स्राव या प्रदर के लिए उत्तम है तथा सन्तान और आयु को बढ़ाने वाला और सभी प्रकार के भूत-प्रेत-ग्रहादि को दूर करने वाला है। इस घृत में (यद्यपि पाठ में नहीं कहा गया है तो भी) सफेद भटकटैया की जड़ डाल देनी चाहिए। इस घृत के लिए ऐसी गाय का घी लेना चाहिए, जिसका बछड़ा एक रङ्ग का हो और जीवित हो। घी के पकने में जङ्गली उपलों (कण्डों) की अग्नि का प्रवेश करना चाहिए॥ ५४-६१॥

***'मेदा-महामेदयो' रभावे शतावरी द्विगुणा देया। पयस्याऽत्र 'क्षीरकाकोली' तद्युगलाभावे 'अश्वगन्धा' द्विगुणा देया। प्रियङ्गुस्थाने केचिद्धिङ्गु पठन्ति। 'पयस्याकाकोल्या'-वित्युक्त्वा पुनः 'काकोल्यौ' इति काकोलीक्षीरकाकोल्योर्द्वैगुण्यार्थम्। एतस्य फलघृतस्य पाठो नानाविधस्तन्त्रेषु। तत्र हिङ्गुवचातगरजीवकर्षभका एवाधिकाः। 'जीवकर्षभकयो'-रभावे 'विदारीकन्दो' द्विगुणो देयः—इति फलघृतं सकलयोनिरोगेषु॥ ५४-६१॥**

फलघृत का पाठ अनेकों प्रकार का मिलता है। कहीं-कहीं हींग, वच, तगर और जीवक, ऋषभक, अभाव में दुगुना विदारीकन्द ये ओषधियाँ इस पुस्तक के योग की अपेक्षा अधिक कही गई हैं॥

योनिकन्दस्य चिकित्सामाह—

गैरिकाम्रास्थिजन्तुघ्नरजन्यञ्जनकट्फलाः। पूरयेद्योनिमेतेषां चूर्णः क्षौद्रसमन्वितः॥६२॥
त्रिफलायाः कषायेण सक्षौद्रेण च सेचयेत्। प्रमदा योनिकन्देन व्याधिना परिमुच्यते॥

योनिकन्द की चिकित्सा—गेरू, आम की गुठली, वायविडङ्ग, हरदी, रसौत और कायफर इनके चूर्ण में शहद मिलाकर योनि में भर देने से तथा हरड़, बहेड़े और आँवले के काढ़े में शहद मिलाकर सेवन करने से स्त्रियों का योनिकन्द नष्ट हो जाता है॥ ६२-६३॥

अथ गर्भिणीरोगचिकित्सामाह।

तत्र चलितगर्भस्थापने ह्रीवेरादिक्वाथः—

ह्रीवेरातिविषामुस्तमोचशक्रैः शृतं जलम्। दद्याद् गर्भे प्रचलिते प्रदरे कुक्षिरुज्यपि॥ ६४॥

***कुक्षिरुग्=उदरव्यथा॥ ६४॥**

गिरते हुए गर्भ की चिकित्सा— सुगन्धवाला, अतीस, नागरमोथा, केला, इन्द्रजव इन के काढ़े को पीने से गिरते हुए गर्भ का स्थापन हो जाता है तथा प्रदर और उदर की पीड़ा नष्ट हो जाती है॥ ६४॥

मधुकं चन्दनोशीरसारिवापद्मपत्रकैः। शर्करामधुसंयुक्तैः कषायो गर्भिणीज्वरे॥ ६५॥

गर्भिणी के ज्वर की चिकित्सा—मुलेठी, लालचन्दन, खश, अनन्तमूल और कमल का पत्ता इनके काढ़े में मिश्री तथा शहद मिलाकर पिलाने से गर्भिणी स्त्री का ज्वर शान्त हो जाता है॥

चन्दनं सारिवालोध्रमृद्वीकाशर्कराऽन्वितम्। क्वाथं कृत्वा प्रदद्याच्च गर्भिणीज्वरशान्तये।
पीतं विश्वमजाक्षीरैर्नाशयेद्विषमज्वरम्॥ ६६॥

***गर्भिण्या इति शेषः॥ ६६॥**

लालचन्दन, अनन्तमूल, लोध, मुनक्का इनके काढ़े में मिश्री मिलाकर देने से गर्भिणी का ज्वर शान्त हो जाता है और बकरी के दूध के साथ सोंठ पीने से गर्भिणी स्त्री का विषम ज्वर नष्ट होता है ॥ ६६ ॥

आम्रजम्बूत्वचः क्वाथैर्लेहयेल्लाजशक्तुकम् । अनेनालीढमात्रेण गर्भिणी ग्रहणीं जयेत् ॥६७॥

आम और जामुन की छाल के काढ़े के साथ धान के लावा का सत्तू मिलाकर खाने से तत्काल गर्भिणी स्त्री का ग्रहणी रोग नष्ट हो जाता है ॥ ६७ ॥

ह्रीवेरारलुरक्तचन्दनबलाधान्याकवत्सादनो-
मुस्तोशीरयवासपर्पटविषाक्वाथं पिबेद् गर्भिणी ।
नानाव्याधिरुजाऽतिसारगदके रक्तस्रुतौ वा ज्वरे
योगोऽयं मुनिभिः पुरा निगदितः सूत्यामयेऽप्युत्तमः ६८ ॥

सुगन्धवाला, सोनापाठा , लाल चन्दन, बरियारा, धनिया, गुरुच, नागरमोथा, खश, जवासा, पित्तपापड़ा और अतीस इन सब का काढ़ा पीने से गर्भिणी स्त्री के अनेकों रोगों की पीड़ाएँ, अतिसार, रुधिरस्राव, ज्वर तथा सूतिका रोग नष्ट हो जाते हैं। इस योग को प्राचीन मुनियों ने कहा है ॥ ६८ ॥

गर्भस्रावगर्भपातयोर्निदानं पूर्वरूपं चाह—

ग्राम्यधर्माध्वगमनयानायासप्रपीडनैः । ज्वरोपवासोत्पतनप्रहाराजीर्णधावनैः ॥ ६९ ॥
वमनाच्च विरेकाच्च कुन्थनाद् गर्भपातनात् । तीक्ष्णक्षारोष्णकटुकतिक्तरूक्षनिषेवणात् ॥७०॥
वेगाभिघाताद्विषमादासनाच्छयनाद्भयात् । गर्भे पतति रक्तस्य सशूलं दर्शनं भवेत् ॥ ७१ ॥

***गर्भपातनाद्=गर्भपातननियमेन गर्भपातनशीलं द्रव्यम् । गर्भस्य स्रावपातयोः पूर्वरूपमाह–'गर्भे पतती'त्यादि । पतति = स्रावेण पातेन वा पतिष्यति ॥ ६९–७१ ॥**

गर्भस्राव और गर्भपात के निदान और पूर्वरूप—मैथुन करने से, मार्ग चलने से, घोड़े, रथ, हाथी आदि की सवारी करने से, परिश्रम से, अत्यधिक दबाने या मसलने से, ज्वर के कारण, उपवास से, गिरने, उछलने या उड़ने से, चोट लगने से, अजीर्ण से, दौड़ने से, वमन और विरेचन करने से, प्रवाहण करने (काँखने) से, गर्भ गिराने वाले द्रव्यों का उपयोग करने से, तीक्ष्ण, क्षार, उष्ण, कड़ुवा, तीता और रूखे पदार्थों के सेवन करने से, मल–मूत्रादि के वेगों को रोकने से, ऊँचे नीचे आसन पर अथवा टेढ़े बैठने या सोने से और भय के कारण गर्भस्राव या गर्भपात होता है। यदि गर्भ गिरने वाला होता है तो पहले शूल के सहित रक्त निकलता है ॥ ६९–७१ ॥

स्रावपातयोरवधिमाह—

आ चतुर्थात्ततो मासात्प्रस्रवेद् गर्भविद्रवः । ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥७२॥

***आ चतुर्थाद् मासाद्=चतुर्थमासपर्यन्तं, गर्भस्य विद्रवः= शोणितरूपः, 'गर्भः स्रवति शोणितम्' इति भोजवचनात् । स्थिरशरीरस्य = कठिनशरीरस्य ॥ ७२ ॥**

गर्भस्राव और गर्भपात की अवधि—गर्भस्थिति होने के चौथे महीने तक गर्भ रक्तरूप (विद्रव) रहता है, इसलिए यदि इस अवधि के भीतर गर्भ गिरता है तो उसे गर्भस्राव कहते हैं। भोज ने भी कहा है कि 'चौथे महीने तक गर्भ रुधिर रूप रहता है'। चौथे महीने के बाद गर्भ का शरीर कड़ा हो जाता है। इसलिए ५ वें और छठें महीने में जो गर्भ गिरता है वह 'गर्भपात' कहलाता है ॥ ७२ ॥

गर्भपातस्य निदानं दृष्टान्तं चाह—

गर्भोऽभिघातविषमासनपीडनाद्यैः पक्वं द्रुमादिव फलं पतति क्षणेन ॥ ७३ ॥

***यथा वृन्तलग्नं पक्वं फलमभिघातेनाकाले एव पतति, तथा गर्भोऽप्यभिघातादिनाऽकाले पतति ॥ ७३ ॥**

गर्भपात का निदान और उदाहरण—चोट लगने से, टेढ़े-मेढ़े या ऊँची-नीची जगह पर बैठने से तथा दबाने या पेट मसलने आदि कारणों से गर्भ गर्भाशय से (उचित समय से पहले ही) इस प्रकार गिर पड़ता है जैसे डाली में लगा हुआ पका फल चोट लगने से अकाल में ही वृक्ष से गिर पड़ता है ॥ ७३ ॥

गर्भस्रावचिकित्सामाह—

गुर्विण्या गर्भतो रक्तं स्रवेद्यदि मुहुर्मुहुः। तन्निरोधाय सा दुग्धमुत्पलादिश्शृतं पिबेत् ॥७४॥

गर्भस्राव की चिकित्सा—गर्भिणी के गर्भ में से यदि बार-बार रक्त गिरे तो निम्नलिखित उत्पलादि गण की ओषधियों के काढ़े से दूध पकाकर पीये तो रक्त का आना बन्द हो जाता है ॥७४॥

उत्पलादिगणमाह—

उत्पलं नीलमारक्तं कह्लारं कुमुदं तथा। श्वेताम्भोजञ्च मधुकमुत्पलादिरयं गणः ॥ ७५ ॥
संशीलितो हरत्येव दाहं तृष्णां हृदामयम्। रक्तपित्तञ्च मूर्च्छाञ्च तथा छर्दिमरोचकम् ॥७६॥

उत्पलादि गण—नीलकमल, लाल कमल, नीलोफर, कोइन (कुमुद), सफेद कमल और मुलेठी इनको उत्पलादि गण कहते हैं। इसका सेवन करने से दाह, प्यास, हृदय के रोग, रक्तपित्त, बेहोशी तथा वमन और अरुचि ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ७५-७६ ॥

गर्भपातोपद्रवानाह—

प्रस्रंसमाने गर्भे स्याद्दाहः शूलञ्च पार्श्वयोः। पृष्ठरुक्प्रदरानाहौ मूत्रसङ्गश्च जायते ॥ ७७ ॥

***प्रस्रंसमाने = पतति ॥ ७७ ॥**

गर्भपात के उपद्रव—जब गर्भपात होने लगता है तो जलन, पसवाड़े (छाती के बगल में) तथा पीठ में शूल, प्रदर (योनिमार्ग से रक्तस्राव), पेट का फूलना और मूत्र की रुकावट ये सब उपद्रव पैदा होते हैं ॥ ७७ ॥

गर्भस्य स्थानान्तरगमनोपद्रवानाह—

स्थानात्स्थानान्तरं तस्मिन्प्रयात्यपि च जायते। आमपक्वाशयादौ तु क्षोभः पूर्वेऽप्युपद्रवाः॥

***पूर्वेऽप्युपद्रवा = पार्श्वशूलादयः ॥ ७८ ॥**

जब गर्भ एक स्थान से दूसरे स्थान में जाता है तो आमाशय और पक्वाशय आदि में क्षोभ पैदा होता है तथा उपर्युक्त श्लोकोक्त शूलादि उपद्रव होते हैं ॥ ७८ ॥

गर्भपातोपद्रवचिकित्सामाह—

स्निग्धशीतक्रियास्तेषु दाहादिषु समाचरेत्। कुशकाशोरुबूकाणां मूलैर्गोक्षुरकस्य च ॥

गर्भपात के उपद्रवों की चिकित्सा—गर्भपात के दाहादि उपर्युक्त उपद्रवों की चिकित्सा के लिये स्निग्ध और शीतल उपचार करना चाहिए। कुश, कास, रेड़ और गोखरू इनकी जड़ से सिद्ध किये हुए दूध में मिश्री मिलाकर पिलाने से गर्भिणी का शूल नष्ट हो जाता है ॥ ७९ ॥

शृतं दुग्धं सितायुक्तं गर्भिण्याः शूलहृत्परम्। श्वदंष्ट्रामधुकक्षुद्राऽम्लानः सिद्धं पयः पिबेत् ॥
शर्करामधुसंयुक्तं गर्भिणीवेदनापहम् ॥ ८० ॥

***अम्लानः = पुष्पजातिरयं 'वाणपुष्प' इति गौडादौ प्रसिद्धः ॥ ८० ॥**

गोखरू, मुलेठी और कटसरैया से सिद्ध किया हुआ दूध, शहद और चीनी मिलाकर पीने से गर्भिणी स्त्री की वेदना शान्त होती है ॥ ८० ॥

मृत्कोष्ठागारिकागेहसम्भवा नवमल्लिका। समङ्गा धातकीपुष्पं गैरिकं च रसाञ्जनम् ॥८१॥
तथा सर्जरसश्चैतान्यथालाभं विचूर्णयेत्। तच्चूर्णं मधुना लिह्याद् गर्भपातप्रशान्तये ॥८२॥

***मृतकोष्ठागारिकागेहसम्भवा=कोष्ठागारिका=कोष्ठागारकारिका 'किरटी' तन्निर्मितगृहभवा मृत्तिका। समङ्गा=लज्जालुः ॥ ८१-८२ ॥**

भौंरी के घर (बिलनी के घर) की मिट्टी, मोगरे का फूल, लज्जावन्ती; धव का फूल, गेरू, रसौंत तथा राल इन द्रव्यों में से सबको या जितने मिल सकें उतने ही को (चूर्ण रूप में) मधु के साथ चाटते रहने से गर्भपात नहीं होने पाता ॥ ८१-८२ ॥

कशेरुत्पलशृङ्गाटकल्कं वा पयसा पिबेत्। पक्वं वचारसोनाभ्यां हिङ्गुसौवर्चलान्वितम्।
आनाहे तु पिबेद् दुग्धं गुर्विणी सुखिनी भवेत् ॥ ८३ ॥

***सौवर्चलं='चौहार' इति लोके ॥ ८३ ॥**

अथवा कसेरू, कमल और सिंघाड़ा का कल्क बनाकर दूध के साथ पीने से भी गिरता हुआ गर्भ रुक जाता है ॥

और वालवच तथा लहसुन से पकाये हुए दूध में काला नमक और हींग डालकर सेवन करने से आनाह से निर्मुक्त होकर गर्भिणी सुखी होती है ॥ ८३ ॥

तृणपञ्चकमूलानां कल्केन विपचेत्पयः। तत्पयो गर्भिणी पीत्वा मूत्रसङ्गाद्विमुच्यते ॥८४॥
शालीक्षुकुशकाशैः स्याच्छरेण तृणपञ्चकम्। एषां मूलं तृषादाहपित्तासृङ्मूत्रसङ्गहृत् ॥८५॥

तृणपञ्चमूल अर्थात् शालिधान्यों की जड़, ईख की जड़, दाभ की जड़, काँस की जड़ और सरपत की जड़ इनके कल्क से सिद्ध किये हुए दूध को पीने से गर्भिणी का मूत्रावरोध (मूत्र न उतरना) अच्छा हो जाता है और प्यास, जलन, रक्तपित्त भी दूर हो जाते हैं ॥ ८४-८५ ॥

गर्भिण्याः प्रतिमासचिकित्सामाह—

मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च। अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी ॥
वृक्षादनी पयस्या च प्रियङ्गूत्पलसारिवाः। अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा मधुकमेव च ॥
बृहत्यौ काश्मरी चापि क्षीरिशुङ्गास्त्वचो घृतम्। पृश्निपर्णी वचा शिग्रुः श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका
शृङ्गाटकं विषं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता। वत्सैते सप्त योगाः स्युरर्द्धश्लोकसमापनाः ॥८९
यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुता। एवं गर्भो न पतति गर्भशूलञ्च शाम्यति ॥९०॥

***शाकबीजं=शाको=महावृक्षः कर्कशपत्रस्तस्य बीजम्। पयस्याऽत्र 'क्षीरकाकोली' तद्लाभे 'अश्वगन्धा' ग्राह्या। अश्मन्तकः=कोविदारसदृशोऽम्लपत्रः 'अम्लोना' इति लोके। प्रियङ्गु=कङ्गुः। अनन्ता=उत्पलसारिवा। पद्मा=पद्मचारिणी 'भार्गी'ति केचित्। बृहत्यौ= स्थूलफला स्वल्पफला च। क्षीरिशुङ्गाः=क्षीरिणां वटादीनां शुङ्गाः=अविकसिताः प्रवालाः। मधुपर्णिका=गम्भारी। पयोयुताः प्रतिमासमर्द्धश्लोकोक्ताः=औषधमिलिताः कर्षमिताः शीततोयेन संपिष्टाः पलमितेन दुग्धेनालोडिताः पातव्या इत्यर्थः ॥ ८६-९० ॥**

गर्भिणी की प्रतिमास की चिकित्सा—प्रथम मास में मुलेठी, सागौन का बीज, क्षीरकाकोली (अभाव में असगन्ध), देवदार इनमें से यथालाभ (जितने मिल सकें उतने) पदार्थों का १ तो० कल्क दूध में घोलकर पिलाये।

द्वितीय मास में अश्मन्त (इसके पत्ते कचनार की तरह होते हैं, इसे पश्चिम में आपटा, कहीं-कहीं अम्लोना, अम्लनोनिया और किसी देश में दीपक वृक्ष भी कहते हैं), काले तिल, मजीठ और सतावर में से यथालाभ औषधियों का १ तो० कल्क दूध में घोल कर पिलाना चाहिए।

तृतीयमास में—वन्दा, फूलप्रियंगु, नीलाकमल, सफेद सारिवा (अनन्तमूल) इनमें से यथालाभ औषधियों का १ तो० कल्क दूध में घोल कर पिलाना चाहिए।

चतुर्थ मास में—जवासा या दूब, सारिवा, रासना, भारंगी और मुलेठी में से यथालाभ औषधियों का १ तो० कल्क बनाकर दूध में घोलकर पिलाना चाहिए।

पंचम मास में—छोटी और बड़ी कटेरी, गंभार, बड़ आदि क्षीरिवृक्षों का अंकुर और उनकी छाल इनमें से यथालाभ औषधियों का १ तो० कल्क दूध में घोलकर घी डालकर पिलाये।

षष्ठ मास में—पिठवन, बालवच, सहिजन, गोखरू और गम्भार में से यथालाभ ओषधियों का १ तो० कल्क बनाकर दूध में डाल कर गर्भिणी को पिलाये।

सप्तम मास में—सिंघाड़ा, कमलकंद (भसीड़), दाख, कसेरू, मुलेठी और मिश्री इनमें से यथालाभ ओषधियों का १ तो० कल्क दूध में घोलकर पिलाने से गर्भपात और गर्भस्राव नहीं होने पाता और गर्भसम्बन्धी शूल भी नष्ट हो जाता है। उपर्युक्त ओषधियों को ठंढे जल में कल्क बनाकर उस कल्क का १ तो० भर भाग दूध में घोल कर पिलाना चाहिए॥ ८९-९०॥

कपित्थबृहतीबिल्वपटोलेक्षुनिदिग्धिकाः। मूलानि क्षीरसिद्धानि दापयेद्भिषगष्टमे॥ ९१॥

ॐकपित्थादीनां मूलानि मिलितानि पलमितानि पलाष्टकमिते क्षीरे द्वात्रिंशज्जलयुक्ते क्वाथयित्वा क्षीरमात्रमवशिष्टं पातुं दद्यादित्यर्थः॥ ९१॥

अष्टम मास में—कैथ, बड़ी कटेरी, बेल, परोरा, ईख और छोटी भटकटैया इन सबकी जड़ (सब मिलाकर) ४ तो०, ३२ पल पानी (४ तो० का एक पल होता है) और ८ पल दूध में डालकर पकाये और दूध मात्र शेष रह जाने पर छानकर ठंढा करके गर्भिणी को पिलाये॥ ९१॥

नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवा पिबेत्॥ ९२॥

ॐअत्रापि मधुकादीनि मिलित्वा कर्षमितानि शीततोयेन सम्पिष्टानि पलपरिमितेन दुग्धेनालोडितानि पिबेत्॥ ९२॥

नवम मास में—मुलेठी, जवासा या दूर्वा, क्षीरकाकोली (अभाव में असगंध) और सफेद सारिवा इन सबको ठंढे जल में पीसकर इनका १ तो० कल्क ४ तो० दूध में घोलकर पिलाना चाहिए॥

क्षीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्याद्दशमे हितम्। सक्षीरं वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च॥

ॐदशमे शुण्ठीपयस्याभ्यां पूर्ववत्क्वथितं पिबेत्। अथवा-शुण्ठीमधुकसुरदारूणि शीतलजलपिष्टानि दुग्धेनालोडितानि पिबेत्॥ ९३॥

दशम मास में—सोंठ और असगंध से (अष्टम मास की विधि और मात्रा से) सिद्ध किये हुए दूध को पिलाये अथवा सोंठ, मुलेठी और देवदारु को ठंडे जल में पीस कर १ तो० कल्क दूध में घोलकर पिलाये॥ ९३॥

क्षीरिकामुत्पलं दुग्धं समङ्गामूलकं शिवाम्। पिबेदेकादशे मासि गर्भिणीशूलशान्तये॥९४॥

ॐअत्र क्षीरिकायाः फलं दद्यात्। समङ्गामूलकं = लज्जालुमूलम्॥ ९४॥

एकादश मास में—खिरनी के फल, कमल, लज्जावन्ती की जड़ और हरड़ इनको ठंढे जल में पीसकर १ तो० कल्क दूध में घोलकर पिलाना चाहिए। इससे गर्भिणी का शूल नष्ट होता है॥९४॥

सिता विदारी काकोली क्षीरी चैव मृणालिका। गर्भिणी द्वादशे मासि पिबेच्छूलघ्नमौषधम्॥

एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति॥ ९६॥

ॐकाकोल्यभावेऽश्वगन्धामूलं ग्राह्यम्॥ ९५-९६॥

द्वादश मास में—मिश्री, विदारीकन्द, असगंध की जड़, पारिस पीपल के फल और कमल की नाल इनका १ तो० कल्क दूध में घोल कर शूल शान्त होने के लिए पिलाये। इस प्रकार उपचार करने से गर्भ की वृद्धि और पुष्टि होती है और तीव्र पीड़ा शान्त हो जाती है॥ ९५-९६॥

ॐ वातशुष्कगर्भचिकित्सामाह—

गर्भो वातेन संशुष्को नोदरं पूरयेद्यदि। सा बृंहणीयैः संसिद्धं दुग्धं मांसरसं पिबेत्॥ ९७॥

वात-शुष्क गर्भ की चिकित्सा—वायु द्वारा सूख जाने के कारण यदि गर्भ गर्भिणी के उदर को पुष्ट न करे (अर्थात् गर्भिणी का उदर उचित मात्रा में न बढ़े) तो जीवनीय गण की ओषधियों से सिद्ध किया हुआ दूध पीये तथा मांसरस का सेवन करे॥ ९७॥

शुष्कार्त्तवमजाताङ्गं संशुष्कं मरुताऽर्दितम्। त्यक्तं जीवेन तत्तस्मात्कठिनं चावतिष्ठते॥

शुक्रार्त्तवार्दको वायुरुदराध्मानकृद् भवेत्। कदाचिच्चेत्तदाऽऽध्मानं स्वयमेव प्रशाम्यति॥

नैगमेयेन गर्भोऽयं हृतो लोकध्वनिस्तदा। स एवाल्पप्रवृत्त्या चेल्लघुर्भूत्वाऽवतिष्ठते ॥१००॥
तदा स गर्भो भवति लोके नागोदराह्वयः। धान्यकुट्टनमुख्या स्याच्चिकित्सा तूभयोरपि ॥
 ❀नैगमेय- = बालग्रहः ॥ ९८–१०१ ॥

नागोदर की चिकित्सा—शुक्र और रज के संयोग से बना हुआ गर्भ जिसमें अङ्ग-प्रत्यङ्ग न बने हों, वह कभी-कभी वायु द्वारा सुखा दिया जाता है। अतएव जीवात्मा के द्वारा परित्यक्त होने से वह अत्यन्त कठिन होकर उदर में पड़ा रहता है। वीर्य और रज को सुखाने वाला यह वायु कभी-कभी पेट में आध्मान (अफारा) उत्पन्न कर देता है। कुछ काल बाद वह आध्मान अपने आप शान्त हो जाता है तो लोग कहते हैं कि नैगमेय नामक बाल-ग्रह ने गर्भ को ग्रस लिया है। यही गर्भ जब कुछ चलता है किन्तु बहुत छोटा होता है तो उसे लोग नागोदर कहते हैं। इन दोनों प्रकार के गर्भों की मुख्य चिकित्सा यह है कि गर्भिणी के हाथों से धान कुटाये। इससे तत्काल प्रसव हो जाता है ॥ ९८–१०१ ॥

प्रसवसमयमाह—

नवमे दशमे मासि नारी गर्भं प्रसूयते। एकादशे द्वादशे वा ततोऽन्यत्र विकारतः ॥१०२॥

प्रसव का समय—गर्भिणी स्त्री नवें, दशवें ग्यारहवें और बारहवें महीने में सन्तान उत्पन्न करती है। यदि कोई विकार हो तो इस अवधि के बाद भी प्रसव होता है ॥ १०२ ॥

प्रसवमासमतिक्रम्य स्थायिनि गर्भे चिकित्सामाह—

वातेन गर्भसङ्कोचात्प्रसूतिसमयेऽपि या। गर्भं न जनयेन्नारी तस्याः शृणु चिकित्सितम् ॥
कुट्टयेन्मुशलेनैषा कृत्वा धान्यमुलूखले। विषमं चासनं यानं सेवेत प्रसवार्थिनी ॥ १०४ ॥

प्रसव मास में प्रसव कराने का उपाय—वायु के कारण यदि गर्भ संकुचित हो जाय और प्रसव मास में उत्पन्न न होता हो तो उसकी चिकित्सा सुनो-इस प्रकार के गर्भवाली स्त्री ओखली में धान डालकर मूसल से उसी धान को कूटे और विषम आसन पर बैठे, सोये और विषम सवारी करे तथा विषमाहार सेवन करे ॥ १०३–१०४ ॥

काले प्रसवविलम्बे चिकित्सामाह—

प्रसवस्य विलम्बे तु धूपयेदभितो भगम्। कृष्णसर्पस्य निर्मोकैस्तथा पिण्डीतकेन वा ॥
 ❀निर्मोकः=सर्पकञ्चुकः। पिण्डीतकः = 'मयनफल' इति लोके ॥ १०५ ॥
तन्तुना लाङ्गलीमूलं बध्नीयाद्धस्तपादयोः। सुवर्चलां विशल्यां वा धारयेदाशु सूयते ॥
 ❀सुवर्चला = सूर्यकान्ता। विशल्या = पाटला ॥ १०६ ॥
करङ्कीभूतगोमूर्द्धा सूतिकाभवनोपरि। स्थापितस्तत्क्षणान्नार्याः सुखं प्रसवकारकः ॥ १०७ ॥
 ❀करङ्कीभूतः = अस्थिमात्रेण स्थितः ॥ १०७ ॥

प्रसव काल में शीघ्र प्रसव न होने की चिकित्सा—प्रसव के देर तक रुके रहने पर भग के चारों ओर काले साँप की केंचुल का धूआँ दे या मैनफल की धुनी दे अथवा कलिहारी की जड़ को तागे में बाँधकर गर्भिणी के हाथ-पैरों में बाँधे या हुरहुर अथवा पाढ़ल को धारण करे। इन उपायों से शीघ्र प्रसव हो जाता है। मरी हुई गाय का ऐसा मस्तक जिसमें अस्थि मात्र ही शेष रह गई हो गर्भिणी स्त्री के सूतिकागृह (जिस घर में स्त्री रहती, सोती हो) में रखने से तत्काल ही और सुख-पूर्वक प्रसव हो जाता है ॥ १०५–१०७ ॥

पोतकीमूलकल्केन तिलतैलयुतेन च। योनेरभ्यन्तरं लिप्त्वा सुखं नारी प्रसूयते ॥ १०८ ॥
 ❀पोतकी = 'पोई' इति लोके ॥ १०८ ॥

पोई की जड़ के कल्क में तिल का तेल मिलाकर योनि के भीतर लेप करने से सुखपूर्वक प्रसव होता है ॥ १०८ ॥

कृष्णा वचा चापि जलेन पिष्टा सैरण्डतैला खलु नाभिलेपात्।
सुखं प्रसूतिं कुरुतेऽङ्गनानां निपीडितानां बहुभिः प्रमादैः॥ १०९॥

यदि अनेकों प्रकार के कारणों से गर्भिणी को बहुत कष्ट होता हो तो पीपर और वच को जल में पीसकर उसी में रेंडी का तेल मिलाकर नाभि पर लेप करने से सुखपूर्वक प्रसव होता है॥१०९॥

मातुलुङ्गस्य मूलं तु मधुकेन युतं तथा। घृतेन सहितं पीत्वा सुखं नारी प्रसूयते॥ ११०॥

बिजौरे नीबू की जड़ और मुलेठी को पीसकर घी मिलाकर पीने से सुखपूर्वक गर्भिणी प्रसव करती है॥ ११०॥

इक्षोरुत्तरमूलं निजतनुमानेन तन्तुना बद्ध्वा। कटिविषये गर्भवती सुखेन सूतेऽविलम्बेन॥

ईख की उत्तर की ओर की या श्रेष्ठ जड़ को स्त्री की ठीक लम्बाई के बराबर लम्बे डोरेसे कमर में बाँधने से शीघ्र और सुखपूर्वक प्रसव होता है॥ १११॥

तालस्य चोत्तरं मूलं स्वप्रमाणेन तन्तुना। बद्ध्वा कट्यान्तु नियतं सुखं नारी प्रसूयते॥

ताड़ की उत्तर की ओर अथवा उत्तम जड़ को स्त्री की ठीक लम्बाई के बराबर लम्बे तागे से कमर में बाँधने से सुखपूर्वक और तत्काल प्रसव होता है॥ ११२॥

मूढगर्भस्य [1]निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

मूढः करोति पवनः खलु मूढगर्भंशूलञ्च योनिजठरादिषु मूत्रसङ्गम्।
भुग्नोऽनिलेन विगुणेन ततः स गर्भः संख्यामतीत्य बहुधा समुपैति योनिम्॥११३॥

---

१. सर्वावयवसम्पूर्णो मनोबुद्ध्यादिसंयुतः। विगुणापानसम्मूढो मूढगर्भोऽभिधीयते॥

अंग्रेजी में मूढगर्भ को माल-प्रेजेन्टेशन ऑफ् दी फीटस (Mal-presentation of the Foetus) कहते हैं।

गर्भाशय में गर्भ की स्वाभाविक स्थिति—गर्भका सिर आगे को वक्ष की ओर झुका रहता है। रीढ़ आगे को मुड़ी रहती है। दोनों बाहु वक्ष पर और एक-दूसरे के ऊपर मुड़े रहते हैं। दोनों जांघें उदर पर और टांगे जांघों पर मुड़ी रहती हैं। प्रसूतिकाल के कुछ मास पहिले उसका सिर नीचे हो जाता है, चूतड़ ऊपर को होता है और प्रसूति के समय सिर के बल ही जन्म लेता है, जिसमें सिर ग्रीवा, कन्धे, ऊर्ध्व शाखाएँ, उदर, चूतड़, और अधःशाखाएँ क्रम से बाहर आया करती हैं। प्रसव के समय ब्रह्मरन्ध्र और अधिपतिरन्ध्र के बीच का भाग अर्थात् शीर्षाग्र आगे को रख कर (Vertex presentation) जन्म लेना यह स्वाभाविक और सबसे सरल मार्ग है। इसके अतिरिक्त सब मार्गों में कुछ न कुछ कठिनाई होती है, इसलिए उन सबों का समावेश मूढगर्भ में करना चाहिए। अपने यहाँ चरक में गर्भ की स्वाभाविक स्थिति और प्रसूतिविधि सूत्ररूप में इसी प्रकार वर्णन की गई है:—

'गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुख ऊर्ध्वशिराः सङ्कुच्याङ्गान्यास्ते जरायुवृतः कुक्षौ।
स चोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात् परिवृत्यावाक्शिरा निष्क्रामत्यपत्यपथेन।
एषा प्रकृतिः पुनरतोऽन्यथा॥ (च० शारीर अ० ६)

कारण—जब अपत्यमार्ग की चौड़ाई की अपेक्षा बालक के दर्शन भाग की मोटाई अधिक होती है, तब बालक रास्ते में अटक जाता है। दोनों में मेल तब होता है जब बालक की स्थिति पहिले सूत्र के वर्णनानुसार होती है और बालक शीर्षाग्र के बल जन्म लेता है। दोनों में विरोध निम्न तीन कारणों से होता है:—

१.—अपत्यमार्ग की विकृति—जैसे सङ्कुचित बस्तिगुहा (Contracted pelvis), बस्तिगुहा या गर्भाशयग्रीवा के समीपस्थिति (Placenta praevia) इत्यादि।

२—गर्भ की अस्वाभाविक स्थिति।

*अस्यायमर्थः पवनः स्वहेतुभिः कुपितस्ततो मूढः=रुद्धगतिः। मूढगर्भ=रुद्धगतिं गर्भं योन्यादिषु शूलं मूत्रसङ्गञ्च करोति। ततस्तेनानिलेन विगुणेन=रुद्धगतिना, स गर्भः, भुग्नः =कुटिलीकृतः, चतुर्भिः प्रकारैर्यातीत्यर्थः। अष्टभिरपरे। तत्संख्यानिरासार्थमाह–संख्याम-तीत्य=उक्तां संख्यामतिक्रम्य, बहुधा=बहुभिः प्रकारैः, योनिं समुपैति॥ ११३॥

मूढगर्भ के निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण—अपने प्रकोप-कारणों से प्रकुपित वायु की गति रुक जाने से योनि, उदर आदि प्रदेशों में पीड़ा और मूत्रावरोध (मूत्र में रुकावट) पैदा होता है तथा वह रुद्धगति वायु गर्भ की गति को भी रोक कर उसे टेढ़ा कर देती है। इस प्रकार प्रकुपित रुद्धगति वायु से टेढ़ा किया हुआ वह गर्भ (कुछ विद्वानों के मत से) ४ प्रकार से अथवा (कुछ विद्वानों के मत से) ८ प्रकार से आकर योनि में अटक जाता है। किन्तु इस ४ या ८ प्रकार का कोई निश्चित नियम नहीं है। बहुधा अनेकों प्रकार की टेढी गति से वह मूढ़गर्भ योनि में आकर अटकता है॥ ११३॥

[1]चतुर्विधमूढगर्भस्य लक्षणमाह—

संकीलकः प्रतिखुरः परिघोऽथ बीजस्तेषूर्ध्वबाहुचरणैः शिरसा च योनौ।
सङ्गी च यो भवति कीलकवत्स कीलो दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरः स हि कायसङ्गी॥
गच्छेत् भुजद्वयशिराः स च बीजकाख्यो योनौ स्थितः स परिघः परिघेण तुल्यः॥

*संकीलकः=संशब्दोऽत्र छन्दोऽनुरोधात्, कप्रत्ययोऽपि स्वार्थे, तेन 'कील' इति नाम। तस्य लक्षणमाह–ऊर्ध्वबाहुचरणैरिति। उत्थितैर्बाहुचरणशिरोभिः, योनौ यः सङ्गी

३—गर्भ की विकृति—जैसे गर्भ के विविधव्यङ्ग, युग्म, जोड़गर्भ, जलशीर्ष (Hydro cephalus) इत्यादि।

अपने यहाँ उपर्युक्त तीनों अपत्यमार्ग में बालक के अवरुद्ध होने के कारणों में से द्वितीय कारण को ही प्रधान माना गया है। प्रथम कारण कदाचित् सहायक है और तृतीय कारण अत्यन्त गौण है। अपत्यमार्ग में बालक का अस्वाभाविक आगमन क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर अपने यहां अपानवायु का वैगुण्य माना जाता है। यथा—

'तमेव कदाचित् विवृद्धमसम्यगागतमपत्यपथमनुप्राप्तमनिरस्यमानं विगुणापानसम्मोहितं गर्भं मूढगर्भमित्याचक्षते'। सु० नि० अ० सू० ३।

किन्तु पाश्चात्य प्रसूतितन्त्र में बालक के अस्वाभाविक आगमन का कारण अज्ञात मानते हैं:—

The cause of abnormal Presentation is not easy to determine and in many cases no satisfactory reason can be given (Ten teachers midwifery).

१. अपने यहाँ संकीलक, प्रतिखुर, परिघ तथा बीजक नाम से जो ये मूढगर्भ के चार भेद किये गये हैं, आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में उनकी निम्न संज्ञाएँ दी गई हैं:—

१—संकीलक को चेस्ट, बैक एण्ड साइड प्रेजेन्टेशन—(Chest, Back and Side Presentation)।

२—प्रतिखुर को प्रेजेन्टेशन ऑफ् दी हेड विद टू हैन्ड्स् एन्ड टू लेग्स (Presentation of the Head with two hands and two legs)।

३—परिघ को ट्रान्सवर्स प्रेजेन्टेशन इन जनरल—(Transverse Presentation in general)।

४—बीजक को हेड प्रेजेन्टेशन विद वन आर टू हैन्डस् प्रोलेप्सिङ्ग (Head presentation with one or two hands prolapsing) कहते हैं। इनका इस स्थान पर विशद विवेचन करने का अवसर नहीं है।

भवति, स कीलः = कीलकाख्यो मूढगर्भः। दृश्यैः = बहिर्गतैः। खुरैः = खुरसाधर्म्यात्खुर-शब्देनात्र हस्तौ पादौ च गृह्येते। तेन हस्तद्वयपादद्वयैर्बहिर्गतैः प्रतिखुरः, स हि कायसङ्गी = हस्तपादेतरकायेन सक्तो भवति। यो गर्भः, भुजद्वयशिराः = भुजद्वयमध्ये शिरो यस्य एतादृग्, गच्छेद् = निःसरेत्। तच्छेषेण शरीरेण सक्तो भवति, स बीजकाख्यः परिघव-द्योनौ, स परिघः ॥ ११४ ॥

चार प्रकार के मूढ़गर्भों का लक्षण:—जिसमें गर्भ का दोनों हाथ, दोनों पैर और शिर ऊपर की ओर रहता है और यही कील की भाँति योनि में अटक जाता है उसे कीलक कहते हैं।

जिस गर्भ के दोनों हाथ और दोनों पैर बाहर निकल आयें किन्तु शेष शरीर अटका रहे तो उसे प्रतिखुर कहते हैं।

जिस गर्भ में दोनों हाथ और (इन्हीं हाथों के बीच में) शिर निकल आये, किन्तु शेष शरीर योनि में अटका रहे उसे बीजक नामक मूढगर्भ कहते हैं।

जिसमें गर्भयोनि में आड़ी दिशा में आकर परिघ की भाँति (किवाड़ बन्द करने वाले डण्डे की भाँति) अटक जाय उसे परिघ कहते हैं ॥ ११४ ॥

[1]मूढगर्भस्याष्टधात्वमाह—

द्वारं निरुद्ध्य शिरसा जठरेण कश्चित् कश्चिच्छरीरपरिवर्त्तितकुब्जकायः।

---

१. यहाँ पर सुश्रुतोक्त जो आठ प्रकार के मूढगर्भों का वर्णन किया गया है, उनमें से ऊपर के चार पाश्चात्त्य प्रसूतितन्त्र में वर्णित पेल्विक प्रेजेन्टेशन के चार प्रकार हैं, जैसे:—

१—बोथ नीज प्रेजेन्टिङ्ग (Both Knees presenting)।

२—वन नी प्रेजेन्टिङ्ग (One Knee presenting)।

३—स्लाइटली आबलीग पेल्विक प्रेजेन्टेशन ऑर ब्रीच् प्रेजेंटेशेन विद थाईज् फ्लेक्सड एन्ड लेग्स एक्सटेन्डेड (Slightly Oblique Pelvic presentation or Breech presentation with thighs flexed and legs extended)।

४—फूटलिङ्ग प्रेजेन्टेशन (Footling presentation)।

शेष चार तिर्यक् गति के हैं:—

५—ट्रान्सवर्स प्रेजेन्टेशन इन दी फर्स्ट आर फोर्थ पोजीशन (Transverse presentation in the first or forth position)।

६—विद वन् हैन्ड प्रोलेप्सिङ्ग (With one hand prolapsing)।

७—बोथ दी हैन्डस् प्रोलेप्सिङ्ग (Both the hands prolapsing)।

८—प्रेजेन्टेशन आफ हेड, टू हैन्डस् एन्ड टू लेग्स (Presentation of head, two hands and two legs)।

अब तक का जो समन्वय और विचार हुआ है वह सुश्रुत के अनुसार हुआ है। माधवनिदान में भी मूढ़गर्भ की ८ प्रकार की गतियाँ बतायी गई हैं जो कि—

'द्वारं निरुध्य शिरसा जठरेण कश्चित् कश्चिच्छरीरपरिवर्त्तितकुब्जदेहः।' इत्यादि ११५ वें श्लोक से सुस्पष्ट विदित हो चुका है। इनमें से ६ प्रकार की गतियाँ तो सुश्रुतोक्तवत् ही हैं, जिनकी कि बहुत साधारण-सी विवेचना ऊपर हो चुकी है। किन्तु दो प्रकार की गतियाँ विशेष हैं। यथा:—१—शिरसा और २—अवाङ्मुखः।

शिरसा—यदि गर्भ शीर्षाग्र के बल जन्म ले तो प्रायः सङ्ग नहीं होता। किन्तु यदि शीर्ष के अन्य अङ्गों से जन्म ले तो प्रायः कुछ न कुछ कठिनाई उत्पन्न होती है। इसलिए 'शिरसा' में सिर की उन सब गतियों का समावेश कर सकते हैं जो आज गर्भसङ्गजनक सिद्ध हुई हैं। यथा:—

एकेन कश्चिदपरस्तु भुजद्वयेन तिर्यग्गतो भवति कश्चिदवाङ्मुखोऽन्यः ॥
पार्श्वापवृत्तगतिरेति तथैव कश्चिदित्यष्टधा भवति गर्भगतिः प्रसूतौ ॥ ११५ ॥

*अयमर्थः–कश्चिच्छिरसा योनिद्वारं निरुद्ध्य सक्तो भवति, कश्चिज्जठरेण तं निरुद्ध्य। कश्चित्कुब्जकायेन संकुब्जेन पृष्ठेन सक्तो भवति। कश्चिदेकेन भुजेन योनिनिःसृतेन सक्तो भवति। कश्चिद् भुजद्वयेन तिर्यग्भूत्वा सक्तो भवति। अन्यो ग्रीवाभङ्गादधोभूतेन मुखेन सक्तो भवति। कश्चित्पार्श्वेनापवृत्ता निरुद्धा गतिर्यस्य, एवंविधो योनिद्वारमेति=याति ॥

मूढगर्भ के आठ प्रकारः—१—कोई मूढगर्भ शिर द्वारा योनि-द्वार में अटक जाता है। २-कोई उदर-प्रदेश द्वारा योनि को रोक कर अटक जाता है। ३—कोई गर्भ कुबड़ा होकर अपनी कूबड़युक्त पीठ से योनि में रुक जाता है। ४—किसी गर्भ का एक हाथ बाहर निकल जाता है किन्तु शेष शरीर रुक जाता है। ५—किसी का दोनों हाथ निकलकर शेष शरीर अटका रहता है। ६—कोई मूढगर्भ आड़ी दिशा में आकर योनिद्वार को रोककर अवरुद्ध हो जाता है। ७-किसी गर्भ की गर्दन टूट जाने से नीचे मुख करके रुक जाता है और ८—किसी गर्भ का पार्श्व भाग आकर योनिद्वार को रोक कर गर्भ को अवरुद्ध कर देता है। इस प्रकार आठ प्रकार का मूढगर्भ होता है॥ ११५ ॥

सुश्रुतोक्ताष्टप्रकारान्तरानाह—

१ कश्चिद् द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनिमुखं प्रतिपद्यते।
२ कश्चिदाभुग्नैकसक्थिरितरेण सक्थ्ना।
३ कश्चिदाभुग्नसक्थिशरीरः स्फिग्देशे तिर्यग्गतः।
४ कश्चिदुरःपार्श्वपृष्ठानामन्यतमेन योनिद्वारं पिधायावतिष्ठते।
५ अन्यः पार्श्वापवृत्तशिराः कश्चिदेकेन बाहुना।
६ कश्चिदाभुग्नशिरा बाहुद्वयेन।
७ कश्चिदाभुग्नमध्यो हस्तपादशिरोभिः।
८ कश्चिदेकेन सक्थ्ना योनिद्वारं प्रतिपद्यते, अपरेण पायुमिति ॥

सुश्रुत के मतानुसार ८ प्रकार के मूढगर्भः—१—किसी गर्भ की दोनों ऊरु (सांथल, या जाँघ) योनिमुख में आकर अटक जाती है।

२—किसी गर्भ की एक ऊरु मुड़ी रहती है और दूसरी ऊरु योनि में निकल आती है और गर्भ रुक जाता है।

आक्सीपिटो पोस्टीरियर प्रेजेन्टेशन (Occipito posterior presentation), पोस्टीरियर एसीनेलीटीजम (Posterior asynelitism) और ब्राउ प्रेजेन्टेशन (Brow presentation) इत्यादि। अपने यहाँ माधवनिदान के दोनों टीकाकार शिरसा का अर्थ 'विपुलेन शिरसा' कहते हैं। यदि यही अर्थ माना जाय तो इस से प्रायः पाश्चात्य प्रसूतितन्त्र में वर्णित जलशीर्ष (Hydrocephalus) नामक शिरोवृद्धिविशेष का बोध हो सकता है, क्योंकि सिर मोटा होने का यही प्रधान कारण है।

अवाङ्मुखः—मुख आगे करके जो जन्म लेता है, उसे अंग्रेजी में फेसप्रेजेन्टेशन (Face presentation) कहते हैं। मूढगर्भ की इन विविध गतियों का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करनेपर यह कहना पड़ता है कि आधुनिक पाश्चात्य प्रसूतितन्त्र में गर्भसङ्ग के जो विविध प्रकार वर्णन किए गए हैं, प्रायः उन सबों का वर्णन अपने यहाँ प्राचीन संहिताओं में मिलता है। इनका भली भाँति ज्ञान होने के लिए विशेष विवरण की आवश्यकता है, जो कि इस पुस्तक में स्थानाभाव के कारण नहीं दिया जा सकता। इसके लिए प्रसूति-तन्त्र की कोई अंग्रेजी पुस्तक पढ़नी चाहिए।

३—किसी गर्भ की दोनों ऊरु मुड़ी रहती हैं और शरीर भी कमर पर मुड़ जाता है और गर्भ तिरछा आकर योनिमार्ग में अपने नितम्बों द्वारा अटक जाता है।

४—कोई गर्भ छाती, पसली (छाती की बगल वाला भाग) अथवा पीठ में से किसी एक अङ्ग के द्वारा योनिद्वार को रोककर अटक जाता है।

५—किसी गर्भ का एक हाथ तो योनिमार्ग में निकल आता है, किन्तु गर्भ का मुड़ा हुआ शिर और उसकी पसलियाँ योनिद्वार पर आकर अटक जाती हैं।

६—किसी की दोनों बाहुएँ योनि में निकल आती हैं, किन्तु शिर ग्रीवा पर मुड़कर अवरुद्ध हो जाता है।

७—किसी गर्भ का मध्यभाग मुड़ जाता है तथा हाथ, पैर और शिर द्वारा गर्भ रुक जाता है।

८—किसी गर्भ का एक पैर योनिमार्ग में निकल आता है और दूसरा पैर गुदामार्ग में आ जाता है।

असाध्यमूढगर्भिणीलक्षणमाह—

अपविद्धशिरा या तु शीताङ्गी निरपत्रपा। नीलोद्गतशिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा॥

अपविद्धशिराः=अवनतशिराः, शिरोऽपि धारयितुमशक्तेति यावत्। निरपत्रपा= लज्जाशून्या। नीलोद्गतशिरा=कुक्षौ नीला उद्गता शिरा यस्याः सा॥ ११६॥

असाध्य मूढगर्भिणी के लक्षण—प्रसव के समय जिस गर्भिणी का शिर गिर जाता हो अर्थात् जो सिर को गर्दन पर सीधा न सँभाल सकती हो, शरीर ठण्डा हो गया हो, लज्जाहीन हो गई हो और शरीर पर नीली शिराएँ उभर आई हों, वह स्त्री गर्भ को नष्ट कर देती है और गर्भ स्त्री को नष्ट कर देता है अर्थात् ये लक्षण उत्पन्न होने पर गर्भ और गर्भिणी दोनों ही मर जाते हैं॥११६॥

मृतगर्भस्य क्रमेण कर्षणार्थं लक्षणमाह—

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता। भवेदुच्छ्वासपूतित्वं शूलं चान्तर्मृते शिशौ॥

***गर्भास्पन्दनं=गर्भस्याचलत्वम्। आवीनां प्रणाश इति—प्रसववेदनानामभावः। अथवा 'आवी' शब्देन प्रसवलिङ्गानि=मूत्रकफप्रसेकादीनि कथ्यन्ते तेषां नाशः। शूलम्= अन्तर्मृतस्य शिशोरुच्छूनतया॥ ११७॥**

अन्तर्मृत गर्भ के लक्षण—यदि गर्भाशयगत गर्भ भीतर ही मर गया हो तो उसमें किसी प्रकार की गति या फड़कन बिलकुल नहीं होती, आवी अर्थात् प्रसवकालीन वेदना का अथवा प्रसव के अन्य लक्षणों (मूत्र, कफ के प्रसेक आदि) का नाश हो जाता है, गर्भिणी के शरीर का रंग कालिमा लिये हुए पीला पड़ जाता है, श्वास द्वारा निकलने वाली वायु दुर्गन्धित होती है तथा मरे हुए गर्भ के फूल जाने से शूल उत्पन्न होता है॥ ११७॥

गर्भमरणकारणमाह—

मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः। गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च प्रपीडितः॥११८॥

***उपतापो=दुःखम्। मानस उपतापो बन्धुधनक्षयादिना। आगन्तुरुपतापः= प्रहारादिः॥ ११८॥**

गर्भ के मरने का कारण—माता के इष्ट बन्धु, धन आदि के नाश होने से मानसिक दुःखों के कारण या चोट आदि आगन्तुक पीड़ा के कारण अथवा रोगों से पीड़ित होने के कारण गर्भ गर्भाशय में ही मर जाता है॥ ११८॥

गर्भिण्या अन्यासाध्यलक्षणान्याह—

योनिसंवरणं सङ्गः कुक्षौ मक्कल्ल एव च। हन्युः स्त्रियं मूढगर्भो यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः॥ ११९॥

***योनिसंवरणं=व्याधिविशेषः। तथा चोक्तं तन्त्रान्तरे—**

***वातलान्यन्नपानानि ग्राम्यधर्मं प्रजागरम्। अत्यर्थं सेवमानायां गर्भिण्यां योनिमार्गगः॥**

मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य संवृतिम् । कुरुते रुद्धमार्गत्वात्पुनरन्तर्गतोऽनिलः ॥ २ ॥
निरुणद्ध्याशयद्वारं पीडयन्गर्भसंस्थितम् । निरुद्धवचनोच्छ्वासो गर्भश्चाशु विपद्यते ॥ ३ ॥
उच्छ्वास उर्ध्वं हृदयान्नाशयत्यथ गर्भिणीम् । योनिसंवरणं नाम व्याधिमेनं प्रचक्षते ।
अन्तकप्रतिमं घोरं नारभेत चिकित्सितम् ॥ ४ ॥ इति ।

सङ्गः=कुक्षौ गर्भस्य लग्नता, अप्रवृत्तिरिति यावत्। कुक्षौ मक्कल्लः=रक्तमारुतजः शूलविशेषः । यद्यपि प्रसूताया मक्कल्लशूलमुक्तम्, तथाऽपि सुश्रुते—'प्रजातायाश्चे'ति चकारेणाप्रसूताया अपि मक्कल्लशूलं भवतीति बोद्धव्यम् । उपद्रवाः = आक्षेपककासश्वासादयः ॥ ११९ ॥

गर्भिणी के अन्य असाध्य लक्षण—योनिसंवरण[1] रोग, गर्भ का अटक जाना, मक्कल्लशूल (रक्त और वायुजन्य शूलविशेष), मूढगर्भ तथा अन्य[2] आक्षेपक, खाँसी, श्वास आदि उपद्रव गर्भिणी को मार डालते हैं ॥

अन्य ग्रन्थों में योनि-संवरण का लक्षण निम्न प्रकार से दिया है—वातजनक अन्न-पान का अत्यधिक सेवन करने से, अत्यधिक मैथुन कराने से अथवा अत्यधिक जागने से गर्भिणी स्त्री के योनिमार्ग में चलने वाला वायु प्रकुपित होकर योनिद्वार को वन्द कर देता है। फिर गर्भ के भीतर का वायु ऊर्ध्वगति होने से गर्भ को पीड़ित करके गर्भाशय के द्वार को रोक देता है। इससे गर्भ के मुख का श्वास रुक जाता है और गर्भ शीघ्र ही मर जाता है। गर्भिणी का श्वास हृदय के ऊपरी भाग से चलने लगता है अर्थात् उथला हो जाता है, जिससे वह मर जाती है। इस घातक रोग को योनि-संवरण कहते हैं।

यद्यपि मक्कल्लशूल प्रसूता स्त्रियों को ही होता है, तथापि सुश्रुत ने जो 'प्रजातायाश्च' में चकार लिखा है, उससे प्रतीत होता है कि प्रसव के पहले भी मक्कल्लशूल होता है ॥ ११९ ॥

मूढगर्भचिकित्सामाह—

याभिः सङ्कटकालेऽपि बह्व्यो नार्यः प्रसाविताः ।
सम्यग्लब्धं यशस्तास्तु नार्यः कुर्युरिमां क्रियाम् ॥ १२० ॥

---

१. योनि-संवरण को गर्भाशय का सङ्कोच या आक्षेप (Tetanus of uterus or cloric spasm of the uterus) कहते हैं।

२. गर्भाक्षेपक को अंग्रेजी में एक्लेम्प्सिआ (Eclampsia) कहते हैं। इस रोग का ठीक कारण अभीतक भली भाँति निश्चित नहीं हुआ है; किन्तु गर्भसङ्ग इसका एक सहायक कारण है, इसमें सन्देह नहीं। यह रोग गर्भावस्था में छठे महीने के वाद, प्रसव के समय तथा प्रसव के वाद पाँच दिन तक होता है। इसमें धनुःस्तम्भ की भाँति दौरे पर दौरे आते रहते हैं। प्रत्येक दौरे का समय १ से १½ मिनट का होता है। प्रारम्भिक अवस्था में रोगी के शिर और मुख की पेशियाँ झटके के साथ सिकुड़ती हैं, आँखें घूमती हैं और नाक काँपती है। उसके वाद रोगी का शरीर सख्त होता है, सिर पीछे झुक जाता है। धनुःस्तम्भ के वाह्यायाम की भाँति शरीर टेढ़ा होता है, दाँती लग जाती है, जिससे प्रारम्भिक अवस्था में यदि जीभ दाँतों के वीच में हो तो कट जाती है और साँस में रुकावट होती है। तत्पश्चात् धीरे-धीरे सख्ती जाती है, साँस की रुकावट कम होती है और अन्त में रोगिणी वेहोश रहती है। वेहोशी का काल दौरों की संख्या पर निर्भर होता है। पहिले थोड़े मिनटों के लिए वेहोशी होती है, परन्तु वार-वार दौरे आने पर प्रायः वीच के काल में रोगी वेहोश ही रहा करता है। दौरों की संख्या १ से लेकर १०० से भी अधिक हो सकती है, परन्तु १० से अधिक होने पर रोग प्रायः कृच्छ्रसाध्य होता है। रोगी की मृत्यु हृदयावसाद, फुफ्फुसशोथ और मस्तिष्क में रक्तस्राव से होती है।

गर्भे जीवति मूढे तु गर्भं यत्नेन निर्हरेत्। हस्तेन सर्पिषाऽऽक्तेन योनेरन्तर्गतेन सा॥

***सा = जनयित्री॥ १२१॥**

मूढगर्भ की[1] चिकित्सा—जिस स्त्री ने ऐसे सङ्कट-काल में भी बहुत-सी स्त्रियों का प्रसव कराया हो और इस तरह इस कार्य में भलीभाँति यश प्राप्त किया हो, ऐसी स्त्री निम्नलिखित क्रिया करे—यदि मूढगर्भ जीवित हो तो हाथ में घी लगाकर हाथ को योनि में डालकर बड़े यत्न के साथ गर्भ को बाहर निकाल ले॥ १२०-१२१॥

मृते तु गर्भे गर्भिण्या योनौ शस्त्रं प्रवेशयेत्। शस्त्रशास्त्रार्थविदुषी लघुहस्ता भयोज्झिता॥

यदि मूढगर्भ मर गया हो तो शस्त्रप्रयोग को भलीभाँति जानने वाली तथा प्रसूतितन्त्र के शास्त्रीय ज्ञान में प्रवीण, हलके हाथों वाली, निर्भय दाई योनि में शस्त्रप्रवेश करे॥ १२२॥

सचेतनं तु शस्त्रेण न कथञ्चन दारयेत्। स दीर्यमाणो जननीमात्मानं चापि मारयेत्॥

---

१. आजकल पाश्चात्त्य वैद्यक में मूढगर्भ-चिकित्सार्थ अनेक प्रकार के यन्त्रों, शस्त्रों और शस्त्रकर्मों का व्यवहार किया जाता है, किन्तु इस स्थल पर उनका विवेचन सीमा से बाहर होने के कारण नहीं हो रहा है। एक प्रकार का शस्त्रकर्म जो कि बहुधा होता है, आवश्यक समझकर उसकी थोड़ी विवेचना की जा रही है। यह शस्त्रकर्म उस समय किया जाता है, जब कि प्रसव के समय अपत्यमार्ग या कटि तङ्ग होने के कारण जीवित गर्भ अटक जाता है। तब उसे अपत्यमार्ग से न निकालकर पेट चीरकर उदरमार्ग से निकालना होता है। उदरमार्ग से गर्भ निकालने की इस क्रिया को अंग्रेजी में सिजेरियन सेक्शन (Ceaserean section) कहते हैं। इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है:—

निर्देश—यह शस्त्रकर्म निम्न अवस्थाओं के लिए निर्दिष्ट किया गया है। यथा:-सङ्कुचित कटि, अपत्यमार्ग का अर्बुदों के कारण या स्वाभाविक सङ्कोच, माता की विपन्नावस्था, गर्भापतानक तथा प्रसव के पूर्व रक्तस्राव इत्यादि।

काल—यह शस्त्रकर्म जन्मकाल में प्रसव-वेदना शुरू होने पर अथवा यदि पहिले ही से गर्भसङ्ग के सम्बन्ध में कुछ कल्पना हो तो काल प्रसव के अन्तिम सप्ताह में किया जाता है।

शस्त्रकर्म—

१—प्रथम मध्यरेखा में उदर की दीवाल में ८ इञ्च का चीरा लगाया जाता है, जिसमें ५ इञ्च नाभि के नीचे और ३ इञ्च नाभि के ऊपर होता है। चीरा लगाने के पूर्व मूत्रोत्सर्जिका द्वारा वस्ति खाली करनी चाहिए।

२—सामने आये हुए गर्भाशय में लम्बाई की ओर ८ या ९ इञ्च का चीरा लगाया जाता है।

३—तत्पश्चात् फुर्ती से गर्भ को निकालकर नाभिनाड़ी को दो बन्धनों के बीच में काट दिया जाता है।

४—तत्पश्चात् गर्भाशय को उदर-गुहा से बाहर निकालकर उसको ग्रीवा के पास मजबूत पकड़ते हैं।

५—तत्पश्चात् अपरा, गर्भावरण तथा जमे हुए रक्त को निकालकर गर्भाशय का मुख अंगुली प्रविष्ट करके कुछ विस्तृत किया जाता है।

६—तत्पश्चात् गर्भाशय के छेद में टाँके लगाकर वह बन्द किया जाता है।

७—तत्पश्चात् उदर-गुहा में रक्त या अन्य पदार्थ जो कुछ गिरे हुए हों, उनको निकालकर उदर-गुहा साफ की जाती है।

८—अन्त में उदर की दीवार का छेद भी टाँके लगाकर बन्द किया जाता है।

अपने यहाँ भी अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु ने इसकी विवेचना की है, यथा:—

गर्भस्य जन्मकाले जीवतो यदि माता विपन्ना स्यात्ततः कुक्षिप्रस्पन्दनेन जीवन्तं गर्भं विदित्वा ततो वस्तिद्वारेण विपाट्य समुद्धरेत्।

यदि मूढगर्भ जीवित हो तो उसे कभी न काटे; क्योंकि कटा हुआ गर्भ स्वयं तो मर ही जाता है, साथ ही माता को भी मार डालता है ॥ १२३ ॥

नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्त्तमपि पण्डितः। तदाशु जननीं हन्ति प्रभूतान्नं यथा पशुम् ॥

***प्रभूतान्नम् = अतिमात्रमन्नम् ॥ १२४ ॥**

यदि गर्भ मर गया हो तो क्षणभर भी देर नहीं करनी चाहिए। उसे तत्काल शस्त्र से काटकर निकाल डालना चाहिए, क्योंकि मरा हुआ गर्भ गर्भिणी को इस प्रकार मार डालता है, जैसे अधिक अन्न पशु की भाँति भोजन करने वाले व्यक्ति को मार डालता है ॥ १२४ ॥

गर्भच्छेदनप्रकारमाह—

यद्यदङ्गं हि गर्भस्य योनौ सक्तं तु तद्भिषक्। सम्यग्विनिर्हरेच्छित्वा रक्षेन्नारीं प्रयत्नतः ॥
एवं निर्हृतशल्यां तां सिञ्चेदुष्णेन वारिणा। ततोऽभ्यक्तशरीरायां योनौ स्नेहं विधारयेत् ॥
एवं मृद्वी भवेद्योनिस्तच्छूलं चोपशाम्यति ॥ १२७ ॥

गर्भच्छेदन की विधि—गर्भ का जो-जो अङ्ग योनि में अटका हुआ हो, उसको काट-काटकर भली भाँति बाहर निकाले और स्त्री की यत्नपूर्वक रक्षा करे अर्थात् उसे शस्त्र से क्षति न होने पाये। गर्भ के निकाल देने के बाद स्त्री के शरीर पर उष्ण जल का सेचन करे, फिर गर्भिणी के शरीर पर मालिश करके योनि में घी लगाये। ऐसा करने से योनि कोमल होती है और उसका शूल शान्त हो जाता है ॥ १२५-१२७ ॥

प्रसूतायोनिक्षतादिचिकित्सामाह—

तुम्बीपत्रं तथा लोध्रं समभागं सुपेषयेत्। तेन लेपो भगे कार्यः शीघ्रं स्याद्योनिरक्षता ॥१२८॥

प्रसूता स्त्री की योनि में क्षतादि हो जाने की चिकित्सा—तितलौकी (कटुतुम्बी) का पत्ता और लोध समान भाग लेकर अत्यन्त बारीक पीस डाले। इसका योनि में लेप करने से शीघ्र ही योनिक्षत अच्छे हो जाते हैं ॥ १२८ ॥

पलाशोदुम्बरफलं तिलतैलसमन्वितम्। योनौ विलिप्तं मधुना गाढीकरणमुत्तमम् ॥१२९॥

यदि योनि शिथिल और ढीली हो गई हो तो पलाश और गूलर खूब बारीक पीसकर उसीमें तिल का तेल और मधु मिलाकर योनि में लेप करने से वह भली भाँति दृढ़ हो जाती है ॥ १२९ ॥

प्रसूता वनिता वृद्धकुक्षिह्रासाय सम्पिबेत्। प्रातर्मथितसंमिश्रां त्रिसप्ताहात्कणाजटाम् ॥

यदि प्रसव होने के बाद प्रसूता स्त्री का पेट बढ़ जाय तो उसे कम करने के लिए इक्कीस दिन के बाद प्रातःकाल मट्ठा और पिपरामूल पीना चाहिए ॥ १३० ॥

प्रसूतायाः प्रसवानन्तरमनिःसृतापराजोपद्रवानाह—

प्रसूताया न पतिता जठरादपरा यदि। तदा सा कुरुते शूलमाध्मानं वह्निमन्दताम् ॥१३१॥

***अपरा 'आम्बर' इति लोके ॥ १३१ ॥**

अपरा न गिरने से उपद्रव—यदि प्रसूता स्त्री के गर्भाशय से अपरा (खेरी, अम्बर या जेर) नहीं निकलती तो शूल, आध्मान (पेट फूलना) और अग्निमान्द्य उत्पन्न कर देती है ॥ १३१ ॥

अथोदरस्थितापरायाश्चिकित्सामाह—

केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या तस्याः कण्ठं प्रघर्षयेत्। निर्मोककटुकाऽलाबूकृतवन्धनसर्षपैः ॥
चूर्णितैः कटुतैलाक्तैर्धूपयेदभितो भगम् ॥ १३२ ॥

***निर्मोकः = सर्पकञ्चुकः। कृतवन्धनं = कोशातकम् ॥ १३२ ॥**

रुकी हुई अपरा की चिकित्सा—अङ्गुली पर बाल लपेटकर उससे कण्ठ को घिसने से आंवर गिर जाती है।

साँप की केचुल, कड़वी तुम्बी, कड़वी तरोई और सरसों—इनको चूर्ण रूप में बनाकर उसीमें कटु तेल मिलाकर योनि के चारों ओर धूआँ देने से आंवर निकल आती है ॥ १३२ ॥

लाङ्गलीमूलकल्केन पाणिपादतलानि हि ॥ १३३ ॥

कलिहारी की जड़ के कल्क का हाथ-पैर के तलवों पर लेप करने से अपरा बाहर निकल जाती है ॥ १३३ ॥

प्रलिम्पेत्सूतिका योषिदपरापातनाय वै । हस्तं छिन्ननखं स्निग्धं सूतायोनौ शनैः क्षिपेत् ॥

प्रवीण दाई अपने हाथ के नखों को भली भाँति काटकर हाथ में घी पोतकर प्रसूता स्त्री की योनि में हाथ डालकर अपरा को निकाल ले ॥ १३४ ॥

अपरां तेन हस्तेन जनयित्री विनिर्हरेत् । एवं निर्हृतशल्यां तां सिञ्चेदुष्णेन वारिणा ॥
ततोऽभ्यक्तशरीराया योनौ स्नेहं निधापयेत् ॥ १३५ ॥

इस प्रकार अपरा निकल जाने के बाद गर्भिणी के शरीर को गरम जल से सेचन करे और शरीर पर मालिश करके योनि के भीतर घी लगाये ॥ १३५ ॥

मक्कल्लशूलस्य निदानं सम्प्राप्तिं लक्षणञ्चाह—

वनितायाः प्रसूताया वातो रूक्षेण वर्द्धितः ।
तीक्ष्णोष्णशोषितं रक्तं रुद्ध्वा ग्रन्थिं करोति हि ॥ १३६ ॥
नाभ्यधःपार्श्वयोर्वस्तौ वस्तिमूर्द्धनि चापि वा ।
ततश्च नाभौ वस्तौ च भवेच्छूलं तथोदरे ॥ १३७ ॥
भवेत्पक्वाशयाध्मानं मूत्रसङ्गश्च जायते । एतद्भिषग्भिरुदितं मक्कल्लामयलक्षणम् ॥ १३८ ॥

मक्कल्लशूल[1] का निदान सम्प्राप्ति और लक्षण—प्रसूता स्त्री का वायु रूक्ष द्रव्यों से प्रकुपित होकर तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों के उपयोग से शोषित किये हुए रक्त को रोककर नाभि के नीचे, पसली में, मूत्राशय में अथवा वस्ति या मूत्राशय के ऊपरी भाग में गाँठ उत्पन्न कर देता है, तब नाभि, उदर और मूत्राशय में तीव्र शूलवत् पीड़ा होती है तथा पक्वाशय में आध्मान होता है और मूत्र रुक जाता है। वैद्यों ने मक्कल्लशूल का यही लक्षण कहा है ॥ १३६-१३८ ॥

मक्कल्लशूलचिकित्सामाह—

सुचूर्णितं यवक्षारं पिबेत्कोष्णेन वारिणा । सर्पिषा वा पिबेन्नारी मक्कल्लस्य निवृत्तये ॥१३९॥

---

१. मक्कल्लशूल को अंग्रेजी में आफ्टरपेन्स (After-Pains) कहते हैं। यह शूल गर्भाशयगत होता है। और इसके साथ-साथ नाभिवस्त्युदर शूल होता है, उसे फाल्स आफ्टर पेन्स (Fals after pains) कहते हैं। गर्भसंग के समय गर्भ को बाहर फेकने के लिए गर्भाशय के मांस में जो सख्त सिकुड़नें पैदा होती हैं, उन्हींसे यह तीव्र शूल होता है। प्रसूति के पश्चात् भी मक्कल्लशूल होता है और व्यवहार में इसी शूल को मक्कल्ल कहने का अधिक प्रचार है। अपने यहाँ इसी व्यावहारिक गर्भाशय-शूल को मक्कल्लशूल माना जाता है, जैसा कि:-'वनितायाः प्रसूताया वातो रूक्षेण वर्द्धितः' इत्यादि उपर्युक्त श्लोकों से सुस्पष्ट विदित होता है। यह शूल गर्भाशय में अपरा का कुछ हिस्सा रह जाने से या स्रुत रक्त के जम जाने से होता है। जैसा कि अपने यहाँ मधुकोश व्याख्याकार ने भी लिखा है कि:—'मक्कल्लो रक्तमारुतजः शूलविशेषः'।

यद्यपि प्रसूतितन्त्र अष्टाङ्ग आयुर्वेद का अष्टमाङ्ग है तथा इसके ऊपर पाश्चात्त्य विद्वानों का भी बहुत कुछ अन्वेषण हो चुका है, अनेक अंग्रेजी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं, तथापि इस पर हमें बहुत कुछ लिखना था; किन्तु यहाँ पर अवकाशाभाव अत्यन्त विवश कर रहा है कि हम अब कुछ भी न लिख सकें।

इसके साथ-साथ अब यहाँ पर भगवान् चरक की 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्' इस प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाता हुआ प्राच्य-पाश्चात्य-समन्वयात्मक टिप्पणी-लेखन की क्रिया को भी समाप्त कर रहा हूँ। इति शम्

मक्कलशूल की चिकित्सा—यवक्षार का सूक्ष्म चूर्ण उष्ण जल से अथवा घी से स्त्री को पिलाने से मक्कलशूल शान्त होता है ॥ १३९ ॥

पिप्पल्यादिगणमाह—

पिप्पली पिप्पलीमूलं मरिचं गजपिप्पली । नागरं चित्रकं चव्यं रेणुकैलाऽजमोदिकाः ॥
सर्षपो हिङ्गु भार्गी च पाठेन्द्रयवजीरकाः । महानिम्बश्च मूर्वा च विषा तिक्ता विडङ्गकम् ॥
पिप्पल्यादिर्गणो ह्येष कफमारुतनाशनः । क्वाथमेषां पिबेन्नारी लवणेन समन्वितम् ॥१४२॥
गुल्मशूलज्वरहरं दीपनञ्चामपाचनम् । मक्कलशूलगुल्मघ्नं कफानिलहरं परम् ॥१४३॥

पीपर, पिपरामूल, मरिच, गजपीपर, सोंठ, चित्त, चव्य, रेणुका, बड़ी इलायची, अजमोदा, सरसों, हींग, भारंगी, पाढ़, इन्द्रजव, जीरा, बकाइन, मरोड़फली, अतीस, कुटकी, वायविडंग-ये सब औषधियाँ पिप्पल्यादि गण के अन्दर आती हैं । ये कफ और वायु को नाश करने वाली हैं । इनका काढ़ा सेंधा नमक डालकर स्त्री पीये । यह गुल्म, शूल और ज्वर को नष्ट करने वाला, दीपन, पाचन तथा मक्कलशूल, गुल्म, कफ और वायु को विनष्ट करने के लिए परमोत्तम है ॥

त्रिकटुकचातुर्जातककुस्तुम्बुरुचूर्णसंयुक्तम् । खादेद् गुडं पुराणं नित्यं मक्कलदलनाय ॥१४४॥

सोंठ, मरिच, पीपर, दालचीनी, तेजपात, बड़ीलायची, नागकेशर और तुमुर—इनका चूर्ण पुराने गुड़ के साथ खाने से मक्कलशूल मिट जाता है ॥ १४४ ॥

प्रसूताया हिताहितान्याह—

प्रसूता युक्तमाहारं विहारं च समाचरेत् । व्यायामं मैथुनं क्रोधं शीतसेवाञ्च वर्जयेत् ॥१४५॥
मिथ्याचारात्सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते । स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेत्तत्पथ्यमाचरेत् ॥

प्रसूतिका के लिए पथ्यापथ्य— प्रसूता स्त्री को हितकारक आहार-विहार का सेवन करना चाहिए और व्यायाम, मैथुन, क्रोध, शीतल आहार-विहार को त्याग देना चाहिए । अहिताहार-विहार से जो रोग गर्भिणी को होता है, वह कष्टसाध्य या असाध्य होता है । इसलिए पथ्यपूर्वक रहना चाहिए ॥ १४५–१४६ ॥

सूतिकारोगनिदानमाह—

मिथ्योपचारात्संक्लेशाद्विषमाजीर्णभोजनात् । सूतिकायास्तु ये रोगा जायन्ते दारुणाश्च ते ॥

***मिथ्योपचाराद् = अनुचिताचरणात्, प्रवातादिसेवनात् । संक्लेशाद् = संक्लेश्यन्ते दोषा अनेनेति संक्लेशो = दोषजनकमात्रं तस्मात् । दारुणाः = कष्टसाध्याः ॥ १४७ ॥**

सूतिकारोग का निदान—अनुचित आहार-विहार यथा-वायु के झोकों आदि का सेवन करने से, दोषों को प्रकुपित करने वाले आचरणों को करने से, विषम भोजन से तथा अजीर्ण से सूतिका स्त्री के कष्टसाध्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १४७ ॥

सूतिकारोगानाह—

अङ्गमर्दो ज्वरः कासः पिपासा गुरुगात्रता । शोथः शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम् ॥

***एतेऽङ्गमर्दादयः प्रायेण सूतिकाया भवन्ति, सूतिकारोगत्वेन लक्ष्यन्ते ॥ १४८ ॥**

सूतिका के रोग—अंगों का टूटना, ज्वर, खाँसी, प्यास, शरीर का भारीपन, सूजन, शूल और अतीसार-प्रायः ये ही रोग सूतिका स्त्रियों को हुआ करते हैं । इसीलिए इन रोगों को ऐसी दशा में सूतिका-रोग के नाम से पुकारा जाता है ॥ १४८ ॥

प्रसूताया ज्वरादीनां रोगविशेषाणां निदानविशेषमाह—

ज्वरातीसारशोथाश्च शूलानाहबलक्षयाः । तन्द्राऽरुचिप्रसेकाद्या वातश्लेष्मसमुद्भवाः ॥
कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीणमांसबलाश्रिताः । ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः ॥

***सूतिकाभवत्वेन सूतिकानाम्ना ते रोगाः, आश्रयाश्रितयोरभेदोपचारात् । ते चाप्युपद्रवा इति । त एव ज्वरादय उक्तानां रोगाणामन्यतमं प्रधानीकृत्योपद्रवाश्च ॥ १४९–१५० ॥**

ज्वर, अतिसार, सूजन, शूल, पेट में मल या आम का संचित होना, शारीरिक वल का ह्रास, तन्द्रा, अरुचि और मुख से पानी छूटना आदि वात और कफजन्य रोग सूतिका के वल और मांस के क्षीण हो जाने से उत्पन्न होते हैं। ये कष्टसाध्य होते हैं और सब सूतिका-रोग कहलाते हैं। कभी-कभी इनमें से कोई रोग प्रधान रूप से होता है और शेष उसी के उपद्रव स्वरूप उत्पन्न होते हैं॥ १४९-१५०॥

सूतिकारोगचिकित्सामाह—

सूतिकारोगशान्त्यर्थं कुर्याद्वातहरीं क्रियाम्। दशमूलकृतं क्काथं कोष्णं दद्याद् घृतान्वितम्॥

सूतिका-रोग की चिकित्सा—सूतिका-रोग को शान्त करने के लिए वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। दशमूल के सहाते गरम काढ़े में घी डालकर पिलाना चाहिए॥ १५१॥

अमृतानागरसहचरभद्रोत्कटपञ्चमूलकं जलदम्।
शृतशीतं मधुयुक्तं शमयत्यचिरेण सूतिकाऽऽतङ्कम्॥ १५२॥

नागरमोथा, गुडुच, सोंठ, कटसरैया, नागरमोथा का भेद और बृहत्पंचमूल के क्काथ में मधु मिलाकर पीने से थोड़े ही दिनों में सूतिका के उपद्रव नष्ट हो जाते हैं॥ १५२॥

देवदार्वादिक्काथमाह—

देवदारु वचा कुष्ठं पिप्पली विश्वभेषजम्। भूनिम्बः कट्फलं मुस्तं तिक्ता धान्यहरीतकी॥
गजकृष्णा सदुःस्पर्शा गोक्षुरुर्धन्वयासकः। बृहत्यतिविषा छिन्ना कर्कटः कृष्णजीरकः॥१५४॥
समभागान्वितैरेतैः सिन्धुरामठसंयुतम्। क्काथमष्टावशेषं तु प्रसूतां पाययेत् स्त्रियम्॥१५५॥
शूलकासज्वरश्वासमूर्च्छाकम्पशिरोऽर्त्तिभिः। युक्तं प्रलापतृड्दाहतन्द्राऽतीसारवान्तिभिः॥
निहन्ति सूतिकारोगं वातपित्तकफोद्भवम्। कषायो देवदार्वादिः सूतायाः परमौषधम्॥

देवदार्वादि क्काथ—देवदारु, वच, कूट, पीपर, सोंठ, चिरायता, कायफर, नागरमोथा, कुटकी, धनिया, हरड़, गजपीपर, कटेरी, गोखरू, जवासा, वड़ी भटकटैया, अतीस, गुडुच, काकड़ासिंगी, काला जीरा-इन सबको समान भाग लेकर अष्टमांशावशेष काढ़ा बनाकर उसमें भुनी हींग और सेंधानमक मिलाकर प्रसूता स्त्री को पिलाये। यह देवदार्वादि क्काथ सूतिका-रोग की परमोत्तम औषधि है। यह काढ़ा शूल, खाँसी, ज्वर, श्वास, वेहोशी, शरीर का काँपना, शिर की पीड़ा, प्रलाप, प्यास, जलन, तन्द्रा, अतिसार और वमन-इन सब रोगों से युक्त और वात, पित्त तथा कफ तीनों दोषों से उत्पन्न हुए सूतिका-रोग को नष्ट करता है॥ १५३-१५७॥

पञ्चजीरकपाकमाह—

जीरकं स्थूलजीरश्च शतपुष्पाद्वयं तथा। यवानी चाजमोदा च धान्यकं मेथिकाऽपि च॥
शुण्ठी कृष्णा कणामूलं चित्रकं हपुषाऽपि च। वदरी गजचूर्णञ्च कुष्ठं कम्पिल्लकं तथा॥
एतानि पलमात्राणि गुडं पलशतं मतम्। क्षीरप्रस्थद्वयं दद्यात्सर्पिषः कुडवं तथा॥१६०॥
पञ्चजीरकपाकोऽयं प्रसूतानां प्रशान्तये। युज्यते सूतिकारोगे योनिरोगे ज्वरे क्षये॥१६१॥
कासे श्वासे पाण्डुरोगे कार्श्ये वातामयेषु च॥ १६२॥

पञ्चजीरकपाक—जीरा, काला जीरा, सौंफ, सोया, अजवाइन, अजमोदा, धनिया, मेथी, सोंठ, पिपरामूल, चित्ता, हाऊवेर, छोटी वेर के फल का चूर्ण, कूट और कवीला-इन सबका चार तोला चूर्ण लेकर चार सौ तोला गुड़, १२८ तो० दूध और १६ तो० घी डालकर पाक की तरह पका ले। यह पञ्चजीरकपाक कहलाता है। यह पाक सूतिका-रोग में, योनिरोगों में, ज्वर, क्षय, खाँसी, श्वास, पाण्डुरोग, कृशता तथा वातरोगों में लाभदायक होता है॥ १५८-१६२॥

सौभाग्यशुण्ठीपाकमाह—

आज्यं स्यात्पलयुग्ममत्र पयसः प्रस्थद्वयं खण्डतः
पञ्चाशत्पलमत्र चूर्णितमथो प्रक्षिप्यते नागरम्।

प्रस्थार्धं गुडवद्विपाच्य विधिना मुष्टित्रयं धान्यका-
न्मिश्याः पञ्चपलं पलं क्रिमिरिपोः साजाजिजीरादपि ॥ १६३ ॥
व्योषाम्भोददलोरगेन्द्रसुमनस्त्वग्द्राविडीनां पलं
एकं नागरखण्डसंज्ञकमिदं तत्सूतिकारोगहृत् ।
तृट्छर्दिज्वरदाहशोषशमनं सश्वासकासापहं
प्लीहव्याधिविनाशनं क्रिमिहरं मन्दाग्निसन्दीपनम् ॥ १६४ ॥

*दलं = पत्रकम् । उरगेन्द्रसुमनः = नागकेशरम् । द्राविडी = सूक्ष्मैला ॥१६३–१६४॥

सौभाग्यशुण्ठीपाक—८ तो० घी, १२८ तो० दूध, ७०० तो० खाँड़ और ३२ तोला सोंठ का चूर्ण डालकर गुडपाक की भाँति पकाये और इसीमें १२ तोला धनिया का चूर्ण, २० तो० सौंफ का चूर्ण तथा वायविडङ्ग, सफेद जीरा, सोंठ, मरिच, पीपर, नागरमोथा, तेजपत्ता, नागकेशर, दालचीनी, छोटी इलायची–इनमें से प्रत्येक का चार-चार तोला चूर्ण भी डाल दे। इस पाक को सौभाग्यशुण्ठीपाक कहते हैं। इसके सेवन करने से सूतिका-रोग, प्यास, वमन, ज्वर, दाह, शोथ, श्वास, कास, प्लीहा और क्रिमिरोग का नाश हो जाता है और मन्दाग्नि दूर होकर जठराग्नि उद्दीप्त होती है ॥ १६३–१६४ ॥

प्रसूताया नियमसमयावधिमाह—

सर्वतः परिशुद्धा स्यात्स्निग्धपथ्याल्पभोजना । स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेन्मासमतन्द्रिता॥

*सर्वतः परिशुद्धा = निःसृताशेषदुष्टरुधिरा । अतन्द्रिता = पथ्यादौ सावधाना ॥

प्रसूतिका के परिहार-काल की पथ्यविधि—प्रसूता स्त्री समस्त दूषित रक्त को निकल जाने दे, जिससे उसका शरीर और गर्भाशय शुद्ध हो जाय और स्निग्ध, हितकारक तथा अल्प मात्रा में भोजन करे, नित्य स्वेद ले और मालिश कराये। इस प्रकार एक महीने तक सावधानी से रहे॥

प्रसूता सार्धमासान्ते दृष्टे वा पुनरार्त्तवे । सूतिकानामहीना स्यादिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥
उपद्रवविशुद्धाञ्च विज्ञाय वरवर्णिनीम् । उर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यः परिहारं विवर्जयेत् ॥

परिहार-काल की अवधि के विषय में धन्वन्तरि आदि का मत—डेढ़ महीने के बाद अथवा जब पुनः रजोदर्शन हो, तब तक स्त्री प्रसूत कहलाती है (इसलिए डेढ़ महीने तक उपर्युक्त पथ्य से रहे), यह भगवान् धन्वन्तरिका मत है। अथवा जब चार महीने बीत जायँ और कोई उपद्रव न हो, तब प्रसूता स्त्री परहेज बन्द कर दे ॥ १६६–१६७ ॥

स्तनरोगस्य सम्प्राप्तिमाह—

सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ वा दोषः प्राप्य स्तनौ स्त्रियाः । रक्तं मांसञ्च संदूष्य स्तनरोगाय कल्पते॥

*अदुग्धावपि स्तनौ प्रसूताया गर्भिण्याश्च स्त्रिया बोद्धव्यौ ॥ १६८ ॥

स्तनरोग की सम्प्राप्ति—दुग्धयुक्त अथवा दुग्धहीन स्तन में दोष प्रकुपित होकर स्तनगत रक्त और मांस को दूषित करके स्तनरोग उत्पन्न कर देते हैं। इससे प्रकट होता है कि यह रोग गर्भिणी को भी होता है और प्रसूता स्त्री को भी ॥ १६८ ॥

अत आह सुश्रुतः—

धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः । दोषाविसरणास्तासां न भवन्ति स्तनामयाः

*दोषाविसरणाः = संवृतद्वारत्वेन दोषाणामविसरणम् = असञ्चारो यासु ताः ॥ १६९ ॥

यह रोग कन्याओं को नहीं होता, क्योंकि सुश्रुत ने कहा है कि कन्याओं के स्तन की धमनियाँ (अर्थात् यहाँ पर दुग्ध-स्रोत) बन्द रहती हैं, अत एव उनमें दोषों का सञ्चार न होने से उन्हें स्तनरोग नहीं होता ॥ १६९ ॥

तासामेव प्रसूतानां गर्भिणीनाञ्च ताः पुनः । स्वभावादेव विवृता जायन्ते संस्रवन्त्यतः ॥

जिन स्त्रियों के प्रसव हो चुका रहता है। अथवा जो गर्भिणी स्त्रियाँ होती हैं, उनके स्तनों की धमनियों का मार्ग स्वभावतः खुल जाता है, इसीसे उनसे स्राव होता है ॥ १७० ॥

स्तनरोगाणामतिदेशेन लक्षणान्याह—।

पञ्चानामपि तेषां तु हित्वा शोणितविद्रधिम्। लक्षणानि समानानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः॥

॥पञ्चानां = वातपित्तकफसन्निपातागन्तुजानाम्। आगन्तुजस्तनरोगोऽभिघातेन शल्येन च बोद्धव्यः, रक्तजस्यासम्भवात्स्वभावात्॥ १७१॥

स्तनरोग का लक्षण—स्तन में वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और आगन्तुज–इस तरह पाँच प्रकार के स्तनरोग होते हैं। रक्तज स्तनरोग होता ही नहीं। इन स्तनरोगों के लक्षण बाह्य विद्रधि के लक्षणों के समान होते हैं॥ १७१॥

स्तनरोगचिकित्सामाह—

शोथं स्तनोत्थितमवेक्ष्य भिषग्विदध्याद्विद्रधावभिहितं बहुधा विधानम्।
आमे विदाहिनि तथैव च तस्य पाके। यस्याः स्तनौ सततमेव च निग्रहात् तौ॥१७२॥
पित्तघ्नानि तु शीतानि द्रव्याण्यत्र प्रयोजयेत्। जलौकोभिर्हरेद्रक्तं न स्तनावुपनाहयेत्॥

॥उपनाहयेत् = स्वेदयेत्॥ १७३॥

स्तनरोग की चिकित्सा—स्तनों में शोथ होने पर वैद्य को प्रायः विद्रधि की चिकित्सा में कहे हुए उपचारों को करना चाहिए, किन्तु स्तनों में स्तनविद्रधि को पकाने लिए स्वेदन आदि न करे। स्तनविद्रधि में पित्तनाशक द्रव्यों द्वारा उपचार करे और जोंक लगवाकर दुष्ट रक्त निकाले, किन्तु स्वेदन न करे॥ १७२-१७३॥

लेपो विशालामूलेन हन्ति पीडां स्तनोत्थिताम्।
निशाकनककल्काभ्यां लेपः प्रोक्तः स्तनार्त्तिहा॥ १७४॥

॥विशाला = इन्द्रवारुणी। कनकस्य = धत्तूरस्य पत्रं ग्राह्यम्॥ १७४॥

लेपो निहन्ति मूलं वन्ध्याकर्कोटिकाभवं शीघ्रम्॥ १७५॥

इति सप्ततितमो योनिरोगाधिकारः समाप्तः॥ ७०॥

इति स्त्रीणां रोगाधिकाराः समाप्ताः॥



इन्द्रायण की जड़ पीसकर लेप करने से स्तन की पीड़ा शान्त होती है। हरदी और धतूर के पत्तों के कल्क से लेप करने से भी स्तनों की पीड़ा नष्ट हो जाती है॥ १७४॥

वांझककोड़े (वांझ खेखसा) के जड़ का लेप करने से स्तनरोग शीघ्र शान्त होता है और तपाये हुए लोहे, छौंका हुआ (बुझाया) पानी पिलाने से भी स्तनरोग में आराम रहता है॥१७५॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां मध्यखण्डे चिकित्साप्रकरणे सप्ततितमो योनिरोगाधिकारः समाप्तः॥ ७०॥



अथैकसप्ततितमो बालरोगाधिकारः॥ ७१॥

तत्र बालानां बालग्रहरक्षोपदेशमाह—

बालग्रहा अनाचारात्पीडयन्ति शिशुं यतः। तस्मात्तदुपसर्गेभ्यो रक्षेद्बालं प्रयत्नतः॥ १॥

मिथ्या आचारादि से बालग्रह बालकों को कष्ट देते हैं, अतएव उनके उपसर्ग से बालकों की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए॥ १॥

बालग्रहाणां नामान्याह—

स्कन्दग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दापस्मार एव च। शकुनी रेवती चैव पूतना चान्धपूतना॥ २॥

पूतना शीतपूर्वा च तथैव मुखमण्डिका । नवमो नैगमेयश्च प्रोक्ता बालग्रहा अमी ॥ ३ ॥

बालग्रहों के नाम—स्कन्द, स्कन्दापस्मार, शकुनी, रेवती, पूतना, अन्धपूतना, शीतपूतना, मुखमण्डिका और नैगमेय-ये नव बालग्रह होते हैं ॥ २-३ ॥

बालग्रहोत्पत्तिमाह—

नव स्कन्दादयः प्रोक्ता बालानां ये ग्रहा अमी । श्रीमन्तो दिव्यवपुषो नारीपुरुषविग्रहाः ॥
एते स्कन्दस्य रक्षाऽर्थं कृत्तिकोमाऽग्निशूलिभिः ।
सृष्टाः शरवणस्थस्य रक्षितस्य स्वतेजसा ॥ ५ ॥
स्कन्दः सृष्टो भगवता देवेन त्रिपुरारिणा । बिभर्ति चापरां संज्ञां कुमार इति स ग्रहः ॥६॥
***अयं हि कार्त्तिकेयादन्यः ॥ ६ ॥**

बालग्रहों की उत्पत्ति—ये जो नव बालग्रह कहे गये हैं, वे श्रीमान् और दिव्य शरीर वाले हैं। इनमें से कुछ पुरुषरूप वाले और कुछ स्त्रीरूप वाले हैं । इन बालग्रहों को कृत्तिका, पार्वती, अग्नि और शिवजी ने शरवण (सरपत के वन) में स्थित और अपने ही तेज से रक्षित कार्तिकेय की रक्षा करने के लिए पैदा किया था । इनमें से प्रथम ग्रह अर्थात् स्कन्द नामक बालग्रह को स्वयं शिवजी ने बनाया है । इसका दूसरा नाम कुमार भी है । स्कन्द और कुमार ये दोनों नाम स्वामी कार्तिकेय के भी हैं, किन्तु यह स्कन्द या कुमार नामक बालग्रह कार्तिकेय से भिन्न है ॥ ४-६ ॥

स्कन्दापस्मारसंज्ञो यः सोऽग्निना तत्समद्युतिः ।
स च स्कन्दसखो नाम्ना विशाख इति चोच्यते ॥ ७ ॥

स्कन्दापस्मार नामक बालग्रह अग्नि के समान कान्ति वाला है । इसको अग्नि ने उत्पन्न किया है। स्कन्दसख और विशाख भी इसी के पर्याय हैं ॥ ७ ॥

ग्रहाः स्त्रीविग्रहा एते नानारूपाः प्रकीर्त्तिताः । गङ्गोमाकृत्तिकानां ते भागा राजसतामसाः॥

शेष सात ग्रह स्त्री रूप वाले हैं । इनके अनेक रूप होते हैं । ये गङ्गा, पार्वती और कृत्तिका के रजोगुण और तमोगुण रूप हैं ॥ ८ ॥

नैगमेयस्तु पार्वत्या सृष्टो मेषाननो ग्रहः । कुमारधारी देवस्य गुहस्यात्मसमोऽस्ति वै ॥९॥

नैगमेय नामक बालग्रह को पार्वती ने पैदा किया है । उसका मुख मेढ़े की तरह है और वह कुमार को धारण करनेवाला है, अतः कार्त्तिकेय को प्राणों के समान प्रिय है ॥ ९ ॥

ततो भगवता स्कन्दे सुरसेनापतौ कृते । उपतस्थुर्ग्रहा एते दीप्तशक्तिधरं गुहम् ॥ १० ॥
ऊचुः प्राञ्जलयश्चैनं वृत्तिर्नो दीयतामिति । तेषामर्थे ततः स्कन्दः शिवं देवमचोदयत् ॥११॥
ततो ग्रहांस्तानुवाच भगवान्भगनेत्रहृत् । तैर्यग्योनिं मानुषं च दैवञ्च त्रितयं जगत् ॥१२॥
परस्परोपकारेण वर्त्तते धार्यते तथा । देवा नरान्प्रीणयन्ति तैर्यग्योनींस्तथैव च ॥ १३ ॥
यथाकालं प्रवृत्तैस्तु ऊष्मवर्षहिमानिलैः । इज्याऽञ्जलिनमस्कारैर्जपहोमैस्तथैव च ॥ १४ ॥
सम्यक्प्रयुक्तैश्च नराः प्रीणयन्त्यपि देवताः । भागधेयविभक्तञ्च शेषं किञ्चिन्न विद्यते ॥१५॥
तद्युष्माकं शुभा वृत्तिर्बालेष्वेव भविष्यति ॥ १६ ॥

जब शिवजी ने कार्त्तिकेय को देवताओं का सेनापति बनाया, तब प्रदीप्त शक्ति को धारण करने वाले कार्त्तिकेय के सामने उपस्थित होकर हाथ जोड़कर इन ग्रहों ने प्रार्थना की कि 'हम लोगों को आजीविका दीजिये ।' यह सुनकर कार्त्तिकेय ने शिवजी से उनके लिए प्रार्थना की । तब भगवान् शङ्कर उन ग्रहों से बोले कि संसार में पशु-पक्षी, मनुष्य और देवता—इस तरह तीन प्रकार के प्राणी रहते हैं, जो परस्पर एक-दूसरे का उपकार करते हुए जीवित हैं । देवता लोग ठीक समय पर गरमी, वर्षा, शीत और वायु प्रदान करके मनुष्यों और पशु-पक्षियों को सुखी रखते हैं । यज्ञ, हाथ जोड़कर नमस्कार करना, जप, हवन आदि समुचित कर्मों द्वारा मनुष्य देवताओं को सन्तुष्ट रखते

हैं । पशुपक्षी आदि प्राणी अपने दूध और मांस द्वारा मनुष्यों और देवताओं को तृप्त करते हैं और मनुष्य भी पालन आदि द्वारा पशु-पक्षियों को सुखी रखते हैं । इस प्रकार ये सब कुछ समुचित रूप से यथाभाग बँट गया है, अब कुछ अवशेष नहीं बचा है । इसलिए बालकों में ही तुम लोगों के लिए उत्तम जीविका होगी ॥ १०-१६ ॥

बालग्रहाणां बालग्रहणकारणमाह—

कुलेषु येषु नेज्यन्ते देवाः पितर एव च । ब्राह्मणाः साधवो वाऽपि गुरवोऽतिथयस्तथा ॥
निवृत्तशौचाचारेषु तथा कुत्सितवृत्तिषु । निवृत्तभिक्षावलिषु भग्नकांस्यगृहेषु वा ॥ १८ ॥
ते वै बालांश्च तांस्तान् हि ग्रहा हिंसन्त्यशङ्किताः ।
तत्र वो विपुला वृत्तिः पूजा चैव भविष्यति ॥ १९ ॥
एवं ग्रहाः समुत्पन्ना बालान् हिंसन्ति चाप्यतः । ग्रहोपसृष्टा बालाः स्युर्दुश्चिकित्स्यतमास्ततः॥

महादेव जी ने बालग्रहों से कहा कि जिस कुल में देवता, पितर, ब्राह्मण, साधु, गुरु तथा अतिथियों की पूजा और समुचित सेवा नहीं होती, जिस कुल के लोगों ने पवित्रता और सदाचार का परित्याग कर दिया है और निन्दित कर्म करते हैं, भिक्षा और बलि नहीं देते, फूटे काँसे के वर्तन में भोजन करते हैं; उनके कुलों में जो बालक हों, उनको निःशङ्क होकर तुम लोग पकड़ो । इससे तुम्हारी अच्छी जीविका भी चलेगी और तुम लोगों की पूजा भी होगी । इसी कारण बालग्रह इसी प्रकार से बालकों को कष्ट देते हैं । अत एव जिन बालकों को बालग्रह पकड़ लेते हैं, उनकी चिकित्सा करना बहुत कठिन हो जाता है ॥ १७-२० ॥

सामान्यबालग्रहजुष्टानां लक्षणान्याह—

क्षणादुद्विजते बालः क्षणात् त्रस्यति रोदिति । नखैर्दन्तैर्दारयति धात्रीमात्मानमेव च ॥२१॥
ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान्खादेत्कूजति जृम्भते । भ्रुवौ क्षिपति दष्टौष्ठः फेनं वमति चासकृत् ॥
क्षामोऽति निशि जागर्त्ति शूनाङ्गो भिन्नविट्स्वरः ।
मत्स्यशोणितगन्धश्च न चाश्नाति यथा पुरा ॥ २३ ॥
दुर्बलो मलिनाङ्गश्च नष्टसंज्ञः प्रजायते । सामान्यग्रहजुष्टस्य लक्षणं समुदाहृतम् ॥ २४ ॥

सामान्य बालग्रहजुष्ट के लक्षण—क्षण भर में बालक व्याकुल हो जाता है, क्षण भर में रोने लगता है, नख और दाँतों से अपने को और माता को काटता है, ऊपर देखता है, दाँत चबाता है, कराहता है, जँभाई लेता है, भौहों को टेढ़ा करता है, ओठ को काटता है, बार-बार फेनयुक्त उलटी करता है, अत्यन्त कृश हो जाता है, रात्रि में उसे नींद नहीं आती, अङ्ग सूज जाते हैं, पतले दस्त होते हैं । बोली बदल जाती है, मछली और रक्त के समान दुर्गन्ध (उसके शरीर से) आती है और पहले की तरह खाता पीता नहीं, दुर्बल और मलिन अङ्गों वाला होकर बेहोश हो जाता है । इस प्रकार से ये सब सामान्य-ग्रहजुष्ट बालक के लक्षण कहे गये हैं ॥ २१-२४ ॥

विशिष्टग्रहजुष्टबालकानां लक्षणान्याह—

स्रस्ताङ्गः क्षतजसगन्धिकस्तनद्विड् वक्रास्यो हतचलितकपक्ष्मनेत्रः ।
उद्विग्नः ससलिलचक्षुरल्परोदी स्कन्दार्त्तो भवति च गाढमुष्टिवर्चाः ॥ २५ ॥

स्कन्दग्रह-जुष्ट का लक्षण—स्कन्द ग्रह से आविष्ट बालक के अङ्ग ढीले हो जाते हैं, उसके शरीर से रक्त की-सी गन्ध आती है, दूध नहीं पीता, मुख टेढ़ा हो जाता है, आँख खराब होकर उसकी एक पलक चलती है, व्याकुल हो जाता है, नेत्र में जल (आँसू) भरा रहता है, थोड़ा रोता है, हाथ की मुट्ठी कसकर बँधी रहती है और मल भी कड़ा निकलता है ॥ २५ ॥

निःसंज्ञो भवति पुनर्लभेत संज्ञां संरब्धः करचरणैश्च नृत्यतीव ।
विण्मूत्रे सृजति चिरेण जृम्भमाणः फेनं वा सृजति च तत्सखाभिजुष्टः ॥ २६ ॥

ॐतत्सखाभिजुष्टः=स्कन्दापस्मारयुक्तः ॥ २६ ॥

स्कन्दापस्मारग्रहजुष्ट का लक्षण— जिस बच्चे को स्कन्दापस्मार नामक ग्रह पकड़े रहता है, वह बेहोश हो जाता है और फिर चैतन्य (होश में) हो जाता है, उसका शरीर जकड़ जाता है, हाथ और पैरों को ऐसा चलाता है, जैसे नाचता हो, मल-मूत्र का त्याग करता है, देर तक जँभाई लेता है अथवा मुख से फेन छोड़ता है ॥ २६ ॥

त्रस्ताङ्गो भयचकितो विहङ्गगन्धिः सास्रावव्रणपरिपीडितः समन्तात् ।
स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदाहपाकैर्विज्ञेयो भवति शिशुः क्षतः शकुन्या ॥ २७ ॥

शकुनीग्रहजुष्ट के लक्षण— जो बालक शकुनीग्रह से पीड़ित हो, उसके अंग ढीले रहते हैं, वह डरा-सा रहता है, उसके शरीर से पक्षी जैसी दुर्गन्ध आती है, स्रावयुक्त व्रणों से पीड़ित रहता है, शरीर में सब तरफ जलन और पाकयुक्त फुड़िया हो जाती हैं और घाव बन जाते हैं ॥ २७ ॥

रक्तास्यो हरितमलोऽतिपाण्डुदेहः श्यावो वा मुखकरपाकवेदनाऽऽर्त्तः ।
गृह्णाति व्यथिततनुश्च कर्णनासं रेवत्या भृशमभिपीडितः कुमारः ॥ २८ ॥

रेवतीग्रहजुष्ट के लक्षण—जिस बालक को रेवती ग्रह पकड़े रहता है, उसका मुख लाल, विष्ठा हरे रंग की, शरीर अत्यन्त पीला अथवा काला होता है और मुख पक जाता है तथा शरीर में पीड़ा होने से बालक कान और नासिका को मलता है ॥ २८ ॥

विट्स्रावी स्वपिति न वासरे न रात्रौ विड्भिन्नं विसृजति काकतुल्यगन्धः ।
छर्द्यार्त्तो हृषिततनूरुहः कुमारस्तृष्णालुर्भवति च पूतनागृहीतः ॥ २९ ॥

पूतनाग्रहाविष्ट के लक्षण—जिस बालक को पूतना ग्रसे रहती है, उसके अंगों से बहुत-सा मल निकलता है, न दिन में सोता है न रात में, पतला पाखाना होता है, कौए की तरह उसका शरीर महँकता है, उलटी होती है, रोमांच होता है और प्यास अधिक लगती है ॥ २९ ॥

यो द्वेष्टि स्तनमतिसारकासहिक्काछर्दीभिर्ज्वरसहिताभिरर्द्यमानः ।
दुर्वर्णः सततमथापि योऽस्रगन्धिस्तं ब्रूयाद्भिषगथ चान्धपूतनाऽऽर्त्तम् ॥ ३० ॥

अन्धपूतनाग्रहाविष्ट के लक्षण—अन्धपूतना से पीड़ित बालक स्तनपान नहीं करता, अतिसार, खाँसी, हिचकी, वमन और ज्वर—इन सबसे पीड़ित रहता है। उसके शरीर का रंग बिगड़ जाता है और शरीर से रक्त की गंध आती है ॥ ३० ॥

आक्रन्दत्यभिचकितं सुवेपमानः संलीनो भवति व्यथाऽन्त्रकूजयुक्तः ।
त्रस्ताङ्गो भृशमतिशीर्यते च शीतात् तं ब्रूयाद्भिषगथ शीतपूतनाऽऽर्त्तम् ॥ ३१ ॥

शीतपूतनाग्रहाविष्ट के लक्षण—यदि बालक अधिक रोये, भयभीत होकर घबड़ाया-सा रहे, काँपे, पेट में गुड़गुड़ाहट और पीड़ा हो, अङ्ग शिथिल हों, उसे शीत प्रतीत हो तो शीतपूतनाग्रह से आविष्ट समझना चाहिए ॥ ३१ ॥

म्लानाङ्गः सरुधिरपाणिपादवक्त्रो बह्वाशी कलुषशिरावृतोदरो यः ।
सोद्वेगो भवति च मूत्रतुल्यगन्धिः स ज्ञेयः शिशुरथ वक्त्रमण्डिकाऽऽर्त्तः ॥३२॥

मुखमण्डिका-ग्रहाविष्ट के लक्षण—जो बालक मुखमण्डिका ग्रह से पीड़ित होता है, उसके अङ्ग मुरझाये रहते हैं, हाथ, पाँव तथा मुख से रक्त निकलता है, बहुत खाता है, उसके पेट पर बहुत-सी कलुषित शिराएँ उठ आती हैं, उद्विग्न होता है, और उसके शरीर से मूत्र जैसी गंध आती है ॥

यः फेनं वमति विनम्यते च मध्ये सोद्वेगो विहसति चोर्ध्वमीक्षमाणः ।
कूजेच्च प्रततमथो वसासगन्धिर्निःसंज्ञो भवति स नैगमेयजुष्टः ॥ ३३ ॥

नैगमेय-ग्रह से पीड़ित के लक्षण—जिस बालक के मुख से फेन की उलटी हो, और वह शरीर के मध्यभाग से नम (झुक) जाय, उद्विग्न हो, हँसे, ऊपर देखे, निरन्तर कराहे और उसके शरीर से चर्बी की-सी दुर्गन्ध आये, उस बालक को नैगमेय ग्रह से पीड़ित समझना चाहिए ॥३३॥

सामान्यग्रहजुष्टचिकित्सामाह—

सहामुण्डितिकोदीच्यक्काथस्नानं ग्रहापहम् ॥ ३४ ॥

***सहा = माषपर्णी ॥ ३४ ॥**

सामान्य ग्रहजुष्ट की चिकित्सा—वनउरदी, गोरखमुण्डी और सुगन्धवाला के काढ़े से स्नान कराने से बालग्रह शान्त हो जाते हैं और छितवन, कूट, हरदी तथा चन्दन—इन सबका लेप करने से भी बालग्रहों का शमन होता है ॥ ३४ ॥

सप्तच्छदामयनिशाचन्दनैश्चानुलेपनम्। सर्पत्वग्लशुनं मूर्वा सर्षपारिष्टपल्लवाः ॥ ३५ ॥
बिडालविड्जालोम मेषशृङ्गी वचा मधु। धूपः शिशोर्ज्वरघ्नोऽयमशेषग्रहनाशनः।
वालशान्तीष्टकर्माणि कार्याणि ग्रहशान्तये ॥ ३६ ॥

साँप की केंचुल, लहसुन, मरोड़फली, सरसों, नीम के पत्ते, बिल्ली की विष्ठा, बकरी का रोयाँ, मेढ़ासिंगी, वच और शहद—इन सब चीजों की धूनी देने से बालकों के ज्वर तथा सम्पूर्ण बालग्रह नष्ट हो जाते हैं। बालग्रहों के निवारणार्थ बालशान्ति तथा अन्य पूजनादि इष्ट कर्म करना चाहिए ॥ ३५-३६ ॥

अष्टमङ्गलघृतमाह—

वचा कुष्ठं तथा ब्राह्मी सिद्धार्थकमथापि च। सारिवा सैन्धवं चैव पिप्पली घृतमष्टमम्।
सिद्धं घृतमिदं मेध्यं पिबेत्प्रातर्दिने दिने। दृढस्मृतिः क्षिप्रमेधाः कुमारो बुद्धिमान्भवेत् ॥३७॥
न पिशाचा न रक्षांसि न भूता न च मातरः। न भवन्ति कुमाराणां पिबतामष्टमङ्गलम् ॥

अष्टमङ्गल घृत—वच, कूट, ब्राह्मी, सरसों, सारिवा, सेंधानमक, पीपर—इन सातों पदार्थों के कल्क से पकाया हुआ घी अष्टमङ्गल घृत कहलाता है। यह घी परम मेध्य है, इसको प्रतिदिन प्रातःकाल पीते रहने से बालक दृढ स्मरणशक्ति वाला, तीक्ष्ण बुद्धि वाला और मेधावी होता है। इस घृत को पीने से बालक को पिशाच, राक्षस, भूत और मातृदोष कष्ट नहीं पहुँचाते ॥ ३७-३८ ॥

विशिष्टग्रहजुष्टबालकचिकित्सा।

तत्र स्कन्दग्रहजुष्टचिकित्सामाह—

स्कन्दग्रहोपसृष्टस्य कुमारस्य प्रशान्तये। वातघ्नद्रुमपत्राणां क्काथेन परिषेचनम् ॥ ३९ ॥
देवदारुणि रास्नायां मधुरेषु गणेषु च। सिद्धं सर्पिश्च सक्षीरं पातुमस्मै प्रदापयेत् ॥ ४० ॥
सर्षपाः सर्पनिर्मोको वचा काकादनी घृतम्। उष्ट्राजाविगवां चापि रोमण्युद्धूपनं भवेत् ॥

***काकादनी = श्वेतगुञ्जा ॥ ३९-४१ ॥**

स्कन्दग्रहजुष्ट की चिकित्साः—स्कन्दग्रहाविष्ट बालक के कष्टों को शान्त करने के लिए रेंड़ के पत्ते के काढ़े से सेचन करे। देवदारु, रास्ना और जीवनीय गण की ओषधियों से पकाया हुआ घी दूध में मिलाकर पिलाये। सरसों, साँप की केंचुल, वच, सफेद घुंघुची, घी, ऊँट के रोयें, बकरी, भेड़ और गाय के रोयें-इनकी धूनी दे ॥ ३९-४१ ॥

सोमवल्लीमिन्द्रवृक्षं वन्दाकं बिल्वजं शमीम्। मृगादन्याश्च मूलानि ग्रथितानि विधारयेत् ॥

***सोमवल्ली = सोमलता। इन्द्रवृक्षं = ककुभवृक्षम्। मृगादनी = इन्द्रवारुणी ॥ ४२ ॥**

सोमलता, अर्जुन, बंदा, श्रीफल, शमी और इनारुन की जड़-इन सबको डोरे में बाँधकर बच्चे के गले में बाँध दे ॥ ४२ ॥

रक्तानि माल्यानि तथा पताका रक्तांश्च गन्धान् विविधांश्च भक्ष्यान्।
घण्टां च देवाय बलिं निवेद्य सकुक्कुटं स्कन्दगृहे हिताय ॥ ४३ ॥

बालक के हित के लिए लाल फूलों की माला, लाल पताका (झण्डी), लालचन्दन, अनेकों प्रकार के भक्ष्य पदार्थ, घंटा और मुरगा-ये सब बालक पर से उतारकर चौराहों में रखे और उपर्युक्त मुर्गे की बलि दे ॥ ४३ ॥

स्नानं त्रिरात्रं निशि चत्वरेषु कुर्यात्परं शालियवैर्नवैस्तु।
गायत्रिपूताभिरथाद्भिरग्निं प्रज्वालयेदाहुतिभिश्च धीमान्॥ ४४॥

नये शालि चावल तथा नये जौ को पानी में डालकर उस पानी को गायत्री मंत्र से अभिमंत्रित करके रात्रि में बच्चे को चौराहे पर उसी पानी से तीन रात स्नान कराये और नये शालि चावलों तथा नये जौ की अग्नि में आहुति दे॥ ४४॥

रक्षामतः प्रवक्ष्यामि बालानां पापनाशिनीम्। अहन्यहनि कर्त्तव्या या भिषग्भिरतन्द्रितैः॥

इसके बाद बालकों की रक्षा के लिए ऐसा उपाय कहता हूँ, जो पापों का नाश करने वाला है। वैद्य को निरालस्य होकर प्रतिदिन बालक के निकट निम्नलिखित रक्षा-पाठ पढ़ना चाहिए॥ ४५॥

तपसां तेजसां चैव यशसां वपुषां तथा। निधानं योऽव्ययो देवः स ते स्कन्दः प्रसीदतु॥
ग्रहः सेनापतिर्देवो देवसेनापतिर्विभुः। देवसेनारिपुहरः पातु त्वां भगवान्गुहः॥ ४७॥
देवदेवस्य महतः पावकस्य च यः सुतः। गङ्गोमाकृत्तिकानां च स ते शर्म प्रयच्छतु॥४८॥
रक्तमाल्याम्बरधरो रक्तचन्दनभूषितः। रक्तदिव्यवपुर्देवः पातु त्वां क्रौञ्चसूदनः॥ ४९॥

रक्षापाठ—तप, तेज, यश तथा शारीरिक स्वास्थ्य के भंडाररूप देव स्वामी कार्तिकेय तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हों, ग्रहों और देवताओं के सेनापति, सेनापति नाम वाले और देवताओं की सेना के शत्रुओं को विनष्ट करने वाले स्वामी कार्तिकेय तुम्हारी रक्षा करें। जो महादेव जी के, अग्नि के, गंगा के, पार्वती के तथा कृत्तिका के पुत्र हैं, ऐसे स्वामी कार्तिकेय तुम्हारा कल्याण करें। लाल फूल और वस्त्रों को धारण करने वाले, लाल चन्दन से सुशोभित और दिव्य लाल शरीर वाले स्वामी कार्त्तिकेय तुम्हारी रक्षा करें॥ ४६-४९॥

स्कन्दापस्मारग्रहजुष्टचिकित्सामाह—

विल्वः शिरीषो गोलोमी सुरसाऽदिश्च यो गणः। परिषेके प्रयोक्तव्यः स्कन्दापस्मारशान्तये॥
*गोलोमी = श्वेतदूर्वा॥ ५०॥

स्कन्दापस्मार ग्रह की चिकित्सा—श्रीफल, सिरस, सफेद दूब और निम्नलिखित सुरसादि गण की ओषधियों के काढ़े से परिषेचन करना चाहिए॥ ५०॥

सुरसा श्वेतसुरसा पाठा फञ्जी फणिज्जकः। सौगन्धिकं भूस्तृणको राजिका श्वेतबर्वरी॥
कट्फलं खरपुष्पा च कासमर्दश्च शल्लकी। विडङ्गमथ निर्गुण्डी कर्णिकार उदुम्बरः॥ ५२॥
बला च काकमाची च तथा च विषमुष्टिका। कफकृमिहरः ख्यातः सुरसाऽऽदिरयं गणः॥

*सुरसा = कृष्णतुलसी, श्वेतसुरसा = श्वेततुलसी, फञ्जी = भार्गी, फणिज्जकः = मरुवकः, सौगन्धिकं = कह्लारम्। भूस्तृणकः = सुगन्धतृणम्, अनेनैव नाम्ना गौडादौ प्रसिद्धः। खरपुष्पा = बर्बरी। कासमर्दः = 'कसौदी' अनेनैव नाम्ना प्रसिद्धः। विषमुष्टिः = 'बका' इति लोके॥ ५१-५३॥

सुरसादि गण की ओषधियाँ-काली और सफेद तुलसी, पाढ़, भारंगी, मरुआ, कह्लार नाम का सुगन्धित कुमुद, सुगन्धित तृण, राई, सफेद वनतुलसी, कायफर, मर्मरी (वनतुलसी), कसौदी, सलई, वायविडंग, मेउड़ी, अमलतास, गूलर, बरियारा, मकोय और कुचिला-ये सब ओषधियाँ सुरसादि गण बनाती हैं। यह गण कफ और कृमि का नाश करने में प्रसिद्ध है॥ ५१-५३॥

अष्टमूत्रविपक्वं च तैलमभ्यञ्जने हितम्॥ ५४॥

गोऽजाविमहिषाश्वानां खरोष्ट्रकरिणां तथा। मूत्राष्टकमिदं ख्यातं सर्वशास्त्रेषु सम्मतम्॥५५॥

गाय, बकरी, भेंड़, भैंस, घोड़ा, गदहा, ऊँट और हाथी-इन आठों का मूत्र 'अष्टमूत्र' कहलाता है। इसमें पकाया हुआ तैल स्कन्दापस्मार ग्रहाविष्ट बालक के शरीर में मालिश करने से बहुत लाभ करता है॥ ५४-५५॥

क्षीरवृक्षकषायेण काकोल्यादिगणेन च। विपक्तव्यं घृतं पश्चाद्दातव्यं पयसा सह॥ ५६॥

*काकोल्यादिगणेन कल्कीकृतेन तैलं पक्तव्यम् ॥ ५६ ॥

क्षीरिवृक्षों के काढ़े से और काकोल्यादि गण की ओषधियों के कल्क से सिद्ध किया हुआ घृत दूध में मिलाकर बच्चे को पिलाना चाहिए ॥ ५६ ॥

काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकौ तथा । ऋद्धिर्वृद्धिस्तथा मेदा महामेदा गुडूचिका ॥
मुद्गपर्णी माषपर्णी पद्मकं वंशलोचना । शृङ्गी प्रपौण्डरीकञ्च जीवन्ती मधुयष्टिका ॥ ५८ ॥
द्राक्षा चेति गणो नाम्ना काकोल्यादिरुदीरितः । स्तन्यकृद् बृंहणो वृष्यः पित्तरक्तमलापहः ॥

काकोल्यादि गण—काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, ऋद्धि, वृद्धि, मेदा, महामेदा, गुरुच, वनमूंग, वनउरदी, पद्माख, वंशलोचन, काकड़ासिङ्गी, पुंडरीक वृक्ष, जीवन्ती, मुलेठी और दाख-ये सब मिलकर काकोल्यादिगण बनाती हैं। यह गण दूध बढ़ाने वाला, बृंहण, वीर्यवर्द्धक तथा रक्तपित्त और कामला को नष्ट करने वाला है ॥ ५७-५९ ॥

उत्सादनं वचा हिङ्गुयुक्तमत्र प्रकीर्त्तितम् । गृध्रोलूकपुरीषाणि केशा हस्तिनखो घृतम् ॥६०॥
वृषभस्य च रोमाणि योज्यान्युद्धूपने सदा । अनन्तां कुक्कुटीं बिम्बीं मर्कटीञ्चापि धारयेत् ॥

*अनन्ता = जवासा । कुक्कुटी = शाल्मली ॥ ६०-६१ ॥

वच और हींग का लेप लगाना चाहिए। गिद्ध और उल्लू पक्षी की विष्ठा, बाल, हाथी का नख, घी, बैल का रोयाँ-इन सबकी धूनी देनी चाहिए। जवासा, सेमर, कुन्दरू और केंवाच या करंज को तागे में बाँधकर बच्चे के गले में बाँध देना चाहिए। ये सब उपचार स्कन्दापस्मार ग्रह में हितकर होते हैं ॥ ६०-६१ ॥

पक्वापक्वानि मांसानि प्रसन्ना रुधिरं पयः । मुद्गौदनं निवेद्याथ स्कन्दापस्मारिणे वटे ॥६२॥

*वटे = वटतले, बलिं निवेद्येत्यन्वयः ॥ ६२ ॥

कच्चे और पकाये हुए मांस, मदिरा, रक्त, दूध, मूंग और भात-इन सबकी स्कन्दापस्मार ग्रह की शान्ति के लिए वड़ के पेड़ के नीचे बलि देनी चाहिए ॥ ६२ ॥

चतुष्पथे कारयेच्च स्नानं तेन ततः पठेत् ॥ ६३ ।

*तेन = स्कन्दापस्मारिणा, स्नानं कारयेदित्यन्वयः ॥ ६३ ॥

स्कन्दापस्मारसंज्ञो यः स्कन्दस्य दयितः सखा ।
विशाखः स शिशोरस्य शिवायास्तु शुभाननः ॥ ६४ ॥

चौराहे पर स्नान कराकर बच्चे के निकट निम्नलिखित मन्त्र पढ़े—

'स्कन्दापस्मार नामक बालग्रह, जो स्कन्द का प्रिय सखा है और जिसे विशाख भी कहते हैं, तथा जो सुन्दर मुख वाला है, वह इस बालक की रक्षा करे' ॥ ६३-६४ ॥

शकुनिग्रहजुष्टचिकित्सामाह—

शकुनिग्रहजुष्टस्य कार्यं वैद्येन जानता । वेतसाम्रकपित्थानां क्वाथेन परिषेचनम् ॥ ६५ ॥

शकुनी ग्रह की चिकित्सा—शकुनी ग्रहाविष्ट बालक का वेंत, आम और कैथ के काढ़े से सेचन कराना चाहिए ॥ ६५ ॥

ह्रीवेरमधुकोशीरसारिवोत्पलपद्मकैः । लोध्रप्रियङ्गुमञ्जिष्ठागैरिकैः प्रदिहेच्छिशुम् ॥ ६६ ॥

*प्रदिहेद् = लिम्पेत् । दिह्यादिति सिद्धे दिहेदिति रूपसिद्धिरार्षत्वात् ॥ ६६ ॥

सुगन्धवाला, मुलेठी, खश, सारिवा, नीला कमल, पद्माख, लोध, फूलप्रियङ्गु, मजीठ और गेरू-इनसे बच्चे को लेप लगाना चाहिए ॥ ६६ ॥

स्कन्दग्रहोक्ता धूपाश्च हिता अत्र भवन्ति हि । स्कन्दापस्मारशमनं घृतमत्रापि पूजितम् ॥

स्कन्दापस्मार की चिकित्सा में कहे हुए धूपन और घृत का शकुनी ग्रह में भी उपयोग करना लाभदायक है ॥ ६७ ॥

शतावरीमृगैर्वारुनागदन्तीनिदिग्धिकाम् । लक्ष्मणां सहदेवीं च बृहतीं चापि धारयेत् ॥६८॥

*मृगैर्वारुः = बृहती इन्द्रवारुणी । नागदन्ती = 'नागहुली'ति लोके प्रसिद्धा ॥ ६८ ॥

शतावर, इनारुन, नागदवन, भटकटैया, लक्ष्मणा (अभाव में सफेद भटकटैया), सहदेई और बड़ी भटकटैया–इन सबको बच्चे को धारण भी कराये ॥ ६८ ॥

तिलतण्डुलकं माल्यं हरितालं मनःशिला । बलिरेष करञ्जे तु निवेद्यो नियतात्मना ॥६९॥
निकुञ्जे च प्रयोक्तव्यं स्नानमस्य यथाविधि । श्वेताशिरीषगन्धाश्मधवगुग्गुलुसर्षपैः ॥७०॥
सिद्धमभ्यञ्जने तैलं धारणं पूर्वमेव तु । शकुनिग्रहशान्त्यर्थं प्रदेहं कारयेद्धितम् ॥ ७१ ॥

तिल, चावल, फूल, माला, हरिताल और मैनसिल–इनका सावधानी के साथ करंज के पेड़ के नीचे बलिदान दे । उसी बलिदान के समीप बालक को यथाविधि स्नान कराये और सफेद दूब, सिरस, अष्टगन्ध, दूध, गुग्गुलु और सरसों से पकाया हुआ तेल पहले से ही तैयार रखे । स्नान कराने के बाद इसीसे मालिश करे और हितकर लेपों का प्रयोग करे । जिससे शकुनी ग्रह शान्त हो जाय ॥ ६९–७१ ॥

कुर्याच्च विविधां पूजां शकुन्याः कुसुमैः शुभैः । निकुम्भोक्तेन विधिना स्नापयेत्तं ततः पठेत् ॥

*निकुम्भः = शिवस्य गणविशेषस्तेनोक्तेन विधिना ॥ ७२ ॥

सुन्दर फूलों से शकुनी की अनेकों प्रकार से पूजा करे । तत्पश्चात् शिवजी के निकुम्भ नामक गण द्वारा कही हुई विधि से बालक को स्नान कराकर उसके निकट निम्नलिखित पाठ करे ॥७२॥

शिशुरक्षायां देव्याः स्तुतिमाह—

अन्तरिक्षचरा देवी सर्वालङ्कारभूषिता । अधोमुखी सूक्ष्मतुण्डा शकुनी ते प्रसीदतु ॥ ७३ ॥
दुर्दर्शना महामाया पिङ्गाङ्गी भैरवस्वरा । लम्बोदरी शङ्कुकर्णी शकुनी ते प्रसीदतु ॥ ७४ ॥

बालक की रक्षा के लिए देवी की स्तुति—आकाश में विचरण करने वाली, सम्पूर्ण आभूषणों से सुशोभित, अधोमुखी तथा सूक्ष्म मुखवाली शकुनी देवी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हों । भयङ्कर दर्शनवाली, बड़े शरीर वाली, पीले वर्णवाली, भयंकर स्वर वाली, लम्बे पेट वाली तथा शंकु की भाँति कान वाली शकुनी देवी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ७३–७४ ॥

रेवतीग्रहजुष्टचिकित्सामाह—

अश्वगन्धाऽजशृङ्गी च सारिवाऽथ पुनर्नवा । सहा विदारी ह्येतासां क्वाथेन परिषेचनम् ॥

*अजशृङ्गी = (मेढाशृङ्गी) । सहा = (सेवती) पुष्पजातिः ॥ ७५ ॥

रेवतीग्रहाविष्ट की चिकित्सा—असगन्ध, मेढासिंगी, सारिवा, गदहपुर्ना, सेवती और विदारीकन्द–इन सबके काढे से सेचन करे ॥ ७५ ॥

तैलमभ्यञ्जने कार्यं कुष्ठे सर्जरसे तथा । पलङ्कषायां नलदे यथा गौरकदम्बके ॥ ७६ ॥

*सर्जरसः = 'राल' इति लोके । पलङ्कषा = गुग्गुलुः । नलदं=लामज्जकम्, उशीरवत्पीतच्छविः । गौरकदम्बकः = हारिद्रकः 'हरदुआ कदम्ब' इति लोके ॥ ७६ ॥

कूट, राल, गुग्गुल, लामज्जक तृण और हलदिया कदम्ब–इनके कल्क से पकाये हुए तेल की मालिश करे ॥ ७६ ॥

धवाश्वकर्णककुभशल्लकीतिन्दुकेषु च । काकोल्यादौ गणे चापि सिद्धं सर्पिः पिबेच्छिशुः ॥

*अश्वकर्णः = 'साखू' इति लोके प्रसिद्धः ॥ ७७ ॥

धव, साखू, अर्जुन, सलई, तेंदू और काकोल्यादि गण की ओषधियों के कल्क से पकाया हुआ घी बच्चे को पिलावे ॥ ७७ ॥

कुलत्थं शङ्खचूर्णञ्च प्रदेहः साश्वगन्धिकः । गृध्रोलूकपुरीषाणि यवान् यवफलो घृतम् ।
सन्ध्ययोरुभयोः कार्यमेतदुद्धूपनं शिशोः ॥ ७८ ॥

*यवफलो = वंशाङ्कुरः ॥ ७८ ॥

कुलथी, शंख का चूर्ण और असगन्ध—इनका लेप करना चाहिए। गृद्ध और उल्लू पक्षी की विष्ठा, जव, बाँस का अङ्कुर और घी—इनको मिलाकर प्रातः-सायं बच्चे को धूनी दे॥ ७८॥

शुक्लाः सुमनसो लाजाः पयः शाल्योदनं दधि। बलिर्निवेद्यो गोतीर्थे रेवत्यै प्रयतात्मना॥

***गोतीर्थे=गोष्ठे॥ ७९॥**

सफेद फूल, (धान का) लावा, दूध, लाल शालि का भात और दही—इन पदार्थों की पवित्र शरीर से रेवती ग्रह के लिए गोष्ठ (गायों के रहने की जगह) में बलि दे॥ ७९॥

स्नानं धात्रीकुमाराभ्यां सङ्गमे कारयेद्भिषक्। नानाशस्त्रधरा देवी चित्रमाल्यानुलेपना॥
चलत्कुण्डलिनी श्यामा रेवती ते प्रसीदतु। उपासते यां सततं देव्यो विविधभूषणाः॥८१॥
लम्बा कराला विनता तथैव बहुपुत्रिका। रेवती शुष्कनासा च तुभ्यं देवी प्रसीदतु॥ ८२॥

समुद्र और नदी के सङ्गम पर अथवा दो नदियों के सङ्गम पर बालक और उसकी माता को स्नान कराकर निम्नलिखित मन्त्रपाठ करे 'अनेकों प्रकार के शस्त्र धारण करनेवाली, चित्र-विचित्र रङ्ग की माला और लेपन धारण करनेवाली, चञ्चल कुण्डलोंवाली और श्याम वर्णवाली, रेवती देवी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हो। लम्बी, विकराल, विनता, बहुत पुत्रोंवाली, शुष्क नासिका-वाली, और अनेकों प्रकार के आभूषणों द्वारा सुशोभित देवियों द्वारा सदा सेवित रेवती देवी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हो॥ ८०-८२॥

पूतनाग्रहजुष्टचिकित्सामाह—

कपोतवङ्का श्योनाको वरुणः पारिभद्रकः। आस्फोता चैव योज्याः स्युर्बालानां परिषेचने॥

***कपोतवङ्का=ब्राह्मी। आस्फोता=अपराजिता॥ ८३॥**

पूतनाग्रहाविष्ट की चिकित्सा—ब्राह्मी, सोनापाढ़ा, वरना, फरहद या नीम और अपराजिता इनके काढ़े से बच्चों को सेचन कराना चाहिए॥ ८३॥

नवा पयस्या गोलोमी हरितालं मनःशिला। कुष्ठं सर्जरसश्चैव तैलार्थे कल्क इष्यते॥८४॥

***नवा पयस्या=नूतना क्षीरविदारी। गोलोमी=श्वेतदूर्वा॥ ८४॥**

नवीन क्षीरविदारी (विदारीकन्द), सफेद दूब, हरताल, मैनसिल, कूठ और राल—इनके कल्क से तेल बनाकर मालिश के लिए प्रयोग करे॥ ८४॥

हितं घृतं तुगाक्षीर्या संसिद्धं मधुकेन च। कुष्ठतालीसखदिराः स्पन्दनोऽर्जुन एव च॥८५॥
पनसः ककुभश्चापि मज्जानो बदरस्य च। कुक्कुटास्थि घृतं चापि धूपनं सह सर्षपैः॥ ८६॥

***स्पन्दनः='स्पन्दन' इत्येवं नाम्ना प्रसिद्धः॥ ८५-८६॥**

वंशलोचन और मुलेठी से पकाया हुआ घी भी हितकारक है। कूठ, तालीसपत्र, खैर, स्पन्दन, अर्जुन, कटहर, अर्जुन, बेर की मींगी, मुर्गे की हड्डी, सरसों और घी—इन सबकी धूनी देनी चाहिए।

काकादनीं चित्रफलां बिम्बीं गुञ्जाश्च धारयेत्॥ ८७॥

***काकादनी=श्वेतगुञ्जा। चित्रफला=बृहदिन्द्रवारुणी॥ ८७॥**

सफेद गुंजा, बड़ी इनारुन, कुँदरू और लाल घुंघची—इन्हें धारण कराना चाहिए॥ ८७॥

मत्स्यौदनं बलिं दद्यात्कृशरां पललं तथा। शरावसम्पुटे कृत्वा तस्य शून्ये गृहे भिषक्॥

मछली, भात, तिलयुक्त खिचड़ी और मांस—इनको शकोरे में बन्द करके सूने घर में वैद्य, पूतना को बलि दे॥ ८८॥

उत्सृष्टान्नाभिषिक्तस्य शिशोः स्नपनमिष्यते। कुष्ठतालीसखदिरं चन्दनं स्पन्दनं तथा॥८९॥
देवदारु वचा हिङ्गु कुष्ठं गिरिकदम्बकम्। एला हरेणवश्चापि योज्या उद्धूपने सदा॥९०॥
मलिनाम्बरसंवीता मलिना रूक्षमूर्द्धजा। शून्यागारस्थिता देवी दारकं पातु पूतना॥ ९१॥

बच्चे को जूठे अन्न से मलकर फिर स्नान कराये और कूठ, तालीसपत्र, खैर, चन्दन, स्पन्दन, देवदारु, वच, हींग, कूठ, पहाड़ी कदम्ब, छोटी इलायची, रेणुका—इन सबकी धूनी दे। इसके

बाद बालक के निकट रक्षा-पाठ करे कि 'गन्दे कपड़े धारण करनेवाली, मलिन अङ्गोंवाली, रूखे बालोंवाली तथा सूने घरों में रहनेवाली पूतना देवी इस बच्चे की रक्षा करे' ॥ ८९-९१ ॥

गन्धपूतनाग्रहजुष्टचिकित्सामाह—

तिक्तद्रुमाणां पत्रेषु क्वाथः कार्योऽभिषेचने ॥ ९२ ॥

गन्धपूतना-ग्रहजुष्ट की चिकित्सा—बालक के शरीर पर निम्नलिखित तिक्त वृक्षों के क्वाथ से सेचन करना चाहिए ॥ ९२ ॥

तिक्तद्रुमानाह—

निम्बः पटोलः क्षुद्रा च गुडूची वासकस्तथा। विसर्पकुष्ठनुत्ख्यातो गणोऽयं पञ्चतिक्तकः ॥

तिक्त वृक्ष—नीम, परोरा, भटकटैया, गुरुच, अडूसा—ये पञ्चतिक्त कहलाते हैं और विसर्प तथा कुष्ठ को नाश करने के लिए प्रसिद्ध हैं ॥ ९३ ॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको मधुको मधु। शालिपर्णी बृहत्यौ च घृतार्थं च समाहरेत्।
सर्वगन्धैः प्रदेहश्च गात्रे चाक्ष्णोश्च शीतलैः ॥ ९४ ॥

***सर्वगन्धैः कुङ्कुमागुरुकर्पूरकस्तूरीचन्दनैः सह। अक्ष्णोस्तु शीतलैश्चन्दनकर्पूरैः, न तु कस्तूरीकुङ्कुमागुरुभिस्तेषामुष्णत्वात् ॥ ९४ ॥**

पीपर, पिपरामूल, चित्त, मुलेठी, मधु, सरिवन, बड़ी कटेरी और छोटी कटेरी—इनसे घी पकाकर प्रयोग करना चाहिए और सर्वगन्ध से अर्थात् केशर, अगर, कपूर, कस्तूरी और चन्दन से शरीर में लेप करे तथा चन्दन और कपूर से आँख के समीप भाग में लेप करे; क्योंकि केशर आदि उष्ण होने से नेत्रों के लिए हानिकारक होंगे ॥ ९४ ॥

पुरीषं कौक्कुटं केशाश्चर्म सर्पभवं तथा। जीर्णं चाभीचरशो वासो धूपनायोपकल्पयेत् ॥९५॥

मुर्गे की विष्ठा, बाल, साँप की केंचुल और पुराना वस्त्र-इनकी धूनी दे ॥ ९५ ॥

कुक्कुटीं मर्कटीं बिम्बीमनन्तां चापि धारयेत्। मांसं सामं तथा पक्वं शोणितं च चतुष्पथे ॥
निवेद्यमन्तश्च गृहे शिशो रक्षानिमित्ततः। शिशोश्च स्नपनं कुर्यात्सर्वगन्धोदकैः शुभैः।
कराला पिङ्गला मुण्डा कषायाम्बरसंवृता। देवी बालमिमं प्रीता रक्ष त्वं गन्धपूतने ! ॥९७॥

सेमर, केंवाच, कुंदरू और जवासा को बच्चे के शरीर पर धारण कराये तथा कच्चा और पका मांस तथा रक्त का चौराहे में बलिदान देकर बालक को घर के भीतर सर्वगन्धोदक से स्नान कराये और निम्न मन्त्र को पढ़े—विकराल, पीले वर्णवाली, मुण्डित और गेरुए वस्त्र को धारण करनेवाली हे गन्धपूतना देवी ! प्रसन्न होकर इस बच्चे की रक्षा करो ॥ ९६-९७ ॥

शीतपूतनाग्रहजुष्टचिकित्सामाह—

गोमूत्रं चाश्वमूत्रञ्च मुस्तां चामरदारु च। कुष्ठञ्च सर्वगन्धांश्च तैलार्थमवधारयेत् ॥ ९८ ॥

***सर्वगन्धान् = चन्दनादीन् ॥ ९८ ॥**

शीतपूतना-ग्रहाविष्ट की चिकित्सा—गोमूत्र, घोड़े का मूत्र, नागरमोथा, देवदारु, कूट, केशर, अगर, कपूर, कस्तूरी और चन्दन—इनसे पकाये हुए तेल से मालिश करे ॥ ९८ ॥

रोहिणीनिम्बखदिरपलाशककुभत्वचः। निक्वाथ्य तस्मिन्निक्वाथे सक्षीरे विपचेद् घृतम् ॥

कुटकी, नीम, खैर, पलाश और अर्जुन की छाल—इन सबका काढ़ा बनाकर उसी काढ़े में दूध डालकर उसी से घी सिद्ध करके बच्चे को पिलाये ॥ ९९ ॥

गृध्रोलूकपुरीषाणि वस्तगन्धामहित्वचम्। निम्बपत्राणि च तथा धूपनार्थं समाहरेत् ॥

गीध और उल्लू की विष्ठा, वनतुलसी, साँप की केंचुल तथा नीम के पत्ते—इनकी धूनी देनी चाहिए ॥ १०० ॥

धारयेदपि गुञ्जां च वलां काकादनीं तथा। नद्यां मुद्गौदनैश्चापि तर्पयेच्छीतपूतनाम् ॥१०१॥
जलाशयान्ते बालस्य स्नपनं चोपदिश्यते ॥ १०२ ॥

*जलाशयान्ते = जलाशयतीरे ॥ १०२ ॥

देव्यै देयश्चोपहारो वारुणी रुधिरं तथा । मुद्गौदनाशिनी देवी सुराशोणितपायिनी ।
जलाशयरता नित्यं पातु त्वां शीतपूतना ॥ १०३ ॥

लाल गुञ्जा, वरियारा और सफेद गुञ्जा को धारण करे । नदी में मूँग और भात से शीतपूतना को तृप्त करे । बच्चे को जलाशय के किनारे पर स्नान कराकर शराब और रक्त का शीतपूतना देवी को बलिदान दे । तत्पश्चात् बालक के समीप यह मन्त्र पढ़े कि—'मूंग और भात भक्षण करनेवाली, मदिरा और रक्त पीनेवाली तथा जलाशय के निकट सदा रहनेवाली शीतपूतना देवी तुम्हारी रक्षा करे' ॥ १०१–१०३ ॥

मुखमण्डिकाग्रहजुष्टचिकित्सामाह—

कपित्थं बिल्वतर्कारीवासा गन्धर्वहस्तकः । कुबेराक्षी च योज्याः स्युर्बालानां परिषेचने ॥

*तर्कारी = 'गनियार' इति लोके । गन्धर्वहस्तकः = श्वेतएरण्डः । कुबेराक्षी = 'पाडहि' (पाढ़ल) इति लोके ॥ १०४ ॥

मुखमण्डिका ग्रह-जुष्ट की चिकित्सा—कैथ, श्रीफल, अरनी, अडूसा, सफेद रेंड़ और पाढ़ल—इनके काढ़े से बालकों का सेचन कराना चाहिए ॥ १०४ ॥

स्वरसैर्भृङ्गवृक्षाणां तथव हयगन्धया । तैलं वसां च संयोज्य पचेदभ्यञ्जनं शिशोः ॥१०५॥

*भृङ्गवृक्षः 'भगेरा' इति लोके ॥ १०५ ॥

भंगरैया के स्वरस और असगन्ध से तेल और चर्वी दोनों एक में मिलाकर पका ले और इसी से बालक के शरीर पर मालिश करे ॥ १०५ ॥

वचा सर्जरसं कुष्ठं सर्पिश्चोद्धूपने हितम् । वर्णकं चूर्णकं माल्यमञ्जनं पारदं तथा ॥१०६॥
मनःशिलां चोपहरेद् गोष्ठमध्ये बलिं ततः ॥ १०७ ॥
पायसं सपुरोडाशं तद्बल्यर्थमुपाहरेत् । मन्त्रपूताभिरद्भिश्च तत्रैव स्नपनं हितम् ॥ १०८ ॥

वच, राल, कूठ और घी की धूनी देनी चाहिए । सन्तरे के छिल्के का चूर्ण, चूर्णक, फूलों की माला, अञ्जन, पारा, मैनसिल—इन सबको गोशाले में मुखमण्डिका के लिए अर्पण करके खीर, पुरोडाश (कड़ा हलुवा) का बलिदान दे । तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र से अभिमन्त्रित जल द्वारा उसी स्थान पर बच्चे को स्नान कराये ॥ १०६–१०८ ॥

जलाभिमन्त्रणमन्त्रमाह—

अलङ्कृता कामवती सुभगा कामरूपिणी । गोष्ठमध्यालया या तु पातु त्वां मुखमण्डिका ॥

जल को अभिमन्त्रित करने का मन्त्र—अलङ्कारों से शोभायमान, काम से युक्त, सुन्दर और यथेष्ट रूपों को धारण करनेवाली, गौओं के निवास-स्थान में रहनेवाली मुखमण्डिका देवी तुम्हारी रक्षा करे ॥ १०९ ॥

नैगमेयग्रहजुष्टचिकित्सामाह—

बिल्वाग्निमन्थपूतीकैः कार्यं स्यात्परिषेचितम् ॥ ११० ॥

*पूतीकः = घोराकरञ्जः ॥ ११० ॥

नैगमेय ग्रहजुष्ट की चिकित्सा—बेल, अरनी और पूतिकरञ्ज के काढ़े से बच्चे का परिसेचन करे ॥ ११० ॥

प्रियङ्गुसरलानन्ताशतपुष्पाकुटन्नटैः । पचेत्तैलं सगोमूत्रं दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकैः ॥ १११ ॥

*कुटन्नटं=वितुन्नकनाम्नो वृक्षविशेषस्य त्वक् 'गुडतजी' इति लोके । मुस्ताकृतिः—श्योनाकं वा ॥ १११ ॥

फूलप्रियङ्गु, सरल, सारिवा, सोया, गुडतजी, गोमूत्र, दही का तोड़ और खट्टी काँजी—इन से तेल पकाकर परिषेक कराये ॥ १११ ॥

वचां वयस्यां जटिलां गोलोमीञ्चापि धारयेत् ॥ ११२ ॥

*वयस्या=आमलकी गुडूची वा । जटिला—जटामांसी, गोलोमी=श्वेतवचा ॥११२॥

वच, आँवला या गुरुच, जटामांसी (बालछड़), सफेद वच—इनको बच्चे के शरीर पर धारण कराना चाहिए ॥ ११२ ॥

उत्सादनं हितञ्चात्र स्कन्दापस्मारनाशनम् । मर्कटोलूकगृध्राणां पुरीषाणि प्रधूपनम् ।
धूमः सुप्तजने कार्यो बालस्य हितमिच्छता । तिलतण्डुलकं माल्यं भक्ष्यांश्च विविधानपि ।
कौमारभृत्ये मेषाय प्लक्षमूले निवेदयेत् ॥ ११३ ॥

*कौमारभृत्ये=बालरक्षायाम् । मेषाय=नैगमेयग्रहाय ॥ ११३ ॥

इस ग्रह में भी स्कन्दापस्मारनाशक लेप लगाना हितकर होता है । बन्दर, उल्लू पक्षी और गिद्ध की विष्ठा की धूनी बालक का हितचिन्तक व्यक्ति अन्य सब लोगों के सो जाने पर दे । बालक की रक्षा के लिए तिल, चावल, फूलों की माला और अनेकों प्रकार के भक्ष्य पदार्थों का पकड़ी के पेड़ की जड़ में नैगमेय ग्रह के लिए बलिदान दे ॥ ११३ ॥

अधस्तात्क्षीरवृक्षस्य स्नपनञ्चोपदिश्यते ॥ ११४ ॥

अजाननश्चलाक्षिभ्रूः कामरूपी महायशाः । बालपालयिता देवो नैगमेयोऽभिरक्षतु ॥११५॥

किसी दूधवाले वृक्ष के नीचे बालक को स्नान कराये और यह मन्त्र पढ़े—'बकरे के समान मुखवाले, चञ्चल भौंह और नेत्रोंवाले, इच्छानुकूल स्वरूप धारण करनेवाले, महायशस्वी और बालकों की रक्षा करनेवाले नैगमेय देव इस बालक की रक्षा करें ॥ ११४-११५ ॥

बालरोगाणां निदानलक्षणमाह—

धात्र्यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा । दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति ॥
मिथ्याऽऽहारविहारिण्या दुष्टा वातादयस्त्रयः । दूषयन्ति पयस्तेन जायन्ते व्याधयः शिशोः ॥

बालरोगों का निदान—धाय के गुरु, विषम और दोषोत्पादक या प्रकोपक आहारादि के सेवन करने से उसके शरीरगत दोष प्रकुपित होकर दूध को दूषित कर देते हैं। मिथ्या आहार-विहार करनेवाली स्त्री के वातादि तीनों दोष प्रकुपित होकर उसके दूध को भी दूषित कर देते हैं । ऐसे दूध को पीने के कारण बच्चों में भी रोग उत्पन्न हो जाता है ॥ ११६-११७ ॥

वातदुष्टं शिशुः स्तन्यं पिबन्वातगदातुरः । क्षामस्वरः कृशाङ्गः स्याद् बद्धविण्मूत्रमारुतः ॥

वात से दूषित दूध को पीनेवाला बालक वातजन्य रोगों से पीड़ित रहता है और उसका स्वर क्षीण, शरीर कृश होता जाता है तथा उसके मल और मूत्र रुक जाते हैं ॥ ११८ ॥

स्विन्नो भिन्नमलो बालः कामलापित्तरोगवान् । तृष्णालुरुष्णसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पयः पिबन् ॥

पित्त से दूषित दुग्ध को पीने से बालक को पसीना और पतला दस्त आता है, कामला तथा पित्तजन्य अन्य रोग भी होते हैं, प्यास लगती है और समस्त शरीर में गरमी रहती है ॥ ११९ ॥

श्लेष्मदुष्टं पिबन्क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान् । निद्राऽर्दितो जडः शूनो रक्ताक्षश्छर्दनःशिशुः॥

कफ से दूषित दूध को पीने से बच्चे के मुख से लार गिरती है, कफजन्य अन्य रोग होते हैं, नींद बहुत आती है, शरीर भारी रहने से बच्चा जकड़ा हुआ रहता है और उस में चञ्चलता नहीं रहती, सूजन होती है, आँख लाल हो आती है तथा उल्टी होती है ॥ १२० ॥

द्वन्द्वजे द्वन्द्वजं रूपं सर्वजे सर्वलक्षणम् ॥ १२१ ॥

दो-दो दोषों से दूषित दूध के पीने से बच्चे में दो-दो दोषों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं और त्रिदोष से दूषित दूध पीनेसे बच्चे में जो रोग पैदा होता है, उसमें तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं ॥

ज्वराद्या व्याधयः सर्वे महतां ये पुरेरिताः । बालानामपि ते तद्वत् बोद्धव्या भिषगुत्तमैः ॥

ज्वरादि रोग जो बड़ों में होते हैं, वे बच्चों में भी हुआ करते हैं। उनके लक्षण और निदानादि को बड़ों की भाँति ही चतुर वैद्य को समझ लेना चाहिए ॥ १२२ ॥

बालानामेव ये रोगा भवन्ति महतां न च। तालुकण्टकमुख्यांस्तानवधारय यत्नतः॥

जो रोग केवल बच्चों में ही होते हैं, किन्तु बड़ों में नहीं होते, वे तालुकण्टकादि हैं। इनको इसी प्रकरण में कहा जाता है। यत्नपूर्वक ध्यान से सुनो॥ १२३॥

तत्रादौ तालुकण्टकलक्षणमाह—

तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकम्। तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते॥
तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात्पानं शकृद्द्रवम्। तृडक्षिकण्ठास्यरुजा ग्रीवादुर्बलता वमिः॥

पानं स्तनस्य शकृद्द्रवं=द्रवरूपम्॥ १२५॥

तालुकण्टक के लक्षण—कफ प्रकुपित होकर तालु के मांस में तालुकण्टक नामक रोग उत्पन्न करता है। इससे शिरगत तालु प्रदेश में गढ़ा हो जाता है, तालु नीचे गिर जाता है, बच्चा स्तनपान नहीं करता या बहुत कठिनाई से तनिक-सा पीता है, पाखाना बहुत पतला आता है, प्यास लगती है, आँख में, गले में और मुख में पीड़ा होती है, गरदन को गिराता है और उलटी होती है॥ १२४-१२५॥

महापद्मकलक्षणमाह—

वीसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनः शीर्षबस्तिजः। पद्मवर्णो महापद्मरोगो दोषत्रयोद्भवः।
शङ्खाभ्यां हृदयं याति हृदयाच्च गुदं व्रजेत्॥ १२६॥

पद्मवर्णः=लोहितवर्णः, तत्र शीर्षजो वीसर्पः। शङ्खाभ्यां हृदयं याति हृदयाच्च गुदं व्रजेत्। एवं बस्तिजो गुदं याति गुदतो हृदयं, हृदयाच्छिरो यातीति बोद्धव्यम्॥ १२६॥

महापद्मक के लक्षण—बच्चों के शिर में तथा मूत्राशय के स्थान (पेड़ू) पर लालवर्ण का त्रिदोषज विसर्प उत्पन्न होता है। इसे महापद्मक कहते हैं। शिर पर होनेवाला महापद्मक कनपट्टियों से होता हुआ हृदय में आता है और हृदय से फिर गुदा तक में चला जाता है। इसी प्रकार पेड़ू पर होनेवाला यह विसर्प गुदा तक जाता है, फिर गुदा से हृदय तक और हृदय से शिर तक फैल जाता है॥ १२६॥

कुकूणकलक्षणमाह—

कुकूणकं क्षीरदोषाच्छिशूनामेव वर्त्मनि। जायते सरुजं नेत्रं कण्डूरं प्रस्रवेद् बहु॥ १२७॥
शिशुः कुर्याल्ललाटाक्षिकूटनासाप्रघर्षणम्। शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न चाक्ष्युन्मीलनक्षमः॥

कुकूणकं='कोथुआह' इति लोके॥ १२७-१२८॥

कुकूणक के लक्षण—दूध के दोष से बच्चों की पलकों में (भीतर) कुकूणक नामक रोग होता है। इस रोग में नेत्र में पीड़ा और खुजली होती है। नेत्र से पानी गिरता है। ललाट, अक्षिगोलक और नासिका को बालक घिसता है तथा सूर्य का प्रकाश नहीं देख सकता है और न तो आँख ही खोलता है॥ १२७-१२८॥

तुण्डिगुदपाकयोर्लक्षणमाह—

वातेनाध्मापिता नाभिः सरुजा तुण्डिरुच्यते। बालस्य गुदपाकाख्यो व्याधिः पित्तेन जायते॥

तुण्डी और गुदपाक के लक्षण—प्रकुपित वायु के कारण नाभि फूल आती है और उसमें पीड़ा होती है। इसे तुण्डी कहते हैं। पित्त के कारण बच्चों की गुदा पक जाती है, इसे गुदपाक कहते हैं॥ १२९॥

अहिपूतनलक्षणमाह—

शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्। स्विन्ने वास्नाप्यमानस्य कण्डू रक्तकफोद्भवा॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते। एकीभूतं व्रणं घोरं तं विद्यादहिपूतनम्॥

स्विन्ने=स्वेदिते॥ १३०-१३१॥

अहिपूतन के लक्षण—बालक की विष्ठा तथा मूत्र से लिप्त गुदा को न धोने से अथवा बालक के पसीने को या नहाने पर पानी को न पोंछने से बच्चों को रक्त और कफ के कारण खुजली हो जाती है। इस खुजलाने से शीघ्र फुड़िया उत्पन्न होती है, जिससे स्राव होता है। ये सब फुड़िया एक में मिलकर भयानक व्रण बना देती हैं। इसीको 'अहिपूतन' कहते हैं॥ १३०-१३१॥

अजगल्लिकालक्षणमाह—

स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसंनिभा। कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका॥

अजगल्लिका के लक्षण—चिकनी, आस-पास के स्वस्थ चर्म के समान रंगवाली, पीड़ा रहित, गुथी-सी और मूँग के समान आकारवाली जो फुड़िया बच्चों को होती हैं, उन्हीं को 'अजगल्लिका' कहते हैं। यह कफ और वायु से उत्पन्न होती है॥ १३२॥

पारिगर्भिकलक्षणमाह—

मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि। कासाग्निसादवमथुतन्द्राकार्श्यारुचिभ्रमैः॥
युज्यते कोष्ठवृद्ध्या च तमाहुः पारिगर्भिकम्। रोगं परिभवाख्यं च तत्र युञ्जीत दीपनम्॥

***'पिबन्नपी' त्यपिशब्दादपिबन्नपि। पारिगर्भिकः='अहीडी'ति लोके। परिभवाख्यं=परिभवेति नामान्तरम्॥ १३३-१३४॥**

पारिगर्भिक के लक्षण—बच्चा गर्भवती माता का दूध पीये अथवा न पीये तो भी उसे खाँसी, अग्निमान्द्य, वमन, तन्द्रा, कृशता, अरुचि और भ्रम (चक्कर आना) होता है तथा उसके उदर की वृद्धि भी होती है। इसी को पारिगर्भिक या परिभव कहते हैं। इस रोग में दीपन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए॥ १३३-१३४॥

दन्तोद्भेदजरोगानाह

दन्तोद्भेदः शिशोः सर्वरोगाणां कारणं स्मृतम्। विशेषाज्ज्वरविड्भेदकासच्छर्दिशिरोरुजाम्॥
अभिष्यन्दस्य पोथक्या विसर्पस्य च जायते॥ १३६॥

***कारणमित्यन्वयः। पोथक्या=वर्त्मरोगविशेषस्य॥१३५-१३६॥**

दन्तोद्भेदजन्य रोग—दाँतों का निकलना प्रायः बच्चों के सब रोगों का कारण होता है। किन्तु विशेषतः दन्तोद्भेद से ज्वर, अतिसार, खाँसी, वमन, शिर में पीड़ा, नेत्राभिष्यन्द, पोथकी (रोहा) और विसर्प रोग होते हैं॥ १३५-१३६॥

बालरोगचिकित्सामाह—

भैषज्यं पूर्वमुद्दिष्टं महतां यज्ज्वरादिषु। तदेव कार्यं बालानां किन्तु दाहादिकं विना॥१३७॥

***दाहादिकं विना=अग्निदाहादिक्षारवमनविरेचनशिराव्यधादिकं विना। महाकष्टे चोत्पन्ने वमनविरेकाद्यपि दद्यात्। यत आह सुश्रुतः—**

'विरेकबस्तिवमनान्यृते कुर्यान्न नात्ययादि'ति।

***अत्ययाद्=विनाशकरकष्टाद्। ऋते=विना॥ इति॥ १३७॥**

त एव दोषा दूष्याश्च ज्वराद्या व्याधयश्च ते। अतस्तदेव भैषज्यं मात्रा तत्र कनीयसी॥

बालरोग-चिकित्सा—ज्वरादि रोगों में बड़ों की जो चिकित्सा पहले कही गई है, वही चिकित्सा बच्चों के उन-उन रोगों में भी करनी चाहिए; किन्तु वमन, विरेचन, अग्निदाह, क्षारप्रयोग, शिरावेधादि नहीं करना चाहिए। परन्तु आत्ययिक अवस्थाओं में इन्हें भी कर सकते हैं। क्योंकि सुश्रुत ने कहा है कि—विनाशकारक कष्ट (आत्ययिक रोग) को छोड़कर अन्य दशाओं में बच्चों में वमन, विरेचन तथा वस्ति आदि का प्रयोग न करना चाहिए। चूँकि बड़ों के दोष और दूष्य तथा तज्जन्य ज्वरादि रोग भी वही होते हैं, जो बच्चों के, इसलिए उनकी चिकित्सा भी बड़ों की ही तरह करनी चाहिए। केवल अन्तर यही है कि बड़ों की अपेक्षा बच्चों के रोगों में उन ओषधियों ो अत्यन्त कम मात्रा में देना चाहिए॥ १३७-१३८॥

बालस्य कनीयसीं मात्रामाह विश्वामित्रः—

विडङ्गफलमात्रं तु जातमात्रस्य भेषजम् । अनेनैव प्रमाणेन मासि मासि प्रवर्द्धयेत् ॥१३९॥

***विडङ्गपरिमितं भेषजं चूर्णीकृत्य किंवा कल्कीकृत्याथवाऽवलेहीकृत्य दद्यादित्यर्थः। तन्त्रान्तरे त्वन्यथाऽभिहितम् ॥ १३९ ॥**

विश्वामित्र के मतानुसार बालकों के लिए ओषधि की मात्रा—बच्चों को पहले महीने में वायविडङ्ग के फल के बराबर चूर्ण, कल्क अथवा अवलेह की मात्रा देनी चाहिए। प्रत्येक बाद के महीनों में एक-एक विडङ्ग के बराबर मात्रा बढ़ाते जाना चाहिए अर्थात् दूसरे महीने में दो विडङ्ग के बराबर देना चाहिए। इसी प्रकार अन्य महीनों में समझना चाहिए। किन्तु तन्त्रान्तर में भिन्न प्रकार लिखा है ॥ १३९ ॥

प्रथमे मासि बालाय देया भैषज्यरक्तिका । अवलेह्या तु कर्त्तव्या मधुक्षीरसिताघृतैः ॥१४०॥
एकैकां वर्द्धयेत्तावद्यावत्संवत्सरो भवेत् । तदूर्ध्वं माषवृद्धिः स्याद्यावत्षोडश वत्सराः ॥१४१॥

***एकैकां रक्तिकां, तदूर्ध्वं=वर्षोपरि, माषवृद्धिः। प्रतिवर्षं पञ्चगुञ्जात्मकस्य माषस्य वृद्धिर्भवति। 'गुञ्जाः पञ्चाद्यमाषक' इत्यमरसिंहः ॥ १४१ ॥**

ततः स्थिरा भवेत्तावद्यावद्वर्षाणि सप्तति ः। ततो बालकवन्मात्रा ह्रासनीया शनैः शनैः ॥

***ततः=षोडशवत्सरोपरि ॥ १४२ ॥**

चूर्णकल्कावलेहानामियं मात्रा प्रकीर्त्तिता । कषायस्य पुनः सैव विज्ञातव्या चतुर्गुणा ॥
क्षीरपस्य शिशोर्देयमौषधं क्षीरसर्पिषा । धाञ्यास्तु केवलं देयं न क्षीरेणापि सर्पिषा ॥

***क्षीरान्नादस्य पूर्ववत्क्षीरसर्पिषा ॥ १४४ ॥**

अन्यग्रन्थों का मत—एक महीने के बच्चे को एक रत्ती की मात्रा में ओषधि देनी चाहिए और इस ओषधि को मधु, दूध, मिश्री या घी से चटाना चाहिए। प्रति महीने की अवस्था के पीछे एक-एक रत्ती बढ़ाता जाय। फिर एक वर्ष की अवस्था हो जाने पर प्रतिवर्ष पाँच-पाँच रत्ती बढ़ाये। इस तरह सोलह वर्ष तक बढ़ाना चाहिए। अब यह सोलहवें वर्ष की मात्रा का परिमाण मनुष्य की ७० वर्ष की आयु तक चलता है। सत्तर वर्ष की आयु के बाद बच्चों की मात्रा को जैसे-जैसे बढ़ाया था, वैसे ही वैसे वृद्धों की मात्रा घटानी चाहिए। उपर्युक्त मात्रा चूर्ण, कल्क और अवलेह की बतलाई गई है। यदि काढ़ा देना हो तो उसकी मात्रा भी पूर्वोक्त क्रम से ही बढ़ानी-घटानी चाहिए, किन्तु मात्रा चौगुनी रहेगी अर्थात् एक मास के बच्चे को ४ रत्ती काढ़ा देना चाहिए और ४ रत्ती प्रतिमास बढ़ाना चाहिए और साल भर के बाद २० रत्ती प्रतिवर्ष बढ़ाना चाहिए। दूध पीनेवाले बच्चे को दूध और घी से दवा देनी चाहिए। दूध और अन्न दोनों चीज ग्रहण करनेवाले को भी इसी प्रकार देना चाहिए। किन्तु माता को दूध, घी से दवा नहीं देनी चाहिए। बल्कि जैसे कही गई हो, उसी के अनुसार देनी चाहिए ॥ १४०–१४४ ॥

प्रकारान्तरेणौषधोपायनमाह सुश्रुतः—

येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः । तेषु तत्कल्पसंलिप्तौ पाययेत्तं शिशुं स्तनौ ॥

बच्चों को ओषधि पिलाने का अन्य उपाय—जो ओषधि बच्चे के रोग के लिए हितकर हो, उसका कल्क बनाकर माता के स्तनों (चूचुक) में पोतकर बच्चे को स्तन पिलाये ॥ १४५ ॥

अनभिभाषिबालस्यान्तर्गतरोगज्ञानोपायमाह—

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते । मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमानेन रोदिति ॥१४६॥
निमीलिताक्षो मूर्द्धस्थे रोगे नो धारयेच्छिरः । वस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्त्तः क्षुधा तृडपि गच्छति ॥
विण्मूत्रसङ्गवैकल्याच्छर्द्याध्मानान्त्रकूजनैः । कोष्ठे व्याधीन्विजानीयात्सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः ॥

न बोलनेवाले बच्चों के रोगज्ञान का उपाय—बच्चे के जिस अङ्ग, प्रत्यङ्ग में पीड़ा होती है, उसे बच्चा बार-बार छूता है और उस स्थान को दूसरों के छूने पर रोता है। यदि बालक के मस्तक

में पीड़ा हो तो आँख बन्द किये रहता है और शिर को स्थिर नहीं रखता, बल्कि गिराये रहता है। यदि बच्चे के मूत्राशय में कष्ट हो तो उसे मूत्रावरोध हो जाता है तथा भूख और प्यास नहीं लगती। यदि बालक को पाखाना न होता हो, विकलता, उलटी, आध्मान (पेट फूलना) और आँतों में गुड़गुड़ाहट हो तो उदर में कष्ट जानना चाहिए। और यदि बच्चा निरन्तर रोये तो उसके समस्त शरीर में रोग जानना चाहिए॥ १४६-१४८॥

बालकस्य ज्वरादिरोगचिकित्सामाह—

सर्वं निवार्यते बाले स्तन्यं नैव निवार्यते। मात्रया लङ्घयेद्धात्रीं शिशोरेतद्धि लङ्घनम्॥

***मात्रया लङ्घयेद् = लघु भोजयेत्॥ १४९॥**

बालक के ज्वरादि रोगों की चिकित्सा—बच्चों को सब पदार्थ रोगों में वर्जित हैं, किन्तु दूध कदापि वर्जित नहीं है। यदि बच्चे को लङ्घन कराना हो तो उसकी माता को अल्प मात्रा में हल्का आहार दे, यही बच्चे का लंघन है॥ १४९॥

सर्वज्वरेषु भद्रमुस्ताऽऽदिक्वाथमाह—

भद्रमुस्ताऽभयानिम्बपटोलमधुकैः कृतः। क्वाथः कोष्णः शिशोरेष निःशेषज्वरनाशनः॥

सब ज्वरों (बच्चों के) में भद्रमुस्तादि क्वाथ—नागरमोथा, हरड़, नीम, परोरा और मुलेठी का काढ़ा बच्चों के समस्त ज्वरों को नष्ट करता है॥ १५०॥

ज्वरातिसारे चतुर्भद्रावलेहमाह—

घनकृष्णाऽरुणाशृङ्गीचूर्णं क्षौद्रेण संयुतम्। शिशोर्ज्वरातिसारघ्नं कासं श्वासं वमिं हरेत्॥

अरुणा = अतिविषा॥ १५१॥

ज्वरातिसार में चतुर्भद्रावलेह—नागरमोथा, पीपर, अतीस, काकड़ासिंगी-इनका चूर्ण शहद के साथ चाटने से बच्चों का ज्वर, अतिसार, खाँसी, श्वास और वमन दूर होता है॥ १५१॥

अतिसारे बिल्वादिक्वाथमाह—

बिल्वं च पुष्पाणि च धातकीनां जलं सलोध्रं गजपिप्पलीं च।
क्वाथावलेहौ मधुना विमिश्रौ बालेषु योज्यावतिसारितेषु॥ १५२॥

***जलम् = [बाला]॥ १५२॥**

अतिसार में बिल्वादिक्वाथ—बेल की गिरी, धव का फूल, सुगन्धबाला, लोध और गजपीपर-इनका काढ़ा शहद मिलाकर पीने से अथवा इन्हीं का चूर्ण मधु के साथ चाटने से बच्चों का अतिसार नष्ट हो जाता है॥ १५२॥

दुर्धरातिसारे समङ्गाऽऽदिक्वाथमाह—

समङ्गाधातकीलोध्रसारिवाभिः शृतं जलम्। दुर्धरेऽपि शिशोर्देयमतीसारे समाक्षिकम्॥

***समङ्गा = लज्जालुमूलम्॥ १५३॥**

दुर्धर अतिसार में समङ्गाऽऽदिक्वाथ—लाजवन्ती की जड़, धव का फूल, लोध और सारिवा-इनसे बनाया हुआ काढ़ा शहद मिलाकर देने से बच्चों का दुर्धर अतिसार भी नष्ट हो जाता है॥

आमातीसारे विडङ्गादिचूर्णमाह—

विडङ्गान्यजमोदा च पिप्पलीतण्डुलानि च। एषामालोड्य चूर्णानि सुखं तप्तेन वारिणा।
आमे प्रवृत्तेऽतीसारे कुमारं पाययेद्भिषक्॥ १५४॥

आमातिसार में विडङ्गादिचूर्ण—वायविडङ्ग, अजमोदा और पीपर के दाने-इन सबका सूक्ष्म चूर्ण सुखोष्ण जल में घोलकर बच्चे को पिलाने से आमातिसार नष्ट हो जाता है॥ १५४॥

रक्तातीसारे मोचारसादियवागूमाह—

मोचारसः समङ्गा च धातकी पद्मकेशरम्। पिष्टैरेतैर्यवागूः स्याद्रक्तातीसारनाशिनी॥१५५॥

*मोचारसो लज्जालुमूलं, धातकीपुष्पम्, कमलकेशरमेतेषां समुदितं तोलकैकं गृह्णीयात्। तण्डुलाः सपादतोलकाः १।, जलमेकादशतोलकम् ११, सर्वमेकीकृत्य यवागूः साधनीया॥ १५५॥

रक्तातिसार में मोचरसादि यवागू—मोचरस, लाजवन्ती की जड़, धव का फूल और कमल की केशर—ये सब मिलाकर एक तोला, चावल सवा तोला और पानी ११ तो०—इन सबको एक में पकाये। यह यवागू बच्चों को खिलाने से रक्तातिसार दूर कर देती है॥ १५५॥

अतीसारे नागरादिक्वाथमाह—

नागरातिविषामुस्तबालकेन्द्रयवैः शृतम्। कुमारं पाययेत्प्रातः सर्वातीसारनाशनम्॥१५६॥

अतिसार रोग में नागरादिक्वाथ—सोंठ, अतीस, नागरमोथा, सुगन्धवाला, इन्द्रजव—इनका काढ़ा बनाकर बालकों को पिलाये तो सब प्रकार का अतिसार दूर होता है॥ १५६॥

प्रवाहिकाया लाजाऽऽदिचूर्णमाह—

लाजा सयष्टी मधुका शर्करा क्षौद्रमेव च। तण्डुलोदकयोगेन क्षिप्रं हन्ति प्रवाहिकाम्॥

प्रवाहिका रोग में लाजादिचूर्ण—धान का लावा, मुलेठी और शक्कर तथा मधु—इन सबको मिलाकर चावल के धोवन के साथ पीने से बालकों की प्रवाहिका दूर होती है॥ १५७॥

ग्रहण्यादिरोगे रजन्यादिचूर्णमाह—

रजनी सरलो दारु बृहती गजपिप्पली। पृश्निपर्णी शताह्वा च लीढं माक्षिकसर्पिषा॥१५८॥
दीपनं ग्रहणीं हन्ति मारुतार्त्तिं सकामलाम्। ज्वरातीसारपाण्डुघ्नं बालानां सर्वरोगनुत्॥

ग्रहणी आदि रोगमें रजन्यादिचूर्ण—हलदी, देवदारु, दारुहल्दी, कटेरी, गजपीपरि, पिठवन और सौंफ—इनका चूर्ण बनाकर मधु और घी के साथ चाटने से बालकों की ग्रहणी, वायुसम्बन्धिनी पीड़ा, कामला, ज्वर, अतिसार, पाण्डु—ये सब नष्ट हो जाते हैं॥ १५८-१५९॥

कासघ्नं मुस्तकादिस्वरसमाह—

मुस्तकातिविषावासाकणाशृङ्गीरसं लिहेत्। मधुना मुच्यते बालः कासैः पञ्चभिरुत्थितः॥

खाँसी को नष्ट करनेवाला मुस्तकादिस्वरस—नागरमोथा, अतीस, अडूसा, पीपरि, काकड़ासिंगी—इन सबका स्वरस बनाकर उसमें मधु मिलाकर चाटे तो बालकों की पाँचों प्रकार की खाँसी दूर होती है॥ १६०॥

बालकानां पुराणकासोपरि केशरावलेहिकामाह—

व्याघ्रीसुमनसं जातीकेशरैरवलेहिका। मधुना चिरसञ्जाताञ्छिशोः कासान्व्यपोहति॥१६१॥

बालकों की पुरानी खाँसी पर केशरावलेह—कटेरी (भटकटैया), चमेली, जायफल तथा नागकेशर को पीसकर शहद के साथ चाटे तो बालकों की बहुत पुरानी खाँसी दूर हो जाती है॥१६१॥

कासश्वासे धान्यादिपानमाह—

धान्यं च शर्करायुक्तं तण्डुलोदकसंयुतम्। पानमेतत्प्रदातव्यं कासश्वासापहं शिशोः॥१६२॥

कास श्वास में धान्यादिपान—धनियाँ और शक्कर—इनको जल के साथ पीसकर चावल के धोवन के साथ पीने से बालकों की खाँसी और श्वास दूर हो जाते हैं॥ १६२॥

द्राक्षाऽऽदिचूर्णमाह—

द्राक्षावासाऽभयाकृष्णाचूर्णं क्षौद्रेण सर्पिषा। लीढं श्वासं निहन्त्याशु कासञ्च तमकं तथा॥

*तमकं=श्वासभेदम्॥ १६३॥

द्राक्षाऽऽदिचूर्ण—दाख (मुनक्का), अडूसा, हरड़, पीपरि—इन सबका चूर्ण करके मधु के साथ चाटे तो बालकों का श्वास, खाँसी नष्ट होता है अर्थात् तमक श्वास भी नष्ट होता है॥ १६३॥

हिक्कावमिघ्नं कटुकरोहिण्यवलेहमाह—

चूर्णं कटुकरोहिण्या मधुना सह योजयेत्। हिक्कां प्रशमयेत्क्षिप्रं छर्दिं चापि चिरोत्थिताम्॥

हिक्का और वमन को नष्ट करनेवाला कटुकरोहिणी अवलेह—कुटकी का चूर्ण बनाकर मधु के साथ चटाने से बालकों की हिचकी तथा बहुत पुराना वमन भी दूर हो जाता है ॥ १६४ ॥

दुग्धवमिघ्नमवलेहमाह—

आम्रास्थिलाजसिन्धूत्थं सक्षौद्रं छर्दिनुद्भवेत् ॥ १६५ ॥

छर्द्यां पीतं तु मेध्यन्तु स्तन्येन मधुसर्पिषा । द्विवार्त्ताकीफलरसं पञ्चकोलञ्च लेहयेत् ॥१६६॥

द्विवार्त्ताकी = बृहतीद्वयम् ॥ १६६ ॥

पञ्चकोलं यथा—

पिप्पली पिप्पलीमूलं चव्यचित्रकनागरम् ॥ १६७ ॥

अगर बालक दूध का वमन करता हो तो उसका अवलेह—आम की गुठली, धान का लावा और सेन्धानमक-इन सबों का चूर्ण बना कर शहद (मधु) के साथ चटाने से बालक के दूध की उल्टी दूर हो जाती है । और कटेरी (भटकटैया) के फलों का स्वरस तथा बड़ी भटकटैया के फलों का स्वरस, पीपरि, पिपरामूल, चव्य, चीता और सोंठ, जिसे पञ्चकोल कहते हैं—इन सबका चूर्ण बनाकर उपर्युक्त स्वरस के साथ चटाने से बालक के दूध का गिरना यानी मुख से निकलना बन्द हो जाता है ॥ १६५-१६७ ॥

आनाहे वातशूले च सैन्धवाद्यवलेहमाह—

घृतेन सिन्धुविश्वैलाहिङ्गुभार्गीरजो लिहन् । आनाहं वातिकं शूलं हन्यात्तोयेन वा शिशुः ॥

आनाह तथा वातशूल में सैन्धवादि चूर्ण—सेन्धानमक, सोंठ, इलायची, हींग और भारङ्गी-इनका चूर्ण बनाकर घी के साथ अथवा जल के साथ मिलाकर खिलाये तो आनाह और वातशूल बन्द हो जाता है ॥ १६८ ॥

मूत्राघातघ्नं कणाऽऽद्यवलेहमाह—

कणोषणासिताक्षौद्रसूक्ष्मैलासैन्धवैः कृतः । मूत्रग्रहे प्रयोक्तव्यः शिशूनां लेह उत्तमः ॥१६९॥

मूत्राघात को नष्ट करनेवाला कणाऽऽद्यवलेह—पीपरि, सोंठ, मिश्री, मधु, छोटी इलायची और सेन्धानमक-इन सबका अवलेह बनाकर चटायें तो बालकों का मूत्राघात नष्ट हो जाता है ॥

कार्श्यहरयोगमाह—

यदा तु दुर्बलो बालः खादन्नपि च वह्निमान् । विदारीकन्दगोधूमयवचूर्णं घृतप्लुतम् ।

खादयेत्तदनु क्षीरं शृतं समधुशर्करम् ॥ १७० ॥

कार्श्यहरयोग—उचित भोजन करने पर तथा जठराग्नि के दीपन होने पर भी जो बालक दुर्बल रहता है, उसको विदारीकन्द, गेहूँ, जव का चूर्ण घी में मिलाकर खिलाये और ऊपर से मधु और मिश्री के साथ उबाला हुआ दूध पिलाये तो बालक हृष्ट-पुष्ट हो जाय ॥ १७० ॥

शोथघ्नलेपमाह—

मुस्तं कूष्माण्डबीजानि भद्रदारुकलिङ्गकान् । पिष्ट्वा तोयेन संलिप्तं लेपोऽयं शोथहृच्छिशोः ॥

शोथ नाश करनेवाला लेप—नागरमोथा, पेठे (सफेद कोहड़ा) का बीज, देवदारु और इन्द्रजव-इन सबको पीसकर लेप करने से बालक का शोथ दूर हो जाता है ॥ १७१ ॥

क्षतविसर्पविस्फोटज्वरहरक्वाथमाह—

पटोलत्रिफलाऽरिष्टहरिद्राक्वथितं पिबेत् । क्षतवीसर्पविस्फोटज्वराणां शान्तये शिशुः ॥१७२॥

क्षत-विसर्प-विस्फोटक और ज्वर को नाश करनेवाला क्वाथ—परवर, त्रिफला, नीम और हरदी-इनका काढ़ा बनाकर पीने से क्षत, विसर्प, विस्फोट तथा ज्वर की शान्ति होती है ॥१७२॥

मुखस्रावहरक्वाथमाह—

सारिवातिललोध्राणां कषायो मधुकस्य च । संस्राविणि मुखे शस्तो धावनार्थं शिशोः सदा ॥

मुखस्राव को नष्ट करनेवाला क्वाथः—शारिवा, तिल, लोध और मुलेठी के क्वाथ से मुँह साफ किया जाय तो मुख का स्राव दूर होता है ॥ १७३ ॥

मुखपाकहरप्रलेपमाह—

अश्वत्थत्वक्दलक्षौद्रैर्मुखपाके प्रलेपनम् ॥ १७४ ॥

मुख पक जाने पर प्रलेप—पीपल की छाल और पत्तों को पीसकर मधु के साथ लेप करने से मुखपाक दूर होता है ॥ १७४ ॥

बालानां रोदने चूर्णमाह—

पिप्पलीत्रिफलाचूर्णं घृतक्षौद्रपरिप्लुतम्। बालो रोदिति यस्तस्मै लीढं दद्यात्सुखावहम् ॥

बालक के अधिक रोने पर चूर्ण—पीपल और त्रिफला का चूर्ण घी और मधु में मिलाकर चटाये तो बालकों का रोना दूर होता है ॥ १७५ ॥

तालुकण्टकघ्नकल्कमाह—

हरीतकी वचा कुष्ठं कल्कं माक्षिकसंयुतम्। पीत्वा कुमारः स्तन्येन मुच्यते तालुकण्टकात्॥

तालुकण्टकनाशक कल्क—हरड़, वच और कूट—इनका कल्क बनाकर मधु और चावल के जल के साथ पिलाये तो तालुकण्टक रोग दूर होता है ॥ १७६ ॥

कुकूणकहरलेपमाह—

फलत्रिकं लोध्रपुनर्नवे च सश्रृङ्गवेरं बृहतीद्वयं च।
आलेपनं श्लेष्महरं सुखोष्णं कुकूणके कार्यमुदाहरन्ति ॥ १७७ ॥

कुकूणकहर लेप—हरड़, बहेड़ा, आँवला, लोध्र, गदहपुर्ना, अदरख, कटेरी (छोटी और बड़ी) इनको जल में पीसकर और कुछ गर्म करके लेप करने से कुकूणक रोग नष्ट हो जाता है ॥१७७॥

नाभिशोथघ्नं स्वेदमाह—

मृत्पिण्डेनाग्नितप्तेन क्षीरसिक्तेन सोष्मणा। स्वेदयेदुत्थितां नाभिं शोथस्तेनोपशाम्यति ॥

नाभिशोथ को दूर करने वाला स्वेद—मिट्टी के ढेले को अग्नि में तपाकर दूध में बुझाये। ज़रा-सा गर्म रहने पर ही उससे सेंके तो नाभि की सूजन दूर होती है ॥ १७८ ॥

नाभिपाकघ्नतैलमवधूलनं चाह—

नाभिपाके निशालोध्रप्रियंगुमधुकैः श्रृतम्। तैलमभ्यञ्जने शस्तमेभिश्चाप्यवधूलनम् ॥
दग्धेन छागशकृता नाभिपाकेऽवचूर्णनम्। त्वक्चूर्णः क्षीरिणा वाऽपि कुर्याच्चन्दनरेणुना ॥

नाभिपाकनाशक तैल और अवधूलन—नाभि पक जाय तो हल्दी, लोध, फूलप्रियङ्गु और मुलेठी—इनके कल्क से पकाये हुए तेल से नाभि पर मालिश करे और उनका चूर्ण भुरभुराने से नाभिपाक रोग दूर हो जाता है। अथवा वटादि पञ्चक्षीरी वृक्षों का, अथवा चन्दन का अथवा बकरी की लेंड़ी को जलाकर उसकी राख को भुरभुराये तो नाभिपाक रोग दूर हो जाता है ॥१७९–१८०॥

गुदपाकघ्नयोगमाह—

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम्। रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोर्हितम्।
शङ्खयष्ट्यञ्जनैश्चूर्णं शिशूनां गुदपाकनुत् ॥ १८१ ॥

अञ्जनं=रसाञ्जनम् ॥ १८१॥

गुदपाक को नाश करनेवाले योग—बालकों की गुदा पकती हो तो पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिए–विशेषकर रसौत को पिलाये और उसीका लेप भी करे तो गुदपाक रोग अच्छा होता है। शंख, रसौत, मुलेठी का चूर्ण भी इस रोग को दूर करता है ॥ १८१ ॥

अहिपूतने लेपमाह—

शङ्खसौवीरयष्ट्याह्वैर्लेपो देयोऽहिपूतने ॥ १८२ ॥

अहिपूतना रोग में लेप—शंख, सफेद सुरमा और मुलेठी—इन सबको पीसकर लेप करने से अहिपूतना रोग दूर होता है ॥ ८२ ॥

पारिगर्भिकोपायमाह—

पारिगर्भिकरोगे तु युज्यते वह्निदीपनम् ॥ १८३ ॥

पारिगर्भिक रोग में उपाय—अगर बालक को पारिगर्भिक रोग हुआ हो तो जठराग्नि को दीपन करनेवाली ओषधि देनी चाहिए ॥ १८३ ॥

बालानां दन्तोद्भेदजरोगशमोपायमाह—

दन्तपालीं तु मधुना चूर्णेन प्रतिसारयेत् । धातकीपुष्पपिप्पल्योर्धात्रीफलरसेन वा ॥१८४॥
दन्तोत्थानभवा रोगाः पीडयन्ति न बालकम् । जाते दन्ते हि शाम्यन्ति यतस्तद्धेतुका गदाः॥

बालकों के दाँत निकलने के समय जो पीड़ा होती है, उसके शमन करने का उपाय—धव का फूल और पीपर के चूर्ण मधु में मिलाकर बालक के मसूड़ों को घिसे, अथवा मधु के साथ आँवलों के रस से मसूड़ों को घिसे तो दाँत के निकलने के समय के रोगों से बालक को दुःख नहीं होता। क्योंकि दाँत निकल जाने के पश्चात् सब रोग अपने आप शान्त हो जाते हैं ॥ १८४–१८५ ॥

बालानां शक्तिवर्द्धकप्रयोगानाह—

सौवर्णसुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा । मत्स्याक्षकं शङ्खपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम् ॥
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा । सहेमचूर्णं कैटर्यं श्वेता दूर्वा घृतं मधु ॥ १८६ ॥
चत्वारोऽभिहिताः प्राशा अर्द्धश्लोकसमापनाः । कुमाराणां वपुर्मेधाबलपुष्टिकराः स्मृताः ॥

***सौवर्णं चूर्णं=चतुर्ष्वपि योगेषु मारितसुवर्णचूर्णम् । मत्स्याक्षकं='ब्राह्मी' इति लोके, 'वकम' इत्येके । अर्कपुष्पी=अर्कसदृशपुष्पी लता । कैटर्यं=कट्फलम् । दूर्वा=श्वेतदूर्वा । संवत्सरं यावदेते योगाः प्रयोज्याः, 'द्वादशवर्षाणी'ति केचित् ॥ १८६–१८७ ॥**

बालकों की शक्ति को बढ़ानेवाले योग—सोने का भस्म (अच्छी प्रकार से चूर्ण किया हुआ), कूट, शहद, घी और बालवच—इनका चूर्ण करके खिलाने से सामर्थ्य, बुद्धि तथा बल बढ़ता है और पुष्टि होती है । अथवा सोने का भस्म, ब्राह्मी, शङ्खाहुली, शहद और घी–इनको एकत्रित करके बच्चे को खिलाये । अथवा सोने का भस्म, अर्कपुष्पी, शहद, घी और वच अथवा सोने का भस्म, कायफल, सफेद दूर्वा, घी और शहद–यह प्रयोग १ वर्ष पर्यन्त बालक को देना चाहिए । कई वैद्यों का कहना है कि इन योगों को १२ वर्ष की अवस्था तक देना चाहिए ॥ १८६–१८७ ॥

लाक्षाऽऽदितैलमाह—

लाक्षारसे समे तैलं मस्तुन्यथ चतुर्गुणे । रास्नाचन्दनकुष्ठाह्वावाजिगन्धानिशायुतैः ॥१८८॥
शताह्वादारुयष्ट्याह्वमूर्वातिक्ताहरेणुभिः । संसिद्धं ज्वररक्षोघ्नं बलवर्णकरं शिशोः ॥ १८९ ॥

लाक्षाऽऽदितैल—तिल का तेल और लाख का रस समभाग और चौगुना दही का मस्तु (पानी) इन सबको एकत्रित करके रास्ना, चन्दन, कूठ, असगन्ध, हल्दी, सौंफ, देवदारु, मुलेठी, मूर्वा, कुटकी और रेणुका–इनका कल्क डालकर तेल को सिद्ध करे । यह तेल बालकों के ज्वर को तथा भूतादि बाधा को दूर करता है और बल को उत्पन्न करता है, शरीर के वर्ण को अच्छा करता है ॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां बालरोगाधिकारः समाप्तः ॥ ७१ ॥

समाप्तञ्चेदं मध्यखण्डम्



अथ चिकित्साप्रकरणे

उत्तरखण्डम्

अथ द्विसप्ततितमो वाजीकरणाधिकारः ॥ ७२ ॥

वाजीकरणस्य लक्षणमाह—

यद् द्रव्यं पुरुषं कुर्याद्वाजीव सुरतक्षमम् । तद्वाजीकरमाख्यातं मुनिभिर्भिषजां वरैः ॥ १ ॥

टीकाकर्तुर्मङ्गलाचरणम्—

श्रीविश्वेशस्यानुकम्पावशेन विध्वग्वन्द्ये 'भावमिश्र' प्रणीते ।
अन्त्ये खण्डे नाम भावप्रकाशे व्याख्यां विद्योतिन्यभिख्यां करोमि ॥ १ ॥

वाजीकरण के लक्षण—जो पदार्थ पुरुष को मैथुन करने में घोड़े के समान शक्तिशाली बनाते हैं, उनको मुनि और श्रेष्ठ वैद्य लोग वाजीकरण कहते हैं ॥ १ ॥

तत्र प्रसङ्गात् क्लैब्यस्य लक्षणं संख्यां निदानं चाह—

क्लीवः स्यात्सुरताशक्तस्तद्भावः क्लैब्यमुच्यते । तच्च सप्तविधं प्रोक्तं निदानं तस्य कथ्यते ॥

क्लीव (नपुंसक) के लक्षण, संख्या और निदान—जो पुरुष मैथुन करने में असमर्थ हो उसे क्लीव या नपुंसक कहते हैं और उस क्लीव के धर्म को 'क्लैब्य' कहते हैं। यह क्लैब्य सात प्रकार का होता है। उनका निदान आगे कहता हूँ ॥ २ ॥

तैस्तैर्भावैरहृद्यैस्तु रिरंसोर्मनसि क्षते । ध्वजः पतत्यतो नृणां क्लैब्यं समुपजायते ।
द्वेष्यस्त्रीसम्प्रयोगाच्च क्लैब्यं तन्मानसं स्मृतम् ॥ ३ ॥

***तैस्तैर्भावैः = भयशोकक्रोधादिभिः । अहृद्यैः = हृदयाहितैः, दुःखकरत्वात् । क्षते = पीडिते, अस्वस्थीकृत इति यावत् । ध्वजः = शिश्नः । तथा च—**

***'ध्वजं चिह्ने पताकायां मेहने शौण्डिकेऽपि च' इति विश्वप्रकाशः । पतति—न तून्नमति । सम्प्रयोगो = मैथुनम् ॥ ३ ॥**

मैथुन करनेवाले पुरुष का मन—भय, शोक तथा क्रोधादि विकारों से अस्वस्थ होकर अथवा जिसपर अरुचि हो, ऐसी स्त्री के साथ मैथुन करने से शिश्न झुक जाता है, अर्थात् मुर्झा जाता है, इनको 'मानसिक क्लैब्य' कहते हैं ॥ ३ ॥

कटुकाम्लोष्णलवणैरतिमात्रोपसेवितैः । पित्ताच्छुक्रक्षयो दृष्टः क्लैब्यं तस्मात्प्रजायते ॥ ४ ॥

***कटुकादिनाऽतिमात्रेण प्रवृद्धेन पित्तेन शुक्रस्य दग्धत्वात्क्लैब्यं भवति पित्तजमिति द्वितीयम् ॥ ४ ॥**

पित्तज क्लैब्य—तीखे, खट्टे, गरम और खारे पदार्थों का अत्यधिक सेवन करने से बढ़े हुए पित्त के कारण वीर्य का क्षय होने से जो क्लीवता उत्पन्न होती है, उसको 'पित्तज क्लैब्य' कहते हैं ॥ ४ ॥

अतिव्यवायशीलो यो न च वाजीक्रियारतः । ध्वजभङ्गमवाप्नोति स शुक्रक्षयहेतुकम् ॥ ५ ॥

***शुक्रक्षयेण तृतीयम् ।**

वीर्यक्षयजन्य क्लैब्य—जो मनुष्य अत्यन्त मैथुन करता है, किन्तु वाजीकरण पदार्थों का सेवन नहीं करता, उस पुरुष का शिश्न ऊपर को नहीं उठता, उसे 'वीर्यक्षयजन्य क्लैब्य' कहते हैं ॥ ५ ॥

महता मेढ्ररोगेण चतुर्थी क्लीवता भवेत् । वीर्यवाहिशिराच्छेदान्मेहनानुन्नतिर्भवेत् ॥ ६ ॥

रोगजन्य क्लैब्य—शिश्न में किसी प्रकार के भयंकर रोग होने से जो क्लीवता होती है, उसको 'रोगजन्य क्लैब्य' कहते हैं। वीर्यवाहिनी शिराओं के कट जाने से लिङ्ग उठने में असमर्थ हो जाता है। इसे 'शिराच्छेदजन्य क्लैब्य' कहते हैं॥ ६॥

वलिनः क्षुब्धमनसो निरोधाद् ब्रह्मचर्यतः। षष्ठं क्लैब्यं स्मृतं तत्तु शुक्रस्तम्भनिमित्तकम्॥

***बलिनः = पुष्टस्य। क्षुब्धमनसः = कामात्सञ्चलितमनसः। ब्रह्मचर्यम् = अमैथुनं, तस्मान्निरोधाच्छुक्रस्य क्लैब्यं भवति॥ ७॥**

शुक्रस्तम्भजन्य क्लैब्य—शरीर के पुष्ट होने पर और कामाग्निद्वारा मन क्षुभित होने पर ब्रह्मचर्य को धारण करके वीर्य को रोक रखने से जो नपुंसकता उत्पन्न होती है, उसे 'शुक्रस्तम्भजन्य क्लैब्य' कहते हैं॥ ७॥

जन्मप्रभृति यत्क्लैब्यं सहजं तद्धि सप्तमम्॥ ८॥

सहज क्लैब्य—जो जन्म से ही नपुंसक होता है, उसे 'सहजक्लीव' कहते हैं॥८॥

असाध्यक्लैब्यमाह—

असाध्यं सहजं क्लैब्यं मर्मच्छेदाच्च यद्भवेत्॥ ९॥

***यद् मर्मच्छेदाद् = वीर्यवाहिशिराच्छेदात्॥ ९॥**

असाध्य क्लैब्य—उपर्युक्त सात प्रकार के नपुंसकों में से 'सहज क्लैब्य' और 'शिराच्छेदजन्य क्लैब्य' असाध्य होते हैं॥ ९॥

क्लैब्यस्य चिकित्सायां सामान्यविधिमाह—

क्लैब्यानामिह साध्यानां कार्यो हेतुविपर्ययः। मुख्यं चिकित्सितं यस्मान्निदानपरिवर्जनम्॥

क्लैब्य की सामान्य चिकित्सा—साध्य नपुंसकता को दूर करने के लिए जिन कारणों से नपुंसकता उत्पन्न हुई हो, उन कारणों का त्याग करना चाहिए। क्योंकि उन कारणों का त्याग करना ही मुख्य चिकित्सा है॥ १०॥

क्लैब्यस्य चिकित्सायां वाजीकरणविधिमाह—

नरो वाजीकरान्योगान्सम्यक्छुद्धो निरामयः। सप्तत्यन्तं प्रकुर्वीत वर्षादूर्ध्वं तु षोडशात्॥
न च वै षोडशादर्वाक्सप्तत्याः परतो न च। आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्त्तुमर्हति॥
क्षयवृद्ध्युपदंशाद्या रोगाश्चातीव दुर्जयाः। अकालमरणञ्च स्याद्भजतः स्त्रियमन्यथा॥१३॥

***स्त्रीभजनविधिर्विस्तरतो रात्रिचर्यायां लिखितोऽस्ति, तत्र द्रष्टव्यः॥ ११-१३॥**

क्लैब्य चिकित्सा के लिए वाजीकरण विधि—रोगहीन पुरुष को वमन-विरेचनादि (पञ्चकर्म) द्वारा भली भाँति शरीर को शुद्ध करके १६ वर्ष की अवस्था से ७० वर्ष पर्यन्त वाजीकरण द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। दीर्घ जीवन चाहनेवाले पुरुष को चाहिए कि १६ वर्ष की आयु के पूर्व और ७० वर्ष के पश्चात् स्त्रीप्रसङ्ग न करे। अयोग्य प्रकार से स्त्री का सेवन करनेवाले पुरुषों को क्षय, वृद्धि और उपदंश आदि असाध्य रोग उत्पन्न होकर अकाल में ही मार डालते हैं। स्त्री-प्रसङ्ग करने की विधि रात्रिचर्या के प्रकरण में विस्तारपूर्वक कही गई है, वहाँ पर उसे देख लेना चाहिए॥ ११-१३॥

विलासिनामर्थवतां रूपयौवनशालिनाम्। नराणां बहुभार्याणां विधिर्वाजीकरो हितः॥
स्थविराणां रिरंसूनां स्त्रीणां वाल्लभ्यमिच्छताम्। योषित्प्रसङ्गात्क्षीणानां क्लीवानामल्परेतसाम्॥
हिता वाजीकरा योगाः प्रीणयन्ति बलप्रदाः। एतेऽपि पुष्टदेहानां सेव्याः कालाद्यपेक्षया॥

विलास करनेवाले, धनवान्, रूप और यौवन से सम्पन्न पुरुषों को वाजीकरण-विधि का सेवन करना हितकारक है तथा जो पुरुष वृद्ध होने पर भी स्त्री-सम्भोग करने की इच्छा रखते हैं, उन लोगों को और स्त्रियों के अत्यन्त प्रिय होने की इच्छा रखनेवालों को, स्त्री-प्रसङ्ग से क्षीण हुए,

साध्य नपुंसक और अल्प वीर्यवाले पुरुषों को वाजीकरण का सेवन करना हितकारक, बलदायक, और पुष्टिकारक होता है। पुष्ट शरीरवाले मनुष्यों को भी देश-कालादि पर ध्यान देकर वाजीकरण का सेवन करना चाहिए ॥ १४-१६ ॥

वाजीकरणवस्तून्याह—

भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च।
गीतं श्रोत्राभिरामाश्च वाचः स्पर्शसुखास्तथा ॥ १७ ॥
यामिनी चन्द्रतिलका कामिनी नवयौवना। गीतं श्रोत्रमनोज्ञञ्च ताम्बूलं मदिरा स्रजः ॥
गन्धा मनोज्ञा रूपाणि चित्राण्युपवनानि च। मनसश्चाप्रतीघातो वाजीकुर्वन्ति मानवम् ॥

वाजीकरण वस्तुएँ—अनेकों प्रकार के विचित्र भोजन, विविध प्रकार के पीने के पदार्थ, गाना, कर्णप्रिय मधुर वचन, त्वचा को प्रिय लगनेवाले वस्त्र-स्पर्श तथा आभूषणादि, चन्द्रमायुक्त रात्रि, नवयौवना स्त्री, कर्ण और मन को प्रिय लगनेवाले गानादि, ताम्बूल, मदिरा, माला, सुगन्धित द्रव्य, सुन्दर, मनोहर, चित्र-विचित्र पुष्पोद्यान, मन को प्रसन्न रखनेवाले कर्म नपुंसकता को दूर करके घोड़े के समान शक्ति प्रदान करते हैं ॥ १७-१९ ॥

माक्षीकधातुमधुपारदलोहचूर्णपथ्याशिलाजतुविडङ्गघृतानि लिह्यात्।
एकाग्रविंशतिदिनानि गदार्दितोऽपि साशीतकोऽपि रमयेत्प्रमदां युवेव ॥ २० ॥

सोनामाखी, मधु, पारद (पारद भस्म या रससिन्दूर), लौह भस्म, हरड़, शिलाजीत, वायविडङ्ग और घी इन सबको मिलाकर २१ दिन चाटने से रोगी तथा ८० वर्ष का वृद्ध भी नौजवान पुरुष की भाँति स्त्री-रमण करता है ॥ २१ ॥

सत्वं गुडूच्या गमनं सलोध्रमेलासितामागधिकासमेतम्।
एतत्समेतं मधुनाऽवलीढं रामाशतं सेवयतीव षण्ढः ॥ २१ ॥

गुरुच का सत्व, अभ्रकभस्म, हरतालभस्म, इलायची, खाँड़ और पीपर-इनको शहद में मिलाकर चाटे तो नपुंसक भी सौ स्त्रियों से रमण करता है ॥ २१ ॥

गवां विरूढवत्सानां सिद्धं पयसि पायसम्। गोधूमचूर्णञ्च तथा सितामधुघृतान्वितम्।
भुक्त्वा हृष्यति जीर्णोऽपि दश दारान्व्रजत्यपि ॥ २२ ॥

पुष्ट बछड़ेवाली गाय के दूध की खीर तथा (घी में भुना हुआ) गेहूँ का चूर्ण दूध में पकाकर और घी मिलाकर सेवन करने से वृद्ध पुरुष को भी कामोत्तेजना उत्पन्न होती है और वह दश स्त्रियों से प्रसंग कर सकता है ॥ २२ ॥

वाजीकररसालामाह—

दध्नोऽर्द्धाढकमीषदम्लमधुरं खण्डस्य चन्द्रद्युतेः
प्रस्थं क्षौद्रपलं पलञ्च हविषः शुण्ठ्याश्च माषाष्टकम्।
तद्वन्माषचतुष्टयं मरिचतः कर्षं लवङ्गं तथा।
घृत्वा शुक्लपटे शनैः करतलेनोन्माथ्य विस्रावयेत् ॥ २३ ॥
मृद्भाण्डे मृगनाभिचन्दनरसामृष्टेऽगुरूद्धूपिते
कर्पूरेण सुगन्धितं तदखिलं संलोड्य संस्थापयेत् ॥
स्वस्याथ मकरेश्वरेण रचिता ह्येषा रसाला स्वयं
भोक्तुर्मन्मथदीपनी सुखकरी कान्तेव नित्यं प्रिया ॥ २४ ॥

वाजीकरण रसाला—तनिक खटाई हुई मीठी दही १२८ तोला, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल खाँड़ (चीनी) ६४ तो०, शहद ४ तो०, घी ४ तो०, सोंठ ४० रत्ती, कालीमिर्च २० रत्ती और लौंग १ तो०—इन सबको एक में मिलाकर श्वेत वस्त्र में डालकर धीरे-धीरे हाथों से मसलकर और फेरकर कस्तूरी और चन्दन से वासित और अगर से धूपित तथा कपूर से वासित मिट्टी के घड़े में

रखे। इस प्रकार वाजीकरण रसाला (श्रीखण्ड) सिद्ध होती है। इस रसाला को कामदेव ने स्वयं अपने लिए बनाया था। यह कामशक्ति को उद्दीप्त करनेवाली सुखदायक और कामिनी के समान सदा प्रिय लगनेवाली रसाला है॥ २३-२४॥

रतिवर्द्धनयोगाः।

तत्र गोक्षुरादिमोदकमाह—

गोक्षुरेक्षुरबीजानि वाजिगन्धा शतावरी। मुशली वानरीबीजं यष्टी नागबला बला॥ २५॥
एषां चूर्णं दुग्धसिद्धं गव्येनाज्येन भर्जितम्। सितया मोदकं कृत्वा भक्ष्यं वाजीकरं परम्॥
चूर्णादष्टगुणं क्षीरं घृतं चूर्णसमं स्मृतम्। सर्वतो द्विगुणं खण्डं खादेदग्निबलं यथा॥ २७॥
वाजीकराणि भूरीणि संगृह्य रचितो यतः। तस्माद्बहुषु योगेषु योगोऽयं प्रवरो मतः॥२८॥

गोक्षुरादि मोदक—गोखरू, तालमखाना, असगन्ध, सतावर, मुसली, केवांच के बीज, मुलेठी, गँगेरन और खिरेटी (बरियारा)—इन सबके चूर्ण को अठगुने गोदुग्ध में पकाये, गाढ़ा हो जाने पर इसे सब ओषधियों के बराबर गोघृत में भूने, फिर इन सबसे दूनी चीनी उसीमें छोड़कर लड्डू बनाकर पाचन-शक्ति के अनुसार सेवन करे। यह गोक्षुरादि मोदक बहुत-सी वाजीकरण ओषधियों को संग्रह करके बनाया गया है, इसलिए यह अनेक योगों से उत्तम है॥ २५-२८॥

मदनमञ्जरीवटीमाह—

चत्वारो व्योमभागास्तदनु निगदितं भागयुग्मञ्च वङ्गं
भागैकं शम्भुबीजं त्रितयमपि मृतं तत्समा सिद्धमूली।
चातुर्जातं सजातीफलमरिचकणा नागरं देवपुष्पं
जातीपत्रञ्च भागद्वितयमपि पृथक्सर्वमेकत्र चूर्ण्यम्॥ २९॥
सर्वद्व्यंशा सिता स्याद् घृतमधुसहितं मोदकीकृत्य चैतत्
खादेदग्निं समीक्ष्य प्रसभमभिनवानन्दसम्वर्द्धनाय।
योगो वाजीकराख्योऽयमिह निगदितो भैरवानन्दनाम्ना
निःशेषव्याधिहन्ता दलितबहुवधूद्दामकन्दर्पदर्पः॥ ३०॥

मदनमञ्जरी वटी—अभ्रक भस्म ४ भाग, वङ्गभस्म २ भाग, पारदभस्म १ भाग—इन तीनों के बराबर भाग; दालचीनी, तेजपात, इलायची, नागकेशर, जायफल, कालीमिर्च, पीपर, सोंठ, लौंग और जावित्री-प्रत्येक दो दो भाग लेकर चूर्ण बना ले। फिर इन सबसे दूनी चीनी डालकर घी और शहद के साथ लड्डू बना ले। जठराग्नि के बलाबल के अनुसार इन लड्डुओं को मात्रानुसार खावे। इसके सेवन करने से तत्काल ही कामदेव के समान प्रबल आनन्द प्राप्त होता है। 'भैरवानन्द योगी'ने इस योग को कहा है। यह योग सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करनेवाला और बड़ी-बड़ी कामिनी स्त्रियों के कामाभिमान को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न करनेवाला है॥ २९-३०॥

वस्ताण्डकच्छपाण्डयोर्वाजीकरणयोगावाह—

पिप्पलीलवणोपेते वस्ताण्डे घृतसाधिते। कच्छपस्याथवा खादेत्तत्तु वाजीकरं भृशम्॥३१॥

वस्ताण्ड और कच्छपाण्ड का वाजीकरण योग—बकरे के अण्डकोषों और कछुए के अण्डों को घी में भूनकर उसमें पीपर और सेंधानमक का चूर्ण डालकर खाने से घोड़े के सदृश मैथुन करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है॥ ३१॥

पूगं दक्षिणदेशजं दशपलोन्मानं भृशं कर्त्तये-
त्तत्स्विन्नं जलयोगतो मृदुतरं सङ्कुट्य चूर्णीकृतम्।
तच्चूर्णं पटशोधितं वसुगुणे गोशुद्धदुग्धे पचेद्-
द्रव्याज्याञ्जलिसंयुतेऽतिनिबिडे दद्यात्तुलार्द्धां सिताम्॥

पक्कं तज्ज्वलनाग्निर्तिं प्रति नयेत्तस्मिन्पुनः प्रक्षिपेद्-
यद्यत्तत्तदुदाहरामि बहुला दृष्ट्वाऽऽदरात्संहिताः।
एला नागबला बला सचपला जातीफला लिङ्गका
जातीपत्रसुपत्रपत्रकयुतं तच्च त्वचा संयुतम् ॥ ३३ ॥
विश्वावीरणवारिवारिदवरा वांशी वरी वानरी
द्राक्षा सेक्षुरगोक्षुराऽथ महती खर्जूरिका क्षीरिका।
धान्याकं सकशेरुकं समधुकं शृङ्गाटकं जीरकं
पृथ्वीकाऽथ यवानिका वरटिका मांसी मिसी मेथिका ॥ ३४ ॥
कन्देष्वत्र विदारिकाऽथ मुशली गन्धर्वगन्धा तथा
कर्चूरं करिकेशरं समरिचं चारस्य बीजं नवम्।
बीजं शाल्मलिसम्भवं करिकणाबीजञ्च राजीवज
श्वेतं चन्दनमत्र रक्तमपि च श्रीसज्ञपुष्पैः समम् ॥ ३५ ॥
सर्वञ्चेति पृथक्पृथक् पलमितं सञ्चूर्ण्य तत्र क्षिपेत्
सूतं वङ्गभुजङ्गलोहगगनं सम्मारितं स्वेच्छया।
कस्तूरीघनसारचूर्णमपि च प्राप्तं यथा प्रक्षिपेत्
पश्चादस्य तु मोदकान्विरचयेद् बिल्वप्रमाणानथ ॥ ३६ ॥
तान्भुक्त्वाऽति सदा यथाऽनलबलं भुञ्जीत नाम्लं रसं
पूर्वस्मिन्नशिते गते परिणतिं प्राग्भोजनाद्भक्षयेत्।
नित्यं स्त्रीरतिवल्लभाख्यकमिमं पूगस्य पाकं भजेत्
स स्याद्वीर्यविवृद्धिवृद्धमदनो वाजीव शक्तो रतौ ॥ ३७ ॥
दीप्ताग्निर्बलवान्वलीविरहितो हृष्टः स पुष्टः सदा
वृद्धो योऽपि युवेव सोऽपि रुचिरः पूर्णेन्दुवत्सुन्दरः ॥ ३८ ॥

स्त्रीरतिवल्लभपूगपाक—दक्षिण देश की सुपारी ४० तोले लेकर भली भाँति महीन कतर डाले। तत्पश्चात् जल में सिजाकर खूब कूटकर चूर्ण करने के बाद कपड़ेसे छानकर उसे ८ गुने गौके दुग्ध में गाय का घी १६ तो० डालकर पकाये, जब पकते-पकते अत्यन्त गाढ़ा हो जाय तो उसमें २०० तोला चीनी मिलाकर जब भली भाँति पक जाय, तब आगपर से उतारकर उसमें जिन-जिन द्रव्यों को छोड़ना चाहिए, उन्हें अनेक संहिताओं को आदरपूर्वक देखकर कहता हूँ —

प्रक्षेप्य द्रव्य—इलायची छोटी, गुलशकरी, खिरेटी, पीपर, जायफल, लिङ्गका (पञ्चगुरिया), जावित्री, तेजपात, तालीसपत्र, दालचीनी, सोंठ, खस, सुगन्धबाला, नागरमोथा, आँवला, हरड, बहेड़ा, वंशलोचन, शतावरी, कौंच, मुनक्का, तालमखाना के बीज, गोखरू के बीज, बड़ी खजूर, खीर फल, धनिया, कसेरू, मुलेठी, सिंघाड़ा, जीरा, कलौञ्जी, अजवाइन, कमलगट्टे के बीज की गिरी, जटामांसी, सौंफ, विदारीकन्द, सफेद मुशली, असगन्ध की जड़, कचूर, नागकेशर, काली मिर्चें, नवीन चिरौंजी, सेमल का बीज, गजपीपल, कमलगट्टा, सफेद चन्दन, लाल चन्दन, लौंग—इन पदार्थों को पृथक्-पृथक् चार-चार तोलें लेकर चूर्ण कर पूर्वोक्त खोये में डाल दे, और शुद्ध रीति से भस्म किये हुए पारद, वंग, सीसा, लोहा तथा अभ्रक को भी स्वेच्छानुसार उचित मात्रा के साथ उसमें डाल दे, एवं यदि कस्तूरी और भीमसेनी कपूर भी मिल जाय तो उसे डाल दे। तत्पश्चात् चार-चार तोले का लड्डू बनाकर बलानुसार मात्रा में नित्य सेवन करे। किन्तु इसका ध्यान रहे कि इसके सेवन करते समय खट्टा पदार्थ न खाये तथा पूर्व भोजन किये हुए अन्न के पच जाने पर द्वितीय भोजन के पूर्व ही इसका सेवन करे। जो पुरुष इस स्त्रीरतिवल्लभनामक पूगपाक का नित्य सेवन करता है, वह वीर्य की विशेष वृद्धि होने से बढ़ा हुआ कामदेववाला होकर मैथुन करने में

घोड़े के समान समर्थ होता है। और इससे अग्नि प्रदीप्त होती है। बललाभ होता है, वली (सिकुड़न) से रहित, प्रसन्नचित्त, पुष्ट शरीरवाला होता है। और जो वृद्ध है, वह भी युवापुरुष की भाँति पूर्णचन्द्र के समान सुन्दर हो जाने से मनोहर हो जाता है ॥ ३२-३८ ॥

*वसुगुणे = अष्टगुणे। अञ्जलिः = अर्द्धशरावः। तुलाऽर्द्धं = पञ्चाशत्पलानि, यतः—

*'द्विपञ्चाशत्पलानामभिदधति तुलां संहिताः सुश्रुताद्याः'। इति।

*नागबला (= गुलशकरी)। बला = (बरिआरा) तस्या मूलम्। जातीपत्रं = 'कञ्जाइपत्री' इति लोके। विश्वा = शुण्ठी। वीरणम् = उशीरं ग्राह्यम्। वारि = 'सुगन्धबाला' इति लोके। वारिदः = मुस्तकः। वरा = त्रिफला। वांशी = वंशलोचन। वरी = शतावरी। वानरी = कपिकच्छुः। इक्षुरः = कोकिलाक्षस्तस्य बीजं ग्राह्यम्। गोक्षुरस्य च बीजम्। महती = महाखर्जूरिका। क्षीरिका = क्षीरी। पृथ्वीका = 'कलौञ्जी'ति लोके। वरटी (वराटिका)—

*'शालूकमेषां कन्दः स्याद् बीजकोशो वराटिका' ॥ १ ॥

*मांसी = जटामांसी। मिसिः = शतपुष्पा (सौंफ)। गन्धवगन्धा = अश्वगन्धा तस्या मूलम्। श्रीसंज्ञं = लवङ्गम्। वनसारः = कर्पूरः। विल्वप्रमाणान् = पलप्रमाणान् ॥

यहाँ पर 'तुलार्द्ध' पद से ५० पल अर्थात् २०० तोला समझना चाहिए, क्योंकि सुश्रुत आदि संहिताओं में '१०० पलों की १ तुला होती है' ऐसा लिखा है।

और 'वरटी' पद से 'वराटिका' अर्थात् 'कमल का बीजकोश' समझना चाहिए। क्योंकि कोश में कहा है कि-पद्म के कन्द को 'शालूक' तथा बीजकोश को 'वराटिका' कहते हैं ॥ ३२-३८ ॥

कामेश्वरमोदकमाह—

एतस्मिन् रतिवल्लभे यदि पुनः सम्यक्खुराशाणिका
धत्तूरस्य च बीजमर्ककरभः पोथोऽब्धिशोषस्तथा।
सन्माजूफलकं तथा खसफलत्वक्कार्षिकान् निक्षिपे-
च्चूर्णार्द्धा विजया तदा स हि भवेत्कामेश्वरो मोदकः ॥ ३९ ॥

कामेश्वर मोदक—इसी रतिवल्लभ पूगपाक में यदि खुरासानी अजवाइन, धतूर का बीज, अकरकरा, वालछड़, समुद्रशोष, माजूफल, पोस्ते के फल का छिलका-इन सबों का चूर्ण एक-एक तोला लेकर छोड़ दे, तथा मिलित चूर्ण का आधा भाग भाँग मिला दी जाय तो वही कामेश्वर मोदक हो जाता है ॥ ३९ ॥

महाखण्डकूष्माण्डावलेहोपयोगमाह—

रक्तपित्ताधिकारोक्तः खण्डकूष्माण्डको महान्। रक्तपित्तादिरोगघ्नो महावाजीकरः स्मृतः ॥

महाखण्डकूष्माण्डावलेह का उपयोग—रक्तपित्ताधिकारोक्त महाखण्डकूष्माण्ड रक्तपित्तादि रोग को नष्ट करनेवाला तथा अत्यन्त वाजीकरण है ॥ ४० ॥

आम्रपाकमाह—

पक्वाम्रस्य रसद्रोणे सितामाढकसम्मिताम्। घृतं प्रस्थमितं दद्यान्नागरस्य पलाष्टकम् ॥४१॥
मरिचं कुडवोन्मानं पिप्पली द्विपलोन्मिता। सलिलस्याढकं दत्त्वा सर्वमेकत्र कारयेत् ॥४२॥
विपचेन्मृन्मये पात्रे दारुदर्व्या प्रचालयेत्। चूर्णान्येषां क्षिपेत्तत्र घनीभूतेऽवतारिते ॥४३॥
धान्याकं जीरकं पथ्यां चित्रकं मुस्तकं त्वचम्। वृहज्जीरकमप्यत्र ग्रन्थिकं नागकेशरम् ॥४४॥
एलाबीजं लवङ्गञ्च पृथग्जाती पलम्पलम्। सिद्धं शीते प्रदद्याच्च मधुनः कुडवद्वयम् ॥४५॥
भक्षयेद्भोजनादर्वाक्पलमात्रमिदं नरः। अथवा नियता नात्र मात्रां खादेद्यथाऽनलम् ॥
मानवः सेवनादस्य वाजीव सुरते भवेत्। समर्थो बलवान्पुष्टो नित्यं स स्यान्निरामयः ॥
ग्रहणीं नाशयेदेष क्षयं श्वासमरोचकम्। अम्लपित्तं महाश्वासं रक्तपित्तञ्च पाण्डुताम् ॥४८॥

*बृहज्जीरकः = 'मङ्गरैला' इति लोके ॥ ४१-४८ ॥

आम्रपाक—पके हुए अच्छे आमों के १०२४ तोले रस में खाँड़ २५६ तोले, गोघृत ६४ तोले, सोंठ चूर्ण ६२ तोले, मरिच चूर्ण १६ तोले, पीपर चूर्ण ८ तोले और जल २५६ तोले डालकर मिट्टी के पात्र में रखकर पकाये और उसे काष्ठ की करछुल से चलाता रहे और जब गाढ़ा हो जाय, तब उतार कर उसमें धनिया, जीरा, हरड़, चीता, नागरमोथा, दालचीनी, कलौंजी, पिपरामूल, नागकेशर, छोटी इलायची के दाने, लौंग और जायफल–इन सबों का चूर्ण ४-४ तोले डाल दे और शीतल होने पर ३२ तोले शहद भी मिला दे, तो यह आम्रपाक तैयार हो जाता है। इसे भोजन के पहले ४ तोले की मात्रा में लेकर भोजन करे अथवा इसकी कोई मात्रा नियत नहीं है, अतः जैसी अग्नि हो उसके अनुसार मात्रा की कल्पना करके सेवन करे। इसके सेवन से मनुष्य रति में घोड़े के समान सामर्थ्य प्राप्त करता है। और वह समर्थ, बलवान्, पुष्ट शरीरवाला तथा नित्य निरोग रहता है। यह ग्रहणी, क्षय, श्वास, अरुचि, अम्लपित्त, महाश्वास, रक्तपित्त तथा पाण्डुरोग को नष्ट कर देता है ॥ ४१-४८ ॥

शमयति गोक्षुरचूर्णं छागक्षीरेण साधितं समधु। भुक्तं क्षपयति षाण्ढयं यज्जनितं कुप्रयोगेण ॥

गोखरू का चूर्ण बकरी के दूध के साथ पकाकर अवलेह की भाँति बना ले और शीतल होनेपर शहद मिलाकर बलानुसार मात्रा से खाये तो कुत्सित मैथुन-प्रयोग से उत्पन्न हुई नपुंसकता दूर हो जाती है ॥ ४९ ॥

महाचन्दनादितैलमाह—

द्रव्याणि चन्दनादेस्तु चन्दनं रक्तचन्दनम्। पत्तङ्गमथ कालीयागुरुकृष्णागुरूणि च ॥ ५० ॥
देवद्रुमः ससरलः पद्मकं तूणिकोऽपि च। कर्पूरो मृगनाभिश्च लता कस्तूरिकाऽपि च ॥ ५१ ॥
सिह्लिकः कुङ्कुमं नव्यं जातीफलकमेव च। जातीपत्रं लवङ्गञ्च सूक्ष्मैला महती च सा ॥ ५२॥
कङ्कोलफलकं त्वक्च पत्रकं नागकेशरम्। वालकञ्च तथोशीरं मांसी दारुसिताऽपि वा ॥५३॥
मुरा कर्पूरकश्चापि शैलेयं भद्रमुस्तकम्। रेणुका च प्रियङ्गुश्च श्रीवासो गुग्गुलुस्तथा ॥ ५४॥
लाक्षा नखश्च रालश्च धातकीकुसुमं तथा। ग्रन्थिपर्णञ्च मञ्जिष्ठा तगरं सिक्थकं तथा ॥ ५५॥
एतानि शाणमानानि कल्कीकृत्य शनैः पचेत्। तैलं प्रस्थमितं सम्यगेतत्पात्रे शुभे क्षिपेत् ॥
अनेनाभ्यक्तगात्रस्तु वृद्धोऽशीतिसमोऽपि सः। युवा भवति शुक्राढ्यः स्त्रीणामत्यन्तवल्लभः ॥
वन्ध्याऽपि लभते गर्भं वृद्धोऽपि तरुणायते। अपुत्रः पुत्रमाप्नोति जीवेच्च शरदां शतम् ॥
चन्दनादि महातैलं रक्तपित्तं क्षयं ज्वरम्। दाहं प्रस्वेददौर्गन्ध्यं कुष्ठं कण्डूं विनाशयेत् ॥

***पत्तङ्ग='बकम' इति लोके। कालीयकं='कलम्बक' इति लोके। लता=कस्तूरिका 'मुष्कदाना' इति लोके। कङ्कोलफलस्यालाभे जातीपुष्पं ग्राह्यं, तदलाभे लवङ्गं ग्राह्यम्। दारुसिता=[दालचीनी]। शैलेयं='छरे'ति लोके। श्रीवासः=गुग्गुलुः। ग्रन्थिपर्णः=[गठिवन]। अशीतिसमः=अशीतिवार्षिकः ॥ ५०-५९ ॥**

महाचन्दनादि तैल–सफेद चन्दन, लाल चन्दन, पत्तङ्ग (चन्दन विशेष), कलम्बक (पीत काष्ठ), अगर, काला अगर, देवदारु, धूप सरल, पद्माख, तून, कपूर, कस्तूरी, कस्तूरी-लता, शिलारस, नवीन केशर, जायफल, जाविश्री, लौंग, छोटी इलायची, बड़ी इलायची, कङ्कोल (इसके अभाव में जावित्री और जावित्री के अभाव में लौंग लेना चाहिए), दालचीनी, तेजपात, नागकेशर, सुगन्धवाला, खस, जटामांसी, दालचीनी, एकाङ्गी, कपूर, भूरिछरीला, नागरमोथा, रेणुका, फूलप्रियङ्गु, लोहबान, गुग्गुलु, लाख, नख (सुगन्धि द्रव्य), राल, धाय का फूल, गंठिवन, मजीठ, तगर, मोम–इन सब चन्दनादि तेल के द्रव्यों को पृथक्-पृथक् २४-२४ रत्ती लेकर कल्क बनाकर एक प्रस्थ तिलतेल में डालकर मन्द आँच से पकाये। तैयार होने पर उतार कर अच्छे पात्र में रख ले। इस तेल को शरीर में

मालिश करने से ८० वर्ष का वृद्ध पुरुष भी युवा हो जाता है, और वीर्य से युक्त होकर स्त्रियों का अत्यन्त प्रिय हो जाता है। और वन्ध्या स्त्रियाँ भी इस तैल के प्रयोग करने से गर्भ धारण करती हैं, और वृद्धा स्त्रियाँ युवती के समान हो जाती हैं। पुत्रहीन पुरुष पुत्र को प्राप्त करता है तथा १०० वर्ष तक जीवित रहता है। यह महाचन्दनादि तैल रक्तपित्त, क्षय, ज्वर, दाह, पसीने की दुर्गन्ध, कुष्ठ तथा खुजली को दूर कर देता है ॥ ५०–५९ ॥

मधुपक्वहरीतकीमाह—

दशमूलं कणा वह्निः कपित्थञ्च विभीतकम्। कट्फलं मरिचं विश्वमूलं पिप्पलिसैन्धवम्॥
रक्तरोहीतकं दन्ती द्राक्षाजाजिनिशाद्वयम्। धात्रीजन्तुघ्नशिखरिशृङ्गीदारुपुनर्नवाः ॥६१॥
धान्याकं देवकुसुमं राजवृक्षस्त्रिकण्टकम्। वृद्धदारुकुबेराक्षौ मूलं वीरणिकाभवम् ॥ ६२ ॥
एतेषां पलयुग्मन्तु भेषजानां पृथक्पृथक्। आढकञ्चापि पथ्यायास्तोये पञ्चाढके पचेत्॥
स्विन्ना पथ्या भवेद्यावत्पश्चान्मधु विनिक्षिपेत्। गुरूपदेशाद्विधिवत्त्रिदिनञ्च ततः परम्॥
पुनः क्षिपेत्पञ्चदिनं तथा च दशवासरम्। संसिद्धा चाभया पश्चाद् घृतभाण्डे निधापयेत्॥
विमले सुदृढे क्षौद्रपरिपूर्णे प्रयत्नतः। पश्चात्पूर्वोक्तकाण्डे तु क्षिपेद् बुद्धिपरायणः॥ ६६ ॥
एषा हरीतकी चैव धन्वन्तरिकृता शुभा। भक्षयेद्यो नरो नित्यं रोगा नश्यन्ति सर्वशः॥
श्वासं कासं क्षयं पाण्डुं हिक्काछर्दिमदभ्रमान्। मुखरोगं तथा तृष्णामरुचिं वह्निमन्दताम्॥
यकृत्प्लीहोदरञ्चैव वातरक्तं सुदारुणम्। शिरोऽक्षिकर्णजां पीडां तथा बद्धगुदोदरम् ॥६९॥
ग्रहणीं दुर्विकाराञ्च शोथं दोषत्रयोद्भवम्। मधुपक्वेति विख्याता हन्ति रोगाननेकशः॥

मधुपक्व हरीतकी—दशमूल, पीपल, चीता, कैथ, बहेड़ा, कायफल, मरिच, सोंठ, पिपरामूल, सेंधानमक, लाल रोहिड़ा, दन्ती, द्राक्षा, जीरा, हल्दी, दारुहल्दी, आँवला, वायविडङ्ग, चिरचिटा, काकड़ासिंगी, देवदारु, पुनर्नवा, धनिया, लौंग, अमलतास, गोखरू, विधारा, सागरगोटा और खस–प्रत्येक पदार्थ ८-८ तोले, हरड़ २५६ तोले लेकर ५ आढक जल में पकाये, जब हरड़ पकते-पकते नरम हो जाय, तब उसे निकाल कर गुठली अलग कर उक्त काढ़े को छानकर उसमें पुनः इन हरड़ों को डाल कर जब तक गाढ़ा न हो जाय, तब तक पकाता रहे, बाद में उतार कर गुरूपदेशानुसार शीतल होने पर मधु डाल दे। पुनः ३ दिन, ५ दिन, तथा १० दिन के बाद भी शहद डाले, पश्चात् इस प्रकार से सिद्ध की हुई हरड़ को स्वच्छ, सुदृढ़, शहद से भरे हुए घी रखनेवाले पात्र में यत्नपूर्वक रख दे। पश्चात् बुद्धिमान् वैद्य उस पात्र में से निकाल कर दूसरे घृतपात्र में रख दे। इस प्रकार की उत्तम हरीतकी को सर्वप्रथम 'धन्वन्तरि' भगवान् ने बनाया। जो मनुष्य इसे नित्य भक्षण करता है, उसके सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं, और श्वास, कास, क्षय, पाण्डु, हिचकी, वमन, भय, भ्रम, मुखरोग, तृष्णा, अरुचि, अग्निमन्दता, यकृत्, प्लीहा, उदर रोग, भयङ्कर वातरक्त, शिर, आँख तथा कान की पीड़ा, बद्धगुदोदर, दुष्ट विकारोंवाली ग्रहणी, त्रिदोषज शोथ–इन सबों को यह विख्यात मधुपक्व हरीतकी दूर करती है तथा अन्यान्य भी अनेक रोगों को नष्ट करती है ॥ ६०–७० ॥

वानरीं वटिकामाह—

बीजानि तु कपिकच्छ्वाः कुडवमितानि च स्वेदयेच्छनकैः।
प्रस्थे गोभवदुग्धे तावद् यावद् भवेद् गाढम् ॥ ७१ ॥
त्वग्रहितानि च कृत्वा सूक्ष्मं सम्पेषयेत्तानि। पिष्टिकया लघुवटिकाः कृत्वा गव्ये पचेदाज्ये॥
द्विगुणितशर्करया ता वटिकाः सम्पक्वया लेप्याः।
वटिका माक्षिकमध्ये मज्जनयोग्येऽखिलाः स्थाप्याः ॥ ७२ ॥
पञ्चटङ्कमितास्तास्तु प्रातः सायञ्च भक्षयेत्। अनेन शीघ्रद्रावी यो यश्च स्यात्पतितध्वजः॥
सोऽपि प्राप्नोति सुरते सामर्थ्यमति वाजिवत्। नानेन सदृशं किञ्चिद् द्रव्यं वाजीकरं परम्॥

वानरी वटिका—कौञ्च के बीजों को १६ तोले लेकर १ प्रस्थ (६४ तो०) गौ के दुग्ध में धीरे-धीरे तब तक उबाले, जब तक गाढ़ा न हो जाय, उसके बाद उतार कर कौंच के बीजों के छिलके उतार कर महीन पीस डाले और मैदे की पीठी के साथ मिलाकर छोटी-छोटी वटी बनाले और उन्हें गोघृत में भून कर दुगुनी खाँड़ की चाशनी में लपेट कर डूबने योग्य शहद से भरे हुए पात्र में सबों को रख दे। इनमें से ५ टङ्क (२० मा०) की मात्रा में लेकर प्रातःकाल और सायंकाल खाना चाहिए। इससे स्त्रीप्रसङ्ग में शीघ्र स्खलित हो जानेवाले, जिनका लिङ्ग खड़ा नहीं होता है, ऐसे लोग भी इसके सेवन से मैथुन करने में घोड़े के समान सामर्थ्य प्राप्त करते है। इससे बढ़कर कोई दूसरा वाजीकरण नहीं है॥ ७१-७५॥

आकारकरभादिवटीमाह—

आकारकरभः शुण्ठी लवङ्गं कुङ्कुमं कणा। जातीफलं जातिपुष्पं चन्दनं कार्षिकं पृथक्॥७६॥
चूर्णयेदहिफेनन्तु तत्र दद्यात्पलोन्मितम्। सर्वमेकीकृतं माषमात्रं क्षौद्रेण भक्षयेत्॥ ७७॥
शुक्रस्तम्भकरं पुंसामिदमानन्दकारकम्। नारीणां प्रीतिजननं सेवेत निशि कामुकः॥७८॥

इति द्विसप्ततितमो वाजीकरणाधिकारः समाप्तः॥ ७२॥



आकारकरभादि वटी—अकरकरा, सोंठ, लौंग, केशर, पीपर, जायफल, जावित्री, सफेद चन्दन—इन सबों को पृथक्-पृथक् एक-एक तोला लेकर चूर्ण कर डाले, और उसमें शुद्ध अफीम ४ तोले डाल कर एक-एक माशे की गोली बना डाले, और यथायोग्य मात्रा में शहद के साथ सेवन करे। यह शुक्र को स्तम्भन करनेवाला पुरुषों को मैथुन में आनन्द देनेवाला, स्त्रियों को प्रीति को उत्पन्न करनेवाला है। इसे कामी पुरुषों को रात्रि में संभोग के पूर्व खाना चाहिए॥ ७६-७८॥

इति श्री 'भावप्रकाश' भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां उत्तरखण्डे चिकित्साप्रकरणे द्विसप्ततितमो वाजीकरणाधिकारः समाप्तः॥ ७२॥



अथ त्रिसप्ततितमो रसायनाधिकारः॥ ७३॥

तत्र रसायनस्य लक्षणमाह—

यज्जराव्याधिविध्वंसि वयःस्तम्भकरं तथा। चक्षुष्यं बृंहणं वृष्यं भेषजं तद्रसायनम्॥ १॥

रसायन के लक्षण—जो औषध वृद्धावस्था तथा व्याधियों को दूर कर देनेवाला, अवस्था का स्थापन करनेवाला, नेत्रों के लिए हितकर, पुष्टिकारक तथा वीर्यवर्द्धक होता है, उसे 'रसायन' कहते हैं॥ १॥

रसायनस्य फलं विधिं चाह—

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः। देहेन्द्रियबलं कान्तिं नरो विन्देद्रसायनात्॥२॥
नाविशुद्धशरीरस्य युक्तो रासायनो विधिः। न भाति वाससि क्लिष्टे रङ्गयोग इवार्पितः॥३॥

रसायन के फल—मनुष्य रसायन-सेवन करने से दीर्घ आयु, स्मरण-शक्ति, धारणा-शक्ति, आरोग्य, जवानी, देह तथा इन्द्रियों में बल तथा कान्ति प्राप्त करता है।

रसायन की विधि—वमन-विरेचनादि के द्वारा शरीर को दोषरहित किये बिना रसायन का प्रयोग करना उचित नहीं है। क्योंकि जिस भाँति मैले कपड़े में रङ्ग देने से वह नहीं चढ़ता है, उसी भाँति रसायन भी व्यर्थ हो जाता है ॥ २-३ ॥

शीतोदकं पयः क्षौद्रं घृतमेकैकशो हितम्।
त्रिशः समस्तमथवा प्राक्पीतं स्थापयेद्वयः ॥ ४ ॥

रसायन-प्रयोग—शीतल जल, दूध, शहद, घी—इन में से एक-एक ही भोजन के पूर्व सेवन करने से अवस्था को स्थापन करता है तथा हितकर होता है। अथवा समस्त वस्तुएँ पृथक् पृथक् तीन-तीन भाग लेकर एकत्र कर पीने से भी पूर्वोक्त फलप्रद होती हैं ॥ ४ ॥

मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्।
रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः ॥ ५ ॥
आयुःप्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्द्धनानि।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी ॥ ६ ॥

***मण्डूकपर्णी=ब्राह्मी-तदलाभे 'मञ्जिष्ठा' ग्राह्या, तस्या अपि रसायनत्वात् ॥ ५-६ ॥**

१ ब्राह्मी का स्वरस, २ गुरुच का स्वरस, ३ शङ्खपुष्पी का मूल तथा पुष्पों का कल्क और ४ मुलेठी का चूर्ण दूध के साथ लेना चाहिए। इन चारों में से कोई भी योग प्रातःकाल सेवन करने से आयु को बढ़ानेवाला, रोगनाशक, बल, अग्नि, शरीर का वर्ण तथा स्वर को बढ़ानेवाला, मेधाशक्ति को देनेवाला रसायन है। इसमें शतपुष्पी विशेष करके मेधाशक्ति को बढ़ानेवाली है। यहाँ पर 'ब्राह्मी' के न मिलने पर 'मन्जीठ' का ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि वह भी रसायन है ॥ ५-६ ॥

माक्षिकेण तुगाक्षीरी पिप्पल्या लवणेन च।
त्रिफला सितया वाऽपि युक्ता सिद्धं रसायनम् ॥ ७ ॥

वंशलोचन को पीपल तथा सेंधानमक का चूर्ण मिलाकर शहद से खाना अथवा त्रिफला को चीनी के साथ खाना दोनों ही सिद्ध रसायन हैं ॥ ७ ॥

सिन्धूत्थशर्कराशुण्ठीकणामधुगुडैः क्रमात्।
वर्षाऽऽदिष्वभया प्राश्या रसायनगुणैषिणा ॥ ८ ॥

ऋतुहरीतकी—रसायन के गुणों को चाहनेवाला व्यक्ति वर्षा आदि ऋतुओं में क्रम से अर्थात् वर्षा ऋतु में सेंधा नमक के साथ, शरद् ऋतु में चीनी के साथ, हेमन्त ऋतु में सोंठ के साथ, शिशिर ऋतु में पीपल के साथ, वसन्त ऋतु में शहद के साथ और ग्रीष्म ऋतु में गुड़ के साथ हरीतकी का सेवन करे ॥ ८ ॥

पुनर्नवस्यार्द्धपलं नवस्य पिष्टं पिबेद्यः पयसाऽर्द्धमासम्।
मासत्रयं तत्त्रिगुणं समं वा जीर्णोऽपि भूयः स पुनर्नवः स्यात् ॥ ९ ॥

पुनर्नवारसायन—जो मनुष्य पुनर्नवा को तत्काल उखाड़ने के बाद पीस कर उसके दो तोले कल्क को धारोष्ण दूध के साथ १५ दिन तक या ३ मास तक या ९ मास तक अथवा १ वर्ष तक प्रतिदिन पीता है, वह यदि वृद्ध भी हो गया हो तो पुनः युवा हो जाता है ॥ ९ ॥

ये मासमेकं स्वरसं पिबन्ति दिने दिने भृङ्गरजःसमुत्थम्।
क्षीराशिनस्ते बलवीर्ययुक्ताः समाः शतं जीवनमाप्नुवन्ति ॥ १० ॥

भृङ्गराजरसायन—जो मनुष्य १ मास तक नित्य भांगरे के ताजे रस को पीते हैं। और दूध भोजन करते हैं, वे बल तथा वीर्य से युक्त होकर सौ वर्ष तक जीते हैं ॥ १० ॥

शतावरी मुण्डितिका गुडूची सहस्तिकर्णा सहतालमूली।
एतानि कृत्वा समभागयुक्तान्याज्येन किं वा मधुनाऽवलिह्यात् ॥ ११ ॥

जरारुजामृत्युवियुक्तदेहो भवेन्नरो वीर्यबलादियुक्तः।
विभाति देवप्रतिमः स नित्यं प्रभामयो भूरिविवृद्धियुक्तः॥ १२॥

शतावर, गोरखमुण्डी, गिलोय, हस्तिकर्ण पलाश और काली मूशली–इन सबों को समान भाग में लेकर एकत्र कर शहद अथवा गोघृत में मिला कर चाटना चाहिए। इसका सेवन करनेवाला जो मनुष्य होता है, वह वृद्धावस्था, रोग तथा अकाल मृत्यु से रहित होकर वीर्य तथा बल आदि से युक्त होता हुआ देवता के समान नित्य कान्ति और अत्यन्त तीव्र बुद्धि से युक्त होता है॥ ११-१२॥

पीत्वाऽश्वगन्धां पयसाऽर्द्धमासं घृतेन तैलेन सुखाम्बुना वा।
वीर्यस्य पुष्टिं वपुषो विधत्ते बालस्य वृक्षस्य यथाऽम्बुवृष्टिः॥ १३॥

अश्वगन्धा रसायन—एक पक्ष (१५ दिन) तक अश्वगन्धा को दूध के साथ या घी, तैल या किंचित् उष्ण जल के साथ प्रतिदिन पीने से जैसे छोटे धान्य के पौधे की जलकी वृष्टि से पुष्टि होती है, उसी भाँति वीर्य तथा शरीर की पुष्टि होती है॥ १३॥

लौहगुग्गुलुमाह—

अयःपलं गुग्गुलुमत्र योज्यं पलत्रयं व्योषपलानि पञ्च।
पलानि चाष्टौ त्रिफलारजश्च कर्षं लिहन्न्यात्यमरत्वमेव॥ १४॥

लौहगुग्गुलु—शुद्ध लौहभस्म ४ तोले, शुद्ध गुग्गुलु १२ तोले, त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मिर्च) चूर्ण २० तोले, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) चूर्ण ३२ तोले लेकर सबों को एकत्र कर उसमें से १ तोले की मात्रा में प्रतिदिन शहद से या घृत से चाटने से मनुष्य नीरोग रहकर अमरत्व को प्राप्त कर सकता है॥ १४॥

रसायनस्य विशेषफलमाह—

न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते रसायनं यो विधिवन्निषेवते।
गतिं स देवर्षिनिषेवितां शुभां प्रपद्यते ब्रह्म तथैव चाक्षरम्॥ १५॥

इति त्रिसप्ततितमो रसायनाधिकारः समाप्तः॥ ७३॥



रसायन के विशेष फल—जो मनुष्य विधिपूर्वक रसायन का सेवन करता है, वह केवल दीर्घ जीवन ही लाभ नहीं करता है, प्रत्युत वह मरने पर देवर्षियों को पाने योग्य शुभ गति को प्राप्त होता है। और तो क्या, वह अविनाशी ब्रह्म को भी प्राप्त करता है॥ १५॥

इति श्री 'भावप्रकाश'भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकायां
चिकित्साप्रकरणे उत्तरखण्डे त्रिसप्ततितमो रसायनाधिकारः समाप्तः॥ ७३॥



ग्रन्थकर्तृशुभाशीःशंसनम्।

यावद् व्योमनि बिम्बमम्बरमणेरिन्दोश्च विद्योतते
यावत् सप्त पयोधयः सगिरयस्तिष्ठन्ति पृष्ठे भुवः।
यावच्चावनिमण्डलं फणिपतेरास्ते फणामण्डले
तावत्सद्भिषजः पठन्तु परितो भावप्रकाशं शुभम्॥ १॥

ग्रन्थकार का शुभाशीर्वाद—जब तक आकाश में सूर्य तथा चन्द्र का बिम्ब विराजमान है और जब तक सातों समुद्र तथा पर्वत पृथ्वी पर ठहर रहे हैं एवं जब तक सर्पराज शेष भगवान् की

फणापर भूमण्डल रखा हुआ है, तब तक सज्जन वैद्य लोग इस उत्तम 'भावप्रकाश' ग्रन्थको चारों तरफ संसार में पढ़ते रहें ॥ १ ॥

ग्रन्थस्यास्याध्यापकानाञ्जनानां मध्ये नृणामादरं कुर्वतां च ।
श्रीसोमेशादित्यविप्रप्रसादादायुर्दीर्घं सौख्यमास्तां सदैव ॥ २ ॥

इति श्रीलटकनतनयश्रीमन्मिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे उत्तरखण्डेऽष्टमं चिकित्साप्रकरणं समाप्तम् ।

समाप्तमिदमुत्तरखण्डम् ।



ग्रन्थ तथा उस के अध्यापक या आदरकर्ताओं के प्रति—और इस ग्रन्थ के पढ़ानेवाले सज्जनों का तथा इस ग्रन्थ का एवम् इस के अध्यापकों का मनुष्यों के मध्य में आदर करनेवालों का श्रीसोमेशजी (महादेव जी), सूर्य तथा ब्राह्मणों के प्रसाद से दीर्घ आयु तथा सुख सर्वदा ही हो ॥

इति श्रीमन्मध्वसंप्रदायाचार्यदार्शनिकसार्वभौम-साहित्य-दर्शनाद्याचार्य-न्यायरत्न-तर्करत्न-गोस्वामि-श्रीदामोदरशास्त्रिणामन्तेवासिना 'बस्ती' मण्डलान्तर्गत 'मिश्रौलिया' ग्रामवासिना सरयू-पारीणपङ्क्तिपावनान्ववायावतंसविविधकलाकोविदश्रौतस्मार्त्तकर्मनिष्ठ 'गौतम' गोत्रो-द्भवश्रीलश्रीव्रजमोहनशर्मणां सूनुना स्वनामधन्यपरमादर्शपुरुषशिरोमणिश्रील-श्रीरामचरित्रमणित्रिपाठिनां 'पोष्यपुत्र' पदवीधारिणा साहित्यशास्त्रिणा भिषग्रत्नश्रीब्रह्मशंकरमिश्रशर्मणा विरचिता 'भावप्रकाश' भाव-प्रकाशकारिका विद्योतिनी नाम्नी भाषाटीका समाप्ता ॥



सिद्ध्यङ्कग्रहतारकाप्रतिमिते श्रीविक्रमाब्दे शुभे । शुक्रे मासि तिथौ सितेऽधिदशमि श्रीकाशिकायां पुरि ।
श्रीलश्रीव्रजमोहनात्मजवरैर्गोस्वामिविद्वद्वर-श्रीदामोदरशास्त्रिशिष्यपदवीभाग्भिर्गुरोराशिषा ॥ १ ॥
श्रीमद्रामचरित्रचिन्त्रितमणेः पोष्यात्मजैरादराद् विद्योतिन्यभिधाऽऽत्मगीर्विरचिता भावप्रकाशोपरि ।
व्याख्या ख्यापयितुं स्वकीयमुषितं भावं च तस्मै धिया संपूर्णाऽप्यंत पङ्क्तिपावनबुधैः सद्ब्रह्मयुक्शङ्करैः॥
विद्योतिन्यर्पितैषा स्याद् विद्योतिन्यर्थसन्ततेः । भावप्रकाशे पाश्चात्य-भावप्राकाश्यसंयुता ॥ ३ ॥
यत्र तत्र त्रुटीराशिर्दृश्येत विदुषां वरैः । तत्र तत्रैव शोध्येत तं स्वमिवेति मेऽर्थना ॥ ४ ॥
यदि भवतु कदाचित् कस्यचिच्चोपकारः कथमपि पठनेन च्छात्रवृन्दस्य कश्चित् ।
अधिजगति तदाऽतिप्रीतियुक्तोऽयमस्तु प्रसभमनुभवन् स्वं सत्फलं लेख्यकर्म ॥ ५ ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।



॥ इति शुभं भूयात् ॥



भावप्रकाशोक्त रोगों के विभिन्न भाषाओं के नामों का निर्देश

संस्कृत नाम	अंग्रेजी नाम	अरबी नाम
ज्वर (जर, बुखार, ताप)	Fever (फीवर) Pyrexia (पाइरेक्सिया)	हुम्मा
वातज्वर		तये सोदावी हुम्मा रुव्वा
पित्तज्वर (गरमी का बुखार)		गिब लाज़िम
कफज्वर (सरदी का बुखार, बलगमी बुखार)		हुम्मा बलगमिया
वातपित्तज्वर		हुम्मा मुरक्कब
पित्तकफज्वर		शतुरलगिब
सान्निपातिकज्वर	Typhoid State (टाईफाइड स्टेट)	
ओषधिगन्धजज्वर	Hay Fever (हे फीवर)	
काम-भय-क्रोध-शोकज्वर	Pyrexia of emotions (पाइरेक्सिया ऑफ इमोशन्स)	हुम्मा योमिया
भूताभिषङ्गजज्वर (भूत का बुखार)	Fever of evil spirits (फीवर आफ् ईविल स्पिरिट्स)	
विषमज्वर (जूड़ी बुखार)	Malerial fever (मलेरियल फीवर)	हुम्मा खिलतिया
आगन्तुक ज्वर		हुम्मा वरमिया
सन्तत ज्वर	Remittent fever (रेमिटेन्ट फीवर) & Continuous fever (कन्टिन्युअस फीवर)	हुम्मा योमी हुम्मा दायमी
सतत ज्वर	Double Quotidian fever (डबल कॉटिडियन फीवर)	जिलती तप
अन्येद्युष्क ज्वर	Quotidian fever (कॉटिडियन फीवर)	
तृतीयक ज्वर (तिजरिया या अँतरिया बुखार)	Benign Tertian fever (बिनाइन टर्शियन फीवर)	हुम्मा गिब खालिस दायरा
तृतीयक विपर्यय ज्वर	Malignant Tertian (मैलिग्नेण्ट टर्शियन)	
चतुर्थक ज्वर (चौथिया बुखार)	Quartan fever (क्वार्टन फीवर)	हुम्मा राबेअ (रिब्वा)
चतुर्थक विपर्यय	Double Quartan fever (डबल क्वार्टन फीवर)	
वातबलासक ज्वर		तपे लसिका
प्रलेपक ज्वर	Hectic fever (हेक्टिक फीवर)	तपे मुआज़ेरा
अभिघातज ज्वर	Traumatic fever (ट्रामेटिक फीवर)	हुम्मा जरबी
विदाह ज्वर	Inflammatory fever (इन्फ्लेमेटरी फीवर)	हुम्मा वरमी
सूतिका ज्वर (प्रसूत का बुखार)	Puerperal fever (परपीरल फीवर)	हुम्मा झचगी
स्तन्योत्थ ज्वर	Milk fever (मिल्क फीवर) Fever of Lactation (फीवर आफ् लैक्टेशन)	
रक्तगत ज्वर		हुम्मा दमवी
जीर्णज्वर (पुराना बुखार)	Chronic fever (क्रॉनिक फीवर)	तपे कुह्ना

संस्कृत नाम	अंग्रेजी नाम	अरबी नाम
अतिसार (दस्त)	Diarrhoea (डायरिया)	इसहाल
वातातिसार		सौदावी इसहाल
पित्तातिसार		सफरावी इसहाल
कफातिसार		बलग़मी इसहाल
रक्तातिसार		इसहाल उलदम्
आमातिसार	Mucous-colitis (म्यूकस् कोलाइटिस)	ज़हीर
प्रवाहिका (मरोड़, पेचिश, आँव)	Dysentery (डिसेन्ट्री)	सुहुज
ग्रहणी (संग्रहन)	Sprue (स्प्रू), Diarrhoea alba (डायरिया एल्वा), Chronic Diarrhoea (क्रानिक डायरिया)	ज़रब
अर्श (ववासीर)	Piles(पायल्स),Haemorrhoids(हिमोरायड्स)	ववासीर
वातार्श (वादी ववासीर)	Non-bleeding Piles (नान-ब्लीडिंग पायल्स)	रियाई ववासीर
रक्तार्श (खूनी ववासीर)	Bleeding Piles (ब्लीडिंग पाइल्स)	ववासीर उलदम्
अग्निमान्द्य	Anorexia (एनारेक्सिया), Hyperchlorhydria (हाइपरक्लोरहाइड्रिया), Atonic Dyspepsia (एटानिक डिस्पेप्सिया)	ज़ोफेहज़म ज़ोफ उलमेअदा
अजीर्ण (अपच, वदहज़मी)	Indigestion (इण्डाइजेशन) Dyspepsia (डिस्पेप्सिआ)	
विसूचिका (हैज़ा)	Cholera (कालरा)	हैज़ा
अलसक	Cholera Sicca (कालरा सिक्का)	
कृमिरोग	Diseases of Worms (डिज़ीजेज़ आफ वर्म्स)	दीदान उल अमउन
पाण्डुरोग	Anaemia (एनीमिया)	यरकान
कामला	Jaundica (जांडिस)	यरकान अस्फरा
हलीमक	Chlorosis (क्लोरोसिस)	यरकान, असवद
रक्तपित्त	Haemorrhagic Diseases(हिमोरेजिक डिज़ीजेज़)	उलदम
मौखिक रक्तपित्त		नफस उलदम
मेढ्रगत रक्तपित्त		बौल उलदम
रोमकूपज रक्तपित्त		अर्क उलदम
नासागत रक्तपित्त (नकसीर)	Epistaxis (एपिस्टैक्सिस)	रआफ
ऊर्ध्वगरक्तपित्त	Haematemesis रक्तवमन (हीमेटेमेसिस), Haemoptysis (हिमाप्टिसिस) रक्तष्ठीवन और Epistaxis (ये तीनों मिलकर ऊर्ध्वग रक्तपित्त हैं)।	
अधोग रक्तपित्त	Melerna मेलेना	
राजयक्ष्मा (तपेदिक)	Phthisis (थाइसिस), Consumption (कन्ज़म्पशन्), Pulmonary Tuberculosis (पल्मोनरी ट्युवरक्युलोसिस)	हुम्मादिक तपेदिक
उरःक्षत	Pulmonary Cavitation (पल्मोनरी कैविटेशन)	सिल
कास (खाँसी)	Cough (कफ)	सोआल

संस्कृत नाम	अंग्रेजी नाम	अरबी नाम
हिक्का	Hiccough (हिक्कफ)	फुवाक
श्वासरोग (दमा)	Dyspnoea (डिस्प्निया)	रिबु, जीकउल नफस
तमक प्रतमक श्वास	Asthma (एज्मा)	
क्षुद्र श्वास	Breathlessness (ब्रेथलेसनेस)	
महाश्वास ऊर्ध्वश्वास छिन्न-श्वास	Chyne stroke-respiration (काइन स्ट्रोक रेस्पिरेशन) or Dyspnoea of the failing heart or respiration या (डिस्प्निया आफ दी फेलिंग हार्ट आर रेस्पिरेशन)	
स्वरभङ्ग (गला बैठना)	Hoarseness (होर्सनेस)	फसाद उलसोत
छर्दि (कै, उलटी)	Vomiting (वोमिटिंग)	कै
तृष्णा (प्यास)	Thirst (थर्स्ट)	अतश मुफरत
मूर्च्छा (बेहोशी)	Cyncope (सिन्कोप), Fainting (फेन्टिङ्ग), Senselessness (सेन्सलेसनेस)	गशी
भ्रम (चक्कर)	Giddiness (गिडिनेस), Vertigo (वर्टाइगो)	सदर दुवार
संन्यास	Coma (कोमा), Catalepsy (केटालेप्सी)	सक्ता
निद्रारोग	Sleeping Sickness (स्लीपिंग सिकनेस)	
तन्द्रा	Drowsiness (ड्राउजीनेस)	सुबात
मदात्यय	Alcoholism (अल्कोहालिज्म)	खुम्र
उन्माद (पागलपन)	Insanity (इन्सेनिटी)	मालेखौलिया, जनून मानिया
अपस्मार (मिरगी)	Epilepsy (एपिलेप्सी)	सरआ
कोष्ठवात		हसार
गुदाश्रित वात		रयही बवासीर
आमाशयगतवात		दरद दियाही मैदा
पक्वाशयगतवात		रियाही कौलञ्ज
आक्षेपक	Convulsions (कान्वल्शन्स)	तशन्नुज
हनुग्रह (दाँत बैठ जाना)	Trismus (ट्रिस्मस), Lock Jaw (लाक जा)	खिलाफक
अर्दित (लकवा)	Facial Paralysis (फेशियल पेरेलिसिस)	लकवा
मन्यास्तम्भ	Stiffneck(स्टफनेक्),Torticolis(टॉर्टिकालिस) Wryneck (रायनेक)	कुज़ाज़ इस्त्रिखा, इस्निर खाया उ चलम्भर
विश्वाची	Brachial paralysis (ब्रेकियल पैरेलिसिस) Monoplegia Brachialis (मोनोप्लेजिया ब्रेकियलिस)	इस्तिरखाय उलदय
आध्मान (अफारा)	Tympanitis (टिम्पेनाइटस) Meteorism (मेटिओरिज्म)	नफस
गुड़गुड़ापन	Borborygmus (बार्बोरिग्मस)	
प्रत्याध्मान	Gastrotympanitis (गैस्ट्रोटिम्पेनाइटिस)	

संस्कृत नाम	अंग्रेजी नाम	अरबी नाम
वाताष्ठीला	Typhplitis (टायफ्लाइटिस्) Enlarged prostate (एन्लार्ज्ड प्रास्टेट)	
तूना	Renal colic (रीनल कालिक)	
गृध्रसी	Sciatica (शिएटिका)	अरकुन्निसा
खञ्ज (लँगड़ापन)	Monoplegia cruralis (मोनोप्लेजिया क्रूरेलिस)	
पंगु (लूलापन)	Paraplegia (पराप्लेजिया)	
कलायखञ्ज (लँगड़ाना)	Lathyrism (लेथिरिज्म)	
वातकण्टक	Sprain Ankle (स्प्रेन एङ्किल)	वजाउल अकब
क्रोष्टुशीर्ष	Hydrops (हाइड्राप्स), Inflammed knee (इन्फ्लेम्ड नी)	
दण्डापतानक	Orthotonos (आर्थोटोनस)	
अन्तरायाम	Emprosthotonos (एम्प्रास्थोटोनस)	
वाह्यायाम	Opisthotonos (आपिस्थोटोनस)	
धनुःस्तम्भ	Tetanus (टिटेनस)	
पार्श्वायाम	Pleurothotonos (प्ल्यूरोथोटोनस)	
पक्षाघात	Hemiplegia (हेमिप्लेजिया)	
सर्वाङ्गवात	Diplegia (डाइप्लेजिया)	
जिह्वास्तम्भ	Paralysis of the tongue (पेरेलिसिस आफ दी टङ्ग) Glossal palsy (ग्लासल पैल्सी)	सकलउल्लि-सान, इस्ति-रखयाउललि-सान
खल्ली	Muscular Spasm of the hand and feet (मस्कुलर स्पाज्म ऑफ दी हेण्ड एण्ड फीट)	
पादहर्ष (पैरों में झुनझुनी	Numbness of feet (नम्नेस ऑफ फीट)	खदर पाउ
अपतंत्रक	Hysteria (हिस्टीरिया)	इखतनाक उल रहम
प्रलाप (बकवास, बड़बड़ाना)	Delirium (डेलिरियम)	हिज़्यान
कम्पवात (काँपना)	Paralysis Agitans (पैरेलिसिस एजिटेन्स)	राअशा
जृम्भा (जँभाई)	Yawning (यानिङ्ग)	तशाउब
निद्रानाश	Insomnia (इन्सोम्निया)	सहर
नखभेद	Onychia (ऑनिकिया)	शकउेल अज़् फार
आमवात	Rheumatism (रुमेटिज्म)	वजअ ऊलमुफा सील
वातरक्त	Gout (गाउट)	
शूल	Colic (कालिक)	वजअ उल्मेदा
हृदय-शूल	Cardiac pain (कार्डियक पेन) Angina pectoris (एन्जाइना पेक्टोरिस)	
गुल्म (गोला)	Abdominal tumour (एब्डामिनल ट्यूमर)	गोला

संस्कृत नाम	अंग्रेजी नाम	अरबी नाम
रक्त गुल्म	Ovarian or uterine tumour (खूनी गोला) ओवेरियन-आर यूटराइन ट्यूमर)	
हृद्रोग (दिल की बीमारी)	Diseases of the Heart डिज़िज़ेज आफ दी हार्ट)	वजअ उल कल्ब
मूत्रकृच्छ्र (कष्ट के साथ पेशाब होना)	Disuria (डस्यूरिया) Strangury (स्ट्रैंग्युरी), Painful micturition (पेनफुल मिक्च्युरिशन)	तकतीर उलबौल
मूत्राघात (पेशाब रुक जाना)	Ratention of urine (रैटेन्शन आफ यूरिन)	एह्तेबास उल-बौल
वातकुण्डलिका	Spasmodic Stricture (स्पाज्मोडिक स्ट्रिक्चर)	
मूत्रातीत	Incontinence of urine (इन्कांटिनेन्स आफ यूरिन)	इस्तिरखाय उल-मसाना
मूत्रजठर	Distended bladder (डिस्टेण्डेड ब्लेडर)	इन्तिफाख उल-मसाना
मूत्रोत्सङ्ग	Stricture of urethra (स्ट्रिक्चर आफ युरेथ्रा)	
मूत्रक्षय	Suppression of urine (सप्रेशन आफ यूरिन)	
मूत्रग्रन्थि	Tumour of the bladder (ट्यूमर आफ दी ब्लेडर)	
अश्मरी (पथरी)	Calculus (कैल्कुलस), Stone in Bladder (स्टोन इन् ब्लेडर)	हीसआत
वाताश्मरी	Uric acid Calculus (यूरिक एसिड कैल्कुलस)	
श्लैष्मिकाश्मरी	Stone of phosphate (स्टोन आफ फास्फेट)	
शुक्राश्मरी	Seminal Concretion (सेमिलन कॉन्क्रीशन); Spermatic Concretion (स्पर्मेटिक् कॉन्क्रीशन): Spermolith (स्परमोलिथ)	
शर्करा (रेत)	Gravel (ग्रेवेल)	
उदावर्त		कौलअसफली
प्रमेह	Anomalies of urinary Secretion (एनामेलीज ऑफ युरिनरी सिक्रीशन)	जीरयान
उदकमेह	Polyuria (पॉलीयूरिया), Diabetes Insipidus (डायबिटीज इन्सिपिडस)	
इक्षुमेह	Glycosuria (ग्लायकोस्यूरिया)	झयाबी तुस
सुरामेह	Phosphaturia (फास्फेच्युरिया)	
पिष्टमेह	Chylurea (कायल्यूरिआ)	
शुक्रमेह	Albuminuria (एल्ब्यूमिन्यूरिया); Spermaturia (स्पर्मेच्युरिया)	जीरयान मनी
क्षारमेह	Alkalinuria (अल्कलीन्यूरिया)	
सान्द्रमेह	Mucous in Urine (म्यूकस इन यूरिन)	
नीलमेह	Indicanuria (इन्डिकन्यूरिया)	
कालमेह	Browm & Black urine (ब्राउन ऐण्ड ब्लैक यूरिन)	
हारिद्रमेह	Caoluria (काल्यूरिया); Bile in urine (बाइल इन यूरिन)	

संस्कृत नाम	अंग्रेजी नाम	अरबी नाम
रक्तमेह	Haematuria (हीमेच्यूरिया)	
माञ्जिष्ठमेह	Urobilinuria (युरोबिलीन्यूरिया)	
वसामेह	Lipuria (लाइप्यूरिया)	
मधुमेह	Diabetes mellitus (डायबिटीज मेलिटस)	
हस्तिमेह	False Incontinence of urine (फाल्स इन्कान्टिनेन्स आफ यूरिन); Incontinence From overflow (इन्कांटिनेन्स फ्राम ओव्हरफ्लो)	
प्रमेहपिडिका	Carbuncle (कार्बङ्कल)	
स्थौल्य	Obesity (ओबेसिटी)	समन मुफरत
ऊर्ध्ववात	Eructation (इरक्टेशन्)	
प्लीहोदर	Chronic Enlargement of the Spleen (क्रॉनिक एन्लार्जमेन्ट ऑफ दी स्प्लीन)	वरम उल तिहाल
यकृद्दाल्युदर	Enlargement of the spleen with enlarged liver (एन्लार्जमेन्ट ऑफ दी स्प्लीन विथ एन्लार्ज्ड लिवर)	वरम उल कबिद
बद्धगुदोदर	Pelvi-rectal Constipation (पेल्वीरेक्टल कंस्टिपेशन); Intestinal obstruction (इन्टेस्टाइनल आवस्ट्रक्शन)	
क्षतोदर	Peritonitis due to perforation of the bowel (पेरिटोनाइटिस ड्यू टु परफोरेशन आफ दी बॉवेल)	कुरुह उल अमअ
जलोदर	Ascites (एसायटिस)	हस्तिस्का
शोथ (सूजन)	Swelling (स्वेलिङ्ग). Dropsy (ड्रॉप्सी), Anasarca (एनासार्का), Oedema (ईडेमा)	वरम
वृद्धि	Enlargement of the Scrotum (एन्लार्जमेन्ट आफ दी स्क्रोटम)	
मूत्रज वृद्धि	Hydrocele (हाइड्रोसील)	किल्ल तुल मेआ
दोषज वृद्धि	Orchitis (ऑर्कायटिस)	वरम उल उन्सिये
रक्तज वृद्धि	Haematocele (हिमेटोसील)	
वातज वृद्धि	Chronic orchitis (क्रॉनिक ऑर्कायटिस)	
पित्तज वृद्धि	Acute orchitis (एक्यूट आर्कायटिस)	
कफज वृद्धि	Tubercle testes (ट्युबकिल टेस्टीज)	
मेदोज वृद्धि	Elephantiasis of the Scrotum (एलिफैन्टायसिस ऑफ दी स्क्रोटम)	अजीम उल उन्सियेन
आन्त्रवृद्धि	Inguinal Hernia (इंग्वायनल हार्निया)	किल्ल तुल अमआ
गलगण्ड	Simple goitre (सिम्पुल गॉयटर)	
अपची, गण्डमाला	Scrofula (स्क्रोफुला); Chronic tuberculous Lymphadenitis (क्रॉनिक् ट्युबरकुलस लिम्फेडेनायटिस	

संस्कृत नाम	अंग्रेजी नाम	अरबी नाम
अर्बुद	Tumour (ट्यूमर)	वशूर
मेदोर्बुद	Lipoma (लायपोमा)	
मांसार्बुद	Myoma (मायोमा)	सरतान
रक्तार्बुद	Cancer (कैंसर) दुष्टार्बुद	
श्लीपद (फीलपाँव)	filaria (फायलेरिया); Elephantiasis (एलिफैण्टियेसिस)	दाय् उलफील
विद्रधि	Abscess (एब्सिस)	दुबेला
व्रणशोथ	Inflammation (इन्फ्लेमेशन)	आवला
व्रण	Ulcer (अल्सर)	
सद्योव्रण	Traumatic wound (ट्रामेटिक ऊण्ड)	
छिन्न व्रण	Lacerated wound (लेसरेटेड ऊण्ड)	
भिन्न व्रण	Punctured wound (पंक्चर्ड ऊण्ड)	
विद्ध	Stab (स्टैब)	
क्षत	Contused wound (कंट्यूज्ड ऊण्ड)	
पिच्चित व्रण	Crushed wound (क्रश्ड ऊण्ड)	
घृष्ट व्रण	Excoriated (एक्सकोरियेटेड)	
अस्थिभग्न या काण्डभग्न	fracture (फ्रेक्चर)	कस्र
सन्धिभग्न	Dislocation (डिस्लोकेशन)	खलआ
अस्थिच्छल्लिका	Green stick fracture (ग्रीन स्टिक फ्रेक्चर)	
नाड़ीव्रण (नासूर)	Sinus (साइनस) *Fistula* (फिस्चुला)	नासूर
भगन्दर	Fistula in ano (फिस्चुला इन एनो)	बवासीर
उपदंश	Soft chancre (सॉफ्ट शैङ्कर)	कुत्राह
लिङ्गार्श	Warts(वार्टस)	शालील उल कुजिब
कुष्ठ	Diseases of the Skin (डिजीजेज् ऑफ दी स्किन) Dermatose (डरमेटोज)	
महाकुष्ठ (कोढ)	Leprosy (लेप्रासी)	जुझाम
सिध्म (सेहुआँ)	Ptyriasis versicolor (टायरीएसिस् वर्सिकलर) Cloasma Ptyriasis (क्लोज्मा टायरिएसिस)	
किटिभ	*Psoriasis* (सोरायसिस)	
कच्छू	Scabies (स्केबीज), Ich (इच्)	
विस्फोटक	Impetigo (इम्पेटाइगो)	
शतारु	Rupia (रूपिया)	
विचर्चिका	Pemphigus (पेम्फिगस)	
दद्रु (दाद)	Ringworm (रिंगवर्म), Tinea (टिनिया)	कुवा
किलास (सफेद कोढ़)	Leucoderma (ल्यूकोडर्मा)	बरस अविजय
पामा (उकवत)	Eczema (एक्जिमा)	जर्ब
विसर्प	Erysipelas (ऐरिसिपेलाज)	हुमारा
ग्रन्थि विसर्प	Erythema Nadozum (ऐरीथीमा नोडोज़म)	

संस्कृत नाम	अंग्रेजी नाम	अरबी नाम
कर्दम विसर्प	Cellulitis (सेल्युलाइटिस)	
क्षत विसर्प	Traumatic Erysipelas (ट्रामेटिक इरिसिपेलाज)	
स्नायुरोग (नहरुआ)	Gineaworm Desease (गिनीवर्म डिजीज)	
शीत पित्त	Urticaria (अर्टिकेरिया)	
विस्फोट	Exenthymeta (एक्जैन्थीमेटा)	
फिरंग (गरमी)	Hard chancre (हार्ड शैङ्कर), Syphilis (सिफिलिस)	
मसूरिका (माता, चेचक)	Small pox (स्माल पाक्स), Veriola (वेरिओला)	जुदरी
शीतला (छोटी माता)	Chicken pox (चिकेन पाक्स), Varicella (वेरिसीला)	
रोमान्तिका	Measles (मीज़िल्स)	
इन्द्रलुप्त (बालों का झड़ जाना)	Falling of hairs (फालिङ्ग आफ हेयर्स), Baldness (बाल्डनेस)	इन्तशार उल शअर
पाषाणगर्दभ	Epidemic perotitis (एपिडेमिक पेराटाइटिस), Mumps (मम्प्स)	
मुखदूषिका	Acne Vulgaris (एक्नी वल्गेरिस)	वशूरउल वुजन
व्यंग, न्यच्छ	Capillary angiomata (केपिलरी एञ्जिओमाटा), Naevi (नीवी)	
कक्षा (कँखौरी)	Acute lymphadenitis of the Axillary glands (एक्यूट लिम्फेडेनाइटिस आफ दी एक्जिलरी ग्लैंड्स)	
कक्षा (मकड़ी मलना जो फैलकर यज्ञोपवीत की भाँति शरीर को घेर ले)	Herpes zoster (हर्पीज जास्टर)	
विदारिका	Bubo (ब्यूबो)	
पलित	Premature grey hair (प्रीमेच्योर ग्रे हेयर)	शेब
चिप्प	Onychia purulenta (आनीकिया पुरुलेण्टा)	दाखस
कुनख	Onychogryphosis (आनिकोग्राइफोसिस)	
परिवर्त्तिका	Paraphimosis (पाराफाइमोसिस)	
अवपाटिका	Tear in the prepuce (टीयर इन दी प्रीप्यूस)	
निरुद्ध प्रकश	Phimosis (फाइमोसिस)	
सन्निरुद्धगुद	Stricture of the rectum (स्ट्रिक्चर ऑफ दी रेक्टम)	
वृषणकच्छू	Scrotal eczema (स्क्रोटल एक्जिमा)	
अहिपूतन	Infantile erythema of jacquet (इन्फैन्टाइल एरीथीमा आफ जैक्वेट), Napkin rash (नैपकिन् रैश), sore-buttocks (सोर बटक्स)	
गुदभ्रंश (काँच निकलना)	Prolapsus ani (प्रोलैप्सस एनाइ)	खरूज उल मुकअद

संस्कृत नाम	अंग्रेजी नाम	अरबी नाम
असल	Chilblain (चिलब्लेन)	
कदर	Corn (कार्न)	
तिलकालक (तिल)	Non-elevated mole (नान्-एलिवेटेड मोल)	खाल
मषक (मस्सा)	Mole (मोल)	शाईल
पद्मिनीकण्टक	Papilloma of the skin (पेपिलोमा ऑफ दी स्किन्)	
पाददारी (बेवाई)	Cracks in the Sole (क्रैक्स इन दी सोल)	
शिरःशूल	Headache (हेडेक्)	सुदाअ
अर्द्धावभेदक (आधासीसी)	Migraine (मिग्रेन); Hemicrania (हेमिक्रेनिया)	शकीका
तिमिर	Optic atrophy (ऑप्टिक एट्रॉफी)	
कफज लिङ्गनाश (मोतियाबिंद)	Cataract (कटरैक्ट)	नज़्लुलमैआ
परिम्लायी लिङ्गनाश	Glaucoma (ग्लेकोमा)	
सव्रण शुक्ल (फुली)	Suppurative Keratitis (सपुरेटिव केराटायटिस), Corneal ulcer (कॉर्नियल अल्सर)	व्याज
अव्रण शुक्ल (फुली)	Corneal opacity (कॉर्नियल ओपेसिटी)	
अक्षिपाकात्यय	Hypopyon ulcer (हाइपोपियान अल्सर)	रमद
अजकाजात	Anterior Staphyloma (ऐन्टीरियर स्टैफिलोमा),	
अर्म	Pterygium (टेरिजियम)	
शुक्ति	Xerosis (जेरोसिस)	
शिराजाल	Pannus (पेनस)	सबल
वर्त्मज रोग	Diseases of the lid (डिजीजेज ऑफ दी लिड्)	
उत्सङ्गिनी	Hordeolum (हार्डिओलम), Style (स्टाइल),	
कुम्भीका	Secondary style (सेकन्डरी स्टाइल),	
पोथकी	Grannular Conjunctivitis (ग्रेनुलर कंजंक्टिवाइविटिस), grannular lid (ग्रेनुलर लिड), Tracoma (ट्रेकोमा)	
अक्लिन्नवर्त्म	Blepharitis (ब्लेफराइटिस)	
वातहतवर्त्म	Ptosis (टोसिस)	इस्तिखाय उल जफन
लगण	Calazion (केलेजियन)	
पक्ष्मकोप	Trichiasis (ट्रिकिऐसिस), Distichiasis डिसटिकिऐसिस)	शअर मुन्कलन शअर सायद
पक्ष्मशात	Blepharitis marginalis (ब्लेफराइटिस मर्जिनेलिस), Tinea Tarsi (टीनिया टार्साई)	इन्तशार उल अह्दाब
पर्वणी, अलजी	Phlyctenule (फ्लिक्न्यूल)	
श्लेष्मविदग्धदृष्टि (रतौंधी)	Nyctalopia (निक्टेलोपिया)	अशा

संस्कृत नाम	अंग्रेजी नाम	अरबी नाम
निमेष	Blepharosposm (ब्लेफरोस्पोज्म)	
नेत्राभिष्यन्द	Conjunctivitis (कंजंक्टिवाइटिस); Ophthalmia (आफ्थेल्मिया),	
वाताभिष्यन्द	Simple Hyperaemia of the Conjunctiva (सिम्पुल हाइरीया ऑफ दी कंजंक्टाइवा); Catarrhal Conjunctivitis (केटारल कंजंक्टिवाइटिस)	
पित्ताभिष्यन्द	Acute purulent Conjunctivitis (एक्यूट प्युरुलेण्ट कंजंक्टिवाइटिस)	
रक्ताभिष्यन्द	Acute Catarrhal Conjunctivitis (एक्यूट केटारल कंजंक्टिवाइटिस)	
पित्तविदग्धदृष्टि	Day Blindness (डे ब्लाइन्डनेस), Hemaralopa (हिमरलोपिया)	
सशोथाक्षिपाक	Panophthalmitis (पेनॉफ्थेल्माइटिस)	
अन्यतोवात	Neuralgia of the 5th nerve (न्यूरेल्जिया ऑफ दी फिफ्थ नर्व)	
कर्णशूल (कान की दर्द)	Otalgia (ओटेल्जिया)	वजअ उल उज्ञन
कर्णनाद, कर्णक्ष्वेड (कान में आवाज होना)	Noises in the Ear (न्वायजेज इन दी ईयर), Tinnitus (टिनिटस)	तनीन, वनी
वाधिर्य (वहरापन)	Deafness (डीफनेस)	कर
कर्णस्राव (कान वहना)	Otorrhoea (ओटोरिया)	इन्फजार उल उज्ञन
कर्णपाक (कान का पकना)	Suppuration in the Ear (सपुरेसन इन दी ईयर), Herpes of the Ear (हरपीज आफ दी ईयर)	कुर्हतुर उज्ञन
पूतिकर्ण	Faetid Dischasge from the Ear (फिटिड् डिस्चार्ज फ्राम दी ईयर)	
क्रिमिकर्णक	Worms in the Ear (वर्म्स इन दी ईयर)	दीदानउल उज्ञन
कर्णशोथ	Otitis (ओटाइटिस), Inflammation of the Ear (इन्फ्लेमेशन आफ दी ईयर)	दर्म लल उज्ञन
तीव्रमध्य-कर्णशोथ	Acute otitis media (एक्यूट ओटाइटिस मीडिया	
प्रसेकयुक्त चिरकालिक मध्य कर्णशोथ	Chronic Catarrhal otitis media (क्रानिक केटारल ओटाइटिस मीटिया), Non-suppurative otitis media (नान-सपुरेटिव ओटाइटिस मीटिया)	
चिरकालिक सपाक मध्यकर्णशोथ	Chronic suppurative otitis media (क्रानिक सपुरेटिव ओटाईटिस मीटिया)	
कर्णशोथ	Wax in the Ear (वैक्स इन दी ईयर)	
पूतिनस्य	Ozoena (ऊजिना)	

संस्कृत-नाम	अंग्रेजी नाम	अरबी नाम
पीनस	Atrophic Rhinitis (एट्राफिक राइनाइटिस)	
नासिकापाक	Ulceration of the nose (अल्सरेसन आफ दी नोज), Suppurative Rhinitis (सपुरेटिव राइनाइटिस)	वसूर उल अनफ
क्षवथु (छींक)	Sneezing (स्नीजिङ्ग)	अत्स
भ्रंशथु	Chronic Nasal discharge (क्रानिक नेजल डिसचार्ज), Chronic Rhinorrhoea (क्रानिक राइनोरिया)	
दीप्ति	Acute Rhinitis (एक्यूट राइनाइटिस)	
प्रतीनाह (नाक बन्द होना)	Nasal obstruction (नेजल आब्स्ट्रक्शन)	
नासास्राव नाकसे पानीगिरना)	Acute Rhinorrhoea (एक्यूट राइनोरिया)	
प्रतिश्याय (जुकाम)-	Coryza (केराइज), Catarrh in the Nose (केटार इन दी नोज)	जुकाम
नासाशोष	Dryness of the Nose (ड्राइनेस आफ दी नोज)	
खल्लिवर्धन	Extra tooth (एक्स्ट्रा टूथ)	असनान उल ज्ञायदा
दन्तनाड़ी	Sinus in the gums (साइनस इन द गम्स)	कुरुह उल लसा
क्रिमिदन्तक (सड़ा दाँत)	Caries of Teeth (केरीज आफ टीथ)	दीदानउललशा
दन्तहर्ष (दाँत कोट होना)	Odontitis (ओडन्टाइटिस), Irritation in the tooth (इरिटेशन इन दी टूथ)	जर्स
दन्तशर्करा	Tartar टार्टर	हजर
श्यावदन्त	Black teeth (ब्लैक टीथ), Necrosed teeth (निक्रोज्ड टीथ)	
गलशुण्डी	Elongated uvula (एलांगेटेड युवुला)	
मुखरोग, सर्वसर (निनावा)	Stomatitis (स्टोमेटाइटिस)	
शीताद	Spongy gums (स्पाञ्जी गम्स)	
दन्तवेष्ट	Pyorrhoea alveolaris (पायोरिया एल्विओलरिस) Suppurative gingivitis (सपुरेटिव जिञ्जिवाइटिस)	
दन्तपुप्पुट, सौपिर	Gum boil (गम बायल)	
अलास	Sublingual abscess (सब-लिंगुअल एब्सिस)	
तात्वर्बुद	Palatetal cancer (पैलेटल कैन्सर)	
तुण्डिकेरी, अध्रुष	Abscess of the Palate (एब्सिस आफ दी पैलेट)	
मांसतान	Diphtheria (डिफ्थीरिया)	
सर्पविष	Sanke poisoning (स्नेक पायजनिङ्ग)	
आखुविष	Rat bite fever (रैट बाइट फीवर); Rat bite poisoning (रैट बाइट पायजनिङ्ग)	
वृश्चिकविष	Scorpian poisoning (स्कार्पियन पायजनिङ्ग)	
रक्तप्रदर	Metrorrhagia (मेट्रोजिया)	इस्त हाजा

संस्कृत नाम	अंग्रेजी नाम	अरबी नाम
श्वेतप्रदर	Leucorrhoea (ल्यूकोरिया)	
वन्ध्यात्व	Sterility (स्टरिलिटी)	अक्र
कष्टार्त्तव या वातज प्रदर	Dysmenorrhea (डिस्मेनोरिया)	
योनिकन्द	Vaginal polypus (वैजाइनल पालिपस)	
गर्भस्राव	Abortion (एवार्शन)	इस्तकात हमल
गर्भपात	Miscarriage (मिस्कैरेज)	
मूढगर्भ	Malpresentation of the foetus (माल-प्रेजेन्टेशन् आफ दी फीटस) Difficult labour (डिफिकल्ट लेबर)	
मक्कलशूल	After pains (आफ्टर पेन्स)	
स्तनकोप	Mammary abscess (मेमरी एब्सिस), mastitis (मेस्टाइटिस), Inflammation of the breast (इन्फ्लेमेशन आफ ब्रेस्ट)	
स्तन्यदुष्टि	Diseased milk (डिजीज्ड मिल्क)	
सूतिकारोग	Peurperal fever (परपीरल फीवर) Peurperal infection (परपीरल इन्फेक्शन)	
गति	Presentation (प्रेजेन्टेशन)	
अर्सकीलक	Vertex Presentation (वर्टेक्स प्रेजेन्टेशन) Chest Presentation (चेस्ट प्रेजेन्टेशन) Back Presentation (बैक प्रेजेन्टेशन) Side Presentation (साइड प्रेजेन्टेशन)	
प्रतिखुर	Presentation of the head with hands and feet (प्रेजेन्टेशन ऑफ दी हेड विथ हैण्डस् ऐण्ड फीट)	
बीजक	Head presentation with one or both hands हेड प्रेजेन्टेशन विथ वन् आर बोथ हैण्ड्स्	
परिघ	Transverse presentation (ट्रान्सवर्स प्रेजेन्टेशन)	
बालरोग	Diseases of children (डिजीजेज् ऑफ चिल्ड्रेन)	
कुकूणक	Ophthalmia in children (आफ्थेल्मिया इन चिल्ड्रेन्)	
पारिगर्भिक	Pining (पायनिङ्ग)	
तालुकण्टक	Polypus on the hard palate (पालिपस आन दी हार्ड पैलेट)	
महापद्म विसर्प	Cellulitis (सेल्युलाइटिस)	
योनिव्यापद्	Diseases of the Vagina & uterus (डिजीजेज आफ दी वेजाइना एण्ड यूटरस)	
आर्त्तव	Menstruation (मेन्स्ट्रुएशन)	